



अद्वैतसिद्धिः ।

10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35 36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100

ADVAITASIDDHI

OF

MADHUSŪDANASARASVATĪ

WITH THE COMMENTARIES

Gaudabrahmānandī, Viṭṭhales'opādhyāyī, Siddhivyākhyā
of Balabhadra, and a critical summary called
Chaturgranthī by M. M. Ananta Kṛiṣṇa S'āstrī.



EDITED WITH CRITICAL NOTES

BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA VEDĀNTVIS'ARADA

ANANT KṚIṢṆA S'ĀSTRĪ,

LECTURER IN SANSKRIT, CALCUTTA UNIVERSITY,
VICE-PREIDENT SANSKRIT SĀHITYA PARĪṢAD, CALCUTTA &
AUTHOR OF VARIOUS VEDĀNT & MĪMĀNSĀ WORKS &C.

Second Edition.

REVISED BY

KĀVYĀLANKĀRABHŪṢAṆA

S'IVRĀM S'ĀSTRĪ S'INTRE,

SANSKRIT PAṆḌIT, ELPHINSTONE COLLEGE, BOMBAY.



PUBLISHED

BY

PĀNDURANG JĀWAJĪ,

PROPRIETOR OF THE "NIRṆAYA-SĀGAR" PRESS,

BOMBAY.

1937.



ADVAITASIDDHI

BY

MAHARUDRA SAMASVATI

WITH THE COMMENTARIES

OF THE HON. THE JUDGE OF THE SUPREME COURT OF INDIA
AND A HON. JUDGE OF THE JUDICIAL COMMISSION FOR THE
CENTRAL PROVINCES AND BHOJPUR DISTRICT

BY

MAHARUDRA SAMASVATI

BY

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

[All rights reserved by the publisher.]

Publisher :- Pandurang Jawaji, } 'Nirnaya-sagar' Press,
Printer :- Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Street, Bombay.

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

BY

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI

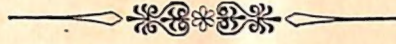
MAHARUDRA SAMASVATI

MAHARUDRA SAMASVATI



श्रीमत्परमहंसमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः ।

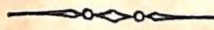


विद्वलेशीयव्याख्योपबृंहित-गौडब्रह्मानन्दीव्याख्यासनाथीकृता
बलभद्रप्रणीतसिद्धिव्याख्या-म० म० अनन्तकृष्णशास्त्रि-
संगृहीतन्यायामृताऽद्वैतसिद्धि-तरङ्गिणी-
लघुचन्द्रिकासंग्रहात्मकचतु-
ग्रन्थ्यालङ्कृता च ।

कलकत्ताविश्वविद्यालयोपाध्यापकेन महामहोपाध्यायवेदान्तविशारदाद्यनेकविरुदभाजा
नूरणिग्रामाभिजन-विद्वद्वरसुब्रह्मण्यात्मजेन

अनन्तकृष्णशास्त्रिणा

टिप्पण्यादिभिरुपस्कृता ।



तस्या इदं

द्वितीयं संस्करणं

मुम्बापुरीगत-एल्फिन्स्टनकालेज्नाम्नि विद्यालये पण्डितपदमधिगतवता काव्यालङ्कारभूषणेत्युपपद-
धारिणा शिञ्जेकुलोत्पन्न-विद्याधरशर्मसूनु-शिवरामशास्त्रिणा संस्कृतम् ।

मुम्बय्याम्

पाण्डुरङ्ग जावजी इत्येतैः,

स्त्रीये निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये मुद्रापयित्वा प्राकाश्यं नीतम् ।

शकः १८५८, सन १९३७



3AY 3



THE UNIVERSITY OF CHICAGO

॥ ह्रीं श्रीं ह्रीं ॥

पञ्चमिहाराजानामिन्द्राक्षरानि- नडीद्वारिआकाशविर्भूति

• ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ ०१.०१ - ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

— निमिषात्— इति निरुद्धात्— इति

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

1. 7. 1947-2

1872-1873

नमो भगवते वासुदेवाय

पुस्तकालय संख्या

[Faint handwritten text at the bottom of the page]

35, 1175

1751-1752

[illegible]

1. *Phragmites australis* (Cav.) Trin. ex Steud. - Common reed.

1871

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

1. 1870-1871. 1872-1873. 1874-1875. 1876-1877. 1878-1879. 1880-1881. 1882-1883. 1884-1885. 1886-1887. 1888-1889. 1890-1891. 1892-1893. 1894-1895. 1896-1897. 1898-1899. 1900-1901. 1902-1903. 1904-1905. 1906-1907. 1908-1909. 1910-1911. 1912-1913. 1914-1915. 1916-1917. 1918-1919. 1920-1921. 1922-1923. 1924-1925. 1926-1927. 1928-1929. 1930-1931. 1932-1933. 1934-1935. 1936-1937. 1938-1939. 1940-1941. 1942-1943. 1944-1945. 1946-1947. 1948-1949. 1950-1951. 1952-1953. 1954-1955. 1956-1957. 1958-1959. 1960-1961. 1962-1963. 1964-1965. 1966-1967. 1968-1969. 1970-1971. 1972-1973. 1974-1975. 1976-1977. 1978-1979. 1980-1981. 1982-1983. 1984-1985. 1986-1987. 1988-1989. 1990-1991. 1992-1993. 1994-1995. 1996-1997. 1998-1999. 2000-2001. 2002-2003. 2004-2005. 2006-2007. 2008-2009. 2010-2011. 2012-2013. 2014-2015. 2016-2017. 2018-2019. 2020-2021. 2022-2023. 2024-2025. 2026-2027. 2028-2029. 2030-2031. 2032-2033. 2034-2035. 2036-2037. 2038-2039. 2040-2041. 2042-2043. 2044-2045. 2046-2047. 2048-2049. 2050-2051. 2052-2053. 2054-2055. 2056-2057. 2058-2059. 2060-2061. 2062-2063. 2064-2065. 2066-2067. 2068-2069. 2070-2071. 2072-2073. 2074-2075. 2076-2077. 2078-2079. 2080-2081. 2082-2083. 2084-2085. 2086-2087. 2088-2089. 2090-2091. 2092-2093. 2094-2095. 2096-2097. 2098-2099. 2100-2101. 2102-2103. 2104-2105. 2106-2107. 2108-2109. 2110-2111. 2112-2113. 2114-2115. 2116-2117. 2118-2119. 2120-2121. 2122-2123. 2124-2125. 2126-2127. 2128-2129. 2130-2131. 2132-2133. 2134-2135. 2136-2137. 2138-2139. 2140-2141. 2142-2143. 2144-2145. 2146-2147. 2148-2149. 2150-2151. 2152-2153. 2154-2155. 2156-2157. 2158-2159. 2160-2161. 2162-2163. 2164-2165. 2166-2167. 2168-2169. 2170-2171. 2172-2173. 2174-2175. 2176-2177. 2178-2179. 2180-2181. 2182-2183. 2184-2185. 2186-2187. 2188-2189. 2190-2191. 2192-2193. 2194-2195. 2196-2197. 2198-2199. 2200-2201. 2202-2203. 2204-2205. 2206-2207. 2208-2209. 2210-2211. 2212-2213. 2214-2215. 2216-2217. 2218-2219. 2220-2221. 2222-2223. 2224-2225. 2226-2227. 2228-2229. 2230-2231. 2232-2233. 2234-2235. 2236-2237. 2238-2239. 2240-2241. 2242-2243. 2244-2245. 2246-2247. 2248-2249. 2250-2251. 2252-2253. 2254-2255. 2256-2257. 2258-2259. 2260-2261. 2262-2263. 2264-2265. 2266-2267. 2268-2269. 2270-2271. 2272-2273. 2274-2275. 2276-2277. 2278-2279. 2280-2281. 2282-2283. 2284-2285. 2286-2287. 2288-2289. 2290-2291. 2292-2293. 2294-2295. 2296-2297. 2298-2299. 2300-2301. 2302-2303. 2304-2305. 2306-2307. 2308-2309. 2310-2311. 2312-2313. 2314-2315. 2316-2317. 2318-2319. 2320-2321. 2322-2323. 2324-2325. 2326-2327. 2328-2329. 2330-2331. 2332-2333. 2334-2335. 2336-2337. 2338-2339. 2340-2341. 2342-2343. 2344-2345. 2346-2347. 2348-2349. 2350-2351. 2352-2353. 2354-2355. 2356-2357. 2358-2359. 2360-2361. 2362-2363. 2364-2365. 2366-2367. 2368-2369. 2370-2371. 2372-2373. 2374-2375. 2376-2377. 2378-2379. 2380-2381. 2382-2383. 2384-2385. 2386-2387. 2388-2389. 2390-2391. 2392-2393. 2394-2395. 2396-2397. 2398-2399. 2400-2401. 2402-2403. 2404-2405. 2406-2407. 2408-2409. 2410-2411. 2412-2413. 2414-2415. 2416-2417. 2418-2419. 2420-2421. 2422-2423. 2424-2425. 2426-2427. 2428-2429. 2430-2431. 2432-2433. 2434-2435. 2436-2437. 2438-2439. 2440-2441. 2442-2443. 2444-2445. 2446-2447. 2448-2449. 2450-2451. 2452-2453. 2454-2455. 2456-2457. 2458-2459. 2460-2461. 2462-2463. 2464-2465. 2466-2467. 2468-2469. 2470-2471. 2472-2473. 2474-2475. 2476-2477. 2478-2479. 2480-2481. 2482-2483. 2484-2485. 2486-2487. 2488-2489. 2490-2491. 2492-2493. 2494-2495. 2496-2497. 2498-2499. 2500-2501. 2502-2503. 2504-2505. 2506-2507. 2508-2509. 2510-2511. 2512-2513. 2514-2515. 2516-2517. 2518-2519. 2520-2521. 2522-2523. 2524-2525. 2526-2527. 2528-2529. 2530-2531. 2532-2533. 2534-2535. 2536-2537. 2538-2539. 2540-2541. 2542-2543. 2544-2545. 2546-2547. 2548-2549. 2550-2551. 2552-2553. 2554-2555. 2556-2557. 2558-2559. 2560-2561. 2562-2563. 2564-2565. 2566-2567. 2568-2569. 2570-2571. 2572-2573. 2574-2575. 2576-2577. 2578-2579. 2580-2581. 2582-2583. 2584-2585. 2586-2587. 2588-2589. 2590-2591. 2592-2593. 2594-2595. 2596-2597. 2598-2599. 2600-2601. 2602-2603. 2604-2605. 2606-2607. 2608-2609. 2610-2611. 2612-2613.

১৯৭৮ খ্রিঃ ১০ মার্চ : ১৫

1907

श्रीः ।

भूमिका—

श्रीगुरुभ्यो नमः ।

निश्चप्रचमिदं विपश्चिदपश्चिमानां यद्धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्विधेषु पुरुषार्थेषु मोक्ष एवात्यन्तिकः पुरुषार्थः । तत्संपत्तिश्च श्रवणमनननिदिध्यासनाधीनात्मसाक्षात्कारायत्ता न खोत्पत्तौ सहकारितयापि कर्मादीनपेक्षत इति ।

अत्र केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते—सिद्धरूपब्रह्मसाक्षात्कारे शब्दश्रवणरूपो विचारो न कारणम् । विनापि श्रवणमहं सुखमनुभवामीति हि प्रत्ययः सर्वानुभवपथमध्यास्ते । सत्यपि श्रवणे नात्मसाक्षात्कारोऽखिलबन्धनिवृत्तिसाधनं कस्यापि भवति । **तदुक्तम्**—‘मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद्ब्रह्मनिश्चयः’ इति । **एतेन**—‘निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षित’ इति वचनमपि—**पराहतम्**; नहि कर्तृत्वादिकं प्रपञ्चजातं मिथ्या भवितुं स्थाने भवति । यथाच कर्तृत्वादिकं नान्तःकरणधर्मः किंतु जीवधर्मः, तथा यथाच तत्क्षोभयथाधिकरणे शङ्करभगवत्पादीये भाष्ये व्यक्तमिति जीवब्रह्मभेदोऽपि पराहतः । अहमनुभवगोचरो हि जीवः । सच नान्तःकरणशबलितः । तच्छाबल्यं हि आत्मान्तःकरणविवेकाग्रहायत्तम् न मम मन इत्यादिविवेकशालिनां संभवति । प्रत्यक्षमेवोपजीव्यत्वादागमात्प्रबलमिति अहं करोमीत्यादिकं प्रत्ययजातं गौणमेव मन्तव्यमिति असङ्गो ह्ययमित्यादिश्रुत्यनुसारेणापि नाकर्त्रात्मस्वरूपसिद्धिः । व्यावहारिकत्वपारमार्थिकत्वादिव्यवस्थाया अद्वैतपरिभाषामात्रसाध्याया अनादरणीयत्वेनागमेन पारमार्थिकत्वांशबाधनेऽपि उपजीव्याविरोधशङ्कादिकमपि नात्र प्रसरति ॥ **एतेन**—सावकाशनिरवकाशन्यायेनापि प्रत्यक्षप्राबल्यमिति—**सूचितम्**; यथाचात्रोपक्रमोपसंहारन्यायोऽप्यनुकूलस्तथाऽन्यत्रविस्तरः ।

अयमाशयः—अन्तःकरणचैतन्ययोर्हि न परस्परतादात्म्याध्यासः । तत्रहि तादात्म्याध्यासो यत्र विवेकाग्रहः यथा—शुक्तिरजतयोः । अत्र तु न विवेकाग्रहः, अहंशद्वोल्लिखितप्रत्ययविषयत्वाजीवस्य, इदंशद्वोल्लिखितप्रत्ययविषयत्वाच्चान्तःकरणदेः । यदितु कालान्तरीयभेदग्रहः कालान्तरीयभ्रमज्ञाने न प्रतिबन्धकः, अहंप्रत्ययाव्यवहितपूर्वक्षणे च भेदग्रहो नास्तीति तादात्म्याध्यास उपपन्न इत्युच्यते, तदापि परस्परतादात्म्यप्रतीत्ययोग्यत्वाच्च तादात्म्याध्यासः । यथा तिमिरालोकयो-रिति मन्तव्यम् ।

अथोच्यते—परस्परतादात्म्यप्रतीत्ययोग्ययोरपि शुक्तिरजतयोर्यथा तादात्म्याध्यासः, तथात्रापि स्यादिति, नैवं संभवति; शुक्तित्वेन रजतत्वेन च तादात्म्याध्यासायोग्यत्वेऽपि इदन्त्वेन रजतत्वेन तादात्म्यप्रतीतियोग्यत्वात्तत्र तादात्म्याध्यास इति युक्तम् नैवमत्र; उभयोरपि विशेषरूपेणैवाध्यासस्यात्राभिमतत्वात् । **एवंच**—अहं कर्तेत्यादिप्रत्यये अध्यासलक्षणमपि न संभवतीति—**सूचितम्**; तल्लक्षणं हि स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः । तत्रहि स्मृतिरूपपदेन स्मृत्यात्मकत्वविवक्षायामसंभवः भ्रमस्यानुभवात्मकत्वात् । स्मृतिसदृशलं संस्कारजन्यत्वमिति विवक्षायां च संस्कारस्यानुभवाधीनत्वात्पूर्वमप्यनुभवो निरूपणीयः । सच प्रमात्मको वा उत भ्रमात्मको वेति विचारणायां शुक्तिरजतस्थले प्रमात्मकानुभवजन्यसंस्कारस्यैव कारणत्वदर्शनेनात्रापि तस्यैव कारणत्वमङ्गीकरणीयम् । तच्च न संभवति; इदंरजतयोरिव पारमार्थिकयोश्चैतन्यान्तःकरणयोरनभ्युपगमात् । भ्रमानुभवजन्यसंस्कारकारणकत्ववादे लनवस्था स्यात् इति स्मृतिरूपत्वांशो न संभवति । यदितु भ्रमप्रमासाधारणानुभवजन्यसंस्कारजन्यत्वमेव स्मृतिरूपपदेन विवक्ष्यते, पूर्वपूर्वसंस्काराधीनत्वं चोत्तरोत्तरस्य भ्रमस्याङ्गीक्रियते, अनवस्थादोषोऽपि बीजाङ्कुरन्यायेन नात्र किञ्चित्करः, भ्रमसंस्कारयोः कार्यकारणभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वादिति विभाव्यते, तर्हि परत्रांशसमन्वयो न संभवति । परत्रपदेन पूर्वदृष्टदेशान्यदेशविवक्षायाम् अहंकाराध्यासादावव्याप्तिः; तेषां पूर्वदृष्टसाक्षिदेशावच्छेदेनैवाध्यासात् । सत्यस्वरूपाधिष्ठानविवक्षायां च जडाधिष्ठानकत्वाध्यासेऽव्याप्तिः । एवं शङ्कपीति-मभ्रमादौ स्वाप्नभ्रमादौ चाव्याप्तिः, तेषामपूर्वाणां पूर्वदृष्टत्वाभावात् । अन्यत्र दृष्टानामेव स्वाप्निकादीनां स्वप्नादाववभास इति कल्पनायां च तेषामिवान्तःकरणकर्तृत्वादीनामपि सत्यत्वमेव स्यादिति जीवब्रह्मभेदवादोऽसंभवदुक्तिकः । अधिष्ठानविषमसत्ताकारोप्यज्ञानत्वं तु न तल्लक्षणम्; सत्ताभेदादिपरिभाषाया अद्वैतपरिभाषामात्रसिद्धत्वात् ।

अयमाशयः—अनिर्वचनीयमेव रजतादिकं भ्रमज्ञाने भासत इति वदता किमिदमनिर्वचनीयत्वमिति विवेचनीयम् । तत्र न तावत्सदसद्विलक्षणत्वम् अनिर्वचनीयत्वम्, सत्त्वासत्त्वयोरैकाभावेऽपरसत्त्वनियमेनोभयविलक्षणत्वस्यासंभवात् । असत्त्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वमेवासत्त्वम्; नतु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम्, ब्रह्मणोऽपि असत्त्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वापत्तेः । सत्तादात्म्यशून्यत्वमेवासत्त्वं, तच्च ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्म सदिति प्रतीत्या ब्रह्मणि सत्तादात्म्यस्य विद्यमान-

त्वादिति नच वाच्यम्; परमते रूपस्यासद्रूपत्वेनाङ्गीकृतस्यासत्त्वानापत्तेः, रूप्यं सदिति प्रतीतेः । प्रतीत्यनुसारेण हि सत्त्वा-
सत्त्वयोरभ्युपगमः । नापि प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं तत्; द्वैतविशिष्टस्य ब्रह्मणो मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वासंभ-
वेन प्रपञ्चे तादृशस्यानिर्वचनीयत्वस्योपपादनासंभवात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वमिथ्यात्वं तु न संभवदुक्तिकमपि; घटादावव्याप्तेः ।
एवंचानिर्वचनीयख्यात्यङ्गीकारायोगात्सामान्यलक्षणादिप्रत्यासत्त्यनङ्गीकारेणापणस्थरूप्यस्यैव संसर्गाध्यासमात्रमित्यन्यथाख्याति-
पक्षस्यापि तथात्वात्, रजतस्यान्तरत्वे अहं रजतमिति प्रतीत्यापत्त्यादिना आत्मख्यात्यसंभवाच्चासत्ख्यातिपक्ष एव पर्यवसान-
मिति जीवब्रह्माभेदवादोऽसंभवदुक्तिकः—इति ॥

अत्रेदं तत्त्वम्—अप्रामाण्यज्ञानाद्यनास्कन्दितात्मसाक्षात्कारो हि न श्रवणादिकं विना संभवति । सत्यपि श्रवणे
प्रतिबन्धकविशेषेण तदनुत्पत्त्या हि नासाधनत्वनिर्णयः संभवति; मण्यादिप्रतिबन्धकविशेषेण अग्निनापि दाहस्यानुत्पत्त्या
अग्रेऽपि दाहकारणत्वानुपपत्तेः । आत्मसाक्षात्कारस्य हि मोक्षसाधनत्वम् अज्ञाननिवृत्तिद्वारकमेवेति समूलस्य बन्धजातस्य
मिथ्यात्वमपि सूचितमेव । यथाच सदसद्विलक्षणत्वं, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं, ज्ञाननिवर्त्यत्वं,
स्वात्यन्ताभावे एव प्रतीयमानत्वं सद्विवेकत्वादिकं च मिथ्यात्वं सुवचमुपपन्नं च तथाऽद्वैतसिद्धौ विस्तर इति नेह वितन्यते ।
एतेन—निवृत्तिरात्मेति वचनमपि—**व्याख्यातम्**; अहमनुभवस्तु कदाचिच्छरीरं कदाचिदिन्द्रियं कदाचिन्मनश्च
गोचरयन्त्रैकरूपे आत्मनि प्रमाणमिति आगमेनैव आत्मतत्त्वविनिर्णयः । यथाचायमेवार्थः सर्वासाम् उपनिषदां सर्वेषां ब्रह्म-
सूत्राणां च गोचरः तथात्रावसरप्राप्ते किञ्चिदिव लेखिनीं व्यापारयामः । तदत्र चतुरध्यायीविमर्शनं चतुस्सूत्रीभूमिकायां
प्रतिज्ञातमपि विस्तरभयात् सर्वशास्त्रसंग्रहरूपायाः पञ्चसूत्र्याः विमर्शनेनैव कृतप्रतिज्ञा वयमिति तत्रैवेदानीं प्रवर्तमाने ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

आनन्दतीर्थीया हि—नाहमीश्वर इति प्रत्यक्षेण विरुद्धधर्माक्रान्तत्वहेतुका अनुमानेन भिन्नोऽचिन्त्य इत्यादिश्रुत्या च
जीवब्रह्माभेद एव वस्तु सन्, न तदभेदः, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्राथम्येनोपजीव्यत्वेन चागमापेक्षयापि प्राबल्यादिति
निरूपयन्ति ॥

अत्राद्वैतिनः प्रतिब्रुवते—नाहमीश्वर इति हि प्रत्यक्षं न जीवेश्वरभेदविषयकम् । तत्र हि न जीवस्तात्त्विको भासते;
स्थूलोऽहमित्यादिप्रत्ययवत्तस्य भ्रमत्वात् । स्थूलोऽहमिति प्रत्ययोऽपि कुणिरहमहं गच्छामीत्यादिरिव भ्रम एव । **एतेन**—
अनुमानादिप्रमाणमपि भेदसाधकम्—**निरस्तम्** भिन्नोऽचिन्त्य इत्यादिका तु श्रुतिव्यावहारिकभेदपरा । परस्परपेक्षयो-
रेवोपक्रमोपसंहारयोरुपक्रमस्य प्राबल्यम्, नतु उपक्रमत्वेन, अपच्छेदन्यायविरोधापत्तेः, उपजीव्योपजीवकभावोऽपि
उभयोरप्यतिदेशत्वेनोपदेशत्वेन वा समबलत्वेनैव प्राबल्यदौर्बल्यप्रयोजकः, नत्वनुपदेशोपदेशत्वेऽपीति प्रत्यक्षस्यानुपदेशस्य
उपदेशरूपागमबाधकत्वं न संभवति । एवंचानुपदेशोपदेशयोः परस्परनिरपेक्षोपक्रमोपसंहारयोरिव चागमस्यैवात्र प्राबल्य-
मिति जीवब्रह्मैक्यमेव शास्त्रतात्पर्यविषयः ।

यदप्यत्रानन्दतीर्थीयानामधिकरणशरीरं—ब्रह्म प्रत्यगर्थजीवः तदन्यद्वेति चिन्तायाम् उपक्रमोपसंहारादिभिः
जीवब्रह्माभेदावगमात् तस्य च जीवस्वरूपस्यासंदिग्धत्वादिना न विचारः कर्तव्य इति पूर्वपक्षे, बृहन्तोऽस्मिन् गुणा इति
श्रुतेः स्वरूपतो गुणतश्चापरिच्छिन्नत्वयोगेन प्रवर्तमानस्य ब्रह्मशब्दस्य जीवाविषयत्वेन “तद्विजिज्ञासस्व” इत्यादि तदविषय-
त्वाद्विचारः कर्तव्य एवेति राद्धान्त—इति ॥

तत्रार्थं पूर्वपक्षो न समर्थयितुं शक्यः । तथाहि—

‘आत्मा ब्रह्मेत्यधीतः श्रुतिशिखरशतैर्निर्विशेषश्च सर्वैः

किं तत्र स्वप्रकाशे गुणलवरहिते वस्तु शास्त्रेण चिन्त्यम् ।

इत्याक्षेपो गुरुणां नतिनुतिविषये स्वाप्रणाम्यत्ववादः

श्रुत्यन्तानां निरूप्यः स यदि जडमते केन शास्त्रः स न स्यात् ॥ १ ॥

प्रामाण्यं सिद्धमेव ह्यकृतकवचसां त्वन्मते तर्कशास्त्रे

शास्त्रस्याङ्गं यदस्य स्वरसि हरिकृतं ब्रह्मतर्काभिधानम् ।

तच्चेद्भज्येत नित्यस्फुरद्गुणलवप्रत्यगात्मैदमर्थं

तन्निर्वाहाय तेषां सगुणविषयता पूर्वपक्षेऽपि ते स्यात् ॥ २ ॥

एवंच पूर्वपक्षिणा वेदान्तानां प्रामाण्यं न संरक्षणीयमिति शङ्कापि पराहता ॥ परमतसिद्धोपक्रमादिन्यायजालमवलम्ब्यापि
पूर्वपक्षसमर्थनं न संभवति । तदुक्तम्—

साक्षी जीवः सुखादीन्यनिशमनुभवन्सर्वमानाधिकस्ते
 तेषां तर्कं त्वदिष्टे प्रबलविवलतासंविभागश्च सिद्धः ।
 तस्यात्यन्तानुकूलश्रवणमपि तव प्राग्विचारात्तु साध्यम्
 श्रुत्यन्तानां क तस्यागुणविषयतया पूर्वपक्षस्य लाभः ॥ ३ ॥
 श्रुत्यन्तानामखण्डं विषय इति हि ते केन बोद्धव्यमेतत्
 न्यायैस्तादर्थ्यमेषां घटयदतिदृढैः शास्त्रमेकं न चेत्स्यात् ।
 तच्चेदङ्गीक्रियेत प्रतिहतविषयं प्रत्यगात्मैकनिष्ठं
 कस्यानारम्भसिद्ध्यै स भवतु भवतः पूर्वपक्षप्रयासः ॥ ४ ॥

वाचस्पतिविवरणकारयोरपि मते आद्याधिकरणपूर्वपक्षव्याघात एवं स्यादिति तु न शङ्क्यम् । तदुक्तम्—

सिद्धेऽसिद्धे च सिद्धान्त्यभिमतविषये दूषणं चेत्क्रियेत
 न्यायापेक्षा न तस्योन्मिषति निजमतप्रक्रियार्थानुवादे ।
 सिद्धान्त्यस्वीकृतेऽर्थे यदि तु विषयतापादनं पूर्वपक्षे
 कर्तव्यं तर्ह्युपायः कथमिव सुधिया तत्र नापेक्षणीयः ॥ ५ ॥

यथा पूर्वमीमांसायां सिद्धान्त्यनभिमतस्वर्गार्थत्वपूर्वपक्षेणाध्ययनविधिविचारः एवमत्रापीत्यपि न युक्तमित्याह—

एवं वाक्यं विचार्य यदि भवति नयो वापि सर्वत्र तुल्यः
 तर्किंचिन्त्यायकृत्स्याऽनभिमतरचनाप्युच्यते पूर्वपक्षे ।
 सर्वेषामेव नानाविधनयनिकरानेकतात्पर्यसीमां
 वेदान्तानां विमर्शाद्विषयविरचना त्वेकमीहेत शास्त्रम् ॥ ६ ॥

तस्माद्विवरणवाचस्पतिसंमतैवाधिकरणरचना युक्ता ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अत्रेत्यं विवरणसंमताऽऽधिकरणयोजना । प्रत्यगभिन्नब्रह्मविचारात्मकवेदान्तमीमांसा आरम्भणीया न चेति संशये
 विषयासंभवसंभवाभ्यां पूर्वपक्षसिद्धान्तौ । उपजीव्यप्रत्यक्षसिद्धस्य कर्तृत्वादेः सत्यत्वेन तद्विरुद्धाकर्तृत्वादिना समावेशयो-
 गेन प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपविषयासंभवः । एतदभिप्रायेणैव तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरित्युक्तमिति । प्रत्यक्षादेः तात्त्विकत्वाप-
 रिहारेऽपि व्यावहारिकत्वानपहारेणोपजीव्यविरोधाभावेन आगमविरुद्धप्रत्यक्षादिसिद्धकर्तृत्वादितिथ्यात्वेन विषयसंभव इति ॥

तत्रेत्यं चन्द्रिकाकाराः—जीवब्रह्मैक्यरूप एव विषयः सूत्रे विवक्षित इत्यत्र मानाभावः । ब्रह्मज्ञानस्येष्टमाणत्वं
 हि मोक्षसाधनप्रसादहेतुतयैव वक्तव्यम्, नतु जीवगतकर्तृत्वाध्यासानिवर्तकतया; 'यस्य प्रसादात्परमार्तिरूपात् अस्मात्संसा-
 रान्मुच्यते नापरेणे'त्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणगतैर्वचनैः प्रसादस्यैव मोक्षसाधनत्वं नतु ब्रह्मज्ञानस्येष्टवगमात् । ज्ञानं तु प्रसा-
 दसाधनम् । एवंच कर्तृत्वाध्यासानिरूपणं भाष्यकारकृतं न संगतम् । यदि तु सेवाया एव प्रसादहेतुत्वं नतु ज्ञानस्य,
 ज्ञानस्य प्रसादहेतुत्वपराणां वचनानां "यतितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता" इति वचनानुसारेण समत्वज्ञानविषय-
 त्वेनाविरोधात्, एवंज्ञानमेव मोक्षसाधनम्, अन्यथा "तस्य तावदेव चिर"मिति श्रुतिविरोधापत्तेः इति विभाष्यते, एवमपि
 सेतुदर्शनादिव सत्यस्यापि ब्रह्मज्ञानान्निवृत्तिसंभवात् । न तन्निरूपणं प्रयोजनवत् । अधिष्ठानाज्ञानकार्यस्य मिथ्याभूतस्यैवाधि-
 ष्ठानसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यत्वमिति अविधेयज्ञानस्यैव मिथ्याभूतबन्धनिवर्तकत्वमिति वक्तव्यमपरिष्करणेन सेतुदर्शनस्थ-
 लीयव्यभिचारपरिहारेऽपि प्रत्यक्षानुमानादिना मिथ्याभेदविषयकरणेऽपि तात्त्विकभेदाविषयीकरणात् तत्त्वमसीत्यादिभिः
 विशिष्टतात्त्विकभेदबोधने न किंचिदपि बाधकमिति कर्तृत्वादिवन्धमिथ्यात्वनिरूपणं अनवसरप्रस्तमेव । 'नेह नानास्ति
 किंचिन्'तिश्रुत्या विशिष्टमिथ्यात्वबोधनेन विशिष्टभेदस्य व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकस्य वा 'तत्त्वमसी'तिवाक्येन बोधनस्य
 समानसत्ताकयोर्भेदाभेदयोर्विरोधेनाप्रामाण्यापत्त्या चासंभवेन चिन्मात्राभेदपरत्वमेव युक्तमिति तु न शङ्कनीयम्; तत्त्वं
 पदमुख्यार्थत्वावुपपत्तेः । चिन्मात्रस्वरूपे भेदाप्रसक्त्याऽभेदबोधनस्य वैयर्थ्याच्च—इति वर्णयन्ति ॥

तच्च न समीचीनम्—'ज्ञात्वा देवं मुच्यते' इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वात्, तस्य च आविद्यकाध्यास-
 निवर्तकतयैव पुरुषार्थत्वात्, जीवत्वेश्वरत्वोपलक्षितभेदसंशयविरोधिजीवत्वेश्वरत्वाद्युपस्थितिद्वारकतत्त्वंपदलक्षितचिन्मात्र-
 स्वरूपैक्यबोधजनकत्वेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्यसार्थक्याच्च । यथाच शक्यार्थत्वं न मुख्यार्थत्वं, किंतु तात्पर्यविषयार्थत्वम्,
 तथा अद्वैतसिद्ध्यादौ व्यक्तम्—इति ।

वाचस्पतिसंमता तु सा यद्यपि प्रत्यगात्मन एव ब्रह्मत्वं; तथापि तस्याहंप्रत्ययविषयस्यासंदिग्धत्वात् तज्ज्ञानस्य अविद्याऽनिवर्तकत्वाच्च वेदान्तानां जपाद्यर्थतथैवोपयोग इति पूर्वपक्षः, संभावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य जीवस्वरूपासमर्पकत्वेन वेदान्तवेद्यप्रत्यगात्मस्वरूपनिर्णयार्थो विचार आवश्यक एवेति राद्धान्त इति ॥

यत्तु अत्र चन्द्रिकाकृतां दूषणम्—विषयप्रयोजनाधिकारिणाम् असंभवात् विचारशास्त्रम् अनारम्भणीयमेव । **तथाहि**—प्रत्यक्षानवगतः शास्त्रमात्रवेद्य आत्मा कीदृशः; शुद्ध इति चेत्, तस्य स्वप्रकाशस्य न स्वप्रकाशार्थं शास्त्रापेक्षा, प्रत्यक्षादिदशायामपि स भासते एव । यदि न भासते, तर्हि किं तत् स्वरूपमेव न प्रकाशते, उत कश्चिदंशः । द्वितीयेऽपि सोंशः किं शरीरभेदो वा, कर्तृत्वाद्यभावो वा, ब्रह्मात्माभेदो वा तत्र नाद्यः; तत्त्वतो गृह्यमाणे स्वप्रकाशेऽज्ञानतोऽभान-कल्पनासंभवात्, अन्यथा अज्ञानादिभानासंभवात् न द्वितीयः; शरीरभेदादीनां सत्यत्वेऽद्वैतहान्यापत्तेः, मिथ्यात्वे च तत्त्वावेदकशास्त्रवेद्यत्वानुपपत्तेः । एवं च “यजमानः प्रस्तरः” इत्यादाविव प्रत्यक्षाविरोधेनार्थवर्णनमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानां युक्तमिति अज्ञानतद्विषयत्वाद्यप्रसिद्धेर्न विषयप्रयोजनादिसिद्धिः—इति ॥

तदपि न संगतम्—अकर्तृत्वाद्युपस्थितिपूर्वकब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्यैव जीवगताविद्याबन्धनिवर्तकत्वेनैव काम्यत्वेन, “ज्ञानेन त्वाहते तस्मिन् सर्वं ब्रह्ममयं भवेत्” इति बृहन्नारदीयवचनेनासंभावनादिदोषरहितज्ञानस्यैव तन्निवर्तकत्वात्, अहंप्रत्ययस्य असंभावनादिदोषकलुषितस्य बुद्ध्यादिसाहित्यांशस्याधिकस्यापि तत्र विषयत्वेनाज्ञानानिवर्तकत्वात्, तादृशज्ञानसिद्ध्यर्थं विचारशास्त्रमारम्भणीयमेव । अधिष्ठानज्ञानमात्रं हि नाज्ञानविरोधीति स्वप्रकाशेऽप्यज्ञानं संभवति । यथाचाज्ञाने प्रमाणलक्षणादिसंभवः तथा अद्वैतसिद्धौ विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह वितन्यते । यथाच “यजमानः प्रस्तरः” इत्यस्यान्यपरस्य प्रत्यक्षानुसारेण अन्यथानयनेऽपि न वेदान्तानामन्यथानयनसंभवः, तथापि तत्रैव विवृतम् । तादृशं च अज्ञानं विवरणमते चैतन्यविषयकं चैतन्याश्रितं च अज्ञानाश्रयत्वेऽपि चैतन्यस्य नाज्ञत्वप्रसङ्गः; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्, स्ववशोपाधित्वाद्द्वेत्याद्यपि तत्रैव विस्तृतमुपलभ्यते । वाचस्पतिमिश्रमते तु जीवोऽज्ञानाश्रयः, चैतन्यं तद्विषय इति विशेषः । सर्वथा च विषयप्रयोजनाधिकारिणां संभवात् विचारशास्त्रमारम्भणीयमेवेति सिद्धम् । इति ब्रह्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

अत्रानन्दतीर्थीयाः—“जिज्ञासाकारणीभूतगुणपूर्तिप्रसिद्धये । जीवादिभेदकं विष्णोर्विश्वकर्तृत्वमुच्यते” इति संगतिमुक्त्वा “तद्विजिज्ञासखे”त्यत्र ब्रह्मशब्दः किं जीवपरः उत विष्णुपरः इति संदिह्य ब्रह्मशब्दस्य जीवे रूढत्वात् जीवपर इति पूर्वपक्षग्य (यित्वा) “यतो वेति” जगत्कारणत्वस्य जीवेऽनुपपत्त्या रुढेरपि बाधात् अहृद्द्वारा कल्पकत्वेन वा जगत्कारणत्वे जातादिपदानां मुख्यार्थत्वागपत्तेश्च विष्णुपरः—इति राद्धान्त्यन्ति ॥

तत्र रघुनाथसूरयः—सामान्यधर्मज्ञानस्यैव जिज्ञासाकारणत्वेन गुणपूर्तिस्तदकारणत्वात्, प्रसिद्धेस्तत्कारणत्वेऽपि तस्य गुरुमुखाद्यधीनाया विश्वकर्तृत्वानधीनत्वात्, गुणपूर्तेरेव जीवादिभेदकत्वोपपत्त्या विश्वकर्तृत्वोपपादनस्यानावश्यकत्वाच्च संगतिवर्णनमिदं न संगतम् । **एतेन**—पूर्वपक्षोऽपि न युक्त इति—**सूचितम्**; शरीरब्रह्मकत्वयोगेनैव ब्रह्मशब्दस्य जीवे प्रवृत्तिः, नतु रूढ्या; रूढ्यङ्गीकारेण तस्यासंभवदुक्तिकत्वात् । **वस्तुतस्तु**—ब्रह्मशब्दः प्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्यप्रयोगबाहुल्याभ्यां ब्रह्मण्येव रूढः न जीवे । अतएव—“तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तौ महामुने” इत्यादिवचनसंगतिरिति पूर्वपक्षे न किमपि बीजमुपलभामहे । अन्यथा जीवे रूढ्यङ्गीकारे प्रमेयबलाबलपेक्षया प्रमाणबलाबलस्य दौर्बल्येन बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा इति योगाश्रितवैदिकप्रसिद्धेरपि रूढ्याश्रितलौकिकप्रसिद्धापेक्षया दुर्बलत्वेन सिद्धान्तानुत्थितेः । योगरूढत्वं तूभयत्रापि तुल्यम्; जीवेऽपि योगरूढ्याश्रयणात् । **एतेन**—ब्रह्मणि विद्रुद्रूढ्या जीवनिष्ठाश्रुद्धिबाधेन सिद्धान्तसमर्थनमपि—**पराहतम्**; किंचासंदिग्धस्य जीवस्य जिज्ञास्यसमर्पकब्रह्मशब्देन कथमपि न बोधः । **तथाहि**—अथ स्यत्वावगमादिति चेत्, हन्त ‘नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्य’ इति विष्णोरेव जिज्ञास्यत्वावगमात् कुतो वा न जीवोऽपि परित्यज्यते ? यदि तद्वाक्यापर्यालोचनयोक्तपूर्वपक्षः, तर्हि “यत्प्रत्यन्यमिसंविशन्ति” इति वाक्यप्रतिपाद्यमोक्षदत्वप्राप्यत्वं योरसंभवात् पूर्वपक्षानुत्थानम् । **एवं**—“यतो वे”त्यादिश्रुत्युक्तेन जगत्कारणत्वेन सिद्धान्ते रूढिबाधनमपि न युक्तम्; निरवकाशेनैकेनापि ब्रह्मशब्देनानेकजीवल्लिङ्गभङ्गसंभवेन त्वन्मतेऽद्वैतवाक्यानामिव जगत्कारणत्वादीनामपि जीवे कथंचिदन्यथानयनसंभवात्, इति वाचस्पत्यादिसंमतैवाधिकरणरचनात्र स्वीकरणीया ।

साचेत्थम्—यद्यावदनुभूयते तत्सर्वमशुद्धं विनाश्यं परिमितं च, नच तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वरूपं लक्षयितुं शक्यम् । नहि कृतकत्वेन नित्यत्वानुमानसंभवः । **एतेन**—सत्यादिवाक्यमपि न ब्रह्मलक्षण-

परमिति—सूचितम् ; स्वरूपस्यालक्षणत्वात् इति पूर्वपक्षे—जगत्कारणत्वं ब्रह्मलक्षणम् । जगतोऽलक्षणत्वेऽपि तदुत्पत्तेः सवितृब्रज्याया देशान्तरप्राप्तेरिव हि लक्षणत्वसंभवः । कल्पितमपि जगत्कारणत्वं ब्रह्मण एवासाधारणो धर्मः रजतमिव शुक्तिकाया इति नातिव्याप्त्यसंभवौ । सत्यादिवाक्यमपि स्वरूपलक्षणपरमेव ; स्वरूपस्यापि कल्पितत्वेन भेदेन लक्षणत्वसंभवात् । ‘जन्माद्यस्य यत’ इति यच्छब्दोपादानमुक्तलक्षणद्वयस्यापि गमकमिति सिद्धान्तः—इति ॥

अत्राहुः चन्द्रिकाकाराः—जिज्ञास्यस्वेतरव्यावृत्त्यर्थं जीवपरत्वापरत्वविचार एवात्र युक्तः । “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” इति सूत्रस्येवास्य लक्षणपरत्वस्यैव युक्तत्वेऽपि अनित्यस्य जगतो नित्यब्रह्मलक्षणत्वासंभववर्णनं न युक्तम् ; अनित्यस्यापि शब्दस्याकाशलक्षणत्वदर्शनात्, सिद्धान्ते मिथ्याभूतस्यैव जगत्कारणत्वादेः लक्षणत्वस्वीकाराच्च । तदुक्तेः स्वरूपलक्षणत्वाभावाभिप्रायत्वेनोपपत्तावपि जगदुत्पत्तेः ब्रह्माधर्मत्वाच्च लक्षणत्वम् । एतेन—देशान्तरप्राप्तेरिव सवितृब्रज्याया इति दृष्टान्तोऽपि—परास्तः । देशान्तरप्राप्तेः सवितृब्रज्याधर्मत्वाभावात् । अस्तु वा कारणतासंबन्धेन लक्ष्यवृत्तिविवक्षयोक्तदोषवारणमपि, एवमपि जन्मादिशब्दार्थो जन्मस्थितिभङ्गमिति भाष्यमसंगतमेव । एककारणत्वेनापीष्टसिद्ध्या समुदितकारणत्वविवक्षाया निष्प्रयोजनत्वात् । अखण्डैकस्वरूपलक्षकतयाऽविद्यातन्नाशादावतिव्याप्तिवारणार्थतया वा तत्सार्थक्येऽपि, जन्मस्थितिभङ्गमोक्षदत्वबन्धदत्वज्ञानदत्वाज्ञानदत्वमोक्षप्राप्यत्वादिधर्माष्टकलक्षणत्वमेव युक्तम् । उक्तवाक्ये सर्वेषामनुपस्थानेऽपि चतुर्णां जन्मस्थितिभङ्गमोक्षदत्वानामुपस्थानेन मोक्षदत्वमात्रपरित्यागे कारणाभावात् । “यत्प्रयन्ती”-त्यनेन पौनरुक्त्यपरिहारार्थं “अभिसंविशन्ति” इत्यनेन मोक्षदत्वविवक्षणस्यैव युक्तत्वात् । प्रायपाठप्राप्तस्य यत्पदसमभिव्याहारस्याभिसंविशन्तीत्यत्र परित्यागे निर्वाजत्वापत्त्या प्रयन्तिशब्दस्य प्रत्ययेऽनुखानि सन्तीत्यर्थकशत्रन्तत्वाङ्गीकारेण अभिसंविशन्तीत्यस्य पौनरुक्त्यशङ्कानुदयेन मोक्षपरत्वेन तस्य मोक्षप्रतिपादकत्वेऽपि मोक्षस्यापि लयविशेषरूपत्वेन च त्रितयलक्षणत्वयोगेऽपि सद्विलक्षणस्य जगतो भवन्मते उत्पत्त्यसंभवाच्च जगदुत्पत्तिस्थितिकारणत्वानि लक्षणम् । सद्विलक्षणत्वस्यासद्विलक्षणत्वस्य वानुत्पत्त्यप्रयोजकत्वेऽपि जगज्जन्मादिकारणत्वं तदस्थलक्षणं वा स्वरूपलक्षणं वेति विवेचनीयम् । यदि स्वरूपलक्षणं, सिद्धान्तविरोधः, यदि तदस्थलक्षणम्, तर्हि किं नाम तदस्थलक्षणत्वम् ? लक्ष्यागतत्वं चेत्, कारणत्वस्य ब्रह्मगतत्वेन तदस्थलक्षणत्वासंभवः । उपहितकेवलात्मना लक्ष्याभिन्नत्वं स्वरूपलक्षणत्वं, तदितरत्वं तदस्थलक्षणत्वमिति परिष्कारेऽपि, अत्र लक्षणद्वयकथनं व्यर्थम् ; स्वरूपलक्षणघटकानन्त्योपपादकतया तदस्थलक्षणस्य स्वरूपव्यवच्छेदकतया स्वरूपलक्षणस्य चोपयोगेऽपि सत्यादिवाक्यानां विशिष्टपराणां स्वरूपलक्षणत्वासंभवः । सत्यादिवाक्यानां विशिष्टपरत्वपरित्यागो हि बाधकवशेन स्यात् । बाधकं च न किमप्युपलभामहे । सद्विद्या हि उपक्रमपरामर्शोपसंहारैः सविशेषपरैव, न निर्विशेषपरा । तथाहि—उत तमादेश इति हि शासनकर्तुः सविशेषस्यैवोपक्रमः एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानवादोऽपि सविशेषपरत्वेऽपि प्रधानज्ञानादप्रधानानामपि ज्ञातप्रायत्वादुपपद्यते । ‘सन्मूलाः सोम्य सदायतना’ इति मूलमूलिभावनिर्देशो नान्तरा सविशेषत्वमुपपद्यते । एतदभिप्रायेणैव “सदेव सोम्येदमग्र आसीदि”ति प्रपञ्चसत्त्ववचनं, “तत्सत्यमि”ति वचनं च । तत्त्वमसीति तु विभक्तिलोपस्थादादेशादिभिः वैयधिकरण्येन शरीरशरीरिभावाभिप्रायेण सामानाधिकरण्येनैव वा सविशेषवादानुगुणमपि नेतुं शक्यमेव । एतेन—“एकमेवाद्वितीयमि”ति वाक्यमपि—व्याख्यातं भवति; एकशब्देन मुख्यत्वस्यैव अद्वितीयपदेनासहायत्वस्य चैव बोधनात् इति सर्वमनवद्यमिति अस्मदुक्तपक्षोऽत्रादरणीय—इति ।

तदेतन्न संगतम् ; सद्विद्यायाः सजातीयविजातीयखगतमेदरहितनित्यशुद्धबुद्धोदासीनाखण्डचिन्मात्रपरताया एव युक्तत्वात् । यथाचैतत्तथानुपदमेव निर्णयसागराधिपतिभिः प्रकाशितायां सूत्रभाष्यभामतीकल्पतरुपरिमलात्मिकायां पञ्चग्रन्थां समन्वयभाष्यगतसदेवेदमिति वाक्यशिरस्कायां टिप्पण्यामुपपादितमस्माभिरिति विस्तरभयादुपरमामः ॥ इति जन्माद्यधिकरणम् ॥

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

जगज्जन्मादिकारणत्वस्य ब्रह्मलक्षणस्य आनुमानिके, आगमिके वा, रुद्रादावतिव्याप्त्याक्षेपेण अनुमानस्यान्यत्र प्रामाण्यस्यापि नावेदविदित्यादिश्रुत्या जगत्कारणत्वस्यानुमानिकत्वप्रतिक्षेपात् श्रुतिविरुद्धानां दुरागमानामप्रमाणत्वाच्च स्वतःप्रमाणश्रुतिसमधिगतो नारायण एव जगत्कारणमिति सिद्धान्तेन चोक्ताधिकरणप्रवृत्तिरिति—आनन्दतीर्थीयाः ।

तत्र यद्यपि सांख्यपाशुपतादिदुरागमप्रामाण्यं स्मृत्यनवकाशदोषाधिकरणेन व्युत्पाद्यमानं पुनरुक्तमिव प्रतिभाति; तथाप्यतिव्याप्तिनिरासकत्वेनास्यासंभवनिरासकत्वेन तस्य च प्रवृत्त्या न पौनरुक्त्यम् । यद्वा—पाशुपतादिस्मृत्या पूर्वपक्षे पाञ्चरात्र्यादिस्मृत्या सिद्धान्तः, तत्र तु स्मृत्यनुमानाभ्यां पूर्वपक्षे श्रुत्या सिद्धान्त इति । अथवा—तत्र शैवाद्यागमेन पूर्वपक्षे तदप्रामाण्येन राजान्तोऽत्रानुमानेन पूर्वपक्षे स्वतःप्रामाण्येन सिद्धान्त इति विवेकः । क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वात्
अ, सि, 2

शिवो जगत्कर्ता, सर्वज्ञत्वादिति वा पूर्वपक्षिसंमतोऽनुमानप्रयोगः । ‘चक्षुरादि यथाऽशक्तं रसगन्धादिवस्तुषु । अनुमाऽपि तथाऽशक्ता धर्मब्रह्मादिवस्तुषु’ सर्वथा तु अनुमानायोग्यत्वदुरागमाप्रामाण्याभ्यां जगत्कारणत्वस्य श्रुतिसदागमादिविषये नारायण एव समन्वयो नान्यत्र शिवादाविति नातिव्याप्तिरिति तदीयं हृदयम् ॥

तदेतन्न संगतम् । नहि कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानेन विशिष्य रुद्रः कर्तेति सिध्यति, नावेदविदित्यादिश्रुत्या विष्णोः आनुमानिककारणत्वं यथा निषिध्यते, एवं “एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशान” इति “नारायणाद्ब्रह्मा जायते” इति श्रुत्या रुद्रादेः सर्वजगत्कारणत्वमपि निषिध्यते इति न परिशेषानुमानस्याप्यवकाशः, श्रुतिमनाहत्य पूर्वपक्षकरणे तु रुद्र एवेति न विशेषसिद्धिरिति घटकुट्यां प्रभातम् । पूर्वपक्षसंमतेन शास्त्रप्रामाण्येन सिद्धान्तकरणासंगतिस्त्वधिका । एतेन—शिवो जगत्कर्ता, सर्वज्ञत्वात्, इत्यनुमानमपि—**पराहतम्**; आगमेन शिवस्यैव कोशादिना बौद्धस्य, पातञ्जलतन्त्रादिना योगिनां च सर्वज्ञत्वेन व्यभिचारात् । बुद्धादीनामपि पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वं तु आगमसाहाय्येन पूर्वपक्षयितुं तव न संभवति, नहि केनाप्यागमेन बुद्धः सर्वज्ञ इति सिध्यति । किञ्च विधिरुद्रादिपुरःसरसकलजगत्कारणत्वस्य रुद्रादाविति व्याप्तिः, उत कारणत्वमात्रस्य । **नाद्यः**; तस्य रुद्रादौ बाधितत्वेनातिव्याप्यनवसरात्, इमानि भूतानीति निर्देशात्प्रसिद्धसर्वभूतकारणत्वं विवक्षितमिति अतिव्याप्तिप्रसरसमर्थनं तु न संभवति; प्रसिद्धपदेन वर्तमानप्रत्यक्षघटादिमात्रविवक्षणे तत्कारणत्वमात्रेण गुणपूर्व्यत्वाभात् “जिज्ञासाकारणीभूतगुणपूर्तिप्रसिद्धये । जीवादिभेदकं विष्णोर्विष्वकर्तृत्वमुच्यते” इति स्वप्रतिज्ञाविरोधः । प्रसिद्धकतिपयकारणत्वस्य जीवेऽपि संभवेन तदन्यथानुपपत्त्या जीवे ब्रह्मशब्दरूढिभङ्गसिद्धान्तविरोधः, एवं च विधिरुद्रादिपुरःसरसर्वजगत्कारणत्वविवक्षणस्यावश्यकत्वात् न रुद्रेऽतिव्याप्तिप्रसङ्गः । **अयमभिप्रायः**—“यतो वेति” वाक्ये यच्छब्दोपनिबन्धेनानुवादत्वेन पुरोवादापेक्षायां प्रत्यासत्त्या कारणवाक्यानि सर्वाण्येव पुरोवाद इत्याश्रयणीयमिति “इदं सर्वमसृजत” इत्यादिपर्यालोचनया सर्वजगत्कारणत्वमेव विवक्ष्यते इत्यङ्गीकरणीयम् । एतदभिप्रायेणैव “इमानीति सर्वानात्रश्च संकोचकाभावा”दित्यादि चन्द्रिकावाक्यप्रवृत्तिः । किञ्च ब्रह्मशब्दार्थस्य गुणपूर्व्यादेश्च निर्णायकतया जगत्कारणत्वस्य पूर्वाधिकरणे उक्तस्य कारणत्वस्य ब्रह्ममात्रवृत्तितायाः सिद्धत्वात् न तदन्यसाधारण्यशङ्कोन्मिषति । जगत्कारणत्वस्यान्यगतत्वे ब्रह्मशब्दार्थ एव रुद्रो वा विष्णुर्वेति शङ्का स्यादिति तदनिर्णयाक्षेप एवात्र विवक्षित इति तु न शङ्कनीयम्; ‘तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्’ । ‘तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तो महामुने’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनैः विष्ण्वेकनिष्ठरूढिज्ञानेनैवोक्ताक्षेपपरिहारसंभवेन जगत्कारणत्वस्येतरसाधारण्येऽप्यविरोधात् । आकाशादिकारणादिष्वपि परोवरीयस्त्वादभिरेव ब्रह्मनिर्णयः नतु जगत्कारणत्वेनेत्यदोषात् । किञ्च रुद्रस्य जीवकोऽन्यन्तर्भावेन पूर्वपक्षः ? उतेश्वरकोऽन्यन्तर्भावेन ? **आद्ये** पूर्वाधिकरणेन कारणत्वपूर्णत्वाभ्यां जीवभेदे सिद्धे निश्चितजीवभेदकस्य कारणत्वस्य कथं जीवसाधारण्याशङ्का ? अनुमानेनेति चेत्, अस्तु साधारण्यं को विरोधः ? न च शास्त्रानारम्भः; रुद्रादिकारणत्वस्यानुमानिकत्वेऽपि विष्णुकारणत्वस्यानानुमानिकत्वेन शास्त्रारम्भसिद्धेः । **न द्वितीयः**; ईश्वरानेकत्वस्याप्रसिद्धत्वात्, “एकमेव,” “न ब्रह्मा नेशान” इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च । यथा रुद्रेऽश्वरत्वे तस्य लक्ष्यत्वमेव स्यात्तथा शंकरभगवत्पादभूषणे स्पष्टं प्रतिपादितमिति नेह वितन्यते ॥ किञ्च श्रुतिविरोधे अनुमानश्रुत्याद्यप्रामाण्येन स्मृत्या पूर्वपक्षकरणम् असंगतमेव; श्रुतब्रह्मकर्तृणां हि भवतां पूर्वमेव सकलशास्त्रश्रवणस्य संप्राप्तत्वात् मननात्मकमेवेदं शास्त्रमित्यङ्गीकारेण न दुरागमप्रामाण्यशङ्का संभवति । संभवन्त्याश्च तस्या अनेनाधिकरणेन निरासे स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गाधिकरणवैफल्यम् । तत्र हि पाशुपतागमानां पाञ्चरात्रविरुद्धानामप्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । श्रुत्यात्राप्रामाण्यसमर्थनं, तत्र तु स्मृत्येति तु नापौनस्त्यम् । अत्र स्मृतीनामपि भाष्ये उदाहरणेन तदप्रामाण्यस्यापि अत्रैव विवक्षणात् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः । **एतेन**—आगमापेक्षयाऽनुमानाप्रामाण्यम् एतदर्थः स्मृत्यप्रामाण्यं तदर्थं इति वचनमपि—**पराहतम्**; श्रुतिविरुद्धानुमानाप्रामाण्याशङ्काया एवानुदयात् । अतिव्याप्तिवारकतया अस्य असंभवनिरसनेन तस्यैव नापौनस्त्यम् । प्रथमतोऽसंभवनिराकरणस्यैवावसरप्राप्तत्वात्, तथैव संप्रदायाच्च । शास्त्रयोनित्वात् इति सूत्रेण हि शास्त्रमेव योनिः यस्येति व्युत्पत्त्या प्रमाणान्तराविषयत्वसमर्थनेन शास्त्रमात्रगम्यत्वस्यैव विवक्षणेन प्रमाणान्तरविषयत्वपूर्वपक्षनिराकरणमेव अभिप्रेतम्, नतु साधारण्यनिराकरणमिति गण्डस्योपरि स्फोटसंपातः । सर्वथा च शंकरभगवत्पादसंमताधिकरणयोजनैवात्र समीचीना न आनन्दतीर्थसंमता इति सिद्धम् ।

शंकरभगवत्पादसंमता हि सा इत्थम्—सर्वजगत्कारणत्वं ब्रह्मणो न संभवति; कर्तृत्वोपयोगिसर्वज्ञत्वाभावात् । तथाहि—ब्रह्म हि स्वरूपज्ञानम्, तस्य हि सर्वज्ञत्वं सर्वस्वभास्यतादात्म्यम् । न चैतद् सृष्टेः प्राक् संभवति; अतीतानागतादीनां तत्र तदानीमकल्पितत्वाच्च । अनुमित्यादेरिव तु अतीतादिविषयकत्वं ब्रह्मणो न संभवति; परोक्षत्वापातात् । अतः प्रधानमेव जगदुपादानम् । महत्त्वोपाधिको जीवस्तु कर्ता । तस्यैव तु योगार्द्धसंपादितसावैश्वस्य चेदोपदेष्टृत्वम् । अस्तु वा ब्रह्मैव कारणमिति; सर्वजगत्कारणं तु न संभवति; असर्वज्ञत्वात्, न च वेदकर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वं; वेदस्य ‘वाचा विरूपनिख्ये’ति श्रुत्या नित्यत्वेन तन्नेश्वरस्याकारणत्वात् । अस्तु वा सोऽनित्य इति, एवमपि वेदकर्तृत्वं न ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वं साधयितुं

पारयति । वेदो हि निश्चितश्रुत्या ईश्वरबुद्धिं विनैव तस्मादाविर्भवतीत्यवगम्यते, यो हि विनैव बुद्धिं यस्मान्निर्गतः कथं तत्कारणत्वेन तस्य व्यवहारः ? व्यवहारे वापि कथं सर्वतदर्थविज्ञानवान्भवति ? सर्वथा ब्रह्म न सर्वजगत्कारणम्, किंतु प्रधानादिकमेवेति पूर्वपक्षः ॥ सिद्धान्तस्तु ब्रह्म सर्वज्ञं, शास्त्रकारणत्वात्, यथाहि हिरण्यगर्भस्रष्टुः महत्तत्त्वरूपहिरण्यगर्भो-
पाधिस्रष्टृत्वं स्वरूपज्ञानत्वेऽप्युपपद्यते परेषाम्, एवं सर्वजगत्कारणत्वमपि अस्मन्मते स्वरूपज्ञानत्वेऽप्युपपद्यते । विद्यमान-
सर्वविषयकत्वमेव सर्वज्ञत्वं न त्वतीतानागतादिविषयत्वमपीति न परोक्षत्वाद्यापातः । तदिदं सर्वज्ञत्वं यद्यपि सकलजगत्कारण-
त्ववर्णनेनैव सिद्धप्रायम्; तथापि सर्वज्ञवेदकारणत्वेन तद्गुणकर्तुं शास्त्रयोनित्वाद्यधिकरणम् । निश्चितश्रुतिर्हि अनायाससा-
ध्यत्वपरा न बुबोधयिषापूर्वकां तत्कृतिं प्रतिबध्नाति । एवं महतः अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्यर्ग्वेदादेः अनायासेन लीलान्या-
येन यः स्रष्टा स सर्वज्ञ इत्यत्र को वा विप्रतिपद्येत । तदयं निर्गलितः प्रयोगः—वेदः तदर्थधिकविज्ञानवत्पुरुषप्रणीतः,
वाक्यप्रमाणत्वात्, यद्यद्वाक्यप्रमाणं तत्तत्तदर्थधिकविज्ञानवत्पुरुषप्रणीतम्, यथा पाणिन्यादिप्रणीतं व्याकरणादिकमिति ।

अत्र चन्द्रिकाकाराः—लक्षणानन्तरमवश्यापेक्षितप्रमाणपरत्वसंभवेऽन्यपरत्वायोगः, युष्मदभिमतधाधिष्ठानत्वमात्रेण
सार्वश्यालाभः, पूर्वसूत्रतोऽर्थतो लब्धस्य सर्वशक्त्यादित्यागेन सार्वश्यास्यैव स्फोरणे प्रयोजनाभावः, श्रुत्या शास्त्रयोनित्वस्य
तेन सार्वश्यास्य च साधनेन प्रधानकारणतानिषेधापेक्षया श्रुत्यैव प्रधानकारणतानिषेध एव वरम्, जगन्निर्माणेन अस्फुटी-
कृतस्य सार्वश्यास्य तदेकदेशशास्त्रनिर्माणेन स्फुटीकरणासंभवः, एकार्थमात्रज्ञप्रयुक्तानेकार्थकवाक्ये व्यभिचारात् वेद इत्यनु-
मानायोगः, आधुनिकपुरुषपाणिगतवराटिकाज्ञानासिद्धिश्चेति नेदं परेषामधिकरणशरीरं युक्तम्—इति वर्णयन्ति ॥

तदेतदापातरमणीयम्; नहि लक्षणे असंभवदोषकलुषितत्वेन शक्यमाने प्रमाणाभिधानावसरः । वस्तुतस्तु—
जन्मादिसूत्रेण प्रमाणस्यापि निरूपितत्वात् न प्रमाणाकाङ्क्षोदयः । त्वयापि प्रमाणजिज्ञासया न सूत्रमवतारितम्, किंतु
अतिव्याप्तिवारकतया । यथा जन्मादिसूत्रेण अधिष्ठानत्वमुक्तम्, एवं कर्तृत्वमपीति भ्रमाधिष्ठानत्वमात्रेण सर्वज्ञत्वासिद्धावपि
कर्तृत्वविशिष्टेन तेन तत्सिद्धिसंभवः । सर्वज्ञत्वदृढीकरणेन तदुपपन्नमश्रुतेः सर्वशक्तिर्वेऽपि तात्पर्यादर्थत्वं सर्वशक्तिदृढीक-
रणमपि संभवत्येव । वेदांशे 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादिश्रुतिविरोधपरिहारेण अनित्यत्वव्यवस्थापनं यथाऽपेक्षितं नैवं
लोकांशे इति 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रनिर्देशः । कारणत्वलक्षणेनापेक्षितं सर्वज्ञत्वं हेत्वविशेषेण अत्र समर्थत इत्येव
विवक्षितं, नतु जगत्कारणत्वेन सिद्धस्य हेत्वन्तरेण पुनःसमर्थनमिति जगन्निर्माणेत्याद्ययोगः । स्वविषयशब्देन च
स्वप्रयोजकबुबोधयिषाविषयस्यैव विवक्षणाच्चैकार्थमात्राभिज्ञप्रयुक्तानेकार्थकवाक्ये व्यभिचार इति न 'वेदः' इत्यनुमाना-
योगः । प्रमाणवाक्यत्वादित्यनेन शास्त्रत्वादिति विवक्षणे तु यो यच्छास्त्रकर्तेति सामान्यव्याप्तेः न लौकिकवाक्ये व्यभिचार-
प्रसङ्गोऽपि । प्रकृतेनानुमानेनैव आधुनिकपुरुषपाणिगतवराटिकाज्ञानमीश्वरस्य साध्यत इति न बाधावाकाश इति सर्वमनवद्यम् ।
इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

किं विष्णुरेव जगत्कारणं, उतान्योऽपि रुद्र इति संशये उपक्रमस्य प्रतिग्रहीतुरश्वप्रतिग्रहेष्टौ पाश्चात्त्योद्गात्रपच्छेदप्रायश्चित्ते
उपसंहारस्य अभ्यासस्य प्रयाजाद्यैक्ये व्यभिचारेणोपक्रमोपसंहाराभ्यासानां, स्मृतिसिद्धार्थप्रतिपादकश्रुतीनां नित्यविधी-
नामफलानां निरूपपत्त्यर्थकार्यवादानां चाप्रामाण्यापत्त्याऽपूर्वफलोपपत्त्यर्थवादानां च तात्पर्यानिर्णायकत्वात् श्रुतिव्याख्या-
नरूपपच्छेदागमाद्भ्रुदोऽपि कारणमिति पूर्वपक्षे—समुच्चितानामुपक्रमोपसंहारादीनां व्यभिचारादिपरिहारस्यान्यत्र स्पष्टत्वेन
तात्पर्यानिर्णायकत्वादुपक्रमोपसंहारादिभिः विष्णुरेव जगत्कारणं नान्यो रुद्र इति सिद्धान्तः । एतेन—निर्विशेषचिन्मात्र-
कारणतावादोऽपि—पराहतः इत्यानन्दतीर्थीयाः ।

तदेतदसंगतम्—शास्त्रयोनित्वाधिकरणेनैव श्रुतिविरुद्धशैवागमाद्यप्रामाण्यस्य तदनुसारेण रुद्रकारणत्वस्य प्रतिक्षेपेण
संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तानां निर्दलत्वात् । यथा निर्विशेषचिन्मात्रकारणतया तत्रैव सर्वेषामपि वेदान्तानां समन्वयस्तथाऽ-
नुपदमेव प्रकाशयिष्यत इत्याचार्यभगवत्पादीयसंमतैवात्राधिकरणयोजना समीचीना ।

तथाहि—वेदान्ता अनधिगतप्रयोजनवदर्थप्रतिपादकत्वेन अनधिगताबाधितार्थबोधकत्वेन वा शुद्धब्रह्मणि प्रमाणं न
वेति संशये ब्रह्मणोऽक्रियारूपत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतराविषयत्वेनाप्रयोजनत्वात् सिद्धस्य ब्रह्मणो मानान्तरविषयत्वावश्यकत्वे-
नाधिगतत्वेन चाप्रामाण्यमिति कर्माङ्गभूतकर्तृदेवतादिस्तावकत्वेनोपासनाविधिविषयसमर्पणेनैव प्रामाण्यान्न वेदान्ताः शुद्धे
ब्रह्मणि प्रमाणमिति पूर्वपक्षे, शुद्धब्रह्मणः पुरुषार्थानुपयोगित्वेऽपि स्वतःपुरुषार्थत्वात्, नित्यप्राप्तस्यापि तस्याप्राप्तिभ्रान्ति-
निराकरणेन कण्ठगतचामीकरन्यायेन फलत्वसंभवात्, कार्यवस्तुविषयाणामपि लौकिकानां वाक्यानां सापेक्षत्वदर्शनेन,
सिद्धवस्तुपराणामपि निरपेक्षत्वदर्शनेन च सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः सिद्धकार्यवस्तुविषयकत्वस्याप्रयोजकत्वेन सिद्धवस्तुविषय-

कत्वेऽप्यविरोधाच्च वेदान्ताः शुद्धे ब्रह्मणि प्रमाणमेवेति राद्धान्तः । यथाच सद्विद्याया अद्वितीये ब्रह्मण्येव पर्यवसानं तथा पूर्वमेवोपपादितम्, एवं बृहदारण्यकचतुरध्यायाः मुण्डकोपनिषदः इतरेषां चापि तत्रैव पर्यवसानं मेदपरत्वनिराकरण-पूर्वकमद्वैतसिद्ध्यादौ विस्वरेण प्रतिपादितमिति नेह वितन्यते ।

अत्राहुश्चन्द्रिकाकाराः—पूर्वपक्षोऽयं निर्दलः; निष्प्रयोजनत्वशङ्का हि जिज्ञासाधिकरण एव परिहृता । पौरुषेयत्वमेव सापेक्षत्वप्रयोजकम्, नतु सिद्धविषयकत्वं, कार्यविषयकाणामपि सापेक्षत्वदर्शनादिति । एवं सिद्धान्तोऽप्ययुक्तः; निर्विशेषे चिन्मात्रे श्रुतिसमन्वयासंभवात् । असंदिग्धे च तस्मिन्संशयादिकमपि न संभवति । किंच—आद्यसूत्रेऽहमर्थे हि प्रसिद्धिरुपपादिता । जिज्ञासार्थं, द्वितीये हि जगज्जन्मादिहेतुता ॥ अविद्यमानाहमर्थे लक्षणत्वेन कीर्तिता । ईश्वरस्य, तृतीये तु निर्विशेषप्रमाणता ॥ शास्त्रस्योक्ता, चतुर्थे च तस्मिन्नेव समन्वयः । प्रतिज्ञातोऽन्तरित्यादौ सविशेषं तु कथ्यते ॥ ब्रह्मेति मायिनां पक्षः तत्र किं केन संगतम् । तत्त्व-विद्वेषमात्रेण श्रुतिसूत्रे कदर्थिते ॥

एतेन—कण्ठगतचामीकरन्यायेनात्मनः फलत्वव्यपदेशोऽपि—परास्तः; दृष्टान्ते प्राप्तिज्ञानजन्यसुखस्यैव फलत्वेन वैषम्यात्, तत्तु समन्वयादिसूत्रस्वारस्यमप्यस्मन्मत एव; तच्छब्देन ब्रह्मण एव विवक्षणेनाध्यायसमाप्ति साध्यसमर्प-कतयोपयोगात्—इति ।

तदेतद्विचाररमणीयम् । तथाहि—प्रथमसूत्रे हि एतदधिकरणसिद्ध एवार्थ उपोद्धातत्वेन प्रत्यक्षप्रावृत्यनिरा-करणेन विषयप्रयोजनसमर्थनार्थमनूदितः । नहि तावता एतदधिकरणवैयर्थ्यापादनसंभवः । अतएव हि युष्मन्मते शास्त्र-योनित्वसमन्वयाभ्यां सिद्धं वेदप्रामाण्यम् अतःशब्देन परामृष्टमपि शास्त्रयोनित्वसमन्वयाधिकरणयोः सार्थक्यम् । नह्यस्माभिः कार्यपराणामसिद्धार्थपरत्वनियमोऽङ्गीकृतः, किंतु सिद्धवस्तुत्वावच्छेदेन प्रमाणान्तरविषयत्वनियम एवेति न पूर्वपक्षो निर्दलः । **एतेन—**सिद्धान्तोऽपि—**व्याख्यातः**; निर्विशेषोऽपि उपक्रमोपसंहारादिभिस्तात्पर्यनिर्णयसंभवात् । यथाचैतत्त-थान्यत्र विस्तरः । **प्रथमसूत्रे** जीवस्य पारमार्थिकं यद्रूपं ब्रह्म तजिज्ञासां प्रस्तुत्य, तस्य जैवरूपव्यावृत्तत्वेन जिज्ञास्यत्वायौ-पाधिकं जगत्कारणत्वलक्षणं **द्वितीयेनाभिधाय**, जगत्कारणत्वाद्युपलक्षितस्य शास्त्रैकगम्यत्वं **तृतीयसूत्रे** समर्थं, चतुर्थेन तत्र सर्वेषां वेदान्तानां तात्पर्यमुपवर्ण्य, ईक्षत्यधिकरणेनोक्तलक्षणातिव्याप्तिशङ्कानिरसनेन गतिसामान्यमुपक्षिप्योपक्षिप्तस्य तस्य स्फुटीकरणम् आनन्दमयाधिकरणमारभ्य क्रियते । अन्तराद्यधिकरणेषु च प्रसङ्गात् प्रकृतब्रह्माश्रितान्युपासनानि विचार्यन्त इति अस्मन्मते सर्वं संगतमेवेति असंगत्याद्युद्भावनं चन्द्रिकाकाराणां परमार्थाद्वैतात्मविद्वेषमात्रेणैवेति मन्तव्यम् । कण्ठचा-मीकरस्थले हि चामीकरः प्राप्त इत्यभियुक्तानामनुभवात् प्राप्तस्य प्राप्तिरेव विवक्षिता; नाप्राप्तस्य सुखस्य, कस्यापि सुखं प्राप्तमित्यननुभवात् । तत्तु **समन्वयादिति सूत्रस्वारस्यं** तु अस्मन्मत एव । ब्रह्मजिज्ञासेति प्रक्रमेणैव आध्यायसमाप्ति ब्रह्मणः सर्वत्र विषयतासंभवेन तदर्थं तत्पदनिवेशवैयर्थ्यात् । प्रक्रान्तार्थपरामर्शकेन तेन साध्यसमर्पणस्यैव युक्तत्वादिति सर्वमनवयम् । इति **समन्वयाधिकरणम् ॥**

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

आद्यसूत्रे ब्रह्मशब्देन जीवादिव्यावर्तकगुणपूर्ति, **द्वितीये** तत्सिद्ध्यर्थं जगत्कारणतां, **तृतीये** तत्र शास्त्रप्रमाणतां, **चतुर्थे** शास्त्रस्य अन्यपरतानिषेधेन विष्ण्वेकनिष्ठतां, वचनवृत्त्या सर्वशास्त्रतात्पर्यविषयतां चोपवर्ण्य समन्वयादिशब्दार्थस्य वाच्यत्वस्य कार्त्तिक्यस्य च निरूपणार्थमुक्ताधिकरणम् । अत्र ब्रह्मणि समन्वयोऽयुक्तो युक्तो वेति संशये न युक्त इति पूर्वपक्षः । **तथाहि—**नहि ब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां पर्यवसानम्; तस्य “यतो वाचो निवर्तन्त” इत्यादिना वाच्यत्वप्रतिक्षेपात्, “परात्परं पुरुषमीक्षते” इति श्रुतम् ईक्षणीयत्वं तु निर्गुणस्यैव, नतु सगुणस्येति न तदन्यथोपपत्त्या वाच्यत्वसिद्धिः । अस्तु वा शुद्धमेवेक्षणीयमिति, तथापि तल्लक्ष्यतयैवोपपत्तौ न वाच्यत्वसिद्धिः । यथाहि वाचकपदप्रयोगे किमस्य वाच्यमिति प्रश्ने वाचकं पदान्तरमेव प्रयुज्यते, एवं लक्षकपदप्रयोगे किमस्य लक्ष्यमिति प्रश्ने लक्षकं पदान्तरमेव प्रयोक्तुं शक्यत इति न दोषः । गङ्गापदादिप्रयोगे किं लक्ष्यमिति प्रश्ने तीर इत्यादिवाचकपदप्रयोगस्तु अप्रयोजक इति मन्तव्यम्—इति ॥ **सिद्धान्तस्तु—**ब्रह्म नावाच्यमीक्षणविषयत्वात् । ईक्षणविषयत्वं हि ब्रह्मणि प्रत्यक्षादिना असंभवानुपनिषदैव वर्णनीयमिति तत्र लक्षणायां गङ्गापदलक्ष्ये गङ्गात्वाभाववत् अशब्दादिपदलक्ष्ये अशब्दत्वाभावेन सशब्दत्वमेव पर्यवस्येत् । आत्मशब्दादिभिस्तस्य ज्ञेयत्वं हि अवश्यमङ्गीकरणीयम् । अन्यथा मोक्षासिद्धिप्रसङ्गात् । नच लक्षणया ज्ञेयत्वसंभवः वाच्यसंबन्धितया ज्ञेयमेव हि लक्ष्यं भवति नचोपनिषदं लक्ष्यं वाच्यसंबन्धितया ज्ञातम् । यौगिकत्वात्तु न संगतिग्रहापेक्षेति न दोषः, निर्गुणाशब्दादिपदानां हि न सगुणमर्थ इति निर्गुणपरत्वमेवाङ्गीकरणीयम् । अवाच्यत्वादिश्रुतिस्तु प्रसिध्यभावाभिप्रायेति मन्तव्यम् । **तदर्थं सूत्रार्थः—**ब्रह्म अशब्दं न, ईक्षतेः—इत्यानन्दतीर्थीयाः ॥

अत्रेदं विचारणीयम्—अद्वैतभिमतस्य निर्गुणस्य वाच्यत्वमिदानीं समर्थ्यते, उत सगुणस्येति । आद्ये सगुणस्यैव गुणपूर्णस्य भवता पूर्वं ब्रह्मरूपत्वं प्रतिज्ञातमिति तत्रैव लक्षणप्रमाणसर्वशास्त्रपर्यवसानानां वर्णितत्वेन निर्गुणवाच्यत्वसमर्थनमनवसरम् । द्वितीये तत्रावाच्यत्वस्य केनाप्यनभिमतत्वेन तन्निराकरणमकाण्डताण्डवम् । जिज्ञास्यस्यावाच्यत्वात् सविशेषत्वे च तदनुपपत्त्याऽशब्दमित्याद्यनुपपत्त्या सविशेषत्वाक्षेपस्यैवात्र विवक्षणे तु अशब्दत्वनिषेधो न युक्तः । निर्विशेषत्वमेव खलु तदा निषेद्धम् । सन्ति च “यतो वाचो निवर्तन्ते” इत्यादिकाः अवाच्यत्वप्रतिपादका इव ‘साक्षी चेता’ इत्यादिकाः निर्विशेषत्वबोधिका अपि श्रुतयः । किंच त्वत्पूर्वपक्षी शास्त्रं जगत्कारणत्वेन किञ्चित्प्रतिपादयतीति मन्यते वा न वा, आद्येऽपि यतो वाच इत्यादयः तत्पराः, अन्यपरा वा । यदि तत्परास्तर्हि परस्परविरोधेन श्रुत्योरन्यतराप्रामाण्यम् । प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावेऽवाच्यत्वशङ्काया अनुत्थानं च । यदि न तत्पराः, तर्हि कारणादन्यस्यावाच्यत्वेऽपि कारणजिज्ञासासमन्वयायाक्षेपायोगः । यतो वेत्यादिश्रुतिविरोधात् अकारणपरं शास्त्रमिति पक्षोऽपि न संभवति । अस्तु वा कथंचिदवाच्यत्वाक्षेपोपपत्तिः, तथापि नेक्षणीयत्वेन तस्य निरासः संभवति; अवाच्यत्वेऽपीक्षणीयत्वोपपत्त्या तस्यासाधकत्वात् । छत्रिपदलक्ष्ये छत्रित्ववदशब्दादिपदलक्ष्येऽशब्दत्वमप्युपपद्यत इति न । गङ्गापदलक्ष्ये तीरेऽगङ्गात्ववत् अशब्दत्वमनुपपन्नमिति शङ्कापि नावकाशं लभते । एतेन—आत्मशब्दादयोऽपि—व्याख्याताः । यथाच शक्यसंबन्धो न लक्षणा; अर्थवादवाक्येषु व्यभिचारादिति स्वबोध्यसंबन्ध एव लक्षणा तथाऽन्यत्र विस्तर इति । नाऽशब्दादिपदलक्ष्यत्वासंभवः । नहि शुद्धे ब्रह्मणि जातिगुणक्रियादि संभवतीति न तस्य वाच्यत्वम् । अतएव निर्विशेषश्रुत्युपपत्तिः । सगुणश्रुतीनां तु उपासनाप्रकरणस्थानां तदपेक्षितगुणसमर्पकत्वेन, निर्गुणप्रकरणस्थानां तदपेक्षितनिषेधसमर्पकत्वेन चोपयोगात् न सविशेषत्वे किञ्चिदपि प्रमाणमवलोकयामः । एवंच ‘ईक्षतेर्नाशब्द’मिति सूत्रं न वाच्यसमर्थनार्थमिति युक्तम् । अन्यथा वाच्यमीक्षतेरित्येव सूत्रविन्यासः स्यादतीक्षतेर्नाशब्दमिति गुरुतरविन्यासो निरभिप्राय एव स्यात् । स्वपक्षसाधनमुखेनापि परपक्षनिराकरणसंभवात्परपक्षनिराकरणार्थं तथा सूत्रकरणमित्यपि न युक्तम् । किंचावाच्यत्वनिषेध एव यदि विवक्षितः, तर्हि किमर्थमवाच्यमित्यविन्यासेनाशब्दमिति विन्यासः कृतः? अशब्दमिति श्रुत्यनुगमार्थमिति चेत्, तस्यास्पर्शादितिपदवत् समवायसंबन्धेन शब्दाभावपरत्वेनैवोपपत्त्या वाच्यत्वरूपविपक्षबोधकत्वाभावाच्च तदनुगमनं प्रयोजनवत् । अस्तु वा कथंचिदपि अशब्दमित्येव सूत्रविन्यासः, तथापि अशब्दत्वश्रुत्युपसृष्टस्य पूर्वपक्षस्येक्षणीयत्वेन लिङ्गेन निराकरणासंभवः । वस्तुतस्तु—युष्मन्मतरीत्यापि ब्रह्मणो न वाच्यत्वसंभवः । तथाहि—किमुपासनाप्रकरणपठितानाम् उपास्यसमर्पकश्रुतीनां ब्रह्म वाच्यं भवेत्, उत सृष्टिप्रकरणपठितानाम् । नाद्यः; ब्रह्माव्यक्तत्वेन नोपास्यं, किंतु तत्प्रतिबिम्बमेव चित्तगतमुपास्यमिति “तदव्यक्तमाह हि” इत्यधिकरणे युष्माभिर्निर्णीतत्वेन ब्रह्मणोऽनुपास्यत्वेन तत्र तद्वाक्यानां लक्षकताया एव युक्तत्वात् । न द्वितीयः; सृष्टिवाक्यानामुपास्यगुणसमर्पकत्वस्याध्यानायेत्यधिकरणे युष्माभिः प्रतिपादितत्वेन सृष्टिप्रकरणस्थानारायणादिपदानामुपास्यब्रह्मसमर्पकत्वस्यासंभवात् । किंचेक्षणीयत्वं हीदं प्रत्यक्षविषयत्वं वा, ज्ञानविषयत्वं वा । नाद्यः; प्रत्यक्षविषयत्वस्य वाच्यत्वाप्रयोजकत्वात् । शाब्दान्परोक्षत्वस्य युष्माभिर्निराकरणात् । एतेन—द्वितीयपक्षोऽपि—परास्तः ।

एवं च ब्रह्म नाशब्दं, ईक्षतेरित्येवं सूत्रयोजनापि पराहतेति अद्वैतिसंमतैवात्र योजनादरणीयेति वदामः ।

सा हि—प्रधानं जगत्कारणं उत ब्रह्मेति सदेवेति वाक्यं प्रधानपरम् उत ब्रह्मपरमिति च विचार्यम्, तत्र प्रधानमेव जगत्कारणमिति पूर्वपक्षः, त्रिगुणं सावयवं च प्रधानमेव जगत्कारणम्, नतु अगुणम् निरवयवं च ब्रह्म । सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणि ज्ञानरूपे न संभवति, प्रधाने तु संभवतीति । एतेन—सदेवेदमिति वाक्यमपि—व्याख्यातं भवति । सिद्धान्तस्तु—प्रधानं न जगत्कारणम्, अशब्दत्वात्, कथमशब्दत्वम् ईक्षतेरिति । अयमाशयः—नहि प्रधानमचेतनं जगत्कारणं भवति; असर्वज्ञत्वात्, ज्ञानशक्तिमात्रेण सत्त्वगुणेन सर्वज्ञत्वमिव तमोगुणेन मोहशक्तिमात्रेणासर्वज्ञत्वमपि हि स्यात् । ब्रह्म तु सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं चेति युक्तं सर्वजगत्कारणमिति ।

तत्राहुश्चन्द्रिकाकाराः—सदेवेदमिति वाक्यं किं विशिष्टपरिणामिलबोधकम्; किंवा तत्कर्तृत्वबोधकम्? आहो शुद्धब्रह्माधिष्ठानत्वबोधकम् । नाद्यः; प्रतिज्ञातसमन्वयस्याखण्डस्यैवात्र वक्तव्यत्वेन विशिष्टे उक्तवाक्यप्रतिपादितसत्त्वाद्ययोगेन च तदसंभवात् । अतएव हि न द्वितीयः; प्रधानं परिणामीति पूर्वपक्षखण्डनार्थं ब्रह्म कर्तृ इति बोधनस्य वैयधिकरण्याच्च । एतेन तृतीयोऽपि परास्तः; नहि प्रधानं परिणामीति प्राप्ते ब्रह्माधिष्ठानमित्युक्तिः समानाधिकरणा भवति । कथंचिदवैयधिकरण्येऽपि “तदैक्षत” “सेयं देवतैक्षते” इत्यादिकम् अधिष्ठाने ब्रह्मणि न समन्वितं भवति । लक्षणया तस्य चिन्मात्रपरत्वे सर्वमपि लक्षणया प्रधानपरं स्यात् । एतेन—ईक्षतेरिति हेतुनिर्देशोऽपि—परास्तः; नहि तात्पर्याविषयेणक्षणेन प्रधाननिराससंभवः । अपिचेदमधिकरणं सदेवेदमिति वाक्यस्य ब्रह्मणि समन्वयार्थं वा, उत प्रधानस्य शाब्दत्वनिरासार्थं वा । नाद्यः; आनन्दमयोऽभ्यासादिति वत् स ईक्षतेरिति सूत्रविन्यासापत्तेः । न द्वितीयः; तन्निरासके चतुर्थपाद एव

संगतत्वेनात्रासंगतेः । किंचास्मन्मते आनन्दमयस्तद्ब्रह्मेतिवत् अनुषजनीयस्य तच्छब्दस्य तदशब्दं न ईक्षितेरित्युद्देश्य-
समर्पकतयान्वयः हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्यं च; तव तु अशब्दं प्रधानं न कारणं, कारणस्येक्षितृत्वात् इति वदतो
हेतुविभक्त्यभावेन साध्यत्वयोग्याशब्दत्वरूपसाध्यपरित्यागेनाकरणत्वरूपसाध्यकल्पनादिकमिति सूत्राक्षेशोऽप्यस्मन्मते एव ।
किंच निर्विशेषचैतन्यस्य ज्ञानरूपस्येक्षितृत्वं स्वरूपेण न संभवति, विशिष्टरूपेण च तत् प्रधानस्यापीति न शुद्धजगत्कारणत्व-
सिद्धान्तो विचारसहः—इति ॥

तदेतदापातरमणीयम्—प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात् सृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिः, नासंहृतस्य ब्रह्मणः
एकात्मकस्येति पूर्वपक्षभाष्ये कर्तृत्वोपयोगिज्ञानत्वस्य परिणामित्वोपयोगिसांशतायाश्च ब्रह्मण्यसंभवप्रदर्शनेन तस्य कर्तृत्वमु-
पादानत्वमुभयं न संभवति । प्रधाने तु संभवति द्वयमिति व्युत्पाद्य कारणतया वेदान्तप्रतिपाद्यं प्रधानमिति पूर्वपक्षपर्यव-
साने कृते, प्रधानं कारणतया न वेदान्तप्रतिपाद्यमशब्दत्वादिति भाष्यटीकाप्रदर्शिते सिद्धान्ते नोक्तविकल्पानां संभवः ।
कारणतया वेदान्तप्रतिपाद्यम् उपहितं शुद्धं वेति विकल्पस्तु उपहितशुद्धयोः तादात्म्याङ्गीकारेण युक्तोऽपि उपहितशुद्धधर्म-
सत्त्वाद्युपपत्त्या त्वदुक्तदूषणानाम् अनवसरः । एतेन ईक्षतेरिति हेतुनिर्देशोऽपि व्याख्यातः; उपहिते ईक्षणकर्तृत्वसंभवात् ।
अवान्तरतात्पर्यविषयत्वात् ईक्षणस्य हेतुलोपपत्तिः । इदं चाधिकरणं सद्विद्यायाः ब्रह्मणि समन्वयार्थम् । तत्र यद्यपि
आनन्दमयोऽभ्यासात् इतिवत् सदीक्षतेरिति विन्यासादपि इष्टसिद्धिः; तथापि लक्षणदोषस्य प्रधानातिव्याप्तेः वारणम् प्रधानं
न जगत्कारणमित्युपपादनमन्तरा न सिध्यतीति प्रधानम्, अकारणम्, अशब्दत्वात्, कथमशब्दत्वम्? ईक्षतेः, इत्यय-
मर्थः ईक्षतेर्नाशब्दमिति सूत्रविन्यासेनैव सिध्येदिति—गुरुतरविन्यास आहतः । एतेन—अस्मन्मते आनन्दमयः तद्ब्रह्मे-
तिवत् अनुषजनीयस्य तच्छब्दस्य उद्देश्यसमर्पकतयान्वयः, हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्यम्, तव तु अशब्दं प्रधानं न
जगत्कारणं कारणस्येक्षितृत्वादिति हेतुविभक्त्यभावेन साध्यकल्पनादिना च गौरवं इति वचनमपि—पराहतम् । त्वन्मते
उद्देश्यसमर्पकतयानुषजनीयस्य तत्पदस्यान्वयवत् मन्मते तत्तु समन्वयात् इत्यत्र साध्यसमर्पकतया अन्वितस्य शास्त्रयो-
निपदस्यैव अनुषङ्गेण अशब्दं न शास्त्रयोनि अशब्दत्वात् इति योजनायाम् अस्वारस्याभावात् । अशब्दपदस्य तु आवृत्त्या
पक्षहेतुभयपरत्वम्, एतदर्थमेव हेतुविभक्तिं विना निर्देशः ॥

एवंच अशब्दं, न शास्त्रयोनि, अशब्दत्वात् इत्येकमनुमानं, शास्त्रं न प्रधानपरं, ईक्षतेः इति द्वितीयमनुमानमिति
अनुमानद्वयलाभार्थं अत्र सत् ईक्षतेरिति सूत्रविन्यासपरित्यागेन ईक्षतेर्नाशब्दं इति सूत्रविन्यास आहतः ।
ईक्षणात्मकस्यापि आत्मनः ईक्षणाश्रयाविद्यकमेदवदुपहिताभिन्नस्य ईक्षितृत्वं यथा संभवति, नैवं प्रधानस्य उपहितभिन्न-
त्वादिति सर्वमनवद्यमिति शिवम् । अवशिष्टान्यपि सूत्राणि सत्यवसरेऽवसरान्तरे विचारयिष्यामः ॥

अलमनेन प्रसक्तानुप्रसक्तेन विचारेणेति प्रकृतमेव विषयं सिंहावलोकनेनावलोकयामः । परीक्षितप्रत्यक्षं यद्यप्या-
गमात् प्रबलम्; तथापि अपरीक्षितमहं गच्छामीत्यादि प्रत्यक्षम् आगमादुर्वलमेव । अतएव प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः ।
नेहनानास्तीत्यादीनाम् एकमेवेत्यादीनां च यथा द्वैतमिथ्यात्व एव तात्पर्यं, तथा विवरणभामतीप्रस्थानयोः स्पष्टमिति नेहं
वितन्यते । तदेवं पञ्चपादिकाविवरणभामतीभिः उपपादितं चित्तुखादिभिः आनन्दबोधादिभिश्चोपबृंहितं द्वैतमिथ्यात्वं
दोषाभासाविष्करणेन हेत्वाभासादिदूषणदूषितैरनुमानादिभिश्च क्लृपयन्ति स्म न्यायामृतकारा व्यासतीर्थाः । एतदुपपन्नमेव
द्वैतमतं परिष्कृतावस्थमिति मन्यामहे । अस्य च न्यायामृतस्य संग्रहः तथा असंभावनाविपरीतभावनादुर्वासनादिवास्ता-
न्तःकरणैः रामतीर्थैः अन्यथाऽन्यथाग्रहणेन ग्राहणेन च तरलीकृता तरङ्गिण्याख्यया स्वकृतया व्याख्यया तत्संग्रहोऽपि
प्रेक्षकाणां सुखावबोधस्य कृते अस्माभिरत्र संयोजितः ।

तदिदं न्यायामृतमन्यायामृतमेवेति स्थापयितुं कमपि ग्रन्थमगृह्णन् सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः मधुसूदनसरस्वत्यः । तदत्र
व्यासतीर्थानां वार्धक्य एव सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैः मधुसूदनसरस्वतीभिः कृतेयमद्वैतसिद्धिः तदीयन्यायामृतखण्डनरूपा
मधुसूदनसरस्वत्यन्तेवासिभिः कैश्चनावलोकिता व्यासतीर्था आज्ञापयन् तत्खण्डनार्थं खान्तेवासिनं रामतीर्थमित्येतैर्ह्यं
किंचनात्र विलेखितुं सोत्साहा वयमिति निवेदयामः । मधुसूदनसरस्वत्यो हि बाल्य एव कृतसंन्यासपरिग्रहाः अद्वैतमतव्यव-
स्थापनार्थमेव स्त्रीयं सर्वमप्यायुः विन्ययुजतेत्यपि किंचिदैतिह्यमत्र विलिखामः । सर्वदैव गोविन्दपरायणा अपीमे अद्वैत-
मतव्यवस्थापनेन “वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलना”दिति कल्पतत्त्वाक्यं यथार्थयन्ति । मधुसूदनसरस्वतीप्रणीतास्तु
गूढार्थदीपिकादिषु कृतिषु इयमद्वैतसिद्धिरेव प्रमेयबहुलोपस्कृता अतिगम्भीरा चेति सुविशदमिदं सर्वेषाम् ॥

तत्र केचित् द्वितीयाभावोऽद्वैतमिति, परेतु द्वितीयाभावोपलक्षितात्मस्वरूपं तदिति च वर्णयन्ति । उभय-
मपीदं द्वितीयमिथ्यात्वनिरूपणाधीनमिति यत्र यत्रैतादृशाद्वैतनिश्चयः तत्र सर्वत्रापि “एकमेवाद्वितीयम्” “यतो वा
इमानि भूतानि जायन्ते” “तत्त्वमसि” इत्यादिषु द्वितीयमिथ्यात्वमपि सम्यङ्निरूपितमित्युपपन्नमिदं द्वितीयाभावोपलक्षिता-
त्मस्वरूपमद्वैतमिति । स्पष्टतरं चेदमुपपादयितुं प्रवृत्तेष्वपि बहुषु निबन्धेषु मान्यमान्यमधुसूदनसरस्वतीप्रणीताऽद्वैतसिद्धि-

रिव परमतनिराकरण-स्वमतस्थापनाभ्यां नान्यो निबन्धो दर्शनीयतमः । तत्रच मिथ्यात्वं पञ्चपाद्युक्तं सदसद्भिन्नत्वम्, विवरणोदिते प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व-ज्ञाननिर्वर्त्यत्वे, चित्सुखीयं स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्, आनन्दबोधोक्तं सद्भिन्नत्वरूपत्वं च तत्तन्मतनिराकरणार्थं प्रवृत्तं स्वरूपतो निरूप्यमाणं नान्येन ग्रन्थेन स्फुटतरं विज्ञायते युथाऽद्वैतसिद्ध्या; द्वैतमिथ्यात्वश्रुतिप्रमाणप्रदर्शनेन तत्सत्त्वसाधकप्रमाणाभावनिरूपणेन च सूत्रभाष्यादिकं श्रवणरूपं, तथा श्रुतिसिद्धेऽपि तत्र तर्काभासाभासीकरणेन सत्कर्वावष्टम्भेन विनिश्चयमादधानेयम् अद्वैतसिद्धिः मननमेवेति मन्यामहे । एवंच “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इति श्रवणमिव मननमप्यवश्यकर्तव्यमिति अद्वैतसिद्धिपठनमत्यन्तमावश्यकमेव ॥

अत्र चत्वारः परिच्छेदाः समुल्लसन्ति । तत्र प्रथमपरिच्छेदे विचारिता विषयाः (१) विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्व-निरूपणम्, (२) पक्षतावच्छेदकविचारः, (३) प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणम्, (४) मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरूपणम्, (५) दृश्यत्व-निरुक्तिः, (६) जडत्वनिरुक्तिः, (७) परिच्छिन्नत्वनिरुक्तिः, (८) चित्सुखीयमिथ्यात्वनिरुक्तिः, (९) सोपाधिकत्वभङ्गः, (१०) आभाससाम्यभङ्गः, (११) प्रत्यक्षबाधोद्धारः, (१२) प्रत्यक्षप्राबल्यभङ्गः, (१३) प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वम्, (१४) प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम्; (१५) अपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः, (१६) वह्निसौत्यानुमितिसाम्यभङ्गः, (१७) प्रत्यक्षस्याबाध्यत्वे बाधकम्; (१८) भाविबाधोपपत्तिः, (१९) सत्यत्वानुमानभङ्गः (२०) मिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि, (२१) आगम-बाधोद्धारः, (२२) असतः साधकत्वम्, (२३) असतः साधकत्वाभावे बाधकम्, (२४) दृश्यसंबन्धभङ्गः, (२५) अनुकूल-तर्कनिरूपणम्, (२६) प्रतिकर्मव्यवस्था, (२७) प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्, (२८) मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः, (२९) अद्वैतश्रुते-र्बाधोद्धारः, (३०) ज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्यानुपपत्तिः, (३१) दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः, (३२) एकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः, (३३) अविद्यालक्षणम्, (३४) अज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः, (३५) अविद्यानुमानोपपत्तिः, (३६) अविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः, (३७) अविद्यायाम् अर्थापत्तिः, (३८) अविद्याप्रतीत्युपपत्तिः, (३९) अज्ञानस्य शुद्धचिन्निष्ठत्वोपपत्तिः, (४०) अज्ञानस्य जीवाश्रयत्वो-पपत्तिः, (४१) अविद्याया विषयोपपत्तिः, (४२) अहमर्थस्यानात्मत्वनिरूपणम्, (४३) कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः, (४४) देहा-त्मैक्याध्यासनिरूपणम्, (४५) अनिर्वाच्यत्वलक्षणम्, (४६) अनिर्वाच्यत्वानुमानम्, (४७) ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः, (४८) नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः, (४९) अन्यथाख्यातिभङ्गः, (५०) आविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः, (५१) भ्रमस्य वृत्ति-द्वयत्वोपपत्तिः, (५२) सत्तात्रैविध्योपपत्तिः । द्वितीयपरिच्छेदे (१) अखण्डार्थलक्षणम्, (२) सत्याद्यवान्तरवाक्या-खण्डार्थतोपपत्तिः, (३) अखण्डार्थत्वोपपत्तिः, (४) निर्गुणत्वोपपत्तिः, (५) निर्गुणे सप्रमाणता, (६) निराकारत्वसाधनम्, (७) ब्रह्मणः ज्ञानत्वाद्युपपत्तिः, (८) ब्रह्मण उपादानत्वम्, (९) ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वम्, (१०) ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तत्वम्, (११) स्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः, (१२) स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः, (१३) शब्दावाच्यत्वम्, (१४) सामान्यतो भेदखण्डनम्, (१५) विशेषतो भेदखण्डनम्, (१६) विशेषखण्डनम्, (१७) भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः, (१८) जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः, (१९) जीवभेदानुमानभङ्गः, (२०) जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः, (२१) भेदपञ्चकानुमानभङ्गः (२२) जीवभेदश्रुतेरनुवादकत्वम्, (२३) असत्यभेदधीश्रुतिः, (२४) शब्दान्तरादेरात्मभेदकत्वाभावः, (२५) भेदश्रुतेष्वभिधेयतापर्यलिङ्गभङ्गः, (२६) ऐक्य-स्वरूपोपपत्तिः, (२७) जीवब्रह्मभेदे प्रमाणम्, (२८) ऐक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः, (२९) तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम्, (३०) अहंब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिसम्यर्थकथनम्, (३१) जीवब्रह्मभेदानुमानम्, (३२) अंशित्वेन ऐक्योपपत्तिः, (३३) विम्बप्रतिविम्बन्यायेन ऐक्यसिद्धिः, (३४) जीवाणुत्वखण्डनम् । तृतीयपरिच्छेदे (१) मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्ग-त्वनिरूपणम्, (२) विवरणोक्तनियमोपपत्तिः, (३) श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः, (४) विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः, (५) वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वोपपत्तिः, (६) ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः, (७) ज्ञानविधिभङ्गः, (८) शाब्दा-परोक्षत्वम् । चतुर्थपरिच्छेदे (१) अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम्, (२) अविद्यानिवर्तकनिरूपणम्, (३) मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वनिरूपणम्, (४) चिन्मात्रस्य मोक्षभाणित्वोपपत्तिः, (५) जीवन्मुक्त्युपपत्तिः, (६) मुक्तौ तारतम्यभङ्गः इति ।

तत्र द्वितीयपरिच्छेदे अखण्डार्थत्वलक्षणप्रमाणादिनिरूपणमतिरमणीयं विद्यत इत्यवचनसिद्धमिदम् । तत्रावसरप्राप्तेषु प्रकर-
णेषु जीवब्रह्मभेदप्रकरणमधिकृत्य किंचिदिवात्र विचारयामः—यत्र हि “द्वा सुपर्णा” इत्यादिश्रुतीनां भेदप्रामाण्यसपासितम् ॥
“द्वा सुपर्णे”ति श्रुतिस्तदा भेदपरा न भवेत् यद्यन्यशब्दोऽत्र भेदसाधको न स्यात् । नचैतत्संभवति; अन्यशब्दस्य भिन्न-
एव मुख्यत्वेन तस्य भेदसाधकत्वात् । “द्वा सुपर्णा” इति द्वित्वसंख्यामज्ञानमपीदानीमेवाऽनुकूलम् । द्वित्वादिसंख्यायाः
स्वसमानाधिकरणस्वाश्रयभेदबोधकत्वं हि संख्याधिकरणे पूर्वमीमांसायां व्यवस्थापितम् । अनन्येऽप्यन्यशब्दस्तु गौण-
एवेति नास्मन्मतेऽज्ञमयादिपरमात्मस्वरूपभेदापत्तिः । इन्द्रार्जुनयोस्तु अंशशिभावाभ्युपगमात् आराध्याराधकभावादि-
विषमगुणाक्रान्तावपि न भेद इति विरुद्धधर्माक्रान्तत्वहेतुकानुमानेनापि जीवेशभेदोऽङ्गीकरणीय एव; अन्यथा जीवब्रह्मणोर-
भेदे परस्परं भोगानुसन्धानप्रसङ्गात् । नाचिन्त्यशक्तिमता परिच्छिन्नशक्तिमानभेदमर्हति । इन्द्रार्जुनयोस्तु परस्परं
यत्किञ्चिद्भोगानुसन्धानं विद्यत एव । जन्मान्तरीयजीवाभिन्नस्यापि इदानींतनजन्मनि स्तन्यपानेष्टसाधनताद्यनुसन्धानं

विद्यत एवेति सर्वसंमतमिदम् । यत्किञ्चिद्भोगानुमन्धानमेवाभेदप्रयोजकमिति सर्वाननुसन्धानेऽपि इन्द्रार्जुनाभेदवत् अवि-
न्येश्वरशक्त्या जीवब्रह्माभेद इति न संभवति । “गुहां प्रविष्टावात्मानौ ही”त्यधिकरणे तु अस्मन्मते ईश्वरस्यापि “भोक्तारं
यज्ञतपसाम्” इत्यादिवचनैरकर्मफलभोक्तृत्वावगमवत् परमात्मस्वरूपमेव विवक्षितमिति निर्णयात् तत्र च भेदायोगात् न
संख्याया भेदाक्षेपकत्वम् । नहि निर्ज्ञातसंख्याकेषु अग्निहोत्रादिषु “विराडग्निहोत्रम्” इत्यादिवाक्येषु संख्याया भेदाक्षेपक-
त्वमिति “तिस्र आहुती”रित्यत्रापि तदनाक्षेपकत्वम् । एवं च तत्र यथा विरुद्धसंख्याकान्तत्वेन न भेदकत्वम्, तथाऽत्रापि
एकत्वसंख्यायाः परमात्मनि पूर्वमेवावगतत्वात् न द्वित्वसंख्यया भेदाक्षेप इति सर्वमनवद्यम् । जीवब्रह्मणोस्तु नैकत्वमे-
तावताप्यवगतमिति “द्वा सुपर्णे”ति श्रुतौ संख्या भेदमाक्षिपत्येव । अत्र हि जीवपरमात्मानावेव प्रतिपाद्यौ न परमात्मा,
येन “गुहां प्रविष्टावि”ति वाक्यसाम्यमापद्येत । “गुहां प्रविष्टावि”त्यत्र शुभफलभोक्तृत्वमीश्वरस्यावगतं चेदपि तत्राशुभफल-
भोक्तृत्वाभाव एव प्रतिपाद्यत इति न विरोधः । “तत्त्वमसी”त्यादिवाक्यानामपि न जीवब्रह्माभेदे तात्पर्यम्; अभ्यासेन
भेदसिद्धेः । यथा हि “समिधो यजती”त्यादौ अभ्यासात् कर्मभेदः, एवमत्राप्यात्मभेदोऽङ्गीकरणीय एव । स्पष्टमिदं
न्यायाभ्युदाविति तत एव द्रष्टव्यम् । “पञ्च पञ्चजना” इति वाक्येऽपि पञ्चजनशब्दार्थो न प्रथमप्राणशब्दार्थः, किन्तु
विशेष्यप्राणशब्दार्थ इति, तस्य ब्रह्मपरत्वान्नात्रापि पञ्चत्वसंख्यया भेदाक्षेप इति न विरुद्धम् ॥ वस्तुतस्तु—“गुहां
प्रविष्टावि”त्यत्रापि भवन्मतरीत्या द्वित्वसंख्याया भेदाक्षेपकत्वमविरुद्धमेवेति द्वित्वादिसंख्याया भेदाक्षेपकत्वे न कोऽपि
क्षुद्रोपपन्नः । परमार्थतस्तु द्विशब्दोऽत्र भेदवाचकः । “द्वित्वं संख्यायां भेदेऽपि च निगद्यते” इति नानार्थरत्नमालायाम-
भिधानात् । “तयोरन्यः” इत्यन्यशब्दोऽपीदानीमनुकूलो भवति । अन्यशब्दो ह्यत्र यद्यपि षष्ठ्यन्ततयोरिति पदसमानाधिक-
रणः, तथापि अन्यतरत्वस्य तद्विज्ञानभिरूपत्वमिति न दोषः । “तस्माद्वा एतस्मात्” इत्यत्र तु अगत्या गौण्या लक्षणया
वा अभिज्ञेऽपि अन्यशब्दप्रयोग इति न विरोधः ॥ यथाचान्नमयादिवाक्यानां द्वैतमते परमात्मपरत्वं तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य-
भामत्यादिभूमिकायामस्माभिर्व्यक्तीकृतमिति न पुनः पिष्टं पिष्ट्यते ॥ यदि तु अस्मन्मतरीत्या अन्नमयादीनां न परमा-
त्मत्वम्, तदा सुतरामन्यशब्दस्य भेदवाचकत्वं कुत्रापि न व्यभिचरितम् । एवं च विरुद्धगुणकान्तत्वहेतुकानुमानेन,
‘नाहमीश्वरः’ इति प्रत्यक्षेण, “द्वा सुपर्णे”ति श्रुत्या, “भेदव्यपदेशाच्च”त्यादिसूत्रैश्च भेदपारमार्थिकतैव सिध्यतीति न जीव-
ब्रह्माभेदवादः प्रामाणिकः । अणुत्वमहत्त्वयोस्तु श्रुत्या ब्रह्मणि सहावस्थानावगमात् विरोधः । अतएव पृथिव्यादौ तदुभयम-
विरुद्धम् । अवघातप्रोक्षणादीनां दृष्टादृष्टार्थत्वेऽपि खिष्टकृदादेरुभयार्थत्ववत् दर्शपूर्णमासादीनां केवलप्रकृतित्वेऽपि अग्नि-
ष्टोमीयादीनां प्रकृतिविकृत्युभयत्ववत् अविरोधाच्च । एवं च संयोगतदभावयोरिवानुत्वमहत्त्वयोरपि विरोधाभावात् नेश्वरभेदः
प्रामाणिकः समायाति । जीवेश्वरयोस्तु सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वसुखित्वदुःखित्वादिविरोधिगुणकान्तत्वात् भेद एव प्रामाणिकः ।
जीवेश्वरधर्माणां परस्परसाङ्ख्याभ्युपगमे हि “सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा”धिकरणे सत्यकामत्वादीनां जीवेऽपि संभवात् तेषां
तत्रायोगेन जीवपरत्वव्युदासो विरुद्धेतेति मन्तव्यम् । एतेन—“अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः” इत्यधिकरणमपि—
व्याख्यातम् । “स आत्मा तत्त्वमसी”त्यत्र तु अतत्त्वमसीत्येव पदच्छेदः, न तु तत्त्वमसीति सर्वथा भेदापारमार्थिकतावादो
न युक्त एव । अतएव प्रत्यक्षादिप्रामाण्यनिर्वाहो भवतीति द्वैतिनो वर्णयन्ति ।

तदिदं न सङ्गतम्; नहि द्वैतपारमार्थिकतायां प्रमाणमुपलभ्यते । ‘सन् घट’ इत्यादि प्रत्यक्षं हि घटादीनां ब्रह्मनिष्ठ-
मेवावाध्यत्वं कल्पितं गोचरयति न तु वास्तवम् । “नेह नानाऽस्ति किञ्चने”त्यादिश्रुतिरपि संप्रत्येवोपपद्यते । एवं च द्विती-
याभावोपलक्षितात्मस्वरूपसमर्पकत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्याखण्डार्थत्वमपि उपपन्नम् । “तत्त्वमसी”ति हि जीवब्रह्मणोरभेद-
मवगमयति । तत्र को नाम जीवः? किञ्च ब्रह्म? कथञ्च द्वयोरभेदः? इति विचारणीयम् । तत्र ‘अहमि’ति प्रतीतिगोचरो
जीवः । ‘स’ इति प्रतीतिगोचरो ब्रह्म । तत्र यद्यपि ‘अहमि’ति स्थूलशरीराभिमानि सूक्ष्मशरीराभिमानि केवलं च चैतन्यं
जाग्रत्प्रसुप्तुष्यवस्थासु प्रतीयते, तथापि अव्यभिचरितप्रायशश्चैतन्यस्यैव न स्थूलशरीरादीनामिति स्वरूपचैतन्यमेव जीवः
न तु तत्र मात्रयाऽपि द्वैतसंवलनमिति अहमर्थवादेऽद्वैतसिद्ध्यादौ सम्यगेव निरूपितम् ।

ब्रह्मापि “यः सर्वज्ञः” इत्यादिश्रुत्या सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं अविद्याविषयचैतन्यमिति, “सत्यं ज्ञानम्” इति श्रुत्या स्वरूपचैत-
न्यमिति चावगम्यते । एवं च जीवोऽपि स्वरूपचैतन्यम्, ब्रह्मापि स्वरूपचैतन्यमिति जीवब्रह्माभेदे न किञ्चिदपि बाधकम् ।
नहि वयं जीवं ब्रह्म च विशिष्टं चेतनमभ्युपगच्छामः, येन चेतनत्वेनाभेदोऽस्माकमपि संमत इति शङ्केत । ननु कथं द्वयो-
रैक्यमिति चेत्, नहि वयं द्वयोरैक्यमिति वदामः, किन्तु एकमेव चैतन्यम्, अन्तःकरणाद्युपाधिसंवलितं जीव इति, अविद्या-
संवलितं ब्रह्मेति च व्यवहारपदम् एक एवाकाशः घटसंवलितः घटाकाश इति, मटोपाधिपरिच्छिन्नः मटाकाश इति चेवेति ।
दृष्टान्ते उपाधिनिबन्धनभेदस्योपाधिविगमेन विगमवत् अत्रापि अन्तःकरणाद्युपरमेण भेदस्यापि विगमात् एकमेवावशिष्यत
इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । यद्यपि स्वरूपचैतन्यं नाहंपदास्पदं ब्रह्मपदास्पदं वा, किन्तु अहङ्कारादिविशिष्टमेव । तयोश्च
नाभेदो विवक्षित इति जीवब्रह्माभेदवादोऽनुपपन्न एव, तथापि ‘काकवद्देवदत्तगृहम्’ इत्यत्र काकापगमेऽपि काकवच्छब्द

स्येव उपलक्षणतयाऽहमादिपदस्य स्वरूपचैतन्ये प्रवृत्तिरिति न विरोधः ॥ एवंच जीवब्रह्मणोरौपाधिक एव भेदो घटा-
काशमहाकाशयोरिवेति न जीवब्रह्मभेदसाधकत्वेन पराभिमतानि सर्वाण्यपि प्रमाणानि तादृशमेव भेदं गोचरयन्तीति
“द्वा सुपर्णे” त्यादिश्रुतयोऽपि नास्माकं प्रतिकूला इति पश्यामः । द्वित्वसंख्यया अन्यशब्देन च तादृशस्यैव भेदस्यावगमात् ।
विशदं चैतत् अद्वैतसिद्ध्यादौ मधुसूदनसरस्वतीप्रणीते अद्वैतरत्नरक्षणे चेति तत् एव द्रष्टव्यम् । “तत्त्वमसी”त्यत्र अतत्त्व-
मसीति पदच्छेदादिकल्पनं सर्वमप्यप्रामाणिकमुपक्रमोपसंहारादिविरुद्धमित्यपि अन्यत्र विस्तृतमिति विस्तरभयादुपरमामः ॥
वस्तुतस्तु—अनन्यपरविधिपुनःश्रवणरूपाभ्यासेन हि कर्मणः भेद एव सिद्ध्येत्, न तु सिद्धवस्तुनः, तत्र विधिविषयत्वा-
योगात् । निरूपितं हि ब्रह्मणो न विधिविषयत्वमिति, अविधिपराणामपि वाक्यानां प्रामाण्यसंभव इति च समन्वयाधिकरणे
भाष्य-भामती-कल्पतरु-परिमलेषु स्पष्टमिति नात्र पराक्रमामः । संख्याधिकरणेन तु अन्नमयादिस्थल इव भवन्मते न भेद-
सिद्धिरित्यवगच्छामः । यथाहि अन्नमयप्राणमयादीनां न भेदोऽवगत इति तत्रत्यान्यशब्दो न भेदसाधकस्तथा तत्त्वमस्या-
दिवाक्यैः जीवब्रह्मभेदोऽप्यवगत इति न “द्वा सुपर्णे”त्यादौ अन्यशब्देनापि जीवब्रह्मभेदावगमः । अन्यतरत्वं तु न
भेदघटितमिति ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिरुपपादितमिति नात्र भेदपरत्वमिति जानीमः ॥

किंच ‘नाहमीश्वरः’ इत्यादिप्रत्यक्षं विरुद्धधर्माकान्तत्वहेतुकानुमानं च विशिष्टजीवेश्वरयोरेव भेदमवगमयति, न तु विगलि-
तोपाधिसंबन्धयोर्जीवपरमात्मनोः, तयोस्तदविषयत्वात् । “द्वा सुपर्णे”तिश्रुतिस्तु वस्तुतो जीवान्तःकरणे एव गोचरयतीति
पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनाधिगतमिति न जीवेश्वरभेदे सा प्रमाणतामर्हति । यथा युष्मन्मतेऽन्नमयादीनां परमात्मपरत्वमवगतमिति
तत्रत्योऽन्यशब्द औपाधिकभेदपरः, तथाऽस्मन्मतेऽपि जीवेश्वरयोरभेदस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैरधिगत इति जीवेश्वरविषयत्वेऽपि
“अन्योऽन्तर आत्मे”त्याद्यन्यशब्दवत् न “द्वा सुपर्णे”तिश्लोकगतान्यशब्दोऽपि अस्माकं प्रतिरुणद्धीति मन्महे । “तत्त्व-
मसी”ति तु उपक्रमोपसंहारभ्यासापूर्वतोपपत्त्यादिलिङ्गैः स्वसामर्थ्येन च जीवब्रह्मभेदमेव गोचरयतीति बहुपपादितमन्यत्रेति
विस्तरभीत्योपरमामः । अद्वैतरत्नरक्षणादौ चाप्यमुमर्थं स्पष्टतरमुपापीपदन् आचार्यवर्या मधुसूदनसरस्वत्यः । अद्वैतरत्नरक्षणं
चेदमधिकृत्य पृथगपि अनुपदं प्रकाशयिष्यमाणे तत्र कामपि भूमिकां प्रकाशयिष्याम इति नात्र तद्विषयं वितनुमः । ‘मधु-
सूदनसरस्वत्याः पारं वेति सरस्वती’ इति तत्र तत्र वर्णयन्तो ब्रह्मानन्दसरस्वत्यो हि तदीयं सर्वतन्त्रापरतन्त्रादिकं सरस्वत्या
एव तदीयविद्यासामर्थ्यावगमयोग्यतावर्णनादिना सम्यगेवोद्घोषयन्ति । मधुसूदनसरस्वतीप्रणीताश्च निबन्धाः गीतागूढार्थ-
दीपिका—वेदान्तकल्पलतिका—ऽद्वैतसिद्धान्तविन्दु—शास्त्रप्रस्थानपरिकर्मितमहिम्नस्तोत्रव्याख्या—भक्तिरसायन—प्रभृतयो बहवो
विद्यन्त इति के वा वयं तदीयसामर्थ्यप्रकटने ॥

तदन्न यथार्थग्रहणेन यथार्थग्राहणेन च अन्वग्रहीषुः साधनचतुष्टयसंपन्नाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः ब्रह्मानन्दसरस्वत्यः स्वकृतेन
लघुचन्द्रिकाख्येन सिद्धिव्याख्यानेनेति मृतजीवनकल्पोयं प्रयत्नः । तदत्र—महानुभावधौरेयशिवरामाख्यवर्णिनः ।
एतद्ग्रन्थस्य कर्तारो लेखकाः केवलं वयमिति समाप्तिश्लोकानुसारेण शिवरामवर्णिन एव लघुचन्द्रिकाकर्तार इति
केषांचिदुल्लेखम्, ब्रह्मानन्दसरस्वतीकृतस्यैव ग्रन्थस्य शिवरामवर्णिकृतत्वेन व्यवहारमात्रं केनचन प्रमादस्थानेन ब्रह्मा-
नन्दसरस्वतीभिरैव कृतमिति परेषामुल्लेखम्, गुरुचन्द्रिकाकर्तारः शिवरामवर्णिनः, लघुचन्द्रिकाकर्तारस्तु ब्रह्मानन्दसरस्वत्य
इतीतरेषामुल्लेखं चात्र प्रेक्षकाणां सविधे विनिर्णयार्थमुपहरामः ।

तदत्र लघुचन्द्रिकायां न्यायामृततरङ्गिणीभ्यां अस्पृष्टा अपि तत्तादृशशङ्कोल्लेखाः खण्डदेवादिविखण्डितस्य प्राचीनमीमांस-
कप्रस्थानस्य व्यवस्थापनप्रकाराश्च नियतमेवैतेषां निरर्गलप्रचारित्वं शास्त्रेषु प्रतिष्ठापयन्ति ॥

लघुचन्द्रिकाखण्डनार्थं कृतप्रयत्ना अपि न्यायभास्करकारादयः लघुचन्द्रिकार्थज्ञानविधुरा इति न्यायेन्दुशेखरादिपतिशी-
लिनां स्पष्टमेव च प्रचाकशीति ॥

सेयमप्यतिगभीरा समीचीनव्याख्यया विना नालमवगन्तुमिति सुचिरं विचारयद्विरपि पण्डितवर्यैरियतापि कालेनानु-
पलब्धां, केवलं श्रुतपूर्वा च विट्टलेशोपाध्यायकृतां निरुक्तिं कियतापि कालेन अस्मद्वृष्टिपथं प्राप्तां प्रेक्षकाणामपि
सविधे संप्रत्युपहरामः ।

विट्टलेशोपाध्यायश्वेमे सद्वाभ्युपत्यकाप्रतिष्ठितकौङ्कणप्रान्तवर्तिरत्नागिरीमण्डलान्तर्गतराजापुरप्रान्तपरिसरीयकशलीसं-
ज्ञग्रामविराजमानगुर्जरकुलावतंसाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रतिभा आसन्निति दुरूहाया लघुचन्द्रिकाया विस्तृतव्याख्यानप्रणयने-
नानुमिनुमः । येषां किल मूलपुरुषः **पटवर्धनोपाधिर्गोविन्दभट्टाभिधानो** गौर्जरमण्डलान्तर्बर्ती अखिलसारस्वतसरस्व-
त्पारदश्च ब्रह्मवर्चस्व्यासीत् । येन विविधविद्याप्रवीणपण्डितमण्डितसदस्वप्रतिरथेन स्वीयतेजोविशेषेण उपाध्याय इति परम-
पूज्या पदव्यासादिता तदन्ववायिष्ववृटिता प्रचलति । अस्य गौर्जरे मूलनिवासात् गुर्जरोपाधिश्च । उक्तगोविन्दोपाध्यायस्य
लोकोत्तरानवद्यविद्यातपस्तेजोभ्यां वशंवदीभूतेन तदानीं कौङ्कणवसुन्धरामनुशासता **पद्माळगडनृपासनासीनेन श्रीभो-
जराजेन** राजापुरमहालान्तर्गतानुशासनीयेषु—“द्रष्टापूर्तं व्रतं चैव ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् । पुराणं प्राज्ञिवाकत्वं राष्ट्रधर्म-
अद्वै. सि. ३

निरीक्षणम् ॥ अष्टधर्मस्य तत्त्वज्ञो नृपेणाधिकृतश्च यः । धर्माधिकारी विप्रेशो ब्रह्मदण्डप्रभुर्हि सः ॥” इत्यष्टाधिकारोद्भूत-
विलसितस्ताम्रपट्टोऽस्मै वितीर्णोऽधुनापि गुर्जरोपाध्यायप्रधानागारे विराजतेतराम् । दानपत्रोपसंहारे संगृहीतं पद्यं यथा—

‘आचन्द्रार्कमहीधरान्वयभृतामात्रहणः शासनाद्युष्मन्नैश्वर्यगोत्रगुर्जरभुवां भूदेवपूज्यात्मनाम् ।

आचारादिषु देशमान्यपदवी वर्वर्ति लोकोत्तरा कश्चिद्व्यति तु तां परिदृढीभूयाद्विधिस्तं दहेत् ॥’

अलमतिविस्तरेण । अस्यानल्पपुण्यपुञ्जेन तत् आरभ्य तदभिजनोद्भवाः प्रायः कीर्तिमन्तो विद्वांसश्चाभूवन् । प्रस्तुता
विट्टलेशोपाध्यायाः निर्दिष्टगोविन्दोपाध्यायान्नवमा दशमा वा भवेयुरिति संभावयामः । येषां वंशवृक्षादिकं स्थलसं-
कोचादनाविष्कृतमवसरान्तरे प्रकाशयामः । इमे निजजनुपाखिलं परशुरामक्षेत्रमलंचक्रुः । बाल्यात्प्रभृत्येव च प्रज्ञाप्रकर्षेण
तत्रैव कांश्चिद्विषयानधीत्य शास्त्रीयान्विषयान्वाराणस्यां गत्वाध्यैयत । तत्रैवाधुनापि तदन्ववायो विलसति । अनन्तरं च
छात्रगणमध्यापयन्तो भूवैकुण्ठारुखं पाण्डुरङ्गक्षेत्रं पण्डरीसंज्ञं कतिचिद्दिनान्यवात्सुः । गादाधरीमपि तत्र परामृशतां
अष्टादशशतकान्त एवैतेषामवस्थानमिति वयं संभावयामः । गादाधरीजागदीदयुपरि कृष्णभट्टीप्रणेता कृष्णभट्टपण्डितः
न्यायशास्त्रे, पण्डरीस्थः कश्चन माध्वः कृष्णाचार्यशर्मा च व्याकरणे एतेषामन्तेवासिनाविति जानन्तो वयं सर्वतन्त्र-
स्वतन्त्रत्वमेतेषां दृढीकुर्मः । प्रतिपदविवरणेन बालवबोधमेवं वाक्यार्थविवरणेन स्वतन्त्रं बहुविधविषयजातनिरूपणेन
चोपकृतवतां विट्टलेशोपाध्यायानामधमर्णं पण्डितकुलमिति विनिश्चयोऽयं सर्वेषाम् । अथ यद्व्युच्चन्द्रिकाखण्डनरूपस्य
न्यायामृतसौरभस्य अद्वैतसिद्धिकारैरखण्डितस्य न्यायामृतांशस्य च खण्डनरूपायाः कस्याश्चन सिद्धिव्याख्याया अपि प्रकाश-
नार्थम् अवसरः प्राप्त इति महदिदमामोदस्थानम् । अस्याश्च व्याख्यायाः कर्तारः के इति प्रत्यक्षतः शब्देन वा न विनिर्णयो
जायते । सिद्धेः चतुर्थपरिच्छेदस्य कृते कृतेन दृश्यमानेन लघुचन्द्रिकातिरिक्तेन परेण व्याख्यानेन तु अन्ततो बलभद्रकृता-
विति उपसंहारयुतेन बलभद्रशर्माण एव कर्तार इति केचिदनुमिमते । बलभद्राश्रमे मधुसूदनसरस्वतीनामन्तेवासिन इति
दशश्लोकीव्याख्योपसंहारादवगच्छामः । सर्वेधेयमपि व्याख्याऽतिसरलात्यन्तमेवोपयोगिनीति प्राकाश्यमिदानीं प्रापितेति
तत्प्रदानेनास्माकमुपकृतवतां **कल्लइकुरुच्चि शंकरसुब्रह्मण्यशास्त्रिणां मयूरपुरसंस्कृतकलाशालातोऽधिगतब्रह्मविद्यानां**
सततमेव कृतज्ञतां धारयामः ॥

तदत्र विट्टलेश्युपबृंहितगौडब्रह्मानन्दीयुताद्वैतसिद्धिव्याख्याप्रचारार्थं विट्टलेश्युपलम्भ एव मूलकारणमिति तत्संपादनार्थं
बहूपकृतवतामद्वैतसमादिप्रवर्तनेन महान्तं लोकोपकारमादधानानां, सर्वमपि स्वकीयमायं निरालम्बस्य श्रीकालहस्तिक्षेत्रस्य
कृते विनियुज्जानानाम्, आस्तिकशिरोमणीनां **कुरुवाड-राघवार्याणाम्**, अन्येषां विट्टलेशीसंपादनादिविषये शुद्धाशुद्धसं-
कलनादिविषये च बहूपकृतवतां वेदान्तविशारदविरुदाङ्कितानामस्मद्विद्यासोदराणामस्मत्प्रियसुहृदां च मयूरपुरसंस्कृत-
कलाशालावेदान्तोपाध्यायानां **पद्मनाभशास्त्रिणां** निर्णयसागरप्रधानपण्डितानां विद्वद्वाराणां **वासुदेवशास्त्रिणां** च
सततमेव कृतज्ञतां धारयामः ।

तदत्र प्रकाशयितुमारब्धाया अस्याः चिरकालमसहमानानां पुनःपुनः भागशोभागशः प्रकाशनमपेक्षमाणानां च
बहूनां पण्डितानामाशयमनुरुध्य **मिथ्यात्वमिथ्यात्वान्तं भागं** पूर्वं प्राचीकशाम । इदानीं भगवदनुग्रहेण संपूर्णमिमां
संप्रकाशयामः । अत्रातियत्नतो गवेषणेनापि मध्यतो द्वितीयमिथ्यात्वे श्रुतिता विट्टलेशीया नैतावताप्युपलब्धेति **तत्प्रदा-**
नेनोपकरिष्यमाणानां पण्डितानां वशंवदा वयमिति सर्वदैव तेषां कृतज्ञा इति, अधमर्णतां च निवेदयामः ॥

उपलब्धे चैकस्मिन्नेवादर्शेऽशुद्धबहुले यथाकथंचित् किंचित्किंचित् परिष्करणेन प्रकाशनार्थं यतमानानामस्माकं
समीचीनस्य कस्याप्यादर्शान्तरस्य प्रदानेन बहूपकृतवतां पण्डितवर्धनरकण्ठीरवशास्त्रिसोदराणां **चन्द्रशेखरार्याणामपि**
कृतज्ञतामाविष्कुर्मः ।

अथ यदीयया प्रेरणयास्माभिः न्यायामृताऽद्वैतसिद्धितरङ्गिणीलघुचन्द्रिकासंग्रहोकारि तेषामतिगभीराणां मत्प्रियमातुलानां
मान्यमान्यानां **के. एस्. विश्वनाथार्याणामेवेयं** कृतिरिति भावयामः ।

अथात्रैतादृशानामतिगभीराणामतियत्नसाध्यप्रकाशानां दुर्लभानां ग्रन्थजातानां प्रकाशनार्थमेव कृतदीक्षाणां स्वल्पेनैव
मूल्यान पुस्तकविक्रयेण ग्राहकसौकर्यमेवादधानानां च निर्णयसागराधिपतीनां **तुकाराम जावजीमहाशया-**
नामायुरारोग्यादिसर्वविधैश्वर्यं संददात्विति सर्वेश्वरं रमारमणमुमारमणं च सततमेव प्रार्थयामः ॥

इति वेदान्तविशारदः सु-अनन्तकृष्णशास्त्री,

संस्कृतकलाशालाध्यक्षः कल्याणपुरी, (कल्लइकुरुच्चि.)

द्वितीयावृत्तेः प्रस्तावना ।

अथेदं समुपजोषमाविष्कियते श्रीमत्या ब्रह्मानन्दपरपर्यायलघुचन्द्रिकाटीकासमेतायाः श्रीमन्मधुसूदनसरस्वती-
विरचिताया अद्वैतसिद्धेर्द्वितीयं संस्करणं पण्डितप्रकाण्डमनोविनोदाय । सिद्धान्ततत्त्वविन्दु-वेदान्तकल्पलतिका-संक्षेप-
शारीरकव्याख्या-महिम्नःस्तोत्रटीका-परमहंसप्रियागीतागूढार्थदीपिकाद्यनेकग्रन्थानां प्रणेतारो मधुसूदनमुनयस्तु वल्ल-
भाचार्यसुतविद्वल्लेशदीक्षितानामुपाध्यायभूता इत्यणुभाष्यकारवल्लभाचार्येभ्यः किञ्चिदिवार्वाचीना इति संशोधकलेखेभ्यः
प्रतीयते । वल्लभाचार्याणां जन्म तु गुणामिश्रुतिभूमिते ख्रिस्ताब्दे (सन १४३३) बभूवेति तत्संप्रदायस्थ-मठपतिकल्याण-
भट्टानां कल्लोलसंज्ञकग्रन्थस्थिताल्लेखाज्ञायते । अद्वैतमतप्रतिष्ठापकानामपि मधुसूदनसरस्वतीनां श्रीकृष्णोपासनायामत्यादर
आसीदिति गूढार्थदीपिकापर्यालोचनेनावगम्यते । एतेषामभिजनस्तु वङ्गेषु फरीदपुरप्रदेशे पितुर्नाम च पुरन्दराचार्य इत्या-
सीत् । प्रथमं वयस्येव गृहीतसन्ध्यासाश्रमा इमे जगन्नाथपुर्या कतिचिद्वर्षाण्यवात्सुः । वार्धक्ये तु सशिष्याः प्रयागक्षेत्रसमीपे
हरिद्वारसमीपे च वासं चक्रुः । एते शृङ्गवेरपुरस्थश्रीशङ्कराचार्यपीठाधिष्ठिता अभवन्तित्यपि केचिद्वक्षिणात्या ऐतिहासिका
लिखन्ति । तत्र प्रबलप्रमाणान्तरं न लभामहे ।

शाङ्करभाष्य-भामती-पञ्चपादिका-विवरणादिभिर्ग्रन्थैर्दाढ्यमापादितमद्वैतमतं, मध्वाचार्यसंप्रदायस्थिता व्यासतीर्था
आत्मनो न्यायामृताख्ये ग्रन्थे दूषणदानैः शिथिलयितुं प्रायतन्त । पञ्चपादाचार्यकृतपञ्चपादिकाव्याख्यानभूतस्य प्रका-
शात्ममुनिविरचितस्य विवरणग्रन्थस्य दूषणे तु तेषामतिप्रयत्नः । एतेषां च लेखनशैली दीधितिकार-रघुनाथशिरोमणिभट्टा-
चार्यरीतिमनुसरन्तीति विचार्य सकलशास्त्रनदीणा अपि मधुसूदनसरस्वत्यो विशेषतो नवन्यायपद्धतिमवलम्ब्यैव न्यायामृत-
दत्तदूषणाभासान्पर्यहापुर्णकुटिकाभ्यायेन । अत एतेषां ग्रन्थेषु केचन ग्रन्थसंदर्भाः शाङ्करभाष्यमिव सुबोधा द्वाक्षाफल-
पाकसदृशा दृश्यन्ते । अद्वैतसिद्ध्यादयः केचन तु खण्डनीयग्रन्थानुरोधेन विकल्प-परिच्छेद-परिष्कार-लाघवादिबहुल-
नवनैयायिकरीतिमनुसंधाना दुरवबोधा नारिकेरफलपाकतुल्यतामेव धारयन्ति । एतादृशं लेखनं यद्यप्यव्याप्त्यतिव्याप्त्यादि-
परिहारेण लेखनशैथिल्यं दूरीकरोति तथाप्यर्थप्रतीतौ विलम्बोत्पादनेन रसोद्वाहकाणां मनसि वैरस्यमेवादधाति । महाप्रयत्नेन
दुर्बोधशब्दार्थपाषाणभेदनान्तरमेव हि मधुररसामृतलोभोऽस्मात् । एतच्चास्य ग्रन्थकारस्यापि संमतम् । यत्सिद्धान्ततत्त्व-
विन्दुसमाप्तौ तेनैव लिखितम् । 'यदत्र सौष्टवं किञ्चित्तद् गुरोरेव मे नहि । यदत्रासौष्टवं किञ्चित्तन्ममैव
गुरोर्नहि' ॥ अस्यार्थं लघुव्याख्यायां नारायणतीर्था एवं लिखन्ति । 'सौष्टवं गुणवत्त्वं सर्वार्थसंग्राहकत्वादिरूपं, गुरोरेव न
ममेत्यर्थः । असौष्टवं भाष्य-भामती-विवरणाद्यपेक्षया कठिनरूपम्, अखिलविद्याप्रवीणतार्किकशिरोमणिभट्टाचार्यरीत्यनु-
सरणादिति भावः' । भवत्येवं प्रतिपक्षिभाषानुसारेणाद्वैतसिद्धिभाषाया दुर्बोधत्वमिति सुव्यक्तम् । इतरत्र गद्यभाषा पद्यानि
वा मधुसूदनसरस्वतीनां सरलान्येव ।

एते च सर्वसिन्धारते वर्षे तीर्थयात्राः कृत्वा तत्रत्याम्पडितान्वादेषु विजित्याद्वैतमतं पुनर्जीवयामासुः । खण्डनखण्ड-
खाद्यग्रन्थे तत्रभवता श्रीहर्षेण लक्षणानामसिद्धिं प्रदर्शयितुं चनीयख्यातिरद्वैतवादजीवातुः संसाधिता तथैवाद्वैतसिद्धा-
वाचार्यैः प्रपञ्चमिथ्यात्वं प्रसाध्याद्वैतसिद्धिः पुनः प्रतिष्ठापिता । नवन्यायेऽप्येतेषामसाधारणं वादकौशलमासीदिति वङ्गपण्डित-
जनप्रसिद्धात्—'नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाकपतौ । चक्रम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः' ॥
इत्यस्मात्पद्यादवगम्यते । अद्वैतसिद्धावुपप्रकरणान्यष्टोत्तरशतं, तान्यनुक्रमण्या ज्ञास्यन्ते । तथापि परिच्छेदाश्चत्वार एव
सन्ति । तेषु च क्रमेण, प्रपञ्चमिथ्यात्वम्, आत्मनिरूपणम्, श्रवणादिनिरूपणम्, मुक्तिनिरूपणं चेति
विषया वर्तन्ते । एतस्मिंश्च ग्रन्थे श्रुतीनां युक्तीनां गुरुवाचां चाद्वैतसाधको विषयः संक्षेपेण निवेक्षित इति द्वितीयपरिच्छेदान्ते
ग्रन्थकृदुक्तिः । यानि च परेषां ध्रुवदूषणानि तानि 'नहि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः' (नवशततमे पृष्ठे पञ्चमे
पद्ये) इति न्यायेनोपेक्षितानि । तथापि व्यासतीर्थानां शिष्या रामतीर्था आत्मनो न्यायतरङ्गिण्याख्ये ग्रन्थे पुनरद्वैत-
सिद्धिदूषणाय न्यायामृतमण्डनाय च प्रायतन्त । अतो नारायणतीर्थानां विद्याशिष्या गौडदेशोद्भवाः श्रीब्रह्मानन्दसर-
स्वत्याख्या यतिवरा लघुचन्द्रिकां नामाद्वैतसिद्धेर्विशदां व्याख्यां निर्माय न्यायतरङ्गिणीग्रन्थस्य खण्डनं व्यदधुः ।
इयमेव टीका गौडब्रह्मानन्दीत्यभिधया सुप्रसिद्धा विद्वज्जनैकवेद्या वर्तते । अनया मधुसूदनवाचासुपरि प्रतिपक्षदत्ता
दूषणाभासाः सविस्तरं खण्डिताः । तत्र तत्र च स्थलेषु मन्त्रार्था मीमांसाविषयाश्च स्पष्टीकृताः । एते ब्रह्मानन्दाः परमादरेण
श्रीमधुसूदनमुनीन्सरस्वतीपदेनैव व्यवहरन्ति परिच्छेदसमाप्त्यादौ । अद्वैतमतपरिरक्षणे सुहृत्किल पाण्डित्यमेवां ब्रह्मा-
नन्दसरस्वतीनां दरीदृश्यते ।

एवमेतत्प्रधानग्रन्थद्वयेन साकमेव मधुसूदनशिष्यभूतवलभद्वेण विरचिता सिद्धिनाम्नी व्याख्या; २७५ संख्यपत्रावधिकैव यथाप्राप्तमातृकं मुद्रिता । इयं टीका प्रथममुद्रणेऽप्येतावलेख लब्धासीत् । तथा च विट्टलेशीयसंज्ञकं लघुचन्द्रिकाव्याख्या-
नमपि यथालब्धं, ३०९ मितपत्रावधेयं मुद्रितम् । विट्टलेशकृत एष ग्रन्थोऽपि सिद्धिव्याख्येवाचार्योपेक्षितदूषणानां खण्डने प्रसक्तो ब्रह्मानन्दयोजनायातीवोपयुक्तश्च । तथाप्यद्यावध्येतस्यापि सकला मातृका न संप्राप्तेति लेखनेऽतीवोद्विग्नाः स्मः ।

एते च विट्टलेशा गुर्जरपाध्येकुलोत्पन्ना इति प्रथममुद्रणप्रस्तावनायां लिखितमासीत्तथाप्येते महापण्डिता धर्मसिन्धुकाराणां काशीनाथोपाध्यायानां (पण्डरपुरस्थ बाबापाध्ये गोलवलकर) कनिष्ठभ्रातर इत्येतिहासिकप्रमाणान्निश्चीयते ।

एतस्य ग्रन्थचतुष्टयस्य प्रथमोपस्कारकैर्वेदान्तविशारदविरुदाद्वितैः श्रीमद्भिरनन्तकृष्णशास्त्रिभिरलिखिता सुविस्तीर्णा-
ऽद्वैतसिद्धिभूमिका, बांदरायणसूत्रस्य प्राथमिकपञ्चसूत्र्याः पूर्वोत्तरपक्षप्रदर्शनपुरःसराधिकरणयोजना, न्यायामृत-अद्वैतसिद्धि-
न्यायतरङ्गिणी-लघुचन्द्रिकेतिग्रन्थचतुष्टयसारसंग्रहात्मकोऽनन्तकृष्णशास्त्रिभिरलिखितो निबन्धश्च प्रथममुद्रण इवास्मिन्नपि संस्करणे निवेद्यते । वस्तुतोऽयं निबन्धस्तत्तद्ग्रन्थपरिशीलनवतां विदुषामेव संदर्भस्मरणायोपयुज्येत, तथाप्यन्येषामपि वाचकानां पूर्वोत्तरपक्षयोर्युक्तिवादा विज्ञाता भवेयुरयमपि लाभोऽस्माद्विद्यते ।

संक्षेपेणाद्वैतसिद्धान्तानां वर्णयिता मधुसूदनैरेव प्रायः आत्मनः सर्वग्रन्थेभ्यः पश्चाद्विरचितोऽद्वैतरत्नरक्षणाख्यो लघुः प्रबन्धोऽपि ग्रन्थान्ते पृथक्तया मुद्रितः । अनवधानात्त्वराशीलत्वादक्षरयोजकप्रमादाद्वा प्रथममुद्रणेऽवस्थिता ये प्रमादा नयनगोचरीभूतास्तेऽस्मिन्मुद्रणे निवारिताः । केषुचिदुर्बोधस्थलेषु च बोधकटिप्पण्यो योजिताः । टिप्पणीषु, ८९८ तमपृष्ठे, ब्रह्मानन्दे इति पदस्य स्थाने ब्रह्माण्डे इति शोधनमद्वैतमञ्जरीमुद्रितपाठानुसारेण कृतम् । किन्तु सोऽपि लेखक-
प्रमाद एवेति भाति । यस्यायामृतेस्य मुद्रितपुस्तके 'साधनस्योत्तमत्वेन०' इति पद्यादनन्तरम्, इति ब्राह्मे, इत्युल्लेखो वर्तते, तस्माद् ब्राह्मे नाम ब्रह्मपुराणे इति शोधनं मन्तव्यम् । एवमेव ९०२ तमे पृष्ठे ब्रह्मानन्द-मोक्षधर्मवचनेऽपि इत्यस्मिन्पदेऽपि शुद्धिः कार्या । अस्माभिस्तु तद्वचनं ब्रह्माण्डपुराणे ब्रह्मपुराणे वा साक्षादन्विष्य न दृष्टमित्यवधेयम् । एवं महता प्रयासेन पुनः परिष्कृतोऽयं ग्रन्थसमूहो वेदान्तशास्त्ररसिकानां सुसुक्ष्मां, वादविज्ञानबुभुत्सूनां विपश्चिदग्रेसराणां च संतोषाय संबोभूयात्तथैवैतादृश-दुर्लभग्रन्थप्रकाशनेन जनतोपकारकाणां निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतीनां श्रीयुतपाण्डुरङ्ग जावजी-
त्यभिवाजुर्पा श्रेष्ठिप्रवराणामायुरारोग्यैश्वर्यादिसकलकामनापूरणेनानुगृह्णातु सर्वेश्वरो भगवानित्याशास्ते ।

शिन्नेकुलोत्पन्नो विद्याधरशर्मसन्तुः शिवरामशास्त्री ।



श्रीः ।

श्रीविट्ठलेशीयव्याख्योपबृंहित-लघुचन्द्रिका-सिद्धिव्याख्यासमलङ्कृता- द्वैतसिद्धेः विषयानुक्रमणिका—

पृष्ठाङ्कः

पृष्ठाङ्कः

प्रथमपरिच्छेदे—

मङ्गलश्लोकार्थनिरूपणम्	१-८
अवतरणग्रन्थः	९-१३
१ विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्वनिरूपणम्	१४-१९
२ पक्षतावच्छेदकविचारः	२०-४७
३ प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणम्	४८-९३
४ द्वितीयमिथ्यात्वनिरूपणम्	९३-१५८
५ तृतीयमिथ्यात्वनिरूपणम्	१६०-१८१
६ चतुर्थमिथ्यात्वनिरूपणम्	१८२-१९४
७ पञ्चममिथ्यात्वनिरूपणम्	१९५-२०६
८ मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरूपणम्	२०७-२३२
९ दृश्यत्वनिरुक्तिः	२३३-२९४
१० जडत्वनिरुक्तिः	२९५-३१४
११ परिच्छिन्नत्वनिरुक्तिः	३१५-३१९
१२ चित्सुखीयमिथ्यात्वनिरुक्तिः	३२०-३२७
१३ सोपाधिकत्वभङ्गः	३२८-३३१
१४ आभाससाम्यभङ्गः	३३२-
१५ प्रत्यक्षबाधोद्धारः	३३३-३६३
१६ प्रत्यक्षप्राबल्यभङ्गः	३६३-३६७
१७ प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वम्	३६८-३७०
१८ प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम्	३७१-३८१
१९ अपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः	३८२-३८५
२० बहिशैल्यानुमितिसाम्यभङ्गः	३८६-३८८
२१ प्रत्यक्षस्याबाध्यत्वे बाधकम्	३८९-३९२
२२ भाविबाधोपपत्तिः	३९३-३९९
२३ सत्यत्वानुमानभङ्गः	४००-४१६
२४ मिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि	४१७-४२२
२५ आगमबाधोद्धारः	४२३-४३९
२६ असतः साधकत्वम्	४४०-४४२
२७ असतः साधकत्वाभावे बाधकम्	४४३-४५२
२८ दृग्दृश्यसंबन्धभङ्गः	४५३-४६०
२९ अनुकूलतर्कनिरूपणम्	४६१-४७७

३० प्रतिकर्मव्यवस्था	४७७-४९३
३१ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्	४९४-५०६
३२ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः	५०८-५१४
३३ द्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः	५१५-५२२
३४ एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः	५२३-५२७
३५ ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यानुपपत्तिः	५२८-५३२
३६ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः	५३३-५३८
३७ एकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः	५३९-५४३
३८ अविद्यालक्षणम्	५४४-५४७
३९ अज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः	५४८-५६१
४० अविद्यानुमानोपपत्तिः	५६२-५६९
४१ अविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः	५७०-५७२
४२ अविद्यायाम् अर्थापत्तिः	५७३-५७४
४३ अविद्याप्रतीत्युपपत्तिः	५७५-५७६
४४ अज्ञानस्य शुद्धचिन्निष्ठत्वोपपत्तिः	५७७-५८२
४५ अज्ञानस्य सर्वज्ञाश्रयत्वोपपत्तिः	५८३-५८४
४६ अज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः	-५८५
४७ अविद्याया विषयोपपत्तिः	५८६-५९४
४८ अहमर्थस्यानात्मत्वनिरूपणम्	५९५-६०६
४९ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः	६०७-६१३
५० देहात्मैक्याध्यासनिरूपणम्	६१४-६१९
५१ अनिर्वाच्यत्वलक्षणम्	६२०-६२५
५२ अनिर्वाच्यत्वानुमानम्	६२६-६२९
५३ ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः	६३०-६३७
५४ निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीय- त्वसमर्थनम्	६३८-६४२
५५ नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थोपपत्तिः	६४३-६४४
५६ असत्ख्यातिभङ्गः	६४५-६४६
५७ अन्यथाख्यातिभङ्गः	६४७-
५८ आविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः	६४८-६५१
५९ भ्रमस्य वृत्तिद्वयत्वोपपत्तिः	६५२-६५५
६० सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ।	६५६-६६१

पृष्ठाङ्कः

पृष्ठाङ्कः

द्वितीयपरिच्छेदे—

१ अखण्डार्थलक्षणम्	६६२-६७४
२ सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः	६७५-७०४
३ अखण्डार्थत्वोपपत्तिः	७०५-७१६
४ निर्गुणत्वोपपत्तिः	७१७-७३८
५ निर्गुणे सप्रमाणता	७३९-
६ निराकारत्वसाधनम्	७४०-७४९
७ ब्रह्मणो ज्ञानत्वाद्युपपत्तिः	७५०-७५६
८ ब्रह्मण उपादानत्वम्	७५७-७५८
९ ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वम्	-७६९
१० ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तत्वम्	७६०-७६७
११ स्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः	७६८-७७०
१२ स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः	७७१-७७७
१३ शब्दावाच्यत्वम्	७७४-७८६
१४ सामान्यतो भेदखण्डनम्	७८७-७९०
१५ विशेषतो भेदखण्डनम्	७९१-८०५
१६ विशेषखण्डनम्	८०६-८०९
१७ भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः	८१०-
१८ जीवब्रह्माभेदानुमानभङ्गः	८११-८१३
१९ जीवभेदानुमानभङ्गः	८१४-
२० जीवभेदानुक्तकलतर्कभङ्गः	४१५-८१८
२१ भेदपञ्चकानुमानभङ्गः	८१९-८२१
२२ जीवभेदश्रुतेरनुवादकत्वम्	८२२-
२३ असत्यभेदधीश्रुतिः	८२३-८२४
२४ शब्दान्तरादेरात्मभेदकत्वाभावः	८२६-८२७
२५ भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः	८२७-८२८

२६ ऐक्यस्वरूपोपपत्तिः	८२९-
२७ जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम्	८३०-
२८ ऐक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः	८३०-८३१
२९ तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम्	८३२-८३८
३० अहंब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम्	८३९-८४३
३१ जीवब्रह्माभेदानुमानम्	८४४-८४५
३२ अंशित्वेन ऐक्योपपत्तिः	८४६-
३३ विम्बप्रतिविम्बन्यायेन ऐक्यसिद्धिः	८४७-८५०
३४ जीवाणुत्वखण्डनम्	८५१-८५८

तृतीयपरिच्छेदे—

१ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाज्ञत्वनिरूपणम्	८५९-८६२
२ विवरणोक्तनियमोपपत्तिः	८६३-८६४
३ श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः	८६५-८६८
४ विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः	८६९-
५ वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपक- त्वोपपत्तिः	८७०-
६ ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः	८७१-८७३
७ ज्ञानविधिभङ्गः	८७४-
८ शाब्दापरोक्षत्वम्	८७५-८८३

चतुर्थपरिच्छेदे—

१ अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम्	८८४-
२ अविद्यानिवर्तकनिरूपणम्	८८५-८८७
३ मुक्तोरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वनिरूपणम्	८८८-
४ चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः	८८९-
५ जीवन्मुक्त्युपपत्तिः	८९०-८९१
६ मुक्तौ तारतम्यभङ्गः	८९२-

इति ।



अद्वैतसिद्धिः ।



अद्वैतसिद्धिः ।

सिद्धिव्याख्यासंवलिता ।



श्रीमद्विट्टलेशोपाध्याय्युपबृंहितगौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) युता च ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः

सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।

सिद्धिव्याख्या ।

श्रीः । प्रारिप्सितग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं कृतमिष्टदेवतानुसन्धानरूपं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं ग्रन्थतो निवध्नाति—मायेति । मायया कल्पितं यत् मातृतामुखं प्रमातृताप्रधानं तत्प्रभृति यो द्वैतप्रपञ्चः तस्याश्रयः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नमो नवघनश्यामकामकानितदेहिने । कमलाकामसौदाकमणकामुकोहिने ॥ १ ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्रीविट्टलं गणेशानं शिवौ वाग्देवतां गुरुन् । प्रणम्य चन्द्रिकाव्याख्यां विदधामि यथामति ॥

परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनं परममङ्गलरूपमाह मूले—मायेति । श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणां उपकार्यत्वात् शिखेव मुख्यं यत् महावाक्यं तज्जन्यसंसर्गाविषयकमनोवृत्तिगोचरः । विष्णुः व्यापकं जीवस्वरूपम् । मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते प्रकाशसंबन्धं विनैव प्रकाशते, प्रकाशाभिन्न इत्यर्थः । कीदृशो विष्णुः—मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूपबन्धतत्कार्याकार्याभावेन; विकल्पेन दृश्येन; अविद्याचित्संबन्धतूलाज्ञानादिनेति यावत्, उज्झितो रहितः; तदभाववानित्यर्थः । ज्ञाप्यत्वं तृतीयार्थः । कीदृशं मोक्षम्—परमानन्दैकतानात्मकं निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपम् । पुनः कीदृशो विष्णुः—सत्यज्ञानसुखात्मकः । पुनः कीदृशो विष्णुः—मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः मायया कल्पितं प्रयुक्तमतएव मृषाभूतं यन्मातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपं, द्वैतं आत्मभिन्नं तद्रूपप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः । मोक्षप्राप्तिः अखण्डधीगोचरत्वप्रयोज्या ननु तत्समानकालीनेति मिथ्याबन्धेत्यादिविशेषणं बन्धस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वबोधनद्वारा सूचयति । विजयते इत्यस्य प्रकाशाश्रय इत्यर्थ इति भ्रमनिवारणाय स्वयमित्युक्तम् । विष्णौ मोक्षप्राप्तिविजययोः अन्वययोग्यतालाभाय सत्येत्यादि । मायेत्यादिना द्वैतस्य मायाप्रयुक्तत्वोक्त्या तन्निवर्तकज्ञाननिवर्त्यत्वयोग्यता, मृषात्वोक्त्या मुमुक्षुवानधिकारी च सूचितः । अखण्डधियः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरत्वेन निष्कामकर्मोपासनानुष्ठानजनितचित्तशुद्धेकाग्रतयोः सत्योरेव तस्या मोक्षप्राप्तिप्रयोजकतेति सूचितमिति टीकोक्तार्थसंक्षेपः ॥ वयंतु—विष्णुः (जीवः) वस्तुतः सत्यज्ञानसुखात्मकोऽपि सन्, (अज्ञाते कन्) मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयो जातः, मुक्तोऽपि सन् अज्ञानेन बद्धत्वेन भ्रान्त इत्यर्थः । ततश्च वस्तुतो बद्धस्य तत्त्वेन भ्रान्तस्य मुमुक्षासंभवात् सः मुमुक्षुः सन् गुरुमनुसृतः ततः तदुपदिष्टश्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरोऽभूत् । निष्कामकर्मोपासनानुष्ठानेन श्रद्धेकाग्रचित्तः सन् आत्मानं सत्यज्ञानसुखरूपब्रह्मत्वेन साक्षात्कृतवान् । ततश्च मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः मिथ्याबन्धापगमात् तत्प्रयुक्तविकल्पेन दुःखेन रहितः सन् परमानन्दैकतानात्मकमोक्षं प्राप्त इव । अवास्तवसंबन्धभ्रमस्यैव सत्त्वात् मोक्षरूपस्य तत्संबन्धाभावाच्चेत्युक्तम् । ईदृशः सन् विजयते स्वप्रकाशरूपोत्कर्षवान् इत्यर्थः—इति योजयामः ॥

इष्टदेवतानमस्कृतिरूपं मङ्गलं विघ्नविघातायाचरन् शिष्यशिक्षायै निवध्नाति टीकायाम्—नम इति । नवघनश्यामः,

१ सुदाम्नः कणाः सुदामकणाः त एव सौदामकणाः तेषां कामुकः कमलाकामः सौदामकणकामुकः सचासौ गेही चेति विग्रहः । सुदामपत्नीनिष्ठायाः कमलाकामनाया बोधकत्वेन कणानामपि कमलाकामत्वमुपचर्य कमलाकामसौदामकणयोरेव स्वारसिको विशेष्यविशेषणभाव इति—र-इति विष्णुः ।

अद्वै. सि. १

मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकं

मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोद्भिन्नतः ॥ १ ॥

सिद्धिव्याख्या ।

पुनः सत्यज्ञानसुखात्मकः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः सच्चिदानन्दस्वरूपः । पुनश्च श्रुतिशि-
खोत्थाखण्डधीगोचरः, वेदान्तजन्याखण्डसाक्षात्कारविषय इत्यर्थः । पुनश्च, मिथ्याबन्धविधूननेन
मिथ्याभूतबन्धतिरस्करणेन, परमानन्दैकतानात्मकं मोक्षं प्राप्त इव स्थितः, विकल्पोद्भिन्नतः, एवंभूतो

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रीनारायणतीर्थानां गुरुणां चरणस्मृतिः । भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका ॥ २ ॥

अद्वैतसिद्धिव्याख्यानं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा । संक्षिप्तचन्द्रिकार्थेन क्रियते लघुचन्द्रिका ॥ ३ ॥

विष्णुः व्यापकं जीवस्वरूपम् । मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते । कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव तत्राह—अख-
ण्डधीगोचर इति । संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत इत्यर्थः । ननु तादृशधीविषयत्वे मोक्षप्राप्तिं प्रति
नोद्देश्यतावच्छेदकत्वसंभवः । उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्य विधेयगतत्वेन व्युत्पत्तिसिद्धस्य प्रकृते बाधात् ।
यदा हि तादृशधीविषयीभूत आत्मा, तदा तस्य न मोक्षः । तस्याविद्यारूपबन्धशून्यात्मरूपत्वात् । तदुक्तं वार्तिके—
'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः ।' इति । 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ।' इति च ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अतएव कामेनापि कामितो यो देहस्तद्वत् इत्यर्थः । नचैवं 'न कर्मधारयान्मत्वर्थो यो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इति
व्युत्पत्तिविरोध इति वाच्यम् ; प्रकृते मत्वर्थीयस्य अवयवसौन्दर्यरूपप्राशस्त्यार्थकतया बहुव्रीहेस्तदर्थप्रतिपादकत्वेन तद्विरो-
धविरहात् । न केवलमिष्टलाभार्थमेव तं नमस्कुर्मोऽपितु तदीयसौन्दर्यादिगुणश्रवणजनितभक्त्यापीति भावः । कमलां धना-
दिसंपल्लक्षणां लक्ष्मीं कामयतेऽसौ (कर्मण्यण्), स चासौ सुदामैव सौदामः तदीया ये कणाः पृथुककणाः । यद्वा कमलकौ-
मुकस्य सुदाम्न इमे कमलकामसौदामा इत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । तादृशानां कणानां कामुको यो गेही
गेहित्वोचितातिथिसत्कारपूर्वकतद्वाञ्छापूरणशीलः तस्मै श्रीकृष्णायेत्यर्थः । पूर्वं स्वाभिलषितप्राप्तिहेतुवदृष्टविरहेऽपि तत्काल
एव (अपला ?) पृथुकादानादिनापि तादृशादृष्टं संपाद्य याचकामीष्टदत्त्वेन लोकविलक्षणो दाता अस्माकमपीष्टमवश्यं दास्यतीति
भावः ॥ १ ॥ गुरुस्मृतिमपि शिक्षयति—श्रीति ॥ २ ॥ चिकीर्षितं प्रतिजानीते—अद्वैतसिद्धीति ॥ ३ ॥ योगरूढ्या विष्णु-
पदार्थस्य श्रीनारायणस्य ईश्वरत्वेन नित्यमुक्ततया मोक्षप्राप्तसादृश्येऽप्यनव्यायोग्यत्वाद्याचष्टे—विष्णुरिति । यद्यपि विष्णु-
पदस्य लक्षणयापि जीवपरत्वं सुवचम् ; तथापि जीवाणुत्वादिनिरासाय योगमाश्रित्याह—व्यापकमिति । 'विष्णु व्याप्ता'-
वित्यनुशासनादिति भावः । अन्तःकरणवृत्तिरूपाया धियो निरवयवत्वनित्यत्वरूपस्य अखण्डत्वस्यासंभवादाह—संसर्गा-
विषयकेति । अत्र विष्णुः मोक्षं प्राप्त इव विजयते अखण्डधीगोचरश्चेति विधेयद्वयावगाहिबोधस्वीकारे वाक्यमेद-
प्रसङ्गः । मोक्षप्राप्तत्वावच्छिन्नोद्देश्यकोऽखण्डधीगोचरत्वविधेयको बोधोऽपि न संभवति । इवपदार्थानन्वयप्रसङ्गात् ।
पदस्य उद्देश्यतावच्छेदकस्य विधेयपूर्वसिद्धताया अपेक्षणीयत्वात् । तद्वोधकपदपूर्वत्वस्यापेक्षणाच्च । तस्य चेहाभावात् । अत-
एव मोक्षप्राप्तसदृशत्वमपि नोद्देश्यतावच्छेदकमित्यखण्डधीगोचरत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकमोक्षप्राप्तसदृशत्वविधेयकबोध एव
स्वीकार्य इत्याशयेन कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव तत्राह—अखण्डधीगोचर इतीत्युक्तम् । तत्र संभवतीत्याश-
ङ्क्या मिथ्याबन्धेति विशेषणमवतारयति—नन्विति । विधेयगतत्वेन तत्त्वेन भासमानतया । व्युत्पत्तिसिद्धस्येति ।
अन्यथा गन्धप्रागभावविशिष्टो घटो गन्धवानिति वाक्यस्य प्रामाण्यापत्तेरिति भावः । ननु जीवन्मुक्त इति व्यवहारात्
स्थूलविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः, तस्य च तादृशवृत्तिकालावच्छिन्नत्वं संभवत्येव । जीवन्मुक्ते उभयोरेकदा सत्त्वादित्यत
आह—तस्येति । बन्धशून्येति । बन्धसामान्याभाववदित्यर्थः । अत्र संमतिमाह—तदुक्तमिति । मोक्षपदस्योक्तार्थं
सूचनादाह—सा च बन्ध इति । प्रथमेन वार्तिकेन अविद्यारूपबन्धशून्यत्वस्य मोक्षपदार्थत्वमुक्तम् । द्वितीयेनतु मोक्ष-
पदार्थमोहनिवृत्तिपदार्थभूततादृशशून्यत्वस्य ज्ञातात्मतारूपत्वोक्त्या आत्मनो मोक्षपदार्थत्वं तादृशशून्यत्ववत्ता च बोध्यते ।

१ संगृहीतगुरुचन्द्रिकार्थेन । २ 'यश्च श्रीशः सुदाम्नः पृथुककणगणाल्यादरास्वादयुक्त' इति प्रथमपरिच्छेदान्तग्रन्थकारवचनैक-
वाक्यतया कमलकामपदस्य गेहिविशेषणत्वस्यैव सिद्धत्वात् सुदामैव सौदाम इति विग्रहे अनः प्रकृतिभावापत्त्या सुदाम्नः कणास्त एव
सौदामकणा इति विग्रहस्यैव युक्तत्वाच्चेदमापातत इति प्रतिभाति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनवस्थानम् । सा स्थूलरूपा संस्कारादिरूपा च । तथाच विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः । ज्ञातत्वनोपलक्षित आत्मापि विदेहताकालीन एव । जीवन्मुक्तिकालीनस्य ज्ञातत्वनोपलक्षितत्वस्यापि कदाचित्संभवेन ज्ञातत्वेनोपलक्षितत्वस्य सर्वदा असंभवात्तदुपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वम् । जीवन्मुक्तौ संस्कारादिरूपेण मोहसत्त्वात् । स्थूलाज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञानविशेषादिमनःपरिणामरूपतासंभवेन ज्ञातात्मरूपत्वासंभवाच्च । नचोक्तविषयत्वक्षणे एव तादृशविद्यास्तमयः संभवति । चरमधीरूपविद्यावतः क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तदृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमेन सिद्धस्याविद्यास्तमयस्य विदेहताकालीनस्य विद्यावति क्षणे संभवाभावात्, अत आह—मिथ्याबन्धविधूननेन—विकल्पोऽज्ञित इति । ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूपबन्धस्य तादृशास्तमयेन दृश्यशून्य इत्यर्थः । अत्र बन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या तदुच्छेदस्य ज्ञानाधीनत्वज्ञापनेन न ज्ञानोत्पत्तिकालीनत्वमिति ज्ञापितम् । तथाच विधेये उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोधस्यौत्सर्गिकत्वात् सर्गाद्यकालीनव्यणुकपक्षजन्यतासंबन्धेन कर्तृसाध्यकानुमितौ निरवच्छिन्ने कर्तरि विधेये तादृशकालावच्छिन्नत्वबाधवत्प्रकृतेऽपि तस्य बाधितत्वान्न तत्र तद्बोधः । अत्र बन्धविधूननमविद्यातत्कार्यशून्यत्वं दृश्यशून्यत्वं अनादिसाधारणदृश्यशून्यत्वमिति तयोर्भेदः । विधूननेनेति तृतीया ज्ञापकहेतौ । ननु कारकहेतौ । नह्यविद्याया अस्तमयो नाम व्यावहारिकध्वंसरूपो विद्याजन्योऽस्तमस्तद्धान्ते स्वीक्रियते । दृश्यान्तरध्वंसो वा तज्जन्यः । तथा सति तस्य निवर्तकाभावेन 'विद्याज्ञानरूपाद्विमुक्त' इत्यादिश्रुतिबोधितस्य विदुषि सर्वदृश्योच्छेदस्य बाधापत्तेः । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे हि तत्त्वज्ञानादिसर्वदृश्यनाशोत्पादात् उक्तक्षणद्वितीयक्षणे उक्तनाशस्य नाशोत्पत्त्यसंभवः । तत्त्वज्ञानजन्यस्य नाशस्यैव तत्त्वज्ञाननाशहेतुत्वे स्वीकृतेऽप्युक्त-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अभावस्याधिकरणरूपत्वोपगमात् । एवंच वार्तिकद्वयेनाविद्यारूपबन्धशून्यात्मनो मोक्षपदार्थत्वं सिद्धम् । ज्ञातत्वं च न मोक्षपदार्थघटकम् । अविद्यासामान्यास्तमयस्य मोक्षघटकत्वायाविद्यासामान्यस्य बन्धत्वमाह—सा स्थूलेति । तथाच बन्धसामान्याभावस्य मोक्षपदार्थघटकत्वेन च मुख्य इति । जीवन्मुक्त इति व्यवहारस्तु गौणः । तथाच जीवन्मुक्ते न तादृशो मोक्ष इति तस्याखण्डवृत्तिकालावच्छिन्नत्वं दुर्घटमिति भावः ।—विदेहताकालीन एवेति । कुतः—'निवृत्तिरत्मा' इतिवार्तिकेन जीवन्मुक्तस्य मोहनिवृत्त्याख्यमोक्षत्वाबोधनं यतः । ननु ज्ञातत्वमखण्डधीविषयत्वं तदुपलक्षितत्वं च स्वपूर्वकालीनप्रतियोगिसमानाधिकरणतदभाववत्त्वं तत्संबन्धोत्तरकालीनतत्समानाधिकरणतदभाववत्त्वं वा । तच्च जीवन्मुक्तस्यास्यैव । वृत्त्यन्तरकाले च तस्य तथात्वादित्यत आह—ज्ञातत्वेति । सर्वदेत्यादिः ।—जीवन्मुक्तिकालीनस्येति । आमेति षष्ठ्या विपरिणतमनुषज्यते । कदाचित् अखण्डवृत्तिकाले । ननु कदाचित् तदुपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वमस्त्वित्यत आह—तदुपलक्षितस्यैवेति । सर्वदेत्यादिः । विदेहताकालीनात्मन इत्यर्थः । सर्वदा तदुपलक्षितत्वं च स्वोत्तरकालीनप्रतियोग्यसमानाधिकरणस्वपूर्वकालीनप्रतियोगिसमानाधिकरणो यः तद्वत्त्वम् । ननु मोहनिवृत्तिपदेन जीवन्मुक्तिकालीना स्थूलाज्ञाननिवृत्तिरेव गृह्यत इत्यत आह—स्थूलाज्ञाननिवृत्तेरिति । नन्वेवं स्थूलाज्ञाननिवृत्तेरिव संस्काररूपाविद्यानिवृत्तेरपि तत्त्वज्ञानरूपत्वसंभवात् तत्त्वज्ञानमोक्षयोः समानकालीनत्वमक्षतमित्याशङ्कां परिहरति—नचेति । यद्वा जीवन्मुक्तौ संस्काररूपेणाविद्यासत्त्वेऽपि चरमतत्त्वज्ञानविषयत्वक्षणे अविद्यासामान्यास्तमयः संभवत्येवेत्याशङ्कां वारयति—नचेति । नास्तीत्यर्थः । तत्क्षणे तादृशवृत्तिविषयत्वरूपस्यैव अविद्याकार्यस्य सत्त्वादिति भावः । तदेतदाह—उक्तविषयत्वक्षणे इति । ननु वृत्तिविलयोऽपि तदैव कुतो नेत्यत आह—चरमधीरूपेति । विद्योत्तरक्षणे दृश्यस्वीकारे विद्यावत्क्षणस्य दृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वापत्त्या तादृशनियमभङ्गप्रसङ्ग इति तत्र तदत्यन्ताभावः स्वीक्रियते । विद्यापूर्वक्षणस्य तु विद्यावत्क्षणत्वाभावेन विद्याक्षणे दृश्यसत्त्वेन तत्पूर्वत्वेऽपि नियमाभङ्ग इति न विद्याक्षणे दृश्यसामान्याभावसिद्धिरिति भावः । अतएव वार्तिके 'ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्युपलक्षित इत्युक्तम् ।—मिथ्यात्वोक्त्येति । मिथ्यात्वस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वघटितत्वादिति भावः । बन्धविधूननदृश्यशून्यत्वयोरभेदमाशङ्क्य निराकुरुते—अत्रेति । कार्यं विद्यदादि ।—अनादिसाधारणेति । अविद्याचित्संबन्धतूलाज्ञानजीवब्रह्मभेदादीत्यर्थः । ज्ञापकहेतौ ज्ञापकत्वबोधिका । कारणहेतौ कारणत्वबोधिका । अविद्याया इति दृष्टान्तार्थम् । दृश्यान्तरध्वंस इति प्रकृताभिप्रायम् ।—तज्जन्यः । नहि स्वीक्रियते इत्यनुषङ्गः । येन जनकत्वे तृतीया स्यादिति शेषः । तस्य दृश्यान्तरध्वंसस्य । निवर्तकेति । नाशकाभावेन—बाधकापत्तेरिति । दृश्यान्तरध्वंसरूपदृश्यसत्त्वादिति भावः । ननु तत्त्वज्ञानमेव दृश्यान्तरध्वंसनाशकमस्त्वित्यत आह—तत्त्वज्ञानोत्पत्तीति । तत्त्वज्ञानादीति । दृश्यत्वाविशेषात् कतकरजन्यायेनेति भावः ।—उक्तक्षणेति । तत्त्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बाधापत्तेस्तादवस्थ्यात् । तत्त्वज्ञानजन्यस्य दृश्यान्तरनाशस्य तत्त्वज्ञानस्य च यौ नाशौ तयोर्नाशकाभावात्तयोः स्वनाशकत्वस्वीकारेऽप्युक्तापत्तितादवस्थ्यात् । अप्रामाणिकानन्तनाशकल्पने गौरवाच्च । तस्माच्चरमतत्त्वज्ञानस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियम एव स्वीक्रियते न तु नाशहेतुत्वम् । यत्तु—बद्धपुरुषैः प्रातीतिकमस्तमयादिकं कल्प्यते—न तस्य नाशहेतुत्वम् । यद्यपि ज्ञापकहेतुत्वमपि दृश्यास्तमयं प्रत्यविद्यास्तमयत्वेन नास्ति जीवन्मुक्ते प्रातीतिकाविद्यास्तमये तद्व्यभिचारित्वात्, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकस्य दृश्यास्तमयस्य कल्पने नियमाभावात्; तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्वरूपेणाविद्यास्तमयस्य दृश्यास्तमयं प्रत्यस्त्येवेति ध्येयम् । अथवा मास्तु प्रातीतिकं तादृशाविद्यास्तमयादिकम् । अविद्यो-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे इत्यर्थः । उक्तनाशस्य दृश्यान्तरनाशस्य । ननु तत्त्वज्ञानं न स्वनाशम्, क्षणिकत्वापत्तेः । किंतु स्वजन्यदृश्यध्वंसनाशम् । एवंच द्वितीयक्षणे वर्तमानं तत्त्वज्ञानं दृश्यान्तरध्वंसं ध्वंसयेदित्याशङ्क्याह—तत्त्वज्ञानजन्यस्येति । उक्ताबाधापत्तेः श्रुतिबोधितविद्वन्निष्ठसर्वदृश्योच्छेदबाधापत्तेः । तत्त्वज्ञानध्वंस—दृश्यान्तरध्वंसध्वंसयोः दृश्ययोः सत्त्वादिति भावः । तयोः सत्त्वे हेतुमाह—तत्त्वेति । तयोः तत्त्वज्ञानध्वंसदृश्यान्तरध्वंसध्वंसयोः । स्वनाशकत्वं स्वस्वध्वंसहेतुत्वम् । उक्तापत्तीति । तत्त्वज्ञानध्वंसध्वंसस्य दृश्यान्तरध्वंसध्वंसध्वंसस्य च दृश्यस्य नाशकाभावेन सत्त्वादिति भावः । ननु उक्तश्रुतेः भावरूपदृश्योच्छेदे तात्पर्यात् ध्वंससत्त्वे किं बाधकमत आह—अप्रामाणिकेति । सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकैकध्वंसस्यानङ्गीकारात् । तत्तद्वस्तुप्रतियोगिताकानामनन्तानां नाशानां कल्पने इत्यर्थः । नचाभावानामधिकरणरूपत्वनये ध्वंसानां ब्रह्मस्वरूपत्वस्वीकारात् न गौरवमिति वाच्यम्; ध्वंसानामनित्यतया नित्यब्रह्मरूपत्वासंभवात् । ब्रह्मणि तत्तद्ध्वंसत्वात् कल्पनीयतया गौरवस्य दुर्वारत्वाच्च । श्रुतिजन्यशाब्दबोधोधात्मकप्रथमादितत्त्वज्ञानस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वात् व्यभिचार इत्यतः चरमेति ज्ञानस्य साक्षात्कारत्वलाभाय । अत्र यो यद्विषयकसाक्षात्कारः स तद्विषयकाज्ञानतत्कार्यपूर्वत्वाभाववान् यथा श्रुतिसाक्षात्कारः इति सामान्यतो व्याप्तिः । एतेनान्यत्रादृष्टत्वादेतादृशनियमोऽप्रामाणिकः । नच श्रुत्यादिज्ञानस्थले तथा नियमोऽस्तीति वाच्यम्; श्रुत्यादिविषयकपरोक्षचरमज्ञानस्यापि श्रुत्यादिविषयकाज्ञानादिपूर्वत्वेन व्यभिचारात् । नच ज्ञाने साक्षात्कारत्वं निवेश्यमिति वाच्यम् । तथासति प्राथमिकस्यापि श्रुत्यादिसाक्षात्कारस्य तादृशपूर्वत्वाभाववत्त्वेन व्यभिचाराप्रसक्त्या चरमत्वविशेषणवैयर्थ्यापत्तेरित्यपास्तम् । ब्रह्मसाक्षात्कारस्तु निदिध्यासनोत्तरं मुक्तिकाल एव उपेयते इति ध्येयम् । ननु अविद्यादेर्ध्वंसरूपस्यास्तमयस्यानङ्गीकारे विद्योत्तरं कथमविद्ये देरभाव आत्मनि संपद्येत, नहि तस्य ततोऽन्यत्र गमनं संभवति, ब्रह्मण एव निखिलप्रपञ्चस्याधिष्ठानतया आधारत्वादिति चेत् स्वाप्नगजशुक्तिरजतादिनिवृत्तिप्रकारं विभाव्य मनः समाधीयताम् । अन्यथा कपाले घटस्य ध्वंसे जाते घटः क्व गत इत्यनुयोगस्य भवतामपि दुःसमाधेयत्वात् । वस्तुतस्तु निर्विकल्पकद्वैताभावोपलक्षितब्रह्मनिश्चयस्य द्वैतभ्रमप्रतिबन्धकतया तादृशनिश्चयोत्तरं द्वैतभ्रमानुत्पादे प्रतिभासमात्रशरीरस्य द्वैतस्याप्यनुत्पाद इति तत्त्वज्ञानोत्तरं सुलभ एव सर्वदृश्याभावः । यद्वा—तादृशनिश्चयोत्तरं द्वैतभ्रमानुत्पादे द्वैतभ्रमात्यन्ताभावः सिद्ध एव । प्रागभावात्यन्ताभावयोरविरोधात् । तथाच द्वैततद्भ्रमयोः समनैयत्यात् व्यापकीभूतद्वैतभ्रमाभावेन व्याप्यभूतद्वैतस्याप्यत्यन्ताभावः सिध्यति । तत्रच 'व्यापकाभावप्रयोजकस्य सुतरां व्याप्याभावप्रयोजकत्व'मिति न्यायेन तत्त्वनिश्चयस्य प्रयोजकतेति ध्येयम् । ननु पारमार्थिकस्य व्यावहारिकस्य वा अविद्यादिध्वंसस्यानङ्गीकारेऽपि जीवन्मुक्ते प्रातिभासिकः सोऽस्त्येव । मुक्तस्य तत्त्वज्ञानेन अविद्यादिसर्वदृश्यध्वंसो जात इति साधारणबद्धजनानां प्रतीतेः । तस्यैव स्वसमसत्ताकदृश्यास्तमयजनकतासत्त्वात् तामादाय कारकतृतीयाया अप्युपपत्तिसंभव इति शङ्कां परिहरति—यत्त्विति । न तस्य नाशहेतुत्वमिति । नहि प्रातीतिकमेकं वस्तु तादृशवस्त्वन्तरे कारणम् । दोषघटितसामग्र्या एव तत्र जनकत्वात् । जीवन्मुक्ते प्रातिभासिकाविद्यास्तमयसत्त्वेऽपि तादृशदृश्यास्तमयाभावेन व्यभिचाराच्चेति भावः । नन्वेवं ज्ञाप्यज्ञापकभावोऽपि प्रातीतिकयोरेव अविद्यादृश्यास्तमययोर्वाच्यः । तयोर्दृश्यत्वेन सर्वदृश्योच्छेदवति विदुषि पक्षीभूतेऽसत्त्वात् सोऽपि न संभवतीत्याशङ्कते—यद्यपीति । व्यभिचारमप्याह—जीवन्मुक्तेति । तद्व्यभिचारात् दृश्यास्तमयव्यभिचारात् ।—नियमाभावादिति । लोकवद्भवहरति जीवन्मुक्ते तदकल्पनादिति भावः । यद्वा—नियमाभावादिति मानाभावादित्यर्थः । जीवन्मुक्ते स्थूलविद्यास्तमयस्यैव लौकिकी प्रतीतिः । ननु संस्काररूपाविद्यास्तमयस्य । तस्मिन् संस्काररूपाविद्याया एव ज्ञायमानत्वादिति भावः ।—दृश्येति । प्रातीतिकेत्यादिः । एवमविद्येत्यस्यापि ।—रूपेणेति । तादृशरूपावच्छिन्नस्य तस्य विदेहताकाल एव सत्त्वात्, तदाच दृश्यास्तमयस्यापि सत्त्वादिति भावः । नच सर्वदृश्योच्छेदवति विदुषि प्रातीतिकयोस्तयोः कथं सत्त्वमिति वाच्यम्; तत्र बद्धजनप्रतीतयोस्तयोः सत्त्वेऽपि कैवल्यदशयां मुक्तज्ञानोच्छेद्यत्वसाक्षतत्वात् ।—अस्त्येवेति । ज्ञापकहेतुत्वमित्यनुषङ्गः । विदुषि सर्वदृश्योच्छेदग्रहेण हेतुसाध्यग्रहासंभ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः । अविद्योच्छेदश्च तदीयस्थूलसूक्ष्मरूपाश्रयकालपूर्वत्वाभावः सर्वदृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावरूपेण दृश्योच्छेदेन व्याप्यः । मोक्षस्य दृश्योच्छेदोपलक्षितात्मरूपकैवल्यरूपत्वात् । यद्वा ननु दृश्योच्छेदस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे न संभवति । अनादिदृश्यानां ज्ञानानुच्छेद्यत्वादविद्यातत्कार्ययोरेव तदुच्छेद्यत्वात्, तत्राह—**मिथ्याबन्धेति** । मिथ्याबन्धविधूनेन विकल्पोज्झित इति योजना । तथाच अविद्योच्छेदेन दृश्योच्छेदवानित्यर्थलाभात् अविद्योच्छेदस्य दृश्योच्छेदव्याप्यतालाभेनाविद्यारूपबन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या अविद्याप्रयुक्त-दृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वलाभेनानादिदृश्यानामपि ज्ञानोच्छेदलाभादुक्तव्याप्यतायाः संभवः । तथाच सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षितपरमानन्दरूपात्मरूपकैवल्यप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्तरमेव न तत्क्षण इति नोद्देश्यतावच्छेदकधीविषयत्वकालीनत्वं विधेये मोक्षलाभे विवक्षितम् । उज्झित इति निष्ठाप्रत्ययेनोच्छेदस्यातीतकाले मोक्षप्राप्तेर्लाभात् अत्यन्ताभावत्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वेऽपि स्वरूपयोग्यताघटित एव ज्ञाप्यज्ञापकभावो निर्वहतीति भावः । प्रातीतिकाविद्यास्तमयदृश्यास्तमययोरनभ्युपगमेऽपि ज्ञाप्यज्ञापकभावनिर्वाहकं व्याप्यव्यापकभावं समर्थयते—**व्याप्य इति** । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणमन्तर्भाव्येत्यादिः । अनुकूलतर्कं सूचयति—**मोक्षस्येति** । तथाच निरुक्ताविद्योच्छेदवान् तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणो यदि निरुक्तदृश्योच्छेदवान्न स्यात्, तर्हि 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः' इत्यादिश्रुतिबोधितमुक्तिपूर्ववत्त्ववान् न स्यादिति तर्केण तादृशक्षणे दृश्योच्छेदसिद्ध्या व्याप्तिसिद्धिरिति भावः । अत्रच मोक्षप्राप्तौ तत्त्वज्ञानविषयत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वं न भासते; बाधात्, किंतु तत्सामानाधिकरण्यं तत्प्रयोज्यत्वं वेत्येतावन्मात्रबोधनाय मिथ्याबन्धेति ग्रन्थावतारे विकल्पोज्झितपदवैयर्थ्यं विधूननपदोत्तरतृतीयाया वैशिष्ट्यार्थकतया आत्मनि मिथ्याबन्धराहित्यमात्रे बोधितेऽपि बन्धमिथ्यात्वबोधनसंभवेन उक्तरीत्या उक्तार्थबोधनसंभवात् मृषाद्वैतेत्यनेनैवैतन्नाभात्, दृश्यशून्यत्वे तज्ज्ञाप्यत्वादिवोधने फलाभावात् **मिथ्याबन्धेत्यादेरपि** वैयर्थ्याच्चेल्यालोच्य प्रकारान्तरेण तं ग्रन्थमवतारयति—**नन्विति** । क्वचित्तु 'यद्वा ननु' इत्येव पाठः । **दृश्योच्छेदः** दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियमः । **ज्ञानानुच्छेद्यत्वादिति** । ज्ञानोच्छेद्यत्वं स्वाश्रयपूर्वत्वाभाववज्ज्ञानकत्वं, तच्छून्यत्वादित्यर्थः । अखण्डधीगोचरो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इवेति बोधेऽखण्डधीगोचरत्वस्य मोक्षप्राप्तिप्रति उद्देश्यतावच्छेदकतया तत्प्रयोजकतापि तादृशबोधविषयः, धनी सुखीतिवत् । सा च तस्य दृश्यसामान्योपलक्षितपूर्णानन्दरूपात्मरूपमोक्षपदार्थघटक-दृश्यसामान्योच्छेदरूपोपलक्षणीभूतवस्तुनिर्वाहकत्वेन वाच्या । तादृशनिर्वाहकत्वं तु न तत्त्वज्ञानस्य सकलदृश्यध्वंसजनकतया, उक्तयुक्तः, अपितु तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभाववत्त्वनियमादेव निर्वाह्यम् । तच्च न संभवति । तादृशक्षणस्य अविद्यातत्कार्याश्रयपूर्वत्वाभाववत्त्वनियमस्योपगमेनानादिदृश्याश्रयपूर्वत्वाभावनियमानुपगमात् । 'मायामेतां तरन्ति ते' इत्यादौ मायाया एवोपादानात् । समानविषयकाविद्यात्वरूपस्य ज्ञाननिर्वर्त्यतावच्छेदकस्यानादिदृश्येऽभावेन तस्य ज्ञानोच्छेद्यत्वासंभवाच्चेल्याभासभावः । 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' इति श्रुतेः, तत्त्वज्ञानस्य दृश्यसामान्योच्छेदकत्वम् । उक्तमृत्यादौ तु मायापदं दृश्यसामान्यार्थकम् । तत्त्वज्ञाननिर्वर्त्यतावच्छेदकं तु दृश्यत्वमेवेत्याशयेनोक्ताभासनिरासं प्रकाशयति—**तथाचेति** । **अविद्योच्छेदेनेति** । ज्ञापकत्वं तृतीयार्थः । व्याप्यत्वं त्वर्थतो लभ्यम् । **व्याप्यतालाभेनेति** ज्ञानोच्छेद्यतालाभादित्यत्रान्वेति । अविद्योच्छेदस्यानादिदृश्योच्छेदव्याप्यत्वं तु अनादिदृश्यानामविद्याव्याप्यत्वात् व्यापकाभावस्य व्याप्याभावं प्रति व्याप्यत्वनियमात् । तथाच तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे अविद्यातत्कार्योच्छेदस्वीकारे तद्व्यापकीभूतानादिदृश्योच्छेदोऽपि स्वीकार्यः । अन्यथा व्याप्यव्यापकभावभङ्गापत्तेः । एतेन 'विकल्पोज्झितः' इत्यस्य वैयर्थ्यशङ्का निरस्ता । उक्तरीत्या दृश्योच्छेदेऽविद्योच्छेदव्यापकताबोधस्य संभवात् । तत्र चैतस्योपयोगात् । बन्धमिथ्यात्वोक्तिमनादिदृश्यानां ज्ञानोच्छेद्यत्वे युक्त्यन्तरसूचकतया सफल्यति—**अविद्यारूपबन्धस्येति—प्रयुक्तेति** । अनादेरपि दृश्यस्य अविद्याप्रयुक्तत्वम् । तस्या एव जगदुपादानत्वश्रवणात् । नित्येष्वपि क्षेमसाधारणप्रयोज्यत्वस्य स्वरूपसंबन्धरूपस्योपगमात् । अतएव दुःखप्रागभावादौ प्रायश्चित्तप्रयोज्यत्वम् । यत्प्रयुक्तं यत् तत् तन्निवर्तकेन निर्वर्त्यमिति व्याप्तिवशाद्भ्रममाह—**मिथ्यात्वलाभेनेति** । इदमपि ज्ञानोच्छेद्यतालाभान्वयि । मिथ्यात्वस्य ज्ञाननिर्वर्त्यत्वघटितत्वात्, तद्व्याप्यत्वाद्देति भावः ।—**उक्तव्याप्यताया इति** । आभासोक्तस्य तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणस्य दृश्यसामान्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियमस्येत्यर्थः । अन्यथा लाभेन इति तृतीयार्थान्वयप्रसङ्गात् । एतत्कल्पे मिथ्याबन्धेति ग्रन्थस्य पूर्वकल्पीयार्थसूचकतामप्याह—**तथाचेति** । तत्त्वज्ञानक्षणस्य सर्वदृश्याश्रयपूर्वत्वाभावरूपसर्वदृश्योच्छेदविशिष्टत्वसिद्धौ चेत्यर्थः ।—**न तत्क्षण इति** । तदा दृश्योच्छेदस्योपलक्षणत्वासंभवादिति भावः । तादृशविवक्षाया ग्राहकमाह—**उज्झित इति** । लाभादिति । तत्त्वज्ञानक्षण उच्छेदस्य वर्तमानत्वादिति शेषः । तथाच मोक्षप्राप्ति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशिष्टरूपस्योच्छेदस्यापि दृश्यत्वात्तादृशे मोक्षकाले तस्यातीतत्वादिति भावः । मोक्षं कीदृशं तत्राह—परमेत्यादि । निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः । ननु मुक्तस्य प्रकाशकाभावेन प्रकाशत इत्यर्थकं विजयत इत्युक्तम् तत्राह—स्वयमिति । प्रकाशकसंबन्धं विनैवेत्यर्थः । नन्वेवं विजयत इत्यनुपपन्नम्—तस्यापि प्रकाशसंबन्धार्थकत्वात्, स्वयमित्यस्य प्रकाशान्तरं विनेत्यर्थकत्वेन विजयत इत्यस्य स्वात्मप्रकाशसंबन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः । अथ विजयत इत्यस्योत्कर्षान्तरमैवार्थः ननु प्रकाशसंबन्धः, तदा प्रकाशमानानन्दरूपत्वालाभेन मोक्षस्य प्रयोजनत्वालाभः; तत्राह—सत्यज्ञानसुखात्मक इति । यथात्मन आनन्दत्वेनानन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इवेत्युक्तम्, अतएवानन्दावाप्तिबोधकश्रुतेरनावृतानन्दैक्यमर्थो न त्वानन्दसंबन्धः; तथा प्रकाशरूपत्वेन विष्णोः प्रकाशत इत्यस्यानावृतचिदभेदबोधकत्वम् ननु प्रकाशसंबन्धार्थकत्वम् । तथाच दृश्यत्वाभावात् न मिथ्यात्वापत्तिः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तत्त्वज्ञानविषयत्वयोरेककालीनत्वं बाधितमिति भावः । ननु अत्यन्ताभावरूपस्योच्छेदस्य नित्यत्वात् कथमतीतत्वम्, तत्राह—अत्यन्ताभावत्वेति । तादृशे तत्त्वज्ञानोत्तरे । निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमिति । निरतिशयापरिच्छिन्नेति परमपदार्थः । अपकर्षानाश्रयत्वं निरतिशयत्वम् । अपरिच्छिन्नत्वं कालादिपरिच्छेदाभाववत्त्वम् । मात्रैलेकतानशब्दार्थः । ननु सूर्यादिप्रकाशकसत्त्वात् कथं तदभाव इत्यत आह—मुक्तस्येति । तस्य सर्वदृश्योच्छेदेन सूर्यादिप्रकाशकस्याप्युच्छेदादिति भावः । प्रकाशते प्रकाशाश्रयः ।—अयुक्तमिति । सति प्रकाशके तत्तादात्म्यापन्नतया मुक्तस्य प्रकाशाश्रयत्वं युक्तम्, नान्यथेति भावः । स्वयं आत्मनैव, नान्येन । अभेदः तृतीयार्थः । अन्यतादात्म्यानापन्न इत्यक्षरार्थः । अस्य विजयते इत्यत्रान्वयः । फलितार्थमाह—प्रकाशकेति । संबन्धं तादात्म्यम् । विनैवेत्यर्थ इति । प्रकाशकतादात्म्याभाववानपीत्यर्थ इत्यर्थः । तथाच मुक्तस्यैव प्रकाशकत्वात् स्वनिष्ठप्रकाशाश्रयत्वार्थपर्यवसायितया विजयत इति युक्तमेवेति भावः । नन्वेवं नन्वेवमपि । अनुपपन्नमिति । सर्वदृश्योच्छेदे प्रकाशरूपस्वनिष्ठधर्मस्याप्युच्छेदेन तत्संबन्धस्य दुर्घटत्वात् स्वप्रकाशत्वस्य च व्याघातादिति भावः । तत्संबन्धः केनोक्तः तत्राह—तस्येति । विजयतेपदस्येत्यर्थः ।—प्रकाशसंबन्धेति । आख्यातार्थतदाश्रयत्वस्य तत्संबन्धपर्यवसायित्वादिति भावः ।—प्रकाशान्तरं विनेति । स्वमिन्नप्रकाशाभाववानपि । पूर्ववत् प्रकाशकसंबन्धाभाववदर्थकत्वे स्वनिष्ठस्वमिन्नप्रकाशसंबन्धवत्त्वस्यापि संभवेन स्वात्मकप्रकाशसंबन्धपर्यवसानासंभव इत्यतोऽर्थान्तरानुसरणम् ।—स्वात्मप्रकाशसंबन्धेति । स्वस्य चैतन्यरूपतया तत्संबन्धस्य तत्तादात्म्यरूपतया चिद्रूपज्ञानविषयत्वार्थकत्वेऽपीत्यर्थः । दृश्यत्वेन दृश्यत्वापत्त्या । चिद्रूपज्ञानविषयत्वस्यैव दृश्यत्वरूपत्वादिति भावः । उत्कर्षान्तरं परप्रकाश्यत्वाभावरूपम् । इदानीं स्वमित्यस्य स्वमिन्नप्रकाशाभाववत्त्वमेवार्थः । सच परप्रकाश्यत्वाभावनिराहं विशेषणं बोध्यम् । स्वमित्यस्य प्रकाशसंबन्धाभाव इत्यर्थः । सच सामानाधिकरण्यसंबन्धेन विधेयविशेषणम् । विजयत इत्यत्र धान्वर्थोऽनावृतप्रकाशः । आख्यातस्य लक्षणया अभेदोऽर्थः । सच निरुक्तमोक्षप्राप्तसदृशः विशिष्टोऽखण्डधीगोचरत्वविशिष्टविष्णौ विधीयते । विशिष्टस्य विधेयत्वे अनावृतानन्दाभेदरूपमोक्षप्राप्तसदृशप्रकाशसंबन्धरूपदृश्यत्वाभावानावृतप्रकाशाभेदानां त्रयाणां विधेयत्वं पर्यवस्यति । तत्र आत्मन आनन्दाश्रयत्वमेव ननु तत्स्वरूपत्वमिति भेदनिबन्धनस्यानन्दसंबन्धरूपतः प्राप्तत्वस्यैव सत्त्वात्तादृश्यं न संभवति । एवं तस्य ज्ञानात्मकत्वेन तत्संबन्धसंभवेन चेतयोरपि न संभव इति बाधशङ्कावारणाय सत्यज्ञानसुखात्मक इति विशेषणत्रयमुपात्तम् । सामान्यतो ज्ञानादिरूपत्वस्य अनावृतत्वविशिष्टज्ञानादिरूपत्वव्यापकत्वात् तच्छङ्कानिरासः । घटो नीलघट इतिवत् विधेयकोटौ अनावृतत्वस्याधिक्यात् नोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यम् । विधेयतावच्छेदकघटकानावृतत्वस्य तत्त्वज्ञानविषयत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यत्वेन विशिष्टविधेयस्यापि तत्प्रयोज्यत्वात्तत्र तद्ज्ञानं न बाधपरान्तमित्यभिप्रेत्य सत्यज्ञानसुखात्मकत्वविशेषणाभिप्रायम्; तत्रैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावकल्पनया वर्णयति—यथेति । यद्वा—विष्णोः प्रकाशरूपत्वबोधनं योग्यताबोधनविधया विजयत इत्यस्य अनावृतप्रकाशाभेदबोधकत्वतात्पर्यग्रहार्थमित्यभिप्रेत्य तादृशविशेषणाभिप्रायं उक्तकल्पनयाऽऽह—यथेति । मोक्षं प्राप्त इवेति । मोक्षसंबन्धवानिवेत्यर्थः । उभयोर्भेदे हि संबन्धः । प्रकृते मोक्षविष्णुपदार्थयोरैक्यात्प्रातीतिक एव तदुभयसंबन्ध इति सूचनाय इवेत्युक्तम् । नन्वेवमानन्दावाप्तिश्रुतेः का गतिः तत्राह—अतएवेति । आत्मन आनन्दरूपत्वादेवेत्यर्थः । आभासे विजयते इत्यस्यैवानुपपत्तेरुद्भावनात् मोक्षं प्राप्त इवेत्यस्य दृष्टान्तता । प्रकाशत इत्यस्य तद्विधियमाणस्य विजयतेपदस्य । अनावृतप्रकाशेति । अनावृतचिदित्यर्थः । क्वचित् तथैव पाठः । ज्ञानात्मकत्वकथनस्य आवृतचिदभेदबाधशङ्कावारकतां,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नच प्रकाशरूपतोक्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्; अपरोक्षव्यवहारयोग्यमुखस्यैव पुरुषार्थत्वम् । उक्तयोग्यत्वं चानावृतचिद्रूपत्वेन तादृशचित्तादात्म्येन वा । तत्रोक्तरूपानन्दस्यान्याभावेऽप्याद्यमस्तीति ज्ञापनार्थत्वेन तस्याः सार्थक्यात् । ननु—ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतया युक्तत्वेऽप्यनादिसाधारणदृश्यमात्रविरोधित्वमदृष्टत्वाच्च युक्तम्, तत्राह—मायेत्यादि । मायया कल्पितं प्रयुक्तम् । अतएव मृषाभूतं यन्मातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपं द्वैतमात्मभिन्नं तदभिन्नप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः । तथाच शुक्त्याद्यज्ञानस्यैव चिन्निष्ठतत्संबन्धादेरपि तत्प्रयुक्तत्वेन शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया दृष्टतया ब्रह्मज्ञानस्यापि ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तदृश्यमात्रविरोधित्वं युक्तमिति भावः । मृषाद्वैताश्रयत्वोक्त्या मुमुक्षावानधिकारी सूचितः । ननु अखण्डब्रह्माकारज्ञानस्य दृश्योच्छेदकत्वे आपातज्ञानरूपस्यापि तस्य तत्स्यात्, तत्राह—श्रुतिशिखोत्थेति । श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणामुपकार्यत्वेन शिखेव मुख्यं यन्महा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तादृशचिदभेदतात्पर्यग्राहकतां वा स्पष्टयितुं शङ्कते—नचेति । प्रकाशेति । ज्ञानपदेनेत्यादिः । अनावृतचिदभेदोक्तेरेव वैयर्थ्यं प्रकाशरूपतोक्तिसार्थक्यस्य संभवात् । तादृशचिदभेदोक्तिं सार्थकयितुमाह—अपरोक्षेति । अनावृतचिद्रूपत्वेनेति । तेन ब्रह्मणोऽपरोक्षताविषयकः ‘यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म’ इति श्रुतिव्यवहारनिर्वाहः । तत्र अपरोक्षादिति अपरोक्षमित्यर्थः । संसारदशायां तद्व्यवहारवारणाय अनावृतेति । चक्षुरादिना गृहीते घटादौ तद्व्यवहारायाह—तादृशेति । अनावृतेत्यर्थः । तेन अनुमितघटादौ न तद्व्यवहारः । तादात्म्यं विषयत्वम् । अन्त्यं अनावृतचित्तादात्म्यम् ।—अभावेऽपीति । तस्य विषयसंपर्कजन्यवृत्तिविशेषरूपे तदवच्छिन्नानन्द एव वा सत्त्वादिति भावः । आद्यं अनावृतचिद्रूपत्वम् । मुक्तस्वरूपानन्दस्य पुरुषार्थत्वाय विजयतेपदेन बोध्यमानमिति शेषः । अस्तीति । ननु तद्वाध इति शेषः । तस्याः ज्ञानपदेन प्रकाशानुरूपतोक्तेः । यद्वा नच शङ्कायां प्रकाशरूपतोक्तेरित्यस्य, विजयतेपदार्थभूतानावृतप्रकाशाभेदोक्तेरित्यर्थः । एवंच तस्या इत्यस्यापि सएवेति फलितम् । सत्यस्वरूपत्वकथनं तु स्वयंपदार्थदृश्यत्वाभावयोग्यतासूचनाय । पूर्वं तत्त्वज्ञानस्यानादिदृश्योच्छेदकत्वे युक्तेरुक्तत्वेऽपि सम्यग्बुद्ध्यारोहाय दृष्टान्तसमर्पकतया मायेत्यादिविशेषणमवतारयति—नन्वेति । ज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानस्य—अज्ञानेति । ब्रह्मज्ञानेत्यर्थः । विरोधिताया युक्तत्वेऽन्वयः । तत्र हेतुः शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतयेति । शुक्तिज्ञानस्य शुक्त्यज्ञानविरोधित्वदर्शनेन तज्ज्ञानस्य तदज्ञानविरोधित्वनियमावधारणेनेत्यर्थः । यद्वा—ज्ञानस्य तद्विषयकसाक्षात्कारस्य । अज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः तदज्ञानविरोधितानियमस्य । शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतया । शुक्तिसाक्षात्काररूपधर्मिणमन्तर्भाव्य निश्चितत्वेनेत्यर्थः । युक्तत्वेऽपीत्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मज्ञानविरोधिताया इत्यादिः ।—मात्रविरोधित्वमिति । पूरितब्रह्मसाक्षात्कारस्येयानुषज्यते । अदृष्टत्वात् अन्यत्रानिश्चयेन । एतावता कथमुक्तशङ्कापरिहार इत्यत आह—तथाचेति । आत्मभिन्नस्य प्रमातृत्वादिनिखिलप्रपञ्चस्य मायाप्रयुक्तत्वे चेत्यर्थः । तत्संबन्धादेः मायासंबन्धादेः । आदिना जीवब्रह्मभेदादिरूपानादिदृश्यपरिग्रहः । शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया दृष्टतयेति पाठः । अनादिदृश्यं तत्पदार्थः । तथाच अनादिदृश्यशुक्त्यज्ञानस्य मायाजन्यत्वविरहेऽपि मायाप्रयुक्तत्वेन तद्विरोधिता यथा शुक्तिज्ञानस्य, तथा चिन्निष्ठमायासंबन्धाद्यनादिदृश्यस्यापि मायाप्रयुक्तत्वाविशेषात् ब्रह्मज्ञानस्य तद्विरोधित्वं युक्तमेवेति भावः । माया ब्रह्मज्ञानम् । वस्तुतस्तु शुक्त्यादिज्ञानस्य विरोधिताया इति तत्पदाघटितः पाठः । तत्संबन्धादेरित्यत्र शुक्त्यज्ञानं तत्पदार्थः । तथाच यथा शुक्तिज्ञानस्य शुक्त्यज्ञानविरोधितेव शुक्त्यज्ञानप्रयुक्तचिन्निष्ठशुक्त्यज्ञानसंबन्धादिविरोधिताऽभ्युपगम्यते, तथा ब्रह्मज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानविरोधितेव तत्प्रयुक्तसर्वदृश्यविरोधित्वमभ्युपगन्तव्यमिति समुदिताः । यज्ज्ञानं यदज्ञानविरोधि तत्तु तत्प्रयुक्तसर्वदृश्यविरोधीति व्याप्तेरिति भावः । यद्वा—शुक्त्यादिज्ञानविरोधित्वमिति समस्तपाठः । विरोधित्वं निवर्त्यत्वम् । तथाच शुक्त्यज्ञानस्यैव चिन्निष्ठतत्संबन्धस्यापि तत्प्रयुक्तत्वात् शुक्तिज्ञाननिवर्त्यत्वं यथाभ्युपेयते तथा ब्रह्मज्ञानस्यैव अनादिदृश्यस्यापि तत्प्रयुक्तत्वात् ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वमभ्युपेयमिति भावः । यदृश्यं यदज्ञानप्रयोज्यं तत्तु तदज्ञाननिवर्तकज्ञाननिवर्त्यमिति व्याप्तेरिति भावः । आद्यकल्पे मायेत्यादिविशेषणेनानादिदृश्ये मायाप्रयुक्तत्वबोधनेन ब्रह्मज्ञाननिवर्तकब्रह्मज्ञाने ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तसर्वदृश्यविरोधित्वरूपसाध्यास्वीकारे ब्रह्मज्ञानदृश्ययोः प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य, प्रयोजकविरोधिनः प्रयोज्यविरोधित्वनियमस्य वा भङ्गापत्तिरूपस्तर्कः सूच्यते । द्वितीयेन अनादिदृश्ये ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तत्वरूपो ब्रह्मज्ञाननिवर्तकब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वरूपसाध्यसाधको हेतुः सूच्यते इति बोध्यम् । द्वैतस्य मृषात्वांक्तिं सफलयति—मृषेति अधिकारी । प्रकृतग्रन्थश्रवणे इत्यादिः । मृषात्वविनिष्ठद्वैताश्रयत्वमात्मनि ज्ञायमानं तादृशद्वैतजिहासारूपमुमुक्षां जनयति । यथा शुक्तिरजते मृषात्वज्ञाने तत्र जिहासा । एवंच तादृशद्वैताश्रयत्वं मुमुक्षाप्रयोजकत्वात्संबन्धिमुमुक्षास्मारकं, अतो मुमुक्षालाभ-

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम् ।

स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः ॥ २ ॥

बहुभिर्विहिता बुधैः परार्थं विजयन्तेऽमितविस्तृता निबन्धाः ।

मम तु श्रम एष नूनमात्मभरितां भावयितुं भविष्यतीह ॥ ३ ॥

श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन संगृह्य शास्त्रनिचयं रचितातियत्नात् ।

बोधाय वादिविजयाय च सत्त्वरणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम् ॥ ४ ॥

तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम् । उपपादनं च

सिद्धिव्याख्या ।

विष्णुर्विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः ॥ १ ॥ गुरुन्महीकुर्वन्नमस्करोति—श्रीरामेति ॥ २ ॥

स्वकीयग्रन्थस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य कथंचित्साफल्यं दर्शयति—बहुभिरिति ॥ ३ ॥ इतरग्रन्थापेक्षयाधिक्यं दर्शयति—श्रद्धेति ॥ ४ ॥ ननु अद्वैतसिद्धावद्वैतस्यैव प्रतिपादनीयतया तद्विहायाग्रे द्वैतमिथ्यात्वोपपादनं क्रियमाणमसङ्गतमित्यत आह—तत्रेति । तस्यामद्वैतसिद्धौ द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनी-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वाक्यं तज्जनितेत्यर्थः । तथाच निष्कामकर्मोपासनानुष्ठापनद्वारकचित्तच्छुद्धिचित्तैकाग्रताद्वारोक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तदिति भावः ॥ १ ॥ परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं संपाद्य परमगुरुगुरुविद्यागुरुप्रणमति—श्रीरामेत्यादि । ऐक्येन आत्मैक्येन । माधवानां परब्रह्मणाम् ॥ २ ॥ ममात्मभरितां मन्त्रिणां स्वार्थसंपादकताम् । भावयितुं जनयितुम् । एष श्रमः एतद्ग्रन्थसंपादनम् ॥ ३ ॥ परोक्तदूषणोद्धारपूर्वकस्वमतपरिच्छेदविशेषस्यैतद्ग्रन्थे क्रियमाणस्यातिलोकोत्तरत्वेनान्यैरेतद्ग्रन्थदर्शनात्पूर्वमज्ञातत्वेनाकामित्वान्मयैव पूर्वं कामितमुक्तपरिच्छेदरूपं फलं भावयिष्यत्ययं ग्रन्थो नान्यैः कामितमिति भावः । सिद्धिः निश्चयः । इयं एतद्ग्रन्थाधीना । 'सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् । अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थीं समजायत ॥' इति एतद्ग्रन्थीयसमाप्तिस्थानीयपद्यस्थसिद्धिपदान्यपि तत्तद्ग्रन्थाधीननिश्चयपराण्येव । परिच्छेदसमाप्त्यादिस्थले सिद्धिपदं साधकग्रन्थपरं निश्चयपरमेव वा ॥ ४ ॥ अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमपरिच्छेद इत्याद्यर्थकत्वसंभवेन लक्षणायां मानाभावात् । अस्मदादिभिस्तु स्वकीयसंकेतविशेषेणास्मिन् ग्रन्थे अद्वैतसिद्धिपदं प्रयुज्यते । पूर्वकत्वादिति । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'त्यादिश्रुत्या जायमाने अद्वैत-

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

इति भावः । कर्मकाण्डश्रुतीनां महावाक्योपकारकत्वं, महावाक्येन दृश्योच्छेदनक्षमतत्त्वज्ञाने जननीये यत्तत्सहकारितत्संपादकत्वम्, तत्र संपाद्यं सहकारि दर्शयति—तथाचेति । तत् दृश्योच्छेदकत्वम् ॥ १ ॥ ननु मूले प्रथमश्लोके विष्णुपदस्य जीवपरतया व्याख्यानादिष्टदेवतोत्कर्षाद्यप्रतिपादनाच्च तस्य मङ्गलरूपतेत्यतः श्रीरामेत्यादिना गुरुनमस्काररूपं मङ्गलं प्रथमतो निबद्धव्यम् । ग्रन्थादौ मङ्गलस्येव तन्निबन्धस्यापि शिष्टाचारसिद्धत्वात् एवं प्रथमश्लोके मुमुक्षुरुपाधिकारिसूचनेऽपि विषयाद्यनुकत्या न्यूनतेत्याशङ्कां परिहरति—परमेत्यादिना । उक्तिं प्रथमश्लोकरूपाम् । परब्रह्माभिज-जीवचैतन्यस्यैव ग्रन्थप्रतिपाद्यत्वात् विषयत्वम्, अनाद्युतप्रकाशमिज्ञानानृतानन्दरूपत्वाच्च प्रयोजनत्वम्, अस्य च सर्वप्रयोजनेषूत्कृष्टतया गुरुनमस्कारफलतया च परमप्रयोजनत्वात् एतदुक्तेः परममङ्गलरूपतेति भावः । परमगुर्विति । वन्दने तथाक्रमस्यैव शास्त्रसंप्रदायोभयसिद्धत्वादिति भावः ॥ २ ॥ यद्यप्यात्मभरिता आत्मभरणं, स्वजीविकापर्यवसितम्, तस्यच लोकसाधारणतया ग्रन्थरचनाश्रमसाध्यत्वोक्तिर्ग्रन्थकारस्य केवलं स्वस्य गवराहित्यप्रदर्शनफलिकेति यथाश्रुते प्रतीयते; तथापि इदिति विजिगीषुश्रोतृप्रवृत्तये ईदृशग्रन्थनिर्माणस्यानन्यसाध्यताव्यञ्जकतयाऽऽत्मभरितापदं व्याचष्टे—आत्मेति ॥ ३ ॥ स्वार्थः स्वकामितार्थः । परो माधवः । अद्वैतसिद्धिरित्यत्र सिद्धिर्न निष्पत्तिः, अद्वैतपदार्थस्य ब्रह्मण उत्पत्तेरसंभवादित्यतो व्याचष्टे—सिद्धिरिति । प्रसङ्गादन्यान्यपि सिद्धिपदान्यत्रैव व्याचष्टे—सिद्धीनामिति ॥ ४ ॥ इति विट्ठलेशीये मङ्गलश्लोकार्थनिरूपणम् ॥

अथ विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्वनिरूपणम् ।

अद्वैतसिद्धौ द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वे हेतुं वक्तुं तमेवांशमुपादत्ते—पूर्वकत्वादिति । अद्वैतत्वेति ।

१ वादप्रधानत्वाच्चाध्यात्मविद्याया 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'ति सूत्रघटकब्रह्मशब्दसूचितस्यापि द्वैतमिथ्यात्वस्योपोद्धातसंगत्याध्यासे यथा निरूपणं तथेति भावः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वोपलक्षितब्रह्मनिर्विकल्पकनिश्चये ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वारत्वात्, तस्याश्च निषेधत्वेन प्राप्तिपूर्वकत्वेन द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकत्वात्, 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति पूर्ववाक्ये इदंशब्दार्थद्वैत-सामान्यतादात्म्यस्य लब्धत्वेन तस्य द्वैताभावांशो उद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तत्र तत्कालावच्छेद्यत्वभानस्य व्युत्पत्तिसिद्ध-त्वात्, इदमात्मकसतोऽग्रकालसत्त्वस्य द्वैताभाववत्त्वस्य च द्वयोर्विधाने वाक्यभेदस्येष्टत्वात्, द्वैतवति द्वैताभावबोध-स्याहार्यत्वेन शाब्दत्वासंभवेऽपीदंपदस्य दृश्यत्वरूपेण द्वितीयपदस्य चात्मभिन्नत्वरूपेण बोधकत्वेनाहार्यत्वाभावात्, कालान्तरावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकधियश्च 'तरति शोकमात्मवित्', 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापै'रित्यादिश्रुतिभिः ज्ञाननाशयत्वानुमापकदृश्यत्वलिङ्गादिरूपमानान्तरेण च सिद्धत्वेन तज्जनने वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, एककालावच्छिन्नं प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः । अथवा मिथ्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

द्वैताभावोपलक्षितं यत् ब्रह्मस्वरूपं तन्मात्रविषयकः, अतएव निर्विकल्पको यो निश्चयः तस्मिन् इत्यर्थः ।—**द्वारत्वादिति ।** 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतेर्हि न चैतन्यमात्रप्रतिपत्तौ तात्पर्यम् । तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वात्, तस्य द्वैतभ्र-मरूपानर्थनिवृत्त्यहेतुत्वाच्च । किंतु द्वैताभावविशिष्टब्रह्मप्रतिपत्तिपूर्वकचैतन्यमात्रप्रतिपत्तौ तादृशप्रतीतिः प्रागसिद्धत्वात्, अनर्थनिवृत्तिहेतुत्वाच्च । एवंच तादृशश्रुतेः सकाशात् प्रथमतो ब्रह्मणि द्वैताभावप्रकारकबोधो जायते । ततस्तादृशाभावोपल-क्षितब्रह्मरूपधर्मिमात्रबोधः; उपलक्ष्यधर्मिबुद्धौ चोपलक्षणीभूतधर्मेविशिष्टबुद्धेर्हेतुत्वम् । एवंच ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वै-रतानिर्वाह इति बोध्यम् । प्रथमबोधे द्वितीयाभावरूपद्वितीयस्याप्यभावभानात्तादृशाभावस्योपलक्षणता । नच—तदुपल-क्षितधर्मिबोधस्य, तत्प्रकारकत्वनियमात् कथं धर्मिमात्रबोध इति—वाच्यम्; काकाद्युपलक्षितगृहादिबोधस्य काकाद्यप्रकार-कतयोक्तनियमस्याप्रामाणिकत्वात् । नच—तत्रोपलक्ष्यतावच्छेदकीभूतोत्तृणत्वादिवदत्रापि तादृशधर्मभानमावश्यकमिति वाच्यम् । जातेः स्वरूपतो भानवत् ब्रह्मणः स्वरूपत एव उपलक्ष्यतोपगमात् । किंचिद्रूपेणैवोपलक्ष्यत्वमिति नियमे मानाभावात् । ननु अद्वितीयश्रुत्या प्रथमतो ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धिजननेऽपि नाद्वैतत्वोपलक्षितब्रह्मनिश्चयस्य द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्वनिर्वाहः, तादृशबुद्धेर्द्वैते स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वविशिष्टवृत्तिमत्स्वाभावकत्वरूपमिथ्यात्वाविषय-कत्वादित्यत आह—**तस्याश्चेति । निषेधत्वेन** अभावबुद्धित्वेन, प्रतियोगिविशिष्टज्ञानात्मकप्रसक्तपूर्वत्वेन । 'प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते' इत्यभियुक्तोक्तेः । अतएव सर्षपादौ सुमेरोरत्यन्ताभावबुद्धिविरहः । सर्षपे सुमेरुर्नास्तीति वाक्यप्रयो-कुरूपहासश्चोपपद्यते । एवंच द्वैताभावविशिष्टब्रह्मबोधात् पूर्वं विद्यमाना ब्रह्मोपस्थितिरेव द्वैतविशिष्टविषयिणी वाच्या । तथाच ब्रह्माभासकसामग्रीबलादेव उत्तरकालीनद्वैताभावबोधे धर्मितावच्छेदकतया द्वैतभानसंभवेन द्वैताभावे द्वैतका-लावच्छिन्नत्वभानसंभवात् तादृशबुद्धेस्तुल्यवित्तिवेद्यतया द्वैते स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वाश्रयवृत्तिकस्वाभावकत्वावगा-हितया द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयरूपतया तदुत्तराद्वैतसिद्धेः तत्पूर्वकत्वनिर्वाह इति भावः । ननु किं तत्र द्वैतविशिष्टब्रह्मण उपस्थापकमत आह—**सदेवेति । ननु** तथापि द्वैतकालावच्छिन्नत्वं कथं भासेत, तद्बोधकपदाभावादित्यत आह—**तस्येति । द्वैतसामान्यतादात्म्यस्येत्यर्थः । अंशो विधेयता, उद्देश्यतान्वयि । निरूपित्वं सप्तम्यर्थः । तत्र द्वैताभावे । तत्कालः द्वैतकालः ।—व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति । अन्यथा गन्धप्रागभावविशिष्टो घटो गन्धवानिति वाक्यस्य प्रमाणत्वापत्तेरिति भावः । अत्रच 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'ति वाक्याभ्यां तुल्यतया भासमान-द्वितीयाभावेदंपदार्थद्वैततादात्म्योभयावच्छिन्नसदुद्देश्यकोऽग्रकालसत्त्वविधेयक एकएव बोधो वाच्यः । सच नोक्तरीत्या द्वैतमिथ्यात्वमवगमयितुमलम् । द्वैतस्य द्वैताभावोद्देश्यतानवच्छेदकत्वात् । नच—पूर्ववाक्येन द्वैतविशिष्टसद्विशेष्यकोऽग्रका-लसत्त्वविधेयक उत्तरवाक्येनच द्वैतविशिष्टसद्विशेष्यकोऽद्वितीयत्वविधेयको बोधो जन्यत इति—वाच्यम्; वाक्यभेदप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कापरिहारायोक्तरीत्या वाक्यभेदे इष्टापत्तिमाह—**इदमात्मकेति । ननु** इदंपदस्य द्वैतत्वावच्छिन्नबोधकत्वे तदव-च्छिन्नोद्देश्यकद्वैतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधस्याहार्यत्वाच्च शाब्दत्वसंभव इत्यत आह—**द्वैतवतीति । आहार्य-त्वाभावादिति । न** तादृशबोधस्य शाब्दत्वासंभव इति शेषः । ननु द्वैतस्य द्वैताभावोद्देश्यतावच्छेदकत्वेपि विधेये उद्देश्य-तावच्छेदककालावच्छिन्नत्वभानस्यासार्वत्रिकतया प्रकृतवाक्यस्य तादृशकालावच्छिन्नत्वबोधे तात्पर्ये मानाभावात् प्रकृत-वाक्यादेककालावच्छिन्नप्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वावगाहिधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयो न संभवतीत्याशङ्क्याद्विती-यवाक्यस्य तादृशबोधे तात्पर्यानुपगमे तद्वैयर्थ्यापत्तिमाह—**कालान्तरेति । द्वैतानधिकरणीभूतवियोत्तरकाल इत्यर्थः । आद्यश्रुतिद्वये** ज्ञानस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वेन 'धनी सुखी'इतिवत् प्रयोजकत्वलाभेन पूर्वसिद्धत्वलाभात् द्वैताभावे तदुत्त-रकालीनत्वलाभः । **तृतीयश्रुतौ** ज्ञात्वेति क्त्वाप्रत्ययेनैवेति विशेषः । ज्ञाननाशयत्वं स्वाश्रयपूर्वकालीनत्वाभाववज्ज्ञा-नकत्वम् ।—**मानान्तरेणेति ।** तथाचानुमानेनापि ज्ञानोत्तरकाले द्वैताभावसिद्धिरिति भावः ।—**वैयर्थ्यापत्तेरिति ।****

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वघटकस्याभावस्य सदा सर्वत्र विद्यमानत्वेनावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वेन मिथ्यात्वं नोक्तरूपम्, किंतु तादृशान्यत्वविशिष्टेनाभावेन घटितम् । तथाच प्रत्यक्षादिप्रमाणस्याद्वैतश्रुतिबाध्यत्वेन ब्रह्मणि कालविशेषाद्यवच्छिन्नद्वैताभावबोधकत्वरूपे श्रुतिसंकोचे हेतोरभावेन तादृशाभावस्य त्रैकालिकत्वनिश्चयात् । सार्वज्ञ्यसर्वकार्योपादानत्वबोधकश्रुतेरपि लक्षणवाक्यविधया निर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वेऽपि । तत्र तादृशनिश्चयस्य सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टधीपूर्वकत्वात्, सर्वतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणि सर्वविषयकत्वरूपत्वात् सर्वोपादानत्वस्य ब्रह्मणि स्वात्मकसर्वजनकरूपत्वात्, 'एकमेवाद्वितीय'मिति, 'यः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तत्सामर्थ्यादद्वितीयश्रुतौ द्वैताभावे द्वैतकालावच्छिन्नत्वबोधने तात्पर्यादिति शेषः ।—एकेति । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिवाक्यादित्यादिः । वृत्तित्वान्तस्य द्वैतब्रह्मणि द्वैतकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वेत्यर्थः । वृत्तित्वधीरूपेतीतिपदाघटित एव पाठो ललितः । तादृशवाक्यजबोधस्य तादृशाकारत्वाभावात् । मिथ्यात्वनिश्चय इति । संभवस्येवेति शेषः । ननु 'सदेव' इति, 'एकमेव' इति वाक्ययोरुक्तरीत्या पृथग्बोधकत्वस्वीकारे वाक्यभेदप्रसङ्गः, नचेष्टापत्तिः; उक्तरीत्या एकवाक्यत्वसंभवे तस्यान्याय्यत्वात् । एवं द्वैताभावे द्वैतकालावच्छिन्नत्वबोधने तात्पर्यसत्त्वे मानाभावः । नचाद्वितीयश्रुतिवैयर्थ्यापत्तिः; परस्परसमानार्थस्य 'तरति' इत्यादिश्रुतित्रयस्येव तत्समानार्थिकाया अस्याश्रुत्यर्थ्या अपि सार्थक्यसंभवात् । एकप्रकरणे हि समानार्थकानेकश्रुतिवैयर्थ्यम्, इहतु प्रकरणभेदान्न कस्या अपि वैयर्थ्यमित्याशङ्क्य प्रकारान्तरेणाद्वैतसिद्धेः पूर्वं द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयमाह—अथवेति । सदा सर्वकालावच्छेदेन । सर्वत्र सर्वदेशावच्छेदेन । ब्रह्मणीति शेषः । तत्कालदेशान्यकालदेशानवच्छिन्नवृत्तिकस्यैव तत्कालदेशावच्छिन्नवृत्तिकत्वम् । अतएव वृक्षे घटत्वाभावस्य न देशकालावच्छिन्नवृत्तिकत्वमिति भावः । उक्तरूपम् स्वावच्छेदकदेशकालावच्छिन्नस्वाश्रयनिष्ठस्वाभावप्रतियोगित्वरूपम् ।—तादृशान्यत्वविशिष्टेनेति । स्वाश्रयनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्टस्वाभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । ननु सत्पदार्थब्रह्मण्यद्वितीयपदेन द्वितीयाभाववत्त्वं कालान्तरावच्छेदेनैव बोधयितुं युक्तम् । घटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षेण ब्रह्मणि दृश्यतादात्म्यावगाहिना विरोधात् । तथाच कथं तादृशवाक्यजन्यबोधस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्टद्वैताभावघटितमिथ्यात्वावगाहित्वमित्यत आह—तथाचेति । प्रत्यक्षादिप्रमाणस्येति । चन्द्रादेशत्वग्राहकप्रत्यक्षस्यागमविरोधेनाप्रामाण्यनिश्चयेन तत्साधर्म्येण घटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षस्याप्रामाण्येन संदिग्धतया निश्चितप्रामाण्यश्रुतितस्तस्य दुर्बलत्वादिति भावः । कालविशेषेति । द्वैतानधिकरणकाले इत्यर्थः । तादृशाभावस्येति । तादृशश्रुत्येति शेषः । त्रैकालिकत्वं अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वम् । नचैतद्भासकाभाव इति वाच्यम् । तद्धर्मं कालविशेषावच्छिन्नत्वबोधकसामग्र्यसमवहिततद्धर्मप्रकारकबोधसामग्र्या एव तद्धर्मस्यवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वभासकत्वोपगमादिति भावः । अत्रेदमवधेयम्—एतत्कल्पे सदेवेति वाक्याभ्यामाद्वितीयमिदं सत् अग्रकालसंबन्धीत्येक एव बोधः । अथवा—इदं सत् अग्रकालसंबन्धीति पूर्ववाक्येन, इदं सत् अद्वितीयमिति द्वितीयवाक्येनेति बोधद्वयम् । उभयथापि तत्र इदंपदार्थद्वैतवति तद्रूपे ब्रह्मण्युक्तयुक्त्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्टद्वैताभावभानात् द्वैते स्वाश्रयनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्यस्वाभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्य तुल्यवित्तिवेद्यतया भानसंभवेन तादृशबोधस्य मिथ्यात्वनिश्चयरूपता । 'एकमेवे'ति पदद्वयं अद्वितीयपदस्य द्वितीयसामान्याभावबोधकत्वतात्पर्यग्रहार्थमिति । ननु 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतिवाक्यजन्यद्वैतब्रह्मनिश्चयस्योक्तरीत्या द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्वनिर्वाहेऽपि 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिलक्षणवाक्यस्याप्यद्वैतनिर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वात् तत्पूर्वकाले द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयाभावादद्वैतसिद्धिसामान्यस्य न द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकत्वनिर्वाह इत्याशङ्कां परिहरति—सार्वज्ञ्येति । जनकत्वेऽपीति । नाद्वैतसिद्धिसामान्यस्य द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वनिर्वाह इति शेषः । अत्र हेतुमाह—तत्रेत्याद्यावश्यकमित्यन्तेन । तत्र तादृशनिश्चये । उत्पत्त्यमाने इति शेषः । तादृशनिश्चयपूर्वमित्यर्थः ।—निश्चय इति । जायते इति शेषः । आवश्यकमित्युत्तरं यत इति शेषः । ननु ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वस्य कथं लाभ इत्यत आह—तादृशनिश्चयस्येति । पूर्वकत्वादिति । इदंच तादृशनिश्चयात्पूर्वं द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयोत्पत्तौ हेतुतयाऽन्वेति । उपलक्ष्यधर्मविषयकबुद्धावुपलक्षणीभूतधर्मविशिष्टबुद्धेर्हेतुतया द्वैतोपलक्षितनिर्विकल्पकनिश्चयात्पूर्वं द्वैततादात्म्यविशिष्टबुद्धिः स्वीकार्या । तथाच द्वैततादात्म्यलाभ इति भावः । ननु लक्षणवाक्येन सर्वज्ञत्वोपलक्षितब्रह्मबुद्धिरेव जन्यते । तत्रच सर्वज्ञत्वविशिष्टबुद्धिरेव हेतुतयाऽपेक्ष्यते, ननु द्वैततादात्म्यविशिष्टबुद्धिरिति कथं तत्पूर्वकत्वमुक्तनिश्चयस्येत्यत आह—सर्वतादात्म्यस्येति । तथाचेदमेव सर्वज्ञत्वमिति नोक्तशङ्केति भावः । सर्वकर्तृत्वस्य 'तस्मादेतद्ब्रह्मे'ति श्रुतिबोध्यस्य ब्रह्मनिष्ठद्वैततादात्म्यघटितत्वमाह—सर्वोपादानेति । स्वात्मकेति । स्वतादात्म्यापत्तेत्यर्थः । ननु 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतौ द्वैताभावबोधकपदाभावात् कथं तज्जन्यबोधस्य मिथ्यात्वनिश्चयपूर्वतेत्यत आह—एकमेवाद्वितीयमिति । श्रुतिद्वयसामर्थ्यादिति । श्रुतिद्वयजन्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः', 'तस्मादेतत् ब्रह्म नामरूप'मिति श्रुतिद्वये लक्षणादिवृत्त्या द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वरूपत्रैकालिकत्वविशिष्टात्यन्ताभावस्य प्रतियोगि द्वैतमिति धीरूपो मिथ्यात्वनिश्चय इति । तत्पूर्वकत्वमुक्तनिर्विकल्पकनिश्चये आवश्यकम् । महावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्यापि 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'नात्र काचन भिदास्ति' इत्यादितत्पदार्थशोधकवाक्याधीनधीपूर्वकत्वात्, उक्तवाक्येन वर्तमानार्थलक्षप्रत्ययप्रयुक्तत्वात् द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदयुक्तत्वाच्च वर्तमानकालावच्छेदेनोद्देश्यतावच्छेदकद्वैतवत्त्वावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन च द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि अस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनात्, अत्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्वीकारे निरवच्छिन्नविशेषणतया तादृग्ब्रह्मवृत्तित्वबोधनात्, तत्संबन्धावच्छिन्नस्य प्रतियोगिसामानाधिकरण्यस्य निवेशादेवाव्याप्यवृत्तित्तामादाय मिथ्यात्वा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

बोधादित्यर्थः । नन्वेतावता 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतिः 'एवमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिसहकारेणैव निर्विकल्पकनिश्चयं जनयति । तत्पूर्वं च द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय इत्यायातम् । तच्च न युक्तम् । सर्वज्ञश्रुत्या निर्विकल्पकनिश्चयजननेऽद्वितीयश्रुत्यपेक्षणे प्रयोजनाभावादिति चेत्, मैवम् । यतः केवलसर्वज्ञश्रुत्या प्रथमं ब्रह्मणि द्वैततादात्म्यविशिष्टबुद्धेरेव जनने तदुत्तरं निर्विकल्पकनिश्चयासंभवः । द्वैतवाधाग्रहेणोपस्थितद्वैतरूपप्रकारभानस्य तत्र दुर्वारत्वात् । अथ द्वितीयबोधे तद्धाने तात्पर्यानुपगमात् तद्भानम्, किंतुपलक्ष्यब्रह्मस्वरूपमात्रभानमिति चेदस्त्वेवम् । तथापि तादृशनिर्विकल्पकनिश्चयस्य नानर्थनिवृत्तिहेतुता, यद्विशिष्टबुद्धिर्हि यत्र विरोधिनी तद्विशिष्टबुद्धिपूर्वक एव तदुपलक्षितधर्मिमात्रविषयकनिर्विकल्पकनिश्चयस्तद्विरोधी; तथाच द्वैताभावविशिष्टबुद्धिप्रतिबध्यो द्वैतभ्रमः तादृशबुद्धिपूर्वकतादृशब्रह्मनिश्चयप्रतिबध्यः । द्वैतविशिष्टबुद्धेस्तु द्वैतभ्रमरूपानर्थाप्रतिबन्धकतया कथं तत्पूर्वकतादृशब्रह्मनिश्चयस्यानर्थनिवृत्तिहेतुता । तथाचानर्थनिवृत्तिहेतुनिर्विकल्पकब्रह्मनिश्चयहेतुसंपादनायाद्वितीयश्रुतिवाक्यजद्वैताभावबोधपेक्षा सर्वज्ञत्वश्रुतेः, अद्वितीयश्रुतेस्तु निषेधतया प्रतियोगिप्रसज्जकसर्वज्ञत्वश्रुतिजन्यबोधपेक्षेति परस्परापेक्षयोक्तवाक्ययोरेकवाक्यतोपपत्तिः । यदिच 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतिः 'तत्त्वमसि' इत्यादिमहावाक्यघटकतत्पदार्थशोधिकेति न तज्जन्यबोधस्यानर्थनिवर्तकत्वापेक्षा, खण्डवाक्यार्थबोधदेवानर्थनिवृत्तौ तत्फलकमहावाक्यार्थधीवैयर्थ्यादिति विभाव्यते, तदापि सर्वज्ञश्रुतेः शोधिततत्पदार्थविषयकनिर्विकल्पकबोधे तात्पर्यग्राह्यमेवाद्वितीयवाक्यापेक्षा सुवचैव । तदधीनसर्वज्ञत्ववाधग्रहं विना सर्वज्ञत्वविशिष्टे तात्पर्यसंभवस्यानिराकरणेन शुद्धतद्ग्राहसंभवात् । संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वेन तात्पर्यग्राहकेणापि तेन सह सर्वज्ञश्रुतेरेकवाक्यतयाऽवान्तरबोधजनकत्वमुपगन्तव्यमिति बोध्यम् । अत्राद्वितीयवाक्ये तदित्यध्याहारेण यत् सर्वद्वैततादात्म्यवत्तत् तदवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्टद्वितीयाभाववत् इत्याकारक एव श्रुतिद्वयात् शाब्दबोधः । द्वैतवद्ब्रह्मेत्यादिना प्रदर्शितद्वैतमिथ्यात्वधीस्त्वार्थानि बोध्यम् । श्रुतिद्वये लक्षणावृत्त्येति पाठस्तु श्रुतिद्वयस्य द्वैतमिथ्यात्वेऽप्यवान्तरतात्पर्योपगमात् तदनुपपत्त्या सर्वज्ञत्वश्रुतेः द्वैते अद्वितीयश्रुतेरिक्तमिथ्यात्वे लक्षणेति रीत्या वाक्यलक्षणापक्षे योज्यः । अन्यथोक्तवाक्याभ्यां तादृशकारशब्दधियः कथंचिदप्यसंभवेनाऽऽर्थतादृशबोधस्य च लक्षणानिरपेक्षतयाऽसङ्गतेः । नचावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वलाभार्थं तद्विशिष्टे द्वैताभावे अद्वितीयपदलक्षणेति तदर्थं इति वाच्यम् । तथापि श्रुतिद्वये लक्षणेत्यस्यासङ्गतेर्दुर्वारत्वात्, अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वलाभस्योपदर्शितरीत्याऽसंभवाच्च । ननु तथापि तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्य द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वानुपपत्त्योक्तानुपपत्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—महावाक्येति । धीपूर्वकत्वादिति । द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वान्नोक्तानुपपत्तिरिति शेषः । ननु महावाक्यजधियः 'नेह' इत्यादिवाक्याधीनधीपूर्वकत्वेऽपि कथं द्वैतमिथ्यात्वधीपूर्वकत्वमित्यत आह—उक्तवाक्येनेति । नानापदस्य ब्रह्मभिन्नं, तदन्वितवस्तुसामान्यं च किञ्चनेति निपातसंघातस्यार्थः । तस्य नजर्थे प्रतियोगितयान्वयः । तथाचास्तित्वविशिष्टो ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्याभावो द्वैतकालावच्छिन्नद्वैतवद्ब्रह्मनिरूपिताधेयताश्रय इति बोधः । सच द्वैतमिथ्यात्वावगाहीति तत्पूर्वकत्वं महावाक्यजधियोऽक्षतमिति भावः ।—वर्तमानार्थकेति । वर्तमानकालश्चात्र महावाक्योपदेशकालः । सच द्वैतकाल एवेति तदवच्छिन्नत्वलाभे मिथ्यात्वलाभः । यदिचात्र द्वैतानधिकरणकाल एव वर्तमानतया विवक्षित इति ब्रूयात्, तदापि मिथ्यात्वघटकद्वैतकालावच्छिन्नत्वलाभाह—द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्येति । वर्तमानकालावच्छेदेनैत्यस्तित्वान्वयि । द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेनेति ब्रह्मणीति सप्तम्यर्थवृत्त्यन्वयि । तच्चाभावेऽन्वेति । अत्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वघटकस्य द्वैतात्यन्ताभावस्य ।—स्वीकारे इति । तथाच तत्र द्वैतस्य वर्तमानकालावच्छिन्नत्वस्य बाधातद्बोधासंभव इति भावः ।—निरवच्छिन्नैति । अत्र निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य सप्तम्यर्थतया निरवच्छिन्नत्वस्य पदार्थविधया भानसंभवः । नखेवमवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्येतीहपदात्तद्धानं नोक्तमिति ध्येयम् । नन्वेवं द्वैताभावे द्वैतकालावच्छिन्नत्वस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्य वाऽभाने तद्वटितमिथ्यात्वभानानुपपत्तिः । तदघटितस्यैव मिथ्यात्वस्योपगमेतु मिथ्यात्वानुमाने द्वैतस्याव्याप्यवृत्तित्तामादायार्थान्तरमित्यत आह—तत्संबन्धेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

नुमाने अर्थान्तरवारणात्, एकप्रसरताभङ्गापत्त्या ब्रह्मणीत्येकपदस्य ब्रह्माधेयत्वयोरुद्देश्यविधेययोरन्वयाबोधकत्वेऽपि ब्रह्मणीत्यनेन ब्रह्मनिरूपितत्वरूपस्योद्देश्यस्यैवास्तीत्यनेनाधेयत्वाश्रयत्वरूपविधेयस्यैव समर्पणेन ब्रह्मनिरूपिताधेयत्वे तत्तद्देशाद्यवच्छिन्नत्वलाभात्, 'यस्मिन्पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठित' इति वाक्ये 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु' रित्यादिवाक्ये चाकाशशब्दिताव्याकृतप्राणादिसंबन्धितया ब्रह्मण उक्तत्वात् पञ्चजनशब्दस्य गन्धर्वादिरूपस्य ब्राह्मणादिरूपस्य वा भाष्योक्तार्थस्य 'यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं चे'ति वाक्ये ब्रह्मक्षेत्रपदयोरिव सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन प्राणस्येत्यादेरपि सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन सर्वदृश्यसंबन्धित्वेनैव ब्रह्मणः पूर्वमुक्तत्वाच्चाद्वैतसिद्धेः द्वैतमित्यात्वपूर्वकत्वम् । नच—नानेत्यस्य नन्पदनिष्पन्नत्वेन भेदार्थकतया स्वसमभिव्याहृतपदार्थब्रह्मभेदबोधकतया तादृशभेदविशिष्टस्य किंचनेति पदार्थस्यात्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

निरवच्छिन्नविशेषणतेत्यर्थः । तथाचात्र स्वाधिकरणनिरूपितनिरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नवृत्तिताश्रयीभूतस्वाभाव-
कत्वरूपस्य द्वैतकालावच्छिन्नत्वादिविशेषणाघटितस्य मिथ्यात्वस्यापि निर्वचनेनार्थान्तरवारणसंभवात्, प्रकृते तादृशमिथ्यात्व-
भानोपगमेऽपि क्षतिविरह इति भावः । नन्विहेत्यत्र द्वैतवद्ब्रह्मरूपेदंपदार्थं सप्तम्यर्थाधेयताया विधेयतायाऽन्वयो न संभवति ।
विधेयत्वस्य प्रकारत्वानियतत्वेन, विशेष्यत्वस्य विधेयत्वाविरोधेऽपि नीलघट इत्यादितो घटोद्देश्यकनीलविधेयकबोधानुदयेनैक-
सुबन्तैकतिष्ठन्तप्रकृतिप्रत्ययार्थयोरुद्देश्यविधेयभावेनान्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात् । अतएवेदृशबोधतात्पर्येण तादृशपदानां प्रयोग
एकप्रसरताभङ्गो दोष इति शान्दिका वदन्ति । अतएव च 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इत्यत्र भक्षणोद्देशेन प्राथम्यस्य विधेयत्वं
दूषयित्वा प्राथम्यविशिष्टभक्षस्य विधेयत्वं भीमांसकैः सिद्धान्तितम् । अतएव इमं दोषं अविमृष्टविधेयांशमिति व्यवहरन्तो
'द्वितीयमौर्वामिव कार्मुकस्ये' त्यादौ 'मौर्वी द्वितीयामिव कार्मुकस्ये'ति रचनामालङ्कारिका अनुमन्यन्ते । अतएव च स्वत्वपक्ष-
कनिरूपित्वसंसर्गराजसाध्यकन्याये राज्ञ इति प्रतिज्ञा, अनुकूलतासंबन्धेन पाकसाध्यककृतिपक्षकन्याये पचतीतिप्रतिज्ञा च न
संप्रदायसिद्धेति नैयायिका वर्णयन्ति । तथाच कथमाधेयतायां द्वैतकालावच्छिन्नत्वभानसंभव इत्याशङ्क्य 'इहे'त्यत्र सप्तम्यर्थो
निरूपितत्वम्, असधात्वर्थश्चाधेयत्वम् । अतएवास्तिपदं सफलम् । एवंच सुबन्तार्थे तिष्ठन्तार्थस्य विधेयताया व्युत्पन्नतया नानु-
पत्तिरित्यभिप्रायेण समाधत्ते—एकेत्यादिना । यद्यपि एकप्रसरता एकविशिष्टोपस्थापकता, तस्याश्चैकार्थ्यभाववादमिते
समासादावेव सत्त्वात् तत्र पूर्वोत्तरपदार्थयोरुद्देश्यविधेयभावे पृथगर्थोपस्थितिनियमस्योपगमे तस्यास्तत्र भङ्गप्रसङ्गः । ब्रह्मणीत्य-
त्रतु एकार्थ्यभावविरहात् कथं तद्ब्रह्मापत्तिः; तथापि सुप्तिष्ठन्तपदानामपि प्रकृत्यर्थविशिष्टप्रत्ययार्थरूपैकविशिष्टोपस्थापकत्व-
मेव, नतु प्रकृतिप्रत्यययोः पृथगर्थोपस्थापकत्वम्, पदस्फोटाङ्गीकारादिति मताभिप्रायेणेदम् । आधेयत्वाश्रयत्वेति । आधेय-
त्वविशिष्टाश्रयत्वेत्यर्थः । आधेयत्वमात्रस्य विधेयत्वेन प्रकृतनिर्वाहेऽपि सुप्तिष्ठन्तान्यतरार्थस्यैवान्यतरार्थं विधेयतेत्यभिप्रायेणे-
दम् । वस्तुतः पदस्फोटाङ्गीकारे धातुमात्रस्यानुपस्थापकताभिप्रायेण । स्वरूपसंबन्धरूपाश्रयत्वस्य स्वरूपविशेषणरूपाधेय-
त्वाभिन्नतया ब्रह्मनिरूपितत्वस्य न तत्र बाधः । 'सविशेषणे हीति' न्यायेन वा आधेयत्वे ब्रह्मनिरूपितत्वं पर्यवस्यति । वस्तुतस्तु
कारकविभक्त्यर्थस्य धात्वर्थेनैवान्वयस्य व्युत्पन्नतया आधेयत्वे एव ब्रह्मनिरूपितत्वान्वयः । तथाच तयोरेवोद्देश्यविधेयभाव इति
न कोऽप्यायासः । उक्तनियमे पदस्फोटे च न मानम् । आधेयत्वाश्रयत्वरूपेत्यस्य तु तद्व्याधेयत्वस्येत्यर्थः । विधेयस्येत्यस्य विधेय-
घटितस्येत्यर्थः ।—तद्देशादीति । द्वैतं तदोऽर्थः । आदिना कालः । अत्रच विशेषणीभूतविभक्त्यर्थोद्देश्यकविशेषणीभूतधा-
त्वर्थविशिष्टतिष्ठन्तार्थविधेयकबोधस्यान्यत्रादृष्टत्वात्तयोद्देश्यविधेयभावस्यायुक्ततयाऽनाश्रयणे द्वैतकालावच्छिन्नत्वस्य द्वैताभावा-
न्विताधेयतायां लाभासंभवात् द्वैताभावे निरवच्छिन्नविशेषणतया द्वैतवद्ब्रह्मवृत्तित्वभानपक्ष एव निर्भरो बोध्यः । ननु द्वैतवद्ब्र-
ह्मणोऽप्रकान्ततयेहेत्यत्रेदंपदेन कथं तत्परामर्श इत्यत आह—यस्मिन्निति । प्रतिष्ठितः तादात्म्येनारोपितः । प्राणं प्राणन-
शक्तिदं । चक्षुः दर्शनशक्तिदम् । यस्मिन्निति वाक्येऽऽकाशशब्दिताव्याकृतसंबन्धितया प्राणस्येति वाक्ये प्राणादिसंबन्धितये-
त्यन्वयः । अव्याकृतं माया । नन्वेतावतापि सर्वतादात्म्यवत्त्वेन न ब्रह्मणः प्रक्रम इत्यत आह—पञ्चजनशब्दस्येति ।
यस्येत्यत इवेत्यन्तं दृष्टान्तः । दृश्यसंबन्धित्वं दृश्यतादात्म्यवत्त्वम्—पूर्वमुक्तत्वादिति । इदंपदेन द्वैतवद्ब्रह्मपरामर्शसंभव
इति शेषः । उपसंहरति—अद्वैतसिद्धेरिति । तस्मादित्यादिः । अद्वैतसिद्धेः तत्सामान्यस्य । ननु नेहेति वाक्ये द्वैतवद्ब्र-
ह्मणि द्वैताभावो न विधेयः । किंतु ब्रह्मनिरूपितत्वे आधेयत्वमेव । तथाच द्वैताभावं प्रत्यनुद्देश्यतावच्छेदकीभूतद्वैततत्कालाव-
च्छिन्नत्वं द्वैताभावे कथं लभ्यते इत्यशङ्कते—नचेति । किंचनेति पदार्थस्य वस्तुसामान्यस्य । देशेति कालस्याप्युपल-

१ एकार्थबोधकत्वरूपसामर्थ्यभङ्गापत्त्येत्यर्थः । २ यथाद्वैतवद्ब्रह्मनिरूपित्वोद्देशेन ब्रह्मभिन्नद्वैताभाववृत्तित्वविधाने विधेयविशेषणे ब्रह्मभेदे द्वैतदेशावच्छिन्नत्वं न भासते एवं विधेयविशेषणे द्वैताभावेऽपि न द्वैतदेशाद्यवच्छिन्नत्वं भासते । अन्यथोक्तश्रुतेरेव ब्रह्मणि ब्रह्मभेदविषयकत्वापत्तेरिति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्ताभावे द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वस्य भानं न व्युत्पत्तिसिद्धम्, उद्देश्यतावच्छेदकतत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वयोः तत्त्वदेशकालादिविशिष्टोद्देश्यस्थले भानादिति—वाच्यम्; तादृशाभावे तादृशावच्छिन्नब्रह्मवृत्तित्वबोधेऽप्युद्देश्यसिद्धेः । नहि तत्र तत्केनापि स्वीक्रियते । प्रलयेऽपि तादृशाभावे तार्किकादिभिस्तदस्वीकारात् मिथ्यात्ववादिनैव तत्स्वीकारात् । वस्तुतस्तु ब्रह्मभेदो न प्रतियोगितावच्छेदकतया भाति, किंतूपलक्षणतया किंचनपदार्थं प्रकारः । तथाच तत्पदस्य सर्वनामतया प्रसिद्धार्थतया प्रत्यक्षादिमानसिद्धद्रव्यत्वादिविशिष्टबोधकत्वेन प्रसिद्धार्थकत्वात् प्रक्रान्तार्थकत्वाद्वा घटत्वादिविशिष्टवत् ब्रह्मबोधनात्, द्रव्यत्वादिविशेषरूपेणैव मिथ्यात्वलाभः । घटवद् द्रव्यवदित्येवमुद्देश्यतावच्छेदकभा-नेऽपि द्रव्यं नास्तीत्यादिविधेयांशे घटत्वादिविशिष्टोद्देश्यतावच्छेदकत्वेन द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावज्ञानस्य नाहार्थत्वाप-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

क्षणम् ।—तत्त्वदेशकालविशिष्टोद्देश्यस्थल एवेति । तादृशोद्देश्यांशे विधेयविधया भासमान एवेत्यर्थः । तादृशं तु प्रकृते आधेयत्वमेव । ननु द्वैताभाव इति भावः । अत्र तत्त्वदेशकालेत्यस्य तदवच्छिन्नत्वोपलक्षिततत्त्वपदार्थेत्यर्थ इति बोध्यम् । द्वैतब्रह्मांशे द्वैताभावस्याधेयत्वविधेयतया तत्र द्वैतकालावच्छिन्नत्वभानादेव द्वैतमिथ्यात्वनिर्वाहादित्याशयेन समाधत्ते—तादृशाभाव इति । ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्याभाव इत्यर्थः ।—तादृशावच्छिन्नेति । द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छि-न्नत्वार्थः । उद्देश्यसिद्धेः महावाक्यजन्याद्वैतसिद्धिपूर्वकाले द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिसत्त्वनिर्वाहादित्यर्थः । स्वाश्रयनिष्ठस्वावच्छेद-ककालावच्छिन्नस्वाभावकत्वमिव स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वाश्रयवृत्तितत्ताकस्वाभावकत्वमपि मिथ्यात्वमेवेति तद्भानोप-गमेऽपि न क्षतिरिति भावः । ननु द्वैतपारमार्थिकत्ववादिना द्वैतवति द्वैतकालावच्छिन्नद्वैताभाववत्त्वं नोपेयते इति तत्सिद्धिरेव पारमार्थिकत्वविरोधिमिथ्यात्वपर्यवसायिनी, द्वैताभावे द्वैतकालावच्छिन्नद्वैतब्रह्मवृत्तित्वसिद्धिस्तु न तथा । तत्र तादृशवृत्तित्वस्य तेनोपगमादित्यर्थान्तरभ्रमं निराकरोति—नहीति । तत्र द्वैताभावे । तत् द्वैतकालावच्छिन्नद्वैतब्रह्मवृत्ति-त्वम् । केनापीति । द्वैतपारमार्थिकत्ववादिनेति शेषः । प्रलयेऽपि प्रलयावच्छेदेन द्वैतरूपप्रतियोगिमद्रह्मवृत्तित्वेनाभ्यु-पगमेऽपि । तादृशतत्त्वपदार्थौ व्याख्यातौ ।—स्वीकारादिति । एवंच निरुक्तमिथ्यात्वस्यानुमितौ नेहेतिवाक्यजनबोधे च भानोपगमेऽपि नार्थान्तरमिति भावः । यद्वा—उद्देश्यतावच्छेदकस्यैवावच्छिन्नत्वं विधेये भासते, ननु तद्देशकालावच्छिन्न-त्वम् । देशकालविशेषणस्योद्देश्यतानवच्छेदकत्वस्थले तद्देशकालावच्छिन्नत्वभानप्रसङ्गादित्याशयेन शङ्कते—नचेति । अत्य-न्ताभावे तदन्विताधेयत्वे । मास्तु तत्र द्वैतकालावच्छिन्नत्वभानम्, द्वैतावच्छिन्नत्वभानंतु भवेदित्याशयेन समाधत्ते—तादृशाभावेति । तादृशावच्छिन्नेति । द्वैतावच्छिन्नत्वार्थः । उद्देश्यं ब्रह्मणि द्वैतकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वम्, तस्य सिद्धिरित्यर्थः । समानदेशकालीनयोरेवावच्छेद्यावच्छेदकभावोपगमादिति भावः । अत्र परेषां संवादमाह—नहीति । तत्र द्वैताभावे । तत् द्वैतावच्छिन्नत्वमिति व्याख्येयम् । द्वैतस्य दृश्यत्वेनोद्देश्यतावच्छेदकतया ब्रह्मभिन्नत्वेन चाभावप्रतियोगितया भानस्वीकारेणाद्वितीयवाक्याधीनमिथ्यात्वनिश्चयस्येव नेहेतिवाक्याधीनतन्निश्चयस्याप्याहार्थत्वस्य वारणसंभवेऽपि प्रकारान्तरेण तस्य तद्धारयति—वस्तुतस्तित्वति । ब्रह्मभेदेति । नानापदार्थभूतेत्यादिः ।—किंचनपदार्थ इति । अनुपदं वक्ष्यमाण इति शेषः । तत्पदस्य किंचनपदान्तर्गतकिंपदस्य । किंचनेति संघस्यासर्वनामतया यथाश्रुतासङ्गतेः । चनेतितु तात्पर्य-ग्राहकमिति भावः । बोधकत्वेनेति मिथ्यात्वलाभे हेतुतयाऽन्वेति ।—प्रसिद्धेति । पञ्चम्यन्तद्वयं इहपदस्य घटवद्ब्रह्मबोध-कत्वे हेतुः । तादृशबोधनं तु लाभं इहपदेन इदंपदेन । अत्र ब्रह्मभेदोपलक्षितद्रव्यत्वविशिष्टाभावो घटत्वविशिष्टब्रह्मवृत्ति-रिति बोधः । तथाच द्रव्यत्वेन गृह्यमाणानां घटादीनां स्वाश्रयनिष्ठद्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावकत्वसिद्धौ तद्वदकतया स्वाश्रयनिष्ठस्वाभावकत्वरूपमिथ्यात्वमपि सिध्यति । नचैवं—घटस्य घटत्वरूपेण ब्रह्मणि पारमार्थिकत्वेऽपि निरुक्तसाध्यपर्य-वसानसंभवेनोद्देश्यसिद्धिरिति—वाच्यम्, द्रव्यत्वरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धौ घटत्वरूपव्याप्यधर्मावच्छिन्नाभावस्यापि ततः सिद्धिसंभवादिति भावः । अतएव घटत्वव्याप्यतद्व्यक्तित्वादिकमुपेक्ष्य तद्व्यापकद्रव्यत्वानुधावनम् । नन्वेवं द्रव्याभावो घटवद्ब्रह्मवृत्तिः, जातिमदभावश्च द्रव्यवद्ब्रह्मवृत्तिरित्यादिसमूहालम्बनात्मक एव बोधो वाच्यः । तथाचैकस्मिन् ब्रह्मरूपे धर्मिणि द्रव्यत्वतदवच्छिन्नाभावयोरोद्देश्यतावच्छेदकविधेयभावेन तत्र भानात्तस्याहार्थत्वं दुर्वारमेवेति शङ्कां परिहरति—घटवदिति । घटवति ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति, द्रव्यवति ब्रह्मणि जातिमान् नास्तीत्यादि समूहालम्बन इत्यादिः ।—घटव-द्रव्यवदित्येवमिति । घटत्वविशिष्टवत्त्वद्रव्यत्वविशिष्टवत्त्वरूपेत्यर्थः । द्रव्यं नास्तीति । तत्प्रतिपाद्यद्रव्यत्वावच्छिन्नाभा-वेत्यर्थः । तस्य विधेयेऽभेदान्वयः । विधेयांशे तन्निष्ठविधेयतानिरूपितेत्यर्थः । अस्योद्देश्यतायामन्वयः । घटत्वादिविशिष्टस्यैव-त्येवकारेण द्रव्यत्वविशिष्टस्य व्यवच्छेदः । तथाच तादृशबोधस्य घटत्वावच्छिन्नोद्देश्यतावच्छेदकतानिरूपकद्रव्यत्वावच्छि-न्नाभावविधेयताकत्वेऽपि द्रव्यत्वावच्छिन्नोद्देश्यतावच्छेदकतानिरूपकद्रव्यत्वावच्छिन्नाभावत्वावच्छिन्नविधेयताकत्वाभावाभावा-

स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्यतमां कथामाश्रित्य संपादनीयम् । तत्र च विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वान्मध्यस्थेनादौ विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया । यद्यपि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य न पक्षतासंपादकतयोपयोगः, सिंसाधयिषाविरहसहकृतसाधक-

सिद्धिव्याख्या ।

यमित्यर्थः । तत्र हेतुः, अद्वैतसिद्धेरित्यादि । तथाच द्वैतमिथ्यात्वे उपपादितेऽद्वैतं सूपादमिति द्वैतमिथ्यात्वोपपादनमद्वैतसिद्ध्यनुगुणत्वान्नासङ्गतमिति ध्येयम् । वक्ष्यति च ग्रन्थकारः चतुर्थपरिच्छेदान्ते 'अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत' इति । ननु तर्हि तदुपपादनं विहायाग्रे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसङ्गतं—इत्याशङ्क्य तस्यावकाशमाह—उपपादनं चेत्वादिना विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयेत्यन्तेन । उपपादनं च द्वैतमिथ्यात्वोपपादनं चेत्यर्थः । स्वपक्षसाधनं स्थापनीयकोटिस्थापनम् । परपक्षनिराकरणं निराकरणीयकोटिनिराकरणम् । ताभ्यां मिथ्यात्वस्थापनसत्यत्वनिराकरणाभ्यां द्वैतमिथ्यात्वोपपादनं भवतीति तदुभयं मिथ्यात्वसाधनसत्यत्वनिराकरणरूपोभयं वाद-जल्प-वितण्डानामन्यतमां कथामाश्रित्य संपादनीयमित्यक्षरार्थः । तत्र तत्त्वबुभुत्सुकथा वादः, उभयविजिगीषुकथा जल्पः, स्वपक्षस्थापनहीना वितण्डा परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना । कथा नाम नानाकर्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यविस्तरः । ततः किमित्यत आह—तत्र चेति । तस्यां वादकथायामित्यर्थः । तत्रेत्यस्य विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयेत्यनेनान्वयः । तत्र हेतुः—विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्येति । नन्वेवमपि—विश्वं मिथ्येत्येतदनुमानपरकथाश्रयणेनैव स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणोपपत्तौ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं व्यर्थमेवेति—चेन्न । तथात्वे ब्रह्मादिषु बाधाद्यापत्त्या तत्प्रदर्शनस्य साधकत्वात् । नच—विप्रतिपत्तिप्रदर्शनेऽपि स दोषस्तदवस्थ इति—वाच्यम् ; तदा तत्र पक्षत्वेन निर्दिष्टस्यैव विश्वशब्देन ग्रहणे बाधाद्यनवकाशात् । नच—मूलग्रन्थेषु विप्रतिपत्तेः काव्यदर्शनान्न तस्या आवश्यकतेति—वाच्यम्, मूलग्रन्थेषु विप्रतिपत्त्यप्रदर्शनस्य शिष्टैरेव सोत्प्रेक्ष्यतामित्यभिप्रायेणोपपत्तावपीहानुमाने बाधादिनिराकरणरूपप्रयोजनवत्या विप्रतिपत्त्या

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्तिरिति भावः । वादः तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा । जल्पो विजिगीषुणा सह । वितण्डा स्वपक्षस्थापनहीना । कथा पञ्चावयवपरिकरोपेतवाक्यम् । सिंसाधयिषेत्यादि । सिंसाधयिषाभावसामानाधिकरण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्याभा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

र्थत्वमिति भावः । अत्र विभक्त्यर्थसंसर्गत्वमतमवलम्ब्येहेति सप्तम्यर्थभूतमाधेयत्वं संसर्गो न प्रकार इति विवक्षितम् । अतएव द्रव्यं नास्तीत्यादिविधेयांश इति ग्रन्थेन द्रव्याभावस्यैव विधेयत्वं दर्शितम् । आधेयत्वस्य प्रकारताभिप्राये तूक्तरीत्या तस्यैव विधेयतयाऽस्तीति विधेयांश इत्येवोच्येत । तथाच विशेष्यीभूतद्रव्यत्वावच्छिन्नाभावविधेयको विशेषणीभूतघटत्वविशिष्टवद्ब्रह्मोद्देश्यक आधेयतासंसर्गकबोध एवात्रेत्यवधेयम् । क्वचित् पुस्तके तु नचनानेत्यत आहार्यत्वापत्तिरित्यन्तं कुण्डलितम् ।—विजिगीषुणा सहेति । कथेत्यनुषङ्गः । एवंहीनेत्यत्र । कथामिति मूलप्रतीकम् । पञ्चावयवपरिकरोपेतं वाक्यमिति तद्विवरणम् ॥ इति विट्टलेशीये लघुचन्द्रिकाव्याख्याने अवतरणग्रन्थः ॥

अथ विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्वम् ।

उपपादनं चेत्वादिना न्यायरूपकथाया आवश्यकत्वं प्रदर्श्य न्यायामृतकारीयं विप्रतिपत्तेर्विचारानुपयोगिताव्यवस्थापनं खण्डयितुकामः पूर्वपक्षतया तदुपन्यासाय विप्रतिपत्तेः प्रदर्शनीयतामाह मूले—तत्रेति । सहकृतत्वं न तज्जन्यजनकत्वम् । सिंसाधयिषाविरहसिद्ध्योरनुमित्यहेतुत्वात् । एवंच साधकमानं न सिद्धिसामग्री । तस्याश्चक्षुःपरामर्शादिरूपायाः सार्वत्रिकतया सिंसाधयिषां विनानुमित्युच्छेदप्रसङ्गात् । अतो व्याचष्टे—सिंसाधयिषेति । ननु साध्यसंशयरूपपक्षतैवोपगम्य-

मानाभावरूपायास्तस्याः संशयाघटितत्वात् ; अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽनुमित्तस्या तदनुमानं न स्यात्, वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वेन संशयासंभवादाहार्यसंशयस्यातिप्रसङ्गकत्वाच्च ; नापि विप्रतिपत्तेः

सिद्धिव्याख्या ।

अवश्यं प्रदर्शनीयत्वादिति भावः । ननु—विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं न युक्तं । तस्या विचारानुपयोगात् । न च—विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचारोपयोगेन विचाराङ्गतया तद्वारा विप्रतिपत्तेरपि तदुपयोगेन तदङ्गत्वात्तत्प्रदर्शनमावश्यकमिति—वाच्यम् ; संशयस्यापि विचारानुपयोगित्वात् । न च—साक्षात्तदनुपयोगित्वेऽपि पक्षतासंपादकतया संशयस्योपयोगोऽस्तीति—वाच्यम् ; पक्षतासंपादकतयाऽप्युपयोगासंभवादिति—आशङ्कते—यद्यपीति । उपयोग इति । येन तद्वारा विप्रतिपत्तेरपि विचारोपयोगाद्विचाराङ्गता स्यादित्यर्थः । अनुपयोगमेव दर्शयति—सिषाधयिषेति । साधारणधर्मासाधारणधर्माभ्यामिव विमतेश्च संशयोत्पत्त्यभ्युपगमेन संशयसंभवेऽपि उक्तपक्षतायास्तदघटिततया तदघटितसंशयद्वारा विप्रतिपत्तेर्विचाराङ्गत्वस्य सुतरामयोगादित्यर्थः । अत्र साधकमानं, भावव्युत्पत्त्या सिद्धिरेव, नतु करणव्युत्पत्त्या भावव्युत्पत्तिसहितया सिद्धितत्करणान्यतरत् ; गौरवात् । न च—अनुमानातिरिक्तप्रमाणकालेऽनुमित्यदर्शनाद्गौरवं प्रामाणिकमिति—वाच्यम्, तावताऽनुमित्साविरहसहकृतानुमानातिरिक्तप्रमाणाभावस्य कारणत्वप्राप्तिः । ननु—उभयोः कारणत्वाविशेषे सिद्ध्यभावस्यैव पक्षतात्वे किं विनिगमकमिति—चेन्न । लाघवेन सिद्ध्यभावस्यैव पक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, नतु सिद्धिकारणाभावस्य ; गुरुशरीरातीन्द्रियप्रतियोगिकतया गुरुत्वात् । न च—सिषाधयिषापदेन सिषाधयिषोत्पत्त्यनन्तरसिद्ध्यननुगुणानन्तरितः कालो वाच्यः, अन्यथा निरन्तरमनुमितिद्वयं भवत्वित्यादौ मध्ये परामर्शादिना सिषाधयिषाया नाशात्पक्षताया अभावेनानुमित्यभावापत्तेः । तथाचातीन्द्रियघटितप्रतियोगितया सिद्ध्यभावोऽपि कथं लघूपस्थितमिति—वाच्यम् ; सिद्धिकारणांशयोरेव तद्विचारात्, सिषाधयिषांशे च तत्प्रवेशस्योभयपक्षेऽपि समानत्वादिति । ननु—संदिग्धसाध्यवत्त्वं पक्षत्वं, ततश्च पक्षत्वप्रयोजकसंशयजनकतया विप्रतिपत्तेर्विचाराङ्गत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह—अन्यथेति । संदिग्धसाध्यवतः पक्षत्व इत्यर्थः । न स्यादिति । संदेहघटिताया अभावादिति भावः । उक्तपक्षताङ्गीकारे तु श्रुत्याऽऽत्मनिश्चयकालेऽनुमित्सायां सत्यामनुमित्साविरहलक्षणविशेषणाभावे तद्विशिष्टात्मनिश्चयस्याप्यभावेन सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावरूपायाः पक्षतायाः सत्त्वात् तत्राप्यनुमानं स्यादिति ध्येयम् । वस्तुतो विप्रतिपत्तिवाक्यस्य संशयजनकत्वमपि वक्तुमशक्यम् । तथाहि—किं तस्मात्संशयो वादिप्रतिवादिनोर्वा, पारिषद्यानां वा ; नाद्य इत्याह—वाद्यादीनामिति । न च—वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वेऽपि विप्रतिपत्तिवाक्यात्संशयः स्यादेव, विप्रतिपत्तिवाक्यस्य संशयकारणतया कारणे तस्मिन्वाक्ये विद्यमाने तत्कार्यसंशयावश्यंभावादिति—वाच्यम् ; विशेषादर्शनस्यापि सहकारित्वेन तद्विरहे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वरूपाया इत्यर्थः । संशयस्य संशयहेतुत्वस्वीकारस्य । अतिप्रसङ्गकत्वात् आहार्यपरामर्शादेहेतुत्वापादकत्वात् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तामित्यत आह मूले—अन्यथेति । ननु निश्चितोऽप्यर्थो निश्चये प्रामाण्यसंदेहेन संदिह्यत इत्यत आह—वाद्यादीनामिति । मध्यस्थ आदिपदार्थः ।—निश्चयेति । अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दिदेत्यादिः । ननु तादृशैककोटिनिश्चयेऽपि विप्रतिपत्तिराहार्यसंशयमेव जनयिष्यति । स एव चानुमितौ पक्षताविधया हेतुरित्यत आह—आहार्येति । आहार्यसंशयस्यातिप्रसङ्गकत्वासंभवात्, सर्वैरुपगमाच्च यथाश्रुतासङ्गतिः, अतश्चन्द्रिकाकारो व्याचष्टे—संशयस्येति । संशयहेतुत्वेति ।

स्वरूपत एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः, 'त्वयेदं साधनीयं', 'अनेनेदं दूषणीय' मित्यादिमध्यस्थवाक्यादेव तल्लभेन विप्रतिपत्तिवैयर्थ्यात्; तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्यानुमित्यन-

सिद्धिव्याख्या ।

वाक्यात्संशयायोगादिति भावः । ननु—विशेषदर्शने सत्यपि वाद्यादीनामाहार्यसंशयो भविष्यति तस्य विशेषदर्शनाप्रतिबध्यत्वादित्यत आह—आहार्येति । अनुमित्युत्तरकालमपि तस्य सत्त्वेन सिपाधयिषाविरहदशायामपि पक्षतापत्त्याऽतिप्रसङ्गकत्वादित्यर्थः । नापि द्वितीयः; अन्यदीयसंशयस्य पक्षत्वाप्रयोजकत्वेनानुमानानङ्गत्वादित्याह—पक्षप्रतिपक्षेति । स्थापनीयकोटिपरिग्रहफलकतयापि नोपयोग इत्यर्थः । ननु—स्थापनीयकोटिरूपपक्षपरिग्रहार्थमेव तार्किकादीनामिवास्माकमपि साऽवश्यं प्रदर्शनीयेति कथमनुपयोग इत्यत आह—त्वयेदमिति । तथाच पक्षपरिग्रहरूपप्रयोजनस्यान्यथासिद्धत्वात्तार्किकादिभिरपि विप्रतिपत्तिर्नावश्यं प्रदर्शनीया । नच—वाक्यत्वाविशेषे किं विनिगमकमिति—वाच्यम् । मध्यस्थादिवाक्यादुक्तादेव तल्लभेऽनेकविशेषणवतो विप्रतिपत्तिवाक्यस्य गौरवात् । ननु—पक्षपरिग्रहैकफलकत्वे भवेदेवान्यथासिद्धिः; नैवं, किंतु साध्योपस्थित्यर्थमिति न वैयर्थ्यमिति—चेन्न । विप्रतिपत्तिवाक्यस्य समयबन्धादिना व्यवहितत्वेन हेत्वभिधानप्रयोजकाकाङ्क्षाजनकसाध्योपस्थित्यहेतुत्वात् । नच—विप्रतिपत्तिवाक्यस्य साध्योपस्थित्यहेतुत्वे साध्योपस्थितिरेव न स्यादिति—वाच्यम्; तदुत्तरमवश्यदत्तया प्रतिज्ञयैव तल्लभात् । तदुक्तं न्यायामृते 'इदं च विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं वस्तुतः' इति । न विचाराङ्गत्वेनेति वचनार्थः । तथाच विप्रतिपत्तेर्विचाराङ्गत्वमयुक्तमिति भावः । विप्रतिपत्तिवाक्यस्य सार्थक्यं साधयति—तथापीति । विप्रतिपत्तेर्वाद्यादिषु संशयाजनकत्वेऽपि पारिषद्यादिषु संशयजनकत्वमस्त्येव; तेषां विशेषदर्शनविरहात् । नच—अन्यदीयसंशयस्य स्वार्थानुमानस्थलेऽसतः पक्षत्वाप्रयोजकत्वेनानुमानाङ्गत्वं नेति—वाच्यम्; तस्य पक्षताप्रयोजकतयाऽनुमानानङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयतया विचाराङ्गत्वसंभवादित्यभिप्रेत्याह—विप्रतिपत्तिजन्येति । नच—व्युदसनीयतया विचाराङ्गस्यापि पारिषद्येषु संशयस्य विप्रतिपत्तिं विनापि वादिप्रतिवादिसंघर्षादिना कोट्युपस्थितौ विशेषदर्शने सति संभवेन विप्रतिपत्तिवाक्यमनावश्यकमिति—वाच्यम्; विप्रतिपत्तिवाक्यादेव तत्संभवे वादिप्रतिवादिसंघर्षकोट्युपस्थितिर्विशेषदर्शनानामनेकेषां हेतुत्वकल्पने गौरवादिति भावः । यद्वा संशयस्य पक्षतासंपादकतयोपयोगे सति तद्वारा तज्जनकविप्रतिपत्तेरपि उपयोगादनुमित्यङ्गत्वमस्त्येव । नच—अन्यदीयसंशयस्य पक्षताऽप्रयोजकत्वाद्वाद्यादेश्च संशयाभावात्कथं संदिग्धसाध्यवत्त्वं पक्षत्वमिति पक्षेऽपि विप्रतिपत्तेरुपयोग इति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेति । पक्षे धर्मिणि प्रतिनियतपक्षपरिग्रहेत्यर्थः । वादिनोर्भावाभावान्यतरकोटरेकधर्मिणि प्रयोगेति यावत् । तथापि—अनुमित्यनङ्गत्वेऽपीति । अनुमितिं प्रति तथाविधमेव यदङ्गत्वं तदभावेऽपीत्यर्थः । प्रथमस्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

संशयनिष्ठानुमितिहेतुत्वैत्यर्थः । मूले—स्वरूपत इति । साक्षादित्यर्थः । संशयमद्वारीकृत्येति यावत् । पक्षेत्यादेः पक्षो भावकोटिः, प्रतिपक्षोऽभावकोटिः, तयोरन्यतरस्य परिग्रह इति यथाश्रुतेऽर्थे परिग्रहद्वयस्यैकधर्मिकत्वालाभात् न्यूनता एकधर्मिसंबन्धस्य भावाभावद्वयस्य त्वप्रसिद्धत्वाच्च पक्षादिपदार्थता । एवं परिग्रहो न ज्ञानम्, तस्य विप्रतिपत्तिं विनैव संभवात्, अतो व्याचष्टे—पक्षेति—ननु विचाराङ्गत्वे तद्वाराऽनुमित्यङ्गत्वस्य दुर्वारतया अनुमित्यनङ्गत्वेऽपीत्यसङ्गतम् । अत आह—अनुमितिं प्रतीति । तथाविधं पूर्वशङ्कितम् । ननु तथापीत्यस्योक्तार्थकत्वे यद्यपीत्यस्य कान्वय इत्यत आह—

ङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयतया विचाराङ्गत्वमस्त्येव । तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः कचिन्निश्चयादि-
प्रतिवन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वात् । वाद्यादीनां च निश्चयवत्त्वे नियमाभावात् 'निश्चितौ हि
वादं कुरुत' इत्याभिमानिकनिश्चयाभिप्रायं, परपक्षमालम्ब्याप्यहंकारिणो विपरीतनिश्चयवतो जल्पादौ

सिद्धिव्याख्या ।

वाच्यम् ; पक्षत्वप्रयोजकवाद्यादिसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः कचिन्निश्चयादिना प्रतिवन्धाभावादजनकत्वेऽपि
जनकतास्वरूपयोग्यताऽनपायादित्याह—तादृशेति । पक्षत्वप्रयोजकवाद्यादिसंशयं प्रतीयर्थः । वाद्यादीनां
विशेषदर्शनवत्त्वध्रौव्येण विप्रतिपत्तेः कचिदपि वाद्यादिनिष्ठसंशयानुपहितत्वेन तादृशसंशयं प्रति तस्याः
स्वरूपयोग्यत्वं कल्पयितुमशक्यं, कचित्फलोपहितजातीयस्यैव स्वरूपयोग्यत्वादित्याशङ्क्याह—वाद्यादीनां
चेति । तथाच वाद्यादिष्वेव कचिद्विशेषादर्शनवत्सु संशये सिद्धे तेष्विवान्यत्र तद्रहितेष्वपि संशय-
जननस्वरूपयोग्यत्वमस्त्येव । कचित्फलोपहितजातीयस्यैव स्वरूपयोग्यत्वमिति त्वयैवोक्तत्वादिति ध्येयम् ।
ननु—वाद्यादीनां विशेषदर्शनवत्त्वनियमे 'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इत्यस्यैव मानत्वान्न तेषां संशय-
इत्याशङ्क्याह—निश्चितौ हीति । वादकरणोत्तरकालीनत्वात्तत्त्वनिश्चयवत्त्वस्येत्यर्थः । ननु—वाद्यादीनां
निश्चयवत्त्वं विचारात्पूर्वं समविद्यत्वबोधकपरीक्षादिना सिद्धं इत्याशङ्क्याह—परपक्षमालम्ब्येति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पिशब्दस्यैवकारसमानार्थकत्वात् यद्यपीत्यस्य पूर्वं सत्त्वात्तथापीत्यन्यदध्याहार्यम् । एकेनैव वा तथापीत्यनेनार्थद्वयबोधः ।
अथवा अङ्गत्वपदस्य पूर्वशङ्किताङ्गत्वमर्थः । व्युदसनीयतया विचारसाध्याभावप्रतियोगितया । विचाराङ्गत्वं विचार-
प्रवृत्त्युपयुक्तस्य संशयाभावरूपफलज्ञानस्य विशेषणज्ञानविधया कारणे ज्ञाने विषयत्वम् । तथाच विप्रतिपत्तिवाक्यात्
संशये जाते संदेहीत्याकारकेण संशयरूपविशेषणज्ञानेन संशयाभावरूपज्ञानाधीनेच्छया विचारे प्रवृत्तिरित्येवंरीत्या
विचारे विप्रतिपत्तिवाक्योपयोग इति भावः । ननु—वादिनोः स्वस्वकोटिनिश्चयकाले तत्संशयोत्पादानुपपत्तिः—
अत आह—तादृशेति । विचाराङ्गत्वार्थः । स्वरूपयोग्यत्वात् कारणत्वात् । प्राचीनमते विप्रतिपत्तिवाक्यस्य शाब्द-
धीरूपसंशयोत्पादकत्वस्वीकारात् । प्रत्यक्षस्यैव संशयत्वमिति मते तु, कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपदघटितत्वा-
दित्यर्थः । तथाच वादिनोर्निश्चयकाले संशयानुत्पत्तावपि संशयकारणत्वादिरूपेण ज्ञाता विप्रतिपत्तिः संशयं स्मारयति,
ययोः संबन्धः पूर्वं गृहीतः तयोरेकज्ञानस्यापरस्परकत्वात् । तथाच तदैव तथा तस्या उपयोग इति भावः । आभि-
मानिकनिश्चयाभिप्रायमिति निश्चयवानस्मीति ज्ञापयन्तौ विवदेते इत्यर्थकम् । तथाच वादिनोर्निश्चयकाले
सभापत्यादीनां संशयाभावमुद्दिश्य विचारे प्रवृत्तिरिति भावः । ननु—विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धिहेतुत्वमते नोक्तरीत्या
विप्रतिपत्तिरुपयुज्यत—इति चेत् । सत्यम्, तथापि स्वस्य परस्य वा संशयाभाववत्त्वे निश्चिते तत्र सिद्धत्वज्ञानात्, न

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

यद्यपीति । अध्याहारे न्यूनतापत्तेराह—एकेनैवेति । ननु 'सकृदुचरित' इति न्यायविरोधोऽत आह—अथवेति । व्युदस-
नीयतयेत्यत्र व्युदासो न निवृत्तिः तत्रापि विप्रतिपत्तेरनुयोगात्, अतो व्याचष्टे—व्युदसनीयेति । कारणत्वादिति ।
एवंचाजनकत्वेऽपीत्यस्यानुपधायकत्वेऽपीत्यर्थः । प्रत्यक्षरूपसंशये कथं विप्रतिपत्तिः कारणम्, अत आह—प्राचीनेति । ननु
कचिदपि फलानुपधाने कथं स्वरूपयोग्यतापीत्यत आह मूले—वाद्यादीनां चेति । नन्वेवं 'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति
प्रवादविरोध इत्यत आह—निश्चितौ हीति । परपक्षेति । शब्दानित्यताभ्युपेतुः नैयायिकस्यापि कदाचित् खोद्भूता-
द्वयापनार्थं शब्दनित्यत्वव्यवस्थापने प्रवृत्तिसंभवादिति भावः । ननु आभिमानिकत्वं भ्रमत्वम्, तथाच तादृशनिश्चयेनापि निश्च-
यवत्त्वनियमोऽव्याहत एवेत्यतोऽन्यथा व्याचष्टे—आभिमानिकेति । निश्चयवानिति । वस्तुतो निश्चयशून्यावपीत्यादिः ।
ननु यत्र यदा वादिनोः तत्तत्कोटिकनिश्चयः तदा तयोः संशयाभावस्य सिद्धतया तदुद्देशेन विचारे प्रवृत्त्यसंभवादुक्तरीत्या
विप्रतिपत्तिवाक्योपयोगः सर्वत्र न घटत इत्याशङ्क्य वाद्यादीनामित्यादिपदसूचितं भावमाह—तथाचेति । विशेषणज्ञानेति ।
नचैवमपि—संशयाभावज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिज्ञानमुद्रया संशयज्ञानोपयोगो दुर्वार इति—वाच्यम् ;
व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनां वेदान्तिनां तादृशकारणताया अभ्युपगमासंभवादिति भावः । तथापि फलघटक-
अद्वै. सि. ३

प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव ।

सिद्धिव्याख्या ।

तथाच जल्पादौ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या वाद्यादीनां कथातः पूर्वं निश्चयवत्त्वं नास्त्येव, अन्यथा जल्पादौ प्रवृत्त्यभावापत्तेः । नच—अहंकारिणः परपक्षमालम्ब्य ख्यात्याद्यर्थं जल्पादिप्रवृत्तिः संभवतीति—वाच्यम् ; एवं जल्पकथायां प्रवृत्तिसंभवेऽपि कथातः पूर्वं तत्त्वनिश्चये वादरूपकथायां प्रवृत्त्यभावापत्तेः । तत्त्वबुभुत्सोः कथाया एव वादत्वेन तत्प्रवृत्त्यनन्तरभावितत्त्वनिर्णयस्य प्रागेव जातत्वेन पुनस्तत्त्वबुभुत्साया एवायोगादिति भावः । साधितं विप्रतिपत्तेरवश्यप्रदर्शनीयत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । केचित्तु वस्तुत इत्याद्यनुपपन्नं, विवादाङ्गसंशयवीजत्वेन विप्रतिपत्तेरावश्यकत्वात् । उक्तरीत्या वादिप्रतिवादिनोः प्राश्रिकानां च स्वस्वपक्षनिर्णयरहितत्वेन स्वारसिकसंशयसंभवेन विप्रतिपत्तिवाक्यस्य तादृशसंशयवीजत्वसंभवात् । तादृशसंशयस्यैव कथायां प्रवृत्तविवादजन्यनिर्णयनिवर्त्यत्वेन तदङ्गत्वस्य च वक्तव्यत्वेनातादृशस्य तस्यातथात्वात् । किंच कथकसंप्रदायानुरोधेनापि विप्रतिपत्तिवाक्यप्रदर्शनमावश्यकं, अन्यथा संप्रदायविरोधात् । नच—कथकसंप्रदायानुरोधित्वेऽपि विप्रतिपत्तिवाक्यप्रदर्शनस्य निर्मूलतयाऽन्धपरम्परात्व एव पर्यवसानमिति—वाच्यम् ; शिष्टाचारवत्कथकसंप्रदायस्यापि यत्किञ्चिन्मूलानुमापकतयाऽन्धपरम्परात्वे पर्यवसानाभावात् । अन्यथा शिष्टाचारस्यापि मूलाननुमापकत्वापत्त्या शिष्टाचारपरिप्राप्तमङ्गलाचरणादेरपि अन्धपरम्परात्व एव पर्यवसानापत्तेः । किंच विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यत इत्यनेन किमभिप्रेतं—किं विप्रतिपत्ति-संशयजनकत्वं नास्तीति, किंवा तज्जन्यसंशयो नानुमानाङ्गमिति, आहोस्वित्ताङ्गं न भवतीति । नाद्यः ; साधारणधर्मासाधारणधर्माभ्यां विप्रतिपत्तेश्च तदुद्भवस्वीकारात् । न द्वितीयः ; पर्वते वह्निरस्ति नास्तीति विरुद्धार्थप्रतिपादकवाक्यद्वयं श्रुतवतो वह्निसंदेहात्पर्वते वह्न्यनुमानदर्शनात् । नच—विप्रतिपत्तेर्विशेषदर्शनरहिते संशयजनकत्वेऽपि तद्वति तदनुभवेन कथमनुमानमात्राङ्गत्वं, अङ्गत्वस्य कारणविशेषत्वेन सति व्यभिचारे तत्त्वानुपपत्तेरिति—वाच्यम् ; विशेषदर्शनवतामनुमानानुदयेन तद्रहितेष्वेव तदुदये सति तद्धेतुसंशयस्यावश्यकत्वेन व्यभिचारानवकाशेन तत्त्वोपपत्तेः । अतएवाभ्यां विप्रतिपत्तिरचनापूर्वकं वादः कर्तव्य इति समयबन्धेनापि कथाप्रवृत्तिसंभवेन तस्याः सार्वत्रिकत्वोपपत्तिः । नच—तां विना वादकरणे प्रत्यवायाभावान्न तन्नियम इति—वाच्यम् ; तथात्वे स्वस्वाभिमतपक्षनिर्णयाभावेन पारिषद्यादीनां वाद्यादिष्वविश्वासप्रसङ्गेन तत्परिहाराय तथैव वादकरणस्यावश्यकत्वेन तन्नियमात् । न तृतीयः, विप्र-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदुद्देशेन प्रवृत्तिरतः संशयाभाववत्त्वनिश्चयविरोधिनी संशयवत्त्वधीरपेक्ष्यत एव । ननु—वादिनोरन्येषां च सभास्थानां निश्चये वादिभ्यां निश्चिते संशयाभावमुद्दिश्य न विचारे तयोः प्रवृत्तिः, किंतु विजयादिकमुद्दिश्य । तत्र च विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यत अत आह—तस्मादिति । स्वकर्तव्येति । उक्तस्थले तात्कालिके संशयाभावे निश्चितेऽपि निश्चयज-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विशेषणज्ञानद्वारा तस्याः फलेच्छां प्रत्युपयोगित्वाभावेऽपि ।—संशयवत्त्वधीरिति । विप्रतिपत्तेः संशयेनेव तद्वारा संशयवतापि संबन्धसत्त्वात् तत् स्मारकत्वमप्यक्षतमिति भावः ।—अपेक्ष्यत एवेति । फले सिद्धत्वज्ञानविघटनद्वारा फलेच्छाजनन इति शेषः । उक्तोपयोगस्य क्वचिदसंभवशङ्कावारकतयोपसंहारमवतारयति—नन्विति । विजयादिकमित्यादिना सम्भयरजनपरिग्रहः । समयबन्धादीत्यादिपदार्थं विवृणोति—यथावेति । ननूक्तव्यवस्थापनम् 'त्वयेदं साधनीयम्', 'अनेनेदं दूषणीयम्' इत्यादिमध्यमवाक्यादपि भवेत्, किं विप्रतिपत्त्येत्याशङ्क्य सार्वदिकसंशयाभावप्रयोजकसंस्कारदार्ढ्यस्य तद्वाक्यासाध्यतयोक्तफलद्वयस्य विप्रतिपत्तिसाध्यतैवेत्यभिप्रायेणोक्तोपयोगद्वयस्य मूलाक्षरार्थतां स्फुटयन् स्वयमप्युपसंहरति—तस्मादिति । इति विट्टलेशीये लघुचन्द्रिकाव्याख्याने विप्रतिपत्तिवाक्यस्य विचाराङ्गत्वनिरूपणम् ॥

सिद्धिव्याख्या ।

तिपत्तेर्वादिप्रतिवादिनियमहेतुत्वेन कथाङ्गत्वात् । तथाहि—विचारविषये नानाकर्तृकवाक्यविस्तारात्मक-
कथाया निरूप्यनिरूपकनियमो वादिप्रतिवादिनियमः सभ्यानुविधेयसंवरणं निग्रहसामर्थ्यासामर्थ्यं चे-
त्याद्यङ्गानि तावत् कथकैः स्वीकृतानि । तत्र विप्रतिपत्तिर्नाम विवादः, विवदमानयोरेव वादिप्रतिवादि-
भावो नान्ययोरिति वादिप्रतिवादिनियमस्य विप्रतिपत्तिसापेक्षत्वात् । तथाच निरूप्यनिरूपकनियमस-
भ्यानुविधेयसंवरणवत् निग्रहसामर्थ्यासामर्थ्योद्भावनवच्च वादिप्रतिवादिनियमस्यापि कथाङ्गत्वे विवादा-
परनामकविप्रतिपत्तिं विना वादिप्रतिवादिनियमानिरूपणात्, तत्प्रयोजकतया कथायां विप्रतिपत्तिप्रदर्शन-
मावश्यकमिति । नच—विप्रतिपत्तिवाक्यस्य मध्यस्थमात्रकर्तव्यत्वेन तदादाय वादिप्रतिवादिभावस्यै-
वाभाव इति—वाच्यम् । परिषद्यानां अविश्वासपरिहारायान्योन्यमवलम्ब्यमानपक्षनिर्णयस्यावश्यकतया
तदर्थं वादिप्रतिवादिभ्यामपि विप्रतिपत्तेः प्रदर्शयितुं शक्यत्वेन मध्यस्थमात्रकर्तव्यत्वायोगात् । नच—
शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद्वदवदिति, शब्दो नित्यः व्योमैकगुणत्वात् तत्परिमाणवदिति तत्कृतपरस्परबोधा-
नुकूलन्यायवाक्ययोः प्रविष्टस्य परस्परविरुद्धप्रतिज्ञावाक्यस्यैव विवादरूपत्वेन तदादाय वादिप्रतिवादि-
भावोपपत्तिरिति—वाच्यम् । अनुमानाङ्गसंशयजनकतया विप्रतिपत्तेरावश्यकतया तत एव वादिप्रति-
वादिभावोपपत्तौ तदधीनप्रतिज्ञावाक्यस्यापि विवादरूपतया तदादाय वादिप्रतिवादिभावोपपत्तिकल्पने
गौरवात् । किंचोक्तरूपकथायां सभ्यानुविधेयवाक्यवद्विप्रतिपत्तिवाक्यस्यापि अङ्गत्वानुरोधेन कथान्तर्भा-
वात्, प्रोक्षणावघातादीनां यागशरीरनिर्वर्तकत्वेन यागाङ्गत्ववत् सभ्यानुविधेयवाक्यविप्रतिपत्तिवाक्ययो-
रपि नानाकर्तृकवाक्यविस्ताररूपकथाशरीरनिर्वर्तकत्वेन कथाङ्गत्वमविरुद्धम् । नच—सभ्यानुविधेयवाक्य-
स्यापि कथामात्रसत्त्वनियमाभावेन तद्वृष्टान्तेन विप्रतिपत्तिवाक्यस्यापि कथान्तर्भावेण तदङ्गत्वसाधन-
मनुपपन्नं, नहि तत्त्वनिर्णिनीषुकथायां सभ्यानुविधेयवाक्यस्यावकाशोऽस्ति, तत्कथाया गुरुशिष्यसप्रमा-
णकवाक्यमात्रात्मकत्वादिति—वाच्यम्; एवमपि जल्पकथायां सभ्यानुविधेयवाक्यस्यावकाशसंभवेन
तद्वृष्टान्तेन विप्रतिपत्तिवाक्यस्य कथान्तर्भावेण तदङ्गत्वसाधनोपपत्तेः । नहि कथात्वावच्छिन्नकथाङ्गत्वेन
विप्रतिपत्तिरस्माभिरभिधीयते, किंतु कथैकदेशाङ्गत्वेन, तदभिहितं—वादजल्पवितण्डानामन्यतमां
कथामाश्रित्येति । नच—प्रोक्षणावघातादीनां यागशरीरनिर्वर्तकत्वेन यागाङ्गत्ववत् विप्रतिपत्तेः कथा-
शरीरनिर्वर्तकत्वेन तदङ्गत्वं न युक्तं, तत्र प्रमाणेन यागशरीरेयत्तानिर्णये प्रोक्षणादीनां तन्निर्वर्तकत्वेन
तदङ्गत्वं श्रुत्यादिप्रमाणैस्सुज्ञानमिति तदङ्गत्वे विवादाभावेऽपि प्रकृतकथाशरीरेयत्तायामेव मानाभावेन
विप्रतिपत्तेः कथाबाह्येन निग्रहानर्हेण लौकिकरीत्यनुसारेणेत्याद्युक्तप्रकारेण कृतकार्यतयाऽनावश्यकत्वेन
तच्छरीरनिर्वर्तकत्वस्येहायोगेनाङ्गत्व एव विवादात्तदयुक्तमिति—वाच्यम्; कथकसंप्रदायानुमितप्रमाणस्यैव
कथाशरीरेयत्तायां मानत्वेन ततः कथाशरीरत्वे सिद्धे तस्याः शरीरभूतायाः विप्रतिपत्तेरावश्यकत्वेन
तच्छरीरनिर्वर्तकत्वस्य संभवेनाङ्गत्वे विवादाभावात् । नच—अन्वारम्भणीयाया नियतसमयकर्तव्यत्वेऽपि
दर्शपूर्णमासानङ्गत्ववत्, नियतसमयकर्तव्याया विप्रतिपत्तेरपि नाङ्गत्वमिति—वाच्यम्; तस्यास्तदङ्गत्व-
बोधकप्रमाणाभावेनाङ्गत्वाभावेऽपि प्रकृतेऽङ्गत्वबोधकोक्तप्रमाणानुसारेणाङ्गत्वसंभवादित्याहुः ॥ अपरेतु-
पक्षतावच्छेदकपुरस्कारं विना परार्थानुमाने पक्षनिर्देशायोगात् तदावश्यकत्वे सिद्धे विप्रतिपत्तेश्चानुमान-
मात्रे पक्षतावच्छेदकत्वात् न तदावश्यकत्वहानिरिति; तन्न, वर्णात्मकः शब्दो नित्यः ।

१ यद्यपि जल्पवितण्डयोर्भयोपपादनं न संभवतीत्यन्यतमशब्दप्रयोगो न संगतः; तथापि पुरुषभेदेन जल्पवितण्डयोर्बहुत्वात्तदुपपत्तिः ।
उपपादितं चैवं शब्दरत्ने तन्नाष्ट्येकशेषान्यतममस्त्वित्यत्र ।

तत्र मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिः ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि न वा, पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि न वेति । अत्रच पक्ष-

सिद्धिद्वयाख्या ।

अन्धकारत्वं भाववृत्तीत्यादिप्रकारेणापि पक्षनिर्देशदर्शनेन सर्वत्र परार्थानुमाने विप्रतिपत्तेः पक्ष-
तावच्छेदकत्वस्यासंभवात् । तत्रेति । मिथ्यात्वकथायामित्यर्थः । विप्रतिपत्तिरित्यस्यान्तिमशब्देनान्वयः ।
विप्रतिपत्तिस्वरूपमाह—ब्रह्मप्रमेति । अनुमानफलं, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धिरि-
त्येकं मतम् । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनेत्यपरं मतम् । तत्राद्यमतेन प्रथमविशेषणस्य प्रयोजनं दर्शयति—
अत्रचेति । पक्षविशेषणमिति । तथाच शुक्तिरूप्यादेर्ब्रह्मप्रमेतरवाध्यत्वान्न तत्र सिद्धसाधनम् । नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्यसंस्कारस्य कालान्तरे उच्छेदशङ्कया संशयोत्पत्तिसंभवज्ञानेन तदापि संशयाभावोऽनुवर्ततामितीच्छायाः संभवाच्च
विजयादिकमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः । किंच यथा समयबन्धः एतन्मतमवलम्ब्यैव युवाभ्यां विचारणीयमित्याकारको
मध्यस्थेन क्रियते, अन्यथा वादिनोर्मतान्तरप्रवेशोऽव्यवस्थापत्तेः; यथा वा वादिनौ परीक्ष्येते, अन्यथा मूर्खस्य विचारे
मध्यस्थस्यैव हास्यत्वापत्तेः; तथा विप्रतिपत्तिरपि मध्यस्थेन कार्यैव; अन्यथा प्रासङ्गिकविषयमादाय वादिनोरेकस्य
जयस्वीकारापत्त्या प्रकृतविषये तयोर्यपराजयव्यवस्थापनरूपस्य मध्यस्थकर्तव्यस्यानिर्वाहात् । विप्रतिपत्तौ कृतायां तु
समास्यैस्तच्छ्रवणात्तद्विषयकोटी अपलप्य प्रासङ्गिकविषयान्तरं न वादिभ्यामवलम्ब्य विजयः स्वीकर्तुं शक्यते । तस्मा-
त्सर्वकालिकसंशयाभावप्रयोजकसंस्कारदाढ्यस्योक्तव्यवस्थापनस्य च स्वकर्तव्यस्य निर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः
कार्यैवेति भावः । प्रतिपन्नेत्यादि । स्वसंबन्धितया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि । त्रैकालिकस्य सर्वदा विद्यमानस्य ।
निषेधस्य अत्यन्ताभावस्य । प्रतियोगि न वा । येन संबन्धेन यद्रूपविशिष्टसंबन्धितया यत् ज्ञातं तत्संबन्धतद्रूपा-
वच्छिन्नं तन्निष्ठोक्ताभावस्य प्रतियोगित्वं निवेश्यम्; अन्यथा संबन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नमुक्तप्रतियोगित्वमादाय सिद्ध-
साध्यतापत्तेः । स्वपदं रजतत्वादिविशिष्टपरम् । नव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्तत्त्वव्यक्तिपरत्वे व्यक्तिभेदेन मिथ्यात्वस्य
भेदापत्तेः । तथाच रजततादात्म्येन ज्ञायमानं यच्छुक्ल्यादिकं तन्निष्ठाभावीयं यद्रजतत्वतादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रति-
योगित्वं तस्य प्रातीतिक इव व्यावहारिकेऽपि रजते सत्त्वात्तत्र सिद्धसाधनवारणाय सर्वत्रेत्युक्तम् । कालिकाव्याप्य-
वृत्तिमदत्यन्ताभावमादायार्थान्तरतापत्तेश्चैकालिकेत्युक्तम् । यद्यपि अत्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिता भेदसहिष्णुना
तादात्म्येनावच्छिन्ना, नतु भेदस्य; तादृशतादात्म्यस्य भेदाविरोधित्वात्, भेदासहिष्णु च तादात्म्यं नास्त्येव अत्यन्ताभेदे
तादात्म्यादिसंबन्धासंभवात्; तथापि प्रकृतानुमानात्तादात्म्यावच्छिन्नभेदप्रतियोगितासिद्धिमादायार्थान्तरं स्यात् ।
अतोऽत्यन्ताभावेत्युक्तम् । संसर्गाभावो वा निवेश्यः । तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादिमत्त्वस्य साध्यत्वे

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अथ पक्षतावच्छेदकविचारः ।

मूले तत्र अवश्यप्रदर्शनीयविप्रतिपत्तिषु । निर्धारणसप्तमी । मिथ्यात्वे तत्सिद्ध्यनुकूला तत्कोटिकावा । प्रदर्शनीयविप्र-
तिपत्तिषु मध्ये ब्रह्मप्रमेत्यादिवाक्यरूपा विप्रतिपत्तिः मिथ्यात्वकोटिकेति मिथ्यात्वकोटिका विप्रतिपत्तिः ब्रह्मप्रमेत्यादिवाक्य-
रूपेति वा संबन्धः । प्रतिपन्नपदस्य स्वसंबन्धितया ज्ञातं, उपाधिपदस्य च अधिकरणमर्थ इत्याशयेन व्याचष्टे—प्रतीत्यादि ।
सर्वत्रेतिपूरणफलमाह—तथाचेति । रूपनिवेशे चेत्यर्थः । अन्यथा व्यावहारिकरजतस्य स्वपदेनोपादाने तत्संबन्धितया ज्ञाते
तदवयवे विद्यमानाभावप्रतियोगितायाः तत्रासिद्धतया सिद्धसाधनाभावेन सर्वत्रपदवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः । संबन्धनिवेशे
अत्यन्तपदवैयर्थ्यं शङ्कते—यद्यपीति । भेदाविरोधित्वादिति । अभावविरोधिन एव प्रतियोगिसंबन्धस्य प्रतियो-
गितावच्छेदकत्वादिति भावः ।—नास्त्येवेति । एतन्मते कपालादौ घटादेः तादात्म्यं संबन्धः, नतु घटादौ । अर्था-
न्तरमिति । तथाच कपालादौ घटाल्यन्ताभावानुगमेऽपि तन्निष्ठभेदप्रतियोगितायाः तादात्म्यावच्छिन्नत्वमात्रोपग-
मेन घटादौ तादृशभेदरूपाभावप्रतियोगितारूपसाध्यनिर्वाहसंभवेन घटादेः पारमार्थिकत्वानुच्छेदप्रसङ्ग इति भावः । अत्य-
न्ताभावलघटकनित्यलनिवेशे प्रयोजनाभावादाह—संसर्गाभाव इति । भेदान्याभाव इत्यर्थः । नच तादात्म्यावच्छिन्न-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साध्याप्रसिद्धिः । अतस्तदपहाय तादृशप्रतियोगित्वमेव साध्यं कृतम् । तस्यापि शुक्तिरूप्यादावनुमानात्पूर्वमसिद्धिः । रजतसंबन्धितया प्रतीयमानसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तादृशावच्छिन्नस्य तत्राभावात् । अतो व्यावहारिकपक्षकविशेषानुमानेषु रजतत्वादिना घटो नास्तीति प्रतीतेः घटादिरेव दृष्टान्तः । ननु—तादृशप्रतियोगिताया व्यधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्त्वं शुक्तिरूप्यादावपि प्रसिद्धा तदेव साध्यं कुतो न कृतमिति—चेन्न । तथा सति व्यावहारिकरजतादिरूपे पक्षे तत्प्रसिद्ध्या सिद्धसाधनापत्तेः । समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्वस्यैव साध्यकार्यत्वे प्रसिद्धावश्यकत्वात् । सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यादिकं मूलोक्तं दृष्टान्तः । स्वत्वस्यानुगतस्य प्राचां

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

ध्वंसप्रागभावप्रतियोगितामादायार्थान्तरं दुर्वारमिति—वाच्यम् ; त्रैकालिकत्वविशेषणेन तद्धारणादिति भावः । अत्र अग्रे 'विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्' इति ग्रन्थेन विशेषपक्षकं सामान्यपक्षकं चानुमानं विवक्षितम् । 'प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिरितिग्रन्थेन विशेषपक्षिकायाः, ब्रह्मप्रमेत्यादिना सामान्यपक्षिकायाश्च विप्रतिपत्तेः प्रदर्शनात् । तत्र रजतत्वविशिष्टं तादात्म्यसंबन्धेन रजतत्वविशिष्टसंबन्धितया ज्ञायमानसर्वनिष्ठत्रैकालिकसंसर्गाभावीयतादात्म्यावच्छिन्नरजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविशिष्टं दृश्यत्वादिति विशेषानुमानम् ; ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वविशिष्टसत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयताविशिष्टचिद्विन्नत्वसमानाधिकरणरूपं तादृशचिद्विन्नत्वं वा तत्संबन्धेन स्वविशिष्टवत्त्वेन ज्ञायमानसकलनिष्ठत्रैकालिकसंसर्गाभावीयतत्संबन्धावच्छिन्नस्वावच्छिन्नप्रतियोगितासमानाधिकरणं दृश्यवृत्तित्वादिति सामान्यानुमानम् । तत्र विशेषानुमाने शुक्तिरूप्यं न दृष्टान्तः । किन्तु घटादिः । सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यत्वमिति, साध्याप्रसिद्धिप्रसङ्गात् व्यवस्थाप्यम् । तत्र तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वस्य साध्यत्वे विशेषानुमाने शुक्तिरूप्यस्यैव दृष्टान्तत्वं संभवतीत्यतस्तस्य साध्यतां निरस्यति—तादृशाभावेति । साध्याप्रसिद्धिरिति । रजतत्वेन ज्ञातसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतावयवे रजतसामान्याभावासत्त्वेन रजतत्वे तादृशप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य दुर्घटत्वादिति भावः ।—रजतादीति । रजतावयवादीत्यर्थः । रजतावयवस्यापि रजतत्वात् यथाश्रुतमेव वा साधु । नन्वेवं घटेऽपि कथं साध्यप्रसिद्धिः, तत्राह—रजतत्वादिनेति । तथाच रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावस्य व्यावहारिकरजतावयवेऽपि सत्त्वेन घटादौ तादृशाभावीयरजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य प्रसिद्धेरिति भावः ।—नन्विति । यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावोपगमे तादृशप्रतियोगित्वरूपसाध्यप्रसिद्धिः तदेति शेषः । व्यधिकरणेति प्रसिद्ध्युपपादनाय ननु साध्यघटकं, व्यर्थत्वात् ; समानाधिकरणेति साध्यघटकम् । रजतत्वावच्छिन्नतादृशप्रतियोगित्वस्य साध्यत्वे घटे तत्प्रसिद्धावपि व्यावहारिकरजते एतदनुमानेनैव सिद्ध्या न सिद्धसाधनमिति भावः ।—रूपेति । रूपत्वे इत्यर्थः ।—मूलोक्तेति । तादृशदृष्टान्तसङ्गमनायैव सामान्याश्रयणमिति भावः । विशेषानुमानाश्रयणं तु स्वत्वानुगमवादिनवीनमतेन इति बोध्यम् । स्वं साध्यत्वेनाभिमतम् । व्यावहारिकरजतत्वं प्रातीतिकरजतत्वं उभयसाधारणरजतत्वं चेति रजतत्वं त्रिविधम् । व्यावहारिकरजतमात्रवृत्तिव्यावहारिकं कटकाद्यर्थक्रियाकारितावच्छेदकम् । प्रातीतिकरजतमात्रवृत्तिप्रातीतिकं शुक्त्यज्ञानरजतसादृश्यज्ञानकार्यतावच्छेदकम् । तदुभयसाधारणं, रजतपदशक्यतावच्छेदकं च तृतीयम् । व्यावहारिकमेवेति । तत्र स्वत्वस्य व्यावहारिकप्रातीतिकमात्रवृत्तिरजतत्वयोरनुगतत्वात् प्रातीतिकरजतत्वरूपदृष्टान्ते प्रसिद्धमेव साध्यं व्यावहारिकरजतत्वरूपपक्षे साध्यत इति भावः ॥

ननु स्वत्वं स्वपदार्थतावच्छेदकम् । तच्च व्यावहारिकप्रातीतिकरजतत्वयोरेकं पक्षदृष्टान्तस्थसाध्ययोरनुगमार्थमुपादेयम् । तथाच तादृशानुगतरूपेण प्रातीतिकरजतत्वे उपादीयमाने व्यावहारिकरजतत्वस्याप्यवर्जनीयतयोपादानावश्यकतया व्यावहारिकरजतावयवस्यापि तादृशयावदन्तर्गततया, तत्रच तादृशानुगतधर्मवदवच्छिन्नाभावस्यानुमानात्प्रागसिद्धत्वेन दृष्टान्ते साध्याप्रसिद्धितादवस्थम् । नच—स्वत्वात्मकानुगतधर्मोपलक्षितप्रातीतिकरजतत्वावच्छिन्नाभावस्य व्यावहारिकरजतावयवेऽपि सत्त्वात् नायं दोषः, स्वत्वविशिष्टावच्छिन्नाभावनिवेशे प्रयोजनाभावादिति—वाच्यम् ; पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टरजतत्वावच्छिन्नाभावस्य त्रैकालिकत्वाभावेऽपि तत्तदवयववृत्तित्वविशिष्टरजतत्वावच्छिन्नाभावस्य तादृशयावदवृत्तित्वेऽपि रजतत्वघटलाभ्यां रजतसामान्याभावं निरुक्तमादाय सिद्धसाधनवारणाय स्वत्वविशिष्टावच्छिन्नाभावस्य निवेश्यत्वात् । नच—तदर्थं स्वत्वपर्याप्त्यधिकरणधर्मपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकाभाव एव निवेश्य इति—वाच्यम् ; तावतापि स्वत्वपर्याप्त्यधिकरणीभूतप्रातीतिकरजतत्वेन व्यावहारिकरजताभावमादायोक्तदोषवारणेन तदर्थमुक्ताभावस्यैवोपादेयत्वादिति चेन्न । स्वावच्छिन्नवत्त्वेन प्रतीयमानयाविष्टाभावीयत्वं—स्वावच्छिन्नत्वोभयसंबन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगितासमानाधिकरणत्वस्य साध्यत्वेनानुपपत्त्यभावात् । स्वत्वस्यानुगतत्वेऽपि तदाश्रयैकैकव्यक्तेरेव संबन्धद्वयप्रतियोगिविधया निवेशात्, संबन्धे च स्वत्वं परिचायकम् । यथाहि 'स्वप्रतियोगिवृत्तित्व—स्वसामानाधिकरण्योभयसंबन्धेन भेदविशिष्टान्यत्वं उभयान्वयम्' इति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मते स्वीकारेण स्वविशिष्टसंबन्धितया ज्ञायमाने सर्वत्र विद्यमानात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकरजतत्वतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकरजतादौ सत्त्वात् । नचैवं—सर्वदेशकालवृत्तिव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्, तथाचालीकत्वापत्तिः प्रपञ्चस्येति—वाच्यम्; कालसंबन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेद्यत्वात् । ननु—कालसंबन्धित्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्रीमद्रदाधरभट्टाचार्यैः सिद्धान्तलक्षणे व्युत्पत्तिवादे चाभिहितं, तथेहेति । नचेदानीं—स्वत्वमुपलक्षणम्, अन्यथा दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धसंभवात्; तथाच प्रातीतिकरजतत्वं स्वपदेनोपादायोक्तोभयसंबन्धेन तद्विशिष्टतदवच्छिन्नव्यावहारिकरजताभावप्रतियोगिताघटितसाध्यस्य व्यावहारिकरजतत्वे सिद्धापत्त्या सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; उक्तोभयसंबन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगितासमानाधिकरणत्वस्य स्वपदार्थे साध्यतया स्वपदस्य प्रकान्तधर्मिवोधकतया व्यावहारिकरजतत्वस्य धर्मित्वे प्रातीतिकरजतत्वस्य स्वपदार्थत्वाभावेन तत्सामानाधिकरण्यस्य व्यावहारिकरजतत्वे सिद्धापत्तेरसंभवात्, स्वसामानाधिकरण्यस्य तृतीयसंबन्धत्वे उक्तशङ्कानुत्थानाच्च । नचैवमपि—उक्तानुगतसाध्यतावच्छेदकान्तशुक्तिरूप्यनिष्ठप्रतियोगितासमानाधिकरण्यस्य व्यावहारिकरजतत्वे सिद्धापत्तिरिति—वाच्यम्; बद्धित्वावच्छिन्नव्याप्तिज्ञानात् पर्वते महानसीयबह्विसिद्ध्यापत्तिवदस्यापीतरबाधेनैव वारणसंभवात् । वक्ष्यते चैतदुपरिष्ठात् । प्रतियोगित्वस्येति यथाश्रुताभिप्रायेण । वस्तुत एतादृशप्रतियोगित्वसमानाधिकरणत्वस्य तादृशप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य वेति बोध्यम् । एवमग्रेऽपि । प्रातीतिकरजतादौ तादृशरजतत्वादौ । —सत्त्वादिति । प्रातीतिकरजतत्वेन प्रतीयमानशुक्त्यादौ तादृशप्रातीतिकरजतकालेऽपि प्रातीतिकरजतात्यन्ताभावस्योपगमादिति भावः ।—पर्यवसितमिति । यत्र यत् प्रतीयते तत्र तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वस्य भवतोपगमात् । यत्र यत् न प्रतीयते तत्र तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वस्य च सर्वसिद्धत्वादिति भावः । तथाच सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वस्वीकारे च । अलीकत्वापत्तिः शशविषाणवदप्रतीयमानत्वापत्तिः । यथाश्रुते सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वस्यैवालीकत्वरूपतयाऽऽपाद्यापादकयोरैक्येनेष्टापत्तिप्रसङ्गेनासङ्गतेः । नच—अलीकत्वं तादृशप्रतियोगिताविशिष्टत्वे सत्यप्रतीयमानत्वमिति नायं दोष इति—वाच्यम् । तावतापि विशेषणांशेष्टतया विशेष्यापत्तावेव पर्यवसानात् । तथाच प्रपञ्चो यदि सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगी स्यात् तदा शशविषाणवन्न प्रतीयेतेति तर्कः पर्यवसन्नः । अयंच निरुक्तमिथ्यात्वसिद्धिविरोधी स्वीकार्यः । स्वविशिष्टत्वेनाप्रतीयमानवृत्त्यभावप्रतियोगित्वेन सर्वसिद्धे प्रपञ्चे तादृशप्रतियोगित्वाभाववाधात् स्वविशिष्टत्वेन प्रतीयमानवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वाभावमादाय विपर्ययपर्यवसानसंभवादिति शङ्कानिर्गलितार्थः । शशविषाणपदानु न ज्ञानम् । किंतु विकल्परूपवृत्त्यन्तरमेवेत्यग्रे व्यक्तम् । सत्त्वेन प्रतीतिर्वा निवेद्या ।—निवेद्यत्वादिति । तथाच कालसंबन्धित्वविशिष्टस्य सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे पर्यवसानेऽपि तस्याप्रतीयमानत्वरूपापाद्यविरुद्धतया न तेन तदापत्तिः संभवति । नच—निरुक्तविशिष्टान्तर्गतविशेष्यभागस्य प्रपञ्चरूपपक्षातिरिक्ते तुच्छेऽप्रतीयमानत्वरूपापाद्यव्याप्यतानिश्चयात् पक्षे तस्य तदापादकता दुर्वारेति—वाच्यम्; विशिष्टस्य शुद्धादतिरिक्तत्वोपगमात् । अनतिरिक्तत्वोपगमेतु प्रतियोगितानां प्रतियोगिभेदेन भिन्नतया पक्ष उपगतानां कालसंबन्धिनिष्ठानां तासां आपाद्यविरुद्धत्वात् तद्व्याप्यानां च तुच्छवृत्तीनां पक्षेऽनुपगमात् । नचैवमपि—सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वावच्छिन्नस्यापादकता दुर्वारैवेति—वाच्यम्; अनुगतरूपेणापि यस्यापाद्यव्याप्यत्वज्ञानं तेन रूपेण तद्वत्त्वोपगमस्यैवापादकत्वात् तुच्छवृत्तिप्रतियोगित्वस्यानुगतरूपेण व्याप्तिग्रहेण तस्यच पक्षेऽनुपगमेनोक्तापत्तेरसंभवादिति भावः । अयमभिसन्धिः—द्रव्यं पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन द्रव्यभेदस्यानुमितेरापत्तेश्च वारणाय तदनुमितितदापत्त्योः येन रूपेण यत्र साध्यापाद्यव्याप्तिग्रहः पक्षे तेन रूपेण तद्वत्त्वप्रमोपगमयोः हेतुता उपेया । नहि द्रव्यत्वविशिष्टत्वेन प्रमेयत्वस्य द्रव्यभेदविरुद्धत्वं पक्षे व्यभिचारग्रहश्च शुद्धप्रमेयत्वेन प्रमेयत्वे पक्षातिरिक्तगुणादौ व्याप्तिग्रहं विरुणद्धि । तत्रानुकूलतर्काभावादेव न व्याप्तिग्रह इति चेत् प्रकृतेऽपि समम् । कालसंबन्धित्वसमानाधिकरणस्य निवेद्यत्वादिति ग्रन्थस्य त्वत्रैव तात्पर्यमिति । अत्रेदं चिन्त्यम्—स्वविशिष्टत्वेनाप्रतीयमाननिष्ठाभावप्रतियोगित्वेन सर्वसिद्धे प्रपञ्चे स्वविशिष्टत्वेन प्रतीयमाननिष्ठाभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वोपगमेऽपि न सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं पर्यवस्यति । तस्य देशांशे प्रतीयमानत्वाघटितत्वात् मिथ्यात्वस्य च तद्वटितत्वात् । किंतु तादृशप्रतियोगित्वद्वयम् । तच्च न शशविषाणादौ तुच्छे तद्वत्त्वेन प्रतीयसिद्धेरिति नालीकत्वरूपापाद्यव्याप्यमिति न तेन तदापत्तिशङ्कापीति कालसंबन्धित्वनिवेशनं व्यर्थमिति । नच—कालसंबन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेद्यत्वादिति ग्रन्थेनेदमेव विवक्षितं, ननु कालसंबन्धित्वनिवेशनमिति—वाच्यम्; 'ननु कालसंबन्धित्वमास्ताम्' इत्युत्तरग्रन्थविरोधापत्तेरिति । अत्रेदं तत्त्वम्—'ब्रह्म सत्, सत् ब्रह्म' इतिवत् 'शशश्चक्षुमसत् असत् शशश्चक्षुः'मिति विकल्परूपप्रत्ययसंभवेन शशश्चक्षुःदेः स्वमेव रूपभेदेन प्रतिपन्नोपाधिः उपाधिपदस्यात्रेदानीं धर्मिमात्रपरत्वात् । तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वंच तस्येति उक्तप्रतियोगित्वद्वयस्य तुच्छेऽलीकत्वव्याप्यता-

तावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनतेति

सिद्धिव्याख्या ।

शुक्तिरूप्यस्य बाध्यत्वेनाबाध्यत्वविशेषणेनैव सिद्धसाधनवारणे ब्रह्मप्रमेतरेति व्यर्थमिति—वाच्यम् ; तथा-
त्वेऽस्मन्मते वियदादेरपि बाध्यत्वात् पक्षालाभप्रसङ्गात् । अतस्तन्माभूदित्येतदर्थं ब्रह्मप्रमातिरिक्तेत्यबाध्यत्व-
विशेषणस्यावश्यकत्वात् । नचैवं—प्रमेति व्यर्थं, प्रातिभासिकरजतादेर्नैदंरजतमित्यादिना ब्रह्मज्ञानान्येनैव
बाध्यतया तस्य पक्षत्वाप्रसक्त्या तदंशे सिद्धसाधनत्वस्यैवाप्राप्तेरिति—वाच्यम् ; ‘सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन्
ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते’ इति मते प्रत्ययमात्रस्य ब्रह्मज्ञानत्वाभ्युपगमेन नैदं रजतमिति बाधकज्ञानस्यापि ब्रह्म-
ज्ञानत्वेन शुक्तिरूप्यादेरपि तदन्यदण्डाद्यनिवर्त्यत्वेन प्रसक्तपक्षत्वनिवृत्त्यर्थं प्रमेत्यस्यावश्यकत्वात् । ननु—
तथापि ब्रह्मवृत्तिधर्मप्रकारश्चेत् ज्ञानं ब्रह्मप्रमा, तदा बाधस्यापि क्वचित्त्वात्वात् प्रातिभासिकविशेषांशे
सिद्धसाधनं तदवस्थमेव ; ब्रह्ममात्रवृत्तिधर्मप्रकारकज्ञानं चेत् ब्रह्मप्रमापदेन विवक्षितं, तदा ब्रह्ममात्रवृत्तित्वं
हि ब्रह्मेतरावृत्तित्वे सति तद्वृत्तित्वमिति स्यात् तथाच तद्वृत्तित्वमधिकं । नच—तद्रहितमेव विवक्षितं ; तथापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मास्तां प्रपञ्चे विशेष्यभूतमुक्तप्रतियोगित्वं तु न तत्रास्ति । येन हि रूपेण संबन्धेन च यत्र यत् संबध्यते । नच तेन
रूपेण तत्संबन्धेन च तत्र तदभावे विरोधादिति—मन्वानं वादिनं प्रति तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन तन्मतमनुसृत्य
साध्यान्तरमाह—पारमार्थिकेत्यादि । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं यदुक्तप्रतियोगित्वं तद्वन्न वेत्यर्थः । तत्रोक्तप्रतियोगित्वे
तद्रूपवच्छिन्नमिति पूर्वोक्तस्य विशेषणस्य स्थाने तद्रूपसमानाधिकरणमिति विशेषणं देयम् । नच—तत्र प्रयो-
जनाभाव इति—वाच्यम्, घटादेः पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यादेः चोऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगि-
त्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय यदर्थान्तरं तद्वारणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात् । कपालादौ संयोगादिसंबन्धेन घटादेर्योऽत्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

संभवेनोक्तापत्तिशङ्कासंभवात् कालसंबन्धित्वनिवेशनमर्थवत् । अतएवाग्रे मूलेऽलीके मिथ्यात्वलक्षणातिव्याप्तिमाशङ्क्योपा-
धिपदस्य सदर्थकतया तद्वारणं कृतम् । टीकायां च लघुना कालसंबन्धित्वनिवेशेन तद्वारणमाशङ्क्य यथासंज्ञिवेशेन वैयर्थ्य-
मिति समाहितम् इति । तथाप्यत्रालीकत्वादिपदमलीकत्वमादायार्थान्तरपरम् । तद्वीजं त्वग्रे वक्ष्यते । केचित्तु उक्तप्रतियो-
गित्वद्वयस्य ब्रह्मणि सर्वदेशकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं प्रति व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानसंभवात् तद्वयेन तादृशप्रतियोगित्वसिद्धौ
तेनालीकत्वव्यापेन तदापत्तिशङ्कां सङ्गमयन्ति ॥

पारमार्थिकत्वाकारेणेत्यत्राकारपदं रूपपरम्, रूपविधयाऽवच्छेदकत्वस्फोरकम् । तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम्, प्रतियोगिपदा-
र्थैकदेशे प्रतियोगित्वेऽन्वेति । नच—अवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपतृतीयार्थस्य निषेधेऽन्वयोस्त्विति—वाच्यम् ; समनियता-
भावानामैक्येन पटत्वादिना घटाद्यभावाभिन्नपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकशुक्तिरूप्याद्यभावप्रतियोगितां पटत्वाव-
च्छिन्नामादाय घटादौ पक्षे सिद्धसाधनतापत्तेरित्याशयेन व्याचष्टे—पारमार्थिकेत्यादीति । पारमार्थिकत्वं ब्रह्मतुल्यस-
त्ताकत्वं स्थाने इति । कपालादौ घटादेः पारमार्थिकत्व—घटत्वैतदुभयावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धयोद्देश्यसिद्धिसंभवे-
ऽपि तदुपादाने फलाभावात्, साध्याप्रसिद्धापत्तेश्च सामानाधिकरण्योपादानेनैवोक्तार्थान्तरवारणात् घटत्वपारमार्थिकत्वाभ्यां
घटाभावस्यैतदनुमानात् प्रागसिद्धेः । ताभ्यां प्रातीतिकघटाभावोऽप्यसिद्ध एव । गौरवेणोभयस्यानवच्छेदकत्वात् । फलासिद्ध्या
साध्याप्रसिद्धापत्तेश्च । सामानाधिकरण्योपादाने तु प्रातीतिकघटे तत्प्रसिद्धिरिति भावः ।—य इति । घटवत्त्वेन ज्ञातकपा-
लादिनिष्ठ इति शेषः ।—यदर्थान्तरमिति । नच—घटस्य तादृशाभावप्रतियोगित्वे सिद्धे पारमार्थिकत्वं न घटते, तथा
सति पारमार्थिकत्वावच्छिन्नघटरूपप्रतियोगिमिति कपालादौ पारमार्थिकत्वावच्छिन्नशुक्तिरूप्याभावानुपपत्तेरिति नार्थान्तर-
मिति—वाच्यम् ; घटस्य घटत्ववत्त्वेऽपि कपालादौ घटत्वेन घटपदोभयाभाववत् पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन घटशु-
क्तिरूप्योभयाभावस्य व्यासज्यवृत्तिप्रतियोगिताकस्य केवलान्वयिनः सत्त्वोपपत्त्याऽर्थान्तरस्य दुर्वारत्वात् । नचैवं—सामाना-
धिकरण्यनिवेशेऽपि तद्वारणासंभवः ; सामानाधिकरण्यस्य पर्याप्तद्वयगर्भत्वात् । नचैवं—सिद्धसाधनमित्येव वक्तुं शक्यमिति—
वाच्यम् ; सिद्धसाधनस्याप्यज्ञासिताभिधानरूपतयाऽर्थान्तरव्यपदेशात् । एवमग्रेऽपि ।—प्रयोजनस्य सत्त्वादिति ।

सिद्धिव्याख्या ।

ब्रह्मेतरावृत्तिधर्मप्रकारकज्ञानान्यप्रमितिवाध्यत्वस्य पक्षेऽपि सत्त्वेन तदवाध्यत्वस्यासिद्धतयाऽऽश्रयासिद्धेः । निरुक्तपक्षतावच्छेदकशरीरप्रविष्टसप्रकारकावाध्यत्वस्यैव तदवच्छेदकसमर्थत्वेन पूर्वदलवैयर्थ्याच्च । किंचैवमतीतघटादेरपक्षत्वप्रसङ्ग—इति चेन्न । ब्रह्मेतरावृत्तिधर्मप्रकारकान्यनिष्ठा विरोधिविषयत्वावच्छिन्ना या कारणता तन्निरूपितकार्यताश्रयनिवृत्त्यप्रतियोगित्वे सतीत्यस्य विवक्षितत्वात् । अत्र प्रपञ्चस्य विरोधिविषयकचरमवृत्तिवाध्यत्वेनाश्रयासिद्धिवारणाय ब्रह्मवृत्त्यप्रकारकान्यनिष्ठेति । उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानादीनामीश्वरज्ञाननिवृत्त्याऽतीतघटादीनां च पक्षत्वसिद्धये विरोधिविषयत्वावच्छिन्नेति । शुक्ति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्ताभावस्तप्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय घटादेः पारमार्थिकस्वीकारेऽप्यर्थान्तरं स्यादतस्तत्संबन्धावच्छिन्ने-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नन्वेवं प्रथमसाध्यस्य रजतत्वेन घटाभावमादाय घटे प्रसिद्धस्य रजतत्वविशिष्टे पक्षेऽनुमानात् सिद्धौ रजतत्वविशिष्टस्य सत्यताभङ्ग इत्युक्तप्रायम् । तच्च न युक्तम् । रजतस्य सत्यतया तदाश्रयत्वेन प्रतीयमाने तदवयवे तत्सामान्याभावानुपगमेऽप्युक्तानुमानबलेनैव रजतत्वावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगित्वस्य रजते सिद्ध्यापत्त्याऽर्थान्तरस्यात्रेव तत्रापि प्रसङ्गात् । नच—तत्रापि तद्रूपसामानाधिकरण्यं तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगितायां निवेश्यमिति—वाच्यम् ; साध्याप्रसिद्धिप्रसङ्गात् । प्रातीतिकरजतस्यापि व्यावहारिकरजतत्वेनाभावस्य व्यावहारिकरजतावयवेऽभावात् । प्रातीतिकरजते तदसत्त्वात् । इहतु तद्रूपसामानाधिकरण्यनिवेशेऽपि व्यावहारिकघटत्वसमानाधिकरणायाः पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगितायाः प्रातीतिकघटेऽसत्त्वेन साध्यप्रसिद्धेः । नच—पूर्वत्र रजतत्वेन रजतघटान्यतराभावप्रतियोगितासिद्ध्या, रजतत्वेन रजतघटोभयाभावप्रतियोगितासिद्ध्या वाऽर्थान्तरं वाच्यम्, तत्र नाद्यः ; तव रजतावयवे रजतसामान्याभावस्यैव तादृशान्यतराभावस्याप्यसत्त्वात्, तत्सिद्धौ च रजतस्य सत्यत्वभङ्गस्य दुर्वारत्वात् । नान्यः ; निरुक्तप्रतियोगितारूपे साध्ये अव्यासज्यवृत्तिविविशेषणेन पर्याप्तेः साध्यतावच्छेदकसंबन्धत्वोपगमाद्वा तादृशोभयाभावप्रतियोगितासिद्धिवारणसंभवात्—इति वाच्यम् ; तथा प्रकारस्य द्वितीयसाध्येऽपि संभवेनार्थान्तरवारणसंभवेन सामानाधिकरण्यनिवेशवैयर्थ्यात् । इह तादृशान्यतराभावोभयाभावविलक्षणस्यैव पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यं नास्तीति प्रत्ययविषयाभावस्य प्रतियोगितासिद्धिमाश्रित्यार्थान्तरं ब्रूम इति चेत् पूर्वत्रापि रजतत्वेन घटो नास्तीति प्रत्ययविषयीभूतविलक्षणाभावप्रतियोगितासिद्धिमाश्रित्यार्थान्तरं दुर्वारम् । अथ पूर्वत्र रजतत्वेन घटो नास्तीति प्रत्ययविषयाभावप्रतियोगिताशून्यत्वं पक्षविशेषणम् । अतो नार्थान्तरम् । तर्ह्येहापि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यं नास्तीति प्रत्ययविषयाभावीप्रतियोगिताशून्यत्वं पक्षविशेषणमस्तु, किं सामानाधिकरण्यनिवेशेन । किंच सामानाधिकरण्यनिवेशेऽपि पारमार्थिकत्वेन प्रातीतिकघटो नास्तीति प्रातीतिविषयाभावप्रतियोगितासिद्धिमादायार्थान्तरं दुष्परिहरमेवेति चेत् ।

अत्रोच्यते—पूर्वसाध्ये साध्याप्रसिद्धिभयेन सामानाधिकरण्यनिवेशासंभवादनयत्योक्तरीत्या पक्षविशेषणानुपादायैवार्थान्तरं वारणीयम् । एतत्साध्येतु सामानाधिकरण्यनिवेशेऽपि प्रातीतिकघटे साध्यप्रसिद्धिसंभवेन (साध्याप्रसिद्ध्यसंभवेन) तन्निवेशसंभवात् उक्तरीत्या गुरुतरपक्षविशेषणोपादाने गौरवाच्च लघुना सामानाधिकरण्यनिवेशेनैव पारमार्थिकत्वावच्छिन्नशुक्तिरूप्यादिप्रतियोगितासिद्धिप्रयुक्तार्थान्तरं वारणीयम्, तन्निवेशेऽपि प्रसक्तं पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातीतिकघटादिनिष्ठप्रतियोगितासिद्धिप्रयुक्तार्थान्तरं त्वगत्या गुरुभूतं तादृशप्रतियोगित्वशून्यत्वरूपपक्षविशेषणोपादानेनैव वारणीयम् । उभयत्र पक्षविशेषणसिद्धिस्तु प्रत्यक्षादिना सुलभेति तत्रतत्र सिद्ध्यापत्तेरिति वदताऽर्थान्तरोद्भावेनाप्युपगम्यत इति सर्वं समजसम् । अतएव दीधितौ तर्कग्रन्थे ‘धूमो यदि बह्वयसमवहिताजन्यत्वे सति बह्विसमवहिताजन्यः स्यात् नोत्पन्नः स्यात्’ इति मौलतर्के विपर्यये बह्वयसमवहितजन्यत्वे पर्यवसानवारणेन बह्विसमवहितजन्यत्वमात्रपर्यवसायितानिर्वाहाय ‘बह्वयसमवहिताजन्यत्वेन पक्षो विशेषणीयः’ इत्युक्तम् । एवं सामान्यानुमाने प्रथमसाध्ये रजतत्वेन घटाभावप्रतियोगित्वसिद्ध्याऽर्थान्तरवारणाय स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितावदवृत्तित्वं पक्षीभूतनिरुक्तरूपे विशेषणं देयम् । द्वितीयसाध्ये तु घटत्वादिरूपे पक्षे पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्याभावप्रतियोगितयाऽर्थान्तरवारणाय साध्यघटकप्रतियोगितायां स्वसामानाधिकरण्यं

मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वं पक्षविशेषणम् । यदि पुनः पक्षतावच्छेद-

सिद्धिव्याख्या ।

रूप्यादिव्यावृत्तये निवृत्त्यप्रतियोगित्वेसतीति ॥ द्वितीयमते तु तद्विशेषणमदेयमेवेत्याह—यदीति । इतरेति । त्रैकालिकानिषेधप्रतियोगित्वस्योभयत्राभावात्साध्यं बाधितं, अतस्तद्वारणायेतरविशेषणमादरणीयमेवेत्यर्थः । ननु—सत्त्वेन प्रतीयर्हमिति विशेषणं किमर्थम् ? । नच—असति बाधवारणायेति युक्तं; असतः पक्षत्वस्यैवासंभवात् । अन्यथा तस्य सविशेषत्वापातेनासत्त्वव्याघातात् । सति च व्याघाते पक्षत्वशङ्काया एवानुदयात् । व्याघातावधित्वाच्छङ्कायाः । किंच चिद्विन्नमित्यनेनासतः पक्षत्वव्यावृत्तेर्न तस्य प्रसक्तिः । चिद्विन्नत्वस्य तत्प्रतियोगिकान्योन्याभावाधिकरणरूपत्वात्, असतश्च भावाभावाधिकरणरूपत्वानभ्युपगमादिति चेन्न । असतो ब्रह्मप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वे ब्रह्माभेदप्रसङ्गात्, चिद्विन्नत्वस्य चित्प्रतियोगिकभेदसंबन्धरूपत्वेन तदधिकरणत्वरूपत्वानभ्युपगमाच्च । ‘असच्छशविषाणं ब्रह्मभिन्नमिति’ विशिष्टप्रतीतिबलेनासतस्तत्प्रतियोगिकभेदेन सिद्धे संबन्धे विशिष्टधीनियामकत्वरूपसंबन्धस्य भेद एव कल्पनाच्च । अन्यथा ध्वस्तो घटो ज्ञात इत्यबाधितविशिष्टप्रतीतिबलेन ध्वस्तघटस्य ध्वंसज्ञानाभ्यां ध्वंसज्ञानरूपयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावविषयविषयिभावसंबन्धयोरस्वीकारप्रसङ्गः । नचेष्टापत्तिः; ध्वस्तघटस्य ध्वंसप्रतियोगित्वविषयत्वयोरभावप्रसङ्गात् अबाधितविशिष्टप्रतीत्या विशेषणविशेष्यसंबन्धासिद्धौ भूतले घटीयया विषयप्रतीत्या प्रवृत्तस्य प्रवृत्तिसंवादाभावप्रसङ्गात् । ध्वस्तो घटो ज्ञात इति प्रतीतिविषयस्य ज्ञानस्य घटादिवद्विषयानुल्लेखित्वरूपनिर्विषयत्वापत्तेः । एतेन—असतः पक्षत्वे सविशेषत्वापातेनासत्त्वव्याघातात्पक्षशङ्कैव न शङ्काया व्याघातावधित्वादिति—निरस्तम् । बन्ध्यासुतो न वक्ता अचेतनत्वात् घटवदित्याद्यनुमानेऽसतोऽपि बन्ध्यासुतस्य पक्षत्वदर्शनात् न्यायदीपावल्यां अस्यैवानुमानस्य सदनुमानत्वस्वीकाराच्च । किंच पक्षत्वं, सिषाधयिषितसाध्यसंदेहवत्त्वं वा, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावो वा, उभयथाऽप्यसतः पक्षत्वानपाय एव उभयोरपि ध्वंसप्रतियोगित्वप्रागभावप्रतियोगित्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यपि प्रतियोगित्वे विशेषणं देयम् । नच—पारमार्थिकत्वस्य घटादौ स्वीकारे तेन रूपेण कथं कपालादौ संयोगेनापि घटादेरभावसिद्धिः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनापि विशेषरूपेण सामान्याभावस्वीकारेऽपि सामान्यरूपेण विशेषस्याभावास्वीकारादिति—वाच्यम्; प्रकृतानुमानबलेनैव तादृशाभावसिद्ध्यापत्त्योक्तस्यार्थान्तरस्यापत्तेः । मत इति ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

देयम् । पारमार्थिकत्वेन प्रातीतिकघटाभावप्रतियोगितयाऽर्थान्तरवारणाय तु तादृशप्रतियोगितावदवृत्तित्वं न देयम् । तस्य घटत्वेऽसत्त्वेन पक्षासिद्धिप्रसङ्गात् । किंतु तादृशप्रतियोगित्वाभाववद्बृत्तित्वविशिष्टत्वम् । तदवच्छेदेन च तादृशानुगतरूपाक्रान्तप्रतियोगित्वसामानाधिकरण्यं सिध्यत् न तादृशप्रतियोगितासामानाधिकरण्यमादाय पर्यवस्यति । तदभाववद्बृत्तित्ववैब्रिध्वावच्छेदेन तत्सामानाधिकरण्यसंभवात् । यथा द्रव्यत्वाभाववद्बृत्तित्वविशिष्टसत्तायां जातिसामानाधिकरण्यसिद्धिः, द्रव्यत्वान्यगुणत्वादिसामानाधिकरण्यपर्यवसायिनी तथेति । इदं तु बोध्यम्—सामान्यविशेषानुमानयोः पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकनिष्ठप्रतियोगितावदवृत्तित्वस्य, तादृशप्रतियोगित्वाभाववद्बृत्तित्वविशिष्टत्वरूपस्य तादृशप्रतियोगिताशून्यत्वस्य चानुगतस्य यथायथं पक्षविशेषणस्य संभवात् साध्यघटकप्रतियोगितायां तद्रूपसामानाधिकरण्यं किमर्थमिति । व्यावहारिकतद्व्यक्तिपक्षकानुमाने तद्रूपसामानाधिकरण्यस्य सार्थक्यम्, तत्र तदुपादाने विशेषणान्तरोपादाने प्रयोजनाभावादिति तु परमार्थः । तद्रूपावच्छिन्नत्वत्यागेऽपि तत्संबन्धावच्छिन्नत्वं न त्याज्यमित्याह—कपालादाविति । अस्वीकारादिति । तथाच तादात्म्यादिसंबन्धावच्छिन्नावयवादिसंयोगिकपालनिष्ठाभावीयसंयोगावच्छिन्नपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता घटादेः पारमार्थिकत्वं भङ्क्त्वैव सिध्यतीति तत्संबन्धावच्छिन्नत्वं न वक्तव्यमिति भावः ।—आपत्तेरिति । तथाच

सिद्धिव्याख्या ।

दिवत् । धर्मिसत्त्वनिरपेक्षधर्मत्वात् । धर्मिसत्त्वे ध्वंसप्रागभावयोरेवायोगात् । धर्म्यसत्त्वे धर्मासत्त्वमिति नियमस्य, धर्मिसत्त्वसापेक्षधर्ममात्रविषयत्वात् । किंचासतः पक्षत्वे सविशेषत्वापत्तिरिति कोऽर्थः, किं तस्य धर्मसंबन्धः स्यादिति, किं वा घटादिवत् प्रामाणिकत्वं स्यादिति । नाद्यः; इष्टापादनात् । नहि सतोरेव संबन्ध इति नियमोऽस्ति । अन्यथा ध्वंसादिना घटादेः संबन्धाभावप्रसङ्गात् । योगजधर्मस्य सामान्यज्ञानस्य चातीताद्यर्थप्रत्यासत्तित्वाभावापत्तेश्च । नच—अविशिष्टधीव्यावृत्त-विशिष्टधीनियामकतद्विषयत्वरूपसंबन्धत्वाश्रयस्य द्विनिष्ठत्वनियमे मानमस्ति; शतशो व्यभिचाराच्च । एकाभावाधिकरणैकाभावेण घटपटाद्यनेकाभावाधिकरणे एकस्मिन् भूतलादौ सत्त्वाविशेषेऽपि अवाधितविशिष्टप्रतीत्यविशेषेऽपि च लाघवेन तादृशविशिष्टधीनियामकत्वरूपसंबन्धत्वस्य एकस्मिन्नभावे एकस्मिन्नधिकरणे वा कल्पनवत् तथाविधविशिष्टप्रतीतिगोचरयोर्भावाभावयोरेकत्वेऽपि लाघवेन भाव एव तस्य कल्पनाच्च । सदसतोस्तथाविधविशिष्टप्रतीत्यविशेषेऽपि सत्येव तादृशसंबन्धस्य कल्पनं युक्तमित्यङ्गीकर्तव्यत्वाच्च । न द्वितीयः, असतोऽपि निषेध्यत्वेन ज्ञेयत्वादिना च प्रामाणिकत्वात् । नच—सत्त्वेन प्रामाणिकत्वं—तदर्थः; मिथ्यात्वानुमानादौ पक्षत्वेन त्वदभिमतस्य वियदादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मवत्सत्त्वरहितत्वेनापक्षत्वप्रसङ्गात् । नच—वियदादेरपि व्यावहारिकसत्त्ववत्त्वेन नापक्षत्वप्रसङ्गः लाघवेन पक्षत्वे व्यावहारिकपारमार्थिकसत्त्वादिसाधारणसत्त्वमात्रस्यैव तज्जत्वादिति—वाच्यम्; प्रपञ्चो ब्रह्मवत्सत्त्वा असन्वेति विप्रतिपत्तिदशायां, वियदादौ सत्त्वस्यैवासिद्धेः । सत्त्वेन प्रतीतिमात्रस्य विशेषादर्शनदशायां वियदादाविवासच्छशविषाणादावपि सत्त्वेन तस्यैव तस्यापि प्रयोजकसत्त्वेन पक्षत्वानपायात् । बन्ध्यासुतो न वक्तव्यादिपरोदाहृतानुमाने पक्षत्वेनाभिमतस्य बन्ध्यासुतादेरपि सत्त्वेन प्रामाणिकत्वनभ्युपगमाच्च । अतएव न तस्य सत्त्वं व्याहतं; उक्तस्य सविशेषत्वस्यासत्त्वाविरोधित्वादिति ॥ ननु इयं विप्रतिपत्तिर्मायावादिनस्तार्किकैर्वा, मायावादिनस्तत्त्ववादिना वा, उत मायावादिन उभाभ्यां वा, नाद्यः; तार्किकादिमत आपणस्थरूप्यातिरिक्तस्य शुक्तिरूप्यस्याभावेन तत्र सिद्धसाधनायोपात्ताबाध्यत्व-विशेषणानुपपत्तेः । नच—आपणस्थरूप्य एव तन्मते सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणमिति—वाच्यम्; प्रतिपन्नोपाधावित्यत्र साध्ये सर्वस्मिन्नित्यस्य विशेषणस्यावश्यकतया रूप्ये सिद्धसाधनानवकाशात् । अन्यथा वियदादेरपि कचिदधिकरणे भ्रमसंभवेन भ्रमप्रतिपन्नाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य, सत्त्वपक्षेऽपि संभवेन सर्वत्रैव सिद्धसाधनापातात् । तार्किकमते, शुक्तिरूप्यज्ञानस्यैव भ्रमत्वज्ञापनरूप-बाधविषयतया रजतस्याबाध्यतया तद्विशेषणेन तद्वारणाच्च । मायावादिमते, शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनसंभ-वेऽपि साध्यनिर्देष्टारं स्वं प्रति स्वस्य सिद्धसाधनोद्भावनस्यासंभवदुक्तिकत्वात् । न द्वितीयः; सत्त्वेन प्रतीत्यर्हमिति विशेषणेनैव शुक्तिरूप्यव्यवच्छेदे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरोपादानवैयर्थ्यात् । अतएव न तृतीयः; पक्षद्वयोक्तदोषादेवेति चेन्न । तृतीयपक्षे दोषाभावात् । शुक्तिरूप्यं तात्कालिकमुत्पन्नं तत्रैव सदिति भास्करादिमते, शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणायाद्यं सत्यन्तं विशेषणम् । भास्करादिभिरपि भ्रम-प्रमाविभागाय रजतस्य घटादिवैलक्षण्यमङ्गीकृतमेवेति तन्मतेऽपि तस्य पक्षबहिर्भावस्यावश्यंवाच्यत्वात् । तार्किकादिमते स्वमते च तदुपरक्ते साध्यसिद्धिः प्रयोजनमिति सर्वमतेऽपि सप्रयोजनं विशेषणम् । विशेषणत्वे सप्रयोजनत्वं तन्मम् । ननु विशेषणप्रयोजनस्य सर्वसिद्धत्वमिति । ननु—पक्षतावच्छेदकसाध्यसा-मानाधिकरण्यमनुमितौ विषयः तदवच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं वा, आद्ये नांशतः सिद्ध-

कावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या; तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनाभावात् तद्वारकं विशेषण-
मनुपादेयम् । इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायादरणीयमेव । प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः

सिद्धिव्याख्या ।

साधनं, किंतु सिद्धसाधनमेव अंशतः सिद्धेरेवासिद्धित्वात् । अंशतो बाधस्यादोषत्वापत्तिश्च, अबाधादेव साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् । द्वितीयेंऽशतः सिद्धसाधनं दोष एव सामान्यधर्मावच्छिन्नसिद्धेरजातत्वात् । तद्धर्मावच्छिन्नसिद्धौ तद्धर्मावच्छिन्नसिद्धिविरहरूपपक्षताविरोधात् । एवमंशतो बाधोऽपि न दूषणं सामान्यधर्मावच्छेदेन साध्याभावानवधारणात् । नच—सामान्यधर्मावच्छेदेन जातायामनुमितौ तदंशे भ्रमत्वं स्यादिति—वाच्यम्; इष्टापादनात् । प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतीतेरुद्देश्यत्वात् । नच—एवमंशतः सिद्ध-साधनांशतो बाधयोरदोषत्वप्रसङ्गः; पक्षतावच्छेदकनानात्वस्थल एव तस्य दोषत्वसंभवात् । प्रकृते च तदैक्यादिति चेत् । उच्यते । द्वयी ह्यनुमितिः; एका पक्षतावच्छेदकसाध्यसामानाधिकरण्यगोचरा । अपरा तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यगोचरा । येन रूपेण पक्षे हेतुज्ञानं तेन रूपेण पक्षे हेतोः साध्य-सिद्धेः । हेतुज्ञानं च कचित्पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन, क्वचित्पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनेति । तत्रो-भयत्रापि अंशतः सिद्धसाधनं दोष एव । अनुमितिविषयीभूतधर्मसमानाधिकरणसाध्यतावच्छेदकावच्छि-न्नसाध्यसिद्धिविरहरूपपक्षताविधटकत्वात् । सिद्धसाधनस्यैवांशतः सिद्धसाधनस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्या-मनुमितिप्रतिबन्धकतया तद्विरहस्यापि पक्षतारूपत्वात् । नच—तादृक्सिद्धौ तादृक्सिद्धिविरहः पक्षता; तादृक्त्वस्यानुगतस्याभावेनोभयसाधारणस्योक्तस्यैवादर्थव्यत्वात् । अतएव पक्षतावच्छेदकैक्येऽपि अंशतः सिद्धसाधनं दोष इति हृदि निधाय मणिकृता व्यतिरेकिण्युक्तं, 'यदि वा पृथिवीत्वेन रूपेण यावदेव विप्रतिपत्तिविषयस्तावतएव पक्षता' इति । अंशतो बाधस्तु द्वितीयायामेवानुमितौ दूषणं साध्याभाववति गृह्यमाणे, धर्मे साध्यासामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाग्रहात् । अतिप्रसक्ततया ज्ञायमान एव तत्रावच्छेदक-त्वपरिच्छेदादिति दिक् ॥ प्रत्येकं वेति । विप्रतिपत्तिरित्यस्येतीत्यनेनान्वयः । ननु—वियन्मात्रस्य पक्षत्वे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यद्यक्तौ साध्यं सिद्धं तत्र नानुमितिर्भवति, व्यक्त्यन्तरे तु भवत्येव । समानविशेष्यत्वसंबन्धेन बाधविशिष्टबुद्ध्योरेव सिद्ध्यनुमित्योः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकत्वौचित्यादिति ग्राह्यं मतम् । नव्यमते तु यद्धर्मविशिष्टे क्वचित्साध्यं सिद्धं तद्धर्म-विशिष्टे व्यक्त्यन्तरेऽपि नानुमितिरिति भावः । पक्षविशेषणं पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं तावन्मात्रं पक्षताव-च्छेदकमिति यावत् । ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तत्सामानाधिकरण्येन ब्रह्मतुच्छयोः साध्या-भावज्ञानस्याविरोधित्वेनान्यविशेषणद्वयस्य पक्षतावच्छेदकप्रवेशे प्रयोजनाभावादिति भावः । बाधवारणायेति ।

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

घटादीनां पारमार्थिकत्वभङ्गो न स्यादिति भावः । अत्रापि व्यावहारिकप्रातीतिकसाधारणघटत्वावच्छिन्नं सर्वं तत्संब-न्धेन घटत्वावच्छिन्नवत्त्वेन ज्ञातसर्वनिष्ठाभावीयतत्संबन्धावच्छिन्नपारमार्थिकत्वावच्छिन्नघटत्वसमानाधिकरणप्रतियोगितावत् दृश्यत्वात् प्रातीतिकघटवत्; इति विशेषानुमानम् । व्यावहारिकघटमात्रवृत्तिघटत्वावच्छिन्नं तु न पक्षः । तादृशघटत्वस-मानाधिकरणतादृशप्रतियोगितायाः प्रातीतिकघटेऽसत्त्वेनैतदनुमानात् प्रागसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धापत्तेः । ब्रह्मप्रमेत्यादिविशे-षणत्रयविशिष्टं रूपं तत्संबन्धेन स्वावच्छिन्नवत्त्वेन ज्ञायमानसर्वनिष्ठाभावीयतत्संबन्धावच्छिन्नपारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियो-गितासमानाधिकरणं, दृश्यवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, इति सामान्यानुमानम् । स्वत्वमनुगतम् इत्याद्युक्तरीतिरनुसन्धेया । मते इत्यस्य नवीनमते इत्यर्थकत्वं व्यज्यति—यद्यक्तावित्यादिना । ननु बाधो विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधितया

१ उक्तं हि अतएवातिप्राचीना अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितावंशतः सिद्धसाधनस्य दोषत्वमुरीकुर्वन्तो ध्वनिव्यावर्तनाय शब्द-नित्यत्वानुमाने वर्णात्मकत्वं पक्षे निवेशयन्तीति ।

वियन्मिथ्या न वा, पृथिवी मिथ्या न वेति । एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ संदिग्धानैकान्तिकता । पक्षसमत्वात् घटादेः । तथाहि पक्षे साध्यसंदेहस्यानुगुणत्वात् पक्षभिन्न एव तस्य

सिद्धिव्याख्या ।

निश्चितसाध्याभाववति हेतुसंदेहे इव, पक्षादन्यत्र निश्चितहेतुमति साध्यसंदेहेऽपि संदिग्धानैकान्त्यादेवं रूपे घटादौ संदिग्धानैकान्तिकता स्यात्—इत्याशङ्क्याह—**एवमिति ।** न संदिग्धानैकान्तिकतेत्यत्र हेतुमाह—**पक्षसमत्वादिति ।** तथाच निश्चितहेतुमति सर्वत्र साध्यसंदेहस्य दोषत्वेऽनुमानमात्रोच्छेदापत्त्या पक्षातिरिक्त एव तस्य दोषत्वेन पक्षसमे वाऽदोषतया एवंभूते घटादौ न संदिग्धानैकान्तिकतेति भावः । घटादेः पक्षत्वमेवोपपादयन् तत्र संदिग्धानैकान्तिकतां निराकर्तुं तस्य दूषकतास्थलं दर्शयति—**तथाहीति ।**

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

ननु—असिद्धिवारणायेत्यपि वक्तुमुचितम् । बाधो हि हेत्वाभासो विप्रतिपत्तिप्रयुक्तन्यायप्रयोगाधीनानुमितावेव विरोधी सन् दूषणं, नतु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधी सन्, बाध्यादीनां निश्चयवत्त्वे संशयानुत्पादस्योक्तत्वात् । तदा हि संशयस्याकर्तव्यत्वेन जयव्यवस्थामात्रसिद्धये विप्रतिपत्तेरिवानुमितिसामग्रीमात्रस्य हेत्वाभासादिदोषशून्यस्य प्रतिवादिनिष्ठस्य वादिना कर्तव्यतया संशयाविरोधित्वेन बाधस्योद्भावनं व्यर्थम् । अनुमितितत्करणपरामर्शान्यतरविरोधित्वरूपेण हेत्वाभासत्वेन बाधस्योद्भावेन च हेत्वसिद्धेरपि तदुचितमिति—**चेन्न ।** विप्रतिपत्तिकाले हेतोरप्रयुक्तत्वेन हेतुमत्ताज्ञानविरोधिन्या असिद्धेः ज्ञातुमशक्यत्वेन तस्य विप्रतिपत्तिदोषत्वाव्यवहारात् । नच—पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्तौ साध्यस्य विवक्षितत्वाद्देतोः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोक्तव्यतामनुमाय असिद्ध्यादेर्दोषत्वं संभाव्यमिति—**वाच्यम् ;** अनुमानाकौशलेन सभाक्षोभादिना वा अन्यथापि हेतोः प्रयोगसंभवात् । वस्तुतस्तु, बाधपदमसिद्धेरप्युपलक्षकम् । विप्रतिपत्तियोग्यन्यायवाक्योक्तहेतोर्दोषस्यापि विप्रतिपत्तिदोषत्वसंभवात् । अतएवाग्रे संदिग्धा

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विप्रतिपत्तिदूषणत्वात् विप्रतिपत्तिकाल उद्भाव्यते, स्वरूपासिद्धिस्तु न तादृशीति नोद्भाव्यत इत्यत आह—**बाधो हीति । उक्तत्वादिति ।** तथाच बाधो न विप्रतिपत्तिदूषकतयोद्भाव्यत इति भावः । यथाच विधया बाध उद्भाव्यते तथानुस्वरूपसिद्धिरप्युद्भावनार्हेत्याह—**अनुमितितत्करणेति । ननु** विप्रतिपत्तिकालेऽनुमितेः तत्करणस्य वा वादिनाऽसंपाद्यतया तद्विरोधिदोषः कथं प्रतिवादिनोद्भाव्यत इत्यत आह—**अनुमितिसामग्रीमात्रस्येति ।** मध्यस्थेन प्रतिवादिना वा ज्ञायमानस्य न्यायप्रयोगमात्रस्येत्यर्थः । अनुमितेः तत्करणस्य च मात्रपदेन व्यवच्छेदः । कथमेतावता विप्रतिपत्तिकाले हेत्वाभास उद्भाव्यत इत्यत उक्तम्—**हेत्वाभासादिदोषशून्यस्येति ।** एवंच विप्रतिपत्तिसमनन्तरमेव हेतुदोषोद्भावेन तदुत्तरं न्यायप्रयोगे उक्त हेतुः दोषशून्यत्वविशिष्टो न संभवतीति भावः । अनुमितेस्तत्करणस्य वाऽकर्तव्यत्वेऽपि हेत्वाभासशून्यतासंपादनमावश्यकमित्यत दृष्टान्तमाह—**तदा हीति ।** बाध्यादीनां निश्चयकाले इत्यर्थः ।—**विप्रतिपत्तेरिवेति ।** मध्यस्थेनेत्यादिः । तदुत्तरमिति शेषः । **उद्भावन इति ।** क्रियमाण इति शेषः । **तत्** उद्भावनम् । विप्रतिपत्तिदोषव्यवहारविषय एव विप्रतिपत्तिकाल उद्भाव्यः । बाधस्योक्तरीत्या विप्रतिपत्तिविरोधित्वाभावेऽपि तत्प्रमानाकारकानुमितिविरोधितया तत्काल एव ज्ञानसंभवेन विप्रतिपत्तिदोषत्वव्यवहारात् तत्काले स उद्भाव्यः । स्वरूपसिद्धेस्त्वनुमित्यविरोधितया न विप्रतिपत्तिदोषव्यवहारविषयतेत्यतो न सोद्भाव्येत्याशयेन समाधत्ते—**नेति । ननु** स्वरूपसिद्धेरनुमित्यविरोधित्वेपि तज्जनकपक्षधर्मताज्ञानविरोधितया कुतो न विप्रतिपत्तिदोषत्वव्यवहार इत्यत आह—**विप्रतिपत्तिकाले इति । अनुमायेति ।** नच तथाऽनुमानेऽपि हेतुविशेषस्याज्ञानात् वृत्तिविषयत्वस्य अवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकस्यापि हेतोः संभवाच्च कथमिदानीं स्वरूपसिद्धिज्ञानमिति वाच्यम् । प्रयोक्ष्यमाणस्य हेतोः ब्रह्मतुच्छसाधारण्ये व्यभिचारात् तद्व्यावृत्त एव हेतुः प्रयोगार्ह इति सामान्यतो ज्ञानसंभवेन तत्र स्वरूपासिद्धिज्ञानसंभवादिति भावः ।—**अन्यथापि हेतोः प्रयोगसंभवादिति ।** तथाचावच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्तिप्रयोगस्यावच्छेदकावच्छेदेन हेतुप्रयोगाव्याप्यत्वेन न तेन तदनुमानमिति भावः । **ननु** मध्यस्थेन वादिनोः परीक्षापूर्वकमेव कथायां प्रवेश्यत्वादनुमानाकुशलानां सभाक्षोभशालिनां वा कथायां प्रवेशाभावादवच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्तिस्थले तादृशहेतुप्रयोगस्यावश्यकतया तदनुमानसंभवेन तद्विरोध्यसिद्धेर्विप्रतिपत्तिकालेव ज्ञानसंभवेन तदोषव्यवहारविषयत्वस्य बाधवद्दुर्वारतया तदुद्भावनमुचितमेवेत्याशङ्क्याह—**वस्तुतस्त्विति । अतएव** हेतुदोषस्यापि विप्रतिपत्तिदोषत्वव्यवहारादेव ।—**अत्र इति ।** एवं

दूषणत्वं वाच्यम् । अतएवोक्तं 'साध्याभावनिश्चयवति हेतुसंदेहे एव संदिग्धानैकान्तिकते'ति । पक्षत्वं तु साध्यसंदेहवत्त्वं साध्यगोचरसाधकमानाभाववत्त्वं वा । एतच्च घटादिसाधारणम् । अत एव तत्रापि संदिग्धानैकान्तिकत्वं न दोषः । पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेण । नच तर्हि

सिद्धिव्याख्या ।

वाच्यमिति । अनेन दूषकतास्थलं दर्शितम् । अत इति । यतो घटादेरपि पक्षत्वमत इत्यर्थः । ननु—उक्तरीत्या तस्यापि पक्षत्वे पक्षसमत्वादिति प्रागुक्तिविरोध इत्याशङ्क्याह—पक्षसमेति । तथाच तदुक्तेरन्यथासिद्धत्वान्न तया पक्षत्वोक्तेर्विरोध इति ध्येयम् । ननु—तर्हि, प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वं, तत्र घटे नास्तीति स पक्षातिरिक्त एव; ततश्च निश्चितहेतुमति सर्वत्र साध्यसंदेहस्य दोषत्वेऽनुमानमात्रोच्छेदापत्त्या पक्षातिरिक्त एव तस्य दोषत्वे सिद्धे घटादेरपि पक्षातिरिक्तत्वात्तत्र संदिग्धानैकान्तिकता स्यादे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नैकान्तिके विप्रतिपत्तिदोषत्वमाशङ्कितम् । अतएवोक्तमिति । प्राचीनतार्किकैरिति शेषः । नवीनतार्किकैस्तु व्याप्ति-प्राहकतर्काभावे सति साध्याभाववत्त्वेन संदिग्धे धर्मिणि हेतुनिश्चयोऽपि व्यभिचारसंशयहेतुतया दोष एव । अतएव 'वह्निरद्विष्टातीन्द्रियधर्मसमवायी दाहजनकत्वादात्मव'दित्यादि शक्त्यादिसाधकानुमानेषु मणावप्रयोजकत्वमुक्तम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ संदिग्धानैकान्तिकता' इति ग्रन्थेनेति शेषः ।—आशङ्कितमिति । नचात्रेदानीं हेतुविशेषस्याज्ञानात्, घटादिव्यावृत्तस्यापि वियत्प्रातिभासिकान्यतरत्वादेर्हेतोः संभवाच्च कथं घटादौ संदिग्धानैकान्तिकत्वज्ञानमिति वाच्यम् । घटादिपक्षके घटादिप्रातिभासिकान्यतरत्वादेः हेतुत्वे गौरवेणाप्रयोजकत्वेन चाकाशघटादिपक्षमेदेऽपि साध्यदृष्टान्तयोरिव, आकाशघटप्रातिभासिकरजतादिसाधारणस्याप्रयोजकत्वाशङ्कानर्हस्य एकस्यैव दृश्यत्वादेः प्रयोक्तव्यत्वमनुमाय संदिग्धानैकान्तिकत्वज्ञानसंभवादिति भावः ॥

मूले पक्षमित्रे इत्यस्य हेतुमतीति शेषः । टीकायाम्—यद्यपि नवीनतार्किकैरिति योजना । दोष एव । व्याप्ति-निश्चयविरोधितया अनुमितिविरोध्येवोपगम्यत इति शेषः । अतएव अनुकूलतर्काभावकालीनस्य साध्याभावांशे संशयरूपव्यभिचारज्ञानस्य नवीनैः दोषत्वेनोपगमादेव । अस्य, मणानुक्तम्, दीधितानुक्तम्, इत्युभयत्रान्वयः । पक्षधर्मतापदं दृष्टान्तार्थम् । तथाच मिथ्यात्वानुमानेऽपि घटादौ संदिग्धानैकान्तिकतादोष एव, अनुकूलतर्काभावादिति शङ्काभावः । भावना संभावना । ननु वियतः पक्षत्वे घटस्य तद्विन्नत्वात् तत्र संदिग्धानैकान्तिकता कथं न दूषणमत आह मूले—पक्षत्वं त्विति । ननु साध्यसंदेहस्य पक्षतापदार्थत्वे पक्षमित्रे हेतुमति साध्याभावसंदेहो दूषणमिति व्यवहारानुपपत्तिः । साध्यसंदेहस्य साध्याभावसंदेहतया साध्यसंदेहवद्भिन्नधर्मिकसाध्याभावसंदेहस्य अप्रसिद्धेरित्यत आह—साध्यगोचरेति । नचैवमपि साध्यनिश्चयाभावरूपपक्षतावद्भिन्नः साध्यनिश्चयवानेव, तद्धर्मिकसाध्याभावसंदेहोऽप्यप्रसिद्ध एव, तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम् । तथाप्याहार्यतादृशसंदेहस्य प्रसिद्धिसंभवात् तस्यापि निश्चयसामग्रीविघटकतया व्याप्ति-निश्चयविरोधितया दोषत्वात् । यद्वा—साध्यसंदेहवत्त्वं पक्षत्वमित्यत्र साध्याभावसंदेह इत्यत्र च संदेहपदे ज्ञानसमानार्थके । तथाच साध्यज्ञानरूपपक्षतावति साध्याभावज्ञानस्य संशयरूपतया न दोषत्वम् । तद्विज्ञे तु तस्य निश्चयरूपतया दोषत्वं कल्पान्तरेऽपि साध्यनिश्चयस्यैकतरकोटिनिश्चयतया संदेहप्रतिबन्धकतया तदभाववति साध्याभावज्ञानस्य संदेहरूपस्यापि संभवात्तस्य न दोषता । तद्विज्ञे तु साध्यनिश्चयवति हेतुमति साध्याभावांशे आहार्यनिश्चयरूपस्यैव साध्याभावज्ञानस्य संभवात्तस्य दोषत्वमित्यर्थः । अत्र व्याख्याने 'अत एव'त्याद्युक्तप्राचीनसंवादेन समानार्थकत्वमप्युपपद्यत इत्यलम् । साध्यगोचरसाधकमानं साध्यनिश्चयः । ननु तर्हि पक्षमेदघटितपक्षसमत्वं घटादेः कथमुक्तम्? अत आह—पक्षसमत्वोक्तिस्त्विति । प्रतिज्ञेति । पक्षसम इति व्यवहारे पक्षपदेन प्रतिज्ञाविषय उच्यते । पक्षमित्रे हेतुमति साध्याभावसंदेहो दूषणं इत्यत्र तु साध्यसंदेहवत्त्वमिति भावः । नच तर्हीति । पक्षमित्रे साध्याभावसंदेहो दूषणमित्यत्र पक्षपदं पक्षतत्समोभय

प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्; स्वार्थानुमाने तदभावात् । एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः । विमतं

सिद्धिव्याख्या ।

व-इत्याशङ्क्याह—स्वार्थानुमान इति । प्रतिज्ञाविषयत्वं न पक्षत्वं, स्वार्थानुमाने शब्दप्रयोगरूपप्रतिज्ञाविरहेण पक्षत्वाभावापत्तेरित्यर्थः । साधकवाधकप्रमाणाभाववत्त्वरूपपक्षत्वं तु, स्वार्थपरार्थानुमानसाधारणम् । तच्च घटेऽप्यस्तीति न स पक्षातिरिक्त इति, न घटे संदिग्धानैकान्त्यं दोष इति, वियदित्येव पक्षनिर्देशः । नच—वियन्मात्रस्य पक्षत्वे उक्तविधया घटे संदिग्धानैकान्त्यपरिहारेऽपि घटादिसाधारण्यमेकस्यामनेकस्यां वा विप्रतिपत्तौ सत्यां घटादिवहिर्भावेन वियन्मात्रपक्षनिर्देशस्यानाकाङ्क्षिताभिधानत्वेनाप्राप्तकालत्वमिति—वाच्यम्; पूर्वविप्रतिपत्तौ ब्रह्मण्यध्यस्तक्षणीकत्वादेरधिष्ठानब्रह्मप्रमाणात्तत्त्वानुवर्त्यत्वात्तत्र सिद्धसाधनप्रसङ्गेन, शुक्तिज्ञानादेरपि ब्रह्मज्ञानत्वात्तद्वाध्ये रजतादावेव सिद्धसाधनप्रसङ्गेन च, शुद्धं ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमपि नेति मते वियदादेरपि ब्रह्मप्रमान्यवाध्यत्वात्पक्षालाभप्रसङ्गेन चानुपपन्नायां सत्यां घटादिवहिर्भावेन वियन्मात्रपक्षनिर्देशस्याकाङ्क्षिताभिधानत्वेनाप्राप्तकालत्वायोगादिति भावः । अत्रेदं तत्त्वम् । वियदित्येव पक्षनिर्देशोऽस्तु; यत्तु—वियदिति पक्षं निर्दिश्य तत्र मिथ्यात्वसाधने घटादौ संदिग्धानैकान्त्य इति । तन्न । निश्चितसाध्याभाववति हेतुसंदेहे एव संदिग्धानैकान्त्यात् । नच—निश्चितसाध्याभाववति हेतुसंदेहे इव निश्चितहेतुमति साध्यसंदेहेऽपि संदिग्धानैकान्त्यमेव, उभयथापि साध्याभाववद्वृत्तिरूपव्याप्तिमत्त्वसंदेहस्य दूषकतावीजस्यानपायादिति—वाच्यम्; तथासति प्रसिद्धधूमानुमानादावपि तथाविधसंदेहसत्त्वेन दुष्टत्वप्रसङ्गात् । किंचैवमनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गः । नच—पक्षादन्यत्र तथाविधसंदेहो दोष इति—वाच्यम्; पक्षादन्यत्रेति कोऽर्थः किं संदिग्धसाध्यवतोऽन्यत्र; किं प्रतिज्ञाविषयादन्यत्र, आहोस्वित्तिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभाववतोऽन्यत्रेति । नाद्यः । घटादेरपि सन्दिग्धसाध्यवत्त्वेन तदन्यत्वाभावात् । न द्वितीयः, स्वार्थानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । न तृतीयः, घटादौ तादृशसिद्ध्यभावरूपपक्षतायाः सत्त्वेन तदन्यत्वाभावादेव, नच-तस्यापि वस्तुतः पक्षत्वेऽनुमित्यापत्तिः; तत्र हेतुज्ञानदशायामिष्टापादनात् तदज्ञानदशायां च पक्षतासत्त्वेऽपि लिङ्गपरामर्शाभावादेव तदभावोपपत्तिः । तत्र पक्षसमत्वव्यवहारस्य प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेणोपपत्तेः । नच—एवं पक्षनिर्देशे घटादिसाधारण्यब्रह्मप्रमेत्याद्युक्तविप्रतिपत्त्यनानुगुण्यदोषः, वियदिति पक्षनिर्देशयुक्तानुमानस्य तादृशविप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिवर्तकनिश्चयाजनकत्वादिति—वाच्यम्; विप्रतिपत्तेः पक्षपरिग्रहैकफलकत्वनियमाभावेन कथाङ्गत्वेनापि स्वीकारसंभवादिति । यत्तु—व्यभिचारसंशयप्रतिबन्धकतावादेपि स पक्षीयस्वारसिकश्चेदप्रतिबन्धक इत्यविवादम् । तथाच व्यभिचारसंशयस्य प्रतिबन्धकत्वं पक्षताघटकान्यव्यभिचारज्ञानत्वेनैव लाघवात्; नत्वन्यथा; गौरवात्; एवंच पक्षसमे व्यभिचारसंशयस्य त्वदुक्तरीत्या पक्षताघटकान्यत्वेन प्रतिबन्धकत्वं स्यादेव—इति । तन्न । संदेहस्यासार्वत्रिकत्वेन तस्य सार्वत्रिकपक्षताघटकत्वासंभवेन सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावस्यैव सार्वत्रिकत्वेन पक्षपदप्रवृत्तिनिमित्ततया-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘तत्र व्यभिचारसंशयस्यादूषणत्वे व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चयसंभवेनाप्रयोजकत्वोक्तेरसङ्गतेः तस्य दूषणत्वमावश्यकमिति दीक्षितानुक्तं यद्यपि; तथापि प्रकृते मिथ्यात्वानुमाने तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः । विमतं विप्रतिपत्तिविशेष्यम् ।

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

परम् । पक्षसमत्वं च प्रतिज्ञाविषयभिन्नत्वे सति साध्यसंदेहवत्त्वमिति भावः ॥ विमतमित्यत्र विपदस्य विरुद्धोभयकोटिकत्वमर्थ इत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—विप्रतिपत्तीति । तज्जन्यसंशयेत्यर्थः । ननु अबाध्यत्वान्तस्य पक्षतावच्छेदकप्रवेशो व्यर्थः ।

मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवदिति । नावयवेष्वाग्रहः । अत्र खनि-

सिद्धिव्याख्या ।

ऽऽश्रयणीयत्वात् । तस्य च पक्षतुल्यत्वेनाभिमतं घटादावपि सत्त्वेन वियद्वत्पक्षत्वेन तत्र निश्चितहेतुमति विद्यमानोऽपि साध्यसंदेहो न दूषणम्;—अन्यथाऽनुमानमात्रोच्छेदात् । नच—एवमन्याहितेऽपि पक्षीयसाध्यसंदेहो दूषणं न स्यादिति—वाच्यम्; अन्याहितस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां दूषकत्वेऽपि स्वारसिकस्यातथात्वात् । यत्तु—वियदिति पक्षनिर्देशस्य ब्रह्मप्रमेत्यादिनिरुक्तघटादिसाधारणविप्रतिपत्त्यननुगुणत्वेनानुपादेयत्वमेव, नच—प्रमाणोपन्यासः कुलधर्मः; किंतु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिवर्तकनिश्चयार्थम् । नच वियदिति पक्षनिर्देशयुक्तानुमानेन तादृशविप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिरासक्षमो निश्चयः कर्तुं शक्यः येन तदादरः स्याद्—इति । तन्न । उक्तरीत्या विप्रतिपत्तिवाक्यस्यैवादार्तव्यत्वेन तज्जन्यसंशयवत्त्वांशेन तन्निरासनिश्चयप्रयोजकप्रमाणोपन्यासावश्यकत्वात् । यत्रैव कथायां समयबन्धानुरोधेन ब्रह्मप्रमेत्यादिविप्रतिपत्तिवाक्यस्य निष्पत्तिस्तत्स्थलीयप्रमाणोपन्यासस्य तदनुगुणस्य कर्तव्यत्वेनावश्यकत्वाच्च; अन्यथा वादिप्रतिवादिनोः समयबन्धानुरोधित्वाभावेनोच्छृङ्खलत्वप्रसङ्गादिति ॥ उपपादितां विप्रतिपत्तिमुपसंहरन् मिथ्यात्वेऽनुमानं प्रमाणयति—एवमिति । विप्रतिपत्तौ सिद्धायामिति शेषः । विमतमिति । मिथ्यात्वतदभावकोटिकसंशयविषय इत्यर्थः । यद्यप्यस्मन्मते तादृशसंशय एव न संभवति; तथापि तार्किकादिरीत्या तादृशसंशयमभ्युपेत्य तथा पक्षनिर्देशः कृत इति द्रष्टव्यम् ॥ केचित्तु—ययोर्वादिप्रतिवादिनोः पक्षे स्वसिषाधयिषितसाध्यनिश्चयो नास्ति, कथायांकथायां कक्ष्याचालनमस्ति, तयोः स्वारसिकसंशयो न संभवतीति तन्मात्रकर्तृकथाविशेषे तथा पक्षनिर्देशोऽत्राभिमतः । पक्षतावच्छेदकयोग्यधर्मान्तरसद्भावेऽपि विमतविषयत्वेन पक्षनिर्देशो बाधसिद्धसाधनादिप्रतिज्ञादोषाणामुद्भावनाहर्त्वज्ञापनाय । तथाहि—न तावद्वियदादीत्येव पक्षनिर्देशो युक्तः । अवच्छेदकस्वीकारेऽस्मदुक्तपक्षप्रवेशापत्तेः । तदस्वीकारे च संगृहीतेनादिशब्देनात्मादेरपि ग्रहणापातेन बाधापत्तेः । नापि प्रपञ्च इत्येव पक्षनिर्देशः, प्रपञ्चशब्देन वियदाद्यन्यतमवत्समुदायोक्तौ वियदादिमिथ्यात्वासिद्धिः । वियदादीनामेवोक्तावच्छेदकाभावेनोक्तदोषात्—इत्याहुः ॥ ननु—विप्रतिपत्तौ धर्मतेवानुमाने पक्षताऽपि ब्रह्मप्रमेत्यादिनेहावच्छेद्यतां, अतएवाग्रे प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानेषु तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमभिमतं; नच—ब्रह्मप्रमातिरिक्तैत्यस्य नानापदार्थघटितत्वेन गुरुत्वाल्लघ्वी विमतिरेव पक्षतावच्छेदिका इति—वाच्यम्; तस्या लघुत्वेऽपि तुच्छब्रह्मव्यावृत्तवियदाद्यनुगतरूपविमतिविषयत्वायोक्तावच्छेदकसापेक्षत्वेनोक्तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितं, नतु विमतेस्तद्ब्रह्माधीनग्रहाया इत्याशङ्क्याह—अत्रेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

नावयवेष्वाग्रहः । 'तत्र पञ्चतयं केचिद्व्यमन्ये वयं त्रय'मिति मीमांसकोक्तरीत्या तार्किकमीमांसकबौद्धानां पञ्चत्रिद्वयववादिवात्तान् प्रति यथामतमवयवाः प्रयोक्तव्याः । 'उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिक'मिति मीमांसकाः । उदाहरणोपनयरूपावयववादिनो बौद्धा इति भावः । ननु—विप्रतिपत्तिमात्रस्य निवेशे सिद्धसाधनबाधादिकम्, घटादिमात्रविशेष्यकविप्रतिपत्तिनिवेशे प्रपञ्चमात्रस्य मिथ्यात्वासिद्धिः । तत्राह—खनियामक-

१ एतेन विमतमिति पक्षग्रहणं न युक्तम्, विमतत्वस्य संशयविषयत्वरूपस्य विषयतासंबन्धेन संशयरूपस्य वा पक्षतावच्छेदकत्वेऽवच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनमिति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनं, तुच्छे ब्रह्मणि च बाधश्चेति—न्यायभास्कोक्तं परास्तम् । प्रकृतविप्रतिपत्तिविषयत्वस्य विषयतासंबन्धेन विप्रतिपत्तिरूपस्य वा विमतत्वस्य विवक्षणात् । अतएव विषयतायां संशयनिरूपितत्वविशेषणं संशयत्वघटकज्ञानत्वातिरिक्तभावाविवक्षणं च विफलमिति ज्ञाप्य पराहता । तुच्छब्रह्मणोर्बाधापत्तेः ।

यामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः । समयबन्धादिना व्यवधानात्तस्यानुमानकालासत्त्वेऽप्युपलक्षणतया पक्षतावच्छेदकत्वम् । यद्वा विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव

सिद्धिव्याख्या ।

सत्यं विमतिरनुगतावच्छेदकसापेक्षेति; तथाऽप्यनुमाने लघ्व्या विमत्यैव पक्षतावच्छेद उक्तः । प्रमाणोपन्यासे लघुभूतस्यैवादर्णीयत्वात् सावयवत्वेन तत्साधितस्य लघुनः कार्यत्वस्य हेतुत्ववत् मिथ्यात्वानुमानेषु कृतस्य तत्त्वेनोपादानं शिष्यं प्रति प्रयोगवैचित्र्यज्ञापनायेत्यदोष इत्यभिप्रेत्याह—स्वनियामकेति । धर्मितावच्छेदकतयोपस्थिते यो धर्मः ब्रह्मप्रमेत्यादिरूपः, स्वनियामकस्तन्नियतया तदनतिरिक्तविषयताकयेत्यर्थः । विप्रतिपत्त्येति । विमत्येत्यर्थः । ननु—पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धिरूपानुमित्यनुरोधेनानुमितिकाले सत एव धर्मस्य पक्षतावच्छेदकत्वमुचितं, ब्रह्मप्रमेत्याद्यनुगतधर्माश्रयविषयविमतिर्वा पृथिवीत्वजलत्वाद्यनुगतधर्माश्रयविषयविमतिर्वा, पक्षतावच्छेदिका नानुमानकालेऽस्ति; विमतेः समयबन्धसभ्यानुविधेयसंवरणादिना व्यवहितत्वात्, तथाच तस्याः कथं पक्षतावच्छेदकत्वं—इत्याशङ्क्य तावता तस्य विशेषणत्वाभावेऽपि उपलक्षणतया पक्षतावच्छेदकत्वमुपपन्नमित्यभिप्रेत्याह—समयबन्धादिनेति । यद्यप्यनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावे तस्या उपलक्षणत्वायोगः । भावे वा तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमस्तु । आवश्यकत्वात् । नच—तथापि विमतेरभावेऽपि तज्ज्ञानसंभवात् तदेव विशेषणतया पक्षतावच्छेदकमिति—वाच्यम्; तथासति विमतत्वेन ज्ञातं मिथ्येत्येव प्रतिज्ञावाक्यप्रयोगापत्त्या विमतं मिथ्येति तत्प्रयोगानुपपत्तेः; तथापि न तस्या उपलक्षणत्वायोगः । तत्रैव हि अनुगतोपलक्ष्यतावच्छेदकापेक्षा यत्र प्रत्याय्यव्यावृत्तिन्यूनवृत्त्युपलक्षणं यथाकाशगतेषु काकेषु काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इत्यत्र । नचैवं प्रकृते; उपलक्षणभूताया विमतेर्विषयतासंबन्धेन प्रत्याय्यव्यावृत्त्यन्यूनाधिकदेशवृत्तित्वात् । नच—अतीतत्वात्कथं तयेदानीं व्यावृत्तिधीरिति—वाच्यम्; व्यावर्तकधर्मज्ञानस्यैव व्यावृत्तिधीहेतुत्वात् कुरुणां क्षेत्रं कुरुणामेवेत्यत्र स्वरूपसज्ज्ञानस्य व्यावृत्तिधीहेतुत्वदर्शनात् । नच—पक्षतावच्छेदकविशिष्टहेतुज्ञानरूपपक्षधर्मताज्ञानं न स्यादिति—वाच्यम्; स्वरूपसत्पक्षधर्मताज्ञानस्यैव पक्षधर्मताज्ञानत्वात् । नच—उपलक्ष्यतावच्छेदकासत्त्वे पक्षतापि कथं वर्ततामिति—वाच्यम्; विषयजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणे विषयत्वेनाभिमते घटादौ स्वज्ञानात्पूर्वं विषयत्वस्याभावेऽपि विषयत्वेनावच्छेद्यायाः ज्ञानं प्रति जनकतायाः सत्त्वमिवोपपत्तेरिति भावः । ननु—प्रमाणस्योद्देश्यतावच्छेदकविशेषणत्वावगाहित्वरूपनियमबाध एवात्र दोषः प्राप्नोति, अतएव रूपप्रागभावावच्छिन्नघटो रूपवानित्यत्र बाध उक्तः । उपलक्षणत्वे तस्यासंभवात्—इत्यरुच्या पक्षतावच्छेदकस्य विशेषणत्वमेवाभिप्रे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नियतयेति । स्वस्याः विप्रतिपत्तेः नियामकं प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्वयोग्यतासंपादकं यद् ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिविशिष्टविशेष्यकत्वं पूर्वोक्तम्, तेन नियतया विशेषितया; पूर्वोक्तयेति यावत् । ननु—पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेर्ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिघटितरूपेण पक्षतावच्छेदके निवेशे लाघवादुक्ताबाध्यत्वादिरूपस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितम् । तत्राह—लघुभूतयेति । तद्व्यक्तिवादिरूपलघुरूपविशिष्टयेत्यर्थः । तथाच ब्रह्मज्ञानेत्याद्युक्तरूपेण परिचितपूर्वोक्तविप्रतिपत्तिव्यक्तेस्तद्व्यक्तिवैनैव निवेश इति भावः । ननु—उक्ताबाध्यत्वादिरूपस्य विप्रतिपत्तिपरिचायकघटकतया प्रथमोपस्थितत्वात्तदेव पक्षतावच्छेदकं युक्तम्, तत्राह—यद्वेति । अवच्छेदकमेवेति । भट्टभा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वेऽपि शुक्तिरूप्ये न सिद्धसाधनम् । भट्टभास्करादिभिः शुक्तौ सत्यस्य रजतस्य स्वीका-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्करमते शुक्तिरूप्यादेः सत्यस्य शुक्त्यादावुत्पत्तिस्वीकारात्तदनुयायिना केनचिद् यदि तस्य मिथ्यात्वमुच्यते, तदा तेन सह विप्रतिपत्तौ तस्यामबाध्यत्वान्तमेव पक्षविशेषणम्; तथाच न तं प्रति सिद्धसाधनम् । तादृशस्य कस्यचिद्भावेऽपि दृष्टान्तसिद्धये शुक्तिरूप्यादौ मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानात् पूर्वं प्रसाध्यत्वात् तत्र सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणं देयमेव । यदा त्ववच्छेदकावच्छेदेनानुमितिमुद्दिश्य विप्रतिपत्तिस्तार्किकादिना सह, तदेतरविशेषणे एव देये । तत्राप्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रेण तत्र मिथ्यात्वस्यासिद्धत्वादित्यत आह—भट्टेति । स्वीकारादिति । तेन सह विवादे अबाध्यत्वान्तवैयर्थ्येऽपीति शेषः ।—तदनुयायिनेति । रजतोत्पत्तिस्वीकारमात्रेण तदनुयायिता बोध्या ।—अबाध्यत्वान्तमेवेति । एवकारेणोत्तर-विशेषणव्यवच्छेदः । सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे सामानाधिकरण्येन बाधस्यादोषतया तद्वारकविशेषणानर्थ-क्यात् । तथाच तद्विशेषणोपादाने च । ननु तादृशवादिनोऽप्रसिद्धत्वात् तद्विशेषणं व्यर्थमत आह—तादृशस्येति । तादृशस्य शुक्तिरूप्यमिथ्यात्ववादिनो भट्टभास्करानुयायिनः ।—देयमेवेति । ये जगदेव सत्यमिति वदन्ति तान् प्रति दृष्टान्तसिद्धयर्थं शुक्तिरूप्ये मिथ्यात्वं प्रसाध्य तद्विज्ञे क्वचिदपि मिथ्यात्वमेतदनुमानेन साधनीयम् । खोद्देश्य-सिद्धेरभावेऽपि तावतैव तेषां पराजयात् । तत्र च सत्त्वेन प्रतीयहृत्वविशिष्टचिद्विज्ञत्वसामानाधिकरण्येन केवलचिद्विज्ञ-त्वसामानाधिकरण्येन वा विप्रतिपत्तौ शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनं स्यादतो बाध्यत्वान्तं देयमेवेति भावः ।—तार्किकादि-नेति । येन शुक्तिरूप्यमिमांसा अपि केचन पदार्था मिथ्याभूताः (केचन स्वाप्त्रिका मिथ्याभूताः) केचन सत्या इत्युच्यन्ते तेनेत्यर्थः । तेन विवादेऽवच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धावेव तस्य पराजयात् तथैव विप्रतिपत्तेरावश्यकत्वादिति भावः । इतरविशेषणे सत्त्वेन प्रतीयहृत्वविशिष्टचिद्विज्ञत्वरूपे । एवकारेणाबाध्यत्वान्तव्यवच्छेदः । तद्वारणीयस्य सामानाधिकरण्येन सिद्धसाधनस्यावच्छेदकावच्छेदेन अनुमितावदोषत्वादिति भावः ।—देय इति । अन्यथा तुच्छे ब्रह्मणि वा बाधादिति

१ मिथ्यात्वघटकासद्वैलक्षण्यरूपसत्यत्वानुमतौ सद्वैलक्षण्यानुमतेरपि संभवात् । यदि सद्रूपं स्यात्तदा न शुक्तिज्ञानबाध्यं स्यादिति बाधकर्तृकसन्निवर्त्यैकदेशानुमतौ सर्वानुमातिरिति न्यायस्य जागरूकत्वात् । २ अत्र केचित्—‘चिद्विज्ञत्वस्य प्रातिभासिकसाधार-णस्य पक्षतावच्छेदकत्वे ब्रह्मणि बाधतादवस्थ्यात् धर्म्यन्यूनसत्ताकत्वापेक्षया लघुभूतधर्मिसमसत्ताकचिद्वेदस्य विवक्षणीयतया तत्-एव शुक्तिरूप्यसिद्धसाधनवारणात्प्रथमविशेषणं निरर्थकं, अधिकरणात्मनोऽपि भेदस्य तत्समसत्ताकत्वे तु ‘इदं नारजतमि’ति प्रतीति-सिद्धव्यावहारिकरजताधिकरणकारजतभेदस्यापि व्यावहारिकत्वापत्त्याऽनिर्वचनीयवादविरोधापत्तिः । अन्यथा ब्रह्माधिष्ठानकचिद्वेदस्यापि पारमार्थिकत्वापत्त्या धर्म्यन्यूनसत्ताकत्वविवक्षणेनापि बाधावारणात् । अस्तु वा कथंचित्सिद्धसाधनप्रसङ्गः, तावतापि प्रथमबलेन नोक्तदो-षवारणं, ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वेन कल्पितमिथ्याभूतरजतमादाय पुनरपि सिद्धसाधनप्रसङ्गात् । किंच ब्रह्मप्रमापदेन ब्रह्ममात्रविषयक-प्रमाविवक्षणे आश्रयासिद्धिः, प्रपञ्चस्याहं ब्रह्म घटो विनाशीति ज्ञाननिर्वर्त्यत्वात् । ब्रह्माविषयकप्रमाविवक्षणे च ब्रह्म न क्षणिकमित्यादिज्ञान-निर्वर्त्यक्षणात्मकत्वध्वंसप्रतियोगित्वाद्दौ सिद्धसाधनम् । तत्र यथाकथंचित्परिहारेऽपि ब्रह्मप्रमाव्यवहितपूर्वप्रातिभासिके सिद्धसाधनम् । स्वजन्यध्वंसप्रतियोग्यज्ञानत्वतादृशज्ञानप्रयुक्तत्वादन्यतरसंबन्धेन ध्वंसविशिष्टान्यत्वस्य विवक्षणे तु युष्मन्मतेऽविद्याध्वंसादेरनङ्गीकारे-णाश्रयासिद्धिरिति—वदन्ति । परेतु—‘इदं चित्रे’ त्याकारकप्रतीतिविषयो हि भेदो न शुद्धचिति, किंतुणहितचित्तीति तत्र साध्यस-त्वान्न बाधप्रसङ्गः । ‘चित् चित्रे’ त्याकारकप्रतीतिस्तु ‘घटो न घट’ इति प्रतीतिरिवाहार्यरूपा न प्रातिभासिकमपि भेदं साधयेत्, ‘नेह नानास्ति किंचने’ति श्रुतेस्तन्मूलकानुमानजन्यनिश्चयस्य चाहार्यरूपत्वेऽपि श्रुतिबोधितत्वात्प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन द्वितीयाभा-वबोधकत्वेऽपि न विरोधः । एतेन—ब्रह्म चित्रेत्यादिप्रत्ययोऽपि व्याख्यातः । अस्तु वा प्रातिभासिकचिद्वेदस्यापि प्रमाणविषयत्वं, तावतापि जडत्वनिरुक्तिप्रकरणे ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिरुक्तीत्या चिदवृत्तित्वरूपानौपाधिकत्वविशिष्टचिद्वेदस्यात्र विवक्षणाद्वाधवारणम् । एतेनासति बाधवारणार्थं सत्तादात्म्यमप्यावश्यकमिति सूचितम् । एवंच शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणार्थं ब्रह्मप्रमेतिविशेषणमावश्यक-मेवेति सिद्धम् । ननु—उक्तविशेषणे दत्तेऽपि ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यमिथ्याभूतरजतस्यापि केनचित्कल्पनसंभवात् सिद्धसाधनतादव-स्थम्—इति चेत्, अत्रेदं प्रष्टव्यं—किमधिष्ठानकः किमारोप्यकश्चात्र भ्रमो विवक्षित इति । तत्र—न तावत् रजतं ब्रह्मप्रमातिरि-क्ताबाध्यमिति, रजताधिष्ठानकः ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यारोप्यकश्च भ्रमः संभवति । किंचिद्रूपेणाज्ञातस्य किंचिद्रूपेण ज्ञातस्य चैवाधि-ष्ठानत्वनियमेन रूप्यस्यानिर्वचनीयस्यातथात्वेनानधिष्ठानत्वात् । नच—रजतावच्छेदेन तादात्म्योपहितेदमः रजततादात्म्यावच्छेदेनेदं-तादात्म्यस्य चाध्यासाद्व्यावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वांशेनाज्ञानविषयत्वं युक्तमित्यधिष्ठानत्वसंभव इति—वाच्यम्; रजतावच्छेदेनेदमादितादात्म्यारोपं प्रत्यपीदमवच्छिन्नचैतन्याश्रितस्य तद्विषयस्य चैवाज्ञानस्य कारणत्वमिति गुरुचन्द्रिकायामुप-पादितत्वात् । स्वाप्रस्थले साक्षिण एवाधिष्ठानत्वाच्च न रजताधिष्ठानकोक्तभ्रमसंभवः । किंच—कदा वायं भ्रमः, किं बाधतः पूर्वं उत अद्वै. सि. ५

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लीकवादिनं प्रत्येवार्हान्तविशेषणं देयम् । एकदा तु न द्वाभ्यां सह विप्रतिपत्तिस्तथैव कथकानां संप्रदायात् । तथाच यदेव यं प्रति विप्रतिपत्तौ पक्षविशेषणं तदेव तं प्रति न्यायप्रयोग इति भावः । ननु—सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सद्रूपचित्तादात्म्यं घटादौ व्यावहारिकम्, घटादितुल्यकक्ष्यत्वात्; शशविषाणादावलीके तु प्रातीतिकं संभवति, अनध्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भावः । अलीकवादिनं शशविषाणादितुच्छपदार्थानभ्युपगच्छन्तम् । अर्हान्तविशेषणस्य तुच्छसाधारण्येन तत्र बाधं शङ्कते—नन्विति । सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सत्त्वप्रकारकप्रत्ययविषयताप्रयोजकरूपवत्त्वम् । तद्धर्मप्रकारकप्रमात्मकप्रतीतौ तद्धर्मस्य कारणतया सत्त्वप्रकारकप्रतीतौ सत्त्वं प्रयोजकम् । तच्च घटादौ न वास्तवम् । किंतु सद्रूपे ब्रह्मणि तादात्म्येनाध्यस्ततया ब्रह्मधर्माणां घटादावध्यस्तत्वादरोपितम् । तथाच तादात्म्यमेव सत्त्वं पर्यवसितम् । एवं प्रत्ययः वृत्त्यवच्छिन्ना चित् । तद्विषयत्वे चित्तादात्म्यं प्रयोजकम् । विषयतायास्तादात्म्यपर्यवसितत्वात् एवं चैकस्मिन् सचित्तोस्तादात्म्यं सचित्तोरैक्यं विना नेति तयोरैक्यं लभ्यत इत्याशयेनाह—सद्रूपचित्तादात्म्यमिति । अनध्यस्तेऽपीति । अध्य-

तदुत्तरमित्यपि विवेचनीयम्—आद्येऽपि किमपरोक्ष उत परोक्षः । तत्र न तावत्प्रथमे प्रथमः—इदंतादृष्टत्वं विनाऽपरोक्षत्वासंभवात् । नापि द्वितीयः—परोक्षेऽन्यथाख्यातिस्वीकारात् । अनिर्वचनीयख्यातिपक्षेऽप्यधिष्ठानसत्यत्वनियमेन तदसंभवात् । स्वाप्नभ्रमस्त्वपरोक्षरूप इति गजाद्यवच्छिन्नाधिष्ठानकत्वेऽपि न दोषः इति विस्तरभयादुपरम्यते । नापि द्वितीयः—वस्तुन एवाभावेन तदधिष्ठानकस्य भ्रमस्यासंभवात् । एतेन—इदं ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यमित्याकारोऽपि न संभवतीति सूचितम् । इदं ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यरजतमिति शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याधिष्ठानको भ्रमो यद्यपि संभवति, तथापि तत्रावाध्यत्वांशेऽन्यथाख्यातिस्वीकारस्यैव युक्तत्वेन न दोषः । अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामिति भाष्यं तु धर्मयोर्धर्मिणोश्च परस्परावच्छेद्यभावप्रतिपादनपूर्वकं धर्मधर्म्यध्यासयोर्व्याप्यव्यापकभावमेव बोधयति, ननु भासमानसंनिकृष्टासंनिकृष्टसकलधर्माध्यासावश्यकताम् । अतएवेदं रजतमित्यादिभ्रमस्थले इदमि, रजतं तत्तादात्म्यं रजतत्वसंसर्गः रजते तादात्म्योपहितेदम् इदंतादात्म्यं इदंत्वसंसर्गश्चेति पदार्थपट्टोत्पत्तिरेव चन्द्रिकाकारैरङ्गीकृता, नत्विदंत्वोत्पत्तिरपि । एवंच यत्राध्यासं विनाऽवच्छेद्यावच्छेदकभावानुपपत्तिस्तत्रैवाध्यासकल्पना नान्यत्रेति जपाकुसुमस्थले लौहित्याध्यासस्वीकारेऽपि न क्षतिरित्यवाध्यत्वादिधर्माणामध्यासकल्पना न युक्तैव । नन्वेवं—अन्यथाख्यातिस्वीकारमात्रेण कथमुक्तदोषवारणं, यावता शुक्तिरूप्येऽपि व्यावहारिकं ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वं उक्तप्रमितिसिद्धं भवताभ्युपगम्यते—इतिचेत्, अनौपाधिकोक्तावाध्यत्वस्य विवक्षणादिति गृहाण । अनिर्वचनीयख्यातिपक्षेऽपि भ्रमज्ञानसामान्यस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वनियमेन केवलरजतेऽवाध्यत्वाद्यनवगाहनात्, विशिष्टरजतस्य च नेदं ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यमिति ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वान्न सिद्धसाधनम् । उक्तनियमानादरणे तु विशेष्यतान्यप्रकारतासंबन्धेन ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वविवक्षणान्नात्र दोषः । विशेष्यतारूपप्रकारतासंबन्धेनैवोक्तावाध्यत्वस्य तत्र भासनात् । एवं ब्रह्मप्रमापदेन महावाक्यजन्यतावच्छेदकविषयताकप्रमाविवक्षणान्नाहं ब्रह्म घटो विनाशीतिज्ञानवाध्यत्वमादायाश्रयासिद्धिः । यदि तु—अहं ब्रह्मेतिसमूहालम्बनज्ञानस्याहार्यरूपत्वान्न बाधकत्वमिति विभाव्यते—तदा ब्रह्ममात्रविषयप्रमाविवक्षणेऽपि नाश्रयासिद्धिः । एतेन—ब्रह्म न क्षणिकमित्यादिज्ञाननिर्वर्त्यक्षणिकत्वेऽपि न सिद्धसाधनमिति—सूचितम् । ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यं च तद्योग्यत्वरूपं, तद्योग्यत्वं च तदवच्छेदकधर्मशून्यत्वं, अवच्छेदकश्च धर्मः पल्लवाज्ञानतत्कार्यत्वान्यतरत्वमिति गुरुचन्द्रिकादृष्टपक्षादरणे तु ब्रह्मप्रमाव्यवहितपूर्वप्रातिभासिकादावपि न सिद्धसाधनम् । एकाज्ञानपक्षे तु आगन्तुकदोषकरणकज्ञानविषयत्वं बाध्यतावच्छेदकमिति तत्रापि न दोषः । एतेन—ब्रह्मान्यविशिष्टान्यत्वं ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वं, ब्रह्मान्यवैशिष्ट्यं च स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वसंबन्धावच्छिन्नस्वस्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदवत्त्वसंबन्धेन, स्वाधिकरणता च अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्वविषयकनिश्चयत्वसंबन्धेन, प्रतियोगितावच्छेदकता च स्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदवत्त्वसंबन्धेन, स्वनिष्ठावच्छेदकता च स्वपूर्वत्वस्वप्रयोजकज्ञानकालीनत्वान्यतरसंबन्धेन, उक्तरूपस्य ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वस्य ब्रह्मान्यशुक्त्यादिविशिष्टरजतादौ क्षणिकत्वाभावविशिष्टब्रह्मविशिष्टक्षणिकत्वादौ चाभावात्सिद्धसाधनवारणेऽपि ब्रह्मप्रमाव्यवहितपूर्वप्रातिभासिकेन सिद्धसाधनवारणं, स्वजन्यध्वंसप्रतियोग्यज्ञानत्वतादृशज्ञानप्रयुक्तत्वान्यतरसंबन्धेन ध्वंसविशिष्टान्यत्वविवक्षणे त्वद्वैतमतेऽविद्याध्वंसाद्यनङ्गीकाराच्चाश्रयासिद्धिरिति शङ्कापि—पराहता । स्वप्रयुक्ताभावप्रतियोग्यज्ञानत्वतादृशज्ञानप्रयुक्तत्वान्यतरसंबन्धेनाभावविशिष्टान्यत्वविवक्षणेनाप्युक्तदोषवारणात् । एकाज्ञानपक्षे तु स्वप्रयोजकाज्ञानसमकालीनत्वस्थाने स्वसंस्कारकालीनत्वविवक्षणेन दोषवारणम् । अथवा—स्वपूर्वत्वसंबन्धनिवेशेनैवेष्टसिद्धौ स्वप्रयोजकाज्ञानकालीनत्वसंबन्धनिवेशे प्रयोजनाभावादुक्तदोषवारणमिति सर्वमनवद्यम् ॥ इति ।

१ एतेन पक्षतावच्छेदकशरीरे सत्तादात्म्यनिवेशेनैवासात्त्वमादायार्थान्तरवारणसंभवे प्रथममध्यात्वरूपसाध्यशरीरेऽपि सत्तादात्म्यनिवेशनं व्यर्थमिति शङ्का पराहता । उक्तपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सद्विविक्तत्वादिरूपस्यैव साध्यस्य साधनात् ।

पक्षतावच्छेदकम् । प्राचां प्रयोगेष्वपि विमतमिति पदं विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नाभिप्राये-

सिद्धिव्याख्या ।

त्याह—अथवेति । ननु तर्हि—प्राचां प्रयोगे विमतमिति पदप्रयोगः कथं—इत्याशङ्क्याह—प्राचामिति । वस्तुतस्तु—विमतविषयज्ञानत्वं विशेषणतया पक्षतावच्छेदकं; विमतेः समयबन्धादिना व्यवधानेऽपि तद्वद्विषयतावच्छेदकस्य विमतविषयत्वस्याप्यनुमानकालीनत्वेन विशेषत्वयोगात् । नचैवं—विमतत्वेन ज्ञातं मिथ्येति पक्षनिर्देशप्रसङ्ग इति वाच्यम् ; इष्टापत्तेरिति ध्येयम् । ननु—इदमनुपपन्नं तथाहि—विमतं मिथ्येत्यनुमाने विमतपदेन किं विप्रतिपत्तिवाक्यमभिप्रेतं, किंवा तज्जन्यसंशयः । नाद्यः, विप्रतिपत्तिवाक्यस्य पक्षावृत्तितया पक्षतावच्छेदकत्वानुपपत्तेः । नच—व्यापारानुबन्धितया पक्षावृत्तित्वमिति—वाच्यम् ; उक्तरीत्या वादिप्रतिवादिनोः प्राशिकानां च निर्णयवत्त्वेन ततः संशयासंभवस्योक्ततया संशयरूप-व्यापारानुबन्धितया विप्रतिपत्तिवाक्यस्य पक्षावृत्तित्वायोगात् । विशेषदर्शनहितेषु वाद्यादिषु केषुचिद्विप्रतिपत्तिवाक्यतः संशयसंभवेऽपि सार्वत्रिककथायामनावश्यकत्वात् । अतएव न द्वितीयः; किंच यथा-कथंचित्संशयविषयत्वस्यातिप्रसक्ततयाऽनतिप्रसक्तस्यैव तस्य पक्षतावच्छेदकत्वे वाच्ये, संशयातिप्रसक्तेश्च विषयानतिप्रसक्त्यैव संपाद्यतया तस्य चानतिप्रसक्तधर्मं विनाऽयोगेन तादृशधर्मस्यावश्यकत्वे तस्यैव सार्वत्रिकतया पक्षतावच्छेदकत्वाश्रयणं युक्तं, ननु काचित्कस्य संशयस्य । एतेन—विप्रतिपत्तिवाक्यस्य तज्जन्यसंशयस्य वाऽनतिप्रसक्तत्वाय विषयगतानतिप्रसक्तावच्छेदकीभूतधर्मान्तरसापेक्षत्वेऽपि यदा यदा तदुपस्थितिस्तदा तदा तद्धर्मोपस्थितिरिति नियमाभावात् यदैव विप्रतिपत्तिवाक्यस्य तज्जन्यसंशयस्य वोक्तरीत्या वस्तुतोऽनतिप्रसक्तस्योपस्थितिः, तदा तेनापि पक्षतावच्छेदकस्थाविरुद्धत्वात् तत्स्थलीयविप्रतिपत्तिविषयत्वं वा पक्षतावच्छेदकमभिप्रेत्य विमतं मिथ्येत्यादौ प्राचां पक्षनिर्देशः । अतएव वक्ष्यति—यद्यपि विमतेरपि नियतविषयत्वायावच्छेदकसापेक्षा; तथापि सावयवत्वसाधितेन कार्यत्वेन पृथिव्यादि-सकर्तृकत्वसाधनमिव स्वनियामकनियतया लघ्व्या विमत्या पक्षतावच्छेदोऽपि न विरुद्ध इत्यादि—निरस्तम् । वादिप्रतिवादिनोः प्राशिकानां च स्वारसिकसंशयाभावस्योक्तत्वात् । विशेषादर्शेषु कचित्कचित् तस्य योगेऽप्यसार्वत्रिकतया सार्वत्रिकधर्मान्तरस्यैव संशयानतिप्रसक्तत्वसंपादकत्वेनावश्यकत्वे, तस्यैव तदवच्छेदकताया न्याय्यत्वाच्च । नच—संशयस्य नियतविषयत्वप्रयोजकस्य ब्रह्मप्रमेत्यादिनिरुक्तधर्मस्य तत्संशयापेक्षया गुरुशरीरत्वात्, तत्संशयस्याखण्डवृत्तित्वेन लघुशरीरत्वात्तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वाश्रयणं युक्त-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ऽस्तेष्वलीके सत्तादात्म्यस्यारोपसंभवात्, 'यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेने'त्यादिमूलानुरोधात् शुक्तिरूप्यादिप्राती-तिकसाधारणस्य सत्तादात्म्यस्य निवेश्यत्वादिति—चेन्न । तत्रैव हि सत्तादात्म्याध्यासो यस्य तत्समानकालमध्यासः,

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्तत्त्वस्य चित्तादात्म्याध्यासेऽप्रयोजकत्वादिति भावः । ननु प्रातीतिकसत्तादात्म्यव्यावृत्तरूपेणैव सत्तादात्म्यस्य पक्षता-वच्छेदकतया न तुच्छस्योक्तरीत्या पक्षान्तर्भाव इत्याशङ्कां मूलविरोधेन परिहरति—यदि पुनरिति । प्रातीतिकव्या-वृत्तरूपेण पक्षतावच्छेदककोटौ सत्तादात्म्यस्य प्रवेशे प्रातीतिकसत्तादात्म्यवतः शुक्तिरूप्यस्य पक्षानन्तर्भावात् पक्षकदेशे तत्र साध्यसिद्धेरवच्छेदकावच्छेदेन अनुमितौ दोषत्वाभावप्रतिपादनविरोधः स्यादिति भावः । अभिमानं निराकृत्य समाधत्ते—तत्रैव हीति । तद्रूपेण परिणताविद्याया एव तन्निष्ठतादात्म्यरूपेण परिणाम इति नियमे व्यभिचारमाशङ्कते—

सिद्धिव्याख्या ।

मिति—वाच्यम् ; पक्षतावच्छेदकस्याधिकरणतावच्छेदकतया गुरुशरीरत्वस्यादोषत्वात् । अन्यथाऽऽकाशे पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यस्य शब्दाधिकरणत्वावच्छेदकत्वाभावप्रसङ्गादिति चेत् । अत्र वदन्ति—‘यद्यपि स्वारसिकसंशयो न सार्वत्रिकः, तथाप्याहार्यानाहार्यसाधारणसंशयमात्रं सार्वत्रिकं संभवतीति तदेव विमतमित्यादौ पक्षतावच्छेदकत्वेन विमतशब्देन विवक्षितम् । नच—तस्यातिप्रसक्ततावारकधर्मान्तरपरस्यावश्यकत्वे प्रथमोपस्थितत्वात्तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वाश्रयणं युक्तमिति—वाच्यम्, तथापि परार्थानुमाने वादिप्रतिवाद्यङ्गकार्यानाहार्यसाधारणसंशयस्य संभवेन पक्षतावच्छेदकत्वसंभवात् तस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वज्ञापनाय विमतमित्येव पक्षस्य निर्देष्टव्यत्वात् । नच—तथा ज्ञापनस्यैव किं फलं, फलाभावाविशेषे च विमतमित्येव पक्षनिर्देशे किं नियामकमिति—वाच्यम्, संशयपक्षतावच्छेदकत्वज्ञापनस्य बाधसिद्धसाधनादिप्रतिज्ञादोषाणामुद्भावनानर्हत्वज्ञापनेन सफलत्वात् । नहि, विमतमिति पक्षनिर्देशे संशयस्य पक्षतावच्छेदकत्वं ज्ञापयितुं शक्यम् । नच—ब्रह्मप्रमेत्यादिनिरुक्तपक्षतावच्छेदकविशिष्टतया तन्निर्देशेऽपि बाधाद्युद्भावनाऽनवसरेण फलतो न विशेष इति—वाच्यम् ; तथापि विमतशब्दतः संशयविषयत्वरूपपक्षतावच्छेदकस्य पक्षत्वेन पर्यवसिते प्रपञ्च एव बाधादिप्रतिज्ञादोषाणां वारकत्वेन विशेषात्, ब्रह्मप्रमातिरिक्त्यादिनिरुक्तपक्षतावच्छेदकस्य तु पक्षोऽयमङ्गीकृतो नातिप्रसक्तोऽन्य इति पर्यवसिते पक्षे तद्दोषवारकत्वेनातथात्वात्, निरुक्तपक्षतावच्छेदकशरीरे बाधादिवारकविशेषणस्यावश्यमुपादेयतया गौरवात्, विनापि तद्विशेषणदानं बाधादीनामुद्भावनप्रसक्तिरेव नेति वादिप्रतिवादिनोरन्यतरेणान्यतरं प्रति ज्ञापनसंभवे विशेषणप्रक्षेपणमुखेन तज्ज्ञापनवैयर्थ्यादिति ॥ ननु—किमिदं मिथ्यात्वं, ननु—प्रतियोगित्वेन बाधकज्ञानविषयत्वं विवक्षितमिति न ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः । नच—तादृशाभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वमस्त्विति—वाच्यम् ; अभावप्रतियोगित्वस्य प्रकारत्वलक्षणसंबन्धेन ज्ञानविशेषणतया प्रतियोग्यविशेषणत्वात् । ज्ञानस्यैव तद्विशेषणत्वाच्च । अभावप्रतियोगित्वतत्प्रकारकज्ञानविषयत्वयोः घटत्वतत्प्रकारकप्रमाविशेष्यत्वयोरिव भेदेन, यथोक्तविशेषणविशेष्यभावे वैयर्थ्यशङ्कानवकाशादिति—चेन्न, शुक्तिरूप्येऽव्याप्तेः । मायावादिमते आपणस्थरूप्यस्यैव तादृशनिषेधप्रतियोगित्वेन धीकाले शुक्त्यादौ विद्यमानस्य शुक्तिरूप्यस्य तत्र तादृशनिषेधानङ्गीकारेणोक्तलक्षणाभावात् । नापि ज्ञाननिवर्त्यत्वं, उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानादाविव सत्त्वेऽप्युपपत्त्या ज्ञानादौ पक्षैकदेशे सिद्धसाधनापत्तेः, घटादावर्थान्तरापत्तेश्च । ननु—स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, नच—अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेरिव सत्त्वेऽप्युपपत्त्या पूर्ववत्सिद्धसाधनार्था-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुक्तिरूप्यादिरूपेण परिणममानाविद्याया एव तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वात् ; तथाचालीकरूपेणाविद्यायाः अपरिणममानत्वात् नालीकनिष्ठतादात्म्यरूपेण परिणामः । नच—स्फटिकादिरूपेणापरिणममानाया अप्यविद्यायाः स्फटिकादिनिष्ठेन जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्यादिरूपेण परिणामदर्शनात् अलीकरूपेणापरिणताप्यविद्या तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणमतामिति—वाच्यम्, तादात्म्यमात्ररूपेण परिणामस्य तथा दृष्टत्वेऽपि सत्तादात्म्यरूपेण परि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नचेति । स्फटिकरूपेणापरिणममानाया इति । ननु स्फटिकोऽप्यविद्यापरिणाम एवेति चेत्, सत्यम् । परन्तु स मूलाविद्यायास्तत्त्वज्ञानमात्रनिवर्त्यायाः परिणामः । तन्निष्ठजपलौहित्यतादात्म्यं तु तन्निष्ठशौक्ल्यलौहित्यतादात्म्याभावादि-विषयकतूलाविद्यायाः तत्त्वज्ञानान्येनापि निवर्त्यायाः परिणाम इत्युभयोरेकाविद्यापरिणामत्वाभावादुक्तनियमे व्यभिचारो दुर्वार इति भावः । व्याप्यकोटौ तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वं निवेद्य व्यभिचारमुद्धरति—तादात्म्यमात्ररूपेणेति ।

सिद्धिव्याख्या ।

न्तरान्यतरापत्तिरिति—वाच्यम्; अव्याप्यवृत्तित्वानाश्रयस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मि-
थ्यात्वमिति निरुच्यमानत्वात् । नच—संयोगात्यन्ताभावस्यापि गुणकर्मावच्छेदेन व्याप्यवृत्तित्वाधिकर-
णतया, तत्प्रतियोगिनि संयोगे सिद्धसाधने प्राप्ते तद्वारणायाव्याप्यवृत्तित्वानाश्रय इति निषेधद्वयान्तर्भावे
सति, आरोपितसंयोगस्यात्यन्ताभावोऽपि संयोगात्यन्ताभावत्वात् अव्याप्यवृत्तित्वाश्रयसंयोगाभाव एवेति
तदनाश्रयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्याभूते आरोपितसंयोगेऽव्याप्तमिति—वाच्यं; आरोपितस्य संयोगस्या-
त्यन्ताभावस्तु अनारोपितस्य संयोगस्यात्यन्ताभावादप्येव व्याप्यवृत्तिरिति तदव्याप्त्यनवकाशादिति—
चेन्न । नेदं रजतमिति निषेधं प्रत्यापणस्थरूप्यस्यैव प्रतियोगितायां शुक्तिरूप्यादेः स्वसमानाधिकरणनिषे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

णामस्य तदनुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यानिष्ठत्वनियमाविधातात् । नच—सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्योक्तनियमस्वी-
कारेऽपि सदानुयोगिकस्यालीकप्रयोगिकतादात्म्यस्याविद्यापरिणामत्वमास्तामिति—वाच्यम्; सदलीकमिति प्रतीत्यभावे-
नाविद्यायास्तादृशपरिणामे हेतुत्वाकल्पनात् । अतएव ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प’ इति पातञ्जलसूत्रे शब्द-
मात्रजन्यस्यालीकाकारधीरूपविकल्पस्य सद्रूपविषयकत्वरूपं वस्तुशून्यत्वमुक्तम् । अतएव ‘प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा-
स्मृतयः’ इतिवृत्तिविभाजके पातञ्जलसूत्रे विकल्पात् पृथग्विपर्ययस्योक्तिः । तस्य सद्रूपविषयकत्वेन वस्तुशून्यत्वाभावात् ।
किंच सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रकृते पक्षतावच्छेदके निवेशादलीकप्रतियोगिकतादात्म्यमादाय नोक्तदोषः । ननु—माध्वा-
दिमते शुक्तिरूप्यादेरलीकतास्वीकारात् ‘इदं रूप्यं सदित्वा’कारभ्रमेण तत्र सत्प्रतियोगिकतादात्म्यावगाहनान्माध्वादीन्
प्रति न्यायप्रयोगे बाधः सदसद्विलक्षणत्वादिसाध्यस्य तत्राभावात्, नच अबाध्यत्वान्तविशेषणेन तस्य वारणम्; अली-
कस्य ज्ञानोच्छेद्यतारूपज्ञानबाध्यत्वाभावादिति—चेन्न । तन्मते भ्रमस्यासत्ख्यातित्वस्वीकारेणानिर्वचनीयख्यात्यनभ्युप-
गमेन तादात्म्यादिसंबन्धस्याप्यलीकस्यैव भ्रमे भानात्, अनलीकस्य भानस्वीकारे तस्य सद्रूपत्वेन अत्यन्ताभावप्रतियो-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तादृशेति । सदानुयोगिकालिकप्रतियोगिकेत्यर्थः ।—अकल्पनादिति । मानाभावेन तादृशपरिणामस्यैवासिद्धेः
अतएव “सत् अलीकम्, अलीकं सत्” इति प्रतीत्योरभावादेव । शब्दज्ञानानुपाती शशविषाणादिशब्दज्ञानोत्तर-
भावी; तज्जन्य इति यावत् ।—अतएव चेति । विकल्पस्य निरुक्तवस्तुशून्यत्वादेवेत्यर्थः । अस्योक्तिरित्यत्रान्वयः ।
तस्य विपर्ययस्य । “तुष्यतु दुर्जनः” इति न्यायेनालीकप्रतियोगिकसदानुयोगिकतादात्म्यमभ्युपेत्य समाधत्ते—किंचेति ।
उक्तदोषः तुच्छस्य पक्षान्तर्भावेण बाधरूपो दोषः । अलीकतास्वीकारात् शशशृङ्गादिवदसद्रूपतास्वीकारात् ।
अयं तत्र साध्याभावे हेतुः । नन्वेवं तत्र सत्तादात्म्यस्योक्तरीत्योरभावान्न तस्य पक्षान्तर्भावः, इत्यत आह—इदमिति ।
अवगाहनादिति । तथाच शुक्तिरूप्यस्य पक्षतावच्छेदकान्तत्वमिति भावः । सदसद्विलक्षणत्वं सद्भिन्नत्वे
सत्यसद्विलक्षणत्वम् । तत्र असद्रूपे शुक्तिरूप्ये ।—अभावादिति—असद्भेदासत्त्वादिति भावः । नचेति—वारणमि-
त्यनेनान्वयः ।—अलीकस्येति । ज्ञानसमानविषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तदृश्यान्तरस्यैव ज्ञानोच्छेद्यत्वादित्यादिः । यद्यपि
नेयं बाधशङ्का युक्ता । यत्र मतद्वये साध्यविरहः तत्रैव हि बाधः । यथा सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वविद्भिन्नत्वयोरनुपादाने तुच्छे
ब्रह्मणि च बाधः । शुक्तिरूप्ये तु माध्वमते साध्यविरहेऽपि स्वमते तस्यालीकत्वास्वीकारेण साध्यभावात् स्वयमनुमाने तं
प्रति तत्साध्यं साधयितुं युक्तमेव । अतएव विषयादिप्रपञ्चेऽसत्यतासाधने परमते न बाधः; तथापि समाधानान्तरस्यापि
सौकर्यादाह—तन्मते इत्यादि । अलीकस्यैवेति । तथाचालीकव्यावृत्तरूपेणैव सत्तादात्म्यस्य पक्षतावच्छे-
दकतया माध्वमते शुक्तिरूप्यस्य पक्षतावच्छेदकानाक्रान्ततया न बाध इति भावः । ननु तादृशभ्रमेऽनलीकस्यैव सत्ता-
दात्म्यस्य भानस्वीकारे किं बाधकम्, अत आह—अनलीकस्येति । तस्य भ्रमविषयीभूतस्य । विशेष्यत्वं प्रत्ययान्व-
यिष्यर्थः ।—अत्यन्ताभावेति । तत्प्रतियोगित्वप्रकारेत्यर्थः । सद्रूपत्वेन सद्रूपत्वापत्त्या । सदसद्भ्यां तृतीयप्रका-

१ संबन्धसामान्येन सत्तादात्म्यस्य विवक्षणात्प्रतियोगितासंबन्धेन वाऽनुयोगितासंबन्धेनवेत्यादिकल्पदूषणादीनां न्यायभास्कररीयाणां
नावकाश इति नरसिंहशास्त्रिप्रभृतयो न्यायेन्दुशेखरकारादयश्चेति मन्तव्यम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गित्वप्रत्ययानुपपत्तेः अलीकस्यैव तन्मते अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, रूप्यादेरलीकान्यत्वापत्त्या अधिष्ठानान्यभ्रमविषय-
स्थालीकत्वनियमाच्च सत्स्वरूपस्यैव तादात्म्यस्य तत्र भाने अलीकरूप्यादौ तदनुयोगित्वाभावादलीके रूप्यादिनिष्ठे
तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वस्यैव सद्रूपे अलीकानुयोगिकत्वस्याभावात्, सदसतोरुपरागाभावात्, शुक्तिरूप्यादौ सत्प्र-
तियोगिकतादात्म्यानुयोगित्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावेन तत्र बाधोक्त्यसंभवात्, वक्ष्यमाणरीत्या सदसद्भिन्नत्वस्य साध्वं
प्रत्यसाध्यत्वेन तं प्रति बाधाभावाच्च । नचैवमपि तन्मते शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यम्; तं प्रति सद्विविक्तत्वादिवक्ष्य-
माणमित्यात्वस्यैव साध्यत्वात् । ननु—सद्रूपं शुद्धचिदेव, तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वं च
तस्यां नास्तीति चिद्विन्नत्वविशेषणं व्यर्थं इति—चेत् । सत्यम् । उक्ताधिकरणत्वनिवेशे चिद्विन्नत्वं न देयम्, तत्प्रतियो-
गिकस्य तादात्म्यस्याधिकरणत्वमात्रनिवेशाभिप्रायेण दत्तम् । ननु—तादृशतादात्म्यस्यापक्षत्वापत्तिः, तस्य स्वस्मिन्न-
भावात् तादात्म्ये तादात्म्यान्तरस्यानवस्थापत्त्या अनङ्गीकारात्—इति चेन्न । घटाद्यभावस्यैव तस्य स्वस्मिन् स्वरूप-
संबन्धेन वृत्तिस्वीकारात्, घटाभावे घटो नास्तीतिवत् सत्तादात्म्यं सदिति प्रतीतेः । अथ घटादिदृश्यमात्रस्य सत्तादा-
त्म्यवत्त्वे किं मानमिति—चेत् । शुक्तिरूप्यादेरिदमादितादात्म्यवत्त्वं इव परस्पराध्यासानुभवादिकम् । तथाहि—
'इदं रजतं' मित्यादिभ्रमस्थले 'इदं रजतं जानामि रजतमिदं जानामी' त्याकारद्वयानुभवादिरिदमादिविषयतावच्छिन्नं रज-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रस्याभावादिति भावः । ननु तादृशतादात्म्यस्य सद्रूपत्वस्वीकारेऽप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रत्ययानुपपत्तिः कुत इत्यत
आह—अलीकस्यैवेति । तन्मते इति । भूतले घटो नास्तीत्यादौ भूतलेऽरोपितस्थालीकस्य घटसंसर्गस्याभावो भासते,
ननु घटस्य । स एव घटविरोधीति हि तन्मतम् । एतादृशनियमे मानाभाव इत्याशङ्क्य तादृशतादात्म्यस्थालीकत्वे युक्त्य-
न्तरमाह—रूप्यादेरिति । तादृशतादात्म्यस्यानलीकत्वस्वीकारे इत्यादिः ।—आपत्त्येति । तद्वारानुरोधेनेत्यर्थः ।—
नियमादिति । नियमस्य तेनोपगन्तव्यत्वादित्यर्थः । ननु भ्रमप्रकारस्य अलीकत्वनियमस्तेनोपगम्यते । एवंच
विशेष्यस्यैव सत्तादात्म्यरूपसंसर्गस्य सद्रूपत्वेऽपि न तद्वृत्तिः । अधिष्ठानान्यत्वानिवेशात् लाघवं चेत्त्यत आह—सद्रूप-
स्यैवेति । अनुयोगित्वाभावादिति । अयं च शुक्तिरूप्यादौ पक्षतावच्छेदकाभावे हेतुः । अत्र अलीके इत्यतोऽभावा-
दित्यन्तं हेतुः । तत्र च सदसतोरुपरागाभावादिति हेतुः ।—तंप्रतीति । तेन प्रपञ्चस्य सन्मात्ररूपस्यैवोपगमेन तं
प्रति सद्विलक्षणत्वमात्रस्य साध्यत्वादिति भावः । अत्रैव समाधाने निर्भरं कर्तुं प्रथमसमाधाने बाधवारणेऽपि दृष्टान्ता-
सिद्धिं शङ्कते—नचेति । वैकल्यमित्यत्रान्वयः । एवमपि तस्य पक्षतावच्छेदकशून्यतया बाधोत्पत्त्य (कल्य) संभवेऽपि ।
सत्पदार्थो यदि शुद्धचिद्विन्नः स्यात् तदा तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यावच्छिन्नरूपिताधिकरणता चित्यपि
संभवेदत उक्तम्—सद्रूपं शुद्धचिदेवेति । नास्तीति । स्वस्मिन् स्वविशिष्टबुद्धेरनुदयेन तन्नियामिकायाः स्वस्मिन्
स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंबन्धाधिकरणतारूपायाः स्वसंबन्धानुयोगिताया अनभ्युपगमादिति भावः । मात्रेति । एतेन
विशिष्टाधिकरणतारूपानुयोगिताया व्यवच्छेदः । विशिष्टाधिकरणतानियतं अनुयोगितारूपपदार्थान्तरं नास्त्येवेति भावः ।
अपक्षत्वापत्तिरिति । तथाच तत्र मिथ्यात्वासिद्ध्या द्वैतापत्तिरिति भावः । इदमि रजतस्यैव ब्रह्मणि दृश्यमात्रस्य
तादात्म्येनाध्यस्ततयाऽनिर्वचनीयख्यातिस्वीकारेणैवमि रजततत्तादात्म्ययोरिव ब्रह्मणि दृश्यमात्रतत्तादात्म्ययोरुत्पत्तिरस्तु ।
परंतु घटादिदृश्ये सद्रूपब्रह्मणोऽनध्यासात् तत्र सत्तादात्म्ये किं मानमित्याशङ्कते—अथेति । दृश्यमात्रस्य दृश्यसा-
मान्यस्य । परस्पराध्यासानुभवादिकमिति । परस्पराध्यासः; इदमि रजतस्य, रजते चेदमः तादात्म्येन विशेषण-
तया य आरोपः तदनुभवदित्यर्थः । यद्यपि प्रातीतिकपदार्थस्य साधिका भ्रमात्मिका प्रतीतिरेव; तथापि इदं रजतमिति
प्रतीतेरिदमि रजततादात्म्यावगाहित्वे इव रजते इदंतादात्म्यावगाहित्वे सिद्धे इदमि रजततादात्म्यमिव रजते इदंतादा-
त्म्यमपि सिद्धेत, परंतु तत्रैव किं मानमित्याकाङ्क्षया तदनुभवपर्यन्तानुधावनम् । दृष्टान्तेऽपि विवादसंभवात् तं प्रथमं
साधयति—तथाहीति । भ्रमस्थले भ्रमानुव्यवसाये भातीयन्वयः । तत्रापि मानमाह—इदमित्याद्यनुभवादित्य-
त्यन्तेन । तस्य तादृशभ्रमानुव्यवसायस्येत्यादिः । तादृशानुव्यवसायस्य यत् तादृशमाकारद्वयं तस्यानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः ।

१ चिद्विन्नत्वं च चित्तोपलक्षितप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् । तच्च प्रमीयं विवक्षितम् । तेन विशिष्टचिद्वेदमादाय चिदधिकरण-
कषटभेदे चित्तोपलक्षितप्रतियोगिताकत्वभ्रममादाय वा आनन्दादिब्रह्मधर्मे भेदत्वभ्रममादाय वा न दोषः; प्रातिभासिकचिदभेदमादाय
तु न बाध इति पूर्वमेव निरूपितम्, चित्तोपलक्षितप्रतियोगिताकत्वानिवेशेन समानसत्ताकचिदभेदमात्रविवक्षणे तु समानसत्ताकत्वा-
दिवटितत्वाद्गौरवं चिदधिकरणकषटभेदमादायाभावाधिकरणत्वपक्षे बाधतादवस्थमिति न्यायभास्करोक्तदूषणानां च नावकाश इति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्तादात्म्यादिविषयत्वं रजतादिविषयतावच्छिन्नं इदमादितादात्म्यविषयत्वं च चिद्रूपानुभवेनिष्ठं भातीति स्वीक्रियते । एवम्, 'इदं रजतं रजतमिदं' मिति यत् ज्ञानं तत् मिथ्येति बाधकप्रत्ययेन विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वावगाहनात् भ्रमस्येव तद्विषयाणामपि बाधकधीवाध्यत्वम् । तत्राप्युक्तबाधधीकालेऽपीदमर्थस्य तादृशधीमता पुरुषेणाहुल्या प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपतः सत्यत्वानुभवात्तस्य व्यावहारिकस्वरूपत्वनिश्चयेन स्वरूपतो मिथ्यात्वानिश्चयेन मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्योपहितरूपेण मिथ्यात्वनिश्चयः । रजतादितत्तादात्म्ययोस्तु स्वरूपतोऽपि स इतीदमाद्यवच्छेदेन रजतादिकं तत्तादात्म्यं रजतत्वादेः संसर्गश्च, रजताद्यवच्छेदेनेदमादेस्तादात्म्यमिदंत्वादेः संसर्गश्चेति जायते । भ्रमस्थले भ्रमकाले बाध्यस्योत्पत्तिस्वीकारात्तस्य प्रातीतिकत्वेन भ्रमपूर्वमविद्यमानत्वात् । ननु—एकेनैव तादात्म्येनेदंरजतयोराकारद्वये परस्परं प्रति विशेषणतया भानसंभवात् तादात्म्यद्वयोत्पत्तौ मानाभाव—इति चेन्न । आकारभेदानुपपत्तेः । आकारो

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

चिद्रूपानुभवेनिष्ठम्, इदंरजतमित्याकारकभ्रमव्यपदेश्यो यः परस्परतादात्म्यापन्नरजताकाराविद्यावृत्तीदमाकारान्तःकरणवृत्त्युभयावच्छिन्नचिद्रूपोऽनुभवः तन्निष्ठमित्यर्थः । स्वीक्रियत इति । अन्यथा तादृशभ्रमानुव्यवसायस्य तादृशाकारद्वयस्यानुभवसिद्धस्यानुपपत्तेरिति भावः । तथाचानुव्यवसायस्येदंरजतं जानामीत्याकारत्वादिदंविषयत्वावच्छिन्नरजततादात्म्यविषयतावगाहित्वं, तेन च व्यवसायस्येदंविषयतावच्छिन्नरजततादात्म्यविषयताशालित्वम्, तेन चेदमो रजततादात्म्यवत्वमिवानुव्यवसायस्य रजतमिदं जानामीत्याकारकत्वात् रजतविषयतावच्छिन्नेदंतादात्म्यविषयतावगाहित्वं, तेन च व्यवसायस्य रजतविषयतावच्छिन्नेदंतादात्म्यविषयताशालित्वम्; तेन च रजनस्येदंतादात्म्यवत्त्वं सिध्यतीति निर्गलितार्थः । आदिपदसंगृहीतं मानान्तरं व्युत्पादयति—एवमिति । इदंरजतमिति रजतमिदमिति च यत् ज्ञानमिति योजना । निपातेनेतिपदेन, तादात्म्येन रजतविशिष्टेदम्, इदंविशिष्टरजतं च परामृश्यते, इतिपदोपस्थाप्यतादृशविशिष्टद्वयस्य विषयतया ज्ञाने अन्वयः; तदेतदुक्तं विषयविशिष्टभ्रमस्येति । मिथ्येति । स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमानसर्वनिष्ठत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यर्थः ।—विषयाणामपीति । असति बाधके विशिष्टधर्मिकप्रतीतेर्विशेषणेऽपि प्रकारावगाहित्वनियमादिति भावः । धीवाध्यत्वं धीप्राप्त्यस्वाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम् । अस्य, इतीदमाद्यवच्छेदेनेत्यत्रान्वयः । तादात्म्यद्वयस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थमाकारद्वयोपादानम् । ननु भ्रमविषयाणां सर्वेषामपि बाध्यत्वे अधिष्ठानस्येदमोऽपि बाध्यत्वाधितिष्ठानारोप्ययोः को विशेष इत्याशङ्क्य तयोर्बाध्यत्वे विशेषेण विशेषं व्युत्पादयति—तत्रापीति । बाध्येषु भ्रमविषयेष्वपीत्यर्थः । कालेऽपीति । अहुल्या प्रदर्श्यमानस्येत्यन्वयः । तादृशधीमता उक्तबाधकधीमता । स्वरूपतः मिथ्यातादात्म्यानुपहितरूपेण । सत्यत्वं(सम्भक्तत्वं)रजतापेक्षया न ब्रह्मवदित्याह—तस्य व्यावहारिकेति । मिथ्यात्वानिश्चयेन तन्निश्चयस्य दुर्घटतया । स्वरूपतोऽपीति । अन्यथा अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । स इति । इत्यधिष्ठानारोप्ययोः विशेष इति शेषः । अत्र प्रथमसंसर्गश्चेत्यन्तं दृष्टान्तः, द्वितीयं दार्ष्टान्तिकमिति बोध्यम् ।—इदमाद्यवच्छेदेनेति । इदमवच्छिन्नचित्त्येव रजततादात्म्यादिकं जायते, नत्वमिदमिति तत्रैव सर्वप्रपञ्चाधिष्ठानत्वात् । इदमस्तु तदवच्छेदकतामात्रमिति भावः । भ्रमविषयाणां बाधकधीवाध्यत्वमितीदमाद्यवच्छेदेन रजतादिकं जायत इत्यन्वयात् तादृशरजतादीनामुत्पत्तौ बाध्यत्वस्य हेतुता लभ्यते; सा च कुत इत्याकाङ्क्षायामाह—भ्रमस्थले इति । विषयतया भ्रमाधिकरण इत्यर्थः । बाध्यस्य भ्रमकाले उत्पत्तिस्वीकारादित्यन्वयः । ननु किमर्थं तदुत्पत्तिः स्वीकार्या, तत्पूर्वं विद्यमानानामेव भ्रमे भानं बाधधीश्चास्त्वित्यत आह—तस्येति । प्रातीतिकत्वेन प्रतीतिप्रयोजकत्वेन प्रतीतिसमकालत्वेन । प्रतीतिनिर्वाहानुरोधादुपगम्यमानस्य प्रतीतिपूर्वत्वे मानाभावात् । (प्रतीतिपूर्वं सत्त्वे मानाभावात्) । नच—प्रतीतिपूर्वमसत्त्वे इन्द्रियसंनिर्कर्षसंभवात् प्रतीतेरपि कथं निर्वाह इति—वाच्यम्; अविद्यावृत्त्यैव प्रतीतेरपि निर्वाहादिति भावः ।—एकेनैवेति । एकस्मिन्नेव उभयानुयोगिकत्वोभयप्रतियोगिकत्वोपगमादिति भावः । यथा एकेनैव संयोगेन घटपटयोः परस्परं विशिष्टधीः परिवृत्यस्थापनस्थले, तथेति बोध्यम् । आकारद्वये । अनुव्यवसायनिष्ठे—इदंरजतं जानामीत्याकारकत्वं, रजतमिदं जानामीत्याकारकत्वेतदुभयस्मिन् । “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति” इतिवत् भानान्वयिप्रयोजकत्वं सप्तम्यर्थः । तादात्म्यद्वयं इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्यं, रजतावच्छिन्नचिदनुयोगिकेदंप्रतियोगिकतादात्म्यैतदुभयम् ।—आकारभेदानुपपत्तेरिति । इदंरजतमिति रजतमिदमिति ज्ञानयोः यौ आकारौ विषयौ तयोः भेदानुपपत्तेरित्यर्थः । तादात्म्यस्यैकत्वे तादृशज्ञानद्वयविषयाणामविलक्षणत्वादिति भावः । संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वानां विशिष्टबुद्धिविषयता नेति हृदयम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हि ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यम् । तच्च विभिन्नविषयत्वरूपं ननु विषयिताविशेषमात्रम्, तथा सति बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्या साकारवादापत्तेः । तदुक्तमुदयनाचार्यादिभिः—‘अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धिया’ मिति । अर्थेन ज्ञानादत्यन्तभिन्नेन घटादिरूपेण विषयेणाभिन्नो धियां विशेषः । निराकारतया ज्ञानधर्मरूपाकारेण घटादिना विषयितास्थानीयेन हीनतया । तथाच घटादिकं विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानात् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैर्यदुच्यते, तथा न; किंतु ज्ञानादत्यन्तभिन्नम्, तथैवानुभवादिति भावः । तथाचेदंप्रतियोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्ययोर्भिन्नयोराकारयोरूपत्तिरावश्यिकी । किंच ‘इदं रजत’ मित्यादिश्रीस्थले रजततादात्म्यविषयत्वं इदंविषयत्वेनावच्छिन्नम् । इदंतादात्म्यविषयत्वं च रजतविषयत्वेनावच्छिन्नमित्याकारद्वयं प्रतीयत इत्युक्तम् । तच्च तादात्म्यस्यैकत्वे नोपपद्यते । रजततादात्म्यादिविषयताया इदंविषयतावच्छेद्यत्वे रजतादिविषयताया अपीदंविषयतावच्छेद्ये विशेषणत्वादिदंविषयताव-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

[नचैवमपि—तत्प्रतियोगित्वाद्युपहितरूपेण रजतादेः भेदादेव विषयवैचित्र्यमिति—वाच्यम् ; संबन्धप्रतियोगितादीनां विशिष्टबुद्धिविषयताभावेऽप्रामाणिकत्वात् । तत्प्रतियोगिकत्वं विनैव तत्संसर्गतया भानसंभवादित्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । इदं रजतमिति ज्ञाने एकस्मिन्, ‘इदं रजतं, रजतमिदम्’ इति ज्ञानयोर्वा इदंरजतयोः विषयत्वपक्षे इदमादिस्वरूपसंबन्धरूपाणां तासां स्वरूपत एव संसर्गत्योपगमे च न विषयवैलक्षण्यनिर्वाहः । नाप्येकस्यैव तादात्म्यस्य स्वप्रतियोगित्वानुयोगित्वोपहितरजतयोः भेदेन निर्वाहः । एवं विषयवैचित्र्याय रजतद्वयसंसृष्टत्वेन तादात्म्यभेदस्यावश्यकत्वेनान्योन्याश्रयापत्त्या स्वरूपत एव तादात्म्यभेदस्योपगन्तव्यत्वाच्च । (नन्वेवं इदमादेरनुयोगित्वप्रतियोगित्वयोरेव स्वरूपताभेदोऽस्त्वित्यत आह—एकस्यैवेति ।) एकस्यैव तादात्म्यस्य तयोरेवेदंरजतयोः, कदाचिदनुयोगित्वप्रतियोगित्वयोः, कदाचित् प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः नियामकत्वाभावाच्च न तेषां शिष्टबुद्धिरिति भावः । किंच एक्ये एकस्मिन् तादात्म्ये रजतादिप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरापत्त्या रजतादेः स्वस्मिन् स्वविशिष्टबुद्ध्यापत्तेर्वारणाय तत्तत्प्रतियोगित्वविशिष्टसंबन्धानुयोगितायास्तस्याः तद्विशिष्टबुद्धिविषयत्वनियामकत्वस्य च कल्पनापत्त्या गौरवात् तादात्म्यद्वयोपगम एव लाघवम् । नच—इदंरजतान्यतरस्यैव स्वरूपतो भेदोऽस्त्विति—वाच्यम्; अनुभवविरोधात् । तादात्म्ययोस्तु विशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन कल्प्ययोः स्वरूपतो भिन्नयोरेव कल्पनेऽनुभवविरोधविरहादिति बोध्यम् ।] ननु विषयाणामविलक्षणत्वेऽपि प्रकाशिताविशेष्यितारूपविषयितावैलक्षण्यादेवोक्तज्ञानयोर्वैलक्षण्यसिद्धिरित्यत आह—आकारो हीति । मिथोवैलक्षण्यं परस्परभेदसाधकः परस्परवृत्तिधर्मः ।—विभिन्नेति । ज्ञानान्तरविषयभिन्नेत्यर्थः ।—विषयत्वरूपमिति । विषयस्यापि विषयितासंबन्धेन ज्ञानसंबन्धित्वादिति भावः । मात्रपदेन विषयव्यवच्छेदः ।—बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्येति । अयं घटोऽयं पट इत्यादिज्ञानानां मिथो वैलक्षण्याय हि तेषां विषयाः परस्परं भिन्ना घटपटादिरूपा उपगम्यन्ते । विषयताविशेषानुपगम्य तैरेव ज्ञानवैलक्षण्यसिद्धावलं विषयैरिति भावः ।—साकारवादेति । ज्ञानस्य साकारत्ववादेत्यर्थः । नच स बौद्धातिरिक्तैरुपगम्यत इति भावः । अभिन्न इति । अर्थेनेत्यभेदे तृतीयेति भावः ।—विषयितास्थानीय इति । एतेन विषयितायास्तन्मतेऽनुपगम उक्तः ।—ज्ञानधर्म इति । तादात्म्येनेति शेषः ।—भिन्नाभिन्नतयेति । अत्यन्तं भेदेऽभेदे वा तादात्म्येन धर्मधर्मिभावानुपपत्तेरिति भावः । तत्र युक्तिमाह—तथैवेति । ज्ञानादत्यन्तभिन्नत्वेनैवेत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति—तथाचेति । विषयस्य ज्ञानवैलक्षण्यरूपत्वे चेत्यर्थः । ननु विभिन्नविषय एव सर्वज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यमिति स्वीकुर्वद्विरपि ज्ञाने विषयस्य संबन्धो विषयितारूपो वाच्यः । स च सिद्धान्तमते तादात्म्यमेवेत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । तादात्म्यं चाल्यन्तभेदेऽभेदे वा न घटते । इदमप्यग्रे व्यक्तम् । तथाच विषयस्य ज्ञानात् भिन्नाभिन्नरूपतेति बौद्धमत एव पर्यवसानमिति किं तादात्म्यद्वयेनेत्यत आह—किंचेति । यद्वा—तादात्म्यद्वयानुपगमे ज्ञानद्वयवैलक्षण्यानुपपत्तिमुक्त्वा परस्पराध्यासरूपस्यैकस्यैव ज्ञानस्याकारद्वयानुपपत्तिमाह—किंचेति । रजततादात्म्यविषयत्वं निरूपितत्वसंबन्धेन रजतविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयत्वम् । इदंतादात्म्यविषयत्वं इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयत्वम् । एवमग्रेऽपि ।—इत्याकारद्वयमिति । इतिहेतौ अनुव्यवसायस्याकारद्वयम् । तच्च आकारद्वयनिर्वाहकमुक्तविषयताद्वयं च ।—नोपपद्यत इति । तादात्म्यस्यैकत्वे इत्यादिः । इदंविषयतावच्छेद्यं रजतविषयताविशिष्ट-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च्छेद्यत्वेन नेदंतादात्म्यादिविषयितावच्छेदकत्वसंभवः, अवच्छेद्ये विशेषणीभूतायामिदंविषयितायामवच्छेदकत्वासंभवात् । नच—‘रजतमिदं जानामी’ त्यादिप्रत्यये रजतादिविषयतावच्छिन्नत्वमिदंविषयताविशिष्टे तादात्म्यविषयत्वे न भाति, किंतु केवल इति—वाच्यम्; तथा सति विशेषणविषयत्वे विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्यासिद्ध्यापातात् । नहि तदनुभवः पृथगस्ति । नच तदसिद्धमेव; सर्वानुभवसिद्धत्वात् । ननु—आस्तामिदमादिविषयत्वरजतादिविषयत्वयोः परस्परावच्छिन्नत्वम्—इति चेन्न । प्रसिद्धावच्छेदकस्य मूलादेस्तदवच्छिन्नसंयोगाद्यवच्छिन्नत्वाननुभवेन विषयत्वयोरपि परस्परावच्छिन्नत्वाकल्पनात् । इष्टान्तानुसारेणैव कल्पनात् । नच—मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्वाद्विलक्षणं विषयत्वनिष्ठमवच्छेदकत्वमिति—वाच्यम्; विलक्षणत्वासिद्धेः । मूलादिनिष्ठावच्छेदकताजातीयस्यैवावच्छेदकत्वस्य विषयत्वे अनुभवात् । विषयता हि विषयेषु ज्ञानस्य तादात्म्यम्, ननु वृत्तेराकाराख्यसंबन्धः । वृत्तिं विनापि सुखादेश्चिद्रूपज्ञाने विषयत्वानुभवात् । अतएव ज्ञानं चिदेव, ननु वृत्तिः । तथाचैकवृक्षादिनिष्ठसंयोगतदभावयोः अग्रमूलाद्यवच्छेदेनेवैकस्यां सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिच्चित्तौ शुक्त्यादिघटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्यतदभावयोरुपपादनार्थमवच्छेदकत्वस्वीकारेण तादात्म्यरूपविषयत्वे मूलादिनिष्ठसंयोगाद्यवच्छेदकत्वजातीयस्य विषयत्वावच्छेदकत्वस्य संभवेन गौरवापादकस्य विलक्षणावच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्ववदेव विषयत्वनिष्ठावच्छेदकत्वे अनुभवादिव्यवस्था । अथ—संयोगादेरवच्छेदकतासंबन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसंबन्धेन मूलादेर्हेतुत्वात् संयोगादेरेव मूलाद्यवच्छिन्नत्वम्, न विपरीतम्, मानाभावात्, विषयत्वयोस्त्वेकमेवापरत्रावच्छेदकमित्यत्र नियामकाभाव—इति चेन्न । व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तं तत् अवच्छेदकतासंबन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ; तथाच

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तादात्म्यविषयत्वं तद्विशेषणत्वादित्यर्थः । नेदंतादात्म्यविषयतावच्छेदकत्वसंभव इति । रजतविषयताया इत्यनुपपन्नः । तथाचेदं रजतं जानामीत्याकारनिर्वाहेऽपि रजतमिदं जानामीत्याकारनिर्वाह इति भावः । अवच्छेद्यम् इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयत्वम् । तत्र, विशेषणीभूतायामित्यर्थः । इदंविषयतायामिति । स्वावच्छेदकीभूतायामिति शेषः । अवच्छेदकत्वासंभवादिति । नच—प्रकारतारूपरजतविषयत्वं विशेष्यतारूपेदंविषयतावच्छिन्नं विशेष्यतारूपरजतविषयत्वं च प्रकारतारूपेदंविषयताया अवच्छेदकमिति संभवतीति—वाच्यम्; प्रकारतात्वविशेष्यतात्वरूपातिरिक्तोपाधीनां निराकर्तव्यत्वादिति भावः । रजतविषयताया इदंविषयतावच्छेदकत्वासंभवेऽपि इदंतादात्म्यविषयतावच्छेदकत्वं शङ्कते—नचेति । केवल इति । तादात्म्यविषयत्वे रजतविषयतावच्छिन्नत्वं भातीयनुपपन्नः । अनुव्यवसाये इति शेषः । क्वचित् धर्मितावच्छेदकोपलक्षितबुद्धेरप्युदयादिति भावः । विशेषणविषयत्वे इदंविषयत्वे । विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्य रजतविषयतावच्छिन्नत्वस्य । तादात्म्यद्वयोपगमे तु नेयमनुपपत्तिः । तादात्म्ययोः भेदेन तद्विषयतयोर्भेदात् तत्तन्निरूपितेदंविषयतयो रजतविषयतयोश्च भेदात् । यद्वा तादात्म्यभेदे तत्तत्प्रतियोगित्वानुयोगित्वोपहितरूपेण इदमो रजतस्य च भेदे परस्परविभिन्नमेवावच्छेद्यावच्छेदकभावापन्नविषयतात्रिकद्वयमाकारद्वयनिर्वाहकमिति नानुपपत्तिगन्धोऽपीत्यग्रे वक्ष्यते । ननु विषयता नाम वृत्तिरूपज्ञानस्य विषयेषु व्याप्यवृत्तिराकाराख्योऽतिरिक्तसंबन्धः, ननु संयोगजातीय इत्यत आह—विषयता हीति । अतएव वृत्तिं विनापि सुखस्य ज्ञानविषयत्वानुभवादेव । ननु आस्तां चिद्रूपज्ञानतादात्म्यं विषयत्वम् नैतावता संयोगजातीयत्वम् । किंच इदंरजतमिति विशिष्टज्ञानीयविषयतानामिदंरजतादिनिष्ठानां परस्परं व्यधिकरणानां समूहालम्बनतो वैलक्षण्यायावच्छेद्यावच्छेदकभाव उपेयते । संयोगतदभावयोस्तु समानाधिकरणयोरेकस्मिन्वृक्षे संयोगाभावेन सहवृत्तौ विरोधभङ्गनाय स उपेयते । तथाच कथं संयोगावच्छेदकताजातीयत्वं विषयावच्छेदकताया इत्याशङ्कां परिहरति—तथाचेति । गौरवादिति भावः । शुक्त्यादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्यस्य घटादितादात्म्यावच्छेदेन तदभावस्येति यथासंख्यानव्यलभ्यम्, इमानि विषयतारूपाणि तादात्म्यानि, विषयावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठत्वात् । विषयतारूपाणि तत्सजातीयावच्छेदकतावन्ति वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठान्यग्रे वक्ष्यन्ते । अनुभवव्यवस्थेति । अनुभवानुरोधात् स्वाश्रयानवच्छेदकीभूतावच्छेद्यनिरूपितत्वनियम इत्यर्थः । विषयत्वसंयोगयोर्वैषम्यं शङ्कते—अथेति । हेतुत्वादिति । अन्यथा मूलावच्छिन्नसंयोगस्यावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गादिति भावः । यद्यपि रजतादितादात्म्यस्य सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचित्ति घटावच्छेदेनोत्पत्तिवारणायावच्छेदकतासंबन्धेन रजतादितादात्म्यप्रतीदमादेस्तादात्म्येन हेतुताकल्पनमावश्यकमेवेति संयोगसामर्थ्यं; तथापि संयोगस्थलीयकारणतयैव यत्र निर्वाहस्तत्र तमादायैव समाधत्ते—व्यावहारिकस्येति । स्वावच्छिन्नसामान्येति । अन्यथा विभागादिकं प्रति पृथक्करणता

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रजतादितत्तादात्म्ययोरपि तत्तदिदमर्थव्यक्तिभिरवच्छिन्नत्वात्तयोक्तसंबन्धेनोत्पत्तौ तद्व्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वम्, अन्त्यावयविनामपि घटादीनां तन्मध्यस्थजलादिवायुसंयोगाद्यवच्छेदकत्वानुभवात्तेष्वपि तथैव भ्रमविषयावच्छेदकत्वसंभवः, गुणकर्मादीनां तु तादृशहेतुत्वस्याकृतत्वेऽपि तद्विशेष्यकभ्रमस्थले विशेषणसंसर्गयोर्विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासंबन्धेनोत्पत्तौ विशेष्यनिष्ठेन तत्तत्संबन्धेन दोषाणां हेतुत्वं कल्प्यते । एवमवच्छेदकतासंबन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वपरिणामाद्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासंबन्धेन हेतुः । स्वमज्ञानं तस्य परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं रजताद्युत्पत्तेरव्यवहितपूर्वक्षण एवास्तीति रजताद्युत्पत्तिक्षण एवेदमादिविशेष्यतादात्म्यं रजताद्यवच्छेदेनेदमाद्याकारमनोवृत्तित्तादात्म्यं रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेनोत्पद्यते । स्वमज्ञानं तत्परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तन्निष्ठा विषयता ईश्वरज्ञानादेरस्तीति सा संबन्धः । स्वपरिणामे भाविनि तादात्म्यादिसंबन्धेन पूर्वमज्ञानस्यासत्त्वात् स्वपरिणामनिष्ठविषयतेत्युक्तम् । विषयतासंबन्धस्य च भाविभूतविषये ज्ञानादेः सत्त्वादुक्तविषयतासंबन्धेन भाविन्यप्यज्ञानसत्त्वम् । अतएव 'ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासंबन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासंबन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतु'रिति तार्किका वदन्ति । रजतादितत्संसर्गयोरिदमाद्यवच्छिन्नत्वात्तदीयचित्तादात्म्यरूपं विषयत्वमपि तथा, इदमादिविषयत्वावच्छिन्नं च संभवति । इदमादिविषयत्वस्य तु रजतादिप्रतियोगिकतादृशसंसर्गविषयत्वावच्छिन्नत्वे मानाभावात् 'रजतमिद'मिति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

कल्पनापत्तेः । रजतादितत्तादात्म्ययोरिति । इदं तादात्म्यं—रजतीयसंबन्धरूपं न तु विषयतारूपम्, तस्येदमाद्यवच्छिन्नस्य रजतादितत्संबन्धयोरित्यादिनाऽनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात् । नन्विदमर्थो यत्र कस्यचिदवयवः तत्र तस्य स्वारब्धावयवनिष्ठसंयोगादावुक्तहेतुत्वं कृतम्, यत्र तु घटादिरूपोऽन्त्यावयवी इदमर्थस्तत्र घटावयवावच्छिन्नसंयोगाद्यप्रसिद्धा घटादीनामुक्तहेतुत्वं न कृतमत आह—अन्त्यावयविनामिति । तन्मध्यस्थजलादिवायुसंयोगेति । तन्मध्यस्थजलादीनां वायुना संयोगेत्यर्थः ।—अवच्छेदकत्वानुभवादिति । जले घटवायुसंयोगो नान्यत्रेति प्रतीतेः स्वसमवायवयवानामिव स्वसमवायिसंयोगिनामपि स्वसंयोगादाववच्छेदकत्वमिति भावः । तेष्वपि अन्त्यावयविष्वपि । तथैव कृतकारणताबलेनैव । गुणकर्मादीनामपि महाकालनिष्ठकालिकसंबन्धावच्छिन्नगुणत्वाद्यधिकरणतावच्छेदकत्वात् । तादृशहेतुत्वं कृतमेवेति सूचनायाकृतत्वेऽपीत्यपिशब्दः । तद्विशेष्यकेति । गुणादिविशेष्यकेत्यर्थः । तत्संबन्धेनेति । अवच्छेदकतासंबन्धेनेत्यर्थः । आश्रयतासंबन्धेनेति वा । विशेष्यपदद्वयं विशेष्ये कार्यकारणयोः सत्त्वसूचनाय ।—दोषाणामिति । यद्यपि विशेष्यस्यैव तादात्म्येन हेतुता वक्तुं शक्यते; तथापि भ्रमे तद्विषये च दोषाणां हेतुत्वस्य कृतत्वात् दोषपर्यन्तानुधावनम् । नन्वेवमपि रजतमिदमित्याकारे रजतादिरूपविशेष्यं इदमादिरूपविशेष्यतादात्म्यावच्छेदकं सिद्ध्यति तत्र च रजतादेः भ्रमपूर्वमसिद्धतयोक्तरीत्या कार्यकारणभावेन न निर्वाहः, अज्ञानस्य चानादितया भ्रमपूर्वमेव रजतावच्छेदेनेदं तादात्म्योत्पत्तिः स्यादित्यतस्तादृशपूर्वत्ववैशिष्ट्यं कारणतावच्छेदकमुपात्तमिति ध्वनयन्नाह—अव्यवहितपूर्वक्षण एवेति । इदमादिविशेष्यमिति । विशेष्यत्वम् इदं रजतमित्याकारकमाश्रित्य स्वरूपकीर्तनमात्रम् । ईश्वरेति । विषयतया स्वीयत्वानिवेशादिति भावः (स्वीयत्वानिवेशे बीजमाह) अधिष्ठानमेवाज्ञानविषयो नत्वध्यस्तमिति बोध्यम् । ननु तादात्म्यमेव जनकतावच्छेदकसंबन्धोऽस्त्वित्यत आह—स्वपरिणाम इति । भाविनीति हेतुगर्भम् । उक्तमिति । तादात्म्यरूपाया ईश्वरज्ञानविषयताया अपि भाविन्यसंभवात् विषयतायां तादात्म्यभिन्नत्वविशेषणोपादानमिति केचिदाहुः । एवं चात्रेश्वरज्ञानं मायावृत्तिः तदीयाकाराख्यसंबन्धो विषयतेति बोध्यम् ।—परेतु रजतादितादात्म्ये इदमादितादात्म्यावच्छेदकत्ववारणाय तादात्म्यभिन्नत्वं स्वपरिणामविशेषणमिति वदन्ति । ननु भाविन्यज्ञानमपि कथं तिष्ठति विषयतायास्तत्र दुर्घटत्वादित्यत आह—विषयतासंबन्धस्येति । ज्ञानादेः विषयतासंबन्धस्येति योजना ।—उक्तेति । स्वपरिणामनिष्ठेत्यर्थः । ननु इदमवच्छिन्नचिद्रूपाधिष्ठाननिष्ठयो रजततादात्म्यरूपतत्संबन्धयोरिदमवच्छिन्नत्वस्य सिद्धावपि रजतादिविषयतायामिदं विषयतावच्छिन्नत्वमसिद्धमत आह—रजतादीति । तदीयं रजततत्संसर्गायम् । चित्तादात्म्यरूपं वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपज्ञानतादात्म्यरूपम् । तथा इदमवच्छिन्नम् । यस्य वस्तुनो यदवच्छिन्नत्वं तत्संबन्धस्यापि तदवच्छिन्नत्वनियमात् । अतएव कपिसंयोगादेरग्राह्यवच्छिन्नत्वात् तदीयसंबन्धस्य समवायरूपस्य तादात्म्यरूपस्य वाऽग्राह्यवच्छिन्नत्वमिति वदन्ति ।—संभवतीति । तस्येदमवच्छिन्नत्वात् । यस्य यदवच्छेदकत्वं तत्संबन्धस्यापि तदवच्छेदकत्वनियमादिति भावः । एवंच इदं रजतमित्याकारनिर्वाह इति बोध्यम् । इदमादिविषयत्वस्येति । इदं रजतमित्याद्याकारनिर्वाहकस्येत्यादिः ।—रजतादिप्रतियोगिकेत्यादि । अस्यापि तादृशकारनिर्वाहकस्येत्यादिः । मानाभावादिति । तन्निर्वाहकार्यकारणभावविर-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

द्वितीयाकारसिद्ध्यर्थं रजतादितद्विषयत्वावच्छेदेन तादात्म्योत्पत्तिः स्वीक्रियते । तस्य च तादात्म्यस्येदमादिप्रतियोगिकत्वसिद्ध्ये प्रतियोगितासंबन्धेन तादात्म्योत्पत्तौ स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसंबन्धेनोक्ताज्ञानस्य हेतुतान्तरं कल्प्यते । तथाच भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादिकं तद्विषयत्वं च तदेव रजतादौ तत्तादात्म्ये तयोर्विषयत्वे च तावदुपहितरूपेणावच्छेदकम् । यत्तु भ्रमकाले इदमर्थस्य तादात्म्यं तत्प्रतियोगित्वोपहितमिदमादिकं च जायते यच्च तयोर्विषयत्वं, तानि तदुपहिततादृशरजतादिनावच्छिद्यन्ते । एवंच मूलसंयोगादीनामिव परस्परानवच्छिन्नत्वनियमो न व्याहृतः, न वा परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वरूप आकारयोर्भेदनियमो व्याहृतः । 'इदं रजत' मित्याकारे तादृशावच्छेद्यावच्छेदकयोरेव भानेन जायमानस्य रजतप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितरजतस्य तदनुयोगित्वोपहितेदमर्थस्य च भानात् । 'रजतमिद' मित्याकारे तु जायमानस्येदंप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितेदमर्थस्य तदनुयोगित्वोपहितरजतस्य चावच्छेद्यावच्छेदकतया भानेनाकारद्वयविषयाणां मिथो भिन्नत्वात् । नच—इदमाद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्य रजतादौ प्रतियोगितासंबन्धेनोत्पत्त्या तत्रोक्तसंबन्धेनाज्ञानस्याभावात् व्यभिचार इति—वाच्यम्; रजतादेरुक्ततादात्म्यस्य प्रतियोगिताभावेऽपि रजतादिसंसर्गतया भानसंभवात् । नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

हादिति भावः । इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्यनिर्वाह्यतादृशविषयताभ्यां द्वितीयाकारसिद्धसंभवादिति शेषः । तादात्म्यस्य तादात्म्यान्तरस्य । ननु काज्ञानरूपकारणबलाद्रजतावच्छेदेन तादात्म्योत्पत्तिर्निर्वाहेऽपि तादृशतादात्म्यस्येदंप्रतियोगिकत्वे किं नियामकमत आह—तस्य चेति । स्वमज्ञानं तदाश्रयता इदमवच्छिन्नचितः तदवच्छेदकताया इदमि सत्त्वात् तत्र प्रतियोगितासंबन्धेन तादात्म्यसिद्धिः । तथाच तादात्म्यद्वयोपगमे च । अत्र मूलसंयोगयोः परस्परानवच्छिन्नत्वनियमवत् मूलत्वसंयोगत्वादीनां परस्परावच्छिन्नत्वनिरूपितावच्छेदकतानवच्छेदकत्वनियमोऽपि वर्तते । तथाच भ्रमपूर्वेदमादेरिदमादिरूपेण रजताद्यवच्छेदकत्वे भ्रमकालोत्पन्नतादात्म्योपहितेदम इदंत्वेनैव रूपेण रजताद्यवच्छिन्नत्वे चोपगम्यमाने रजताद्यवच्छेदेदमस्तादात्म्यरूपोपाधिभेदात् भेदेन प्रथमनियमाभङ्गेऽपि रजताद्यवच्छेदकतावच्छेद्यतावच्छेदकरूपैक्येनोक्तद्वितीयनियमभङ्गः स्यादतउक्तम्—तावदुपहितरूपेणेति । रजतादिरूपतदुपाध्वुपहितरूपेणेत्यर्थः । रजतोपहितमिदमादिकं रजतावच्छेदकं, तत्तादात्म्योपहितं च तादात्म्यावच्छेदकमित्यादीति यावत् । इदंनिष्ठावच्छेदकतायां रजतोपहितं तादात्म्यसंबन्धेनावच्छेदकम्, उपाधेः स्वविषयान्वयिनाऽनन्वयेनावच्छेदककोटावतिवेशात् न रजतादिरूपस्य स्वावच्छेदकतावच्छेदकतापत्तिः । नचैकोपहितरूपेणैव सर्वान् प्रत्यवच्छेदकत्वमस्तिवति वाच्यम् । एकस्यैकरूपेण नानेकावच्छेदकतेति नियमसत्त्वे तस्याप्यभङ्गाय विनिगमनाविरहेण सर्वेषामेकैकावच्छेदकतावच्छेदकतावारणाय च तत्तदुपहितरूपस्य तत्तदवच्छेदकतावच्छेदकत्वानुसारा(नुसरणा)दिति बोध्यम् । भ्रमपूर्वसिद्धादिदमः तत्कालीनस्येदमो भेदकमाह—तत्प्रतियोगित्वोपहितमिति । इदं रजतमित्याकारे भासमानरजताद्रजतमिदमित्याकारे भासमानरजतस्य भेदकमाह—तदुपहितेति । तादृशतादात्म्यादिनोपहितमित्यर्थः । एवंच—आकारद्वये भासमानेदमर्थस्योपाधिभेदेन भेदाश्रयणे च । नन्विदमर्थमेदोपगमेनैव तादृशनियमनिर्वाहे रजतादेरप्युपाधिभेदेन भेदाश्रयणं व्यर्थमत आह—नवा परस्परभिन्नेति । एवं चेदृशनियमनिर्वाहायैव रजतादेरपि भेद आवश्यक इति भावः । आकारयोः ज्ञानाभिलापकविभिन्नानुपूर्वीकशब्दयोः । एवंच भिन्नसर्वविषयकत्वमित्यत्र विषयताव्यापाररूपः । यद्वा—आकारयोः भिन्नानुपूर्वीकशब्दाभिलापप्रत्यययोः । तदभिलाप्यत्वं च तज्जन्यशाब्दबोधसमानविषयकत्वम् ।—इदंरजतमित्याकारे । भ्रमात्मकप्रत्यये इति शेषः । तादृशावच्छेद्यावच्छेदकयोः रजतादिरूपावच्छेदेदमादिरूपावच्छेदकयोः । भानेन भानस्यावश्यकतया । भानादित्यत्रान्वयः । इदंरजतमिति शब्दजबोधे तथैव भानादिति भावः । अवच्छेद्यावच्छेदकतया । रजतान्वयि भानान्वयित्वाश्रयत्वं तृतीयार्थः । प्रतियोगितासंबन्धेन तादात्म्यं प्रति स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसंबन्धेनाज्ञानस्य हेतुतायां व्यभिचारमाशङ्कते—नचेति । उत्पद्येति । अन्यथा तत्प्रतियोगिकसंसर्गविधया तज्ज्ञानासंभवादिति भावः ।—अज्ञानस्याभावादिति । स्वोत्पाद्यं रजतादिकं नाज्ञानस्याश्रयतावच्छेदकम्, आत्माश्रयपर्यवसानप्रसङ्गात् । नच—अनादे रजतोपादानाज्ञानस्य जन्यमिदमादिकमपि कथमाश्रयतावच्छेदकम्, तथा सति तत्पूर्वं तदाश्रयतया निरवच्छिन्नचिन्निष्ठत्वप्रसङ्गादिति—वाच्यम्; तत्पूर्वं तदुपादानमूलाविद्याया एव जन्यत्वेन तूलाज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वसंभवादिति भावः । ननु रजते तत्प्रतियोगित्वाभावे कथं तत्संसर्गतया तादात्म्यभानम्, रजतसंसर्गतया तादात्म्यभाने विशिष्टबुद्धौ संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोर्विषयतया रजते तत्प्रतियोगित्वभानेन रजते तत्प्रतियोगित्वस्यावश्यकत्वादित्यत आह—नहीति । विशेषणे प्रतियोगित्वं, विशेष्ये अनुयोगित्वम् । नन्वेवम् इदंरजत-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशिष्टबुद्धोर्विषयौ, येनानुभवबलादेव तयोस्ते सिद्ध्यतः । अथवा रजताद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्यापि नेदमादिप्रतियोगिकत्वम्, किंतु तत्संसर्गतया भानमात्रमतो न तादृशकार्यकारणभावाभावेऽपि क्षतिः । वस्तुतस्तु दोषादिघटिता सामग्र्येव रजतादिप्रातीतिकप्रतियोगिकतादात्म्ये नियामिका, व्यावहारिकप्रतियोगिके प्रातीतिके तादात्म्ये च अज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वं नियामकम् । ननु—‘रजतमिदं’मित्याकारसिद्धये इदमादितादात्म्योत्पत्तिस्वीकारो व्यर्थः, इदंत्वादिसंसर्गोत्पत्त्यापि तादृशकारसिद्धेः—इति चेन्न । तादृशकारे तादृशस्य संसर्गस्य तादात्म्यस्य वा भानमित्यत्र विनिगमकाभावात् । तस्माद्वर्त्मयोः संसर्गाविव धर्मिणोस्तादात्म्ये अपि प्रातीतिके जायेते । तयोरिव तयोरपि सप्रतियोगिकतया प्रतीयमानत्वात् बाध्यत्वानुभवाच्च । एतेन ‘इह रजतं ने’ति बाध्यस्य बाध्यं रजतमेव, ननु तत्प्रतियोगिकं तादात्म्यम्; तथाच भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादितादात्म्यं तस्यैव रजतादिविशेषणं प्रति संसर्गतया भानम्—इत्यपास्तम् । रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन प्रतीतेर्बाध्यत्वानुभवस्य च रजताद्यप्रतियोगिकतादात्म्येनानिर्वाहात् । नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे न भासेते इति वक्तुं शक्यते । घटभूतलादिनिष्ठयोर्वृत्तिज्ञानीयविशेषणताविशेष्यतयोर्भासमानवैशिष्ट्यीयभासमानप्रतियोगित्वानुयोगित्वस्वरूपत्वादवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्नचिच्छेद्यतादात्म्यरूपयोर्विशेष्यताविशेषणतयोश्चिद्रूपज्ञान एव स्वीकारेण वृत्तौ स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । ननु—तथापि रजतादेरुपनयनसंनिकर्षेण

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मित्याकारे भासमानतादात्म्यसंसर्गप्रतियोगिताया अपि इदमि भानाभावेनानुपगमसंभवेन तत्र तन्निर्वाहकोक्तहेतुताकल्पनं व्यर्थमित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—अथवेति । ननु संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोर्विशिष्टबुद्धिविषयत्वस्यानुपदं व्यवस्थापनीयतया भ्रमविषयसंसर्गभूततादात्म्यप्रतियोगित्वस्येदम्यावश्यकतया तन्निर्वाहकोक्तहेतुतायां रजते उक्तरीत्या व्यभिचारो दुर्वार इत्याशङ्कां परिहरति—वस्तुतस्त्विति । दोषादिघटितेति । विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासंबन्धेन रजतं तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यं च प्रति तन्निष्ठावच्छेदकतासंबन्धेन दोषाणां हेतुत्वस्योक्तत्वाद्रजते तत्संबन्धप्रतियोगिकत्वस्य कार्यतावच्छेदकघटकतया उत्पत्तिनिर्वाहादिति भावः ।—यद्वा प्रातीतिकनिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन तादात्म्यं प्रति स्वजन्यप्रकारनिष्ठविषयतासंबन्धेन दोषाणां हेतुत्वं; कार्यतावच्छेदके निष्ठान्तनिवेशात् व्यावहारिके इदमि न व्यभिचार इति भावः । नियामिका प्रतियोगितासंबन्धेन तदुत्पत्तिप्रयोजिका । एवं नियामकमित्यत्रापि ।—व्यावहारिकप्रतियोगिकेइति । व्यावहारिकनिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन तादात्म्यं प्रति स्वाश्रयावच्छेदकतासंबन्धेनानज्ञानस्य हेतुत्वं; निष्ठान्तनिवेशात् रजते नोक्तरीत्या व्यभिचार इति भावः ।—इदंत्वसंसर्गोत्पत्त्येति । नच—रजतमिदमिति शब्दस्य तादात्म्यसंबन्धेनेदंप्रकारकबोधजनकस्येदंत्वप्रकारकबोधाजनकतयेदंत्वप्रकारकज्ञानस्य तादृशकारत्वासंभवादित्त्वसंसर्गोत्पत्तिरकिंचित्करीति—वाच्यम्; तादृशशब्दबोधस्य धर्मिपारतन्त्र्येणेदंत्वप्रकारकतयेदंत्वप्रकारकज्ञानस्यापि कथंचित्तादृशकारकत्वसंभवात् । अन्यथेदंत्वादिकप्रकारकज्ञानाकारस्य सुविस्पष्टस्य दुर्लभत्वापत्तेः । अत एवेदंत्वद्रव्यत्वादिसाध्यकप्रतिज्ञायामिदं द्रव्यमिति रीत्यैव साध्यनिर्देश इति भावः । धर्मयोः इदंत्वरजतत्वयोः । संसर्गो स्वरूपसमवायौ । धर्मिणोः इदंरजतयोः । प्रातीतिके मिथ्याभूते । उत्पत्तौ प्रतीयमानत्वं हेतुः । मिथ्यात्वे तु बाध्यत्वानुभवः ।—सप्रतियोगिकतयेति विशेषणयोः तादात्म्यप्रतियोगितासिद्धये ।—तस्यैवेति । तथाच रजतप्रतियोगिकतादात्म्यं व्यर्थमिति भावः ।—रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेनेति । संसर्गप्रतियोगित्वादेः विशिष्टबुद्धिविषयत्वादिति भावः ।—बाध्यत्वानुभवस्य चेति । विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययेन रजतप्रतियोगिकतादात्म्यत्वावच्छिन्नादिरूपविषयस्यापि मिथ्यात्वावगाहनस्योक्तत्वादिति भावः ।—यद्वा तस्येत्यादि । व्यधिकरणसंबन्धेन रजताप्रतियोगिकतादात्म्येन रजताभावस्य केवलान्वयित्वेन मिथ्यात्वाघटकत्वादिति भावः ।—अनिर्वाहादिति । अनिर्वचनीयख्यातिवादभिरस्माभिरन्यथाख्यातेरनुगमादिति भावः । ननु संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्टबुद्धौ न भासेते इति वक्तुं शक्यते । तत्र तद्ज्ञाने युक्त्यभावादित्याशङ्कां परिहरति—नहीति । तत्र तद्ज्ञाने युक्तिमाह—घटेत्यादि । प्रतियोगित्वे भासमानत्वानुपादाने घटभूतलसंयोगा इति समूहालम्बनेऽपि घटभूतलयोः परस्परं विशेष्यविशेषणभावापत्तिर्बोद्ध्या । नन्ववच्छेदकरीभूतं ज्ञानविषययोस्तादात्म्यं विशेष्यता, अवच्छेद्यभूतं तु तत्र प्रकारता, तयोश्च वृत्तिज्ञाने उपगमे प्रतियोगित्वादिभानेन कोऽर्थ इत्यत आह—अवच्छेदकेति । ननु वृत्तेरपि ज्ञानत्वे चिद्रूपज्ञाने एवेति कोऽयमाग्रह इत्यत आह—चैतन्यस्यैवेति (चिद्रूपज्ञान एव) । वृत्तौ ज्ञानव्यवहारस्तु ज्ञानावच्छेदकतयापचारिक इति भावः ।—अशक्यत्वादिति । वृत्तिर्हितःकरणस्य परिणामः, तथा च सह घटभूतलादेर्नावयवावयविभावादिः; नाप्यध्यस्ताधिष्ठानभावः; अतो न तादात्म्यं संबन्धः । नापि संयोगादिकं; गुणादिषु तदसंभवात् । अतो वृत्तिविशेष्यतादिकमुक्तरूपमेवेति, भावः । भ्रमस्य रजतमिद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्यक्षे विषयीभवतो विशेषणत्वमेव ननु विषयत्वं; उपनीतं विशेषणतयैव भातीति नियमात्—इति चेन्न । उपनयस्य सिद्धान्ते प्रत्यक्षविषयत्वानियामकत्वादुक्तनियमस्याभावात् । परमते तद्भावेऽप्यलौकिकविशेषणतायामेव तस्य नियामकत्वात् । लौकिक्यां च विशेषणतायामिव विशेष्यतायामपि दोषाणामेव बाधविशेषाभावादिसहकृतानां नियामकत्वात् । ननु—रजतस्याध्यासे स्वीकृते तत्तादात्म्यस्यापि अध्यास आवश्यकः, स एव कुतः, रजतत्वादिधर्मस्यैव संसर्ग आरोप्यते; तावतैव प्रतीतिबाधयोरुपपत्तेः, किमिति रजततत्तादात्म्ययोरध्यास उच्यते—इति चेन्न । रजतस्योत्पत्तिं विना रजतत्वमत्र साक्षात्करोमीति प्रत्ययानिर्वाहात् । देशान्तरस्थरजते मनोवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तद्गतत्वत्वादावपि तदभावात् । नच—रजतत्वादेरेवोत्पत्तिरस्तु ननु तद्वत् इति—वाच्यम्; अनेकधर्माणामुत्पत्तिकल्पनामपेक्षैकस्य धर्मिण एवोत्पत्तिकल्पनाया लघुत्वात् । अखण्डरजतत्वादेरुत्पत्तौ तस्य पूर्वमननुभूतत्वेन पूर्वानुभूतरजतत्वादिप्रकारकप्रवृत्त्यादिकार्यस्य भ्रमस्थलेऽनुपपत्तेः । तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यकमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्या । तथाच तद्वदेव व्यावहारिकघटादिभ्रमस्थलेऽपि 'सन्तं घटं जानामि,' 'घटं सन्तं जानामी'त्याकारद्वयानुभवात्, तादृशभ्रमस्य विषयविशिष्टस्य बाधकप्रत्ययेन श्रुत्यनुमानादिना च मिथ्यात्वप्रत्ययाच्च, सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च, घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यं सत्त्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते, केवलस्य सतोऽधिकरणत्वेऽपि तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितरूपेण तस्य तत्संबद्धत्वेनावच्छेदकत्वम् । नच—एकस्यैवानादेः सत्तादात्म्यस्याविद्यायामिव घटादावपि संभवात् घटाद्यवच्छेदेनानन्तसत्तादात्म्यानामुत्पत्तौ न मानमिति—वाच्यम्; सत्तादात्म्यं हि चिद्रूपज्ञानस्य विषयतारूपतादा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मित्याकारासिद्धिं शङ्कते—नन्विति । सिद्धान्ते मीमांसकसिद्धान्ते । परमते नैयायिकमते । तद्भावे उपनयसन्निकर्षभावे । लौकिक्यांचेति । रजते च लौकिक्येव सा; रजतं पश्यामीत्यनुव्यवसायादिति भावः । दोषाणां—चाकचक्यादीनां । कामलादिदोषाणां तु बाधाभावोऽपि न सहकारीति बोध्यम् । स एव रजताध्यास एव । रजतत्वादिधर्मस्येति । देशान्तरस्थरजतादिगतस्येति शेषः । प्रतीतिः इदंरजतमित्याकारः । बाधो नेदंरजतमित्याकारः । रजतीयतादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नाभावस्यापि तत्र प्रतीयमानस्य रजतत्वबाधरूपत्वात्; इदंरजतमिति नञूरहितशब्दोद्देशेतिप्रतीते रजतत्ववैशिष्ट्यावगाहित्वोपगमेन नेदंरजतमिति प्रतीतेः रजतत्वाभावावगाहिवस्य सुवचत्वाच्च, प्रतियोगितदभावयोः समानयोगक्षेमत्वात् । शङ्कामुपसंहरति—किमितीति । देशान्तरस्येति । रजतत्वमत्रसाक्षात्करोमीत्यत्र हि वृत्त्यवच्छिन्नचित्साक्षात्कारः, तदन्वयि तादात्म्यरूपं विषयत्वं द्वितीयार्थः, आख्यातार्थस्तादात्म्यावच्छिन्नमाश्रयत्वं, तस्याध्याहियमाणाहंपदार्थेऽन्तःकरणावच्छिन्नमित्यन्वयः । एवंच रजतवीयतादात्म्याश्रयवृत्त्यवच्छिन्नचित्तादात्म्याश्रयीभूतमन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं तत्र भासते । तथाच वृत्त्यवच्छिन्नचित्तादात्म्यद्वारकमन्तःकरणावच्छिन्नचित्तादात्म्यं रजतवीयं तादृशप्रतीतौ प्रयोजकम् । तच्च रजतस्य तादृशचित्तादात्म्यनियतम् । तत्र रजतस्योत्पत्त्यनङ्गीकारे देशान्तरस्थरजतस्य तादृशतादात्म्यमेव प्रकृते वाच्यम्, तच्च न संभवति । तदाकारवृत्तिप्रयोजकसन्निकर्षादिविरहेण तादृशवृत्त्यभावेन तदवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तस्यान्तःकरणावच्छिन्नचित्तादात्म्याभावादिति देशान्तरस्थरजतगतत्वस्यापि न तादृशचित्तादात्म्यमिति तादृशप्रत्ययानुपपत्तिरिति भावः । मनः अन्तःकरणम् । तद्वतरजतत्वेति । प्रकृते तदीयसंसर्गारोपस्यैवोपगतत्वेन रजतत्वोत्पत्तेरपि त्वयाऽनुगमादिति भावः । रजतोत्पत्तेरभावेऽपि रजतत्वोत्पत्तिमभ्युपगम्य तादृशप्रत्ययोपपत्तिं शङ्कते—नचेति । धर्मिण एवेति । तथाच तद्वतधर्माणां सहजतो मनोवच्छिन्नचित्तादात्म्यमिति भावः ।—अखण्डेति । अतिरिक्तैत्यर्थः । देशान्तरस्थरजतवृत्ते रजतत्वस्यान्यत्रोत्पत्तेरसंभवादिति भावः ।—अनुपपत्तेरिति । तथाचाखण्डरजतत्वप्रकारज्ञानत्वेन प्रवृत्तौ कारणत्वान्तरकल्पनापत्त्या गौरवान्तरमिति भावः । दृष्टान्तमुपसंहरति—तस्मादिति । दार्ष्टान्तिकं व्युत्पादयति—तथाच तद्वदेवेति । सन्तं घटं जानामीत्यत्र सद्विषयतावच्छिन्नघटतादात्म्यविषयत्वं, घटं सन्तं जानामीत्यत्र च घटविषयतावच्छिन्नसत्तादात्म्यविषयत्वं भातीत्यादिदृष्टान्तरीत्या सर्वं योजनीयम् । बाधकप्रत्ययेन 'सन् घटः' 'घटः सन्नि'ति यत् ज्ञानं तन्मिथ्येत्याकारकेणेति शेषः । अयं च प्रत्ययः तत्र तत्र श्रुत्यागौ द्वैतभ्रमो मृषेति वाक्यजन्यो बोधः ।—श्रुत्यनुमानादिनाचेति । घटादिप्रपञ्चस्येत्यादिः । श्रुतिः, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिरूपा । अनुमानं प्रकृतमेव । ननु सद्रूपं ब्रह्म घटादेरधिष्ठानं, तत् कथं तदवच्छेदकम् ? तस्य स्वासंबद्धतया अवच्छेद्याधिकरणासंबद्धत्वादित्याशङ्कां (परिहरति) वारयति—केवलस्य सत इति । एतत्संबद्धत्वेन अवच्छेद्यघटाधिकरणीभूतब्रह्मसंबद्धत्वेन ।—अनादेरिति । 'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चित्तोयोगः षडस्माकमनादयः ॥' इत्युक्तेरिति भावः ।—न मानमिति । तथाच तावतैव घटः सन् इत्यादिप्रत्ययोपपत्तेरिति भावः । हि यतः । सत्तादा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्यम्, तथाच कपालादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्येनावच्छिन्नस्य घटादिनिष्ठविषयतारूपस्य सत्तादात्म्यस्य तन्त्वादि-
निष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्यावच्छिन्नेन पटादिनिष्ठविषयतारूपेण सत्तादात्म्येनाभेदासंभवादवच्छेदकभेदेन सत्तादा-
त्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वेनानन्त्यं प्रामाणिकम् । नहि तार्किकादिभिरपि तत्तद्विषयतावच्छिन्नविषयतानामैक्यमुच्यते ।
तेषां च संयोगादिवदेवोक्तरीत्या जन्यत्वमपि । तस्मादाकारद्वयानुभवात्, भ्रमविषयत्वहेतुना मिथ्यात्वानुमितेः,
'सत्तादात्म्यमिदमादितादात्म्यं च यदि मिथ्या न स्यात्तदा भ्रमविषयो न स्यात् विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययात्'
इति तर्कादिदमादितादात्म्यमिव सत्तादात्म्यमपि मिथ्या । तदिदं सर्वं शारीरकसंक्षेपशारीरकपञ्चपादिकादिमूलकम् ।
उक्तं हि शारीरके—'अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माश्चाध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहार इति । अन्योन्य-
स्मिन् परस्परावच्छेदेन । उक्तं च संक्षेपशारीरके—'इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विति ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥ इतरेतराध्यसनमेव ततश्चित्तिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्नहि कल्पना गुरुतरा घटते ॥ अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः । चित्ति-
चेत्यवस्तुयुगलस्य न चेन्नितयस्य बाधनमिहापतति ॥' इति । अस्य इदमर्थस्य, न यदीत्यादि । यदीदमर्थो न कल्पितः
तदा भ्रमे न स्फुरेत् । शुक्तिरिव शुक्तिविविशिष्टमिवेत्यर्थः । इतरेतराध्यसनं परस्परावच्छेदेनाध्यासः । गुरुतरेति ।
रजतादिभ्रमे यथा दृष्टं तद्विपरीता व्यावहारिकभ्रमस्थले एकस्यैवाध्यास उत्पत्तिश्चेति कल्पनानुपस्थितविषयकत्वेन गुर्वी ।
आवश्यकानामनन्तसत्तादात्म्यानां विषयत्वरूपाणामनध्यस्तत्वे सत्यत्वापत्तेरद्वैतश्रुतिसंकोचापत्तेश्च । तेषामध्यस्तत्वेऽपि
न जन्यत्वमिति स्वीकारे कपालादिनिष्ठविषयत्वावच्छिन्नानां घटादिनिष्ठविषयत्वानां पूर्वोक्तरीत्या कपालादिनाप्यवच्छिन्न-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्म्यानामानन्त्यं प्रामाणिकमिति योजना । तत्रावश्यकत्वेनेत्यन्तं, तत्र च असंभवादित्यन्तं हेतुः । एकस्यैव सत्तादात्म्यस्य
कपालादिघटादिनिष्ठविशेषणताविशेष्यतारूपविषयतारूपत्वेऽवच्छेद्यावच्छेदकभावो न स्यादिति भावः । अत्र दार्शनिकसंवा-
दमाह—नहीति । तत्तद्विषयतेति । कपालत्वादिविषयतावच्छिन्नघटपटादिविषयतानामित्यर्थः । सत्तादात्म्यानां नित्य-
त्वेऽवच्छेदकनियमानुपपत्तिर्वैधर्माणां गौरवं चेत्यतः तेषां जन्यत्वमाह—तेषां चेति । दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति—त-
स्मादिति । 'भ्रमविषयो न स्यादिति' त्यस्य, इति तर्काच्चैत्रान्वयः । आपाद्यापादकयोः व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चयं दर्शयति—
विषयविशिष्टभ्रमस्येति । विषयितासंबन्धेनेदं सदाविषयविशिष्टे भ्रमे मिथ्यात्वप्रत्ययो हि इदमादौ भ्रमविषयत्वं मिथ्यात्वं
चावगाहमानस्तदुभयसहचारप्रत्ययविधया व्यभिचाराग्रहसाहित्येन तदुभयव्याप्तिनिश्चयं जनयतीति भावः ।—यद्वा इदमा-
देर्मिथ्यात्वग्राहकान्तरमाह—विषयविशिष्टस्येति । एतेन एतस्य तर्काकारे प्रवेशासंभवेऽपि नासङ्गतिरिति बोध्यम् ।—
इदमादितादात्म्यमिति । रजतावच्छेदेन रजततादात्म्यापन्नचित्तीति शेषः ।—सत्तादात्म्यमिति । घटावच्छेदेन
घटतादात्म्यापन्नचित्तीति शेषः । एवं च रजते इदंतादात्म्यमिव घटेऽपि सत्तादात्म्यं पर्यवस्यतीति भावः ।—मिथ्येति ।
जायत इति शेषः । तेनाकारद्वयादित्यस्य नान्वयः । नवा घटादौ सत्तादात्म्यवत्त्वे किं मानमिति प्रश्नोत्तरे तन्मि-
थ्यात्वमात्रोपसंहारस्यार्थान्तरता । मिथ्यात्वकथनंतु तत्सत्यत्वशङ्कानिरासाय, भ्रमकाले तदुत्पत्तौ बाध्यत्वरूपयुक्तिसू-
चनाय च । मिथ्यात्वस्य बाध्यत्वरूपत्वादिति ध्येयम् । परस्पराध्यासे युक्तिसिद्धेऽप्याचार्याननुमतिशङ्कां परिहरति—तदि-
दमिति । घटादेरध्यासाधिष्ठानत्वासंभवात् व्याचष्टे ।—अन्योन्यस्मिन्निति । एवं रजते इदमीत्युभयत्रापि अव-
च्छिन्नत्वमेव सप्तम्यर्थः । इदमि रजतवस्तुपरिकल्पनस्य सर्वसिद्धत्वाद्रजते इदमर्थकल्पन एव 'रजतभ्रमस्य च परिस्फुरणा'-
दित्यनेन युक्तिरुक्ता । तत्र अस्येति व्याचष्टे—अस्येति । न यदीत्यत्र इदमर्थ इति पक्षवाचकं कल्पित इति प्रतियोगि-
वाचकं च पूरयित्वा व्याचष्टे—नयदीत्यादीति । शुक्तेरपीदंत्वेन भ्रमे भानात् शुक्तिरिवेति दृष्टान्तासङ्गतिः । अतो
व्याचष्टे—शुक्तिरिवेति । प्रथमश्लोके दृष्टान्तमुक्त्वा इतरेतराध्यसनमेवेति द्वितीयेन दार्ष्टान्तिकमुक्तम्, तथाचष्टे—
इतरेतराध्यसनमिति । चितिः सद्रूपाचित् । चेत्यं घटादि दृश्यम् । ततः तस्मात् । 'रजतभ्रमादिषु'इत्य-
स्यार्थं व्याचष्टे—गुरुतरेतीति । अनुपस्थितविषयकत्वेनान्यत्र कृप्तजातीयत्वाभावेनोक्तकल्पनाया गुरुत्वे युक्तिमुक्त्वा
गुरुतरत्वे तामाह—आवश्यकत्वादित्यादिना । अनध्यस्तत्वे तत्स्वीकारे । नन्वस्तु तेषां सत्यत्वं (सम्यक्त्वम्)
नचाद्वैतश्रुतिविरोधः, तस्याः सत्तादात्म्यातिरिक्तद्वैताभावप्रतिपादनपरत्वेनोपपत्तिसंभवादिति शङ्कां निरस्यति—अद्वैत-
श्रुतिसंकोचापत्तेश्चेति । संकोचो द्वैतसामान्यार्थकपदस्य द्वैतविशेषलक्षणाकल्पनम् । तथाच एतत्कल्पनसापेक्षतयै-
कस्यैवाध्यास इति कल्पना गुरुतरेति भावः । न जन्यत्वं—नोत्पत्तिः । किंतु अविद्यादिवदनादित्वमेवेति भावः ।

सिद्धिव्याख्या ।

धायोगे तत्र साध्यवैकल्यात् ॥ ननु—अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं मिथ्यात्वं, नच—अन्यतरत्वान्तर्भावेण प्रत्येकमव्याप्तिवारणेऽप्यनादौ जीवब्रह्मविभागादावव्याप्तिरिति—शङ्कनीयम्; अविद्यापदस्य ध्वंसप्रतियोग्यनादिपरत्वेन तस्या अव्याप्तेर्वारणात् । नच—सत्यत्ववादिमतेऽज्ञानस्य भ्रमप्रागभावरूपस्य तत्कार्यस्य भ्रान्त्यादेश्च प्रागभावभ्रमरूपाविद्यातत्कार्यान्यतरत्वेऽपि सत्यतया, तद्वद्वटादेरपि सत्यत्वेनाप्युक्तसाध्योपपत्त्याऽर्थान्तरतेति—वाच्यं; तर्ह्यनिर्वाच्याविद्यातत्कार्यान्यतरत्वस्य लक्षणार्थत्वेन मिथ्यापदेन विवक्षणीयतयोक्तदोषानवकाशादिति—चेन्न । शुक्तिरूप्यादौ परमतेऽनिर्वाच्याविद्यातत्कार्यान्यतरत्वस्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वात्तादृशनित्यसाधारणेन कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादीनां कपालादिकार्यता न संभवतीत्यतो जन्यत्वशेषितेनोक्तरूपेण सा वाच्या । तथा चैतादृशगुरुतरकल्पनामूलकत्वेनैकस्यैवाध्यासोत्पादादिकल्पना गुरुतरेत्यर्थः । अनुभूतिराकारद्वयानुभूतिः आद्यपद्यस्याद्याधे उक्ता । अनुमितिः भ्रमविषयत्वहेतुका मिथ्यात्वानुमितिस्तृतीयचरणे । युक्तिस्तर्कश्रुत्यर्थचरणे । पञ्चपादिकायामप्युक्तम्—‘यद्यनात्मन एवाध्यासस्तदा आत्मा न भ्रमे भासेत । तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवे अध्यास’ इति । ननु—विप्रतिपत्तौ मिथ्यात्वविशेषस्यैव साध्यतयोक्तत्वाद्यायप्रयोगेऽपि तस्यैव तदुचितम्, ननु मिथ्यात्वसामान्यस्य—इति चेन्न । विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव साध्यतायां तात्पर्यात् । तच्च सामान्यरूपं वक्ष्यमाणपञ्चविधमिथ्यात्वसाधारणं मिथ्याशब्दार्थत्वरूपं मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, ननु पञ्चविधमिथ्यात्वानामन्यतमत्वम्; न्यायप्रयोगे आधुनिकलक्षणया शब्दप्रयोगस्यासांप्रदायिकत्वात् । मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वस्य बोधने निरुद्धलक्षणेन नाधुनिकलक्षणा । ‘वृक्षो महीरुह’ इत्यादौ कोशवाक्ये व्याख्या नवाक्ये च महीरुहादिपदस्य तदर्थपरत्वेन भूरिप्रयोगदर्शनात् ॥ ॥ इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकनिरुक्तिः ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तादृशनित्येति । घटादिनिष्ठा विषयतारूपसत्तादात्म्यरूपा नित्येत्यर्थः । उक्तरूपेण कपालाद्यवच्छिन्नत्वेन । सा संयोगादीनां कपालादिकार्यता । तथाचैतत्कल्पनासापेक्षतयैकस्यैवोपत्तिरिति कल्पना गुरुतरेति भावः ।—इत्यर्थ इति । तथाच ‘रजतभ्रमादिष्वित्यादेः’ चिच्चैत्ययोः परस्परध्यासादौ स्वीकृते सति रजतभ्रमे परस्परध्यासादेर्दृष्टत्वात् गुरुतरा कल्पना न घटते नापततीत्यर्थ इति भावः । अनुभूतीत्यादितृतीयश्लोकं उपसंहाररूपतया व्याचष्टे—अनुभूतिरिति । तृतीयेति । आद्यपद्यस्येत्यनुपङ्गः । एवं चतुर्थेत्यत्रापि । तत्र ततः तस्मात् अनुभूतीत्यादित्रितयात् चिच्चैत्ययुगलस्येतरतराध्यसनमेव युक्तमिति योजना । विमतं मिथ्येति प्रतिज्ञाया असङ्गतिमाशङ्कते—नन्विति । मिथ्यात्वविशेषस्य प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वत्वावच्छिन्नस्य । साध्यतया विप्रतिपत्तिकोटितया । न्यायप्रयोगे तद्वटकप्रतिज्ञायाम् । तस्यैव तादृशप्रतियोगित्वत्वावच्छिन्नस्यैव । तत् तादात्म्येन पक्षविशेषणतापन्नधर्मिविशेषणतारूपसाध्यतया प्रतिपादनम् ।—उचितमिति । तस्यैव जिज्ञासितत्वादिति भावः ।—ननु मिथ्यात्वसामान्यस्येति । पञ्चविधमिथ्यात्वानुगतरूपावच्छिन्नस्य न तदुचितमित्यर्थः । विप्रतिपत्तिकोटित्वाभावेन अजिज्ञासितत्वेनार्थान्तरतापत्तेरिति भावः । नच—विमतं मिथ्येत्यत्र मिथ्यापदस्य प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि इत्यर्थकतया (योगित्वार्थकतया) नायं दोष इति—वाच्यम्; तथा सति “ननु किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते” इत्युत्तरग्रन्थानुत्थानापत्तेरिति बोध्यम् ।—तात्पर्यादिति । अन्यथा अन्यविधमिथ्यात्वसाध्यकविप्रतिपत्तीनामदर्शनात् न्यूनतापत्तेरिति भावः । मिथ्यात्वसंबन्धस्य तद्वर्त्मणश्च वारणायह—मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपमिति । मिथ्याशब्दार्थत्वरूपमिति रूपपदघटितपाठो न समंजसः, किंतु मिथ्याशब्दार्थत्वमित्येव । ननु तावदन्यतमत्वमपि सामान्यरूपं कुतो नेहोच्यते इत्यत आह—नन्विति । स्वोक्तरसांप्रदायिकत्वं परिहरति—मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेणेति । बोधने इत्यत्रान्वयः ॥ इति पक्षतावच्छेदकविचारः ॥

नेत्यदोषः । ननु—किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते, न तावत् 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचन' इति पञ्चपादिकावचनात् सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्; तद्वि किं असत्त्वविशिष्टसत्त्वाभावः, उत सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयम्, आहोस्वित् सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सति अस-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रसिद्धा दृष्टान्तासिद्धेरित्याशयेन शङ्कते—नन्विति । उक्तदोषाणामनभिमतपक्षैकविषयतयाऽभिमतपक्षेषु किमपि दूषणं नास्तीति शङ्कमानं सिद्धान्तितं प्रत्यभिमतपक्षेष्वपि दूषणं वक्तुं पृच्छति—किमिदमिति । वक्ष्यमाणा पञ्चधा निरुक्तिः किंशब्दार्थः । न तावदिति । सदसत्त्वानधिकरणत्वमनिर्वाच्यत्वं मिथ्यात्वमिति न तावदुक्तम् । सदसत्त्वानधिकरणत्वस्यैव निर्वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तद्वि किमिति । सदसत्त्वानधिकरणत्वमित्यत्र सच्छब्दस्य सत्यपरत्वे तस्य चासत्त्वविशेषणत्वेऽनधिकरणत्वस्य चाधिकरणत्वाभाववत्त्वे च सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावे पर्यवसानादिति भावः । सत्त्वात्यन्ताभावेति । सत्त्वासत्त्वयोः प्रत्येकमनधिकरणत्वविशेषणत्वेऽनधिकरणत्वस्याधिकरणत्वात्यन्ताभाववत्त्वरूपत्वेन पर्यवसानेन च सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयं लभ्यत इति ध्येयम् । आहोस्विति । सच्छब्दात्परतोऽनधि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ प्रथममिथ्यात्वविचारः ।

ननु किमिदं मिथ्यात्वमित्यादि । मिथ्यात्वं मिथ्याशब्दार्थः । साध्यते तादात्म्यसंबन्धेन पक्षविशेषणतया निर्दिश्यते । अथवा मिथ्यात्वं मिथ्याशब्दार्थतावच्छेदकं । साध्यते साध्यविशेषणतया निर्दिश्यते । मिथ्याशब्दार्थतावच्छेदकविशिष्टत्वरूपेण मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्दार्थः तादात्म्येन साध्यः; तत्र विशेषणतयोच्यमानं किमिति वाक्यार्थः । असत्त्वेत्यादि । असत्त्वसमानाधिकरणस्य सत्त्वस्यात्यन्ताभाव इत्यर्थः । सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपम् । सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावोभयत्वावच्छिन्नम् । सतीति । सतिसम्भ्याः सामानाधिकरण्यार्थकत्वात्, सत्त्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणः असत्त्वात्यन्ताभावोऽर्थः । नाद्य इति । माध्वमते इति शेषः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अथ प्रथममिथ्यात्वम् ।

नन्वेवं तावत् न सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वं मिथ्याशब्देन साध्यतया तादात्म्येन पक्षविशेषणतया निर्देशप्रसक्तैस्तत्त्वण्डनवैयर्थ्यात्; तथाचासङ्गतिः; तादृशानिर्वाच्यत्वस्य तादात्म्येन प्रपञ्चरूपपक्षे बाधेन तस्य तथा निर्देशस्याप्रसक्तैस्तत्त्वण्डनवैयर्थ्यात्; तादृशानिर्वाच्यत्वाश्रयस्यैव तथानिर्देशप्रसक्तेरित्यत आह—अथवेति । निर्गलितं वाक्यार्थमाह—मिथ्याशब्दार्थतावच्छेदकविशिष्टेनेति । आश्रयतासंबन्धेन मिथ्याशब्दार्थतावच्छेदकस्यैव साध्यत्वे तादृशार्थप्रतिपादकप्रतिज्ञाया दौर्लभ्येन तादात्म्येन तद्विशिष्टप्रतिपादकप्रतिज्ञैव प्रयोक्तव्या । तथाच धिमतं मिथ्या इत्यत्वात् इत्यादौ हेत्ववयवस्य एकदेशान्वयप्रसङ्ग इत्यत आह—तादात्म्येनेति । तथाच तद्विशिष्टमेव साध्याकर्तव्यमिति भावः । निरुक्तानिर्वाच्यत्वस्य मिथ्यापदार्थतावच्छेदकत्वे आप्तवाक्यरूपं प्रमाणमाह मूले—मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचन इति । असत्त्वविशिष्टसत्त्वाभावव्यत्रासत्त्वविशिष्टत्वं सत्त्वाभावे न विशेषणम्, स्वस्मिन् स्वविशिष्टत्वविशेषणवैयर्थ्यात्, नापि सत्त्वे असत्त्वोपलक्षितसत्त्वस्याप्यलीकतया तदभावस्य प्रपञ्चे सौलभ्येन तद्विशिष्टस्य प्रतियोगितावच्छेदककोटिनिवेशवैयर्थ्यात्, किंतु सत्त्वोपलक्षणम् । नच—तदपि व्यर्थमिति—वाच्यम्; एकेनैवानुमानेन प्रपञ्चस्य सदसद्रूपतावादिनिरासाय तत्सार्थक्यात् । अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावाभ्युपगमेन चेयं कोटिरित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—असत्त्वसमानाधिकरणस्यसत्त्वस्येति । सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपमिति, समाहारद्वन्द्वः । रूपशब्दो धर्मद्वयान्वयभेदार्थक इत्याशयेन व्याचष्टे—सत्त्वात्यन्तभावेत्यादि । सत्यन्तार्थस्य प्रतियोग्यन्वयभ्रमं निरस्यन्नभावे तस्योपलक्षणतां सूचयति—सत्त्वात्यन्ताभावसमानाधिकरण इति । सिद्धसाधनवारणायेदम् । असद्रूपत्वेनार्थान्त-

त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम् । नाद्यः; सत्त्वमात्राधारे जगत्यसत्त्वविशिष्टसत्त्वानभ्युपगमात्, विशिष्टाभावसाधने सिद्धसाधनात् । न द्वितीयः; सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावे अपरसत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मवत्सत्त्वासत्त्वरहित्येऽपि सद्रूपत्वेन अमिथ्यात्वोपपत्त्या अर्थान्तराच्च, शुक्तिरूप्ये

सिद्धिव्याख्या ।

करणत्वशब्दरूपमध्यमपदलोपिसमासाश्रयणेन सत्त्वानधिकरणत्वस्यासत्त्वानधिकरणत्वविशेषणत्वे तथा पर्यवसानमिति ध्येयम् । आद्यपक्षं सिद्धसाधनेन दूषयति—नाद्य इति । सिद्धसाधनादिति । विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य सत्त्वादित्यर्थः । उपलक्षणमेतत्, सत्त्वे सत्यसत्त्वरूपविशिष्टस्य प्रतियोगिनोऽप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धिरित्यपि बोध्यम् । द्वितीयं दूषयति—न द्वितीय इति । अर्थान्तरमप्याह—निर्धर्मकेति । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमप्याह—शुक्तिरूप्य इति । तृतीये उक्तदूषणान्यतिदिशति—अत-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साधनादिति । माध्वमते अलीकस्यैवात्यन्ताभावस्वीकारेणोक्तविशिष्टप्रतियोगिकाभावप्रसिद्धावपि मतान्तरे तदप्रसिद्धिरित्यपि बोध्यम् । सत्त्वासत्त्वयोरिति । परस्पराभावरूपत्वेनेति शेषः । एकाभावे एकस्याभावे सति । निर्धर्मकेत्यादि । यथा केवलब्रह्मणो बाध्यत्वाभावरूपसत्त्वादिकं न धर्मः, 'केवलो निर्गुण' इत्यादिश्रुतेः ब्रह्मनिष्ठसत्त्वस्याबाध्यत्वेनाद्वैतश्रुतिविरोधाच्च, अथच तस्य बाध्यत्वादिधर्मोऽपि नास्ति, श्रुतिप्रमितत्वात्, साक्षित्वा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रवारणाय विशेष्यम् । शेषपूरणफलं दर्शयन् मतान्तरे दोषं पूरयति—माध्वमत इति । मतान्तरे नैयायिकादिमते—तदप्रसिद्धिरिति । तथाच तत्र सिद्धसाधनासंभवादिदमेव दूषणमिति भावः । आवश्यकत्वे हेतुं पूरयति—परस्परेति । सत्त्वासत्त्वोभयप्रतियोगिके एकस्मिन्नभावे । अन्यतरत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताके सत्यपि नापरसत्त्वावश्यकत्वं, अतो व्याचष्टे—एकस्याभावे इति । सतीति पूरितम् । न धर्म इति । बाध्यत्वात्यन्ताभावस्याधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नतया (ब्रह्मस्वरूपतया) धर्मधर्मिभावासंभवात् । ननु बाध्यत्वात्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपेण बाध्यत्वाभावस्य ब्रह्माभिन्नतया तेन रूपेण धर्मधर्मिभावः संभवेदित्याशङ्कां परिहरति—केवलो निर्गुण इति । निर्गुणः स्वसमसत्ताकधर्मशून्यः । तथाच बाध्य-गुणमात्रोपादानादगुणात्मकबाध्यत्वाभावरूपधर्मस्वीकारे किं बाधकम्, अत आह—ब्रह्मनिष्ठेति । सत्त्वस्य-बाध्य-त्वात्यन्ताभावस्य ।—अबाध्यत्वेति । तस्य बाध्यत्वे तु न तेन सधर्मकमिति भावः । ननु बाध्यत्वात्यन्ताभावस्य ब्रह्मण्यसत्त्वे तत्प्रतियोगिबाध्यत्वमेव धर्मः स्यात्, प्रतियोग्यभावयोरेकतरस्यावश्यकत्वादित्यत आह—अथ चेति । ननु ब्रह्मणो बाध्यत्वेऽपि ब्रह्मप्रतिपादकश्रुतीनां तव स्वर्गादिप्रतिपादकश्रुतिवत् व्यावहारिकप्रामाण्योपपत्तिः संभवतीत्यत आह—साक्षित्वादिनेति । साक्षित्वं—भासकत्वम् । ब्रह्मैव हि स्वावच्छेदकाविद्यादीनां प्रकाशरूपतया भासकम् । यथा चन्द्रविम्बादि स्वावच्छेदकराहुभासकम् । बाध्यत्वं त्रैकालिकपारमार्थिकनिषेधप्रतियोगित्वम् । एवंच ब्रह्मणो यदि कालत्रयेऽभाव एव पारमार्थिकः स्यात् तदाऽविद्यादीनां भानं कथं स्यात् । किंच ब्रह्मणः उक्तबाध्यत्वावगाहिज्ञानप्रामा-ण्यनिश्चयं विना नार्थनिश्चयः । तादृशप्रामाण्यं च चिद्रूपब्रह्म ब्रह्मणैव भास्यम् । एवं ब्रह्मण एवोक्तनिषेधप्रतियोगित्वे उक्तप्रामाण्यग्राहकत्वरूपप्रमाणनिषेधसाक्षितापि नोपपद्यते । नच—प्रपञ्चनिषेधसाक्षि ब्रह्म, तन्निषेधसाक्षीत्वस्य एवेति स्वीकुर्म इति—वाच्यम्; अन्योऽपि स्वीक्रियमाणः किं ब्रह्मबद्धाध्यः आहोस्वित्, पारमार्थिकः । आवे तद्बाधसाक्षिणा अन्येन भवितव्यम्, तस्यापि बाध्यत्वे तस्य बाधसाक्षिणाप्यन्येनेत्यनवस्था । अन्ये तदेव ब्रह्म स्वीकुर्मः । किंच एवंसति प्रपञ्च-निषेधसाक्षिणमेव लाघवादबाध्यं स्वीकुर्मः । ब्रह्मणः साक्षित्वं तु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिसिद्धमिति भावः । स्वस्य स्वाभावज्ञानप्रामाण्याग्राहकत्वानङ्गीकारेणेदम् । तदङ्गीकारे तु आदिपदम् । आदिना प्रपञ्चाध्यासाधिष्ठानत्वादिकम् । तथाहि—ब्रह्म यदि बाध्यं स्यात्, तदा सर्वप्रपञ्चाधिष्ठानं न स्यात्, रजतमात्राधिष्ठानभूतव्यावहारिकेदंपदार्थवत् । ब्रह्मणो बाध्यत्वे हि तदध्यासस्यान्यत्र वक्तव्यतया ब्रह्मणः सर्वान्तर्गतब्रह्माधिष्ठानत्वानुपपत्तिः । किंच ब्रह्मणो बाध्यत्वे प्रतीयमानस्य ब्रह्मण एव तदुचितम् । एवं 'नेह नानास्ति किंचन' इति निषेधवाक्येन ब्रह्मणोऽपि निषेधे इहपदेन तस्य निषेधाधिक-

अवाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेकस्य सत्त्वेन वाध्यत्वरूपासत्त्वस्य व्यतिरेकासिद्ध्या साध्यवैकल्याच्च । अतएव न तृतीयः; पूर्ववद्वाधात्, अर्थान्तरात्साध्यवैकल्याच्च—इति चेत्, मैवम् । सत्त्वात्यन्ताभावोऽसत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात्— । नच व्याहतिः । सा हि सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया वा, परस्परविरहव्यापकतया वा, परस्परविरहव्याप्यतया वा । तत्र नाद्यः; तदनङ्गीकारात् । तथाह्यत्र त्रिकालावाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किंतु कचिदप्युपाधौ

सिद्धिव्याख्या ।

एवेति । अतश्शब्दार्थमाह—पूर्ववदिति । मध्यमपक्षमादाय परिहारं प्रतिजानीते—मैवमिति । व्याघातमाशङ्क्याह—नचेति । व्याहतिर्न च युक्त्यर्थः । ननु—सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावेऽपरसत्त्वस्यावश्यकत्वात्कथं न व्याहतिः—इत्याशङ्क्य व्याहतिं विकल्पयति—सा हीति । एवं त्रिधा विकल्प्याद्यपक्षमनङ्गीकारेण दूषयति—तत्र नेति । विवक्षायां नाद्य इति । अनङ्गीकारमेवोपपादयति—तथाहीति । नासत्त्वमिति । येन परस्परविरहरूपतया व्याघातः स्यादित्यर्थः । तर्हि किमित्याशङ्कते—किंत्विति । उत्तरमाह—कचिदपीति । अनधिकरणत्वमित्यनन्तरमसत्त्वमित्यस्यानुपपन्नः कर्तव्यः । तद्व्यतिरेकश्चेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिना बाध्यत्वासंभवाच्च' तेन तत् सद्रूपम्; तथा प्रकृतानुमानात् प्रपञ्चस्योक्तसत्त्वाभावसिद्धावपि न बाध्यत्वम्; स्वतःप्रमाणप्रत्यक्षादिप्रमाविषयत्वात्, तेन सोऽपि सद्रूप इति सद्रूपत्वविरोधिमिथ्यात्वासिद्ध्यर्थान्तरमिति भावः । अतःशब्दार्थस्य विवरणम् पूर्ववदित्यादि । व्याहतिः प्रपञ्चे उक्तव्याघातः । सा हीत्यादि । सत्त्वस्याभावोऽसत्त्वं असत्त्वाभावः सत्त्वमिति वा, सत्त्वाभावव्यापकमसत्त्वं, असत्त्वाभावव्यापकं सत्त्वमिति वा, सत्त्वाभावव्याप्यमसत्त्वम्, असत्त्वाभावव्याप्यं सत्त्वमिति वा, व्याघाते हेतुरित्यर्थः । तदनङ्गीकारात् प्रकृते निवेशनीय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रणताप्रत्ययो विद्ध्येत । तत्र निषेध्यमानकिंचनपदार्थभिन्नस्यैव निषेधाधिकरणस्य स्वरसत इहपदात्प्रतीतेरानुभाविकत्वादिति दिक् । तेन बाध्यत्वतदभावरूपसत्त्वयोरसंभवेन (बाध्यत्वतदभावयोरसंभवेन)—सद्रूपमिति । इति स्वीकार्यमिति शेषः । अन्यथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतौ तद्व्यवहारानुपपत्तेः । नच—सत्त्वाख्यधर्मानङ्गीकारे कथं तत्र सत्त्वव्यवहारः, किंचिद्धर्मपुरस्कारेणैव पदानां धर्मिप्रत्यायकत्वनियमादिति—वाच्यम्, आकाशपदेनाकाशरूपधर्मिमात्रप्रतिपादनेन तादृशनियमस्यासत्त्वेनेहापि सत्पदेन ब्रह्मरूपधर्मिमात्रप्रत्यायनसंभवादिति भावः ।—उक्तेति । असत्त्वाभावसमानाधिकरणेत्यर्थः ।—न बाध्यत्वमिति । न चैवं—निरुक्तसत्त्वात्यन्ताभावे बाध्यत्वव्याप्यत्वस्य शुक्तिरजते गृहीतस्य भङ्गापत्तिरिति—वाच्यम्; ब्रह्मणि तद्ब्रह्मप्रदर्शनार्थैव निर्धर्मिकेत्यादिदृष्टान्तोपादानादिति भावः । ननु प्रमाणप्रमितत्वादिरूपं यद्वाध्यत्वबाधकं तदभावविशिष्टसत्त्वाभाववत्त्वं बाध्यत्वव्याप्यमिति नियमस्य न ब्रह्मणि भङ्गः व्याप्यस्यैवासत्त्वादित्याशङ्क्य प्रपञ्चस्याबाध्यत्वेऽपि उक्तनियमाभङ्गाय प्रपञ्चे बाध्यत्वबाधकमाह—स्वत इति । प्रत्यक्षेति । अयं घट इत्याकारकेत्यादिः । सद्रूप इति । अत एव सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षोपपत्तिरिति भावः । ननुक्तरीत्याऽस्तु प्रपञ्चः तद्रूपः, तथापि तस्य निरुक्तमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यूहैवेत्यत आह—सद्रूपत्वविरोधीति । अर्थान्तरमिति । पराभ्युपगतस्य प्रपञ्चे सद्रूपत्वस्य निरासाय सद्रूपत्वविरोधिमिथ्यात्वसिद्धेरेवोद्देश्यत्वादिति भावः । पूर्ववदित्यादेः अतएवेत्यनेन पौनरुक्त्यं वारयति—अत इति । नापि व्याघात इत्यादिवक्ष्यमाणग्रन्थेनापौनरुक्त्याय व्याहतिपदार्थं व्याचष्टे—प्रपञ्चे उक्तव्याघात इति । सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावेऽपरस्य सद्भावावश्यकत्वेन प्रपञ्चस्य निरुक्ताभावद्वयवृत्तानुपपत्तिरूपः प्रतिकूलतर्क इत्यर्थः । सर्वत्रैवेतिपदोत्तरं अभ्युपगम इति शेषः । व्याघाते तर्कः ।—हेतुरिति । आपाद्यव्यतिरेकनिर्णयविधयेति शेषः । असत्त्वं यदि सत्त्वाभावसमानाधिकरणस्याभावकं स्यात्, तदा सत्त्वाभावरूपं न स्यादिति विशेषतो व्याप्तौ सत्त्वं दृष्टान्तः । यत् यदभावसमानाधिकरणस्याभावकं, तत् न तदभावरूपमिति सामान्यव्याप्तौ तु घटादिः । एवं सत्त्वं यदि असत्त्वाभावसमानाधिकरणस्याभावकं

१ घटाद्याधेयतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वेनाकाशस्यापि श्रुतिसिद्धोत्पत्तिकस्य वृत्तिमत्त्वेन दृष्टान्तसंभवेन चावृत्तित्वमादायार्थान्तरापादनं न्यायभास्करकारकृतं नात्र प्रसरतीति मन्तव्यमिति ।

सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम् । तद्व्यतिरेकश्च साध्यत्वेन विवक्षितः । तथाच त्रिकालाबाध्य-
विलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम् । एवंच सति न
शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि । बाध्यत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात् । नापि व्याघातः;
परस्परविरहरूपत्वाभावात् । अतएव न द्वितीयोऽपि, सत्त्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्त्व-

सिद्धिव्याख्या ।

उक्तासत्त्वव्यतिरेकश्चेत्यर्थः । विवक्षया पर्यवसितं रूपं दर्शयति—तथाचेति । यदुक्तं शुक्तिरूप्ये साध्यवैक-
ल्यमिति तन्निराकरोति—एवंच सतीति । ननु—बाध्यत्वरूपासत्त्वस्यैव तत्र सत्त्वेन तद्व्यतिरेकाभावात्सा-
ध्यवैकल्यं कथं न—इत्याशङ्क्याह—बाध्यत्वेति । विवक्षितासत्त्वव्यतिरेकस्य साध्यप्रविष्टस्य शुक्तिरू-
प्येऽपि सत्त्वान्न तत्र साध्यवैकल्यमिति भावः । व्याघातं परिहरति—नापीति । तत्र हेतुमाह—परस्परेति ।
तस्योक्तत्वादिति भावः । परस्परविरहव्यापकतया व्याघात इति पक्षं दूषयति—अतएवेति । विवक्षि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

योः सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहत्वास्वीकारात् । प्रतीयमानत्वरूपं प्रतीयमानत्वयोग्यत्वम्, तच्च सत्तादात्म्यवत्त्वमेव ।
ननु—सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं न दृश्यमात्रेऽस्ति, घटो गुरुरित्यादिप्रमामात्रसिद्धे गुरुत्वादौ सत्त्वेन प्रत्यये मानाभावात्;
तथाच तद्योग्यत्वमपि नास्ति, अतः सत्त्वस्य विशेषणमुक्तम् । क्वचिदप्युपाधाविति । किञ्चिद्धर्मिनिष्ठं यत् सत्त्वं तेन
प्रतीयमानत्वेत्यन्वयः । तथाच गुरुत्वादेरपि घटाद्यवच्छिन्नचित्यारोपात्तद्वत्तस्य सत्त्वस्य तत्रारोपात्, पृथिव्यादिनिष्ठगुरुत्वा-
दिकं सदिति प्रत्ययाच्च सर्वत्र दृश्ये सत्त्वेन प्रतीयमानत्वयोग्यतास्तीति भावः । त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सतीति ।
त्रिकालाबाध्यत्वात्यन्ताभावे यत् सद्विद्यमानं त्रिकालाबाध्यत्वात्यन्ताभावसत्तादात्म्योभयत्वं तत्संबन्धीत्यर्थः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्यात्, तदा असत्त्वाभावरूपं न स्यादिति प्रथमकल्पे तर्कौ । द्वितीयकल्पे तु, प्रथमतर्के असत्त्वे सत्त्वाभावव्यापकत्वाभाव
आपाद्यः । द्वितीये च सत्त्वे असत्त्वाभावव्यापकत्वाभाव आपाद्यः इत्यनयोर्विशेषः कथंचिदुपपादनीयः । तृतीयकल्पे
असत्त्वे सत्त्वाभावव्याप्यत्वाभावः, सत्त्वे चासत्त्वाभावव्याप्यत्वाभाव आपाद्यः । एतैश्च तर्कैः सत्त्वाभावासत्त्वाभा-
वयोः सामानाधिकरण्याभावसिद्धिसमर्थविपर्ययप्रतियोग्यापादकैरेकधर्मिनिष्ठतदुभयसंबन्धरूपसामानाधिकरण्यावगाहिन्याः
प्रपञ्चे उक्ताभावद्वयवत्त्वानुमितेः प्रतिबन्ध इति शङ्कितुरभिप्रायः ।—परस्परविरहरूपत्वास्वीकारादिति । तथाच
प्रथमकल्पोक्तकर्तृविष्टापत्तिपराहताविति भावः । मूले—प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वं प्रतीयमानत्वाभावत्वम् ।
तथाच एतादृशसत्त्वप्रतियोगिनः तादृशप्रतीयमानत्वस्य त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वानात्मकत्वान्न सत्त्वासत्त्वयोः (अबाध्य-
त्वरूपसत्त्वातिरिक्तत्वान्न सत्त्वासत्त्वयोः) परस्परविरहरूपतेति भावः । अत्राप्रतीयमानत्वाभावाभावत्वेन प्रतीयमानत्वप्रवेशे
गौरवादाह—तथाचेति । प्रतीयमानत्वमित्यत्र लङ्घ्यवर्तमानत्वविवक्षणे प्रतीतिशून्यत्वकाले मिथ्यात्वानुपपत्तेस्तद-
विवक्षां स्फुटयति टीकायां—प्रतीयमानत्वयोग्यत्वमिति । सत्तादात्म्यवत्त्वमिति । सत्तादात्म्यापन्ने सत्त्वप्रतीते-
रावश्यकत्वादिति भावः । ननु गुरुत्वस्य सत्त्वेन प्रतीयभावे (प्रत्ययाभावे) गुरुत्वं एव किं मानम्, अत आह—
घटो गुरुरिति । घटादीनां घटः सन् इत्याकारकप्रत्यक्षं सर्वसिद्धं साधकम्, गुरुत्वादीनां त्वतीन्द्रियतया न 'गुरुत्वं
सत्' इत्यादिप्रत्यक्षम्; नापि तादृशी अनुमितिः; पक्षस्यैवासिद्धेः, किन्तु पतनलिङ्गिका 'घटो गुरुः' (गुरुत्व-
वान्) इत्यनुमितिरेवेति भावः ।—किञ्चिद्धर्मिनिष्ठमिति । भ्रमसाधारणप्रतीतेर्निवेशादिति भावः ।—
घटावच्छिन्नचित्तीति । तादात्म्येनेति शेषः ।—तद्वत्तेति । तादृशचिद्वत्तेत्यर्थः । यस्मिन् धर्मिणि यस्य तादात्म्ये-
नाध्यासः तत्र तद्वर्माध्यासनियमादिति भावः ।—प्रत्ययाचेति । अयं प्रत्ययः अलौकिकमानसस्थानीयपरोक्षवृत्तिविशे-
यरूपः घटो गुरुरित्यनुमितिसिद्धगुरुत्वपक्षकसद्विशेष्यकप्रतीतिप्रकारत्वलिङ्गकानुमितिरूपो वा बोध्यः । पूर्वप्रकान्तोभय-
त्वावच्छिन्नरूपसाध्यपरिष्कारत्वं विशिष्टस्यानुचितमित्याशङ्काम्, अतएव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सतीत्यादिवक्ष्यमाणग्रन्थेन
पौनरुक्त्यं च परिहर्तुमाह—त्रिकालेति । विलक्षणत्वं न भेदः, सत्प्रतियोगिकमेदघटितसाध्येन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्,
अत्यन्ताभावस्यैवोपक्रमान्तेत्याशयेमाह—त्रिकालाबाध्यत्वात्यन्ताभावे इति । तत्संबन्धीति । आधेयतासंबन्धाव-

व्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात् । नापि तृतीयः, तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात्, गोत्वाश्वत्वयोः

सिद्धिव्याख्या ।

तेति । यद्यपि सत्त्वाभाववति शुक्तिरूप्ये वाध्यत्वरूपासत्त्वस्य विद्यमानत्वान्न व्यभिचारः; तथापि विवक्षितासत्त्वव्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन सत्त्वव्यतिरेकं प्रत्यसत्त्वव्यतिरेकस्य व्यापकत्वाभावाद्यभ्यभिचार इत्यर्थः । निर्धर्मके ब्रह्मणि उभयस्यापि व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम् । तृतीयं दूषयति—नापीति । तस्येति । परस्परविरहव्याप्यत्वस्येत्यर्थः । अप्रयोजकतामेव दर्शयति—गोत्वेति । ततश्च सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोरेकत्र प्रपञ्चे संभवान्न व्याहतिरिति ध्येयम् ॥ यत्तु—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वमेव वक्तव्यम्, ‘असच्चेन्न प्रतीयेत’ इति वदता त्वयोक्ताप्रतीतिप्रयोजकतयाऽप्रतीति-घटितासत्त्वकथने ‘कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानं चेत् अप्रतीयमानं स्यात्’ इत्यापाद्यापादकयोरभेदापत्तेः । एवंच पूर्वदूषणं स्यादेवेति—तन्न । कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वस्यासत्त्वरूपत्वेऽपि ‘असच्चेन्न प्रतीयेत’ इत्यस्य कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानं चेत् अपरोक्षत्वेन न प्रतीयेतेत्यापादने आपाद्यापादकभेदस्य स्फुटत्वात् । यदपि—तन्मात्रस्य ब्रह्मण्यतिव्याप्तत्वेन तद्व्यावृत्त्यर्थं त्रिकालावाध्यविलक्षणत्वे सति कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वमिति त्वसत्त्वाभावस्य सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे पर्यवसानमिति तत्साधनं व्यर्थमिति—तदपि न, त्रिकालावाध्यविलक्षणत्वस्यावश्यकत्वे तस्य चातिव्याप्तत्वेनासद्वैलक्षण्यसिद्ध्यर्थं तत्साधनस्यावश्यकत्वात् । नच—प्रतीयमानत्वमपि तत्साधारणं, ‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्’ इत्यसतः सत्त्वेन प्रतीतेः श्रुत्यनूदितत्वादिति—वाच्यम्; असत इव प्रतीतेरप्यनुवादस्य प्रतीति-सत्त्वापादनाक्षमत्वात् । नच—असतः सत्त्वेन प्रतीतिमत इति, एक इति, असत्प्रतीतेः सत्त्वमेवोच्यत इति—वाच्यम्; ‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्’ इति श्रुत्या ‘सदेवेदमग्र आसीत्’ इति श्रुत्यर्थस्याभाव एव नचा निषेधेन प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगमात् । नच—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इति श्रुत्यर्थाभावस्यासत्त्वेनासतः सत्त्वेन प्रतीत्यनिवारणमिति—वाच्यम्; तादृशाभावस्यानिर्वचनीयाव्याकृताकार्यस्वरूपत्वेन तस्यैव सत्त्वेन प्रतीतेरिति । किंच सत्त्वासत्त्वयोः परस्परप्रागभावरूपतया परस्परविरहरूपत्वासंभवेनात्यन्ताभावरूपतयैव परस्परविरहरूपता वाच्या, तत्रापि त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वादिरूपस्यासत्त्वस्याभावरूपतयाऽसत्त्वात्यन्ताभावः सत्त्वमिति वाच्यम्, तथाच भवन्मतेऽत्यन्ताभावस्यासत्प्रतियोगित्वस्वीकारेण सत्त्वस्यात्यन्तासत्त्वापत्तिः । नच—तार्किकादिमतेन तयोः परस्परविरहरूपत्वाभिधानमिति—वाच्यम्; भवन्मते व्याहृत्युक्तेरसंभवापत्तेः । भवन्मतेऽप्यसत्त्वाभावस्यैव सत्त्वेन स्वीकृतत्वाच्च ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्य च प्रतीयमानत्वेत्यत्रान्वयः । तथाच कालाद्यनवच्छिन्नं यदवाध्यत्वं तदत्यन्ताभावः सत्तादात्म्यं चेत्युभयवत्त्वं साध्यम् । यथाश्रुते तु त्रिकालावाध्यत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणस्य सत्तादात्म्यस्य लाभात्तस्य च वक्ष्यमाणत्वात् पौनरुक्त्यम् । व्याघातः शुक्तिरूप्ये उक्तो व्याघातः । प्रपञ्चे व्याहृत्यभावस्य पूर्वोक्तरीत्यैव शुक्तिरूप्येऽप्यर्थोक्तस्य लब्धत्वेऽपि

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

च्छिन्नतादृशोभयस्वनिष्ठसंबन्धितानिरूपकेत्यर्थः । एतेन संबन्धे सप्तम्यनुशासनविरहादिदमसङ्गतमित्यपास्तम् । तादृशोभयत्वाश्रयेतियावत् । व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकानुपगमे कालत्रयावच्छिन्नत्वरूपं त्रिकालत्वं न संभवतीत्यत आह—कालाद्यनवच्छिन्नमिति । देशः आदिपदार्थः ।—अवाध्यत्वमिति । ब्रह्मणि प्रसिद्धमिति (प्रसिध्यतीति) शेषः । नच व्याहतिरिति ग्रन्थेनापौनरुक्त्याय व्याघातपदार्थं व्याचष्टे—शुक्तिरूप्य इति । दृष्टान्त इति शेषः ।—उक्त इति । शुक्तिरूप्येत्यादिग्रन्थेनेति शेषः । व्याघातः साध्यवैकल्यम् ।—लब्धत्वेऽपीति । तथाच ‘नापि व्याघातः, परस्पर-

सिद्धिव्याख्या ।

अन्यथा 'मया लाघवादशक्यत्वा'दित्यादिभवद्वचनविरोधापत्तिः । अतएव—सत्त्वासत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्परात्यन्ताभावरूपत्वात्, घटत्वाघटत्ववदिति—**निरस्तम्**; उक्तीत्या हेतोरसिद्धेरिति ॥ **कैचित्तु**—नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वमेवेति । नासिद्धिर्हेतोः । **यद्वा**—तयोः परस्परविरहव्यापकत्वम् । नच—सत्त्वासत्त्वयोः गोत्वाश्वत्वयोरिव परस्परविरहव्याप्यत्वलक्षणपरस्परविरोधेऽपि घटादौ तदुभयाभावाच्छुक्तिरूप्यादौ सत्त्वासत्त्वोभयाभावस्य संभवेन न व्याहृतिरिति—वाच्यं; गवाश्वोभयविलक्षणघटपटादेरभ्युपगमेन विरुद्धयोर्गोत्वाश्वत्वयोर्निरूपिताभावयोर्वटपटादौ अव्याहृतत्वेऽपि सदसद्विलक्षणस्यान्यस्यानभ्युपगमेन तत्र सत्त्वासत्त्वाभावयोरव्याहृत्युक्तिरयुक्ता—इत्याहुः ॥ तत्र यद्वेत्याहुः । सत्त्वासत्त्वेत्यादिना दत्तोत्तरत्वात् । यत्तु—गवाश्वोभयविलक्षणेत्याद्युक्तमित्यन्तं, तत्र शीतोष्णस्पर्शविलक्षणानुष्णाशीतस्पर्शवत्, प्रमाप्रमोभयवहिर्भूतनिर्विकल्पकवच्च, शुक्तिरूप्यादेः सदसद्वहिर्भूतत्वाङ्गीकारात् । नच—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वस्यैव प्राप्या नेदं समाधानं युक्तमिति—वाच्यम्, परस्परविरहाभावस्योक्तत्वात् । नच—शीतोष्णस्पर्शयोः परस्परविरहरूपत्वाभावेन तदुभयविलक्षणानुष्णाशीतस्पर्शस्य संभवेन तस्य प्रकृते दृष्टान्तत्वायोग इति—वाच्यम्, तद्वत् सत्त्वासत्त्वयोरपि परस्परविरहरूपत्वाभावस्योक्तत्वेन सदसदुभयविलक्षणस्यापि संभवेन तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेः । नच—निर्विकल्पकेश्वरज्ञानयोरपि विशेष्यावृत्त्यप्रकारत्वेन प्रमात्वेनादृष्टान्ततेति—वाच्यं, 'तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा' इति मतानुसारेण तस्य दृष्टान्ततोक्तेः । 'दोषजन्यं ज्ञानमप्रमा' 'गुणजन्यं प्रमा' इतिमतेनेश्वरज्ञानस्य दृष्टान्ततोक्तेश्च । नच—निर्विकल्पकस्याप्रामाणिकत्वात् दृष्टान्तत्वायोग इति—वाच्यम्, तस्य प्रामाणिकत्ववादितानुसारेण दृष्टान्तितत्वात् । ईश्वरज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वप्रयुक्तप्रकारत्वविरहमात्राय प्रमावहिर्भावसंभवाच्च । नच—इदं परिभाषामात्रम्, अन्यथेश्वरस्य प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव स्यादिति—वाच्यम्; तज्ज्ञानस्यावधारणात्मकतया तज्जन्यप्रवृत्तेरविसंवादत्वोपपत्तेः । नचैवं—नित्यानित्यविलक्षणमपि किञ्चित् स्यादिति—वाच्यं; नित्यानित्यत्वयोः परस्परविरहरूपत्वेन घटपटोभयविलक्षणवस्त्वन्तरवत्तस्यानापादनीयत्वात् । सत्त्वासत्त्वयोस्तु, त्रिकालाबाध्यत्वस्य कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वरूपत्वेनापरस्परविरहरूपत्वात् । नचैवं ध्वंसानुपलक्षितसत्तायोगित्वं नित्यत्वं, तदुपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति निरूपणसंभवेन तयोरपि न परस्परविरहरूपत्वमिति—वाच्यं; न्यायामृते सामान्यादित्रिके सत्ताभावेन नित्यत्वाभावप्रसङ्गात्, प्रागभावानित्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च । तथाच ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वं, तदभावश्चानित्यत्वमिति तयोः परस्परविरहत्वरूपमेवेत्युक्तत्वात् । एतेन—परेणापि प्रातिभासिके ब्रह्मणि प्रपञ्चेऽपि प्रामाणिकत्वस्य स्वीकृतत्वेन तस्यैव सत्त्वरूपत्वेन तत्र तदभावसाधनायोग इति—**निरस्तम्**; सत्त्वस्य त्रिकालाबाध्यत्वरूपत्वेन तस्य प्रपञ्चेऽभावसाधनेनादोषात् । प्रामाणिकत्वं सत्त्वमिति पक्षेऽपि, तत्त्वावेदकप्रमाणवेद्यत्वस्यैव प्रामाणिकत्वेन विवक्षिततया प्रत्यक्षादेरतथात्वेन प्रपञ्चे सत्त्वाभावसाधनसंभवाच्च । नच—प्रत्यक्षादेरतत्त्वावेदकत्वस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्ध्यधीनसिद्धिकत्वेनासिद्धिरिति—वाच्यम्; संप्रतिपन्नशुक्तिरजतप्रत्यक्षदृष्टान्तेन प्रत्यक्षादेरतत्त्वावेदकस्य सिद्धत्वेनासिद्ध्यनवकाशात् । एतेन—तत्त्वावेदकप्रमाणं न तावच्छ्रुतिमात्रं, यागेष्टसाधनत्वादेरपि श्रुतिवेद्यत्वेन सत्त्वापातात्, नापि ब्रह्मपरस्तद्भागः, वियदादेरपि 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादितथाविधवेदान्तवेद्यत्वेनोक्तदोषतादवस्थ्यादिति—**निरस्तम्** । शुद्धब्रह्मपरवेदान्तभागस्य तत्त्वावेदकप्रमाणत्वोक्तौ दोषाभावात् । यत्तु—तथाविधप्रमाणगम्यत्वाति-

सिद्धिव्याख्या ।

रिक्तमेव सत्त्वं वाच्यम्, अन्यथा तादृशप्रमाणविषयत्वरूपप्रामाणिकत्वस्यैव सत्त्वरूपत्वे तस्य ब्रह्मणि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादिप्रमाणप्रवृत्त्यधीनत्वेनात्माश्रयादिति—तन्न; अस्मादेव बाधकात् त्रिकाला-
 वाध्यत्वं सत्त्वमित्यतिरिक्तसत्त्वस्याभ्युपगमात् । नच—प्रामाणिकत्वं सत्त्वमिति पक्षेऽपीत्यादिना
 तस्यैव सत्त्वरूपत्वाभ्युपगमात्तेनातिरिक्तसत्ताभ्युपगमो विरुद्ध इति—वाच्यम्, प्रामाणिकत्वस्यैव सत्त्व-
 रूपत्वाभ्युपगमस्य प्रौढिवादाभिप्रायात्, अन्यथा परेणापीत्यादिना त्वयाऽपि प्रामाणिकत्वस्यैव सत्त्वरूप-
 त्वाभ्युपगमेनेदानीमात्माश्रयपरिहारायातिरिक्तसत्त्वं वदतस्तवाऽपि पूर्वोत्तरविरोधापत्तेः । कथंचित्समा-
 धानं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम् । वस्तुतस्तु सत्त्वं, न सत्यादिपदघटितवेदान्तविशेषगम्यत्वातिरिक्तं, किंतु
 तदेव । नचैवमात्माश्रयः; शुद्धब्रह्मपरवेदान्तगम्यत्वरूपेण तन्निर्वचने आत्माश्रयानवकाशात् । अतएव—
 ब्रह्मणि नित्यत्वज्ञानत्वप्रकाशत्वानन्दत्वानन्तत्वादिकमपि अतिरिक्तो धर्मः स्यात्, सत्त्ववन्नित्यत्वादेरपि
 नित्यादिपदघटिततत्तद्वेदान्तवाक्यविशेषगम्यत्वातिरिक्तत्वरूपेण निर्वचनसंभवादिति—प्रत्युक्तम् । यत्तु—
 प्रमाणविषयत्वं दुर्वारं प्रामाणिकत्वमिति वदता प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थासिद्धये तद्विषयप्रयुक्त एव तयोर्वि-
 शेषो वाच्यः, तथाच सत्त्वरूपविषयकं प्रमाणं, निःस्वरूपविषयमप्रमाणमित्येव वाच्यम्, एवंच सत्त्वरूप-
 त्वनिःस्वरूपत्वसत्त्वासत्त्वयोः नित्यत्वानित्यत्वयोरिव परस्परविरुद्धरूपत्वमेवेति—तन्न । तथासति प्राति-
 भासिकरजतादेरपि अपरोक्षतया सत्त्वरूपत्वेन तद्विषयकस्यापि प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वापत्तेः । नच—आहार्य-
 भ्रमविषयरूप्यादेरिवानाहार्यभ्रमविषयीभूतरूप्यादेरसत्त्वेऽप्यपरोक्षत्वमस्त्विति—वाच्यम् ; 'असच्चेन्न
 प्रतीयेत' इति व्याख्यनुपपत्त्याऽनाहार्यभ्रमविषयीभूतरूप्यादेः सत्त्वेनैवापरोक्षत्वे स्थिते तद्वृष्टान्तेनाहार्य-
 भ्रमविषयीभूतरूप्यादेरपि भ्रमकाले प्रातीतिकसत्त्वस्याभ्युपगन्तव्यतया तस्यापि सत्त्वेनैवापरोक्षत्वोपपत्तेः ।
 नच—अनाहार्यापरोक्षभ्रमस्थले विषयसत्त्वमङ्गीकरणीयं, नत्वाहार्यापरोक्षभ्रमस्थलेऽपीति नियमःकुल-
 धर्मः, अख्यात्यन्यथानुपपत्त्या विषयसत्त्वाभ्युपगमस्योभयत्र तुल्यत्वात् । नच—आहार्यापरोक्षभ्रमस्थले
 विरोध्यधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे सति अज्ञानं न संभवति, तदभावे च कथं तत्र प्रातिभासिकरजताद्युत्पत्ति
 संभव इति—वाच्यम् ; अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेणाधिष्ठानांशावरणशक्तिमदज्ञाननाशेऽपि प्रातिभासिकर-
 जतोत्पादकविक्षेपशक्तिमदज्ञानसंभवेन प्रातिभासिकरजताद्युत्पत्तिसंभवादिति । शशविषाणादेः सत्त्वरूप-
 ताङ्गीकारेऽसत्त्वव्याघातेन बाधकेन लाघवं त्यक्त्वाऽपरोक्षप्रतीतिविषयत्वस्यैव तन्नत्वे स्थिते तदभावाच्च
 शशविषाणादेर्निःस्वरूपत्वसंभवात् । तस्माच्छुक्तिरूप्यादिविषयकप्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वोपपत्तिर्दुर्वारा ॥
 कैचित्तु—देशकालसंबन्धित्वं सत्त्वं, निःस्वरूपत्वमसत्त्वमिति न सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरुद्धरूपतेति—
 वदन्ति । नच—एतन्मतेऽसङ्गत्वश्रुत्यनुरोधेन ब्रह्मणो देशकालसंबन्धशून्यत्वेनासत्त्वापत्तिरिति—वाच्यं;
 वस्तुतस्तच्छून्यत्वेऽपि कल्पितस्य संबन्धस्य तत्र सत्त्वात् । नच—वस्तुतस्तच्छून्यत्वेन नृशृङ्गादेरिव ब्रह्मणो
 वस्तुतोऽसत्त्वापत्तिरिति—वाच्यं; वस्तुतस्तच्छून्यत्वस्य कल्पितसंबन्धप्रतियोगिकतया कल्पिततत्संबन्ध-
 वति ब्रह्मणि तत्संभवेऽपि तद्रहिते नृशृङ्गादौ वस्तुतस्तच्छून्यत्वस्याप्यभावात् । नच—नृशृङ्गादावपि
 देशकालसंबन्धः कल्प्यतामिति—वाच्यं; सत एव सर्वत्र भ्रमाधिष्ठानतया कल्पितत्वेनासत्तत्त्वस्याधि-
 ष्ठानत्वायोगात् । अतएव—देशकालसंबन्धित्वे ब्रह्मणो नृशृङ्गादेरिव निःस्वरूपत्वापात इति निरस्तम् ;
 देशकालसंबन्धित्वस्य कल्पितस्याप्यभावेन नृशृङ्गादेर्निःस्वरूपत्वेऽपि कल्पितस्य तस्य सत्त्वेन तेन ब्रह्मणः
 सत्त्वरूपत्वोपपत्तेः । एतेन—सत्त्वरूपत्वे कालसंबन्धस्य देशसंबन्धस्य वा तन्नत्वात्सत्त्वेन प्रतीतत्वमात्रस्य
 साधारणतया ब्रह्मणस्तत्कृतनृशृङ्गादिवैलक्षण्यानुपपत्तिरिति—परास्तम् । तथा सति ते सत्त्वरूपत्वनिः-

परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभांयोरुद्गादावेकत्र सहोपलम्भात् । यच्च—निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपवत्प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपपत्त्या अर्थान्तरम्—उक्तम् । तन्न । एकेनैव सर्वानुगतेन

सिद्धिव्याख्या ।

स्वरूपत्वव्यवस्थैवोच्छिद्येतेत्यतः देशकालसंबन्धित्वस्यैव तत्रत्वे स्थिते, ब्रह्मणस्तत्कृतनृशृङ्गादिवैलक्षण्योपपत्तेः । अतएव प्रातिभासिकस्यापि सत्त्वोपपत्तिः, प्रातिभासिकरूप्यादेः शुक्त्याद्यधिष्ठानातिरिक्तदेशसंबन्धानङ्गीकारेऽप्यधिष्ठानसंबन्धसंभवेन सत्त्वोपपत्तेः । नच—कालत्रयेऽपि 'इदं रजतं न, नात्र रजतम्' इति बाधकज्ञानेन तत्संबन्धाभावस्यैव सिद्धिरिति—वाच्यं; बाधकज्ञानस्य वास्तवसंबन्धित्वविषयत्वेऽपि 'इदं रजतम्' इति प्रतीतिकालीनावास्तवाधिष्ठानदेशसंबन्धत्वाविषयकत्वात् । अतएव देशकालसंबन्धित्वस्य सत्त्वरूपत्वेऽज्ञाने तत्कार्यभूतवियदादौ च सत्त्वसाधक 'तम आसीत्' इत्यादिश्रुत्या कालसंबन्धप्रतीतिरुपपद्यते ॥ यत्तु—शशविषाणाद्यसद्भाववृत्तदेशकालसंबन्धप्रयोजकत्वेन सत्त्वरूपत्वस्यावश्यकत्वे तदेव सत्त्वं तदभाव एवासत्त्वमस्त्विति—तन्न । तवापि मते, वियदादिसद्भाववृत्तदेशकालसंबन्धित्वप्रयोजकत्वेन निःस्वरूपत्वस्यावश्यकत्वालाघवात्तदेवासत्त्वं, तदभावः सत्त्वमित्यापत्तेः । नचेष्टापत्तिः, त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वाप्रतियोगित्वे सत्त्वासत्त्वे इति भवत्सिद्धान्तविरोधात् । यदपि—देशकालसंबन्धित्वं सत्त्वं निःस्वरूपत्वमसत्त्वमिति वदता तदभाव एवासत्त्वव्यवहारप्रयोजको वाच्यः, आवश्यकत्वाविरोधितया तस्यैव तत्त्वौचित्याच्च, नान्यत्, अतथात्वात्, तथाच कथमेवं सति सत्त्वासत्त्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वमिति न जानीम इति—तन्न । सत्त्वासत्त्वव्यवहारप्रयोजकयोः परस्परविरहरूपत्वेऽपि तत्प्रयोज्ययोर्व्यवहारयोर्विषयीभूतसत्त्वासत्त्वयोरपि परस्परविरहरूपत्वमित्यत्र नियामकाभावात्, नहि प्रयोजकस्य प्रयोज्यविषयस्य चैकरूपत्वनियमोऽस्तीति ॥ वस्तुतस्तु सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वेऽपि प्रपञ्चे न तदुभयाभावसिद्धिविरोधः, यत्र घटादिसत्त्वं तत्र न तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वं यत्र तदधिकरणत्वं तत्र न घटाधिकरणत्वमिति सहचारदर्शने सत्यपि घटाल्यन्ताभावे तदुभयानधिकरणत्ववत्, यत्र सत्त्वाधिकरणत्वं तत्र न तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वं, यत्र तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वं तत्र न सत्त्वाधिकरणत्वमिति सहचारदर्शने सत्यपि प्रपञ्चे तदुभयाभावाधिकरणत्वसंभवात् । नच—घटाल्यन्ताभावे घटो नेत्यबाधितप्रतीत्या घटाल्यन्ताभावस्यापि घटाल्यन्ताभावाधिकरणत्वेन दृष्टान्तासम्मतिरिति—वाच्यम्; अभावस्याभावाधिकरणत्वे भावाभावोभयानधिकरणत्वाभ्युपगमविरोधात् । नच—अभावप्रतियोगिकाभावाभ्युपगमवत् अभावेऽभावो नेत्यभ्युपगमस्य सजातीयाधिकरणातिरिक्ताभावविषयत्वमिति—वाच्यं; तर्हि घटाल्यन्ताभावाधिकरणस्यैव घटाल्यन्ताभावाऽधिकरणत्वोक्त्याऽऽत्माश्रयात् ॥ नच—प्रमेयत्वे प्रमेयत्ववत् दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्दृश्यत्वमिथ्यात्ववत्, सिद्धविषयत्वेनात्माश्रयो न दोष इति—वाच्यम्; उदाहृतस्थलेष्वभ्युपगमानुसारेण तस्यादोषत्वेऽप्यभावानधिकरणकस्यानभ्युपगमेन तत्रात्माश्रयस्य दोषत्वादित्यलम् ॥ परमार्थतस्तु सत्त्वमेव दृष्टान्तः, तत्र सत्त्वासत्त्वोभयाभावसत्त्वात्, सत्त्वस्य सत्त्वाधिकरणकत्वाभ्युपगमे आत्माश्रयात्, असत्त्वाधिकरणत्वाभ्युपगमेऽसत्त्वापत्तेरिति दिक् ॥ पूर्वोक्ताऽर्थान्तरत्वं निराकर्तुमनुवदति—यच्चिति । अर्थान्तरमुक्तमिति ॥ उभयाभावासाधनेऽपि ब्रह्मवत्सद्रूपत्वानुपमर्दादित्यर्थः । ब्रह्मवत्प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे मानाभावाच्च सद्रूपत्वेनाऽप्युपपत्त्याऽर्थान्तरता । नच—सन् घट इत्यादिबुद्धिरेव मानमिति—वाच्यम्; एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ प्रपञ्चस्य प्रत्येकं सत्त्वभावतां विना तदनुपपत्त्यभावादित्यभिप्रेत्यर्थान्तरतां निराकरोति—एकेनैवति । नच—रजतं विना शुक्तौ रजतप्रतीतिव्यवहारादेर्दर्शनात् सत्पदार्थं विनाऽपि

सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ ब्रह्मवत् प्रपञ्चस्य प्रत्येकं सत्त्वभावताकल्पने मानाभावात्, अनुगतव्यवहारा-

सिद्धिव्याख्या ।

सत्प्रतीत्यादेरुपपत्तौ अतिलाघवमिति, ब्रह्मापि सद्रूपं न सिध्येदिति—वाच्यं; प्रमितत्वाद्वह्मणः सद्रूपत्वेऽपि जगतस्तदभावे सद्रूपत्वायोगात् । जगति प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या सद्रूपत्वप्रतीतेर्भ्रमत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत एवानेकसत्कल्पनरूपबाधकर्तृसहकृतसत्त्वाभावानुमानमेव सद्रूपत्वाभावेऽपि पर्यवस्यतीति न सद्रूपत्वेनार्थान्तरमित्यपि साधु । करणस्याप्रमितसद्रूपत्वापवादकत्वात् । नच—सत्त्वाभावानुमानस्य लाघवेन प्रातिभासिकसत्त्वाभावेऽपि पर्यवसाने जगच्छून्यमेव स्यादिति—वाच्यम्; अस्मादेव बाधकाल्लाघवं हित्वा पारमार्थिकसत्त्वाभाव एव पर्यवसानस्यावश्यकत्वादिति साधूक्तं नार्थान्तरेति । बाधकसद्भावाच्च न प्रपञ्चस्य सद्रूपतेत्याह—अनुगतव्यवहाराभावेति । नच—तस्यानुगतजातिविषयत्वेनोपपत्तिरिति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘अतएव न द्वितीय’ इत्याद्युक्तिवैचित्र्याय नापीत्याद्युक्तम् । सत्त्वभावता सदाकारबुद्धौ विशेषणता । ननु—सा ब्रह्मण एवास्तु—तथापि प्रपञ्चस्योक्तरीत्या सद्रूपता किमिति न स्यात्—इति चेन्न । यतः प्रपञ्चे तस्याः स्वीकारे तार्किकादिमते घटः सन्नित्याकारप्रत्यये शुद्धसत्ताया विशेषणत्वादन्वैरपि तादृशप्रत्यये शुद्धसत् एव तादात्म्येन विशेषणत्वं वाच्यम्, तथाच प्रपञ्चे बाध्यत्वाभाववैशिष्ट्यं नोक्तप्रत्ययेन सिध्यति; नापि घटोऽबाध्य इत्यादिप्रत्ययेन; तस्याबाध्यब्रह्मतादात्म्यविषयकत्वेनाप्युपपत्तावबाध्यत्वप्रपञ्चयोर्वैशिष्ट्यविषयकत्वे मानाभावात् । नच—विनिगमका-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विरहूपत्वाभावात्’ इत्यस्य पौनरुक्त्यं तदवस्थमेवेति भावः ।—अतएवेति । अतएवेत्यनेन परस्परविरहरूपत्वाभावस्य परामर्शेनैकया युक्त्यैव कल्पद्वयनिरासादुक्तैर्वैचित्र्यमिति भावः । मूले परस्परेत्यस्य सत्त्वासत्त्वयोरित्यादिः । अतएव सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वाभावादेव । तयोः परस्परविरहरूपत्वे हि सत्त्वाभाववति युक्तिरूप्ये असत्त्वस्यावश्यकत्वेन परस्परविरहव्यापकतायाः संभवेन तद्धेतुको द्वितीयव्याघातोऽपि भवेत्, तदेव नेति भावः ।—व्यभिचारादिति । सत्त्वाभावे असत्त्वस्यासत्त्वाभावे सत्त्वस्य व्यभिचारादित्यर्थः । तथाच द्वितीयकल्पोक्तकर्तृवपीष्टापत्तिपराहतावेवेति भावः । तस्य परस्परविरहव्याप्यतोपगमस्य । व्याघाताप्रयोजकत्वात् । तादृशव्याप्यत्वाभावापत्तिरूपतर्केऽकारणत्वादित्यर्थः । असत्त्वादौ सत्त्वाद्यभावसमानाधिकरणस्वाभावकत्वरूपापादकोपगमेऽपि व्यापकस्याधिकदेशवृत्तिताया व्याप्यत्वाभञ्जकतया तुच्छाद्यन्तर्भावेन सत्त्वाद्यभावव्याप्यत्वोपपत्तिसंभवेन मूलशैथिल्यादिति भावः । ननु यो यदभावसमानाधिकरणस्वभावकः स न तदभावव्याप्य इति सामान्यव्याप्यैव तादृशपत्तिनिर्वहेदिति शङ्कानिराकरणाय तादृशव्याप्तौ व्यभिचारमाह—गोत्वा-श्वत्वयोरिति । एवंच तृतीयकल्पोक्तकर्तृ मूलशैथिल्यपराहताविति भावः । अर्थान्तरं दूषयितुमनुवदति—यचेति । एकेनैवेति । सद्रूपेण ब्रह्मणेति शेषः । सर्वानुगतेन सर्वत्र तादात्म्यसंबन्धेन संबद्धतया विशेषणतया मानार्हेण । सर्वत्र प्रतीतिः घटः सन् इत्यादिप्रतीतिः ।—प्रत्येकमिति । तथा चैवं कल्पने गौरवं स्यादिति भावः । टीकायां—सदाकारबुद्धिः घटः सन् इत्यादिबुद्धिः । सद्रूपता अबाध्यरूपता ।—किमितीति । कुतो बाधकादित्यर्थः । तथाच बाधकाभावः स्यादेवेति भावः । साधकाभाव एव प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे बाधक इत्याशयेन समाधत्ते—नेति । ननु—घटः सन् इत्यादिप्रत्यय एव घटादौ अबाध्यरूपं घटमेव विशेषणतयावगाहमानो घटस्य सद्रूपत्वे साधक इत्याशङ्कां परिहरति—यत इति । तस्याः सद्रूपतायाः । स्वीकारे स्वीकारेऽपि । अन्यैः घटादौ सत्त्वरूपधर्माभावमुपगच्छद्भिः ।—शुद्धसत् एवेति । शुद्धसद्रूपब्रह्मण एवेत्यर्थः । शुद्धसदाकारेत्युत्तरग्रन्थात् । (सदाकारेत्याद्युत्तरग्रन्थात्) । एवकारेण सद्रूपतया अभ्युपगम्यमानस्य घटस्य अबाध्यत्वाख्यसत्त्वरूपधर्मस्य च विशेषणत्वव्यवच्छेदः । प्रत्येकं घटादेर्विशेषणत्वे गौरवात् । अनुगतव्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च । अबाध्यत्वरूपधर्मस्य चानुपगमात् । वाच्यमिति । सा ब्रह्मण एवास्तु इत्यनेन त्वयोपगतं चेति शेषः । ननु घटः सन् इति प्रत्ययेनैव बाध्यत्वाभावरूपसत्त्ववैशिष्ट्यं घटादेः सिध्यति तेन च सद्रूपत्वं इत्यत आह—तथाचेति । घटः सन् इति प्रत्यये शुद्धसद्रूपब्रह्मण एव तादात्म्येन विशेषणत्वे चेत्यर्थः ।—बाध्यत्वाभावेति । कालायनवच्छिन्नेत्यादिः । उक्तप्रत्ययेन घटः सन् इत्यादिप्रत्ययेन । प्रत्ययेनेति । प्रपञ्चे बाध्यत्वाभाववैशिष्ट्यं सिध्यतीत्यनुषङ्गः । ननु घटादिप्रपञ्चस्य बाध्यतापि नास्ति, नच अबाध्यत्वरूपसत्त्वाभावस्य बाध्यत्वव्याप्तिभङ्गप्रसङ्गः; ब्रह्मणि-

भावप्रसङ्गाच्च । सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं वा साध्यम् । तथाचोभयात्मकत्वेऽन्यतरात्म-
कत्वे वा, तादृग्भेदासंभवेन ताभ्यामर्थान्तरानवकाशः । नच-असत्त्वव्यतिरेकांशस्यासङ्गेदस्य च प्रपञ्चे

सिद्धिव्याख्या ।

वाच्यं; तस्या निरसिष्यमाणत्वादिति भावः । सदसदुभयान्योन्याभावस्य साध्यतायां तु न व्याहृतिसा-
ध्यवैकल्यार्थान्तरत्वानीत्याह—सत्प्रतियोगिकेति । एकैकप्रतियोगिकान्योन्याभावसाध्यतायामेकैकरूप-
त्वेनार्थान्तरतासिद्धसाधने स्याताम्, अत उभयप्रतियोगिकभेदद्वयं साध्यमित्युक्तं, एवंच फलितमाह—
तथाचेति । तादृग्भेदासंभवेनेति । सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयासंभवेनेत्यर्थः । उभयात्म-
कत्वे सदात्मके सत्प्रतियोगिकभेदस्यासदात्मकेऽसत्प्रतियोगिकभेदस्य चासंभवादिति भावः । ताभ्या-
मिति । उभयात्मकत्वान्यतरात्मकत्वाभ्यामित्यर्थः । अर्थान्तरतानवकाश इति । सिद्धसाधनसाध्य-
वैकल्ययोरपि नावकाश इति द्रष्टव्यम् । नचासत्त्वेति । यथा पक्षतावच्छेदकनानात्वे कचिदधिकरणे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावः । शुद्धसदाकारपूर्वोक्तप्रत्ययसिद्धस्य ब्रह्मप्रपञ्चतादात्म्यस्यैवैतत्प्रत्ययविषयत्वसंभवेनोक्तवैशिष्ट्यस्य तद्विषयताकल्पने
गौरवस्यैव विनिगमकत्वात् । नापि प्रत्यक्षादीनां स्वतःप्रामाण्यबलेन तत्कल्पनम्; प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकमेव प्रामा-
ण्यमित्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ननु—सदाकारप्रत्ययो यदा द्रव्यादौ, तदा तत्र समवायेन सत्ताजातिर्विशेषणमस्तु; यदा
द्रव्यत्वादौ, तदा सामानाधिकरण्यसंबन्धेन सा; तथाच कथं ब्रह्मण एव तथात्वं—तत्राह—अनुगतेति । संबन्धां-
शेऽप्यनुगताकरेत्यर्थः । उक्तमर्थान्तरं स्वीकृत्यापि तद्वारणायाह—सत्प्रतियोगिकेत्यादि । भेदेति । आत्यन्तिकभे-
देत्यर्थः । उभयात्मकत्वे इति । ‘भ्रमविषयीभूतालीकसंसर्गविशिष्टादिरूपेण प्रपञ्चोऽलीकः रूपान्तरेण तु सत्य’ इति
न्यायपेटिकाकारवाचस्पत्युक्तपक्षे इत्यर्थः । अन्यतरात्मकत्वे इति । भ्रमविषयोऽपि संसर्गो देशान्तरस्थत्वात् सत्य
इति प्रपञ्चः सत्य एवेति पक्षे, ज्ञानातिरिक्तरूपेणालीक एव प्रपञ्चो विकल्पविषय इति पक्षे चेत्यर्थः । अनवकाश

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्यभिचारवारणाय व्याप्यकोटौ बाध्यत्वे बाधकाभावस्य प्रवेशात् । ब्रह्मणि श्रुतिप्रमितत्वसाक्षित्वादेरिव प्रपञ्चेऽपि अयं घट
इत्यादिप्रत्यक्षप्रमितत्वस्य बाध्यत्वबाधकस्य सत्त्वादित्युक्तम् । एवंच घटोऽबाध्य इति प्रत्ययस्य घटे अबाध्यत्वरूपसत्त्वावगा-
हितत्वावश्यकम्; अन्यथा बाध्याबाध्याभ्यां घटादेस्तृतीयप्रकारतापत्तेः, नहि प्रतीयमानस्य तदिष्टमित्याशङ्कां परिहरति—
नापीति । प्रामाण्यबलेन प्रामाण्यभङ्गभयेन बाध्यत्वस्वीकारासंभवेन । तत्कल्पनं घटोऽबाध्यइत्यादिप्रतीतेर्घटादाव-
बाध्यत्वरूपसत्त्वावगाहितत्वकल्पनम् ।—वक्ष्यमाणत्वादिति । तथाच श्रुतिरूपपारमार्थिकप्रमाणप्रमितत्वस्यैव बाध्यत्व-
बाधकतया प्रपञ्चे तदभावेन प्रकृतमिध्यात्वरूपसाध्यघटकाबाध्यत्वरूपसत्त्वाभावमुपगम्य बाध्यत्वानङ्गीकारे उक्तव्याप्ति-
भङ्गप्रसङ्ग इति प्रपञ्चस्य बाध्यत्वमावश्यकमिति नार्थान्तरं प्रकृतानुमाने इति भावः । ननु मूले अनुगतेत्यादिना प्रत्येकं
प्रपञ्चस्य सदाकारबुद्धौ विशेषणत्वे प्रकारांशेऽनुगतव्यवहारानुपपत्तिरुक्ता, सा च न युक्ता; सत्ताजातेरेव सदाकारबुद्धौ
संभवसंबन्धेन विशेषणत्वोपगमेऽनुगतव्यवहारोपपादनसंभवात् इत्यतः तादृशमूलं तादृशशङ्कानिराकरणपरतयापि व्याख्या-
तुं तादृशशङ्कया अवतारयति—नन्विति । संबन्धांशेऽपीति । अपिना प्रकारांशे । ब्रह्मणस्तादात्म्येन विशेषणत्वोपगमे
तूभयांशेऽप्यनुगतव्यवहारोपपत्तेर्ब्रह्मण एव तथात्वमिति भावः । स्वीकृत्येति । उक्तव्याप्तावप्रयोजकत्वश(त्वाश)ङ्क्येति
भावः । ननु प्रपञ्चस्य सदसदुभयरूपतामते सङ्गेदासङ्गेदयोरप्यवच्छेदकभेदेन तत्र सत्त्वात् सिद्धसाधनं अत आह—
आत्यन्तिकेति । सदायवृत्तीत्यर्थः । भ्रमविषयीभूतालीकसंसर्गविशिष्टादिरूपेण प्रपञ्चोऽलीक इति । इदं
रजतमित्यादिभ्रमेषु सत्ये धर्मिणि सत्यमेव हि दृश्यं रजतादिकम् अलीकसंबन्धेन भासते, तत्र स्वरूपतः सत्ययोरपीदंरजत-
योरलीकसंसर्गविशिष्टरूपेणासत्यत्वं, संसर्गविशिष्टत्वं प्रतियोगित्वा(अलीकसंसर्गविशिष्टत्वं प्रतियोगित्वा)नुयोगित्वान्यतरसंब-
न्धेन, स्वरूपसंबन्धेन संसर्गविशिष्टत्वमिव तादात्म्यसंबन्धेन संसर्गविशिष्टत्वमपि रजतादे रूपम् । एतन्मते ब्रह्मणि प्रपञ्च-
स्यालीकसंबन्धेन भ्रम इति न भ्रमितव्यम् । इदमि रजतस्येव तत्र तत्तत्पदार्थानां भ्रमानादायैव सर्वस्यापि प्रपञ्चस्यालीक-
तोपपत्तेः । रूपान्तरेणेति । इदंत्वरजतत्वादिना प्रमाविषयीभूतसत्यसंसर्गविशिष्टरूपेण वेत्यर्थः ।—ज्ञानातिरिक्तरूपे-
अद्वै. सि. ८

सिद्धिसन्याख्या ।

पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेर्ज्ञातत्वात् तत्पक्षांशे सिद्धसाधनं, तथा साध्यतावच्छेदकनानात्वेऽपि सिद्धसाध्यांशे सिद्धसाधनमेव; साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सिद्धिरूपस्य सिद्धसाधनतावीजस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्यर्थः । ननु—साध्यतावच्छेदकनानात्वे उभयाभावगोचर-समूहालम्बनरूपैकानुमित्युद्देशेन नांशतःसिद्धसाधनम्, असत्त्वात्यन्ताभावांशेऽप्युद्देश्यायाः समूहालम्बनरूपायाः सिद्धेरजातत्वात्; अनुमितिद्वयोद्देशे च सिद्धसाधनमेव, नांशतःसिद्धसाधनम्, नचैवं—पक्षतावच्छेदकनानात्वेऽप्युक्तविधया नांशतःसिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; इष्टापत्तेरिति—चेत् सत्यं समूहालम्बनानुमित्युद्देश्यत्वमेव, तथापि तस्या असत्त्वाभावांशे पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सिद्धं यत्साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नं साध्यं तद्विषयसिद्धिरूपत्वेन सिद्धसाधनाभिधानमित्यदोषः । ननु—साध्यनिविष्टस्यासत्त्वात्यन्ताभावस्य पक्षे सिद्धौ यदि सिद्धसाधनं, तदा पृथिवीतरभिन्नेत्यत्र त्रयोदशान्योन्याभावानां घटो न जलादिरिति प्रतीत्या घटादौ सिद्धेः सुतरां सिद्धसाधनमिति—चेन्न, पृथिवी-तरभिन्नेत्यत्र त्रयोदशान्योन्याभावानां पृथिवीत्वसामानाधिकरण्यस्य घटादौ सिद्ध्या सिद्धसाधनेऽपि घटादिभिन्नपृथिवीत्वोपहिते तदसिद्ध्या सिद्धसाधनानवकाशात् । ‘अनित्ये वाङ्मनसी’ इत्यत्र पक्षता-वच्छेदकनानात्वेऽप्युक्तरीत्यांशतःसिद्धसाधनत्वाभावेऽपि मतान्तरेण सिद्धसाधनत्वेऽपि पृथिवीतर-भिन्नेत्यत्र पक्षतावच्छेदकैक्याद्यथा नांशतःसिद्धसाधनं, पक्षतावच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्येन साध्य-सिद्धौ सिद्धसाधनमेव, तादृशसिद्धेरेवानुमानफलत्वात्, तदसिद्धौ तच्छङ्कैव नास्ति, नहि पक्षे साध्यसिद्धिमात्रेण तत्, किंतु पक्षतावच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्ध्या; अन्यथा धूमवत्त्वेन पर्वते वह्निनिश्चयेऽपि सिद्धसाधनप्रसङ्गात्, तथा साध्यतावच्छेदकस्य समूहालम्बनैकज्ञानोपाखण्ड-स्यैक्यान्नांशे सिद्धसाधनं साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसिद्धेरभावात् । अतएव न व्यर्थविशेष-णत्वमपि; सद्विलक्षणत्वे त्वसत्यसद्विलक्षणमिति प्रतीतेरुद्देश्यत्वादिति दोषे सत्येव दोषान्तरमाह—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इति । असत्त्वाभावस्य केवलप्रपञ्चे सत्त्वस्य तदुपहितप्रपञ्चे स्वीकारे सत्त्वोपहितप्रपञ्चस्य केवलप्रपञ्चे तादात्म्यसत्त्वान्न

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

गेति । अभेदः तृतीयार्थः । ज्ञानादत्यन्तभिन्नः प्रपञ्चोऽलीक एवेत्यर्थः । साकारवादिबौद्धमतमिदम् । तन्मते हि अयं घट इत्यादिविज्ञानेषु बाह्योऽर्थो घटादिर्न भासते, किंतु विज्ञानमेव स्वप्नविज्ञानवत् ॥ तदुक्तं शास्त्रदीपिकायां तर्कचरणे—‘ज्ञानमेवैवमाकारमात्मना प्रथते कुतः । नाप्रत्यक्षस्य तस्यास्ति प्रमाणान्तरतो गतिः ॥ संवेद्यत्वाच्च नीलादर्शना-कारत्वनिश्चयः । अर्थान्तरस्य च ग्राह्यलक्षणं युज्यते नहि ॥’ इति । ज्ञा(विज्ञा)नाकारो ज्ञानस्य तादात्म्यसंबन्धेन धर्मो विषयितास्थानीयः, तादात्म्यं च भिन्नाभिन्नयोरेवेति, ज्ञानादत्यन्तभिन्नो विषयोऽलीक एवेति, तत्रैव विस्तरेण निरूपितम् । ननु ज्ञानातिरिक्तप्रपञ्चस्यालीकत्वे तदनुभवविरोध इत्याशङ्कोक्तं विकल्पविषय इति । प्रपञ्चस्य ज्ञानादत्यन्तभिन्नत्वाव-गाहिनी वृत्तिस्तु विकल्परूपा नानुभवरूपेति भावः ।—इत्यर्थ इति । तथाच सद्भेदानिवेशे प्रथमे पक्षे असद्भेदानिवेशे द्वितीये अर्थान्तरम्, अतस्तदुभयं निवेद्यमिति भावः । अन्यतरात्मकत्वेऽर्थान्तरानवकाशस्य यथाश्रुतेऽपि संभवात् वाचस्पत्युक्तोभयात्मकत्वपक्षे च निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धस्य साध्यतावच्छेदकसंबन्धवोपगमेनापि संभवादात्यन्तिकत्वं साध्यविशेषणं व्यर्थमित्याशङ्कानिराकरणाय प्रकारान्तरेणोभयात्मकत्वपक्षं प्रदर्श्य तत्र तादृशविशेषणवलेनार्थान्तरानवकाश-मुपपादयति—असत्त्वाभावस्येति । सद्भेदस्येत्यपि बोध्यम् । तदुपहितेति । सत्त्वोपहितेत्यर्थः ।—तादात्म्यसत्त्वा-

सिद्धत्वेनांशतः सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वा-

सिद्धिव्याख्या ।

गुणादिकमिति । समानाधिकृतत्वादिति । शुद्धः पट इति सामानाधिकरण्यवत्त्वादित्यर्थः । सिद्ध-
त्वेऽपीति । व्यापकविशेषणानामुद्देश्यप्रतीत्यर्थत्वेन भेदाभेदवादिना तार्किकं प्रति प्रयुक्तमिति । भिन्ना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्रैकान्तिकः सद्भेद इति भावः । गुणादिकं गुणः क्रिया जातिः विशिष्टरूपं अवयवी अंशी । गुण्यादिना गुणिना
क्रियावत्या व्यक्त्या केवलरूपेण अवयवेन अंशेन । भिन्नाभिन्नं भेदाभेदोभयवत् । समानाधिकृतत्वात् अभेद-
संसर्गकधीविषयतायोग्यत्वात् । पराभ्युपगतसमवायतादात्म्यभिन्नाः ये संयोगादयस्तेषामन्यतमसंबन्धेन गुण्यादि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

दिति । केवलप्रपञ्चनिष्ठसद्भेदस्य सद्बृत्तित्वादिति शेषः । ऐकान्तिकः सद्वृत्तिः ।—इति भाव इति । एवंच सद्वृत्ति-
सद्भेदासद्वृत्त्यसद्भेदोभयवत्तासिद्धिः जायमानोभयात्मकत्वमुन्मूल्यैव जायत इति भावः । ननु—सद्वृत्तित्वे सति असद-
वृत्तिर्यो भेदः तद्वत्त्वमेव साध्यमस्तु, सदसदन्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव तादृशभेदस्य प्रसिद्धेः; तथाच किं
सदसत्प्रतियोगित्वद्वयनिवेशेनेति—चेन्न, प्रपञ्चे सदादितादात्म्यसंशयोच्छेदाय सदादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदसिद्धेरेवो-
द्देश्यत्वात् । नच—सदाद्यवृत्तिधर्मवत्ताज्ञानस्यापि तादृशसंशयविरोधित्वात् सदाद्यवृत्तित्वविशिष्टभेदसिद्धेरेवालमिति—
वाच्यम्; सदादिभेदाभावत्वेन सदादितादात्म्यसंशयस्य सदाद्यवृत्तिधर्मवत्ताज्ञानाप्रतिबध्यस्योच्छेदाय सदादिप्रतियोगिकत्व-
विशिष्टभेदसिद्धेरावश्यकत्वात् । व्यापके व्यर्थविशेषणत्वं न दोषायेति तु सुप्रसिद्धमेवेति ध्येयम् । गुणो रूपादिः । क्रिया
उत्क्षेपणादिः । जातिः घटत्वादिः । विशिष्टरूपं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तादिः । अवयवी घटादिः । अंशी धान्यराशिः,
गवाश्वादिसमुदायश्च । गुणिना घटादिद्रव्येण । क्रियावता घटादिना । व्यक्त्या घटादिना । केवलरूपेण सत्तादिना ।
अवयवेन मृत्कपालादिरूपेण । अंशेन धान्येन, गवाश्वादिना च । भिन्नाभिन्नमिति कर्मधारय इत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—
भेदाभेदोभयवदिति । तथाच गुणो गुणिप्रतियोगिकभेदाभेदोभयवानिति रीत्या क्रमेणान्वयो बोध्यः ।—अभेद-
संसर्गकेति । गुण्यादिविशेषणकेत्यादिः । अत्र धीः प्रमारूपा निवेश्या; अन्यथा पटो घट इति भ्रममादाय व्यभिचारात्,
तथाच परमते गुणगुणिनोरभेदसंसर्गकप्रमाया अप्रसिद्धा हेतोरप्रसिद्धिः, समवायसंसर्गकप्रमायाश्च स्वमतेऽप्रसिद्धा तद्व-
टितहेतुरपि तथैवेति मतद्वयसाधारण्येन हेतुं परिष्करोति—परेति । समवायत्वेन पराभ्युपगतभिन्नत्वे सति तादात्म्य-
भिन्ना इत्यर्थः । समवायस्य स्वमतेऽप्रसिद्धावपि तत्त्वेन पराभ्युपगतं प्रसिद्धमेव । यद्वा—भिन्नान्तं परिचायकमेव । अतएव
तेषामन्यतमेत्युक्तम् । संयोगाद्यन्यतमसंबन्धावच्छिन्नगुण्यादिनिष्ठविशेषणतानिरूपितप्रतीयविशेष्यत्वादित्यर्थः । नीलो घटः,
चलः पटः, सन् घटः, मृत् घटः, इदं धान्यं, अयं व्रीहिः इत्यादिबुद्धिषु गुणादीनां विशेष्यतया हेतोः पक्षधर्मतानिर्वाहः ।
यद्यपि संयोगाद्यन्यतमसंबन्धावच्छिन्नगुण्यादिविशेष्यधीप्रकारत्वमपि हेतुः संभवति, घटो नील इति बुद्धौ नीलदेः प्रकारत्वात्;
तथापि तत्प्रतियोगिकभेदाभेदवत्तायाः तद्विशेषणकोक्तधीविशेष्यत्वं प्रत्येव प्रयोजकतया तस्यैव हेतुताश्रयणम् । व्याप्तिश्चात्र
नान्वयतः, दृष्टान्तासंभवात्; किंतु व्यतिरेकतः । यो घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदोभयाभाववान्, स घटत्वाव-

१ गुण्यादौ गुणादिधीप्रतिबन्धकप्रमाविषयत्वात् । यो यद्विशिष्टप्रतियोगिताकभेदधीप्रतिबन्धकप्रमाविषयः, स तद्भेदाभेदोभयवानिति ।
व्याप्तिनिष्कर्षस्तु यो यद्धर्मवदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदनिष्ठप्रकारतानिरूपितस्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपित-
प्रतिबन्धकतावत्संयोगाद्यसंसर्गकप्रमाविषयः स तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदानुयोगितावच्छेदकताद्वयवानिति सामान्यव्याप्तौ, घट-
त्वादिमदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदप्रकारतानिरूपितस्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावत्प्रमाविषयो
द्रव्यत्वादि, यथा घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदोभयानुयोगितावच्छेदक इति वृष्टान्तः । आहार्यस्याप्रतिबन्धकत्वात् घटो घट इति
ज्ञानमादाय, भूतलं घटवदित्यादिज्ञानस्य संयोगादिसंसर्गकत्वात्तादृशज्ञानमादाय, घटः पट इति ज्ञानस्य भ्रमत्वात्तादृशज्ञानमादाय च
घटयोः, घटभूतलयोः, घटपटयोश्च न तादात्म्यापत्त्यर्थान्तरम् । यदि तु संयोगादिसंसर्गकेति निवेशेऽननुगम इति शङ्क्यते, तर्हि आधार-
तावच्छेदकतानवच्छेदकरूपावच्छिन्नसंबन्धसंसर्गकत्वं प्रमायां विवक्षणीयम् । कपालो घटो घटो रूपमित्यादिप्रतीतिमादाय समन्वयः, घटे
रूपमित्यादयस्तु प्रत्यया भ्रमरूपा एव । 'गुणे शुद्धादयः पुंसि' इति कोशस्य तु नामान्तराविशेषणस्य गुणपदस्य तद्विशेषणगुणपदस्य च
पुस्त्वनामान्तरसमलिङ्गत्वबोधने तात्पर्यम्, 'आकाशं शब्दमात्रं तत्पश्येमात्रं समाविशे'दित्यादिपुराणादिवचनादिति गुरुचन्द्रिका ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेषणिका या धीस्तद्विशेषणिका या धीस्तद्विशेष्यत्वादिति यावत् । नचाप्रयोजकत्वम्; नीलगुणघटयो-
स्तादात्म्यसंबन्धस्वीकारे 'घटो न नील' इत्याकारकनीलगुणभेदबुद्धौ तादात्म्यसंबन्धेन नीलगुणप्रकारकधीत्वेनैव
प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्, नतु नीलगुणसमवायिभेदबुद्धौ नीलगुणसमवायितादात्म्यधीत्वेन; समवायस्यालीकत्वात्,
समवायस्वीकारे तु नीलगुणसमवायिभेदबुद्धावुक्ततादात्म्यधीत्वेनैव घटादौ नीलगुणभेदबुद्धौ नीलगुणतादात्म्यधी-
त्वेनापि प्रतिबन्धकत्वं वाच्यमिति गौरवम् । एवं नीलादिसमवायविषयके विशिष्टज्ञानमात्रेऽनुमित्यादौ च कारणत्व-
प्रतिबन्धकत्वानि च कल्पनीयानि समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताधिकरणत्वयोस्तादृशप्रतियोगिताद्यत्यन्ताभावस्य तादृश-
प्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्य तादृशप्रतियोगितावच्छेदकतायाः समवायेन नीलादिविशिष्टस्य भेदप्रतियोगितातदवच्छे-
दकत्वानां च कल्पनं समवायत्वरूपाखण्डधर्मतदभावतद्विषयतादिकल्पनं चेति महागौरवम् । ननु—विशिष्टकेवलयो-
र्भेदस्वीकारे एकस्यैव घटस्य तत्तत्क्षणविशिष्टरूपण्यनन्तानि कल्पनीयानीति महागौरवम्—इति चेन्न; तादृशरूपाणा-
मनन्तानां केवलघटभिन्नानामकल्पने केवलघटविशिष्टबुद्धितस्तादृशरूपविशिष्टबुद्धीनां वैलक्षण्यानुपपत्तेः । नच—तासां
तत्तत्क्षणवैशिष्ट्यविषयकत्वमेव वैलक्षण्यमिति—वाच्यम्; विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरमित्येवमाकारेऽपि
तत्क्षणविशिष्टघटवदिति ज्ञाने तादृशविषयकत्वसत्त्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशालितादृशज्ञानस्य ततो वैलक्षण्या-
नुपपत्तेः । अथ—विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताकज्ञाने तत्तत्क्षणेण घटनिष्ठविशेषणतावच्छेदकत्वरूपस्य विशेषणताविशेषस्य
स्वीकाराद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या ज्ञाने च तदभावात्तदेव वैलक्षण्यं—इति चेन्न । ज्ञानविषययोः संबन्धो
हि विषयतात्वेन तादात्म्यत्वेनैव वा तत्क्षणविशिष्टवन्तं जानामीत्याद्यनुभवेन गृह्यते, न त्ववच्छेदकतात्वेन विशेष्यता-
त्वेन प्रकारतात्वेन सांसर्गिकविषयतात्वेन वा अखण्डधर्मेण । नचैवं—विशेष्यतात्वादिविशिष्टविषयताशालितया ज्ञान-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

च्छिन्नोक्तविशेषणताकधीविशेष्यत्वाभाववान्, यथा घटत्वावच्छिन्नघटः, पटत्वावच्छिन्नपटश्चेति, घटो घट इति, पटो पट
इति वा प्रमाया अभावात् ।—नचाप्रयोजकत्वमिति । उक्तसाध्यास्वीकारे पक्षे हेतुभङ्गापत्तिर्वाच्या, सा च न संभवति;
उक्तसाध्यघटकाभेदास्वीकारेण तद्रूपतादात्म्यासंभवेन तत्संसर्गकधीघटितहेतोरसंभवेऽपि तद्वटकभेदमात्रस्वीकारेण
तन्नित्यतसमवायसंबन्धमुपगम्य तत्संसर्गकधीघटितोक्तहेतोरुपपत्तिसंभवादिति भावः । अमेदघटितोक्तसाध्यनियततादात्म्य-
मुपगम्य हेतोरुपपादने लाघवम्, समवायोपगमे तु गौरवमित्याह—नीलगुणेति । यद्वा नचाप्रयोजकत्वमिति ।
तत्प्रतियोगिकभेदाभेदोभयवत्त्वस्य निरुक्ततद्विशेषणताकधीविशेष्यत्वप्रयोजकत्वस्वीकारे मानाभावादिति भावः । उक्तस्वीकारे
लाघवज्ञानसहकृतमनुमानमेव प्रमाणमित्याह—नीलगुणेति । तादात्म्येति । अमेदपदार्थेत्यादिः । भेदस्तूभयसंमत
इति न तत्र युक्त्युपन्यासः ।—अलीकत्वादिति । तथाच प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावग्रहाप्रसिद्धिरिति भावः ।
इति लाघवमिति । इतीति शेषः । निरुक्ततद्विशेषणताकधीविशेष्यता किञ्चित्प्रयोज्या व्यतिरेकित्वात् इत्यनुमानं,
नीलगुणे घटभेदविशिष्टघटतादात्म्यस्योक्तधीविशेष्यतत्प्रयोजकत्वे लाघवमिति ज्ञानसहकृतं तादृशविशेष्यत्वे तादृशता-
दात्म्यप्रयोज्यतामनुमिनोति । तथाचोक्तप्रयोज्यप्रयोजकभावभङ्गापत्तिरुपानुकूलतर्केण तादृशतादात्म्यघटितोक्तसाध्य-
सिद्धिः । घटतादात्म्यमात्रस्य तादृशधीविशेष्यत्वप्रयोजकता न संभवति । घटे घटतादात्म्यसत्त्वेऽपि तादृशधीविशेष्य-
त्वाभावेन व्यभिचारात् । अतो भेदस्यापि प्रयोजकशरीरान्तर्भावः । अतएव च साध्ये उभयसिद्धस्यापि तस्यान्तर्भावः ।
प्रयोज्येन प्रयोजकतावच्छेदकावच्छिन्नस्यैवानुमानात् । ननु नीलगुणघटयोः समवायस्वीकारे घटे नीलगुणभेद-
बुद्धौ नीलगुणतादात्म्यधीत्वेन प्रतिबन्धकत्वं न वाच्यम्, नीलगुणघटयोस्तादात्म्यस्यालीकत्वादिति साम्यमित्याशङ्कं
परिहरति—समवायस्वीकारे त्विति । वाच्यमिति । अन्यदीयतादात्म्यसंबन्धस्य प्रसिद्ध्या घटादौ तत्संसर्ग-
कनीलगुणभ्रमरूपस्य प्रतिबन्धकग्रहस्य प्रसिद्धेरिति भावः । सर्वस्य सर्वत्रभ्रमे मानाभावेन तादृशभ्रमस्याप्रसिद्धिस्थले
गुणगुणिनोः समवायस्वीकारेऽप्युक्तगौरवासंभवेन तत्र तयोः तादात्म्यसिद्धिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य समवायस्वीकारे गौर-
वान्तराण्याह—एवमिति । समवायस्वीकारे इत्यनुषज्यते ।—नीलादिसमवायेति । नीलादितादात्म्यस्थलेषु
(उ) एतत्सर्वमुभयमते क्लृप्तम् । नीले नीलतादात्म्यस्य परैरङ्गीकारादिति भावः । मूले—भिन्नत्वस्येति । गुणादित्रयप-
क्षकगुण्यादिभिन्नाभिन्नत्वसाध्यकस्थले इत्यादिः । विशिष्टपक्षकेवलभिन्नाभिन्नत्वसाध्यके त्वभिन्नत्वस्येति बोध्यम् । एवंच
तत्र भेद एव विवादादभिन्नत्वमात्रवादी भेदस्वीकारे गौरवमाशङ्कते—नन्विति । एतस्य गौरवस्य प्रामाणिकत्वान्न बाध-
कतेत्याशयेन समाधत्ते—नेत्यादि । केवलघटविशिष्टबुद्धितः । भूतलं घटवत् इत्याकारकबुद्धितः ।—बुद्धीनामिति ।
भूतलं तत्क्षणविविष्टघटवदित्याद्याकारकाणामिति शेषः । इत्येवमाकारे इति रीत्या जायमाने ।—अखण्डधर्मेणेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ग्राहकत्वं तादृशानुभवस्य सर्वसंमतं न स्यात् इति—वाच्यम्; परस्पराध्यासविवेचनोक्तरीत्या विशिष्टज्ञानमात्रस्य एकविषयतावच्छिन्नविषयत्वान्तरशालित्वेन तद्विशिष्टज्ञानग्राहकत्वादुक्तानुभवस्य विशेष्यतात्वप्रकारतात्वादिविशिष्ट-विषयताविशिष्टतया ज्ञानग्राहकत्वोपपत्तेः । तथाहि—‘इदं रजत’मित्यादिज्ञाने तादात्म्यादिसंसर्गनिष्ठायामविषयतायां रजतादिविषयताविशिष्टाया इदंविषयतावच्छिन्नत्वमिदमवच्छिन्नत्वं चेति पूर्वमुक्तम् । तथाच विशिष्टविषयतावच्छेदक-त्वविशिष्टविषयताग्राहकोऽनुभवो विशेष्यतात्वादेर्ग्राहकः । विषयता हि यथा विषयतया विशिष्टायां यस्यां विषयताया-मवच्छेदिका सा विशेषणीभूता प्रकारता, विशेष्यभूता सांसर्गिकविषयता, तदवच्छेदकविषयता तु विशेष्यता; तथाच विषयतानिष्ठं विषयतावच्छेदकत्वं विशेष्यतात्वम् । तादृशावच्छेदकत्वं यां विषयतां प्रति तत्त्वं तादृशावच्छेदकतानिरूप-कविषयतात्वरूपं सांसर्गिकविषयतात्वम् । विषयतानिष्ठायाम् तादृशावच्छेदकत्वनिरूपकतायामवच्छेदकविषयतात्वं प्रकार-तात्वम् । नच—तादात्म्यादिविषयतानिष्ठायामुक्तनिरूपकतायां रजतादिनिष्ठा विषयता यथावच्छेदिका तथा तादात्म्य-त्वादिविषयतापीति तस्या अपि निरुक्तप्रकारतात्वं स्यादिति—वाच्यम्; तादृशनिरूपकतायाः समानाधिकरणं सत्त्वं यदवच्छेदकत्वं तस्यैव प्रकारतात्वरूपत्वात् तादात्म्यत्वादिनिष्ठविषयतायां तदभावात् । रजततादात्म्येनेदं जानामीत्य-नुभवो हि रजतविषयताविशिष्टस्य तादात्म्यविषयत्वस्योक्तनिरूपकतां गृह्णन् रजतविषयताया अपि तां गृह्णाति, ननु तदवच्छेदकत्वमात्रम् । नहि रजतादिविषयत्वस्येदंविषयतावच्छिन्नत्वे कस्यापि विप्रतिपत्तिः; तस्य तादात्म्यादिसांसर्गि-कविषयत्वाग्राहकेणापि ‘इदं रजतं जानामि’ ‘इदं रजतत्वेन जानामी’त्याद्यनुभवेन ग्रहणात्, तादात्म्यत्वविषयत्वस्य तूक्तनिरूपकत्वाननुभवेन तदवच्छेदकत्वमात्रं गृह्णाति । नचैवमपि—सांसर्गिकविषयतात्वस्य उक्तनिरूपकतामात्ररूपत्वे-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अखण्डानां तादृशधर्माणां भाने सति हि विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताकज्ञानस्यैव तत्क्षणनिष्ठविशेषणतावच्छेदकतात्वरूपाखण्ड-धर्मवद्विषयतानिरूपकत्वं, ननु विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या ज्ञानस्येति वैलक्षण्यं सुवचम्, तादृशधर्माणां सखण्डत्वे तु निर्व-क्ष्यमाणप्रकारतावच्छेदकतात्वस्य तादृशद्विविधज्ञानीयतत्क्षणविषयतयोः सत्त्वेन तादृशज्ञानयोर्वैलक्षण्यानुपपत्तिर्दुर्द्धरेवेति भावः । नचैवमिति । एवं विशेष्यतात्वादीनामखण्डानामभावे । सखण्डानां तेषां निर्वचनासंभवात् इत्यभिमानः । तादृ-शानुभवस्य तत्क्षणविशिष्टवन्तं (विशिष्टघटवन्तं) जानामीत्यनुभवस्य । ‘शालित्वेन’त्येतेनानुव्यवसाये तादृशविषयतावैशि-ष्ट्यभानस्य सन्निकर्षप्रयोज्यत्वेन तदुर्वारता तस्य प्रमात्वं च सूचितम् । उक्तानुभवस्य तत्क्षणविशिष्टवन्तं जानामीत्याका-रानुव्यवसायस्य । (तत्क्षणविशिष्टघटवन्तं जानामीत्यनुभवस्य) एतावता कथं विशेष्यत्वादिग्राहकत्वमित्याशङ्क्य परस्पराध्यास एव, तदुपपादयति—तथाहीति । अनुभवः इदंरजतं तादात्म्येन जानामीत्याकारकः—विशेष्यत्वादेः ग्राहक इति । भवतीति शेषः ।—विषयता हीति । यथा इदंविषयता रजतविषयताविशिष्टायां तादात्म्यविषयतायां अवच्छे-दिका । प्रकारतेति । इति व्यवहियत इति शेषः । एवं सांसर्गिकविषयताविशेष्यतापदयोरुत्तरमपि । एवं सति विशेष्य-तादेः किं लक्षणं फलितम्, तदाह—तथाचेति । इदंनिष्ठावच्छेदकतावारणाय विषयतानिष्ठमिति; विषयरूपतादात्म्याव-च्छेदकतावारणाय विषयतेति । तादृशावच्छेदकत्वं विषयतानिष्ठमवच्छेदकत्वम् । यां विषयतां प्रति यद्विषयता-निरूपितम् । यत्त्वतत्त्वयोरननुगतत्वादाह—तादृशेति । विषयतानिष्ठेत्यर्थः । निष्ठान्तविषयतापदप्रयोजनं पूर्ववत् ।—तादात्म्यादीति स्वरूपकीर्तनम् । प्रकारतालक्षणातिव्याप्तिं शङ्कते—नच तादात्म्येति । उक्तनिरूपकताया-मिति । इदंविषयतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपकतायामित्यर्थः ।—रजततादात्म्येनेति । तृतीयार्थो विषयता ज्ञानविशेषणम् । तन्निरूपितावच्छेदकता धर्मितावच्छेदकीभूतेदंविषयतायां तादृशानुभवे भासते इति तुल्यवित्तिवेद्यतया विशिष्टविषयतायां निरूपकताभानमिति भावः । ननु रजततादात्म्येनेत्यस्य रजतविषयताविशिष्टत्वे सति तादात्म्यत्वविषयताविशिष्टा तादात्म्यविषयतेत्यर्थः, एवंच रजतविषयतायामिव विशेषणीभूतायां तादात्म्यत्वविषयतायामपि तादृशनिरूपकत्वभानं स्यादित्याशङ्क्य प्रमाणान्तरसंवादात् रजतविषयतायां तादृशनिरूपकत्वभानम्, ननु तादात्म्यत्वविषयतायां, प्रमाणान्तर-संवादाभावात् इत्याह—नहीति । इदंविषयतावच्छिन्नत्वे इदंविषयतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपकत्वे । अननु-भवेन अनुभवान्तराभावेन । तदवच्छेदकत्वमात्रमिति । रजततादात्म्येनेदं जानामीत्यनुभव इत्यनुषङ्गः । मात्रपदे-नोक्तनिरूपकत्वव्यवच्छेदः । उक्तानुभवे तादात्म्यत्वविषयत्वस्य तादात्म्यविषयतायां उपलक्षणतैव ननु रजतविषयताया इव विशेषणतेत्युपगमसंभवेन तादात्म्यविषयतायां निरूपकत्वानवगाहनेऽपि तादृशानुभवोपपत्तेरिति भावः । निरूपकता-वच्छेदकता तु निरूपकांशे उपलक्षणतया भासमानेऽपि भासत एवेति हृदयम् । ननु यदि रजतविषयताया अत्युक्तनिरू-पकत्वं तदा संसर्गतालक्षणातिव्याप्तिरित्याशङ्कते—नचैवमपीति । एवमपि प्रकारतावत्त्वस्यानतिप्रसङ्गेऽपि । ननर्थानिर्वे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रजतादिविषयतायामपि तत्त्वादिति—वाच्यम्, उक्तनिरूपकतानवच्छेदकविषयतानिष्ठस्यैवोक्तनिरूपकत्वस्य सांसर्गिक-विषयतात्वरूपत्वात्, तादृशनिरूपकत्वाश्रयविषयतावच्छिन्नस्यैव तादृशनिरूपकत्वस्य तद्रूपत्वाद्वा । तादात्म्यविषयता-निष्ठैव हि तादृशनिरूपकता तादृशनिरूपकताश्रयेण रजतविषयत्वेनावच्छिन्ना, न रजतविषयतानिष्ठा, तादात्म्यत्वादि-विषयता तु उक्तनिरूपकतावच्छेदकत्वात् सांसर्गिकविषयता, किंतु तदवच्छेदिका । एवमिदंत्वादिविषयतापि तादात्म्या-दिविषयतावच्छेदकतायामिदंविषयतानिष्ठायामवच्छेदिका, अतो विशेष्यतावच्छेदिका । अथ—तादात्म्यत्वादिविषय-तायाः सांसर्गिकविषयतावच्छेदकताशब्देन कथं तान्निकव्यवहार—इति चेत्, तादात्म्यत्वादेरपि सांसर्गिकविषयताव-च्छेदकत्वेन तद्धर्मतयेति गृहाण । एवमिदंत्वादिविषयतायामपि विशेष्यतावच्छेदकताशब्देन व्यवहारः । तादात्म्य-संबन्धेन रजतादि यत्रेदमादौ प्रकारः, तत्र रजतत्वादिकमप्याधारत्वसंबन्धेन प्रकारः, यत्र तु संयोगादिसंबन्धेन रजतादिकं प्रकारः, तत्र रजतत्वादेर्नोक्तसंबन्धेन प्रकारस्वनियमः, प्रकारतावच्छेदकत्वं तूभयत्र । नचैवं—रजतादि-विषयतानिष्ठस्येदंविषयतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपकत्वस्य प्रकारतात्वरूपस्य तादृशनिरूपकत्ववत्या रजतत्वादिविषयताव-च्छिन्नत्वेन तादात्म्यसंबन्धेन रजतादिप्रकारकभ्रमस्थले रजतादिप्रकारता सांसर्गिकविषयता स्यात्, पूर्वोक्तस्य द्वितीय-लक्षणस्य तत्र सत्त्वादिति—वाच्यम्; रजतादिविषयतानिष्ठस्योक्तनिरूपकत्वस्य तादृशनिरूपकतावत्या रजतत्वादिविषय-तयानवच्छिन्नत्वात् । द्वयी हि तादृशस्थले रजतत्वादिप्रकारता, एका प्रातीतिकेनेदमनुयोगिकसंसर्गेण, अन्या व्याव-हारिकेण रजतादिनिष्ठसंसर्गेण । आद्या इदंत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतावच्छिन्ना, अन्या रजतादिनिष्ठया अनवच्छिन्नविशेष्य-तयावच्छिन्ना, तदवच्छिन्नत्वं च तन्निष्ठावच्छेदकतानिरूपकत्वम् । तथाचान्या नेदंविशेष्यतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपिका, तदवच्छेदकस्य व्यावहारिकस्य रजतत्वादिसंसर्गस्य इदंविशेष्यतावच्छेदेनानध्यासेनोक्तावच्छेदकतानिरूपकत्वाभावात् । नहि यत्संसर्गानवच्छेदिका या विशेष्यता सः तत्संसर्गावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदिका; आद्या तु तादृशावच्छेदकता निरूपिका, नतु रजतादिप्रकारतानिष्ठयास्तादृशनिरूपकताया अवच्छेदिका, रजतत्वादिप्रातीतिकसंसर्गोपहितरूपेण रजतादेरुक्तनिरूपकत्वाननुभवात् । नच यत्संसर्गो नोक्तनिरूपकतावच्छेदकः तत्संसर्गावच्छिन्नप्रकारता उक्तनिरूपक-तावच्छेदिका; तस्माद्रजतादिप्रकारतायां न सांसर्गिकविषयतात्वापत्तिः । अतएव तादृशप्रमास्थलेऽपि नोक्तापत्तिः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शेन लघवादाह—तादृशेति । तद्रूपत्वात् सांसर्गिकविषयतात्वरूपत्वात् । न रजतविषयतानिष्ठेति । अतो न तत्र संसर्गतावप्रसङ्ग इति भावः । ननु तादात्म्यत्वविषयतायाः संसर्गतात्वं न स्यात्, उक्तनिरूपकत्वस्य तत्राभावादित्याश-ङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—तादात्म्यत्वविषयतात्विति । तादात्म्यत्वविषयता तु न सांसर्गिकविषयता, किंतु तदव-च्छेदिका उक्तनिरूपकत्वावच्छेदकत्वादिति योजना । नचैवं—संसर्गविशेषणानां संसर्गतैवेति नियमभङ्ग इति—वाच्यम्; विशेष्यविशेषणानां विशेष्यत्वाभावेन तादृशनियमस्याप्रयोजकत्वात्, तत् ध्वनयन्नाह—एवमिति । कथमिति । तादात्म्यत्वविषयता हि सांसर्गिकविषयतानिष्ठनिरूपकतावच्छेदकताश्रया, नतु सांसर्गिकविषयतावच्छेदकतारूपेति भावः ।—तद्धर्मतयेति । तादृशविषयतावच्छेदकीभूततादात्म्यत्वधर्मतयेत्यर्थः । अथ कथंहीनं व्यवहार इत्यन्तमनु-वर्तते । सांसर्गिकविषयतावच्छेदकताशब्देन भावप्रत्ययान्तेन तादृशविषयतावच्छेदकस्य धर्मः तादृशविषयतावच्छेदकता-नात्मकोऽपि परिभाषया प्रतिपाद्यत इति भावः । एवं विशेष्यतावच्छेदकीभूतेदंत्वधर्मतया रजतत्वविषयतायां प्रकारता-वच्छेदकताव्यवहारोपपादनायाह—तादात्म्यसंबन्धेनेति । रजतत्वादिकमपीति । अतएव रजतत्वेनेदं जानामी-त्यनुभव इति भावः । (जानामीत्यनुव्यवसाय इति भावः) एवं इदंरजतमिति भ्रमे इदमंशे रजतत्वस्यादि प्रकारत्वे ।—रजतत्वविषयतयेति । इदमंशे रजतांशे चैकैव रजतत्वस्य प्रकारतेत्यभिमानः । अभिमानं निराकरोति—द्वयी हीति । नचैवं इदं रजतं रजतत्ववचेति समूहालम्बनादिदं रजतमिति भ्रमस्य वैलक्षण्यानुपपत्तिः; तादृशभ्रमे रजतत्वनिष्ठप्रकारत्वयो-रवच्छेद्यावच्छेदभावोपगमेन तदुपपत्तेः ।—अन्येति । रजतप्रकारतानिष्ठया उक्तनिरूपकताया अवच्छेदिकापीति शेषः । ननु रजतत्वीयव्यावहारिकसंसर्गस्योक्तनिरूपकत्वाभावेऽपि तत्संसर्गावच्छिन्नरजतत्वप्रकारताया उक्तनिरूपकत्वं कुतो नेत्यत आह—नहीति । तत्संसर्गावच्छेदकत्वस्य तत्संसर्गावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकताव्यापकत्वोपगमादिति भावः ।—नचेति । नहीत्यर्थः । तदवच्छेदकतानिरूपकतावच्छेदकसंबन्धत्वस्य तादृशनिरूपकतावच्छेदकप्रकारतावच्छेदकसंबन्ध-त्वव्यापकत्वोपगमादिति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । अतएव रजतत्वस्य प्रकारताद्वयोपगमादेव । तादृशप्रमा-स्थलेऽपि इदंरजतमिति प्रमीयप्रकारतायामपि । नोक्तापत्तिः न संसर्गतात्वापत्तिः । इत्यत उत्तरमिदं रजतमित्यादिप्रमा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘इदं रजत’मित्यादिप्रमायां हि रजतत्वप्रकारता द्वयी, एका इदंत्वावच्छिन्नविशेष्यतयावच्छिन्ना; अन्या रजतनिष्ठयानवच्छिन्नविशेष्यतया अवच्छिन्ना; आद्या इदंत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपिकापि नोक्तनिरूपकतावच्छेदिका, रजतप्रकारतानिष्ठां उक्तनिरूपकतां प्रति तस्याः अव्यापकत्वेनानवच्छेदकत्वात्, नहि रजतत्वविशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिषु सर्वासु तादृशप्रकारतासत्त्वे मानमस्ति । नच—विशेषणतत्त्वावच्छेदकयोरेकधर्मिणि एकसंबन्धावच्छिन्नप्रकारताशालिबुद्धित्वमेव विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वम्, तथाचैकसंबन्धावच्छिन्नप्रकारता एकैव तादृशविशेष्यताद्वयावच्छिन्ना, नतु द्वयी, तथाच तादृशनिरूपकतावच्छेदिकापि सेति—वाच्यम्; संयोगादिसंबन्धेन रजतत्वादिविशिष्टस्य प्रकारतास्थले रजतत्वादेः संयोगादिना प्रकारत्वे भ्रमत्वापत्त्या प्रकारतयोरेकसंबन्धावच्छिन्नत्वनिवेशासंभवेन विशेषणतावच्छेदकस्य स्वाश्रयप्रतियोगिकेन विशेषणसंबन्धेन प्रकारताया विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वशरीरे निवेश्यत्वात् । वस्तुतस्तु नोक्तरूपं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वम्, विशेष्ये विशेषणमिति ज्ञानापेक्षया विषयकृतविशेषस्य वाच्यत्वात्, किंतु विशिष्टस्य केवलादन्यत्वेन तत्प्रकारकत्वमेव; सिद्धान्ते तथैव स्वीकारात्, तस्माद्विषयतानिष्ठं यद्विषयतावच्छेदकत्वं तद्विशेष्यतात्वम्, तदवच्छेदकविषयतात्वं विशेष्यतावच्छेदकतात्वम्, विषयतानिष्ठस्यावच्छेदकत्वस्य निरूपकत्वविशेषौ सांसर्गिकविषयतात्वप्रकारतात्वे, तदवच्छेदकविषयतात्वे सांसर्गिकविषयताप्रकारतावच्छेदकते । ननु—तादृशविशेष्यतात्वादीनामखण्डविशेष्यतात्वादिभ्यः को विशेषो येन तादृशत्वेव पक्षपात—इति चेत्, अवश्यं सर्वैः कल्पनीयत्वमेव विशेषः । अन्योऽप्ययं विशेषः, मूलादौ तत्संबन्धे च यदवच्छेदकत्वं यच्च तन्निरूपकत्वं संयोगादौ तत्संबन्धे च तज्जातीययोरेवावच्छेदकत्वतन्निरूपकत्वयोर्विषयतासु कल्पनात् विषयविषयतयोर्द्वयोरेव ते वर्तन्ते, नैकत्रैव; तथाच विषयविषयतयोरेकमपि नापलपितुं शक्यते, तज्जातीयावच्छेदकतातन्निरूपकत्वयोः संबन्धसंबन्ध्युभयसापेक्षत्वात्, अखण्डविशेष्यतात्वादेर्विषयतायां स्वीकारे तु तस्य ज्ञानवैलक्षण्यानुभवान्यथानुपपत्तिरेव कल्पिका, सा च ज्ञानगतमेव वैलक्षण्यं कल्पयेन्न विषयतानिष्ठम्; तथाच घटत्वादिकमपि ज्ञानस्यैव धर्मः, घटपटादिज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यानुभवस्यान्यथानुपपत्तेः । तथाच ज्ञानस्य घटादिविषयैरत्यन्ताभेदापत्त्या तार्किकाणां बौद्धस्वीकृतसाकारवादापत्तिः । अथ—वेदान्तिनां मतमालम्ब्य तार्किकैरेवं वाच्यम्, घटादीनामुत्पत्तिविनाशवत्त्वानुभवात् ज्ञानस्य च विषयाविशेषितरूपेण तथाननुभवेन लाघवेन चैकव्यक्तिरूपत्वान्न ज्ञानस्य ज्ञातघटादिभिरभेदः; नचैवं—तेषां व्यवहारो

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

मायाहीत्यादिपाठः क्वचित् । अव्यापकत्वेन न्यूनवृत्तित्वेन । अन्यूनवृत्तेरेवावच्छेदकत्वादिति भावः ।—नहीति । मुख्यधर्मिणि रजतत्ववाधग्रहकालीनरजतत्वविशिष्टप्रकारबुद्धौ मुख्यधर्मिणि रजतत्वभानासंभवात्, तावतापि वक्ष्यमाणरीत्या विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वोपपत्तेरिति गूढभावः ।—सेति । तथाच रजतत्वविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रमीयप्रकारतायां संसर्गतात्वापत्तिर्दुर्वारैवेति भावः ।—प्रकारतयोरिति । विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिशरीर इत्यादिः ।—विशेषणतावच्छेदकस्येति । विशेषणतावच्छेदकधर्मनिष्ठस्वाश्रयप्रतियोगिकत्वविशिष्टविशेषणतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नप्रकारताया इत्यर्थः । नोक्तरूपं नैकसंबन्धावच्छिन्नप्रकारतागर्भम्, उक्ताविशिष्टसंबन्धावच्छिन्नप्रकारतागर्भं वा ।—विषयकृतस्येति । प्रकारकृतस्येत्यर्थः । तेन द्वितीयरीतौ स्वावच्छिन्नत्वविशिष्टप्रतियोगिताकत्वविशिष्टस्य विशेषणसंबन्धस्य भानोपगमेन संसर्गकृतवैलक्षण्यस्य संभवेऽपि न क्षतिः । विशेष्यतावच्छेदकतात्वादिकं निर्वक्तुं विशेष्यतात्वादिकं निगमयति—तस्मादिति । प्रकारतावच्छेदकते इति । इदं च प्रकारतावच्छेदकतात्वं द्विविधं तत्क्षणविशिष्टघटवान् इति ज्ञानीयतत्क्षणनिष्ठविषयतासाधारणमिति नैतेनोक्तज्ञानयोर्वैलक्षण्यनिर्वाह इत्यतो विषयकृतवैलक्षण्यमेव वाच्यमिति विशिष्टस्य केवलभिन्नत्वं स्वीकार्यमिति भावः । अयं च तथाचेत्यनेन वक्ष्यमाणविषयाद्यपलापाप्रसङ्गकत्वरूपः । विषयविषयतयोः संबन्धिसंबन्धरूपयोः । तथाच । क्लृप्तजातीयावच्छेदकत्वादिकल्पने च । विषयविषयतयोरिति निर्धारणविभक्तिः ।—सापेक्षत्वादिति । असंबद्धस्य वस्तुनः संबन्धिनं विना संबन्धमात्रस्य चावच्छेदकत्वाद्यसंभवात् अवच्छेद्याधिकरणसंबद्धस्यैवावच्छेदकत्वनियमादिति भावः । अखण्डविशेष्यत्वादिस्वीकारे तु विषयापलापप्रसङ्गमाह—अखण्डेति । तथाचेति । ज्ञानवैलक्षण्यानुभवान्यथानुपपत्तेर्ज्ञानगतवैलक्षण्यमात्रकल्पकत्वे चेत्यर्थः । अन्यथा घटत्वादीनां ज्ञानधर्मत्वं विना विषयतारूपवैलक्षण्यान्तरकल्पनापेक्षया क्लृप्तघटत्वादीनामेव तद्धर्मत्वकल्पने लाघवादिति भावः । तथा सति किमनिष्ठं तत्राह—तथाचेति । अभेदापत्त्येति । घटत्वादीनां घटाद्यभेदव्याप्यत्वादिति भावः । तथा उत्पत्तिनाशवत्त्वेन । लाघवेन चेति । घटाद्यभिन्नरूपत्वेन नानात्वकल्पनापेक्षयेत्यादिः । तेषां घटादीनाम् । व्यवहारः अयं घटः इत्यादिबोधकशब्दप्रयोगः, उपादानं वा । ननु व्यवहारे तादात्म्येन ज्ञानस्यैव तदीयविषयतारूपसंबन्धस्याप्याश्रयतासंबन्धेन प्रयोजकतोपेयते, तथाच घटादेर्ज्ञानतादात्म्याभावेऽपि ज्ञानविषयत्वाश्रय-

गौडग्रहानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न स्याद्व्यवहारविषयतायां तादात्म्येन ज्ञानव्यक्तेः प्रयोजकतया कृत्वत्वेऽपि ज्ञान एव तत्तादात्म्यसत्त्वात् ज्ञानभिज्ञेऽपि विषये ज्ञानसंबन्धं स्वीकृत्य तस्य तत्र व्यवहारविषयताप्रयोजकत्वकल्पने गौरवादिति—वाच्यम् । ज्ञानतादात्म्या-पन्नतया विषयाणां कल्पितत्वेन ज्ञान इव विषयेष्वपि कल्पितस्य ज्ञानतादात्म्यस्य सत्त्वात् । तथाच न ज्ञानस्य घटत्वादिकं धर्मः, नहि नैल्यादिकं गगनादावारोपितमपि तस्य धर्मः; धर्मिसमसत्ताकस्यैव धर्मपदमुख्यार्थत्वात् । नच—ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यानुभवानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; ज्ञानानां मिथो विलक्षणविषयतादात्म्यमनुभूयते नतु मिथो वैलक्षण्यम्; तथाच ज्ञानगतस्य वैलक्षण्यस्य साकारवादिवौद्धस्वीकृतस्य कः प्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि वेदान्ति-भिरेव जितम् । तार्किकस्वीकृतस्य संबन्धरूपविषयतागतस्यापि वैलक्षण्यस्य विशेष्यतात्वादेः कः प्रसङ्गः । अथैवं—इदमादितद्विषयत्वयोक्तवच्छेदकत्वमपि न स्यादिति चेन्न; नहि तत् ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यानुभवान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते, येनोक्तरीत्या न स्यात्, किंतु मूलादितत्संबन्धयोः संयोगावच्छेदकत्ववत् सार्वलौकिकेन पूर्वोक्तानुभवेनेत्यलं विस्तरेण ॥ तस्माद्विषयवैलक्षण्येनैव ज्ञानानां वैलक्षण्यस्य वाच्यत्वात् विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने विशिष्टस्य विषयत्वात्, 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तर' मिति ज्ञाने च तस्याविषयत्वादुक्तज्ञानयोस्तत्क्षणविशिष्टघटवानित्याकारसा-म्येऽपि मिथो विशेषः । एवमेकत्र द्वयमिति रीत्या तादृशाकारज्ञाने तत्क्षणघटत्वाभ्यां विशिष्टो विशेषणम्, तदतिरिक्तस्य तत्क्षणविशिष्टो घटः, घटत्वविशिष्टानुयोरिकस्य तत्क्षणवैशिष्ट्यस्य तत्र घटत्वात्; तादृशघटस्य तत्क्षणविशिष्टघटत्वेन विशिष्टस्य वा विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने विषयत्वात् । विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति ज्ञाने च भूतलादौ केवलघटस्यैव विशेषणत्वात्तेषां मिथो विशेषः । नच—तत्क्षणविशिष्टघटस्य तद्व्यक्तित्वरूपेण यत् ज्ञानं तस्य तादृश-घटत्वरूपेण ज्ञानापेक्षया वैलक्षण्यं न स्यादिति—वाच्यम्; तद्व्यक्तित्वविशिष्टविषयकत्वस्यैवोक्तवैलक्षण्यरूपत्वात् । अथ—तत्क्षणविशिष्टस्य यत्र विषयत्वादिकं व्यवह्रियते तत्र तत्क्षणोपहितस्य तत्क्षणोपलक्षितस्य वा तद्व्यवहारः स्यादिति—चेन्न । उपहितोपलक्षितशब्दयोर्हि न विशिष्टमर्थः, किंतु येन धर्मिणोपहितमुच्यते विद्यमानेन तेन तच्छून्याद्यावर्तितमुपहितशब्दार्थः । तथाच तत्क्षणोपहितघटो विषय इत्यत्र विषयताकाले घटे विद्यमानेन तत्क्षणेन तत्क्षणानवच्छिन्नघटादिभ्यो व्यावर्तितो घटो विषय इत्येव बुध्यते, नतु विशिष्टो घटो विषय इति । तत्क्षणोपलक्षितो घटोविषय इत्यादावप्येवम् । विद्यमानपदस्थाने अविद्यमानपदमिति तु विशेषः । तथाच तदुभयस्थले विशिष्टस्य विषय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तथा व्यवहारोपपत्तिरित्यत आह—तादात्म्येनेति । कृत्वत्वेऽपीति । अतएव ज्ञानरूपात्मकविषयकव्यवहारोपपत्तिरिति भावः । कृत्वत्वेऽपीत्यस्य कल्पनेऽन्वयः । सत्त्वादित्यन्तं स्वीकृत्येत्यत्र हेतुः । तथाच ज्ञानतादात्म्यापन्नतया घटादेः कल्पितत्वे च । (तथाच घटाद्यभेदरूपघटत्वादिव्यापकधर्मविरहे च) ननु घटाभेदो घटत्वं वा ज्ञानरूपे ब्रह्मणि आरोपितम-स्येवेत्यत आह—नहीति । नचेति । एवमिति शेषः । ज्ञानवैलक्षण्यानुभवमप्यपलप्य समाधत्ते—ज्ञानानामिति । विशेष्यतात्वादेः कः प्रसङ्ग इति । ज्ञानवैलक्षण्यमिव तत्संबन्धरूपविषयतावैलक्षण्यमपि नानुभूयते, किंतु विषय-वैलक्षण्यमेवानुभूयते, तच्च विषयतागतविशेषं विनैव सर्वसिद्धमिति भावः । एतेन विशिष्टोपलक्षितज्ञानयोर्वैलक्षण्यसिद्ध्यर्थं विशिष्टस्य केवलतिरिक्तत्वं विशेष्यतात्वादिकमखण्डं वा स्वीकार्यमिति विनिगमनाविरह इत्यपास्तम् । विशेष्यतात्वादेर-तिरेके विषयापलापेन तद्वैलक्षण्यसाधकत्वात् विषयवैलक्षण्यस्यैवानुभवाच्चैत्यनुसन्धेयम् । तस्मात् अखण्डस्य विशेष्य-त्वादेरसिद्धेः, खण्डस्य चोक्तरीत्योक्तज्ञानवैलक्षण्यसाधकत्वात् । घटांशे 'एकत्र द्वयमिति'रीत्या तत्क्षणघटत्वोभयावगाहि-धर्मितावच्छेदकविशेषणाभावेन तदुभयावगाहिविशिष्टघटप्रकारकज्ञानयोर्विशेषं प्रदर्श्य विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या ज्ञाने ताभ्यां विशेषं स्मारयति—एवमित्यादिना । तत्क्षणविशिष्टो घटश्च तदतिरिक्त इत्यन्वयः । अत्र हेतुमाह—घटत्वेति । घटत्वेनेति । सामानाधिकरण्यसंबन्धेनेत्यादि । तत्क्षणेन चेति शेषः । केवलघटस्यैवेति । उक्तविशिष्टघटद्वयातिरिक्त-स्येति शेषः । एवकारेण विशिष्टद्वयव्यवच्छेदः । विशेषणत्वादिति । तत्र च तत्क्षणस्य विशेषणत्वादिति शेषः । अतएव भयप्रकारकं ज्ञानं कारणम्, द्वितीयस्य घटत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्य तत्क्षणवैशिष्ट्यज्ञानम्, तृतीयस्य तु तत्क्षणो घटश्चेति विश्वङ्गलमेव ज्ञानमिति बोध्यम्—तादृशेति । तत्क्षणविशिष्टेत्यर्थः । उपहितोपलक्षितशब्दयोर्विशिष्टार्थकत्वभ्रमेण शङ्कते-अथेति । यत्र ज्ञाने निरूपितत्वं सप्तम्यर्थे विषयत्वान्वयी व्यवहारश्च, 'तत्क्षणविशिष्टो घटः' एतज्ज्ञानविषय इत्याकारकः । उक्तभ्रमं निराकरोति—उपलक्षितोपहितशब्दयोरिति । विद्यमानेनेति । व्यावर्त्यस्य समभिव्याहृतपदार्थान्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वाप्रत्ययात् विशिष्टस्य विषयत्वप्रत्ययस्थले विशेषणस्यापि विषयताप्रत्ययादुक्तव्यवहाराणां मिथो विशेषः । अथ—
तत्क्षणविशिष्टं यत्र न विषयस्तत्र केवलघटादावसंबद्धतत्क्षणस्य तदनवच्छिन्नघटादिभ्यो व्यावर्तकत्वानुपपत्तिः, घटादौ
हि तत्क्षणादियुक्ते तत्क्षणाद्युक्ताद्यावृत्तिधीर्न तु केवले—इति चेन्न; तत्क्षणादियुक्तकेवलघटयोस्तत्क्षणादियुक्तत्वघट-
त्वरूपाभ्यामभेदस्येव भेदस्यापि स्वीकारात्, घटस्तत्क्षणयुक्त इत्यनुभवात् । अतएव घटो न तत्क्षणविशिष्ट इति धीर्न
प्रमा, अभेदविरोधिभेदस्य नजादिनोहेत्वात् । तद्विरोधित्वं चैकावच्छेदेनैकाधिकरणत्वस्याभावः, तेन कृष्णसंयोगिन्यपि
वृक्षे मूले न कृष्णसंयोगीति धीः प्रमैव । ननु—कथं भेदाभेदयोरेकधर्मिप्रतियोगिगतत्वमवच्छेदकभेदमस्वीकृत्यो-
च्यते, नच—अवच्छेदकभेदं स्वीकृत्यैव तौ वाच्याविति—वाच्यम्; मणिकाराद्युक्तिविरोधात् । मणिकारेण हि 'वृक्षे
कपिसंयोगतद्वज्जैदौ स्वीकृत्य 'नचैवं भेदाभेद' इत्यनेन भेदाभेदमतमापाद्यावच्छेदकभेदाभ्युपगमा'दित्यनेनोक्तमता-
पत्तिः परिहृता; तथाच भेदाभेदमतमवच्छेदकभेदनिरपेक्षमिति तदभिप्रेतम् । नच—'कार्यात्मना तु नानात्वमभेदः
कारणात्मना । हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदे'ति वाचस्पत्युक्त्या भेदाभेदवादिकारिकया अवच्छेदकभे-
देनैव भेदाभेदयोस्तत्त्वान्मणिकारोक्तवाक्यस्थस्य भेदाभेद इति पदस्य दोष इति शेषतया पूरणीयम्, तथाचावच्छेद-
कभेदस्वीकारे भेदाभेदस्वीकारो न दोष इति मणिकारवाक्यार्थ इति—वाच्यम्; अवच्छेदकभेदेन गुणगुण्यादिषु
भेदाभेदानुमाने तार्किकादीन्प्रति क्रियमाणे सिद्धसाधनतापत्तेः, नहि तार्किकादिभिः कुण्डलादौ हेमत्वाद्यवच्छिन्ना-
भेदो न स्वीक्रियते । किंच हेमत्वादिना कुण्डलादावभेदस्वीकारे भेदोऽपि तेनैव रूपेण स्वीकार्यः, अन्यथा हेमकु-
ण्डलमिति सामानाधिकरण्यप्रत्ययानुपपत्तेः, नहि द्रव्यत्वघटत्वाभ्यां भेदसत्त्वेऽपि घटः कलश इति सामानाधिकर-
ण्यधीर्भवति । तस्मात् कार्यात्मना कार्यमात्रगतकटककुण्डलत्वादिरूपैः कटककुण्डलादीनां मिथो भेद एव, कारणा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

यकाले इत्यादिः । तच्छून्यात् व्यावर्तितः प्रकारीभूततच्छून्याविषयकबुद्धिविषयीकृतः लिङ्गीभूततच्छून्यभिन्नत्वेन
ज्ञापितो वा । विषयः तज्ज्ञानविषयः । विशेषणस्यापीति । येन धर्मेण विशिष्टमुच्यते विशेष्यान्वयि समभिव्याह-
तपदार्थान्वयिनाविद्यमानेन तेन तच्छून्यात् व्यावर्तितं विशिष्टशब्दार्थः । तथाच तत्क्षणविशिष्टो घट इत्यत्र विषयताकाले
घटे विद्यमानेन विषयताश्रयेण तत्क्षणेन तत्क्षणावच्छिन्नघटादिभ्यो व्यावर्तितो घटो विषय इति बुध्यत इति भावः ।
एतेनोपहितोपलक्षितपदस्थले उपाध्युपलक्षणयोर्विषयताप्रत्ययो नास्तीति सूचितम् । विशिष्टकेवलयोरभेदमनुसं-
धानस्तत्क्षणोपलक्षितघटो घट इति ज्ञानव्यक्तिविषय इति व्यवहारानुपपत्तिं शङ्कते—अथेति । यत्र तत्क्षणोपलक्षि-
तघटविषयकज्ञाने । तत्र तादृशज्ञानविषये इत्यर्थः ।—केवलघटादावसंबद्धतत्क्षणस्येति । तत्क्षणविशिष्ट एव
घटे तत्क्षणसंबन्धः, नतु केवलघटे; अखण्डघटरूपधर्मिमात्रस्यैव केवलघटपदार्थत्वात्, विशिष्टं च केवलात् भिन्नं;
तथाच तत्क्षणस्य केवलघटरूपपक्षासंबद्धतया व्यावर्तकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । तथाचोपलक्षितपदार्थघटकव्यावर्तितत्ववा-
धात् तत्क्षणोपलक्षितघटः तज्ज्ञानविषय इति व्यवहारानुपपत्तिरित्यर्थः । युक्ते संबद्धे । विशिष्टकेवलयोरभेदमनुसन्धाय
समाधत्ते—नेत्यादि । अभेदस्येव भेदस्यापीति । भेदस्येवाभेदस्यापीत्यर्थः । यथाश्रुते भेदव्यवस्थापनस्योक्तशङ्का-
परिहारानौपयिकतयाऽर्थान्तरापत्तेः, 'अतएवे'त्युपपत्तिर्भासज्ज्ञेत्येव । तथाच तत्क्षणस्य केवलघटरूपपक्षसंबद्धतया व्याव-
र्तकत्वोपपत्त्योक्तव्यवहारोपपत्तिरिति भावः । अतएव केवलविशिष्टयोरभेदादेव । ननु अभेदे सत्यपि नञर्थभेदोऽवा-
धित एवेत्यत आह—अभेदविरोधीति । अत्र 'अथे'तिशङ्कातत्समाधानव्याजेन विशिष्टकेवलयोरभेदे युक्त्यन्तरं
व्यञ्जितमिति बोध्यम् । तदभिप्रेतमिति । अवच्छेदकभेदाभ्युपगमाच्च भेदाभेदमतप्रवेशापत्तिरिति तद्व्याख्यायार्थमिति
भावः । मणिकारेण हीति । व्याप्तिपूर्वपक्षग्रन्थे इति शेषः । भेदाभेदयोरिति । परस्पराभावरूपयोरिति
शेषः । उक्तत्वादिति । पूरणीयमित्यत्र हेतुः वाक्यार्थ इति । तथाच भेदाभेदमतस्यावच्छेदकभेदनिरपेक्षता
न तद्व्याख्यायार्थ इति भावः । कुण्डलादौ कुण्डलत्वावच्छिन्ने । हेमत्वाद्यवच्छिन्नाभेद इति । कटकत्वाद्यवच्छि-
न्नभेदश्चेति शेषः । सामानाधिकृतत्वरूपहेतोरुपपत्त्ये गुणादौ गुण्यादिभेदाभेदौ स्वीकार्यौ, तत्रावच्छेदकभेदेन तत्स्वीकारे
तदनुपपत्तिस्तदवस्थैवेत्याह—किंचेति । हेमत्वादिनेति ।—कुण्डलत्वावच्छिन्ने कटकस्य हेमत्वेनाभेदस्वीकारे
कटकस्य भेदोऽपि हेमत्वेनैव स्वीकार्य इत्यर्थः । तेनैव रूपेणेति । तद्रूपावच्छिन्ने तद्रूपावच्छिन्नस्य सामानाधिकरण्य-
धियं प्रति किंचिद्रूपावच्छिन्ने तत्र किंचिद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभेदयोः प्रयोजकत्वोपगमादिति भावः । नहीति । तादृश-
त्तिरिति भावः । तस्मात् सिद्धसाधनादिवारणानुरोधात् । एकैनेव रूपेणेत्यत्रान्वयः । ननु तर्हि कार्यात्मनात्वित्यादि-
अद्वै. सि. ९

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्मनेत्यत्र कार्यात्मनेत्यनुषज्यते; तथाच कारणगतेन रूपेण कार्यमात्रगतेन रूपेण च हेमत्वकुण्डलत्वादिभ्यामभेदः, नानात्वमित्यनुषज्यते, अभेदः अभेदोऽपि भिदा भिदैवेत्युक्तकारिकाव्याख्यानस्य वाच्यत्वेनैकरूपेणैव भेदाभेदौ वाच्यौ । अतएव भामत्यामुक्तम्—‘हाटकत्वेनैव रूपेण कटकादेः कुण्डलत्वादित्यभेदो ननु कटकत्वादिरूपेण, तेन रूपेण तु तत्र तस्य भेद एव । एवं भेदोऽपि हाटकत्वादिना कटकादेः कुण्डलत्वादित्यभेदो, हाटकत्वादिरूपेण ज्ञातेऽपि कुण्डलत्वादिरूपेण जिज्ञासोदया’दिति । ननु—हाटकत्वकुण्डलत्वाभ्यामपि कटककुण्डलयोः कथमभेद उक्तः ? भिन्न-देशस्थत्वेन युगपदनुभूयमानयोरभेदाप्रत्ययात्—इति चेन्न; यद्धि पूर्वं कटकादिरूपेण स्थितं पश्चात् कुण्डलभावमा-पन्नं तस्यैव कटकादेस्तत्र कुण्डलादौ हाटकत्वकुण्डलत्वादिरूपाभ्यामभेदः; तद्वाटकमिदं कुण्डलमित्यादिप्रत्ययात्, ननु कटकत्वकुण्डलत्वादिरूपाभ्याम्; इदं कुण्डलं तत् कटकमित्यप्रत्ययात्, तथाच युगपत् क्रमेण वा यानि कार्या-ण्येकोपादानव्यक्त्या जनितानि तेषामुपादेयमात्रगतरूपैर्मिथो भेद एव तद्रूपोपादानगतरूपाभ्यां मिथो भेदाभेदौ । अतएवैकघटोपादानकानां रूपरसादीनामपि तथा व्यवस्था । ननु—इदं कुण्डलं कटकं स्थितमिति प्रत्ययात्कथमुक्तनि-यम—इति चेन्न; उक्तप्रत्ययेन कटकत्वोपलक्षितस्याभेदावगाहनात्तदुपहितस्य कुण्डलत्वाद्युपहितभेद एवेति नियम-स्यानपायात् । अतएवोक्तकारिकायां हेमात्मनेत्यादेः हेमत्वकुण्डलत्वादिरूपाभ्यां मिथोऽभेदोऽपि कुण्डलकटकत्वादिरू-पाभ्यां भिदैवेति व्याख्या । तस्मादुक्तकारिकायामेकोपादानकनानाकार्यदृष्टान्तेन कारणकार्यरूपाभ्यामेव भेदाभेदावि-त्यस्यासदुक्तस्यैवोक्तत्वात् कोऽपि दोषः । तथाच भावाभावयोरवच्छेदकभेदं विना विरोधादसंगतिः—इति चेन्न; अवच्छेदकभेदेन संयोगतदभावयोः विरोधः, घटत्वतदभावयोस्त्ववच्छेदकनिरपेक्ष एव विरोध इत्यप्यनुभवबलादेव स्वीक्रियते; तथाचावच्छेदकभेदं विनापि गुणगुण्यादिस्थले भेदाभेदावपि सामानाधिकरण्यप्रत्ययादेव स्वीक्रियेते, अत्यन्ताभेदे अत्यन्तभेदे वक्तृप्रत्ययासंभवात् । तदुक्तं वाचस्पत्ये—‘विरुद्धमिति नः क प्रत्ययो यत्तन्न प्रमाणगोचरः, प्रकृते च प्रमाणसत्त्वान्न विरोधप्रत्ययः, सामानाधिकरण्यप्रत्यये हि भेदाभेदौ भासेते’ इति । ननु—कथमुक्त-प्रत्यये भेदाभेदयोर्भानम् ? तयोरेकवत्ताज्ञानस्यापरवत्ताधीविरोधित्वेनैकनिश्चयविषयत्वाभावात्, नच—गुण्यादिस्थले नोक्तविरोधित्वं कल्प्यते, सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्यान्यथानुपपत्तेरिति—वाच्यम्; ‘घटो न नील’ इति वाक्यजन्य-धीकाले ‘घटो नील’ इति ज्ञानापत्तेः । नच—तयोरेकप्रकारकज्ञानस्यैव सामग्र्या उक्तविरोधित्वम्, नत्वेकसंसर्गकज्ञा-नसामग्र्याः, उक्तप्रत्यये च तयोः संसर्गतयैव भानान्नोक्तदोष इति—वाच्यम्; एकसंसर्गकधीसामग्र्या अप्युक्तविरोधि-त्वस्यानुभवसिद्धत्वात्, नहि घटोऽभेदसंबन्धेन नीलविशिष्ट इति धीकाले घटो भेदसंबन्धेन नीलविशिष्ट इति धीर्वदो

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

कारिकाविरोध इत्याशङ्क्य तां व्याचष्टे—कार्यात्मनेति । भेद एवेत्येवकारेणाभेदव्यवच्छेदः । अतएव कटकं कुण्डलमिति प्रत्ययो नेति भावः । अनुषज्यत इति । तथाच कारणात्मनेत्यस्य हेमत्वकुण्डलत्वाभ्यां कटककुण्डलयोर्भेदाभेदावित्यर्थः । कुण्डले कुण्डलत्वावच्छेदेन हेमत्वावच्छिन्नकटकस्य भेदाभेदाविति यावत् । एवंच हेमकुण्डलमिति प्रत्ययोपपत्तिरिति भावः । हेमात्मना यथाऽभेद इत्यभेदपदं व्याचष्टे—अभेद इति । अभेदोऽपीत्यपिशब्देन भेदः । हेमात्मनेत्यस्य कुण्डले कटकस्य कटके वा कुण्डलस्येत्यादिः । कुण्डलत्वात्मात्मनेत्यादिपदेन कटकात्मनां कुण्डले कटकत्वावच्छिन्नस्य, कटके वा कुण्डलत्वावच्छि-न्नस्येत्यर्थः । भिदेलत्राप्यन्तर्भावभ्रमं निरस्यति—भिदैवेति । उक्तरीत्या कारिकाव्याख्याने अध्याहारकेश इत्याशङ्क्योक्त-व्याख्याने वाचस्पतिसंमतिमाह—अतएवेति । अभेदः कथमुक्त इति योजना । उक्तरीतिमन्यत्र संचारयति—तथाचेति । तथाव्यवस्थेति । रूपत्वरसत्वाभ्यां रूपरसयोर्भेद एव, घटरूपरसत्वाभ्यां तु भेदाभेदावित्यर्थः । पूर्वपक्षमुपसंहरतुमुक्तमनु-वदति—अतएवेत्यादि । दोषः विरोधः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तथाचेति । अवच्छेदकभेदेन एकदेशकालावच्छे-देन । विरोधः एकधर्म्यवृत्तित्वम् । अवच्छेदकनिरपेक्षः एकदेशकालावच्छिन्नत्वाघटितः । यत् न प्रमाणगोचर इति । तत्रेति शेषः । प्रकृते गुणादिषु । अवच्छेदकभेदनिरपेक्षगुण्यादिभेदाभेदयोः किं तत्प्रमाणं तत्राह—सामाना-धिकरण्यप्रत्यये हीति । एकवत्ताज्ञानस्येति । तादृशनिश्चयस्येत्यर्थः । कार्यसहभावेनेति शेषः । एकवत्ताज्ञानसामग्र्या इति पाठोऽपि ज्ञानपदं निश्चयपरम् । एकनिश्चयेति तयोरनुषङ्गः । ज्ञानापत्तेरिति । गुण्यादिस्थलेऽप्युक्तविरोधित्वक-ल्पनाया आवश्यकत्वादिति शेषः । एकसंसर्गकेति । तयोरित्यादिः । उक्तविरोधित्वस्य अपरसंसर्गकधीविरोधित्वस्य । घटो न नील इति । एवंचाभेदसंसर्गकधीयो भेदप्रकारकबुद्धावपि विरोधित्वमिति भावः । तादृशानुभवे विप्रतिपन्नं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न नील इति धीर्वाऽनुभूयते । किंच सामानाधिकरण्यप्रत्यये संसर्गत्वेनाभेदस्य भानेऽपि भेदस्य भाने मानाभावः, तथाच द्वयोस्तत्र भानं वाचस्पत्युक्तमसङ्गतं—इति चेन्न; एकधर्मावच्छिन्ने धर्मिणि भेदाभेदविषयकस्य निश्चयस्यासंभवेऽपि तादृशप्रत्यये भेदसामानाधिकरण्यविशिष्टाभेदविषयतायां बाधकाभावात्, नहि 'नीलभेदविशिष्टं द्रव्यं नीलो घट' इत्याकारकधीनोत्पद्यते । नच—घटो नील इत्यादिज्ञाने तादृशविषयतापि न संभवति, घटत्वविशिष्टे हि तादृशाभेदस्य विषयत्वे भेदस्यापि घटत्वविशिष्टे विषयताया आवश्यकत्वेन पूर्वं घटत्वविशिष्टे भेदनिश्चयस्यावश्यकत्वे घटे नीलभेदस्य संशयोत्तरं घटे नीलस्य भेदसामानाधिकरणाभेदसंसर्गकनिश्चयस्यानुत्पत्तेः, तत्र नीलभेदनिश्चयस्य हेतुत्वात्, तदुक्तमनुमानदीधितौ—'साध्यसामानाधिकरण्यविशिष्टहेतोः पक्षे निश्चयस्तु पक्षे साध्यनिश्चयं विनाऽनुपपन्न' इति । एतावांस्तु भेदः यद्वह्निसामानाधिकरण्यविशिष्टधूमवान् पर्वत इति पर्वतांशे विशिष्टधूमस्य प्रकारत्वात् वह्निरपि तत्र प्रकारः घटो नील इत्यादौ तु घटे विशिष्टाभेदस्य संसर्गत्वाद्भेदस्यापि संसर्गता; अतएव घटे भेदसंसर्गकज्ञाने भेदसंसर्गेण नीलप्रकारकज्ञानमेव हेतुः; औचित्यात्, ननु भेदप्रकारकमिति—वाच्यम्; भेदसामानाधिकरण्योपलक्षिताभेदविषयतायामुक्तदोषाभावात् । अथ—भेदस्य तथाभानेऽपि किं मानं—इति चेत्, अत्र ब्रूमः—तद्वदे तद्वदस्य संयोगादिसंबन्धेन धीर्न प्रमा, किंतु तद्वदभिन्न इति व्यवस्थासिद्धये विशिष्टधीमात्रे विशेष्ये विशेषणस्य भेदसामानाधिकरणः संबन्धो

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रत्याह—किंचेति । यद्वा—तयोरेकत्र भाने बाधकमुक्त्वा साधकाभावमाह—किंचेति । अभेदस्य भानेऽपीति । अतएव पटो घट इति धीर्न प्रमेति भावः । मानाभाव इति । नच—घटो घट इति प्रमानुत्पादान्यथानुपपत्तिरेव तत्र मानमिति—वाच्यम् । अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासंबन्धेन प्रमां प्रति घटत्वभेदस्य हेतुत्वकल्पनेनापि तादृशप्रमानुत्पादोपपत्तेरिति भावः । केचित्तु—घटो घट इति ज्ञानस्योत्पत्तावपि न तत्प्रमा, घटत्वावच्छिन्नानुयोगिताकप्रतियोगिताकतादात्म्यस्य घटत्वरूपत्वमत इव तदतिरिक्तत्वमतेऽपि घटत्वसमशीलस्य घटत्वावच्छिन्नेन तुल्यवित्तिवेद्यस्योपगमेनाज्ञातविषयकत्वघटितप्रमात्वस्य तत्र दुरुपपादत्वात्, प्रमाभ्रमानात्मकं तु तादृशज्ञानं निर्विकल्पकवदिष्यत एवेति—वदन्ति । विषयकस्येति संसर्गप्रकारकसाधारण्यमाह । तादृशप्रत्यये घटोनील इतिप्रत्यये । बाधकाभावादिति । सामानाधिकरण्यघटकाधिकरणांशे भेदस्य निर्धर्मितावच्छेदकभानादिति भावः । समानविशेष्यकत्वमात्रस्य विरोधितानियामकत्वे निर्धर्मितावच्छेदकस्यापि भेदभानस्यासंभवात् तत्र बाधकमाह—नहीति । भेदसामानाधिकरणाभेदविषयतेत्यस्य भेदसामानाधिकरण्यविशिष्टाभेदविषयतेत्यर्थ इत्याशयेनाशङ्कते—नचेति । तादृशविषयता भेदसामानाधिकरण्यविशिष्टाभेदविषयता । तादृशाभेदस्य भेदसामानाधिकरण्यविशिष्टाभेदस्य । आवश्यकत्वेनेति । विशिष्टविशेषणकबोधे विशेषणतावच्छेदकस्य धर्मिपारतन्त्र्येण धर्मिण्युपलक्षितविशेषणकज्ञानवैलक्षण्यानुरोधेन विशेषणत्वमिव विशिष्टसंसर्गकबोधेऽपि तस्य तथा तत्र संसर्गताया उपलक्षितसंसर्गकज्ञानवैलक्षण्यानुरोधेनावश्यकत्वादिति भावः । आश्यकत्वमिति । तथाच पूर्वं घटत्वावच्छिन्ने भेदनिश्चये सत्युत्तरकाले तत्राभेदनिश्चयो दुर्घट इति भावः । ननु—फलीभूतज्ञानस्य घटत्वावच्छिन्ने भेदाभेदोभयावगाहित्वे तयोरेकज्ञानसामग्र्या अपरज्ञानविरोधितयैव तादृशज्ञानस्य दुर्घटत्वनिर्वाहे किं पूर्वकालिकोक्तप्रतिबन्धकत्वानुधावनेनेति चेत्, सत्यम्; तयोः स्वातन्त्र्येण अपरज्ञानं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वमित्यभ्युपगमेऽपि पारतन्त्र्येण भेदं स्वातन्त्र्येण चाभेदमवगाहमानस्योक्तज्ञानस्य दुर्घटत्वार्थ उक्तप्रतिबन्धकानुधावनात् । हेतुत्वादिति । यत्संशयव्यतिरेकनिश्चयौ यत्र प्रतिबन्धकौ तन्निश्चयस्तद्वेतुरिति व्याप्तेरिति भावः । उक्तव्याप्तेरप्रयोजकत्वमाशङ्काह—तदुक्तमिति । तथाचोक्तव्याप्तेरनभ्युपगमेऽपि तद्वर्तिनि तत्संशये तत्सामानाधिकरण्यविशिष्टवैशिष्ट्यसन्देह औचित्यावर्जित इति व्यावर्तकधर्मदर्शनविधया तन्निश्चयस्तत्संशयनिरासायापेक्षणीय इति दीधिति-कारानुमतं व्यक्तमिति भावः । ननु—उक्तभेदोऽस्तु, किं तावतेत्यत आह—अतएवेति । तावद्भेदसत्त्वादेवेत्यर्थः । ननु—व्यावर्तकधर्मदर्शनरूपता भेदसंसर्गप्रकारकज्ञानयोस्तुल्येत्यत आह—औचित्यादिति । साजात्यादिति भावः । यद्यपि भेदसामानाधिकरण्यविशिष्टाभेदविषयतायामपि न बाधकम्, विशिष्टस्योपलक्षितादन्यत्वेनैव विशिष्टविषयकज्ञानस्योपलक्षितविषयकज्ञानात् वैलक्षण्यनिर्वाहे विशेषणतावच्छेदकस्य पारतन्त्र्येण धर्मिणि भानस्याप्रामाणिकत्वेनोक्तज्ञाने भेदस्य घटत्वावच्छिन्नेऽभानात्; तथापि भेदसामानाधिकरण्योपलक्षिताभेदविषयतास्वीकारेण निर्वाहे उक्तविशिष्टविषयतास्वीकारे प्रयोजनाभाव इत्याशयेन समाधत्ते—भेदेति । किंचेत्यादिनोक्तं परिहर्तुमनुवदति—अथेति । संबन्ध इति । नच—संयोग इत्येव वाच्यमिति—वाच्यम्; असति बाधके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातात् । एवंवा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

विषय इति कल्प्यते; तथा सति हि तद्वदे तस्य संयोगादिसत्त्वेऽपि तद्भेदसमानाधिकरणसंयोगादिसंबन्धस्या-
सत्त्वान्नोक्तधीः प्रमा । नच—उक्तसमानाधिकरणं तद्वटसंयोगेऽप्यस्त्येव, तस्य तद्वट इव तदन्यस्मिन् पटादावपि
सत्त्वात्, तथाच तदुपलक्षितसंयोगस्य तद्वदेऽपि सत्त्वात् कथं न प्रमेति—वाच्यम्; उक्तोपलक्षितत्वं हि प्रकृते
तद्भेदोपलक्षिताधिकरणवृत्तित्वविशिष्टत्वम्; तथाच अधिकरणांशे भेदस्य विशेषणत्वेन न भानम्, किंतु उपलक्षण-
तया; तदुपलक्षिताधिकरणवृत्तित्वस्य तु संयोगादिसंबन्धांशे विशेषणतयैव सर्वत्र भानम्, तादृशाधिकरणवृत्तित्व-
विशिष्टसंयोगादेश्च न तद्वटादौ सत्त्वमिति नोक्तधीः प्रमा । ननु—‘तद्वटस्तत्कम्बुग्रीवादिमान्’ इत्यादौ घटत्वकम्बु-
ग्रीवादिसमत्वरूपाभ्यां भेदसंभवात्तादात्म्येन प्रमा स्वीक्रियते, तथा तद्वटस्तत्कम्बुग्रीवादिसमानानि संयोगेनापि प्रमा
स्यात्—इति चेन्न; व्याप्यव्यापकभावापन्नधर्मद्वयं यत्र विशेषणतायां विशेष्यतायां वा अवच्छेदकं, तत्र व्याप्यधर्म-
एव भेदे प्रतियोगितावच्छेदकतयाऽनुयोगितावच्छेदकतया वा भासते, व्यापकधर्मस्तु प्रतियोग्यंशे विशेषणमात्रत-
या भासते; ननु उक्तावच्छेदकप्रविष्टतया । द्रव्यं घटो नास्तीत्यादिप्रतीतेः द्रव्यवत्युत्पत्तेः, व्यापकविशिष्टव्याप्यस्य तु
गौरवेणानवच्छेदकत्वात् । अतएव प्रमेयघटो नास्तीत्यादौ प्रमेयत्वादेरवच्छेदकत्वासंभवात् प्रमेयत्वोपलक्षितघट-
त्वादेरवच्छेदकत्वमुक्तं पक्षधरमिश्रादिभिः । तत्र घटत्वमेवावच्छेदकं प्रमेयत्वं तु प्रतियोगिनि विशेषणमित्यर्थः ।
तथाच तद्वट इत्याद्युक्तस्थले व्याप्यीभूततद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगितानुयोगिताकभेदस्यैव भानं व्युत्पत्तिसिद्धं वाच्यम्,
स च बाधित इति न प्रमा । अतएव तादात्म्येनोक्तधीरपि न प्रमा, तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतीतिरिति धीवत् । नच—तथापि
कम्बुग्रीवादिमान् समवायेन घटवानित्यपि प्रमा स्यात्, घटीयसमवायस्य घटे सत्त्वादिति—वाच्यम्; घटो भूतल-
संयोगीति प्रमावत् घटः कपालसमवायीति बुद्धभावेन घटस्य स्वसमवायानुयोगित्वाभावात् । ननु—यस्माद्विशेषणा-
द्वस्तुगत्या भिन्नं विशेषणसंबन्धि च यत् विशेष्यं तस्य तत्र विशिष्टधीत्वं प्रमात्वं वाच्यम्, न संसर्गघटकतया भासमान-
विशेषणभेदघटितम्; तथाच विशेषणभेदस्य विशिष्टधीविषयत्वानियमेऽप्युक्तधियः अप्रमात्वोपपत्तिः—इति चेन्न; प्रमा-
त्वस्य तादृशत्वे पारिभाषिकत्वापत्तेः । प्रकृष्टज्ञानं हि प्रमापदमुख्यार्थः, प्रकर्षश्चाज्ञाताबाधितविषयकत्वम्, तच्चोक्त-
ज्ञानेऽप्यस्तीति तस्योक्तमुख्यार्थत्वं दुर्वारम् । अतएव तस्य अप्रमापदमुख्यार्थत्वमपि न स्यात्, प्रमापदविपरीतार्थकत्वेन

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भेदस्यापि भेदसमानाधिकरणस्यैव भानेन घटो घट इति प्रमानुत्पादनिर्वाहे तद्वारकोक्तकार्यकारणभावाकल्पनेन लघु-
वमिति भावः । ननु व्यापकधर्मे प्रतियोगितावच्छेदकताभानं कुतो नेत्याशङ्कायां, किं तावन्मात्रे तत्पर्याप्तिभानं,
किंवा व्याप्यव्यापकीभूतधर्मद्वये इति विकल्प्य आद्ये दूषणमाह—द्रव्यमिति । द्वितीये—व्यापकेति । अत्र
पक्षधरसंमतिमाह—अतएवेति । प्रमेयत्वादेरित्यादिना । प्रमेयत्वविशिष्टघटत्वपरिग्रहः । ननु प्रमेयत्वोपलक्षित-
घटत्वस्यावच्छेदकत्वे प्रमेयत्वस्याप्युपलक्षणतयाऽवच्छेदकत्वमागतमित्यत आह—तत्रेति । तद्वट इत्यादीति । तद्वटः
संयोगेन तत्कम्बुग्रीवादिमानित्यादिवुद्धावित्यर्थः । न प्रमेति । तादृशी बुद्धिरित्यादिः । नन्वेवं तादात्म्यसंसर्ग-
कतादृशज्ञानमपि न प्रमा स्यादित्याशङ्कां इष्टापत्त्या परिहरति—अतएवेति । घटत्वकम्बुग्रीवयोरवच्छेदककोट्यप्रवे-
शादेवेत्यर्थः । घटीयसमवायस्य घटत्वविशिष्टभेदसमानाधिकरणस्येति शेषः । घटे तर्हि स्वभेदसमानाधिकरणोप-
लक्षितसमवायसत्त्वेऽपि विशिष्टसमवायाभावाच्च प्रमात्वापत्तिरित्यत आह—कम्बुग्रीवेति । कम्बुग्रीवादिविशिष्टे । सत्त्वा-
दिति । संबन्धस्योभयाश्रितत्वादिति भावः । नच—घटीयसमवायानुयोगिता तादृशप्रमाप्रयोजिका, सा च घटमिन्न एव
स्वीक्रियत इति—वाच्यम्; तथासति तद्वटीयसंयोगानुयोगितायाः संयोगेन तद्वटप्रमाप्रयोजकत्वमुपगम्य तस्याः तद्वटे असत्त्वेन
तद्वटे तादृशप्रमावारणेऽपि विशेषणभेदसमानाधिकरणस्य संसर्गतावच्छेदकतया भाने मानाभावप्रसङ्गादिति शङ्काभावः ।
प्रमावदिति । तथाचैतत्प्रमानुरोधात् घटे घटीयसंयोगानुयोगिताया आवश्यकत्वेन तद्वटे संयोगेन तद्वटप्रमापत्ते-
र्दुर्वारतया निरुक्तसमानाधिकरणसंसर्गतावच्छेदकताया आवश्यकत्वात् । नच—घटो भूतलसंयोगीति प्रमायां संयोगा-
धिकरणतैव विषयो नानुयोगितेति—वाच्यम्; तदधिकरणतानिरुक्ततदनुयोगिताया अप्रामाणिकत्वादिति भावः ।
अनुयोगित्वभावादिति । अधिकरणरूपत्वस्याप्यनुयोगित्वस्याभावादित्यर्थः । तथाच तादृशानुयोगितायाः समवायेन
कम्बुग्रीवावच्छिन्ने घटत्वावच्छिन्नप्रमाप्रयोजकत्वानुपगमात् न तादृशप्रमापत्तिरिति भावः । वस्तुगत्येति भेदविशेषणं
प्रतीयमानत्वव्यावर्तकम् ।—उक्तधियः संयोगेन तद्वटवानिति धियः । तादृशत्वे वास्तवभेदघटितनिरुक्तरूपत्वे ।
उक्तज्ञाने तद्वटः संयोगेन तद्वटवानिति ज्ञाने । प्रमात्वस्य भासमानभेदघटितनिरुक्तरूपत्वे न तादृशभेदस्य बाधितत्वेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अमपदस्य बाधितविषयकज्ञानार्थकत्वेन विषयाबाधेन च तस्योक्तमुख्यार्थत्वाभावात् । ननु—विशिष्टधीमात्रे नोक्तभेदो विषयः, 'घटाभावो घटाभाववा' नित्यादौ विशेष्यविशेषणयोरैक्येन भेदभावेन भ्रमत्वापत्तेः, तद्वदस्तद्वद्वानित्यादिज्ञानस्यापि न प्रमात्वापत्तिः, तस्य हि प्रमात्वम्, संयोगादिसंबन्धीया तद्वदनिष्ठा या प्रतियोगिता तन्निरूपितानुयोगितावति संयोगादिसंबन्धेन तद्वदप्रकारकधीत्वं, तादृशी चानुयोगिता तद्वदभिन्न एव स्वीक्रियते; तद्वदे तस्य संयोग इति प्रत्ययाभावात्, घटाभावे तु विशेषणतासंबन्धीयप्रतियोगितया घटाभावनिष्ठया निरूपितानुयोगिता स्वीक्रियते, घटाभावे तस्य संबन्ध इत्यनुभवात्—इति चेन्न; घटप्रतियोगिकाभावत्वमात्रेण विशेष्यत्वे तेनैव रूपेण न विशेषणत्वम्, किंतु घटविरोध्यभावत्वादिरूपेण । यथाहि मामहं जानामीत्यादौ रूपभेदेनैव कर्मकर्तृता; अन्यथा अत्यन्ताभेदे परसमवेतक्रियाजन्यफलवत्त्वरूपस्य कर्मत्वस्यात्मन्यसंभवात्, तथा रूपभेदेनैव विशेषणत्वमुक्तज्ञाने स्वीक्रियते, उक्तकल्पनानुरोधात् । घटाभावस्तद्वानित्यादावेकरूपविशिष्टस्यैव घटाभावपदतत्पदाभ्यामुल्लेखेऽपि सुबर्थकत्वादिविशेषितरूपेणैव शाब्दधीविशेष्यता । तथाच भिन्नरूपाभ्यां घटाभावादौ तद्भेदसंभवेन भेदविशिष्टविशेषणतासंबन्धस्य भानाद्विशिष्टधीमात्रे भेदविशिष्टसंबन्धस्य भाननियमो न व्याहतः । यत्तु—अनुयोगिताविशेषघटितं प्रमात्वमतस्तद्वदस्तद्वानित्यादिधीरप्रमा—इत्युक्तम् । तन्नः प्रमात्वस्य पारिभाषिकत्वापत्तेरित्याद्युक्तदोषात्, नहि उक्तरूपविशिष्टानुयोगिता नियमेन विशिष्टधीविषय इत्यत्र मानमस्ति; येन विषयबाधेन प्रमात्वाभाव उक्तज्ञाने वाच्यः, नवा तादृशानुयोगिता प्रामाणिकी । नच—कम्बुग्रीवादि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

बाधितभेदविषयतया न प्रमापदमुख्यार्थत्वापत्तिः, न वा भ्रमपदमुख्यार्थत्वानुपपत्तिरिति भावः ।—विशिष्टधीमात्रे इति । किंतु संयोगसंसर्गकविशिष्टबुद्धावेवेति शेषः । एवंच नीलो घट इति सामानाधिकरण्यप्रत्यये भेदभावे मानाभाव इति भावः । नन्वसति बाधके 'प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः' इति न्यायविरोध इत्याशङ्काह—घटाभाव इति ।—भ्रमत्वापत्तेरिति । तथाच ईदृशबाधकसत्त्वात् न तन्मयायावतार इति भावः । एवंचैकरूप्यार्थं संयोगसंसर्गकबुद्धावपि नोक्तभेदो विषय इति पर्यवसितम् । यद्वा—विशिष्टबुद्धिमात्रे इति । विशिष्टबुद्धौ क्वचिदपि नेत्यर्थः ।—भ्रमत्वापत्तेरिति । क्वचिदुक्तभेदस्य विषयत्वे ऐकरूप्यार्थं प्रमाणानां सामान्यपक्षपातार्थं चाभेदसंसर्गकबुद्धाविव सर्वत्रैव तत्स्वीकारस्यावश्यकत्वादिति भावः । नन्वेवं तद्वदस्तद्वद्वानिति ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिरित्यत आह—तद्वद इति । ननु अनुयोगिता अधिकरणतारूपा तद्वदेऽप्यस्त्येवेत्यत आह—तादृशी चेति । अनुयोगितेति । अधिकरणत्वान्यः स्वरूपसंबन्धविशेषः पदार्थान्तरं वेति शेषः । स्वीक्रियत इति । उक्तज्ञानस्य प्रमात्ववारणानुरोधेनैवेति भावः । प्रत्ययाभावादिति । घटो भूतलसंयोगीत्यत्र त्वधिकरणतामात्रं विषयः । नत्वनुयोगितेति भावः । ननु तत्प्रतियोगिकसंबन्धानुयोगिता तद्विज्ञे एवेति यदि नियमः, तर्हि घटाभावो घटाभाववानिति ज्ञानस्य प्रमात्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्य, नायं नियमः सर्वसंबन्धविषयः, किंतु प्रतीत्यनुरोधात् तत्तत्संबन्धेषु भिन्नैव व्यवस्थेत्यभिप्रायेण परिहरति—घटाभावेति । एवं अभेदसंबन्धस्यानुयोगिता नात्यन्तं प्रतियोगिना भिन्नेऽभिन्ने वा स्वीक्रियते, किंतु भिन्नाभिन्न इति तत्रैव तत्संसर्गकज्ञानस्य प्रमात्वमिति बोध्यम् । विभिन्नरूपाभ्यामेव विशेष्यविशेषणभाव इति नियममभ्युपगम्य समाधत्ते—न घटेति । उक्तकल्पना भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयत्वकल्पना । एकरूपविशिष्टस्यैवेति । तदा प्रकान्तार्थत्वादिति भावः । प्रकान्तत्वं च सममिव्याहतपदोपस्थाप्यत्वम् । तेन वाक्योपस्थाप्यैकत्वविशिष्टघटाभावस्य तदा परामर्श इति बोध्यम् । तद्भेदसंभवेनेति । तथाच तादृशज्ञानस्य भेदावगाहिनोऽपि न भ्रमत्वापत्तिरिति भावः । ननु इदं सर्वं उक्तकल्पनानुरोधादित्युक्तम्, परंतु उक्तकल्पनायामेव न मानम्; तद्वदे संयोगेन तद्वदवत्ताज्ञानप्रमात्वस्यानुयोगिताविशेषाविषयकत्वेनैव वारितत्वादिति शङ्कां परिहरति—यत्त्विति । ननु तादृशानुयोगितावति तादृशानुयोगिताविषयधीत्वं प्रमात्वम्; तथाच न पारिभाषिकत्वं; प्रमापदस्योक्तज्ञानस्य तादृशानुयोगितारूपाबाधितविषयकत्वात्, संबन्धप्रतियोगितानुयोगितयोर्विशिष्टधीविषयत्वादित्याशङ्कां परिहरति—नहीति । संबन्धप्रतियोगितानुयोगितयोर्विशिष्टबुद्धिविषयत्वे मानं यद्यपि पूर्वमुक्तम्, तथापि तत्तद्विशेषणनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितत्वविशिष्टानुयोगिताभाननियमे मानाभाव इत्यर्थः । ननु—उक्तरूपविशिष्टानुयोगिता मा भासताम्, तथापि तादृशरूपोपलक्षितानुयोगिताया अपि तद्वदे बाधेन तन्मात्रभावेनाप्युक्तज्ञानस्य प्रमात्वनिर्वाहादिति—चेन्न, गदाधरोक्तायाः तद्वदसंयुक्ततत्पदस्य परिवृत्य स्थापनस्थले तद्वदनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितत्वोपलक्षितसंयोगानुयोगितायाः तद्वदेऽबाधेन तद्वदः संयोगेन तद्वद्वानिति ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिरिति तद्वीवारणानुरोधेन निरुक्तरूपविशिष्टानुयोगित्वविषयताया एव प्रमात्वघटकत्वावश्यकतयोक्तरूपविशिष्टानुयोगिताभानस्यावश्यकत्वादिति भावः । क्वचिद्भानेऽनुव्यवसायस्यैव मानत्वात् नियमेनेत्युक्तम्—नवेति । नचोक्तप्रमात्वव्यवस्थान्यथानुपपत्तिरेव मानं; उक्तरूपविशिष्टानुयोगितारूपपदार्थ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मान् घटः, कम्बुग्रीवादिमान् तद्वद्वान्, तद्वदो घटवानित्यादीनां प्रमात्वं तव मते दुर्वारम्, विशेष्यविशेषणयोर्भिन्न-
रूपावच्छिन्नतया भेदसत्त्वात् तत्संबन्धीयघटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितानिवेशे तु तस्याः कम्बुग्रीवादिम-
त्त्वावच्छिन्नादावस्वीकारात् नोक्तधियां प्रमात्वापत्तिरिति—वाच्यम्; उक्तधियां प्रमात्वस्येष्टत्वात् । आद्यबुद्धौ विशेष्य-
विशेषणतादात्म्यस्याज्ञातत्वसंभवेनाज्ञातविषयकत्वसंभवात्, तद्व्यक्तिस्तद्व्यक्तिरित्यादौ तु तस्य तदसंभवेन न तथा ।
द्वितीयतृतीययोरपि तथा, एकघटे घटान्तरसंयोगमादाय त्वयापि तस्येष्टत्वात् । नच—समवायेन तयोः प्रमात्वाप-
त्तिस्तव मते इति—वाच्यम्; तव मतेऽपि तादृशापत्तेः । अथ—तद्वदीयसमवायानुयोगित्वस्य तद्वदे स्वीकारे तद्वदः
स्वाश्रयकपालसमवायीति प्रत्ययापत्तेस्तत्संबन्धेन प्रमात्वस्य तत्संबन्धानुयोगिविशेष्यकत्वघटितत्वाच्च नोक्तापत्तिः—
इति व्रूये, तदा अहमपि तथा ब्रवीमीति न कोऽपि दोषः । यथाहि विषयतया विषयमात्रे ज्ञानस्य प्रमा, नतु ज्ञाने
विषयस्य; तस्याः ज्ञानानुयोगिकत्वाभावात्, तथा समवायेन कपाल एव घटस्य प्रमा, नतु घटे कपालस्यापीति दिक् ॥
अथ—घटस्तद्वद्वानिति बुद्धेः प्रमात्वे विप्रतिपद्यसे, तदा तादात्म्यसंबन्धेन प्रमात्वस्य लक्षणे भेदमात्रस्य निवेशेऽपि
तादात्म्यान्यसंबन्धेन प्रमात्वस्य लक्षणे औपाधिकभेदान्यभेदो निवेश्यताम् । घटत्वतद्वद्वद्विशिष्टयोर्भेदस्यौपाधिक-
त्वाच्चोक्तबुद्धेः प्रमात्वापत्तिः । सर्वेषां प्रमात्वानां लक्षणेपु शब्दैक्यं नोपयुज्यते । नच—औपाधिकत्वं दुर्वचमिति—

लघुचन्द्रिकाया विट्कलेशोपाध्यायी ।

स्तरतज्ञाननियमयोः कल्पनापेक्षया क्लृप्तभेदभाननियमकल्पनेन तदुपपादने लाघवादिति भावः । स्वमते तादृशबुद्धीनां प्रमात्वं
वारयति—तत्संबन्धीयेति । ननु आद्यबुद्धौ कम्बुग्रीवावच्छिन्ने तद्वदे घटत्वावच्छिन्नतद्वदस्य तादात्म्यं संसर्गतया
भासते, तच्च तद्वदे न तुल्यवित्तिवेद्यमिति विशेष्यविशेषणयोरिव तत्तादात्म्यस्यापि पूर्वं ज्ञातत्वादज्ञातविषयकत्वघटितं प्रमात्वं
कथं तस्याः, अतएव तद्व्यक्तिरिति ज्ञानस्य न प्रमात्वमित्यत आह—आद्येति । विशेष्येति । कम्बुग्रीवावच्छिन्नानु-
योगिकघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकतादात्म्यत्वावच्छिन्नस्येत्यर्थः । एकधर्मावच्छिन्नानुयोगिकप्रतियोगिकतादात्म्यस्यैव पूर्वं निय-
मेन ज्ञातत्वमिति भावः । तस्य विशेष्यविशेषणतादात्म्यस्य । तदसंभवेन अज्ञातत्वासंभवेन । इदमुपलक्षणम्, स्वमते
तत्र संसर्गघटकतया भासमानभेदस्याबाधितत्वासंभवेनेत्यपि बोध्यम् । न तथा न प्रमात्वम् । तथा प्रमात्वमिष्टम् ।—नच
समवायेनेति । घटे घटान्तरसमवायाभावेन प्रमात्वस्यानिष्टत्वादिति भावः । तवमतेऽपीति । समवायस्यैकत्वेन तद्वदे
घटान्तरसमवायसत्त्वात्, तन्नानात्वे तद्वदे घटान्तरसमवायाभावेऽपि तद्वदीयसमवायस्यैव द्विष्टत्वेन सत्त्वादिति भावः ।
अथेति । समवायभेदमुपगम्येति शेषः । तद्वदीयेत्यस्य तद्वदप्रतियोगिकत्वविशिष्टेति वार्थः । तेन समवायैक्यपक्षसत्त्वेऽपि न
क्षतिः । तथेति । तद्वदीयसमवायेत्यादि नोक्तापत्तिरित्यन्तमित्यर्थः । भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयतावादिनाप्येकस्यैव संबन्धस्य
क्वचिद्वानुयोगिता, सा च विशिष्टप्रमानियामिकेत्यवश्यं स्वीकार्यमित्याह—यथाहीति । ज्ञानविषययोः परस्परं भेदेऽपीति
शेषः ।—कपालस्येति । समवायस्य घटानुयोगित्वाभावादिति शेषः । इदं च पररीत्या । स्वमते विषयतासमवाययोः स्थाने
तादात्म्यस्य, तेन च नीलघटयोरिव प्रकृतेऽपि परस्परं विशिष्टबुद्धेः स्वीकारादिति बोध्यम् । ननु—तदा अहमपि तथा
ब्रवीमीति न सुसङ्गतम्; भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयतावादिनापि समवायसंसर्गकोक्तद्वितीयतृतीयज्ञानयोः प्रमात्ववारणायोक्त-
रूपविशिष्टानुयोगितायाः, प्रमात्वपारिभाषिकत्ववारणानुरोधेन तयोर्बाधितविषयकत्वनिर्वाहाय च तस्या विशिष्टबुद्धिविषय-
तायाश्चावश्यं स्वीकारे भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयताविलोपप्रज्ञात्, तादृशानुयोगितयैव संयोगसंसर्गकस्य तद्वद्वानिति ज्ञान-
स्यापि प्रमात्वापत्तेर्वारणसंभवात्—इति चेत्, सत्यम्; एतस्य वितृष्णामात्रत्वात् । वस्तुतस्तु तादात्म्यान्यसंबन्ध-
संसर्गकप्रमात्वलक्षणेऽनौपाधिकभेदनिवेशस्य वक्ष्यमाणतया समवायसंसर्गकप्रमात्वे तस्यैव निवेशनीयतया द्वितीयतृतीयज्ञा-
नीयप्रकारताविशेष्यतावच्छेदकविशिष्टयोर्भेदस्यौपाधिकतया प्रमात्वापत्तिवारणसंभवेन समवायसंसर्गकोक्तरूपविशिष्टानुयो-
गितायाः प्रमात्वनियामकताया भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयतावादिनाऽनभ्युपगमादुक्तयुक्त्या भेदस्य विशिष्टबुद्धिविषयत्वसिद्धि-
रिति बोध्यम् । पूर्वं 'द्वितीयतृतीययोरपि तथा, एकघटे घटान्तरसंयोगमादाय त्वयापि तस्येष्टत्वात्' इत्युक्तम्; तत्र शङ्कते—
अथेति । तद्वद्वानिति यद्वदस्य क्वचिदपि घटे न संयोगः तद्वद्वानित्यर्थः । एवं च तादृशज्ञानस्य प्रमात्वस्य परेण
कथमप्यनङ्गीकारात् तत्र परस्य विप्रतिपत्तिरसंमतिः संभवति । एवं चैतन्मते इष्टापत्तेरसुकरतयोकानुयोगिताया एव प्रमा-
त्वनियामकत्वेन भेदस्य विशिष्टधीविषयत्वमते तदसंभवेनेत्यर्थः । तन्नियामकतयाभ्युपेतस्य विशेष्ये विशेषणभेदस्य चेहौपाधि-
कस्य सत्त्वादुक्तबुद्धेः प्रमात्वापत्तिर्दुर्वरेति शङ्काभावः । समाधत्ते—तदेति । भेदमात्रेति । औपाधिकानौपाधिकसाधारण-
रूपावच्छिन्नभेदेत्यर्थः ।—तद्वदितमिति । तद्वर्मानुयोगिकतद्वर्मप्रतियोगिकभेदमिश्रो यः तद्वर्मोपहितानुयोगिकतद्वर्मो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वाच्यम्; तद्धर्मयोर्थो भेदस्तदन्यः यस्तद्धर्मोपहितयोर्भेदस्तद्वटितं तद्धर्मावच्छिन्नयोरेकस्मिन्नपरस्य प्रमात्वमित्यस्य सुव-
चत्वात् । नच—घटादौ द्रव्यत्वघटत्वरूपाभ्यां भेदो न मानसिद्धः, उक्तव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या कल्पनं तु तादृशानु-
योगित्वस्यापि संभवतीति—वाच्यम्; तादृशभेदो हि न तथा कल्प्यते किंत्वनुभवसिद्धः । य एव हि द्रव्यत्वघटत्व-
योर्भेदः स एव तदुपहितयोरपि । अतएव द्रव्यत्वस्य तत्रेव तदुपहितेऽपि भेदासत्त्वान्न विशिष्टधीः । नचैवं—द्रव्यत्वस्य
स्वोपहिते व्यावर्तकत्वानुपपत्तिः, द्रव्यत्वभेदाभावे स्वोपहिते स्वस्य विशिष्टबुद्धिसंभवादिति—वाच्यम्; द्रव्यत्वत्व-
विशिष्टस्यैव शुद्धद्रव्यत्वोपहिते तत्संभवात् । अतएव 'गुणानां गुणत्वाभिसंबन्ध' इत्यादिकं गुणभाष्यादावुक्तम् ।
अथवा द्रव्यं घट इत्यत्र द्रव्ये यस्य विशेषणस्य भेदो भाति, तस्य द्रव्यविशेषणे शुद्धद्रव्यत्वेऽपि; विशेष्यविशेषणयो-
रेकभेदभाननियमात् । तथाच द्रव्ये शुद्धद्रव्यत्वस्य न विशिष्टधीः; भेदप्रतियोगिताऽपि द्रव्यत्वतदुपहितयोरेकैव;

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

पहितप्रतियोगिकभेदः तदुपलक्षितधर्मवृत्तित्वविशिष्टसंयोगादिसंसर्गेण तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकतद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकज्ञानत्व-
मित्यर्थः । अपरस्येति । संयोगादिसंबन्धेनेति शेषः । न मानसिद्ध इति । तथाचौपाधिकभेदस्यैवासिद्ध्या तद्वटित-
तादात्म्यसंबन्धेन प्रमात्वं दुर्वचमिति भावः । उक्तव्यवस्था घटो घट इति ज्ञानं न प्रमा, द्रव्यं घट इति तु प्रमेति व्यव-
स्थेत्यर्थः ।—तादृशानुयोगित्वस्येति । घटत्वान्यधर्मावच्छिन्नानुयोगिकघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभेदादिसंबन्धानुयो-
गित्वस्येत्यर्थः । तथा उक्तव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या । ननु द्रव्यं न घट इति प्रत्ययाभावात् कथमनुभवसिद्धतेत्यत आह—
यएवहीति । भेद इति । द्रव्यत्वं न घटत्वमित्यनुभवसिद्धः । सएवेति । उपाध्युपहितयोरभेदोपगमात् । एवंचोपहितयो-
रपि भेदोऽनुभवसिद्ध इति भावः । कम्बुग्रीवादिसामान्यघटत्वानित्यादितादात्म्यसंसर्गकज्ञाने प्रमात्वोपपत्तावपि संयोगादिसं-
र्गकज्ञानप्रमात्वापत्तिवारणाय तद्धर्मोपहितानुयोगिकतद्धर्मोपहितप्रतियोगिताकभेदपर्यन्तानुधावनम् । अतएवेति उपाध्युप-
हितयोः उपाधिभेदोपहितभेदयोश्चाभेदादेवेत्यर्थः । तत्रेव द्रव्यत्वे इव । तदुपहिते द्रव्यत्वोपहिते । द्रव्यत्वस्य भेदासत्त्वादित्य-
न्वयः । न विशिष्टधीरिति । 'तत्रेव तदुपहितेऽपि द्रव्यत्वस्येत्यनुवर्तते । द्रव्यं द्रव्यमित्याकारे इति शेषः । उपाध्युपहि-
तयोर्भेदे तु द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वस्य भेदसत्त्वात् विशिष्टबुद्धिप्रसङ्गः । एवमुपाधिभेदादुपहितभेदस्यानतिरेके । द्रव्यत्वोपहिते
शुद्धद्रव्यत्वभेदासत्त्वेऽपि द्रव्यत्वत्वविशिष्टद्रव्यत्वभेदसंभवात् तत्र तद्विशिष्टबुद्धिप्रसङ्ग इत्युपपत्त्यसङ्गतिः । तत्संभवात्
भेदविशिष्टबुद्धिव्यावर्तकत्वानां संभवात् । तथाच शुद्धद्रव्यत्वस्य भेदविशिष्टबुद्धिव्यावर्तकत्वासंभवेऽपि न कापि हानिरिति
भावः । ननु शुद्धद्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वत्वविशिष्टद्रव्यत्वस्यापि न तत्संभवः, विशिष्टशुद्धयोरभेदात् इत्याशङ्क्य तत्र गुणभा-
ष्यसंमतिमाह—अत एवेति । विशिष्टशुद्धयोः भेदाभेद उपगन्तव्य इति भावः । गुणानां स्वरूपतो गुणत्वोपहितानाम् ।
गुणत्वाभिसंबन्धः गुणत्वत्वविशिष्टाभिसंबन्धः विशिष्टबुद्धिविषयत्वयोग्यता । ननूपाध्युपहितयोरत्यन्ताभेदो वा भेदा-
भेदौ वा । आद्ये उपाध्युपहितभावो न स्यात्, तस्य भेदनियतत्वात् । अन्त्ये उपाधिभेदादुपहितभेदोऽनतिरेको न स्यात्;
तयोरत्यन्ताभेदस्येव तत्र बीजत्वसंभवात् । किंचैवं द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वस्य भेदस्यापि सत्त्वात् विशिष्टबुद्धिप्रसङ्गो दुर्वारः;
अभेदपक्षे दूष्णान्तरम्; एवमुपाध्युपहितभेदयोरनतिरेके घटत्वं न घट इति प्रत्ययो न स्यात्; घटत्वभेदानतिरेकघटभेदस्य
घटत्वेऽसंभवात्, नच घटनिष्ठप्रतियोगिताकभेदसत्त्वेन तस्य तत्र संभवः, एवंसति सर्वेषामभावानामैक्यप्रसङ्गात्,
इत्याशङ्क्याह—अथवेति । इत्यत्र इत्याद्याकारके घटत्वादिप्रकारकज्ञाने ।—न विशिष्टधीरिति । शुद्धद्रव्यत्वरूपधर्मि-
तावच्छेदके शुद्धद्रव्यत्वभेदस्य बाधादिति भावः । विशेष्यविशेषणयोः विशेष्यविशेष्यतावच्छेदकयोः । नन्वेवमप्यौपा-
धिकभेदो न सिद्ध इत्यत आह—भेदप्रतियोगितापीति द्रव्यत्वस्येत्यनुषज्यते । ननु अत्र कल्पे उपहितमात्रप्रतियोगिको
भेद उपाध्युपहितोभयवृत्त्येकप्रतियोगिताकादस्मादुपाधिभेदादतिरिक्त उपेयते, न वा । अन्त्ये पूर्वकल्पोक्तरीत्यैव द्रव्यत्वो-
पहिते शुद्धद्रव्यत्वविशिष्टबुद्धिवारणे धर्मितावच्छेदके विशेषणभेदभानकल्परूपस्यैतत्कल्पस्याकिञ्चित्करत्वापत्तिः; आद्ये
लाघवादित्यस्यासङ्गतिः; भेदद्वयस्य प्रतियोगिताद्वयस्य वा आवश्यकत्वे लाघवासंभवात्—इति चेन्न; औपाधिकभेदसिद्ध्यनु-
रोधेनोपाधिभेदस्योपहितमात्रप्रतियोगिकभेदातिरिक्तस्योपहिते प्रतियोगिताया आवश्यकत्वे तत्र प्रतियोगितान्तरकल्पनापे-
क्षया उपाधिवृत्तिप्रतियोगिताया एव कल्पने लाघवसंभवेनाद्ये लाघवादित्यस्य सङ्गतेराद्यस्योपगमात् । अतएवोपाध्युपहितो-
भयवृत्त्येकप्रतियोगिताकभेदात् उपहितमात्रप्रतियोगिकभेदस्य पृथक्त्वस्वीकारादेव द्रव्यत्वं न द्रव्यमित्यादिप्रत्ययोपपत्तिः;
उपहितमात्रप्रतियोगिकभेदस्य तत्र भानसंभवात् । नचैवं—द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वोपहितमात्रप्रतियोगिकभेदवत् द्रव्यत्वतदु-
पहितोभयप्रतियोगिकभेदोऽपि न संभवति; भेदस्य प्रतियोग्यवृत्तित्वात्, नह्ययं व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकः;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लाघवात् एवं भेदानुयोगिताऽपि । तथाच द्रव्यत्वघटत्वयोः शुद्धयोर्भेदानुभवे भासते यो भेदः तस्यैव 'द्रव्यं घट' इत्यनुभवे द्रव्यत्वतदुपहितानुयोगिकतया घटत्वतदुपहितप्रतियोगिकतया भानम्; औपाधिकभेदधीस्थले तथैवानुभवात्, द्रव्यत्वोपहितानुयोगिकतया तद्भाने घटत्वोपहितस्याभेदो नोक्तानुयोगिकतया भातुमर्हतीति सामानाधिकरण्याघटकतयैव द्रव्यांशे भेदभानमिति पूर्वोक्तम् । नच—उक्तानुभवे द्रव्यत्वयोर्भेदानुयोगिप्रतियोगिताभाने तदवच्छेदकतया द्रव्यत्वत्वत्देरपि भानापत्तिः, भेदप्रत्यक्षे प्रतियोग्यनुयोगिनोक्तवच्छेदकभानस्यावश्यकत्वादिति—वाच्यम्; इतरविशेषणीभूते प्रतियोग्यादौ तद्भानस्यानवकाशात् । नच—उक्तानुभवे द्रव्यत्वघटत्वयोरेव भेदो भाति, ननु तदुपहितयोः; तथाच विशिष्टधीमात्रे विशेषणताविशेष्यतावच्छेदकयोरेव भेदभानेनैकधर्मविशिष्टयोर्विशिष्टज्ञानप्रमात्ववारणसंभवाद्विशेष्यविशेषणयोरपि भेदो भातीत्यत्र न भानमिति—वाच्यम्; विनिगमकाभावादुक्तानुभवस्योपाध्योरुपहितयोरपि भेदे भानत्वात्, अनुभवान्तरस्य शुद्धद्रव्यत्वयोर्भेदावगाहिनोऽभावात्, केवले घटे नीलत्वादिविशिष्टादिव द्रव्यत्वादिविशिष्टादपि भेदस्य पूर्वोक्तयुक्तिभिर्व्यवस्थापितत्वात्, 'तद्वटः तद्वटवा'नित्याकारकस्य तद्व-

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

तथासति द्रव्यत्वेऽप्यस्यावाधेन द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वविशिष्टबुद्धिप्रसङ्गादवस्थापते; तथाच पूर्वोक्तरीत्यैव द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वविशिष्टबुद्धिवारणे 'अथवेति' कल्पवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; भेदस्य प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिव्यावृत्ततया द्रव्यत्वतदुपहितोभयप्रतियोगिकभेदस्यापि द्रव्यत्व एव प्रतियोगितावच्छेदकताया उपगमेन द्रव्यत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकशून्ये द्रव्यत्वोपहिते द्रव्यत्वभेदस्य सत्त्वेन पूर्वरित्या द्रव्यत्वविशिष्टबुद्धेर्दुर्वारतया 'अथवे'तिकल्पसार्थक्यात् । अतएव प्रतियोगितावच्छेदकद्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वोपहिते भानादेव द्रव्यत्वं न द्रव्यं इत्यादि प्रत्ययोपपत्तिरिति दिक् । **भेदानुयोगितापि** घटत्वादिभेदानुयोगितापि । द्रव्यत्वेत्यादिलाघवादित्यन्तस्यानुषङ्गः । यद्वा—**भेदानुयोगितापीति** । द्रव्यत्वस्येति वर्तते । घटत्वतदुपहितयोरिति शेषः । एकैव लाघवादित्यपि वर्तते । **तथाच**—उपाधिभेदस्योपहितप्रतियोगिकत्वे उपाध्युपहितानुयोगिकत्वे च । **अनुभवे** द्रव्यत्वं न घटत्वं इत्याद्याकारकानुभवे । **तस्यैवेति** । यथा अस्यानुभवसिद्धत्वं तथा द्रव्यत्वोपहितानुयोगिकघटत्वोपहितप्रतियोगिक औपाधिकभेदोऽप्यनुभवसिद्ध एवेति भावः । **घटत्वतदुपहितप्रतियोगिताकतयेति** । तदुपहितेति घटत्वोपहितप्रतियोगिकतयेत्यर्थः । **ननु** घटत्वोपहितमात्रप्रतियोगिकभेदभानेनैव घटो घट इति प्रमावारणे किं द्रव्यं घट इति बुद्धौ उभयप्रतियोगिकैकभेदात्मकौपाधिकभेदभानेनेति—**चेत्, शृणु** । तादृशबुद्धौ हि द्रव्यत्वोपहिते धर्मिणि घटत्वोपहितस्य स्वातन्त्र्येण, घटत्वस्य च पारतन्त्र्येण भानम् । तथाच तयोर्भेदभानमावश्यकम् । तत्र चैकैकमात्रप्रतियोगिकभेदद्वयभाने गौरवादुभयप्रतियोगिकतया एक एव भेदो भासते । अतएव द्रव्यं घटो घटत्ववच्चेति स्वातन्त्र्येण घटत्वावगाहिज्ञानादुक्तज्ञानस्य विषयवैलक्षण्यं निर्वहति । उक्तभेदद्वयस्य तत्र भानोपगमात् । एवं तादृशोभयप्रतियोगिकैकभेदस्य द्रव्यत्वोपहिते भासमानस्य द्रव्यत्वेऽपि भानावश्यकत्वेनोभयवृत्त्येकानुयोगिकत्वस्यैव भानमिति ॥ ग्रन्थकारेण तूपहितमात्रप्रतियोगिको भेद उपाधिभेदातिरिक्तो न कण्ठोक्तः; अतस्तस्योपाधिभेदस्यैव उपहितप्रतियोगिकतया भानं घटो घट इत्यस्य प्रमात्ववारणाय द्रव्यं घटः इत्यस्य प्रमात्वाय चावश्यकम् । परंतु द्रव्यत्वं नेति प्रत्ययोपपत्तिश्चिन्त्येति ध्येयम् ।—**ननु** इदमेव भेदस्यौपाधिकत्वम् यदुपाध्युपहितोभयनिष्ठोपाधिवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तच्च न युक्तम्; न्यूनवृत्तिरुपाधिमात्रवृत्तिधर्मस्योभयवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वासंभवात्, इत्यत आह—**औपाधिकेति** । **ननु** यदि द्रव्यं घटः इत्यभेदसंसर्गकबुद्धौ घटत्वभेद एव भासते, तर्हि तस्य घटाभेदाविरोधितया द्रव्यत्वोपहित एव भानसंभवे किमिति सामानाधिकरण्याघटकतया भेदभानं पूर्वमुक्तमित्यत आह—**द्रव्यत्वोपहितानुयोगिकतयेति** । **तद्भाने** घटत्वभेदभाने । **विशिष्टेति** । अभेदसंबन्धेनेत्यादिः—**विशेष्यविशेषणेति** । अभेदसंसर्गके विशिष्टज्ञाने न भानस्यावश्यकत्वेऽपि न क्षतिः ।—**विनिगमकाभावादिति** । उपहितभेदभानोपगमेनापि एकधर्मविशिष्टयोस्तादात्म्येन विशिष्टज्ञाने प्रमात्ववारणसंभवादिति भावः । **उक्तानुभवस्य** द्रव्यं घट इत्यस्य । **उपाध्योः** द्रव्यत्वघटत्वयोः । **ननूपाध्योरिवेति** दृष्टान्तासङ्गतिः, तद्भेदे द्रव्यत्वं घटत्वं नेत्यनुभवस्यैव मानत्वादित्यत आह—**अनुभवान्तरस्येति** । **शुद्धेति** । उक्तानुभवान्तरं नु द्रव्यत्वोपहिते घटत्वत्वोपहितभेदमेवावगाहत इति भावः । **ननु** तर्हि केवले घटे घटत्वविशिष्टभेदे किं भानम्, नहि तत्र द्रव्यत्वविशिष्टप्रकारः तादात्म्यसंसर्गकोऽनुभवोऽस्तीत्यत आह—**केवलेति** । **पूर्वोक्तयुक्तिभिः** घटत्वोपलक्षितं द्रव्यत्वविशिष्टमित्यनुभवानुमानज्ञानवैलक्षण्यानुपपत्त्यादिभिः । **ननु** द्रव्यं घट इत्यादौ भासमान उपहितभेद उपाधिभेदरूप एव;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

टविशेष्यकस्य विशेष्यविशेषणयोर्भेदाभावे प्रमात्वापत्तेश्च । तस्माद्द्रव्यत्वघटत्वोपहितयोर्भेदस्योक्तानुभवसिद्धत्वात् पूर्वोक्तानुयोगिताविशेषस्याप्रामाणिकत्वात् विशिष्टज्ञानमात्रस्य विशेष्यविशेषणभेदविषयकत्वमव्याहतम् । नचैवं—“घटो द्रव्यं न”त्यादिधीरपि प्रमा स्यादिति—वाच्यम्; नञ्भेदादिपदाभिलष्यज्ञाने तादात्म्यविरोधित्वविशिष्टभेदस्य विषयत्वात् । अतएव वृक्षे कृष्णसंयोगो नेत्यादिज्ञानेऽपि कृष्णसंयोगविरोध्यत्यन्ताभावस्यैव विषयत्वम् । नञादिपदस्य विरोध्यभावबोधकत्वेन तेनैव तादृशाभावज्ञानस्यैवाभिलापात्, विरोधस्य पदानुपस्थाप्यत्वेऽपि संसर्गविधया भानसंभवात् । अतएव विरोधित्वमेकावच्छेदेनैकाधिकरणवृत्तित्वरूपम् । अतएव उक्तज्ञानोत्तरं घटो द्रव्यमित्यादिज्ञानस्य नोत्पत्तिः, प्रतियोगिसामानाधिकरण्यरूपाव्याप्यवृत्तित्वविशिष्टसंयोगाद्यभावज्ञानस्य तु नञ्पदानभिलष्यतया न

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तथाच कथं विनिगमकाभावः? द्वयोर्हि सः इति चेत्, न; भासमानभेदस्योपाधिप्रतियोगिकत्वं उपहितप्रतियोगिकत्वं वेति संभवात् । विशेष्यविशेषणयोर्भेदाभावे युक्त्यन्तरमाह—तद्वद्वानिति । तद्वद्विशेष्यकस्येति । तादात्म्यसंसर्गकज्ञानस्येति शेषः, शङ्कायास्तन्मात्रविषयत्वात् । संयोगादिसंसर्गकज्ञानस्याभिमतत्वे घटस्तद्वद्वानिति स धर्मितावच्छेदकज्ञानोपेक्षाया निर्वाजत्वापाताच्च । तादात्म्यसंसर्गकं तु घटस्तद्वद्वद्व इति सधर्मितावच्छेदकमिष्यत एव, निर्धर्मितावच्छेदकं परं तद्वद्वानिति नेष्यत इति बोध्यम् । ननु—इदं ज्ञानं केवले तद्वदे तद्वक्तित्वविशिष्टतद्वद्वप्रकारकम्, तथाच केवले विशिष्टभेदस्य व्यवस्थापनात् विशेष्ये विशेषणभेदभानोपगमेनापि नैतस्य प्रमात्वापत्तिवारणं—इति चेन्न; विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या तद्वक्तित्वोपलक्षितघटस्यैवात्र प्रकारत्वात् । उपसंहरति—तस्मादिति । संयोगादिसंसर्गस्य घटस्तद्वद्वानिति ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिवारणानुरोधादित्यर्थः । अन्यथासिद्धिनिरासं स्मारयति—पूर्वोक्तेति । बाधकनिरासं स्मारयति—द्रव्यत्वेति । एवं घटत्वोपहिते औपाधिके द्रव्यत्वोपहितभेदोपगमे । तादात्म्यविरोधित्वविशिष्टभेदस्येति । तादृशश्चानौपाधिक एव भेद इति न तादृशज्ञानस्य प्रमात्वमिति भावः । ननु भेदे अत्यन्ताभावे चाभावत्वेन नञः शक्तिरेकैव; लाघवात्, तथाचात्यन्ताभावेऽपि प्रतियोगिविरोधभानं वाच्यम्, तच्च न संभवति; अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावे प्रतियोगिविरोधस्य बाधेन भानासंभवात्, इत्याशङ्कावच्छेदघटितविरोधं निर्वक्ष्यन् तत्रापि प्रतियोगिविरोधभानं व्यवस्थापयति—अतएवेति । अतएव प्रतियोगिविरोधित्वविशिष्टाभावस्यैव नञ्पदाभिलष्यज्ञानविषयत्वादेव ।—कृष्णेति “साङ्ख्यं पारिहासं वा” इति स्मार्तन्यायमनुसन्धाय । ननु नञः प्रतियोगिविरोध्यभावज्ञानस्यैवाभिलापकत्वं कथं, विरोधस्य नञर्थवानवच्छेदकत्वात् इत्यत आह—नञादीति । बोधकत्वेन शाब्दबोधौपयिकाकाङ्क्षाशालित्वेन । तेन नञा । ननु पदानुपस्थाप्यस्य विरोधस्याकाङ्क्षामात्रात् कथं शाब्दविषयत्वम्, अत आह—विरोधस्येति । संसर्गविधयेति । प्रतियोगिविरोधित्वरूपत्वेन स्वरूपसंबन्धस्याभावबुद्धौ संसर्गतेति भावः । यद्वा—द्रव्यं न इत्यादौ नञर्थं प्रतियोग्यनुयोगिभावेन संबन्धेन प्रतियोगिनो भानं सर्वमतसिद्धम्; स च संबन्धः केषांचिन्मते विरोधरूपः, स्वरूपविशेष एवेति मतेऽपि विरोधविशिष्टस्वरूपविशेषस्यैवाभावे प्रतियोगिसंसर्गत्वसंभवः; एवंच प्रकारकोटावपि विरोधस्य संसर्गत्वं संभवतीति बोध्यम् । ननु तर्हि वृक्षे न कृष्णसंयोग इति धियः प्रमात्वं न स्यात्, कृष्णसंयोगवति तद्विरोधितदभावस्य बाधात् इत्याशङ्कां निरस्यति—अतएवेति । उक्तधियः प्रमात्वादेवेत्यर्थः । ननु वस्तुगत्या यो द्रव्यतादात्म्यविरोधवान् द्रव्यभेदः तद्विषयता घटो न द्रव्यमिति प्रत्ययस्योपगन्तव्या, तावतापि तस्य प्रमात्ववारणादिति किमुक्तविरोधस्य तद्विषयत्वोपगमेनेत्यत आह—अतएवेति । घटो न द्रव्यमिति ज्ञानस्य द्रव्यतादात्म्यविरोधित्वविशिष्टद्रव्यभेदविषयकत्वादेवेत्यर्थः । विरोधस्य तद्विषयतानुपगमे द्रव्यभेदवत्त्वेन घटत्वाद्यवगाहिनो ज्ञानस्य घटो द्रव्यमिति ज्ञानप्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिः, रूपान्तरेणानौपाधिकद्रव्यभेदावगाहिनो ज्ञानस्योक्तप्रतिबन्धकत्वापत्तिश्चेत्यतो द्रव्यभेदत्वावच्छिन्नविषयकनिश्चयत्वेन तत्प्रतिबन्धकता वाच्या, सा च न युक्ता; द्रव्यभेदत्वस्यौपाधिकद्रव्यभेदसाधारणतया द्रव्यतादात्म्यविरोधितानवच्छेदकत्वात्, विरोधितावच्छेदकरूपावच्छिन्नविषयकत्वस्यैव प्रतिबन्धकतायां तन्नत्वात्, विरोधस्य तद्विषयतोपगमेतु द्रव्यतादात्म्यविरोधित्वविशिष्टद्रव्यभेदत्वस्य द्रव्यतादात्म्यविरोधितावच्छेदकतया तदवच्छिन्नविषयकत्वेन तत्प्रतिबन्धकता युज्यत इत्युपपद्यमानाः । नचैवं—द्रव्यभेदत्वविषयतायाः प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटिनिवेशो व्यर्थ इति—वाच्यम्; निश्चयत्वादिनिर्वचनायासभयेन तदघटितरूपेणापि स्वतन्त्रप्रतिबन्धकत्वस्योपगन्तव्यत्वात् । एतेन ज्ञानवैशिष्ट्यावच्छिन्नप्रतिबन्धकतया गतार्थत्वमप्यपास्तम् । वस्तुतस्तु—द्रव्यतादात्म्यविरोधविशिष्टस्वरूपत्वावच्छिन्नसंसर्गताकद्रव्यभेदत्वावच्छिन्नप्रकारकनिश्चयत्वेनैव प्रतिबन्धकतेति न किञ्चिच्छङ्कावसर इति—ध्येयम् । नन्वेवं कृष्णसंयोगसमानाधिकरणकृष्णसंयोगाभाववान् वृक्षः इति ज्ञानस्य, वृक्षः कृष्णसंयोगीति ज्ञानप्रतिबन्धकत्वं न स्यात्, कृष्णसंयोगविरोधभानस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संयोगादिविशिष्टधीविरोधित्वम् । अतएव च मूले वृक्षे न कृष्णसंयोग इत्यादिधीरपि मूले वृक्षे कृष्णसंयोग इति ज्ञाने नियमेन विरोधिनी; प्रतियोगिविरोधविशिष्टाभावनिश्चयत्वेनैव विरोधित्वस्वीकारात्, तादृशस्यैव तथात्वेन सर्वानुभाविकत्वात् । अतएव च भूतले घटोऽस्ति न वेति संशयनिवृत्तये भूतले घटाभावोऽस्तीति न प्रयुज्यते, किंतु भूतले घटो नास्तीति । एतेन—विशिष्टकेवल्योर्भेदे विशिष्टसत्ता सत्ता नेति प्रमा स्यात्—इति शिरोमण्युक्तापत्तिः—अपास्ता । तस्मात् ‘सामानाधिकरण्यप्रत्यये भेदाभेदौ भासेते’ इति वाचस्पत्युक्तिर्युक्तैव ॥ तत्र भेदो भेदत्वरूपाखण्डधर्मविशिष्टो भावोऽभावो वा यथासंभवं बोध्यः । अयं घटान्य इत्यादौ घटान्यस्य भेदो घटान्यत्वभेद एव; उपहितभेदस्योपाधिभेदात्मकत्वमित्युक्तत्वात् । तथाच तस्याभावप्रतियोगिकाभावत्वेनाधिकरणात्मकत्वादिदन्तवनिष्ठत्वेनेदन्तरूपत्वात् भावरूप एव सः । ‘अयं घट’ इत्यादौ घटादिभेदोऽभावरूपः । अभेदस्तु तादात्म्यम् । तादात्म्यत्वं चाखण्डधर्मविशेष एव । ननु—तथापि तादात्म्यं न विशेषणस्वरूपं, द्रव्यं घट इत्यादौ द्रव्यत्वोपहितस्य विशेष्यस्यापि विनिगमकाभावेन तादात्म्यत्वापत्तेः, अथ—तस्य पटादिद्रव्येऽपि सत्त्वेन तत्रापि घटत्वोपहितप्रकारकज्ञानस्य भ्रमत्वा-नापत्त्या न तादात्म्यत्वापत्तिरिति—चेत्, सत्यम्; तथापि विशेषणस्वरूपघटाद्यसंबद्धपटादेरपि तत्तादात्म्यता स्यात्; विशेषणस्वरूपस्यापि तदसंबद्धत्वेन विनिगमकाभावात्, नह्यल्यन्ताभेदे संबद्धता संभवति; घटो घट इत्यादिप्रत्ययाभावात् । किंच स्वं न स्वीयमित्यनुभवेन स्वप्रतियोगिकत्वस्य स्वस्मिन्नसंभवेन विशेषणस्य न स्वप्रतियोगिकतादात्म्यत्वसंभवः । अथ—आस्तां विशेषणतावच्छेदकघटत्वादेर्घटादितादात्म्यता—इति चेन्न; शुद्धघटत्वादिविशेषणस्थले तदसंभवात्, घटत्वत्वादिकमविषयीकृत्यैवायं घट इत्यादिवृद्धदयात्, तद्वक्तित्वस्य विशेषणतावच्छेदकत्वस्थले रूपरसाद्यनेक-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तद्वीजस्य तत्रासंभवादित्याशङ्कां इष्टापत्त्या परिहरति—प्रतियोगीति नञ्पदानभिलप्यतयेति । नञ्पदस्य प्रतियोगि-विरोध्यभावबोधकत्वेनेत्यादिः । तदभिलप्यज्ञानस्यैव प्रतियोगिज्ञानविरोधित्वादिति भावः । (यद्वा—नञ्पदस्य प्रतियोगिविरो-ध्यभावबोधकत्वे युक्त्यन्तरमाह—प्रतियोगीति । तस्य तदबोधकत्वे प्रतियोगिसामानाधिकरण्यविशिष्टाभावज्ञानस्यापि नञ्पदाभिलप्यतापत्त्या तस्य प्रतियोगिविशिष्टबुद्धिविरोधित्वं दुर्वारं स्यात्, नञ्पदाभिलप्यज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानविरोधिताया आनुभाविकत्वादिति भावः । केचित्तु—अतएवचेति । नञ्पदाभिलप्यज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानविरोधित्वादेव चेत्यर्थः । नञ्पदानभिलप्यतदभिलप्यत्वयोः को विशेषः ? यत् तस्यैव प्रतियोगिज्ञानविरोधित्वम् अत आह—प्रतियोगिविरोधवि-शिष्टेति विरोधपदघटितः पाठः । तादृशनिश्चयत्वं नञ्पदानभिलप्ये कुतो नेत्यत आह—तादृशस्यैवेति । नञ्पदाभिलप्य-स्यैवेत्यर्थः । तथात्वेन तादृशनिश्चयत्वेन । अथवा—विरोधविषयस्यापि कुतो न विरोधितेत्यत आह—तादृशस्यैवेति । प्रतियोगिविरोधविशिष्टाभावविषयकस्यैवेत्यर्थः । तथात्वेन प्रतियोगिज्ञानविरोधित्वेन । अत्र प्रतिबध्यप्रतिबन्धकप्रहयो ‘मूले’ इत्येकावच्छेदकोल्लेखः प्रतियोग्यभावयोः विरोधलाभाय । अत्र नञोघटनम् ? । ननु—वृक्षः प्रतियोगिसामानाधिकरणकृष्ण-संयोगाभाववानिति ज्ञानमपि अभावपदघटितं नञ्पदाभिलप्यमेवेति कुतो न तस्य विरोधिता—इति चेन्न; असमस्तनञ्प-दाभिलप्यस्यैव विरोधित्वमित्यभिप्रायात् ।—अतएवचेति । असमस्तनञ्पदाभिलप्यस्यैव प्रतियोगिविरोध्यभावनिश्चयत्वेन प्रतियोगिज्ञानविरोधित्वादेव चेत्यर्थः ।—नास्तीति । प्रयुज्यत इत्यनुपज्ञः । एतेन नञः प्रतियोगितादात्म्यविरोध-विशिष्टभेदबोधकत्वनियमेन । उपसंहरति—तस्मादिति । भेदभेदपदार्थौ विवेचयति—तत्रेति । अधिकरणात्म-कत्वादिति । अधिकरणस्य आत्मा स्वरूपम्, अधिकरणतावच्छेदकीभूतो धर्मः, तद्रूपत्वादित्यर्थः । तदाह—इदंनिष्ठत्वेनेति । वाकाराभावेन यथाश्रुतासङ्गतेः । एतेन—अभेद आधाराधेयभावः कथमिति शङ्का—परास्ता । अभेदो यद्यपि भेदाभावः, भावाभावयोरवच्छेदकभेदं विना विरोधादिति पूर्वमुक्तेः; तथापि भेदाभावरूपोऽपि स न भावभिन्नसप्तमपदार्थरूपः, किंतु भावरूप इत्याह—अभेदस्तु तादात्म्यमिति । भेदाभावस्य प्रतियोगितादात्म्यरूपता तार्किकाणामप्यनुमतैव । इयांस्तु विशेषः—यत्तेषां प्रतियोगितादात्म्यं केषांचित् प्रतियोगिरूपं, केषांचित् प्रतियोगितावच्छे-दकरूपम्, एतेषां तु तदतिरिक्तमित्याह—तादात्म्यंचेति । तस्य द्रव्यत्वोपहितरूपविशेषस्य । तत्रापि घटादिद्रव्येऽपि । नेति । तस्येत्यादिः । नन्वल्यन्ताभेदेऽपि संबद्धता उपेयते, घटो घट इति प्रत्ययस्तु न, धर्मितावच्छेदकतासंबन्धेन घटत्वोपहितप्रकारकबुद्धौ घटत्वभेदस्य हेतुलोपगमादित्यत आह—किंचेति । ननु विशेषणतावच्छेदकविधया घटत्वस्य अयं घट इति बुद्धावविषयत्वेऽपि संसर्गविधया तद्विषयत्वं तस्यास्तामित्याशङ्का घटत्वविशेषणतास्थल एव घटत्वस्य तादात्म्यरूपत्वं दुर्घटमित्याह—तद्वक्तित्वस्येति । अयं तद्वक्तित्वरित्यादित्यादिः । रूपरसेति विनिगमनाविरहेणेत्यादिः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मरूपस्य तद्व्यक्तित्वस्य तद्व्यक्तितादात्म्यत्वकल्पने गौरवात्तद्व्यक्त्युत्पत्तिकालावच्छेदेन रूपादेस्तद्व्यक्तावभावाच्च, तदन्य-
स्यैव तत्कालावस्थायिनस्तत्कल्पनाया आवश्यकत्वेन, घटत्वादेर्विशेषणतावच्छेदकत्वस्थलेऽपि तादृशतादात्म्यभानसंभवेन
घटत्वादेस्तादात्म्यत्वाश्रयत्वकल्पने गौरवान्मानाभावाच्च । अथ—घटादेस्तादात्म्यं तत्स्वरूपमेव, अभावादेः स्वरूप-
स्यैवाधिकरणे संबन्धत्वदर्शनात्, स्वरूपस्यापि संबन्धत्वोपपत्तेः, उक्तंच बौद्धाधिकारे शिरोमणिना—‘ज्ञानस्य
स्वरूपमपि विषयतानामकस्तत्संबन्धः, अभावाधिकरणयोः स्वरूपवत्—इति चेन्न; स्वं न स्वीयमित्याद्युक्तानुपपत्तेः,
अभावाधिकरणयोरपि स्वरूपान्यस्यैव संबन्धत्वात् । अतएव विषयतापि न ज्ञानस्वरूपेति तत्रैव तेनैव पश्चादुक्तम् ।
अथ—घटादिविशेषणस्वरूपस्यापि तादात्म्यत्वरूपेण घटादितो भेदसंभवेन घटादिप्रतियोगिकत्वसंभवात्तदीयतादात्म्य-
त्वमुपपद्यत—इति चेन्न; घटादौ तादात्म्यत्वकल्पनायाः पूर्वं तस्य तत्संबद्धत्वासिद्ध्या तस्या असिद्धेः । नहि घटत्व-
विशिष्टप्रतियोगिकतादात्म्यत्वसिद्धेः पूर्वं तादात्म्येन तत्संबद्धं किंचित् सिद्धमस्ति, येन तत्संबद्धस्य तादात्म्यत्वमात्रं
कल्पयेत् । तथाच भेदे सिद्धे तादात्म्यत्वं कल्प्यं तादात्म्यत्वे क्लृप्ते तदुपहितरूपेण भेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । तस्मा-
त्तादात्म्यत्वमिव तदाश्रयस्तत्र घटादिसंबन्ध इति त्रयमपि क्लृप्तघटादिभ्योऽतिरिक्तं कल्प्यते । तत्र तादात्म्ये तदन्यस्य
घटादिसंबन्धस्य कल्पने अनवस्थानाद्वरं तत्स्वरूपसंबन्धेन घटादिसंबद्धत्वं तस्य स्वीक्रियते; अनवस्थापेक्षया आत्मा-
श्रयस्य युक्तत्वात् । अनवस्थायां हि तादात्म्ये घटस्यैकः संबन्धो वाच्यः; असंबद्धस्य तादात्म्यस्य संबन्धत्वासंभवात्,
एवं तत्रापि घटस्य संबन्धान्तरमेवं तत्रापीत्यादि महागौरवम् । यदि तु तादात्म्यद्वयं घटस्य स्वीक्रियते तयोः परस्पर-
संबद्धता च स्वीक्रियते, तदान्योन्याश्रयः; तत्रापि गौरवं च । यदि तु तादात्म्यत्रयं स्वीकृत्य प्रथमस्य द्वितीयं संब-
न्धस्तस्य तु तृतीयं तस्य तु प्रथममित्युच्यते, तथापि चक्रकं गौरवं च । अथ तादात्म्यमेकं स्वसंबन्धिभ्यामतिरिक्तं तथैव
प्रतीयमानत्वात्कल्प्यते, तदाऽनवस्थापेक्षया लाघवम् । अतः स्वस्यैव स्वं प्रति संबन्धत्वादात्माश्रयोऽपि स्वीक्रियते ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

गौरवात् अभावाच्चेति द्वयमप्यावश्यकत्वेनेत्यत्रान्वेति । प्रामाणिकं गौरवं न दोषायेत्यत आह—तद्व्यक्त्युत्पत्तिकाला-
वावच्छिन्नेति । अभावाच्चेति एतकाले इदानीमियं तद्व्यक्तिरिति प्रत्ययानुपपत्तेरिति शेषः । अन्यस्य अस्मदमिम-
ततादात्म्यस्य । तत्कल्पनायाः तादात्म्यकल्पनायाः । ननु मानसिद्धं गौरवं न दोषायेत्यत आह—मानाभावाच्चेति ।
अन्यथोपपत्तेरिति भावः । ननु स्वं न स्वीयमित्यनुभवेन स्वस्य स्वप्रतियोगिकसंबन्धता कथमित्यत आह—अभावादे-
रिति । तथाच सोऽनुभवोऽलीकएवेत्यभिमानः । तादृशानुभवापलापापेक्षया अभावस्थलेऽपि स्वरूपान्यस्यैव संबन्धत्वकल्पना
युक्तेति मनसिक्लृप्त्य समाधत्ते—न स्वं नेति । तर्हि ज्ञानस्य स्वरूपं तत्संबन्ध इति कथं शिरोमणिनोक्तम्, अतआह—
अतएवेति । स्वरूपस्य संबन्धत्वासंभवादेवेत्यर्थः ।—पश्चादुक्तमिति । पूर्वं तदुक्तिस्तु शङ्कारूपा मतान्तरोपन्यासरूपा
वेति न पूर्वोक्तविरोध इति भावः ।—घटादिप्रतियोगिकत्वेति । भेदनिबन्धनेत्यादिः । तत्संबन्धे तु न तत्कल्पनेति
भावः । तस्याः तादात्म्यत्वकल्पनायाः । ननु—घटादौ तादात्म्यत्वकल्पनायाः पूर्वं तत्संबन्धत्वं कुतो न सिद्धमित्याशङ्क्य
घटप्रतियोगिकतादात्म्यासिद्धेरित्याशयेन समाधत्ते—नहीति । किंचित् घटादिकम् । ननु—तादात्म्यत्वकल्पना
स्वोत्तरभाविषिद्धिकभेदसिद्ध्युत्तरभाविषिद्धिके तादात्म्येन घटसंबद्धे घटेऽस्तु, को दोष इत्यत आह—तथाचेति ।
अन्योन्याश्रय इति । दोष इति शेषः । उपसंहरति—तस्मादिति । तादात्म्यत्वस्य सर्वमतेऽतिरिक्ततया दृष्टान्तता ।
तत्र तादात्म्ये ।—घटादिसंबन्ध इति । तदनङ्गीकारे घटादितुल्यतापत्त्या घटीयसंबन्धतानुपपत्तेः । ननु तादात्म्ये
घटसंबन्धः तत्तादात्म्यान्यश्चेत् तत्राप्यन्य इति रीत्याऽनवस्था, तत्तादात्म्यमेव चेत् आत्माश्रयः, तत्र किं स्वीक्रियते,
तत्राह—तत्रेति ।—घटादिसंबद्धत्वमिति । अतिरिक्तत्वेनाभ्युपगम्यत इत्यर्थः । ननु तादात्म्यद्वयमुपगम्यताम्,
अनवस्थात्माश्रययोरभावात्, इत्यत आह—यदित्विति । परस्परसंबन्धताचेति । एकं तादात्म्यमिदमादौ घटस्य
संबन्ध उपेयः । तत्त्वस्य तत्र सिद्धये तत्र घटीयसंबन्धः तादात्म्यानन्तरम्; तत्र घटीयसंबन्धत्वसिद्धिस्तु प्रथमतादात्म्येन
घटसंबद्धत्वोपगमादिति भावः । तर्हि तत्रायमस्तु, उक्तदोषाणामभावादित्यत आह—यदित्विति । उपसंहरति—
तादात्म्यमेकमिति । तस्मादित्यादिः । नन्वेवं विशेषणस्वरूपमेव तादात्म्यमस्तु, नचासंबद्धतया पटादितुल्यता;
तवातिरिक्ततादात्म्यस्यैव विशेषणस्यापि स्वात्मकसंबन्धेन विशेषणसंबद्धत्वोपगमसंभवादित्याशङ्कां परिहरति—तथैवेति ।
स्वस्यैव स्वं प्रति संबन्धत्वादात्माश्रयोऽपि स्वीक्रियत इति क्लृप्तानां विशेषणादीनां संबन्धतानुपपत्त्याऽतिरिक्ततादात्म्यमुप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अतएव बौद्धाधिकारशिरोमणौ घटाभावस्य स्ववृत्तित्वस्वीकारे आत्माश्रयेऽपि लाघवमुक्तम् । तच्च तादात्म्यं घटादौ रूप-
रसादेर्जायते । रूपादीनां नित्यत्वादुत्पत्तिनाशप्रत्ययस्य तादात्म्योत्पत्तिनाशविषयकत्वात् ॥ पाकादिना घटादेर्नाशोत्पत्तिः;
रूपादीनां तादात्म्यस्य वेत्यत्र विनिगमकाभावादिति भट्टादिमतम्, मन्यते त्वविद्यादेः श्रुतियुक्तिसिद्धानादिताकात्
भिन्नं दृश्यमात्रमुत्पत्तिनाशवदिति स्वीक्रियते । 'यावद्विकारं तु विभागो लोकव'दिति न्यायात् । विभागः
तादृशाविद्यादिभेदः । यावद्विकारम्, उत्पत्तिमनतिक्रम्य वर्तते, उत्पत्तिव्याप्य इति यावत् । 'यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते' इति श्रुताविमानि भूतानीति पदाभ्यामात्माविद्यादिभिन्नस्योत्पन्नमात्रस्योक्तेश्च । भूतानीत्युक्ते
उत्पन्नत्वसामानाधिकरण्यमात्रेण ब्रह्मजन्यत्वं लभ्यते इत्यतस्तदवच्छेदेन जन्यतालाभाय इमानीत्युक्तम् । सर्वाणीति
तदर्थः । अथवा भूतानि सत्तादात्म्यवन्ति, ब्रह्मभिन्नानीति यावत् । अविद्याद्यनादिवारणायेमानीति । अविद्याद्यना-
दिभिन्नानीत्यर्थः । विशेष्यतावच्छेदकीभूततादृशविशिष्टधर्मावच्छिन्नत्वस्योत्पत्तिमत्त्वे लाभस्त्वौत्सर्गिकव्युत्पत्त्या भवत्येव ।
तथाच कपालाद्यवच्छेदेन घटादेः घटाद्यवच्छेदेन कपालादेस्तादात्म्यं जायते । परस्पराध्यासोक्तरीत्या जन्यमात्रस्य
तादात्म्यं जायते । यत्तु—कपालघटाभ्यामुपहिता सत्तैव तयोस्तादात्म्यमिति—मतम्, तत्राध्यासिकतादात्म्येनैव
चिद्रूपसत्ताया घटाद्युपहितत्वं वाच्यम्; तथाच कपालघटयोर्यत्तादात्म्यं सत्तायां संबन्धस्तदेव तयोरन्योन्यस्मिन्नपि
संबन्धोऽस्तु; कपालादितादात्म्यापन्नसत्तानुयोगिकस्य घटादितादात्म्यस्य कपालाद्यनुयोगिकत्वसंभवात् सत्तायामे-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

गम्यते । तच्च असंबद्धस्य संबन्धानुपपत्त्या संबन्धान्तरोपगमेऽन्योन्याश्रयादिभयात् गौरवाच्च स्वत एव घटादिसंबद्धमुप-
गम्यते; स्वतोव्यावृत्तविशेषवत् । तत्र चात्माश्रयो दोषो गत्यन्तराभावात् लाघवात् सहाय इति भावः । घटादौ पाकात्पूर्व
श्यामताप्रत्ययो न तूत्तरमिति नियमः, स किं श्यामरूपस्य नाशात्, उत तत्संबन्धभूततादात्म्यस्येति संशये भट्टा-
दिसिद्धान्तमाह—तच्चेति । रूपरसादेरिति । एवंच सर्वसिद्धोत्पत्तिनाशानां घटादीनां कपालादौ नित्यसंबद्धघट-
त्वादीनां घटादौ च तादात्म्यं नित्यमेवेति भावः । ननु पाकादिना घटस्यैव नाशः, न रूपस्य वा रूपतादात्म्यस्य वेत्यत
आह—पाकादिनेति । स्वसिद्धान्तमाह—मन्यतेत्विति । श्रुतिः 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' इत्यादिः । युक्तिः
सर्वभूतोपादानभूतमायाया जन्यत्वे तदुपादानमन्यद्वाच्यम् । तथाचान्योन्याश्रयादिदोषत्रयप्रसङ्ग इति ।—दृश्यमात्र-
मिति । मात्रं कात्तर्यं । तथाच रूपादि घटघटलादि तत्तादात्म्यं चानित्यमेवेति भावः । नन्वविद्यादिभिन्नदृश्यत्वसामा-
नाधिकरण्येनोत्पत्तिनाशावभ्युपगम्यताम्; तावता घटादावुत्पत्तिनाशप्रत्ययोपपत्तेः, तथाच तदवच्छेदेन तदभ्युपगमे किं
मानम्, अत आह—यावद्विकारमिति । सत्रं व्याचष्टे—विभाग इति । उत्पत्तिमिति । नाशस्योपलक्षणमिदम् ।
अनतिक्रम्य वर्तते अतिक्रमात् तद्विना न वर्तते । उत्पत्त्यभाववदवृत्तिरिति यावत् । तदाह—उत्पत्तिव्याप्य इति ।
—यावदिति । अविद्यादिभेदः इत्यादिपदेन ब्रह्मभेदोऽपि ग्राह्यः । तेन ब्रह्मणि न व्यभिचारः । व्याप्तिग्राहकसहचार-
स्थलं दर्शयति—लोकवदिति । लोकदर्शने चाक्षुषप्रत्यक्षसिद्धघटादिवदित्यर्थः । ननु—विभागपदस्याविद्यादिभेदार्थकत्वे
किं मानमिति शङ्कां परिहरन्नविद्यादिभिन्नसामान्यस्योत्पत्त्यादिमत्त्वे मानान्तरमाह—यतो वेति । उत्पन्नमात्रस्येति ।
भूतानीति । भवतिरुत्पत्तिकर्मा । एवं चाविद्यादेरनुत्पत्त्या तद्विन्नस्येत्यर्थलभ्यमिति भावः । मात्रार्थलाभकं विभज्य
दर्शयति—भूतानीत्युक्ते इति । भूतानि सत्तादात्म्यवन्तीति । भू सत्तायां, सत्ता च सद्रूपब्रह्मतादात्म्यमिति
भावः । नन्विमानीति पदस्य सर्वार्थकत्वानुपगमे विधेयोत्पत्तिमत्त्वे उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वस्य कथं लाभ इत्यत
आह—विशेष्यतावच्छेदकेति । एवंच पूर्वकल्पे इमानीतिपदवैयर्थ्यशङ्कैवाखरसवीजमिति भावः ।—मतम् ।
अन्येषां मतं; यथाश्रुते स्वमतविरुद्धं, स्वमताविरोधाय परिष्कर्तुमुपन्यस्यति—यत्त्विति । सत्तैव ब्रह्मसत्तैव । एवकारेण
अतिरिक्तातादात्म्यव्यवच्छेदः । तत्रादौ यथाश्रुते तन्मतापेक्षया स्वमतस्य लाघवेन युक्तत्वाह—तत्रेत्यादिना
लाघवादित्यन्तेन । तदनुरोधेन कपालोपहितसत्तेत्यत्रो(प)हितपदस्य विशिष्टपरत्वमिति भावः । कपालं विशेषणमेव ।
अतएव "यद्विशिष्टे" इति वक्ष्यति । नच तस्याध्यासाधिष्ठानत्वापत्तिः; तदवच्छेदकत्वमात्रेणापि विशेष्यान्वय्यधिष्ठा-
नत्वान्वयोपपत्तेरिति । अध्यासिकतादात्म्यसंभवार्थं चिद्रूपेति ।—यत्तादात्म्यमिति । अतिरिक्तमिति शेषः । ननु
घटकपालादिप्रतियोगिकसत्तानुयोगिकतादात्म्यस्य कथं कपालघटाद्यनुयोगिकत्वम्, अत आह—कपालादीति । ननु
विशेषण एव विशेष्यान्वयित्वं, न तूपाधौ; अन्यथा तयोरविशेषापत्तेः । नच कपालादिविशेषणं; सत्ताया इव तस्या
अपि घटाध्यासाधिष्ठानतापत्तेः, जडस्य तदनुपगमेनेष्टापत्तेरयोगादित्यत आह—सत्तायामिति । लाघवादिति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कानुयोगिकत्वापरप्रतियोगिकत्वयोस्तादात्म्यत्वस्य च कल्पनापेक्षया एकप्रतियोगिकतया कृते तादात्म्ये अपरानुयोगिकत्वमात्रस्य कल्पने लाघवात् । तस्मादयमाशयस्तत्रोच्यते, उक्तरीत्या कपालघटयोस्तादात्म्यसंबन्धस्वीकारे एकघट-निष्ठानां रूपरसादीनामपि मिथस्तादात्म्यापत्तिः; तेषामपि परस्परोपहिताया एकसत्तायाः स्वीकारात्, अतो यद्विशिष्टे सत्तारूपाधिष्ठानचैतन्ये आधारीभूते यत्सारोप्यस्य तादात्म्यमारोप्यते, तत्रैव तत्सारोप्यस्य तत्तादात्म्यं स्वीक्रियते; विशिष्टस्य तदनुयोगित्वेन विशेषणस्यापि तदनुयोगित्वात्, रूपादिविशिष्टे तु चैतन्ये रसादीनां न तादात्म्यमारोप्यते; घटादिविशिष्टचैतन्ये रूपरसादीनां युगपदारोपात् । एवंच कपालोपहितसत्तायां वस्तुगत्या विद्यमानं घटस्य यत्तादात्म्यं तस्य तादात्म्यस्वरूपेणैवोक्तसत्तायामिव कपालेऽपि संबद्धत्वेऽप्युक्तसत्त्वोपहिततादात्म्यस्य स्वरूपपरिचयार्थमुभयोपहितसत्तासंबन्ध इत्युच्यते । उक्तसत्ताया अपि तादृशतादात्म्यरूपसंबन्धपरिचायकत्वात् । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्; उक्तयुक्ते, 'सन् घट' इति प्रत्ययस्येव 'कपालं घट' इति प्रत्ययस्यापि तादात्म्यत्वविशिष्टसंसर्गविषयकत्वस्य सर्वानुभाविकत्वात्, उक्तसंसर्गेणैव घटाद्युत्पत्तौ कपालादेर्लाघवेनोपादानकारणत्वादिकल्पनात्, तादात्म्योपहितसत्तात्वादिविशिष्टसंसर्गेण तदुत्पत्तौ तत्कल्पने गौरवान्मानाभावाच्चेत्यास्तां विस्तरः । तस्मादुक्तरीत्या भेदाभेदयोरविरोधादिकमुपपादनीयम् । वेदान्तदर्शने तु एकाधिकरणकस्वामभावाभावदृष्टान्तेन मूले वक्ष्यमाणः व्यावहारिकयोः प्रपञ्चतदभावयोरविरोध इव भेदाभेदयोरविरोधः । अथवा व्यवहारदशायामेवाऽवयवावयविगुणगुण्यादिभेदस्य विचारेण मिथ्यात्वनिश्चयात्तादृशभेदः प्रातीतिकः, अभेदस्तु व्यावहारिकः, अतो भिन्नसत्ताकत्वेन तयोरविरोध इत्यादियुक्तिरपि

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

एवंचातिरिक्तमेव कपालादौ घटादेस्तादात्म्यं पर्यवसितम्, नतूक्तसत्तारूपं गौरवादिति न यथाश्रुतं तन्मतं युक्तमिति भावः । कथं तर्हि भवतां तन्मताविरोध इत्याशङ्क्य तत् परिष्कुरुते—तस्मादित्यादिना । यथाश्रुतार्थस्य हानाय तत्रातिप्रसङ्गमाह—उक्तरीत्येति । उक्तमतानुसारेणेत्यर्थः । तथाच कपालघटोभयोपहितैकसत्तारूपतादात्म्यसंबन्धस्वीकारे इति सप्तम्यन्तार्थः पर्यवसन्नः । एकघटनिष्ठानां घटात्मकैकोपाध्युपहितचिद्रूपसत्तानिष्ठानाम् । एतेन तादात्म्येन रूपरसोपहितसत्ताया एकत्वं लभ्यते । तादात्म्यापत्तिरिति । तथाच रूपं रस इति प्रतीत्यापत्तिरिति भावः । तत्रैव तद्विशिष्टानुयोगिकमेव, तद्विशेषणानुयोगिकमेवेत्यर्थो वा । ननु कपालादिविशिष्टे चैतन्ये घटादेस्तादात्म्यस्यारोपात् चैतन्यस्य घटादितादात्म्यानुयोगित्वमस्तु, कपालादेस्तत् कुतः इति शङ्कां निरस्यति—रूपादीति । आरोप्यत इति । अतो रूपादौ न रसादितादात्म्यमिति शेषः । घटादौ रूपादितादात्म्ये युक्तिमाह—घटादीति । नन्वेवं कपालोपाधिकसत्तानिष्ठं घटीयतादात्म्यमेव कपाले घटस्य संबन्ध इति पर्यवसितम्; तथाच कपालघटाभ्यामुपहिता सत्तैव तयोस्तादात्म्यमित्युक्तिरसङ्गतैवेत्याशङ्क्य कथंचित्तां सङ्गमयति—एवंचेत्यादि । वस्तुगत्येति । कपालोपहितसत्तानिष्ठत्वस्य संबन्धतावच्छेदककोट्यप्रवेशलाभाय तदाह—तादात्म्यत्वरूपेणैति । एवकारेणोभयोपहितसत्तात्वव्यवच्छेदः । उक्तसत्तायां कपालोपहितसत्तायाम् ।—उक्तसत्त्वोपहिततादात्म्येति । कपालोपहितसत्तानिष्ठत्वोपहिततादात्म्येत्यर्थः । नन्वनयोक्त्या कथं तादृशतादात्म्यस्वरूपपरिचयः, उक्तसत्तात्वरूपपरिचायकस्य तादृशतादात्म्ये सत्त्वादत आह—उक्तसत्ताया अपीति । घटीयतादात्म्यरूपसंबन्धस्याप्याध्यासिकपदार्थभूतस्य वस्तुगत्या कपालघटोभयोपहितसत्तारूपाधिष्ठानचैतन्ये तादात्म्येनाध्यस्ततया कपालघटोभयोपहितसत्ताया घटीयतादात्म्यरूपसंबन्धेन भेदात् तादृशसंबन्धस्योक्तसत्तात्वरूपपरिचायकरूपाश्रयत्वमिति भावः । एवंच तन्मतेऽपि कपाले घटीयमतिरिक्तमेव तादात्म्यमिति पर्यवसितमिति न तद्विरोधोऽस्माकमिति भावः । तथापि यथाश्रुतविरोधो दुर्वार एवेत्यत आह—यथाश्रुतं त्विति । उक्तयुक्तेः रूपरसयोस्तादात्म्योपपत्तेः । ननु कपालाद्युपहितसत्तात्वविशिष्टसत्तासंबन्धेन घटं प्रति कपालस्य हेतुतैव लाघवादुचितेति वाच्यम् । कपालं घट इति प्रत्ययस्य कपालोपहितसत्तात्वविशिष्टसंसर्गकत्वोपगमेन कपाले घटीयतादात्म्यस्याप्रामाणिकत्वादिति शङ्कां परिहरति—सन् घट इतीति । सन् घट इति प्रत्यये यथा तादात्म्यत्वविशिष्टसंसर्गकत्वं सर्वैरेवोपगम्यते, तथा तदविशेषात् कपालं घट इत्यत्रापीति भावः । उक्तसंसर्गेण तादात्म्यत्वविशिष्टदर्शनेत्विति । यदि प्रपञ्चतदभावयोः भिन्नसत्ताकत्वादविरोधस्तदा प्रकृतेऽपि तथैवेत्याह—अथवेति । विचारेण घटादिकं कपालादिभ्यो न भिद्यते, तेभ्यः पृथक्त्वेन अनुपलम्भात्; अन्वयेन कपालादिवत्, व्यतिरेकेण घटादिवत् इत्यनुमानेन ।—प्रातीतिक इति । प्रतीतिश्च कपालं घट इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिरूपैव । तत्र भेदभानस्योपपादितत्वात्—इत्यादीति । आदिपदेन भेदत्वभेदाभावत्वाभ्यामेव तयोर्विरोधेन भेदत्वतादात्म्यत्वाभ्यामिति युक्तेरुपसंग्रहः ।

दिति भेदाभेदवादिप्रयोगे तार्किकाद्यङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावपि उद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेरित्या न सिद्धसाधनं, तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनम् । यथा तत्त्वाभेदे घटः कुम्भ इति सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनेन मिलितसिद्धिरुद्देश्या, तथा प्रकृतेऽपि सत्त्वरहिते तुच्छे दृश्यत्वाददर्शनेन मिलितस्य तत्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्येति समानम् ।

सिद्धिन्याख्या ।

भिन्नमिति । साध्ये भिन्नत्वस्य विशेषणस्य तार्किकाङ्गीकृतत्वेन सिद्धत्वेऽपि । उद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेरिति । यथा न सिद्धसाधनमित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकेऽप्याह—तथा प्रकृते सति 'सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्व'-मितिप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनमित्यर्थः । अन्यथा भेदाभेदवादिना तार्किकं प्रति प्रयुक्ते भिन्नाभिन्नमिति साध्ये भिन्नत्वस्य तार्किकैरङ्गीकृतत्वेन तवापि सिद्धसाधनग्रस्तं स्यादिति ध्येयम् ॥ ननु—भेदाभेदानुमानेऽप्रयोजकत्वनिरासाय भिन्नत्वविशेषणस्योद्देश्यता, तथाहि—'गुणादिकं गुण्यादिनाऽभिन्नं समानाधिकृतत्वात्' इत्येव कृतेऽभेदरूपसाध्यवत्यपि घटकलशादावविद्यमानस्य समानाधिकृतत्वादित्यस्याभेदरूपसाध्यव्यभिचरितत्वेनाप्रयोजकता स्यादित्येतदर्थं मिलितसिद्धिरुद्देश्येत्याशङ्क्य प्रकृते सत्त्वाभावमात्रस्य साध्यत्वे सत्त्वाभाववति तुच्छेऽविद्यमानस्य दृश्यत्वस्याप्रयोजकत्वं स्यादित्यतस्तन्माभूदित्यसत्त्वाभावोऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बोद्धा । भेदाभेदवादीति । भट्टसांख्यपातञ्जलादिभिः तार्किकादीन् प्रति क्रियमाणे न्यायप्रयोगे । भिन्नत्वस्य गुणगुण्याद्योभिन्नत्वस्य । सिद्धौ निश्चितत्वे । उद्देश्यप्रतीतेः उक्तप्रयोगतात्पर्यविषयीभूतायाः गुणादौ गुण्यादेर्भेदाभेदोभयवत्ताप्रतीतेरित्यर्थः । प्रकृते उक्तमिध्यात्वसाधकन्यायप्रयोगे । मिलितप्रतीतेः सदसद्भेदादिरूपोभयवत्ताप्रतीतेः । तथा चोभयत्वरूपेणानुमितौ प्रत्येकरूपेण सिद्धेरप्रतिबन्धकत्वात् नोक्तदोष इति भावः । ननु—दृश्यत्वस्य सदन्यसकलनिष्ठत्वेन सदन्यत्वमात्रस्य दृश्यत्वोपपादकत्वेन तदेव साध्यताम्—इत्यत आह—यथाचेत्यादि । अभेदे अत्यन्ताभेदे । सामानाधिकरण्येति । भेदसमानाधिकरणाभेदसंसर्गविषयकेत्यर्थः । मिलितस्य तत्प्रयोजकतयेति । उभयत्वविशिष्टस्य दृश्यत्वोपपादकतयेत्यर्थः । यथा सामानाधिकरण्यप्रतीतिविशेष्यत्वं 'यद्युभयं विनाऽपि स्यात्, तदा घट-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भेदाभेदवादिनः कै इत्यत आह—भेदेति । गुणगुण्योरिति । गुणाद्यनुयोगिकगुण्यादिप्रतियोगिकत्वेत्यर्थः । भूताया इत्यन्तमुद्देश्यपदार्थः । प्रतीतेर्विषयं पूरयति—गुणादाविति । प्रयोग इति । सप्तम्यर्थो मिलितप्रतीत्यन्वयितात्पर्यविषयत्वम् । ननु सद्भेदत्वादिप्रत्येकरूपेणोभयवताऽनुमितावपि प्रत्येकरूपेण सिद्धेः प्रतिबन्धकत्वात् सिद्धसाधनं दुर्वारमित्यत आह—तथाचेति ।—सदन्यसकलनिष्ठत्वेनेति । सदन्यमात्रनिष्ठत्वेनेत्यर्थः । सद्रूपशुद्धब्रह्मण्यसत्त्वेनेति यावत् । एवं च दृश्यत्वे सदन्यत्वव्याप्यतालाभात् सदन्यत्वस्य दृश्यत्वोपपादकत्वोक्तिः सङ्गच्छते, व्यापकस्य व्याप्योपपादकत्वात् । यथाश्रुते दृश्यत्वस्य सदन्यसकलान्तःपातितुच्छेऽसत्त्वेन बाधात्, तावता सदन्यत्वे दृश्यत्वव्याप्यताया लभेऽपि व्याप्यस्य व्यापकोपपादकताया असत्त्वाच्चासङ्गतेः । यद्वा—निष्ठत्वेनेत्यस्य सदवृत्तित्वेनेति शेषः । तेन सदन्यत्वदृश्यत्वयोः समनैयललाभः । तुच्छे तु दृश्यत्वमस्तीत्यभिमानेन चेमामवतारिकामवतार्य मूले सत्त्वरहिते तुच्छे दृश्यत्वाददर्शनेनेत्युक्त्या च तन्निरासः । सदन्यत्वस्य दृश्यत्वोपपादकत्वं तत्प्रयोजकत्वेन वाच्यम् । तच्च न सदन्यत्वमात्रस्य संभवति । तथासति सदन्ये तुच्छे दृश्यत्वापत्तेरिति तद्भावः । मूले—घटः कुम्भ इत्यत्र घटोघट इति वक्तव्ये कुम्भपदं सर्वं शब्दानुविद्धं भासत इत्युपगम्य घटकुम्भादिपर्यायपदानामपि स्वात्मकविभिन्नप्रकारकबोधजनकत्वमिति शाब्दिकमतानादरसूचनाय । घटो नील इत्यादिप्रतीतेः कथं सामानाधिकरण्यविषयकत्वम्, अतो व्याचष्टे—भेदसमानाधिकरण्येति । उभयत्वेति । सद्भेदासद्भेदोभयत्वेत्यर्थः । ननु—दृश्यत्वस्य सद्भेदासद्भेदोभयत्वावच्छिन्नव्याप्यत्वे सत्येव व्यापकीभूतोभयत्वावच्छिन्नस्य दृश्यत्वोपपादकता तत्प्रयोजकतारूपा संभवति, परंतु तादृशव्याप्यत्वमेव दुर्ग्रहं, व्यभिचारशङ्काया दुरुच्छेदत्वादित्यत आह—यथेति । सामानाधिकरण्येति । घटप्रकारकभेदसमानाधिकरणाभेदसंसर्गकेत्यर्थः । उभयं

अतएव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं साध्यमित्यपि साधु । नच—मिलितस्य विशिष्टस्य वा साध्यत्वे तस्य कुत्राप्यप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेषणत्वं, प्रत्येकं सिद्ध्या मिलितस्य

सिद्धिव्याख्या ।

निवेशनीय इति मिलितसिद्धिरुद्देश्येति समानमित्याह—यथाचेति । अतएवेति । उक्तदूषणं निरस्तमिति भावः । नचेति । अस्य वाच्यमित्यनेनान्वयः । मिलितस्येति । अनुमितिविषयस्योभयाभावरूपस्य साध्यस्य विशिष्टस्य वा सत्यसति वैकस्मिन्नधिकरणेऽप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वमित्यर्थः । ननु—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कुम्भयोरपि घटपटयोरपि वा स्या'दिति तर्केण व्याप्तिग्रहादुभयं हेतूपपादकम्, तथा दृश्यत्वं 'यद्युभयं विनाऽपि स्यात्, तदा तुच्छेऽपि ब्रह्मण्यपि वा स्या'दिति तर्केण व्याप्तिग्रहादुभयं तथेति भावः । ननु—उभयस्योपपादकत्वेऽपि प्रत्येकरूपेणैव साध्यतास्तु, 'यदि भिन्नं न स्यात् तदा समानाधिकृतं न स्या'दित्यादेर्दृष्टान्ते, 'यदि सत्स्यात् तदा दृश्यं न स्या'दित्यादेः दार्ष्टान्तिके च प्रत्येकरूपेण व्याप्तिग्रहकस्य तर्कस्य संभवात् । नच—उभयत्वेन रूपेणैकस्यामनुमितौ लाघवाभ्यायप्रयोगोऽप्युभयत्वेनैवेति—वाच्यम्; न्यायप्रयोगोत्तरं प्रत्येकांशप्रयोजकत्वे वादिना शङ्किते प्रत्येकांशतर्कोपन्यासक्रमेण प्रत्येकानुमित्योरुत्पादेन लाघवानवकाशात्—इति चेन्न; प्रत्येकानुमित्योरुत्पादेऽपि तयोः न्यायवाक्यतात्पर्याविषयत्वेनोभयत्वावच्छिन्नविधेयकानुमितेरेवोक्तवाक्यतात्पर्यविषयत्वरूपोद्देश्यत्वेन लाघवानपायात् । नच—'भेदाभेदवत्' 'सदसद्भिन्न'मित्येव प्रयोगोऽस्तु, 'भेदाभेदोभयवत्' 'सद्भेदासद्भेदोभयव'दिति प्रयोगे गौरवादिति—वाच्यम्; सिद्धसाधनदोषस्योक्तत्वेनोक्तलाघवस्यासंभवात् । अतएव बाह्यानसे अनित्ये इति समूहालम्बनानुमितिर्वाङ्मात्रे सिद्धिसत्त्वेऽपि न जायत एवेति नव्यतार्किकाः । अप्रसिद्धविशेषणत्वं विशिष्टस्य साध्यत्वे साध्यविशेषणाप्रसिद्धिः । उभयस्य साध्यत्वे तु साध्यरूपविशेषणस्य काप्यप्रमितत्वमन्वयदृष्टान्ता-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विनापि स्यात् घटीयभेदाभेदोभयाभाववद्वृत्ति स्यात् । घटकुम्भयोरपि स्यात्—कुम्भवृत्ति स्यात् । घटपटवृत्ति स्यात् पटवृत्ति स्यात् । कुम्भघटघटितसाध्यहेतुकस्थले घटवृत्तित्वस्याप्यापाद्यतालाभाय घटपदं । वेति । एवं चापाद्यभेदेन तर्कद्वयमिति भावः । एवमग्रेऽपि । उभयं सदसद्भेदोभयम् ।—तुच्छे इति । तुच्छवृत्तिः स्यात्, ब्रह्मवृत्तिर्वा स्यात् इत्यर्थः । तथा दृश्यत्वरूपहेतूपपादकं । भिन्नं न स्यादिति घटादीत्यादिः । नीलादिकं पक्षः । अभिन्नं न स्यादित्याद्यभेदाभावापादकतर्कान्तरलाभायादिपदम् ।—सत्स्यादिति । असत् स्यादित्यादेः असदापादकतर्कलाभायादिपदम् । इदमुपलक्षणम् । घटादिसामानाधिकरण्यप्रतीतिविशेष्यत्वं यदि घटादिभेदं विनापि स्यात्, तदा कुम्भवृत्ति स्यात्, यदिवा तदभेदं विनाऽपि स्यात् तदापटवृत्तिः स्यादिति तर्को दृष्टान्ते; दृश्यत्वं यदि सद्भेदं विनापि स्यात्, तदाब्रह्मवृत्ति स्यात्, यदि वाऽसद्भेदं विनापि स्यात् तदा तुच्छवृत्ति स्यात् इति च तर्को दार्ष्टान्तिके बोध्यौ । एवं चैकेनानुमानेन सदभेदासद्भेदयोः सिद्धिरिति, व्यर्थमुभयत्वावच्छिन्नसाध्यकानुमानमिति शङ्काभिप्रायः । तत्र शङ्कते—नचेति । न्यायप्रयोगोत्तरमिति । उभयत्वेन न्यायप्रयोगोत्तरमपीत्यर्थः ।—क्रमेणेति । एवं चानुमितिद्वयं दुर्वारमेवेति भावः ।—न्यायवाक्येति । उभयत्वावच्छिन्नसाध्यकत्वादिः । उत्पादेऽपीत्यपिनोभयत्वावच्छिन्नसाध्यकन्यायप्रयोगे प्रत्येकांशप्रयोजकत्वादिशङ्कादेरसांप्रदायिकतया प्रत्येकानुमित्योरुत्पादो नास्तीति सूचितम् ।—उद्देश्यत्वेनेति । अनुद्देश्यानुमित्या अर्थसिद्धिस्तु न वादिविजयायेति भावः ।—लाघवा-नपायादिति । प्रत्येकरूपेण न्यायद्वयप्रयोगं विना प्रत्येकानुमित्योरुद्देश्यत्वासंभवादिति भावः ।—नच भेदाभेदवदिति । तथा चात्र प्रत्येकरूपेणोभयविधेयकैकसमूहालम्बनानुमितेरुद्देश्यत्वेन सिषाधयिषितार्थविषयकत्वेन च तथैव वादिविजयसिद्धौ उभयत्वावच्छिन्नसाध्यकन्यायप्रयोगे पदगौरवमिति भावः । एकैकसिद्धिर्नूतनविषयिणी कथं समूहालम्बनानुमितिं विरुद्ध्यदित्यत आह—अतएवेति । शुद्धतद्धर्मावच्छिन्नोद्देश्यकशुद्धतद्धर्मावच्छिन्नविधेयकशुद्धसंसर्गकानुमितित्वरूपस्य तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकतद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकतत्संसर्गकसिद्धिप्रतिबध्यतावच्छेदकस्य समूहालम्बनानुमितिसाधारण्यादिति भावः । अप्रसिद्धविशेषणत्वं विशिष्टसाध्यकोभयसाध्यकस्थलद्वयसाधारण्येन व्याचष्टे—विशिष्टस्य साध्यत्वे इति । ननु कोऽयं दोष इत्यत आह—अन्वयेति । शशशृङ्गाधनमिति मूलं द्वेधा व्याख्यातुं शङ्कते—नन्विति । ननु निर्धर्मकत्वं कथं

विशिष्टस्य वा साधने, शशीयशृङ्गयोः प्रत्येकं प्रसिद्ध्या शशीयशृङ्गसाधनमपि स्यादिति—वाच्यम्; तथाविधप्रसिद्धेः शुक्तिरूप्य एवोक्तत्वात् । नच—निर्धर्मकत्वात् ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वरूपधर्मद्वयशू-

सिद्धिव्याख्या ।

सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावयोः प्रत्येकं प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणतेत्याशङ्क्याह—प्रत्येकं प्रसिद्धेति । नच—यदि सत्त्वाभावविशेषितासत्त्वाभावरूपविशिष्टसाध्येऽप्रसिद्धविशेषणत्वं, तदा जलादिद्वादशान्योन्याभावविशेषितसमवायान्योन्याभावरूपविशिष्टसाध्यस्याप्रसिद्धत्वेन प्रत्येकान्योन्याभावानां प्रसिद्ध्या साध्यप्रसिद्ध्युपवर्णनं विरुध्येतेति—वाच्यं; नहि पृथिवी इतरभिन्नेत्यत्र जलादिद्वादशभेदविशेषितसमवायभेदरूपं विशिष्टं साध्यं, न वा त्रयोदशान्योन्यभेदानामैकाधिकरण्यं साध्यतावच्छेदकं, येनाप्रसिद्धविशेषणं स्यात्, किंतु स्वाधिकरणे विद्यमानानां त्रयोदशान्योन्याभावानामपेक्षाबुद्धिविषयत्वसमूहालम्बनैकज्ञानोपाकृष्टत्वादिरूपव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नसाध्यताकानां साध्यत्वं, तथाच नाप्रसिद्धिरिति भावः । इदमप्रसिद्धविशेषणत्वमुद्धरति—तथाविधेति । शुक्तिरूप्य एवोभयाभावप्रसिद्धेरुक्तत्वादित्यर्थः । नच—सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वरूपासत्त्वस्याभावे विद्यमानेऽपि वाध्यत्वरूपस्यासत्त्वस्य व्यतिरेको नास्तीति प्रागुक्तमिति—वाच्यं; कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्तत्राप्यस्तीति प्रागेवोक्तत्वादिति भावः ॥ केचित्तु—सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वादूपरसवदित्यनेन सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणत्वम्, नच—तत्र परस्परविरहानात्मकत्वरूपाविरुद्धत्वमुपाधिरिति—वाच्यम्; पक्षे साधनव्यापकत्वात् । नच—पक्षत्वाभिमतसत्त्वासत्त्वयोः प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वादिरूपत्वे, एतदनुमानसाध्यभूतसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वशरीरप्रविष्टाधिकरणशब्दार्थस्याप्येतदनुमानप्रमाणविषयतया प्रा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावेन व्याख्यग्रहपर्यवसितदोषः । शशीयशृङ्गेति । ननु—विशिष्टस्य साधने दूषणमिदम्, मिलितस्य साधने तु दूषणं नोक्तमिति न्यूनतेति—चेन्न; शशीयशृङ्गसाधनमित्यस्यैव हि द्वावर्थौ; शशीयत्वविशिष्टशृङ्गस्य संयोगादिसंबन्धेन साधनमित्येकः, शशीयं शृङ्गं चेति द्वयोस्तादात्म्यसंबन्धेन साधनमित्यन्यः । तथाच तादात्म्यसंबन्धेन तदुभयस्य काप्यज्ञातत्वेन साध्यप्रसिद्ध्या उभयसाधनेऽपि दूषणमेतदेवेति भावः । निर्धर्मकत्वादित्यादि । सत्त्वादिधर्माणां तदुपहिते एव ब्रह्मणि संबन्धः, ननु शुद्धे; धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यस्वीकारेण तत्त्वज्ञानेन धर्माणां नाशे धर्मिणोऽपि नाशापत्तेः । अथ—धर्मिसमानसत्ताकधर्मनाशे सत्येव धर्मिणो नाशः, आरोपितस्य वास्तवधर्मत्वाभावेन तन्नाशेऽपि न धर्मिनाशः, तर्हि शुद्धस्य सत्त्वेऽपि कैवल्ये तत्र धर्माप्रत्ययाच्छुद्धे धर्मो न स्वीक्रियते । तदुक्तमाचार्यैः—‘रागेच्छा सुखदुःखादिबुद्धौ सत्यां प्रवर्तते । सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥’ इति । तस्माद्यथा शुद्धस्य स्वप्रकाशत्वेन न वृत्तिज्ञानविषयत्वादिकं, किंतु तदुपहित एव ब्रह्मणीति वाचस्पतिसंमतं, तथोक्तयुक्तेः सत्त्वादिधर्म-

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

ब्रह्मणः, सत्यंज्ञानमिति श्रुत्युक्तसत्त्वादिधर्माणां तत्र सत्त्वादित्यत आह—सत्त्वादिधर्माणामिति । तदुपहिते सत्त्वाद्युपहिते । अथ धर्माल्यादि तादात्म्येन धर्मधर्मिभाव एवेदम् । यथा नीलत्वावच्छिन्ननाशे घटत्वावच्छिन्ननाशः । नच—घटनाशेऽपि मृदोऽनाशात् व्यभिचार इति—वाच्यम्; घटोपहिताया एव मृदः तद्धर्मित्वात्, तस्याश्च तदानाशादिति भावः । शुद्धसत्त्वेऽपीत्यादि । कैवल्यदशायां शुद्धस्य ब्रह्मणः सत्त्वेऽपि तत्र शुद्धे धर्माप्रत्ययादित्यर्थः । आचार्यैः मूलकारैः श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिः । दुःखादीति कर्तृपदं । सुषुप्तौ तन्नाशे बुद्धेर्विलये, तन्नागादि नास्ति अत्र सुषुप्ताविति दृष्टान्तः, कैवल्ये इति दार्ष्टान्तिकं बोध्यम् ।—बुद्धेस्त्विति । बुद्धेर्बुद्ध्युपहितस्य चेत्यर्थः । आत्मनः शुद्धस्यात्मनः । तदित्यनुपज्यते । नन्विदमनाकरम्, अत आह—तस्माद्यथेति । उक्तयुक्ते; तत्र धर्माप्रत्ययात् ।—तदुपहित एवेति । एतावतैव सत्यं-

सिद्धिव्याख्या ।

माणिकत्वावश्यभावेन बाधः स्यात्, नहीदमनुमानप्रमाणं, तथासति साध्यप्रसिद्ध्यर्थमस्यानुमानस्य परं प्रत्यनुपन्यासप्रसङ्गादिति—वाच्यम्; पक्षत्वाभिमतसत्त्वासत्त्वयोस्त्रिकालाबाध्यत्वस्य कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वादिरूपत्वेनावाधात् । नचैवमेव—ज्ञेयत्वपदप्रतिपाद्यत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी धर्मत्वादिति साधनसौलभ्येन सदसद्विलक्षणस्येव ज्ञेयपदार्थविलक्षणस्यापि सिद्धिप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; अप्रयोजकत्वात्, प्रमाणविरुद्धत्वाच्च, न्यायमते बाधाच्च । अतएव—आत्मत्वानात्मत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी धर्मत्वादिति साधनसौलभ्येन, आत्मत्वमात्मान्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वादिति अनात्मत्वं अनात्मान्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वादिति साधनसौलभ्येन च सदसद्विलक्षणवदात्मानात्मविलक्षणस्यापि सिद्धिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; अप्रयोजकत्वात्, प्रमाणविरोधाच्च । नच—इदमुभयत्र तुल्यमिति—वाच्यम्; अस्मदनुमाने प्रमाणविरोधाभावात्, अप्रयोजकत्वाभावाच्च । अतएव—सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्, रूपवदित्यनुमानेन सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणत्वमित्यपि—साधु; साध्यतावच्छेदकप्रकारेण साध्यप्रसिद्धेरनुमानाङ्गत्वेऽप्युक्तानुमानप्रवृत्त्यनन्तरं सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभाववत्किञ्चित् सिद्धमिति मानसज्ञानसंभवेन तथा तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेः । यद्वा—सत्त्व एव तत्प्रसिद्धिरात्माश्रयदोषेण, स्वस्मिन् स्वस्याभावात् असत्त्वस्याभावाच्च । अथवा—निर्धर्मकब्रह्मण्येव तत्प्रसिद्धिः, नचैवं तद्वदेव सद्रूपत्वेनाभिध्यात्वोपपत्त्याऽर्थान्तरं; सधर्मकत्वेन पक्षविशेषणात् । एवंच सधर्मके प्रपञ्चे सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्टासत्त्वात्यन्ताभावः सिद्ध्यन् पक्षधर्मताबलान्मिध्यात्वमादायैव पर्यवस्यति, नतु सद्रूपत्वमादाय; ब्रह्मवत्सद्रूपत्वे सधर्मकत्वव्याघातात्, न हि ब्रह्मण इव प्रपञ्चस्य सदेव रूपं; सङ्ख्यापरिमाणादिरूपान्तराङ्गीकारादिति । यत्तु—सत्त्वशब्देन प्रामाणिकत्वविवक्षायां सत्त्वे ब्रह्मणि च तस्य परेणाप्यङ्गीकृततया साध्याप्रसिद्धिरिति—तन्न; ब्रह्मणो वस्तुतो निर्धर्मकत्वात्साध्यप्रसिद्धेस्तत्राविकलत्वात् । नच—तथासति ब्रह्मणो नृशृङ्गादिवद्वस्तुतोऽसत्त्वापात इति—वाच्यम्; तथात्वे जगदान्ध्यापत्तेः; किञ्चिद्वस्तु स्वतएव विलक्षणमितिन्यायेन सदसद्रूपत्वोपपत्तेः । नच—ब्रह्मणः सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावस्वीकारे निर्धर्मकत्वव्याघातः तस्याभाववत्त्वरूपत्वेऽपि धर्मवत्त्वाक्षतेरिति—वाच्यम्; निर्धर्मकत्वेनैवाभावरूपधर्मस्याप्यनधिकरणत्वात् । नच—तर्हि सत्त्वानधिकरणत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः, कल्पितसत्त्वस्याङ्गीकारात् । नच—ब्रह्मणि प्रसिद्धमुक्तसाध्यं ब्रह्मातिरिक्तं पारमार्थिकंचेत्, अद्वैतश्रुतिविरोधः, अपसिद्धान्तश्च; अपारमार्थिकंचेत्, जगत्सत्यत्वहानिः; नहि ब्रह्मवौष्ट्याभाव आरोपितः स्वाभाविकौष्ण्यविरोधि तदुचितार्थक्रियाविरोधादिति—वाच्यम्; सत्त्वाभावविशिष्टासत्त्वाभावस्य साध्यत्वेनाभिमतस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाङ्गीकारेणाद्वैतश्रुतिविरोधाभावात् । नच—ब्रह्मण उक्तविशिष्टाभावस्वरूपत्वे सविशेषत्वापत्तिरिति—शङ्क्यम्; स्वरूपत्वोक्त्यैव तन्निषेधात् । नच—सत्त्ववद्ब्रह्मणोऽप्यभावरूपत्वेन भावरूपत्वाभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; घटस्य स्वात्यन्ताभावरूपत्वेऽपि भावत्ववद्ब्रह्मणोऽपि सत्त्वात्यन्ताभावरूपत्वेऽपि भावत्वाविरोधात् । नचैवं—घटात्यन्ताभावस्येव सत्त्वस्यापि ब्रह्मात्यन्ताभावत्वापत्त्या भावत्वानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; परस्परविरहकैकस्वभावस्य घटात्यन्ताभावस्य तथात्वेऽपि अनेवंविधस्य सत्त्वस्य भावत्वोपपत्तेः । नच—उभयोरपि भावरूपत्वे ब्रह्मणः सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वं पारिभाषिकमेव स्यादिति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः, सत्त्वात्यन्ताभावस्वरूपत्वेन वस्तुतस्तद्वत्त्वाभावात् । यत्तु—सधर्मकत्वेन पक्षविशेषणेऽपि ब्रह्मवत्सद्रूपत्वमादायार्थान्तरावारणमिति—तन्न; सद्रूपत्वेन सधर्म-

सिद्धिव्याख्या ।

कत्वव्याहतेः । नच—सद्रूपत्वेऽपि ब्रह्मण इव प्रपञ्चस्य कल्पितधर्ममादाय सधर्मकत्वाविरोध इति—
वाच्यम् ; ब्रह्मणि धर्माभावस्य श्रुत्यादिप्रमितत्वेन वस्तुतो निर्धर्मकतया तत्र धर्माणां कल्पितत्वसंभवेऽपि
प्रपञ्चे तस्याप्रमितत्वेन तत्र कल्पितधर्मैः सधर्मकत्वाविरोधस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अतएव—कल्पित-
संख्यापरिमाणादिरूपान्तरसत्त्वेऽपि प्रपञ्चस्य ब्रह्मण इव सदेव वा स्वमेव वा रूपं यस्येत्यर्थाश्रयणेनाविरोध
इत्यपि—निरस्तम् ; उक्तरीत्या प्रपञ्चस्य कल्पितधर्माश्रयणायोगात् । एतेन—ब्रह्मणः सदेव रूपमिति
कोऽर्थः, किं प्रामाणिकमेव रूपं धर्म इति, किं वा सत्ताजातिमानेव धर्म इति, यद्वाऽबाध्यमेव स्वरूप-
मिति । नाद्यः ; ब्रह्मणो वस्तुतः सविशेषत्वापत्तेः, कल्पितधर्मस्य परेणापि प्रामाणिकत्वास्वीकारात् । न
द्वितीयः ; घटादाविव ब्रह्मण्यपि सत्त्वजातिमत्संख्यापरिमाणादिरूपान्तरावारणात् । न तृतीयः ; सति
ब्रह्मण्यबाध्यत्वरूपधर्मस्य भङ्ग्यन्तरेणाङ्गीकारापत्त्या तस्य निर्धर्मकत्वाभावापत्तेः, नह्यबाधितत्वरूपधर्म
विना ब्रह्मस्वरूपमबाधितमिति स्वीकारो युज्येतेति—निरस्तम् ; प्रथमतृतीयपक्षयोर्दोषाभावात् । यदुक्तं—
ब्रह्मणो वस्तुतः सविशेषत्वापत्तिः ; कल्पितधर्मस्य परेणापि प्रामाणिकत्वास्वीकारादिति—तदयुक्तम् ;
इदं रजतमित्यादिप्रमाणगम्यत्वलक्षणप्रामाणिकत्वस्य शुक्तिरजतेऽप्यस्माभिरप्यङ्गीकारात् । यदपि—
तृतीयपक्षे सति ब्रह्मणीत्यादिनिरस्तमित्यन्तं तन्न ; अबाधितत्वरूपधर्मस्याप्यबाधितत्वधर्मान्तरस्वीकारेऽन-
वस्थानात्तादृशधर्मान्तररहितस्याबाधितत्वस्याङ्गीकारे प्रथममेवाबाधितत्वरूपधर्मरहितमबाधितं ब्रह्मस्वरूप-
मङ्गीक्रियतां, किं तावद्दूरगमनेनेति ? नच—ब्रह्मस्वरूपगताबाध्यत्वरूपधर्मेऽबाध्यत्वरूपधर्मान्तरविरहेऽपि
प्रमेयत्वे प्रमेयत्ववत् स्वरूपभूताबाध्यत्वसत्त्वेन नानवस्थेति—वाच्यम् ; तर्ह्यात्माश्रयदोषापत्तेः । नच—
तस्य सिद्धविषयत्वेनादोष इति—वाच्यम् ; विवादास्पदत्वेन सिद्धविषयत्वाभावात् । नचैवं—प्रमेयत्वा-
दावपि प्रमेयत्वाद्यभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम् ; इष्टापत्तेः ; अन्यथा तत्राप्युक्तदोषतादवस्थ्यापातात् । नापि
दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं ; शुक्तिरूप्यादेः सत्त्वाभाववत्त्वे सत्यसत्त्वाभाववत्त्वस्यावश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात्,
अन्यथा सत्त्वे बाधो न स्यात् ब्रह्मवत् ; असत्त्वेऽपरोक्षत्वं न स्यात् ; शशविषाणवत् ; तस्मात्ख्यातिबाधा-
न्यथानुपपत्त्या दृष्टान्तस्य शुक्तिरूप्यादेः सत्त्वाभाववत्त्वे सत्यसत्त्वाभाववत्त्वं दुर्वारमिति न साध्यवैक-
ल्यम् । नच—तथापि सदसदात्मकत्वमादायार्थान्तरमिति—वाच्यम् ; सदसदात्मकस्य घटादेः सत्त्वा-
सत्त्वाधिकरणत्वेनैव दृष्टतया तदभाववत्त्वाधिकरणत्वाददर्शनात्, नहि नीलपीतात्मकचित्रकम्बलादेः
नीलत्वपीतत्वाधिकरणत्वव्यतिरेकेण नीलाभाववत्त्वे सति पीताभाववत्त्वं दृष्टम् ; न वा नित्यकाम्याग्निहो-
त्रादेर्नित्यत्वकाम्यत्वव्यतिरेकेण नित्यत्वाभाववत्त्वे सति काम्यत्वाभाववत्त्वम् । नचैवं सति—सत्त्वात्य-
न्ताभाववतोऽसत्त्वनियमेन, असत्त्वात्यन्ताभाववतः सत्त्वनियमेनोक्तसाध्यद्वयं सदसद्विलक्षणवस्त्वादाय
पर्यवस्यतीति सुवचमिति—वाच्यम् ; अत्रोभयसंमतदृष्टान्तासंमत्या वैषम्यात् । अतएव—सत्त्वासत्त्व-
रूपधर्मरहितस्यापि ब्रह्मणः सद्रूपत्ववत्तद्रहितस्यापि प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वस्य सदसद्रूपत्वस्य वोपपत्तिरिति—
निरस्तम् ; प्रपञ्चस्य ब्रह्मवत्सद्रूपत्वे मानाभावात्, सत्त्वासत्त्वरूपधर्मरहितस्यापि तस्य सद्रूपत्वमादायार्था-
न्तरत्वशङ्कानवकाशात् । नच—ब्रह्मणोऽपि सद्रूपत्वे मानाभाव इति सुवचमिति—वाच्यम् ; सत्यज्ञानादि-
वाक्यस्यैव तत्र मानत्वात् । नच—तस्य सत्त्वविशिष्टब्रह्मण्येव मानत्वेन तत्स्वरूपपरत्वेऽमानतेति—
वाच्यम् ; अस्मन्मते सत्त्वादेः कल्पितत्वेन तदुलङ्घ्य स्वरूपपरत्व एव मानत्वात्, भवन्मतेऽपि
धर्मधर्मिणोरभेदेन विशिष्टपरत्वे स्वरूपपरत्वस्याप्यावश्यकत्वात् । नच—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’
इत्यादिनेदंशब्दपरामृष्टस्य व्याकृतनामरूपात्मकप्रपञ्चस्य तदत्यन्ताभेदावेदनेन तस्य सद्रूपत्वे मानाभावा-

सिद्धिव्याख्या ।

सिद्धिरिति—वाच्यं; तदत्यन्ताभेदे प्रपञ्चस्य सत्कार्यत्वानुपपत्त्या तत्र श्रुतेस्तात्पर्याभावेनामानत्वात्, सामानाधिकरण्यस्य च शुक्तिकायामिदं रजतमित्यादिवद्वाधायाप्युपपत्तेः । यत्तु—‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति सावधारणेन मृत्तिकाशब्दितप्रकृतेः सद्रूपत्वावेदनेन तदुपादानकप्रपञ्चस्य सद्रूपप्रकृत्यतिरिक्तरूपान्तरासंभवेन तद्रूपकत्वेन सद्रूपताया दुर्निवारत्वम्, ‘तम आसीत्’ इति श्रुत्यन्तराच्च प्रकृतेः सद्रूपत्वं दुर्वारमिति—तन्न; ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति पूर्ववाक्येन विकारशब्दितस्य कार्यजातस्य वागालम्बनमात्रत्वावेदनात् ‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इत्यवधारणेन कार्यसत्त्वव्यवच्छेदाच्च । ‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति वाक्यस्य प्रपञ्चसत्यत्वेऽमानत्वात्, प्रत्युत तन्मिथ्यात्व एव मानत्वाच्च, मृत्तिकाशब्दस्य प्रकृतिपरत्वे मानाभावाच्च । यदपि—‘स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठदशाङ्गुलम्’ इत्यादौ भूमिशब्दस्य ‘आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ ‘तमेवंविद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये’त्युपसंहारे तमश्शब्दितप्रकृतिरूपत्वप्रतिपादानुसारेण प्रकृतिपरत्वावसायात् मृत्तिकाशब्दस्य परेणाप्युपादानपरताया अवश्याश्रयणीयत्वेन लक्षणावश्यकत्वात् जगदुपादानभूतमायापरनामकत्रिगुणात्मकप्रकृतिपरताया एव न्याय्यत्वाच्च मृत्तिकाशब्दः प्रकारवाची; तथाच मृत्तिकाप्रकार एव सत्यो न तु तत्प्रकाररहित आरोपित इत्यवधारणेनारोपितसत्यत्वव्यवच्छेदान्न तेन प्रपञ्चसत्यत्वव्यवच्छेदः क्रियते, प्रत्युत तद्विधीयत इति पर्यवस्यति, मृत्तिकाकार एव क इत्यपेक्षायां ‘वाचारम्भणं विकार’ इति वाक्यं प्रवृत्तम् । तस्यायमर्थः—वाचाया आरम्भणं आलम्बनं प्रवृत्तिनिमित्तं यस्मिन्निति तत्तथोक्तमिति विकारविशेषणम् । लिङ्गव्यत्यय-इच्छान्दसः । स विकारः नाप्रसिद्ध इत्याह—नामेति । पुनः कथंभूत इत्यत आह—धेयमिति । यत्नेन धारणयोग्य इत्यर्थः । इत्येवेति शब्दो हेतौ । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकाहेतोस्तज्जन्यत्वादेव सत्यमवाध्यमित्यर्थः । कार्यस्य कारणानुरूपत्वनियमात् । परेणाप्युपादानसत्यत्व एव श्रुतिः प्रमाणीक्रियत इत्यविवादम् । उपादानं च न ब्रह्म भवितुमर्हति; जगतो जडत्वेन ब्रह्मणस्तदनुरूपत्वाभावात्, प्रकृतिस्तूपादानं भवितुमर्हति उपादानत्वेनोभयवादिनां प्रतिपन्नत्वात्, ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’, ‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्’ इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्, कार्यानुरूपत्वाच्च, मृत्तिकेति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशाच्च, मूलकारणत्वाच्च, ब्रह्मणोऽकर्तृत्वेनादृष्टस्योपादानत्वस्य कल्प्यत्वाच्च, ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः’ (त्र. सू. २-१-१४) इति सूत्रस्यैश्वरातिरिक्तस्वतन्त्रकारणत्वनिराकरणपरत्वेन तदविरोधोपपत्तेश्चेति—तदपि न; वाचारम्भणश्रुतेर्जगन्मिथ्यात्वार्थकत्वात् । तथाहि—विकारो घटशरावादिरूपः, वाचाऽऽरम्भणं आरभ्यत इत्यारम्भणं, वाचा व्यवहारमात्रं, नामधेयं नाममात्रं शब्दव्यतिरेकेण वस्तुतो विकारः कोऽपि नास्ति मिथ्येति यावत्; किं तर्हि सत्यम् । मृत्तिकैव उपादानभूतं ब्रह्मैवेति तदर्थप्रतीतिः । ननु—वाचारम्भणमित्येकं पदम्, अनेकं वा, नाद्यः; वाचारम्भणशब्दस्य मिथ्यात्वे रूढे-रभावात् । द्वितीयेऽप्यारम्भणपदं रूढं, यौगिकं वा । नाद्यः; तत्र प्रमाणाभावात् । न द्वितीयः; आरभ्यत इत्यारम्भणमिति योगेऽपि कृद्योगे ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ (पा. सू. २-३-६५) इति पष्ठ्या एवानुशासनेन तृतीयानुपपत्तिप्रसङ्गात्, ल्युङन्तस्यारम्भणशब्दस्य ल्युटः कर्मण्यननुशासनेन कर्मार्थत्वासंभवाच्च, वाचारब्धकाव्यवाक्यादेरिव मिथ्यात्वालाभाच्च, घटशरावादिरूपमृत्तिकाविकारस्य वागिन्द्रियानारब्धत्वाच्च—इति चेन्न; वाचारम्भणमित्येकं पदं तच्च वाचाशब्दपरम् । तथाच वाचाया आरम्भणम् आलम्बनमात्रमिति मिथ्यात्वसिद्धेरविकलत्वात् । नच—वागालम्बनमिति व्याख्यानेऽप्यश्रुतकल्पना, अक्षरसाम्येन निर्वचनेऽपि मात्रशब्दाश्रवणादिति—वाच्यम्; गत्यन्तराभावेऽश्रुतकल्पनाया अपीष्यमाणत्वान्मात्र-

सिद्धिव्याख्या ।

पदस्थाने वाक्यशेषे श्रूयमाणैवकारस्यानुषङ्गेण वागालम्बनमेवेत्यर्थकल्पनेऽश्रुतकल्पनाया अभावाच्च । नच—
 त्वया नामधेयमित्यस्यापि नाममात्रं ह्येतदिति व्याख्यातत्वेन पौनरुक्त्यमिति—वाच्यम् ; व्याख्यानव्याख्ये-
 यभावेनापौनरुक्त्यात् । नच—इदमनन्यगतिकमिति—वाच्यम् ; इष्टापत्तेः, गत्यन्तराभावाच्च । नच—
 वागिन्द्रियजन्यं नामधेयं; प्राकृतादिशब्दो विकारोऽनित्यो मृत्तिकेत्यादिसंस्कृतनामधेयं सत्यमित्यक्षरार्थः
 संभवतीति—वाच्यम् ; भवन्मते प्राकृतशब्दस्यापि सत्यत्वेन ततो वैषम्यायोगात् । नच—सत्यमित्यस्य
 नित्यमित्यर्थकथनेन वैषम्यमस्तीति—वाच्यम् ; त्वदुक्तार्थपरत्वे उपक्रमे श्रुतस्य मृद्विज्ञानात् तद्विकारस्व-
 रूपपरिज्ञानस्यानुपादानेन 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिनैकवाक्यत्वविरोधापत्तेः । नच—उपक्रमेऽपि
 भाषादिशब्दपरिज्ञाने यत्फलं तच्चाधिकं च सार्वत्रिकव्यवहारादिकं संस्कृतज्ञानाद्भवतीत्युच्यत इति नोक्तदोष
 इति—वाच्यम् ; 'एकेन मृत्पिण्डेन मृण्मयम्' इत्यादिश्रुतिविरोधात्, संस्कृततज्ज्ञानतत्फलवाचकशब्दाना-
 नामश्रुतानां कल्पनीयत्वापत्तेश्च, संस्कृतशब्दाह्लौकिकैर्व्यवहारासंभवेन फलभूयस्त्वायोगाच्च, भाषाऽपरिज्ञाने
 सर्वेण व्यवहारासंभवाच्च, संस्कृतपरिज्ञाने सार्वत्रिकव्यवहारा भवन्तीत्यस्यापूर्वत्वाभावेन श्रुत्यर्थत्वायोगाच्च
 मृत्तिकेत्यस्य शब्दपरत्वे मानाभावाच्च । नच—मृद्विज्ञानेऽपि घटादिसंशयदर्शनात् नत्वभिमतवाक्यार्थोऽपि
 संभवतीति—वाच्यम् ; स्वरूपपरिज्ञानेऽपि कल्पितभेदवद्विकारसंशयस्योपपत्तेः । नच—नामधेयपदस्य
 मृत्तिकेति पदेनाप्यन्वयात्तस्य शब्दपरत्वमिति—वाच्यम् ; अनुषङ्गकल्पने गौरवात् । नच—तवाप्येव-
 कारानुषङ्गस्तुल्य इति—वाच्यम् ; वाचैवारम्भणमिति त्वयापि वक्तव्यत्वात्, इतरथा संस्कृतपदानामपि
 वाचाऽऽरम्भणसत्त्वादिनाशवत्त्वप्रसङ्गादितिशब्दस्य शब्दानुकरणरूपत्वे मृदादिशब्दानामनित्यत्वप्रसङ्गाच्च ।
 नच—मृत्तिकादिशब्दानां विवक्षितत्वाददोष इति—वाच्यम् ; आदिपदाश्रवणात् । नच—निपातानाम-
 नेकार्थत्वादितिपदेन वाचाऽऽरम्भणेतरपदानि गृह्यन्त इति—वाच्यम् ; प्राकृतभाषाप्रबन्धादेरपि तद्व्याकर-
 णादिसापेक्षत्वेन वाङ्मात्रेणानारब्धत्वात्तस्यापि संग्रहापत्तेः । किञ्च, सत्यपदेन नित्यत्वाभिधाने लक्षणा-
 प्रसङ्गान्मुख्यार्थ एव ग्राह्यः, स च तवानिष्टः परमार्थत्वस्यैव सत्यशब्दमुख्यार्थत्वेन संस्कृतस्यैव परमार्थ-
 त्वविधौ भाषादेः श्रुत्यभिमतमिध्यात्वापत्तेः । 'येनाश्रुतं श्रुतम्' इत्यादिनैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय
 प्रपञ्चब्रह्मणोर्भेदेन 'कथं नु भगव' इत्यादिनाऽऽक्षिप्य धर्मसमाधानार्थं 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन'
 इत्यादिवचनं प्रवृत्तं, तेन च त्वदुक्तार्थेन तत्समाधानायोगात्सर्वमेवासङ्गतं स्यादिति । तस्माद्ब्रह्मण इव
 प्रपञ्चस्यापि सद्रूपत्वे मानाभावात् सत्त्वासत्त्वरहित्ये सति सद्रूपत्वमादाय नार्थान्तरम् । एतेन—
 सदसदात्मकत्वमादायार्थान्तरं तस्य दुर्वारमिति—निरस्तम् ; सद्रूपत्वे ब्रह्मवद्वाधाभावापत्तेः प्रपञ्चस्य ।
 नच—एतावन्तं कालं श्रुत्यज्ञानमासीत् 'भ्रम आसीदिति' सद्रूपत्वेनावधितप्रतीतिसिद्ध एवाज्ञानादौ
 ज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपवाधो न दृश्यत इति—वाच्यम् ; सद्रूपत्वाविशेषे नियामकाभावे च ब्रह्मणो ज्ञानाद्वाधापत्तेः ।
 नच—मिध्यात्वाविशेषेऽपि प्रागभावादिसंबन्धो वियदादेव नत्वज्ञानादाविति वत्, सद्रूपत्वाविशेषेऽपि
 ब्रह्मणोऽन्यत्रैव ज्ञानाद्वाधसंबन्धो, नतु ब्रह्मणीति व्यवस्थोपपत्तिरिति—वाच्यम् ; वैधर्म्यात् । मिध्यात्वस्यो-
 भयत्र सिद्धत्वेऽपि सद्रूपत्वाविशेषस्य कल्पनीयतया तस्य व्ययस्थायाश्च कल्पने धर्मधर्म्युभयकल्पनागौरव-
 प्रसङ्गात्, प्रागभावानङ्गीकारमते वियदादौ प्रागभावसंबन्धायोगाच्च, अज्ञानानङ्गीकारवादिमते व्यवस्थाया
 दुर्निरूपत्वाच्च । अतएव—पदार्थत्वाविशेषानृशृङ्गादेरपि प्रतिपन्नोपाधिप्रसङ्गः, तथोत्पत्तिविनाश-
 प्रसङ्गश्चेति—निरस्तम् ; धर्मिणस्तस्यैवाभावात् । अत एवासद्रूपत्वेऽपरोक्षताप्रतीतिर्न स्यादित्यपि सा धु ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धस्तदुपहित एव ब्रह्मणीति सत्त्वादिधर्माभावघटितमिथ्यात्वलक्षणं शुद्धब्रह्मण्यतिव्याप्तिमिति भावः । सद्रूपत्वेन बाध्यत्वाभाववत्त्वेन । तथाच भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽपि ब्रह्मणो बाध्यत्वादिशून्यत्वरूपाभावरूपधर्माश्रयत्वात् नातिव्याप्तिः । नच—उक्ताभावस्य ब्रह्मरूपाधिकरणस्वरूपत्वेन तदभावो ब्रह्मण्यस्येवेति—वाच्यम्; उक्ताभावत्वविशिष्टरूपेण ब्रह्मणि तादात्म्यस्येव भेदस्यापि सत्त्वेन तत्रोक्ताभाववैशिष्ट्यस्यैव संभवेन तदभावासंभवात् । तादात्म्यमेव हि अभावस्याधिकरणवैशिष्ट्यं भट्टादिमते स्वीक्रियते । उक्तं हि न्यायकुसुमाञ्जलौ—‘तादात्म्यमेव परस्य मते अभावाधिकरणयोः संबन्ध’ इति । परस्य भट्टस्येति तत्र वर्धमानादिटीका । नच—एवमभावाधिकरणयोराधाराधेयभावानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; संयोगस्येव तादात्म्यस्यापि कस्यचिदाधारतानियामकत्वंस्वीकारात्; घटाभावे घटो नास्तीत्यादौ सर्वैरपि तथा वाच्यत्वात् । अतएव घटे रूपमित्यादौ रूपत्वादिरूपेण तादात्म्येनैवाधारता, संबन्धान्तरास्वीकारात्, एतदभिप्रायेण द्वितीयमिथ्यात्वप्रस्तावान्ते आचार्यैर्वक्ष्यते—‘ब्रह्मणो भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽप्यभावरूपधर्माश्रयत्वेन सत्यत्वादिधर्मवत्त्वमिति’—इति ध्येयम् । नच—मिथ्यात्वमेव बाध्यत्वम् तथाचात्माश्रय इति—वाच्यम्; ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपबाध्यत्वस्य प्रकृते निविष्टत्वेन सदसद्विलक्षणत्वरूपबाध्यत्वस्याभावानिवेशात् । ननु—ज्ञानानिवर्त्यत्वस्वरूपसत्त्वाभावस्य निवेशे असत्त्वाभावस्य वैयर्थ्यम्, असत्त्वाभावस्यैव विशेष्यतया लक्षणे निवेशेन धूमप्रागभाव-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञानमित्यादिश्रुत्युपपत्तिरिति भावः । ननु सद्रूपमपि शुद्धं ब्रह्म सत्त्वादिधर्मशून्यमेवेति कथं तत्र नातिव्याप्तिरित्यतो व्याचष्टे—बाध्यत्वाभाववत्त्वेनेति । इदमेव सत्त्वं ननु कश्चित् भावरूपो धर्म इति भावः । ननु तदपि कथं निर्धर्मके इत्यत आह—तथाचेति । आश्रयत्वात् तदुपगमात् । तादृशसत्त्वाभावस्य तत्र भावादिति शेषः ।—नातिव्याप्तिरिति । तादृशसत्त्वाभावघटितत्वात् मिथ्यात्वलक्षणस्येति भावः । अधिकरणस्वरूपत्वेनेति । तथाचभेदे आधाराधेयभावविरहात् उक्ताभावरूपप्रतियोग्यधिकरणतारूपविरोधिनो ब्रह्मण्यसत्त्वात् तदभावसत्त्वे न बाधकमिति भावः ।—विशिष्टरूपेणेति । तादृशविशिष्टमेव तादृशाभावे तादात्म्येन वर्तमानं रूपमिति स्वेषां परिभाषा । अन्येषां तु तादृशविशिष्टत्वमेव रूपमित्युक्तं न विस्मर्तव्यम् ।—तादात्म्यस्येवेति । अन्यथा ब्रह्माबाध्यमिति प्रत्ययस्य, सत्यंज्ञानमिति श्रुतेश्चानुपपत्तिरिति भावः ।—भेदस्यापीति । अन्यथा विशिष्टबुद्धौ भेदभानस्य व्यवस्थापिततयोक्तानुपपत्तितादवस्थ्यादिति भावः ।—उक्ताभाववैशिष्ट्यस्येति । बाध्यत्वाभावत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टनिरूपिताधिकरणताया इत्यर्थः । एवंचोक्ताभावरूपकेवलप्रतियोग्यधिकरणताया ब्रह्मण्यसत्त्वेऽपि न क्षतिः । प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोग्यधिकरणताया एवाभावविरोधित्वादिति भावः । ननु उक्ताभावत्वविशिष्टस्य ब्रह्मणि कथं तादात्म्यसंबन्धः, स्वरूपस्यैवाभावसंबन्धतायाः सर्वैरुपगमादित्यत आह—तादात्म्यमेवेति । भट्टमतेऽनास्थासं निराकरोति—उक्तं हीति । अत्र परो भट्ट एव कुतः, तत्राह—वर्धमानटीकेति । एवं तादात्म्यस्याभावसंबन्धत्वे । तत्सामान्यस्य वृत्त्यनियामकत्वादिति भावः ।—संयोगस्येवेति । यथा संयोगसामान्यं न वृत्तिनियामकम्, अङ्गुलीद्वयादिसंयोगस्यातथात्वात्; नापि वृत्त्यनियामकं, घटभूतलसंयोगादेरतथात्वात्; तथा तादात्म्यसामान्यं न वृत्तिनियामकं, न वा तदनियामकं, घटे घटतादात्म्ये रूपादितादात्म्ये च क्रमेण व्यभिचारादिति भावः । सर्वैरपीति । तत्र तादात्म्यातिरिक्तस्वरूपसंबन्धस्य दुर्वचत्वादिति भावः । अत्र विशिष्टधीर्निर्वाहकभेदश्च स्वरूपसंबन्धवादिभिरपि कथंचित् वाच्य एव । स च पूर्वमेवोक्त इति ध्येयम् । तथा तादात्म्यस्याधारतानियामकत्वस्य । ननु तादात्म्यं विशेष्यविशेषणादेरतिरिक्तम्; स्वरूपसंबन्धस्तु कालविशेषावच्छिन्नं विशेष्यमेवेति सुवचम्, अत आह—अतएवेति तादात्म्यस्याधारतानियामकत्वादेवेत्यर्थः । उक्ताभिप्रायं मूलसंमत्या द्रढयति—एतदभिप्रायेणेति । मिथ्यात्वघटकत्वस्य बाध्यत्वाभावरूपत्वमुक्तम्, तत्र शङ्कते—नचेति । प्रकृतमिथ्यात्वशरीरे सत्त्वप्रतियोगिविधयेति शेषः ।—वैयर्थ्यमिति । ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वस्य तुच्छसाधारणतया तदभावेनैव तुच्छव्यावृत्तिसिद्धेरिति भावः । ननु—सदसद्विलक्षणत्वरूपबाध्यत्वाभावरूपसत्वस्यापि तुच्छसाधारणतया तदभावरूपस्य सत्त्वाभावस्यापि तुच्छव्यावृत्ततया तन्निवेशेऽप्यसत्त्वाभाववैयर्थ्यमिति ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावनिवेशे इत्यस्यासङ्गतिः । नच—असद्विलक्षणत्वमपहाय सद्विलक्षणत्वरूपबाध्यत्वाभावरूपसत्त्वस्याभावो निवेश्यते । तस्य च तुच्छसाधारणतयाऽसत्त्वाभावनिवेशसार्थक्यमिति—वाच्यम्; तथासति सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वशरीरे तादृशमिथ्यात्वरूपबाध्यत्वप्रवेशेनात्माश्रयोक्तेरसङ्गतिप्रसङ्गात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वदवैयर्थ्येऽपि सत्त्वाभावविशिष्टत्वरूपेणैव लक्षणत्वमुचितम्, नतु सत्त्वाभावविशिष्टासत्त्वाभावत्वेन, अभावद्वयत्वेन लक्षणत्वपक्षे सत्त्वाभावेतरांशवैयर्थ्यमिति—चेन्न; ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावत्वेन निवेशे हि तदितरांशस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेतरांशस्यैव वा वैयर्थ्यं भवत्येव, परंतु तथा न निवेशः; दूषणान्तरसत्त्वात् ज्ञानोच्छेद्यत्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्वस्य वक्ष्यमाणस्य वादिप्रतिवाद्यादिसंमतस्यैकस्याभावेन तदभावस्यैकरूपत्वाभावात्, ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसद्देशस्य निवेशपक्षे अस्मन्मते ब्रह्ममात्रविषयकतत्तद्धीविषयत्वरूपस्यैव लाघवेनोक्तभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वेन ज्ञानानिवर्त्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाप्रसिद्धेः; उक्तधीविषयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदनिवेशे सिद्धसाधनता-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सद्विलक्षणत्वरूपवाध्यत्वाभावरूपसत्त्वाभावस्य सद्विलक्षणत्वरूपतया तदितरांशवैयर्थ्यस्य तावतापि दुर्वारत्वाच्चेति—चेन्न; सदसद्विलक्षणत्वरूपप्रकृतमिथ्यात्वे सद्विलक्षणत्वरूपवाध्यत्वस्य प्रतियोगिविधया सत्त्वघटकतया निवेशे तद्वटकसत्त्वस्यापि सद्विलक्षणत्वरूपवाध्यत्वाभावरूपस्यैव निवेश्यतया सद्विलक्षणत्वे सद्विलक्षणत्वप्रवेशप्रयुक्तात्माश्रयसत्त्वेन आत्माश्रयोक्तिसङ्गतेः । अभावाभावस्यातिरिक्तत्वमते प्रकृतलक्षणस्य सद्विलक्षणत्वातिरिक्तत्वात्, लक्षणतावच्छेदकान्तरघटकसद्विलक्षणत्वासमानाधिकरणत्वात्, धर्मिभेदेन सद्विलक्षणत्वेतरांशसार्थक्यसंभवाच्च । इत्थं च सद्विलक्षणत्वमात्ररूपवाध्यत्वाभावरूपसत्त्वाभावस्य तुच्छसाधारणतयाऽसत्त्वाभावसार्थक्यात् ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावनिवेशे इत्यस्य सङ्गतिरित्यवधेयम् । ननु सामानाधिकरण्यसंबन्धेन ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावविशिष्टासत्त्वाभाव एव मिथ्यात्वम् । तत्र च विशेषणांशस्य मिथ्यात्वरूपसंभवेऽपि न विशेष्यस्यासत्त्वाभावस्य वैयर्थ्यं, धर्मिभेदात्; धूमप्रागभावघटकधूमस्य हेतुतासंभवेऽपि प्रागभाववत्, इत्यत आह—**असत्त्वाभावस्यैवेति ।** सदसत्त्वानाधिकरणत्वमनिर्वाच्यत्वमित्युक्तेरिति भावः । ननूक्तविशिष्टरूपेणासत्त्वाभावनिवेशमात्रेणैवासत्त्वाभावनिवेशोक्तिसङ्गतिः । असत्त्वाभावत्वेन निवेशे तात्पर्याभावादित्याशङ्क्य अभावद्वयत्वेन निवेशपक्षे वैयर्थ्यं दुष्परिहरमेवेत्याह—**अभावद्वयत्वेनेति ।** निरुक्ताभावद्वयत्वरूपलक्षणतावच्छेदकस्य सत्त्वाभावत्वरूपलक्षणतावच्छेदकान्तरसमानाधिकरणत्वात् तद्वटितत्वाच्चेति भावः । तदितरांशस्य असत्त्वाभावस्य । ज्ञाननिवर्त्यत्वेतरांशस्यैवेति । ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपत्वेन धर्म्यभेदादिति भावः । तादृशाभावस्यातिरिक्ततामते धर्मिभेदान्न वैयर्थ्यम्, अत उक्तं वेति । किं तद्दूषणान्तरं वक्तव्यम्, अत आह—**ज्ञानोच्छेद्यत्वरूपेति । वक्ष्यमाणस्येति ।** ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम् । अवस्थितिश्च द्वेधा—स्वरूपेण कारणात्मना च सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । तथाच ब्रह्मज्ञानं विनाप्यतीतघटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणात्मनाऽवस्थितिविरहाभावात् ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त एव स इति नातीतघटादावव्याप्तिरित्यादिमूलग्रन्थेन वक्ष्यमाणस्येत्यर्थः । वादी वेदान्ती । प्रतिवादी नैयायिकादिः ।—**एकस्येति ।** सत्कार्यवादस्य मतद्वयेऽसत्त्वादिति भावः ।—**एकरूपत्वाभावादिति ।** तथाच तथा निवेशे मतद्वये साध्याप्रसिद्धिरेव दूषणमिति भावः । न च—ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वानुमानवदत्रापि सत्कार्यवादव्यवस्थापनपूर्वकत्वेन प्रसाध्याङ्गकानुमानत्वमस्त्विति—वाच्यम्, तत्रागत्या तथोपगमेऽप्यत्र वक्ष्यमाणातिप्रसङ्गसत्त्वेन तथाऽनुपगमात् । ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वेन निवेशे प्रकारान्तरेणापि साध्याप्रसिद्धिमाह—**ज्ञानानिवर्त्यरूपेति । ब्रह्ममात्रविषयकतत्तद्धीविषयत्वरूपस्येति । नन्विदं** ब्रह्ममात्रवृत्ति, ज्ञानानिवर्त्यत्वं तु तुच्छसाधारणमिति न तस्य लघुसमनियतगुरुधर्मत्वम्, येन तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्धिः स्यात् । नच—ब्रह्ममात्रविषयकेत्यस्य सदसदितराविषयकेत्यर्थ इति—वाच्यम्; तुच्छस्य धीविषयत्वानुपगमात् । नच—असद्भेदेन ब्रह्मवृत्तित्वेन वा विशिष्टं ज्ञानानिवर्त्यत्वं तथा, तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्धिरेव चात्र विवक्षितेति—वाच्यम्; उक्तभेदनिवेशे तस्य तुच्छसाधारणतया तद्विराकासत्त्वाभावसार्थक्येन तन्निराकरणस्य प्रकृतानुपयोगात् । यथा निवेशे असत्त्वाभाववैयर्थ्यं तथा निवेशस्यैव दूषणान्तरेण निराकर्तव्यतायाः प्रकृतत्वादिति चेत्, न; संभवत्सकलप्रकारान्तरनिरासं विना किंलित्यादिवक्ष्यमाणरीत्यैव निवेश इत्यस्यास्थिोक्तभेदनिवेशपक्षेऽसत्त्वाभाववैयर्थ्याभावेऽपि तस्य निरसनीयत्वात्, अतएव तादृशधीविषयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदनिवेशनमपि निरस्यति—**उक्तधीति ।** ब्रह्ममात्रधीत्यर्थः । ननु तर्हि तुच्छसाधारणज्ञानानिवर्त्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदनिवेशे किं दूषणान्तरमिति चेत् तादृशज्ञानानिवर्त्यत्वस्यापि ब्रह्ममात्रविषयकतद्धीविषयत्व—तुच्छविषयकविकल्पाव्यवृत्तिविशेषविषयत्वान्यतररूपलघुधर्मसमनियतगुरुधर्मत्वात् तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्धिरेवेत्येव । वस्तुतस्तु तादृशभेदस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपस्य तादृशभेदलापेक्षया लाघवात् ज्ञाननिवर्त्यत्वेनैव साध्यत्वं वक्तव्यम् । तच्च वक्ष्यते । नच तर्ह्येतद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पक्षेऽपि, किंतु 'सत्यं सर्वं वाच्य'मित्याकारकस्य पराभ्युपगतस्य कस्यचित् ज्ञानस्य यद्विषयत्वं तद्व्यवस्थव-
च्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वेन सद्भेदस्य तद्व्यवस्थान्ताभावत्वेन सत्त्वाभावस्य वा निवेशः । तादृशज्ञाने चासदभ्यु-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नुत्तया न्यूनता; ग्रन्थस्य दिक्प्रदर्शकत्वात् । कथं तर्हि निवेशः, तत्राह—किंत्विति । सत्यत्वावच्छेदेन वाच्यत्वस्य
प्रकारविधया भानसूचनाय सर्वमिति—पराभ्युपगतस्येति । स्वाभ्युपगतस्य चेति शेषः । तेन न स्वस्य साध्याप्रसिद्धिः ।
अस्यां हि प्रतीतिः परमते ब्रह्मप्रपञ्चयोः विशेष्यत्वं स्वमते ब्रह्ममात्रस्येति विवादवीजमनुपदं स्फुटम् । विषयत्वं विशेष्यत्वम् ।
सद्भेदस्य सद्भेदपदार्थस्य । सत्त्वाभावस्य तत्पदार्थस्य । यथाश्रुते ज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपसद्भेदज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावयो-
स्तुच्छव्यावृत्तयोः तत्साधारणोक्तज्ञानीयविषयताव्यक्त्यवच्छिन्नभेदतादृशव्यक्त्यत्यन्ताभावरूपत्वासंभवेनासङ्गतेः । नच सद्भे-
दस्येत्यस्य सद्विलक्षणत्वरूपवाध्यत्वाभाववद्भेदस्येति, सत्त्वाभावस्येत्यस्य च तादृशवाध्यत्वाभावरूपसत्त्वाभावस्येत्यर्थः; तादृ-
शभेदत्वतादृशाभावत्वाभ्यां तयोर्निवेशे आत्माश्रयोक्तेः तत्समनियततदभिज्ञाभावनिरूपणान्तरेणात्र निवेश उच्यत इति—
वाच्यम्; तथापि सद्भेदस्य सत्त्वाभावस्येत्युक्तेः प्रयोजनाभावेन निरुसारात्पक्षेः । नच—प्रतिज्ञासंन्यासवारणाय तदुक्तिरिति—
शङ्क्यम्; ज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावनिवेशस्यैव प्रतिज्ञातत्वेन तादृशसत्त्वाभावादिनिवेशस्याप्रतिज्ञातत्वेन तदोषानवका-
शात् । प्रत्युत तदनिवेशस्यैव प्रतिज्ञातत्वेनेदानीं तन्निवेशोपगमे विपरीतप्रतिज्ञासंन्यासप्रसङ्गाच्च । नच रूपभेदेन निवे-
शानिवेशाभ्यां नायं दोषः; तावताप्याद्यसमाधानस्यानपवादात् । नच—सद्भेदादिपदस्य तत्पदार्थार्थकत्वेऽपि ज्ञाननिर्वर्त्य-
रूपसद्भेदादेर्निवेशस्य प्रतिज्ञातस्यात्र परित्यागात् प्रतिज्ञासंन्यासो दुर्वार इति—वाच्यम्; सद्भेदादिपदार्थनिवेशमात्रेण कथं-
चित् तदोषहानेः । एतदर्थमेव सद्भेदस्येत्याद्युक्तम् । एतेन—ज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपसत्त्वाभावनिवेशे असत्त्वाभाववैयर्थ्यामाशङ्कि-
तं, विषयताविशेषरूपसत्त्वाभावनिवेशेन च तत्समाहितमिति “कर्णपट्टे” इति न्यायेन सन्दर्भाशुद्धिरिति—परास्तम्;
सत्त्वाभावपदार्थनिवेशे तच्छङ्कासमाधानयोः सत्त्वेन कथंचित् तच्छुद्धेः । ‘किंचेतिचेन्न’ इत्यादिना ज्ञाननिर्वर्त्यत्वाभावनिवेश-
स्येति एव । नच—“प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।” इति न्यायेन पूर्वं तदुपगम एव वृथेति—वाच्यम्;
तस्य शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थकत्वात् । तथासति क प्रतिज्ञासंन्यासः, क च सन्दर्भाशुद्धिरित्यलम् । —इदंत्ववधेयम् । सत्यं सर्वं
वाच्यमित्याकारकज्ञानविषयताव्यक्तेः भावरूपत्वात् ब्रह्मणश्च भावरूपधर्मानाश्रयत्वात् तद्वद्भेदतदत्यन्ताभावघटितलक्षणयोः
ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः । नच—दृश्यं सर्वं मिथ्येति स्वाभ्युपगतप्रतीतिविषयत्वाभावः स्वमते ब्रह्मणि, परमते तु प्रपञ्चेऽप्यस्ति,
तद्भेदतदत्यन्ताभावघटितलक्षणे प्रकृतग्रन्थतात्पर्यम्, तत्र च न ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः, न वा सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्;
तादृशप्रतीतिविषयत्वाभावस्य तुच्छसाधारणतया तद्वद्भेदादिघटितलक्षणस्य तुच्छेऽनतिप्रसङ्गेनासत्त्वाभाववैयर्थ्यापातात् ।
तादृशाभावेऽसिद्धिन्नत्ववैशिष्ट्यं निवेद्य तत्सार्थक्यस्य “प्रक्षालनाद्धि” इति न्यायेनायुक्तत्वात् । नच—आत्मभिन्नं सर्वं
तद्विज्ञं इत्याकारकवृत्तिविशेषविषयत्वस्य तुच्छसाधारणस्याभावः स्वमते ब्रह्मण्येव, परमते प्रपञ्चेऽपीति तद्भेदादिघटितल-
क्षणे न कोऽपि दोष इति—वाच्यम्; तादृशवृत्तेर्विकल्परूपत्वे प्रपञ्चभानस्य स्वमतेऽपि तत्रासंभवेन तद्विषयत्वाभावस्य प्रप-
ञ्चसाधारणतया बाधप्रसङ्गात्, तस्याज्ञानरूपत्वे तद्विषयत्वाभावस्य तुच्छेऽपि सत्त्वेनासत्त्वाभाववैयर्थ्यात् । नच—तादृशी
तृतीयैव काचनान्तःकरणवृत्तिरुपेयते, यत्र प्रपञ्चतुच्छयोरुभयोरपि विषयतेति वाच्यम्; तादृशवृत्तेरयथार्थायाः परेणाङ्गी-
कारात् तद्विषयत्वाभावस्य परमतेऽपि ब्रह्ममात्रवृत्तितया तद्भेदादिसाधने सिद्धसाधनप्रसङ्गात् । नच वृत्तेर्यथार्थवृत्ति-
त्वेन निवेशे नायं दोषः; परमते यथार्थतादृशवृत्तेरसिद्धेः । नच—सर्वपदव्यागेन शुक्तिरजततुच्छविषयिणी सा प्रसिद्धेति—
वाच्यम्; तादृशप्रतीतौ कतिपयानामेवात्मभिन्नानां भानेन तादृशप्रतीतिविषयत्वाभावस्य स्वमतेऽपि प्रपञ्चसाधारणतया
तत्र तद्भेदादिसाधने बाधात् । एतेन—आत्मभिन्नं सर्वं दृश्यतुच्छान्यतरत् इति वृत्तिविषयत्वाभावो दृश्यतुच्छान्यतरत्वा-
भावो वा निवेद्य—इत्यपास्तम्; तस्य परेषां ब्रह्ममात्रवृत्तितया सिद्धसाधनप्रसङ्गादिति । —अत्रेदमालोचनीयम् ।
एतदनुशयैव मूले निर्धर्मकत्वेनैवेत्यादिना प्रकारान्तरेणातिव्याप्तिः परिहृता । नच—टीकायां तदवतारिकायां ब्रह्मणि
वाध्यत्वाभावासंभव एवोपात्तो न तत्तत्ज्ञानविषयत्वासंभव इति—वाच्यम्; भाववदिति दृष्टान्तैः सुतरां तदसंभवस्योक्तत्वात् ।
इति ॥ प्रकृतमनुसरामः ॥ ननु सत्यं सर्वं वाच्यम् इत्याकारकज्ञानीयविषयताव्यक्त्यवच्छिन्नभेदतदत्यन्ताभावयोः साध्यत्वे

१ एतेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्य तुच्छसाधारणतया ब्रह्ममात्रविषयकधीविषयत्वस्य लघुभूतस्यापि तदसमनियतत्वात् तस्यैव भेदप्रति-
योगितावच्छेदकत्वसंभवेन; तदप्रतियोगितावच्छेदकत्ववर्णनमसंगतं; लघुधर्मसमनियतगुरुधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वनियमात् ।
एवंच ज्ञाननिर्वर्त्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यैवात्र विवक्षणीयतयाऽसत्त्वाभावनिवेशवैयर्थ्यं ज्ञाननिर्वर्त्यत्वेतरांशवैयर्थ्यं च तदव-
स्थमेवेत्यादि—न्यायभास्करोक्तं परास्तम्; उक्ताशङ्कानां सांप्रदायिकार्थानभिज्ञाननिबन्धनत्वादित्यादिप्रकृतविट्टलेशीयवचनैरेवावगम्यते
इति ॥ २ इदंत्ववधेयमित्यादिना अत्रेदमालोचनीयमिति ग्रन्थपूर्वण भागेनोपात्ता एव दोषा न्यायभास्करोपि परमदोषतयोद्धाटिता इति
विट्टलेशैरेव समाधानस्याप्युक्तत्वात् न पृथक् यतनीयमिति ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पगतबाध्यत्वविरोध्यलीकव्यावृत्तसत्यत्वप्रकारकत्वं परैः स्वीक्रियते, तदीयमुख्यविशेष्यताव्यक्तेरत्यन्ताभावादिसाधने सिद्धसाधनं तैर्वक्तुमशक्यम् । मुख्यविशेष्यतात्वं च प्रकारतासांसर्गिकविषयतान्यविषयतात्वम् । तच्च विशेष्यता-विशेष इव निर्विकल्पकज्ञानीयतुरीयविषयतायामप्यस्तीति परमते आद्यस्य मन्मते द्वितीयस्य नासंग्रहः । मन्मते हि 'सत्यं सर्वं वाच्य'मिति वाक्ये सत्यादिसमानाधिकरणनामभिः सत्यत्वाद्युपलक्षितशुद्धब्रह्मणो निर्विकल्पकधीरेव जायते इति तदीयविषयतालाभः । सर्वपदमहिम्ना सत्यत्वव्यापकविषयतालाभः । तेन किञ्चित्सत्यनिष्ठविषयतायाः कुत्र चित्सत्ये अभावमादाय परेषां न सिद्धसाधनम् । वाच्यत्वेनोपलक्षितं शुद्धं ब्रह्मापि भवति; विशिष्टब्रह्मनिष्ठस्य तस्य विशेष्यीभूतशुद्धेऽपि सत्त्वात् वाच्यत्वस्थले ज्ञेयत्वं वा निवेद्यम् । तज्ज्ञानीयमुख्यविशेष्यतानिष्ठानवच्छिन्नावच्छेद-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सिद्धसाधनं कुतो नेत्यत आह—**तादृशज्ञानेचेति** । ब्रह्मप्रपञ्चोभयरूपविशेष्यांश इति शेषः । **बाध्यत्वविरोधित्वं** सत्ता-दात्म्यरूपम् । तत्प्रकारकतादृशज्ञानस्य प्रपञ्चविशेष्यकस्य स्वेनाप्युपगमसंभवात् तद्विषयत्वाभावसाधने बाधः परेषां ब्रह्मव, तत्प्रपञ्चस्याबाध्यत्वसिद्धिश्चेत्यतः तद्विरोधिसत्त्वमुक्तम् । तच्च बाध्यत्वाभावप्रकारकप्रमाविषयत्वं, प्रमाविषयत्वमेव वा-शुक्तिरजतादिबाध्यविषयकज्ञानस्याप्रमात्वात्, नतु बाध्यत्वाभावरूपं; तस्यालीकसाधारण्यात्, तज्ज्ञानस्य तत्प्रकारकत्वो-पगमे जगतोऽसत्तुल्यतापत्तिरिति सत्त्वस्यासद्वावृत्तताया आवश्यकत्वात् । **सत्यत्वप्रकारकत्वमिति** । वाच्यत्वधर्मि-तावच्छेदकविधयेत्यादिः । स्वीक्रियत इतीति शेषः । अत्र तज्ज्ञानीयविषयतात्वावच्छिन्नवद्भेदस्य तदभावस्य वा साध्यता न संभवति; स्वमते ब्रह्मनिष्ठतज्ज्ञानविषयतानिष्ठतद्व्यक्तित्वापेक्षया तज्ज्ञानविषयतात्वस्य गुरुतया प्रतियोगितावच्छेद-कतानवच्छेदकत्वेन तयोरप्रसिद्धत्वात् । अतस्तादृशज्ञानीयविषयताव्यक्त्यवच्छिन्नभेदस्तदभावो वा बोध्यः । तत्र परमते तज्ज्ञाने धर्मितावच्छेदकतासंसर्गताप्रकारताविशेष्यतारूपवहुविधा विषयताः । तत्र तज्ज्ञानीयधर्मितावच्छेदकतादिव्यक्तेः स्वमतेऽभावेन तदवच्छिन्नभेदादेरप्रसिद्ध्या साधनं न संभवति, तत्साधने घटादिप्रपञ्चे सिद्धसाधनं चेत्यत उक्तम्—**तदीयमुख्यविशेष्यताव्यक्तिरिति** । आदिना तद्वद्भेदः । **ननु** तदीयमुख्यविशेष्यताव्यक्तेस्तद्व्यक्तित्वेन न निवेशः; स्वपरमतोस्तादृशकारज्ञानीयविशेष्यताव्यक्त्योर्भेदेनैकव्यक्तेरपरमतासिद्धत्वेन तद्व्यक्तित्वेन मतद्वये उपादानासंभवात्, किन्तुभयसाधारणेन तादृशज्ञानीयत्वविशिष्टेन मुख्यविशेष्यतात्वेन । तच्च यदि प्रकारतान्यविशेष्यतात्वं तदा स्वतस्सिद्धब्रह्मवि-षयकनिर्विकल्पकज्ञानीयविषयतात्वासंग्रहः, यदि प्रकारतादित्रयान्यविषयतात्वं, तदा परमते सप्रकारकतादृशज्ञानीयविशेष्य-तात्वासंग्रहः इत्यत उभयसाधारणं तन्निर्वक्ति—**मुख्यविशेष्यतात्वं चेति** । निरुक्तमुख्यविशेष्यतात्वस्य प्रपञ्चे 'मिथ्या' इत्याकारकस्वमतसिद्धज्ञानीयविषयतासाधारणत्वात् तदवच्छिन्नाभावसाधने बाध इत्यतस्तादृशज्ञानीयत्ववैशिष्ट्यं निवेशितम् । स्वमतं व्युत्पादयति—**मन्मते हीति** । सत्यत्वादीत्यादिपदेन वाच्यत्वं परमते निरुक्तमुख्यविशेष्यतात्वरूपाक्रान्तानां विषय-तानां घटादिनिष्ठानां बहूनां सत्त्वात् तासां सर्वासामेवानुगतरूपेण निवेशलाभकं वदन् तत्प्रयोजनमाह—**सर्वपदेत्यादि** । किञ्चित् घटादि । **कुत्रचित्** पटादौ ।—**सिद्धसाधनमिति** । तादृशज्ञानीयमुख्यविशेष्यतावृत्तिसत्यत्वव्यापकतावच्छे-दकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वादिना निवेशादिति भावः । तच्च रूपं निरुक्तविशेष्यतात्वमेव । **ननु** वाच्यत्वस्य विशिष्ट-ब्रह्मवृत्तितया तदुपलक्षितं विशिष्टमेव, सत्यत्वोपलक्षितं तु शुद्धम् । तथाच कथं सत्यपदवाच्यपदयोरेकार्थबोधकत्वरूपं सामानाधिकरण्यम् ? सत्यपदस्यापि विशिष्टार्थबोधकत्वे एतद्व्याक्यस्य निर्विकल्पकब्रह्मधीजनकत्वसिद्धान्तभङ्गः । विशिष्टधीविशे-ष्यत्वस्य विशिष्टवृत्तेः शुद्धेऽभावमादाय मिथ्यात्वलक्षणातिप्रसङ्गश्चेत्यत आह—**वाच्यत्वेनेति** । तस्य वाच्यत्वस्य । **शुद्धे-ऽपीति** । विशिष्टशुद्धयोर्भेदाभेदोपगमादिति भावः । तथाच नोक्तदोषद्वयमिति हृदयम् । यदि विशिष्टं शुद्धादतिरिक्तमेवेति ब्रूयात्, तदाप्याह—**वाच्यत्वस्थाने इति**—**ज्ञेयत्वमिति** । इदं शुद्धेऽपि, तत्त्वज्ञानविषयतायाः शुद्ध एवोपगमात् । अतएव तेन शुद्धविषयज्ञाननिवृत्तिः, समानविषयकयोरेव हि ज्ञानाज्ञानयोर्निर्वर्त्यनिवर्तकभाव इति भावः । **ननु** सत्यत्व-

१ एतेन-विशेष्यभेदेन विशेष्यताभेदात्तद्व्यक्तित्वेनैव तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य विवक्षणीयतया घटीयविशेष्यतावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदस्य घटेभावाद्बाधः, भेदकूटनिवेशे च स्वमतेऽप्रसिद्धिरित्यादिन्यायभास्करोक्तं परास्तम् ॥ इति ॥ २ एवंच सत्यत्वप्रकारकज्ञानविशेष्यतायाः शुद्धचित्साधारणतया तन्निष्ठानवच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदस्योपहितचित्त्यपि सत्त्वाज्ञ-बाधः—यथाच विशिष्टशुद्धौ शुद्धस्यापि विषयत्वं तथा न्यायरत्नावल्यां ब्रह्मानन्दसरस्वतीमिरुपपादितम् । एतेन तद्वर्गप्रकारक-ज्ञानविषयतायाः शुद्धसाधारणत्वादुपहितसाधारणत्वेऽपि तस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वेन बाधइत्यादिन्यायभास्करोक्तं परास्तम् ॥ इति ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कताप्रतियोगितानिरूपकभेदत्वेन मुख्यविशेष्यतासंबन्धावच्छिन्नतज्ज्ञानव्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वेन वा निवेशान्न व्यापकत्वादिनिवेशकृतगौरवादिकम् । तेन—‘घटादिकं ब्रह्मवृत्तित्वविशिष्टतादृशविशेष्यतावन्ने’ति प्रतीतेः घटादौ तादृशविशेष्यतावन्नेदसत्त्वासिद्धसाधनमिति—परास्तम्; तादृशप्रतीतिविषयीभूतायाः भेदप्रतियोगितावच्छेदकतायाः ब्रह्मवृत्तित्वावच्छिन्नत्वेनानवच्छिन्नत्वविशेषणेन तस्याः वारणात् । ननु—बाध्यत्वाभाव-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्यापकतावच्छेदकीभूततादृशज्ञानीयविशेष्यतावृत्तिरूपावच्छिन्नाभावादिनिवेशे गुरुधर्मस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वे तज्ज्ञानीय-मुख्यविशेष्यतात्वस्य रूपस्य व्यापकतावच्छेदकत्वाद्यविशेषितस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया तद्विशेषिततदवच्छिन्नाभावाप्रसिद्धिः । ‘किंच’ तज्ज्ञानीयमुख्यविशेष्यतात्वस्यापि स्वमते ब्रह्ममात्रवृत्तिविशेष्यतावृत्तितद्व्यक्तित्वापेक्षया गुरुतया न प्रतियोगितावच्छेदकत्वसंभवः । न च—व्यापकतावच्छेदकत्वादिकमुपलक्षणम्, उक्तरूपावच्छिन्नप्रतियोगितायाः प्रकारतया निवेशनीयतया प्रतियोगिताप्रकारकाभावज्ञाने प्रतियोगिकोटावुपलक्षणतया भानस्य नैयायिकसंमतत्वात्, एवं स्वमते तादृशं रूपं तादृशतद्व्यक्तित्वम्, परमते तज्ज्ञानीयमुख्यविशेष्यतात्वम्, इत्थं च तादृशरूपावच्छिन्नाभावः प्रसिद्ध एवेति—वाच्यम्; एवमपि व्यापकतावच्छेदकत्वनिवेशेन गौरवमित्यत आह—तज्ज्ञानीयेति । भेदत्वेनेति—अनवच्छिन्नप्रतियोगिताया अप्रसिद्ध्या तन्निरूपकात्यन्ताभावत्वेन वेति नोक्तम् । ननु तज्ज्ञानीयमुख्यविशेष्यतायाः स्वरूपेण भेदप्रतियोगितायामप्यवच्छेदकत्वासंभवादनवच्छिन्नत्वं कथं तस्याः? न च—स्वमते ब्रह्मनिष्ठायास्तादृश(मुख्य)विशेष्यतायाः तद्व्यक्तित्ववत् अखण्डोपाधितोपगमात् स्वरूपत एव तस्या भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वसंभव इति—वाच्यम्; एवं सति परेणापि तादृशज्ञानीयविशेष्यतानां प्रपञ्चे तादृशीनामेवोपगमादुक्तरीत्या सिद्धसाधनतादवस्थप्रसङ्गात् । न च—तादृशज्ञानीयतत्तद्विशेष्यत्वावच्छिन्नभेदकूटमेव साध्यताम्, तत्र सिद्धसाधनाभावादिति—वाच्यम्, स्वमते तज्ज्ञानविशेष्यत्वस्यैकत्वेन तादृशभेदकूटस्याप्रसिद्धेरिति चेत्, न; तज्ज्ञानीयमुख्यविशेष्यतात्वसमानाधिकरणानवच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकभेदत्वव्यापकाधेयतानिरूपिताधिकरणताया एव साध्यत्वात्, तत्र च न सिद्धसाधनं, नापि स्वमते अप्रसिद्धिः । तादृशाधिकरणतायाः प्रपञ्चे एकैकविशेष्यतामभ्युपगच्छता वादिनाऽनुपगमात्; तुच्छे चोभयमतेऽप्रसिद्धेः । न च व्यापकत्वनिवेशकृतगौरवम्; प्रतियोगितावच्छेदकताविघटकस्य तस्य प्रतियोगितावच्छेदककोटावेव निवेशस्य दुष्टतयाऽत्र तन्निवेशगौरवस्यादुषकत्वात् । एकैकतज्ज्ञानविशेष्यत्वोपगन्ना कथं तादृशाधिकरणतायुपगम्यतामिति चेत्, दृश्यत्वादिहेतुभङ्गभिर्यैकैकविशेष्यत्वमप्यपहायेति गृहाण । लाघवार्थमत्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वरूपसाध्यनिर्वाहार्थं चाह—मुख्यविशेष्यतासंबन्धेति । स्वमते ज्ञानव्यक्तेर्ब्रह्मनिष्ठतद्व्यक्तित्वाद्यपेक्षया गुरुत्वात्तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्ध्या तदुपेक्षा । व्यापकत्वादीत्यादिना तदवच्छेदकत्वपरिग्रहः । गौरवादि-कमित्यादिना अभावप्रतियोगिकोटावुपलक्षणतया भानोपगमपरिग्रहः । अवच्छेदकतायां अनवच्छिन्नत्वविशेषणप्रयोजनमाह—तेनेति—अनवच्छिन्नत्वघटितसाध्यादरेणेत्यर्थः । तेन वारणं स्फुटयति—तादृशेति—एवंचोक्तभेदोक्तज्ञानव्यक्त्यत्यन्ताभावयोः सद्भेदसत्त्वाभावपदार्थयोः तुच्छसाधारणतया तत्रातिप्रसङ्गवारणाय मिथ्यात्वलक्षणे असत्त्वाभावसार्थ-

१ इदं तु लक्षणत्वपक्षानुरोधेन । साध्यत्वपक्षे तु यद्यपि न्यायभास्करोक्तरीत्याऽवृत्तित्वमादायार्थान्तरवारणार्थं स्वाधिकरणताव्यापकाभावप्रतियोगित्वविवक्षणेनैवासत्त्वमादायाप्यर्थान्तरवारणस्य संभवेन, स्वप्रकारकधीविशेष्यताव्यापकाभावप्रतियोगित्वरूपसत्त्वाभावस्यैव विवक्षणेऽपि पक्षतावच्छेदकदले सत्तादात्म्यनिवेशे नैवोक्तार्थान्तरवारणसंभवेन चासत्त्वाभावनियेशो व्यर्थ इति भवति शङ्का; यद्यपि च वृत्तिमत्त्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तत एवार्थान्तरवारणेन विशेषानुमानेषु सत्तादात्म्यस्य पक्षतानवच्छेदकत्वेन च यथाश्रुतसत्त्वाभावनियेशस्यैव विवक्षणे, न दोषेण तथानियेशे प्रसक्तस्याप्यसत्त्वमादायार्थान्तरस्य वृत्तिमत्त्वस्यैव प्रतीयमानत्वरूपासत्त्वाभावस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तंत एव वारणसंभवेनासत्त्वभावनियेशो व्यर्थ एवेति शङ्का च प्रसरतः; तथापि असत्त्वप्रसंजकासदेवेदमिति श्रुत्यनुगृहीतोक्तासत्त्वस्य प्रत्यक्षबाधासंभवेन प्रसक्तोक्तार्थान्तरवारणार्थमुक्तश्रुतेरसत्त्वाप्रसंजकत्वप्रतिपादनपूर्वकं प्रपञ्चासत्त्वार्थान्तरवारणार्थमुक्तसाध्यकोटावेवासत्त्वाभावनियेशोप्यावश्यकत्व एव, प्रपञ्चस्यावृत्तित्वप्रसजिका तु श्रुतिः कापि नोपलभ्यत इति अवृत्तित्वार्थान्तरवारणार्थं न यत्नान्तरमाश्रितं, यदित्वसत्त्वाभावप्रत्यक्षप्राबल्य एवाग्रहः तदाऽसत्त्वाभावनियेशोप्यनावश्यक एव—स्पष्टं चैतन्न्यायरत्नावल्यामिति ॥

न्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिः; सद्रूपत्वेन ब्रह्मणः तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वात् निर्धर्मकत्वेनैवाभावरूप-
धर्मानधिकरणत्वाच्चेति दिक् ।

इति सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारः ।

सिद्धिव्याख्या ।

नच—सद्वैलक्षण्याङ्गीकारेऽपि नृशृङ्गादिवदपरोक्षताप्रतीतिर्न स्यादिति सुवचमिति—वाच्यम्; निःस्वरूपे नृ-
शृङ्गे सद्वैलक्षण्यरूपधर्मस्याप्यनङ्गीकारात्, सदसद्रूपत्वं बाधितमिति तदादायार्थान्तरानवकाशाच्च । नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपो धर्मोऽपि न शुद्धे ब्रह्मणि, किंतु स्वोपहिते; भाववदभावेऽपि युक्तेस्तुल्यत्वात्—तत्राह—निर्धर्मकत्वेनैवेति ।
अभावरूपधर्मानधिकरणत्वात् सत्त्वाभावरूपधर्माधिकरणत्वस्याप्यसंभवात् । तथाच सत्त्वाभावं ब्रह्मणि स्वीकृ-
त्यातिव्याप्तिदानं तवासङ्गतम् । तस्मादभावरूपधर्मस्य न भावरूपधर्मस्तुल्ययुक्तिकत्वम्; प्रपञ्चे कल्पितस्य व्यावहा-
रिकवाध्यत्वादेरभावस्याधिष्ठानब्रह्मस्वरूपत्वात्; अन्यथा तस्यापि व्यावहारिकत्वे उक्तवाध्यत्वप्रतिक्षेपकत्वासंभवात्,
तत्संभवस्वीकारपक्षेऽपि सत्यब्रह्मस्वरूपादतिरिक्तस्य तादृशाभावस्वरूपस्य कल्पने गौरवात्; अतिरिक्तातादृशस्वरूपस्वी-
कारपक्षेऽपि तस्य ब्रह्मणि त्वया संबन्धास्वीकारेऽसत्त्वाभावस्याप्यतिरिक्तस्य शुद्धब्रह्मसंबन्धासंभवात् न कोऽपि दोष इति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

क्यमिति भावः ।—भाववदिति । सप्तम्यन्ताद्वतिः ।—अभावे इति । उपगम्यमाने इति शेषः । युक्तेः निर्धर्मकत्व-
व्याघातस्य । निर्गुण इत्यत्र गुणपदस्य भावमात्रार्थकत्वे न मानम्; लक्षणाया दुर्वारत्वादिति भावः ।—तुल्यत्वादिति ।
तथाच बाध्यत्वाभावरूपसत्त्वस्य ब्रह्मण्यभावसत्त्वादतिव्याप्तिर्दुर्वारैवेति भावः । निर्धर्मकत्वेनैवेत्यादिमूलं यथाश्रुते भा-
वाभावयोर्युक्तितौल्योपगमेऽप्यतिव्याप्तिनिराकरणपरम्, तच्च न युक्तम्; अधिकरणीभूतब्रह्मस्वरूपाभावतदतिरिक्ताभाव-
योर्युक्तितौल्याभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् इत्यतः तन्मूलं युक्तितौल्योपगमापादकतापत्तिपूरकतया व्याचष्टे—भावरूपेत्यादि ।
इष्टापत्तिशङ्कां वारयति—तथाचेति । असङ्गतमिति । स्यादिति शेषः । तस्मात् अतिव्याप्तिसङ्गमनानुरोधात् ।—
अभावस्येति । पारमार्थिकत्वानुरोधादिति शेषः ।—ब्रह्मस्वरूपत्वादिति । तथाच न तेन सधर्मकत्वापातः ।
धर्मधर्मिभावस्य भेदनिबन्धनत्वेन स्वातिरिक्तधर्मवत्त्वस्यैव सधर्मकत्वरूपत्वादिति भावः । अन्यथा बाध्यत्वाभावस्य पार-
मार्थिकब्रह्मरूपत्वानङ्गीकारे । व्यावहारिकत्वे ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यतया प्रातिभासिकत्वासंभवेन व्यावहारिकरूपत्वावश्यं
भावेन ।—उक्तेति । व्यावहारिकेत्यर्थः ।—असंभवादिति । प्रतियोगिसत्ताधिकसत्ताकस्यैवाभावस्य प्रतियोगिविरो-
धित्वादिति भावः । स्वात्मिकभावाभाववत् तदन्ययोरपि भावाभावयोस्समसत्ताकयोर्विरोध इति पक्षाभिप्रायेणाह—
तत्संभवेति । गौरवादिति । ब्रह्मस्वरूपत्वावश्यकत्वादिति शेषः । बाध्यत्वाभावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे तादृशाभावत्वं ब्रह्मणि
कल्प्यम् । अन्यथा तु तादृशाभावः, तत्र च तत्त्वमिति गौरवम् । यदि वैयाख्यात् उक्तगौरवादरः, तदा यथाश्रुतार्थ एव
पर्यवसानमाह—अतिरिक्तेति । त्वया भावाभावयोरपि निर्धर्मकत्वव्याघातकत्वरूपयुक्तितौल्यं वदता । कोऽपि दोषः
कथमप्यतिव्याप्तिः । यदि च बाध्यत्वरूप एव बाध्यत्वाभावरूपसत्त्वस्याभावस्तदा तस्य ब्रह्मणि संबन्धगन्धस्याप्यभावात्
नातिव्याप्तिरिति बोध्यम् । असत्त्वाभावः सत्त्वेन प्रतीयमानत्वम् । तच्च सत्त्वप्रकारकवृत्तिविषयत्वं, तत्तु विकल्पाख्यां
वृत्तिमादायालीकेऽपि संभवतीत्यभिमानिनामुक्तिः । मिथ्यात्वलक्षणस्यालीकेऽतिव्याप्त्या दुष्टतेति दूषणं परिहर्तुं उपन्यस्यति—

१ एतेन—बाध्यत्वाभावस्य ब्रह्मरूपत्वे तदभावो ब्रह्मण्यस्येवेति अतिव्याप्तिः; अभावस्य स्वात्मकेऽप्यधिकरणे आधारावेयभावाभ्यु-
पगमात् घटाभावो घटाभाववान् भूतलं घटाभाववदित्यादौ, अभाववत्पदवाच्यापत्तिश्च, अभावेन तदाश्रयत्वादिना ब्रह्मणः सविशेष-
त्वापत्तिश्च, ब्रह्मभिन्नत्वे तेनैवाद्वैतहानिरित्यादिन्यायामृतसौगन्धोक्तं परास्तम्;—तादात्म्यस्य वृत्त्यनियामकत्वात्, घटे रूपमित्यादि-
प्रत्ययानां भ्रमरूपत्वमेवेति गुरुचन्द्रिकायामुपपादितत्वात्, लघुचन्द्रिकापक्षेण क्वचिद्वृत्तिनियामकत्वाङ्गीकारेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधेन
ब्रह्मणि बाध्यत्वाभावादिधर्मकल्पनासंभवेन तदनभ्युपगमात् । एवंच ब्रह्माभिन्नत्वपक्षादरणे न कोऽपि दोष इति ।

सिद्धिव्याख्या ।

देशकालभेदेन घटादावेव सदसद्रूपत्वं दृष्टमिति—वाच्यम्; तथापि यत्र यदा यस्य सद्व्यपत्त्वं तस्य तत्रैव तदैवासत्त्वरूपस्यादृष्टेरिति दिक् ॥

इति सिद्धिव्याख्याने प्रथममिथ्यात्वनिरूपणं समाप्तम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावः । यत्तु—सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपोऽसत्त्वाभावोऽलीकेऽप्यस्तीति तद्वदितं लक्षणमयुक्तमिति । तन्न । सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य सत्तादात्म्यतद्बुद्धन्यतरत्वपर्यवसितस्य निवेशसंभवात् । नचैवं—सत्प्रतियोगिकविशिष्टतादात्म्यस्य ब्रह्मण्यसंभवात् ब्रह्मवारणस्य तेनैव संभवेन सत्त्वाभावोपादानं व्यर्थमिति—वाच्यम्; परमते घटाद्यात्मकसत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यस्य सद्व्यपत्तत्वादौ संभवेन प्रपञ्चस्य सद्व्याख्यावृत्त्यसम्भवेन अनुमाने सिद्धसाधनात्, विजातीयव्यावृत्त्यसंभवेन लक्षणालाभाच्च ॥

॥ इति लघुचन्द्रिकायां सदसद्विलक्षणत्वरूपप्रथममिथ्यात्वविचारः ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

यत्त्विति । सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं नोक्तरूपं, किन्त्वन्यदेवेति नातिव्याप्तिरित्याह—सत्त्वेनेति । नचैवमपि—अलीके प्रातीतिकसत्तादात्म्यमादायातिव्याप्तिर्दुर्वारेति—शङ्क्यम्; तस्य पूर्वं निरासात् । सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य सत्तादात्म्यवत्त्वरूपत्वे सत्तादात्म्येऽव्याप्तिः । अनवस्थाभयेन तत्र सत्तादात्म्यान्तरानुपगमात् इत्यतः सत्तादात्म्यघटितान्यतरत्वनिवेशः । यदि तु घटाभावे घटाभावस्यैव सत्तादात्म्ये स्वस्यैव सत्तादात्म्यस्य स्वरूपसंबन्धेन वृत्तिः स्वीक्रियत इत्युक्तं स्मर्यते, तदोक्तान्यतरत्वानिवेशेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम् । एवं उक्तान्यतरत्वरूपस्यासत्त्वाभावस्य निवेशे । सत्प्रतियोगिकत्वोपलक्षिततादात्म्यस्य संबन्धतया संयोगस्यैव द्विष्टस्य ब्रह्मण्यपि संभवाद्विशिष्टेत्युक्तम् । यद्यप्युक्तोपलक्षिततादात्म्यघटितलक्षणे न सत्त्वाभाववैयर्थ्यम्; तथाप्युक्तविशिष्टघटितलक्षणेऽपि तत्सार्थक्यं संभवतीत्यभिप्रायेण समाधत्ते—परमत इति । सद्व्याख्यावृत्तिः सद्व्यपत्तविरोधिमिथ्यात्वसिद्धिः । नन्वेवमपि लक्षणे तद्वैयर्थ्यं दुरुद्धरम्; इत्यत आह—विजातीयेति । अयं भावः । व्यावर्तकमेव हि लक्षणम् । व्यावर्तकत्वं च लक्ष्यभूतपक्षधर्मिकेतरभेदानुमितिस्वरूपयोग्यत्वम् । तच्च लक्ष्यवृत्तित्वे सति इतरभेदव्याप्यत्वम् । मिथ्यात्वलक्षणस्य चोभयमते लक्ष्यं व्यवस्थाप्यानिर्वचनीयताकं शुक्तिरजतादिकम् । तत्र च प्रकृतलक्षणेन हेतुभूयेतरभेदोऽनुमेयः । एवं च यदि सत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्याधिकरणत्वघटितं सत्त्वाभावाघटितं लक्षणं तदा तस्य परमते घटत्वादिसद्रूपसाधारणतया घटत्वादावितरभेदव्यभिचारित्वात् न तादृशानुमितिस्वरूपयोग्यत्वम् । इतरपदार्थश्चात्र सदसती, तदुभयभिन्नस्यैवात्र शुक्तिरजतादेर्लक्ष्यभूतपक्षरूपत्वात् घटत्वादेः सद्व्यपत्तेरभेदेऽपि व्यभिचारसंशयस्य दुर्वारत्वात् सत्त्वाभावघटितलक्षणादिरेव युक्तः । तादृशलक्षणवति दृष्टान्ते परेणापि सदसद्रूपेतरभेदस्यैवाङ्गीकार्यत्वेन घटत्वादौ च तादृशलक्षणरूपत्वे हेतावपि विवादेन तद्व्याप्यत्वघटितं स्वरूपयोग्यत्वमक्षतमिति ॥ अत्र परमतेऽपि शुक्तिरूपमेकं प्रातिभासिकं पक्षीकृत्यापरेण तेन रज्जुसर्पादिदृष्टान्तेनोक्तलक्षणरूपहेतुना सदसद्रूपेतरभेदः साधनीयः, नत्वितरसामान्यभेदः । रज्जुसर्पादौ व्यभिचारात् । नापि प्रातिभासिकसामान्यं पक्षीकृत्य तदितरसामान्यभेदः साध्यः; अन्यदृष्टान्ताभावेनान्वयव्यतिरेकग्राह्यत्वात् । घटत्वादेः सत्त्वे विवादेन दृष्टान्तत्वासंभवात् व्यतिरेकव्याप्तेश्चानुमानाङ्गत्वानुपगमादिति बोध्यम् । एतत्सूचनायैवेतरेत्यनुक्त्वा विजातीयेत्युक्तम् इति शिवम् ।

इति ब्रह्मानन्दीयव्याख्याने विट्टलेशीये प्रथममिथ्यात्वनिरुक्तिटिप्पणी ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रथममिथ्यात्वम् ।

श्रीरस्तु ।

अथ प्रथममिथ्यात्वनिरूपणम्—

तदयं संग्रहः—

(१) न्यायामृतकाराः—

न तावत्सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम् । तद्वि सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावो वा, सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावधर्मद्वयं वा, सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा, । **नाद्यः**; मन्मते सदेकस्वभावे जगति तस्याप्रसिद्धत्वात् । **न द्वितीयः**; सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहस्वरूपत्वेनैकाभावेऽपरसत्त्वावश्यकत्वेनोभयसाधनस्य व्याहृतिपराहृतत्वात् । **यद्यपि** अस्मन्मतेऽप्रामाणिकस्यैवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन प्रामाणिकस्य सत्त्वस्याभावाप्रसिद्ध्या न सत्त्वाभावोऽसत्त्वम्, एवं असत्त्वस्यापि तुच्छे प्रामाणिकत्वेन तदभावोऽपि न सत्त्वमिति, न परस्परविरहरूपत्वसंभव इत्यारोपितसत्त्वासत्त्वयोरेव परस्परविरहरूपत्वाद्वास्तवसत्त्वासत्त्वाभावसाधने न व्याहृतिरिति परस्परविरहरूपत्वोक्तेः परस्परविरहव्यापकत्वतात्पर्यमेव वर्णनीयम्; तदपि यत्रारोपितसत्त्वाभावः, तत्तासत्त्वमिति व्याप्तिप्रसिद्धावेवोपपद्यते; सा च न संभवति, वास्तवसत्त्वाधिकरणे घटादावारोपितसत्त्वाभावसत्त्वप्यसत्त्वाभावादिति न दोषः; **तथापि** अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना सहेव प्रतियोग्यारोपे प्रधानभूतेनापि विरोधेनारोपितसत्त्वाभावस्यारोपितसत्त्वेनेव वास्तवसत्त्वेनापि विरोधस्याङ्गीकारादुक्तव्यापकत्वसंभवः । यत्र वास्तवसत्त्वं तत्रारोपितसत्त्वाभावो नास्तीति प्रतीत्या प्रतियोग्यारोपे प्रधानेनापि विरोधस्याङ्गीकार्यत्वात्, आरोपितसत्त्वात्यन्ताभावो नास्तीत्यस्य प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गारोपपूर्वकप्रतीतिविषयाभावो नास्तीत्यर्थकरणात्, यत्र वास्तवं सत्त्वं तत्र सत्त्वाभावस्य सत्त्वारोपपूर्वकप्रतीतिविषयत्वाभावात् । अत एव हि दोषात्यन्ताभावो भगवच्छक्षणमिति सिद्धान्तोऽपि संगच्छते; अन्यथा तत्रापि पूर्वोक्तरीत्याऽऽरोपितदोषाभावस्यैव भगवच्छक्षणत्वापत्त्या तस्य जीवसाधारण्यापत्तेः । निर्धर्मकब्रह्मवत्सत्त्वरहित्येऽपि सद्रूपत्वापत्त्याऽर्थान्तराच्च । न द्वितीयः, असत्त्वाभावांशस्य सिद्धत्वादंशतः सिद्धसाधनाच्च । **नापि तृतीयः**; व्याहृतेः, अर्थान्तरात्, साध्यवैकल्यात्, विशिष्टस्याऽप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च इति वर्णयन्ति ॥

(२) तत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

यद्यपि सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावपक्षो न क्षोदक्षमः; **तथापि** द्वितीयतृतीयपक्षौ विचारसहावेवेति न मिथ्यात्वनिर्वचनासंभवः । **तथाहि**—न सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वमङ्गीक्रियते; अप्रामाणिकस्यैवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्यादि—भवदीयसिद्धान्तस्य प्रामाणिकानां घटादीनामप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वदर्शनेनानुक्तत्वेन वास्तवसत्त्वाभावतादृशासत्त्वाभावरूपोभयस्यैवात्र विवक्षणेन सन् घट इतिवच्छ्रुतिरूपं सदिति प्रतीत्याऽवाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेक एवासत्त्वमिति वर्णनासंभवेन कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्ययोग्यत्वस्यैवासत्त्वरूपताया अङ्गीकरणीयत्वात् । एवंच तादृशसत्त्वाभावसत्तादात्म्योभयसाध्यतायामेवात्र तात्पर्येण नोक्तव्याहृतेरवसरः । अस्तु वा परस्परविरहरूपत्वं, तावतापि भवत्सिद्धान्तानुसारेणाऽऽरोपितसत्त्वाभावस्यैवासत्त्वरूपत्वमित्येवाङ्गीकरणीयतया वास्तवसत्त्वसत्त्वाभावसाधने न व्याघातावकाशः । यदि तु तदर्थं परस्परविरहरूपत्वोक्तेः परस्परविरहव्याप्यत्वे तद्व्यापकत्वे वा तात्पर्यमित्यङ्गीक्रियते, तावतापि प्रतियोग्यारोपस्य प्रधानेनापि विरोधस्यासंभवः, भिन्नसत्ताकयोरविरोधस्योपपादयिष्यमाणत्वादिति, वास्तवसत्त्वाधिकरणे घटादौ प्रातीतिकसत्त्वप्रतियोगिका भावरूपसत्त्वाभावसत्त्वेऽपि तादृशसत्त्वाभावाभावस्यासत्त्वेन परस्परविरहव्यापकत्वासंभवः, वास्तवसत्त्वाधिकरणे तस्य निषेधानर्हतया प्रातीतिकसत्त्वारोपपूर्वकमेव प्रातीतिकसत्त्वाभावस्य घटे विषयताया वाच्यतया प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गारोपपूर्वकप्रतीतिविषयाभावो नास्तीत्यर्थकरणेऽप्यनुस्तरात्, अन्यथा दोषाभावो भगवच्छक्षणमिति भवदीयसिद्धान्तस्यापि भङ्गापत्तेः; तत्रापि प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गारोपपूर्वकप्रतीतिविषयदोषाभावस्याभावात्, वास्तवदोषादिसत्त्व-एव दोषाद्यनारोपः, तत्सत्त्वे तु तस्याप्यारोप इत्यत्र विनिगमकाभावात् । **अतएव**—परस्परविरहव्याप्यत्वपक्षोऽपि **निरस्तः**; गोलाध्वलयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोर्गजे सामानाधिकरण्यदर्शनेन तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वाच्च । केवलो निर्गुण इति श्रुत्या निर्धर्मकत्वेनावगतस्य ब्रह्मणः श्रुतिप्रमितत्वेन सद्रूपत्वाङ्गीकारेऽप्यतादृशस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वाङ्गीकारायोगात् । एकपक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानेकधर्मसाधने सिद्धसाधनाभावस्य भवदीयग्रन्थ एव प्रतिपादनात्कस्यापि

दोषस्याभावेन द्वितीयपक्षः समीचीन एव । यदितु प्रत्यक्षप्रमितत्वेन प्रपञ्चस्यापि सद्रूपत्वसिद्धिः, प्रत्यक्षमेवागमात्प्रबलमिति च विभाव्यते, तदापि तुष्यतु दुर्जनन्यायेन अर्थान्तराभावोपपादनार्थं सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं साध्यमिति भेदघटितसाध्यमङ्गीकृतम् । सर्वथाऽपि सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यूहैव । एतेन—तृतीयपक्षेऽयुक्तव्याघातादीनां नावसर इति—सूचितम् । शुक्तिरूप्ये सत्त्वाभावविशिष्टासत्त्वाभावप्रसिद्ध्या नाप्रसिद्धविशेषणत्वमपीति सर्वमनवयम् इति निरूपयन्ति ॥

(३) तदेतत्तरङ्गिणीकारा न सहन्ते—

तथाहि—“असत्त्वेन प्रतीयेत” इति वदता त्वयोक्ताप्रतीतिप्रयोजकस्य प्रतीत्यनुपाधिकस्य बाध्यत्वाभावरूपस्यैवासत्त्वस्य वक्तव्यत्वेन घटादिगतसत्त्वस्य शशशृङ्गादिगतासत्त्वाभावरूपत्वस्य घटादिगतारोपितासत्त्वात्यन्ताभावरूपत्वस्य वा स्वीकारे, क्रमेण तुच्छत्वस्य, असत्त्वात्यन्ताभावरूपसत्त्वस्य निःस्वरूपत्वेन तदत्यन्ताभावरूपत्वस्याऽसत्यनुपपत्तेश्चापत्तावपि समानसत्ताकयोः परस्परविरहयोर्व्याप्यत्वविशिष्टव्यापकत्वरूपत्वनियमस्याङ्गीकरणीयत्वेनोक्तव्याघाततादवस्थम् । उक्तविधसत्त्वाभावव्यापकत्वं च उक्तविधासत्त्वे विद्यत एव; शुक्तिरूप्ये तादृशासत्त्वस्यैव विद्यमानत्वात् । एतेन—परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि गोलाश्वत्थयोः तदभावयोरुष्ट्रे सहोपलम्भवदुपपत्त्या तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वादिवचनमपि—पराहतम्; केवलव्याप्यत्वस्य व्याघातप्रयोजकत्वस्यास्मदनभिमतत्वात्, व्याप्यत्वविशिष्टव्यापकत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वस्याभिमतत्वात् । एवंच गोलाश्वत्थयोः परस्परविरहव्यापकत्वाभावान्नोक्तदोषः । सत्त्वाभावेऽपि ब्रह्मवत्सद्रूपलोपपत्त्याऽर्थान्तराच्च । नच—आगमापेक्षया प्रत्यक्षस्य दौर्बल्येन तद्वाधितं सद्रूपत्वं न सिद्ध्यतीति—वाच्यम्; एवंसति रजतं विनाऽपि शुक्तौ रजततादात्म्यवत् सद्रूपं वस्तु विनाऽपि प्रपञ्चे सत्तादात्म्यप्रतीत्युपपत्तौ ब्रह्मणोऽपि सद्रूपताया असिद्धिप्रसङ्गात् । एतेन—शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि—सूचितम् । ऐकाधिकरण्येनोभयाप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । इति ॥

(४) ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—

यद्यपि अन्यत्रासत्त्वं प्रतीत्यनुपाधिकमेव विवक्ष्यते; तथापि प्रकृते निवेशनीययोः सत्त्वासत्त्वयोरसत्त्वं न तादृशं विवक्ष्यते इत्येव सिद्धिग्रन्थाशयः । नह्यन्यत्र प्रतीत्यनुपाधिकमेवासत्त्वं विवक्षितमित्येतावता सर्वत्रापि तथैव विवक्षणीयमिति समस्ति काचन राजाज्ञा । एवंचात्र क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वस्यैवासत्त्वपदेन विवक्षणात्तस्य च शुक्तिरूप्येऽभावाद्यभिचारेण परस्परविरहव्यापकत्वस्यासंभवाद्वाप्यत्वविशिष्टव्यापकत्वस्य समानसत्ताकपरस्परविरहनिष्ठस्यात्राभावान्न व्याघातः । परस्परविरहव्याप्यत्वं तु संभवदपि न व्याघातप्रयोजकमिति सिद्धावेवोक्तम् । एवंच द्वितीयपक्षो न दुष्टः । इदं रजतमित्यादौ विद्यमानस्यैव रजतस्य तादात्म्यं शुक्तौ भासते, नाविद्यमानस्य; अनिर्वचनीयख्यात्यङ्गीकारात्, एवं सत्तादात्म्यमपि सद्रूपसत्तायामेव संभवति, नान्यथा । इयांस्तु विशेषः,—रजतस्य बाधकज्ञानबाधितत्वात्प्रातिभासिकत्वम्, ब्रह्मणस्त्वतथात्वात्पारमार्थिकत्वमिति । एतेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमपि परिहृतम् । पृथिवीतरभिज्ञेत्यत्रेव विशकलितप्रसिद्धिमादायोभयसाधनसंभवेन, शुक्तिरूप्ये उभयप्रसिद्धेरपि विद्यमानत्वेन चाप्रसिद्धविशेषणत्वस्याप्यसंभवात् । एतेन विशिष्टसाध्यकत्वपक्षेऽपि व्याख्यातः । भेदघटितसाध्यकत्वपक्षे तु न कोऽपि दोषः पृथक्प्रतिपादित इति तत्त्वण्डनार्थं न यतितम् । गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नमित्यत्रेवांशतः सिद्धसाधनं न दोषाय । भेदासामानाधिकरण्योपलक्षिताभेदस्यैव संसर्गताया अभ्युपगमेन न भेदाभेदज्ञानयोरेकज्ञानेनापरज्ञानस्य प्रतिबन्धः । इति प्रतिपादयन्ति ॥

इति प्रथममिथ्यात्वनिरूपणम् ॥

अथ द्वितीयमिध्यात्वोपपत्तिः ।

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् । ननु—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधसिद्धिव्याख्या ।

अथ सिद्धिव्याख्यायां द्वितीयमिध्यात्वम् ।

प्रतिपन्नोपाधाविति, असद्भाववर्तनायेदं विशेषणम् । प्रागभावादिप्रतियोगित्वमादायांशतः सिद्धसाधनवारणाय त्रैकालिकेति । ननु—विवरणे आपणादिनिष्ठस्यैव पारमार्थिकरजतस्य स्वरूपेण शुक्त्यादिरूपप्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्योक्तत्वात्तद्वदेव प्रपञ्चस्य प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठ-त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वसाधनस्य सत्यत्वेऽप्युपपत्त्याऽर्थान्तरम्, संवन्धान्तरेण स्वसमवायदेशनिष्ठ-त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वाच्च सिद्धसाधनमिति चेन्न; सर्वत्र प्रतिपन्नोपाधौ प्रतिपत्तिविषयीभूत-सकलसंवन्धेन स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य वा विवक्षितत्वात् । नचैवं विवरणे सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा सत्यत्ववादिनोद्भावयितुं शक्यते; तेन केवला-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ द्वितीयमिध्यात्वोपपत्तिः ।

‘नेह नानास्ती’त्यादिश्रुत्यर्थे विवदमानं प्रति साध्यान्तरमाह—प्रतिपन्नेत्यादि । प्रतिपन्नः स्वप्रकारकधी-विशेष्यः य उपाधिरधिकरणं तन्निष्ठो यस्त्रैकालिकनिषेधोऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वमित्यर्थः । कपालादिनिष्ठभेद-

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

अथ विद्वलेशप्रणीतायां ब्रह्मानन्दीयव्याख्यायां

द्वितीयमिध्यात्वम्

प्रतीति । निराकर्तुमिल्यर्थः । शशविषाणाद्यसद्भाववृत्त्यर्थं प्रतिपन्नत्वमुपाधिविशेषणम् । तदुभयं व्याचष्टे—प्रतिपन्न इत्यादि । प्रतिपत्तिः ज्ञानं तद्विषयतायाः केवलान्वयितया स्वशून्यतद्विषयतन्वादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमादाय घटादौ सिद्धसाधनमतः पूरयति—स्वप्रकारकेति । स्वं मिथ्यात्वेनाभिमतम् । न च—तन्तोरपि स्वप्रकारकभ्रमविषयतासंभवा-दुक्तदोषतादवस्थम्, तादृशप्रमाविवक्षणे सिद्धान्ते कपालादेरपि घटादिभ्रमं प्रत्येव विषयतयाऽसंभवापत्तिरिति—वाच्यम्; स्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेन पराभिमतत्वस्य विवक्षितत्वादिति भावः । वस्तुतस्तु स्वप्रकारकलोपादानं तुच्छातिव्याप्तिवा-रणाय । न च—असन्नशृङ्ग इति विकल्परूपप्रतीतिमादाय सा दुर्वारेति—वाच्यम्; स्वप्रकारतायां सत्त्वावच्छिन्नत्वस्यासद-वृत्तित्वस्य वा निवेशात् । धीविषयत्वं तु यथाश्रुतमेव । तेन सर्वत्रेति पूरणपरपूर्वग्रन्थेन न विरोधः । उप समीपे आधीयते-ऽस्मिन्नित्युपाधिरिति व्युत्पत्त्यभिप्रायेण व्याचष्टे—उपाधिरधिकरणमिति । प्रतिपन्नपदे निष्ठार्थविषयताया विशेष्यता-रूपत्वलाभायेदं, अधिकरणत्वं तु न घटकं; अव्यवर्तकत्वात् । ननु त्रैकालिकनिषेधो भेदोऽपीत्यतो व्याचष्टे—त्रैकालिक-निषेधोऽत्यन्ताभाव इति । ननु—त्रैकालिकनिषेधपदेनात्यन्ताभावविवक्षणे प्रपञ्चाभावस्य कालिकाव्याप्यवृत्तितामादाया-र्थान्तरवारकस्य त्रैकालिकत्वरूपविशेषणस्य त्रैकालिकपदेन पूर्वं लभितस्यात्रालम्भप्रसङ्गः, निषेधपदोपस्थाप्याभावे त्रैकालि-कपदेन भेदव्यवर्तकविशेषणालाभेन त्रैकालिकनिषेधपदेनात्यन्ताभावविवक्षाया असंभवश्च, न च—त्रैकालिकपदस्य सदातनो निषेधपदस्य चान्योन्याभावभिन्नाभावरूपः संसर्गाभावोऽर्थ इति मत्वा नित्यसंसर्गाभावार्थकाल्यन्ताभावपदेन त्रैकालिक-निषेधपदस्य विवरणं युज्यते, उक्तशङ्काद्वयाप्रसरादिति—वाच्यम्; कपालादिनिष्ठभेदध्वंसादिप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाधनं स्यात् अतस्त्रैकालिकेत्युत्तरपक्षिपर्यालोचनेन निषेधपदार्थे अभावत्वावच्छिन्ने त्रैकालिकपदेनैव भेदध्वंसादिवारकविशेषण-

१ सप्तम्यन्तपदसमभिव्याहृतनञोऽत्यन्ताभावबोधकत्वस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् ‘नेह नाने’ति श्रुतेरत्यन्ताभावघटितमिध्यात्वसमर्पण एव सामर्थ्यात् द्वितीयमिध्यात्वमत्यन्ताभावघटितमेव निर्वचनीयमित्यपि नेहेति श्रुतिनिर्देशेन सूचितमिति, अत्यन्ताभावघटितमेव मिथ्यात्वं वक्तव्यमिति निर्वन्धाभावाच्चेति न्यायभास्करोक्तमपि पराहृतम् ॥ इति ॥

धस्य तार्त्त्विकत्वे अद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनं, व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन

सिद्धिव्याख्या ।

न्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिनस्तदप्रतियोगिनश्च स्वदेशकालसंबन्धयोश्च प्रतिपत्तिविषयीभूतसकलसंबन्धेन स्वरूपेणासत्त्वस्यैवाङ्गीकारात् । नचैवं—प्रतिपन्नोपाधाविति व्यर्थं विशेषणम्, सर्वत्रेत्यनेनैव तल्लोभादिति—वाच्यम्; प्रतिपन्नोपाधावित्यनेनैव तस्य विवक्षितत्वादिति ध्येयम् । ननु—त्रैकालिकनिषेधः किं तार्त्त्विकः ? उत प्रातिभासिकः ? आहोस्विद्व्यावहारिकः ? इति त्रिधा विकल्पनं मनसि निधायाह—नन्विति । अद्वैतहानिरिति । तथाच ततो भीतेन त्वया त्रैकालिकनिषेधस्य तार्त्त्विकत्वं नाङ्गीकर्तव्यमिति ध्येयम् । द्वितीये त्वाह—प्रातिभासिकत्व इति । आगन्तुकदोषप्रयुक्तभानत्वमित्यर्थः । तथा च घटवति घटप्रतियोगिकनिषेध इव प्रपञ्चवति ब्रह्मण्यन्यत्र वा तत्प्रतियोगिकनिषेधः आगन्तुकदोषप्रयुक्तभानरूपाध्यास एव त्वन्मते पर्यवसित इति प्रपञ्चे तादृशनिषेधप्रतियोगित्वं साधयतस्तव न तत्र स्वाभिमतमिध्यात्वसिद्धिः । अतएव प्रपञ्चसत्यत्ववादिना मिध्यात्वं साधयन्तं प्रति सिद्धसाधनमर्थान्तरोद्घाटनं वा सुकरमिति भावः । तृतीयं दूषयति—व्यावहारिकत्वेऽपीति । तस्य बाध्यत्वेनेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ध्वंसादिप्रतियोगित्वमदाय सिद्धसाधनं स्यादतस्त्रैकालिकेति । अद्वैतहानिः 'नेह नाने'त्यादिश्रुतिबोधितस्य ब्रह्मणि दृश्यसामान्याभावस्य विरोधः । सिद्धसाधनमिति । कपाले घटो नास्तीत्यादिभ्रमे प्रातीतिकस्यात्यन्ताभावस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

लाभ इति प्रतीतेः, तस्य चासंभव इत्युक्तत्वादिति—चेन्न; मिथ्यात्वघटकाभावस्य व्याप्यवृत्तितया कालानवच्छिन्नत्वपक्षे त्रैकालिकपदस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वावच्छिन्ने लक्षणाया आवश्यकत्वेन तस्यैवान्योन्याभावभिन्नत्वमन्तर्भाव्य तद्वद्विषयमवच्छिन्ने लक्षणोचिता । निषेधपदस्यान्योन्याभावभिन्नार्थत्वे पदद्वये लक्षणापत्त्या तस्याभावत्वावच्छिन्नमात्रार्थकताया युक्तत्वादित्यभिप्रायात् । प्रकृते विवरणभूतात्यन्ताभावपदार्थघटकं नित्यत्वमपि अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वमेव । ध्वंसादेरपि कालावच्छिन्नवृत्तिकत्वात् व्युत्पासः । विप्रतिपत्तिव्याख्यावसरे तु व्याप्यवृत्तेः सर्वकालावच्छिन्नत्वमुपगम्य त्रैकालिकपदं सदातनरूपयथाश्रुतार्थपरतया व्याख्यायैकस्य निषेधपदस्यैव लक्षणाया संसर्गाभावावर्थकतया व्याख्यानं कृतमिति न कश्चित् पूर्वापरविरोधोऽपीत्यलम् ॥ नन्वेवं—त्रैकालिकत्वस्य निवेशे 'नन्वि'त्यादिमूलशङ्काया असङ्गतिः; प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकस्य च ज्ञानबाध्यत्वेन ज्ञानोत्तरकालेऽसत्त्वेन त्रैकालिकत्वासंभवात्, त्रैकालिकनिषेधपदेनात्यन्ताभावमात्रविवक्षणे तु तत्सङ्गतिः स्फुटैवेति—चेन्न; त्रैकालिकत्वं हि भूतादिविविधसंसारकालिकैवमेव, तत्त्वज्ञानोत्तरं कालस्यैवासत्त्वात् । तथाच ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्यस्यापि प्रातिभासिकस्य वक्ष्यमाणत्वात्; प्रपञ्चाभावस्य प्रातिभासिकत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्यत्वोपगमेन व्यावहारिकाबाध्यत्वेन त्रैकालिकत्वनिर्वाहः । एवंच व्यावहारिकत्वे शङ्कापि न । अत्र प्रातिभासिकत्वव्यावहारिकत्वरूपद्वैविध्यं तूलमूलज्ञानकल्पितत्वाभ्यामिति ध्येयम् । अद्वैतहानाविष्टापत्तिशङ्कां निरस्यति—नेहेति । विरोधः

१ एतत्पक्षे कालिकाव्याप्यवृत्तिमदत्यन्ताभावप्रतियोगितामादाय सिद्धसाधनप्रसक्तिरेव नास्ति, एवमपि निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नकालवृत्तित्वरूपस्योक्तविधित्रैकालिकत्वस्य, भावस्य निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नवृत्तेरप्रसिद्ध्या घटरूपघटाभावाभावे त्रैकालिकत्वस्याभावेन तत्प्रतियोगित्वमादाय घटाभावे लक्षणसमन्वयासंभवादव्याप्तिः अभावाभावस्यातिरिक्ततामत्राश्रयणं तु न संभवति; स्वप्नगजाभावादीनां स्वप्नगजात्मकाल्यन्ताभावप्रतियोगितामादायैव मिथ्यात्वस्य समर्थनात् । एतेन स्वप्नगजाभावेऽपि अव्याप्तिरिति सूचितमित्यादिशङ्काः प्रसरन्ति । तासां तु समाधानं अभावाभावात्मकभावस्वरूपस्य निरवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नत्वाङ्गीकारान्न दोष इति ॥ २ तादात्म्यसंबन्धस्य भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं यथा मतान्तरे प्रसिद्धमिति परेषां सिद्धसाधनमात्मनश्चार्थान्तरं, न तथा त्रैकालिकत्वस्य परमतेऽपि ध्वंसे प्रसिद्धिरिति न त्रैकालिकत्वविशिष्टध्वंसप्रतियोगितामादायार्थान्तरमित्युक्तार्थान्तरापादकन्यायभास्करवचनमपि न संगतमिति सूचितम् ॥ इति ॥ ३ कालिकाव्याप्यवृत्तेः पूर्वकालिकत्वविशिष्टघटाभावादेस्तु पूर्वकालावच्छेदेन घटवत्यभावात् न सदातनत्वमिति तादृशभावप्रतियोगितामादायार्थान्तरप्रसक्तिर्न भवति । एतेन कालत्वव्यापकत्वरूपत्रैकालिकत्वविवक्षणेऽपि न निस्तर इति न्यायभास्करोक्तं परास्तं; सर्वकालावच्छेदेन घटवति सर्वकालावच्छेदेन तदभावसाधनपक्षाभिप्रायेणैव तादृशस्य व्याख्यानस्य कृतत्वादिति ॥

तात्त्विकसत्त्वाविरोधितया अर्थान्तरं, अद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं च तत्प्रतियोगिनः प्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वं च स्यादिति—चेन्न; प्रपञ्चनिषेधाधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्त्विक-

सिद्धिव्याख्या ।

घटादितुल्यतया प्रपञ्चनिषेधस्यापि निषेधबाध्यत्वम्, अन्यथा दृश्यत्वादेस्तत्रैव व्यभिचारः स्यादित्यर्थः । तात्त्विकसत्त्वाविरोधितयेति । त्वया समसत्ताकयोरेव विरोधस्वीकारादिति भावः । अर्थान्तरमिति । व्यावहारिकप्रतियोगिमति व्यावहारिकतदत्यन्ताभावसाधने बाधोऽपि बोध्यः । तृतीयपक्षे दूषणान्तरमाह—अद्वैतश्रुतेरिति । तत्रैव दूषणान्तरमाह—तत्प्रतियोगिन इति । निषेधप्रतियोगिन इत्यर्थः । ननु—किं पारमार्थिकत्वेऽप्रातिभासिकत्वे सति व्यावहारिकनिषेधप्रतियोगित्वं प्रयोजकमभिप्रेतम् ? किं वा विमतः प्रपञ्चः पारमार्थिकः, अप्रातिभासिकत्वे सति व्यावहारिकनिषेधप्रतियोगित्वादिति साधनमभिप्रेतम् ? नाद्यः; त्वदुक्तप्रयोजकं विनापि ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वेन व्यभिचारात् । न द्वितीयः; व्याप्तिग्रहस्थलाभावात् । नच—अन्वयव्याप्तिग्रहस्थलाभावेऽपि निर्धर्मकब्रह्मणो व्यतिरेकव्याप्तिग्रहस्थलत्वं संभवतीति—वाच्यं; पारमार्थिकस्वरूपे ब्रह्मणि पारमार्थिकत्वरूपसाध्याभावस्यासंभवेन तस्य व्याप्तिग्रहस्थलत्वायोगात्, निर्धर्मकत्वेनैव हेत्वभावानधिकरणत्वाच्चेति—चेन्न; रूप्यादेरेव व्यतिरेकदृष्टान्तत्वसंभवात् । रूप्यादौ पारमार्थिकत्वाभाववति व्यावहारिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेन व्यतिरेकव्याप्तौ व्यभिचारवारणायाप्रातिभासिकत्वेति विशेषणं, शुक्तिरूप्यादौ चोक्ताप्रातिभासिकत्वरूपविशेषणविरहप्रयुक्तविशेष्याभावोऽस्त्येवेति न व्यभिचारः । न च—साध्यवति ब्रह्मणि हेतोरभावादसाधारण्यमिति—वाच्यम् ; वास्तवासाधारण्यस्य सतोऽप्यप्रतिबन्धकत्वात्, नहि साध्यवति वृत्तिमात्रेणासाधारण्यं, किंतु सर्वनिश्चितसाध्यवद्यावृत्तत्वेन हेतोर्ज्ञानाद्ब्रह्मणस्त्वन्मतेऽज्ञेयत्वेन साध्यवत्तयाऽनिश्चयादिति भावः । प्रथ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयत्वेन सिद्धसाधनमित्यर्थः । व्यावहारिकत्वे ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वे । तात्त्विकसत्त्वाविरोधितया प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्याबाध्यत्वेऽपि तदधिकरणे संभाविततया । अर्थान्तरं प्रपञ्चे सत्यत्वविरोधिमिथ्यात्वसिद्धिरूपात् प्रकृतानुमानप्रयोजनादन्यस्य साध्यसिद्धिमात्ररूपप्रयोजनस्य सिद्धिः । अद्वैतश्रुतेः 'नेह नाने'त्यादिश्रुतेः । अतत्त्वावेदकत्वं बाध्यविषयकत्वरूपम् । तत्प्रतियोगिनो व्यावहारिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनः पारमार्थिकत्वमिति । समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधादभावस्य व्यावहारिकत्वे प्रतियोगिनः प्रातिभासिकत्वासम्भवेन पारमार्थिकत्वमेव बलात्स्यादिति भावः । ब्रह्माभिन्नत्वात् ब्रह्मस्वरूपात्यन्ताभिन्नत्वात् । निषेधस्य प्रपञ्चात्यन्ताभावत्वविशिष्टतादात्म्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अनुपपत्तिः । कपाल इति । प्रातीतिकपदार्थाभ्युपगन्तृपरमते इत्यादिः ।—ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वे इति । एवं तात्त्विकत्वमबाध्यत्वं प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वं बोध्यम् । ब्रह्मणि व्यावहारिकप्रपञ्चाभावस्यापि परेणानभ्युपगमात् विप्रतिपत्त्या संशयकोटितया जिज्ञासितत्वसंभवात् अजिज्ञासिताभिधानरूपार्थान्तरासंभवाच्च व्याचष्टे—अर्थान्तरमिति । प्रयोजनादिति । अर्थशब्दः प्रयोजनवाचीति भावः । अतत्त्वं तद्वर्त्मिकतदभाववत्त्वम् । तदावेदकत्वं नोक्तश्रुतेरापद्यत इत्यत आह—अतत्त्वावेदकत्वमिति । बाध्यविषयकत्वं तदाश्रयज्ञानजनकत्वम् । अमत्त्वं तत्कारणत्वं व्यापारानुबन्धिनी वा विषयता । इदं च दूषणं प्रातिभासिकत्वकल्पेऽपि बोध्यम् ।—प्रातिभासिकत्वासंभवेनेति । ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वादिति भावः । प्रपञ्चनिषेधस्य ब्रह्माभिन्नत्वं यदि भेदसहितं, तदा प्रपञ्चेऽपि तादृशस्य ब्रह्माभेदस्य सत्त्वात् प्रपञ्चतुल्यतया तस्य व्यावहारिकत्वापत्तिरत आह—ब्रह्मस्वरूपात्यन्ताभिन्नत्वादिति । यद्वा ब्रह्माभिन्नत्वं यदि भेदसहिष्णु तदा ब्रह्माभिन्नस्य तात्त्विकवस्तुनः प्रपञ्चाभावस्य सत्त्वे कथं नाद्वैतहानिरित्यत आह—ब्रह्मेति । नन्वेवं ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावविशिष्टबुद्धेर्नहेत्यादिश्रुतिजन्याया अनुपपत्तिः, भेदस्यापि तत्र प्रयोजकत्वादित्यतो व्याचष्टे—

कत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम् । नच तात्त्विकाभावप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्तिः; तात्त्विका-

सिद्धिव्याख्या ।

मपक्षमादाय समाधत्ते—प्रपञ्चेति । प्रपञ्चनिषेधाधिकरणीभूतं यद्ब्रह्म तदभिन्नत्वान्निषेधस्येत्यर्थः । नाद्वै-
तेति । तथाच ततो निर्भीतेन मया त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वमङ्गीकार्यमेव । ननु—प्रपञ्चभ्रमार्थम-
धिष्ठानब्रह्मणः स्फुरणस्यावश्यकतया ब्रह्माभिन्नप्रपञ्चनिषेधस्यापि प्रकाशे प्रपञ्चभ्रमासंभव—इति चेन्न;
सत्त्वादिनाऽधिष्ठानाभिन्ननिषेधप्रकाशेऽपि प्रपञ्चनिषेधत्वादिनाऽप्रकाशनात्तत्संभवात् । न च—त्वन्मते
प्रपञ्चनिषेधत्वादेर्ब्रह्मातिरिक्तत्वे निर्विशेषत्वहानिप्रसङ्गेन ब्रह्मात्रत्वमेवेति—वाच्यम्; ब्रह्मात्रत्वेऽप्य-
ध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानत्वेऽपि प्रपञ्चनिषेधत्वादिनाऽप्रकाशेन तस्मिन् प्रपञ्चभ्रमोपपत्तेः । न
च—ब्रह्मणो वियदादिभावरूपप्रपञ्चप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधानतिरिक्तत्वे घटादिप्रतियोगिकत्रैकालिक-
निषेधवदनुपलब्धिप्रमाणकत्वापातेन भावरूपत्वाभावप्रसङ्गः, भावप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधस्यानुपल-
ब्धिप्रमाणकत्वादिनियमादिति—वाच्यम्; निषेधसमसत्ताकप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधत्वस्योपाधित्वेन
तादृशघटप्रतियोगिकनिषेधस्यानुपलब्धिप्रमाणकत्वादिनियमेऽपि, प्रपञ्चस्य निषेधभिन्नसत्ताकत्वेन तादृश-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पञ्चस्वरूपस्य । तथाचोक्तविशिष्टरूपेण निषेधस्य बाध्यत्वात् केवलरूपेण ब्रह्मात्यन्ताभेदान्नाद्वैतहानिरिति भावः ।
तात्त्विकत्वापत्तिरिति । अन्यथा मिथ्याप्रतियोगिकत्वेनाभावस्यापि मिथ्यात्वापत्तिः, निरूपकस्य मिथ्यात्वे निरूप्यस्य
सत्यत्वासंभवात् । नहि शुक्तिरूप्यादेः सादृश्यादिकमप्रातिभासिकम्, किंतु प्रातीतिकेन शुक्तिरूप्यादिना निरूप्यत्वात्
प्रातीतिकमेवेति भावः । उक्तविशिष्टरूपस्यैव मिथ्याप्रतियोगिनिरूपितत्वान्मिथ्यात्वम्, केवलरूपस्य तु ब्रह्मण
उक्तनिरूपितत्वाभावात् मिथ्यात्वम् । अतएव शुक्तिरूप्याद्यभावोऽप्यधिष्ठानचिद्रूपः प्रातीतिकप्रतियोगिनिरूपितत्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

निषेधस्येति । ननु विशिष्टरूपस्य निषेधस्य निर्धर्मकब्रह्मस्वरूपात्यन्ताभेदस्यासंभवादुक्तविशिष्टबुद्ध्युपपत्तावपि कथं
नाद्वैतहानिरित्यत आह—तथाचेति । बाध्यत्वादिति । उक्तरूपस्य प्रपञ्चरूपबाध्यवस्तुघटितत्वादिति भावः । केव-
लरूपेण निर्धर्मकब्रह्मरूपेण । ननु तात्त्विकाभावप्रतियोगिणे तात्त्विकत्वव्याप्तिरिति चेन्न तेन तदापत्तिः सुकरा, सैव तु
नैव सिद्धा, अप्रयोजकत्वशङ्काया दुर्वारत्वादित्यत आह—अन्यथेति । प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वाभावे इत्यर्थः । तस्य
मिथ्यात्वेनेति शेषः । अभावस्य प्रपञ्चाभावस्य । सत्यत्वासंभवादिति । यत् यन्निरूप्यं तत् तत्समानसत्ताकमिति व्याप्ते-
रिति भावः । इमां व्याप्तिमेव ग्राहयति—नहीति । एवं चैतद्व्याप्त्याऽप्रयोजकत्वशङ्कानिरासेन प्रपञ्चाभावस्य तात्त्विक-
त्वोपगमे प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्तेः संभाविततया तदभावस्य तात्त्विकत्वोपगमासंभव इति मूलशङ्काशय इति भावः ।
नन्वेवं शुक्तिरजते व्यभिचारेणोक्तशङ्कासमाधानमसङ्गतम्, उक्तीत्या प्रपञ्चे तात्त्विकत्वापत्तेर्दृढतयोक्तव्यभिचार-
स्याकिञ्चित्करत्वात्, निरूप्यस्य निरूपकसमसत्ताकत्वनियमे शुक्तिरूप्यस्य तात्त्विकत्वापत्तिर्भयेन तदभावस्याप्यतात्त्विकत्वेन
तत्र तात्त्विकाभावप्रतियोगित्वरूपव्याप्यस्यैवाभावेन व्यभिचारासंभवाच्चेत्याशङ्क्य समाधानमाह—उक्तविशिष्टरूपस्यै-
वेति । प्रपञ्चाभावत्वविशिष्टरूपस्येत्यर्थः ।—मिथ्यात्वमिति । इष्यत इति शेषः । केवलरूपस्य तादृशाभावत्वोपल-
क्षिताभावस्य । न मिथ्यात्वमिति । आपद्यत इति शेषः । अयं भावः—यत् येन रूपेण यन्निरूप्यं तत् तेन रूपेण
तत्समानसत्ताकम्—इत्येव व्याप्तिः, न तु रूपाघटिता; अनया च व्याप्त्या न प्रपञ्चतात्त्विकत्वापत्तिप्रयोजकव्याप्तावप्रयोजक-
त्वशङ्काव्युदासः; प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वमनुपगम्य मिथ्यात्वोपगमेऽपि तन्निरूप्यतानवच्छेदककेवलरूपेण तदभावस्य मिथ्या-

१ यत् भ्रमकालप्रतीतसापेक्षस्याभावस्य भ्रमकालप्रतीतिरपेक्षब्रह्मरूपत्वासंभव इति—वनमालामिश्रैरुक्तं, तदेतेन पराहतम्; उक्त-
रूपस्य निषेधस्यापि प्रतियोगिनिरपेक्षत्वात् अभावत्वविशिष्टस्यैव तथात्वात् । भ्रमकालप्रतीतत्वमपि ब्रह्मरूपत्वाद्विधत्ते । यदि तु निर्विशेष-
ब्रह्मणोऽपि भ्रमकाले न प्रत्यय इत्यादिपरमसिद्धान्तः पर्यालोच्यते, यदि च 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य शातत्वेनोपलक्षित' इति कारिकायांऽपि
पर्यालोच्यते, तदा नास्याः शङ्काया अवसरोपीति मन्तव्यम् ।
अद्वै. सि. १३

सिद्धिव्याख्या ।

प्रपञ्चप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधस्य तदभावेन तद्रूपब्रह्मणोऽप्यनुपलब्धिप्रमाणकत्वाभावेन भावरूपत्वोपपत्तेः । न च—वियदादिप्रपञ्चकारणस्य ब्रह्मणो वियदाद्यभावत्वाङ्गीकारे तत्कारणीभूताभावस्य तत्प्रागभावत्वापत्त्या तदत्यन्ताभावत्वं न स्यात् ; प्रागभावत्वरूपत्वे च प्रतियोगिनाशयत्वाद्यापत्तिश्चेति—वाच्यम् ; तार्किकमते दाहकारणीभूतप्रतिबन्धकाभावस्य दाहप्रागभावरूपत्वाभावेनोक्तनियमासिद्ध्याऽत्यन्ताभावत्वोपपत्तेः, प्रतियोगिनाशयत्वायोगाच्च । नच—तत्कारणीभूततत्प्रतियोगिकाभावस्य तत्प्रागभावत्वमिति नोक्तदोष इति—वाच्यम् ; अस्मन्मते ब्रह्मण्युक्तनियमासिद्ध्या व्यभिचारतादवस्थान्नाशप्रतियोगित्वस्योपाधित्वमपि । नच—निषेधस्य ब्रह्मानतिरिक्तत्वे त्रैकालिकत्वं विरुद्धं, त्रिकालसङ्गरूपस्यासङ्गश्रुतिविरोधेन ब्रह्मण्यसंभवादिति—वाच्यम् ; कल्पितेन त्रिकालसङ्गरूपेण तेन सह वास्तवसङ्गाभावबोधकश्रुतेर्विरोधाभावात्, निषेधस्य त्रैकालिकत्वं, प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्, नतु त्रिकालसङ्गित्वमित्युक्ते उक्तदोषाभावाच्च । नच—प्रागभावाप्रतियोगित्वादेर्नृशृङ्गादावतिव्याप्तिरिति—वाच्यम्, नृशृङ्गादेर्धर्मिणोऽसत्त्वे तत्रोक्तत्रैकालिकत्वधर्मस्याप्यसत्त्वेनातिव्याप्त्यनवकाशात्, तत्सत्त्वे तस्यासत्त्वव्याहृतेश्च । अतएव—ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपनित्यत्वस्य नृशृङ्गादिसाधारण्यस्य ब्रह्मादिसाधारण्यत्वायोगेनातल्लक्षणत्वप्रसङ्ग इति—निरस्तम् ; उक्तरीत्या तत्साधारण्याभावेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तसत्यत्वादिवत्तल्लक्ष्यत्वसंभवात् । अतएव च—प्रागभावप्रतियोगित्वरहितत्वादेर्वृत्तिमत्त्वेन वृत्तेश्च सङ्गत्वेनासङ्गत्वश्रुतिविरोधादवस्थ्यमिति—अपास्तम् । कल्पितसङ्गेन सह वास्तवसङ्गनिषेधकश्रुतेरविरोधस्योक्तत्वात्, प्रमेयत्वस्य वृत्तिमत्त्वाङ्गीकारेण तेषामप्यात्माश्रयापत्तेः । अतएव—ब्रह्मणो ध्वंसाप्रतियोगित्वसंबन्धित्वेन ध्वंसविरहमात्ररूपत्वे नित्यत्वाभावप्रसङ्गः, प्रत्युत ध्वंसविरहात्मकत्वेन नित्यत्वपर्यवसितब्रह्मसंबन्धवत्त्वेन प्रपञ्चस्यैव रूपसंबन्धतया घटादेः रूपित्ववन्नित्यत्वप्रसङ्ग इति—निरस्तम् ; उक्तरीत्या ध्वंसाप्रतियोगित्वसंबन्धित्वेन ध्वंसविरहमात्रत्वाभावेन नित्यत्वोपपत्तेः । न्यायमते नित्यघटत्वादजातिसंबन्धित्वेऽपि घटादेर्नित्यत्वाभाववत् नित्यब्रह्मसंबन्धित्वेऽपि प्रपञ्चस्यास्मन्मते नित्यत्वाभावोपपत्तेश्च । अतएव च—ब्रह्मणः प्रपञ्चनिषेधरूपत्वे प्रपञ्चस्य वियत्त्वाद्यनन्तधर्मावच्छिन्नतया तन्निषेधात्मनो ब्रह्मणोऽप्यनन्तत्वापत्तिः प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनात्यन्ताभावव्यक्तिभेदावश्यंभावादिति—निरस्तम् ; प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावचतुष्टयभेदकत्वेऽप्यत्यन्ताभावावान्तरभेदकत्वाभावात्, ब्रह्मणश्चात्यन्ताभावरूपत्वाङ्गीकारात् । न च—प्रागभावादौ एकत्वापत्तिरूपबाधकेन प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावचतुष्टयभेदप्रयोजकत्वकल्पनसमये सामान्यतोऽत्यन्तभावावान्तरभेदं प्रत्यपि प्रयोजकत्वं कल्प्यते, अतिप्रसङ्गादिबाधकाभावादिति—वाच्यम् ; प्रमेयघटो नास्ति, पृथुबुध्नोदराकारो नास्तीत्यादिप्रतीत्या, प्रमेयघटत्वपृथुबुध्नाकारत्वादेरपि प्रतियोगितावच्छेदकत्वापत्त्या तद्वेदादेकस्यैव घटात्यन्ताभावस्य नानात्वापत्तेः । यदिच तत्र घटत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकैक्यान्न नानात्वमत्यन्ताभावस्य, तदा प्रपञ्चत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकैक्यान्न नानात्वं, तदभावरूपब्रह्मणोऽपि । अतएव—प्रागभावप्रतियोगित्वरहितत्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वरहितत्वस्य त्रैकालिकपदार्थस्य ब्रह्मानतिरिक्तत्वे प्रतियोगितावच्छेदकभेदकप्रयुक्तस्तद्भेदो दुर्वार—इत्यपास्तम्, दत्तोत्तरत्वात् । तस्माद्वियदादिप्रपञ्चप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधस्य ब्रह्मानतिरिक्तत्वे बाधकाभावात् पारमार्थिकत्वेऽपि नाद्वैतहानिरिति भावः । ननु—प्रपञ्चस्तार्त्त्विकः स्यात् तार्त्त्विकाभावप्रतियोगित्वात्—इत्याशङ्कते—नचेति । शुक्तिरजतादौ व्यभिचारेण

भावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात् । अतात्त्विक एव वा निषेधोऽयम् । अता-

सिद्धिव्याख्या ।

दूषयति—तात्त्विकेति । अतात्त्विक एवेति । तथाच हेतोरसिद्धिः; न वाऽद्वैतहानिः; तस्य ब्रह्मभिन्न-
त्वेऽपि मिथ्यात्वादिति भावः । ननु —अतात्त्विकत्वेऽपि तस्य प्रातिभासिकत्वे तत्पक्षोक्तदोषतादवस्थम्—
इत्याशङ्क्याह—अतात्त्विकत्वेऽपीति । तथाच न तत्पक्षोक्तदोषावकाश इति भावः । तर्हि कीदृक् ?

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशिष्टरूपेणैव प्रातीतिकः, अधिष्ठानतावच्छेदकशुक्त्यवच्छिन्नरूपेण प्रातीतिकप्रतियोग्युपलक्षिताभावत्वविशिष्टेन
व्यावहारिकः, तार्विकस्तु केवलचिद्रूपेणैवाशयेन समाधत्ते—तात्त्विकेत्यादि । व्यभिचारात् यो यस्तार्विक-
स्वरूपाभावप्रतियोगी स तार्विक इति व्याप्तौ व्यभिचारात् । तथाच 'निरूपकं निरूप्यतावच्छेदकविशिष्टसमसत्ताक-
मेवे'ति व्याप्तिर्नास्माकं क्षतिकरीति भावः । ननु—तर्ह्येकाधिकरणे भावाभावयोरसमसत्ताकत्वाद्यावहारिकस्य घटादेः
प्रकृतानुमानात् प्रातीतिकाभावो वाच्यः, तथाच सिद्धसाधनं तदवस्थम्, तस्मात्तार्विक एवाभावो वाच्यः—तत्राह—
अतात्त्विकत्वेऽपीति । अत्यन्ताभावत्वरूपेणाभावस्य प्रतियोगिनिरूप्यत्वात्तेनैव रूपेण प्रतियोगिविरोधित्वेन विरो-
धभङ्गार्थं प्रतियोगिभिन्नसत्ताकत्वमभावस्याकाङ्क्षितम्, तदस्वीकृत्य केवलब्रह्मरूपेण भिन्नसत्तास्वीकारस्य व्यर्थत्वेना-
भावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वस्वीकारो व्यर्थः, भावाभावयोरेकाधिकरणे समसत्ताकत्वे तु न दोष इति स्वमगजतदभावदृष्टा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वापत्तिविरहेण तात्त्विकत्वोपगमसंभवात्, तत्प्रतियोगितया प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्त्यसंभवात् । एवं शुक्तिरजते व्यभिचारोऽपि
संभवत्येव; तस्य मिथ्यात्वेऽपि तन्निरूपकतानवच्छेदकेवलरूपेण तदभावस्य तात्त्विकत्वोपगमसंभवेन तत्र तात्त्विकाभावं-
प्रतियोगित्वरूपव्याप्यस्य सत्त्वात्, तात्त्विकत्वरूपव्यापकस्य चासत्त्वादिति । उक्तव्याप्तौ रूपनिवेशे युक्तिमाह—अतएवेति ।
उक्तव्याप्ते रूपघटितत्वादेवेत्यर्थः । तस्या रूपघटितत्वे तु शुक्तिरूप्याभावस्य तत्त्वेन प्रातीतिकशुक्तिरूप्यनिरूप्यत्वेन प्राती-
तिकत्वे रूपान्तरेणापि तथात्वात् व्यावहारिकत्वात्तात्त्विकत्वे न स्याताम् । ब्रह्मज्ञानान्यवाध्यत्वरूपप्रातीतिकत्वस्य तदबाध्य-
त्वविशिष्टवाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वेन अबाध्यत्वरूपतात्त्विकत्वेन च विरोधादिति शुक्तिरूप्याभावत्वेनापि प्रातीतिकत्वानुपगमे
उक्तव्याप्तौ व्यभिचार इति भावः—चिद्रूपोऽपीति । अनेन तात्त्विकत्वयोग्यतोक्ता ।—निरूपितत्वेति । निरूपित-
त्वावच्छेदकेत्यर्थः ।—विशिष्टरूपेणेति । प्रतियोगितासंबन्धेन शुक्तिरूप्यविशिष्टभावत्वविशिष्टरूपेणेत्यर्थः । रूपघटित-
वक्ष्यमाणव्याप्तौ व्यभिचारासंभवात् व्याचष्टे—व्यभिचारादिति । व्याप्ताविति । प्रपञ्चतात्त्विकत्वापादिकायामिति
शेषः । एवं च प्रपञ्चस्य तात्त्विकाभावप्रतियोगित्वेऽपि न तात्त्विकत्वापत्तिरिति भावः । ननु तथापि यत् यद्धर्मविशिष्टनि-
रूपकं तत् तद्धर्मविशिष्टसमानसत्ताकं यथा शुक्तिरूप्याभावत्वविशिष्टनिरूपकं शुक्तिरूप्यं प्रातीतिकमिति व्याप्तौ न व्यभि-
चार इत्यत आह—तथाचेति । प्रपञ्चतात्त्विकत्वापादकोक्तव्याप्तौ व्यभिचारे चेत्यर्थः ।—न क्षतिकरीति । प्रपञ्चाभा-
वस्य केवलब्रह्मरूपेणैव तात्त्विकत्वोपगमात् तद्रूपस्य च प्रपञ्चनिरूप्यतानवच्छेदकतया प्रपञ्चे केवलब्रह्मरूपविशिष्टनिरूपक-
त्वरूपस्य केवलब्रह्मस्वरूपाभावनिरूपकत्वरूपस्य वा आपादकस्याभावेन तात्त्विकत्वपर्यवसिततत्समसत्ताकत्वापत्तेरसंभवादिति
भावः । तर्हि प्रपञ्चाभावस्यातात्त्विकत्वोपगमे । अवतारिकोक्ततात्त्विकत्वपक्षं दूषयति—अत्यन्ताभावत्वरूपेणेति ।
प्रपञ्चविशिष्टात्यन्ताभावत्वरूपेणेत्यर्थः । प्रतियोगी प्रपञ्चः । विरोधभङ्गार्थं ब्रह्मरूपैकाधिकरणवृत्तिलोपपत्त्यर्थं—प्रति-
योगिभिन्नेति । प्रतियोगिसत्ताविलक्षणेत्यर्थः । तेनैव रूपेणैत्यनुपपन्नः । तथाच व्यावहारिकसत्ताकप्रपञ्चके ब्रह्मणि प्रपञ्चाभाव-
त्वविशिष्टस्य व्यावहारिकसत्ताया असंभवात् पारमार्थिकसत्त्वं स्वीकार्यमित्यर्थः । केवलब्रह्मरूपेण । प्रतियोगिविरोधितान-
वच्छेदकेनेति शेषः । भिन्नसत्ता पारमार्थिकसत्ता । व्यर्थत्वेनेति । तावतापि प्रपञ्चाभावत्वविशिष्टस्य प्रपञ्चवत् ब्रह्म-
वृत्तित्वानुपपत्तेरिति भावः । पारमार्थिकत्ववैयर्थ्यं तन्निर्वाहकब्रह्मरूपलोपगमोऽपि नावश्यक इत्याह—अभावस्येति । कथं
तर्हि व्यावहारिकप्रपञ्चतदभावत्वावच्छिन्नयोः ब्रह्मरूपैकाधिकरणे सत्त्वमत आह—भावाभावयोरिति । न दोष इति ।

१. एवंचाभावपारमार्थिकपक्षेऽभावत्वविशिष्टतादात्म्यापन्नकेवलचिद्रूपस्यैवाभावस्य मिथ्यात्वघटकत्वात् स्वामगजादावव्याप्तिरिति, तत्र
पक्षे तत्राव्याप्तिनिरूपणपरन्यायभास्करवचनं न संगतमिति सूचितम्—इति ।

त्त्विकत्वेऽपि न प्रातिभासिकः, किंतु, व्यावहारिकः । नच—तर्हि निषेधस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वा-

सिद्धिव्याख्या ।

इति पृच्छति—किंत्विति । उत्तरमाह—व्यावहारिक इति । नच तर्हीति । निषेधस्य व्यावहारिकत्वे इत्यर्थः । निषेधस्य बाध्यत्वेनेति । अध्यस्तत्वे सत्यागन्तुकदोषाजन्यत्वस्य भवता व्यावहारिकशब्दार्थत्वेन स्वीकृतस्य ब्रह्मज्ञानवाध्यत्वस्वीकारादित्यर्थः । यथा जीवे ईशप्रतियोगिकस्य व्यावहारिकभेदस्य स्वप्रतियोगिभूततद्भेदपारमार्थिकत्वाविरोधित्वं, तथा प्रपञ्चप्रतियोगिकस्य व्यावहारिकनिषेधस्य बाध्यत्वावश्यभावेन स्वप्रतियोगिभूतप्रपञ्चपारमार्थिकत्वाविरोधित्वं संभवति; तथाच स्वसिषाधयिषितमिथ्यात्वशरीरप्रविष्टनिषेधस्य व्यावहारिकत्वमङ्गीकुर्वतस्तव स्वानभिमतार्थसिद्ध्याऽर्थान्तरमिति भावः । यदि निषेधस्य बाध्यत्वं स्वप्रतियोगिपारमार्थिकत्वाविरोधि स्यात्, तदा स्वप्रार्थस्य स्वाप्रनिषेधेन सह बाधो न स्यात्; बाध्यमाननिषेधगतबाध्यत्वस्य तत्रापि स्वप्रतियोगिगतपारमार्थिकत्वाविरोधित्वस्य वक्तुं शक्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्तेन वक्ष्यत इति भावः । तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वात् निषेधसत्तापेक्षया प्रतियोगिनोऽधिकसत्तायामविघातकत्वात् । निषेधस्य पारमार्थिकत्वे सत्येव प्रतियोगिनोऽपारमार्थिकत्वमायाति; भावाभावयोरेकाधिकरणे पारमार्थिकत्वासंभवात्, अतएव स्वसमानाधिकरणस्वाधिकसत्ताकाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वम्, नतु स्वाधिकसत्ताव्यव-

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

तयोर्विरोधस्यैवानुपगमादिति भावः । तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वं तात्त्विकवृत्तित्वम्, तत्र च न बाध्यत्वं हेतुः, न वा तस्यार्थान्तरहेतुतेत्यतो व्याचष्टे—तात्त्विकेत्यादि । निषेधस्य सत्त्वापेक्षया प्रपञ्चनिषेधीयव्यावहारिकसत्त्वापेक्षया । प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य । अधिकेति । व्यावहारिकसत्ताधिका च पारमार्थिक्येवेति भावः । अविघातकत्वात् तद्विरहाप्रयोजकत्वात्, एकाधिकरणे प्रतियोगिनिष्ठ पारमार्थिकत्वाभावं प्रत्यभावाविष्टपारमार्थिकत्वस्यैव प्रयोजकत्वादिति भावः । तदाह—निषेधस्येति । पारमार्थिकत्वं ब्रह्मवदबाध्यत्वम् । मौलमर्थान्तरं पूर्वं व्याख्यातमेवात्र बोध्यम् । नन्वेवं ब्रह्मणस्तात्त्विकाभावासत्त्वेन तात्त्विकत्वात् स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकाभावमादाय तात्त्विकब्रह्मसाधारणत्वात् तस्य मिथ्यापदार्थतावच्छेदकत्वानुपपत्तिः । अतात्त्विक एव मिथ्यापदप्रयोगेनातात्त्विकवृत्तेर्धर्मस्यैव तदर्थतावच्छेदकत्वादित्यत आह—अतएवेति । प्रतियोग्यपारमार्थिकत्वेऽभावपारमार्थिकत्वस्यैव प्रयोजकत्वादेवेत्यर्थः । अन्यथा ब्रह्मणोऽप्यपारमार्थिकत्वापत्तिः । तत्साधारणस्य स्वाधिकसत्त्वाव्यवहितस्यैव मिथ्यापदार्थतावच्छेदकत्वं च स्यादिति भावः—स्वसमानेति । इदं च न पारमार्थिके संभवति; तदधिकसत्ताया अप्रसिद्ध्या तदधिकसत्ताकस्य तदभावस्याप्रसिद्धेः । अतो नास्य मिथ्यापदार्थतावच्छेदकत्वानुपपत्तिरिति भावः । ननु स्वसमानाधिकरणाभावे पारमार्थिकाप्रतियोगिकत्वनिवेशेनापि मिथ्यात्वस्य तात्त्विकव्यावृत्तत्वसंभवात् स्वाधिकसत्ताकत्वनिवेशोऽनावश्यकः । न चैवं—स्वसमानाधिकरणत्ववैयर्थ्यम्, पारमार्थिकाप्रतियोगिकाभावप्रतियोगित्वस्य सिद्ध्यापि प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वोन्मूलनसंभवेनार्थान्तरनिरासादिति—वाच्यम्; स्वाधिकरणकपालाद्यवच्छेदेन पारमार्थिकत्वेऽपि घटादेः पारमार्थिकत्वाव्याप्यवृत्तित्तामुपगम्य स्वानधिकरणतन्त्रादौ तस्य प्रातीतिकतया तदवच्छेदेन तदभावस्य पारमार्थिकाप्रतियोगित्वोपगमसंभवेनार्थान्तरावधारणात् । स्वसमानाधिकरण्यनिवेशे तु तस्य पारमार्थिकाप्रतियोगित्वे स्वाधिकरणावच्छिन्नत्वपर्यवसायितया घटादेः स्वाधिकरणावच्छेदेन पारमार्थिकत्वे तादृशतदभाववत्स्वाभावप्रतियोगित्वस्यासंभवेन तादृशप्रतियोगित्वसिद्धेः स्वाधिकरणतावच्छेदेनापि पारमार्थिकत्वविरोधितया अर्थान्तरावधारणादित्याशङ्का निरस्यति—नत्विति—तादृशेति । स्वसमानाधिकरणपारमार्थिकाप्रतियोगिकेत्यर्थः । शुक्तित्वस्य व्यावहारिकत्वादिति भावः । सिद्धान्ते व्यावहारिकादितादृशाभावप्रतियोगित्वज्ञानदशायां शुक्तित्वेऽपि मिथ्यात्वव्यवहारस्येष्टतया प्रातीतिकेत्युक्तम् । मिथ्यात्वव्यवहारादिति । तथाच तत्र तद्व्यवहारापत्तिर्नैति भावः । स्वाधिकसत्ताकत्वनिवेशे तु प्रातीतिकाभावस्य व्यावहारिकशुक्तित्वन्यूनसत्ताकतया तदा तत्र तद्व्यवहारापत्तिर्नैति भावः ।

विरोधित्वादर्थान्तरमिति—वाच्यम्; स्वप्नार्थस्य स्वप्ननिषेधेन बाधदर्शनात् । निषेधस्य बाध्यत्वं पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे न तन्नम्, किंतु निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम् । प्रकृते च तुल्यसत्ताकत्वात्

सिद्धिव्याख्या ।

त्वात् । अतो निषेधस्य बाध्यत्वं प्रतियोगिपारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे न तन्नमित्याह—स्वप्नार्थस्येति । तर्हि किं तन्नं ? इति पृच्छति—किन्त्विति । उत्तरमाह—निषेधेति । तदर्थस्तु असमसत्ताकत्वं समसत्ताकनिषेधप्रतियोगित्वाभावः । एवञ्च फलितमाह—प्रकृते चेति । चशब्दः समुदायार्थः । त्रैकालिकनिषेधतत्प्रतियोगिनोः स्वप्नार्थतन्निषेधयोश्च तुल्यसत्ताकत्वात् त्रैकालिकप्रपञ्चनिषेधस्वाप्नार्थाभावयोः गतस्य निषेध्यसत्ताकत्वस्य स्वप्रतियोगिगतपारमार्थिकत्वविरोधित्वमस्त्येवेति नार्थान्तरतेति भावः । अत एव जीवे ईशप्रतियोगिकस्य व्यावहारिकभेदस्य स्वप्रतियोगिभूततदभेदगतपारमार्थिकत्वाविरोधित्वमप्युपपद्यते; निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वस्य भेदे सत्त्वेन, तत्प्रतियोगिकभेदे तदपेक्षया न्यूनसत्ताकत्वस्याविरोधित्वप्रयोजकस्य सत्त्वादिति द्रष्टव्यम् । न च—स्वप्नदृष्टार्थस्य जाग्रत्यबाधानुभवान्न तस्य बाध्यत्वं, येन तत्साधारणं बाध्यताप्रयोजकं कल्पनीयं स्यात्; न हि स्वप्नदृष्टत्वमात्रेण बाध्यत्वम्, आत्मादेरपि बाधापत्तेरिति—वाच्यम्; बाध्यताप्रयोजकतुल्यसत्ताकत्वे विद्यमाने सति, तस्यापि बाधावश्यंभावेन स्वप्नार्थतत्प्रतियोगिकाभावौ बाधितावित्यनुभवबलेन चाबाधानुभवस्य भ्रमत्वकल्पनावश्यंभावादिति ॥ ननु—प्रतियोगितन्निषेधयोरुभयोरपि व्यावहारिकत्वाङ्गीकारे तुल्यसत्ताकत्वप्रयुक्तत्वविरोधादिदानीमन्यतरमात्रसत्त्वप्रसङ्ग इति शङ्कते—नचेति । अन्यतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वस्थलं प्रदर्शयन् प्रकृते नान्यतरसत्त्वमिति परिहरति—यत्र हीत्यादिना । तुल्यत्वादिति । नन्वेवमपि त्रैकालिकनिषेधस्य बाध्यत्वे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिर्दुर्वारा, यथोदाहृतरजतादौ; यत्र हि प्रतियोगिसत्त्वं विना निषेधस्य निषेधोऽनुपपन्नः, तत्र निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वमित्यपि संभवात्—इति चेन्मैवम् । तथात्वे प्रागभावप्रतियोगिसत्त्वं विना

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तमेव; प्रातीतिकतादृशात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन ज्ञातेऽपि शुक्तित्वादौ मिथ्यात्वाव्यवहारादिति भावः । स्वप्नार्थस्य स्वप्ने आरोपितस्य गजादेः । स्वप्ननिषेधेन स्वप्ने आरोपितमभावमादाय । बाधदर्शनात् मिथ्यात्वाव्यवहारदर्शनात् । न तन्नं न व्याप्यम् । न्यूनेति । निषेधस्येत्यनुपपद्यते । प्रकृते प्रपञ्चतत्सामानाधिकरण्यनिषेधयोः । तुल्यस-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

एवं च प्रपञ्चनिषेधस्य व्यावहारिकलोपगमे यथाश्रुतमिथ्यात्वसाधने मूले इयमर्थान्तरशङ्का । स्वाधिकसत्ताकत्वघटितमिथ्यात्वसाधने तु बाध एव दूषणमित्यवधेयम् । स्वाप्नेत्यत्र दार्पदवच्छेदिकोऽण् इत्याशयेनाह—स्वप्ने आरोपितस्येति । निषेधबाधपदयोरेकार्थकतया निषेधेन बाधदर्शनादित्यनन्वितमतो व्याचष्टे—स्वप्नप्रतिषेधेनेत्यादि । आदाय तत्प्रतियोगितां स्वाप्नगजादौ गृहीत्वा । व्यवहारदर्शनादिति । तथाच निषेधबाध्यत्वस्य प्रतियोगिपारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे तन्नत्वे तादृशव्यवहारानुपपत्तिः । स्वाप्नगजाभावस्य बाध्यत्वेन तत्प्रतियोगिनः स्वाप्नगजस्य पारमार्थिकत्वसंभवेन तदधिकसत्ताकत्वघटितमिथ्यात्वज्ञानासंभवादिति भावः । तन्नमित्यस्य व्यापकमिति नार्थः । व्यापकस्य व्याप्यानापादकतया निषेधबाध्यत्वेन प्रतियोगिपारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वापत्तेरसंभवेन शङ्कितुरनभिप्रेतत्वेनादूषणीयत्वात्, अतो व्याचष्टे—न तन्नं न व्याप्यमिति । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह—निषेधस्येति । पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे तन्नमिति चेति शेषः । नन्वेवमपि स्वाप्नगजतदभावयोः प्रातीतिकतया स्वाप्नगजे स्वाधिकसत्ताकत्वघटितमिथ्यात्वासंभवात् मिथ्यात्वव्यवहारानुपपत्तिः, प्रकृतानुमाने तदव्यभिचारश्च, एवं प्रपञ्चतदभावयोर्व्यावहारिकतया प्रपञ्चेऽपि तादृश-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

चाकत्वात् व्यावहारिकत्वात् । विरोधित्वं प्रपञ्चनिषेधस्य प्रपञ्चपारमार्थिकत्वव्याघातकत्वम् । तथाच स्वान्यूनस-
त्ताकस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं वाच्यम्, नतु स्वाधिकसत्ताघटितम्; स्वामार्थस्य स्वामत-
दभावघटितमिथ्यात्वव्यवहारानुपपत्तेः । न च—स्वमे प्रतीयमानेन व्यावहारिकात्यन्ताभावेनैव घटितं स्वामार्थस्य
मिथ्यात्वं प्रतीयते, तथाचाधिकसत्ताकात्यन्ताभावघटितमेव मिथ्यात्वं वाच्यमिति—वाच्यम्; स्वमे व्यावहारिकस्य
प्रत्यक्षज्ञानासम्भवादिन्द्रियाणामुपरतत्वादभावस्यानुभूयमानप्रत्यक्षत्वस्यापलापे स्वामन्त्रेऽपि स्मरणादेः वक्तुं शक्य-
त्वात् । तस्मात्तादृशाभावे प्रातीतिकत्वस्यावश्यं वाच्यत्वात्स्वान्यूनसत्ताकात्यन्ताभावघटितमेव मिथ्यात्वम् । ननु—
किमिदमभावस्य स्वप्रतियोगिन्यूनसत्ताकत्वम् ? उच्यते; प्रातिभासिकनिष्ठं व्यावहारिकपारमार्थिकान्यतरप्रतियो-
गिकत्वं व्यावहारिकनिष्ठं पारमार्थिकप्रतियोगिकत्वं चेत्यन्यतरत्वम्; तथाच व्यावहारिकपारमार्थिकान्यतरनिष्ठं यत्

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मिथ्यात्वाभावात् बाधश्चेत्यत आह—तथाचेति । न तु स्वाधिकसत्ताघटितमिति । पारमार्थिके तदन्यूनसत्त्वाप्र-
सिद्धौ तद्वटोक्तप्रतियोगित्वस्य पारमार्थिकव्यावृत्तत्वसंभवेन मिथ्यापदार्थत्वावच्छेदकत्वसंभवात् व्यावहारिक-
शुक्तित्वाभावस्य प्रातीतिकतया प्रतियोगिन्यूनसत्ताकत्वेनैव व्यावहारिकशुक्तित्वे स्वान्यूनसत्ताकत्वघटितमिथ्यात्वा-
संभवेन तद्व्यवहारापत्तिवारणसंभवाच्चेति भावः ।—तथाच, अधिकेति । स्वान्यूनसत्ताकत्वापेक्षया स्वाधिकसत्ताकत्वस्य
लघुत्वादिति भावः । तथाच प्रपञ्चाभावस्य व्यावहारिकत्वे उक्तानुमाने बाधप्रसङ्ग इत्यतः पारमार्थिकत्वमेव तस्य युक्त-
मिति शङ्काभिप्रायः । ननु स्वमे गजाद्यभावज्ञानं न प्रत्यक्षं, किन्तु स्मरणं तत्, इत्यत आह—अभावस्येति—शक्य-
त्वादिति । तथाच “अथ रथानि”त्यादिस्वाप्नपदार्थसृष्टिप्रतिपादकश्रुतिविरोध इति भावः । तस्मात् स्वाप्नगजादिवत्
प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वानुरोधात् । तादृशाभावे स्वाप्नगजाद्यभावे ।—वाच्यत्वादिति । स्वाप्नगजादेः स्वाधिकसत्ताकत्व-
घटितस्य मिथ्यात्वस्यासंभवेन तत्संभवायेति शेषः ।—स्वान्यूनेति । तथाच स्वाप्नगजाद्यभावव्यावहारिकप्रपञ्चाभावयोः
प्रतियोगिसमसत्ताकत्वेनान्यूनसत्ताकत्वात् तद्वटितमिथ्यात्वस्य स्वाप्नगजव्यावहारिकप्रपञ्चयोः सत्त्वान्न कोऽपि दोष इति
भावः । ननु स्वान्यूनसत्ताकत्वं नाम स्वसत्तान्यूनसत्ताकत्वस्याभावः । तच्च न्यूनत्वस्य दुर्वचत्वादुर्वचम् । न च—पारमार्थिकसत्त्वं
अबाध्यत्वं, व्यावहारिकसत्त्वं ब्रह्मज्ञानान्यज्ञानाबाध्यत्वे सति बाध्यत्वं, प्रातिभासिकसत्त्वं ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वम् । एतेषां च
परस्परं प्रतियोग्यभावघटितत्वेन यद्यपि परस्परज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः; तथापि प्रतियोगिज्ञानमुद्रयोत्तरज्ञा-
नस्यैव पूर्वज्ञानं प्रति सः । इत्थं च स्वान्यूनत्वं खनिष्ठसत्ताज्ञानं प्रति या प्रतिबन्धकता प्रतिबध्यता वा प्रतियोगिविधया
तदवच्छेदकप्रकारताश्रयत्वम् । (प्रतियोगिविधयेत्यस्य खनिष्ठसत्ताप्रतियोगिभूतभाववृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वं प्रकारतान्वयि
इत्यर्थः ।) अभावज्ञानत्वापेक्षया प्रतियोगिज्ञानत्वस्य न्यूनपदार्थघटितत्वेन तदवच्छिन्नप्रतिबन्धकतादिघटितस्य न्यूनपदार्थत्वौ-
चित्यात् । तादृशप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतभाववृत्तिधर्मवत्त्वं वा तत् । तादृशप्रकारताशून्यत्वं तादृशधर्मशून्यत्वं वा
स्वान्यूनत्वं, तद्वत्सत्ताकत्वं स्वान्यूनसत्ताकत्वमिति—वाच्यम्; व्यावहारिकस्य स्वपदेनोपादाने तादृशान्यूनत्वस्य प्रातिभासि-
कसत्तायां प्रसिद्धस्य व्यावहारिकाद्यभावसत्तायामभावसौलभ्येऽपि प्रातिभासिकस्य स्वपदेनोपादाने (पुनरुक्त) तन्निष्ठसत्ता-
ज्ञानं प्रति तद्विरसत्ताद्वयज्ञानस्याभावज्ञानमुद्रयैव प्रतिबन्धकतया प्रतियोगिविधया तदवच्छेदकविषयत्वाद्यप्रसिद्ध्या
तदन्यूनसत्ताकत्वस्याप्रसिद्ध्या तदन्यूनसत्ताकत्वस्याप्रसिद्धिप्रसङ्गात् । नापि तादृशप्रकारतावच्छेदकीभूतधर्मवत्त्वभावलो-
भयाभावत्वसत्ताकत्वं समुदायार्थः । पारमार्थिकस्य व्यावहारिकस्य वा स्वपदेनोपादाने व्यावहारिकप्रातिभासिकस-
त्तयोः निरुक्तोभयवत्त्वात्, प्रातिभासिकस्योपादाने सर्वास्वपि सत्तासु निरुक्तोभयाभावसत्त्वान्न कोऽपि दोष इति वाच्यम्,
गौरवात् । उक्तप्रतिबन्धकत्वाद्यग्रहदशायां मिथ्यात्वग्रहासंभवेन मिथ्यात्वव्यवहारानुपपत्तेश्चेत्याशयेन पृच्छति—ननु—
किमिति । व्यावहारिकप्रतियोगिकव्यावहारिकाभावस्य न्यूनसत्ताकत्ववारणाय प्रातिभासिकनिष्ठत्वनिवेशः । न च—व्या-
वहारिकनिष्ठत्वं व्यर्थं, प्रातिभासिकनिष्ठत्वस्य पूर्वदलोपात्तत्वात्, पारमार्थिकप्रतियोगिकपारमार्थिकाभावानभ्युपगमाच्च
व्यावृत्तत्वादिति—वाच्यम्; पारमार्थिकब्रह्मप्रतियोगिकस्य व्यावहारिकस्याप्यभावस्य वास्तवस्याभावेनोत्तरदलस्यैव वैय-
र्थ्यापत्तेः । अत्र च निरुक्तान्यतरवद्विज्ञत्वमन्यूनसत्ताकत्वं पर्यवसितम् । तथाचोक्तप्रतियोगित्वान्यतरत्वतद्धर्मिणोर्निवेशात्
गौरवमतो निरुक्तान्यतरत्वघटकप्रतियोगितयोर्भेदादेव मिथ्यात्वघटकप्रतियोगित्वे निवेद्य परिष्करोति—तथाचेति ।

१ ननु—पारमार्थिके ब्रह्मणि प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वमादाय मिथ्यात्वप्रसङ्गवारणार्थं प्रातिभासिकाभावप्रतियोगि-
त्वान्यनिवेशावश्यकत्वेऽपि निष्ठान्तविशेषणं व्यर्थं, स्वाप्नगजादावपि स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं प्रातिभासिकाभावप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वं, यच्च पारमार्थिकनिष्ठं व्यावहारिकाभावप्रतियोगित्वं तदन्यत् यत् स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, तदेव मिथ्यात्वम् । 'व्यावहारिकः पारमार्थिको वा अयं घटः स्वसमानाधिकरणप्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगी'ति ज्ञानकाले एतद्वदे मिथ्यात्वव्यवहाराभावात् 'पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकान्यस्य स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी'ति ज्ञानकाले इदं मिथ्येति व्यवहाराभावाच्च तदन्यदित्यन्तं प्रतियोगित्वविशेषणम् । ननु—पारमार्थिकत्वममिथ्यात्वम्, तथा च मिथ्यात्वघटितं मिथ्यात्वमित्यात्माश्रयः; ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावरूपं पारमार्थिकत्वमेव घटकमित्युक्तावपि तद्वदितस्य प्रकृतमिथ्यात्वस्य मिथ्यालक्षणत्वानुपपत्तिः, ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यवैयर्थ्यादिति—चेन्न; धूमप्रागभावादौ धूमादेरिव ज्ञाननिवर्त्यत्वस्योक्तप्रतियोगित्वे विशेषणत्वात्, अविनाशित्वरूपस्य पारमार्थिकत्वस्य प्रकृते निवेशसंभवाच्च । प्रातिभासिकनिष्ठं यत् स्वसमानाधिकरणप्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं विनाशिनिष्ठं यत् अप्रातिभासिकस्य स्वसमानाधिकरणप्रातिभासिकात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वं तयोरन्यतरत्वं मिथ्यात्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

अत्र प्रतियोगितान्यत्वानिवेशे पारमार्थिके ब्रह्मणि प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वमादाय मिथ्यात्वप्रसङ्गोऽतः तन्निवेशः । तत्र निष्ठान्तानिवेशे स्वाप्नगजादौ स्वाप्नतदभावमादाय मिथ्यात्वानुपपत्तिरतस्तन्निवेशः । परन्तु व्यावहारिकनिष्ठत्वनिवेशो व्यर्थः । व्यावहारिकघटादेर्मिथ्यात्वस्येष्टत्वात् प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वज्ञानकालेऽपि तत्र प्रातिभासिकत्वग्रहदशायामिष्टत्वादित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह—**व्यावहारिक इति** । एवं चोक्तज्ञानकाले उक्तग्रहदशयां घटादौ मिथ्यात्वव्यवहारोपपादनाय व्यावहारिकनिष्ठत्वं वैज्ञानिकं, न तु वास्तविकमिति बोध्यम् । एवं पारमार्थिकनिष्ठत्वानिवेशे ब्रह्मण्येव प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वमादायातिव्याप्तिर्यद्यपि, तथापि पारमार्थिकनिष्ठत्वमपि वैज्ञानिकमिति सूचनाय पारमार्थिकत्वग्रहदशयां घटादेरेव तत्प्रयोजनमाह—**पारमार्थिको वायं घट इति** । पारमार्थिकस्य ब्रह्मणो व्यावहारिकाभावानभ्युपगमे द्वितीयप्रतियोगितान्यत्वप्रयोजनासंभवात् ज्ञानातिव्याप्तिवारकतयैव तत्सार्थक्यति—**पारमार्थिकमिति** । इदं घटादि । **पारमार्थिकान्यस्य** व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकस्य पूर्वदलेनैव वारणात् । अत्रापि पारमार्थिकनिष्ठत्वं वैज्ञानिकम् । तेन नाप्रसिद्धिः, न वैतद्दोषतादवस्थितिमिति बोध्यम् । **विशेषणत्वादिति** । तथाच धर्मिमेदान्न वैयर्थ्यमिति भावः । ननु ज्ञाननिवर्त्यत्वं, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वम् । तद्वटकविरहस्य च प्रकृतमिथ्यात्वघटकविरहेऽप्युक्त्यात् प्रतियोगितायाः प्रतियोगिस्वरूपतामते तदुभयघटकप्रतियोगितयोर्घटस्वरूपत्वाच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वप्रकृतमिथ्यात्वरूपधर्मिणोः कथं भेद इत्यत आह—**अविनाशित्वरूपस्येति** । किं चोक्तप्रतियोगिताद्वयान्यत् एकं प्रातिभासिकनिष्ठं प्रतियोगित्वम्, अपरं च पारमार्थिकान्यनिष्ठम् व्यावहारिकपारमार्थिकाभावप्रतियोगित्वमवशिष्यते । तथाच लाघवात् तदुभयान्यतरत्वमेवोचितम् । पारमार्थिकान्यस्य पारमार्थिकत्वाघटितेन विनाशित्वादिना रूपेण व्यावहारिकपारमार्थिकयोश्चाप्रातिभासिकत्वेन निवेशे अन्योन्याश्रयवैयर्थ्ययोः शङ्कैव नेत्याशयेन निष्कर्षमाह—**प्रातिभासिकनिष्ठमिति** । **विनाशिनिष्ठमिति** । व्यावहारिकप्रातिभासिकान्यतरनिष्ठत्वस्य व्यावहारिकनिष्ठत्वस्यैव वा निवेशेनाप्युक्तशङ्कावारणसंभवे-

योगित्वप्रतियोगिकप्रातिभासिकभेदवदेव विद्यते इति नाव्याप्तिरिति—चेत् पारमार्थिकब्रह्मनिष्ठप्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वेऽप्युक्तरीत्या प्रातिभासिकतादृशप्रतियोगित्वभेदसंपादनसंभवेन मिथ्यात्वप्रसङ्गेन व्यावहारिकस्यैव तद्भेदस्य विवक्षणीयतया निष्ठान्तविशेषणावश्यकत्वात् । नच—व्यावहारिकभेदघटितमिथ्यात्वस्य स्वाप्नप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; भेदस्योपलक्षणतयैव तत्र निवेशेन स्वाप्नप्रत्यक्षनिर्वाहात् । यदि तु ब्रह्मनिष्ठप्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वे तादृशप्रतियोगित्वान्यत्वभानं न संभवति, घटो न घट इतिवत् प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वं न तादृशमिति ज्ञानस्याहार्यत्वादिति विभाव्यते, तदा स्वाप्नगजादावव्याप्तिवारणार्थं निष्ठान्तविशेषणमावश्यकमेवेति । १ एतेन भवन्मतेऽपि पारमार्थिकनिष्ठस्य व्यावहारिकाभावप्रतियोगित्वस्याप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिरिति न्यायभास्करोक्तं पराहतम् ॥ २ प्रातिभासिकनिष्ठत्वं विनाशिनिष्ठत्वं चेति विशेषणं लक्षणत्वपक्षानुसारेण, साध्यनिर्वचनरूपत्वे तु स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वम्, अप्रातिभासिकस्वसमानाधिकरणरूपत्वं वेति बोध्यम् । प्रातिभासिकपक्षकानुमाने प्रथमसाध्यं विनाशिपक्षकानुमाने तु द्वितीयमिति विवेकः । उक्तार्थसूचनायैव साध्यनिर्वचनप्रकरणेऽप्यत्रोक्तविशेषणविवक्षा । एतेन घटादीनां विनाशित्वेऽपि पारमार्थिकत्वानपायात्सिद्धसाधनमित्याद्याशङ्कापि न्यायभास्करोक्ता समाहिता इति मन्तव्यमिति । शुक्तिरूप्ये साध्यमानः स्वसमानाधिकरणाभावोऽप्रातिभासिक एवेति विनाशिपक्षकानुमानुमाने दृष्टान्तत्वमप्युपपन्नमेव । अतएव स्वाप्नदृष्टान्तपरित्याग इति सर्वमानवमिति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिति तु निष्कर्षः । शुक्तिरूप्यादेः व्यावहारिके अत्यन्ताभावे मिथ्यात्वं नानुपपन्नम्, तदधिकरणे व्यावहारिकस्य तदत्यन्ताभावस्य स्वीकारात् । नच—अन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वस्वीकारे द्वयोरपि स्वाप्नयोर्भावाभावयोर्मिथ्यात्वनिश्चयापत्तिरिति—वाच्यम्; स्वप्ने द्वयोरन्यूनसत्ताकाभावघटितोक्तप्रतियोगित्वनिश्चये तस्या इष्टत्वात् । अतएव जागरे तयोः परस्परात्मकतादृशाभावघटितमेव मिथ्यात्वं प्रतीयते; तयोरभावान्तरस्य व्यावहारिकस्य कल्पने गौरवात् । नच—स्वप्ने घटादेः प्रतीयमानस्य व्यावहारिकोऽभावः क्लृप्त एवेति न गौरवमिति—वाच्यम्; यस्य चैत्रत्वादिकातिविशेषस्य जाग्रत्काले न ज्ञानं, किंतु स्वप्न एव नानाव्यक्तिषु तादृशव्यक्तीनां तादृशजात्यवच्छिन्नाभावस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेखोपाध्यायी ।

ऽपि लघवादिदमेवोक्तम् । अन्यत्र ब्रह्मावृत्तिलमुक्तम् । ननु शुक्तिरूप्याभावस्य व्यावहारिकत्वेन प्रथमप्रतियोगित्वस्याभावात् तदभावस्य शुक्तिरूप्यस्वरूपतया प्रातिभासिकत्वेन द्वितीयप्रतियोगित्वस्याभावाच्च तत्रोक्तमिथ्यात्वमनुपपन्नम्, तत्राह—शुक्तिरूप्यादेरिति । तदत्यन्ताभावस्येति । शुक्तिरूप्यातिरिक्तस्येति भावः । अधिकसत्ताभावघटितमिथ्यात्ववादी शङ्कते—नचेति । भावाभावयोरिति । भावस्येवाभावस्यापि भावात्मकतादृशाभावप्रतियोगित्वादिति भावः ।—निश्चयापत्तिरिति । अन्यूनसत्ताकत्वनिवेशवादिनापि स्वाप्नगजादेरेव मिथ्यात्वनिश्चय इष्यते, न तु तादृशाभावस्येत्यभिमानः । यस्य यदा बाधग्रहस्तदैव तस्य मिथ्यात्वग्रह इति सर्वैरपि स्वीकार्यम् । स्वप्ने च यदि गजो नास्तीतिवत् गजाभावो नास्तीति बाधग्रहो नास्ति तर्हि गजाभावस्य वस्तुतो गजात्मकतादृशाभावप्रतियोगितावत्त्वेऽपि तदग्रहान्न तद्रूपमिथ्यात्वनिश्चयापत्तिः । अथ यदि तदा तादृशबाधग्रहोऽस्ति, तर्ह्येष्टव्य एव तदा गजस्येव तदभावस्यापि मिथ्यात्वनिश्चयः इत्याशयेन समाधत्ते—स्वप्ने इति । ननु स्वाप्नयोर्भावाभावयोः स्वप्ने बाधग्रहेऽपि न मिथ्यात्वनिश्चयः, अपि तु जागरे तयोर्व्यावहारिकाभावान्तरग्रहात्मकबाधग्रहे सत्येवेत्यधिकसत्ताकत्वमेव निवेशयितुमुचितमित्याशङ्कां परिहरति—अतएवेति । अन्यूनसत्ताकत्वस्यैव मिथ्यात्वे निवेशादेवेत्यर्थः ।—तादृशाभावेति । अन्यूनसत्ताकाभावेत्यर्थः ।—प्रतीयते इति । अधिकसत्ताकत्वनिवेशे तु तत्प्रतीत्यनुपपत्तिरिति भावः—गौरवादिति । जागरकालीने स्वाप्नो गजस्तदभावो वा नास्तीति प्रत्यये स्वाप्नौ गजतदभाववभासेते न व्यावहारिकावतिरिक्तौ तदभावाविति स्वीकारेणोपपत्तेरिति भावः । पुनरधिकसत्ताकत्वनिवेशवाद्युक्तानुपपत्तिपरिहारं शङ्कते—नचेति । क्लृप्तएवेति । घटत्वं हि व्यावहारिकप्रातिभासिकस्वप्निकघटसाधारणम् वक्ष्यते । तथाच जागरे 'इहेदानीं घटो नास्तीत्यादिप्रत्यये तादृशघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः सकलघटाभावो व्यावहारिकः प्रतीयत इत्यस्य निर्विवादत्वात् । किंच जागरे 'य इहेदानीं स्वाप्नो घटो नास्तीति चाक्षुषादिप्रत्ययो जायते । तत्र न स्वाप्नो घटाभावो भासते । तस्यानैन्द्रियकत्वेनैन्द्रियकज्ञाने भानानर्हत्वात्, तस्य जागरकाले बाधप्रसङ्गेन तद्बुद्धेर्भ्रमत्वापत्तेश्च, किंतु स्वाप्नप्रतियोगिको व्यावहारिकोऽभाव एव भासते । एवं स्वाप्नघटाभावो नास्तीत्याकारे जागरिकचाक्षुषादिप्रत्यये न स्वाप्नघटरूपस्तदभावो भानयोग्यः; अनैन्द्रियकत्वात् बाधापत्तेश्च, किंत्वतिरिक्त एव तदभावो व्यावहारिकस्तत्र भासते । तथाच जागरे स्वाप्नपदार्थे मिथ्यात्वग्रहो व्यावहारिकाभावमादायैव संभवतीति नान्यूनसत्ताकत्वमावश्यकमिति शङ्काभावः । तथापि विषयविशेषेऽन्यूनसत्ताकत्वनिवेशं विनाऽगतिरेवेति भावेन समाधत्ते—यस्येति । जातिविशेषस्येति । तुल्य संस्थानरूपव्यङ्ग्य-व्यङ्ग्यकस्वव्यापकजात्यन्तरसाहित्येन जागरिकप्रातिभासिकावृत्तित्वेन च स्वाप्निकजागरिकोभयविधप्रातिभासिकघटसाधारणघटत्वादिविलक्षणजातीयर्थः । यादृशजातिविशेषस्य क्वचित् जागरे प्रत्ययस्तदवच्छिन्नसामान्याभावो व्यावहारिकः क्लृप्त एवेत्यत उक्तम्—जाग्रत्काले न ज्ञानमिति । इदमुपलक्षणं तादृशजात्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वादिसामान्यवत्ताज्ञानमपि नेत्यर्थः; अन्यथा सामान्यधर्मावच्छिन्नतदभावो व्यावहारिकः क्लृप्त एव स्यात् । सामान्यवत्त्वेनाज्ञाते तु तस्मिन् तत्र तत्सत्त्वे मानाभावात् सामान्याभावस्य न तत्प्रतियोगिकत्वमिति बोध्यम् । यद्व्यक्तेर्जागरिके न प्रत्ययः; तद्व्यक्तेरपि केनचित् व्यावहारिकेण सजातीयतया सामान्यधर्मावच्छिन्नतदभावः क्लृप्त एवेत्यतो जातिविशेषावच्छिन्नाभावानुधावनम् । जाति-

१ किं चेत्यादिना वर्णितशङ्काभाव एव न्यायभास्करोऽपि द्रोषत्वेन परिगणित इति उक्तशंकासमाधानेनैव तस्यापि समाधानं वर्णि-
तप्रायमेवेति मन्तव्यम् । २ एतेन द्रव्यत्वादिसामान्यधर्मावच्छिन्नाभावः क्लृप्त एवेति स्वाप्निकाभावस्य व्यावहारिकत्वमेवेति
न्यायभास्करोक्तिः पराहता ।

कथं न विरोधित्वम् । नच—निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरिति—वाच्यम् ; तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वमायाति, यत्र निषेधस्य निषेधबुद्ध्या प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते, न निषेध-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रागभावस्य निषेधोऽनुपपन्न इति ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधेऽपि प्रागभावप्रतियोगिनः सत्त्वापत्तेः । न च—तृतीयप्रकाराभावे सति एवं नियमोऽभ्युपगम्यते, प्रागभावादौ तु नैवमिति, न प्रागभाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चैकाधिकरणे स्वप्नपदार्थे एव स्वप्ने जागरे वा ज्ञानं जातं, तदवच्छिन्नाभावस्य व्यावहारिकत्वेनाकृतत्वाव्यावहारिकतत्कल्पने गौरवेण तादृशजातिविशिष्टतदभावयोः परस्पररामकाभावघटितस्यैव मिथ्यात्वस्योच्यतात् । निषेधस्य प्रपञ्चाभावस्य । निषेधे प्रकृतानुमानेनात्यन्ताभावबोधने । प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरिति । निषेधापेक्षया अधिकसत्त्वस्य प्रतियोगिन्यापत्तिः । रजतादौ रजतत्वादिनिषेधस्य निषेधेन रजतत्वादेर्व्यावहारिकत्वसिद्धिदर्शनादित्यर्थः । प्रतियोगिसत्त्वं प्रतियोग्यमिथ्यात्वम् । व्यवस्थाप्यते प्रतीयते । निषिध्यते मिथ्यात्वेन निश्चीयते । रजतं रजतत्वम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वनिर्वाहाय नानेति । मिथ्यात्वनिर्वाहायैकाधिकरण इति । जागरिकपदार्थस्य न स्वप्ने भानं संभवति, जागरे तत्संभवेऽप्यभावस्याधिकरणरूपतामते प्रकृताभावस्य व्यावहारिकत्वं स्यात्, अत उक्तम्—स्वप्न पदार्थ एवेति । स्वप्ने ज्ञानमनुभवः, जागरे तु स्मरणमेव । तेन —जागरिकचाक्षुषादौ उक्तयुक्त्या स्वाप्निकभानासंभवेनोक्ताभावस्य व्यावहारिकत्वेन कृतत्वापत्तिरिति—परास्तम् ; ननु स्वप्न एव प्रतीयमानस्यापि तादृशाभावस्याधिकसत्ताकाभावघटितमिथ्यात्वनिर्वाहानुरोधेन तस्य व्यावहारिकत्वं कल्प्यत इत्यत आह—व्यावहारिकतत्कल्पने इति—उचितत्वादिति । तथाचैतदर्थमन्यूनसत्ताकाभावघटितमेव मिथ्यात्वमभावसाधकमिति भावः । मिथ्यात्वानुमाने प्रतिकूलतर्क शङ्कते—मूले—नचेति । निषेधपदस्याभावबोधकवाक्यवाक्यसाधनकाभावबोधनान्यतरपरत्वे प्रकृतासङ्गतिः, मिथ्यात्वानुमाने तादृशनिषेधनिषेधाभावात्, अतो व्याचष्टे—निषेधस्येत्यादि—मिथ्यात्वानुमानेनाद्वैतसिद्धये प्रपञ्चमिव तदभावमपि पक्षीकृत्य मिथ्यात्वसाधनादिति भावः । प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरित्यत्र प्रतियोगिसत्त्वपदं न प्रतियोगिमत्त्वपरम् ; अभावाभावस्य प्रतियोग्यतिरिक्ततामते ध्वंसप्रागभावयोरत्यन्ताभावविरोधितामते च प्रतियोगिमत्त्वव्याप्यतया तद्वोधकमानेन तदापत्तेरसंभवात् एतच्छङ्कासमाधानग्रन्थे न प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वमित्युपसंहारविरोधाच्चेत्यतो व्याचष्टे—प्रतियोगीति । तथाचात्र प्रतियोगिनि प्रपञ्चरूपे पक्षे ब्रह्मधर्मिकस्वाभावाभावबोधकप्रमाणकत्वमापादकीकृत्य ब्रह्मधर्मिकस्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वमापादनीयम् । यत् यद्धर्मिकस्वाभावाभावसाधकप्रमाणकं तत्स्वाभावाधिकसत्ताकमिति व्याप्तेरिति भावः । तथाच प्रपञ्चस्यान्यूनसत्ताकाभावघटितमिथ्यात्वशून्यत्वापत्त्या तात्त्विकत्वापत्तिरिति पर्यवसितम् । उक्तव्याप्तिं दृष्टान्ते ग्राहयति—रजतादाविति । व्यावहारिकेत्यादिः । द्वितीयनिषेधान्वयिधर्मिकत्वं सप्तम्यर्थः । रजतत्वादिनिषेधस्य नेदं रजतमिति भ्रमविषयस्य रजतमेदंरूपरजतत्वाभावस्य । निषेधेन अभावबोधकेन । नारजतमिति प्रमाणेन । रजतत्वान्वयिवैशिष्ट्यं तृतीयार्थः । व्यावहारिकत्वसिद्धेः । सर्वसिद्धव्यावहारिकसत्ताकत्वस्य सिद्धेरित्यर्थ इति प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरित्यनेनान्वेति । उक्तापत्तिदूषणाय तन्मूलभूतोक्तव्याप्तौ व्यभिचारप्रदर्शनाय दृष्टान्तव्यभिचारिरूपकाधिकरणयोरुक्तापादकवतोरप्युक्तापाद्यसत्त्वतदसत्त्वयोर्वाजभूतं विशेषं प्रपञ्चयति मूले—तत्र हीति । तत्रैव हीत्यर्थः । निषेधस्य निषेधे स्वाभावाभावबोधकप्रमाणावतारे । प्रतियोगिसत्त्वं प्रतियोगिनः स्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वम् । आयाति सर्वसिद्धं भवति । तृतीयप्रतियोगिसत्त्वपदस्योक्तार्थकत्वे यत्तद्वटितार्थयोरैक्येन पौनस्त्यं स्यात् ; यत्र निषेधमात्रं निषिध्यते इत्यस्यैव समन्वितत्वात्, अतो व्याचष्टे—प्रतियोगिसत्त्वमिति । द्वितीयप्रतियोगिसत्त्वपदस्य तु नेदं व्याख्यानम् । निषेधमात्रान्वयि निषिध्यत इति पदस्य 'मिथ्यात्वेन निश्चीयत' इति व्याख्यानानात्, मात्रपदेन प्रतियोगिन्यमिथ्यात्वस्यैव लामेन तत्स्फुटीकरणाय मात्रपदघटितवाक्यस्थप्रतियोगिसत्त्वपदस्यैव प्रतियोग्यमिथ्यात्वपरताया युक्तत्वात् । अन्ये तु—'नचेति' शङ्कातत्समाधानयोः प्रतियोगितात्त्विकत्वापत्तितद्वारणपर्यवसायितया द्वितीयस्य प्रतियोगिसत्त्वपदस्य तात्त्विकत्वमर्थः । तृतीयस्य स्वनिषेधापेक्षयाऽधिकसत्ताकत्वं, निषिध्यत इत्यस्य च प्रतियोग्यपेक्षया न्यूनसत्ताकत्वेन निश्चीयत इति—वदन्ति । व्यवस्थापनं व्यवस्थितिजनकशब्दप्रयोगः ।

मात्रं निषिध्यते, यथा रजते नेदं रजतमिति ज्ञानानन्तमिदं नारजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते । यत्र तु प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्त्वम्; यथा ध्वंससमये प्रागभाव-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रतियोगिनः सत्त्वं, तृतीयप्रकारस्य ध्वंसस्यापि संभवादिति—वाच्यम्; तर्हि प्रकृतेऽपि 'प्रपञ्चोपशमम्' इति श्रुतिबोधितध्वंसस्यापि तृतीयप्रकारस्य संभवात् । तस्य चारोपितप्रतियोगिकस्याधिष्ठाने प्रतीयमान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यवस्थाप्यते अमिथ्यात्वेन निश्चीयते । स्वसमानाधिकरणस्य रजतभेदात्मकस्य रजतत्वात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकत्वेनैव निश्चयादन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वाभाववत्त्वेन रजतत्वं निश्चीयत इति भावः । प्रागभावप्रतियोगिनोरिति । प्राक् अज्ञातयोरभावप्रतियोगिनोरित्यर्थः । निषेधधीपूर्वमारोपितयोरत्यन्ताभावप्रतियोगिनोरिति यावत् । तथाच घटादेः ध्वंसकाले कपालादौ प्राचीनतार्किकादिमते तत्र घटात्यन्ताभावस्य व्यावहारिकस्यास्वीकारेणारोप-संभवात् 'इदं कपालं घटवन्न वे'ति संशयरूपस्यारोपस्योत्तरं 'अत्र घटस्तदत्यन्ताभावश्च नास्ती'ति निषेधेऽपि यथा घटस्य नामिथ्यात्वं निश्चीयते, किं तु तयोः घटतदत्यन्ताभावयोः परस्परत्मात्मकान्यूनसत्ताकात्यन्ताभावघटितमिथ्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तत्र निषेधनिषेधबुद्धेः कर्तृतयान्वयो न संभवतीत्यतो व्याचष्टे—व्यवस्थाप्यत इति । निषिध्यत इत्यस्याभावप्रतियोगित्वेन विषयीक्रियते इत्यर्थेन मात्रपदार्थासङ्गतिः; नारजतमिदमिति बुद्ध्या प्रतियोगिनोऽपि तत्रात्वेन विषयीकरणात्, अतो व्याचष्टे—निषिध्यत इति । मूले ज्ञानानन्तरं भ्रमानन्तरम् । एतेन प्रतियोगिप्रसक्तिरुक्ता । इदं नारजतमिति ज्ञाने रजतभिन्नेदो भासते । स च रजतत्वरूप एवेति रजतमित्यसङ्गतमतो व्याचष्टे—रजतमिति । ननु नारजतमिति बुद्ध्या-ऽरजतभेदस्य बाधेऽपि रजतत्वं कथममिथ्यात्वेन निश्चीयत इत्यत आह—स्वेति । स्वं रजतत्वम् । मूले—निषेधयोः अभावयोः । निषेधः मिथ्यात्वनिश्चयः । न प्रतियोगिसत्त्वं न प्रतियोगितात्त्विकत्वम् । प्रागभावपदस्य यथाश्रुतार्थ-कत्वे दूषणस्य वक्ष्यमाणत्वात् ध्वंससमये अभावप्रतियोगिनोरप्रसक्तौ तन्निषेधानुपपत्तेः, विवक्षितस्याभावप्रतियोगिप्राति-भासिकत्वस्यालाभाच्च व्याचष्टे—प्रागभावेति । यद्यपि प्राक्-अज्ञातयोरित्यस्य स्वपूर्वज्ञानविषययोः, स्वसमानकालिक-ज्ञानमात्रविषययोरित्यर्थे प्रातिभासिकत्वं तयोर्लभ्यते; तथापि तयोः प्रसक्तेरपि स्पष्टलाभाय पूर्वकालिकाज्ञानविषययोरिति तदर्थं मनसिकृत्य पूर्वत्वावधिमाह—निषेधधीरिति । यद्यपि आरोप्यस्य नाज्ञानविषयत्वम्; तथापि तत्परिणामभूता-रोपात्मकवृत्तिविषयत्वे तात्पर्यमाह—आरोपितयोरिति । एवं चोभयलाभ इति भावः । केचित्तु—प्रागज्ञातयोरिति सुगमं पाठं स्वीचक्रुः । अभावपदस्याभावान्तरपरत्वे वक्ष्यमाणदूषणस्य दुर्वारत्वमत आह—अत्यन्तेति । ननु स्वध्वंस-कालेऽसतो घटस्यारोपसंभवेऽपि सतस्तदत्यन्ताभावस्य कथमारोपसंभव इत्यत आह—तथाचेति—प्राचीनेति । ध्वंस-प्रागभावयोरत्यन्ताभावविरोधिताङ्गीकर्तृप्राचीनेत्यर्थः । तत्रेत्यधिकं उभयोर्निषेध इति सप्तम्यन्तमात्रेण वाक्यार्थपर्यवसानात् । 'न प्रतियोगिसत्त्व'मित्यनुषज्य पर्यवसितार्थमाह—इदमिति । युगपत्प्रतियोग्यभावयोर्निषेधात्पूर्वं युगपदेव तदुभयप्रसक्ति-रपेक्षणीया । सा च न तदुभयनिश्चयरूपासंभवादित्यतः संशयरूपतदनुसरणम् ।—तौ न स्त इति । अत्र नोभयत्वावच्छि-न्नाभावे तात्पर्यम्; तादृशाभावस्य मिथ्यात्वाघटकत्वात्, किंतु घटत्वावच्छिन्नाभावघटाभावत्वावच्छिन्नाभावद्वये घटतद-भावान्यतरत्वावच्छिन्नाभावे वा; निरुक्तान्यतरत्वरूपव्यापकरूपेण मिथ्यात्वनिश्चये घटत्वादिव्याप्यरूपेणापि तन्निश्चयस्यौ-चित्यावर्जितत्वात् । क्वचित् घटः तदत्यन्ताभावश्च नास्तीति पाठः ।—नामिथ्यात्वं निश्चीयत इति । निषेधमात्रस्य निषे-धाभावात् । ननु घटस्य तदत्यन्ताभावस्य वा न मिथ्यात्वनिश्चयः; ध्वंसावच्छिन्ने कपाले घटात्यन्ताभावस्य व्यावहारिकस्य तदभावस्य च व्यावहारिकस्य घटरूपस्य सर्वमतेऽप्यसत्त्वादित्यत आह—परस्परत्मात्मकेति । प्रातीतिकघटात्यन्ताभाव-प्रातीतिकघटात्मकेत्यर्थः । मिथ्यात्वस्यान्यूनसत्ताकत्वघटितस्यैव व्यवस्थापितत्वेन प्रतियोगिसमसत्ताकाभावघटितमिथ्यात्व-स्योक्तसंशयरूपारोपविषयप्रातीतिकघटतदत्यन्ताभावयोः स्वाप्रिकगजतदत्यन्ताभावयोरिव निश्चयसंभवादिति भावः । अत्र स्वाप्रिकगजतदभावयोः कमिकमिथ्यात्मकज्ञानविषयतया परस्परत्मात्मकाभावघटितमिथ्यात्वनिश्चयो युक्तः । प्रकृते तु, अत्र घटतदत्यन्ताभावौ न स्त इति प्रत्ययस्यैकधर्मिकविरुद्धोभयावमाहिज्ञानरूपत्वे संशयरूपतया तद्विषयपरस्परत्मात्मकाभावा-

प्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधः । एवंच प्रकृतेऽपि निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य निषेधस्य च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वमेव निश्चीयत इति दृष्टान्तार्थः । यथाश्रुतं तु प्रागभावेत्यसङ्गतम् । अत्यन्ताभावात्मकनिषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तेः पूर्वमुक्तत्वेन प्रागभावात्मकनिषेधस्य निषेधे प्रतियोग्यसत्त्वदृष्टान्तेन तस्याः खण्डनस्यासङ्गतेरिति ध्येयम् । प्रकृते प्रतिपन्नेत्याद्यनुमाने । बाधकेन मिथ्यात्वानुमापकदृश्यत्वादिहेतुना । बाधनात् मिथ्यात्वनिश्चयात् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वादाय कथं मिथ्यात्वनिश्चयः । तादृशप्रत्ययस्य घटतदत्यन्ताभावान्यतरत्वावच्छिन्नभावविषयकत्वे तु परस्परतामकेत्यसङ्गतं यद्यपि; तथाप्युक्तप्रत्ययस्योक्तभावाभावयोः विरोधानवगाहितया न संशयत्वं, विरोधावगाहितादृशज्ञानस्यैव संशयत्वादिति बोध्यम् । अन्ये तु—घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावो घटध्वंसरूपो व्यावहारिक एव भासते । तथाच तन्मतमवलम्ब्य शङ्कितं दीधितिकृता “नचैष रक्तिमध्वंसाद्यवगाही”ति । एवं घटाद्यत्यन्ताभावात्यन्ताभावोऽपि तद्रूप एव । तन्मते घटध्वंसात्यन्ताभावयोः समनैयत्येनैक्यात्, तद्ध्वंसस्यापि तदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । एवं च तयोरविरोधान्न तदुभयज्ञानस्य संशयरूपता । यद्वा—घटतदत्यन्ताभावान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको घटध्वंसरूपोऽतिरिक्तो वाऽभावो व्यावहारिको भासते । वक्ष्यमाणदार्ष्टान्तिकवन्निषेध्यातावच्छेदकैक्यानुरोधात् । एवं च नोक्तज्ञानस्य संशयरूपत्वशङ्कापि । मिथ्यात्वं त्वधिकसत्ताकपरस्परात्मकाभावघटितमपि निर्वहतीति—वदन्ति । केचित्तु पूर्वोक्तपाठान्तरमाश्रित्य ‘घटो नास्ति’ ‘घटाभावो नास्ति’ इति क्रमिकनिश्चयद्वयं विवक्षितमित्याहुः । दृष्टान्तार्थः यथेत्यादिवाक्यार्थः । एवं च प्रमाणपदस्य मानसामान्यपरत्वे घटध्वंसावच्छिन्नकपाले घटतदत्यन्तभावयोरत्यन्ताभावौ प्रातिभासिकघटतदत्यन्ताभावात्मकप्रतियोगिरूपाविति पक्षे, प्रमाणपदस्य व्यावहारिकप्रमाणपरत्वे तौ व्यावहारिकघटध्वंसरूपाविति पक्षे च घटध्वंसावच्छिन्नकपालनिष्ठे प्रातिभासिकघटे तद्धर्मिकस्वाभावाभावबोधकप्रमाणकत्वसत्त्वेऽपि तद्धर्मिकस्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वस्यासत्त्वादुक्तव्याप्तौ व्यभिचारः । यदि चोक्तव्यभिचारवारणाय स्वाभावबोधकत्वे सति स्वाभावबोधकत्वरूपं स्वाभावभावमात्रबोधकत्वं हेतौ निवेश्यम् । न च क्रमिकनिमित्तद्वयापेक्षेऽयं व्यभिचारो दुर्वार इति वाच्यम्; तद्धर्मिकस्वाभावप्रमाणकत्वशून्यत्वे सति तद्धर्मिकस्वाभावप्रमाणकत्वनिवेशेन तद्वारणसंभवात् । अत्र प्रमाणपदं व्यावहारिकप्रमाणपरम् । मानसामान्यपरत्वे दृष्टान्ते व्यावहारिकरजतत्वे सत्यन्तार्थघटितहेत्वभावेन व्याप्तेर्दुर्हृत्वापत्तेरित्युच्यते, तदा ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावाभावबोधकमिथ्यात्वानुमाननेहेत्यादिश्रुतिरूपप्रमाणस्य प्रपञ्चाभावबोधकत्वान्मात्रपदार्थघटितनिरुक्तापादकस्यैव प्रपञ्चेऽसत्त्वान्न स्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वापत्त्या तात्त्विकत्वापत्तिरिति भावः । तदेतत् वक्ष्यति मूले—एवंचेति यथाश्रुतप्रागभावपदार्थत्यागबीजमाह—यथाश्रुतं त्विति । निषेधे तद्वटितमापादकीकृत्य । पूर्वं ‘नचेति’ शङ्काग्रन्थे । निषेधे तद्वटितापादके । प्रतियोग्यसत्त्वदृष्टान्तेन घटाद्यन्तर्भावेन प्रतियोगिसत्त्वरूपादिव्यभिचारप्रदर्शनेन । असङ्गतेरिति । स्वाभावबोधकप्रमाणकत्वरूपापादकेऽत्यन्ताभावनिवेशस्य मात्रार्थनिवेशवदापादकस्य पक्षधर्मत्वाविघटकतया तेनोक्तव्यभिचारवारणासंभवादिति भावः । अनुमाने न्यायप्रयोगे । बाधकपदार्थघटकहेत्वन्वयि विषयत्वं सप्तम्यर्थः । मूले—निषेधबाधकेनेत्यस्य प्रपञ्चाभावाभावग्राहकेणेत्यर्थः । तच्च न प्रकृते प्रमाणान्तरमस्तीत्यतो व्याचष्टे—बाधकेनेति । मिथ्यात्वेति । निरुक्ताभावप्रतियोगितारूपेत्यर्थः । अनुमापकपदार्थघटकानुमित्यन्वयि प्रपञ्चाभावपक्षकत्वं निषेधबाधकेनेत्यत्र निषेधेत्यस्यार्थः । मिथ्यात्वनिश्चयात् निरुक्ताभावप्रतियोगितारूपमिथ्यात्वानुमितिरूपनिश्चयजननादित्यर्थः । एवं च

१ यो यद्धर्मिकस्वाभावबोधकप्रमाणकः स तद्धर्मिकस्वाभावाधिकसत्ताक इति व्याप्तिशरीरम्, इदमेव न्यायभास्करेऽपि प्रथमनचशङ्कायां निर्दिष्टमिति ॥ २ अयमेव दोषो न्यायभास्करे प्रथमनचशङ्कासमाधानत्वेन वर्णितः इति ॥ ३ द्वितीयनचशङ्कायां परिष्कृतं व्याप्तिशरीरमपि न्यायभास्करीयमिदमेव नापूर्वमिति मन्तव्यम् ॥ ४ अयमेव दोषो द्वितीयनचशङ्कासमाधानतयानन्तरं निर्दिष्टः इति । ५ न्यायभास्करे तृतीयनचशङ्कौपयिकतया परिष्कृतं व्याप्तिशरीरमपीदमेवेत्यप्येतद्दर्शनमात्रेणैव स्फुटीभवति इति । ६ अयमेव दोषस्तृतीयनचेतिशङ्कासमाधानपरतया वर्णितः, सच न संगत इति प्रमाणपदं व्यावहारिकप्रमाणपरमिति ग्रन्थेनैव वर्णितप्रायमित्युक्तव्याप्तिशरीराङ्गीकारे बाधकाभावः । रजते नेदं रजतमिति भ्रमोत्तरम्, इदं नारजतमिति प्रमितिस्यत्वे रजतत्वाभावबोधकप्रमाणकत्वशून्यत्वस्यैव सत्त्वात्ममन्वयः । यच्च न्यायभास्करे तत्र संबन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नरजतत्वाभावप्रमितिकत्वस्यैव विद्यमानत्वात्नेदं व्याप्तिशरीरमित्युक्तं, तन्न संगतं; स्वाभावबोधकप्रमाणपदेन हि स्वबाधप्रमाणस्यैव विवक्षणेनोक्तोहेत्वादीनामप्रसक्तेरुत्तरत्र चैतद्विद्वलेशीय एव व्यक्तीभविष्यति इति ॥

(गौडब्रह्मानन्दीलघुचन्द्रिका) ।

वाध्यत्वे निषेधे । वाध्यतावच्छेदकस्य उक्तमिथ्यात्वानुमानपक्षतावच्छेदकघटकस्य । दृश्यत्वादेः चिद्भिन्नत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपं यद्दृश्यत्वं तदादेः । आदिपदेन विशेषानुमानीयपक्षतावच्छेदकस्याकाशत्वाकाशाभावत्वादेः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रपञ्चरूपे उक्तापत्तिपक्षे आपाद्याव्यभिचारिणो मात्रार्थघटितापादकस्याभाव इति भावः । मात्रार्थघटितापादकं तु पक्षे सदप्युक्तरीत्याऽऽपाद्यव्यभिचारित्वादकिञ्चित्करम्, इत्याह मूले—निषेधस्येति—प्रपञ्चाभावस्येत्यर्थः । वाध्यत्वेऽपीत्यत्र वाध्यत्वं व्याचष्टे—वाध्यत्वे इति—निषेधे । अभावग्राहकोक्तमिथ्यात्वानुमानरूपप्रमाणावसरे इत्यर्थः । मूले—तात्त्विकत्वं नेत्यन्वयः । आपादयितुं शक्यमिति शेषः । तत्प्रयोजिकायाः स्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वापत्तेरेवोक्तरीत्याऽऽपादकाभावेनासत्त्वादिति भावः । ननु प्रपञ्चाभावनिषेधकस्य तत्पक्षकमिथ्यात्वानुमानस्य कथं प्रपञ्चनिषेधकत्वम्, तत्राह—उभयो-
रपीति । प्रपञ्चतदभावयोरित्यर्थः । निषेध्यतावच्छेदकत्वं दृश्यं नास्तीति प्रत्ययीयप्रतियोगितासंसर्गावच्छिन्नप्रकारता-
वच्छेदकत्वम् । तादृशप्रत्यये प्रतियोगितावच्छेदकतया भासमानत्वं वा तदाश्रयस्य दृश्यत्वादेः । उभयसाधारणरूपोभयतु-
ल्यता न प्रपञ्चाभावपक्षकमिथ्यात्वानुमानस्य प्रपञ्चनिषेधकत्वे प्रयोजिका । तदनुमानपक्षतावच्छेदकवृत्त्युभयसाधारण्यस्यैव
तत्प्रयोजकत्वादित्यतो व्याचष्टे—निषेध्यतावच्छेदकस्येति । पक्षतावच्छेदकस्येति । पक्षतावच्छेदकीभूतदृश्यत्वा-
वच्छेदेन निरुक्ताभावप्रतियोगितारूपमिथ्यात्वावगाह्यनुमितौ पक्षतावच्छेदकस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकतया भासमानत्वेन
निषेध्यतावच्छेदकपदार्थतेति भावः । उक्तानुमानपक्षतावच्छेदकं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वे सति चिद्भिन्नत्वं मूले पूर्वमुक्तं न
तु दृश्यत्वमत उक्तं—घटकस्येति । उक्तं यन्मिथ्यात्वानुमानपक्षतावच्छेदकं तद्व्यवस्थेति । ननु तद्व्यवस्थेति न
दृश्यत्वस्येत्याशङ्क्य तद्व्यवस्थेति यत् सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं तदेवात्र दृश्यत्वपदेनोच्यते । न च—तत्पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकमेव
न पक्षतावच्छेदकमिति तदवच्छेदेन प्रतियोगितारूपमिथ्यात्वाभावेन तस्य निषेध्यतावच्छेदकपदार्थत्वानुपपत्तिरिति—
शङ्क्यम्; विनिगमनाविरहेण चिद्भिन्नत्वविशेषितस्य तस्यापि पक्षतावच्छेदकत्वसंभवाच्चैत्यमिप्रायेण व्याचष्टे—दृश्यत्वादे-
रिति—चिद्भिन्नत्वे सतीति । यद्यपि चिद्भिन्नत्वविशिष्टं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं न तद्विशिष्टचिद्भिन्नत्वरूपे उक्तपक्षता-
वच्छेदके घटकम्; तथापि विशेष्यांशस्य तथात्वे विशिष्टस्यापि तदनतिरेकात् तथात्वमक्षतमिति हृदयम् । एतेन—उक्तं
यन्मिथ्यात्वं तदनुमानं वा तत् पक्षतावच्छेदकघटकस्येत्यर्थोक्तौ चिद्भिन्नत्वविशिष्टसत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वमात्रस्यैव पक्षतावच्छे-
दकत्वेन घटकपदासङ्गतिः । सामानाधिकरण्येनानुमानपक्षतावच्छेदकस्य ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वस्यावच्छेदकावच्छेदेनानु-
मानपक्षतावच्छेदके प्रवेशाभावस्य पूर्वमुक्तत्वादिति—अपास्तम्; संभवत्पक्षतावच्छेदकस्याप्युक्तविशिष्टस्य पूर्वोक्तेऽनुमा-
नपक्षतावच्छेदके विशेष्यांशद्वारा घटकस्य तादृशपक्षतावच्छेदकरूपत्वेन घटकपदसङ्गतेः । यद्दृश्यत्वमिति । यद्यपि
दृग्विषयत्वमात्रं दृश्यत्वपदशक्यार्थः; तथापि तुच्छे 'यत्तददृश्य'मिति श्रुतिप्रतिपाद्यब्रह्मणि च दृश्यत्वव्यवहारवारणाय सत्त्व-
प्रकारकत्वं चिद्भिन्नत्वसामानाधिकरण्यं च विषयत्वे निवेद्य विशिष्टे तत्पदस्य निरुद्धलक्षणा परिभाषा वा स्वीकार्या । सत्त्वेन
प्रत्ययार्हत्वविशिष्टचिद्भिन्नत्वे तु न सा स्वीकर्तुं युक्ता । स्वार्थाल्यागेन लक्षणादिसंभवे सर्वथा तत्त्यागस्यान्याय्यत्वादिति
भावः । नच—अत्र मूले निषेध्यतावच्छेदकतयोक्तदृश्यत्वमेवोपात्तम्, न तु सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वविशिष्टचिद्भिन्नत्वं तत् केन
विशेषेणेति—वाच्यम्; आदिपदेन तस्याप्युपादानात् । न च तत्र घटकपदार्थानन्वयः; स्वघटकतायाः स्वासाधारण्या अपि
निर्वचनसंभवात् । वस्तुतस्तु नेहनानेति श्रुतौ किञ्चनपदस्य दृश्यार्थकतया तस्येहपदार्थप्रपञ्चवत् ब्रह्मणि दृश्यसामान्याभाव-
बोधकताया वक्ष्यमाणत्वेन प्रकृतमिथ्यात्वानुमानस्य तादृशश्रुत्यनुग्रहाय दृश्यत्वावच्छिन्नपक्षकतैव युक्त्यवधेयम् । अत्र
दृश्यत्वरूपपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन निरुक्तप्रतियोगितारूपमिथ्यात्वावगाहिन्यामनुमितौ साध्यांशे भासमानं दृश्यत्वावच्छि-
न्नत्वं न व्यापकत्वरूपं; तथासति दृश्यवृत्तियावत्त्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितामादाय सिद्धसाधनात्, किन्तु स्वरूपसंबन्धविशेषः ।
न हि देशकालादिरूपपक्षतावच्छेदकस्यैव स्वरूपसंबन्धरूपमवच्छेदकत्वं भासते इति नियमे मानमस्ति । अत एव विशिष्ट-
प्रामाण्यत्वावच्छेदेन स्वाश्रयग्राहकयावत्सामग्रीग्राह्यत्वसाधनमुक्तं प्रामाण्यवादे । तथाच दृश्यत्वावच्छिन्नतादात्म्यापन्ने ब्रह्मणि
दृश्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावतात्पर्यपर्यवसानात् दृश्यत्वावच्छिन्नस्य सत्यताभङ्गः । न चैवमाकाशत्वत्वादिरूपेणाकाशादीनां
सत्यत्वापत्तिः, दृश्यत्वस्याकाशत्वादिव्यापकतया व्यापकधर्मावच्छिन्नाभावस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नाभावव्याप्यतया दृश्यत्वा-
वच्छिन्नाकाशाद्यभाववति आकाशत्वावच्छिन्नतदभावस्याप्यावश्यकतया तेनापि रूपेण तेषां सत्यताभङ्गस्य निष्प्रत्यूहत्वात् ।
अत्राहार्थत्वपरिहारस्तु वक्ष्यत इति विभावनीयम् । ननु मिथ्यात्वानुमानेन साक्षादेवाकाशत्वावच्छिन्नाकाशादीनां मिथ्यात्व-
सिद्धावाकाशत्वादिविशेषरूपेणैव तेषां पक्षता युक्ता । उक्ता च पूर्व ग्रन्थकृता । तथाच तत्तद्धर्मावच्छिन्नपक्षकानुमानसमूहेनैव

बाधनान्न निषेधस्य बाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वम्; उभयोरपि निषेध्यतावच्छेदकस्य दृश्यत्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संग्रहः । उभयोस्तुल्यत्वात् मिथ्यात्वानुमितिविशेष्यतावच्छेदकत्वेनोभयत्र प्रतीयमानत्वात् । तथाच निषेधस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

क्रमेण जगतो मिथ्यात्वसिद्ध्युपगमादकाशाभावत्वावच्छिन्नपक्षकमिथ्यात्वानुमानस्याकाशात्वावच्छिन्नमिथ्यात्वानुमापकतया मात्रार्थघटितोक्तापादकवत्ताया आकाशत्वावच्छिन्ने पक्षेऽक्षततया स्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वापत्त्या तस्य तात्त्विकत्वापत्तिर्दुर्वारेत्याशङ्कां परिहर्तुं मूलकृतोक्तमादिपदं विवृणोति—आदिपदेनेति । नन्वाकाशत्वतदवच्छिन्नाभावत्वयोः प्रत्येकमाकाशतदभावरूपोभयसाधारण्यरूपोभयतुल्यत्वं न संभवतीत्यतो व्याचष्टे—उभयोस्तुल्यत्वादिति—उभयोः आकाशत्वतदवच्छिन्नाभावत्वयोः । तुल्यत्वात् । परस्परं सदृशत्वादित्यक्षरार्थः । तत्र सादृश्यघटकधर्मं निषेध्यतावच्छेदकपदलभ्यं दर्शयन् पर्यवसितार्थमाह—मिथ्यात्वानुमितीति—उभयत्र आकाशतदभावयोः । यथायोग्यम् । अयं भावः—आकाशादीनां विशेषरूपेण पक्षतापक्षे जगत्पक्षकसमूहालम्बनस्यासंभवेऽपि संभवत्कतिपयपदार्थपक्षकसमूहालम्बनपरामर्शेभ्यः समूहालम्बनानुमितिभिरेव जगन्मिथ्यात्वसिद्धिर्वाच्या । प्रत्येकं जगत्त्वव्याप्ययावद्रूपावच्छिन्नपक्षकतावदनुमितीनां दुर्घटत्वात् । तथाचाकाशाभावे मिथ्यात्वग्राहकप्रमाणस्य परामर्शरूपस्याकाशेऽपि मिथ्यात्वानुमापकपरामर्शरूपतानियमेन आकाशे पक्षे मात्रार्थघटितनिरुक्तापादकस्य दुर्लभत्वान्नोक्तरीत्या तात्त्विकत्वापत्तिः संभवति । न च—तादृशनियमे मानाभाव इति—वाच्यम्; आकाशाभावे मिथ्यात्वव्याप्यदृश्यत्वादिहेतुमत्तापरामर्शपूर्वम्, आकाशाभावोपस्थितेरावश्यकतया तस्याश्च नियमेनाकाशोपस्थितिरूपतयाऽऽकाशतदभावोभयपक्षकसमूहालम्बनपरामर्शनियमसंभवात्, प्रतियोगितासंबन्धेनाकाशविशिष्टाभावे मिथ्यात्वानुमितिद्वयाप्यवत्तापरामर्शयोर्विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादयाऽऽकाशेऽपि मिथ्यात्वतद्व्याप्यवत्तावगाहननियमेनाकाशमिथ्यात्वग्राहकतदभावमिथ्यात्वग्राहकप्रमाणसंभवाच्च । व्याप्तिज्ञानस्य तद्विषयलिङ्गस्य वाऽनुमानप्रमाणतापक्षे त्वाकाशतदभावपक्षकानुमितिपरामर्शयोः पार्थक्येऽप्यसमनियतकालत्वेऽपि च मिथ्यात्वघटकस्वत्वस्य दृष्टान्तसिद्ध्यनुरोधेनानुगतस्यैव वाच्यतया साध्यहेत्वोरैक्येन व्याप्तिज्ञानस्यैकजातीयतयैकरूपेण कृतकरणत्वादिकतया सुतरां तादृशप्रमाणसंभवः । अथवा भवतु लिङ्गपरामर्श एवानुमानम्, मा भूच्चोक्तसमूहालम्बननियमः, विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादानियमो वा, तथाप्याकाशतदभावपक्षकमिथ्यात्वानुमानद्वयं तु निर्विवादम् । तथाचागृहीताप्रामाण्यप्रतियोगितदभावोभयविधमिथ्यात्वग्राहकप्रमाणद्वयस्य तादृशैकप्रमाणसमशीलतया, ध्वंसावच्छिन्नकपालादौ क्रमेण घटादितदभावयोरभावप्रत्ययद्वयस्थलेऽपि प्रतियोगिनो घटादेस्तात्त्विकत्वाभावेन तत्रोक्तव्यभिचारवारणायोक्तापादककोटौ स्वाभावबोधकत्वं स्वाभावाभावबोधकप्रमाणविशेषणं परित्यज्य स्वाभावबोधकप्रमाणकत्वशून्यत्वे सतीति स्वाभावाभावबोधकप्रमाणकत्वे, विशेषणं मात्रार्थतया निवेश्यमित्याकाशादिपक्षे निरुक्तमात्रार्थघटितापादकाभावान्न तात्त्विकत्वापत्तिरिति । यत्तु—आकाशाभावपक्षकमिथ्यात्वानुमानस्याकाशमिथ्यात्वग्राहकत्वेऽपि “नेह नाना” इति श्रुतिरूपप्रमाणस्य ब्रह्मण्याकाशत्वतदभावत्वादिसकलविशेषधर्मावच्छिन्नाभावबोधकत्वात् न यथाश्रुतमात्रार्थघटितापादकस्यापि पक्षे निर्वाह इति भावः—इति । तत्तुच्छम्, स्वाभावाभावग्राहकप्रमाणत्वावच्छेदेन मात्रार्थनिवेशे प्रयोजनाभावेन तादृशप्रमाणत्वसामानाधिकरण्येनैव स्वाभावग्राहकत्वरूपमात्रार्थनिवेशेन तादृशश्रुतिरूपप्रमाणस्य प्रतियोग्यभावोभयभावग्राहकत्वेऽप्यभावपक्षकमिथ्यात्वानुमानघटितापादकस्य प्रतियोगिनि पक्षेऽक्षतत्वात् । केचित्तु—आकाशाभावपक्षकमिथ्यात्वानुमितिराकाशाभावत्वावच्छिन्ने स्वसमानाधिकरणस्वान्यूनसत्ताकाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वमवगाहते । तत्र सामानाधिकरण्यघटकं चाधिकरणं ब्रह्मैव; तस्यैव कृत्स्नजगदुपादानत्वात्, उपादानादन्यत्र च वस्तुनोऽसत्त्वात्, तथाचोक्तमिथ्यात्वानुमितेः सामानाधिकरण्यघटकतयाऽऽकाशाभावाश्रयत्वेन ब्रह्मावगाहितत्वात् तादृशब्रह्मवृत्तितया चाकाशाभावान्यन्ताभाववगाहितत्वाच्च ब्रह्मरूपैकधर्मिण्याकाशाभावतदभावोभयावगाहितयाऽऽकाशाभावपक्षकमिथ्यात्वानुमानस्यैकधर्मिण्याकाशाभावाभावग्राहकत्ववदाकाशाभावग्राहकत्वस्यापि सत्त्वाच्च तदभावरूपमात्रार्थघटितापादकस्याकाशरूपपक्षे निर्वाह इति न तस्य तात्त्विकत्वापत्तिरित्यभिप्रायं—वर्णयन्ति । तदसत्; तथासति आकाशत्व—आकाशाभावत्वयोरुभयोः मिथ्यात्वानुमितिविशेष्यतावच्छेदकत्वेन तुल्यत्वान्निधानस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः । प्रपञ्चतात्त्विकत्वापत्तिशङ्कासमाधानग्रन्थनिर्गलितभावार्थमाह—तथाचेति—निषेध्यताव-

देस्तुल्यत्वात् । नचातात्त्विकनिषेधबोधकत्वे श्रुतेरप्रामाण्यापत्तिः; ब्रह्मभिन्नं प्रपञ्चनिषेधादिकं अता-

सिद्धिव्याख्या ।

स्याधिष्ठानमात्रत्वात्, तत्संभवे न प्रतियोगिनः पारमार्थिकसत्त्वमिति ममापि तुल्यम् । उक्तं च—
‘अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः’ इति ॥ नचातात्त्विकेति । यद्यप्यद्वैतश्रुतेरद्वैतमतेऽखण्ड-
चिन्मात्रपरत्वे उच्यमानेऽतात्त्विकनिषेधबाधकत्वाभावेनाप्रामाण्ययोगाच्छङ्काग्रन्थ एवानुपपन्नः; तथापि
तच्छ्रुतित एव प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिं प्रार्थयताऽद्वैतिना तच्छ्रुतेरखण्डचिन्मात्रपरत्वं नाङ्गीकरणीयम् ।
अन्यथा मिथ्यात्वशरीरप्रविष्टत्रैकालिकनिषेधासिद्ध्या तद्वदितमूर्तिमिथ्यात्वासिद्धिप्रसङ्गात् । अतस्तन्नि-
षेधेऽपि तात्पर्यावश्यकत्वे सत्यतात्त्विकत्वेनाप्रामाण्यं स्यादेवेति तद्वन्धः सूपपन्न एव । नच—तात्पर्या-
विषयस्यापि त्रैकालिकनिषेधस्य श्रुतितः प्रतीतत्वमात्रेण श्रुत्यर्थतया सिद्धिर्भविष्यतीति—वाच्यम्; तर्हि
‘जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्, गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयात्’ इत्यादिश्रुतिप्रतिपन्नजर्तिलयवाग्वागवीधुकयवाग्वा-
द्रव्यकहोमविध्योरपि स्वीकारापेक्षेः । नच—श्रुतेरखण्डचिन्मात्रपरत्वेन तत्त्वावेदकत्वेऽपि केवलानुमानात्
प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरभ्युपगमाहेति—वाच्यम्; प्रबलप्रमाणावष्टम्भं विना केवलानुमानस्यासां प्रदायि-
कत्वेन विवक्षितार्थासाधकत्वात्, अद्वैतिनापि तथाऽभ्युपगमाच्च । न च—अद्वैतश्रुतेरखण्डचिन्मात्र-
परत्वेऽपि तत्र पूर्वं विनापि तात्पर्यं मानान्तराविरोधे द्वितीयाभावः सेत्स्यति, तत्र तात्पर्याभावाच्च
तच्छ्रुतेर्नातत्त्वावेदकत्वमिति—वाच्यम्; तर्हि मानान्तराविरोधेनैव श्रुतितोऽखण्डचिन्मात्रसिद्ध्युपपत्तौ
द्वितीयाभाव इव चिन्मात्रेऽपि श्रुतेस्तात्पर्यानभ्युपगमप्रसङ्गात् । उपक्रमादिलिङ्गवत्त्वेन तत्र श्रुतितात्प-
र्याभ्युपगमे च द्वितीयाभावेऽपि लिङ्गसत्त्वेन तात्पर्याङ्गीकारस्य दुष्परिहरत्वात्, प्रत्युत अहमस्मीति
वा, अहं मुख्यस्मीति वाऽनुस्यूताखण्डचैतन्यस्य जीवचैतन्यस्य सद्रूपब्रह्माभेदस्य च भाततयाऽपूर्वत्वा-
भावेनाखण्डचैतन्ये जीवब्रह्माभेदे वा, तात्पर्यानभ्युपगम एव न्याय्यः । न चाहमित्यादिप्रत्यये चैतन्या-
तिरिक्तांशस्य भानमस्तीत्येतावताऽनुस्यूतचैतन्यं तदभेदो वाऽहमर्थभूतचैतन्ये न भातीत्यस्ति । नन्वेवं—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निषेधमात्रं न प्रतियोगिनोऽधिकसत्तासाधकम्, किंतु निषेधस्य न्यूनसत्ताग्राहकं प्रमाणम्; प्रकृते च तदभावाच्च

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

च्छेदकतुल्यत्वे चेत्यर्थः । प्रकृते तदभावादित्यत्र हेतुतया अन्वेति । निषेधस्य निषेधमात्रं स्वाभावाभावग्राहकप्रमाण-
कत्वमात्रम् । मात्रपदेन स्वाभावग्राहकप्रमाणकत्वाभावविशिष्टत्वरूपमात्रार्थभूतविशेषणव्यवच्छेदः । न प्रतियोगिनोऽधि-
कसत्तासाधकम् न स्वाभावसत्ताधिकसत्ताकत्वव्याप्यम् । प्रतियोग्यभावोभयनिषेधस्थले व्यभिचारोक्तेरिति भावः ।
निषेधस्य न्यूनसत्ताग्राहकं प्रमाणं तच्च स्वाभावग्राहकप्रमाणाभावविशिष्टं स्वाभावाभावग्राहकं प्रमाणमेव । तादृश-
प्रमाणस्थले एव हि स्वाभावस्य न्यूनसत्ताकत्वग्रहो जायते । यथा रजते नेदं रजतमिति भ्रमोत्तरं नारजतमिति बाधक-
प्रमाणावतारे सति रजतमेदरूपो रजतत्वाभावः, स्वप्रतियोगिरजतत्वापेक्षया न्यूनसत्ताकः, तादृशरजतत्वबाधकप्रमाणकत्वा-
भावविशिष्टस्वबाधकप्रमाणकत्वात्, इत्यनुमानेन रजतत्वाभावस्य प्रतियोगिन्यूनसत्ताकत्वसिद्धिः । तस्यां च सत्यां अर्थत
एव तादृशाभावप्रतियोगिनोऽधिकसत्ताकत्वं सिध्यति । एवं च तादृशप्रमाणकत्वाभावविशिष्टतादृशप्रमाणकत्वमेव स्वाभाव-
सत्ताधिकसत्ताकत्वव्याप्यमिति पर्यवसितोऽर्थः । प्रकृते विग्रदादिप्रपञ्चरूपे पक्षे । तदभावात् निरुक्तविशिष्टतादृशप्रमाण-

१. एतेन ध्वंसरूपत्वेऽद्वैतहानिरिति तृतीयप्रकारासंभवाशङ्काऽपि पराहता । २. पयसान्निहोत्रं जुहोतीति विशिष्टत्वेन जर्तिलयवाग्य-
स्यार्थवादत्वमेवेति सिद्धान्तभङ्गापत्तिरिति भावः इति ॥

सिद्धिव्याख्या ।

प्राशस्त्यादिमात्रपरार्थवादादितो देवताविग्रहाद्यसिद्धिप्रसङ्गः, मानान्तराविरोधसहकृतार्थवादत एव तत्सिद्ध्यभ्युपगमे तन्न्यायेनैवाखण्डचिन्मात्रपराद्वैतश्रुतित एव मानान्तराविरोधसहकारेण द्वितीयाभाव-
सिद्धिरविकला । न च प्राशस्त्यद्वारतयाऽऽयाते विग्रहादिविशिष्टदेवतादावपि तात्पर्यं स्वीकार्यम्; तथासति गौरवप्रसङ्गात् । यद्यप्यर्थवादादेः पृथक्त्वेन चानेकार्थत्वाद्वाक्यभेदोऽवशिष्टः; तथापि तादृशदेवतादेस्ता-
त्पर्यं विनाऽर्थवादतः सिद्धौ तत्र तत्स्वीकारो युक्त—इति चेन्न; दत्तोत्तरत्वात् । मानान्तराविरोध-
सहकृतादेव सर्वश्रुतिवाक्यात् तदर्थसिद्ध्युपपत्तौ कस्मिन्नप्यर्थे तात्पर्यस्यानभ्युपेयत्वात् । वाक्यार्थतात्पर्या-
नभ्युपगमेऽतीव लाघवात् । अन्यथा 'अर्धजैरती'न्यायापत्तेः । लघुत्वेन तत्तात्पर्यस्य दुर्वारत्वाच्च ।
गौरवस्य प्रामाणिकत्वात् । अवान्तरवाक्यार्थभेदेऽस्येवान्तरवाक्यार्थतात्पर्यस्यापि अवाक्यभेदकत्वात् ।
महावाक्यार्थभेदवत्तात्पर्यस्यैव वाक्यभेदापादकत्वाच्च । प्रयाजादिवाक्यानां दर्शपूर्णमासादिवाक्येनैकवा-
क्यतावदर्थवादवाक्यानामपि विधिवाक्येनैकवाक्यतास्वीकारेण वाक्यभेदशङ्काया एवानुदयाच्च । नैह्यस्माकं
भवतामिव पदैकवाक्यता, तथा चैवंविधदेवताकं कर्म प्रशस्तमिति विशिष्टवाक्यार्थतात्पर्याभ्युपगमे
वाक्यभेदलक्षणदोषाद्यनवकाश इति दिक् । एवमेव द्वितीयाभावादिविशिष्टचैतन्ये तात्पर्यं दुर्वारे तत्प्रयु-
क्तमतत्वावेदकत्वं दुर्वारमिति । एतेन—द्वितीयाभावविविशिष्टचैतन्येऽद्वैतश्रुतेस्तात्पर्याङ्गीकारे विशेषणी-
भूतद्वितीयाभावस्य मिथ्याविशेषात्मकव्यावहारिकत्वेन बाध्येऽपि, तात्पर्यमावश्यकमिति तत्परत्वेन श्रुते-
रतत्त्वावेदकत्वदोषापातेऽपि, द्वितीयाभावोपहितचैतन्ये तात्पर्यमित्यङ्गीकारे तद्दोषापत्तिर्नास्त्येव; विशेष-
णोपाध्योः सत्त्वेन व्यावर्तकत्वाविशेषेऽपि क्रियान्वयित्वाभावादुपाधेः, नचैवमुपाधेरुपलक्षणाविशेषः;
विद्यमानत्वेनैव ततो विशेषसत्त्वादिति—निरस्तम्; तथा सति द्वितीयाभावासिद्धिप्रसङ्गेन तदुपाधित्वस्य
सुतरामयोगात्, श्रुतितात्पर्याविषयस्य श्रुत्यर्थत्वप्रसङ्गात्, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति घण्टा-
घोषेण प्रमाणान्तरायोग्ये तात्पर्यं विना शब्दप्रमाणस्याप्रवृत्तेः, शब्दस्य स्वतात्पर्यगोचरार्थप्रमाणत्वमिति
नियमात् । अन्यथा जर्तिलादिवाक्यादेरपि प्रतीयमानार्थे प्रमाणत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम् । न च तत्र माना-
न्तरविरोधोऽस्ति; येन तत एव तत्र प्रमाणं नेत्युच्यते । किंच श्रुतेर्द्वितीयाभावोपहितचैतन्ये तात्पर्या-
ङ्गीकारे भवदभिमतानुपहिताखण्डचिन्मात्रासिद्धिप्रसङ्गः; उपहितस्यानुपहितादन्यत्वेन तत्प्रमाणस्य
तन्मात्रसाधकत्वात् । अतः स्वस्मिन् प्रमाणस्य तत्प्रमाणत्वेऽतिप्रसङ्गात् । उपहितस्यानुपहितादन्यत्वेन,
अनुपहितस्योपहितादन्यत्वेऽपि तत्प्रमाणमेव तत्प्रमाणमिति चेन्न; अनुपहितस्योपहिताद्भेदे उपहितस्यानु-
पहिताद्भेदावश्यंभावात् । यतो यद्विद्यते, ततस्तस्य भिन्नत्वनियमात् । अपिचाद्वैतश्रुतेर्द्वितीयाभावोपहिते
तात्पर्याङ्गीकारे उपहितस्य कल्पितत्वेन बाध्यतयाऽतत्त्वावेदकत्वतादवस्थं, तस्माद्वितीयाभावसिद्ध्यर्थं
तस्य श्रुतेस्तात्पर्यविययत्वमकामेनापि स्वीकार्यम् । एवंच व्यावहारिकवाध्यद्वितीयाभावपरतायां

१ तथाच देवताधिकरणविरोध इति भावः । २ नहि कुक्कुट्या अर्धांशभक्षणं अर्धांशपरित्याग इति युक्तमिति वाचस्पतिमिश्राः ।
अन्ये तु वृद्धाया अर्धांशः उपभोगाय अर्धांशः परित्यागायेति न युक्तं इति । अपरे तु जरती अलाबुः तस्याः अर्धांशभक्षणं अर्धांशपरित्याग
इति न युक्तं; तावताऽपि निषेधशास्त्रोलङ्घनस्य जातत्वादिति वर्णयन्ति ॥ ३ भिन्नप्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेषसाहित्यस्यैकवाक्यत्वेन
तस्यावान्तरवाक्यार्थभेदेऽप्यनपायादिति भावः । ४ ननु विध्यर्थवादयोः पदैकवाक्यताया एव मीमांसकसंमतत्वात्प्रयाजदर्शपूर्णमास-
वाक्ययोश्च वाक्यैकवाक्यताया एव तत्समतत्वाच्च कथं तद्वृष्टान्ततेत्यत आहृत्यवतरणिकान् बोध्या ।

त्त्विकमित्यतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेरप्रामाण्यासंभवात् । ननु—तन्निषेधप्रतियोगित्वं किं स्वरू-

सिद्धिव्याख्या ।

श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं सर्वथा दुर्वारम् । अत एव—अद्वैतश्रुतेर्विचाररूपश्रवणादिविरहदशायामतत्त्वावेद-
कत्वापादनमिष्टमेव; नह्यविचारदशोत्पन्नत्वेनापातप्रतीतिरूपे श्रुतिजन्यज्ञानमात्रेऽपि यथार्थत्वं केनापि
शक्यमवगन्तुम्, विचाररूपश्रवणादिसंपत्तिदशायां त्वबाधितचिन्मात्रबोधकत्वेनातत्त्वावेदकत्वापादनम-
युक्तम्, अपादकाभावादिति—**निरस्तम्**; तथासति द्वितीयाभावाभावेन तद्वदितमूर्तिप्रपञ्चमिथ्यात्वस्य
दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात् । तथाच विचारश्रुत्यैव द्वितीयाभावोऽपि ब्रह्मचैतन्यवद्बोध्यत इति प्रपञ्चमिथ्या-
त्वमिच्छताऽवश्यं स्वीकार्यम् । एवंच सति तस्य द्वितीयाभावस्य व्यावहारिकत्वं दुर्वारम् । एवमद्वैत-
श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वमिति भावः । उक्तातात्त्विकत्वमेवाङ्गीकृत्योक्ताप्रामाण्यं परिहरति—**ब्रह्मभिन्नमिति ।**
ब्रह्मभिन्ननिषेधातात्त्विकत्वस्य वास्तवत्वेन तद्वोचरप्रतीतिजनकश्रुतेरप्रामाण्यायोगादित्यर्थः । यद्यपि
प्रतियोगितदभावयोरतात्त्विकत्वबोधनस्य विरुद्धत्वाद्बस्तुतो मानस्य स्वार्थसत्तानिर्णायकत्वेन जगद्भाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्सिद्धिरिति भावः । श्रुतेः ‘नेह नाने’त्यादिश्रुतेः । अतात्त्विकं मिथ्या । अतात्त्विकत्वेन मिथ्यात्वेन ।
असंभवादिति । तथाच ‘यजेते’त्यादिश्रुतेरिव व्यावहारिकप्रामाण्यमुक्तश्रुतेरक्षतम्, तात्त्विकप्रामाण्यं तु ‘तत्त्वमसी’-
त्यादिश्रुतेरेवेति भावः ननु—कथमुक्तश्रुत्या मिथ्यात्वेन प्रपञ्चतदभावयोर्बोधः ? ब्रह्मणि प्रपञ्चस्याभावबोधनेऽप्यभावे
प्रपञ्चसामानाधिकरण्यस्य प्रपञ्चान्यूनसत्ताकत्वस्य चाबोधनात्—इति चेन्न; इहेत्यस्य प्रपञ्चविशिष्टब्रह्मणीत्यर्थकत्वात्,
किञ्चनेत्यस्य च ‘अतोऽन्यदार्ते’मित्यादिश्रुत्यादिमानेन विनाशितया प्रमितं दृश्यमात्रमित्यर्थकत्वात्, ‘विनाशिदृश्य
विशिष्टे ब्रह्मणि विनाशिदृश्यं नास्ती’ति बोधस्य उक्तश्रुत्या संभवात्; विनाशिदृश्यवति विनाशिदृश्याभावस्य चोक्त-
श्रुतिप्रमितत्वेनैवाप्राप्ति—भासिकत्वानुमितिसंभवाद्विनाशिदृश्यत्वावच्छेदेनाप्राप्तिभासिकस्वसामानाधिकरणात्यन्ताभाव-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वाभावात् । तत्सिद्धिः न स्वाभावसत्ताधिकसत्त्वापत्तिः । एवं च क तात्त्विकत्वापत्तिरिति भावः । “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”
इत्यादिश्रुतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गेन श्रुतिपदस्य तत्सामान्यपरत्वासंभवात् तद्विशेषपरतामाह—**श्रुतेरिति**—आदिपदेन
“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इत्यादिश्रुतयो ग्राह्याः । प्रथमस्यातात्त्विकपदस्य तात्त्विकमिन्नार्थकत्वे
द्वितीयस्य मिथ्यात्वपरत्वेन तात्त्विकमिन्नं मिथ्यात्वेन बोधयन्त्या इत्यर्थपर्यवसानेऽपि मिथ्यात्ववति मिथ्यात्वबोधकस्वरूपं
प्रामाण्यं स्फुटं नेत्यतो व्याचष्टे—**अतात्त्विकमिति**—द्वितीयस्य यथाश्रुतत्वे नेहेत्यादिश्रुतीनां तात्त्विकमिन्नत्वेन प्रपञ्च-
निषेधाबोधकतया मूलसङ्गतिः, अतो व्याचष्टे—**अतात्त्विकत्वेनेति**—तद्वति तद्वोधकत्वं न प्रामाण्यं; किंतु तत्त्वावेदक-
त्वम् । तत्त्वं च पारमार्थिकं कालत्रयाबाध्यं वस्तु, तन्मात्रावेदकत्वमर्थः । तच्च न नेहनानेत्यादिश्रुतेरपारमार्थिकप्रपञ्चनिषेध-
बोधकत्वादिति शङ्कितुर्गूढाभिप्रायमभ्युपेयैव समाधातुं भावमाह—**तथाचेति**—**व्यावहारिकप्रामाण्यं** व्यवहारका-
लाबाध्यावेदकत्वम् । उक्तश्रुतेः नेहेत्यादिश्रुतेः । कस्यास्तर्हि तत्त्वावेदकत्वलक्षणं प्रामाण्यमत आह—**तात्त्विकप्रामाण्यं**
त्विति । आदिना ‘सत्यं ज्ञानमि’त्यादयोऽखण्डार्थाः । अवोधनादिति । तदर्थकपदाभावादिति भावः । इति चेन्न ।
अत्र चरमपञ्चम्यन्तं हेतुः । तत्र संभवदित्यन्तं द्वयं, तत्र चेत्यर्थकत्वादित्यन्तं द्वयम् । विनाशितया प्रमितमिति । इदं
च प्राप्तिभासिकनिष्ठं यत्—स्वसामानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं यच्च विनाशिनिष्ठप्राप्तिभासिकस्वसामानाधिकरणाभावप्रति-
योगित्वं तदन्यतरवत्त्वं मिथ्यात्वमिति पूर्वनिष्कर्षघटकद्वितीयदलघटकस्य विनाशिनिष्ठत्वस्य लाभाय । श्रुत्या संभवादिति ।
एवं च प्रपञ्चाभावे प्रपञ्चसामानाधिकरण्यस्य शब्दादेव लाभ इति भावः । तदन्यूनसत्ताकत्वलाभस्त्वनुमानादित्याह—
विनाशिदृश्यवतीति । दृश्यवति दृश्याभावोऽप्राप्तिभासिकः, श्रुतिप्रमितत्वात्, यागादिधर्मवत् ब्रह्मवच्चैत्यनुमानं बोध्यम् ।
न च—स्वाप्रिकपदार्थानामप्यथ रथा’नित्यादिश्रुतिप्रमितत्वात् व्यभिचार इति—वाच्यम्; “न तत्र रथा न रथयोगा
न पन्थानो भवन्ति” इति सन्निहितवाक्येन तेषां व्यवहारकालबाध्यत्वबोधनात्, श्रुतिजन्यव्यवहारकालाबाध्यविषयकज्ञान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतियोगित्वनिश्चयस्यानुमितिद्वारोक्तश्रुतितात्पर्यविषयत्वसंभवात् । न च—‘विनाशिदृश्यविशिष्टे विनाशिदृश्यं नास्ती’ति बोधस्य ‘घटविशिष्टे घटो नास्ती’ति बोधस्येवाहार्यत्वाच्च शाब्दत्वम्, प्रत्यक्षस्यैवाहार्यत्वादिति—वाच्यम्, नानेति-पदस्य नन्प्रत्ययान्तनन्पदसिद्धस्य भेदार्थकत्वात् ब्रह्मार्थकेहपदयोगेन ब्रह्मभेदबोधकत्वादुक्तानुपपत्तेर्विनाशिदृश्यत्वस्य तादृशबोधे अभावप्रतियोगितावच्छेदकतया भानासंभवेऽपि प्रतियोग्यंशे विशेषणमात्रतास्वीकारेण विनाशिदृश्यानां-मात्मभिन्नत्वमात्ररूपेणाभावबोधस्याहार्यत्वासंभवात् । तादृशबोधे हि विनाशिदृश्यत्वेनाभावो न विषयः, किं त्वात्म-भिन्नत्वेनैव । किंच ‘अत्यन्तवाधितेऽप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति ही’ति खण्डनकारोक्तेः शाब्दबोधस्याहार्यत्वं स्वीक्रियते ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विषयत्वरूपहेतोरेव तत्रासत्वादिति भावः । प्रतियोगित्वनिश्चयस्य प्रतियोगित्वरूपस्य मिथ्यात्वघटकद्वितीयदलनिश्च-यस्य । तात्पर्यविषयत्वसंभवादिति योजना । तादृशनिश्चये दलद्वयघटितोक्तमिथ्यात्वनिश्चयो मनसैव सुलभः । एकदल-निश्चयोऽपि मानस एवेति बोध्यम् । ‘नच वाच्य’मित्यत्र, विनाशिदृश्यानामिति पञ्चम्यन्तं हेतुः । तत्र च, तादृशबोधे हीति वाक्यं हेतुः । तत्र, आत्मभिन्नत्वलाभकमाह—नानेति । एवं च बोधकत्वादित्यस्य तत्रैवान्वयः । नन्वेवं विनाशित्वस्य प्रतियोग्यंशे उपलक्षणतयैव भानं वाच्यम्, तच्च न संभवति; अभावप्रतियोगिकोटौ उपलक्षणतया भानस्य परैरनुपगमात्, तथाचोक्तमिथ्यात्वघटकस्य प्रतियोगितायां विनाशिनिष्ठत्वस्य कथं लाभ इत्याशङ्क्य परिहरति—उक्तानु-पपत्तेरिति । उक्तबोधस्याहार्यत्वापत्त्या शाब्दत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । असंभवेऽन्वयः ।—विशेषणत्वेति । प्रकारलेख्यर्थः । मात्रपदेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वभानव्यवच्छेदः—स्वीकारेणेति । प्रतियोगितायां विनाशिनिष्ठत्वस्यापि लाभसंभवा-दिति शेषः । यादृशाभावप्रत्यये यस्य धर्मस्य प्रतियोगिन्युपलक्षणतया भानेऽतिप्रसङ्गादि बाधकं, तत्रैव तदनभ्युपगमः; यथा घटो नास्ति नीलघटो नास्ति इत्यादौ घटत्वस्य, यत्र तु न बाधकं तत्र तदनभ्युपगम्यत एव; यथा जाल्यवच्छिन्ना-भाव इति प्रतियोगिताप्रकाराभावज्ञाने जातित्वस्य, यथावा—द्रव्यत्वेन धूमो नास्तीत्यादौ द्रव्यत्वस्य । प्रकृते च ब्रह्म-भिन्नत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकतया भाने विनाशिदृश्यत्वस्योपलक्षणतया भाने न किंचित् बाधकमिति भावः । उक्तबोधस्या-हार्यत्वशङ्काया अनयैव रीत्या पूर्वं परिहृतत्वेऽपि प्रकृते उक्तरीत्या विनाशित्वभानानुपपत्तिपरिहाराय किंचेत्यादिसमाधा-नान्तरं वक्तुं च पुनरुद्भावनमिति ध्येयम्—विनाशिदृश्यानामिति । विनाशिदृश्यत्वविशिष्टानामित्यर्थः । आहार्य-त्वासंभवादिति । एकधर्मिणि येन रूपेण प्रतियोगिभानं तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावावगाहिन एव ज्ञानस्याहार्य-त्वात् । प्रकृते च रूपभेदात् न तदापत्त्या शाब्दत्वानुपपत्तिरुक्तबोधस्येति भावः । अत्रेदमवधेयम् । स्वविरुद्धधर्मधर्मिता-वच्छेदकं स्वप्रकारकं ज्ञानमाहार्यम् । तथाच द्वैततदभावयोः सिद्धान्ते विरोधानुपगमात् कथमाहार्यत्वशङ्केति न शङ्कनीयम्; अविरुद्धयोरपि संयोगतदभावयोरिव द्वैततदभावयोरप्यविरुद्धत्वज्ञानदशायां परस्परज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावोपग-मात्, निरुक्ताहार्यत्वघटकस्वविरोधित्वस्य स्वज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकविषयताश्रयत्वरूपस्य निवेशादाहार्यत्वशङ्कासामञ्ज-स्यादिति । ननु विनाशिदृश्यत्वेन विनाशिदृश्यवत्त्वेन प्रतीयमाने ब्रह्मणि ब्रह्मभिन्नत्वेन तदभावलाभेऽपि विनाशिदृश्य-त्वेन तदभावलाभं विना न मिथ्यात्वलाभः, येन रूपेण यद्वत्त्वेन प्रतीयमाननिष्ठाभावीयतद्रूपावच्छिन्नतन्निष्ठप्रतियोगिताया एव मिथ्यात्वरूपत्वादित्यत आह—किंचेति । आहार्यत्वं स्वीक्रियत इति । एवं च विनाशिदृश्यत्वस्यैव प्रतियोगिता-वच्छेदकतयापि भानाच्च मिथ्यात्वलाभः । न च—विनाशिदृश्यवद्ब्रह्मणि विनाशिदृश्यं नास्तीत्याहार्यस्य भ्रमत्वात् कथं ब्रह्मणि विनाशिदृश्यत्वावच्छिन्नाभावसाधकत्वम्? तत्त्वे वा विनाशिदृश्यत्वावच्छिन्नमपि तत्र साधयेत्—इति वाच्यम्, श्रुतेर्हि स्वतात्पर्यविषयीभूतानधिगतार्थे प्रमाणतया तत्साधकत्वं; विनाशिदृश्यत्वावच्छिन्नं ब्रह्मणि नानधिगतं, न वा श्रुतितात्पर्यविषयः; लोकसिद्धत्वात्, किंतु तदभाव एव लोकासिद्धत्वात् । तथाचोक्ताहार्य अभावस्यैव साधकं न प्रति-योगिन इत्यस्य युक्तत्वात् । न च—उक्तश्रुतेर्बाधितार्थग्राहितयाऽप्रामाण्यं दुर्वारमेव, तथाचोक्तं दीधितौ—‘बाधेन-

१ आहार्यस्यापि तस्य श्रौतत्वेन हेतुना प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन मिथ्यात्वतात्पर्यकत्वेऽपि न दोष इति । २ एतेन—अजामेका-कृतत्वेन स्वात्मिकपदार्थानामप्यधरथानिति श्रुतिप्रमितत्वेन न्यायभास्करीयव्यभिचारापादनं—पराहतम् । ३ अत्रेदमवधेयमित्यादिनो-पपादिताशङ्कासमाधानान्यनूय नन्वित्यादिना वर्णितास्वारस्य न्यायभास्करो दोषत्वेन परिगणितं; तच्च न संगतम् । तदर्थमेव किंचेति पक्षान्तरानुसरणात् ।

पेण, उतासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन पारमार्थिकत्वाकारेण वा । नाद्यः; श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्यार्थ-

सिद्धिव्याख्या ।

तत्त्वग्राहकमानस्यापि तथात्वात्, जगद्भावे तदभावस्यापि बाध्यत्वाङ्गीकारे श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं दुर्वारमिति वाच्यम्; तथापि भिन्नसत्ताकयोस्तयोरतात्त्विकबोधनस्य विरुद्धत्वेऽपि समसत्ताकयोस्तयोरतात्त्विकबोधनस्याविरुद्धतया वस्तुतो मानस्य स्वार्थतत्त्वनिर्णायकत्वेन जगद्भावातात्त्विकत्वबोधकमानस्यापि तथात्वात् तदभावस्यातात्त्विकत्वाङ्गीकारेऽपि श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वायोग इति भावः । एतेन—तत्प्रतियोगिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वं स्यादित्यपि—निरस्तम् । ब्रह्मणोऽस्मिन् मते ज्ञेयत्वेन साध्यवत्तया निश्चिते सत्यसाधारण्यज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकतयाऽनुमानाप्रवृत्तेरिति । नन्वेतदिति । वायौ रूपाय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नच—तथाप्युक्ताभावे प्रतियोग्यवच्छेदकदेशकालावच्छिन्नत्वस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्य वा असिद्ध्या मिथ्यात्वबोधनमसिद्धमिति—वाच्यम्; निषेधस्य प्रसक्तिपूर्वकत्वेन निषेधवाक्यस्वाभाव्येन प्रतियोगिप्रसक्त्यवच्छेदकदेशाद्यवच्छेदेनैवोक्तवाक्येनोक्ताभावस्य बोधनीयत्वात्तदवच्छेदकविशिष्टस्य दृश्यवत् ब्रह्मण एवाधिकरणत्वेन इहेति सर्वनामपदेनोक्तिसंभवेन तात्पर्यवशात्तत्तदभावानां स्वस्वप्रतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नतया इहेति सप्तम्या अनवच्छिन्नविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नाधेतया बोक्तृश्रुत्या बोधनसंभवात् । एतन्निषेधेत्यादि । उक्तानुमाने उक्तश्रुतौ च बुध्यमानं निषेधप्रतियोगित्वमित्यर्थः । स्वरूपेणेति । स्वं निषेधप्रतियोगि । तस्य यद्रूपमसाधारणः सामान्यधर्मो दृश्यत्वादिः विशेषधर्मो वाकाशत्वादित्सेनेत्यर्थः । पारमार्थिकत्वाकारेण पारमार्थिकत्वरूपेण । ननु—दृश्यत्वादिरूपेणैव प्रतियोगित्वस्य सर्वदृश्येषु संभवे दृश्यावृत्तिना पारमार्थिकत्वरूपेण प्रतियोगित्वं कुतो वाच्यं, तत्राह—असिद्धि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

हि न शाब्दज्ञानं प्रतिबध्यते, किंतु उत्पन्ने तत्र अप्रामाण्यं गृह्यत इति—इति वाच्यम्; लौकिकबाधकमानापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यस्य सिद्धान्तैसिद्धत्वात्, स्वापेक्षया प्रबलप्रमाणवाधितार्थग्राहिताया एवाप्रामाणिकत्वप्रयोजकत्वादिति भावः । असिद्ध्येति । तद्वोधने प्रयोजनाभावेन तात्पर्याविषयत्वात्तद्वोधकपदाभावाच्चेति भावः । असिद्धमिति । मिथ्यात्वस्य तदन्यतरघटितत्वादिति भावः ।—बोधनीयत्वादिति । एतेन तात्पर्यनिर्वाहकप्रयोजनमुक्तम् । तल्लभकमाह—तदवच्छेदकविशिष्टेति । दृश्यरूपप्रतियोग्यवच्छेदकीभूतदेशकालविशिष्टेत्यर्थः ।—प्रतियोग्यवच्छेदकेति । तादृशदेशादेरप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वादिति भावः । यद्यपि दृश्यस्य धर्मितावच्छेदकतया तत्कालाद्यवच्छिन्नत्वभानेनैव समीहितनिर्वाहे तादृशकालादेर्धर्मितावच्छेदकत्वानुसरणं व्यर्थं; तथापि विषये उद्देश्यतावच्छेदकीयदेशकालावच्छिन्नत्वभानोपगमे देशकालयोर्हेतुत्वानवच्छेदकत्वे तदवच्छेदकदेशकालावच्छिन्नत्वभानप्रसङ्ग इति उद्देश्यतावच्छेदकीभूतं यद्देशादि तदवच्छिन्नत्वभानमेवोपगन्तव्यमित्यभिप्रायेणेदम् । अवच्छिन्नतयेति । बोधनसंभवादित्यत्रान्वयः । अनवच्छिन्नेति । देशकालरूपावच्छेदकबोधकपदासममिव्याहृतसप्तम्यास्तादृशार्थबोधकताया व्युत्पन्नत्वादिति भावः । एवमवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वलाभोऽपि पूर्वोक्तव्युत्पत्तिसिद्ध इत्यवधेयम् ॥ मूलस्थानन्विलासाशङ्कायाः प्रकृतार्थविघटकतालाभायैतत्पदं व्याचष्टे—एतन्निषेधेत्यादीति । बुध्यमानमिति तथाचोक्तनिषेधप्रतियोगितायाः स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वाऽसंभवे तद्वोधकानुमानश्रुतीर्वाधप्रसङ्ग इति भावः । स्वरूपेणेत्यत्र स्वरूपपदस्य प्रतियोगित्वतदाश्रयान्यतरस्वरूपपरत्वे, तृतीयार्थतदवच्छिन्नत्वस्य प्रतियोगित्वेऽयमव्यवस्थादसङ्गतिरतो व्याचष्टे—स्वरूपेणेतीति । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावाभ्युपगमेन पारमार्थिकत्वेनेति

१ असंभानुसममिव्याहृतसप्तम्या निरूपितत्वमात्रार्थकतया द्वैतब्रह्मनिरूपितवृत्तित्वाभावाद्वैतमिति बोधे जाते तुल्यवित्तिवैधतया द्वितीयाभावे ब्रह्मवृत्तित्वबोधोऽप्यर्थसिद्ध इति भावः । एतेन प्रतियोग्यभावौ तुल्ययोगक्षेमाविति न्यायेन द्वैते ब्रह्मनिरूपितवृत्तित्वाभावबोधेऽपि द्वैताभावे ब्रह्मवृत्तित्वबोधासंभवात् श्रुतिप्रमितत्वाभावेनाप्रातिभासिकत्वानुमित्यसंभवः, द्वैतकालावच्छिन्नत्वबोधासंभवक्षेति शङ्का—पराहता; आर्थिकोद्देश्यविषयभावेनापि तन्निर्वाहादिति । २ 'आदिलो यूपो' 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादौ विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्रागवगतार्थवादवाक्यार्थस्य प्रत्यक्षवाधेनाप्रामाण्येऽपि अद्वैतश्रुतौ तथाभावान्नाप्रामाण्यमित्याद्यद्वैतसिद्धत्वेववर्णितमिति तदप्रामाण्यापादकन्यायभास्करोक्तयः पराहताः ॥

क्रियासमर्थस्याविद्योपादानकस्य तत्त्वज्ञाननाशस्य च विद्यदादेः रूप्यादेश्च धीकालविद्यमानेन

सिद्धिव्याख्या ।

न्ताभाववत्स्वरूपेणैव ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य, पुरोवर्तिनि रजतस्येवात्यन्ताभावो वा, अथवा घटे वाच्यत्वस्य सत्त्वेऽपि समवेतत्वेन वाच्यत्वात्यन्ताभाववत् पारमार्थिकत्वेन व्यधिकरणेन धर्मेण तत्र तस्यात्यन्ताभावो वेति, विकल्पार्थः । ननु—प्रपञ्चस्य रूप्यादेश्च स्वरूपानुपमर्देन निषेध इत्यनुपपन्नं, मिथ्यावस्तुनः स्वरूपस्यैवाभावात्, अत उक्तम्—असद्विलक्षणेति । असतो निःस्वरूपाख्यस्य परं स्वरूपं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्षणस्वरूपानुपमर्देनेति । दृश्यत्वादिविशिष्टस्य अधिकरणे दृश्यत्वादिरूपेणाभावो न संभवति; तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य तद्रूपविशिष्टनिरूपिताधिकरणत्वेन सह विरोधात् । अथ उक्ताधिकरणत्वं कुत्रापि न स्वीक्रियते, किंतु शशविषाणादेरिव दृश्यमात्रस्य देशकालासंबन्धित्वमेवोच्यते, अत एव दृश्यसंबन्धित्वस्य दृश्याभावविरोधित्वेऽपि न क्षतिरिति—चेन्न; सर्वदेशकालसंबन्धितया प्रतीयमानस्य दृश्यस्योक्तसंबन्धित्वाभावासंभवात्, अन्यथा

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

कल्पान्तरानुसरणबीजप्रकाशकतयाऽसद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देनेति तृतीयान्तं सार्थकयितुमवतारयति-नन्विति । संभवतीति । दृश्यत्वावच्छिन्नस्यावृत्तितास्वीकारेणैव प्रतियोग्यभावयोर्विरोधनियमभङ्गादित्यभिमानः । तद्रूपविशिष्टनिरूपिताधिकरणत्वेन सहविरोधादिति । अधिकरणतासंबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावव्याप्यत्वनियमादित्यर्थः । यथाश्रुते गगनाभावे गगनाधिकरणत्वस्याप्रसिद्ध्या तद्विरोधस्याप्रसिद्ध्याऽसत्त्वेन व्यभिचारात् । अतएव 'अधे'त्यादिना दृश्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वानुपगमेनैतद्विरोधनियमभङ्गशङ्कासङ्गतिः । उक्ताभिमानं निरसितुमाशङ्कते-अथेति । ननु-तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य तत्संबन्धावच्छिन्नाधिकरणतासंबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावव्याप्यत्वनियमो वाच्यः । तथाच तत्संबन्धावच्छिन्नाधिकरणतायास्तत्संबन्धस्वरूपत्वे संयोगादिसंबन्धस्थले तत्संबन्धावच्छिन्नाधिकरणताया एव संसर्गत्वमिति सिद्धान्तलक्षणस्थश्रीगदाधरभट्टाचार्योक्तमते वा व्याप्यव्यापकयोरेक्येनोक्तनियमोपगमवैयर्थ्यमिति तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपविशिष्टनिरूपिताधिकरणत्वाभावव्याप्यत्वमिति तादृशाधिकरणतावदवृत्तिलमिति वा नियमो वाच्य इति गगनाभावे व्यभिचारतादवस्थम्, अतस्तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्ननिरूपिताधिकरणतायाः तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविरोधित्वनियमो वाच्यः । तत्र च गगनत्वावच्छिन्नीयाधिकरणतारूपव्याप्यस्यैवाप्रसिद्ध्या व्यभिचारवारणम् । दृश्यत्वावच्छिन्नाधिकरणतानुपगमेन दृश्यत्वावच्छिन्नाधिकरणस्थले व्यभिचारोद्धारसंभवश्चास्ति । परंतु तादात्म्यादिवृत्त्यनियामकसंबन्धावच्छिन्नाभावस्थलानुरोधेन तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्संबन्धस्य तदनुयोगिताया वा तत्संबन्धावच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविरोधित्वनियमस्यैव वाच्यतया प्रकृते दृश्यत्वाधिकरणतायाः कुत्रचिदनभ्युपगमेऽपि दृश्यत्वावच्छिन्नस्य देशकालज्ञानैवृत्त्यनियामकसंबन्धस्योपगन्तव्यतया तादृशसंबन्धवति दृश्याभावोपगमे दृश्यसंबन्धादौ दृश्याभावविरोधित्वस्यासत्त्वेनोक्तनियमे व्यभिचारो दुर्वार इत्याशङ्को परिहर्तुं दृश्यस्य देशादिसंबन्धमपलपति-किंत्विति । अतएव दृश्यस्य देशाद्यसंबन्धित्वादेव । दृश्यसंबन्धित्वस्य । तदनुयोगिताया वा इति शेषः । विरोधित्वेऽपि विरोधित्वनियमस्योक्तरीत्याऽऽवश्यकत्वेऽपि । न क्षतिरिति । दृश्यत्वावच्छिन्नीयाधिकरणत्वानुपगमेऽपि दृश्यसंबन्धे दृश्याभावविरोधित्वस्यासत्त्वेन व्यभिचारतादवस्थं नेत्यर्थः । एतेन-‘किंत्विति’ पक्षौ देशकालासंबन्धित्वमित्यत्र देशकालावृत्तिलमिति युक्तं; पूर्वमधिकरणतानुपगमोक्तेः, दृश्यसंबन्धित्वस्येत्यादिनियमोपगमस्य प्रयोजनाभावश्च; तदुपगमेऽपि बोक्ताधिकरणत्वानुपगमे सति का वा कथं वा क्षतिः प्रसक्तैति शङ्काकलङ्को-निरस्तः; उक्तरीत्या सर्वसामञ्जस्यात् । शङ्काभिमानं निरस्यति—न सर्वेति । अन्यथा उक्तसंबन्धित्वानङ्गीकारे । अलीकत्वापत्तेः शशविषाणवत् देशकालसंबन्धितया अप्रतीयमानतापत्तेः । नचैतदभ्युपगम्यते माध्यमिकभिन्नैर्भवद्भिः सप्रपञ्चात्मसत्यत्ववादिभिरिति भावः । ननु यत्त्वतत्त्वयोरननुगमात् घटत्वादिरूपसमवायादिसंबन्धघटितोऽननुगत एव प्रतियोग्यभावयोर्विरोधनियमः । तथाच दृश्यत्वावच्छिन्नस्य तादात्म्यादिसंबन्धे तदभावविरोधित्वानुपगमात् तदधिकरणे देशकालादौ तदभावस्वीकारे न कोऽपि नियमो भज्यते, न वा दृश्यस्यालीकत्वापत्तिरित्याशङ्कायां स्वसमानाधिकरणत्वावच्छिन्नतत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववदवृत्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्संबन्धानुयोगिताकत्ववृत्तिधर्मसामान्यकत्वव्याप्यमसद्विलक्षणत्वमिति नियमः ।

असद्विलक्षणस्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगात् । नापि द्वितीयः; अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य

सिद्धिव्याख्या ।

नास्ति, प्रपञ्चरूपं तु असद्विलक्षणम्, अतस्तस्य किञ्चित्स्वरूपमस्त्येवेति भावः । श्रुत्यादिसिद्धौ तत्पत्तिकस्यै-
त्याद्याद्यविशेषणद्वयं वियदादेः, तृतीयचतुर्थे वियदादे रूपादेश्च । असद्विलक्षणस्वरूपेणेति । 'इत्थं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दृश्यस्यालीकत्वापत्तेः । तस्मादसद्विलक्षणदृश्यस्य दृश्यत्वादिरूपावच्छिन्नाभावविरोधरूपोपमर्दपरिहारेण पारमार्थिक-
त्वेन ब्रह्ममात्रनिष्ठेन रूपेणाभावस्य निवेश इति भावः । असद्विलक्षणस्वरूपेणेति । असद्विलक्षणस्य दृश्यस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

कालादिसंबन्धित्वं, खनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतासंबन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिताकलव्याप्यमित्यर्थः । स्वस्य व्याप्यता,
आधेयतासंबन्धेन, प्रतियोगिताया व्यापकत्वं तु, स्वावच्छेदकत्व-स्वसमानाधिकरणत्व-खनिरूपकाभावीयसामानाधिकरण्य-
संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववदनुयोगितानिरूपकस्वावच्छेदकसंबन्धप्रतियोगितावच्छेदकत्व-एतन्नित्यसंबन्धेन । निरु-
क्तोभयसंबन्धघटितसामानाधिकरण्यनिवेशे स्ववृत्तिद्रव्यत्वावच्छिन्नतदभावयोर्विरोधमुपगम्य स्ववृत्तिघटत्वावच्छिन्नतदभाव-
विरोधानुपगमेऽप्युक्तनियमाभङ्गात्तयोर्विरोधो न स्यात्, अतो व्यापकतानिवेशः । तथाचोक्तविरोधानुपगमे, आधेय-
तया घटवति घटत्वे उक्तत्रितयसंबन्धेन प्रतियोगिताया दुर्धटत्वेन व्यापकतानुपपत्तिरतः तदुपगम आवश्यकः । घटत्वा-
वच्छिन्नस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावघटत्वावच्छिन्नपटाभावविरोधमुपगम्य घटत्वावच्छिन्नाभावविरोधानुपगमेऽप्युक्तव्यापकलोप-
पत्तिसंभवादुक्तदोषात्प्रथमसंबन्धद्वयनिवेशः । तस्य कस्याप्यभावस्य विरोधानुपगमेऽप्युक्तोपपत्तेरुक्तदोष इत्यतस्तृतीयसंबन्ध-
निवेशः । एकसंबन्धेन घटतदभावयोर्विरोधोपगमे संबन्धान्तरेण तदनुपगमेऽप्युक्तनियमाविधातात् संबन्धान्तरेणापि
तयोर्विरोधसिद्धये स्वसमानाधिकरणस्वावच्छिन्नतद्वर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववद्वृत्तिस्वावच्छिन्नतद्वर्मावच्छिन्ननिरूपिताधि-
करणताकस्वप्रतियोगिकसंबन्धसामान्यकलव्याप्यमसद्विलक्षणत्वमित्यपरोऽपि नियमः स्वीकार्यः । व्यापकतासंबन्धेन स्वविशि-
ष्टप्रतियोगिताकत्वं सामान्यकत्वान्तार्थः । तत्र व्याप्यता, स्वप्रतियोगिकत्वसंबन्धेन, व्यापकताच स्वावच्छेदकत्व-
स्वाश्रयप्रतियोगिकत्व-खनिरूपकाभाववद्वृत्तिस्वावच्छेदकधर्मावच्छिन्नीयाधिकरणतावच्छेदकत्व-एतन्नित्यसंबन्धेन । प्रथम-
संबन्धानिवेशे, समवायेन घटत्वस्य संयोगसंबन्धावच्छिन्नतदभावविरोधमुपगम्योक्तनियमाभङ्गात् समवायावच्छिन्नतदभावेन
सह तदुपगमो न स्यात्, अतस्तन्निवेशः । समवायेन घटत्वस्य घटत्वेन समवायेन गगनाभावविरोधोपगमेन नियमाभङ्ग-
संभवादुक्तविरोधो न स्यात्, अतो द्वितीयतन्निवेशः । नचैवमपि—तस्य घटत्वेन समवायेन पटाभावविरोधोपगमे निर्वाह-
संभवात् उक्तदोषतादवस्थमिति—वाच्यम्; घटाधिकरणतावच्छेदकस्य घटीयसमवायस्य पटाप्रतियोगिकतया द्वितीय-
संबन्धेन पटनिष्ठप्रतियोगितावत्त्वस्यासंभवात् । एवंच दृश्यत्वावच्छिन्नसंबन्धिनि ब्रह्मादिदेशे काले वा तदभावस्वीकारे
दृश्यत्वे तदवच्छिन्नसंबन्धे च निरुक्तत्रितयसंबन्धेन प्रतियोगितावत्त्वस्य दुर्धटत्वात् देशकालसंबन्धित्वरूपासद्विलक्षणत्व-
रूपव्याप्यवति दृश्यत्वावच्छिन्ने निरुक्तसंबन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिताकलरूपव्यापकस्याभावापत्त्योक्तानुगतविरोधनियमद्वय-
भङ्गः स्यादिति, तदनुरोधेन तत्रोक्तव्यापकाभाववति देशकालसंबन्धित्वरूपव्याप्यस्यैवाभावापत्तिरूपालीकत्वापत्तिर्दुर्वारेति
परिहारं मनसि कृत्य पारमार्थिकत्वेनेति कल्पान्तरानुसरणव्रीजमसद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देति मूलाक्षरैर्व्यक्तीकुर्वन्
निगमयति—तस्मादिति । प्रतियोग्यभावयोर्विरोधनियमानुपगमादित्यर्थः । असद्विलक्षणस्य असद्विलक्षणत्वरूप-
व्याप्यवतः—विरोधरूपेति । विरोधनिर्वाहोक्तव्यापकरूपेत्यर्थः । उपमर्दपरिहारेण अभावापत्तिपरिहारार्थम् ।
अध्ययनेन वसतीतिवत् फले हेतौ तृतीया । पारमार्थिकत्वेनेति । पारमार्थिकत्वेन दृश्याभावस्य दृश्याविरोधेऽपि
नोक्तनियमभङ्गप्रसङ्गः; पारमार्थिकत्वस्य दृश्यावृत्तितया तत्र व्याप्यस्यैवासत्त्वादिति भावः । केचित्तु—स्वावच्छे-
दकत्व-स्वसमानाधिकरणत्व-स्वावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नस्वनिरूपकाभाववद्वृत्तितावच्छेदकत्वै—तन्नित्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगि-
ताकप्रतियोगित्वसामान्याभाववत्स्ववृत्तिधर्मसामान्यकलव्याप्यमसद्विलक्षणत्वमिति, स्वावच्छेदकत्व-स्वसमानाधिकरणत्व-स्वाव-
च्छेदकसंबन्धावच्छिन्नस्वनिरूपकाभाववद्वृत्तितानवच्छेदकत्वै—तन्नित्यसंबन्धेन प्रतियोगितावत्स्ववृत्तिधर्मसामान्यकलव्याप्यमस-
द्विलक्षणत्वमिति वा नियमः । नच—उक्तसामान्यकलरूपव्यापकस्य तुच्छसाधारणतया केवलान्वयित्वेन तदभावा-
प्रसिद्ध्या तेनासद्विलक्षणत्वरूपव्याप्यहानिर्नाऽऽपादयितुं शक्यते इति—वाच्यम्; निर्धर्मके ब्रह्मणि सधर्मकत्वघ-
टितनिरुक्तव्यापकाभावप्रसिद्धेः । नचैवम्—असद्विलक्षणे ब्रह्मणि व्यभिचार इति—वाच्यम्; कालसंबन्धित्वपर्यवसितस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यत् स्वरूपं धर्मस्तेनेत्यर्थः । त्रैकालिकेति । वक्ष्यमाणरीत्या प्रतियोगिप्रसक्त्यवच्छेदकावच्छिन्नस्यावच्छिन्नवृत्ति-
कान्यस्य बाल्यन्ताभावस्योक्तानुमानश्रुतिबोध्यतायां वाच्यायां प्रतियोगिमत्कालत्रयसंबन्ध्यभावो (तादृशाभावः
प्रतियोग्यधिकरणे इति पाठान्तरम् ।) वाच्यः, स च न संभवति; उक्तविरोधादिति भावः । ननु—दृश्यस्य देश-
कालासंबन्धित्वमेवास्तु, तथाच नासद्वैलक्षण्यम्; तथापि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावघटितं मिथ्यात्वस्य लक्षणं

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तस्यासङ्गे शुद्धे ब्रह्मण्यभावात् । एतेन—निरुक्तधर्मसामान्यकलस्यासद्विलक्षणत्वं प्रतीवासत्त्वं प्रत्यपि व्यापकतयोक्त-
व्यापकाभावेनासत्त्वाभावस्यापत्तिसंभवात् कथमलीकत्वापत्तिरिति—परास्तम्; असत्त्वस्येह कालासंबन्धित्वरूपतया
ब्रह्मसाधारण्येनोक्ताव्याप्यत्वात् । नच—निरुपाख्यत्वादिरूपासत्त्वस्य ब्रह्मव्यावृत्ततया तदभावस्यापादनसंभव इति—वाच्यम्;
तावतापि कालसंबन्धित्वाभावाभावापत्तेरभावेन कालसंबन्धित्वाभावापत्तेर्दुर्वारत्वात् । यद्वा—द्वितीयकल्पे तृतीयसंबन्धे
संबन्धितावच्छेदकत्वं विशेषणं देयम् । नच—संबन्धितावच्छेदकीभूतस्ववृत्तिधर्मसामान्यकलस्यैवासद्विलक्षणत्वव्यापकता-
संभवेन तदितरांशवैयर्थ्यम्, तथाच व्याप्यव्यापकयोरभेदे पर्यवसानमिति—वाच्यम्; व्यापके व्यर्थविशेषणत्वस्या-
दोषत्वात् । व्यतिरेकेऽखण्डाभावघटकतया सार्थक्याच्च । तथाच दृश्यत्वावच्छिन्नवति तदभावस्वीकारे उक्तनियमद्व-
यान्यतरनियमभङ्गप्रसङ्गः । दृश्यत्वावच्छिन्नस्य देशकालासंबन्धित्वरूपालीकत्वापत्तिर्वैलम्बिप्रायेणोक्तशङ्कां परिहरन्नाह—
तस्मादिति—इत्याहुः । असद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देनेत्यनेन पूर्वकल्पे सूचितदूषणेनैव तं कल्पं मूलकारोऽदूषयत्—नाद्यः
श्रुतीत्यादिना—। तत्र विद्यदादेः स्वावृत्तिना पारमार्थिकत्वेन तुच्छत्वेन वा निषेधसंभवात् असद्विलक्षणस्वरूपेणेत्युक्तम् ।
तस्य असद्विलक्षणस्य स्वरूपं स्वाभावविरोधित्वं तेनेति नार्थः; तस्य गुरुतया प्रतियोगितावच्छेदकत्वाप्रसक्तेः, विद्यदा-
देर्वियत्त्वादिरूपेण निषेधानिराकरणेन न्यूनतापत्तेश्चैत्यतो व्याचष्टे—असद्विलक्षणेति । धर्मो विद्यत्त्वादिः । तृतीयार्थः
अवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, त्रैकालिकनिषेधान्वयि । ननु त्रैकालिकनिषेधोऽत्यन्ताभावः; स च दृश्यवत्यपि ब्रह्मणि
दृश्यावच्छेदककालावच्छेदेन दृश्यप्रतियोगिकः संभवत्येव, अव्याप्यवृत्तिप्रतियोग्यभावयोर्विरोधस्यैकदेशकालावच्छिन्नाधि-
करणताघटितत्वेन तदङ्गाप्रसक्तेः, तथाच कथं त्रैकालिकनिषेधयोगादित्युच्यते इत्यत आह—वक्ष्यमाणेति । मूले-
येन रूपेणेत्यादि ।—उक्तानुमानेति । सिद्धसाधनवारणायेत्यादिः । प्रतियोगिमत्कालत्रयसंबन्ध्यभावइति ।
प्रतियोगिमत्कालघटितकालत्रयसंबन्ध्यभाव इत्यर्थः । तादृशाभाव इति पाठे, प्रतियोगिप्रसक्त्यवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकः,
अवच्छिन्नवृत्तिकान्यो वाऽभाव इत्यर्थः । वाच्य इति । किंस्वरूपेणेति प्रश्नोत्तरेणेति शेषः ।—उक्तविरोधा-
दिति । नच—प्रतियोगिप्रसक्त्यवच्छेदकावच्छिन्नस्याभावस्योपगमे एककालावच्छिन्नाधिकरणताघटितोक्तविरोधभङ्गप्रस-
क्ताव्याप्यवच्छिन्नवृत्तिकान्याभावोपगमे कथं तदङ्गः? स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वाश्रयवृत्तिलसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-
कस्याभावाधिकरणत्वीयाभाववत्त्वस्यैव व्याप्यवृत्त्यभावसाधारण्यानुरोधेन विरोधपदार्थत्वादिति—वाच्यम्; एवं सत्यप्राद्य-
वच्छिन्नकपिसंयोगादिमति वृक्षादौ तदभावस्य निरवच्छिन्नवृत्तेरुपगमेऽपि प्रतियोग्यभावयोर्विरोधनियमाभङ्गनिर्वाहे तस्य मूला-
द्यवच्छिन्नवृत्त्युपगमस्य परेषां वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्मात् व्याप्याव्याप्यवृत्त्यभावस्थलयोनियमस्यैकत्वापेक्षायाम् अभावीयनि-
रवच्छिन्नाधिकरणतावदवृत्तित्वनियमः प्रतियोगिन इति, तन्निष्ठाभावाधिकरणतायां यादृशावच्छेदकानवच्छिन्नत्वावच्छिन्नत्वो-
भयाभावः तादृशावच्छेदकानवच्छिन्नत्वावच्छिन्नत्वोभयाभाववती या तन्निष्ठाधिकरणता तन्निरूपकत्वाभावनियमः प्रतियो-
गिन इति वा, वाच्यम् । तथाच किंचित्कालावच्छेदेन दृश्यवति निरवच्छिन्नतदभावत्वोपगमेऽप्युक्तनियमभङ्ग इति भावः
श्रीपाण्डुरङ्गो हृदये संविद्रूपः प्रकाशताम् । येन मे संप्रसीदित ब्रह्मानन्दसरस्वती ॥ १ ॥

ननु असद्विलक्षणस्वरूपस्य धीकाले विद्यमानत्वविशेषणं व्यर्थं, नच धीपदमभावधीपरं, तथाच दण्डवत्पुरुषवत्यपि
दण्डानधिकरणकालावच्छेदेन दण्डविशिष्टपुरुषाभाव इव असद्विलक्षणस्वरूपस्य स्वाश्रयाभावधीकाले असत्त्वे स्वाश्रयवत्यपि
तत्कालावच्छेदेन विशिष्टाभावः (न) संभवेत्, अतः तत्सार्थक्यमिति वाच्यम्; स्वरूपपदस्यैव यावत्स्वाश्रयस्थितिकासाधारण-
धर्मपरत्वेन त्रैकालिकपदार्थभूतप्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिप्रसक्त्यवच्छेदकावच्छिन्नत्वा—वच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वा—न्यत-
रविशेषणाकान्ताभावस्यैव मूले उक्तत्वेन तादृशविशेषणानाक्रान्तोक्तविशिष्टाभावासंभवस्याकिंचित्करत्वेनोक्तशङ्कानवतारा-
दित्यतो वर्णितासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देनेति विशेषणाभिप्रायस्फोरकतया तत्सार्थक्यितुमवतारयति—नन्विति । ननु
दृश्यस्य देशकालासंबन्धित्वेऽसद्वैलक्षण्यं न स्यात्, तथाच स्वाधिकरणताघटितमिथ्यात्वलक्षणासंभव इत्यत आह—तथा

वाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यत्वेन अन्योन्याश्रयात्, पारमार्थिकत्वस्यापि स्वरूपेण निषेधे प्रथम-

सिद्धिव्याख्या ।

भूतलक्षणे' (पा० १-३-२१) इति तृतीया । श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्य धीकाले विद्यमानस्यासद्विलक्षणस्वरूपस्य त्रैकालिकनिषेधो न संभवति; उत्पत्त्याद्यसंभवापातादित्यर्थः । त्रैकालिकेति । तथाचापसिद्धान्त इत्यर्थः । द्वितीयपक्षं दूषयति—अवाध्यत्वेति । अवाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वज्ञाने सति तद्वद्वि-
मिथ्यात्वज्ञानं, वाध्यत्वज्ञाने सति पारमार्थिकत्वज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात्पारमार्थिकत्वासिद्धिः । अतोऽ-
वाध्यत्वरूपासिद्धिनिषेधाय बुद्धिपूर्वकारोपरूपा प्रसिद्धिर्वाच्या, आरोपश्चानिर्वचनीयपारमार्थिकत्वविषय
इति पारमार्थिकत्वस्यापि न स्वरूपेण निषेधः, किंतु पारमार्थिकत्वान्तरेण, तस्यापि उक्तविधया पारमा-
र्थिकत्वान्तरेणेत्यनवस्थानादित्यर्थः । आद्यकल्पमादाय समाधत्ते—मैवम् स्वरूपेणेति । तदङ्गीकारे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मास्तु, वक्ष्यमाणसंभवाच्चतुष्टयल्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तु स्यात्—तत्राह—धीकाले विद्यमानेनेति । दृश्यधीकाल-
संबन्धिनेत्यर्थः । कालसंसृष्टतया प्रतीयमानदृश्ये विशेषणतया प्रतीयमानेनेति यावत् । तथाचोक्तासंबन्धित्वस्वीकारे
प्रतीतिविरोध इति भावः । उत्पत्तिविनाशवत्त्वादर्थक्रियासामर्थ्यात् परिणामत्वाच्च न दृश्यमसदित्याशयेनाह—श्रुत्या-
दीत्यादि । 'इदं सर्वमसृजत' 'सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दित्यादिश्रुत्या सावयवत्वादिलिङ्गकानुमानादिना च ब्रह्माधी-
नोत्पत्तिकत्वेन रूपेण वियदादेः शुक्तिरूप्यादेश्च बोधनाच्चालीकतेति भावः । पञ्चान्तचतुष्टयं वियदादेः शुक्तिरूप्यादेश्च
विशेषणम् । अर्थक्रिया कार्यम्, तत्र समर्थस्य प्रयोजकस्य । शुक्तिरूप्यादेरपि प्रवृत्त्यादिजनकधीविषयत्वात् तादृश-
जनकतावच्छेदकत्वेनोक्तप्रयोजकता । अविद्योपादानकस्य अविद्यापरिणामत्वेन 'अजामेका'मित्यादि श्रुत्या बोधि-
तस्य । तत्त्वम् अधिष्ठानम् । निरूप्यत्वेन घटितत्वेन । अन्योन्याश्रयादिति । 'मिथ्यात्वज्ञानं विना न मिथ्यात्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

चेति । तथासतीत्यर्थः । यद्यपीति शेषः । मास्तु मा संभवतु । स्यात् संभवेत् । तात्पर्यार्थमाह—कालसंसृष्टत-
येति । उक्तासंबन्धित्वेति । कालसंबन्धित्वेत्यर्थः । दृश्यस्य वियदादेः । दृश्यत्ववियत्त्वादिरूपेणेत्यादिः । प्रतीतीति ।
दृश्यस्य दृश्यत्वादिरूपेण कालादिसंबन्धिन्याः प्रतीतेर्विरोधः प्रमात्वानुपपत्तिरित्यर्थः । अत्र इष्टापत्तिं श्रुत्यादीत्यादिविशेषण-
वैयर्थ्यं चाशङ्क्य, श्रुत्यादीत्यादिविशेषणचतुष्टयं दृश्यस्यासत्त्वशङ्कावारकतया सफल्यति । नाशस्तत्त्वज्ञाननाशस्येत्यनेन
बोधितः । ननु—“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इत्यादिसृष्टिवाक्येभ्यो वियदादेर्ब्रह्मोपादानकत्वलाभेऽपि
शुक्तिरूप्यादेर्ब्रह्मोपादानकत्वलाभ इत्यत आह—इदं सर्वमिति । ब्रह्म कर्तुं पूर्वप्रकृतमिदं परिदृश्यमानं व्यावहारिकप्रा-
तिभासिकलक्षणं सर्वं जगत् असृजत इत्यर्थः । अत्र स्फुटतात्पर्यकं श्रुत्यन्तरमाह—सत्यं चेति । सत्यं ब्रह्म । सत्यं
दिति वत् सामानाधिकरण्यम् । आदिपदार्थमाह—सावयवत्वादिति । उपचयापचयादिक आदिपदार्थः । ब्रह्माधीनेति ।
सावयवत्वादिलिङ्गकानुमानादिनोत्पत्तिसिद्धौ परिशेषानुमानेन ब्रह्माधीनोत्पत्तिकत्वसिद्धिः । यद्वा—सावयवत्वादिलिङ्गकानु-
मानेनैव एकस्य ब्रह्मणः सर्वकारणत्वे लाघवमिति श्रुत्यधीनलाघवज्ञानसहकृतेन ब्रह्माधीनोत्पत्तिकत्वसिद्धिरिति भावः ।
ननु वियदादिविशेषणेन पञ्चान्तेन शुक्तिरूप्यादेः कथं तत्त्वेन बोधनम्, अत आह—पञ्चान्तेति । अर्थस्य पदार्थस्य
क्रिया व्यापार इति नार्थः; अर्थासंग्रहापत्तेः, किंतु अर्थरूपा क्रिया कार्यमितीत्याह—अर्थेति । समर्थपदं न जनक-
कथं, तत्राह—शुक्तिरूप्यादेरपीति । अवच्छेदकत्वं विषयतया बोध्यम् । ननु ब्रह्मोपादानकस्य कथमविद्योपादान-
कत्वम्, अतो व्याचष्टे—अविद्योपादानकस्येति । परिणामत्वेनेति । ब्रह्मणस्तु श्रुत्यादेरिव विवर्तोपादानत्वमिति
भावः । परमाण्वाद्युपादानकत्ववादिनिरासाय श्रुत्यादिबोधितस्येति । श्रुतिश्च “अजामेकम्” इत्यादिः । तत्र “सह-
याम्” इत्युक्तेः परिणामपरिणामिनोरेव सारूप्यात् । आदिना स्मृत्यनुमानादिः । तत्त्वपदस्य ब्रह्मान्यस्वरूपपरत्वे रूप्यादे-
रित्यत्रानन्वयापत्तिरत आह—तत्त्वमधिष्ठानमिति । अत्र अर्थवादादिश्रुतीनां स्वार्थेऽप्रामाण्यस्यापि दर्शनात् श्रुत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

घटितस्य पारमार्थिकत्वस्य ज्ञानं, पारमार्थिकत्वज्ञानं विना पारमार्थिकत्वघटितमिथ्यात्वस्य न ज्ञान'मित्यन्योन्याश्रया-
दित्यर्थः । ननु—पारमार्थिकत्वं प्रकृते न बाध्यत्वाभावः, किंतु ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधीः; तथाच विशेष्यतासंब-
न्धेन तदवच्छिन्नस्य प्रतियोगित्वस्य निवेशे अन्योन्याश्रयानवकाशः, पारमार्थिकत्वस्य तद्वदितमिथ्यात्वाघटितत्वात् ।
नच—उक्तधियस्तद्व्यक्तित्वेन निवेशासंभवः, परार्थानुमाने तदादिसर्वनामशब्देन साध्यनिर्देशस्यासांप्रदायिकत्वात्,
तद्व्यक्तिवविशिष्टज्ञानापेक्षया लघोर्घटत्वादेरेव विशेष्यतासंबन्धेन प्रपञ्चनिष्ठप्रतियोगितायामवच्छेदकत्वात्, नापि
तादृशधीत्वेन, तस्य तद्व्यक्तित्वाद्यपेक्षया गुरुशरीरत्वेन तेन रूपेण धियः प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य निवेशयितुमशक्य-
त्वादिति—वाच्यम्; तादृशधीत्वोपलक्षितज्ञाननिष्ठावच्छेदकताया एव निवेशेन तादृशधीत्वस्य गुरुत्वेऽपि क्षतिविर-
हात् । नचैवं—प्रपञ्चस्य तादृशपारमार्थिकत्ववत्त्वेऽपि पूर्वक्षणेवृत्तित्वविशिष्टतादृशपारमार्थिकत्वरूपतत्तद्धीव्यक्तिरूपेण
तत्तद्वटादेस्तदधिकरणे अभावसत्त्वेन सिद्धसाधनम्, 'एतत्क्षणे पूर्वक्षणेवृत्तित्वविशिष्टतज्ज्ञानवान्नास्ती'ति प्रत्ययादिति—
वाच्यम्; अनवच्छिन्नोक्तावच्छेदकतायाः निवेशात्, स्वरूपतस्तत्तद्धीव्यक्तेरवच्छेदकत्वसंभवात् । नच—प्रपञ्चस्य
मिथ्यात्वसंशयकाले प्रकृतानुमानस्यावतारः, तथाच तत्काले तादृशधियः प्रपञ्चविशेष्यकत्वस्य संदिग्धतया प्रपञ्चवति
तादृशधीरूपेण प्रपञ्चभावो ज्ञातुमशक्य इति—वाच्यम्; उक्तधीरूपेण प्रपञ्चवत्त्वं यत्र निर्णीतं तत्रैव तद्रूपेण प्रपञ्चा-
भावस्य ज्ञातुमशक्यत्वेन प्रपञ्चे तादृशधीसंशयप्रयुक्ते तादृशधीरूपेण प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि संशये सत्यपि तद्रूपेण तस्य
तन्नाभावज्ञाने बाधकाभावात् । ग्राह्यसंशयस्य प्रतिबन्धकत्वपक्षेऽपि प्रत्यक्षं प्रत्येव तत्स्वीकारादनुमित्यात्मकोक्ताभाव

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

दिसिद्धोत्पत्तिकमपि दृश्यमर्थक्रियाकारित्वरूपसल्लक्षणस्याभावे कथमसन्नेत्यादिशङ्कामुद्धरन् तल्लक्षणरूपमेव हेत्वन्तरं असद्वै-
लक्षण्यसाधकमाह—अर्थक्रियासमर्थस्येति । तत्त्वेन । नन्वेवं ब्रह्मवत्परमार्थसदेव तदस्तु, कुतस्तन्मिथ्येत्याशङ्कामुद्धर-
न्हेत्वन्तरमाह—अविद्योपादानकस्येति ॥ तत्त्वे कैथंतामुद्धरन् हेत्वन्तरमाह—तत्त्वज्ञाननाशस्येति । 'विद्वान्ना-
मरूपाद्विमुक्तः' "ज्ञात्वा देवं मुच्यते, सर्वपापैः" "मिथ्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" इत्यादिश्रुतिप्रमितस्ये-
त्यर्थ इत्युत्प्रेक्षन्ते । बाध्यत्वाभावस्य न बाध्यत्वरूपप्रतियोगिनिरूप्यत्वम्, अभावत्वरूपानुयोगिताया एव तथात्वादतो
व्याचष्टे—निरूप्यत्वेनेति । बाध्यत्वाभावरूपपारमार्थिकत्वस्य नित्यत्वेनोत्पत्तौ तस्य ब्रह्मस्वरूपतया सत्यत्वेन मिथ्या-
त्वस्य च बाध्यत्वेन स्थितावपि अन्योन्याश्रयस्यासंभवात् ज्ञेयं तं व्युत्पादयति—मिथ्यात्वज्ञानं विनेति । द्वितीयं
दूषणं सङ्गमयितुमन्योन्याश्रयोद्धारं शङ्कते—नन्विति । धीरिति । ज्ञानानिवर्त्यत्वस्य तुच्छेऽपि सत्त्वेन तत्र पारमार्थि-
कत्वव्यवहारापत्तिरिति तादृशधीपर्यन्तानुधावनम् । सा च "सत्यं सर्वं वाच्यमित्याकारिका सिद्धान्तिमते ब्रह्ममात्रविषया
परेषां प्रातिभासिकातिरिक्तमात्रविषयिणीति, तदवच्छिन्नप्रतियोगितासाधने न सिद्धसाधनमिति पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् ।
स्वार्थानुमाने साध्यनिर्देशस्यैवासत्त्वात् तद्विशेषस्यासांप्रदायिकलोक्तिरसङ्गतेति—परार्थेति—घटोऽन्य इतर इत्यादिप्रतिज्ञा-
यामन्यादिसर्वनाम्ना साध्यनिर्देशस्य सांप्रदायिकत्वात् । तदादीति । तनोतीति तत् इति व्युत्पत्तिसिद्धविस्तारकर्त्रर्थक-
सर्वनाम्ना साध्यनिर्देशसंभवात् । सर्वनामेति । निगमनादौ हेतुनिर्देशस्य तथात्वात् । साध्येति । अवच्छेदकत्वा-
दिति । तद्व्यक्तित्वविशिष्टज्ञानावच्छिन्नप्रतियोगिताया अप्रसिद्धत्वादिति शेषः । तादृशधीत्वेन ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशे-
ष्यकधीत्वेन । अशक्यत्वादिति । अप्रसिद्धेरिति भावः । उपलक्षितेति । आश्रयित्यर्थः । तादृशधीत्वसमानाधिकर-
णेतिनिष्ठान्तार्थः । तत्र तादृशधीत्ववत्ता च समवायेन तादात्म्येन वेति सूचनाय ज्ञानपदम् । स्वरूपत इति । प्रति-
योगितावच्छेदकानुगमे एव प्रतियोगितावच्छेदकस्यानुगतस्यापेक्षा । नह्येकव्यक्तेः प्रतियोगितावच्छेदकत्वे साऽस्ति ।
जात्यतिरिक्तपदार्थत्वस्याकिंचित्करत्वात्, धर्मप्रकारेणैव भानमिति नियमे जातिपदेनैकव्यक्तिकं विवक्षितम्; अन्यथा
तद्व्यक्तित्वादेरपि स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वस्य दुरुपपादत्वादिति भावः । अशक्य इति । प्रपञ्चे विशेष्यतासंबन्धेन तादृश-
धियःसंशयेऽपि तादृशधीरूपेण प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि निर्णयात् । सामानाधिकरण्यसंबन्धेन किंचिद्विशेषणविशिष्टे संशये
विशेषणसंशयस्य विशिष्टतदभावसहचरितत्वेन गृहीतविशेषणतदभाववद्धर्मिज्ञानमुद्रया कारणत्वेऽपि आश्रयतासंबन्धेन
रक्तत्वादिविशिष्टदण्डादिकोटिकभूतलादिधर्मिकसंशये दण्डादिधर्मिकस्य विशिष्टदण्डव्यधिकरणरक्तत्वादिसंशयस्य कारणत्वे
मानाभावादिति भावः ।—निर्णीतमिति । प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिनिर्णयस्याभावज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति
भावः । ननु—प्रकृते तादृशनिर्णयः कुतो नेत्यत आह—प्रपञ्चे तादृशधीसंशयप्रयुक्ते इति । रक्तत्वादिविशिष्ट-
दण्डादिसंशये विभिन्ननिबन्धकस्यापि दण्डादौ रक्तत्वादिसंशयस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतया दण्डादौ रक्तत्वादिसंशये,

पक्षोक्तदोषापत्तिः, अतस्तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे अनवस्था स्यात्—इति चेन्मैवं; स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये चाङ्गीकारात् । तथाहि—शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरं अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति नासीन्नभविष्यतीति स्वरूपेणैव, 'नेह नाने'ति श्रुत्या च

सिद्धिव्याख्या ।

ऽनुभव एव प्रमाणमित्याह—तथाहीति । प्रतीतेरिति । अन्यथा पारमार्थिकत्वेन रूपेण रूप्यं नास्ति,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञाने तदस्वीकारात्—अत आह—पारमार्थिकत्वस्यापीत्यादि । स्वरूपेण स्वनिष्ठधर्मेण । अनवस्थेति । 'ज्ञानं सर्वं स्वविषयक'मिति वादिनो मते ज्ञाननिवर्त्यमात्रविशेष्यकधीरप्रसिद्धा, ज्ञानत्वविशिष्टतया स्वग्राहकत्वेन ज्ञानमात्रस्य स्वविशेष्यकत्वात्; तथा च तादृशवादिनं प्रति स्वभिन्नं यत् ज्ञाननिवर्त्यं तदविशेष्यकधीरूपपारमार्थिकत्वं निवेद्यम्, तस्य च विशेष्यतासम्बन्धेन स्वनिष्ठत्वात् तादृशधीरूपेण स्वस्वेतरसकलदृश्यनिषेधासंभवात् तादृशधीतरसकलदृश्यानामेव तादृशधीरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, तादृशधियां तु 'एकस्या अन्यया तस्या अप्यन्यया तस्या अप्यन्ययेत्येवरीत्या निषेधप्रतियोगित्व'मित्यनवस्था । नच—तादृशधीरूपावच्छिन्नं यत् तादृशधीभिन्ननिष्ठप्रतियोगित्वं, यच्च तादृशधियां स्वेतरतादृशधीरूपावच्छिन्नं प्रतियोगित्वं, तदुभयस्य प्रत्येकरूपेण साध्यत्वे दृश्यत्वादिहेतोर्यभिचारित्वमप्यस्तीति तदनुकला न्यूनतेति—वाच्यम्; उक्तप्रतियोगित्वयोरन्यतरवत्त्वे साध्ये व्यभिचाराभावात् । वस्तु-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रक्तादौ दण्डादिनिष्ठभूतलादिधर्मवृत्तितावच्छेदकत्वसंशयात् भूतलादौ दण्डादिनिष्ठस्ववृत्तितावच्छेदकीभूतरक्तादिविशिष्टदण्डाद्यभावव्यावर्तकधर्मस्यापि संशयेन तादृशव्यावर्तकधर्मनिर्णयविघटकतया प्रयोजकतया प्रपञ्चे उक्तपारमार्थिकत्वसंशयस्यापि ब्रह्मणि तद्विशिष्टप्रपञ्चसंशयप्रयोजकत्वादिति भावः । ननु प्रतियोगिसंशयस्याप्रतिबन्धकत्वे तदुत्तरमभावप्रत्यक्षनिर्णयापत्तिरत आह—ग्राह्यसंशयस्येति ।—तदस्वीकारादिति । अनुमितौ ग्राह्यसंशयस्य प्रक्षताघटकतयाऽनुकूलतया प्रतिबन्धकत्वास्वीकारादित्यर्थः । अनुमितिग्रहणं शाब्दबोधस्यानुपलक्षणम्; तत्रापि तस्य योग्यतासंपादकतयाऽनुकूलत्वेनाविरोधात् । एतेन नेहेत्यादिश्रुतिजन्यबोधोपि निष्प्रत्यूहः । ननु—पारमार्थिकत्वं ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधीः । सा च विशेष्यतासंबन्धेन ब्रह्ममात्रवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यतादृशधीरूपे पारमार्थिकत्वेऽस्तीति तेनैव ब्रह्मरूपेण पारमार्थिकत्वस्यापि निषेधे कथमनवस्था ? पारमार्थिकत्वस्य स्वेन रूपेण निषेधासंभवे हि स्वभिन्नेन पारमार्थिकत्वेन तस्यापि स्वभिन्नेन इत्येवमनवस्था स्यादित्यत आह—ज्ञानं सर्वं स्वविषयकमिति । एतन्निर्वाहकं कार्यकारणभावमाह—ज्ञानत्वविशिष्टतयेति । विषयतासंबन्धेन ज्ञानं प्रति तादात्म्यसंबन्धेन ज्ञानत्वविशिष्टत्वेन कार्यसहभावेन कारणत्वेनेत्यर्थः । स्वविशेष्यकत्वात् ज्ञाननिवर्त्यस्वरूपस्वविशेष्यकत्वात् । ज्ञाननिवर्त्यविषयकत्वस्य मात्रार्थत्वादिति भावः । तथाच ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधीरूपपारमार्थिकत्वस्याप्रसिद्धौ च । स्वभिन्नमिति । स्वविशेष्यकत्वानुयोगिनी धीः । एवंचेदृशपारमार्थिकत्वस्याननुगमेनैकैकतद्वटिताननुगतानन्तसाध्यानुमितीनामनवस्थया जगतो मिथ्यात्वनिश्चयः चिरेणापि दुर्घटः । स्वभिन्नज्ञाननिवर्त्यविशेष्यका या बुद्धिः शुक्त्यादौ रजतादिविषयिणी, ब्रह्मणि प्रपञ्चविषयिणी च, तद्विज्ञत्वविशिष्टधीत्वेन स्वविशेष्यत्वस्वभिन्नलोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञाननिवर्त्यभावविशिष्टधीत्वेन वा सत्यं सर्वं वाच्यमित्याकाराः पारमार्थिकत्वपदार्थभूता धिया उपगमय्य तादृशधीत्वोपलक्षितावच्छिन्नप्रतिपन्नोपाधिनिष्ठभावप्रतियोगित्वेनानुपदं वस्तुतत्त्वत्वादिवक्ष्यमाणरीत्या साध्यानुगमे तु तदनुमित्यनवस्थाविरहेऽपि तदनुमितौ तादृशप्रतियोगित्वरूपसाध्यांशे अवच्छेदकविधया भासमानानां तादृशधीरूपपारमार्थिकत्वानां विषयितानवस्थैव गुरुमते स्वप्रकाशघटादिज्ञाने प्रमाणविषयितानवस्थावदोषः । विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानहेतुतामते तु तादृशधीरूपपारमार्थिकत्वानां ज्ञानापेक्षणात् तेषां चानवस्थितपरम्पराकतया सामान्यलक्षणाननुगमे चिरेणापि प्रातिस्विकरूपेण दुर्ज्ञेयतया जगन्मिथ्यात्वानुमितिरूपो निश्चयः दुर्घट इत्यपि दूषणं सुवचम् । स्वनिष्ठत्वादिति । तेन रूपेण स्वनिषेधासंभवेनेति शेषः । स्वस्वेतरेति द्वन्द्वः । तदुभयस्य तादृशसंशयद्वयघटकस्य । प्रत्येकरूपेण तादृशैकैकधीघटिताननुगतरूपेण । व्यभिचारित्वमप्यस्तीति । दृश्यत्वहेतुमत्यां तद्वीरूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वरूपसाध्यस्य तद्विधौ तदन्यधीरूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वरूपसाध्यस्य च तदन्यधियि असत्त्वादिति भावः । उक्तप्रतियोगित्वयोरिति । बहुत्वेऽपि राशिद्वैविध्यात् द्विवचनम् । अन्यतरवत्त्वे अन्यतमवत्त्वे । ननु—प्रातिस्विकरूपेण तत्तद्वीघटितान्यतमवलं दुर्ज्ञेयमिति—आशङ्कोक्त-

प्रपञ्चस्य स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः । नच—तत्र लौकिकपरमार्थरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगीति—
वाच्यम्; भ्रमवाधयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः; अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्च । नच तर्हुत्पत्त्याद्यसंभवः;

सिद्धिव्याख्या ।

पारमार्थिकत्वेन नाना नास्तीति तन्निषेधोद्धेखापत्तेरित्यर्थः । नच तत्रेति शुक्तावित्यर्थः । लौकिकपर-
मार्थमेवेति । ननु लौकिकानिर्वचनीयमित्यर्थः । भ्रमेति । इदं रजतमिति सामानाधिकरण्यानुभवविष-
यभूतानिर्वचनीयरजतं विना लौकिकपारमार्थिकरजतस्य बाधविषयत्वे उभयोर्भिन्नविषयतया वैयधिक-
रण्यं स्यादित्यर्थः । अप्रसक्तेति । भ्रमप्रसक्तस्य चाप्रतिषेधात् निषिद्धस्याप्रसक्तेश्चेति भावः । नच तर्हीति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्तु—तादृशधियां स्वेतरतादृशधीरूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वमादाय साध्यवत्त्वपर्यवसानसंभवेन तादृशधीत्वोपलक्षि-
तावच्छिन्नप्रतियोगित्वरूपैकसाध्यस्यैव दृश्यमात्रेऽनुमानसंभवाच्च व्यभिचारप्रसक्तिरिति भावः । लौकिकपरमा-
र्थेति । परमार्थतया लोकसिद्धेत्यर्थः । व्यावहारिकेति यावत् । वैयधिकरण्यं भिन्नविषयकत्वम् । अप्रसक्तेति ।
शुक्तौ व्यावहारिकरूपस्य तादात्म्येन ज्ञातृत्वरूपप्रसक्तेरभावेन तत्र तन्निषेधे अप्रसक्तनिषेधः; तथाचानुभवविरोधः;

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रीत्या तादृशधियां अनुगममभिप्रेत्याह—वस्तुतस्त्विति । तादृशधियामिति । तादृशधीभिन्नानाम् । तादृशधी-
रूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वमादायेत्यादि । प्रतियोगित्वमादाय प्रतियोगित्वीयसंसर्गविधया विषयीभूय ।
साध्यसंबन्धकर्तृकपर्यवसानक्रियासमानकर्तृकत्वात् क्त्वाप्रत्ययः । पर्यवसानं अनुमितिविषयीभवनम् । नेत्रे निमीह्य
हसतीतिवत् समानकालीनत्वे क्त्वाप्रत्ययः । तादृशधियामित्येतदर्थतादृशधीपक्षकत्वस्यानुमितावन्वयः ।—यद्वा—
प्रतियोगित्वमादाय प्रतियोगित्वीयसंसर्गानुयोगिविधया विषयीभूय । धियामिति कर्तृषष्ठी । साध्यवत्त्वपर्यवसानं
मिथ्यात्वानुमितौ साध्यसंबन्धविषयतानिरूपितविषयताश्रयत्वम् । अस्य तादृशधियामित्यनेनान्वयः । प्रतियोगित्व-
रूपैकसाध्यस्य प्रतियोगित्वत्वरूपैकधर्मावच्छिन्नसाध्यस्य ।

पाण्डुरङ्गाय नमः ॥ मूले—प्रतियोग्यभावयोर्विरोधात् कथमिदमित्याशङ्क्यानुभवानुरोधात् इत्याह—तथाहीति ।
शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरमिति । ब्रह्मणि प्रपञ्चभ्रमानन्तरं चेति शेषः । प्रतियोगिप्रसक्त्यर्थमिदमधिष्ठानत्वं, शुक्तेर्नाल-
पृष्ठत्वादिकं ब्रह्मणश्चाद्वितीयत्वसत्यत्वादिकं तत्साक्षात्कारश्च भ्रमसंशयोत्तरं प्रत्यक्षनिश्चये विशेषदर्शनस्य हेतुत्वादपेक्षणीयः ।
एवंच श्रौतप्रपञ्चाभावबोधे नैतदपेक्षेति अवधेयम् । अत्र रूप्यं नास्तीति स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः इति योजनायां
शुक्तिरूप्यस्येति शेषेण शुक्तिरूप्यस्य स्वरूपेण रूप्यं नास्तीत्याकारकनिषेधप्रतीतेरित्यर्थो वाच्यः । तथाचात्र ‘प्रपञ्चस्यापि’
स्वरूपेणैवेत्यत्र च स्वरूपेणैवेत्यस्य वैयर्थ्यः; एकस्यैवोभयान्वयसंभवात् । प्रतीत्यन्वितार्थकतृतीयान्तान्तरं विना श्रुत्याचेति
चकारासङ्गतिश्चेत्यतो व्याचष्टे—इतिस्वरूपेणेति । नन्वेवमनुभवेन प्रतीतेरित्यसङ्गतम्, अतो व्याचष्टे—प्रतीतेरिति ।
‘नेह नाना’ इति श्रुतेरपि स्वरूपेणैव विद्यदादिप्रपञ्चनिषेधकत्वं प्रागुक्तम् । लौकिकरजतस्य परमार्थत्वाभावाद्याचष्टे—लौकि-
कपरमार्थेति । परमार्थतया सत्यतया । ननु सत्यतया लोकप्रतीतिगोचरत्वं प्रातीतिकस्यापि संभवतीत्यत आह—
व्यावहारिकमिति । मूले—नास्ति नासीत् नभविष्यतीति, निषेधस्य त्रैकालिकत्वप्रदर्शनाय । नचेति शङ्कायां
रजतमेवेत्येवकारेण शुक्तिरूप्यव्यवच्छेदः । एवंच शुक्तिरूप्यवति तदभावस्योक्तानुभवेनानवगाहनान्न तस्य मिथ्यात्वसि-
द्धिरिति शङ्काभिप्रायः । वैयधिकरण्यपदस्य सामान्यतो विषयतान्यसंबन्धविशेषेण वा तदधिकरणभिन्नाधिकरणकत्वार्थ-
कत्वे बाधः; अन्तःकरणवृत्त्यात्मकयोर्भ्रमबाधयोरन्तःकरणे कालादौ वा सामानाधिकरण्यात्, अतो विषयतासंबन्धेन
तदधिकरणभिन्नाधिकरणसत्त्वार्थकतया व्याचष्टे—वैयधिकरण्यमिति । भिन्नविषयकत्वमिति । तच्च नेष्टं, तयोः
समानविषयकत्वनियमादिति भावः । एतन्नियमे मानं सूचयन् “प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते” इतिन्यायमूलकानुभववि-
रोधरूपदूषणान्तरमाह मूले—अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्चेति । ननु—प्रसक्तिरापत्तिः, सा च शुक्तौ व्यावहारिकरूपस्य
संभवत्येव, शुक्तिर्यदि रजतसामग्रीजन्या स्यात् तर्हि रजतं स्यादित्याकारा, इत्याशङ्क्या व्याचष्टे—अप्रसक्तेतीति ।
ज्ञातृत्वेति । अनाहार्यज्ञानविषयत्वेत्यर्थः । उक्तापत्तिस्तु आपाद्यव्यतिरेकनिर्णयजन्यतयाहर्त्येति भावः ।—अनुभव-
अद्वै. सि. १६

नह्यनिषिद्धस्वरूपत्वमुत्पत्त्यादिमत्त्वे तन्नम्, परैरनिषेध्यरूपत्वेनाङ्गीकृतस्य वियदादेरुत्पत्त्याद्यनङ्गीकारात्, किंतु वस्तुस्वभावादिकमन्यदेव किञ्चित् प्रयोजकं वक्तव्यम् । तस्य मयापि कल्पितस्य

सिद्धिव्याख्या ।

निषेधस्वरूपत्वादिति भावः । नहीति । येन निषेध्यस्वरूपत्वादुत्पत्त्याद्यसंभवः स्यादिति भावः । परैरिति । तथाच परमतेऽनिषिद्धस्वरूपत्वं यथोत्पत्त्यादिमत्त्वे न तन्नं, तथास्मन्मते निषेध्यस्वरूपमपि नोत्पत्त्याद्यसंभवे तन्नमिति ध्येयम् । वक्तव्यमिति । उत्पत्त्यनुत्पत्त्योरिति शेषः । तन्ममापि समानमित्याह—तस्येति । आशयानभिज्ञस्य चोद्यमनुवदति—नचेति । स्वरूपेणेत्यस्यापणस्थं रूप्यमित्यनेना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अमानन्तरमित्यादिनोक्तनिषेधस्य प्रसक्तनिषेधत्वानुभवस्योक्तत्वात् । तर्हि प्रपञ्चे शुक्तिरूप्यादौ च स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वे उक्तप्रमाणसिद्धे । तन्नं समव्यापकम् । उत्पत्त्याद्यसंभव इत्यत्रानिषिद्धस्वरूपत्वे उत्पत्त्यादिव्यापकत्वलाभात्, व्यापकाभावेन व्याप्याभावस्य तत्रापवादितत्वात्; अग्रे व्यभिचारोक्त्या उत्पत्त्यादौ व्यापकत्वलाभात् । अनङ्गीकारादिति । नच—उत्पत्त्यादौ व्याप्यताया अदूषणे न्यूनतेति—वाच्यम्; किंतु वस्तुस्वभावादिकमित्यादिग्रन्थेन तस्याः दूषितत्वेन व्यापकतामात्रस्यात्र दूषणात् । अन्यद्वस्तुस्वभावादिकम् । वस्तुस्वभावो 'जीव ईशो विशुद्धाचिद्विभागश्च तयोर्द्वयोः । अविद्या तच्चित्तोर्योगण्डसाकमनादय' इति रीत्या अविद्याद्यनादिषट्कभिन्नदृश्यत्वम् । आदिपदात् 'यतो वे' त्यादिश्रुत्यादिरूपस्य उत्पत्त्यादिग्राहकप्रमाणस्य लाभः । प्रयोजकं समनियतम् । अन्यदेवेत्येवकारेण उत्पत्त्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विरोध इति । "प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते" इतिन्यायमूलकानुभवविरोध इत्यर्थः ।—प्रसक्तनिषेधत्वानुभवस्येति । तादृशानुभवप्रदर्शनादित्यर्थः । यथाश्रुते—मूलकृतां स्वानुभवविरोधोद्भावकता स्यात् । नहि अमानन्तरमित्यादिनिषेधात्मकानुभवाकारघटकम्, अननुभवात् । तस्मात् शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्याद्यनुभवे शुक्तिरूप्यस्यैव स्वरूपेणैव निषेधो विषय इति पर्यवसितं, तदनुरोधेन तर्हिपदं व्याचष्टे—तर्हीति । निषेधेति । त्रैकालिकनिषेधेत्यर्थः । उक्तप्रमाणं रूप्यं नास्तीत्याद्यनुभवः । तन्नपदस्य प्रयोजकार्थकत्वे व्यापकार्थकत्वे वा परैरित्यादिदूषणस्य, प्रयोज्यव्याप्यान्यतरार्थकत्वे 'नच तर्हि' इति शङ्काया असङ्गतिरतो व्याचष्टे—तन्नमिति । समव्यापकार्थपरतामुपपादयन् 'नच तर्हि' इति शङ्कापरैरित्यादिदूषणयोरभिप्रायं ध्वनयति—उत्पत्त्याद्यसंभव इत्यत्रेति । अनिषिद्धस्वरूपत्वेन रूपेण तदधिकरणकनिषेधाप्रतियोगित्वे ।—उत्पत्त्यादीति । तेन रूपेण तदधिकरणकोत्पत्त्यादीत्यर्थः । नाश आदिपदार्थः ।—आपादितत्वादिति । सिद्धान्तिना शक्त्यादौ प्रातिभासिकरजतादेरुत्पत्त्याद्यङ्गीकारात्, नेष्टापत्तिर्भव इति भावः । अनङ्गीकारादीतीति । तथाचानिषिद्धस्वरूपत्वे उत्पत्त्यादिव्याप्यतामङ्गात् न समनैयत्यं परैर्वक्तुं शक्यमिति भावः । ननु—एवमपि तत्र तद्व्यापकतायां बाधकाभावात् 'नच तर्हि' इति शङ्कानपगम इत्याशङ्कते—नचेति । व्यापकतामात्रस्येति । तद्गर्भसमनैयत्यस्येत्यर्थः; तस्यैव शङ्काबीजत्वेन दूषणीयत्वात् । अन्यदेवेत्यत्र अन्यदा, इव इति पदच्छेदभ्रमं निराकुर्वन् विधेयप्रयोजकपदार्थं प्रति उद्देश्यतावच्छेदार्थकपदं उद्देश्यपदात् पूर्वं योजयति—अन्यद्वस्तुस्वभावेति । अन्यदित्यस्यानुक्तौ वस्तुस्वभावपदेन पदार्थधर्मसामान्यार्थकेनानिषिद्धस्वरूपत्वान्यधर्माभावः, तुरीयेमादिकं, न घटकारणं, किंतु किञ्चिद्व्यमित्याद्यप्रयोगेण किंतुपदस्य स्वपूर्ववाक्यस्थनजर्थान्वयिपदार्थान्यत्वालाभकत्वात्, अतस्तद्भाषाया निषिद्धस्वरूपत्वान्यार्थकमन्यदित्युक्तम् । अन्यत्किञ्चित्पदयोः सममिव्याहारवशात् वस्तुस्वभावपदात् प्रतीयमानो यो धर्मविशेषः तं दर्शयति—जीव इत्यादि । तयोः जीवेशयोः । विभागः भेदः । एकजीवानुयोगिकस्य जीवेश्वरप्रतियोगिकभेदस्य लाभाय द्वयोरिति । तच्चित्तोः अविद्याचित्तोः । योगः तादात्म्यरूपः संबन्धः । शशविषाणाद्यालोकवारणाय दृश्यत्वमिति । जीवादिवारणाय अनादिषट्कभिन्नत्वम् । यद्यपि विशुद्धाचिद्वारणं दृश्यत्वेनैव संभवतीति तदन्यानादिषट्कभिन्नत्वमेव सम्यक्; तथापि उक्तषट्साधारणप्रागभावाप्रतियोगिभावत्वरूपानादित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकैकभेदस्योक्तश्लोकप्रतिपादितत्वरूपतादृशधर्मावच्छिन्नभेदस्य वा निवेशतात्पर्यात् न षट्केत्यस्यासङ्गतिः । ध्वंसध्वंसवत् प्रागभावस्याङ्गीकारे तत्प्रागभावोत्पत्त्योरप्यङ्गीकारात् न तद्व्यभिचारः । नच—अनादिषट्कभिन्नदृश्यत्वस्योत्पत्त्यादिप्रयोजकत्वे किं मानमिति—वाच्यम्; 'यतो वे' त्यादिश्रुत्या अनादिभिन्नदृश्यानामेवोत्पत्त्यादिवोधनात् । तत्र भूतपदस्य दृश्यार्थकत्वात् इमानीत्यस्य

स्वीकारात् । नच—त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगीति मतहानिः स्यादिति—वाच्यम् ; अस्याचार्यवचसः पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन

सिद्धिव्याख्या ।

न्वयः । पारमार्थिकत्वाकारेणेत्यस्य प्रातिभासिकं वेत्यनेनान्वयः । तथाच स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वाभ्युपगमे एवंभूतमतहानिः स्यादित्यर्थः । आशयमाविष्कुर्वन्परिहरति—अस्येति । आपणस्थं रूप्यमित्यस्य प्रातिभासिकमित्यनेनान्वयः । ‘सर्वं वाक्यं सावधारणम्’ इति न्यायेन प्रातिभासिकमित्यत्रैवकारलाभः । एवं सति पर्यवसितमर्थमाह—पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन प्रतीतं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिव्यापकत्वमपि अनिषिद्धस्वरूपत्वे नास्तीति ज्ञापितम् । उत्पत्त्यादिमतोऽप्यनुभवश्रुत्योर्निषेधविषयकत्वस्योक्तत्वात् तत्र तद्व्यापकत्वमपि नेति भावः । मतहानिः पूर्वाचार्योक्तिविरोधः । ‘प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं तच्च बाधकज्ञाने रजतं प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगितयाऽवभासत’ इति प्रत्यक्षमिति विवरणकारोक्तेः प्रातीतिकमेव रजतं

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

चाविद्यायनादिभिन्नार्थकत्वात् । तत् ध्वनयन् आदिपदार्थभूतं प्रयोजकान्तरमाह—आदिपदादिति । श्रुत्यादिरूपस्येति । ब्रह्मजन्यत्वेन स्वप्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन वियदादौ वर्तमानस्येति शेषः ।—प्रयोजकमिति । उत्पत्त्यादिमत्त्वे इत्यनुषज्यते । यद्यपि तन्त्रमित्यस्याप्यनुपज्ञः संभवति; तथापि तन्नियमाभावात् क्लेशविशेषरूपत्वाच्च प्रयोजकपदमेवोपात्तम् ।—समव्यापकमिति । समं तुल्यसंख्यदेशवृत्तिकं सदेव, नत्वधिकसंख्यदेशवृत्तिकं सत्, व्याप्यं सत् व्यापकमिति पर्यवसितार्थः । व्याप्यत्वात् गगनादेरुत्पत्तिः, व्यापकत्वाच्च ब्रह्मनुच्छयोर्नोत्पत्तिः । किंत्वित्यादिग्रन्थेन तस्य दूष्यत्वादिति प्रतिज्ञातं स्फुटयति—अन्यदेवेत्यादि । ज्ञापिते युक्तिमाह—उत्पत्त्यादिमत इति । अनुभवः ‘शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्याकारः, श्रुतिः ‘नेह नानास्ति किंचन’, तयोः उत्पत्त्यादिमतोपि यः स्वरूपेण निषेधः तद्विषयत्वस्योक्तत्वात् । भ्रमबाधयोर्वैयधिकरण्यापत्त्यादिना व्यवस्थापितत्वादित्यर्थः । तथाच उत्पत्त्यादिमत्त्वेन स्वाप्सृष्टिजाप्सृष्ट्यादिप्रतिपादकश्रुत्यादिसिद्धे प्रातिभासिके शुक्तिरूप्यादौ व्यावहारिके च वियदादौ अनिषिद्धस्वरूपत्वस्याभाव इति भावः । तत्र अनिषिद्धस्वरूपत्वे । तद्व्यापकत्वम् उत्पत्त्यादिव्यापकत्वम् ।—अपिनेति । तथाच शुक्तिरूप्यादावनिषिद्धस्वरूपत्वाभावे सत्यपि नोत्पत्त्याद्यभावापत्तिरिति भावः । अपिना परमते दूषितस्य व्याप्यत्वस्य समुच्चयः । स्वमते वियदादेरप्युत्पत्त्यादिसत्त्वेनानिषिद्धस्वरूपत्वे उत्पत्त्यादिव्याप्यत्वसंभवेऽपि न क्षतिः; तदभावेन शुक्तिरूप्यादेरुत्पत्त्याद्यभावस्य आपादयितुमशक्यत्वात्, व्याप्याभावस्य व्यापकाभावानापादकत्वात् । यच्च स्वयमुत्पत्त्या समनियतत्वेनाभ्युपगतमनादिषट्कमिन्द्रियत्वादिकं तस्य शुक्तिरूप्यादौ सत्त्वात् तदभावरूपापादकाभावेन नोत्पत्त्याद्यभावापत्तिरित्याह मूले—तस्य मयापि कल्पितस्याङ्गीकारादिति । तस्य वस्तुस्वभावादिरूपप्रयोजकान्तरस्य । कल्पितस्य कल्पिते शुक्तिरूप्यादौ । वस्तुस्वभावादेः कल्पितत्वकथनस्यात्यन्तानुपयोगात् अधिकरणाध्याहारपक्षेऽपि । नचेति । शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्यादिनिषेधप्रतीतौ स्वरूपेण शुक्तिरूप्यस्यैव प्रतियोगितया भानाङ्गीकारे इत्यर्थकैवमिति शेषः ।—त्रैकालिकेति । शुक्तिवृत्तित्वेन प्रतीयमानेत्यादिः । आपणस्थं रूप्यं प्रतियोगीति संबन्धः । आपणस्थपदं व्यावहारिके योगरूढम् । तेन प्रातिभासिकेन सह विकल्पसङ्गतिः । प्रातिभासिकरूप्यं वा त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगीत्यनुपज्ञेनान्वयः । मतहानिशब्दस्य मतिविषयत्वागर्थकत्वे इत्यन्तार्थस्य मतावेकदेशेऽन्वयप्रसङ्गः, तादृशमतिविषयस्यापणस्थरूप्यादेः तत्प्रतियोगित्वादेर्वा विभागानुकूलव्यापाररूपत्वागस्याप्रसङ्गेन स्यादित्यस्यासङ्गतिश्चेत्यतो व्याचष्टे—मतहानिरिति । विरोधः विरुद्धार्थकत्वम् । त्वद्वाक्यस्येति शेषः । त्रैकालिकनिषेधं प्रत्यापणस्थं रूप्यं प्रातिभासिकं, स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वा प्रतियोगि इति योजनया आचार्योक्तिविरोधं परिहरति मूले—अस्येति । प्रातिभासिके आपणस्थरूप्यतादात्म्यवाधात् तत्पदं तत्तादात्म्येन प्रतीतपरतया व्याचष्टे—पारमार्थिकलौकिकेति । पारमार्थिकत्वेन लोकसिद्धेत्यर्थः । नन्वेवं क्लेशेन पूर्वाचार्योक्तिः किमनुसारेण व्याख्येयेत्यत आह टीकायाम्—प्रतिपन्नोपाधाविति । तच्च प्रत्यक्षमित्यन्वयः । तत्र इत्यन्तं हेतुः । बाधकज्ञाने शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्यादिज्ञाने । उक्तेः प्रतीयत इत्यनेनान्वयः । ननु विवरणकारोक्तौ रजतपदेन प्रातीतिकरजतस्यैव ग्रहणं कुतः तत्राह—प्रतिपन्नपदेनेति । प्रातीतिकस्यैव पुरोवर्तिनि प्रकारतया भ्रमे भानात् तदेव स्वपदेन ग्राह्यमिति भावः ।

प्रतीतं प्रातिभासिकमेव रजतं प्रतियोगीत्यर्थः । तच्च स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेत्यनास्थायां वा शब्दः । एतावदुक्तिश्च पुरोवर्तितादात्म्येनैव रजतं प्रतीयत इति मतनिरासार्थं लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येनापि प्रतीयत इति प्रतिपादयितुं च । तदुक्तं तत्त्वदीपिकायां—‘तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्याणां वाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्ति-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रातिभासिकमेव रजतमिति । एवं सति वाशब्दानुपपत्तिमाशङ्क्याह—तच्चेति । एतावदुक्तेः फलं दर्शयति—एतावदिति । तथाच तदुभयं फलमिति ध्येयम् । उक्तार्थेऽभिप्रेत्यवचनं प्रमाणयति—तदुक्त-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पुरोवर्तिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन प्रतीयते, प्रतिपन्नपदेन स्वप्रकारकधीविशेष्यलाभात्; तदनुसारेणोक्तपूर्वाचार्योक्तिर्व्याख्येयेत्याशयेनाह—अस्याचार्येत्यादि । तच्च प्रतियोगित्वं च । स्वरूपेणेत्यादि । तृतीयार्थस्यावच्छिन्नत्वस्य प्रतियोगित्वेऽन्वयः । अनास्थायामिति । एकैव पारमार्थिकत्वरूपोक्तधिया स्वैतरसर्वदृश्यानां तस्याश्चान्यया तादृशधिया निषेधप्रतियोगित्वसंभवान्नोक्तानवस्था । वस्तुतस्तु, ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपेण स्वस्वैतरसर्वदृश्यानां निषेधप्रतियोगित्वं संभवति, तस्याभावीयविशेषणतासंबन्धेन स्वस्मिन्नसत्त्वात् स्वस्यापि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिति स्वरूपतस्तस्यावच्छेदकत्वसंभवेन लाघवात्तदेव निवेद्यत इति भावः । ननु—आपणस्थरूप्यशब्दस्य प्रातीतिकरजते व्यावहारिकरजततादात्म्येन प्रतीतत्वबोधकस्याचार्यवचसि किमर्थमुक्तिः—तत्राह—एतावदुक्तिरित्यादि । तस्मात् बाधस्य भ्रमवैयधिकरण्यापत्त्यादिना प्रातीतिकस्यैव रजतस्य पुरोवर्तिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया बाधकधीविषयत्वात् । लौकिकेत्यादि । पूर्वाचार्याणां लौकिकेत्यादिवाचोयुक्तिः ‘इदं प्रातीतिकरजतं परमार्थरजतं न भवती’ति भेदात्मकनिषेधप्रतियोगित्वमङ्गीकृत्य नेयेत्यर्थः । ननु—प्रातीतिकरूप्ये व्यावहारिकरूप्यस्य तादात्म्येन प्रसक्त्यभावात् भ्रमवैयधिकरण्यापत्त्यादिना निषेधो न युक्तः—तत्राह—पुर इत्यादि । रजतार्थिनः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मूले—तच्चेत्यस्य प्रकान्तप्रधानरजतपरामर्शित्वे तदेकदेशेऽपि स्वरूपेणेत्यादितृतीयार्थान्वयासंभवात् व्याचष्टे—तच्चेति । ननु कल्पद्वयस्य निर्दुष्टत्वे अन्यतरत्रानाग्रहरूपानास्था स्यात्, तदेव न, चरमेऽनवस्थाया उक्तत्वात्, अत आह—एकैवेति । नन्वेवमप्यन्योन्याश्रयो दुर्वार इत्यत आह—वस्तुतस्त्विति । ज्ञानानिवर्त्यत्वरूपेणेति । यद्यपि नेदं पारमार्थिकत्वं तुच्छवृत्तिवात् किं तु तस्माद्वृत्ता तादृशधीरेव; तथापि पारमार्थिकत्वपदस्य तद्वदुक्तपरतया सङ्गतिः । ननु ज्ञानानिवर्त्यत्वमपि तादात्म्येन स्वमते तस्यापि जन्यतया कालिकसंबन्धेन च स्वसंबन्धमेवेति तेन रूपेण तस्य कथमुक्तप्रतियोगित्वमिति रूपान्तरान्वेषणेऽन्योन्याश्रयस्तदवस्थ इत्यत आह—तस्येति । अभावीयेति, कालिकविशेषणताव्यावृत्तये । ननु तादृशधियः स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वसंभवेन तन्निवेशे लाघवमत आह—स्वरूपत इति । तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वस्य एकव्यक्तिकत्वाविशेषादिति भावः । लाघवादिति । ज्ञानानिवर्त्यत्वस्य तादृशधीपरिचायकरूपघटकत्वादिति भावः । केचित्तु—अभावविरहात्म्यत्वं वेतिवत् पारमार्थिकत्वेन वेत्यत्रापि वाशब्दोऽनास्थायामिति मूलस्थो द्वितीयकल्पेऽनवस्थादिप्रयुक्तास्वरससूचक इति अर्थं वदन्ति । किमर्थमुक्तिरिति । तां विनापि उदाहृतविवरणकारोक्तयविरोधस्योक्ताचार्यवचसि संभवादिति भावः । शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्यादिनिषेधे प्रातिभासिकस्यैव प्रतियोगित्वे लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येन प्रतीतत्वे च संमतिमाह मूले—तदुक्तं तत्त्वप्रदीपिकायामिति । न स्यादिति । पूर्वाचार्याणां वाचोयुक्तिरपीति तत्त्वप्रदीपिकापदानां योजना । एतत्सूचनयैवानुपदं वक्ष्यति—लौकिकेत्यादि ।—वाचोयोग इति । तादृशवाचोयोगे सङ्गतिमूचकतया तस्मादिति व्याचष्टे—भ्रमेति । व्यावहारिकरजतस्य पुरोवर्तिनि भ्रमाभावेन तद्वैयधिकरण्यापत्त्यादिना ‘लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदंरजतमिति निषेधप्रतियोगि’ इति वचनमसङ्गतमिति भावः । अत्र नेदं रजतमिति प्रतीतौ शुक्तिरूपे पुरोवर्तिनि व्यावहारिकरजतात्यन्ताभावो व्यावहारिकरजतभेदो वा विषयः, प्रत्यक्षज्ञाने शब्दानुरोधेनार्थकथनस्यायुक्तत्वात्, प्रतियोगिप्रसक्तेश्वानुपयोगित्वादित्यभिमानमूलकत्वमुक्तवाचोयोगस्योक्तासङ्गतिशङ्कावीजम् । तादृशाभिमानमेव ‘अयमसिप्राय’ इत्यादिना मूलकृच्चिराकरिष्यति । निषेधे प्रतियोगिप्रसक्त्यपेक्षा तु उक्तैवेति बोध्यम् । मूले—पुरोवर्तिनि प्रातीतिकरजते । इदं, प्रतीतावप्यन्वेति । प्रतीतस्येति । लौकिकपरमार्थरजतस्येति शेषः ।

दर्शनात् लौकिकपरमार्थरजतत्वेनापरोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकपरमार्थरजतमिदं न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘सद्रजतप्राप्तिर्मम भवति’तीच्छावतः । लौकिकपरमार्थरजतत्वेन सद्रजतमिदमित्येवंरूपेण । तथा च प्रातीतिक-
रूप्ये व्यावहारिकरूप्यस्य सद्रजतत्वस्वरूपेण तादात्म्यं प्रसक्तमेव; अन्यथा प्रातीतिकरूप्ये व्यावहारिकरूप्यलिप्सोः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रजतमिदं नेत्यत्र इदंपदमन्योग्यर्थकं पूर्वं योजयन् रजतनजिदंपदानां व्यावहारिकरजततात्पर्यन्ताभावपुरोवर्त्यर्थकत्वेऽसङ्गति-
तादवस्थपरिहाराय व्याचष्टे—इदमिति । तत्र नञो भेदार्थकत्वेऽपि इदंपदस्य पुरोवर्त्यर्थकत्वं न संभवति, व्यावहारिक-
रजतस्य तत्राप्रसक्तेरेवेत्यत आह—प्रातीतिकं रजतमिति । तत्र तद्भेदवाधादाह—परमार्थरजतमिति । सद्रजत-
मित्यर्थः । लौकिकत्वस्याभानात् त्यागः । एवमपि नञोऽत्यन्ताभावपरत्वं न संभवति, अत्र रजतमित्यप्रसक्तेरत आह—
न भवतीति । भेदात्मकनिषेधेति । प्रतियोगिपदसमानविभक्तिकानुयोगिवाचकपदसमभिव्याहारस्यैव प्रायो भवति-
पदसमभिव्याहारस्य नञूपदेन भेदबोधे, ससम्यन्तानुयोगिवाचकपदसमभिव्याहारस्यैव चास्तिपदसमभिव्याहारस्य नञू-
पदेनात्यन्ताभावबोधे प्रयोजकत्वं ‘षटः पटो नास्ती’त्यस्यात्र घटो न भवतीत्यस्य च प्रायोऽप्रयोगात्, इत्यभिप्रेत्य मूले
भवतीत्यध्याहृतमिति मनसिकृत्यात्र निषेधपदं भेदपरतया व्याख्यातम् । इतिभेदेत्यस्य इतिप्रत्ययविषयभेदेत्यर्थः ।
नेयेति । संगमनीयेत्यर्थः । वाचोयुक्तिरपीति पूर्वेणान्वयः । एवं च शुक्तौ रूप्यं नास्तीत्यत्यन्ताभावप्रत्यये प्रातिभासिकर-
जतस्यैव प्रतियोगितया भानमिति तत्त्वप्रदीपिकासमतमित्यायातम् । अन्यथा लौकिकेत्यादिवाचोयुक्तेर्नंदरजतमिति प्रतीतेः
शुक्तौ व्यावहारिकरजताभावविषयकत्वेऽपि सङ्गतिसंभवेन तस्या प्रातिभासिकरजतव्यावहारिकरजतभेदविषयकत्वेन तत्सङ्ग-
मनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । इदानीं प्रातिभासिकरजतस्य लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येन प्रतीतत्वे तत्संमतिमक्षरलब्धां अव-
तारयति—नन्विति । पुर इत्यादीति । प्रतीतस्येत्यन्तेनेति शेषः । ‘पुरोवर्तिनि’ इत्यस्य शुक्तिरजतरूपे
पुरोवर्तिनीत्यर्थः । तत्र दर्शनादित्यन्तेन तादृशप्रतीतत्वे युक्तिरुक्ता । रजतार्थिन इत्यस्य रजतरूपार्थवत् इत्यर्थकत्वे सिद्ध-
विषयस्य पुंसः प्रवृत्त्यसंभवादसङ्गतिः, कर्मधारयान्मत्वर्थायापत्तिश्चेत्यतो रजतमर्थयतेऽसौ रजतार्थीति कृद्वृत्तिमाश्रित्य
व्याचष्टे—रजतार्थिन इति । रजतप्राप्तिरिति । सद्रजतप्राप्तिरित्यर्थः; व्यावहारिकलिप्सोरित्युक्तेः । ननु लौकिकपर-
मार्थरजतत्वेन प्रतीतिर्न संभवति, परमार्थत्वेन लोके सिद्धत्वपर्यन्तभानस्यानुभवात्, इदं रजतमित्येवाकारात्, रजते तत्प्र-
तीतिसंभवेऽपि प्रातिभासिके तत्तादात्म्यप्रसक्तिर्न लब्धेत्यतः तद्व्याचष्टे—लौकिकेति । सद्रजतमिदमित्येव रूपेणेति ।
इदं प्रातिभासिकरूपम् । पुरोवर्ति सद्रजतम् । इत्येवंरूपा इत्याकारेत्यर्थः । सामान्ये नपुंसकम् । तृतीयार्थोऽभेदः ।
तथाचेदं सद्रजतमित्याकारा या सद्रजतत्वावच्छिन्नप्रकारिका इदंत्वावच्छिन्नविशेषिका अपरोक्षा प्रतीतिः तद्विषयस्येति
मूलार्थः । लौकिकपरमार्थरजतस्येति शेषः । प्रतियोगितामित्यत्रान्वयः । अत्रेदंपदार्थो न शुक्तिरूप्यः; पुरोवर्तिरजत-
शब्दस्य शुक्तिरजतार्थकत्वे तत्र सत्त्वस्यासत्त्वेन तद्भानानुपपत्तेः, व्यावहारिकरजतार्थकत्वे प्रातिभासिकरजते इव शुक्तौ
तस्यात्यन्तसादृश्याभावेन तत्र तद्भानासंभवात्, अत्र रजतं पश्यामीत्यनुभवानुरोधेन सन्निकृष्टरजतभानार्थं प्रातिभासिकर-
जतोत्पत्तिस्वीकारे शुक्तिगतेदंत्वेनापि तस्यैव भासमानतया इदंत्वेन शुक्तिभानासंभवाच्च, किंतु प्रातिभासिकरजतमेवेदंप-
दार्थः । तत्र च सद्रजतशब्दोल्लिखितं सत्त्वविशिष्टं व्यावहारिकरजतं तादात्म्येन भासते; अन्यथा इदंरजतमित्याकारानु-
पपत्तेरित्यभिप्रेत्य लौकिकपरमार्थरजतत्वेनेति तृतीयान्तार्थलब्धप्रातिभासिकव्यावहारिकतादात्म्यप्रसक्तिहेतुं स्पष्टयति—
तथाचेति । इदं सद्रजतमित्याकारकप्रतीतिसत्त्वे चेत्यर्थः । प्रतीतेरिदं सद्रजतमित्याकारकत्वे इति यावत् । अत्र च ‘इदं
रजत’मित्याकारैव प्रतीतिः, नत्विदं सद्रजतमित्याकारेण सिद्धिमाशङ्क्य तत्सिद्धये प्रवृत्तिदर्शनादिति हेतुं योजयति—अन्य-
थेति । इदं सद्रजतमित्याकारकप्रतीतेरसत्त्वे इत्यर्थः । परेतु—अस्तु इदं सद्रजतमित्याकारकप्रतीतिः; तथापि तद्विषयता
शुक्तिरूपपुरोवर्त्यं प्रातिभासिकरजतस्यैवास्तु, नतु प्रातिभासिके व्यावहारिकरजतस्यैवप्रयोजकत्वशङ्कानिरासाय प्रवृत्तिदर्श-
नादिति मूलोक्ततद्धेतुभङ्गं प्रसज्जयति—अन्यथेति । तादृशतादात्म्यप्रसक्त्यभावे इत्यर्थः—इति प्राहुः ।—व्यावहारि-
कलिप्सोरिति । इच्छाया असंभवेन तादृशेच्छाधीनप्रवृत्तेरनुभवसिद्धाया अनुपपत्तिः । नच—अनुभूयमाना प्रवृत्तिः
प्रातिभासिकलिप्सोः शुक्तिरूपपुरोवर्तिविषयैवेति—वाच्यम्; प्रातिभासिकेच्छायाः प्रवृत्तिकारणत्वकल्पनापत्त्या गौरवा-
पत्तेः, व्यावहारिकेच्छायां तु तत्कारणत्वस्य क्लृप्तत्वादिति भावः । तथाच प्रातिभासिकरजतं सद्रजतत्वविशिष्टविषयके-
च्छाधीनप्रवृत्तिविषयत्वासद्रजतमित्याकारकप्रतीतिविशेष्यम् । तस्मात्तत्वाचोक्तविशिष्टप्रकारकतादात्म्यसंसर्गकप्रतीतिविशेष्य-
मिति पर्यवसितम् । इदमेव प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकतादात्म्येन प्रतीतत्वं पूर्वं मूले उक्तम् । एतावता च व्यावहारिक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नच—व्यावहारिकरूप्यनिष्ठत्वोपलक्षितस्य रजतत्वस्य प्रातीतिकरूप्येऽपि स्वीकारात् शुक्तिगतस्येदन्वादेरिव सत्त्वस्यापि तत्र प्रत्ययाच्च 'सद्रजतमिदं'मिति प्रत्ययोपपत्तेर्व्यावहारिकरूप्यस्य प्रातीतिके तादात्म्यारोपस्वीकारो व्यर्थः, तं विनाप्युक्तप्रवृत्त्युपपत्तेरिति—वाच्यम्; व्यावहारिकनिष्ठरजतत्वादिकं प्रातीतिके रजतादौ न स्वीक्रियते प्रातीतिकादपि व्यावहारिकरजतादिकार्यापत्तेः । प्रथमपरिच्छेदान्ते मूले—'प्रातीतिकव्यावहारिकसाधारणमेकं रजतत्वादिकं व्यावहारिकमात्रेऽन्यत् प्रातीतिकमात्रेऽन्यत्'—इत्युक्तिस्तु, व्यावहारिकरजततादात्म्यस्य प्रातीतिकस्य प्रातीतिके अनङ्गीकारपक्षे प्रौढिवादमात्रेण । एकस्यैव रजतत्वस्य व्यावहारिकस्य व्यावहारिकमात्रनिष्ठस्य स्वीकारेऽपि तदाश्रयतादात्म्यविशिष्टस्य उत्पत्तौ तादृशतादात्म्यस्याप्युत्पत्त्या 'इदं रजत' मित्यादिव्यवहारोपपत्तेः । तथाच व्यावहारिकेऽनुभूतं यद्रजतत्वादि तद्विशिष्टविषयकेच्छावतां प्रातीतिके प्रवृत्तेरुक्तविशिष्टस्य प्रातीतिके तादात्म्यारोपं विनानुपपत्तेस्तादृशारोपावश्यकत्वम् । यदि तु "व्यावहारिकनिष्ठरजतत्वादेः प्रातीतिके स्वीकारेऽपि ततो व्यावहारिकरजतादिकार्यस्य नापत्तिः व्यावहारिकत्वविशिष्टस्यैव कारणस्य कार्यप्रयोजकत्वदर्शनेन तदन्तर्भावेनैव कारणकृतस्य फलोत्पत्तिव्याप्यतास्वीकारात्; अतएव प्रातीतिकं न कुत्रापि कारणं, किंतु तस्य ज्ञानं चिद्रूपम्; अतएव यत्र व्यावहारिकविष-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रजतस्य प्रातिभासिकरजतविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकेच्छीयसद्रजतत्वावच्छिन्नविषयत्वात् सद्रजतमिदमित्याकारकप्रतीतिप्रकारत्वं तस्मात्तत्वाच्च प्रातिभासिकविशेष्यकतादात्म्यसंसर्गकज्ञानीयसद्रजतत्वावच्छिन्नप्रकाररूपं यत् प्रातिभासिके तादात्म्येन प्रसक्तत्वं प्रातिभासिकनिष्ठमेदात्मकनिषेधप्रतियोगिताप्रयोजकं तद्वत्त्वं पर्यवस्यति । व्यर्थ इति । तथाच कथं व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकनिष्ठमेदप्रतियोगितामानमुक्तमिति भावः ।—स्वीकारादिति । अतएव क्लृप्तशक्त्या तत्र रजतपदप्रयोगनिर्वाह इति भावः ।—प्रत्ययाच्चेति । एवंच सत्त्वस्यापि तत्र स्वीकार आवश्यक इति भावः ।—तं विनापीति । तादृशारोपस्वीकारं विनापीत्यर्थः । अस्य प्रत्ययोपपत्तेरित्यत्राप्यपकर्षेणान्वयः ।—प्रवृत्त्युपपत्तेरिति । प्रवृत्तौ हि वस्तुगत्या यत् सद्रजतं व्यावहारिकं तद्विषयकेच्छा न कारणम्, किंतु व्यावहारिकरजतनिष्ठं यद्रजतत्वं यच्च सत्त्वं तदुभयविशिष्टविषयकेच्छैव सा चात्राक्षतैवेति भावः । सत्त्वं सद्रूपब्रह्मतादात्म्यम्, तादात्म्येन सद्रूपविशिष्टब्रह्मैव वेति तस्य सकलव्यावहारिकाद्यनुगतत्वात् व्यावहारिकरजतवृत्तिसत्त्वघटितप्रवृत्तिकारणतावच्छेदककोटौ शुक्तिगतसत्त्वस्यानिवेशात् कथं क्लृप्तकारणतया निर्वाह इति न शङ्कनीयम्; सत्त्वस्याप्युभयसाधारणस्य स्वीकारादिति ।—न स्वीक्रियत इति । नचैवमपि—तत्र तद्ज्ञानं स्वीक्रियते, एवं च रजतत्वविशिष्टविषयकत्वस्य प्रवृत्तिकारणतावच्छेदकस्य रजतत्ववत्त्वाघटितस्य रजतत्वावच्छिन्नविषयकत्वरूपत्वोपगमात् न प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्; तत्र तद्ज्ञानस्वीकारे तत्स्वीकारस्यानिर्वचनीयख्यातिवादिनां दुर्वारत्वादिति भावः ।—कार्यापत्तेरिति । प्रातीतिके व्यावहारिकतादात्म्यस्वीकारे तु नेयमापत्तिः, व्यावहारिकरजतत्वविशिष्टस्य तत्कार्यं प्रति कारणत्वात् इति भावः । मूलविरोधमाशङ्क्य परिहरति—प्रथमेति । पक्ष इति । इदंरजतमित्यादिव्यवहारोपपादनायेति शेषः । तथाच तद्वन्धैतद्वन्धयोर्विभिन्नपक्षाभिप्रायकत्वात् अविरोध इति भावः । प्रौढिवादमात्रेणेति । तृतीयार्थ उक्तार्थान्वयी अभेदः । मात्रपदेन युक्तिवादव्यवच्छेदः । ननु—तदङ्गीकारपक्षेऽपि प्रातिभासिके व्यावहारिकरजतत्वानुपगमे तत्रेदं रजतमिति व्यवहारः कथमुपपद्यत इत्यत आह—एकस्यैवेति । ननु—इदंरजतमिति व्यवहारो द्विविधः, शुक्तिरूपपुरोवर्तिविषयकः शुक्तिरूप्यात्मकपुरोवर्तिविषयकश्च । तत्र द्वितीयस्य शुक्तिरूप्ये उक्तयुक्त्या व्यावहारिकरजतत्वोपगमासंभवेऽपि व्यावहारिकरूप्यतादात्म्यतदारोपस्वीकारेणोपपत्तावपि शुक्तौ तादात्म्येन भासमाने प्रातिभासिके व्यावहारिकरजतत्वमुपगच्छतां सद्रजत इवोत्पद्यमानस्य प्रथमस्य तदनुपगच्छतां भवतां कथमुपपत्तिरत आह—तदाश्रयेति । शुक्तिरूपपुरोवर्तिनि इत्यादिः । विशिष्टस्येति । प्रातिभासिकस्येति शेषः । तादृशतादात्म्यस्य व्यावहारिकरजतत्वाश्रयतादात्म्यस्य । प्रातिभासिके इति शेषः । उपसंहरति—तथाच्चेति । प्रातिभासिके व्यावहारिकरजतत्वस्य व्यावहारिकरजतकार्यापत्तिभयादुपगमासंभवे चेत्यर्थः । प्रवृत्तेरिति । अनुपपत्तेरित्यत्रान्वयः । प्रथमपरिच्छेदान्तोक्तमूलग्रन्थं युक्तिवादतया सङ्गमय्य प्रातीतिके व्यावहारिकतादात्म्योपगमवैयर्थ्यं शङ्कते—यदि त्विति । अवलम्ब्यत इत्यनेनान्वयः । कार्यस्य कृतकादेः । ननु—कारणतावच्छेदकरजतत्वविशिष्टप्रातिभासिकघटितसामग्रीसत्त्वे कार्यं कुतो न जायत इत्यत आह—व्यावहारिकत्वविशिष्टस्यैवेति । कार्यप्रयोजकत्वं कार्योपधायकत्वम् । तदन्तर्भावेनैवेति । तत्कार्यकारणतावच्छेदकाः यावन्तो धर्माः प्रत्येकं तद्विशिष्टव्यावहारिकपदार्थकूटं यदा तदाऽव्यवहितोत्तरक्षणे तत्कार्योत्पत्तिरिति व्याप्तिरिति भावः । नन्वेवं—प्रातीतिकसर्पादेर्भयकम्पादिकार्योत्पत्तिर्व्याहन्त्येतेति शङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—अतएवेति । व्यावहारिकस्यैव कार्योत्पत्तिप्रयोजकत्वादेवेत्यर्थः । कारणम् कथं तर्हि प्रातीतिकसर्पादिस्थले

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यकात् प्रातीतिकविषयकाच्च ज्ञानादेकजातीयं कार्यं तत्रैकेनैव रूपेण तयोर्हेतुत्वम्, नचैवं—व्याख्यादेर्व्यभिचारिहेत्वादौ सत्त्वापत्तिः, वह्निसमानाधिकरणस्य प्रतियोगिव्यधिकरणात्यन्ताभावस्याप्रतियोगिप्रातीतिकधूमसमानाधिकरणस्य बहौ सत्त्वादिति—वाच्यम्; व्यावहारिकमात्रवृत्तेरपि संयोगत्वादेः स्वीकारेण तदाश्रयस्यैव संयोगादेः सामानाधिकरण्य-घटकाधिकरणादौ साध्यादिसंसर्गतया निवेशेन व्यावहारिकस्य प्रातीतिकसाध्यसंसर्गत्वाभावेन च प्रातीतिकधूममादाय व्याप्तिघटनाया असंभवात् । एवंच व्यावहारिकप्रातीतिकोभयवृत्तिसंयोगत्वादिकं व्यावहारिकमात्रवृत्ति च तत् स्वीक्रियते, नतु प्रातीतिकमात्रवृत्तिः अतएव बाष्पे धूमत्वभ्रमेण प्रातीतिकधूमत्वाश्रये बाष्पे वह्निव्यापकतां गृहीत्वा वह्निव्यापकधूमसमानाधिकरण्यं यत्र गृह्यते बहौ, तत्र न धूमव्याप्यतापत्तिः, बाष्पत्वविशिष्टप्रतियोगिकस्य व्याव-हारिकमात्रवृत्तिसंयोगत्वाश्रयस्य प्रातीतिकधूमत्वोपलक्षितप्रतियोगिकत्वेऽप्युक्तधूमत्वविशिष्टप्रतियोगिकत्वाभावात् । किंच विशिष्टसामानाधिकरण्यस्य व्यावहारिकमात्रवृत्तिविशेषणतात्वाश्रयसंबन्धेनाश्रयत्वमेव व्याप्तिरिति स्वीकारात्, प्रातीतिकधूमत्वादिघटितस्य न व्याप्तिवत् । प्रातीतिकघटितधर्मावच्छिन्नस्य प्रातीतिकत्वेन व्यावहारिकस्य तत्प्रति-योगिकत्वाभावादि”ति नव्यमतमालम्ब्यते, तदा प्रातीतिके नियमतो व्यावहारिकतादात्म्यारोपस्तन्निषेधश्रवणोपेक्षणीय एव । कादाचित्कौ तावालम्ब्य प्राचीनोक्तिर्नैया । नहि कदाचिदपि तौ न स्त इति वक्तुं शक्यम् । यत्तु—प्रातीतिके

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भयादिकमनुभूयते तत्राह—किंत्विति । प्रातिभासिकस्य यत् ज्ञानं तूल्यविद्यावृत्तिरूपं तदपि प्रातिभासिकं कार्यानुपयोग्ये-वेत्यत उक्तं चिद्रूपमिति । तच्च तादृशवृत्त्युपहितमपि तत्तादात्म्यापन्नेदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नत्वेन व्यावहारिकं कार्यो-प्रयोग्येव; अन्यथा प्रातीतिके व्यावहारिकरजतत्वानुपगमेऽप्यगतेरिति भावः । नन्वेवं—सामग्रीव्याप्यतावच्छेदके व्यावहा-रिकत्वनिवेशे गौरवम् ततो व्यावहारिकरजतत्वं प्रातिभासिके नेत्येव लघु इत्यत आह—अतएवचेति । व्यावहारिकरज-तत्वादेः प्रातीतिकवृत्तित्वादेव चेत्यर्थः । अन्यथा तज्ज्ञानयोरेकरूपेण हेतुत्वासंभवात् कार्यकारणभावद्वयं विना ताभ्यामेक-जातीयकार्यानुपपत्तेरिति भावः । व्यावहारिकनिष्ठरजतत्वादिरूपस्य प्रातीतिकवृत्तित्वे बाधकं शङ्कते—नचेति । अयोगोल-कादौ व्यावहारिकधूमत्वावच्छिन्नस्य प्रातीतिकधूमस्य सत्त्वेऽपि तदभावस्यापि बाधकाले सत्त्वात् प्रतियोगिव्यधिकरण-स्येति । अप्रतियोगीति । प्रतियोगितानवच्छेदकीभूतव्यावहारिकधूमत्वाश्रयेत्यर्थः । वह्निपदेनात्र यदधिकरणे व्यावहारि-कसाध्यव्यभिचारनिरूपके नियमेन कदाचित् प्रातीतिकधूमप्रसिद्धिः स ग्राह्या; तेन सकलवह्निमिति प्रातीतिकधूमनियमेऽपि नासङ्गतिः । व्यावहारिकमात्रवृत्तेरपीत्यपिना प्रातीतिकसाधारणस्य समुच्चयः । तत्प्रयोजनम् प्रातीतिकसंयोगज्ञानात्कार्य-निर्वाहः, तत्स्फुटयति—एवंचेति । तत् संयोगत्वादिकम् । नन्विति । निःप्रयोजनत्वादिति भावः ।—प्रातीतिकमात्र-वृत्तीति । तत् स्वीक्रियत इत्यनुषङ्गः । ईदृशतत्स्वीकारे बाधकमप्याह—अतएवेति । प्रातीतिकमात्रवृत्तिसंयोगत्वादि-स्वीकाराभावादेवेत्यर्थः । तत्स्वीकारे तदाश्रयस्य प्रातीतिकधूमत्वविशिष्टप्रतियोगिकत्वाद्भवेदेवमतिप्रसङ्ग इत्युपष्टम्भसङ्गतिः ।—भ्रमेणेति । तृतीयार्थो जन्यत्वं प्रातीतिकधूमत्वान्वयि । वह्निव्यापकतामिति । तेन रूपेणेत्यादिः । गृहीत्वा विषयीकृत्य बहौ वह्निव्यापकधूमसमानाधिकरण्यं यत्र गृह्यते वह्निः वह्निव्यापकधूमसमानाधिकरण इति ग्रहो यदा जायत इत्यर्थः । धूमव्याप्यतापत्तिरिति । नच—प्रातीतिकं धूमत्वं कथं वह्निव्यापकतावच्छेदकं यत्किंचिद्व-ह्निमिति प्रातीतिकधूमनियमेऽपि तादृशधूमे बाष्पवृत्तेः प्रातीतिकस्य धूमत्वस्यासत्त्वादिति—वाच्यम्; व्यावहारिकप्राती-तिकधूमत्वयोः सखण्डस्याखण्डस्य वा धूमत्वत्वस्योपगमेन तेन रूपेण बाष्पनिष्ठप्रातीतिकधूमत्वस्य प्रातीतिकधूम-नियतवह्निव्यापकतावच्छेदकत्वसंभवात् । अत्रापि वह्निपदस्य तादृशवह्निपदत्वात् । यद्वा—यत्र गृह्यते बहौ धूमत्वभ्रमः तादृशी ग्राह्या । तादृशव्यक्तिव्यापकतावच्छेदकत्वस्य च प्रातीतिके धूमत्वे सुलभत्वात् । धूमपदं च प्रातीतिकधूमत्वावच्छिन्नेऽपि शक्तं; तद्वत्यपि अयं धूम इति व्यवहारात्, प्रातीतिकमात्रे चान्यदिति वक्ष्यमाणमूलात् प्रातीतिकमात्रवृत्ति संयोगत्वादिस्वीकारेऽपि नेयमापत्तिरित्याह—किंचेति । विशिष्टेति । हेतुव्यापकतावच्छेदकीभूत-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपितत्वविशिष्टेत्यर्थः । धूमत्वादीत्यादिना प्रातीतिकसंयोगपरिग्रहः ।—असंबन्धत्वादिति । एवंच व्याप्तौ संयोगादिरूपसाध्यसंसर्गस्य प्रातीतिकसाधारणरूपेण निवेशेऽपि प्रातीतिकधूममादाय व्याप्तिघटनाया असंभव इति ज्ञेयम् ।—अवलम्ब्यते इति । एवंच व्यावहारिकवृत्तिरजतत्वेनैव इदं सद्रजतमिति प्रत्ययप्रवृत्ति-निर्वाहात् प्रातीतिके व्यावहारिकतादात्म्यारोपो व्यर्थ इति भावः । प्राचीनोक्तिः “लौकिकरजतमेव ‘नेदं रजतमिति’ निषेधप्रतियोगी”त्येवंरूपा । वक्तुं शक्यमिति । विनिगमनाविरहादिति भावः । पुरोवर्तितादात्म्येनैव रजतं प्रतीयत

भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्ये' ति ।—अयमाशयः—एकविभक्तयन्तपदोपस्थापिते

सिद्धिव्याख्या ।

मिति । तस्याभिप्रायं विशदयति—अयमभिप्राय इत्यादिना । एवं सत्यपसिद्धान्तादिदोषं परिह-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदधिष्ठानस्यैव तादात्म्यारोपाव्यावहारिकरजतादेः प्रातीतिके तादात्म्यारोपोक्तिः न युक्ता—इति । तत्र । प्रातीतिके तदुत्पत्तिकालोत्तरमुत्पन्नेन दूरत्वादिदोषेण सन्निहितस्यानधिष्ठानस्यापि व्यावहारिकस्य तादात्म्यारोपदर्शनात् । व्यावहारिकरजतस्येन्द्रियासंनिवृत्तेऽपि तदंशे स्मृतिरूपस्य भ्रमस्य संभवात् । ननु—‘नेदं रजत’मिति बाधोऽपि रजतस्य मायामयत्वं सूचयतीति पञ्चपादिकावाक्ये ‘प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वम्, तच्च बाधकज्ञाने रजतं प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगितया अवभासत इति प्रत्यक्षमिति विवरणवाक्यं व्याख्यानम्; तथाच तादृश-बाधस्यात्यन्ताभावविषयकत्वेनैव विवरणे व्याख्यानात् कथं प्रातीतिकव्यावहारिकभेदविषयकत्वं भवन्निरुच्यते । नच—समानविभक्तिकनामद्वययुक्तनजा भेदस्यैव बोधनादुक्तबाधज्ञानस्य भेदविषयकत्वमेव युक्तमिति—वाच्यम्; प्रत्यक्षज्ञाने शब्दस्वारस्येनार्थकथनस्यायुक्तत्वात् । अथ विवरणकारैरेव पञ्चादुक्तबाधज्ञानस्य भेदविषयकत्वमुक्तम् तथाहि—‘प्रतिपन्नोपाधौ स्वरूपेण रजतस्यात्यन्ताभावस्वीकारेऽपि कालभेदेनैव रजततदभावयोर्व्यवस्था स्यात्; अन्यथा ‘रजतस्य शून्यत्वरूपमलीकत्वं स्या’ दित्याशङ्क्य लौकिकपरमार्थरजतस्य कालविशेषमनन्तर्भाव्यैव निषेधात्तादृशनिषेध-सामर्थ्याच्च ‘प्रतिपन्नं प्रातीतिकरजतं मिथ्येति’ तैरुक्तम् । तथाच बाधकज्ञानस्योक्तभेदविषयकत्वं तेषां संमतमित्युच्यते; तथापि पूर्वापरविवरणवाक्ययोर्विरोध इत्याशङ्क्य उक्तविरोधं परिजिहीर्षुराह—अयमाशय इत्यादि । पदेति ।

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

इति मतनिरासार्थमिति मूलोक्तनिरासे युक्तिं सिंहावलोकनन्यायेन वक्तुं तन्मतमनुवदति—यत्त्विति । तदुत्पत्तीति । प्रातीतिकोत्पत्तीत्यर्थः । ननु—प्रातीतिकरजतस्थाने सर्वत्र व्यावहारिकरजतसन्निधानासंभवात् दर्शितप्राचीनोक्तिः सामान्यविषया संगतैवेत्यत आह—व्यावहारिकरजतस्येति । तदंशे स्मृतिरूपस्येति । प्रातीतिकरजताद्यंशे प्रत्यक्षरूपस्येति शेषः । परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः समावेशोपगमादिति भावः । व्यक्तं चेदं वेदान्तपरिभाषायाम् । न वा ग्रन्थविरोध इति । वक्ष्यमाणमूलेन अभिप्रायवर्णनपरिहार्यतया सूचितग्रन्थविरोधं विशदयति—अयमभिप्राय-इति । मूलमवतारयति—नन्वित्यादिना । उपन्यस्यमानविवरणवाक्यस्थबाधकज्ञानपदस्य नेदं रजतमिति ज्ञानपरत्वं स्फुटीकर्तुं तद्विव्रियमाणमूलवाक्यमाह—नेदमिति । नेदं रजतमिति । बाधोऽपि तादृशप्रत्यक्षबाधग्रहोऽपि, रजतस्य प्रातीतिकरजतस्य, मायामयत्वं मिथ्यात्वं, सूचयति विषयीकरोति, इति पञ्चपादिकावाक्यार्थः । तत्र च तादृशबाधग्रहस्य रजतमिथ्यात्वानवगाहित्वात् बाध इत्याशङ्क्याह—विवरणे प्रतिपन्नोपाधाविति । तच्च प्रत्यक्षमित्य-न्वयः । अवभासत इति । प्रतिपन्नत्वं स्वप्रकारकधीविशेष्यत्वं, तदपि भासते, इदंपदस्य रजतवत्त्वेन भासमानपुरोवर्ति-परत्वात् । प्रतिपन्नपदस्य स्वाश्रयपरत्वेऽपि तद्भानमग्रे उपपादयिष्यते । बाधज्ञानस्य पञ्चपादिकोक्तनेदंरजतमित्याकारक-बाधज्ञानस्य । अत्यन्ताभावविषयकत्वेनैवेति । उक्तमिथ्यात्वशरीरेऽत्यन्ताभावस्यैव भेदमादाय सिद्धसाधनवारणाय निवेशितत्वादिति भावः । व्याख्यानात् वर्णनात् । अयुक्तत्वादिति । अमिलप्यमानप्रतीतेः अमिलापजन्यप्रतीति-तुल्यत्वनियमस्तु न; पर्वतो वह्निमानिति वाक्यामिलप्यवह्निविषेयकानुमितौ व्यभिचारादित्यभिमानः । अथ यदि ‘इत्युच्यते’ इत्यन्वयः । पश्चात् उत्तरग्रन्थे । तत्र तस्य स्पष्टमुक्तेस्तत्र तस्य तात्पर्यं द्योतयितुं तद्वन्धमुपन्यसति—तथाहीत्यादि । रजतस्य प्रातीतिकरजतस्य । शून्यता सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । तथाच एवं तदुक्तौ च । उक्तभेदेति । प्रातीतिकनिष्ठव्यावहारिकभेदेत्यर्थः ।—संमतमिति । लौकिकपरमार्थरजतस्य कालविशेषमनन्तर्भाव्यैव निषेधात् इति हि तदुक्तिः, सा च नात्यन्ताभावविषयकत्वे सङ्गच्छते; अत्र रजतमित्यप्रसक्तेः, शुक्तौ प्रातीतिकरजते वा व्यावहारिकरज-

१ इदंकाराभिमुखलोकप्रवृत्त्यनुसारेण भामत्युक्तप्रकारेणैवमिति रजताध्यासस्यावश्यकत्वेनाख्यातिवादायोमेऽपि प्रातीतिकरजतज्ञानस्य व्यावहारिकरजतज्ञानस्य च स्वरूपतो विषयतश्च भेदाग्रहेणाभेदाङ्गीकारेऽपि बाधकाभावः ।—एतेन प्रातीतिकस्यानधिष्ठानत्वात्कथं तत्र रजततादात्म्याध्यास इति शङ्कापि—पराहता; तादात्म्यारोपपक्षेऽपि रजते इदं तादात्म्याध्यासं प्रति इदमवच्छिन्नचैतन्याश्रितस्य तद्विषयस्य वैवोपादानत्वमिति गुरुचन्द्रिकायां प्रतिपादितत्वेन तदनुसारेण तत्र व्यावहारिकरजततादात्म्याध्यासस्याप्युपपत्तेरिति ।

धर्मिणि प्रतियोगिनि च नञोऽन्योन्याभावबोधकत्वनियमस्य व्युत्पत्तिबलसिद्धत्वात् 'घटः पटो न भवती'ति वाक्यवदिदं रजतं न भवती'ति वाक्यस्य अन्योन्याभावबोधकत्वे स्थिते अभिलाष-

सिद्धिद्वयाख्या ।

रति—अत इति । अत्र वदन्ति—प्रातिभासिकस्य रजतस्य लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येन त्वन्मते प्रतीतिर्न युक्ता; प्रातिभासिकस्य रूप्यस्य लौकिकपरमार्थिकरजताज्ञानाकार्यत्वात्, प्रातिभासिकस्य स्त्रोपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञानविषयेणैव तादात्म्यप्रतीतिश्च, नहि पुरोवर्तिशुक्तिवाज्ञानेऽपि लौकिकपरमार्थरजतत्वज्ञानमात्राप्रातिभासिकरजतनिवृत्तिरस्ति; शुक्लः पट इति शुक्लपटयोरेकज्ञाननाशयत्वात्, एकत्राध्यासाच्च । नचैवं घटपटयोरपि तादात्म्यप्रतीत्यापत्तिः; तादृशप्रतीतौ सत्यामेतस्य निमित्तत्वं कल्प्यते; 'आरोपे सति निमित्तानुसरणं, नतु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति न्यायाल्लौकिकपरमार्थसंनिकर्षादिरूपसामग्रीविरहाच्च । अतएव त्वयान्यथाख्यातिः प्रत्याख्याता । तस्माल्लौकिकपरमार्थरज-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रातिपदिकेत्यर्थः; 'चैत्रो न पचती'त्यादावेकविभक्त्यन्तोपस्थाप्यस्याप्यन्योन्याभावाबोधकत्वात् । अभिलापेति । नञ्युक्तवाक्यरूपाभिलापेत्यर्थः; पर्वतादौ वह्न्यादिप्रकारकानुमितेः 'पर्वतो वह्निमा'नित्यनेन तादात्म्येन वह्निमदादिप्रकारकधीजनकवाक्येनाभिलष्यमानत्वात्, 'उक्तवाक्यस्यापि संयोगेन वह्न्यादिप्रकारकधीजनकत्व'मिति प्राचीनमते

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तात्पर्यन्ताभावसत्वेऽपि शुक्तौ प्रतीतस्य रजतस्य सत्यत्वे बाधकाभावात्, व्यावहारिकरजतात्यन्ताभावविषयकप्रतीतेः प्रातीतिकरजतमिथ्यात्वाप्रयोजकतया 'तादृशनिषेधसामर्थ्याच्च' इत्युत्तरवाक्यासङ्गतेश्च । एवं शुक्तिरूपे पुरोवर्तिनि व्यावहारिकरजतभेदविषयकत्वेऽपि तत्र तादृशभेदस्य प्रातीतिकरजतमिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात्, तादृशोक्तेः प्रातीतिके व्यावहारिकभेदविषयत्वे तु तदुक्तिः सङ्गच्छते; पूर्वोक्तयुक्त्या प्रातीतिके व्यावहारिकस्य तादात्म्येन प्रसक्तिसत्त्वात् परमार्थसत्यब्रह्मभिन्नस्य लौकिकपरमार्थभिन्नस्य प्रतीयमानस्य मिथ्यात्वनियमेन तादृशभेदप्रतीतेः प्रातीतिकरजतमिथ्यात्वप्रयोजकतया तादृशोत्तरवाक्यं च सङ्गच्छते इति भावः । तथापि भवदुक्तेरुत्तरविवरणग्रन्थानुरोधित्वेऽपि । विरोध इति । एवं च मूलशैथिल्याद्भवदुक्तिरप्यसंगतैवेति भावः । मूले—एकेति । सजातीयेत्यर्थः । उपस्थापिते उपस्थितस्य नञ इति शेषेणान्वयः । तथाच धर्म्युपस्थापकपदसमानविभक्तिपदोपस्थापितप्रतियोग्युपस्थापनसमानकालीनोपस्थितिविषयस्य तादृशपदसमभिव्याहृतस्य नञ इत्यर्थः । व्युत्पत्तिः कार्यकारणभावः । अत्र च समानविभक्तिकत्वं, नीलघटो नीलो घट इत्यादिसमासव्याससाधारण्यानुरोधेन विरुद्धविभक्तिराहित्यरूपम् । तच्च विशेष्यवाचकपदोत्तरावृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्विभक्तिराहित्यम् । विभक्तिविभाजकधर्मश्च प्रथमात्मादिः । तथाच चैत्रो न पचतीत्यादौ चैत्रः पचतीत्यनयोः समानविभक्तिकत्वात् तत्समभिव्याहृतनञश्चात्यन्ताभावबोधकस्य अन्योन्याभावाबोधकत्वेन उक्तनियमे व्यभिचार इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—पदेतीति । यद्यपि निरुक्तविरुद्धविभक्तिराहित्यं नाकाङ्क्षाघटकतया तज्ज्ञानकारणतावच्छेदकं, विभक्तित्वादिकमजानतः शाब्दबोधानुपपत्तेः; तथापि उक्तनियमशरीरे तन्निवेशेऽपि न क्षतिः; नियमज्ञानस्य शाब्दबोधाकारणत्वादिति भावः । यदि च निरुक्तविरुद्धविभक्तिराहित्ये विभक्तिविभाजकधर्मपदेन प्रथमपुरुषत्वादिकमपि गृह्यते, अथवा विरुद्धविभक्तिराहित्यं विशेष्यवाचकपदोत्तरावृत्तिविभाजकधर्मवद्विभक्तिविभक्तिराहित्यरूपं निवेश्यते, राहित्यप्रतियोगिनी विभक्तिश्च सुसिद्ध्यन्तररूपा, तदा चैत्रः पचति इत्यनयोः विरुद्धविभक्तिराहित्याभावेनोक्तनियमे चैत्रः न पचतीत्यादौ व्यभिचाराभावेऽपि पदोपस्थापितेत्यत्र पदशब्दस्य प्रातिपदिकेति व्याख्यानमावश्यकम् । सुसिद्ध्यन्तररूपपदपदार्थस्य एकविभक्तिप्रकृतित्वरूपैकविभक्त्यन्तत्वस्य बाधेन यथाश्रुतासङ्गतेः । नच—विभक्त्यन्तत्वं विभक्तिचरमावयवकत्वमिति—वाच्यम्; तद्वतो धर्मिप्रतियोग्यनुपस्थापकत्वेन 'उपस्थापिते धर्मिणीत्यादेः' असंगत्यापत्तेः । मूले—तुल्यत्वादित्यस्य समानविषयकत्वनियमादित्यर्थः । अत्र पर्वतो वह्निमान् इति वह्न्यनुमितौ व्यभिचारोद्धाराय व्याचष्टे—अभिलापेतीति । नञ्युक्तेति । ननु—एवमपि पर्वतो न वह्निमानित्याकारकवह्न्यवच्छिन्नभेदविधेयकानुमितौ व्यभिचारो दुर्वार एवेत्यत आह—उक्तवाक्यस्यापीति । प्राचीनमते इति । अभेदसंसर्गमते तद्बोधोपयिकाकाङ्क्षानिर्वाहकप्रथमादिवत् मनुष्यं निरर्थक एव सन् भेदान्वयबोधोपयिकान

जन्यप्रतीतितुल्यत्वादभिलष्यमानप्रतीतेः 'नेदं रजत'मिति वाक्याभिलष्यप्रतीतेरन्योन्याभावविषयत्वमेव । तथाचेदंशब्दनिर्दिष्टे पुरोवर्तिप्रातीतिकरजते रजतशब्दनिर्दिष्टव्यावहारिकरजतान्योन्याभावप्रतीतेरार्थिकं मिथ्यात्वम्, 'नात्र रजत'मिति वाक्याभिलष्या तु प्रतीतिरत्यन्ताभावविषया; भिन्नविभक्त्यन्तपदोपस्थापितयोरेव धर्मिप्रतियोगिनोर्नञः संसर्गाभावबोधकत्वनियमात् । सा

सिद्धिव्याख्या ।

तमेवेदंपदास्पदे स्वरूपेण निषिध्यत इत्येव त्वत्प्राचामाचार्याणां वाचामर्थः । तत्र भ्रमबाधवैयधिकरण्यादिदोषस्तु, दण्डापूपन्यायेन ममानुकूल एवेति । तस्मादुष्परिहारोऽपसिद्धान्तादिदोष—इति ॥ अत्रोच्यते । न प्रातिभासिकस्य रजतस्य लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येन प्रतीतिर्न युक्ता; शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे लौकिकपरमार्थरजताज्ञानाकार्यत्वेऽपि, मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे उभयोरेकाज्ञानकार्यत्वात्; नापि प्रातिभासिकस्य स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञानविषयेणैव तादात्म्यं; न हि ब्रह्मतत्त्वाज्ञानेऽपि शुक्तित्वज्ञानमात्रात्प्रातिभासिकरजतोपादानब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरस्ति, तथात्वे तेनैव मोक्षापातात् । अतएव—शुक्लः पट इति तादात्म्यप्रतीतिरुपपन्ना । शुक्लपटयोरेकाज्ञानकार्यत्वादेकत्राध्यासाच्चेत्यपि—साधु । न चैवं घटपटयोरपि तादात्म्यापत्तिः; तादृशप्रतीतौ सत्यामेतस्य निमित्तत्वं, कल्प्यते, 'आरोपे सति निमित्तानुसरणं, न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति न्यायात् । यदुक्तं—लौकिकपरमार्थरजतसन्निकर्षादिसामग्रीविरहात्तत्तादात्म्येन प्रतीतिरनुपपन्ना—इति । तन्न । भूतलादाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तु यथाश्रुतमेव साधु । आर्थिकमिति । तथाचोक्तपञ्चपादिकावाक्येन तादृशमेदप्रतीतिरूपमेव बाधकप्रत्यक्षमभिलषितम् । तदभिप्रायेणैव पश्चाद्विवरणेऽपि तथोक्तम् । अतएव पञ्चपाद्यां सूचयन्तीत्युक्तम् । तेन हि पञ्चपादिकाकृता 'तस्य निरुपाख्यताबोधनपूर्वकं मिथ्यात्वं ज्ञापयति' 'नेदं रजतं मिथ्यैवाभासिष्टे'ति च हेतुवाक्यं पश्चादुक्तम् । परमार्थान्यत्वरूपनिरुपाख्यताबोधनद्वाराऽर्थान्मिथ्यात्वं ज्ञापयतीति हेत्वर्थः । अर्थापत्तिप्रकारो नेदमित्यादिनोक्तः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

काङ्क्षानिर्वाहक इति मते इत्यर्थः । ननु—'नेदं रजतमिति' वाक्याभिलष्यप्रतीतेरन्योन्याभावविषयकत्वेऽपि पुरोवर्तिशुक्तिकायां व्यावहारिकरजतान्योन्याभावविषयकत्वेऽप्रसक्तप्रतिषेधापत्तिरिति प्रातीतिकरजतान्योन्याभावरूपनिषेधविषयकत्वं स्वीकार्यं, तथा सति मिथ्यात्वस्य बाधकधीविषयत्वरूपकण्ठोक्तत्वसंभवे 'मायामयत्वं सूचयतीति' पञ्चपादिकावाक्येन 'उक्तनिषेधसामर्थ्यात्' प्रतिपन्नप्रातीतिकरजतमिथ्योक्तिविवरणवाक्येन च मिथ्यात्वस्य बाधकधीमूलकार्थापत्तिविषयत्वरूपार्थिकलोक्त्या च विरोधो दुर्वारः, वस्तुतस्तु अन्योन्याभावरूपनिषेधस्य मिथ्यात्वाघटकतया मिथ्यात्वस्य नोक्तकण्ठोक्तत्वसंभवः, नचोक्तबाधधीमूलकत्वं पञ्चपाद्युक्तमिथ्यात्वार्थापत्तिप्रकारस्येति, उक्तवाक्याभ्यां मिथ्यात्वस्य आर्थिकलोक्तिविरोधो दुर्वार इत्यत आह मूले—तथाचेति । 'अयमाशय' इति ग्रन्थावतारिकोक्तपञ्चपादिकाग्रन्थविरोधपरिहारम् 'अयमाशय' इत्याद्यार्थिकं मिथ्यात्वमित्यन्तग्रन्थलभ्यं स्फुटयति टीकायां—तथाचेति । मिथ्यात्वस्यार्थिकत्वे चेत्त्वर्थः । उक्तेति । नेदं रजतमिति बाधोऽपि 'रजतस्य मायामयत्वं सूचयति' इत्याकारकेत्यर्थः ।—तादृशमेदेति । प्रातीतिकरजतानुयोगिकव्यावहारिकरजतप्रतियोगिकमेदेत्यर्थः । मिथ्यात्वस्य कण्ठोक्तत्वे तु नेदं रजतमिति प्रतीतेः पुरोवर्तिशुक्त्यनुयोगिकप्रातीतिकरजतान्यन्ताभावविषयकत्वावश्यकत्वात् तथाचेत्याद्युपपत्तिरिति । तदभिप्रायेण नेदं रजतमिति प्रतीतेरुक्तमेदविषयकत्वाभिप्रायेण । पश्चात् तथाहीत्यादिनोपन्यस्तोत्तरग्रन्थे । तथोक्तं तादृशनिषेधसामर्थ्यात् प्रतिपन्नं प्रातीतिकरजतं मिथ्येत्युक्तम् । अन्यथा हि सामर्थ्यपदासङ्गतेरित्युपपत्तिरिति । अतएव तादृशप्रतीतेर्मेदविषयकत्वादिव । अन्यथा गृह्णातीत्येवं वदेत् । सूचयतिपदस्य स एवार्थः किं न स्यात्, तत्राह—तेनहीति । पञ्चपादीकृताहीत्यर्थः । उक्तमित्यनेनान्वयः । तस्य प्रातीतिकरजतस्य । ज्ञापयतेनेदं रजतबाधः कर्ता । ज्ञापयतीत्यन्तहेतुवाक्यं व्याचष्टे—परमार्थान्यत्वेति । लौकिकपरमार्थरजतान्यत्वेत्यर्थः । अर्थात् अनुपपत्तिज्ञानरूपसहकारिवशात् । ज्ञापयति अर्थापयति ।

च पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्यैव व्यावहारिकमत्यन्ताभावं विषयीकरोतीति कण्ठोक्तमेव सिध्यात्वम् । अतो

सिद्धिव्याख्या ।

भावस्यैव रजतादेरपि इन्द्रियसंयुक्तेदमंशविशेषणताया एव सन्निकर्षत्वसंभवात् । न च—भूतलेऽभाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यतो नेदं परमार्थरजतम् अतो मिथ्यात्वेन प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपेण इदमभासिष्टेति तदर्थः । एवं चार्थिकमुक्तमिथ्यात्वं बाधकोक्तभेदधीलभ्यमित्याशयेन 'तच्च बाधकज्ञाने रजतं प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगितयाव-भासत' इति व्याख्यानरूपं पूर्वविवरणवाक्यमविरुद्धम् । अतएवोक्तनिषेधसामर्थ्यात् 'प्रतिपन्नं रजतं मिथ्ये'ति तत्रोक्तमिति भावः । प्रतीतिः भ्रमबाधकाले सर्वानुभवसिद्धधीः । प्रतीतरजतस्य प्रतीतरजतसाधारणरजतमात्रस्य । रजतत्वेन पारमार्थिकत्वेन वेति शेषः । ननु—रजतत्वं प्रातीतिकं निषेध्यतावच्छेदकं, व्यावहारिकं वा । आद्ये तादृश-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तथाच नेदंरजतमिति बाधः प्रातीतिकरजतमायामयत्वस्य सूचकः ज्ञानजनकः, तदर्थापत्तिप्रयोजकेन तेन विनानुपपद्यमानप्रातीतिकरजतधर्मिकपरमार्थरजतान्यत्वविषयकज्ञानत्वात् इति प्रतिज्ञाहेतु पर्यवसितौ । यतइत्यादि । यदिदं रजतमभासिष्ट प्रतीतिं, तत्, मिथ्यात्वं विनानुपपद्यमानं परमार्थरजतभेदवत्त्वात्, मिथ्यात्वेन प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपेण तादृशप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वविशिष्टमित्यर्थः । वैशिष्ट्ये तृतीया । प्रातीतिकरजतं मिथ्या, व्यावहारिकरजतभिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वात् इति निर्गलितार्थः । ब्रह्मणि व्यभिचारवारणाय प्रतीयमानत्वनिवेशः । तत्र प्रतीतिश्च वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपेति न तदोपतादवस्थम् । एतेन—प्रतियोगित्वरूपेणेदमभासिष्टेत्यस्य तत्प्रकारकातीतभानविषय इत्यर्थकत्वात् प्रकृतार्थापत्तिपूर्वं तादृशभानस्यासत्त्वात् तादृशार्थापत्तिः बाधपराहता—इत्यपास्तम्; तादृशभानाघटितस्य निरुक्तमिथ्यात्वस्यैवार्थापत्तिग्राह्यत्वात् । नन्वेवं—नेदं रजतमिति ज्ञानस्य अत्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वविषयकत्ववर्णनपर-तच्चेत्यादिपूर्वविवरणग्रन्थविरोधो दुरुद्ध एवेत्यत आह—एवंचेति । आर्थिकं अर्थापत्तिग्राह्यम् । बाधकज्ञानाविषयी-भूतमिथ्यात्वार्थापत्तेर्वाधधीमूलकत्वाभावे बाधकज्ञाने तादृशप्रतियोगितया अवभासत इति विवरणासङ्गतिरत उक्तं—बाध-कोक्तधीलभ्यमिति । लभ्यं जन्यार्थापत्तिविषयः । तथाच बाधकज्ञाने इति सतिसप्तमी, तस्याश्च "छित्तिच" इति सूत्रे निमित्तत्वपर्यवसायितायां वैयाकरणैः स्वीकृतत्वात् उक्तविवरणवाक्ये तादृशप्रतियोगितया भानस्य बाधज्ञानाधीनत्व-त्वाभात् तत्सङ्गतिरिति भावः । उक्तविवरणवाक्यस्य ईदृशार्थपरत्वदाढ्याय विवरणकारीयवाक्यान्तरसंवादमाह—अत-एवेति । मिथ्यात्वस्य बाधकधीमूलकार्थापत्तिविषयत्वादेवेत्यर्थः । तत्र विवरणे । ननु—मिथ्यात्वस्यार्थिकत्वे बाधक-ज्ञाने रजतं प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगितया भासत इति प्रत्यक्षमिति विवरणवाक्ये तत् मिथ्यात्वं प्रत्यक्षमित्यन्वयाद-सङ्गतिरिति—चेन्न; तदित्यस्य भासते इत्यत्रैवान्वयात्; इतिप्रत्यक्षमित्यस्य इत्यनुभवसिद्धमित्यर्थकत्वात् । ननु—प्रातीतिकरजतमिथ्यात्वं किमार्थिकमेवेत्याशङ्क्य नेत्याह मूले—नात्र रजतमिति । ननु—इदं रजतमिति भ्रमोत्तरं नेदं रजतमित्येव प्रतीतिः, ननु नात्र रजतमित्याकारा इत्याशङ्कां परिहर्तुं व्याचष्टे—प्रतीतिरिति । भ्रमेति । अत्र रजतमित्यादिः । बाधकाले उत्तरकाले । सर्वानुभवसिद्धधीरिति । इदं रजतमिति भ्रमोत्तरं नेदं रजतमिति बाध-प्रतीतिः, 'अत्र रजतमिति' भ्रमोत्तरं नात्र रजतमिति बाधप्रतीतिः इति सर्वानुभवसिद्धमिति भावः । घटो न घट इति वाक्यस्य प्रामाण्यवारणाय मूले भिन्नविभक्त्यन्तेति । इदं न चैत्रस्य चैत्रो न पचति इत्यादिसंग्रहाय सप्तमीप्रथमेति भूतले न घट इत्यादिसंग्रहाय प्रथमाषष्ठीतिङ्न्त्यतरेति च नोक्तम् । नात्र रजतमिति प्रतीतिः, न पुरोवर्तिप्रातीतिकरजते व्यावहारिकरजतमात्रस्यात्यन्ताभावं विषयीकरोति; तत्रेदंरजतमिति सामानाधिकरण्येन तदारोपस्यैवानुभवेन अत्र रजत-मिति प्रतीतिरूपतत्प्रसक्त्यभावात्, नापि पुरोवर्तिशुक्तिशकले; अन्यथाख्यात्यापत्तिभयेन तत्र तस्य कथमपि प्रसक्तेर-नुपगमात्, नापि पुरोवर्तिशुक्तिशकले पुरोवर्तिप्रातीतिकरजतमात्रस्य; प्रातीतिकरजतत्वस्यानुपदं निराकर्तव्यत्वेन रजत-पदोद्देश्यस्य तन्मात्रवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकस्य दुर्लभत्वात्, किंतु व्यावहारिकप्रातीतिकरजतसाधारणरजतत्वेन रूपेण प्रतियोगिविधया भासमानरजतसामान्यस्यैवमिप्रायेण व्याचष्टे—प्रतीतरजतस्येति । प्रतीतसाधारणेति । व्याव-हारिकप्रातीतिकरजतोभयवृत्तिरजतत्वविशिष्टेत्यर्थः । मात्रस्य सामान्यस्य । स्वीकृतपक्षानुसारेण प्रतियोगितावच्छेदकं गृह्यति—रजतत्वेनेति । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन पूर्वपक्षोक्तदोषान् अभ्युपगम्याह—पारमार्थिकत्वेनेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

बाधोत्तरं व्यावहारिकरजतत्वमादायेह रजतमिति विशिष्टबुद्ध्यापत्तिः, द्वितीये प्रातीतिकं तदादायोक्तापत्तिर्भ्रमबाधयोर्वै-
यधिकरण्यापत्तिश्च; नच द्वाभ्यां रजतत्वाभ्यां द्वे बाधबुद्धी जायेते; अनुभवविरोधात्—इति चेन्न; व्यावहारिकरजत-
त्वरूपेणैव रजतस्य शुक्तौ भ्रमे भानात्, तेन रूपेण च निषेधे वैयधिकरण्याद्यभावात्, भ्रमे हि व्यावहारिकरजत-
त्वस्य व्यावहारिकः संसर्गः प्रातीतिकरजते भासते; बाधज्ञाने व्यावहारिकस्य मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकसंबन्धभानवत् ।
नच—प्रातीतिकं रजतत्वं प्रातीतिकमात्रवृत्तितादात्म्यत्वविशिष्टसंबन्धं चादाय विशिष्टबुद्ध्यापत्तिरुक्तबाधसत्त्वेऽपीति—
वाच्यम्; तादृशरजतत्वादौ तादृशतादात्म्यत्वे च भानाभावात्, व्यावहारिकवृत्तेर्व्यावहारिकस्यैव रजतत्वस्य प्रातीति-
करजते भानाद्व्यावहारिकतादात्म्यसाधारणव्यावहारिकतादात्म्यत्वस्य तत्संसर्गतावच्छेदकतया भानाच्च । अथ—भ्रम-
स्थले दोषजन्यतावच्छेदकतया प्रातीतिकं रजतत्वादिकं प्रातीतिकमात्रवृत्तितादात्म्यत्वं च सिद्ध्यति; व्यावहारिकसाधा-
रणं रजतत्वादिकं च न दोषजन्यतावच्छेदकम्, दोषं विनापि तदवच्छिन्नस्य व्यावहारिकस्योत्पत्त्या व्यभिचारात्—इति—
चेन्न; व्यावहारिकसाधारणस्य दोषजन्यतावच्छेदकत्वेऽपि प्रातीतिकतादात्म्यस्यैव उक्तजन्यतावच्छेदकसंबन्धत्वेने-
क्तव्यभिचारानवकाशात्, व्यावहारिकसंबन्धेनैव व्यावहारिकस्योत्पत्तेः । नच—उक्तकार्यतावच्छेदकसंबन्धे प्रातीति-
कत्वं यत् प्रवेशितं, तस्य व्यवहारकालबाध्यत्वरूपत्वे गौरवात् प्रातीतिकमात्रवृत्त्यखण्डधर्मरूपत्वं वाच्यमिति—
वाच्यम्; तथा सति दोषजन्यज्ञानात् व्यावहारिकसाधारणतादात्म्यत्वविशिष्टसंबन्धविषयकप्रवृत्त्यादिकार्योत्पत्त्यसंभ-
वात् । अतएव चोक्तगौरवं प्रामाणिकम् । अतएव च रजतत्वादिकमपि न प्रातीतिकमात्रवृत्ति, प्राचीनोक्तिस्तु रजत-
त्वादिकं स्वरूपेण व्यावहारिकप्रातीतिकरजतसाधारणमपि प्रातीतिकरजतादिसंसृष्टरूपेण प्रातीतिकमेव, न व्यावहारि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

यद्यपि पारमार्थिकत्वेन रजतात्यन्ताभावबुद्धिरेह रजतमित्याकारककेवलरजतत्वावच्छिन्नरजतविशिष्टबुद्धिं न विरुणद्धि;
तथापि इह सद्व्रजतमित्याकारकसत्त्वावच्छिन्नरजतप्रकारकबुद्धिं विरुणद्धेव । सत्त्वं सत्यत्वं पारमार्थिकत्वमिति
हि अनर्थान्तरमिति बोध्यम् ।—इह रजतमिति । पारमार्थिकत्वेनेति द्वितीयकल्पेपीदृशविकल्पे इह सद्व्रजतमिति
बुद्ध्यापत्तिर्बोद्ध्या । वैयधिकरण्येति । भ्रमे प्रातीतिकरजतत्वरूपेणैव रजतं प्रतीयत इत्यभिमानः । नचेति ।
जायेते इत्यन्वयः । अभिमानं निराकृत्य समाधत्ते—नेति । भानवदिति । मिथ्यात्वादेः प्रातीतिकत्वे रजतस्य
पारमार्थिकत्वं स्यादिति भावः । संबन्धं रजतप्रतियोगिकम् । एवंचात्र रजतत्वस्यैव अधिकः पाठः । तत्संसर्गेति ।
रजतसंसर्गत्वर्थः । रूपत्वं वाच्यमिति । तथाच प्रातीतिकमात्रवृत्तितादात्म्यत्वसिद्धिरिति तेनैव रूपेण
प्रातीतिकतादात्म्यस्य भ्रमे संसर्गतया भानसंभवेन व्यावहारिकतादात्म्यत्वस्य प्रातीतिकतादात्म्यसाधारण्ये भाना-
भावः, बाधसत्त्वेऽपि उक्तविशिष्टबुद्ध्यापत्तिश्चेति भावः । तथा सति प्रातीतिकमात्रवृत्तितादात्म्यत्वस्वीकारावश्यकत्वेन
व्यावहारिकतादात्म्यत्वस्य प्रातीतिकतादात्म्यावृत्तित्वे सति । प्रवृत्त्यादिकार्येति । तादृशप्रवृत्तिं प्रति तादृशसंबन्धज्ञा-
नस्यैव हेतुतया क्लृप्तत्वेन दोषजन्यज्ञानोत्तरं तादृशप्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वेन तज्ज्ञानस्य तादृशसंबन्धविषयकत्वमावश्यकम्,
अन्यथा तादृशप्रवृत्तौ प्रातीतिकतादात्म्यत्वविशिष्टसंबन्धविषयकज्ञानत्वेनापि कारणत्वान्तरस्यावश्यकव्यतया गौरवं
स्यात्, एतदपेक्षया आवश्यकदोषजन्यतावच्छेदककोटावेव व्यवहारकालबाध्यत्वरूपप्रातीतिकत्वप्रवेशे लाघवम्; इत्थं
चाखण्डप्रातीतिकतादात्म्यत्वस्वीकारे भानाभाव इति भावः ।—अतएवेति । प्रातीतिकत्वस्याखण्डधर्मरूपत्वस्वीकारे
उक्तप्रवृत्तिरूपकार्योत्पत्तिनिर्वाहाय कारणत्वान्तरकल्पनारूपगौरवान्तरप्रसङ्गादेवेत्यर्थः । यदि चोक्तप्रवृत्तिरूपकार्यनिर्वाहाय
व्यावहारिकतादात्म्यत्वस्य प्रातीतिकतादात्म्यसाधारण्यमङ्गीकृत्य दोषजन्यतावच्छेदकलाघवानुरोधादेव प्रातीतिकत्वमख-
ण्डधर्मरूपं स्वीक्रियते, तदापि अतिरिक्तप्रातीतिकतादात्म्यत्वरूपधर्मकल्पनामनन्तप्रातीतिकतादात्म्येष्वनन्ततत्संबन्धकल्पनां
चापेक्ष्य दोषजन्यतावच्छेदके व्यवहारकालबाध्यत्वनिवेशे लाघवमिति नातिरिक्तातादृशधर्मसिद्धिरिति बोध्यम् । उक्त-
व्यभिचारवारणानुरोधात् दोषजन्यतावच्छेदके प्रातीतिकत्वं प्रवेश्यम्, तच्च तदवच्छेदकसंबन्धकोटौ धर्मकोटौ वेल्यत्र
विनिगमनाविरहात् तादृशधर्मकोटावपि तन्निवेशे कर्तव्ये तस्य व्यवहारकालबाध्यत्वरूपत्वे गौरवात्खण्डप्रातीतिकरजत-
त्वस्यापि सिद्धिरिति मतमुक्तयुक्त्या दूषयति—अतएवेति । दोषजन्यज्ञानात् व्यावहारिकसाधारणरजतत्वविशिष्टविषय-
कप्रवृत्त्यादिकार्यनिर्वाहानुरोधादेवेत्यर्थः । अनुपदोक्तातिरिक्ततादात्म्यत्वनिरासरीतिरिहाप्यनुसन्धेया । नन्वेवं—मूलस्थ-
प्रथमपरिच्छेदान्ते प्रातीतिकमात्रे चान्यद्रजतत्वमित्यादिप्राचीनोक्तिः किमभिप्रायिकेत्यत आह—प्राचीनोक्तिस्त्विति ।
साधारणमिति । व्यावहारिकमिति शेषः ।—प्रातीतिकमिति । प्रातीतिकमात्रवृत्ति चेति शेषः । नन्वेवं—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कसाधारणमित्यभिप्रायिका । अतएव व्यावहारिकसंबन्धेन कपालादेर्घटादिहेतुत्वे न प्रातीतिककपालात् घटाद्युत्पत्त्या-
पत्तिः । किंच 'कपालादिरूपकारणकूटविशिष्टं यत् यत्क्षणे भवति तत् तदुत्तरक्षणावच्छेदेन घटव'दिति व्यासिबला-
दुक्तापत्तिः कार्या, उक्तव्यासिरेव न संभवति; कपालादिकारणकूटनिष्ठव्याप्तौ कपालादेर्व्यावहारिकसंबन्धस्य प्रवेशात् ।
स्वव्यापकघटसमानाधिकरणवृत्तिकपालादिकारणकूटत्ववत्त्वस्य व्यावहारिकसंबन्धावच्छिन्नस्य व्याप्तिस्वरूपत्वाद्वा ।
प्रातीतिककपालादिघटितस्य तादृशकूटस्य प्रातीतिकत्वेन व्यावहारिकसंबन्धेन तद्वत्त्वस्यालीकत्वात् । नच—तथापि
बाधोत्तरं व्यावहारिकरजतत्वस्य प्रातीतिकसंसर्गमादाय 'इह रजत'मिति विशिष्टबुद्ध्यापत्तिरिति—वाच्यम्; रजतत्वीय-
प्रातीतिकसंसर्गस्यापि व्यावहारिकप्रातीतिकसाधारणेन तादात्म्यत्वरूपेणैव शुक्तिरजतोपरि अस्मै बाधे च भातेन
तादृशबाधे सति तादृशतादात्म्यत्वरूपेण प्रातीतिकतादात्म्यावगाहिन्या अप्युक्तविशिष्टबुद्धेरसंभवात् । व्यावहारिक-
मिति । तदन्यूनसत्ताकमित्यर्थः; स्वाम्प्रभमस्य स्वाम्प्रबाधे प्रातीतिकात्यन्ताभावविषयकत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् । अथवा
मिथ्यात्वं व्यावहारिकात्यन्ताभावघटितमेव, स्वाम्प्रबाधस्तु प्रातीतिकमेवाभावं व्यावहारिकत्वेन भासमानमवगाहते;
तथाच व्यावहारिकमित्यस्य व्यावहारिकत्वेन भासमानमित्यर्थः, व्यावहारिकत्वं च व्यवहारकालाबाध्यत्वम्, तच्च
प्रातीतिकत्वेनोक्तबाध्यत्वरूपेणागृह्यमाणे प्रातीतिकेऽपि बाधकज्ञानेन ग्रहीतुं शक्यत एवेति भावः । कण्ठोक्तं
बाधकधीविषयः । ननु—स्वसमानाधिकरणस्वान्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वं बाधकज्ञानेन नियमतो
गृह्यत इति वक्तुमशक्यम्; स्वाधिकरणत्वस्य भ्रमरूपोपस्थितेः बाधापूर्वं सत्त्वेऽप्यन्यूनसत्ताकत्वस्य पूर्वमनुपस्थित-
त्वात्, चक्षुरादिमानायोग्यत्वादनुमानाद्यनवतारेऽपि बाधबुद्ध्युदयाच्च इति—चेत्, अत्रोच्यते—न्यूनसत्ताकत्वेन

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

व्यावहारिककपालत्वस्य तादृशतादात्म्यत्वस्य च प्रातीतिककपालतादात्म्यसाधारणतया प्रातीतिककपालात् घटोत्पत्तिप्रसङ्ग
इत्यत आह—अतएवेति । व्यावहारिकधर्मस्य प्रातीतिकसाधारणत्वादेवेत्यर्थः । व्यावहारिकत्वस्य कारणतावच्छेदक-
संबन्धे प्रवेशे इदमुपपद्यमानं बोध्यम् । संबन्धेन तादात्म्येन । व्यावहारिकत्वस्य तत्राप्रवेशेनापि उक्तापत्तिं परिह-
रति—किंचेति । यत् अधिकरणम् । क्षणे क्षणावच्छेदेन । तत् अधिकरणम् । व्याप्तौ तद्वट्टकव्याप्यवत्तायाम् । हेत्व-
धिकरणभावादिवहुपदार्थानां प्रातीतिकानां व्याप्तिघटकतावारणाय बहुषु हेत्वादिसंबन्धेषु व्यावहारिकत्वनिवेशे गौरवात्
व्याप्तिघटकचरमपदार्थस्यैव हेतौ व्यावहारिकसंबन्धो निवेश्यः । प्रातीतिकहेत्वादिघटितविशिष्टस्य प्रातीतिकत्वात् व्याव-
हारिकसंबन्धस्य प्रातीतिकप्रतियोगिकत्वानुपगमेन प्रातीतिकहेत्वादिघटितसकलविशिष्टानां व्याप्यव्यवहारविषयतावारणा-
दित्याशयेनाह—स्वव्यापकेति । प्रातीतिकं प्रकारसंबन्धमादाय बाधोत्तरं विशिष्टबुद्धिरेतावता वारिता, प्रातीतिकं
प्रकारतावच्छेदकसंबन्धमादाय विशिष्टबुद्ध्यापत्तिं वारयितुं शङ्कते—नचेति । इह रजतमिति पाठः । एवं रजतोपरि इति
पाठः । असंभवादिति । समानविषयकत्वं न प्रतिबन्धकतायां तन्त्रम्, अपितु समानप्रकारकत्वमिति यथा, एवं समान-
संसर्गकत्वं न तन्त्रं, किंतु समानसंसर्गतावच्छेदककत्वमेवेति भावः ।—यद्वा—एतावता बाधोत्तरं शुक्तौ रजतविशिष्ट-
बुद्धिर्वारिता; इदानीं शुक्तौ रजतत्वविशिष्टबुद्धिं वारयितुं शङ्कते—नचेति । शङ्कायामिह रजतत्वमिति पाठः । समाधाने च
शुक्त्युपरि इत्येव पाठः । व्यावहारिकत्वस्य मिथ्यात्वाघटकत्वात् व्याचष्टे—व्यावहारिकमितीति । व्यावहारिक-
त्वस्य तद्वट्टकत्वे बाधकं स्मारयति—स्वाप्नेति । व्यावहारिकपदस्य सन्निकृष्टलाक्षणिकत्वायाह—अथवेति । व्यावहा-
रिकात्यन्ताभावेति । वस्तुतो व्यावहारिकत्वेन भासमानात्यन्ताभावेत्यर्थः । तेन स्वाम्प्रगजादीनां स्वाम्प्रतदभावानां
च प्रातीतिकत्वेऽपि न तद्वट्टितमिथ्यात्वानुपपत्तिः । व्यावहारिकत्वेन भासमानत्वं वस्तुसदेव मिथ्यात्वघटकं, ननु
मिथ्यात्वज्ञाने तद्विषयकत्वमावश्यकमिति सूचयितुं वस्तुत इत्युक्तम् । तेन बाधज्ञाने व्यावहारिकत्वेन प्रतीयमानाभावांशे
तादृशप्रतीयमानत्वाभावेऽपि न क्षतिः । ननु—व्यावहारिकत्वप्रातीतिकत्वयोर्विरोधात् कथं स्वाम्प्रबाधस्य तदुभयरूपेणा-
भावविषयकत्वमत आह—व्यावहारिकत्वं चेति । अगृह्यमाणेति । तथाच तत्र विशेषणज्ञानबाधाभावघटित-
सामग्रीबलात् व्यावहारिकत्वेनैवाभावभानमिति भावः । कण्ठोक्तत्वं कण्ठाधीनशब्दजन्यज्ञानविषयत्वम् । तस्य प्रात्यक्षिक-
बाधस्थलेऽसंभवादाह—कण्ठोक्तमिति । विशेषणज्ञाने सति बाधाभावबलात् बाधकज्ञानेन मिथ्यात्वग्रहेऽपि विशेषण-
ज्ञानविरहस्थले तदनुपपत्तिं शङ्कते—नन्विति । अन्यूनसत्ताकत्वस्येत्युपलक्षणम् । व्यावहारिकत्वस्यापि अनुपस्थितत्वे
हेतुः ।—चक्षुरादीति । ननु—विनाशिदृश्यवति विनाशिदृश्याभावस्य श्रुतिप्रमितत्वेनैवाप्रातिभासिकत्वानुमितिरूपैव
तदुपस्थितिर्भविष्यति इत्यत आह—अनुमानाद्यनवतारेऽपीति । आदिशब्दस्य तद्वट्टकपदार्थोपस्थितिपूर्वकविशिष्ट-

नापसिद्धान्तो नान्यथाख्यात्यापत्तिर्न वा ग्रन्थविरोध इत्यनवद्यम् । ननु—एवमत्यन्तासत्त्वापातः,

सिद्धिव्याख्या ।

वच्छुक्तौ लौकिकपरमार्थरजतस्याभावात्कथं तेन संयुक्तविशेषणताप्रत्यासत्तिः ? इति—वाच्यम् ; पञ्चीकरणप्रक्रियया लौकिकपरमार्थरजतस्यापि तत्र सत्त्वात् । न च तर्हि तस्यैव प्रतीत्यापत्तिः, इष्टत्वात् । तत्तादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजतप्रतीतेरेव तत्प्रतीतित्वात् । न चैवं तथैव प्रक्रियया घटादावपि रजतसत्त्वेन तदुपलम्भप्रसङ्गः ; रजतत्वविरुद्धघटत्वरूपधर्मप्रकारकनिश्चयस्य रजतोपलब्धिप्रतिबन्धकत्वात् । न च—शुक्तौ रजतसत्त्वे सर्वोपलम्भप्रसङ्ग इति—वाच्यम् ; सर्वस्य दोषाभावात् । न च सत्यज्ञानस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपेण व्यवहारकाले यदज्ञातं तादृशाभावस्यैव मिथ्यात्वघटकतास्वीकारेण 'अज्ञातत्वेन सर्वं साक्षिभास्य'मिति विवरणाद्युक्तेः, स्वसामानाधिकरण्यादेश्च बाधकवृत्तिज्ञानविषयत्वादुक्तमिथ्यात्वस्य बाधकवृत्तिज्ञानावच्छिन्नसाक्षिणा नियमेन ग्रहणम् । एवं व्यावहारिकाभावघटितमिथ्यात्वपक्षेऽपि व्यवहारकालीनज्ञाननिवर्त्यत्वेनाज्ञाताभावस्य मिथ्यात्वघटकत्वं स्वीकृत्य निर्वहणीयमिति । नापसिद्धान्त इत्यादि । 'स्वरूपेण प्रातीतिकरूप्यस्य न निषेध' इति सिद्धान्तहानिर्न दोषः, तथा सिद्धान्तस्यैवास्मदाचार्यानभिमतत्वात् । अतएव व्यावहारिकरजतस्यैव स्वरूपेण निषेधस्वीकारे अमबाधवैयधिकरण्यादिवारणाय तस्यैव भ्रमे भानस्य वाच्यत्वेऽन्यथाख्यात्यापत्तिरिति दोषोऽपि न । एवमुक्तपञ्चपादिकाविवरणादिग्रन्थविरोधोऽपि नेत्यर्थः । अत्यन्तासत्त्वापात इति । अवच्छिन्नवृत्तिकान्यसर्वदेशवृत्तिकात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वमत्यन्तासत्त्वम्, तदादाय प्रपञ्चेऽर्थान्तरापत्तिरुक्तानुमाने स्यादित्यर्थः । ननु—प्रतिपन्नोपाधिमात्रनिष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वमुक्तानुमानासिद्धम्, नतूक्ताल्यन्तासत्त्वम् ; अतः कथमर्थान्तरं—तत्राह—प्रतीत्यादि ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तदुपस्थितिपरिग्रहः । न्यूनेति । न्यूनसत्ताकत्वप्रकारकव्यवहारकालिकाज्ञानविषय इत्यर्थः ।—अज्ञातत्वेनेति । अनुपस्थितेनापि इति शेषः । साक्षि अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम् । ज्ञानधर्माणामिव अज्ञानधर्माणामपि तत्प्रकारकत्वादीनां तद्ग्राहकसाक्षिग्राह्यत्वम् । स्वसामानाधिकरण्यादेश्चेति । पूर्वमुपस्थितिरिति भावः । वृत्तिज्ञानेति । निवृत्तिरूपज्ञानेत्यर्थः । निवर्त्यत्वेनाज्ञानेनेति । निवर्त्यत्वप्रकारकाज्ञानविषयेत्यर्थः ।—निर्वहणीयमिति । व्यावहारिकाभावघटितमिथ्यात्वस्येति शेषः । बाधकवृत्तिज्ञानावच्छिन्नसाक्षिणा नियमेन ग्रहणमित्यनुपपन्नः ।—स्वरूपेणेति । प्रातीतिकरूप्यवति धर्मिणि इत्यादिः । अतएव ईदृशसिद्धान्तस्यास्मदाचार्यानभिप्रेतत्वादेव । तथाच प्रातीतिकरूप्यस्यैव स्वरूपेण निषेधसंभवेन भ्रमे तस्यैव भानसंभव इति भावः ।—विरोधोऽपि नेति । उक्तरीत्या परिहारादिति भावः । मूले—अत्यन्तासत्त्वापात इत्यस्य अत्यन्तासत्त्वापत्तिरित्यर्थपरत्वं प्रतीयते, तच्च न घटते, प्रतिपन्नोपाधिः स्वप्रकारकधीविशेष्यधीधर्मा तन्निष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वे सति तद्विज्ञाननिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य दृष्टान्तेऽसंभवेन सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपात्यन्तासत्त्वं प्रति व्याप्यत्वेन ग्रहासंभवेनानापादकत्वात्, 'घटः कम्बुग्रीवादिमान् सन् ब्रह्म' इतिवत्, 'असत् शशशृङ्गमिति' प्रत्ययस्य विकल्परूपस्य संभवेनासतः स्वात्मकप्रतिपन्नोपाधिघटितमिथ्यात्वसंभवेन दृष्टान्तत्वसंभवेऽपि सदसतोरुपरागाभावात् तत्रोक्तापाद्यापादकयोर्ग्रहासंभवात् । नच—असतो विकल्परूपमापाद्यापादकयोस्त्वन्यादृशं ज्ञानमिति ज्ञानद्वयं उक्तधर्मधर्मिणोरसंसर्गाग्रहसहितं विशिष्टबुद्धिरूपसहचारग्रहकार्यकारि इति गुरुमतमाश्रित्य—शङ्कनीयम्, असति इच्छाप्रवृत्त्योरदर्शनेन विकल्परूपतत्प्रत्ययस्याहार्यस्येव प्रायः क्वचिदपि कारणत्वानुपगमात्, शुक्तिरूप्यतुच्छयोः प्रसिद्धयोरापादकापाद्ययोः ब्रह्मदृष्टान्ते व्यतिरेकव्याप्तिग्रहसंभवेऽपि व्यतिरेकव्याप्तेरनुमिताविवापत्तावप्यनङ्गत्वात् प्रपञ्चरूपपक्षे निरुक्तापाद्यव्यतिरेकनिश्चयरूपकारणाभावाच्चेत्यतोऽन्यथा तत् व्याचष्टे—अत्यन्तासत्त्वापात इतीति । संयोगाद्यव्याप्यवृत्तिकाकेऽतिव्याप्तिवारणाय अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वम् । घटत्वादौ तद्वारणाय सर्वेति । तुच्छे तुच्छमेदस्यासत्त्वेनासार्वत्रिकत्वेन तमादाय लक्षणसङ्गमनायोगात् तदत्यन्ताभावमादायैव लक्षणं सङ्गमनीयमिति सूचयितुमत्यन्तपदम् । प्रतियोगित्वं व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नं प्राह्यम्, तेन उभयाभावमादाय नातिप्रसङ्गः ।—तदादायेति । तद्रूपाऽजिज्ञासितार्थविधेयकप्रपञ्चपक्षकसिद्धिरूपैव प्रकृतानुमितिः स्यादित्यर्थः । प्रतीत्यादीति । पर्यन्तमित्यनेनेति शेषः । अन्यत्रासत्त्वस्य अन्यवृत्तित्वाभावरूपत्वे तन्नि-

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं ह्यन्यत्रासत्त्वेन संप्रतिपन्नस्य घटादेः सर्वत्र त्रैकालिक-

सिद्धिव्याख्या ।

दोषानपेक्षेति—वाच्यम् ; तादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजतज्ञानस्यापि तदपेक्षयाऽऽवश्यकत्वात् । अत एवान्यथाख्यातिरपि प्रत्याख्याता; लौकिकपरमार्थरजततादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजतस्य शुक्तावुत्पत्त्यभ्युपगमात् । तस्माद्लौकिकपरमार्थरजततादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजतमेवेदंपदास्पदे स्वरूपेण निषिध्यत इत्येवास्मत्प्राचामाचार्याणां वचसामर्थः ॥ तत्र भ्रमबाधवैयधिकरण्यादिदोषस्तु वृश्चिकभयात्पलायमानस्याशीविषमुखनिपातवत्तत्र प्रतिकूलः । अतएवातिसुपरिहारोऽपसिद्धान्तादिदोष इत्यलम् ॥ नन्वेवमिति । रूप्यस्य वियदादेश्व स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वाङ्गीकारपक्ष इत्यर्थः । अत्यन्तासत्त्वोपपादनोपोद्धातत्वेनाह—प्रतिपन्नेति । अन्यथेति । मिथ्यात्वानुमानकाले पटादेस्तत्त्वन्यत्रासत्त्वास-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्रैकालिकनिषेधेति । अवच्छिन्नवृत्तिकान्यात्यन्ताभावेत्यर्थः । अन्यत्रासत्त्वेन प्रतिपन्नोपाधिभिन्ननिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन । प्रतिपन्नस्य प्रमितस्य । पर्यन्तं निश्चयप्रयोजकं, निश्चायकम् । तथाचोक्तानुमानेनान्यत्रासत्त्वनिश्चयसहकृतेनोक्तात्यन्तासत्त्वनिश्चयसम्भव इति भावः । ननु—तथापि सर्वत्रेत्युक्तम्, यत्किंचि-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्चयस्य मिथ्यात्वनिश्चयसहकारित्वमत्यन्तासत्त्वनिश्चयं प्रति न संभवति, यावद्विशेषनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चयकूटस्यैव सामान्यनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चायकत्वादतो व्याचष्टे—अन्यत्रासत्त्वेनेति । संप्रतिपत्तिर्न आहार्यपराम्युपगमरूपा, आपत्तिजनिकायास्तस्याः अर्थान्तरानुपयोगित्वात् अतो व्याचष्टे—संप्रतिपन्नस्येति । मूले—पर्यन्तमिति पाठापेक्षया पर्यवसितमिति पाठो युक्तः; पर्यवस्यतेः निश्चयसामान्यार्थकस्य निश्चयविशेषे लक्षणासंभवात्, पर्यन्तपदस्य तु तादृशार्थकत्वमदृष्टचरमिति बोध्यम् । निश्चायकमिति । निश्चयविषयः । ननु—एतावता मिथ्यात्वानुमितेरत्यन्तासत्त्वनिश्चयरूपत्वं नायातं, तथाच कथमर्थान्तरम्, अनभिमतार्थसिद्धिरूपप्रकृतानुमितेरेवार्थान्तरपदार्थत्वात् अतआह—तथाचेति । अन्यत्रासत्त्वेन निश्चितधर्मिकमिथ्यात्वनिश्चयस्यात्यन्तासत्त्वनिश्चयप्रयोजकत्वे चेत्यर्थः । उक्तानुमानेनेति । निरुक्तमिथ्यात्वानुमितिरूपनिश्चयेनेत्यर्थः, ननु तादृशानुमितिजनकव्याप्तिज्ञानादिनेति । अन्यत्रासत्त्वनिश्चयसहकृतस्य तस्य विशेषान्तरनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चयसहकृतैकविशेषनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चयानात्मकत्वेन सामान्यनिष्ठाभावप्रतियोगित्वरूपासत्त्वनिश्चयं प्रत्यहेतुत्वात् । नच—एकविशेषनिष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चयसहकृतस्यापरविशेषनिष्ठाभावप्रतियोगित्वन्याप्यवत्तापरामर्शस्य सामान्यनिष्ठाभावप्रतियोगित्वानुमितिहेतुता स्वीक्रियते इति—वाच्यम्; तथासति घटधर्मिकमिथ्यात्वनिश्चयस्य तद्धर्मिकाल्यन्तासत्त्वनिश्चयप्रयोजकलोकेतरसामञ्जस्येनासङ्गतेः । उक्तानुमितेस्तु तादृशनिश्चयात्मकत्वेन भवति तादृशनिश्चयं प्रति हेतुलम् । यद्वा—अन्यत्रासत्त्वनिश्चयसहकृतमिथ्यात्वानुमितिरूपनिश्चयात् प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वतद्विन्ननिष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वनिश्चयः, तादृशविशिष्टप्रतियोगित्वस्य निरुक्तात्यन्तासत्त्वं प्रति ब्रह्मणि व्यतिरेकव्याप्तिग्रहसहकृततादृशनिश्चयादुक्तात्यन्तासत्त्वनिश्चयः । अतएव निश्चयप्रयोजकं निश्चायकमित्यत्र प्रयोजकपदं सङ्गच्छते । उक्तात्यन्तासत्त्वनिश्चयस्य अर्थापत्तिरूपस्यैव वाच्यतया क्लृप्तकार्यकारणभावेन निर्वाहश्च भवति । एतावता अर्थान्तरं कथमिति चेत्, अनभिमतार्थसिद्धिरूपप्रकृतानुमितेरिवानभिमतार्थसिद्धिप्रयोजकप्रकृतानुमितेरपि अर्थान्तरपदार्थत्वादिति भावः । अन्यथेत्यस्य प्रतिपन्नोपाधिभिन्ननिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वेनासंप्रतिपत्तावित्यर्थकत्वे 'न हि तेषां'मिति पङ्क्तेरनुपयोगप्रसङ्गः; तस्यास्त्वदुक्तेरिति पदघटितत्वेन अन्यत्र सत्त्वापत्तेरिष्टपत्तिशङ्कावारकतयोपयोगे तु तावतैवान्यत्रासत्त्वेनासङ्गतिप्रतीतेर्निराकरणेनान्यथेति पङ्क्तिरनुपयोगिनी स्यात् । मिथ्यात्वशरीरे प्रतिपन्नोपाधेः सर्वत्वेन निवेशस्यात्यन्तासत्त्वापत्तिप्रयोजकस्य प्रयोजनानुक्त्या न्यूनतापत्तिश्चेत्यतोऽन्यथेति पङ्क्तिं मिथ्यात्वे प्रतिपन्नोपाधौ सर्वत्वानिवेशशङ्कयाऽवतारयति—ननु पूर्वपङ्क्तावनुक्तत्वेऽपि तत्तात्पर्यविषयतां स्फुटयितुं तादृशनिवेशमुपपन्न्य सर्वत्वघटितात्यन्तासत्त्वापत्तिं पूर्वपङ्क्त्या आक्षिपति—सर्वत्रेत्युक्तमिति । मिथ्यात्वे सर्वप्रतिपन्नोपाधिनिवेशे सति प्रतिपन्नोपाधिभिन्ननिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वनि-

निषेधप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्; अन्यथा तेषाम् अन्यत्र सत्त्वापातात्, नहि तेषामन्यत्र सत्ता संभव-
तीति त्वदुक्तेश्च; तथाच कथमसद्वैलक्षण्यम्, नहि शशशृङ्गादेरितोऽन्यदसत्त्वम् । नच निरुपाख्यत्व-

सिद्धिव्याख्या ।

स्मृतौ पटादेस्तन्तुभिन्नदेशे सत्त्वापत्त्यर्थान्तरता स्यादित्यर्थः । पटादेरन्यत्र सत्ता त्वयापि नाङ्गीकृते-
त्याह—नहीति । उपोद्घातेन यच्छुक्तिरूपे वियति च प्राप्तं तदर्शयति—तथाचेति । कथमिति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिपन्नोपाधेरवोक्तमिथ्यात्वे निवेशात्—तत्राह—अन्यथेति । उक्तमिथ्यात्वे सर्वस्य प्रतिपन्नोपाधेरनिवेश इत्यर्थः ।
अन्यत्रेति । स्वानधिकरणे प्रतिपन्नोपाध्यन्तर इत्यर्थः । सत्त्वापातात् सत्त्वमादायार्थान्तरतापातात्, किञ्चित्प्रति-
पन्नोपाधिमात्रनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाधनतापाताच्च । ननु—प्रतिपन्नोपाधिभिन्नदेशे सत्त्व-
स्य संदिग्धत्वेन न प्रपञ्चस्यात्यन्तासत्त्वापत्तिः—तत्राह—न हीत्यादि । त्वदुक्तेः त्वदाचार्योक्तेः । तथाच निश्चि-
तमेव तदिति भावः । इतः सर्वदेशनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । असत्त्वम् असत्त्वशब्दार्थः । निरु-

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

श्रयसहितस्य सर्वप्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वनिश्चयस्य यावद्विशेषनिश्चयविधया सर्वत्र त्रैकालिक-
निषेधप्रतियोगित्वरूपसामान्यात्मकात्यन्तासत्त्वनिश्चयं प्रति प्रयोजकत्वात् भवति तादृशनिश्चयापत्त्याऽर्थापत्तिः ननु, मिथ्यात्वे
यत्किञ्चित्प्रतिपन्नोपाधिनिवेशे, अन्यत्रासत्त्वनिश्चयसहितस्यापि यत्किञ्चित्प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वनिश्च-
यस्य यावद्विशेषनिश्चयानात्मकत्वेनोक्तात्यन्तासत्त्वनिश्चयाप्रयोजकत्वादिति भावः । एवं च सर्वत्वघटितात्यन्तासत्त्वापत्तिप-
रपूर्वग्रन्थे मिथ्यात्वे सर्वप्रतिपन्नोपाधिनिवेशाभिप्रायस्य स्फुटत्वात् तदभावार्थकतया अन्यथापदं व्याचष्टे—उक्तमि-
थ्यात्वे इति । मूले—तेषामित्यस्य मिथ्यात्वानुमानपक्षीभूतानां व्यावहारिकघटरजतादीनामित्यर्थः । अत्र अन्यत्रप-
दस्य प्रथमान्यत्रपदवत् प्रतिपन्नोपाधिसामान्यभिन्ने इत्यर्थकत्वं न संभवति, तत्रासत्त्वेन संप्रतिपत्तिसद्भावे तत्र सत्त्वमा-
दाय सिद्धसाधनापत्तेरसंभवात् अतः अन्यथा तत् व्याचष्टे—अन्यत्रेतीति । प्रतिपन्नोपाध्यन्तरे इति । मिथ्या-
त्वघटकशुक्त्यादिरूपयत्किञ्चित्प्रतिपन्नोपाधिभिन्ने व्यावहारिकरजतावयवादिरूपे प्रतिपन्नोपाधावित्यर्थः । सत्त्वापातादित्यस्य
सत्त्वापत्तेरित्यर्थकत्वं न संभवति; समानधर्मिकत्वस्य मिथ्यात्वघटकधर्मिविषयकत्वेन समानधर्मिकाया अपि सत्त्वापत्ते-
र्मिथ्यात्वानुमितावविरोधित्वात्, विभिन्नधर्मिकायास्तु सुतराम्; व्याप्यापादकवत्ताज्ञानविरोधिन्यामविरोध्यापत्तेरापाध-
व्यापकापादाहार्यज्ञानविशेषरूपाया धर्मविशिष्टबुद्ध्यविरोधित्वात्, अतो व्याचष्टे—सत्त्वापातादिति । सत्यं सत्य-
त्वम् । आदाय स्वीकृत्य । तदविरोधेनेति शेषः । सिद्धेति । सिद्धस्य व्यावहारिकरजतरूपे धर्मिणि प्रतिपन्नोपाध्यन्तरे
सत्त्वाविरोधिनः शुक्तिरूपयत्किञ्चित्प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्य साधनसंभवे व्यावहारिकरजते तदवयवरूपध-
र्मिणि मिथ्यात्वसिद्धेरेदृश्याया असिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः । यथाश्रुते स्वानधिकरणे इत्यपूरणेऽपि सिद्धसाधनस्य दुर्वारतया
अनुपदं वक्ष्यमाणतत्पूरणप्रयोजनस्य दुर्वचतया तद्वैयर्थ्यापत्तेः । उक्तरीत्या व्याख्याने तु, मिथ्यात्वानुमापकस्य सिद्धा-
न्तिनोऽपि व्यावहारिकरजतस्य तदवयवरूपप्रतिपन्नोपाधौ सत्यत्वमिष्टमेव, ननु मिथ्यात्वमिति तत्सिद्धिर्नोद्देश्येत्याशङ्का-
वारणाय स्वानधिकरणे इति प्रतिपन्नोपाध्यन्तरविशेषणं पूरितमावश्यकम् । स्वं व्यावहारिकरजतम् । सिद्धान्ते वस्तुत-
स्तदनधिकरणे इत्यर्थः । तदारोपाधिष्ठाने इति यावत् । नन्वेवं—मदुक्तिरस्ति चेत् उक्तापत्तिभिरासा ल्यज्यते—
इत्यत आह—त्वदाचार्योक्तेरिति । नेह नानेतिश्रुत्या जगतो मिथ्यात्वं वा, यतोवेत्यादिश्रुत्या सत्यत्वं वेति शङ्कायां
यतोवेत्यादिश्रुतेः न सृष्टौ तात्पर्यं, किंतु नेहेत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावे बोधितेऽपि प्रपञ्चस्य ब्रह्मभिन्ने सत्त्वशङ्का
स्यात्, तद्वारणाय ब्रह्मणः प्रपञ्चोपादानत्वे तात्पर्यम्; तथाचोपादानादन्यत्र कार्यस्यासत्त्वनियमेन ब्रह्मरूपोपादानादन्यत्र
असत्त्वेन निश्चितस्य प्रपञ्चस्योपादाने ब्रह्मणि अभावे बोधिते मिथ्यात्वं पर्यवस्यतीति सर्वैः प्राचीनैरुक्तं कथं ल्यज्यत इति
भावः । ननु—प्रपञ्चस्यास्तां सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वनिश्चयः, न हि तेन शशविषाणाद्यसद्रूपत्वनिश्चयापत्तिः
संभवति; दृश्यत्वादिना तद्विज्ञत्वनिश्चयादित्याशङ्काह मूले—तथाचेति । प्रपञ्चस्य तादृशप्रतियोगितावत्त्वे चेत्यर्थः ।
कथमसद्वैलक्षण्यमिति । असद्वैलक्षण्यं नाम, न तद्वृत्तिधर्मशून्यत्वं; तत्साधारणान्यतरत्वादेः प्रपञ्चेऽभ्युपगमेन
तच्छून्यत्वे कथं तानुदयात्, नापि तदवृत्तिधर्मवत्त्वम्; तादृशदृश्यत्वादेस्तत्राक्षतत्वेन तत्रापि कथन्ताया अभावात्;
नापि प्रातिस्विकरूपेण तत्तद्विज्ञत्वं; 'तस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञेयतया कथन्ताया अनिवृत्तेः, किंतु असन्मात्रानुगतासत्त्व-

मेव तदसत्त्वम्; निरुपाख्यत्वपदेनैव व्याख्यायमानत्वात् । नाप्यप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्; असतोऽप्रतीतो

सिद्धिव्याख्या ।

न कथञ्चिदित्यर्थः । एतावता शशशृङ्गादीनामिवासत्त्वं नेत्याशङ्क्याह—नहीति । किंत्विदमेव, तत्तश्च शशशृङ्गादीनामिवासत्त्वमिति भावः । रूप्यादेरसद्वैलक्षण्यानिरासाय शशशृङ्गादीनामसत्त्वं शङ्कते—नचेति । निरुपाख्यत्वं पदशक्त्यविषयत्वं, किंवा प्रतीतिमात्राविषयत्वमिति विकल्प्य आद्यं दूषयति—निरुपाख्यत्वपदेनैवेति । तथाचासत्त्वेन संप्रतिपन्नस्यापि असत्त्वं न स्यादित्यर्थः । यद्यपि निरुपाख्येति 'शक्तं पदमिति' मते न पदम्, किन्तु वाक्यमेव; तथाच निरुपाख्यत्वं पदाशक्त्यत्वमित्युक्ते न कोऽपि दोषः, तथाप्यत्यन्तासच्छृङ्गादेरपि शृङ्गादिपदवाच्यत्वमस्येव; अन्यथा कस्य विशेषणमसदित्यादिकमवधेयम् । द्वितीयमनूद्य दूषयति—नापीति । असद्वैलक्षण्यज्ञानार्थमसतः प्रतियोगिनोऽवश्यं ज्ञेयत्वात्, असत्प्र-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पाख्यत्वं शब्दवृत्त्यविषयत्वम् । ख्यायमानत्वात् वृत्तिसम्बन्धेन संबध्यमानत्वात् । निरुपाख्यादिपदानामली-
केऽनुभावकत्वरूपशक्तिविरहेऽप्यननुभवरूपमलीकविषयकं विकल्पं प्रति योगेन लक्षणया संकेतविशेषेण वा अलीकोप-
स्थितिद्वारा जनकत्वमावश्यकम्; तादृशविकल्पस्य साक्षिसिद्धत्वात्, 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' इति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रूपधर्माभाववत्त्वं, तदवच्छिन्नमिन्नत्वं वा । तत्र च कथन्ता संभवति; सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्यैवासत्त्व-
रूपतया तद्वत्तायाश्च प्रपञ्चे निश्चयेन तदभावस्य तदवच्छिन्नभेदस्य चासंभवात् वक्ष्यमाणरीत्या तादृशकथन्तानुवृत्तिरपि
संभवतीति भावः । ननु—सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं नासत्त्वं, किन्तु निरुपाख्यत्वादिकं ततोऽन्यदेवेत्याशङ्कां
परिहरति—नहीति । इत इत्यत्र इदंशब्दस्य न सन्निकृष्टप्रधानभूतासद्वैलक्षण्यार्थकत्वं, तस्यासत्त्वपदार्थत्वाभावेनायो-
ग्यत्वात् इत्यतो योग्यत्वबलात् व्यवहिताप्रधानपरामर्शितां दर्शयति टीकायाम्—इत इति । असत्त्वपदस्य तादृशप्रति-
योगित्वार्थकत्वे शशशृङ्गादिनिष्ठतादृशप्रतियोगित्वादित्यतः तादृशप्रतियोगित्वं नेत्यर्थः स्यात्, स च घटो घट इतिवत्
घटादन्यत् न घट इतिवच्चायुक्तः; उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यात् । निरुपाख्यत्वावर्थकत्वे तादृशप्रतियोगित्वादित्यतः
निरुपाख्यत्वं नेत्यर्थः स्यात्, सोऽपि बाधान्न युक्तः; तादृशप्रतियोगित्वान्यत्वसामानाधिकरण्येन विकल्पविषयत्वादौ
निरुपाख्यत्वभेदस्याबाधेऽपि तद्वोधस्यानुपयोगः, तादृशप्रतियोगितामात्रस्य असत्त्वपदार्थतायाः असद्वैलक्षण्यसंभवहेतु-
भूताया अप्रतिपादनात्, अतो व्याचष्टे—असत्त्वमिति । असत्त्वशब्दार्थ इति । तथाच शशशृङ्गादिनिष्ठं तादृश-
प्रतियोगित्वाद् अन्यत् असत्त्वपदार्थो नेत्यर्थः । स च घटो घटपदार्थो घटान्यो न घटपदार्थ इतिवत् युक्त एव;
उद्देश्यतावच्छेदकविधेयोः भेदात्, अवाधानु तादृशप्रतियोगित्वमेवासत्त्वपदार्थ इति पर्यवसानेनोपयोगाच्चेति भावः ।
तत्र बाधमाशङ्क्य निराचष्टे मूले—नचेति । असत्त्वं असत्त्वपदार्थः । एवमग्रेऽपि । संकेतितः शब्द आख्या, लक्षणा-
दिसाधारणवृत्तिमान्, सा उपाख्या निर्गता यस्मात् यन्निष्ठाभावप्रतियोगिनीति विग्रहः; उपाख्याविरहवान् समासार्थः ।
तत्र चाभावप्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धत्वं वृत्तेरेव वाच्यम्, तच्च न संभवति; वृत्त्यनियामकत्वात्, अतः उपाख्यापदं
शब्दवृत्तिविषयतार्थकतया व्याचष्टे—शब्दवृत्त्यविषयत्वमिति । शब्दानुभवाविषयत्वं तु नार्थः, असतस्तद्विषयत्वा-
नुपगमेन निरुपाख्यपदेनेतिदूषणासंगतेः । मूले—तदसत्त्वम् तस्य शशशृङ्गादेः असत्त्वपदार्थः । ख्यायमानत्वपदस्य
शब्दानुभवविषयत्वार्थकत्वं न संभवति, असतामनुभवविषयत्वोक्तौ शब्दे वृत्तिविषयताया आवश्यकत्वलाभेऽपि
सत्त्वोच्छेदभयेन असदादिपदानामनुभावकत्वशक्तेरनुपगमात्, अतो व्याचष्टे—ख्यायमानत्वादिति । वृत्तीति ।
निरुपाख्यपदनिरूपितवृत्तिरूपसंबन्धविषयत्वादिति समुदायार्थः । ननु—निरुपाख्यादिपदानामसतामसत्त्वभङ्गभिया अनु-
भवाविषयत्वेनानुभावकत्वशक्तेरनुपगमे स्मारकशक्त्यादिवृत्तिरपि किमर्थं स्वीकर्तव्या ? स्मृतिबीजफलयोरभावादित्यत आह—
निरुपाख्यादीति । अनुभावकशक्तिः शब्दानुभवकारणता । स्मारकशक्तिः स्मृतिप्रयोजकः संबन्धविशेषः ।—
योगेनेति । अनुभवसिद्धे एव पदस्य रुढिरिति भावः ।—आवश्यकमिति । विकल्पात्मकज्ञानरूपस्य स्मृतिफलस्य
संस्कारं प्रति सौप्त्यवृत्तिस्मृतिवृत्तिसाधारणज्ञानत्वेनैव हेतुताया वक्तव्यतया विकल्पवृत्तेरपि संस्कारहेतुतया तस्या-
अद्वै. सि. १८

असद्वैलक्षण्यज्ञानस्यासत्प्रतीतिनिरासस्यासत्पदप्रयोगस्य चायोगात् । नचापरोक्षतया अप्रतीयमानत्वं तत् ; नित्यातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तेः—इति चेन्मैवम् ; सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि

सिद्धिव्याख्या ।

तीतिनिरासार्थमसत्प्रतीतेः प्रसक्त्यपेक्षाया आवश्यकत्वात्, शब्दप्रयोगस्य शब्दार्थज्ञानपूर्वकत्वात्, असत्पदप्रयोगार्थमसतो ज्ञानस्यावश्यकत्वादित्यर्थः । नाप्यपरोक्षेति । तथाच न पूर्वोक्तदोष इति भावः । शश-शृङ्गादौ सत्त्वेऽपि नित्यातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तात्त्वात्त्रेदमसत्त्वमित्याह—तथापीति । तस्योभयसाधारणत्वे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पातञ्जलसूत्रेण तादृशविकल्पस्य सद्रूपवस्त्वविषयकस्य शब्दज्ञानजन्यत्वस्य उक्तत्वात् । अतएव 'वृत्तयः पञ्चतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' इति वृत्तिज्ञानानां पञ्चधा विभागेन विपर्ययरूपात् सद्रूपाधिष्ठानविषयकात् भ्रमात्पार्थक्येन विकल्पः पातञ्जलसूत्र एवोक्तः । निद्रा सौप्तवृत्तिः । नच—निर्धर्मकत्वादलीके निरुपाख्यादिपदानां योगादिवृत्त्यसंभव इति—वाच्यम् ; तस्येतरधर्मशून्यत्वेऽपि अभावस्य विकल्पविषयत्वादेश्च धर्मस्य तत्र स्वीकारेण योगेन वाचकशब्दरूपोपाख्याविरहस्यालीके प्रसिद्धोपस्थित्योक्तविरहाश्रयालीकोपस्थितिसम्भवेन लक्षणासम्भवात्, 'अनेन पदेनालीकं बोध्य'मिति सङ्केतसम्भवाच्च । तथाच वृत्तिविषय एवालीकमिति भावः । अपरोक्षतया अप्रतीयमानत्वं प्रमाणजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वम् । यथाश्रुते नित्यातीन्द्रियस्यापीशं प्रति अपरोक्षत्वान्नित्येत्याद्यसङ्गतेः । नास्त्ये-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्रैतद्वे पूर्वभवे वा संभवेन तदधीनसंस्कारस्य स्मृतिबीजभूतस्य च संभवादिति भावः । विकल्पे प्रमाणमाह—तादृशेति । ननु—साक्षि न प्रमाणं, किंच निरुपाख्यादिपदानां विकल्पजनकत्वं कुत इत्यत आह—शब्दज्ञानेति । शब्दज्ञानानुपाती शब्दज्ञानजन्यः । वस्तुशून्यः सदविषयकः । वृत्तिविशेषो विकल्प इति सूत्रार्थमाह—तादृशेति । अननुभवरूपा अलीकविषयकेत्यर्थः । ननु—भ्रमस्यापि सदविषयकत्वात् विकल्पो भ्रमरूपं ज्ञानं, नत्वलीकविषयवृत्त्यन्तरम् । उक्तसूत्रे वस्तुशून्य इति लक्षणोक्तिः । शब्दज्ञानानुपातीति सामग्रीकथनम् । विकल्पस्य भ्रमत्वे प्रत्यक्षादिभ्रमसामग्र्याः शब्दावटिताया अपि सत्त्वेन तादृशकथनस्यासङ्गतेः स्यादिति तु न शक्यम् ; शब्दज्ञानजन्यो भ्रमो विकल्प इति भ्रमविशेषलक्षणसंभवादित्यत आह—अतएवेति । विकल्पस्य भ्रमान्यवृत्तित्वादेवेत्यर्थः ।—पञ्चधा विभागेनेति । विकल्पस्य भ्रमविशेषत्वे पञ्चधा इति विभागो न स्यात्, मिथो व्यावर्तकधर्माणामेव विभाजकत्वादिति भावः । ननु—अत्र विपर्ययादेव पृथगुक्तिः न भ्रमादित्यत आह—विपर्ययरूपादिति । ननु भ्रमस्यापि सदविषयकत्वाविशेषे कथं विकल्पः पृथगित्यत आह—सद्रूपेति । इदं रजतमिति भ्रमेऽपि शुक्लवच्छिन्नचैतन्यरूपं सदेवेदन्त्वेन भासत इति भावः । पार्थक्येन व्यावृत्तरूपेण । पुरीतति मनःसंयोगरूपा मनसो विलीनावस्था वा निद्रा कथं वृत्तिज्ञानरूपा, तत्राह—निद्रेति । सुषुप्तिर्मनोविलयावस्था, तत्कारणीभूताज्ञानरूपा, तत्कालीना सुखाद्याकारा वृत्तिरित्यर्थः । विपर्ययविकल्पौ व्याख्यातौ, प्रमाणस्मृती प्रसिद्धे—निर्धर्मिकत्वादिति । पदवृत्तेः किञ्चिद्धर्मविशिष्टविषयकत्वनियमादिति भावः ।—स्वीकारेणेति । बहुव्रीहिरूपनिरुपाख्यपदस्य विकल्पविषयादिपदानां च योगसंभवादिति शेषः । धर्मविशेषस्वीकारे योगस्य दुर्वारत्वात् । योगेनेति । उपाख्याया अभावो निरुपाख्यमित्यव्ययीभावसमासरूपपदस्येति आदिः । बहुव्रीहेरुपाख्याविरहाश्रये शक्तिसमकक्ष्यनिरूढलक्षणासंभवेन लक्षणासंभवकथनासङ्गतेः । यद्वा—निरूढलक्षणापरतयैवायं ग्रन्थः उक्तशेषादिपूर्णं विनैव व्याख्येयः । अस्मिन् पक्षे विकल्पे विषयत्वादिरिति दृष्टान्तार्थम् । यद्यन्येतावता असतः पदजन्यपदार्थस्मृतिविकल्परूपप्रतीतिविषयताया व्यवस्थापितत्वात् तावतैवाप्रतीयमानत्वमसत्त्वमिति शङ्काया अपि निराससंभवः ; तथापि पातञ्जलस्वीकृताया अपि उक्तप्रतीतेः स्वमतेऽस्वीकारे बाधकं उक्ताशङ्कासमाधानव्याजेनाह मूले—असतोऽप्रतीताविति । तत्प्रतीतौ तु असदंशे विकल्परूपं, वैलक्षण्यांशे प्रमाणरूपं संभवतीति भावः । असत्प्रतीतिः असद्भातिः । तत्प्रसक्तौ हि तन्निरास इति भावः ।—असत्पदेनेति । निरुपाख्यपदस्यापलापशङ्कया त्यागः । अपरोक्षतयाप्रतीयमानत्वमिति । अपरोक्षतया परोक्षभिन्नतया । तृतीयार्थो वैशिष्ट्यं प्रतीयन्वयिपर्युदासबलात् परोक्षसदृशं प्रमाणजन्यत्वमपि लभ्यते । तथाच परोक्षान्यप्रमाणजन्यप्रतीतिविषयत्वाभावः समुदायार्थः । अत्र प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेन निवेशे परोक्षान्यज्ञानत्वनिवेशापेक्षया लाघवमित्यभिप्रेत्याह—प्रमाणजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वमिति । अत्र प्रमाणपदं मूलविद्यान्यत्वेन वृत्तिज्ञानोपादानयोरन्तःकरणतूलाज्ञानयोर्वोधकं, न तु चक्षुरादेः, सुखादौ प्रातिभासिकर-

तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणम् ; तथापि कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्तासत्त्वम्, तच्च

सिद्धिव्याख्या ।

ऽपीत्यर्थः । कचिदिति । असन्नेति निषेधप्रतियोगितया प्रतीयमानेऽसत्यप्रसिद्धिवारणाय सत्त्वेनेति विशेषे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वेति । प्रकृतानुमानीयपक्षे ज्ञायमानमित्यादिः । तथाच सामान्यानुमाने सत्त्वेन प्रतीत्यर्हमित्यस्य पक्षविशेषणस्योक्तत्वेन तादृशविशेषणविशिष्टप्रपञ्चे प्रतिपत्तेत्यादिमिथ्यात्वसिद्धावपि नालीकत्वमादायार्थान्तरमिति भावः । ननु—शून्यवादिनो माध्यमिकस्य मते सर्वं मिथ्येति स्वीकारेऽपि घटः सन्नित्यादिधीः स्वीक्रियते, सर्वानुभवसिद्धायास्तस्या अपलापासंभवात् ; तत्र चाबाध्यरूपसत्तादात्म्यं न भाति, किंवर्थक्रियाकारित्वमिति तैः स्वीक्रियते; तथाचान्यैरपि तथैवोच्यतां-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

जतादौ चातिव्याप्तेः ।—यथाश्रुते इति । प्रमाणजन्यत्वानन्तर्भावे इत्यर्थः । यद्यपि नित्यातीन्द्रियस्थेश्वरीयनित्यप्रत्यक्ष-विषयत्वेऽपि जन्यप्रत्यक्षाविषयत्वेनातिव्याप्तिसङ्गतिः; तथादि “ईक्षतेर्नाशब्दम्” इत्यधिकरणे ईशस्य ‘स ऐक्षते’ति श्रुत्युक्ते-क्षणकर्तृत्वोपपादनाय जगद्विषयकतदीयेक्षणस्य तदुपाधिभूतमूलाविद्यापरिणामरूपस्य जन्यस्योपगमात् जन्यप्रत्यक्षाविषयत्वं न नित्यातीन्द्रियस्थेतः प्रमाणपदमुक्तार्थकमुपात्तम् । ननु नित्येत्यादिदूषणपरिहारयैव प्रमाणजन्यत्वमपहाय प्रत्यक्षाविषय-त्वमसत्त्वमित्युच्यते इति—चेत्, सत्यं; प्रत्यक्षं नाम वृत्तिविशेषाभिव्यक्तं चैतन्यं, चैतन्यमेव वा, तद्विषयत्वं, तत्तादात्म्य-रूपं, सत्त्वेनप्रतीत्यर्हत्वं च सद्रूपचित्तादात्म्यमिति पूर्वमुक्तम् । तथाच प्रत्यक्षाविषयत्वं असत्त्वपदार्थत्वेन सिद्धान्तयिष्यमाण-सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमेवेति तदन्यस्यासत्त्वपदार्थत्वशङ्काया असंभवात् । चित्तादात्म्यं तु अलीके प्रातीतिकमपि नास्ति, ब्रह्मणि तु चित्प्रतियोगिकत्वोपलक्षिततादात्म्यमस्ति; अतएव सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वनिवेशेऽपि चिद्विन्नत्वस्य पक्षतावच्छेदके प्रवेशः । एवं चित्तादात्म्यं घटाभावे घटाभाववत् स्वस्मिन्नप्यस्तीति ग्रन्थकृतैवोक्तं स्मर्तव्यमिति नासंभवातिव्याप्ती शङ्कनीये । मूले-साधारणमिति । तथाचास्यासत्त्वपदार्थत्वे अनिर्वाच्ये असत्त्वव्यवहारप्रसङ्ग आशङ्क्येतेति भावः ।—तथापि इति । तत्रासत्त्वपदार्थ इति शेषः । उक्तव्यवहारप्रसङ्गात् गौरवाच्चेति भावः ।—कचिदिति । किन्त्वित्यादिः । व्यावहारिकप्राति-भासिकयोः परस्पराधिष्ठानयोः सत्त्वेनाप्रतीतेरतिप्रसङ्गस्य वारणाय कचिदप्युपाधाविति । सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वसामान्या-भावभावकम् । पूर्वं ग्रन्थकारोक्तं च प्रयोजनमनुसन्धेयम् । तथाचान्यत्रासत्त्वनिश्चयसहकृतस्य प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वनिश्चयस्य नेदृशासत्त्वपदार्थनिश्चायकत्वम्; तादृशप्रतियोगित्वानां सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वाभावत्वाना-क्रान्तत्वेनासत्त्वपदार्थविशेष्यत्वाभावेन तदीयविशेषनिश्चयानात्मकत्वादिति भावः । नन्वेवमपि—सर्वत्र त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वेन निश्चिते प्रपञ्चरूपे पक्षे निरुक्तासत्त्वपदार्थसंशयेऽपि तादृशप्रतियोगित्वस्य पक्षीभूतप्रपञ्चादन्यत्रालीके सत्त्वेन-प्रतीत्यर्हत्वाभावरूपासत्त्वपदार्थव्याप्तिनिश्चयः संभवति; प्रपञ्चस्य कचिदुपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वे सर्वत्र त्रैकालिकनिषे-धप्रतियोगित्वं भज्येतेति अनुकूलतर्कसत्त्वात् । तथाच सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्यासत्त्वपदार्थत्वाभावेऽपि निरुक्त-मिथ्यात्वनिश्चयात् उक्तरीत्या प्रपञ्चे जातेन तन्निश्चयेन निरुक्तासत्त्वनिश्चयापत्त्यर्थान्तरं दुर्वारं इत्यत आह—तच्चेति । सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं चेत्यर्थः । शुक्तिरूप्यादेः बाधोत्तरं सत्त्वेन प्रतीतेरभावात्तादृशवेत्यसङ्गतमत उक्तं बाधापूर्वमिति । ननु—तत्रास्त्येवेति सत्यं, तथापि उक्तरीत्या तन्निश्चयापत्त्यर्थान्तरं दुर्वारम् इत्यतः पूरयति टीकायाम्—प्रकृतानुमानपक्षे ज्ञाय-मानमित्यादिरिति । तथाच पक्षे तज्ज्ञानं तन्निश्चयः । नास्ति न संभवतीत्यर्थः । ननु—उक्तकारणसत्त्वे कुतः न संभवति—इत्याशङ्क्य मिथ्यात्वानुमितिरूपबाधनिश्चयेन प्रतिबन्धादित्याह—तथाचेति । अलीकत्वं तन्निश्चयापत्ति-मादाय । तत्प्रयुक्तम् । न चैवं—प्रपञ्चस्य कचिदुपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वे उक्तरीत्या निश्चितं सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रति-योगित्वं भज्येतेति तर्कपराहतमिदमिति—वाच्यम् ; यदुपाधौ यस्य सत्त्वेन प्रतीतिस्तदुपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रति-योगित्वस्यापि सिद्धान्ते तादृशप्रतीतेर्भ्रमतया स्वरूपावच्छिन्नस्य पारमार्थिकत्वावच्छिन्नस्य वोपगमेनोक्ततर्काप्रसरादित्यभि-प्रायः । ननु—शुक्तिरूप्यादेः सत्त्वेन प्रतीतेः सर्वरूपगमात् तदनुपगमशङ्कावारकस्य न चेतिग्रन्थस्य निर्दलत्वमित्यतः तदवतारयति—ननु शून्येति । तथैव अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वभानमेव । यद्यप्येवं प्रकृते न क्षतिः, तादृशसत्त्वेन प्रत्ययार्हत्वस्य पक्षविशेषणतया तदभावरूपासत्त्वस्य प्रपञ्चे सिद्ध्यसंभवात्; तथापि वस्तुगतिमनुरुध्य तन्निरासकरणमिति बोध्यम् । सत्त्वेनेत्यस्य अर्थक्रियाकारित्वेनेति नार्थः, तत्प्रतीत्याभासोक्ततत्प्रतीतिनिराकरणानुपपत्तेरित्यत आह—सत्त्वेनेति । सत्त्वम् अबाध्यत्वम् । रूपं । ब्रह्मधर्मत्वेन प्रपञ्चस्य प्रतीतेः । स्वरूपसंबन्धसंसर्गकत्वे भ्रमत्वं स्यात्, अतः

शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं नास्त्येवेति न तुच्छत्वापत्तिः । नच बाधात् पूर्वं शुक्तिरूप्यं प्रपञ्चो वा सत्त्वेन न प्रतीयते । एतदेव सदर्थकेनोपाधिपदेन सूचितम् । शून्यवादिभिः सदधिष्ठानभ्रमानङ्गी-

सिद्धिव्याख्या ।

पणम् । तच्चेति । निरुक्तासत्त्वमित्यर्थः । बाधोत्तरकालमस्त्येवेति सामान्यमेवेत्यभिप्रायेण बाधात्पूर्व-मित्युक्तम् । एतदेव दर्शयति—नचेति । ननु जगति रूप्यादौ च एवंविधासद्वैलक्षण्यस्य शून्यवादेऽपि सत्त्वात्तैः सह साम्यापत्तिः इत्याशङ्क्याह—एतदेवेति । कचिदप्युपाधावित्येतदेव । प्रतिपन्नोपाधाविति मिथ्यात्वलक्षणघटकेनैतदर्थकेनोपाधिपदेन सूचितमित्यर्थः । ततश्च न शून्यवादिभिः साम्यमिति भावः । तत्र हेतुमाह—शून्यवादिभिरित्यादिना । इदमुपलक्षणं, वस्तुतो ब्रह्मभिन्ने शून्यवादिभिरस्माकं साम्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्राह—नच बाधादित्यादि । सत्त्वेन अबाध्यरूपसत्तादात्म्येन । माध्यमिकान्यैः सर्वैरपि बादिभिरिति शेषः । तथाच माध्यमिकभिन्नानामनुभवस्तादृश इति भावः । ननु—तथापि विशेष्यानुमानेपूक्तविशेषणस्य पक्षे अनुक्तत्वाद-र्थान्तरम्, उक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यालक्षणत्वासंभवश्चालीकेऽतिव्याप्तेः—तत्राह—एतदिति । प्रपञ्चस्य सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वमेव । सदर्थकेन अबाध्यार्थकेन । प्रतिपन्नपदयुक्तेनेति शेषः । उपाधिपदस्य स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्म-संक्रामकार्थकत्वात्, स्वसमीपवृत्तिदृश्यत्वावच्छेदेन स्वगतसत्त्वादिधर्मभ्रमजनकत्वस्य प्रकृते तात्पर्यविषयत्वात्, सर्वा-धिष्ठानमेव प्रकृते उपाधिपदार्थ इति भावः । लक्षणपक्षे तु उपाधिपदस्य सदर्थकत्वं विशेष्यानुमानपक्ष इवेति वक्ष्यते । सूचितमिति । प्रतिपन्नपदस्य स्वतादात्म्यधीविशेष्यार्थकतयोपाधिपदार्थं सति प्रपञ्चरूपस्वतादात्म्यधी-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्वाश्रयतादात्म्यसंसर्गकत्वं वक्तव्यम् । तथाच गौरवमत आह—अबाध्यरूपसत्तादात्म्येनेति । तादात्म्यस्यापि प्रतियोगितासंबन्धेन ब्रह्मधर्मत्वेन त्वप्रत्ययार्थत्वम् । तृतीयार्थः प्रतीयत्ववधि संसर्गत्वम्; तथाच प्रपञ्चे तादात्म्येन ब्रह्मैव सद्वृत्तं प्रकार इति भावः । माध्यमिकैस्तथानुपगमात् सर्वैरपि इत्यसङ्गतमतः पूरयति—माध्यमिकान्यैरिति । तेषामपि तथा स्वीकारे किं प्रमाणमत आह—तथाचेति—नन्वेतदेवेत्यादिनोपाधिपदस्य सदर्थकत्वकथनं व्यर्थम्; उक्तरीत्या उक्तपक्षविशेषणेनैव निर्वाहादतः तत्सार्थकयितुमवतारयति—ननु तथापीति । ननु—विशेष्यानुमानेऽपि उक्तपक्ष-विशेषणं पूर्यते, अतो नार्थान्तरमत आह—उक्तमिथ्यात्वस्येति । प्रतिपन्नं स्वप्रकारकधीविशेष्यो य उपाधिरधिकरणं तन्निष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्येत्यर्थः । अलीके इति । द्रव्यं घट इतिवत्, असन्नशृङ्गमिति विकल्प-रूपवृत्त्युपगमेन स्वमेवालीकस्य रूपान्तरेण प्रतिपन्नोपाधिस्तन्निष्ठाल्पान्ताभावयोगित्वस्य तत्र सत्त्वादिति भावः । पूर्ववाक्ये प्रपञ्चः सत्त्वेन न प्रतीयत इति न, किन्तु प्रतीयत एवेत्यर्थात् सत्त्वेन प्रतीयमानत्वविशिष्टप्रपञ्चस्य प्रपञ्चविषयकप्रतीतेर्वा प्राधान्येन प्रकान्तत्वेऽपि तात्पर्यवशादत्र सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपविशेषणपरामर्शक एव एतच्छब्दो नपुंसकलिङ्गत्वादित्याह—प्रपञ्चस्येति । “सत्साधौ धीरशस्तयोः” इति कोशात् सत्पदस्य ज्ञानार्थकत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वलाभकोपाधिपदस्य सदर्थ-कत्वसंभवाय च व्याचष्टे—सदर्थकत्वेनेति । वृत्त्यर्थकासधातोः सदिति शत्रन्तं, तत्र शत्रथर्वर्तमानत्वाविवक्षया यत्सर्वदा वर्तमानमित्यक्षरार्थः, कालत्रयेऽप्यबाध्यमिति यावत् इत्याशयेनाह—अबाध्यार्थकेनेति । सत्पदं हि, अबाध्य-त्वेनैव ब्रह्मणो बोधकम् । “असन्नेव सभवति असत् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः” इति श्रुतेः । तावन्मात्रेणोक्तार्थालाभादाह—प्रतिपन्नेति । उपाधिपदस्य कथं सदर्थकत्वमत आह—उपाधिपदस्येति । उप समीपवर्तिनि स्वधर्मसादधाति संक्रामयति इति व्युत्पत्तेरिति भावः । संक्रमो न गमनं, किन्तु ज्ञानं; गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्; तच्चान्यस्मिन् स्वधर्मावगाहिवात् भ्रमरूपमित्याशयेनोपाधिसामान्यार्थकोपाधिपदेन कथं ब्रह्मण एव लाभ इति शङ्कानिरासाय फलितार्थमाह—स्वसमीपवर्तिदृश्यत्वावच्छेदेनेति । जपाद्युपाधीनां स्फटिकादियत्किंचिद्वस्तुनि धर्मसंक्रामकाणां व्यावृत्तये अवच्छेदेनेति । ईदृशभ्रमजनकत्वं यत्र सर्वस्य दृश्यरूपधर्मिणोऽध्यासस्तदेवेत्याह—सर्वा-धिष्ठानमिति । तच्च सत्पदार्थकालत्रयाबाध्यरूपं ब्रह्मैव, बाध्यस्य स्वात्मकदृश्यानधिष्ठानत्वेन सर्वाधिष्ठानत्वाभावादिति भावः । एतदभिप्रायेणैव सदर्थकेति मूले उक्तं, न तु ब्रह्मार्थकेति; टीकायां चाबाध्यार्थकेति विवृतम् । तादात्म्येन प्रतीयमा-नत्वस्य प्रतिपन्नोपाधिपदाभ्यामप्रतीतेः सूचितमित्युक्तम् । अर्थतो लम्बितमिति तदर्थः । तदुपपादयति—प्रतिपन्नपद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेष्यत्वस्य शब्दतो लाभेन प्रपञ्चे सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वस्यार्थतो लाभ इति भावः । नच—अवाध्यत्वापेक्षया कालसंबन्धित्वमेव लघु, तस्य कालिकविशेषणतारूपविलक्षणसंबन्धप्रतियोगित्वरूपत्वात्; तथाचोक्तप्रतियोगित्वे सति कालसंबन्धित्वमेव साध्यतामिति—वाच्यम्; एतस्येव तस्यापि साध्यत्वसंभवात् । लक्षणत्वपक्षेऽपि यथासन्निवेशे वैयर्थ्याभावात्, प्रतिपन्नेत्यादिविवरणाद्युक्तौ उपाधिपदसार्थक्याय तस्यावाध्यार्थकत्वस्योक्तत्वाच्च । ननु—सदर्थ-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्येति । सति अवाध्ये । सत्तादात्म्येन अवाध्यतादात्म्येन । तथाच स्वतादात्म्यधीविशेष्यीभूतसन्निष्ठत्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वलक्षणस्य शब्दलभ्यस्य नालीकेऽतिव्याप्तिः । सति असत्तादात्म्यधीविशेष्यत्वानुपगमेन स्वपदेनासतो दुर्धरत्वात्; एवं विषयत्वाद्यवच्छिन्ने पक्षे उक्तमिथ्यात्वसिद्धौ सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वस्याप्यर्थतः सिद्धेर्दुर्वारतया तथा प्रतिबन्धान्न तदभावरूपासत्त्वस्य सिद्ध्यापत्तिरूपार्थान्तरम् । यद्वा—स्वत्वनिवेशेऽननुगमात् सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वे सति, यावत्सदधिकरणकाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव लक्षणं साध्यं चेति तत्सिद्धौ नोक्तार्थान्तरातिव्याप्ती इति भावः । अत्र प्रथमकल्पे उक्तदोषोर्वारणाय मिथ्यात्वशरीरे प्रतिपन्नपदार्थेऽवाध्यत्वरूपं सत्त्वं प्रविष्टं, तच्च निषेधप्रतियोगित्वेन प्रतीयमानत्वरूपवाध्यत्वाभावरूपं, तत्र च गौरवमित्याशङ्कते—नचावाध्यत्वापेक्षयेति । यथाश्रुतमेव सम्यक् । द्वितीयकल्पे तु प्रतीयमानत्वस्यानतिप्रयोजनत्वात् अनुयोगितया सत्प्रतियोगिकतादात्म्यवत्त्वमेव सत्यन्तार्थः । तदभावोऽसत्त्वम्, तत्रापि गौरवमित्याशङ्कते—नचेति । अवाध्यत्वेति । अवाध्यतादात्म्येत्यर्थः । सत्त्वेन अवाध्यरूपसत्तादात्म्येनेतिवत् । ननु—कालानुयोगिकसंबन्धप्रतियोगित्वरूपकालसंबन्धित्वम्; अलीकेऽपि स्वस्वरूपसंबन्धरूपविशेषणताप्रतियोगित्वसंभवात् कालानुयोगिकत्वनिवेशः । तच्च सत्प्रतियोगिकतादात्म्यानुयोगित्वापेक्षया न लघु, अत आह—तस्येति । कालिकत्वं न कालानुयोगिकत्वं, किन्तु अखण्डमेव धर्मान्तरमतो न तौल्यतादवस्थमित्याह—विलक्षणेति । तथाचोक्तवैलक्षण्य-निवेशादेव नालीकेऽतिप्रसङ्गः । भवदुक्तसत्यन्तार्थे तु तादात्म्यानुयोगित्वस्यासत्तादात्म्यानुयोगित्वमादायालीकेऽति-व्याप्तेर्वारणाय सत्प्रतियोगिकत्वनिवेशस्यावश्यकत्वात् न तौल्यमिति हृदयम् । यदि तु असत्तादात्म्यव्यावृत्तं सत्तादात्म्येऽपि वैलक्षण्यं स्वीक्रियते, तदा तु तुल्यत्वाच्चेयं द्वितीयकल्पे शङ्केति बोध्यम् । ननु—कालसंबन्धित्वे सति सत्तादात्म्यधी-विशेष्ययावद्धर्मिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य यावत्सदधिकरणकोक्तिनिषेधप्रतियोगित्वस्य वा मिथ्यात्वलक्षणत्वे असत्यतिव्याप्तिपरिहारेऽपि तस्य साध्यत्वे विशेषानुमाने उक्तरीत्याऽर्थान्तरं दुर्वारम्; उक्तविशिष्टरूपमिथ्यात्वनिश्चयस्य तादात्म्याद्यभावरूपासत्त्वनिश्चयं प्रति विरोध्यविषयकत्वेनाप्रतिबन्धकत्वात्, सत्तादात्म्याद्यभावापेक्षया कालसंबन्धित्वाभावस्यैवासत्त्वरूपत्वेऽप्युक्तमिथ्यात्वनिश्चये कालसंबन्धित्वस्य सामानाधिकरण्यसंबन्धेनोक्तप्रतियोगित्वे भासमानतया मिथ्यात्वनिश्चयस्य विषयत्वाद्यवच्छिन्ने पक्षे तदवगाहित्वेनोक्तसत्त्वनिश्चयेऽप्यविरोधित्वादित्याशङ्क्य तस्य तद्विरोधित्वाय साध्यीभूतमिथ्यात्वे कालसंबन्धित्वं विशेष्यविधया निवेशयति—तथाचेति । यद्यपि कालसंबन्धित्वविशिष्टोक्त-प्रतियोगित्वस्य साध्यत्वेऽपि तन्निश्चयादर्थत्वं उक्तप्रतियोगित्वविशिष्टकालसंबन्धित्वनिश्चयसंभवेन कालसंबन्धित्वा-भावरूपासत्त्वनिश्चयवारणसंभवः; तथापि अविलम्बेन मिथ्यात्वानुमित्यैवोक्तनिश्चयापत्तिरूपार्थान्तरवारणाय विशेषण-विशेष्यभावव्यत्यास आत्तः । एतस्येव कालसंबन्धित्वघटितस्येव । तस्यापि अवाध्यत्वेनाधिकरणघटितस्य, स्वातन्त्र्येणावाध्यतादात्म्यवत्त्वघटितस्य वापि । साध्यत्वसंभवादिति । व्यापके व्यर्थविशेषणताया अदूषणतया लघुसाध्यघटितस्यापि गुरोः साध्यता संभवति । प्रकृते तु गुरौ लघोरघटकत्वेन तस्य सुतरां तत्संभवः । कालिक-विशेषणतायामिव साध्यतादात्म्ये वैलक्षण्यागमे द्वितीये तयोः समशरीरत्वाच्चेति भावः । अत्र लाघवेन कालसंबन्धित्वस्य सत्त्वपदार्थत्वे तदविरोधिसत्तादात्म्यघटितस्य कथं साध्यता ? विलक्षणतादात्म्योपगमे तदभावस्यापि समत्वेन असत्त्व-पदार्थत्वेन तदविरोधिकालसंबन्धित्वघटितस्य कथं साध्यता ? अर्थान्तरानिराकरणादिति न शङ्कनीयम्, कालसंबन्धित्व-सत्तादात्म्ययोः समनियतत्वेनैकतरस्य मिथ्यात्वघटकतया सिद्धौ अपरस्यापि सिद्धिसंभवेनोभयविधासत्त्वनिश्चयरूपार्थान्तर-पत्तिवारणसंभवादित्यवधेयम् । लक्षणत्वपक्षेऽपीति । व्यवहारस्य लक्षणप्रयोजनत्वे लघोः संभवे गुरोः मिथ्यापदार्थ-तावच्छेदकत्वासंभवेऽपि व्यावृत्तेर्लक्षणप्रयोजनत्वे लघ्वघटितगुरोः व्यावर्तकत्वसंभवादिति भावः । ननु—तथापि लघु-संभवे गुर्वेव मूले कस्यै प्रयोजनाय उक्तमत आह—प्रतिपन्नेत्यादीति । प्राचीनोक्तीनामेव परदूषणनिरासायात्र समर्थ-नीयत्वादिति भावः । ननु—उपाधिपदेन प्रपञ्चस्य सत्त्वेन प्रतीयमानत्वसूचने हेतुतया शून्यवादिनां सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वा-स्वीकारकथनं मूलकृतोऽसङ्गतं, तेषां तत्स्वीकारस्य तदविघटकत्वादित्याशङ्क्य तत्फलार्थान्तरनिरासहेतुतया तत्सङ्गमयितु-

सिद्धिव्याख्या ।

मिष्टमित्यपि ध्येयम् । यत्तु—त्वयाऽप्यसच्चैत्र प्रतीयेतेति वदतोक्ताप्रतीतिं प्रति प्रयोजकत्वेनान्यदेवासत्त्वं वक्तव्यम्, अन्यथा कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानं चेदप्रतीयमानं स्यादित्यापाद्यापादकयोरभेदः स्यात्—इति । तन्न; कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयन्तर्हं चेन्न प्रतीयेतेत्यापाद्यापादकभेदस्य स्फुटत्वात् । कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्त्वमिति लक्षणेऽपि, सत्त्वेनाप्रतीतेरपरोक्षत्वेनाप्रतीतौ प्रयोजकत्वेनापाद्यापादकभेदस्य स्फुटत्वेनाभेदायोगाच्च । यच्च—ब्रह्मण्यङ्गीकृतं यत्प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपवाध्यत्वाभावात्मकं सत्त्वं तद्विरुद्धस्यैवासद्रूपत्वं वाच्यम्, अन्यथा ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन प्रतीयर्हत्वं तथाप्रतीयमानत्वं वा सत्त्वं स्यात्—इति । तदपि न; ब्रह्मनिष्ठसत्ताविरुद्धसत्त्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथाहि—ब्रह्मनिष्ठसत्ताविरोधित्वं तद्विरुद्धव्याप्यत्वं वा, किंवा तद्विरुद्धरूपत्वम् । नाद्यः; तस्यासत्यसत्त्वात्, व्याप्यत्वस्य सामानाधिकरण्यगर्भत्वात्, असतो निरधिकरणत्वात् । न द्वितीयः; तस्य प्रपञ्चसाधारणत्वेनासत्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्, असतः प्रतिपन्नोपाध्यभावेन तथोक्तलक्षणासंभवाच्च । अतएव—तद्विरुद्धरूपत्वमेव ब्रह्मनिष्ठसत्ताविरोधित्वेन विवक्षितं, न च तस्य प्रपञ्चसाधारणत्वेनासत्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगः, प्रपञ्चः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि न वेति, विप्रतिपत्तिदशायां ब्रह्मनिष्ठसत्ताविरुद्धस्य तत्रासिद्धत्वेन प्रपञ्चसाधारणासिद्धेरिति—निरस्यम्; उक्तावाध्यत्वरूपसत्त्वविरहात्मकत्वानङ्गीकारादसत्त्वस्य । अतएव च—प्रतिपन्नोपाधौ संसृष्टत्वेन प्रतीतत्वमात्रं तन्नं, लाघवात्, न तु तत्प्रमाणप्रतिपन्नत्वं; गौरवात्, एवंचासन्नशृङ्गादेरपि विशेषादर्शनदशायां मृगकर्णं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कोपाधिपदेनापि प्रपञ्चस्यालीकत्वमादायार्थान्तरं दुर्वारम्, उक्तालीकत्ववादिना माध्यमिकेन प्रपञ्चे क्षणिकत्वादिभावनानिवर्त्यस्थिरत्वादेरिवाबाध्यत्वस्यापि शून्यत्वभावनानिवर्त्यस्य व्यावहारिकस्य स्वीकारेणाबाध्यत्वोपहितप्रपञ्चे प्रपञ्चतादात्म्यधीविशेष्यत्वस्वीकारात्—तत्राह—शून्येत्यादि । शून्यवादिभिः माध्यमिकमतानुयायिभिः । अबाध्यत्वोपहितास्वीकारादिति शेषः । सदधिष्ठानकेति । अबाध्यत्वोपहितविशेष्यकेत्यर्थः । अवश्यकृतेनार्थक्रियाकारित्वे-

लघुचन्द्रिकाया विट्कलेशोपाध्यायी ।

भवतारयति—ननु सदर्थकेति । उक्तालीकत्ववादिनेति । सत्रहप्रपञ्चालीकत्ववादिनेत्यर्थः ।—माध्यमिकेनेति । स्वीकारद्वयान्वयि । ननु एतन्मते प्रपञ्चस्यालीकतया बाध्यत्वात् कथं तस्याबाध्यत्वोपहितत्वम्, तत्राह—प्रपञ्चे इति । क्षणिकत्वं स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणावृत्तित्वम् । भावना निदिध्यासनाधीनो दृढतरसंस्कारः । निवृत्तिः । कारणीभूताज्ञानेन सह नाशः । स्थिरत्वं तादृशक्षणवृत्तित्वम् । अबाध्यत्वस्य बाधकज्ञानाविषयत्वस्य । शून्यत्वं बाधधीविषयत्वम् ।—स्वीकारेणेति । अन्यथा क्षणिकत्वभावनाया इव शून्यत्वभावनायाः तदीयशास्त्रविहिताया वैयर्थ्यं स्यादिति भावः । स्वीकारादिति । तथाचाबाध्यतादात्म्येन प्रतीयमानत्वस्यापि तन्मतेऽलीकप्रपञ्चसाधारणतया तदभावो नासत्त्वपदार्थः, न वा तन्निश्चयः आपाद्येत; प्रतियोगिनिश्चयेन प्रतिबन्धात्, किंतु शशशृङ्गाद्यनुगतोऽन्य एव कश्चित् सखण्डोऽसखण्डो वा धर्मोऽसत्त्वपदार्थः । अन्यत्रासत्त्वेन संप्रतिपन्ने प्रपञ्चे प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वनिश्चयाहितसर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपतद्याप्यधर्मनिश्चयेन तन्निश्चयापत्तिरूपार्थान्तरं च दुर्वारम्, उपाधिपदाधीनसत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वनिश्चयस्य विरोध्यविषयकत्वेन तदप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । ननु शून्यमिति शब्दं वदन्ति इति व्युत्पत्त्या सर्वेऽपि शून्यवादिन एवेत्यत आह—शून्यवादिभिरिति । (अत्र पातः)

१ शून्यवादिभिरपि शून्यत्वभावनानिवर्त्यानामपि वियदादीनां यावत्सत्यवासनं सत्यत्वाङ्गीकारेण व्यावहारिकव्यवस्थाया उपपादनात् । विज्ञानरूपात्ममिथ्यात्वमतमेव शून्यमतम् । नहि शून्यं नाम किञ्चित्तत्त्वं तेनोच्यते । अतएव तत्त्वस्य कस्यचिदपि त्वयानङ्गीकारात्तत्त्वज्ञानं विना सर्वबाधार्संभवेन सर्वमिथ्यात्वासिद्धिरिति तन्मतं दूषितं भामतीत्यायरत्नावल्यादौ विस्तरेण ॥

सिद्धिव्याख्या ।

प्रविश्य गजो गर्जति इत्यादिशब्दाभासेन गजस्य मृगकर्णसंसृष्टत्वेनेव, 'हिमालये नृशृङ्गादिकमस्ति' इत्यादिशब्दाभासेन नृशृङ्गादेर्हिमालयादिसंसृष्टत्वेन प्रतीतिसद्भावात्प्रतिपन्नोपाधिकत्वमङ्गीकर्तव्यमिति—**निरस्तम्**; तथा प्रतीतस्य नृशृङ्गादेरनिर्वचनीयत्वं नासत्त्वरूपत्वम् । नच—शब्दाभासेनाभासरूपानिर्वचनीयनृशृङ्गाद्यन्यासन्नृशृङ्गादेः प्रतीयभावे ब्रह्मजगतोस्तद्वैलक्षण्यसिद्धिप्रसङ्गः, वैलक्षण्यसिद्धेः प्रतियोगिज्ञानहेतुकत्वादिति—वाच्यम्; भवदभिमताभासासन्नृशृङ्गादेरेवास्माभिरनाभासानिर्वचनीयनृशृङ्गादिरूपत्वेनाङ्गीकारेण तदतिरिक्तस्यानाभासनृशृङ्गादेरभावेनानिर्वचनीयविशेषरूपस्यैव शब्देन प्रतीतौ प्रतियोगिज्ञानस्यापि वृत्तत्वेन ब्रह्मजगतोस्तद्वैलक्षण्यसिद्धेः । नच—आभासासन्नृशृङ्गादेः प्रतीयभावे शब्दाभासेनाभासानिर्वचनीयमेव प्रतीयते, नत्वनाभासासन्नृशृङ्गादिकमिति भवदीयव्यवहार एवानुपपन्न इति—वाच्यम्; अनाभासासन्नृशृङ्गादिकमिति भवदभिलापमात्रेण तस्य प्रतीतावस्मदीयस्य तथाव्यवहारस्योपपत्तेः । न च—परोक्षस्थले भवताऽनिर्वचनीयार्थोत्पत्त्यस्वीकारात् अपसिद्धान्त इति—वाच्यम्; तस्य पुरुषदोषत्वेन वस्तुदोषत्वाभावात् । नच—नवीनैस्तत्रान्यथाख्यातिरेव स्वीकृतेति—वाच्यम्; परोक्षस्थल एवान्यथाख्यातिस्वीकारेण परोक्षस्थलमात्रे तैरपि तदनङ्गीकारात्, तथाऽनङ्गीकारे जगतोऽत्यन्तासत्त्वापत्तिरूपवाधकस्यैव मूलत्वात् । तथाचासत्युक्तलक्षणस्यासंभवात् न जगतोऽत्यन्तासत्त्वापत्तिः । यदपि—ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन प्रतीयर्हत्वं, तथा प्रतीयमानत्वं वा, सत्त्वं स्यात्—इति । तदपि न; तयोः परस्परविरहरूपत्वाभावात् । एतेन—येन पुंसां शशशृङ्गाभावो न निश्चितः तस्य गोशृङ्गमस्तीति वाक्यादिव शशशृङ्गमस्तीति वाक्यादपि ज्ञानोत्पत्तेरनुभवसिद्धत्वेन शशशृङ्गादावप्यसत्त्वं न स्यात्, न च—'घटधषू' इत्यादिनिरर्थकेष्विव पदार्थधीरेव वा, कुण्डमजीजनमित्याद्यपार्थकेष्विवान्वयधीर्वा नास्तीति—वाच्यम्; विपरीतबोधकेषु योग्यताया अभावेऽपि अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताभ्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसमग्रीचीनस्य सत्त्वात्, अन्यथा प्रवृत्त्याद्यभावप्रसङ्गात् इति **निरस्तम्**; योग्यताया अपि शब्दज्ञानसहकारित्वेन तदभावेऽस्माद्वाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तेः । न च—अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताभ्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसमग्रीचीनस्य सत्त्वाच्छाब्दज्ञानोत्पत्तिः, अन्यथा प्रवृत्त्याद्यभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; तर्हि इदं रजतमित्यादिप्रात्यक्षिकभ्रमवदस्याप्यनिर्वाच्यविषयत्वोपपत्तेः । नच—अस्याप्यनिर्वचनीयत्वे श्रुतिरूप्याद्भेदो न स्यादिति—वाच्यम्; को हि अनिर्वाच्यादनिर्वाच्यं भेत्तुमध्यवसितः । यत्सत्त्वमेवमाक्षिपसि, किन्तु निःस्वरूपात् । यथा च सत्त्वेन न निःस्वरूपविषयत्वं, तथोक्तं प्राक् । शशशृङ्गमस्तीति वाक्याभासाच्च अनिर्वचनीयशशशृङ्गविषयको भ्रम उत्पद्यत इत्यत्र परोक्तवाधकानां उद्धृतत्वाच्च । अत एव—“तथैक आहुः असदेवेदमग्र आसीत्” इति श्रुत्यापि असतः सत्त्वप्रतीतेस्तत्राव्याप्तिः । नचैतच्छ्रुतिगतासत्पदस्यापि आभासभूतानिर्वचनीयासत्परत्वं परेणाभ्युपगन्तुं शक्यम्; तच्छ्रुतेर्बाह्यमतनिराकरणार्थं प्रवृत्ततया तत्रत्यासत्पदस्य बाह्याभिमतासत्परताया एव स्वीकार्यत्वात्, अन्यथा 'कथमसतः सज्जायेत' इत्युत्तरवाक्ये तन्निराकरणानुपपत्तेः—इति **परास्तम्**; 'सदेवेदमग्र आसीत्' इत्यस्यार्थस्याभाव एव नवा प्रतिपाद्यते, नत्वसतः सत्त्वं विरोधादित्यत्र तत्राव्याप्त्यनवकाशात् । तस्मात्कचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्त्वमित्युक्तेऽपि न कोऽपि दोषः । ततश्चासच्छशशृङ्गादाविव प्रपञ्चे नात्यन्तासत्त्वमिति । यद्वा—सदनिर्वाच्याभ्यामन्यत्वं, शशशृङ्गादीनामसत्त्वं नच—अनिर्वाच्यत्वस्य सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणस्वरूपस्यासत्पदघटितमूर्तिस्वरूपतया असत्त्वनिरूप्यतयाऽन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्;

सिद्धिव्याख्या ।

अस्मिन्पक्षे बाध्यत्वस्यैवानिर्वाच्यत्वेन सदसद्वैलक्षण्यमात्रस्य वा सदसत्त्वानधिकरणगर्भस्य वा तत्त्वानङ्गीकारेणानिर्वाच्यत्वस्यासत्त्वाघटितमूर्तितयाऽन्योन्याश्रयानवकाशात् । नच—अनिर्वाच्यत्वे बाधान्यथानुपपत्तिं प्रमाणत्वेन वदताऽऽचार्येण ततोऽन्यस्यैवानिर्वाच्यत्वं वक्तव्यमिति—वाच्यम्; बाध्यत्वस्यानिर्वाच्यत्वेऽपि ‘यदि बाध्ययोग्यं न स्यात्, तर्हि बाधो न स्यादिति’ बाधान्यथानुपपत्तेरनिर्वाच्यत्वे प्रमाणत्वेन वक्तुं शक्यत्वात् । एतेन—सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगिरूपसदन्यत्वस्यैवासत्त्वरूपत्वे लाघवादिनिर्वाच्यभिन्नत्वं न निवेशनीयम्; गौरवात्, ननु—व्यवहारानुरोधेन तदालम्बनतया अनतिप्रसक्तप्रवृत्तिनिमित्तकल्पनं, न तु तत्त्वेन स्वाङ्गीकृतलघुशरीरकधर्मानुरोधेन व्यवहारनियमनं युज्यते; अन्यथा गौरवेण कारणव्यवहारालम्बनत्वेनान्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं न स्वीक्रियेत, किंतु पूर्ववृत्तित्वमेव तथा स्वीक्रियेत—इति चेन्न; लोकवेदयोरनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वादिकमादाय कारणादिव्यवहारस्याविगानसिद्धत्ववत्, सदनिर्वाच्याभ्यामन्यत्वमादाय नृशृङ्गादावसद्व्यवहारस्याविगीतत्वासिद्धेर्वैषम्यात् । तथाच लाघवेन सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसदन्यत्वमेवासद्व्यवहारालम्बनतया स्वीकर्तुमुचितं, न तु उक्तरूपसदनिर्वाच्यमन्यत्वं; गौरवादिति साधूक्तम्—इति निरस्तम्; सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसदन्यत्वस्य तुच्छानिर्वाच्यसाधारणत्वेनेष्टापत्तेः । नच—अनिर्वाच्यस्यापि स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधेऽसतोऽनिर्वाच्यात् अन्यत्वासिद्धिरिति—वाच्यम्; सर्वत्र स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य तुच्छानिर्वाच्यसाधारण्येऽपि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयनर्हत्वरूपात्यन्तासत्त्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये च बाधात्पूर्वमसत्त्वेनासतोऽनिर्वाच्यात् अन्यत्वसिद्धेः, अनिर्वाच्यत्वस्य सर्वत्र प्रतिपन्नोपाधौ स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपत्वेऽप्यसतः प्रतिपन्नोपाध्यभावेन प्रतिपन्नोपाधिस्थतादृशनिषेधप्रतियोगित्वस्यानिर्वाच्यशुक्तिरूप्यादौ सत्त्वेन नृशृङ्गादावनिर्वाच्यादन्यत्वसिद्धेश्च । न च—तद्गृहे गोशृङ्गमस्तीति वाक्यात् गोशृङ्गस्येव विशेषादर्शनदशायां हिमालये देवदत्तगृहे नृशृङ्गादिकमस्तीति वाक्यात् नृशृङ्गादेरपि प्रतिपन्नोपाधिसत्त्वस्य दुर्वारत्वेन तस्यापि असदनिर्वाच्योभयसाधारणत्वेनासतो व्यावृत्तत्वाभावेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वादिति । यद्वा—अर्थक्रियासामर्थ्याभावादिकं वा शशशृङ्गादीनामसत्त्वं, न च—शुक्तिरूप्यादौ शुद्धे ब्रह्मणि चातिव्याप्तिः, शुक्तिरूप्यशुद्धब्रह्मणोरत्यन्तासत्त्वस्य त्वयानङ्गीकारादिति—वाच्यम्; बाधानन्तरं प्रतियोगित्वेनान्ततः स्वनिवृत्तिं प्रत्येव जनकत्वेन शुक्तिरूप्यादावर्थक्रियाभावस्यासिद्धत्वात्, कटककुण्डलाद्यर्थक्रियाभावस्तूत्पन्नविनष्टरूप्यादौ विनश्यदवस्थागतकर्मकरादौ चास्तीति तत्साधारणं नासत्त्वापादकम् । न च—बाधानन्तरं ‘मम शुक्तिज्ञानं नष्टं’ ‘ममरूप्यभ्रमो नष्टः’ इतिव ‘च्छुक्तिरूप्यमुत्पन्नं नष्टमिति’ कदाप्यननुभवेन तदुत्पत्तिविनाशयोरेव प्रमाणाभाव इति—वाच्यं; भ्रान्तिसमये पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्त्यभिन्नतया ग्रहस्यैव प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन विरोधिज्ञानानुदयेन रूप्यस्याविनाशेन च शुक्तिरूप्यमुत्पन्नं नष्टमित्यनुभवाभावेऽप्यविद्योपादानकत्वेनोत्पत्तेश्चैस्तत्त्वज्ञाननाशत्वेन च स्वनिवृत्तिजनकत्वस्य चापलपितुमशक्यत्वात् । न च—बाधसमयेऽपि तथानुभवाभावाच्छुक्तिरूप्योत्पत्तिविनाशौ अप्रामाणिकाविति—वाच्यम्; तदात्यन्ताभावग्रहस्यैव प्रतियोगिग्रह इव तदुत्पादविनाशग्रहेऽपि प्रतिबन्धकत्वात् । तस्मात् अननुभवस्यान्यप्रयुक्तत्वान्न ततः शुक्तिरूप्योत्पत्तिविनाशापलाप इति उक्तार्थक्रियाजनके तत्र नातिव्याप्तिः । नापि ब्रह्मणि शुद्धेऽतिव्याप्तिः; तत्र दृढदण्डत्ववत् शुद्धदशायां जनकतावच्छेदकविरहात्, सहकारिविरहाद्वाऽर्थक्रियाऽजनकत्वेऽपि तद्दशायां तद्विरोधात् । नच—असङ्ग-

सिद्धिव्याख्या ।

कस्वभावतया श्रुत्यवधारितस्य विशुद्धचैतन्यस्यावच्छेदकीभूतधर्मवत्त्वसहकारिसङ्गे स्वभावव्याकोपापत्तिरिति—वाच्यम्; औपाधिकतत्सङ्गस्वीकारेऽपि तस्य स्वाभाविकासङ्गैकरूपित्वेन सहाविरोधात् । नच—असङ्गैकस्वभावतया श्रुतस्याऽनाद्यविद्यासङ्गस्यौपाधिकत्वं न संभवति, लोकवेदयोरान्तुकोपाधिप्रागभावप्रयुक्तप्रागभावप्रतियोगिन्यौपाधिकत्वदर्शनादन्यत्र तददर्शनाच्चेति—वाच्यम्; उपाध्यधीनस्थितिकत्वस्यौपाधिकत्वेन तस्य प्रकृतेऽपि संभवात्, तन्निवृत्तिप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वेनौपाधिकत्वसंभवाच्च । नच—द्वितीयनिर्वचनं पारिभाषिकमिति—वाच्यम्; सर्वौपाधिकसङ्गाहकत्वेनास्य सर्वसिद्धत्वात्, प्रत्युताविद्यासंबन्धासङ्गाहकत्वेन भवदुक्तस्यैव पारिभाषिकत्वात् । अत एवापेक्षाबुद्धिनिवृत्तिप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वादावपि तदुपाधिकत्वव्यवहारोऽङ्गीकर्तव्य एवेत्यलम् ॥ अथवा निःस्वरूपत्वमसत्त्वं, मिथ्याभूतं तु न निःस्वरूपमिति न तस्यासत्त्वापत्तिः, नच—मिथ्याभूतस्यापि स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेध इति पक्षे निःस्वरूपत्वं दुर्वारं, तस्य सस्वरूपत्वे स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यायोगादिति—वाच्यम्; मिथ्याभूतस्वरूपस्य सस्वरूपत्वेऽपि मिथ्यात्वादेव स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधसामानाधिकरण्यायोगित्वं; निःस्वरूपस्य तु निःस्वरूपत्वादेव तदयोगितेति विशेषात् । ननु—प्रतिषेधस्य सदा प्रतियोगिस्वरूपप्रतिक्षेपकस्वभावत्वमस्ति, उत न; आद्ये प्रतियोगिस्वरूपेण सह सामानाधिकरण्यविरोधः, अन्त्ये स्वदेशे स्वकाले च प्रतियोगिस्वरूपसहिष्णोस्तत्प्रतिषेधस्य पारिभाषिकत्वापत्तौ तादृशाभावप्रतियोगित्वेऽपि स्वरूपेणाभावप्रतियोगित्वं न सिद्ध्येदित्यतस्तत्सिद्ध्यर्थं तत्र रजतादिस्वरूपं न सिद्ध्यतीति वाच्यम्; एवंचासत्त्वापत्तिर्दुर्वारा—इति चेन्न; स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्योभयसाधारणत्वेऽपि शुक्तिरजतादेरत्यन्तासत्त्वस्य परिहृतत्वात् । नच—निषेधाधिकरणे प्रतियोगिनोऽसत्त्वे सामानाधिकरण्यविरोधः, सत्त्वे वा तन्तुष्विवातन्तुष्वपि अभावस्य पटस्वरूपसहिष्णुत्वेन पटसत्त्वापत्तिरिति—वाच्यम्; किं तत्र पटस्वरूपमात्रमापद्यते ? किंवाऽर्थक्रियासमर्थव्यावहारिकपटसत्त्वापातः ? आद्ये इष्टापत्तिः; तत्र प्रातिभासिकपटसत्त्वात् । द्वितीयेऽभावस्य व्यावहारिकपटस्वरूपसहिष्णुता न तत्स्वरूपसत्तापादिका, किंतु तत्सामग्री, सा च तन्तुष्वेवास्ति, नातन्तुष्वपि; कार्यव्यवस्थादर्शनेन तत्सामग्र्यास्तत्रैव कल्पनात् । नच—तन्तुषु व्यावहारिकपटसत्त्वकाले तत्र विद्यमानोऽपि तत्पटात्यन्ताभावो यथा तत्र पटसत्त्वाविरोधि, तथा तत्रैव तन्तुषु पटसामग्रीशरीरप्रविष्टः तत्प्रागभावः स्वयमेव स्वनाशरूपं तमेव पटं न विरुन्ध्यात्; उत्पन्नो वा पटस्तत्रैव तन्तुषु विद्यमानं स्वकाले स्वाभावरूपं प्रागभावं न विरुन्ध्यात्, एवं स एव पटस्तत्रैव तन्तुषु स्वकालेऽपि स्वनाशसहिष्णुश्च नाशो वा स्वकाले तत्र प्रतियोगिभूतपटसहिष्णुश्च स्यात्, कूटविरोधत्यागस्य दोषत्वेन त्वयाऽनङ्गीकारादिति—वाच्यम्; भिन्नसत्ताकयोः पटात्यन्ताभावपटयोः तन्तुषु अविरोधेन तस्य पटसहिष्णुत्वेऽपि प्रतियोगिसमसत्ताकयोः प्रागभावध्वंसयोः प्रतियोगिना सह विरोधावश्यंभावेन पटसहिष्णुत्वेन विरोधावश्यकत्वात्, ध्वंसप्रागभावयोर्निराकरिष्यमाणत्वाच्च । यत्तु—यथा अपरोक्षप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रातिभासिकस्य घटादिवत्सस्वरूपत्वं तथापरोक्षप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या धर्माधर्मादिवदसतोऽपि सत्स्वरूपत्वं स्यात्—इति । तन्न; शब्दादिना धर्मादेः परोक्षतया प्रतीयमानत्वेन तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या सत्स्वरूपत्वेऽपि, असन्नशृङ्गादेः शब्दादिनाऽप्रतीयमानत्वेन तदन्यथाऽनुपपत्त्यभावात् । नच—अस्मादेव वाक्यात्तत्प्रतीतिः, अन्यथाऽसद्वैलक्षण्यज्ञानं न स्यात्, तज्ज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानाधीनत्वात्, असत्प्रतीतिश्च न स्यात्; विषयनिरूप्यप्रतीतिनिरासस्य विषयप्रतीतिं विनाऽयोगात्,

सिद्धिव्याख्या ।

असतः प्रतीतिमात्राविषयत्वे, असत्पदस्याबोधकत्वापत्त्या तत्समभिव्याहृतवाक्यस्याप्यबोधकत्वं च स्यात्; असतोऽसत्त्वेनाप्रतीतौ असत्त्वव्यवहारो न स्यात्; असत्त्वप्रकारकप्रतीतेरेव व्यवहारहेतुत्वात्, तदुक्तम्—‘असद्विलक्षणत्वाद्यैर्ज्ञातव्यमसदेव हि । तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते ॥’ इति—वाच्यम्; प्रतीत्यभावेऽप्यसतोऽसत्प्रवृत्तिमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्तेः । तदुक्तम्—‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प’ इति । शब्दज्ञानानुपातित्वं च, शब्दश्रवणोत्पत्तिकत्वम् । ननु—विकल्पः इच्छादिवज्ज्ञानान्यवृत्तिर्वा? ज्ञानविशेषो वा? आद्ये जानामीत्यनुभवविरोधः, प्रवृत्त्याद्ययोगश्च । द्वितीये त्वसतः प्रतीतिरागतैव—इति चेन्न; आद्यपक्षे बाधकाभावात् । नचानुभवविरोधः; शशविषाणं जानामीति वा अनुभवामीति वाऽनुभवाभावात्, विकल्पमात्रादेव प्रवृत्त्याद्युपपत्तेश्च । नच—शशशृङ्गस्यासत्त्वाज्ञानदशायां तदस्तित्वज्ञानस्य गोशृङ्गास्तित्वज्ञानवत् मात्रयाऽपि विशेषो नानुभूयत इति तस्यापि ज्ञानत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; वाक्याभासानाभासजन्यत्वाभ्यां विशेषस्य स्फुटत्वेन तस्य ज्ञानत्वसंभवात् । नचैवं—शुक्तिरूप्यादेरपि विकल्पमात्रं न तु प्रतीतिरिति स्यादिति—वाच्यम्; शब्दज्ञानानुपातीति विशेषणेन शब्दस्थल एव तदङ्गीकारेण शुक्तिरूप्यादेः शब्दत्वाभावेन वैषम्यात् । विकल्पस्य ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञानाविषयत्वमसत्त्वं, शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वे तु प्रतीतिविषयत्वं, विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं चानुपपन्नमिति ततो वैलक्षण्यात्सस्वरूपत्वं, नृशृङ्गादेश्चोक्तरीत्या निःस्वरूपत्वम् । एतेन—वस्तुशून्य इत्यत्रापि किमपि नोल्लिखतीति वा? असदेवोल्लिखतीति वा? आद्येऽनुभवविरोधः, व्यवहाराद्यनुपपत्तिश्च । नह्ययं घटादिवत्किमपि अनुल्लिखन्ननुभूयते, द्वितीये तु इष्टापत्तिः—इति निरस्तम्; सोपाख्यधर्मानुल्लेखित्वस्य वस्तुशून्यरूपत्वादिति । वस्तुतस्तु—शशशृङ्गशब्दो निश्चितानन्वयित्वात् अपार्थको वा, सङ्गतिग्रहणाभावात् अवोधको वा । ननु—अपार्थकशब्देनाप्रत्याख्यकोक्तौ अनन्वयानिश्चयदशायां प्रवृत्तिपर्यन्तप्रतीत्यनुभवविरोधः, असत्प्रत्याख्यकोक्तौ चेष्टापत्तिः—इति चेन्न; शशविषाणं जानामीति अनुभवाभावात्, प्रवृत्त्युपपत्तेरुक्तत्वाच्च । न च—यौगिकशब्दानामवयवसङ्गतिव्यतिरेकेण पृथक्सङ्गत्यनपेक्षतया सतो वाऽसतो वाऽर्थस्य बोधनं संभवतीति—शङ्क्यम्; तावता सतोऽसतो वा अवयवार्थस्यैव बोधनसंभवेऽपि समुदायार्थस्य बोधनासंभवात् । समुदायस्य शशे शृङ्गाभावार्थकत्वात् । नच—तत्र तस्याः शक्तिरिति—वाच्यम्; नास्तीति पदसहितस्य तस्य तत्र शक्तेः संभवादिति द्रष्टव्यम् । यत्तु—सर्वस्मिन् प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमित्यस्यात्यन्तासच्छब्देन तुल्यार्थकत्वात् अत्यन्तासत्त्वं दुर्वारं, तुल्यार्थकत्वं च तत्र तदानीमसदित्यनेन तदा निषेधप्रतियोगित्वस्यैव अत्यन्तासदित्यनेनापि सर्वत्र निषेधप्रतियोगित्वस्यैव प्रतीतेर्द्रष्टव्यम् । नच मिथ्याभूतस्यापि स्वरूपेणैव प्रतिषेध इति पक्षे तदभावः सप्रतियोगिकः, तुच्छाभावो निष्प्रतियोगिक इति वा, मिथ्याभूतस्य सदा सर्वत्र सदैवलक्षण्यमात्रं, तुच्छस्य स्वरूपेणैव प्रतिषेध इति वा, वैषम्यं वक्तुं शक्यम्; मिथ्याभूतस्य स्वरूपेणैव निषेध इति पक्षे स्वरूपस्यैवाभावेन तदभावस्यापि निष्प्रतियोगितया सप्रतियोगिकत्वाभावात्, स्वरूपेणैव प्रतिषेधे सदा सर्वत्र सदैवलक्षण्यायोगाच्च—इति । तन्न; शब्दार्थसाम्येऽपि कचिदप्युपाधावित्यादिनाऽत्यन्तासत्त्वाभावस्य प्रपञ्चे उक्तत्वात्, असतः असत्त्वादेवात्यन्तिकनिषेधायोगेन मिथ्याभूतस्य तद्योगेन तत्कृतस्य मिथ्याभूतेऽसदैवलक्षण्यस्य सिद्धेश्च । नच—असत्, नात्यन्ताभावप्रतियोगि, असत्त्वादित्यत्र हेतूकृतमसत्त्वं अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमित्युक्तसाध्यविरोधीति—वाच्यम्; हेतूकृतासत्त्वस्य सदा निर्वाच्यभिन्नत्वादिरूपत्वे विरोधाभावात् । एतेन—असत्त्वं प्रमाणसंबन्धाविषयत्वं

सिद्धिव्याख्या ।

विवक्षितं, तथाच तेन तादृशनिषेधाप्रतियोगित्वाभावसाधने विरोधशङ्कैव नेति कैश्चिदुक्तं—निरस्तम्; असत्, स्वरूपेण न सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि, प्रमाणसंबन्धाविषयत्वादिति साधने तस्यैवानुमानप्रमाणत्वेन तत्संबन्धावश्यंभावेनासति प्रमाणसंबन्धाविषयत्वरूपहेतोः स्वरूपासिद्ध्यापत्त्या तस्य हेतूकर्तुमशक्यत्वात् । एतेन—हेत्वन्तरानुपलब्ध्या पारिशेष्यादसत्त्वस्यैव हेतूकर्तव्यतया विरोधतादवस्थ्यम्—इति निरस्तम्; असत्तुच्छादिपदजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वादिरूपहेत्वन्तरोपलब्धेश्च ॥ नच—तस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः, नह्यसत्पदादिना प्रपञ्चो लक्षणयापि न प्रतिपाद्यते इत्यस्तीति—वाच्यम्; शक्त्या तुच्छादिपदजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वेन हेतुत्वे व्यभिचाराभावात् । नच—येनापराधेनासति प्रतियोगित्वं नेत्यभ्युपगम्यते, तेनैवापराधेनासत्तुच्छादिपदाशक्यत्वमभ्युपगम्यतामिति—वाच्यम्; तुच्छादिपदानामसति शक्तिग्राहककोशादिविरोधप्रसङ्गेन तदशक्यत्वस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । नच—संज्ञारूपेण तुच्छादिपदस्य शक्त्या देवदत्तादिप्रतिपादकत्वसंभवेन तत्पदजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वस्य तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्; संज्ञारूपेण तुच्छादिपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वस्यापि विशेषणेन तत्राव्यभिचारात् । तस्मादसत्त्वस्य सदसदनिर्वाच्यभिन्नतादिरूपत्वे न विरोध इति तत्त्वम् । यदपि—असति निरुच्यमानप्रतियोगित्वाभावपरोक्षज्ञानव्यवहारप्रतीत्यविषयत्वादिवदसद्वैलक्षण्यनिषेधप्रतियोगित्वमप्युपपद्यत—इति । नच—धर्मिसत्तानपेक्षाणां धर्माणां धर्मिणं विना व्यवस्थानसंभवेऽपि अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं न तथा तिष्ठतीति—वाच्यम्; प्रागभावादित्यां असत् एव घटादेर्विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वस्य धर्मिसत्त्वनिरपेक्षस्य दर्शनेनाभावप्रतियोगित्वाविशेषात्, विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वस्य धर्मिसत्तानपेक्षसत्त्ववदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यापि धर्मिसत्तानपेक्षसत्त्वसंभवात् । विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वं, न धर्मिसत्तानपेक्षम्, धर्मिणो घटादेः प्रागभावादूर्ध्वं प्रध्वंसात्प्राक् सत्त्वादित्यपि—नच वाच्यम्; यस्मिन् काले विद्यमानप्रागभावादप्रतियोगित्वं धर्मो वर्तते, तस्मिन् काले धर्मी नास्ति; अन्यदा तु सत्यपि धर्मिणि विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वादिरूपधर्म एव नास्ति; अतस्तादृशधर्मस्य धर्मिणं विनैवावस्थानम्—इति ॥ तत्रासतो नाभावप्रतियोगित्वं, तत्प्रतियोगित्वेऽसद्वैलक्षण्यस्य प्रयोजकत्वात् । नच—तथासति लाघवायासत्त्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वापत्त्या अनिर्वचनीयस्य सद्वैलक्षण्यस्याभावप्रतियोगित्वं न स्यादिति—वाच्यम्; अस्मन्मतेऽसतोऽपि भावरूपत्वे लाघवानवतारेण तद्वैलक्षण्यस्यैव प्रयोजकत्वावश्यंभावात् । यदुक्तं—घटादेरविद्यमानतादृशायां विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वरूपधर्मं प्रत्यायतनत्वम्—इति । तदपि न; प्रागभावादौ घटादिप्रतियोगिकत्वमेव, नतु घटे प्रागभावप्रतियोगित्वम् । नच—घटादेः प्रागभावप्रतियोगित्वाभावे प्रागभावादिष्वपि तत्प्रतियोगिकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; धर्मिणो घटस्याभावेन धर्मस्याभावेऽपि घटप्रतियोगिकस्य धर्मिणः सत्त्वेन तद्धर्मस्य तत्प्रतियोगिकत्वस्य संभवात् । नच—प्रागभावादौ घटप्रतियोगिकत्वे घटादेः प्रागभावप्रतियोगित्वमवर्जनीयमेवेति—शङ्क्यम्; इष्टापत्तेः । धर्मिसत्त्वासत्त्वयोरेव विरोधात् । एवं सद्वैलक्षण्यमपि नासति, किंतु सत्यैवासद्वैलक्षण्यम् । प्रतियोगित्वाभावोऽपि नासति, किंतु प्रतियोगित्वाभावेऽसदाश्रयत्वम् । एवं ज्ञानव्यवहारयोरेवासद्विषयकत्वं, नतु असतो ज्ञानव्यवहारविषयत्वम् । एवमसद्वैलक्षण्य एवासत्प्रतियोगिकत्वं नत्वसद्वैलक्षण्यं प्रत्यसतः प्रतियोगित्वमिति न कोऽपि दोषः । केचित्तु—असत्त्वं सत्त्वाभावः, स एव सद्वैलक्षण्यरूपः, स च वस्तुगत्या निरधिकरणोऽप्यधिकरणवत्त्वेन प्रतीतिमात्रेण निरूप्यते, नतु तस्य वास्तवसत्ताधिकरणवत्ताऽस्ति;

सिद्धिव्याख्या ।

एवमतीताभावाधिकरणस्येव मयोच्यमानप्रतियोगित्वाभावेऽप्यधिकरणसत्त्वनिरपेक्षतेति तस्यापि असज्ज्ञानमात्रनिरूप्यत्वात् । एवं ज्ञानव्यवहारं प्रति विषयत्वमपि । नहि अतीतानागतवस्तुनो ज्ञान-व्यवहारविषयत्वं स्वकाले तद्वस्तुस्वरूपसत्त्वनिवन्धनमिति शक्यमभ्युपगन्तुम् । एवमसद्वैलक्षण्यमप्यस-न्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वस्वरूपमसज्ज्ञानमात्रनिरूप्यम् । एवंचोक्तोदाहरणेषु न काप्यसत्त्वादी-नामधिकरणस्वरूपसत्त्वापेक्षत्वं, प्रतियोगित्वं त्वधिकरणस्वरूपसापेक्षमिति असत्त्वादितो वैषम्यात् न तद्दृष्टान्तेन निषेधप्रतियोगित्वस्योपपत्तिः—इत्याहुः । तन्न; प्रतियोगित्वस्यापि अभावज्ञानजनकज्ञान-विषयत्वरूपस्यासत्त्वादिवदेव धर्मिस्वरूपनिरपेक्षत्वोपगमात् । शशविषाणत्वादिप्रकारेण शशविषाणज्ञाने शशविषाणं नास्तीति असद्वैलक्षण्यादेस्तत्प्रतीत्यधीनसिद्धिकत्वात् । असतोऽप्रसक्तत्वापराधेन यदि निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्, तदा ब्रह्मजगतोः तत्प्रतियोगिकभेदवत्त्वरूपासद्वैलक्षण्यं न सिद्ध्येत् । निषेधप्रतियोगित्वसिद्धौ प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गज्ञानरूपप्रसक्तेरिव भेदप्रतियोगित्वसिद्धौ प्रतियोगिता-वच्छेदकाधिकरणसंसर्गज्ञानरूपप्रसक्तेः कारणत्वेन तदभावे निषेधप्रतियोगित्वस्येव तदभावेऽपि भेद-प्रतियोगित्वस्य कारणाभावेन सिद्ध्यसंभवात् । किंचासतः प्रसक्तिरवश्यं स्वीकार्या, अन्यथा ‘नासदा-सीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीत्’ इति श्रुत्या निषेधबोधनाभावप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षेण प्रतियोगिप्रसक्तिं विना निषेधबोधसंभवेऽपि शब्देन प्रसक्तिं विना निषेधबोधनासंभवः; तदभावज्ञानस्यानुभवसिद्धत्वात् । एवं शशविषाणगोविषाणे इति समूहालम्बनादिकमादाय शशविषाणं नास्तीति निषेधज्ञानविशेष्यत्वस्य सति गोविषाणे सत्त्वेन तत्र नातिव्याप्तिः; शशविषाणं नास्तीति ज्ञाने शशविषाणत्ववैशिष्ट्यविषयकत्वे-नैवोक्तसमूहालम्बनस्य जनकत्वात् । किंच प्रपञ्चे ब्रह्मणि चासद्वैलक्षण्यमसन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि-धर्मत्वस्वरूपं न परेणापि शङ्क्यम्; असन्निष्ठत्वस्य तदधिकरणकत्वरूपत्वेनाधिकरणस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । तस्मादसद्वैलक्षण्यधर्मविशेषवत्प्रतियोगिकत्वादिधर्मविशेषोऽपि धर्मिस्वरूपसत्त्वनिरपेक्ष एवेति परेणापि स्वीकर्तव्यमिति नायं पन्थाः । अतएव—“तदेव निषेधप्रतियोगि भवति, यत्प्रसक्तिमद्भवति, असच्च न प्रसक्तिमत्, अतो न निषेधप्रतियोगि, नच ज्ञानमात्रं प्रसक्तिः; तथासत्यप्रसक्तप्रतिषेधत्वस्य कापि दोषत्वाभावप्रसङ्गात्, किंतु प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गज्ञानम्, नह्यसतः कचिदप्यधिकरणे संसर्गज्ञानं संभवति; सामग्रीविरहात्, अतोऽसति निषेधप्रतियोगित्वं नाङ्गीकारार्हं” इति मकरन्दोक्तमपि—साधु । यत्तु दूषणम्—असतोऽप्रसक्तौ ब्रह्मजगतोरसद्वैलक्षण्यस्य ‘नासदासीत्’ इति श्रौतनिषेधस्य चासि-द्ध्यापातेन, तथाऽसतिच सद्वैलक्षण्यस्य चासिद्ध्यापातेन चासतो ज्ञानमवश्यं स्वीकार्यम्; असद्वै-लक्षण्यादेस्तत्प्रतीत्यधीनसिद्धिकत्वात्, असतोऽप्रसक्त्याऽपराधेन यदि निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्तदा ब्रह्मजगतोरसत्प्रतियोगिकभेदवत्त्वरूपमसद्वैलक्षण्यं न सिद्ध्येत् । निषेधप्रतियोगित्वे सिद्धे प्रति-योग्यधिकरणसंसर्गज्ञानरूपप्रसक्तेरिव भेदप्रतियोगित्वसिद्धौ प्रतियोगितावच्छेदकाधिकरणसंसर्गज्ञा-नरूपप्रसक्तेः कारणत्वेन तदभावे निषेधप्रतियोगित्वस्येव तदभावेऽपि भेदप्रतियोगित्वस्य कारणाभावेन सिद्ध्यसंभवात् । किंचासतोऽपि प्रसक्तिरवश्यं स्वीकार्या; अन्यथा ‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीत्’ इत्यादिश्रुत्या निषेधबोधनासंभवात्, प्रत्यक्षेण प्रतियोगिप्रसक्तिं विना निषेधबोधसंभवेऽपि शब्देन प्रसक्तिं विना निषेधबोधनासंभवात्, शब्दस्य पदार्थत्वेन प्रसक्तिं विना प्रवृत्तेरेवायोगात् । नच—असतो ज्ञानमात्रमपि दुर्लभं, प्रसक्तिरूपज्ञानविशेषस्तु सुतरामिति—वाच्यम्; तथासत्यसति सद्वैलक्षण्यस्य त्वयोच्यमाननिषेधप्रतियोगित्वासिद्ध्यापत्तेः, तस्यासत्प्रतीत्यधीनसिद्धिकत्वात्, अधिकरणज्ञानं विना तत्रा-

सिद्धिव्याख्या ।

भावज्ञानायोगात्—इति । तन्न; ब्रह्मजगतोरसति च शब्दाभासादिना बुद्धिपूर्वकारोपेण वा प्रसक्तिः, परप्रवृत्तिनिवृत्तिपरेण शब्देनाप्रसक्ता निषेधेऽपि शब्दाभासादिमूलके प्रतियोगिस्मृत्यादिके सति प्रत्यक्षेणाप्रसक्तस्यैव वा निषेधोपपत्तिः । शब्दाभासादिना प्रसक्तिर्वा, अप्रसक्तस्यैव प्रत्यक्षेण निषेध इत्यनङ्गीकारेऽङ्गुल्यग्रे हस्तिशताभावो न सिद्ध्येत् । नच—यथानुभवसिद्धाया अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतं नास्तीति प्रतीतेर्दुरपह्ववत्वात् तदुपपादकं शब्दाभासादिप्रसक्त्यादिकं कल्प्यते, तथा शशशृङ्गं नास्तीति प्रतीतेर्दुरपह्ववत्वात्तदुपपादकमपि कल्पनीयम्; तथाच शब्दाभासादिना प्रसक्तौ सत्यामप्रसक्तस्यैव वा शशशृङ्गादेर्निषेधप्रतियोगित्वं भविष्यतीति निषेधप्रतियोगित्वतदभाववतोरपि नानिर्वचनीयसतोर्भेदसिद्धिरिति—वाच्यम्; तर्हि ज्ञानमात्रं न प्रसक्तिः, तन्मात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधस्य काप्यदोषत्वापत्तेः; किन्तु कलञ्जभक्षणादेरिव रागरूपा वाऽधिकरणप्रतियोगिताऽवच्छेदकारोपरूपा वा वाच्या । तत्रासतः कलञ्जभक्षणादेरिवेष्टसाधनत्वाभावेन रागरूपप्रसक्तिरसंभाविनीति द्वितीयैव वाच्या; साचि शब्दाभासकृता वा बुद्धिपूर्वकारोपरूपा वा स्यात् । तथाचासत्त्वेनाभिमतस्य तादृशारोपविषयत्वेनास्मदभिमतमनिर्वाच्यत्वमेव स्यात्, नतु त्वदभिमतमत्यन्तासत्त्वं; अङ्गुल्यग्रे हस्तिशताभावे बुद्धिपूर्वकारोपरूपप्रसक्तिसंभवादविरोधः । नह्येवं अत्यन्तासति नृशृङ्गादौ बुद्धिपूर्वकारोपः संभवति; संभवे वाऽसंभवे वा तस्यानिर्वाच्यत्वमेव स्यात्, नत्वत्यन्तासत्त्वमित्युक्तम् । एवमाभासस्य प्रसक्त्याऽनाभासस्य निषेध इति पक्षे प्रसक्तस्यैवाभासस्य निषेध इति पक्षेऽपि चासदन्यस्यैव नृशृङ्गस्य निषेधप्रतियोगित्वं सिध्यति; तस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकनृशृङ्गत्वावच्छिन्नत्वात्, असच्छृङ्गस्यातथात्वात् । किञ्च शशशृङ्गं नास्तीति प्रतीतेः शशाधिकरणकशृङ्गाभावविषयकत्वेनान्यथासिद्धतया नासच्छृङ्गनिषेधप्रतियोगित्वसाधकत्वमिति । यच्चत्र दूषणम्—विशेषादर्शनदशायां गोविषाणशब्दाद्विशिष्टं गोविषाणं बुद्ध्वा अश्वे गोविषाणं नास्तीति प्रतीत्या गोविषाणस्येव शशविषाणशब्दाद्विशिष्टं शशविषाणं बुद्ध्वा गवि शशविषाणं नास्तीति प्रतीत्या शशविषाणस्य तादृशस्यैव निषेधप्रतियोगित्वमनुभूयत इत्यविवादम्, अन्यथाऽननुभवकलहे प्रवृत्तस्योन्मत्तवदुपेक्षणीयत्वापत्तेः—इति । तन्न; तस्याप्रसक्तत्वेन निषेधानुपपत्तेः । नच—गोविषाणशब्दात् विषाणस्येव शशविषाणशब्दात् वाक्यार्थविधयोपस्थितस्य पुनः शशविषाणशब्दप्रतिपाद्यं किञ्चिदिति शब्देन रूपान्तरेणोपस्थितस्यानात्मन्यात्मन इव संसृष्टतया कुसूलादौ शशविषाणस्य बुद्धिपूर्वकमारोपरूपप्रसक्तिः संभवतीति—वाच्यम्; एवं तस्य तत्र बुद्धिपूर्वकारोपविषयत्वेऽनिर्वचनीयत्वमेव स्यात् नत्वसत्त्वमित्युक्तत्वात् । नन्वेवम्—अनात्मन्यारोपितस्यात्मनोऽनिर्वाच्यतापत्तिः; तत्संसर्गस्यैवानिर्वचनीयत्वं नत्वात्मन इत्यङ्गीकारे चात्रापि न शशविषाणस्येति सुवचत्वात्, अन्यथा प्रपञ्चेऽनाभासासद्वैलक्षण्यासिद्धिप्रसङ्गात् तत्र तस्यानपेक्षितत्वे आभासासद्वैलक्षण्यापि तत्रानपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, आत्मशशविषाणयोर्बुद्धिपूर्वकारोपविषयत्वस्याविशेषेऽप्यात्मनो नानिर्वचनीयत्वं, किन्तु तत्संसर्गस्यैवेत्यङ्गीकारे शशविषाणस्य नानिर्वचनीयत्वं किन्तु तत्संसर्गस्यैवेत्यपि सुवचत्वाच्च, आत्मसत्त्वावेदकश्रुतेरपि शशविषाणं नास्तीत्यबाधितप्रतीतेरनिर्वचनीयशृङ्गाभावविषयत्ववदारोपितमिथ्यात्मसत्त्वविषयत्वस्यापि संभवात् तद्वास्तवसत्त्वत्यागेऽबाधकाच्च—इति चेन्न; श्रुतेरारोपितमिथ्यात्मसत्त्वविषयत्वे जगदान्ध्यापत्त्याऽऽत्मसत्त्वावेदकश्रुतेरनारोपितात्मसत्त्वविषयत्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्यास्तद्वास्तवसत्त्वत्यागे बाधकत्वसंभवात् । यत्तु—बुद्धिपूर्वकारोपरूपप्रसक्त्यङ्गीकारे तत्प्रसक्तिविषयस्य शृङ्गस्यानिर्वचनीयत्वमेव स्यात् नात्यन्ता-

कारेण कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपासिद्धैलक्षण्यस्य (कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपस्य) शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे चानङ्गीकारात् । नन्वेवं सति—यावत्सदधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम् । तथाच केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिषु अवृत्तिषु गगनादिषु तार्किकाणां सिद्धसाधनम् ; यदधिकरणं यत्सत् तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति विवक्षायां, अधिकरणपदेनावृत्तिनिराकरणेऽपि संयोगसंबन्धेन समवायसंबन्धेन वा यत् घटाधिकरणं समवायसंबन्धेन संयोगसंबन्धेन वा घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनम्, येन संबन्धेन यद्यस्याधिकरणं तेन संबन्धेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति विवक्षायां

सिद्धिव्याख्या ।

सत्त्वमित्यत्र परेण बुद्धिपूर्वकारोपस्थलेऽधिष्ठानयाथात्म्यदर्शनस्यावश्यकत्वेन तेन तत्र तदज्ञाननिवृत्त्यवश्यभावेन तत्रानिर्वचनीयार्थोत्पत्तेरयोग इति दूषणम्—उक्तम् । तन्न; तत्राधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञानगतावरणशक्तिमात्रानिवृत्तावप्यज्ञानस्यानिवृत्तत्वेन विक्षेपशक्तिमदज्ञानेन विद्यमानेनानिर्वचनीयार्थोत्पत्तिसंभवात् । नच—चरमवृत्त्येवाधिष्ठानतत्त्वज्ञानेनापि सर्वत्राज्ञाननिवृत्तिरवश्यं स्वीकार्या, अन्यथा चरमवृत्त्याऽप्यावरणशक्तिमात्रं निवर्तते, न मूलाज्ञानमित्यापत्तिरिति—वाच्यम् ; चरमवृत्त्युत्तरकाले विक्षेपादर्शनेन विक्षेपशक्तिमदज्ञानकल्पनाभावेनाज्ञाननिवृत्तेस्तत्रावश्यकत्वादिति । अत एव—एवमङ्गीकारेऽज्ञाननिवृत्त्यनुभवविरोध इति—निरस्तम् ; विक्षेपानुसारेण तस्य भ्रान्तित्वात् । नच—यत्र बुद्धिपूर्वकमारोपितं तत्कालमेवानिर्वचनीयं तत्रोत्पद्यत इत्यङ्गीकारे तव व्यावहारिकघटादिप्रतियोगिकाभावः कापि न सिद्ध्येत्, 'इह भूतले घटो न' 'इह चत्वरे घटो न' तस्याप्यनुभवस्य प्रातिभासिकबुद्धिपूर्वकारोपप्रसक्तघटाद्यभावविषयत्वावश्यभावेनाव्यावहारिकघटादेरप्रसक्ततया तदभावविषयत्वानुपपत्तेरिति—वाच्यम् ; तस्यापि घटत्वादिरूपप्रतियोगितावच्छेदकाक्रान्ततया तेन रूपेण तदभावोऽवश्यं भासते इत्यभ्युपगमात् । नच—प्रातिभासिकव्यावहारिकघटादिसाधारणतयैकघटत्वादिरङ्गीकारानर्हः, अन्यथा उत्पन्नविनष्टरजतादिवदर्थक्रियाभावस्योपपादयितुं शक्यत्वेन प्रातिभासिकस्यापि व्यावहारिकत्वप्रसङ्ग इति—वाच्यम् ; अथापि प्रतीतिमात्रनियतसत्ताकत्वलक्षणप्रातिभासिकत्वस्यानपायादिति दिक् ॥ नन्वेवं सतीति । उपाधिपदस्य सदर्थकत्वे सतीत्यर्थः । सिद्धसाधनमिति । तेष्वतिव्याप्तेऽति ध्येयम् । अवृत्तिनिवारणेऽपीत्यत्र अतिव्याप्तिनिवारणेऽपि तदादाय सिद्धसाधनवारणाय चेत्यर्थः । संयोगसंबन्धेन घटाधिकरणं भूतलादि, समवायसंबन्धेन घटाधिकरणं कपालादि, ततश्च संयोगसंबन्धेन कपालादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्समवायसंबन्धेन भूतलनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्घटादेः सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनमित्यर्थः । येन संबन्धेनेति । ततश्च समवायसंबन्धेन घटाधिकरणे कपालादौ तेनैव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नालीकव्यावृत्तेन 'सन् घट' इत्यादिप्रत्ययोपपत्तेरुक्ताबाध्यत्वं माध्यमिकेन न स्वीक्रियते । नच—बाधात्पूर्वमबाध्यत्वं प्रपञ्चेऽस्त्येव तन्मतेऽपीति वाच्यम् ; त्रिकालबाध्यत्वस्यैवास्माभिर्निवेशात् । तच्च कालानवच्छिन्नं बाधकज्ञानाविषयत्वरूपम्, तच्च ब्रह्मणि तन्मतेऽस्ति, तन्मते तु न कुत्रापि भावः । नचैवं—तन्मते शून्यत्वभावना व्यर्थेति—वाच्यम् ; तस्याः परमकाष्ठापन्नवैराग्यहेतुत्वेन प्रपञ्चस्वरूपबाधकत्वेन चात्महानिरूपमोक्षसम्पादकत्वेन तन्मते स्वीकारात् । अनङ्गीकारादिति । अबाध्यविशेष्यकप्रपञ्चभ्रमस्य स्वीकारे प्रपञ्चेऽप्यबाध्यतादात्म्यभ्रमोऽवश्यं स्वीकार्यः ; परस्परार्थासानुशोधात्, अन्यथा तु तत्र मानाभाव इति भावः । सदधिष्ठानकभ्रमानङ्गीकारमात्रं विशेषानुमानोपयुक्तम् । अनङ्गीकारादित्यन्तं सामान्यानुमानोपयुक्तम् । एवं सति मिथ्यात्वस्य सर्वप्रतिपन्नोपाधिघटितत्वे सति । पर्यवसितमिति । मिथ्यात्वमिति शेषः । प्रतिपन्नेत्यस्य तु प्रयोजनाभावादनिवेश इति भावः । यदधिकरणं यस्याधिकरणम् ।

अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु सिद्धसाधनम्—इति चेन्न । येन रूपेण यदधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्नपदेन सूचितत्वात् । तच्च रूपं संबन्धविशेषोऽवच्छेदकविशेषश्च । नहि संबन्धविशेषमन्तरेण भूतले घटाधिकरणता प्रतीयते । अवच्छेदकविशेषमन्तरेण वा वृक्षे कपिसंयोगाधिकरणता । तथाच येन संबन्धविशेषेण येन चावच्छेदकविशेषेण यदधिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुमर्हति, तेनैव संबन्धविशेषेण तेनैव चावच्छेदकविशेषेण तदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति पर्यवसिते क सिद्धसाधनम् । यदि पुनः ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वमिवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादौ न स्यात्; साधकमानाभावस्य तुल्यत्वात्,

सिद्धिव्याख्या ।

संबन्धेन तत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावस्याभावान्न घटादिकमादाय सिद्धसाधनमित्यर्थः । अव्याप्यवृत्तिष्विति । स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणेष्वित्यर्थः । सिद्धसाधनमिति । समवायसंबन्धेन वृक्षवृत्तिसंयोगस्य गुणस्य तेनैव संबन्धेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्तस्मिन् सिद्धसाधनमित्यर्थः । सिद्धसाधनमिति । सर्वेषु वृत्तिमत्सु अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु च सिद्धसाधनमित्यर्थः । यदि पुनरिति । अस्य व्यवहितेन तदेत्यनेनान्वयः । ननु—आकाशो भविष्यति, आकाशो ध्वस्तः इति प्रतीयभावात् मास्तु ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वं, अत्यन्ताभावसाधकप्रतियोगित्वं तु स्यात् इत्याशङ्क्याह—साधकेति । तुल्यत्वमेव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संयोगेत्यादि । संयोगेन घटस्य यदधिकरणं तन्निष्ठात्यन्ताभावस्य समवायेन प्रतियोगितया समवायेन यत् घटस्याधिकरणं तन्निष्ठात्यन्ताभावस्य संयोगेन प्रतियोगितया च सिद्धसाधनमित्यर्थः । सूचितत्वादिति । तथाच प्रतिपन्नपदमुक्तार्थलाभायैवेति भावः । अन्तरेण विनैव । संबन्धावच्छेदकौ निवेद्याधिकरणता न प्रतीयत इति नेत्यर्थः । एवकारान्तर्भावेन तादृशार्थलाभात् । तादृशप्रत्ययाभावस्य नहीत्यनेन निषेधः । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्—संबन्धावच्छेदकौ विनापि अधिकरणताधीसत्त्वात् । ननु—गगनाधिकरणत्वाप्रसिद्ध्या तस्य मिथ्यात्वानुपपत्तिः, अत आह—तथाचेति । अर्हतीति, प्रतीतिनिवेशे यावत्त्वमधिकरणे देयम् । अन्यथोक्ताधिकरणतायास्तच्छून्येऽपि प्रतीतिसंभवेन सिद्धसाधनतापत्तेः । तथाच लाघवाद्येन संबन्धेन यदवच्छेदेन यस्य संबन्धि यत् तन्निष्ठेत्याद्येव निवेद्यम्; प्रतिपन्नपदेन तादृशसंबन्धित्वेन प्रमायोग्यत्वस्य तादृशसंबन्धित्वरूपस्य लाभात्, संबन्धित्वं भूतलादौ गगनादेरपीति न तत्राव्याप्तिरिति भावः । तेनैव संबन्धविशेषेणेति । प्रतियोगित्वमित्यत्रान्वेति । संयोगसमवायाद्युभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाधनात् तदन्यसंबन्धानवच्छिन्नप्रतियोगित्वलाभाय एवकारः । तेनैवावच्छेदकविशेषेणेति । तदन्यावच्छेदकानवच्छिन्नैत्यर्थः । तस्य तदधिकरणकत्वेऽन्वयः । सिद्धान्ते अत्यन्ताभावमात्रस्य सर्वदेशकालवृत्तित्वेनावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वात्तदवच्छिन्नेत्यनुक्त्वा तदन्यानवच्छिन्नेत्युक्तम् । वस्तुतस्तु—अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वमेव तदधिकरणकात्यन्ताभावे देयम्; अन्यथा व्याप्यवृत्तिसाधारणपक्षकानुमाने व्याप्यवृत्त्यंशे यथोक्तसाध्यासंभवादिति ध्येयम् । ननु—नोक्तसिद्धसाधनस्यावकाशः; प्रकृतानुमानावतारात्पूर्वमेव अवृत्तिगगनादावत्यन्ताभावप्रतियोगित्वे वृत्तिमत्सु स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे च वक्ष्यमाणरीत्या मानाभावात्—तत्राह—यदि पुनरित्यादि । न स्यात् नास्ति । मिथ्यात्वानुमानावतारात् पूर्वमिति शेषः । ननु—गगनादेरप्रत्यक्षत्वमते तदभावस्य प्रत्यक्षत्वासंभवेऽपि गगनादिकं, भूतलादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, भूतलादिनिष्ठस्य वृत्तिनियामकसंबन्धस्याप्रतियोगित्वात्, नित्यरूपादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, नित्यरूपादिनिष्ठ-

१ विशेषानुमानदृष्टान्ते रजतत्वेन घटो नास्तीति प्रमितिसिद्धाभावप्रतियोगिनि घटे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावे संबन्धविशेषावच्छिन्नत्वाप्रसिद्ध्या संबन्धविशेषावच्छिन्नोक्तप्रतियोगिताभावेन साध्यवैकल्यमिति न्यायभास्करोक्तमप्येतेन पराहृतम् । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताया अपि संबन्धविशेषावच्छिन्नत्वाङ्गीकाराच्चेति । २ ननु—रजतत्वेन घटाभावप्रतियोगितामादायार्थान्तरवारणार्थं प्रकारतावच्छेदकताधर्मपर्याप्तावच्छेदकताकत्वस्य प्रतियोगितायां निवेशनावश्यकत्वात् तादृशस्य दृष्टान्तस्यासिद्धिरिति—चेन्न; रजतत्वेन घटाभावीयप्रतियोगिताशून्यत्वे सतीति पक्षविशेषेणेनैवोक्तदोषवारणेन गौरवग्रस्तस्योक्तविशेषणस्यादानेन दृष्टान्तसिद्धिसंभवात् । पारमार्थिकत्वेनेति पक्षे तु तद्वपसामानाधिकरण्यनिवेशसंभवान्नोक्तपक्षतावच्छेदकनिवेश इत्यादिकं पक्षतावच्छेदकविचारे विट्ठलेश्वरे प्रतिपादितमित्युक्तदोषापादनपरा न्यायभास्करोक्तयः पराहता इति मन्तव्यम्—इति ।

इहाकाशो नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसंभवात्, अनुमाने चानुकूलतर्काभावात्, सामान्यतो दृष्टमात्रेण ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात्, तद्व्यतिरेकेण कस्यचित् कार्यस्यानुपपत्तेरभावाच्च, एवं संयोगसंबन्धेन घटवति भूतले समवायसंबन्धेन घटाभावसत्त्वे मानाभावाल्लाघवेन घटात्यन्ताभाव-
त्वेनैव घटसामानाधिकरण्यविरोधित्वकल्पनात् संबन्धविशेषप्रवेशे च गौरवात् घटसमवायमात्र-
विषयतया प्रतीतेरुपपत्तेराधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन घटस्यावृत्तित्वशङ्कानुदयादुक्तयुक्तेश्च न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धाप्रतियोगित्वात्तज्जलादिवदित्याद्यनुमानं मानमस्तु—तत्राह—अनुमाने चेति । तर्काभावादिति । अप्रत्यक्ष-
स्यापि गुरुत्वादेस्तेजआदावत्यन्ताभावोऽनुमीयते, तत्र तदसत्त्वे गुरुत्वाद्यापत्त्या पतनाद्युपपत्त्याद्यापत्तिरूपतर्कसत्त्वात्,
प्रकृते तु न तर्क इति भावः । अन्यथेति शेषः । सामान्यतो दृष्टमात्रेण तर्कहीनेन अन्वयव्यतिरेकिणा गगन-
तज्जलान्यतरत्वादिहेतुना । नन्वेवं—आकाशादौ घटादिभेदोऽपि न स्यात्, अयोग्याधिकरणे भेदस्याप्रत्यक्षत्वात्, अनु-
मानस्याप्रयोजकत्वाच्च—तत्राह—तद्व्यतिरेकेणेति । आकाशे घटाभेदे घटत्वस्यातिप्रसक्त्या तद्रूपेण कपालादिकार्य-
ताप्रत्यक्षरूपकार्यस्य व्यतिरेकः स्यात्; नित्यसाधारणरूपस्य कार्यतानवच्छेदकत्वादिति भावः । आकाशात्यन्ताभावस्य
त्वस्वीकारे न तथेत्यर्थः । एवमिति । न घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यमित्यग्निमेणान्वेति । एवं शब्दार्थं
प्रत्यक्षानुमानाद्यभावरूपं हेतुं प्रकटयति—संयोगेत्यादि । ननु—प्रतियोग्यत्यन्ताभावयोर्विरोधित्वं संबन्धविशेष-
मन्तर्भाव्यैव कल्पनीयम् । तथाहि—विरोधित्वं सहानवस्थानम् । तदपि द्विविधम् । साक्षात् ज्ञानद्वारकं च ।
तत्राद्यं तद्देशतत्कालावच्छेदेन तेन संबन्धेन तद्रूपविशिष्टप्रतियोगिनोऽधिकरणे तद्देशकालावच्छेदेन वर्तमानत्व-
स्याभावः तत्संबन्धतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावनिष्ठः, द्वितीयं तु तादृशाधिकरणनिश्चयक्षणे तदुत्तरक्षणे
च तादृशाभावस्य तादृशवर्तमानत्वज्ञानाभावः । तथाचोक्तविरोधितयोरन्यथानुपपत्तिरेव संयोगादिना घटाद्यधिकरणे
समवायादिना तदभावसाधिका, तत्राह—लाघवेनेत्यादि । लाघवेन अभावप्रतियोगितामात्रस्य संबन्धावच्छि-
न्नत्वाकल्पनया, संबन्धविषयत्वघटितरूपेणाभावबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वाकल्पनया च लाघवसंभवेन । घटात्यन्ताभाव-
त्वेन घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वेन । घटसामानाधिकरण्यविरोधित्वेति । सामानाधिकरण्य-
घटितस्य साक्षाद्विरोधित्वस्य ज्ञानद्वारकविरोधित्वस्य चेत्यर्थः । देशकालावच्छेदं संबन्धं तदवच्छिन्नत्वं चानन्तर्भाव्यै-
वोक्तविरोधिते वाच्ये; उक्तलाघवसंभवादिति भावः । गौरवात् संयोगादिनानासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानन्ता-
भावानां कल्पनागौरवात्, संबन्धघटितरूपेणाभावबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वकल्पने संयोगादिसंबन्धावच्छिन्नत्वघटत्वाद्यव-
च्छिन्नत्वयोः प्रतियोगितांशे विशेषणविधया निवेद्यतया प्रतियोगिताविषयतायामेकविषयतानिरूपितत्वविशिष्टस्यापर-
विषयतानिरूपितत्वस्य विशेषणत्वे वाच्ये विनिगमकाभावेन अवच्छेदकभेदात् प्रतिबन्धकताभेदे गौरवाच्च । ननु—
घटसंयुक्ते समवायेन घटो नास्तीति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्याभावस्य संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं सिद्ध्यतु, किंचाभा-
वबुद्धेः संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविषयकत्वमन्तर्भाव्यैव प्रतिबन्धकत्वे संयोगेनात्र घटो नास्तीति बुद्धेरपि समवाये-
नात्र घट इति धीप्रतिबन्धकत्वापत्तिः, अथ—संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविषयिका धीः न प्रतिबन्धिका—इति चेत्
तर्हि समवायेन नात्र घट इति बुद्धेरप्युक्तप्रतिबन्धकत्वं न स्यात्, तत्राह—घटसमवायाद्यभावमात्रविषयक-
तयेति । घटसमवायत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितभूतलादिविशेष्यताकत्वेनेत्यर्थः ।
प्रतीत्युपपत्तेः ‘समवायेनात्र घटो नास्ती’ति प्रतीतेर्विषयोपपत्तेः, ‘समवायेनात्र घट’ इति धीप्रतिबन्धकत्वोपपत्तेश्च ।
मात्रेत्यनेन संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता न विषयो नवा तद्वदितरूपेण प्रतिबन्धकतेत्यर्थः । ‘शिखी चैत्रो नष्ट’ इत्यादौ
चैत्रीयशिखादेर्नाशप्रतियोगित्वमिव समवायेन घटो नास्तीत्यादौ समवायविशिष्टघटत्वादिरूपेण घटादेर्भानेऽपि घटीय-
समवायादेरत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं भातीति समवायेनात्र घट इति ज्ञानं प्रति घटसमवायोऽत्र नास्तीति निश्चयस्य
परैरपि प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्, परंतु स्वरूपसंबन्धावच्छिन्ना या घटसमवायत्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता तन्निरूपकाभाव-
विषयकत्वेन । तथाच लाघवादुक्तसंबन्धावच्छिन्नत्वमन्तर्भाव्यैव तदुच्यताम् । नच—घटसंयुक्तादिदेशे केनचित्सं-
बन्धेन घटसमवायस्य सत्त्वात् तदभावोऽपि तत्र न संभवतीत्युक्तधीप्रमात्वोपपत्तये समवायेन घटाभाव एव
तद्विषय इति—वाच्यम् । स्वरूपसंबन्धेन हि परैर्घटसमवायस्याभावो यः स्वीक्रियते स एवास्माभिर्घटसमवायाभाव
उच्यते; तस्यैव घटसमवायीयदैक्षिकसाक्षात्संबन्धविरोधात् । अतएव—केनचित्संबन्धेन घटादेः सर्वत्र जन्ये मूर्ते च
सत्त्वात्तत्र घटसामान्याभावधीप्रमात्वोपपत्तये संबन्धविशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताऽवश्यं वाच्येति—परास्तम्; घटी-
यदैक्षिकसाक्षात्संबन्धसामान्याभावस्यैव घटसामान्याभावत्वात् । तादृशश्च घटस्य संबन्धः संयोगः समवायश्च, ननु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कालिकी दिङ्निष्ठा वा विशेषणता; न वा स्वाश्रयसंयोगादिः । अतएव तद्व्यपि 'घटो नास्ती'ति धीः प्रमात्वेन सर्वसिद्धा । ननु—संयोगेन रूपं नास्तीत्यादौ रूपीयसंयोगादेरप्रसिद्धा तदभावो न विषयः, नच—संयोगाद्यंशे रूपी-यत्वादेर्भ्रमत्वं तत्रेति—वाच्यम्; तादृशप्रतीतेः सर्वांशे प्रमात्वस्य सर्वजनसिद्धत्वात् इति—चेत्सत्यम्; रूपीयत्वादिना संयोगाद्यभावस्यैव तत्र विषयत्वात्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्वीकारात्, परैरपि तत्र व्यधिकरणसंबन्धस्य प्रति-योगितावच्छेदकत्वस्वीकारात्, प्रतियोग्यंशे विशेषणतानापन्नस्यैव व्यधिकरणधर्मस्य प्रतियोगितांशे अवच्छेदकतया विशेषणत्वेन भ्रमत्वाभावात् । प्रतियोग्यंशे विशेषणस्यैव उक्तविशेषणत्वमिति नियमेऽपि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव-धीमात्रस्य प्रतियोग्यंशे तादृशधर्मभ्रमत्वस्वीकारेण प्रकृतेऽपि भ्रमत्वे बाधकाभावाच्च दोषः । नच—घटो न पट इत्यादि-निश्चयकालेऽपि पटत्वेनात्र घटो नास्तीति ज्ञानोत्पत्तेर्घटादौ पटत्वादिवैशिष्ट्याभाव एवोक्तज्ञाने विषयः, वैशिष्ट्यस्य साहित्यरूपस्य तृतीयाथत्वेन तदत्यन्ताभावबोधने घटपदोत्तरं न ससम्यपेक्षेति—वाच्यम्; उक्तनिश्चयकाले घटत्वादि-विशिष्टे पटत्वादिभानासंभवेऽपि एकत्र द्वयमिति रीत्या शुद्धघटादौ घटत्वपटत्वाद्युभयं विशेषणीकृत्योक्तज्ञानोत्पत्ति-संभवात्, उक्तज्ञाने घटादौ पटत्वादिवैशिष्ट्याद्यभावभाने अत्र घटः पटत्वेनास्तीत्याकारकस्यैकत्र द्वयमिति रीत्या घटत्व-पटत्वाद्युभयविशिष्टविषयकस्य सत्त्वेऽप्युक्तज्ञानोत्पत्त्यापत्तेरित्याशयः । ननु—'समवायेन घटो नास्ती'त्यादिज्ञाने प्रति-योगितांशे संबन्धावच्छिन्नत्वभाने घटसमवायत्वाद्यवच्छिन्नत्वमपि न भातीति कुतो नोच्यते? तादृशावच्छिन्नत्वेन पराभ्युपगतप्रतियोगिताव्यक्तिसंबन्धेन घटसमवायविशिष्टस्याभावस्य घटसमवायाविरोधित्वं उक्तसंबन्धेन घटसम-वायत्वमात्रेण चावच्छिन्नाया अभावांशे प्रकारताया एव प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वमित्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । यदिच प्रतियोगिताया धर्मावच्छिन्नत्वं सर्वानुभाविकमित्युच्यते, तदा संबन्धावच्छिन्नत्वमपि तथेति वक्तुं शक्यते—इति चेत्, अत्रोच्यते । जले वह्निर्नास्तीतिवज्जले द्रव्यं नास्तीत्यस्यापि प्रमात्वं स्यात्, यत्प्रतियोगिताव्यक्तिविशेषसंब-न्धेन वह्निविशिष्टो योऽभावस्तस्य तेन संबन्धेन द्रव्यात्मकवह्निविशिष्टत्वात् । अथ—वह्निवावच्छिन्नं प्रत्येव संबन्धस्त-त्प्रतियोगिता, ननु द्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति इति—चेत्, तर्हि तत्प्रतियोगिता वह्निवावच्छिन्नप्रतियोगिताका, ननु द्रव्य-त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्येवोक्तवाक्यार्थः । तथाच वह्निवावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमपेक्ष्य वह्निवावच्छिन्नत्वमेव लघु-तत्प्रतियोगितायां कल्प्यताम् । किंच विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्या ज्ञानस्य विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्त-रमिति रीत्या ज्ञानाद्वैलक्षण्यसिद्धये विशिष्टस्येत्यादिज्ञाने विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपेण विशेषण-संबन्धो भातीति स्वीक्रियते । तथाचाभावप्रत्यक्षस्य विशिष्टस्येत्यादिज्ञानत्वनियमात् घटोऽत्र नास्तीत्यादिप्रत्यक्षस्य घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपेणानुयोगिताविशेषरूपोऽभावे घटादेः संबन्धो भाति, घटवदित्यादौ संयोगादेर्घटत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपेण भानवत् । नचैवं—कम्बुग्रीवादिविशिष्टवदित्यस्यैव कम्बुग्रीवादिविशिष्टमत्र नास्तीत्यस्यापि विशिष्टस्येत्यादिज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिः, गुरुधर्मस्याभावनिष्ठानुयोगितासंबन्धप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे संयोगादिसंबन्ध-प्रतियोगितायामप्यनवच्छेदकत्वेन द्वयोरप्युक्तज्ञानयोरप्रमात्वं स्यादिति—वाच्यम्; गुरुत्वज्ञाने सत्यप्युक्तज्ञानयोरु-त्पत्त्या प्रमात्वस्येष्टत्वात् । गौरवस्य कारणतावच्छेदकत्वादिविरोधित्वेऽपि संबन्धप्रतियोगितावच्छेदकत्वाविरोधित्वात् । अथवा विशिष्टस्येत्यादिज्ञाने विशेषणतावच्छेदकं विशेषणान्वयिनि विशेष्ये विशेषणतया भाति, यदेव हि स्वविशेष्य-विशेष्ये विशेषणं तत् विशेषणम्, तदन्यत्तु प्रकारीभूतमप्युपलक्षणमुपाधिर्वा । तथाच घटः प्रमेयः, दण्डमदिदमि-त्यादौ विशेषणविशेषणतावच्छेदकयोरेकजातीयेन तादात्म्यादिसंबन्धेन प्रमेयादौ विशेषणेऽपि संयोगादिसाक्षात्संब-न्धेन दण्डादेरिदमादौ बाधकाले स्वाश्रयसंयोगादिपरम्परासंबन्धेनापीदमादौ विशिष्टस्येत्यादिरूपोक्तज्ञाने दण्डादे-र्भानवत् घटोऽत्र नास्तीत्यादौ घटाद्यभावे स्वप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासंबन्धेन घटादेः प्रकारत्वेऽपि घटत्वादे-स्तेन संबन्धेन तत्र बाधात् स्वाश्रयप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासंबन्धेन तस्य प्रकारत्वे जले द्रव्यं नास्तीत्यस्यापि प्रमा-त्वापत्तिः । अन्यस्य चैकजातीयसंबन्धस्य घटाभावे घटत्वादेर्वक्तुमशक्यत्वात् स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकानुयोगितैव तस्य तत्र संबन्ध उच्यते; दण्डमदिदमित्यादावपि स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासंबन्धेन इदमादौ दण्डा-देर्भानमिष्टम् । कदाचित्संयोगादेरिव तस्याप्यबाधात्, तस्य दण्डावच्छिन्नप्रतियोगिताकाधिकरणतात्वात्, सामानाधि-करण्येन संख्याविशिष्टं परिमाणमत्र नास्तीत्यादौ तु स्वप्रतियोगिकत्वसंबन्धेनैकस्मिन्नभावे संख्यापरिमाणयोर्भानम्; तस्य संबन्धस्य तत्राबाधात् । ननु—'विशिष्टं केवलादन्य'दिति मते विशिष्टस्येत्यादिज्ञाने विशिष्टस्य विशेषणत्वम्, 'विशेष्ये विशे-षण'मित्यादिज्ञाने तु न तस्य विशेषणत्वम्, किंतु भूतलादौ शुद्धघटादेः, तत्र घटत्वादेरित्यस्य वक्तुं शक्यत्वान्नोक्तयुक्ती-नामवकाश इति—चेत्, सत्यम्; तथापि संयोगसंबन्धेनेत्यादिमूले नाप्युपपत्तिः । घटात्यन्ताभावत्वेनेत्यस्य घटत्व-

घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम्; एवं संयोगतदभावयोर्नैकाधिकरण्यम्; अग्रे वृक्षः कपिसं-
योगी मूले ने'ति प्रतीतेरग्रमूलयोरेव संयोगतदभाववत्तयोपपत्तेः, तदा सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रति-
योगित्वमेव मिथ्यात्वं मन्तव्यम् । नचैवं सति—भावाभावयोरविरोधात्तज्ज्ञानयोर्वाध्यबाधकभावो
न स्यादिति—वाच्यम्; भिन्नसत्ताकयोरविरोधेऽपि समसत्ताकयोर्विरोधात् । यत्र भूतले यस्य घट-

सिद्धिव्याख्या ।

दर्शयति—इहेति । इहाकाशं भविष्यतीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसंभववदिहाकाशं नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीतेरप्यसंभ-
वादित्यर्थः । आनुमानिकप्रतीतिमाशङ्क्याह—अनुमानेचेति । तदा सन्मात्रेति । उक्तदोषाणामसंभवा-
दिति भावः ॥ नचैवं सतीत्यादि स्पष्टम् ॥ इति ॥

अद्वैतसिद्धिव्याख्याने द्वितीयमिथ्यात्वं समाप्तम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशिष्टप्रतियोगिताकाभावत्वेनेत्यर्थकत्वात्, घटसमवायाद्यभावेत्यस्यापि घटसमवायत्वादिविशिष्टप्रतियोगिताकाभावे-
त्यर्थकत्वात्, घटत्वादेः प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेऽपि तद्विशिष्टस्य स्वाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेन मिथ्यात्वसंभवेनो-
क्तावच्छेदकत्वोक्तौ मूलकारस्यौदासीन्यात् । जले वह्नित्वविशिष्टस्याभावसत्त्वेऽपि द्रव्यत्वविशिष्टस्याभावासत्त्वात् 'जले
द्रव्यं नास्ती'ति बुद्धेर्नापत्तिः । ननु घटाल्यन्ताभावत्वेनैव घटविरोधित्वस्वीकारेऽपि भूतलादौ घटाल्यन्ताभावोऽस्तु,
घटस्यावृत्तित्वस्वीकारेणोक्तविरोधित्वोपपत्तेः, तत्राह—आधाराधेयभावस्येति । भूतलघटाद्योरित्यादिः । ननु—
घटसंयोगी, घटाल्यन्ताभाववान्, घटसमवायाभावाच्चित्यरूपवदित्यनुमेयं, तत्राह—युक्तयुक्तेरिति । तर्काभावात् ।
भूतलं, घटध्वंसवत्, कपालभूतलान्यतरत्वात्, कपालवदित्यनुमानापत्तेः, तद्व्यतिरेकेऽनुपपत्त्यभावात् । ननु घटोत्पा-
दानन्तरं पुनर्घटोत्पादवारणाय समवायेन घटं प्रति घटः प्रतिबन्धकः, तत्संबन्धावच्छिन्नतदभावः कारणम् । तथाच
घटसंयुक्तकपालेषु घटोत्पत्तिर्न स्यात्; उक्तप्रतिबन्धकाभावघटितसामग्र्यभावात्, तत आह—उक्तेति । एकसंबन्धं
प्रत्यपरसंबन्धस्यैव प्रतिबन्धकतासंभवेन तदभावस्यैव प्रतिबन्धकाभावविधया प्रयोजकत्वादित्यादियुक्तेरित्यर्थः । अग्र-
मूलयोरिति । औपाधिकभेदवतोस्तदवच्छिन्नवृक्षयोर्वेति शेषः । अग्रावच्छिन्नवृक्षात् मूलावच्छिन्नवृक्षे भेदस्वीकारेण
तयोरेव संयोगतदभावौ भासेते इति न कुत्राप्यव्याप्यवृत्तित्वमिति भावः । उपपत्तेरिति । इत्यालोच्यत इति शेषः ।
सन्मात्रनिष्ठेति । सत्त्व्यापकेत्यर्थः । अधिकरणमेवाभाव इति पक्षेऽपि केवलस्य सद्रूपस्याभावत्वविशिष्टेन सद्रूपेण
तादात्म्यसंबन्धसत्त्वात्तद्व्यापकत्वोपपत्तिः । नच—उक्तपक्षे 'नेह नाने'त्यादिश्रुत्यनुपपत्तिः, तथा ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावा-
धारत्वबोधनादिति—वाच्यम्; उक्तपक्षे घटाद्यभावस्य भूतलादौ तादात्म्यसंबन्धस्यैव स्वीकारेण ब्रह्मणि प्रपञ्चाभाव-
तादात्म्यस्यैवोक्तश्रुत्या बोधनात् । उक्तं हि न्यायकुसुमाञ्जलौ अभावीयसंबन्धविचारप्रसङ्गे—'परस्य तादा-
त्म्यमस्तीति चे'दिति । परस्याधिकरणस्वरूपाभाववादिनो भट्टादेर्मत इति तत्र टीकाकारः । अधिकरणातिरिक्ताभाव-
पक्षेऽपि चैत्रे गोशून्यता नास्तीत्यादौ गवादिरूपाभावस्याधारत्वेन चैत्रादिप्रत्ययाभावात् स्वामित्वसंबन्धस्य वृत्त्यनि-
यामकत्वाच्चाभावधीमात्रस्याभावाधारत्वविषयकत्वानियमात्, घटाभावे न घट इत्यादौ अभेदेऽप्याधाराधेयत्वस्य सर्वै-
रपि स्वीकार्यत्वेन उक्तश्रुत्यादिजन्यज्ञानस्य ब्रह्मादावभावाधारत्वविषयकत्वस्योक्तपक्षद्वयेऽपि संभवाच्च । अत्र यद्धर्मा-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकाल्यन्ताभावत्वं सत्त्व्यापकतावच्छेदकं तद्धर्मवत्त्वं मिथ्यात्वम् । तेन भेयत्वादिरूपेण व्यापक-
तामादाय न सिद्धसाधनम् । नच—यस्या अभावव्यक्तेः सद्भूतिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वमनवच्छिन्नं नास्ति तद्व्यक्ति-
प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमित्येव वक्तुं शक्यम्; घटादिमति पूर्ववृत्तित्वविशिष्टस्य घटाद्यभावस्याश्रयात् भेदो वेदान्ति-
मतेऽप्यस्तीत्यतोऽनवच्छिन्नमित्युक्तम् । एवं च घटसंयुक्तादौ समवायादिना घटाद्यभावनिराकरणं व्यर्थम्, तदभा-
वव्यक्तेरतथात्वेन सद्भूतिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वेन तामादाय सिद्धसाधनाभावादिति—वाच्यम्; विशेषणतादि-
व्यधिकरणसंबन्धेन घटाद्यभावव्यक्तेः केवलान्वयित्वेन तामादाय सिद्धसाधनात् । एवं उक्तानुमानस्योक्तमिथ्यात्व-
साधकत्वे । वाध्यबाधकभाव इति । भावाभावयोः सामानाधिकरण्यज्ञाने सति तयोरेकज्ञानमपरज्ञानस्य न
बाधकमत उक्तज्ञानाभावविशिष्टं भावाभावयोर्विरोधविषयकं वा तयोरेकस्य ज्ञानमपरस्य ज्ञाने बाधकं वाच्यम्,
तादृशज्ञानं च न मिथ्यात्वज्ञानवतां सम्भवतीति भावः । वाच्यमिति । अधिकसत्ताकाभावेन अन्यूनसत्ताका-

स्यात्यन्ताभावो व्यावहारिकः तत्र स घटो न व्यावहारिक इति नियमात् । नचैवं सति—‘शुक्तिरियं न रजत’ मिति ज्ञानविषयीभूताभावस्य व्यावहारिकत्वेन पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकसत्त्वानपहारात् बाधोत्तरकालेऽपि ‘इदं रजत’मिति प्रतीतिः स्यादिति—वाच्यम्; तत्र ‘इयं शुक्ति’रित्यपरोक्षप्रमया प्रातीतिकरजतोपादानाज्ञाननिवृत्तौ प्रातीतिकसत्त्वस्याप्यपहारात्, शुक्त्यज्ञानस्य प्रातीतिकरजतोपादानत्वेन तदसत्त्वे प्रातीतिकरजतासत्त्वस्यावश्यकत्वात् । अतएव यत्र परोक्षयाधिष्ठानप्रमया न भ्रमोपादानाज्ञाननिवृत्तिः, तत्र व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकत्वानपहारात् ‘तित्तो गुड’ इत्यादिप्रतीतिरनुवर्तत एव । एवमखण्डब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वं परोक्षबोधेन प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रतीतिरनुवर्तत एव, अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यते ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावेन वा घटितं मिथ्यात्वमिति पक्षयोराद्यपक्षे इति शेषः । इदं भिन्नसत्ताकेत्युत्तरग्रन्थान्वयि । न व्यावहारिक इति । किंतु प्रातीतिक इति शेषः । रजतस्य व्यावहारिकत्वेति । रजते कल्पितस्य व्यावहारिकत्वस्य । अपहारे उच्छेदे । प्रातीतिकसत्त्वेति । प्रातिभासिकस्वरूपेत्यर्थः । पुरोवृत्तिप्रतीतरजतस्येत्यनुपज्यते । बाधोत्तरेति । उक्तज्ञानोत्तरेत्यर्थः । स्यादिति । तथाच समानसत्तामनन्तर्भाव्य प्रातीतिकान्याभावस्यैव भावविरोधित्वं स्वीकृत्य तज्ज्ञानस्य भावबाधकत्वं वाच्यम् । अतः स्वाधिकसत्ताकात्यन्ताभावस्यापि भावविरोधित्वात् तद्वदित-मिथ्यात्वमनुपपन्नमिति भावः । समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधेऽपि न तादृशयोरेव बाध्यबाधकधीविषयत्वमुच्यते, येन प्रातीतिकत्वविशिष्टरजतस्य व्यावहारिकाभावधीर्बाधिका न स्यात्, किं त्वन्यादृशयोः । तथाहि—अभावज्ञानस्य भावज्ञानं प्रति बाधकत्वं भावोपादानाज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकान्तर्गतत्वं वा, भावभ्रमे भ्रमत्वज्ञापकत्वं वा, अधिष्ठानधीविधया भावज्ञानोच्छेदकत्वं वा । आद्ये ‘अधिकसत्ताकरजतात्यन्ताभावव्याप्यं शुक्तित्व’मित्याकारकेन निश्चयेनोद्बुद्धसंस्कारेण वा विशिष्टस्य ‘इयं शुक्ति’रित्याकारकसाक्षात्कारस्य प्रातिभासिकरजतोपादानाज्ञाननिवर्तकत्वेन व्यावहारिकाभावज्ञानस्य प्रातिभासिकरजतादिधीर्बाधकत्वं नानुपपन्नम् । द्वितीयेऽनुपपत्त्यभावस्त्वयैव स्वीकृतः; व्यावहारिकाभावज्ञाने रजतव्यावहारिकत्वापहारकत्वस्योक्तत्वात् । व्यावहारिकत्वं हि विश्वमिथ्यात्वनिश्चयपूर्ववर्तिनो मिथ्यात्वनिश्चयस्याविशेष्यत्वम् । तदपहारश्चोक्तनिश्चयविशेष्यत्वादेव । तथा च मिथ्याविषयकत्वरूपभ्रमत्वं रजतज्ञाने उक्ताभावज्ञानेन ज्ञापितमिति स्वीकृतमेवेत्याशयेनाह—तत्रेयमिति । प्रमयेति । शुक्तित्वे रजतीयव्यावहारिकात्यन्ताभावव्याप्यताविषयकेन निश्चयेनोद्बुद्धसंस्कारेण वा सहितयेति शेषः । सत्त्वस्यापीत्यपिना व्यावहारिकत्वस्य समुच्चयादुक्तरीत्या रजतज्ञाने व्यावहारिकाभावज्ञानस्य भ्रमत्वज्ञापकत्वमुक्तम् । तदसत्त्व इति । असत्त्वमुच्छेदः । आवश्यकत्वादिति । परिणामिन उच्छेदे परिणामस्याप्युच्छेदस्तयोस्तादृश्यादिति भावः । अतएव अज्ञानतत्प्रयुक्तोच्छेदयोरविकर्षादेव । व्यावहारिकसत्त्वापहारे मिथ्यात्वनिश्चये । अधिष्ठानाज्ञानेति । व्यावहारिकेण तित्तत्वाभावेन विशिष्टस्य गुडस्य जीवब्रह्मैक्यस्य चाज्ञानेत्यर्थः । प्रतिबन्धकदोषोत्सारणाधीनादधिष्ठानसाक्षात्कारादित्यादिः । एतेन—तृतीयेऽपि बाधकत्वे नाभावस्य भावविरोधित्वापेक्षेति—सूचितम् । निवृत्तौ उच्छेदे । जीवन्मुक्तस्य तु नाज्ञानमुच्छिन्नम्; संस्कारात्मना सत्त्वात् । अथवा प्रारब्धभोगोपयोगिदेहादिकमज्ञानशब्देनोच्यते । तथाच ‘भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति’रिति श्रुत्या विश्वमायानिवृत्त्युत्तरं भूयोऽपि देहादिनिवृत्त्युक्तेः ‘प्रारब्धनाशात् प्रतिभासनाश’ इति स्मृतेश्च देहाद्युच्छेद एव प्रपञ्चाप्रतीतिप्रयोजक इति भावः । अत्रेदमवधेयम्—यत्क्षणे यस्याज्ञानस्य उच्छेदस्तक्षणे तत्प्रयुक्तस्यावश्यमुच्छेद इति न नियमः; जीवन्मुक्तावज्ञानसंस्कारस्वीकारपक्षे व्यभिचारात्, नापि यदज्ञानप्रयुक्तोच्छेदप्रतिबन्धकशून्ये यत्क्षणे इत्यादिनियमः; विदेहत्वप्रयोजकब्रह्मसाक्षात्कारोत्पत्तिक्षणे ‘ब्रह्म साक्षात्करोमी’त्यनुभवेनाज्ञानासत्त्वेऽपि तत्प्रयुक्तमनःपरिणामरूपब्रह्मसाक्षात्कारादिसत्त्वेन व्यभिचारात्, एतादृशोत्पत्तिक्षणे हि नोक्तप्रतिबन्धकमस्ति; तद्वितीयक्षणे विदेहत्वसंपत्त्या सर्वदृश्योच्छेदात्, किंतु यत्क्षणे या प्रमा तत्क्षणे अवश्यं तत्समानविषयकाज्ञानोच्छेदः; उक्तप्रतिबन्धकशून्ये यत्क्षणे यस्याज्ञानस्योच्छेदः तदव्यवहितोत्तरक्षणे अवश्यं तत्प्रयुक्तस्योच्छेदः । या प्रमा यदज्ञानसमानविषयिका सा तदज्ञानाधिकरणावृत्तिः । यो यस्तत्प्रमावानुक्तप्रतिबन्धकशून्यक्षणे सः तदज्ञानप्रयुक्तदृश्याधिकरणकालपूर्ववृत्तिभिन्न इति यावत् । तथाचाज्ञानसमानविषयकमनोवृत्त्युत्पत्तिक्षणे मनोवृत्त्यादिसत्त्वेऽपि न क्षतिः । अज्ञानस्यावरणविक्षेपरूपशक्तिद्वयस्वीकारपक्षे तु आवरणशक्तेरेव सविषयकत्वात् आद्यनियमे अज्ञानस्थाने अज्ञानीयावरणशक्तिर्वाच्या । यस्या आवरणशक्तेः समानविषया या प्रमा सा तस्या

एतेन—उपाधिशब्देनाधिकरणमात्रविवक्षायामर्थान्तरम्, वाय्वधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि रूपस्यामिथ्यात्वात्, अधिष्ठानविवक्षायां तु भ्रमोपादानाज्ञानविषयस्याधिष्ठानत्वेनान्योन्याश्रयत्वं, ज्ञानस्य भ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वं, विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य भ्रमत्वमितीति—परास्तम्; उक्तरीत्या अधिकरणविवक्षायां दोषाभावात् । नच—‘स एवाधस्ता’दिति श्रुत्या प्रतिपन्ने देशकालाद्युपाधौ परमार्थतो ब्रह्मणोऽभावात्तत्रातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्; निर्धर्मके तस्मिन्नभावप्रतियोगित्वरूपधर्माभावात् । नचैवं सत्यत्वमपि तत्र न स्यात्, तथाच ‘सत्यं ज्ञानमनन्त’मित्यादिश्रुतिव्याकोप इति—वाच्यम्; अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपाविरोधात् । एतेन—स्वप्रकाशत्वाद्यपि—व्याख्यातम्; परप्रकाश्यत्वाभावो हि स्वप्रकाशत्वम्, कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि । तथा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अधिकरणक्षणावृत्तिः । तेन विज्ञेयशक्तेस्तदज्ञानस्य च जीवन्मुक्तिकाले सत्त्वेऽपि न क्षतिः । द्वितीयनियमे तु तदज्ञानप्रयुक्तस्थाने तदज्ञानतदीयविज्ञेयशक्तितत्प्रयुक्तेति त्रितयं वाच्यम् । एतेन प्रतिपन्नोपाधावित्यादेरुक्तव्याख्यानेन । प्रतिपन्ने ब्रह्मसंबन्धितया ज्ञाते । परमार्थतः पारमार्थिकत्वेन । स्वरूपेण चेति शेषः । अभावादिति । भावः प्राप्तिः । ‘भूपासा’वित्यनुशासनादिति । तदभावादित्यर्थः । तथा च प्रतिपन्नोपाधौ कालादौ ब्रह्मसंबन्धाभावस्य सर्वसंमतत्वात् संबन्धसामान्याभावस्यैव संबन्धिसामान्याभावत्वात् तादृशाभावप्रतियोगित्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वादपि व्याप्तिरिति भावः । निर्धर्मके अभावप्रतियोगित्वप्रयोजकधर्मवद्भिन्ने । येन रूपेण यस्याभावः प्रत्यक्षः येन वा हेतुना यत्राभावप्रतियोगित्वमनुमीयते तद्रूपमुक्तप्रयोजकम्, ब्रह्मणि तु तन्नास्त्येव; केनापि रूपेण ब्रह्मणोऽभावप्रत्यक्षाभावात् । शुद्धब्रह्मणस्तु नाभावः प्रत्यक्षः संभवति; प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकरूपाभ्यामेवाभावः प्रत्यक्ष इति नियमात् । उपहितब्रह्मतादात्म्यादेः ब्रह्मणि सत्त्वेऽपि न तस्याभावप्रतियोगितानुमापकत्वम्, अप्रयोजकत्वादिति भावः । तत्र तत्स्वरूपे । श्रुतीति स्वरूपात्मकसत्यत्वादिबोधकश्रुतीत्यर्थः । उक्तं हि पञ्चपाद्याम्—‘आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति ब्रह्मणो धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते’ इति चकारात् सत्यत्वादिसंग्रहः । पृथगिवेति । निरुपाधीष्टत्वादिविशिष्टरूपेण कल्पितेन केवलचिद्रूपात् भिन्ना इवेत्यर्थः । केवलचिदेव हि उक्तविशिष्टरूपतादात्म्योपलक्षिता सती आनन्दरूपा । शुद्धायामपि चिति निर्विकल्पकवृत्तितन्नाश्याज्ञानयोर्विषयत्वस्येव विशिष्टचित्तादात्म्यस्यापि सत्त्वात्, विशिष्टकेवलयोस्तादात्म्यस्यावश्यकत्वात्, धर्मान्तरस्य शुद्धचित्यस्वीकारेऽपि विशिष्टतादात्म्यादिस्वीकारात् । यत्तु—केवलचिदेव निरुपाधीष्टत्वाकारवृत्त्या भासमाना आनन्दरूपा । आवरणविरोधिविशिष्टत्वाकारवृत्त्या ज्ञानरूपा । एवं मिथ्यात्वाभावविशिष्टत्वाकारवृत्तिभिः सत्यत्वादिरूपा । तादृशेष्टत्वादीनां शुद्धब्रह्मण्यसत्त्वेऽपि तादृशेष्टचित्तादात्म्यसत्त्वात् तदाकारवृत्तिर्निवेश्या । यदि चोक्ततादात्म्यं तदुपहितचित्येव स्वीक्रियते, न तु शुद्धचित्तीति पक्षः स्वीक्रियते, तदा उक्ततादात्म्याकारवृत्तिद्वारकशुद्धब्रह्माकारवृत्तिर्निवेश्या । अतएव पृथगिवेत्यस्यान्तःकरणवृत्त्युपाधौ भिन्ना इवेति विवरणकारव्याख्यानम्—इति । तन्न; तद्रूपोपलक्षितचित एवानन्दादिरूपत्वसम्भवे तत्तदाकारवृत्त्युपलक्षितस्य तद्रूपत्वकल्पने गौरवात् । विवरणे वृत्तिनिवेशस्तु निरुपाधीष्टत्वादौ प्रमाणसूचनायेत्याशयेनाचार्य आह—मिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्येत्यादि । वस्तुतस्तु—निरुपाधीष्टत्वादिनोपलक्षितत्वं तत्प्रकारकमनोवृत्त्युत्तरं निर्विकल्पकमनोवृत्त्या विषयीकृतत्वम्; अन्यथा शुद्धस्यैव तद्रूपोपलक्षितत्वेन सत्यत्वानन्दत्वादिधर्मभेदानुपपत्तेः । तत्तद्धर्मप्रकारकज्ञानोत्तरमतद्व्यावृत्तिधृतिविषयत्वस्यापि तत्रैव पर्यवसानम् । आनन्दादीनां विशिष्टरूपत्वे तु स्वरूपात्मकता न स्यात् । तस्मात् मिथ्यात्वेत्यादिमूलमपि विवरणवाक्यानुसारेण व्याख्येयम् । परप्रकाश्यत्वेति । अन्याधीनव्यवहारकत्वेत्यर्थः । घटादेरिव चित्तोऽपि व्यवहारो हि चिदधीनः, न चिदन्याधीनः; व्यवहारविषयतामात्रे चित्तादात्म्यस्य प्रयोजकत्वात् । न च चिति तत्तादात्म्यासंभवः; व्यवहारपूर्वकालोपहितचिति केवलचित्तादात्म्यसत्त्वात्, कार्यपूर्वकालोपहिते कारणसंबन्धस्यैव कार्येषु प्रयोजकत्वात् । कालपरिच्छेदो नाशप्रतियोगित्वम् । देशपरिच्छेदोऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । वस्तुपरिच्छेदो भेदप्रतियोगित्वम् । ननु—ब्रह्मणो मिथ्यात्वाभावादिस्वरूपस्य सत्यतादिरूपत्वमनुपपन्नम्; उक्ताभावत्वादिविशिष्टस्य मिथ्यात्वात्, अतएव नोक्ताभावत्वादिविशिष्टतादात्म्योपलक्षितस्वरूपस्य सत्यतादिरूपत्वं; तादात्म्यस्यापि स्वोपहित एव सत्त्वेन तदुपलक्षितत्वस्य शुद्धब्रह्मण्यसत्त्वात्, शुद्धे तत्स्वीकारेऽपि प्रपञ्चेऽतिव्याप्तिः; मिथ्यात्वादेरपि मिथ्यात्वेन प्रपञ्चेऽपि तदभावस्य

च भावभूतधर्मानाश्रयत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वधर्माभावरूपतया न काप्यनुपपत्तिरिति सर्वमवदातम् ॥

इति सदसद्विलक्षणत्वरूपद्वितीयमिथ्यात्वविचारः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रपञ्चस्वरूपस्य सत्त्वेन तत्तादात्म्योपलक्षितस्वरूपत्वानपायात्; नहि यदधिष्ठानरूपमधिकरणं तदेवाभावस्वरूपं नान्यदधिकरणमित्यत्र मानमस्ति । अथ—मिथ्यात्वादिविशिष्टात् भेदः सत्यत्वादिकं वाच्यम्; तथापि मिथ्यात्वादिधर्मस्य ब्रह्मण्येव कल्पितत्वात् कथं तत्रोक्तभेदः—तत्राह—तथाचेत्यादि । तथा च सत्यत्वादेरभावरूपत्वे च । भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽपि मिथ्यात्वादिधर्मान्प्रति सम्बन्धविशेषणानाश्रयत्वेऽपि । सर्वधर्माभावरूपतया स्वाधिष्ठानकसर्वधर्माभावत्वविशिष्टतादात्म्योपलक्षितस्वरूपत्वेन । तथाचाध्यासिकतादात्म्येन ब्रह्मणः प्रतियोगित्वादिरूपमिथ्यात्वादिधर्मवत्त्वेऽपि विशेषणताविशेषादिसम्बन्धेन तद्विशिष्टाद्भेदसम्भवेन तत्समानाधिकरणो यो मिथ्यात्वान्यन्ताभावस्तत्तादात्म्योपलक्षितस्वरूपमुक्तभेदवत्तादात्म्योपलक्षितस्वरूपं वा सत्यत्वादीति भावः । एतेन—मिथ्यात्वाद्यभावतादात्म्यवति ब्रह्मणि भावानाश्रयत्वोक्तिर्न युक्ता—इत्यपास्तम् ॥

इति लघुचन्द्रिकायां द्वितीयमिथ्यात्वनिरुक्तिः ॥

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्

द्वितीयमिथ्यात्वम्.

तदयं संग्रहः—

न्यायामृतकाराः—

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वम् । तच्च स्वप्रकारकधीविशेष्यताव्यापकीभूतकालानवच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वरूपम् । स्वपदस्य रजतत्वविशिष्टपरत्वात्स्वप्रकारकधीनिरूपितशुक्तिनिष्ठविशेष्यतासमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वस्य तत्र सिद्धत्वात्सिद्धसाधनम्, अतो व्यापकत्वनिवेशः । एवं पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावस्य केवलान्वयितया सिद्धसाधनवारणार्थं कालानवच्छिन्नेत्यभावविशेषणमिति न कोऽपि दोष इति यदद्वैतिनोऽभिप्रयन्ति, तन्न सङ्गतम्; त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानेः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनात्, व्यावहारिकत्वे तस्य तात्त्विकसत्त्वाविरोधितयाऽर्थान्तरात्, बाधात्, अद्वैतश्रुतेरतात्त्विकनिषेधबोधकत्वेनाऽतत्त्वावेदकत्वापातात्, तत्प्रतियोगिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वापत्तेश्च । किञ्च निषेधप्रतियोगित्वं किं स्वरूपेण, उत पारमार्थिकत्वेनासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन । आद्ये श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्याऽर्थक्रियासमर्थस्याऽविद्योपादानकस्य ज्ञानानाश्रयस्य च वियदादेः शुक्तिरूप्यादेश्च निषेधायोगः, “त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणाऽऽपणस्थरूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकरूप्यं वा निषेधप्रतियोगी”ति त्वन्मतहानिः, अत्यन्ताऽसत्त्वापत्तिश्च । शशशृङ्गादीनामप्येतादृशासत्त्वस्याङ्गीकार्यत्वात् । असतोऽपि प्रतीतिविषयत्वाङ्गीकारावश्यकत्वाच्च न निरुपाख्यत्वं नित्यादीन्द्रियसाधारण्यात् नापरोक्षतोऽप्रतीयमानत्वम्, अबाध्यत्वाभावस्यैवासत्त्वरूपत्वात् क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वं वा शशशृङ्गादेरन्यादृशमसत्त्वम् । एतेन—अर्थक्रियासमर्थभाव एवासत्त्वमित्यादिशङ्का अपि—प्रत्युक्ताः; ब्रह्मणोऽप्यसत्त्वापत्तेः ॥ द्वितीयेऽपि अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यत्वेनान्योन्याश्रयः, रूप्यादीनां नास्ति नासीन्न भविष्यतीति स्वरूपेणैव निषेधप्रत्ययानुपपत्तिः, रूप्यपारमार्थिकत्वस्य पारमार्थिकत्वेन निषेधे अनवस्था, ब्रह्मणोऽपि “स एवाधस्ता”दिति श्रुतिप्रतिपन्नोपाधौ निर्धर्मकत्वेन पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वेनाविव्याप्तिः, अध्यस्ताधिष्ठानस्योपाधिपदेन विवक्षणे आत्माश्रयः, ब्रह्मवत्पारमार्थिकत्वाभावेपि सत्यत्वापत्तिश्च एवंच—

‘स्वरूपेण त्रिकालस्य निषेधो नास्ति ते मते । रूप्यादेस्तात्त्विकत्वेन निषेधस्त्वात्मनोऽपि च ॥’ इति द्वितीयमपि सिध्यात्वं न संभवदुक्तिकमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

त्रैकालिकनिषेधस्य प्रातिभासिकत्वातिरिक्तसर्वस्वरूपत्वं, प्रतियोगित्वस्य स्वरूपावच्छिन्नत्वपारमार्थिकत्वावच्छिन्नत्व-
रूपपक्षद्वयं च सर्वमपि क्षोदक्षममेवेति द्वितीयसिध्यात्वमपि संभवदुक्तिकमेव—इति वर्णयन्ति ॥

तेषामयमाशयः—

निषेधाधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्त्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिः; ब्रह्माभिन्नस्य वस्तुनोऽनभ्युपगमात् । व्यावहा-
रिकत्वेऽपि निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वस्यैव तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वमिति स्वाप्ननिषेधबाधितस्वाप्नार्थदृष्टान्तेनाभ्युपगम-
नीयतया निषेधबाध्यत्वस्य तात्त्विकसत्ता, विरोधित्वाभावेनोक्तार्थान्तरबाधयोरनवकाशः, एवं यत्र हि निषेधस्य निषेधेन
प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते तत्रैव निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिनोऽधिकसत्ताकत्वमिति प्रकृते प्रपञ्चनिषेधनिषेधेनानुमानेन
श्रुत्या वा प्रपञ्चस्यापि निषेधान्न प्रपञ्चाधिकसत्त्वापत्तिः, एवं अतात्त्विकं प्रपञ्चमतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेर्न
प्रामाण्यानुपपत्तिः ॥

स्वरूपावच्छिन्ननिषेधप्रतियोगित्वाङ्गीकारेऽपि न दोषः; शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति
नासीन्न भविष्यतीति स्वरूपेणैव निषेधप्रतियोगित्ववत्, प्रपञ्चे “नेह नानास्ति किञ्चन” इति श्रुत्या स्वरूपेणैव निषेध-
प्रतीत्या समानसत्ताकयोरपि भावाभावयोरविरोधात्, भ्रमबाधयोर्वैयधिकरण्यापत्त्यादिना लौकिकरजतस्यैव भ्रमे भानमि-
त्यङ्गीकारासंभवात् “त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थरूप्यं प्रातिभासिकं वा पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधप्रतियोगी”-
त्याचार्यवचनस्यापि स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वाऽऽपणस्थरूप्यतादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरूप्यनिषेधबोधन एव तात्पर्येण
मतहान्यभावात्, सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य तुच्छानिर्वाच्यसाधारण्येऽपि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्व-
तदभावरूपसत्तादात्म्याभ्यां तयोर्वैयम्यसत्त्वेनात्र सत्तादात्म्यसमानाधिकरणोक्तत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वसाधनेनात्यन्ता-
सत्त्वापत्त्यसंभवाच्च ॥

द्वितीयपक्षेऽपि न दोषः; बाध्यत्वरूपसिध्यात्वानिरूप्यतयैव पारमार्थिकत्वनिर्वचनसंभवेनान्योन्याश्रयानवकाशात्,
स्वरूपेणैव पारमार्थिकतया शुक्तिरूप्यं नास्तीत्यादिरूपेणापि प्रतीतेरानुभविकत्वेन श्रुतेरपि तादृशाभिप्रायकल्पनसंभवेन
चादोषात्, अनवस्थां विनैव पारमार्थिकत्वेन पारमार्थिकनिषेधस्यापि ब्रह्मानन्दसरस्वत्युत्तरीत्योपपादनसंभवात्,
उपाधिपदेनाधिकरणस्यैव विवक्षणेन अध्यस्ताधिष्ठानविवक्षणनिबन्धनान्योन्याश्रयस्याप्यनवसरात्, निर्धर्मके ब्रह्मणि
पारमार्थिकत्वस्यैव तदवच्छिन्नप्रतियोगित्वस्याप्यभावेनातिव्याह्यनवसराच्च—इति ॥

तदेतत्तरङ्गिणीकारा न क्षमन्ते—

तथाहि—नहि त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वपक्षः क्षोदक्षमः; शुक्तिरूप्ये व्यावहारिकसिध्यात्वस्यैवाङ्गीकृतत्वेन तत्र
साध्यवैकल्यात् । तस्यापि तात्त्विकत्वे तु प्रत्यक्षादेरपि तत्त्वावेदकत्वरूपप्रामाण्यापत्तिः । निषेधाधिकरणब्रह्ममात्रत्वं निषेध-
स्येति तु न संभवति; प्रपञ्चभ्रमार्थमधिष्ठानब्रह्मस्फुरणस्यावश्यकतया ब्रह्माभिन्नप्रपञ्चनिषेधस्यापि प्रकाशे प्रपञ्चभ्रमासंभवात् ।
निषेधत्वेनाप्रकाशात्तादृशभ्रमासंभव इति तु न भवति; निषेधत्वादेरपि निर्विशेषत्वोपपत्त्यर्थं भवन्मते ब्रह्ममात्रत्वात् ।
एवं तद्व्यावहारिकत्वपक्षोऽपि न संभवति; स्वाप्ननिषेधस्य जाग्रत्यबाधेन व्यावहारिकत्वात्, स्वप्नदृष्टत्वमात्रेण बाध्यत्वे
आत्मादेरपि तदापत्तेः स्वाप्निकतात्त्विकत्वाप्रसङ्गेन निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्त्वस्यैव तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वमिति कल्पनाया
अयोगेन, योगेऽपि निषेधस्य निषेधे प्रतियोग्यधिकसत्ताकत्वस्य रजतादौ दर्शनेन यत्र प्रतियोगिनः सत्त्वं विना निषेधनिषेधो-
नुपपन्नस्तत्र प्रतियोगिसत्त्वस्याङ्गीकरणीयत्वेन प्रपञ्चतदभावयोस्तुल्यसत्ताकत्वाभावेन प्रपञ्चपारमार्थिकत्वस्यावर्जनीयत्वात् ।
अत्यन्ताभावनिषेधस्यैव प्रतियोगिसत्त्वप्रयोजकत्वं विवक्षितमिति ध्वंसनिषेधेन प्रागभावनिषेधेन वा प्रतियोगिसत्त्वेऽपि न
दोषः । एतेन—‘यथा ध्वंसप्रागभावयो’रिति तदृष्टान्तेन नियमविशेषपरिकल्पनं—पराहतम् । एवं तद्व्यावहारिकत्वे-
स्तात्त्विकप्रतियोगितदभावयोरेकत्र बोधनस्य विरुद्धत्वात्स्वार्थसत्तानिश्चयकत्वरूपश्रुतिस्वाभाव्यमपि भ्रमं स्यात् ।

एवं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वपक्षोऽपि नोपपन्नः; युष्मदाचार्यैः स्वरूपेणापणस्थरूप्यस्यैवा—निषेध इति प्रतिपादनेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । नच—अस्मदाचार्यवचसामापणस्थरूप्यतादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरूप्यस्य स्वरूपतो निषेधबोधन एव तात्पर्यमिति—वाच्यम्; प्रातिभासिकरूप्यस्यापणस्थरूप्यज्ञानेन निवृत्त्यदर्शनेन तदज्ञानाकार्यस्य तत्तादात्म्याभावात्, अलौकिकसंनिकर्षानङ्गीकारेण तत्संनिकर्षाभावात् । एवंच परस्परविरुद्धार्थबोधकान्भवदाचार्यानुसृत्यान्धगोलाङ्गूलन्यायेन प्रवृत्तानां भवतामपि वचनमनुपादेवमेव । असच्चेन्न प्रतीयेतेति वदतां भवतां प्रतीत्यनुपाधिकमेवासत्त्वं निर्वचनीयमिति पूर्वमेवोक्तत्वादत्यन्तासत्त्वापत्तिरपि सुदृढेवेति द्वितीयमिथ्यात्वमपि न संभवदुक्तिकम्—इति ॥

तदेतद्वान्तविजृम्भितं चन्द्रिकाकाराः प्रतिक्षिपन्ति—

तथाहि—निषेधतात्त्विकत्वपक्षे हि न निषेधत्वविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा मिथ्यात्वरूपत्वं ब्रह्मरूपत्वं वाङ्गीक्रियते; येन शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यं तद्विषयकबाधप्रत्यक्षस्य तात्त्विकप्रामाण्यं च समापतेत्, किंतु निषेधत्वोपलक्षिततादात्म्यापन्न-निषेधस्वरूपस्य, तादृशस्वरूपश्च शुक्तिरजताभावो न नेदं रजतमित्यादिप्रत्यक्षविषयः, किंतु व्यावहारिकनिषेधत्वोपलक्षितत-दभाव एव तद्विषय इति तस्यातात्त्विकत्वाच्च प्रत्यक्षतात्त्विकप्रामाण्यापत्तिः । उपलक्षितविषयकस्य प्रत्यक्षस्यैव तन्निवर्तकत्वं तु शुद्धब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्वेऽपि तत्तादात्म्यापन्नोपहितज्ञानस्यैवाङ्गीकर्तुं शक्यत इति न बाधज्ञानत्वव्यवहारानुपपत्तिः । एतेन—प्रपञ्चभ्रमानापत्तिरपि प्रत्याख्याता; प्रपञ्चभ्रमार्थमपेक्षितब्रह्मस्फुरणे निषेधत्वोपलक्षिततादात्म्यापन्नस्वरूपज्ञान-स्यानपेक्षणात् । विवरणमतेऽपि उपलक्षितशुद्धयोस्तादात्म्येन शुद्धविषयकज्ञाननिष्ठबाधज्ञानत्वस्यैवोपलक्षितविषयकज्ञाननि-ष्ठत्वेनाप्युपचारात्तस्य बाधज्ञानत्वव्यपदेश इति निषेधतात्त्विकत्वपक्षे न कोऽपि दोषः । शुक्तिरूप्येऽपि तात्त्विकभावप्रति-योगित्वेन न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमित्यन्यत्र विस्तरः । एतेन—व्यावहारिकत्वपक्षोऽप्युपपन्न इति—सूचितम्; स्वप्रकाश-चैतन्यरूपस्यात्मनोऽनिर्वचनीयत्वकल्पनां विना स्वाप्रदर्शनोपपत्तिसंभवेऽपि गजाभावादीनामनिर्वचनीयानामुपपत्तिकल्पनां विना तत्र तद्दर्शनासंभवेन स्वाप्रनिषेधबाधितस्वाप्रप्रतियोगिनि व्यभिचाराच्चिषेधबाध्यत्वस्य तात्त्विकत्वाविरोधित्वाभावेन निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वस्यैव तदविरोधित्वे तन्त्रत्वात्, ध्वंससमये इदं कपालं घटवन्न वेति संशयारोपविषययो-र्घटतदभावयोरुभयोरप्यस्वाप्रिकत्वेऽपि 'इह घटस्तदत्यन्ताभावश्च ने'त्युभयनिषेधेऽपि प्रतियोगितदाभावयोस्तुल्यसत्ताकत्व-दर्शनेनात्यन्ताभावनिषेधे प्रतियोगिनोऽसत्त्वपरत्वेनैव 'यथा ध्वंससमये प्रागभावप्रतिषेध' इति वाक्यस्य योजनीयतया तस्याप्युपपत्तेश्च न तद्व्यावहारिकत्वपक्षे प्रतियोगितात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वप्रपञ्चतदभावविषमसत्ताकत्वादिप्रसर इति न कोऽपि दोषः । स्वार्थसत्तानिश्चायकत्वस्य श्रुतेरावश्यकत्वेऽपि यजेतेत्यादाविव व्यावहारिकप्रामाण्येनैव श्रुतेरुपपत्तिसंभवात् मिथ्यापदार्थ मिथ्यात्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेरपि प्रामाण्यसंभवः । तात्त्विकप्रामाण्यं तु तत्त्वमसीति वाक्यस्यैवेति मन्तव्यम् । एवं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वपक्षोऽपि नानुपपन्नः; आपणस्थरूप्यतादात्म्यं विनापि रजतत्वस्य व्यावहारिकप्रातिभासिक-साधारण्याङ्गीकारेणैवोपपत्तिसंभवेन केवलरजतस्यैव निषेध इति पक्षे सत्यपि प्रातिभासिकादपि व्यावहारिककार्यापत्तिवार-णार्थं तुष्यतु दुर्जनन्यायेनादृष्टापापणस्थरूप्यतादात्म्येनैव रूप्यस्य भानमित्यस्मदाचार्यायपक्षान्तरमप्युपपन्नमेव; दोष-सहितशुक्लवच्छिन्नचैतन्याश्रिताज्ञानस्यैव प्रातिभासिके व्यावहारिकतादात्म्यं प्रत्यपि प्रयोजकत्वाङ्गीकारेऽपि तत्रान्यथा-ख्यात्यादेरसंभवेनादोषात् । उपपादितं चैतद्विद्वलेशीये । इत्थंचाचार्यवचनविरोधस्यापसिद्धान्तस्य वात्राप्रसङ्गात् स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वपक्षोऽप्युपपन्न एव । स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वेपि यथा प्रपञ्चस्य न निःस्वरूपत्वम्, असच्चेन्न प्रतीयेतेत्युक्तावपि यथा प्रतीत्यनुपाधिकस्यासत्त्वस्य निर्वचनसंभवः, तथा पूर्वमेव निरूपितम् । वस्तुतस्तु असच्चेन्न प्रतीयेतेति वचनस्यापि स्वतोऽपरोक्षसत्तादात्म्यत्वेन न प्रतीयेतेत्यत्रैव तात्पर्याच्च तादृशवाक्यविरोधोऽपीति सर्वमनवद्यम् । यथाचोपाधिपदेनाधिकरणविवक्षया संबन्धनिवेशादिकं, तथा विस्तरेण प्रतिपादितं सिद्धौ । भावाभावयोरेव विरोधेन संबन्धविशेषादिनिवेशनायोगेऽपि सन्मात्रनिष्ठेलेव विशेषणमित्यपि च तत्रैवोक्तम् । तत्र प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि विषमसत्ताकत्वादिनोपपद्यते । सत्ताभेदस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यधीनत्वेऽपि नान्योन्याश्रयदोषः । प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावज्ञाना-नधीनत्वान्मिथ्यात्वस्य—इति ॥

॥ इति द्वितीयमिथ्यात्वम् ॥—

अथ तृतीयमिथ्यात्वविचारः ।

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम् । ननु—उत्तरज्ञाननिवर्त्यं पूर्वज्ञाने अतिव्याप्तिः, मुद्गरपातादिनिवर्त्यं च घटादावव्याप्तिः, ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायामप्ययं दोषः, अधिष्ठानसाक्षात्कारत्वेन निवर्त्यं शुक्तिरजतादौ च ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् साध्यविकलता, ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां ज्ञानत्वव्याप्येन स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्यं संस्कारे अतिव्याप्तिः—इति चेन्न; ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम् । अवस्थितिश्च द्वेधा, स्वरूपेण कारणा-

सिद्धिव्याख्या ।

अथ तृतीयमिथ्यात्वविचारः ।

ज्ञानेति । किं ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रम् ? उत ज्ञानत्वेन तन्निवर्त्यत्वम् ? अथवा ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण तन्निवर्त्यत्वमित्यभिप्रायेण शङ्कते—नन्विति । आद्ये दोषमाह—उत्तरेति । तस्य साध्यनिर्वचनरूपत्वे तदंशे सिद्धसाधनं चेत्यपि बोध्यम् । दोषान्तरमाह—मुद्गरेति । तस्य साध्यनिर्वचनरूपत्वे तदंशे बाधोऽपि बोध्यः । इदमुपलक्षणम् । शुक्तिज्ञानेन रूप्यं नष्टमिति कदाप्यननुभवेन तत्राव्याप्तिः । साध्यनिर्वचनत्वरूपे तद्विकल्पो दृष्टान्तविकल इत्यपि बोध्यम् । द्वितीयं पक्षमाशङ्क्य तत्र दोषमाह—ज्ञानत्वेति । अयमिति । एतावन्तं कालं शुक्त्यज्ञानमासीत् ‘भ्रम आसीत्’ इत्यनुभवेन शुक्तिवत्सत्येऽज्ञानभ्रमादौ शुक्तिज्ञानेन तदज्ञानं नष्टमित्यनुभवेन ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य सत्त्वेन तत्रातिव्याप्त्याख्यो दोष इत्यर्थः । यदि च साध्यनिर्वचनरूपत्वान्नायं दोषः, तदाऽर्थान्तरं; ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य भ्रमाज्ञानादाविव सत्यत्वेऽपि प्रपञ्चे संभवादिति ध्येयम् । दोषान्तरमाह—अधिष्ठानेति । इदमुपलक्षणम् । एवं सति लक्षणस्यासंभवोऽपि द्रष्टव्यः । तृतीयमाशङ्क्य निराकरोति—ज्ञानत्वव्याप्येति । विवक्षायामित्यनन्तरमपरोक्षत्वेन ज्ञाननिवर्त्येऽपि उक्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वेऽपीति शेषः । संस्कारे इति । नच—संस्कारादेर्न स्मृतित्वेन स्मृतिनिवर्त्यता, किंतु योग्योत्तरात्मविशेषगुणत्वेन, अन्यथा इच्छादेः संस्काराद्यनिवर्तकत्वापत्तेरिति—वाच्यम्; एवमपीच्छाद्यनिवर्त्यस्मृतिमात्रनिवर्त्यं संस्कारेऽतिव्याप्त्यवारणात्, इच्छानिवर्त्यसंस्कारस्थले संस्कारस्येव तन्निवर्त्यसंस्कारस्थलेऽपि तस्य सत्त्वावश्यंभावेन तत्रातिव्याप्तितादवस्थ्याच्च । नच—अनुभवत्वव्याप्यधर्मेण तन्निवर्त्यत्वं विवक्षितं, स्मृतौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ तृतीयमिथ्यात्वविचारः ।

‘विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त’ इत्यादिश्रुत्यर्थे विवदमानं प्रति साध्यान्तरमाह—ज्ञाननिवर्त्यत्वं वेति । अतिव्याप्तिः सिद्धसाधनम् । ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेति । ज्ञानत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकार्यतावन्नाशप्रतियोगित्वेत्यर्थः । अयं उक्ताव्याप्तिरूपः । प्रपञ्चनाशं प्रति ब्रह्मज्ञानस्य न कारणता; चरमतत्त्वज्ञानजन्यनाशस्यानाशापत्त्या ‘विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त’ इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः, तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वात् तत्सत्यत्वापत्तेः ‘अतोऽन्यदार्त’मित्यादि श्रुतिबाधाच्च । तथाच शुक्तिरूप्यादावप्युक्तज्ञाननाशस्येव मानाभावात् साङ्ख्याप्रसिद्धिरित्यपि बोध्यम् । ज्ञानप्रयुक्तेत्यादि । ज्ञानप्रयुक्तोऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानव्यापको यः अवस्थितिसामान्यस्य स्वस्वीयसंस्कारान्यतरस्याभावः तत्प्रतियोगित्वमित्यर्थः । यां या अप्रामाण्यज्ञानादिशून्यसाक्षात्कारप्रमा सा समानविषयकाज्ञानक्षणावृत्तिः । या या स्वजन्यपटुतम-

१ अज्ञानतत्संस्कारतत्त्वज्ञानादिसकलदृश्यनाशरूपत्वमपि तत्त्वज्ञानस्येति न्यायरत्नावल्यादृतपक्षात् पक्षान्तरमिदम् । एतदभिप्रायेण च व्याप्तिभेदः । तत्त्वज्ञाननाशयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य व्याप्यव्यापकभावं विनाऽसंभवात् सामानाधिकरण्यानिवेशेन व्यापकत्वनिवेशः । तेन तत्त्वज्ञानक्षणस्य दृश्याधिकरणपूर्वत्वाभावेऽनुकूलतर्कोपि सूचित इत्यादिन्यायरत्नावल्यादिषु विस्तरेण प्रतिपादितमिति ॥

त्मना च; सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । तथाच मुद्गरपातेन घटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणा-

सिद्धिव्याख्या ।

चानुभवत्वव्याप्यधर्मस्याभावात् न तन्निवर्त्यसंस्कारातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्; यत्र प्रमोत्तरमुत्पन्नस्य भ्रमस्य प्रमाजन्यस्मृतिपर्यन्तं बाधो न जातः प्रथमप्रमाजनितस्मृतिविषयबाधश्च दृश्यते तत्राव्याप्तेः । नच—भ्रमोत्तरप्रमानिवर्त्यत्वं विवक्षितं; प्रमात्वं च यथार्थज्ञानत्वमेव, नत्वनधिगतत्वगर्भं, येन यथार्थ-स्मृतिविषयेऽव्याप्तितादवस्थं स्यादिति—वाच्यम्; तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्याज्ञानसंस्कारेऽव्याप्तेः । न च—अज्ञानसंस्कारस्यापि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वमेव स्वीक्रियतेऽतो न तत्राव्याप्तिरिति—वाच्यम्; अज्ञानस्येवाज्ञानसंस्कारस्याज्ञानत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेः, ज्ञानाज्ञानयोरेव निवर्त्यनिवर्तकभावात् । न च—अज्ञानसंस्कारस्याप्यज्ञानोपादानतया तत्त्वज्ञानेन स्वोपादानाज्ञाननिवृत्तौ स्वस्यापि तद्वारा तन्निवर्त्यत्वमविकलमिति—वाच्यम्; अज्ञानसंस्कारनिवृत्तौ कर्तव्यायामज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञानत्वे मानाभावात् । न च—स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्, अतो न संस्कारादावव्याप्तिरिति—वाच्यम्; अज्ञानादेरनादेर्योऽध्यासस्तत्र चोपादानासंभवेनाव्याप्तेः, लाघवेनाज्ञानोपादानकत्वे तस्यैव लक्षणत्वापाताच्चेति भावः । प्रथमपक्षमादाय तत्रोक्तदोषोद्धारं प्रतिजानीते—नेति । ज्ञाननिवर्त्यत्वं निर्वक्ति—ज्ञानेति । अवस्थिति—द्वैविध्यकथनेन फलितं दर्शयति—तथाचेति । तस्य साध्यनिर्वचन-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संस्कारसहितोक्तप्रमा सोक्ताज्ञानतत्संस्कारक्षणावृत्तिः । सहितान्तोपादानादुक्तसहितान्यशुक्त्यादिप्रमाया उक्तसंस्कार-क्षणवृत्तित्वेऽपि न व्यभिचारः । अतएव जीवन्मुक्तिनिष्ठब्रह्मप्रमाऽपि तादृशक्षणवृत्तिः । या योक्तप्रमा सा स्वसमान-विषयकाज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारवत् कालपूर्वभिन्ना । तथाच तादात्म्येनोक्तप्रमां प्रति स्वाधिकरणक्षणवृत्तित्वसंबन्धेनोक्ता-ज्ञानतत्संस्कारान्यतरस्याभावः उक्ताज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारान्यतरस्य स्वाधिकरणकालपूर्वत्वसंबन्धेनाभावश्च व्यापकः । तादृशाभावप्रतियोगित्वस्याज्ञानतत्प्रयुक्ततत्संस्कारेषु सत्त्वालक्षणसमन्वयः । तादात्म्येन तादृशप्रमां प्रति स्वसमान-विषयकत्वं कालिकत्वं चेति संबन्धद्वयेनाज्ञानतत्संस्कारान्यतरस्याभावः, स्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकत्वं स्वाश्रयकालपूर्वत्वं चेति संबन्धद्वयेनाज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारान्यतरस्याभावश्च व्यापक इति तु निष्कर्षः । नानाज्ञानपक्षे तत्पुरुषीयत्वमपि प्रमाऽज्ञानयोर्निवेश्यम् । अवस्थितिरिति । प्रकृतस्यावस्थितिपदस्यार्थः । स्वरूपेण कारणात्मना चेति । अज्ञानतत्प्रयुक्तस्वरूपेण स्थूलावस्थाकारणीभूतसंस्काररूपेण च । झटिति अज्ञानसंस्कारस्य स्थूलावस्थोपधायकत्वं जीवन्मुक्तिदशायामस्त्येव; तदर्थमेव तत्स्वीकारात् । ननु—संस्काररूपे मानाभावः, तत्राह—सत्कार्यवादेति । कार्याणां तदधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तं किञ्चिद्रूपमवश्यं वाच्यम्, प्रलयकाले अदृष्टादिजन्यायाः कार्यावस्थायाः तत्कालसाधकश्रुत्यादिसिद्धत्वात्; 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासी'दित्यादिश्रुत्या तत्काले कार्यस्यानभिव्यक्तरूपेण स्थितिबोधनात्, दण्डादिपातेन घटो नष्ट इत्यादिप्रत्ययेन दण्डपातादिजन्यनाशावगाहनाच्च । नहि तार्किकादिमतेऽपि कार्यस्य नाशोऽपलप्यते, परं तूक्तश्रुत्या घटो नाशत्वमापन्नः पूर्वावस्थैवोत्तरावस्था जातेत्याद्यनुभवेन च सिद्धं नाशस्य पूर्वावस्थातादात्म्यापन्नोत्तरावस्थारूपत्वम् । नच—पूर्वोत्तरावस्थयोस्तादात्म्यमनुपपन्नमिति—वाच्यम्; भिन्नकालीनयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावसंबन्धस्येव तादात्म्यस्यापि अनुभवबलेन संभवात् । अन्यथा घटादि-कालावृत्तिज्ञानादेः घटादौ विषयतादिसंबन्धस्यापलापपत्तेः । तथाच सर्वदा व्यवहारकाले कार्यस्य तादात्म्यापन्नं किञ्चित्कार्यरूपमस्ति, तत्त्वदर्शनं विना तदुच्छेदासंभवादिति सत्कार्यवादः सांख्यैनामिवास्माकमपि, परं त्वस्माकं

१ न्यायरत्नावल्यां तु स्वप्रयोजकाज्ञानकालत्वशून्यवृत्तिज्ञानकालत्वरूपं ज्ञानोच्छेद्यत्वं; स्वप्रयोजकपदेन स्वकाले वर्तमानत्वस्यैव विवक्षणात् जीवेशभेदादावपि साध्यसमन्वयः इति प्रतिपादितमित्युक्तनिष्कर्षस्यापि तत्रैव तात्पर्यात् न न्यायभास्करोक्तार्थान्तराणां प्रसक्तिरिति ॥ २ तथाचोक्तं सांख्याचार्यैः—असदकरणद्विपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यमिति ।

त्मनावस्थितिविरहाभावात् ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त एव स इति नातीतघटादावव्याप्तिः । अतएवोत्तरज्ञान-

सिद्धिव्याख्या ।

रूपत्वे बाधोऽपि नेति ध्येयम् । ननु—कारणात्मनावस्थितिविरहाभावेऽङ्गीक्रियमाणे स्वरूपेणावस्थिति-
विरहाभावस्याप्यभ्युपगमापत्तिः । नच—मुद्गरपातादिना घटो निवृत्त इत्यबाधितानुभववलात्स्वरूपेणा-
वस्थितिविरह एवाभ्युपगम्यत इति—वाच्यम्; तथासति तत एव कारणात्मनावस्थितिविरहस्याभ्युपगम्य-
तयाऽव्याप्तितादवस्थ्यमेव इति—चेन्न; स्वरूपेणावस्थितिविरहमात्रमादायान्यथासिद्धस्य तस्यानुभवस्य
कारणात्मनाऽवस्थितिविरहाविषयकत्वात्, इतरथा मुद्गरपातानन्तरं घटः स्वरूपेण निवृत्त इत्यनुभववत्का-
रणात्मना निवृत्त इत्यनुभवापत्तेः । ततश्च नातीतघटादावव्याप्तिरिति भावः । यदुक्तम्—उत्तरज्ञानेन पूर्व-
ज्ञानं निवृत्तमित्यबाधितानुभवसिद्धज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगिनि पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्तिः, सा-
ध्यनिर्वचनत्वरूपत्वे सिद्धसाधनम्—इति । तदपि नेत्याह—अतएवेति । अतश्शब्दार्थमाह—उत्तरेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

तद्रूपं मिथ्येति विशेषः । ननु—ज्ञानजन्यनाशप्रतियोगित्वमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वमस्तु, मुद्गरादिना तु घटादेर्नाशो न
जन्यते; मुद्गरादितः पूर्वसिद्धस्य घटाद्युपादानस्य कपालादेरेव तत्तत्कालावच्छिन्नस्य घटादिनाशत्वात् । नचैवं—
तत्त्वज्ञानेनापि कपालादिरूपस्य नाशस्याजननात् घटादावव्याप्तिरिति—वाच्यम्; श्रुतिप्रामाण्यात् ज्ञानकालीनकपाला-
दिरूपाणां घटादिनाशानां ज्ञानाजन्यत्वेऽपि ज्ञानोत्तरकालोत्पन्नस्वेतरसर्वप्रतियोगिकनाशस्य ज्ञानजन्यत्वे सिद्धे
कपालादिनाशस्यापि घटादिनाशत्वेन घटादिनाशस्य ज्ञानजन्यत्वानपायात्, तत्राह—तथाचेति । ज्ञानप्रयुक्त्या-
दिलक्षणे कृते चेत्पर्यः । ब्रह्मेत्यादि । एवकारः स इत्यस्योत्तरं योजनीयः । तथाच स एव उक्तसंबन्धेनाज्ञानप्रयुक्त-
तत्संस्कारान्यतराभावरूपोक्तावस्थितिसामान्याभाव एव, ज्ञानप्रयुक्तः ज्ञानाधीनः, नतु घटादिनाशो ज्ञानकाली-
नकपालादिनाशरूपः; तस्य ज्ञानजन्यत्वे पश्चान्नाशकाभावेन स्वनाशत्वस्वीकारे ज्ञानानाशत्वेन च सत्यत्वा-
पत्तेः । नच—उक्तावस्थितिसामान्याभावस्येव कपालादिप्रपञ्चनाशस्यापि ज्ञानोत्पत्तिक्षणे द्वितीयक्षणे वा ज्ञानस्या-
क्षणीकत्वपक्षे उत्पन्नत्वेन प्रपञ्चसमानकालीनत्वं स्वीकृत्य ज्ञानप्रयुक्तत्वमुच्यतामिति—वाच्यम्; नाशस्य प्रतियो-
गिक्षणावृत्तित्वनियमात्, प्रतियोगिक्षणवृत्तिनाशे मानाभावात्, चरमक्षणस्य स्वेतरसकलदृश्यनाशत्वसंभवेऽपि
स्वनाशत्वासंभवेन तस्य ज्ञानजन्यनाशप्रतियोगित्वोपपादनासंभवात्, उक्तावस्थित्यभावविषयकतया 'ज्ञानात् दृश्यं
सर्वं नष्ट' मिति प्रत्ययोपपत्तेः, तत्त्वज्ञानजन्यनाशे मानाभावाच्च । तस्मात् स एव ज्ञानाधीनः; ज्ञानादुक्ताभाव इति
प्रत्ययेन ज्ञानकालीनेऽप्युक्ताभावे ज्ञानाधीनत्वसंभवात् ज्ञाननाशकालीनस्य उक्ताभावस्य स्वीकारे तस्य नाशकाभावेन
सत्यत्वापत्तेः, नतु कपालादिनाशः; मानाभावादिति या अतीतघटादौ ज्ञाननाशत्वलक्षणस्याव्याप्तिः सा ज्ञानप्रयुक्ते-
त्यादिकरणाच्चेत्यर्थः । ननु—उक्तावस्थित्यभावोऽपि न ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः, प्रलयादौ ब्रह्मज्ञानं विनापि तत्सत्त्वेन तस्य
ब्रह्मज्ञानाधीनत्वात्—इत्यत उक्तम्—मुद्गरपातेनेति । उपलक्षणमिदम् । ब्रह्मज्ञानान्येनादृष्टादिनेत्यर्थः । प्रयुक्तत्वं
तृतीयार्थः । तस्य च विरहपदार्थद्वयेऽन्वयः । तथाच घटादिस्वरूपप्रतियोगिकविरहस्य ब्रह्मज्ञानान्यप्रयुक्तत्वेऽपि घटादि-
संस्कारप्रतियोगिकस्य उक्तावस्थितिसामान्याभावस्य ब्रह्मज्ञानान्याप्रयुक्तत्वेन ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तत्वं तस्याक्षतमिति भावः ।
यदि च चरमक्षणे स्वेतरस्येव स्वस्यापि ध्वंसत्वं स्वीक्रियते; एकत्रापि तत्र रूपभेदेन ध्वंसत्वं प्रति प्रतियोगित्वानु-
योगित्वयोः संभवात्, सकलदृश्यत्वेन हि तत्र प्रतियोगित्वम्, चरमतत्त्वज्ञानाश्रयतत्त्वक्षणाव्यक्तित्वेनानुयोगित्वम्;
'घटाभावे स नास्ती'त्यादिप्रत्ययबलेनाश्रमस्वामिनां मते घटाभावादप्रतियोग्यनुयोगिकस्यात्यन्ताभावस्येव 'ज्ञानात्
सर्वदृश्यं नष्टमि'त्यादिप्रत्ययबलेन सर्वदृश्यप्रतियोगिकस्य चरमक्षणानुयोगिकस्य ध्वंसत्वस्य संभवात्, तदा ज्ञानप्रयु-
क्तावस्थित्यादेर्ज्ञानाधीनो यः स्वस्वीयसंस्कारोभयस्य नाशस्तत्प्रतियोगित्वमर्थः । उत्तरज्ञाननाशत्वमादाय पूर्वज्ञाने
सिद्धसाधनात् संस्कारनिवेशः । स्मृतिनाशसंस्कारकत्वमादायानुभवे सिद्धसाधनात् स्वेत्यस्य निवेशः । संस्कारस्य
स्मृत्यनाशत्वे तु न तन्निवेदयम् । अवस्थितिश्चेत्यादि । अवस्थितिपदार्थः उभयरूप इत्यर्थः । ननु मुद्गरपातादिनापि
घटतत्संस्कारयोर्नाशसंभवेन नोक्तनाशो ज्ञानप्रयुक्तः, तत्राह—तथाचेत्यादि । विरहपदे नाशपरे । विरहाभावा-
दिति । तथाचोक्तश्रुत्यादिसिद्धो दण्डाद्यनाशयो घटादिसंस्कारः प्रलयादिनिष्ठ आवश्यक इति भावः । सः स्वरूपसंस्कारो-

निवर्त्य पूर्वज्ञाने न सिद्धसाधनम्; नवा वियदादौ ब्रह्मज्ञाननाशत्वेऽपि तद्वदेव मिथ्यात्वासिद्ध्यर्थान्तरम्; उत्तरज्ञानेन लीनस्य पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मनावस्थानादवस्थितिसामान्यविरहानुपपत्तेः । शशवि-

सिद्धिव्याख्या ।

अनुपपत्तेरिति । ततश्च न पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्तिः । न वा तदादाय सिद्धसाधनमिति ज्ञेयम् । नन्वेवं—पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मनाऽवस्थाने स्वरूपेणाप्यवस्थानापत्तिः; विनिगमकाभावात्, न च—उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवात्तत्सिद्धिरिति—वाच्यम्; तर्हि तत एव तस्यापि सिद्ध्याऽतिव्याप्तिसिद्धसाधने स्याताम्—इति चेन्न; पूर्वज्ञानप्रतियोगिकस्वरूपेणावस्थितिविरहमात्रविषयकतयाऽन्यथासिद्धस्योत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य कारणात्मनाऽवस्थितिविरहाविषयकत्वात् । अन्यथा उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानं स्वरूपेण नष्टमित्यनुभववत्कारणात्मना नष्टमित्यनुभवापत्तेः । नच—उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानं न स्वरूपेण निवृत्तमित्यनुभवस्य पूर्वज्ञाने लीनमात्रविषयकत्वे विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुतमायानिवृत्तेरपि विलय-मात्ररूपतापत्तिरिति—वाच्यम्; मायाया अनादित्वेन स्वकारणाभावेन कारणात्मनाऽवस्थित्यनुपपत्त्या तन्निवृत्तेरवस्थितिसामान्यविरहरूपत्वोपपत्तेरिति भावः । ज्ञानपदव्यावर्त्यमाह—शशविषाणादाविति । यदुक्तं—शुक्तिज्ञानेन रूपं नष्टमित्यनुभवेन तत्राप्यव्याप्तिः । साध्यनिर्वचनरूपत्वे साध्यविकलो

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भयनाशः । ज्ञानप्रयुक्त एवेति । स्वरूपनाशकसंस्कारप्रतियोगिकस्य नाशस्यापि स्वरूपनाशत्वेनोभयप्रतियोगिक-नाशो ज्ञानप्रयुक्त एवेति नातीतघटाद्यव्याप्तिरिति भावः । अथवा ज्ञानप्रयुक्तावस्थित्यादेरयमर्थः । अज्ञानप्रयुक्त-तत्संस्कारान्यतरस्य पूर्वोक्तसंबन्धद्वयेन योऽत्यन्ताभावो ज्ञानाधीनस्तत्प्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वमिति । पूर्वमते नाशस्येव एतन्मतेऽत्यन्ताभावस्य ज्ञानसमानकालीनस्यापि ज्ञानाधीनत्वम्; 'तत्त्वज्ञानादज्ञानप्रयुक्तमुच्छिद्यते सर्वदृश्यमुच्छिद्यते' इति प्रत्ययात् । ननु—उक्तात्यन्ताभावस्याविद्यकत्वेन तस्याप्युक्तात्यन्ताभावो ज्ञानाधीनो वाच्यः, एवं तस्यापीत्यनवस्था-इति—चेन्न; पूर्वमते एकस्यैव स्वस्वेतरनाशत्ववदेतन्मतेऽप्येकस्यैव स्वस्वेतरोक्तात्यन्ताभावत्वस्य संभवात् । ननु—प्रल-यादावुक्तात्यन्ताभावस्य ब्रह्मज्ञानं विनाऽपि सत्त्वेन न स तत्प्रयुक्तः, तत्राह—तथाचेत्यादि । मुद्गरपातेन ब्रह्मज्ञानान्येन । ज्ञानप्रयुक्तः ज्ञानाधीनः । अथवा—ज्ञानप्रयुक्तो ज्ञानाधीनः योऽवस्थितिसामान्यस्य स्वात्मकसामान्यस्याभावः तत्प्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वम् । स्वात्मकं च, स्वसमसत्ताकं ग्राह्यम्, तच्च स्वस्वीयसंस्काररूपस्वीयपरिणामादिरूपमेव, न तु ब्रह्म । ज्ञानेन हि अज्ञानतत्परिणामसामान्यस्यात्यन्ताभावः स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षणावच्छिन्नः साध्यते, साध्यता च तत्र क्षेमसाधारणी । स चाभावः स्वान्यसर्वदृश्यविरोधी क्षणिक इति—व्याख्या । तदेतद्व्याख्याचतुष्टयं दर्शितम् । अतएव यथाश्रुतस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यासाध्यत्वादेव । तद्वदेव पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञाननाशत्व इव । ननु—उक्तसंबन्धद्वयेन कस्यचिद्योऽत्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वमेवास्तु, किमुक्तान्यतराभावस्याज्ञानप्रयुक्तत्वस्य वा निवेशेन? द्वितीयपक्षे च किमुक्तनाशत्वस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वस्य च निवेशेन? तत्राह—शशेत्यादि । अवस्थितिसामान्यस्य विरहः उक्तसंबन्धद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । चतुर्थपक्षे तु तथा चेत्यादि नातिव्याप्तिरित्यन्तो ग्रन्थः सङ्गच्छतेतमाम् । ननु—तत्पक्षे दृश्यसामान्यस्याध्यासिकतादात्म्यसंबन्धेनात्यन्ताभावो ज्ञानाधीनः संबन्धान्तरेण वा सः आद्ये तादात्म्यस्य भेदप्रतियोगितायामेवावच्छेदकत्वादसङ्गतिः, द्वितीये अध्यस्तसर्वसंबन्धैरत्यन्ताभावस्य ज्ञानप्रयुक्ततया प्रतीतिर्विर्ध्येत इति—चेन्न; आध्यासिकतादात्म्यस्य विषयतायाः समवायस्य च स्थानापन्नत्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितायामेवावच्छेदकत्वात्, भेदप्रतियोगितायाः संबन्धावच्छिन्नत्वे मानाभावात् । नच—उक्ता-

(१) ज्ञानप्रयुक्तेत्यत्र प्रयुक्तत्वं किमधीनत्वम्? उत व्यापकत्वम् । आद्येऽपि किमवस्थित्या सामान्यं विशेष्यते? विरहो वा, तत्रापि विरहपदार्थः किमत्यन्ताभावः? उत नाशः? इति विकल्पमभिप्रेत्यावस्थित्याविरहविशेषणत्वपक्षवर्ज्यं सर्वपक्षोपपत्तिः संभवतीति सूचनार्थं व्याख्याचतुष्टयं दर्शितम् । तत्प्रयुक्तत्वस्याधीनरूपत्वे विरहपदस्य नाशपरत्वे च द्वितीयव्याख्यानं, तत्रैव विरहपदस्यात्यन्ताभावपरत्वे तृतीयं व्याख्यानं, तत्रैवावस्थित्याः सामान्यविशेषणत्वे चतुर्थं व्याख्यानम् । प्रयुक्तत्वस्य व्यापकत्वरूपत्वेऽवस्थित्या सामान्यविशेषणत्वे विरहपदेनात्यन्ताभावविवक्षणे च प्रथमं व्याख्यानमिति विवेकः ।

पाणादाववस्थितिसामान्यविरहेऽपि तस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाभावाच्चातिव्याप्तिः । शुक्तिरजतादेश्चापरोक्ष-
प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिभासकाले अवस्थित्यङ्गीकाराच्च बाधकज्ञानं विना तद्विरह इति न साध्य-
विकलता । अतएवोक्तं विवरणाचार्यैः—अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीनेन वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृ-

सिद्धिव्याख्या ।

दृष्टान्त—इति, तद्वृषयति—शुक्तिरजतादेश्चेति । उक्तार्थेऽभियुक्तवचनं प्रमाणयति—अतएव-
त्यादिना । ननु—ज्ञानप्रयुक्तवस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यत्र—किमवस्थित्या
सामान्यं विशेष्यते, विरहो वा । आद्येऽवस्थितिसामान्यं कारणात्मनाऽवस्थितिः कारणमिति यावत्, ज्ञान-
प्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगिकारणकत्वमित्यर्थः । तत्रोत्तरज्ञानप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगिपूर्वज्ञानजन्यसंस्कारादौ
सिद्धसाधनम्, अनाद्यविद्यादौ च बाधः । कारणशब्देनानाद्यविद्योक्तौ चाविद्याकारणत्वमेवास्तु शेष-
वैयर्थ्यात्; अनाद्यविद्यादौ बाधश्च । न द्वितीयः; घटाद्यवस्थितिसामान्यविरहे ज्ञानयुक्तत्वं न संभवति;
विनष्टघटाद्यवस्थितिविशेषद्वयविरहस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाभावात्, स्वरूपेणावस्थितिविरहस्य ज्ञानाप्रयुक्तत्वात्,
विशेषाभावातिरिक्तसामान्याभावस्य त्वयैवाविद्यावादे निरसिष्यमाणत्वात्, ज्ञानप्रयुक्तविरहप्रतियोग्य-
वस्थयाऽवस्थात्वस्यातिप्रसङ्गेन प्रतियोगितानवच्छेदकत्वाच्च । शुक्तिरजतादेरवस्थित्यस्वीकारे स्वरूपेण
निषेधोक्त्ययोगश्च रूप्यादेः स्वरूपेणैव निषेध इति त्वदभ्युपगमपक्षे रूप्यादेरत्यन्तासत्त्वस्यापादितत्वेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावस्य कैवल्येऽभ्युपगमपक्षात् 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त' इत्यादिश्रुतिविरोध इति—वाच्यम्; क्षणिकत्वस्योक्तत्वात् ।
ननु शुक्तिरजतादेरपि शशविषाणधदलीकत्वेनाज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारान्यतराभावाप्रतियोगित्वात्साध्यवैकल्यम्, तत्राह
शुक्तीत्यादि । तद्विरह इति । अतएव तस्याज्ञानप्रयुक्तत्वमिति शेषः । अतएव उक्तात्यन्ताभावस्य ज्ञानव्यापक-
त्वात्, ज्ञानाधीनत्वाद्वा, उक्तनाशस्य ज्ञानाधीनत्वाद्वा । स्वकार्येण स्वप्रयुक्तेन । विलीनेन संस्कारेण । वर्तमानेन
स्थूलेन । सह सहितस्य । ज्ञानेन ज्ञानव्यापिका, ज्ञानाधीना वा । निवृत्तिः उक्तात्यन्ताभावः, उक्तनाशो वा ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपसाध्यस्य पक्षे विद्यदादौ दृष्टान्ते शुक्तिरजतादौ च वैकल्यमित्याशङ्क्य तन्निराकरणपरतामपि विवरणग्र-
न्थस्य सूचयितुं उपपन्नं व्याचष्टे टीकायाम्—अतएवेति । उक्तात्यन्ताभावस्य अज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारान्यतराभावस्य,
स्वात्मकसामान्यात्यन्ताभावस्य वा ज्ञानव्यापकत्वादिति प्रथमे व्याख्याने, ज्ञानाधीनत्वादिति तृतीये चतुर्थे च, उक्त-
नाशस्य स्वसंस्कारोभयनाशस्याज्ञानाधीनत्वादिति द्वितीये । अज्ञानप्रयुक्तरजताद्यभावस्य साक्षात् ज्ञानप्रयुक्तत्वला-
भकं व्याचष्टे—स्वकार्येणेति । अज्ञानसंबन्धसाधारण्यायाह—प्रयुक्तेनेति । प्रविलीनेनेत्यस्य नष्टेनेत्यर्थोपगमे भावद-
शाया न लाभ इत्यतस्तत्संग्रहाय व्याचष्टे—संस्कारेणेति । प्रागभावध्वंसोभयदशासाधारणेन सूक्ष्मरूपेणेत्यर्थः । सूक्ष्म-
तादशायामपि वर्तमानत्वात्तद् व्याचष्टे—स्थूलेनेति । सहार्थस्य ज्ञानेऽन्वयशङ्कां व्युदस्यति—सह सहितस्य । विशिष्ट-
स्येत्यर्थः । तेन विशेषणनिवृत्तेरपि लाभः । विशेषणे तृतीया, वैशिष्ट्यं संबन्धः । स च व्यापकत्वं, प्रयुक्तत्वं, वा । हेतौ
वा तृतीया । स्वघटितसामग्रीजन्यनिष्ठव्यापकत्वप्रयुक्तत्वान्यतरलाक्षणिकीत्याह—ज्ञानव्यापिका ज्ञानाधीना वेति । जन्य-
त्वस्य तृतीयार्थत्वेऽत्यन्ताभावसंग्रहादाह—ज्ञानेनेति । यद्वा—समभिव्याहृतनिवृत्तिपदार्थाभावादिकालः सहशब्दार्थः,
तद्वट्टकाभावादौ प्रतियोगितया कार्यान्वयः । तादृशकालविशिष्टस्याज्ञानस्य निवृत्तावन्वये स्वकार्यनिवृत्तिकालावच्छिन्नत्वस्या-
ज्ञाननिवृत्तौ लाभेन तत्र भासमानं ज्ञानप्रयुक्तत्वं तद्विशेषणकोटिप्रविष्टाज्ञानकार्यनिवृत्तौ लभ्यते इति बोध्यम् । निवृ-
त्तिर्न विषयत्वविशेषः, अज्ञानस्याचेतनत्वेनान्वयात्; नापि निश्चयेन संशयनिवृत्तिरित्यत्र संशयान्तरानुत्पादवत् अज्ञान-
कार्यान्तरानुत्पादोऽर्थः; उत्पन्नकार्यनिवृत्तेरलाभप्रसङ्गात्, अतो व्याचष्टे—निवृत्तिः उक्तात्यन्ताभाव उक्तनाशो वा
इति । अत्र ज्ञानप्रयुक्तो यः अज्ञानस्वरूपप्रयुक्ततत्संस्काराभावः तत्कालीनो योऽज्ञानतत्संस्काराभावो ज्ञानप्रयुक्तः, स बाध

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अत्रेदं बोध्यम् । निवृत्तेर्ज्ञानाधीनत्वपक्षे ज्ञानोत्पत्तिकालीनेऽप्यज्ञानतत्संबन्धयोर्निवृत्तिस्वरूपे अखण्डधर्मरूपं ज्ञानाधीनत्वमविरुद्धम् घटादिस्वरूपे तत्प्रागभावनिवृत्तिस्वविशिष्टे घटाद्यधीनत्ववत् ; घटात्तत्प्रागभावो निवृत्त इति धीवत् 'तरति शोकमात्मवित्' 'सोऽविद्याग्रन्थि विकिरती'त्यादिप्रतीतेः, ज्ञानोत्पत्तिकाल एवाविद्यानिवृत्त्यनुभवाच्च । यदि च स्वोत्पत्तिक्षणावच्छिन्नायां निवृत्तौ ज्ञानाधीनत्वं न स्वीक्रियत इत्याग्रहः, तथापि घटादिजनकसामग्र्या एव घटादिप्रागभावनिवृत्तिजनकत्वस्वीकारादव्यवहितपूर्वत्वसंबन्धेन घटविशिष्टत्वेनैव तस्य वाच्यत्वात्जनकतावच्छेदकस्यापि कार्ये

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

इति पर्यवसितार्थः । तत्राभावोऽन्यतराल्यन्ताभावः उभयनाशो वा बोध्यः । प्रयुक्तत्वं च व्यापकत्वं स्वरूपसंबन्धविशेषरूपो वेति बोध्यम् । ननु—अनन्तरोपन्यस्तवार्तिके सम्यक्धीजन्ममात्रत इत्युक्तेः समानविषयकज्ञानाज्ञानयोर्विरोधाच्च ज्ञानोत्पत्तिकाले एवाज्ञानतत्संबन्धयोर्ज्ञानात् निवृत्तिरिति प्रतीयते, तच्च न संभवति; स्वोत्पत्तिकालीने स्वस्मिन्निव स्वस्मिन्नेऽपि स्वप्रयुक्तत्वासंभवात्, तस्य खेतरमात्रकालीनत्वनियतत्वात्—इत्याशङ्कां परिहरति—अत्रेदं बोध्यमिति । निवृत्तेरत्यन्ताभावनाशान्यतररूपाया ज्ञानोत्पत्तिकालीनाया अपि ज्ञानव्यापकत्वे बाधकाभावात् ज्ञानाधीनत्वपक्ष इत्युक्तम् ।—**निवृत्तिस्वरूप इति** । ज्ञानाधिकरणभावभिन्नस्वरूपे निवृत्तिपदार्थे इति शेषः । अज्ञाननिवृत्तिस्वविशिष्टब्रह्मस्वरूपे इति चार्थः । **अखण्डधर्मरूपं** स्वरूपसंबन्धविशेषरूपम् । **अविरुद्धमिति** । स्वीयसंबन्धविषयत्वरूपस्वप्रयुक्तत्वस्य स्वोत्तरकालीनत्वनियतत्वे मानाभावादिति भावः । व्यभिचारमपि दर्शयति—**घटादिस्वरूप इति** । घटातिरिक्तस्य घटोत्तरत्वसंभवात् **घटस्वरूप इति** । अत्यन्ताभेदे स्वप्रयोज्यप्रयोजकभावसंभवात् भेदप्रयोजकरूपभेदमाह—**तत्प्रागभावनिवृत्तिस्वविशिष्टे इति** । स्वोत्पत्तिकालोत्पत्तिकेऽपीति शेषः । ननु—अत्र घटात्तत्प्रागभावो निवर्तते इति प्रतीतिवत् तत्राभ्युपगम्यते, प्रकृते तथाभ्युपगमे किंप्रमाणम्—अतस्तदधिकं श्रुतिप्रमाणमाह—**तरति शोकमात्मविदिति** । अत्र शोकः तन्निदानमज्ञानतत्संबन्धौ, तयोस्तरणं, प्लवनं गतिः, तथा सहचरिताभावो लक्ष्यते, "धातुसंबन्धे प्रत्यया" इत्यनुशासनात् । अज्ञानाभावरूपधात्वर्थसमानकालीनत्वेन भासमानात्मज्ञानरूपोद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यत्वं तादृशधात्वर्थे विधेये भासते । किंच 'तरति' इति लटो वर्तमानकालोऽर्थः, स चेह न प्रकृतशब्दप्रयोगाधिकरणकालः, यतः स यदि ईश्वरस्य शब्दप्रयोगाधिकरणीभूतः सर्गपूर्वावधिकालः, तदा जीवानामज्ञानमात्रोपाधीनां न देहेन्द्रियाणि, नापि तत्त्वज्ञानम्, कुतो मोक्षः ? यद्यध्यापकानां, तदा सर्वदा एकैकजीवस्य तत्त्वज्ञानमोक्षौ आवश्यकौ; अन्यथा यद्वाक्योच्चारणकाले न तौ, तदा तद्वाक्यार्थबाधः स्यात्, न चैवं संभवति; "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" इत्यादिवाक्यैस्तस्य दुर्लभत्वेनासार्वदिकत्वात् । किंच तद्वाक्यस्य यत्काले उच्चारणं, तत्पूर्वोत्तरकालीनतत्त्वज्ञानमोक्षयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावबोधनेनोक्तश्रुतेर्लौकिकज्ञाननिवृत्तिपरत्वव्याघातः स्यात्, किंतुद्देश्यतावच्छेदकीभूतात्मज्ञानोत्पत्तेर्वर्तमानकाल एवेह लडर्थ इति तत्कालीनत्वं शोकनिवृत्तौ भासते, तन्मात्रबोधे प्रयोजनाभावादुद्देश्यविधेयभावमहिम्ना ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधाच्च तत्प्रयोज्यत्वमपि तत्र लभ्यत इति भावः । उक्तश्रुतौ शोकपदस्य अविद्यातत्संबन्धपरत्वेन तृधातोर्निवृत्तिपरत्वेन चोक्तार्थकत्वे श्रुत्यन्तरसंवादमाह—**सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीति** । स ब्रह्मात्मसाक्षात्कारवान् । अविद्यासहितं ग्रन्थि, ग्रन्थिवत् दृढं तत्संबन्धं विकिरति वराहो बह्नीमिवोन्मूलयतीत्यर्थः । तत्र लोकानुभवमप्याह—**ज्ञानोत्पत्तिकाल एवेति** । इदं रजतमिति भ्रमोत्तरं नीलपृष्ठत्वादिविशेषदर्शनेन दूरत्वादितोषापगमेन च शुक्तिलप्रकारकसाक्षात्कारक्षणे एव रजतभ्रमोपादानाज्ञाननिवृत्तेः सर्वानुभवसिद्धत्वात्, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारक्षण एव प्रपञ्चभ्रमोपादानमूलविद्यानिवृत्तेः जीवन्मुक्तानुभवसिद्धत्वाच्चैत्यर्थः । ननु—अस्तु ज्ञानोत्पत्तिकाल एवाज्ञाननिवृत्तिः, किंतु तस्यां स्वोत्तरमात्रवृत्तित्वनियतं ज्ञानप्रयुक्तत्वं न संभवति । न च—उक्तव्याप्तौ मानाभावः, स्वोत्पत्तिकालोत्पत्तिके स्वप्रयुक्तत्वस्यान्यत्रादृष्टस्य स्वीकारे मानस्य भवतैव वक्तव्यत्वात्, भूयःसहचारदर्शनस्य तद्व्याप्तिग्राहकत्वाच्च । न च—घटप्रागभावनिवृत्तौ घटरूपायां घटप्रयुक्तार्था व्यभिचारज्ञानसंभवाच्च व्याप्तिग्रहसंभवः, तज्ज्ञानविरहसहकृतसहचारदर्शनस्यैव व्याप्तिग्राहकत्वादिति—वाच्यम्; घटप्रागभावनिवृत्तौ घटप्रयुक्तत्वानुपगमात्, घटजनकसामग्रीप्रयुक्तत्वस्यैव तत्रोपगमात्—इत्याशङ्कते—**यदिचेति** । स्वं ज्ञानं, निवृत्तौ ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिर्घटात्, स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यादिव्यवहाराणां विवरणकाराद्यभिप्रयुक्तवृत्तीनां गौणत्वेनोपपादनस्यान्याय्यत्वात्, **यदिचेति आग्रह इत्युक्तम्** । अभ्युपगम्य प्रागभावनिवृत्तिप्रतिबन्धं समाधानमुपक्रमते—**तथापीति—स्वीकारादिति** । तथा प्रकृतेऽपि ज्ञानजनकसामग्र्या एवाज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वं स्वीकार्यमिति भावः । कथं तर्हि घटात्तत्प्रागभावनिवृत्तिरिति प्रत्ययः, तत्राह—**अव्यवहितपूर्वत्वसंबन्धेनेति** । घटविशिष्टत्वेनैवेति । अन्यथा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रयोजकत्वात् घटात्तत्प्रागभावनिवृत्तिरिति प्रत्यये घटप्रयोज्यत्वं निवृत्तौ भाति । यदि चोक्तनिवृत्तिर्घट एव न तदन्या, तत्र च कपालत्वादिनैव हेतुत्वं, नतु घटवत्त्वेनेति न घटस्य स्वस्मिन् प्रयोजकत्वमुच्यते, तदा घटात्तत्प्रागभावो निवृत्त इति व्यवहारो न मुख्यः, किंतु घटजनकात् घटप्रागभावनिवृत्तिरित्येव मुख्यो व्यवहारः । 'तरति शोक'मित्यादौ शोको नाविद्यादिकम्, किंतु दृश्यमात्रम् । आत्मवित् आत्मज्ञानसाधनवानिति दिक् ॥ इतरदृश्यनिवृत्तौ तु ज्ञानसाध्यतापि संभवति, ज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालीनत्वात् । उक्तसाध्यतापि ज्ञानाधीनाग्रिमसमयसंबन्धरूपा तादृशदृश्यविरोधित्वविशिष्टे एवात्यन्ताभावे स्वीक्रियते; ज्ञानपूर्वकालीनत्वविशिष्टे तादृशात्यन्ताभावे ज्ञानसाध्यत्वस्याप्रतीतेः । तादृशविरोधित्वं च तस्य नानुपपन्नम्; तत्त्वज्ञानस्योक्तात्यन्ताभावेतरदृश्याश्रयकालपूर्वत्वविशिष्टान्यत्वनियमात् । तादृशात्यन्ताभावस्यापि क्षणिकत्वम्; दृश्याश्रयकालपूर्वत्वविशिष्टान्यत्वनियमादिति । एवमज्ञानप्रयुक्तसाहित्यस्याज्ञाने कथनात् अज्ञानस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

घटलावच्छिन्नजनकतावच्छेदकानि यावन्ति, तावदवच्छिन्नसमुदायत्वेन तत्प्रयोज्यत्वे अपरावच्छिन्नविशिष्टैकावच्छिन्नत्वेन वा जनकत्वेऽवच्छेदकगौरवं विनिगमनाविरहेण कारणताबाहुल्येन च गौरवं स्यादिति भावः । तस्य घटप्रागभावनिवृत्तिजनकत्वस्य ।—जनकतावच्छेदकस्यापि इति । जनकविधया प्रयोजकत्वस्यैव पूर्ववृत्तिलिनियतत्वात्, घटस्य प्रागभावनिवृत्तिसमानकालीनत्वेऽपि जनकतावच्छेदकविधया प्रयोजकत्वं संभवतीति यथा तथा प्रकृतेऽपि अव्यवहितपूर्वत्वसंबन्धेन ज्ञानविशिष्टत्वेनैव लाघवेन तत्सामग्र्या अज्ञाननिवृत्तौ जनकत्वात्, ज्ञानस्य तदवच्छेदकत्वात् समानकालीनत्वेऽपि प्रयोजकत्वमव्याहतमिति भावः । ननु—जनकतावच्छेदकविधया प्रयोजकत्वमपि पूर्ववृत्तिलिनियतमेव—इत्यत आह—यदि चेति । उक्तनिवृत्तिः घटप्रागभावनिवृत्तिलविशिष्टरूपा । तत्र घटरूपायाम् । कपालत्वेनैवेति । लाघवात् घटत्वं जन्यतावच्छेदकीकृत्येति शेषः । प्रकृते, अज्ञाननिवृत्तिः ज्ञानरूपा, तां प्रति ज्ञानत्वं जन्यतावच्छेदकीकृत्य आत्मत्वादिना लाघवात् हेतुत्वं, न ज्ञानवत्त्वेनेति भावः ।—न मुख्य इति । किंतु घटपदस्य घटजनकार्थकतया गौणः । पञ्चम्याः प्रयोजकत्वावच्छेदकत्वार्थकत्वे लाघवेऽपि गौणत्वं दुर्वारमिति भावः । प्रकृतेऽपि गौण्या श्रौतव्यवहारमुपपादयति—तरतीति । अविद्यादिकमिति । आदिना तत्संबन्धः । दृश्यमात्रम् अविद्या तत्संबन्धान्यदृश्यमात्रम्, अविद्यादिदृश्यसामान्यं वा । अज्ञानादिमात्रनिवृत्तिस्तु ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधात् ज्ञानोत्पत्तिकालत्वेन लोकसिद्धैवेति न श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति भावः । अत्र विधेयकोटौ लक्षणाया अन्याय्यत्वात् कल्पान्तरम् उद्देश्यकोटौ लक्षणयाह—आत्मविदिति । अस्मिन् पक्षे अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानप्रयुक्तत्वेन लोकैरभिमन्यमाना ज्ञानसाध्यतेव तत्प्रयुक्तनिवृत्तेस्तदुत्तरकाले साऽर्थसिद्धेति ध्येयम्—दिगिति । शोकोऽविद्यादिकमेव, तत्र चात्मज्ञानरूपोद्देश्यतावच्छेदकस्य प्रयोजकतावच्छेदकत्वं समानकालीनत्वमुभयं वा संसर्गमर्यादया भासते इति न कस्यापि गौणत्वमिति दिगर्थः । अस्मिन् पक्षे विवरणवाक्ये ज्ञानेनेत्यत्र ज्ञानपदं ज्ञानतज्जनकान्यतरप्रयोजकपरं इति बोध्यम् ।—इतरदृश्यनिवृत्ताविति । अविद्यादीतरदृश्यमात्रनिवृत्तावित्यर्थः । अविद्यादीतरसाधारणदृश्यसामान्यनिवृत्तावित्यर्थो वा । ज्ञानसाध्यतापीति । अपिना अविद्यादिनिवृत्तिनिष्ठज्ञानसाध्यत्वस्योक्तस्य समुच्चयः । ननु—नाशरूपनिवृत्तिपदार्थं ज्ञानजन्यतारूपज्ञानसाध्यतासंभवेऽपि नित्येऽत्यन्ताभावे कथं सा संभवति?—इत्यत आह—उक्तसाध्यतापीति । ज्ञानाधीनेति । ज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणसंबन्धस्तद्रूपेत्यर्थः । ननु—दृश्यात्यन्ताभावे ज्ञानोत्तरक्षणसंबन्धः कथं ज्ञानाधीनः? पदार्थान्तरनिष्ठस्यैव दृश्यात्यन्ताभावविशिष्टस्य ज्ञानपूर्वक्षणसंबन्धस्य विरोधित्वात्, एतदङ्गीकारे बाधकमाह—ज्ञानपूर्वकालीनत्वविशिष्टे इति । ज्ञानसाध्यत्वस्याप्रतीतेरिति । तथाच तत्प्रत्ययापत्तिरेव तत्र बाधिकेति भावः । दृश्यकालीनस्य कथं दृश्यविरोधित्वं? कथं वा तद्विशिष्टनिष्ठस्य ज्ञानोत्तरक्षणसंबन्धस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वं? तत्राह—तादृशविरोधित्वं चेति । दृश्यविरोधित्वं न दृश्यान्धिकरणक्षणवृत्तित्वं; दृश्यान्धिकरणत्वस्य दृश्यात्यन्ताभावत्वे दृश्यमेदरूपत्वे वा तत्राज्ञानाधीनत्वकथन्ताया अक्षतत्वात्, किंतु दृश्याधिकरणक्षणावृत्तित्वं, तद्विशिष्टे दृश्यात्यन्ताभावदौ ज्ञानोत्तरक्षणसंबन्धः तद्विशिष्ट्यावच्छिन्ना या तादृशक्षणवृत्तिता तदाश्रयत्वं, दृश्याभावाधिकरणक्षणावच्छिन्नज्ञानोत्तरक्षणवच्छिन्नदैशिकविशेषणतावच्छिन्नज्ञानाश्रयनिष्ठाधिकरणताकत्वं, वा । तत्र ज्ञानप्रयुक्तत्वनिर्वाहकनियममाह—तत्त्वज्ञानस्येति । तथाचैतज्जियमवलेन ज्ञानोत्तरक्षणस्य दृश्याश्रयत्वविघटनात् दृश्याभावे दृश्याश्रयक्षणवृत्तित्वविघटनेन तदभाववैशिष्ट्यनिर्वाहात् तदवच्छिन्नज्ञानोत्तरक्षणवृत्तित्वनिर्वाह इति भावः । तत्त्वज्ञानोत्तरक्षणे उक्तात्यन्ताभावव्यवहारनिर्वाहाय उक्तात्यन्ताभावेतरेति । तादृशात्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपदृश्यस्य मोक्षदशायामनुवृत्तिवारणायाह—तादृशाभावस्यापि क्षणिकत्वमिति । अत्र दृश्यविरोधित्वविशिष्टदृश्यात्यन्ताभावत्वेनैव क्षणिकत्वम्, अत एव ज्ञानपूर्वकालीनत्वविशिष्टे तादृशात्यन्ताभावे इत्यनेन न विरोधः, उक्तात्यन्ताभावस्तु ब्रह्मरूपतया नित्य इति भावः । एतन्निर्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निवृत्तिक्रियायां प्राधान्यलाभात् प्रथमज्ञानस्य पश्चादज्ञानप्रयुक्तस्य निवृत्तिरिति सूचितम् । तत्रापि स्वसहितस्य स्वप्रयोजकाज्ञानस्य ज्ञानप्रयुक्ता निवृत्तिरज्ञानप्रयुक्तस्य बाध इति बोध्यम् । अज्ञानप्रयुक्तस्यैव बाध्यत्वव्यवहारात् स्वप्रयोजकाज्ञाने निवृत्तेऽपि जीवन्मुक्ते देहादिबाधव्यवहारात् स्वसहितस्येति । प्रलयादौ घटादेर्निवृत्तिरपि जीवन्मुक्तस्य नानाशरीरप्रापकप्रारब्धकर्मणाऽग्रिमकल्पे संसरिष्यत इन्द्रादेश्चाज्ञाननिवृत्तिसहितेति तस्यास्तं प्रति घटादिबाधत्वाभावात् ज्ञानप्रयुक्तेति । उक्तविवरणवाक्ये निवृत्तिपदमत्यन्ताभावपरमपि वक्तुं शक्यते । वक्ष्यमाणवार्तिकवाक्येन नासीदित्यादिना अविद्यातत्प्रयुक्तात्यन्ताभावस्य बोधनात् । अतएवोक्तं वासिष्ठादौ 'दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् । संपन्नं चेत्तदोत्पन्ना परा निर्वाणनिवृत्तिरिति । ननु—मनस इत्यस्य बोधेऽन्वयो मार्जने वा । आद्ये तत्त्वज्ञानसाध्यस्य दृश्यसामान्याभावस्य स्वेतरसर्वदृश्यविरोधित्वस्य पूर्वोक्तस्य भङ्गः; तादृशविरोधित्वे सति तादृशाभा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

हकं नियममाह—**दृश्याश्रयेति** । तादृशाभावविविशिष्टस्येत्यादिः । उक्तविवरणवाक्येनाज्ञानस्य भावरूपत्वं, तन्निवृत्ति-तत्प्रयुक्तनिवृत्त्योः ज्ञानप्रयुक्तत्वं यथा बोध्यते, तथा अज्ञाननिवृत्तिः पूर्वं, तदुत्तरं तत्प्रयुक्तनिवृत्तिरित्यपि बोध्यत इत्याह—**एवमिति—प्राधान्यलाभादिति** । 'सहयुक्तेऽप्रधान' इत्यनुशासनात् पुत्रेण सहागतः पिता पित्रा सहागतः पुत्रः; इति प्रयोगयोरसांकर्याच्चेति भावः ।—**प्रथममिति** । प्रकृताभिप्रायम्, क्वचित्पाण्डित्यं क्वचिदामन्त्रणादिप्राधान्यप्रयोजकम् । तेन अग्ररेण पुत्रेण सह पठित आहूतः पिता आगत इति प्रयोगनिर्वाह इति बाध्यम् । उक्तविवरणवाक्येऽज्ञानस्य निवृत्तिरज्ञानस्य बाध इति प्रतीयते, तच्च न युक्तम्; अज्ञाने बाध्यत्वव्यवहाराभावात्, किंतु निवृत्तिपदोत्तरं स्वकार्यस्येति पूरणात् निरुक्ताज्ञाननिवृत्तिरज्ञानप्रयुक्तस्य बाध इत्यर्थं इत्याह—**तत्रापीति । स्वसहितस्येति । स्वम्** अज्ञानप्रयुक्तं शुक्तिरजतादि । तथाच ज्ञानप्रयुक्तस्वनिवृत्तिपूर्वकालीनस्वप्रयोजकाज्ञाननिवृत्तिकत्वं, ज्ञानप्रयुक्तस्वप्रयोजकाज्ञाननिवृत्त्युत्तरकालीननिवृत्तिप्रतियोगित्वं वा बाध्यत्वमित्यर्थः । उक्तव्याख्याप्रयोजनं स्वयं दर्शयति—**अज्ञानप्रयुक्तस्यैवेति ।** एवकारेणाज्ञानव्यवच्छेदः । स्वनिवृत्तिपूर्वकालीनस्वरूपस्वसाहित्यनिवेशे प्रयोजनमाह—**स्व(प्र)योजकाज्ञानेति ।** स्वं देहादि । तन्निवेशे तु प्रारब्धकर्मादिरूपप्रतिबन्धकबन्धेन देहादेरनाशात् न तद्बाधव्यवहार इति भावः । स्वनिवृत्तौ ज्ञानप्रयुक्तत्वप्रयोजनमाह—**प्रलयादौ घटादेर्निवृत्तिरपीति ।—जीवन्मुक्तस्याज्ञाननिवृत्तिसहितेति ।** नानेत्यादिविशेषणान्तरात्तन्निवृत्तिरज्ञाननिवृत्तिसहितेति चान्वयः । उत्तरकालीनेति सहितपदार्थः । एकाज्ञानपक्षे तत्कल्पितघटादौ जीवन्मुक्तेन्द्राद्यज्ञानस्य प्रयोजकत्वात्, नानाज्ञानपक्षे तत्तत्पुरुषीयप्रतीयमानप्रातिभासिकरजतादेस्तत्तदज्ञानकल्पितत्ववत्, व्यावहारिकस्य वियदादिप्रपञ्चस्यापि तत्तदज्ञानकल्पितत्वात्, जीवन्मुक्तेन्द्राद्यज्ञानयोः घटादिप्रयोजकत्वात्, स्वप्रयोजकत्वघटितोक्तबाधलापत्तिसङ्गतिः । **तस्याः** प्रलयावच्छिन्नाया घटादिनिवृत्तेः । **तं प्रति** जीवन्मुक्तेन्द्रादिकं च प्रति । **घटादिबाधत्वाभावादिति । तदापत्तिः**, अत इति शेषः ।—**ज्ञानप्रयुक्तेतीति** । उक्तनिवृत्तिश्च न ज्ञानप्रयुक्तेति नोक्तापत्तिरिति भावः । विवरणवाक्ये निवृत्तिपदस्यात्यन्ताभावपरत्वग्राहकतया वार्तिकोपन्यासं सफलयितुमाह—**उक्तविवरणवाक्ये इति** । अपिना नाशपरं; ज्ञानेनेति जन्यत्वार्थकतृतीयास्वारस्यात् ।—**नासीदित्यादिनेति** । अत्र आत्माविद्यादिरूपो नासीदिति भेदार्थकत्वं तु न; तरतीत्यादिश्रुत्येकवाक्यतयात्मनि अविद्यादि नास्तीत्यन्ताभावमात्रबाधकत्वात्, नापि ध्वंसप्रागभावार्थकत्वं; नास्ति इत्यस्याविद्यादिकालीनस्य प्रलयस्य तद्विषयकत्वासंभवात् । अत्यन्ताभावविषयकत्वं तु संभवतीति पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यमिति भावः । प्रसङ्गात् एतत्समानार्थकं योगवासिष्ठवाक्यं व्याख्यातुम् एतदुपपद्य्मभक्तयोपन्यस्यति—**अत एवोक्तमिति—दृश्यं नास्तीति** । आत्मनि इत्यादिः । **मार्जनं** मलापाकरणं, प्रकृते दृश्यरूपमलबोधकदृश्यपदसंज्ञिधानादपाकरणमात्रं, तच्चाभाववत्त्वसंपादनं; तदपि संपन्नपदसमभिव्याहारादभाववत्त्वमात्रम् । अभावे दृश्यान्वितप्रतियोगिरूपकर्मत्वस्य षष्ठ्यर्थस्यान्वयः । घटं नाशयति, अपाकरोति इत्यादौ अभावप्रतियोगिताया अपि कर्मप्रत्ययार्थत्वात् । **परा** निरतिशया व्यापिकेति यावत् । निर्गतं वानं गतिर्नाशो यस्याः सा, निर्वाणा निवृत्तिः सुखम्, **उत्पन्ना** आत्मस्वरूपतया नित्यापि अविद्यमानेव विद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ उत्पन्नेव स्वतः प्रकाशते; उत्पन्नेति सिद्धनिर्देशः, कारणान्तरानपेक्षासूचनायेति बोध्यम् । अत्र मनःपदेन तत्तादात्म्यापन्नं चैतन्यं जीवात्मपदार्थरूपं विवदितुं; तस्यैव तत्त्वज्ञानदृश्यमार्जनमोक्षान्वययोग्यत्वात् ।—**आद्ये इति** । मनसि स्वविषयकवृत्तिरूपस्य स्वेतरदृश्यस्य स्वीकारे इति शेषः । मनस उपोध्युपलक्षणत्वाभ्यां दृश्याभावे मनोनिष्ठवृत्तिरूपस्वेतरदृश्यविषयत्वस्वीकारे इत्यर्थः । **तत्त्वज्ञानं** उक्तदृश्याभावबोधस्तदुत्तरकालीननिर्विकल्पकात्मज्ञानं च तत्साध्यस्येत्यर्थः । विरोधित्वस्येत्यन्वयः । **भङ्गः** अभावापत्तिः । **ननु**—

त्तिबोध' इति । वार्तिककृद्भिश्चोक्तम्—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥' इति । 'सह कार्येण नासी'दिति लीनेन कार्येण सह निवृत्त्यभिप्रा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वस्य तत्कालीनमनोनिष्ठवृत्तिरूपबोधविषयत्वासम्भवात् । अतएव न द्वितीयः; उक्तात्यन्ताभावरूपस्य मार्जनस्य मनो-
निष्ठत्वासम्भवात् । अथ दृश्ये तदन्वयः, तथापि तादृशबोधस्य वृत्तिरूपस्य दृश्यत्वेनोक्तदोषानपाय—इति चेन्न; उक्ता-
त्यन्ताभावस्य स्वस्वविषयकवृत्तिभिन्नसर्वदृश्यविरोधित्वस्यैव स्वीकारात् साक्षिभास्यत्वस्वीकाराद्वा—इत्याशयेनाह—
वार्तिकेत्यादि । लीनेन ज्ञानकालीनसंस्काररूपलयप्रतियोगिना । तथाचाज्ञानस्य वर्तमानत्वेऽप्यतीतकार्यसहित-

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

दृश्याभावस्योक्तवृत्तिविषयत्वे सत्यप्युक्तविरोधिलभ्यस्तु—इत्यप्रयोजकत्वशङ्कां विषयलरूपापादकभङ्गापत्त्या निराकरोति—
तादृशविरोधित्वे सति इति । मनसि उक्तवृत्तिरूपस्येतरदृश्यस्यासंभवेनेति शेषः । अतएव मनसो बोधेऽन्वयानुप-
गमेऽपि तदा स्वीकृतबोधस्यान्यनिष्ठत्वासंभवेन मनस्येवोक्तबोधरूपदृश्यस्य स्वीकारादेवेत्यर्थः । उक्तात्यन्ताभावरूपस्य
स्वेतरसर्वदृश्यविरोधिलविशिष्टदृश्यात्यन्ताभावरूपस्येत्यर्थः ।—तादृशबोधस्य मनस्तादात्म्यापन्नान्मनिष्ठस्य दृश्याभाव-
बोधस्य । चैतन्यरूपस्य दृश्यत्वाभावाद्वृत्तिरूपस्येत्युक्तम् ।—उक्तदोषः उक्तबोधविषयस्य जीवात्मनि दृश्यविरोधित्वदृश्यात्य-
न्ताभावस्यासंभवः ।—तस्यानपायात् दुर्बारादित्यर्थः ।—स्वस्वेति । स्वः उक्तात्यन्ताभावः । स्वभिन्नत्वे सति स्ववि-
षयकवृत्तिभिन्नानि यानि सर्वदृश्यानि तद्विरोधित्वस्यैव स्वीकारादित्यर्थकैवकारेण पूर्वोक्तविरोधित्वव्यवच्छेदः । एवं च
मनस इत्यस्य बोधेऽन्वयेऽपि दृश्याभावे तद्विरोधित्वस्यानुपगमात्, तद्विषयीभूतस्यापि दृश्याभावस्य तदितरत्वघटितोक्तविरो-
धित्वस्य न भङ्गः; एवं मार्जनेऽन्वयपक्षेऽपि । दृश्यं नास्तीति बोधे तादृशबोधान्यदृश्याभावस्यैव भानेन तस्य मनोनिष्ठत्वसंभवात् ।
एवं च दृश्येऽन्वयपक्षेऽपि समीचीन एवेति भावः । उक्तविरोधित्वे स्वविषयकवृत्तिभिन्नत्वानिवेशे तूक्तदृश्याभावबोधो न
वृत्तिरूपः, किंतु अन्तःकरणोपलक्षितचैतन्यात्मकसाक्षिरूपः, स च न दृश्यः; ब्रह्मरूपत्वात्, इत्याशयेनाह—साक्षिभा-
स्यत्वस्वीकाराद्वेति । मूले, तत्त्वमस्यादीति । आदिना अहंब्रह्मास्मीत्याद्यखण्डार्थवाक्यानां परिग्रहः । सम्यक्
प्रमाणा अनधिगतावाधितार्थब्रह्मात्मरूपधर्मिमात्रविषयिणी नेहेत्यादिवाक्यजन्यप्रपञ्चवाधनिश्चयपूर्विका निर्विकल्पका ।
धीः श्रवणमनननिदिध्यासनादिसाधनपरिपाकोत्तरजाता चरमा प्रत्यक्षा तत्त्वज्ञानार्थरूपा मनोवृत्तिः । तज्जन्म तदुत्पत्तिः ।
तन्मात्रतः तृतीयान्तात्तत्तिः । तत्प्रयोज्यत्वं तदर्थः । मात्रपदेन स्वोत्तरभाविप्रयोजकान्तरव्यवच्छेदः । तन्नेण तज्जन्मेति
बहुव्रीहेस्तदुत्पत्तिकालार्थकात् सप्तम्यन्तात्तसौ तत्कालीनत्वमपि तदर्थः । तदुभयस्यापि सत्यन्ताभावरूपतन्निवृत्तौ नञर्थेऽन्वयः ।
नञो'स्ति भविष्यति'इत्युभाभ्यामपि संबन्धः । कार्यसाहित्यम् अविद्यायाम् कार्यविशिष्टत्वम् । तथाच कार्यविशिष्टाविद्यायाः
तत्त्वज्ञानप्रयुक्त भूता वर्तमाना भविष्यन्ती च या सत्ता आत्मानुयोगिकः संबन्धस्तदभावः भूतादिकालावच्छिन्नत्वं चात्मरू-
पतया, आत्मनि तदभाववत्त्वं, तत्संबन्धावच्छिन्नस्वरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वपर्यवसितं बोध्यते । यद्वा—सत्ता
पारमार्थिकत्वं तदभाववत्त्वं पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वपर्यवसितं बोध्यते । ननु—सहकार्येणेति
किमर्थम्? उपादानकारणाविद्याया विद्योत्पत्तिकालेऽभावे बोधिते तदुपादानानीतकार्याभावस्यापि तदुत्तरकाले लभसंभवात्—
इत्याशङ्क्य सहकार्येणेत्यस्यानुपादाने अविद्या 'नासीदिति' अविद्याकर्तृकातीतसत्ताप्रतियोगिकविरहबोधनं न संभवति, अवि-
द्याया वर्तमानत्वेन तत्सत्ताया अपि वर्तमानत्वेन वर्तमानकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वरूपातीतत्वासंभवात्, अविद्याकर्तृ-
कातीतसत्तारूपप्रतियोग्यप्रसिद्धेः । न च—अविद्यायाम् घटादिकर्तृकातीतसत्तारूपस्य प्रसिद्धस्य प्रतियोगिनोऽभावो बोध्यते
इति—वाच्यम्; विद्यमानायामविद्यायाम् अतीतसत्त्वस्याप्रसक्तस्तद्विरहबोधनस्यासंभवादिति शङ्कानिरासकतया सहकार्येणेत्ये-
तत्सार्थकयति—सहकार्येणेत्यादिना । अभिप्रायमित्यन्तेन । तत्र लीनपदार्थो नातीतद्रवत्वं, बाधात्, वक्ष्यमाणाभिप्रा-
यानुगुणत्वाच्च, किंतु अतीतनाशप्रतियोगित्वम्, अतीतत्वं च अज्ञानं नासीदित्याकारकं यत् वर्तमानज्ञानं तदधिकरणकाल-
वृत्तिध्वंसप्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम् उक्तज्ञानकालीनत्वपर्यवसितं, नाशश्च संस्काररूप इत्याशयेन व्याचष्टे—लीनेनेति । ननु—
एवमपि वर्तमानाज्ञानसत्तायाः कथमतीतत्वं, तत्राह—तथाचेति । अतीतं यत्कार्यं तद्विशिष्टरूपेणेत्यर्थः । कार्यपदस्यातीत-
कार्यपरत्वात्, । 'पुत्रेण सहागतः पिते'त्यादौ हि पित्राद्यन्वयिपुत्रादिवैशिष्ट्यमेव सहशब्दार्थः । तस्य स्वागमनादिकालीनत्वं,
पित्राद्यन्वय्यागमनादौ पुत्रादेः संसर्गतया भासते, तद्वत् प्रकृतेऽपि अतीतकार्यवैशिष्ट्यमेव सहार्थः । अज्ञानेनेति । तस्य
स्वसत्ताभाववत्त्वकालावच्छिन्नत्वं नञर्थे संसर्गतया भासते इति वाच्यम् । एवं च विशिष्टशुद्धयोः शुद्धतत्सत्ताभ्यां भेदेनाती-
तकार्यविशिष्टाज्ञानतत्सत्तयोरतीतत्वमिति भावः । आसीदित्येत्यादिः । अतीतकार्यविशिष्टाज्ञानकर्तृकस्यासधात्वर्थसत्त्वस्य
तादात्म्यरूपसंबन्धस्य मिथ्याभूतस्यानादिभ्रमविषयत्वेन प्राप्तस्य नासीदिति तत्र स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वा तत्त्वज्ञान-

यम् । 'सह कार्येण न भविष्यतीति तु भाविकार्यनिवृत्त्यभिप्रायमित्यन्यदेतत् । रूप्योपादानमज्ञानं स्वकार्येण वर्तमानेन लीनेन वा सहाधिष्ठानसाक्षात्कारान्निवर्तते । तत्तद्रूप्योपादानानामज्ञानानां भेदाभ्युपगमादिति न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्; मुद्गरपातानन्तरं घटो नास्तीति प्रतीतिवदधिष्ठानज्ञा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपेणातीतत्वादासीदित्यस्य प्रसक्त्या नासीदिति निषेधसम्भव इति भावः । भाविकार्येत्यादि । कार्यजनकस्यादृष्टादेरत्यन्ताभावात्तत्कार्यस्यात्यन्ताभावरूपा या निवृत्तिस्तत्सहिताज्ञाननिवृत्त्यभिप्रायकमित्यर्थः । तथाचादृष्टादिकारणसत्त्वाद्ये भाविता यजातीयस्य कार्यस्य प्रसक्ता, तज्जातीयस्यादृष्टाद्यभावात् ज्ञानप्रयुक्तादभावो न भविष्यतीत्यनेन बोध्यत इति । अन्यदिति । कारणाभावप्रयुक्तस्य कार्याभावस्य ज्ञानं विनाऽपि सत्त्वेन न बाधरूपत्वमिति स प्रकृतानुपयुक्त इत्यर्थः । ननु एकज्ञानपक्षे शुक्तिरूप्यादेर्ब्रह्मज्ञानं विना निवृत्त्यभावेन तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वस्योक्तानुमानपूर्वमग्रहेण व्याप्तिग्रहास-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रयुक्तस्याभावस्य बोधनसंभव इत्यर्थः । एवं ज्ञानेनाज्ञानं नास्तीति बोधिते तदुपादानकभाविकार्यनिवृत्तिलाभेऽपि सहकार्येणेत्यस्याविद्या न भविष्यतीत्यन्वयेन वर्तमानकालध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्वरूपभविष्यत्वप्रसक्तिसूचकतया सार्थक्यमाह—
मूले—सहकार्येणेत्यादिनाभिप्रायमित्यन्तेन ॥

॥ श्रीपाण्डुरङ्गाय नमः ॥

तद्व्याख्यातुं गृह्णाति—भाविकार्येति—कार्येण सहाविद्या न भविष्यतीत्यत्र कार्यपदं भाविकार्यपरं, तद्वैशिष्ट्यं तृतीयार्थः, तस्य अविद्यायामाश्रयतासंबन्धेन, तस्याश्च स्वकर्तृकसत्ताप्रतियोगिकत्वसंबन्धेन नञर्थेत्यन्ताभावेन्वयः । तथाच कार्यविशिष्टाविद्याकर्तृकभविष्यत्सत्तात्यन्ताभाव इति बोधः । तत्र भाविकार्यजनकादृष्टादेः सत्त्वे कथं तदत्यन्ताऽभावः? इत्यत आह—कार्यजनकस्येति । तदिति । उक्तनिवृत्तिसहिता या अज्ञाननिवृत्तिः तदभिप्रायमित्यर्थः । यत्र यद्वैशिष्ट्यं सहपदेन बोध्यते, तदन्वयिनि समभिव्याहृततत्पदार्थे तदन्वितसमभिव्याहृततत्पदार्थस्य साहित्यं समानकालीनत्वादिरूपं धर्मिपारतन्त्र्येण बोध्यत इति नियमादिति भावः । अत्राविद्याया वर्तमानत्वेऽपि भावितत्कार्यविशिष्टत्वेन तस्याः तत्सत्तायाश्च भविष्यत्वप्रसक्तौ सत्यां तन्निषेधबोधो वाच्यः, स च न संभवति; तत्त्वज्ञानेन अविद्यानिवृत्तौ तत्परिणामविशेषरूपभाविकार्यस्यादृष्टमात्रेण जननासंभवेनाप्रसिद्धेरित्यत आह—तथाचेति । अदृष्टादिकारणसत्त्वे इति । यजातीयेत्यादिः । प्रसक्तेति । तद्विशिष्टत्वेन चाविद्यायास्तत्सत्तायाश्च भाविता प्रसज्यते इति शेषः । ननु—अविद्यादिपरिणाम्युपादानसहकारितया तत्तुल्यकारणान्तररूपसहकारिविरहेण चादृष्टस्याविद्यापरिणामत्वाभावात् तदभावस्य तत्त्वज्ञानप्रयुक्तत्वासंभवात् अदृष्टेनाविद्यान्योपादानसहकृतेन भावि किञ्चित्कार्यं स्यादेव इति कथं तन्निवृत्तिः? तत्राह—तज्जातीयस्येति । कार्यस्येति शेषः । अभाव इत्यत्रान्वयः—अदृष्टाद्यभावादिति । तज्जातीयेत्यादिः । आदिना तस्य परिणाम्युपादानपरिग्रहः । ज्ञानप्रयुक्तादिति । ब्रह्माद्यनादिषद्रूपान्यस्यादृष्टादिसकलस्याविद्यापरिणामत्वादिति भावः । न भविष्यतीत्यनेन बोध्यत इति । एतद्वोध्यो यो भावित्वेन प्रसक्ततज्जातीयकार्यविशिष्टाविद्याकर्तृकभविष्यत्सत्तात्यन्ताभावः तदन्वयितया सहशब्दवलेन बोध्यते इत्यर्थः । ननु—अन्यदेतदित्यनेन उक्तार्थस्याप्रकृतत्वं बोध्यते, तत्किमत्रेत्यत आह—कारणाभावेति । कारणाभावः । अदृष्टविशेषाभावः, तत्प्रयुक्तः कार्याभावः, भावित्वेन प्रसक्तविजातीयकार्याभावः । तत्त्वज्ञानं विनापि इति । अविद्यापरिणामादेरेव ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, भावित्वेन प्रसक्तस्य नाविद्यापरिणामत्वं; तस्यालीकत्वात्, तदभावस्य तत्त्वज्ञानात्पूर्वमपीदानीमस्ति, सोऽपि भावित्वेन प्रसक्तवृत्तिवेन प्रसक्तसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति नाप्रसिद्धमात्रप्रतियोगिकत्वं, तथात्वेऽपि वा न क्षतिः; शशविषाणादेरप्यभावाङ्गीकारात् इति भावः । सत्त्वेनेति । तत्त्वज्ञानप्रयुक्तत्वादिसंभवादिति शेषः । ज्ञानप्रयुक्तत्वघटितवाधरूपत्वेनेत्यर्थः । सः अदृष्टविशेषाभावप्रयोज्यो भावित्वेन प्रसक्तकार्याभावः । प्रकृतानुपयुक्त इति । अविद्याप्रयुक्तवाधलक्षणपरिचरणपङ्क्तिसमानार्थकत्वेन वार्तिककृद्भिश्चोक्तमित्यादिनोपन्यस्तश्लोकस्य बाधलक्षणपरत्वावश्यकत्वात् श्लोके कार्येण सहेत्येतदंशस्य कार्यबाधलक्षणनिरूपणायैवोपादानाच्च बाधलक्षणाघटकतादृशाभावकथनस्य प्रकृतानुपयोग इति भावः । पूर्वं मूले शुक्तिरजतस्यालीकत्वे तदभावस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वासंभवात् दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाशङ्क्य, तस्य प्रातिभासिकत्वमाश्रित्य तदभावस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वोपपादनेन परिहृतम्; इदानीं भ्रमभेदेन तदुपादानाज्ञानभेदमाश्रित्य परिहारदर्शनादेकाज्ञानपक्षे प्रकारान्तरेण दृष्टान्ते साध्यवैकल्यशङ्कया रूप्योपादानेति मूलग्रन्थमवतारयति—नन्वेकाज्ञानपक्षे इति । एवमेवाज्ञानं सर्वभ्रमोपादानमिति पक्षे इत्यर्थः—निवृत्त्यभावेनेति । शुक्त्यादिज्ञानेन तन्निवृत्तौ इदानीमेव मुक्तिप्रसङ्गादिति भावः ।—पूर्वमिति । असत्त्वेनेति शेषः । उत्तरं तु तत्र तत्सत्त्वेऽपि अद्वै. सि. २२

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भवः, तत्राह—रूपेत्यादि । वैकल्यम् अग्रहः । तथाच नानाज्ञानपक्ष एवेदं बोध्यम् । वस्तुतस्तु एकाज्ञानपक्षेऽपि दोषजन्यधीविषयत्वेन शुक्तिरूप्यादेर्ज्ञाननिवर्त्यत्वमनुमाय व्याप्तिग्रहसम्भवः । ननु पूर्वं इवोत्तरोऽप्यवधिर्दृश्याब्धेर्ना-
स्येव । तदुक्तं प्रलयस्याप्यस्वीकर्तृभिर्मीमांसकैः—‘न कदाचिदनीदृशं जगदि’ति । आस्तां हि तत्त्वज्ञानमात्यन्ति-
कदुःखनाशस्य नित्यसुखसाक्षात्कारस्य वा मोक्षस्य हेतुः; शोकं दुःखम् । आनन्दं आनन्दः । ब्रह्मणः बृहतः जीव-
सेति यावत् । रूपं नित्यधर्मः । मोक्षे मोक्षहेतुज्ञाने अनुप्रतिष्ठितम् अविच्छिन्नमानससाक्षात्कारविषय इत्यर्थिकायाः
‘तरति शोकमात्मवित्, ‘आनन्दं ब्रह्मणो रूपं’ तच्च ‘मोक्षे प्रतिष्ठितं’मित्यादिश्रुतेः, उक्तनिवृत्तिप्रयोजकं तु कुतस्तत्राह—
मुद्गरेत्यादि । पातानन्तरं पातोत्पत्तिरूपव्यवधायकशून्यकाले । पातोत्पत्तिक्षण इति यावत् । घटो नास्तीति ।
स्वाश्रयकालपूर्वत्वसंबन्धेन घटो नास्तीत्यर्थः । एवं ज्ञानानन्तरमित्यादि दृष्टान्तेऽपीत्यर्थः । रूप्यं चेति चकारात्तत्कार-
णाज्ञानसंबन्धग्रहणम् । ज्ञानसाध्यनिवृत्तिपक्षे तु अनन्तरपदयोर्रूपव्यवहितोत्तरक्षणोऽर्थः । नास्तीति शब्दस्याद्यस्य

लघु चन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नानुमानापेक्षेति भावः । शुक्तिरूप्यस्यापि ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वोपगमात् न साध्यस्यासत्त्वरूपवैकल्यमतो व्याचष्टे—वैक-
ल्यमग्रह इति । अग्रहः प्रत्यक्षाभावः । नानाज्ञानपक्षे शुक्त्यज्ञानस्य तत्कार्यरजतादेश्च ज्ञानप्रयोज्याभावः मूलोक्त-
प्रत्यक्षसिद्धः । इदं ज्ञाननिवर्त्यत्वम् । एकाज्ञानपक्षे तु पूर्वमुक्तानि साध्यानि । तत्पक्षेऽपि प्रकृतानुमाननिर्वाहमाह—वस्तु-
तस्त्विति । अनुमायेति । श्रुतिसिद्धब्रह्मज्ञाननिवर्त्यमूलाज्ञानवियदादिदृष्टान्तेनेति भाव इति केचित् । तत्र शुल्यर्थे विवद-
मानं प्रत्येवानुमानप्रयोगेण पक्षस्य तद्दृष्टान्तपक्षकानुमाने दृष्टान्तत्वेऽन्योन्याश्रयः । वस्तुतस्तु वियदादिपक्षकेऽनुमाने
शुक्तिरूप्यं, तत्पक्षके रजसुर्पः, तत्पक्षे स्वाप्रगजादिकं दृष्टान्तः; पूर्वपूर्वानुमानानां विरलानामपेक्षणेऽपि नानवस्थादोषः
बीजाङ्कुरवत् । मूले—रूप्योपादानमित्यादिनिवर्तते इत्यन्तर्धे दृष्टान्तसाध्यावैकल्यहेतुतयोक्ते तत्तद्रूपेत्यादिपञ्चम्यन्तार्थो न
हेतुः; एकाज्ञानपक्षे रूप्योपादानाज्ञानरूपत्वेन शुक्तिसाक्षात्कारेणैव जगदुपादानाज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्कापरिहारायोक्त-
पञ्चम्यन्तेनाज्ञानानां भेदस्य कथनात्, किन्तु मुद्गरपातानन्तरनित्यादिसर्वसंमतत्वादित्यन्तार्थः; स च व्यर्थः; ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ
ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधस्यैव हेतुत्वेन, प्रसिद्धे हेत्वाकाङ्क्षाविरहादित्याशङ्क्य उक्तविरोधमेवानुपगच्छतो मीमांसकादेराशङ्काविशेषे-
णोक्तहेतुमवतारयति—ननु पूर्वं इति । पूर्वोऽवधिः आदि प्रागभावः । उत्तरोऽवधिः अन्तो नाशाल्यन्ताभावोभयं
तदयोग्यत्वायाच्चेरित्युक्तम्—नास्त्येवेति । सत्यस्य दृश्यस्य ज्ञानानुच्छेद्यत्वात्, दृश्योपादानभूतस्याज्ञानस्यापि ज्ञानोच्छेद्य-
स्यानुपगमात्, सत्यानां परमाण्वादीनामेव जगदुपादानत्वात् । ननु—प्रलये दृश्याभावः सर्वसिद्धः, इत्यत आह—तदुक्त-
मिति । नन्वेवं—सर्वदृश्योच्छेदघटितमोक्षस्यासंभवे कीदृशो मोक्षः तत्त्वज्ञानसाध्यः, तत्राह—आस्तां हीति । आत्य-
न्तिकेति । स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनस्य दुःखनाशस्येत्यर्थः । नित्यं यत्सुखं तत्साक्षात्कारस्येत्यर्थः ।
आद्ये प्रमाणभूतां श्रुतिं व्याचष्टे—शोकं दुःखमिति । शोकजनकत्वात् दुःखमिति । शोकजनकत्वात् दुःखस्य । तरति
अत्यन्तं नाशयतीत्यर्थः । द्वितीये आनन्दमिति लिङ्गव्यत्यासेनेत्याह—आनन्द इति । परमते ब्रह्मण ईश्वरस्य न सुखं, जीव-
ध्वरयोश्च भेदोऽतो व्याचष्टे—बृहतो व्यापकस्वरूपस्य परमते नित्यधर्मत्वात् गौण्या रूपं नित्यधर्म इति विवक्षित-
मित्याह—रूपमिति । यद्यपि मोक्षदशायामिति व्याख्यायामपि प्रतिष्ठितपदार्थान्वयसंभवः; तथापि तत्कारणलाभाय
व्याचष्टे—मोक्षहेतुतत्त्वज्ञाने इति । सति इति शेषः । नित्यसुखस्य तदविषयत्वात् प्रतिष्ठितपदस्य नित्यस्थित्याश्रयार्थकत्वे
वैयर्थ्यम्; रूपपदेनैव तत्त्वाभात्, अतोऽविच्छिन्नसाक्षात्कारविषयार्थकतया व्याचष्टे—अविच्छिन्नस्येति । अविच्छेदः
प्रवाहः, स च स्वसमानाधिकरणस्वसमानविषयकसाक्षात्कारकसाक्षात्कारसामान्यकत्वम् । मानसेति स्वरूपकीर्तनं, सुखस्य
मनोमात्रग्राह्यत्वात् । आदिना नैयायिकादिः । तेषामुक्तार्थकत्वेन समपूर्ववृत्तिस्वसमानविषयत्वात् । एतन्मते तत्त्वज्ञानम्,
आत्मनि देहेन्द्रियादिरूपेतरभिन्नत्वप्रकारकः साक्षात्कार इति बोध्यम् ।—उक्तनिवृत्तीति । उक्तनिवृत्तिः दृश्यसामान्यस्य
स्वाश्रयपूर्वत्वस्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकत्वोभयसंबन्धावच्छिन्नाभावरूप उच्छेदः, तत्प्रयोजकं कुत इत्यर्थः । पातानन्त-
रमित्यस्य पाताव्यवहितोत्तरक्षणार्थकत्वे पातोत्पत्तिक्षणस्य घटवत्कालपूर्वत्वाभावाकथनेन न्यूनता, तां परिहर्तुं व्याचष्टे—
पातानन्तरमिति । पातोत्पत्तिरूपेति । पातोत्पत्तिः रूपं धर्मो यस्य स पातोत्पत्तिरूपो यो व्यवधायकक्षणान्तरशून्यः
कालः तत्रेत्यर्थः । तदाह—रूपोत्पत्तिक्षणे इति । यावदिति । श्रीः ॥ घटः तद्वटः । मुद्गरपातस्योत्पत्तिक्षणे तद्वटस्य
कालिकसंबन्धेन सत्त्वात् स्वाश्रयपूर्वत्वेनेति । दृष्टान्तेऽपीति । ज्ञानोत्पत्तिक्षणे इति शेषः । दृष्टान्त इत्यस्य मिथ्यात्वानु-
मानदृष्टान्तविषयकप्रत्ययामिलापके मुद्गरपातेत्यादिवाक्यदृष्टान्तकदार्ष्टान्तिकवाक्ये इत्यर्थः । संबन्धः शुक्त्यवच्छिन्नचि-
न्निष्ठः ।—पक्षे इति । तत्साध्यत्वस्य तदुत्तरकालमात्रवृत्तिवर्तनियतत्वपक्षे चेत्यपि बोध्यम् । आद्यस्य दृष्टान्तघटकस्य ।—

नानन्तरं शुक्त्यज्ञानं तद्वतरूप्यं च नास्तीति प्रतीतेः सर्वसमतत्वात् । ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्य-
त्वमित्यपि साधु । उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञाननिवर्तकत्वं च न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ? किंत्विच्छादिसाधारणे-

सिद्धिव्याख्या ।

रूप्याद्यभावोऽपि शशविषाणाद्यभाव इव ज्ञानप्रयुक्त इति दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमेव, पक्षे बाधश्च—
इति—चेन्मैवम्; पूर्वज्ञानस्य ज्ञानत्वेन ज्ञानप्रयुक्तव्यतिरेकिप्रतियोगित्वाभावेन तादृशकारणकत्वस्य
तत्राभावात् । नच—अनाद्यविद्यायां बाध इति—शङ्क्यम्; कारणशब्देनाविद्यास्वरूपकारणस्यैवोक्तेः । न
च—तर्हि अविद्याकारणकत्वमेवास्तु शेषवैयर्थ्यादिति—वाच्यम्; शेषस्याविद्याकारणस्वरूपकथनपरत्वेन
यथोक्तविशेषणविशेष्यभावे वैयर्थ्याभावात् । न च—अनाद्यविद्यादौ बाध इति—वाच्यम्; निरुक्त-
कारणकारणकत्वान्यतरस्य विवक्षितत्वात् । नापि मिथ्याज्ञाने बाधः; तत्रापि ज्ञानत्वेन ज्ञानप्रयुक्त-
व्यतिरेकप्रतियोग्यविद्याकारणकत्वस्य सत्त्वेनोक्तसाध्यानपायादिति । ज्ञानत्वव्याप्येति । न च—भवन्मते
मननत्वाद्विज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण मनननिवर्त्येऽर्थगतसंशयविशेषेऽतिव्याप्तिः तादृशसंशयनिवर्तकत्वेनैव
मननस्य सप्रयोजनत्वोक्तेरिति—वाच्यम्; संशयमात्रस्य लक्ष्यत्वेन तत्रातिव्याप्तेरभावात् । न च—
संशयस्य कोटिद्वयावलम्बिन एककोट्यंशे लक्ष्यत्वेऽप्यपरकोट्यंशे यथार्थतयाऽलक्ष्यत्वान्न तत्रातिव्याप्ति-
रिति—वाच्यम्; तर्हि ज्ञानत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वं लक्षणेन विवक्षितं; साक्षाद्व्याप्यत्वं
च, ज्ञानत्वव्याप्याव्याप्यत्वे सति ज्ञानत्वव्याप्यत्वं, मननत्वं तु न तथेति बोध्यम् । ज्ञानस्येति । ज्ञान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मुद्ररपातप्रयुक्ता द्वितीयस्य ज्ञानप्रयुक्ता निवृत्तिरस्तीत्यर्थः, नजो निवृत्त्यर्थत्वादिति भावः । अनन्तरमिति च साव-
धारणम् । तथाचास्तीत्यस्य वर्तमानत्वार्थकत्वेनेदानीमेव मुद्ररपातप्रयुक्ता निवृत्तिर्न तु क्षणान्तर इति धीवत् एतत्क्षण
एव ज्ञानप्रयुक्ता सर्वदृश्यनिवृत्तिर्न तु क्षणान्तर इति सार्वलौकिकधीबलादुक्तनिवृत्तिप्रयोजकत्वं ज्ञानस्य युक्तम्; तदनु-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मुद्ररपातप्रयुक्तेति । उत्तरज्ञानविषयोऽल्लेखः । द्वितीयस्य दार्ष्टान्तिकघटकस्य । अज्ञानप्रयुक्तेति पूर्ववत् । निवृत्तिः तद्वद-
समवायावच्छिन्नकालिकसंबन्धावच्छिन्नतद्वदाभावः । शुक्त्याद्यज्ञानादेः शुक्त्यावच्छिन्नकालिकसंबन्धावच्छिन्नाभावश्च यथायथं
बोध्यः । ननु—कपालाद्यवच्छेदेन मुद्ररपातोत्तरक्षणनिष्ठा तदवच्छेदेन कपालनिष्ठा वा, घटाद्यभाववत्तारूपनिवृत्तिस्तादृशवायु-
संयोगाद्यधिकरणतावत् काकतालीयन्यायसिद्धा, न तु मुद्ररपातादिप्रयोज्येत्याशङ्क्य प्रयोज्यप्रयोजकभावग्राहकं व्यतिरेका-
व्यभिचारं दर्शयितुमेवकारमध्याहरति—अनन्तरमिति । सावधारणमिति । मुद्ररपातानन्तरमेव तत्कपाले तद्वदो
नास्तीत्यज्ञानान्तरपदमव्यवहितोत्तरकालार्थकं, ततः “कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे” इति द्वितीया; अधिकरणतायामन्वय-
सहचारग्रहौपयिकतया व्यापकत्वरूपात्यन्तसंयोगस्यापि विवक्षितत्वात्, मुद्ररपातादिपदस्य स्वेतरसकलप्रयोजकसमवहित-
मुद्ररपातपरत्वात् । तथाच प्रयोजकान्तरसमवहितमुद्ररपातानन्तरक्षणत्वव्यापिका मुद्ररपातानधिकरणसकलक्षणनिष्ठा-
भावप्रतियोगिनी मुद्ररपातानन्तरक्षणनिष्ठा या तत्कपालावच्छिन्ना स्वाधिकरणता, तन्निरूपिता या वर्तमानकालावच्छिन्ना-
धेयता तदाश्रयः कालिकसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः तद्वदाभाव इति बोधः, इत्यभिप्रायेणाह—तथाचेति ।
निवृत्तिर्यत इदानीं मुद्ररपातानन्तरक्षण एव, न तु क्षणान्तरे मुद्ररपातानधिकरणक्षणोत्तरक्षणे, अतो मुद्ररपातप्रयोज्येत्यर्थो
दृष्टान्ते एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि बोध्यम् । वर्तमानार्थकत्वेनेति । प्रयुक्तेति । एतेन, प्रत्यक्षयोग्यता व्यज्यते; कार्य-
कारणभावस्येव प्रयोज्यप्रयोजकभावस्यापि अन्वयव्यतिरेकग्रहसहकृतप्रत्यक्षग्राह्यत्वात् । सार्वलौकिकत्वं दुरपहवत्वाय ।
अत एव ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधोऽपि सर्वसिद्धः । उक्तमिति । उक्तमीमांसकादिमतं त्वयुक्तम्; आत्यन्तिकदुःखध्वंसस्य
नित्यसुखसाक्षात्कारस्य वा मुक्तिर्ये तस्य जन्यत्वेन “नास्त्यकृतः कृतेन” इति श्रुतिविरोधापत्तेः, ब्रह्मभिन्नस्य तस्यातोऽन्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सुख पूर्वोक्तव्याप्तीनां कल्पनमपीति भावः । ननु—उक्तव्याप्तीनां ग्राहकः कस्तर्क—इति चेत्, ‘दण्डपातोत्पत्तिक्षणो यो यस्य घटसमवायितत्तद्देशावच्छेदेन घटवत्कालपूर्वो ने’ति व्याप्तौ ‘स यदि तथा न स्यात् तदोक्तपूर्वत्वेन प्रमी-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

दार्तश्रुत्या विनाशित्वेन स्वर्गादिवदस्य पुरुषार्थत्वानुपपत्तेश्च । न च—धारानित्येति—वाच्यम्; धारिणां प्रत्येकमनित्यत्वे तदनतिरिक्तसन्ततिरूपधाराया नित्यत्वासंभवात्, आत्मभिन्नस्य सुखस्य तद्विन्नतत्साक्षात्कारस्य तद्वारायाश्च स्वीकारे गौरवाच्च, दुःखध्वंसस्य मोक्षत्वे मुक्तस्य पाषाणतुल्यत्वापत्तेश्चेति भावः ।

अत्रैवं संग्रहः ।

अथ नैयायिकाद्वैतवेदान्तमतयोर्विशेषाविशेषौ विविच्येते । द्वैतमते देहेन्द्रियादिप्रपञ्चः सत्यः, अद्वैतमते तु मिथ्या । मतद्वयेऽपि आत्मनः तद्विन्नत्वेन श्रवणमनननिदिध्यासनजन्यं तत्साक्षात्काररूपं यत् ज्ञानं तत् मुक्तिसाधनम् । तत्र द्वैते सत्यादपि प्रपञ्चात् सत्येऽप्यात्मनि शब्दादिशून्यत्वात् ज्ञानादिमत्त्वाच्च भेदधीः, अद्वैतमते तु मिथ्याभूतात्प्रपञ्चात्सत्यस्यात्मनोऽभेदधीः । द्वैतमते प्रपञ्चसत्यत्वं सुनिश्चयम्, अद्वैतमते प्रपञ्चमिथ्यात्वं दुर्निश्चयम् । तन्निर्णये तु मिथ्यात्वशून्यत्वात् सत्यत्वाच्चोक्तभेदधीरिति न फलतो विशेषः । द्वैतमते जीवेश्वरयोः भेदः सत्यः, अद्वैतमते तु कल्पितो मिथ्या । आत्मनि ईश्वराभेदज्ञानं निरतिशयानुरागरूपभक्तिद्वारा मुक्तिकारणमिति मतद्वयेऽपि तुल्यम् । तत्तु एकस्य भ्रमः, अपरस्य प्रमेयन्यदेतत् । मतद्वयेऽपि एकविंशतिदुःखध्वंसविशिष्टशुद्धसाक्षात्कारो मोक्षः । तच्च सुखमेकमते नित्यमात्मनो भिन्नधर्मः, तत्साक्षात्कारश्च तत्सदृशो जन्योऽप्यविनाशी अविच्छिन्नधारावाही वा सविकल्पकः, अन्यमते तु सुखमात्मस्वरूपं नित्यं तत्साक्षात्कारोऽप्यात्मस्वरूपो नित्यो निर्विकल्पक इति विशेषोऽस्तु । तथापि मतद्वये मुक्तिदशायां देहेन्द्रियादिप्रपञ्चस्य नष्टस्य विद्यमानस्य वेधराकाशादिप्रपञ्चस्य भेदाभेदयोरुभयोरपि भानं नास्तीति समानम् । एवंचाद्वैतमतमेव किमर्थमादरणीयमिति पूर्वः पक्षः । अत्रेदमवधेयम्—परमकृपया मन्दाधिकारिजीवोद्धारणार्थं सुप्रत्ययं शास्त्रं गौतमादिमुनिभिः प्रणीतम् । तदिदमुक्तं—जगदेतद्दुःखपंकिलमुद्दिधीर्षुः अष्टादशविद्यास्थानेष्वभ्यर्हिततमामान्वीक्षिकीं विद्यां परमकारुणिको मुनिः प्रणिनायेति । उक्तमाधिकार्युद्धारार्थं तु श्रीवादरायणशास्त्रमेव । तदिदमुक्तं “तत्त्वं तु वादरायणा”दिति । तत्रेदमाकृतम्—देहेन्द्रियादिप्रपञ्चमिथ्यात्वव्यवस्थापनं न केवलमात्मनि तद्भेदसिद्ध्यर्थं, किंतु ज्ञानसाधनश्रवणादौ प्रपञ्चवैराग्यरूपाधिकारिसिद्ध्यर्थम् । नहि मिथ्यात्वेन निश्चिते शुक्तिरजतादौ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिनिदानभूतो रागः । नच—अनित्यत्वनिश्चय एव वैराग्यकारणमिति—वाच्यम्; स्वप्रदृष्टरजतादौ तन्निश्चयेऽपि रागोदयात्; मनःपरमाण्वादौ नित्यत्वस्यैव परैरुपगमाच्च । नह्येवं निर्विचिकित्समिथ्यात्वनिश्चये रागोदयव्यभिचारः । देहादौ तु शब्दादिप्रमाणेन मिथ्यात्वनिश्चयो जायमानोऽप्यनादिदुर्वासनया विचिकित्सात्मको भवति । स च चिराभ्यस्तमिथ्यात्वभावनया ईश्वरप्रणिधानप्रसादसहकृतया निर्विचिकित्सात्मकः शुक्तिरजतादाविव जायमानो वैराग्यं जनयति । संचितप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं “न तत्र रथाः” “सदेव सोम्येदं” “नेह नाना” इत्यादिप्रमाणैः सिद्धं, तत्कथं वारणीयम्? एवं जीवपरमात्माभेदोऽपि तत्त्वमस्याश्रुतिसिद्धो न वारयितुं शक्यः । एवं सति ब्रह्मात्मकमेव तदभेदज्ञानं निरतिशयानुरागरूपभक्तिद्वारा मुक्तिकारणं संपद्यते; अन्यथा देहेन्द्रियादाविवात्मतादात्म्यभ्रमाहितोऽपि ईश्वरानुरागो जघन्यं कथं मुक्तिसाधनं स्यात्? सत्यामिसन्धस्यैव मोक्षश्रवणात् । किंच जीवब्रह्माभेदज्ञानं साक्षादेव मुक्तिकारणम्, ईश्वरभक्तिस्तु श्रवणादेः सहकारिणी; “यस्य देवे परा भक्ति”रिति श्रुतेः । एवं मोक्षपदार्थोऽपि अद्वैतमते एव समीचीनः, आत्मान्यसुखस्य तत्साक्षात्कारस्य च स्वीकारे गौरवात्; आत्मस्वरूपस्यैव तस्य स्वीकर्तुं युक्तत्वात् । एवं च निर्विकल्पकत्वनित्यत्वसत्यत्वान्यर्थसिद्धानीति सिद्धान्तः । तत्त्वज्ञानस्योक्तदृश्यनिवृत्तिप्रयोजकत्वमनुसृत्य निर्वाहाय उक्तव्याप्तीनां ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्” इति मूलपङ्क्तिव्याख्यानानवसरोक्तव्याप्तीनाम् । कल्पनमपीति । युक्तमित्यनुपज्यते । तत्र दृष्टान्तभूतां व्याप्तिमुक्तप्रायां स्पष्टयित्वा तद्ग्राहकं तर्कमाह—दण्डपातोत्पत्तिक्षण इति । यद्यदेशावच्छेदेन घट इत्यादिः । तत्तद्देशावच्छेदेनेति । घटवत्त्वान्वयिदेशश्चात्र कपालादिरवयवः । अत्राहुः—देशैक्यनिवेशादेकघटे दण्डपातानन्तरक्षणस्य इतरवत्त्वेन प्रसक्तव्यभिचारस्य घटैक्यनिवेशेन वारणेऽपि, यत्कियदवयवनाशेऽपि ‘यावत्प्रत्यभिज्ञं नावयविनाशः’ इति न्यायविरोधेन नावयविनाशः, यावदवयवनाशमवयविनाशं तन्नाशकल्पने गौरवादिति मते कपालावच्छेदेन तद्वटे दण्डपातानन्तरक्षणस्य तदन्यकपालावच्छेदेन तद्वटवत्त्वेऽपि न व्यभिचारः । यदि च यार्त्किचिदवयवनाशो तावदवयववारब्धावयवितो नाशादवयवव्यन्तरमुत्पद्यते; प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यविषयकत्वेनोपपत्तेरिति मन्यते, तदा घटैक्यनिवेशेनाप्युक्तदोषवारणं संभवतीति बोध्यम् । परे तु—देशैक्यनिवेशात् एकघटे दण्डपातान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

येते'ति तर्क इव 'तत्त्वप्रमा था या सा स्वसमानविषयकाज्ञानप्रयुक्तवत्कालपूर्वा ने'त्यादिध्यासौ 'सा यदि तथा न स्यात्, तदोक्तपूर्वत्वेन प्रतीयेते'त्यादितर्को ग्राहकः । यदि चैवं न स्वीक्रियते, तदा दुःखनाशस्य तत्त्वज्ञानसाध्यत्वेऽपि तदधिकरणक्षणे दुःखं कुतो नोपलभ्यते ? कुतो वा नानुवर्तते ? नाशस्य प्रतियोग्यसमानकालीनत्वनियमादिति चेन्न; उक्तनियम एव हेतोः पृष्टत्वात् । अथ—नाशजनकदण्डपातादिसमूहाश्रयक्षणस्य घटाद्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियमादिति चेत्—तर्हि दण्डपातादेरुक्तविशेषणं विनाप्युक्तनियमस्य त्वया स्वीकारात्, प्राभाकरादिमते नाशस्य तत्तदधिकरणरूपस्य दण्डपाताद्यजन्यत्वेन तादृशनियमस्यैव स्वीकाराच्च । तत्त्वज्ञानस्थलेऽपि तत्त्वज्ञानादिसमूहाश्रयक्षणस्य दुःखाधिकरणकालपूर्वत्वाभावव्याप्तिः प्राभाकरादिभिस्त्वयापि स्वीक्रियते । तथाच तद्वदेव मन्मते प्रमायामुक्तपूर्वत्वाभावनियमे न कोऽपि दोषः । यदि चोक्तविशेषणविशिष्टदण्डपातादेरेव तथा नियमः, प्राभाकरादिमतेऽपि घटादिचरमक्षण

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

न्तरक्षणस्य घटान्तरवत्त्वेऽपि न व्यभिचारः, यद्यपि घटैक्यनिवेशेनाप्येतद्विषयवारणसंभवः, नच—तद्वदे एककपालावच्छेदेन दण्डपातानन्तरक्षणस्य कपालान्तरावच्छेदेन तद्वदवत्त्वेन व्यभिचारो दुर्वार इति—वाच्यम्; यदा यत्कपालावच्छेदेन यद्वदे दण्डपातः तदनन्तरक्षणे तत्कपालसहितकपालान्तरारब्धतद्वदस्य नाश एव, तदुत्तरक्षणे कपालान्तरारब्धघटान्तरमेवोत्पद्यते, प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यनिबन्धनत्वादिति मताश्रयणात्, तथाच किं देशैक्यनिवेशेन; तथापि यत्किंचिदवयवाविनाशेऽपि यावत्प्रत्यभिज्ञं नावयविनाशः, यावदवयवनाशमवयव्यन्तराणां तत्प्रागभावतन्नाशतदत्यन्ताभावादीनां च कल्पने प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यविषयकत्वकल्पने च गौरवात् इति मते घटैक्यनिवेशेऽप्युक्तव्यभिचारप्रसक्तेस्तद्वारणाय देशैक्यनिवेशे तस्यावश्यकत्वमिति भाव इति—प्राहुः सः उक्तक्षणः । तथा उक्तपूर्वत्वाभाववान्, न स्यात् उक्तपूर्वत्वाभावाभावरूपोक्तपूर्वत्ववान् स्यादित्यर्थः । प्रतीतेर्भ्रमरूपाया इष्टत्वात् प्रमीयतेत्युक्तम्—तत्त्वप्रमेति । अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्वजन्यपटुतमसंस्कारविशिष्टाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्काररूपा प्रमेत्यर्थः । ननु—अस्तूक्तव्याप्तिः; तथापि सा उक्तज्ञानस्याज्ञानप्रयुक्तनाशजनकत्वेऽप्युपपद्यते एव; यदि शुक्लादिप्रमया रजतादिनाशो न जन्यते, तदा तदुत्तरं रजतं क्व गतं? केनापहृतं कथं च तदत्यन्ताभावनिवृत्ती इत्यनावश्यं शुक्लादिप्रमाया रजतादिनाशकत्वं स्वीकरणीयम् । नित्यसुखसाक्षात्कारस्य मुक्तिरूपक्षेपि आत्यन्तिकदुःखनाशविशिष्टस्यैवोक्तसाक्षात्कारस्य मुक्तिर्वेन तत्त्वज्ञानस्य दुःखनाशजनकत्वमावश्यकत्वम्, न तूक्तनिवृत्तिप्रयोजकत्वमत आह—यदि चैवं न स्वीक्रियत इति । तदधिकरणेति । दुःखनाशाधिकरणेत्यर्थः । ननु—दुःखं स्वात्मकविषयाभावात् नोपलभ्यते, तत्राह—कुतो वेति । नानुवर्तते इत्यनुषङ्गेणान्वयः । उक्तनियमे नाशस्य प्रतियोग्यसमानकालीनत्वनियमे । हेतोः अव्याहततर्कस्य । पृष्टत्वादित्यादि । प्रश्नात्पर्यविषयत्वात् । नाशजनकेति । घटादिनाशजनकेत्यर्थः । आदिना दुःखनाशजनकतत्त्वज्ञानादिसमूहाश्रयक्षणस्य दुःखाश्रयकालपूर्वत्वाभावनियमादिति लभ्यते । दुःखं नोपलभ्यते नानुवर्तते इत्यनुषङ्गेणान्वयः । उक्ततर्कगृहीतादिति शेषः । उक्तविशेषणं घटादिनाशजनकत्वविशेषणम् । विनापीत्यपिना उक्तविशेषणघटितनियमसमुच्चयः । त्वयापि दण्डपातादेर्घटादिनाशजनकत्वमङ्गीकुर्वता नैयायिकेनापि । स्वीकारादिति । उक्तकार्यबलेनेति भावः । एवं च दण्डपातादेर्घटादिनाशजनकत्वमस्वीकृत्यापि तदघटितव्याप्तिबलात् दण्डपाताद्युत्तरक्षणे घटाद्यभाववत्त्वं सिध्यतीति भावः । ननु—नियमे दण्डपातादेर्नाशजनकत्वरूपविशेषणमनुपादाय नियमस्वीकारेऽपि वस्तुगत्या तस्य नाशजनकत्वोपगमे तदुत्तरक्षणे नाश एव प्रतियोग्यननुवृत्तौ प्रयोजकः; नाशस्य प्रतियोग्यसमानकालीनत्वनियमात्, घटादिनाशो यदि प्रतियोगिसमानकालीनः स्यात्, तर्हि तथा प्रमीयेतेति तर्कस्य तद्ग्राहकस्य सत्त्वात्, इत्यत आह—प्राभाकरादिमते इति । तदधिकरणेति । प्रतियोगिसमवायीत्यर्थः । न च—कपालादेर्घटादिनाशत्वेन दण्डपातादिजन्यत्वसंभव इति—वाच्यम्; उक्तनियमबलादेव दण्डपाताद्युत्तरक्षणे घटाद्यत्यन्ताभाववत्त्वनिर्वाहे कपालादेर्घटादिनाशत्वस्य गौरवेणाकल्पनादिति भावः । नैयायिकं प्रत्याह—तत्त्वज्ञानस्थलेऽपि इति । तत्त्वज्ञानादीत्यादिना प्रारब्धकर्मरूपप्रतिबन्धकाभावपरिग्रहः । व्याप्तिरिति । नद्येतया विना—दुःखनाशमात्रनिर्वाह्यतत्त्वज्ञानेन तदन्येन वा, पूर्वदुःखनाशोऽपि । दुःखान्तरोत्पत्तिप्रतिबन्धं विना तदनिर्वाहादिति भावः । स्वीक्रियते उक्तक्षणस्य दुःखात्यन्ताभाववत्त्वनिर्वाहायेति भावः । तथाच तत्त्वज्ञानस्थले दुःखनाशनिर्वाह्यव्याप्तिस्वीकारे । तद्वत् तत्तज्ज्ञानघटितोक्तनियमवत् । प्रमायां प्रमासामान्ये । उक्तेति । स्वसमानविषयकाज्ञानप्रयुक्तवत्कालेत्यर्थः । नन्वेवं—दण्डपातेन घटो नश्यतीति व्यवहारो न निर्वहति, इत्यत आह—यदि चेति । उक्तविशेषणं घटादिनाशनिरूपितम् उपधायकतारुपं जनकत्वम् । दण्डपातादेरेवेत्येवकारेण समूहव्यवच्छेदः । दण्डपातोत्पत्तिक्षणस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपो नाशो दण्डपातादिजन्यः, तदुत्तरक्षणरूपस्य तत्क्षणनाशस्यापि घटादिनाशत्वादग्रेऽपि तन्नाशव्यवहार इत्युच्यते, तदा तत्त्वज्ञानस्थलेऽपि तथा दर्शितमेव । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणस्य तु उत्तरक्षणाप्रसिद्धेः न तन्नाशस्याग्रेऽनुवृत्तिरिति स एव दृश्याब्धेस्तीररूपा मर्यादा ब्रह्मज्ञानं वा । सर्वथापि ब्रह्मज्ञानं स्थिराया निवृत्तेः न जनकमिति सिद्धम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तदुत्पत्तेर्वैल्यर्थः । ननु—प्राभाकरमते कपालाद्यधिकरणरूपस्य घटादिनाशस्य कथं दण्डपातादिजन्यत्वम्, अत आह—
प्राभाकरादिमते इति । घटादिचरमक्षणरूपो नाशः यथाकथंचिद्भावस्वरूपाभावाभ्युपगमे निर्वन्धस्तेषां, नत्वधिकरणमात्रस्वरूपत्वाभ्युपगमे । तदुक्तं—“ज्ञानविशेषकालविशेषस्वरूपत्वमभावस्येति” । स्वीक्रियत इति शेषः ।
वस्तुतस्तु—घटचरमक्षणोऽपि घटनाशस्य कालिकसंबन्धेनाधिकरणमेवेति तद्रूपत्वेऽप्यभावस्याधिकरणस्वरूपमतस्य न हानिः । किंच आश्रयनाशजन्यगुणनाशस्य स्वाश्रयकालस्वरूपत्वं नैयायिकेनाप्यभ्युपगम्यते । तथाच सर्वत्रैव तत्स्वरूपत्वं नाशस्य युक्तम्; ऐक्यरूपलाघवात् । यद्यपि क्षणो नातिरिक्तः, क्रियाशब्दादिरूपः, तस्य च न दण्डपातजन्यत्वं स्वरूपतः; नापि अन्यक्षणावच्छिन्नस्य क्षणत्वे तेन रूपेण, कैरप्यनभ्युपगमात्; नापि घटनाशत्वेन, तस्य सति जन्यत्वे नाशत्वं, सति नाशत्वे जन्यत्वमित्यन्योन्याश्रयात्; तथापि घटचरमक्षणोत्पन्नक्रियादेः स्वत एव दण्डपातादिजन्यत्वं, कारणान्तरजन्यघटनाशव्यभिचारवारणार्थं दण्डपातोत्तरत्वावच्छिन्नं प्रति दण्डपातस्य कारणत्वादिति भावः । ननु—
घटचरमक्षणरूपस्य घटनाशस्यापि तदुत्तरक्षणे तद्रूपनाशजननात्, तदा घटनाशव्यवहारानुपपत्तिरत आह—तदुत्तर-
क्षणरूपस्येति । घटवत्त्वक्षणस्तदर्थः । अग्रेऽपि घटनाशनाशक्षणेऽपि । घटप्रागभावनाशरूपघटनाशस्य घटप्रागभाव-
नाशत्वेन घटनाशदशायां घटप्रागभावनाशव्यवहारवदिति भावः । इत्युच्यते इति । तथाच तत्त्वज्ञानस्य आत्यन्तिक-
 दुःखध्वंसजनकत्वमस्तु, न तु आकाशाल्यन्ताभावरूपनिवृत्तिप्रयोजकत्वमिति शङ्कितुरभिप्रायः । दुःखध्वंसवत्, सकलदृश्यध्वं-
 सजनकत्वमङ्गीकृत्य इष्टापत्त्या परिहरति—**तत्त्वज्ञानस्थलेऽपीति । तथा दर्शितमिति ।** तत्त्वज्ञानद्वितीयक्षणे
 तत्क्षणरूपतत्त्वज्ञानतद्वितीयक्षणघटितसकलदृश्यनाशो जायते; स एव सर्वदृश्यनिवृत्तिः सर्वदृश्योच्छेदपदार्थः । तदुपलक्षितः
 पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्ष इति दर्शितमित्यर्थः । ननु—तत्त्वज्ञानद्वितीयक्षणरूपः सकलदृश्यनाशोऽपि दृश्यमेव, ब्रह्मान्यत्वात्,
 तथाच मुक्तौ कथं सर्वदृश्योच्छेदरूपो दृश्याब्धेः तीररूपा मर्यादा, तत्राह—**ब्रह्मज्ञानोत्पत्तीति । उत्तरक्षणाप्रसि-**
द्धेरिति । सकलक्षणोपाधीनां नाशादिति शेषः । न तन्नाशस्य तत्त्वज्ञानद्वितीयक्षणरूपस्य सर्वदृश्यस्य । अग्रे उत्तरकाले ।
अनुवृत्तिः सत्त्वं नेत्यर्थः । उत्तरकालस्यैवाभावादिति भावः । स एव उक्तक्षणरूपो दृश्यसामान्यध्वंस एव । ध्वंसप्रागभाव-
 योर्विरोधाभिप्रायेणैवकारः । अविरोधे तु तद्व्यापकः तदत्यन्ताभावोऽपीति बोध्यम् । तीररूपा परपाररूपा; ‘श्रुतं ह्येव मे
 भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति’ ‘सोऽहंभगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य परं पारं तारयतु’ इति श्रुतेः । तरति
 निवृत्त्यनुकूलव्यापाराश्रयः । निवृत्तौ शोकमिति द्वितीयाथप्रतियोगित्वान्वयः । व्यापारे च आत्मज्ञानरूपोद्देश्यतावच्छेद-
 कस्याभेदेनान्वयः । मा शोकस्य परं पारं तारयतु भगवान्, मन्निष्ठो ज्ञानरूपो व्यापारस्तदनुकूलो यः आत्मस्वरूपो-
 पदेशरूपो व्यापारः आत्मप्रार्थनाविषयः, तद्वान् भगवानित्यर्थः । निवृत्तौ परपारस्याभेदेनान्वयः, क्रियाविशेषणत्वात्,
 निवृत्तेः परपाररूपकेण शोकस्याब्धिरूपकं व्यङ्ग्यम् । शोकस्येति कर्मणि शेषपट्टी । यद्वा—शोकस्य या परपारपदेन निगीर्णा
 आत्यन्तिकी निवृत्तिस्तं मां तारयतु प्रापयतु । प्राप्तिः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावः, तदनुकूलो ज्ञानरूपो व्यापारः,
 प्रापेरर्थः । मन्निष्ठतदनुकूलो भगवन्निष्ठो व्यापारो णिजर्थ इत्यभिप्रायेणेदम् । वस्तुतस्तु—प्रथमेऽर्थे ज्ञानरूपव्यापारे एव
 परपारस्याभेदान्वयः । द्वितीये च परपारपदेन आत्यन्तिकशोकनिवृत्त्यनुकूलं ज्ञानमेव निगीर्यते, तत्प्राप्त्यनुकूलो यो मन्निष्ठः
 श्रवणादिरूपो व्यापारः, तदनुकूलोपदेशरूपव्यापारश्च णिजन्तार्थः । अत एव तस्मै मृदितकषायाय मे तमसः पारं दर्शयति
 आत्मेत्युपसंहृतम् । तमसः आविद्यकस्यासज्जडदुःखात्मकप्रपञ्चस्य पारं वस्तुतस्तु तदनामकं ब्रह्मात्मस्वरूपमानन्दं
 दर्शयति स्म तद्विषयकसाक्षात्कारानुकूलोपदेशरूपव्यापारवानित्यर्थः । तस्मै इति साक्षात्कारान्वयश्रयाश्रयिभावरूपकर्म-
 त्वार्थिका । व्यत्ययेन चतुर्थी । स्मयोगे भूते लट् । तदभिप्रायेणाह—**ब्रह्मज्ञानं चेति ।** दृश्याब्धेस्तीररूपा मर्यादेत्यनुपपन्नः ।
 तत्काल एव दृश्यस्यास्फुरणात्, किमर्थं तर्हि दृश्यनिवृत्तिरुत्तरीत्या द्विविधा स्वीक्रियते? इति चेत् शुक्तिज्ञानतदज्ञानसद-
 जतस्थलीयानुभवबलात्, व्याप्तिबलात्, “विद्वान् नामरूपादिसुक्तः” “ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः” इत्यादिश्रुति-
 बलाच्चेति गृहाण । उक्तद्विविधनिवृत्त्योर्मध्ये एकतरनिवृत्तिपक्षे नाग्रहः, किन्तु ब्रह्मज्ञानस्य स्थिरनिवृत्तिजनकत्वे इत्याह—
सर्वथापीति । उक्तद्विविधपक्षपरिग्रहेऽपीत्यर्थः । ननु—अत्यन्ताभावरूपनिवृत्तिपक्षे अत्यन्ताभावस्य ब्रह्मरूपतया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञानव्यापकतावच्छेदकं यदज्ञानतत्संस्कारान्यतराभावत्वाज्ञानप्रयुक्ततत्संस्कारान्यतराभावत्वयोरन्यतरत् तदाश्रयप्रतियोगित्वमज्ञानतत्प्रयुक्ततत्संस्कारसाधारणं ज्ञाननिवर्त्यत्वं, ज्ञानाधीनतावच्छेदकं यदुक्तान्यतरत् तदाश्रयप्रतियोगित्वं वा, ज्ञानसाध्यतावच्छेदकं यदज्ञाननाशत्वमज्ञानप्रयुक्तनाशत्वं च तयोरन्यतरत्वत्वं वा, तादृशं यदज्ञानाभावत्वमज्ञानप्रयुक्ताभावत्वं च तयोरन्यतरत्वत्वं वा ज्ञानप्रयुक्तनिवृत्तित्वं, तदाश्रयप्रतियोगित्वं वा ज्ञाननिवर्त्यत्वमिति पूर्वोक्तरीत्या निष्कर्षो बोध्यः । पटुरतसंस्कारादिविशिष्टज्ञानस्य कालिकसंबन्धेन या व्याप्यता तन्निरूपितविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकं यत् कालिकसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाज्ञानतत्संस्कारान्यतराभावत्वं, कालिक-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्थिरत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानद्वितीयक्षणरूपायाः सर्वदृश्यतात्मकनिवृत्तेरुत्तरकालाप्रसिद्धा तद्वृत्तिरूपानुवृत्त्यभावस्यानुपदोक्तत्वात्, कथमुत्तरकालवृत्त्यभावाप्रतियोगित्वरूपस्थिरत्वं ? नच—नाशाप्रतियोगित्वरूपं तस्यां तदस्तीति—वाच्यं; स्वात्मकनाशप्रतियोगित्वस्याङ्गीकारात्—इति चेन्न; स्वान्यनाशाप्रतियोगित्वरूपस्थिरत्वस्य द्विविधनिवृत्त्योः सत्त्वात् । स्मृतेः संस्कारनिवर्तकत्वपक्षे संस्कारातिव्याप्त्या निरस्तं ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पं तत्पक्षदोषत्वेनोक्तातिव्याप्तिमुद्धरिष्यन् सिद्धान्तत्वेन समुचिनोति मूले—ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेणेति । मुद्गरनाशघटाद्यतिव्याप्तिमुद्धर्तुं पूर्वं निरुक्तज्ञाननिवर्त्यत्वपदार्थघटकप्रयुक्तत्वं व्यापकत्वरूपं निवेद्य पूर्वोक्तरीत्या परिष्करोति टीकायां—ज्ञानव्यापकतावच्छेदकमिति । तत्संस्कारेभ्यः प्रथमं तत्पदमज्ञानपरं, द्वितीयमज्ञानप्रयुक्तपरं, तृतीयं तदुभयपरम् । स्वरूपसंबन्धरूपं प्रयुक्तत्वं निवेद्याह—ज्ञानाधीनतावच्छेदकमिति । ज्ञाननिवर्त्यपदस्य यौगिकत्वाय ज्ञानवृत्तिसाध्यत्वघटितं ज्ञाननिवर्त्यत्वमाह—ज्ञानसाध्यतावच्छेदकमिति । साध्यता चात्र जन्यता । ज्ञानादज्ञानादेर्नाशरूपनिवृत्तिर्जायते इति कल्पाभिप्रायेण यदज्ञाननाशत्वमिति । अत्यन्ताभावरूपा निवृत्तिर्भवतीति कल्पाभिप्रायेण तादृशमिति । ज्ञानसाध्यतावच्छेदकमित्यर्थः । साध्यत्वं चात्र प्रयोज्यता । अज्ञानतत्प्रयुक्तसंस्कारयोरज्ञानप्रयुक्तत्वेन तत्संप्रहात् तदनिवेशेति न क्षतिरिति भावः । केवलज्ञानस्याज्ञानाद्यभावव्याप्यत्वासंभवात् व्याप्यतावच्छेदकविशेषणं निवेद्य प्रथमकल्पं परिष्करोति—यदुत्तरसंस्कारादिति । आदिना अप्रामाण्यज्ञानाभावपरिग्रहः, वैशिष्ट्यमेकक्षणावच्छिन्नैकधर्मिवृत्तित्वसंबन्धेन । ज्ञानस्य साक्षात्कारस्य । अत्र विशिष्टसाक्षात्कारत्वमेव ज्ञानत्वव्याप्यधर्मः अज्ञानाद्यभावव्याप्यतावच्छेदकः । यद्यपि अज्ञानाभावव्याप्यतावच्छेदककोटौ अप्रामाण्यज्ञानशून्यत्वमात्रं व्यभिचारवारकतया निवेशमर्हति, न तु संस्कारवैशिष्ट्यं; ज्ञानोत्पत्तिक्षणे बाज्ञानाभावसत्त्वेन व्यभिचारावारकत्वात्; तथापि तत्क्षणे दृश्यसामान्याभावाभावेनोक्तसंस्कारवैशिष्ट्यस्य दृश्यसामान्याभावव्याप्यतावच्छेदककोटौ निवेशनस्यावश्यकत्वात् उक्तज्ञानं प्रतीत्यनेन संस्कारवैशिष्ट्यलाभायात्र तदुक्तिः । स्वसमानाधिकरणेत्यादिनियमस्याप्रयोजकत्वे व्यभिचारावारकविशेषणघटितस्यापि स्वरूपसंबन्धरूपव्याप्यतावच्छेदकत्वसंभवात्, अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपतदवच्छेदकत्वे निर्विवादाच्चेति भावः । विषयितासंबन्धेन तत्त्वज्ञानस्य तत्पूर्वकालीनतत्त्वजिज्ञासातन्मूलैष्टसाधनताज्ञानयोः संबन्धत्वात्, अज्ञानस्य च कालिकसंबन्धेन सत्त्वासंबन्धावच्छिन्नाज्ञानाभावं प्रति तत्त्वज्ञानस्य संबन्धसामान्येन व्याप्यत्वासंभवात्—कालिकसंबन्धेन या व्याप्यतेत्युक्तम् । न च—ज्ञानकालेऽपि अज्ञानानधिकरणदेशकालावच्छेदेन कालिकसंबन्धावच्छिन्नतदभावोऽस्त्येवेति—वाच्यम्; तत्त्वज्ञानपूर्वकालावृत्तेः अज्ञानव्यधिकरणस्यैवाज्ञानाभावस्य मोक्षपदार्थघटकस्य स्वरूपसंबन्धरूपतत्त्वज्ञानप्रयोज्यत्वाश्रयस्यैव विवक्षितत्वात् । न च—तत्त्वज्ञानवति स्थले काले अज्ञानस्य कालिकसंबन्धेन सत्त्वात्तदधिकरणे तदभावस्तत्र दुर्लभ इति—वाच्यम्; तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यधिकरणक्षणत्वव्यापकत्वस्यैवाभिप्रेतत्वात्, तत्त्वज्ञानक्षणेऽज्ञानाभावस्य संयोगविषयितादिसंबन्धेनाभावसत्त्वान्न व्यापकत्वसंभव इत्यतो—विशेषणतासंबन्धावच्छिन्नव्यापकतेत्युक्तम् । संबन्धान्तरावच्छिन्नाज्ञानाभावस्य तत्त्वज्ञानपूर्वक्षणसाधारणत्वात्—कालिकसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्युक्तम् । यद्यपि शुक्तितत्त्वज्ञानक्षणे रज्ज्वज्ञानस्य, रज्जुतत्त्वज्ञानक्षणे शुक्त्यज्ञानस्य च कालिकसंबन्धेन सत्त्वात् कथं तत्त्वज्ञानसामान्यं प्रति तत्तदज्ञानाभावस्य अज्ञानसामान्याभावस्य वा व्यापकत्वसंभवः; तथापि तत्तद्विषयकतत्त्वज्ञानानि तत्तद्व्यक्तित्वेनोपादाय तत्तद्विषयकाज्ञानव्यक्त्यभावेऽप्यव्यापकत्वं विवक्षणीयम् । ज्ञानत्वव्याप्यधर्मो यो इत्यनेन तद्व्यक्तित्वस्याप्युपादानात् । यद्वा—कालिकसंबन्धेन तत्त्वज्ञानसामान्यं प्रति, स्वसमानविषयकज्ञानवत्त्वकालिकोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याज्ञानसामान्याभावस्य विशेषणतासंबन्धावच्छिन्नव्यापकत्वं विवक्षणीयम्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे रज्ज्वाद्यज्ञाने प्रथमसंबन्धाभावात्, शुक्त्याद्यज्ञानस्य द्वितीयसंबन्धाभावात् उक्तोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य अज्ञानसामान्याभावस्य व्यापकत्वं समर्थनीयम् । नच—

नोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन उदीच्यत्वेन वेति न सिद्धसाधनादि । नापीच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतिवत्वे

सिद्धिव्याख्या ।

त्वव्याप्यधर्मेण ज्ञानत्वसाक्षात्त्राप्यधर्मेणेत्यर्थः । उदीच्यात्मविशेषगुणत्वेनेति । अत्र गुणत्वेन निवर्तकत्वे सङ्ख्यादेरपि निवर्तकत्वप्रसङ्गः, अतो विशेषगुणत्वेनेति । तावत्युक्ते शब्दादेरपि निवर्तकत्वापत्तिरत आत्मेति । तावत्युक्ते स्वस्य निवर्तकत्वाभावादसंभवः, अत उदीच्येति । नचैवं—धर्माधर्मादावति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धेनोक्तज्ञानं प्रति विशेषणतासंबन्धावच्छिन्नव्यापकतायामवच्छेदकं यत् स्वाश्रयकालपूर्वत्वसंबन्धावच्छिन्नदृश्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं च तयोरन्यतराश्रयप्रतियोगित्वमिति दिक् । उदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन विभुविशेषगुणत्वेन । सामानाधिकरण्यस्वपूर्वत्वोभयसंबन्धेन नाशकत्वमिति नातिप्रसङ्गः । यथाश्रुते समानाधिकरणयोग्यविभुविशेषगुणत्वेन नाशत्वाच्छेदं प्रति नाशकत्वासंभवात् । अथवा सामानाधिकरण्यस्य निवेशे प्रयोजनाभावात् आत्मगुणत्वेनैव नाशकत्वम् लाघवादाह—उदीच्यत्वेनेति । उदीच्यत्वव्यापिका योग्यविभुविशेषगुणनाशकते-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रथमसंबन्धनिवेशेनैव निर्वाहः, शुक्तिरूपज्ञानोत्पत्तिक्षणे तदज्ञानस्य प्रथमसंबन्धसत्त्वेऽपि तदज्ञानस्यासत्त्वात् तत्संबन्धावच्छिन्नतदभावस्य सुलभत्वादिति—वाच्यम्; एतत्स्फुटीकारायैव द्वितीयसंबन्धोपादानात् । अतएव पूर्वं तादात्म्येन प्रमां प्रति स्वसमानविषयकत्वकालिकोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाज्ञानाभावस्य व्यापकत्वं पूर्वोक्तं सङ्गच्छते । उक्तज्ञानं प्रति तत्तत्त्वसाक्षात्कारं प्रति ।—दृश्यत्वावच्छिन्नेति । तत्तत्समानविषयकाज्ञानप्रयुक्ततद्दृश्यत्वावच्छिन्नेत्यर्थः । तेन शुक्त्यादिसाक्षात्कारोत्पत्तिक्षणोत्तरक्षणे रज्ज्वाद्यज्ञानप्रयुक्तदृश्यसत्त्वेऽपि न क्षतिः । यथाश्रुते तु स्वप्रयोजकज्ञानसमानविषयकज्ञानवत्त्वं प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धकोटौ विभावनीयम् । अथवा अत्र ज्ञानपदेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारयोरेव ग्रहणेन तत्क्षणे कस्याप्यज्ञानस्य तदुत्तरक्षणे च कस्यापि दृश्यस्यानुपगमेन नोक्तव्यापकत्वयोरनुपपत्तिः । ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेणेत्यनेन पटुतरसंस्कारविशिष्टब्रह्मात्मसाक्षात्कारत्वोपादानात् । लक्षणे तु ज्ञानपदं यथाश्रुतम् । तेन ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेणेत्यस्य पूर्वज्ञाननिष्ठायामुदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन ब्रह्मसाक्षात्कारनिवर्त्यतायामतिव्याप्तिवारकतया सिद्धसाधनवारकतयाच सार्थक्यसंभवेऽपि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वानुपगमेन संस्कारातिव्याप्तिनिरासस्य वक्ष्यमाणस्य नासङ्गतिः; न वा शुक्तिरूप्यादिदृष्टान्तासिद्धिः पूर्वज्ञानं प्रत्युत्तरज्ञानस्य यद्युत्तरज्ञानत्वेन निवर्तकता, तदा तदतिव्याप्तिरुत्तरज्ञानत्वे पूर्वज्ञाननिवर्तकतावच्छेदकत्वं निराकरोति मूले—उत्तरज्ञानस्येति । धर्मेणेति । उत्तरेच्छायाः पूर्वज्ञानं प्रति निवर्तकतान्तरप्रसङ्गादिति शेषः—किंतु इति । उक्तप्रसङ्गपरिहारार्थमिति शेषः । उदीच्यत्वम्, अव्यवहितोत्तरकालोत्पन्नत्वम् । तस्य संसर्गत्वे संभवति प्रकारत्वे गौरवात् तत्परित्यज्य, आत्मपदस्य जीवमात्रपरत्वे पूर्वशब्दनाशं प्रति उत्तरशब्दस्य नाशकतान्तरप्रसङ्गात् योगेन विभुपरतया तत्पदं व्याचष्टे टीकायां—विभुविशेषगुणत्वेनेति । ननु—आत्मत्वयोगेन विभुनिवेशे, पूर्वशब्दं प्रति उत्तरज्ञानादेः नाशकत्वे बाधकाभावेऽपि भूताकाशादिनिष्ठद्वित्वादिसंख्यापृथक्त्वसंयोगविभागादेरुत्तरोत्पन्नज्ञानद्वितीयक्षणे नाशप्रसङ्गः, एवमुदीच्यत्वत्यागे पूर्वज्ञानादेरुत्तरज्ञाननाशकत्वापत्त्या उत्तरज्ञानादेरपि क्षणिकत्वापत्तिरत आह—सामानाधिकरण्यस्वाव्यवहितपूर्वत्वोभयसंबन्धेनेति । ज्ञानादिकं प्रति उत्तरोत्पन्नसंस्काराद्ययोग्यस्यापि नाशकत्वायोग्यत्वं तदवच्छेदके न निवेशितम् । ननु—पूर्वशब्दस्य शब्दत्वेनेतरशब्दनाशत्वे आत्मपदस्य विभुपरत्वं व्यर्थमत आह—यथाश्रुत इति । आत्मपदे इति शेषः । अयोग्यसंस्कारादेरुत्तरज्ञानाद्यनाशत्वाच्चाश्रयतावच्छेदके योग्यत्वप्रवेशः । तद्व्यधिकरणस्य तदनाशकत्वात्—समानाधिकरणेति । उक्तसंबन्धद्वयघटकसामानाधिकरण्यलाभाय । नाश्यत्वेन पूर्वज्ञानशब्दयोरुत्तरज्ञानशब्दाभ्यां नाश्यनाशकभावोत्पन्नुरोधेन नाश्यत्वोपगमेन । शब्दं प्रतीति । उत्तरोत्पन्नशब्दज्ञानादेरिति शेषः । अत्र योग्यविभुविशेषगुणत्वेन नाश्यत्वं, मूर्ताकाशादिसामान्यगुणद्वित्वादीनामुत्तरोत्पन्नशब्दनाश्यत्ववारणाय सामानाधिकरण्यनिवेशेऽप्यावश्यकं, तावतैव द्वित्वादीनां व्यधिकरणज्ञानादिनाश्यत्ववारणे सामानाधिकरण्यनिवेशनं व्यर्थम्; शब्दज्ञानादीनां व्यधिकरणोत्तरज्ञानादिनाश्यत्वोपगमे क्षतिविरहादित्याह—अथवेति । आत्मगुणत्वेनैवेति । एवकारेण विशेषत्वव्यवच्छेदः । उत्तरोत्पन्नसंख्यादेरपि नाशकत्वे बाधकाभावात् उदीच्यत्वं पूर्वत्वरूपसंबन्धपर्यवसायित्वान्नोक्तम् । ननु—अपेक्षावद्वितीयक्षणे समानाधिकरणविशेषगुणोत्पादानुपगमेऽपि व्यधिकरणवायुसंयोगादेरुत्पादनैयत्यात्मेन तृतीय-

न ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारे अतिव्याप्तिः; स्मृतित्वेन स्मृतेः संस्कारनिवर्तकत्वे मानाभावात् । स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढो भवतीत्यनुभवसिद्धम् । तेषां दृढतरत्वं च समानविषयकसंस्कारानेकत्वादित्य-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रसङ्ग इति—वाच्यम्; योग्योत्तरात्मविशेषगुणत्वेनेति विवक्षितत्वात् । यत्तु—विवक्षितलक्षणस्यापि संस्कारेऽतिव्याप्त्यापादनं, तन्निराकरोति—नापीति । मानाभावादिति । तथाच संस्कारे उक्त-
लक्षणस्यैवाभावान्नातिव्याप्तिरिति भावः । ननु—स्मृतिः संस्कारनिवर्तिका, तत्कार्यत्वात्, धर्माधर्मनि-
वर्तकमुखदुःखादिवत्, इत्याशङ्क्याह—स्मृतौ हीति । तथाच सुखे दुःखे च जाते धर्माधर्मौ दृढौ
भवतः इत्यनुभवाभावाद्युक्तं तयोस्ताभ्यां निवृत्तिरिति, प्रकृते तु संस्कारो दृढो भवतीत्यनुभवान्न तस्य
स्मृत्या निवृत्तिः, अनुमाने चादृढत्वमुपाधिरिति भावः । ननु—अनुभवसिद्धदृढसंस्कारः स्मृतिजन्योऽन्य
एव, इत्याशङ्क्याह—दृढत्वश्चेति । ततश्च स्मृतिविषयकसंस्कारानेकत्वस्य स्मृतिजन्यसंस्कार एवेति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यर्थः । तथाच ज्ञानत्वेच्छात्वादिप्रत्येकरूपेण जातिविशेषेण वा सेति भावः । साधनादीत्यादिनोक्तार्थान्तरम् ।
अनुभवसिद्धं विलक्षणस्मृतिरूपकार्यानुमेयम् । ननु—विलक्षणस्मृत्या विलक्षण एव संस्कारोऽनुमीयते, तथाच
स्मृत्या पूर्वसंस्कारो नश्यत्येव—तत्राह—दृढत्वं चेति । समेत्यादि । तथाच समानविषयकत्वसामानाधिकर-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

क्षणे तन्नाशो दुर्वार इति—चेन्न; तत्र द्वितीयक्षणादेः प्रतिबन्धकत्वोपगमात्, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानहेतुत्वानुपगमे निर्वि-
कल्पकानुपगमेन तद्वितीयक्षणे विशिष्टप्रकारकप्रत्यक्षसंभवेन तस्याः क्षणत्रयावस्थाने प्रयोजनाभावाच्च । अत्र व्यधिकरण-
स्यापि नाशकत्वे आत्मगुणत्वमपि व्यर्थं, कस्याप्युदीच्यस्य योग्यविभुविशेषगुणनाशकत्वे बाधकाभावात्, इत्यभिप्रेत्याह—
लाघवादिहोदीच्यत्वेनेति इति । उदीच्यत्वं च न नाशकतायां स्वरूपसंबन्धरूपावच्छेदकत्ववत्, स्वत्वस्यानिवेशे
स्वसाधारण्यात्, निवेशेऽननुगमात्, किन्तु स्वाव्यवहितपूर्वत्वस्य संबन्धविधया अवच्छेदकत्वस्फोरकम्, इत्याशयेनाह—
उदीच्यत्वव्यापिकेति । आश्रयतावच्छेदकं तु तदेवेत्याह—योग्यविभुविशेषगुणेति । धर्मविधया नाशकतावच्छेद-
कमाह—तथाचेति । ज्ञानत्वेच्छात्वादिप्रत्येकरूपेण तथात्वे कारणताबाहुल्यं व्यभिचारश्चेत्यत आह—जातिविशेषेण
वेति । उक्तकारणतावच्छेदकतया सिद्धज्ञानेच्छादिसाधारणेत्यादिः; प्रमेयत्वादिना नाशकत्वे वाच्यत्वादिना विनिगमना-
विरहादिति भावः इति । उत्तरज्ञाननिष्ठयाः पूर्वज्ञाननिवर्तकतायाः ज्ञानत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वाभावात् अयं सिद्धसाध-
नाभावे हेतुः । नोक्तार्थान्तरमिति । ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेणेत्युक्तावपि वियदादौ ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धावपि
उत्तरज्ञाननाश्यपूर्वज्ञानवत् सत्यत्वाविरोधात् अर्थान्तरं नेत्यर्थः; ब्रह्मसाक्षात्कारप्रयोज्यस्वस्वसंस्कारान्यतराभावप्रतियोगि-
त्वरूपमिथ्यात्वसाध्यस्य सत्यत्वविरोधित्वात् इति भावः । मूले—स्मृतित्वस्य निवर्तकतावच्छेदकत्वाय इच्छाद्यनिवर्त्ये-
त्युक्तम् । अतिव्याप्तिः सिद्धसाधनम् । मानाभावादिति । न च—अनुभवजन्यः स्मृतिजनकः संस्कारः, स्वफलस्मृति-
नाश्यः, व्यापारत्वात्, अपूर्ववत्, इत्यनुमानं मानमस्तीति—वाच्यम्; इन्द्रियार्थसन्निकर्षादौ प्रत्यक्षानाशये व्यभिचारात् ।
अतएव धारावाहिकप्रत्यक्षोपपत्तिः । अत्र कालान्तरभाविर्कार्यव्यापारत्वस्य हेतुत्वे उक्तव्यभिचारवारणसंभवात् यावत्स्मृति-
संस्कारकल्पने गौरवसोभयमते सत्त्वात् अन्यत् बाधकमाह—स्मृतौ हीति । संस्कारस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानुभव-
सिद्धत्वं न संभवतीत्यतो व्याचष्टे—विलक्षणस्मृतिरूपकार्यानुमानमिति । वैलक्षण्यं चिन्ताद्यनपेक्षणेन झटिति
जायमानत्वम् । दृढत्वं च यद्यपि संस्कारस्य नाविनाश्यत्वं; जन्यभावत्वेन चरमस्मृतिरोगविशेषदीर्घकालादिनाश्यत्वाङ्गी-
कारात्, तथापि प्रथमादिस्मृत्यविनाश्यत्वनिर्वाह्यं दृढत्वं मूले निर्वक्ति—दृढत्वं चेति । समानेति । तथात्वं संस्कारस्य
दृढत्वं नाम, स्वसमानविषयकत्वैककालावच्छिन्नस्वसामानाधिकरण्यस्वभिन्नत्वैतन्नयसंबन्धेन संस्कारविशिष्टत्वम् संस्कार-
द्वयत्रयादिवैशिष्ट्यं चाद्यार्थः । अपेक्षात्मकज्ञानत्वेनैवानुभवस्य संस्कारद्वारा समानविषयकस्मृतिकारणता, नत्वनुभवत्वेनेति
स्मृतेः संस्कारजनकत्वोपपत्तिः । नच—उक्तत्रितयसंबन्धेन स्मृतिविशिष्टत्वमेव संस्कारस्य दृढत्वमस्तु, किं स्मृतिजन्यसंस्का-
रकल्पनगौरवेणेति—वाच्यम्; “जायते च पुनः पुनः स्मरणात् दृढतरः संस्कारः” इत्यभिद्युक्तोक्तिविरोधात् ।

दोषः । वस्तुतस्तु, साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्; अतो न पूर्वोक्तदोषः । नापि निश्चयत्वेन ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्ये संशये अतिव्याप्तिरिति सर्वमवदातम् ॥

॥ इति तृतीयमिथ्यात्वविचारः ॥

नियन्तुमशक्यत्वेन जनकसंस्कारमादायाप्युपपत्तौ न जननीभूतसंस्कारस्य स्मृत्या निवृत्तिरिति ध्येयम् ॥

इति अद्वैतसिद्धिव्याख्याने तृतीयमिथ्यात्वनिरूपणं समाप्तम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ण्योभयसंबन्धेन संस्कारविशिष्टसंस्कारत्वेन तत्समनियतजातिविशेषेण वा विलक्षणस्मृतिहेतुत्वे स्वीकृतेऽपि स्मृतेः संस्कारं प्रति नाशकता न कल्प्यते; गौरवादिति भावः । नच स्मृतिधारापत्तिः; उद्बोधकविच्छेदात् । संशये विपरीतज्ञाने । ननु—विपरीतज्ञानस्यानादिसंसर्गाभाव एव निश्चयरूपप्रतिबन्धकप्रयुक्तः, ननु नाशः, अतः कथं विपरीतज्ञानेऽतिव्याप्तिः? ज्ञानजन्यनाशस्यैव हि प्रकृतलक्षणे निवेशः, अन्यथा उत्तरज्ञाननाशत्वमादाय सिद्धसाधनस्योक्त्यसंभवात्—इति चेत्सत्यम् । यदि ज्ञानप्रयुक्तात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं स्वीकृत्य तन्नाशकस्यापि तदत्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अभियुक्ताश्च महर्षयनुसारिणः महर्षयश्च स्वतन्त्राः । स्मृतेः संस्कारनाशकत्वस्य तावताप्यप्रसक्तेश्चेति संस्कारनाशकत्वे बाधकोद्भावकयथाश्रुतमूलार्थः । टीकाकृतस्तु स्मृतौ हीति ग्रन्थस्य प्रथमादिस्मृतौ सत्यां तज्जननीभूतः संस्कारः स्मृतिप्रयोज्यो विलक्षणस्मृतिप्रयोजको यो दृढत्वनामाऽऽश्रयाविनाशनिर्वाहो धर्मः तद्वान् भवतीत्यर्थमभिप्रेत्य तत्र स धर्मो न जातिरूपः, स्मृतिप्रयोज्यत्वेनानित्यत्वात्, अतो वैजात्यविशिष्टसंस्कारान्तरमेव स्मृतिजन्यं विलक्षणस्मृतिजनकं स्वीकार्यम्, पूर्वसंस्कारस्तु स्मृत्या नश्यत्येवेत्याशङ्क्य दृढतरत्वनिर्वचनमवतारयति—ननु विलक्षणस्मृत्येति । तेषां दृढतरत्वं चेति मूलपाठः । दृढत्वस्य जातिरूपत्वे, दृढतरत्वादिकमपि जातिरूपं वाच्यम्; तच्च न संभवति; जातावुत्कर्षापकर्षानभ्युपगमात्, अतः समानविषयकानेकसंस्कारविशिष्टत्वं संस्कारस्य दृढतरत्वं वाच्यम् । तथाच समानविषयकसंस्कारविशिष्टत्वमेव दृढत्वं युक्तम्, ननु पूर्वसंस्कारविलक्षणसंस्कारत्वम्; गौरवात् । तथाच विलक्षणस्मृतिजनकतावच्छेदकीभूतदृढत्वादिरूपत्वं संस्काराणां प्रथमादिस्मृतिप्रयोज्यत्वम्, अल्पत्वभूयस्त्वादिरूपोत्कर्षापकर्षरूपत्वं च युज्यत इत्याशयेन मूलाशयमाह—तथाचेति । उभयेति । विशिष्टद्विसामान्ये भेदस्य विषयताव्यवस्थापनात् तद्भेदस्तृतीयः संबन्धः—प्रथमसंस्कारमात्रदशायां दृढत्ववारणायावश्यनिवेदयोऽपीह पृथक् नोक्ताः, अन्यविषयत्वादेरन्यासंबन्धत्वादिति स्वांशेनोक्तः । लाघवादाह—तत्समनियतजातिविशेषो वेति । तथाचोक्तदृढत्वादिकं उक्तजातिविशेषस्य परिचायकं, तस्य तदुत्कर्षापकर्षादिकमेव जातिविशेषे उपचर्यते इति भावः । यद्यपि उक्तरूपाभ्यां विलक्षणस्मृतिहेतुत्वे स्मृतेः संस्कारनाशकत्वं न प्रसज्यते, प्रथमस्याप्रसिध्यापातात्; तथापि जन्यजनकतावच्छेदकतया सिद्धजात्यन्तरवदस्यापि जातिविशेषस्य ज्ञानसंभवात्, प्रसक्तां स्मृतेः संस्कारनाशकत्वशङ्कां निराकरोति—स्वीकृतेऽपि स्मृतेरिति । नचेति । स्मृत्या पूर्वसंस्कारविनाशादिति भावः—विच्छेदादिति । तस्य फलबलकल्प्यत्वादिति भावः ॥

श्रीगुरुपरमात्मने पाण्डुरङ्गाय नमः ।

ननु—विजातीयस्मृतिं प्रति विजातीयसंस्कारत्वरूपदृढत्वेनैव हेतुता; लाघवात्, तथाच सर्वसंस्कारसद्भावे प्रमाणप्रयोजनयोरभावात् विलक्षणीयस्मृतिर्वेनैव पूर्वसंस्कारनाशकता स्वीकार्या; अन्यथा तस्य नित्यत्वापत्तेरित्याशयेनाह मूले—वस्तुतस्तुति । पूर्वोक्तदोषः । उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानस्मृतिनिवर्त्यसंस्कारातिव्याप्तिसिद्धसाधनरूपो दोषः । सुदूरघटाद्यव्याप्तिस्तु पूर्ववदेव वारणीयेति भावः । कल्पान्तरानुसरणवीजं पूर्वकल्पेतिव्याप्त्याऽऽखरसमाह—नापीति । संशयवत् विपरीतनिश्चयस्यापि निश्चयप्रतिबन्धत्वात् मूले न्यूनतेति संशयपदं व्याचष्टे—संशये इति । विपरीतज्ञाने प्रतिबन्धकनिश्चयप्रकाराभावप्रकारकलौकिकसन्निकर्षाद्यजन्ये ज्ञाने । अनादिसंसर्गाभावः प्रागभावः ।—नत्विति । तस्योत्तरज्ञानप्रयोज्यत्वादिति भावः । पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञाननाशत्वमादाय सिद्धसाधनं सङ्गमयति—तन्नाशकस्यापीति । तदत्यन्ताभा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्ताभावप्रयोजकत्वं स्वीक्रियते, 'उत्तरज्ञानात् पूर्वज्ञानात्यन्ताभाव' इति धीश्च स्वीक्रियते, तदापि साक्षात्कारत्वेन प्रयोजकतानिवेशेन विपरीतज्ञानातिव्याप्तिरित्युक्तं शक्यत इति भावः । ज्ञानप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वरूपं लक्षणं स्वीकृत्य वा पूर्वापरग्रन्थसङ्गतिः । नच—तथापि प्रवृत्तिप्रागभावेऽतिव्याप्तिः, उपादानप्रत्यक्षस्य साक्षात्कारत्वेन प्रवृत्तिरूपतन्नाशं प्रति प्रयोजकत्वादिति—वाच्यम्; प्रागभावस्यानङ्गीकारात्, नाशत्वेनात्यन्ताभावत्वेन वा प्रयोज्यतानिवेशाद्वा । ननु—स्पर्शनादिरूपे शुक्त्यादिसाक्षात्कारे सत्यपि चाक्षुषादिरूपस्य रजतादिभ्रमस्योत्पत्त्या तदिन्द्रियप्रयोज्यरजतादिभ्रमहेत्वज्ञाने तदिन्द्रियप्रयोज्यशुक्त्यादिधीत्वेन निवर्तकत्वमावश्यकम्, तथाच साक्षात्कारत्वेन न तत्—इति चेत्, तथासति बह्व्यादेः स्पर्शनाद्युत्तरं तत्र तदन्यत्वचाक्षुषाद्यापत्तेः । तस्य इष्टत्वे अनुभवविरोधात्, क्वचिद्विज्ञेन्द्रियजन्यज्ञानस्यानिवर्तकत्वं तु तत्राप्रामाण्यज्ञानात्, समानेन्द्रियत्वान्तर्भावेण निवर्तकत्वस्वीकारेऽपि 'यद्विशेषयो'रिति न्यायेन साक्षात्कारत्वेनापि निवर्तकत्वस्वीकाराच्च । नच सेतुदर्शननाशयुपापेऽतिव्याप्तिः; 'सेतुं

लघुचन्द्रिकाया विट्कलेशोपाध्यायी ।

वेति । तन्नाशं विना तदधिकरणासंबन्धेत्यादिः । प्रत्ययातिप्रसङ्गमिष्टापत्त्या परिहरति—उत्तरज्ञानादिति । विपरीतज्ञानेति । प्रागभावद्वारा निश्चयप्रयुक्तात्यन्ताभावप्रतियोगि इत्यादिः—शक्यते इति । ज्ञानत्वव्याप्यत्वानिवेशेन लाघवं चेल्पि बोध्यं इति भावः । इत उत्तरं ज्ञानप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वरूपं लक्षणं स्वीकृत्य वा पूर्वापरग्रन्थसङ्गतिरिति पाठः । स च ननु तन्नाशस्तदधिकरणे तदत्यन्ताभावसंबन्धे एव प्रयोजकः, न तु तदत्यन्ताभावे, तस्य नित्यत्वात्, ज्ञानप्रयुक्तसंबन्धप्रतियोग्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वनिवेशे तु गौरवमित्याशङ्क्यावतरणीयः । पूर्वापरेति । नाशमादाय पूर्वस्य, प्रागभावमादाय उत्तरस्य ग्रन्थस्य सङ्गतिरित्यर्थः—तन्नाशमिति । अभावमिति शेषः । तेन नाशत्वाघटितलक्षणद्वयेऽपि शङ्कासङ्गतिः । एवं च नाशत्वात्यन्ताभावत्वघटितलक्षणत्रयेऽपि नेयं शङ्केति भावः । प्रागभावस्यानङ्गीकारादिति । प्रतिबन्धकनिश्चयस्य प्रतिबन्धज्ञानात्यन्ताभावसंबन्धे साक्षादेव प्रयोजकत्वमिति भावः । तदङ्गीकारेऽप्याह—नाशत्वेनेति । अत्यन्ताभावत्वेनेति । अभावत्वेनेत्यपि बोध्यम् । प्रवृत्तौ तु प्रवृत्तित्वेनैवोपादानप्रत्यक्षप्रयोज्यता; लाघवादिति भावः—धीत्वेनेति । ननु—साक्षात्कारत्वं जातिविशेषो वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानत्वं वा, उभयथापि तदिन्द्रियप्रयोज्यसाक्षात्कारत्वेनोक्ताज्ञाननिवर्तकत्वसंभवात् नेयं शङ्का संगच्छत इति—चेन्न; साक्षात्कारत्वं विषयिताविशेषः, ज्ञानाकरणकज्ञानत्वं वा, तथाच तदिन्द्रियप्रयोज्यतद्रूपापेक्षायां तदिन्द्रियप्रयोज्यधीत्वेन निवर्तकत्वे लाघवमित्यभिप्रायात् । वस्तुतस्तु—रजतादिलौकिकान्नाक्षुषभ्रमहेत्वज्ञानं प्रति शुक्त्यादिलौकिकचाक्षुषत्वेनैव निवर्तकत्वेतावतैवास्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमिति शङ्कासङ्गतिः । न तत् नोक्ताज्ञाननिवर्तकत्वम् । तथा सति चाक्षुषादिभ्रमहेत्वज्ञानं प्रति अधिष्ठानचाक्षुषत्वादिना निवर्तकत्वे सति । तदन्यत्वेति । बह्व्यादिभिन्नत्वगुणपद्मरागनक्षत्रादिगोचरेत्यर्थः—अनुभवविरोधादिति । अधिष्ठानसाक्षात्कारत्वेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वावश्यकत्वादिति शेषः । कथं तर्हि शुक्तिस्पर्शानोत्तरं रजतचाक्षुषभ्रमोत्पत्तिः ? तत्राह—क्वचिदिति । तत्र भिन्नेन्द्रियजन्ये । अप्रामाण्यज्ञानादिति । तदनास्वादितस्यैव निवर्तकत्वमिति भावः । ननु—सर्वत्रोक्तस्थलेऽप्रामाण्यज्ञानोत्पत्तिकल्पने मानाभावः, तदुत्पत्तिक्षणे उक्तभ्रमापत्तिश्चेत्यत आह—समानेन्द्रियजन्यत्वान्तर्भावेनेति । चाक्षुषत्वाद्यन्तर्भावेनेत्यर्थः । न्यायेनेति । स्वबाधकाभावविशिष्टा यत्र यद्धर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता यद्धर्मावच्छिन्नकारणता तत्रतद्धर्मव्यापकधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता तद्धर्मव्यापकधर्मावच्छिन्नकारणता; यथा घटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकपालत्वावच्छिन्नकारणताके कपाले पृथिवीत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितपृथिवीत्वावच्छिन्नकारणता । स्वं सामान्यकारणता । तत्रैव द्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणतायाः पृथिवीत्वावच्छेदेन जलादौ व्यतिरेकव्यभिचारेणासत्त्वात्, पृथिवीत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणतायाः द्रव्यत्वावच्छेदेन जलादावन्वयव्यभिचारेणासत्त्वाच्च व्यभिचार इत्यतः, स्वबाधकाभावविशिष्टेति । एवंच रजतचाक्षुषभ्रमहेत्वज्ञाननिवर्तके शुक्तिचाक्षुषे साक्षात्कारत्वावच्छेदेन रजतसाक्षात्कारभ्रमहेत्वज्ञाननिवर्तकत्वसिद्धिः । न च—शुक्तिस्पर्शने रजतचाक्षुषभ्रमोपधायकाज्ञानानिवर्तके अन्वयव्यभिचार एव बाधक इति—वाच्यम्; विशेषकारणविशिष्टसामान्यकारणस्यैव फलोपधायकत्वेनान्वयव्यभिचाररूपबाधकाभावादिति भावः ॥ श्रीः ॥ नचसेतुदर्शनेनेति । तत्रापि यद्विशेषयोरिति न्यायेन सेतुसाक्षात्कारत्वेन आवद्विशेषनाशकत्वादिति भावः ।—स्मृत्येति । अन्वयव्यतिरेकप्रदघटितसामग्रीग्राह्याया विशेषकारणताया एव सामान्यकारणत्वव्याप्यत्वम्, न तु शब्द-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इदं समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहतीत्यादिस्मृत्या सेतुचाक्षुषत्वेनैव तत्र निवर्तकत्वबोधनादिति भावः ॥ इति लघु-
चन्द्रिकायां ज्ञाननिवर्त्यत्वनिरूपणम् ॥

इति तृतीयमिथ्यात्वम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रमाणादिग्राह्याया इति नात्र सेतुसाक्षात्कारत्वेनोक्तनाशकत्वमिति भावः । तदाह—सेतुचाक्षुषत्वेनैवेति । ननु—
अन्धस्य सेतुसमीपे समुद्रस्नातस्यापि पापविशेषनाशो न स्यात्; सेतुचाक्षुषाभावात्, नचेष्टापत्तिः; “चातुर्विद्योपपन्नस्य विधि-
वद्ब्रह्मघातने । समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत् । वर्जयित्वा विकर्मस्थान्
च्छत्रोपानद्विवर्जितः ॥ अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः । गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थं ब्रह्मघातकः ॥ गोकुलेषु च
गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च । तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च । एतेषु व्यापन्नेन पुण्यं गत्वा तु सागरम् । ब्रह्महा मुच्यते
तस्मात् ज्ञात्वा तस्मिन् महोदधौ ॥ ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेत्
गृहम् ॥ गवां वापि शतं दत्त्वा चातुर्विद्याय दक्षिणाम् । एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः” इति मिताक्षरायां
पराशरस्मृतौ च सेतुचाक्षुषस्य पापविशेषनाशकत्वानुक्तेः, त्रतविशिष्टसमुद्रसेतुगमनसेतुसन्निहितसमुद्रज्ञानयोरेव तन्नाश-
कत्वोक्तेश्च, सेतुसमुद्रज्ञानं विनापि सेतुचाक्षुषमात्रेणोक्तपापनिवृत्तिसंभवेन तत एव पापिनां स्वदेशगमनापत्तेश्च । नचैव-
माचार इति—चेन्न; उक्तस्मृतिद्वयैकवाक्यतया समुद्रसेतुदेशगमनप्रायश्चित्तेन्दुशेखरोक्तविन्ध्योत्तरदेशत उक्तनियमक-
लापविशिष्टचाक्षुषजनकचक्षुःसन्निकर्षयोग्यदेशावच्छिन्नसमुद्रज्ञानयोः समुदितयोः पापविशेषनाशकत्वस्वीकारे उक्तसक-
लदोषपरिहारेण सामञ्जस्यात् । तत्त्वदीपने तु द्वारदेशगमनादियुतस्य सेतुदेशप्राप्त्या कल्मषनिवृत्तिरित्युक्तम् । तत्र
प्राप्तिपदेन ज्ञानमुपलक्षणीयम् । टीकायां चाक्षुषत्वेन पापनिवर्तकत्वोक्तिस्तु, विरोध्यभ्युपगमवादः, संतानचाक्षुषयोग्य-
त्वेनेत्यर्थिका वेति बोध्यम् ॥

इति तृतीयमिथ्यात्वम् ।

ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वविचारः

तृतीयमिथ्यात्वम्

तदयं निर्गलितार्थः

न्यायामृतकाराः—

ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां मुद्गरपातादिनिवर्त्यं घटादावव्याप्तिः; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं; शुक्तिज्ञानेन रूप्यं नष्ट-
मिति कदाप्यनुभवात् । ‘एतावन्तं कालं शुक्त्यज्ञानमासीत्’ ‘भ्रम आसीत्’ इत्यनुभवेन शुक्तिवत्सत्ययोः अज्ञान-
भ्रमयोः ‘शुक्त्यज्ञानेन तदज्ञानं नष्टं भ्रमश्च नष्ट’ इत्यनुभवेन ज्ञाननिवर्त्यत्वसत्त्वेन तत्रातिव्याप्तिश्च । यथाहि ‘रूप्यं
नास्ति नासीन्न भविष्यतीति’ प्रत्ययो नैवं शुक्त्यज्ञानं भ्रमश्च नासीदिति प्रत्ययो विद्यत इति तयोरलक्ष्यत्वात् ।
साक्षिसत्यत्वेऽपि तद्भास्यदुःखादिमिथ्यात्ववत् भ्रमसत्यत्वेऽपि तद्भास्यरूप्यमात्रमिथ्यात्वस्यापि संभवात् । अपरोक्ष-
भ्रमस्य परोक्षप्रमया निवृत्त्यसंभवेन परोक्षपरोक्षसाधारणज्ञानत्वस्य निवर्तकतावच्छेदकत्वायोगाच्च । ज्ञानत्वव्याप्य-
स्मृतिवत्त्वेन ज्ञाननिवर्त्यं संस्कारेऽपि मिथ्यात्वव्यवहारापत्तेर्न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमपि तत् । अनुभवत्व-

व्याप्यधर्मेण तन्निवर्त्यत्वविवक्षायां यथार्थस्मृतिनिवर्त्ये अयथार्थस्मृतावव्याप्तिः । तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यजीवन्मुक्तीयाज्ञान-
संस्कारेऽव्याप्तेर्न भ्रमोत्तरयथार्थज्ञाननिवर्त्यत्वं तत् । एतेन—खोपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञाननिवर्त्यत्वमिति पक्षोऽपि पराहतः;
अनाद्यध्यासेऽव्याप्तेः, लाघवेनाज्ञानोपादानकत्वस्यैव लक्षणत्वापाताच्चेति—

विज्ञाननाश्यता मिथ्या रूपादौ नानुभूयते । किं त्वधिष्ठानवत्सत्ये तदज्ञानेऽनुभूयते ॥ इति

एवं च ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमिति पक्षोऽपि न संभवतीति—वर्णयन्ति ।

सिद्धिकारास्तूक्तरूपमपि मिथ्यात्वं निर्दुष्टमेवेति साधयन्ति ।—

तथाहि—ज्ञाननिवर्त्यत्वं हि ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वम्; एवं च कार्यात्मना कारणात्मना च
द्विविधाऽवस्थितित्वावच्छिन्नविरहस्य ज्ञानप्रयुक्तस्यैवात्र विवक्षणात्, 'अविद्या सह कार्येण नास्ति नासीद्भविष्यतीति'
बाधस्याविद्यायामपि सत्त्वेन तत्परिणामभूतभ्रमस्यापि तथात्वेन शुक्तयज्ञानरूप्यविभ्रमयोरपि मिथ्यात्वस्येष्टत्वेनाल-
क्ष्यत्वाभावेनातिव्याप्त्यनवसरात्, शुक्तिज्ञाने रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति प्रतीतेरानुभाविकत्वेन रूप्यस्यापि
मिथ्यात्वात् साध्यवैकल्याभावात्, उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य स्वात्मनावस्थितिविरहस्य प्रयुक्तत्वेऽपि कारणात्मनावस्थि-
तिविरहस्य तत्त्वाभावादर्थान्तरस्यापि नावकाशात्, परोक्षापरोक्षसाधारणस्यापि ज्ञानत्वस्य स्वरूपसंबन्धरूपनिवर्तक-
तावच्छेदकत्वाङ्गीकारेणोपपत्तिसंभवाच्च ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वपक्षे न दोषः । एवं ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण निवर्तक-
तापक्षोऽप्यदुष्ट एव; स्मृतिवत्त्वेन स्मृतेः संस्कारनिवर्तकताया अनङ्गीकारात्, स्मृतौ सत्यां संस्कारो दृढो भवतीत्येवानुभवात् ।
स्मृतिसामान्यस्यायथार्थत्वमेव न यथार्थस्मृतिरपि समस्ति इति बिन्दुटीकोदाहृतपक्षानुसरणे तु अनुभवत्वव्याप्य-
धर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वपक्षोऽपि न दोषाय । एवं भ्रमोत्तरसाक्षात्कारत्वेन तन्निवर्त्यत्वमिथ्यात्वपक्षोऽपि
समीचीन एव; जीवन्मुक्तीयाज्ञानसंस्कारस्य चरमसाक्षात्कारेणैव निवृत्तिर्न तु ज्ञानसंस्कारेणैत्यङ्गीकारेण तत्रापि दोषाभा-
वात् । अनाद्यध्यासानामप्यविद्योपादानकत्वस्य तत्समकालिकत्वेन न्यायरत्नावल्यामुपपादितत्वेन खोपादाननिवर्तकज्ञान-
निवर्त्यत्वपक्षस्याप्यदुष्टत्वादिति—तृतीयमपि मिथ्यात्वं सूपादमेव—इति ॥

तदेतत्तरङ्गिणीकारा नानुमन्यन्ते—

तथाहि—न तावज्ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वम्; तत्रावस्थित्या सामान्यं विशेष्यते
वा, विरहो वा, आद्येऽवस्थितिसामान्यं कारणात्मनावस्थानं कारणमिति यावत्, एवं च ज्ञानप्रयुक्तविरहप्रतियोगि-
कारणकत्वं मिथ्यात्वमिति पर्यवसितम् । एवं चोत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानजन्यसंस्कारे सिद्धसाधनम्, अनाद्यविद्यादौ बाधश्च ।
कारणशब्देनाविद्योक्तौ चाविद्याकारणकत्वमेवास्तु; शेषवैयर्थ्यात् । अनाद्यविद्यादौ बाधश्च । द्वितीये कारणात्मना विरहस्य
ज्ञानप्रयुक्तत्वेऽपि स्वरूपेण विरहस्य ज्ञानाप्रयुक्तत्वाद्विदादावव्याप्तिः । रूप्यादेरवस्थित्यङ्गीकारे स्वरूपेण निषेधायोगेन
स्वरूपेण निषेधं वदतां भवतां मतेऽत्यन्तासत्त्वस्यापादितत्वेन शशशृङ्गाद्यभावस्यैव रूप्याभावस्यापि ज्ञानाप्रयुक्तत्वाद्दृष्टान्ते
साध्यवैकल्यम्, पक्षे बाधश्च । ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेणेति पक्षोऽपि न युक्तः; मननत्वादिना ज्ञाननिवर्त्ये संशय-
विशेषेऽतिव्याप्तेः । एतेन—साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वपक्षोऽपि—परास्तः; युष्मन्मते प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वेन
नायं सर्प इत्याप्तोपदेशनिवर्त्यरज्जुसर्पादावव्याप्तेः—इति ॥

लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

नैतद्युक्तम्, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यत्रावस्थितिपदार्थस्य सामान्यपदार्थ-
द्वारा विरहपदार्थेनान्वयपक्षे बाधकाभावात्, तत्र विरहपदस्यात्यन्ताभावपरत्वे ज्ञानप्रयुक्तस्वस्वीयसंस्कारान्यतरा-
भावकत्वस्य नाशपरत्वे ज्ञानजन्यस्वस्वसंस्कारोभयनाशकत्वस्य विवक्षणसंभवात्, कारणनाशस्यैव कार्यनाशरूपत्वेन
घटादिनाशरूपकपालनाशस्यापि घटादिनाशरूपत्वेन ज्ञानजन्यनाशप्रतियोगित्वस्य घटादावपि सत्त्वेनाव्याप्यभावात् ।
तावन्मात्रविवक्षणे उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञाने सिद्धसाधनम्, अतः स्वसंस्कारनिवेशः तावन्मात्रविवक्षणे च स्मृतिनाश्य-
संस्कारके पूर्वज्ञाने सिद्धसाधनतादवस्थ्यादुभयनिवेशः । वस्तुतस्तु स्मृतेः संस्कारनाशकत्वस्यानङ्गीकारात् ज्ञानजन्यनाश-

प्रतियोगिसंस्कारकत्वमेवात्र विवक्षितम्; अनाद्यविद्यादीनामपि ज्ञानजन्यनाशप्रतियोगिसंस्कारकत्वात् मिथ्यात्वोपपत्तिः । अविद्यासंस्कारेऽपि तादात्म्यसंबन्धेन संस्कारस्य विद्यमानत्वान्मिथ्यात्वोपपत्तिः । एवंचावस्थित्या सामान्यविशेषणेऽपि न दोष इति सूचितम् । यथाच स्वरूपेण निषेधप्रतियोगिनामपि रूप्यादीनामत्यन्तासत्त्वानापातः; तथा पूर्वमेव निरूपितमिति शुक्तिरूप्यादीनामपि प्रातिभासिकस्वरूपावस्थित्याद्यङ्गीकारेण तद्विरहस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वान्न तत्र साध्यवैकल्यम् । यत्तु स्मृतिकारणस्यापि संस्कारस्य स्मृतिनाशयत्वं सुखकारणस्यापि धर्मस्य सुखादिनाशयत्वमिवोपपद्यते इति, तदपि न संगतम्; समानविषयकत्वसामानाधिकरण्योभयसंबन्धेन संस्कारविशिष्टसंस्कारत्वेन विलक्षणस्मृतिहेतुत्वेनोपपत्तौ स्मृतेः संस्कारनाशकतादिकल्पने गौरवादित्यनुभवत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यतापक्षोऽपि समीचीन एव । मन्तव्य इति तव्यप्रत्ययेन मननस्य क्रियारूपस्यैवाङ्गीकार्यत्वेन ज्ञानरूपत्वाभावेन मननजन्यज्ञानविशेषस्यैव संशयनिवर्तकत्वेन मननत्वेन मननस्य संशयविशेषनिवर्तकत्वानङ्गीकारात् । एतेन—साक्षात्कारत्वेन तच्चिन्त्यतापक्षोऽपि साधुरेवेति—सूचितम्, नायं सर्प इत्याप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षेऽप्रामाण्यशङ्कासंपादकत्वेऽप्यपरोक्षभ्रमस्यापरोक्षसाक्षात्कारेणैव निवृत्तेरभ्युपगमनीयतया ततो निवृत्त्यसंभवेनाव्याप्त्यनवसरादिति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

॥ इति तृतीयमिथ्यात्वम् ॥

अथ चतुर्थमिथ्यात्वविचारः ।

स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् । तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमा-

सिद्धिव्याख्या ।

अथ चतुर्थमिथ्यात्वविचारः ।

स्वाश्रयेति । नच—संयोगादौ सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्, संयोगतदत्यन्ताभावयोरवच्छेदकभेदेन भिन्नाश्रितत्वस्यैवानुभवत्वेन सत्त्वपक्षे सामानाधिकरण्यायोगात् । नापि शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यं;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ चतुर्थमिथ्यात्वम् ।

अधिकरण एवेति । एवकारः अशेषार्थकः । अशेषत्वं च व्यापकत्वम् । तथाच वाच्य एव भेद्यत्वमित्यादौ

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्रीरस्तु

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

चतुर्थमिथ्यात्वनिरुक्तिप्रारम्भः ।

मूले—स्वाश्रयनिष्ठेति । स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमानयावन्निष्ठेत्यर्थः । अत एव इदं प्रतिपन्नेत्याद्युक्तावपौनरुक्त्याय विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन स्वयं व्याचष्टे—तत्रेति । अत्र स्वात्यन्ताभावाधिकरणान्यस्मिन्नप्रतीयमानत्वं नैवकारार्थः, स्वात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वेन तद्वदन्याप्रसिद्धेरित्यतः, तर्कमाह टीकायां—एवकारोऽशेषार्थक इति । तस्य प्रतीतौ अन्वयः ।

नत्वम् । अतः पूर्ववैलक्षण्यम् । दूषणपरिहारः पूर्ववत् । नच—संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्य-

सिद्धिव्याख्या ।

तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिति भावः । ननु आश्रयशब्देन स्वाश्रयत्वेन प्रतीतिमात्रोक्तौ चान्यथाख्यातिपक्षे रजतत्वादेः स्वाधिकरणत्वेन प्रतीतशुक्त्यादावत्यन्ताभावस्य सत्त्वात्सिद्धसाधनम्—इत्याशङ्क्याह—ततश्चेति । तत्पक्षे च रजतत्वादिकं स्वात्यन्ताभावानधिकरणेरज-
तेऽपि भातीति न सिद्धसाधनम् । न च—एवकारव्यावृत्त्यस्वात्यन्ताभावानधिकरणाप्रसिद्धिरिति—वाच्यं;
स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमानयावन्निष्ठप्रतीतिविषयसंबन्धावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य विवक्षितत्वादिति
भावः । एतेन—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमित्यनेन पूर्वोक्तेन । पुनरुक्तिः—
परिहृतेत्याह—अत इति । उपाध्योर्भेदादिति भावः । ननु—त्रैकालिकनिषेधपक्षे उक्तानि दूषणान्यत्रापि
प्रसरन्ति इत्याशङ्क्य तत्रोक्तपरिहारा अत्राप्यावर्तनीया इत्याह—दूषणेति । नचेति । अत्र नचेत्यनन्तरं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वाच्यत्वे मेयत्वमेव प्रकृते स्वात्यन्ताभावे स्वप्रकारकधीविशेष्यत्वस्य व्यापकताभावात् उक्तव्यापकत्वाश्रयात्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् । पूर्ववैलक्षण्यं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपात् प्रतिपन्नैत्यादिनोक्तरूपा-
द्वैलक्षण्यम् । दूषणेति । कपालादौ संयोगादिसंबन्धेन घटाद्यभावमादाय सिद्धसाधनादीत्यर्थः । पूर्ववदिति । येन
संबन्धेन यद्वत्तया प्रतीतं यद्यत्, तन्निष्ठाभावीयं तत्संबन्धावच्छिन्नं प्रतियोगित्वमित्यादिविवक्षयेत्यर्थः । संयो-
गिनि देशे तदुत्पत्तिकाले प्रलयादौ वा प्रतियोगिसंयोगावच्छेदेनात्यन्ताभावसत्त्वे विरोधाभावादाह—समवायि-
नीति । समवायेन नित्ययुक्त इत्यर्थः । तथाच घटादौ पाकेन रूपादेर्नाशकाले तदुत्पत्तिपूर्वकाले वा तदत्यन्ता-
भावस्य दर्शनेन तयोरविरोधेऽपि घटत्वादेर्घटादौ समवायस्य घटाद्याधारे सर्वकाले सत्त्वेन तत्र घटत्वाद्यत्यन्ताभावस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तथाचाशेषा सर्वा स्वप्रकारकप्रतीतिः स्वात्यन्ताभावाधिकरणविशेष्यिका, उक्तप्रतीतित्वं उक्तविशेष्यकत्वव्याप्यं स्वप्रकारकप्रती-
तिविशेष्यत्वं, स्वात्यन्ताभाववत्त्वव्याप्यमिति यावत् । तद्व्याप्तिश्च न तद्वदन्यावृत्तित्वं; अप्रसिद्धेः, किंतु स्वव्यापकत्वमित्याशय-
माह—अशेषत्वंचेति । अशेषपदार्थान्वयलभ्यं चेत्यर्थः । अशेषपदार्थान्वयन्ययिनि अन्वययोग्यमिति शेषः । एवका-
रसमभिव्याहारे तादृशव्युत्पत्तिस्वीकारे प्रयोजनं दर्शयितुमाह—तथाचेति । वाच्य एव मेयत्वमिति । अन्वयाद्व्य-
एव मेयत्वमिति व्यवहारानुपपत्तेरिति भावः । स्वाधिकरणनिष्ठेति । खनिष्ठत्वेन प्रतीयमानयावन्निष्ठत्यर्थः । यद्यपि
इदानीमुभयत्र विशेष्यविशेषणभावसाम्यं; तथापि पूर्वत्र यावत्पदेन प्रातिस्विकरूपेण तत्तद्वक्तव्यो विवक्षिताः । अत्र
तु व्यापकत्वमिति न पौनरुक्त्यं, स्पष्टा चेयं रीतिः साकल्यलक्षणे गादाधर्याम् । स्वप्रकारकप्रतीतिनिवेशेनावृत्तिगगनादिषु
सिद्धसाधनरूपदूषणाभावात् दूषणपदं व्याचष्टे—दूषणेति इति । आदिना अव्याप्यवृत्तिकपिसंयोगादिषु सिद्धसाधनं ।
पूर्वत्र प्रतिपन्नपदस्य प्रतीतिार्थकत्वात् व्याचष्टे—प्रतीतमिति । यावदिति शेषः । इत्यादिविवक्षयेत्यादिना, स्वस्वाभावयो-
र्देशकालरूपावच्छेदकैक्यविवक्षा ग्राह्या; एवं संबन्धादिविवक्षायामपि उक्तानुमाने बाधमाशङ्कते मूले—नचेति ।
घटादेरिति शेषः—तदत्यन्ताभावेति । संयोगेन समवायेन वेत्यादिः । असंभवः प्रतियोग्यभावयोर्विरोधे । अविरोधे
तु संभवो बोध्यः । तत्संयोगिनि संयोगेन तदत्यन्ताभावसंभवमाशङ्क्य समवायिनीत्येतदवतारयति टीकायां—संयोगि-
नीति देश इति । चक्रवेमादौ जन्ये नित्ये वा परमाण्वादौ । तदुत्पत्तिकाले घटाद्युत्पत्तिकालावच्छेदेन । एतत्संयोगा-
नुत्पत्त्येति शेषः—प्रलयकालादौ इति । खण्डेत्यादिः । आदिना घटादिप्रतियोगिनाशकालः, प्रतियोगिनि क्रियोत्पत्ति-
तृतीयक्षणश्च । अवच्छिन्ने सप्तमी—प्रतीति । प्रतियोगितत्संयोगयोर्नाशेनेत्यस्य परमाण्वादौ नित्ये गगनादौ महाकाले
संयोगनाशेनेत्यर्थः । अत्यन्ताभावसत्त्वे संयोगसंबन्धावच्छिन्नतदत्यन्ताभावसत्त्वेऽपि । विरोधाभावात् प्रतियोग्य-
भावयोरेकावच्छेदेनैकधर्म्यवृत्तिस्वरूपविरोधनियमभङ्गाभावात् । नित्ययुक्तेति । प्रतियोगित्वादिः । नित्ययोगे मत्वर्थी-
येनिस्वीकारे फलं स्पष्टयति—तथाचेति । घटादौ घटत्वादेस्तत्समवायस्य च घटाद्यधिकरणीभूतसर्वकालावच्छेदेन
सत्त्वेनेत्यर्थः । तत्र घटे घटत्वात्यन्ताभावस्य सिद्धसंभवेनेत्यर्थः । विरोधेन प्रतियोग्यभावयोर्विरोधनियमेन । ननु—

न्ताभावासम्भवः, संभवे तूपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्; काले सहसंभववद्देशेऽपि सहसंभ-

सिद्धिव्याख्या ।

स्वाश्रयशब्दे तात्त्विकाश्रयोक्तावित्यध्याहर्तव्यम् । संभवे त्विति । अत्यन्ताभावाधिकरणस्योपादानादर्शनत्वादिति भावः । किं सहासंभवमात्रं विरुद्धमुत स्वाश्रयस्योपादानत्वम्, नाद्य इत्याह—कालेति । न चैवं सति—भावाभावयोर्विरोध एव उच्छिन्नकथः स्यादिति व्यावहारिकत्वेऽपि व्यवस्था न स्यात्, द्वैताद्वैतयोरविरोधापातेनाद्वैतज्ञानस्य द्वैतज्ञाननिवर्तकत्वं च न स्यादिति—वाच्यम्; भावाभावयोर्विरोधे समानसत्ताकभावाभावविषयतयाऽवकाशसत्त्वे तथा व्यावहारिक्या व्यवस्थायाः सिद्ध्युपपत्तेः । प्रकृते चाश्रयनिष्ठाभावतत्प्रतियोगिनोर्भिन्नसत्ताकतयाऽविरोधात् । द्वैताद्वैतयोरविरोधेऽप्यद्वैतस्य पारमार्थिकसत्ताकस्य श्रुतिबोध्यतया तस्य प्राबल्येन तज्जनितज्ञानस्य द्वैतप्रत्यक्षबाधकत्वोपपत्तेश्चेति भावः । द्वितीयं दूषयति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विरोधेनासंभवः । अत्यन्ताभावस्य स्वप्रतियोगिविरोधग्राहकमानस्य मिथ्यात्वग्राहकमानेन नाभिभव इत्यभिमानः । ननु—कालभेदेन कपालादौ घटादितदत्यन्ताभावयोः संभववदेककालेऽपि घटत्वादितदभावयोः संभवोऽस्तु, तत्राह—संभवे त्विति । प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरेकदेशे युगपत्संभवे त्वित्यर्थः । उपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति । सदा घटशून्यस्यापि घटोपादानत्वे तन्त्वादेरपि तत्स्यादिति भावः । आदिपदात् घटादिप्रत्यक्षकाले घटाभावादेः कपालादावप्रत्यक्षतानुपपत्तिः । कपालादिकं सदा घटाद्यभाववदित्यादिज्ञानेष्वप्रमात्वव्यवहारानुपपत्तिश्च । अत्यन्ताभा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मिथ्यात्वानुमानबलेन तत्र तत्सिद्धिः स्यात् अत आह—अत्यन्ताभावस्येति । मानस्य अनुमानस्य घटत्वादिसत्यत्वप्रत्यक्षानुगृहीतस्य । ग्राहकमानेन अनुमानेन । अभिमान इति । मिथ्यात्वानुमाने तद्वोधकश्रुत्यनुगृहीतत्वेन सत्यत्वानुमानासंभवात् तदनुसन्धानेन तत्परिहार इति भावः । संभववदिति । विरोधस्य एकावच्छेदघटनया संकोचमङ्गीकृत्येति शेषः । एककालेऽपीति । संकुचितमविरोधमनङ्गीकृत्येति शेषः । घटादौ घटत्वादितदभावयोः स्वीकारेऽपि घटादौ नित्यघटत्वादेः समवायिकारणत्वरूपोपादानत्वस्य परैरनङ्गीकारेण तदनुपपत्त्युद्भावनासंभवेन व्याचष्टे—संभवे त्विति । प्रतियोगिनि सकलेत्यादिः । सर्वत्र विरोधानुपगमेनेति भावः । ननु—अस्तु उपादानत्वमपि, तत्राह—सदेति । तत्स्यादिति । तथाच सदा घटशून्ये तन्त्वादौ घटोपादानत्वाभावदर्शनेन सदा घटशून्यत्वे घटोपादानत्वाभावव्याप्तिनिश्चयेन कपाले सदाघटशून्यत्वापादिका घटोपादानत्वाभावापत्तिः सदा घटशून्यत्वसिद्धिं प्रतिबध्नाति इति भावः । घटादौ घटत्वाभावादिसंभवे बाधकाभावादाह—आदिपदादिति । ननु—अभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिप्रत्यक्षं प्रतिबन्धकमतो नोक्तदोष इत्यत आह—कपालादिकमिति । घटप्रत्यक्षकाले इत्यनुषज्यते । कालान्तरे उक्तव्यवहारस्येष्टत्वात् । मूले—काले सह संभववदिति । प्रतियोग्यभावयोरित्यादिः । अत्र घटद्वैतसंबन्धावच्छिन्नतदभावयोः काले कालिकसंबन्धेन एकदेशावच्छेदेन सत्त्वं दृष्टान्तः, तस्यैव निर्विवादत्वात् इति न संभवति; तयोः स्वाधिकरणविभिन्नदेशावच्छेदेनैव कालेऽङ्गीकारेणैकदेशावच्छिन्नत्वरूपसहपदार्थानन्वयात् । न च—कपालमेव विभिन्नकालावच्छिन्नं तयोरधिकरणं कालवृत्तौ अवच्छेदकमिति—वाच्यम्; तत्रापि विभिन्नकालावच्छिन्नावच्छेदकतयोर्भेदात्, घटत्वसमवायावच्छिन्नानुयोगिता घटत्वात्यन्ताभावीयविशेषणतयोः काले सह संभवो दृष्टान्तः, समवायस्यैक्येऽपि घटत्वसमवायानुयोगिताया नानात्वेन स्वरूपसंबन्धरूपायास्तस्याः समवायीयकालनिष्ठकालरूपकालिकविशेषणतानतिरिक्तायाः काले संभवादित्यपि न संभवति; विशेष्यतासंबन्धेन घटे इव अयं घट इति प्रमायाः कालेऽसत्त्वेन तन्नियामिकाया घटत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवायीयविलक्षणानुयोगितायाः कालेऽभ्युपगमासंभवात् । नापि कालिकसंबन्धेन घटत्वतत्संबन्धावच्छिन्नतदभावीयकालिकविशेषणतयोः काले सहसंभवो दृष्टान्तः । काले हि घटत्वं स्वाधिकरणीभूतघटावच्छेदेन कालिकसंबन्धेनास्ति, तत्संबन्धावच्छिन्नतदभावस्तु विशेषणतासंबन्धावच्छिन्ननित्यवृत्तिर्नित्यावच्छेदेन, घटत्वानधिकरणपटाद्यवच्छेदेन तु विशेषणतासंबन्धेनापि; सर्वथा तयोः न कालवृत्तिरेकदेशावच्छेद्यता, परन्तु आत्मत्वादिकं स्वाधिकरणीभूतात्मावच्छेदेन काले कालिकसंबन्धेनास्ति, तत्संब-

वाविरोधात्, प्रागभावसत्त्वेनोपादानत्वाविरोधाच्च । नच—अत्यन्ताभावाधिकरणे प्रागभावस्याप्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्; काले व्यभिचारात् । नच—काले प्रागभावात्यन्ताभावयोः सामानाधिकरण्य-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रागभाव इति । नचात्यन्तेति । ततश्च न प्रागभावसत्त्वमादायोपादानत्वोपपत्तिरिति भावः । काले इति । तथाच कालरूपाधिकरण इव देशरूपाधिकरणेऽप्युभयोः सत्त्वमुपपन्नमिति भावः । नच कालेइति । तथाच

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वाधिकरणे सदा घटादिशून्ये कपालादौ अनुपपत्तिरिति अत्यन्ताभावस्य स्वप्रतियोगिनेव तत्प्रागभावध्वंसाभ्यामपि विरोधादिति शेषः । व्यभिचारादिति । यदा यत्र यस्यात्यन्ताभावस्तदा तत्र न तस्य प्रागभाव इति व्याप्तौ व्यभिचारात् । इदानीं कालिकसंबन्धेनैतत्कालवृत्तिः । सामानाधिकरण्ये दैशिकविशेषणतयैकाधिकरण्ये । प्रमाण-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

न्धावच्छिन्नतदभावोऽपि स्वाधिकरणीभूतात्मावच्छेदेनैवास्ति; इति तयोः काले सहसंभवात् दृष्टान्तः संभवेत्, एवं नित्यत्व-तदभावयोः । अयमपि प्रकृतानुपयुक्तः; दार्ष्टान्तिके अभावनिष्ठदैशिकविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नदेशवृत्तेरेव विवक्षित-त्वेन दृष्टान्तेऽपि तादृश्या एव कालवृत्तेः विवक्षितत्वात्, अतः कालिकसंबन्धेन घटत्वादिति काले कालिकसंबन्धावच्छि-न्नघटत्वाभावस्य या विशेषणतासंबन्धावच्छिन्ना वृत्तिः, तस्याः प्रतियोगिना एकदेशावच्छिन्नत्वं देशविशेषणवच्छिन्नत्वं वा प्रसाध्य दृष्टान्तत्वेनोपन्यासः कृत इत्यग्रे टीकायां किंचेत्यादिना स्फुटीकरिष्यते । एवं व्याप्यवृत्तेः सर्वदेशकालाव-च्छिन्नत्वे । सहपदयोरेकदेशावच्छिन्नत्वमर्थः । देशकालानवच्छिन्नत्वे लवनवच्छिन्नत्वमिति बोध्यम् । संभवो वृत्तिः । नन्वेवं—कपालं यदि सदा घटशून्यं स्यात्, तर्हि घटोपादानं न स्यात्, तन्तुवदिति तर्को दुर्वारस्तत्राह—प्रागिति । उपादानत्वाविरोधादिति । केवलसदाघटशून्यत्वस्य घटोपादानत्वाभावव्याप्यत्वादित्यर्थः । अयं भावः—घटादेरुपादानमात्रवृत्तेः प्रागभावस्याभ्युपगमेन तन्त्वादौ तद्विरहस्य घटाद्युपादानत्वाभावरूपापाद्यव्यापकत्वेन कपाले सदा-घटशून्यत्वरूपापादकव्यापिभजकोपाधित्वेन घटप्रागभावाभावविशिष्टस्यैव सदाघटशून्य-त्वस्य घटोपादानत्वाभावव्याप्यलोपगमेनोक्तविशिष्टापादकस्य कपाले विरहेण वा केवलघटशून्यलोपगमे घटोपादानत्वा-भावापत्तिरुपाधकाभावादित्यर्थः—इति । बाधकान्तरोद्धारोऽपि टीकायामनुपदमेव स्फुटीकरिष्यते । कदाचिदत्यन्ताभावाधि-करणे कदाचित् प्रागभावोऽपि स्यात्, अतो व्याचष्टे—सदेति । विरोधादिति । तथाच केवलसदाघटशून्यलोपगमे घटप्रागभावाभावापत्त्या घटोपादानत्वापगमापत्तिरतस्तन्नोपगन्तव्यमिति भावः । हेतुं पूरयति—अत्यन्तेति । तन्त्वादा-विवेत्यादिः । ननु—समवायावच्छिन्नतदत्यन्ताभावत्वं, तत्प्रागभावतद्ध्वंसान्यतरवदवृत्तित्वव्याप्यमिति व्याप्तेः काले व्यभिचारोक्तिर्न सङ्गच्छते; उक्तान्यतरवत्तायाः तद्वृत्तितायाश्च दैशिकविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नायाः विवक्षणात्; काले तयोरिदानीमिति प्रत्ययनियामककालिकसंबन्धेनैव सामानाधिकरण्यस्य प्रदर्शने व्याप्तिभङ्गाभावात्, अतो व्याचष्टे—यदेति । यत्कालावच्छेदेन यद्देशे यस्य समवायावच्छिन्नात्यन्ताभावो विशेषणतासंबन्धेनास्ति, तत्कालावच्छेदेन तद्देशे विशेष-णतासंबन्धावच्छिन्नतत्प्रागभावाभावो विशेषणतासंबन्धेनास्तीति, यत्काले यद्देशावच्छेदेन समवायावच्छिन्नतदत्यन्ताभावः कालिकसंबन्धेनास्ति, तत्काले तद्देशावच्छेदेन कालिकसंबन्धावच्छिन्नतत्प्रागभावाभावो विशेषणतासंबन्धेनास्ति इति वा व्याप्तौ व्यभिचारात्, घटोत्पत्तिपूर्वकाले घटात्यन्ताभावघटप्रागभावयोः कालिकसंबन्धेन सत्त्वादित्यर्थः । अत्र प्रथमव्याप्तौ घटो-त्पत्तिपूर्वकालान्यकालावच्छिन्नस्तन्त्वादिरिष्टान्तः घटोत्पत्तिपूर्वकालावच्छिन्नः कपालादिः पक्षः । द्वितीयव्याप्तौ तन्त्वाद्यव-च्छिन्नो घटोत्पत्तिपूर्वकालान्यकालो दृष्टान्तः, कपालावच्छिन्नः घटोत्पत्तिपूर्वकालः पक्षः । उभयत्र घटात्यन्ताभावो हेतुः घटप्रागभावाभावः साध्यः । तत्र प्रथमे दृष्टान्ते व्याप्यवृत्तितया कालावच्छिन्नत्वेनासिद्धिः, द्वितीये घटकाले आपादका-पाद्ययोः सिद्धावपि आपाद्यस्य व्याप्यवृत्तितया देशानवच्छिन्नत्वेनासिद्धिरित्यतः प्रकारान्तरेण व्याप्तिमाह—यदेति । पूर्वकालावच्छिन्नो निरवच्छिन्नो वा यद्देशे यस्यात्यन्ताभावः, तद्देशे तत्प्रागभावाभावः, यथा तन्तौ घटात्यन्ताभावघटप्राग-भावाभावौ इति व्याप्तौ इत्यर्थः । सर्वकालावच्छिन्ने निरवच्छिन्ने वा कपाले पक्षे घटमिथ्यात्वघटकतयाऽभ्युपगमेन घटा-त्यन्ताभावेनापादकेन घटप्रागभावाभावोऽप्यापिपादयिषित इति पर्यवसितम् । तत्रापि व्यभिचारः; घटोत्पत्तिपूर्वकाले-

मिदानीं घटालयन्ताभाव इदानीं घटप्रागभाव इति प्रतीतिबलादङ्गीकृतम्, देशे तु तदुभय-
सामानाधिकरण्ये न किञ्चिदपि प्रमाणमिति—वाच्यम्; मिथ्यात्वानुमितेः श्रुत्यादेश्च प्रमाणत्वात् ।

सिद्धिव्याख्या ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमिति ध्येयम् । मिथ्यात्वेति । ततश्च न वैषम्यमिति ध्येयम् । विरोधेनानु-
गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वादिति । एतेन—घटादावधिष्ठानगतस्य सत्त्वस्यारोपोऽनादिदृढवासनासहितो दोषविधया तत्र मिथ्यात्वग्रहे

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

घटप्रागभावप्रत्ययेन कपाले घटप्रागभावस्याव्याप्यवृत्तित्वेन सर्वकालावच्छिन्नत्वनिर्वच्छिन्नत्वयोरभावात् । अत्र पक्षान्त-
र्भावेणापि व्यभिचारो निश्चितत्वात् दूषणं बाधस्त्वत्र दोषो नोक्तः; आपत्तौ तस्यानुकूलत्वात् । इदानीमित्यस्य एत-
त्कालावच्छेदेन देशवृत्तित्वार्थकत्वे अनेनैव देशे सामानाधिकरण्यसिद्धौ देशे लिख्यनेन तत्र प्रमाणाभावोक्तैरनुपपत्तिरित्यतो
व्याचष्टे—इदानीमिति । इदानीं घटप्रागभाव इति । घटो भविष्यतीति शब्दान्तराभिलाष्येयं प्रत्यक्षप्रतीतिर्यत्काले
तत्काल एवेदानीं घटालयन्ताभाव इति प्रत्यक्षप्रतीतिरित्यनुभव इति भावः । कालिकसंबन्धावच्छिन्नसामानाधिकरण्ये पुनरु-
क्तानुपपत्तिरतो व्याचष्टे—दैशिकेति । मूले—न किञ्चिदिति । अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगितत्त्वं सप्रागभावविरोधनियम-
स्याव्याप्यनिराकरणात् कपाले घटोपादानत्वात् नानुपपत्तिसिद्धप्रागभावविषयिकाया 'अस्मिन् कपाले घटो नास्ति' 'घटालय-
न्ताभावोऽस्ति' इति प्रत्यक्षप्रतीतेरसिद्धेरिति भावः । एवं चैतावता घटध्वंसप्रागभावान्यतरावच्छिन्ने कपाले त्रैका-
लिकघटालयन्ताभावे प्रमाणशङ्कायां कृतायां तत्परिहारमाह—मिथ्यात्वानुमितेरिति । एतेन—घटालयन्ताभावव-
च्छिन्नकपाले घटप्रागभावे प्रमाणाकाङ्क्षायां मिथ्यात्वानुमितेरित्युक्तिर्प्रान्तिः, तथा तस्याविषयीकरणात्—इत्यपास्तम् ।
ननु—कपाले घटादिप्रत्यक्षेण तद्विषयकघटादिलिङ्गकेन घटादिविरुद्धतदत्यन्ताभावाभावप्राहकानुमानेन च प्रतिबन्धात्कथं
घटालयन्ताभावप्राहकमिथ्यात्वानुमितेरुदय इत्यत आह—श्रुत्यादेशेति । नेह नानेत्यादिप्रपञ्चमिथ्यात्वप्राहकश्रुतेष्वेत्यर्थः ।
तस्याः स्वतःप्रमाणायाः सर्वतो बलवत्त्वात् तदनुगृहीतमिथ्यात्वानुमानस्याप्युक्तप्रत्यक्षानुमानाभ्यां बलवत्त्वमिति भावः ।
एतावता मिथ्यात्वानुमानेन कपालादौ सदा घटादिशून्यत्वसिद्धौ कपालादेर्घटाद्युपादानत्वात् नानुपपत्तेः परिहारोऽप्यादिपदसू-
चितः । उक्तानुपपत्त्योरपरिहारेण न्यूनतां परिहर्तुमस्य मूलस्य तत्परिहारसूचकतामाह—एतेनेति । घटादिमिथ्यात्वानुमितेः
श्रुत्यनुगृहीतत्वेन प्रामाण्यबलवत्त्वकथनेनेत्यर्थः । अनेन—घटः सन् इत्यादिप्रत्यक्षस्यारोपत्वम्, उक्तानुमित्युत्पत्तौ अनुत्पाद-
रूप उपमर्दः, तदुत्पत्तेः प्रागुत्पादश्च लभ्यते, इत्याशयेनाह—घटादाविति । आरोपान्वयिविशेष्यकत्वं सप्तम्यर्थः ।—
अधिष्ठानगतस्येति । तादात्म्येन घटाद्यारोपविशेष्यसद्रूपब्रह्मधर्मावाध्यत्वरूपसत्त्वस्येत्यर्थः । परस्पराध्यासाभ्युपगमात्
सद्रूपब्रह्मणोऽपि घटादौ तादात्म्येनारोपात् तद्वर्मसत्त्वस्यावाध्यत्वस्यारोप इति भावः । यद्वा—उक्तसद्रूपब्रह्मप्रतियो-
गितादात्म्यरूपसत्त्वस्येत्यर्थः । तेन ब्रह्मणो नानाध्यस्तत्वसिद्धान्तासङ्गतिः । तन्मतेऽधिष्ठानसंसर्गाध्यास एव परस्पराध्यास-
घटक इति भावः । घटप्रत्यक्षस्य घटाभावप्रत्यक्षे प्रतिबन्धकता न संभवति; घटे बाधितत्वशङ्कया तज्ज्ञाने बाधितविषय-
कत्वरूपाप्रामाण्यसंशयास्कन्दितत्वात्, अतो घटादाववाध्यत्वस्य तत्तादात्म्यस्य वा भानमुक्तम् । जीवन्मुक्तीयघटाद्यभाव-
प्रत्यक्षरूपे घटादिमिथ्यात्वग्रहे तदीयघटादिप्रत्यक्षस्य प्रतिबन्धकताप्रसङ्गादाह—अनादिदृढवासनासहित इति ।
आनादित्वं दृढत्वे हेतुः, दृढत्वं च—परोक्षप्रथमादिजातमिथ्याग्रहानुच्छेद्यत्वम् । वासना चेत्यमारोपसमानविषयिणी ।
जीवन्मुक्तस्य तु श्रुत्यनुमानजन्ये मिथ्यात्वनिश्चये मननेनाप्रामाण्यशङ्कानिरासात् निदिध्यासनपरिपाकसहकारेणोक्तमिथ्यात्व-
निश्चयेनोक्तवासनोच्छेदात् तदीयघटसत्त्वारोपस्य तदीयघटाद्यभावप्रत्यक्षे ऐन्द्रजालिकवत् न प्रतिबन्धकतेति भावः । प्रति-
योगिविधया निर्णयस्य मिथ्यात्वग्रहप्रतिबन्धकतायामनादिदृढवासनाया अनन्तत्वात्, दोषविधयेत्युक्तम् । तदभावा-
भावत्वानवच्छिन्नतत्त्वावच्छिन्नतद्वत्ताग्रहस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकतासूचनाय वा तदुक्तम् । लौकिकसन्निकर्षजन्यतद-
भावज्ञाने तद्वत्तानिश्चयत्वेन, तदिन्द्रियजन्यतदभाववत्ताज्ञाने तदिन्द्रियजन्यतद्वत्ताज्ञानत्वेन च प्रतिबन्धकत्वात् तदभाव-

१ अपौरुषेयत्वेनासंभावितपुरुषदोषतया 'यो होता सोध्वर्यु'रित्युपदेशशास्त्रस्यातिदेशशास्त्रापेक्ष्येवानुमानादितः प्राबल्यमिति भावः ।

२ स्वयंदुर्बलाया अपि समाख्यायाः लिङ्गरूपप्रबलप्रमाणाश्रितायाः प्रकरणबाधकत्वस्य पूर्वाणुमन्त्रणमन्त्रविनियोगस्यैव दृष्टत्वादिति भावः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिबन्धक इति घटादिप्रत्यक्षकाले चक्षुरादिना घटाभावादेर्न प्रत्यक्षम्, अतएवोक्ताप्रमात्वव्यवहारोऽपि; मिथ्यात्व-
ग्राहकश्रुत्यादिनोक्तारोपस्योपमर्दे तु तस्य प्रत्यक्षमिति—सूचितम् । किंच कालदेशयोरत्यन्ताभावस्य वृत्तिस्तुल्येत्यने-
नेदं सूचितम् । मन्मते कस्यापि केवलान्वयित्वं न स्वीक्रियत इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वेन व्यतिरेकिवस्तुमात्रस्य परेणापि
कालेऽत्यन्ताभावस्वीकारेण च सर्वदृश्यानां व्यतिरेकित्वेन कालेऽत्यन्ताभावस्तावदवश्यं वाच्यः । तस्य च किंचिद्देशाव-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तद्वत्ताप्रत्यक्षत्वेन प्रतिबन्धकत्वस्य पार्थक्यसूचनाय वा तदुक्तम् । तदुक्तं सिद्धान्तलक्षणे
दीधितिकृता—“वृक्षत्वावच्छेदेन वृक्षे संयोगसामान्यास्वीकर्तृमते परितः प्रतियोग्युपलब्धेः दोषाद्वा वृक्षे न संयोग
इति नाध्यक्षमिति” । तत्र घटादौ मिथ्यात्वस्य ग्रहे प्रत्यक्षरूपे बाधेन शाब्दबोधस्योत्पत्तिर्न प्रतिबध्यते, किंतूपन्ने तत्र अप्रामाण्यं
गृह्यते इति दीधितिकारोक्तेः उक्तघटादिप्रत्यक्षसत्त्वेऽपि श्रुत्या घटादौ मिथ्यात्वनिश्चयो जायते । श्रुतिरूपप्रबलप्रमाणजन्य-
त्वाच्च तत्प्रामाण्याग्रहो न जायते । चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे सत्यपि ज्योतिरागमेन षड्योजनपरिच्छिन्नत्वबोधवत् श्रुत्युपो-
द्वलितानुमानादपि तथैव मिथ्यात्वनिश्चयो जायत इति ॥ ग्रहपदं प्रत्यक्षपरम् । मिथ्याज्ञानं लनाहार्यः तद्वट्टकप्रतियोगि-
मत्त्वस्य वैज्ञानिकत्वात् । घटादिप्रत्यक्षेति । भिन्नेन्द्रियजन्ययोरपि विरोधित्वे लगादिनेत्यादिः । समानेन्द्रियजन्ययोरेव
तथात्वे तु अग्रिमचक्षुरादिनेत्यस्यात्रापकर्षः । नन्वेवमपि कपालादौ घटादिप्रत्यक्षशून्यकाले बाधकाभावादुत्पन्ने घटा-
द्यभावप्रत्यक्षेऽप्रमाणत्वव्यवहारः घटादिप्रत्यक्षकालीनः, ‘पूर्वमुत्पन्नमुत्तरमुत्पत्त्यमानं वा कपालं सदाघटाभाववदिति ज्ञान-
मंप्रमे’त्याकारकोऽनुभूयमानः सिद्धान्ते न स्यात्; घटादेर्मिथ्यालोपगमेन कपालादौ सदाघटाभावाभ्युपगमात्, घटादेस्तु
कदाप्यनुपगमात् इत्यत आह—अतएवेति । कपालादौ घटादिप्रत्यक्षकाले प्रातिभासिकघटादेरुपगमात् तन्मिथ्या-
त्वस्य चाग्रहादेवेत्यर्थः । तथाचोक्तघटाद्यभावज्ञाने घटादिप्रत्यक्षकाले घटादिमति घटाद्यभावप्रकारकत्वरूपप्रमाणत्वग्रहसं-
भवेनोक्तव्यवहारोपपत्तिरिति भावः । नन्वेवं—कपालादौ घटाद्यभावप्रत्यक्षं तत्प्रमात्वव्यवहारश्च कदापि न स्यात्; घटा-
दिविषयकानादिदृढवासनावशेन घटादिसमानविषयस्य साक्षिप्रत्यक्षस्य तत्प्रतिबन्धकस्य तदप्रमात्वग्राहकस्य सर्वदा संभ-
वात्, एवं जीवन्मुक्तस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मसाक्षात्कारो न स्यात्; तस्य चक्षुरादिनापि प्रपञ्चसाक्षात्कारसंभवात्, इत्यत
आह—मिथ्यात्वग्राहकश्रुत्यादिनेति । साधनचतुष्टयसंपन्नस्य श्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकसहकृतस्य मिथ्यात्वग्रा-
हकश्रुत्या प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयेनेत्यर्थः । उक्तविधिश्रौतप्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयं प्रति उक्तप्रपञ्चप्रत्यक्षस्य सवासनस्याप्यप्रतिब-
न्धकत्वस्य तदप्रामाण्याग्राहकत्वस्य चानुपदमुक्तत्वादिति भावः । उक्तारोपस्य कपालादौ घटादिसत्त्वप्रत्यक्षरूपारोपस्य ।
उपमर्दे इति । प्रथमं भ्रमलग्रहरूप उपमर्दः । ततः प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रत्यक्षाभ्यासेन तद्वासनादार्ढ्यमिति तद्विपरीत-
प्रपञ्चसत्त्ववासनानिर्वृत्तिरूपः, तावत्पर्यन्तं कदाचिदुक्तारोपोत्पत्तिः । परन्तु तत्र भ्रमलग्रहात् तेन प्रतिबन्धाभावात्
कदाचित् घटाद्यभावप्रत्यक्षमपि । परन्तु विपरीतवासनावशेन तत्रापि भ्रमलग्रहः । उक्तरीत्या प्रपञ्चमिथ्यात्वदृढ-
वासनावलेन तत्सत्त्ववासनानिर्वृत्त्युत्तरं तु, प्रपञ्चप्रत्यक्षारोपस्यानुत्पादरूप एवोपमर्द इति क तदधीनस्तदभावज्ञान-
धर्मिको भ्रमलग्रह इति बोध्यम् । तस्य घटादिरूपप्रपञ्चाभावस्य । प्रत्यक्षमिति भ्रमलज्ञानानास्कन्दितं प्रत्यक्षमि-
त्यर्थः । एवं जीवन्मुक्तानां निष्प्रपञ्चब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि निर्विचिकित्सो निर्बाध इति भावः । ननु—एतावता
समवायादिना घटादिमति कपालादौ तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः तदभावः साधितः, स च प्रतियोगि-
विरोधमनुपमृष्य ध्वंसप्रागभावविरोधमात्रमुपमृष्य ध्वंसप्रागभावकालावच्छेदेन कपालादौ कालिकाव्याप्यवृत्तिरस्तु,
नच—काले कालिकसंबन्धेन घटादिप्रतियोगितदभावयोः सहसंभववद्देशे दैशिकसंबन्धेन तयोः सहसंभवोऽस्तु,
इत्युक्तम् मूले एवेति—वाच्यम्; काले तयोर्विभिन्नदेशावच्छेदेनैवाभ्युपगमसंभवेन दृष्टान्तासंप्रतिपत्त्या तदुक्तौ विवा-
दादिति सिद्धसाधनाशङ्कां तन्मूलाभिप्रायवर्णनेन परिहरति—किंचेति । कालदेशयोरिति । काले सहसंभववद्देशेऽपि
सहसंभवाविरोधादिति मूलोक्तेनेत्यादिः । सर्वदृश्यानां व्यतिरेकित्वं न संभवति; प्रमेयत्वादीनां केवलान्वयित्वादत उक्तम्—
मन्मते कस्यापीति । निर्धर्मके ब्रह्मणि प्रमेयत्वादीनां अभावाङ्गीकारादिति भावः । सर्वदृश्यानां दैशिकव्यतिरेकि-
त्वेऽपि तद्वृत्तिकाले तदत्यन्ताभावः केन स्वीक्रियते ? इत्यत आह—व्यतिरेकिवस्तुमात्रस्येति । परेण नैयायिकेन ।
काले इति । कालिकसंबन्धेन प्रतियोगिमत्त्वेऽपि प्रतियोग्यनधिकरणदेशावच्छेदेनेति शेषः । सर्वदृश्यानां
घटप्रमेयत्वादीनाम् । मिथ्यात्वसिद्धये । सर्वेति । काले तत्तद्वृत्त्यवस्थपि । वाच्यः । परेण । तद्वृत्त्यन्तेन दैशिकसंबन्धेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च्छेदेन काले किञ्चित्कालावच्छेदेन देशे वृत्तिरिति स्वीकारे देशकालनिष्ठानामनन्तावच्छेदकत्वव्यक्तीनां कल्पने महा-
गौरवात् घटादेरत्यन्ताभावः सर्वत्रैव स्वीक्रियते । अतएव—संबन्धो न तत्प्रतियोगितावच्छेदक—इत्युक्तम् ।
नच—‘एतत्काले गृहे घटो नास्ती’ति धीः कालादिनिष्ठमवच्छेदकत्वं गाहते इति—वाच्यम्; गृहादिनिष्ठाया
घटाद्यधिकरणताया अवच्छेदकत्वस्याभावं हि स तत्कालादाववगाहते, नतु घटाद्यभावाधिकरणतायां गृहादिनिष्ठाया-
मवच्छेदकत्वं तत्कालादौ । अतएव ‘वृक्षे मूले न संयोग’ इत्यादिधीरपि वृक्षादिनिष्ठसंयोगाद्यवच्छेदकत्वाभावं मूलादौ
गाहते । नन्वेवं—कार्याव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन कार्यवद्देशे वर्तमानस्याभावस्याप्रतियोगित्वे सत्यनन्यथासिद्धत्वं
कारणत्वमित्यादिव्यवहारो नोपपद्यते—इति चेन्नोपपद्यताम्; तथापि यत्क्षणावच्छेदेनोत्पद्यमानस्य कार्यस्य यद्देशे

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

घटादिप्रतियोगिमति देशे तदत्यन्ताभावस्तु इदानीं मया साध्यत इति शेषः । तस्य घटादिदृश्यात्यन्ताभावस्य ।
किञ्चिद्देशेति दृष्टान्ते । प्रतियोग्यनधिकरणदेशे इत्यर्थः । किञ्चित्कालेति दार्ष्टान्तिके । प्रतियोग्यनधिकरणकाले
इत्यर्थः—अत्यन्ताभाव इति । स च काले कालिकसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको, देशे दैशिकसंबन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगिको वा विशेषणतासंबन्धेन वेति बोध्यः ।—सर्वत्रैवेति । सर्वदेशावच्छेदेन काले, सर्वकालावच्छेदेन देशे
इत्यर्थः । केषांचित् प्रतियोग्यवच्छेदकत्वं, केषांचिद्भावावच्छेदकत्वं चापेक्ष्य सर्वेषामभावावच्छेदकत्वे लाघवादिति भावः ।
वस्तुतस्तु—व्याप्यवृत्तेरेवावच्छेदकत्वानुपगमात् सर्वत्रैवस्य निरवच्छिन्न इत्यर्थः । एवंच लाघवं सम्यगुपपद्यते
नन्वेवं घटादेरत्यन्ताभावत्वेनैव विरोध इति वक्तव्यम्, तत्राह—अतएवेति । तत्संबन्धानां तदभावप्रतियोगिता-
वच्छेदकत्वकल्पने तदभावमेदकल्पने च गौरवादित्यर्थः । एवंच घटादेरत्यन्ताभावः सर्वदेशकालेषु सर्वकालदेशाव-
च्छिन्नवृत्तिको निरवच्छिन्नवृत्तिको वा मिथ्यात्वघटकतया सिध्यन् घटमुन्मूलयतीति भावः । कालिकाव्याप्यवृत्ति-
त्वप्रत्ययमन्यथोपपादयितुं शङ्कते—नचैतत्काले इति । नच—इयं धीः एतद्गृहनिष्ठघटस्य कालिकसंबन्धावच्छिन्ना-
भावमेतत्कालेऽवगाहते इति, एतत्कालावच्छिन्ने गृहे गृहकालावच्छिन्नगृहाङ्घ्रिने घटाभावावगाहिनी चेयं धीरिति पूर्वोक्त-
प्रकारद्वयं—शङ्क्यम्; प्रकारान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।—अवच्छेदकत्वमिति । गृहनिष्ठाया घटाधिकरणताया
इति शेषः । अवच्छेदकत्वस्याभावः अवच्छेदकतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः । तेन नाप्रसिद्धिरिति केचित् ।
तन्न; संबन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकताया इदानीमेव निराकृतत्वात् । नचाप्रसिद्धिः; इदानीं गृहे घट इत्यारोपविषय-
तया आध्यासिकस्य प्रसिद्धेः; अन्यथा सप्तम्यन्तोऽख्यवच्छेदकत्वरूपसंबन्धाप्रसिद्धौ तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य
दुर्वचत्वात् । तथाच यथाश्रुतमेव सम्यक् । परमते एतत्काले प्रसिद्धस्य घटाधिकरणतावच्छेदकत्वस्य कालान्तरेऽभावः,
सिद्धान्तिमते तु तत्कालेऽपि घटादि येन येन संबन्धेन यत्र यत्र प्रतिभासते, घटादिप्रतियोगिकतत्तत्संबन्धमिथ्या-
त्वसिद्ध्या घटादिमिथ्यात्वसिद्ध्या च तत्र तत्र तत्तत्संबन्धैः घटवत्ताविरोधी । परेषां तत्तत्संबन्धावच्छिन्नघटाभावकूट-
संबन्धसामान्यावच्छिन्नघटाभावस्थानीयः संबन्धानवच्छिन्नप्रतियोगिताको घटसामान्याभावो विषयीक्रियमाणः तत्र तत्र
तत्तत्संबन्धेन घटवत्तामुपमर्दयति, यथा तुच्छाभावः, इयांस्तु विशेषः; घटादिः सत्त्वेन प्रतीयते, न तुच्छमिति भावः ।
दैशिकाव्याप्यवृत्तित्वप्रत्ययं मूले पूर्वमन्यथोपपादितमपीदानीं प्रकारान्तरेणान्यथोपपादयति—अतएवेति । अभावस्य
निरवच्छिन्नवृत्तिकत्वादेवेत्यर्थः ॥

एवं कालदेशयोः देशकालनिष्ठाभाववत्ताया अवच्छेदकत्वानुपगमे । घटादिमति कालान्तरावच्छेदेन दण्डादेरभाव-
सत्त्वात् घटादिकारणत्वव्यवहारानुपपत्तिरतः कार्याव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेनेत्युक्तम् । नोपपद्यते इति । उक्ता-
भावे उक्तकालावच्छिन्नत्वासंभवादिति भावः । इष्टापत्या परिहरति—नेति । तर्हि कारणत्वव्यवहारस्य को विषय इत्यत
आह—तथापीति । स्वसामानाधिकरण्येत्यादि उपपद्यते एवेत्यनेनान्वयः । तस्य अनन्यथासिद्धत्वसहितेत्यादिः ।
तेन रासमे तद्वटकारणत्वव्यवहारो नेति बोध्यम् । खं दण्डत्वावच्छिन्नम् । घटदण्डपदे घटत्वदण्डत्वावच्छिन्नपरे ।
ईदृशं घटत्वावच्छिन्नकारणत्वं रासभत्वावच्छिन्नसाधारणं; आधेयतासामानाधिकरण्यस्यावच्छेदकताया अतिप्रसक्तसाधारण-
त्वात्, यदि स्वविशिष्टान्यावृत्तित्वविशिष्टत्वं स्वसामानाधिकरण्ये विशेषणं, तदा घटेष्वपि दण्डवदन्यवृत्तित्वसत्त्वेन
तदभावविशिष्टसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽसंभवेन दण्डत्वावच्छिन्नेऽपि निरुक्तघटत्वकत्वस्यासत्त्वेनोक्तव्यव-
हारानुपपत्तिरित्यत आह—कार्यनिष्ठमिति । घटादिनिष्ठं यत् दण्डादिसामानाधिकरण्यं, तदवच्छेदकघटत्वादीत्यर्थः ।
अवच्छेदकत्वं चेदं अनतिप्रसक्तत्वनियतं स्वरूपसंबन्धविशेषरूपं, धीधितिकारोक्तं पारिभाषिकं वा, तेन रासभत्वावच्छिन्ने
नोक्तव्यवहारापत्तिरिति भावः । ननु—एवमपि घटादौ स्वसंयोगसामानाधिकरण्यनियमात् निरुक्ततदवच्छेदकताश्रय-

विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधः पूर्वमुपपादितः । नच असत्यतिव्याप्तिः; स्वात्यन्ताभावाधिकरण

सिद्धिव्याख्या ।

मितश्रुत्योरेव बलत्वं स्वरूपत इत्याशङ्क्याह—विषमेति । नच—लाघवेनात्यन्ताभावमात्रस्य प्रतियोगि-
सामानाधिकरण्यविरोधितेति—वाच्यम्; एकदैकत्र रजतप्रत्यक्षतद्भावप्रत्यक्षप्रमाभ्यां गौरवस्य प्रामाणि-
कत्वेन समानसत्ताकाल्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिसामानाधिकरण्यविरोधिताया वक्तव्यत्वादिति भावः ।
नचासतीति । असतः शशशृङ्गादेः स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव शशादौ प्रतीयमानत्वादिति भावः ।
स्वात्यन्तेति । सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य तत्राभावान्न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः । सत्त्वेन प्रतीतिरप्यस्तीत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धः तत्क्षणाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कारणस्य तद्देशे संबन्ध इति यत् कार्यनिष्ठं कारणस्य सामानाधिकरण्यं
तदवच्छेदकघटत्वादिरूपस्य दण्डादिव्याप्यत्वस्य घटादिकार्ये सत्त्वेन साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकधर्मस्यापि व्याप्ति-
तया सर्वैः स्वीकृतत्वेन तद्वटकस्यावच्छेदकत्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषशब्दितस्याखण्डस्य पक्षधरपर्यन्तप्राचीनतार्किकैः
स्वीकृतत्वेनाभावावच्छेदकत्वाद्यघटितत्वात् स्वसामानाधिकरण्यावच्छेदकघटत्वकत्वरूपस्य घटकारणत्वस्य दण्डादौ
व्यवहार उपपद्यत एवेति दिक् । समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधे स्वीकृतेऽपि न क्षतिः, मिथ्यात्वघटकाभावस्या-
धिष्ठानस्वरूपत्वेन प्रतियोगिमिन्नसत्ताकत्वादिति पूर्वोक्तं स्मारयति । विषमेत्यादि । सत्त्वेनेति सत्त्वावच्छिन्न-

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

घटत्वसत्त्वात् स्वसंयोगकारणत्वव्यवहारापत्तिः, इत्यत आह—यत्क्षणावच्छेदेनेति । उत्पद्यमानस्येति विशेषणात्
यत्क्षणः कार्योत्पत्तिक्षणः । तदवच्छिन्नकार्यस्य; कार्यतावच्छेदकघटत्वादिविशिष्टप्रतियोगिकश्चक्रादिरूपयद्देशानुयोगिकः
कार्यतावच्छेदकसंबन्धः, तत्क्षणाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नः कारणतावच्छेदकदण्डत्वादिविशिष्टप्रतियोगिकश्चक्रादितद्देशानुयोगिकः
कारणतावच्छेदकसंबन्ध इति व्यवहारविषयीभूतं यदित्यर्थः । कारणतावच्छेदकदण्डत्वादिविशिष्टप्रतियोगिकघटाद्युत्पत्ति-
पूर्वक्षणावच्छिन्नसंयोगादिसंबन्धवच्चक्रादिदेशानुयोगिकः स्वोत्पत्तिक्षणावच्छिन्नः संयोगादिसंबन्धः, घटादिनिष्ठं तत्प्रतियोगित्व-
मिति यावत् । अभावस्यैव देशकालावच्छिन्नत्वानुपगमः, भावस्य तु तदुपगन्तव्यमेव । अन्यथा अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी
इति प्रतीतिरिव, मूले वृक्षो न कपिसंयोगीति प्रतीतिरपि प्रमा स्यात् इति हृदयम् । संयोगेन दण्डादिव्याप्यं, दण्डादि-
पूर्वभूतत्वादिसंबन्धं च दण्डाद्यवयवं प्रति दण्डादेः कारणतापत्तिरतः—कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नत्वं कारणसंबन्धे
निवेशितम् । घटोत्पत्तिद्वितीयक्षणावच्छेदेन घटादिमति संयुज्यमानं घटादिव्याप्यं च घटादिकं प्रति घटादेः कारण-
तापत्तिरतः—कार्योत्पत्तिक्षणावच्छिन्नत्वं कार्यसंबन्धे निवेशितं । केचित्—स्वरूपेण कारणनिवेशे दण्डत्वविशिष्टसा-
मानाधिकरण्यावच्छेदकघटत्वकत्वात्तत्त्वविशिष्टदण्डे घटकारणताव्यवहारापत्तिरतः—कारणतावच्छेदकनिवेशः । तथाच
नीलविशिष्टदण्डसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वस्य निरुक्तस्य घटत्वेऽसत्त्वान्न नीलदण्डे घटकारणत्वापत्तिः । पृथिवीत्वविशिष्टसा-
मानाधिकरण्यावच्छेदकत्वस्य घटत्वे सत्त्वेऽपि दण्डत्वव्यापकपृथिवीत्वेन दण्डस्यान्यथासिद्धत्वात् न पृथिवीत्वविशिष्टे
घटकारणत्वापत्तिः । केनचिद्रूपेण कार्यनिवेशे दण्डत्वविशिष्टसामानाधिकरण्यावच्छेदकघटत्वकत्वात् दण्डत्वविशिष्टे द्रव्यत्वा-
वच्छिन्नकारणत्वापत्तिरतः—कार्यतावच्छेदकनिवेशः । तथाच द्रव्यत्वे दण्डसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वाभावान्नोक्तापत्तिः ।
एव संयोगघटितसामानाधिकरण्यावच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽभावान्नोक्तापत्तिः; संयोगेन समवायेन च दण्डवति भूतत्वादौ
दण्डावयवे च घटस्य समवायेन संयोगेन च नियमेनासत्त्वात् । अत्र यादृशातिप्रसङ्गः कारणताशरीरे नियमनिवेशनेन
वारयितुं शक्यते, स तथैव वारणीयः । अन्यादृशस्तु अन्यथासिद्धत्वेन । अन्यथासिद्धेरननुगतत्वादिति संप्रदायः ॥

प्रपञ्चे मिथ्यात्वबोधकप्रकृतानुमानेन श्रुत्यनुगृहीतेन समानसत्ताकभावाभावयोर्विरोधमुपमृष्ट्वैव मिथ्यात्वस्य साधयितुं
शक्यत्वान्मूले विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधस्मारणमात्रं व्यर्थमित्याशङ्क्य श्रुत्यनुग्रहमन्तरापि समानसत्ताकभावाभाव-
योर्विरोधमभ्युपगम्यापि मिथ्यात्वसिद्धिसंभव इत्यभिप्रायेणोक्तस्मारणं सार्थकयति—समानसत्ताकयोरिति । स्वात्यन्ता-
भावाधिकरणएव प्रतीयमानत्वमिति लक्षणे प्रतीतिपदं यदि विकल्पाख्यावृत्तिसाधारणरूपेण ज्ञानाख्यावृत्तिमात्रपरं, ननु
तदवच्छिन्नचैतन्यपरं, न वा विकल्पव्यावृत्तरूपेण ज्ञानपरं; तदा शशविषाणादिनुच्छेदतिव्याप्तिं शङ्कते मूले—नचासत्यति-

एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात् । नच—‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसी’दिति श्रुत्या असतः सत्त्वप्रतीतेस्तत्रातिव्याप्तिर्दुर्परिहरेति—वाच्यम्; ‘सदेवेदमग्र आसी’दित्यस्यार्थस्याभाव

सिद्धिव्याख्या ।

तिव्याप्तितादवस्थं शङ्कते—नच तद्वैक इति । परिहरति—सदेवेति । नच—सदेवेदमिति श्रुत्यर्थाभाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वप्रकारतानिरूपितधीविशेष्यताव्यापकात्यन्ताभावकत्वं वाच्यमित्यर्थः—सदेवेत्यादि । ‘सदेवेत्यादि’ श्रुत्या यत्र यत्प्रकारकबोधो जन्यते, तत्र तदभावप्रकारकधीरसदेवेत्यादिना बोध्यते । उक्तं हि छान्दोग्यभाष्ये—‘असतः पदान-
भिधेयत्वेऽपि नन्युक्तवाक्यस्य तदयुक्तवाक्यार्थविरोधिधीजनकत्वमानुभाविक’मिति । तत्रायं भावः—‘सदेवे’त्यादि-
वाक्यं बौद्धानां तार्किकादीनां च मतनिरासार्थम् । बौद्धमते हि सुषुप्ताविव प्रलये सतोऽभावात् कारणं विनैव सुषुप्त्यु-
त्तरजागराद्यक्षुण इव सृष्ट्यारम्भकाले आद्यकार्योत्पत्तिः । यद्यत् अर्थक्रियाकारित्वरूपस्य सत्त्वस्याश्रयः तस्य सर्वस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्याप्तिरिति । उक्तप्रकारेण तु व्यावृत्तेः पूर्वमभिधानात्प्रकारान्तरेण परिहरति—स्वेति । अत्र स्वात्यन्ताभावाधिकरणे
एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे, तादृशाधिकरणमात्रवृत्तिलप्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वं तादृशाधिकरणमात्रविशेष्यकप्रतीतिप्रकारत्वं
वार्थमाश्रित्य परिहारो न संभवति; सदसतोरुपरागाभावेन त्रिविधसति असत्मानानङ्गीकारेऽपि तुच्छविशेष्यकतुच्छ-
प्रकारकशशविषाणं खपुष्पमिति शब्दजन्यविकल्पमादायातिव्याप्तेर्दुर्वारत्वात् । एवं स्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्यताव्यापकीभूता-
भावप्रतियोगिलमिति निष्कर्षेऽपीत्यतो व्याचष्टे—सत्त्वेनेतीति । सत्त्वं सत्तादात्म्यं, तादात्म्येन भासमानसदेव वा ।
व्यापकात्यन्ताभाववत्त्वं व्यापकात्यन्ताभावप्रतियोगिलम् । तेन घटवति घटाभावमादाय न सिद्धसाधनम् । “सदेव
सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तद्वैके आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते कुतस्तु खलु
सोम्यैवं तस्मादितिहोवाच कथमसतः सज्जायतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहु स्यां प्रजाये-
येति तत्तेजोऽसृजत” इति छान्दोग्ये सृष्टिश्रुतिः । तत्र मतान्तरनिरासपूर्वकं सतो जगत्कारणत्वं प्रतिपादयितुं सन्मात्रस्य
प्रलयकालसत्त्वं सदेवेति प्रथमवाक्येनोक्तम् । तदुत्तरं ‘तद्वैक’ इति द्वितीयवाक्येनासन्मात्रस्य प्रलयकालसत्त्वं प्रतिपाद्य,
तस्मादिति तृतीयवाक्येनासतो जगत्कारणत्वमेकीयमतवेनोक्तम् । “कुतस्तु” इति चतुर्थेन तन्मतं निरस्य पञ्चमेन सत्त्वेवेत्या-
दिना सन्मात्रस्यैवाग्रसत्त्वमुपसंहृत्य जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्यत इत्याशयेन मूले सत्त्वप्रकारकत्वनिवेशेऽप्युक्तातिव्याप्तिताद-
वस्थं शङ्कते—नचेति । “तद्वैक” इति “तस्मादिति” वाक्यद्वयेनासतो जगत्कारणत्वमेकीयमतवेन नोपन्यस्यते, किंतु
सतः अग्रसत्त्वं निषिध्य जगत्कारणत्वाभावमाशङ्कते इत्यभिप्रायेण समाधत्ते—सदेवेति । मूले—“सदेव सोम्येदमग्र
आसीदिति”त्यस्येत्यस्य एतद्वाक्यप्रतिपाद्यस्यार्थस्येत्यर्थः । स चार्थोऽग्रकालसत्त्वविशिष्टमेद्वितीयं, सत्तादात्म्यापन्नं जगत्
तत्कर्तृकमग्रकालसत्त्वं वा; तदभावस्य ‘तद्वैक आहु’रित्यादिवाक्येन बोधनेनोक्तातिव्याप्तिपरिहारेऽप्यभावस्य जगत्कारणता
प्राप्तेति ॥ तस्मादसतो जगदभावात् सदजायतेत्युत्तरवाक्यार्थात्, स च बौद्धानामप्यनिष्टः; व्यावहारिकोक्तजगदभावस्य
व्यावहारिकत्वात्, जगतो निरुपाख्योपादानताया एव तदभिमतत्वात्, इत्यतो व्याचष्टे—सदेवेत्यादीति । यत्र
इदंपदार्थं जगति, यत्प्रकारकोऽसत्त्वप्रकारकः, अद्वितीयसत्प्रकारकश्च, बोधो जन्यते, तत्र जगति, तदभावप्रकारिकाऽग्र-
सत्त्वाभावप्रकारिका, अद्वितीयसदभावप्रकारिका च, धीरसदेवेत्यादिवाक्येन जन्यते इत्यर्थः । कारणं विनैव अपूर्वमेव
जगदुत्पद्यते इति तदभिप्रायः । एवंच असदिति वाक्येन असति सत्त्वप्रकारकप्रतीतेरजननात् नासत्यतिव्याप्तिरिति
भावः । नन्वेवं—लक्षणातिव्याप्तिपरिहारानुरोधेन ‘तद्वैक’ इति श्रुतेरसज्जगत्कारणत्वमतनिरासार्थं तदनुवादित्वं स्वरसतः
प्रतीयमानं परित्यज्य, कथमुक्तार्थपरत्वं स्वीक्रियते—इत्याशङ्क्य श्रीभाष्यकारादृतोक्तश्रुतिस्वारस्यादेवेत्याह—उक्तं हि
छान्दोग्यभाष्ये इति । असतः पदानभिधेयत्वेऽपीति । अनेन असतोऽलीकस्य जगत्कारणत्वमनुवादः;
तन्निराकरणद्वयमप्यलीकमेवेति—दर्शितम् । नन्युक्तवाक्यस्येति । तदयुक्तवाक्यसमानानुपूर्विकस्य घटोऽग्रे नासीदित्य-
त्यादिवाक्यस्येत्यर्थः । तदयुक्तवाक्येति । घटोऽग्र आसीदिति वाक्येत्यर्थः । आनुभाविकमिति । एवं च लोकसिद्ध-
मेवासदेवेति वाक्यस्य ‘सदेवेति’ वाक्यार्थाभावबोधकत्वमिति । ‘आसीदिति’ कालसंबन्धः, एकमिति संख्यासंबन्धः,
अद्वितीयमिति द्वितीयाभावसंबन्धः । एतेषामसत्यसंभवेऽपीत्यपि बोध्यम् । ननु तर्हि—असज्जगत्कारणवादिनो बौद्धा
इति प्रवादो विलुप्येत इत्यत आह—अयं भाव इति । ननु—कालत्रयाबाध्यं सत्पदार्थः, तस्य प्रलये कथमभावः ?

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

क्षणिकत्वेन सृष्ट्यारम्भक्षण उत्पत्तिः कारणं विनैव वाच्या, तत्पूर्वं क्षणिकस्यार्थक्रियाकारिणोऽभावात् । तथाच सृष्ट्यारम्भकाल एव जागराद्यक्षण इव विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यत इति स्वीक्रियते । तदुक्तं पञ्चपाद्याम्—‘अकस्मादेव जागरादावहमिति धीदर्शना’दिति । विवरणेऽप्युक्तम्—‘सुषुप्ते विज्ञानलेशस्याप्यभावा’दिति । तार्किकादिमते तु प्रलये सदात्मकमपि जगत्कारणं यदासीत् तन्नाद्वितीयम्; गुणादिरूपद्वितीयविशिष्टस्वभावत्वात् । तयोर्मतयोर्निरासाय ‘सदेवेत्यादि’ श्रुतिः । इदं जगत् । अग्रे प्रलये । अव्याकृतावस्थमद्वितीयसद्रूपकारणात्मकमासीदिति बोधयति । ‘असदेवे’त्यादि वाक्यं तु इदं जगत् प्रलये नासीत्, न वा सदात्मकम्, किंत्विदानीमेवार्थक्रियाकारित्वेन सदिति बोधयति । ननु—असदिति समासान्तर्गतं नञ्पदं सद्भिन्नस्यैव बोधकम्, नत्वग्रे सत्त्वादेरभावबोधकमिति चेन्न; ‘अमानोनाः प्रतिषेधवाचका’ इत्यनुशासनात् अकारस्य प्रकृते नञ्विकारत्वाभावेनासदित्यस्यासमासत्वात् । अतएव मूले नञेत्यस्याकारेणेत्यर्थः । ननु—‘कथं नु खलु सोम्यैवं स्यात् कथमसतः सज्जायेते’त्युत्तरवाक्येनासतः कारणात् सतः कार्यस्य तद्विस्वीकृतोत्पत्तेर्निराकरणादसदेवेत्यादिपूर्ववाक्येनासत्कारणात्मकतया प्रलये जगतः सत्त्वमुच्यते, कार्याणां हि ध्वंसरूपा सूक्ष्मावस्था प्रलयकालव्यापकत्वादक्षणिकत्वेनास्ति । सृष्ट्यारम्भसमये स्थूलकार्यरूपेण परिणमते । तेनासदात्मकत्वं जगतो नानुपपन्नम् । भिन्नकालीनयोरपि तयोस्तादात्म्यम् युक्त्याप्युक्तमेव । अतएव ‘तस्मादसतः सज्जायत’ इत्युत्तरवाक्यं तथैव बोधयति—तत्राह—

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

इत्याशङ्क्य तन्मतं सत्पदार्थकथनेनोक्तं विवृणोति—यद्यदिति । क्षणिकत्वेनेति । तत्पूर्वमित्यादिपञ्चम्यन्तार्थो हेतुः, स च कारणं विनैवेत्यत्र । वाच्येति । प्रलये विद्यमानात् असतः कारणात् सर्गाद्यकार्योत्पत्तिरित्युक्तौ, कारणत्वामित्यस्य कालवृत्तित्वेनार्थक्रियाकारित्वेन च सत्त्वापत्त्या तन्मतसिद्धसत्त्वमेव भज्यते इति भावः ।—स्वीक्रियत इति । एतावतैवासजगत्कारणवादित्वप्रवादः सङ्गच्छते, आद्यजगत्कारणम् असत् अलीकं नास्तीति प्रवादार्थादिति भावः । सुषुप्त्युत्तरक्षणे कारणं विनैव कार्योत्पत्तिरूपे दृष्टान्ते संमतिमाह—तदुक्तं पञ्चपाद्यामिति । सुषुप्तौ सतोऽभाव इत्यत्र आह—विवरणेऽप्युक्तमिति । तार्किकादिमते तु प्रलय इत्यादि । अयमेव तन्मते तद्वैकश्रुतिवाक्यार्थः । जगत्कारणमिति । इदंपदार्थोऽयम् । स्वभावत्वादिति । नाद्वितीयं कार्याभिन्नं न । कार्यकारणयोर्भेदाभ्युपगमादित्यपि तन्मते तदर्थ इति बोध्यम् । तस्मात् सतः अद्वितीयात् सतः, जगत् नाजायत किंतु सद्वितीयादेव सतो जगदजायत इत्युत्तरश्रुतेस्तन्मतेऽर्थः । इदं परिदृश्यमाननामरूपात्मकाव्याकृतावस्थं नामरूपात्मनानभिव्यक्तम् ।—नासीदिति । कारणात्मना हि तदा जगता भवितव्यं, जगत् प्रलयवृत्तित्मूलकारणशून्यमतो नासीदित्यर्थः । ननु—सदेव तत्कारणं तद्रूपतया स्यात्, अतआह—न वासदात्मकमिति । प्रलये इत्यनुषङ्गः । सतस्तत्कारणत्वानुपगमात्, अकारणकसर्गाद्यकार्योत्पत्तेरुपगमादिति भावः । ननु—अत्रेदमग्रे नासीत्, इदं न सत्, इति वाक्यभेदे नाप्रेदंपदावृत्तिप्रसङ्गः अद्वितीयैकसदात्मकजगदग्रे नासीदित्येकमेव वाक्यं चेत्, विशिष्टे कालवृत्तित्वाभावबोधनेऽपि विशेष्ये जगति तदबाधेन विशेषणीभूतसद्भेदस्याभावापत्तिः, नचात्र अग्रकाले विशिष्टाभावस्य विशिष्टेऽग्रकालवृत्तित्वाभावाभिर्वाहकत्वं; विशेष्ये तदबाधात्, न वा विशेष्याभाववति विशिष्टाभावो विशेषणभावपर्यवसायीति—चेत्, सत्यम्; अगत्या आद्यपक्षस्योपगमात् । इदानीमेवेति । जगदिति शेषः । यद्वा—अग्रे इदं सच्च नासीत्, किन्तु इदानीमेव तदुभयभिन्नमस्ति, इत्यर्थः । यत् एवं तस्मात् असतः कारणात् कारणं विनैव, जगदजायतेति सतः कारणात् जगत् नाजायत, किंतु कारणं विनैवेति बोत्तरश्रुतिवाक्यार्थः ।—सद्भिन्नस्यैवेति । अन्यथाऽसामर्थ्येन समासानुपपत्तेरिति भावः ।—प्रकृते इति । समासप्रकृतिभूते इत्यर्थः । नञ्विकारः, ‘नलोपो नञ’इत्यनेन । ननु—‘नखसतः सत्त्व’मिति पुनरुक्तं इत्याशङ्क्य उत्तरवाधपर्यालोचनया ‘असदेवेति’ वाक्यस्यासति सत्त्वबोधकत्वमेव संभवतीत्याशङ्क्या तदवतारयति—ननु कथमिति । उत्तरवाक्यनिराक्रियमाणबौद्धमतानुवादवत्त्वेनेति शेषः । सतो जगतोऽसद्रूपत्वं कथमत आह—कार्याणामिति । पूर्वसृष्टिकार्याणामित्यर्थः । भावरूपत्वेऽसत्त्वं न स्यादतो—ध्वंसरूपेति । सूक्ष्मावस्थेति । परिणमते इत्यनेनान्वयः । तर्हि—अर्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वमेव स्यात्कथमसत्त्वं? तत्राह—प्रलयकालेति । ब्रह्मणो रात्र्यादिरूपेत्यादिः । अक्षणिकत्वादिति । क्षणिकत्वरूपव्यापकाभावात् अर्थक्रियाकारित्वादव्याकृत्याव्याप्यभावत्वादिरूपसत्त्वाभावात् । अस्तीति । अभावरूपासत्पदार्थरूप इत्यर्थः । तेन जगत उक्तासत्पदार्थपरिणामरूपत्वेन । तयोः सदसतोरित्यादिः । आसीदित्यादिना तादात्म्यम् । तयोः कार्यकारणयोः । उक्तम् उक्तप्रायमिति । श्रुत्यापीत्यपिना भिन्नकालीनयोस्तादात्म्यबोधक ‘तद्वैक आहुः’ श्रुतिसमुच्चय इति

एव नञा प्रतिपाद्यते, न त्वसतः सत्त्वम्; विरोधात् । अतो नातिव्याप्तिः । सर्वं चान्यत् पूर्वोक्तमेवानुसंवन्धेयमित्युपरम्यते ॥

इति चतुर्थमिध्यात्वविचारः ॥

सिद्धिव्याख्या ।

बोधकत्वेऽप्यसद्वोधकत्वं दुर्वारं, सदेवेत्यस्य ब्रह्मसत्त्वार्थकत्वेन तदभावस्थान्त्यासत्त्वानतिरेकात्, नहि ब्रह्मसत्त्वाभावः कचिदेशे काले वाऽस्तीति—वाच्यम्; सदेवेत्यस्य ब्रह्मस्वरूपसत्त्वार्थकत्वेऽपि तदभावस्थानिर्वचनीयस्वरूपत्वेनात्यन्तासत्त्वातिरेकात्तस्य च कचिदेशे काले वाऽस्तीतिसंभवादिति भावः ॥

इति अद्वैतसिद्धिव्याख्याने चतुर्थमिध्यात्वनिरूपणं समाप्तम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नत्वसतः सत्त्वं विरोधादिति । अघटो घट इति बोधस्येवासदासीदिति बोधस्याहार्यत्वेन शाब्दधीत्वानुपपत्तेः नोक्तवाक्यादुक्तबोधः । द्वितीयोऽर्थ उच्यते । सत्त्वं नासत्कारणप्रयुक्तम् । सत्त्वविशिष्टे कार्ये असतः कारणत्वं नेति यावत् । विरोधात् असतोऽर्थक्रियारूपकार्यकारणत्वे स्वीकृते असत्त्वव्याघातात् । तथाच 'तस्मादसतः सजायत' इत्यस्य यस्मादिदमग्रे नासीन्नवाग्रे सदात्मकं तस्मात् प्रलये विद्यमानात् सत आद्यकार्यरूपं सन्न जायत इत्यर्थः । अग्रे इत्यस्यानुपपन्ने प्रलये विद्यमानादिति लब्धम् । तेनेदानीं सतः सदुत्पत्तावपि न बाधः । कथमसत इत्यादेरपि सतः सन्न जायत इति कथं सद्रूपस्यैकस्य सर्वकार्यात्मकतया प्रत्ययेन ततस्तज्जायत एवेत्यर्थः । ननु—'अभावस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्याख्येयम् । अत एव 'तद्वैक' इति पूर्ववाक्यस्यासतो जगत्कारणत्वबोधकत्वादेव । तस्मात् प्रलयवृत्तेः । जायते अजायत । बोधयतीति । तथाच 'तद्वैक आहु'रिति श्रुतिजन्यम् असति सत्प्रकारकबोधमादायोक्तमिध्यालक्षणस्यासत्यतिव्याप्तिर्दुर्वारेति भावः । ननु उक्तरीत्या विरोधपरिहारात् को विरोधः?—अत आह—अघट इति । अयं भावः—यदि पूर्वकार्यध्वंसरूपा कार्यसूक्ष्मावस्था उत्तरकार्यपरिणामिनी भावभिन्नत्वादसत्पदार्थरूपा प्रलयकाले स्वीक्रियते, तदा व्यावहारिकस्यैव जगत्कारणत्वं सिद्धं, नालीकस्य, न वा अकारणकसृष्टिपक्षस्य, इति न बौद्धमतानुवादः । नापि तत्र मिध्यालक्षणातिव्याप्तिः; 'कथमसत' इति श्रुतिरपि अभावस्य भावकारणत्वनिराकरणपरतया सङ्गच्छते । किञ्च असत्पदस्याव्यक्तपरतया प्रधानकारणत्वादिसांख्यमतानुवादिन्येव 'तद्वैक' इति श्रुतिरस्तु, तैः पूर्वोत्तरकार्ययोः उत्तरपूर्वावस्थारूपस्य प्रधानस्य स्वीकारात्, कार्योत्पत्तौ चेतनापेक्षाया अनङ्गीकारादेवकारसङ्गतिः । अतएव कथं नु 'सोम्ये'त्यनेन तन्निराकरणमपि सङ्गच्छते । तस्मात् 'तद्वैक' इति वाक्यस्य बौद्धमतानुवादिलेऽसत्पदेन सद्भिन्नत्वेन अलीकमनूय तत्र प्रलयकालवृत्तिलजगत्कारणत्वरूपसत्त्वबोधस्याहार्यत्वम् । यदि धर्मितावच्छेदकीभूतमसत्त्वं नोक्तविधेयसत्त्वाभावरूपं, किंतु अबाध्यत्वरूपं सत्यत्वाभावरूपं, तदापि अलीकस्य कालवृत्तित्वार्थक्रियाकारित्वस्वीकारेऽलीकत्वव्याघातान्नालीकजगत्कारणत्वानुवादः, न वा अकारणकसृष्टिपक्षानुवादकत्वमेवोक्तवाक्ये स्वीकार्यमिति नासति मिध्यालक्षणातिशङ्केति । अत्र नत्वसतः सत्त्वमिति मूले प्रतिपाद्यते इत्यनुपपन्नेनान्वयः । तदभावेऽप्याह—द्वितीयोऽर्थ इति । नत्वसतः सत्त्वमिति मूलस्येति शेषः । सत्त्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वोपगमे चासत्प्रयुक्तत्वप्रसक्तेश्चिषेधपरतामाह—सत्त्वविशिष्टे इति । ननु—सत्त्वं नासत्कार्यतायामवच्छेदकम्, आद्यसत एवासत्कार्यत्वोपगमेनेदानीं तनासज्जन्ये सति व्यभिचारात्, इति सत्त्वस्यासत्प्रयुक्तत्वं मयापि न स्वीक्रियत इति को विरोधः?—तत्राह—असतोऽर्थक्रियारूपे इति । कार्ये आद्यकार्ये । तथाच असदेवेति वाक्यस्य इदं जगत् प्रलये नासीत् न वा सदात्मकं इत्यर्थकत्वेन । जायते किंतु कारणं विनैवेति शेषः । एतन्मतनिराकरणमपि व्याचष्टे—कथमसत इत्यादेरपीति । प्रत्ययेन "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादिश्रौतेन घटः सन्नित्यादिलौकिकेन च प्रत्ययेन । उक्तरीत्योक्तश्रुतेर्बौद्धमतत्वेनाकारणकसृष्ट्यनुवादित्वेऽसतः कारणत्वं तन्मतत्वेनानूय दूषणपराचार्यग्रन्थविरोधं शङ्कते—नन्विति । अभावस्य भवतीति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निरुपाख्यत्वादपि न जगत्कारणत्व' मिति पञ्चपादिकावाक्यं विवरणे व्याख्यातम्—'नच निरुपाख्योपादानता जगतः, सदन्यया' दिति; तत्त्वदीपने च तदवतारितम्—'निरुपाख्यकारणतावादिनं प्रति निरुपाख्यत्वादिति हेत्वसङ्गतेराह—न च निरुपाख्यतेत्यादी' ति; तथाच निरुपाख्यकारणवादी बौद्ध इति तत्त्वदीपने स्पष्टम्—इति चेन्न; उक्ततत्त्वदीपन-वाक्यस्य यदि निरुपाख्यकारणं बौद्धो वदेत्, तदा तं प्रति निरुपाख्यत्वहेत्वसंभवादाहेत्यर्थकत्वात्; अन्यथा ह्यसतः कारणत्वेऽर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वापत्त्या विरोधः । अतएव 'नासतोऽदृष्टत्वा' दिति सूत्रे भामतीकल्पतर्वाबौद्धमते असन्न कारणमिति स्पष्टमिति भावः । ननु—तथापि सत्त्वेन असद्धीवादिनं प्रति किं मिथ्यात्वं वाच्यम्? तत्राह—अतो नातिव्याप्तिरिति । यतोऽसतः सत्त्वेन न धीः, अतः प्रातीतिकस्यापि सत्तादात्म्यरूपसत्त्वस्यासत्यभावेन व्यावहारिकस्य तस्य सुतरामभावेन च स्वनिष्ठसत्त्वावच्छिन्नप्रकारतानिवेशासंभवान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः । यद्वा अतः स्वनिष्ठसत्त्वात् । ल्यबलोपे पञ्चमीयम् । तथाच स्वनिष्ठसत्त्वं पुरस्कृत्यातिव्याप्त्यभावोऽस्तीत्यर्थः ।

इति लघुचन्द्रिकायां चतुर्थमिथ्यात्वनिरूपणम् ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भावः सत्, तद्विज्ञस्यासतः । निरुपाख्यत्वात् पदार्थस्वरूपत्वाभावात् । जगत्कारणत्वं न संभवतीति पञ्चपादिकार्थः । निरुपाख्यमपदार्थस्वरूपं तुच्छमुपादानं यस्य तन्निरुपाख्योपादानं तत्त्वं, जगतो न; सदन्ययात्, इति तद्व्याख्यान-विवरणार्थं इति शङ्ककामिप्रायः । ननु—असतो निरुपाख्यत्वात् जगत्कारणत्वं न संभवतीत्यतः कारणं विनैव जगदुत्प-द्यत इति त्वया वाच्यम्, तच्च न संभवति; सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गेन प्रलयानुपपत्तेरिति गूढहेतुकः पञ्चपादिकार्थः । तद्व्याख्या-नविवरणस्यापि जगति सदन्ययात् सदुपादानता न संभवति, नाप्यकारणकत्वं; सदन्ययादेवेत्यर्थः—इत्याशङ्क्य विवरण-व्याख्यानतत्त्वदीपनविरोधान्नायमर्थ इत्याह—तत्त्वदीपने चेति । निरुपाख्यं कारणं वदतीति, निरुपाख्यकारणवादी, न तु कारणाभाववादी । तथासति अकारणवादिनं प्रतीत्येव ब्रूयात्, प्रसिद्धकार्यकारणभावस्य सोपाख्यत्वेन निरुपा-ख्यत्वरूपहेत्वसङ्गतेस्तत्रापि संभवात्, तं प्रति निरुपाख्यत्वहेतोः कारणे तेनाभ्युपगतत्वेनाकारणत्वाविरोधित्वेनासङ्गतेः । सदन्ययात् कार्ये सत्त्वप्रत्ययात्, कारणे सत्त्वस्यावश्यकत्वेन सदुपादानस्यैव वाच्यत्वादिति हेत्वन्तरमाहेति तत्त्वदीपनार्थः । नच—उत्पन्नत्वमेव सत्त्वमिति—शङ्क्यम्; आद्यक्षणसंबन्धरूपस्य द्वितीयक्षणादावभावेन तस्य कारणसत्त्वरूपतयाऽसतः कारणत्वेऽसत्त्वव्याघातेन सत्कारणस्यावश्यकत्वेन तद्रतसत्त्वस्यैव कार्ये उपगन्तव्यत्वादिति भावः । भवतु मूलविवरणयोरर्थान्तरं, तत्त्वदीपनस्य त्वर्थान्तरासंभवात् तद्विरोधो दुर्वार इत्याह—तथाचेति । तत्त्वदीप-नेऽप्यर्थान्तरमाश्रित्य तद्विरोधमपि परिहरति—उक्ततत्त्वदीपनवाक्यस्येति । यदीति । जगतः अकार-णकत्वरूपं स्वपक्षं त्यक्त्वापीति शेषः । अन्यथा तत्त्वदीपनस्यापि असतो जगत्कारणत्वं बौद्धमतमित्यर्थकत्वे । विरोधः असत्त्वव्याघातः । उक्ताचार्यग्रन्थविरोधशङ्काया अयं परिहारोऽपि 'नत्वसतः सत्त्वं विरोधादि'ति मूलार्थ इति भावः । उक्ताचार्यग्रन्थानामुक्तव्याख्याने आचार्यान्तरग्रन्थसंवादमाह—अतएवेति । असतः सत्त्वकारणत्वासंभवादेवेत्यर्थः । ननु—'अतो नातिव्याप्तिरिति' पूर्वेण गतार्थत्वात्, व्यर्थ इत्याशङ्क्य, शङ्कान्तरनिरासक-तया तत्सार्थक्यति—नन्विति । तथापि असतः कारणत्वरूपसत्त्वस्यासंभवेन बौद्धस्यान्यस्य वा तन्मतसांभवेऽपि असतः पदानभिधेयत्वेन सद्भिन्नत्वावच्छिन्ने सत्त्वबोधस्याहार्यत्वेन 'असदेव' वाक्येन जननासंभवेऽपि च सत्त्वेनासद्धीराहार्यमा-नसरूपा स्यादिति वादिनं प्रति इत्यर्थः । किं वाच्यम् । सत्त्वप्रकारकत्वनिवेशेऽप्यसत्यतिव्याप्तितादवस्थ्यादिति भावः ।—न धीरिति । आहार्यमानसरूपापीति शेषः । पारमार्थिकसत्त्वस्य तद्विषयत्वायोग्यत्वादिति भावः । प्रातीतिकमेव तद्विष-योऽस्तु, तत्राह—प्रातीतिकस्यापीति । आहार्यं हि बाधदशायां जायते, नहि तदा अज्ञानमस्ति, यत्परिणामः प्रातीतिकं तद्विशेषं स्यात् । किंच अज्ञानस्य सदेव विषयो नासत् इति कथमसति सत्त्वभ्रम आहार्योऽपि स्यादिति भावः ।—व्यावहारिकस्य सुतरामिति । तस्य ब्रह्ममात्रविषयकमूलज्ञानजन्यत्वादिति भावः । ननु—अनुभूयमानारोपो नाज्ञान-मूलकः, किंतु स्मर्यमाणारोप एव; अतएवाधिष्ठाननिष्ठपारमार्थिकत्वस्य रजतादौ भानसंभवेन तत्र प्रातिभासिकतदु-त्पत्तेरनङ्गीकारेण पारमार्थिकत्वेन रजताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्य प्रातिभासिकरजत उपपत्तिः । स्पष्टं चेदं वेदा-न्तपरिभाषादिग्रन्थेषु । एवंच ब्रह्मनिष्ठाबाध्यत्वरूपस्य प्रपञ्चनिष्ठसत्तादात्म्यरूपस्य वा सत्त्वस्यानुभूयमानस्यासति अद्वै. सि. २५

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

आहार्यभ्रमो दुर्वार इत्यत आह—स्वनिष्ठसत्त्वेति । केचित्तु—न धीरिति । ननु—उक्तधीनिराकरणे स्वनिष्ठत्वं व्यर्थं, तन्निवेशे चोक्तधीनिराकरणानुपयोग—इति चेन्न; शङ्ककस्यान्यथाख्यातिसत्त्वेऽपि सिद्धान्तिनस्तदभावेन तन्मते अनिवर्चनीयख्यातिरूपतादृशप्रतीतिं निराकृत्य स्वनिष्ठत्वनिवेशेऽप्यतिव्याप्त्युद्धारपत्तेः । तथाचोभयमते तदुद्धारयोभयमावश्यकम्—इत्याहुः । सत्त्वेनासद्ध्योऽभावस्यातः पदार्थत्वे पुनरुक्तिर्दुर्वारेत्यतः, स्वनिष्ठत्वनिवेशेऽस्यातःपदार्थतामाह—यद्वा अत इति—॥

॥ इति चतुर्थमिथ्यात्वविचारः ॥

चतुर्थमिथ्यात्वम्

(१) न्यायामृतकाराः—

स्वात्यन्ताभाव एव प्रतीयमानत्वमपि न मिथ्यात्वम्; अत्यन्ताभावस्य तात्त्विकत्वप्रातिभासिकत्वव्यावहारिकत्वविकल्पैः प्रतियोगित्वं स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेति विकल्पैश्च दूषणानां पूर्वमेवोक्तत्वात् । संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्यन्ताभावासंभवात्, संभवे चोपादानत्वानुपपत्तेः । स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वपक्षे पूर्वमेवोक्तपरिहारेण तु नात्रेष्ट-सिद्धिरित्यत्यन्तासत्त्वापत्तिदोषोऽपरिहार्य एव । पूर्वत्रेव सदधिकरणत्वादिविवक्षणस्य प्रतिपन्नोपाधिपदाभावेनासंभवात्, पारमार्थिकत्वपक्षे ब्रह्मवत्पारमार्थिकत्वापत्तिश्चेति—वर्णयन्ति ॥

(२) तत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

न तावन्निषेधतात्त्विकत्वादिविकल्पैः स्वरूपेण निषेधेन वेति विकल्पैश्च प्रतिपादितानां दूषणानामत्र प्रसर इति तु पूर्वमेव निरूपितम् । काल इव देशोऽपि प्रतियोगितदभावयोः सहभावात्, एवमपि प्रागभावसत्त्वेनोपादानत्वोपपत्तेः । एतेन मिथ्यात्वानुमितेः श्रुतेश्च प्रामाण्यमपि निरपोहं सिद्धं भवति । प्रतिपन्नोपाधिपदाभावेऽपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्यात्र विवक्षणाज्ञात्यन्तासत्त्वापत्तिः । असतोऽपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं ‘असदेवेदमग्र आसीदिति’ श्रुत्या सिद्धमिति तु न वर्णनीयम्, तत्र सदेवेदमिति श्रुत्यर्थाभाव एव बोध्यते, नत्वसतः सत्त्वम्, विरोधादित्येवाङ्गीकरणीयतया दोषाभावात् । ब्रह्मवच्छ्रुतिप्रमितत्वाभावेन तु न पारमार्थिकत्वसिद्धिरिति प्रथममिथ्यात्वप्रकरण एव निरूपितमिति न कोऽपि दोषः—इति प्रतिपादयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु नैतदनुमोदन्ते—

तथाहि—भावाभावयोर्विरोधकथाया एवोच्छेदापत्त्या घटादिप्रत्यक्षताकाले घटाभावादेरप्रत्यक्षतानुपपत्त्या कपालादिकं सदा घटाभाववदिति ज्ञानस्याप्रमात्वव्यवहारानुपपत्त्या द्वैताद्वैतयोरविरोधापत्तिप्रयुक्ताद्वैतज्ञाननिष्ठद्वैतज्ञाननिवर्तकत्वानुपपत्त्या च प्रत्यक्षविरुद्धेऽर्थे श्रुत्यनुमानयोस्तात्पर्यकल्पनायोगेन काल इव देशोऽपि प्रतियोग्यभावयोः सामानाधिकरण्याङ्गीकारस्यायुक्तत्वात्, भावाभावमात्रयोः परस्परविरोधेन विषमसत्ताकत्वादिनाऽविरोधकल्पनस्यायुक्तत्वात्, सदेवेति वाक्यावगतस्य ब्रह्मसत्ताभावस्याऽत्यन्तासद्रूपस्य बोधनेऽप्यसतः सत्त्वेन प्रतीतिविषयत्वस्यानिवारणादत्यन्तासत्त्वापत्तेश्च अत्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वरूपमिथ्यात्वोपपादनासंभव इति—

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु नैतत्सहन्ते—

तथाहि—अनादिदृढवासनासहिताधिष्ठानगतसत्त्वारोपो दोषविधया मिथ्यात्वग्रहे प्रतिबन्धक इति घटादिप्रत्यक्षताकाले तदभावप्रत्यक्षतोपपत्त्या एव कपालं सदा घटाभाववदिति ज्ञानीयाप्रमात्वव्यवहारोपपत्त्या ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारस्यैव द्वैतनिवर्तकत्वेनाद्वैतज्ञानस्य द्वैतनिवर्तकत्वस्येष्टापत्तिपराहततया च प्रत्यक्षविरुद्धेऽप्यर्थे श्रुतितदनुयाय्यनुमानयोः प्रामाण्यसंभवेन काल इव देशोऽपि प्रतियोगितदभावयोः सामानाधिकरण्याङ्गीकारस्य युक्तत्वात्, भावाभावयोर्विरोधपक्षेऽपि

अभावतात्त्विकत्वपक्षेण विषमसत्ताकयोर्भावाभावयोरुपपादनस्यावश्यकत्वात्, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति' श्रुतेः प्रलयेऽसदात्मकप्रपञ्चवादिबौद्धतार्किकमतयोर्निराकरणार्थं प्रवृत्तायाः अग्रे प्रलये सत्कारणकत्वेन सद्रूपमेवेदं प्रपञ्चजातमित्येवार्थः, नतु ब्रह्मसत्त्वम्, येन तदाभावस्यात्यन्तासत्त्वेनासदेवेति श्रुत्योक्तश्रुत्यर्थभावबोधनेऽप्यसतः सत्त्वेन प्रतीतेरनिवारणं भवतीति सत्कारणकत्वाभावस्य बौद्धपरिकल्पितस्य प्रातिभासिकस्य विद्यमानत्वात् सदेवेति श्रुत्या असदेवेति श्रुत्यर्थभावबोधिकाया असतः सत्त्वेन प्रतीतौ प्रमाणत्वाभावात् सत्त्वेन प्रतीयमानत्वविवक्षणेनैवात्यन्तासत्त्वापत्तिनिवारणाच्च सर्वमनवद्यमिति—

इति चतुर्थमिथ्यात्वविचारः ।

अथ पञ्चममिथ्यात्वम् ।

सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम् । सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम् । प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरण-

सिद्धिव्याख्या ।

अथ पञ्चममिथ्यात्वविचारः ।

सद्विविक्तत्वं वेति । ननु सतः सत्ताजातिमत्त्वादिरूपत्वे, वक्ष्यमाणदोषापत्तिः इत्यत आह—सत्त्वं चेति । ननु सत्ताजातिमत्त्वादिरूपत्वं, येन वक्ष्यमाणदोषापत्तिः स्यादित्यर्थः । प्रमा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ पञ्चममिथ्यात्वम् ।

दोषासहकृतेत्यादि । दोषविधया ज्ञाने निमित्तकारणमविद्या, तादृशकारणतानिरूपकं तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्या-
जन्यज्ञानं, तस्य बोधस्य भ्रमत्वात्, नतूक्तवाक्यजन्यज्ञानम्; प्रमात्वात् । ननु—शुद्धब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्वपक्षे

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अथ पञ्चममिथ्यात्वविचारः ।

मूले—सद्विविक्तत्वं, सद्विज्ञानम् । अत्र प्रतियोगितावच्छेदकीभूतसत्त्वस्य सत्ताजात्यादिरूपत्वे दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् स्वयं तन्निर्वृत्ति—सत्त्वं चेति । प्रमाणत्वं च तत्र यदि व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वं कालत्रयाबाध्यविषयकत्वं वा, तदा सन् घट इत्यादिज्ञानानामपि घटादौ सदंशे वा प्रमात्वात् घटादीनामपि प्रमाणसिद्धत्वात् तद्विज्ञानरूपमिथ्यात्वानुपपत्तिरतो व्याचष्टे—प्रमाणत्वं चेति । तत्सहकृतं तत्सहकारेण कार्यजनकम् तज्जन्यकार्यजनकं, तदजन्यकार्यजनकं तदसहकृतम् । एवं च ज्ञानकरणे दोषासहकृतत्वस्य दोषाजन्यकार्यजनकत्वरूपस्य विवक्षणे दोषाजन्यकार्यान्तरजनकस्य भ्रमकारणस्याव्या-
वृत्तिरित्यतोऽसहकृतत्वघटककार्येऽसहकृतत्वानुयोगिकरणजन्यवृत्तिरूपज्ञानभेदो विवक्षणीयः । तथाच दोषाजन्यं यत् स्वक-
रणकतत्तज्ज्ञानकरणत्वमर्थः स्यात्; तस्य च ज्ञानकरणत्वघटकज्ञाने प्रमात्वाघटिततया यौगिकप्रमाणपदार्थत्वानुपपत्तिगौरवं
चेत्यतो लाघवात् ज्ञानकरणत्वघटकज्ञाने दोषासहकृतपदेन दोषाजन्यत्वरूपं प्रमात्वं निवेश्य व्याख्यातुं मूलप्रतीकमाददाति—
दोषासहकृतेत्यादि इति । अत्र दोषजन्यज्ञानकरणजन्यधीविषयान्यत्वं सद्विविक्तरूपं मिथ्यात्वम् इत्यर्थपर्यवसाने घटा-
दिविषयकवृत्तिरूपज्ञानस्य शुक्तिरजतादिज्ञानस्येवाविद्यान्यदोषजन्यत्वासंभवात् अविद्यारूपपरिणामत्वेन दोषजन्यत्वं स्वीकृत्य
घटादिषु मिथ्यात्वोपपादने तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यब्रह्मात्माकाराखण्डवृत्तेरप्यविद्यातादात्म्यापन्नान्तःकरणपरिणामत्वेनाविद्या-
रूपदोषजन्यत्वात् दोषाजन्यज्ञानाप्रसिद्धिरित्याशङ्क्य दोषपदेनाविद्योपादानात् दोषविधया तस्याः कारणत्वं विवक्षणीयं,
नतु परिणाम्युपादानविधया इत्याशयेन दोषाजन्यज्ञानप्रसिद्धिमाह टीकायां—दोषविधयेति । भ्रमत्वावच्छिन्नकारण-
त्वाद्विदोषपदार्थत्वव्याप्यरूपेणेत्यर्थः । तच्च प्रकृतेऽविद्यात्वमेव । ज्ञाने घटादिज्ञाने । निमित्तकारणमविद्येति । तत्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्य ज्ञानस्य स्वविषयत्वोपहितब्रह्मविषयकत्वादुक्तब्रह्मणश्च मिथ्यात्वात् कथं तस्य प्रमात्वम्?—इति चेदुच्यते । अबाधितस्य वृत्तिविषयत्वोपहितं रूपं यस्य ज्ञानस्य विषयः तत्त्वं प्रमात्वम् । घटादिकं वृत्तिविषयत्वानुपहितमपि वृत्तिविषयः; तथापि 'सर्वस्य ज्ञानस्य स्वविषयत्वोपहितमपि विषयः घटाद्याकारवृत्तिश्च मिथ्ये'ति भ्रमकाले

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

तस्याः परिणाम्युपादानविधया कारणतासत्त्वेऽपि सा नेह घटिका, किंतु दोषविधया; तस्य नेहानेत्यादिवाक्यजन्यज्ञान-
बाधितघटादिविषयकत्वेन भ्रमत्वात्, भ्रमे च ज्ञानसामान्योपादानकारणताद्यतिरिक्तदोषत्वव्याप्यरूपावच्छिन्नकारणतानि-
रूपकत्वस्यावश्यकत्वात्, शुक्तिरजतादिभ्रमेऽप्यविद्याया दोषविधया कारणत्वसंभवात् घटादिभ्रमेऽप्यविद्याया एव दोषवि-
धया कारणत्वं स्वीकार्यम्, नतु महावाक्यजज्ञाने; तस्याबाधितब्रह्मात्मविषयकत्वेन प्रमात्वात् । तत्र च दोषस्याकरणत्वा-
दिति भावः । तस्यापि भ्रमत्वं शङ्कते—**नन्विति । तस्य** तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यस्य । स्वं ज्ञानम् **उक्तब्रह्मणः** उक्तवृत्ति-
विषयत्वोपहितब्रह्मणः, कर्णशङ्कुल्याद्युपहिताकाशस्येव परिच्छिन्नत्वेन स्वबाधितवृत्त्युपाधिकत्वाच्च, **मिथ्यात्वात्** बाधित-
त्वात् **तस्य** बाधितविषयकोक्तज्ञानस्याबाधितविषयकत्वरूपं प्रमात्वं नेत्यर्थः । अबाधितविषयः स्वाश्रयतादात्म्यसंबन्धेन
विषयतावान् यस्य, तत्त्वं प्रमात्वम् । तच्च तत्त्वज्ञानस्येलाशयेन समाधातुमुपक्रमते—**उच्यत इति ।—अबाधितस्येति ।**
तादात्म्येन संबन्धित्वं पष्ठ्यर्थो वृत्त्युपहिते रूपेऽन्वेति; शुद्धेऽप्युपहितातादात्म्याङ्गीकारस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात् । अन्यथा
वृत्त्युपहितमध्यस्तं प्रति शुद्धसाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः, अन्यस्य तदसंभवात् । **वृत्तिविषयत्वोपहितं रूपं यस्य**
ज्ञानस्य विषय इति । अनवच्छिन्नाकाशात् कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशमिव, वृत्त्यविषयादनुपहितादबाधितात्
शुद्धात् ब्रह्मणो वृत्तिविषयत्वोपहितं ब्रह्माभिन्नमतस्तत्संबन्धिवेदान्तजवृत्तिविषयश्च भवति । **यद्वा**—तादात्म्यस्य स्वमेदा-
मेदोभयरूपत्वात् अनुपहितादुपहितमभिन्नं; तथापि वृत्तिविषयत्वावच्छेदेन वृत्तिविषयः, 'शुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्व'-
मित्यस्य निरवच्छिन्नं वृत्तिविषयत्वं नास्तीत्यर्थः । तद्वृत्तिविषयत्वं तद्वृत्तेरविषयोऽपि तत्तद्वृत्तिविषयतावच्छेदकं भवति;
तज्ज्ञानविषयत्वेऽपि एकनिष्ठतज्ज्ञानीयविशेष्यताप्रकारतयोरवच्छेद्यावच्छेदकभाववत् । नच—श्रोत्रत्वादेराश्रयस्यापि
कर्णशङ्कुल्यादेः श्रोत्रत्वाद्यवच्छेदकत्वे स्वाश्रयतावच्छेदकत्वे वात्माश्रय इति—वाच्यम्; अगत्या तस्यादोषत्वाङ्गीकारात् ।
यद्वा—विषयतासंबन्धेन तद्वृत्तिः तद्वृत्तिविषयतायामवच्छेदिका । अत एव 'बहौ घृतं जुहोति' इत्यत्र अग्निसंयोगानु-
कूलक्रियानुकूलव्यापारस्य जुहोत्यर्थत्वेऽपि आधेयतासंबन्धेन बह्विविशिष्टे संयोगे बह्विवृत्तित्वान्वयं स्वीकृत्योद्देश्यविधे-
यमेदो व्युत्पत्तिवादे दर्शितः । **अथ**—अज्ञानस्य शुद्धं स्वोपहितं वा ब्रह्म विषयो भवतु, उभयथापि तत्त्वज्ञानस्य स्वोपहि-
तविषयकस्य तत्समानविषयकत्वाभावेन तन्निवर्तकत्वानुपपत्तिः, तदज्ञानासमानविषयकस्य ज्ञानस्य तन्निवर्तकत्वे
घटादिज्ञानस्य घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयकस्य मूलज्ञाननिवर्तकतापत्तिः—**इतिचेन्न**; स्वान्यानुपहितविषयकत्वेन
स्वान्योपाध्यनवच्छिन्नविषयकत्वेन वा मूलज्ञानतत्त्वज्ञानयोरपि समानविषयत्वस्य सुवचत्वात् । **स्वम्** अज्ञानं ज्ञानं च,
यथायथं बोध्यम् । **यत्तु**—वृत्तिः स्वविषयविशेषितवृत्तिविषयतायामिव स्वविषयविषयतामप्यवच्छेदिका—**इति ।**
तन्न; वृत्तेः स्वविषयविशेषितायाः स्वविषयत्वेऽपि स्वविषयांशेऽविषयत्वेन स्वविषयनिष्ठस्वविषयतायामवच्छेदकत्वासंभ-
वात् । **ननु**—घटादावबाध्यत्वरूपसत्यत्वग्रहदशायां घटाद्याकारवृत्तावबाधितविषयकत्वरूपं यथाश्रुतं प्रमात्वं गृह्यते
व्यवहियते च, नच—घटादौ ब्रह्मवदबाधितत्वग्रहे वृत्तिविषयता न स्यादिति—वाच्यम्; चिद्रूपत्वेन ब्रह्मण एव
वृत्तिविषयतानुपगमात् । नच—घटादौ चिद्रूपत्वग्रहदशायामुक्ताशङ्का दुर्वारेति—वाच्यम्; वस्तुतः चिद्रूपत्वस्य
वृत्तिविषयत्वविरोधित्वेऽपि तद्ग्रहस्य तद्विरोधित्वानुपगमात् । तद्ग्रहविरहदशायां घटादौ वृत्तिविषयताग्रहसंभवाच्चोक्तवृत्तावुक्त-
प्रमात्वग्रहसंभवात् । एवंचाबाध्यत्वेन गृह्यमाणे घटादौ वृत्तिविषयत्वानुपहिते एव वृत्तिविषयत्वसंभवे वृत्तिविषयत्वोपहिते
वृत्तिविषयत्वस्वीकारे प्रयोजकाभावेनाबाधितवृत्तिविषयत्वोपहितरूपविषयकत्वरूपनिरुक्तप्रमात्वस्य घटादौ दुर्ग्रहत्वेन
तद्व्यवहारो न स्यात्—**इति शङ्कते—घटादिकमिति ।** यद्यपीत्यादिः । अनुपहितमपीत्यपिरेवार्थः । उपहितसमुच्चयार्थत्वे
शङ्कानुत्थितेः । स्वविषयकवृत्तिकालीने घटादौ वृत्तिविषयता स्वोपहिते एवाङ्गीकार्या, अयं घट इत्यादिवृत्तेः स्वोपहितं
विषय इत्युक्तौ विद्यमानघटस्य वृत्तिविषयत्वप्रतीतेः स्वसमानकालीनस्य समभिव्याहृतपदार्थान्वयोपाधितत्वात्, तदनुपहितेऽसंभ-
वत एव तदुपहितवृत्तित्वमिति नियमश्चाप्रयोजक इत्याशयेन समाधत्ते—**तथापीति । सर्वस्य ज्ञानस्येति ।** स्वविषयसमा-
नकालीनस्येति शेषः । अपिपदेन स्वविषयासमानकालीनज्ञानस्यानुपहितविषयकत्वं समुचीयते । **अबाधितस्य वृत्तिविष-**
यत्वोपहितं रूपमित्यादिप्रमात्वनिरुक्तौ वृत्तिपदेन तद्ग्रहिर्भूतार्थकेन तदुपादानासंभवः; एवंच घटाद्याकारवृत्तावपि घटा-
दिवत्सत्यत्वग्रहे प्रमात्वग्रहसंभव इत्याशङ्क्य आह—**घटाद्याकारवृत्तिश्चेति । मिथ्येति ।** बाधितेत्यर्थः । तथाचैत-

त्वम् । तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिद्ध्यति । प्रमाणसिद्धत्वं चावाध्यत्वव्याप्य-

सिद्धिव्याख्या ।

णत्वं कीदृशमित्याशङ्क्याह—प्रमाणत्वं चेति । ततश्च फलितमाह—तेनेति । दोषासहकृतज्ञानकरण-
सिद्धभिन्नत्वेनेत्यर्थः । प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेनेति । उक्तकरणसिद्धभिन्नत्वेनेत्यर्थः । ननु एतादृशप्रमा-
णसिद्धभिन्नत्वस्य भवन्मते घटादावभावादव्याप्तिः इत्याशङ्क्याह—प्रमाणसिद्धत्वं चेति । ततश्च
घटादेर्बाध्यत्वे तत्रावाध्यत्वाभावाद्यापकनिवृत्त्या तद्व्याप्यप्रमाणसिद्धत्वस्यापि निवृत्त्या प्रमाणसिद्धभि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

घटादेः सत्यत्वं जायतां क्वचित् घटाद्याकारवृत्तेः प्रमात्वव्यवहारो जायत एव । तथाचोक्ताविद्यादोषनिष्ठोक्तकारणतावि-
रूपकान्यधीविषयो यस्तदन्यत्वं मिथ्यात्वम् । ज्ञानकारणादिनिवेशे प्रयोजनाभावात् । इदं तु बोध्यम्—एतस्य लक्ष-
णत्वे वृत्त्युपहितब्रह्मभिन्नं ब्रह्मालीकभिन्नं लक्ष्यम् ; अन्यथा वृत्त्युपहितब्रह्मण्यव्याप्त्यपत्तेः । एवमनुमाने एतस्य साध्यत्वे
तादृशब्रह्मालीकाविषयकवृत्तिविषयत्वादिरूपमेव दृश्यत्वं हेतुः ; अन्यथा व्यभिचारपत्तेः । ननु घटाद्याकारवृत्ताव-
विद्याया दोषविधया निमित्तकारणत्वे मानाभावः, तत्राह—तेनेत्यादि । स्वप्नादिवदिति । घटादेरिति शेषः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रतिबन्धकवशात् न तत्र सत्यत्वग्रह इति भावः । भ्रमपदं परमतेन ; स्वमते ज्ञानमात्रार्थकम् । यदि घटादिवृत्तिश्च मिथ्येति
भ्रमशून्यकाले इति पाठः घटादिसत्यत्वज्ञानोपयोगितया कल्प्यते, मिथ्येत्यस्य भ्रम इत्यर्थ इत्युच्यते, तदापि भ्रमपदस्योक्तैव-
गतिः । क्वचित् प्रमात्वव्यवहारो जायत इति । एतेनाबाधितस्येत्यादिप्रमालनिरुक्तौ प्रयोजनान्तरमपि सूचितमिति
बोध्यम् । दोषपदेनाविद्यामात्रविवक्षणे दोषविधया कारणत्वालाभः, तन्मात्रविवक्षणे तदाश्रयालाभ इत्युभयं विवक्षित्वा निष्कृ-
ष्टार्थमाह—तथाचेति । अविद्यारूपदोषनिष्ठोक्तेति । अविद्यानिष्ठदोषत्वव्याप्यरूपावच्छिन्नेत्यर्थः । दोषत्वं च
भ्रमासाधारणकारणत्वम् । प्रयोजनाभावादिति । निरुक्तकारणताकान्यज्ञानकरणजन्यसिद्धौ उक्तज्ञानाभेदस्याविवक्षणे घटादि-
सिद्धेः प्रतियोगिकोटौ पातात्तद्विषयान्यत्वाप्रसिद्धिः, विवक्षणे तु गौरवं, शिरोवेष्टनेन नासास्पर्शतुल्यत्वाद्वैयर्थ्यं चेति भावः ।
नन्वेवं—तत्त्वज्ञानस्य खोपहितब्रह्मविषयकस्य निरुक्तप्रमात्वे तदुपहितब्रह्मणः घटाद्युपहितब्रह्मण इव मिथ्याभूतस्याविद्यानिष्ठ-
दोषत्वावच्छिन्नजनकताकान्यधीविषयस्य तदन्यत्वरूपमिथ्यात्वाभावात् वृत्त्युपहिते ब्रह्मणि प्रकृतमिथ्यात्वलक्षणस्याव्याप्तिः,
अनुमाने च व्यभिचार इति दोषद्वयं परिहर्तुमाह—इदं तु बोध्यमिति । वृत्त्युपहितब्रह्मभिन्नं लक्ष्यमिति ।
तथाच वृत्त्युपहितब्रह्मणोऽलक्ष्यत्वान्नव्याप्तिरिति भावः । वृत्त्युपहितब्रह्मभिन्नयोः शुद्धब्रह्मालीकयोर्लक्ष्यत्वे मूले तद्वारकवि-
शेषणोपादानविरोध इत्यतः उक्तं—ब्रह्मालीकभिन्नमिति । शुद्धब्रह्मभिन्नमलीकभिन्नं चेत्यर्थः । तल्लाभायैव तदुक्तिः ।
अन्यथाहि वृत्त्युपहितब्रह्म न लक्ष्यमित्येव वदेत् । अन्यथा वृत्त्युपहितब्रह्मभिन्नत्वं लक्ष्यतावच्छेदकेऽनिवेश्य तस्य लक्ष्य-
त्वोपगमे । अनुमाने व्यभिचारमुद्धर्तुं हेतुं परिष्करोति—तादृशेति । वृत्त्युपहितेत्यर्थः । एतन्मते दृश्यत्वं वृत्तिविषयत्व-
मात्रम् । तदभावादेव शुद्धब्रह्मणि व्यभिचारवारणे वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्विषयतापर्यन्तनिवेशे प्रयोजनाभावात् । एवं च
वृत्त्युपहितस्य वृत्तिविषयतामात्रेणाज्ञाननिवृत्त्या स्वप्रकाशब्रह्मासाक्षात्कारसंभवे जडघटादेरिव वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्विषयत्वे
प्रयोजनाभावाद्वृत्त्युपहिते व्यभिचारप्रसक्तिरतः तदविषयकत्वनिवेशसङ्गतिः । विकल्पाख्यवृत्तिसाधारणरूपेण वृत्तेर्निवेशे-
ऽलीकेऽपि व्यभिचारप्रसक्त्यालीकाविषयकत्वस्यापि निवेशसङ्गतिः । यदि विषयकान्तेन चित्प्रतिबिम्बवैशिष्ट्यमेव विवक्ष्यते;
तदापि व्यभिचारवारणं संभवतीति बोध्यम् । अन्यथा केवलवृत्तिविषयकत्वस्य दृश्यत्वस्य हेतुरूपत्वे । मूले—तेनेत्यस्या-
वाध्यविषयकत्वं प्रमालं विहाय दोषाजन्यत्वरूपप्रमाणं निवेश्य तद्वद्विप्रमाणकरणत्वनिवेशेनेत्यर्थः प्रतीयते, स च न
सङ्गच्छते; 'सन् घट' इत्यादिप्रत्यक्षादिज्ञानानां शुक्तिरजतज्ञानादीनामिवाविद्यान्यदोषजन्यत्वाभावात् । नचाविद्यैव दोषः; परि-
णाम्युपादानविधयान्तःकरणद्वारा तज्जन्यत्वस्य वेदान्तजन्यतत्त्वज्ञानेऽपि सत्त्वादित्यतः, तेनेत्यस्य दोषविधया अविद्यारूप-
दोषाजन्यत्वरूपप्रमालाश्रयकारणत्वनिवेशेनेत्यर्थो वाच्यः । स चाविद्याया दोषविधया तत्त्वज्ञानान्यघटादिज्ञानं प्रति निमि-
त्तकारणत्वे एव सङ्गच्छते इत्यतस्तत्र प्रमाणपरतया स्वप्नादित्यादिग्रन्थं व्याख्यातुं तत्र प्रमाणाभावशङ्कयैव तदवतारयति—
ननु घटाद्याकारवृत्ताविति । मूले स्वप्नादिवदिति । स्वप्नं स्वाप्तिप्रकम् । आदिना जागरिकम् । वल्यर्थस्य मिथ्यात्वेऽन्वये
मिथ्यात्वस्य प्रातिभासिकत्वं प्रतीयेत, मिथ्यात्वसिद्धिपक्षालाभश्चेत्यतो वल्यर्थान्वयिनं पूरयति—घटादेरिति शेष इति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रमाणसिद्धेति । दोषनिष्ठकारणतानिरूपकान्यधीविषयेत्यर्थः । तथाच स्वाप्रघटादेरिव व्यावहारिकप्रपञ्चस्य 'विद्वा-
न्नामरूपाद्विमुक्त' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वबोधनेन तदाकारवृत्तेर्भ्रमत्वात् तत्राविद्यायाः कामकर्मणोश्च दोष-
विधया निमित्तकारणत्वमावश्यकम्; विक्षेपशक्त्यंशेन विपरीतकार्यहेतुत्वेन आवरणशक्त्यंशेन वास्तवरूपे 'अस्ति-
भाती'ति धीप्रतिबन्धकत्वेन चाविद्यायाः पित्तादिदोषवन्निमित्तकारणत्वौचित्यात् । 'यद्विशेषयो'रिति न्यायेन
पित्तादिदोषरूपेण परिणताविद्यायाः पित्तत्वादिविशेषरूपेणैवाविद्यात्वरूपसामान्यरूपेण भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति हेतु-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

घटादेरविद्यान्यदोषाजन्तानुप्रमाविषयत्वात् कथं प्रमाणसिद्धिर्भज्यत इति व्याचष्टे—**प्रमाणसिद्धेति । दोषनिष्ठोक्तेति ।**
अविद्यानिष्ठदोषत्वव्याप्यरूपावच्छिन्नैत्यर्थः । **ननु**—स्वप्नजागरप्रातिभासिकस्य जागराधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण बाधातत्त-
द्विषयकज्ञानस्य भ्रमत्वात्तत्र दोषस्य निद्राचाकचक्यरूपस्य कारणत्वमस्ति, व्यावहारिकविषयादिप्रपञ्चस्य बाधाभावात्तद्ज्ञानस्य
भ्रमत्वे मानाभावात् तत्राविद्यायाः परिणाम्युपादानविधया कारणीभूताया अपि दोषविधया निमित्तकारणत्वे मानाभाव
इत्यत आह—**तथाचेति ।** स्वाप्रघटादेरित्यस्य यथाश्रुतस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वबोधने नान्वयः; ब्रह्मज्ञानात्पूर्वमेव तस्य
बाधात्, किंतु स्वप्नमात्रे प्रतीयमानस्य जागरे बाध्यत्वेनानुभूतस्य घटादेरित्यर्थः । आदिना स्वप्नपटादिः जागरिकप्रातिभा-
सिकशुक्तिरजतादिश्च ग्राह्यः । तथाच स्वाप्रघटादेर्यथा जागरिकाधिष्ठानसाक्षात्कारेण बाध्यत्वमनुभवसिद्धं, यथाच तदा-
कारवृत्तेर्भ्रमत्वं, तत्र दोषस्य निद्राचाकचक्यादेर्निमित्तकारणत्वं तथेत्यर्थः । अस्य बाध्यत्वबोधनादिषु यथायथमन्वयः ।
तदाकारवृत्तेरिति । बाधितविषयकत्वेनेति शेषः । **तत्र** व्यावहारिकप्रपञ्चभ्रमे । **अविद्यायाः कामकर्मणोश्चेति**
पाठः । कर्मणोर्वैल्यपाठः । "ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च । मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥ प्राणो-
ऽपानस्तथा व्यान उदानश्च समानकः ।.....पञ्चैता वायुवृत्तयः ॥ खवाय्वभ्य-
पक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पञ्च च । अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं तत्त्वाष्टकं विदुः ॥" इति वार्तिकं सप्तदशावयवकं लिङ्गशरीरमु-
क्त्वाल्लिङ्गांशघटकतयैव सप्तदशावयवलिङ्गकारणीभूतानि सूक्ष्मभूतान्युक्त्वा तत्कारणीभूतानामविद्याकामकर्माणीति तुल्य-
तया द्वन्द्वेनोपादानात् । अत्र हि अनादिजीवानां कामो रागः, कर्म अदृष्टम्, ईश्वरेच्छाप्रयत्नौ वा । तयोः सूक्ष्मभूतद्वारा व्याव-
हारिकप्रपञ्चं प्रति निमित्तकारणत्वात् तत्साहचर्यादविद्याया अपि निमित्तकारणत्वमपि, एवं सति रजतादिभ्रमेषु सादृश्यदूर-
त्वाद्विदोषाणां कारणत्वदर्शनात् व्यावहारिकप्रपञ्चभ्रमेऽपि दोषाणां कारणत्वमावश्यकमिति अविद्याकामकर्मणां क्लृप्तनिमित्त-
कारणताकानामेव दोषत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नकारणत्वमास्थेयं; तत्र तदन्यदोषाणामसंभवात् । रजतादिभ्रमेषु तु अविद्याया
दोषविधया कारणत्वसत्त्वेऽपि शुक्लविद्ययैव रजतस्यैव भ्रमो, न घटाद्यविद्यया नापि कनकस्येति नियमार्थं सादृश्यादि-
दोषाणामपि कारणत्वं स्वीकार्यम् । एवं व्यावहारिकघटादिभ्रमेष्वप्युक्तकामकर्मणां दण्डचक्रादीनि घटादिकारणानि च
वैचित्र्यप्रयोजकानीति भावः । **ननु**—व्यावहारिकप्रपञ्चे कामकर्मणां निमित्तकारणं, अविद्या तु परिणाम्युपादानविधयैव;
साहचर्यस्य सर्वत्रानियामकत्वात्, एवंच उक्तत्रयस्यापि दोषविधया न कारणत्वं, एतज्जातीयानां दोषत्वाददर्शनेनैतेषां दोष-
त्वानुपगमात् **इत्यतोऽनुमानेनाविद्याया** दोषत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वयोग्यनिमित्तकारणत्वं साधयति—**विक्षेपशक्त्यंशे**
इति । अविद्या व्यावहारिकान्तःकरणादिप्रपञ्चभ्रमे निमित्तकारणम्, अधिष्ठानांशे तदसाधारणधर्मविरुद्धधर्मधीरूपकार्यजनक-
तावच्छेदकावरणशक्तिमत्त्वे सति तदसाधारणधर्मधीप्रतिबन्धशक्तित्वात्, पित्तदोषो यथा मधुरत्वविरुद्धतिक्तरसधीप्रयोजको
मधुरत्वधीप्रतिबन्धप्रयोजकशक्तिमान् तिक्तत्वभ्रमे निमित्तकारणम् । नहि स पित्तदोषपरिणामः; निमित्तकारणत्वं न समवा-
य्यसमवायिकारणान्यकारणत्वम्, अविद्याया घटादिवृत्तौ अन्तःकरणद्वारोपादानत्वात्; किंतु समवाय्यसमवायिकारण-
साधारणं कारणत्वमात्रम् । एकदेशादिज्ञानप्रतिबन्धकदूरत्वदोषसहकृताविद्यायां व्यभिचारवारणाय सत्यन्तः वंश
'उरग' इति धीजनकमण्डकवसाञ्जनसहकृताविद्यायां तद्वारणाय विशेष्यं; तत्रोक्तदोषयोरेव उक्तकार्यप्रतिबन्धकत्वोक्तकार्य-
जनकत्वयोः स्वीकारे तु उक्तहेतुद्वयं बोध्यम् । 'अस्ति' 'भाति' इति प्रकृताभिप्रायं सत् चित् सुखमित्यर्थः । **विपरीतकार्यं**
तद्विलक्षणं मिथ्याजडस्वरूपाकाशादिप्रपञ्चतद्भ्रमरूपं कार्यम् । एतदनुमानसिद्धे निमित्तकारणत्वे दोषत्वव्याप्याविद्यात्वरूपधर्मा-
वच्छिन्नत्वसाधिकां व्याप्तिमाह—**यद्विशेषयोरिति ।** अनेन कारणत्वपर्यन्तसिद्धावपि उपादानविधया कारणत्ववैलक्ष-
ण्यसिद्धये पूर्वानुमानापेक्षा । यदि च पित्तत्वरूपविशेषधर्मावच्छिन्नकारणताया निमित्तकारणतारूपत्वादविद्यात्वरूपसा-
मान्यधर्मावच्छिन्नकारणतापि निमित्तकारणतैव सेत्स्यतीत्युच्यते, तदापि सोपानारोहणवत् क्रमेणार्थसिद्ध्यर्थं पूर्वानुमाना-
पेक्षा । प्रथममावश्यकमित्यन्तेन कारणत्वसिद्धिः । तत औचित्यादित्यन्तेन निमित्तकारणतासिद्धिः । ततो यद्विशेषयो-
रित्यनेन तत्र दोषत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वसिद्धिरिति भावः । **पित्तादिदोषरूपेणेति ।** शुद्धे तिक्तरसभ्रमं प्रति इत्यादिः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वसंभवादविद्यादोषरूपसामान्यकारणसत्त्वेऽपि प्रातिभासिकभ्रमेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां पित्तादिदोषविशेषाणां व्यावहारिकभ्रमेष्विन्द्रियसन्निकर्षादीनां दोषविधया हेतुत्वात् । किंच वाचस्पतिमते अविद्यायाः कार्यमात्रे नोपादानत्वं, किंतु प्रमातृनिष्ठदोषविधया निमित्तकारणत्वमित्यस्य कल्पतर्वादौ निर्णीतत्वात्तन्मते मिथ्यात्वमीदृशं संभवत्येव । तन्मत एवेदं लक्षणमिति ब्रह्मणि च नातिव्याप्तिरिति मूले स्पष्टम् । विवरणादिमते शुद्धब्रह्मण एव दोषाजन्यवृत्तिविषयत्वेन तत्रानतिव्याप्तेः । किंचाविद्याया उपादानत्वमेव, नतु दोषविधया निमित्तत्वमित्याग्रहेऽपि घटादिज्ञानेष्विन्द्रियसंनिकर्षादीनामेव दोषविधया कारणत्वात्तेषां दोषजन्यत्वात् प्रकृते नानुपपत्तिः । नच—भ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्नं प्रति निमित्तकारणत्वमेव दोषविधया कारणत्वम्, इन्द्रियसंनिकर्षादौ न तदिति—वाच्यम्; एकभ्रमे हि यस्य दोषस्य कारणता तस्य तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नं प्रत्येव सा, नतु तद्भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति गौरवात् । नचैवं—दोषजन्यत्वेन; भ्रमत्वस्यानुमानं न स्यादिति—वाच्यम्; भ्रमजनकत्वरूपदोषत्वेन यन्निश्चितं तज्जन्यत्वमेव हि भ्रम-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रतीति । भ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्ननिरूपितनिमित्तकारणत्वस्यैव दोषविधया कारणतारूपत्वस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात् । नन्वेवं भ्रमसामान्यस्याविद्यारूपदोषजन्यत्वोपपत्तौ गुडादित्तरसादिभ्रमेषु पित्तादिदोषविशेषाणां हेतुत्वासंभवात् इत्यत आह—अविद्येति । ननु—अविद्याया आकाशादाविव तद्भ्रमेऽपि जन्यत्वं जन्यतावच्छेदकीकृत्य परिणाम्युपादानविधया हेतुत्वेनैव यद्विशेषयोरिति व्याप्तेरप्युपपत्तौ भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति अविद्याया दोषविधया हेतुत्वे मानाभावः, पित्तादिदोषस्यापि त्तरसतद्भ्रमोभयसाधारणधर्मावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वसंभवेन भ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्नहेतुत्वरूपदोषविधया हेतुत्वानुपगमसंभवात् इत्यत आह—किंच वाचस्पतिमते इति । नोपादानत्वमिति । “मायां तु प्रकृतिं विद्यात्” इति श्रुतौ ब्रह्मनिष्ठविवर्तोपादानत्वनिर्वाहकपरतया प्रकृतिपदसङ्गतिसद्भावः । ईदृशम् अविद्यानिष्ठभ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्ननिरूपितकारणताकान्यज्ञानविषयान्यत्वरूपम् । मतान्तरे कथमत आह—तन्मते एवेति । मतान्तरे तन्मूलसङ्गतिमाह—विवरणादिमत इति । नन्वेवं—“मायां तु प्रकृतिं विद्या”दिति श्रुतौ प्रकृतिपदस्वारस्यभङ्ग इत्यत आह—किंचाविद्याया इति । ननु इति । तथाच घटादिज्ञानानामविद्यानिष्ठभ्रमत्वावच्छिन्नीयकारणताकान्यत्वात् तद्विषयान्यत्वरूपमिथ्यात्वस्य घटादावव्याप्तिर्बाधश्चेति भावः । घटादिज्ञानेष्विति । त्तरसादिभ्रमेषु पित्तादिदोषाणामिवान्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यादिः । दोषविधयेति । घटादिज्ञानानां “विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः” “नेह नानास्ति किंचन” इत्यादिश्रुतिबाधितघटादिविषयकत्वेन भ्रमत्वात् तत्र च दोषकारणताया आवश्यकत्वात् इन्द्रियसन्निकर्षादीनामेव घटादिभ्रमत्वावच्छिन्नजनकत्वं स्वीकार्यमिति भावः । तेषां घटादिज्ञानानाम् । दोषजन्यत्वात् इन्द्रियसन्निकर्षादिनिष्ठभ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्नीयकारणताकत्वात् । प्रकृते प्रकृतमिथ्यात्वनिर्वचने । नानुपपत्तिरिति । न घटादावव्याप्तिर्बाधश्चेत्यर्थः । न तदिति । प्रत्यक्षलक्षाधुषत्वानुमितिलादीनामेवेन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदकतया भ्रमत्वस्य तज्जन्यतानवच्छेदकत्वादिति भावः । एकजातीयपित्तादिदोषाणां कालपुरुषभेदेनानेकतित्तादिरसभ्रमजनकत्वात् तत्र तत्तद्व्यक्तित्वादीनां जन्यतावच्छेदकत्वे कारणताबाहुल्यापत्त्या गौरवात् तत्र तद्भ्रमत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वसंभवात्—एकभ्रमे इत्युक्तम् । एवभ्रमव्यक्तौ इत्यर्थः । यस्य यद्व्यक्तिविशेषरूपस्य । तस्य दोषस्य । सा कारणता । नन्विति । तथाच भ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्नीयकारणत्वस्य दोषविधया कारणत्वरूपत्वासंभवात् भ्रममात्रवृत्तिधर्मावच्छिन्नीयजनकत्वस्य दोषविधया जनकत्वरूपताया वक्तव्यत्वात् घटादिप्रत्यक्षत्वादीनां भ्रममात्रवृत्तितया तदवच्छिन्नीयजनकत्वरूपस्य दोषविधया जनकत्वस्येन्द्रियसन्निकर्षादौ संभव इति भावः । एवं भ्रमत्वस्य यत्किंचिदोषजन्यतानवच्छेदकत्वे । न स्यादिति । दोषजन्यत्वमस्तु, भ्रमत्वं मास्तु इत्यप्रयोजकत्वशङ्कासंभवात् । इयं हि भ्रमत्वे दोषजन्यत्वन्यूनवृत्तित्वशङ्का तदन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वनियततदवच्छेदकत्वाभावापत्तिरुपपत्तौ निवर्त्या,

१ यद्यपि वाचस्पतिमिश्रमतेऽज्ञानाश्रयविषयभेदाभ्युपगमादज्ञानाश्रयजीवस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तं; “पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः ततस्तु जातं सकलं विचित्रं” “मायां तु प्रकृतिं विद्यात्” “सृष्ट्वा तदनुप्रविश्य” “मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैवे”त्यादिश्रुतीनामप्येवं सत्येव स्वारस्यात्, “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इति श्रुतिस्तु जीवब्रह्माभेदाभिप्रायेणेत्यादिन्यायरत्नावलीवचनपर्यालोचनायां वाचस्पतिमतेऽपि मायाया उपादानत्वमेवेत्येव प्रतीयते; तथापि जीवनिष्ठाज्ञानविषयब्रह्मोपादानकं जगत् न जीवोपादानकं जगद्भ्रान्तिव्याधिकरणीयसिद्धान्तविरोधात् । एवमविद्यापि नोपादानं; ब्रह्मनिष्ठजगतो व्यधिकरणत्वात् । नहि शरावादिनिष्ठदुग्धादेर्घटादिनिष्ठध्यादिरूपः परिणामः संभवतीति कल्पतर्वादौ वाचस्पत्याशयस्य वर्णितत्वात् तदभिप्रायेणोक्तमिति मन्तव्यम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वस्यानुमापकम्, ननु वस्तुगत्या यो भ्रमजनकस्तज्जन्यत्वम् । नच—इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यत्वानामनन्तानां प्रातिस्विक-
रूपेण निवेशे दुर्ज्ञेयता स्यादिति—वाच्यम्; भ्रमाजनकजन्यधीविषयान्यत्वं मिथ्यात्वमिति सुज्ञेयताप्रकारस्य सत्त्वात् ।
भ्रमत्वस्यापि जातिविशेषरूपत्वेन भ्रमविषयघटितत्वनिबन्धनदुर्विज्ञेयत्वस्याभावाच्च । ननु दोषासहकृतेत्यादिरूपं
प्रमाणसिद्धत्वं कुतो निवेशितम्, अबाध्यविषयकधीविषयत्वरूपस्यापि तस्य संभवात्, तत्राह—प्रमाणसिद्ध-
त्वमिति । उक्तप्रमाणसिद्धत्वमित्यर्थः । अबाध्यत्वव्याप्यम् अबाध्यस्य शुद्धब्रह्मणो यद्व्युपहितरूपं तत्त्वस्य
व्याप्यम्, इति हेतोः, अन्यत् वाध्यत्वघटितादन्यत् । तथाच बाध्यत्वघटितस्य निवेशे बाध्यत्वेतरांशस्यानति-
प्रयोजनकतया बाध्यत्वाघटितस्यैव निवेशो युक्त इति भावः । असतीति । अलीकं न वृत्तेर्विषयः; वृत्तेः सत्त्वेन

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सा चापत्तिरिष्टापत्तिशङ्कया नोत्पाद्यत इति भावः । भ्रमजनकत्वरूपदोषत्वेनेति । इदमेवानुगतं दोषत्वमिति भावः ।
तज्जन्यत्वमेवेति । यत्र भ्रमजनकत्वनिश्चयस्तज्जन्यत्ववति भ्रमत्वानङ्गीकारे तत्र भ्रमजनकत्वभङ्गापत्तिरूपतर्केणाप्रयोजक-
त्वशङ्कोच्छेदसंभवात् इति भावः । नत्विति । उक्ताप्रयोजकत्वशङ्कानिवर्तकतर्काभावादिति भावः । प्राति-
स्विकरूपेणेति । भ्रमत्वघटितधर्मावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतात्वरूपस्यानुगमकरूपस्याभावादिति भावः । निवेशे
मिथ्यात्वे निवेशे । दुर्ज्ञेयता स्यादिति । नच—भ्रमजनकत्वरूपानुगतदोषत्वेन दोषान् अनुगमय्य भ्रमजनकजन्यतासामा-
न्याभावनिवेशेस्ति सुज्ञेयतेति—वाच्यम्; अन्तःकरणादेः भ्रमसाधारणकारणतया तज्जन्यतत्त्वज्ञानस्यापि संग्रहापातादिति
भावः । भ्रमाजनकजन्येति । भ्रमजनकजन्यजन्येत्यर्थः । ननु—भ्रमत्वं यदि बाधितविषयकत्वं, तर्हि तत्त्वज्ञानस्यापि
स्वोपहितब्रह्मरूपबाधितविषयकत्वेन भ्रमत्वात् तत्संग्रहानुपपत्तिरतस्तदभाववति तत्प्रकारकत्वमेव भ्रमत्वं वाच्यं; तच्च
निर्विकल्पकतत्त्वज्ञानव्यावृत्तं तदितरसकलज्ञानसाधारणं; तच्च घटादिरूपविषयघटितत्वादननुगतं; तत्संबन्धावच्छिन्नस्वाभाव-
वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वतत्संबन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठत्वोभयसंबन्धेन किञ्चिद्विशिष्टप्रकारताकत्वं संबन्धभेदेन स्वावच्छिन्नतन्नि-
ष्ठप्रतियोगिताकाभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वस्वावच्छिन्नत्वोभयसंबन्धेन संबन्धविशिष्टप्रकारताकत्वं च प्रकारभेदेनाननुग-
तमेव, तद्वटकपरंपराणां संबन्धत्वे मानाभावात् अप्रामाणिकं च इत्यत आह—भ्रमत्वस्येति । जाति-
विशेषरूपत्वेनेति । तत्त्वज्ञानान्यसकलज्ञानवृत्तिजातिरूपत्वेनेत्यर्थः । वृत्त्युपहितब्रह्मशुद्धब्रह्मालीकभेदरूपकारणनिरूपित-
विषयतासंबन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकतया तादृशजातिसिद्धिरिति भावः । ननु—मूले प्रमाणसिद्धत्वं चाबाध्यत्व-
व्याप्यमित्यन्यदिति ग्रन्थेनोक्तसिद्धत्वस्योक्तव्याप्यत्वकथनस्यान्यदित्यनेन तस्य प्रकृतानुपयुक्तत्वकथनस्य चानुपयोग
इत्याशङ्क्य तस्य प्रकृतोपयोगितां घटयितुं तद्वन्धमवतारयति—नन्विति । अबाध्यविषयकेति । अबाध्यस्य वृत्त्यु-
पहितं यद्रूपं तद्विषयकेत्यर्थः । तेन नाप्रसिद्धिः । नैयायिकादिमतसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वमबाध्यत्वशून्येऽपि घटादौ
विद्यमानं कथं तद्व्याप्यमतो व्याचष्टे—उक्तप्रमाणसिद्धत्वमिति । ननु—दोषाजन्यतत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यप्रमा-
रूपधीविषयत्वस्य वृत्त्युपहिते ब्रह्मणि सत्त्वात्, अबाध्यत्वस्य च तत्रासत्त्वात् कथं व्याप्यत्वं ? तत्राह—अबाध्यस्येति ।
अबाध्यविषयकत्वरूपप्रमात्वनिवेशाकारणबीजकथनायोक्तव्याप्यत्वकथनात्, इत्यन्यदित्यनेन तस्य प्रकृतानुपयोगित्वकथना-
सङ्गतिः, अत आह—हेतोरिति । तद्व्याप्यत्वं तद्वेदघटितमित्यभिप्रायेणेदम् । यद्वा—अबाध्यत्वं व्याप्यम् अबाध्यत्व-
व्याप्यं भिन्नमेव, नत्वभिन्नमिति हेतोरित्यर्थः । अन्यदित्यस्य प्रतियोग्याकाङ्क्षायामबाध्यत्वादिति वाच्यम् । तावता अबाध्य-
विषयकत्वरूपप्रमात्वनिवेशबीजस्यास्फुटत्वात् तत्स्फुटत्वायाह—बाध्यत्वेति । बाध्यत्वघटितादबाध्यत्वादन्यदित्यर्थः । तदेव
स्फुटयति—तथाचेति । बाध्यत्वघटितस्येति । अबाध्यविषयकत्वरूपप्रमात्वाश्रयधीविषयान्यत्वरूपमिथ्यात्वनिर्वचने
तद्वटकबाध्यत्वस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वसंभवादितरांशस्य यथानिवेशे वैयर्थ्यम्; वैयर्थ्येऽपि अव्याख्यादिवारणरूपप्रयोजनाभावा-
दित्यर्थः । बाध्यत्वाघटितस्येति । भ्रमजनकजन्यजन्यधीविषयान्यत्वरूपमिथ्यात्वनिर्वचनं युक्तमित्यर्थः । अत्र बाध्यत्व-
स्याघटकत्वात् न वैयर्थ्याशङ्का, भ्रमत्वस्य जातिविशेषरूपस्य वृत्त्युपहितरूपव्यावृत्तस्य निवेश्यतया बाध्यविषयकत्वरूपभ्रम-
त्वानिवेशात् इति बोध्यम् । ननु—अबाध्यस्य वृत्त्युपहितरूपविषयकधीविषयान्यत्वरूपमिथ्यात्वस्य वृत्त्युपहिते ब्रह्मणि
अभावात् एतल्लक्षणालक्ष्ये तत्र बाध्यत्वरूपघटकांशसत्त्वादितिव्याप्तिरतस्तच्छङ्कासार्थक्यम् इति—चेन्न; लक्षणान्तरलक्ष्य-
त्वेनालक्ष्यत्वस्योक्तलक्षणेऽगलोपगमेऽपि उक्तातिव्याप्तेः सिद्धान्तेऽसंभवादित्याहुः । विकल्पाख्यवृत्तेर्भ्रमानात्मकत्वे
दोषाजन्यतया तद्विषयेऽसति तदन्यधीविषयत्वरूपलक्षणातिव्याप्तिर्मूलोक्ता न सङ्गच्छते, अतस्तां सङ्गमयति—अलीकं न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सदसतोः संसर्गासंभवात् । अलीकाविषयकेणापि विकल्पेन शशविषाणादिपदोक्तिरूपव्यवहारोत्पत्तिसंभवात् । तस्य तद्विषयत्वेऽपि स न भ्रमः; प्रमाणवाध्यविषयकस्यैव भ्रमत्वात् । अतएव 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय' इति वृत्तिविभाजकं पातञ्जलसूत्रम् । तथाच तस्याः दोषाजन्यत्वेपि 'हीर्धोर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति श्रुत्या मनो-वृत्तेरेव धीत्वोक्त्या विपर्ययादिरूपाविद्यावृत्तीनां धीत्वाभावादोषाजन्यधीविषयान्यत्वमलीकेऽतिव्याप्तम्, ब्रह्म तु स्वप्रकाशत्वादुपहिततादात्म्यान्यभावरूपधर्मानाधारत्वाच्च न वृत्तिविषयः; अतस्तत्रापि तदतिव्याप्तमिति भावः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वृत्तेर्विषय इति । अलीकासंबद्धस्य विकल्पस्य कथं तद्व्यवहारनियामकत्वमत आह—अलीकाविषयकेणापीति । अतएव—“शब्दज्ञानानुपाती तु वस्तुशून्यो विकल्प” इत्युक्तम् । वस्तुशून्यो निर्विषयक इत्यर्थः । कालिकप्रत्यासत्त्या आत्म-निष्ठप्रत्यासत्त्या वा विकल्पासद्व्यवहारयोः कार्यकारणभाव इति भावः । ननु—शशविषाणखपुष्पादिविचित्रपदव्यवहारानुरोधेन तन्मूलवृत्तीनां विषयकृतमेव वैचित्र्यं वाच्यं; वृत्त्यन्तरेषु प्रायस्तत्कृतवैजात्यस्यैव दर्शनात्, 'वस्तुशून्य' इत्यस्य सदविषयक इत्यर्थसंभवात्, असमानकालीनयोरिव सदसतोरपि वृत्तितद्विषययोरवश्यं संबन्धाङ्गीकारात् इत्यत आह—तस्य तद्विषयत्वेऽपीति । स विकल्पाख्या वृत्तिः । न भ्रमइति । नच—तस्याः भ्रमत्वेऽपि दोषजन्यत्वात् तदजन्य-वृत्त्यन्तराविषयत्वात् असत्यतिव्याप्तिसङ्गमे भ्रमत्वाभावकथनं धीपदस्य विलक्षणवृत्तिपरत्वेन सत्सङ्गमनं च व्यर्थमिति—वाच्यम्, तस्य तद्विषयत्वे यद्यपि न भ्रम इत्यपेक्ष्यधीपत्यर्थकतया सिन्नक्रमेण व्याख्येयत्वात् । प्रमाणवाध्यविषय-कस्यैवेति । 'शशविषाणं नास्ती'ति बाधज्ञानस्य प्रमाणनिरपेक्षत्वादिति भावः । ननु वाध्यविषयकत्वमेव भ्रमत्वं, बाधे प्रमाणसापेक्षत्वं कुतो निवेश्यम्—तत्राह अतएवेति । प्रमाणं प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्या, विपर्ययो दोषजन्या, विकल्पो शशविषाणादिपदमूला, निद्रा स्वापः, स्मृतिः स्मरणं पञ्च वृत्तय इति सूत्रशेषः । अत्र विकल्पस्य विपर्ययात् पृथक्परिगणनादेवोक्तभ्रमत्वे प्रमाणाधीनत्वस्य बाधे निवेश इति भावः । तथाच विकल्पस्य भ्रमान्यत्वे च । तस्या दोषाजन्यत्वेऽपीति । असतो दोषाजन्यविकल्पाख्यवृत्तिविषयत्वेऽपीत्यर्थः । विपर्ययादीत्यादिपदेन विकल्पनिन्दे । दोषाजन्यधीविषयान्यत्वमिति । ननु—अत्र दोषाजन्यत्वं व्यर्थं, शुक्तिरजतादिप्रातिभासिकतदाकारविकल्पाख्य-वृत्त्योस्तूलाविद्यापरिणामत्वेन वियदादिव्यावहारिकतदाकारविपर्ययाख्यवृत्त्योरपि तन्मूलकतस्मृतिश्च मूलाविद्यापरिणामत्वेन धीत्वाभावादेव धीविषयवृत्त्युपहितब्रह्मभिन्नत्वेन प्रातिभासिकव्यावहारिकेषु लक्षणसङ्गतिसंभवात्—इति चेत्, अत्रेदं वक्तव्यम्—दोषाजन्यधीविषयान्यत्वं मिथ्यात्वमित्यत्र तत्त्वज्ञानस्य दोषाजन्यत्वं निर्विवादम्; तस्य प्रमात्वात्, इदं रजतमिति प्रातिभासिकज्ञानस्य दोषजन्यत्वं निर्विवादम्; तस्य भ्रमत्वात्, घटादिज्ञानस्य तु परमते प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्य-त्वात् अबाधितविषयकत्वाच्च प्रमात्वादोषजन्यता नास्ति, ज्ञानत्वं चास्ति, सिद्धान्तिना तु “विद्वानिति” “नेहे”त्यादिश्रुत्या घटादीनां बाध्यतां तज्ज्ञानानां च भ्रमत्वं प्रसाध्य तेन दोषजन्यत्वं प्रसाध्यते । तेन चाविद्यावृत्तिवत्सिद्ध्या मनोवृत्ति-विशेषरूपधीत्वाभावः सिध्यति । तदैव दोषाजन्यज्ञानपदेन घटादिवृत्तिं विहाय वेदान्तजन्यतत्त्वज्ञानमात्रस्योपादानाद्ध-टादौ साध्यज्ञाननिर्वाहः । दोषाजन्यत्वानिवेशे तु केवलज्ञानपदेन घटादिवृत्तेरप्युपादानसंभवाच्च तत्र साध्यज्ञाननिर्वाहो भवतीत्येवमर्थं दोषाजन्यत्वोपादानं कृतम् । अतएव धीविषयत्वरूपदृश्यत्वहेतोरेतत्साध्यस्य न विरोधः । अन्यथा हि धीविषयान्यत्वधीविषययोर्विरोधः स्पष्ट एव । शुद्धे ब्रह्मणि विवरणमते दोषाजन्यतत्त्वज्ञानविषयत्वात्तदन्यत्वरूपलक्षणाति-व्याप्त्यसङ्गतेस्तं वाचस्पतिमते सङ्गमयति—ब्रह्मत्विति । शुद्धं ब्रह्मेत्यर्थः । स्वप्रकाशत्वादिति । अज्ञानविषय-ताया अपि स्वोपहिते एवाङ्गीकारेण तन्निवृत्तये महावाक्यजन्यवृत्तिविषयताया अपि तत्रैवावश्यकत्वेन शुद्धे प्रयोजना-भावेन, वृत्त्यपेक्षप्रकाशत्वे स्वप्रकाशत्वभङ्गापत्त्या च वृत्तिविषयत्वानुपगमात् । ननु—वृत्तिरूपाधेरुपपत्तेरपि ब्रह्मणा संबन्धाभावे कथं ब्रह्म वृत्त्युपहितं स्यादिति तयोः संबन्ध आवश्यकः, स च विषयतारूप एवास्तु, एवमज्ञानस्यापीति तन्निवृत्तिरपि प्रयोजनम् । नचैवं स्वप्रकाशत्वभङ्गः; वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यानपेक्षणेन तदुपपत्तेः इत्यत आह—उपहिततादात्म्यायेति । उपहिततादात्म्यानङ्गीकारे उपहितरूपाध्यासाधिष्ठानत्वं शुद्धस्य न स्यात्, 'वृत्त्युपहितं ब्रह्म' वृत्तिविषय इति ब्रह्मणि उपहिततादात्म्यापक्षे न स्यात्, इति तदङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् तदन्येऽप्युक्तम् । भावरूपधर्मानाश्रयत्वादिति । “नेह नानास्ति किञ्चन” इति श्रुत्या ब्रह्मणि भावमात्रं निषिध्यते, अभावस्तु तथैव बोध्यते । स च ब्रह्मस्वरूप इति नाद्वैतहानिः । अतएव निरुक्तविषयान्यत्वरूपलक्षणातिव्याप्तिसङ्गतिरिति भावः । नच—उपहिते वृत्तिविषयत्वोपगमे उपहिततादात्म्यापक्षे शुद्धेऽपि वृत्तिविषयत्वं दुर्वारमिति—वाच्यम्, उपहितस्यैव तद्वर्मा-स्याप्यध्यस्तस्याङ्गीकारे बाधकाभावात्, पारमार्थिकत्वेनैव निषेधात् । अतएव सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वादयो धर्मास्तद-
अद्वै, सि, २६

मित्यन्यत् । अत्राप्यसति निर्धर्मके ब्रह्मणि चातिव्याप्तिवारणाय सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं विशेषणं देयम् ; तयोः सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावात् । अतएव—‘सद्विविक्तत्व’मित्यत्र सत्त्वं सत्ताजात्यधिकरणत्वं वा, अवाध्यत्वं वा, ब्रह्मरूपत्वं वा । आद्ये घटादावाविद्यकजातेस्त्वयाभ्युपगमेनासम्भवः ; द्वितीये बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसानम् ; तृतीये सिद्धसाधनमिति—निरस्तम् ; अनभ्युपगमादेव ।

सिद्धिव्याख्या ।

त्रत्वस्य संभवान्नात्याप्तिरित्यर्थः । ननु प्रमाणसिद्धत्वमवाध्यत्वव्याप्यमित्युक्तं ; प्रमाणासिद्धस्यापि ब्रह्मणोऽवाध्यत्वात्, प्रमाणसिद्धस्यापि घटादेर्वाध्यत्वाच्च, तत आह—अन्यदिति । अवाध्यत्वव्याप्यप्रमाणसिद्धत्वमव्यभिचरितमन्यदित्यर्थः । अतएवोक्तं—दोषासहकृतेत्यादिना । ननु तर्हि निर्धर्मके ब्रह्मण्यसति चातिव्याप्तिः ; तयोर्निर्धर्मकत्वेनावध्यत्वरूपधर्माभावे पूर्ववत्तद्व्याप्यप्रमाणसिद्धत्वस्यापि निवृत्तौ प्रमाणसिद्धभिन्नत्वस्य तयोरपि संभवात् इत्याशङ्क्याह—अत्रापीति । विशेषणदानेऽप्यतिव्याप्तिः कथं परिहृतेत्याशङ्क्याह—तयोरिति । असद्ब्रह्मणोरित्यर्थः । अभावादिति । ततश्च प्रमाणसिद्धभिन्नत्वस्य सत्त्वेऽप्युक्तविशेषणाभावे तद्विशिष्टलक्षणाभावान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः । अतएवेति । अस्य निरस्तमित्यनेन संबन्धः । असंभव इति । ब्रह्मण्यतिव्याप्तिश्चेति बोध्या । पर्यवसानमिति । तच्च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्त्वमुक्तधीविषयत्वमेव, ननु सत्ताजात्यादिमत्त्वमित्यत्र नियामकं दूषणान्तरमाह—अतएवेत्यादि । आविद्यकेति । अविद्यारूपेत्यर्थः । ‘षडस्माकमनादय’ इत्यादिसिद्धान्तादनादिजातेरविद्याजन्यत्वासंभवात्, चिद्रूपत्वपक्षस्येवाविद्यारूपत्वपक्षस्यापि सिद्धान्ते स्वीकारात् । उपपादयिष्यते चेदम् । उक्तेति । गुणादिकमित्यादिग्रन्थोक्तेत्यर्थः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भाववत्त्वं चेति द्वयं उपपद्यत इति विभावनीयम् । मूले—तयोः असतः शुद्धब्रह्मणश्चेत्यर्थः । नच—यद्यप्यसतः सत्त्वेन प्रतीतिर्नास्तीति पूर्वमुपपादितं, तथापि सतः ‘सदेव सोम्ये’ति वाक्येन सत्त्वप्रकारकप्रतीतिरुपगतैवेति—वाच्यम् ; तत्रेदंपदार्थसूक्ष्मावस्थाविद्यातादात्म्यापन्नसत एवाप्रसत्त्वेन बोधनेऽपि शुद्धस्य सतो ब्रह्मणः सत्त्वेन प्रतीतेरनङ्गीकारात् इति भावः । ननु—‘अतएवेति’ ग्रन्थस्य सद्विविक्तत्वे सत्त्वस्य प्रमाणसिद्धत्वरूपस्यैव निवेशाभ्युपगमात् सत्तादिजात्यादिरूपस्य निवेशानभ्युपगमात् तदभ्युपगमपक्षे परोक्तदोषाणां निरास इत्यर्थः प्रतीयते ; स चायुक्तः ; सत्त्वस्य प्रमाणसिद्धत्वरूपत्वपक्षे सत्ताजात्यादिरूपत्वपक्षोक्तदोषाणामप्रसक्तेः—इत्याशङ्क्याह तद्वन्धस्य सत्त्वस्य सत्ताजात्यादिरूपत्वपक्षदूषणपरत्वमाह—सत्त्वमुक्तधीविषयत्वमेवेति । अतएव अतएवेत्यस्यानभ्युपगमादेवेति व्याख्यानं कृतं मूले । जातेरविद्याजन्यत्वरूपमाविद्यकत्वं न संभवति, तस्या अविद्यावज्ज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि आकाशादिवदुत्पत्तेरश्रवणेनानादित्वादित्यतो व्याचष्टे—अविद्यारूपेत्यर्थ इति । ननु जीवादिवदविद्यान्यैव जातिरनादिरस्तु इत्यत आह—षडस्माकमिति । ननु—जातेर्नित्यत्वात् ब्रह्मचैतन्यस्वरूपत्वमेवाकरप्रसिद्धं तत्राह—चिद्रूपत्वपक्षस्येवेति । ननु एकाविद्या कथं घटत्वादिनानाजातिरूपा इत्यत आह—उपपादयिष्यते चेदमिति । अविद्याचिद्वा, घटाद्युपहिता घटत्वादिर्जातिः, द्रव्याद्युपहिता द्रव्यत्वादिः, द्रव्यादित्रयोपहिता सत्तेतिरीत्या एकस्या अपि उपाधिभेदाद्भेद इति भावः । मूले—बाध्यत्वरूपेति । तथाच तदितरांशवैयर्थ्यमिति भावः । ननु—सदसद्विलक्षणत्वपक्षे सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वेन व्याघातशङ्कातत्परिहारौ उक्तौ, अत्रापि यदि सत्त्वे सति सद्भेदो मिथ्यात्वमुच्येत, तदा भेदप्रतियोगितावच्छेदकयोर्घटत्वघटभेदयोरिव परस्परस्याभावरूपत्वादिविरोधाद्याघातशङ्का स्यात्, सा च विशेषणीभूतं सत्त्वं देशकालवृत्तित्वरूपं, प्रतियोगितावच्छेदकीभूतं च निरुक्तप्रमाणसिद्धत्वमितिरीत्या परिहार्यापि स्यात् ; तथा तु नोच्यते, किंतु ‘सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति, तद्विन्नत्वं मिथ्यात्वमुच्यते ; तत्र चोक्तविशेषणोक्तभेदयोः घटत्वेन प्रतीयमानत्वघटभेदयोरिव परस्परस्याभावरूपत्वविरोधयोरभावात् व्याघातशङ्कया एवाभावात् तच्छङ्कापरिहारानुसन्धानं नावश्यकमतो व्याचष्टे—गुणादिकमित्यादिग्रन्थोक्तेत्यर्थ इति । घटादिप्रपञ्चे

सदसद्विलक्षणत्वपक्षोक्तयुक्तयश्चात्रानुसन्धेयाः । अवशिष्टं च दृष्टान्तसिद्धौ वक्ष्यामः ॥

॥ इत्यद्वैतसिद्धौ पञ्चममिथ्यात्वनिरुक्तिः ॥

सिद्धिव्याख्या ।

पूर्वपक्षे दूषणमिति भावः । सिद्धसाधनमिति । प्रपञ्चे ब्रह्मभेदस्य मयाप्यङ्गीकृतत्वादित्यर्थः । अतश्शब्दार्थमाह—अनभ्युपगमादिति ।

इति अद्वैतसिद्धिव्याख्याने पञ्चममिथ्यात्वनिरुक्तिव्याख्यानं समाप्तम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अत्र भ्रमविषयत्वे अविनाश्यवृत्तिधर्मवत्त्वे वा तात्पर्यम्, लाघवात् । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन तस्य साध्यत्वान्न सिद्धसाधनमिति बोध्यम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य सिद्धत्वेऽपि सद्भेदस्यासिद्धत्वात् न सिद्धसाधनम्, सद्भिन्ने तुच्छे दृश्यत्वादर्शनेन सत्त्वेन प्रतीयमानत्वमिलितस्यैव सद्भेदस्य दृश्यत्वप्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्या, शुक्तिरजतादौ मिलितप्रसिद्धिरिति युक्तयोऽनुसन्धेया इत्यर्थः इति भावः । ननु—सत्ख्यातिमतेऽसत्ख्यातिमते वा इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु आपणस्थाना-मलीकानां वा रजतादीनामेव भानोपगमेन घटादावेतदनुमानात् पूर्वं नारोप्यरजतादौ निरुक्तमिलितप्रसिद्धिः संभवति इत्यत आह मूले—अवशिष्टं च दृष्टान्तसिद्धौ वक्ष्याम इति । अनिर्वचनीयख्यातिरेव 'रजतं पश्यामि' इत्यनुभवानुरोधादित्युक्त्वा व्यवस्थापयिष्यत इति भावः । ननु—एतल्लक्षणे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपविशेषणोपादाने सदसद्विलक्षणत्वरूपलक्षणादेतल्लक्षणस्य नात्यन्तं भेदः, कचिदभ्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य तत्रासद्विलक्षणत्वरूपत्वात्; यदि तत्रेदं विशेष्यम् अत्र च विशेषणम्, एवं तत्र सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वम् अत्र तु निरुक्तं प्रमाणसिद्धत्वमिति भेद इत्युच्यते, तदापि तल्लक्षणप्रपञ्चतैवास्य पर्यवस्यति, नैतावता लक्षणान्तरत्वेनोपन्यासाहता । एवमेतल्लक्षणस्य पूर्वलक्षणलक्ष्ये वृत्त्युपहितब्रह्मण्यसत्त्वादेव्याप्तेरलक्ष्यतया परिहारोऽनुमाने व्यभिचारवारणाय हेतुपरिष्कारश्चायुक्त इत्याशङ्क्य एतदुच्येयलक्षणान्तरे तात्पर्यमाह—अत्रेति । केवलस्य निरुक्तसद्विविक्तत्वस्य तुच्छे भ्रमविषयत्वादिरूपल-क्षणान्तरव्यभिचारित्वेऽयुक्तविशेषणसहितस्य तद्व्याप्यत्वात्तदुच्चायकता । भ्रमविषयत्वं च वृत्त्युपहितस्यापि बाधितत्वादिति न तत्राव्याप्तिः । नापि शुद्धब्रह्मणि तुच्छे चातिव्याप्तिः; तयोर्भ्रमविषयत्वाभावात् । भ्रमत्वं बाधितविषयकत्वं जाति-विशेषरूपं वेति भावः । नन्वेवं उक्तविशेषणविशिष्टसद्विविक्तत्वस्य रूपान्तरेणापि लक्षणत्वाभावात् तात्पर्यमयुक्तमत-स्तत्साधारणरूपावच्छिन्नेऽस्य तात्पर्यमाह—अविनाश्यवृत्तिधर्मवत्त्वे वेति । केवलस्य दोषाजन्यवीविषयान्यत्वस्या-भावरूपधर्मस्याविनाशिनि शुद्धे ब्रह्मण्यसति च वृत्तित्वेऽपि, सत्त्वेन प्रतीयमानत्वविशिष्टस्य तदधिकरणत्वस्य वा तदवृत्तित्वात् तद्वत्त्वमादाय घटादौ साध्यनिर्वाहः । ननु घटादीनां परमतेऽपि विनाशित्वात् तत्र घटत्वादिकमादाय सिद्धसाधनम् अत आह—पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनेति । तथाचाकाशपरमाण्वादीनां परमतेऽविनाशित्वात् तद-

(१) ब्रह्म क्षणिकमित्यादिज्ञाने शुद्धब्रह्मण एव विषयत्वाङ्गीकारेऽपि स्वविषयकज्ञानत्वव्यापकभ्रमत्वकत्वस्यैव भ्रमविषयत्वपदेन विवक्षितत्वान्न दोषः; प्रपञ्चो मिथ्येति जीवन्मुक्तीयज्ञानस्याप्यसन्मते भ्रमरूपत्वमेवाङ्गीकृतं, संस्कारात्मना जीवन्मुक्तेऽप्यज्ञानानुवृत्ते-रङ्गीकारात् । एतेन—उक्तपरिष्कारादरणेऽपि न निस्तारः । प्रपञ्चो मिथ्येति जीवन्मुक्तीयज्ञानस्य भवन्मते भ्रमत्वाभावादिति न्यायभास्करोक्तं—पराहतम् ॥ २ वाचस्पतिमते शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वाभावेन ब्रह्म क्षणिकमित्यादिज्ञानेऽपि तस्याविषयत्वात् भ्रमविषयत्वस्य न शुद्धब्रह्मसाधारण्यम् । विवरणमतेऽपि यदंशे भ्रमत्वं तदंशनिष्ठविषयत्वस्यैवात्र विवक्षणाज्जोक्तसाधारण्यमिति भ्रमविषयत्वस्य सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना भ्रमविषयत्वेनालक्षणत्वमित्यादिन्यायभास्करोक्तयः पराहताः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

केचित्तु—स्वाश्रयावृत्तिः सन् खानधिकरणवृत्तिर्यस्तदन्यो योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वं साध्यम्, संयोगादि-
दृष्टान्तः । अत्र साध्यप्रसिद्धिर्यमवृत्त्यन्तम् । व्याप्यवृत्तिघटत्वादिकं पक्षः । स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य
पक्षविशेषणत्वादव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमादाय न पक्षे साध्यपर्यवसानम् । अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रति-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वृत्तिधर्मवत्त्वमसिद्धमिति न सिद्धसाधनं, तद्विनाशित्वस्याप्यनेन कोडीकारात् । शुद्धब्रह्मावृत्तिवोक्तौ तदन्यत्वे पर्यवसानात्
सिद्धसाधनं तुच्छसाधारण्यं चेत्यविनाशयवृत्तित्वमुक्तम् । एवं भ्रमविषयत्वमादायापि साध्यनिर्वाहो बोध्यः । नच—
आकाशादौ विनाशित्वमात्रस्वीकारे आकाशत्वमादायाप्युक्तसाध्यनिर्वाहसंभवः; सामान्यरूपेणापि वोक्तमिथ्यात्वसिद्धिरित्य-
मिप्रायात्, अविनाशयवृत्तिस्ववृत्तिर्यवृत्तिधर्मवत्त्वं मिथ्यात्वमित्युक्तावुक्तमिथ्यात्वानामपि सिद्धिसंभवाच्च । अत्र यावत्त्वानुक्तौ
विशिष्टसद्विविक्तत्वभ्रमविषयत्वयोरसिद्धिः । स्ववृत्तित्वानुक्तौ घटपटयोः पटत्वघटत्वयोरस्वत्वादसंभवः । अविनाशय-
वृत्तित्वानुक्तावाकाशत्वादिकं सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं चादायाकाशादौ सिद्धसाधनं स्यादतस्तदुपादानम् । परन्तु वृत्त्युपहिते
ब्रह्मणि निरुक्तसद्विविक्तत्वस्यासत्त्वात्तदादाय साध्यपर्यवसानासंभवात् अत्र भ्रमविषयत्वे तात्पर्यकथनम् । पूर्वोक्तं
सदसद्विलक्षणत्वमादायापि तत्र साध्यपर्यवसानं संभवतीति बोध्यम् ।

श्रीः—प्रतिपन्नोपाधीत्यादेः स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमित्यर्थः । प्रतिपन्नत्वं यद्यपि स्वाश्रयत्वेन
प्रतीयमानत्वं; तथापि अनिर्वचनीयख्यातिपक्षे तत्प्रातिभासिकव्यावहारिकरूपस्वाश्रयत्वनियतमेव । किञ्च स्वाधिकरणत्वस्यैव
प्रवेशेऽपि धर्मिणि तद्वृत्तिस्वस्मिन् तद्वटितं मिथ्यात्वं ग्राह्यमिति स्वाधिकरणत्वस्यैव प्रतिपन्नपदार्थत्वेऽपि न विशेषः ।
तत्र च समानसत्ताकभावाभावयोर्विरोधात् व्यावहारिकप्रपञ्चाभावस्य प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनात् उक्तमिथ्यात्व-
घटकाभावः तात्त्विको वाच्यः; स चातिरिक्तत्वेऽद्वैतहानिप्रसङ्गात् स्वाधिकरणीभूतब्रह्मस्वरूप एवाभ्युपेयः । तथाच तस्य
प्रपञ्चवत् ब्रह्मावृत्तित्वाभावात् प्रपञ्चस्य तद्वटितं मिथ्यात्वं न संभवतीत्यतः केचित् प्रकारान्तरेण मिथ्यात्वं परिष्कुर्वन्ति ॥
तन्मतमुपन्यस्यति—केचित्चित्ति—यथाश्रुते यदि ब्रह्मस्वरूपस्यापि प्रपञ्चाभावस्य तत्त्वेन प्रपञ्चवत् ब्रह्मावृत्तिवमित्युच्यते,
तदा संयोगादेरिव्याप्यवृत्तिवोपगमेनार्थान्तरप्रसङ्गात् स्वसमानाधिकरणपदविवक्षितार्थमाह—स्वेत्यादिना । अन्यइत्य-
न्तेन—योऽभावः स्वसमानाधिकरण एव, न स्वासमानाधिकरण इत्येवकारार्थान्तर्भावेन स्वाश्रयावृत्तिस्वरूपस्य, यः
स्वाधिकरण एव वर्तते, न खानधिकरणे इत्येवकारार्थान्तर्भावेन खानधिकरणवृत्तिस्वरूपस्य च प्रतियोगिविशेषणस्य
लाभः । एतद्विशेषणद्वयवदन्यत्वं च स्वाश्रयवृत्त्यभावे संभवति अवृत्त्यभावे चेति । अत्र शुक्तिरूपं न दृष्टान्तः; शुक्तौ
रजततदभावयोः मतद्वयसिद्धत्वं विना रजताभावस्य रजताश्रयवृत्तित्वाभावात्, प्रसाध्याङ्गकत्वे प्रयासगौरवात्, शुक्ति-
तदवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठस्य तत्स्वरूपस्याप्यभावस्यावृत्तिशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वाभावाच्चेत्यत आह—संयोगादिः दृष्टान्त इति ।
संयोगाभावे संयोगाश्रयवृत्तिव्यस्य मतद्वयसिद्धत्वादिति भावः । अत्र संयोगे दृष्टान्ते । अवृत्त्यन्तमिति । संयोगा-
भावस्य संयोगानधिकरणगुणादिवृत्तितया तद्वदन्यत्वाभावात् संयोगाश्रयवृत्तितया तच्छून्यान्यत्वाच्चेति भावः । घटादेः
समवायादिनाऽव्याप्यवृत्तिव्येन संयोगतुल्यत्वात् वक्ष्यमाणपक्षविशेषणासंभवाच्च पक्षत्वासंभवादाह—व्याप्यवृत्तिघट-
त्वादिकं पक्ष इति । तत्र स्वाश्रयवृत्त्यभावप्रतियोगित्वमादाय निरुक्तसाध्यपर्यवसानेऽव्याप्यवृत्तिव्येनार्थान्तरादाह—
स्वसमानाधिकरणेति । पक्षविशेषणत्वादिति । स्वाश्रयवृत्त्यभावमादाय साध्यपर्यवसानसंभवादिति शेषः ।
अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावेति । स्वाधिकरणीभूतं घटत्वाधिकरणं घटस्तदवच्छिन्नं ब्रह्म वा, तद्रूपतया तदवृत्त्यभावो
घटत्वाभावः । अस्याभावस्य घटादिरूपस्वाश्रयावृत्तिव्येन तद्विज्ञत्वाभावात् खानधिकरणवृत्तिव्यस्य प्रतियोगिनि प्रवेशः । तथा
सति घटतदवच्छिन्नचैतन्यानिष्ठस्य तद्रूपस्य घटत्वाद्यभावस्यावृत्तिव्येन घटत्वानधिकरणपटादिवृत्तिव्यभावेऽपि पटादिनिष्ठ-
विषयत्वादीनां घटत्वादीनां वा पटत्वाश्रयावृत्तिव्ये सति घटत्वानधिकरणवृत्तिव्येन तद्विज्ञघटादिनिष्ठघटस्वरूपावृत्त्यभावप्रति-
योगित्वं घटत्वादौ सिध्यतीति भावः । नन्वेवमपि घटत्वाश्रयावृत्तिघटत्वानधिकरणपटादिनिष्ठतद्रूपावृत्त्यभावमादायैव
साध्यपर्यवसानसंभवात् घटादिनिष्ठतद्रूपतादृशाभावप्रतियोगित्वपर्यवसानासंभवेन मिथ्यात्वासिद्धिः । अथाधिष्ठानतत्त्व-
ज्ञानप्रयोज्याभाव एवाधिष्ठानस्वरूपः नत्वभावमात्रमधिकरणस्वरूपमिति पटादिनिष्ठो घटत्वाद्यभावो घटत्वाद्याश्रयावृत्ति-
घटत्वानधिकरणवृत्तिव्येति तद्विज्ञत्वं घटघटाद्यवच्छिन्नचैतन्यरूपाधिष्ठानस्वरूपस्यावृत्तेर्घटत्वाद्यभावस्येति घटत्वस्य तत्प्रति-

१ एतेन—विनाशित्वमात्रसाधनसंभवेन शिरोवेष्टनेन नासिकारुपर्शः, घटादीनामिव विनाशित्वेऽप्यमिथ्यात्वोपपत्त्यर्थान्तरं चेत्यादि-
न्यायभास्करोक्तदोषानवकाश इति—सूचितम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

योगित्वेन विशेषिते पक्षे स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा साध्यम् व्याप्यवृत्तिस्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वमादाय पर्यवस्यति—इत्याहुः; तत् प्रकारान्तरमात्रम्, नतु प्रतिपक्षेत्यादिमूलोक्तरीत्यसंभवप्रयुक्तम्; स्वरूपेणावृत्तेरप्यधिष्ठानस्वरूपस्य घटाद्यभावत्वविशिष्टरूपेण घटाद्यधिकरणब्रह्मवृत्तित्वसंभवेन मूलोक्तरीतावदोषात्, नच—शुक्तिरूप्यादेर्माध्वमतेऽलीकत्वस्वीकारेण स्वसमानाधिकरणेत्यादिमूलोक्तसाध्ये माध्वं प्रति शुक्तिरूप्यादेर्दृष्टान्तत्वासंभव इति—वाच्यम्; माध्वं प्रति शुक्तिरूप्यादेरपरोक्षत्वादिना अलीकान्यत्वं प्रसाध्योक्तानुमानसंभवात्,

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

योगित्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिः, अतएव संयोगाभावस्य संयोगाश्रयवृत्तितया संयोगे साध्यप्रसिद्धिरित्युच्यते, तदा ज्ञानप्रयोज्याधिष्ठानरूपाभावस्यापि तत्तदभावत्वेन घटत्वाश्रयवृत्तितया तमादाय साध्यपर्यवसानासंभवे कथमवृत्त्यभावमादाय साध्यपर्यवसानम् । यदि तादृशाभावसिद्धौव मिथ्यात्वसिद्धिः, तदा पक्षविशेषणसाध्ययोर्विरोधोऽव्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरं वा । यदि ज्ञानप्रयोज्याधिष्ठानरूपाभावस्य केनापि रूपेण नाधिष्ठानवृत्तित्वमित्युच्यते, तदाप्येतस्य स्वसमानाधिकरणपदार्थत्वे उदक्षरत्वं गौरवं च इत्यत आह—**अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वेनेति ।** देशकालावच्छिन्नवृत्तिकतत्संबन्धावच्छिन्नाभावाप्रतियोगित्वेनेत्यर्थः । एकविशेषाभावनिश्चयसहितसामान्यधर्मसिद्धिसामग्र्या अपरविशेषसिद्धिजनकत्वात् व्याप्याव्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपद्विविधस्वसमानाधिकरणभावप्रतियोगित्वयोर्मध्ये व्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपापरविशेषसिद्धयेऽव्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपैकविशेषाभाववत्त्वं पक्षविशेषणं कर्तव्यमिति भावः । पक्षे घटत्वादौ । **स्वेति ।** तत्संबन्धेन स्वाधिकरणनिरूपितविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नाधेयताश्रयीभूताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । **साध्यमिति ।** संयोगादिदृष्टान्तेनेत्यादिः । **व्याप्यवृत्तीति ।** देशकालावच्छिन्नवृत्तिकान्येत्यर्थः । स्वाधिकरणनिरवच्छिन्नाधिकरणताकेति वा समानाधिकरणान्तार्थः । **पर्यवस्यतीति ।** देशकालावच्छिन्नवृत्तिकाभावप्रतियोगित्वमादाय तदभावविशिष्टे पर्यवसानासंभवादिति भावः ।

प्रकारान्तरमात्रं प्रकारान्तरमेव । एवकारव्यवच्छेद्यमाह—**नत्विति ।** मूलोक्तरीतौ मूलोक्ते स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वलक्षणे ब्रह्मरूपस्य प्रपञ्चाभावस्य केनापि रूपेण प्रपञ्चब्रह्मवृत्तित्वाभावेनासंभवरूपदोषप्रयुक्तं प्रकारान्तरं नेत्यर्थः । असंभवं परिहरति—**स्वरूपेणेति ।** अधिष्ठानब्रह्मस्वरूपस्य घटाद्यभावस्य स्वरूपेण अधिष्ठानब्रह्माभेदेन भेदनियताधाराधेयभावस्यासंभवादित्यर्थः । **घटाद्यभावत्वविशिष्टरूपेण** घटाद्यभावत्वविशिष्टस्य रूपं घटाद्यभाववत्त्वं, तेनेत्यर्थः । धर्मिणो ब्रह्मणः सकाशात् आधाराधेयभावनियामकस्य भेदस्य लाभाय धर्मस्य विशिष्टत्वोक्तिः । एकविशेषणविशिष्टस्य शुद्धात् विशेषणान्तरविशिष्टाच्च भेदादाधारावच्छेदकरूपमाह—**घटाद्यधिकरणब्रह्मेति ।** घटत्वेन प्रतीयमानत्वं त्वाधारावच्छेदकं; अधिकरणत्वाप्रवेशात्, आधाराधेयभावेन तदुभयभेदस्य तदुभयत्वावच्छेदकस्य वा भेदो नियामक इति हृदयम् । **अदोषात्** लक्षणे असंभवरूपदोषविरहात् । अतएव भवदुक्तद्वितीयप्रकारे नासंभवः । नच—अव्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरवारणायोक्तपक्षविशेषणोपादानावश्यकत्वात् द्वितीयप्रकार आवश्यकः स्यादिति—वाच्यम्; मूलोक्तमिथ्यात्वे स्वाधिकरणवृत्त्यभावेत्यत्राधिकरणतात्वेनैवाभावाधिकरणतानिवेशात् । स्वत्वस्य प्राचां मतेऽनुगतत्वात् संयोगादिदृष्टान्तेऽव्याप्यवृत्त्यधिकरणताघटितसाध्यस्य प्रसिद्धिः । घटत्वादपक्षे घटसंबद्धानां देशकालानां घटत्वावच्छेदकतया तदवच्छेदकदेशकालावच्छिन्नत्वबाधग्रहवशात् घटनिष्ठघटत्वाभावीव्याप्यवृत्त्यधिकरणताघटितसाध्यसिद्धिरित्युक्तपक्षविशेषणोपादाने प्रयोजनविरहात् । नच—उक्तबाधग्रह एवोक्तपक्षविशेषणेन बोध्यत इति—वाच्यम्; कादाचित्कोक्तबाधग्रहकालीनानुमित्यैवोक्तरीत्या मिथ्यात्वसिद्धिसंभवे बाध्यत्वग्रहनैयत्यलाभकोक्तविशेषणवैयर्थ्यात्, मूलोक्तमिथ्यात्वे स्वाधिकरणनिरवच्छिन्नाधिकरणतात्वेनाधिकरणतायाः प्रवेशे उक्तबाधग्रहस्याप्यनावश्यकत्वाच्च । **ननु—**संयोगस्य दृष्टान्तत्वासंभव इति—**चेन्न;** शुक्तिरूप्यस्यैव मूले दृष्टान्तत्वेनोपन्यासात् । **केचित्तु—**‘तत्प्रकारान्तरमात्र’मित्यनेन प्रथमप्रकार एव विवक्षितः । द्वितीयप्रकारस्तु मूलोक्तः । **मूले—**प्रतिपक्षेत्यादिप्रघटके स्वाश्रयेत्याद्यानुपूर्वीकवाक्यान्तराभावात्, उत्तरपक्षौ स्वसमानाधिकरणेत्यादिमूलोक्तस्यैव प्रतिपक्षेत्यादिवाक्यार्थभूतस्य इदानीमुपन्यस्तद्वितीयप्रकारेऽनुवादात्—**इति व्याचक्षते ।** मूलोक्तलक्षणे असंभवदोषाभावेऽपि अनुमाने मूलोक्तदृष्टान्तसिद्धिं शङ्कते—**नचेति ।** अलीकत्वस्वीकारेणेति । स्वपदार्थत्वाभावादिति शेषः । **इत्यादीति ।** स्वनिष्ठनिरवच्छिन्नाधिकरणताकाभावप्रतियोगित्वं, स्वनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्याभावप्रतियोगित्वं वार्थः । **दृष्टान्तत्वासंभव इति ।** अतएव संयोगदृष्टान्तकोक्तप्रकारान्तरसाध्यकानुमानमस्माभिरनुसृतमिति भावः । **अपरोक्षत्वादित्यादिना** सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं ग्राह्यम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अन्यथा संयोगादेर्मिथ्यात्वसाधने शुक्तिरूप्यादेर्दृष्टान्तवासंभवात् । नच—घटत्वादिकमेव तत्र दृष्टान्त इति—। वाच्यम् ; संयोगादिदृष्टान्तेन यत् घटत्वादौ साधितं तस्यैव संयोगादौ साधने सिद्धसाधनात्, संयोगादावव्याप्य-वृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वविशिष्टे तस्य साधने तु पक्षविशेषणासिद्धिः । किंच संयोगादौ मिथ्यात्वानुमितेः पूर्वं शुक्तिरूप्यस्येव घटत्वादेरपि मिथ्यात्वस्य प्रसाध्यत्वेन तयोर्दृष्टान्तत्वे न विशेषः, अवश्यं चास्माभिः सर्वदृश्यमिथ्यात्व-वादिभिः शुक्तिरूप्यादेर्मिथ्यात्वं साधनीयमेवेत्याशयेनाह—अधिकं चेत्यादि । ‘आद्यं स्यात् पञ्चपाद्युक्तं ततो विवरणोदिते । चित्सुखीयं चतुर्थं स्यादन्यमानन्दबोधजम् । इति पञ्चविधं प्रोक्तं मिथ्यात्वं ध्वान्तनाशकम् ॥’

॥ इति लघुचन्द्रिकायां पञ्चममिथ्यात्वनिरुक्तिः ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्यतिरेकेऽलीकं अन्वये ब्रह्म दृष्टान्तः । उक्तेति । मूलोक्तैत्यर्थः । अन्यथा प्रसाध्यदृष्टान्तकानुमानानङ्गीकारे । मिथ्यात्वसाधने । नच—संयोगादिपक्षे उक्तप्रकारद्वयसाध्यकानुमाने उक्तपक्षविशेषणोपादाने संयोगादिपक्षे तद्वैशिष्ट्य-वाधात् पक्षाप्रसिद्धिः, तदनुपादाने अव्याप्यवृत्तित्वेन सिद्धसाधनमिति—वाच्यम् ; उक्तघटकाभावाधिकरणताया अन-वच्छिन्नत्वेऽभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वे वा लाघवमिति लाघवज्ञानसहकारेणोद्देश्यसिद्धेः पक्षविशेषणोपादाने प्रयोजना-भावात् । नच—घटत्वादिपक्षकानुमानेऽप्येवमेवास्त्विति—वाच्यम् ; उपायस्योपायान्तरादूषकत्वात् । शुक्तिरूप्यादे-रिति । अलीकत्ववादिनं प्रति इति शेषः । घटत्वादिकमिति । अनलीकत्वात् स्वपदेनोपादानार्हत्वादिति भावः । तत्र संयोगपक्षकानुमाने । यत् यद्धर्मावच्छिन्नम् । तस्य तद्धर्मावच्छिन्नस्य । संयोगघटत्वयोरेकसाध्यव्यक्तेरभावात् । संयोगे हि स्वाश्रयवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं, घटत्वे तूक्तविशेषणबलादव्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वमिति साध्यव्यक्तिमेदात् । सिद्धसाधनादिति । घटत्वपक्षकानुमानात्पूर्वमेव संयोगादौ स्वाश्रयवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपसाध्यस्य सिद्धत्वात् । ननु—पक्षविशेषणोपादानेनात्रापि व्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वमसिद्धमेव सेत्स्यति इत्यत आह—संयोगादाविति । तस्य व्याप्यवृत्त्यभावप्रतियोगित्वरूपस्य तद्धर्मावच्छिन्नस्य । ननु—विनैव पक्षविशेषणमभावस्यानवच्छिन्नवृत्तित्वे लाघवज्ञाना-देवोक्तसाध्यव्यक्तिसिद्धिसंभवान्न सिद्धसाधनम्, न वा पक्षविशेषणासिद्धिः इत्यत आह—किंचेति । न विशेष इति । तस्मात् प्रसाध्यदृष्टान्तकानुमानस्य प्रकारान्तरसाध्यानुसरणेऽप्यावश्यकतया मूलोक्तसाध्येऽपि शुक्तिरूप्यादेर्दृष्टान्तत्वसंभवात् प्रकारान्तरानुसरणं न मूलोक्तारितिदोषप्रयोज्यमिति भावः । इदं च मूलकारेणापि ध्वनितमित्याह—अवश्यंचेति । एकविधमिथ्यात्वनिर्वचनेनैव प्रकृतनिर्वाहे बहुविधमिथ्यात्वनिर्वचनं विश्वमिथ्यात्वे स्वमतस्य सर्वाचार्यसंमतिप्रदर्शनायेत्याह—आद्यं स्यादिति । आद्यं सदसत्त्वानधिकरणत्वम् । द्वितीयं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं, तृतीयं ज्ञाननिवर्त्यत्वं इमे विवरणोक्ते । चतुर्थं स्वाश्रयनिष्ठान्ताभावप्रतियोगित्वम् । पञ्चमं सद्विविक्तत्वम् । ध्वान्तः विप्रतिपन्नविश्वमिथ्यात्वाज्ञानतदधीनविश्वसत्यत्वज्ञानम् । तन्नाशनं तन्निवर्तकमित्यर्थः । तथाचोक्तरीत्या द्वैतप्रपञ्चमिथ्या-त्वसिद्धौ अद्वैतसिद्धिः ॥

इति पञ्चममिथ्यात्वनिरुक्तिटीका ।

संपूर्णं मिथ्यात्वनिरुक्तिटीका विट्टलोपाध्यायकृता ।

अथ पञ्चममिथ्यात्वविचारः ।

(१) न्यायामृतकाराः—

सद्विविक्तत्वमित्यत्र किं सत्पदेन सत्ताजातिमद्विवक्षितम्, उत अवाध्यम्, उताहो ब्रह्म । आद्ये घटादौ सत्ताजातिमति तद्भेदवाधादसंभवः ब्रह्मण्यतिव्याप्तिश्च । द्वितीये बाध्यत्वाभावस्याबाध्यत्वरूपतया बाध्यत्वेतरांशवैयर्थ्यम् । तृतीये तु ब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रपञ्च उभयमतसिद्धत्वात्सिद्धसाधनम्, सद्रूपत्वाभावविवक्षणे च निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्त्वरूपधर्मरहिते सद्रूप-त्वस्याभावादतिव्याप्तिः, सत्त्वस्यापि सत्सदिति प्रतीत्या सत्त्वाश्रितत्वस्याभिधेयत्वेऽभिधेयत्वस्येवाङ्गीकारान्न व्यभिचारः, एवं सद्रूपत्वाभावस्य शशशृङ्गसाधारण्यात्तत्राव्याप्तिः, तस्येवासत्त्वापत्तेश्चेति नोक्तरूपमपि मिथ्यात्वम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

सद्विविक्तत्वमित्यत्र सत्पदेन प्रमाणसिद्धत्वं विवक्षितम् । प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरणत्वम् । तेन स्वप्नादिवत्प्रमाण-
सिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिध्यति । प्रमाणसिद्धत्वं चावाध्यत्वव्याप्यमित्यन्यदेतत् । ब्रह्मणि शशशृङ्गादौ चातिव्याप्तिवार-
णार्थं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं विशेष्यते । यथाच सत्त्वरूपधर्माभावेऽपि ब्रह्मणः सद्रूपत्वसिद्धिस्तथा प्रथममिथ्यात्वनिरूपणावसरे
स्पष्टमेव प्रतिपादितम् । विकल्पत्रयमपि नास्माभिरङ्गीकृतमिति नोक्तदूषणानामत्रावकाशः । अत्यन्तासत्त्वापत्तिरपि
परिहृतप्रायैवेति—वर्णयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकाराः पुनः—

प्रमाणसिद्धत्वस्यावाध्यत्वव्याप्यत्वमिति यदुक्तं तत्र संगतम् ; प्रमाणासिद्धस्यापि ब्रह्मणोऽवाध्यत्वात्, प्रमाणसिद्धस्यापि
प्रपञ्चस्य वाध्यत्वात् । एवंच प्रमाणसिद्धत्वे अवाध्यत्वव्याप्यत्वाभावात् अवाध्यत्वव्याप्यत्वविशिष्टत्वस्य निरूपयितुम-
शक्यत्वात्, केवलप्रमाणसिद्धभिन्नत्वस्य विलक्षणे ब्रह्मणि व्यभिचारात्, प्रमाणसिद्धे उपहितब्रह्मणि तद्विन्नत्वाभावाद-
व्याप्तेर्भागासिद्ध्यापत्तेः, अविद्यारूपदोषकरणतानिरूपकान्यधीविषयान्यत्वस्य शशशृङ्गेऽभावेनैव तत्रातिव्याप्तिवारणसंभवे-
असति दोषवारणार्थं सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वनिवेश इति ग्रन्थस्याप्युक्तत्वाच्चोक्तहूपमपि मिथ्यात्वमिति—निरूपयन्ति ॥

(४) ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—

प्रमाणसिद्धत्वं चावाध्यत्वव्याप्यमित्यन्यदेतदित्यस्य वाक्यस्य अवाध्यशुद्धब्रह्मीयोपहितरूपव्याप्यमिति हेतुना अवाध्य-
त्वरूपस्य सत्त्वस्य नात्र विवक्षेत्येतत्परतयैव व्याख्यानं युक्तमिति भवदुक्तदोषाणामप्रसरात्, उपहितस्य प्रमाणसिद्धत्वेऽपि
तस्यालक्ष्यत्वेनाव्याप्त्यनवकाशादलक्ष्यस्यालीकस्य विकल्पाख्यवृत्तिविषयत्वेऽपि विकल्पव्यावृत्तेरेवात्र श्रीशब्देन ग्रहणेन
तादृशधीविषयान्यत्वस्य तत्र विद्यमानत्वेन प्रसक्तातिव्याप्तिवारणार्थत्वेनैव सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वमितिग्रन्थस्य प्रवृत्तत्वाच्चोक्तहूपमपि
मिथ्यात्वं निर्दुष्टमेवेति—विवेचयन्ति ॥

इति पञ्चममिथ्यात्वनिरूपणम् ॥

अथ मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः ।

ननु—उक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापातः, एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः विरुद्धधर्मयोः
एकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वनियमात्, मिथ्यात्वसत्यत्वे च तद्वदेव प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेः, उभयथाप्यद्वैत-

सिद्धिव्याख्या ।

अथ मिथ्यात्वमिथ्यात्वविचारः ॥

ननूक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमात्रेण न प्रपञ्चस्य सत्यत्वं स्यात्, तत्र मानाभावादित्याशङ्क्य, तत्रानु-
मानमभिप्रेत्य तन्मूलभूतां व्याप्तिं दर्शयति—एकस्मिन्निति । एकस्मिन्नात्मनि प्रसक्तयोर्मिथ्यात्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरुक्तिः ।

प्रसक्तयोः ज्ञातयोः । एकमिथ्यात्वे एकतरमिथ्यात्वे । अपरसत्यत्वनियमात् अन्यतरस्याधिकसत्तानिय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

श्रीगुरुभ्यो नमः

मिथ्यात्वमिथ्यात्वम् ।

मूलोक्तमिथ्यात्वस्य । ननु—प्रपञ्चमिथ्यात्वं यदि मिथ्या स्यात् तर्हि प्रपञ्चः सत्यः स्यात् इत्यापत्तिपरत्वमेतत्प-
क्षेर्वाच्यम् ; तच्च न संभवति, मिथ्यात्वस्य सत्यत्वाव्याप्यत्वात्, आपाद्यापादकयोः पक्षमेवात्र इत्यत आह—एकस्मि-
न्निति । प्रसक्तिर्नापत्तिरनुमितिर्वा ; विरुद्धयोरेकस्मिन् धर्मिणि एकदा तयोरसंभवात्, अतो व्याचष्टे—प्रसक्तयोरिति ।

सिद्धिव्याख्या ।

सत्यत्वयोर्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे सत्यत्वसत्यत्वस्य नियमेन दृष्टत्वादित्यर्थः । तथाच जगत्सत्यं मिथ्याभूत-
मिथ्यात्वकत्वादात्मवदित्यनुमानात्सत्यत्वसिद्धिः । नच—आत्मनि सत्येव साध्यव्यापकत्वात्पक्ष एव
साधनाव्यापकत्वाच्चात्मत्वमुपाधिरिति—वाच्यम् ; अत्रात्मत्वस्योपाधित्वं न साधने साध्यव्यभिचारो-
न्नायकतया, मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वस्य सत्यत्वाव्यभिचारित्वात्, सत्यत्वव्यापकात्मत्वाव्यभिचारित्वेन
साध्यव्यभिचारानुमापकस्य हेतावुपाधित्वव्यभिचारित्वरूपहेतोरसिद्धत्वाच्च, किंतु सत्प्रतिपक्षोन्नायकतयेति
वक्तव्यं, तदपि नोपपद्यते; प्रपञ्चसत्यत्वविषयकस्थापकानुमाने मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वस्य हेतोः सत्यत्व-
रूपसाध्येन व्याप्तिग्राहकस्य व्याघातरूपतर्कस्य सद्भाववदात्मत्वस्योपाधेर्यतिरेकेणानात्मत्वेन क्रियमाणे
स्थापनानुमानीयसाध्यस्य सत्यत्वस्य व्यतिरेकानुमानेऽनुकूलतर्काद्यभावेनोपाधेरप्रयोजकत्वात् । ननु—
रूप्यगतमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेन मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वरूपहेतुमति रूप्ये साध्यम् सत्यत्वं नास्तीति तत्र
हेतोर्व्यभिचारः, नच—यदि रूप्ये मिथ्यात्वं मिथ्या, तर्हि मिथ्यात्वविरुद्धं सत्यत्वं सत्यं स्यात् ; तथाच
रूप्यं, मिथ्याभूतमिथ्यात्वाधिकरणं न भवति, सत्यभूततद्विरुद्धसत्यत्वानधिकरणत्वात्, यत्सत्यभूत-
यद्विरुद्धाधिकरणं न भवति तन्मिथ्याभूततद्विरुद्धाधिकरणं न भवति, यथा सत्यभूतगौरत्वविरुद्धगौरत्वा-
भावानधिकरणं गौः गौरत्वाभावविरुद्धमिथ्याभूतगौरत्वाधिकरणं न भवतीति, तथाच रूप्यमिथ्यात्वस्य
सत्यत्वेन रूप्ये हेतोरेवाभावान्न व्यभिचार इति—वाच्यम् ; सत्यभूतसत्यत्वस्यानधिकरणमपि रूप्यं
सत्यभूतमिथ्यात्वस्याधिकरणं न भवति, किंतु मिथ्यात्वस्यापि मिथ्याभूतस्यैवाधिकरणं ; धर्मिणो रूप्यस्य
मिथ्यात्वात् । तथाच प्रयोगः—रूप्यगतत्वेनोच्यमाने सत्यमिथ्यात्वे, मिथ्या, मिथ्यात्वोपेतधर्मिक-
त्वात् ; स्वप्नप्रतीतगजरूपवत् । तथाच जगत्सत्यं स्यादित्युक्तानुमानस्य रूप्ये व्यभिचारतादवस्थम् ।
नच—रूप्यमिथ्यात्वे मिथ्यात्वसाधकस्य मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वस्य हेतो रूप्यमिथ्यात्वे मिथ्यात्वभावसा-
धकेन सामान्यव्याप्तिमूलकानुमानेन सत्प्रतिपक्षितस्य न रूप्यमिथ्यात्वमिथ्यात्वरूपसाध्यज्ञानजनकत्वम्,
अतो रूप्ये मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वस्य हेतोरज्ञानान्नोक्तानुमानस्य रूप्ये व्यभिचार इति—वाच्यम् ; पर-
स्परविरहयोरेकाभावेऽन्यस्य सत्त्वनियमरूपायाः सामान्यव्याप्तेर्धर्मिसत्तास्थलविषयतया गवादावमिथ्या-
त्वरूपोपाधिग्रस्तत्वेन तन्मूलकानुमानस्य हीनबलत्वेन तेनास्य सत्प्रतिपक्षितत्वाभावेन रूप्ये हेतुज्ञानसंभ-
वेन व्यभिचारतादवस्थ्यात् । यत्सत्यभूततद्विरुद्धाधिकरणं न भवति तन्मिथ्याभूततदधिकरणं न भव-
तीति सामान्यव्याप्तौ बन्ध्यासुते व्यभिचारश्च । नहि सत्यभूतस्य गौरत्वविरुद्धस्य श्यामत्वादेरनधिकरणे
बन्ध्यासुते तद्विरुद्धं गौरत्वं मिथ्याभूतं नास्ति, किंतु गौरत्वं तद्विरुद्धं श्यामत्वं चेत्युभयमपि बन्ध्यासुते
मिथ्यैव, धर्मिण एव मिथ्यात्वात् । तथाचोक्तव्याप्तेस्तत्र व्यभिचारः सुदृढ एव । यदि चोक्तसामान्य-
व्याप्तौ विरुद्धत्वं न सहानवस्थित्यादिसाधारणम्, किंतु परस्परविरहरूपत्वं; नच गौरत्वश्यामत्वे परस्पर-
विरहरूपे, अतो नोक्तव्यभिचार इत्युच्येत, तदापि यत्र स्वप्नावस्थायां दृष्टे कचिदधिकरणे सत्यभूतस्य
गजाभावविरहरूपस्य गजस्यानधिकरणत्वं वर्तते, गजविरहरूपस्य गजाभावस्य मिथ्याभूतस्य चाधिकर-
णत्वं, ननु सत्यभूतस्यैव गजाभावस्याधिकरणत्वमिति चास्ति । तत्र गजो गजाभावश्चेत्युभयमपि मिथ्यै-
वेति परस्परविरहरूपविरुद्धत्वगर्भाया अप्युक्तव्याप्तेर्व्यभिचारस्तदवस्थ इति—चैन्मैवम् । यदुक्तं—रूप्यस्य
धर्मिणो मिथ्यात्वान्तत्र सत्यत्वमिथ्यात्वे परस्परविरहरूपे अपि मिथ्यैव—इति, तन्न; प्रतिपन्नोपाधौ
निषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वं, नच प्रतियोगित्वं धर्मान्तरवद्धर्मिसत्त्वापेक्षम्, किंत्वनपेक्षं, धर्मिसत्त्वा-

सिद्धिव्याख्या ।

नपेक्षधर्मस्य सत्यत्वं तु धर्मिमिथ्यात्वेऽपि युक्तमेव । तथाच त्वदुक्तहेतोरप्रयोजकत्वादस्मदुक्तहेतोर्न रूप्ये व्यभिचार इति । नच—प्रतियोगित्वमपि धर्मो विना धर्मिणं नावतिष्ठते, वन्ध्यासुतादावपि नात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं, किंत्वत्यन्ताभाव एव वन्ध्यासुतप्रतियोगिकत्वमिति—वाच्यम् ; अत्यन्ताभावस्य वन्ध्यासुत-प्रतियोगिकत्वे वन्ध्यासुतस्यापि तत्प्रतियोगित्वस्यावर्जनीयत्वात्, भवदुक्तमिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वहेतोर्धर्म्य-सत्त्वप्रयुक्तसत्त्वाभावरूपोपाधिप्रस्तत्वेन सोपाधिकत्वाच्च । नच—ब्रह्मण्यारोपितमिथ्यात्वादौ साध्याव्या-प्तिरिति—वाच्यम् ; अस्य साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधित्वात्, नब्रह्मान्तर्भावाच्च न वन्ध्यासुतस्या-मत्वादौ च साध्याव्याप्तिः शङ्क्येति । नच पक्षे साध्यव्याप्तिः शङ्क्या ; मिथ्यात्वस्य धर्मिसत्यत्वविरहरूपत्वेन धर्मिसत्यत्वानपेक्षत्वेन प्रत्युत धर्मिसत्यत्वप्रतिक्षेपकतया तत्प्रतिकूलत्वात्, अन्यथा सत्यत्वविरहरूपाति-रिक्तस्य ब्रह्मभिन्नत्वादिरूपस्य पारिभाषिकमिथ्यात्वस्य सत्यत्वपक्षेऽप्यविरोधेन सिद्धसाधनतापातात् । किंच प्रतिपन्नोपाधावनिषिद्धं प्रत्युत बाधकज्ञानेन विहितमपि रूप्यमिथ्यात्वं यदि प्रातिभासिकरूप्य-संबन्धमात्रेण प्रातिभासिकं, तर्हि सति ब्रह्मणि निषिद्धा अपि धर्माः सन्तः स्युः ; सद्ब्रह्मसंबन्धात्, रूप्याधिष्ठानं शुक्तिरपि प्रातिभासिका स्यात् ; प्रातिभासिकरूप्यसंबन्धात्, रूप्ये प्रपञ्चे च सद्ब्रह्मक्षण्यं सत्संबन्धात्सत्स्यात् ; तस्मिन्नेवासद्ब्रह्मक्षण्यमसत्स्यात् ; असत्संबन्धात्, असति सद्ब्रह्मक्षण्यमसत्स्यात् ; अधिकरणत्वेनासता संबन्धात्, रूप्यतन्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वे भ्रान्तिबाधव्यवस्था च न स्यात् । अनिर्व-चनीयरजतादिज्ञानस्य समानाधिकरणप्रकारकतयाऽभ्रान्तत्वापत्त्या मिथ्याभूतार्थविषयकतया भ्रान्तित्वं वक्तव्यम्, अमिथ्याविषयकतया च बाधत्वमिति वक्तव्यम्, उभयोरपि मिथ्याविषयकत्वे भ्रान्तिबाधव्य-वस्थानुपपत्तेः स्पष्टत्वात् । किंच त्वदुक्तेन मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वेन हेतुना साध्यस्य मिथ्यात्वमिथ्यात्व-स्यापि प्रातिभासिकरूप्यसंबन्धात्प्रातिभासिकत्वापत्त्या हेतोः प्रातिभासिकविषयकतया रूप्यज्ञानस्येव-व्यवहारदशायामप्रामाण्यं च स्यात् । अपिच रूप्यमिथ्यात्वे मिथ्यात्वसाधनाय हेतूकृतस्य मिथ्यात्वो-पेतधर्मिकत्वस्य मिथ्यात्वे घटरूपादिधर्मिणि घटादौ मिथ्याभूतत्वस्याभावेन मिथ्याभूतमिथ्यात्वोपेत-धर्मिकत्वस्य हेतोर्घटरूपादौ सत्त्वान्मिथ्यात्वरूपसाध्यस्याभावाद्यभिचारापत्त्या सत्यभूतेतिविशेषणा-वश्यंभावाद्विरोधश्च स्यात् । रूप्यगतमिथ्यात्वे पक्षीकृते सत्यभूतमिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वहेतुसिद्धयर्थं सत्यत्वेनाङ्गीकृते रूप्यमिथ्यात्वे यदि मिथ्यात्वं साध्यते, तदा पक्षे न हेतुः स्यात् । तथाच हेतुसाध्ययोः पक्षे सहावस्थानविरोध इति स्पष्ट एव । यत्तु—परस्परविरहरूपविरुद्धत्वगर्भायामप्युक्तव्याप्तौ स्वप्राव-स्थायां दृष्टे कचिदधिकरणे व्यभिचार—इति, तन्न ; विरहशब्देनात्रात्यन्ताभावविवक्षायां स्वप्रप्रतीतयो-र्गजतद्धंसयोः परस्परात्यन्ताभावरूपत्वाभावेनोभयोरपि मिथ्यात्वेऽपि स्वप्रप्रतीतगजतन्मिथ्यात्वयोरुभयो-रप्यमिथ्यात्वेन गजस्यैव मिथ्यात्वेन गजे मिथ्यात्वस्य गजात्यन्ताभावगर्भतया सत्यत्वात् । तस्मान्मिथ्या-त्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापात इति सुष्ठुक्तमिति ध्येयम् । मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे चेति । तद्वदेव । मिथ्यात्ववदेवेत्यर्थः । उभयथाऽपीति । सत्यत्वमिथ्यात्वलक्षणप्रकारद्वयेनापीत्यर्थः । नच—मिथ्यात्वस्य सत्यत्वपक्षे नाद्वैतव्याघातस्तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वादिति—वाच्यम् ; प्रपञ्चोपाधिकस्य रूप्याद्यर्थप्रवृत्त्यनुपपत्त्या भ्रमकालानिश्चितस्य च मिथ्यात्वस्य निरुपाधिकभ्रमकालनिश्चिताधिष्ठानब्रह्मात्रत्वायोगात्, भ्रमकाले ब्रह्मणो निश्चितत्वाभावेऽधिष्ठाननिश्चयायोगेन भ्रमस्यैवासंभवापत्तेः, तथाभूतब्रह्मणो मिथ्यात्वरूपत्वे जग-न्मिथ्येति प्रतिज्ञायां जगद्ब्रह्मसंबन्धव्यर्थकतया तस्यार्थस्य मां प्रत्यपि सिद्धत्वेन सिद्धसाधनाच्च । किंच बाध्य-

व्याघात—इतिचेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वानुपपत्तेः । तत्र हि विरुद्धयोर्धर्मयोरेक-

सिद्धिव्याख्या ।

त्वेन स्वीकृतं मिथ्यात्वं दृश्यं वा नवा, आद्ये दृश्यत्वादेर्मिथ्यात्व एव व्यभिचारः । ब्रह्मस्वरूपेऽबाध्येऽपि मिथ्यात्वे दृश्यत्वस्य सत्त्वात् । न द्वितीयः; मिथ्यात्वस्यादृश्यत्वेऽनुमितिं प्रत्यविषयत्वेन विषयान्तरस्य चाभावेनानुमानवैयर्थ्यापत्तेः । ननु—मिथ्यात्वं ब्रह्मानतिरिक्तमेव, तच्च द्वितीयभागोपलक्षितब्रह्मस्वरूपं, नतु निरुपाधिकं; नवा भ्रमकाले निश्चितमिति न पूर्वोक्तब्रह्मभेदायोगः नवा सिद्धसाधनमिति—
चेन्न; उपलक्षणीभूतद्वितीयाभावस्य बाध्यत्वे जगन्मिथ्येत्युक्तेः बाध्यद्वितीयाभावोपलक्षितब्रह्मसंबन्धर्थः स्यात् । तथाच सिद्धसाधनम् । अबाध्यत्वेऽपि ब्रह्मानतिरिक्तत्वे उपलक्षणत्वायोगः, अतिरिक्तत्वे चाद्वैत-
हानिः । किंचाप्रसिद्धस्योपलक्ष्यस्य प्रसिद्धमुपलक्षणं भवति, द्वितीयाभावरूपोपलक्षणं प्रत्युपलक्ष्यस्य शुद्धब्रह्मणो नित्यसिद्धत्वे न तत्प्रति तस्योपलक्षणत्वम् । नच—काकेन गृहगतसंस्थानविशेष इव प्रकाश-
मानब्रह्मगतधर्मान्तरमेव द्वितीयाभावेनोपलक्ष्यत इति—वाच्यम्; उपलक्षणकाले द्वितीयमात्राभावेन वैषम्यात् । अपिच ज्ञातस्यैवोपलक्षणत्वेन द्वितीयाभावस्याभावरूपोपलक्षणस्य ज्ञानार्थं तदधिकरणीभूत-
शुद्धब्रह्मज्ञानमावश्यकम् । तथाचोपलक्षणज्ञानात्प्रागेव ज्ञातं शुद्धं ब्रह्म प्रति न द्वितीयाभावस्योपलक्षणत्वं संभवति । सर्वदा प्रतीयमानत्वेनाङ्गीकृताविद्यायाः प्रतीतेस्तदधिकरणशुद्धब्रह्मस्फुरणं विनाऽसंभवेन तदर्थं
शुद्धब्रह्मज्ञानस्यावश्यकत्वेन तद्वदेव उपलक्षणद्वैताभावज्ञानार्थमपि शुद्धब्रह्मस्फुरणस्यावश्यकत्वात् । तस्मा-
द्बहुदोषप्रसूतत्वान्मिथ्यात्वस्य सत्यत्वमपि न संभवतीति ध्येयम् । नच—मिथ्यात्वस्य सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्यां
दूषणं नित्यसमा जातिरिति—वाच्यम्; स्वव्याघातकोत्तरजातित्वेन तल्लक्षणाभावे जातित्वायोगात्,
प्रत्युतास्माकमनुगुणत्वाच्च । तदुक्तम्—‘मिथ्यात्वस्य च मिथ्यात्वे मिथ्यात्वं बाधितं भवेत् ।
सत्यत्वस्य च सत्यत्वे सत्यत्वं स्थापितं भवेत् ॥’ इति । नच—विशेषलक्षणस्य सत्त्वे स्वव्याघात-
कत्वोत्तरत्वरूपसामान्यलक्षणासत्त्वमदोषः; तत्साधारणसामान्यलक्षणान्तरस्यापि संभवात्, ‘धर्मस्य
तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तिः । धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो नित्यसमा भवे’दिति विशेषलक्षणपर्यालोचनया
मिथ्यात्वं बाध्यमबाध्यं वेति विकल्प्य दूषणाभिधानं नित्यसमाजातिरेव; मिथ्यात्वस्य बाध्यत्वे प्रपञ्चस्य
मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गात् अबाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चान्तःप्रविष्टमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वासिद्ध्या सर्वप्रपञ्चमिथ्या-
त्वासिद्धेरिति पक्षद्वयेऽपि मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गस्याविशिष्टत्वादिति—वाच्यम्; मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे
प्रपञ्चमिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गदोषसत्त्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सत्यत्वपक्षे तमनुक्त्वा मिथ्यात्वविशिष्टत्वमेवाङ्गी-
कृत्याद्वैतहानेरेवोक्तौ विशेषलक्षणस्याप्यभावादित्यभिप्रेत्योक्तम्—अद्वैतव्याघात इति । यदि चाद्वैत-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मात् । तद्वदेवेति । यथा मिथ्यात्वसाधकमानं मिथ्यात्वे न प्रवर्तते, तथा प्रपञ्चेऽपीत्यर्थः । तत्रेदं बोध्यम्—

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञातयोरिति । ज्ञानं तु संशयरूपं संभवतीति भावः । तद्धर्मिवृत्तित्वेन ज्ञायमाननिष्ठं तद्धर्मिघटितं मिथ्यात्वं स्वाश्रय-
विरुद्धत्वसंबन्धेन धर्मिवृत्तित्वेन ज्ञायमाननिष्ठस्य तद्धर्मिणि सत्यत्वस्य स्वाधिकसत्ताकत्वस्य व्याप्यमिति नियमादित्यर्थः ।
बौद्धकल्पितप्रतिभासिकाभावप्रतियोगिनि ब्रह्मणि सत्यत्वस्य सर्वैरास्तिकैरुपगमात् । एवंच ब्रह्मणि प्रतीयमानप्रपञ्चमिथ्या-
त्वस्य ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावपर्यवसितस्य मिथ्यात्वोपगमे स्वाश्रयविरुद्धत्वसंबन्धेन प्रपञ्चे मिथ्यात्वोपगमपर्यवसानात् तद्याप-
कसत्यत्वापत्तिरिति नापाद्यापादकयोर्विरोधः पक्षभेदश्चेति भावः । अस्मिन् पक्षे—एकस्मिन् ब्रह्मणि प्रसक्तयोः प्रपञ्च-
तदभावयोरेकस्य प्रपञ्चाभावस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तिरित्यक्षरबोध्यार्थः—इति केचित् । टीकाकारमते—

सिद्धिव्याख्या ।

हान्युद्भावनस्य बाधिततया विपर्ययपर्यवसानस्यावश्यकत्वेन मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्ग एव पर्यवसानाज्जा-
तित्वं दुर्वारम्, तदा तदुद्भावनस्यापसिद्धान्त एव तात्पर्यं, न मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्ग इति न जातित्वमि-
त्यपि द्रष्टव्यम् । प्रथमपक्षमादाय तत्रोक्तदोषोद्धारं प्रतिजानीते—नेति । मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपीति ।
यदुक्तं—विरुद्धयोरेकस्मिन्धर्मिणि प्रसक्तयोर्धर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वम्—इति, तदुपयति—तत्र
हीति । एकनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नयोरेकस्यापरप्रतिष्ठापकतास्थलं दर्शयति—यथा परस्परेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ययोर्विरुद्धयोरेकं मिथ्या तयोरेकापेक्षया अपरमधिकसत्ताकमित्येव नियमः, न तु विरुद्धयोः यन्मिथ्या तदपेक्षया

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तु प्रपञ्चमिथ्यात्वमिथ्यात्वोपगमे स्वाश्रयविरुद्धत्वसंबन्धेन प्रपञ्चनिष्ठत्वेन ज्ञाते मिथ्यामिथ्यात्वोपगमपर्यवसानात् तद्याप-
कस्याधिकसत्ताकत्वस्य सत्यत्वे आपत्तिरिति—भावः । अस्मिन् पक्षे—प्रपञ्चरूपैकधर्मिणि प्रसक्तयोः व्यावहारिकयो-
र्मिथ्यात्वसत्यत्वयोर्मध्ये एकस्य मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे सत्यत्वस्य तात्त्विकत्वापत्तिरित्यक्षरार्थः । एकस्मिन् धर्मिणि ज्ञातयोर्द्व-
योर्मध्ये यस्य एकस्य मिथ्यात्वं ततोऽपरस्य सत्यत्वमधिकसत्ताकत्वं वेति नार्थः; शुक्तिनिष्ठयोरजततदभावयोर्मध्ये रजतस्यै-
कस्य मिथ्यात्वेऽपि ततोऽपरस्य तदभावस्य सिद्धान्ते सत्यत्वानुपगमेन प्रथमव्याप्तौ व्यभिचारात्, सिद्धान्ते रजताभावस्य
व्यावहारिकत्वेन पटादिवन्मिथ्यात्वेऽपि रजतस्याधिकसत्ताकत्वाभावेन द्वितीयव्याप्तावपि व्यभिचारात्, इत्यत एकपद-
मेकतरार्थकतया व्याचष्टे—एकतरमिथ्यात्व इति । अपरपदं चान्यतरार्थकतया व्याचष्टे—अन्यतरस्येति । शुक्तौ
रजततदभावयोः कस्यापि सत्यत्वानुपगमात् व्यभिचारोऽतः सत्यत्वपदमधिकसत्तापरतया व्याचष्टे—अधिकसत्तेति ।
उक्तरीत्या मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्य सत्यत्वव्याप्तेरनुपगमे आपादकत्वासंभवादाह—नियमादिति । मिथ्यात्वसाधकश्रुत्य-
नुमाने जाग्रति कथं मिथ्यात्वे सत्यत्वोपगमः? कथं वा प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिः? अतो व्याचष्टे—तद्वदेवेतीति । यथा
प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिरुपतर्केण प्रपञ्चमिथ्यात्वे मिथ्यात्वाभावः सिद्ध इति बाधादेव मिथ्यात्वसा-
धकमानं न प्रवर्तते, तथा तत्रैव दृश्यत्वादिति हेतोः व्यभिचारेण प्रपञ्चे मिथ्यात्वसाधकमानं न प्रवर्तत इत्यर्थः ।
एवं मिथ्यात्वशून्यं प्रपञ्चमिथ्यात्वं, सत्यत्वमिथ्यात्वान्यतरवत्, उपहितचित्तादात्म्यवत्वात्, शुक्तिरजतवत्, ब्रह्मव-
च्चेल्यनुमानेन प्रपञ्चमिथ्यात्वे सत्यत्वोपगमसंभवेनोक्तव्याप्तिवलात् प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिरिति भावः । मौलैकापरपदयोर्द्वौ-
व्याख्यानबीजं स्फुटयितुमुक्तनियमं परिष्करोति—तत्रेदं बोध्यमित्यादिना । ययोरिति । मिथ्यात्वसमानाधि-
करणं तद्धर्मिणि ज्ञातपरस्परविरुद्धोभयत्वं, तद्धर्मिणि स्वाश्रयैकापेक्षाधिकसत्ताकस्वाश्रयापरकं; यथा शुक्तौ रजतनिष्ठ-
मिथ्यात्वसमानाधिकरणं रजततदभावोभयत्वं स्वाश्रयरजताधिकसत्ताकस्वाश्रयरजताभावकमिति वा, परस्परविरुद्धोभयै-
कनिष्ठं मिथ्यात्वं, स्वसमानाधिकरणैकधर्मिज्ञातपरस्परविरुद्धोभयत्वाश्रयैकापेक्षाधिकसत्ताकस्वाश्रयापरकनिष्ठं, यथा
रजतमिति वा, यन्निष्ठमिथ्यात्वं, तद्धर्मिज्ञातपरस्परविरुद्धयदुभयैकवृत्ति, तत्तद्धर्मिणि तदुभयत्वाश्रयैकापेक्षाधिकसत्ताक-
तदुभयत्वाश्रयापरमिति वा, सामान्यव्याप्तिरित्यर्थः । एवं च केषांचिन्मते ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावरूपप्रपञ्चमिथ्यात्वनिष्ठ-
मिथ्यात्वे प्रपञ्चतदभावोभयत्वाश्रयप्रपञ्चाभावाधिकसत्ताकप्रपञ्चकत्वं विषयीकुर्वाणा आपत्तिर्व्यावहारिकप्रपञ्चाभावा-
धिकसत्तां प्रपञ्चस्य विषयीकरोति । नच—निरुक्तोभयत्वाश्रयव्यावहारिकप्रपञ्चाधिकसत्ताप्रपञ्चाभावे कुतो न विषय
इति—वाच्यम्; तत्र मिथ्यात्वस्योपगमे तद्विरुद्धपारमार्थिकत्वस्य विषयत्वासंभवात् । टीकाकारमते तु प्रपञ्च-
मिथ्यात्वनिष्ठमिथ्यात्वे प्रपञ्चमिथ्यात्वसत्यत्वोभयत्वाश्रयप्रपञ्चमिथ्यात्वाधिकसत्ताकप्रपञ्चसत्यत्वं विषयीकुर्वती आपत्तिः
प्रपञ्चसत्यत्वे पारमार्थिकत्वं विषयीकरोति, नतु तादृशोभयत्वाश्रयप्रपञ्चनिष्ठव्यावहारिकसत्यत्वाधिकसत्तां पारमार्थिकत्व-
रूपां प्रपञ्चमिथ्यात्वे तत्र पारमार्थिकत्वस्योपगतमिथ्यात्वविरुद्धत्वात् इति भावः । यथाश्रुतनियमं दूषयति—नत्विति ।
विरुद्धयोरिति । मिथ्यात्वं स्वाश्रयाधिकसत्ताकस्वाश्रयविरुद्धकमित्यर्थः । तेन प्रपञ्चाभावमिथ्यात्वेन प्रपञ्चे सत्यत्वा-
पत्तिः, प्रपञ्चमिथ्यात्वमिथ्यात्वेन प्रपञ्चसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वापत्तिर्वा भवतीति भावः । शुक्तिरूप्य इति । शुक्ति-
रूप्यमिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वेन मिथ्यात्वेऽपि शुक्तिरूप्यनिष्ठप्रातिभासिकसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वाभावेन व्यभिचारा-
दित्यर्थः । शुक्तिरूप्याभावरूपस्य शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वेन मिथ्यात्वेऽपि तदाश्रयविरुद्धे शुक्तिरूप्ये स्वाश्रये

मिथ्यात्वे अपरसत्त्वम्, यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत्, यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्व-

सिद्धिव्याख्या ।

आद्योदाहरणे 'शुक्तौ रजतं नास्ती'ति निषेधे निषेध्यतावच्छेदकं रजतत्वं, तत्रैव 'रजतत्वाभावो नास्तीति' निषेधे रजतत्वाभावत्वं निषेध्यतावच्छेदकमिति निषेध्यतावच्छेदकभेदात्तदवच्छिन्नयोरन्यतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वमावश्यकम् । द्वितीयोदाहरणेऽपि यत्र रजतभिन्नत्वं, तत्र रजतत्वाभावः; यत्र रजतत्वं तत्र रजतभिन्नत्वाभाव इति व्याप्तेः सत्त्वात् परस्परविरहव्यापकयोरपि रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः शुक्तावेकस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अपरमधिकसत्ताकमिति नियमः; शुक्तिरूप्ये व्यावहारिकमिथ्यात्वयुक्ते तात्त्विकसत्यत्वापत्तेः—इति । ननु परस्पर-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शुक्तिरूप्याभावाधिकसत्त्वस्य विरहेण व्यभिचारादिति वार्थः । अत्रेदं बोध्यमित्यादिना निष्कर्षेण तु, रजतनिष्ठमिथ्यात्वस्य रजततदभावोभयैकवृत्तेः तदुभयैकरजताधिकसत्ताकतदुभयापररजताभावकत्वात् न व्यभिचार इति बोध्यम् । प्रपञ्चसत्यत्वापत्तौ इष्टापत्तिं परिहरति मूले—उभयथाप्यद्वैतव्याघात इति । तथाच “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय”मिति, “नेह नानास्ति किञ्चने”ति श्रुतिविरोध इति भावः । उक्तश्रुतिरूपप्रबलप्रमाणेन बाधादेव प्रपञ्चमिथ्यात्वे मिथ्यात्वापादकसत्यत्वापाद्यकतर्केणापि मिथ्यात्वाभावो न सिध्यति । एवं च मिथ्यात्वशून्यत्वरूपपक्षविशेषणबाधात् उक्तश्रुतिविरोधाच्च प्रपञ्चमिथ्यात्वपक्षकसत्यत्वमिथ्यात्वान्यतरसाध्यकोपहिततादात्म्यहेतुक्तानुमानेनापि प्रपञ्चमिथ्यात्वे सत्यत्वोपगमासंभवेन प्रत्युत उक्तश्रुतिसहकारेणोक्तानुमानेन प्रपञ्चमिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्यैवोपगमसंभव इत्याशयेन समाधत्ते—न मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपीति । प्रपञ्चसत्यत्वानुपपत्तेरिति । प्रपञ्चसत्यत्वापत्त्यसंभवादित्यर्थः । यद्यपि प्रपञ्चमिथ्यात्वे उक्तरीत्या मिथ्यात्वोपगमे तत्र दृश्यत्वहेतोः व्यभिचाराभावेन प्रपञ्चमिथ्यात्वे इव प्रपञ्चेऽपि मिथ्यात्वग्राहकमनुमानमुक्तश्रुतिश्च प्रवर्तते; तथापि तदुभयं प्रपञ्चसत्यत्वापत्तौ आपाद्यव्यतिरेकनिश्चयविधयानुकूलमेवेति । मिथ्यात्वमिथ्यात्वरूपापादके सत्यत्वरूपापाद्यव्यभिचारवारणायापादकविशेषणोपादाने प्रपञ्चमिथ्यात्वे पक्षे आपादकासिद्धिमाह—तत्र हीत्यादिना । तद्वदित्यन्तेन । गोत्वनिष्ठमिथ्यात्वे गजरूपधर्मिज्ञातं गोत्वाश्वत्वरूपपरस्परविरुद्धोभयैकवृत्तौ, तदुभयत्वाश्रययोः गोत्वाश्वत्वयोर्द्वयोरपि गजरूपैकधर्मिणि प्रातीतिकतया, एकापेक्षया परस्याधिकसत्ताकत्वाभावेन वा, गजरूपधर्मिणि गोत्वाश्वत्वोभयत्वाश्रयैकापेक्षाधिकसत्ताकापरकत्वाभावेन वाऽऽपादकप्रविष्टे व्यभिचार इति तद्वारणाय परस्परविरुद्धोभयस्मिन् स्वावृत्तितद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यकत्वं विशेषणं देयम् । गोत्वाश्वत्वोभयस्मिन्तद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूतगोत्वत्वाश्वत्वत्वयोरसत्त्वेऽपि तत्सामान्यान्तर्गतगजत्वाभावव्याप्यत्वस्य सत्त्वेन तदवृत्तितत्सामान्यकत्वमस्तीति दृष्टान्तसिद्धिः । तादृशरजतत्वशुक्तित्वाभावव्याप्यत्वादीनां रजताभावेऽसत्त्वेनोभयावृत्तित्वात् । यदपि—यदि तद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यशून्यत्वं तदुभयत्वावच्छेदेन निवेश्यते, तदा शुक्तिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूतरजतत्वस्य तदुभयैकदेशरजते सत्त्वेन रजताभावेऽपि तदुभयत्वावच्छेदेन तच्छून्यत्वाभावात् दृष्टान्तासिद्धिः, यदि तु तदुभयत्वसामानाधिकरण्येन निरुक्तशून्यत्वं निवेश्यते, तदा तदुभयत्वाश्रयरजताभावे तत्सत्त्वात् दृष्टान्तसिद्धिः । गोत्वाश्वत्वयोर्द्वयोरपि गोत्वत्वाश्वत्वत्वयोर्गजत्वाभावव्याप्यत्वस्य च सत्त्वेन तदुभयैकस्मिन् तच्छून्यत्वाभावात् न व्यभिचार—इति; तदपि प्रकारान्तरमस्तु, परन्तु 'यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेदिति' मूलाक्षरस्वरस्याननुगुणं, 'यथा गोत्वाश्वत्वयो'रित्यादिपङ्क्त्यननुगुणं चेति वक्ष्यते । पूर्वोक्तं तु तदनुगुणमिति विशेषः । प्रकृते ब्रह्मणि प्रपञ्चप्रपञ्चाभावरूपतन्मिथ्यात्वयोर्द्वयोरपि ब्रह्मनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूतदृश्यत्वादीनां सत्त्वात् प्रपञ्चतदभावरूपोभयस्मिन् उक्तविशेषणस्यासत्त्वेन तस्यापादकस्य प्रपञ्चाभावमिथ्यात्वादौ असत्त्वान्नोक्तप्रपञ्चसत्यत्वघटितापाद्यकापत्तिरिति समुदायार्थः । एवं प्रपञ्चमिथ्यात्वनिष्ठमिथ्यात्वस्य प्रपञ्चे प्रसक्तव्यावहारिकमिथ्यात्वसत्यत्वोभयैकतादृशोभयस्य प्रपञ्चनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकवत्तया तच्छून्यत्वस्य स्वावृत्तितत्कत्वरूपस्य विशेषणस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वसत्यत्वोभयस्मिन्नसत्त्वेन तदघटितापादकाभावाच्च तदुभयैकमिथ्यात्वाधिकसत्ताकतदुभयापरसत्यत्वत्वापत्तिरिति बोध्यम् । अक्षरार्थस्तु, तत्र हि तत्रैव धर्मिणि । यत्र

तदभावयोः शुक्तौ, यथा वा परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः तत्रैव; तत्र निषेध्यता-
वच्छेदकभेदनियमात्, प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकमेकमेव दृश्यत्वादि, यथा गोत्वाश्वत्वयोरेकस्मिन्
गजे निषेधे गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वं निषेध्यतावच्छेदकमुभयोस्तुल्यमिति नैकतरनिषेधे अन्यत-
रसत्त्वं तद्वत् । यथाच सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, नवा परस्परविरहव्यापकत्वम्,

सिद्धिव्याख्या ।

निषेधेऽन्यस्य सत्त्वं पूर्ववन्निषेध्यतावच्छेदकभेदादित्यर्थः । प्रकृते त्वेकनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वात्
नैकतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वंमित्याह—प्रकृते त्विति । तादृशस्थलमुदाहरति—यथा गोत्वेति ।
तद्विदिति । निषेध्यतावच्छेदकदृश्यत्वावच्छिन्नत्वेनैकतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वमित्यर्थः । ननु—
गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहरूपत्वाभावादेकनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वसंभवेनोक्तदोषाभावेऽपि पर-
स्परविरहरूपयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोस्तदसंभवेनोक्तदोषस्तदवस्थ एवेत्याशङ्क्याह—यथा चेति ।
ततश्च गोत्वाश्वत्वयोरिवैकनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वं तद्वदेवान्यतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वं चोपपद्यत
इति भावः । यद्वा—सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहरूपत्वमेव, मिथ्यात्वं च वेदादिप्रपञ्च-
समसत्ताकम् । एवंच न तात्त्विकाद्वैतहानिः; नापि सिद्धसाधनं; त्वन्मते प्रपञ्चे स्वसमानं
सत्ताकमिथ्यात्वासिद्धेः । नच—प्रपञ्चमिथ्यात्वं प्रपञ्चसमसत्ताकमित्यङ्गीकुर्वता भवता प्रपञ्च-
व्यावहारिकमित्यङ्गीकृतं, सत्यत्वं तु न व्यावहारिकमित्यङ्गीकर्तुं शक्यते; तथासति तयोस्तुल्य-
सत्ताकत्वप्रयुक्तविरोधापत्तेः, इष्टापत्तावन्यतरस्यैव सत्त्वापत्त्योभयसत्त्वासंभवापत्तेः, अस्तिचोभय-
सत्त्वम्, एवं च तदविरोधेनैवोपपादनीयम्, अविरोधश्च सत्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वेन वा संभवति,
पारमार्थिकत्वेन वा, प्रातिभासिकत्वं च त्वयैव नेष्यत इति तत्पारमार्थिकत्वं वज्रलेपायितमिति—
वाच्यम्; मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकस्य काल्पनिकसत्यत्वेन सह विरोधाभावात्काल्पनिकस्य मिथ्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विरहरूपयोः परस्परविरहव्यापकयोश्चैकमिथ्यात्वे अपरस्याधिकसत्ता आवश्यकी । अन्यथा समसत्ताकत्वे तयोः सहा-
वस्थानं न स्यात् । तथाच गोत्वाश्वत्वयोः समानाधिकरणप्रातीतिकयोः परस्परविरहत्वाद्यभावात् समसत्ताकत्वसंभ-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मिथ्यात्वेति । यन्निष्ठाभावप्रतियोगितेत्यर्थः । उभयवृत्ति न भवेदिति । मिथ्याविरुद्धयदुभयवृत्ति न भवेदित्यर्थः ।
तत्र स्वावृत्तितद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यकत्वं विशेषणं देयमिति भावः । दृष्टान्ते एतदुपपादयति—
यथेति । परस्परविरहरूपयोरिति । एकस्मिन्नेकस्याभावेऽपरसत्त्वस्यावश्यकत्वेनेति शेषः । नन्वेवं प्रतियोग्य-
भावयोरित्येवास्तु, किं विरुद्धधर्मयोरित्यनेनोक्तविशेषणोपादानेन वा ? तावतैव गोत्वाश्वत्वयोर्व्यभिचारवारणस्य प्रपञ्च-
सत्यत्वतात्त्विकत्वापत्तेश्च वारणसंभवात् गोत्वाश्वत्वयोर्मिथ्यात्वसत्यत्वयोश्च परस्परं प्रतियोग्यभावानात्मकत्वात् इत्यत
आह—यथा वेति । परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोरिति । अनयोः परस्पराभावरूपत्वानुगमे
तत्रापि रजतभिन्नत्वविरहव्यापकस्य रजतत्वस्य विरहे व्याप्यरजतभिन्नत्वविरहाभावस्य रजतत्वविरहव्यापकस्य रजतभिन्न-
त्वस्य विरहे व्याप्यरजतत्वविरहाभावस्य चावश्यकत्वेनैकस्मिन् धर्मिणि रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः एकस्याभावेऽपरसत्त्व-
स्यावश्यकत्वादिति भावः । एवं च अनयोः संग्रहेण न्यूनतापरिहाराय विरुद्धधर्मयोरित्युक्तौ गोत्वाश्वत्वयोः व्यभिचार-
वारणायोक्तविशेषणोपादानमावश्यकमिति भावः । तत्रैव तद्धर्मिणि ज्ञातयोर्विरुद्धयोरेव । अत्र हेतुमाह—तत्रेति ।
तादृशविरूपयोरित्यर्थः—भेदनियमादिति । एकस्मिन् धर्मिणि तादृशविरुद्धयोः प्रत्येकमभावद्वयासंभवादिति भावः ।
अत्रैकभावेऽपरसत्त्वस्यावश्यकत्वं हेतुः । तत्र च परस्परविरहरूपत्वं परस्परविरहव्यापकत्वं वा प्रकृते मिथ्यात्वसत्यत्वयो-
र्मिथ्यात्वस्य स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वरूपत्वात् सत्यत्वस्य कालत्रयाबाध्यत्वरूपत्वात् अनयोश्च न परस्पराभावरू-
पत्वं, न वा परस्परविरहव्यापकत्वं; तुच्छे उक्तमिथ्यात्वोक्तसत्यत्वयोर्द्वयोरपि विरहात्, किंतु मिथोविरुद्धत्वमात्रं;
शुक्तिरजतादौ मिथ्याभूते सत्यत्वाभावात्, ब्रह्मणि सत्ये मिथ्यात्वाभावादिति । परन्तु शुक्तिरजतादिमिथ्यात्वस्यापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वेऽपि प्रपञ्चगतयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोरुक्तविरहत्वादित्वाच्च समसत्त्वेन आह—यथेति । येन प्रकारेणेत्यर्थः । तथा स प्रकारः । उपपादितं सत्त्वासत्त्वे अधिकृत्य ज्ञापितम् । यथाच सत्त्वासत्त्वयोः परस्पराभावत्वं नास्ति, प्रपञ्चे तयोरेकासत्त्वेऽप्यपरासत्त्वादिति तथोक्तं प्रथममिथ्यात्वे; तथा सत्यत्वमिथ्यात्वयोरपि तन्न, तुच्छे द्वयोः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मिथ्यात्वोपगमे गजे गोत्वाश्वत्वयोरिव शुक्तिरजतादौ मिथ्यात्वसत्यत्वयोरपि प्रत्येकमभावद्वयसत्त्वेन तदुभयसाधारणान्यतरत्वधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकैकसामान्याभावसत्त्वेन च गोत्वाश्वत्वोभयस्मिन् गजरूपधर्मिघटितोक्तविशेषणविरहेण गोत्वादिनिष्ठमिथ्यात्वे आपादकविरहेण व्यभिचारस्येव मिथ्यात्वसत्यत्वोभयस्मिन् शुक्तिरजतादिधर्मिघटितोक्तविशेषणविरहेण मिथ्यात्वनिष्ठमिथ्यात्वे आपादकविरहेणोक्तापत्तेरपि नावकाशः । एवं ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेर्नावकाश इत्यवधेयम् । ननु गोत्वत्वाश्वत्वत्वयोर्गजरूपधर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकयोः प्रत्येकं गोत्वाश्वत्वोभयावृत्तित्वात्तदुभयैकगोत्वादिवृत्तिमिथ्यात्वे गजे गोत्वाद्यधिकसत्ताकाश्वत्वादिकत्वाभावेन व्यभिचारः; नच—गोत्वत्वादेः गोत्वाश्वत्वोभयत्वाश्रयगोत्ववृत्तित्वात् कथं तदुभयावृत्तित्वमिति—वाच्यम्; रजतत्वे शुक्तिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदके रजततदभावोभयत्वाश्रयरजतवृत्तित्वेन रजततदभावोभयैकरजतनिष्ठमिथ्यात्वे आपादकाभावेन दृष्टान्तासिद्धिरिति विरुद्धोभयनिष्ठैकाधिकरणताकत्वाभावरूपस्यावृत्तित्वस्यैव तद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदके निवेद्यतया गोत्वत्वादेर्गोत्वाश्वत्वोभयनिष्ठैकाधिकरणताकत्वाभावेन व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात्—इत्याशङ्क्य सामान्यपदयोजनं व्यञ्जयन् गजनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यान्तःपातिनि गजत्वाभावव्याप्यत्वे गोत्वाश्वत्वोभयवृत्तित्वाच्च व्यभिचार इत्याह—यथा गोत्वाश्वत्वयोरिति । प्रपञ्चतदभावयोस्तु ब्रह्मनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकमेकं दृश्यत्वं ब्रह्मभिन्नत्वादिकमस्ति, मिथ्यात्वसत्यत्वयोस्तु प्रपञ्चनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकमेकं तदुभयान्यतरत्वादिकमस्तीति पक्षे आपादकाभावाच्च प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिरिति ध्येयम् । यथापादके तद्धर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यशून्यत्वं विरुद्धोभयत्वाश्रये प्रवेक्ष्यते, तदा गोत्वाश्वत्वयोः प्रत्येकमपि गोलत्वस्याश्वत्वस्य च तादृशस्य सत्त्वेन तत्सामान्यशून्यत्वस्याभावेन व्यभिचारशङ्कानुदयादेतत्पङ्क्तिः कानुत्थितरित एतत्पङ्क्त्यनुगुणं तद्विशेषणमित्युक्तम् । ननु—सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहरूपत्वे परस्परविरहव्यापकत्वे वा प्रपञ्चमिथ्यात्वमिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिः, अतः तद्वारणाय 'यथाचेति' ग्रन्थेन तयोस्तादृशाभाव उपपादित इत्युक्तम् । तच्च न युक्तम्; तद्धर्मिज्ञातपरस्परविरुद्धयदुभयैकवृत्तिर्यन्मिथ्यात्वं, तत् तद्धर्मिणि तदुभयत्वाश्रयैकापेक्षयाधिकसत्ताकतदुभयत्वाश्रयापरकमिति व्याप्तौ गोत्वाश्वत्वोभयैकवृत्तिगोत्वादिवृत्तिमिथ्यात्वे गजे गोत्वाद्यधिकसत्ताकाश्वत्वादिकत्वाभावेन व्यभिचारेणोक्तापत्तेरसंभवात्, परस्परविरहरूपत्वपरस्परविरहव्यापकत्वान्यतरवत्त्वस्य स्वावृत्त्येकधर्मिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकसामान्यकत्वपर्यवसितस्य परस्परविरुद्धोभयस्मिन्नापादकघटके निवेशेन तद्वारणे तु, उक्तव्याप्तेरप्रयोजकत्वशङ्कया दुर्निश्चयतयोक्तापत्तिर्दुर्घटैवेत्याशङ्कोक्ताप्रयोजकत्वशङ्का वारयन् उक्तापत्तिं घटयित्वा 'यथाचेति' ग्रन्थमवतारयति—नन्विति । चेति । परस्परविरुद्धयोरेकधर्मिणि इति शेषः । अप्रयोजकत्वं निरस्यति—अन्यथेति । उक्तयोरेकधर्मिणि मिथ्यात्वेऽपि अपरस्याधिकसत्तानुपगमे इत्यर्थः । समानसत्ताकत्वे उपगन्तव्य इति शेषः । तयोः परस्परविरहव्यापकयोः । सहावस्थानं एकधर्मिणि एकदेशकालावच्छेदे विरोधिताघटकसंबन्धेन वर्तमानत्वं न स्यात् । समसत्ताकयोर्भावाभावयोर्व्यापकविरहव्याप्ययोश्च विरोधादित्यर्थः । ननु—असत्त्वेन रजततदभावयोः, मिथ्यात्वसत्यत्वयोस्तु गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरुद्धमात्रयोः गजे प्रातीतिकत्वेन समसत्ताकयोरिव प्रपञ्चे व्यावहारिकत्वेन समसत्ताकत्वमुचितम् इत्याशङ्क्य तयोर्वैषम्यमाह—तथाचेति । गोत्वाश्वत्वयोरिति । परस्परविरुद्धयोरपीति शेषः । समानाधिकरणप्रातीतिकयोः गजरूपैकधर्मिप्रतिभासमात्रकालस्थायिनोः । समसत्ताकत्वेऽयं हेतुः—परस्परविरहत्वाद्यभावादिति । अविरोधादिति शेषः । प्रपञ्चगतयोः तत्र व्यावहारिकत्वेनाभ्युपेतयोः । सत्यत्वमिथ्यात्वयोरिति । मिथ्यात्वाभावमिथ्यात्वयोरित्यर्थः । मिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्येति पूर्वमूलपक्षः । समसत्तेति । प्रपञ्चे इत्यादिः । समसत्ताकभावाभावयोर्विरोधादिति भावः । तस्मात् प्रपञ्चे मिथ्यात्वमिथ्यात्वे सत्यत्वस्याधिकसत्ताकत्वापत्तिर्दुर्वारेति बोध्यम् । आह—इति । सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहरूपत्वाद्यभावमित्यादिः । ननु—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वाद्यभावः पूर्वमुपपादितः, न तु सत्यत्वमिथ्यात्वयोः इत्यतो व्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्येकासत्त्वादिति भावः । ननु—तथापि परस्पराभावव्याप्यत्वत्तयोर्व्यावहारिकयोर्न सामानाधिकरण्यम् । किंच मिथ्यात्वाभावरूपं सत्यत्वमित्यस्य द्वितीयमिथ्यात्वोक्तिशेषे स्वयमेवोक्तत्वात् परस्परविरहत्वमप्यस्त्येव, एवं तुच्छा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

चष्टे—यथेतीति । प्रकारः युक्तिः । नास्तीति । परस्पराभावयोरेकस्मिन् धर्मिणि एकासत्त्वेऽपरसत्त्वनियमात्, इह तु तन्नियमभङ्गादित्याह—प्रपञ्च इति । तत् परस्पराभावरूपत्वादि । इह तन्नियमभङ्गादित्याह—तुच्छे इति । द्वयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः । प्रत्येकासत्त्वादिति । प्रत्येकाभावद्वयसत्त्वेनैकसत्त्वेऽप्यपरासत्त्वादित्यर्थः । सदसत्त्वानधिकरणत्वं मिथ्यात्वमिति मते त्रिकालाबाध्यत्वमनवच्छिन्नो बाधाभावः, सत्यत्वं तु तदभावो बाध्यत्वं तच्चात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन ज्ञायमानत्वं भावरूपधर्मानाश्रये शुद्धे ब्रह्मणि कदापि नास्ति, तुच्छे तु सदास्ति, प्रातिभासिकरजतादौ तु श्रुत्याधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारोत्तरं, व्यावहारिके तु ब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वं परोक्षबाधेन, उत्तरं तु अपरोक्षबाधे नास्ति; सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमसत्त्वं, तदनधिकरणत्वं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं, तच्च सत्तादात्म्यपर्यवसितम् । एवंच बाध्यत्वविशिष्टं सत्तादात्म्यं सत्तादात्म्यविशिष्टं बाध्यत्वं वा मिथ्यात्वम् । एतच्छरीरे निरुक्तसत्यत्वाभावस्य बाध्यत्वरूपस्य प्रवेशेऽपि बाध्यत्वसामान्यात्यन्ताभावरूपं सत्यत्वं बाध्यत्वघटितविशिष्टरूपमिथ्यात्वस्याभावरूपविशेषाभावानात्मकं तदघटितं च । इमे हि सत्यत्वमिथ्यात्वे ब्रह्मप्रपञ्चयोः परस्परं व्यभिचारिणी, तुच्छे च परस्पराव्यापके । पूर्वमूलं तु प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमिति मताभिप्रायेण । अतएव तन्मतशेष एवोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्येत्युक्तपदोपादानमित्याशयः । ननु—सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहत्वरूपपरस्परविरहव्यापकत्वयोः प्रपञ्चसत्यत्वापत्यवतारभयाजिराकृतत्वात्पुनः तद्वलम्बनेनाशङ्का परस्परविरहरूपत्वेऽपीत्यनेन मूलकृतोऽसङ्गता इत्याशङ्क्य परस्परविरहव्यापकत्वपक्षावलम्बनेनोक्तमूलाशङ्कां सङ्गमयति—ननु तथापीति । परस्परेति । व्यावहारिकमिथ्यात्वे व्यावहारिकसत्यत्वाभावव्याप्यत्वस्य, व्यावहारिकसत्यत्वे च व्यावहारिकमिथ्यात्वाभावव्याप्यत्वस्य निश्चयात् व्यावहारिकसत्यत्वमिथ्यात्वयोः सामानाधिकरण्यम् । स्वेनैव प्रतिबन्धात्तत्त्वज्ञानं न भवतीत्यर्थः । अत एतदन्यथानुपपत्त्या प्रपञ्चवृत्तित्वेन ज्ञायमानमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमभ्युपगच्छता प्रपञ्चवृत्तित्वेन ज्ञायमानसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वं वाच्यम् । तस्य ब्रह्मज्ञानात्पूर्वं व्यवहारकाले बाधाभावेन प्रातिभासिकत्वासंभवात्, गोत्वाश्वत्वयोस्तु व्यावहारिकयोरेव परस्पराभावव्याप्यत्वं; तयोस्तु न गजरूपैकधर्मिकवृत्तित्वज्ञानं, किंतु प्रातिभासिकयोरेव । तयोस्तु न परस्परविरोध इति गजे तयोरेकस्य मिथ्यात्वे नापरस्य सत्यत्वापत्तिरिति शङ्काशयः । ननु—परस्पराभावव्याप्यत्वेन गृहीतयोः प्रपञ्चरूपैकधर्मिवृत्तित्वज्ञानं यदि भवेत्, तर्हि तदन्यथानुपपत्त्या प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चे सत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः स्यात्, तदेव न; तद्धर्माभावव्याप्यत्वेन गृहीतधर्मप्रकारकज्ञानत्वतद्धर्मप्रकारैकधर्मिविशेष्यकज्ञानत्वरूपप्रतिबन्धप्रतिबन्धकतावच्छेदककान्तत्वेन स्वप्रतिबन्धत्वात् । नच—उक्तज्ञानस्य संशयरूपत्वान्न प्रतिबन्धकतेति—वाच्यम्, सति कोटिद्वयमाने संशयत्वं, संशयत्वे कोटिद्वयमानमित्यन्योन्याश्रयात् । कोटिद्वयाभावव्याप्यत्वज्ञाननाशोत्तरमेव संशयोपगमात् । अन्यथा परस्परोत्तेजकताकल्पनापत्त्या गौरवात् । भावद्वयकोटिकसंशयानुपगमाच्च । एवं च परस्परविरहव्याप्यतापक्षे व्यावहारिकसत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चे एकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वापत्तिर्न संभवति । मौलपरस्परविरहरूपत्वपदस्य प्रसिद्धार्थतानुपपत्तिश्च इत्यत आह—किंचेति । मिथ्यात्वेति । प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वेत्यर्थः । एतच्च असद्वृत्तिमिति वृत्तिमादाय तुच्छेऽप्यस्तीति न तत्रैतदभावरूपसत्यत्वाभावानुपपत्तिः । सत्यत्वमिति । इदं च शुद्धे ब्रह्मण्येव, तद्रूपत्वात् पारमार्थिकमस्ति, प्रपञ्चे आरोपितम्, अनयोश्च सत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चे ज्ञानं संशयरूपम् । नच—उक्तरीत्याऽन्योन्याश्रयादिदोषात् कथं तत्संभव ? इति—वाच्यम्; भावाभावकोटिकस्य संशयस्यानुभक्तत्वेन एककोटिज्ञानप्रतिबन्धकतायां कोट्यन्तरे साधारणधर्मवत्ताज्ञानतदधीनकोट्यन्तरोपस्थित्यादेरुत्तेजकलोपगमात्, प्रमाणिकतया गौरवस्यादोषत्वात् । एवं च परस्परविरहरूपोक्तसत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चरूपैकधर्मिणि संशयविषययोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वापत्तिरिति भावः ।

श्रीः ॥ न्यूनताभङ्गाय परस्परविरहव्यापकत्वपक्षेऽप्युक्तापत्तिशङ्कां सङ्गमयितुं सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहव्यापकत्वमाह—तुच्छास्वीकर्तृमते इति । यद्यपि प्रतिपन्नोपाधीत्यादि मिथ्यात्वस्य तुच्छसाधारण्यात्तदभावरूपसत्यत्वस्य

१ एतेन—सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहरूपत्वं नास्तीति कुत्रापि न प्रतिपादितमिति प्रागुपपादितमिति वचनं विप्रलम्भकमिति वचनं पराहतम् ॥ २ अत्र च सदसद्विलक्षणत्वादिरूपमिथ्यात्वसत्यत्वयोरेव परस्परविरहरूपत्वं निराक्रियत इति न पूर्वापरविरोधो ग्रन्थकृतमिति तादृशविरोधापादानं न्यायभास्करकृतां कुट्टिमिव केवलमाविष्करोति ॥

तथोपपादितमधस्तात् । परस्परविरहरूपत्वेऽपि विषमसत्ताकयोरविरोधात्, व्यावहारिकमिथ्यात्वेन

सिद्धिव्याख्या ।

व्यस्य व्यावहारिकसत्यत्वेन विरोधाभावाच्चेत्यभिप्रेत्याह—परस्परविरहरूपत्वेपीत्यादिना काल्पनिक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वीकर्तुमते परस्परविरहव्यापकत्वमप्यस्ति, तत्राह—परस्परविरहरूपत्वेति । परस्परविरहात्मकत्वे परस्परविरह-
व्यापकत्वे परस्परविरहव्याप्यत्वे चेत्यर्थः; परस्परविरहेण रूपं यस्येति व्युत्पत्तेः परस्परविरहस्य रूपं यस्मा-
दिति व्युत्पत्तेश्च व्यापकव्याप्ययोरपि रूपपदेन लाभसंभवात् । ननु—प्रपञ्चे सत्यत्वं मिथ्यात्वविषमसत्ताकमपि
तात्त्विकमेव; अन्यथा 'सत्यं चानृतं च सत्यमभव'दित्यादिश्रुतौ सत्यस्य ब्रह्मणः प्रातीतिकसत्यत्वाश्रयाकाशादि-
प्रपञ्चे शुक्तिरूप्यादौ च कारणवोक्तेरनृतपदं विनापि संभवेन तद्व्यर्थत्वापत्तेः, शुक्तिरूप्यादिव्यावृत्तसत्यत्वस्य सत्य-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शुद्धेऽपि संभवादुक्तसत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहव्यापकत्वं तुच्छस्वीकारेऽप्युपपद्यते; तथाप्युक्तमिथ्यात्वे प्रतिपन्नोपाधि-
घटकप्रतिपत्तेरसन्नशङ्कमिति विकल्पाख्यवृत्तिव्यावृत्तेन स्वप्रकारकधीत्वेन निवेशे परस्परविरहव्यापकत्वासंभवेन तद्वदित-
मिथ्यात्वस्य ब्रह्मणीव तुच्छेऽपि विरहेण सत्यत्वव्यवहारपत्तिरतस्तुच्छस्वीकर्तुमते इत्युक्तम् । इदं तु बोध्यं—नेयं पङ्क्तिः
प्रतिपन्नोपाधीत्यादिमिथ्यात्वतदभावरूपसत्यत्वयोः परस्परविरहव्यापकत्वपरा; परस्परविरहत्वानाकान्तयोरेव पौनरुक्त्यभयेन
तस्य वक्तव्यत्वात् । अत एव परस्परविरहस्य व्यापकत्वं तद्वेदविशेषितम्; अन्यथा परस्परविरहत्ववतोरपि तत्सत्त्वेन तदुक्ते-
र्व्यर्थत्वापत्तेः । अत एव पूर्वं मूले 'यथा परस्परविरहरूपयोः रजततदभावयोः शुक्तौ, यथा वा परस्परविरहव्यापकयोः
रजतभिन्नत्वरजतत्वयोस्तत्रैवेति' पृथगुदाहरणोक्तिः सङ्गच्छते, किंतु प्रथमनिरुक्तावाध्यत्वरूपसत्यत्व—वाध्यत्वविशिष्टसदात्म्य-
रूपमिथ्यात्वयोः परस्परविरहव्यापकत्वपरा; तत्र तुच्छे तयोः प्रत्येकं विरहाभ्यां व्यापकताभङ्गः स्यादिति तुच्छस्वीकर्तुमते
इत्युक्तम् । परस्परविरहव्यापकत्वमप्यस्तीति । तथाच तद्विशिष्टबुद्धौ तद्विरहव्यापकत्वेन गृहीतधर्मवत्ताज्ञानस्या-
विरोधित्वात्तथा गृहीतयोरपि उक्तसत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चे ज्ञानसंभवात्तयोरेकस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चे
सत्यत्वविरहव्यापकमिथ्यात्वविरहपर्यवसितेऽभ्युपगते व्याप्यस्य सत्यत्वविरहस्याभावः सत्यत्वरूप आवश्यक इति प्रपञ्चे
सत्यत्वापत्तिः । सा चोक्तरीत्या सत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वापत्तिपर्यवसितेत्यवतारिकाभिप्रायः । रूपं ज्ञापनम् । अनयाऽव-
तारिकया प्रकाशितां परस्परविरहरूपत्वेऽपीत्यनेन पुनरुत्थापितां प्रपञ्चे सत्यत्वापत्तिं परिहरति मूले—विषमसत्ताकयोर-
विरोधादिति । उक्तत्रिविधपरस्परविरहरूपयोरित्यादिः । अयमभिप्रायः—एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः निरुक्तत्रि-
विधविरुद्धधर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरस्य सत्यत्वमधिकसत्ताकत्वमिति वा न नियमः, किंतु तादृशयोरेकस्यैकधर्मिणि यत्सत्ता-
कत्वमपरस्य तदन्यसत्ताकत्वरूपं विषमसत्ताकत्वमित्येव; यथा शुक्तौ रजतरजतत्वयोः प्रातिभासिकत्वे रजताभावरजतभिन्न-
त्वयोः व्यावहारिकत्वं यथा वा गवाश्वयोः गोलाश्वत्वयोर्व्यावहारिकत्वेऽश्वत्वगोत्वयोः प्रातिभासिकत्वम् । वस्तुतस्तु—
परस्परविरहव्याप्यत्वेन गृहीतयोः व्यावहारिकयोस्तयोरेकस्मिन्नैकदा ज्ञानं गजे तु तयोः प्रातिभासिकत्वेन समसत्ताकयोरपि
संभवः; तयोर्निरुक्तत्रिविधस्यापि विरोधस्याभावादिति । ननु—प्रपञ्चे प्रसक्तयोर्मिथ्यात्वसत्यत्वयोर्मध्ये मिथ्यात्वस्यैकस्य
मिथ्यात्वोपगमे व्यावहारिकसत्ताकत्वोपगमे पर्यवसानात् सत्यत्वस्यापरस्य तदन्यसत्ताकत्वमुक्तव्याप्तिबलात् वाच्यम्;
तच्च प्रातिभासिकसत्ताकत्वरूपमेव संभवति; न तु पारमार्थिकसत्ताकत्वरूपं; ब्रह्मान्यस्यापारमार्थिकत्वेनाद्वैतहान्यप्रसङ्गात् ।
एवं च व्यावहारिकेत्यादिपङ्क्त्या प्रपञ्चसत्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वकथनं व्यर्थम्, एवमुक्तरीत्या प्रपञ्चसत्यत्वस्य प्रातिभासिक-
सत्त्वापहारस्याप्रसक्तेस्तदभावपरत्वं, यथाश्रुते प्रतीयमानं तु सुतराम्, इत्याशङ्क्य तां पङ्क्तिमवतारयति—ननु प्रपञ्च इति ।
प्रातिभासिकत्वे उक्तव्याप्यश्रुतेः तात्त्विकत्वमेवेति कुत इत्यत आह—अन्यथेति । प्रातिभासिकं चेदित्यर्थः । सत्य-
मिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'लौपकमिकं ब्रह्म, सत्यं व्यावहारिकाकाशादिप्रपञ्चरूपेण । अनृतं प्रातिभासिकरजतादि-
रूपेण । अभावात् अविद्यावशात् व्यवर्तते, तद्विवर्तोपादानमिति श्रुत्यर्थः । सत्यस्य द्वितीयसत्यपदार्थस्य । प्रातीतिक-
सत्यत्वाश्रयेति । शुक्तिरूप्यादिसाधारणेत्यादिः । आकाशादीत्यादिना शुक्तिरूप्यं ब्राह्मम् । प्रातीतिकसत्यत्वाश्रये आका-
शादिप्रपञ्चे शुक्तिरूप्यादौ चेति पाठः सुगमः । अनृतपदं विनापीति । प्रपञ्चे प्रातिभासिकसत्यलोपगमे सत्यपदं तादृश-
सत्यत्वाश्रयपरं वाच्यम्; तथाच तेनैव प्रातिभासिकरजतादेरपि संग्रहे अनृतपदं व्यर्थमिति भावः । स्वमते तत्सार्थक्यमाह—
शुक्तिरूप्यव्यावृत्तसत्यत्वस्येति । तच्च प्रकृते व्यावहारिकमिथ्यात्वे विषमसत्ताकमेवेति सत्यपदं मुख्यमपीदानीं भवतीति

व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात्, तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभाववत्

सिद्धिव्याख्या ।

सत्यत्वानपहारादित्यन्तेन । ननु—विषमसत्ताके सत्यत्वमिथ्यात्वे किं रूप्येऽङ्गीक्रियते, किं वा जगति, नाद्यः; शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वं तात्त्विकमित्यग्रे उक्तत्वेन तद्विरोधात् । नान्त्यः; विषमसत्ताकयोस्तयोः प्रपञ्चे त्वयाऽनङ्गीकारात्, अत्रैव सत्यत्वमिथ्यात्वे प्रपञ्चसमसत्ताके इत्युक्तत्वाच्च । तथासत्यप्रातिभासिकत्वेनाङ्गीकृतस्य प्रपञ्चसत्यत्वस्य व्यावहारिकमिथ्यात्वयुक्तस्य तात्त्विकत्वापत्तेर्दुर्वारत्वाच्चेत्याशङ्क्याह—तार्किकमतेति । नचाद्यपक्षे शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वं तात्त्विकमित्यग्रेतनग्रन्थविरोधः, तत्र तात्त्विकपदस्य प्रातिभासिकत्वनिराकरणार्थप्रयोजनकस्य व्यावहारिकत्वपरत्वात् । नच द्वितीयपक्षे विषमसत्तयोस्तयोः प्रपञ्चे त्वयानङ्गीकारादित्युक्तं युक्तं; प्रपञ्चकाल्पनिकमिथ्यात्वस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य चास्माभिरप्यभ्युपगमात् । नच—अत्रैव सत्यत्वमिथ्यात्वे प्रपञ्चसमसत्ताके इत्युक्तत्वात्तद्विरोध इति—वाच्यम्; तदुक्तेः प्रपञ्चस्येव सत्यत्वमिथ्यात्वयोरपि पारमार्थिकत्वं नेत्यभिप्रायकतयाऽविरोधात् । तथाचसत्यप्रातिभासि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पदेन ग्रहणे तु शुक्तिरूप्यादिग्राहकत्वेनानृतपदं सार्थकमिति नाद्वैतहानेः उद्धारः, तत्राह—व्यावहारिकेति । व्यावहारिकसत्यत्वेति । प्रातीतिकान्यसत्यत्वेत्यर्थः । काल्पनिकेति । प्रातीतिकेत्यर्थः । शुक्तिरूप्यादौ व्यावहारिकस्य मिथ्यात्वस्य प्रातीतिकस्य सत्यत्वस्य च दृष्टत्वेन प्रपञ्चेऽपि तादृशे ते कल्प्येते, शुक्तिरूप्यादाविव प्रपञ्चे मिथ्यात्वाज्ञानेन सत्यत्वस्योत्पत्तेरिव प्रपञ्चे मिथ्यात्वप्रमथा तादृशाज्ञानतत्कार्यसत्यत्वयोरुच्छेदस्य स्वीकारात् ब्रह्म-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

बोध्यम् । अतएव इति । एतावतापि प्रपञ्चे पारमार्थिकसत्यत्वानिराकरणादित्यर्थः । अद्वैतहानेः पूर्वपक्षिताया इति शेषः । मूले—व्यावहारिकमिथ्यात्वेनेति । प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वोपगमे घटादिवत् ब्रह्मज्ञानात्पूर्वमबाधेन व्यापकत्वेनोपगम्येन प्रपञ्चमिथ्यात्वेनेत्यर्थः । व्यावहारिकसत्यत्वस्य सत्यत्वव्यावहारिकत्वस्य । अपहारेऽपि इति । विषमसत्ताकत्वघटितव्याप्तिबलात् । नच—विरुद्धयोरेकस्यैकस्मिन् यत्सत्ताकत्वमपरस्य तदन्यसत्ताकत्वमिति हि व्याप्तिः, एवं च प्रपञ्चे मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे सत्यत्वस्य तदन्या सत्तास्तु; व्यावहारिकत्वाभावः कुत इति ?—वाच्यम्; एकस्य यत्सत्ताकत्वं अपरस्य तत्सत्ताविरहविशिष्टस्य तदन्यसत्तावत्त्वस्य त्रिविधान्यतमसत्तावत्त्वस्य वा तत्सत्ताविरहवत्वमात्रस्यैव वा व्याप्तौ प्रवेशादिति भावः । तथापि प्रपञ्चसत्यत्वस्य तात्त्विकत्वसंभवे प्रातीतिकत्वं कुतः ? इत्यतो व्याचष्टे टीकायां—प्रातीतिकान्यसत्यत्वेत्यर्थ इति । अयं भावः—प्रपञ्चसत्यत्वस्य व्यावहारिकत्वं व्यवहारकालाबाध्यत्वं, तस्यापहारे व्यवहारकालाबाध्यत्वं, तस्मिन् सति बाध्यत्वसामान्याभावरूपं सत्यत्वमपि न संभवति; प्रातीतिकालाबाध्यत्वे सति बाध्यत्वरूपं प्रातीतिकत्वं तु संभवतीति । कल्पना नार्थापत्तिः, प्रामाणिकत्वापत्तेः, अतो व्याचष्टे—प्रातीतिकेत्यर्थः । मूलेऽनपहारादिति । अपहाराभावेन विषमसत्ताकत्वघटितव्याप्त्यक्षतेरद्वैतहानिपूर्वपक्षनिरासादित्यर्थः । न चैवं—उक्तश्रुतौ अनृतपदवैयर्थ्यापत्तिरिति—वाच्यम्; सत्यपदस्य प्रातीतिकसत्यत्वाश्रयपरत्वग्राहकतया तत्सार्थक्यसंभवात्, सत्यपदस्य व्यवहारकालाबाध्यपरत्वे अनृतपदसार्थक्यस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वाच्च । किंच यन्निष्ठमिथ्यात्वं व्यावहारिकं तन्निष्ठसत्यत्वं प्रातीतिकमिति व्याप्त्यन्तरेणापि प्रपञ्चनिष्ठमिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वात् प्रपञ्चनिष्ठं सत्यत्वं प्रातीतिकमिति वक्तुमुक्तव्याप्त्यन्तरग्राहकं दृष्टान्तमाह—शुक्तिरूप्यादाविति । व्यावहारिकस्य मिथ्यात्वस्येति । प्रातीतिके शुक्तिरूप्ये व्यावहारिकसाधारणव्यावहारिकरजतत्वस्यैव व्यावहारिकमिथ्यात्वस्य स्वीकर्तुं शक्यत्वात्, ब्रह्मज्ञानात्पूर्वं शुक्तिरूप्यं न मिथ्येति व्यवहाराभावात्, शुक्तिरूप्यं मिथ्येति व्यवहारस्य च सत्त्वादिति भावः । तादृशे व्यावहारिकप्रातीतिके । ते मिथ्यात्वसत्यत्वे । प्रपञ्चगतसत्यत्वे प्रातीतिकत्वव्यापकयोस्तूलानोपादानकत्वब्रह्मज्ञानपूर्वमाविज्ञानोच्छेद्यत्वयोरभावात् प्रातीतिकत्वस्याप्यभाव इत्याशङ्क्योक्तव्यापकविरहः प्रपञ्चसत्यत्वे नास्तीत्याह—शुक्तिरूप्यादाविवेति । उत्पत्तेरिवेतीवकारान्तरेण यत् यत्प्रकारकाज्ञानकार्यं, तत् समानविशेष्यकतत्प्रकारकाज्ञानोच्छेद्यमिति व्याप्त्यन्तरं सूचितं, तत्फलमाह—प्रपञ्चे मिथ्यात्वप्रमयेति । स्वीकारादिति । एतच्छब्दहेतुकं प्रपञ्चगतसत्यत्वं प्रातीतिकं, ब्रह्मप्रमान्यप्रमाबाध्यत्वात्, शुक्तिरूप्यगत-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रमान्यप्रमावाध्यत्वेन शुक्तिरूप्यादिगतस्यैव प्रपञ्चगतस्यापि सत्यत्वस्य प्रातीतिकत्वं युक्तम्; उक्तश्रुतौ च सत्यपदस्य व्यवहारकालाबाध्यपरत्वेन नानृतपदं व्यर्थमिति भावः । ननु—प्रपञ्चे मिथ्यात्वाज्ञानं न तत्र सत्यत्वोत्पादकम्, किंतु प्रपञ्चोत्पादकाज्ञानमेव; तस्यैव ब्रह्मप्रपञ्चयोः परस्परतादात्म्याध्यास इव तद्धर्मयोः परस्पराधिकरणे संसर्गाध्यासेऽपि हेतुतया क्लृप्तत्वेन नित्यत्वादेरिव सत्यत्वस्यापि ब्रह्मधर्मस्य प्रपञ्चे तदुपादानाज्ञानादेव संसृष्टरूपेणोत्पत्तिसंभवेन मिथ्यात्वाज्ञानस्य सत्यत्वोत्पत्तिहेतुत्वकल्पनागौरवस्यान्याय्यत्वात् । एवंच ब्रह्मप्रमयैव तादृशसत्यत्वोच्छेदः, प्रपञ्च-मिथ्यात्वप्रमया तु तादृशसत्यत्वबुद्धावप्रमात्वधीमात्रं जन्यते । अतएव शुक्तिरूप्यादावपि तथैव स्वीक्रियते । किंच यत्र

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सत्यत्ववदित्यनुमानान्तरमप्याह—ब्रह्मप्रमान्यप्रमावाध्यत्वेनेति । एवं सत्युक्तमनृतपदवैयर्थ्यं परिहरति—उक्त-श्रुताविति । ननु—प्रपञ्चे व्यावहारिकमिथ्यात्ववैषम्येण सत्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वव्यवस्थापनेनैवाद्वैतहानेरुद्धारात् मूले संयोगतदभावदृष्टान्तेन सत्यत्वमिथ्यात्वयोः व्यावहारिकयोः समुच्चयाभिधानं व्यर्थम् इत्याशङ्क्य प्रपञ्चे सत्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वनिरासेन व्यावहारिकत्वं व्यवस्थाप्य मिथ्यात्वस्य विरोधेन तत्समसत्ताकत्वासंभवात् प्रातीतिकत्वापत्त्या प्रपञ्चसत्यत्वापत्तौ अद्वैतहानितादवस्थशङ्कया तदभिधानं सार्थकयितुमवतारयति—ननु प्रपञ्च इत्यादिना । ननु तद्धर्मिकतत्प्रकारकाज्ञानमेव तद्धर्मिणि तदभावोत्पत्तौ कारणं, न तु तद्धर्म्युत्पादकाज्ञानं स्वविषयीभूतधर्म्यन्तरधर्मो-त्पत्तौ इत्यत आह—तस्यैवेति । ब्रह्मविषयकस्य प्रपञ्चरूपधर्मिजनकाज्ञानस्यैवेत्यर्थः । क्लृप्तत्वेनेति । रजुसर्पा-ध्यासजनकरज्वज्ञानस्य भयजनकत्ववक्रत्वरूपपरस्परधर्माध्यासजनकत्वदर्शनादुक्तसामान्यहेतुत्वस्यावश्यकत्वादिति भावः । प्रपञ्चे मिथ्यात्वाज्ञानस्य सत्यत्वोत्पादकत्वस्वीकारेऽपि प्रपञ्चोत्पादकब्रह्माज्ञानस्य प्रपञ्चे ब्रह्मधर्मजनकत्वकल्पनस्य फला-न्तरमाह—नित्यत्वादेरिवेति । नच—अत्राप्यनित्यत्वाज्ञानं कारणं नित्यत्वज्ञानं च निवर्तकमिति—वाच्यम्; प्रपञ्चे ब्रह्मतादात्म्याध्यासे ब्रह्माज्ञानहेतुत्वस्य प्रपञ्चे ब्रह्माद्यधिष्ठानगतभूयोधर्माध्यासे तद्विपरीतधर्माज्ञानहेतुत्वस्य च कल्पने एकस्य शुद्धब्रह्माज्ञानस्य प्रपञ्चे सकलब्रह्मधर्माध्यासं प्रत्येकहेतुत्वकल्पनापेक्षया गौरवात् । तदुपादानेति । प्रपञ्चोपा-दानब्रह्माज्ञानादेवेत्यर्थः । एतेन—प्रपञ्चरूपधर्म्युत्पादकत्वेनावश्यकृतत्वं ब्रह्माज्ञानस्य—सूचितम् । प्रतिपन्नोपाधौ त्रैका-लिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपधर्मस्य कथमध्यासः ? तत्राह—संसृष्टरूपेणेति । अध्यस्यमानं यत् तदीयसंसर्गविशिष्टत्वेनोक्तप्रतियोगित्वरूपं यत् मिथ्याभूतं मिथ्यात्वं, तत्प्रतियोगिकाभावत्वेन रूपेणेत्यर्थः । मिथ्यात्वाज्ञानस्य मिथ्यात्वानित्यत्वाद्यज्ञानस्य । हेतुत्वे कल्पने चान्वयः । सत्यत्वोत्पत्तीति । सत्यत्वनित्यत्वा-द्युत्पत्तीत्यर्थः । ननु प्रपञ्चसत्यत्वे मिथ्यात्वप्रमोच्छेद्यत्वे प्रातिभासिकत्वापत्तिरत आह—एवं चेति । यद्वा—नन्वेवं प्रपञ्चे मिथ्यात्वज्ञानस्य सत्यत्वोच्छेदकत्वं न स्यात्, सत्यत्वोपादानब्रह्माज्ञानस्यासमानविषयकत्वादनुच्छेदकत्वात् इत्या-शङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—एवं चेति । प्रपञ्चसत्यत्वादेः प्रपञ्चोपादानब्रह्माज्ञानोपादानकत्वे चेत्यर्थः । ब्रह्मप्रमयैवेति । स्वसमानविषयकब्रह्मज्ञानजन्यत्वात्सत्यत्वादेरिति भावः । एवकारेण तदसमानविषयकमिथ्यात्वप्रमाव्यवच्छेदः । तेन च प्रपञ्चसत्यत्वस्य प्रातीतिकत्वनिरासः । तादृशसत्यत्वस्येति । ब्रह्माज्ञानजन्यसत्यत्वस्येत्यर्थः । ननु—प्रपञ्चे मिथ्या-त्वप्रमाया सत्यत्वाध्यासानिवर्तकत्वे, सत्यामपि मिथ्यात्वप्रमायां प्रपञ्चे सत्यत्वज्ञानसंभवात् प्रपञ्चवैराग्यासंभवः, अद्वैत-सिद्ध्यसंभवश्च; एवं च मिथ्यात्वनिश्चयवैयर्थ्यात् श्रुत्यादौ महता प्रयासेन तदुपादानं व्यर्थम् इत्यत आह—प्रपञ्च-मिथ्यात्वप्रमयात्विति । तादृशेति । उक्तप्रमोत्तरोपस्थितायां सत्यत्वबुद्धौ प्रकारीभूतमिथ्यात्ववति धर्मिणि मिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वप्रकारकत्वरूपस्याप्रमात्वस्य धीनिश्चयो जन्यते । मात्रपदेन सत्यत्वतद्बुद्धोरनुच्छेदो बोध्यते । मिथ्यात्वाज्ञानोच्छेदस्तु, जन्यत एवेति बोध्यम् । एवंचाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितसत्यत्वज्ञानाभावाच्च प्रपञ्चे मिथ्यात्वनि-श्चयवतां रागादिसंभवः, न वाऽद्वैतसिद्धिप्रतिबन्ध इत्यद्वैतसिद्धिसंपत्त्या मूलाज्ञानस्यापि निवृत्त्या सकलधर्मविशिष्टप्रपञ्च-निवृत्तिसिद्ध्यै मुक्तिसिद्धिरिति भावः । ननु—शुक्तिरूप्ये मिथ्यात्वज्ञानाज्ञानयोः सत्यत्वतदुच्छेदजनकत्वस्य दृष्टस्य त्यागप्रसङ्ग इत्यत आह—अतएवशुक्तिरूप्यादावपीति । तथैवेति । शुक्लज्ञानमेव रजतोत्पादकं रजतसत्यत्वो-त्पादकं, ननु रजतमिथ्यात्वाज्ञानं; रजतमिथ्यात्वज्ञानं तु रजतसत्यत्वज्ञाने भ्रमत्वग्राहकं न तन्निवर्तकं, निवर्तकं तु शुक्ति-

१ यच्चूक्तं न्यायभास्करे—प्रपञ्चगतसत्यत्वस्य प्रातीतिकत्वे प्रपञ्चस्यापि प्रातिभासिकत्वापत्त्यार्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः—इति; तत्र; प्रपञ्चस्यैव मिथ्यात्वेनाज्ञातस्यासत्यत्वाधिष्ठानत्वमित्यभिप्रायेण प्रवृत्तेः, उक्तप्रकारे रूप्यमिथ्यात्वेन शुक्तिमिथ्यात्वापादनस्यैवोक्तापादान-स्याप्यसंभवदुक्तिवात् । अस्तुवा प्रातीतिकत्वं, तावताऽपि स्वामावगाहनादिप्रातिभासिकानामप्यर्थक्रियाकारित्वस्याद्वैतसिद्ध्यदौ सामान्य-तोऽनुमाननिराकरणप्रकरणे उपपादितत्वेनार्थक्रियाकारित्वोपपत्त्या तदनुपपत्त्यभावाच्चेति ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्यत्वस्यारोपस्तद्वृत्तिमिथ्यात्वाज्ञानस्य तद्वेतुतास्वीकारे सत्यत्वस्य तत्संसर्गस्य च प्रतीयमानस्योत्पत्तिः तादृशाज्ञानाधीना स्वीकार्या; शुक्तित्वाज्ञानाधीनेव शुक्तित्वाभावतत्संसर्गोत्पत्तिः, यत्र सत्यत्वारोपस्तज्ज्ञानकाज्ञानस्य तद्वेतुत्वस्वीकारे तु पूर्वसिद्धस्याधिष्ठानगतस्य सत्यत्वस्य संसर्गमात्रोत्पत्तिस्तादृशाज्ञानाधीना स्वीकरीति लाघवम् । तस्माच्छुक्तिरूप्यादिनिष्ठस्य सत्यत्वस्य ब्रह्मप्रमान्यबाध्यत्वात् प्रातीतिकवेऽपि प्रपञ्चनिष्ठस्य सत्यत्वस्य ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वाद्वावहारिकत्वमेव युक्तमित्याशङ्क्य व्यावहारिकयोरेव सत्यत्वमिथ्यात्वयोरविरोधं सदृष्टान्तमाह—संयोगेत्यादि । यथा गोत्वतदभावादस्थले सामान्यतो दृष्टोऽपि विरोधः संयोगतदभावादस्थले एकावच्छेदेनैव स्वीक्रियते तार्किकादिभिः, तथा सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहादिरूपयोरविरोधोऽस्माभिः स्वीक्रियते; प्रमाणस्य तेषामिवास्माकमपि सत्त्वात् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञानमित्येवेत्यर्थः । स्वीक्रियते इति । अतएव उक्तरीत्या लाघवादेवेति हेतुरत्रान्वेति । ननु—प्रपञ्चे मिथ्यात्वादज्ञाननिवर्त्यत्वेनानुभवसिद्धानि मिथ्यात्वाद्यज्ञानानि क्लृप्तान्येव, तेषां च अज्ञानत्वेन स्वसमानधर्मिकस्वप्रकारविपरीतप्रकारकाध्यासे एकहेतुत्वमेव मयापि स्वीक्रियत इति क गौरवम् इत्याशङ्क्य तत्पक्षे गौरवान्तरमाह—किंचेति । यत्र आकाशादौ सत्यत्वस्येति । ननु एतत्पक्षेऽपि ब्रह्मनिष्ठसत्यत्वस्य संसर्ग एव प्रपञ्चे मिथ्यात्वाज्ञानादुत्पद्यतां, ननु सत्यत्वमपि इत्यत आह—शुक्तित्वाज्ञानाधीने वेति । शुक्तौ इत्यादिः । शुक्तित्वाभावस्योत्पत्त्यनङ्गीकारे शुक्तित्वाभावस्य रजतस्येव प्रत्यक्षत्वं न स्यात् । किंचैवं रजतस्यापि शुक्तौ संसर्ग एवाध्यस्यतां, न तु स्वरूपेण रजतमपीति संसर्गातिरिक्तप्रपञ्चस्यानध्यस्ततया ब्रह्मवत्सत्यत्वापत्तिः, नच—बाधान्न सत्यतेति—वाच्यम्; बाधस्यापि संसर्गविषयकत्वसंभवात् । एतेन प्रत्यक्षविरोधोऽप्यपास्तः । तस्मात् सकलप्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धान्ते 'रजतं पश्यामी'त्यनुभव'त्रेदं 'रजत'मिति बाधसंरक्षणार्थं तदुत्पादकाज्ञानं, तत्र स्वविषयीभूताधिष्ठानस्य तन्निष्ठधर्मस्य च संसर्गोत्पादकं, तादृशाधिष्ठाने च तत्पूर्वसिद्धस्य तदधिकसत्ताकस्य तद्धर्मस्य संसर्गोत्पादकं यथा, तथा मूलाज्ञानं स्वविषयीभूते ब्रह्मणि प्रपञ्चं देहेन्द्रियादिरूपं तादात्म्येन तद्धर्मगौरवान्धत्वादिसंसर्गं च युगपदुत्पादयत् देहादिप्रपञ्चे ब्रह्मणस्तादात्म्यं ब्रह्मधर्मनित्यत्वसत्यत्वादिसंसर्गं चोत्पादयति । प्रपञ्चस्यान्यत्राप्रसिद्धस्योत्पत्तिरावश्यकता, इतरेषां तु प्रसिद्धत्वात् संसर्गोत्पत्तिरेव । प्रपञ्चे मिथ्यात्वानित्यत्वाद्यज्ञानं तु न प्रपञ्चोत्पादकं, न वा ब्रह्मविषयकम्; अतो न ब्रह्मधर्मनित्यत्वसत्यत्वादिसंसर्गजनयितुमीष्टे । अतः स्वधर्मिणि स्वप्रकारविपरीतधर्मरूपसत्यत्वनित्यत्वाधीनपूर्वानेव जनयति । अतएव शुक्तौ शुक्त्यज्ञानजनन्यानां शुक्तित्वाभावाधीनां प्रत्यक्षत्वं, शुक्तौ शुक्त्यज्ञानस्य रज्जुसर्पानुत्पादकत्वाच्च तद्धर्मभयजनकत्वसंसर्गाध्यासः, रजतजनकशुक्त्यज्ञाने रज्जोरविषयत्वात् न शुक्तिरजते रज्जुधर्मवत्त्वादिसंसर्गारोपः, न वा रज्जौ रजततद्धर्मसंसर्गयोरध्यासः । घटे मिथ्यात्वाज्ञानात्पटे सत्यत्वस्य घटे च नित्यत्वस्याध्यासापत्तिरतः स्वधर्मिणि इति; स्वप्रकारविपरीतधर्मप्रकारेतिचोक्तम् । यद्यपि ब्रह्माज्ञानेन प्रपञ्चे ब्रह्मधर्मसत्यत्वसंसर्गाध्यासे, प्रपञ्चमिथ्यात्वाज्ञानेन प्रपञ्चेऽपूर्वसत्यत्वतत्संसर्गयोरध्यासे वा, प्रपञ्चे दाढ्याद्वैराग्यासंभवफले न विशेषः; तथापि दृष्टानुरोधित्वात्कल्पनाया उक्तनिग्रहद्वयं स्वीकृत्य लाघवमुक्तम् । ननु शुक्त्यज्ञानेन स्वोत्पादितरजते स्वविषयशुक्तीदमंशनिष्ठस्य व्यावहारिकसत्यत्वस्य संसर्गोऽध्यस्यते, एवं च शुक्तिरजतस्यापि व्यावहारिकमेव सत्यत्वं स्यात्; यदि अध्यस्यमानसंसर्गस्य प्रातीतिकत्वात् संसृष्टरूपेण सत्यत्वस्यापि प्रातीतिकत्वमित्युच्यते, तदा शुक्त्यज्ञानजन्यरजताध्यस्तस्वविषयनिष्ठसत्यत्वसंसर्गवत् तत् संसृष्टसत्यत्ववच्च ब्रह्माज्ञानजन्यप्रपञ्चाध्यस्तस्वविषयब्रह्मनिष्ठसत्यत्वसंसर्गस्य तत्संसृष्टसत्यत्वस्य च प्रातीतिकत्वानुमानमाशङ्क्य ब्रह्मप्रमान्यप्रमाबाध्यत्वरूपोपाधिना निरस्तितुं प्रपञ्चसत्यत्वरूपपक्षे ब्रह्मप्रमामात्रबाध्यत्वादुपाध्यभावोक्त्योपाधेः साधनाव्यापकत्वं धृत्यन् प्रपञ्चसत्यत्वस्य व्यावहारिकत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वात् तन्मात्रबाध्यत्वात् । व्यावहारिकत्वमेव युक्तमिति । तथाच समसत्ताकभावाभावयोर्विरोधात् परस्परभावरूपमिथ्यात्वसत्यत्वयोर्व्यावहारिकयोरेकस्मिन् प्रपञ्चेऽवस्थानासंभवेनोक्तरीत्या प्रपञ्चे सत्यत्वस्य व्यावहारिकत्वसिद्धौ तद्विरोधात् मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वासंभवात् ब्रह्मान्यत्वेनापारमार्थिकत्वात् प्रातिभासिकत्वापत्त्या प्रपञ्चसत्यत्वापत्त्या अद्वैतहानितादवस्थमिति शङ्काभिप्रायः । ननु संयोगतदभावयोरेकस्मिन् वृक्षे 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी नात्रे' इति प्रतीतिवत्त्वात् समुच्चयाभ्युपगमेऽपि प्रपञ्चे सत्यत्वमिथ्यात्वयोः कथं समुच्चयाभ्युपगमः इत्याशङ्क्याह—यथा गोत्वतदभावादस्थले इति । गोत्वाभावादौ गोत्वाद्यधिकरणवृत्तित्वाभावदर्शनेन निश्चीयमानोऽप्यभावत्वावच्छेदेन स्वप्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वाभावरूपो विरोधः, कृष्णसंयोगाभावे कृष्णसंयोगवृत्तिवत्प्रहविरोधेन व्याप्यवृत्तिगोत्वाभावत्वावच्छेदेनैवेति निश्चीयते; अव्याप्यवृत्तिकृष्णसंयोगाद्यभावत्वावच्छिन्ने तु एकदेशकालावच्छेदेन स्वप्रतियोगिमदवृत्तित्वरूप एव स्वीक्रियते निश्चीयते, ननु स्वप्रतियोगिमदवृत्तित्वसामान्याभावरूप इति

सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयाभ्युपगमाच्च । एकस्य साधकेन अपरस्य बाध्यत्वं विषमसत्ताकत्वे

सिद्धिव्याख्या ।

कत्वेनाङ्गीकृतस्य प्रपञ्चस्य व्यावहारिकमिथ्यात्वयुक्तस्य तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभावदृष्टान्तेन समुच्चये

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नचैवं—अभेदोपादाना भेदकल्पनेत्यादिरूपा भेदाभेदयोर्मिन्नसत्ताप्रतिपादनपरा भामती विरुद्ध्येत, सामानाधिकरण्य-प्रत्ययबलात्तयोः समानसत्ताकत्वस्यैव युक्तत्वादिति—वाच्यम्; संभवप्रानुर्यात् भामत्यां तथोक्तत्वात् । समसत्ताकयो-रपि भावाभावयोः स्वप्नवदविरोध इत्युक्तमेवेति भावः । ननु यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकं नोभयवृत्ति, तत्राप्येकमिथ्यात्वे अपरस्याधिकसत्तायां का युक्तिः ? तत्राह—एकसाधकेनेत्यादि । प्रयोजकं व्याप्यम् । यथोर्विरुद्धयोरेकस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

यथेत्यर्थः । **अविरोधः** उक्तविरोधद्वयस्याप्यभावः एकदेशकालावच्छेदेनैकधर्मिवृत्तित्वम् । **अस्माभिः** स्वनिष्ठसत्यत्वमिथ्यात्व-सहितप्रपञ्चमिथ्यात्ववादिभिः । तादृशविरोधमुपमृष्टैव दृश्यसामान्ये मिथ्यात्वस्य श्रुत्यनुमानाभ्यां साधनात् । **प्रमाणस्येति** । सत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चनिष्ठपरस्पररामकस्वान्यूनसत्ताकाभावघटितमिथ्यात्वं गृह्यती श्रुत्यनुमाने एव ब्रह्मप्रमामात्रवाध्य-त्वेन व्यावहारिकयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः प्रपञ्चसमुच्चयेन प्रमाणे इति भावः । अत्र वाचस्पत्यग्रन्थविरोधः शङ्क्यते—**नचैव-मिति । अभेदोपादानाभेदकल्पनेति** । “तस्माद्भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन्नवहेयेऽभेदोपादानैव भेदकल्पना, न भेदोपादा-नाऽभेदकल्पनेति युक्तं; भिद्यमानतन्त्रत्वात् भेदस्य, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात् । एकाभावे चानाश्रयस्य भेदस्यायोगात्; एकस्य च भेदानधीनत्वात्, नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वात् अभेदोपादानैवानिर्वचनीयभेदकल्पनेति सांप्रतं; तथाच श्रुतिः मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इति हि पूर्वोत्तरसंदर्भः । **तदुपरि कल्पतरुः**—“विरोधादन्यतरवाधेऽप्यभेदो बाध्य” इति सौगतमतमाशङ्क्याह—**अभेदोपादानेति** । भेदः धर्मिप्रतियोगिनोर्व्यासज्य वर्तते, उत प्रतियोगिनमपेक्ष्य धर्मिण्येव; **आद्ये** धर्मिप्रतियोगिनोः प्रत्येकवर्त्येकत्वापेक्षेत्युक्त्वा **द्वितीये** धर्म्यैक्यापेक्षेत्याह—**एकाभावेचेति** । ततः सत्तायामभेदापेक्षत्वात् भेदस्य, स एवाभेदेऽध्यस्त इत्यर्थः । प्रतीतावपि भेदस्यैवाभेदापेक्षेत्याह—**नायमिति** । मृत्तिकेति श्रुतिः कारणमेव सत्यमित्याह **अतोऽत्यन्ताभेदपरेति** सहिततद्वन्धः । तत्र **अभेदः** एकत्वं, तस्य भेदनिरपेक्षतया पूर्वसि-द्धस्योपादानम्, अधिसत्ताकत्वेन ग्रहणमपेक्षणं यस्यां भेदकल्पनायां सा तथा । अभेदः सत्यत्वात् भेदप्रयोजकत्वाच्चोपादेयः भेदस्तु कल्पितत्वात् अभेदप्रयोज्यत्वाच्च हेय इत्यर्थः । यथा नीलो घट इत्यत्रैकस्मिन्नेव घटे नीललघटलरूपोपाधिभेदात् भेदः कल्प्यते । अतः सामानाधिकरण्यप्रत्ययः । घटो घट इति तु न प्रत्ययः; उपाधिभेदस्याप्यभावेनोपधये भेदस्याकृतेः । नैवं क्वचिद्भेदोपादानाभेदकल्पना, गवाश्वयोः भेदे सत्यपि तत्र केनाप्युपाधिनाऽभेदस्य कल्पनाविरहादिति न गौरव इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययः । यद्यपि भिन्नयोरपि वृक्षाघोरभेदध्रमो जायते, एवं सामानाधिकरण्यप्रत्ययोऽपि; तथापि भेदस्यापेक्षारूपोपादानं नास्ति, अभेदज्ञानपूर्वकमेव सर्वत्र भेदज्ञानानभ्युपगमादित्यर्थः । **सामानाधिकरण्येति** । नीलो घट इत्यादिप्रत्ययानां व्यावहारिकप्रमात्वानुरोधादित्यर्थः । **संभवप्रानुर्यादिति** । प्रायोविषमसत्ताकयोरेव भावाभावयोः समुच्चयः, क्वचित्तु समसत्ताकयोरपीत्यर्थः । **स्वप्नवदिति** । स्वाप्निकगजतदभावयोरिवेत्यर्थः । **ननु** शुक्तिरूप्यतदभावयोः शुक्तौ विषमसत्ताकत्वं, सत्यत्वमिथ्यात्वयोस्तु प्रपञ्चे समसत्ताकत्वं; तत्केन विशेषेण **इत्याशङ्कायां** शुक्तिरूप्यतदभावयोः परस्परविरहरूपत्वेन शुक्तौ निषेध्यतावच्छेदकस्य रजतत्वस्य तदुभयावृत्तित्वेन शुक्तौ रूप्याधिकसत्ताकत्वं तदभावस्य । प्रपञ्च-सत्यत्वमिथ्यात्वयोस्तु परस्परविरहरूपत्वाभावेन निषेध्यतावच्छेदकदृश्यत्वादेस्तदुभयवृत्तित्वेन तयोः समसत्तात्वं व्यावहारि-कत्वेनेति विशेषस्य प्रदर्शितत्वात्, **एकसाधकेनेति** पङ्क्त्या विषमसत्ताकत्वप्रयोजकान्तरकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्याप्रयोजकत्व-शङ्क्या तां पङ्क्तिमवतारयति—**नन्विति** । यत्र शुक्तौ प्रसक्तयो रूप्यतदभावयोः । **मिथ्यात्वावच्छेदकं** शुक्त्यादिनि-ष्ठाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं रजतत्वं रजताभावत्वं वा, **नोभयवृत्ति** न रजततदभावोभयवृत्ति; **एकस्य** रजतस्य मिथ्या-त्वेऽपरस्य रजताभावस्याधिकसत्तायां रजतीयप्रातिभासिकसत्ताधिकव्यावहारिकसत्तायां का युक्तिः अनुपगतायां को दोष इत्यर्थः । अत्रावतरणेऽधिकसत्तायामित्युक्त्या, अवतार्यमूलस्य विषमसत्ताकत्वे इत्यस्य एकस्यापरापेक्षया अधिसत्ताकत्वे इत्यर्थ इति सूचितम् । **मूले**—एकसाधकेनेत्यस्य एकस्मिन् धर्मिणीत्यादिः । बाध्यत्वाभावरूपसत्ताया नित्यत्वात् तत्प्रयोज-कत्वोक्तेरसङ्गतिरतो व्याचष्टे—**प्रयोजकं व्याप्यमिति** । अविरुद्धयोः द्वयोरेकसाधकं नापरस्य बाधकम्, एवं शुक्तिरूप्य-तदभावयोरेकसाधकेन अपरस्य बाध्यत्वं रजुसर्पतदभावयोर्विषमसत्ताकत्वे न प्रयोजकमतो व्याचष्टे—**यथोर्विरुद्धयो-**

प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यतदभावयोः । एकबाधकबाध्यत्वं च समसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा

सिद्धिव्याख्या ।

विरोधाभावाद्यावहारिकत्वमेवेति न कोऽपि दोष इति भावः । एकबाधकबाध्यत्वं चेति । नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साधकं ज्ञानमपरस्य बाधकं तयोर्भिन्नसत्ताकत्वनियमः, 'यदि तयोर्भिन्नसत्ताकत्वं न स्यात्, तदा बाध्यबाधक-
धीविषयत्वं न स्यात् शुक्तिरूप्ययोरिवे'ति हेतुच्छित्तिप्रसङ्ग एव विपक्षे बाधकः । अथवा ननु—मिथ्यात्वाव-
च्छेदकस्योभयावृत्तित्वेऽप्येकमिथ्यात्वे अपरस्याधिकसत्ता मास्तु; विरुद्धयोरेकत्र प्रसक्तयोर्भयावृत्तिरूपेणैकस्य मिथ्यात्वे
अपरस्याधिकसत्तेति नियमाभावात्, गजे प्रसक्तयोर्गोत्वाश्वत्वयोरत्र गोत्वं नास्ति अत्राश्वत्वं नास्तीति प्रत्येकरूपेण
निषेधेऽपि समसत्ताकत्वात्, तत्राह—एकबाधकेति । तथाचोक्तनियमाभावेऽपि यत् यद्बाधकधीविषयः तत्
तदधिकसत्ताकमिति नियमोऽस्त्येव । एकसाधकेनापरस्य बाध्यत्वमुभयावृत्तिरूपेणैवेत्यभिप्रायेणोभयवृत्ति न

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रिति—एकस्य यस्य यस्मिन् धर्मिणि । साधकं ग्राहकमानम् । अपरस्य यस्य बाधकं यद्धर्मिणि स्वप्रयोजकाज्ञान-
निवृत्तिसहितनिवृत्तिप्रयोजकम् । यस्मिन् धर्मिणि ययोर्भिन्नसत्ताकत्वनियमः; तस्य तत्सत्ताधिकसत्ताकत्वनियमः । प्रथमय-
त्तदो रजताभावोऽर्थः । ग्राहकप्रमाणं 'नेदं रजत'मिति ज्ञानं, तज्जनकं 'इयं शुक्ति'रिति ज्ञानं च द्वितीययत्तदोरर्थस्य शुक्तौ
रजतस्योपादानाज्ञाननिवृत्तिसहितनिवृत्तिप्रयोजकं, रजताभावश्च शुक्तौ रजतसत्ताधिकसत्ताक इति नियमसङ्गतिः । अवत-
रणोक्ताप्रयोजकलशङ्कावारणायानुकूलतर्कमाह—यदीति । तयोर्भिन्नसत्ताकत्वं रजताभावस्य शुक्तौ रजतसत्ताधि-
कसत्ताकत्वं, न स्यात्, तदा शुक्तौ बाध्यबाधकधीविषयत्वं रजतबाधकधीविषयत्वं, रजतबाधकधीजन्यधीविषयत्वं
वा न स्यात् इत्यर्थः । अत्र यस्य यद्धर्मिणि यत्सत्ताधिकसत्ताकत्वाभावः, तस्य तद्धर्मिणि तद्बाधकधीविषयत्वाभाव इति
व्याप्तिरुपपत्तिरिति; तद्बाधकं दृष्टान्तमाह—शुक्तिरूप्ययोरिवेति । कमिकभ्रमविषययोरित्यादिः । द्वितीये स्वप्रथमसत्ता-
धिकसत्ताविरहवति प्रथमबाधकधीविषयत्वाभाव इत्यर्थः । हेतुच्छित्तिप्रसङ्गः । शुक्तिनिष्ठे रजताभावरूपपक्षे शुक्तौ
रजतबाधकधीविषयत्वरूपहेतुभावापत्तिरूपस्तर्कः विपक्षे शुक्तौ रजतसत्ताधिकसत्ताकत्वरूपसाध्याभावोपगमे बाधकः सन्
स्वसहकृतोक्तहेतुकानुमानेनोक्तपक्षे उक्तसाध्यसाधक इत्यर्थः । ननु मिथ्यात्वावच्छेदकस्योभयावृत्तित्वेऽप्येकमिथ्या-
त्वेऽपरस्य अधिकसत्तायां का शुक्तिरित्यवतारिका न युक्ता; विरुद्धयोरेकत्र प्रसक्तौ उभयावृत्तिरूपेणैकमिथ्यात्वेऽपरस्या-
धिकसत्तेति नियमस्यैव तत्र युक्तित्वात् इत्याशङ्क्य व्यभिचारेणोक्तनियमखण्डनेनावतारिकान्तरमाह—अथवेति ।
मिथ्यात्वावच्छेदकस्य शुक्तिनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकस्य रजतत्वस्य । उभयावृत्तित्वेऽपि रजततदभा-
वोभयावृत्तित्वेऽपि एकस्य रजतस्य मिथ्यात्वे अपरस्य रजताभावस्य अधिकसत्ता रजतीयप्रातिभासिकसत्ता-
पेक्षयाऽधिका व्यावहारिकी सत्ता मास्तु न स्वीक्रियते । ननु तथानियमात् सा स्वीकार्या इत्याशङ्क्य नेत्याह—
विरुद्धयोरिति । नियमाभावे व्यभिचारहेतुमाह—गजे प्रसक्तयोरिति । समसत्ताकत्वादिति । प्रातिभासि-
कत्वेनेत्यादिः । तथाच गजे गोलाश्वत्वयोः प्रत्येकरूपेण निषेधेऽपि परस्पराधिकसत्ताविरहाद्यभिचार इति भावः । अयं
ग्रन्थो न पूर्वोक्तशङ्काग्रन्थस्य पूर्वोक्तविशेषणोपादानेनोक्तव्यभिचारमुद्धृत्योक्तनियमपरत्वं व्यवस्थापयति, किंतु नियमान्तर-
परमित्याह—तथाचेति । यदीति । शुक्तौ रजताभावो रजतबाधकधीविषयो रजतसत्ताधिकसत्ताधिकश्च भवति;
गोलाश्वत्वे तु गजे न परस्परबाधकधीविषयौ इति तयोः तत्र समसत्ताकत्वेऽपि न व्यभिचार इति भावः । एवं चेदव्याप्तिः
पूर्वशङ्काग्रन्थेऽभिप्रेता, तर्हि तन्निराकरणग्रन्थे मिथ्यात्वावच्छेदकस्योभयावृत्तित्वं किमर्थमुच्यते ? तत्राह—एकसाधके-
नेति । तदेव तद्धर्मिणि तत्साधकधीबाध्यं, यत् तद्धर्मिणि तदवृत्तिरूपेणैव निषिध्यते, नतुभयसाधारणरूपेणैव यथा रजतं
शुक्तौ रजताभावव्यावृत्तिरूपेणैव निषिध्यते, गोलाश्वत्वे तु गजे उभयसाधारण्येन गजत्वाभावव्याप्यत्वेनापि निषिध्यते, अतो
न परस्परबाधकधीविषयौ इति न व्यभिचारः । एवं च प्रपञ्चे मिथ्यात्वं सत्यत्वसाधारणेन दृश्यत्वेनापि निषिध्यते; अतः
सत्यत्वज्ञानबाध्यं नेति सत्यत्वस्य मिथ्यात्वबाधकधीविषयत्वरूपापादकाभावात् न मिथ्यात्वसत्ताधिकसत्ताकत्वापत्तिरिति
'उभयवृत्ति न भवेदिति' ग्रन्थाभिप्राय इत्यर्थः । अनेनानुकूलतर्कोऽपि सूचितः । शुक्तौ रजतस्य सत्ता प्रातिभासिकी
व्यवहारकालबाध्यत्वरूपा रजताभावस्य तदधिकसत्ता व्यवहारकालाबाध्यत्वं तद्यदि रजताभावे न स्वीक्रियते, सोऽपि
यदि व्यवहारकालबाध्य एव, कथं तर्हि रजतबाधकधीविषयः स्यात् ? यः स्वयमपि बाध्यसमकालमेव बाध्यं, कथं

शुक्तिरूप्यशुक्तिमिन्नत्वयोः । अस्ति च प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरेकब्रह्मज्ञानवाध्यत्वम् । अतः समसत्ता-
कत्वान्मिथ्यात्ववाधकेन प्रपञ्चस्यापि वाधान्नाद्वैतक्षतिरिति कृतमधिकेन ॥

इति मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः ॥

सिद्धिव्याख्या ।

शुक्तिरूप्यशुक्तिमिन्नत्वयोः परस्परविरहरूपत्वाभावादेकवाधकवाध्यत्वसंभवेऽपि प्रपञ्चगतसत्यत्वमिथ्या-
त्वयोरेकवाधकवाध्यत्वं न संभवतीति—वाच्यम्; परस्परविरहरूपत्वाभावपक्षे तत्संभवदिति भावः ।
नन्वेवमपि कुतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वक्षतिः ? मिथ्याभूतं ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं निष्प्रपञ्चत्वाविरोधीति त्वदु-
क्तीत्या मिथ्याभूतमिथ्यात्वस्यापि सत्त्वाविरोधित्वस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशङ्क्याह—कृतमधिकेनेति ।
अयं भावः । वेदादिप्रपञ्चसमानस्वभावं मिथ्यात्वं, तच्च धर्मिणः सत्यत्वप्रतिक्षेपकं; धर्मस्य स्वविरुद्धधर्मप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भवेदित्यादिकं पूर्वमुक्तमिति भावः । प्रपञ्चगतयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समसत्ताकत्वे संयोगतदभावदृष्टान्तेन संभा-
वनामात्रमुक्तम्, तत्रेदानीं प्रमाणमाह—एकवाधकेति । ‘यत् यद्वाधकवाध्यं तत् तत्समानसत्ताक’मिति
व्याप्तौ यद्वाधकवाध्यं न स्यात्, तदोक्तहेतुर्न स्यात् शुक्तिरूप्यघटयोरिव । पौर्वापर्येण वाधसम्भवात्, ब्रह्मज्ञानवाध्यं
शुक्तिरूप्यादिकं व्यावहारिकेण स्वाभावादिना समसत्ताकमेव; ब्रह्मप्रमावाध्यत्वस्य व्यावहारिकत्वस्योभयत्रापि
संभवात् । प्रपञ्चेति । स्वसत्यत्वादघटितप्रपञ्चेत्यर्थः । अथवा एकत्र प्रसक्तयोर्विरुद्धयोरेकस्यापरापेक्षया अन्यून-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तद्वाधकं स्यात् ? गजे गोलाश्चलयोर्युगपत् वाध्ययोरिवेति ध्येयम् । नच—प्रात्यक्षिकप्रपञ्चसत्यत्वस्य नेह नानेत्यादिवाक्यजन्य-
प्रपञ्चमिथ्यात्वशब्दबुद्ध्यवाधत्वात् मिथ्यात्वस्य सत्यत्वव्यावहारिकत्वाधिकतात्त्विकत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; श्रौतमिथ्या-
त्वशब्दबुद्धेः सत्यत्वप्रतीतौ भ्रमत्वप्राहकत्वेऽपि सत्यत्वावाधकत्वात् । ब्रह्मप्रमाया एव तद्वाधकत्वात् इति भावः । प्रपञ्चे
सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यावहारिकयोः समुच्चयस्य संयोगतदभावदृष्टान्तत्वेन व्यवस्थापितत्वात् तयोः समसत्ताकत्वे एकवाध-
कवाध्यत्वस्य प्रयोजकत्वकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्सार्थक्यति—प्रपञ्चगतयोरिति । एकत्वस्य केवलान्वयितया एकवा-
धकवाध्यत्वं शुक्तिरजतघटयोरस्ति, समसत्ताकत्वं च नास्तीति व्यभिचारः; अप्रयोजकत्वं चेत्तत् आह—यद्यदिति ।
यथाशुक्तिरूप्यवाधकशुक्तिवसाक्षात्कारवाध्यस्य शुक्तिमिन्नत्वस्य प्रातिभासिकत्वेन शुक्तिरूप्यसमसत्ताकत्वम् । घटस्य
ब्रह्मप्रमावाध्यस्य शुक्तिरूप्यवाधकशुक्तिवज्ञानावाध्यत्वात् तत्समसत्ताकत्वाभावेऽपि न व्यभिचारः । तद्व्याप्तौ अनुकू-
लतर्कमाह—यदीति । शुक्तिमिन्नत्वे इति शेषः । घटे इव उक्तसाध्यं शुक्तिरूप्यसमसत्ताकत्वं न स्यात्, तर्हि
उक्तहेतुः शुक्तिरूप्यवाधकशुक्तिवप्रमावाध्यत्वं न स्यात् शुक्तिरूप्यघटयोरिवेति तर्कोऽनुग्राहक इति शेषः ।
ननु ब्रह्मज्ञानपूर्वभावि शुक्तिरूप्यस्य तदभाववाधकब्रह्मप्रमावाध्यत्वात् तूलाज्ञानजन्यत्वेन प्रातिभासिकस्य व्यावहारि-
कतदभावसमसत्ताकत्वादव्यभिचारः—इत्याशङ्कां परिहरति—ब्रह्मज्ञानवाध्यमिति । शुक्तिरूप्याभाववाधकेत्यादि ।
ब्रह्मप्रमावाध्यत्वस्य व्यावहारिकत्वस्येति । तूलाज्ञानजन्यत्वं न प्रातिभासिकत्वं, किंतु ब्रह्मप्रमान्यप्रमावाध्यत्व-
मेवेति भावः । प्रकृतमाह मूले—अस्ति चेति । ननु—प्रपञ्चसत्यत्वे तन्मिथ्यात्वसमसत्ताकत्वसाधनाय तद्वाधकब्रह्म
ज्ञानवाध्यत्वं वक्तव्यम्, प्रपञ्चे तदुक्तिर्व्यर्था इत्यतो व्याचष्टे टीकायां—सत्त्वादिघटितप्रपञ्चेत्यर्थ इति । अद्वैत-
हानिपरिहारमुपसंहरति—मूले मिथ्यात्ववाधकेनेति । प्रपञ्चस्यापीति । अपिना तत्सत्यत्वस्येति बोध्यम् । ननु
प्रपञ्चे व्यावहारिकयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयः संयोगतदभावदृष्टान्तेनोक्तः; तावता दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकस्यापि प्रमाण-
सिद्धत्वलाभ इति टीकायां तद्व्याख्याने उक्तम् । स्पष्टीकृतं चात्र पूर्वम् । एवं च एकवाधकेत्यादिना तत्र प्रमाणकथनं व्यर्थं;
मौलप्रपञ्चपदस्य च तत्सत्यत्वपरत्वे जघन्यता इत्यतः प्रकारान्तरेणैतत्पूर्वपक्षसमाधानपरतयोक्तफक्कामवतारयति—
अथवेति—एकत्रेति । पूर्वमेकत्र प्रसक्तयोः विरुद्धयोरेकमिथ्यात्वेऽपरस्याधिकसत्ताकत्वं मूले एतत्प्रघट्टकादौ शङ्का-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्ताकत्वं प्रत्यमिथ्यात्वं न प्रयोजकम्, किंतु स्वाश्रयसमसत्ताकत्वम्; अतो मिथ्याभूतमपि प्रपञ्चे मिथ्यात्वं प्रपञ्चगतसत्यत्वान्यूनसत्ताकम्, प्रपञ्चसमसत्ताकत्वात्, तदपि प्रपञ्चबाधकबाध्यत्वात् नासिद्धमित्याशयेनाह—
एकबाधकेति । अत्रेदं विचारणीयम्—प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य सत्यत्वमिथ्यात्वविकल्पनेनास्मान् प्रति दूषणोक्ति-
र्नित्यसमा जातिः, तदुक्तम्—‘धर्मस्य तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तितः । धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो नित्यसमो भवे’—

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

बीजतयोक्तम्, तावता तादृशयोः एकस्यापरापेक्षयाऽन्यूनसत्ताकत्वम्, अन्यूनसत्ताकत्वे चामिथ्यात्वं प्रयोजकं, तथा सति यथा प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽमिथ्यात्वरूपव्यापकव्यतिरेकात् सत्यत्वान्यूनसत्ताकत्वरूपव्याप्यव्यतिरेकः स्यादिति लब्धम् । अत्र प्रयोजकं व्याप्यमिति नार्थः; तथा सति अमिथ्यात्वरूपव्याप्यव्यतिरेकस्यान्यूनसत्ताकत्वरूपव्यापकव्यतिरेकाप्रयोजकतया मिथ्याभूतमपीत्यस्यासङ्गतेः, किंतु व्यापकमित्यर्थः । एवं च व्यापकव्यतिरेकस्य व्याप्यव्यतिरेकप्रयोजकत्वात् तत्सङ्गतिः । तच्च नेत्यर्थः; स्वप्रगजतदभावयोर्मिथ्यात्वेऽपि परस्परान्यूनसत्ताकत्वादिति भावः—**स्वाश्रयेति** । स्वं तादृशयोः एकः । स्वाप्रगजतदभावयोः स्वाश्रयस्वाप्रभूतलादिसमसत्ताकत्वात् अन्यूनसत्ताकत्वं; यथा वा शुक्तौ रजताभावस्य स्वाश्रयशुक्तेः समसत्ताकत्वात् रजतान्यूनसत्ताकत्वम् । रजतस्य तु असमसत्ताकत्वात् रजताभावान्यूनसत्ताकत्वम् । न च—पारमार्थिके शुद्धब्रह्मणि प्रपञ्चतदभावयोः कथं व्यावहारिकत्वमिति—वाच्यम्; मायोपहितस्य व्यावहारिकस्य ब्रह्मण एव प्रपञ्चतदभावा-
धिष्ठानत्वात्, अतः अमिथ्यात्वस्य चोक्तप्रयोजकत्वासंभवेन प्रयोजकान्तरोपगमात्—**मिथ्याभूतमपीति** । एवं च मिथ्यात्वेऽमिथ्यात्वानुपगमात् नाद्वैतहानिः; नापि सत्यत्वान्यूनसत्ताकत्वरूपव्याप्यव्यतिरेकप्रयोजकत्वमिमिथ्यात्वव्यतिरेकस्येति भावः । ब्रह्मगतत्ववारणाय—**प्रपञ्चगतेत्युक्तम्** । **प्रपञ्चेति** । स्वाश्रयप्रपञ्चसमसत्ताकत्वादित्यर्थः । एवं च स्वाश्रये प्रस-
ज्यमानस्वविरुद्धसत्यत्वान्यूनसत्ताकत्वव्यापकस्य स्वाश्रयसमसत्ताकत्वस्य सत्त्वेन तद्व्यतिरेकाभावात् न सत्यत्वान्यूनसत्ताक-
त्वव्यतिरेकः, किंतु सत्यत्वान्यूनसत्ताकत्वमेव; बाधकाभावात् । **यद्वा**—प्रयोजकमित्यस्य समव्यापकमित्यर्थः । एवं चोक्तः व्याप्यसत्त्वादप्युक्तव्यापकसत्ता आवश्यकीति भावः । **ननु**—प्रपञ्चमिथ्यात्वं कथं प्रपञ्चसमसत्ताकं? मायोपहिते ब्रह्मणि सूक्ष्मभूतानां, तदुपहिते स्थूलानामिति रीत्या कपालाद्युपहिते घटस्य, तदुपहिते घटत्वस्येव, मायाद्युपाधौ सूक्ष्मभूतानामिव च सूक्ष्मभूतादिप्रपञ्चोपहिते मिथ्यात्वस्येव तदुपाधिभूतभूतादिप्रपञ्चेऽपि मिथ्यात्वस्य कल्पितत्वे मायादीनां कल्पितत्वाविशे-
षेऽपि शुक्त्यपेक्षया तद्रजतस्येव प्रपञ्चापेक्षया तद्धर्ममिथ्यात्वस्योत्तरकल्पितत्वेन न्यूनसत्ताकत्वात् **इत्यत आह—तद-
पीति** । प्रपञ्चमिथ्यात्वहेतुसंपादकप्रपञ्चसमसत्ताकत्वमपीत्यर्थः ।—**प्रपञ्चेति** । प्रपञ्चबाधकब्रह्मप्रमाबाध्यत्वादित्यर्थः । यद्य-
द्बाधकप्रमाबाध्यं, तत्तत्समसत्ताकं, यथा शुक्तिभिन्नत्वं शुक्तिरूप्यबाधकशुक्तिप्रमाबाध्यं शुक्तिरूप्यसमसत्ताकं चेति व्याप्तेः । शुक्त्यपेक्षयोत्तरकल्पितत्वं न रजतस्य प्रातिभासिकत्वरूपन्यूनसत्ताकत्वे प्रयोजकं, किंतु ब्रह्मप्रमान्यज्ञानबाध्यत्वं, तच्च न मिथ्यात्वेऽस्ति, तस्य ब्रह्मप्रमामात्रबाध्यत्वादिति भावः । तदाह **मूले—अस्ति चेति** । एतद्व्याख्याने प्रपञ्चपदे प्रपञ्चपरे, न तत्सत्यत्वपरे । **प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरिति** । मिथ्यात्वस्य स्वाश्रयप्रपञ्चबाधकब्रह्मप्रमाबाध्यत्वमित्यर्थः । एवं प्रपञ्चमिथ्या-
त्वस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वान्यूनसत्ताकत्वसाधनेन प्रपञ्चसत्यत्वस्य तात्त्विकत्वापत्तिः परिहृता । यथाश्रुते प्रपञ्चसत्यत्वा-
पत्तिरुक्ता, तामपि परिहरति—**मिथ्यात्वबाधकेनेति** । **प्रपञ्चस्यापि बाधादिति** । अबाध्यत्वरूपसत्यत्वासंभवादिति भावः । **अत्रेदमवधेयम्**—एतत्प्रघटकपूर्वपक्षमूलस्य **प्रपञ्चमिथ्यात्वं** ब्रह्मणि प्रपञ्चाभावः, तस्य मिथ्यात्वे ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तिरिति व्याख्यानं केषांचित्, तत्र ‘प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकं दृश्यत्वादिकमेकमेवे’ति मूलासङ्गतिः । प्रकृत इत्यस्य हि परस्परविरहपरजततदभावाद्युक्तविलक्षणयोः प्रपञ्चतदभावयोरित्यर्थो वाच्यः; स चासङ्गतः । प्रपञ्चत-
दभावयोः परस्परविरहरूपत्वात् । अत एव ‘यथा च सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूप’मिति पङ्क्तौ सत्यत्वमिथ्यात्वपदयोः प्रपञ्चतदभावपरत्वेऽप्यसङ्गतिः । यदि संयोगतदभावयोः व्यभिचारवारणायान्यत्र परस्परविरुद्धत्वेन गृहीतयोः परस्पर-
विरहरूपयोरित्यर्थकत्वं ‘यथा परस्परविरहरूपयो’रित्यस्य स्वीक्रियते, प्रपञ्चतदभावयोः जगदुपादानात् ब्रह्मणोऽन्यत्रासंभवाच्च तथात्वं, ‘परस्परविरहरूपत्वेऽपी’त्यस्य केवलेत्यादिः । ‘व्यावहारिकमिथ्यात्वे’ति पङ्क्तेरपि प्रपञ्चाभावस्य व्यावहारिकत्वेन प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि काल्पनिकत्वानुपहारादिति दृष्टिसृष्टिवादाभ्युपगमेनार्थः । ‘संयोगतदभाववत् सत्यत्व-
मिथ्यात्वयो’रित्यस्य च प्रपञ्चतदभावयोरित्यर्थः इत्युच्यते, तदापि बहूनां पदानां यथाश्रुतार्थकत्वत्यागाद्वरं द्वयोः प्रपञ्च-
पदयोरेव तत्त्याग इति टीकाकारमिप्रायः । किं च तयोरपि यथाश्रुतार्थकत्वमुक्तमेवेति ॥ **ननु**—किमत्राधिकं वक्तव्य-
मस्ति? ‘यत्कृतमधिकेने’त्युक्तम्, तत्राह—**अत्रेदं विचारणीयमिति** । प्रपञ्चे पक्षे साध्यमानस्य मिथ्यात्वस्य सत्यत्व-
मिथ्यात्वरूपैकैककोटिपरिग्रहप्रश्नेन **अस्मान्** प्रपञ्चे मिथ्यात्वाभ्युपगन्तुं वेदान्तिनः प्रति प्रत्येकं कोटिद्वये दूषणाभिधानं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिति । नच—मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे धर्मिणि न तद्वैशिष्ट्यभङ्गः, किंत्वद्वैतहानिरिति—वाच्यम्; विकल्पितकोट्योरेकस्या अद्वैतहानिप्रयोजकत्वेऽप्यन्यस्याः प्रपञ्चसत्यताविकतापत्तिद्वारा प्रपञ्चे धर्मिणि मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गप्रयोजकत्वात् । अन्यथा मिथ्यात्वकोटिमात्रस्यास्माभिराश्रयेण सत्यत्वकोटिप्रयुक्तस्याद्वैतहानिदोषस्याप्यसंभवात् । किंच मिथ्यात्वस्यापि मिथ्यात्वधर्मित्वेन तस्य सत्यत्वे मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गेन सत्यत्वकोटेरपि धर्मिणि तद्वैशिष्ट्यभङ्गप्रयोजकत्वमावश्यकम् । नच—जात्युत्तरं येनोच्यते तं प्रति व्याघातकत्वमेव तस्य दुष्टतावीजम्, प्रकृते च तदभावात् जातिरियं दुष्टेति—वाच्यम्; त्वदीयस्य सर्वदेशकालनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपासत्यत्वस्यासत्त्वे तद्विरुद्धस्य 'असदेवेदमग्र आसीद' इति वाक्यादसति प्रतिपन्नतया त्वदभ्युपगतस्य सत्त्वस्यासति, तात्त्विकतापत्तिः, सत्त्वे तस्य सतो असति संबन्धानुपपत्तिरित्याद्यभिप्रेत्याह—कृतमधिकेनेति । ननु—

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नित्यसमाख्यमसदुत्तरमित्यर्थः । नित्यसमलक्षणमाह—तदुक्तमिति । धर्मस्य साध्यस्य, तद्रूपत्वात् तद्रूपत्वयोः । यौ विकल्पौ प्रत्येकं साध्ये अभ्युपगतौ, तयोरनुपपत्तिः तत्तदापादकानिष्टापत्तिभयादसंभवः, तस्मात्, धर्मिणः पक्षस्य, तद्विशिष्टत्वस्य साध्यविशिष्टत्वस्य, भङ्गः असंभवो, नित्यसमाख्यो जातिविशेषरूपो दोष इत्यर्थः ॥ प्रकृते पक्षे प्रपञ्चे मिथ्यात्वरूपसाध्यस्य मिथ्यात्वे, प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तिः, सत्यत्वे च अद्वैतहानिप्रसङ्ग इति मिथ्यात्वस्य उक्तद्वयान्यतररूपतया दुर्वचत्वात्, तृतीयप्रकारालीकत्वापत्त्या प्रपञ्चरूपपक्षस्य मिथ्यात्वरूपसाध्यवैशिष्ट्यभङ्गः, सदसतोरुपरागाभावादिति नित्यसमजातिदोषसमन्वय इति भावः । ननु उक्तविकल्पयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं साक्षाद्धर्मिणि धर्मवैशिष्ट्यभङ्गकत्वे एव नित्यसमो दोषः, प्रकृते तु न तथा इत्याशङ्कते—नचेति । मिथ्यात्वस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य । सत्यत्वे तदुपगमे । धर्मिणि प्रपञ्चे । न तद्वैशिष्ट्यभङ्गः मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गः । सत्यस्य मिथ्यात्वस्य ब्रह्मण इव व्यावहारिकप्रपञ्चे संबन्धाङ्गीकारे बाधकाभावादिति भावः । विकल्पितकोट्योरेकस्या अपि कोटेः परम्परयापि धर्मिधर्मवैशिष्ट्यभङ्गकत्वे नित्यसम इत्यभिप्रायेण समाधत्ते—विकल्पितकोट्योरिति । एकस्याः मिथ्यात्वे सत्यत्वकोटेः । अद्वैतहानीति । तन्मात्रेऽप्यर्थः । अन्यस्याः मिथ्यात्वे मिथ्यात्वकोटेः । ननु ब्रह्मणि मिथ्यात्ववतः प्रपञ्चस्येव प्रपञ्चेऽपि मिथ्यात्वस्य वैशिष्ट्यसंभव इत्यत आह—प्रपञ्चसत्यत्वतात्त्विकतापत्तिद्वारेति । मिथ्यात्वस्य तात्त्विकसत्यत्वेन विरोधात्तद्वति ब्रह्मणीव प्रपञ्चेऽपि मिथ्यात्ववैशिष्ट्यासंभव इति भावः । ननु सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहादिरूपत्वं, तत्त्वेऽपि वा विषमसत्ताकत्वघटितव्याप्तिरेवाश्रयणीया; तथाच मिथ्यात्वमिथ्यात्वोपगमस्य प्रपञ्चसत्यत्वतात्त्विकत्वापत्त्यप्रयोजकत्वात् कथं तद्वारा प्रपञ्चे मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गप्रयोजकत्वम्? अत आह—अन्यथेति । उक्तरीत्या मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य प्रपञ्चे मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभङ्गप्रयोजकत्वानुपगमे इत्यर्थः । अपिना प्रपञ्चसत्यत्वतात्त्विकत्वापत्तिरूपदोषस्याप्यसंभवात् सिद्धान्तपथस्यैव स्फुरणात् पूर्वपक्षानुत्थितिरेव स्यात् । यथा सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहादिरूपत्वमधिकसत्त्वघटितव्याप्तिं चालम्ब्य पूर्वपक्षोत्थितिः, तथा तु नित्यसमदोषोऽपि दुर्वार इति भावः । द्वयोरपि कोट्योः प्रत्येकमेककोटेर्वा साक्षादेव धर्मधर्मवैशिष्ट्यभङ्गप्रयोजकत्वे एव नित्यसम इत्युक्तावप्याह—किंचेति । मिथ्यात्वधर्मित्वेन मिथ्यात्वानुमाने पक्षत्वेन । तस्य मिथ्यात्वस्य । सत्यत्वे तात्त्विकसत्यत्वे । अत एव तत्पक्षेऽद्वैतहानिरूपदोषसङ्गतिः, तेन विरोधादिति शेषः । भङ्गेनेति । तदनुपगमे च तदभङ्गेनेति शेषः । धर्मिणि मिथ्यात्वानुमानपक्षे । आवश्यकमिति । अन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्यर्थः । दुष्टतावीजमिति । यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, इति न्यायेन वह्निसाधकं प्रति प्रतिवादिनः पूर्वतस्य धूमवत्त्वमस्तु, वह्निमत्त्वं मास्तु, इत्युत्तरं जातिरूपं स्वोपगतधूमवत्त्वाभावापादकत्वेन व्याघातकत्वात् दुष्टं, यथा वह्निधूमकारणमिति प्रतिज्ञातारं प्रति नायं तथेति धूमार्थं बहुयुपादानुत्तरं, स्वोपादानव्याघातकत्वात् दुष्टं प्रकृते प्रपञ्चमिथ्यात्वे सत्यत्वमिथ्यात्वविकल्पेन दूषणाभिधानरूपोत्तरे; तदभावात् व्याघातकत्वाभावात् । 'इयं मिथ्यात्ववादिनं प्रत्युक्तदूषणाभिधानरूपोक्तिः । यतो न दुष्टा, अतो न जातिरित्यर्थः । जातिविशेषनित्यसमलक्षणे प्रपञ्चेऽपि स्वव्याघातकत्वं देयमिति भावः । यद्यपि जात्युत्तरस्य वक्तुर्व्याघातकत्वमेव दूषकतावीजं; तथापि जात्युत्तरार्थांशे एव व्याघातकत्वं न तथा, किंतु तदभ्युपगतार्थान्तरांशेऽपीत्याशयेन स्वाभ्युपगतप्रपञ्चमिथ्यात्वे सत्यत्वमिथ्यात्वविकल्पेन स्वोपरि तदीयदूषणाभिधानस्य स्वार्थव्याघातकत्वेऽपि, तद्वत् प्रतिवाद्यभ्युपगतशशविषाणाद्यसत्त्वस्य सत्त्वासत्त्वविकल्पेन तदुपरि स्त्रीयदूषणाभिधानरूपप्रतिबन्धुत्वापनेन जात्युत्तरप्रयोजकत्वात्तन्तरांशे व्याघातोऽस्त्येवेत्याह—त्वदीयस्येति । शशविषाणाद्यसति त्वयाभ्युपगतस्येत्यर्थः । असत्त्वे प्रसक्तयोः विरुद्धयोः सत्त्वासत्त्वयोर्मध्येऽसत्त्वोपगमे । सत्त्वस्यासति तात्त्विकत्वापत्तिरिति । तथाच तात्त्विकसत्यत्ववति ब्रह्मणीव उच्छेप्यसत्त्ववैशिष्ट्यभङ्गप्रसङ्गः । सत्त्वे सत्त्वोपगमे । तस्य असत्त्वस्य ।

सिद्धिव्याख्या ।

क्षेपकत्वे चोभयसिद्धधर्मिसमसत्ताकत्वं तन्नं, न पारमार्थिकत्वं प्रतिक्षेपके तदघटितत्वादिति घटत्वादा-
वस्माकं पारमार्थिकत्वासंप्रतिपत्तेर्ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं न धर्मिसमसत्ताकमिति न निष्प्रपञ्चत्वप्रतिक्षेपकम् ।
अतएव—मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे तद्विरोधिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपञ्चसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वं
स्यादिति—निरस्तम्; धर्मिसमसत्ताकस्य मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे धर्मिणोऽपि व्यावहारिकत्व-
नियमादिति ॥

इति अद्वैतसिद्धिव्याख्याने मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरुक्तिः समाप्ता ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भेदः किं भिन्ने, उताभिन्न इत्यादि त्वदुक्तिरपि जातिरिति—चेन्न । वैतण्डिकतामाश्रित्य वदतो मम स्थापनीया-
भावेन मां प्रति जातेर्व्याघातकत्वाभावात्, सर्वदृश्यानां खण्डनयुक्तिभिर्बाधस्य मदिष्टत्वात् । तदुक्तं खण्डने—
'अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नेयमाज्ञा । तत्तानि कस्मान्न यथावदेव सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि
योजयध्वम् । इति । परमतखण्डनरूपस्याभीष्टस्य सिद्धावपि खण्डनयुक्तीनां राज्ञामिवाज्ञा स्वातन्त्र्यं नाखण्डि
नास्माभिर्निर्वाकृता । तत् तस्मात् तानि खण्डनानि यथावत् परमत इव सिद्धान्तसिद्धप्रक्रियायामपि कस्मान्न
योजयध्वमित्यर्थः । नचैवं—ब्रह्मणोऽपि खण्डनयुक्त्या बाधापत्तिरिति—वाच्यम्; ब्रह्मणोऽसंसृष्टत्वेन तर्काविषय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

इत्यादीति । इत्याद्यधिकमभिप्रेत्येत्यन्वयः । इति रीत्या प्रतिबन्दीस्फोरकत्वेन व्याघातकत्वादित्यर्थः । तथाच प्रपञ्चमिथ्या-
त्वस्य मिथ्यात्वसत्यत्वविकल्पेन दूषणाभिधानस्योक्तप्रतिबन्धोक्तस्वमतान्तरव्याघातकनित्यसमजातिदोषत्वादनुचितत्वमधिकपदार्थ
इति भावः । प्रपञ्चमिथ्यात्वदूषको भेदखण्डकसिद्धान्त्युपरि प्रतिबन्दीमाशङ्कते—नन्विति । भेदः किं भिन्ने इति ।
पटादौ घटादिभेदसत्तायां यदि घटादिभेदः प्रयोजकः, तदा आत्माश्रयादि; यद्यभेदः, तदा तयोर्विरोधात् बाध इति
सिद्धान्तितस्तव भेदखण्डनोक्तिरपि जातिरूपतया दुष्टा स्यात् इत्यर्थः । एवं च जीवब्रह्मणोः भेदसिद्धिप्रसङ्ग इति भावः ।
व्याघातकजातेरेव दोषत्वमित्याशयेन समाधत्ते—मां प्रतीति । जातेः भेदः किं भिन्ने, उताभिन्ने इत्यादिमदुक्तजातेः ।
व्याघातकत्वाभावादिति । ननु—घटादेः स्वस्मिन् भेदः, नत्वन्यस्मिन् इत्यस्ति, तत्र भेदतदभावयोः प्रयोजकत्वे
आत्माश्रयादिविरोधबाधयोः प्रसङ्गात् जीवब्रह्मणोरभेदोऽपि न सिध्येत् इति प्रतिबन्धाः स्वसिद्धान्तभङ्गकत्वं सूक्तजातेर्दुर्वार-
मत आह—वैतण्डिकमाश्रित्येति । मम ब्रह्मात्मान्यप्रपञ्चमिथ्यात्वोपगन्तुः । स्थापनीयाभावादिति । जीवस्य
ब्रह्माभेदो नाम न कश्चित्तदतिरिक्तः पदार्थः स्थापनीयः, किंतु तदभेदनिबन्धेन ब्रह्मस्वरूपत्वं बोधनीयम् । एवं दृश्य-
प्रपञ्चस्य सर्वस्य मिथ्यात्वोपगमान्न कस्यचित् स्थापनमपेक्षितमित्यर्थः । तदाह—सर्वदृश्यानामिति । खण्डनयुक्तिभिः
श्रीहर्षग्रन्थस्थाभिः । बाधस्य अभावस्य । मदिष्टत्वादिति । दृश्यस्य बाधो मिथ्यात्वं विना न संभवतीति मदभिमत-
मिथ्यात्वसिद्ध्यनुकूलत्वादित्यर्थः । श्रीहर्षेण नैयायिकादिमतखण्डनाय खण्डनग्रन्थः कृतो, न तु भवदभिमतं मिथ्यात्वं तस्य
सिषाधयिषितं, तत्राह—तदुक्तमिति । अखण्डि इति । कर्मणि लुङ् । सिद्धावपि तदुद्देशेनोपहितानामपीत्यर्थः ।
स्वातन्त्र्यं वेदान्त्यभिमतपदार्थखण्डने प्रवृत्तिः । सिद्धान्तसिद्धेति । अद्वैतसिद्धान्तसिद्धेत्यर्थः । प्रक्रियायां दृश्यमिथ्या-
त्वव्यवस्थापनौपयिकदृश्यखण्डने । कस्मान्नेति । योजयध्वमेवेत्यर्थः । एवं च न्यायादिमतखण्डकस्योपहितयुक्तीनां सिद्धान्त-
सिद्धदृश्यमिथ्यात्वसाधने योजनं श्रीहर्षानुमतमेवेति, यथा शुक्तिरजतं, ब्रह्मवत् सत्यं न, बाध्यत्वात्, तुच्छवत् असत्यमपि
न; प्रतीयमानत्वात्, तस्मादुभयरूपेणानिर्वचनीयं मिथ्या प्रकारान्तराप्रसिद्धेरिति पर्यवस्यति । तथा द्रव्यादिपदार्थानां
खण्डनयुक्तिभिरभावसिद्धौ प्रतीयन्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वं पर्यवस्यति; बाधप्रतीत्योः सत्त्वासत्त्वाभ्यां विरोधात् । एवंच
खण्डनयुक्तीनामन्यत्रापि प्रयोजने । ब्रह्मणोऽपीति । ब्रह्म, अभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, वृत्तिविषयत्वाद्वा, घटादिव-
दिति । न चाप्रयोजकत्वं, दृश्यप्रपञ्चविलक्षणपदार्थास्वीकारे लाघवादित्यनुमानेनाभावसिद्धौ प्रतीतौ मिथ्यात्वम्, अप्रतीतौ
असत्यत्वं सिध्येदिति भावः । तर्कः अनुमानम्, तदविषयत्वात्, हेतोरेवासंबन्धादिति भावः । शुद्धस्यापि ब्रह्मणो वृत्ति-
अद्वै. सि. २९

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वात्, सर्वसाक्षित्वेनावध्यत्वाच्च । यत्तु—सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयोक्तिर्न युक्ता, उक्तं हि बौद्धाधिकारे—
‘सदसत्त्वस्यैकत्र विरोधेन विधिवन्निषेधस्याप्यनुपपत्तेरिति । सत्त्वासत्त्वयोरिव तदभावयोरपि एकत्र विरोधेनासं-
भव इति तदर्थ—इति, तच्च; सत्त्वासत्त्वयोः परस्परालम्बनाभावरूपत्वे हि विरोधः, तत्तु नास्त्येवेति मूल
एवोक्तम् । किंचोक्तवाक्यं बौद्धमतनिराकरणपरम्, न त्वद्वैतमतनिराकरणपरम्; अद्वैतमतस्य सर्वमतश्रेष्ठतया

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विषयलोपगमे लाह—सर्वसाक्षित्वेनेति । बाधसाक्षिणोऽपि बाधे बाधस्यासत्त्वप्रसङ्गात् साक्षिणोऽबाध्यत्वं स्वीकार्यमिति
भावः । उक्तं चैतत् ॥ श्रीहर्षमतविरोधाभावेऽपि उदयनाचार्यमतविरोध इत्याशङ्कते—यत्त्विति । प्रतिपन्नोपाधौ त्रैका-
लिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं, तदभावः सत्यत्वं, प्रतिपत्तेः विकल्पसाधारणरूपेण निवेशे तुच्छमपि मिथ्यैव; तुच्छानङ्गी-
कारो वा । एवं चोक्तसत्यत्वाभावरूपमिथ्यात्वमेवासत्यत्वम् । तयोः व्यावहारिकयोः दृश्यप्रपञ्चे समुच्चयात् परस्परभावघटितं
मिथ्यात्वं स्वाप्रगजतदभावयोरिव निर्वहति । निर्धर्मकब्रह्मणि तु उक्तप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्यासत्त्वात्तदभावरूपं सत्यत्वं,
मिथ्यात्वासंभवात् पारमार्थिकम् अधिकरणीभूतपारमार्थिकब्रह्मस्वरूपम् । अतः कथमपि नाद्वैतहानिरिति पूर्वं मूले उक्तं
न युक्तम्; उदयनाचार्यमतविरोधात् । मूलविरुद्धं तन्मतमाह—उक्तं हीति । सदसत्त्वस्य सत्त्वासत्त्वयोरित्यर्थः ।
एकत्र विरोधेन एकधर्म्यवृत्तित्वेन । विधिवत् सद्भावस्येव । एवं च प्रपञ्चसत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयोक्तिरेतदुद्घातान्तो-
क्तिविरुद्धेति भावः । निषेधस्येति । परस्पररूपत्वादिति शेषः । निषेधस्याप्यनुपपत्तेरिति । अनेनापि सत्यत्वमिथ्या-
त्वसमुच्चयोक्तिः विरुद्धा; तयोः परस्परभावरूपत्वात् । एवं सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमपि प्रपञ्चस्य न संभवति; तस्य
सत्त्वाभावासत्त्वाभावोभयरूपत्वादिति भावः । इदं स्पष्टीकर्तुं व्याचष्टे—सत्त्वासत्त्वयोरिवेति । तदभावयोरिति ।
ननु—अनयोरसत्त्वसत्त्वरूपत्वात् कथमुपमानोपमेयभाव—इति चेत्, सत्यम्; इदं सत्त्वमेकमिदमसत्त्वमेकमित्याकार-
कापेक्षाबुद्ध्यां सत्त्वाभाव एकः, अयमसत्त्वाभाव एकः, इत्याकारकापेक्षाबुद्धिभ्यां जातद्विलभेदेन तत्तदवच्छिन्नतत्तदुभयमेदात्
उपमानोपमेयभावसङ्गतिरिति । विरोधादेकत्रासंभव इति योजना । उत्तरविरोधं परिहरति—तन्नेति । तत्र सदसद्वि-
लक्षणत्वरूपं मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य संभावयति—सत्त्वासत्त्वयोरिति । तत् परस्परभावरूपत्वम् । नास्तीति । मूले
एवोक्तमिति । कालत्रयाबाध्यत्वं सत्त्वं, सत्त्वेन प्रतीयनर्हत्वमसत्त्वम्, इमे च न परस्परभावरूपे; यतः बाध्यत्वं सत्त्वेन
प्रतीत्यर्हत्वं सत्तादात्म्यपर्यवसितं च, तयोरभावौ; तावपि न परस्परभावरूपावित्युक्तम् न विस्मर्तव्यमित्यर्थः । एतेन—
सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयोक्तावपि आचार्यमतविरोधपरिहारोऽपि—सूचितः । तत्र मूले परस्परविरहरूपत्वेऽपीत्यादिना
प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वतदभावसत्यत्वयोः परस्परविरहरूपयोरेव विषमसत्ताकत्वमुक्त्वा व्यावहा-
रिकयोरेव तयोः समुच्चयस्याभिधानेऽपि आचार्याभिमतसत्त्वासत्त्वविरोधानभ्युपगमेन तदभिधानस्य निर्वाधत्वात् । उक्तविरो-
धानभ्युपगमश्च संयोगतदभावदृष्टान्तेन मूले ध्वनितः; स्पष्टीकृतश्चासौ टीकायाम् । विशदीकृतश्चात्रेत्यनुसन्धेयम् । नन्वेवम्
आचार्याभ्युपगतसत्त्वासत्त्वविरोधानभ्युपगमेन समुच्चयोक्तिसमर्थने तन्मतविरोधो दुष्परिहर इत्यत आह—किंचेति ।
बौद्धमतनिराकरणपरस्याप्यद्वैतमतनिराकरणपरत्वमपि स्यात्, एकस्य वाक्यस्योभयपरत्वं संभवति; महाभाष्योदाहृतश्चेतो
धावतीत्यादिवाक्यवत्, इत्यत आह—नत्त्विति । ननु—अद्वैतमतनिराकरणे आचार्यतात्पर्याभावेऽपि तद्वाक्योक्ता सत्त्वा-
सत्त्वयोस्तद्व्यतिरेकयोश्च विरोधरूपा युक्तिः एकत्र प्रपञ्चे सत्त्वासत्त्वयोः समुच्चयेऽपि प्रसरन्ती कथं वारणीया—इति चेत्,
अत्राहुः—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं, तच्च नासत्त्वम्; तद्वदुक्तप्रतिपत्तोर्विकल्पव्यावृत्तरूपेण निवेशे
तुच्छाङ्गीकारे तुच्छे तदभावात् उक्तमिथ्यात्वाभावः सत्यत्वं, तच्च स्वरूपसंबन्धेन सत्पदार्थतावच्छेदकत्वम्, असद्विलक्षण-
प्रतिपत्त्यादिघटितस्योक्तसंबन्धो नास्तीति न तत्र सत्यत्वव्यवहारः । ब्रह्मणः स्वरूपभिन्नस्यापि उक्ताभावस्य सत्त्वविशिष्टत्वेन
कथंचिदुक्तसंबन्धोऽस्ति; सत्यमिथ्याभूतयोस्तादात्म्यरूपसंबन्धाङ्गीकारात् व्यवहारोपपत्तिः । न च तयोर्विरोध आचार्यै-
रभ्युपगतः; अप्रकृतत्वात्, नापि तदभावयोः; असति समावेशाच्च, किंतु अर्थक्रियाकारित्वादिरूपसत्त्वतदभावरूपासत्त्वयोः
तदभावयोश्च, सोऽपि बौद्धाभ्युपगत एवाचार्यैरनूदितः । तन्मतदूषणाय स्वमतेन तदूषणासंभवात् । न च—गोत्वत-
दभावयोरिव समानसत्ताकयोः प्रतियोग्यभावरूपयोः उक्तमिथ्यात्वे तदभावरूपसत्यत्वयोः विरोध आचार्याभ्युपगत
एव सामान्यत इति—वाच्यम्; मिथ्यात्वप्राहकश्चत्यनुमानाभ्यामुक्तविरोधमुपमृष्टैव तयोर्मिथ्यात्वसाधनात् । उदयनाचार्याणां
चेदमेव संमतं; तेषां प्रतियोग्यभावयोः विरोधाभ्युपगमस्तु मन्दाधिकारिसमुद्धारार्थं परमकारुणिकमुनिप्रणीतन्यायशास्त्र-
व्याख्यातृत्वात् तत्सिद्धान्तानुरोधेन, न तु स्वरसेन । अत्र च तेषां सर्वमतापेक्षया अद्वैतमतस्य श्रेष्ठ्यकथनमेव प्रमाणयति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बौद्धाधिकार एवोक्तत्वात् । तथाहि—‘न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्वाधके बलिति वेदनये जयश्रीः । नो चेदनित्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः’ इति । अस्मिन्विज्ञानवादिदूषणोपसंहाररूपे पद्ये अयमर्थः । ग्राह्यभेदं घटादिबाह्यार्थं तिरस्कृत्य घटादिरूपाकाराभिन्नरूपेण ज्ञानस्य वृत्तिः संबन्धः कापि नास्ति, घटादिबहिरर्थबाधके अद्वैतब्रह्मरूपाधिष्ठानसाक्षात्कारे जाते तु बलिति सर्वेभ्यो द्वैतवादिमतेभ्यो बलवति वेदनये वेदान्तदर्शने जयश्रीः जयोत्कर्षकाष्टा । तस्मात् बौद्धमतापेक्षया तार्किकमते जयः, तदपेक्षयापि सांख्यादिमते, आत्मनोऽसङ्गत्वादिस्वीकारात्; तदपेक्षया वेदान्तिमते, द्वैतमिथ्यात्वादिस्वीकारात्; अतो जयोत्कर्षकाष्टा । यदि तु निष्कामकर्माननुष्ठानाच्चित्तं न शुद्धं, तदा श्रवणादौ सत्यपि तादृशसाक्षात्काराभावेन विश्वमनित्यतया प्रतीयमानमपि तथ्यमेव, व्यावहारिकसत्यत्वात् । तत्रापाततस्तार्किकादिभिर्विश्वं ब्रह्मवत् परमार्थसत्यमिति वक्तुं शक्यम्,

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अद्वैतमतस्य सर्वमतश्रेष्ठतया बौद्धाधिकार एवोक्तत्वादिति । तैस्तथोक्तौ अनाश्वसन्तं प्रति तच्छ्लोकमेवोपन्यस्यति—तथाहि—न ग्राह्यभेदमिति । विज्ञानवादेति । बाह्यो घटादिरलीकः विज्ञानस्यैवाकारः ततो भिन्नाभिन्न इति साकारविज्ञानवादे, क्षणिकविज्ञानमात्मा इति च वादे इत्यर्थः । अश्रुतपरिभाषासंवृतमर्थं विवृणोति—अयमर्थ इति । ग्राह्यभेदमिति । घटपटादिज्ञानानां भेदकं घटपटादिरूपं बहिः भूतत्वादौ प्रत्यक्षादिना प्रतीयमानमर्थं तिरस्कृत्यालीकत्वोपगमेन ज्ञानव्यावर्तकतया स्वीकृत्य घटादिरूपो यो ज्ञानभिन्न आकारः, तेन रूपेण ज्ञानस्य वृत्तिः, ज्ञानान्तरभिन्नत्वेन संबन्धः कापि देशे काले वा नास्ति; ‘इदानीं घटमहं जानामि’ ‘इदानीं पटमहं जानामि’ इत्याद्यनुभवेषु घटपटादिविशेषणेनैव ज्ञानानां परस्परव्यावृत्ततया भानादित्यर्थः । प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धघटादीनामलीकत्वोपगमासंभवात् “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं,” “नेह नानास्ति किंचन” इत्यादिप्रबलश्रुतिप्रमाणेन परोक्षघटादिमिथ्यात्वनिश्चयेऽपि उपादानमूलाज्ञानानिर्वृत्या घटादिप्रत्यक्षादिभ्रमानिर्वृत्या ऐन्द्रजालिकवत् ज्ञानव्यावर्तकत्वसंभवादिति भावः । ननु—शुद्धचित्तस्योक्तश्रुत्यर्थश्रवणमनननिदिध्यासनैरद्वैतब्रह्मरूपाधिष्ठानसाक्षात्कारे सति घटपटादिप्रपञ्चतद्भ्रमनिवृत्तौ अप्रतीयमानानां घटादीनां न ज्ञानव्यावर्तकत्वसंभव इत्यत आह—घटादिवहिरर्थेति । बाधके उपादानाज्ञाननिवृत्तिसहितनिवृत्तिजनके । अद्वैतब्रह्मरूपाधिष्ठानसाक्षात्कारे इति । जीवन्मुक्तस्य समाधिकाले विदेहकैवल्यावाप्तिपूर्वकाले वा इति शेषः । वेदान्तदर्शने जयश्रीरिति । नित्यैकविज्ञानरूपब्रह्मरूपपरमपुरुषार्थसिद्धेरिति भावः । तदुक्तं बौद्धाधिकारविवृतौ तार्किकशिरोमणिभिः । उपसंहरति—तस्मादिति । ग्राह्याणां नीलधवलादीनां हि भेदात् प्रतिनियततद्विषयकज्ञानानां भेदसिद्धिः ग्राह्यभेदबाधने च ज्ञानभेदे साधकस्य प्रतिनियतविषयकत्वस्याभावात् क्षणिकानेकविज्ञानधाराकल्पने गौरवात् एकत्वे च लाघवात् बलवती औपनिषदे नये जयश्रीः । ‘एकमेवाद्वितीयं’ ‘सत्यं विज्ञानं’ ‘आनन्दो ब्रह्म’ ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्युपनिषदो नित्यमद्वितीयं ज्ञानं प्रतिपादयन्ति इति ॥ ननु—जयश्रीरित्यस्य जयप्रयुक्तशोभार्थकत्वे श्रीपदं केवलं पादपूर्कं स्यात्, जयातिरिक्तशोभाविवक्षणे प्रयोजनाभावात्, एवं वेदान्तमते न केवलप्रकृतबौद्धमतापेक्षया जयः, किंतु सकलद्वैतमतापेक्षयेति बलिनीत्यस्य सर्वेभ्यो द्वैतवादिभ्यो बलवतीत्येतद्व्याख्यानेन सूचितम् । तेनेतरमतानां स्वान्ययार्थिकचिन्मतापेक्षया जयोऽस्तीत्युपलभ्यते, अतस्तदनुकूला न्यूनता च इत्याशङ्क्य रूपगुणादिनोत्कर्षपरमावधिभूतलक्ष्मीवाचकश्रीशब्दमुत्कर्षकाष्टार्थकतया व्याचष्टे—जयश्रीरिति । जयोत्कर्षकाष्टेति । जय उत्कर्षः । ततोऽप्युत्कर्षः, तस्यापि काष्टा, उत्कर्षनिरूपकतदपेक्षयोत्कर्ष इत्यर्थः । एतेषां सामानाधिकरण्यस्याभावात् वेदान्तदर्शनसामान्ये न संभव इत्यतः, पृथक्कृतं तदधिकरणं दर्शयति—बौद्धमतापेक्षयेति । तार्किकमते जय इति । बाह्यार्थभङ्गक्षणभङ्गनिरासेन स्थिरैकबाह्यार्थस्थिरैकात्मस्वीकारे लाघवादिति भावः । तदपेक्षया न्यायमतापेक्षया । सांख्यादिमते इति । जय इत्यनुषङ्गः । आत्मनः स्थिरैकात्मनः । असङ्गित्वेति । कर्तृत्वाद्यभावेत्यर्थः । तदपेक्षया बौद्धन्यायसांख्यमतापेक्षया । वेदान्तिमते इति । अत्रापि जय इत्यनुषङ्गः । सांख्यैः सत्यस्यापि देहेन्द्रियादिप्रपञ्चस्यात्मनि न संसर्ग इत्युच्यते, वेदान्तिभिस्तु असङ्गत्वसिद्धये देहेन्द्रियादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वरूपा युक्तिः व्यवस्थाप्यते, अतः पूर्वापेक्षयोत्तरस्योत्कर्षनिरूपणात् वेदान्तिमते जयोत्कर्षकाष्टा, उत्कर्षान्तरनिरूपकसर्वमतावधिकोत्कर्ष इत्यर्थः । नन्वेवं—‘नोचे’दित्यादिपक्षान्तरोपन्यासासंभव इत्यत आह—यदि त्विति । नन्वेवं—विधान्तर्गतस्य घटादेरुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् वियदादेस्तु सृष्टिप्रलयश्रुतिसिद्धत्वात्, पूर्वोत्तरकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वात् शुक्तिरजतादिवन्मध्यकालवृत्त्यभावप्रतियोगित्वसिद्ध्यापत्त्या त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपासत्त्वापत्तिः इत्यत आह—विश्वमनित्यतया प्रतीयमानमपीति । तथ्यमेव प्रतीतिकालेऽवाधितम् । एवकारेणासत्यत्वव्यवच्छेदः; असतः प्रतीयमानात्, शुक्तिरजतघटादीनां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथागतस्य बौद्धस्य तु मतस्य ज्ञानादत्यन्ताभिन्नं जगदलीकमित्येवंरूपस्य कोऽवकाश इति । किंचोदयनाचार्याणां वेदान्तदर्शन एव महती श्रद्धा, बौद्धाधिकार एव हि सर्वदर्शनानि निराकृत्य वेदान्तदर्शनमेव पुरस्कृतं तैः । तथाहि—तत्रोक्तम्—‘अस्तु तर्हि शून्यतैव परमनिर्वाणमिति चेन्न । सा हि यद्यसिद्धा, कथं तदवशेषं विश्वं ? परतश्चेत् सिद्धा, परोऽप्युपगन्तव्यः स च परो यदि संवृतिरेव, विश्वशून्यतयोर्न कश्चिद्विशेषः, कथं तदप्यवशिष्येत ? असंवृतिश्चेत् परः परत एव सिद्धा; अनवस्था । स्वयमसिद्धा चेत्, कथं शून्यत्वमपि साधयेत् । स्वतःसिद्धा चेदायातोऽसि मार्गेण । तथाहि—स्वतःसिद्धतया तदनुभवरूपं, शून्यत्वादेव न तस्य कालावच्छेद इति नित्यम् । अतएव न तस्य देशावच्छेद इति व्यापकम् । अतएव निर्धर्मकमिति विचारारूपम्; तस्य धर्मधर्मिभावमुपादाय प्रवृत्तेः । अतएव तस्य विशेषाभाव इत्यद्वैतम् । प्रपञ्चस्यापारमार्थिकत्वादेव निष्प्रतियोगिकमिति विधिरूपम् । अविचारित-प्रपञ्चाक्षेपानु शून्यमिति व्यवहारः । तथापि प्रपञ्चशून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रपञ्चेन कः संबन्धः ? येनायं प्रकाशत इति चेत्, वस्तुतो न कश्चित्, संवृत्या तु गगनगन्धर्वनगरयोराधाराधेयभाव इव विषयविषयिभावः । स च यथा नैयायिकैः समर्थयिष्यते तथैव वेद्यनिष्ठस्वसावस्मिन् दर्शन इति विशेषः । अविद्यैव हि तथा तथा विवर्तते, यथानुभवी-यतया व्यवह्रियते तत्तन्मायोपनीतोपाधिभेदाच्चानुभूतिरपि भिन्नेव व्यवहारपथमवतरति, गगनमिव स्वमदृष्टघटक-टाहकोटरकुटीकोटिभिः । तदास्तां तावत्, किमाद्रकवणिजो वहिन्नचिन्तयेति । तस्मादनुभवव्यवस्थितावनात्मापि स्फुरतीत्यवर्जनीयमिति प्रविश वा अनिर्वचनीयक्यातिकुक्षिं, तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय न्यायानुसारेण नीलादीनां

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तु प्रतीतिसत्त्वात्, तथापि नाद्वैतहानिरित्याह—व्यावहारिकसत्यत्वादिति । व्यवहारकालमात्राबाध्यत्वादित्यर्थः । व्यवहारश्च प्रतीतिः, शब्दप्रयोगः घटादौ जलहरणाद्यर्थक्रियारूपः, ब्रह्मणस्तु कालत्रयाबाध्यत्वरूपं पारमार्थिकं सत्त्वम्, एवं च नोचेदिति पक्षान्तरेऽपि वेदान्तदर्शने एव जयश्रीरिति बोध्यम् । इदं सन्निकृष्टं घटादिकम् । प्रत्यक्षेणानित्यम्, अतीन्द्रियं गुरुत्वादि विश्वमपि ईदृशमेव, अनित्यमेव । यद्वा—यथा इदं विश्वमनित्यम्, उत्पादविनाशशालि, व्यवहारदशायां स्थितिमात्रं ईदृशमेव तथ्यं पूर्ववत् व्यवहारकालाबाध्यम् । यद्वा—इदं विश्वमनित्यं ईदृशमेव तथ्यम्, अनित्यत्वसामानाधिकरण्ययोग्यव्यावहारिकसत्यत्वाश्रयः, इतरकालवृत्त्यभावप्रतियोगि पारमार्थिकसत्यत्वाश्रयः । पारमार्थिकसत्यत्वस्य ब्रह्मणि नित्यत्वव्याप्यतया, नित्यत्वरूपव्यापकव्यतिरेकवति, आवश्यकस्य पारमार्थिकसत्यत्वरूपव्याप्यव्यतिरेकवति ‘सन् घटः’ इत्यादिप्रतीयमानसत्त्वस्य व्यावहारिकसत्यत्वरूपताया आवश्यकत्वात् इति मूलाक्षरार्थः । वस्तुतस्तु इदं विश्वम् । ईदृशमेव यादृशमनन्तरं तादृशमेव । तदपि नालीकम्, नापि पारमार्थिकं, किन्तु अनित्यं, तथ्यं कदाचित् व्यवहारकाले अबाध्यमित्यर्थः । तथागतमतस्य तु इति तुशब्दार्थमाह—तत्रेति । बाध्ये घटादौ तत्र व्यावहारिकसत्यत्वे च सतीत्यर्थः । आपातत इति । ‘नेह नाना’ ‘एकमेवाद्वितीय’मित्यादि श्रुत्यर्थपर्यालोचनया ‘विश्वं सत्यं मघवानौ’ इति यथाश्रुतश्रुतिपर्यालोचनेनेत्यर्थः । कोऽवकाश इति । सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपस्यासद्वैलक्ष्यस्य जगति सर्वसिद्धत्वात्, ज्ञानादत्यन्तभिन्नत्वेनैव बहिर्भूतभूतत्वादौ घटादेरनुभवसिद्धत्वाच्चेति भावः । ननु—भिन्नात्मशास्त्रप्रणेतृणां उदयनाचार्याणां बौद्धमतखण्डनप्रस्तावेन तथा श्लोकप्रणयनेऽपि तत्र न तात्पर्यं, किं च तैरस्तु तर्हि शून्यतैव परमनिर्वाणमिति वेदान्तविरुद्धः शून्यवादोऽप्युपपन्नः, तेषां कथं वेदान्तदर्शने एव श्रद्धा संभवेत् इत्याशङ्क्य तद्वन्थोत्तरसन्दर्भस्य वेदान्तिमतावलम्बनेन शून्यवादिसन्निराकरणपरस्य वेदान्तदर्शने तेषां महच्छ्रद्धाद्योतकत्वमाह—किंचेति । पुरस्कृतमिति । शून्यवादिमाध्यमिकमतनिराकरणायेति शेषः । तत्र बौद्धाधिकारे । अस्तु तर्हीति । एतद्विवृतौ शिरोमणिग्राह—सर्वशून्यतावादी, माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते—अस्तु तर्हीति । हेयोपादेयतत्साधनविरहे द्वेष-भयरागादिविरहात् परमा निर्वृतिरिति, तमेव वेदान्तिमतेन निराकुरुते—सा हीति । असिद्धत्वाविशेषात् विश्वमेव किं न स्यात् । परोपीति । संवृतिः विकल्पः । तदपि शून्यत्वमपि । कथमवशिष्येत विश्वस्य संवृतिसिद्धत्वात् । असंवृतिरूपः अनुभवरूपः । कथमिति । असिद्धेनैव शून्यतासाधने विश्वमेव किं न साधयेत् । मार्गेणौपनिषदेन । औपचारिकनित्यत्वादिव्यवहारं समर्थयति—शून्यत्वादेवेत्यादिना । शून्यत्वात् द्वितीयविरहात् । ननु—बाध्योपि भवन् प्रपञ्चः प्रकाशते, प्रकाशश्चास्य यदि ज्ञानान्तरं, तदा द्वैतापत्तिः । अथ ब्रह्मैव, तदा यथार्थानुभवस्य ब्रह्मणो विषयत्वात् प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वप्रसङ्ग इत्याशयेन पृच्छति—तथापीति । वस्तुतः प्रपञ्चः प्रकाशते इत्येव, आविद्यकस्तु तथा-व्यवहार इति परिहरति—वस्तुगलेति । संवृत्या अविद्यया । वेद्यनिष्ठ इति । आविद्यकस्य आविद्यकप्रपञ्चसंब-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पारमार्थिकत्वे' इत्यादि ॥ उक्तवाक्यानां संक्षेपेण व्याख्यानम् । संवृत्तिः भ्रमः । शून्यत्वात् असङ्गत्वात् । तस्य विचारस्य । निष्प्रतियोगिकं प्रपञ्चप्रतियोगिकत्वस्य स्वनिष्ठस्य मिथ्यात्वेन तच्छून्यम् । विधिरूपं निर्विकल्पकधी-वेद्यम् । अविचारितप्रपञ्चाक्षेपात् यतः प्रपञ्चो विचारसहः, अतस्तस्य श्रुत्यादिना निषेधः । प्रकाशते प्रकाश-संबद्धः । संवृत्या अविद्यया । विषयविषयिभावः विषयिप्रतियोगिकं विषयत्वं नैयायिकैः मादृशैः । समर्थ-यिष्यते प्रकाशस्य सतः तदीयतामात्रनिबन्धनः स्वभावविशेषो विषयतेत्यादिना निरूपयिष्यते । तथा तादृशः । तार्किकमते तादात्म्यान्यसंबन्धरूपोऽपि वेदान्तिदर्शने तादात्म्यरूपस्तार्किकसंमतविषयतात्वविशेष्यतात्वादिविशेषयुक्त इति भावः । वेद्यनिष्ठः वस्तुनिष्ठः, ननु वित्तिनिष्ठः । परस्पराध्यासानुरोधात् वित्तितादात्म्यस्य वित्तिभिन्नेष्वेव कल्पितत्वात्, वित्तिः स्वप्रकाशत्वेन वित्तिविषयत्वासंभवाच्च वित्तेस्तादात्म्यरूपा विषयतापि वित्तिभिन्नेष्वेव ननु वित्ताविति भावः । अस्मिन्दर्शने वेदान्तिदर्शने । तत्तन्मायेति । मूलाविद्या पल्लवाविद्येत्यर्थः । मायोपनीत-तत्तदुपाधीनां भेदादिति वा योजना बोध्या । वहिन्नेति । महानौकेत्यर्थः । यथा शूर्पादिपात्रे आर्द्रकाणि स्थापयित्वा

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

न्धस्य । परमार्थसति ब्रह्मणि असंभवादिति भावः । घटपटाद्यनुभवभेदं समर्थयति—न तदिति । एवं च प्रपञ्चवत्तस्या-विद्याप्रकाशान्तरस्वीकारेऽपि न क्षतिरिति मन्तव्यम् । अथ निरस्यन्तु शून्यतामौपनिषदाः, द्वैतवादिनस्तु कथं; 'तथैवे'त्यादि अत्राविवृतं विवृतं च प्रकारान्तरेण स्वयं व्याख्यातुं प्रतिजानीते—उक्तवाक्यानामिति । व्याख्यानमिति । क्रियत इति शेषः । संवृत्तिर्भ्रम इति । परिभाषेयम् । वस्तुतस्त्वाच्छादनपूर्वकत्वाद्भ्रमस्य, योग एव । शून्यत्वादिति । विवृतौ द्वितीयविरहादिति व्याख्यातं फलितमित्याह—असङ्गत्वादिति । तस्य विचारस्येति । “दृशैते राजमातङ्गाः तस्यैवामी तुरङ्गमा” इतिवत्, सर्वनाम्ना क्वचित् विशेषणपरामर्शित्वस्यापि संभवादिति भावः । अनुभवरूपे ब्रह्मणि प्रपञ्चा-भावोऽधिकरणीभूतब्रह्मरूपः । तथाच तस्य प्रपञ्चप्रतियोगिकत्वं कथं ? निष्प्रतियोगिकत्वात्, अत आह—प्रपञ्चप्रतियो-गिकत्वस्येति । यद्यपि विधिरूपमित्यस्य भावरूपमित्यर्थः; तथापि भावाभावयोः विशेषसूचनाय तत्परतामाह—निर्वि-कल्पकधीवेद्यमिति । अभावो हि प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां निरूप्यो, न निर्विकल्पकधीविषयो, ब्रह्म तु जातिवदखण्डत्वात् तथेति भावः । विचारनिर्णयप्रपञ्चस्य सिध्यसिद्धिभ्यां निषेधव्याघात इत्यतो व्याचष्टे—अविचारितेति । विचारसहः सदसञ्चामनिर्वचनीयः । अनिर्वचनीयख्यातिप्रसक्तः । श्रुत्या 'नेह नानास्ति'“एकमेवाद्वितीय”मित्यादिश्रुत्या । निषेधा-दिति । ब्रह्मणि अभावबोधनादित्यर्थः । सत्त्वाभावः स्वस्य व्यावहारिकत्वे प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेः, पारमार्थिकत्वेऽतिरिक्तत्वे द्वैतापत्तेर्ब्रह्मरूप इति तत्प्रपञ्चाभावरूपत्वाच्छून्यव्यवहारविषय इति भावः । प्रपञ्चस्य ब्रह्मवत् प्रकाशभेदासंभवादाह—प्रकाशसंबद्ध इति । संवृत्येत्यस्य भ्रमेणेति नार्थः, आरोप्यस्य भ्रमाजन्यत्वात्, भ्रमेण सह तस्याविद्याजन्यत्वादतो व्याचष्टे—अविद्ययेति । जन्यत्वं तृतीयार्थः । अविद्या हि आरोप्ये दोषविधया परिणाम्युपादानविधया च जनिकेति भावः । विषयेति । विषयनिष्ठो विषयिनिरूपितो भावो धर्म इत्यर्थः, तदाह—विषयिप्रतियोगिकमिति । यादृश-तादृशपदयोर्ज्ञानविषयतातिरिक्तः तदुभयसंबन्धरूप इत्यर्थः । सतः पारमार्थिकस्य विषयस्य । स्वभावविशेषः धर्म-विशेष इत्यर्थः । यः सः इति वक्तव्ये यादृशतादृशेत्युक्तेः फलमाह—तार्किकमते इति । तादात्म्यान्येति । भेदासहि-ष्ण्वभेदरूपतादात्म्यान्येत्यर्थः । तादात्म्येति । भेदसहिष्ण्वभेदरूपेत्यर्थः । नुः एवार्थ इत्याह—नत्विति । निष्ठ इति । वित्तिः ज्ञानम् । ननु—रूपभेदेन स्वस्मिन्नपि स्वतादात्म्यसंभवात् वित्तावपि वित्तेस्तादात्म्यसंभव—इत्यत आह—परस्पराध्यासानुरोधादिति । सामानाधिकरण्यप्रतीत्यनुरोधेन दृक्दृश्ययोरेव परस्परतादात्म्यं ननु शुद्धवित्तेः । तत्र वेद्ये वित्तितादात्म्यं विषयता, वित्तौ वेद्यतादात्म्यं तु विषयितेति बोध्यम् । ननु—वित्तौ वित्तेस्तादात्म्यरूपविषयितां विना कथं व्यवहारविषयिता इत्यत आह—वित्तेः स्वप्रकाशत्वेनेति । उपसंहरति—वित्तेस्तादात्म्यरूपाविषय-तेति । मायाया एकत्वात् कथं तत्तन्माया ? इत्यत आह—तत्तन्मायेतीति । सा चासौ माया चेति न विप्रहः, किंतु स चासौ मायोपनीतोपाधिश्चेतीत्यभिप्रायेणाह—मायोपनीतेति । मायाकल्पितेत्यर्थः । ननु—आर्द्रकवणिजोऽपि आर्द्रकाननाय बलीवर्दादिवहित्रापेक्षेत्यतो व्याचष्टे—महानौकेत्यर्थ इति । ननु—उदयनाचार्यैः वेदान्तमतबलम्बनेन बौद्धमतनिराकरणेऽपि तेषां तत्र महती श्रद्धा कुतोऽवगता ? एतदग्रे 'द्वैतवादिनस्तु' इत्यादिना द्वैतवादिमतेनापि तन्मत-निराकरणात्—इत्याशङ्क्य किमार्द्रकेत्याभाणकादेवेति व्यजयितुमाभाणकं व्याचष्टे—यथेति । आर्द्रकराणिविकिणिर्णां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विक्रीणतो वणिजो वहिन्नमनुपयुक्तम्, प्रत्युत कार्यविरोधि; समुद्रगतवहिनस्थस्यार्द्रकस्य तद्वाहकसकलसाधारणजनै-
र्हृष्टत्वाभावात् । तथा द्वैतमतमेव परिष्कुर्वतो मम वेदान्तदर्शनमनुपयुक्तम् । द्वैतमतविरोधि च; द्वैतखण्डनयुक्तीनां
मिथ्यात्वग्राहकमानस्य च तत्र पुरस्कारात्, तथापि वहिन्नमिव वेदान्तदर्शनं पुरुषधौरेयस्य परमप्रयोजनं साधयत्येवेति
वेदान्तदर्शने तदन्यसर्वदर्शनेभ्य उत्कर्षः आचार्याभिप्रेत इति ॥

इति लघुचन्द्रिकायां मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरुक्तिः ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वहिनमार्द्रकानयने उपयुक्तमेवेत्यत आह—शूर्पादिपात्रे इति । वणिजः एकाकिनः अल्पधनव्यवसायिनः । अनुपयुक्त-
मिति । तस्य बलीवर्देनाप्यार्द्रकानयनसंभवात् । प्रत्युतकार्यविरोधीति । अल्पधनस्यैकाकिनो बहुधनबहुसहायसाध्ये
स्वकृत्यसाध्ये प्रवृत्तौ स्वप्रवृत्तिसाध्यव्यवहारस्यापि भङ्गप्रसङ्गादिति भावः । आर्द्रकमहाराशिविक्रयिणां महावणिजां महान-
द्युत्तरतीरत आर्द्रकानयनार्थं वहिन्नमेवोपयुक्तमत आह—समुद्रगतवहिनस्थेति । तद्वाहकेत्यादि । सकलसाधारण-
जनप्रसिद्धस्यैवार्थस्याभाणके निबन्धनस्य सांप्रदायिकत्वात् इति भावः । प्रकृतं दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति—तथेति ।
द्वैतमतं द्वैतसत्यतामतम् । परिष्कुर्वतः एतद्वन्धे परिष्कारार्थं प्रवृत्तस्य ममैवानुपयोगे हेतुः, द्वैतखण्डनयुक्तीनामिति ।
इतरविरोधे हेतुः—मिथ्यात्वग्राहकेति । ननु—एतावता अश्रद्धैवाचार्याणां वेदान्तदर्शने प्रतीयते इत्याशङ्क्य
उक्ताभाणकोपन्यासव्यङ्ग्यं स्पष्टयति—तथापीति । वहिन्नमिवेति । महावणिजः इत्यादिः । पुरुषधौरेयस्य पुरुष-
श्रेष्ठस्य । परमप्रयोजनम् अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मानन्दावाप्तिरूपं मोक्षं साधयत्येवेति आभाणकतात्पर्यादिति शेषः ।
एवकारो वेदान्तदर्शनमेवेत्येवमपि योज्यः । एतेन—इतरशास्त्राणां मोक्षानुपयुक्तत्वं—उक्तम्; सत्याभिसन्धस्यैव मोक्ष-
श्रवणात् । वेदान्तदर्शने श्रीमच्छङ्कराभिमते औपनिषदमुख्यार्थभूतेऽद्वैतवेदान्तदर्शने । तदन्यसर्वेति । द्वैतवेदान्त-
स्वपरिष्कियमाणन्यायादिसकलदर्शनेभ्य इत्यर्थः । उत्कर्षः तदसाध्यमोक्षसाधकत्वम् आचार्याभिप्रेतः इति सिद्धम् ॥

इति मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरूपणम् ॥ ॥ श्रीः श्रीमन्मङ्गलमूर्तये पाण्डुरङ्गाय नमः ।

श्रीगुरुभ्यो नमः

अथ सामान्यतो मिथ्यात्वोपपत्तिः ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

मिथ्यात्वं किं मिथ्या, उत सत्यम् । आद्ये सिद्धसाधनम्; जगन्मिथ्यात्वस्य बाध्यताया अस्माभिरप्यङ्गीकारात्, श्रुते-
रतत्त्वावेदकत्वम्, जगत्सत्यत्वं चापद्येत । एकस्मिन्धर्मिणि प्रसक्तयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे सत्यत्वसत्यत्वस्य
नियमेन दृष्टत्वात् । तथाच जगत्सत्य मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वात् आत्मवत् । नचात्मत्वमुपाधिः; उपाधिव्यतिरेकेण साध्या-
भावसाधने सत्यत्वानुमान इव व्याघातरूपानुकूलतर्कस्याभावेनोपाधेरप्रयोजकत्वात् । मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वेन मिथ्या-
भूते रूप्यमिथ्यात्वे तु नोक्तहेतोर्व्यभिचारः । मिथ्याभूतमिथ्यात्वहेतुकोक्तानुमानस्योक्तसामान्यव्याप्तिमूलकानुमानेन
सत्प्रतिपक्षितत्वेन रूप्यमिथ्यात्वमिथ्यात्वसिद्धेः । उक्तनियमस्य धर्मिसत्ताविषयत्वेऽपि यत्सत्यभूततद्विरुद्धाधिकरणं न
भवति तन्मिथ्याभूततद्विरुद्धाधिकरणं न भवतीति सामान्यव्याप्त्या रूप्यमिथ्यात्वसत्यत्वसिद्धिसंभवात् । उक्तनियमे
च परस्परविरहात्मकत्वरूपविरोधस्यैव विवक्षणाच्च वन्ध्यासुतीयमिथ्याभूतस्यामलविरुद्धगौरत्वे व्यभिचारः । यदि
तत्तनियमस्यापि स्वाप्रिकगजविरुद्धस्वाप्रिकगजाभावे व्यभिचार इति संभाव्यते, तदापि धर्म्यसत्त्वप्रयुक्तसत्त्वाभावरूपो-
पाधिप्रस्तत्वेनोक्तानुमानमप्रयोजकमिति न रूप्यमिथ्यात्वमिथ्यात्वसिद्धिः । वस्तुतस्तु—स्वाप्रिकगजतदभावयोरुभयोरपि
मिथ्यात्वाभावेन नोक्तव्यभिचार इति ध्येयम् । किंच मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वेन मिथ्यात्वसाधनेऽप्रयोजकशङ्काकलुषित-

त्वेनाप्युक्तानुमानमप्रयोजकम्, प्रातिभासिकसंबन्धमात्रेण प्रातिभासिकत्वे ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रपञ्चसत्यत्वस्य, प्रातिभासिकरजतसंबन्धमात्रेण शुक्तिप्रातिभासिकत्वस्य, रूप्यप्रपञ्चादिगतसद्वैलक्षण्यस्यासद्वैलक्षण्यस्य च सदसत्संबन्धेन सदसद्रूपत्वस्य चापत्तिः । मिथ्यात्वमिथ्यात्वे भ्रान्तिबाधव्यवस्थाया अप्यसिद्धापत्तिः । किंच मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वादिति हेतोर्मिथ्यात्वरूपसाध्याभाववति घटरूपादौ मिथ्याभूतमिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वरूपहेतोः सत्त्वेन व्यभिचारात्तत्र सत्यभूतेति विशेषणे दत्ते विरोधादिकमपि स्यादित्युक्तनियमस्य कुत्राप्यव्यभिचारात् जगत्सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वादित्यनुमानं निरपवादमेव सिद्ध्यतीति प्रपञ्चमिथ्यात्ववादो न संभवदुक्तिकः । न द्वितीयः; अद्वैतहानेः । ब्रह्ममात्ररूपत्वेन तु न तत्परिहारः; सोपाधिकस्य मिथ्यात्वस्य निरुपाधिकप्रमकालनिश्चिताधिष्ठानब्रह्ममात्रत्वासंभवात्, द्वितीयाभावाधिकरणतयाऽविद्याधिष्ठानतया तत्साक्षितया च भासमानचिदन्योपलक्ष्यस्याभावेन द्वितीयाभावस्योपलक्षणत्वासंभवेन तदुपलक्षितब्रह्मरूपत्वस्याप्यसंभवात्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमेवेति प्रथमपक्षमेवाद्विद्यन्ते—तथाहि—मिथ्यात्वमिथ्यात्वपक्षे न दोषः । मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्य भवद्विरङ्गीकारेऽस्मन्मतप्रवेशापत्तेः, मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वाभावस्य पूर्वमेवोपपादितत्वात् जगत्सत्यत्वस्याप्यसंभवात् । न हि परस्परविरुद्धयोरेकत्र प्रसक्तयोर्धर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वमिति नियमः संभवदुक्तिकः; एकत्र गजे प्रसक्तयोगोत्वाश्वत्वयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वाभावेन व्यभिचारात् । एतेन—जगत्सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वादित्यनुमानमप्यप्रयोजकमिति—सूचितम्; सामान्यव्याप्तौ व्यभिचारस्य वर्णितत्वात् । विशेषव्याप्ताव्याप्तत्वस्योपाधित्वात् । यथाच मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वेऽपि सत्यत्वव्याघातस्तथाऽन्यत्र विस्तर इति न युष्मदीयानुमानेऽप्रयोजकशङ्कानिरासः, अस्मन्मते तु श्रुतिसंकोचाभावरूपलाघवतर्कस्य विद्यमानत्वात्सत्प्रतिपक्षोदयः । शुक्तिरूप्ये व्यावहारिकमिथ्यात्वयुक्ते तात्त्विकसत्यत्वाभावेन व्यभिचाराच्च नोक्तानुमानं प्रयोजकम् । तस्यापि पक्षसमत्वेऽपि सन्दिग्धानैकान्तिकताया दुर्वारत्वात् । एवंच शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वं मिथ्या मिथ्याभूतधर्मिकत्वात्, इत्यनुमानमपि साध्वेव । यथाच ब्रह्मप्रपञ्चयोर्न धर्मधर्मिभावस्तथा जडत्वनिरुक्तिप्रकरणे ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिरुपपादितमिति न ब्रह्मधर्मिकत्वेन प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिः; नवा सद्वैलक्षण्यादिना सद्रूपतापत्तिः; सद्वैलक्षण्यस्य सद्धर्मिकत्वाभावात् । एतेनासद्वैलक्षण्यस्यासद्रूपत्वमपि परास्तम्; घटादीनामिव रूपादीनामपि मिथ्यात्वान्न मिथ्याभूतमिथ्यात्वोपेतधर्मिकेषु तेषु व्यभिचार इति कस्यापि दोषस्याप्रसङ्ग इति स्थितेऽपि एकनिषेधेनापरसत्यत्वनियमपरिष्कारोऽपि तैरादृतः स च तत्रैव प्रसज्यति, यत्र निषेध्यतावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत् यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्वतदभावयोः; यथा परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः, तत्र निषेध्यतावच्छेदकभेदनियमात् । प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकमेकमेव दृश्यत्वादीति नात्र तादृशनियमप्रसरः ॥ यथा गोत्वाश्वत्वयोरेकस्मिन्गजे निषेधे गजाल्यन्ताभावव्याप्यत्वस्य तत्त्वे । यथाच सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, नवा परस्परविरहव्यापकत्वम्, तथोपपादितमधस्तात् । परस्परविरहरूपत्वेऽपि भिन्नसत्ताकयोरविरोधात्, व्यावहारिकमिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात् । वस्तुतस्तु मिथ्यात्वसत्यत्वयोरेकबाधकबाध्यत्वात् समसत्ताकत्वेऽपि न दोष इति—कृतमधिकेनेति ॥

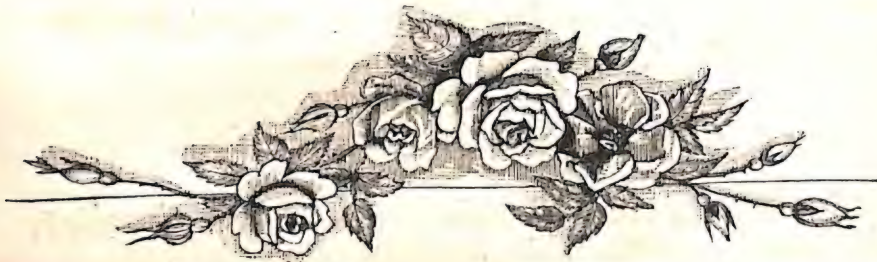
(३) तदेतत्तरङ्गिणीकारा नानुमन्यन्ते—

तथाहि—परस्परविरहस्वभावेषु कुत्रापि निषेध्यतावच्छेदकैक्यादर्शनेन गोत्वाश्वत्वयोस्तद्दर्शनेऽपि तयोस्तत्त्वाभावेन परस्परविरहस्वभावयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोरपि विषये निषेध्यतावच्छेदकभेदनियमस्याश्रयणीयतया भवदीयपरिष्कृतनियमानुसारेणापि न्यायामृतीयसिद्धान्त एव पर्यवसानम् । यथाच सत्यत्वमिथ्यात्वयोः परस्परविरहरूपत्वं तथोपपादितमुपपादयिष्यते च । विषमसत्ताकयोरविरोध इति युक्तं तद्विवेचनीयं—किं शुक्तिरूप्यगते सत्यत्वमिथ्यात्वेऽधिकृत्येदमुक्तम्, उत जगद्गते ते इति । तत्र नाद्यः तस्यातात्त्विकत्वस्य भवतैवोपपादितत्वेन व्यावहारिकत्वे बाध्यत्वापत्त्या सत्यत्वे तात्त्विकत्वापत्त्या च तयोरविषमसत्ताकत्वात् । नान्त्यः; तयोर्विषमसत्ताकयोर्भवतानङ्गीकारात्, अत्रैव सत्यत्वमिथ्यात्वे प्रपञ्चसमसत्ताके इत्युक्तत्वात्, सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयपक्षस्त्वत्यन्तायुक्तः; सत्त्वासत्त्वयोरपि तथा समुच्चयापत्त्या सदसद्वैलक्षण्यासिद्धिप्रसङ्गात् । मिथ्यात्वसत्यत्वयोः परस्परविरहस्वभावयोरेकबाधकबाध्यत्वाभावेन, बाधकबाध्या एवोच्छेदप्रसङ्गेन समसत्ताकत्वासिद्धिश्च—इति सर्वमनवद्यमिति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु

सत्यं परस्परविरहस्वभावेऽपि निषेधतावच्छेदकैक्यादर्शनं, तथापि तुच्छे प्रत्येकमसत्त्वेन मिथ्यात्वसत्यत्वयोर्न परस्पर-
विरहरूपत्वमिति न पूर्वोक्तदोषः । ज्ञापितश्चायमर्थः प्रथममिथ्यात्वे । द्वितीयमिथ्यात्वावसाने मिथ्यात्वाभावः सत्यत्वमि-
त्युपपादनं तु तन्मात्रविषयकमिति न दोषः । किंच परस्परविरहाभावस्थले निषेधतावच्छेदकैक्यादर्शनमात्रेण श्रुतिसिद्धो-
भयनिषेधोऽपि कथं बाधमर्हति । नहि लोकदृष्टसामान्यं सर्वथा सर्वत्र विवक्षितं शक्यत इति परस्परविरहस्वरूपत्वा-
ङ्गीकारेऽपि न कोऽपि दोषः । वस्तुतस्तु—मिथ्यात्वतदभावयोः विषमसत्ताकत्वस्यैवात्राभिमतत्वात् न कथमपि
विरोध इति नोक्तनियमे प्रमाणमपि । शुक्तौ रजततदभावयोरपि विरोधाभावेन कुत्रापि साहचर्यादर्शनात् बाध्यत्वाबाध्य-
त्वयोरेव मिथ्यात्वसत्यत्वयोः प्रयोजकत्वे नेहेति श्रुतिबाधितत्वस्य मिथ्यात्वे इव प्रपञ्चेऽपि विद्यमानत्वाच्च प्रपञ्चसत्यत्वाव-
काशः । यत्तु भवन्मते विषमसत्ताकयोस्तयोः शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे वा संभवोऽनङ्गीकारो वेति । तन्न सङ्गतम् ; व्याव-
हारिकमिथ्यात्वस्य काल्पनिकसत्यत्वस्य च शुक्तिरूप्यप्रपञ्चयोरप्यङ्गीकारात्, ब्रह्मप्रमातिरिक्तमिथ्यात्वप्रमाबाधितस्य सत्यत्वस्य
प्रातिभासिकत्वस्यैव युक्तत्वात् । यत्तु प्रकृतप्रकरणे एव तयोः समसत्ताकत्वादिति, तत्सत्यत्वस्यापि ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वेन
व्यावहारिकत्वमेवेति पक्षाभिप्रायेणेति न विरोधः । ‘सत्यं चानृतं च सत्यमभव’दिति श्रुतेरुभयत्राप्युपपत्तेः । एवं
मिथ्यात्वसत्यत्वसमुच्चयपक्षोऽपि युक्त एवेति सूचितम् । नचैवं—सत्त्वासत्त्वयोरपि समुच्चयापत्तिरिति—शङ्कनीयम् ;
मिथ्यात्वसत्यत्वयोरिव सामानाधिकरण्ये प्रमाणाभावेन तादृशापत्तेरसंभवात् । सत्त्वबोधकानां सृष्टिवाक्यानां विद्यमानत्वेऽप्य-
सत्त्वबोधकप्रमाणानामभावात् । एतेनैकवाधकवाध्यत्वमपि सिद्धप्रायमेवेति सूचितमिति विस्तरभयाद्विरम्यते—इति शिवम् ॥

इति सामान्यतो मिथ्यात्वविभागः ॥



श्रीगुरुभ्यो नमः ।

अथ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ।

ननु—मिथ्यात्वे साध्ये हेतूकृतं यदृश्यत्वं तदप्युपपादनीयम् । तथाहि—किमिदं दृश्यत्वं? वृत्तिव्या-

सिद्धिव्याख्या ।

अथ दृश्यत्वनिरुक्तिः ।

हेतौ दूषणानि परिहर्तुं पूर्वपक्षमुखेनोद्घाटयितुं च पातनिकामारचयति—नन्विति । उपपादनीय-
मिति । उपपादनं च कर्तुमशक्यम्—, अतो न तेन मिथ्यात्वसिद्धिरित्यर्थः । कुतोऽशक्यत्वमित्याशङ्क्य
तत्र संभावितप्रकारान्दूषयितुं पृच्छति—किमिति । वृत्तीति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्—बाह्येन्द्रियद्वारा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ दृश्यत्वनिरुक्तिः ।

वृत्तिव्याप्यत्वं वृत्तेराकाराख्यं विषयत्वम् । वृत्तित्वं तु 'ह्रीर्धीर्भीरित्यादिश्रुत्या अनूद्यमानो धीत्वरूपो जाति-
विशेषः । नच—तस्य भ्रमरूपाविद्यावृत्तिनिष्ठत्वमस्ति न वा, आद्ये उक्तश्रुतौ 'एतत्सर्वं मन एव'इत्यस्यासङ्गतिः
अविद्यावृत्तेः मनःपरिणामत्वाभावेन मनस्तादात्म्याभावात्, अन्त्ये शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यम्; सुखादौ वृत्त्य-
स्वीकारेण तत्रासिद्धिश्चेति—वाच्यम्; पक्षद्वयेऽप्यदोषात्, उक्तश्रुतौ मनःपरिणामरूपाया एव धियो निर्देशेन
तस्या एव मनस्तादात्म्योक्तेः सम्भवात् । उक्तश्रुतौ धीमात्रस्य निर्देशेऽपि विशेष्यविशेषणाकारवृत्तिद्वयावच्छिन्न-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अथ दृश्यत्वनिरुक्तिः ।

एतावता मिथ्यात्वानुमाने मिथ्यात्वरूपं साध्यं पञ्चधा निरुक्तम् । ततस्तत्र हेतुं निर्वक्तुं हेतोः दुर्वचत्वमुद्गावयति—
नन्विति । हेतूकृतं ज्ञापकत्वेनोपन्यस्तम् । तदप्युपपादनीयमिति । संभवद्यथाश्रुतार्थेषु दूषणसत्त्वात् निष्कर्षणीय-
मित्यर्थः । के ते अर्थाः? कानि च तद्दूषणानि? इत्यत आह—तथाहीति । वृत्तिव्याप्यत्वमित्यत्र व्याप्यत्वं नाव्य-
भिचरितत्वादिकम्; असंभवात्, अतो व्याचष्टे—वृत्तिव्याप्यत्वमिति । आकाराख्यः स्वरूपसंबन्धविशेषः । परोक्षे अन्तः-
करणवह्निर्निर्गमनाभावेन विषयासंबन्धात् तत्समानाकारान्तःकरणपरिणामासंभवाच्च, प्रत्यक्षस्थले इन्द्रियद्वारा वह्निर्निर्गतान्तः-
करणस्य घटादिविषयाकारतुल्याकारः परिणामो घटादिविषयसंबन्धो जायते, घटादौ अन्तर्बहिर्विलिप्यमानमुधादिवदिति तत्र
स्वाकारसदृशाकारत्वं तयोः संबन्धो भवति; तथापि रूपरसादिगुणक्रियादीनां निराकारत्वात् स्वरूपसंबन्धरूप इत्युक्तम् ।
वृत्तिपदानन्तरस्यापि व्याप्यपदस्य व्याख्यानं, वृत्तिपदव्याख्यानादल्पत्वात् सूचीकटाह्न्यायेन प्रथमं कृतम् । ननु—
“वृत्तयः पञ्चतयः—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः” इति पातञ्जलसूत्रोक्तपञ्चवृत्तिसाधारणरूपेण वृत्तिपदार्थनिवेशे तुच्छे
व्यभिचार इत्यत आह—वृत्तित्वं तु इति । ह्रीर्धीरित्यादीति । “कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति-
र्हीर्भीर्धीरित्येतत्सर्वं मन एव” इति श्रुतीत्यर्थः । अनूद्यमान इति । विधेयमनस्तादात्म्योद्देश्यतावच्छेदकतयेति शेषः ।
धीत्वरूपः अनुगतः प्रत्यक्षसिद्धो विकल्पादिव्यावृत्तौ जातिविशेष इत्यर्थः । यद्यपि धीपदार्थवृत्तौ उक्तश्रुत्या विधीयमानं
मनस्तादात्म्यं मनःपरिणामं विनाऽनुपपन्नं सत्, मनःपरिणामत्वं कल्पयतीत्यविद्यापरिणामरूपभ्रमात्मकवृत्तौ धीत्वासंभवः,
उक्तश्रुतिविरोधात्; तथापि शुक्तिरजतादौ साधनवैकल्यपरिहाराय अवश्यवक्तव्ये अविद्यावृत्तौ धीत्वस्वीकारे उक्तश्रुतिविरोधं
परिहर्तुं शङ्कते—नचेति । तस्य हेतुघटकतावच्छेदकीभूतस्य धीत्वस्य । एतत्सर्वं कामादि । प्रत्येकं सर्वं कामाः,
सर्वा धिय इति यावत् । अविद्यावृत्तेः सर्वधीपदार्थान्तर्गततायाः । मनःपरिणामत्वाभावेनेति । मनःपरिणामत्वस्य
मनस्तादात्म्यव्यापकत्वादिति भावः । पक्षद्वयेऽपि दोषमाह—सुखादाविति । विषयकत्वं सप्तम्यर्थो वृत्त्यन्वयी । तत्र
सुखादौ । आद्ये उक्तं दोषं परिहरति—उक्तश्रुताविति । मनःपरिणामरूपाया एवेति । एतत्सर्वमित्यस्य कामादि-
घटितसमुदायार्थकत्वसंभवेनाविद्यावृत्तिरूपधीपदार्थं मनस्तादात्म्यबोधानङ्गीकारेणाभावात् इति भावः । धीमात्रस्येति ।

प्यत्वं वा १ फलव्याप्यत्वं वा २ साधारणं वा ३ कदाचित् कथंचिच्चिद्विषयत्वं वा ४ स्वव्यवहारे स्वातिरिक्त-

सिद्धिव्याख्या ।

निःसृतान्तःकरणपरिणामो वृत्तिः, तद्व्याप्यत्वं तथा व्याप्यत्वं तथा सह संबन्धविशेषः । फलेति । उक्त-
रूपायां वृत्तौ प्रतिविम्बितचैतन्यं फलं, तेन संबन्धस्तद्व्याप्यत्वमित्यर्थः । साधारणमिति । वृत्तिव्याप्यत्व-
फलव्याप्यत्वानुगतमित्यर्थः । तच्च व्यवहारप्रयोजकविषयत्वं, तदपि वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वान्यतरव-
त्त्वमिति द्रष्टव्यम् । कदाचिदिति । स्वस्याविद्यमानतादशायां चिद्विषयत्वेऽपि विद्यमानतादशायां चिद्वि-
षयत्वं कदाचिच्चिद्विषयत्वं, धर्मं न जानामीत्यज्ञानोपरागेण वा 'घटं जानामीति' ज्ञानोपरागेण वा कथं-
चिच्चिद्विषयत्वमित्यर्थः । स्वव्यवहार इति । सुखमनुभवामीति चैतन्यव्यवहारेऽपि स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाऽ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चित्यपि धीव्यवहारात्, तस्याश्च विशेष्याकारमनोवृत्तिघटितत्वेन मन एवेति निर्देशसंभवात् । अतएव संशयरूप-
विचिकित्साया अप्युक्तश्रुतौ मनस्तादात्म्योक्तेरुक्तरीत्या निर्वाहः; एककोटिकस्यापातज्ञानस्यैव विचिकित्सापदेन
निर्देशात्, द्विकोटिकस्यापि निर्देशे एकधर्मिणि कोटिद्वयाकारवृत्तिद्वयावच्छिन्नचित एव विचिकित्सात्वेन तस्या
एककोट्याकारमनोवृत्तिघटितत्वेन मनस्तादात्म्यसंभवात् । धीत्वस्याविद्यावृत्तावस्वीकारेऽपि न दोषः, शुक्तिरूप्या-
दिकं मिथ्येत्याकारकमनोवृत्तिविषयत्वमादाय शुक्तिरूप्यसुखादौ साधनसत्त्वात् । फलव्याप्यत्वं स्वाकारवृत्ति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

सर्वमित्यस्य प्रत्येकमन्वयेनेति भावः । युक्तं चैतत्—अन्यथा प्रमाहितस्य कामस्य मनःपरिणामत्वं, अप्रमाहितस्य तु
अविद्यापरिणामत्वं स्यादिति । तस्याश्चेति । धीमान्त्रान्तर्गताया इत्यर्थः । ननु—एवं मनोवृत्तिघटिते मनस्तादात्म्यव्य-
वहारस्वीकारे गौणतापत्तिः इत्याशङ्क्य अगत्या तस्या आवश्यकत्वमाह—अतएवेति । उक्तरीत्या उक्तप्रकारद्वयेन । तत्र
प्रथमं प्रकारमाह—एककोटिकस्येति । अबाधितैककोटिकस्य । आपातज्ञानस्य अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितस्य प्रमाणजन्य-
वृत्तिरूपज्ञानस्य । द्वितीयं प्रकारमाह—द्विकोटिकस्यापीति । 'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरः । तत्र ज्ञानप्रामाण्यसंशय
इत्यर्थे प्रथमः, विषयस्य संशये इत्यर्थे द्वितीयः प्रकारो बोध्यः । तस्याः विचिकित्सारूपोक्तचितः । एककोटीति । अबा-
धितैककोटीत्यर्थः । ननु—धीत्वस्याविद्यानिष्ठत्वस्वीकारे उक्तप्रकारद्वयेनोक्तश्रुतिविरोधपरिहारस्य शुक्तिरूप्ये साधनवैकल्य-
परिहारस्य च संभवेऽपि पातञ्जले वृत्तिविभाजकसूत्रे प्रमाणपदार्थप्रमाणजन्यमनोवृत्तेः पृथक् विपर्ययपदार्थभ्रमरूपाविद्यावृत्त्यु-
पादानविरोधो दुर्वार इत्यत आह—धीत्वस्याविद्यावृत्तावस्वीकारेऽपीति । न दोषः शुक्तिरूप्ये सुखे च साधन-
वैकल्यरूपः । शुक्तिरूप्यादिकं शुक्तिरूप्यसुखादिकम् । मिथ्येत्याकारकेति । 'इदं रजतमिति' इदमाकारैन्द्रियिकवृत्ति-
कालीना रजताकारा वृत्तिरेवाविद्यापरिणामरूपा । एवं सुखादेः स्वकाले भानं स्वाकारवृत्तिं विनैवान्तःकरणोपलक्षितचैतन्य-
रूपसाक्षिणा । पुरोवर्तिनि भातरजतादिकं मिथ्येत्याकारकज्ञानं तु शब्दानुमानादिप्रमाणजन्यमनोवृत्तिरूपम् । एवं 'सुखं
मिथ्या' इति ज्ञानमपि तथा । एवं 'सुखमहमस्वाप्सं' इति स्मृतिवृत्तिरपि मनोवृत्तिरेवेति भावः । फलनिष्पत्ताविति
धातोः लोचनमुकुरे किमपि प्रतिफलति यन्मनोवर्तात्वादौ प्रतिविम्बे प्रयोगदर्शनात्, प्रतेर्द्यौतकसमभिव्याहाराभावेऽपि शर-
दित्यादौ स्वीत्वस्य प्रत्ययात्, उद्भवतीत्यत्रेव यागः स्वर्गो भवतीत्यादौ उत्पद्यत इत्याद्यर्थादिति व्रीक्षितोक्तेश्च, फलति अर्थात्
वृत्तौ प्रतिविम्बते इति व्युत्पत्त्या फलशब्दो वृत्तिविम्बितचैतन्यपरः । तादात्म्येन तद्वत्तौ तद्वत्तेर्व्याप्यत्वस्य तादात्म्यसंब-
न्धरूपत्वात्, व्युत्पत्तस्य च संबन्धसामान्यार्थकस्यावृत्तातोः (अत्यन्तभेदसहिष्णुरूपान्तरान्तरावच्छिन्न) भेदसहिष्णुतादा-

१ अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य वाऽविद्याप्रतिविम्बस्य वा जीवत्वमिति मतयोर्हि प्रमात्रन्यस्यैव जगदुपादानत्वेन सर्वदृश्यता-
दात्म्यस्य प्रमातर्यभावेन घटमहं साक्षात्करोमीत्यादिव्यवहारोपपत्त्यर्थं प्रतिविम्बाश्रयप्रमावच्छेदकत्वरूपस्य प्रतिविम्बाश्रयावच्छेद-
कत्वरूपस्य प्रतिविम्बवत्त्वरूपस्य वा संबन्धस्य प्रमावृत्तिविषययोरभ्युपगमनीयतया घटाद्याकारवृत्तौ वृत्तिकालावच्छेदेन घटादौ वा
जीवप्रतिविम्बसंभवात्तादात्म्यरूपं फलव्याप्यत्वं सर्वगतमेवेति पूर्वपक्षिणोऽभिमानः । जीवब्रह्मणोस्तु जीवानुपादानत्वपक्षेऽप्यभिन्नतया
न जीवप्रतिविम्बापेक्षेति ब्रह्माकारवृत्तिप्रतिफलितजीवचैतन्याभिन्नत्वरूपस्य फलव्याप्यत्वस्य न ब्रह्मणि व्यभिचारः । पक्षद्वयेऽपि
ब्रह्माकारवृत्तौत्वारणभङ्गाथैत्वस्याभिप्रेतत्वात् । स्पष्टं चैतन्न्यायरत्नाव्यामिति ततएव द्रष्टव्यम् ॥

संविदन्तरापेक्षानियतिर्वा ५ अस्वप्रकाशत्वं वा ६ । नाद्यः; आत्मनो वेदान्तजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेन तत्र

सिद्धिव्याख्या ।

स्तीत्यव्यभिचाराय—नियतिरिति । स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाव्याप्यस्वव्यवहारकत्वं तदर्थः । चैतन्ये तु स्वातिरिक्तसंविदन्तराभावेऽपि सुषुप्तौ नित्यसिद्धस्फुरणरूपव्यवहारदर्शनान्न तन्नियम इत्यर्थः । अस्वप्रकाशत्वं वेति । परप्रकाश्यत्वाभाव इत्यर्थः । आत्मन इति । वेदान्तजन्येनोक्तरूपमनःपरिणामेन वृत्त्याऽऽ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिबिम्बितचितो भग्नावरणकचितो वा तादात्म्यम् । साधारणं वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोरन्यतरत्वम् । अन्यतरत्वं च तदुभयमात्रमुख्यविशेष्यकं यत् ज्ञानं तन्मुख्यविशेष्यत्वम् । तद्व्यक्तित्वेन ज्ञानस्य निवेशः, तेन वृत्तिव्याप्यत्वस्यैव हेतुत्वसंभवेनान्यवैयर्थ्यमित्यपास्तम् । कदाचित् कथंचित् चिद्विषयत्वं किञ्चित्कालावच्छिन्नमावृतानावृतसाधारणं चिद्विषयत्वं चित्तादात्म्यमात्रं हेतुः । दैशिकसंबन्धेन हेतुतालाभावावच्छिन्नान्तम्, कालिकसंब-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तम्यरूपसंबन्धविशेषार्थकत्वात्, तदुत्तरकर्माथककृतप्रत्ययस्य 'चैत्रेण प्राप्तः प्राप्त' इत्यादाविधानुयोगित्वार्थकत्वात्, प्रकृते व्याप्यत्वपदं तादात्म्यरूपतद्विषयतापरमित्याशयेन व्याचष्टे—**फलव्याप्यत्वमिति** । रूपवान् घट इति चाक्षुषविषयत्वस्य परिणामानङ्गीकारादाह—**स्वाकारकेति** । **प्रतिबिम्बितचित इति** । **ननु**—वृत्तिविषयत्वस्यैव दृश्यत्वपदार्थत्वसंभवे वृत्तिविषयत्वनियतस्य वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वस्य किमिति दृश्यत्वपदार्थत्वस्वीकार—**इति चेत्, शृणु**; सर्वत्र दृश्येषु प्रमाणवृत्त्या स्वविषयगताज्ञानावरणस्य नाशमात्रं जन्यते, विषयप्रकाशस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यसंबन्धेनैवेति वृत्तिविम्बितचैतन्यस्य दशधातुमुख्यार्थत्वाविरोधात् तादात्म्यरूपतद्विषयत्वस्य दृश्यत्वपदार्थत्वमिति । **तदुक्तं परिभाषायाम्**—प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षं, प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेवेति । ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः । **तदुक्तं विवरणाचार्यैः**—‘अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्’ इति । परंतु तत्त्वमसीत्यादिमहावाक्यजन्यवृत्त्या शुद्धब्रह्मस्वरूपाज्ञानावरणनिवृत्तौ स्वप्रकाशचैतन्यरूपं ब्रह्म स्वत एव प्रकाशते, मेघाद्यावरणनिवृत्तौ सूर्य इव । न त्ववर्जनीयेनापि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येन जलादिप्रतिबिम्बितसूर्येणैव विम्बभूतस्य, प्रकाशस्य इतरप्रकाशानपेक्षत्वात् । प्रतिबिम्बभूतस्य विम्बप्रकाशाभिभूतत्वात् । **तदुक्तम्**—“ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरिहेष्यते । स्वयं प्रकाशमानत्वात् नाभास उपयुज्यते” इति । अतः सत्ये ब्रह्मणि निरुक्तदृश्यत्वरूपहेतोरभावाच्च व्यभिचार इति ध्येयम् ॥ **इदं तु बोध्यम्**—प्रत्यक्षे प्रतिवृत्ति बहिर्निर्गतान्तःकरणविम्बितविषयचैतन्याभिन्नप्रमातृचैतन्यविषयत्वं, परोक्षे तु स्वस्थानमात्रस्थितान्तःकरणवृत्तिविम्बितप्रमातृचैतन्यविषयत्वं, शुक्तिरजतस्वाप्रगजादिप्रातिभासिकेषु स्वाकाराविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिचैतन्यरूपप्रमातृविषयत्वं, बहिर्विषयगताविद्यावृत्तौ अन्तःकरणोपहितचैतन्यस्य प्रतिबिम्बश्च स्वतादात्म्यापन्नैदमाकारबहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितेदमवच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वेन । नचैवं—प्रमाणवृत्त्यपेक्षायां साक्षिवेद्यत्वं कथमिति—शङ्कनीयम्; इदमाकाराया वृत्तेरपेक्षणेऽपि रजताकाराया अनपेक्षणात् । अतएव एकविशिष्टज्ञानत्वं भ्रमस्य । यदि तु प्रमात्राश्रिताविद्यावृत्तौ प्रमातुः प्रतिबिम्ब इत्युच्यते, तदा विश्वल्लङ्घनद्वयत्वं स्यादिति बोध्यम् । साक्षादेव प्रमातृविषयत्वमिति न कापि भागासिद्धिरित्यभिमानः । जिफला विशरणे इत्यनुशासनात् फलधातोर्नाशार्थकत्वात्, अधिकरणे घञ्समानार्थकप्रत्ययान्तस्य अज्ञानावरणनाशविशिष्टचैतन्यार्थकत्वात्, व्याप्यत्वपदस्योक्तार्थकत्वाच्चाह—**भग्नावरणकचितो वेति** । प्रत्यक्षस्थले विषयाकारबहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्या वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यद्वारा प्रमातृचैतन्याभिन्ने विषयचैतन्यावरकस्य ‘घटो नास्ति’ ‘न भाति’ इति व्यवहारप्रयोजकस्य अज्ञानावरणस्य नाशः, परोक्षस्थले तु विषयाकारान्तःस्थितान्तःकरणवृत्त्या विषयचैतन्ये प्रमातृप्रमाणचैतन्यभिन्ने ‘नास्ति’ इति व्यवहारप्रयोजकज्ञानावरणमात्रस्य नाशः; ‘न भाती’ति व्यवहारप्रयोजकं तु अस्येव । साधारणपदस्य प्रकृतोभयसाधारणरूपावच्छिन्नपरत्वमाह—**साधारणमिति** । वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वान्यान्यतररूपान्यतरत्वावच्छिन्नपरत्वे स्वघटकवृत्तिव्याप्यत्वातिरिक्तवैयर्थ्यम्, अतआह—**अन्यतरत्वं चेति** । तदुभयविशेष्यकत्वेन ज्ञाननिवेशेऽप्येतद्वोषतादवस्थयत आह—**तद्व्यक्तित्वेनेति** । उक्तव्याख्यावीजं प्रकाशयति—**तेनेति** । **अन्येति** । तदतिरिक्तैत्यर्थः । भग्नावरणचिद्विषयत्वस्यैव तु न हेतुत्वसंभवः; नित्यातीन्द्रियादौ भागासिद्धेः । कदाचिदित्यस्यार्थमाह—**किञ्चित्कालावच्छिन्नेति** । कथंचिदित्यस्याह—**आवृतानावृतसाधारणेति** । हेतुतावच्छेदकमाह—**चित्तादात्म्यमात्रमिति** । मात्रपदेन

व्यभिचारात् । अतएव न तृतीयोऽपि । नापि द्वितीयः; नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च तदभावेन भागा-

सिद्धिव्याख्या ।

त्मनोऽपि व्याप्यमानत्वात् तत्र व्यभिचारादित्यर्थः । अतएवेति । ब्रह्मणि वृत्तिव्याप्यत्वरूपविशेषस्य सत्त्वेन सामान्यस्यापि सत्त्वाव्यभिचारादेव न तृतीय इत्यर्थः । नित्यातीन्द्रियेति । एतेनापरोक्षैकर-सचैतन्यरूपफलव्याप्यत्वे नित्यातीन्द्रियत्वस्यैव हेतूक्तव्यतयाऽसति विरोधतादवस्थ्यमिति निरस्तम्; असत्तुच्छादिपदजन्यप्रतीतिविशेषहेत्वन्तरोपलब्धेश्च । नच—तस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः, नह्य-सत्पदादिना प्रपञ्चो लक्षणयाऽपि न प्रतिपाद्यत इत्यस्तीति—वाच्यम्; शक्त्या तुच्छादिपदजन्यप्रतीति-विशेष्यत्वेन हेतुत्वे व्यभिचाराभावात् । नच—येनापराधेनासति प्रतियोगित्वं नेत्यभ्युपगम्यते, तेनैवापराधे-नासतस्तुच्छादिपदाशक्यत्वमभ्युपगम्यतामिति—वाच्यम्; तुच्छादिपदानामसति शक्तिग्राहककोशादि-विरोधप्रसङ्गेन तदशक्यत्वस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । नच—संज्ञारूपेण तुच्छादिपदस्य शक्त्या देवदत्ता-दिप्रतिपादकत्वसंभवेन तत्पदजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वस्य तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्; संज्ञारूपेण तुच्छा-दिपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वस्यापि विशेषणेन तत्राव्यभिचारात् । तस्मादसत्त्वस्य सद्निर्वाच्यभिन्नत्वा-दिरूपत्वेन विरोध इति तत्त्वम् । यदप्यसत्यसत्त्वसद्वैलक्षण्यनिरुच्यमानप्रतियोगित्वाभावपरोक्षज्ञानव्यव-हारादिवत् प्रतीत्यविषयत्वसद्वैलक्षण्यनिषेधप्रतियोगित्वमप्युपपद्यत इति, तन्न; धर्मिसत्तानपेक्षाणां धर्माणां धर्मिणं विनाप्यवस्थानसंभवेऽप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं न तथा तिष्ठतीति वाच्यम्; अन्यथा प्रागभावा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्धेन हेतुत्वे हि अविद्याद्यनादिषु भागासिद्धिः । स्वव्यवहारेत्यादिपक्षद्वयं तु मूले प्रकटीभविष्यति । नित्यातीन्द्रिये कदाचिदिन्द्रियमतिक्रान्तं घटादिकम्, नित्यं तदतिक्रान्तं तु गुरुत्वादिकम्; तत्रोक्तयोः फलव्याप्यत्वयोरभावेन भागा-सिद्धिः । वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वपक्षे भग्नावरणेत्याद्येव फलव्याप्यत्वं वाच्यम्; वृत्त्यादौ चित्प्रतिबिम्बे मानाभावात्, तथा

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

आवृतानावृतसाधारणत्वव्यवच्छेदः । अवच्छिन्नान्तफलमाह—**द्वैशिकेति** । अविद्या जीव ईश इत्यादिषड्वैत्यर्थः । नित्या-तीन्द्रियपदे न कर्मधारयाश्रयणम्; जन्यासंग्रहेण न्यूनतापत्तेः, किंतु अतीन्द्रियपदघटकातिपदेनातिक्रमक्रियान्वयार्थकेन नित्यपदस्य 'सुप्सुपा' इति समासमभिप्रेत्य प्रयोजनमाह—**कदाचिदिति** । एवंच कदाचिदिन्द्रियगोचरे घटादौ उक्त-फलव्याप्यत्वसत्त्वान्नासिद्धिरिति भावः । तत्र गुरुत्वादौ । **उक्तयोः** वृत्तिप्रतिबिम्बितचित्तादात्म्यभग्नावरणकचित्तादात्म्य-रूपयोः । **अभावेनेति** । गुरुत्वाद्याकारानुमानिकादिद्वृत्तेः बहिर्निर्गमनाभावेन गुरुत्वस्य तद्वृत्त्येकदेशस्थत्वाभावेन वृत्त्यव-च्छिन्नचैतन्ये गुरुत्वावच्छिन्नचैतन्यभावेदाभावेन गुरुत्वे तत्तादात्म्यरूपविषयत्वासंभवात् समानदेशकालीनयोर्भिन्नरूपावच्छि-न्नयोर्वस्तुतोऽभिन्नयोरेव तादात्म्यरूपसंबन्धोपगमात्, वृत्तेराकाराख्यविषयत्वोपगमेऽपि तदवच्छिन्नचैतन्यरूपज्ञानस्य क्लृप्त-तादात्म्यान्यविषयत्वानुपगमात् । एवं गुरुत्वाद्याकारपरोक्षवृत्त्यान्तःकरणस्थितया परोक्षे गुरुत्वादौ नाज्ञानावरणशक्ति-सामान्यभङ्गः । द्वे हि अज्ञानस्यावरणशक्ती । एका 'नास्तीति' व्यवहारप्रयोजिका असत्त्वापादिकेत्युच्यते, अपरा 'न भाती'ति व्यवहारप्रयोजिका अमानापादिकेत्युच्यते । तत्र प्रत्यक्षवृत्त्या प्रत्यक्षे विषये उक्तशक्तिद्वयस्यापि नाशः । परोक्षवृत्त्या परोक्ष-विषये तु असत्त्वापादकावरणशक्तेरेव नाशः । अमानापादिकावरणशक्तिस्तु अस्यैव । प्रकृते च भग्नावरणकेत्यनेन आवरणशक्तिसामान्यभङ्गविवक्षायां परोक्षे गुरुत्वादौ असिद्धिरिति भावः । यदि यत्किंचिदावरणशक्तिभङ्गमात्रं विवक्ष्यते, तदा शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यरूपं दोषान्तरमुक्तम्, तत्सङ्गमयति—**वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वपक्षे इति** । सिद्धान्त-

१ अविद्यावच्छिन्नचैतन्यमेव जीवः, अज्ञानाश्रयत्वस्य तद्विषयत्वस्य चैकत्रायोगेनाहमज्ञ इत्यादिप्रतीत्यनुसारेण च जीवस्यैवा-ज्ञानाश्रयत्वस्यावश्यकत्वात्, अन्तःकरणज्ञानयोः सामानाधिकरण्याभिप्रायेणोक्तप्रतीत्युपपादनेऽहं मनुष्य इत्यादीनामपि तथापत्त्या-ऽन्तःकरणविशिष्टे शरीराध्याससिद्धान्तभङ्गापत्तिरित्यादिविवरणे स्पष्टम् ॥ एवंचाविद्याश्रयस्य जीवस्यैव जगदुपादानत्वात् तदुपरागस्य वृद्धयसिद्धत्वात् आवरणभङ्गार्थत्वमेव वृत्तेर्युक्तमिति वाचस्पतिमत इत्यर्थः ।

सिद्धिसाधनवैकल्ययोः प्रसङ्गात् । नापि चतुर्थः; ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुभवेन आत्मनि व्यभिचारात् । नापि पञ्चमः; ब्रह्मण्यप्यद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे संविदन्तरापेक्षानियति-

सिद्धिव्याख्या ।

दिदशायामसत एव घटस्याप्यपरोक्षत्वं स्यादित्यतो न तत्र हेतुरस्तीति भावः । शुक्तिरूप्यादाविति । पक्षैकदेशसाक्षिमात्रवेद्यावेद्यान्तःकरणतद्धर्मसुखादिरादिशब्दार्थः ॥ तेषां साक्षिमात्रवेद्यतया तत्रान्तःकरणवृत्तेरभावेन तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपफलव्याप्यत्वस्य सुतरामभावादेवमादिषु साधनवैकल्यप्रसङ्गादित्यर्थः । ब्रह्म पूर्वमिति । नित्यातीन्द्रियवद्ब्रह्मणोऽपि ज्ञातत्वेन वाऽज्ञातत्वेन वा साक्षिविषयत्वस्य त्वयाऽप्यङ्गीकार्यत्वात्तत्राऽऽत्मनि व्यभिचार इत्यर्थः । अद्वितीयत्वादीति । स्वप्रकाशत्वादिविशिष्टत्वमादिशब्दार्थः । यस्मिन् कस्मिंश्चित् आत्मगोचरव्यवहारे स्वप्रकाशत्वाद्वितीयत्वादिविशिष्टविषयके

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यम् । नच—धर्मिज्ञानेन भग्नावरणकस्य शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य शुक्तिरूप्यादिकमपि विषय इति—वाच्यम्; स्वावच्छिन्नस्याज्ञानविषयत्वस्य भङ्गविशिष्टचिद्विषयत्वमेव हि फलव्याप्यत्वशब्दार्थः; अन्यथा गुरुत्वादावपि तदापत्तेः, चिद्विषयत्वस्यैव फलव्याप्यतारूपतापत्त्येतरभागवैयर्थ्यापत्तेश्च । यत्र विषयत्वं स्थाप्यं तदेव

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

लेशसंग्रहानुसारिणस्तु—द्विविधमज्ञानं; पुरुषाश्रितं विषयविषयकं च । एकमेव वाज्ञानं; तस्याश्रयतासंबन्धः पुरुषे, विषयता तु विषये; तत्रापरोक्षवृत्त्याऽज्ञानद्वयस्यापि एकाज्ञानीयोक्तद्विविधसंबन्धस्यापि वा निवृत्तिः, परोक्षवृत्त्या तु विषयगतस्यैवाज्ञानस्य तत्संबन्धस्य वा निवृत्तिः; तत्रावरणभङ्गार्थत्वपक्षे नित्यातीन्द्रिये भागासिद्धिः ॥ तत्र स्वाकारवृत्तिनिवर्त्याज्ञानविषयताकत्वस्य फलव्याप्यत्वरूपत्वात्, स्वाकारवृत्तिनिवर्त्याज्ञानाश्रयताकत्वस्य फलव्याप्यत्वरूपत्वे शुक्तिरजतादौ साधनवैकल्यम्, अपरोक्षवृत्त्यैवाज्ञानस्य निवृत्तिः, परोक्षवृत्त्या नाज्ञानस्य निवृत्तिः, किंतु अज्ञानानुभवप्रतिबन्धेनाज्ञाननिवृत्तिभ्रमात्रमिति पक्षे तु स्वाकारवृत्तिप्रयोज्यो.योऽज्ञानानुभवोऽज्ञाननिवृत्तिभ्रमो वा तत्कत्वं फलव्याप्यत्वं चेत्, उक्तभागासिद्धिः; स्वाकारवृत्तिनिवर्त्याज्ञानकत्वं फलव्याप्यत्वं चेत्, उक्तं साधनवैकल्यम्—इत्याहुः । मानाभावादिति । रूपवत एव द्रव्यस्य प्रतिबिम्ब इति नियमात्, चित्तश्च नीरूपद्रव्यत्वात्, अर्थस्फुरणस्यावरणभङ्गेनैवोपपत्तेश्चेति भावः । साधनवैकल्यमिति । प्रातिभासिकस्य प्रतिभासकाल एव सत्त्वेनाज्ञानविषयत्वानुपगमादिति भावः । धर्मिज्ञानेनेति । इदंत्वप्रकारकेणेति शेषः । शुक्तिरूप्यादिकमपीत्यपिना इदंत्वविशिष्टा शुक्तिः । तत्तादात्म्यापन्नत्वात्तद्रूप्यस्येति भावः । स्वावच्छिन्नस्येति । स्वं यत्र फलव्याप्यत्वमुपपादनीयम् तत् घटादि, इदंत्वविशिष्टशुक्त्यादि चेति वक्ष्यते । घटादौ पक्षे फलव्याप्यत्वरूपहेतुसिद्धिः । घटादिकं हि स्वतादात्म्यापन्नस्वाधिष्ठानचैतन्यनिष्ठाज्ञानविषयतायामवच्छेदकमेव, नत्वज्ञानविषयः, जडत्वात् । जडे च चैतन्यप्रकाशप्रतिबन्धरूपस्याज्ञानकार्यस्याभावात्, जडस्याज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं त्वावश्यकं, तत्तज्जडावच्छिन्नाज्ञानविषयत्वभङ्गं प्रति तत्तदाकारवृत्तेः कारणत्वात्; अन्यथा घटाद्याकारवृत्त्या शुद्धचैतन्यविषयकाज्ञानभङ्गापत्तेः । शुद्धचैतन्यविषयकाज्ञानभङ्गे तु शुद्धचैतन्याकारवृत्तेरेव कारणत्वं बोध्यम् । शुक्तिरूप्यादिकं च न स्वं; तस्याज्ञानजन्यत्वेनाज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वात् । घटज्ञानजन्यघटेच्छाया घटज्ञानविषयतानवच्छेदकत्ववत्, इति साधनवैकल्यसङ्गतिः । अज्ञानविषयत्वस्येति । भङ्गेति । स चाधिकरणरूपात्यन्ताभावोऽपि तादृशाज्ञानविषयत्वाभावो न स्वाकारवृत्तिजन्यः । अन्यथा स्वावच्छिन्नत्वस्यानिवेशे विषयान्तरावच्छिन्नाज्ञानविषयत्वभङ्गविशिष्टचिद्विषयत्वस्य खनिष्ठस्य खनिष्ठफलव्याप्यत्वशब्दार्थत्वे । गुरुत्वादाविति । आदिना प्रत्यक्षपर्वतादिनिष्ठानुमेयवह्यादिः । घटाद्याकारवृत्तिजन्याज्ञानविषयत्वभङ्गविशिष्टघटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वादिति भावः । तदापत्तेः फलव्याप्यत्वापत्तेः । तथाच नित्यातीन्द्रियेति मूलविरोधो गुरुत्वादेः प्रत्यक्षविषयत्वव्यवहारापत्तेश्चेति भावः । ननु—योग्यत्वादिविशेषणस्योक्तफलव्याप्यत्वे निवेशात् नेयमापत्तिः, अत आह—चिद्विषयत्वस्यैवेति । योग्यत्वादिविशिष्टस्येत्यादिः । इष्टापत्तिशङ्कया चैतदवतारयति—इतरभागेति । भग्नावरणकेति । भागेत्यर्थः । वैयर्थ्यापत्तेरिति । गुरुत्वादिवारणस्यैव तत्फलत्वात् तस्य चासंभवादिति

दर्शनेन व्यभिचारात् । नापि षष्ठः, स हि अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपः । तथाच शुक्ति-

सिद्धिव्याख्या ।

स्वातिरिक्तसंविदो विशेषणविषयतया नियमेनापेक्षणादिति भावः । स हीति । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वं; तत्रचातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तिवारणाय अपरोक्षेत्यादिविशेष्यम् । घटादावतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तं विशेषणम् । ब्रह्मणोऽपि वृत्तिवेद्यतयाऽव्याप्तिर्मा भूदिति फलव्याप्यत्वाभावो वेद्यत्वं विवक्षितम् । सुप्तिप्रलयादावपरोक्षव्यवहाररहिते आत्मन्यव्याप्तिवारणाय योग्यत्वं विशेषणम् । एवंप्रकाशत्वाभावोऽस्वप्रकाशत्वमित्यर्थः । दूषयति—तथाचेति । अविद्यादिरादिशब्दार्थः । ततश्चोक्तस्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वम् । ननु—ईश्वरीयायां मायापरिणामरूपायां विद्यमानसर्वविषयिकायां वृत्तौ प्रतिविम्बितस्य चैतन्यस्य गुरुत्वादि सर्वं दृश्यं विषयः, उक्तं हि विवरणे—‘ईशस्य सर्वकर्तृत्वादेव विद्यमानसर्वविषयज्ञते’ति । उक्तंच तत्र तत्त्वदीपने—‘ईश्वरोपाधिः सत्त्वप्रधानमाया विद्यमानसर्वविषयाकारेण परिणमते तस्मिंश्च परिणामे प्रतिविम्बितं चैतन्यं सर्वं पश्यत्याध्यासिकसंबन्धा’दिति । अतः कथं भागासिद्ध्यादिकम्, नच—तदापातत एव पूर्वपक्षिणोक्तमिति—वाच्यम्; सिद्धान्ते फलव्याप्यत्वव्यतिरिक्तस्येत्यादिग्रन्थासङ्गतेः—इति चेन्न; फलपदस्य प्रमाफलार्थकत्वात् ईश्वरीयमायावृत्तेश्च प्रमात्वाभावेन तत्प्रतिविम्बितचित्तः फलपदार्थत्वाभावात् । येन हि पुरुषेण यदज्ञातं तद्विषयकवृत्तिः तत्पुरुषीयप्रमा, नचेश्वरेण किंचिदज्ञातमस्ति; येन तदीया मायावृत्तिः प्रमा स्यात् । यदि च फलशब्दार्थमपह्नाय ईश्वरीयवृत्तिसाधारण एव हेतुरुच्यते, तदा नासिद्ध्यादिदोषः । ज्ञातं वृत्त्युपहितचिद्विषयः । अवेद्यत्वे सतीत्यादि । फलव्याप्यत्वसमा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भावः । भागासिद्ध्यादिदोषासंभवमाशङ्कते—नन्विति । विद्यमानेति । अतीतानां तु ईश्वरस्य स्मरणम्, अनागतसृष्टेरिक्षणरूपमायावृत्त्युपाधिकेश्वरसाक्षिरूपं विज्ञानमिति सर्वज्ञत्वसिद्धिरीश्वरस्येति भावः । केचित्तु—ईश्वरस्योपाधिभूतमायापरिणामैः चित्प्रतिविम्बग्राहिभिः कालत्रयवर्तिनोपि प्रपञ्चस्यापरोक्ष्येणाकलनात्सर्वज्ञत्वमिति—वदन्ति—प्रतिविम्बितं चैतन्यमिति । भ्रमावरणकचिद्विषयत्वं फलव्याप्यत्वमितिपक्षे नेयं शङ्का, ईश्वरचैतन्यस्य स्वतः सर्वदानावृतत्वेन वृत्तिप्रयोज्यावरणभङ्गविशिष्टत्वाभावात् । सर्वमिति । विद्यमानमिति शेषः । कथं भागासिद्ध्यादिकमिति । नच—अभ्रान्तेश्वरस्य शुक्तिरजतविषयकमायावृत्तेरभावात् साधनवैकल्ये जागरूके कथंताया अभावात् कथमादिपदोपादानम्? ईश्वरस्य रजततादात्म्यावगाहित्वेन रजताकारविद्यावृत्तितादात्म्यापत्तेर्द्वयवृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यरूपजीवभ्रमाकारवृत्तेः शुक्तौ जीवदृष्टं रजतं मिथ्येत्यादिवृत्तेश्च बाधितविषयिण्याः स्वीकारे भ्रान्तत्वापत्तेर्दुर्वारत्वादिति—वाच्यम्; यतः बाधितस्याबाधितत्वावगाहि बाधितत्वानवगाहि वा ज्ञानं भ्रमः, अन्यथा ‘नेदं रजत’मिति बाधस्यापि भ्रमत्वापत्तेः, सिद्धान्ते घटादेरपि बाधितत्वेन तद्विषयकेश्वरीयमायावृत्तेरपि भ्रमत्वापत्तेश्च । एवंच बाधितत्वेन प्रातिभासिकविषयकेश्वरीयमायावृत्तेः न भ्रमत्वमिति तत्प्रतिविम्बितचैतन्यविषयत्वेन शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यवैकल्येनादिपदसङ्गतिः । बाधावगाह्यार्थ-भ्रमसंशययोः पृथक् भ्रमत्वं निरुच्य तस्य उक्तभ्रमस्य चान्यतरत्वेनानुगमसंभवात् । तत्—उक्तभागासिद्ध्यादिकम् । आपाततः । ईश्वरीयज्ञानमननुसन्धाय । इत्यादीति । सर्वस्य पक्षस्य क्षोदक्षमत्वादितीयर्थः । ग्रन्थासङ्गतेरिति । ईश्वरीयज्ञानमादाय फलव्याप्यत्वपक्षस्य क्षोदक्षमत्वे तद्व्यतिरिक्तत्वविशेषणासंभवेन सर्वेषां पक्षाणां क्षोदक्षमत्वात्, इत्यस्यैव वक्तुं युक्तत्वात् इति भावः । प्रमाफलेति । अज्ञानविषयकवृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्येत्यर्थः । प्रमात्वाभावेन अज्ञातविषयकत्वाभावेन । ननु घटगुरुत्वादिकं जीवस्य कदाचिदज्ञातमेव इत्यत आह—येन हीति । तत्पुरुषसाध्यादिज्ञानोत्तरजातस्य पुरुषान्तराज्ञातघटादिज्ञानस्य तत्पुरुषीयप्रमात्ववारणाय पुरुषैक्यनिवेशः । नच—कालान्तरे घटादेः तत्पुरुषाज्ञातत्वात् उक्तदोषतादवस्थमिति—वाच्यम्; कालैक्यस्य निवेशनीयत्वात् । अबाधितविषयकत्वं तु न हेतुघटकप्रमात्वे निवेशनीयम्; सर्वदृश्यानां सिद्धान्ते बाधितत्वेन हेत्वसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु सुखादौ वृत्तिस्वीकारेऽपि अज्ञातत्वाभावेन भागासिद्धिः इत्यत आह—यदि चेति । फलशब्दार्थम् अज्ञातविषयकत्वघटितम् । ईश्वरीयवृत्तिसाधारणः स्वाकारवृत्तिवेनेश्वरीयवृत्तिघटितः स्वाकारवृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यविषयत्वरूपः । तदा नासिद्ध्यादिदोष इति । निरुक्तभ्रमावरणकचैतन्यविषयत्वरूपो हेतुर्यद्युच्यते, तदात्वस्यैव भागासिद्ध्यादिदोष इति फलव्याप्य-

रूप्यादेरपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन साधनवैकल्यात्—इति चेन्मैवम्; फलव्याप्यत्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात् । नच—वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मणि व्यभिचारः, अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति—वाच्यम्; शुद्धं हि ब्रह्म न दृश्यम्; ‘यत्तदद्रेश्य’मिति श्रुतेः किंतूप-

सिद्धिव्याख्या ।

प्रकाशत्वविशेष्यवति घटादौ विशेषणाभावात् विशेषणवति नित्यातीन्द्रिये विशेष्याभावाद्भवतां मतम् । ततश्चाविद्यान्तःकरणशुक्तिरूप्यादौ फलव्याप्यत्वरूपविशेषणवदपरोक्षे व्यवहारयोग्यत्वरूप-विशेष्यस्यापि सत्त्वाद्विशिष्टव्यतिरेकरूपो हेतुस्तत्र नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्त इत्यर्थः । इदमुप-लक्षणम् घटादौ चैतन्यरूपज्ञानविषयत्वस्याप्रामाणिकत्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपविशेष्यवत्फला-व्याप्यत्वरूपविशेषणमपि तत्र वर्तत एवेति विशेषणविशेष्ययोर्घटादौ सत्त्वाद्विशिष्टाभावस्तत्र नास्ती-त्यसिद्धेश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । दूषणोद्धाराय स्वाभिमतपक्षान्दर्शयति—फलव्याप्यत्वेति । वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मण्युक्तव्यभिचारमनुवदति—नच वृत्तीति । अन्यथेति । आत्मनो वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकार इत्यर्थः । ननु न वेदान्तवैयर्थ्यं; जपाद्यर्थवत्त्वेनोपपत्तेरित्यत आह—ब्रह्मपराणामिति । उप-क्रमादिलिङ्गैर्ब्रह्मप्रतीतीच्छया पूर्वपूर्वकाध्यापकोच्चारितानामित्यर्थः । वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । फलाभावा-दिति भावः । इति नच वाच्यमित्यन्वयः । किं वृत्तिव्याप्यत्वं दृश्यत्वमित्युक्ते ब्रह्मणि व्यभिचार इत्युच्यते, उत ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यं वा; आद्येऽपि किं शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचारः ? उतोपहिते इति विकल्पं मनसि निधाय शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचार इति पक्षं दूषयति—शुद्धं हीति । यच्छुद्धं तददृश्यमिति श्रुत्या दृश्यत्वस्य निषिद्धत्वाच्छुद्धं न दृश्यमित्यर्थः । तथाचात्र हेतोरभावान्न व्यभिचार इति भावः । द्वितीयपक्षमर्धाङ्गीकारेण परिहरति—किंतूपहितमिति । तत्र हेतुवत्साध्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

नाधिकरणं यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं तदभाव इत्यर्थः । क्षोदक्षमत्वात् विचारसहत्वात् । अद्रेश्यं अदृश्यम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वव्यतिरिक्तस्येत्यादिग्रन्थसङ्गतिरिति भावः । यथाश्रुतस्य कदाचित्पदार्थकिञ्चित्कालावच्छिन्नत्वस्य हेतौ संभवाय पूर्वं न ज्ञात-मिदानीं ज्ञातमिति मूले उक्तम् । ननु—शुद्धब्रह्मणो वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वाभावात् तद्वदितहेतुसत्त्वाभावेन कथं व्यभिचार इत्यतो व्याचष्टे—ज्ञातं वृत्त्युपहितचिद्विषय इति । शुद्धचिद्रूपे स्वप्रकाशेऽपि ब्रह्मणि वृत्त्युपहितचितस्तादात्म्येनाध्यस्ततया चित्तादात्म्यरूपनिष्कृष्टहेतौ व्यभिचार इति भावः । “अहं ब्रह्मास्मि”, “तत्त्व-मसि,” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादिषु शुद्धविषयकव्यवहारेषु स्वाकारवृत्तिस्वरूपचैतन्ययोरपेक्षायामपि स्वान्य-चिद्रूपसंविदपेक्षाविरहात् मूले अद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे इत्युक्तम् । संविदन्तरेति । द्वितीयाभावविशिष्टाकारवृत्ति-प्रतिबिम्बितोक्तविशिष्टान्यचिदित्यर्थः । यद्यपि अस्वप्रकाशत्वं स्वप्रकाशचैतन्यान्यत्वं शुक्तिरूप्येऽपीति साधनवैकल्यस्य वक्ष्यमाणस्य न प्रसक्तिः; तथापि स्वप्रकाशत्वं स्वरूपप्रकाशाश्रयत्वं, स्वरूपप्रकाशविषयत्वं वा, स्वमेदनियतं ब्रह्मण्यप्रसिद्ध-मतो व्याचष्टे मूले—सहीति । तथाचेति । उक्तार्थं चेत्त्यर्थः । अवेद्यत्वेत्यस्य वृत्त्यविषयत्वार्थकत्वेऽविद्यावृत्तिविषये शुक्तिरूप्ये विशेषणाभावेन हेतुसत्त्वात् तथाचेत्यादिसाधनवैकल्योक्तेरसङ्गतिः; शुद्धब्रह्मणो वृत्तिविषयत्वपक्षे अवेद्यत्व-स्याप्रसिद्ध्या साधनाप्रसिद्धिश्च, तत्त्यागे तु घटादौ प्रत्यक्षे हेतुसिद्धिरित्यतो वेद्यत्वं व्याचष्टे—टीकायां, फलव्याप्य-त्वेति । स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचितो भभावरणकचितो वा तादात्म्यरूपविषयत्वाभावेत्यर्थः । सतीत्येतदर्थतत्सामानाधि-करण्यस्याभावविशेषणत्वे घटादौ प्रत्यक्षे साधनसत्त्वानुपपत्तिः, अतो योग्यत्वरूपप्रतियोगिविशेषणतामाह—समानाधि-करणमिति । तथाच घटादौ विशेषणाभावेन विशिष्टाभावरूपहेतुमत्त्वोपपत्तिरिति भावः । क्षोदः ‘क्षुद्रि संपेषणे’ इत्यनुशासनात् संपेषणम् । स च सूक्ष्मार्थप्रतिपादको व्यापार इति प्रकृते विचारो ग्राह्य इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—विचार-सहत्वादिति । अद्रेश्यमित्यत्र दृशेः कर्मणि ‘ऋदुपधाच्चाकृपिचृतेरिति’ क्यपि छान्दसे एमागमे सिद्धेन द्रेश्यपदेन नञ्-समास इत्याह—अदृश्यमिति । मूले—किंतूपहितमेवेति । दृश्यमित्यनुषज्यते, वृत्तिविषय इत्यर्थः । ननु—‘तत्त्व-

हितमेव, तच्च मिथ्यैव; नहि वृत्तिदशायां अनुपहितं तद्वदिति । नच—‘सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते’ इति स्ववचनविरोध इति—वाच्यम्; तस्याप्युपहितपरत्वात् । नच—एवं सति शुद्ध-

सिद्धिव्याख्या ।

स्यापि सत्त्वान्न व्यभिचार इत्याह—तच्चेति । ननु वेदान्तजन्यवृत्तिदशायामुपाधेरभावादुपहितत्वं न संभवतीत्याशङ्क्योपाध्यन्तराभावेऽपि वृत्तेरुपाधित्वमस्तीति व्यतिरेकमुखेन दर्शयति—नहीति । नच सर्वप्रत्ययवेद्ये इति । घटादिसर्वप्रत्ययविषयो ब्रह्मेत्यङ्गीकुर्वतां स्वाचार्याणां वचनस्यापि स्ववचनत्वात्तद्विरोधः स्यादिति नच वाच्यमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—तस्यापीति । नच—“प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यत” इत्युत्तरार्धे जगद्विलयाधिष्ठानत्वोक्त्या सर्वप्रत्ययवेद्यस्य शुद्धत्वमिति—शङ्क्यम्; उपहिते ब्रह्मणि सर्वप्रत्ययवेद्यत्वे स्थिते नेत्युक्त्या शुद्धे ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रविलयो नेतिशब्देन प्रतिपाद्यत इत्युत्तरार्धस्याविरोधोपपत्तेश्च, अन्यथा सर्वप्रत्ययवेद्ये च शुद्धरूपे इति वचनव्यक्त्यापत्तेः । अतएव—पूर्वार्धेऽपि ‘व्यवस्थिते’ इत्यनेनानुगतत्वोक्त्या शुद्धस्यैव प्रतीतिरिति—निरस्तम्; उत्तरार्धानुसारेण सर्वप्रत्ययवेद्ये उपहितब्रह्मरूपे शुद्धे व्यवस्थिते सतीत्यर्थकथनेऽप्यनुगतत्वोक्त्या शुद्धप्रतीतिसंभवादिति ध्येयम् । यत्त्वाद्यद्वितीययोः फलाभावाद्ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यमित्युक्तं, यदपि चान्यच्छ्रवणादिविधेः फलाभावाद्वैयर्थ्यं; ब्रह्म विचारयितुमुपकान्तयोगुरुशिष्ययोर्मध्ये गुरोर्मौनं शिष्यस्य मौढ्यं च स्यात् ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ ‘ब्रह्मज्ञान’मित्यत्र कर्मणि षष्ठीच न स्यात्, कृदन्तजिज्ञासाशब्दयोगे जिज्ञासाकर्मभूत-ब्रह्मगतकर्मत्वमभिधानाद्ब्रह्मशब्दात्षष्ठी ‘कर्तृकर्मणोः कृती’ति सूत्रात्, तस्याश्च ‘प्रतिपदविधाना षष्ठी

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उपहितं वृत्तिविषयत्वोपहितम् । ननु—वृत्तिदशायामुपहितमेवास्ति; तस्य मिथ्यात्वे सत्यरूपाधिष्ठानशून्यतापत्तिः तत्राह—नहीत्यादि । वृत्तिदशायामनुपहितं शुद्धं यदधिष्ठानमरूपमस्ति, तन्नहि तदुपहितं भवतीत्यर्थः । तथाचा-नुपहितरूपस्योपहितदशायामपि सत्त्वान्नोपहितस्योक्तशून्यतेति भावः । उपहितपरत्वादिति । घटाद्याकारवृत्त्या

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मसीति’ महावाक्यजन्यवृत्तेः कथमुपहितं विषयः ? तदा हि अज्ञानस्य नाशेनोपाधित्वासंभवात्, अन्तःकरणादेः सत्त्वेऽपि तदुपहितविषयकत्वं न तत्त्वज्ञानस्य; स्वातिरिक्तोपाध्यनुपहितब्रह्मज्ञानानिवर्तकत्वप्रसङ्गात् इत्यतो व्याचष्टे—उपहितं वृत्तिविषयत्वोपहितमिति । तथाच तत्त्वज्ञानस्यापि स्वातिरिक्तोपाध्यनुपहितब्रह्मविषयत्वेन मूलाज्ञानसमानविषयकत्वेन तन्निवर्तकत्वोपपत्तिः । स्वात्मकोपाधेश्च स्वविषयत्वमतो ज्ञानाज्ञानयोर्न भिन्नविषयकत्वं न वा आत्माश्रय इति भावः । नहीत्यादिफक्किका न वृत्त्युपहितत्वोपपादनपरा, ‘तच्च मिथ्या’ इत्यनेन व्यवधानात् । अतस्तामव्यवहितोक्तोपहित-मिथ्यात्वोपपादनपरतया व्याख्यातुं तदनुपपत्तिशङ्कया अवतारयति—नन्विति । उपहितमेवेति । नत्वनुपहितं सत्यमित्यर्थः । तस्य उपहितस्य । सत्यरूपाधिष्ठानेति । आवश्यकमध्यस्तत्त्वनिर्वाहायापेक्षितेत्यादिः । यथाश्रुतेऽनुपहिताभाव-स्यैव लाभेन मिथ्यात्वोपपादनासंभवात् तत्संभवायोपहितमित्यनुपज्य यत्पदमध्याहृत्य व्याचष्टे—वृत्तिदशायामिति । अनुपहितं शुद्धमिति । वृत्त्यादिरूपाधेः परिच्छिन्नत्वेन सर्वावच्छेदेनोपहितत्वासंभवात् महाभूतस्याध्यासाधिष्ठानं भवतीति भावः । मूले—नच सर्वप्रत्ययवेद्ये इति । जीवनमुक्तपरमिदं वचनं, जीवनमुक्तो हि व्युत्थानकाले देहयात्रा-निर्वाहकमावश्यकं लौकिकं वैदिकं च कर्म मिथ्यात्वेन पश्यन् करोति, समाधिकाले ब्रह्मरूपेऽबाध्येऽवतिष्ठते । अतत्त्वविदपि ब्रह्मरूपे एव व्यवतिष्ठते, सर्वस्यापि जीवस्य सोपाधिकब्रह्मरूपत्वादत उक्तम्—सर्वप्रत्ययवेद्ये इति । सोपाधिकं तत्तज्जीव-रूपं तत्तज्जीवेनैव वेद्यते, तदनुस्यूतं ब्रह्म तु सर्वेषां वेद्यम् । यद्वा—‘अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चैत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।’ इत्यभियुक्तोक्तेः घटादिसकलजगति तादात्म्येन सच्चिदानन्दब्रह्म सर्वेषां सर्वाधिष्ठानतया ‘घटोऽस्ति’ ‘भाति’ ‘प्रतीयते’ चेति भासते । तच्च शुद्धमेवेति शुद्धस्य वृत्तिविषयताप्रतिपादकैतद्वचनविरोधः शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानुपगमपक्षे इति भावः । तस्यापि उक्तवचनस्यापि । उपहितपरत्वादिति । वृत्त्युपहितब्रह्मपरत्वादि-

सिद्धिव्याख्या ।

न समस्यते' इति समासनिषेधेऽपि कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यत इति प्रतिप्रसवात्समासे जाते 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सूत्रेण षष्ठीलोपे ब्रह्मजिज्ञासेति पदं निष्पद्यते । एवं ब्रह्मज्ञानमित्यपि । एवं च 'ब्रह्मजिज्ञासा' 'ब्रह्मज्ञान'मित्यादौ कर्मत्वार्थकषष्ठ्यर्थान्तर्भावेण वाक्यार्थो न स्यात् । षष्ठ्यर्थान्तर्भावश्च समासशक्त्या वा, पूर्वपदलक्षणया वा, लुप्तषष्ठीस्मृत्या वा; षष्ठ्यर्थोपस्थितावित्यन्यदेतत् । ज्ञानापरपर्यायवृत्त्यव्याप्यत्वे ब्रह्मणो ज्ञानक्रिययाऽऽप्तुमिष्टतमत्वरूपज्ञानकर्मत्वानुपपत्त्या षष्ठ्यर्थान्तर्भावेन वाक्यार्थो न निष्पद्यत इति स्पष्टमेवेति । तथा 'तमेव धीरो विज्ञाय' इत्यादौ द्वितीया 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादौ तङ् 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इत्यादौ तव्यप्रत्ययश्च न स्यात् । 'त'-मित्यत्र कर्मणि 'दृश्यते' इत्यत्र भावकर्मणोः 'द्रष्टव्य' इत्यत्र च तयोः (भावकर्मणोः) 'तयोरेव कृत्यक्तखलार्थाः' (पा० सू० ३-४-२०.) इति पाणिनिमहर्षिणा 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू० २-३-२) तङ् तव्यप्रत्ययादीनां स्मरणात् । दृशोऽज्ञाने दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वज्ञानं च न स्यात् । नच—दृशोऽज्ञानेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वं प्रकृतहेतुः सुज्ञान एव, नहि दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वमत्र हेतुत्वेनाभिप्रेतं, किंतु वृत्तिव्याप्यत्वरूपमिति—वाच्यम्; तात्पर्यानवगमात् । नह्यत्र प्रकृतहेतोरज्ञानमापाद्यते, किंतु मिथ्यात्वे साध्ये वृत्तिव्याप्यत्वरूपं पारिभाषिकं दृश्यत्वं हेतूकुर्वतापि प्रकृतिप्रत्ययाऽवगतदृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वमपि दुरपह्वम्; परंतु न तव हेतुत्वेनाभिप्रेतम् । एवंच हेतुत्वेनानभिमतोऽपि दृग्विषयत्वरूप उपाधिर्यदि वृत्तिव्याप्यस्तदा तदुपाधिविशेषणीभूतदृशोऽपि वृत्तिव्याप्यत्वमवर्जनीयमेवेति तत्र व्यभिचारः । यदि न वृत्तिव्याप्यः, तदा तदुपाधेर्न मिथ्यात्वसिद्धिः भागासिद्धिश्च स्यादिति दूषणजातं, तदेतत्सर्वमप्यतएव परास्तम् । उक्तस्य सर्वस्याप्युपहितपरतया सावकाशत्वात् । नापि तदुपाधिं प्रति विशेषणीभूतायां दृशि व्यभिचारापत्तिः, उपाधिं प्रति विशेषणतापन्नत्वेन रूपेण तस्या अपि मिथ्यात्वेन तत्र साध्यसत्त्वात् । केचित्तु—श्रवणादिविधेः फलाभावाद्वैयर्थ्यमिति यदुक्तं, तन्न; श्रवणविधेर्विश्वजिज्ञायेनान्ततः स्वर्गफलवत्त्वस्य संभवात् । नच—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यत्र श्रवणेन भावयेत्, किमिति फलाकाङ्क्षायां वाक्येन दर्शनं विनियुज्यते, नतु व्यवहितं स्वर्गादि संबध्यते; सन्निहितफलाभाव एव व्यवहितस्य कल्पनादतः श्रवणविधिर्ब्रह्मज्ञानार्थ एवेति त्वन्मते तद्वैयर्थ्यं तदवस्थमिति—वाच्यम्; श्रवणविधिर्न ज्ञानार्थः, ब्रह्मणोऽदृश्यतया सन्निहितस्यापि दर्शनशब्दस्य तदबोधकत्वात् । अन्यथा 'भावयेत्कि'मित्याकाङ्क्षायां समानपदोपात्तं श्रवणमेव वाक्योपात्तदर्शनापेक्षयाऽतिसन्निहितं फलत्वेन संबध्येत । एवंच सन्निहितफलालाभे व्यवहितस्यापि ग्राह्यतया स्वर्गाद्यर्थ एव श्रवणविधिरतो न व्यर्थम् । यदपि—ब्रह्म विचारयितुं उपक्रान्तयोरित्यादि; तत्रापि किमापाद्यमानं मौनं शब्दवक्तृत्वाभावो वा, वेदान्तरूपशब्दवक्तृत्वाभावो वा, ब्रह्मज्ञानोद्देश्यकब्रह्मवक्तृत्वाभावो वा । नाद्यः; अज्ञेयत्वेपि ब्रह्मणस्तद्विचारे प्रवृत्तयोर्देहनिर्वाहादिहेतुशब्दप्रयोगे विरोधाभावात् । न द्वितीयः; ब्रह्मबोधकस्यापि वेदान्तरूपशब्दस्य स्तुतशस्त्राधिकरणन्यायेन वचनस्योपपत्तेः । न तृतीयः; इष्टापत्तेः । ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वेन तज्ज्ञानोद्देशेन शब्दप्रयोगस्य मयाऽनङ्गीकरणात् । नचैवं—ब्रह्मविचारे वेदान्तवाक्यप्रयोगवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; वेदान्तवाक्यैरेव ब्रह्मविचारस्य विहिततया तत्प्रयोगसंभवात्, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चिताः' इति श्रुतेः । नच—उपक्रमादिलिङ्गकस्य ब्रह्मज्ञानेच्छापूर्वकोच्चरितत्वरूपवेदान्तनिष्ठब्रह्मविषयकतात्पर्यावधारणरूपस्य विचारस्यासिद्धे-

सिद्धिर्न स्यादिति—वाच्यम्; स्वतएव तस्य प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात् । ननु—अज्ञाते धर्मिणि कस्यचित् धर्मस्य विधातुं निषेद्धं वा अशक्यत्वेन शुद्धे दृश्यत्वं निषेधता शुद्धस्य ज्ञेयत्वमवश्यं स्वीकरणीयम्, न च—स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्धे शुद्धे श्रुत्या दृश्यत्वनिषेध इति—वाच्यम्; शुद्धं स्वप्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टवृत्तौ शुद्धाप्रकाशे तस्य स्वप्रकाशत्वासिद्धेः—इति चेन्न; वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासंभवात् शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं न संभवति, अतः ‘शुद्धं स्वप्रकाश’मिति वाक्यस्य लक्षणया अशुद्ध-

सिद्धिव्याख्या ।

मौनशब्दार्थत्वेन विवक्षितत्वादेतादृशं मौनं स्यादिति—वाच्यम्; शुद्धब्रह्मणोऽज्ञेयत्वेन निरुक्तविचारस्यासंभवेऽप्युपहितस्य ब्रह्मणो ज्ञेयत्वे निरुक्तविचारस्यापि संभवत्स्वरूपत्वात् । अतएव मौन्यशब्देन ब्रह्मज्ञानाभावाभावोऽभिप्रेत इति शिष्यस्य न स्यादित्यपि निरस्तम्; निरुक्तविचारसंभवे तेन जन्येन ज्ञानेन शिष्यस्य ब्रह्मज्ञानाभावस्यैव संभवादिति न कश्चिद्दोष इति—वदन्ति । परमार्थतस्तु—शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वमिति वक्ष्यमाणपक्षे शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न वेदान्तानां वैयर्थ्यं, नवात्मनि व्यभिचार इति द्रष्टव्यम् । नचैवं सतीति । शुद्धे वृत्तिव्याप्यत्वरूपहेत्वभावे सति शुद्धसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः । तथाच शुद्धसिद्धिमिच्छता तस्य वृत्तिव्याप्यत्वं वक्तव्यमिति तत्र व्यभिचार एवेति भावः । स्वत एवेति । ननु वृत्तिव्याप्यतयेत्यर्थः । स्वत एव सिद्धं, ननु वृत्तिव्याप्यतयेत्यत्र हेतुः—स्वप्रकाशत्वेनेति । तच्चाग्रे निरूपयिष्यते । ततश्च सिद्धिमन्यत एवेच्छता मया तस्य वृत्तिव्याप्यत्वं न वक्तव्यमिति न तत्र व्यभिचार इति भावः । पुनर्व्यभिचारं शङ्कते—नन्वज्ञातेति । दृश्यत्वं निषेद्धमिति । वृत्तिव्याप्यत्वं निषेद्धमित्यर्थः । स्वीकरणीयमिति । स्वीकारे च शुद्धे व्यभिचारस्तदवस्थ इति भावः । नन्वभावबुद्धावधिकरणोपस्थितिरपेक्षिता, नत्वभावग्राहकप्रमाणजन्त्याधिकरणोपस्थितिः प्रमाणजन्या तदुपस्थितिर्वा । अभावग्राहकप्रमाणजन्योपस्थित्यपेक्षायां वायौ रूपाभावस्याचाक्षुषत्वापत्त्या प्रमाणजन्योपस्थित्यपेक्षायां गौरवेण चाधिकरणोपस्थितिमात्रस्य तत्रत्वे, तस्या तत्स्फुरणरूपायाः प्रकृतेऽपि सत्त्वेन तत एव शुद्धे दृश्यत्वनिषेधबोधस्य सुकरत्वेन तदर्थं धर्मिगोचरवृत्तेरनपेक्षणेन शुद्धे व्यभिचाराप्रसक्तेः । अतएव—‘शुद्धं न दृश्य’मिति शब्दजन्यविशिष्टवृत्त्यनभ्युपगमे तस्यां शुद्धाप्रकाशे च तत्र दृश्यत्वनिषेधासिद्धिः, विधिनिषेधयोरविषयस्य विधिनिषेधाभजनत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति—निरस्तम्, ‘शुद्धं न दृश्य’मित्यादि शब्दजन्यविशिष्टवृत्तिकाले ब्रह्मणो वृत्तिरूपेण धर्मेणोपरक्ततया शुद्धत्वासंभवेन वृत्तौ शुद्धाप्रकाशस्येष्टत्वात् । नच—एवंसति अनेन वाक्येन तत्र दृश्यत्वनिषेधासिद्ध्या तस्य वाक्यस्य वैयर्थ्यं स्यादिति—वाच्यम्; उक्तरीत्या मुख्यार्थासंभवे सति ‘शुद्धं न दृश्यं’ ‘न सिध्ये’त्यस्यापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

घटाद्युपहितस्यैव सद्रूपस्य ग्रहणमिति भावः । सिद्धिः संशयाद्यगोचरत्वम् । स्वप्रकाशत्वासिद्धेरिति । नच—इद-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्यर्थः । समाधिकालेऽपि जीवन्मुक्तस्य वृत्तिरस्त्येव, निर्विकल्पकसमाधौ अपि ज्ञानज्ञेयज्ञरूपत्रिपुटीभेदस्कृतिः परं नास्ति; तस्मात् तादात्म्यवृत्त्युपहितब्रह्मरूपे एव व्यवस्थित इत्युक्तवचनार्थं इति न तद्विरोधः । शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानुपगमपक्षेऽपि शुद्धब्रह्मभावस्तु विदेहकैवल्यदशायामेवेति भावः । ननु घटः सत् इत्यादिप्रत्यये घटाधिष्ठानभूतं शुद्धमेव सत् ब्रह्म भासते, न वृत्त्युपहितमिति कथमुपहितपरत्वम् ? अतः—तस्येति । ‘शुद्धसिद्धिः’ इत्यत्र सिद्धिपदं न निश्चयरूपवृत्तिपरं, तदनुपगमेन तदभावापादने इष्टापत्तिप्रसङ्गात्, अतो व्याचष्टे—सिद्धिः संशयाद्यगोचरत्वमिति । शुद्धस्य निश्चयरूपवृत्त्यनुपगमे ब्रह्म शुद्धं न वा, ब्रह्म न शुद्धमिति संशयविपर्ययगोचरत्वापत्तिरित्यर्थः । मूले—स्वत एवेति । वृत्ति

त्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्यर्थः । तथा च अशुद्धत्वव्यावृत्त्या शुद्धे स्वप्रकाशयता पर्यवस्यति, यथा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

माकारमनोवृत्तिरजताकाराविद्यावृत्तिभ्यामवच्छिन्नस्य साक्षिण इदं रजतं न वेति संशयादिविरोधित्ववत् शुद्धाविषय-
कस्वप्रकाशत्वाकारवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिण एव शुद्धे स्वप्रकाशत्वसंशयादिविरोधित्वमिति—वाच्यम्; रजतादितादात्म्यो-
पहितेदंविषयकवृत्तेरेवाविद्यापरिणामभ्रमत्वेन दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात्, सिद्धत्वेऽपि वा नील इत्यादिज्ञानस्यापि शुद्धं
नीलं न वेत्यादिधीविरोधित्वापत्तेरुक्तसाक्षिण उक्तसंशयाद्यविरोधित्वात् । वृत्तिकाल इति । शुद्धस्य वृत्तिविषयत्व-
स्वीकार इत्यादिः । अत इति । शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वे स्वप्रकाशत्वविरोधाच्चेति शेषः । अशुद्धत्वम् उपहितत्वम्, ननु
शुद्धभिन्नत्वम्; शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वापत्तेः । तथाच उक्तव्यापकताधीसत्त्वे च अशुद्धत्वव्यावृत्त्या शुद्धे स्वप्रकाशता

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विनैव स्वप्रकाशनिश्चयरूपत्वादित्यर्थः । अज्ञाते धर्मिणि इति । तद्धर्मिकभावाभावान्यतरशाब्दबोधे तद्धर्मिज्ञानस्य
कारणत्वात् तत्र तद्भानस्यावश्यकत्वाच्चेति भावः । दृश्यत्वस्य निषेधोऽभावबोधो यत्र तस्यैव दृश्यत्वाभावबोधे धर्मिविधया
भानायेत्यर्थः । ज्ञेयत्वं दृश्यत्वनिषेधकारणीभूतायां फलीभूतायां च वृत्तौ विषयत्वम् । स्वतःसिद्धे स्वप्रकाशनिश्चयरूपे ।
शब्देति । श्रुतीत्यर्थः । शुद्धाप्रकाशे इति । शुद्धत्वमङ्गभित्त्यादिः । साधकान्तराभावादिति शेषः । तस्य शुद्धस्य ।
स्वप्रकाशत्वासिद्धेरिति । तथा वृत्तिं विना निश्चयरूपत्वाभावात् तत्र वृत्त्या दृश्यत्वनिषेधासंभव इति भावः ।
एवं सति स्वप्रकाशत्वसंशयादिगोचरत्वमपि स्यात् इत्यभिप्रेत्य तत्र शङ्कते टीकायां—नचेति । वृत्तिभ्यामिति ।
रजतेदंतादात्म्यावगाहिनीभ्यामपीति शेषः । साक्षिणः बहिर्निःसृतेदंसंस्पृष्टान्तःकरणोपहितचैतन्यस्य । शुद्धाविषयक-
स्वप्रकाशत्वधर्मेणैव ब्रह्मण उक्तशब्दजन्यवृत्तौ भानान्तु तदाह—स्वप्रकाशत्वाकारेति । स्वप्रकाशत्वप्रकारकेत्यर्थः ।
साक्षिणः अन्तःस्थितान्तःकरणोपहितचैतन्यस्य तादात्म्येन शुद्धसंबन्धिनः । संशयादिविरोधित्वं विशेषणतासंबन्धेन
निश्चयस्य विशेष्यतावच्छिन्नाप्रतियोगिताकसंशयाद्यभाववत्ताप्रयोजकत्वम् । रजततादात्म्योपहितेति । तादात्म्येन
रजतविशेषितेत्यर्थः । इदंविषयकवृत्तेरेवेति । एवकारेणेदंतादात्म्यानवगाहिन्या अविद्यावृत्तेर्व्यवच्छेदः । उक्तवृत्ति-
द्वयस्य भ्रमघटकत्वे ज्ञानद्वयं भ्रम इति गुरुमतप्रवेशापातादिति भावः । अविद्यापरिणामभ्रमत्वेन अविद्यापरिणाम-
रूपभ्रमत्वेनेत्यर्थः । इदंवृत्तिः सन्निकर्षजन्यान्तःकरणपरिणामरूपेदंमात्रवृत्तितोऽन्याविशिष्टविषयिणी अविद्यापरिणामरूपा ।
ननु—रजतरूपेणाविद्या इदमि तादात्म्येन परिणमते, रजताकारवृत्तिरूपेण चेदमाकारवृत्तौ तादात्म्येन परिणमते इति
रजततादात्म्यापत्तेरमाकारवृत्तितादात्म्यापन्नरजताकारवृत्तेर्विशिष्टभ्रमत्वमिति न ज्ञानद्वयभ्रमत्वम् इत्यत आह—सिद्ध-
त्वेऽपि वेति । नील इत्यादिज्ञानस्य । ब्रह्मान्यविषयकस्य घटादिविषयकस्य वा । समानविषयकत्वस्य प्रतिबन्धकत्वे
तत्रत्वानुपगमात् । शुद्धं नीलं न वा इत्यादीति । नच—अयं संशयः शुद्धत्वावच्छिन्ने ब्रह्मणि नीलत्वतदभावोभय-
प्रकारकः कथं शुद्धविषयकः ? तथात्वे वा शुद्धं कथं वृत्त्यविषय इति—वाच्यम्; शुद्धत्वं नीलवृत्ति न वेत्यादिसंशयस्य
विवक्षितत्वात्, नील इत्यादेः पृथिवीविषयकज्ञानस्य 'जलं नवे'त्यादिसंशयविरोधित्वापत्तेरित्यादिशब्दार्थत्वाच्च । विरो-
धित्वापत्तेरिति । तद्वारणाय समानविषयकत्वेन विरोधिताया वक्तव्यत्वादिति भावः । उक्तसाक्षिणः शुद्धाविषयक-
स्वप्रकाशत्वप्रकारकवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिणः । उक्तसंशयाद्यविरोधित्वादिति । शुद्धं स्वप्रकाशं न वेति, शुद्धत्वं
स्वप्रकाशवृत्ति न वेति वा संशयाद्यविरोधित्वादित्यर्थः । संशयादीत्यादिना शुद्धमस्वप्रकाशं, शुद्धत्वं स्वप्रकाशावृत्ति इति
विपर्ययो ग्राह्यः । एवं च शुद्धे यत्तदद्रेश्यमिति श्रुत्या दृश्यत्वनिषेधाय वृत्तिविषयत्वं स्वीकार्यमिति शङ्कापर्यवसानं ध्वनयितु-
मादि पूरयितुं समाधानमुपादत्ते—वृत्तिकालइतीति । शुद्धस्येति । दृश्यत्वबोधनायेति शेषः । वृत्तिविषयत्वस्वी-
कारइत्यादिरिति । एतेन—वृत्त्यविषयत्वस्वीकारेण समाधानमङ्गो—निरस्तः । मूले—धर्मेणोपहितत्वेन
शुद्धत्वासंभवात् । अनुपहितत्वासंभवात् इत्यर्थः । नन्वेवं—'शुद्धं स्वप्रकाश'मिति वाक्यस्य का गतिः इत्यत
आह—शुद्धस्येति । शुद्धत्ववृत्तिविषयत्वयोर्विरोधादिति भावः । विरोधान्तरं पूरयति टीकायां—शुद्धस्येति । मूले—
वाक्यलक्षणयेति । विषं भुङ्क्तेति वाक्यस्येव शत्रुगृहभोजननिवृत्तिः; वह्निमानेव धूमवान् यस्तु अवह्निमान् स न
धूमवान् इत्यत्र धूमाभावो वह्नयभावव्यापक इतिवत्, स्वप्रकाशमेव शुद्धं यत्तु न स्वप्रकाशं तत्र शुद्धमित्यत्राशुद्धत्वमस्व-
प्रकाशत्वव्यापकमिति बोधसंभव इति गूढाशय इत्यपि कश्चित् । उक्तलक्षणिकार्थेऽपि उक्तदोषं परिहरति—अशुद्धत्व-
मिति । वस्तुसत् उक्तव्यापकत्वं न प्रकृतोपयोगीत्यतो व्याचष्टे—तथाचेति । अशुद्धत्वेत्यादिमूलस्य शुद्धे अस्वप्रकाशत्व-
व्यापकत्वेन गृहीतस्योपहितत्वरूपस्याशुद्धत्वस्याभावज्ञानात् स्वप्रकाशत्वं सिध्यतीत्यर्थः । शुद्धस्य ज्ञेयतापत्त्या न संभवत्यतो

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पर्यवस्यतीति । उपहितत्वशून्यब्रह्मनिष्ठाभावप्रतियोगितारूपेण स्वप्रकाशत्वं न ज्ञायत इत्यर्थः । अस्वप्रकाशत्वज्ञान-
मनुपहितत्वविशिष्टविशेष्यकं नेति यावत् । तथा च स्वप्रकाशत्वाभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वरूपायाः स्वप्रकाशत्व-
व्यतिरेकव्याप्तेः यदोपहितत्वाभावरूपे शुद्धत्वे ज्ञानमुद्बुद्धसंस्कारो वा, तदा उक्तशुद्धत्वविशिष्टे स्वप्रकाशत्वस्याभावो
न ज्ञायते ब्रह्मभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वस्य धूमे निश्चये उद्बुद्धसंस्कारे वा सति धूमवति ब्रह्मभावज्ञानाभाव-
वदिति । तादृशव्याप्तिज्ञानस्य तादृशज्ञानाभावप्रयोजकत्वमेव स्वप्रकाशत्वविशिष्टशुद्धसाधकत्वमिति भावः । एतेन—
शुद्धत्वस्य हेतोर्ब्रह्मण्यज्ञाने कथं तत्र स्वप्रकाशत्वस्यानुमितिरूपा सिद्धिरिति—परास्तम्; शुद्धब्रह्मज्ञानं विनापि शुद्धत्वे
तादृशव्याप्तिधीसंभवात् । किंच 'उपहितत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापक'मित्याकारकनिश्चये उद्बुद्धसंस्कारे वा सत्यपि उपहि-
तत्वाभावविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावो ज्ञायते, 'बहिर्धूमव्यापक' इत्याकारकनिश्चये उद्बुद्धसंस्कारे वा सति ब्रह्मभाव-
विशिष्टे धूमज्ञानाभाववत् । उपहितत्वाभावरूपशुद्धत्वविशिष्टे अस्वप्रकाशत्वज्ञानासंभवादुपहितत्वाभावरूपस्य शुद्ध-
त्वस्याज्ञातत्वेऽपि न क्षतिः । न च—उपहितत्वाभावविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावो न ज्ञायत इति वाक्यजन्यज्ञाने शुद्ध-
ब्रह्मभानमावश्यकमिति—वाच्यम्; उपहितत्वाभावावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्य ज्ञानप्रकारत्वस्यास्वप्रकाशत्वे उक्त-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ब्रह्मनिष्ठेत्यन्तं शुद्धपदार्थः । पर्यवसानम् उक्तप्रतियोगित्वेन ज्ञानविषयत्वाभाव इत्यभिप्रायेण व्याचष्टे—उपहितत्व-
शून्येति । नन्वेवं शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वे शुद्धत्वव्याघात इत्यत आह—अस्वप्रकाशत्वज्ञानमिति । अनु-
पहितत्वविशिष्टविशेष्यकम् अनुपहितत्वावच्छिन्नविशेष्यताकम् । न । तेन नोक्तदोषतादवस्थमिति वक्ष्यते । ननु—
अस्वप्रकाशत्वस्योपहितत्वरूपाशुद्धत्वे व्यापकताग्रहेऽपि तदभावरूपशुद्धत्वे तत्प्रतियोगित्वरूपव्याप्तिग्रहः सर्वदा न संभवति;
शुद्धत्वस्य च वृत्त्यविषये ब्रह्मणि ग्रहासंभवात् इति तत्रास्वप्रकाशत्वज्ञाने किं प्रतिबन्धकम् ? नच—अस्वप्रकाशत्वग्रहोऽपि
तत्र न संभवतीति—वाच्यम्; तत्र स्वप्रकाशत्वग्रहस्याप्येवमसंभवे तत्सिद्धेरप्यसंभवात् इत्यत आह—तथाचेति ।
उक्तपर्यवसितार्थेचेत्यर्थः । उपपत्तिरुच्यत इति शेषः । न ज्ञायत इति । तद्वर्माभावरूपतद्वर्मव्यभिचारस्य
तद्वर्मे तद्वर्मव्याप्तेश्च मिथो विरोधेन तद्वर्मविशिष्टविशेष्यकतद्वर्माभावप्रकारकबुद्धिं प्रति तद्वर्मे तद्वर्मनिरूपितान्वयव्यतिरेक-
व्याप्त्यन्यतरविषयकत्वेनानुद्बुद्धसंस्कारान्यत्वविशिष्टेन तादृशव्याप्त्यत्वेन गृह्यमाणधर्मवत्ताज्ञानत्वेनैव प्रतिबन्धकता कल्प्या,
नचैवमुक्तरूपेणैच्छादीनामपि प्रतिबन्धकत्वापत्तिः; तदा प्राय उद्बुद्धसंस्कारस्यापि सत्त्वेनेष्टापत्तेरिति भावः । अन्यत्राप्य-
नुभववलात् एतादृशप्रतिबन्धकतायाः क्लृप्तत्वाह—ब्रह्मभावेति । ननु एवं शुद्धत्वे अस्वप्रकाशत्वव्यापकीभूता-
शुद्धत्वप्रतियोगित्वरूपस्वप्रकाशत्वव्यतिरेकव्याप्तिग्रहादेः शुद्धत्वविशिष्टे अस्वप्रकाशत्वविशिष्टबुद्ध्यभावप्रयोजकत्वेऽपि शुद्धे
स्वप्रकाशत्वसाधकत्वं कथम् ? अत आह—तादृशव्याप्तिज्ञानस्येति । तादृशज्ञानाभावप्रयोजकत्वमेवेति । तत्र
तदभावज्ञानाभावप्रयोजकं यत्, तदेव तद्विषयकतत्प्रकारकाज्ञाननिवर्तकमिति, तादृशव्याप्तिज्ञानेन ब्रह्मविषयकास्वप्रकाश-
त्वप्रकारकाज्ञाननिवृत्तौ स्वप्रकाशं शुद्धं ब्रह्म वृत्तिं विनापि स्वत एव सिध्यतीति भावः । अशुद्धत्वव्यावृत्त्येति पङ्क्तेः यथा-
श्रुतार्थदोषं स्पष्टयति—एतेनेति । शुद्धत्वे स्वप्रकाशत्वायान्वयव्याप्तिज्ञानोपेक्षाबीजमाह—शुद्धब्रह्मज्ञानं विनापीति ।
तादृशव्याप्तीति । स्वप्रकाशत्वाव्यतिरेकव्याप्तीत्यर्थः । व्यापकसामानाधिकरण्यरूपान्वयव्याप्तेः शुद्धब्रह्मघटितत्वेन
तज्ज्ञानं विना ज्ञानं न संभवतीति भावः । ननु उपहितत्वाभावे उक्तव्याप्तिग्रहायोपहितत्वाभावो ज्ञातव्यः; स च
प्रतियोग्यनुयोग्यपरागेणैव ज्ञेय इति, तदनुयोगिनः शुद्धब्रह्मणो ज्ञानं दुर्वारमेव इत्यत आह—किंचेति । तद्वर्मे तद्व-
र्मव्यापकत्वस्य तद्वर्माभावविशिष्टे तद्वर्मवत्त्वस्य च मिथो विरोधेन तद्वर्मे तद्वर्मव्यापकतानिश्चयाद्यपि तद्वर्माभावविशिष्टे
तद्वर्मवत्ताज्ञाने प्रतिबन्धकमिति वाच्यमित्याशयेनाह—उपहितत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्यादिना—ज्ञाना-
भाववत् इत्यन्तेन । अज्ञातत्वेऽपीति । शुद्धब्रह्मरूपानुयोगिज्ञानासंभवेनेत्यादिः । ज्ञानासंभवेन तत्रोक्तव्याप्तिग्रहा-
संभवेऽपीत्यर्थः । न क्षतिः नासिद्धिः । अस्वप्रकाशत्वज्ञानप्रतिबन्धकदौर्लभ्यमुक्तप्रतिबन्धकान्तरसौलभ्यादिति भावः ।
वाक्यजन्यज्ञानेति । उक्तप्रमाणवाक्यजन्यस्वप्रकाशत्वाभाव उपहितत्वाभावविशिष्टविशेष्यकत्वविशिष्टज्ञानप्रकारकत्वा-
भाववानित्याकारकज्ञानेत्यर्थः । आवश्यकमिति । उपहितत्वाभावविशिष्टत्वेन शुद्धब्रह्मण एव भानार्हत्वात् । तद्विशिष्ट-
विशेष्यकत्वं, तद्विशिष्टतदवच्छिन्नविशेष्यताकत्वं; तत्राप्रसिद्धत्वात् तद्विशिष्टत्वांशमपहाय शेषांशो लक्ष्यते । एवमुक्तविशे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वाक्येनाभावबोधनात् । न च—उपहितत्वस्यास्वप्रकाशत्वव्यापकत्वे ज्ञातव्ये शुद्धत्वस्वप्रकाशत्वयोः सहचारज्ञानमपेक्ष्यते; अन्यथोपहितत्वाभाववद्भूतिः अस्वप्रकाशत्वमिति व्यभिचारज्ञानानुच्छेदेनोक्तव्यापकताज्ञानासंभवात्, उक्तसहचारस्य च शुद्धवदितत्वेन तद्धीः शुद्धविषयिकेति—वाच्यम्; शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वादेव तद्वदितव्यभिचाराकारवृत्त्यसंभवात्, उपहिते शुद्धत्वभ्रमकाले तादृशव्यभिचारज्ञानादुक्तव्यापकत्वज्ञानसंभवेऽपि तदन्यकाले तत्संभवात्, उपहितरूपाधिकरणमादायोक्तसहचारभ्रमसंभवाच्च । न च—उपहितत्वाभावविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावज्ञानं मास्तु, स्वप्रकाशत्वं शुद्धस्वरूपवृत्ति नवेति ज्ञानं तु स्यादेवेति—वाच्यम्; शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वादेव तद्वृत्तित्वाभावाकारभ्रमरूपवृत्तिसामग्र्या अकल्पनात् । न चैवं—तादृशसामग्र्यकल्पनादेव शुद्धास्वप्रकाशत्वयोर्वैशिष्ट्यधीवारणे उक्तव्यापकताज्ञानस्योक्तधीप्रतिबन्धकस्य जनकं शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यमित्युक्तिर्व्यर्थेति—वाच्यम् । तादृशोक्तेर्ह्ययमभिप्रायः—उक्तवैशिष्ट्यधियः कारणकृदाकल्पनादेव नोत्पत्तिः । मतान्तरे तत्कल्पनेऽपि शुद्धत्वविशिष्टे तादृशधिय उक्तप्रतिबन्धकज्ञानानोत्पत्तिः—इति । तस्मात् शुद्धत्वसत्यत्वादिविशिष्टस्य तदुपलक्षितव्यक्तिमात्रस्य वा नास्वप्रकाशत्ववैशिष्ट्यधीसंभवः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्यताकत्वविशिष्टज्ञाननिरूपितलघटकमुक्तविशेष्यतानिरूपितलमात्रं प्रकारतायां निवेश्य उक्तवाक्यजन्यबोधमाह—उपहितत्वाभावावच्छिन्नविशेष्यतेति । अत्रेदं विचार्यते—इयं विशेष्यता न घटनिष्ठानुपहितत्वरूपधर्मितावच्छेदकांशे भ्रमीया; तन्निरूपितप्रकारत्वस्यास्वप्रकाशत्वे सत्त्वेन तदभावस्य बाधात् । नापि ब्रह्मनिष्ठास्वप्रकाशत्वप्रमीया; शुद्धब्रह्मनिष्ठत्वे तस्य ज्ञेयत्वापत्तेः । उपहितब्रह्मनिष्ठत्वेऽप्यस्वप्रकाशत्वे उक्तोपहितत्वाभावावच्छिन्नविशेष्यताप्रकारत्वाभावः न संभवति; तस्यास्तदवच्छिन्नत्वे घटनिष्ठत्वे उपहितब्रह्मनिष्ठत्वे वा उपहितत्वाभावरूपधर्मितावच्छेदकांशे भ्रमीयत्वात्, शुद्धब्रह्मनिष्ठत्वेऽस्वप्रकाशत्वांशे भ्रमीयत्वात्, शुद्धत्वव्याघातापत्त्या शुद्धब्रह्मनिष्ठत्वासंभवाच्चेति 'घटोऽस्वप्रकाश इत्यादिप्रमीयायां घटत्वावच्छिन्नायां घटनिष्ठतायां तस्यामुपहितत्वावच्छिन्नत्वाभावोऽवाधितो भासते इति युक्तमिति । उक्तज्ञानप्रतिबन्धकीभूतव्यापकताज्ञाने शुद्धस्वरूपज्ञानापेक्षया शुद्धज्ञानस्य दुर्वारत्वं शङ्कते—नचेति—शुद्धविषयिकेति । तदसंभवे चोक्तव्यापकताज्ञानासंभवादुक्तज्ञानं दुर्वारमिति भावः । शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वादिति । शुद्धविषयकज्ञानस्याप्रसिद्ध्या तत्सामग्र्येव न कल्प्यत इति भावः । ननु—शुद्धविषयकोक्ताकारव्यभिचारभ्रमकाले कथं तत्संभवः ? इत्यत आह—उपहिते इति । तदन्यकाले इति । भ्रमस्यानियतत्वादिति भावः । व्यापकताज्ञानासंभवेऽपि इति । तथाचोक्तव्यभिचारज्ञाननिरासायोक्तसहचारज्ञानमपेक्ष्यमिति भावः । तत्कालेऽप्याह—उपहितरूपेति । उक्तव्यभिचारज्ञानसमानविषयकस्यैव सहचारज्ञानस्य विरोधित्वादिति भावः । मास्त्विति । उक्तप्रतिबन्धकवशात् इति भावः । स्यादिति । स्वप्रकाशत्वे शुद्धस्वरूपावृत्तित्वज्ञानं हि शुद्धे अस्वप्रकाशत्वज्ञानमिव शुद्धे स्वप्रकाशत्वसिद्धिविरोधि । नचाशुद्धत्वे अस्वप्रकाशत्वव्यापकताज्ञानं स्वप्रकाशत्वे शुद्धस्वरूपवृत्तित्वसंशये प्रतिबन्धकं; स्वप्रकाशत्वस्य शुद्धवृत्तित्वे तदवृत्तित्वेऽपि वाऽस्वप्रकाशे सर्वत्राशुद्धत्वसंभवेन विरोधिविषयकत्वाभावात् इति नात्रेष्टापत्तिरिति भावः । नच—अशुद्धत्वे अस्वप्रकाशत्वव्यापकत्वं च, अस्वप्रकाशत्वेऽशुद्धत्वरूपोपहितत्वव्याप्यत्वमेव; इदं च धूमधूमाभावयोः बहिव्याप्यत्ववत् मिथो विरुद्धमिति—वाच्यम्; धूमधूमाभावयोः प्रमेयत्वादिकेवलान्वयिव्याप्यत्वात् । नच—भावाभावयोः व्यतिरेक्येकव्याप्यत्वमेव विरुद्धमिति—वाच्यम्; अनुपहितेऽपि स्वदेशकालावच्छेदेन तत्तदुपाधुपहितत्वसत्त्वेनोपहितत्वस्यापि केवलान्वयित्वेन भावाभावरूपस्वप्रकाशत्वास्वप्रकाशत्वयोः तद्व्याप्यत्वे विरोधाभावात् । तद्वृत्तित्वेऽपि शुद्धवृत्तित्वेऽपीत्यर्थः । भ्रमरूपेति । स्वप्रकाशत्वविशेष्यकेत्यादिः । सामग्र्या अकल्पनादिति । तथाच प्रतिबन्धकाभावात् शुद्धे स्वप्रकाशत्वसिद्धिरिति भावः । एवं सामग्र्या अकल्पनेनोक्तभ्रमवारणे । तादृशेति । शुद्धविषयकज्ञानजनकेत्यर्थः । उक्तेति । अशुद्धत्वे अस्वप्रकाशत्वानिरूपितेत्यर्थः । उक्तधीति । शुद्धाप्रकाशवैशिष्ट्यधीत्यर्थः । जनकमिति । लक्षणयेत्यादिः । उक्तिः मूलस्योक्तिः । उक्तेति । शुद्धास्वप्रकाशत्वेत्यर्थः । वैशिष्ट्यधिय इति । अप्रसिद्धेति शेषः । मतान्तरे इति । शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वाङ्गीकर्तृविवरणकारमते इत्यर्थः । तत्कल्पनेऽपि शुद्धविषयकवृत्तिसामग्रीकल्पनेऽपि । अत्रेदमवधेयम्—'नेह नाने'त्यादिवाक्यसहकृततत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यनिर्विकल्पकवृत्तेः निरुपाधिकं शुद्धमेव ब्रह्म विषयः; तदा देहादिवत् वृत्तेर्वर्तमानत्वेऽपि बाधेनोपाधित्वासंभवात्, आत्माश्रयापत्तेश्च । अत एवाज्ञानस्यापि शुद्धमेव विषय इति ज्ञानाज्ञानयोः समानविषयत्वमुपपद्यते, "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला ॥" इति च संगच्छते इति । शुद्धत्वविशिष्टे उपहितत्वाभावविशिष्टे तादृशधियः अस्वप्रकाशत्वधियः । उक्तप्रतिबन्धकेति । अशुद्धत्वेऽस्वप्रकाशत्वव्यापकतारूपविषयकेत्यर्थः । किंच

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यथेत्यादि । तादात्म्यात्यन्ताभावव्यापकस्यात्यन्तिकभेदरूपात्यन्ताभावरूपस्य निषेधज्ञानेन तादात्म्यरूपमभिन्नत्वं यथा सिध्यतीत्यर्थः । उपहितचित्तादात्म्यात्यन्ताभावव्यापकस्योपहितचिदत्यन्तभेदरूपात्यन्ताभावस्य शुद्धचिदन्यनिष्ठस्य प्रतियोगी उपहितचिद्वेदात्यन्ताभाव इति निश्चयोत्तरं तादृशात्यन्ताभावविशिष्टे उपहितचित्तादात्म्यं यथा पर्यवस्यतीति यावत् । तादृशात्यन्ताभावविशिष्टशुद्धचितो वृत्त्यविषयत्वेऽपि तस्यामुक्ततादात्म्यं यथोक्तरीत्या पर्यवस्यतीति भावः । उपहितचित्तादात्म्यमात्रोपहितचित्प्रतियोगिकत्वोपलक्षिततादात्म्यं ग्राह्यम् । अन्यथोक्तप्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यात्यन्ताभावस्योपहितत्वमपि सत्त्वात् उपहितचिदत्यन्तभेदस्योक्तात्यन्ताभावव्यापकत्वासंभवात् । उक्ततादात्म्यमपि शुद्धचिन्निष्ठं ग्राह्यम्; अन्यथा घटादावपि तदुपहितचित्तादात्म्यसत्त्वेनोक्तात्यन्ताभावाप्रसिद्धेः । सर्वमतसाधारण-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

भावाभावयोः व्यतिरेक्यैकवस्तुव्याप्ययोगोत्पत्ताश्वत्ववत् वस्तुतो विरोधेऽपि विरोधिज्ञानं विना नैकस्य ज्ञानमपरज्ञाने प्रतिबन्धकं, ग्राह्याभावाद्यनवगाहिलात् । मतद्वयसाधारण्येनोपसंहरति—तस्मादिति । शुद्धविषयकवृत्तिसामर्थ्यकल्पनात्, उक्तप्रतिबन्धकवशाद्वैत्यर्थः । उक्तन्यायं धर्मान्तरेऽप्यतिदिशति—सत्यत्वादीति । ननु उक्तप्रतिबन्धकेन ब्रह्मणि शुद्धत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्याखप्रकाशलविशिष्टबुद्धिर्माभूत्; 'नेह नाने'ति श्रुत्या ब्रह्मणि तद्वाधोत्तरं निर्धर्मितावच्छेदका तु स्यादिति शङ्कां परिहरति—तदुपलक्षितव्यक्तिमात्रस्येति । तद्वत्ताप्रहोत्तरतद्वाधकालीनतदविषयतदाश्रयीभूतव्यक्तिविषयकेत्यर्थः । इदमपि 'नेहे'त्यादिनैकैकधर्मवाधाभिप्रायेण । यदि तु सकलधर्मवाधो युगपदेव, तदा काखप्रकाशलविशिष्टबुद्ध्यापत्तिरपीति ध्येयम् । नाखप्रकाशत्ववैशिष्ट्यधीसंभव इति । इदं शुद्धेऽखप्रकाशत्ववैशिष्ट्यधीप्रतिबन्धकमशुद्धत्वेऽखप्रकाशलव्यापकताज्ञानरूपं 'शुद्धं खप्रकाश'मिति श्रुतिवाक्यजन्यं 'नेह नाने'त्यादिवाक्यजन्यधर्ममात्रवाधज्ञानं च साधनचतुष्टयसम्पन्नानां श्रवणादिनिष्ठानां विवरणकारमते नियमेनास्ति । वाचस्पतिमते मानाभावात् तादृशधीसामर्थ्येव नास्ति । सर्वथा शुद्धाखप्रकाशलवैशिष्ट्यधीरूपप्रतिबन्धकभावात् खप्रकाशशुद्धब्रह्मस्वरूपविषयकाज्ञानस्य उक्तव्यापकताज्ञानेन "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति बोधेन च निवृत्तेश्च वृत्तिं विनापि स्वत एव खप्रकाशब्रह्मस्वरूपसिद्धिरिति निर्गलितार्थः । मूले—यथा भेदनिषेधेनेति । अत्राभिन्नत्वं न भेदाभावरूपं, भेदनिषेधेन साधनेनैक्यात्, किंतु तादात्म्यम्, तथापि भेदनिषेधे तादात्म्यस्य व्याप्तिज्ञानं विना पर्यवसानमसंभवीत्यतो व्याचष्टे—तादात्म्येति । अत्यन्ताभावव्यापकस्येति । एवं च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानसंभवाच्चदोष इति भावः । औपाधिकभेदाभावस्य तादात्म्यस्याश्रयेऽसत्त्वेनासाधकत्वात्—आत्यन्तिकेति भेदविशेषणम् । अनौपाधिकेत्यर्थः । साध्याभावव्यापकस्य भेदस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्यैव व्याप्तिरूपत्वात् । भेदरूपात्यन्ताभावस्येति । निषेधस्य स्वरूपतोऽसाधकत्वादाह—निषेधज्ञानेनेति । उक्तात्यन्ताभावप्रतियोगिताकाभावत्वरूपव्याप्तिविशिष्टवत्ताज्ञानेनेत्यर्थः । तादात्म्यरूपमभिन्नत्वमुक्तरीत्या शुद्धे खप्रकाशलस्य स्वतःसिद्धिरूपदार्ष्टान्तिकसाम्याय दृष्टान्ते स्वतःसिद्धिविषयविशेषपरतयोक्तम् । यथेत्यादिग्रन्थार्थं योजयितुमाह—उपहितचित्तादात्म्येति । शुद्धचिदन्यनिष्ठस्येति । ननु—मायोपहितं चैतन्यमीश्वरो जगत्कारणं, तत्तादात्म्यं शुद्धचिदन्यस्मिन् घटादौ तदुपहितचैतन्ये चास्तीति तत्र तदत्यन्ताभावः कथं?, कथं वा तत्रोपहितचितोऽत्यन्तभेदः?, अमेदस्यापि सत्त्वात्, तादात्म्यस्योभयरूपत्वात्—इति चेत्, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यनिर्विकल्पकवृत्त्युपहिता चिदत्रोपहितविच्छेदेन विवक्षिता । तत्तादात्म्यं शुद्धचित्येव; तस्या एव तदधिष्ठानत्वात् । तदत्यन्ताभावश्च घटादावस्ति । तत्र च शुद्धचिदत्यन्तभेदोऽपीति वयं ब्रूमः । वस्तुतस्तु—उक्ततादात्म्यमपि शुद्धचिन्निष्ठं ग्राह्यमिति वक्ष्यते । इति निश्चयोत्तरमिति । उपहितचिदत्यन्तभेद उपहितचित्तादात्म्यात्यन्ताभावव्यापक इति निश्चयोत्तरं वेति शेषः । तादृशोद्भूतसंस्कारयोरभ्युपलक्षणमिदम् । तादृशात्यन्ताभावविशिष्टे इति । उपहितचिद्वेदात्यन्ताभावविशिष्टे । धर्मिणीति शेषः ॥ ननु उपहितचिद्रूपे धर्मिणि भवेदिदम्, शुद्धे चिद्रूपे धर्मिणि वृत्तिविषयत्वानङ्गीकारे कथमिदं पर्यवसानमत आह—तादृशात्यन्ताभावविशिष्टशुद्धचित इति । तस्याम् उक्तचिति । उक्तरीत्या पर्यवस्यतीति । उक्तव्याप्तिनिश्चयोक्तव्यापकत्वनिश्चयादिनोक्तविशिष्टायामुक्तोपलक्षितायां वा शुद्धचित्युपहितचित्तादात्म्याभाववैशिष्ट्यबुद्धिप्रतिबन्धे शुद्धचित्युपहितचित्तादात्म्यप्रकारकाज्ञाननिवृत्तौ च, शुद्धचित्युपहितचित्तादात्म्यं वृत्तिं विना स्वत एव सिध्यतीत्यर्थः । अन्यथा विशिष्टे उक्तप्रतियोगिकत्वादात्म्यग्रहणे । स्वप्रतियोगिताकत्वविशिष्टसंबन्धानुयोगितायाः स्वस्मिन् स्वविशिष्टबुद्ध्यापत्तिभयेनानभ्युपगमादिति भावः । उपहितविच्छेदं यथाश्रुतं सङ्गमयितुमाह—उक्ततादात्म्यमपीति । शुद्धचिन्निष्ठं ग्राह्यमिति । एवं चात्र तादात्म्यशब्दो लाक्षणिक इति भावः । अन्यथा तादात्म्यसामान्यग्रहणे । तदुपहितेति । घटाद्युपहितेत्यर्थः । मायोपहितोपलक्षणमिदम् । उपहितचित्पदस्य तत्त्वज्ञानोपहितचित्परत्वेऽप्ययं दोषः सुवार इत्युक्तमस्माभिः । उपहितचित्,

मेदनिषेधेन अभिन्नत्वम् । न च—शुद्धपदेन अभिधया लक्षणया वा शुद्धाप्रकाशे तत्प्रयोगवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; पर्यवसितार्थमादाय सार्थकत्वोपपत्तेः । एवं च 'शुद्धं न दृश्यं न मिथ्ये'त्यस्याप्यशुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमित्येतत्परत्वेन शुद्धे दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यतिरेकः पर्यवस्यति । एतेन—स्फुरणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्नम्; लाघवात्, अतः 'स्वतःस्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैवे'ति—शून्यवादिम-

सिद्धिव्याख्या ।

लक्षणया अशुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमित्यर्थकतया सार्थकत्वादिति न कश्चिदोष इति भावः । ननु दृश्यत्वमिथ्यात्वाशुद्धत्वयोर्व्याप्यव्यापकग्रहमात्रेण शुद्धेऽदृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्न पर्यवसानं, किंतु शुद्धे तदुभयव्यापकस्याशुद्धत्वस्य व्यावृत्तौ ज्ञातायामेव; तथाच व्यापकाशुद्धत्वव्यतिरेकज्ञानार्थमावश्यकं शुद्धज्ञानम्, न अज्ञाते धर्मिणीत्यादिप्रागुक्तेः; तथाच शुद्धज्ञानविषये शुद्धे व्यभिचारस्तदवस्थ एव । नच—प्रागुक्तरीत्या स्वतःस्फुरणरूपाधिकरणोपस्थितेरेव तद्व्यावृत्तिबुद्ध्युपपत्तौ न व्यभिचारप्रसक्तिरिति—वाच्यम्; तथात्वे मिथ्यात्वेऽपि स्फुरणमात्रस्यैव लाघवात्तत्रत्वापत्त्या स्फुरणरूपब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वापत्त्या शून्यवादिमतप्रवेशापत्तेरित्याशङ्क्य वक्ष्यमाणप्रकारेण निराकरोति—एतेनेति । लाघवादिति । अन्यतःस्फुरणस्य वा स्वतःस्फुरणस्य वा विशेषरूपस्य तत्रत्वे गौरवात् सामान्यरूपतया लाघवात्स्फुरण-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दृष्टान्तापेक्षायां त्वेवं व्याख्येयम् । यथा तद्वटवरूपतद्वटमिन्नत्वाभावव्यापको यः तद्वटमेदः, तद्वटस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी तद्वटमेदात्यन्ताभाव इति निश्चयोत्तरं तद्वटमेदात्यन्ताभाववति तद्वटत्वाभावज्ञानानुत्पत्त्या तद्वटत्वं पर्यवस्यतीति । पर्यवसितार्थमादायेति । शुद्धत्वविशिष्टे स्वप्रकाशत्वाभावज्ञानासंभवरूपं पर्यवसितप्रयोजनमित्यर्थः । एवं शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं विनैव तत्रार्थसिद्धिसंभवे । एतेन मिथ्यात्वसाधकहेतोर्ब्रह्मावृत्तिवस्थापनेन । स्वतःस्फुरत् स्वविषयः । ब्रह्म सर्वविषयकनिरूपणवक्ष्यमाणकविज्ञानसन्तानप्रविष्टं विज्ञानम् । ननु ब्रह्मणस्त्वया

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शुद्धचित्, मेदामेदोभयरूपं तादात्म्यम्, अत्यन्तमेदः, वृत्तिः, अज्ञानं शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वमस्ति नास्ति, वृत्तिं विना स्वतःसिद्धिरित्यादिव्यवहारस्य वेदान्तिमात्रप्रसिद्धत्वात् वेदान्तिनैयायिकोभयप्रसिद्धव्यवहारविषये दृष्टान्तमुपपादयति—सर्वमतेति । तद्वटवरूपं तद्वटमिन्नत्वं, तदभावस्येत्यर्थः । इति निश्चयोत्तरमिति । तद्वटमेदस्तद्वटत्वाभावव्यापक इति निश्चयोत्तरं वेत्यपि बोध्यम् । तद्वटत्वमिति । तद्वटमेदाभाववतीत्युपपन्नः । पर्यवस्यति निश्चयविषयो भवतीत्यर्थः । मूले—शुद्धपदेनेति । केवलेनेति शेषः । स्वप्रकाशपदसहितेन वाक्यलक्षणयोक्तार्थबोधरूपफलजननात् । शङ्कते नचेति । शक्त्या विशिष्टस्मृतिजननात् । शुद्धाप्रकाशे शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वेन स्वप्रकाशपदेन शुद्धविषयकपदार्थस्मृतिवृत्तेरप्यजनने । तत्राभिधया अपि शुद्धे एव वक्तव्यत्वात् । तत्प्रयोगवैयर्थ्यं केवलशुद्धपदप्रयोगवैयर्थ्यमित्यर्थः । केवलशुद्धपदस्य पर्यवसितार्थासंभवात् स्वप्रकाशपदेन सहितस्य पदद्वयरूपवाक्यतां प्राप्तस्य वाक्यलक्षणयोक्तप्रयोजनार्थकतया पर्यवसितार्थपदं व्याचष्टे—टीकायां—शुद्धत्वविशिष्टे इति । स्वप्रकाशत्वाभावज्ञानासंभवरूपमिति । शुद्धे स्वप्रकाशत्वाज्ञाननिवृत्तिरूपं चेत्यपि बोध्यम् । स्वतःसिद्धे स्वप्रकाशत्वसिद्धेर्नित्यत्वेऽपि क्षेमसाधारणं प्रयोजनत्वं भवत्येव । पर्यवसितेति । उक्तव्याप्तिव्यापकत्वज्ञानरूपप्रतिबन्धकजननद्वारा सिद्धेत्यर्थः । एवंचेति मूलस्थमेवंपदं व्याचष्टे—एवमिति । चकाररहितो वा पाठो बोध्यः । मूले—पर्यवस्यतीति । दृश्यत्वमिथ्यात्वभ्रमतदुपादानाज्ञाननिवृत्त्या वृत्तिं विना स्वतः सिध्यतीत्यर्थः । तत्र ब्रह्मणि मिथ्यात्वव्यतिरेकसिद्धिर्दृष्टान्तविधयोक्ता, मिथ्यात्वसाधकस्य दृश्यत्वहेतोर्ब्रह्मणि व्यभिचारोद्भावकेनापि तत्र तदुपगमात् । दृश्यत्वव्यतिरेकस्तु व्यभिचारोद्धाराय सिद्धान्तिना व्यवस्थापयितुमारब्धः । एवंचेत्यादिपर्यवस्यतीत्यन्तयाऽनया पङ्क्त्या निर्गमितो योऽर्थस्तदर्थकत्वमेवैतेनेत्यस्याह—मिथ्यात्वेति । ब्रह्मावृत्तिव्यति । शुद्धब्रह्मावृत्तित्वेत्यर्थः । शुद्धत्वव्याघातादिनेति भावः । मूले—स्फुरणमात्रमिति । मात्रपदेन स्फुरणे स्वभिन्नत्वव्यवच्छेदः तेन ब्रह्मणि हेतुसिद्धिर्वक्ष्यमाणा सञ्जच्छेते । स्फुरणं ज्ञानं विषयतासंबन्धेन, ज्ञानविषयत्वं वा तत्र प्रयोजको हेतुरित्यर्थः । विषयता तादात्म्यम्; लाघवात् । स्वभिन्नत्वानुपादानेनेत्यादिः । अतः स्वभिन्नत्वानुपादानात् । स्वतःस्फुरदित्यस्य स्वात्मकस्फुरणकर्तृत्वमित्यर्थः । तच्चाभेदे

तमपास्तम्; स्वतःस्फुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात्, स्फुरणविषयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः । ननु—

सिद्धिव्याख्या ।

मात्रमेव तन्नमित्यर्थः । ततः किमित्यत आह—अत इति । यतः स्फुरणमात्रं तन्नमत इत्यर्थः । शून्यवादिमतप्रवेशं दर्शयति—स्फुरदपीति । स्फुरणमात्रत्वं स्वतःस्फुरति ब्रह्मण्यप्यविशिष्टमिति जगद्ब्रह्मापि मिथ्यैव स्यादित्यर्थः । तन्मतप्रवेशं परिहरति—निरस्तमिति । कथं निरस्तमिति चेत्तत्र वक्तव्यम्, किं 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इति न्यायेन भवदुक्तमपि स्वतःस्फुरणतया अन्यतः स्फुरणतया वा पर्यवस्यतीति त्वयाऽप्यङ्गीकरणीयम्, इति । न्यायानुगृहीतगौरवस्यादोषत्वात् ? तत्राद्ये दोषमाह—स्फुरणेति । तथाच मिथ्यात्वप्रयोजकाभावाच्छुक्तिरूप्यस्यामिथ्यात्वापत्त्या तन्न तत्र प्रयोजकमिति कुतस्तस्माद्ब्रह्मणो मिथ्यात्वापादनमिति भावः । द्वितीये दोषमाह—स्फुरणविषयेति । शुक्तिरूप्यप्रपञ्चयोः सत्त्वेपि ब्रह्मण्यसिद्धेरित्यर्थः । तथाच न ब्रह्मणो मिथ्यात्वसिद्धिरिति भावः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वृत्तिरूपज्ञानविषयत्वास्वीकारेऽपि ज्ञानस्वरूपत्वमेव मिथ्यात्वे हेतुरस्तु; विज्ञानवादिनो मते सर्वस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन शुक्तिरूप्यादौ साधनावैकल्यात्, तत्राह—स्वतःस्फुरणरूपतया इति । मन्मते इति शेषः । ज्ञानतादात्म्यापन्नरूपतायाः शुक्तिरूप्ये सत्त्वेऽपि ज्ञानालयन्ताभिन्नस्वरूपताया मन्मते शुक्तिरूप्ये विरहेण मां प्रति तेन हेतुना ब्रह्मणि मिथ्यात्वं साधयितुं न शक्यमिति भावः । ननु तर्हि शुक्तिरूप्यादौ ज्ञानविषयत्वस्य सत्त्वात्तदेव हेतुरस्तु; मन्मते ज्ञानमात्रस्य स्वविषयत्वेन ब्रह्मण्यपि तत्सत्त्वात् नासिद्धिः, तत्राह—स्फुरणेति । मन्मत इत्यादिः । तथाच

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

जन्यजनकभावस्याश्रयाश्रयिभावस्य चासंभवात् स्फुरणतादात्म्यरूपं विषयत्वमित्याह—स्वविषयइति । वेदान्तिमत-सिद्धब्रह्मणः शून्यवादिनाऽनुपगमात् तन्मतेन व्याचष्टे—ब्रह्मेति । सर्वविषयकेति । ब्रह्मवत् सर्वज्ञत्वाय स्वविषय-त्वाय च निरुपपद्येति अविच्छिन्नेत्यर्थकम् । सन्तानविशेषणं नित्यतुल्यत्वाय । क्षणिकत्वं तन्मतेन । सन्तानप्रशिष्टं धाराघटकम् । विज्ञानं तत्सामान्यम् । ननु स्वभिन्नत्वानिवेशेऽपि स्फुरणविषयत्वं शून्यवादिना हेतुकृतं, तच्च स्फुरणरूपे ब्रह्मणि स्वात्यन्ताभिन्नस्फुरणनिरूपिततादात्म्यरूपमपि न संभवति; तादात्म्यस्य तद्भेदसहिततदभेदरूपत्वेन तदत्यन्ताभिन्ने तत्रासंभवात्, प्रयोजनाभावाच्च, शुद्धलव्याघाताच्च । अतएव—वृत्तिरूपज्ञानविषयत्वं शुद्धे ब्रह्मणि सिद्धान्तिना निराकृत्यै-तेनेत्यनेन तदतिदेशेन स्फुरणविषयत्वं निरस्य शून्यवादिमतं—निराकृतम् । एवं च तेन स्वतःस्फुरणरूपताया हेतुकरणा-भावात् तन्मतनिराकरणार्थं उत्तरपक्ष्या शुक्तिरूप्यादौ तदसिद्धिकथनं व्यर्थमसंगतं चेत्ताशङ्क्य शून्यवादशङ्कया तदवतार-यति—नन्विति । त्वया वेदान्तिना । अपिना स्फुरणरूपज्ञानविषयत्वास्वीकारे इत्यपि बोध्यम् । विज्ञानवादिन इति । सर्वोऽप्यर्थो विज्ञानाद्विज्ञानाद्विज्ञो विज्ञानस्याकारविशेषः, विज्ञानादत्यन्तभिन्नो न कोऽप्यर्थ इति विज्ञानवादिशून्यवादिनोस्तु-ल्यमिति भावः । साधनावैकल्यादिति । तथाच ज्ञानस्वरूपत्वेन हेतुना शुद्धे ब्रह्मणि मिथ्यात्वसिद्धिः स्यादिति भावः । शून्यवादिमते स्फुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्येऽपि सत्त्वात् पूरयति—मन्मते इति शेष इति । वेदान्तिमते इत्यर्थः । ननु इदंतादात्म्यापन्नरजताकाराविद्यावृत्त्युपहितसाक्षिचैतन्यरूपज्ञानाभिन्नलरूपतादात्म्यरूपविषयत्वस्य शुक्तिरूप्येऽपि सत्त्वेन स्फुरणात्मकरूपस्फुरणतायाः शुक्तिरूप्ये सत्त्वात् कथं तदभाव इत्यत आह—ज्ञानतादात्म्यापन्नरूपताया इति । ज्ञानालयन्ताभिन्नस्वरूपताया इति । ब्रह्मणि मिथ्यात्वसाधनाय त्वया हेतुकर्तव्याया इति शेषः । मां प्रति । दृष्टान्ते पक्षे च वादिप्रतिवादिसिद्धस्य व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चयसंभवेन साध्यानुमापकत्वादिति भावः । ननु—ब्रह्मणि वृत्तिविषयत्वनिराकरणेन स्फुरणविषयत्वस्यापि निराकृतप्रायत्वात्, एतेनेत्यनेन तदुक्तेश्च, स्फुरणविषयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेरिति पुनरुक्तम्, अतस्तदवतारयति—नन्विति । ज्ञानेति । स्फुरणरूपज्ञानेत्यर्थः । मन्मते शून्यवादिमते इत्यर्थः । ब्रह्मणि सर्वविषयकविज्ञानसन्तानप्रविष्टविज्ञानरूपे । तत्सत्त्वादिति । तस्य विज्ञानान्तरविषयत्वेऽनवस्थाभयेन स्वविषयत्वेन व्यवहारोपगमात् । अन्यथा व्यवहारे क्वचित् ज्ञानविषयत्वं क्वचित् ज्ञानमिति प्रयोजकभेदस्वीकारे गौरवात् सर्वत्र ज्ञानविषयत्वस्यैव व्यवहारप्रयोजकत्वे लाघवात् स्वस्मिन् स्वतादात्म्यस्य नैयायिकैरुपगमेन तद्रूप-विषयत्वस्याक्षतत्वादिति भावः । तत्रेति । स्वमताभिनिवेशेन शून्यवादाशङ्क्याम् । आह स्वमताभिनिवेशेन वेदान्ती

विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भाने श्रुत्या विशिष्टस्य दृश्यत्वेनैव विशेष्यस्यापि दृश्यत्वाद्वाभिचारः, न च—‘विष्णवे शिपिविष्टाय’त्यादौ विशिष्टस्य देवतात्ववत् विशिष्टस्य विषयत्वम्, अग्नीषोमयोर्मिलितयोर्देवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्, अतो न विशेष्ये विषयत्वमिति—वाच्यम्; तद्देव विशेषण-

सिद्धिव्याख्या ।

ननु मा भूत्केवलस्य शुद्धस्य ज्ञानं, तथाऽपि शुद्धे व्यभिचार एव, अशुद्धस्य विशिष्टस्य ज्ञेयत्वेनैव तदनुगतस्य शुद्धस्य विशेष्यस्यापि ज्ञेयत्वादिति शङ्कते—नन्विति । विशिष्टज्ञानेति । विशिष्टस्य विशेषणादित्रितयात्मकत्वादिति भावः । श्रुत्येति । ‘दृश्ये’त्यादिज्ञेयत्वश्रुत्येत्यर्थः । व्यभिचार इति । विशेष्ये व्यभिचार इत्यर्थः । इदमुपलक्षणं—घटत्वादिविशिष्ट एव दृश्यत्वं, नतु विशेष्ये घट इत्यापत्त्या घटस्याप्यभिध्यात्वापत्त्या विशिष्टदृश्यत्वेनैव विशेष्यस्यापि घटस्य मिथ्यात्वमिति यदि, तदा विशेष्यस्यापि दृश्यतया तत्र व्यभिचारः स्फुट एवेति द्रष्टव्यम् । तुल्यन्यायेन विशेष्ये कदाचिद्ज्ञानाद्यापत्त्येष्टापत्तौ ‘दण्डी चैत्र’ इति ज्ञानेनैव चैत्रोपि ज्ञात इत्यनुभवविरोधापत्तिश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । नच—विष्णव इति । शिपिविष्टाय रश्मिभिराविष्टाय । विषयत्वं दृश्यत्वापरपर्यायदृग्विषयत्वं ज्ञातत्वमिति यावत् । तद्देवेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धो हेतुर्न प्रयोक्तव्यः, तत्र तस्यानुमितिजनकपरामर्शासंभवादिति भावः । श्रुत्या गुणविशिष्टब्रह्म-बोधकश्रुत्या । दृश्यत्वेन ज्ञेयत्वेन । विशिष्टस्य विशेषणविशेष्यसंसर्गस्योऽतिरिक्तस्य । मिलितस्य विषयत्वम् उभय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

आहेत्यर्थः । तदाह—मन्मते इति । सिद्धान्ते स्वप्रकाशनित्यचैतन्यरूपं ब्रह्म यत् सर्वं जगत् स्वतादात्म्यसंबन्धेन प्रकाशयति व्यवहारयति च, कथं तत् स्वप्रकाशे स्वव्यवहारे चान्यमपेक्षेतेति न स्वविषयत्वापेक्षापि । तादात्म्यरूपविषयत्वं चाल्यन्ताभेदे न संभवति; घटो घट इति प्रत्ययाभावात् । औपाधिकभेदेऽपि यद्यपि तादात्म्यं संभवति, नीलो घट इति प्रत्ययात्; तथापि निरुपाधिके शुद्धे ब्रह्मणि निरुपाधिकस्य ज्ञानरूपस्य ब्रह्मणः औपाधिकोऽपि भेदो नास्तीति तत्तादात्म्यरूपं विषयत्वं हेतुभूतं शुद्धे ब्रह्मणि नास्तीति कथं तत्र मिथ्यात्वं साधयितुं शक्यमिति भावः । मन्मतसिद्धो हेतुर्मया प्रयुक्त इत्याशङ्कां परिहरति—तथाचेति । तत्र प्रतिवादिनि । परामर्शासंभवादिति । स्वरूपासिद्धिज्ञानप्रतिबन्धादिति भावः । वयं तु—मूले एतेनेत्यस्य वक्ष्यमाणदूषणेनेत्यर्थः । स्फुरणमात्रं स्वभेदाविशेषितम् स्फुरणं क्वचित् विषयतासंबन्धेन क्वचित् स्वरूपं मिथ्यात्वे तन्त्रम् । स्वतः स्फुरत् स्फुरणस्वरूपम् इति शून्यवादितम् व्याख्याय, स्फुरणरूपं स्वस्मिन् मिथ्यात्वे प्रयोजकमाहोस्वित् स्फुरणतादात्म्यं स्वाश्रये मिथ्यात्वे प्रयोजकम् ? आद्ये स्वतः स्फुरणरूपताया इति अन्त्ये स्फुरणविषयत्वस्येति विकल्पेन तद्दूषणद्वयं—संगमयामः । ननु—स्फुरणमभेदसंबन्धेन, स्फुरणभेदो वा मिथ्यात्वे हेतुः, दृष्टान्ते शुक्तिरूप्ये स्फुरणस्याभेदो भेदाभेदोभयरूपतादात्म्यघटको मतद्वयेऽप्यस्ति, पक्षे ब्रह्मणि स्फुरणस्याल्यन्ताभेदोऽपि उभयमतसिद्ध एव—इति चेन्न, अभेदो हि न भेदसामान्याभावः अप्रसिद्धेः । नापि स्वभेदसामान्याभावः; दृष्टान्तासिद्धेः । नापि स्वात्यन्ताभेदस्यालीके प्रसिद्धस्याभावः; अत्यन्तत्वस्याभेदासहितत्वे आत्माश्रयात् । नाप्यखण्डो धर्मः; तस्य संबन्धत्वेन भेदनिश्चितस्य घटत्वावच्छिन्ने घटत्वावच्छिन्नस्यैव अत्यन्ताभिन्नत्वेन स्फुरणरूपे शुद्धे ब्रह्मणि शुद्धस्य स्फुरणज्ञानरूपस्य ब्रह्मणोऽसंभवात् । एतेन—भेदेऽत्यन्तत्वमखण्डोपाधिरित्यपि—निरस्तम् । नन्वेवमपि—स्फुरणतद्विषयान्यतरत्वं मिथ्यात्वे हेतुरस्तु—इति चेन्न, लाघवेन स्फुरणविषयत्वस्यैव मिथ्यात्वे तन्नत्वौचित्यात् । केचित्तु—मूले—‘एतेनेत्यस्य’ दृश्यत्वरूपहेतुमिथ्यात्वरूपसाध्ययोः व्यतिरेकस्य ब्रह्मणि श्रुतिसिद्धत्वेनेत्यर्थः । वृत्तिज्ञानविषयत्वरूपदृश्यत्वव्यतिरेकस्य पूर्वं व्यवस्थापनेऽपि स्फुरणरूपज्ञानघटितदृश्यत्वहेतोः विकल्पेन दृष्टान्तपक्षोभयसाधारण्याभावमाह—स्वत इति । स्फुरणेति च—इत्याहुः ॥ प्रकारान्तरेण शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं शङ्कते मूले—नन्विति । भान इति । विशिष्टस्य शुद्धादनतिरेकपक्ष इति भावः । तत्त्वमसीत्यादिश्रुत्या विशिष्टज्ञानाजननात् व्याचष्टे—विशिष्टबोधकेति । ‘यः सर्वज्ञ’ इत्यादीति शेषः । चिद्विषयत्वादि दृश्यत्वे श्रुत्येति तृतीयार्थजन्यतान्वया-

स्याप्यविषयत्वे भागासिद्धिप्रसङ्गात्—इति चेन्न; विशेष्यतापन्नस्य विषयत्वेऽपि क्षत्यभावात्, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात् । अतएव—उपहितविषयत्वेऽप्युपधेयविषयत्वमक्षतमेव इति—अपास्तम्; उपहितात्मना तस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात्, ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणे भागासिद्ध्यभावाच्च ।

सिद्धिव्याख्या ।

देवतात्ववदेव विषयत्वस्य विशेषणेऽप्यभावेन भागासिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः । किं शुद्धस्य विषयत्वं विशेष्यतापन्नत्वेनोत स्वरूपेण, नाद्यः; 'यत्तदद्रेश्य'मिति श्रुतिविरोधेन तत्र विषयत्वाभावादित्यभिप्रेत्याद्यमिष्टापत्त्या परिहरति—विशेष्यतापन्नस्येति । विशेष्यत्वेनेत्यर्थः । तमेव दर्शयति—तस्येति । विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि ज्ञातत्वान्न तत्र कदाचिदज्ञानाद्यापत्तिः, नवा 'दण्डी चैत्र' इति ज्ञानेनैव चैत्रोऽपि ज्ञात इत्यनुभवविरोधापत्तिश्चेति ध्येयम् । अतएवेत्यस्य निरस्तमित्यनेनान्वयः । उपहितविषयत्वेऽपीति । उपहितस्य दृश्यत्वे शुद्धस्य तदुपधेयस्यापि दृश्यत्वमवर्जनीयमेव, तस्य मिथ्यात्वाभावात् तत्र व्यभिचार इत्यतएव निरस्तमित्यर्थः । अतश्शब्दार्थमेवाह—उपहितात्मनेति । तथाच तस्यापि साध्यवत्त्वान्न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः । वस्तुतस्तु—'विष्णवे शिपिविष्टाय' इत्यादौ विशिष्टस्य देवतात्ववद्विशिष्टस्यैव विषयत्वम्, अग्नीषोमीययोर्मिलितस्य देवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्, अतो न विशेष्यस्य विषयत्वमिति तत्र हेतोरेवाभावान्न तत्र व्यभिचारः । नच—देवतात्ववदेव विषयत्वस्यापि विशेषणेऽप्यभावेन विशेषणे भागासिद्धिरिति—वाच्यम्; ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणोपलक्षणयोर्भागासिद्ध्यप्रसङ्गादित्याह—ज्ञानान्तरेति । ननु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पर्याप्तम् । विशेष्ये विशेष्यमात्रेऽपर्याप्तम् । भागासिद्धीति । स्वरूपसंबन्धेन विषयत्वस्य हेतुत्वे विशेष्ये व्यभिचारापत्तेः पर्याप्तिसंबन्धेनेव तस्य वाच्यत्वात् भागासिद्धिः । उपहितात्मनेति । एवकारश्लेषः । नच—विशिष्टज्ञाने शुद्धस्याभावे तदुत्तरं तत्र संशयादिकं स्यादिति—वाच्यम्; विशिष्टविषयकनिश्चयस्यापि केवलसंशयप्रतिबन्धकत्वादिसिद्धिकारात् । यत्तु—घटादेरपि विशिष्टरूपेणैव वृत्तिविषयत्वम्, न तु केवलरूपेण; निर्विकल्पकास्वीकारात्, तत्स्वीकारेऽपि नित्यातीन्द्रियेषु तदस्वीकारात्, केवलस्य तस्य विशिष्टज्ञानाविषयत्वात् तत्रैव केवलरूपे भागासिद्धिः—इति । तन्न; घटादेः केवलरूपस्य ज्ञानाविषयत्वे अलीकत्वात् । ज्ञानान्तरेति । विशिष्टाविषयकज्ञानेत्यर्थः । तदानीं

लघुचन्द्रिकाया विट्केशोपाध्यायी ।

संभवात् व्याचष्टे टीकायां—दृश्यत्वेनेति । ज्ञेयत्वेन वृत्तिविषयत्वेन । वृत्तौ जन्यत्वान्वयः । विशिष्टपदार्थस्य विशेष्यविशेषणसंसर्गरूपत्वे विशेष्यस्यापि देवतात्वापत्तिरतो व्याचष्टे—विशेषणविशेष्यसंसर्गभ्योऽतिरिक्तस्येति । विशिष्टस्योक्तविध्यानतिरेके दृष्टान्तान्तरमाह—अग्नीषोमयोरिति । मिलितस्य उक्तत्रयस्य । प्रत्येकानतिरेकेण मिलितनिष्ठविषयत्वे प्रत्येकनिष्ठत्वं दुर्वारमतो व्याचष्टे—उभयपर्याप्तमिति । विषयत्वं संसर्गतान्यविषयत्वम् । यथाश्रुते त्रयपर्याप्त्यर्थकं मिलितस्येति । नन्वेवं विशेष्यावृत्तित्वं कथम्? अत आह—विशेष्यमात्रेऽपर्याप्तमिति । समुदायपर्याप्तस्य प्रत्येकं सत्त्वात् भागासिद्धिः कथम्? अत आह—स्वरूपसंबन्धेनेति । पर्याप्तिरपि उभयत्र विद्यमाना प्रत्येकमप्यायति; अतः एकमात्रधर्मावच्छिन्नपर्याप्तिसंबन्धेनेत्यर्थः । यद्यपि विशेष्यविशेषणयोः विशेष्यता विशेषणता च भिद्येति तत्पर्याप्तिरुभयत्र नैका, तथापि वृत्तिविषयत्वं स्ववृत्तितत्तद्वृत्तिविषयत्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकैकमात्रवृत्तिधर्मावच्छिन्नपर्याप्तिसंबन्धेन हेतुरिति निष्कर्षः । भागासिद्धिभयेन पर्याप्त्यन्यस्वरूपसंबन्धेन हेतुतामभ्युपेत्य शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचारमुद्धरति मूले—विशेष्यतापन्नस्येति । क्षत्यभावादिति । शुद्धे तदनुपगमेन व्यभिचाराभावादित्यर्थः । विशेष्यतापन्ने तर्हि व्यभिचारोऽत आह—तस्येति । अतएव वृत्तिविषयत्वस्य शुद्धेऽनुपगमादेवेत्यर्थः । उपहितस्य विषयत्वेऽप्युपधेयस्य विषयत्वमक्षतमिति । उपाधुपधेयोभयस्योपहितपदार्थत्वादिति भावः । उपहिते व्यभिचारं वारयति—उपहितात्मनेति । निरुक्तपर्याप्तिसंबन्धेन हेतुतामुपगम्यापि विशिष्टज्ञानविषयत्वमादाय विशेष्ये व्यभिचारवारणे विशेषणे भागासिद्धिरित्याशङ्क्य तां वारयति—ज्ञानान्तरेति । विशेष्याविषयकेऽपि ज्ञानान्तरे विशेषणस्य केनचिद्रूपेण भावे

ननु—वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वे तदानीमुपाध्यन्तराभावेन तस्या एवोपधायकत्वात्

सिद्धिव्याख्या ।

वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वान्न तत्र व्यभिचार इति न युक्तम्, उपाधिसत्त्वे 'शुद्धं ब्रह्म निरुपाधिक'मित्येवंरूपस्य वेदान्तजन्याखण्डाकारवृत्तेराकारस्य संभवितुमनर्हत्वात् । नच—मिथ्याभूतत्वादुपाधिसत्त्वेपि न तेन वास्तवनिरुपाधिकत्वाकारेण साक्षात्कारोदयो विरुध्यत इति—वाच्यम्; वृत्तिव्यतिरिक्तस्य तादृशोपाधेरसंभवादित्याह—उपाध्यन्तराभावेनेति । वृत्तिव्यतिरिक्तोपाध्यन्तराभावेनेत्यर्थः । तथाच वृत्तेर्नोपाध्यन्तरोपहितविषयकत्वमिति तद्विषये शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचारो दुरपहव इत्यर्थः । नच—तदानीं मिथ्याभूतोपाध्यन्तरमस्त्येवेति न व्यभिचार इति—वाच्यम्; 'तस्यैव तदुपाधेर्विनश्यवदस्थस्य स्वपरविरोधिनोऽपि विद्यमानत्वा'दिति भामतीग्रन्थविरोधेन वृत्तेरेवोपाधित्ववर्णनादिति भावः । तर्हि वृत्तेरेवोपाधित्वमस्तु । एवंच न भामतीग्रन्थविरोधः, नवाऽऽत्मनि व्यभिचार इत्याशयेन वृत्तेरेवोपधायकत्वं सिद्धवत्कृतं—तस्या एवोपधायकत्वादित्यन्तेन । तदपि दूषयति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उक्तवृत्तिकाले । उपाध्यन्तराभावेनेति । ननु—उक्तवृत्तिकाले सुखादेरात्मन्यध्यस्तस्योक्तवृत्तिविषयत्वेऽप्युपाधित्वसंभवात्तस्या एवेत्यसङ्गतमिति—चेन्न; सुखादीनां तदानीं नियमेनानुत्पत्तेः । तस्मादुक्तवृत्तिकाले नियमेन यज्ञातीय उपाधिः संभवति तज्जातीयोपाधिः उक्तवृत्तिरेव, न तु सुखादिः । यत्तु—स्थूलशरीरादिकमुपाधिः संभवति—इति । तन्न; शुद्धब्रह्मणो यत् वृत्त्युपहितं रूपं तद्विषयकवृत्तेरेवाज्ञाननिवर्तकत्वात्, अन्यथा घटादियत्किञ्चिदुपाध्युपहितविषयकज्ञानस्यापि तदापत्तेः । अतएव सुखादेरपि नोपाधित्वसंभवः । तस्या नियतोपाधित्वं त्वभ्युपगममात्रेणोक्तम् ।

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

भागासिद्धिर्दुर्वारेत्यतः अन्तरपदं व्याचष्टे—विशिष्टाविषयकेति । विशेषणमात्रविषयकज्ञानेति यावत् । वेदान्तजन्यवृत्तेरुपाध्यसंभवेन उपहितविषयकत्वासंभवात् शुद्धस्यैव तद्विषयत्वं वाच्यम्; तथाचोक्तव्यभिचारो दुर्वार इत्यभिप्रायेण शङ्कते मूले—नन्विति । वृत्तिवृत्तीयादिक्षणे वृत्तेरसत्त्वात् व्याचष्टे—तदानीमिति । उपाध्यन्तरमाशङ्कते टीकायां—नन्विति । सुखादीत्यादिना दुःखाभावः । अनुत्पत्तेरिति । दुःखस्यापि कदाचिदुत्पत्तिसंभवात् तदभावोऽपि न नियतः । यज्ञातीय इति । पुरुषभेदेन वृत्तीनां नानात्वात् तज्जातीयेति । एकजातीयोपाधिकल्पने लाघवात् । अनियतानामुपाधित्वे नानाजातीयोपाधिकल्पने गौरवात् । आदिना सूक्ष्मशरीरम् । उपाधिरिति । नियत इति शेषः । शङ्केति । शुद्धत्वव्याघातेन शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वासंभवादिति भावः । वृत्त्युपहितं स्वात्मकवृत्तिमात्रोपहितम् । तद्विषयकेति । तन्मात्रविषयकेत्यर्थः । अज्ञानेति । स्वमात्रोपहितमात्रविषयकमूलाज्ञानेत्यर्थः । अन्यथा उपहितसामान्यविषयकवृत्तेरुक्ताज्ञाननिवर्तकत्वे । घटादीत्यादिना शरीरसुखादिपरिग्रहः । ज्ञानस्य 'अयं घटोऽस्ति' 'भाति' 'प्रीणाति च' 'अयं घटसंयोगो भूतले समवेतो न कपाले,' 'अहमिहैवास्मि सद्ने जानानः,' 'अहं सुखी निद्रामि' इत्याद्याकारज्ञानस्येत्यर्थः । अतएव वृत्तिमात्रोपहितमात्रज्ञानस्यैवोक्ताज्ञाननिवर्तकत्वेन सुखाद्युपहितज्ञानस्य तदनिवर्तकत्वादित्यर्थः । अन्तःकरणं तु न नियतोपाधिः; वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वे तदुपहितस्य जीवत्वेन निरुपाधिकब्रह्माभेदासंभवात्, निरुपाधिकजीवचैतन्यस्यैव त्वंपदार्थत्वात् । ननु वेदान्तजन्यवृत्तिकाले नियमेन तदन्यवृत्त्यभावसत्त्वात् सैव तद्विषयत्वे नियतोपाधिरस्तु; अज्ञानस्यापि तदुपहितविषयकत्वसंभवेन तत्समानविषयकत्वस्यापि संभवात् इत्यत आह—तस्या इति । वक्ष्यमाणजातिविशेषावच्छिन्नायाः तस्या एवेत्यर्थः । अभ्युपगममात्रेण । तदन्यवृत्तीनामेकैकाभावव्यक्तीनां उपाधित्वे विनिगमनाविरहः; तदन्यज्ञानरूपवृत्त्यभावत्वेनोपाधित्वे गौरवं । तदपेक्षया वेदान्तजन्यतत्तद्वृत्तिविषयत्वे तत्तद्वृत्तेः, उक्तवृत्तिविषयत्वसामान्ये उक्तवृत्तिसामान्यस्य च, उक्तवृत्तिषु मूलाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकतावच्छेदकं विलक्षणसामान्यमभ्युपगम्य उपाधित्वोपगमे तु लाघवं । नापि खं प्रति स्वस्योपाधित्वं; स्वरूपसंबन्धेन वृत्तिविषयत्वं प्रति विषयतासंबन्धेन वृत्तेरुपाधित्वोपगमात् इत्यभिप्रायः ॥ अत्र उपाध्यन्तराभावेनेत्यक्षराणि योजयति—तथाचेति । अज्ञानेति । अज्ञान-

स्वविषयत्वापत्तिः; नचेष्टापत्तिः; शाब्दबोधे शब्दानुपस्थिताभाननियमेन वृत्तेः शब्दानुपस्थिताया भानानुपपत्तेः, यथाकथंचिदुपपत्तौ वा न ततोऽज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिः स्यात्; अज्ञानतत्कार्या-विषयकज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वात्, अन्यथा 'अहमज्ञः अयं घट' इत्यादिज्ञानानामप्युपहितविषय-

सिद्धिव्याख्या ।

स्वविषयत्वेति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याह—नचेति । अभ्युपेत्याप्याह—उपपत्तौ वेति । न ततः शब्दानुपस्थितवृत्तितः न स्यादित्यत्र हेतुमाह—अज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानस्यैवेति । समानविषयक-तथैव ज्ञानाज्ञानयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावावश्यंभावात्तादृशवृत्तेश्च तदभावादिति भावः । अन्यथेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथा चोपाध्यन्तरेत्यस्याज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वेन संभवदुपाध्यन्तरेत्यर्थः । अथवा ज्ञानमेवाज्ञानतत्प्रयुक्तदृश्यनाशः ज्ञाननाशस्तु तदुपलक्षित आत्मैवेति मते ज्ञानकाले शरीरादेरभावे जीवन्मुक्तेरभावात्, यथाश्रुत एवार्थः उपधायकत्वात् उपाधित्वात् । आपत्तिरिति । 'नीलो घटो ज्ञात' इत्यादौ नीलत्वाद्युपाधेरपि ज्ञातत्वप्रतीते-रिति शेषः । कथंचित् शाब्दवृत्तौ स्वभिन्नस्यैव शब्दानुपस्थितस्याभानमिति स्वीकारेण । अज्ञानतत्कार्ययोः मूलाज्ञानतत्प्रयुक्तयोः । अज्ञानेति । स्वनिवर्त्याज्ञानेत्यर्थः । अज्ञानेति । मूलाज्ञानेत्यर्थः । उपहितविषयत्वेन

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

निवर्तकत्वावच्छेदकजातिविशेषावच्छिन्नेत्यर्थः । संभवदिति । लघवेन नियतसंभवदित्यर्थः । एतद्विशेषणान्तर्भावे-नाह—अथवेति । ज्ञानमेव विदेहकालीनः चरमतत्त्वसाक्षात्कार एव । अज्ञानेति । मूलाज्ञानेत्यर्थः । तर्हि मुक्तौ ज्ञाननाशरूपं दृश्यं स्यात् तत्राह—ज्ञाननाशस्त्विति । तदुपलक्षितः ज्ञानोपलक्षितः । शरीरादेरिति । शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च । आदिना तदवच्छिन्नसुखादिपरिग्रहः । उक्ततत्त्वज्ञाने तु स्थूलं शरीरं सर्वकालवृत्तितथैवावच्छेदकं सूक्ष्मं चोपादानं तर्हि जीवन्मुक्तिः कथं? तत्राह—जीवन्मुक्तेरिति । प्रारब्धकर्मणारब्धशरीराद्यन्याज्ञानतत्प्रयुक्तदृश्योच्छेदो जीवदशायां तत्त्वज्ञानजन्यो यो जीवन्मुक्तिपदार्थस्तस्य । अभावात् अस्माभिरनङ्गीकारात् । 'आत्मा सत्यः' 'जगत् मिथ्या' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति निश्चय एव जीवन्मुक्तिपदार्थः । तदधीनाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ तु प्रारब्धं प्रतिबन्धकम् । यद्वा—अज्ञानस्य स्थूलरूपेण निवृत्तिरुक्तनिश्चयकाल एव जायते; तत्संस्कारतत्कार्यदृश्यसामान्यनिवृत्तिस्तु विदेहताकाले एव । तत्त्वज्ञानस्य कर्मनाशकत्ववचनानि तु विदेहताकालाभिप्रायाणि, प्रारब्धान्यकर्मादीनां भर्जितधानावत् फलजनकता-विघटनात् नष्टप्रायत्वाभिप्रायाणि वा बोध्यानि । अतएव जीवन्मुक्तानामावश्यके लौकिकवैदिककर्मणि प्रवृत्तिः । 'यथा-श्रुतएवे'त्यस्योपाध्यन्तराभावेनेत्यस्येत्यादिः । धात्वर्थोपाधौ तज्जनकत्वरूपकर्तृप्रत्ययार्थवाधात् तदविवक्षया व्याचष्टे—उपधायकत्वादिति । उपाधित्वादिति । 'सूर्यः प्रकाशते' 'ब्रह्म स्वयं प्रकाशते' इतिवत्, अमेद एव कर्तृप्रत्ययार्थ इति भावः । वृत्तेः आत्मनिष्ठस्वविषयत्वे उपाधित्वेऽपि कथं स्वविषयत्वापत्तिः, उपधेयान्वितानन्वयिन एवोपाधित्वात्, अतः शेषं पूरयति—नीलो घट इति ज्ञात इति । द्रव्यं चेति शेषः । तथाच द्रव्यपदार्थानन्वितत्वात् नील-त्वस्योपाधित्वं स्वीकार्यमित्याह—नीलत्वाद्युपाधेरपीति । ज्ञातत्वप्रतीतेरिति । नीलत्वेनाज्ञाते तथा प्रतीत्यनुदयादि-त्यभिमानः । मूले—नचेष्टापत्तिरिति । प्रत्यक्षादिवृत्तेरिव शाब्दवृत्तेरपि स्वविषयत्वं स्वीकार्यम्; अन्यथा स्वगोचरवृत्त्यु-पहितचैतन्याभिन्नत्वघटितप्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः, वृत्तिगोचरवृत्त्यन्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेरिति शङ्काभावः । शाब्दबोधे शाब्द-वृत्तौ । वृत्तेः शाब्दवृत्तेः । भानानुपपत्तेरिति । शाब्दवृत्तेः प्रत्यक्षत्वाय तद्गोचरं वृत्त्यन्तरं स्वीकार्यं, तच्च प्रत्यक्षवृत्तित्वात् स्वगोचरमिति नानवस्थेति भावः । उक्तनियमसत्त्वे केनापि प्रकारेण तदुपपत्तेरसंभवात् व्याचष्टे टीकायां—कथंचिदिति । इति स्वीकारेण इति । नियमसंकोचस्वीकारेणेत्यर्थः । उक्तवृत्तेः स्वाविषयकत्वेऽपि साक्षात् तूलाज्ञानानिवर्तकत्वात् स्वविषयकत्वस्य न तत्र प्रयोजकत्वम्, एवं अज्ञाननिवृत्तिद्वारा द्वितीयक्षणे मूलाज्ञानकार्याकाशादिप्रपञ्चस्यैव तदकार्यतत्प्रयुक्त-चिन्निष्ठतत्संबन्धतदवस्थाविशेषतूलाज्ञानस्यापि निवृत्तेस्तन्निवर्तकत्वानुक्त्या न्यूनता इत्यतो व्याचष्टे—अज्ञानतत्कार्य-योरिति । शुक्त्यादिज्ञानस्य रज्ज्वादिभिन्नविषयकाज्ञानतत्कार्यसर्पाविविषयकस्यापि तदनिवर्तकत्वात् ज्ञानाज्ञानयोः सामान्यतो निवर्त्यनिवर्तकत्वकथनासङ्गतिः, अतो व्याचष्टे—अज्ञानेतीति । स्वनिवर्त्याज्ञानेति । स्वसमानविषयका-ज्ञानेत्यर्थः । तेन तन्निष्ठस्वनिवर्त्यत्वग्रहे स्वस्य तन्निवर्तकताज्ञानापेक्षायामपि नात्माश्रयः । तथाच यज्ज्ञानं, यदज्ञानविषय-

कत्वेन अज्ञाननिवर्तकत्वप्रसङ्ग इति—चेन्न; वृत्तेः शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवोपधायकत्वा-

सिद्धिव्याख्या ।

भिन्नविषयकस्याप्यज्ञाननिवर्तकत्व इत्यर्थः । तस्माद्वृत्तेरुपहितविषयकत्वे व्यभिचारः स्पष्ट इति स्थितम् । परिहरति—चेन्नेति । यदुक्तं—‘शुद्धं ब्रह्म निरुपाधिक’मित्यखण्डाकारवृत्तेराकारे इष्यमाणे सति निरुपाधिकत्वासिद्धिः, तस्य सत्युपाधौ संभवितुमनर्हत्वात्—इति, तन्न; मिथ्याभूतेन सताऽप्युपाधिना वास्तवनिरुपाधिकत्वाकारस्य तस्योदये विरोधाभावात् । तादृशोपाधिश्च वृत्त्यतिरिक्त एव । नच भामतीग्रन्थविरोधः; भामत्यां वृत्तेरेवोपाधित्ववर्णनस्यान्ततो वृत्तिमात्रमस्तीत्यभ्युपेत्यवादत्वादिति परिमले तदभिप्रायकथनादिति भावः । यद्वा—वृत्तिरेवोपाधिः, नचैवं स्वविषयत्वापत्तिः, वृत्तेः शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवोपधायकत्वाभ्युपगमेन स्वस्य स्वविषयत्वानुपपत्तेरित्याह—वृत्तेरिति । उक्तं च कल्पतरु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अज्ञानादिविशिष्टात्मविषयकत्वेन । प्रसङ्ग इति । ननु—उक्तप्रसङ्गेन शुद्धविषयत्वान्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयताकज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वमस्तु, अज्ञानाद्यविषयकस्यैव तदिति नियमे तु किं मानम् ? ‘इयं शुक्तिरेतद्विषयकाज्ञानतत्कार्यं ज्ञाते’ इत्यादिसमूहालम्बनस्यैव ‘अहं ब्रह्म मूलाज्ञानतत्कार्यं ज्ञाते’ इत्यादिसमूहालम्बनस्याप्यज्ञाननिवर्तकतायां बाधकाभावात् । नच—एतत् पूर्वपक्षिणोक्तमपि न सिद्धान्तसिद्धमिति—वाच्यम्; सिद्धान्तेऽप्युपाध्यविषयकत्वे

लघुचन्द्रिकाया विद्वलेशोपाध्यायी ।

विषयकत्वे सति यदज्ञानतत्प्रयुक्ताविषयकं, तत् तदज्ञानतत्प्रयुक्तोभयनिवर्तकमिति सामान्यव्याप्तिः फलिता । मूले—अन्यथा अज्ञानतत्प्रयुक्ताविषयकत्वानिवेशेन तद्विषयकस्यापि तन्निवर्तकत्वे । अयं घट इति । सन् इत्यादिशेषः । इदानीमुपाधेर्विशेषणत्वाभिमानसत्वात् उपहितपदं विशिष्टपरतया व्याचष्टे टीकायाम्—उपहितविषयकत्वेति । अज्ञानसमानविषयकत्वलाभायाह—आत्मविषयकत्वेनेति । अज्ञानादीत्यादिग्राह्यघटविशिष्टज्ञानस्यापि सदात्मविशेष्यकत्वं बोध्यम् । उक्तप्रसङ्गेन ‘अहमज्ञ’ इत्यादिज्ञानानां मूलाज्ञानादिनिवर्तकत्वापत्त्या तद्वारणार्थमिति यावत् । ‘अहमज्ञ’ इति ज्ञाने आत्मनि तादात्म्येनाज्ञानस्याध्यासः; परस्पराध्यासरीत्याऽज्ञाने आत्मतादात्म्यस्य तादात्म्योपहितात्मनश्च तादात्म्येनाध्यासः । एवं ‘सन् घटः’ ‘घटः सन्’ ज्ञानयोरपि द्वेधा विशेषणविशेष्यभावोऽस्ति । तदुभयविधज्ञानवारणार्थमन्यविषयत्वात्मविषयत्वयोः प्रकारताविशेष्यतासाधारणेन विषयतात्वरूपेण निवेशनं कृतम् । अस्त्विति । अत्र केचित्—एवमपि वृत्त्युपहितब्रह्मज्ञानस्य वृत्तिरूपान्यविषयतानिरूपितब्रह्मविषयताकत्वात् न ततो मूलाज्ञाननिवृत्तिः स्यादिति शुद्धस्यैव तत्त्वज्ञानविषयत्वं वाच्यमिति मिथ्यात्वानुमाने व्यभिचारो दुर्वार इति पूर्वपक्षोऽज्ञानतत्कार्याविषयकत्वनिवेशोपष्टम्भेनोपक्रान्तः समः, किंतु अज्ञानतत्कार्याविषयकत्वमेव किमर्थं निवेश्यते इति एतच्छङ्काशयः । तत् मूलाज्ञाननिवर्तकत्वम् । किं मानमिति । आत्मविषयकत्वे सति, अज्ञानाविषयत्वे सति, तत्कार्याविषयकत्वनिवेशे गौरवात्; आत्मविषयकत्वे सत्यात्मान्याविषयकत्वनिवेशे च साम्यादिति भावः । शुक्ल्यादिज्ञानस्यापि शुक्ल्याद्यज्ञानविषयांशे शुक्तित्वप्रकारकत्वेऽपि तदज्ञानप्रकारीभूतशुक्तित्वांशेऽन्याप्रकारकत्वेन तदज्ञाननिवर्तकत्वं, नतु तदज्ञानतत्कार्याविषयकत्वेनेति, यत् ज्ञानं यदज्ञानविषयविषयकत्वे सति यदज्ञानविषयांशे यदज्ञानविषयान्याविषयकं, तत् तदज्ञाननिवर्तकमिति सामान्यव्याप्तिः । तेन जातित्वादिना शुक्तित्वादिज्ञानव्युदास इति—व्याचक्रुः । परे तु—एवं व्याख्याने स्वातन्त्र्येणाज्ञानतत्कार्याविषयकस्यापि वृत्त्युपहितात्मविषयकसमूहालम्बनज्ञानस्य निवर्तकत्वं स्यादित्याशङ्कायाः एवानवतारात्, इष्टापत्त्या परिहार ‘इयं शुक्तिरित्यादिना बाधकाभावादित्यन्तेन वक्ष्यमाणो निर्दलः स्यादिति बोध्यम् । परन्तु ‘अन्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयकज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वमस्तु’ इत्यत्रान्यपदं वृत्तिरूपोपाध्यन्यपरम् । ‘अत्रोच्यते’ इति सिद्धान्तग्रन्थे एतदनुवादे तदन्वयेत्युक्तेः । तथाचाहमज्ञादित्यादिज्ञानवारणस्य, महावाक्यजन्यनिर्विकल्पवृत्तेः स्लोपहितब्रह्मविषयिण्याः शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वपक्षे वृत्तिविषयकत्वावश्यकत्वेऽप्यज्ञानादिनिवर्तकत्वस्य चोपपत्तिसंभवे, अज्ञानतत्कार्याविषयकत्वनिवेशो वेदान्तजोक्तवृत्तेरज्ञानाद्यनिवर्तकत्वापादकोऽनुचित इति शङ्काशयः । एवं चोक्तवृत्तेः स्वातन्त्र्येणाज्ञानादिविषयिण्याः शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वपक्षेऽप्यज्ञाननिवर्तकत्वापत्तिशङ्काया वृत्तेः स्वविषयत्वपक्षेऽवतारात्, ‘इयं शुक्तिरित्यादिना ‘बाधाभावा’दित्यन्तेनेष्टापत्त्या परिहारोऽपि सामञ्जस्येनोप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्युपहितविषयकस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वमित्यस्यैव वाच्यत्वादिति—चेत्, अत्रोच्यते; शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वपक्षे शुद्धस्य वृत्त्युपहितं यद्रूपं तदंशे तदन्याविषयकज्ञानस्यैव निवर्तकता यद्यपि वक्तुं शक्यते; तथापि गौरवान्न तथोच्यते, किं तूक्तोपहितान्याविषयकज्ञानस्यैव । नच—उक्तसमूहालम्बनसङ्ग्रहार्थत्वादुक्तगौरवं प्रामाणिकमिति—वाच्यम्; उक्तसमूहालम्बनस्यैवासिद्धत्वात् । यथा हि तार्किकादिमते ‘घटो न घट’ इत्यादिज्ञानमाहार्यत्वात् ज्ञानान्तरविरोधि; तथा मन्मतेऽप्युक्तसमूहालम्बनमाहार्यत्वात्ज्ञानतत्कार्यभ्रमविरोधि; घटतदभावविषयतयोरिव द्वैताद्वैतविषययोरनाहार्यज्ञाने विरुद्धत्वात् । अथ—विशेष्यतावच्छेदकत्वसंबन्धेन घटभेदप्रकारकानाहार्यज्ञानोत्पत्तौ घटत्वनिष्ठविषयतासंबन्धेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादाद्ययोर्विषयतयोर्युक्तस्तादृशो विरोधः, अन्ययोस्तु स कुत इति—चेन्न; अद्वैतत्वेन ब्रह्मज्ञानोत्तरमेव ‘अहं ब्रह्मे’ति ज्ञानस्योत्पत्तेस्तत्काले अद्वैतत्वेन ब्रह्मण उद्बुद्धसंस्कारसत्त्वेन तस्यैव द्वैतधीविरोधित्वेनान्ययोरपि तयोस्तुविरोधस्य युक्तत्वात्, शुक्तिवं रजतभेदव्याप्यमित्याकारोद्बुद्धसंस्कारस्य ‘शुक्तिः रजत’मिति ज्ञाने प्रति-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

पद्यते—इत्याहुः । नचैतदिति । एतत् अज्ञाननिवर्तकतावच्छेदककोटौ अज्ञानतत्कार्याविषयकत्वनिवेशनम् । पूर्वपक्षिणा ‘ननु वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरित्यादिशङ्केन । सिद्धान्तेति । एतच्छङ्कासमाधानग्रन्थेत्यर्थः । सिद्धान्तेऽपीति । तत्र हि वृत्तेः शाब्दबोधेऽभासमानाया एवोपधायकत्वाभ्युपगमादियुक्तम् । तेनोक्तवृत्तेरज्ञानतत्कार्याविषयकत्वमुक्तम् । ननु वृत्तेस्तत्र भानमुपगम्यैव अज्ञानतत्कार्याविषयकत्वनिवेशनं निराकृत्य वृत्त्यन्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयताकत्वमज्ञाननिवर्तकतावच्छेदके निवेशितं, तदाह—उपाध्यविषयकत्वे सतीति । उपाधिश्चाज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतररूप एव । तदविषयकत्वं च वृत्त्युपहितात्मज्ञानस्य सिद्धान्ते वृत्तिविषयकत्वानुपगमेन निर्वाहितम् । उपहितविषयकत्वं वृत्तिरूपोपाध्यवच्छिन्नात्मनिष्ठाश्रयताकविषयताकत्वं, ननु वृत्तिरात्मा चेत्युभयपर्याप्तविषयताकत्वं; वृत्तेः स्वविषयतानिराकरणात् । शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वपक्ष इति । वृत्तिरूपोपाधेश्च स्वविषयत्वपक्षे इति शेषः । शुद्धस्य वेदान्तप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मात्मस्वरूपस्य । वृत्त्युपहितम् । शुद्धस्य विषयत्वानङ्गीकारात् । यद्रूपं वृत्त्यन्यधर्मानुपहितं ब्रह्मात्मस्वरूपम् । तदंशे इति । तन्निष्ठविषयतानिरूपितेत्यर्थः । तदन्येति । वृत्तिरूपोपाध्युपधेयान्येत्यर्थः । उपधेयान्यत्वनिवेशे प्रयोजनाविरहात् वृत्तिरूपोपाध्यन्येति यावत् । आत्मनिष्ठविषयतानिरूपितवृत्त्यन्यविषयत्वानिरूपकज्ञानस्येति वा, वृत्त्यन्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयताकज्ञानस्येति वा समुदायार्थः । वक्तुं शक्यते इति । अहमज्ञ इत्यादिज्ञानवारणस्य वृत्त्युपहितात्मज्ञानसंग्रहस्य च संभवात् इति भावः । उक्तोपहितान्याविषयकज्ञानस्यैवेति । स्वोपहितात्मभिन्नाविषयकज्ञानस्यैवेत्यर्थः । स्वं वृत्तिरूपं ज्ञानं, नत्वेवं शुद्धज्ञानासंग्रहोपसिद्धिर्वा । तथाचाहमज्ञो ‘घटः सन्’ इत्यादिज्ञानवारणम् । वेदान्तजन्याखण्डवृत्तौ स्वोपहितान्यस्वविषयकत्वस्यैव सत्त्वेन न ततोऽज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिः स्यादिति पूर्वपक्षसङ्गतिः । उक्तवृत्तेः स्वाविषयकत्वव्यवस्थापनेन सिद्धान्तसङ्गतिश्चेति भावः । प्रामाणिकमिति । उक्तसमूहालम्बनस्याज्ञानतत्कार्यभ्रमनिवर्तकत्वस्यानुभवसिद्धत्वेन तत्साधारणोक्तगुरुधर्मस्यापि तदवच्छेदकतासिद्धिरिति भावः । स्यादिदम्, उक्तसमूहालम्बनस्योक्तनिवर्तकत्वसिद्धौ; सैव नेत्याह—उक्तसमूहालम्बनस्यैवेति । तन्निवर्तकत्वस्यैवेत्यर्थः । तेनोक्तसमूहालम्बनस्यार्थस्य सिद्धावपि नासङ्गतिः । कुतस्तस्य न निवर्तकत्वं? तत्राह—यथाहीति । घटो न घट इति ज्ञानवत्, स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकत्वाभावात् कथमुक्तसमूहालम्बनस्याहार्यत्वं? तत्राह—घटतदभावविषयतयोरेवेति । द्वैताद्वैतविषयतयोरिति । आद्यविषयताया द्वितीयविषयताकज्ञानप्रतिबन्ध्यतावच्छेदकत्वादिति भावः । अन्ययोस्तु कुत इति । ‘अहं ब्रह्मे’ति ज्ञानमेव द्वैतज्ञानविरोधि; तस्य च न द्वैतविषयताकत्वं, निर्विकल्पकत्वादिति भावः । अद्वैतत्वेन ब्रह्मेति । द्वैतसामान्याभावविशिष्टब्रह्मेत्यर्थः । ज्ञानोत्तरमेवेति । तस्य तत्र कारणत्वात् । अन्यथा ‘एकमेवाद्वितीयम्’ इतिवाक्यजन्यबोधे द्वारीभूतावान्तरबोधानुरोधेन तात्पर्यविषयीभूतद्वितीयाभावत्वविशिष्टरूपद्वैताभानप्रसङ्गेन, उक्तरीत्या वृत्तिरूपद्वैतभानप्रसङ्गेन वा मुख्यतात्पर्यविषयनिर्विकल्पकाद्वैतब्रह्मबोधानुपपत्तेः । द्वैताभावविशिष्टब्रह्मज्ञाननाशोत्तरजायमानोक्तज्ञाने किं द्वैतभानविरोधि इत्यत आह—तत्काले इति । तस्यैव उक्तसंस्कारस्यैव । विरोधित्वेनेति । ‘अहं ब्रह्मे’त्यनाहार्ये शाब्दज्ञाने द्वैतविषयत्वासंभवेनेति भावः । विरोधिविषयकसंशयान्यज्ञानत्वावच्छिन्ना प्रतिबन्धकता कथं संस्कारे स्यादित्याशङ्क्य विरोधिविषयकसंशयान्यगुणत्वाद्यवच्छिन्नैव प्रतिबन्धकता संस्कारेऽपि युक्तैवेति सदृष्टान्तमाह—शुक्तित्वमिति । शुक्तिर्वैति शेषः । रजतभेदव्याप्यमिति । रजतभेदवत्ताकोक्तभ्रमसंशयोत्तरप्रत्यक्षनिश्चये विशेषदर्शनस्य हेतुत्वेन तन्निश्चयस्यैतदधीनत्वात्, एतस्य प्रथमत्वात्, उद्बोधकाभावे प्रतिबन्धापलापः सुकरः, उद्बोधकसत्त्वे तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बन्धकत्ववत् द्वितीयाभावो ब्रह्मनिष्ठो अज्ञानाद्यभावो ब्रह्मनिष्ठ इत्याकारोद्बुद्धसंस्कारस्यापि 'ब्रह्मरूपसदात्मकं द्वितीयं सदात्मकमज्ञान'मित्यादिधीप्रतिबन्धकत्वात् । नच—सत्तादात्म्यमविषयीकुर्वति तादृशसमूहालम्बने उक्तसंस्कारस्या-
प्रतिबन्धकत्वेन तदुत्पत्तौ बाधकाभाव इति—वाच्यम्; सदन्यविषयतायाः सत्तादात्म्याविषयतानिरूपित्वनियमस्य
मूल एव वक्ष्यमाणत्वात् । अथवा—ज्ञानमेव ज्ञानोत्तरकालीनभोगसाधनानामज्ञानतत्प्रयुक्तभ्रमतद्विषयद-
ृश्यानां नाशः, ज्ञानस्य तु नाशो जीवन्मुक्तिस्वीकारे ज्ञानोत्तरोत्पन्नो मनःपरिणामः, तदस्वीकारे तु ज्ञानोप-
लक्षित आत्मैव । नच—वृत्तिज्ञानविषयकसाक्षिणोऽपि भ्रमत्वादुक्तभ्रमनाशत्वं वृत्तिज्ञानस्यासङ्गतमिति—वाच्यम्;
भ्रमपदस्य स्वेतरविषयकभ्रमपरत्वात् । स्वपदं ज्ञानपरं, स्वविषयकभ्रमो हि स्वकालत्वव्यापक इति तन्नाशत्वं स्वस्य न

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तदुत्तरं स्मृत्या प्रतिबन्धस्योभयसिद्धत्वेन तत्पूर्वक्षणे तदपलापो दुष्करः क्षणपूर्वापर्यस्य शपथनिर्णयत्वात्, इति बोधयितुं
शाब्देत्युक्तम् । द्वितीयाभावो ब्रह्मनिष्ठ इति । 'नेह नानास्ति किंचनेति' वाक्यजन्यः "एकमेवाद्वितीय"मिति
वाक्यजन्यो वा 'द्वितीयाभाववत् ब्रह्म' इत्याकारको बोध्यः । अज्ञानाद्यभावो ब्रह्मनिष्ठ इति । "यः सर्वज्ञ" इति
वाक्यात् ब्रह्मणि अज्ञानाभावव्याप्यसर्वज्ञत्वबोधेन तेजस्तमसोरिव स्वप्रकाशचैतन्याज्ञानयोः स्वतोविरोधात्तेजसि तमस इव,
स्वप्रकाशचैतन्यरूपे ब्रह्मणि अज्ञानस्याप्यभावः शास्त्रवासानावजीवसाक्षिणा च सुग्रह इत्युक्ताकारसंस्कारसंभवः । ब्रह्म-
रूपसदात्मकं द्वितीयमिति । सदात्मकमज्ञानमिति । उक्ताभावौ तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकौ इति,
तज्ज्ञानादिप्रतिबन्धे अपीमे धियौ तादात्म्यसंबन्धसंसर्गके इति द्योतनायात्मपदम् । तादृशसमूहालम्बने 'अहं ब्रह्मास्मि'
'अज्ञानतत्कार्यं ज्ञाते' इति ज्ञाने । तदुत्पत्तौ अनाहार्योक्तसमूहालम्बनोत्पत्तौ । प्रतिबन्धकज्ञानकालीनस्यैव ज्ञानस्याहा-
र्यत्वादिति भावः । नियमस्येति । सदन्यमात्रस्य सद्रूपे ब्रह्मचैतन्ये तादात्म्येनाध्यस्ततया तप्तायोगोलके 'बहिरिति'
तप्तजलस्थवह्नयंशेषु 'जलमिति', चित्तादात्म्यापन्नाहङ्कारेऽहमिति प्रत्ययेषु अयोबह्विचितामनुल्लेखेऽपि सत्तादात्म्यभानवत्,
सदन्यविषयकज्ञानेषु सतोनुल्लेखेऽपि तदन्यस्मिन् सत्तादात्म्यभानं नियतमिति भावः । अयमेव विश्वसत्यत्वभ्रमः । स
चाज्ञानां यद्यपि नियतः तथापि तत्त्वज्ञानवतां विश्वमिथ्यात्वनिश्चयसंभवेन न विश्वस्मिन् सत्तादात्म्यभाननियमः संभवती-
त्यभ्युपगमेत्याह—अथवेति । ज्ञानमेव 'अहं ब्रह्मास्मी'ति तत्त्वज्ञानमेव । ज्ञानोत्तरकालीनेति । खोत्तरकालीने-
त्यर्थः । तेन चैत्रीयोक्तज्ञानपूर्वकालीनभोगानां मैत्रीयोक्तज्ञानोत्तरकालीनत्वेऽपि नाप्रसिद्धिः । तदीयोक्तज्ञानोत्तरका-
लीनभोगश्च जीवन्मुक्त्यनङ्गीकारे अन्यधीय एव प्रसिद्धः, तस्वीकारे तु तदीयोऽपि । अज्ञानेति । मूलाज्ञानेत्यर्थः ।
दृश्यानामिति । इमानि च जीवन्मुक्तिस्वीकारे ज्ञानोत्तरभोगसाधनस्थूलसूक्ष्मदेहादृष्टाद्यदितानि । तन्नाशस्तु चरम-
तत्त्वज्ञानमेव । जीवन्मुक्तज्ञाने नष्टानामज्ञानादीनां न भानसंभवः । अनष्टानां देहादीनामपि न समाधिकाले तत्त्वज्ञाने
भानम्, किन्तु व्युत्थाने तेषां भोगसाधनत्वात् भोगान्यथानुपपत्त्या भोगकालीनज्ञाने एव । तदा च नोक्ततत्त्वज्ञानम् ।
यस्मिन् सत्तादात्म्यानुरागेणापि न सदन्यानां तेषां भानसंभवः । किन्तु तत्त्वज्ञानाधीनसंस्कारमात्रम् । जीवन्मुक्त्यनभ्युपगमे
तु, विदेहताकाले चरमतत्त्वसाक्षात्कारे अज्ञानतत्प्रयुक्तदेहादिसकलदृश्योच्छेदरूपे कस्यापि दृश्यस्य कथमपि न
भानसंभव इति, 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अज्ञानतत्कार्यं च ज्ञात' इत्यनाहार्यसमूहालम्बनस्य कथमप्यसंभवात् । आहार्यन्त्व-
विरोधीति न तत्साधारण्यानुरोधेनोक्तगुरुधर्मस्याज्ञाननिवर्तकतावच्छेदवत्वसिद्धिरिति सन्दर्भः । ज्ञानस्य तु प्रथमो-
त्पन्नतत्त्वज्ञानस्य तु । मनःपरिणामः तत्त्वज्ञानरूपो व्यावहारिकपदार्थज्ञानरूपो वा । तन्नाशस्तु तत्तदुत्तरमनःपरि-
णामरूप एव । एवं चरमतत्त्वज्ञाननाशस्तदुपलक्षित आत्मैव । उक्ताज्ञानातिरिक्त्वाविनाशित्वयोः स्वीकारे विदेह-
ताकालेऽपि नाशरूपदृश्यसत्त्वापत्तिरत उत्तरोत्तरविनाशिभावरूपत्वं, चरमनाशस्य तु नित्यात्मस्वरूपत्वं च स्वीकृतम् ।
तदस्वीकारे जीवन्मुक्त्यस्वीकारे । तज्ज्ञाननाशकाले तज्ज्ञानस्य विशेषणत्वोपाधित्वयोरसंभवात् ज्ञानोपलक्षित
इत्युक्तम् । पूर्वतत्कालावच्छेदेन तज्ज्ञानत्वे सति, तदुत्तरकालोपहित इति तदर्थः । तेनात्मव्यावृत्तिः । आत्मा शुद्धात्मा ।
वृत्तिज्ञानविषयकसाक्षिणः वृत्तिरूपं यत् ज्ञानं तद्विषयकस्य साक्षिणः वृत्त्युपहितचैतन्यरूपात्मनः । वेदान्तजोक्तवृत्त्या
खोत्पत्तिकाले मूलाज्ञाननिवृत्ते भग्नावरणकोक्तात्मन उक्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितत्वात् तेनोक्तवृत्तेः प्रकाशनादिति भावः । भ्रम-
त्वात् वृत्तिरूपमिथ्याविषयकत्वेनोक्तभ्रमान्तर्गतत्वात् । उक्तभ्रमनाशत्वं ज्ञानोत्तरभोगसाधनाज्ञानतत्प्रयुक्तभ्रमसा-
मान्यतद्विषयदृश्यसामान्यनाशत्वम् । वृत्तिज्ञानस्यासङ्गतमिति । उक्तवृत्तिरूपज्ञानकाले तद्विषयोक्तसाक्षिरूपभ्रमसत्त्वेन
तन्नाशसंभवादिति भावः । भ्रमपदस्य तत्प्रयुक्तभ्रमे इत्यादिः । स्वपदं न भ्रमपरं, तदितरविषयकत्वस्य भ्रमेऽव्यावर्तक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संभवत्येव । न चैवं—ज्ञानोत्तरमनःपरिणामस्याप्युत्पत्तिर्न स्यात्, अदृष्टनाशस्य ज्ञानस्वरूपस्य जातत्वादिति—वाच्यम्; तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य इति श्रुतेः ‘भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यत’ इति न्यायाच्च भुज्यमानादृष्टान्यदृष्टानामेव नाशत्वस्य ज्ञाने स्वीकारेणादृष्टाधीनानां मनःपरिणामानां देहादिरूपाणां ज्ञानोत्तरमुत्पत्तिसंभवात्, ज्ञानरूपापन्नस्य मनसो ज्ञानरूपनाशासंभवेन मनसोऽपि ज्ञानोत्तरं संत्वेन तत्परिणामसंभवात् । तथा च तादृशदृश्यविषयकज्ञानध्वंसत्वस्य ज्ञाने स्वीकारेण तत्त्वज्ञानस्य नोक्त-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वात्, अत आह—**स्वपदमिति । ज्ञानपरमिति ।** उक्तवृत्तिरूपज्ञानपरमित्यर्थः । ननु स्वपूर्वकालीनस्वविषयकभ्रमनाशत्वं स्वस्यापि संभवति इत्यत आह—**स्वविषयकभ्रमो हीति । स्वकालत्वव्यापक इति ।** स्वकाले स्वपूर्वभ्रमव्यक्तिनाशेऽपि स्वभ्रमान्तरं स्वापरोक्षत्वायोक्तवृत्तौ उक्तसाक्षिचैतन्यप्रतिविम्बस्य तत्तादात्म्यरूपविषयत्वस्य चावर्जनीयतया चोक्तसाक्षिरूपमावश्यकमिति भावः । तन्नाशः च निरुक्तभ्रमसामान्यान्तर्गतोक्तभ्रमनाशत्वम् । न संभवत्येवेति । तत्संभवे उक्तभ्रमासंभवेनोक्तव्यापकत्वभङ्गः स्यादिति भावः । नचैवमिति । एवं तत्त्वज्ञानस्योक्तसकलदृश्यनाशत्वे । न स्यादिति । तथाच ज्ञाननाशस्य तद्रूपत्वं कथमिति भावः । अदृष्टेति । कार्यसामान्यकारणोक्तदृश्यसामान्यान्तःपाल्लदृष्टेत्यर्थः । तस्य उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य पुंसः । तावदेव चिरं ब्रह्मभावे कालविलम्बः । यावत्कालं भोगैकनाश्यप्रारब्धकर्मक्षयरूपविमोक्षाधीनः प्रारब्धकर्मारब्धशरीरपातो न भवति । अथ तादृशशरीरपातोत्तरम् । संपत्स्ये ब्रह्म प्राप्नोमि । एवंच तत्त्वज्ञानोत्तरमपि भोगः तज्जनकादृष्टादिकं चास्तीति लभ्यते । एतदर्थकं सूत्रमाह—**भोगेन त्विति । इतरे प्रारब्धकर्मजन्ये पुण्यपापे । भोगेन विनाश्य संपद्यते** ब्रह्मभावं प्राप्नोतीति । न्यायात् सूत्रादित्यर्थः । अतएव—“भिद्यते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे” इति, “नाभुक्तं क्षीयते कर्म” इति श्रुतिद्वयेनाविरोधाय तत्त्वज्ञानस्य संचितक्रियमाणकर्मनाशकत्वं, प्रारब्धकर्मानाशकत्वं च बोध्यते । नच—वैपरीत्येनाप्यविरोधः कुतो नेति—वाच्यम्, तत्त्वज्ञानकाल एव प्रारब्धकर्मनाशे तद्देहपातापत्त्या ब्रह्मसाक्षात्कारवतः उपदेष्टुरभावेन संप्रदायोच्छेदापत्तेः, “तस्य तावदेव चिरं” इति श्रुतिविरोधापत्तेश्च । अतएव जीवन्मुक्तिस्वीकारः । “आचार्यवान् पुरुषो वेद” इति श्रुतिसङ्गतिश्च । संचितक्रियमाणयोरनाशे तद्भोगार्थं पुनर्जन्मपरंपरापत्त्या अविमोक्षप्रसङ्गात् “न स पुनरावर्तत” इति श्रुतिविरोधापत्तेः, मोक्षस्यापुनर्भवपदार्थत्वानुपपत्तेश्च तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतिविरोधापत्तेश्च । ननु—अकर्त्रात्मबोधरूपतत्त्वज्ञानस्य कर्मनाशसामर्थ्यं सति ततः संचितादिवत् प्रारब्धकर्मण्यपि कथं नाशो नेति—चेत्; अत्राहुर्भाष्यकाराः—यथा कुलालचक्रे प्रवर्तितो वेगो नान्तरान्ते प्रतिबध्यते, एवं प्रारब्धकर्मणा एतद्देहानवच्छिन्नभोगार्थं प्रवर्तिते सुकृतदुष्कृते न भोगं विना क्षीयते इति जीवन्मुक्तप्रसिद्धिः । तत्र “तावदेव चिरमिति” श्रुतिसिद्धं तत्त्वज्ञानोत्तरकैवल्यप्राप्तौ देहपातावधिरूपं लिङ्गं श्रुतिस्मृतिषु स्थितप्रज्ञलक्षणोक्तिः तत्त्वविदां याज्ञवल्क्यादीनां देहधारणोक्तिश्च प्रमाणम् । यच्च रामानन्दीये उक्तं—“प्रारब्धकर्मणः तत्त्वज्ञानं प्रति प्रयोजकत्वात् उपजीवकत्वेन प्रावलयमिति” तन्न; ज्ञानेन प्रारब्धकर्मनाशे युक्तिपरं; अन्तःकरणादेरप्येवं नाशानुपपत्तेः, किंतु प्रारब्धकर्मणां ज्ञानेन सर्वांशाविद्यानिवृत्तौ प्रतिबन्धकत्वे युक्तिपरम् । यदपि—प्रतिबन्धकवशात् विक्षेपकाविद्यांशस्थूलरूपेणैव निवर्तयति । तद्वेशरूपः संस्कारस्त्वनुवर्तत एव । एवंचाकर्त्रात्मकबोधरूपं तत्त्वज्ञानं कर्त्रात्मबोधरूपमिथ्याज्ञाननिवृत्तिद्वारैव कर्माच्छेदकं वाच्यं । नचात्यन्तिकी तन्निवृत्तिरस्ति; व्यवहारकाले तत्त्वज्ञानाभावेन संस्कारवशेन द्विचन्द्रज्ञानवत्तदनुवृत्तेरानुभाविक्तत्वात्—इति । तदपि न प्रारब्धकर्मनाशे युक्तिपरम्; संचितकर्मादीनामप्येवमनाशापत्तेः, किंतु उक्तरीत्या जीवन्मुक्तव्यवहारनिर्वाहमात्रपरमिति विभावनीयम् । भुज्यमानेति । ज्ञानोत्तरभोगसाधनेत्यर्थः । अदृष्टाधीनानामिति । भुज्यमानेत्यादिः । मनःपरिणामानां ज्ञानेच्छाप्रयत्नसुखदुःखादिरूपाणाम् । देहादिरूपाणां तु ज्ञानोत्तरमुत्पत्तिः । शरीरस्य प्रतिक्षणमवयवापचयोपचयाभ्यामुत्पादविनाशशालित्वाभ्युपगमात् । देहेन्द्रियादिसंघातेन रूप्यमाणानां प्रयोज्यमानानामिति मनःपरिणामानामित्यस्यैव विशेषणं वा । ननु—उक्तदृश्यान्तःपाति मनसोऽपि ज्ञानकाले नाशात्कथं तत्परिणामसंभव इत्यत आह—**ज्ञानरूपापन्नस्येति ।** ज्ञानरूपपरिणामोपादानतया तत्तादात्म्यापन्नस्येत्यर्थः । तत्त्वज्ञानस्योक्तदृश्यनाशत्वमात्रस्वीकारे ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ‘अज्ञानतत्कार्यं च ज्ञाते’ इति सत्तादात्म्याविषयकमतीतज्ञानविषयत्वेन तत्कालनष्टज्ञानतत्कार्यविषयकं समूहालम्बनं स्यादेवेति तत्त्वज्ञानस्याज्ञानाद्यविषयकत्वरूपाज्ञानादिनिवर्तकावच्छेदकत्वं दुर्घटमतस्तस्य तादृशदृश्यरूपमिथ्याविषयकज्ञानरूपभ्रमनाशत्वमपि स्वीकार्यमिति । अज्ञानतत्प्रयुक्तभ्रमतद्विषयेत्यत्र भ्रमपदप्रयोजनं ध्वनयन् प्रकृतमुपसंहरति—**तथाचेति । ज्ञानस्योक्तसमूहालम्बनरूपत्वमिति ।** स्वस्य स्वध्वंसत्वापत्तेरिति भावः । न केवलमिदं प्रकृताभिमतसिद्ध्यनुरोधिनी

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

समूहालम्बनरूपत्वम् । अतएव 'इयं शुक्ति'रिति ज्ञानस्येदं रजतमित्याकारभ्रमरूपत्वासंभवः; तादृशज्ञानस्योक्तभ्रम-
नाशरूपत्वात् । नच—ज्ञानोत्तरभोगसाधनभ्रमरूपत्वं ज्ञानस्य मास्तु, उक्तभोगसाधनदृश्यभ्रमरूपता तु स्यादिति—
वाच्यम्; तत्त्वज्ञानस्य भोगात्मकबन्धासाधनत्वात्, 'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय
विषयासक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्' इति श्रुत्या मोक्षसाधनमनःपरिणामस्य बन्धासाधनत्वोक्तेः । अथ—'विषयासक्त'-
मित्यनेन सत्यत्वेन विषयज्ञानयुक्तस्योक्तत्वात्, तत्त्वज्ञानस्य विषया मिथ्येति ज्ञानात्मकत्वं संभवति—इति
चेन्न; मोक्षे निर्विषयमित्यनेन मोक्षसाधनरूपेण परिणतमनसोऽनात्मविषयकत्वनिषेधात् । तदेतत्पक्षद्वयम-
भिप्रेत्य विवरणे उक्तम्—'द्वैताद्वैतदर्शनयोर्न यौगपद्यम्, किंतु कदाचिदद्वैतदर्शनं कदाचित् द्वैतदर्शन'मिति ।
तत्त्वदीपनेऽपि तत्र व्याख्यातम्—'सन्तमसबहुलालोकयोरिव द्वैताद्वैतदर्शनयोर्विरोध'इति ॥ यद्वा—अज्ञानत-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

कल्पना, किन्तु अन्यत्र दृष्टलादावश्यकृत्याह—अतएवेति । शुक्तिरितिज्ञानस्य । तथाच यद्विषयकं यज्ज्ञानं, तत्
तद्विषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तभ्रमतद्विषयदृश्यध्वंसरूपमिति सामान्यव्याप्तिरिति भावः । भ्रमरूपत्वेति । स्वात्मनाशप्रतियोगि-
भ्रमरूपत्वेत्यर्थः । स्वं ज्ञानम् । उक्तेति । ज्ञानोत्तरभोगसाधनदेहादिदृश्यभ्रमरूपतेत्यर्थः । इदंच ज्ञानं 'अहं ब्रह्मास्मि
"इदं च देहादिकं ज्ञायते" इत्याकारकं बोध्यम् । स्यादिति । ज्ञानस्य तद्ध्वंसत्वानुपगमादित्यर्थः । भोगात्मकबन्धेति ।
वैषयिकसुखदुःखान्तरसाक्षात्कारो भोगः । स च भोक्तृत्वाभिमानाभावेऽपि बन्धरूपः । तदाभिमानस्यापि कदाचिज्जी-
वन्मुक्तिसंभवात् । साधनत्वादिति । तथाच देहादिदृश्यपदार्थज्ञानं तदधीनोक्तभागात्मकबन्धसाधनमिति तत्त्वज्ञानस्य
देहादिविषयकत्वे उक्तबन्धसाधनत्वापत्तिरिति भावः । ननु उक्तबन्धसाधनत्वं तत्त्वज्ञानस्येष्टमेव, तत्त्वज्ञानान्यदेहादि-
ज्ञानेन प्रारब्धकर्माधीनोक्तभोगात्मकबन्धस्यावश्यंभावित्वात् इत्याशङ्क्य तत्र श्रुतिविरोधमाह—मनोहीति ।
मनः वृत्तिरूपेण परिणतमित्यर्थः । विषयासक्तं ब्रह्मान्यविषयकम् । निर्विषयं ब्रह्मान्यविषयकम् । परिणतं मन-
स्तत्परिणामरूपम् । यद्वा—विषयासक्तं ब्रह्मान्यविषयकवृत्तिरूपज्ञानयुक्तं, तज्जनकम् । निर्विषयं ब्रह्मान्या-
विषयकज्ञानयुक्तं तज्जनकम् । मनःपदं यथाश्रुतम् । मनसो बन्धमोक्षकारणत्वमुक्तज्ञानद्वारा । मोक्षसाधनमनःपरिणामस्य
ब्रह्मात्रविषयकस्य बन्धसाधनमनःपरिणामरूपस्य ब्रह्मान्यविषयकस्य च बन्धमोक्षसाधनत्वोक्तेरिति । ब्रह्मान्यविषयकज्ञान-
स्यैव बन्धसाधनत्वोक्तेः । ब्रह्मात्रज्ञानस्यैव तद्विरुद्धमोक्षसाधनत्वोक्तेश्च । अतएव द्विविधत्वसङ्गतिः मिथो विरुद्धधर्मयोरेव
विभाजकत्वादिति भावः । सत्यत्वेनेति । विषयज्ञानेत्यत्रान्वयः । मिथ्यात्वेन तज्ज्ञानस्य बन्धाजनकत्वात् । विषया
मिथ्या इतीति । निर्विषयमित्यस्य सत्यत्वेन ब्रह्मान्याविषयकत्वे सति ब्रह्मविषयकमित्यर्थकत्वात्, विषयासक्त-
मित्यत्र सत्यत्वेनेति शेषः सत्यत्वेनागृहीतविषयज्ञानस्यापि मिथ्यात्वेन गृहीतविषयज्ञानस्यापि च इन्द्रजालस्थले सुखदुः-
खानुभवकलादित्यतो निर्विषयमित्यनेनात्मान्यविषयकत्वसामान्याभावो बोध्यते, इत्याशयेन समाधत्ते—मोक्षे
निर्विषयमित्यनेनेति । अनात्मेति । विषयविषयिणोरिति भाष्ये अनात्मन्येव विषयपदप्रयोगात् इति भावः ।
उत्तरीत्या श्रुतिव्याख्याने महत्संमतिं दर्शयति—तदेतत्पक्षद्वयमिति । द्वैतज्ञाने अद्वैतत्वेन ब्रह्मनिश्चयादि प्रतिबन्ध-
कमिति पक्षः; तत्त्वज्ञानस्य ज्ञानोत्तरभोगसाधनसकलदृश्यध्वंसस्वरूपत्वमिति पक्षश्चेति तत्त्वज्ञानस्यात्मान्याविषयकत्वसा-
धकपक्षद्वयमित्यर्थः । यौगपद्यम् एकक्षणे एकत्र उत्पत्तिः । कदाचित् साधनचतुष्टयसंपन्नस्य श्रवणादिनिदिध्यासन-
परिपाककल्मषनिवृत्त्यादिघटितसामग्रीदशायाम् । अद्वैतदर्शनं ब्रह्मात्ममात्रसाक्षात्कारः । कदाचित् उक्तसामग्र्य-
भावदशायाम् । द्वैतदर्शनं ब्रह्मान्यपदार्थज्ञानम् । उक्तसामग्रीदशायामपि द्वैतदर्शनसामग्र्या द्वैतोत्थितिघटितायाः
सत्त्वात्कथं न यौगपद्यमत आह—तत्त्वदीपनेऽपीति । विरोध इति । उक्ताद्वैतदर्शनसामग्री द्वैताभावविशिष्टब्रह्म-
निश्चयादिघटिता । सा च ब्रह्मणि द्वैतविशिष्टबुद्धिविरोधिनी । ब्रह्मासंबद्धद्वैतबुद्धिस्तु नास्त्येव, ब्रह्मोपादानकस्यैव तस्य
श्रवणात् । तत्रापि च द्वैताभावविशिष्टब्रह्मनिश्चयोत्तरो ब्रह्मात्रनिश्चयो निर्विकल्पकोऽपि विरोधी । तद्विशिष्टबुद्धौ तदभावा-
वच्छेदकत्वादिना गृहीतधर्मवद्धर्मिण इव, तदभाववत्त्वेन गृहीतस्य धर्मान्तराविशेषितधर्मिणोऽपि निश्चयस्य विरोधिल-
स्यौचित्येनोपगमादिति भावः । एतावता 'अहं ब्रह्मास्मि अज्ञानतत्कार्यं च ज्ञाते' इति समूहालम्बनासिद्धिरुपपादिता । एवं
च तत्संग्राहकस्यापि वृत्त्यन्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयताकज्ञानत्वस्य नाज्ञानादिनिवर्तकतावच्छेदकत्वम्; गौरवात् । अतो
मूले अज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानस्येत्यनेनोपहितान्याविषयकज्ञानस्योक्तनिवर्तकत्वमुक्त्वा वृत्त्युपहितात्मज्ञानस्योपहितान्यवृत्ति-
विषयकत्वे अज्ञानादिनिवर्तकतानुपपत्तिरूपपूर्वपक्षः सङ्गच्छते । अप्रेचोक्तात्मज्ञानस्य वृत्त्यविषयकत्वव्यवस्थापनेन सिद्धा-
न्तोऽपीति पर्यवसितम् । ननु—यद्युत्तरीत्या द्वैताद्वैतदर्शनयोर्विरोधं स्ववासनावशात् अप्रतिपद्यमानः कश्चित् 'अहं
अद्वै. सि. ३६

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्कार्याविषयकज्ञानस्येत्यस्य आत्मांशे किञ्चिदविषयकज्ञानस्येत्यर्थः, इतरविषयत्वानिरूपितात्मविषयताशालिज्ञानस्येत्यर्थः । यथाहि 'इदं रजत'मित्यादिभ्रममूलाज्ञाने शुक्तित्वांशे जातित्वादिप्रकारक'मित्यं जातिमती'ति ज्ञानं न निवर्तकम्, अतः इतरप्रकारत्वनिरूपितशुक्तिविषयतानिरूपितविषयताशालिज्ञानत्वेन तन्निवर्तकता; तथा अज्ञानादिविशिष्टात्मज्ञानस्य ब्रह्माज्ञानतत्कार्यानिवर्तकत्वेनोक्तविषयताकज्ञानत्वेन तन्निवर्तकत्वम्, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'त्यादिश्रुत्या तु 'एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्यादिकेवलार्थकैकपदयुक्तश्रुत्यैकवाक्यतानुरोधेन केवलात्मज्ञानस्यैव अज्ञाननिवर्तकत्वं बोध्यते, नत्वात्मान्याविषयकस्य, न्यायसिद्धार्थस्य तच्छ्रुत्यानुवादात् । अतएवोक्तं ध्यानदीपिकायां विचारण्यस्वामिभिः—'न बुद्धिं मर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता । उपमृद्वाति चेत् बुद्धिं ध्यातासौ तत्त्व-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ब्रह्मास्मि अज्ञानादिकं च ज्ञातम्, इति द्वैताद्वैतसमूहालम्बनासिद्धिं न मन्यते, तदोक्तसमूहालम्बनसंग्रहानुरोधेन वृत्त्यन्यविषयत्वानिरूपितात्मविषयताशालिज्ञानत्वेन गुरुणापि अज्ञानादिनिवर्तकता स्वीकार्येति वृत्त्युपहितात्मज्ञानस्य वृत्तिविषयकत्वेऽपि अज्ञानादिनिवर्तकतोपपत्तेरज्ञानतत्कार्याविषयत्वमुक्तसमूहालम्बनासंग्राहकमपि निवेश्य तस्य तन्निवर्तकत्वापादनपूर्वपक्षो न सङ्गच्छत—इत्याशङ्क्याज्ञानतत्कार्याविषयकेत्यस्योक्तसमूहालम्बनसंग्राहकं वृत्त्यन्यांशनिवेशेन तत्संग्राहकोक्तरूपात् लघुरुपमर्थमाह—यद्वेति । आत्मांशे किञ्चिदविषयकेति । आत्मनिष्ठविषयतानिरूपितकिञ्चिन्निष्ठविषयत्वानिरूपकेति, किञ्चिन्निष्ठविषयत्वानिरूपितात्मविषयत्वानिरूपकेति वार्थः । तत्र च विनिगमनाविरहः; गुरुधर्मावच्छिन्नाभावनिवेशापत्तिः, निर्विषयकमेव किञ्चित् ज्ञानं तत्त्वज्ञानं नामेति भ्रमश्च स्यात् अतस्तदपि व्याचष्टे—इतरविषयत्वेति । इतरनिष्ठविषयत्वं नार्थः; वृत्तीतरत्वानिवेशे पूर्वपक्षासङ्गतेः, आत्मन्यत्वनिवेशे गौरवापत्तेः; किंतु आत्मविषयतारूपस्वेतरविषयत्वं, तत्र स्वस्य स्वनिरूपितत्वं नास्तीति स्वेतरां ज्ञानान्तरीयां तदीयां वा स्वातन्त्र्येण भासमानां ज्ञाननिष्ठां विषयतामुपादाय वृत्तेः स्वाविषयत्वे तत्त्वज्ञानीयात्मविषयतायां विषयतानिरूपितत्वसामान्याभाववत्ता निर्वाह्येति सूचनाय स्वेतरत्वं विषयत्वे स्वरूपकीर्तनमात्रं, तेन न पुनः स्वान्यत्वनिवेशप्रयुक्तगौरवापत्तिः; नाप्यननुगमः । आत्मविषयताशालिज्ञानस्येति । तेन न निर्विषयकतत्त्वज्ञानभ्रमः । अत्र निरूपितत्वरूपवृत्त्यनियामकसंबन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकविषयत्वसामान्याभावविशिष्टात्मविषयताशालिज्ञानस्येत्यर्थे निरूपितत्वीयसंबन्धानिवेशादपि लाघवं बोध्यम् । अस्मिन्नर्थे सामान्यमुखव्याप्तिमूलानुमानं प्रमाणमित्याह—यथाहीति । अज्ञाने स्वरूपतः शुक्तित्वप्रकारके शुक्तिं न जानामीत्याकारके । न निवर्तकम् । किंतु 'इयं शुक्तिरिति' स्वरूपतः शुक्तित्वप्रकारकमेव । निवर्तकता । न तु निरवच्छिन्नशुक्तिविषयतानिरूपितविषयितावहिर्भूतविषयताशून्यत्वेन, तदज्ञानाद्यविषयकत्वादिना; 'इयं शुक्तिरयं घटो जातिमांश्च' 'शुक्त्यज्ञानादिकं च ज्ञातमिति' समूहालम्बनानामुक्ताज्ञानानिवर्तकत्वापत्तेः । उक्तविषयतेति । विषयत्वानिरूपितात्मविषयतेत्यर्थः । तन्निवर्तकत्वम् । ननु खोपहितान्याविषयकात्मज्ञानत्वेन, 'अहं ब्रह्म अज्ञानादिकं च ज्ञातमिति' समूहालम्बनस्य तदनिवर्तकतापत्तेः । तथाच यदज्ञानं स्वरूपतो येन रूपान्तरेण च यद्विषयकं, तथा तद्विषयकं ज्ञानमेव स्वातन्त्र्येण किञ्चिद्विषयमपि तदज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरज्ञानतत्कार्यविषयकेत्यस्यात्मांश इति पूरणेनोक्तव्याख्यानमादृतं, ब्रह्मज्ञानाज्ञाने च खोपहितविषयके अपि उपाधेर्विषयत्वाविषयत्वाभ्यां पूर्वपक्षसिद्धान्तयोः विरोधाविरोधौ भजत इति भावः । ननु 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इति श्रुत्या एवकारेणात्मान्याविषयकज्ञानस्यैव अज्ञानादिमृत्युनिवर्तकत्वमुक्तमिति तद्विरोध इत्यत आह—तमेवेति । एकधैत्यस्यैकेन प्रकारेणेत्यर्थकत्वे तत्त्वज्ञानस्य सप्रकारकत्वापत्तेः—केवलार्थकैकपदेति । धाप्रत्ययस्तु स्वार्थः । केवलं निर्विशेषितमेव ब्रह्म मोक्षाय ज्ञातव्यमित्यर्थः । एकवाक्यत्वानुरोधेनेति । तं शुद्धं धर्मिणमात्मानम् । यत्तदोः शुद्धधर्मिबोधकत्वात् । अतएव यद्विषयकत्वेनेति मणिं यादृशविशिष्टविषयकत्वेनेति व्याचक्रुः तार्किकशिरोमणयः । एवकारेण तदंशे प्रकारस्य व्यावृत्तिः । ननु स्वातन्त्र्येण पदार्थान्तरभानस्यापि । तदाह—नत्विति । ननु एवकारार्थसंकोचानुरोधात् एकधैवेत्यस्यैकमेवेत्यर्थोऽस्तु, तथाच श्रुतिद्वयेनाप्यात्मान्याविषयकमेव लभ्यत इति किं न स्यात् अत आह—न्यायसिद्धार्थस्येति । तथाहीत्युक्तरीत्यानुमानसिद्धस्येत्यर्थः । तच्छ्रुत्यानुवादादिति । अन्यथा श्रुतेरपूर्वार्थकतापत्त्या गौरवोक्तेः, न्यायविरुद्धार्थबोधनासंभवाच्च । उक्तश्रुत्योरुक्तन्यायसिद्धोक्तार्थानुवादकत्वे माधवाचार्याणां संमतिमाह—अतएवोक्तमिति । तत्त्वज्ञानस्यात्मांशे इतरविषयकत्वेनैव निवर्तकत्वादेवेत्यर्थः । घटतत्त्वस्य वेदिता घटत्वप्रकारकप्रमावान् बुद्धिं स्वीयां घटत्वप्रकारकप्रमाम् घटत्वप्रकारकाज्ञाननिवर्तनाय मर्दयन् घटान्यविषयकज्ञानासहितत्वं संपादयन् न दृष्टः । स चेत्तां बुद्धिमुपमृद्वाति तथा संपादयति, तर्हि असौ घटस्य

भ्युपगमात् । तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः—‘शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वतरोपाधिनिवृत्ति-

सिद्धिव्याख्या ।

संमत्या द्रढयति—तदुक्तमित्यादिना । ननु मिथ्याभूतानां तेषां साक्षात्कारेण निवृत्तावपि तस्य केन निवृत्तिरित्याशङ्क्याह—स्वस्वतरेति । अनेन चरमवृत्त्युदयकाले उपाध्यन्तराणां संभवाद्भामत्यां वृत्ते-
रेवोपाधित्ववर्णनं—वृत्तेरपि ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वसूचनद्वारा शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वाभावसूचना-
र्थम् । एवंच वेदान्तजन्यवृत्तिविशिष्टत्वरूपस्य तादृशवृत्त्युपहितत्वरूपस्य वा वृत्तिविषयत्वस्यैवात्र हेतुत्वेन
विवक्षणात् शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि विवक्षितहेत्वविषयत्वेन तत्र व्यभिचारानवकाशः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वित् ॥ इति बुद्धेर्ज्ञानस्यात्मान्याविषयकत्वरूपोपमर्दनाय यतमानत्वं ध्यातुरुचितम्, ध्यानस्य ध्येयान्यविषयकज्ञा-
नासहितज्ञानधारारूपत्वेनोक्तोपमर्दनं विना तदनिष्पत्तेः, तत्त्वज्ञाने तु उक्तोपमर्दनस्य नापेक्षा, घटादितत्त्वज्ञाने घटा-
दिभिन्नविषयकत्वनिरासादर्शनादिति तदर्थः । शुद्धं ब्रह्मेतीति । इतिशब्दोऽत्र वृत्तिविषयसमाप्तौ । शुद्धं ब्रह्मेति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ध्याता, ननु तत्त्वविदिति पदार्थः । उक्तोपमर्दको ध्याता, न तत्त्वविदिति ध्यानत्वज्ञानयोर्विशेषं विना नोपपद्यते
इत्यतस्तदुपपादनायाह—बुद्धेरिति । ज्ञानस्य ब्रह्मात्मज्ञानस्य । ज्ञानासहितेति । एकक्षणावच्छिन्नसामानाधि-
करण्यसंबन्धेन ज्ञानाभावविशिष्टेत्यर्थः । स्वविषयान्यविषयकज्ञानान्तरविशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ध्यानपदार्थता नास्ति । अत-
एव ध्येयान्यविषयकज्ञानेति नोक्तम् । किं पुनः, स्वविषयान्यविषयकज्ञानस्येति; स्वात्मकतादृशज्ञानविशिष्टस्यापि
तस्य तदभावविशिष्टत्वाभावेन ध्यानपदार्थत्वव्यावृत्तिः । उक्तोपमर्दनम् आत्मान्याविषयकत्वं विना तदनिष्पत्तेः
ध्यानानिष्पत्तेः तत्त्वज्ञाने ‘अहंब्रह्मास्मि’ इत्यात्मतत्त्वज्ञाने उक्तोपमर्दनस्य आत्मान्याविषयकत्वरूपस्य । अज्ञा-
नादिनिवर्तकत्वे नापेक्षा नावच्छेदकत्वेन तद्व्यावृत्त्यकत्वम् । ‘अहं ब्रह्मास्मि अज्ञानादिकं च ज्ञातमि’ति ज्ञानस्यापि
तन्निवर्तकत्वौचित्यात् । अन्यत्रोक्तापेक्षाया अदर्शनात् । तदाह—घटादितत्त्वज्ञाने इति । घटाद्यज्ञानादिनिवर्तके
इति शेषः । भिन्नविषयकत्वनिरासस्य तदवच्छेदकत्वाभावस्य अदर्शनात् इत्यर्थः । ‘अयं घटः अयं च पट’ इति
समूहालम्बनस्यापि घटाद्यज्ञानादिनिवर्तकत्वदर्शनादिति भावः । एवं चोक्तसमूहालम्बनासिद्धौ उपहितान्याविषयकत्वेन,
तत्सिद्धौ आत्मांशे किञ्चिदविषयकत्वेन, तत्त्वज्ञानस्याज्ञानादिनिवर्तकत्वं, ननु किञ्चिदंशे वृत्त्यन्यत्वघटितेन निरुक्तरूपेण;
गौरवात्, अनतिप्रयोजनत्वाच्च, वक्ष्यमाणसिद्धान्तरीत्या तत्त्वज्ञानसंग्रहासंभवादिति । तत्त्वज्ञानस्य शुद्धविषयकत्वासंभवेन
स्वोपहितविषयकत्वे नीलत्वेनाज्ञाते घटे ‘नीलो घटो ज्ञातो द्रव्यं चेति’ प्रतीतेरनभ्युपगमेनोपाधेरपि नीलत्वस्य ज्ञातल-
प्रतीत्यभ्युपगमेनोपाधेरपि उपधेयान्वितान्वितत्वमित्यभिमानेन स्वोपहितात्मज्ञानस्य स्वविषयकत्वेनाज्ञानादिनिवर्तकत्वानु-
पपत्तिः पूर्वपक्षिता । तत्र नीलत्वेनाज्ञाते घटे उक्तप्रतीतेरनभ्युपगमे नीलत्वं ज्ञातत्वांशे विशेषणं, द्रव्यत्वांशे उपाधिः;
तत्र द्रव्यत्वावगाहितैव वा नेत्यभ्युपेयते । तत्रोक्तप्रतीतेरनभ्युपगमे तु, नीलत्वे द्रव्यत्ववत् ज्ञातत्वं न भासत इति
विशेष्यान्वितान्वितस्यैव व्यावर्तकस्योपाधिलं स्वीकार्यम् । अन्यथा विशेष्यान्वितान्वयिव्यावर्तकरूपविशेषणादुपाधेः
वैलक्षण्यानुपपत्तेरित्याशयेन स्वोपहितात्मज्ञानस्य स्वविषयकत्वाभिमानमुक्तपूर्वपक्षसमाधानाय निराकरोति मूले—चेन्नेति ।
वृत्तेः वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेः । शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवेति । शब्दानुपस्थितस्याभाननियमादिति
भावः । उपधायकत्वादिति । स्वान्योपहितव्यावर्तकत्वे सति स्वोपहितान्वितस्वविषयत्वान्वितत्वे सति स्वोपधेये
स्वविषयत्वान्वयकाले वर्तमानत्वेनोपाधित्वादित्यर्थः । विशेषणत्वविलक्षणोपाधित्वाभ्युपगमे महत्संमतिमाह—तदुक्त-
मित्यादिना प्रवेशेन इत्यन्तेन । शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिरित्यत्रेति पदविषयीकुर्वाणपदयोरन्यतरत
व्यर्थः; तदर्थस्येत्याकारकत्वस्य तदन्यतरेणापि बोधनसंभवात् । किञ्च अर्थोऽप्यसङ्गतः, शुद्धत्वे वृत्तिविषयत्वानङ्गीकारादि-
त्यत आह टीकायाम्—इतिशब्द इति । समाप्तिसामान्यवाचीति शेषः । वृत्तिविषयसमाप्तौ । समभिव्याहृत-
पदार्थविषयकवृत्तेः समभिव्याहृतपदार्थान्यविषयकत्वायोगादिति भावः । ननु वृत्तेः समभिव्याहृतपदार्थशुद्धब्रह्मविषय-
कत्वासंभवः, तदन्यवृत्त्युपहितब्रह्मविषयकत्वात्, तदभावासंभवश्च इत्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—शुद्धं ब्रह्मेतीति ।
अत्र इतिपदार्थो वृत्त्युपहितं रूपं; तत्र निपातार्थे शुद्धब्रह्मपदार्थस्य तादात्म्यसंबन्धेन विशेषणत्वमित्यभिप्रायोपगमे तथा-
चेत्यादिवाक्यार्थे एवकारोऽप्याहरणीयः । यद्वा—‘शुद्धं’ ‘ब्रह्मे’ति प्रतीकं पदद्वयरूपं टीकायां स्वीयेतिपदेन धृत्वा, तदर्थ-

हेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात् । एवंच नानुपहितस्य विषयता; वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुद्धब्रह्मणो वृत्त्युपहितरूपमित्यर्थः । तथाच वृत्त्युपहितं ब्रह्मैव विषयीकुर्वाणेत्यर्थः । अथवा इतिशब्दो वृत्त्युपहि-
तार्थकः; तथाच शुद्धशब्देनैव वृत्त्युपहितान्याविषयकत्वलाभः । स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिः स्वः स्वेतरश्च य उपाधिः
दृश्यं तदुच्छेदव्याप्येत्यर्थः । तादृशव्याप्यत्वं च पूर्वमेव विवेचितम् । उपाधित्वेति । स्वनिवर्त्याज्ञानप्रयुक्तत्वेत्यर्थः ।
'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये' इति कोशे आत्मनि आत्मीये च त्रिष्विति योजनाया वैयाकरणोक्तत्वात् स्वस्या

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

माह—शुद्धब्रह्मणो वृत्त्युपहितं रूपमित्यर्थ इति । अथवा—'शुद्धं' 'ब्रह्मेति'मौलपदत्रयं स्वीयेतिपदं विनोपादाय-
रूपमित्यन्तेन पदद्वयं व्याख्याय, 'इति' पदमितिपदेनैव व्याख्यातम् । व्याख्येयपदार्थस्य इतिपदासहितेनाप्यर्थप-
देन बहुशः सामानाधिकरण्यदर्शनात् । तत्रेतिपदार्थसमाप्तिमेवकारेणान्तर्भाव्य वाक्यार्थमाह—तथाचेति एव
विषयीकुर्वाणेति । तादृशान्याविषयिणी इति तद्विषयिणीत्यर्थः । अथवेति । अत्र पक्षे, वृत्त्युपहितरूपेति
पदार्थो ब्रह्मपदार्थे विशेषणम् । वृत्त्युपहिते ब्रह्मणि शुद्धपदार्थः इत्यभिप्रेत्याह—तथाचेति । शुद्धशब्देनेति ।
शुद्धं केवलमितरासहितं वृत्त्युपहितं ब्रह्म विषयीकुर्वाणेति वाक्यार्थादिति भावः । स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिरित्यस्य
स्वं स्वं तत्तद्वृत्तिः । तस्यास्तदितरोपाधिमात्रनिवर्तकत्वार्थकत्वे, स्वनिवर्तकत्वलाभः; एवमुपाधिपरस्य विशेषणप्रसिद्धयर्थ-
कत्वे, उक्तवृत्तौ तदन्यस्योपाधिलासंभवेन तन्निवर्तकत्वस्याप्यलाभः; यदि अज्ञानादि दृश्यं कचित् किञ्चिदुपाधिर्भवतीत्यु-
च्यते, तदा 'सन् घट उत्पद्यते' इति व्यवहारे सतोप्युपाधिलातन्निवृत्तिप्रसङ्गः; एवमुपाधेः निवृत्तिः नाशः; तद्रूपा-
वृत्तिरित्यर्थे वृत्तेः स्वनाशलासंभवात् तदनुक्त्वा न्यूनता; 'उपाधेः निवृत्तिः नाशो यस्याः सकाशात्' इति विग्रहेणोपाधि-
नाशजनकत्वार्थकत्वे नाशरूपोपाधेः उच्छेदकालाभ इत्यतो व्याचष्टे स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिरिति । उपाधिः
दृश्यमिति । 'सन् घटः उत्पद्यते' इत्यत्र घटोपहितसत् एव भानात् । तस्य च मिथ्यात्वदुत्पत्तेरपि स्वीकारान्नि-
वृत्तिरिष्टा । शुद्धं सन्न काप्युपाधिरिति तद्विज्ञं दृश्यमेवोपाधिशब्दार्थ इति भावः । उच्छेदो यदि नाशः तदा मोक्षकाले
नाशरूपदृश्यस्वीकारप्रसङ्गः इत्यत आह—तादृशव्याप्यत्वं चेति । दृश्यसामान्योच्छेदव्याप्यत्वं चेत्यर्थः । पूर्वमेव
विवेचितमिति । साक्षात् परम्परया वा स्वतादात्म्यापन्नज्ञानसमानविषयकत्वस्वाश्रयकालपूर्वलोभयसंबन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगिताको दृश्यसामान्यभावो दृश्योच्छेदपदार्थः । तस्य व्यापकता विशेषणतासंबन्धेन उक्तवृत्तेर्व्याप्यता तादात्म्येन
कालिकेन वा संबन्धेनेति पूर्वमुक्तमित्यर्थः । अत्र स्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकत्वस्य प्रथमसंबन्धविधया निवेशो, ज्ञानो-
त्तरक्षणे ज्ञानसत्त्वप्रसङ्ग—इत्यतः साक्षादित्यादिसंबन्धो निवेशितः । यद्यपि प्रथमसंबन्धस्य न प्रकृते उपयोगः । उक्त-
द्वितीयसंबन्धावच्छिन्नाभावस्यैवोक्तवृत्तिव्यापकत्वात्; तथापि उक्तवक्ष्यमाणसामान्यमुखव्याप्तौ तदुपयोग इति बोध्यम् ।
स्वस्याः स्वनिवर्तकत्वं कथम् ? अत आह मूले—स्वस्या अपीति । उपाधित्वाविशेषादित्यत्रोपाधित्वं ब्रह्मान्वयि ।
स्वविषयलोपाधित्वं चेत्, तस्य स्वेतरदृश्योऽभावेनाविशेषादित्यस्यासङ्गतिः, अतो व्याचष्टे—उपाधित्वेतीति ।
स्वेति । यत् ज्ञानं यदज्ञाननिवर्तकं, तत् तदज्ञानप्रयुक्तसामान्यनिवर्तकमिति सामान्यव्याप्तेरिति भावः । अत्र ज्ञान-
निवर्तकत्वं, कालिकविशेषणता स्वसमानविषयकत्वोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वम्; अज्ञानप्रयुक्तनिवर्तकत्वं,
स्वाश्रयकालपूर्वत्वस्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकत्वोभयसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वं तद्व्याप्यत्वं तु ज्ञानसामा-
न्यस्यैव तद्वत्तावोधनायेति पूर्वोक्तं न विस्मरणीयमिति—विज्ञापयामः ।

ननु—“यौःस्वर्गनभसोः स्वो ज्ञात्यात्मनोः स्वं निजे धने” इति हेमचन्द्रात्, “स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ
त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने” इति मेदिनीकोशात्, “विभाषा जसि” इति प्रकरणे स्वमात्मीय इति वक्तव्ये “स्वमज्ञा-
तिधनाख्यायाम्” इति सूत्रकारीयशुरुनिर्देशात् तदनुरोधेन पूर्वान्वयाप्रतीतिमत्रिपदयुक्तात्, “स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं
त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने” इत्यमरसिंहकोशाच्च, दीक्षितमते आत्मवाचिनः स्वशब्दस्य पुंलिङ्गमात्रत्वात् । आत्मनि
वृत्तिरूपेऽर्थे स्वस्या इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽनुपपन्न इत्यत आह—स्वो ज्ञाताविति । आत्मन्यात्मीये चेति । स्वं
त्रिषु इति । पदद्वयं देहलीदीपन्यायेनोभयान्वयीति भावः । वैयाकरणोक्तत्वादिति । एवं हि शब्दरत्ने उक्तम्;
आत्मनीत्यस्य स्वो ज्ञाताविति पूर्वान्वये स्वो ज्ञातावात्मनिधने स्वोस्त्रीआत्मीयकेत्रिषु इति पाठेनैव सिद्धेः । त्रिःस्वग्रहणवैयर्थ्या-
पत्तेः 'बन्धूकबन्धूभवद्वेतदस्या मुखेन्दुना तेन सहोज्जिहाना । राजस्त्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह संध्यामपरोष्ठरेखा ॥'
इति श्रीहर्षश्लोके आत्मानमित्यर्थकमित्यस्य बन्धूकबन्धूभवत् इति विशेषणे चामरकोशे आत्मनीत्यस्य स्वमित्युत्तरान्व-
यात् । यदि नपुंसकत्वमस्ति इत्युच्यते, तर्हि असु मेदिन्यादिग्रामाण्यात् । पुंलिङ्गोऽप्यस्यैवेति, स्वे स्वा इत्यस्यात्मान इति

पयुज्यते, न भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेने'ति । अयमभिप्रायः—यथा अज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति; जडत्वात्, किंतु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इति श्रीलिङ्गत्वं युक्तमेव । एवंच वृत्तेः स्लोपहितब्रह्मस्वरूपान्याविषयिकाया एव सर्वदृश्योच्छेदकत्वे च अनुपहितस्य वृत्त्युपहितान्यस्य शुद्धब्रह्मणो दृश्यस्य वा । ननु वृत्त्युपहितस्य विषयत्वे वृत्तेरपि विषयत्वमावश्यकम्; 'नीलोपहितघटो ज्ञात'इत्यादौ नीलस्य ज्ञातत्वप्रत्ययात्, तत्राह—वृत्त्युपराग इति । अत्र 'वृत्त्युपहितं ब्रह्म विषय' इति व्यवहारे । वृत्तेरुपरागो विषयत्वरूपसंबन्धः । सत्तया अविषयव्यावर्तकत्वे सति विद्यमानतया । ननुक्तं विद्यमानतयोपयुक्तस्य विषयत्वमप्यास्ताम्, तत्राह—ननु भास्यतयेति । ननु—विषयत्वपर्याप्तिरूपं भास्यत्वं मयापि नोच्यते, वृत्तिविशिष्टब्रह्मण्येव तस्वीकारात्, तत्राह—विषयकोटीति । विषयघटकतयेत्यर्थः ।

लघुचन्द्रिकाया विडलेशोपाध्यायी ।

विवरणं दीक्षितोक्तं सम्यगेवेति । तत्रैवं सति आत्मार्थकस्वशब्दस्य अमरसिंहमते नपुंसकमात्रत्वात् । उक्तकोशद्वयान्तरोक्तसूत्रविरोधापत्तिः; एवमात्मनि आत्मीये इत्यनयोर्मध्यपतितयोः 'स्वं' 'त्रिषु' इति पदयोरेकं स्वमित्युभयान्वयि, 'त्रिषु' इति तु उत्तरान्वयीति स्वीकारे वैरूप्यापत्तिः । किंच स्वमिति विवक्षितलिङ्गं पूर्वान्वयि, अविवक्षितलिङ्गमुत्तरान्वयि इत्येकस्मिन् वैरूप्यापत्तिश्चेति, 'स्वं त्रिषु' इत्युभयमपि उभयान्वयि इत्युचितम् । एवं सति अमरसिंहमते आत्मीय इव, आत्मन्यपि स्वशब्दस्य त्रिलिङ्गत्वात् कोशान्तरसूत्रकाराविरोधः, उक्तश्रीहर्षप्रयोगोपपत्तिः, प्रकृतश्रीमधुसूदनस्वाम्युक्तस्वस्या इति प्रयोगोपपत्तिश्चेति युक्तं प्रतिभाति । एवंच वैयाकरणोक्तत्वादित्यत्र 'उक्तत्वात्' इत्यस्योक्तप्रायत्वादित्यर्थः इति वयम् । ग्रन्थकृतां स्फुटतादृशप्राचीनव्याकरणग्रन्थदर्शनात् यथाश्रुतं वा साधु । वेदान्तजन्यवृत्तेः सर्वदृश्योच्छेदकत्वरूपाव्यवहितपङ्क्त्यर्थस्यानुपहितविषयकत्वेऽप्रयोजकत्वात् एवंचेत्यस्य तदर्थकत्वं न संभवतीति । वृत्त्युपहितब्रह्मविषयकत्वेति तदन्याविषयकत्वेन सर्वदृश्योच्छेदकत्वरूपपूर्वप्रघटकार्थकत्वमाह—एवं चेति । वृत्तेः वेदान्तमहावाक्यजन्यवृत्तेः । एवकारेण स्लोपहितब्रह्मविषयकत्वं वृत्तिस्वभावादव्यावर्तकस्य दृश्योच्छेदकतावच्छेदकत्वव्यवच्छेदः । नचैवं विकल्पस्य संग्रहः; तद्यावृत्तरूपेण ज्ञानस्येति निवेशात् । अनुपहितस्येत्यस्य वृत्त्युपहितब्रह्मार्थकत्वे, दृश्याविषयकत्वस्यालभ इत्यतः तल्लभाय व्याचष्टे—अनुपहितस्येति । तदन्यतरतावच्छेदेन नोक्तवृत्तिविषयतेत्यर्थः । वृत्त्युपराग इत्यादिपङ्क्त्या वृत्तेः स्वाविषयत्वोपपादनस्यानुपहिताविषयकत्वोपपादकत्वासंभवात् वृत्तेः स्वाविषयत्वशङ्कया तदवतारयति—ननु वृत्त्युपहितस्येति । उपाधेः उपधेयान्वितान्वितत्वे दृष्टान्तमाह—नीलोपहितेति । नीलज्ञानदशायामयं व्यवहारो नास्ति, उपहितपदं च विशिष्टपदसमानार्थकमित्यभिमानः । अत्रेत्यस्य स्वानुपहितसामान्ये वृत्तिविषयत्वे इति नार्थः, वृत्तिरूपतदेकदेशे विषययकोट्यप्रवेशस्य तदहेतुत्वात्, अतो व्याचष्टे—अत्रेति । वृत्त्युपहितब्रह्मणो विषयत्वे इति वक्तव्ये प्रमाणलभाय व्यवहारे इत्युक्तम् । तद्विषयीभूतवृत्तिनिष्ठवृत्तिविषयब्रह्मोपाधिले इत्यर्थः । उपयुज्यत इत्यत्रान्वयः । केतूपरागवत् वृत्तेरुपरागो न तत्कृतावरणम्; तस्या आवरणनिवर्तकत्वात्, अतः शेषषष्ठ्या समासेन व्याचष्टे—वृत्तेरुपराग इति । संबन्धं विना उपाध्युपधेयभावासंभवात् संबन्धान्तरस्य चासंभवे विषयत्वस्य क्लृप्त्वात् आह संबन्ध इति । सत्तापदं न जातिविशेषसत्यत्वान्यतरपरं, तस्य वृत्तिविषयत्वे बाधात्, प्रतिक्षेप्यभावस्य त्वविरोधित्वाच्चेत्यत आह—सत्तयेति । असंभवीत्यनुशासनात् सत्ता विद्यमानत्वं, तन्मात्रेणेत्यर्थः । मात्रपदव्यवच्छेदमाह मूले—ननु भास्यतयेति । विद्यमानमात्रं च नोपाधिलप्रयोजकम्; वृत्त्यविषयीभूतानुपहितसाधारणत्वेनाव्यावर्तकत्वात्, अतः पूरयति—अविषयव्यावर्तकत्वे सति । 'वृत्त्युपहितं ब्रह्म वृत्तिविषय' इति वाक्यजन्यानुपहितव्यावृत्तोपहितब्रह्ममात्रवृत्तिविषयविषयिणी या बुद्धिः तत्प्रयोजकत्वे सति इत्यर्थः । इदं चातो जगत्कारणत्वादिसाधारणम्—अतो विद्यमानतयेति । इदं चोपाधिताघटकविषयतारूपसंबन्धे तत्प्रतियोगिवृत्तिरूपोपाधौ सदेव निर्वहति । उपाधिताघटकसंबन्धसंसर्गकोपाधिप्रकारकज्ञानस्यैवोपधेयमात्रसंबन्धलेनोपधेयान्वयिधर्मावगाहिबुद्धिलरूपव्यावृत्तिबुद्धित्वात्, इति संबन्धनिष्ठस्यास्य वृत्तिनिष्ठोपाधितानिर्वाहकत्वमुपयुज्यत इत्यनेन बोध्यते । ननु—वृत्तेरुपाधिलघटकत्वादेव स्वाविषयत्वसिद्धौ नत्वित्यादिना तत्साधनं व्यर्थमतः तदवतारयति—ननु उक्तेति । विषयव्यावर्तकत्वविशिष्टेत्यर्थः । उपयुक्तस्येति । वृत्तितद्विषयत्वरूपस्येति शेषः । विषयत्वमप्यास्तामिति । पूर्वोक्तरीत्या संभवात्, बाधकाभावाच्चेति भावः । भास्यतयेत्यस्य विषयकोटिप्रवेशेनेति व्याख्यानं सफलमित्युक्तवतारयति—ननु विषयत्वपर्याप्तिरूपमिति । भास्यत्वमिति । वृत्तौ इति शेषः । विषयघटकतयेति । विषयताश्रयतयेत्यर्थः । एवं सति उपाधेर्विशेषणाद्वैलक्षण्यं न स्यात् इति भावः । अत्रेष्टापत्तिः

न वृत्तिर्विषयकोटौ प्रविशति; स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, किंतु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पादयतीति न काप्यनुपपत्तिः । एतेन—ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वं—व्याख्यातम्;

सिद्धिव्याख्या ।

नच—चाक्षुषतादृशघटादिविषयवृत्तिविषयत्वाद्वह्मणस्तत्र व्यभिचारस्तन्मतेऽपि दुष्परिहार इति—वाच्यम्; घटादिप्रत्ययेषु शुद्धब्रह्मणोऽविषयत्वात् । नच 'सर्वप्रत्ययवेद्ये च ब्रह्मरूपे व्यवस्थित' इति भवद्वचनविरोधः; विशिष्टं सर्वप्रत्ययवेद्यं न शुद्धमित्यर्थकत्वादित्यादेः पूर्वमेवोक्तत्वात् । यदपि—लब्धे उपहिते विषयेऽज्ञानस्वरूपसिद्धिः; अज्ञानस्वरूपेच सिद्धे तदुपहितरूपविषयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयापादनम्, तत्र किमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ, ज्ञप्तौ, स्थितौ वा । नाद्यः; अनादित्वादुभयोः । न द्वितीयः; अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेपि चितःस्वप्रकाशत्वेन तदभास्यत्वात् । न तृतीयः; सा किं परस्परश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात् ? तत्रोभयस्याप्यसिद्धिः; अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वेपि चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चित्यविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावादित्यादिवक्ष्यमाणत्वात् । नच—उपहितविषयत्वस्य जन्यत्वादन्योन्याश्रय उत्पत्तावेव स्यादिति—वाच्यम्; तस्याजन्यत्वात्, जन्यत्वेऽपि तद्विषयकाज्ञानस्याजन्यत्वाच्च, उपाधेरविद्याया उपहितस्य चैतन्यस्य तयोः संबन्धस्य वा जन्यत्वाभावाच्च । तदुक्तम्—'जीव ईशो विशुद्धा चित्' इत्यादि । नच—उपहितस्याज्ञानाजन्यत्वे कथं मिथ्यात्वमिति—वाच्यम्; अज्ञानस्येवानादिभूतस्य तस्यापि स्वभावप्रयुक्तमिथ्यात्वस्याज्ञानजन्यत्वं विनाऽप्यविरोधात् । यदप्यन्योन्याश्रयान्तरापादनं, तदप्यतएवापास्तम् । विषयत्वस्य विषयानतिरेके विषयानादित्वेनैव तस्याप्यनादित्वात् । वस्तुतः प्रतीयमानान्योन्याश्रयस्य विषयत्वातिरेकपक्षे तन्मिथ्यात्वोपपादकत्वान्नाद्वैतमते स दोष इति न काप्यनुपपत्तिरिति ॥ एतेनेति । वेदान्तजन्यचरमवृत्तेः स्वस्वेतरोपाध्यविषयत्वे सत्युपहितविषय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अनुपपत्तिरिति । अत्यन्ताभेदे संबन्धाभावादिति भावः । चैतन्यस्य विषयतां संपादयति विषयचैतन्यम-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञायामाह मूले—अयममिप्राय इति । यथा अज्ञानोपहितस्येति । उपाधेरपि उपधेयान्वितलोपगमेऽज्ञानोपहितसाक्षीति व्यवहारो न स्यादिति भावः । एवमिति । वृत्त्युपहितं ब्रह्म वृत्तिविषय इति व्यवहारानुरोधादिति भावः । ननु वृत्तेः स्वविषये ब्रह्मणि विशेषणत्वमेवासु इत्यत आह—स्वविषयत्वानुपपत्तेरिति । शाब्दवृत्तौ शब्दानुपस्थितस्याभाननियमात्, वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मण्येव तात्पर्यावधारणात्, बाधितवृत्तिविषयकत्वेन तत्त्वज्ञानस्य भ्रमत्वापत्तेः, बाधितवृत्तिसंसृष्टतया भासमानस्य ब्रह्मणोऽपि बाधितत्वात् तदंशेऽपि प्रमात्वानापत्तेः, महावाक्यस्याखण्डार्थत्वमज्ञापत्तेश्चेति भावः । यथा भास्यस्याज्ञानस्य भासकता नास्ति, एवं भासिकाया वृत्तेः भास्यत्वं नास्ति, इत्यपि मूले दृष्टान्तदर्ष्टान्तिकाभ्यां विवक्षितमिति ध्येयम् । युक्त्यन्तरमप्याह टीकायाम्—अत्यन्ताभेदे संबन्धासंभवादिति । ननु—एवं शाब्दवृत्तेः उक्तीत्या स्वविषयत्वे स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नत्वं विषयचैतन्यस्य प्रत्यक्षत्वमिति परिभाषोक्तं प्रत्यक्षलक्षणं कथं शब्दवृत्तौ निर्वहेत्, तद्विषयकवृत्त्यन्तरस्वीकारे तु अनवस्था । नच—शाब्दवृत्तिविषयिणी तदन्या एका वृत्तिः स्वीक्रियते, तद्विषयिणी तु नान्या, किन्तु स्वविषयिणी नानवस्थेति—वाच्यम्; अत्यन्ताभेदे संबन्धासंभवेन कस्या अपि वृत्तेः स्वविषयत्वासंभवात् । यदि यथाकथंचित् रूपभेदेन स्वस्मिन्नपि भेदकल्पनया स्वविषयत्वरूपसंबन्धसंभव इत्युच्यते, तदा शाब्दवृत्तावपि स्वविषयत्वं दुर्वारमिति—चेत्, अत्रायमाशयः—स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमादिचैतन्याभिन्नत्वं बाह्यघटादिप्रत्यक्षत्वस्य । तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितनिवेशात् रूपप्रत्यक्षकाले न परिमाणस्य प्रत्यक्षत्वापत्तिः । आन्तरान्तःकरणधर्ममुख्यादिवृत्तिरूपज्ञानाद्रेः प्रत्यक्षत्वं तु, स्वाकारवृत्त्युपहितत्वाविशेषितप्रमातृचैतन्याभिन्नत्वमात्रमित्यन्तःकरणधर्मादिगोचरवृत्तिस्वीकारे प्रयोजनाभाव इति शाब्दवृत्तेः स्वविषयत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षत्वं निर्वहतीति । परिभाषाकारमते तु शाब्दवृत्तेः स्वविषयत्वाभावेऽत्यन्ताभेदो न युक्तिः, किन्तु शब्दानुपस्थाप्यत्वादिरुक्त एवेति बोध्यम् । उपहितचैतन्य-

अज्ञानमपि हि स्वोपधानदशायामेव ब्रह्म विषयीकरोति; स्वानुपाधानदशायां स्वस्यैवाभावात् । तथाच ज्ञानाज्ञानयोरुभयोरप्युपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वात् समानविषयत्वमस्त्येव । एतेन—उपाधिविषयज्ञानानामज्ञानानिवर्तकत्वं—व्याख्यातम्; अज्ञानस्योपाध्यविषय-

सिद्धिव्याख्या ।

कत्वव्याख्यानेनेत्यर्थः । ननु वृत्तेः स्वोपधानदशायां ब्रह्मविषयकत्वमस्तु, अज्ञानस्य तु कथमित्याशङ्क्याह—अज्ञानमपीति । तत्र हेतुमाह—स्वानुपधानेति । एवं च फलितमाह—तथाचेति । समानविषयत्वमस्त्येवेति । मूलाज्ञानमपि स्वोपहितब्रह्मविषयकमेवेत्युक्तत्वादित्यर्थः । नच—अज्ञानस्य शुद्धचिदाश्रयविषयकत्वसिद्धान्तभङ्गस्यान्योन्याश्रयादेश्चोक्तत्वात् कथं समानविषयत्वमिति—वाच्यम्; परिहृतत्वात् । नच—एतावताऽपि ज्ञानाज्ञानयोर्न समानविषयत्वम्, अज्ञानस्य स्वरूपसदज्ञानोपहितब्रह्मविषयकत्वात्, वृत्तेश्च स्वरूपासदुपहितब्रह्मविषयत्वात्, अन्यथा वृत्तेर्मिथ्याभूतार्थविषयकत्वं त्वदभिमतं न स्यादिति—वाच्यम्; अज्ञानं हि स्वरूपसदज्ञानोपहितब्रह्मविषयमित्यत्र स्वरूपसत्त्वं ब्रह्मणो विशेषणम्, अज्ञानस्य वा, आद्ये स्वरूपसत् अज्ञानोपहितं च यद्ब्रह्म तद्विषयकमज्ञानमिति प्राप्तम् । तच्च वृत्तेरप्यविशिष्टं; तस्या अपि स्वरूपसत् वृत्त्युपहितं यद्ब्रह्म तद्विषयकतया ज्ञानाज्ञानयोः समानविषयत्वमेव । द्वितीये स्वरूपतः सत्त्वं किमवाध्यत्वरूपमुत विद्यमानत्वमात्ररूपम्; आद्ये; अज्ञानमपि स्वरूपासदेव, वाध्यत्वात् । ततश्च स्वरूपासदुपहितब्रह्मविषयत्वमुभयोः सममेवेत्यज्ञानं स्वरूपसदित्युक्तिविरोधः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयाद्व्यावर्तयति । तथाच ब्रह्मान्विते स्वविषयत्वे अनन्वितत्वे सति विद्यमानत्वे च सति स्वविषयव्यावर्तकत्वात् वृत्तेः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

विषयकवृत्तौ स्वयमविषयीभूता वृत्तिः कथं स्वविषयव्यावर्तिका स्यात्? अत आह मूले—स्वयमविषयोऽपीति । ननु वृत्तिः स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां संपादयतीत्यनुपपन्नम्; वृत्तेः स्वविषयकत्वस्य चैतन्यविषयकत्वप्रयोजकत्वाप्रसक्तेः, वृत्तौ नेहेत्यादिवाक्यसहकृताद्वैततात्पर्यकमहावाक्यजन्यत्वस्यैव तत्र प्रयोजकत्वादित्यतः स्वोपहितविषयकत्वस्य प्रयोजकतानिराकरणात् । तदभावेऽपि तद्व्यवहारोपपत्तिरित्येतत्परेयं पङ्क्तिरिति मनसिकृत्य चैतन्यस्य स्वोपहितचैतन्यस्य विषयताम् अनुपहितचैतन्यव्यावृत्तां विषयतां, संपादयति इत्यक्षरार्थमिप्रायेण व्याचष्टे टीकायाम्—विषयचैतन्यमिति । स्वोपहितचैतन्यरूपं विषयमित्यर्थः । अविषयात् वृत्त्यविषयात् शुद्धचैतन्यात् । व्यावर्तयति व्यावृत्तविषयतावत्त्वेन बोधयति । अयं च बोधः ‘स्वोपहितचैतन्यं वृत्तिविषय’ इति व्यवहारजन्यो बोधः । स्वाविषयीभूताया अपि वृत्तेः स्वविषयत्वोपाधित्वेऽनुमानं प्रमाणयति—तथाचेति । यदि चोपाधिलक्षणसमन्वयपरोऽयं ग्रन्थः स्यात्, तर्हि यदनन्वितमित्यादिलक्षणं प्रथममुक्त्वा, ब्रह्मान्विते इत्यादिना तत्समन्वयो वक्तव्यः स्यात्; व्यत्यासस्य सन्दर्भशैलीविरुद्धत्वात् । यथेत्यादिदृष्टान्तश्च नात्यन्तमुपयुज्यते । नच—अनुमानपरत्वेऽपि प्रथमतो ब्रह्मान्वितेत्यादिना हेतुनिर्देशोत्तरं वृत्तेः स्वविषयत्वं प्रत्युपाधित्वमिति साध्यनिर्देशोऽसांप्रदायिक इति—वाच्यम्; पूर्वग्रन्थार्थसिद्धत्वात्, हेतुकेः प्राथम्यस्यावश्यकत्वात् । अतएव तथाचेत्युक्तम् । किञ्च सर्वग्रन्थेषु प्रतिपदं बहुमता हेतुनिर्देशोत्तरं साध्यनिर्देशा दृश्यन्ते, ‘धूमादग्निमान्’ “व्यापकत्वात् परापि स्यात् व्याप्यत्वादपरापि च” “प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रत्यक्षानन्तरं बहुवादिसंमतत्वादुपमानात् प्राक् अनुमानं निरूप्यते” “अत एव नेतर” इत्यादयः । लक्षणतत्समन्वयौ तु नैवं व्यत्यासेन कचिदपि दृश्येते । एवं च वृत्तिः स्वविषयत्वं प्रत्युपाधिरिति प्रतिज्ञा, ब्रह्मान्वितेत्यादिहेतुः, यदनन्वितमित्याद्युदाहरणं सदृष्टान्तमित्युदाहरणान्तर्ग्रहणव्यवोपन्यास इति ध्येयम् । ब्रह्मान्विते स्वविषयत्वेऽनन्वितत्वे सति । ब्रह्मनिष्ठस्वविषयत्वानाश्रयत्वे सति, ब्रह्मवृत्तितावच्छेदकीभूतस्वविषयत्वत्वावच्छिन्नानाश्रयत्वे सति, ब्रह्मविषयकस्वविषयताशून्यत्वे सतीति यावत् । तेन वृत्तेः स्वविषयत्वमतेऽपि ब्रह्मवृत्तिनिष्ठविषयत्वयोः भेदेऽपि नैतद्विहितहेतोर्विशेषणत्वविलक्षणोपाधित्वसाधकतानुपपत्तिः । विद्यमानत्वे सति । ब्रह्मणि स्वविषयत्वान्वयकाले इत्यादिः । स्वविषयव्यावर्तकत्वादिति । स्वविषयतारूपविधेयविशिष्टस्य या स्वेतरस्मात् व्यावृत्तिः भेदबुद्धिः स्वविषयतायां

त्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वेनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावात् । वस्तुतस्तु—

सिद्धिव्याख्या ।

द्वितीये स्वसत्तादशायां वृत्तेरपि सत्त्वात्स्वरूपासदित्युक्तेः पूर्ववद्भावात् । अतएव—वृत्तेर्मिथ्याभूतार्थ-विषयकत्वं त्वदभिमतं न स्यादिति—प्रत्युक्तम् । उपहितवस्तुविषयके ‘लोहितः स्फटिक’ इत्यादिज्ञाने मिथ्याभूतार्थविषयकत्वस्य स्पष्टत्वेन तद्वत्प्रकृतेऽपि तत्संभवादिति भावः । ननु ‘तरति शोकमात्मवित्’ इत्यादौ शोकरूपाज्ञानस्य तरणरूपनिवृत्तिं प्रति साधनत्वेनोक्तया आत्मविद्याया न तावदात्मविषयक-भ्रमत्वं युक्तम्; भ्रमस्याज्ञानानिवर्तकत्वात्, किंतु सा प्रमैव; प्रमात्वं च तस्याः शुद्धविषयकत्वेनैवेति वेदान्तानां शुद्धब्रह्मज्ञानजनकत्वमावश्यकमेवेत्यस्वरसादाह—वस्तुतस्तुति । अन्यथेति । शब्दाजन्येति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वविषयत्वं प्रत्युपाधित्वम् । यदनन्वितं विद्यमानं यद्विशिष्टस्येतरस्माद्भाववर्तकं यत् भवति, तत्तत्र उपाधिः; यथा घटकारणत्वादौ दण्डत्वादिकम्, ‘नीलघटो ज्ञात’ इत्यादिव्यवहारे तु नीलत्वादिकं विशेषणमेव नोपाधिरिति भावः । ज्ञानाज्ञानयोः ब्रह्मज्ञानाज्ञानयोः । एकविषयत्वं समानविषयत्वम् । उपाध्यविषयत्वे सति खोपहितान्याविष-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

स्वविशिष्टेतरावृत्तित्वप्रतीतिर्वा, तत्प्रयोजकत्वं यत् स्वरूपयोग्यतारूपं; तस्मात् तन्नियतावच्छेदकत्वेन ज्ञानविषयत्वादित्यर्थः । तच्च दृष्टान्ते ‘दण्डो घटकारण’मित्यादिज्ञानं, प्रकृते ‘विषयतया वृत्तिमद्ब्रह्म वृत्तिविषय’ इति ज्ञानम् । स्वविषयत्वं ब्रह्मनिष्ठस्वविषयत्वम् । प्रति निरूपितमुपाधित्वमित्यर्थः । अत्र ‘वृत्तिकालीनं ब्रह्म वृत्तिविषय’ इति व्यवहारे समानकाली-नत्वसंबन्धेन प्रकारीभूताया वृत्तेः तेन संबन्धेन स्वविषयत्वं प्रत्यनुपाधित्वात् हेतुघटकाद्यदलसत्त्वाच्च व्यभिचार इति हेतौ विशेष्यदलम् । तथासति तेन संबन्धेन वृत्तेः स्वविषयशुद्धब्रह्मसाधारणत्वेन स्वविषयतायां तद्यावृत्त्यवोधकत्वात् न व्यभिचार इति सार्थक्येऽपि ‘वृत्तिविशिष्टं ब्रह्म न घट’ इति व्यवहारे वृत्तेर्विशेषणत्वे, निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनो-पलक्षित—इति व्यवहारे वृत्तेरुपलक्षणत्वेऽपि च, वृत्तौ निरुक्तस्वविषयव्यावर्तकत्वरूपहेतुस्वविषयत्वोपाधित्वरूपसा-ध्ययोः सत्त्वेन व्यभिचाराप्रसक्त्या नाद्यदलद्वयस्य हेतौ सार्थक्यम् । वस्तुतस्तु समानकालीनत्वसंबन्धेन वृत्तेः स्वविषयव्यावर्तकत्वस्वविषयत्वोपाधित्वयोरभावेऽपि विषयतासंबन्धेन तदुभयसत्त्वान्न व्यभिचार इति न विशेष्यदल-सार्थक्यमपि, परन्तु वक्ष्यमाणसामान्यमुखव्याप्तौ प्रकृतहेतुसजातीयहेतौ निरुक्तदलत्रयसार्थक्यसंभवात् तत्साजात्य-निरूपकत्वनिर्वाहाय प्रकृतहेतावपि दलत्रयसार्थक्यमिति बोध्यम् । वेदान्तजन्यवृत्तिसामान्यस्य पक्षत्वेन दृष्टान्ताभावेन विशेषतो व्याप्त्यसंभवेन सामान्यव्याप्तिमाह—यदनन्वितमिति । यत्र अनन्वितमित्यर्थः । ‘धूमविशिष्टः पर्वतो गुणवान्’ इति व्यवहारे विशेषणीभूते धूमे पर्वतनिष्ठगुणवत्त्वम् । प्रत्ययानुपाधौ व्यभिचारवारणायेदम् । विद्यमानं यत्काले यत्र यदन्वयः, तत्र तत्काले विद्यमानम् । ‘गन्धप्रागभावविशिष्टो घटो गन्धवान्’ इति व्यवहारे उपलक्षणीभूतगन्धप्रागभावे व्यभिचारवारणायेदम् । यद्विशिष्टस्य व्यवहारविधेयताशालियद्विशिष्टस्य । पञ्चार्थविशेषकत्वस्य व्यावृत्तिघटकानुमितान्वयः । इतरस्मात् यद्विशिष्टेतरस्मात् । व्यावर्तकं भेदानुमितिप्रयोजकम् । ‘द्रव्यत्वविशिष्टः पर्वतो रूपवान्’ इति व्यवहारे द्रव्यत्वे रूपवदव्यावर्तके रूपवत्त्वानुपाधौ व्यभिचारवारणायेदम् । यत् हेतुमत्त्वेनाभिमतं भवति तत् तादृश-हेतुमत् । तत्र तद्धर्मिनिष्ठविधेये । उपाधिः उपाधिव्यवहारविषयः । दृष्टान्तमाह—यथेति । घटकारणत्वादौ दण्डनिष्ठघटकारणत्वादौ चक्रादिनिष्ठकारणत्वे दण्डत्वस्यानुपाधित्वात् । आदिभ्यां घटनिष्ठदण्डकार्यत्वादौ घटत्वादिकम् । ननु—‘नीलो घटो ज्ञात’ इति व्यवहारस्य नीलत्वाज्ञानदशायामभावात्, नीलत्वस्य घटान्वितज्ञातत्वेनव्यवसावश्य-कत्वात्, तदनन्वितत्वघटितहेतोरभावेन ज्ञातत्वे उपाधित्वसिद्धिर्न स्यात् इत्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—नील-घटो ज्ञात इत्यादीति । ननु—वेदान्तजन्यज्ञानस्य खोपहितब्रह्मविषयकत्वे ब्रह्माज्ञाननिवर्तकतानुपपत्तिः, अज्ञानस्य “आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला” इत्युक्तेः शुद्धब्रह्मविषयकत्वेन भिन्नविषयकत्वात् इत्यत आह मूले—एतेनेति । उपहितविषयकज्ञानस्योपाध्यविषयकत्वव्यवस्थापनेनेत्यर्थः । शुक्तिज्ञानतदज्ञानयोरेकविषयकत्वस्य सर्वसिद्धत्वेन व्याख्यानानपेक्षणात् व्याचष्टे टीकायाम्—ज्ञानाज्ञानयोरिति । भिन्नविषयकशुक्तिज्ञानपटाज्ञानयोरपि एकत्वं संख्याश्रयविषयकत्वस्य, विषयनिष्ठभेदाप्रतियोगिविषयकत्वरूपस्य, पारिभाषिकैकत्वाश्रयविषयकत्वस्य वा संभवात् आह—एकविषयकत्वमिति । समानविषयकत्वमिति । मिथ इत्यादिः । समानपदस्योत्तरपदार्थवाचित्वात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यकत्वे सति । उपहितविषयकत्वात् खोपहितविषयकत्वात् । स्वविशिष्टब्रह्मविषयकवृत्तेरपि खोपहितब्रह्मविषय-
कत्वात् सत्यन्तम्, स्वाविषयकत्वस्य सत्यन्तार्थत्वे वृत्त्युपहितांशे अज्ञानादिप्रकारकज्ञानस्य सङ्गहापत्तेः खोपहितान्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञानस्याज्ञानविषयकत्वम्, अज्ञानस्य च ज्ञानविषयविषयकत्वमित्यर्थः । ननु शुद्धब्रह्मविषयकाज्ञानस्य कथं खोपहित-
ब्रह्मविषयकज्ञानसमानविषयकत्वम् ? उपहितशुद्धयोर्भेदात् ; अन्यथा निर्विकल्पकघटज्ञान—घटत्वप्रकारकाज्ञानयोरपि समा-
नविषयकत्वापत्तेः इत्याशङ्कातादवस्थमित्याशङ्क्याज्ञानस्याप्युपहितविषयकत्वं व्यवस्थापयति मूले—अज्ञानमपीति ।
ननु जीवभेदेऽज्ञानमेदात् एकस्य ज्ञानेऽप्यन्यस्याज्ञानरूपोपाधेः सत्त्वात् अज्ञानानुपहिताप्रसिद्ध्या अज्ञानस्य स्वविषय-
व्यावर्तकत्वाभावात् स्वविषयत्वोपाधित्वानुपपत्तिः इत्यतो जीवभेदेनाज्ञानभेदपक्षमाश्रित्य आह—खोपधानदशा-
यामिति । स्वं तत्तदज्ञानम् । ब्रह्मणि स्वपदार्थतत्तदज्ञानरूपोपाधिसंबन्धकाले इत्यर्थः । एतेन विद्यमानत्वमुक्तम् ।
ब्रह्म ब्रह्मैव, ननु स्वम् । अनेन विषयत्वेऽनन्वितत्वमुक्तम् । एवकारार्थं स्फुटीकृत्य तेन स्वविषयव्यावर्तकत्वमाह—
खानुपधानदशायामिति । ज्ञानेन तत्तदज्ञानरूपस्वपदार्थोपाधिनिवृत्तिदशायाम् । स्वस्यैवाभावादिति । तथाच
तदज्ञानव्यक्तेः तदज्ञानानुपहितव्यावृत्तत्वेन स्वविषयव्यावर्तकत्वं सुलभमिति भावः । एतेनोक्तदलत्रयघटितस्योपाधित्व-
साधकहेतोः सत्त्वमिति कृतमिति बोध्यम् । ननु तस्य वृत्त्युपहितब्रह्मविषयकत्वात्, अज्ञानस्य चाज्ञानोपहितब्रह्मविषय-
कत्वादुपाधिभेदेन खोपहितमेदात् तयोर्भिन्नविषयकत्वात् कथं समानविषयकत्वम् ? अत आह—तथाचेति । उपहित-
विषयकस्योपाधिविषयकत्वे ज्ञानाज्ञानरूपोपाध्योर्भेदात् तत्तद्विषयकतदुपहितविषयकज्ञानाज्ञानयोः समानविषयकत्वासंभवः ;
उपाध्यविषयत्वे तु न तथा ; स्वाविषयाविषयकत्वे सति स्वविषयविषयकत्वस्यैव स्वसमानविषयकत्वरूपत्वात्, अतः पूर्वव्य-
वस्थापितोपाध्यविषयकत्वं सत्यन्तेनोक्तम् । ज्ञानाज्ञानयोरुपहितब्रह्मणोर्भेदेऽप्युपहितत्वेनानुगमात् । स्वविषयोपहितविषयकत्वं
विशेष्यदलमुक्तमिति यथाश्रुतमूलार्थः । ज्ञानाज्ञानयोरुपाधित्वं नोपाधिपदव्यवहार्यत्वम् ; ब्रह्मनिष्ठजगत्कारणत्वे मायाया
इव मायानिष्ठजगदुपादानत्वे ब्रह्मणोऽप्युपाधित्वेन ब्रह्मज्ञानाज्ञानयोस्तद्विषयकत्वासंभवात् । यदि खान्वयिनाऽन्वितं यत्
तदनन्वितत्वे सति तत्कालीनत्वे सति तदाश्रयस्येतरस्मात् व्यावर्तकत्वं, तद्व्याप्यत्वं खान्वयिनिष्ठतन्निष्ठरूपितोपाधित्वं, तदा
ब्रह्मणो यन्मायानिष्ठजगदुपादानत्वोपाधित्वं तस्यानिवेशेन ब्रह्मज्ञानसंग्रहेऽपि ज्ञाने ब्रह्मनिष्ठज्ञानविषयत्वोपाधित्वमज्ञाने च
ब्रह्मनिष्ठाज्ञानविषयकत्वोपाधित्वं न तदुभयानुगतमिति ज्ञानाज्ञानयोस्तद्विषयकत्वं कथमनुगतम् ? एवं उपाधित्वस्यानुगत-
स्याभावे उपहितत्वस्यापि ज्ञानाज्ञानोपहितब्रह्मण्यनुगतस्याभावात् तद्विषयकत्वमपि न तदुभयानुगतमतः सत्यन्तमुपहि-
तान्येति व्याख्यातम् । पञ्चम्यन्तं व्याचष्टे—उपहितविषयकत्वादित्यादिना—विषयकत्वादित्यन्तेन । ननु—
स्वत्वस्यानुगमे इदमपि कथं ज्ञानाज्ञानयोरनुगतमिति—चेन्न ; स्वावृत्तित्वस्वसमानकालीनत्वस्वव्यापकत्वैतन्निष्ठतयसंबन्धेन
यत्किञ्चिद्विशिष्टान्वयविषयत्वानिरूपकत्वे सति, उक्तत्रितयसंबन्धेन यत्किञ्चिद्विशिष्टविषयतानिरूपकस्योक्तदलद्वयार्थत्वात्
ज्ञानाज्ञानविषयत्वयोरज्ञानज्ञानसमानकालीनत्वाभावात् नोक्तसंबन्धत्रयेणाज्ञानज्ञानवैशिष्ट्यरूपं वैपरीत्येन तदुपहितविषयत्व-
रूपम् । ननु वेदान्तजन्यवृत्तेः खोपहितब्रह्ममात्रविषयिकाया उपाध्यविषयकत्वनियमात् सत्यन्तार्थवैयर्थ्यमत आह—
स्वविशिष्टेति । स्वं महावाक्यजन्या वृत्तिः ; तद्विशिष्टब्रह्मविषयकवृत्तिश्चाविद्वदनुभवसिद्धा “तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी”-
त्यादिवाक्यजन्या बोध्या । स्वविशिष्टेत्यत्र स्वस्य विशेषणत्वेनोपाधित्वासंभवात् । खोपहितब्रह्मविषयकत्वादिति ।
स्वम् उक्तवाक्यजन्या वृत्तिः, सा च वेदान्तमहावाक्यजन्या । निरुक्तवृत्तेरुक्तवृत्तिविषयत्वे विशेषणत्वेऽपि स्वयमुपाधिरेवेति
खोपहितब्रह्मविषयकत्वं तस्या अक्षतम् इति भावः । ननु स्वाविषयकखोपहितब्रह्मविषयकत्वं ज्ञानाज्ञानयोः समान-
विषयकत्वमस्तु, स्वं वृत्तिरूपं ज्ञानं तत्त्वमसीत्यादि वाक्यजन्यमित्युक्तवृत्तेः निवारणादलमुक्तगुरुतरसत्यन्तार्थेनेत्यत
आह—स्वाविषयकत्वस्येति । स्वं यदि वृत्तिरूपं वेदान्तमहावाक्यजन्यं ज्ञानं, तर्हि स्वविशिष्टब्रह्मविषयकोक्तवृत्ते-
वार्गणेऽपि ज्ञानान्तसंग्रहप्रसङ्ग इत्याह—वृत्त्युपहितांशे इति । वेदान्तजन्यनिर्विकल्पकवृत्त्युपहितांशे इत्यर्थः । अज्ञानादि-
प्रकारस्येति । तदव्यवहितपूर्वोत्तरकालजातस्य अहं देहेन्द्रियादिकं जानामि इत्यादिकाकारस्येति शेषः । नन्वेवं—
उक्तगुरुसत्यन्तार्थेनापि न तद्वारणमिति—चेत्, शृणु ; यथाश्रुते खोपहितान्यत् यदज्ञानं तन्निष्ठप्रकारतारूप-
विषयताकत्वेन तच्छून्यत्वाभावात्, उक्तसंबन्धत्रयघटितनिष्कर्षे तु यदि स्वं ज्ञानं, तदा खान्वयाज्ञानप्रकारताया
स्वावृत्तित्वे कथञ्चित् स्वसमानकालीनत्वे च स्वाश्रयीभूतखोपहितब्रह्मवृत्तित्वाभावेन स्वव्यापकत्वाभावात्, यदि स्वं
प्रकारीभूतमज्ञानं, तदा स्वावृत्तित्वस्याप्यभावादित्याशयेनाह—खोपहितान्याविषयकत्वमेव सत्यन्तार्थ इति ।
ननु खोपहितान्याविषयकं ज्ञानं खोपहितविषयकत्वनियतम्, अन्यथा निर्विषयकत्वेन ज्ञानत्वानुपपत्तेरित्यत आह—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयकत्वमेव सत्यन्तार्थः । तुच्छाकारज्ञानेऽपि सत्यन्तसत्त्वात्तद्वारणाय विशेष्यदलम् । नच—सविषयकत्वमात्रेण तस्य वारणसंभवात् तुच्छव्यवहारजनकवृत्तेराश्रमस्वाभ्यादिभिर्निर्विषयत्वस्वीकारात् स्वोपहितनिवेशे गौरवमिति—वाच्यम्; स्वरूपसंबन्धेन विषयिताविशिष्टत्वरूपसविषयकत्वापेक्षया स्वोपहिताखण्डव्यक्त्या विषयितासंबन्धेन विशिष्टत्वस्यागुरुत्वात्, तुच्छाकारवृत्तेः सविषयकत्वमते तेन तद्वारणाच्च । ‘अहं ब्रह्म घटो विनाशी’ति ज्ञानस्य मूलाज्ञाननाशकत्वस्वीकारे तु स्वोपहितब्रह्मनिष्ठा या विषयत्वानिरूपितविषयता तच्छालित्वं समानविषयकत्वं वाच्यम् । निवर्त्यनिवर्तकभावादिति । निवर्तकत्वं ज्ञानस्य तत्समानविषयकं तदाश्रयमनोनिरूपितं यदज्ञानं तदाश्रयकालपूर्वत्वशून्यत्वमित्यादिकं पूर्वोक्तरीत्या बोध्यम् । ‘मया ब्रह्माज्ञातं ननु जीवन्मुक्तेने’त्यादिप्रतीतेर्नानाज्ञान-पक्षे मनोविशेषस्याज्ञानविशेषनिरूपकत्वं बोध्यम् । ननु—चैत्रो ब्रह्मेत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि ब्रह्माज्ञानं प्रति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तुच्छाकारज्ञानेऽपीति । विकल्पाख्यवृत्तिरूपतज्ज्ञानेऽपीत्यर्थः । तत्साधारणमनोवृत्तिविशेषकत्वरूपज्ञानत्वेनैव तत्त्वज्ञान-स्याज्ञाननिवर्तकत्वादिति भावः । सत्यन्तत्वादिति । निर्विषयकत्वात् । स्वोपहितान्याविषयकत्वरूपसत्यन्तार्थवत्त्वं सुलभ-मिति भावः । नच विषयतासंबन्धेन स्वोपहिताप्रसिद्धिः; उक्तसंबन्धत्रयेण तत्त्वज्ञानरूपयत्किंचित्स्वविशिष्टतदीयविषयतान्य-घटादिविषयतायाः प्रसिद्ध्या तन्निरूपकत्वस्य निर्विषयकोक्तविकल्पे प्रसिद्धेः । सविषयकत्वेति । उपहितविषयकत्वघट-कविषयितावत्त्वैत्यर्थः । तुच्छव्यवहारजनकेति । तत्पुरुषो बहुव्रीहिर्वा । निर्विषयकत्वस्वीकारादिति । असत्या मिथ्याभूताया वृत्तेः विषयतारूपसंबन्धासंभवादिति भावः । स्वोपहितनिवेश इति । विषयितांशे इत्यादिः । स्वोपहिताखण्डव्यक्त्येति । स्वरूपसंबन्धेन विषयितायाः अखण्डविषयितात्वेनैव विषयितासंबन्धेनाखण्डब्रह्मव्यक्तेः स्वपदार्थोपाधिरूपेण वैशिष्ट्यनिवेशेऽगुरुत्वात् । तुल्यत्वात्-इत्यर्थः । ननु—उपाध्योः ज्ञानाज्ञानयोरप्यनुगमकरूपान्तरेण प्रवेशे उक्तसंबन्धत्रयघटितपरिष्कारे चात्रैव गौरवमिति—चेत्, ब्रह्मान्याविषयकत्वे सति विषयितासंबन्धेन ब्रह्मविशिष्टत्वं दलद्वयार्थः इति जानीहि । स्वोपहितब्रह्मविषयकज्ञानाज्ञानयोरपि ब्रह्मविषयकत्वानपायात् तदन्यज्ञानाज्ञानानां ब्रह्मान्य-विषयकत्वनियमेन सत्यन्तेनैव वारणात् । उक्तोपहितब्रह्मज्ञानस्य चोपाध्यविषयकत्वेन संग्रहाच्च । एवं चोक्तसंबन्धत्रय-घटितपरिष्कारायासो ज्ञानाज्ञाने स्वत्वेनोपादाय तदुपहितत्वेन ब्रह्मनिवेशस्य पूर्वं प्रतीतेस्तदभिप्रायेण । इदानीं तु उपहित-विशिष्टोभयानुस्यूतब्रह्मणः स्वरूप एव निवेशोऽभिप्रेत इति न पूर्वोत्तरविरोध इति ध्येयम् । सविषयकत्वमते इति । सत्यब्रह्ममिथ्याप्रपञ्चयोः परस्परसंसृष्टत्वेन मिथ्यात्वसत्यत्वोपवत् असतः शशविषाणादेः तुच्छादिपदजन्यवृत्तेश्च परस्परसंसृष्टत्वेन सत्त्वासत्त्वरूपपरस्परधर्मोपात्तयोरपि विषयतारूपसंबन्धः संभवन् अङ्गीकार्यः, अन्यथा तुच्छवृत्ति-तुच्छाकारवृत्तिपदानां व्युत्पत्त्यनुपपत्तेरिति भावः । तेन सविषयकत्वनिवेशेन । तद्वारणाच्चेति । अतः स्वोपहित-विषयत्वं निवेद्यम् । नच—तदपि तत्रास्तीति—वाच्यम्; स्वोपहितब्रह्मविषयकत्वस्य तदर्थत्वादिति भावः । ननु स्वोपहितान्याविषयकत्वविशिष्टस्वोपहितब्रह्मविषयकत्वस्य समानविषयकत्वरूपत्वे आत्मांशे इतरप्रकारकस्य अहमज्ञ इत्यादिज्ञानस्य वारणे स्वातन्त्र्येणात्मान्यविषयकज्ञानविरोधित्वानुपपत्तिः, नचेष्टापत्तिः; तद्विरोधित्वस्य पूर्वं व्यवस्था-पितत्वात्, इत्याशङ्कां परिहरति—अहं ब्रह्म घटो विनाशीति ज्ञानस्येति । एतत्संग्राहकपूर्वोक्तपरिष्कारं स्मारयति—स्वोपहितब्रह्मनिष्ठेति । उक्तसंबन्धत्रयेण यत्किंचिद्विशिष्टब्रह्मनिष्ठा या विषयत्वानिरूपिता विषयता तच्छालित्वं ज्ञानाज्ञानसाधारणं समानविषयकत्वमित्यर्थः । विषयत्वानिरूपितत्वं सत्यन्तार्थनिष्कर्षो विशेष्यदलपतिते ब्रह्मनिष्ठविषयत्वे विशेषणमिति भावः । समानविषयकत्वे उपाध्यविषयकत्वनिवेशप्रयोजनं मूले स्फुटयति—एतेनेति । उपाध्यविषयकत्वनिवेशेनेत्यर्थः । ज्ञानानाम् ‘अहमज्ञ’ इत्याद्याकारकाणामिति शेषः । समानविषय-कत्वाभावात् अज्ञानसमानविषयकत्वाभावात् । ननु स्वयं ब्रह्मविषयकत्वरूपसमानविषयकत्वमस्येवेत्यत आह—समानविषयकत्वेनैवेति । निरुक्तदलद्वयघटितसमानविषयकत्वेनैवेत्यर्थः । ननु ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वं यद्यज्ञाननाश-कत्वं, तदा मोक्षकाले नाशरूपदृश्यसत्त्वेन सर्वदृश्योच्छेदघटितमोक्षासंभव इत्यत आह टीकायाम्—निवर्तकत्वमिति । तत्पदद्वयस्याव्यवहितपूर्वपरामर्शित्वेन यत्तदुत्तरं ज्ञानस्येत्यनुक्तम् । व्यधिकरणज्ञाननिवर्तकत्वं निराचष्टे—तदाश्रयमनो-निरूपितमिति । मनसो ज्ञाननिरूपकत्वे प्रमाणमाह—मयेति निरूपकत्वं बोध्यमिति । अज्ञानस्य शुद्धचिन्निष्ठत्वेन मनोनिष्ठत्वासंभवात्, ज्ञानस्य च मनःपरिणामरूपस्य मनस्तदुपहितचिन्निष्ठत्वेन शुद्धचिन्निष्ठत्वासंभवात्, निरूपकता-संबन्धेन सामानाधिकरण्यं ग्राह्यमिति भावः । नन्वेवं चैत्रो ब्रह्मेति । चैत्रदेहद्वयोपलक्षितः आत्मा ब्रह्मेत्यर्थः । ज्ञानस्यापीति । निरुक्तरूपाकान्तत्वात् । नच—स्वात्मनि ब्रह्माभेदज्ञानमेव तन्निवर्तकमिति—वाच्यम्; स्वात्मशब्देन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उक्तनिवर्तकत्वमास्तां—इति चेन्न; अहन्त्वादिधर्मोपस्थित्यादिद्वारकवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तथात्वात् । अतएवावस्था-
त्रयविशिष्टजीवबोधकवाक्यानां महावाक्यशेषत्वम्, अवस्थात्रयवत्त्वेन जीवबोधने हि तद्वाक्येन कृते अवस्थात्रयव-
त्त्वाहन्त्वोपलक्षितशुद्धजीवस्य 'योऽयं विज्ञानमय' इत्यादिवाक्येन बोधनं संभवति । ननु—'आश्रयत्वविषयत्व-
भागिनी निर्विभागवित्तिरेव केवले'ति सिद्धान्तविरोधेनाज्ञानोपहितं ब्रह्म न तद्विषयः, किंतु, शुद्धम्—इति चेन्न;
आश्रयत्वेत्यादेः प्रस्थानान्तरत्वात्, केवलपदस्य वृत्तिभिन्नाज्ञानकार्यानुपहितपरतया व्याख्यानसंभवाच्च, 'पूर्वसिद्ध-
तमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर' इत्यनेन पश्चिमशब्दितकार्यत्वस्य पूर्वसिद्धाज्ञानानाश्रयत्वे हेतुतया
निर्देशात् । अथ—वाचस्पतिमते ब्रह्मसाक्षात्काररूपमनोवृत्तेः मनःसंयोगजन्यत्वादुक्तवृत्त्युपहितस्य चोक्तवृत्त्युत्पत्ति-
पूर्वमसत्त्वात् तदा तत्रोक्तसंयोगासंभवेन विषयतासंबन्धेनोक्तवृत्त्युत्पत्तायुक्तसंयोगस्य हेतुत्वासंभव—इति
चेन्न; उक्तवृत्तिर्हि स्तोपहित इव मनःसंयोगोपहितेऽप्यात्मनि जायते, कारणस्य स्वाश्रयदेशे कार्यजनकत्वस्वा-
भाव्यात्; तथाच मनःसंयोगोपहितवृत्तिलौकिकविषयतासंबन्धेन मानसवृत्तौ मनःसंयोगस्य हेतुत्वे बाधकाभावः ।
यदि तु वृत्त्युपहित एव वृत्तिविषयत्वम्, ननु मनःसंयोगोपहिते; तत्र तु वृत्तिविषयाभिन्नत्वमेव, तदा मनःसंयो-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

खदेहद्वयोपलक्षितात्मनो विवक्षितत्वेऽपि उपलक्षणस्यापि वेदान्तजन्यब्रह्मात्मज्ञानेऽप्रकारतया तत्समानाकारचैत्रात्मक-
ज्ञाननिवर्तकतापत्तेर्दुर्वारत्वादिति भावः । आस्तां स्यात् । अहन्त्वादीति । उपाध्यविषयकस्यापीत्यादिः । आदिना
युष्मत्पदार्थतावच्छेदकावस्थात्रयवत्त्वपरिग्रहः । वाक्येति । अहं ब्रह्मास्मि तत्त्वमपि इत्यादिवाक्येत्यर्थः । तथा-
त्वात् । मूलज्ञाननिवर्तकत्वात् । अत्र प्रमाणमाह—अत एवेति । अहन्त्वादिधर्मोपस्थिते द्वारतयापेक्षणादेवेत्यर्थः ।
महावाक्यशेषत्वमिति । अन्यथाऽतादृशवान्तरवाक्यानां वैयर्थ्यापत्तेरिति भावः । एवंच तेषां महावाक्यसापेक्षत्व-
मुक्तम् । महावाक्यस्य तत्सापेक्षत्वमाह—अवस्थात्रयवत्त्वेनेति । वाक्येनेति । अनुवादेनेति शेषः । बोधनम्
अवस्थात्रयानुगतब्रह्मरूपत्वबोधनम् । अज्ञानस्य स्तोपहितब्रह्मविषयकत्वे संक्षेपशारीरकविरोधं परिहर्तुं शङ्कते—नन्वाश्रय-
त्वेति । प्रस्थानान्तरत्वात् विवरणप्रस्थानानुरोधित्वात् । अस्माकं तु वाचस्पतिप्रस्थानानुरोधित्वात् । वाचस्पतिमतेऽपि
तदविरोधमाह—केवलपदस्येति । अज्ञानकार्यानुपहितेति । एवं चाज्ञानस्य स्तोपहितविषयकत्वेऽपि न तद्विरोध इति
भावः । उक्तकेवलपदार्थसंकोचे उत्तरवाक्यानुरोधरूपां युक्तिमाह—पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिम इति । अनाद्यज्ञानस्य
पश्चिमः उत्तरोत्पन्नस्तत्परिणामः मनआदिरूपो नाश्रयत्वविषयत्वयोरवच्छेदक इत्यर्थः । कार्यत्वस्येति । हेतुतया
निर्देशात् इत्यन्वयः । केवलपदस्य अज्ञानतत्कार्यानुपहितपरत्वेऽज्ञाने स्वाश्रयत्वविषयत्वावच्छेदकत्वाभावे हेत्वकथनेन न्यून-
त्वापत्तेरिति भावः । नन्वेवमपि—अज्ञानस्य वृत्तेश्च स्तोपहितविषयकत्वे विवरणविरोधो दुर्वारः; तैर्हि तयोः शुद्धविषयक-
त्वस्वीकारादिति चेत् सत्यम्; अस्माकं वाचस्पतिप्रस्थानानुरोधित्वात् । एवं तर्हि वाचस्पतिमतस्यापि भवतो विरोध
इत्याशङ्कते—अथेति । वेदान्तमहावाक्यजन्याया अपि वृत्तेः 'दशमस्त्वमसी'त्यादिशाब्दवृत्तेरिव इन्द्रियसन्निकर्षादिवशात्
प्रत्यक्षयोग्यविषयिकायाः प्रत्यक्षत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्यावश्यकत्वादिति भावः । उक्तवृत्त्युपहितस्य वेदान्तजन्यब्रह्म-
साक्षात्काररूपवृत्त्युपहितस्य, शुद्धविषयकतद्वृत्तिविषयकयोग्यस्येत्यर्थः । तदा वृत्तिपूर्वं । तत्र अविद्यमाने उक्तवृत्त्युपहिते ।
उक्तसंयोगेति । मनःसंयोगरूपसंनिकर्षेत्यर्थः । विषयतासंबन्धेनेति । तत्रैत्यनुषङ्गः । हेतुत्वासंभव इति ।
व्यभिचारादिति भावः । उक्तवृत्तिः मनःसन्निकर्षशब्दोभयजन्या वृत्तिः । स्वम् उक्तवृत्तिः, मनःसंयोगेति । कारणस्य
मनःसंयोगस्य । स्वाश्रयदेशे शुद्धस्य ब्रह्मणः स्वाश्रयत्वासंभवात् मनःसंयोगोपहिते ब्रह्मणि । कार्येति । उक्तवृत्तिरूप-
कार्येत्यर्थः । एवमप्युक्तव्यभिचारोऽस्त्येवेत्यत आह—तथाचेति । वृत्त्युपहिते व्यभिचारवारणाय मनःसंयोगोपहितवृत्तित्वं
लौकिकविषयताया विशेषणम् । पूर्वोत्पन्नमनःसंयोगस्योक्तसाक्षात्कारोत्पत्तिक्षणेऽपि सत्त्वादुक्तविषयतायामुक्तवृत्तित्व-
निर्वाहः । वृत्त्युपहितएवेति । अज्ञानेन ज्ञानस्य सह स्तोपहितमात्रविषयकत्वरूपसमानविषयकत्वानुरोधात् आत्मनो
वृत्तिविषयकत्वे वृत्तेरिव मनःसंयोगस्याप्युपाधित्वेन स्तोत्रसिद्धत्वेनाज्ञानविषयकत्वे चानुपाधित्वे मात्रार्थानुपपत्तेरिति
भावः । मनःसंयोगिनिष्ठस्वविषयाभिन्नत्वसंबन्धेनेति । मनःसंयोगरूपोपाधेः मनोवृत्तिरूपोपाधेरुत्पत्तिकालेऽधि-
करणे च मनसि सत्त्वादुक्तोपाधिद्वयस्यैकदेशकालीनत्वेन तदुभयोपहितात्मरूपोपधेयभेदाभावे मनःसंयोगोत्पत्तिद्विती-
यक्षणावच्छेदेन मनःसंयोगिनः स्वविषयीभूतस्तोपहिताभिन्नत्वेनोक्तसंबन्धेनोक्तवृत्तिः स्तोत्रसिद्धावच्छेदेन मनः-
संयोगिनि स्तोपहिते उत्पद्यते, मनःसंयोगश्च स्तोपहिते पूर्वमस्ति, इति कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्योपपत्तिः ।
नचैवं—तत्त्वज्ञानस्य मनःसंयोगोपहितविषयकत्वात् स्तोपहितमात्रविषयकत्वरूपाज्ञानसमानविषयकत्वानिर्वाह इति—

शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्; अन्यथा शशविषाणं तुच्छमित्यादिशब्दजन्यवृत्तिविषये तुच्छे व्यभिचारस्य दुरुद्धरत्वात् । एवं च सति शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न तत्र व्यभिचारः;

सिद्धिव्याख्या ।

विशेषणानन्तर्भाव इत्यर्थः । एवं च सतीति । विवक्षितस्य दृश्यत्वे सतीत्यर्थः । न तत्र व्यभिचार इति । तुच्छे ब्रह्मणि च न व्यभिचार इत्यर्थः । विवक्षितहेतोरुभयत्राभावादिति भावः । हेत्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गिनिष्ठं यत् स्वविषयाभिन्नत्वं तेन संबन्धेन मानसप्रत्यक्षे मनःसंयोगस्य हेतुत्वे न दोषः । नच—विनश्यदवस्थेन मनःसंयोगेनोत्पादितस्य मानसप्रत्यक्षस्य उक्तसंबन्धेनोत्पत्त्यसंभव इति—वाच्यम्; तदसंभवेऽप्यविनश्यदवस्थेनैव तत्संभवात् । विषयत्वेऽपीति । 'केवलो निर्गुण' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणि परमार्थतो धर्मनिषेधात्, अन्यथा उपहित-

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

वाच्यम्; मनःसंयोगस्य स्वाश्रयत्वोपाधित्वेऽपि वृत्तिविषयोपाधित्वविरहेण वृत्तेः स्वोपहितमात्रविषयकत्वस्याक्षतत्वात् । अतएव मनःसंयोगिनिष्ठत्वमेवोक्तम्, ननु मनःसंयोगोपहितनिष्ठत्वम् । नचैवं—संयोगिनिष्ठविषयतासंबन्ध एव कार्यता-वच्छेदकोऽस्तु, स्वविषयाभिन्नत्वस्यापि तद्रूपत्वादिति—वाच्यम्; एतावदर्थस्य स्फुटीकरणाय तथोक्तेरादरात् । **उत्पत्त्यसंभव इति** । तत्काले मनःसंयोगनाशेन तद्वटितसंबन्धाभावादिति भावः । **अविनश्यदवस्थेनैवेति** । तावतान्वय-व्यभिचारोद्धारे तदुत्तरक्षणेऽपि तत्कार्योत्पत्तौ प्रयोजनाभावात् । नच—यदा सामग्रीविलम्बेन मनःसंयोगद्वितीयक्षणे नोक्तसाक्षात्कारः; किंतु तत्तृतीयक्षणे एव, तत्रान्वयव्यभिचारो दुर्वार इति—वाच्यम्; स्वोत्पत्तिक्षणावच्छिन्नत्वेनैव मनःसंयोगस्य हेतुत्वोपगमेन तद्वारणसंभवात् । **ननु** शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्ञानाज्ञानविषयत्वे ज्ञानाज्ञानयोरुपाधित्वं न संभवति, आत्माश्रयात्; नच—ज्ञानादिविषयत्वे विषयतासंबन्धेन ज्ञानादिकमुपाधिरिति नोक्तदोष इति—वाच्यम्; शब्दभेदेऽपि पर्यवसितार्थाभेदात् । उपाध्यन्तरं तु निरस्तमेव । किंच ज्ञानोपहिते एव तद्विषयत्वं, शुद्धेऽसंभवात्; ज्ञानाज्ञानरूपोपाधी तु विषयतासंबन्धेन शुद्धेऽपीत्युक्तिस्तु निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयैव । नच तत्रोपाध्यन्तरम्; अनवस्थापत्तेरनभ्युपगमाच्च । तस्मात् शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्ञानाज्ञानविषयत्वं स्वीकार्यम् । एवंच 'आश्रयत्वविषयत्वे'त्यादिसंक्षेपशारीरकादेरप्यविरोधः । नच 'पूर्वसिद्धतमस' इत्युत्तरवाक्ये अज्ञानस्याप्युपाधित्वे हेत्वकथनात् न्यूनता; आत्माश्रयेण तदुपाधित्वस्याप्रसक्तेः । नच—वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण शुद्धत्वासंभव इत्युक्तमिति—वाच्यम्; वृत्तिरूपधर्मवत्त्वस्यापि शुद्धेऽसंभवात् । नच—निर्धर्म-कत्वव्याघातः; वास्तवधर्मस्यैव निषेधेनारोपितधर्माभ्युपगमे बाधकाभावात् । वक्ष्यते चैतद्वीकायाम् । नच 'यत्तदद्रेश्य'मिति श्रुतिविरोधः; तस्याः फलव्याप्यत्वनिषेधपरत्वात् । एवंच यत्तच्छब्दाभ्यां ज्ञाते एव धर्मिणि शुद्धे दृश्यत्वनिषेधोपपत्तिः । एवंच 'सर्वप्रत्ययवेद्य' इत्यादिवचनविरोधोऽपि न । शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यं च स्वारस्येन संगच्छते । शुद्धादिपदवैयर्थ्य-शङ्क्यैव 'न शुद्धं' 'नाशुद्ध'मित्यादीनि बह्वाजस्य संपद्यते । नच वाचस्पतिमतविरोधः, तस्य प्रस्थानान्तरत्वात् । तथाच सत्ये शुद्धे ब्रह्मणि वृत्तिविषयत्वरूपदृश्यत्वहेतोः सत्त्वात् मिथ्यात्वसाधकानुमानं व्यभिचारो विरुन्ध्यादेवेत्याशङ्काह **मूले—वस्तुतस्तु इति** । **शब्दाजन्येति** । ब्रह्मसाक्षात्काररूपा वृत्तिः वेदान्तशब्दजन्या, औपनिषदज्ञानस्यैव मोक्षजनकत्वात् । साक्षात्काररूपत्वं तु तस्य ब्रह्मविषयस्वाभावात् । "यत् साक्षादपरोक्षात् ब्रह्मेति" श्रुतेः, मनोरूपेन्द्रियसंप्रयोगस्यापि संभ-वात् । अतएवापरोक्षभ्रमनिवृत्तिरिति भावः । वाचस्पतिमतेऽप्येतद्विवक्षाया आवश्यकत्वमाह—**अन्यथेति** । **अन्यथा** शब्दाजन्यत्वानिवेशे । **दुरुद्धरत्वादिति** । नच—उक्तवृत्तिव्यावृत्तरूपेणैव हेतौ वृत्तेर्निवेशात् नार्थं दोष इति—वाच्यम्; तादृशरूपस्य दुर्वचत्वात् । नच—वस्तुविषयकत्वं तत् विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वादिति—वाच्यम्; सिद्धान्ते ब्रह्मभिन्नघटादीनामपि वस्तुत्वानुपगमेन तद्वृत्तेः हेतावप्रवेशेन हेतोः साध्यविरुद्धत्वासिद्धत्वापत्तेः । नापि मिथ्याविषयत्वं; पक्षे साध्यसिद्धिं विना तद्वटितहेतोरसिद्धत्वात् । नापि सविषयकत्वं; तुच्छवृत्तेरपि तत्सत्त्वोक्तैः । अन्यथा तुच्छतद्वृत्तिव्य-वहारानुपपत्तेरिति भावः । **एवंच** शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वे च हेतौ सति । तत्र शुद्धे । **ननु** 'साक्षी चेता' इत्यादिश्रुत्या शुद्धे ब्रह्मणि धर्मेसामान्यनिषेधात् शुद्धं ब्रह्म कस्मात् वृत्तिविषय इत्यत आह टीकायाम्—**केवलो निर्गुण इत्यादि श्रुत्येति परमार्थतः** पारमार्थिकत्वेन । **धर्मनिषेधात्** धर्माभावबोधनात् । अस्य युक्तत्वाचेत्यस्य च पञ्चम्यन्तस्य शुद्धमपि वृत्तिविषय इत्यत्रान्वयः । एवंच शुद्धे आरोपितोक्तवृत्तिविषयत्वरूपधर्मोपगमेऽपि न तद्विरोध इति भावः । शुद्धस्य वेदान्तजवृत्तिविषयत्वानुपगमेऽप्युक्तश्रुतेरुक्तरीत्यासंकोच आवश्यक इत्याह—**अन्यथेति** । आरोपितस्यापि

तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वानभ्युपगमात् । यद्वा—सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्,

सिद्धिव्याख्या ।

भामेव दर्शयति—तुच्छब्रह्मणोरिति । विषयव्याख्यर्थं पक्षान्तरमाह—यद्वेति । सप्रकारकेति । इदं च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ब्रह्मतादात्म्यस्य शुद्धे अवश्यं वाच्यत्वेन श्रुतिवाधापत्तेः स्वप्रकाशेऽपि ब्रह्मणि कल्पिताज्ञाननिवृत्त्यर्थं वृत्तिविषयत्वस्य युक्तत्वाच्च शुद्धमपि ब्रह्म वृत्तिविषयः । किंच न स्वप्रकाशे चिदंशेऽज्ञानम्, किंतु पूर्णानन्दोऽंशः तथाच तस्य शुद्धस्यापि वृत्तिविषयत्वमावश्यकम् । तदुक्तम्—‘फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकारैर्निराकृतम् । ब्रह्मण्यज्ञाननाशार्थं वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥’ इति, इति भावः । तुच्छशुद्धयोरित्यादि । ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुज्ञान्यो विकल्प’ इति पातञ्जलसूत्रात् शशविषाणादिशब्दैस्तुच्छव्यवहाराच्च तुच्छं शब्दवृत्तेर्विषयः; उक्तरीत्या च

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

निषेधे इत्यर्थः । उपहितब्रह्मतादात्म्यस्य मायोपहितब्रह्मरूपेश्वरतादात्म्यस्य । शुद्धे ब्रह्मणि । अवश्यं वाच्यत्वेनेति । अन्यथा अधिष्ठानाभावेन तस्यारोपितत्वाभावे सत्यत्वापत्तेः प्रतिपन्नोपाधित्वघटितमिथ्यात्वानुपपत्तेश्चेति भावः । श्रुतिवाधापत्तेरिति । शुद्धे उपहिततादात्म्यरूपधर्मोपगमे निर्धर्मकत्वबोधकोक्तश्रुतिवाधापत्तेरित्यर्थः । ननु शुद्धे ब्रह्मणि अस्तु मायोपहिततादात्म्यादिरूपमारोपितं धर्मान्तरं, वृत्तिविषयत्वं तु आरोपितमपि मास्तु, शुद्धस्य स्वप्रकाशत्वेन प्रयोजनाभावादित्यत आह—स्वप्रकाशे इति । युक्तत्वात् आक्षेपणीयत्वात् । ननु स्वप्रकाशचैतन्यरूपे शुद्धे ब्रह्मणि कल्पिताज्ञानकृतावरणस्य सूर्ये तमःकृतावरणस्येवासंभव इति किमर्थं वृत्तिविषयत्वं स्वीकार्यमित्यत आह—किंचेति । चिदंश इति । सदंश इवेति शेषः । यथाहि—‘अस्मि नवेति’ संशयस्य ‘नाहमस्मीति’ विपर्ययस्य चाभावात् सदंशे नाज्ञानम्, एवमहमात्मानं जानामि न वा ‘अहमात्मानं न जानामि’ इति संशयविपर्यययोरभावात् चैतन्यांशेऽपि नाज्ञानमिति भावः । किं तु पूर्णानन्दोऽंश इति । व्यापकतांशे इत्यर्थः । ब्रह्मांशे इवेति शेषः । यथा ‘अहं ब्रह्म न वा’ ‘नाहं ब्रह्म’ इति संशयविपर्ययाभ्यां ब्रह्मांशेऽज्ञानं, तथा ‘अहं पूर्णानन्दो न वा’ ‘नाहं पूर्णानन्द’ इति संशयविपर्ययाभ्यां पूर्णानन्दोऽज्ञानमस्तीति भावः । ननु—‘सच्चिदानन्दब्रह्मस्वरूपोपमात्मा’ तत्रांशपदार्थो न तावदवयवः; निरवयवत्वात्, नापि धर्मः; निर्धर्मकत्वात्, तथाचेत्युत्तरपक्ष्या शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वोपसंहारासङ्गत्तेश्च, पूर्णानन्दत्वेनाज्ञानविषयताया अपि तथैवावश्यकत्वादिति—चेत्; अत्रेदं प्रतिभाति—अंशो विषयताविशेषपरः, यद्वशात् ‘पूर्णानन्दं ब्रह्म न जानामि’ इति पूर्णानन्दब्रह्मोपरागेणाज्ञानानुभवव्यवहारौ ‘पूर्णानन्दब्रह्माह’मित्यनुभवो ‘नाहं पूर्णानन्दब्रह्म’ इति भ्रमश्च । तादृशो विषयताविशेषश्च शुद्धे एव पूर्णानन्दे ब्रह्मणि, परं तु तदज्ञानाविषयीभूतोपलक्षणीभूतकल्पितपूर्णानन्दब्रह्मत्वरूपधर्मप्रकारकः । तथाच प्रत्यक्षमणिदीधितावुक्तम्—‘ज्ञानस्य विषयता एकैकविशेषे, प्रकारसंसर्गयोस्तु न विषयता; परंतु सा घटादौ द्रव्यत्वज्ञानोत्तरेदं द्रव्यमिति ज्ञानीया द्रव्यत्वप्रकारिका समवायसंसर्गिका च, द्रव्यादौ घटत्वज्ञानोत्तरायं घट इति ज्ञानीया घटत्वप्रकारिका समवायसंसर्गिका च । प्रकारत्वसंसर्गत्वे विषयतायाः संबन्धविशेषौ, ननु ज्ञानस्येति ॥’ ईदृशी च सच्चित्त्वप्रकारिका विषयता नाज्ञानस्यास्ति, अतस्तदुपरागेण ‘सच्चितं न जानामि’ इत्यनुभवव्यवहारौ न स्तः; सच्चिदहं इत्यनुभवः, ‘नाहं सच्चित्’ इति भ्रमाभावश्चास्ति । उक्तविषयताविशेष इव वेदान्तजन्यवृत्तिविषयतापि वृत्त्यविषयीभूतोपलक्षणीभूतकल्पितपूर्णानन्दब्रह्मत्वप्रकारिका शुद्धे एव पूर्णानन्दशाल्यज्ञाननिवर्तिका, अरूपे ब्रह्मणि उक्तविषयताशालिवृत्तिसामग्री तु पूर्णानन्दादिपदशक्तिप्रयोज्या पूर्णानन्दब्रह्मत्वप्रकारकब्रह्मोपस्थितिः, अहंत्वादिधर्मप्रकारिका च जीवोपस्थितिः, शुद्धे ब्रह्मात्मस्वरूपे तात्पर्याज्ञानं, ‘नेह नाने’त्यादि वाक्यजन्यसकलधर्मबाधाप्रहृष्टेत्येवमादिरूपा । तदुक्तं ग्रन्थकृता—अवस्थान्नयवत्त्वाहंत्वोपलक्षितशुद्धजीवस्य ‘योऽयं विज्ञानमय’ इति वाक्ये बोधनसंभवादिति । तदाह—तथाचेति । अज्ञानविषयतायाः पूर्णानन्दत्वोपलक्षिते शुद्धे सत्त्वे इत्यर्थः । तस्य पूर्णानन्दत्वोपलक्षितस्य । शुद्धस्य पूर्णानन्दस्य ब्रह्मणः । वृत्तिविषयत्वमिति । वेदान्तमहावाक्यजन्येत्यादिः । आवश्यकमिति । अन्यथोक्तविषयताकाज्ञानसमानविषयकलमुक्तवृत्तेर्न स्यादिति भावः । “यत्तदद्रेश्यमिति” श्रुतिवाक्येन शुद्धे फलव्याप्यत्वं निषिध्यते, ननु वृत्तिविषयत्वमपीत्येवं संकोचेनोक्तश्रुतिव्याख्याने शुद्धस्याज्ञानविषयत्वे चाभियुक्तसंमतिमाह—तदुक्तमिति । फलव्याप्यत्वं वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्वम् । अस्य शुद्धस्य । शास्त्रकारैर्निराकृतम् । “स्वयंप्रकाशमानत्वाच्चाभास उपयुज्यते” इत्युक्तेः । ब्रह्मणि ब्रह्मत्वोपलक्षिते शुद्धे ब्रह्मणि यदज्ञानं तन्नाशार्थं तादृशे ब्रह्मणि वृत्तिविषयत्वमिष्यत इत्यर्थः । तुच्छशुद्धयोः शब्दजन्यवृत्तिविषयत्वमुपपादयति—शब्दज्ञानानुपा-

प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद्धर्मः; तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे निरुपाख्यधर्मप्रकारकज्ञानविषयी-

सिद्धिव्याख्या ।

वेदान्तजन्यचरमवृत्तिविषये शुद्धब्रह्मणि व्यभिचारवारणायैव । ननु शशविषाणं तुच्छमित्यादिशब्दजन्य-
वृत्तेरपि तुच्छत्वप्रकारकतया तद्विषये तुच्छे व्यभिचारतादवस्थमित्यत आह—प्रकारश्चेति । सोपा-
ख्यत्वरूपः कश्चिद्धर्म इत्यर्थः । तेनेति । उक्तदृश्यत्वेनेत्यर्थः । शुद्ध इति । वेदान्तजन्यनिष्प्रकारक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुद्धब्रह्मापि श्रुतिजन्यवृत्तिविषयः; शब्दान्यमानस्य तु तयोरप्रवृत्तेः न तज्जन्यवृत्तिविषयतेति भावः । ननूक्तशब्दे-
नेव तुच्छं वृत्तिविषयः; व्यवहियमाणत्वात्, तुच्छं न क्षणिकम्; अकारणत्वात्, इत्याद्यनुमानेनापि तुच्छं ज्ञाप्यते,
तत्राह—यद्वेति । कश्चिद्धर्म इति । ग्राह्य इति शेषः । तथाच सोपाख्यधर्मनिष्प्रकारकतावृत्तिविषयत्वं हेतुः ।
तुच्छेऽपि 'अस्ती'ति धीविषयत्ववादिनं माध्वं प्रति विषयत्वादीत्यत्रादिपदमुक्तम्, सत्तादात्म्यासत्तादात्म्यत्वा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तीति । तयोस्तदन्यवृत्त्यविषयत्वमुपपादयति—शब्दान्यमानस्य तु इति । तयोरप्रवृत्तेरिति । शुद्धस्य ब्रह्मणो
निर्धर्मकत्वेन हेतुसाध्यरूपधर्मसंबन्धासंभवात्, तुच्छस्याप्यसतः सद्भिः हेत्वादिभिः संबन्धासंभवादिति भावः ।
तुच्छवृत्तिनिर्विषयकेति मतेनेदं सविषयिकेति मते तत्त्वंशब्दस्यैवानुमानस्यापि प्रवृत्तिर्दुर्वारेत्याशङ्क्या यद्वेति कल्पा-
न्तरमवतारयति—नन्विति । तुच्छं वृत्तिविषय इति । सदसतोरपि विषयतारूपसंबन्धस्तुच्छवृत्त्यादिसाधुप-
दानामुन्मत्तोच्चरितासाधुशब्दानामिव निर्विषयकत्वापत्तिवारणायाङ्गीकार्य इति भावः । व्यवहियमाणत्वात्
तुच्छादिपदविषयत्वात् । नहि पदविषयत्वं पदाधीनवृत्तिविषयत्वं विना घटते इति भावः । ननु उक्तानुमानस्य
तुच्छादिपदलिङ्गकत्वेन शब्दप्रयोज्यत्वात्, शब्दान्यजन्यवृत्तिविषयत्वमित्यत्र जन्यपदस्य प्रयोज्यपरत्वात् न तुच्छे
व्यभिचार इत्यत आह—तुच्छं न क्षणिकमिति । अकारणत्वादिति । क्षणिकत्वसाधकहेतोः अर्थक्रियाकारि-
त्वस्य कारणतारूपत्वात् । तद्विरहे क्षणिकत्वसाधकहेत्वभावेनाक्षणिकत्वं साध्यते । नच—व्याप्याभावो न व्यापकाभाव-
साधक इति—वाच्यम्; सत्त्वक्षणिकत्वयोः समनियतत्वात् । तुच्छं ज्ञाप्यत इति । इदं द्विविधमपि तुच्छज्ञानं
बाधितविषयकत्वात् भ्रम इति । एतन्मते द्विविधो भ्रमः, मिथ्याविषयकोऽसद्विषयकश्चेति बोध्यम्; मूले—सप्रकारक-
वृत्तिविषयत्वमिति । इदं प्रकारविशिष्टे एव ब्रह्मणि, न शुद्धे, निर्विकल्पकवृत्तिविषयत्वस्यैव तत्रोपगमादिति न शुद्धे
व्यभिचार इति भावः । प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चित् धर्म इति मूलं—प्रकारपदार्थकथनरूपमिति प्रतीयते, तच्च
न युक्तम्; सोपाख्यधर्मकत्वस्य वृत्तौ लभेऽपि सोपाख्यधर्मं प्रकारत्वस्यालभात्, इत्यतः पूरयति—ग्राह्य इति ।
शेष इति । प्रकार उक्तधर्मरूपो ग्राह्य इत्यर्थात् उक्तधर्मत्वं प्रकारे विशेषणमिति लभ्यते इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—
तथा चेति । मूले—तेन सोपाख्यधर्मप्रकारकत्वनिवेशेन । तत्र सप्रकारकप्रयोजनमाह—निष्प्रकारकेति । सोपा-
ख्यत्वप्रयोजनमाह—निरुपाख्येति । अभावत्वस्य निरुपाख्यत्वाभिमानमूलिकामभावे भागासिद्धिशङ्कां निरस्यति—
अभावत्वस्यापीति । अभावे इति । भूतलाद्यनुयोगिके घटादिप्रतियोगिके अभावे इत्यर्थः । न भागासिद्धि-
रिति । एवंच सिद्धान्तेऽभावो न तुच्छः, किंतु घटादिवत् दृश्यो मिथ्या च; परमते त्वभावः तुच्छः, तद्धर्मभूताभाव-
त्वादिकमपि तुच्छमिति बोध्यम् । ननु तदुभयसाधारणं किं सोपाख्यत्वमत आह—उपाख्या चेति । अस्तीतिधी-
विषयत्वेति । इदंच द्रव्याद्यभावादीनां 'द्रव्यादिकमस्ति' 'भूतले घटाभावः' 'तत्राभावत्वं' चास्तीति प्रतीतिविषयत्वात्, न
तुच्छस्य; 'शशशृङ्गादिकमस्ती'ति प्रत्ययाभावात् । एतल्लक्षणे परमतेनासिद्ध्यसिद्ध्यादिपदं अवतारयति—तुच्छेऽपीति—
माध्वं प्रतीति । तेनेदं रजतमस्ती'ति भ्रमे अलीकरजतस्यैव भानोपगमादिति भावः । सत्तादात्म्येति—अविद्या-
काशादिनिखिलप्रपञ्चसंग्रहायैदं सत्तादात्म्ये सत्तादात्म्यान्तरोपगमेऽनवस्थापत्तेस्तदसंग्रहवारणाय सत्तादात्म्यत्वनिवेशः ।
अत्र यदि सत्प्रतियोगिकं तादात्म्यमनुयोगितासंबन्धेन निवेश्यते, तदोपाख्या सति ब्रह्मणि न स्यात्; एवं सदनुयोगि-
कतादात्म्यस्य प्रतियोगितासंबन्धेन निवेशोऽपि; नचैकमेव सत्प्रपञ्चयोस्तादात्म्यं; परस्परार्थासरीत्या तादात्म्यद्वयस्यावश्य-
कत्वात् । तस्मात् सत्प्रतियोगिकस्य सदनुयोगिकस्य वा तादात्म्यस्य प्रतियोग्यनुयोगिसाधारणाश्रयतासंबन्धेन निवेशः ।
अतएव तादात्म्यत्वसाधारणान्यतरत्वेन तद्वत्त्वनिवेशः । संयोगस्यैव समवायसंबन्धेन तादात्म्यस्यापि स्वरूपसंबन्धेन प्रति-
योग्यनुयोग्युभयसाधारण्यश्रयता संभवतीति बोध्यम् । तुच्छनिष्ठाभावरूपधर्मस्य सोपाख्यत्वे तुच्छे व्यभिचारशङ्कां निरुपाख्य-

भूते तुच्छे च न व्यभिचारः । अभावत्वस्यापि सोपाख्यत्वादभावत्वप्रकारकज्ञानविषयीभूते अभावे न भागासिद्धिः । उपाख्या चास्तीतिधीविषयत्वादीत्यन्यत् । एतेन वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोः साधारणं व्यव-

सिद्धिव्याख्या ।

ज्ञानविषयीभूतशुद्ध इत्यर्थः । न व्यभिचार इति । उक्तहेत्वभावादिति भावः । नन्वेवमपि अभावे भागासिद्धिस्तस्याभावत्वप्रकारकज्ञानविषयत्वे विवक्षितज्ञानविषयत्वाभावादित्यत आह—अभाव-
त्वस्यापीति । सोपाख्यत्वात् अस्तीतिप्रतीतिविषयत्वसहितत्वात् । तथाचाभावत्वप्रकारकज्ञानमपि सोपाख्यधर्मप्रकारकमेवेति न तद्विषयेऽभावे भागासिद्धिरिति भावः । एतेनेति । वृत्तिव्याप्यफल-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्यतरत्वं तदर्थः । तुच्छनिष्ठस्य सर्वदेशकालनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादेस्तुच्छत्वमेव; अधिकरणस्वरूपत्वात्, तुच्छस्यातुच्छधर्मासंभवात्, सदसतोः संसर्गाभावस्य बौद्धाधिकारादावुक्तत्वात् । ननु—तुच्छस्यातुच्छधर्मासंसर्गो कथमभावस्याभावत्वेनातुच्छेन संसर्गः ? अभावत्वं हि 'घटाभावो नास्ति' 'घटो नास्ती'त्यादिधीसिद्धो भावसाधारणत्वादतुच्छोऽखण्डधर्मः, अभावस्तु तुच्छो बौद्धादिसंमत—इति चेत्, अत्र ब्रूमः—अभावत्वस्य तुच्छ-
संसर्गोऽभावत्वादिसाधकोक्तधीबलादेव सिद्धः, तत्सिद्धस्वीकारेऽभावत्वस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । अतएवाभावत्वविशिष्ट-
रूपेणाभावस्यातुच्छत्वात्प्रतियोग्यनुयोगिसंसर्गोऽप्युपपद्यते, तत्र भूतले घटो नास्तीत्यादिप्रतीतेः, तद्भूतलघटः शश-
विषाणमित्यादिशब्दैः प्रतीयमानं तु तद्भूतलानुयोगिकघटप्रतियोगिकाभावशशानुयोगिकविषाणप्रतियोगिकाभावादेः
स्वरूपमखण्डं तुच्छमेव; घटशून्यतद्भूतलादिनिष्ठतया घटप्रतियोगिकतया च समानाधिकरणेन अभावत्वेन प्रतीय-
मानं यत् तस्यैवालीकाखण्डात्मकेन तद्भूतलघटरूपेण प्रत्ययात् । अतएव तेनैव शब्दान्यप्रमाणाग्राह्यत्वम्,

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तोपगमेन परिहरति—तुच्छनिष्ठस्येति । अधिकरणातिरिक्तत्वेऽप्याह—तुच्छस्येति । अत्राभियुक्तसंमतिमाह—सद-
सतोरिति । अत्र भट्टमतविरोधं शङ्कते—नन्विति । अभावस्य तुच्छस्य । अभावत्वस्यातुच्छत्वे मानमाह—अभावत्वं
हीति । अभावस्य तुच्छत्वे तदाह—अभावस्त्विति । अभावतत्त्वयोस्तुच्छातुच्छत्ववत् संसर्गोऽपि मानसिद्ध इति समा-
धत्ते—अत्र ब्रूम इति । अभावत्वसाधकेति । तत्र तत्संसर्गसिद्धिं विना तत्सिद्धेरसंभवादिति भावः । उक्तधीति ।
'घटाभावो नास्ति' 'घटो नास्तीति'धीत्यर्थः । उक्तधियोर्घटाभावेऽभावत्वतत्संसर्गयोः साधकत्वादिति भावः । ननु अभाव-
पदस्य नानार्थत्वात् घटाद्यभावाभावत्वं भावभेदात्मकाभावरूपत्वात् तुच्छमेव, घटादौ भावत्वं भावरूपस्वरूपसंबन्धविशेष-
रूपत्वात् अतुच्छमेवेति न तुच्छातुच्छसंसर्गस्वीकारप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तुच्छाभावस्यातुच्छप्रतियोग्यनुयोगिसंसर्गानुपपत्त्या
परिहरति—तत्सिद्धस्वीकार इति । अतएव अभावपदशक्त्यैक्ये लाघवात् । भावसाधारणातुच्छाभावस्य तुच्छेऽभावे
संसर्गस्वीकारादेवेत्यर्थः । अभावत्वविशिष्टेति । अतुच्छेत्यादिः । रूपेणेति । उक्तविशिष्टं शुद्धाभावादतिरिक्तम् ।
तस्य रूपमिति भावः । अतुच्छत्वादिति । उपपद्यत इत्यत्रान्वयः । अन्यथा तदनुपपत्तिरिति भावः । तदसिद्धौ तत्र
तदनुपपत्तिर्न दोष इत्यतः तत्साधकमाह—तत्रेति । नन्वेवं तद्भूतले 'घटो नास्ती'ति प्रत्यये अभावत्वादिविशिष्टरूपेण
भासमानोऽभावः स्वरूपतोऽप्यतुच्छ एवास्तु, उक्तप्रत्ययस्याभावत्वादिविशिष्टवस्तुविषयकत्वात्; केवलाभावस्वरूपविषयकस्य
वस्तुशून्यप्रत्ययान्तरस्याभावात्, इत्यत आह—तद्भूतलघट इति । तद्भूतलं निर्घटं भूतलं । तत्संबन्धी घटो प्रसिद्ध
एव । अत्र दृष्टान्तसूचनायाह—शशविषाणमिति । आदिशब्देन बन्ध्यापुत्रो गगनारविन्दमित्यादि । शब्दैः प्रतीयमानं
तु शब्दजन्यवृत्तिविषयस्तु । अभावादेः स्वरूपमित्यत्रान्वयः । तद्भूतलं घटशून्यं भूतलम् । अखण्डं अभावत्वघटप्रतियोगि-
कत्वतद्भूतलानुयोगिकत्वाद्यविशेषितम् । तुच्छमेवेति । ननु वस्त्वेव तत्, कथं तुच्छमत आह—घटशून्येति । निष्ठतया
प्रतियोगिकतया चेति तृतीयान्तार्थद्वयं सामानाधिकरण्येऽन्वेति । शशनिष्ठतया विषाणप्रतियोगिकतयेति । चेल्यपि
बोध्यम् । प्रतीयमानमिति । 'तद्भूतले घटो नास्ति' 'शशविषाणं नास्ति' इत्यादिवाक्यजन्यप्रतीतिविषय इत्यर्थः । तस्यै-
वेति । प्रत्ययादित्यन्वयः । अलीकं असत् । अखण्डं रूपान्तरशून्यं तदभिज्ञेनेत्यर्थः । तद्भूतलघटरूपेणेति ।
तद्भूतलघटेतिप्रलाप्येन । प्रत्ययात् विकल्पाख्यवृत्तौ भानात् । ननु एकस्यैवाभावस्य तद्भूतले 'घटो नास्तीति' प्रत्यये
अभावत्वादिना अतुच्छस्य भानं 'तद्भूतलघट' इति प्रत्यये तद्भूतलघटात्मकेन तुच्छेन रूपेण तुच्छस्य भानमिति न
स्वीक्रियते, किंतु न जाद्विपदाभिलाष्यप्रत्ययेऽभाव एवातुच्छो भासते तद्भूतलमित्यादिविकल्पाख्यप्रत्यये तु उक्ताभावादन्व-
देवालीकमखण्डमेकमेव किंचित् भासते इत्येव स्वीकार्यम्; अन्यथैकस्यैवाप्रमाणशब्दमात्रप्राप्तत्वं शब्दान्यप्रत्यक्षादिप्रमाण-

हारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; ब्रह्मणि तुच्छे च व्यभिचारपरिहारोपायस्योक्तत्वात् । यद्वा—

सिद्धिव्याख्या ।

व्याप्यशब्दौ पूर्वमेव व्याकृतौ । तयोः साधारणमनुगतमित्यर्थः । व्यवहारप्रयोजकविषयत्वं वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वान्यतरमित्यर्थः । एतच्छब्दार्थमाह—ब्रह्मणीति । ब्रह्मणि व्यभिचारपरिहारोपायकथनेनेत्यर्थः । यदि ब्रह्मणि वृत्तिव्याप्यत्वरूपविशेष्यस्य सत्त्वं, तदा सामान्यस्यापि सत्त्वाव्यभिचार इति वक्तुं शक्यते । नच तदस्तीत्युक्तत्वादिति भावः । ननु अतीतानागतयोश्चिद्विषयत्वाभावाद्भयत्रासिद्धि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अभावत्वादिविशिष्टरूपेण तु प्रत्यक्षेणानुपलब्ध्या वा ग्राह्यत्वमिति दिक् ॥ यदि तुच्छेऽप्यतुच्छधर्मसंसर्ग इति कस्यचिदाग्रहः, तदास्तीति धीविषयत्वादिसमानाधिकरणं वृत्तिविशेष्यत्वं हेतुर्बोध्यम् । प्रयोजकविषयत्वेति । प्रयोजकयोश्चित्तादात्म्यवृत्तिविषयत्वोरन्यतरत्वर्थः । चित्तादात्म्ये वृत्तेराकारे च विषयतात्वस्यैकस्याभावेनोक्तान्यतरत्वरूपेणैव

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ग्राह्यत्वं चेति विरुद्धकल्पनागौरवं च स्यात्, अत आह—अतएवेति । एकस्यैवाभावस्य रूपमैवेन तुच्छत्वातुच्छत्वयोः स्वीकारादेवेत्यर्थः । तेनैव तुच्छत्वावच्छेदकेन तद्भूतलघटरूपेणैव । अभावत्वादीति । अतुच्छत्वादिः । वेति । घटप्रमाविरहलिङ्गकानुमानेनैव बोध्यम् । इदं च भट्टमतपरिष्कारमात्रम् । वस्तुतस्तु तद्भूतलघटात्मकमेकं तुच्छं, तेन रूपेण तद्भूतलघटकरणकघटप्रतियोगिकाभावश्चापरस्तुच्छः सचाभावत्वादिना तुच्छ इति कल्पने गौरवम् । उक्ताभावोऽतुच्छ एव तद्भूतलघटादिकमेकैकमेव तुच्छमिति कल्पने लाघवम् । किंच यदि शशविषाणमित्यादिवाक्यैः शशाद्यधिकरणकविषाणादिप्रतियोगिकाभावो बोध्यते, तदा शशविषाणं नास्तीत्यादिवाक्यैस्तेषां समानार्थकत्वं स्यात्; 'शशशृङ्गं नास्तीति' शशे शृङ्गं नास्तीत्यर्थे इति चिन्तामण्युक्तेः । पर्वते बहिरस्ति, 'बह्व्यभावो नास्तीति' वाक्यवत् । अतएवाभावे न भागासिद्धिरिति वदता मूलकृताप्यभावस्यातुच्छत्वमेव स्वीकृतम् । एवंचाभावस्यातुच्छत्वादतुच्छेनाभावत्वेन संसर्गं का विप्रतिपत्तिरित्याशयेनाह—दिगिति । नन्वेवं तुच्छस्यातुच्छैस्तुच्छशशविषाणादिपदैस्तदधीनवृत्तिभिश्च संबन्धो न स्यात्, ततश्च तुच्छादिपदतज्जन्यवृत्तिरूपसोपाख्यधर्मप्रकारकवृत्तिविषयत्वात् तुच्छे व्यभिचारो दुर्वार इत्यत आह—यदीति । तुच्छादिपदतद्वृत्तीनां आश्रमस्वाम्यादिभिर्निविषयकत्वस्वीकारात् यदाग्रह इत्युक्तम् । अस्तीति । धीविषयत्वादीत्यादिना सत्तादात्म्यतत्त्वान्यतरत्वतुच्छान्यत्वपरिग्रहः । समानाधिकरणेति । वृत्तिविशेष्यत्वे विशेषणं तुच्छे व्यभिचारवारकम् । विशेष्यतायाः सप्रकारकज्ञानीयत्वनियमात् सप्रकारत्वं परित्यक्तम् । विशेष्यतात्वेन निवेशे लाघवात् समानाधिकरणम् । गतार्थस्तु मूले प्रकारतायामुपात्तः, अत्र तु विशेष्यतायामिति तदंशसाम्यात् । एवंच शुद्धेऽपि ब्रह्मणि न व्यभिचारः; तन्निष्ठवेदान्तजनिर्विकल्पकीयविषयतायास्तुरीयत्वेन विशेष्यतानात्मकत्वात्, निरुक्तविशेष्यता तु किञ्चिद्विशिष्टे उपहिते एव वा ब्रह्मणि; विशिष्टोपहितयोश्च शुद्धादतिरिक्तत्वोपगमान्मिथ्यात्वाच्चेति न तत्र व्यभिचारः । नन्वेवं घटत्वादिविशिष्टविषयकज्ञानविशेष्यतायाः ब्रह्मणीव शुद्धे घटेऽभावेन भागासिद्धिः, विशिष्टादेः शुद्धादनतिरिक्तत्वोपगमे तु किञ्चिद्विशिष्टब्रह्मज्ञानविशेष्यताया घटे इव शुद्धे ब्रह्मणि सत्त्वेन व्यभिचार इति चेत्; अत्रोच्यते—ब्रह्मांशे किञ्चिदप्रकारकत्वं वृत्तिविशेषणमुपादाय ब्रह्मांशे किञ्चिदप्रकारकसोपाख्यधर्मप्रकारकवृत्तिविषयत्वे सोपाख्यत्वसमानाधिकरणं यत् ब्रह्मांशे किञ्चिदप्रकारकवृत्तिविशेष्यत्वं तत्र वा तात्पर्यात् । मूले—साधारणं वेत्यनेन पूर्वापेक्षितं दृश्यत्वपदार्थ परिष्करोति—एतेनेति । ब्रह्मतुच्छयोर्व्यभिचारवारणोपायकथनेनेत्यर्थः । साधारणत्वम् उभयवृत्तित्वम् । तत्रोभयपदार्थप्रकृतमाह—वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोरिति । साधारणमिति । तदुभयवृत्तीति पदत्रिकार्थः । विशिष्टहेतुतावच्छेदकं दर्शयति—व्यवहारेति । अस्तीतिव्यवहारेत्यर्थः । अत्र वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यविषयत्ववृत्तिविषयत्वयोरैकजातीयत्वमभिप्रेत्य चिद्वृत्त्योरेकस्य ज्ञानत्वस्याभावेन ज्ञानीयत्वमपहाय व्यवहारप्रयोजकत्वसहितविषयतात्वेनानुगतरूपेण हेतुतोक्तेति यथाश्रुते प्रतीयते, तन्निष्कर्षयति—प्रयोजकयोरिति । यथाश्रुतोपेक्षावीजमाह—चित इति । अन्यतरत्वरूपेणैवेति । नच चित्तादात्म्यं व्यर्थम्; साधारणपक्षपरिष्कारार्थं तत्सार्थक्यात् । न चैवमपि वृत्तिविषयत्वत्वावच्छिन्नातिरिक्तांशवैयर्थ्येन तद्वदितस्य हेतुत्वासंभवः; चित्तादात्म्यवृत्तिविषयत्वोभयमात्रविशेष्यकज्ञानं तद्व्यतिरिक्तेन निवेद्य तद्विशेष्यत्वरूपान्यतरत्वेन हेतुत्वमुपगम्य वैयर्थ्यशङ्कायाः पूर्वं परिहृतत्वात् । व्यवहारप्रयोजकत्वं

दृश्यत्वं चिद्विषयत्वम्, तच्च यथाकथंचिच्चित्सम्बन्धित्वरूपं हेतुः, तच्च न चैतन्ये; अभेदे भेदनान्त-
सिद्धिव्याख्या ।

रित्याशङ्क्याह—तच्चेति । यथाकथंचिदिति । अतीतादेरविद्यमानतादशायां चिदसंबन्धित्वेऽपि
विद्यमानतादशायां चित्संबन्धित्वम् । यदाकदाचित् चित्संबन्धित्वं चिद्विषयत्वं, तच्च तदु-
भयत्राप्यस्तीति नासिद्धिः । तदुक्तम्—“अतीतादेरपि कदाचित् स्वाकारवृत्तिप्रतिफलितचि-
द्विषयत्वा”दिति ॥ अतएवाविद्यान्तःकरणतद्वर्मादावपि नासिद्धिः तेषामपि साक्षिविषयत्वात् ।
नचैवमपि—नित्यातीन्द्रियेऽसिद्धिः, तस्यापरोक्षैकरसचैतन्यसंबन्धित्वेऽपरोक्षत्वापत्तेरिति—वाच्यम्;
कथंचिदित्यनेन तद्वारणात् । नित्यातीन्द्रियस्यापि ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन वा साक्षिविषयत्वादिति
भावः ननु तर्हि नित्यातीन्द्रियवद्ब्रह्मणोऽपि ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन वा साक्षिविषयत्वसंभवाद्वह्मणि
व्यभिचार इत्याशङ्क्योक्तम्—तच्च न चैतन्य इति । चित्संबन्धित्वरूपचिद्विषयत्वं न
चितीत्यर्थः । अभेदे इति । भेदरहिते चैतन्ये भेदघटितस्य संबन्धस्याभावादित्यर्थः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हेतुतेति भावः । तुच्छान्यविशेष्यकेऽस्तित्वप्रकारके व्यवहारे चितस्तादात्म्यसंबन्धेन हेतुत्वम् । चिद्विशेष्यके अस्ति-
त्वस्य व्यवहारे असत्त्वापादकस्याज्ञानस्य विषयत्वसंबन्धेन प्रतिबन्धकत्वम् । दृश्यविशेष्यकोक्तव्यवहारे विषयताव-
च्छेदकत्वसंबन्धेन तस्य प्रतिबन्धकत्वम् । नच तादात्म्यसंबन्धेन चितश्चित्सत्त्वात् तत्रोक्तव्यवहारस्य उत्पत्त्य-
संभव इति—वाच्यम्; उक्तव्यवहारविषये शुद्धचिति उक्तव्यवहारकारणत्वाद्युपहितचितस्तादात्म्येन सत्त्वात् ।
नच—उक्तप्रतिबन्धकाभावेनैवोक्तव्यवहारजननसंभवात् चितस्तत्र कारणत्वकल्पनं व्यर्थमिति—वाच्यम्; प्रतिबन्ध-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तूक्तोभयपरिचायकमात्रमिदं चित्तादात्म्ये उपपादयति—तुच्छान्यविषयके इति । तुच्छे व्यभिचारशङ्कावारणाय स्वरूप-
कीर्तनमिदम्; तुच्छेऽस्तित्वव्यवहाराभावेन कार्यतावच्छेदके तत्प्रवेशे तत्प्रयोजनाभावात् । नच—इदमेव कार्यतावच्छेदके
प्रवेश्यतां, नस्तत्त्वप्रकारकत्वमिति—वाच्यम्; यतस्तत्प्रकारकव्यवहारे तत्प्रकारचित् हेतुः, यथा घटत्वादिकारक-
व्यवहारे घटत्वादिकारिकैव चित् हेतुरिति अस्तित्वप्रकारकव्यवहारेऽस्तित्वप्रकारिकैव चित् हेतुरित्यस्तित्वाप्रकारकचितोऽस्ति-
त्वप्रकारकव्यवहारो न स्यादिति तदुपपत्तये तदुपादानस्यावश्यकत्वात् । कार्यतावच्छेदकसंबन्धश्चात्र विशेष्यतेति ज्ञेयम् ।
एवं च तुच्छे चित्तादात्म्यरूपकारणविरहात् नास्तित्वमुपक्रमकारकव्यवहाररूपकार्योत्पत्तिरित्युक्तहेतुत्वकल्पनफलमिति बोध्यम् ।
वृत्तिविषयत्वे व्यवहारप्रयोजकत्वमुपपादयितुमाह—चिद्विशेष्यके इति । तुच्छेऽस्तित्वव्यवहारस्य चित्तादात्म्यरूपकारणा-
भावादेव वारणात् न प्रतिबन्धकापेक्षेति चिद्विशेष्यकत्वमुक्तम् । चैतन्येऽसत्त्वापादकस्यासत्त्वारोपजनकस्याज्ञानस्य विषय-
त्वसत्त्वे कस्यापि व्यवहारस्यानुत्पत्त्याऽस्तित्वस्येत्युपलक्षणं जगत्कारणत्वादिधर्मस्य । यद्वा—यथाऽसति सत्त्वज्ञानं कदापि
नास्ति, तथा चिदात्मनि सत्त्वव्यवहारः सर्वदैवास्ति; ‘अहमस्मि’ ‘ब्रह्मास्मी’ति प्रतीतेः सर्वदैव सत्त्वात् इत्याशयेनास्तित्व-
स्येत्युक्तम् । उक्तव्यवहारप्रतिबन्धकत्वं चोक्ताज्ञानस्य संभवमात्रेणोक्तम्; अतः सच्चिदंशे नाज्ञानमिति पूर्वोक्त्या न विरोध
इति ध्येयम् । दृश्यस्य नाज्ञानविषयत्वम्; जडे आवरणकृत्वाभावात्, किंतु घटादिदृश्योपहितचैतन्यस्यैवेति दृश्यस्याज्ञानविष-
यतावच्छेदकत्वमेवेति तेनैव संबन्धेनाज्ञानस्य दृश्यधर्मिकोक्तव्यवहारे प्रतिबन्धकतामाह—दृश्यविशेष्यकेति । उक्तव्य-
वहारे इति । अस्तित्वादिप्राकारकव्यवहारे इत्यर्थः । प्रतिबन्धकत्वमिति । तथाचेदशप्रतिबन्धकविषयकतयोक्ताज्ञान-
विरोधिसत्त्वप्रकारवृत्तिविषयत्वस्योक्तव्यवहारप्रयोजकत्वमिति भावः । तथापि व्यवहारे वृत्तिविषयत्वसाक्षात्प्रयोजकताया अनुपदं
वक्ष्यमाणत्वात् इदानीं प्रतिबन्धकविषयकतयैव तदुक्तम् । चितश्चित्तीति । स्वतादात्म्यस्य स्वस्मिन्नसंभवादिति भावः ।
यद्यपि पूर्वमेवैतच्छङ्कापरिहाराय व्यवहारपूर्वकालोपहितचित्तादात्म्यसंभव उक्तः; तथाप्यत्र तथोक्त्या शुद्धचिति न व्यवहा-
रोपपादनसंभव इति प्रकारान्तरेणात्र समाधानमिति ध्वनयति—उक्तव्यवहारविषये शुद्धचिति इति । उपहित
चित् इति । उपहितशुद्धयोरभेदेन तादात्म्यसंभवादिति भावः ॥ व्यर्थमिति । नच—उक्तप्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं सत्त्व-
प्रकारकवृत्तिरावश्यकता, तदर्थं च चित्तादात्म्यमावश्यकम्, अन्यथा तुच्छे तत्प्रकारकप्रतीत्यापत्तेरिति—वाच्यम्; उक्तस्वतः—
सिद्धोक्तप्रतिबन्धकाभावस्थले उक्तरीत्या चित्तादात्म्यस्यानावश्यकत्वात् । अतिरिक्तशक्तिवादितेनाह—प्रतिबन्धकेन
हीति । कारणनिष्ठशक्तिविषयकत्वमेव प्रतिबन्धकत्वं, ननु कारणीभूताभावप्रतियोगित्वमिति भावः । ननु अतिरिक्तशक्त्य-
नङ्गीकारमते उक्तप्रतियोगित्वस्यैव प्रतिबन्धकरूपत्वात् चित्तादात्म्यकारणं विनापि प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वनिर्वाहात्

रीयकस्य संबन्धस्याभावात्, अतो न व्यभिचारः । तुच्छे च व्यभिचारः परिहरणीयः । यद्वा—स्वव्य-

सिद्धिव्याख्या ।

नच—भेदघटितसंबन्धाभावेऽपि संबन्धित्वरूपविषयत्वे किं बाधकमिति—शङ्क्यम्; विषयत्वस्य स्वरूप-
संबन्धविशेषत्वेन संबन्धाभावे तद्विशेषरूपविषयत्वस्याप्ययोगादिति भावः । तुच्छस्यापि तद्विषयत्वे
तत्र व्यभिचार इत्याशङ्क्याह—तुच्छे इति । असतः स्वस्यैवाभावात् न तत्र व्यभिचारः । अतएव
गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

केन हि कारणे शक्तिरिस्त्रिक्रियते, ननु तदभावः कारणम्; तथाचासाधारणं कारणं चिदेव । किंचोक्तप्रतिबन्ध-
काभावः तुच्छेऽप्यस्तीति तत्राप्युक्तव्यवहारापत्त्या चित्तादात्म्यमवश्यं तत्प्रयोजकम्, तुच्छविषयकशब्दप्रयोगादिव्य-
वहारे तु विकल्परूपवृत्तिविषयत्वमिति भावः । यथाकथंचित् साक्षात्परंपरासाधारणम् । चैतन्ये शुद्धचिति ।
अभेदे अत्यन्ताभेदे । भेदनान्तरीयकस्य विनाशित्वादिरूपं यत् ब्रह्मवैलक्षण्यं तद्व्याप्यस्येत्यर्थः । संबन्धस्येति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

चित्तादात्म्यकारणत्वं व्यर्थमेवेत्यत आह—किंचेति । तत्रापि तुच्छेऽपि । उक्तेति । अस्तीतीत्यर्थः । आपत्त्येति ।
तद्वारणार्थमिति शेषः । तत्प्रयोजकम् अस्तीति व्यवहारप्रयोजकम् । ननु तथापि शब्दप्रयोगरूपव्यवहारसामान्ये
वृत्तिविषयत्वसामान्यस्य साक्षात्कारणत्वं किमर्थमत आह—तुच्छविषयकेति । चित्तादात्म्यशून्येत्यादिः । शब्दप्रयो-
गादीति । प्रवृत्त्यादिव्यवहाराभावादिति भावः । आदिना तुच्छाभावप्रतीतौ प्रतियोगितया विषयत्वम् । विकल्परूपेति ।
अयं च विकल्पः पूर्वशब्दजन्यो उत्तरशब्दहेतुरिति बोध्यम् । एवं च चित्तादात्म्यरूपचिद्विषयत्ववृत्त्याकाराख्यवृत्तिविषयत्वयोः
व्यवहारप्रयोजकत्वरूपपरिचायकसमन्वयः, निवेशस्तु तयोरन्यतरत्वेनेत्युक्तम् । नन्वेवं ब्रह्मणि तुच्छे च व्यभिचारोऽत्राप्य-
स्तीत्यत आह मूले—ब्रह्मणि तुच्छे चेति । उपायस्येति । वृत्तौ शब्दाजन्यत्वसंप्रकारकत्वान्यतरविशेषणोपादानरूप-
स्येत्यर्थः । दृश्यत्वपदार्थविकल्पावसरे कथंचित्तद्विषयत्वमित्यस्य आवृत्तानावृत्तसाधारणचिद्विषयत्वं चित्तादात्म्य-
मित्यर्थः । तत्रानावृत्तचिद्विषयत्वस्य स्वावच्छिन्नज्ञानविषयत्वस्य भङ्गविशिष्टचिद्विषयत्वरूपस्य पूर्वं व्याख्यातस्यातीन्द्रिये
गुरुत्वादौ प्रातिभासिके रजतादौ चाभावात् भागासिद्धिरित्यतः आवृत्तानावृत्तसाधारणेत्युक्तम् । तथा सति घटाकारवृत्त्या
भग्नावरणकघटावच्छिन्नचैतन्यतादात्म्यस्य गुरुत्वादौ इदमाकारवृत्त्या भग्नावरणकशुक्लवच्छिन्नचैतन्यतादात्म्यस्य प्राति-
भासिकरजतादौ च सत्त्वात् न भागासिद्धिरित्युक्तप्रायम् । इदानीं संकल्पतः तच्च यथाकथंचित् चित्संबन्धिरूपं
हेतुरिति मूले परिष्कृतः । तत्र यथाकथंचित्पदं यदि पूर्वोक्तार्थकं, तदा तुच्छे चित्सामान्यतादात्म्याभावेन व्यभि-
चारस्याप्रसक्त्या तुच्छे च व्यभिचारः परिहरणीय इत्युत्तरमूलसङ्गतिरित्यतः प्रकारान्तरेण तत्पदं व्याचष्टे टीकायां—
साक्षात्परंपरासाधारणमिति । तत्र प्रातिभासिकरजतादेर्यदि शुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्ये एवाध्यासः, तस्यैवाज्ञान-
विषयत्वात्, तदा तत्रोक्तचैतन्यस्य तादात्म्यसंबन्धसत्त्वात् न परम्परासंबन्धनिवेशप्रयोजनं; यदि तस्य स्वाधिकसत्ताके
शुक्तिवेनाज्ञानविषये इदंस्वविशिष्टे एव तादात्म्येनाध्यासः, तदा इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य साक्षात्संबन्धासंभवात् तदा तत्र
भागासिद्धिवारणं स्वतादात्म्यापन्नेदतादात्म्यरूपपरंपरासंबन्धनिवेशप्रयोजनम्; एवंच तुच्छे साक्षाच्चितः संबन्धाभावेऽपि
स्वाश्रितवृत्तिविषयत्वरूपपरम्परासंबन्धसत्त्वेन व्यभिचारं प्रसज्योक्तमूलस्वारस्यावतरणेन सङ्गमनं सङ्गच्छत इति बोध्यम् ।
मूले—तच्चेति । शुद्धचित्संबन्धित्वं चेत्यर्थः । शुद्धचिति उपहितचित्संबन्धसंभवात् व्यभिचारवारणाय शुद्धचितेव
हेतौ संबन्धप्रतियोगितया निवेशावश्यकत्वादिति भावः । उपहिते चित्संबन्धसंभवादाह—चैतन्ये शुद्धचिति इति ।
भेदसहिष्णोरभेदस्यैव तादात्म्यरूपसंबन्धत्वादाह—अभेदे इति । अत्यन्ताभेदे इति । शुद्धचिति शुद्धचित्प्रतियोगिकौ-
पाधिकानौपाधिकभेदसाधारणभेदसामान्याभाववत्त्वेन भेदनान्तरीयकस्येत्यत्र भेदो यदि अन्योन्याभावः, तदा तत्र प्रमाणा-
काङ्क्षायां वैलक्षण्यं वक्तव्यम्, एवं नान्तरीयकपदस्य स्वाकारणीभूतस्वोत्पत्त्यधिकरणदेशकालनिवृत्तिपरत्वे अविद्याचि-
त्संबन्धासंग्रहः; किंच तुच्छे ब्रह्मान्योन्याभावसत्त्वात् चित्तादात्म्याभावप्रयोजकान्तरमन्वेषणीयं स्यात् । वस्तुतस्तु—
'आनन्दो ब्रह्मणो रूप'मित्यादिप्रतीत्या शुद्धचित्स्यपि शुद्धचिद्वेदस्य कल्पितस्य सत्त्वात् तत्र तत्संबन्धाभावस्यापि प्रयोजक-
लामो वक्ष्यते; कारणविरहस्य कार्यविरहाप्रयोजकत्वात्, इत्यतो भेदपदं वैलक्षण्यपरतया नान्तरीयकपदं च व्याप्यपरतया
व्याचष्टे—भेदनान्तरीयकस्येति । ब्रह्मवैलक्षण्यं यदि नाम ब्रह्मवर्तिधर्मवत्त्वं, तदाऽसत्त्वमादाय तुच्छसंग्रहापत्त्योक्त-
दोषतादवस्थमर्थः; अतएव विशिष्यापारमार्थिकत्वं बाध्यत्वरूपं तद्वैलक्षण्यं इत्यभिप्रेत्याह—विनाशित्वादिरूपमिति ।
अविद्यासंग्रहाहकत्वात् जन्यत्वमुपेक्षितम् । आदिना मिथ्यात्वपरिग्रहः । अनयोश्च तुच्छे विरहात् नोक्तदोषतादवस्थम् ।

सिद्धिव्याख्या ।

अव्यभिचाराद्वैतोस्तत्रासत्त्वाच्च । सतो हेतोरधिकरणस्य सत्त्वावश्यंभावेनासत्त्वव्याघातादित्यादिना व्यभिचारः परिहरणीय इति भावः । ननु चैतन्यस्य वस्तुतोऽभेदेऽपि कल्पितभेदवत्त्वेन भेदनान्तरीय-कसंबन्धस्यापि संभवाद्विषयत्वं संभविष्यति, नच—काल्पनिकभेदो न भेदकार्यविषयविषयिभावनिर्वा-हक्ष्म इति—वाच्यम्; कल्पितभेदस्य विम्बप्रतिविम्बयोरङ्गाङ्गिभावनिर्वाहकत्ववज्जीवब्रह्मणोर्ज्ञातृज्ञेय-भावनिर्वाहकत्ववच्च आत्मनोऽपि चिद्रूपस्य चिद्विषयकत्वनिर्वाहकत्वसंभवात् । नच—विषयविषयिणोः, कल्पितभेदोऽपि नास्तीति—शङ्कनीयम्; वृत्तिप्रतिफलतायाश्चितः शुद्धात्मनः सकाशात्कल्पितभेद-सत्त्वात् । नच—आत्माकारवृत्तौ चितः प्रतिफलनेऽपि नात्मनः स्वाकारवृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयत्वमस्ति, प्रयोजनाभावात्, अतो नोक्तहेतोर्व्यभिचार इति—वाच्यम्; घटादाविवात्मन्यपि स्वाकारवृत्तिप्रति-फलितचिद्विषयत्वस्य स्वविषयकाज्ञाननिवृत्त्या सप्रयोजनत्वात् । नच—आत्मनश्चिद्विषयत्वं विनाप्या-त्माकारवृत्तेरेवात्माज्ञाननिवर्तकत्वमस्त्विति—शङ्क्यम्; तथात्वे घटादेरपि स्वाज्ञाननिवर्तकस्वाकारवृत्ति-विषयत्वमात्रमेव, ननु तद्विषयत्वमित्यापातेन घटादावसिद्ध्यापातादिति ॥

इति सिद्धिव्याख्यायां दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ॥

॥ शिवम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चितं प्रति सम्बन्धावच्छेदकं यत् चिद्वृत्तित्वविशिष्टतादात्म्यत्वं तद्विशिष्टस्येत्यर्थः । एतेन—आनन्दं ब्रह्मणो रूपं चित् ब्रह्मणो रूपमित्येवं कल्पितभेदस्य तादात्म्यस्य च चितश्चिति सत्त्वाद्यभिचारो दुर्वारः, अथ—प्रातीतिकान्यस्य चित्सम्बन्धस्य निवेशान्न दोषः, उक्ततादात्म्यस्य प्रातीतिकत्वात्—इति चेन्न; साधनवैकल्यापत्तेः,—इत्यादिकम-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ब्रह्मणि तु कल्पितस्यापि विनाशिलादेः प्रतीत्यभावेनाभावात् न ब्रह्मतादात्म्यमिति भावः । भेदनान्तरीयकस्येत्यत्र भेदपदस्य विनाशिलादिपरत्वे ब्रह्मणि तदभावेऽपि कल्पितब्रह्मभेदवत् कल्पितब्रह्मतादात्म्यस्यापि सत्त्वात् नान्तरीयकपदार्थत-द्याप्यत्वस्य ब्रह्मसंबन्धेन भङ्गः, तदभावस्य तत्संबन्धाभावप्रयोजकत्वानुपपत्तिश्चेत्यतः संबन्धपदं संबन्धावच्छेदकाव-च्छिन्नपरतया व्याचष्टे—तत्संबन्धस्येतीति । चिन्निष्ठकल्पितचित्तादात्म्यादिसंबन्धसाधारणतादात्म्यत्वादिसामान्यस्य संब-न्धावच्छेदकत्वे उक्तदोषतादवस्थम्, उक्तब्रह्मणि उक्तकल्पितचित्संबन्धसत्त्वात् व्यभिचारश्चेत्यतः तद्व्यावृत्तं संबन्धाव-च्छेदकविशेषणमाह—चिद्वृत्तित्वविशिष्टेति । तादात्म्यत्वमिति । परम्पराविशेषत्वं वेति शेषः । एतेन भेद-नान्तरीयकपदसंबन्धपदयोरुक्तव्याख्यानेन । ‘आनन्दो ब्रह्मणो रूपं’ ‘चित् ब्रह्मणो रूप’मिति । अत्राङ्गुलीच-लितचक्षुर्जन्यप्रत्यक्षे द्विचन्द्रभ्रमे इवानन्दब्रह्मचिद्व्यापदार्थयोः ‘आनन्दो ब्रह्म’ ‘चिद्व्यापेति’ वाक्यतोऽप्यन्ताभिन्नत्वेन प्रमितयोः ब्रह्मण इति षष्ठीरूपदोषवशात् तादात्म्यसंबन्धानां प्रयोज्यानामपि योग्यताभ्रमेण भानं; योग्यताभ्रमस्यैव शाब्दभ्रमे दोषत्वोक्तेः । यद्यपि षष्ठी तदधीनबोधे भेदद्वित्वसंबन्धसामान्यस्यैव बोधिका; तथापि संबन्धानामन्तरङ्गत्वात् तादात्म्यस्यैव भानम्, एवं भेदस्य संबन्धान्वयितावच्छेदकतया संबन्धव्यापकत्वेन संभवदुपस्थितिकतया चिद्विषयत्वस्य भेदान्वयितावच्छेदकतया भेदव्यापकत्वेन संभवदुपस्थितिकतया चोक्तशाब्दभ्रमे भानं संभवतीति तद्विषयीभूतभेदता-दात्म्ययोः प्रातिभासिकयोः स्वीकार आवश्यक इति भावः, तदाह—इत्येवं कल्पितेति । शाब्दभ्रमविषयतया कल्पितेत्यर्थः । तादात्म्यस्य चेति । चेन परम्पराविशेषस्येति बोध्यम् । चितश्चित्तीति । शुद्धचित इत्यर्थः । साधनवैकल्यापत्तेरिति । दृष्टान्ते प्रातीतिकस्यैव चित्संबन्धस्य संभवात् चिदन्यतत्संबन्धस्यासंभवाच्चिदन्यतत्संबन्ध-रूपसाधनस्याभावादिति भावः । इत्यादिकमिति । दृष्टिदृष्टिवादे साधनाप्रसिध्यापत्तेः इत्यादिपदार्थः । एवं नान्तरीय-कपदस्योक्तयथाश्रुतार्थे उक्तदोषोऽप्यादिपदार्थः । अपास्तमिति । यद्यपि प्रातीतिकः संबन्धः चितः चित्यस्ति; तथापि तद्वारणाय हेतुभूतचित्संबन्धे चिद्वृत्तित्वं विशेषणं देयम् । तथाच भेदपदार्थविनाशिलरूपव्यापकस्याभावात् व्याप्यचिद-वृत्तित्वविशिष्टचित्संबन्धस्य चित्यसत्त्वात् न व्यभिचारः । प्रातिभासिके च तत्सत्त्वात् न साधनवैकल्यम् । एवं च संबन्ध-

वहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपं दृश्यत्वं हेतुः; संविच्छब्देन विषयाभिव्यक्तं वा वृत्त्यभिव्यक्तं वा (शुद्धं वा) चैतन्यमात्रमभिप्रेतम्, तथा च घटादौ नित्यातीन्द्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोऽपि व्यवहारः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पास्तम् । ननु चितस्वाश्रितवृत्तिविषयत्वरूपपरंपरासम्बन्धस्य तुच्छेऽपि सत्त्वाद्वाभिचारस्तत्राह—तुच्छेति । अस्तित्वप्रकारकधीविषयत्वसमानाधिकरणत्वेन हेतोर्विशेषणेनेति शेषः । विषयाभिव्यक्तं विषयावच्छेदेन भग्नावरणं, विषयगतवृत्तिप्रतिबिम्बितं वा । वृत्त्यभिव्यक्तं मनोवच्छेदेन भग्नावरणं, वृत्तिप्रतिबिम्बितं वा । चैतन्यमात्रं विषयाभिव्यक्तत्वाद्यविशेषितचित् । तथाच विषयाभिव्यक्तादित्साधारणेन चित्त्वेनैव संवित्पदबोध्यतेति भावः । सर्वोऽपीति । घटादावपरोक्षत्वरूपो व्यवहारो घटाद्यभिव्यक्तचित्सापेक्षः, नित्यातीन्द्रिये अस्तित्वादिव्यवहारो

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

प्रतियोगिचिति शुद्धत्वं न देयम् । चिदन्यवृत्तित्वं तु न विशेषणम् । चिति चिदन्यत्वस्य कल्पितस्य सत्त्वेनाव्यावर्तकत्वादिति भावः । परम्परासंबन्धस्येति । इदमि रजताध्यासपक्षे रजते साधनावैकल्याय तन्निवेशस्यावश्यकत्वादिति भावः । तुच्छे व्यभिचारपरिहारोपयुक्तं विशेषणं स्मारयितुं पूरयति—अस्तित्वेति शेष इति । इदमवच्छिन्नचैतन्ये रजताध्यास इति पक्षे साक्षात् चित्संबन्धनिवेशनेनापि तुच्छे व्यभिचारवारणं बोध्यम् ॥

मूले—यद्वा स्वव्यवहार इति । स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदोऽकारणत्वे तदपेक्षानियमासंभवात् कारणत्वे पर्यवसानात् स्वातिरिक्तसंविजन्यस्वव्यवहारकत्वमित्यर्थः । ननु वृत्तिचैतन्यान्यतरस्य संवित्पदार्थत्वे ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वादिविशिष्ट-व्यवहारेऽद्वितीयादिवाक्यजन्यवृत्तिरूपसंविदः ब्रह्मातिरिक्तायाः कारणत्वेनापेक्षणात् ब्रह्मणः स्वपदार्थत्वात् तत्र व्यभिचार इत्यत आह—संविच्छब्देन चेति । चैतन्यमात्रमिति । मात्रपदेन वृत्तिरूपज्ञानव्यवच्छेदः । वृत्तिभिन्नज्ञानमर्थः । तच्च चैतन्यरूपमिति बोध्यम् । तथाचोक्तव्यवहारे उक्तवृत्तेरपेक्षणेऽपि संवित्पदार्थत्वाभावात् तद्ब्रह्माद्वितीयत्वादिकारकाज्ञानरूपावरणस्य स्वपदार्थब्रह्मचैतन्यस्य संवित्पदार्थस्योक्तव्यवहारेऽपेक्षणेऽपि तस्य स्वातिरिक्तत्वाभावात् न ब्रह्मणि स्वपदार्थे व्यभिचारः । नच—उक्तवृत्तिप्रतिबिम्बितस्य स्वपदार्थब्रह्मचैतन्यस्योक्तवृत्त्युपाधिकस्य स्वपदार्थब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बितस्य वा संवित्पदार्थस्य स्वातिरिक्तस्योक्तव्यवहारेऽपेक्षणादुक्तव्यभिचारो दुर्वार इति—वाच्यम्; स्वपदेन शुद्धस्य ब्रह्मचैतन्यस्योपादाने तस्य स्वप्रकाशत्वेनोक्तवृत्तिप्रतिबिम्बानपेक्षणात्, उपहितस्योपादाने तदपेक्षणेऽपि तस्य मिथ्यात्वेनाव्यभिचारादिति भावः । चैतन्यमात्रं चित्त्वेनानुगमनीयं चैतन्यत्रयं शुद्धं वा चैतन्यमात्रमित्यनेनाह । तदसांकर्येण व्याख्यातुमुपक्रमते टीकायाम्—विषयाभिव्यक्तमिति । अत्राभिव्यक्तिः आवरणभङ्गो वा प्रतिबिम्बो बोभावपि । ‘विषयाभिव्यक्तम्’ इति न तृतीयासमासः, किंतु सप्तमीसमासः; साच नाधिकरणत्वे, विषये जडे घटादावावरणासंभवेन तद्ब्रह्मासंभवात्, प्रतिबिम्बस्य च तैजसान्तःकरणपरिणामविशेषवृत्तिरूपस्वच्छोपाधिगतत्वादित्यतोऽवच्छिन्नत्वार्थकसप्तमीसमासेनाद्यं स्वगतवृत्त्युपाधिकत्वरूपपरम्परासंबन्धेन स्वसंबन्धार्थकसप्तमीसमासेन द्वितीयं व्याचष्टे—विषयावच्छेदेन भग्नावरणमिति । विषयगतवृत्तिप्रतिबिम्बितं वेति च । वृत्त्यभिव्यक्तमित्यत्र तु वृत्त्या भग्नावरणं वृत्तौ प्रतिबिम्बितं चेति पक्षद्वयेऽपि पूर्वकल्प-वैलक्षण्यायावच्छेदकं पूरयति—मनोऽवच्छेदेनेति । आवरणभङ्गे प्रतिबिम्बे चान्वयः । शुद्धं वा चैतन्यमात्रमिति मूले पाठो दृश्यते, तत्र यद्यपि विषयाभिव्यक्तत्वादपूर्वकल्पद्वयवैलक्षण्याय शुद्धपदस्य निर्धर्मकं नार्थः; अन्तःकरणधर्मसुखादीनामन्तःकरणोपहितचैतन्यरूपसाक्षिवेद्यानां व्यवहारे शुद्धचैतन्यानपेक्षणात्; किंतु विषयाभिव्यक्तत्वाद्यविशेषितं शुद्धपदार्थः; चैतन्यमात्रपदस्य च वृत्तिभिन्नं ज्ञानं चैतन्यरूपमर्थः इति प्रतीयते; तथापि तत्र चैतन्यमात्रमित्यत्र मात्रपदेनैव पूर्वकल्पद्वयवैलक्षण्याय विषयाभिव्यक्तत्वाविशेषितत्वस्य चैतन्यपदेन वृत्तिज्ञानाबोधकेन वस्तुनो वृत्तिज्ञानान्यस्य चिद्रूपज्ञानस्यैव बोधनादभिमतार्थलाभसंभवेन शुद्धपदमधिकं स्यादिति तदघटितपाठाभिप्रायेण व्याचष्टे—चैतन्यमात्रं विषयाभिव्यक्तत्वाद्यविशेषिता चिदिति । विषयाभिव्यक्तत्वादेः प्रत्येकमननुगतत्वात्, उक्तान्यतमवत्वस्यापि विषयावनुगमेन तथात्वात् । उक्तत्रितयानुगमकवृत्तिव्यावृत्तं च संवित्पदबोध्यतावच्छेदकं रूपमाह—तथाचेति । साधारणेनेति । वृत्तिव्यावृत्तेन चेति शेषः । उक्तानुगतरूपेणाप्युक्तत्रितयनिवेशे प्रयोजनं क्रमेणाह मूले—तथाचेति । घटादावित्यादिसप्तम्यन्तत्रयस्य प्रत्येकं व्यवहारेऽन्वयः । सर्वोऽपीति । व्यवहारश्चेति वक्ष्यमाणाभिप्रायेण । अस्तित्वादिव्यवहारस्य गुरुत्वाद्यतीन्द्रियादाविव वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्येनापि संभवादाह—अपरोक्षत्वरूप इति । अपरोक्षस्यैव रूपं यस्येति व्युत्पत्त्याऽपरोक्षादीत्यर्थः । आदिपदेन प्रत्यक्षतदन्यप्रमाणगम्यास्तित्वादिः प्रत्यक्षमात्रगम्यशुक्त्यादिरूपपरिमाण-विशेषादिश्च ग्राह्यः । घटाद्यभिव्यक्तचित्सापेक्ष इति । स्वाकारवृत्तिप्रयोज्यस्वावच्छिन्नाज्ञानविषयत्वभङ्गविशिष्टा स्वगत-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नित्यातीन्द्रियविषयकवृत्त्यभिव्यक्तचित्सापेक्षः, सुखादावपरोक्षत्वादिव्यवहारः सुखाद्यभिव्यक्तत्वाविशेषितसुखाद्यवच्छिन्न-
चैतन्यापेक्ष इति त्रिविधचित्साधारणरूपनिवेशफलं बोध्यम् । घटादेरसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्ट-
चिद्रूपं स्फुरणं शुद्धचिद्रूपसंविदपेक्षम्; शुद्धचिज्जन्यमनोवृत्त्योक्ताज्ञाननिवृत्तेः, विशिष्टचितः शुद्धचिति कल्पितत्वेन

लघुचन्द्रिकाया विट्ठलेशोपाध्यायी ।

स्वाकारवृत्तिविम्बितत्वविशिष्टा वा स्वाकारवृत्त्यवच्छिन्नचिदभिन्नस्वावच्छिन्ना वा चित् स्वापरोक्षज्ञानमेवेति तदीयं
तादात्म्यरूपं विषयत्वं विषयनिष्ठमपरोक्षत्वमिति तद्व्यवहारे तदपेक्षेति भावः । नित्यातीन्द्रिये कदाचिदपि
स्वाकारवृत्तिप्रयोज्यस्वावच्छिन्नाज्ञानविषयत्वभङ्गादिविशिष्टचित्तादात्म्यरूपलौकिकापरोक्षज्ञानविषयत्वशून्ये अपरोक्षत्वव्यवहारा-
भावादाह—अस्तित्वादीति । वृत्त्यभिव्यक्तचिदिति । मनोऽवच्छेदेनेत्यादिः । परोक्षवृत्तिर्हि मनोऽवच्छेदे-
नैव प्रमातृचैतन्यप्रतिविम्बं गृहीत्वा बाह्यं स्वविषयं प्रकाशयति, विषयस्य हि प्रमातृसंबन्धो वृत्तिद्वारकोऽस्ति, तावता
चासत्त्वापादकाज्ञाननिवृत्तेर्गुरुत्वादिकमस्तीति व्यवहारो जायते, न तु गुरुत्वमपरोक्षं भाति इति व्यवहारः । अभाना-
पादकस्य बहिर्निर्गतप्रत्यक्षवृत्तिमात्रनिर्वर्त्यस्याज्ञानस्य बहिरनिर्गतपरोक्षवृत्त्याऽनिवृत्तेरुक्तचिद्रूपतत्कारणाभावादिति भावः ।
मूले—साक्षिभास्यत्वं व्यवहारस्य प्रयोजकत्वेनोक्तं, तच्च बाह्यप्रत्यक्षघटादिपरोक्षगुरुत्वादिव्यवहारस्य; तेषां साक्षिभास्य-
त्वाभावात्, नापि आन्तरसुखादावस्तीति व्यवहारस्य; वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्येनापि संभवात्, किंतु अपरोक्षत्वव्यवहारस्य;
तत्रापरोक्षभास्यत्वासंभवात्, अज्ञातसुखाद्यभावेन तदवच्छिन्नचैतन्येऽज्ञानविषयत्वतद्भङ्गयोरभावेन सुखादिविषयक-
प्रत्यक्षवृत्तेरनुपगमपक्षाश्रयणेन च तद्वटितसुखाभिव्यक्तचिद्रूपप्रत्यक्षाप्रसिद्ध्या ततोऽप्यसंभवादित्याशयेन साक्षिभास्यत्वस्य
मूलोक्तं व्यवहारप्रयोज्यत्वं सुखादावपरोक्षत्वादिव्यवहारप्रयोजकत्वरूपतया सङ्गमयति—सुखादावपरोक्षत्वादि व्यव-
हार इति । आदिना सुखादिगतवैचित्र्यतत्संबन्धतदभावपरिग्रहः । येनेन्द्रियेणेति न्यायात् । सुखाद्यभि-
व्यक्तत्वेति । आदिना सुखाकारपरोक्षवृत्त्यभिव्यक्तत्वलाभः । अविशेषितेति । सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्येऽन्वयः । अत्रैत-
द्विशेषणद्वयानुपादाने न तात्पर्यम्; प्रथमद्वितीययोः कल्पयोः तृतीयाद्भेदानुपपत्तेः, किंतु सुखतदाकारवृत्त्यनभिव्यक्तत्वरूप-
विशेषणद्वयानुपादाने । अतएव घटाभिव्यक्तत्ववत् सुखाभिव्यक्तत्वस्याप्रसिद्धावपि न क्षतिः । सुखाद्यवच्छिन्नचैत-
न्यापेक्ष इति । सुखाद्यधिष्ठानभूतान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यमन्तःकरणोपहितत्वेनापेक्षत इत्यर्थः । अतएव मूले
साक्षिभास्ये इत्युक्तम्, तदर्थबोधकता चैतनीकाग्रन्थस्य सङ्गच्छते । नन्वेवं चैतन्यमात्रमित्यनेन साक्षिचैतन्य-
त्वेनैव चैतन्यं विवक्षणीयं; लाघवात्, नतु विषयतद्वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यत्वेन; गौरवात्, इत्याशङ्क्य घटादेः व्यवहारो
नाम सत्संबन्धिकार्यमात्रमित्यस्य व्यवहारे यावत्त्वस्य च मूले वक्ष्यमाणत्वात् घटादौ स्फुरणरूपव्यवहारमादाय दृश्यलोप-
पादनमुक्तविवक्षाप्रयोजनमित्याह—घटादेरिति । अज्ञानस्यासत्त्वापादकत्वमसत्त्वप्रतीतिप्रयोजकं, तच्च परोक्षवृत्तेरपि
संग्रहाय । घटादेर्य उक्ताज्ञानविषयत्वस्याभावस्तत्प्रयोजकं प्रत्यक्षपरोक्षसाधारणं वृत्तिरूपं ज्ञानं, तेन विशिष्टा या चित्,
तद्रूपमित्यर्थः । उक्ताभावप्रयोजिका वृत्तिविशिष्टा या चित्, तद्रूपमिति वार्थः । वस्तुतस्तु प्रयोजिका वृत्तिसामग्री,
तद्विशिष्टा चित् इत्यर्थो वक्ष्यते । शुद्धचिजन्येति । इयंच शुद्धचित् जगत्कारणरूपेति तज्जन्यत्वं घटादिविषयकमनोवृत्ते-
रुपपद्यते । अज्ञाननिवृत्तेरिति । उक्ताज्ञानाविषयत्वसंपत्त्या तदुपधायकत्वरूपं तत्प्रयोजकत्वं, वृत्तेस्तद्विशिष्टचितो वा
वृत्तिसामग्र्या वोपपद्यत इति भावः । संविदपेक्षा इति शब्देन संविज्जन्यत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेणेदम् । यदिच घटा-
दिविषयकमनोवृत्तौ शुद्धं चैतन्यं न साक्षात्कारणं, किंतु अन्तःकरणावच्छिन्नमेव, शुद्धं तु आकाशस्येव साक्षात्कारणं,
इतरेषां परमाणुवत् मूलकारणं प्रयोजकमात्रमित्युच्यते, तदापि संविदपेक्षानियतिशब्देन संवित्प्रयोज्यत्वमात्रविवक्षायां
विशिष्टचितः शुद्धचिदपेक्षासुपपादयति—विशिष्टचित इति । आश्रितत्वादिति । स्वाधिष्ठानभूतस्वाश्रितं प्रत्याश्रय-
स्यापि प्रयोजकत्वं संभवति । एवंच घटादेर्यावद्व्यवहारान्तःपातिन उक्तस्फुरणरूपव्यवहारस्य शुद्धचैतन्यापेक्षाघटितदृश्य-
लोपपत्तये जगदुपादानशुद्धचिद्रूपसंवित्संग्रहाय साक्षिचैतन्यत्वाविवक्षया तद्वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यत्वेन चैतन्यनिवेश इति
भावः । मायावच्छिन्नचैतन्यरूपेश्वरस्य जगत्कारणत्वमते उक्तघटादिस्फुरणरूपव्यवहारस्य मायोपहितचैतन्यरूपेश्वरसाक्षि-
सापेक्षत्वेन घटादौ दृश्यलोपपत्तेः साक्षिचैतन्यत्वेन निवेशेऽपि न दोष इति शुद्धचैतन्यस्य जगत्कारणत्वमतमाश्रितम् ।
यद्वा—ननु विवक्षणीययावत्त्वाश्रयस्य घटादिविषयकोक्तवृत्तिविशिष्टचिद्रूपस्फुरणरूपव्यवहारस्य घटादिरूपस्वातिरिक्तसंवि-
त्पदार्थत्वेऽपि स्वस्मिन् सापेक्षाया असंभवेन स्वप्रकाशत्वेन तदन्यसंविदोऽप्यनपेक्षणेनच घटादौ दृश्यत्वानुपपत्तिरित्या-

स्वातिरिक्तसंवित्सापेक्ष इति नासिद्धिः । व्यवहारश्च स्फुरणाभिवदनादिसाधारणः । तत्र ब्रह्मणः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुद्धचिदाश्रितत्वाच्च । वदनादीति । आदिपदादिच्छाप्रवृत्त्यादिसंग्रहः । ननु घटादेरिव ब्रह्मणोऽपि इच्छादाव-
सत्त्वापादकाज्ञानशून्यचित्तो हेतुत्वात्तादृशचित्तश्च ब्रह्मातिरिक्तत्वात् ब्रह्मणि व्यभिचारस्तत्राह—तत्रेत्यादि । स्फुरण-
रूपे असत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपे । नित्यसिद्धे अनादौ । पूर्णानन्दांशे उक्ताज्ञाननिवृत्तसत्ताका-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शङ्क्य सुखाद्यपरोक्षलव्यवहारवदुक्तघटादिस्फुरणरूपव्यवहारस्यापि जीवसाक्षिचैतन्यरूपप्रत्यक्षापेक्षामाह—घटादेरिति ।
शुद्धचिदिति । अत्र शुद्धपदस्य विषयतद्वृत्त्यनभिष्यक्तार्थकत्वेनान्तःकरणोपहितचैतन्यरूपजीवसाक्षी प्रत्यक्षरूपेयं चित्
बोध्या । नच—उक्तस्फुरणस्य चिद्रूपतया स्वप्रकाशत्वात् नोक्तसाक्ष्यपेक्षेति—वाच्यम्; जडवृत्तिविशिष्टायाश्चित्तोऽपि
जडत्वात् । अत एव वाऽस्वरसादाह—**विशिष्टचित्त इति** । शेषं पूर्ववत् । व्यवहारपदस्य शब्दप्रयोगमात्रार्थकत्वे याव-
त्त्वविवक्षायामपि सर्वस्मिन्नपि ब्रह्मविषयकास्तित्वादिव्यवहारे स्वप्रयोजकस्वजन्यास्तित्वादिविशिष्टब्रह्मविषयकवृत्तिसमान-
विषयकवृत्तिविशिष्टचित्तो ब्रह्मातिरिक्तायाः प्रयोजकत्वात् तत्त्वमसीत्यादिवाक्यरूपशुद्धव्यवहारेऽपि परम्परया तात्पर्यादि-
ग्राहकविशिष्टचित्तः प्रयोजकत्वात् ब्रह्मण्यपि दृश्यत्वापत्त्या व्यभिचारो दुर्वार इत्यतो व्याचष्टे **मूले—व्यवहारश्चेति** ।
स्फुरणाभिवदनादीत्यत्र **स्फुरणं** चिद्रूपं ज्ञानम्, **अभिवदनं** शब्दप्रयोगः, आदिपदं व्याख्यातुं घटादीत्यादिपदव्यावृत्तये
प्रतीकमाददाति—**वदनादीतीति** । **इच्छेति** । साच ब्रह्मणि ‘अहं ब्रह्म भूयासं,’ ‘ब्रह्मभावो मे भवतु,’ ‘ब्रह्मप्राप्तिर्मे
भूयात्,’ ‘सच्चिदानन्दब्रह्मात्मसाक्षात्कारो मे जायतां इत्याद्याकारा बोध्या । प्रवृत्तिरपि तदनुकूलश्रवणादौ बोध्या ।
प्रवृत्त्यादीत्यादिना तु श्रवणादिवारा तदनुकूलं तद्विरुद्धदेहेन्द्रियादिप्रपञ्चविषयकभयनिवृत्तिप्रतिग्रहः । तत्र यावत्त्वविवक्षणेन
व्यवहारपदार्थे इच्छाद्यन्तर्भावफलं, ब्रह्मणि दृश्यत्वापत्त्या व्यभिचारोपसंजननेन तत्रेति ग्रन्थावतारः, स्फुरणस्य व्यवहार-
पदार्थेऽन्तर्भावफलं, ब्रह्मण्युक्तव्यभिचारवारणमिति स्पष्टयिष्यति तद्वन्धव्याख्यानेन । **ननु** तदर्थेच्छां प्रति तदर्थसत्त्वा-
पादकाज्ञाननिवर्तकं तदर्थस्तित्वज्ञानं कारणं, तथाच घटेच्छां प्रति घटास्तित्वज्ञानस्यैव ब्रह्मेच्छा प्रति ब्रह्मास्तित्वज्ञानस्य
हेतुत्वेऽपि तज्ज्ञानं ब्रह्मचैतन्यरूपमेव, न तु तदतिरिक्तम्; घटाद्याकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपज्ञानस्यापि घटास्तित्वस्यैव
स्वसत्त्वस्यापि ग्राहकत्वात्, तस्य स्वप्रकाशत्वेन तद्ग्राहकान्तरानुपगमात्, एवंच ब्रह्मेच्छारूपब्रह्मव्यवहारे ब्रह्मरूपस्वापेक्षया
एव ब्रह्मणि सत्त्वात् कथं व्यभिचारः ? इत्यत आह—**घटादेरिवेति** । **असत्त्वापादकाज्ञानशून्येति** । उक्ताज्ञाना-
भावविशिष्टचित्त इत्यर्थः । परोक्षापरोक्षज्ञानयोरुभयोरपि स्वविषयकेच्छाजनकत्वात्, तदुभयसाधारण्यायासत्त्वापादकत्व-
मज्ञानविशेषणम् । अभानापादकाज्ञानशून्यत्वं तु अपरोक्षज्ञानस्यैवेति बोध्यम् । **वस्तुतस्तु**—तदस्तित्वज्ञानत्वस्यैव तदिच्छा-
जनकतानवच्छेदकत्वात्, अत्राज्ञानाविषयत्वरूपतत्प्रयोज्यतन्निजताभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं प्रयोजकान्तेनोक्तम् ।
घटादेः शुद्धब्रह्मचैतन्ये तादात्म्येनाध्यासेन चिद्रूपज्ञानविषयत्वसत्त्वेऽपि घटादीच्छानुदयेन घटाकारवृत्तिजन्यासत्त्वापादका-
ज्ञाननिवृत्तिसहितोक्तवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यत्वेन घटादीच्छाजनकत्वे गौरवेण तन्निजतोक्ताज्ञाननिवृत्तिविशिष्टचैतन्यत्वेनैव
घटादीच्छां प्रति कारणत्वस्योपगन्तव्यत्वेन तदैकरूपानुरोधेन नास्तिकानां ब्रह्मेच्छानुदयेन च ब्रह्मेच्छां प्रति तदसत्त्वा-
पादकाज्ञानाभावविशिष्टचैतन्यत्वेनैव कारणत्वं स्वीकार्यम्, ननु केवलचैतन्यत्वेन तदस्तित्वविषयकवृत्तिविशिष्टचैतन्यत्वेन
वा; अतएवास्तिकानां ब्रह्मास्तित्वसंशयाद्यभावेनोद्बुद्धतत्संस्कारस्य सर्वदा सत्त्वात् ब्रह्मचैतन्यतदसत्त्वापादकाज्ञानाभाव-
वैशिष्ट्यस्यापि सार्वदिकत्वेन सर्वदैव ब्रह्मेच्छा संभवतीति भावः । तावता किमत आह—**तादृशचित्त इति** । अत्र
केचित् स्फुरणं नानुभूतार्थस्मरणम् अपूर्वार्थप्रतिभारूपज्ञानविशेषो वा; ब्रह्मणि तयोर्नित्यसिद्धत्वाभावात्, किंतु प्रत्यक्षं
ज्ञानमेव । एवंच ब्रह्मणः स्फुरणं नाम येन केनचिद्रूपेण प्रत्यक्षम् । तच्च वस्तुतो ब्रह्मरूपस्यात्मनश्चिद्रूपसाक्षिप्रत्यक्षरूपं
ग्रन्थकृताऽनुपदं वक्ष्यमाणं विशिष्टचिद्रूपज्ञानसामान्यरूपं वा नित्यसिद्धम् । ‘अहमस्मि न वा’ ‘नाहमस्मि’ इति संशयविपर्य-
योरभावेन चिदात्मतदंशाज्ञानस्याज्ञाने तदंशविषयकत्वस्य वा कल्पनादित्याशयेन व्याचष्टे—**स्फुरणरूपे इति** । यद्यपि
ब्रह्मरूपस्यात्मनोऽसत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वाभावविशिष्टं साक्षिचैतन्यं चैतन्यमेव वा स्फुरणपदार्थभूतं प्रत्यक्षं; तथापि अज्ञान-
निवृत्तिमात्रतात्पर्येण ‘घटः स्फुरती’ति व्यवहाराभावात् स्वजन्याज्ञाननिवृत्तिसहितचैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टवृत्तितात्पर्येणैव तद्व्य-
वहाराच्च ‘घटः स्फुरति’ ‘घटस्य स्फुरणमिति’ व्यवहारानुरोधेन वक्ष्यमाणेन ज्ञानार्थकधातूनां सकर्मकानुरोधेन चाह—
असत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूप इति । घटादौ समानकालीनयोरपि प्रयोज्यप्रयोजक-
भावात् उक्ताज्ञानाविषयत्वस्य प्रयोजिका घटादिविषयिण्यपरोक्षवृत्तिः, तद्विशिष्टत्वं स्वगतप्रतिबिम्बप्रतिप्रयोगिलसंबन्धेन
घटाद्व्यवच्छिन्नचैतन्यरूपप्रत्यक्षस्य, ब्रह्मात्मन्युक्ताज्ञानाविषयत्वप्रयोजकं तदन्तःकरणान्यानुपहितचित्तत्वं, तद्वैशिष्ट्यमासक्ति

स्फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्धे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा नास्तीति नियतिपदेन व्यभिचारवारणम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रवृत्त्यधीनत्वेन तदंश एव स्फुरणं सादि, ननु चिदंशे; वृत्तिं विनापि 'चिदस्ती'ति सर्वदा व्यवहारात्, शुद्धचितोऽज्ञानाविषयत्वे नित्यसिद्धे वृत्तेरप्रयोजकत्वेऽप्यज्ञानाविषयत्वविशिष्टचित एव तत्र क्षेमसाधारणप्रयोजकत्वाच्छुद्धचितस्तद्विशिष्टत्वेन स्फुरणमिति भावः । स्वातिरिक्तसंविदिति । उक्तस्फुरणस्य शुद्धचिदपेक्षत्वेऽपि सा न ब्रह्मातिरिक्ता, उक्तस्फुरणेन क्षेमसाधारणजनकत्वेन ब्रह्मातिरिक्ताविद्याया अपेक्षणीयत्वेऽपि सा न संवित्, अतएव संवित्पदं सार्थकमिति भावः । नियतिपदेनेति । नियमघटितार्थेनेति शेषः । स्वव्यवहारं प्रति स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाया नियमो

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

संसारदशासाधारणतत्तज्जीवसाक्षिचैतन्यरूपप्रत्यक्षस्य; साक्षिलोपाधेरन्तःकरणस्य संस्काररूपेणानादित्वात् । उक्तस्फुरणयोः घटात्मनोस्तादात्म्यरूपं विषयत्वम् । एवंच बहयादौ परोक्षवृत्तेरसत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकत्वेन 'बहिरस्ती'त्यादिव्यवहारेऽपि बहिरनिर्गतायां सत्यां बहयाद्यवच्छिन्नचैतन्यप्रतिबिम्बासंभवेनान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यप्रतिबिम्बसंभवेऽपि तत्तादात्म्यरूपविषयत्वस्य बहिःस्थबहयादावसंभवेन 'बहिर्भाति' 'स्फुरति' इत्यादिव्यवहारो न भवति । असत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकत्वं परोक्षवृत्तिवदपरोक्षवृत्तेरपि; तत्र 'घटःस्फुरतीति' व्यवहारवदस्तीत्यपि व्यवहारादिति बोध्यम् । ननु—प्रत्यक्षस्य स्फुरणत्वे अभानापादकत्वेनैवाज्ञाननिवेशोऽस्त्विति—चेदुच्यते; आत्मनि सदंशस्फुरणस्यैव नित्यसिद्धत्वात् तद्विरोधित्वावच्छेदकासत्त्वापादकत्वेनाज्ञाननिवेशौचित्यमिति ज्ञेयमित्याहुः । ग्रन्थकारमते तु स्फुरणं ज्ञानसामान्यमेव, तत्राज्ञानाविषयत्वप्रयोजकं वृत्तिसामग्र्यादि, तद्विशिष्टचिद्रूपत्वं ज्ञानस्य; सकर्मकत्वानुरोधात् । ब्रह्मज्ञाने तदुपपादनं च प्रकारान्तरेणेत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति । नित्यत्वम् अनादित्वे सत्यनन्तत्वं; तत्र विशिष्टचैतन्यस्य मिथ्यात्वेनान्तवत्त्वादिति विशेष्यं परित्यज्य व्याचष्टे—नित्यसिद्धे अनादाविति । नन्वेवं पूर्णानन्दादिरूपेणापि ब्रह्मणः स्फुरणस्य नित्यसिद्धत्वे शास्त्रवैयर्थ्यम्, अत आह—पूर्णानन्दांशे इति । उक्तेति । असत्त्वापादकत्वार्थः । तदाकारवृत्तीति । वेदान्तजन्येत्यादिः । अधीनत्वेनेति । 'नाहं पूर्णानन्दः' 'अहंपूर्णानन्दो नवे'ति संशयविपर्यययोरनुभवादिति भावः । तर्हि कस्मिन्शे ब्रह्मणः स्फुरणमनादि, तत्राह—नत्विति । चिदंशे इति । शुद्धे इत्यादिः । स्फुरणं स्यादित्यनुषङ्गः । वृत्तिं विनापीति । शुद्धचिति वृत्तेरनभ्युपगमेन विषयतासंबन्धावच्छिन्नवृत्तिविरहवत्त्वेऽपीत्यर्थः । चिदंशे इत्यनुषङ्गः । सर्वदा सर्वकालावच्छेदेन । चिदस्तीति । व्यवहारादित्यन्वयः । तत्प्रयोजकचित्स्फुरणस्य सर्वदाऽवश्यकत्वादिति शेषः । चिन्निष्ठाज्ञानविषयत्वाभावस्य चिद्विषयकवृत्तितत्सामग्रीप्रयोज्यत्वे एव वृत्तिदशायां निरुक्तवृत्तिविशिष्टचिद्रूपं चित्स्फुरणं, नान्यदेति तत् सादि स्यात्; तदेव न; व्यभिचारादिति भावः । ननु तन्निष्ठाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचित् तत्स्फुरणं न भवति; तत्र शुद्धचिद्रूपब्रह्मण्यज्ञानविषयत्वाभावस्य नित्यसिद्धत्वेन शुद्धे वृत्तेरनभ्युपगमेनच तत्र वृत्तेरप्रयोजकत्वेन ब्रह्माज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपस्य ब्रह्मस्फुरणस्याप्रसिद्धेः, अत आह—शुद्धचित इति । तद्रूपब्रह्मण इत्यर्थः । नित्यसिद्धे इति । शुद्धत्वमङ्गप्रसङ्गादिति भावः । वृत्तेरिति । शुद्धेऽनभ्युपगताया इति शेषः । तर्हि नित्यसिद्धे किं कथं प्रयोजकं तत्राह—अज्ञानाविषयत्वविशिष्टचित इति । तत्र शुद्धचिन्निष्ठाज्ञानविषयत्वाभावे । क्षेमसाधारणप्रयोजकत्वादिति । यथाऽनादावपि घटप्रागभावे दण्डविरहप्रयोज्यता, यथाच दुःखप्रागभावे प्रायश्चित्तप्रयोज्यता तदुत्तरक्षणे सत्त्वे सति तदभावक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणेऽसत्त्वरूपा, तथा शुद्धचिन्निष्ठेऽज्ञानविषयत्वाभावेऽपि स्वविशिष्टचिन्निरूपिता या प्रयोज्यता तन्निरूपितप्रयोजकत्वादित्यर्थः । यद्यपि विशेष्ये विशेषणसंबन्धस्य विशिष्टे प्रयोजकत्वं प्रसिद्धम्, ननु विशिष्टस्योक्तसंबन्धे प्रयोजकत्वमिति विपरीतमपि, अप्रसिद्धेः, अन्योन्याश्रयापत्तेश्च; तथापि स्वरूपसंबन्धरूपप्रयोज्यप्रयोजकभाव एव तथा, अयं तु पारिभाषिक इति नोक्तशङ्कावसर इति भावः । नन्वस्तु शुद्धचिद्रूपब्रह्मनिष्ठाज्ञानविषयत्वाभावेऽज्ञानाविषयत्वविशिष्टा चित् प्रयोजिका; तथापि कथं तद्विशिष्टायाश्चितो ब्रह्मस्फुरणत्वमत आह—शुद्धचित इति । तद्विशिष्टत्वेनेति । अज्ञानाविषयत्वविशिष्टचिद्रूपं यत् चिन्निष्ठाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकं तद्विशिष्टत्वेनेत्यर्थः । स्फुरणम् शुद्धचिद्रूपब्रह्मस्फुरणम् । उक्तस्फुरणे प्रविष्टानां सर्वेषामनादित्वादुक्तस्फुरणस्याप्यनादित्वमिति भावः । स्वातिरिक्तपदप्रयोजनमाह—उक्तस्फुरणस्येति । विशिष्टचिद्रूपस्येत्यर्थः । शुद्धचिदपेक्षत्वेऽपीति । शुद्धचिति कल्पितस्य तदाश्रितत्वादिति भावः । संवित्पदप्रयोजनं वक्तुमाह—उक्तस्फुरणेनेति । विशिष्टचिद्रूपेणेत्यर्थः । जनकत्वेनेति । स्वघटकत्वेन चेति शेषः । वस्तुतस्तु—विशिष्टचितः शुद्धचिति कल्पितत्वेनाविद्यापरिणामत्वेनेत्यपि बोध्यम् । नियतिपदार्थस्य नियमस्य व्यवहारनिष्ठव्याप्यत्वरूपस्यापेक्षानिष्ठस्य व्यापकत्वरूपस्य वा पक्षे घटादावसत्त्वेन हेतुत्वासंभवेऽप्रमाणत्वात् नियतिपदेनेत्यसन्नतमत आह—नियमघटितार्थेनेति शेष इति । व्यवहारे स्वातिरिक्त

स्वगोचरयावद्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षायां पर्यवसानात् । अत एवास्वप्रकाशत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; स्वप्रकाशत्वं हि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम्, 'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्मे'ति श्रुतेः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यापकत्वरूपो घटकतया यत्रेति व्युत्पत्त्या तादृशव्यापकताघटितस्य हेतुता । तादृशघटितत्वं च स्वव्यवहारत्वावच्छिन्न-व्यापकस्वातिरिक्तसंवितापेक्षकत्वम् । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्; नियमस्य हेतुत्वासंभवात् । स्वगोचरेति । स्वविषयकस्फुरणाद्यन्यतमत्वव्यापकं यत् स्वातिरिक्तचिदधीनत्वं तत्संबन्धित्वं पर्यवसितहेतुः । अधीनत्वं च क्षेमसाधारण-जन्यगताखण्डधर्मविशेष इति भावः । अत्र स्वातिरिक्तचिदधीनस्वस्फुरणकत्वं लघु हेतुबोधयम् । स्वापरोक्षत्व इति ।

लघुचन्द्रिकाया विह्वलेशोपाध्यायी ।

संविदपेक्षाया नियतिनियमो व्याप्यत्वरूप इति तत्पुरुषेण व्याख्याने घटादौ हेत्वसिद्धिरतो बहुव्रीहिणा व्याचष्टे—**स्वव्यवहार इतीति** । स्वव्यवहारनिरूपितेत्यर्थः । **अपेक्षाया इति** । पृथगर्थो नियमान्वयि निष्ठत्वम् । **यत्रेति** । दृश्यत्वरूपान्यपदार्थनिष्ठलनिर्वाहकसंबन्धमाह—**घटकतयेति** । समानार्थस्य हेतुतामाह—**तादृशेति** । स्वव्यवहारनिरूपितस्वातिरिक्तसंविदपेक्षानिष्ठेत्यर्थः । यद्यपि स्वव्यवहारे स्वव्यवहारनिष्ठा, स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानिरूपिता **नियतिः**; व्याप्यत्वरूपा घटकतया यत्रेति व्युत्पत्तिरपि संभवति; तथापि बहुव्रीहिघटकनियतिपदार्थव्याप्यत्वे तदघटकस्वव्यवहारनिष्ठत्वान्वये सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् समासानुपपत्तिः, 'श्रामे सुन्दरपुत्रो देवदत्तः' धूमे वह्निव्याप्यताप्रयोजिका वह्निविधेयतेतिवत् इत्यतोऽपेक्षानिष्ठनियतिपदार्थव्यापकत्वान्वयि स्वव्यवहारे इति सप्तम्यर्थनिरूपितत्वं स्वव्यवहारं प्रतीत्यनेन व्याख्यातम् । तथासति व्यवहार इत्यस्य प्रतियोगिवाचकत्वात् सापेक्षत्वेऽपि समासः; 'प्रतियोगिपदादन्य' इत्युक्तेः 'चैत्रस्य बहु-पुत्रत्वं' 'राजनगरे धूमस्य वह्निव्यापकताप्रयोजिका वह्निविधेयते'तिवत् । **घटितस्य** घटितरूपदृश्यत्वस्य । अत्रोक्तघटितत्वेन स्वव्यवहारनिरूपितस्वातिरिक्तसंविदप्रयोज्यत्वरूपतदपेक्षानिष्ठस्वव्यवहारनिरूपितव्यापकताकत्वविशिष्टस्वत्वस्य, उक्तव्यापकताविशिष्टोक्तापेक्षायाः स्वाश्रयविषयत्वसंबन्धेन, उक्तापेक्षानिष्ठव्यापकतानिरूपकत्वविशिष्टस्वव्यवहारस्य च विषयतासंबन्धेन हेतुत्वस्य स्वपदद्वयस्य व्यवहारातिरिक्तप्रतियोगिनोरैक्यलाभकत्वेन संभवेऽपि न क्षतिः, व्यभिचारासिध्योरभावात्; ब्रह्मातिरिक्तस्य स्वपदद्वयार्थत्वाच्चोक्तहेतूनां पक्षे घटादौ सत्त्वात्, ब्रह्मणश्च स्वपदद्वयेनोपादानासंभवेन तत्रासत्त्वात्; तथापि घटितत्वनिवेशे गौरवेण तत्परित्यज्य परिष्करोति—**तादृशघटितत्वं चेति** । **स्वेति** । स्वव्यवहारत्वावच्छिन्नतादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नव्याप्यतानिरूपितः स्वरूपसंबन्धावच्छिन्नव्यापकताश्रयतेति व्यापकान्तार्थः । **सापेक्षत्वं** प्रयोज्यत्वम् । **यथाश्रुतं** तत्पुरुषबलबलभ्यम् । **नियमस्य** व्यवहारनिष्ठव्याप्यत्वस्य, अपेक्षानिष्ठव्यापकत्वस्य वा । **हेतुत्वासंभवादिति** । घटादावसिद्धेरिति भावः । व्यभिचारवारकनियतिपदघटितबहुव्रीहिपर्यवसितोक्तार्थः मूले स्वगोचरेत्यादिना स्पष्टीकृतः । तत्रव्यवहारत्वं शब्दप्रयोगेच्छास्फुरणादिसाधारणमनुगतं दुर्वचम्, अतो व्याचष्टे—**स्वविषयकस्फुरणाद्यन्यतमत्वेति** । आदिशब्देनेच्छाप्रवृत्त्यादिसंग्रहः । वक्ष्यमाणलघुहेतुशीघ्रस्फूर्तये स्फुरणस्य साक्षादुपादानम् । उक्तान्यतमस्य तादात्म्येन व्याप्यत्वसंभवेऽपि संबन्धान्तरेण व्याप्यताभ्रमवारणाय तात्पर्यपर्यवसितान्यतमत्वव्यापकेत्युक्तम् । संविदपेक्षां व्याचष्टे—**चिदधीनत्वमिति** । **तत्संबन्धित्वमिति** । **ननु**—अत्र स्वत्वस्यानुगमात् तत्तद्व्यक्तित्वस्य हेतुत्वे पर्यवसानं स्यात् इति—**चेन्न**; स्वातिरिक्तत्वव्याप्यत्वोभयसंबन्धेन संवित्पदार्थचित एव हेतुत्वे तात्पर्यात् । तत्र पक्षस्य घटादेः व्याप्यत्वं, स्वविषयकस्फुरणाद्यन्यतमत्वत्वसंबन्धेन । चितो व्यापकत्वं स्वाधीनस्फुरणाद्यन्यतमत्वत्वसंबन्धेनेति । घटादेरपरोक्षत्वव्यवहारे घटाद्यभिव्यक्तचितः, स्फुरणे शुद्धचितः, इच्छादावसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वविशिष्टचितः, प्रयोजकत्वादेकस्याः कस्याश्चिदपि चितो न सर्वघटादिव्यवहारसाधारणनिरुक्तान्यतमत्वसंबन्धेन घटादिव्यापकत्वं, स्वावच्छिन्नभिन्नत्वस्वावच्छिन्नव्याप्यत्वोभयसंबन्धेन चैतन्यत्वेनोक्तहेतुत्वे चोक्तस्फुरणस्य शुद्धचिदपेक्षितत्वेऽपीति ग्रन्थासङ्गतिः । चैतन्यत्वेन तदपेक्षाविरहात् । तथा तदपेक्षायां शुद्धत्वमज्ञादिति शुद्धचित एव हेतुत्वं; विशिष्टोपहितचैतन्येष्वपीच्छादिरूपतद्व्यवहाराणामसत्त्वापादकाज्ञानशून्यचैतन्यद्वारा शुद्धचितप्रयोज्यत्वेन शुद्धचिद्विज्ञत्वेन च तदुपपत्तेः, शुद्धे ब्रह्मणि तु तत्स्फुरणस्यापि शुद्धचितप्रयोज्यत्वेन व्याप्यत्वरूपैकसंबन्धसत्त्वेऽपि शुद्धचिद्विज्ञत्वरूपद्वितीयसंबन्धाभावेनोक्तसंबन्धद्वयेन हेत्वभावेन व्यभिचारवारणात् । नचैवं—स्वभिन्नत्वरूपैकसंबन्धेनैव चितो हेतुत्वमस्तीति—वाच्यम्; उक्तोभयसंबन्धघटितचिद्रूपहेतुव्यापकताया मिथ्यात्वरूपसाध्यनिष्ठाया एव संबन्धघटितव्यापकतातो भिन्नत्वेन स्वव्यवहारेत्यादिनोक्तदृश्यत्वनिर्वचने वैयर्थ्याभावात्, ब्रह्मणि ब्रह्मेच्छारूपव्यवहारप्रयोजकासत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचितः स्वभिन्नत्वरूपैकसंबन्धेन सत्त्वेन व्यभिचारप्रसक्त्योक्तद्वितीयसंबन्धस्यापि सार्थक्याच्च । तथासति ब्रह्मण्यपरोक्षव्यवहारे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अपरोक्षत्वमज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचित् । विषयनिष्ठं चेदं स्वप्रकाशत्वम् । ननु—नोक्तरूपमपरोक्षत्वम्; गौरवात्, किंत्वज्ञानशून्यचिद्रूपम्—इति चेन्न; साक्षात्करोते: सकर्मकत्वानुरोधेनापरोक्षताया उक्तरूपत्वावश्यकत्वात् । धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं हि कर्मत्वम् । फलप्रयोजकव्यापारघटितवाचकत्वं धातोः सकर्मकत्वमिति तार्किकादयः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ऽभानापादकाज्ञानाविषयत्वविशिष्टचित्प्रयोज्येऽसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वविशिष्टचितोऽप्रयोजकत्वेन तद्वटितव्याप्यत्वरूपद्वितीयसंबन्धाभावेन व्यभिचारवारणसंभवात् । एवं घटादितदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात् भिन्ने तदप्रयोज्यस्वव्यवहारके शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचारवारणमपि व्याप्यत्वरूपद्वितीयसंबन्धफलम् । ब्रह्मविषयकव्यवहाराणां सर्वेषां साक्षात् परम्परया वा शुद्धचित्प्रयोज्यत्वेन ब्रह्मणि शुद्धचितो व्याप्यत्वरूपैकसंबन्धसत्त्वेन प्रसक्तव्यभिचारवारणं स्वभिन्नत्वरूपापरसंबन्धनिवेशफलम् । उक्तोभयसंबन्धेनावधारूपपदार्थस्य ब्रह्मणि सत्त्वेन व्यभिचारोऽतः संवित्पदेन चितो हेतुत्वमुक्तमिति ध्येयम् । अत्र व्यवहारपदार्थे इच्छाद्यन्तर्भावेन ब्रह्मणि व्यभिचारं प्रसज्य यावत्त्वं निवेश्य स्फुरणस्य तदन्तर्भावेन तद्वारणं प्रक्षालनाच्चीति न्यायविरुद्धमिति व्यवहारपदेन स्फुरणमात्रविवक्षयैव ब्रह्मणि व्यभिचारवारणादलं यावत्त्वविवक्षयेत्याह—अत्रेति । खेति । स्वाधीनस्फुरणविषयत्वस्वभिन्नत्वोभयसंबन्धेन चिदेवानुगतो लघुहेतुरित्यत्र तात्पर्यम् । घटाद्यवच्छिन्नचिद्विन्ने ब्रह्मणि व्यभिचारवारणाय प्रथमः संबन्धः । शुद्धचिदधीनस्फुरणविषये ब्रह्मणि व्यभिचारवारणाय द्वितीय इति बोध्यम् । चरमकल्पं परिष्कर्तुमाह मूले—अतएवेति । यतो ब्रह्मस्फुरणस्य ब्रह्मान्यचिदधीनत्वं, घटादिव्यवहाराणां च घटान्यचिदधीनत्वं च पूर्वहेतुपरिष्कारायोक्तं साधु, अत एवेत्यर्थः । हेतुरिति । साधुरिति शेषः । ननु स्वप्रकाशत्वं पूर्वपक्षोक्तमवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं, तत्र वेद्यत्वं फलव्याप्यत्वं, तच्च शुक्तिरूप्येऽप्यस्तीति तद्वदन्यत्वरूपहेत्वसिद्ध्या दूषितमतः प्रकारान्तरेण स्वातिरिक्तप्रकाशानपेक्षप्रत्यक्षविषयत्वरूपं वाच्यम्, तदपि दीपादिसाधारणम्, अतस्तद्वदन्यत्वरूपहेतोः दीपादावसिद्धिः; यदि प्रकाशपदं चैतन्यपरं, तर्हि ब्रह्मण्यप्रसिद्धिः, ब्रह्मान्यचितोऽप्रसिद्धेरित्यत आह—स्वप्रकाशत्वंहीति । खेति । स्वापरोक्षत्वं स्वातिरिक्तानपेक्षं यस्य तत्त्वमित्यर्थः । अत्र यस्य ज्ञेयत्वमसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्विषयत्वं तत्र ब्रह्मविषयकस्मृत्यनुमितिशाब्दादिसामग्रीरूपोक्तप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपपरोक्षज्ञाने उक्तसामग्रीघटकविशिष्टचिद्रूपज्ञानस्य प्रयोजकत्वेन शुद्धब्रह्मान्यविशिष्टचिदपेक्षायाः सत्त्वेन ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वाप्रसिद्धिः स्यात्, अतः ज्ञेयत्वे इत्यनुक्त्वा स्वापरोक्षत्वे इत्युक्तम् । तत्रापरोक्षत्वं यदीन्द्रियजन्यवृत्त्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वं तदा आत्मनि अव्याप्तिः, यदि साक्षिविषयत्वं, तदा बाह्यघटादावव्याप्तिः, नच—तत्रेन्द्रियजन्यान्तःकरणपरिणामवृत्त्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वादन्तःकरणोपहितचिद्रूपसाक्षिविषयत्वमस्त्येव, परिणामपरिणामिनोरभेदेनान्तःकरणतद्वृत्त्योरभेदादिति—वाच्यम्, एवं सति नित्यातीन्द्रिये गुरुत्वादावतिव्याप्तिः; हेतुज्ञानादिजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वादिति । नच—ज्ञानाकरणकज्ञानविषयत्वं प्रत्यक्षत्वमित्युक्तौ नायं दोष इति—वाच्यम्; घटादिप्रत्यक्षस्यापि विशेषणज्ञानादिनिष्ठफलोपधायकतारूपकारणताकत्वेनासंग्रहापत्तेः, दशमस्त्वमसीत्यादिशाब्दादिप्रत्यक्षासंग्रहापत्तेश्च, इत्यत आह—अपरोक्षत्वमिति । विषयनिष्ठमित्यादि । अतएव मूले—‘स्वप्रकाशत्वंही’त्यनेन विषयनिष्ठं तदुपक्रम्य स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वमिति विग्रहवाक्येन निरुच्य ‘यत्साक्षादिति’ श्रुत्या ब्रह्मणि तत्समन्वयं प्रदर्शयन्मानधीनापरोक्षत्वमिति बहुव्रीहिसमासेन तत्पर्यवसितार्थ उक्तः सङ्गच्छते । मूले—अन्येति । खान्येत्यर्थः । ज्ञाननिष्ठं तु स्वविषयातिरिक्तापेक्षाज्ञानाविषयताप्रयोजकविशिष्टचित्त्वं बोध्यम् । अज्ञानाविषयत्वेति । अज्ञानविषयत्वसामान्याभावेत्यर्थः । तेन परोक्षज्ञानस्यासत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकत्वेऽपि न क्षतिः । तस्याभानापादकाज्ञानानिवर्तकत्वात् । प्रयोजकविशिष्टेति । प्रयोजकेन विशिष्टेत्यर्थः । चिदिति । तादात्म्यसंबन्धेनेति शेषः । चित्तादात्म्यरूपविषयत्वमिति वार्थः । प्रयोजकपदवैयर्थ्यं शङ्कते—नन्विति । साक्षात्करोतेरिति । घटं साक्षात्करोति इत्यादिव्यवहारादिति भावः । ननु व्यापारप्रयोज्यतद्व्यधिकरणफलाश्रयत्वं कर्मत्वं, तादृशफलवाचकत्वं च सकर्मकत्वं, तत्राश्रयत्वं कर्मप्रत्ययार्थः, फलमेव धात्वर्थः, व्यापारस्तु आख्याताद्यर्थः, एवं साक्षात्करोतेः अज्ञानाविषया चिदेवार्थः, तत्प्रयोजकसामग्र्यादिकं तु आख्याताद्यर्थ इति मीमांसकमते प्रयोजकानिवेशेऽप्युपपत्तिरित्यत आह—धात्वर्थतावच्छेदकेति । उक्तमतं तु न सम्यक्; अन्यविषयकप्रत्यक्षसमानविषयकाङ्गमित्यादिप्रतिबन्धकगच्छतीत्यादिवाक्यजन्यशाब्दसामग्रीशरीरे धातुजन्यफलोपस्थित्याख्यातजन्यव्यापारोपस्थित्योः योग्यताज्ञानादिरूपकारणान्तरे वैशिष्ट्यनिवेशे विनिगमनाविरहेणोक्तसामग्र्यां त्रयाणां विशेष्यविशेषणभावापत्तेः, धातोः फलवच्छिन्नव्यापारवाचकत्वमते तु एकस्याः फलविशिष्टव्यापारोपस्थितेरेवोक्तकारणान्तरे प्रवेशेन विनिगमनात्प्रतिबन्धकताषट्कापल्या गौरवाविरहशङ्काया अभावेन लघुत्वात् । नच—एकस्या अप्युपस्थितेः फलविषयितानिरूपितव्यापारविषय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्ववाच्यव्यापारस्य व्यधिकरणं यत् फलं तद्वाचकत्वं धातोः सकर्मकत्वम् । तथाच फलतत्प्रयोजकयोर्धातुवाच्याघटकत्वे धातोः सकर्मकत्वानुपपत्तिः । अतएव जानात्यर्थरूपस्य स्फुरणस्याप्युक्तरूपत्वमेव, नत्वसत्त्वापादकाज्ञानशून्यचिद्रूपत्वम्; जानातेः सकर्मकत्वानुपपत्तेः । तादृशप्रयोजकं चित्ति घटादिप्रत्यक्षस्थले घटाद्याकारवृत्तिजनकसामग्री, सुखा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ताकत्वेन, व्यापारविषयतानिरूपितफलविषयताकत्वेन वा प्रतिबन्धकसामग्र्यां कारणान्तरवैशिष्ट्यानिवेशे तत्रैकस्मिन्नप्युक्तोभयरूपावच्छिन्ने द्वेधा कारणान्तरवैशिष्ट्यानिवेशेन विनिगमनाविरहोऽस्त्येवेति—वाच्यम्; तावतापि प्रतिबन्धकताचतुष्कस्यैवापत्त्या लाघवानपायात् । स्पष्टं चेदं व्युत्पत्तिवादे—विभक्तेः संख्याबोधकत्वमुक्त्वा तन्निराकृत्य प्रातिपदिकस्य संख्याविशिष्टार्थकत्वव्यवस्थापनपरे इदं पुनरिहावधेयमित्यादिप्रसङ्गे । तत्रैवच धातूनां प्रकर्षादिविशिष्टार्थकत्वम्, उपसर्गाणां तु द्योतकत्वमुक्तं भट्टाचार्यैः । अतएवानुभवत्वादीनां सकर्मकत्वम् । एतेन—धातोः व्यापारमात्रवाचकत्वं कर्मप्रत्ययस्यच फलवाचकत्वमिति मतमपि—निरस्तम् । तत्रापि निराकृतं च । फलप्रयोजकेति । प्रयोजकतासंबन्धेन फलावच्छिन्नत्वार्थः । अकर्मकस्पर्शदिधातूनां केवलव्यापारः, निरूपणं ज्ञानं चासत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपं, तत्र प्राधान्येन तद्वाचकत्वाभावाच्चिरूपणस्य सकर्मकत्वानुपपत्तिरतो व्यापारघटितेत्युक्तम् । तेन प्रकृतेऽपि साक्षात्करोत्यादेरज्ञानाविषयत्वरूपफलप्रयोजकसामग्र्यादिविशिष्टचित्प्रतिपादकस्य प्राधान्येनोक्तसामग्र्याद्यप्रतिपादकत्वेऽपि सकर्मकत्वोपपत्तिः । तार्किकादय इति । आदिना वैयाकरणाः । ननु धातोः फलावच्छिन्नव्यापारवाचकत्वे 'गम्यते ग्राम' इत्यादिकर्माख्यातादिस्थले ग्रामादिकर्मण्यन्वययोग्यस्य संयोगादेरितरविशेषणतयोपस्थितत्वेन विशेषणत्वेनान्यत्रान्वयस्य व्युत्पत्तिविरुद्धत्वेनासंभवात् व्यापारावच्छिन्नसंयोगस्यच धातुतः शक्त्यन्तरं विनोपस्थित्यसंभवात्, संयोगादिफलस्य कर्माख्याताद्यर्थताया आवश्यकत्वेन फलस्य द्वेधा प्रतीतिः; साचानुभवविरुद्धा, एवं सकर्मकाणां फलावच्छिन्नव्यापारवाचकत्वम्, अकर्मकाणां केवलव्यापारवाचकत्वमिति वैरूप्यं चेत्साशङ्क्य फलं व्यापारश्च पृथक् एकयैव शक्त्या धातुवाच्ये; कर्माख्यातादौ व्यापारे फलं विशेषणं, कर्माख्यातादौच फले व्यापारो विशेषणं, फलान्वयि आश्रयाश्रयिभावश्च कर्मप्रत्ययार्थ इति नैयायिकाद्युक्तमतान्तरमाश्रित्याह—स्ववाच्यव्यापारस्येति । व्यधिकरणमिति निद्राद्यनुकूलव्यापारार्थकत्वापादिधातूनां सकर्मकत्ववारणाय । केचित्तु—गम्यर्थतावच्छेदकसंयोगाश्रयस्य कर्तुः कर्मत्वे 'चैत्रेण खो गम्यत' इति प्रयोगापत्तिः, 'चैत्रः खं गच्छतीति' प्रयोगापत्तिश्चेति तद्वारणाय व्यापारानधिकरणवृत्तिफलाश्रयताया एवाख्यातार्थकर्मत्वरूपलाभाय द्वितीयादेः फलान्वयाधेयतावत् व्यापारान्वयिपरसमवेतत्वमप्यर्थ इति लाभाय च तदिति—वदन्ति । तद्वाचकत्वमिति । व्यापारस्याख्यातार्थत्वं फलस्य कर्मप्रत्ययार्थत्वं च व्युत्पत्तिवादे विस्तरेण निराकृतमिति तदुभयवाचकत्वमुक्तम् । कर्तृकर्माख्यातस्थलयोरुक्तपरस्परवैपरीत्येन विशेष्यविशेषणभावाच्च तदुभयस्मिन् पृथगेका शक्तिः । तेनोभयस्यैवोपस्थितिः, नत्वेकस्येति ध्येयम् । अत्र 'स्त्रियाः पादसंवाहनेन पतिः स्वपिति वैद्यस्यौषधदानेन रोगी जीवती'त्यादौ स्वपिजीव्योः सकर्मकत्वे 'पतिः खं स्वपिति' 'रोगी खं जीवति' इति व्यवहारापत्तिवारणाय स्ववाच्यत्वं व्यापारविशेषणम् । 'स्वामिनः स्वापेन चोरो धनं प्राप्नोति' 'मृदादेर्भावेन कुलाला घटमुत्पादयन्ति' इत्यादौ स्वपिभवत्योः सकर्मकत्वे 'स्वामी चोरं स्वपिति' 'मृत् घटं भवती'त्यादिव्यवहारापत्तिवारणाय फलवाचकत्वं स्वस्य धातोरुक्तमिति तत्त्वम् । प्रकृतमुपसंहरति—तथाचेति । उक्तमतद्वयानुसरणेचेत्यर्थः । सकर्मकत्वानुपपत्तिरिति । अतः साक्षात्करोत्यादीनामुक्तार्थकत्वमिति शेषः । ननु 'घटं साक्षात्करोतीत्यादौ अज्ञानाविषयत्वं साक्षादिति निपातार्थः, प्रयोजकत्वविशिष्टा चित् करोतीति धात्वर्थः । व्यापारान्वयितव्यधिकरणधातुनिपातान्यतरार्थफलशालित्वमेव कर्मत्वमस्तु, स्वनिपातान्यतरवाच्यफलस्य प्रयोजकस्तद्व्यधिकरणो यो व्यापारः तद्वाचकत्वं च धातोः सकर्मकत्वमित्यत आह—अतएवेति । धातोः फलव्यापारोभयवाचकत्वादेवेत्यर्थः । जानात्यर्थरूपस्य स्फुरणस्येति । पश्यत्याद्यर्थस्य चाक्षुषादेरित्यपि बोध्यम् । उक्तरूपत्वम् असत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपत्वम् । चाक्षुषादौ तु प्रयोजके चक्षुरादिप्रयोज्यत्वमधिकम्, अज्ञानेऽसत्त्वापादकत्वं च न्यूनम् । जानातेः जानात्यादेः । साक्षात्कारेऽप्यैकरूप्यानुरोधात् फलव्यापारोभयवाचकत्वमेव युक्तमिति भावः । ननु उक्तधात्वर्थघटकं प्रयोजकं विशिष्यैव निवेश्यम्, किमर्थं प्रयोजकत्वेन तदनुगमः? इत्याशङ्क्य विषयभेदेनाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकभेदादुक्तधातुशक्यतावच्छेदकैक्यानुपपत्तिपरिहारार्थमिति ध्वनयितुमुक्तप्रयोजकभेदं दर्शयति—तादृशप्रयोजकमिति । अज्ञानाविषयत्वप्रयोजकमित्यर्थः । चित्ति घटाद्यधिष्ठानचित्ति । तस्या एव बहिर्निर्गतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचिदभिज्ञत्वेन ज्ञानत्वात् । वृत्त्यवच्छिन्नचिदेव वा चित्पदार्थः । सुखाद्यधिष्ठानभूतान्तःकरणवच्छिन्नचिदेव; तस्या एव अन्तःकरणोपहितत्वेन तज्ज्ञानत्वात्, तद्विषयकवृत्तेरनभ्युपगमात् । वृत्तिसमकाले अज्ञानाविषयत्वे वृत्तेः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिप्रत्यक्षस्थले सुखादिजनकसामग्री, तत्पूर्वभाविकालावच्छिन्नसुखादौ विद्यमानस्याज्ञानविषयत्वस्य सुखाद्युत्पत्तिक्षणावच्छेदेनाभावो हि तादृशसामग्रीप्रयुक्तः, इदानीमज्ञानविषयत्वं सुखादौ चन्दनयोगादिप्रयुक्तमित्यनुभवात् । विवेचितमिदं रत्नावल्याम् । स्वातिरिक्तेति । स्वान्यचिदित्यर्थः । चिदंशनिष्ठस्यापरोक्षत्वस्य चिदंशान्याविद्याद्यपेक्षत्वाच्चिदिति विशेष्योपादानम् । आनन्दांशस्य तु स्वान्यचिदंशाधीनापरोक्षताकत्वात् न स्वप्रकाशत्वम् । नच—चिदंशेऽपरोक्षतालक्षणस्यासंभवः, तदन्यचिदप्रसिद्धेरिति—वाच्यम्; स्वान्यत्वाद्यभावविशिष्टस्वनिष्ठापरोक्षत्वापेक्षणीयचित् यस्य

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

प्रयोजकत्वासंभवात् वृत्तिजनकसामग्रीत्युक्तम् । वृत्तिश्चैयमैन्द्रियिकी ग्राह्या । तस्या अज्ञानविषयत्वप्रयोजकत्वं वृत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेनाविति तद्वैशिष्ट्यं च स्वाव्यवहितोत्तरक्षणावच्छिन्नम् । तत्र वृत्तिपूर्वक्षणे न घटादावपरोक्षत्वव्यवहारः । अव्यवहितत्वं क्षणद्वयादिसाधारणं, तेन वृत्त्यवस्थानपर्यन्तं तद्व्यवहारः । सुखादिवृत्तेरनङ्गीकारात् सुखादिजनकैत्युक्तम् । ननु घटादौ पूर्वकालावच्छेदेन विद्यमानस्याज्ञानविषयत्वस्योत्तरक्षणावच्छेदेनाभावो वृत्तिवत् प्रतिसामग्रीप्रयुक्तः, सुखादौ तु नैवं; तेषां स्वपूर्वकालेऽसत्त्वात्, इत्यत आह—तत्पूर्वभाविकालावच्छिन्नसुखादाविति । अतीतानागतयोरपि परोक्षज्ञानविषयत्ववदज्ञानविषयत्वम् । सुखादिपूर्वकालस्य च सुखाद्यनधिकरणत्वेऽपि तत्सूक्ष्मरूपसंस्काराधिकरणत्वेन तन्निष्ठाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वमिति भावः । अभावो हीति । सुखादावित्यादावनुषङ्गः । ननु प्रत्यक्षनिश्चयसंशययोर्विरोधेन संशयसामग्र्याः प्रत्यक्षनिश्चयप्रतिबन्धकत्ववत्, ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधनिर्वाहाय वृत्तिरूपज्ञानजनकसामग्र्या वृत्तिसमकालेऽज्ञानविषयत्वाभावे प्रयोजकत्वेऽपि ज्ञानान्यसुखसामग्र्याः कथं सुखाज्ञानविषयत्वप्रयोजकत्वमित्याशङ्क्य तत्रानुभवं प्रमाणयति—इदानीमिति । सुखोत्पत्तिक्षणावच्छेदेनेत्यर्थः । चन्दनयोगादिति । चन्दनसौरभग्राणसन्निकर्षजन्यतत्प्रत्यक्षादिघटितसामग्रीवशादित्यर्थः । आदिना कान्ताचाक्षुषसुशब्दश्रावणमधुरादिरसानुभवशय्यास्मरणस्वात्मनिष्ठज्ञानोत्कर्षादिमानसपरिग्रहः । घटादौ मुख्यं ज्ञानं चैतन्यमेव, वृत्तिस्तु तदवच्छेदकत्वात् ज्ञानत्वेन व्यवहियते । एवं सुखादावपि वृत्तेरनभ्युपगमेन सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव सुखादिज्ञानत्वात् ज्ञानावच्छेदकत्वेन सुखादावपि ज्ञानत्वेन व्यवहारसंभवात् वृत्तिसामग्रीतुल्यत्वेन सुखादिसामग्र्या अपि अज्ञानविषयत्वप्रयोजकत्वं युक्तमिति भावः । ननु सुखादौ वृत्तेरनभ्युपगमे स्मरणानुपपत्तिः, चैतन्यरूपतदनुभवस्य नित्यत्वेन तन्नाशरूपसंस्कारासंभवादित्यत आह—विवेचितमिति । अनित्यसुखादिविषयविशिष्टचैतन्यस्यानित्यस्यैव तदनुभवत्वेन तन्नाशरूपसंस्कारसंभवात् सुखादौ वृत्तेरनुगमेऽपि स्मरणोपपत्तिरिति भावः । ब्रह्मणः सच्चिदंशेऽपरोक्षं तु, 'चिदस्ति' 'अहमस्मी'ति सर्वदा व्यवहारात् तदंशनिष्ठे नित्यसिद्धेऽप्यज्ञानविषयत्वे योगक्षेमसाधारणप्रयोजिका या तद्विशिष्टा चित् तद्विशिष्टा या शुद्धचित्, तत्तादात्म्यरूपं तद्विषयत्वंच अपरोक्षत्वं, स्फुरणे तु अज्ञाने असत्त्वापादकत्वमधिकं, घटादिपरोक्षस्थले तु असत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वप्रयोजिकान्तस्थितान्तःकरणवृत्तिजनिका या पक्षतापरामर्शादिघटिता सामग्री तद्विशिष्टान्तःकरणोपलक्षितचिदेवानुमित्यादिज्ञानं परोक्षं, तद्विषयत्वं परोक्षत्वं घटादीनाम् । अतीतानागतसुखादीनामप्येवम् । स्वीयविद्यमानसुखादीनां तु परोक्षवृत्तिविषयाणामपि 'दशमस्त्वम'सीत्यादिवाक्यार्थानामिव प्रत्यक्षत्वमेव । एवं ब्रह्मणोऽपीति बोध्यम् । स्वातिरिक्तस्य स्वान्यचिदिति चिन्निवेशेन व्याख्याने प्रयोजनमाह—चिदंशनिष्ठस्येति । अपरोक्षत्वस्य निरुक्तविशिष्टचिद्रूपस्याभिध्यात्वेनेति शेषः । ननु ब्रह्मणः स्वरूपभूतानन्दांशे अपरोक्षत्वम्, 'आनन्दोऽस्मीति' सर्वदा व्यवहाराभावात् आनन्दांशेऽज्ञानविषयत्वप्रयोजकत्वेदान्तजन्यवृत्तिसामग्रीविशिष्टचित्; तत्राश्रयत्वेनापेक्षणीयायाः शुद्धचितोऽपि ब्रह्मस्वरूपत्वात् ब्रह्मस्वरूपानन्दाभिन्नत्वात् तदतिरिक्तत्वासंभवात् आनन्दांशस्यापि स्वप्रकाशत्वापत्तिरित्यत आह—आनन्दांशस्य तु इति । स्वान्यचिदंशेति । स्वपदेन ब्रह्मरूपस्यानन्दस्य । शुद्धोपादानासंभवात् कल्पितानन्दत्वेनैवोपादानानिरुक्तविशिष्टचिद्रूपतदपरोक्षत्वे आश्रयत्वेनापेक्षणीयायां शुद्धचिति चित्त्वावच्छिन्नस्य स्वपदार्थानन्दत्ववद्भेदस्य संभवादानन्दांशस्य न स्वप्रकाशत्वमिति भावः । चिदंशस्य स्वप्रकाशत्वानुपपत्तिं शङ्कते—नचेति । अपरोक्षतालक्षणस्य स्वप्रकाशत्वस्य । तदन्यचिदप्रसिद्धेरिति । स्वं चित्त्वोपलक्षितं, तन्निष्ठाज्ञानविषयत्वप्रयोजिका अज्ञानविषयत्वविशिष्टा चित्, तद्विशिष्टा चित् स्वपदार्थचित्त्वांशेऽपरोक्षत्वं, तत्राश्रयत्वेनापेक्षणीया या शुद्धचित् तत्र चित्त्वावच्छिन्नस्य स्वपदार्थचित्त्वोपलक्षितभेदस्यासंभवात् चिदंशे स्वप्रकाशत्वासंभवः । नच—तत्र चित्त्वावच्छेदेनानन्दत्ववद्भेदस्येवानन्दत्वावच्छेदेन चित्त्ववद्भेदस्यापि संभव इति—वाच्यम्; स्वान्यचिदित्यनेन चित्त्वावच्छेदेनैव स्वपदार्थभेदस्य विवक्षितत्वादिति भावः । एतेन—स्वपदार्थचित्त्वावच्छिन्नभिन्नघटाद्यवच्छिन्ना तद्वृत्त्याद्यवच्छिन्ना वा चित् प्रसिद्धैव निरुक्तचिदंशेऽपरोक्षत्वरूपाया उक्तविशिष्टचितस्तदनपेक्षत्वात् न चितः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तिरिति—परास्तम्; घटाद्यवच्छिन्नचिति विशिष्टचित्त्वावच्छेदेन स्वपदार्थ-

तथा चान्यानधीनापरोक्षत्वं पर्यवस्यति; तन्निरूपितमेदवत्त्वं हेतुः । तच्च नित्यपरोक्षे अन्याधीनाप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्त्वं स्वप्रकाशत्वम् । स्वापरोक्षतापेक्षणीयचित् यदन्या न भवति तत्त्वमिति यावत् । स्वपदाभ्यां स्वपदयत्पदाभ्यां चैका
व्यक्तिर्ग्राह्या । साक्षादपरोक्षात् उक्तस्वप्रकाशत्ववत् । तन्निरूपितमेदेति । तदवच्छिन्नानुयोगिताकभेदेत्यर्थः, प्रति-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शुद्धचित्त्ववद्भेदस्याभ्युपगमसंभवेऽपि शुद्धचित्त्वावच्छेदेन तदभ्युपगमासंभवात्, तथैवच प्रकृते विवक्षितत्वादिति चिदंशे न
स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः । घटाद्यंशे त्वपरोक्षत्वरूपोक्तविशिष्टचित्तो घटकतया आश्रयतयाच घटान्यचित्सापेक्षत्वात् न घटादीनां
स्वप्रकाशत्वमिति तत्रास्वप्रकाशत्वपहेतूपपत्तिरिति प्रकृतसन्दर्भः । स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वापरोक्षत्वापेक्षणीये
स्वातिरिक्तत्वपर्यवसितम्, स्वान्यचिदनपेक्षत्वं तु स्वापरोक्षत्वापेक्षणीयायां चिति स्वान्यत्वाभावपर्यवसितमित्यभिप्रेत्याह—
स्वान्यत्वेति । अपेक्षणीया चिदिति । स्वान्यत्वाभावविशिष्टा चासौ स्वनिष्ठापरोक्षतापेक्षणीया चेति कर्मधारयपूर्वप-
दकचिदुत्तरपदकबहुव्रीहेर्विग्रहवाक्यमिदम् । अपेक्षणीया चिदिति पाठे तु, स्वापरोक्षतापेक्षणीया चासौ चित् चेति कर्मधारयो-
त्तरपदकविशिष्टान्तपूर्वपदकबहुव्रीहेः । स्वं ब्रह्मचिदंशः, तन्निष्ठविशिष्टचिद्रूपापरोक्षतायामाश्रयतयाऽपेक्षणीया शुद्धा चित्
स्वपदार्थब्रह्मचिदंशरूपत्वात् तदन्यत्वाभावविशिष्टेति तादृशचित्त्वरूपं स्वप्रकाशत्वं ब्रह्मचिदंशे । ब्रह्मानन्दांशस्तु न तन्निष्ठ-
निरुक्तापरोक्षतापेक्षणीया शुद्धचिदिति स्वपदार्थानन्दांशान्यत्ववत्त्वेन तच्छून्यत्वाभावात् न खम् । एवंघटादिनिष्ठापरोक्षता-
पेक्षणीयचित्ति घटान्यत्वेन तच्छून्यत्वाभावेन घटादिकमपि न खम् । अत आनन्दांशघटादीनामुक्तचित्त्वरूपं स्वप्रकाशत्वं
नेति बोध्यम् । नच—ब्रह्मानन्दांशस्याप्रकाशत्वे तस्य मिथ्यात्वापत्तिर्व्यभिचारो वेति—वाच्यम्; स्वपदेनानन्दत्वेन विशिष्ट-
स्योपहितस्य बोधादाने तदन्यत्वस्य चित्त्वावच्छिन्ने सत्त्वेन अस्वप्रकाशत्वेऽपि मिथ्यात्वस्यापि सत्त्वेनाव्यभिचारात्, आनन्द-
त्वोपलक्षितस्य शुद्धस्योपादाने चित्त्वोपलक्षिते तदन्यत्वस्यासत्त्वेन स्वप्रकाशत्वस्यैव सत्त्वात् । वक्ष्यतेचैतत् । कर्मधारया-
घटितबहुव्रीहौ वृत्तिद्वयादेकवृत्तौ लघवात् त्रिपदवत् बहुव्रीहिविग्रहवाक्यमाह—**स्वापरोक्षतेति । यदन्या नेति ।**
यदन्यत्वात्यन्ताभाववतीत्यर्थः । तद्विन्नभिन्नेत्यर्थे धर्मनिवेशे गौरवात्, यद्रूपा यदत्यन्ताभिन्नेत्यर्थे तु यत्स्वपदाभ्यां शुद्धचि-
दंशोपादाने शुद्धानन्दांशस्याभ्युपादानसंभवेन स्वप्रकाशत्वापत्तेः, शुद्धस्य कस्याभ्युपादानासंभवात् चिदंशस्यापि चित्त्वेनैवो-
पादाने तद्विशिष्टात्यन्ताभेदस्य तदुपहितात्यन्ताभेदस्य च उक्तापेक्षणीयायां शुद्धचित्संभवात् चिदंशस्यापि स्वप्रकाशत्वा-
नुपपत्तेः, तदुपलक्षितात्यन्ताभेदस्योपगमे आनन्दत्वोपलक्षितात्यन्ताभेदस्याभ्युपगमसंभवादुक्तापत्तेः दुर्वारत्वात् । इदं तु
बोध्यम्—यद्यपि चिदन्यत्वाभावविशिष्टस्वनिष्ठापरोक्षताकत्वमेव स्वप्रकाशत्वं सुवचम्; चिदंशे चिदन्यत्वाभावसत्त्वेन
तन्निष्ठापरोक्षतायाः तद्विशिष्टत्वात्तत्संग्रहस्य आनन्दांशघटादिषु चिदन्यत्वस्यैव सत्त्वेन तदभावासत्त्वात् तन्निष्ठापरोक्षतायाः
तद्विशिष्टत्वाभावेन तद्वारणस्य च संभवात् । एवं स्वान्यत्वाभाववच्चित्त्वं चिदन्यत्वाभाववत्त्वं चेत्यपि तत्सुवचम्; तथापि
'स्वनैव प्रकाशते' 'अपरोक्षं भवति नान्येनेति' यौगिकस्वप्रकाशपदार्थनिरूपणानुरोधेन वक्ष्यमाणश्रुत्यनुरोधेन चोक्तनिरुक्त्या-
दर इति । **स्वपदाभ्यां** प्रथमनिरुक्तौ । **स्वपदयत्पदाभ्यां** द्वितीयनिरुक्तौ । श्रुतौ **साक्षात्** स्वतएव । **अपरोक्षात्**
अपरोक्षं ब्रह्म शुद्धचैतन्यमित्यर्थ इत्यभिप्रेत्याह—**साक्षादपरोक्षादिति** प्रतीकम् । उक्तस्वप्रकाशत्ववदिति व्याख्या-
नम् । समासार्थमाह **मूले—तथाचान्यानधीनेति ।** स्वान्यत्वाभाववच्चिदधीनापरोक्षताकत्वं तादृशापरोक्षताश्रयत्व-
मित्यर्थः । अस्वप्रकाशत्वमित्यत्र स्वप्रकाशपदेन नञ्समासोत्तरत्वप्रत्ययेन तस्य निरुक्तस्वप्रकाशत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदार्थ-
कत्वे गुरुधर्मस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वे चित्त्वापेक्षया **यद्यपीत्यादिनोक्तपारिभाषिकस्वप्रकाशत्वपदार्थत्रिविधस्वप्रकाशत्वा-**
पेक्षयाच मूलोक्तयौगिकस्वप्रकाशत्वपदार्थस्य गुरुतया तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्याप्रसिद्धिः, शुद्धे निर्धर्मके ब्रह्मणि
भावरूपनिरुक्तस्वप्रकाशत्वधर्मस्याभावेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदरूपाभावरूपधर्मस्य ब्रह्मरूपस्य सत्त्वात् मिथ्यात्वानु-
माने व्यभिचारश्चेत्यतोऽस्वप्रकाशत्वपदे निरुक्तार्थकस्वप्रकाशत्वपदेन नञः समासं, नञर्थे स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व-
संबन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकस्यैव स्वावच्छिन्नानुयोगिताकत्वसंबन्धेनानुयोगितावच्छेदकस्याप्यन्वयं, भेदस्य प्रतियोगिता-
संबन्धेन हेतुतां चाभ्युपगम्य स्वप्रकाशत्वपदपर्यवसितार्थरूपं हेतुमाह—**तन्निरूपितमेदप्रतियोगित्वं हेतुरिति ।**
तथाच गुरुधर्मस्यानुयोगितावच्छेदकत्वोपगमात् नाप्रसिद्धिः । निर्धर्मके ब्रह्मण्युक्तप्रतियोगित्वरूपहेतोः भावरूपधर्मस्य
स्वरूपसंबन्धेनाभावात् न मिथ्यात्वानुमाने व्यभिचारोऽपीति भावः । तत्र नञर्थे समभिव्याहृतपदार्थस्य प्रतियोगिनोऽनु-
योगितासंबन्धेन, प्रतियोगितावच्छेदकस्य स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन, अनुयोगितावच्छेदकस्य स्वावच्छिन्नानुयो-
गितावच्छेदकत्वसंबन्धेनान्वये वैरूप्यापत्तिवारणायोक्तसंबन्धानां निरूपितत्वरूपतया निरूपितत्वेन संसर्गताबोधनाय
तन्निरूपितेत्युक्तम् । तत् प्रकृते तात्पर्यविषयभासमानसंबन्धार्थकतया व्याचष्टे टीकायाम्—**तदवच्छिन्नानुयोगिता-**

शेक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धिः । न च—ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मप्रतियोगिकादपनिकमेदवत्त्वात्तत्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योग्यनुयोगिनोरिव प्रतियोगितावच्छेदकानुयोगितावच्छेदकयोरपि निरूपकत्वसंभवात्, करणीभूतद्रव्ये परिच्छेदक-
तया भासमानस्य जात्यादेः करणत्वस्येव निरूपकीभूतप्रतियोग्यनुयोगिपरिच्छेदकधर्मस्यापि निरूपकतायाः युक्तत्वात्,
साक्षात् परंपरया वा संबन्धिमात्रस्य निरूपकत्वाच्च । अतएवोत्पत्तिवादे प्रत्यक्षपरिच्छेदे मणिकारैरुक्तम्—
'यदि प्रमा अप्रमात्वासमानाधिकरणधर्मनिरूपितकार्यत्वप्रतियोगिककारणजन्या न स्यात्, अप्रमा स्या'दिति । अत्र हि
निरूपितपदस्यावच्छिन्नार्थकत्वेनावच्छेदकस्यापि निरूपकत्वं व्यवहृतम् । नित्यपरोक्ष इति । अपरोक्षस्वरूपविशेष्या-
भावादिति शेषः । घटादाविति । तदीयापरोक्षताया अन्यानधीनत्वाभावादिति शेषः । धर्मानिरूपितत्वात् धर्मान-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

केति । भेदेति योग्यतासूचनाय । प्रतियोग्यनुयोगितावच्छेदकयोरभावनिरूपकत्वं विनाऽभावस्य तन्निरूपितत्वं न संभव-
तीत्यतस्तयोस्तन्निरूपकत्वमाह—प्रतियोग्यनुयोगिनोरेवेति । 'सञ्चामभावो निरूप्यत' इत्यभियुक्तोक्तैः । सञ्चामा-
प्रसिद्धाभ्यां प्रतियोग्यनुयोगिभ्याम्, अभावो निरूप्यते निरूपितत्वेन भासत इति तदर्थः । तेनाप्रसिद्धप्रतियोग्यनुयोगि-
काभावनिरासः । न तावदभावप्रत्ययो भूतले घटो नेतिवत्तत्र शशविषाणं नेतिच सिध्यति । ननु उक्तमभियुक्ततया
प्रतियोग्यनुयोगिनोरभावनिरूपकत्वमस्तु, तदवच्छेदकयोस्तु कुतः ? इत्यत आह—करणीभूतद्रव्येति । परिच्छेदक-
तया व्यावर्तकतया आकृतिपदार्थवादे भासमानस्य जात्यादेः । आदिना गुणादेः । करणत्वस्येवेति । मीमांस-
कमते आकृतिपदार्थवादे 'अरुण्या पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यादौ आरुण्यादीनामेव सोमकये करणत्व-
रूपतृतीयार्थान्वयोपगमात् । परिच्छेदकेति । व्यावर्तकतया भासमानेत्यर्थः । नैय्यायिकाभिमतजालादिविशिष्टव्यक्ति-
वादेऽप्याह—साक्षात् परम्परयावेति । संबन्धिमात्रस्यावच्छेदकस्य वा निरूपकत्वं क्व दृष्टम् ? इत्यत आह—अत-
एवेति । प्रमेति पक्षः । धर्मः प्रमात्वरूपः । करणं गुणः । अत्र संबन्धिनोऽवच्छेदकस्य वा निरूपकत्वं कथमुक्तं ?
तत्राह—अत्र हीति व्यवहृतमिति । अतएवच चक्रवर्तिलक्षणे "एवंच व्याप्तेरव्यभिचारिसंबन्धरूपतापि सङ्गच्छत"
इति दीधितिपङ्क्तिव्याख्यानावसरे श्रीगदाधरभट्टाचार्यैरुक्तं—"वह्निर्धूमस्य व्यभिचारीत्यत्र पदार्थान्वयमुक्त्वा, तथाच
धूमत्वनिष्ठस्वसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगितावच्छेदकत्वनिरूपको वह्निरित्यन्वयबोध" इति । अव्यभिचारिसंबन्ध-
इत्यस्याव्यभिचारिहेतुनिष्ठं साध्यसामानाधिकरण्यमित्यर्थः । एवंच "साध्यतावच्छेदकनिष्ठस्वसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगि-
तावच्छेदकतानिरूपकहेतुनिष्ठसाध्यसामानाधिकरण्यमिति पर्यवसित"मिति च । अत्र हेतुघटकस्य निरूपकत्वमुक्तम् ।
अतएव च हेत्वाभाससामान्यनिरुक्तौ "अनुमितिपदं अनुमितिनिष्ठकार्यतानिरूपकसंबन्धित्वेनानुमितितत्कारणज्ञानपर" मिति
दीधितावुक्तम् । "संबन्धिपदं संबन्धिद्वयसाधारणस्य तत्साक्षात्कारजनकसाक्षात्कारविषयतात्मकनिरूपकत्वस्य लाभाये"ति
श्रीभट्टाचार्यैश्च तद्व्याख्यातम् । नित्यपरोक्षे हेतुसत्त्वं मूले उक्तं, तत्र हेतुमाह—अपरोक्षस्वरूपविशेष्याभावादिति ।
स्वप्रकाशत्वरूपानुयोगितावच्छेदकघटकेत्यादिः । तथाचोक्तस्वप्रकाशत्वस्य नित्यपरोक्षगुरुत्वादिव्यावृत्ततया तद्वेदानुयोगिता-
वच्छेदकत्वसंभव इति भावः । ननु—'विशेष्याभावा'दित्युक्तौ विशेषणमस्तीति वक्तव्यं, तत्किं स्वान्यानधीनत्वम्, उत
स्वान्यचिदनधीनत्वम्, आहोस्वित् स्वान्यत्वाभावविशिष्टचिदधीनत्वं; तत्र न प्रथमद्वितीयौ; गुरुत्वादेः स्वोपादानाविद्याचिदु-
भयाधीनत्वात् । नापि तृतीयः; चिन्मात्रस्य स्वान्यत्वेन तदभावविशिष्टचितोऽप्रसिद्धेः—इति चेत्, अत्रेदमाकृतम्—
सामानाधिकरण्यसंबन्धेन किञ्चिद्विशिष्टाभावनिवेशस्थल एवमुक्ताशङ्कावसरः, प्रकृते तु अपरोक्षत्वे उक्तानधीनान्तं स्वरूपसंब-
न्धेन विशेषणम् । तत्रोक्तविशेष्यनिवेशे तद्विशेषणमप्यविशिष्टमेवेति नोक्तशङ्कावसरः, परंतु अनुयोगितावच्छेदकस्वप्रकाशत्वे
विशेष्यभूतापरोक्षत्वमात्रनिवेशादेव नित्यपरोक्षे तदभावादुक्तहेतुसत्त्वं, घटादौ तूक्तविशेष्यसत्त्वात् न तत्सत्त्वनिर्वाह इति
तन्निर्वाहायानधीनान्तम् । तत्र प्रथमद्वितीययोः घटनिष्ठापरोक्षत्वस्य पटादावभावात् घटादिभेदे तदवच्छिन्नानुयोगिताकत्व-
निर्वाहात् तत्र हेतुसत्त्वनिर्वाह इति । अत्रैवमक्षरयोजना—तदीयापरोक्षताया इति । स्वप्रकाशत्वाघटकत्वादिति शेषः ।
तत्र हेतुर्यथाश्रुते अन्यानधीनत्वाभावादिति, निष्कर्षेतु स्वान्यचितोऽप्रसिद्धेरिति बोध्यम् । संबन्धिमात्रस्य निरूपकत्वात्
तन्निरूपितपदस्य तदाश्रयानुयोगिकार्थकत्वस्यापि संभवात् तदभिमानेन तस्य तदवच्छिन्नानुयोगिताकर्प्यन्तार्थकत्वे
प्रयोजनं व्यञ्जयितुं शङ्कते मूले—नचेति । मायाप्रतिबिम्बं मायावच्छिन्नं वा चैतन्यमीश्वरः, अविद्यायामन्तःकरणे
वा प्रतिबिम्बं तदवच्छिन्नं वा चैतन्यं जीवः, बिम्बभूतमनवच्छिन्नं शुद्धं चैतन्यं ब्रह्म । उक्तेशजीवयोः उक्तब्रह्मभेदो
वास्तवो न भवतीति काल्पनिकेत्युक्तम् । मायाविद्यादिरूपोपाधीनां ब्रह्मभिन्नत्वात् तत्तादात्म्यापन्नतदुपहितेशजीवयो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वच्छिन्नानुयोगिताकत्वात् । जीवत्वेत्यादि । 'जीवो ब्रह्म न ईशो ब्रह्म ने'त्याद्यनुभवसिद्धभेदस्य शुद्धचिद्रूपब्रह्मप्रतियोगिकत्वेऽपि जीवत्वाद्युपहितब्रह्मनिष्ठत्वेन तदनुयोगिता जीवत्वादिनैवावच्छिद्यते, ननु स्वप्रकाशत्वेनेत्यर्थः । ननु—'स्वप्रकाशं ब्रह्म' 'साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'त्यादिलौकिकवैदिकसामानाधिकरण्यप्रत्ययात् स्वप्रकाशत्वविशिष्टेऽपि ब्रह्मभेद आवश्यकः, अन्यथा तत्र ब्रह्मतादात्म्यसंबन्धानुपपत्तेरिति—चेन्न; स्वप्रकाशत्वोपहिते तत्प्रतियोगिकभेदाभावेन मिथ्याभूते तत्र भागासिद्धापत्तेः स्वप्रकाशत्वोपहितानुयोगिकभेदस्य हेतावनिवेशेन स्वप्रकाशत्वोपलक्षितानुयोगिकभेदस्यैव निवेशात्, तादृशोपलक्षितशुद्धचैतन्यनिष्ठानुयोगितायां उपलक्षणविधया स्वप्रकाशत्वस्यावच्छेदकत्वसंभवेन तन्निरूपितेत्यादिमूलस्यासङ्गत्वभावात्तादृशोपलक्षितशुद्धचैतन्ये शुद्धचिद्रूपब्रह्मप्रतियोगिकभेदाभावेनादोषात् । नच—

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ब्रह्मभेदो जपासंयुक्ते स्फटिके लौहिल्यवत्, तत्ताथोगोलके वह्निदग्धत्ववचारोपित इत्यर्थः । तत्र उक्तभेदप्रतियोगिनि शुद्धचिद्रूपे ब्रह्मणि । नच—शुद्धे कथमुक्तभेदप्रतियोगित्वमिति—वाच्यम्; वास्तवस्यासंभवेऽप्यध्यस्तस्य भेदस्यैव तत्र संभवात्, अनध्यस्तस्य काप्यसत्त्वादित्यभिप्रायात् । उक्ताभिमाननिराकरणेन समाधत्ते—तद्भेदस्येति । अन्यानधीनेति । खानन्यचिदधीनेत्यर्थः । धर्माध्यानुयोगिकत्वरूपं धर्मेनिरूपितत्वमस्त्येवेत्यतो व्याचष्टे—धर्मानवच्छिन्नानुयोगिताकत्वादिति । उक्तदोषवारणाय विवक्षितोक्तधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकत्वरूपविशेषणभावादित्यर्थः । कस्य तर्हि तद्भेदानुयोगितावच्छेदकत्वम्? अतआह मूले—जीवत्वेश्वरत्वरूपस्येति । अन्यधर्मस्य उक्तस्वप्रकाशत्वान्यधर्मस्येत्यर्थः । तन्निरूपकत्वात् शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेदानुयोगितावच्छेदकत्वात् । ननु शुद्धचिद्रूपब्रह्मप्रतियोगिकभेद एवाप्रसिद्धः, यत्प्रतियोगित्वरूपो हेतुः शुद्धे ब्रह्मणि मिथ्यात्वव्यभिचरितः, किंच जीवेश्वरयोः स्वप्रकाशत्वस्य चित्त्वेन सत्त्वे जीवत्वादिनैव ब्रह्मभेदानुयोगितावच्छिद्यते, ननु स्वप्रकाशत्वेनेति कुतः? इत्याशङ्क्य परिहरति—जीवो ब्रह्म नेति । अत्र ईशो ब्रह्मपदार्थत्वशङ्कां वारयितुमाह—ईशो ब्रह्म नेति । तत्र ब्रह्मपदस्य जीवार्थकत्वशङ्कावारणाय प्रथमानुभवः; तथासति ब्रह्मपदस्य नानार्थत्वं स्यात् । नच लक्षणायां नायं दोषः; शक्त्योभयत्रैकरूप्येण निर्वाहे तदुपगमस्य वैरूप्यस्य चानुचितत्वात् । शुद्धे उक्तभेदप्रतियोगित्वं तूक्तानुभववज्जदारोपितं, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वाङ्गीकारेणोपपद्यत इति भावः । निष्ठत्वेनेति । भासमानत्वादिति शेषः । जीवत्वादिनैवेति । अनुयोगिनि प्रकारीभूय व्यावर्तकेनेत्यादिः । ननु स्वप्रकाशत्वेनेति । स्वप्रकाशं ब्रह्म नेत्यनुभवस्याभावेन स्वप्रकाशत्वस्यानुयोगिन्यभावेनाव्यावर्तकत्वादिति भावः । भेदानुभवाभावे अमेदानुभवादेव भेदसिद्धोक्तदोषो दुर्वारः, इत्याशङ्कते—नन्विति । साक्षादपरोक्षात् उक्तप्रकाशत्ववत् । स्वप्रकाशत्वविशिष्टे स्वप्रकाशत्वोपहिते चेति शेषः । अन्यथा तत्र ब्रह्मभेदानङ्गीकारे । तत्र उक्ते विशिष्टे उपहिते च । तादात्म्येति । भेदसमानाधिकरणखण्डधर्मरूपतादात्म्यसंबन्धासंभवेनोक्तसामानाधिकरण्यप्रत्ययानुपपत्तेरित्यर्थः । स्वप्रकाशत्वविशिष्टानुयोगिकस्य तदुपहितानुयोगिकस्य वा भेदस्य हेतौ निवेशे एवोक्तसामानाधिकरण्यप्रसिद्ध्या तादृशशुद्धब्रह्मभेदमादाय शुद्धे व्यभिचार आशङ्कनीयः, तन्निवेशस्तु दोषान्तरभयादपि नेत्याशयेन समाधत्ते—स्वप्रकाशत्वोपहित इति । तत्प्रतियोगिकेति । स्वप्रकाशत्वोपहितप्रतियोगिकेत्यर्थः । भेदाभावेनेति । तत्र तद्भेदप्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्य चाभावादिति भावः । तत्र स्वप्रकाशत्वोपहिते । स्वप्रकाशत्वोपहितानुयोगिके भेदस्य हेतावनिवेशेनेति । फलहेतौ तृतीया । इदमुपलक्षणम् । स्वप्रकाशत्वविशिष्टे स्वप्रकाशत्वविशिष्टप्रतियोगिकभेदाभावेन तत्र भागासिद्धापत्तेः हेतौ स्वप्रकाशत्वविशिष्टानुयोगिकभेदस्याप्यनिवेशेनेत्यस्य, तदाह—स्वप्रकाशत्वोपलक्षितानुयोगिकभेदस्यैवेति । तथाच स्वप्रकाशत्वोपलक्षिते तद्विशिष्टतदुपहितयोर्भेदसत्त्वात् न भागासिद्धिरिति भावः । ननु अनुयोग्युपलक्षणस्यानुयोगितानवच्छेदकत्वेन तदवच्छेदकत्वार्थकतन्निरूपितेति मूलसंमतिः, अतआह—तादृशोपलक्षितेति । स्वप्रकाशत्वोपलक्षितेत्यर्थः । उपलक्षणविधया स्वप्रकाशत्वस्यावच्छेदकत्वसंभवेनेति । येन रूपेण भासमानेऽनुयोगिनि यदवच्छिन्नानुयोगिताकत्वविशिष्टविशेषणतासंबन्धेन भेदरूपविशेषणभानं तत् विशेषणविधयाऽनुयोगितावच्छेदकं; यदाश्रयनिष्ठानुयोगिताकत्वविशिष्टविशेषणतासंबन्धेन भेदभानं तत् उपाधिविधयानुयोगितावच्छेदकं; येन रूपेण भासमानेऽनुयोगिनि शुद्धविशेषणतासंबन्धेन भेदभानं तत् उपलक्षणविधयाऽवच्छेदकं; तथाच स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नशुद्धविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नाधिकरणताकभेदप्रतियोगित्वं हेतुः फलितः । तथाच तदुपहिततद्विशिष्टनिष्ठशुद्धब्रह्मभेदाधिकरणत्वस्य स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नत्वेऽपि विशिष्टविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नत्वेन शुद्धविशेषणतासंबन्धानवच्छिन्नत्वात् तद्भेदव्युदासात् शुद्धब्रह्मणि व्यभिचारः, स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नशुद्धविशेषणतासंबन्धावच्छिन्नस्य शुद्धब्रह्मभेदाधिकरणत्वस्याप्रसिद्धेरित्याशयेनाह—तादृशोपलक्षिते शुद्धचैतन्ये इति । भेदाभावेनेति । स्वप्रकाशत्वोपलक्षिते शुद्धे शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेदप्रत्यययोरभा-

व्यभिचारः, अकल्पितभेदस्य काप्यसिद्धत्वादिति—वाच्यम्; तद्भेदस्यान्यानधीनापरोक्षत्वरूपधर्मा-
निरूपितत्वात्, जीवत्वेश्वरत्वादिरूपस्यान्यधर्मस्य तन्निरूपकत्वात् । एवं चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘ब्रह्मणश्चैतन्यम्’ ‘आनन्दं ब्रह्मणो रूप’मित्यादिधीनियामकभेदमादाय दोष इति—वाच्यम्; तादृशभेदस्य ज्ञानत्वानन्द-
त्वादिधर्मनिरूपितत्वात्, ब्रह्मनिष्ठज्ञानत्वादिधर्मस्य चिन्मात्ररूपत्वेऽप्युपलक्षणतया धर्मान्तरस्य तादृशभेदनिरूपकत्वात् ।
एवंच यथाश्रुतमनादस्य व्याख्याने च । अवेद्यत्वे सतीत्यादि । अवेद्यत्वसमानाधिकरणं यदपरोक्षताव्यवहारयोग्यत्वं
तदभावरूपमित्यर्थः । वेद्यत्वं स्वावच्छिन्नचिद्विषयकं यत् अभानापादकाज्ञानं तन्निवर्तकवृत्तिव्याप्यत्वरूपफलव्याप्य-
त्वम् । तच्च न ब्रह्मणि, यत्रोक्तव्याप्यत्वं स्थाप्यं तस्यैव स्वपदार्थतया ब्रह्मावच्छिन्नचिदप्रसिद्धेः; नापि शुक्तिरूप्यादौ

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

वादिति भावः । अदोषात् ब्रह्मणि व्यभिचाराभावादित्यर्थः । ननु—ब्रह्मण आनन्दांशे स्वप्रकाशत्वस्याभावात् स्वप्रका-
शत्वोपलक्षिते आनन्दांशभिन्नत्वात् आनन्दांशे व्यभिचारः—इति चेन्न; आनन्दत्वविशिष्ट एव स्वप्रकाशत्वाभावेनोक्तभे-
दप्रतियोगित्वसत्त्वेऽपि तस्य मिथ्यात्वेन व्यभिचाराभावात्, आनन्दत्वोपलक्षितस्यामिथ्यात्वेऽपि तद्भेदस्य स्वप्रकाशत्वोप-
लक्षितेऽभावेन तत्रोक्तभेदप्रतियोगित्वरूपहेतोरेवाभावेन व्यभिचाराभावात् । उक्तमपीदं दार्ढ्याय पुनरुक्तम् । धीनिया-
मकेति । षष्ठ्यर्थसंबन्धस्य भेदनियतत्वात् स्वप्रकाशत्वेनोपलक्षितेऽपि शुद्धब्रह्मभेद आरोपित आवश्यक इति भावः ।
दोषः व्यभिचारः । तादृशभेदस्य उक्तप्रतीतिव्यवहारविषयभेदस्य । ज्ञानत्वानन्दत्वादीति । येन रूपेण भासमाने
धर्मिणि यो भेदो भासते, तस्य तद्धर्मावच्छिन्नानुयोगिताकत्वं स्वीकार्यम्, उक्तप्रतीतौ ज्ञानत्वानन्दत्वादिकमेव धर्मिताव-
च्छेदकं न स्वप्रकाशत्वमिति ब्रह्मभेदस्य ज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नानुयोगिकत्वमेव; न स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नानुयोगित्वमिति न तेन
रूपेण हेतुघटकभेदप्रतियोगित्वं ब्रह्मण इति न तत्र व्यभिचार इति भावः । ब्रह्मनिष्ठज्ञानत्वादिधर्मस्य ब्रह्मणः चैत-
न्यमानन्दं ब्रह्मणो रूपमिति प्रत्ययविषयस्येति शेषः । चिन्मात्ररूपत्वेऽपीति । एवंच तत्र शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेद एवासंभ-
वीति भावः । धर्मान्तरस्य षष्ठ्यर्थसंबन्धविशेष्यांशे वस्तुतो ब्रह्मस्वरूपे चैतन्यादिपदार्थे धर्मितावच्छेदकतया भासमानस्य
ज्ञानत्वादेः । तादृशभेदनिरूपकत्वात् उक्तप्रतीतिविषयभेदानुयोगितावच्छेदकत्वात् । ‘नीलो घटः’ ‘राहोः शिर’ इति-
वत्, ज्ञानत्वाद्युपलक्षितेऽपि शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेदः प्रतीतिबलात् स्वीकार्यः; न ज्ञानत्वाद्युपहितविशिष्टयोः, तदुपलक्षितविष-
यकतयाप्युक्तप्रतीत्युपपत्तेः । अतएव आनन्दं ब्रह्मणो रूपमिति रूपपदसङ्गतिः, ननु स्वप्रकाशत्वोपलक्षितेऽपि तादृशभेदः;
ब्रह्मणः स्वप्रकाशमिति प्रतीत्यभावादिति भावः । अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपस्यास्वप्रकाशत्वरूप-
दृश्यत्वस्य हेतुतायाः शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यदोषेण पूर्वपक्षे निरस्तत्वात्, एवंचेत्यादिना तस्येदानीं हेतुत्वव्यवस्थापनं
कथं घटते ? एवं; एवंचेत्यस्य पूर्वनिरुक्तास्वप्रकाशत्वस्य हेतुत्वे चेत्यर्थकत्वे उपपत्त्यासङ्गतिः, निरुक्तार्थसाधुत्वस्य वक्ष्यमा-
णार्थसाधुत्वेऽप्रयोजकत्वादित्याशङ्क्य व्याचष्टे—एवंचेति । यथा श्रुतमनादस्येति । पूर्वनिरुक्तिवदिति शेषः । अवेद्य-
त्वेसतीत्येतदर्थस्याभावविशेषणत्वे नित्यपरोक्षगुरुत्वादौ हेतोः सिद्धावप्यपरोक्षघटादावसिद्धिः, शुक्तिरूप्यादौ साधनवैकल्यं
च, इत्यतः प्रतियोगिविशेषणत्वं स्पष्टयति—अवेद्यत्वसमानाधिकरणमिति । अत्र वेद्यत्वं यदि वृत्तिविषयत्वं, तदा
शुक्तिरूप्ये ब्रह्मणिच सत्त्वेन नचेति ग्रन्थासंगतिः; यदि चाज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वं, तदा ब्रह्मणि तत्सत्त्वात्तदभावरूप-
विशेषणाभावात् विशिष्टाभावरूपहेतुसत्त्वेन नचेति ग्रन्थासङ्गतिः, एतेन मनोवृत्तिविषयत्वमपि—निरस्तम्; यद्यभानापा-
दकाज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वं, तदा शुक्तिरूप्यादवसिद्धादिशङ्कायाः सङ्गतावपि ब्रह्मणीति दृष्टान्तासङ्गतिः; तत्र व्यभि-
चारश्च, इत्यतः स्वावच्छिन्नचिद्विषयकत्वमुक्ताज्ञाने निवेश्य वेद्यत्वं व्याचष्टे—वेद्यत्वमिति । खेति । स्वं प्रत्यक्षयोग्यो
घटादिः, तदवच्छिन्ना चित् तदधिष्ठानचित्, तद्विषयकं यदभानापादकं ‘घटावच्छिन्नचित् न भाति’ ‘न प्रकाशते’
इत्यादि व्यवहारप्रयोजकमज्ञानं, तन्निवर्तिका या ऐन्द्रियिकवृत्तिः, तद्व्याप्यत्वं तद्विषयत्वाश्रयत्वमित्यर्थः । तच्च घटादि-
ष्वस्ति । उत्तरपक्षौ इदमेव फलव्याप्यत्वं, ननु वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्वटितं; वृत्तौ चित्प्रतिबिम्बभानाभावादिति सूचनाय
रूपफलव्याप्यत्वमित्युक्तम् । घटादीनां जडत्वात् तदावरणे प्रयोजनाभावात् तदवच्छिन्नचिद्विषयकत्वमुक्तम् ।
शुद्धचिद्विषयकत्वे शुद्धचिदाकारवृत्त्यैव निर्वर्त्यत्वापत्तेः । घटाद्यवच्छिन्नेति । तथासति घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयकैन्द्रियि-
कवृत्त्या तन्निवृत्तिसंभवः, समानविषयकयोरेव ज्ञानाज्ञानयोर्निर्वर्त्यनिवर्तकभावात् । स्वावच्छिन्नचिद्विषयकत्वप्रयोजनमाह—
तच्च न ब्रह्मणीति । तथाच ब्रह्मणि अवेद्यत्वरूपविशेषणस्य निर्वक्ष्यमाणापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपविशेष्यस्यच सत्त्वेन
नोक्तविशिष्टाभावरूपो हेतुरिति न व्यभिचारः ब्रह्मणीवेति दृष्टान्तसङ्गतिश्चेति भावः । तस्यैवेति । नत्वज्ञानस्य;

हारयोग्यत्वाभावरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः, न च—फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टं यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं तस्य ब्रह्मणीवाविद्यान्तःकरणादौ शुक्तिरूप्यादौ च सत्त्वेनासिद्धिसाधनवैकल्ये इति—वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्यापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वपदेन विवक्षितत्वात्, तस्य चाविद्यादौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अतीतादिदशायां तस्यासत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकानुमित्यादिवृत्तिव्याप्यत्वेऽप्युक्ताज्ञाननिवर्तकवृत्त्यव्याप्यत्वात् । ब्रह्मणीवेत्यादि । अपरोक्षताव्यवहारयोग्यत्वमभानापादकाज्ञानविषयत्वं तद्विशिष्टचित्तादात्म्यं चेत्यन्यतरवत्त्वम्, तत्राग्नस्य ब्रह्मणीव द्वितीयस्याविद्यादौ सत्त्वादसिद्ध्यादिकमित्याशयः । नोक्तन्यतरवत्त्वमपरोक्षताव्यवहारयोग्यता, किं स्वज्ञानसामान्यविरोधिमनोवृत्तिविषयतायोग्यत्वम्, अतो नोक्तदोष इत्याह—अज्ञाननिवर्तकेत्यादि । उक्तविषय-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तस्य स्वाविषयकत्वेन स्वाविषयकलघटितस्वावच्छिन्नचिद्विषयकत्वासंभवात्, घटेऽपि वेद्यत्वाप्रसिद्धापत्तेरित्येवकारार्थः । अभानापादकत्वप्रयोजनमाह—नापि शुक्तिरूप्यादाविति । ननु शुक्तिरूप्याज्ञानस्यैवाप्रसिद्धिः, अत आह—अती-
ततादशायामिति । असत्त्वापादकाज्ञानेति । तन्निवर्तकानुमित्यादिवृत्त्यसत्त्वे शुक्तिरूप्यं नासीदिति व्यवहारात्, तत्सत्त्वे तु तदासीदिति व्यवहारादिति भावः । उक्ताज्ञानेति । अभानापादकाज्ञानेत्यर्थः । तत्र तादृशाज्ञानस्यैवाभावात्, तस्य ज्ञातत्वानुपगमात् । अतीततादशयां ज्ञातस्यैव तस्यानुमानं, तेन च ज्ञातस्यैव तस्यातीतसत्त्वव्यवहार इति भावः ।
वृत्त्यव्याप्यत्वादिति । तथाच वक्ष्यमाणासिद्ध्यादिसङ्गतिरिति भावः । मूले—नचेति । उक्ताभावरूपहेतुप्रति-
योगिभूतमिति शेषः । फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टमिति । अवेद्यत्वे सतीति सत्यन्तार्थभूताभानापादकाज्ञाननिवर्तक-
वृत्तिविषयत्वाभावविशिष्टमित्यर्थः । असिद्धिसाधनवैकल्ययोरुभयोरुद्भावनयावद्दोषोद्भावनस्याभिप्रेतत्वात् व्यभिचारानुक्त्या
न्यूनत्वशङ्कां परिहर्तुं व्यभिचाराभावबोधनाय ब्रह्मणीवेति दृष्टान्तोक्तिः । ननु विषयगतमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमपरो-
क्षपदार्थतावच्छेदकधर्मवत्त्वं, तच्च यद्यपि घटादौ अभानापादकाज्ञानविषयत्वप्रयोजकविशिष्टतादात्म्यं; तथापि साक्षा-
त्करोतेः सकर्मकत्वानुरोधेन तत्र प्रयोजकनिवेशेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमुक्ताज्ञानविषयत्वविशिष्टचित्तादात्म्यरूपमेव
स्थापनात्, नतूक्ताज्ञानविषयत्वमात्रम्, जडे पटादावावरणकृत्याभावेन सर्वदैव सत्त्वादुक्तव्यवहारापत्तेः । तच्च न
ब्रह्मणि; स्वप्नकाले तत्र वृत्त्याज्ञाननिवृत्तिमात्रेणापरोक्षव्यवहारसंभवेन तद्व्यवहारे उक्तविशिष्टचित्तादात्म्यानपेक्षणात्,
अतो यद्युक्ताज्ञानविषयत्वमात्रं प्रकृतहेतौ अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं, तर्हि घटादौ विशेषणाभावेन हेतुसत्त्वेऽप्यविद्यादौ
तदसंभवः । नच—अविद्यान्तःकरणतद्गमसुखादिशुक्तिरूप्यादिप्रातिभासिकानामज्ञानसत्त्वानुपगमेन तत्रोक्ताज्ञानविषयत्वं
सर्वदैवास्तीति—वाच्यम्; प्रसङ्गादपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वनिर्वचनस्यापि विवक्षितत्वेन घटाद्यभानापादकाज्ञानविषयेऽपि
घटाद्यवच्छिन्नचैतन्ये पटाद्यभानापादकाज्ञानविषयत्वसत्त्वेनापरोक्षव्यवहारापत्तेः स्वाभानापादकाज्ञानविषयीभूतस्वल्स्वा-
वच्छिन्नचैतन्यान्यतरकत्वस्यैव स्वस्मिन्नपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपत्वेनोपगन्तव्यत्वेनाविद्यादीनामभानाभावेन तत्रोक्तयोग्य-
त्वाभावात् तत्रापि हेत्वसिद्धसङ्गतिः, इत्यत आह—अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति । अभानापादकाज्ञानवि-
षयत्वमिति । स्वाभानापादकाज्ञानविषयो यत् स्वं, तत्त्वमित्यर्थः । स्वं ब्रह्मचैतन्यम् । तद्विशिष्टचित्तादात्म्यमिति ।
स्वाभानापादकाज्ञानविषयत्वविशिष्टा या स्वपदार्थरूपा चित् तत्तादात्म्यमित्यर्थः । स्वं घटाद्यधिष्ठानचित्, तत्तादात्म्यं च
घटादौ; तादृशशुद्धचित्तादात्म्यमविद्यान्तःकरणादीनां, शुद्धचैतन्ये एव तदध्यासात् । तादृशशुक्त्यवच्छिन्नतदधिष्ठानचित्ता-
दात्म्यं च शुक्तिरूप्यादौ । नचैवं तादृशघटावच्छिन्नचित्तादात्म्यमादाय गुरुत्वादावप्यपरोक्षव्यवहारप्रसङ्गः; अयोग्यान्यत्व-
स्यापि निरुक्तान्यतरवत्त्वे सामानाधिकरण्यसंबन्धेन विशेषणत्वादिति । उक्तरीत्या विशेषाभावनिवेशाभिप्रायेणैवाभानापाद-
कत्वमज्ञानविशेषणमुपात्तम्, अन्यथा यदा यत्राभानापादकाज्ञाननिवृत्तिः, तदा तत्रासत्त्वापादकाज्ञानस्यापि निवृत्त्यवश्यं-
भावादज्ञानविषयत्वसामान्याभावस्यैव उक्तयोग्यताघटकत्वौचित्यादिति व्याचक्षते । केचित्तु—अभानापादकाज्ञानविषय-
त्वसामान्याभाव एवोक्तयोग्यतायां प्रवेश्यः, अभानापादकत्वनिवेशस्तु तद्वटितसामान्यधर्मावच्छिन्नाभावान्तरस्यै-
वोक्तयोग्यत्वघटकत्वसूचनाय । तेन तत्प्रतिद्वन्द्वपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमसत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वघटितमिति लभ्यते ।
नचैवमविद्याद्यभानापादकाज्ञानाप्रसिद्धावपि ब्रह्मघटाद्यभानापादकाज्ञानविषयत्वस्य प्रसिद्धस्याभावोऽविद्यादावप्यस्तीति तद्वि-
शिष्टचित्तादात्म्यनिवेशो व्यर्थ इति—वाच्यम्, ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगिसमवायिदेशवृत्तित्वनियमवत् कदाचिदज्ञान-
विषयत्ववत्, कदाचित्तदभाववत्त्वमिति नियमाभ्युपगमेनाविद्यादावज्ञानविषयत्वासंभवादुक्तादात्म्यघटितान्यतरवत्त्वस्या-
वश्यकत्वात् । अविद्यादौ उक्तचित्तादात्म्येन तद्व्यवहारोपपादनं गुरुत्वादौ तद्वारणं च पूर्वोक्तरीत्यैवेत्यपि—विवृण्वन्ति ।
इत्याशय इति । नचेतिशङ्ककस्येत्यादिः शेषः । समाधातुरभिप्रायमाह—नोक्तान्यतरवत्त्वमिति । अभानापादकत्व-
निवेशे उक्तनियमाभ्युपगमे, उक्तान्यतरनिवेशे च गौरवादिति भावः । तदाह—किंवज्ञानसामान्यविरोधीति ।

शुक्तिरूप्यादौ चासत्त्वात् नासिद्धिसाधनवैकल्ये । यथाच घटादेः फलव्याप्यत्वं, तथाप्रे वक्ष्यामः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ताया अव्याप्यवृत्तित्वेन तदभावस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वात्तदीययोग्यत्वस्येत्युक्तम् । तादृशयोग्यत्वं च अभानापादका-
ज्ञानविषयत्वतदवच्छेदकत्वविशिष्टयोरन्यतरत्वम् । उक्तविषयत्वं ब्रह्मण्येव, उक्तविषयतावच्छेदकत्वं घटादावेव, नत्व-
विद्यादौ । अतीतत्वादिदशायामपि शुक्तिरूप्यादौ नाभानापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्, साक्ष्यसंबन्धादेव तदा
तदभानोपपत्तेः । नच—उक्तविषयतातदवच्छेदकयोरव्याप्यवृत्तित्वेन तत्स्वरूपोक्तान्यतरत्वस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वात्तदभावो

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अज्ञानसामान्यनिवर्तकेत्यर्थः । अतीतत्वादिदशायां शुक्तिरूप्यादावसत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकानुमानिकमनोवृत्तिविषयत्वेन
हेत्वासिद्धिवारणाय सामान्यपदम् । तथाचोक्तानुमानिकवृत्तेरभानापादकाज्ञाननिवर्तकत्वात् तत्र हेतुसिद्धिरिति बोध्यम् ।
मनोवृत्तीति । सा च घटादौ इन्द्रियजन्या, ब्रह्मणि तु वेदान्तजन्याऽखण्डा, अविद्यादौ तु न कापि, तत्रोक्तनियमानभ्युपग-
मेन तेषामज्ञानत्वानुपगमेन च स्वत एवाज्ञानविषयत्वसामान्याभावाभ्युपगमेन तत्प्रयोजकमनोवृत्तिकल्पने प्रयोजनाभावात्,
क्वचिदविद्यावृत्तेरुपगमेऽपि तस्या अज्ञाननिवर्तकत्वाभावात् । नचैवं मनःपदं व्यर्थम्; अज्ञानसामान्यविरोधीत्यस्याज्ञानविषयत्व-
सामान्याभावव्याप्येत्यर्थकत्वे अविद्याशुक्तिरूप्यादिविषयकाविद्यावृत्तेरुक्ताभावव्याप्यत्वेनाविद्याशुक्तिरूप्यादौ हेत्वसिद्धिवारक-
तया तत्सार्थक्यात् । अतएवाज्ञानविषयत्वाभावातिरिक्तसकलांशसार्थक्यमपीति बोध्यम् । योग्यत्वनिवेशप्रयोजनमाह—
उक्तविषयताया इति । अज्ञानसामान्यविरोधिमनोवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वम्, अज्ञानविषयत्वं मनोवृत्तिसामग्रीचेत्युभयं, तच्च
ब्रह्मण्येव; तत्राज्ञानविषयतायाः सत्त्वात्, तन्निवर्तकौपनिषदमनोवृत्तेरपेक्षणात्तत्सामग्र्याश्च सत्त्वात्, नतु जडे घटादौ;
अज्ञानविषयतायास्तत्रासत्त्वेन तद्विषयकैन्द्रियमनोवृत्तेस्तन्निवर्तकत्वाभावात् । यद्यज्ञानविषयताया घटावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठया
अवच्छेदकत्वरूपाज्ञानीयविषयताविशेषस्य घटादावपि सत्त्वात् तन्निवर्तकत्वं तद्वृत्तेः संभवतीत्युच्यते, तदानीमतीतत्वादि-
दशायां शुक्तिरूप्यादावपि स्वावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठसत्त्वापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वरूपतदीयविषयताविशेषस्य तदा सद-
सत्त्वव्यवहारानुरोधेन सत्त्वात्तन्निवर्तकानुमानिकमनोवृत्तेश्च संभवेन तत्राप्युक्तयोग्यत्वापत्त्या हेतोरसिद्धिरित्यत आह—
तादृशयोग्यत्वंचेति । विशिष्टयोरन्यतरत्वमिति । उक्तविषयत्वतदवच्छेदकत्वयोरन्यतरत्वत्वापेक्षया लाघवात्
घटत्वपटत्वान्यतरत्वत्वापेक्षया घटपटान्यतरत्वे लाघववत् । मनोवृत्तिसामग्र्या ब्रह्मघटाद्योः प्रायशः सत्त्वादनिवेशः । योग्य-
तायां कदाचित् तदसत्त्वेऽपि तत्रापरोक्षव्यवहार इष्यत एवेति भावः । **ब्रह्मण्येवेति ।** अतो घटादिसंग्रहाय तदवच्छेदकत्व-
मुक्तमिति भावः । **घटादावेवेति ।** अतो ब्रह्मसंग्रहायाज्ञानविषयत्वमुक्तमिति भावः । अभानापादकत्वप्रयोजनमाह—
नत्वविद्यादाविति । उक्तविषयतावच्छेदकत्वमित्यनुपगमः । उक्तविषयत्वं त्वविद्यादौ जडत्वादेवानभ्युपगतम् । **शुक्ति-
रूप्यादेरिति ।** असत्त्वापादकाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वेऽपीति शेषः । तर्हि तदा तद्भानं कुतो नेति शङ्कयामाह—**साक्ष्य-
संबन्धादेवेति ।** तदा अतीतत्वादिदशायाम् । **तदभानोपपत्तेः** शुक्तिरूप्याद्यभानोपपत्तेः । **अव्याप्यवृत्तित्वेनेति ।**
तन्निवर्तकवृत्तिकालेऽसत्त्वेनेति भावः । **ब्रह्मण्यपीति ।** तथाच व्यभिचार इति भावः । घटादौ तु वृत्तिकाले निरुक्तान्य-
तरत्वरूपविशेष्याभावात् वृत्तिविषयताघटितवेद्यत्वसत्त्वेनावेद्यत्वरूपासत्त्वाच्च विशिष्टाभावरूपहेतुसत्त्वात् नासिद्धिः । वृत्ति-
रहितकाले उक्तविशेष्यविशेषणोभयसत्त्वेऽपि न क्षतिः; कादाचित्कविशेषणेन धूमगन्धादिना वह्निपृथिवीत्वानुमानवत् कादा-
चित्कोक्तविशिष्टाभावेनापि मिथ्यात्वानुमितिसंभवादिति भावः । **ब्रह्मघटान्यतरत्वपर्यवसितस्येति ।** ब्रह्मघटान्यतरत्व-
रूपस्येत्यर्थः । **उक्तान्यतरत्वस्येति ।** अभानापादकाज्ञानविषयत्वावच्छिन्नभिन्नत्वे सति, तदवच्छेदकतावच्छिन्नभिन्नं
यत्, तद्विन्नत्वम्, उक्तविषयतावच्छेदकत्वान्यतररूपं, तन्नियतमतिरिक्तमेदरूपं वा अव्याप्यवृत्ति नोक्तान्यतरत्वं, किंतूक्ता-
ज्ञानविषयताव्याप्यव्याप्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नभिन्नत्वे सति, तदवच्छेदकत्वव्याप्यव्याप्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नभिन्नं यत्, तद्विन्नत्वं
ब्रह्मत्वघटत्वादिरूपं तन्नियतातिरिक्तमेदरूपं व्याप्यवृत्त्येवेति । ब्रह्मणि निरुक्तावेद्यत्वरूपविशेषणोक्तान्यतरत्वरूपविशेष्योभयस्य
सार्वदिकत्वेन तद्विरुद्धोक्तविशिष्टाभावस्य कदाप्यसत्त्वाच्च व्यभिचारः, घटादौ तूक्तान्यतरत्वरूपविशेष्यसत्त्वेऽपि ऐन्द्रियिक-
वृत्तिकाले निरुक्तवेद्यत्वसत्त्वेनावेद्यत्वरूपविशेषणाभावेन कादाचित्कविशिष्टाभावरूपहेतुसत्त्वात् नासिद्धिः, अविद्यादौ निरुक्ता-
वेद्यत्वरूपविशेषणसत्त्वेऽपि ब्रह्मघटान्यतरत्वपर्यवसितस्य निरुक्तविशेष्यस्याभावाद्विशिष्टाभावो व्याप्यवृत्तिरेवास्तीति नासिद्धि-

१ यद्यपि—शुक्तिरूप्यादिविषयमनोवृत्तेरसत्त्वापादकाज्ञानमात्रनिवर्तकत्वेनाभानापादकाज्ञाननिवर्तकत्वादज्ञानसामान्यविरोधिमनो-
वृत्तिविषयतायोग्यत्वं तत्र नापत्तिः; तथापि अज्ञानसामान्यविरोधीत्यस्याज्ञानविषयत्वसामान्याभावव्याप्येति पूर्वोक्तार्थस्वीकारो
भवेत्येवेति मन्तव्यम् ॥

अविद्यावृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वपक्षे तत्र व्यभिचारवारणायाज्ञानकालवृत्तित्वं हेतुविशेषणं देयम्, तेनैव तुच्छेऽपि न व्यभिचारः । एवमेव सर्वेषु हेतुषु व्यभिचारपरिहाराय यतनीयम् । सद्विविक्त-
त्वमात्रे तु साध्ये तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च न व्यभिचारगन्धोऽपीति सर्वमवदातम् ॥

॥ इति अद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ब्रह्मण्यपीति—वाच्यम्, ब्रह्मतद्वैतान्यतरत्वपर्यवसितस्योक्तान्यतरत्वस्य निवेशात् । अज्ञानकालवृत्तित्वमिति । अज्ञानाप्रयुक्तं सत् यत् जन्यं तदन्यत्वे सति कालसंबन्धित्वमित्यर्थः । उक्तकालसंबन्धित्वं ब्रह्मण्यपीति दृश्यत्व-
मुपात्तम् । सत्यन्तस्य तुच्छेऽपि सत्त्वात् कालसंबन्धित्वमुक्तम् । तावन्मात्रस्य पञ्चमप्रकारेऽपि सत्त्वात् सत्यन्तमुक्तम् । अज्ञानाप्रयुक्तत्वं तु अज्ञानतल्लेशान्यतरतादात्म्यानापन्नत्वम्, तेनाज्ञाननिवृत्तौ प्रतियोगिविधया अज्ञानस्य प्रयोज-
कत्वेऽपि न क्षतिः । जीवन्मुक्तभोगादिकमज्ञानानात्मकमपि तल्लेशात्मकम् ॥

॥ इति लघुचन्द्रिकायां दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ॥

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

शङ्कापीति भावः । श्रीमदप्पय्यदीक्षितकृतसिद्धान्तलेशसंग्रहे आनन्दबोधाचार्यमतमुक्तम्—आत्मन्येवा-
विद्यानिवृत्तिः, सा च न सती; अद्वैतहानेः, नाप्यसती; ज्ञानसाध्यत्वायोगात्, नापि सदसद्रूपा; विरोधात्, नाप्य-
निर्वाच्या; अनिर्वाच्यसादेरज्ञानोपादाननियमेन मुक्तावपि तदुत्पादनाज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्गात्, ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्तेश्च, किंतूक्त-
प्रकारचतुष्टयोत्तीर्णपञ्चमप्रकारा—इति । तन्मते अज्ञाननिवृत्तिकालेऽज्ञानस्याऽसत्त्वेन तदविषयत्वेन तन्निवर्तकवृत्तिविषयत्वा-
भावेनोक्ताविद्यानिवृत्तौ अवेद्यत्वरूपविशेषणसत्त्वेऽप्यज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वरूपयथाश्रुतस्याविद्याविषयतदवच्छेदकान्यतरत्वस्य
ब्रह्मघटान्यतरत्वपर्यवसितस्य तन्निष्कर्षणीयस्य च विशेष्यस्यासत्त्वेनोक्तविशिष्टाभावरूपदृश्यत्वहेतोः सत्त्वेन मिथ्यात्वरूपसाध्या-
भावेन व्यभिचारः, इत्याशङ्कां परिहरति मूले—अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वपक्ष इति । ननु चैत्रीयाज्ञान-
निवृत्तेः मैत्रीयाज्ञानकालवृत्तित्वाच्च तद्विशेषणेनोक्तव्यभिचारवारणसंभवः, नच स्वप्रतियोगिकत्वस्वकालवृत्तिलोभयसंबन्धेना-
ज्ञानविशिष्टत्वं तदर्थः; दृष्टान्तपक्षयोरसत्त्वात्, नापि स्वप्रयुक्तत्वस्वकालवृत्तिलोभयसंबन्धेन; अविद्यायामसिद्धिरित्यतो
व्याचष्टे—अज्ञानकालवृत्तित्वमिति इति । अत्राज्ञानकालवृत्तिलमिलनेनाज्ञानकालमात्रवृत्तित्वं, तेनाज्ञानान्यकालावृत्तित्वे
सति, अज्ञानकालवृत्तित्वम् । तथाच यदि स्वानधिकरणकालवृत्तिलसंबन्धेनाज्ञानविशिष्टान्यत्वे सति, स्वाधिकरणकालवृत्तित्वं,
तदा स्वपूर्वक्षणनिष्ठतादृशाज्ञानानधिकरणकालवृत्तौ घटादावसिद्धिः, यदि स्वानधिकरणकालवृत्तिलसंबन्धेनाज्ञानविशिष्टान्यत्वे
सति स्वाधिकरणकालवृत्तित्वं घटोत्तरनिवर्त्याज्ञाननिष्ठमादाय घटादौ हेतुसत्त्वं, तदा चैत्राज्ञाननिवृत्तौ मैत्राज्ञानस्योभय-
संबन्धेन सत्त्वात् व्यभिचारतादवस्थमिति, तेनाज्ञानप्रयुक्तमात्रवृत्तिधर्मवत्वम्, तेनचाज्ञानाप्रयुक्तं यजन्यं तद्विन्नत्वे
सति कालवृत्तित्वं विवक्षणीयमित्याह—अज्ञानाप्रयुक्तमिति । घटावसिद्धिवारणायेदम् । अविद्यायामसिद्धिवारणाय
जन्यमिति । अविद्यानिवृत्तेः अविद्यापरिणामत्वान्भ्युपगमेन तदप्रयुक्तत्वात् जन्यत्वाच्च तत्र तदवच्छिन्नभेदाभावाच्च व्यभिचारः ।
उक्तकालसंबन्धित्वम् अज्ञानाप्रयुक्तजन्यभिन्नत्वविशिष्टकालभिन्नत्वम् । सत्यन्तस्य अज्ञानाप्रयुक्तजन्यभिन्नत्वस्य ।
तुच्छेऽपीति । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावेन दृश्यत्वरूपविशेष्यांशवति इति शेषः । तावन्मात्रस्य काल-
संबन्धित्वमात्रस्य । पञ्चमप्रकारे तत्त्वेनाभ्युपगम्यमानाविद्यानिवृत्तौ । सत्यन्तम् अज्ञानाप्रयुक्तजन्यभिन्नत्वम् । ननु
सति अज्ञानरूपप्रतियोगिनि तन्निवृत्तिः, असत्तितु नेति अज्ञाननिवृत्तेरज्ञानप्रयुक्तत्वात् तत्र व्यभिचारो दुर्वार इत्यत आह—
अज्ञानाप्रयुक्तत्वमिति । अज्ञानतल्लेशान्यतरतादात्म्यानापन्नत्वमिति । अज्ञानं मूलाविद्या, तल्लेशः
तत्संस्कारः, तत्तादात्म्यानापन्नं तत्परिणामभिन्नं तद्विन्नत्वमित्यर्थः । अज्ञानतादात्म्यापन्नं तत्परिणामभूतं घटशुक्ति-
रूप्यादि, तल्लेशश्च तल्लेशतादात्म्यापन्नं जीवमुक्तभोगः, तद्विन्नमप्यनाद्यविद्यादि न जन्यं, तादृशी तु अविद्यानिवृत्तिरेव
पञ्चमप्रकारा, तस्या अविद्यातल्लेशपरिणामत्वानुपगमात् इति तत्र अज्ञानतल्लेशान्यतरपरिणामान्यजन्यत्वसत्त्वेन तदवच्छिन्न-
भेदाभावात् न व्यभिचार इति भावः । उक्तव्याख्यावीजमाह—तेनेति । तल्लेशनिवेशप्रयोजनमाह—जीवन्मुक्त-
भोगादिकमिति । अज्ञानानात्मकं स्थूलरूपाज्ञानपरिणामभिन्नम् । तल्लेशात्मकं सूक्ष्मरूपपरिणामरूपम् । एवंचोक्ता-

न्यतरतादात्म्यानापन्नं जन्यं, पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिरेव, तद्विन्नलस्य जीवन्मुक्तभोगादौ सत्त्वात् हेतुसत्त्वरूपेष्टासिद्धिः । ननु अज्ञाननिवृत्तौ व्यभिचारवारणाय तद्विन्नलमेवास्तु, किमज्ञानकालवृत्तित्वनिवेशेनेत्यत, आह मूले—तेनैव तुच्छे न व्यभिचार इति । एतेन—तुच्छे व्यभिचारवारणाय तद्विन्नलमेवास्तु, किमज्ञानकालवृत्तित्वनिवेशेन—इत्यपि—परास्तम् । ननु—अज्ञाननिवृत्तेरज्ञानाप्रयुक्तजन्यत्वेन गुरुरूपेण भेदः किमिति निवेश्यते, लघुना अज्ञाननिवृत्तित्वेनैव स निवेश्यतामिति—चेत्, उच्यते; तथा सति जीवन्मुक्तीयस्थूलाज्ञाननिवृत्तौ मिथ्याभूतायां भागासिद्धिरिति पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तित्वेन तद्भेदो निवेश्यः, तच्च सदन्यत्वे सति, असदन्यत्वे सति, सदसद्विलक्षणान्यत्वेच सति, तल्लेशपरिणामान्यत्वे च सति, जन्यस्वरूपनिवेशितभेदप्रतियोगितावच्छेदकापेक्षया गुर्वाति ग्रन्थकारोक्तावेव लाघवादिति ॥

इति दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ।

श्रीरस्तु ।

अथ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

मिथ्यात्वानुमाने दृश्यत्वहेतुरपि “सर्वोऽपि प्रत्ययो मिथ्यात्वविषयकः प्रत्ययत्वा”दिति बौद्धीययुक्तिर्च्छेदिमात्रम् । तत्रापि बौद्धमते प्रामाण्यस्यास्वतस्त्वात् तद्योगेऽपि स्वतःप्रामाण्यवादिनामद्वैतिनां तदयुक्तमेव । नच—स्वतःप्रामाण्या-प्रामाण्याङ्गीकारनिबन्धनभेदमात्रेण युक्तत्वायुक्तत्ववर्णनं न संभवतीति—वाच्यम्; स्वतःप्रामाण्यवादे अबाधितविषयकत्वा-वश्यकतया वृत्तिविषयत्वेन मिथ्यात्वसाधने विरोधात् । कथंचित्तन्मतसाधारण्येऽपि तदिव भवन्मतमप्युपेक्षणीयमेव । तथाहि—किमिदं दृश्यत्वम् ? (१) वृत्तिव्याप्यत्वं वा (२) फलव्याप्यत्वं वा (३) साधारणं वा (४) कदाचित्कथंचिद्विषयत्वं वा (५) स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिर्वा (६) अस्वप्रकाशत्वं वा ।

नाद्यः; ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मज्ञानमित्यादौ षष्ठ्युपपत्त्यर्थं “तमेव धीरो विज्ञाये”त्यादौ द्वितीयोपपत्त्यर्थं श्रवणादिविध्युपपत्त्यर्थं “सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन्ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते । प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते” इति वचनोपपत्त्यर्थं च ज्ञेयत्वेनो-पगमनीये आत्मनि व्यभिचारात्, अन्यथा दृग्विषयस्वरूपदृश्यत्वे विशेषणज्ञानाभावेन ज्ञेयत्वानापत्त्याऽसिद्धेः, अनुभूतिः स्वप्रकाशा अनुभूतित्वात् इत्यनुमाने धर्म्यसमसत्ताकत्वे बाधासिद्ध्यादिवारणार्थं व्यावहारिकस्य हेतोर्विपक्षे वृत्तिर्व्यभिचारदिक-मित्येव वर्णनीयतया धर्म्यसमसत्त्वस्य हेतोर्विपक्षे वृत्तिर्व्यभिचार इति वर्णनायोगात् । एतेन—धर्म्यसमसत्ताकत्वं हेतु-विशेषणमिति शङ्कापि—पराहता; वृत्तिपदवैयर्थ्यापत्तेः । यथाकथंचित्तार्थक्येऽपि दृष्टान्ते साधनवैकल्यम्, रूप्यं दृष्टमित्य-नुभवेन शुक्तिरूप्ये तद्विषमसत्ताकत्वस्यैव सत्त्वात् । मम रीत्यात्मनि व्यभिचारश्च । नचात्मनि यत्तददृश्यमिति श्रुत्युपपत्त्यर्थं वृत्तिविषयत्वं नाङ्गीक्रियते; दृश्यते, त्वय्यया बुद्धेत्यादीनां पूर्वोक्तवचनानां च विशिष्टोपहितादिपरमत्वमेवेति—वाच्यम्; दृश्यत्वमिथ्यात्वयोः शुद्धे व्यतिरेकज्ञानार्थं शुद्धे दृश्यत्वनिषेधार्थं शुद्धपदप्रयोगसार्थक्यार्थं च शुद्धस्य ज्ञेयत्वस्याङ्गीकरणीयत्वात् । अतएव तत्रास्वप्रकाशत्वज्ञानस्य न संशयधीः; अन्यथा शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्येऽपि तस्याविषयत्वात्तादृशसंशयानिराकरणा-पत्तेः । वस्तुतस्तु—विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकात् विशिष्टविषयत्वेनैव विशेष्यशुद्धविषयत्वमपि सिद्धमेवेति सुहृदो व्यभिचारः । विशिष्टस्य विशेष्यभूतशुद्धातिरेके दण्डी चैत्र इति ज्ञानेन चैत्रज्ञानानुभवस्य बाधापत्तेः । एतेन—विषयत्वस्य अग्नीषोमयो-र्देवतात्वत् व्यासज्यवृत्तित्वमेवेति शङ्कापि—परास्ता; विशेषणे भागासिद्ध्यापत्तेः । अदृश्यत्वादिश्रुतयस्तु साकल्येनादृश्य-त्वपराः । एतेन—उपहितविषयतावादोऽपि—पराहतः; चरमवृत्तावुपाधिभूतवृत्तेरपि विषयत्वे तस्य स्वप्रकाशत्वाप्रमा-त्योरापत्त्या अविषयत्वे केवलब्रह्मण एव वृत्तिविषयत्वं ननु वृत्त्युपहितस्येत्येव सिद्ध्या च तस्यासंगतत्वात् । एवं च—शुद्धस्य स्वरूपेणादृश्यत्वात् स्वरूपेण दृश्यत्वस्यैवात्र विवक्षणाच्च न दोष इति शङ्कापि—पराहता; घटादौ नित्यातीन्द्रिये च भागासिद्धेः । अतएव तरति शोकमात्मविदित्यादिश्रुतयोऽप्युपपन्नाः । अन्यथा विशिष्टज्ञानेनोपहितज्ञानेन वा शुद्धाज्ञाना-निवृत्त्या अनिर्मोक्षत्वप्रसङ्गात् । अज्ञानसमानविषयत्वेन हि ज्ञानस्य निवर्तकत्वम्, ननु तदाकारत्वेन; साकारवादापत्तेः । एवंच आत्मनि व्यभिचारतादवस्थमिति मन्तव्यम् । अन्यथा स्फुरणमात्रस्य तादात्म्येन मिथ्यात्वे तत्रलापत्त्या ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वापत्तेः । अनिवर्चनीयत्वं मिथ्यात्वमिति पक्षे तु तुच्छे व्यभिचारश्चात्रानुसन्धेयः ।

(२) नापि फलव्याप्यत्वं दृश्यत्वम्; फलपदेन वृत्तिप्रतिफलितस्य तदभिव्यक्तविषयाधिष्ठानस्य वा चैतन्यस्य विवक्षणीयतया नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च भागासिद्धेः ।

(३) नापि वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः साधारणं दृग्विषयत्वम्; ब्रह्मणि व्यभिचारात् ।

(४) नापि कदाचित्कथंचिद्विषयत्वम्; तद्व्यवहारे तद्विषयत्वस्य तन्त्रत्वेन कल्पितभेदेनापि ब्रह्मणोऽपि चिद्विषयत्वस्य 'ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञात'मिति व्यवहारोपपत्त्यर्थमङ्गीकरणीयत्वेन ब्रह्मणि व्यभिचारात्, घटादिस्थल इव वृत्तिप्रतिफलितचित एवाज्ञाननिवर्तकत्वात्, तदाकारत्वेन तन्निवर्तकत्वे घटादावपि तथापत्त्या हेतुसिद्धेः । **वस्तु-तस्तु**—अन्धकारनिवर्तकप्रभाभिव्यक्तप्रभाविषयत्वेन प्रकाशस्य लोकेऽननुभवेन प्रत्युत अन्धकारनिवृत्त्यैव तस्यानुभवेन च वृत्त्याऽज्ञाननिवृत्त्यैव घटादिप्रत्यक्षत्वं नत्वावरणनिवर्तकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यविषयत्वेनेति घटादावसिद्धिरपीति मन्तव्यम् ।

(५) नापि स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिः, स्वपदेन स्वरूपमात्रविवक्षणे निर्विकल्पकानङ्गीकर्तुमते घटादावसिद्धेः, आत्मनोऽपि कालादिविशिष्टत्वेनैतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्समिति ज्ञानविषयत्वेन स्वातिरिक्तविशेषणज्ञानापेक्षत्वेन व्यभिचारात्, स्वांशे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाविवक्षणे च नियतिपदवैयर्थ्यात्, इष्टापत्तौ चाज्ञानावृत्ते शुद्धे स्वव्यवहारार्थं वेदान्त-जन्मवृत्त्यपेक्षणाद्यभिचारात्, वृत्त्यन्यसंविद्विवक्षायां घटादावसिद्धेः, तत्र वृत्त्यैव व्यवहारसिद्धेः ।

(६) नाप्यस्वप्रकाशत्वम्; फलव्याप्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपस्य तस्य विशेषणविशेष्योभयवति घटादौ शुक्तिरूप्यादौ चासत्त्वेनासिद्धिसाधनवैकल्ययोः प्रसङ्गात्, अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावस्य तादृशयोग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन तत्र व्यभिचारात्, पञ्चमप्रकारविद्यानिवृत्तौ व्यभिचाराच्च । **एवंच—न धर्मादौ फलव्याप्तिवृत्तिव्याप्यत्वमात्मनि । अज्ञातत्वादिरूपेण चिद्वेद्यत्वं तु चित्यपि ॥ अन्यापेक्षाभिलापत्व-मस्त्यौपनिषदात्मनि । त्वदुक्तास्वप्रभत्वं च रूप्ये नास्त्यस्ति चात्मनि—इति वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

फलव्याप्यत्वातिरिक्तः सर्वोऽपि पक्षो विचारसहएव; यत्तददृश्यमिति श्रुत्या शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वनिषेधात् वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे नात्मनि व्यभिचारः । ब्रह्मपराणां वेदान्तानां श्रवणादिविधेः ब्रह्मजिज्ञासादिव्यवहारस्य तमेव धीर इत्यादि श्रुतेश्च चरमवृत्त्युपहितब्रह्मविषयत्वात्, स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्धे ब्रह्मणि दृश्यत्वनिषेधस्य श्रुत्या बोधनसंभवेन तदर्थं शुद्धज्ञानानपेक्षणात् । **एतेन**—स्वप्रकाशत्वसंशयानिवृत्तिरपि—**व्याख्याता**; धूमव्यापको वह्निरिति निश्चयानन्तरं वह्नयभाववति धूमवत्ताज्ञानस्येव शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यादिना अशुद्धत्वेऽस्वप्रकाशत्वव्यापकलनिश्चये शुद्धेऽस्वप्रकाशत्वसंशयासंभवात् । **एतेन**—शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यमपि—**व्याख्यातम्** । शुद्धेऽस्वप्रकाशत्वसंशयनिवृत्तिरूपप्रयोजनमादाय तु शुद्धपदप्रयोगाद्युपपत्तिः । एवं शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या इत्यादिभिः अशुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमिति बोधिते शुद्धे दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यतिरेकः पर्यवस्यतीति न तदर्थमपि तज्ज्ञानापेक्षा । **एतेन**—स्फुरणमात्रस्य मिथ्यात्वे तन्त्रत्वं शून्यवाद्यभिमतं—**परा-हतम्**; स्वतःस्फुरणरूपत्वस्य घटादावसिद्धेः, विशेष्यतापन्नत्वेन विशेष्यस्यापि मिथ्यात्वात् विशिष्टज्ञाने विशेष्यविषयताया अप्यङ्गीकारेऽपि न शुद्धे व्यभिचारः; विशेष्यस्य शुद्धरूपत्वाभावात् । विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यत इत्यङ्गीकारे नोक्त-शङ्काया अप्यवसरः; विशेषणे ज्ञानान्तरविषयत्वमादाय भागासिद्धिपरिहारात् । विशिष्टविषयकेनोपहितविषयकेन वा ज्ञानेन शुद्धस्वरूपाज्ञानस्यापि निवृत्तेर्न दण्डी चैत्र इति ज्ञानोत्तरं शुद्धचैत्रज्ञातत्वानुभवविरोधः । **एतेन**—उपहितविषयकज्ञानस्य शुद्धस्वरूपाश्रिताज्ञानानिवर्तकत्वादिनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याद्यपि शङ्काः—**पराहताः**; उपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वरूपसमानविषयकत्वस्योपहितज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिपक्षेऽपि संभवात् । उपहितात्मन एव सकलप्रपञ्चाधिष्ठानत्वस्याङ्गीकारात् न सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन्निति वचनविरोधः । **एतेन**—दृग्विषयत्वे दृश्यत्वसमर्थनं दृग्रूपशुद्धविषयत्वं विना न संभवतीति वचनमपि—**पराहतम्**; उपहितेनैव सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य तादात्म्यम्, तस्यैव कारणत्वात्, नतु शुद्धेनेति शुद्धज्ञानानपेक्षणात् । यदि तु विवरणमतानुसारेण वृत्तिविषयत्वं शुद्धस्यापीति शङ्क्यते, तदापि धर्मिसमानसत्ताकवृत्तिविषयत्वविवक्षणाद्यभिचारपरिहारः । वृत्तिविषयत्वं नामाकाराख्यवृत्तिसंबन्ध इति न वृत्तिपदवैयर्थ्यम्, नवा दृष्टान्ते साधनवैकल्यम् । शुक्तिरूप्यस्येव तदाकारवृत्तेरपि प्रातिभासिकत्वात्, धर्मिसमसत्ताकत्वेनाद्वैत्यभिमतवृत्तिविषयत्वविवक्षणे तु न शुष्मन्मतरीत्यापि व्यभिचारप्रसक्तिः । शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वमिति परिष्कारे तु तुच्छे व्यभिचारपरिहारार्थं विशेषणान्तरदानप्रयुक्तगौरवमपि नावसरं लभते । शब्दज्ञानानुपाती तु वस्तुशून्य इति पातञ्जलसूत्रानुसारेण तुच्छाकारशब्दवृत्त्यङ्गीकारेऽपि आनुमानिकवृत्ते-रनङ्गीकारादिति सर्वमनवयम् इति ।

(३) एतेन—वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः साधारणमिति तृतीयपक्षोऽपि समीचीन एवेति सूचितम् ।

(४) कदाचित् कथंचिच्चिद्विषयत्वपक्षोऽप्युपपन्न एव । चिद्रूपत्वचित्तादात्म्यान्यतरवत्त्वस्यैव व्यवहारप्रयोजकतया चिति चिद्विषयत्वस्यासंभवेऽपि व्यभिचाराभावात्, मेदकल्पकोपाध्यभावेन बिम्बप्रतिबिम्बभावादस्थल इव मेदकल्पनाया असंभवात् । घटाद्याकारवृत्त्या घटावच्छिन्नचैतन्याश्रिताज्ञाननिवृत्तावपि घटाद्यनाभासाच्चिद्विषयत्वमवश्यमङ्गीकरणीयम्; स्वतोऽस्फुरणरूपत्वेन प्रकाशासंभवात् । स्फुरणरूपत्वाङ्गीकारे तु बौद्धमतप्रवेशापत्तिः श्रुतिविरोधश्चेति मन्तव्यम् ।

(५) एवं स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपदृश्यत्वमपि हेतुः । ब्रह्मण आनन्दादिव्यवहारे वेदान्तजन्य-वृत्त्यपेक्षणेऽपि स्फुरणेऽनपेक्षणेन नियतिपदेनोक्तव्यभिचारवारणात् । स्वीययावद्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाया एवात्र विवक्षितत्वादिति न कोऽपि दोषः ।

(६) एवमस्वप्रकाशत्वरूपमपि दृश्यत्वं हेतुरेव । तच्च स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् । स्वप्रकाशत्वं स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम् तदवच्छिन्नानुयोगिताकप्रतियोगिताकभेदवत्त्वविवक्षणाच्चैश्वरत्वजीवत्वाद्यवच्छिन्नानुयोगिताकप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमादाय न ब्रह्मणि व्यभिचारः । यद्वा—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं तत् । अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं चाज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वरूपमिति न ब्रह्मणि व्यभिचारः, न वाऽविद्याशुक्तिरूप्यादाव-सिद्धिसाधनवैकल्ये । यथा घटादीनामपि फलव्याप्यत्वं तथाप्रे वक्ष्यामः । पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिव्यभिचारवारणार्थं तु अज्ञानकालवृत्तित्वं विशेषणं देयम् । सद्विविक्तत्वमात्रे साध्ये तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च न व्यभिचारगन्धोऽपीति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

(१) न वृत्तिव्याप्यत्वं दृश्यत्वम्; आत्मनि व्यभिचारात्, वेदान्तानामुपहितादिपरत्वेऽखण्डार्थत्वभङ्गापत्तेः । अभाव-ज्ञानं प्रति स्वग्राहकप्रमाणजन्योपस्थितेः प्रमाणजन्यतदुपस्थितेर्वा कारणत्वेन प्रमाणजन्यशुद्धोपस्थितेरङ्गीकरणीयत्वात् । अन्यथा विधिनिषेधयोरविषयस्यापि विधिनिषेधविषयत्वेऽतिप्रसङ्गात्, अतएव हि शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यमप्यर्थवत् भवति; शक्त्या लक्षणया वा शुद्धस्याप्रतिपादने तादृशवाक्यवैयर्थ्यात् । एतेन—अशुद्धत्वास्वप्रकाशत्वयोर्व्याप्यव्यापक-भावबोधकत्वे तात्पर्यमपि—पराहतम्; तादृशव्याप्यव्यापकभावग्रहमात्रेण स्वप्रकाशतापर्यवसानासंभवेन पर्यवसितप्रयो-जनस्याप्यभावात्, अस्वप्रकाशत्वव्यापकाशुद्धत्वव्यतिरेकज्ञानेनैव तत्पर्यवसानसंभवेन तदर्थं शुद्धज्ञानस्यावश्यकत्वात् । अस्तुवा व्याप्यव्यापकभावग्रहमात्रेणैव स्वप्रकाशतापर्यवसानं, तथापि तादृशव्याप्तिग्रहः शुद्धस्वप्रकाशत्वयोर्व्यतिरेकसह-चारेणैव संभवतीति घट्टकुट्यामेव प्रभातम् । मास्तुवा व्यतिरेकसहचारापेक्षा, एवमपि विशिष्टोपहितादौ अनुगततया शुद्धस्यापि भानात् व्यभिचारतादवस्थमेव । वस्तुतस्तु—चरमवृत्तेः स्वस्यामनवभासमानाया एव खोपाधित्वाङ्गीकारे-णोपाध्यविषयत्वे सत्युपहितविषयकत्वसंपादनेन न ज्ञानाज्ञानयोः समानविषयकत्वनिर्वाहः संभवति; अज्ञानस्यापि तथैव मिथ्याभूतोपहितविषयकत्वे

“आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला ।

पूर्वसिद्धतमसोऽपि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥” इति

भवदीयसिद्धान्तभङ्गापत्तेः, अन्योन्याश्रयापत्तेश्च ।

लब्धे उपहिते विषये अज्ञानस्वरूपसिद्धिः अज्ञानस्वरूपसिद्धौ चोपहितस्वरूपसिद्धिरिति । एतेन—वृत्तेरुपहितविषयत्व-वादोऽपि—पराहतः; अनुपहितस्य चैतन्यस्याविषयत्वेन तद्विषयकवृत्त्युत्पत्तितः पूर्वं तद्विषयकवृत्त्यनुत्पत्त्याऽत्राप्यन्यो-न्याश्रयापत्तेः । एवंच ज्ञानाज्ञानयोर्निर्वर्त्यनिवर्तकभावस्य शुद्धविषयकत्वेनैव निर्वहणीयतयाऽन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गेन शुद्ध-विषयत्वाङ्गीकार आवश्यक इति सुदृढो व्यभिचार इति मन्तव्यम् । विवरणमतानुसरणे तु दुष्परिहर एवायं दोषः; शब्दाजन्यप्रत्यक्षादिवृत्तिविषयत्वस्यापि तत्र सत्त्वात् । तथाचोक्तम्—“सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मि” इति ॥

(३) एतेन—तृतीयमपि दृश्यत्वं नानुमापकमिति—सूचितम् ।

(४) चतुर्थमपि दृश्यत्वं न हेतुः; अपरोक्षव्यवहारे चिद्विषयत्वस्यैव तन्त्रत्वेन कल्पितभेदमादाय ब्रह्मण्यपि तद्विषय-त्वस्याङ्गीकरणीयत्वेन व्यभिचारात्, बिम्बप्रतिबिम्बभावादस्थल इवाज्ञानरूपोपाधिनैव तत्कल्पनसंभवात् ॥

(५) स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिस्तु न कथंचिदपि साधनम्; सा हि स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानिरूपितव्याप्यतावत्स्वव्यवहारकत्वरूपा आत्मन्यपि विद्यते । आत्मीयव्यवहारविशेषस्योक्तव्याप्यत्वात्, स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानिरूपितव्याप्यतावच्छेदकस्वव्यवहारत्वव्यवहारकत्वरूपत्वे नियतिपदवैयर्थ्यात् ॥

(६) नापि षष्ठम्; अन्यानधीनापरोक्षत्वस्य ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वे तस्याविद्याधीनतया ब्रह्मस्वरूपत्वे तस्य भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन चापरोक्षप्रतियोगिकभेदस्य विवक्षणीयतया जीवभेदमादाय व्यभिचारात्, आज्ञानकालवृत्तित्वस्य जीवन्मुक्तभोगादौ तल्लेशकालवृत्तित्वस्य घटादौ चासिद्ध्या तदन्यतरवत्त्वस्य विवक्षणेऽप्रयोजकत्वात्, प्रत्येकमुक्तिपक्षे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ व्यभिचारावारणाच्च । एवं द्वितीयपक्षेऽपरोक्षपदेन स्वावच्छिन्नचिदाश्रिताभानापादकाज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वस्यैव विवक्षणीयतया विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावरूपस्य पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मण्यपि फलव्याप्यत्वस्याप्यावश्यकत्वेन विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य वा सत्त्वेन ब्रह्मणि व्यभिचार इति न दृश्यत्वेन मिथ्यात्वानुमानमिति—
प्रतिपादयन्ति ॥

(५) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

(१) वृत्तिव्याप्यत्वं तु न मिथ्यात्वासाधनं संभवति; वेदान्तानामुपहितविषयकत्वेन शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वाभावेनात्मनि व्यभिचाराभावात् । स्वयंप्रकारतयानवभासमानाया वृत्तेरुपाधित्वेनाखण्डार्थत्वमज्ञाभावात्, निषेधप्रत्यये प्रतियोग्युपस्थितेरपेक्षणेऽपि तत्र प्रमाणजन्यत्वाद्यनपेक्षणेन स्वतःसिद्धे तत्र दृश्यत्वनिषेधेऽपि वृत्तिविषयत्वासिद्धेः, शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्येऽशुद्धत्वाऽस्वप्रकाशत्वयोर्व्याप्यव्यापकबोधकत्वात् दृश्यत्वनिषेधवाक्येऽपि तद्वोधकत्वाङ्गीकारात्, नहि शुद्धत्वास्वप्रकाशत्वयोर्व्याप्यव्यापकग्रहे उपहितत्वाभावविशिष्टे शुद्धेऽस्वप्रकाशत्वज्ञानं संभवति, उक्तवाक्येनापि उपहितत्वाभाववच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारत्वाभाव एवास्वप्रकाशत्वे बोध्यत इति नानुपपत्तिः । उपहितत्वाभाववत्यस्वप्रकाशत्वमिति व्यभिचारनिश्चयस्य शुद्धत्वं स्वप्रकाशवृत्ति न वेति व्यभिचारसंशयस्य वा शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वादेवासंभवेन तादृशव्याप्तिग्रहार्थं शुद्धत्वस्वप्रकाशत्वयोर्व्यतिरेकसद्व्यवहारापेक्षाया अप्यभावात्, घटाद्यलीकतरणार्थं तन्निर्विकल्पकस्वीकारस्यावश्यकतया केवलरूपेण वृत्तिविषयत्वमादाय तत्र भागासिद्धिवारणाद्विशिष्टज्ञानीयविषयकत्वं न शुद्धेऽङ्गीक्रियते । अङ्गीकारेऽपि तस्य विशेष्यतापन्नत्वेन मिथ्यात्वेन व्यभिचारो न संभवदुक्तिः । “आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला” इति सिद्धान्तस्य विवरणप्रस्थानविषयत्वात्, वाचस्पतिप्रस्थानेऽपि पश्चिमशब्दशब्दितकार्यत्वस्योपहितेऽभावेनोपहितविषयत्वेऽपि तदविरोधात्, अज्ञानोपहितयोरनादित्वेनान्योन्याश्रयानवकाशात्, मनःसंयोगिनिष्ठस्वविषयामिन्नत्वसंबन्धेनैव मानसप्रत्यक्षे मनःसंयोगस्य हेतुत्वम्, नतु विषयतासंबन्धे मानसप्रत्यक्षे मनःसंयोगस्य हेतुत्वमित्यङ्गीकारेण वृत्त्युत्पत्तितः पूर्वमुपहितस्वरूपासिद्धावपि दोषाभावात्, स्लोपहितान्याविषयत्वे सति स्लोपहितविषयत्वरूपसमानविषयकत्वेन ज्ञानाज्ञानयोर्निर्वर्त्यनिवर्तकभावसिद्धेश्च नानिमोक्षादिप्रसङ्गः । यदि तु तद्वितराविषयत्वमेव समानविषयकत्वं, तर्ह्युपहितविषयताया एवानपेक्षणाक्तप्रसङ्ग इति नात्मनि व्यभिचारः ।

(३) एतेन—तृतीयमपि दृश्यत्वं न व्यभिचारितमिति—सूचितम् ।

(४) चतुर्थमपि तु निर्दुष्टमेव; चिद्विषयत्वस्य चिद्वृत्तित्वविशिष्टतादात्म्यरूपस्यैव विनाशिलादिदृश्यत्वव्याप्यस्यात्र विवक्षणेन ब्रह्मणि व्यभिचाराभावात् । आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् इत्यादौ तु प्रातीतिकस्यान्यादृशस्यैव तस्य सत्त्वान्नोक्तदोषः ॥

(५) एतेन—स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरपि—व्याख्याता; स्वव्यवहारत्वावच्छिन्नव्यापकस्वातिरिक्तसंविदपेक्षारूपायां तत्र व्यापकत्वतात्पर्यग्राहकत्वेन नियतिपदसार्थक्यात् ॥

(६) षष्ठमपि दृश्यत्वं मिथ्यात्वानुमापकमेव; अन्यानधीनापरोक्षत्वमित्यत्रान्यपदेन स्वान्यचितो विवक्षणेनोक्तापरोक्षत्वस्य ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वे तस्याविद्याधीनत्वेऽपि दोषाभावात्, अज्ञानतल्लेशान्यतरतादात्म्यानापन्नं सत् यज्जन्यं तदन्यत्वे सति कालसंबन्धित्वस्यैवात्राज्ञानकालवृत्तित्वपदेन विवक्षणेन पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ अज्ञानलेशे जीवन्मुक्तभोगादौ च भागासिद्ध्यभावात् । अज्ञानसामान्यविरोधिमनोवृत्तिविषयतायोग्यत्वस्यैवात्रापरोक्षत्वपदेन विवक्षितत्वाद्विशेष्यस्यैव ब्रह्मणः फलव्याप्यत्वाभावेन विशेषणस्यापि सत्त्वेन विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावसत्त्वेन ब्रह्मणि व्यभिचाराभावाद्वितीयपक्षोऽपि समीचीन एवेति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति दृश्यत्वनिश्चिः ॥

अथ जडत्वहेतूपपत्तिः ॥

जडत्वमपि हेतुः । ननु—किमिदं जडत्वम् ? अज्ञातत्वं वा, अज्ञानत्वं वा, अनात्मत्वं वा । नाद्यः; त्वन्मते पक्षनिक्षिप्तस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तत्रासिद्धेः; शुद्धात्मनोऽज्ञातृत्वेन तत्र व्यभिचाराच्च । नापि द्वितीयः; वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन केवलाया वृत्तेः केवलस्य चैतन्यस्य चाज्ञानत्वेन वृत्तावसिद्धिपरिहारेऽपि चैतन्ये व्यभिचारतादवस्थात् । नापि तृतीयः; आत्मत्वस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात् । तद्धि न जातिविशेषः; त्वयात्मन एकत्वाभ्युपगमात्, विशिष्टात्मनां भेदेऽपि तेषां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् । नाप्यानन्दरूपत्वम्, वैषयिकानन्दे तद्यतिरेकस्य हेतोरसिद्धेः; तस्याप्यात्मत्वे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अज्ञातृत्वं ज्ञातृभिन्नत्वम् । अज्ञानत्वं ज्ञानभिन्नत्वम् । अनात्मत्वं आत्मभिन्नत्वम् । पक्षनिक्षिप्तस्य मिथ्यात्वं येष्वनुमेयं तदन्तर्गतस्य । अहमर्थस्य स्थूलमनोविशिष्टस्य । ननु नाहमर्थो ज्ञाता; सुषुप्तौ तदभावेऽपि अविद्यावृत्त्यात्मकस्य सुखादिज्ञानस्य साक्षिणि दर्शनात्, तत्राह—शुद्धेत्यादि । अविद्याविशिष्टस्वरूपेण सुषुप्तिस्वप्नयोरहंकारविशिष्टरूपेण जाग्रति ज्ञातृत्वेऽपि केवलात्मनोऽज्ञातृत्वेन तत्र व्यभिचार इति भावः । वृत्त्युपरक्तेति । यदाकारवृत्त्युपरक्तं चैतन्यं यत्, तत् तद्विषयकज्ञानमित्यर्थः । सुखादावपि वृत्तिः स्वीक्रियते; अन्यथा सुखाद्यवच्छिन्नचित्त एव सुखादिज्ञानत्वे सुखादौ संस्कारासंभवात्, ज्ञानसूक्ष्मावस्थाया एव संस्कारत्वात्, कार्यस्यैव सूक्ष्मावस्थास्वीकारात् । नच—उक्तचिद्रूपेण चित्तोऽपि जन्यत्वेन तत्सूक्ष्मावस्थासंभव इति—वाच्यम्; तादृशावस्थाया हि संस्कारविधया स्मृतिकारणत्वं सुखादिविषयकत्वेन वाच्यं, सुखादिविषयकत्वं च तस्यां सुखादितादात्म्यापन्नचित्परिणामरूपायां सुखादितादात्म्यम्, विद्यमानसुखादिवृत्तेः स्वीकारे तु नोक्तकारणत्वं कल्प्यते, तत्र तेन कारणत्वं कल्पनीयम्, वृत्तिसंस्कारस्य अनुमित्यादिवृत्तिसंस्कारसाधारणेनाकाराख्यगौणविषयतासंबन्धेन सुखाविशिष्टसंस्कारत्वेन कारणतायाः क्लृप्तत्वेन तथैवाविद्यमानसुखादिस्मृतिनिर्वाहादिति भावः । विशिष्टात्मनां जीवानाम् । भेदे नानात्वे । निक्षिप्तत्वा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अथ जडत्वहेतूपपत्तिः ।

वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वे घटीयरूपाद्याकारवृत्त्युपरक्तचैतन्यस्य घटीयरपरिमाणादिज्ञानत्वं स्यात्, अतो व्याचष्टे—यदाकारेति । यत् यदाकारवृत्त्युपरक्तचैतन्यं तत् तद्विषयकम् ज्ञानमित्यर्थः । इदं चैतन्यं मनोवच्छिन्नं, ननु विषयावच्छिन्नं; परोक्षज्ञानासंग्रहापत्तेः । सुखादेः साक्षादन्तःकरणावच्छिन्नचित्संबन्धेनैव भानसंभवात् तद्विषयकवृत्तिस्वीकारे प्रयोजनाभावात् तज्ज्ञानाप्रसिद्धिरत आह—सुखादावपीति । वृत्तिः स्वीक्रियत इति । तदुपरक्तचैतन्यं च तज्ज्ञानमिति भावः । अन्यथा सुखादिवृत्तेरस्वीकारे । नैयायिकानामिव संस्कारः संभवत्येवेत्यत आह—ज्ञानसूक्ष्मावस्थाया इति । स्वीकारात् इति । सुखाद्यवच्छिन्नचित्तश्च नित्यत्वेनाकार्यत्वात् सूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारासंभवादिति भावः । उक्तचिद्रूपेणेति । सुखादिविशिष्टचित्त्वेनेत्यर्थः । विद्यमानसुखादिवृत्तेरिति । सुखादिसमानकालीनायाः साक्षिचैतन्यरूपप्रत्यक्षोपरजकवृत्तेः । उक्तकारणत्वं सुखादितादात्म्येन सुखादितादात्म्यापन्नवृत्त्यपरिणामरूपसंस्कारकत्वम् । तत्र सुखादितादात्म्यापन्नचित्परिणामरूपे संस्कारे । तेन सुखादितादात्म्येन रूपेण । कल्पनीयमिति । अतिरिक्तमित्यादिः । वृत्तिसंस्कारस्य उक्तवृत्तिसूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारस्य । अनुमित्यादिवृत्तीति । सुखाद्यतीतत्वानागतत्वदशायां तत्सुखादिमत्पुरुषीयानुमित्यादिवृत्तीत्यर्थः । तत्सुखादिसमकालमेव पुरुषान्तरीयानुमित्यादिवृत्तीत्यपि तदर्थः । सुखाविशिष्टेति । सुखादिरहितेत्यर्थः तेन सुखाद्यसमानसंस्कारस्य सुखादिविशिष्टत्वाभावेऽपि न क्षतिः । तथैवेति । क्लृप्तोक्तकारणतयैव । विद्यमानसुखादिस्मृतीति । सुखादिसमकालतद्वृत्त्युपरक्तसाक्षिप्रत्यक्षविषयीभूतसुखादिस्मृतीत्यर्थः । निर्वाहादिति । ननु—सुखाद्युपरक्तवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपज्ञानावच्छेदकवृत्तिसूक्ष्मावस्थाया इव सुखाद्यवच्छिन्नचित्द्रूपज्ञानावच्छेदकसुखादिसूक्ष्मावस्थाया अपि सुखादिसंस्कारत्वसंभव इति—चेन्न; सुखादेराकाराख्यविषयत्वस्य सुखादाविव सूक्ष्मावस्थायां संभवात्, वृत्ताविव तत्सूक्ष्मावस्थायां संभवादिति भावः । विशिष्टात्मपदेन घटादिविशिष्टचैतन्यस्य न परिग्रहः, तत्रात्मत्वव्यवहाराभावादिति मनसि निधायाह—जीवानामिति ।

अज्ञानपक्षोक्तदोषः प्रसजनीय इति—चेत्, मैवम्; द्वितीयतृतीयपक्षयोः दोषाभावात् । तथाहि—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिति । तथाच तेष्वसिद्धिः । वैषयिकानन्दे चन्दनादिसंयोगजन्यमनोवृत्त्यवच्छिन्नचिति । तद्व्यतिरेकस्य आनन्द-
भेदस्य । तस्य वैषयिकानन्दस्य । आत्मत्वे आत्मस्वरूपत्वस्वीकारे । अज्ञानपक्षेत्यादि । केवलचितः अनानन्दत्वेन
तत्र व्यभिचारः । केवलचिति व्यभिचारोक्त्या सत्यत्वसूचनेन वैषयिकानन्दादेः केवलचिदन्यस्यानात्मत्वसूचनेनासिद्धि-
तादवस्थं सूचितम् । मैवमिति । एवंशब्दानुक्तौ प्रथमपक्षदूषणस्यापि निषेधापत्तेः । एवंशब्देन द्वितीयतृतीयपक्ष-
योर्दूषणे निषेध्यत्वमुक्तम् । नच—प्रथमपक्षेऽपि ज्ञातृत्वोपलक्षितचित्तेदस्य हेतुत्वसंभवात् तस्यागो नोचित इति—
वाच्यम्; यथाहि वक्ष्यमाणरीत्या ज्ञानपदजन्यधीमुख्यविशेष्यत्वरूपेण ज्ञानपदवाच्यस्य निवेशेन तद्भेदो हेतुः
संभवति, तथा ज्ञातृपदजन्यधीमुख्यविशेष्यत्वेन ज्ञातृपदमुख्यार्थनिवेशेन तद्भेदो हेतुर्न संभवति; ज्ञानानुकूलव्यापार-
वत्त्वेन चित इव मनसोऽपि ज्ञातृपदजन्यधीमुख्यविशेष्यत्वेनोक्तभेदस्य मनस्यसिद्धत्वात् । ज्ञानपदस्य तु वाच्यं वृत्त्य-
वच्छिन्नमसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टं वा चैतन्यम्, नतु चैतन्यविशिष्टवृत्त्यादिरूपम्; विशेष्यत्वेनैव
चितो ज्ञानपदात् प्रतीतेः, अतएव 'सत्यं ज्ञान' मित्यादिश्रुतौ ज्ञानपदशक्त्यैव केवलचिद्वोध इति वक्ष्यते मूले । नहि
वाच्यविशेषणस्य शक्त्या विशेष्यतया बोधो व्युत्पत्तिसिद्धः, पशुरपशुरित्यादितः पश्चादिभिन्नत्वेन पशुत्वादेर्बोधापत्तेः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

तत्तदन्तःकरणविशिष्टचैतन्यानामित्यर्थः । आश्रयाणामन्योन्याभावरूपभेदस्य जातिमत्त्वेऽप्रयोजकत्वादाह—**नानात्व
इति ।** एकत्वान्यसंख्यापर्याप्त्यधिकरणत्वे इत्यर्थः, नतु जीवनिष्ठभेदप्रतियोगित्वविशिष्टजीवत्वे इत्यर्थः । तथा सति
भेदे परस्परभेदे इत्येव व्याख्यास्यत । तथाच जीवेष्वात्मत्वजातिसंभव इति भावः । **तथाच** जीवानां पक्षकुक्षिनिक्षि-
प्तत्वपदार्थपक्षतावच्छेदकाश्रयत्वे च । **तेषु** जीवात्मसु अनात्मत्वहेतोरसिद्धिः । वैषयिकत्वं विषयसंपर्कजन्यत्वं विशेष्ये
चिद्रूपानन्दांशे न संभवतीत्यत आह—**चन्दनादिति । तद्व्यतिरेकस्येत्यस्यानन्दत्वाभावस्येत्यर्थे** आत्मभिन्नत्वस्यैव
हेतुलोपक्रमादसङ्गतिरत आह—**आनन्दभेदस्येति । तस्याप्यात्मत्वे** इत्यस्य वैषयिकस्यात्मत्व इत्यर्थे अनात्मत्व-
सिद्धेरपरिहारादनुपस्थितिरतो व्याचष्टे—**आत्मस्वरूपत्वे इति ।** आत्मनः स्वरूपं सत्यं तत्त्वे इत्यर्थः । तथाच तत्र
मिथ्यात्वरूपसाध्याभावात्तत्रोक्तहेत्वसिद्धिर्न दोषाय; पक्षतावच्छेदकस्यापि तद्व्यावृत्तस्यैवोपगन्तव्यत्वात् । **यद्वा आत्मत्वे**
चिदात्मरूपत्वे । चिद्विन्नत्वघटितपक्षतावच्छेदकानाक्रान्तत्वे इति यावत् । तत्रच हेत्वसिद्धिर्न दोष इति प्रसिद्धम् । अज्ञा-
नपक्षोक्तदोष इत्यस्याज्ञानत्वस्य हेतुत्वपक्षे उक्तदोष इत्यर्थः । तं स्पष्टयति—**केवलचित इति । अनानन्दत्वे इति ।**
वैषयिकानन्दस्यैवानन्दरूपत्वेऽयं दोषः, स्वरूपानन्दस्याप्यानन्दरूपत्वे केवलचित्यानानन्दत्वाभावेन व्यभिचाराभावाद-
स्मिन् पक्षे दोषं पूरयति—**केवलचित्तीति । व्यभिचारोक्त्या** मिथ्यात्वरूपसाध्याभावोक्त्या । **सत्यत्वसूचनेन**
तद्रूपस्य तन्निवृत्तस्यावाध्यत्वरूपस्य वा सत्यत्वस्य सूचनेनेत्यर्थः । **अनात्मत्वेति । असत्यत्वेत्यर्थः । मिथ्यात्वेति**
यावत् । **सूचनेनेति । शुद्धविशिष्टयोरुभयोरपि सत्यत्वे द्वैतापत्तेः । असिद्धितादवस्थमिति ।** वैषयिकानन्दे केवल-
चिदन्यत्वघटितपक्षतावच्छेदकवति साधनीयस्य मिथ्यात्वस्य साधकहेतोः वैषयिकानन्दरूपात्मभेदस्यासत्त्वादिति भावः ।
मूले—सर्वेषु पक्षेष्विति वक्तव्ये द्वितीयतृतीयपक्षयोरित्युक्त्या प्रथमपक्षपरित्यागे वीजं वक्तुं इति चेन्निति
वक्तव्ये, मैवमित्येवंकारः प्रयुक्तः, तत्प्रयोजनमाह—**एवं शब्दानुक्ताविति । द्वितीयतृतीयपक्षयोरिति ।**
प्रथमपक्षस्यातिविप्रकृष्टत्वादयोग्यत्वेन चैवंशब्देन परामर्शासंभवादिति भावः । यथाश्रुतौ द्वितीयतृतीयावपि पक्षौ
दुष्टावेव, परिष्कारेण तु प्रथमोऽपि निर्दोषत्वेन समर्थयितुं शक्य इति शङ्कते—**नच प्रथमपक्षेऽपि इति ।**
द्वितीयादिपक्षपरिष्कारप्रकारः प्रथमपक्षे न संभवतीति समाधत्ते—**यथाहि इति । ज्ञानानुकूलव्यापारत्वे-
नेति ।** वक्ष्यमाणस्य ज्ञानस्य शुद्धचिद्रूपत्वेऽपि तस्य वक्ष्यमाणज्ञानपदार्थतावच्छेदकरूपेण जन्यत्वात्, तदनुकूल-
व्यापारप्रसिद्धिः । **चित इव मनसोऽपि इति ।** मनोऽवच्छिन्नं चैतन्यं हि प्रमातृ, तत्र मनसि तादृशव्यापारो
वृत्तिरूपेण परिणामो वास्तवः, । तदुपाधिकश्चैतन्येऽप्यवास्तवः । **यद्वा चिन्मनसोस्तादात्म्यरूपः** संबन्ध एव निर्वक्ष्यमाण-
ज्ञानप्रयोजको व्यापार इति बोध्यम् । ज्ञातृपदवत् ज्ञानपदं नानार्थं नेत्याह—**ज्ञानपदस्येति । वृत्त्यादि**
इत्यादिना चैतन्यनिष्ठोक्तप्रयोजकपरिग्रहः । ज्ञानपदेन विशेषणांशत्यागेनेव विशेष्यांशत्यागेनार्थोपस्थितिस्तु न संभव-
तीत्याह—**नहीति ।** निर्विशेषिते घटत्वे पदार्थान्तरान्वयासंभवात् घटो न घट इत्युपेक्ष्याह—**पशुरपशुरिति ।**
पशुत्वं तु लोमलाङ्गुलवत्त्वं सविशेषितमेव तत्पदार्थतावच्छेदकमिति भावः । वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य ज्ञानार्थत्वे फल-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वृत्त्यवच्छिन्नत्वं च वृत्तिसुखादिनिष्ठप्रतिबिम्बप्रयोजकं यत् मनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यं तदात्मकत्वम्, सुखादौ वृत्तेरभावेऽपि तस्यैव स्वच्छत्वेन प्रतिबिम्बवत्त्वम् । तत्र वृत्तेश्चिदुपरागार्थत्वपक्षे स्वाश्रयवृत्तिविषयत्वसंबन्धेन चित्प्रतिबिम्बविशिष्टत्वरूपं ज्ञानक्रियायाः फलमादाय घटादिविषयस्य तत्कर्मता । वस्तुतस्तु—प्रतिबिम्बप्रयोजकत्वरूपेणैव वृत्त्यादिनिष्ठप्रतिबिम्बप्रयोजकस्य जानातिवाच्ये निवेशः, नतु वृत्तिसुखादेरपि निवेशः; तथाच घटादेरपि वृत्त्युपहितरूपेण साक्षात्संबन्धेनैव जलाद्युपहितरूपेण पाषाणादेरिव प्रतिबिम्बवत्त्वसंभवः । 'ईशो जानाती'त्यत्रेशस्य जगदनुपादान-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

व्यापारोभयांशघटनायाह—वृत्त्यवच्छिन्नत्वमिति । चैतन्यस्येति शेषः । तदात्मकत्वेऽस्यान्वयः । प्रयोजकत्वं बिम्बविधयेति । मनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यमिति । तत्र मनोऽवच्छिन्नं चैतन्यं जीवः, मायावच्छिन्नं तु ईश्वरः; तदुभयनिवेशात् क्रमेण 'जीवो जानाति' 'ईशो जानातीति' व्यवहारद्वयनिर्वाहः । इदं परोक्षे ज्ञाने वृत्तेर्वहिरनिर्गमात् विषयावच्छिन्नचित्तादात्म्यानापन्नं घटकम्, अपरोक्षे तु तत्तादात्म्यापन्नं, तत्र बाह्ये घटादौ तन्निर्गमापेक्षा, आभ्यन्तरे सुखादौ तु न तत्र वृत्तिरपीति मतं प्रकृतेऽङ्गीकृतमिति ध्येयम् । जडमनोमायाविशिष्टयोर्ज्ञानत्वासंभवात्तदात्मकस्य तादात्म्येन तदुपहितस्य चैतन्यस्य ज्ञानत्वमुक्तम् । इमौ च जीवसाक्षी, ईश्वरसाक्षीत्युच्येते; तद्रूपज्ञानवत्त्वं चोक्तजीवेश्वरयोस्तादात्म्येनास्तीत्युक्तव्यवहारद्वयनिर्वाहः । ननु तैजसान्तःकरणपरिणामरूपाया ज्ञानपदव्यपदेश्यवृत्तेरेव स्वच्छद्रव्यत्वेन प्रतिबिम्बयोग्यत्वेन सुखादेरतथात्वेन कथं प्रतिबिम्बवत्त्वम्? नहि सुखाकारवृत्तौ ज्ञानरूपायां तत्संभवः; सुखादेः साक्षिसंबन्धसत्त्वेन भानसंभवेन द्वितीयक्षणे वृत्तेरुपगमे प्रथमक्षणे सुखादेरभानप्रसङ्गेनच तद्वृत्तेः प्रयोजनाभावेनानुपगमात्, इत्यत आह—सुखादौ वृत्तेरभावेऽपि इति । तस्यैव सुखादेरेव । स्वच्छत्वेनेति । ज्ञानरूपवृत्तेरिव सुखादेरपि तैजसान्तःकरणपरिणामविशेषत्वेनेति भावः । ननु मनोमायान्यतरपरिणामरूपवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मकचैतन्यमेव ज्ञानपदार्थोऽस्तु, वृत्त्यादिनिष्ठप्रतिबिम्बप्रयोजकत्वेन मनोमायावच्छिन्नचित्निवेशः कुतः? तत्राह—तत्रेति । वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वपक्षेऽज्ञानाविषयत्वरूपफलस्यैव ज्ञानक्रियाकर्मत्वनिर्वाहकत्वादाह—वृत्तेश्चिदुपरागार्थत्वपक्ष इति । चितः प्रतिबिम्बचितः । तद्वारा मनोमायान्यतरावच्छिन्नबिम्बचितः, उपरागः संबन्धः, तदर्थत्वपक्षे इत्यर्थः । स्वाश्रयेति आद्ये । द्वितीये तु स्वप्रतिबिम्बाश्रयत्वेति बोध्यम् । चित्प्रतिबिम्बविशिष्टत्वेति । प्रथमे । द्वितीये तु विद्विशिष्टत्वेति बोध्यम् । मनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यस्य बिम्बविधया वृत्त्यादिगतस्वप्रतिबिम्बप्रयोजकत्वात् तदात्मकशुद्धचिद्रूपज्ञाधात्वर्थक्रियाया अपि तत्प्रयोजकत्वादुक्तसंबन्धेनोक्तफलाश्रयत्वादुक्तज्ञानक्रियाकर्मत्वं घटादेस्तदज्ञानविषयस्य निर्वहति, मनोमायान्यतरपरिणामरूपवृत्त्यवच्छिन्नचिदात्मकचितो ज्ञानत्वे तु मनोमाययोर्वृत्तिप्रयोजकयोः वृत्तिप्रयोज्यत्वाभावेन वृत्तिफलत्वासंभवात् चैतन्यं प्रत्यवच्छेदकवृत्तेरपि पूर्वसिद्धतया चैतन्यफलत्वाभावेन सकर्मकत्वासंभवः । स्वप्रयोज्यवृत्तिविषयत्वसंबन्धेन स्वात्मकमनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यवत्त्वं सकर्मकत्वमित्यपि न संभवति; धात्वर्थघटकफलं प्रति प्रयोजकत्वेन तदधिकरणव्यापारस्य धात्वर्थतायाः सकर्मकत्वे तन्नत्वात् । नच—इह मनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यं प्रत्याश्रयत्वेन प्रयोजकत्वं व्यापाररूपस्य शुद्धचिद्रूपस्य ज्ञाधात्वर्थस्यास्त्येवेति—वाच्यम्; प्राचीनैः वृत्त्यादिनिष्ठप्रतिबिम्बस्यैव वृत्तिप्रयोज्यावरणभङ्गस्यैव वा ज्ञाधात्वर्थव्यापारं प्रति फलत्वेन धात्वर्थघटकत्वोपगमादुक्तरीत्या ज्ञाधात्वर्थे प्रतिबिम्बस्य घटकत्वोपगमात् । एतेन—वृत्तिप्रयोजकमनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यात्मकचितो ज्ञाधात्वर्थत्वोपगमेन सकर्मकत्वोपपादनमपि—निरस्तम् । ननु वृत्तिसुखादीनामननुगतत्वात्तन्निष्ठत्वेन प्रतिबिम्बप्रवेशे शक्त्यैक्यासंभव इति वृत्तिसुखयोरन्यतरत्वादिनानुगमो वाच्यः, तत्र च विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहादुक्तदोषो दुर्वार इत्यत आह—वस्तुतस्तुत्विति । नत्विति । वृत्त्यादिनिष्ठेति । पूर्वोक्तपरंपरासंबन्धनिवेशेन लक्षणसमन्वयसूचनाय स्वरूपकीर्तनमिति भावः । एवं सति लाघवांतरमप्याह—तथाचेति । घटादेरित्यादिषष्ठ्यर्थः प्रतिबिम्बान्वयिनिष्ठत्वम् । साक्षात्संबन्धेन आश्रयत्वरूपेण । आदर्शाद्युपाधौ सुखादिप्रतिबिम्बः प्रातिभासिक उत्पद्यत इति मतेनेदम् । ग्रीवास्थसुखादौ स्नानभिमुखे आदर्शनादिनिष्ठाभिमुखत्वारोप इति मते स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमानत्वरूपपरम्परासंबन्धनिवेशापत्त्या लाघवाभावात् । प्रतिबिम्बेति । मनोमायान्यतरावच्छिन्नचित्प्रतिबिम्बेत्यर्थः । ननु ईशस्य जगदनुपादानत्वेन मनस्तदवच्छिन्नचैतन्योपादानतया तत्तादात्म्यस्येश्वरे संभवात् मायानिवेशो व्यर्थ इत्याशङ्क्य ईशस्य जगदनुपादानत्वपक्षे तत्सार्थक्यति—ईशो जानातीति । पक्षे इति । शुद्धचैतन्यं जीवचैतन्यं वा जगदनुपादानमिति पक्षे इत्यर्थः । इदं पक्षत्रयमपि सिद्धान्तलेशसंग्रहे उपपादितं तत एवावधातव्यम् । इदमुपलक्षणम् । ईशस्य जगदनुपादानत्वपक्षेऽपि सृष्टेः पूर्वनीश्वरस्य सर्वज्ञत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, आकाशादिसृष्ट्युत्तरमपि मनःसृष्टेः पूर्वं ज्ञातृत्वावुपपत्तिः, अद्वै. सि. ३८

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वपक्षे मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावात् मायानिवेशः । साक्षिणः शुद्धचिद्रूपस्यैवाधिष्ठानत्वेन ज्ञानत्वादुक्तान्यतरावच्छिन्नचिदात्मकचित्तो ज्ञानत्वमुक्तम् । नच—मनोवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षिचितः ईश्वरज्ञानरूपायां मायावच्छिन्नचित्यपि तादात्म्येन सत्त्वात् ईशो जानातीति व्यवहारसंभवात् मायानिवेशो व्यर्थ इति—वाच्यम्; तथा सति

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

मनःसृष्ट्युत्तरमपि मनोऽवच्छिन्नचैतन्यस्य स्थूलदेहेन्द्रियादिसंघातदशायां घटादिविषयकमनोवृत्तिदशायामेव स्वप्रतिबिम्बप्रयोजकतया उक्तदशान्यदशायां घटादिज्ञातृत्वानुपपत्तिः, उक्तदशायामपीश्वरस्य जीवज्ञानेनैव ज्ञातृत्वस्य स्वीकारापत्त्या साक्षाज्ज्ञातृत्वानुपपत्तिः, स्वोपाधिपरिणामवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव स्वज्ञानत्वेन मनोऽवच्छिन्नचैतन्यस्यैव ईश्वरज्ञानत्वे ईश्वरस्य पारिभाषिकं ज्ञातृत्वं स्यात्, किंच तदा सकलजीवाज्ञातपदार्थज्ञानस्येश्वरेऽसंभवेन सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरिति मायावच्छिन्नचैतन्यनिवेशः । तथाच सर्वविषयकमायापरिणामवृत्त्यादिगतस्वप्रतिबिम्बप्रयोजकत्वस्य मायावच्छिन्नचैतन्ये सर्वदा संभवात् सर्वदा सर्वज्ञत्वोपपत्तिरिति ध्येयम् । ननु उक्तान्यतरावच्छिन्नचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वमस्तु, किं तत्तादात्म्यापन्नचिदन्तरस्य ज्ञानत्वोक्त्येतत् आह—साक्षिण इति । स्वप्रकाशस्येत्यर्थः । इदं ज्ञानत्वसंभवाय । शुद्धचिद्रूपस्यैवेत्येवकारेण जडावच्छिन्नचित्तो जडत्वेन ज्ञानत्वासंभवः सूचितः । मिथ्याभूतमनोमायावच्छिन्नस्य मिथ्यात्वेन तदाश्रयत्वेनावश्यापेक्षणीयतत्तादात्म्यरूपतत्संबन्धसूचनायाधिष्ठानत्वेनेत्युक्तम् । ईश्वरज्ञातृत्वं पारिभाषिकमभ्युपगम्याशङ्कते—नचेति । मायावच्छिन्नचित्यपीति । मनोवच्छिन्नचित इवेति शेषः । शुद्धस्य साक्षिचैतन्यस्य मनोऽवच्छिन्नचित इव मायावच्छिन्नचित्तोऽप्यधिष्ठानत्वादिति भावः । तादात्म्येनेति । अधिष्ठानेऽध्यस्तस्यैव अध्यस्तेऽप्यधिष्ठानस्य तादात्म्योपगमादिति भावः । तथासति एकाध्यस्ततादात्म्यविशिष्टाधिष्ठानतादात्म्यस्याध्यस्तान्तरेऽपि स्वीकारे । घटावच्छिन्नचिदिति । अस्या अपि मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षिणि तादात्म्येनाध्यासादस्यामप्युक्तविशिष्टसाक्षिज्ञानतादात्म्यसंभवादिति भावः । अथेति । घटादिरूपैकाध्यस्ततादात्म्यविशिष्टप्रतियोगिताकतादात्म्यं घटादेरेव, उक्तविशिष्टे एतदध्यासात्, न पटादेः; तत्र तदध्यासाभावादिति नियमादिति भावः । नच—स्वावच्छिन्ने इव स्वोपादानकपालावच्छिन्नचैतन्येऽपि तादात्म्येन घटादेरध्यासात् घटादौ कपालादितादात्म्यविशिष्टचित्तादात्म्यस्योपगन्तव्यत्वात् स्वान्यत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्; स्वान्यस्वानुपादानवस्तुतादात्म्यविशिष्टप्रतियोगिकतादात्म्यं स्वस्य नेति स्वस्वोपादानान्यतरतादात्म्यविशिष्टप्रतियोगिकतादात्म्यं स्वस्येवेति च नियमात् । इति ननु—स्वोपादानकपालादिविशिष्टचिति घटादेरध्यासे परस्परध्यासानुरोधात् ‘कपालं घट’ इतिवत्, ‘घटः कपालम्’ इति प्रत्ययवच्च घटादिविशिष्टचित्यपि कपालादेरध्यासात् कपालादावपि घटादिविशिष्टचित्प्रतियोगिकतादात्म्यं संभवति, एवं च जगदुपादानमायावच्छिन्नचैतन्यरूपे ईश्वरे मनस अध्यासात् मनोवच्छिन्नचैतन्ये तदवच्छिन्नसाक्षिणि तदध्यासात् तेनैव तदवगमाच्च मनोवच्छिन्नचैतन्यविशिष्टचित्प्रतियोगिकं तादात्म्यं मायावच्छिन्नचैतन्ये दुर्वारमिति कथमीशो जानातीति धीर्नस्यात्—इति चेत्, एवं सति मनोवच्छिन्नचिति तदवच्छिन्नसाक्षिणि च सुखादेरध्यासात् तेनैव तदवगमाच्च मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षितादात्म्यवत्त्वेन ‘सुखादि जानातीति’ प्रत्ययो दुर्वार इति जानातीतिव्यवहारे मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षितादात्म्यस्य मनोऽवच्छिन्नचिद्रूपजीवानुयोगिकस्यैव भानस्योपगन्तव्यत्वेनेशो जानातीति व्यवहारनिर्वाहाय मायावच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षिज्ञानतादात्म्यस्य मायावच्छिन्नचिदन्योगिकस्यापि ‘जानातीति’ व्यवहारविषयत्वोपगमस्यावश्यकत्वात् मायावच्छिन्नचैतन्यघटितान्यतरनिवेश इति गृहण । चित्प्रतिबिम्बानङ्गीकारपक्षे आह—वृत्तेरिति । फलमादाय फलाश्रयतया । तस्य घटादेः । तत्कर्मता ज्ञाधात्वर्थकर्मता । तादृशफलम् असत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वाभावरूपं फलम् । स्थले स्थाने । निवेश्यमिति । तथाचोक्ताज्ञानाविषयत्वं प्रति वृत्त्यादिविशिष्टत्वेन प्रयोजकं यन्मनोमायान्यतरावच्छिन्नचैतन्यं तदभिज्ञा या शुद्धचित्; सा ज्ञादिधात्वर्थ इति भावः । ननु चित्प्रतिबिम्बाङ्गीकारे घटस्य ज्ञानकर्मत्वं स्वाश्रयवृत्तिविषयत्वसंबन्धेन स्वाश्रयत्वसंबन्धेन वा चित्प्रतिबिम्बवत्त्वं, तच्च ब्रह्मणोऽपि संभवति; चिद्रूपस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशतया भाने वृत्तिगतप्रतिबिम्बस्यानपेक्षणेऽपि दुर्वारत्वात्, एवं च घटब्रह्मणोर्ज्ञानकर्मत्वे को विशेषः? इत्याशङ्क्यां स्वप्रतिबिम्बप्रयोज्यभानकत्वरूपफलव्याप्यत्वरूपसंबन्धेन प्रतिबिम्बवत्त्वेन घटादेः, स्वरूपसंबन्धेन प्रतिबिम्बवत्त्वेन ब्रह्मण इति वक्तुं शक्यम्, चित्प्रतिबिम्बानङ्गीकारेण वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वपक्षे तु आवरणभङ्गस्य घटब्रह्मणोस्तुल्यत्वात् ज्ञानकर्मत्वे को विशेषः? इत्यत आह—घटं जानामीत्यादाविति । घटावच्छिन्नस्येति । घटादेर्जडत्वेन आवरणायोग्यतया तदवच्छेदेन तदधिष्ठानचैतन्यावारकस्याज्ञानस्य घटाद्याकारवृत्तिप्रयोज्याभावोऽपि तदवच्छेदेनैव; उक्तचैतन्यैक्येऽप्येकजडविषयावच्छेदेनैव भानप्रयोजकज्ञानतदभावयोर्विरोधात्; अन्यथा घटपटाधिष्ठानचैतन्यस्यैक्येन घटाकारवृत्तिप्रयोज्याया घटावच्छिन्ना-

‘अज्ञानत्वं जडत्व’मिति पक्षे नात्मनि व्यभिचारः, अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायाम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

घटावच्छिन्नचित् जानातीति धीरपि स्यात् । अथ—मनोवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्षिचितो मनोवच्छिन्नचित्त्वेव सत्त्वाज्ञोक्तधीरिति चेत्, नेशो जानातीति धीरपि स्यादिति मायानिवेश आवश्यकः । वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्पक्षे त्वस-
त्त्वापादकाज्ञानविषयत्वरूपतत्फलमादाय तस्य तत्कर्मतेति तादृशं फलं प्रतिबिम्बस्थले निवेश्यम् । अतः पक्षभेदेनो-
क्तफलघटितं ज्ञाधातुवाच्यं बोध्यम् । ‘घटं जानामी’त्यादौ घटाद्यवच्छिन्नस्याज्ञानविषयत्वाभावस्य धीः, ‘ब्रह्म
जानामी’त्यादौ च ब्रह्मनिष्ठस्याज्ञानविषयत्वाभावस्य धीः । नच—अज्ञानविषयत्वसामान्यभावघटितस्य वाच्यत्वे
उक्तविशेषाभावबोधनानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, ज्ञानविषयत्वेऽभावादौ च खण्डशक्तिस्वीकारात् । प्रतिकर्म-
व्यवस्थायामधिकं वक्ष्यते । अर्थोपलक्षितप्रकाशस्येति । वृत्त्यादिदृश्योपलक्षितचित् इत्यर्थः । ज्ञानत्वेन
अज्ञानत्वरूपहेतुप्रविष्टज्ञानपदलक्ष्यचित्स्वरूपत्वेन । मोक्षदशायामिति । मोक्षो दशा स्वरूपं यस्यास्तस्यां शुद्धचि-
तीत्यर्थः । तदनपायात् तादृशचित्स्वरूपत्वानपायात् । तथाच वृत्त्यवच्छिन्नस्याज्ञानविशेषाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टस्य
वा चैतन्यस्य ज्ञानपदवाच्यत्वेऽपि ज्ञानपदजन्यतद्धीविषयत्वरूपेण शुद्धचित् एव भेदः प्रकृते हेतुरिति भावः ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

ज्ञाननिवृत्तेः पटाधिष्ठानचैतन्येऽपि सत्त्वेन घटवृत्तिदशायां पटभानापत्तेः । ब्रह्मनिष्ठस्येति । “आश्रयत्वविषयत्व-
भागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला” इत्युक्तेः शुद्धब्रह्मचैतन्ये निरवच्छिन्नवृत्तिकस्य मूलाज्ञानस्य वेदान्तजन्यशुद्धविषयक-
वृत्तिप्रयोज्यनिवृत्तिरपि शुद्धब्रह्मनिष्ठा निरवच्छिन्नैवेति भावः । ननु—घटं जानामीत्यादौ घटावच्छिन्नस्याज्ञानविषयत्वा-
भावस्य धीरित्युक्तम्, तत् किं परोक्षज्ञानमभिप्रेत्य, अपरोक्षं वा; आद्ये वृत्तेर्बहिरनिर्गमनेन घटादिविषयावच्छेदेनाज्ञान-
निवृत्त्ययोगः; अतएव संवित्पदार्थे वृत्त्यभिव्यक्तमिति नित्यातीन्द्रियार्थं मनोऽवच्छेदेन भन्नावरणमिति व्याख्यातम्
टीकायाम् । अन्ये असत्त्वापादकत्वमज्ञानविशेषणं व्यर्थम्; अपरोक्षवृत्त्याऽभानापादकाज्ञानस्यापि निवृत्तेः—इति
चेत्, अत्र ब्रूमः; साक्षात्करोत्यर्थं अमानापादकत्वेनाज्ञानस्य निवेशेऽपि परोक्षापरोक्षसाधारणज्ञानत्वावच्छिन्नार्थ-
कज्ञादिधात्वर्थेऽसत्त्वापादकत्वेनैव निवेशः । ‘घटं जानामि’ इत्यादौ घटादिविषयावच्छेदेनाज्ञाननिवृत्त्युक्तिस्तु ज्ञान-
त्वेनापरोक्षज्ञानतात्पर्यकवाक्याभिप्रायेण; तत्रासत्त्वाभानापादकोभयविधाज्ञानस्यापि निवृत्तेरिति । ननु घटपटादिवि-
षयभेदेनाज्ञानं भिन्नं, उक्तैकम्; अन्ये घटविषयकवृत्त्या तन्निवृत्तौ पटस्यापि भानप्रसङ्गः, ब्रह्माज्ञानस्यापि निवृत्तौ
मुक्तिप्रसङ्गश्च । आद्ये स्वसमानविषयकज्ञाननिवर्त्यत्वस्यैव भिन्नाज्ञानेषु कल्पनीयतया ब्रह्मज्ञानेन घटाद्यज्ञानानिवृत्तिप्रसङ्गः,
एवं घटादीनां सर्वदा भानाभावेन प्रत्येकं तदज्ञानानामपि भेदेन एकया वृत्त्या सकलतन्निवृत्तौ वृत्त्युत्तरं सर्वदा
तद्ज्ञानप्रसङ्गः, एकैकवृत्तौ एकावरणभङ्गेऽपि आवरणान्तरसत्त्वात् घटाद्याभानभङ्ग इत्याद्याशङ्क्यामाह—प्रतिकर्म-
व्यवस्थायामधिकं वक्ष्यते इति । मूले—अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेनेत्यत्र “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं
ज्ञानं प्रत्यक्षम्” “इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था” इत्यादाविचार्यशब्दस्य रुढ्या रूपघटादिविषयमात्रपरत्वे पूर्वपक्षे वृत्त्युपरक्तचैत-
न्यस्यैव ज्ञानत्वेन उक्तज्ञानभिन्नत्वरूपहेतोः सत्त्वेन शुद्धवृत्तावसिद्धिपरिहारस्यैव शुद्धचैतन्ये व्यभिचारस्योक्तः, रूपघटादि-
विषयोपरक्तचित् क्वापि ज्ञानत्वानुक्तेश्चासङ्गतिरतोऽर्थपदस्य योगेन दृश्यपरत्वमाश्रित्य व्याचष्टे—वृत्त्यादिदृश्योपल-
क्षितचित् इति । आदिपदेन स्वाकारवृत्तिं विना साक्षिप्राह्याणि सुखादीनि, अज्ञानविषयत्वप्रयोजकाणि वा पक्षभेदेन
प्राह्याणि । वृत्त्यादिना विशिष्टस्योपहितस्य वा ज्ञानत्वे शुद्धचित् तद्भेदसत्त्वेन व्यभिचार इत्युपलक्षितस्येत्युक्तम् ।
ज्ञानत्वेनेत्यस्य ज्ञानपदवाच्यत्वेनेत्यर्थकत्वे वृत्त्यादिविशिष्टस्यैव तत्त्वेन तदुपलक्षितस्य तत्त्वाभावेनासङ्गतिरतो व्याचष्टे—
अज्ञानत्वरूपहेतुप्रविष्टेति । ज्ञानपदलक्ष्येति । ज्ञानपदजन्यधीमुख्यविशेष्यत्वरूपेणेत्यादिः । मोक्षदशायाम-
पीत्यपिशब्देन संसारदशायामपि वृत्त्याद्युपलक्षितचित् उक्तज्ञानत्वलाभेन मोक्षदशायामपीत्यधिकं शुद्धचित्तीत्यस्यानुक्त्या
न्यूनता चेत्यतो व्याचष्टे—मोक्षदशेति । तदनपायादित्यत्र तत्पदस्य योग्यतावशात् व्यवहितमध्योपक्रान्त
ज्ञानत्वेति ज्ञानत्वपदार्थपरतामाह—तादृशचित्स्वरूपत्वेति । ज्ञानपदवाच्यवृत्त्यादिविशिष्टभेदस्य हेतुत्वे शुद्धचित्ति
व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात् । ज्ञानत्वेनेत्यस्योक्तव्याख्यानलभ्यतद्धारकहेतुं स्पष्टयति—तथाचेति । वृत्त्यवच्छिन्न-
स्येति । उक्तार्थकं प्रयोजकेति । वृत्त्यादिसामग्रीत्यर्थः । तद्धीति । उक्तविशिष्टवाच्यविषयकधीत्यर्थः । विषयत्वेति ।
मुख्यविशेष्यत्वेत्यर्थः । उक्तधीनिष्ठवृत्तित्वादिविशेष्यवृत्तिवारणाय मुख्यत्वनिवेशः । उक्तविशेष्यत्वस्य शुद्धचित्त्युपगमात्-
दवच्छिन्नभेद इति न व्यभिचार इति भावः । मोक्षदशापदेन शुद्धचित्तोभेदेन ‘स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं
प्रयोक्ष्यामहे’ इति न्यायविरोधमूलकस्य रुढितोऽधिकप्रयोजनादिति स्वारसिकलक्षणायां वैयञ्जनिकार्थप्रतीतिरूपप्रयोजन-

मपि तदनपायात् । नच-अभावे सप्रतियोगित्ववदिच्छाज्ञानादिष्वपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविक-
त्वादिच्छायासिव ज्ञानेऽपि तस्य समानसत्ताकत्वमिति—वाच्यम्; ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषय-
संबन्धः, स च न तात्त्विकः; किंत्वाध्यासिकः; वक्ष्यमाणरीत्या तात्त्विकसंबन्धस्य निरूपयितुमशक्य-

मौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अत्र शुद्धचित्तीयनुक्त्वा मोक्षस्वरूपत्वेन शुद्धचितो निर्देशात् 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त' इत्यादिश्रुतिसिद्धशुद्धचिद्रूपस्य
प्रत्याख्यातुमशक्यतया तद्भेदस्य हेतुत्वसंभव इति सूचितम्, पुनस्तमेवार्थं युक्त्या दृढीकर्तुमाक्षिपति—नचाभाव
इत्यादिना । स्वाभाविकत्वात् अनारोपितत्वात् । यथा गगने नैल्यमारोपितं न तथा ज्ञाने सविषयकत्वमारोपि-

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

वृत्तानियमस्य भङ्गप्रसङ्गः, एवं संसारदशायां शुद्धचित्प्रसिद्धिः, मोक्षदशायां वा । नाद्यः; एकवृत्तिनाशेऽपि वृत्त्यन्तरस्य
सत्त्वेन तद्विशिष्टायास्तदुपहितायाश्च तदुपलक्षितत्वासंभवेन शुद्धत्वासंभवात्, वियदादिदृश्यान्तरैर्विशिष्टतयोपहिततयापि
वा चितः शुद्धत्वासंभवः । अतएव नान्यः; नच-एकैकमुक्तिपक्षे तत्तन्मुक्तं प्रति सर्वदृश्यानाशोऽस्त्येवेति—वाच्यम्;
तत्र प्रमाणाभावात् इत्याशङ्क्य आह—अत्रेति । विद्वान् चरमब्रह्मात्मसाक्षात्कारवान् नरः । नामरूपात् शब्दात्त-
त्तदितरदृश्यसामान्यात् । विमुक्तः अत्यन्ताभाववान् । प्रतियोगित्वं पञ्चम्यर्थः । श्रुतिसिद्धेरिति । अत्र नोद्देश्य-
तावच्छेदकोक्तसाक्षात्कारप्रयोज्यत्वं तदुत्तरकालावच्छिन्नत्वनियतं विधेये उक्ताभाववत्त्वे भासते, युज्यते च; उक्तश्रुत्या
शुक्तिरजतस्थले दृष्टत्वेनच विद्यावत्क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तसर्वदृश्यात्यन्ताभाववत्त्वनियमेन विद्योत्तरक्षणावच्छेदेनात्मनि उक्ता-
त्यन्ताभाववत्त्वनियमात् । नच—एकस्य विद्योत्तरक्षणेऽपि वियदादिदृश्यसत्त्वात् कथं तदभाववत्त्वमिति—वाच्यम्;
यथाहि तत्तत्पुरुषीयतूलाज्ञानकल्पितशुक्तिरजतादिप्रतिभासिकं प्रतिपुरुषभिन्नं, अत एकपुरुषस्य शुक्तिरूपाधिष्ठानसाक्षा-
त्कारेण तं प्रति रजतनिवृत्तावपि तद्विन्नपुरुषस्य न रजतप्रत्ययः; प्रत्यभिज्ञा तु सादृश्यनिबन्धना, तथा तत्तत्पुरुषी-
यमूलाज्ञानकल्पितं वियदादि व्यावहारिकमपि प्रतिपुरुषं भिन्नं, अत एकस्यात्मरूपाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण तं प्रति
वियदादिसर्वदृश्यनिवृत्तावपि पुरुषान्तरस्य वियदादिप्रत्ययोपपत्तिः । अज्ञानं च पुरुषभेदेन भिद्यते इत्येव पक्षः सूप्-
पादः । एवं च तत्पुरुषीयमूलाज्ञानकल्पिततदीयदेहेन्द्रियादितदीयवियदादिप्रपञ्चविशिष्टस्य तदुपहितस्य वा चिद्रूपस्या-
श्मनः तत्त्वसाक्षात्कारेण तदीयमूलाज्ञानतत्कल्पिततदीयदेहेन्द्रियादितदीयवियदादिप्रपञ्चनिवृत्तौ उक्तप्रपञ्चोपलक्षितश्चिदात्मा
शुद्धो भवति, सच मुक्त इत्युच्यते, मोक्ष इत्यपि; तस्य सत्यानुभवानन्दब्रह्मस्वरूपत्वात् । इदं सर्वमुपनिषत्प्रमाण-
सिद्धम् । “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं” “यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म” “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मि”
“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” “विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त” इत्यादिश्रुतयः प्रसिद्धा एवेति न तत्र विवादावसर इत्येतादृशवैयञ्ज-
निकार्थप्रतीत्यर्थं मोक्षदशापदेन स्वारसिकलक्षणया शुद्धचिद्वोधनमिति भावः । शुद्धचिद्रूपस्येति । आत्मन इति
शेषः । प्रत्याख्यातुमशक्यतयेति । अतएव तव तत्र व्यभिचारोद्भावनमप्युपपद्यते, अन्यथा विशिष्टस्योपहितस्य
वा तस्य सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वात् शुद्धस्य सत्यस्य चिदात्मनोऽप्रसिद्धौ क्व तव व्यभिचारोद्भावनं सङ्गतं स्यादिति भावः ॥
“विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त” इति श्रुतिसिद्धत्वात् शुद्धचिद्रूपस्यार्थस्य ‘नचाभाव’ इत्यादिना मूले तद्व्यवस्थापनं व्यर्थ-
मित्याशङ्क्य “श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः” इति न्यायेन परिहरति—पुनरिति । तमेव
उक्तश्रुतिसिद्धमेव । अर्थं शुद्धचिद्रूपम् । युक्त्या विषयसंबन्धस्य मिथ्यात्वव्यवस्थापनेन । आक्षिपतीति । चिद्रूपस्य
ब्रह्मणः शुद्धत्वं निर्धर्मकत्वं, तच्च तत्र श्रूयमाणानां वियदादिप्रपञ्चतत्कारणत्वादिधर्माणां नेहनानेत्यादिप्रमाणेन मिथ्या-
त्वेनाभावसंभवेऽपि ज्ञानत्वेनावश्यकस्य सविषयकत्वस्य पारमार्थिकत्वेनाभावासंभवान्न संभवतीत्यभिप्रायेणेति भावः ।
स्वाभाविकत्वपदस्य स्वभावाश्रितत्वतज्जन्यत्वपरत्वे ब्रह्माश्रितजन्यानां वियदादीनामिव पारमार्थिकत्वापत्त्यसंभवात्,
जपाकुसुमस्य लौहित्यं स्वाभाविकं, स्फटिकस्य त्वौपाधिकमित्यत्रेवौपाधिकपदार्थारोपितप्रतिद्वन्द्व्यनारोपितार्थकतया
स्वाभाविकपदं व्याचष्टे—अनारोपितत्वादिति । ननु चिद्रूपज्ञाने सविषयकत्वं गगने नैल्यवदारोपितमेवास्तु,
इत्यत आह—यथेति । आकाशसमीपे नैल्यस्यानुभवात्, पृथिव्या एव नैल्यकारणत्वेन कारणभावेन बाधाच्च,
दूरत्वदोषात् प्रतीयमानं नैल्यं तलत्वकटाहत्ववदारोपितम्, न तथा सविषयकत्वं ज्ञाने आरोपितं, तस्यावाधात् । ज्ञानत्व-
व्यापकत्वेन सर्वैरुपगमादिति भावः । अतः चिद्रूपज्ञाननिष्ठसविषयकत्वस्यानारोपितत्वात् । समानसत्ताकमिति ।
यत् यत्रानारोपितं तत् तत्समानसत्ताकम् । तथाच चिद्रूपज्ञाननिष्ठं सविषयकत्वं, चित्समसत्ताकम्, अनारोपितत्वात्,
यथा अभावे सप्रतियोगित्वमिच्छायां सविषयकत्वं चेति सामान्यमुखव्याप्तेः, चिद्रूपज्ञानं, स्वसमसत्ताकसविषयकत्ववत्,
अनारोपितसविषयकत्वात्, इच्छावदिति विशेषव्याप्तेश्चेति भावः । विशेषव्याप्त्यभिप्रायेणैवेच्छाश्रयमिवेति दृष्टान्तान्त-

त्वात्, अतो न तस्य स्वाभाविकत्वम्; नहि शुक्तौ रूप्यं स्वाभाविकम् । एवंच ज्ञानोपाधिकस्यैव सविषयत्वस्य इच्छादिष्वभ्युपगमात् नतरां तत्र तस्य स्वाभाविकत्वम् । नचैवं—ज्ञानवत् विषय-संबन्धं विनापि कदाचिदिच्छायाः सत्त्वापत्तिरिति—वाच्यम्; सविषयत्वप्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वात्, इच्छायाश्च तत्समानसत्ताकत्वात् । नच—त्वया मोक्षावस्था-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तम्, अतो ज्ञानसमसत्ताकं तत्; तथाच सर्वदृश्योच्छेदे मोक्षे ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वासंभवात् तद्भेदस्य हेतुत्वासंभव इति भावः । ज्ञानोपाधिकस्य ज्ञानीयस्य । जनकज्ञानीयविषयत्वमिच्छादेर्विषयेषु संबन्धः । ज्ञानविषययोस्तादात्म्येत्वेन विषयतात्वस्य क्लृप्ततया ज्ञानीयतादात्म्यमेव सः । यद्यपि स्वजनकज्ञानीयतादात्म्यत्वेन तादात्म्यस्य नेच्छाया विषये संबन्धत्वम्, समूहालम्बनज्ञानविषये सर्वत्रेच्छाया विषयत्वप्रसङ्गात्; तथापि स्वजनकतावच्छेदकं ज्ञानीयविषयत्वमिच्छायाः संबन्धः; घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञानत्वेन तादृशज्ञानविशिष्टेच्छां प्रति हेतुत्वस्वीकारात् । अथवा ज्ञानोपाधिकस्य ज्ञानीयोपाध्यविद्याप्रयुक्तस्य । ज्ञान इवेच्छादावपि विषयसंबन्धस्य दुर्बलत्वात् तत्राकाराख्यो विषयसंबन्ध आविद्यक इति भावः । सुतरामिति । ज्ञानस्वरूपस्य सत्यत्वात्तद्वतो विषयसंबन्धः कथंचित्,

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

रोपादानम् । ननु चैतन्यरूपज्ञाने स्वसमसत्ताकस्य पारमार्थिकस्य सविषयकत्वस्योपगमे का क्षतिः? इत्यत आह—
तथाचेति । सर्वदृश्योच्छेदे सर्वदृश्यस्यैवोच्छेदो ननु पारमार्थिकस्य यत्र, तत्र उक्तोच्छेदोपलक्षिते मोक्षे चिदानन्दे । ज्ञानत्वोपलक्षितेति । सविषयकत्वोपलक्षितेत्यर्थः । स्वरूपत्वासंभवादिति । सविषयकत्वस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञानेन तदुच्छेदासंभवात् तदभावघटिततदुपलक्षितस्वरूपत्वासंभवादित्यर्थः । तथाच चैतन्यरूपज्ञानस्य मोक्षदशायामपि सत्यविषयसंबन्धरूपधर्मविशिष्टत्वात् निर्धर्मकत्वरूपशुद्धत्वस्याप्रसिद्धिरिति तद्भेदस्य हेतुत्वासंभव इति भावः । इदमुपलक्षणम्, चिन्निष्ठविषयसंबन्धस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतहानिः, दृश्यत्वादिहेतोस्तत्र व्यभिचारश्चेति । मूले—
वक्ष्यमाणरीत्येति । मिथ्यात्वानुमानेऽप्रयोजकत्वशङ्कानिराकरणवसरे । अतः तात्त्विकसंबन्धस्य निरुपयितुमशक्यत्वात् । आध्यासिकत्वेऽप्यनौपाधिकत्वरूपं स्वाभाविकत्वं कुतो नेत्याशङ्काह—नहीति । शुक्तौ भासमानं रूप्यं स्वाभाविकम् अनारोपितम् । एवंचास्यान्यस्मिन् अन्यावभासत्वरूपारोपितत्वात् तदभावरूपं स्वाभाविकत्वं यथा न, तथा चिद्रूपज्ञाननिष्ठविषयसंबन्धस्यापीति भावः । एतेन—अनौपाधिकत्वमेव प्रकृते धर्मिसमसत्ताकत्वसाधकमस्तु इत्यपि—अपास्तम्; शुक्तिरूप्ये व्यभिचारादिति ध्येयम् । अत्र दृष्टान्तासिद्धिमप्याह—एवंचेति । स्वाभाविकत्वमिति । अनौपाधिक-त्वरूपमनारोपितत्वरूपं चेति शेषः । ननु सविषयकत्वस्य ज्ञानोपाधिकत्वं बहुव्रीहिवलात् तत्संबन्धेन ज्ञाननिष्ठत्वे सति, ज्ञानसंबन्धप्रयोज्यज्ञानसंबन्धविशेष्यकतत्संबन्धसंसर्गाकारोपविषयत्वं; तथाचेच्छायां सविषयकत्वव्यवहारस्य स्फटिके लौहित्यव्यवहारस्येवाप्रामाणिकत्वापत्तिरतो व्याचष्टे—ज्ञानीयस्येति । जनकेति । स्वजनकेत्यर्थः । ज्ञानविषययोरिवेच्छाविषययोस्तादात्म्यादिसंबन्धोऽपि विषयतास्तु, तत्राह—ज्ञानविषययोरिति । ज्ञानीयतादात्म्य-मिति । स्वजनकेत्यादिः । सः इच्छाया विषयेषु संबन्धः । समूहालम्बनेति । 'घट इष्टसाधनं' 'पटश्च द्रव्यं' इत्याकारकेत्यादिः । इच्छाया इति । घटो मे जायतामित्याकाराया इत्यादिः । सर्वत्र पटादावपि । स्वजनकताव-च्छेदकमिति । तथाच सविषयत्वावच्छिन्नज्ञानजन्यतारूपपरम्परासंबन्धेन इच्छायां सविषयत्वव्यवहारस्य स्फटिके स्वसमवायिसंयोगेन लौहित्यव्यवहारस्येव व्यावहारिकप्रामाण्योपपत्तिरिति भावः । इच्छात्वेन घटपटादीच्छां प्रति घटपटादिज्ञानानां हेतुत्वे पटविषयतापि कुतो न घटेच्छाजनकतावच्छेदिकेत्यत आह—घटत्वप्रकारकघटविशेष्य-कज्ञानत्वेनेति । तादृशज्ञानविशिष्टेति । इच्छाया निर्विषयकत्वेन व्यावर्तकधर्मान्तराभावात् । स्वाव्यवहितोत्तरक्ष-णोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसंबन्धेनोक्तज्ञानविशिष्टत्वमेव कार्यतावच्छेदकमिति भावः । अल्यन्ताजन्यव्यावृत्तये इच्छामिति । मूले—तत्र इच्छायाम् । तस्य सविषयकत्वस्य । नतरां...स्वाभाविकत्वं साक्षात्संबन्धेनानारोपितत्वम् । तेन संबन्धेन तत्र तदारोपस्यैवोपगमात् । उक्तपरम्परासंबन्धेन तत्र तस्य सत्त्वे वाऽनारोपेऽपि तेन संबन्धेन स्वधर्मि-भूतेच्छासमसत्ताकमेव तदिति न व्यभिचारः; ज्ञानविषयस्य तत्तादात्म्यरूपविषयस्येच्छायाश्च व्यावहारिकत्वात् । नतराम् । सुतरां नेतिपाठे तत्र तरबर्थं दर्शयितुमाह—अथवेति । ज्ञानस्योपाधिः प्रयोजकमिति षष्ठीतत्पुरुषतद्धिताभ्यां व्याचष्टे—ज्ञानीयोपाध्यविद्याप्रयुक्तस्येति । अन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपेच्छाया बाह्यानामतविषयेण तादात्म्या-संभवात् । अतएव तत्राकारा इत्युक्तम् । आविद्यक इति । ब्रह्मभिन्नत्वात् । तरबर्थमाह—सुतरामिति । ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मचैतन्यरूपस्य । कथंचित् धर्मिगतसत्यत्वरोपेण तस्याध्यासिकत्वात् । तस्य ज्ञाननिष्ठविषयसंबन्ध-

यामात्मनो निर्विषयत्वाङ्गीकारात् आनन्दाप्रकाशे तदपुमर्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्; तदा ज्ञानन्द

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्य उच्येत, इच्छादिस्वरूपस्य तु मिथ्यात्वात्तद्वतः स कथमपि न सत्यो वक्तुं शक्य इति भावः । आनन्दाप्रकाशे आनन्दसंबन्धिनः प्रकाशस्याभावे । नत्वानन्दस्येति । तथाच मोक्षे आनन्दसंबन्धिप्रकाशाभाव इष्टः । पुमर्थत्वमपि पूर्णानन्दावरणविरोधिवृत्तिविशिष्टत्वरूपेणैव । तदपि तदा नास्त्येव, किंतु तादृशवृत्तिकाल एव, तावतैव तदुद्देशेन श्रवणादौ प्रवृत्तिसंभवः । नच—तदेत्युक्तिसंगता, परममुक्तात्मनि कालासंबन्धादिति—वाच्यम्; इदानीं कल्पितेन कालेन तदेति व्यवहारादिति भावः । ननु तथापि परममुक्तात्मनि ज्ञानत्वाभावेनाज्ञानत्वहेतोर्व्यभिचारस्तत्राह—प्रकाशत्वमिति । ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमित्यर्थः । तादृशात्मनो ज्ञानत्वोपलक्षितत्वमावश्यकम्, व्यवहारकाले तस्यैव

लघुचन्द्रिकाया विदुलेशोपाध्यायी ।

रूपसविषयकत्वस्य । न स्वाभाविकत्वं नानारोपितत्वम् । एवं चास्य हेतोरभावादेव न पारमार्थिकत्वपर्यवसितचिद्रूपज्ञान-समसत्ताकत्वसिद्ध्यापत्तिरिति चिद्रूपज्ञानस्य मोक्षदशायां सविषयकत्वोपलक्षितस्वरूपत्वसंभवात् तद्भेदस्य हेतुत्वसंभव इति भावः । अत्र केचित्—ज्ञाने साक्षात्संबन्धेन हि तस्यारोपितत्वात् स्वाभाविकत्वं न, इच्छायां तत्साक्षात्संबन्धेन तत्प्रतीतेरेवानुपगमात् नतरां स्वाभाविकत्वम् । तच्च तेन संबन्धेनानारोपितत्वे सति प्रतीयमानत्वं; यथा शुक्तौ शुक्लरूपस्य । तत्र रजते तद्धारणाय सत्यन्तं, तत्र शशशृङ्गे तद्धारणाय विशेष्यमिति तत्रार्थ—वर्णयन्ति ॥ मूले—एवं ज्ञानवदिति । चिद्रूपज्ञानस्य मोक्षदशायां यथारोपितविषयसंबन्धं विना सत्त्वं तथैत्यर्थः । कदाचित् विषयबाधदशायाम् । इच्छायां विषय-संबन्धस्यारोपितत्वे इत्यादिः । सविषयकत्वप्रयोजकोपाधिः विषयतः, तदपेक्षयाधिकसत्ताकत्वं चिद्रूपज्ञानस्यैवेति तस्यैव विषयसंबन्धं विना सत्त्वं, नत्वन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपेच्छाया इति न विषयसंबन्धं विना तस्य सत्त्वमिति भावः । प्रकाशसामान्याभावे आनन्दान्वयासंभवादाह—आनन्दसंबन्धिन इति । ननु मोक्षदशायां आनन्दो यदि आत्मचैतन्यरूपप्रकाशः, तदा तस्य सार्वदिकत्वात् तत्र श्रवणाद्युपायवैयर्थ्यमत आह—पुमर्थत्वमपीति । वृत्तिविशिष्टत्वेनेति । तथाचैतत्संपादनायैव श्रवणादीति भावः । नन्वेवं मोक्षस्य पुरुषार्थत्वं न स्यात्, उक्तवृत्तेस्तदा विरहात् इत्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—तदपि तदा नास्त्येवेति । नन्वेवं क्षणिकपुरुषार्थोद्देशेन कथं तत्साधनश्रवणादौ प्रवृत्तिः ? अत आह—तावतैवेति । पूर्णानन्दांशावरणनिवर्तकवृत्तेः आवरणनिवर्तनेनात्मनः सदा पुरुषार्थ-त्वरूपपूर्णानन्दरूपतासंपादकत्वेनेति भावः । तदुद्देशेन उक्तवृत्त्युद्देशेन । परममुक्तेति । विदेहमुक्तेत्यर्थः । ज्ञानत्वाभावेनेति । विषयतदाकारवृत्त्योरभावेन तद्वटितज्ञानत्वविशिष्टत्वाभावादित्यर्थः । अतएव प्रकाशत्वं व्याचष्टे—ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमिति । मूले—अर्थपदं दृश्यज्ञेयपदसमानार्थं, तत्र अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वस्य ज्ञानत्वरूप-हेत्वप्रविष्टतया तत्कथनस्यानुपयोग इत्याशङ्कोक्तप्रकाशत्वोपपादकतया तत्सार्थक्यति—तादृशात्मन इति । परममुक्ता-त्मन इत्यर्थः । ज्ञानत्वोपलक्षितत्वमिति । भासकतासंबन्धेन ज्ञेयोपलक्षितत्वमित्यर्थः । पूर्वं कदाचित् तद्वत एवोत्तरं तदभावदशायां तदुपलक्षितत्वमित्याशयेनाह—व्यवहारकाले इति । सर्वज्ञेयोपलक्षितत्वेति । भासकता-प्रयोजकतादात्म्यरूपविषयितासंबन्धेनेत्यादिः । उक्तसंबन्धेन ज्ञेयोपलक्षितस्यैव ज्ञानत्वरूपत्वात् । प्रकाशत्वपदार्थ-ज्ञानत्वाविवक्षयाह—सर्वज्ञेयोपलक्षितत्वं वेत्यर्थ इति । ज्ञानत्वस्यापि ज्ञाने ज्ञानत्वेन सधर्मकत्वापत्तिरत आह—ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वेत्यर्थ इति । उक्तस्वरूपत्वेनैव तर्हि सधर्मकत्वात् तद्वद्भेदः शुद्धे व्यभिचारी स्यात्, तत्राह—तादृशात्मेति । परममुक्तात्मेत्यर्थः । ननु उक्तोपलक्षितत्वरूपधर्मावच्छिन्नभेदोऽपि शुद्धस्यैवेत्यत आह—तथाचेति । तद्भेदस्येति । ज्ञानत्वोपलक्षितो यः तद्भेदस्येत्यर्थः । अयं च ब्रह्मस्वरूपः, अतः स्वरूपतो भानार्हशुद्ध-ब्रह्मनिष्ठनिरवच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः शुद्धे न संभवति; अन्योन्याभावप्रतियोगितायाः केषांचिन्मते संबन्धान-वच्छिन्नत्वात्, शुद्धभेदीयप्रतियोगिताया धर्मानवच्छिन्नत्वस्याप्युपगमसंभवात् । यद्वा ज्ञानत्वोपलक्षितत्वं, स्वोत्तरज्ञानत्वा-संबन्धन्युयोगिकः स्वपूर्वज्ञानत्वसंबन्धन्युयोगिको यो ज्ञानत्वाभावः, तद्वत्त्वम्; शुद्धेऽधिकरणातिरिक्तभावरूपधर्मस्यानुपग-मेऽपि स्वाधिकरणरूपोक्ताभावरूपधर्मोपगमात् तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदश्च शुद्धे नास्तीति न व्यभिचार इति भावः । संसारदशायां ज्ञातुः सत्त्वात् तदेति पूर्वं योजयति—तदेति । मुक्तिदशायामित्यर्थः । ज्ञातुः ज्ञानकर्तुः । संसार्या-त्मनः ज्ञानत्वादाह—तन्मुक्तात्मरूपमिति । ज्ञानत्वविशिष्टत्वाभावस्येष्टत्वादाह—ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपमिति । अयं भावः—ज्ञाधातोः क्रियावाचकत्वं विना धातुत्वासंभवात् तदर्थस्य ज्ञानस्य क्रियात्वं वाच्यम्, तच्च साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वं, साध्यत्वं चोत्पाद्यत्वम् इति भूवादिसूत्रे शाब्दिकसिद्धान्तः । तथाच नित्य आत्मा कदापि न ज्ञाधात्वर्थ-क्रियारूपः, अपि तु तदतिरिक्त एव जन्यः कश्चित्, तस्य चोत्पादकरूपकर्त्रपेक्षाऽवश्यंवाच्या, क्रियात्वात्, भुजिक्रियावत्

एव प्रकाशो नत्वानन्दस्य प्रकाशत्वम्, अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं वा तदास्त्येवेति न ज्ञानत्वहानिरित्युक्तम् । ननु—तथापि ज्ञातुरभावात् तदा तन्न ज्ञानम्; नहि भोक्तृहीना भुजिक्रिया भवति, नच—अनादित्वेन क्रियारूपत्वाभावात् अनपेक्षत्वमिति—वाच्यम्; अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोगिनि, जातेर्व्यक्तौ जीवब्रह्मविभागस्य धर्मप्रतियोगिनोः अज्ञानस्य चाश्रयविषययोर्ब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्य-पेक्षादर्शनात्, अन्यथा 'अस्ति ब्रह्मे'त्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात् । एवंचातीतादिज्ञानस्य ईश्वर-ज्ञानस्य च उत्पत्त्यर्थमर्थानपेक्षत्वेऽपि तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञानस्य ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं स्वभावः, अन्यथा 'इदमहं जानामी'त्यनुभवो न स्यात्, 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वा'दिति विवरणविरोधश्च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सर्वदृश्यभासकत्वेन सर्वज्ञेयोपलक्षितत्वादित्याशयेनाह—अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं वेति । सर्वज्ञेयोपलक्षितत्वं वेत्यर्थः । ज्ञानत्वेति । ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वेत्यर्थः । तादृशात्मा ज्ञानत्वोपलक्षित इति यावत् । तथाच तद्भेदस्य हेतोस्तत्राभावाच्च व्यभिचार इति भावः । ज्ञातुरभावादिति । तदा ज्ञातुरभावादित्यर्थः । तत् मुक्तात्मरूपम् । ज्ञानं ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपम् । नहीत्यादि । कर्तृत्वस्य सकलकारकप्रयोजकत्वरूपत्वात् तद्व्यविष्टिकारकत्वरूपत्वात् कारकत्वस्य च क्रियानिमित्तस्वरूपत्वात् कर्तृनिरपेक्षक्रियास्वरूपं न संभवतीति भावः । नचेति । ज्ञानत्वविशिष्टस्य सादित्वेऽपि ज्ञानत्वोपलक्षितस्येति शेषः । क्रियारूपत्वेति । कारकनिमित्तकक्रियारूपत्वेत्यर्थः । अर्थानपेक्षत्वे स्वविषयानपेक्षत्वे । तन्निरूप्यत्वेति । स्वविषयविशिष्टरूपेणैव प्रकाशमानत्वेत्यर्थः । ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं ज्ञातृज्ञेयविशिष्टरूपेणैव प्रकाशमानत्वम् । तथाच ज्ञेयज्ञातृविशेषितशुद्धचिद्रूपेणाप्यसंप्रज्ञातसमाधौ मोक्षे चात्मनः प्रकाशमानत्वात् न ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमिति भावः । विवरणविरोध इति । वृत्त्यवच्छिन्नस्यासत्त्वावरण-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

इति । तद्व्यतिरेकमुखेनाह मूले—नहि भोक्तृहीना भुजिक्रिया भवतीति । ननु कर्तृत्वं न क्रियोत्पादकत्वगर्भम्; सत्तास्थित्यादिकर्तरि तदभावात्, किंतु क्रियाश्रयत्वं, तच्च मुक्तात्मनो ज्ञानक्रियारूपत्वेऽपि तन्निरूपितं कर्तृत्वं कथंचित् कालादेः स्वस्यैव वा संभवतीति आश्रयत्वेन कर्त्रपेक्षत्वस्य तत्र सत्त्वान्न तस्य क्रियात्वानुपपत्तिरित्यत आह—कर्तृत्व-स्येति । सकलकारकप्रयोजकत्वेति । स्वेतरस्वसमभिव्याहृतसकलकारकनिष्ठप्रकृतक्रियानुकूलव्यापारप्रयोजकव्यापार-रवत्वेत्यर्थः । इदं च 'चैत्रः कुठारेण काष्ठं च्छिनत्ति' इत्यादौ कुठारादिवारणाय । कारकत्वरूपत्वादिति । एतच्च 'चैत्रस्य पुत्रो गच्छती'त्यादौ चैत्रस्य वारणाय । ननु कारकत्वं संज्ञाविशेषः, "ध्रुवमपाये" इति योगं विभज्य अपाये ध्रुवं कारकसंज्ञं, ततः 'अपादानं' उक्तकारकमपादानसंज्ञमित्यादर्थश्रयणात् । एवं च स्वतन्त्रः प्रधानीभूतधातुपात-व्यापाराश्रयः कारकसंज्ञः स्यात्, उक्तकारकं कर्तृसंज्ञं स्यात्, इत्यर्थे क्रियाया आश्रयत्वेनैव कर्तुरपेक्षा, ननु जनकत्वेनेति नित्यमुक्तात्मनो ज्ञानक्रियारूपत्वं कुतो नेत्यत आह—कारकत्वस्येति । क्रियानिमित्तत्वेनेति । क्रियानिमित्तका-रणत्वेनेत्यर्थः । "कारके" इत्यत्र 'क्रियां जनयति' इति कारकं, प्रथमार्थं सप्तमी । यद्वा—करोति कर्तृकर्मव्यपदेशानिति व्युत्पत्त्या क्रियैव कारकं, यावत् ब्रूयात् क्रियायामिति यावत् । "ब्रूयात् कारक" इति भाष्यात् । विषयत्वे सप्तमी, विषयत्वं च जनकत्वेनेति 'अपाये ध्रुवं क्रियाजनकम् अपादानम्, स्वतन्त्रः प्रधानक्रियाश्रयः क्रियाजनकः कर्ता' इत्यर्था-श्रयणादिति भावः । कर्तृनिरपेक्षं क्रियास्वरूपं न संभवतीति । एवंच ज्ञानं शुद्धात्मरूपं न, किंतु तदतिरिक्तमेवे-त्यज्ञानत्वहेतोस्तत्र व्यभिचारो दुर्वार इति भावः । नित्योऽपि चिदात्मा विषयभासकताविशिष्टः सन् ज्ञानमित्युच्यते, अत उक्तवैशिष्ट्यावच्छेदेन कर्त्रादिकारकजन्यः धालर्थक्रियारूपः; तदुपलक्षितस्तु न क्रियारूपः; नापि कर्त्रादिजन्य इत्याशयेन शङ्कते मूले—नचेति । उक्ताशयस्फुटीकाराय शेषं पूरयति टीकायाम्—ज्ञानत्वविशिष्टस्येति । संसारद-शायां विषयतदाकारवृत्तिविशिष्टस्येत्यर्थः । सादित्वेऽपि कर्त्रादिकारकजन्यक्रियारूपत्वेऽपि । ज्ञानत्वोपलक्षितस्येति । मुक्तात्मन इति पूरणीयम् । अनादित्वेन नित्यत्वेन । नित्यत्वेऽपि धालर्थत्वेन साम्यात् । क्रियात्वेन व्यवहारविषयकत्वरूपं क्रियारूपत्वं संभवतीत्यत आह—कारकनिमित्तकक्रियास्वरूपत्वेति । कारकजन्यक्रियारूपत्वेत्यर्थः । मूले—अन-पेक्षत्वं कर्त्रजन्यत्वम् । एवं च मुक्तिदशायामन्तःकरणवच्छिन्नात्मरूपकर्तृविरहेऽपि मुक्तात्मनो ज्ञानत्वोपलक्षितरूपत्वं नाहु-पपन्नमिति भावः । यद्यपि ज्ञाधालर्थो ज्ञानं, तच्च आत्मचैतन्यमेव, तस्यच ज्ञानत्वविशिष्टस्योत्पत्तौ कर्तृसापेक्षत्वेऽपि ज्ञान-त्वोपलक्षितस्य शुद्धस्योत्पत्तौ न कर्तृसापेक्षत्वं; तथापि ज्ञप्तौ कर्तृसापेक्षत्वमस्त्येव, नित्यस्यापि हि धातुतः प्रतीतिरुत्पाद्यत्वे-नैव जायते; अतएव क्रियावाचको धातुः, क्रियात्वं च साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वं, साध्यत्वं चोत्पाद्यत्वमेवेति" शाब्दिकाः । अतएव 'ब्रह्मास्ती'त्यादौ ब्रह्मसत्ताया नित्याया अपि कर्तृसापेक्षत्वेन कर्तृलकारोपपत्तिरित्याशयेनाह मूले—अनादेरिति ।

स्यात्-इति चेन्न; जातेर्व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तदसंबन्धवदुपपत्तेः, संबन्धप्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वात् । अतएव ज्ञानस्य सज्ञेयत्वं सज्ञातृत्वं च न स्वाभाविकम् । तथाहि—सज्ञेयत्वं तावत् ज्ञेयजन्यत्वं वा ज्ञेयव्याप्यत्वं वा । नाद्यः; परोक्षज्ञाने ईश्वरज्ञाने चाभावात् । नापि द्वितीयः;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

किञ्चिदज्ञानविषयत्वप्रयोजकविशिष्टस्य वा चैतन्यस्य ज्ञानपदार्थस्य ज्ञातृज्ञेयाद्यवदितत्वेऽपि ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यं ज्ञान-स्वरूपमिति ज्ञापनाय ज्ञातुरर्थेत्युक्तं विवरण इति भावः । जातेः शुद्धजातेः । व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचिद्व्यक्ति-संसृष्टरूपेणैव प्रकाशमानत्वेऽपि । शुद्धजातिप्रकाशस्य व्यक्तिप्रकाशव्याप्यत्वेऽपीति यावत् । कदाचित्तदसंबन्धवत् गोत्वादेरश्वदौ संसर्गारोपकाले गोत्वादौ गवादिव्यक्तेर्निरूप्यत्वरूपसंबन्धाभाववत् । उपपत्तेः ज्ञानत्वोपलक्षितस्य कदाचिद्विषयादिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचिद्विषयाद्यनिरूप्यत्वोपपत्तेः । तथाच भ्रमभिन्नजातिप्रत्यक्षत्वस्य व्यक्तिप्रत्यक्षत्व-व्याप्यत्ववत् ज्ञानत्वविशिष्टप्रकाशत्वस्य विषयादिप्रकाशत्वव्याप्यत्वम्, ननु ज्ञानत्वोपलक्षितप्रकाशत्वस्य; तादृशप्र-त्यक्षीयजातिविषयतायाः व्यक्तिविषयतानिरूपितत्वनियमवत् ज्ञानत्वविशिष्टविषयताया विषयवैशिष्ट्यविषयतानिरूपित-त्वनियम इति भावः । शुद्धज्ञानस्वरूपस्य विषयाद्यविशेषितरूपेण भाने शुद्धजातेः व्यक्त्यविशेषितरूपेण भानं सुस-दृशो दृष्टान्त इति स एवोक्तः । प्रागभावादेस्तु प्रागभावत्वादिविशिष्टरूपेणैव ज्ञानम्, ननु तद्विशिष्टशुद्धरूपेण । अत-एव सुषुप्तौ 'न किञ्चिदवेदिष'मिति सविषयकत्वाज्ञानस्वरूपाभ्यामेवाज्ञानस्य भानम्, ननु शुद्धरूपेणेति भावः । ननु—नाश्चादौ गोत्वादेः भ्रमप्रत्यक्षमस्ति, किंतु गवादेस्तादात्म्यारोप एव, तथाच नोक्तदृष्टान्तसंभव—इति चेन्न; पटे घटत्व-प्रकारके 'घट इत्याकारके' इत्याकारके शीतगंगास्पर्शो भवत्वित्याकारकविषयान्तरजिज्ञासादिरूपे प्रतिबन्धके सति जायमाने प्रत्यक्षे घटादिभानासंभवात् । यथाश्रुतं तु तदसंबन्धवदित्यसङ्गतम् । विषयादिनिरूप्यत्वनियमपुरस्कारेण कृतस्य पूर्वपक्षस्य दृष्टान्तेनानुद्धारात् । नच—यथोक्तव्याख्यानेऽपि दृष्टान्तासंभवः, शुद्धजातेः कदाचिद्व्यक्तिनिरूप्यत्वात् ज्ञानत्वोपलक्षितस्य कदाचिदपि विषयादिनिरूप्यत्वस्याभावात् ज्ञानत्वविशिष्टस्यैव कदाचिद्विषयादिनिरूप्यत्वादिति—वाच्यम्; ज्ञानत्वतदुपलक्षितव्यक्तयोः सविकल्पकैकघटत्वमते ज्ञानत्वविशिष्टस्य विषयादिनिरूप्यत्वेऽपि तयोस्तदस्वी-कारमते ज्ञानत्वांशे निर्विकल्पकस्य विषयाद्यंशे सविकल्पकस्य ज्ञानत्वोपलक्षितविशेष्यकप्रत्यक्षस्य स्वीकारेण ज्ञानत्वो-पलक्षितस्य विषयादिनिरूप्यत्वसंभवात् । तस्मात् कदाचित्पदावृत्त्या यथोक्तव्याख्यानमतिरम्यम् । अतएव मोक्षे ज्ञेयसामान्यस्य ज्ञातृश्रावकाशेऽपि ज्ञानत्वोपलक्षितस्य प्रकाशादेव । ज्ञानस्य ज्ञानत्वोपलक्षितस्य । स्वाभाविकम् अनारोपितम् । ईश्वरज्ञाने चेति । परमते ईश्वरज्ञानस्याजन्यत्वान्मन्मतेऽपि इन्द्रियसंनिकर्षस्येव विषयस्यापि तत्रा-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

अस्य 'प्रागभावस्ये' त्यादिपञ्चषष्ठ्यन्तैरन्वयः । प्रतियोगिन्यादिपञ्चसप्तम्यन्तानामपेक्षायामन्वयः । तदपेक्षा च तज्ज्ञानं विना प्रत्यक्षाविषयत्वं, तज्ज्ञानाधीनप्रत्यक्षविषयत्वरूपं, तत्संबन्धवत्त्वेनैव प्रत्यक्षविषयत्वरूपं वा प्रागभावादेरनुमित्यादेः प्रतियोग्यादिज्ञानं विनापि सत्त्वात् प्रत्यक्षनिवेशः । अतएव भ्रमभिन्नजातिप्रत्यक्षत्वस्येति । वक्ष्यते ग्रन्थकृताऽनु-पदेव । विभागस्य भेदस्य । 'इह कपाले घटो भविष्यति', 'अयं घटः', 'नाहमीश्वरः', 'घटमहं जानामि', इति प्रत्यक्षेषु प्रागभावादीनां प्रतियोग्यादिसंसृष्टतथैव भानात्, कथंचित् प्रतियोग्यादिज्ञानजत्वात्, 'इह भविष्यति', 'घटत्वं न न जाना-मी'त्यादि प्रत्यक्षानुदयात् । 'ब्रह्मास्तीति' ब्रह्मसत्ताप्रत्यक्षं तु प्रतिवादिनामेव प्रसिद्धम् । प्रकृतोपयुक्तश्चायं दृष्टान्त इति तत्र हेतुं स्वयमाह—अन्यथेति । नित्याया ब्रह्मसत्ताया ज्ञानेऽपि कर्त्रनपेक्षायामित्यर्थः । अस्तिब्रह्मेति । असूधातोः सत्ताय-ब्रह्मरूपतया नित्याया अप्युत्पाद्यत्वरूपसाध्यत्वेन प्रतीतेः उत्पादकाकाङ्क्षायां कर्तृपदार्थस्वतन्त्रकारकरूपोत्पादकाभिधायको लकारः प्रयोज्यः; अन्यथा 'ब्रह्म सत्यं' इत्यत्रेव कर्त्रभिधायको न प्रयुज्येत । इत्थं च शाब्दे ब्रह्मसत्ताया ज्ञानेऽपि कर्मापेक्षा सिध्यति, प्रत्यक्षे तु यस्मात् शब्दात्तु योऽर्थः प्रतीयते, तदुल्लिखितप्रत्ययस्य तदर्थविषयकत्वमिति नियमात् ब्रह्मरूपापि सत्ता 'ब्रह्म' 'अस्तीति' भिन्नपदप्रतिपाद्यत्वात् भिन्नेति ब्रह्माश्रयिका ब्रह्मकर्तृकक्रियारूपा च भवति । नचैवमन्योन्याश्रयः, भेदे सति भिन्नपदप्रतिपाद्यता, तस्यां सत्यां भेदकल्पनात्, इति—वाच्यम्; इदानीन्तनव्यवहारप्रयोजकभेदकल्पने तत्पूर्वव्यवहारस्य, तत्प्रयोजकभेदकल्पने तत्पूर्वव्यवहारस्येत्येवमाश्रयेण तदभावात्; व्यवहारस्यानादित्वात् । एवं चाज्ञा-नत्वादिति हेतुवाक्यघटकनिरर्थकल्युडन्तज्ञाधातुना आत्मचैतन्यरूपज्ञानस्य हेतुघटकप्रतियोगितया प्रतिपादने उत्पाद्यत्वेनैव प्रतिपादनसंभवादुत्पाद्यत्वप्रयोजकोपाधेः विषयतदाकारवृत्त्यादिरूपज्ञानत्वस्योत्पादककर्तृकारकस्य चाकाङ्क्षाया नियतत्वादुभ-यविशिष्टस्यैव चिदात्मनो ज्ञानपदात् प्रतीतिर्वाच्या । तथाचोक्तज्ञानत्वोपलक्षितस्य परममुक्तात्मनो हेतुघटकप्रतियोगितया भानासंभवादुक्तपदार्थभिन्नत्वरूपहेतोस्तत्र व्यभिचारो दुर्हृद इति भावः । ननु खोत्पत्त्यर्थमनपेक्षितस्य स्वज्ञप्तौ अपेक्षा क दृष्टेत्यत आह—एवंचेति । अतीतादिज्ञानस्येति । आदिनाऽनागतग्रहणम् । ईश्वरज्ञानस्येति । तदुपाधिमया-

‘यदा ज्ञानं तदा अर्थ’ इति कालिकव्याप्तौ पूर्ववत् व्यभिचारात्, दैशिकव्याप्तिस्तु दूरनिरस्तैव । नच—यदा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हेतुत्वात्तदभावो बोध्यः । यदा ज्ञानमित्यादि । यदा यस्यार्थस्य ज्ञानम्, तदा सोऽर्थ इत्यर्थः । पूर्ववत् परोक्षज्ञाने

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

परिणामवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपस्य मायान्तःकरणरूपोपादानस्य तदवच्छिन्नचैतन्यस्य चार्थस्यापेक्षणात् । व्याचष्टे—**अर्था-
नपेक्षत्वे इति** । तन्निरूप्यत्वेत्यत्र तत्पदेन गुणभूतार्थपरामर्शकतां, कार्यत्वादौ करणत्वादेरिव ज्ञाने विषयनिरूप्यत्वा-
भावात् प्रकृतानुपयोगाच्च निरूप्यत्वपदस्य विशिष्टलरूपेण प्रकारभानत्वपरतां च विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमतो ज्ञानविनि-
वेद्यो विषय इति प्रत्यक्षमणिवदाह—**स्वविषयेति । विशिष्टरूपेणेति** । विशिष्टत्वेनेत्यर्थः । ‘अतीतं घटं जानामि’ इत्येव
प्रतीतेः, ‘जानामि’ इत्यप्रतीतेः । ज्ञानोत्पत्तये विषयानपेक्षतासूचनाय—**अतीतमिति** । वर्तमानविषयस्य जीवज्ञानोत्पत्तौ
कारणत्वेनापेक्षणात्, ईश्वरज्ञाने तु वर्तमानविषयस्यापि न कारणत्वं तस्यानादित्वात्, “संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने-
त्युक्तेः, ऐन्द्रियिकलौकिकप्रत्यक्षे एव विषयस्य कारणत्वाच्च । एवं च “तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति” श्रुत्या स्रष्टव्यविषयवि-
शेषितमेवेक्षणरूपमीश्वरज्ञानमनूयते, वेदकर्तुरीश्वरस्य तादृशानुवादमूलभूतमीक्षणं ज्ञानं प्रत्यक्षमेव; विषयाविशेषितरूपेणापि
ज्ञानप्रकाशमानत्वे शुद्धस्य हेतुघटकत्वमनपवादमेवेत्येवकारान्तर्भावः । **प्रकाशमानत्वं** प्रत्यक्षविषयत्वं । अयं, ज्ञानवान्,
इच्छायाः, इत्यनुमानादिना विषयाविशेषितरूपेणापि ज्ञानावगाहनात् । एतावतोक्तमज्ञानत्वादित्यत्र ज्ञाधानुलोपायत्वेन
प्रतीयमानस्य ज्ञानस्योत्पादककर्तृकारकाङ्क्षायां कर्त्रपेक्षत्वं कर्तृनिरूप्यत्वरूपतया विषयनिरूप्यत्वदृष्टान्तस्मरणेन चोप-
संहरति—**ज्ञानस्येत्यादिना स्वभाव इत्यन्तेन** । उक्ताकाङ्क्षावशात् । कर्तृसंबन्धज्ञानभानं शाब्दे एव, **यस्मात्
शब्दादिति** नियमादित्युक्तम्, प्रत्यक्षे तु तत्रानुभवं प्रमाणयति—**अन्यथेति** । ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वमित्यत्र
ज्ञातृज्ञेयस्येव निरूप्यत्वं, ज्ञाता ज्ञेयमिव तन्निरूप्यत्वमिति चार्थः । अतो न ज्ञेयपदं पुनरुक्तम् । निरूप्यत्वं तूक्तरूपमेवे-
त्याह—**विशिष्टरूपेणैवेति** । एवकारेण नियतार्थकस्वभावपदार्थ उक्तः, प्रयोजनमुक्तम् । **ननु** असंप्रज्ञातसमाधौ
मोक्षे चात्मनः शुद्धस्यैव प्रकाशमानत्वात् तत्कालीनात्मनो ज्ञातृत्वोपलक्षितस्वरूपत्वात् न तत्र व्यभिचार इत्यत आह—
तथाचेति । ज्ञेयज्ञातृविशेषितेति पाठः । **शुद्धचिद्रूपेणापि** अनावृतचिद्रूपेणापि । एतेन विशेषितशुद्धयोर्न विरोधः ।
तृतीयार्थोऽभेदः । अपिना ज्ञातृज्ञेयाविशेषितस्यापि भानं सूचितम् । **प्रकाशमानत्वात्** प्रकाशाभेदात् । **न ज्ञानत्वो-
पलक्षितस्वरूपत्वमिति** । ज्ञातृज्ञेयविशेषितचित्प्रकाशकाले ज्ञानत्वेनैव प्रकाशात् ज्ञानत्वविशिष्टत्वेन, तदुपलक्षितत्वा-
भावादिति भावः । असंप्रज्ञातसमाधिमोक्षदशायां ज्ञातृज्ञेयविशिष्टत्वेनापि सत्यस्य चिदात्मनो भानमित्यभिमानेनेयमाशङ्का ।
उक्ताभिमाननिरासश्च स्फुटीकरिष्यते ॥ **ननु** ज्ञानपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नस्य ज्ञातृज्ञेयघटितत्वे तन्निरूप्यत्वमुचितम्,
ननु स तथेत्याशङ्कायां मूले विवरणाविरोध उक्त इति विवरणस्थज्ञातुरर्थेति पदप्रयोजनव्याजेन स्फुटयति—
वृत्त्यवच्छिन्नस्येति । असत्त्वावरणेति । असत्त्वापादकेत्यर्थः । सत्त्वावरणेति नञरहितः सुपाठः । एकेन
शुक्त्यादिज्ञानेनैकस्यैव शुक्त्याद्यावरकाज्ञानस्य तत्कार्यरजतादेश्च निवृत्तिः, तज्ज्ञानव्यक्तिनाशे त्वज्ञानान्तरेण पुनः शुक्त्या-
द्यावरणमिति मताभिमानाभिप्रायेण **यत्किंचिदज्ञानेत्युक्तम्** । **ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यमिति** । अस्य ज्ञातृज्ञेयाभ्यां निरूप्यं
निर्वचनीयमिति नार्थः; **अन्यथेत्यनेन** ज्ञातृज्ञेयविशिष्टत्वेन प्रकाशमानत्वानुपगम एव विवरणविरोधस्य वक्तव्यत्वात्,
किंतु ज्ञातृज्ञेयसंबन्धविशिष्टं सत् यत् प्रकाशते प्रत्यक्षविषयो भवति इत्यर्थः । जातिर्नित्या, घटत्वं प्रमेयं, इत्यादिज्ञानविषय-
जातेः व्यक्तिनिरूप्यत्वाभावात् व्याचष्टे—**शुद्धजातेरिति** । यथाश्रुतेऽसङ्गतेर्वक्ष्यमाणत्वात् **कदाचित्पदा** वृत्त्या
व्याचष्टे—**कदाचिदिति** । अयं गौरिति प्रमाकाले इत्यर्थः । **व्यक्तिः** स्वाश्रयः । **शुद्धेति** । कदाचिदित्यनुषज्यते ।
व्याप्यत्वं तादात्म्येन । प्रकाशपदे प्रकाशलपरे । दार्ष्टान्तिकं पूरयन् प्रकृतोपपत्तिपरतयोपपत्तिपदं व्याचष्टे—**ज्ञानत्वो-
पलक्षितस्येति** । **कदाचित्** संसारदशायां ज्ञानत्वेन प्रत्यक्षकाले । **कदाचित्** असंप्रज्ञातसमाधिमोक्षदशायां शुद्धा-
त्मस्वरूपप्रकाशकाले । **विषयाद्यनिरूप्यत्वोपपत्तेरिति** । शङ्कायां तदुक्तिस्तु सिद्धान्तानवबोधमूलकाभिमानेनैवेति
भावः । एवंच संसारदशायामात्मनि ज्ञानत्वादिविशिष्टे ज्ञानत्वोपलक्षितशुद्धात्मभेदरूपहेतुसत्त्वेऽपि न व्यभिचार इति
पर्यवसितम् । कदाचित्कत्वमननुगतत्वात् परित्यज्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्नियममाह—**तथाचेति** । अश्वादौ गोत्वाद-
भ्रमप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणायां—**भ्रमभिन्नेति । जातीति** । शुद्धजातीत्यर्थः । **ज्ञानत्वविशिष्टेति** । तद्विषयकेत्यर्थः ।
ज्ञानत्वेन ज्ञानभानस्य विषयादिवैशिष्ट्यभाने प्रयोजकत्वादिति भावः । प्रकाशलपदानि प्रत्यक्षत्वपराणि । **नत्विति** ।
मोक्षकालीनशुद्धात्मप्रत्यक्षे व्यभिचारादिति भावः । **ननु** जातिप्रत्यक्षे विशुद्धलव्यक्तिविषयकत्वस्य ज्ञानत्वविशिष्टप्रत्यक्षे
विशुद्धलविषयादिविषयकस्याप्युपगमे चोक्तनियमनिर्वाहात्, व्यक्त्यंशे जातिभानं ज्ञानत्वविशिष्टांशे विषयभानं च नोक्त-
अद्वै. सि. ३९

‘अपरोक्षज्ञानं तदार्थ’ इति कालिकव्याप्तौ नास्ति व्यभिचारः, आत्मा च ‘यत् साक्षात् अपरोक्षात्

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञेयजन्यत्वाभावात् । दूरेति । ज्ञातरि ज्ञानवत्त्वार्थाभावात् । यदा परोक्षेत्यादि । पूर्ववद्यस्यार्थस्येत्यादि बोध्यम् ।

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

नियमेन सिध्यति, इत्यत आह—तादृशेति । भ्रमभिन्नेत्यर्थः । जातीति । शुद्धेत्यर्थः । ज्ञानत्वविशिष्टविषयताया इति । प्रत्यक्षीयेत्यादिः । एवंचाश्वे गोलभ्रमे गोव्यक्तेरभानेऽप्युक्तनियमामङ्गवत्, मोक्षे शुद्धचिदात्मस्वरूपे तत्प्रत्यक्षे ज्ञानत्वाभावेन कर्तृविषयवैशिष्ट्याभावेऽप्युक्तनियमामङ्गात् चिदात्मरूपस्य ज्ञाधाल्पज्ञानस्य नित्यस्योत्पाद्यविव ज्ञातावपि कर्तृ-विषयापेक्षा नास्ति । नच—ज्ञाधातुना उत्पाद्यत्वेन तद्ज्ञानात्कर्त्राकाङ्क्षावशात् तद्ज्ञानमावश्यकमिति—वाच्यं; ज्ञाधात्वर्थता-वच्छेदकज्ञानत्वेन धातुमात्राधीनबोधे एवोत्पाद्यत्वेन भाननियमात् । तत्र भानस्योत्पाद्यत्वेन बोधे कर्तृज्ञानत्वेन बोधेच विषयस्याकाङ्क्षानियमेन भाननियमात् । अज्ञानत्वादित्यत्र ‘ज्ञानवान्’ ‘गुणवान्’ वा इच्छाया इत्यत्रेव ल्युङन्तेन तु भावज्ञानपदेन लक्षणया ज्ञानलोपलक्षितशुद्धात्मबोधे ज्ञानस्योत्पाद्यत्वाभावेन कर्तृविषयवैशिष्ट्याभावेन सत्ये शुद्धात्मनि ज्ञानलोपलक्षितत्वसत्त्वेन तद्वन्निरूपितभेदरूपहेतोरभावाच्च व्यभिचार इति भावः । प्रकृते शुद्धात्मभावे शुद्धजातिभानमेव दृष्टान्ततयोक्तं, नतु शुद्धप्रागभावभानशुद्धज्ञानभावे अपीति कुतः? इत्यत आह—शुद्धज्ञानस्वरूपस्येति । प्रागभावा-देरित्यादिना प्रतियोगिनः संग्रहः । नत्विति । कदापीति शेषः । गवादेरिति । गोत्वेन भासमानस्येत्यादिः । प्रतिबन्धके इति । तादृशाकारज्ञानेच्छा तदन्याकारज्ञाने प्रतिबन्धिका, तस्याश्चोत्कटत्वम् । अतस्तत्रैकज्ञानेच्छायां सत्या-मप्यपरज्ञानोत्पादानुभवः । अतएव कामिनीजिज्ञासैव जिज्ञासारूपप्रतिबन्धकेषूदाहियते; कामिनीविषयकलस्यौत्कट्यप्रयो-जकत्वात् । अत उक्तेच्छायां शैत्यविशिष्टगङ्गाविषयकस्पर्शज्ञानत्वावच्छिन्नविषयकत्वमुक्तम् । निदाघतप्तस्य तादृशेच्छाया उत्कटत्वात् । शीतगङ्गाजलहरणसाधनस्य घटस्य स्वसन्निधावभावेऽपि स्वसन्निहितपटे घटत्वेन गृह्यमाणे तं जलाहरण-साधनत्वेन गृहीत्वा तदर्थं तदुपादानाय घटत्वेन पटप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नविषयकत्वमप्युक्तेच्छायाः उत्कटत्वप्रयुक्तमेव । अतएवोत्कटकामिनीलाभेच्छया अल्पधने तत्साधनबहुधनत्वबुद्धिस्तदवच्छिन्नतद्विषयेच्छयैवानुभूयत इति ध्येयम् । कदाचित्पदमावर्त्य तस्य व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽन्वयं कृत्वा जातेरिति युक्तिर्व्याख्याता, अन्यथा त्वसङ्गतिमाह—यथाश्रुत-मिति । विषयादीति । ज्ञानस्येत्यादिः । आदिना ज्ञाता । नियमपुरस्कारेण नियमावलम्बनेन । पूर्वपक्षदशायाम-प्यात्मरूपज्ञानस्य शुद्धस्य भानासंभवरूपस्येत्यादिः । दृष्टान्तेन दृष्टान्तमात्रेण । मात्रपदेनोक्तनियमसंकोचव्यवच्छेदः, उक्तनियमसंकोचं विनेत्यर्थः । जातेरपि व्यक्तिनिरूप्यत्वनियमसंकोचं विना कदाचित् व्यक्त्यनिरूप्यत्वासंभवात् दृष्टान्तस्या-प्यसंभव इति बोध्यम्, तदाह—नचोक्तव्याख्यानेऽपि दृष्टान्तासंभव इति । सविकल्पकवेद्यत्वेति । निर्वि-कल्पकमात्रावेद्यत्वैत्यर्थः । तयोः ज्ञानत्वतदुपलक्षितव्यक्तयोः । तदस्वीकारमते इति । निर्विकल्पकमात्रावेद्यत्वास्वीकार-इत्यर्थः । निर्विकल्पकसविकल्पकोभयात्मकं नरसिंहाकारं ज्ञानमुपगम्य तद्वैद्यत्वमते इति यावत् । ज्ञानत्वांशे निर्विकल्प-कस्येति । ज्ञानत्वस्वरूपविशेषणज्ञानाभावादिति भावः । विषयांशे सविकल्पकस्येति । विषयस्य विशेषणज्ञानस्य व्यवसायरूपस्य सत्त्वादिति भावः । संभवादिति । ज्ञानत्वविशिष्टविषयत्वस्य विषयवैशिष्ट्यविषयतानिरूपितत्वनियमेऽपि विषयवैशिष्ट्यविषयतानिरूपितत्वरूपव्यापकस्य ज्ञानत्वोपलक्षितविषयतारूपाधिकदेशवृत्तित्वे बाधकाभावादिति भावः । ज्ञान-त्वांशे निर्विकल्पकत्वानुसरणं तु सामग्रीवशात् । तेन ज्ञानत्वविशिष्टविषयकप्रत्यक्षीयज्ञाननिष्ठविषयताया विषयवैशिष्ट्य-विषयतानिरूपितत्वनियमस्योपगमेऽपि न क्षतिः । अतएव तत्त्वसाक्षात्कारीयशुद्धात्मविषयताया विषयवैशिष्ट्यविषयतानि-रूपितत्वं न; तत्र ज्ञानत्वस्योपनिषदामद्वितीयात्मज्ञाने तात्पर्येण अभानेन उक्तनियमामङ्गात् । तात्पर्याभावादेव च तत्त्व-ज्ञाने नात्मरूपज्ञानांशे विषयवैशिष्ट्यभानमपि । सर्वविषयाणां ‘नेह नाना’ इति श्रुत्या बाध्यत्वाच्च । विशुद्धलतया स्वातन्त्र्ये-णापि वा तत्त्वज्ञाने न कस्यचित् ब्रह्मान्यस्य भानम्; तत्र तात्पर्याभावादद्वितीये ब्रह्मात्मन्येव वेदान्तानां तात्पर्यादिति मनसि कृत्योपसंहरति—तस्मादिति । कदाचित्पदामृत्येति । कदाचित्पदस्यामृत्येत्यर्थः । अतिरम्यमिति । दृष्टान्ते भ्रमान्यप्रत्यक्षीयजातिविषयत्वे व्यक्तिविषयतानिरूपितत्वस्योक्तभ्रमीयतद्विषयत्वे च तदभावस्य, दार्ष्टान्तिके च कदाचिदु-क्तनिर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षकाले तदीयज्ञानत्वोपलक्षितात्मविषयत्वे विषयवैशिष्ट्यविषयतानिरूपितत्वस्य कदाचिन्मुक्तात्म-तत्त्वसाक्षात्कारकाले तदीयोच्चात्मविषयत्वे विषयवैशिष्ट्यविषयत्वानिरूपितत्वस्य च सत्त्वादिति भावः । ननु मुक्तात्म-ज्ञानीयात्मविषयत्वस्य ज्ञातृज्ञेयवैशिष्ट्यविषयतानिरूपितत्वं कुतो नेत्यत आह—मूले संबन्धेति । मुक्तात्मनो ज्ञातृज्ञे-ययोः संबन्धप्रयोजकोपाधिर्नृत्त्यादिस्तदपेक्षया तदीयव्यावहारिकसत्त्वापेक्षयाऽधिका पारमार्थिकी या सत्ता तद्वत्त्वादित्यर्थः । नेह नानेति श्रुतिमिथ्यात्वानुमानाभ्यामात्मनि तदितरसकलप्रपञ्चस्य बाधादिति भावः । नन्वेवं कदाचिन्मुक्तात्मनि ज्ञान-

ब्रह्मे'ति श्रुतेरपरोक्षज्ञानरूप इति सोऽप्यर्थव्याप्त इति—वाच्यम् ; ईश्वरज्ञाने योगिज्ञाने च व्यभिचा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योगिज्ञान इति परमतमाश्रित्य, स्वमते तु तस्य नापरोक्षत्वमिति वक्ष्यते । यद्यपि ज्ञानस्योत्पत्तिद्वितीयक्षणे अर्थसत्त्वानियमादयोगिजीवज्ञानेऽपि व्यभिचारसंभवः; तथापि स्वोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वत्वसमानाधिकरणकालिकसंबन्धेन यदा अपरोक्षज्ञानं, तदा अर्थ इत्युक्तावयोगिजीवज्ञाने व्यभिचाराभावाद्योगीत्युक्तम् । नच—ज्ञानत्वोपलक्षितस्य चैतन्यस्य तादृशसंबन्धाप्रसिद्धा सिद्धान्तितनादृशव्याप्तिर्न क्षतिकरीति—वाच्यम् ; तादृशव्याप्त्यनिर्वाहस्यैव

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्वोपलक्षिते ज्ञातृज्ञेयसंबन्धप्रतीतेर्जायमानाया भ्रमत्वं स्यादित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—अतएवेति । अतएवेत्यस्य ज्ञातृज्ञेयसंबन्धप्रयोजकोपाध्यपेक्षया ज्ञानस्याधिकसत्ताकत्वादित्यर्थः । तेन च ज्ञातृज्ञेयज्ञानत्वानां बाधितत्वलाभः । तल्लब्धफलितार्थपरतया व्याचष्टे—अतएवेति । मोक्षे तत्काले । ज्ञेयसामान्यस्य ज्ञानलघटितस्य । ज्ञातुः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य । अप्रकाशे उक्तरीत्या बाधादिति भावः । ज्ञानत्वोपलक्षितस्य शुद्धात्मस्वरूपात्मकप्रत्यक्षादेरित्यर्थः । ज्ञानत्वविशिष्टस्य विषयसंबन्धः स्वाभाविक एवेत्यतो व्याचष्टे—ज्ञानत्वोपलक्षितस्येति । न स्वाभाविकमिति । अत्र प्रतियोगिपदं व्याचष्टे—अनारोपितमिति । ज्ञेयोपलक्षितत्वरूपसंज्ञेयत्वस्य स्वाभाविकत्वसंभवादाह—मूले तथाहीति । संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेत्युक्तेः जैवलौकिकप्रत्यक्षस्यैव विषयजन्यत्वमित्याश्रित्याह—परोक्षज्ञाने इति । अत्र परोक्षत्वं न लौकिकसन्निकर्षजन्यत्वम् ; ईश्वरज्ञानस्य पृथगुपादानात्, किंतु स्वविशेषणान्यविषयकज्ञानत्वावच्छिन्नजन्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—ईश्वरज्ञाने इति । तत्र परोक्षज्ञानस्य सर्वमते जन्यत्वेऽपि न विषयजन्यत्वम् ; अतीतानागतविषयकत्वेन व्यभिचारात् । ईश्वरज्ञानस्य तत्त्वे हेतुन्तरमप्याह—टीकायां परमते इति । ननु स्वमते तस्य जन्यत्वाद्वर्तमानविषयजन्यत्वमस्तिवत्यत आह—मन्मते इति । इन्द्रियसन्निकर्षस्येति । 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इति श्रुतेस्तस्यानिन्द्रियत्वादिति भावः । विषयस्यापीति । वर्तमानेत्यादिः । तत्र ईश्वरज्ञाने । अहेतुत्वादिति । लौकिकेन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञान एव वर्तमानविषयस्य हेतुत्वादिति भावः । तदभावो विषयजन्यत्वाभावः । अतीतानागतघटादिविषयस्य स्वज्ञानकालेऽभावेऽपि वर्तमानघटपटादिरूपार्थान्तरसत्त्वेन तेन तस्य संज्ञेयत्वव्यवहारः, नच वक्ष्यमाणो व्यभिचारोऽत आह—यदा यस्येति । पूर्ववत् व्यभिचारादित्युक्तं व्याचष्टे—पूर्ववदिति । परोक्षज्ञानेति । ईश्वरज्ञानेचेति बोध्यम् । ज्ञेयजन्यत्वाभावादिति । लौकिकेन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वादित्यर्थः । मूले—व्यभिचारादित्यस्य वर्तमानेऽतीतघटादिपरोक्षादिज्ञानेऽतीतघटादेर्व्यभिचारादित्यर्थः । दूरेतीति प्रतीकोत्तरं बाह्यार्थप्रत्यक्षेऽपि व्यभिचारादिति पाठोऽपेक्षितः । ज्ञातृपदस्य ज्ञानोपलक्षितशुद्धात्मपरत्वे तत्र ज्ञानरूपव्याप्त्यस्यैवाभावाच्च व्यभिचारोत आह—ज्ञानवतीति । बाह्यार्थज्ञानवतीत्यर्थः । अर्थाभावात् बाह्यार्थाभावात् । एतेन सुखादिप्रत्यक्षे सुखादिव्यभिचाराभावेऽपि न क्षतिः, घटाद्यपरोक्षज्ञानकाले पटादिरूपार्थान्तरसत्त्वेऽपि न तेन तस्य संज्ञेयत्वव्यवहारोऽतो व्याचष्टे—पूर्ववदिति । इत्यादिबोध्यमिति । यदा यस्यार्थस्यापरोक्षज्ञानं, तदा सोऽर्थ इति बोध्यमित्यर्थः । उक्तव्याप्तिस्वीकारे प्रकृते का क्षतिरित्याशङ्क्य मोक्षकालीनस्य शुद्धात्मनः स्वाभाविकविषयसंबन्धस्वीकारापत्तिमाह—मूले आत्मा चेति । मोक्षकालीनः शुद्धात्मा चेत्यर्थः । अपरोक्षज्ञानरूपः सकलविषयकापरोक्षज्ञानरूपः । सोऽप्यर्थव्याप्त इति । तस्याप्यर्थव्याप्तिरावश्यकीत्यर्थः । तथाच चैत्रात्मनो मोक्षकालेऽतीतानागतविषयाणामभावाच्च व्यभिचारादुक्तव्याप्तिभङ्गः । वर्तमानविषयैः स्वाभाविकसंज्ञेयत्वापत्तेश्चेति भावः । स्वात्मकविषयेण संज्ञेयत्वापत्तिस्तु न; भेदनिबन्धनस्य तादात्म्यरूपविषयत्वस्यात्यन्ताभेदेऽसंभवात् । ईश्वरज्ञाने । इदं चापरोक्षम्, “स एतदैक्षत पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” इत्यादौ अपरोक्षार्थकधानुभिरेव तस्योद्वेखात् । परे नैयायिकाः । वक्ष्यत इति । योगजधर्मस्येन्द्रियसन्निकर्षत्वान्नजीकारादिति भावः । एवं सामान्यलक्षणया अन्यज्ञानेऽपि व्यभिचारात्तदभावो बोध्यः । अर्थसत्त्वानियमादिति । ज्ञानानुव्यवसायद्वितीयक्षणे ज्ञानस्य नाशादिति भावः । पूर्वत्वसमानाधिकरणेति । पूर्वत्ववदनुयोगिकेत्यर्थः । तादृशश्च कालिकसंबन्धः अनुव्यवसायस्य; तदुत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणे ज्ञानसत्त्वात् । व्यवसायस्यापि स इति नोक्तव्यभिचार इति भावः । योगीत्युक्तमिति । योगिज्ञाने लतीतानागतविषयव्यभिचारः स्फुट एव । चैतन्यस्येति । नित्यस्येति शेषः । तादृशेति । स्वोत्पत्तिघटितेत्यर्थः । न क्षतिकरीति । व्याप्यताघटकसंबन्धेन शुद्धात्मचैतन्यरूपव्याप्यत्वतीतानागतविषयरूपव्यापकभावे व्यभिचारेणोक्तव्याप्तिभङ्गापत्तिरूपा वर्तमानविषयस्य व्याप्यत्वरूपस्वाभाविकसंबन्धापत्त्या शुद्धत्वाहानिश्चेति क्षतिर्वाचा, सा च न; उक्तसंबन्धाप्रसिद्धा व्याप्यवत्ताया एवाप्रसिद्धेरिति भावः । तादृशव्याप्त्यनिर्वाहस्येति । संयोगेन व्याप्यादौ व्याप्यत्वापत्तिवारणाय व्याप्यताघटकसंबन्धेन व्याप्यवत्ताया व्याप्ये तत्संबन्धावच्छिन्नाधेयतायाश्च चित्रेणावश्यकृतयोक्त-

रात् । 'यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदार्थ' इति तु व्याप्तिः सर्वसंमता । नचात्मरूपे ज्ञाने ऐन्द्रियकत्वमस्तीति न तया विरोधः । ननु—'यदा अपरोक्षं ज्ञानं तदार्थ' इति व्याप्त्यनभ्युपगमे 'इदं रजत'मित्यपरोक्ष-ज्ञानान्यथानुपपत्त्या अनिर्वचनीयरजतसिद्धिर्न स्यात्, अर्थं विनाप्यपरोक्षत्वोपपत्तेः—इति चेन्न,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सिद्धान्तितं प्रति दोषत्वात् । ऐन्द्रियकं यस्यार्थस्येन्द्रियसंनिकर्षेण जन्यं ज्ञानमुक्तसंबन्धेन यदा, तदा सोऽर्थ इत्यर्थः । ननु यदेत्यादि । अपरोक्षज्ञानस्य वृत्तिरूपस्य द्रव्यगुणादिविषयेषु संयोगसंयुक्तसमवायादिसंबन्धेनावच्छेदकतासंबन्धेन वोत्पत्तिस्वीकारात् भवन्मते यदा स्वोत्पत्तिविशिष्टकालिकसंबन्धेन यदर्थस्यापरोक्षज्ञानं, तदा सोऽर्थ इति व्याप्तिर्वाच्या; अतएव भवन्मते 'इदं रजत'मित्यादिभ्रमस्थले अनिर्वाच्यरजतादेः शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्ये उत्पत्तिः स्वीक्रियते; तां विना संयोगादिसंबन्धेन अवच्छेदकतासंबन्धेन वा रजतादौ तदाकाराविद्यावृत्तेरूपत्वसंबन्धेन शुक्त्याद्यवच्छेदेन जायमानाविद्यावृत्तिरूपापरोक्षज्ञानस्य रजतादेः संयोगेनावच्छेदकतारूपेण वा संबन्धेनासंबन्धित्वात् भ्रमस्थले रजतादिसंबन्धपरोक्षज्ञानाप्रसिद्ध्या तस्य रजतादिव्याप्त्यत्वासंभवात्, नहि रजतादेरपरोक्षज्ञानेनान्यः संबन्धोऽस्ति; विषयतायाः विचैत्ययोरेव स्वीकारात्, आकाराख्यामुख्यविषयतायाः

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

संबन्धेन शुद्धात्मरूपे ज्ञानेऽतीतादिव्याप्त्यनिर्वाह इति भावः । वर्तमानविषयस्य तु तत्र तेन संबन्धेन व्याप्त्यनिर्वाहात् तेन संज्ञेयत्वस्य स्वाभाविकस्य नापत्तिः । परमते मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वस्य परोक्षेऽपि सत्त्वात् सन्निकर्षेणेत्युक्तम् । लौकिकसन्निकर्षेणेत्यर्थः । मूले—व्याप्त्यनभ्युपगम इति । ईश्वरज्ञानादौ व्यभिचारेणेत्यादिः । ननुक्तव्याप्त्यनभ्युपगमे 'इदं रजतम्' इत्यपरोक्षभ्रमकाले ब्रह्माण्डेऽन्यत्र कुत्रापि सतो रजतस्यान्यथाख्यातिस्वीकारेऽप्युक्तव्याप्तेरभङ्गेनानिर्वचनीयरजतसिद्धेरसंभवः, अनुव्यवसायद्वितीयक्षणे व्यवसायाभावेन व्यभिचारश्चेत्याशङ्क्य स्वोत्पत्तिविशिष्टकालिकसंबन्धेन स्वाधिकरणे उत्पत्तिं विना न संभवतीत्यतस्तामाह—अपरोक्षज्ञानस्येति । शुद्धचैतन्यरूपस्यापरोक्षज्ञानचिद्रूपस्य नित्यत्वादुत्पत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपस्य तस्य वृत्त्युपाधिकोत्पत्तिकत्वान्मुख्योत्पत्तिसंभवाय—वृत्तिरूपस्येत्युक्तम् । द्रव्यगुणादिविषयेष्विति । स्वमते ब्रह्मभिन्नानामेषां जन्यत्वात्तत्र वक्ष्यमाणकालिकसंबन्धसंभवः, विषयतासंबन्धस्य भावेऽपि परोक्षज्ञानसाधारण्यासंयोगादिसंबन्धोक्तिः । अनुगममाह—अवच्छेदकतासंबन्धेनेति । घटाद्यवच्छिन्नचैतन्ये उत्पद्यमानाया वृत्तेरवच्छेदकतासंबन्धेन घटादिवृत्तिसंभवः । वस्तुतस्तु—वृत्तिनिष्ठाया आद्यक्षणसंबन्धरूपोत्पत्तेर्वृत्तिप्रतियोगिकसंयोगादिसंबन्धावच्छिन्नत्वासंभवात्संयोगादिनेत्यस्य स्वाश्रयसंयोगादिरूपपरंपरासंबन्धेनेत्यर्थः । अवच्छेदकतासंबन्धेनेत्यस्यावच्छेद्यवृत्तेः संयोगादिसंबन्धेन संबद्धघटादीनां संयोगादिसंबन्धावच्छिन्नावच्छेदकतासंभवात्तत्संबन्धेनेत्यर्थः । स्वोत्पत्तिविशिष्टेति । उक्तसंबन्धेन स्वाश्रयानुयोगिकत्वसंबन्धेनेत्यादिः । एतदर्थमेव स्वीकारादित्यन्तोक्तिः । अनुव्यवसायद्वितीयक्षणोत्पन्नसुखादौ केवलकालिकसंबन्धेनोक्तसंबन्धेनानुव्यवसायोत्पत्त्युपलक्षितकालिकसंबन्धेन वाऽनुव्यवसायवति कालिकसंबन्धेन व्यवसायाभावेन व्यभिचार इत्युत्पत्तिविशिष्टेत्युक्तम् । यदर्थस्य घटाद्यर्थस्य । सोऽर्थः घटादिरूपोऽर्थः । यथा घटादिरूपोऽर्थ इति शेषः । घटाद्याकारा चक्षुरादिद्वारा बहिर्निस्सृतान्तःकरणवृत्तिर्हि घटादौ चक्षुरादिसन्निकर्षेण तदुत्तरक्षणे उत्पद्यमाना तदुत्तरक्षणरूपावान्तरकालावच्छिन्ने घटादिविषयरूपे काले संयोगसंबन्धकालिकसंबन्धाभ्यां संबध्यते; वृत्तेरुपादानतया स्वाभिन्नान्तःकरणसंयोगिन्युत्पत्तिक्षणेऽपि संयोगसंभवात्, ननु तदविषये घटादौ; इन्द्रियसन्निकर्षरूपकारणाभावात्, ततो नित्यस्यापि चिदात्मनोऽन्तःकरणावच्छिन्नस्योत्तरक्षणावच्छिन्नस्य वा जन्यत्वेन कालिकसंबन्धानुयोगित्वसंभवाच्च । अतएव यदा सुखाद्यपरोक्षं तदा सुखादीति व्याप्तिर्निर्वाहः । एवं च व्यवसायेऽनुव्यवसायस्य स्वोत्पत्तिक्षणावच्छेदेन स्वाश्रयसमवायिसमवायवदनुयोगिकत्वसंबन्धेन स्वोत्पत्तिविशिष्टकालिकसंबन्धेन सत्त्वादनुव्यवसायस्य च कालिकसंबन्धेन सत्त्वात् द्वितीयक्षणोत्पन्नसुखादौ चोभयोरप्युक्तसंबन्धेनासत्त्वान्न व्यभिचारः । अतद्व्याप्त्यनभ्युपगमेऽनिर्वचनीयरजतसिद्धिमाह—अतएवेति । ताम् अनिर्वचनीयरजतसिद्धिम् । रजतादौ देशान्तरस्थरजतादौ । तदाकारेति । रजताकारेत्यर्थः । अविद्यावृत्तेरिति । शुक्त्याद्यवच्छिन्नचिन्निष्ठायाः पुरोवृत्तीदमाकारवृत्तितादात्म्यापन्नतायाः शुक्तिप्रकारिकाविद्यावृत्तेरित्यर्थः । तत्संयोगस्य देशान्तरस्थरजतादावसंभवादिति भावः । एवंचोक्ताविद्यावृत्तेः कचिदपि संयोगासंभवात् तद्वद्विषयसंबन्धेनोक्तव्याप्तेरनिर्वाहः । तथापि पूर्वानुभूतप्रदेशान्तरस्थातीतरजतस्य तत्र भाने कालिकसंबन्धेन तत्र तस्याभावेन व्यभिचारात् । नचाविद्यावृत्तेरपरोक्षत्वासंभवः; दोषविशेषजन्यत्वेनेदमाकारवृत्तितादात्म्यापन्नत्वेन रजतं पश्यामीत्यनुभवेन च तत्सत्त्वादिति पर्यवसितम् । नन्विन्द्रियसन्निकर्षरूपकारणबलादुत्पद्यमानायास्तदाकारवृत्तेस्तत्र संयोगादिसंबन्धेनोत्पत्तिसंभवः । तदविद्यापरिणामरजतसमकालोत्पन्नतदाकारतदविद्यापरिणामवृत्तौ तत्पूर्वमविद्यमानरजते इन्द्रियस-

‘इदं रजतमहं जानामी’त्यनुसंधीयमानं यत् ज्ञानविषयत्वं तस्याश्रयान्तरानुपपत्त्या अनिर्वचनीयर-
जतसिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात् । अतएव परोक्षभ्रमेऽपि अनिर्वचनीयार्थसिद्धिः । जन्यापरोक्षत्वेन वा अर्थ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नव्यैरेव स्वीकाराच्च । रजतादेस्तादृशोत्पत्तौ स्वीकृतायां तु आकाराख्यविषयतासंबन्धेनाविद्यावृत्तिं प्रति
स्वपरिणामनिष्ठेन यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयतासंबन्धेनाविद्याया हेतुत्वात् तेन संबन्धेन रजतादौ तदुत्पत्तिपूर्वमविद्यायाः
सत्त्वादाकाराख्यविषयतासंबन्धेनाविद्यावृत्त्युत्पत्तिसंभव इति भावः । इत्यनुसंधीयमानम् इदमवच्छिन्नचित्तादात्म्य-
विशिष्टरजतनिष्ठतया ज्ञायमानम् । तथाच यादृशं रजतं भ्रमेण विषयीक्रियते, तादृशमेव तत् सिद्ध्यति; ज्ञानस्य
स्वविषयशूरत्वात्, व्यवहारकाल एव तद्वाधाव्यावहारिकत्वं परं तस्य न स्वीक्रियते, किंतु प्रातीतिकत्वम् । तादृशस्य
तस्य भ्रमेणासिद्धौ घटादेरपि रूपादिमतः सिद्धिर्न स्यात्, तदज्ञानस्यापि अद्वैतश्रुत्यादिना बाधात् । यद्वा—इत्यनु-
संधीयमानम् इदं चित्तादात्म्यरूपविषयतावच्छिन्नं यत् रजतचित्तादात्म्यरूपविषयत्वं तदाश्रयत्वेन ज्ञायमानम् ।
तथाच देशान्तरस्थस्य रजतादेर्भ्रमे भाने तदीयचित्तादात्म्यस्येदं चित्तादात्म्यावच्छिन्नत्वासंबन्धेन शुक्लाद्यवच्छिन्नचित्ति
रजताद्युत्पत्तिः स्वीक्रियत इति भावः । अपरोक्षज्ञानस्यार्थव्याप्तता नानिर्वाच्यरजताद्युत्पत्तिसाधिका; परोक्षभ्रमे
तदभावात्; अतोऽस्मदुक्तयुक्तिरेव भ्रममात्रे तत्साधिकेलाशयेनाह—अतएवेत्यादि । भवदुक्तयुक्तिजन्यापरोक्ष-
ज्ञानान्तर्भावेनैव व्याप्तिसाधिका, साच नास्मदनिष्ठा; वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपस्य जन्यत्वेनार्थव्याप्यताया उक्तरीत्या
मयापि स्वीकारात्, तावताप्यपरोक्षज्ञानत्वोपलक्षितस्य नोक्तव्याप्यतासिद्धिरित्याशयेनाह—जन्येति । ईश्वरज्ञानं
तु यत् अपरोक्षं विद्यमानमात्रविषयकं, तत् उक्तसंबन्धेनार्थव्याप्यमेव । यत्तु भाविविषयमनुमितिरूपमतीतविषयकं
वा स्मृतिरूपं च विवरणोक्तं, तस्यार्थव्याप्यत्वेऽपि नोक्तव्याप्तिहानिरिति भावः । ननु तथापि योगजधर्मजन्या-

लघुचन्द्रिकाया विट्टलेशोपाध्यायी ।

त्रिकर्षस्यासत्त्वेनान्तःकरणवृत्तिमात्रकरणत्वेन चाकारणत्वात् कारणान्तरस्याप्यभावात् तस्या एवासंभवात् कथं तद्रजते
तस्याः संयोगादिसंबन्धेनोत्पत्तिसंभवः ? द्रव्यगुणादिविषयेष्वित्युक्तेरित्यत आह—रजतादेरिति । यत्किञ्चिज्ज्ञानीयेति ।
ईश्वरज्ञानसाधारणेत्यर्थः । तस्य सकलविषयकत्वेन भाविरजतविषयकत्वात् । स्पष्टाचेयं रीतिः सामान्यलक्षणग्रन्थे गादा-
धर्याम् । अविद्यावृत्त्युत्पत्तिसंभव इति । तथाच तस्याः संयोगादिसंबन्धेन तद्रजतादावुत्पत्तिसंभवात् तद्वद्वितोक्त-
व्याप्तिनिर्वाहः । इन्द्रियसन्निकर्षस्यैव वृत्तिविषयताप्रयोजकस्याविद्यारूपकारणस्यैव वृत्तिसंयोगादावपि प्रयोजकत्वादिति
भावः । मूले—अपरोक्षज्ञानान्यथाऽनुपपत्त्या रजतापरोक्षज्ञानस्य तत्कालीनतद्देशीयरजतरूपव्यापकं विनाऽ-
संभवेन । अर्थं विनाऽपि तत्कालीनतद्देशीयरजतरूपार्थं विनापि । अपरोक्षत्वोपपत्त्येति । तत्कालीनरजत-
ज्ञानस्यापरोक्षत्वस्वीकारेऽपि उक्तव्याप्तेरनभ्युपगतत्वेन भङ्गापत्तेरभावेनेत्यर्थः । मूले—‘इदं रजतं जानामी’त्यत्र
इदंरजतयोः पृथग्ज्ञानेऽन्वये ‘इदंजानामी’ ‘रजतं च जानामी’त्यर्थं गुरुमतसिद्धानुभवस्मरणार्थकज्ञानद्वयरूपभ्रमानुसंधाने
पर्यवसानात् तद्विषये स्मरणरूपज्ञानविषयत्वस्य पूर्वानुभूतापणादिस्थिररजतेनोपपत्तिसंभवात्तदनुपपत्त्याऽनिर्वचनीयरजतसिद्धि-
रित्यसङ्गतम् अतस्तादात्म्यसंबन्धेनेदपदार्थपुरोवृत्तिविशिष्टरजतान्वितद्वितीयार्थविषयत्वस्य ज्ञानेऽन्वयो वाच्यः । एवमनुसंधानं
न स्मरणम्; ज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणिकत्वेन तत्संस्काराभावात्, किंलनुव्यवसायः, ज्ञानस्वप्रकाशलमते व्यवसायो
वेत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—इत्यनुसंधीयमानमिति । इदमवच्छिन्नेति । पुरोवृत्त्यवच्छिन्नेत्यर्थः । चिदिति ।
घटादिपदानां सिद्धान्ते घटाद्यवच्छिन्नचित्परत्वादिति भावः । तादात्म्यविशिष्टेति । तादात्म्येनोक्तचिद्विशिष्टेति
समुदायार्थः । रजतनिष्ठतया आधेयतासंबन्धेन रजतविशिष्टतया । ज्ञायमानम् अनुव्यवसायस्य स्वप्रकाश-
व्यवसायस्य बोक्तभ्रमसमानकालीनज्ञानस्य विषयः । मूले—ज्ञानविषयत्वम् इदंरजतमिति भ्रमविषयत्वम् । तस्य
पुरोवृत्तितादात्म्यापन्नरजतनिष्ठतया ज्ञायमानस्योक्तभ्रमविषयत्वस्य । आश्रयान्तरानुपपत्त्या कल्प्यपुरोवृत्तितादात्म्या-
पन्नानिर्वचनीयरजतान्यपूर्वानुभूतहृद्दिस्थिररजतस्याश्रयत्वासंबन्धेन । अनिर्वचनीयेति । पुरोवृत्तितादात्म्यापन्नत्वादिः ।
एवं मूलोक्तमनिर्वचनीयरजतसिद्धिं स्फुटयति—तथाचेति । यादृशं पुरोवृत्तिशुक्लितादाम्यापन्नम् । भ्रमेण इदंरजत-
मिति भ्रमेण । विषयीक्रियते इदं रजतं जानामीत्यनुभवबलादिति शेषः । उक्तभ्रमविषयताश्रयत्वेन भ्रमप्रत्यक्षेण
गृह्यत इति समुदायार्थः । तादृशं पुरोवृत्तिशुक्लितादाम्यापन्नमेव । ननु—अबाधितप्रमानुभव एव विषयसाधकः, ननु
बाधितो भ्रम इत्यत आह—ज्ञानस्येति ॥

एतावत्येवमातृका ॥

व्याप्यता आर्षज्ञानस्यापरोक्षत्वानभ्युपगमात् । तथाच नानिर्वचनीयरजतसिद्ध्यनुपपत्तिः । एवं सज्ञातृकत्वमपि किं ज्ञातृजन्यत्वं, ज्ञातृव्याप्यत्वं, ज्ञातृसमवेतत्वं वा । आद्ये ईश्वरज्ञाने व्यभिचारः ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च । द्वितीयेऽपि अप्रयोजकता । न तृतीयः; ज्ञानजन्यत्ववत् ज्ञान-समवेतत्वस्यापि संभवात्, ज्ञानस्य गुणत्वक्रियात्वयोरनभ्युपगमेन द्रव्याश्रयत्वानुमानायोगात्, कदाचित् ज्ञातृज्ञेयसंबन्धेनैव अनुभवस्य विवरणवाक्यस्य च उपपत्तेः । 'अस्ति ब्रह्मे'ति च लकारो न ब्रह्मसत्तां प्रति ब्रह्मणः कर्तृत्वमाह; नित्यत्वेन तदसंभवात्, किंतु साधुत्वार्थ इति दृष्टव्यम् । ननु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

परोक्षज्ञानस्यार्थव्याप्यत्वात् नोक्तव्याप्तिः, तत्राह—आर्षज्ञानस्येति । योगजधर्मजन्यज्ञानस्येत्यर्थः । अनभ्युपग-
मादिति । अनावृतसाक्षितादात्म्यविशिष्टविषयकत्वं ज्ञानस्यापरोक्षत्वम्; आर्षज्ञानस्यानावृतत्वसंपादकत्वेपि
तद्विषयेऽस्तीतानागते तत्काले साक्षितादात्म्याभावात्तदंशे तस्य नापरोक्षता, विद्यमानविषयांशे त्वपरोक्षं तत् ज्ञानं
तादृशार्थव्याप्यमेवेति भावः । सिद्ध्यनुपपत्तिः उक्तव्याप्या या सिद्धिः तदनुपपत्तिः । ज्ञातृव्याप्यत्वं यद्य-
ज्ज्ञानं तत्र समवेतत्वसंबन्धेन ज्ञातेऽस्तिव्याप्तिः । ईश्वरज्ञान इति । तस्य नित्यतावादिमतेनेदम् । वाचस्पतिमते
सिद्धान्तेऽपि मायावृत्तिरूपेश्वरज्ञानाभावात्तन्मतेनापीदम् । नच—तन्मतेऽपि विषयावच्छिन्नचिद्रूपेण ज्ञातृजन्यतेति—
वाच्यम्; अविद्याद्यनादिविषयस्य तदभावात् । ज्ञाननित्यत्वस्येति । ज्ञानत्वोपलक्षितस्य नित्यत्वस्येत्यर्थः । ज्ञानत्व-
विशिष्टस्य तु ज्ञातृजन्यत्वमिष्टमेव, विवरणमते ईशस्य मायावृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपज्ञानस्य तत्संभवात् । द्वितीयेऽपीत्या-
दिकं ज्ञानत्वोपलक्षिताभिप्रायकम् । ब्रह्मसत्तां ब्रह्मणः सत्ताम् । नित्यत्वेन ब्रह्मसत्ताया अनादित्वेन । साधुत्वार्थ
इति । यथा मणिकारादिमते चैत्रो जानातीत्यादौ ज्ञानकर्तृत्वादेरननुभवात्, ज्ञानाश्रयत्वादिलक्षणायां गौरवाच्च
अवच्छेदकतासंबन्धेन ज्ञानप्रकारकधीस्वीकारादाख्यातं न कर्तृत्वमाह, किंतु साधुत्वमात्रार्थम्; तथा प्रकृते ब्रह्म-
सत्ताया अनादित्वेन तत्कर्तृत्वबोधासंभवात् । घटोऽस्तीत्यादावपि क्रियात्वाभावेन कारकान्वयबोधासंभवादाश्रयत्व-
स्यैवाख्यातेन बोधाच्च ब्रह्मास्तिपदाभ्यामखण्डब्रह्मबोधस्वीकारेणाख्यातं साधुत्वमात्रार्थम्; कल्पितभेदेन ब्रह्मणः स्वात्म-
कसत्ताश्रयत्वसंभवेऽपि निर्धर्मितावच्छेदककशाब्दबुद्ध्यसंभवेनाश्रयत्वस्याप्याख्यातेनाबोधात् । ब्रह्मपदस्य उत्कृष्टार्थकत्वे
तु तत्राश्रयत्वप्रकारकधीरिष्टैव । ननु—यथा अभानापादकाज्ञानविरोधि चित् भानम्, अनानन्दापादकाज्ञानविरोधि
चित् आनन्दः; तथा असत्त्वापादकाज्ञानविरोधि चित् सत्ता । तथाच वैयाकरणमते धात्वर्थमुख्यविशेष्यकशाब्दधीस्वी-
कारात् सत्तामुख्यविशेष्यकब्रह्मकर्तृकत्वप्रकारकबोधः प्रकृते स्यात्, ब्रह्मनिष्ठोक्तसत्तायाश्च यद्यप्यनादित्वम्, चिदंशे
तादृशज्ञानस्वीकारात्; तथापि तस्याः क्षेमसाधारणसाध्यत्वस्याखण्डधर्मरूपप्रयुक्तत्वस्य वा संभवात्, तस्य च ब्रह्मरूप-
कर्तृनिरूपितत्वसंभवात्—इति चेन्न; क्रियात्वाभावेन कारकान्वयासंभवस्योक्तत्वात् । सिद्धकर्तृकत्वं हि यत्र नियमेन
संभवति, तत्रैव धात्वर्थस्य क्रियारूपत्वं वैयाकरणैः, धात्वर्थविशिष्टाख्यातार्थस्य मीमांसकैश्च स्वीक्रियते । तच्च
गच्छतीत्यादौ, नह्यसिद्धकर्तारमादाय तत्प्रयोगः संभवति । भवतीत्यादौ तु न सिद्धकर्तृकत्वनियमः; नहि भवति
'आकाशं भवती'ति । अस्यादौ च न तन्नियमः; आकाशमस्तीतिवदुत्पद्यमानमस्तीत्यादिप्रयोगात् । तदुक्तं
भट्टवार्तिके—'सिद्धकर्तृक्रियायोगादाख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते' इति । सिद्धकर्तृ-
योगस्यावश्यकत्वे हेतुः—सामानाधिकरण्येनेति । सिद्धकर्तृनिष्ठस्यैव कर्तृत्वस्य भावनायां सामानाधिकरण्यसंभवेने-
त्यर्थः । स्वयमसिद्धस्य कर्तृत्वासंभवात् अस्तीत्यादौ भावनाप्रत्ययाभावः सर्वेषामपि तुल्य इति असिद्धनिष्ठस्य
कर्तृत्वस्य भावनायां सामानाधिकरण्यासंभवेन क्रियाया अप्रत्यये सर्वेषां मते कर्तृकारकाप्रत्ययोऽपि तुल्य इत्यर्थः ।
नच—'भूतले घटोऽस्ती'त्यादौ भावनां विनाऽपि आधारकारकस्यैव कर्तुः प्रत्ययोऽस्तीति—वाच्यम्; क्रियाया एव
कारकान्वयित्वेन तदभावे सप्तम्याः संबन्धमात्रवाचकत्वात् । अथ—घटो भवतीत्यादौ घटं भावयतीत्यर्थं भवनेना-
लक्षणाया बोधनादंशत्रयविशिष्टभावनाधीः, तथाच भावनाप्रत्ययेनाध्याहृतचैत्रादिपदात् कर्तृप्रत्ययसंभवः । उक्तश्चा-
यमपि पक्षः भट्टवार्तिके—'अस्यादावपि कर्तृशे भाव्येऽस्यैव हि भावने'ति इति चेत्, आस्तामेवम्, सत्ता-
रूपक्रियायाः कर्तृत्वानन्वये प्रकृतार्थे हानिस्तु नैवास्तीति सिद्ध उक्तसत्ता ब्रह्मश्रितेति बोधः । किंच प्राचीनसिद्धान्ते
नोक्तरूपा सत्ता किंतु शुद्धचिदेव । यथाहि एकस्य एव चितः कल्पितभेदेनांशत्रयं, सत्ता स्फुरणं आनन्दश्च, तदुक्तं
वृद्धैः—'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥' इति । तत्र
सत्तांशस्य व्यवहारे असत्त्वापादकाज्ञानं प्रतिबन्धकम्, स्फुरणांशस्याभानापादकमज्ञानम्, आनन्दांशस्यानानन्दा-

—प्रमाभ्रमभिन्नं न ज्ञानम्, नचात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रमा; तद्विषयस्याविद्यादेस्तात्त्विकत्वापातात्, नच अप्रमा; दोषजन्यत्वापातात्—इति चेन्न; तार्किकसिद्धेश्वरज्ञानवत् घटादिनिर्विकल्पकवच्च स्वभावत उभयवैलक्षण्येनाप्युपपत्तेः, तत्रापि ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य भ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः, निष्प्रकारके च निर्विकल्पके तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्य चानुपपत्तेः, जन्यसविकल्पकत्वेन भ्रमप्रमान्यतरत्वनियमे चास्माकं क्षत्यभावात्, विलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेण च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पादकाज्ञानम्, सत्तांश एव ज्ञानांशः, तस्य त्रितयस्याखण्डस्यैव अस्तिस्फुरत्यानन्दतिवाच्यत्वेन घटोऽस्तीत्यादौ शुद्ध-
चित्प्रकारको बोधः । घटं जानामीत्यादौ च ज्ञाने घटादेर्नावन्तरबोधः; निर्धर्मितावच्छेदकबोधासंभवात्, किंतु
'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तर'मितिन्यायेन घटज्ञानप्रकारकधीः । घटस्य ज्ञानमित्यादौ तु ज्ञानपदं पञ्चा
ज्ञानीयविषयितालक्षकत्वे तात्पर्यग्राहकम्, नतु ज्ञानांशबोधकम्; निर्धर्मितावच्छेदकबोधासंभवात् । एवंच ब्रह्मा-
स्तीत्यादौ ब्रह्मणि सत्ताश्रयत्वबोधे निर्धर्मितावच्छेदकबोधापत्त्या, वैयाकरणरीत्या सत्तायां ब्रह्माश्रयकत्वबोधेऽपि
तदापत्त्या, सत्तायां ब्रह्मकर्तृकत्वबोधे बाधस्याप्यापत्त्या, 'सत्यं ज्ञान'मित्यादिवाक्यवदखण्डार्थकत्वादेको द्वावित्यादौ
सर्वमतेष्विव प्रत्ययः साधुत्वार्थ इति भावः । प्रमा त्रिकालाबाध्यविषयकत्वघटितप्रमात्वाश्रयः । दोषेति । सिद्धान्ते
प्रमात्वस्य स्वतस्वस्वीकारेण गुणजन्यतावच्छेदकत्वेन प्रमाया गुणजन्यत्वं नापादितम्, भ्रमस्य तु दोषजन्यत्वं
सिद्धान्ते स्वीक्रियते । ज्ञानसामान्यसामग्र्यां प्रमात्वविशिष्टमेव स्वकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नं जन्यत इत्युत्सर्गः,
दोषसहकृतया तु तया भ्रमत्वविशिष्टमित्यपवाद इति हि सिद्धान्तः । स्वभावतः वृत्त्यनुपरकत्वस्वभावेन ।
उभयवैलक्षण्येनेति । प्रमात्वभ्रमत्वशून्यत्वेनेत्यर्थः । वैलक्षण्येनापीत्यपिशब्देनेदं सूचितम् । घटाद्याकारवृत्ताविव
घटाद्यवच्छिन्नचित्ति व्यावहारिकप्रमात्वं संभवति, गुणजन्यता तु सिद्धान्ते नास्त्येव, तेनाविद्याद्यवच्छिन्नचिद्रूपेण
चित्तोऽनादित्वेऽपि न क्षतिः । वस्तुतस्त्वविद्यादेरज्ञातत्वाभावेनैव तदवच्छिन्ना चित् न प्रमा । ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरं
तत्र भ्रमत्वसिद्धावपि न क्षतिः; अविद्याकामकर्मरूपदोषजन्यत्वस्य क्षेमसाधारणस्य संभवात् । शुक्तिरूप्याद्यवच्छिन्न-
चिद्रूपेण तु चिदागन्तुकदोषजन्येति । ननु—तार्किकमते ईशज्ञानं प्रमेव, यदि हि प्रमात्वं सर्वप्रमासाधारणं
गुणजन्यतावच्छेदकं तार्किकमते स्यात्, तदा तस्य नित्यसाधारणतावारणाय जन्यत्वघटितत्वमुच्येत; तत्तु न संभवति;
प्रमामात्रे गुणस्यानुगतस्य कारणत्वासंभवात्, उक्तंच मणौ—'प्रमामात्रे नानुगतो गुणः, किंतु तत्तत्प्रमायां भूयो-
ऽवयवेन्द्रियसंनिकर्षयथार्थलिङ्गसादृश्यवाक्यार्थज्ञानानां यथायथं गुणत्वमिति' तत्राह—तत्रापीति । तार्किकमते-
ऽपीत्यर्थः । यथा मन्मते आत्मरूपज्ञानस्य प्रमात्वादिस्वीकारे दूषणमुक्तं, तथा तन्मते ईशज्ञानस्य तत्स्वीकारे गुणज-
न्यत्वाद्यापत्तिरित्यर्थः । यद्यपीह प्रत्यक्षानुमित्यादिसाधारणं घटप्रमात्वं नानुगतगुणजन्यतावच्छेदकम्; तथापि घटीय-
प्रत्यक्षप्रमात्वं भूयोऽवयवेन्द्रियसंनिकर्षजन्यतावच्छेदकं वाच्यमेव । तस्य च नित्येश्वरधीसाधारणस्य जन्यतावच्छेदक-
त्वासंभवेन जन्यत्वघटितत्वमावश्यकम् । अतएव—तद्वति तत्प्रकारकज्ञानस्वरूपं प्रमालक्षणमुक्त्वा 'तत्प्रकारकत्वं
तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वं, तज्ज्ञानजन्यत्वं वा; ईश्वरस्य तद्वैशिष्ट्याविषयकं ज्ञानमतत्प्रकारकं निर्विकल्पकं च प्रमाऽप्रमाबहि-
र्भूतम्, व्यवहारानङ्गत्वात्—इत्युक्तं मणौ । व्यवहारानङ्गत्वात् गुणजन्यतावच्छेदकप्रमात्वविशिष्टतया विप्रति-
पत्तिर्व्यवहारः तद्विषयत्वादीश्वरज्ञानं निर्विकल्पकं च प्रमाऽप्रमाबहिर्भूतमित्यर्थः । किंच 'प्रमामात्रे नानुगतो गुण'
इत्यादिमणिवाक्यं प्रत्यक्षानुमित्यादिसाधारणघटादिप्रमात्वं न गुणजन्यतावच्छेदकमित्येतत्परम् । दीधितौ हि तत्
तथैव व्याख्यातम्—प्रत्यक्षादिप्रमासु गुणविशेषाणां हेतुत्वे सिद्धे घटप्रमात्वघटितधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-
कारणतावत्त्वेन घटप्रमात्वावच्छिन्नं प्रति कारणता संभवति, नतु भूयोघटावयवेन्द्रियसंनिकर्षत्वादिरूपेण; अननु-
गमात्, इत्यभिप्रायकं प्रमामात्रे इत्यादि वाक्यम्, वस्तुतो घटप्रमासामान्ये घटप्रकारकमीश्वरज्ञानं हेतुः, घटा-
भावभ्रमसामान्ये दोषोऽपि, तदेव विशेषणसंसृष्टासंसृष्टविशेष्यज्ञाने वा, गुणदोषौ । लौकिकसंनिकर्षवत् सामान्य-
लक्षणापि निर्विकल्पकहेतुः, अप्रसिद्धसाध्यकानुमितिस्वीकारे तु विशेष्यसंसृष्टासंसृष्टविशेषणज्ञाने गुणदोषौ इत्यादि ।
उत्पत्तिवादे मिश्रैरप्युक्तम्—'कार्यं प्रमासामान्ये ईश्वरीयज्ञानं गुण'—इति । यत्तु—समीचीनो ह्यनुभवः प्रमा ननु
तत्रानित्यत्वं विशेषणम्; व्यर्थत्वात्; तत्करणं प्रमाणम् । नच—एवमाप्तप्रामाण्यादिति गौतमसूत्रविरोधः; तेन हि आस-
त्त्वस्यैव प्रमाया अयोगव्यवच्छेदेन प्रमाणत्वस्यापि संभवात्—इति कुसुमाञ्जलायुक्तम्, तत् गुणजन्यतावच्छे-
दकत्वरूपपरतत्त्वायोग्यं चतुर्विधत्वेन विभज्यमाने प्रमाणे घटकं यत् प्रमात्वं तदभिप्रायकम्, तत्रैवानित्यत्वप्रवेश-

स्वभावतो भ्रमप्रमाविलक्षणस्याप्यात्मज्ञानस्य तदुभयरूपेण व्यवहारोपपत्तेः । नच—ज्ञानपदवाच्य-
भिन्नत्वविवक्षायां उपाधेरपि ज्ञानपदवाच्यत्वात्तत्रासिद्धिः, ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वविवक्षायां तु घटादे-
रपि ज्ञानपदलक्ष्यत्वात्तत्राप्यसिद्धिरिति—वाच्यम्; ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वविवक्षायामुक्त-
दोषाभावात् । एवमानन्दभिन्नत्वरूपमनात्मत्वमुपपाद्यम् । वैषयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपत्वात्, तदु-
पाधिमात्रस्यैवोत्पत्तिविनाशप्रतियोगित्वात् । नच—ज्ञानभिन्नत्वस्यानन्दभिन्नत्वस्य च काल्पनिकस्य
ब्रह्मणि सत्त्वात् तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्; धर्मिसमानसत्ताकतद्भेदस्य हेतुत्वात् । अनौपाधि-
कत्वेन वा भेदो विशेषणीयः, तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च व्यभिचारपरिहारः पूर्ववत् । एवम्
अस्वप्रकाशत्वं वा जडत्वम्, तच्च पूर्वमेवोपपादितमिति शिवम् ॥

॥ इति अद्वैतसिद्धौ जडत्वहेतूपपत्तिः ॥

वैयर्थ्यस्य सङ्गतत्वात् । यदपि—निर्विकल्पकमपि प्रमा, विशेष्यवृत्त्याप्रकारकरूपं निर्विकल्पकेऽप्यस्तीति कथं तत् प्रमा-
वहिर्भूतं ? इति, तन्न; विशेष्यावृत्तीत्यादेः स्वतोब्राह्मत्वविप्रतिपत्तिरूपव्यवहारानङ्गत्वेन तद्विशिष्टस्यापि निर्विकल्पकस्य
तादृशव्यवहाराङ्गतद्वितीयादिप्रमात्वप्रत्याख्याने बाधकाभावात्, तदिदमुक्तम्—निष्प्रकारे चेत्यादि । विलक्षणे-
त्यादि । स्वभावतः वृत्त्यनुपपत्तचिद्रूपेण । प्रमाभ्रमविलक्षणस्यापि वृत्तिद्वयोपरागेण प्रमाभ्रमरूपविलक्षणवृत्त्युपपत्त-
रूपेण तदुभयरूपेण प्रमात्वभ्रमत्वोभयरूपेण, व्यवहारोपपत्तेरित्यर्थः । ज्ञानपदवाच्येति । ज्ञाधातुवाच्येत्यर्थः ।
ज्ञानपदस्य ज्ञानावाचकत्वात् । ज्ञानपदजन्येत्यादि । तादृशविशेष्यमात्रवृत्तिना तत्तद्दीविषयत्वेनावच्छिन्नप्रति-
योगिताको भेदो विवक्षित इत्यर्थः । तेनोक्तविशेष्यत्वस्य तत्तद्दीविषयत्वापेक्षया गुरुत्वेऽपि नाप्रसिद्धिः । नचोक्त-
विशेष्यत्वस्य घटादिसमूहालम्बनीयस्य घटादिसाधारण्येऽप्यसिद्धिः; लक्षणया ज्ञानपदजन्यायाः ब्रह्ममात्रधियो
निवेशात् । ननु—ब्रह्मणो वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपानन्दपदार्थभिन्नत्वात्तत्र व्यभिचारस्तत्राह—वैषयिकानन्दस्येति ।
विषयसेवाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपानन्दत्वोपलक्षितस्येत्यर्थः । तथाच तद्भेद एव हेतुः, अतो न ब्रह्मणि व्यभिचार
इति भावः । ज्ञानभिन्नत्वस्य 'ज्ञानं ब्रह्मे' तिवाक्यजन्यतद्दीविषयान्यत्वस्य । आनन्दभिन्नत्वस्य 'आनन्दो
ब्रह्मे'त्यादिवाक्यजन्यतद्दीविषयान्यत्वस्य । ब्रह्मणीति । 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं'मित्यादिवाक्यजधीसिद्धो भेदो
ब्रह्मण्यपीति भावः । धर्मीति । यत्र भेदः स्थापनीयः स धर्मी, ब्रह्मसमसत्ताकभेदाप्रसिद्धेः ब्रह्मणि भेदः स्थापयि-
तुमशक्यः, स्वसमसत्ताकभेदवत्त्वस्य हेतुत्वादिति पर्यवसितार्थः । ननु—भेदस्याद्यापि मिथ्यात्वानिश्चयात् । ब्रह्मसम-
सत्ताकभेदो ब्रह्मण्यपि निश्चेतुं शक्य—इति चेन्न; प्रपञ्चे मिथ्यात्वसन्देहेन भेदे ब्रह्मसमसत्ताकत्वानिश्चयात् । लाघवा-
दाह—अनौपाधिकत्वेनेति । अमेदज्ञाने सत्यपीच्छादिरूपोपाधिना प्रतीयमानत्वादानन्दं ब्रह्मणो रूपमित्यादि-
भेदः, औपाधिकः, अयं घटो न घट इत्यादिभेदवदाहार्यमनोवृत्तिविषयत्वात् । तथाच तादृशभेदान्यभेदो हेतौ
निवेश्यत इति भावः । वस्तुतस्तु—उपाधिं प्रतियोगिनमर्हतीत्यौपाधिकः स्वप्रतियोगिवृत्तिः, तदन्योऽनौपाधिकः,
ब्रह्मवृत्तिरिति यावत्; तेनौपाधिकत्वस्यानुगतस्य दुर्वचत्वेऽपि न क्षतिः । नवा ज्ञानानन्दसत्तांशानामनौपाधिक-
कल्पितभेदसत्त्वेऽपि क्षतिः ॥

॥ इति लघुचन्द्रिकायां जडत्वहेतूपपत्तिः ॥

जडत्वनिरुक्तिः ।

तदयं संग्रहः ॥

(१) न्यायामृतकाराः—

जडत्वमप्यज्ञातृत्वमज्ञानत्वमनात्मत्वमस्वप्रकाशत्वं पराभिमतं वा । नाद्यः; कल्पितस्य धर्मिसमसत्ताकस्य वा ज्ञातृ-
त्वस्य देहादौ अन्तःकरणादौ च सत्त्वेन भागासिद्धेः, विषमसत्ताकज्ञातृत्ववति शुद्धे व्यभिचाराच्च । न द्वितीयः;
युष्मन्मते परोक्षवृत्तौ चित्प्रतिफलननियमाभावेन धर्मादिकं जानामीत्यनुभवोपपत्त्यर्थं वृत्तेरेव ज्ञानपदार्थत्वस्याभ्युप-
गमनीयतया तत्र भागासिद्धेः, स्वस्यैव स्वविषयकत्वे कर्तृकर्मविरोधात् मोक्षदशायां परस्य कस्याप्यभावेनान्याविषयक-

त्वात् निर्विषयकत्वे ज्ञानत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानमिदं चात्मनि व्यभिचाराच्च । सप्रतियोगिकेऽभावे सप्रतियोगित्ववज्ञानेच्छ-
योरपि सविषयकत्वस्य स्वाभाव्येनाविद्यमानविषयकत्वस्य वाऽत्यन्तासद्विषयकत्वस्य वा निर्विषयकत्वस्याभावेन विषयानु-
ल्लिखितत्वस्यैव तत्त्वात् । अतएव आनन्दपुमर्थत्वमपि सिद्धं भवति । नह्यप्रकाशमान आनन्दः पुमर्थ इति भवति; द्रविण-
वत्त्वेनैव पारिवार्ज्यानन्दवत्त्वेनैव मुक्तव्यवहारस्यावश्यकत्वात् । अस्तु वा कथंचिन्निर्विषयकत्वेऽपि ज्ञानत्वम्, एवमप्या-
त्मज्ञानत्ववादो न युक्तः, क्रियायाः कर्त्रपेक्षानियमेन कर्तृकर्मविरोधेनात्मनो मोक्षे पराभावेन परस्य वा ज्ञातुरभावेन
तत्त्वानुपपत्तेः, अनादेः प्रागभावादेः प्रतियोगिनि जातेर्व्यक्तौ जीवब्रह्मविभागस्य धर्मिप्रतियोगिनोः अज्ञानस्याश्रयविष-
ययोः ब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्यनपेक्षापत्तेरनादित्वस्येतरानपेक्षत्वेऽतन्त्रत्वात्, अन्यथा ब्रह्मास्तीत्यादौ कर्तरि लकारानुपपत्तेः ।
अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य वोत्पत्त्यर्थं विषयान्नपेक्षत्वेऽपि तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वस्वाभाव्याच्च । तथाच—
'ज्ञातृज्ञेयविहीनं ते ब्रह्म ज्ञानात्मकं यदि । भोक्तृभोज्यविहीनापि भवेत्तर्हि भुजिक्रिया ॥' इति आत्मज्ञानत्ववादो न युक्तः ।
नहि भ्रमप्रमाविहीनं ज्ञानमिति भवति; आत्मा च तद्विषयाविद्यादितात्त्विकत्वापत्त्या न प्रमारूपः, दोषजन्यत्वापत्त्या
नापि भ्रमरूप इति न ज्ञानरूप इति मन्तव्यम् । **नापि तृतीयः**; विशिष्टात्मनां भेदेऽपि तत्रात्ममिद्वत्त्वाभावेनासिद्ध्या
शुद्धे व्यभिचारेण च आत्मत्वस्य ज्ञातृत्वज्ञानत्वस्वरूपप्रकाशरूपत्वे दोषस्य पूर्वमेवोक्तत्वेन आनन्दरूपत्वे जन्मादितो वैषयि-
कानन्दस्यात्मरूपत्वाभावेन पक्षकुक्षिनिक्षिप्ततया तत्रासिद्ध्या अहंत्वरूपत्वे अहमर्थेऽसिद्ध्या आत्मनि व्यभिचारेण च
अवाध्यत्वरूपत्वे साध्यावैशिष्ट्यप्रसङ्गेन आत्मशब्दवाच्यत्वे शुद्धे व्यभिचारेण तल्लक्ष्यत्वरूपत्वे घटादावसिद्ध्या च तस्य
हेतुत्वाभावात् । **नापि पञ्चमः**; मयाऽज्ञातृत्वं जडत्वमित्यङ्गीकारात्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) तत्रेत्यं सिद्धिकाराः—

अज्ञानत्वस्यानात्मत्वस्यास्वप्रकाशत्वस्य वा जडत्वस्य विवक्षणे न कस्यापि दोषस्य प्रसङ्गः । परोक्षवृत्तावपि चित्प्रति-
फलनस्यान्तःकरणाश्रितासत्त्वापादकाज्ञानावरणाभिभवार्थत्वेनाङ्गीकार्यत्वेन जडभूताया वृत्तेः ज्ञानरूपत्वाभावेन आत्मन
एव श्रुत्यनुसारेण ज्ञानरूपत्वस्याङ्गीकरणीयतया भागासिद्धिव्यभिचारयोरप्रसङ्गात्, शुक्तौ रूप्यस्यैव ज्ञाने विषयसंबन्ध-
स्याध्यासिकत्वेन तदीयस्यैव सविषयकत्वस्येच्छायामपि सत्त्वेन सप्रतियोगिकेऽभाव इव ज्ञानेच्छयोः सविषयकत्वस्वा-
भाव्याभाव्येनार्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन च मोक्षदशायामपि तदनपायात् । **एतेन**—आनन्दापुमर्थतावादोऽपि—
पराहतः; आनन्दस्यैव तदा प्रकाशरूपत्वेन पुमर्थत्वोपपत्तेः । जातेः कदाचिद्व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तदनिरूप्यत्व-
वत्, ज्ञानस्य कदाचित्कर्तृसापेक्षत्वेऽपि कदाचित्तन्निरपेक्षतायाः संभवेन मोक्षदशायां ज्ञात्रभावेऽपि ज्ञानत्वोपपत्तेः ।
एतेन—ब्रह्मास्तीत्यादौ कर्तृलकारोऽपि—**व्याख्यातः**; तस्य साधुत्वमात्रार्थत्वात् । नहि नित्या ब्रह्मसत्ता कर्तृसापेक्षा
भवति, नहि ज्ञानस्य सज्ञेयत्वं सज्ञातृत्वं च स्वाभाविकम्; ज्ञेयजन्यत्वरूपस्य परोक्षैश्वरज्ञानयोरभावेन, यदा यत्र परोक्षज्ञानं
तदा तत्र ज्ञेयमिति व्याप्तावपि पूर्ववद्व्यभिचारेण, यदाऽपरोक्षज्ञानमिति व्याप्तिविवक्षायामपि योगीश्वरज्ञानयोर्व्यभिचारेण
च ज्ञेयजन्यत्वरूपस्य ज्ञेयव्याप्यत्वरूपस्य वा सज्ञेयत्वस्य ज्ञानेऽभावात् । जन्यापरोक्षत्वादिनार्थव्याप्तत्वविवक्षायां तु नास्माकं
क्षतिः; आत्मरूपज्ञानस्याजन्यत्वात् । **एतेन**—सज्ञातृकत्वस्वाभाव्यमपि—**पराहतम्**; तस्यापि ज्ञानत्वविशिष्टविषयकत्वे-
नात्मरूपज्ञानविषयत्वात् । एवं च श्रुतिसिद्धात्मज्ञानत्ववाद एव समीचीन इति नात्मनि व्यभिचारः । गुणदोषजन्यत्वापत्त्या
ईश्वरज्ञानस्यैव तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य तदभाववति तत्प्रकारत्वस्य वाऽनुपपत्तेर्निर्विकल्पकज्ञानस्यैव च स्वभावतो
भ्रमप्रमाविलक्षणस्वरूपत्वेऽपि ज्ञानत्वोपपत्तिसंभवात् । एवं च ज्ञानपदेन तच्छब्दस्य विवक्षणे वृत्तावसिद्धावपि तत्पद-
जन्यप्रतीतिविशेषस्य विवक्षायां न कोऽपि दोषः । विशेष्यत्वेन तस्यापि मिथ्यात्वेऽपि तत्तादात्म्यापन्नं शुद्धस्वरूपमेवात्र
विवक्षितमिति न विरोधः । **एतेन**—अनात्मत्वमपि जडत्वं हेतुरिति—**सूचितम्**; उत्पत्तिविनाशप्रत्ययस्य तारतम्याद्य-
नुभवस्य चोपाधिविषयत्वेन वैषयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपतया ब्रह्मणि व्यभिचाराभावात्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

घटादिविषयकाज्ञाननिवृत्त्यर्थमिव शुद्धात्मगोचराज्ञाननिवृत्त्यर्थमपि चित्प्रतिफलनस्यावश्यकतया तत्र विषयतया
भासमानस्यात्मनोऽपि प्रातिभासिकत्वापत्त्या ज्ञानविषयसंबन्धातात्त्विकत्ववादो न युक्तः । अतएव हि परोक्षवृत्तेरतीन्द्रियार्थ-
विषयकलोपपत्तिः, अन्यथा अतीतानां तत्राध्यासाभावेन तादृशवृत्तेर्ज्ञानत्वानुपपत्तेः । एवं च ज्ञानेच्छयोः सविषयकत्वस्य
स्वाभाव्यात् पूर्वोक्तीत्या स्वस्वेतराविषयकस्यात्मनो ज्ञानत्वानुपपत्तेरात्मनि व्यभिचारतादवस्थम् । अतएव ब्रह्मानन्द-
पुमर्थताप्युपपद्यते; प्रकाशमानानन्दवत्ताया एव पुरुषार्थत्वात्, सुखरूपताया अपुरुषार्थत्वात्, व्यक्तिं विनापि जातेः प्रलये
सत्त्वेऽपि व्यक्त्युपरक्तबुद्धिविषयत्वं तदाप्यक्षतमेव; ईश्वरादिज्ञानस्यैव तदा तादृशत्वात् । सज्ञातृत्वसज्ञेयत्वे अपि न ज्ञातृज्ञे-
यजन्यत्वरूपे तद्व्याप्यत्वरूपे वा, किंतु तदुपरक्तबुद्धिविषयत्वमिति न कोऽपि दोषः । इदमहं जानामीति त्रिपुट्या एव भानात् ।
ब्रह्मास्तीत्यादौ कर्त्रर्थलकारसार्थक्यमपीदानीमेव सिद्धं भवति, योगक्षेमसाधारणजन्यत्वस्यैव कर्तृत्वरूपस्य स्वातन्त्र्यस्या-
अ. सि. ४०

संभवेनार्थसाधुत्वासंभवे शब्दसाधुत्वस्यानादरणीयत्वात् । एवंचात्मज्ञानतावाद् न युक्तः; भ्रमप्रमोभयविलक्षणस्य ज्ञान-
त्वानुपपत्तेः । प्रमामात्रे नानुगतो गुण इति मणिवचनेन प्रमात्वस्य गुणजन्यतानवच्छेदकत्वेन तत्तत्प्रमात्वस्यैव तत्र
तन्त्रत्वेनेश्वरज्ञानमपि प्रमारूपमेव । अतएव प्रमाश्रयत्वेनेश्वरः प्रत्यक्षप्रमाणमित्युदयनाचार्यवचनम्, ईश्वरप्रमाया
अनुगतत्वात्तादृशप्रमाविषयत्वरूपं प्रमेयत्वमिति मणिकारोक्तिश्च संगच्छते । तद्वति तत्प्रकारज्ञानत्वादिकं तु पारिभाषिकप्रमा-
त्वरूपमेवेति विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वरूपप्रमात्वं निर्विकल्पकस्याप्यङ्गीक्रियत एव । एवंच तार्किकसिद्धेश्वरज्ञानवन्निर्विकल्पक-
वचोभयवैलक्ष्ण्येऽपि ज्ञानत्वमिति शङ्का पराहता । एतेन—अनात्मत्वमपि न हेतुरिति—सूचितम्; आत्मत्वस्यानन्द-
रूपत्वे काल्पनिकानन्दभेदस्य ब्रह्मण्यपि विद्यमानत्वेन ब्रह्मणि व्यभिचारात् । औपाधिकत्वस्य दुर्वचतयाऽनौपाधिकभेद-
विवक्षणेऽप्यनिस्तारात् । सर्वपक्षेऽपि पञ्चमप्रकारविद्यावृत्तौ व्यभिचारः । यथाऽज्ञानकालवृत्तित्वविशेषणेनापि न
दोषवारणं तथोपपादितं दृश्यत्वनिष्काविल्यलमतिप्रसङ्गेनेति न्यायामृतकारीयसिद्धान्तः सर्वोऽपि सुमनोहर एवेति मन्त-
व्यमिति—परिहरन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

वाचस्पतिमते उपहितस्यैव ज्ञानविषयत्वेन तदतात्त्विकत्वेपि न विरोधः । विवरणमते तु परोक्षापरोक्षसाधारण-
ज्ञानस्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वस्यैवाङ्गीकारेऽपि ब्रह्म जानातीत्यादिस्थलमात्रे केवलवृत्त्यैवाज्ञाननाशे ब्रह्मणः स्फुरणरूपस्य
प्रकाशसंभवेन तत्र चित्प्रतिफलनानावश्यकताया अभ्युपगमाच्चैतन्यतादात्म्यस्य ब्रह्मण्यनङ्गीकारेण तदतात्त्विकताना-
पत्त्या ज्ञानविषययोः संबन्धस्यातात्त्विकत्वस्यैव युक्तत्वादित्येवामपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावादर्थोपलक्षित-
प्रकाशत्वरूपज्ञानत्वस्य ज्ञानपदेन विवक्षणात्तस्य चात्मरूपत्वादात्मनि न व्यभिचारः । अर्थपदेन च वृत्तेरिव धर्मादीनामपि
विवक्षणात्तदवच्छिन्नचैतन्ये इतरेषामध्यासाच्च काप्यनुपपत्तिः । पूर्णानन्दावरणविरोधित्वविशिष्टत्वेनैवानन्दपुरुषार्थत्वस्य
विवक्षितत्वात्तदुद्देशेन श्रवणादौ प्रवृत्तिसंभवः । शुद्धजातेः कदाचिद्यक्तिसंसृष्टत्वेनैव भासमानत्वेऽपि गोत्वादीनामन्वादा
संसर्गारोपकाले गोत्वादौ गवादिव्यक्तिनिरूप्यत्वाभाववत् ज्ञानत्वोपलक्षितस्य ज्ञानत्वांशे निर्विकल्पकस्य विषयाद्यंशे सवि-
कल्पकस्य च ज्ञानत्वोपलक्षितविशेष्यकप्रत्यक्षस्योत्पत्तिकाले विषयादिनिरूप्यत्वेऽपि ज्ञानत्वोपलक्षितस्वरूपविषयकनिर्वि-
कल्पज्ञानकाले तदनिरूप्यत्वोपपत्तिः । तथाच भ्रमभिन्नजातिप्रत्यक्षत्वस्य व्यक्तिनिरूप्यत्ववत् ज्ञानत्वविशिष्टप्रत्यक्षत्वस्य
विषयादिनिरूप्यत्वं नतु ज्ञानत्वोपलक्षितप्रकाशत्वस्येति जातेर्व्यक्तिनिरूप्यत्ववत् ज्ञानस्याप्यर्थनिरूप्यत्वस्वाभाव्यवर्णनमप्य-
संगतमेव । एवंच कदाचिदिदमहं जानामीति विशिष्टानुभवस्यैव विद्यमानत्वेऽपि सुषुप्त्यसंप्रज्ञातसमाधिदशयोः त्रिपुटीभानं
विना स्वरूपमात्रप्रकाशस्यापि विद्यमानत्वात् न ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं ज्ञानस्वभाव इति आत्मनि न व्यभिचारप्रसङ्गः । ब्रह्मा-
स्तीत्यादाविव धात्वर्थत्वेऽपि कर्त्रनपेक्षत्वोपपत्तेः । ‘सिद्धकर्तृक्रियायोगादाख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थो-
ऽवगम्यते ॥’ इत्याद्यभिमुक्तवचनानुसारेणास्तिपदसमभिव्याहारस्थले भावनाबोधाभावस्याभ्युपगमनीयतया तत्र कारका-
न्वयासंभवेनार्थसाधुत्वसंपादनस्यासंभवेन मणिकारोक्तरीत्या लकारस्य साधुत्वमात्रार्थत्वेनैवोपपत्तेः । एवंचात्मज्ञानतावाद
एव युक्तः; श्रुत्यारूढत्वात् । नहि भ्रमप्रमाविहीनं न ज्ञानम्; तार्किकमतसिद्धेश्वरज्ञानस्य निर्विकल्पस्य च ज्ञानत्वाभावा-
पत्तेः । द्विविधं हि प्रमात्वं स्वतोप्राप्त्यवप्रतिपत्तिव्यवहारं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं, गुणजन्यतावच्छेदकपरतत्त्वयोग्यं
चतुर्विधत्वेन विभज्यमाने प्रमाणे घटकं यथार्थानुभवत्वरूपम् । तत्राद्यं—तत्तद्वितीयप्रमात्वम् । तच्च गुणजन्यतावच्छेदकम्;
तत्तदवयवसंनिकर्षादिगुणेन घटप्रकारकेश्वरज्ञानरूपगुणेन वा तत्प्रमाया जन्यत्वात् । तदुक्तं—दीधितौ ‘घटप्रमासामान्ये
ईश्वरज्ञानं गुण’ इति । उत्पत्तिवादे मिश्ररप्युक्तं ‘कार्ये प्रमासामान्ये ईश्वरीयज्ञानं गुण’ इति । अतएव मणौ ‘ईश्वरस्य तद्वै-
शिष्ट्याविषयकं ज्ञानमतत्प्रकारकं निर्विकल्पकं च भ्रमप्रमावहिर्भूतं व्यवहारानङ्गत्वादि’त्युक्तम् । द्वितीयं प्रत्यक्षानुमित्यादि-
ष्वनुगतं प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावेन तस्य गुणजन्यतानवच्छेदकत्वात् । प्रमामात्रे ‘नानुगतो गुण’ इति मणेरप्ययमेवाशयः ।
एतादृशप्रमाभिप्रायेणैश्वरः प्रत्यक्षप्रमाणमित्युदयनाचार्यवचनम्, ईश्वरप्रमाया अनुगतत्वात् तादृशप्रमाविषयत्वमप्य-
नुगतम् इति मणिवचनं च प्रवृत्तम् । एवंच चतुर्विधत्वेन विभज्यमानप्रमाणघटकप्रमात्वातिरिक्तगुणजन्यतावच्छेदकं
प्रमात्वमीश्वरज्ञानस्य निर्विकल्पस्य वा यथा नाङ्गीकृतमेवमत्रात्मरूपज्ञानस्य चतुर्विधत्वेन विभज्यमानप्रमाणघटकप्रमात्वाति-
रिक्तरूपं प्रमात्वं नाङ्गीकृतम् । एवं दोषजन्यतावच्छेदकभ्रमत्वमपि नाङ्गीकृतमिति तार्किकमतसिद्धेश्वरज्ञानवन्निर्विकल्पकवचो-
भयवैलक्ष्ण्येनापि ज्ञानत्वसंभवाज्ञातज्ञानतावादे कोऽपि दोषः प्रसरति । एतेन—अनात्मत्वमपि हेतुरिति—सूचितम्;
अनौपाधिकस्य ब्रह्मावृत्तिरूपस्य भेदस्य विवक्षणेनैव काल्पनिकभेदमादाय व्यभिचारवारणात् । पञ्चमप्रकारविद्यानिवृत्तौ
व्यभिचारपरिहारोपायस्य दृश्यत्वविवेचनावसरणोपपादितत्वाच्चेति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ॥

इति जडत्वनिरुक्तिप्रकरणम् ॥

अथ परिच्छिन्नहेतूपपत्तिः ।

परिच्छिन्नत्वमपि हेतुः । तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविधम् । तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वं अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । कालतः परिच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम् । वस्तुतः परिच्छिन्नत्वं अन्योन्याभावप्रतियोगित्वम् । ननु — समवायसंबन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् आत्मनि व्यभिचारि; तस्याप्याकाशादिवत् काप्यसमवेतत्वात्, संयोगसंबन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धम्; तस्य यावन्मूर्तयोगित्वनियमात्, अमूर्तनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभिप्राये तु आत्मनि व्यभिचारस्तदवस्थः, सर्वसंबन्धित्वाभावविवक्षायामपि सर्वसंबन्धशून्ये परमात्मनि व्यभिचारः, अज्ञाने सर्वसंबन्धिन्यसिद्धिश्च, ध्वंसप्रतियोगित्वमपि आकाशादावसिद्धम्, तेषां परैर्नित्यत्वाभ्युपगमात्, अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं चात्मनि व्यभिचारि; तस्य जडनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्, अन्यथा जडत्वापत्तेः—इति चेन्न; अत्यन्ताभावे अन्योन्याभावे च प्रतियोगिसमसत्ताकत्वाविशेषणेन आत्मनि व्यभिचारपरिहारात्, अज्ञानाकाशादौ च स्वसमानसत्ताकात्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतियोगित्वसत्त्वेन असिद्धभावात् । अविद्याकाशादेर्व्यावहारिकस्य पारमार्थिकाभावपक्षे 'स्वान्यूनसत्ताके'ति विशेषणं देयम्; अतएव प्रातिभासिकशुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकाभावप्रतियोगित्वेऽपि न साधनवैकल्यम् । निरुक्तमिथ्यात्वप्रकाराणामेवंरूपत्वाभावात् न साध्याविशिष्टता । ध्वंसप्रतियोगित्वं चाकाशादौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः ।

देशत इत्यादि । कचिद्देश एव विद्यमानत्वं देशतः परिच्छेदः । कचित्काल एव विद्यमानत्वं कालपरिच्छेदः । केनचिदेव वस्तुना तादात्म्यापन्नत्वं वस्तुपरिच्छेदः । यथा ह्यारुण्यादिगुणेन क्रयसाधनगवादिकं परिच्छिन्नमिति व्यवहारः, आरुण्यादेस्तादृशगवादेस्तदन्यस्माद्भावतत्त्वात्, तथा तत्तद्देशो घटादेराधारविधया तदन्याधारविशेषिताद्यावर्तक इति घटादि तत्परिच्छिन्नमिति व्यवहियते । एवं तत्तत्कालोऽपि कालान्तरावच्छिन्नादाधारविधया घटादेर्व्यावर्तक इति स तत्परिच्छिन्नो व्यवहियते । एवमेतद्वस्तु तादात्म्येन घटादेर्विशेषणं सदितरवस्त्वात्मकाद्यावर्तकमिति स तत्परिच्छिन्न उच्यते । एवमयं घट एतद्देशपरिच्छिन्न इत्यादिवाक्यस्यैतद्वटः एतद्देशेन देशान्तरावच्छिन्नेभ्यो व्यावर्तित इत्यर्थः । एवमेतत्कालपरिच्छिन्न इत्यादावपि । देशान्तरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, कालान्तरवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं, वस्त्वन्तरनिष्ठभेदप्रतियोगित्वं चार्थोल्लभ्यते; तादृशशब्दात्तदप्रतीतेः । वस्तुतस्तद्देशस्याधारविधया परिच्छेदकत्वमन्ययोगव्यवच्छेदकतया विशेषणत्वं परिच्छेद्यघटादेर्देशान्तरवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वपर्यवसितम् । एतत्कालस्य ध्वंसानधिकरणतया विशेषणत्वं कालान्तरध्वंसाधिकरणत्वपर्यवसितमिति परिच्छिन्नशब्दादेव देशान्तरवृत्त्यत्यन्ताभावादिप्रतियोगित्वलाभः । तत्रापि देशान्तरादिघटितस्य हेतुत्वे तस्य सर्वदृशाननुगतत्वादत्यन्ताभावप्रतियोगित्वादिभिन्नांशवैयर्थ्याच्चोक्तप्रतियोगित्वादेरेव हेतुत्वमित्याशयेनाह—तत्रेत्यादि । आकाशादावित्यादिपदेनेश्वरादिसंग्रहः । सर्वमूर्तेष्वाकाशमित्यादिप्रतीतेः, वृत्तिनियामकसंयोगेनापि सर्वमूर्तेष्वाकाशस्यात्यन्ताभावविरहात्, तत्संबन्धावच्छिन्नमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमप्याकाशादावसिद्धमिति भावः । अभिप्राय इति । संयोगावच्छिन्नप्रतियोगितात्वेनैव हेतुता, तादृशप्रतियोगिता चामूर्तनिष्ठात्यन्ताभावीया आकाशादावप्यस्तीत्यभिप्राये इत्यर्थः । व्यभिचार इति । तथाच तद्वारणाय मूर्तनिष्ठात्यन्ताभावनिवेशे आकाशादावसिद्धितादवस्थमिति भावः । सर्वसंबन्धशून्ये इति । उपहितात्मन एवोपादानत्वात् साक्षित्वाच्च शुद्धे सर्वासंबन्धनि । सर्वसंबन्धनि स्वीपहितचिन्नास्यत्वसंबन्धेन सर्वसंबन्धनि । धर्माति । स्वाश्रयेत्यर्थः । स्वपदं हेतुपरम् । ननु आत्मघटान्यतरत्वरूपेण यो भेदः तत्प्रतियोगित्वस्य स्वाश्रयो घटोऽपि, तत्समसत्ताकभेदप्रतियोगित्वमात्मन्यपीत्यत आह—अज्ञानेत्यादि । स्वसमानेति । यत्र हेतुः स्थापनीयः सः स्वपदार्थः । तथाच आत्मनि हेतोः स्थापने तस्यैव स्वपदेन धार्यत्वात्तत्समानसत्ताकाप्रसिद्धिः । अतो अनात्मैव स्वपदार्थ इति भावः । सत्ताकेतीति । सत्ताकेत्येव । वस्तुतस्तु—लाघवादात्मावृत्तित्वविशिष्टप्रतियोगितासंबन्धेनात्यन्ताभावो भेदो वा हेतुर्बोध्यः । ननु—आकाशादावत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यासिद्धिः; प्रत्यक्षेणानुमानादिना वा तत्र तदसिद्धेरुक्तत्वात्, अथ—इदंयत्वादिहेतुना स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानुमानात्तत्सिद्धिः—इति चेत्, तर्हि मिथ्यात्वं सिद्धमेवेति साध्याविशेषः; हेतुसिद्धेरेव साध्यसिद्धित्वात्; तत्राह—निरुक्तेति । सदसद्विलक्षणत्वादीत्यर्थः । एवंप्रत्ययत्वेति । अत्यन्ताभावप्रतियोगितारूपत्वैत्यर्थः । तथाच प्रकृतहेतुसिद्धेः स्वसमानाधिकरणेत्यादिमिथ्यात्वसिद्धिरूपत्वेऽपि सदसद्विलक्षणत्वादिरूपमिथ्यात्व-

नासिद्धम्; 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतिसिद्धजन्यत्वेनानुमितत्वात्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यत्र चात्मनिदर्शनत्वं स्वसमानकालीनसर्वगतत्वेन आभूतसंभवावस्थायित्वेन चेति द्रष्टव्यम् । 'अतोऽन्यदार्त'मिति श्रुत्या अनात्ममात्रस्यैव विनाशित्वप्रतिपादनात्, अतएव । 'घटादयः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वात्, यथा सर्पमालादिकं, स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वा इदमंशे विभज्यते, 'एवं ब्रह्मण्यनुगच्छति घटादिकं विभज्यते, सन् घटः सन् पट' इति—आनन्दबोधोक्तमपि साधु । विभक्तशब्देन स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वरूपवस्तुपरिच्छेदस्य विवक्षितत्वात् न ब्रह्मतुच्छयोर्व्यभिचारः । नच—'खण्डो गौर्मुण्डो गौ'रित्येवमादिस्वानुगतप्रतिभासे गोत्वादौ व्यक्तीनामकल्पितत्वात् व्यभिचार इति—वाच्यम्; सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वादिसामान्यानभ्युपगमात्, गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपि गोत्वादिव्यञ्जकतावच्छेदकसामान्यानभ्युपगमात् व्यक्तिविशेषाणामेवानुगतानां सास्त्रादिमत्त्वाद्युपाध्यनुगतानां वा तद्व्यञ्जकत्ववत् व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन सत्सामान्यस्यैव तत्तद्व्यवहारजनकत्वोपपत्तेः । अतएव—'घटादिकं, सद्रूपे कल्पितम्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सिद्धित्वाभावात्तादृशमिथ्यात्वमेव प्रकृतहेतुनानुमेयमिति नोक्तदोष इति भावः । जन्यत्वेनेति । जन्यमात्रस्य प्रलये संस्काररूपनाशोत्पादाजन्यत्वेन नाशप्रतियोगित्वानुमानम् । ननु—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतौ सर्वगतपदमाकाशस्य सर्वमूर्तसंयोगित्वबोधकम्, नित्यपदमविनाशित्वबोधकम्, तथाच प्रलयकालीनसंस्कारादिसंयोगित्वादिप्राप्त्या विनाशित्वं कथं? तत्राह—आकाशवदित्यादि । सर्वगतत्वेन सर्वमूर्तसंयोगित्वेन । आभूतसंभवावस्थायित्वेन सृष्टिकालाविनाशित्वेन । प्रलये संयोगस्यासिद्धेः संस्काररूपसूक्ष्मावस्थायाः संयोगादिमत्त्वे मानाभावाच्चोक्तार्थकत्वं सर्वगतपदस्य युक्तमिति भावः । स्वानुगतप्रतिभासे स्वतादात्म्येन स्वरूपतो भानयोग्ये । स्वतादात्म्यविषयतानिरूपितनिरवच्छिन्नप्रकारतावतीति यावत् । सप्तम्या व्यापकत्वमर्थः । व्यापकतानिरूपकत्वं च तादात्म्येन । तथाच यद्यत् उक्तप्रकारताविशिष्टं तत्रतत्र कल्पिता इत्यर्थः । कल्पितत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं स्वाभाववति हैयत्वं वा । तथाचोक्तप्रकारताव्यापकस्वनिवर्तकधीविषयताकत्वमुक्तप्रकारताव्यापकस्वात्यन्ताभावकत्वं वा पर्यवसितार्थः । उक्तप्रकारतासामानाधिकरण्यमात्रस्य विषयतादौ निवेशे पटादेः स्वतादात्म्यभ्रमविषयघटत्वादौ कल्पितत्वमादाय परैरर्थान्तरं वाच्यम्, अतो व्यापकत्वमुक्तम् । स्वमते हि पटादेरुक्तभ्रमे नारोपितत्वम्, किंतु तत्तादात्म्यस्येति तन्निवर्तकधीविषयत्वमेव घटत्वादेः नतु पटादिनिवर्तकधीविषयत्वमिति स्वानभिमतं तत् । परानभिमतमपि परस्य तार्किकादेरन्यथाख्यातिस्वीकारेण पटादिनिवर्तकधीविषयत्वस्य घटत्वादिजातावनङ्गीकारात् । अत उभयवाद्यसंमतिः सिद्ध्यर्थान्तरं स्यात् । व्यापकत्वनिवेशे तु तादृशप्रकारतायाः सद्रूपेऽपि सत्त्वात्तस्य स्वनिवर्तकधीविषयत्वासिद्ध्या मदिष्टसिद्धिः । नच—स्वमते बाधः, घटत्वादेर्व्यावहारिकपटादिनिवर्तकबुद्ध्यविषयत्वादिति—वाच्यम्; जातिमात्रस्य सद्रूपतायाः मूल एव वक्ष्यमाणत्वात् । तादृशप्रकारतावति द्रव्यगुणादौ स्वनिवर्तकधीविषयत्वाभावादभवच्छिन्नेति प्रकारतायामुक्तम् । प्रतियोगिताविषयतादेरनवच्छिन्नप्रकारतास्वीकारे तत्र स्वतादात्म्यभ्रमीयतादात्म्यविषयतानिरूपितानवच्छिन्नप्रकारतावति स्वनिवर्तकधीविषयत्वाभावेन व्यभिचारात् निरूपितान्तस्थले स्वतादात्म्यसमानाधिकरणेति वाच्यम् । तथाच 'प्रतियोगि घट' इत्यत्र प्रतियोगितादेर्विशेषणतासंबन्धेनैव स्निष्टत्वात् स्वतादात्म्याभावान्न व्यभिचारः । एवंच सामानाधिकरण्यमपि व्यापकत्वस्थाने वक्तुं शक्यम् । द्वितीयसाध्ये तु न प्रकारतायामनवच्छिन्नत्वं देयम्, द्रव्यादौ जातौ च सर्वत्र स्वाभावस्य सिषाधयिषितत्वात् । तथेत्यादेरुदाहरणे तात्पर्यम् । यद्यद्विभज्यते, तत्, स्वानुगतप्रतिभासे कल्पितम्, यथा रज्जुसर्पादिकमित्यर्थः । एवमित्यादेरुपनयनिगमनयोस्तात्पर्यम् । प्रथमसाध्याभिप्रायेण शङ्कते—नचेत्यादि । गोत्वादिकमनपेक्ष्य कार्यप्रयोजकतायां इष्टान्तमाह—गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपीत्यादि । व्यक्तिविशेषाणामिति । जातिनिष्ठलौकिकविषयतासंबन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वविषयसमवेतत्वसंबन्धेन प्रत्यक्षस्य कारणत्वात् जातिप्रत्यक्षप्रयोजकस्योक्तसंबन्धस्य घटकतया व्यक्तीनामुक्तप्रत्यक्षे प्रयोजकत्वाजातिव्यञ्जकत्वमिति भावः । अननुगतानां गोत्वाद्यविशेषितानाम् । ननु—गोत्वादिप्रत्यक्षे सास्त्राद्यवच्छिन्नेन्द्रियसंयोगवत्समवायादेर्विशिष्य हेतुताया आवश्यकत्वात् उक्तहेतुत्वे मानाभावस्तत्राह—सास्त्रादीति । अनुगतानां विशेषितानाम् । सास्त्राद्यवच्छिन्नचक्षुःसंयोगवत्समवायादिनिष्ठकारणतावच्छेदकघटकतया व्यक्तीनां गोत्वादिद्व्यञ्जकत्वमिति भावः । व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन गवादितत्त्वव्यक्तिसंसृष्टरूपेण । तद्व्यवहारेति । गौरित्यादिव्यवहारेत्यर्थः । गोत्वजातिमत्त्वेन पराभिमतः यावत्यो व्यक्त्यस्तावदन्यतमोपरक्तसद्रूपं गौरित्याकारव्यवहारे कारणम् । एवं घट इत्यादिव्यवहारेऽपि बोध्यम् । नन्वेवं—गवादिपदानां तत्त्वव्यक्तिविशिष्टसद्रूपे सद्रूपविशिष्टतत्त्वव्यक्तिषु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वा शक्तिर्वाच्या, तथाच तेषां नानार्थकत्वापत्तिः; एवं गवादेः कारणत्वादिकमपि तत्तद्व्यक्तिघटितावच्छेदकभेदेनानन्तं स्यात्—इति चेन्न; सर्वगोव्यक्तिषु एकस्या एव शक्तेः संभवेन नानार्थकत्वाभावात् । नच—अनुगतमेकमवच्छेदकं विना तावद्व्यक्तिनिष्ठा कथमेका शक्यतेति—वाच्यम्; तावद्व्यक्तिधीजननानुकूला शक्तिर्गोपदे स्वीक्रियते । सा चाखण्डकारणतारूपा, उक्तधीनिष्ठा कार्यताप्यखण्डा, तयोश्चावच्छिन्नत्वे मानाभावान्न कोऽपि धर्मस्तदीयाखण्डावच्छेदकताश्रयः । अतएव शक्तिग्रहनिष्ठकारणत्वमप्येकमेव । ‘सद्रूपविशिष्टतद्व्यक्तिशक्तं गौरिति पद’मित्याकारकेषु शक्तिज्ञानेषु एकस्या एव कारणताया अनवच्छिन्नायाः ‘सद्रूपविशिष्टतद्व्यक्ति’रित्याकारकशाब्दबोधं प्रति स्वीकारात्, गोत्वजात्याश्रयत्वेन पराभिमतव्यक्तीनामन्यतमस्यैव तद्व्यक्तिशब्देन कारणकार्यकोट्योर्निवेशात् । अतएव घटव्यक्तिं तद्व्यक्तित्वेनावगाहमानादुक्ताकारशक्तिज्ञानान्न गोव्यक्तीनां शाब्दबोधः, तत्र तत्कारणत्वस्यास्वीकारात् । नच—तथाप्येकां गोव्यक्तिमवगाहमानाच्छक्तिग्रहादन्यगोव्यक्तिशाब्दधीः स्यादिति—वाच्यम्; इष्टत्वात्, गोत्वादिजातिस्वीकारेऽपि गोत्वेनैकगोव्यक्तिविषयकशक्तिज्ञानात् गोत्वेन गोव्यक्त्यन्तरशाब्दबोधस्य मीमांसकादिभिः स्वीकारात् । ननु—कारणत्वादेरखण्डत्वस्वीकारेऽप्यन्यव्यतिरेकज्ञानस्यैव तद्वाहकत्वं वाच्यम्, उक्तज्ञानं च नानुगतैकरूपं विनेति तादृशं गोत्वादिकमवश्यं वाच्यम्—इति चेन्न; नृणारणिमण्यादिस्थल इवोपस्थितानां त्रिचतुरादिव्यक्तीनां प्रत्येकान्वयव्यतिरेकज्ञानेन कारणता तास्वैव प्रथमतो गृह्यते, पश्चाद्व्यक्त्यन्तरादपि कार्यात्पत्तिर्दर्शनात्तत्रापि तस्याः संबन्धोऽस्तीति कल्प्यते, ननु सर्वकारणव्यक्तीनामन्यव्यतिरेकधीस्तद्वाहिका । नहि नृणारणिमणिभ्य एव बहिरूपघट इति नियन्तुं शक्यम्; तैलघृतमांसवसादिभ्योऽपि दर्शनात् । नच तावतां प्रथममुपस्थितिरस्ति, येन प्रथमत एव प्रत्येकमन्यव्यतिरेकधीसंभवः । यत्तु—कारणत्वादेरवच्छिन्नत्वेनैवानुभव—इति, तन्न; ‘धूमो वह्निर्व्याप्य’ इत्याद्यनुभवे धूमत्वादौ व्याप्यतावच्छेदकत्वाभानस्य दीधितिकाराद्युक्तत्वेन तद्वदेव ‘दण्डो घटकारण’मित्याद्यनुभवे दण्डत्वादेः कारणतावच्छेदकत्वाभानात् । अथवा—तावद्व्यक्तीनां यावन्ति सद्रूपेण सह तादात्म्यानि तावदन्यतमत्वविशिष्टसंबन्धेन सद्रूपविशिष्टं गौरिति व्यवहारविषयः, तेन संबन्धेन सद्रूपं तत्तत्कारणतादेरवच्छेदकम् । नच—गौरत्वाद् दुर्ज्ञेयत्वाच्चोक्तान्यतमत्वस्य तथात्वासंभवात् गोत्वादेः कल्पनमेव युक्तमिति—वाच्यम्; अखण्डस्योक्तान्यतमत्वस्य स्वरूपत एव निवेशेनोक्तदोषाभावात्, ह्येतेनैव तेन निर्वाहे गोत्वादिकल्पनस्यायुक्तत्वात् । नचैवं—गोव्यक्तीनामन्यतमत्वेनैव गवादेः कारणत्वादिकमास्ताम्, किं सद्रूपस्य तत्कल्पनयेति—वाच्यम्; गोत्वादिजातिस्वीकारेऽपि तादृशान्यतमत्वस्य कारणतावच्छेदकत्ववारणाय तस्यावाभ्यामन्यथासिद्धिर्निरूपकत्वस्वीकारात् । अतएव सद्रूपास्वीकर्तृर्बाह्यैरुक्तान्यतमत्वस्यान्याधोहनात्मकस्य गवादिपदवाच्यत्वादिकं स्वीक्रियते । तदेतत्पक्षद्वयमपि भगवतो भर्तृहरेरुक्तिमनुगच्छति । उक्तं हि तेन—‘संबन्धभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वं शब्दा व्यवस्थिताः ॥’ तथा ‘सा जातिः सा महासत्ता तामाहुस्त्वतलादयः ।’ इति । तामाहुरिति । गोत्वमित्यादौ सद्रूपमेव त्वादिभावप्रत्ययार्थः, तत्र तादात्म्यसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्यान्य इत्यर्थः । नच—सद्रूपमात्रस्य त्वादिप्रत्ययशक्यत्वे तत्र प्रकृत्यर्थस्य भाने निर्धर्मितावच्छेदकबोधापत्तिरिति—वाच्यम्; सद्रूपेण सदन्याप्रकारकधीप्रकारत्वस्वरूपेण तच्छक्यत्वात् । संबन्धभेदादिति । तत्तद्वादिव्यक्त्युपहितत्वरूपस्य तावद्व्यक्तितादात्म्यानामन्यतमत्वविशिष्टरूपस्य वा संबन्धस्य भेदादित्यर्थः । नच—प्रकृत्यर्थोपलक्षितसद्रूपस्य सर्वत्र सत्त्वात् ‘गोत्वमश्ववृत्ती’त्यादिव्यवहारः स्यादिति—वाच्यम्; प्रकृत्यर्थविशिष्टसत्ताया एवान्यान्ययात् । अत्रेदं बोध्यम्—गोत्वादिजातीनां सद्रूपतान्त्रीकारेऽपि प्रकृतानुमाने न व्यभिचारः; गवादिव्यक्तीनां गोत्वादिजात्यवच्छिन्नचित्ति कल्पितत्वेनोक्तजातावपि कल्पितत्वात्, यथाहि पूर्णानन्दरूपे अधिष्ठाने जायमानप्रपञ्चस्य सद्रूपं साधारण आधारः; तथा गवाद्यवयवो गोत्वादिजातिश्चासाधारणाधार इति तत्रापि गवादयः कल्पिताः । नचैवं—कल्पितपदस्य तज्ज्ञाननिवर्त्यार्थकत्वपक्षे व्यभिचार इति—वाच्यम्; ब्रह्मसिद्धिकारोक्तानुमान एव तत्पक्षस्वीकारात्; अतएव ‘रज्ज्वा इदमंशे विभज्यत इति मूलम् । नहीदमंशज्ञानेन सर्पादिनिवृत्तिः—इति । आचार्यैस्तु यत् जातीनां सद्रूपत्वं विवरणाद्युक्तं व्यस्थापितम्, तत्रायं भावः—जातीनां सद्रूपत्वमविद्याशक्तिविशेषरूपत्वं वेति पक्षद्वयमस्मदीयैः कैयटादिभिश्चाचार्यैरुक्तम् । तत्राप्यपक्षस्य दुष्टत्वात् प्रकृतानुमाने व्यभिचार इति यत् परैरुक्तं तदसङ्गतम्; तस्योक्तयुक्तिभिरदुष्टत्वात् । द्वितीयपक्षे व्यभिचाराभावस्तु स्फुट एव । नच—तादृशाविद्याया घटाद्यवच्छिन्नचित्तिविषयकत्वे घटादिधीकाले तन्निवृत्त्यापत्तिः, ब्रह्मविषयकत्वे घटत्वपटत्वादिना नाजात्यसंभवः, नष्टेकपुरुषं प्रति भासमाना ब्रह्माविद्या नानेति सिद्धान्त इति—वाच्यम्; अनन्ता हि मूलाज्ञानीयाः कार्यजननानुकूलाः विक्षेपनामकशक्तयो निर्विषयिकाः, आवरणशक्तेरेव सविषयकत्वात् । तथाच घटव्यक्तिभिरवच्छिन्ना जलाहरणादिकार्यानुकूला तादृशशक्तिः घटत्वम् । एवं पटत्वादिकमपीति न कोऽपि दोष—इति । अतएव

प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवत्—इति ब्रह्मसिद्धिकारो-
कमपि साधु । ननु—सदर्थस्य ब्रह्मणः रूपादिहीनस्यासंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्यस्य कथं घटः
सन्नित्यादिवुद्धिविषयता स्यात्? तथाच 'घटोऽनित्य' इत्यनेन घटगतानित्यत्वेव 'घटः स'न्नित्यनेनापि
घटगतमेव सत्त्वं गृह्यते । नच—स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहोश्चन्द्रावच्छेदेनैव ब्रह्मणोऽपि घटाद्यवच्छेदे-
नैव प्रत्यक्षतेति—वाच्यम्; शब्दाद्यवच्छिन्नस्यापि गगनादेः श्रावणत्वाद्यापातात्, राहोस्तु दूरदो-
षेणाज्ञातस्य नीलस्य योग्यस्य शुक्लभास्वरचन्द्रसंबन्धाच्चाक्षुषता उक्ता—इति चेन्न; यतः सदात्मना
न ब्रह्मणो मूलाज्ञानेनावृतत्वम्; किंतु घटाद्यवच्छिन्नशक्त्यज्ञानेनैव; तथाच चक्षुरादिजन्यवृत्त्या
तदावरणभङ्गे सति 'सन्घट' इत्यत्र ब्रह्मणः स्फुरणे बाधकाभावात् । नच—रूपादिहीनतया चाक्षु-
षत्वाद्यनुपपत्तिः बाधिकेति—वाच्यम्; प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वेव रूपाद्यपेक्षानियमात्, सर्वेन्द्रि-
यग्राह्यं तु सद्रूपं ब्रह्म, नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः, सत्तायाः परैरपि सर्वेन्द्रिय-
ग्राह्यत्वाभ्युपगमाच्च । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—'अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः । अक्षादीनां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उक्तपरिच्छेदानां हेतुत्वसंभवादेव । सद्रूपे कल्पितं सद्रूपज्ञाननिवर्त्यम् । तदनुविद्धत्वेन सद्रूपतादात्म्येन ।
प्रतीयमानत्वादित्यत्र प्रत्येकमित्यस्यान्वयः । तथाच घटादीनां सर्वेषां सत्तादात्म्येन प्रतीयमानत्वात् घटादिकं सर्वं
सद्रूपज्ञाननिवर्त्यमित्यर्थः । तादृशप्रतीयमानत्वं च तद्योग्यतारूपं ग्राह्यम्, तच्च सदवृत्तित्वविशिष्टं भेदप्रतियोगित्वम् ।
प्रत्येकं चन्द्रेत्यादि । चन्द्रतादात्म्यधीविषयतायोग्याः जलतरङ्गस्थचन्द्रा इवेत्यर्थः । तादृशयोग्यत्वं च उक्तभेदप्रति-
योगित्वमेव; 'चन्द्रोऽयं तरङ्गस्थः सन्नि'ति सत्तादात्म्यमादायैव चन्द्रतादात्म्यप्रतीतेः । अत्र यद्यत् उक्तप्रतियोगि-
त्ववत्, तत्तत् सद्रूपधीनिवर्त्यम्, यथा तरङ्गचन्द्र इत्युदाहरणार्थं तात्पर्यम् । कथमिति । तथाच प्रथमानुमाने
स्वानुगतप्रतिभासे सद्रूपे कल्पितं घटादीत्युक्तिसङ्गता, द्वितीयानुमानेऽपि सत्तादात्म्यधीयोग्यतात्वेनोक्तप्रतियोगि-
त्वस्य निवेशो न युक्तः; तस्मात् 'घटः सन्नि'त्यत्र भासमानं घटगतमेव सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वम्, नतु त्रिकालाबाध्य-
त्वोपलक्षिताधिष्ठानसद्रूपस्य घटे कल्पितं तादात्म्यमिति भावः । अवच्छेदेनैवेति । तथाचानवच्छिन्नरूपेणैव सद्रू-
पमावृतमिति भावः । आपातादिति । तथाच शुद्धस्यावृतत्वे विशिष्टस्यापि तदावश्यकम्; अतएव विशिष्टरूपेणापि
गुरुवादिकमावृतमिति भावः । सदात्मनेति । सद्ज्ञानानन्दानां मध्ये आनन्दान्शरूपेणैव ब्रह्म मूलाज्ञानेनावृतम्,
पूर्णानन्दो मे न भाती'ति प्रत्ययात्, सद्ज्ञानरूपे भात इति प्रत्ययाच्च । ननु तर्हि सद्ज्ञानान्शयोरनावृतत्वात् घटाकारवृ-
त्त्यभावकालेऽपि 'घटः सन् घटो भाती'ति धीः स्यात्, तत्राह—किंत्वित्यादि । शक्यत्वज्ञानेन मूलाज्ञानावस्थारूपा-
ज्ञानेन । ननु—एकाज्ञानपक्षे शक्यत्वज्ञानास्वीकारेण मूलाज्ञानेनैव सद्ज्ञानान्शभ्यामावृतत्वं ब्रह्मणो वाच्यम्, तत्राह—
तथाचेति । तथा स्वीकारेऽपीत्यर्थः । मूलाज्ञानेनैव सद्ज्ञानात्मना ब्रह्मण आवृतत्वस्वीकारपक्षेऽपीति यावत् । अपि-
शब्दात् पूर्वकल्पसंग्रहः । तदावरणेति । घटाद्यवच्छिन्नावरणेत्यर्थः । भङ्गे अभिभवे । यद्येकमेवाज्ञानं, तदा तद्विष-
यताया घटाद्याकारवृत्तिकाले घटाद्यवच्छेदेनाभिभवात् घटाद्यवच्छेदेन सद्ज्ञानान्शयोरव्यवहारः, तस्याभिभवस्तु तत्तदा-
कारवृत्त्यभाववैशिष्ट्यविघटनेन 'सन् घटो भाती'त्यादिव्यवहारे प्रतिबन्धाक्षमत्वम् । तादृशव्यवहारं प्रति हि घटाद्याका-
रवृत्त्यभावविशिष्टाया एव मूलाज्ञानविषयतायाः प्रतिबन्धकत्वम् । यदितु मूलाज्ञानस्यावस्थारूपाणि घटाद्यवच्छिन्नानि
अनन्तान्यज्ञानानि स्वीक्रियन्ते, तदा घटाद्याकारवृत्त्या तदुच्छेदेन तथा व्यवहार इति भावः । प्रतिनियतेन्द्रियग्रा-
ह्येति । सर्वेन्द्रियग्राह्येत्यर्थः । हीनत्वेऽपीति । ननु—सद्रूपस्य चाक्षुषाविषयत्वमेवास्त्वाम्, नच—तथा सति सद्रूपावर-
णानां उक्तव्यवहारानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; घटादिविषयकवृत्त्यैव घटाद्यवच्छेदेन सद्रूपावरणाभिभावकत्वसंभवात्—
इति चेन्न; आवरणाभिभवाय कल्प्याया वृत्तेर्विषयत्वस्यावारकाज्ञानविषये सद्रूप एव कल्पनौचित्यात्, अज्ञानस्यैव
वृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्नविषयताकत्वात् । ननु सद्रूपस्य सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वं विप्रतिपन्नम्, तत्राह—सत्ताया इत्यादि ।
परैः मीमांसकादिभिः । प्राभाकरमते हि ज्ञानविषयत्वमेव सत्ता, नान्या जाल्यादिरूपा; गुणादौ जाल्यस्वीकारात् ।
सा च सर्वेन्द्रियजन्यधीविषयः; ज्ञानमात्रस्य घटादिविषयकत्वरूपेण स्वविषयिताशालित्वस्वीकारेण 'घटो मया ज्ञात'
इत्याकारकत्वस्यापि स्वीकारात् । न्यायवैशेषिकादिमतेऽपि सत्ताजातिः सर्वेन्द्रियजन्यधीविषयः; संनिकृष्टतया सत्ताया
भाने सामग्रीसत्त्वात् । तथाच तस्याः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वं न कस्यापि विप्रतिपन्नमिति भावः । अपिशब्दसमुच्चितं
सत्तायाः स्वकीयाचार्यसंमतं सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वं प्रकटयति—तदुक्तमिति । अतः अनुभवान्यस्याज्ञातत्वाभावेन
प्रमाणाविषयत्वात् । अनुभवः सद्रूप आत्मैव, विषयः; तत्र हेतुः—अज्ञातलक्षण इति । जडस्याज्ञातत्वाभावेन
न विषयत्वम्, किंतु विषयीभूतसद्रूपावच्छेदकत्वम् । अक्षादीनां इन्द्रियादिजन्यमनोवृत्तीनां दोषजन्याविद्यावृत्तीनां

स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥' इति । कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभिः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । नच—शब्दावच्छिन्नस्याकाशस्यापि श्रावणत्वं स्यादिति—वाच्यम्; स्वभावतो योग्यस्य हि केनचिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्यावच्छेदकादिना योग्यता संपाद्यते, यथा दूरदोषेण प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य राहोश्चन्द्रसंबन्धेन । एवंचावरणेन प्रतिरुद्धयोग्यताकं ब्रह्म घटाद्यवच्छेदेन योग्यं भवति, नभस्तु स्वभावायोग्यमेव; न प्रतिरुद्धयोग्यताकम्, येन शब्दावच्छेदेन योग्यं भवेत् । यद्वा—द्रव्यग्रहे चक्षुषो रूपापेक्षा, नन्वन्यग्रहे, ब्रह्म तु न द्रव्यम्; 'अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घ'मिति श्रुत्या चतुर्विधपरिमाणनिषेधेन द्रव्यत्वप्रतिषेधात्, अतो नानुपपत्तिः । अस्तु वा द्रव्यम्; तथाप्यध्यस्तद्रव्यत्ववति गुणादौ रूपानपेक्षचाक्षुषत्वदर्शनेन धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षु रूपमपेक्षते । ब्रह्मणि च द्रव्यत्वं धर्म्यपेक्षया न्यूनसत्ताकमेवेति न तद्ग्रहे रूपाद्यपेक्षा । कल्पितत्वं च स्वाभाववति प्रतीयमानत्वं वा, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्वं वेत्यन्यदेतत् । तस्मात् परिच्छिन्नत्वमपि भवति हेतुरिति सिद्धम् ॥

॥ इति परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च । स्वतःसिद्धः अनारोपितः । तस्याविषयत्वे प्रमाणानां प्रमाणता न स्यात्, अज्ञाताबाधितविषयकत्वस्यैव प्रमाणतारूपत्वादित्याह—यत्रेति । यत्रैवेत्यर्थः । भ्रमस्यापि बाधापूर्वं प्रमात्वं सद्रूपमादायैव । इदमंशवच्छिन्नसद्रूपतादृशाविषयकत्वरूपस्य हि इदमंशधीनिष्ठप्रमात्वस्य संसर्गो भ्रमे समारोप्यते । ननु ज्ञानविषयत्वरूपा सत्ता प्राचीनप्राभाकराणां मते न सर्वेन्द्रियग्राह्या, ज्ञानस्य स्वविषयत्वाभावेऽपि तादात्म्येन स्वस्यैव स्वस्मिन् स्वव्यवहारप्रयोजकत्वम्, अतएव ज्ञातापि न ज्ञानविषयः; ज्ञानसमवायस्यैव तद्व्यवहारप्रयोजकत्वादिति हि तैः स्वीक्रियते, मणिकाराद्युक्तनव्यप्राभाकरमत एव हि ज्ञानं स्वस्वाश्रयविषयकमुच्यते; तथाच कथं सत्तायास्तथात्वं सर्वसंमतम्, तत्राह—कालस्य चेति । 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते ।' इति मीमांसकोक्तेर्ज्ञानं सर्वं किञ्चित्कालावच्छिन्नमेव स्वविषयं गृह्णाति ? तत्र स्वाधिकरणक्षणवच्छिन्नत्वेन गृह्णातीत्युत्सर्गः । अतएव धारावाहिज्ञानस्थले ज्ञानानां स्वस्वाधिकरणक्षणविशिष्टतया स्वस्वविषयग्राहित्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमिति मीमांसकाः । तस्य बाधे तु संभवात्क्षणान्तरावच्छिन्नत्वेन; यथा पाकरक्ते घटे 'श्यामोऽय'मिति धीः पाकपूर्वक्षणवच्छिन्नत्वेन श्यामत्वं गृह्णाति, स्मृतिः स्वकारणधीगृहीतकालावच्छिन्नं स्वविषयम् । आदिभिरित्यादिपदात् तार्किकादिमते प्रत्यक्षे संनिकर्षसत्त्वात् सत्ताजातिर्भात्येव, अनुमित्यादिज्ञानेऽपि सत्ताविशिष्टतया नियमतो बह्याद्यनुभवात्तदज्ञाननियमो वाच्यः । अतएव पर्वतादौ बह्यादिकं सन्न वेत्यादिसंशयानामनुमित्यादिस्थलेऽनुत्पादः । ननु—आस्तामनुभवसिद्धं सत्तायाः सर्वधीविषयत्वम्, कथं तु तदुपपद्यते ? केवलबह्विव्याह्यादिज्ञानात् सत्ताविशिष्टबह्याद्यनुमित्यादेरसंभवात्—इति चेन्न; व्याह्यादिज्ञानेऽपि सद्वह्यादिभानाभ्युपगमात्, बह्विः न सन्नित्यादिधीकालेऽपि सत्तावह्वित्वयोरेकत्र द्वयमिति रीत्या प्रकारत्वसंभवात्, सत्तायामवृत्तित्वज्ञानकाले सत्ताप्रकारकज्ञानानुत्पादेऽपि बह्विविशिष्टसत्ताप्रकारकानुमित्यादिसंभवात्, तादृशानुमित्यादौ बह्यादेर्विशेषणत्वेन पर्वतादौ प्रकारत्वसंभवात्, व्याप्तिज्ञानेऽपि सत्ताव्याप्तेर्भानस्वीकारात् । आस्तां वा तत्र बह्वौ सत्ताया अभानाद्बह्वेःप्यभानम्; पर्वतादौ सत्ताभासकसामग्रीसहिताया एव सामग्र्या सद्वह्यादिभासकत्वस्वीकारात्, नव्यप्राभाकरमते विषयभासकसामग्र्या एव ज्ञानग्राहकत्वस्येव, मीमांसकमते कालिकग्राहकसामग्र्याः कालग्राहकत्वस्येव च, सत्ताश्रयग्राहकसामग्र्याः सत्ताग्राहकत्वसंभवाच्चेति भावः । आवरणेन घटाद्यवच्छिन्नावरणेन । प्रतिरुद्धेति । घटाद्यवच्छेदेन प्रतिरुद्धेत्यर्थः । ब्रह्म सद्रूपम् । घटाद्याकारवृत्त्येति शेषः । स्वभावायोग्यं इन्द्रियेण ग्रहीतुमशक्यम् । श्रोत्रस्य हि शब्दशब्दादिप्रत्यक्षं प्रत्येव शक्तिः, नतु नभोग्रहेऽपि, चक्षुस्त्वग्भ्यां तु द्रव्यप्रत्यक्षजनने रूपस्पर्शपेक्षणात् नीरूपस्पर्शस्य नभसो न ताभ्यां प्रत्यक्षमिति भावः । नन्वेवं ताभ्यां सद्रूपं द्रव्यमपि ग्रहीतुमशक्यम्; रूपस्पर्शाभावात्, तत्राह—यद्वेति । रूपापेक्षा समवायेन रूपं कारणम् । ननु परिमाणवत्यपि ब्रह्मणि परमार्थतस्तत्प्रतिषेधात् ब्रह्म द्रव्यमेव, तत्राह—अस्तु वेति । अध्यस्तद्रव्यत्ववति अध्यस्तेन संबन्धेन द्रव्यत्ववति । धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववति धर्म्यन्यूनसत्ताकसंबन्धेन द्रव्यत्ववति । यथाश्रुते कर्मधारयान्मनुपोऽसा-

१ भ्रमज्ञानेनापि प्रवृत्तिदर्शनात्प्रमाया एव प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्प्रवृत्तिप्रयोजकत्वरूपमबाध्यत्वप्रकारकाज्ञानविषयीभूताधैविषयकज्ञानत्वरूपं वा प्रमात्वं भ्रमस्यापि विद्यते इति विन्दुटीकायां प्रतिपादितम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ध्रुत्वं, द्रव्यनिष्ठद्रव्यत्वस्य गुणादौ संसर्गाध्यासेऽपि तादृशगुणचाक्षुषे रूपानपेक्षणात् असङ्गतिश्च । स्वसमसत्ताकसंबन्धेन द्रव्यत्ववतीति फलितार्थः । चक्षुः चक्षुरादि । रूपं रूपादि । वस्तुतस्तु—ब्रह्मणश्चाक्षुषादिप्रत्ययाविषयत्वेऽपि नास्माकं क्षतिः, घटादिविषयकवृत्त्यापि घटाद्यवच्छेदेन सद्रूपस्यावरणाभिभवात्, घटादौ सद्रूपतादात्म्यभानसंभवेन प्रकृतानुमानेऽनुपपत्त्यभावात्, अज्ञाताविषयकत्वेऽपि घटाद्याकारवृत्तेरज्ञाततावच्छेदकविषयकत्वेन प्रमात्वसंभवात्, तार्त्त्विकप्रमात्वमेवाज्ञातविषयवटितं ब्रह्माकारवृत्ताविति वक्तुं शक्यत्वात्; परंतु ब्रह्मणश्चाक्षुषादिविषयत्वे न काप्यनुपपत्तिरित्याशयेन नानुपपत्तिरिति पूर्वमुक्तम् । ब्रह्मणः परिमाणादिमत्त्वे च न मानम् । उक्तं च पदार्थखण्डने शिरोमणिना—“ईश्वरस्य परिमाणवत्त्वे मानाभावः; द्रव्यत्वस्य वृट्त्वादेरिव परिमाणासाधकत्वात्” । तदीयटीकायां च सार्वभौमैरुक्तम्—“एवमीशस्य जीवस्य च द्रव्यत्वे संयोगादौ च मानाभावः; आत्ममनःसंयोगादेः ज्ञानादिहेतुत्वेऽपि न मान”मित्यादि । कल्पितत्वम् उक्तसाध्ययोः प्रविष्टः कल्पितशब्दार्थः ॥

॥ इति लघुचन्द्रिकायां परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः ॥

अथ परिच्छिन्नत्वनिरुक्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

परिच्छिन्नत्वमपि न हेतुः । तद्वि देशतः, कालतो, वस्तुतश्चेति त्रिविधम् । तत्र नाद्यद्वितीयौ; देशपरिच्छिन्नत्वस्य देशान्तरेऽसत्त्वरूपत्वे, सर्वत्र विद्यमाने देशे, सर्वगतदेशोपादानतया सर्वत्र विद्यमानेऽज्ञाने, प्रतिपन्नोपाधिनिषेधस्य कुत्रचिदभावे प्रतियोगिसत्त्वापत्त्या देशपरिच्छिन्ने तत्र चासिद्धेः, एकदेशमात्रमत्त्वरूपत्वे मन्मतेऽसद्रूपे शुक्तिरूप्ये असिद्धेः, सर्वमूर्तद्रव्यासंयोगित्वस्य परममहत्परिमाणानधिकरणत्वस्य, महत्त्वानधिकरणपरिमाणानधिकरणत्वस्य वा तद्रूपत्वे तु आद्ययोर्निर्गुणे परमात्मनि व्यभिचारात्, अन्ये गुणादावसिद्धेः, तेन त्रैकालिकनिषेधसाधने विरोधाच्च । अतएव न कालपरिच्छिन्नत्वमुक्तदोषादेव । तेन स्वकालादावसत्त्वसाधने प्रमाणविरोधस्याविशिष्टतया स्वकालेऽसत्त्वेन कालान्तरे सत्त्वापाताच्च । आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुतिसिद्धेऽन्याकृते नित्ये आकाशे, “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” “दृष्ट्वैव तं विमुच्यते” इति श्रुतिभ्यां सार्वत्रिकत्वेनावगते काले चासिद्धेः । न तृतीयः; तस्य तात्त्विकभेदप्रतियोगित्वे स्वरूपासिद्धेः, कल्पितभेदप्रतियोगित्वरूपत्वे आत्मनि व्यभिचारात्, धर्मिसमसत्त्वभेदप्रतियोगित्वे शुक्तिरूप्येऽसिद्धेः । एतेन—विवादाध्यासिताः, स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वात्, इति प्रमाणमालोक्यदनुमानमपि—पराहतम्; विभक्तत्वस्य देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वरूपत्वे दोषस्योक्तत्वात् । अतएव—विवादाध्यासितं, सद्रूपे कल्पितं, प्रत्येकं तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वात् इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तानुमानमपि—पराहतम्; खण्डो गौरित्यादिप्रतीत्या गोत्वानुविद्धतया प्रतीयमाने खण्डादौ व्यभिचारात्, रूपादिहीनस्यासंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्यस्य ब्रह्मणः सन्धट इत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वाभावेन घटोऽनित्य इत्यादावनित्यत्वमिव सत्त्वमपि घटादिगतमेव भासते इत्यङ्गीकरणीयत्वेन हेत्वसिद्धेः, स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहोः शुक्लभास्वरचन्द्रसंबन्धाच्चन्द्रावच्छेदेन प्रत्यक्षत्वेऽपि घटाद्यवच्छेदेन ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वासंभवात् । अन्यथा शब्दावच्छेदेन गगनस्यापि चाक्षुषत्वापत्तेरिति—वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

परिच्छिन्नत्वमपि हेतुरेव । तद्वि देशतः, कालतो, वस्तुतश्चेति त्रिविधम् । तत्र देशपरिच्छिन्नत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, न देशान्तरेऽसत्त्वं स्वदेशमात्रसत्त्वं वा । अत्यन्ताभावश्च स्वान्यूनसत्ताको विवक्ष्यत इति नात्मनि व्यभिचारः, नवा देशकालज्ञानप्रतिपन्नोपाधिनिषेधेष्वसिद्धिः, संबन्धसामान्येनैवात्यन्ताभावस्य द्वितीयमिथ्यात्वेन साधनात् । उक्तहेतुना ज्ञाननिवर्त्यत्वादिमिथ्यात्वस्यैव साधने साध्यावैशिष्ट्याभावात् । कालपरिच्छिन्नत्वमपि ध्वंसप्रतियोगित्वमेव, न तु कालान्तरासत्त्वादिरूपम् । तदपि नाकाशादावसिद्धम्; ‘तस्माद्वा एतस्मादिति श्रुतिबोधितजन्यत्वेन तस्यापि ध्वंसानुमानात्, उक्तश्रुतेः भूताकाशपरतया संकोचे प्रमाणाभावात् । आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इत्यात्मनिदर्शनत्वस्य स्वसमानकालीनसर्वगतत्वेनाभूतसंभवस्थाभिन्नत्वेनैवोपपत्तेः । “अतोऽन्यदार्त”मिति श्रुत्यानात्ममात्रस्य विनाशिलप्रतिपादनेन “दृष्ट्वैव तं विमुच्यत” इति वचनस्यापि दर्शनान्तरक्षणबोधकत्वेऽपि तस्य द्वितीयक्षणादिसत्त्वबोधकत्वेऽपि तात्पर्याभावेन कालादीनामप्यनित्यत्वेन तत्रासिद्धेरनवकाशात् । एतेन—वस्तुपरिच्छिन्नत्वमपि हेतुरिति—सूचितम्; स्वान्यूनसत्ताक-

भेदविवक्षणे कस्यापि दोषस्याप्रसरात् । अत एव—घटादयः, स्वानुगततत्प्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वादित्यान-
न्दबोधोक्तमपि—साधु; विभक्तत्वपदेन त्रिविधपरिच्छेदविवक्षणेऽपि दोषाभावस्योक्तत्वात् । एवं च विवादाध्यासितं,
सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वादिति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तानुमानेऽपि न दोषः; गोत्वादीनामपि सद्रूप-
ताया अङ्गीकारेण खण्डमुण्डादिषु व्यभिचाराभावात् । सदात्मना ब्रह्मणो घटाद्यवच्छिन्नशक्त्यज्ञानेनैवावृतत्वेन चक्षुरादि-
जन्यवृत्त्या तादृशावरणभङ्गे सर्वेन्द्रियग्राह्यस्य रूपादिहीनस्यापि ब्रह्मणः सत्तायाः परमते कालस्य च भीमांसकमत इव
चाक्षुषत्वोपपत्त्या स्वरूपासिद्धेरभावाच्च । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

“अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः ।

अक्षादीनां स्वतः सिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥” इति ।

स्वभावतो योग्यस्य केनचिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य अवच्छेदकादिना योग्यतासंपादनेऽपि स्वभावतोऽयोग्येऽपि
तदसंपादनेन गगनचाक्षुषत्वासंभवाच्चानुपपत्तिः । वस्तुतस्तु—द्रव्यग्रहण एव चक्षुषो रूपापेक्षयाऽस्थूलमित्यादिना-
ऽद्रव्यत्वेनावगतस्य, द्रव्यत्वेऽप्यध्यस्तद्रव्यत्ववति रूपादौ रूपानपेक्षणेन धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव रूपापेक्षणेन च
तादृशद्रव्यशून्यस्य ब्रह्मणः चाक्षुषत्वे न कोऽपि दोष इति—वर्णयन्ति ।

तरङ्गिणीकारास्तु—

न हि स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियोगित्वरूपं देशपरिच्छिन्नत्वं तादृशध्वंसप्रतियोगित्वरूपं कालपरिच्छिन्नत्वं तादृश-
भेदप्रतियोगित्वरूपं वस्तुपरिच्छिन्नत्वं वा हेतुः । आद्ययोः ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य’ इति श्रुतिसिद्धे सर्वमूर्तद्रव्य-
संयोगिनि, अविनाशिन्याकाशेऽसिद्धेः । अन्ये शशशृङ्गं तुच्छं नेत्याकारप्रतीतिसिद्धतुच्छप्रतियोगिकतत्समसत्ताक-
भेदप्रतियोगित्वमादाय तुच्छे व्यभिचारात् । एतेन—विवादाध्यासिता घटादयः, स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः,
इति प्रमाणमालाकृदनुमानं विवादाध्यासितं सद्रूपे कल्पितमिति ब्रह्मसिद्धिकारानुमानं च—पराहतम्; खण्डो गौरित्यादि
व्यवहारस्यैव बाधकाभावे सति गोत्वसामान्यप्रमाणत्वेन तदनभ्युपगमस्य निर्वाजत्वात्, नच—व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन
सत्सामान्यस्यैव तादृशव्यवहारजनकत्वमिति—वाच्यम्; व्यक्तिविशेषाणां गोत्वादपरिचितानां तद्वज्रकत्वे घटकुटी-
प्रभातवृत्तान्तः, तदपरिचितत्वे गवादिपदानां नानार्थकत्वापत्तिः, गवादिशब्दैरेव घटादिपदार्थानामपि भानापत्तिश्चेत्या-
द्यनेकातिप्रसङ्गापत्तेः । यत्तूक्तं सदात्मना न ब्रह्मणो मूलाज्ञानेनावृतत्वमिति, तदपि न; तव मते सदात्मन आनन्दात्मनो-
ऽखण्डरसत्वेन सदात्मन आवरणाभिभवे आनन्दात्मनोऽप्यावरणाभिभवस्यावश्यकतया सत्प्रकाशवदानन्दप्रकाशस्याप्या-
वश्यकत्वात् । यत्तूक्तं सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वात् ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वे रूपानपेक्षणमिति, तदपि न; अत्यन्तमव्यक्तस्य ब्रह्मणश्चा-
क्षुषत्वानुपपत्तेः, ‘नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्’ ‘विमेकर्णे विपतयो विचक्षुः’ ‘तं त्वौपनिषदं पृच्छामि’ ‘अथ परा, यया
तदक्षरमधिगम्यते’ इत्यादिश्रुतिभिरिन्द्रियाविषयत्वस्यौपनिषन्मात्रसमधिगम्यत्वस्य प्रतिपादनात् । एतेन—‘अतोऽनुभव
एवैको विषयोऽज्ञातलक्षण’ इति वार्तिकश्लोकोऽपि—पराहतः; सत्तादृष्टान्तोऽपि नात्र प्रसरति; तस्या इन्द्रिययोग्यव्यक्ति-
वृत्तिजातित्वेन ब्रह्मणश्चातादृशत्वेन वैषम्यात् । एतेन—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते इति वचनमपि—
व्याख्यातम्; उपनयमर्यादयैव कालस्य सर्वत्र भानात् ।

वस्तुतस्तु—कालः साक्षिभास्य इति न रूपापेक्षेति न सोऽपि दृष्टान्तः । एवं च घटाद्यवच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणश्चाक्षुषता-
वादो न युक्तः, योग्यतावच्छेदकरूपादिमत्त्वस्योभयत्रानवधारणे ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वं नाकाशस्येत्यत्र विनिगमकाभावेन
शब्दाद्यवच्छेदेन गगनस्यापि चाक्षुषतापत्तेः । नहि नीरूपं द्रव्यं चाक्षुषं भवति । ब्रह्म च ‘महान्तं विभुमात्मानं’ ‘सर्वत्र
प्रसिद्धोपदेशा’दित्यादि सूत्रैः ब्रह्म परिमाणवत्, परिमाणवदुपादानत्वात् इत्याद्यनुमानैः अद्रव्यस्याम्बरादिधारकत्वानुपप-
त्त्याद्यर्थापत्तिमिश्र द्रव्यमित्येव सिद्ध्यतीति तच्चाक्षुषत्वे उक्तनियमभङ्गापत्तिः । ज्ञानादेरपि द्रव्यत्वानु न ज्ञानानन्दाद्यात्म-
ताविरोधः । धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षुषो रूपापेक्षायामपि नानुपपत्तिः । ब्रह्मनिष्ठस्य द्रव्यत्वस्य तन्न्यूनसत्ताकत्व-
स्यैवावताप्यसिद्धेरिति न्यायामृतसिद्धान्तः सर्वोऽपि समीचीन एवेति—प्रतिपादयन्ति ।

(४) ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—

नद्या ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य’ इति श्रुत्या सर्वगतशब्देन सर्वमूर्तसंयोगप्रतिपादनमात्रेण तत्राल्यन्ताभावप्रतियोगित्वा-
सिद्धिः, प्रलयकालीनतत्संस्कारस्य मूर्तत्वाभावेन तत्कालीनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तत्रावाधात्, एतेन—ध्वंसप्रति-
योगित्वमपि—व्याख्यातम्; नित्यपदेनाऽऽभूतसंलब्धस्थायित्वस्यैव विवक्षणीयत्वात् । ‘तस्मादाकाशः संभूतः’ इति
अद्वै. सि. ४१

अथ अंशित्वहेतूपपत्तिः ।

चित्सुखाचार्यैस्तु—‘अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, इतरांशिवत्—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ अंशित्वहेतूपपत्तिः ।

अंशित्वात् कार्यत्वात् । ननु पटे तन्त्ववच्छिन्नचिदेवोपादानम्, नतु तन्तुरिति मते सिद्धसाधनम्; तादात्म्यसंब-

जन्यत्वश्रवणात्, तस्य भूताकाशपरतया संकोचे प्रमाणाभावात् इति नाद्ययोराकाशेऽसिद्धिः । शशशृङ्गस्यानधिष्ठानत्वेन शशशृङ्गं तुच्छं नेत्याकारकप्रमाप्रसिद्ध्या तुच्छे व्यभिचारस्याप्रसङ्गेन तृतीयपक्षोऽपि समीचीन एव । एतेन—विवादा-
ध्यासिताः स्वानुगतप्रातिभासिके कल्पिताः’ इत्यानन्दबोधीयमनुमानं, ‘सद्रूपे कल्पितमिति’ ब्रह्मसिद्धिकारीयानुमानमपि साध्वेवेति—सूचितम्; गोत्वाद्यपरिचितव्यक्तिविशेषविशिष्टसत्सामान्यस्यैव गौरिति व्यवहारजनकत्वेऽङ्गीकृतेऽपि सर्वगो व्यक्तिषु एकस्या एवाखण्डकारणतारूपायाः शक्तेरङ्गीकारेण प्रकृत्यर्थविशिष्टसत्ताया अन्यत्रानङ्गीकारेण च नानार्थकत्वस्य गोत्वमश्ववृत्तीत्यतिप्रसङ्गस्य च वारणसंभवेन गोत्वादौ प्रमाणाभावेनोक्तव्यभिचाराप्रसक्तेः । उक्तं चैतत्—‘संबन्ध-
भेदात्सत्तैव विद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः’ ॥ इति ॥ यद्यपि आनन्दबोधानुमाने कल्पितपदेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वविवक्षायामेवोक्तदोषप्रसारात् तत्र तद्वति तदभावरूपस्य कल्पितत्वस्य विवक्षणे नोक्तव्यभिचार इति न सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वादिजातिनिराकरणमपेक्षितम्, एवं ब्रह्मसिद्धिकारानुमाने कल्पितपदेन तद्वति तदभावस्य विवक्षणे ज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्य विवक्षणे च खण्डमुण्डादीनां गोत्वानुविद्धतया प्रतीयमानानां सद्रूपे कल्पितत्वस्य विद्यमानत्वात् न व्यभिचार इति तदर्थमप्युक्तजातिनिराकरणं नापेक्षितम्; तथापि यत् जातीनां सद्रूपत्वमविद्याशक्तिविशेषरूपत्वमिति पक्षद्वयमस्मदीयैः कैयटादिभिश्चाचार्यैरुक्तम्, तत्राद्यपक्षस्य दुष्टत्वात् प्रकृतानुमाने व्यभिचार इति परैरुक्तमसंगतमिति निरूपयितुं तन्निराकरणं कृतमिति मन्तव्यम् । सद्भानानन्दांशानां मध्ये आनन्दांशरूपेणैव ब्रह्म मूलज्ञानेनावृतम्; पूर्णानन्दो मे न भातीति प्रत्ययात्, सद्भानरूपे भात इति प्रत्ययाच्च । एवंशक्त्यज्ञानेन सदावरणभङ्गेऽपि आनन्दावरणाभिभवाभा-
वाच्चानन्दप्रकाशापत्तिः कल्पितभेदेनांशोऽंशभावकल्पनेऽपि यथा नाखण्डार्थत्वहानिः, तथाप्यत्र विस्तरः इति सदात्मना ब्रह्म न मूलज्ञानेनावृतमिति यदुक्तं तत्संगतमेव । सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वमप्यत एवोपपादितम्; आनन्दांशेनाव्यक्तत्वेऽपि सदात्मना व्यक्तत्वेन चाक्षुषत्वोपपत्तेः । एतेन—‘नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं’ ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’ इत्यादि श्रुतयोऽपि—व्याख्याताः; तेषामपि पूर्णानन्दांशविषयकत्वात् । एतदभिप्रायेणैवोक्तम्—‘अतोऽनुभव एवैषो विषयोऽज्ञा-
तलक्षणः । अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता’ ॥ इति ॥ यैर्हि ज्ञानविषयत्वमेव सत्ता, नान्या जाल्यादिरूपा गुणादौ जाल्यस्वीकारात्, साच सर्वेन्द्रियजन्यधीविषयः, ज्ञानमात्रस्य स्वविषयकत्वस्वीकारेण स्वविषयताशालित्वस्वीकारेण च घटो मया ज्ञात इत्याकारकत्वस्यापि संभवात् इत्युच्यते, तेषां मीमांसकानां मतरीत्या योग्यव्यक्तिवृत्तिजातित्वेन चाक्षुषत्व-
मित्यादिरूपेण वैषम्यस्यासंभवेन सत्तादृष्टान्तोऽपि नानुपपन्नः । वस्तुतस्तु—वैशेषिकादिमते सत्तायाः सर्वेन्द्रियजन्यधी-
विषयत्वसत्त्वेन तन्मतेनापि दृष्टान्तत्वमुपपद्यते । यत्तु तैः योग्यव्यक्तिवृत्तिजातित्वमेव चाक्षुषत्वादिप्रयोजकमित्युच्यते तत्रास्माभिः सद्रूपत्वमेव तत्र प्रयोजकमित्युच्यते । प्रयोजकविषये विवादेऽप्यभिमतान्शेन न विवाद इति न कोऽपि दोषः । एतेन—कालचाक्षुषतापि—व्याख्याताः; अतएव हि धारावाहिकस्थले द्वितीयादिक्षणावच्छिन्नज्ञानानामपि प्रमात्वोप-
पत्तिः । उपनयमर्यादया तद्भानेन द्वितीयादिज्ञानानां चाक्षुषप्रमात्वानुपपत्तिः । एवं च घटाद्यवच्छेदेन ब्रह्मणः चाक्षुषता-
वादो युक्त एव । तदाकारचक्षुर्द्वारकवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यतादात्म्यापन्नचैतन्यत्वतदवच्छेदकत्वयोरेव चाक्षुषत्वप्रयोजकत्वेन तस्य सद्रूपत्वमिति सत्त्वेऽप्याकाशेऽभावाच्च शब्दावच्छेदेनाकाशस्य श्रावणत्वापत्तिः । एवं चन्द्रावच्छेदेन राहुप्रत्यक्षत्वस्या-
प्युपपत्तिः, तत्र तदाकारवृत्तिं प्रति चन्द्रसंबन्धः परं प्रयोजक इति विशेष इति न काप्यनुपपत्तिः । अस्तु वा द्रव्य-
प्रत्यक्षे रूपापेक्षा एवमपि ब्रह्मणोऽद्रव्यत्वेन न चाक्षुषत्वानुपपत्तिः । महान्तं विभुमात्मानमित्यादीनां तु तदस्थविधया स्वरूपोपलक्षणत्वाच्च द्रव्यत्वसाधकत्वम् । सर्वत्र प्रसिद्धसूत्रादिकं तु सगुणविषयमिति नात्र तस्यावकाशः । एतेन—
अनुमानमपि—पराहतम्, द्रव्यत्वस्य ब्रह्मविषयसत्ताकतया ज्ञाननिर्वर्त्यत्वेऽपि बाधकश्रुत्यादिभिरेव सिद्धत्वात् धर्म्यन्यून-
सत्ताकद्रव्यत्ववत्येव रूपापेक्षेति नियमसंकोचेनापि सर्वमुपपद्यत इति परिच्छिन्नत्वमपि हेतुरेव—इति वर्णयन्ति ॥

इति परिच्छिन्नत्वनिरुक्तिः ।

इत्युक्तम् । तत्र तन्तुपदमुपादानपरम्, एतेनोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्व-
सिद्धिः । नच—कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन
वा उपपत्त्या अर्थान्तरं च इति—वाच्यम्; अभेदे कार्यकारणभावव्याहृत्या कथंचिदपि भेदस्यावस्था-
भ्युपेयत्वात् । नच ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य’ इत्यधिकरणविरोधः; उपादानव्यतिरेकेणोपादेयं
नास्तीत्यस्यैव तदर्थत्वात् । बाधातन्मात्राश्रितत्वेन पक्षविशेषणाद्वा नार्थान्तरम् । नच प्रकृतेऽपि
बाधः; तस्योद्धरिष्यमाणत्वात् । नचात्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पावकाशः, तस्य
प्रागेव निरस्तत्वात् । नच—कस्यचित् पटस्य संयोगवृत्त्यैतत्तन्तुषु सत्त्वेन तत्र व्यभिचार इति—
वाच्यम्; तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वतः तत्संयोगिनस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वाङ्गीकारेण पक्षसमत्वात् । नचाव्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरम्; पटतदभावयोरेकाधिकरण-
वृत्तौ विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्, संयोगतदभावयोरप्येकाधिकरणवृत्तित्वानभ्युप-
गमात् । अभ्युपगमे वा एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्य विशेषणं देयम्; एवमेतत्काली-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्येन तन्तौ पटस्यात्यन्ताभावसत्त्वात्, किंच पटान्तरे तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानुमानसाधारण्या एकोक्तेरलाभश्च,
तत्राह—तत्रेति । एतत्पदं तु पक्षीभूतव्यक्तिपरमित्याशयेन तत्स्थाने स्वपदमाह—स्वेति । सिद्धसाधनमिति । यथा
तत्पटे तस्यात्यन्ताभावः स्वीक्रियते, तदधिकरणत्वस्यैव तदत्यन्ताभावविरुद्धत्वेन तत्तादात्म्यस्य तदत्यन्ताभावाविरुद्धत्वात्;
तथा तदभिन्नतन्तावपीति भावः । अनाश्रितत्वेनेति । तत्पटस्येत्यादिः । अन्येति । तत्तन्तुभिन्नेत्यर्थः । उपपत्त्या
स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्योपपत्त्या । यैस्तन्तुपटयोस्तादात्म्यमुच्यते, तेषां परिणामवादिनां सिद्धसाधनम् । यैस्त्वा-
धाराधेयभावस्तेषामारम्भवादिनामर्थान्तरम् । एतदनुमानबलादनाश्रितत्वादिसिद्धिः; अन्यथा तत्पटाश्रयत्वतत्पटाभाव-
योस्तत्तन्तौ विरोधात्, नहि तावता मिथ्यात्वरूपोद्देश्यसिद्धिः; तदनधिकरणे तदत्यन्ताभावस्य सर्वसंमतत्वादिति भावः ।
अभेदे अत्यन्ताभेदे । कथंचित् स्वकीयधर्मिप्रतियोगिनोर्यस्तादात्म्यरूपः संबन्धः तत्समसत्ताकस्य । भेदस्येति ।
परिणामवादिभिरिति शेषः । तथा चासंबन्धयोः कार्यकारणत्वासंभवेन तन्तुपटयोस्तादात्म्यसंबन्धोऽवश्यं वाच्यः; स च
भिन्नयोरेवेति भेदोऽप्यावश्यकः । एवं च ययोर्यः संबन्धस्तयोरेकत्र परस्य तेन संबन्धेनात्यन्ताभावस्यासंभवात्तादात्म्य-
संबन्धेन तन्तुपटयोर्न परस्पराल्यन्ताभाववत्त्वं परिणामवादिभिर्वक्तुं शक्यम् । ततश्च तन्तुनिष्ठस्यात्यन्ताभावस्य तादात्म्य-
संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वं तत्पटे न तेषां सिद्धम् । नच—अत्यन्ताभावप्रतियोगितायास्तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नत्व-
स्यासंभवः, संभवे वा भेदप्रतियोगिताया ऐक्यसंबन्धावच्छिन्नत्वमेव वाच्यम्; तादात्म्यवतोरपि भेदसत्त्वेन तत्प्रति-
योगितायास्तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नत्वासंभवात्, तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वस्य भेदलक्षणत्वासंभ-
वेनैक्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्; तच्चानिष्टम्, ऐक्यस्य संबन्धत्वे ‘घटः कलश’ इत्यादि-
प्रत्ययापत्तेरिति—वाच्यम्; भेदप्रतियोगितायाः संबन्धानवच्छिन्नत्वस्वीकारेण संबन्धानवच्छिन्नकिंचिद्धर्मावच्छिन्न-
प्रतियोगिताकाभावत्वस्यैव भेदलक्षणत्वात् । ध्वंसप्रागभावयोर्हि प्रतियोगिता संबन्धेनैव धर्मेणाऽपि नावच्छिद्यते ।
नच—तथाऽपि प्रतियोग्याश्रयत्वेनैवात्यन्ताभावस्य विरोधात् तन्तौ पटाल्यन्ताभावः परिणामवादिनां सिद्ध इति—
वाच्यम्; प्रतियोगितावच्छेदको यः प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकः संबन्धः तदनुयोगित्वेनैव सममत्य-
न्ताभावस्य विरोधात् । अतएव धनानधिकरणे धनस्वामिनि पुरुषे अयं स्वामित्वसंबन्धेन धनाभाववानिति धीर्न प्रमा;
मण्यादिवृत्तिवृणादौ च न दाहाद्युत्पत्तिः; तत्र संयोगेन मण्याद्यभावस्यासत्त्वात् । ‘बदरे कुण्डं ने’त्यादिधीस्तु वृत्तिनि-
यामकसंयोगेन कुण्डादेरभावं गाहते । अतएव च—‘पृथिवीत्वादिकं प्रति संयोगेन गगनादेर्व्यापकत्वं गगनाद्यभाव-
वतोऽपि पृथिव्यादेः संयोगेन गगनादिसंबन्धित्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणगगनाद्यभावविरहा’दित्यर्थकं दीधितिवाक्ये
उत्पत्तिकालावच्छेदेन पृथिव्यादौ संयोगेन समवायेन वा गगनादेरभावो विद्यमानोऽपि स न प्रतियोगिव्यधिकरण इत्यर्थः
इति—व्याचक्षते । बाधात् अनाश्रितत्वबाधात् । कारणानाश्रितत्वस्वीकारेऽपि पटादेर्भूतलाद्याश्रितत्वादिति शेषः ।
तन्मात्राश्रितत्वेन स्वोपादानान्यस्मिन् स्वोपादानजन्यतावच्छेदकसंबन्धनासंबन्धित्वेन । प्रामाणिकत्वेति ।
तात्त्विकत्वेत्यर्थः । प्रागेवेति । तात्त्विको व्यावहारिको वेत्यादिनेति शेषः । ननु ‘तन्तुषु दशायां न पट’ इति
प्रत्ययात् पटस्य तादात्म्यादिसंबन्धेन तन्तावव्याप्यवृत्तित्वम्, तत्राह—संयोगेति । अनभ्युपगमादिति ।
तथाच ‘अग्रे वृक्षे संयोगो ननु मूले’ इति धीः वृक्षनिष्ठाग्रमूलवृत्तिसंयोगतदभावावगाहते, ननु वृक्षनिष्ठौ ताविति
नैकस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वमिति भावः । नन्वेवं मूलादावपि न संयोगादिसत्त्वं स्यात्; ‘भूतले उपरिभागे संयोगो
न त्वन्यभागे’ ‘उपरिभागे तद्विधि संयोगो न ‘त्वन्यदिशि’ इत्यादिप्रत्ययात्, तस्मान्मूलादेरवच्छेदकत्वावगाहनात्

नत्वमपि । तेन कालान्तरीयाभावमादाय नार्थान्तरम् । नचेह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षवाधः; तस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवदप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितत्वेनावधकत्वात् । बाधोद्धारे च विस्तरेणैतद्वक्ष्यामः । नच—अन्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तुसमवेतत्वं विना न युक्तमिति विरुद्धो हेतुरिति—वाच्यम्; एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽप्येतत्तन्तुसमवेतस्य सत्त्वेनांशित्वस्य साध्येनाविरोधात् । एतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति; परमते केवलान्वयिधर्ममात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्तेः, किंत्वेतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादिकम्; तच्चैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न विरुद्धमित्युपपादितमधस्तात् । एतत्समवेतत्वं चैतदुपादानकत्वम्, ननु नित्यसंबन्धशालित्वम्; तस्यानभ्युपगमात् । ननु—अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्तवारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवदिति प्रतिरोधः; नचाप्रसिद्धविशेषणत्वम्; एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववदिति सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः । नच—आकाशात्यन्ताभावस्य घटादौ संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वग्रहात् तस्य च केवलान्वयित्वेन किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात् तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्; संसर्गाभावप्रतियोगित्वानधिकरणे केवलान्वयिनि धर्मे सत्त्वेनाकाशात्यन्ताभावस्य संसर्गाभावप्रतियोगित्वाप्यत्वेन व्यभिचाराभावात्—इति चेन्न; यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, तत्रैतत्तन्तवारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तावेतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वेन प्रतिरोधस्य हीनबलत्वात्, एतत्तन्तवारब्धत्वाभावव्यापकस्यैतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वृक्षादेरधिकरणत्वावगाहनात्संयोगादेर्मूलाद्यवच्छिन्नवृक्षादिनिष्ठाधिकरणता नापलभ्या, तत्राह—अभ्युपगमे वेति । एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं तत्पदानवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वम् । तेन मिथ्यात्वघटकात्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकत्वास्वीकारेऽपि न क्षतिः । अनवच्छेदकेत्यत्र देशकालसाधारणमवच्छेदकत्वं निवेश्यमित्याशयेनाह—एवमिति । प्रयोजकं समव्यापकम्, ननु व्याप्यमात्रं व्यापकमात्रं वा । आद्ये तदुक्तेर्व्यर्थत्वात् । द्वितीये केवलान्वयिनि वक्ष्यमाणापत्यसंभवात् । केवलान्वयीति । उपलक्षणमेतत् । केवलव्यापकमपि न भवति; तत्त्वग्राहककर्ताभावात् । ननु प्रागभावप्रतियोगित्वमपि न व्यापकम्, तत्तन्तुसमवेतद्रव्यत्वादौ तदभावात्तत्राह—एतत्समवेतत्वमिति । एतत्तन्तुनिष्ठेत्यादि । उक्तसाध्याभाववान्, तत्पटोपादानोपादानकत्वादित्यर्थः । यथाश्रुते तत्पटस्याव्याप्यवृत्तित्वेन बाधः । तत्संयोगजन्यत्वरूपस्य तदारब्धत्वस्य परिणामवादादिष्वसिद्धिश्च । प्रतियोगित्वं प्रतियोगितात्वम् । प्रतियोगि प्रतियोगितावच्छेदकम् । उद्देश्यतावच्छेदके विधेयावच्छेदकत्वस्य व्युत्पत्तिरभ्यव्याहोक्तार्थलाभः । किंचिन्निष्ठेत्याद्यनुमानं न संभवदुक्तिकम्; संसर्गाभावप्रतियोगित्वस्यैव तादात्म्येन हेतुत्वसंभवेन व्याप्यत्वांशवैयर्थ्यात् । किंच व्याप्यत्वं यदि केनचिद्रूपेणोच्यते, तदा आकाशाभावस्यापि घटादिवृत्तित्वविशिष्टरूपेण तदस्यैवेति व्यभिचारः । नच—व्याप्यतावच्छेदकोक्त्यरूपेण साध्यस्यापि तत्र सत्त्वान्न व्यभिचार इति—वाच्यम्; तथा सति 'नचाकाशात्यन्ताभावस्य'त्यादिशङ्काग्रन्थस्य निरालम्बनत्वेन भ्रान्तशङ्कापरत्वापत्तेः । नच—संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वं येनकेनचिद्रूपेण, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तूभयावृत्तिधर्मेणेत्यभिप्रेत्याशङ्का, उत्तरं तु उभयावृत्तिधर्मेणैव व्याप्यत्वमपि निवेश्यमित्यभिप्रायेणेति नोक्तदोष इतीति—वाच्यम्; तथासति एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपपक्षे उभयावृत्तिना तत्प्रतियोगिताव्यक्तित्वेनात्यन्ताभावे सिद्धेऽप्यस्यदीयसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावानुमानासिद्ध्या सत्यतिपक्षसिद्धेः । अथोक्तमूलवाक्यमुपेक्ष्य येन रूपेण व्याप्यत्वं तेनैवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमप्युच्येत, तथापि तद्व्यक्तित्वेनात्यन्ताभावसिद्ध्या न सत्यतिपक्षसिद्धिः । अथ येन येन व्याप्यत्वं तेन तेनोक्तप्रतियोगित्वमित्युच्यते, तथापि येन येनेति वीप्सालब्धयावद्रूपमध्येऽत्यन्ताभावप्रतियोगितात्वसंसर्गाभावप्रतियोगितात्वयोरपि पतितत्वेन ताभ्यामेव तदुक्तिरुक्ता । अत्यन्ताभावप्रतियोगितात्वेन तदुक्तौ साधनवैकल्यम् । संसर्गाभावप्रतियोगितात्वेन तदुक्तौ स्वव्यापकसाध्यसमानाधिकरणवृत्तिहेतुतावच्छेदकरूपव्याप्तिरूपे साधने संसर्गाभावप्रतियोगितात्वस्य प्रविष्टत्वेन तस्यैव हेतुतावच्छेदकत्वसंभवेनेतरांशवैयर्थ्यम् । अत्यन्ताभावप्रतियोगितात्वस्योक्तव्याप्तौ प्रविष्टत्वेन तस्यैव हेतुतावच्छेदकत्वसंभवेनेतरांशवैयर्थ्यं च । नच—अस्तु तथैवेति—वाच्यम्; अप्रयोजकत्वात्, तथापि तदभ्युपेत्य दूषणान्तरमाह—यत्रैतदिति । प्रागभावास्वीकारपक्षे एतदुपादानकान्यत्वमेवोपाधिः । तादृशप्रतियोगित्वेन संदिश्यमाने पक्षे यद्युपाधिनिश्चयः स्यात्, तदा तादृशप्रतियोगित्वरूपसाधनव्यापकत्वमुपाधौ निश्चीयेत, स तु नास्तीत्याशयेन पक्षावृत्तेरित्युक्तम् । पक्षावृत्तित्वेन निश्चितस्येत्यर्थः ।

योगित्वस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया संदिह्यमानैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्, दृश्यत्वाद्यनुपपत्तिप्रतिकूलतर्कपराहतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च । अतएव एतत्तन्त्वनारब्धत्वमपि नोपाधिः; उपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेके साध्यमाने सोपाधिकत्वस्योक्तत्वात्, अव्याप्यवृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचाराच्च । अतएव यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वनारब्धत्वमिति न साध्यव्यापकताग्रहोऽपि तत्रैव व्यभिचारादिति सर्वमनवद्यम् ॥

एवंच—‘विमतं, ज्ञानव्यतिरेकेणासत्, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, स्वप्नादिवदि’ति—विद्यासागरोक्तमपि साधु ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमत्वं साध्यम् । ज्ञानव्यतिरेकेणानु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संदिह्यमानेत्यादि । संदिह्यमानं यत् उक्तं प्रतियोगित्वं तद्व्यापकत्वानिश्चयादित्यर्थः । तथाचैतदारब्धत्वाभाव-
व्यापकस्योपाधेरव्यभिचारित्वेन हेतुना एतदारब्धत्वाभावव्यभिचारित्वमेतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे अनुमेयम् ।
अत एतदनारब्धत्वे तादृशप्रतियोगित्वव्यापकतानिश्चयो न संभवतीति भावः । नच—उक्तोपाध्यभाववति तादृश-
प्रतियोगित्वस्य संशयाच्चादृशप्रतियोगित्वे उक्तव्यभिचारित्वरूपहेतोरनिश्चय इति—वाच्यम्; एतत्तन्तुपदस्य तत्पटो-
पादानपरतया तत्पटोपादानीभूतं यत्तन्त्ववच्छिन्नचैतन्यं तन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूपोपाध्यभाववति तादृश-
चैतन्यारोपितसर्पादौ स्वोपादानवृत्तिस्वावच्छेदकावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वनिश्चयस्य परेणापि वाच्यतयोक्त-
व्यभिचारित्वरूपहेतोर्निश्चयानपायात्, तादृशव्यभिचारित्वस्यानिश्चयेऽपि तत्संशयाहितेनैतदारब्धत्वाभावव्यभिचारित्व-
संशयेनोक्तव्यापकतानिश्चयप्रतिबन्धसंभवाच्च । उक्तत्वादिति । उपाध्यभावे साध्याभावस्य व्यतिरेकव्याप्तेरेव
वाच्यतया तत्रैतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्योपाधेरुक्तत्वादित्यर्थः । तत्र व्यभिचारादिति । दशावच्छिन्नसंयोगादौ
तत्पटावच्छेदकावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपस्य साध्याभावस्य तत्तन्वारब्धत्वरूपस्य हेतोश्च सत्त्वाद्यभिचार
इति भावः । अत्यन्ताभावे तत्पटावच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकत्वं विशेषणं देयमित्यभिप्रेत्येदम् । यदि तु उक्तरीत्या तत्पटा-
नवच्छेदकानवच्छिन्नत्वं विशेषणं दीयते, तदा तत्पटावच्छेदकावच्छिन्ने संयोगध्वंसदौ व्यभिचारो बोध्यः । ध्वंसस्यापि
परिणामवादे सूक्ष्मावस्थारूपपरिणामत्वेन तत्तन्वारब्धत्वात् । नच—स्वावच्छेदकावच्छिन्नसमानाधिकरणान्यन्ता-
भावाप्रतियोगित्वस्यैव साध्यतया संयोगादौ तादृशप्रतियोगित्वस्थापनकाले व्युत्पत्तिस्वाभाव्येन तस्यैव स्वपदेन
धार्यतया नोक्तव्यभिचार इति—वाच्यम्, प्रकृतानुमानस्य नव्यमत एव स्वीकारात् । तत्र स्वत्वस्यानुगत्वेन
तत्पटावच्छेदकत्वेनैव साध्ये निवेशात्, साध्योपाध्योः तत्तन्तुपदस्य तत्पटोपादानपरतया तत्तन्त्ववच्छिन्नचित्तुपादान-
कसर्पादौ स्वावच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तदुपादानकत्वरूपतदारब्धत्वस्य च सत्त्वाच्च ।
अतएव स्तानवच्छेदकानवच्छिन्नवृत्तिकत्वनिवेशोऽपि तत्र व्यभिचारः; तस्य परेणापि मिथ्यात्वस्वीकारेण तदत्यन्ता-
भावस्यावच्छिन्नवृत्तिकत्वाभावात् । तत्संयोगजन्यत्वरूपं तदारब्धत्वं तु पक्षेऽपि मन्मते नास्त्येवेति भावः ॥

चिदाभासेत्यादि । चिदाभासं स्वावच्छिन्नचित्तं विनानुपलभ्यमानत्वम्, तादृशचित्तमनपेक्ष्यैव यत् प्रकाशते
तदन्यत्वम्; स्वप्रकाशान्यत्वमिति यावत् । ननु—विमतं, मिथ्या, धीकाल एवान्यथा प्रतीतत्वात्, चित्रनिम्नोन्नता-
दिवत्, भारूपवस्तुसंलग्नत्वात्, सवितृच्छिद्रादिवत्, नचासिद्धिः; धीकाल एव ‘इदं सर्वं यदयमात्मे’त्यादिश्रुत्या
सर्वानात्मन आत्मत्वेन प्रमितत्वात्, ‘घटादि स्फुरती’ति ‘भारूपसंलग्नत्वा’चेति कौमुदीकाराः । तत्रान्यथेत्यस्य
आत्मत्वेनेत्यर्थकत्वे सद्रूपात्मत्वेन प्रतीतत्वस्यामिथ्यात्वव्याप्यत्वेन विरुद्धो हेतुः, प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रति-
योगित्वेनेत्यर्थकत्वे त्वसिद्धिः, व्यर्थविशेषणता च, द्वितीयहेतुः सवित्रात्मनोर्व्यभिचारी, ‘सविता प्रकाशते’ ‘आत्मा
स्फुरती’ति तयोर्भासंलग्नत्वात्, तत्राह—एवमिति । अन्यथाप्रमितत्वादित्यस्य प्रपञ्चविलक्षणरूपेण यत् प्रमितं
तत्तादात्म्यादित्यर्थः । तच्च कल्पितं ब्रह्मण्यपीति धीकाल इत्युक्तम्, स्वधीकाल इत्यर्थः । ब्रह्मधीकाले च ब्रह्मणि
तन्नास्ति; तस्याः स्वेतरकल्पितनाशकत्वात् । स्वधीसमुत्पत्तिद्वितीयक्षणा वा स्वधीकालपदार्थः । तथाच ब्रह्मधीसमुत्प-
त्तिद्वितीयक्षणाप्रसिद्धेर्न ब्रह्मणि तदस्ति । ब्रह्मावृत्तिचित्तादात्म्यं पर्यवसितम् । भारूपसंलग्नत्वं स्वप्रकाशस्वरूपा-
वृत्तिधर्मत्वम्, सवितरि तु न व्यभिचारः; तस्यापि पक्षत्वात् । ननु—यत्रैतत्तन्तुनिष्ठेत्यादिकं यदुक्तं, तदयुक्तम्;
तथा सति व्यतिरेकिमात्रोच्छेदापत्तेः, ‘पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते, पृथिवीत्वा’दित्यादावपि ‘यत् पृथिवीतरत्, तत्र
पृथिवीत्वाभाव’ इत्यादिव्यासिग्रहे पाकजरूपाभावस्य पृथिवीत्वाभावव्यापकस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया संदिह्यमान-
पृथिवीतरत्वव्यापकत्वाभावात्—इति चेन्न; साध्यासमानाधिकरणधर्मवत् यत् साधनवत्तन्निष्ठाभावप्रतियोगिताव-
च्छेदकः साध्यसमानाधिकरणवृत्तिर्यो धर्मस्तद्वत्त्वरूपस्य दीधितिकाराद्युक्तस्योपाधिलक्षणस्य पाकजरूपाभावे विरहात्,
पृथिवीतरतादात्म्येन निश्चिते जलादौ पृथिवीत्वाभावरूपसाध्यासमानाधिकरणधर्मस्याभावात्, पाकजरूपाभाव-

पलभ्यमानत्वं चिदाभासे सत्येवोपलभ्यमानत्वं हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवमन्येषामपि प्रयोगा यथायोगमुपपादनीया इति शिवम् ॥ इत्यंशित्वहेतूपपत्तिः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपोपाधिव्यभिचारित्वस्य पृथिवीतररूपसाधने निश्चयाभावेन तेन हेतुना तत्र पृथिवीत्वाभावरूपसाध्यव्यभिचारित्वानुमानासंभवात्, सत्प्रतिपक्षोन्नायकतया दूषकत्वस्य तत्रासंभवाच्च । नच—तथापि संदिग्धोपाधित्वेन दूषकत्वं तत्रापि स्यादिति—वाच्यम्; साध्योपाध्योर्व्याप्तिग्राहकतर्कसत्त्वात् । उक्तं हि मणौ—‘यत्र साध्यहेत्वोः साध्योपाध्योश्च व्याप्तिग्राहकसाम्यात् नैकत्रापि व्याप्तिनिश्चयस्तत्रैव संदिग्धोपाधित्व’मिति । उक्तोपाधौ तु उक्तलक्षणमस्येव; उक्तप्रतियोगित्वरूपसाधनवत्त्वेनोभयवादिनिश्चिते तत्तन्ववच्छिन्नचिदुपादानकसर्पादौ तत्पटोपादानोपादानकत्वाभावरूपसाध्यासमानाधिकरणधर्मनिश्चयात् । नचैवं उक्तसर्पादावुभयोर्वादिनोः निरुक्तसाधननिश्चयसंभवेन साधनाव्यापकत्वसौलभ्यात् पक्षावृत्तेः पक्षावृत्तितया संदिग्धमानेत्याद्युक्तिर्मूले व्यर्थेति—वाच्यम्; यद्युक्तसर्पादेर्नोपस्थितिः, तदापि तत्रैतत्तन्वित्यादिव्याप्तिग्राहकतर्काभावात् उक्तोपाधेः संदिग्धोपाधित्वमित्याशयेन तथोक्तेः सार्थक्यात् । ननु—मिथ्यात्वघटके अत्यन्ताभावे तात्त्विकत्वस्वीकारे अद्वैतश्रुतिविरोधः, नच—ब्रह्मस्वरूपत्वस्य तत्र स्वीकाराच्च स इति—वाच्यम्; मण्डनमते भावाद्वैतस्वीकारेणैव तत्परिहारात्; उक्तस्वीकारे च श्रुतिसंकोचेन विरोधस्य स्फुटत्वात्, किञ्च अभावस्य सत्यत्वे तत्राभावत्वस्य ब्रह्मणि चाभावसंबन्धस्यावश्यवाच्यत्वात् भावाद्वैतमपि दुर्लभम् इति—चेन्न; अभावत्वस्याभावाश्रयत्वादेश्च स्वाश्रयरूपत्वात् । नच—द्वितीयाभावस्य तात्त्विकत्वं तत्त्वावेदकप्रमाणवेद्यत्वाद्वाच्यम्, तादृशप्रमाणं च श्रुतिरेवेति वाच्यम्; तथाचानुपपत्तिः । ‘एकमेवाद्वितीय’मित्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वेन अभावसंबन्धप्रमाणकत्वादिति—वाच्यम्; मिथ्यात्वानुमाने स्वसमानाधिकरणस्य स्वाधिकसत्ताकात्यन्ताभावस्य मण्डनमते साध्ये निवेशेन तस्यैव तत्त्वावेदकत्वात् । तात्त्विकद्वैताभावविषयकत्वादेव हि तस्य द्वैतग्राहकप्रत्यक्षादिबाधकत्वमिति मण्डनाभिप्रायः । किञ्च तत्त्वज्ञानोद्देशेन मुमुक्षूणां प्रवृत्तेस्तत्त्वज्ञानकार्योऽविद्याध्वंसस्तात्त्विको वाच्यः, तस्य मिथ्यात्वे तत्त्वधीबाध्यत्वेन तत्कार्यत्वानुपपत्तेः । एवंच मिथ्यात्वघटकोऽत्यन्ताभावोऽविद्याध्वंसश्च मण्डनमते तात्त्विकः, न त्वभावान्तरम्; अभावत्वास्यातिरिक्तत्वस्वीकारे तदपि मिथ्या, प्रतियोगिताया इवानुयोगिताविशेषरूपस्य तस्य मिथ्यात्वसंभवात्, दृश्यत्वादिकं चोक्ताभावव्यावृत्तमेव मिथ्यात्वे हेतुरिति न व्यभिचारः । तस्मात् मण्डनमतमप्यदोषम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां अंशित्वहेतूपपत्तिः ॥

अथ अंशित्वनिरुक्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अंशित्वमपि न हेतुः; कार्यकारणयोरभेदेन तस्य तत्रैव कारणे कार्यस्याप्यभावस्य सिद्धत्वेन सिद्धसाधनात्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन वोपपत्तावर्थान्तरात्, प्रत्यक्षबाधादुक्तानाश्रितत्वादिवारणे तत एव साध्यस्यापि बाधात्, अत्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वादिविकल्पनेन पूर्वोक्तदोषापत्तेश्च । अभावरूपधर्मसत्त्वेऽपि नाद्वैतविरोधः । भावाद्वैत एव अद्वितीयादिश्रुतितात्पर्यात् इति मण्डनमतं तु न युक्तम्; अखण्डार्थेन वेदान्तेनाभावब्रह्मोभयबोधनासंभवेनान्यस्य च प्रत्यक्षानुमानादिरूपस्य तत्त्वावेदकस्य अभावेन च प्रामाणिकत्वाभावात् । अभावत्वतदाश्रयतदाश्रितत्वादिभावपदार्थानामप्यङ्गीकारात्स्वामिमतसिद्ध्यसंभवात्, अद्वितीयादिपदानाम् ‘अग्र आसीदि’ति पूर्वतनवाक्योपपत्त्यर्थं भावेतरनिषेध एव तात्पर्यमित्येव संकोचापत्तेः, यथाकथंचिदभावनिषेध एवेत्युपपादनेऽपि भावस्याप्यभावाभावत्वेन निषेधानापत्त्या अनाश्वासप्रसङ्गात् । एतेन—अन्योन्याभावत्वेन भेदानिषेधापत्तिरिति—सूचितम् । वस्तुतस्तु—अभावे सप्रतियोगिकत्वस्य स्वाभाव्यादभावनिषेधे प्रतियोगिनामनिषेधोऽर्थसिद्ध एवेति कथं वा मण्डनीयाद्वैतसिद्धिरिति त एव प्रष्टव्याः । अतएव हि ब्रह्मावाच्यतावादोऽप्युपपद्यते; अन्यथा अभावरूपप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावेन अद्वितीयादिपदवाच्यत्वापातादिति—सर्वमनवद्यम् । अस्तु वा यथाकथंचित्साधुत्वमपि; एवमपि प्रतियोगित्वं स्वरूपेणोत पारमार्थिकेनेति विकल्पनिबन्धनानां दोषाणां पूर्वोक्तानामत्र प्रसरान्नाशित्वहेतुनापि मिथ्यात्वसाधनसंभवः । अन्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्नुसमवेतत्वं विनानुपपन्नत्वमित्यंशित्वेन मिथ्यात्वसाधने विरोधात्, संयोगवृत्त्यैवशिष्टात्यन्ताभावप्रतियोगिताशून्ये कस्मिंश्चन पदे व्यभिचारात्, प्रत्यक्षबाधात्, एतत्तन्तूपादानकं, एतत्तन्नुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न, एतत्तन्त्वारब्धत्वादित्यनुमानेन सप्रतिपक्षात्, एतत्तन्वनारब्धत्वरूपोपाधिमत्वाच्च । संयोगतदभावयोर्विरोधस्यैवोभयसंमततया, अविरोधेऽपि द्रव्यत्वरूप-

पक्षधर्मावच्छिन्नोपाधेरेवात्र विवक्षणेन तत्तन्त्वारब्धसंयोगादौ न साध्याव्यापकत्वम्, अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने साध्यव्यापकताभङ्गात्पक्षे नोपाधित्वसंभव इति वचनानुसारेण हेतोरेवात्र प्रयोजकत्वं नोपाधेरिति तु नाशङ्कनीयम्; एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपसाध्यवति ब्रह्मणि अंशित्वहेतोरभावेनोपाधेश्च संभवेनोपाधेरेव प्रयोजकत्वात् । वस्तु-
तस्तु—न साध्यं विनांशित्वमनुपपन्नमिति नानुकूलतर्कोऽपीति सर्वमनवद्यम्—इति वर्णयन्ति ।

(२) सिद्धिकारास्तु—

अंशित्वमपि हेतुः । अमेदे कार्यकारणभावायोगेन कथंचिदपि भेदस्यावश्यमभ्युपेयत्वेन तत्र तस्यैव कारणे कार्याभाव-
स्यासिद्धतया सिद्धसाधनाभावात्, प्रत्यक्षवाधात्तन्मात्राश्रितत्वेन पक्षविशेषणाद्वाऽर्थान्तरानवसरात्, प्रकृतानुमाने बाधाभा-
वस्योपपादयिष्यमाणत्वात्, अत्यन्ताभावस्य व्यावहारिकत्वपारमार्थिकत्वरूपपक्षद्वयेऽपि दोषाभावस्योपपादितत्वात् । मण्ड-
नमतमपि युक्तमेव । 'नेह नानास्ती'त्यादि श्रुतेरखण्डार्थत्वेऽपि तद्वारभूतविशिष्टवाक्यार्थमूलकमिथ्यात्वानुमानस्यापि स्वाधि-
कसत्ताकाल्यन्ताभावपरस्य तत्त्वावेदकप्रमाणस्य विद्यमानत्वेनाभावस्य तत्त्वावेदकप्रमाणवेद्यत्वात् । अभावत्वतदाश्रयत्वादीनां
तु तत्तद्धर्मिरूपत्वेन भावाद्वैताविरोधात्, अग्र आसीदित्युपक्रमस्य निषेधार्थसमर्पकस्य तद्वस्तुसत्त्वे प्रमाणाभावेन भावे-
तरनिषेधपरतया संकोचस्यानवसरप्रस्तत्वेन तत्त्वज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्तेः तत्त्वज्ञानसाध्याविद्याध्वंसेऽपि तात्त्विकतायामेवोपपत्त्या
च तदितरनिषेधस्यैव युक्तत्वात् । नह्यभावाभावत्वं तात्त्विकत्वप्रयोजकं, येन भावस्यापि तात्त्विकत्वमापद्येत; किं तूक्तानु-
मानसिद्धाभावत्वमिति नोक्तानुपपत्तेरवकाशः । एतेन—प्रतियोगिमत्तानुयोगिमत्तादिपारमार्थिकतापत्तिरपि—पराहता ।
एतेन—ब्रह्मावाच्यतासिद्धान्तोऽप्युपपद्यते—इति सूचितम् ॥ नहि तद्धर्मत्वमात्रं तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वप्रयोजकत्वम्; रूपा-
दीनामपि घटपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वापत्तेः, किं तु नियमेन तत्पदोच्चारणे तद्विशिष्टतयैव तद्यत्तयुपस्थितिः । नह्यद्वितीयपदोच्चा-
रणमात्रेण तादृशब्रह्मण उपस्थितिर्भवतीति न कोऽपि दोष इति मण्डनमतमपि समीचीनमेव । अभावप्रतियोगित्वं स्वरूपेण
वा पारमार्थिकत्वेन वेति विकल्पनिबन्धनदूषणानि तु नात्र प्रसरन्तीति पूर्वमेव निरूपितम् । एवंचांशित्वहेतुनापि मिथ्यात्व-
साधनसंभवः । तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तत्संयोगिन्यपि तदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्वीकारेण
संयोगवृत्त्यैतत्तन्तुषु विद्यमाने पटविशेषे व्यभिचाराभावात्, इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशि-
कप्रत्यक्षवदप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वेनावधकत्वेनावधात्, एतदुपादानकत्वरूपैतत्समवेतत्वस्यैतन्निष्ठात्यन्ताभावाविरोधितत्वे-
नांशित्वस्य साध्येन विरोधाभावात्, यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तौ
एतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वस्यैतत्तन्त्वारब्धत्वाभावरूपसाध्यव्यापकस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानैतन्निष्ठात्यन्ता-
भावप्रतियोगित्वरूपसाधनाव्यापकस्य चोपाधेर्विद्यमानत्वेन भवदीयसत्प्रतिपक्षानुमानस्य सोपाधिकत्वेन सत्प्रतिपक्षाभा-
वात् । अतएव—अस्मदीयानुमानस्य सोपाधिकत्वमपि—पराहतम्; उक्तदोषात्, अव्याप्यवृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र
व्यभिचाराच्चेति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

कथंचिद्भेदो नाम मिथ्याभेदः । तथाचाभेदस्य सत्यत्वापत्तिः । भेदात्यन्ताभावरूपामेदसत्यत्वं विना भेदमिथ्यात्व-
निरूपणासंभवात्, अधिष्ठानज्ञानावाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यैव मिथ्यात्वात् । एवंच मिथ्याभूतभेदस्य तत्र तस्यापि
विद्यमानत्वेनोक्तसिद्धसाधनं तदवस्थम् । कथंचित्तत्परिहारेऽपि प्रतियोगिकालेऽभावसंसर्गस्य विरुद्धत्वेन संयोगेन पटवति
तत्तन्तौ तदभावाभावेन व्यभिचारः । फलपर्यन्तार्थक्रियापर्यन्तपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्यैव बाधकत्वेनेह तन्तुषु पट
इति प्रत्यक्षबाधः । तदत्यन्ताभावाधिकरणे तत्प्रागभावस्य विरुद्धत्वेनान्यथा वायौ रूपप्रागभावस्यापि प्रसङ्गेन व्यावहारिक-
व्यवस्थाया अप्यसिद्ध्या चैतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वस्यैतत्समवेतत्वाप्रयोजकत्वादेतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव तत्प्र-
योजकत्वेऽङ्गीकृतेऽपि यावदेतत्सत्त्वं एतत्संबन्धवत्त्वरूपैतत्समवेतत्वस्य केवलान्वयिन्यपि विद्यमानत्वेन व्यभिचाराभावा-
दुक्तविरोधः, व्यतिरेकव्याप्तौ पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानाव्यापकत्वेनोपाधित्वे पृथिवी इतरभिज्ञेत्यादावपि पाकजरूपाभावस्य
पृथिवीत्वाभावव्यापकस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानेतरत्वाव्यापकस्योपाधित्वापत्त्या व्यतिरेकिमात्रोच्छेदापत्त्या
अस्मदीयानुमानस्य सोपाधिकत्वाभावेन सत्प्रतिपक्षः, तत एव हेतोरेतत्तन्त्वारब्धत्वरूपोपाधावपि दोषाभावेन युष्मदी-
यानुमानस्य सोपाधिकत्वमित्यादिवहुदोषकल्पितत्वेनांशित्वहेतुना न मिथ्यात्वसाधनसंभवः—इति विवेचयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकाराः पुनः—

अत्यन्ताभेदे कार्यकारणभावव्याहृत्या धर्मप्रतियोगिनोर्यः तादात्म्यरूपसंबन्धः तत्समसत्ताकस्य भेदस्याप्यङ्गीकरणीयतया
ययोर्यः संबन्धः तयोरेकत्र परस्य तेन संबन्धेनाभावस्यासिद्धतया न सिद्धसाधनम् । प्रतियोगितावच्छेदको यः प्रतियो-
गितावच्छेदेकावच्छिन्नप्रतियोगिताकः संबन्धः तदनुयोगित्वेनैव समसत्यन्ताभावस्य विरोधेन तदाश्रयत्वेनैव विरोधस्याप्युक्त-

अथ सोपाधिकत्वनिरासः ।

ननु—दृश्यत्वादिहेतवः सोपाधिकाः तथाहि—स्वबाधकाभिमतबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं स्वबाधका-
बाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वं वा विपक्षाद्यावृत्तं समव्याप्तम्, अतएव व्यतिरेकव्याप्ति-
मदुपाधिः—इति चेन्न; ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्ये मिथ्याभूते साध्याव्यापकत्वात्, पर्वतावयव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

अथ सोपाधिकत्वनिरासः ।

स्वबाधकैत्यादि । यत्रोपाधिः स्थाप्यः सः स्वपदार्थः शुक्तिरूप्यादिः, तद्बाधकत्वेनाभिमतं 'इयं शुक्ति'रित्यादि-
ज्ञानम्, तदबाध्यदोषप्रयुक्तं भानं शुक्तिरूप्यादेर्यस्य तत्त्वं तत्रैव साध्यव्यापकम् । वियदादेस्तु स्वबाधकाबाध्यदोषा-
प्रसिद्धा शुक्तिरूप्यादावेव प्रसिद्धं तत् वियदादिनिष्ठसाधनाव्यापकं बोध्यम् । पूर्वपक्षिणा माध्वेन शुक्तिरूप्यादेरलीक-
त्वस्वीकारात्तद्बाधकं न स्वीक्रियते, अतोऽभिमतेत्युक्तम् । स्वबाधकत्वेन सिद्धान्त्यभिमतेत्यर्थः । तथाच सिद्धान्तिना
तद्बाधकस्वीकारात् प्रत्युक्तोपाधिर्वक्तुं शक्यते, तस्योपाधिज्ञानात् कार्यसंभवादिति भावः । स्वबाधकाबाध्यबाधक-
मिति । स्वं शुक्तिरूप्यादि, तद्बाधकं शुक्तिज्ञानादि, तदबाध्यं बाधकं 'नात्र रूप्य'मित्यादिज्ञानम्, तादृशबाधकं
प्रति निषेध्यत्वेन विषयः शुक्तिरूप्यादिः । स्वबाधकाबाध्यविषयत्वं वियदादावप्यस्ति, तादृशचिद्विषयत्वस्य तत्र
सत्त्वात्, अतो बाधकं प्रति निषेध्यत्वेनेति । तथाच स्वबाधकाबाध्यस्वाभावधीर्यस्य तत्त्वं पर्यवसितार्थः ।
आकाशादिबाधकब्रह्मज्ञानबाध्यत्वात् आकाशादावुक्तोपाध्यभावेनोक्तोपाधेः साधनाव्यापकता । विपक्षेत्यादि ।
विपक्षात् ब्रह्मणः तुच्छाच्च, व्यावृत्तम्, अतः समव्याप्तमित्यर्थः । उदयनादिमते समव्याप्तस्यैवोपाधित्वादित्युक्तम् ।
अत एव समव्याप्तत्वादेव । व्यतिरेकव्याप्तिमदिति । ययोः व्यतिरेकव्याप्तिः तयोरेव व्याप्यवृत्तिव्यतिरेको-
रन्वयव्याप्तिः, अतएव पक्षेतरत्वं नोपाधिः; व्यर्थविशेषणत्वेन व्यतिरेके व्याप्यभावादिति मते, साध्यान्वयव्यतिरेको-
न्नायकस्यान्वयव्यतिरेकवत्त्वरूपसाध्यप्रयोजकत्वघटितमुपाधित्वम्, अतएव पक्षेतरत्वे न तदिति मते चोपाधित्वसम्पा-
दनायेदमुक्तम् । साध्याभावव्याप्यस्वाभावकत्वमिति तदर्थः । साधनवदित्यादि । पर्वतावयवावृत्तित्वस्य विशेषणस्य
पर्वतावयवरूपादितो विपक्षाद्यावर्तकत्वमस्ति । एवं स्वबाधकैत्यादिविशेषणस्यापि वासनादिदोषप्रयुक्तविकल्पविषयादली-
काद्यावर्तकत्वमस्तीत्यतः साधनवदित्युक्तम् । तथाच साधनवत्पक्षव्यावर्तकं यत् साधनवद्विपक्षाव्यावर्तकं विशेषणं
तद्वत्त्वेनेत्यर्थः । साधनवद्विपक्षनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकताया यन्निष्ठाया अनवच्छेदकं यत् विशेषणं तत्र तत्

त्वात् । अन्यथा धनानधिकरणे धनस्वामिनि स्वामित्वसंबन्धेन धनाभावप्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः । नापि व्यभिचारादयः,
कार्यसामान्यस्य स्वतादात्म्यसंबन्धेन स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावस्यैवात्र साध्यत्वेन संयोगेनैतत्तन्तौ स्वाभावाभाववति
पटविशेषे व्यभिचाराभावात्, सत्त्वप्रत्यक्षस्य विरुद्धार्थाग्रहिणः सत्त्वविषये परीक्षितत्वाभावेन मिथ्यात्वबाधनासंभवेन
बाधाभावात्, यत्र यदत्यन्ताभावः तत्र न तत्प्रागभाव इति व्याप्तौ काले व्यभिचारादिनाऽत्यन्ताभावाधिकरणेऽपि
प्रागभावसत्त्वस्य पूर्वमुपपादितत्वेन यत्र प्रतियोगितादात्म्ययोग्यता तत्रैव तत्प्रागभावस्याङ्गीकारेण वायौ रूपप्रागभाव-
स्याप्रसङ्गेन व्यावहारिकव्यवस्थाया अप्यविरोधेनैतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वस्यैवांशित्वोपपादकैतदुपादानकत्वरूपैतत्समवे-
तत्वप्रयोजकत्वेन विरोधाभावात्, साध्यासमानाधिकरणधर्मवत् यत्साधनवत्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकसा-
ध्यसमानाधिकरणवृत्तिर्यो धर्मः तद्वद्भूतस्य दीधितिकाराद्युक्तस्योपाधिलक्षणस्य पृथिवीत्वाभावरूपसाध्यासमानाधिकरण-
धर्मस्य कस्यचिदपि जलादौ साधनवति अभावेन पृथिवीत्वाभावसमानाधिकरणधर्मशून्यत्वेन च पाकजरूपाभावेन
एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावरूपसाध्यासमानाधिकरणधर्मवदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपसाधनवदेतत्तन्तुपादानकसर्पादिनि-
ष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावति एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावरूपसाध्यसमानाधिकरणधर्मवति च एतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वे-
भावेन च भवदीयानुमानस्य सोपाधिकत्वेन सत्प्रतिपक्षाभावात्, व्यतिरेकव्याप्तौ पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानाव्यापकत्वेनो-
क्तोपाधेर्याप्तिग्राहकानुकूलतर्काभावेन संदिग्धोपाधितया दोषत्वाङ्गीकारेऽपि व्याप्तिग्राहकानुकूलतर्कसत्त्वेन तादृशपाकजरूपा-
भावस्याप्युपाधित्वशङ्काया अप्रसरेण साध्यव्यापकत्वसमानाधिकरणसाधनव्यापकत्वस्योपाधिलक्षणत्वेऽपि व्यतिरेकिमात्रो-
च्छेदानापत्तेः, तत एवास्मदीयानुमानस्यापि एतत्तन्त्वनारब्धत्वरूपोपाधिप्रस्तत्वाभावेन सोपाधिकत्वस्याप्यभावात् । एवंच
कस्यापि दोषस्याभावेनांशित्वहेतुनापि मिथ्यात्वसाधनसंभव इति सर्वमनवद्यम्—इति विशदयन्ति ॥

इति अंशित्वनिरुक्तिः ॥

वृत्त्यन्यत्वादिवत् साधनवत्पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वाच्च । नच बाधोन्नीत-
त्वात् सोऽप्युपाधिः; बाधस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात् । अपिच यद्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं
तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्; इतरांशे अनुकूलतर्काप्रसारात् । तथाच 'क्षित्यादिकं, न कर्तृजन्यम्,
शरीराजन्यत्वा'दित्यत्र यथा शरीरविशेषणवैयर्थ्यात् शरीरजन्यत्वं कर्तृजन्यत्वव्यापकम्, एवं
'वियदादिकं, न मिथ्या, स्वबाधकाभिमतबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वा'दिति साध्यव्यतिरेक-
साधने स्वबाधकाभिमतबाध्यभागस्य वैयर्थ्यात् स्वबाधकाभिमतबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं न मिथ्यात्व-
व्यापकम् । दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यव्यापकम्, तच्च साधनव्यापकमपीति नोपाधिः । इदम्-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साधनवद्विपक्षव्यावर्तकम् । अन्यत्वादिनिष्ठाया उक्तावच्छेदकताया अनवच्छेदकं पर्वतावयववृत्त्यादिकम्; 'पर्वतो
धूमवान् वह्ने'रित्यादौ साधनवद्विपक्षे भयःपिण्डादौ पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिसतो भेदासत्त्वात् । यद्यपि स्वबाधके-
त्याद्युपाधौ प्रकृतसाधनवान् विपक्षोऽप्रसिद्धः; तथापि यद्विशेषणघटितस्य यस्योपाधेरश्रयान्निष्ठे यावद्वसिणि
प्रकृतसाधनवत्विपक्षत्वोभयाभावोऽस्ति, तत्तत्र साधनवद्विपक्षव्यावर्तकमिति बोध्यम् । आर्द्रेन्धनस्य तु आर्द्रत्वविशे-
षणं साधनवद्विपक्षव्यावर्तकमिति तदुपाधिः । पक्षेतरतुल्यत्वादिति । यथा साधनवत्पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणत्वात्
पक्षेतरत्वादिकं नोपाधिः, न वोपाधित्वेन कथायामुद्भाव्यते, तथा पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिकं स्वबाधकेत्यादिकं च; तर्का-
भावेन पक्षे व्यभिचारसंशयेन प्रतिबन्धेन साध्यव्यापकत्वानिश्चयात् । उक्तं हि मणौ—'नहि पक्षेतरत्वे स्वव्याघातक-
त्वेनानुपाधावुपाधिलक्षणस्यातिव्याप्तिः; तत्रानुकूलतर्काभावेन व्यापकत्वानिश्चयात् । बाधोन्नीते च तर्कोऽस्त्येव । एवं
पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिकं नोपाधिः; पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वात्' इति । उक्तं च तत्र दीधितौ—'तर्कादिना
व्यापकत्वनिश्चये तु पक्षेतरत्वमपि बाधोन्नीतपक्षेतरत्ववत् निश्चितोपाधिः, पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वं तु नानुपाधि-
तायां बीजम्; परिभाषामात्रत्वात्, किंतुक्तविशेषणस्थले अनुकूलतर्काभावेन व्यापकत्वानिश्चयः'—इति । तथा बाधा-
नुन्नीतः पक्षेतरो नोपाधित्वेन कथायामुद्भाव्यः; कथकसंप्रदायानुरोधात् इति । वस्तुतस्तु—तादृशसंप्रदायो युक्त्य-
भावाद्देयः । अतएव दीधितावेवोक्तम्—'तादृशसंप्रदायमननुरन्धानस्य शपथनिराकरणीयतापत्ते'रिति । ईश्वर-
वादे च मणानुक्तम्—पक्षेतरत्वादौ विपक्षबाधकतर्काभावान्न साध्यव्यापकत्वानिश्चय इत्येवानुपाधित्वे बीज'मिति ।
अतएव स्वबाधकेत्यादेः संदिग्धोपाधित्वमपि नास्ति । इदमत्वादिहेतोः साध्ये व्यापकताग्राहकतर्कसत्त्वात् उक्तोपाधेः
साध्यव्यापकताग्राहकतर्कसत्त्वात् । उक्तं हि मणौ—'यत्रोपाधिसाध्ययोः साध्यहेत्वोश्च व्याप्तिग्राहकसाम्यान्नैकत्र
व्याप्तिनिश्चयस्तत्रैव संदिग्धोपाधित्वम्; व्यभिचारसंशयाध्ययकत्वात् । यत्र तु एकत्र तर्कावतारः, तत्र हेतुत्वमुपाधित्वं वा
निश्चित'मिति । अत्र विपक्षव्यावर्तकत्वेऽपि साधनवद्विपक्षव्यावर्तकत्वं प्रकृतोपाध्योरस्ति; पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादावप्य-
स्तीति स एव दृष्टान्तीकृतः, ननु पर्वतेतरत्वादिकम्; तत्र तदभावात् । तथाच पक्षेतरतुल्यत्वेन पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादेर्यथा
उक्तमणिवाक्येऽनुपाधित्वमुक्तम्, तथा तत्सदृशयोः स्वबाधकेत्याद्युपाध्योरिति भावः । बाधोन्नीतत्वादिति । पक्षे
साध्याभावनिश्चयरूपेण बाधेन निर्णीतसाध्यव्यापकताकत्वादित्यर्थः । यथा 'वह्निरनुणः कृतकत्वा'दित्यादौ पक्षस्य साध्या-
भाववत्त्वेन निश्चितत्वरूपाद्विपक्षत्वाद्विपक्षव्यावर्तकविशेषणशून्यत्वेन वहीतरत्वमुपाधिः, तथा स्वबाधकेत्यादिकमपीति
भावः । यदिति । यदवच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्यर्थः । साधकत्वं व्याप्यत्वम् तस्य तद्विशिष्टम् । व्यापकत्वं व्यापक-
त्वधीः । तथेत्यादि । 'शरीरजन्यत्वं यदि कर्तृजन्यत्वव्यापकं न स्यात्, तदा कर्तृजन्यत्वाभावव्याप्याभावप्रतियोगि
न स्या'दिति तर्को नावतरति, लाघवेन जन्यत्वसामान्याभावत्वेनैव व्याप्यतासंभवेन शरीरविशेषणवैयर्थ्यादिष्टापत्ति-
त्वादिति यथा मण्यादावुक्तम्; तथा 'स्वबाधकेत्यादिकं मिथ्यात्वव्यापकं यदि न स्यात्, तदा तदभावव्याप्यस्वाभावकं
न स्या'दित्यापत्तेरिष्टत्वात् लाघवात् दोषप्रयुक्तभानत्वाभावत्वेनैव व्याप्यतासंभवेन स्वबाधकेत्यादिवैयर्थ्यादित्यर्थः । यत्र
तु विशिष्टप्रतियोगिकाभावत्वेनैव व्याप्यता; व्यर्थविशेषणत्वाद्यभावात्, तत्र विशिष्टरूपेणापि व्यापकत्वम्, तर्कप्रसारात् ।
उक्तं हि मणावीश्वरवादे—'धूमविशेषादौ चन्दनवह्नादेः कारणत्वाद्विपक्षबाधकेन विशिष्टस्य व्यापकत्वाद्विशिष्ट-
प्रतियोगिकाभावत्वेनैव हेत्वभावव्याप्यता; यत्र तु विपक्षे बाधकं नास्ति, तत्र विशिष्टव्यापकता नास्ती'त्यादि । नच—
शरीरजन्यत्वाभावे जन्यत्वसामान्याभावत्वस्यासत्त्वात् तत्र शरीरांशस्य तेन न वैयर्थ्यम्; धूमत्वेनैव धूमप्रागभाव-
त्वादेः, स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकान्तरघटितत्वस्य व्यर्थविशेषणतारूपत्वादिति—बाध्यम्; विशेष्यविशेषणा-
भावयोरेव विशिष्टाभावत्वात्, येन विशेषणेन विनापि व्याप्तिर्गृह्यते तदेव व्यर्थविशेषणमिति स्वीकाराच्च । उक्तं हि
मणौ—'उक्तस्थले शरीराजन्यत्वे व्यर्थविशेषणत्वम्; लाघवेनाजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वात्, येन विशेषणेन विना व्याप्तिर्न
गृह्यते तस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वमित्यमात् । अतएव घ्राणं पार्थिवम् रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यापकत्वात् इत्यादौ
अद्वै. सि. ४२

त्वादिनैव मिथ्यात्ववत्तस्यापि साधनात् । एवं द्वितीयोपाधावपि 'स्वबाधकावाध्यबाधकं प्रतीति' विशेषणं व्यतिरेकसाधने व्यर्थम् । विशेष्यभागस्तु साध्यसाधनयोर्व्यापक इति नोपाधिः । अतएवाधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्भेदजुन्यज्ञानविषयत्वमुपाधिः । अत्र च ब्रह्मणोऽपि बौद्धकल्पित-दोषवद्भेदजुन्यक्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्वात् समव्याप्तिसिद्ध्यर्थमधिष्ठानसमसत्ताकेति विशेषणम्, नतु पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थम्, अतो न पक्षेतरतुल्यतेत्यपास्तम् । ब्रह्मणीव ब्रह्मणि कल्पिते क्षणिकत्वादावपि मिथ्याभूते धर्मे अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्भेदजुन्यज्ञानविषयत्वादुपाधेः साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेकसाधने व्यर्थविशेषणत्वस्योक्तत्वाच्च । नापि श्रुतितात्पर्याविषयत्वमुपाधिः, श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य ब्रह्ममात्रनिष्ठतया तदभावस्य साधनव्यापकत्वात् । नापि प्रातिभासिकत्वमुपाधिः, तद्धि ब्रह्मज्ञानेतर-वाध्यत्वम्, तस्य च देहात्मैक्ये मिथ्याभूतेऽप्यसत्त्वेन साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेके व्यर्थविशेषणत्वाच्च । नापि प्रतिभासमात्रशरीरत्वमुपाधिः, दृष्टिसृष्टिपक्षे साधनव्यापकत्वात्; परेषामसिद्धेश्चेति ॥

॥ इति दृश्यत्वादीनां सोपाधित्वभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपादिषु मध्ये इति असिद्धिमात्रवत्किमपि न व्यर्थम्; तेन विना व्याख्यग्रहा'दिति । किंच तर्काप्रसरादित्यनेन व्यापकताग्राहकतर्कमात्रमुपाधित्वे वीजमित्युक्तम्, पूर्वोक्तमणिवाक्येऽपि तथोक्तम्, तथाच व्यर्थविशेषणत्वाभावेऽपि शरीरजन्यत्वं यथा नोपाधिः; तादृशतर्काभावात्, तथा स्वबाधकेत्यादिकमित्यत्र प्रकृतग्रन्थतात्पर्यम् । व्यतिरेके व्यर्थत्वं तु तादृशतर्काप्रसरवीजोपलक्षणत्वेनोक्तम् । ननु यथा मित्रातनयत्वेन इयामत्वे साध्ये शाकपाक-जत्वम्, तस्मिन् साध्ये इयामत्वमुपाधिः; तथा दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वे साध्ये दोषप्रयुक्तभानत्वम्, तस्मिन् साध्ये मिथ्यात्वमुपाधिरस्तु, युगपदुभयसाधने तु अप्राप्तकालत्वम्, मिथ्यात्वे एव केवले विप्रतिपत्तेः, तत्राह— दृश्यत्वादिनेति । युगपदुभयसाधनेऽपि नाप्राप्तकालत्वम्, मिथ्यात्वत्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितेरेव प्राप्तकालत्वात्, समूहालम्बनानुमितेरपि तथात्वात् । अथ यथा पर्वतावयववृत्तीति विशेषणकृता पर्वतावयवरूपादेर्व्यवृत्तिर्नोपाधितायामुपयुज्यते, किंतु पक्षव्यावृत्तिरेव; साधनाव्यापकत्वसंपादकत्वात् । अतएव उपाधित्वौपयिकी या विपक्षव्यावृत्तिस्तदसंपादकत्वादुक्तविशेषणस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वं मण्यादावुक्तम् । स्पष्टं चेदं दीधित्यादौ, तथा समव्याप्तिसंपादकस्याप्यधिष्ठानेत्यादिविशेषणस्य यद्ब्रह्मव्यावर्तकत्वं तस्य साध्यासमानाधिकरणस्याधिकरणं यत् साधनवदित्यादिपूर्वोक्तोपाधिलक्षणानौपयिकत्वात् साधनाव्यापकत्वसंपादकविपक्षव्यावृत्त्यसंपादकत्वेन पक्षमात्रव्यावर्त-कत्वमक्षतम् । आर्द्रेन्धनादेस्तु आर्द्रत्वादिविशेषणकृतायोगोलकादिव्यावृत्तिः साधनाव्यापकत्वसंपादकत्वादुपाधित्वौपयि-कीत्याशयेनाह—अतएवेति । समव्याप्तिसंपादकत्वेऽप्युक्तरीत्या पक्षमात्रव्यावर्तकत्वादेवेत्यर्थः । ब्रह्मणीवेत्यादि । स्वजनकाज्ञानविषयावच्छेदकत्वरूपाधिष्ठानत्वघटितोक्तोपाधिर्यथा ब्रह्मणि नास्ति; तज्जनकाज्ञानाप्रसिद्धेः, तथा तत्र कल्पिते क्षणिकत्वादावपि; तज्जनकाज्ञानविषयब्रह्मावच्छेदकाप्रसिद्धेः । तत्प्रसिद्धिस्तु शुक्तिरूप्यादौ । स्वजनका-ज्ञानविषयसमसत्ताकदोषनिवेशे तु तत्राप्यप्रसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वमपि । ब्रह्ममात्रेति । अवान्तरतात्पर्यविषयत्वं यागादिनिष्ठे स्वर्गादिसाधनत्वे नतु यागादौ । 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति जैमिन्युक्तेरज्ञातार्थ एव श्रुतितात्पर्योक्तिः साधनत्वादिविशिष्टतया यागादाविव मिथ्यात्वविशिष्टतया दृश्यमात्रे श्रुतितात्पर्यात् साध्याव्यापकत्वापत्तेः परमतात्पर्य-मेव निवेद्यमिति भावः । दोषजन्यधीविषयत्वं परोक्तं साधनव्यापकम् । प्रतिभासमात्रशरीरत्वमज्ञानविषय-तानवच्छेदकत्वं प्रातीतिके सर्वत्र स्वकालावच्छेदेनास्ति । स्वकालान्यकालावच्छेदेन तत्रोक्तविषयतावच्छेदकत्वात्, तथाच तदनवच्छेदकत्वं साध्यं व्याप्नोति, नतु साधनमिति भावः । परेषां माध्वानाम् । शुक्तिरूप्यादीनामत्यन्ता-सत्त्वेन तेषु तदसिद्धेः । अपरोक्षतया भासमान एव ह्यज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वं नित्यपरोक्षे त्वलीके तत्र भातीति प्रत्ययादज्ञानविषयतावच्छेदकत्वमेव । नच—शुक्तिरूप्यत्वादिकं दोषवशादपरोक्षभ्रमकाले अपरोक्षतया भातीति तदा अज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वं संभवति, कालान्तरे तु उक्तविषयतावच्छेदकत्वम्, न भातीति प्रत्ययादिति—वाच्यम्; कालस्यालीकासंबन्धित्वेनावच्छेदकत्वासंभवात्; तस्मादधिष्ठानतादात्म्यादेव भातीति प्रत्ययो भ्रमविषय इति साध्या-व्यापकत्वमित्यर्थः । नच—अत्यन्तासत्त्वादेव नाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्, उक्तविषयता हि नित्येव वाच्या, विषया-संबन्धस्य त्वलीकस्य तदवच्छेदकत्वासंभव इति—वाच्यम्; असंबद्धस्याप्यलीकस्यातीतानागतयोरेव ज्ञानविषयता-यामिवाज्ञानविषयितायामप्यवच्छेदकत्वसंभवात् । स्वकालत्वव्यापकस्वधीकत्वं प्रतिभासमात्रशरीरत्वमित्युक्तावपि शुक्तिरूप्यादौ तदसिद्धिः, असतः स्वकालाप्रसिद्धेः । चकारः उक्तोपाधिषु दोषान्तरसमुच्चायकः । तथाहि—स्वबा-

धकेत्यादौ स्वबाधकबाध्यत्वं यदि स्वजनकाज्ञाननिवर्तकनिवर्त्यत्वं, तदा जनकत्वस्य स्वावच्छेदकघटितत्वात् स्वजन-
कत्वस्य शुक्तयवच्छिन्नचिद्विषयकाज्ञानत्वादिरूपावच्छेदकभेदेन भिन्नत्वात् स्वनिवृत्तिजनकत्वस्य शुक्तित्वप्रकारकेदं-
विशेष्यकत्वादिरूपावच्छेदकभेदेन भिन्नत्वादननुगमः । नहि स्वत्वस्यानुगतत्वेऽपि तदनुगमसंभवः; द्रव्यजनकतात्वेन
रूपेण कपालतन्तुत्वाद्यवच्छिन्नजनकतानामनुगमापत्तेः । पल्लवाज्ञानास्वीकारपक्षे शुक्तिरूप्यादिबाधकब्रह्मज्ञानाबाध्य-
दोषाप्रसिद्धिः । यदि च स्वबाधकबाध्यत्वं स्वमिथ्यात्वनिश्चयनिश्चितमिथ्यात्वकत्वं, तदा निश्चयत्वस्य तत्तद्धर्मिताव-
च्छेदकादिभेदेन नानात्वादननुगमः । 'नेह नानास्ती'त्यादिश्रुत्यादिना दृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वेन निश्चितत्वात् तादृश-
दोषाप्रसिद्धिः । एवं दोषत्वस्यैकस्याभावात्तेन रूपेण सर्वदोषाणामनुगमासंभवः । अन्यतमत्वरूपेण दोषाणां निवेशे
अनन्तदोषघटितान्यतमत्वस्य दुर्ज्ञेयतापत्तिः । तावदन्यतमत्वव्यक्तेः स्वरूपतो निवेशे अविद्याद्यन्यदोषाणामेव ताव-
दन्यतमत्वस्वरूपेण निवेशसंभवेन अबाध्यान्तवैयर्थ्यापत्तिः । तेन रूपेण साध्यव्यापकताग्राहककर्ताभावश्च । अन्यथा
प्रातिभासिकानामन्यतमत्वरूपेणैव तादात्म्यसंबन्धेनोपाधित्वस्यापत्तिः । किंच स्वामादिभ्रमे प्रातीतिकदोषस्यापि
संभवेन तस्य स्वबाधकजाग्रदादिबोधबाध्यत्वेन साध्यव्यापकत्वहानिश्च । एवमुपाध्यन्तरेष्वपि दोषा बोध्याः ॥

इति लघुचन्द्रिकायां सोपाधिकत्वभङ्गः ॥

अथ सोपाधिकत्वभङ्गः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

सोपाधिकाश्च दृश्यत्वादयः । स्वबाधकाभिमतताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वस्य स्वबाधकाभिमतताबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन
विषयत्वस्य च पक्षमात्रव्यावृत्तस्य समव्याप्तिमतो व्यतिरेकव्याप्तिमत उपाधित्वात् । साध्योपाध्योर्व्यापकत्वग्राहकानु-
कूलतर्काणां वक्ष्यमाणत्वात् । पक्षेतरत्वतुल्यत्वाभावात्, प्रत्यक्षबाधोन्नीतत्वात् पक्षेतरत्वतुल्यतायामपि दोषाभावात्,
मित्रातनयत्वेन श्यामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वस्य तस्मिन्साध्ये श्यामत्वस्येव चात्रापि दृश्यत्वेन मिथ्यात्वे साध्ये दोष-
प्रयुक्तभानत्वस्य तस्मिन्साध्ये मिथ्यात्वस्य चोपाधित्वाच्च । मिथ्यात्व एव विप्रतिपत्तेरुभयसाधनस्याप्राप्तकालत्वात् ।
एतेन—अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वं श्रुतितात्पर्याविषयत्वं धर्मव्यावृत्तं, साक्षिवेद्यमुखदुःखा-
दिव्यावृत्तं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं चाप्युपाधिरिति—सूचितम्; प्रथमोपाधौ समव्याप्तिसिद्ध्यर्थम् अधिष्ठानसमसत्ताकेति
विशेषणम् ननु पक्षव्यावृत्त्यर्थमिति तु विशेषः—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

नायमुपाधिः; ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्यादौ साध्याव्यापकत्वात्, पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिवत् पक्षमात्रव्यावर्तक-
विशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वात्, बाधस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वेन बाधोन्नीतत्वाभावात् । अपिच यद्व्यतिरेकस्य
साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्, इतरांशेऽनुकूलतर्काप्रसरात् । एवं चेश्वरसाधकानुमाने शरीरजन्यत्वस्येव
मिथ्यात्वानुमाने स्वबाधकेत्यादिविशिष्टस्य नोपाधित्वम्, उपाधिव्यतिरेकेण साध्याभावसाधने व्यर्थविशेषणघटितत्वेन
व्याप्त्यसिद्धेः । एतेन—अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमपि नोपाधिरिति—सूचितम्; ब्रह्मणि
कल्पिते क्षणिकत्वादौ साध्याव्यापकत्वाच्च । श्रुतितात्पर्याविषयत्वं तु साधनव्यापकत्वान्नोपाधिः । एतेन—प्रातिभासि-
कत्वमपि नोपाधिरिति सूचितम् ॥ देहात्मैक्ये साध्याव्याप्तेः, दृष्टिसृष्टिपक्षे प्रतिभासमात्रशरीरत्वस्यापि साधनव्याप-
कत्वादिति सर्वमनवयम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकाराः पुनः—

दृश्यत्वानुमानमुक्तोपाधिकलुपितमेव; शुक्तिरूप्यादौ साध्यव्यापकत्वात्पक्षे साधनाव्यापकत्वात्, मम देह इति भेदग्रहे
जाग्रति देहात्मैक्याध्यासासंभवेन देहात्मैक्यस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वस्यासिद्ध्या तत्राव्यभिचारात् । नच व्यर्थविशेषणत्वम्;
एकस्मिन्धर्मिणि व्याप्यतावच्छेदकत्वेन प्रसक्तयोः द्वयोर्लघुनैव व्याप्तिग्रहः न गुरुणा; यथा नीलधूमे नीलत्वनीलधूमत्व-
योर्धूमत्वेन । न चेह विशिष्टाभावनिष्ठां व्याप्तिं परिच्छेत्तुं वैशेष्याभावत्वं योग्यम्; विशिष्टाभावे विशेष्याभावत्वस्यासत्त्वात्,
किंतु विशिष्टाभावत्वम् । एवंच अस्यैव विशिष्टाभावे साध्यव्यापकता । ईश्वरानुमाने तु श्रुतिबलेन क्षितिकर्तुरीश्वरस्य
सिद्धौ पक्ष एव तस्य साध्याव्यापकत्वादनोपाधित्वमिति युक्तम् । एतेन—पक्षेतरत्वतुल्यत्वमपि—पराहतम्; मित्रा-
तनयत्वेन श्यामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वस्य तस्मिन्साध्ये श्यामत्वस्य चेत्यत्र परस्परोपाधित्वसंभवात्, उभयसाधनस्याप्राप्त-
कालत्वादिति मन्तव्यम् । अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमप्युपाधिरेव; अधिष्ठानत्वाभिमतसम-
सत्ताकपदेन व्यावहारिकबाधाबाध्यत्वस्यैव विवक्षणात् मिथ्याभूतक्षणिकत्वादौ व्यभिचाराभावेन साध्यव्यापकत्वसिद्धेः ।

अथाभाससाम्यभङ्गः ।

ननु—विमतं, प्रातिभासिकम्, दृश्यत्वात्, ब्रह्म, मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात् असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याद्याभाससाम्यम्—इति चेन्न; जगतो व्यावहारिकसत्त्वबाधे व्यवहारानुपपत्तिः, ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्चेति प्रतिकूलतर्कपराघातेन तयोरसाधकत्वात्, प्रकृते च प्रतिकूलतर्कस्य निरसिष्यमाणत्वात् । किंच प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरवाध्यत्वं, प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वा । आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वं च । द्वितीये दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम् । एवं ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम् । निरुपाधिके व्यवहारविषयत्वरूपो हेतुरसिद्धः । वेदान्त-जन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽप्यप्रयोजकः । एवमसद्विलक्षणत्वमपि ब्रह्मण्यसिद्धमेव । कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं ह्यसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वं च कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपम् तच्च शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव । नच—वाध्यत्वमसत्त्वं; तद्विलक्षणत्वं चाबाध्यत्वं, तच्च ब्रह्मण्यस्त्येवेति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथाभाससाम्यभङ्गः ।

आभाससाम्यमिति । उक्तानुमानाभासः यथा न साधकः, तथा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानमित्यर्थः । प्रपञ्चमिथ्या-त्वानुमाने नानुपपत्तिः, उक्तानुमाने तु सास्तीत्यतो न तयोः साम्यमित्याशयेनाह—जगत इत्यादि । जगतो व्याव-हारिकमात्रस्य । व्यावहारिकसत्त्वेति । अज्ञातसत्त्वेत्यर्थः । व्यवहारेति । चक्षुरादिजन्यवृत्तिप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । अज्ञातत्वावच्छेदकघटाद्यस्वीकारे चक्षुरादिजन्यवृत्तेर्विषयेन्द्रियसंबन्धजन्याया अनुपपत्तिः, पूर्वदृष्टस्य दृश्यमानेनैक्य-प्रत्यभिज्ञादेश्वानुपपत्तिरिति भावः । अप्रयोजक इति । मिथ्यात्वाभावेऽपि ब्रह्मणि मिथ्याभूतवृत्तिविषयत्वस्य संभवा-दिति भावः । ब्रह्मणः साक्षित्वादिना तत्र बाधकप्रमाणं नावतरतीत्यपि बोध्यम् । तच्चेति । सत्तादात्म्यतत्त्वान्यतरवत्त्व-

श्रुतितात्पर्याविषयत्वपदेन श्रुतिजन्यग्रमां प्रत्यविषयत्वस्यैव विवक्षणात् तस्य च धर्मादिसाधारणतया साधनाव्यापकत्वा-च्छ्रुतितात्पर्याविषयत्वमप्युपाधिरेवेति मन्तव्यम् । प्रातिभासिकत्वमप्युपाधिः; ब्रह्मज्ञानेतरवाध्यत्वरूपस्य प्रतिभासमात्र-शरीरत्वरूपस्य वा तस्य साध्यव्यापकत्वविशिष्टसाधनाव्यापकत्वात् । देहात्मैक्यं तु न मिथ्येति न साध्याव्यापकत्वमित्यन्यत्र विस्तार इति सर्वमनवयम्—इति ब्रुवन्ति ॥

(५) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

स्वबाधकेत्यादिकं नोपाधिः; तत्र स्वबाधवाध्यत्वस्य स्वजनकाज्ञाननिवर्तकनिवर्त्यत्वरूपत्वे जनकत्वस्य स्वावच्छेदक-घटितत्वेनानुगमः । पल्लवाज्ञानास्वीकारपक्षे शुक्तिरूप्यादिबाधकब्रह्मज्ञानाबाध्यदोषाप्रसिद्धिश्च । स्वमिथ्यात्वनिश्चयाधीन-निश्चयमिथ्यात्वकत्वरूपत्वे निश्चयत्वस्य धर्मितावच्छेदकमेदेन भिन्नत्वादननुगमः । 'नेहनानास्ती'तिश्रुत्या दृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वेन निश्चितत्वात्तादृशदोषाप्रसिद्धिः, दोषानेकत्वेनानुगमः, स्वप्रादिभ्रमे प्रातीतिकदोषस्यापि संभवेन स्वाप्नेषूपाध्य-भावेन साध्यव्यापकत्वहानिश्च । सर्वपक्षेषु साध्योपाध्योर्व्यापकत्वनिश्चयकानुकूलतर्काभावेन साध्यव्यापकत्वानिश्चयः । दोषप्रयुक्तभानविषयत्वातिरिक्तभागवैयर्थ्येन व्याप्यग्रहः । येन विशेषणेन विनापि व्याप्तिग्रहस्तस्यैव व्यर्थविशेषणत्वात्, शरीरा-जन्यत्वे जन्यत्वसामान्याभावत्वस्याभावेऽपीश्वरप्रतिपादकागमोपपत्त्यर्थं तस्याप्रयोजकत्ववदत्रापि मिथ्यात्वसाधकश्रुत्युप-पत्त्यर्थमुक्ताप्रयोजकत्वस्याश्रवणीयत्वात् । अनुकूलतर्काभावस्योभयत्र समानत्वात् । देहात्मैक्ये मिथ्याभूते साध्याव्याप-कत्वाच्च । यथा च देहात्मैक्याध्यास्तथोत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । पक्षेतरत्वतुल्यत्वाच्चोक्तोपाधिरप्रयोजकः; दृश्यत्वादिना दोषप्रयुक्तभानत्वमिथ्यालोभयसाधनेऽप्यप्राप्तकालत्वाभावेन परस्पोपाधित्वस्यासंभवात् । एतेन—अधिष्ठानत्वाभिमत-समसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमपि नोपाधिरिति—सूचितम्; अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकपदेन व्यावहारिक-बाधाबाध्यत्वस्य विवक्षणे शुक्तिरूप्यादिहेतुदोषाणामपि व्यावहारिकबाधाबाध्यत्वेन साधनव्यापकत्वात्त्वर्थविशेषणघटितत्वाच्च । एतेन—श्रुतितात्पर्याविषयत्वमपि नोपाधिः । साधनत्वादिविशिष्टतया यागादाविव मिथ्यात्वविशिष्टतया दृश्यमात्रेऽप्यवा-न्तरतात्पर्यविषयत्वसत्त्वेन साध्याव्यापकत्वात् । प्रातिभासिकत्वं तु दोषजन्यधीविषयत्वरूपत्वे साधनव्यापकत्वात्, अज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वेऽपि तथात्वात्, स्वकालत्वव्यापकस्वधीकत्वरूपत्वेऽप्युक्तदोषात्, मिथ्याभूतदेहात्मैक्ये साध्या-व्यापकत्वाच्च नोपाधिरिति सर्वमनवयम्—इति सिद्धिकारीयमतमनुसरन्ति ॥

इति दृश्यत्वादीनां सोपाधिकत्वभङ्गः ॥

वाच्यम्, अबाध्यत्वेन बाध्यत्वलक्षणमिथ्यात्वसाधने विरोधात्, शुक्तिरूप्यदृष्टान्तस्य साधन-
विकलत्वाच्च, शून्यवादस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च । तस्मान्न दृश्यत्वादीनामाभाससाम्यमिति
सिद्धम् ॥ इति आभाससाम्यभङ्गः ॥

अथ प्रत्यक्षबाधोद्धारे सत्त्वनिर्वचनम् ।

ननु—‘सन् घट’ इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया दृश्यत्वादय—इति चेन्न; चक्षुराद्यध्यक्षयोग्यमिथ्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपमुक्ताहत्वं निर्धर्मके शुद्धब्रह्मणि नास्ति, किंतु तदुपहितब्रह्मणीत्यर्थः । शुद्धे स्वीकृतमपि तदप्रयोजकमित्याशये-
नाह—शून्यवादस्येति । दृग्दृश्ययोस्तादात्म्यमनुपपन्नम् । तस्य हि संबन्धान्तरसत्त्वे तस्यापि संबन्धान्तरमित्यन-
वस्था । संबन्धान्तरसत्त्वे तु न तस्य संबन्धत्वमुपपद्यते; असंबन्धत्वात् । अतस्तस्य मिथ्यात्वं स्वीक्रियते । तथाच
स्वमेन्द्रजालादाविबानुपपत्तिः न दोष इत्यसंबन्धस्याऽपि संबन्धत्वम् । एवं तस्येव तदनुयोगित्वप्रतियोगित्वविशिष्टरू-
पेण दृश्यदृशोरपि मिथ्यात्वं युक्तम् । शुद्धायास्तु दृशस्तदसंसर्गेण न मिथ्यात्वसिद्धिः । दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्तिरूपतर्कस्य
तादृशसंबन्धानुयोगिप्रतियोगिनोरेव मिथ्यात्वप्रापकत्वात् । अत एवोक्तं आचार्यैर्बौद्धाधिकारे—‘तस्यासंसृष्टत्वेन
न तत्र तर्कावतारः; तर्कस्य संसृष्टमादायैव प्रवृत्तेः ।’ इति ॥ ॥ इति लघुचन्द्रिकायामाभाससाम्यभङ्गः ॥

अथ प्रत्यक्षबाधोद्धारे सत्त्वनिर्वचनम् ।

चक्षुरादीति । चक्षुरादिरूपं यदध्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणं, तद्योग्यस्य मिथ्यात्वविरोधिनः सत्त्वस्य निरूपणासंभवा-
दित्यर्थः । मिथ्यात्वाभावरूपं सत्त्वं मिथ्यात्वविरोधि, नतु चक्षुरादेर्योग्यम् । तद्योग्यमपि सद्रूपब्रह्मतादात्म्यरूपं सत्त्वं न

अथ दृश्यत्वानुमानस्याभाससाम्यभङ्गः

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

विमतं, प्रातिभासिकं, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्, ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, असद्विलक्षणत्वाद्वा, शुक्तिरूप्यवत्
इत्याभाससाम्यं च । जगतोऽप्रातिभासिकत्वग्राहिप्रत्यक्षं ब्रह्म सत्यत्वग्राहिश्रुतिश्चाप्रमाणमेव; सर्वं व्यवहार्यं व्यवहृतावध्यस्तं,
व्यवहार्यत्वादित्यादिबाधकमपीति न प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः—इति वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

जगतोऽव्यावहारिकत्वे व्यवहारानुपपत्तिः, ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्चेति प्रतिकूलतर्कपराधातः, प्रातिभासिकत्वस्य
ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूपत्वे देहात्मैक्ये व्यभिचाराप्रयोजकत्वे, प्रतिभासमात्रशरीरत्वे, दृष्टिसृष्टिपक्षे सिद्धसाधनम्, एवं
ब्रह्मणि सोपाधिके सिद्धसाधनम्, शुद्धे व्यवहारविषयत्वरूपहेतौः सत्तादात्म्यपर्यवसितासद्विलक्षणत्वहेतोश्चासिद्धिश्च । द्विती-
यानुमानमप्यप्रयोजकम् । असद्विलक्षणत्वपदेन सत्त्वविवक्षणे च विरोधः । दृष्टान्ते साधनवैकल्यं चेति प्रपञ्चमिथ्यात्व-
सिद्धिः—इति निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सुखानुभवपर्यन्तव्यवहारस्य व्यावहारिकत्वेन न प्रतिकूलतर्कपराधातः, देहात्मैक्यं तु न मिथ्याभूतमिति प्रातिभासिक-
त्वस्य ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूपत्वे, न तत्र व्यभिचारः, दृष्टिसृष्टिपक्षस्य चाप्रामाणिकत्वात्, तस्य प्रतिभासमात्रशरीरित्वे
न सिद्धसाधनम्, ब्रह्मणो वेदान्तजन्यवृत्त्यविषयत्वे तस्यासिद्ध्यापत्त्या व्यवहारविषयत्वस्य नासिद्धिः । एवमसद्विलक्षणत्वपदेन
क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वाभावस्य विवक्षणेन ब्रह्मण्यसिद्धिः । ब्रह्मणोऽपि “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठिते” इति श्रुत्यनुसारेण
स्वोपाधौ प्रतीत्यनर्हत्वाच्छुक्तिरूप्यादेरपि तथात्वान्नासिद्धिरित्याभाससाम्यं तदवस्थमेव—इति न्यायामृतीयमनुमोदन्ते ॥

(४) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

अज्ञानविषयतावच्छेदकघटावस्तीकारे विषयेन्द्रियसंबन्धजन्यचक्षुरादिवृत्त्यनुपपत्तेः पूर्वदृष्टस्य दृश्यमानेन सहैक्यप्रत्य-
भिज्ञानस्य चानुपपत्तेर्न जगतः प्रातिभासिकत्वम् । एवं ब्रह्मणोऽमिथ्यात्वेऽपि मिथ्याभूतवृत्तिविषयत्वसंभवाद्ब्रह्मव्यवहारविषयत्वं
न मिथ्यात्वप्रयोजकम् । यथा च निर्धर्मकस्य ब्रह्मणो वृत्तिविषयत्वानङ्गीकारेऽपि नानुपपत्तिस्तथोपपादितमधस्तात् । यथाच
व्यावहारिकत्वेऽपि न दृश्यत्वोच्छेदस्तथोत्तरत्र स्फुटीभविव्यति । असद्विलक्षण्यमपि ब्रह्मणि न विद्यते इति पूर्वमेव
निरूपितमिति नानुपपत्तिरिति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ॥

त्वविरोधिसत्त्वानिरुक्तेः । तथाहि—न तावत् प्रमाविषयत्वं, तद्योग्यत्वं, भ्रमाविषयत्वं वा तादृक्सत्त्वम्; चक्षुराद्यगम्यभ्रमप्रमाघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वात्, वक्ष्यमाणदूषणगणग्रासाच्च । तथाहि—नाद्यः; असति प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाविषयत्वात्प्राक् सत्त्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्य तदन्यत्वात्, सत्त्वनिरूपणं विना सदर्थविषयत्वरूपप्रमात्वस्य निरूपणे चान्योन्याश्रयात्, मिथ्याभूतस्य शुक्तिरजतसंसर्गस्य व्यवसायद्वारा साक्षाच्च निषेध्यत्वादिना प्रमाविषयत्वाभ्युपगमाच्च । नापि द्वितीयः; योग्यताया अनिरूपणात् । न तृतीयः; असिद्धेः, सर्वस्यैव क्षणिकत्वादिना भ्रमविषयत्वाभ्युपगमात् । अतएव नासत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वमपि; अन्योन्याश्रयाच्च । नापि सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वम्; आत्माश्रयात् । नाप्यसत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्, अन्योन्याश्रयात् । नापि प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्वनिषेधविरहः; आत्माश्रयात् । नापि सत्ता जातिरर्थक्रियाकारित्वमसद्वैलक्षण्यं वा; एतेषां मिथ्यात्वाविरोधित्वेन तत्प्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमाने बाधाभावात् । नापि वेदान्त्यभिमतमिथ्यात्वाभावः सत्त्वम्; तुच्छेऽतिव्याप्तेः । नाप्यसद्वैलक्षण्यत्वे सत्यनारोपितत्वम्; अनारोपितत्वं हि आरोपाविषयत्वम्, तच्चासंभवि । सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना आरोपविषयत्वात् । नाप्यस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित् साक्षाद्विषयत्वं, कालसंबन्धित्वं वा सत्त्वम्, अस्तित्वं च वर्तमानत्वम्, नतु सत्त्वमतो नात्माश्रयः; अतीतादिरपि कदाचिद्वर्तत एवेति नाव्याप्तिः, आरोपितत्वं च कालत्रयासंबन्धित्वेन बाधेन बोधितमिति न द्वितीयलक्षणेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, प्रमात्वस्य सत्त्वघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वेन च पूर्वोक्तदोषात्, वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेऽपि मिथ्यात्वाविरोधाच्च । द्वितीयमपि न मिथ्यात्वविरोधि, शुक्तिरूप्यस्यापि प्रतिभासकालसंबन्धित्वात्, बाधेन तात्त्विककालत्रयसंबन्धनिषेधेऽप्यतात्त्विककालसंबन्धस्यानिषेधात् । नापि तात्त्विककालसंबन्धित्वं तत्, तात्त्विकस्याद्याप्यनिरूपणात्, निरूपणे वा शेषवैयर्थ्यात् । ननु—भवन्मते यत् सत्त्वं ब्रह्मणि, तदेवेह मम । उक्तं हि—‘यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्पि । तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः ॥’ इति । नच—तत्रापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्, तच्च न जगतीति—वाच्यम्, तुच्छस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि सत्त्वानभ्युपगमाच्चापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्, किं त्वन्यदेव; तच्च ब्रह्मणीव भ्रमाधिष्ठानत्वाच्छुक्तिकादेरपि भविष्यतीति—चेत्, नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्ठस्य यदेव भवतां गोत्रं तदेव ममापि गोत्रमिति वदतो वरस्य भ्राता भवान्, यतो जामातृश्वशुरयोरेकगोत्रत्वे विवाहानुप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिथ्यात्वविरोधीति भावः । प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमारूपवृत्तेर्विषयतासंबन्धेन उत्पादकसामग्र्यभावात् । प्रमाविषयत्वात् । विषयितासंबन्धेन प्रमोत्पत्तेः । तस्य सत्त्वस्य । तदन्यत्वात् प्रमाविषयतान्यत्वात् । व्यवसायेति । इदं रजतं जानामीत्यस्यां भ्रमस्य प्रमायां व्यवसायांशे रजतस्य विशेषणत्वात्, नेदं रजतमित्यस्यां निषेधस्य प्रमायां निषेधांशे रजतस्य विशेषणत्वादित्यर्थः । सर्वस्येति । क्षणिकार्थास्वीकर्तृभिरिति शेषः । अतएव सर्वत्र क्षणिकत्वादिभ्रमविशेष्यत्वादेव । विषयत्वमपीति । तादृशसत्त्वमित्यनुषज्यते । आत्माश्रयादिति । यद्यपि पूर्वोक्तान्योन्याश्रयस्थले आत्माश्रयत्वमप्यस्ति, प्रकृतेऽप्यन्योन्याश्रयत्वमस्ति; सत्त्वप्रमानिरूपणे तद्विषयत्वरूपसत्त्वनिरूपणं तन्निरूपणे च तादृशप्रमानिरूपणमिति; तथाप्यन्योन्याश्रयत्वस्य पूर्ववत्प्रकृते ज्ञातुं शक्यत्वादात्माश्रयत्वस्यापि प्रकृतवत् पूर्वं बोधुं शक्यत्वादेकैकमुक्तम् । प्रतिपन्नेत्यादि । त्रैकालिकस्य स्वसत्ताभावस्य स्वधीविशेष्यदेशकालावच्छिन्नत्वरूपेण स्वस्मिन् या धीः ‘रजतमत्र नास्ति नासीन्न भविष्यती’त्यादिरूपा, तद्विषयत्वस्य शुक्तिरूप्यादिनिष्ठस्याभाव इत्यर्थः । स्वपदैः शुक्तिरूप्यादेरेव ग्रहणम् । एतेषां प्रमाविषयत्वादीनामसद्वैलक्षण्यत्वपर्यन्तानामुक्तानाम् । मिथ्यात्वाविरोधित्वेन मिथ्यात्वात्यन्ताभावमिथ्यात्ववन्नेदमिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मरूपत्वाभावेन । बाधाभावात् बाधहेत्वाभासस्य एव वा वक्तुमशक्यत्वात् । तत्प्रत्यक्षेणेति । सत्तायाः प्रत्यक्षसंभवेऽप्यन्यथोर्न स इत्यपि बोध्यम्; प्रत्यक्षबाधस्यैवोपक्रान्तत्वेनाप्रत्यक्षबाधस्य प्रकृतानुपयोगात् । अस्तित्वेत्यादि । अस्तित्वप्रकारतानिरूपितं प्रमाविशेष्यत्वमित्यर्थः । वर्तमानत्वं कालसंबन्धित्वम् । नतु वत्तत्कालवृत्तित्वम्; अनुगमात्, प्रयोजनाभावाच्च । चक्षुराद्ययोग्यत्वेन न्तस्य निषेधेऽपि कालसंबन्धत्वेनानिषेधात्, कालसंबन्धत्वेन निषेधपक्षेऽपि प्रतियोग्यभावयोर्भिन्नसत्ताकत्वेनाविरोधादित्यर्थः । अनिर्वाच्यं निर्वक्तुमशक्यम् । इह प्रपञ्चे । तथा चावयोर्निर्वचनासामर्थ्ये मासेव प्रति न पर्यनुयोग इति भावः । तुच्छस्येति । स्वसमानसत्ताकाभावाप्रतियोगित्वस्यैव परिच्छेदरूपत्वेनेत्यादिः । नच प्रपञ्चेऽपि परिच्छेद इव तद-

पक्षिजगद्ब्रह्मणोरेकसत्त्वे जगतोऽसत्त्वमेव स्यात् । तथाहि—स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्वमेव ब्रह्मणः सत्त्वम्; तदेव चेज्जडस्यापि जगतस्तदा रजतत्वविरोधि शुक्तिसत्तया रजतस्यैव जडत्वविरोधिस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्यात्वोपपत्तेः । चैतन्यस्यैवावच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वाभ्युपगमान्न भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेः सत्त्वसिद्धिः । नन्वेवमपि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमसत्त्वं तुच्छानिर्वचनीयसाधारणम्, तदभावः सत्त्वम्, तच्च ब्रह्मणीव जगत्प्रीति ब्रूमः । नच संयोगोऽव्याप्तिः; तस्याव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमे च व्याप्यवृत्तित्वेनाभावो विशेषणीयः । नापि वियत्यव्याप्तिः; तदत्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वानङ्गीकारेण लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव । नहि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा तस्याभावः, नित्यविभुत्वभङ्गप्रसङ्गात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यन्ता भावोऽप्यस्ति, परिच्छेदस्य मिथ्यात्वात्, तथाच तुच्छानुधावनं व्यर्थमिति—वाच्यम्; परिच्छिन्नभेदस्यैवोक्तत्वेन तस्य प्रपञ्चे विरहात् । अन्यदेव अबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमेव । स्वप्रकाशेत्यादि । वस्तुगत्या स्वप्रकाशा अद्वितीया च अबाध्यत्वोपलक्षिता या चित्, तत्स्वरूपं ब्रह्मणो धर्मत्वेन कल्पितं सत्त्वम् । तदेव यदि जगतः सत्त्वं, तदा जडेभ्योऽत्यन्तभिन्नत्वाज्जडधर्मत्वं वक्तुमशक्यम्, अत्यन्तभेदे धर्मधर्मिभावस्य त्वयाप्यस्वीकारात् । तथाच जडाल्यन्तभिन्नत्वेन जडत्वविरोध्यपि तादृशसत्त्वं कल्पिताज्जडतादात्म्याद्धर्म इति वाच्यम् । ततश्च ब्रह्मणः अत्यन्ताभिन्नमपि तत् कल्पितेन ब्रह्मभेदेन यथा ब्रह्मधर्मः, तथा जडादत्यन्तभिन्नमपि कल्पितेन जडतादात्म्येन जडानां धर्म इति युज्यते; परंतु यद्ब्रह्मण्यारोपितं तत्रैव ब्रह्मधर्मस्य तादृशसत्त्वादेः संसर्गारोपः, शुक्तिधर्मस्य सत्त्वेदन्त्वादेः शुक्त्यारोपितरजतादावेव संसर्गारोपवत् । तथाच रजतत्वविरोधिनः शुक्तिसत्त्वादेः संसर्गारोपान्यथानुपपत्त्या रजतस्य शुक्तावारोपितत्वसिद्धेरेव जडत्वविरोधिब्रह्मसत्त्वादेरारोपान्यथानुपपत्त्या जडानां ब्रह्मण्यारोपितत्वसिद्ध्या मिथ्यात्वसिद्धिरिति भावः । ननु—ब्रह्मणोऽबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपत्वे भ्रमाधिष्ठानत्वमेव प्रयोजकम्, तथाच शुक्त्यादिव्यावहारिकप्रपञ्चस्यापि तत् एव तदस्तु, ततश्च यथा ब्रह्मस्वरूपं सत्ता, तथा शुक्त्यादिस्वरूपमपि भेदकल्पनया शुक्त्यादिधर्मः; ननु ब्रह्मधर्मसत्तादेः शुक्त्यादौ संसृष्टतयारोपः, यद्वलाद्ब्रह्मणि शुक्त्यादेरारोप आनीयते; तत्राह—चैतन्यस्यैवेति । अवच्छिन्नेत्यादि । अवच्छिन्नं चानवच्छिन्नं च तद्वच्छिन्नानवच्छिन्नमिति समाहारद्वन्द्वः, तादृशं यदज्ञानविषयत्वं तेनेत्यर्थः । रूप्यादिभ्रमोपादानाज्ञानविषयत्वं शुक्त्याद्यवच्छिन्नम्, शुक्त्यादिप्रपञ्चभ्रमोपादानाज्ञानविषयत्वमनवच्छिन्नम्, तदुभयमपि चित्त्वेन; जडे स्वतः प्रकाशत्वाप्रसत्तया तद्वैयर्थ्यादिति भावः । सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधेति । कालानवच्छिन्नं यत् सर्वदेशावृत्तित्वं तद्विशिष्टाल्यन्ताभावोऽर्थः । अनिर्वचनीयेति । प्रातीतिकेत्यर्थः । प्रातीतिके औपनिषदमते तादृशप्रतियोगित्वं सिद्धम्, माध्वमते तु तस्यैव तुच्छत्वात्तत्रैव सिद्धम् । जगति वियदादौ । कस्मिंश्चिदित्यादि । मूर्तेषु संयोगेन विभुषु संयोगेन संयुक्तमूर्तसंयोगेन वा गुणादौ संयुक्तसमवायादिना आकाशस्य सत्त्वेनाकाशाल्यन्ताभावस्यासंभवात्, उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन द्रव्ये तत्संभवेऽपि तस्य व्याप्यवृत्तित्वाभावेन प्रकृतानुपयोगात् । यद्यपि कस्मिंश्चिद्देशे काले वाकाशाभावो विद्यमानोऽपि प्रकृतानुपयुक्तः; तथापि कैमुतिकन्यायेन तथोक्तम् । कस्मिंश्चिद्देशे काले तदसत्त्वे सर्वत्र तत्र सुतरां तदसत्त्वमिति भावः । नित्यत्वेत्यादि । यदा आकाशस्य तादृशोऽत्यन्ताभावः, तदा तस्य ध्वंसः प्रागभावो वा वाच्यः, तथाचानित्यत्वं स्यात् । यत्र द्रव्ये आकाशस्यात्यन्ताभावः, तत्र तस्य संयोगो न जात इति वाच्यम्; अन्यथा हि तत्संयोगतदत्यन्ताभावयोर्विरोधः । नच—तत्संयोगस्य वृत्त्यनियामकत्वेन तदत्यन्ताभावाविरोधित्वमिति—वाच्यम्; चित्सुखीयानुमाने तस्यापि तद्विरोधस्योक्तत्वात्, 'अत्राकाश'मिति प्रत्ययेन तत्संयोगस्य वृत्तिनियामकत्वाच्च । तथाचाकाशस्य यत्र द्रव्ये अत्यन्ताभावस्तत्र तत्संयोगानुपपत्तेरावश्यकत्वे सर्वमूर्तसंयोगित्वरूपं विभुत्वं न स्यात् । यद्यपि तत्संयोगिनि समवायादिना तदत्यन्ताभावो न विरुद्ध इति वक्तुं शक्यते; तथापि तदीयसंयोगस्य तदत्यन्ताभावेनैव विरोधो लाघवादिति प्रतिपन्नेत्यादिमिथ्यात्वलक्षणोक्ताभिप्रायकमिदम् । अतएव नित्ये जलीयरूपादावपि संयुक्तसमवायादिसंबन्धेनाकाशसत्त्वान्न तदत्यन्ताभावः; अन्यथा हि तादृशरूपादिमिति आकाशसंयोगस्य वक्तुमशक्यतया आकाशस्य विभुत्वं न स्यात् । अथवा यावन्तः संबन्धाः प्रसिद्धाः तावदन्यतमावच्छिन्नप्रतियोगिताकाशाल्यन्ताभावस्य प्रकृते निवेशान्नित्यरूपादौ तादृशस्याकाशाद्यभावस्यासत्त्वान्न दोषः । यत्तु—सर्वकालवृत्तित्वमेवाभावे विशेषणं देयम्, ननु सर्वदेशीयत्वम्, अथाद्यवच्छेदेन गोत्वाद्यभावो न कदापि वर्तते; मानाभावात्, 'इदानीमश्वे गोत्वं नास्तीति धीस्तु गोत्वाश्वत्वयोरलीकसंसर्गस्यात्यन्ताभावमवगाहते; ननु गोत्वस्य । तथाच गोत्वादौ सर्वकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावसत्त्वात् तत्र नाव्याप्तिः, सर्वदेशवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावस्तु न लक्षणम्; षटादौ तादृशप्रतियोगित्वसत्त्वात् तत्राव्याप्तेः । षटादेर्हि स्वाधिकरणभूतत्वादितो अपसारणकाले तत्रात्यन्ता-

आकाशात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वाभ्युपगमे च वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वेनाभावो विशेषणीय—
इति चेन्न; चक्षुराद्ययोग्यानेकपदार्थघटितत्वेनैतादृशसत्त्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरसामर्थ्यात् । नहि
सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वं कस्यापि प्रत्यक्षम्, येन तद-
भावः प्रत्यक्षो भवेत् । वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वव्याप्यवृत्तित्वपरित्यागेऽपि सर्वदेशीयत्वत्रैकालिकत्व-
योरयोग्यत्वात् । ननु—स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभावे गृह्यमाणे कालत्रयमध्ये वर्तमानका-
लस्य सर्वदेशमध्ये प्रकृतदेशस्यापि प्रवेशेन तत्र निषेधप्रतियोगित्वाभावस्य गृहीतत्वात्तत्संवलितं
कालत्रयवृत्ति सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं नानुमानेन गृहीतुं शक्यते—इति चेन्न;
स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्वस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेन तदभावस्य सुतरां तदयोग्यत्वात्,
स्वदेशकालवृत्तिर्याकिंचिन्निषेधाप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभा-
वासामानाधिकरणस्य च स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनि, संबन्धभेदेन घटादौ
चासिद्धेः; स्वात्यन्ताभावयावदधिकरणावृत्तित्वं वा, स्वात्यन्ताभावयाकिंचिदधिकरणावृत्तित्वं वेति
विकल्पेन पूर्वोक्तदोषाच्च । तस्मात्तत्प्रकारान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वान्मिथ्यात्वाविरोधित्वाच्च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावः प्रतीयते । ‘अत्र भूतले इदानीं घटो नास्ती’ति धीर्हि घटस्यैवात्यन्ताभावं गृह्णाति । घटस्यैवोक्तकाले उक्तभूतले
आरोपसंभवादरोपितस्यैवालीकत्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्—इति माध्वेनोक्तम्, तदयुक्तम्; गोत्वादेरप्य-
श्वादावारोपसंभवेन तत्राव्याप्तितादवस्थ्यात्, अलीकस्यैवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति नियमे मानाभावाच्च । यदि च
तादृशनियमः स्वीक्रियते, तदा अत्यन्ताभावप्रतियोगिता न केनापि धर्मेण संबन्धेन वा अवच्छिन्ना; अलीकस्य सर्व-
देशकालासंबन्धेन धर्मविशेषसंबन्धविशेषावच्छेदकत्वेऽनपेक्ष्यैव तदत्यन्ताभावस्य सर्वत्र संभवात् । अतएव ‘ध्वंसप्राग-
भावप्रतियोगिता तादृशी’ति नव्याः । तथाच तव मते संबन्धधर्मविशेषाणां संसर्गाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्यानु-
भूयमानस्यापलापापत्तिः । वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वेति । वृत्तिमत्त्वेन यत् माध्वभिन्नस्य संमतं तन्मात्रनिष्ठप्रतियोगि-
ताकत्वेनेत्यर्थः । यथाश्रुते सर्वदेशकालवृत्तेर्द्वैतमत्प्रतियोगिकाभावस्याप्रसिद्धेः, गगनघटोभयाभावादेरवारणाच्च ।
नहीत्यादि । तादृशवृत्तिमत्प्रतियोगिकाभावस्यातीन्द्रियघटितत्वात् तद्वदितरूपावच्छिन्नं यद्यत्र स्यात्तदोपलभ्येतेत्य-
पादनासंभवात्, अतः सतोऽपि तस्यातीन्द्रियत्वेनानुपस्थितिसंभवात् । सर्वदेशीयत्वत्रैकालिकत्वादिरूपेण तु
सुतरामभावो न प्रत्यक्षः; तादृशरूपस्यायोग्यत्वात् । तथाच तादृशाभावप्रतियोगितात्वरूपेणापि प्रतियोगित्वस्य
प्रत्यक्षासंभवेनायोग्यतादृशरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो न प्रत्यक्ष इत्यर्थः । प्रतियोगित्वाभाव इति । योग्य-
त्वादिति शेषः । वर्तमानकालेति प्रकृतदेशेति च स्वकालदेशार्थकम् । तत्र निषेधेति । स्वकालदेशवृत्तिनिषेधे-
त्यर्थः । तत्संवलितेत्यादि । स्वदेशकालवृत्तिघटितो यः कालत्रयवर्ती सर्वदेशीयनिषेधस्तत्प्रतियोगित्वरूपमित्यर्थः ।
यद्यपि—नेदं दूषणं संभवदुक्तिकम् । नहि सर्वदेशकालवृत्तीत्यत्र देशकालानां सर्वेषां तत्तद्व्यक्तित्वैर्निवेशः संभवति;
तादृशोपस्थितेर्युगसहस्रेणाप्यसंभवात्, किं तु देशत्वकालत्वव्यापकत्वेनात्यन्ताभावो निवेद्यः । तथाच तादृशव्या-
पकत्वस्य सर्वदेशकालव्यव्यघटितत्वेन स्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावधीकालेऽपि तादृशमिथ्यात्वस्य धीः
संभवत्येव; स्वदेशनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वविशिष्टबुद्धिर्हि स्वदेशनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशिष्टबुद्धौ ग्राह्या-
भावनिश्चयविधया विरोधिनी, ननु देशनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशिष्टबुद्धौ । नहि नीलघटाभावबुद्धिर्घटवत्ताधी-
विरोधिनी; देशत्वव्यापकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वधियस्तु सुतरां न विरोधिनी; देशवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य तद्वदे-
तस्यामभानात् । अथैवमपि—घटादेः सत्यत्वमतेऽपि किंचित्कालावच्छेदेन सर्वदेशेषु किंचिद्देशावच्छेदेन सर्वकालेषु
चात्यन्ताभावस्वीकारात् सर्वकालावच्छेदेन सर्वदेशवृत्तिको योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वमेवासत्त्वं वाच्यम्, सर्वदेश-
वृत्तित्वं च देशत्वव्यापकत्वमेव, तथा चाप्रसिद्धिः, असत्प्रतियोगिकाभावस्य कालावच्छिन्नत्वे मानाभावात्—इति
चेन्न; अत्र हि देशत्वव्यापककालानवच्छिन्नाधिकरणताकत्वेन कालत्वव्यापकदेशानवच्छिन्नाधिकरणताकत्वेन वा
विशिष्टोऽत्यन्ताभावो निवेद्यः । देशत्वं च कालिकान्यसंबन्धावच्छिन्नाधिकरणत्वम् । कालत्वं कालिकसंबन्धा-
वच्छिन्नाधिकरणत्वम् । एवंच ‘तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगी तद्वट’ इति ज्ञानं प्रति ‘स्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ता-
भावाप्रतियोगी तद्वट’इति ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वं नास्त्येव—तथापि; संभवदुक्तिकतामङ्गीकृत्य दूषयति—
न स्वदेशेति । सकलेत्यादि । तादृशनिषेधानां मध्ये अतीन्द्रियप्रतियोगिकाभावस्यापि संभवेन तत्प्रतियोगि-
त्वस्यायोग्यत्वात् तत्साधारणतादृशप्रतियोगितात्वावच्छिन्नाभावो न प्रत्यक्षः । ‘यद्यत्र तादृशप्रतियोगित्वं स्यात्,
तदोपलभ्येते’त्यापादनासंभवादिति भावः । पूर्वोक्तेति । स्वात्यन्ताभावीयसकलाधिकरणवृत्तित्वस्यायोग्यत्वेन सुतरां

स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपमेव सत्त्वमुपेयम् । तच्च न चक्षुरादियोग्य-
मित्युक्तम् । ननु—यस्मिन्कस्मिंश्चित् स्वदेशकालवृत्तिनिषेधे एतद्देशैतत्कालवृत्तिनिषेधत्वं ज्ञात्वा तेन
प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितानां स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधानां प्रतियोगित्वस्याभावो घटे ग्राह्यः,
ततः सार्वदिकसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वस्य ग्रहणं घटे दुर्घटमिति—चेन्न; एवं सामान्यलक्षणया
सर्वनिषेधेषूपस्थितेष्वपि तत्प्रतियोगित्वाभावस्य चक्षुरादिना ग्रहीतुमशक्यत्वात् । योग्यप्रति-
योगिक एव हि संसर्गाभावो योग्यः । नचाशेषनिषेधानां प्रतियोगित्वमतीन्द्रियसाधारणं चक्षुरादि-
योग्यम् । वस्तुतस्तु—सामान्यं नेन्द्रियप्रत्यासत्तिः; मानाभावात् । नच—महानसीयधूमेन्द्रिय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदभावस्यायोग्यत्वादित्येवंरूपेत्यर्थः । तथा च व्यवहितविकृष्टतादृशाधिकरणवृत्तित्वस्य सत्त्वेऽप्यनुपलब्धिसंभवात्तदु-
पलब्धेरपादनासंभवात्तादृशाभावो न प्रत्यक्ष इति भावः । अयोग्यत्वमिन्द्रियासन्निकर्षेण प्रत्यक्षाविषयत्वमेव, तच्च
उक्ताभावे नास्ति; सामान्यप्रत्यासत्तिरूपस्यालौकिकस्येन्द्रियसन्निकर्षस्य सत्त्वादित्याशयेन शङ्कते—नन्वित्यादि ।
अयोग्यत्वं यदस्माभिरुक्तं तल्लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वायोग्यत्वमेव; लौकिकप्रत्यक्षरूपस्यैव बाधस्योपक्रान्तत्वात्, तन्मूली-
भूतापादनविषयस्य प्रतियोग्युपलम्भस्य लौकिकस्यैवापेक्षितत्वेन तस्यैव मया खण्डनीयत्वात्, तादृशायोग्यत्वं च
उक्ताभावे अस्त्येवेत्याशयेन समाधत्ते—नेति । योग्यप्रतियोगिक इति । स्वप्रतियोग्युपलम्भापादकतायोग्य-
प्रतियोगिक इत्यर्थः । यादृशप्रतियोगिनः सत्त्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादिविशिष्टेन तदुपलब्धिरापादयितुं शक्यते, तादृश-
प्रतियोगिक इति यावत् । संसर्गाभाव इति । अभावमात्रं विवक्षितम् । येन संसर्गेण प्रतियोगिनो वैशिष्ट्यं
तदुपलम्भस्यापादकं, तेन संसर्गेणावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः प्रत्यक्ष इति ज्ञापयितुं संसर्गपदमुक्तम् । तत्संसर्गा-
वच्छिन्नत्वं च तदन्यसंसर्गावच्छिन्नत्वरूपं बोध्यम्; तेन प्रागभावप्रतियोगितानां संसर्गानवच्छिन्नत्वेऽपि न क्षतिः ।
तथा च यद्युक्तप्रतियोगितात्वविशिष्टं प्रतियोगित्वं स्यात्, तदोपलब्धयेत्यापादनासंभवात् नोक्ताभावो लौकिकप्रत्यक्षः ।
उक्तं हि दीधित्यादौ—‘यथा विद्यमानमपि वह्नित्वे रासभादिदेशनिष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं न गृह्यते अभाव-
देशविप्रकर्षादिनेन्द्रियसन्निकर्षादिरूपग्राहकाभावात्, तथा धूमवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमपीति नानु-
पलब्धेः प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वलक्षणयोग्यतेति तदभावो नाध्यक्षः—इति । अत्रायं भावः—
यद्यपि प्रतियोगितातदवच्छेदकयोः सत्त्वे इन्द्रियसन्निकृष्टत्वापत्त्या प्रत्यक्षापत्तिः; तथापि धूमवदादेरिन्द्रियासन्निकर्षा-
दतीन्द्रियपिशाचपरमाण्वादिरूपत्वस्यापि संभवाच्च तन्निष्ठाभावानामपि तथात्वाच्च तद्वदितरूपेणोक्तावच्छेदकत्वस्य
प्रत्यक्षापत्त्यसंभवात् नोक्तरूपावच्छिन्नाभावः प्रत्यक्षः । न हि प्रतियोगितावच्छेदकतापर्यायधिकरणस्य लौकिकप्रत्यक्षा-
पत्त्यसंभवे अभावस्य लौकिकप्रत्यक्षम् । किञ्चाभावादिप्रत्यक्षं विना प्रतियोगिताया अपि न प्रत्यक्षापत्तिः; संबन्धप्रत्यक्षे
संबन्धिप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् । एतेन—योग्यप्रतियोगिक इत्यादेः योग्यप्रतियोगिकान्यः संसर्गाभावो न योग्य इति
नार्थः; उक्तप्रतियोगित्वाभावस्य योग्यायोग्यप्रतियोगिकत्वेन योग्यतापत्तेः, नाप्ययोग्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो न
योग्य इत्यर्थः; महावायौ योग्यायोग्योद्भूतानुद्भूतरूपसामान्याभावस्य प्रत्यक्षमिति दीधित्यादावुक्तत्वात्, नाप्ययोग्य-
धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावो न योग्य इत्यर्थः; तावतापि स्वप्ने पिशाचादेरिव योग्ये घटादावुक्तप्रतियोगित्व-
वन्नेदस्य प्रत्यक्षत्वानिराकरणेन बाधसामान्यानुद्धारादित्यादि—परास्तम्; उक्तप्रतियोगित्ववन्नेदप्रत्यक्षेऽप्युक्तयोग्यतायाः
प्रतियोग्यनुपलम्भे अपेक्षेणेतदभावो तादृशप्रत्यक्षाभाव इत्यस्याप्युक्तग्रन्थेन प्रतिपादनात् । अत एवोक्तदीधितिवाक्ये
तादृशावच्छेदकत्ववन्नेदस्यापि अनध्यक्षतायां तात्पर्यम् । अत एव च ‘मूर्तसामान्यतद्वतोरिवोपाधिसामान्यतद्वतोरत्य-
न्ताभावान्योन्याभावौ न योग्या’ वित्यादिकं व्याप्तिग्रहोपायदीधित्यादावुक्तम् । अतीन्द्रियसाधारणम् अतीन्द्रिय-
तादृशाभावतत्प्रतियोगित्वघटितत्वेनातीन्द्रियं यत् तादृशाभावप्रतियोगितात्वं तद्विशिष्टम् । चक्षुरादियोग्यं यस्य सत्त्वेन
तदुपलब्धिरापादयितुं शक्यते तादृशम् । यदि त्वयोग्यधर्मानवच्छिन्नयोग्यमात्रवृत्तिप्रतियोगिताकाभाव एव योग्यः;
वाय्वादौ रूपाद्यभावस्तु न प्रत्यक्षः, किंत्वनुमेय इति मतमवलम्ब्यते, तदा यथाश्रुतमेव योग्येत्यादिकं सम्यक् ।
यत्तु—तादृशाभावप्रतियोगित्वं यदि घटे स्यात्, तदोपलब्धयेत्यापादनं संभवत्येव; घटवृत्तेः संसर्गाभावप्रतियोगि-
त्वस्य योग्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववत् । अत एव अयं घटोऽत्रैव नान्यत्रेत्यन्यदेशनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य
घटे प्रत्यक्षम्, अन्यदेशनिष्ठात्यन्ताभावस्तु न प्रत्यक्षः; विशेष्यसन्निकर्षाद्यभावात् । एवं सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वमपि साक्षिवेद्यत्वाद्योग्यम् । अत एव शुक्तिरूप्यादौ मनमते तस्य साक्षिवेद्यता स्वीक्रियते इति—माध्वोक्तम्,
तन्न; प्रागभावस्य हि सत्त्वे किं तत्प्रतियोगित्वं प्रत्यक्षं, तदसत्त्वे वा । नाद्यः; तदोक्तप्रतियोगित्वस्याश्रयासन्निकर्षा-
प्रत्यक्षत्वात् । अन्ये तु प्रागभावप्रतियोगितात्वेन, प्रतियोगितात्वेन, तद्व्यक्तित्वेन वा । नाद्यः; प्रागभावासन्निकर्षात्
अद्वै. सि. ४३

संयोगेन तत्रैव व्याप्तिग्रहे पर्वतीयधूमादनुमितिर्न स्यात्, सामान्यस्य च धूमत्वादेः प्रत्यास-
त्तित्वे तस्यापि प्रत्यासन्नत्वात्तत्र व्याप्तिग्रहे ततोऽनुमितिरिति—वाच्यम्; पर्वतीयधूमेन्द्रियसन्नि-
कर्षदशायां धूमत्वेन प्रकारेण गृहीतस्मृतव्याप्तेस्तत्र वैशिष्ट्यग्रहसंभवात्, 'सुरभिचन्दन'मिति वत्
विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षविशेषणज्ञानासंसर्गाग्रहरूपाया विशिष्टज्ञानसामग्र्याः पूर्णत्वात् । व्याप्ति-
स्मृतिप्रकारेण वा पक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुताः महानसीय एव धूमो धूमत्वेन व्याप्तिस्मृतिविषयो
भवति, धूमत्वेन पर्वतीयधूमज्ञानं चापि जातम्, तच्च सामान्यलक्षणां विनैव; तावतैवानुमिति-
सिद्धेः । नच—सामान्यप्रत्यासत्तिं विना धूमो वह्निव्यभिचारी न वेति अनुभूयमानसंशयो न
स्यात्, प्रसिद्धधूमे वह्निसंबन्धावगमात् अप्रसिद्धस्य चाज्ञानादिति—वाच्यम्; प्रसिद्धधूम एव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रागभावप्रत्यक्षासंभवेन तद्वदितरूपेण प्रत्यक्षासंभवात् तद्वृष्टान्तेन तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे योग्यतां प्रसाध्य
तादृशप्रतियोगितात्वरूपेणोपलम्भापादनस्यासंभवात् । नच—अभावांशे अलौकिकस्य प्रतियोगित्वांशे लौकिकस्यो-
पलम्भस्यापादनं संभवतीति—वाच्यम्; गुरुत्वविशेषवत् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्य प्रत्यक्षापत्त्या
प्रतियोगितावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणांशे प्रतियोग्यंशे च लौकिकस्यैवोपलम्भस्यापादनस्याभावप्रत्यक्षे प्रयोजकत्वात् ।
अत एव न द्वितीयः; घटत्वादिरूपेण घटादेः प्रत्यक्षं विना तत्संयोगादेः संयोगत्वादिरूपेण प्रत्यक्षाभावेन संबन्ध-
प्रत्यक्षं प्रति संबन्धितावच्छेदकरूपेण संबन्धिप्रत्यक्षस्य हेतुत्वेन प्रागभावत्वरूपेणाप्रत्यक्षे तेन रूपेण प्रत्यक्षासंभवात्,
अन्यकल्पे वक्ष्यमाणदोषस्यात्रापि संभवाच्च । नान्यः; तादृशदृष्टान्तेन घटादौ स्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व-
स्यापि तद्व्यक्तित्वेनैव प्रत्यक्षसिद्ध्या तदवच्छिन्नाभावस्यैव प्रत्यक्षसिद्धावपि तादृशाभावप्रतियोगित्वत्वावच्छिन्नाभाव-
प्रत्यक्षानुपपादनात् । अयमत्रैव नान्यत्रेति प्रत्यक्षं तु संभवत्येव; सन्निकृष्टदेशान्तरनिष्ठात्यन्ताभावस्य प्रत्यक्षत्वेन
तत्प्रतियोगित्वाश्रयस्यापि सन्निकृष्टत्वेन च तादृशप्रतियोगित्वप्रत्यक्षसंभवात् । देशान्तरासन्निकर्षं तु तादृशप्रत्यक्षं
न संभवत्येव । किंच 'अयमत्रैव नान्यत्रे'त्याकारज्ञानस्य देशान्तरनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोग्यमित्यर्थकत्वे
घटत्वमत्रैव नान्यत्रेति ज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तिः । अथात्रैवेत्येवकारार्थस्यैव नान्यत्रेत्यनेनानुवादात् एवकारस्य
चैतदन्यासंयुक्तत्वबोधकत्वे 'द्रव्यं द्रव्यमेव'त्यादौ द्रव्यान्यासंयुक्तत्वस्याप्रसिद्धस्य बोधकत्वासंभवात् एतद्देशान्य-
त्वावच्छेदेन वर्तमानात्यन्ताभावप्रतियोग्यमित्यर्थकत्वं वाच्यम्, तत्र विशेष्यासन्निकर्षस्याभावाप्रत्यक्षत्वे त्वदुक्त-
हेतुत्वासंभवः । न ह्यत्र देशो विशेष्यः, किं तु विशेषणम्; 'अयमेव देश एतद्वा'नित्यादावेव देशस्य विशेष्य-
त्वात् । अथ देश एव विशेष्यपदेनोक्तः, तथाप्युक्तम्; कस्यचिद्देशस्य सन्निकर्षात् । न ह्यत्रैतदन्यसर्वदेशभानम्;
तस्माद्व्यापकत्वमेवायोग्यम् । नच—मनोभिन्नावृत्तित्वादिघटितेन मनस्त्वत्वेन मनस्त्वोपलब्ध्यापादनासंभवेऽपि
घटादौ मनस्त्वाभाव इव तादृशप्रतियोगितात्वेन तादृशप्रतियोगित्वोपलम्भापादनासंभवेऽपि तदभावः प्रत्यक्षोऽ-
स्त्विति—वाच्यम्; मनस्त्वत्वरूपेण हि न मनस्त्वस्याभावः प्रत्यक्षः, तादृशरूपस्यायोग्यघटितत्वात् । अत एव 'घटत्व-
त्वादिना न घटत्वाद्यभावस्य प्रत्यक्षते'ति शिरोमणिः, किंतु मनस्समवेतत्वेनैव; घटादौ हि मनस्त्वसत्त्वे मनसो योग्यत्वा-
पत्त्या 'मनस्त्वं यदि घटे स्यात्, तदा मनस्समवेतत्वेनोपलभ्येते'त्यादिरीत्या मनस्समवेतत्वविशिष्ट्योपलम्भापादन-
संभवेन तदभावस्य प्रत्यक्षसंभवः । नच—घटादौ मनस्त्वसत्त्वे गुरुत्वादेरपि मनस्समवेतत्वापत्त्या तेन रूपेणोपलम्भा-
पादनासंभव इति—वाच्यम्; मनस्त्वीयसमवायेनाधेयत्वस्यैव मनस्समवेतत्वरूपत्वात्, सर्वदेशेत्यादिकं तु स्वपित्रा-
दीन् प्रत्येव वाच्यम्, यादृशाभावो हि तार्किकादीनां प्रत्यक्षः तस्यैव त्वया साक्षिभास्यतायाः मां प्रति वाच्यत्वात्;
अन्यथा अतिप्रसङ्गात्, तार्किकादिवाक्यं तु उक्तमेव । ननु—उक्तप्रतियोगित्वाभावस्य लौकिकप्रत्यक्षासंभवेऽपि सामा-
न्यप्रत्यासत्त्या वा ज्ञानप्रत्यासत्त्या वा अलौकिकप्रत्यक्षमस्तु, तावताऽपि मिथ्यात्वानुमानासंभवः, न ह्यनुमितौ लौकिक-
प्रत्यक्षस्यैव बाधविधया विरोधित्वम्; किं तु तदभावनिश्चयमात्रस्य, तत्राह—वस्तुत इति । सामान्यम् इन्द्रियलौकिक-
सन्निकर्षविशिष्टविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतधर्मः । इन्द्रियप्रत्यासत्तिः तादृशसामान्याश्रयनिष्ठेनालौकिविशेष्यतासंबन्धेन
प्रत्यक्षं प्रति कारणीभूतस्येन्द्रियस्य सन्निकर्षविधया कारणम् । तस्यापि पर्वतीयधूमस्यापि । विशेष्येन्द्रियसन्निक-
र्षेति । मुख्यविशेष्येन्द्रिययोः लौकिकसन्निकर्षेत्यर्थः । बहिरिन्द्रियाणां स्वकीयलौकिकसन्निकर्षाश्रयमुख्यविशेष्यकज्ञान-
जनकत्वनित्यमान्मुख्यविशेष्यांशे लौकिकसन्निकर्षस्य बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे अपेक्षेति भावः ॥ यो यत्र पुरावगतः, स
एव तत्र संस्कारवशादलौकिकप्रत्यक्षे भाति; यत्र यो न पुरावगतः, तत्र तस्य धीरनुमित्यादिरिति प्राचीनतार्किकादिमते,
उपनयसन्निकर्षास्वीकर्तृमते, हेतुनिष्ठं साध्यसामानाधिकरण्यमेव व्याप्तिः न तु साध्यसमानाधिकरणवृत्तिहेतुतावच्छेद-
कमिति पक्षे च, महानसीय एव धूमे गृहीतस्मृतव्याप्तेः पर्वतीयधूमे प्रत्यक्षासंभवादाह—व्याप्तिस्मृतीति । यथा-

तत्तद्भूमत्वादिना व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमत्वेन तत्संशयोपपत्तेः । तथा चोक्तं मणिकृता—‘घटत्वेन-
तरमेदनिश्चयेऽपि पृथिवीत्वादिना तत्र संशयसिषाधयिषे भवत एवेति । निश्चितेऽप्यर्थे प्रामाण्य-
संशयाहितसंशयवत् धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वेति संशयादपि तादृशसंशयोपपत्तेश्च । एतेन
वायू रूपवान्न वेति संशयोऽपि व्याख्यातः । ननु—सिद्धे नेच्छा, किंतु असिद्धे, सा च स्वसमान-
विषयज्ञानजन्या, तच्च ज्ञानं न सामान्यप्रत्यासत्तिं विना । नच—सिद्धगोचरसुखत्वप्रकारकज्ञाना-
देवाज्ञाते सुखे भवतीच्छा, समानप्रकारकत्वमात्रस्य नियामकत्वादिति—वाच्यम्; रजतत्वेन
प्रकारेण रजते अनुभूयमाने घटादौ रजतत्वप्रकारकेच्छाप्रसङ्गात् । नच—प्रकाराश्रयत्वमपि निया-
मकम्; रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छानुदयप्रसङ्गात् । तथा च समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकत्वं
तन्त्रम् । अत एवाख्यातिपक्षे रजतस्मरणस्यैव शुक्तौ प्रवर्तकत्वमित्यपास्तमिति—चेन्न; यतो रजत-
भ्रमाच्छुक्ताविच्छा नास्त्येव, किं त्वनिर्वचनीये रजत इत्यनिर्वचनीयख्यातौ वक्ष्यते । प्रकाराश्रयत्वं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रुतार्थकमिदं प्राभाकरादिमते बोध्यम् । मन्मते तु—प्रकारेण प्रकारतायोग्येन । विषयो विषयतायोग्यः । तादृ-
शयोग्यत्वं चोद्बुद्धसंस्कारज्ञानयोर्व्याप्तिविषयकयोः यत् अन्यतरत् तद्विषयत्वम् । तथा च प्राभाकरादिमते धूमत्वा-
द्येकरूपेण व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानयोरिव मन्मते तयोर्वा तेन रूपेण व्याप्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारपक्षधर्मताज्ञानयोर्वा
हेतुत्वम्; व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानस्य तन्मते अनावश्यकत्ववत् मन्मते व्याप्तिज्ञानस्याप्यनावश्यकत्वात्, तादृशज्ञान-
द्वयोत्तरमुक्तवैशिष्ट्यधीयत्कीनामिव व्याप्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारपक्षधर्मताज्ञानोत्तरं व्याप्तिस्मृतिव्यक्तीनामनुमित्युत्पत्त्यर्थं
कल्पने महागौरवात् । उक्तं हि पञ्चपाद्याम्—‘लिङ्गज्ञानव्याप्तिसंस्कारयोः संभूय लिङ्गज्ञानहेतुत्वम्; संस्का-
रानुद्बोधे तदभावात् । तस्माल्लिङ्गज्ञानमेव लिङ्गसंबन्धसंस्कारमुद्बोध्य तत्सहितं लिङ्गज्ञानं जनयतीति । उद्बोध्य
स्वतः, स्वजन्यवह्निज्ञानादितो वा, स्वपूर्ववर्तिनो अन्यस्माद्वा उद्बोध्य । तेन धूमवत्ताज्ञानस्य कदाचिदुद्बोधकत्वाभावेऽपि
न क्षतिः । स्वपूर्ववर्तिन उद्बोधकत्वेऽपि पूर्ववर्तितासंबन्धेन स्वस्य तद्व्यावर्तकत्वेन परंपरयोद्बोधकत्वम् । करणीभूतव्य-
क्तिव्यावर्तकत्वेन जातिगुणयोः करणत्ववत् । अतो लिङ्गज्ञानमेवोद्बोधं जनयतीति नासङ्गतम्; अन्यस्योद्बोधकत्वेऽपि
लिङ्गज्ञानस्य तद्व्यावर्तकत्वेन प्राधान्यविवक्षया तदुक्तेः । व्याप्तिस्मृतिप्रयोजकत्वेन पराभिमतानामुद्बोधकानां शक्तिवि-
शेषरूपे संस्कारोद्बोधे हेतुत्वसंबन्धेन तादृशशक्तिमत्संस्कारसहितं लिङ्गज्ञानमनुमितिहेतुः; प्राचीनमते उद्बोधकजनित-
शक्तिकस्यैव संस्कारस्य स्मृत्यादिहेतुत्वात् । संस्कारेण स्मृत्यादौ जननीये तत्सहकारित्वमेवोद्बोधकत्वमिति नव्यमते
तु तादृशोद्बोधकैः सहितमेव लिङ्गज्ञानं तथा; संस्कारहेतुत्वे मानाभावात् । नच—व्याप्तिस्मरणोत्तरं यत्र धूमवत्ताज्ञानं,
यत्र वा व्याप्तिविशिष्टधूमवत्तास्मृतिः प्रथमत एव जाता, तत्रानुमित्युत्पत्तये व्याप्तिधीत्वेनाऽपि हेतुत्वस्यावश्यकत्वात्
गौरवमिति—वाच्यम्; उद्बुद्धसंस्कारव्याप्तिज्ञानयोरैकशक्तिमत्तया हेतुत्वस्य प्राचीनमते स्वीकारात्, केवलसंस्का-
रात् उद्बुद्धसंस्कारस्यातिरिक्तत्वेन तत्रैव शक्तिविशेषस्वीकारात् । अनतिरिक्तत्वेऽपि नानुद्बुद्धसंस्कारादनुमितिः; उद्बोध-
कालावच्छिन्नशक्तिस्वीकारात्, नव्यमते संस्कारोद्बोधकेषु व्याप्तिज्ञानेषु व्याप्तिज्ञाने च पर्याप्ताया एकशक्तेः स्वीकारात् ।
अत एव नानालिङ्गकपरामर्शेभ्योऽनुमितिरूपपन्ना; तावत्सु तस्याः संभवात् । यदि चानुमितौ पक्षसाध्यसंसर्गेतरस्य
घटादेः स्मृत्यादिसामग्रीतो भानं नानुभवविरुद्धं, तदा तादृशोद्बोधकेभ्यो व्याप्तिस्मृत्यादिसामग्रीतः पक्षधर्मतायाश्च तस्यां
भानमास्ताम् । अत एवोद्बुद्धसंस्कारोत्तरं व्याख्यादिस्मरणस्य नापलापः; अनुमितेरेव व्याख्याद्यंशे स्मृतिवत्स्वीकारात् ।
अन्यथा त्वनुमितिसामग्री तज्ज्ञाने प्रतिबन्धिकास्तु । नच—संस्कारस्याप्यनुमितिजनकत्वे न्यायप्रयोगस्थले उपाध्युद्भावनं
नियमतो न स्यात्, तत्कार्यस्य व्यभिचारज्ञानस्य अनुमितिकारणसंस्काराप्रतिबन्धकत्वादिति—वाच्यम्; विरोधिनिश्चयस्य
संस्कारनाशकत्वेन व्याप्तिसंस्कारनाशार्थं व्याप्तिधीप्रतिबन्धार्थं वा व्यभिचारज्ञानस्य साधनीयत्वेन नियमत उपाध्युद्भा-
वनसंभवात्, विरोधिनिश्चयस्य संस्कारनाशकत्वेऽपि विरोधिविषयकसंस्कारे संस्कारनाशकत्वस्यावश्यकत्वेन कारणी-
भूतसंस्कारविरोधिविषयकसंस्कारजननाय व्यभिचारज्ञापकोपाध्युद्भावनसंभवाच्च । ननु, प्राचां यत्र यस्य निश्चयः, तत्र
तस्य रूपान्तरेणापि न संशयः; समानविशेष्यकताप्रत्यासत्त्यैव तयोर्विरोधित्वात्, तत्राह—निश्चितेऽपीति । वह्निव्य-
भिचारीति । वह्निव्याप्यत्वेन निश्चिततत्तद्भूमेभ्यो यत् भिन्नं तदित्यर्थः । प्राचां मते यथा ‘रूपत्वं पार्थिवादित्रिविध-
रूपभिन्नवृत्ति न वेति संशयकाले वायौ पार्थिवादिरूपविशेषाभावनिश्चयेऽपि ‘वायू रूपवान्न वेति संशयः, यथा वा
‘पार्थिवादिरूपाणि वायुवृत्तिव्याभाववन्तीति निश्चयेऽप्युक्तकाले ‘रूपं वायुवृत्ति न वेति संशयः, तथा ‘धूमो वह्निव्याप्य’
इति निश्चयेऽपि ‘धूमत्वं तत्तद्भूमभिन्नवृत्ति न वेति संशयकाले समानविषयकसंशयस्याप्रतिबन्धकतायामतिरिक्तसंभा-
वनाया उत्तेजकत्वात् । न चैवं—तादृशोत्तेजकस्य सदैव संभवात् निश्चयः कदापि विरोधी न स्यादिति—वाच्यम्; रूप-

नियामकं वदन्नख्यातिवादी परमेवं विभीषणीयः । तथा च प्रकाराश्रयत्वस्य नियामकत्वादन्वयाख्यातिपक्षोऽपि निरस्त एव । नच—तर्हि भ्रमत्वं न स्यात् इदं रजतमिति भ्रमत्वाभिमतज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारत्वाभ्युपगमादिति—वाच्यम्; बाधितविषयत्वेन हि भ्रमत्वं न तु व्यधिकरणप्रकारत्वेन तस्यापि विषयबाधप्रयोज्यत्वादिति हि वक्ष्यते । ननु—अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानजन्यत्वात् प्रौढप्रकाशयावत्तेजोविरहरूपस्य तमसः प्रत्यक्षता न स्यात्, सामान्यप्रत्यासत्तिं विना प्रतियोग्यनुपस्थितेः इति—चेन्न; अस्मन्मते तमसो भावान्तरत्वात् । नच—तथापि तद्व्यञ्जकत्वात्तद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वावच्छेदेन पार्थिवादित्रिविधरूपान्यस्वाभावनिश्रयकाले तादृशसंशयस्यानुदयेन तस्यासार्वत्रिकत्वादिति भावः । विभीषणीय इति । वस्तुतः तन्मते संवादिप्रवृत्तावेव प्रकाराश्रयत्वं नियामकमुच्यते, विसंवादिप्रवृत्तौ तु दोषः, दोषसमवधानोत्तरविशेषणज्ञानं वा; प्रवृत्तिमात्रे तु उपस्थितयोरिष्टतावच्छेदकधर्मिणोरसंसर्गाग्रह इति न दोष इति भावः । नच—एकस्यां रजतव्यक्तौ ज्ञातायामन्यस्यां रजतव्यक्तौ प्रवृत्त्यापत्तिरिति—वाच्यम्; ज्ञातरजतानामेकत्रैवान्यत्रापि प्रवृत्तेरन्यथाख्यातिमतेऽप्यापत्तेः, असाधारणकारणकल्पनात्तदभावात् व्यक्त्यन्तरे प्रवृत्त्यभावस्य मन्मतेऽपि संभवात् । व्यधिकरणप्रकारकत्वेति । यादृशप्रकारता स्वरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणान्यवृत्तिः, तादृशप्रकारताकत्वैत्यर्थः । स्वं प्रकारता रजतादिनिष्ठा । तन्निरूपितविशेष्यतासमानाधिकरणात् इदंत्वादेर्भिन्ने रजतादौ तस्याः सत्त्वात् । बाधितेति । मिथ्येत्यर्थः । विषयत्वेन विषयत्वघटितम् । विषयबाधप्रयोज्यत्वात् भ्रमविशेष्ये विशेषणाभावज्ञानज्ञाप्यत्वात् । तथा च भ्रमत्वज्ञानकाले तादृशाभावज्ञानस्यावश्यकत्वेन तादृशाभावघटितमिथ्यात्वघटितमेव भ्रमत्वं युक्तमिति भावः । न तु व्यधिकरणेत्यादिनेदं सूचितम्—तदीयतत्संबन्धानधिकरणे तत्संबन्धेन तत्प्रकारकधीत्वं तस्य तत्संबन्धेन भ्रमत्वमिति लक्षणकरणे संबन्धांशे भ्रमत्वं भ्रमे न स्यात्; व्यवहियते च तत्र तस्य भ्रमत्वं तान्त्रिकैः, अतएव—साध्ये हेतुसमानकालत्वावगाहिन्या अनुमितेः संसर्गाभूतकालांशे भ्रमत्वमुक्तम् परामर्शग्रन्थे दीधित्यादौ । अथ—उक्तधीत्वं विशेषणस्यैव तत्संबन्धस्यापि भ्रमत्वमिति—चेत्, तर्हि इदो वह्निमानित्यादिधीः संयोगत्वविशिष्टस्य भ्रमः स्यात् । अथ—विशेषणप्रतियोगिकसंबन्धत्वविशिष्टस्यैव भ्रमत्वं तत्र, न तु संबन्धतावच्छेदकमात्रविशिष्टस्येति—चेत्, तर्हि संयोगेन रूपप्रकारकधीः रूपे संयोगत्वविशिष्टस्य भ्रमो न स्यात् । एवं दूरस्थवृक्षद्वये ऐक्यविषयकस्य 'सोऽय'मिति निर्विकल्पकस्य ध्यानादिसमये प्रभाविशेषादिनिर्विकल्पकस्य च भ्रमस्य भ्रमत्वं न स्यात्; व्यवहियते च तत्रापि लोके भ्रमत्वम्; तस्मात् बाधितविषयकत्वमेव भ्रमत्वम् । अत एवाबाधितविषयकत्वघटितप्रमात्वमपि निर्विकल्पकसाधारणम् । एतावांस्तु विशेषः 'सोऽय'मिति वाक्यजन्यप्रमा तत्तेदन्वोपलक्षणप्रमाद्वारिका, तज्जन्यभ्रमस्तु तद्भ्रमद्वारक इति । तस्मादैक्यभ्रमो निर्विकल्पकः संभवत्येव । ध्यानादिसमये प्रभादिनिर्विकल्पकभ्रमस्तु ध्यानादीनामनुभवसिद्ध एव—इति । अस्मन्मते पूर्वोत्तरमीमांसकयोर्मते । भावान्तरत्वादिति । तदुक्तं 'नाभावोऽभाववैधर्म्यात् नारोपो बाधहानितः । द्रव्यादिषट्कवैधर्म्यात् ज्ञेयं मेयान्तरं तम' इति । तमो 'नीलं चलती'त्यादिप्रत्ययात् रूपादिमत्त्वेन घटादिष्विव तमस्यपि तद्वाधाभावेन च गन्धाद्यभावात् पृथिव्यादिद्रव्यगुणादिवैलक्षण्येन च तमो द्रव्यान्तरमित्यर्थः । किंच द्रव्यचाक्षुषे आलोकप्रतियोगिकसंयोगो न हेतुः; मणिप्रभादौ तदभावेऽपि चाक्षुषोत्पत्तेः । नाप्यालोकप्रतियोगित्वोपलक्षितः संयोगः; आलोकप्रतियोगिकत्वसंयोगात्तयोः विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावेन तदवच्छिन्नस्य कारणताद्वयापत्तेः । नाप्यन्यदेशावच्छिन्नादालोकसंयोगाच्चाक्षुषोत्पत्त्यसंभवात् जातिविशेषस्यैव द्रव्यादिचाक्षुषजनकतायामालोकसंयोगनिष्ठायामवच्छेदकत्वं स्वीकार्यम्, सा च जातिरालोकनिष्ठे वाय्वादिसंयोगेऽपि संभवति, अत एव प्रभादि चाक्षुषमिति वाच्यम्; तादृशजातिः संयोगत्वस्य विभागत्वस्य वा व्याप्येत्यत्र विनिगमकाभावात् । अत एवालोकप्रतियोगिकत्वोपलक्षितविजातीयत्वेनापि न हेतुतासंभवः; आलोकघटादौ वायुविभागस्य संभवेन वायुप्रतियोगिकत्वविशिष्टविजातीयत्वेन हेतुतामादाय विनिगमकाभावापत्तेः, किं तु तमस्त्वेन प्रतिबन्धकत्वमेव द्रव्यचाक्षुषं प्रति कल्प्यते; तदभावादेवोक्तप्रभादौ चाक्षुषोत्पत्तिः । न च—तमोऽभावत्वेन कारणत्वेऽपि तमःप्रतियोगिकत्वाभावाद्योविशेषणविशेष्यत्वस्याविनिगम्यत्वेन कारणताद्वयापत्तिरिति—वाच्यम्; स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन तमस्त्वविशिष्टे विशेषणतासंबन्धेन वर्तमानमभावत्वमेव हेतुतावच्छेदकम्, न तु विशेषणतासंबन्धेनाभावत्वविशिष्टे स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन वर्तमानं तमस्त्वम्; उक्तप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेनैव तस्य हेतुतावच्छेदकत्वस्य वाच्यतया द्विधोक्तसंबन्धप्रवेशे गौरवापत्तेः । अभावत्वं वा न निवेद्यते; उक्तप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन तमस्त्वस्यैव हेतुतावच्छेदकत्वसंभवात् । न च—भेदवारणायात्यन्ताभावत्वमवश्यं निवेद्यमिति—वाच्यम्; संबन्धविशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताया अवश्यं निवेद्यतया तत एव तद्वारणात् । यदि तु—प्रतिबन्धकस्याभावो न हेतुः, किं तु प्रति-

पेक्षेति—वाच्यम्; स्वरूपसत एव तादृकेजोविरहस्य तमोव्यञ्जकत्वम्, न तु ज्ञानस्य मानाभावादि-
त्यभ्युपगमात् । अन्येषां मते तादृकेजोविरहज्ञानस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक-
ज्ञानादेव तत्संभवेन तदर्थं सकलप्रतियोगिज्ञानजनिकायाः सामान्यप्रत्यासत्तेरनुपयोगात् । नच—
गोत्वाभावज्ञानं गोत्वत्वप्रकारकज्ञानजन्यम्, तच्च गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोवृत्तित्वरूपं सामा-
न्यप्रत्यासत्तिमन्तरेण न शक्यमवगन्तुमिति—साम्प्रतम्; यत्किञ्चिद्रोव्यक्तेरेव गोत्वत्वरूपत्वात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बन्धकं कार्यप्रागभावे क्षेमसाधारणकारणत्वाश्रयम् । न च—कारणकूटाश्रयक्षणेत्तरक्षणत्वस्य कार्योत्पत्तिव्याप्यतया
प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि सकलकारणसत्त्वसंभवात् कार्योत्पत्त्यापत्तिरिति—वाच्यम्; सकलकारणाश्रयत्वस्य प्रतिबन्धकाभाव-
सहितस्यैवोक्तव्याप्यतावच्छेदके प्रवेशादिति मतमाश्रीयते वा, प्रतिबन्धकाभावस्य हेतुत्वं तद्व्यक्तित्वेनैव, न तु मण्या-
द्यभावत्वेन, न च—मणिगगनान्यतरत्वावच्छिन्नाभावव्यक्तेरपि तद्व्यक्तित्वेन हेतुतापत्तिरिति—वाच्यम्; तेन रूपेण
द्वाहादिहेतुत्वेऽन्यथासिद्धेः सर्वैरपि वाच्यत्वात्, तद्व्यक्तेर्मणिसामान्याभावानतिरिक्तत्वाच्चेति मतं वाश्रीयते—तदा
न काप्यनुपपत्तिः । नच—उत्करीत्या आलोकप्रतियोगिकत्वसंयोगत्वयोरपि विशेष्यविशेषणभावव्यवस्थासंभवात् तत्र
पूर्वोक्तो विनिगमकाभावः कथमिति—वाच्यम्; प्रतियोगितासंबन्धेनालोकविशिष्टस्यैव निवेद्यतया पूर्वोक्तगौरवा-
भावेन विनिगमकाभावस्यावश्यकत्वात् । न ह्यालोकत्वावच्छिन्नत्वं संयोगप्रतियोगितायां प्रामाणिकम्, येन तस्यैव
लाघवाच्चिन्नेनालोकव्यक्तीनामप्यनिवेशो वाच्यः । न च—आलोकवानित्याकारधीर्विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति विशेष्ये
विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरमिति च रीत्येति तत्र विषयभेदं विना ज्ञानयोर्वैलक्षण्यासंभवः; ‘अर्थेनैव विशेषो हि
निराकारतया धिया’मित्याचार्योक्तेः, तथा चाद्ये आलोकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोगत्वेन भानम्, द्वितीये तु
केवलं संयोगत्वेनेति प्रामाणिकमेवालोकत्वावच्छिन्नत्वं संयोगीयप्रतियोगितायामिति—वाच्यम्; तत्र तस्य प्रामाणिक-
त्वेऽपि तादृशकारणतावच्छेदके तन्निवेशे प्रयोजनाभावात् । नच—आलोकव्यक्तीनामानन्त्येन तन्निवेशे गौरवेणोक्ता-
वच्छिन्नत्वेन प्रतियोगितानिवेश एव युक्त इति—वाच्यम्; आलोकत्वावच्छिन्नस्यैकस्यैवावच्छेदकत्वस्य नानाव्यक्तिषु
संभवेन गौरवाभावात् । तमस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं त्ववश्यमभावे निवेद्यम्; तमस्सत्त्वेऽपि तमोघटोभयाभाव-
सत्त्वेनातिप्रसङ्गात् । यदि तु विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यावालोक्तविशिष्टं विषयः, विशेष्ये विशेषणमिति ज्ञाने तु तदुपलक्षि-
तम्, तद्विशिष्टतदुपलक्षितयोश्च भेदस्वीकारादुक्तज्ञानयोर्वैलक्षण्यं, तदा संयोगीयप्रतियोगिताया आलोकत्वावच्छि-
न्नत्वमप्रामाणिकमेव । तस्मात्तादात्म्यसंबन्धेन तमस्त्वेन चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वम्, कपालादौ घटादेरिव घटादौ ।
तदवच्छिन्नचिद्रूपमूलाविद्यायाः परिणामस्तम् इति तत्र तत्तादात्म्यसत्त्वात् तत्काले न चाक्षुषम्, प्रभादौ तदभावाच्चा-
क्षुषम् । तमोर्ध्वसञ्चालोकसंयोगादिरूप इति न तत्कल्पने गौरवम् । न च—तमोऽभावत्वेन कारणतापक्षो न युक्तः,
लाघवेन चाक्षुषहेतुतया भावरूपस्यैव वस्त्वन्तरस्य सिद्ध्युक्तत्वादिति—वाच्यम्; तस्य द्रव्यरूपत्वे घटादिचाक्षुषस्थले
घटादावालोके च तस्य संयोगद्वयं कल्पनीयम् । अतीन्द्रियत्वसिद्धये स्पर्शनप्रत्यक्षे तादात्म्येन तस्य प्रतिबन्धकत्वम्;
उद्भूतस्पर्शस्तत्र न जायते, तत्र तस्य प्रतिबन्धकत्वादिति वा कल्पनीयम् । तस्य चाक्षुषं न जायते, द्रव्यवृत्तिविषयता-
संबन्धेन चाक्षुषं प्रति तत्प्रतियोगिकसंयोगत्वेन हेतुत्वस्वीकारेण तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोगस्य तत्रासत्वादिति
वाच्यम् । तथा च तमोऽभावत्वेन कारणत्वे तदपेक्षया न गौरवम् । यदि च तस्य संयोगसंबन्धेन उक्तहेतुत्वं कल्प-
नीयम्, न तु तत्संयोगस्येत्युच्यते, तदापि विभागसंबन्धेन तस्य हेतुतामादाय विनिगमकाभावः, तस्य गुणक्रियान्य-
तररूपत्वेऽपि विभागादिरूपत्वे संयोगादिरूपतामादाय विनिगमकाभावः, सामान्यरूपत्वे संयोगो विभागो वा तदा-
श्रय इति सः, तस्मात् भावरूपस्य तस्यासंभवादभावपक्षमेव । स चाभावो न तमोनाशः; आलोकादौ तदसंभ-
वात् । अत एव न तमःप्रागभावः; किंतु तमोऽत्यन्ताभाव इति दिक् ॥ न तु ज्ञानस्येति । आलोकस्य तमोनाशक-
त्वात्तमस आलोकाभावप्रयुक्तत्वेन तमोजन्यस्य तमश्चाक्षुषस्यालोकाभावप्रयुक्तत्वम् । उक्तं हि विवरणे—‘आलोक-
विनाशितस्य तमसः पुनर्मूलकारणादेव जन्मे’ति । तथा चालोकस्याभाव एव तमोव्यञ्जकः, न तु तज्ज्ञानमिति भावः ।
अन्येषाम् उक्ततेजोविरहस्तम् इतिवादिनां वैशेषिकादीनाम् । प्रतियोगितावच्छेदकेति । प्रौढप्रकाशत्वैत्यर्थः ।
तच्चोद्भूतानभिभूतरूपवन्महातेजस्त्वं प्रभावरूपा जातिर्वा । गोव्यक्तेरिति । समवेतत्वसंबन्धेन गोत्वरूपेण तस्या
अवच्छेदकत्वमिति भावः । न च—गोसमवेतस्य द्रव्यत्वादर्धटादौ सत्त्वात्तत्र ‘गोत्वं नास्ती’ति धीः प्रमा न स्यादिति—
वाच्यम्; उक्तसंबन्धेन हि विशेषणविधयैव गौरवच्छेदिका । वस्तुतस्तु—तत्तद्रोव्यक्तिमात्रनिष्ठावच्छेदकता गोत्वनिष्ठा
आधेयताविशेषावच्छिन्ना न केनापि धर्मेणावच्छिद्यते; शुद्धव्यक्तिमात्रस्यैवावच्छेदकत्वसंभवेनानन्तगोव्यक्तित्वादिबि-
शिष्टस्यावच्छेदकत्वे गौरवात्, जातीतरस्यानवच्छिन्नप्रकारत्वाभावेऽप्यनवच्छिन्नावच्छेदकत्वे बाधकाभावात् । तथाच

एतेन प्रागभावप्रतीतिरपि व्याख्याता । किं चानागतज्ञानस्यापेक्षितत्वे अनुमानादेव तद्विविध्यति; तथा च न्यायकुसुमाञ्जलौ—‘शङ्का चेदनुमास्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् । व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥’ इत्यत्र शङ्कोपपादकमनागतज्ञानमनुमानादेवेत्युक्तम्, अनुमानं च वर्तमानपाकः, पाकपूर्वकालीनः, पाकत्वादतीतपाकवदित्यादि । नच चरमपाके व्यभिचारः; साध्यसिद्ध्युपजीवकस्य व्यभिचारज्ञानस्यादोषत्वात्, अन्यथा सिद्ध्यसिद्धिव्याघातात् । किंच शब्दादपि सकलधूमपाकादिगोचरज्ञानसंभवः । नच—शङ्कादिपूर्वं शब्दस्योपस्थितिनियमाभाव इति—वाच्यम्; कदाचिदेव शब्दादनुभूतस्य तदानीं प्रमृष्टतत्ताकस्मृतिसंभवात् । ननु—अनुमितेर्विशेषणज्ञानजन्यत्वेन सामान्यप्रत्यासत्तिसिद्धिः, न चानुमानान्तराद्विशेषणज्ञानमनवस्थानात्—इति चेन्न; विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव साध्यविशेषणकपक्षविशेष्यकानुमितिसंभवात् । एतेन—‘सुरभि चन्दन’

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गोत्वरूपे गोपदादुपस्थितस्यापि गोत्वोपलक्षितयत्किञ्चिद्विस्वरूपस्यैवावच्छेदकत्वेन भानम् । एवं च तत्तद्व्यक्तिरूपलक्षणविधयेवावच्छेदिका; उक्तसंबन्धेन तद्व्यक्तिविशिष्टस्य गोत्वस्य गवान्तरे सत्त्वाभावेन ‘गवान्तरे गोत्वं नास्ती’ति प्रत्ययापत्त्या विशेषणविधया अवच्छेदकत्वासंभवात् । अत एव मूले यत्किञ्चिद्व्यक्तेरेवेति व्यक्तिनिर्देशेन शुद्धव्यक्तेरवच्छेदकत्वमुक्तम् । एवकारस्य त्वयमर्थः । सकलगोवृत्तित्वादेर्भावप्रत्ययेनोपस्थितत्वेन गोत्वस्य विशेषणत्वेऽपि न प्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति । अत एव गोत्वस्वरूपत्वादित्यस्य गोत्वाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेन भानादित्यर्थः । तथा च यथा ‘घटो नास्ती’त्यादिज्ञाने घटसामान्याभावस्य सर्वघटप्रतियोगिकस्यापि विशेषणतया कश्चिदेव घटो भाति, तथा ‘गोत्वं नास्ती’ति ज्ञाने सकलगोव्यक्त्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकेऽपि गोत्वाभावे प्रतियोगितावच्छेदकतया भासमानेन केनचित् गवा विशिष्टं गोत्वं विशेषणम्, न तु सर्वगोभिरिति भावः । सकलगोवृत्तित्वस्यावच्छेदके प्रवेशेऽपि तस्य गोवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूपत्वात् न सामान्यलक्षणापेक्षेत्यपि बोध्यम् । अत्र गोत्वस्य तादात्म्यसंबन्धेन नावच्छेदकत्वं संभवति; अत्यन्ताभेदे संबन्धासंभवेन तस्य गोत्वेऽसंबन्धात्, गौरित्याकारकतत्तद्गीप्रकारत्वस्यापि नावच्छेदकत्वम्; अवच्छेदकाभेदे प्रकारभेदेन प्रकारत्वस्याभेदपक्षे तस्यातिप्रसक्तत्वात्, अतो गोव्यक्तिरेवेति युक्तम् । एतेनेति । अभावबुद्धौ प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मप्रकारकज्ञानस्यैव विशेषणतावच्छेदकप्रकारकधीविधया हेतुत्वम्; न तु प्रतियोगिभानस्येति स्वीकारेणेत्यर्थः । व्याख्यातेति । घटत्वादिनां विद्यमानघटादिज्ञानात् भाविघटादिविशेषितप्रागभावत्वेन धीः शब्दादिना जायते; विद्यमानकार्ये शक्तिमत्तया गृहीतालिङ्गादिपदात् प्राभाकरमते भाविकार्यधीवत् । शङ्केत्यादि । कालान्तरे देशान्तरे च वर्तमाने धूमे व्यभिचारस्यातीन्द्रियपिशाचादावुपाधित्वस्य वा शङ्का चेदस्ति, तदा देशकालान्तरयोर्भाविभूतयोर्ज्ञानायानुमानमस्येव । जल्पेन प्रतिवादिनं निरस्य तत्त्वबुभुक्षुं प्रत्याह—तर्कः शङ्कावधिरिति । शङ्काया अवधिः सामग्रीविषयकः । ननु तर्कस्यापि व्याप्तिधूमलकत्वादनवस्था तत्राह—व्याघातेति । आशङ्का उक्तानवस्था । ‘यदि सर्वत्र शङ्कसे, तदा धूमाद्यर्थं बह्व्यादौ तवैव प्रवृत्तिर्न स्यात्’ इति तर्करूपेण व्याघातेन वारणीयेत्यर्थः । उक्तमिति । कालान्तरे व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्याशङ्केत, तदाकलनं च नानुमानमवधीरयेतेत्यनेनोक्तमित्यर्थः । पाकपूर्वकालीनः पाककालीनध्वंसप्रतियोगी । साध्येत्यादि । प्रकृतानुमानेन साध्यसिद्धौ सत्यामेव चरमपाकं ज्ञात्वा तत्र व्यभिचारो ज्ञातव्यः, तथा च साध्यसिद्ध्युत्तरं व्यभिचारज्ञानं व्यर्थमित्यर्थः । अन्यथा तस्य दोषत्वस्वीकारे । सिद्धीत्यादि । भावि यदि ज्ञातं, तदोक्तानुमानेनैवेति तत्संपत्तौ किं पाश्चात्त्येन व्यभिचारज्ञानेन; यदि च न ज्ञातम्, तदा तत्र व्यभिचारो ज्ञातुमशक्य इत्युभयथापि व्याघातोक्तिसंभवादित्यर्थः । पाककालीनध्वंसप्रतियोगिपाकत्वस्य हेतुत्वस्वीकारेऽपि विशेषणं व्यर्थम्; चरमपाकस्यानुपस्थित्या तत्र व्यभिचारस्यावारणीयत्वात्, सिद्धसाधनाच्च । न च—जातायामनुमितौ तस्याः व्यभिचारिहेतुकत्वेन भ्रमत्वं व्यभिचारज्ञानेन साध्यत इति न तद्व्यर्थमिति—वाच्यम्; व्यभिचारिहेतुकानुमितित्वस्य भ्रमत्वाव्याप्यत्वात् । शब्दादिति । विद्यमाने शक्यादिज्ञानादविद्यमानव्यक्तेः शब्दात् बोधः, समानप्रकारकत्वेन शक्यादिज्ञानशब्दानुभवयोः कार्यकारणभावादिति भावः । स्मृतेस्तत्त्वावगाहित्वनियमस्वीकारे धूमत्वादिसामान्यरूपेण स्मृत्यसंभवात्तादृशनियमं परित्यजन्नाह—प्रमृष्टतत्ताकेति । तद्देशकालवृत्तित्वरूपतत्ताविशिष्टधूमत्वादिरूपेण धूमादिविषयकस्यापि संस्कारस्य तत्तांशेऽनुद्बोधादविषयीकृततत्ताकेत्यर्थः । ज्ञानादेवेति । विशेषणज्ञानस्य विशिष्टधीत्वावच्छिन्नं प्रति न हेतुत्वम्; स्मृतौ व्यभिचारात् । अथ—संस्कारसंबन्धेन हेतुत्वात् नोक्तव्यभिचार इति—चेत्, तर्हि प्रत्यक्षादौ व्यभिचारः । तस्मात् समवायेनैव तस्य विशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं संभवदुक्तिकम् । तदपि न युक्तिसहमित्यनुपदं मूले वक्ष्यते । ननु—विशेषणतावच्छेदकप्रकारकधीत्वेनापि हेतुत्वे स एव पन्थाः, सत्यम्; विशेषणताव-

मित्यादिविशिष्टज्ञानाय कल्पिता ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरपि—निरस्ता; चन्दनत्वेन सुरभित्वानुमानोपपत्तेः, अन्यथा साध्यविशिष्टपक्षप्रत्यक्षोपपत्तेरनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । नच—अभावसाध्यक-केवलव्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्धेरनङ्गत्वात्तत्र कृताया अनुमितिसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीतो बलव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च्छेदकप्रकारकज्ञानादिति मूलस्य बह्वित्वादिरूपेण बह्विव्याख्यादिसंस्कारपरामर्शादित्यर्थः । तथा च संस्कारपरामर्शादेरेव साध्यविशेषणकस्मृत्यनुमित्यादिनियामकत्वम् । ननु—बह्वित्वरूपेण पर्वतीयवह्नेरेव पर्वतपक्षकानुमितौ नियमेन भावानुपपत्तिः, व्याख्यादिविषयकपरामर्शे महानसीयादिवह्नेरेव त्वन्मते भानात् तस्यैव भानापत्तिः, तस्यापि भानापत्तिर्वा कार्यतावच्छेदके बह्विविशेषानिवेशात्—इति चेन्न; मन्मते स्वतःप्रमात्वस्वीकारेणोत्पत्तौ ज्ञसौ च प्रमात्वस्य स्वतस्त्वात् । ज्ञानसामान्यसामग्र्या एव हि प्रमात्वे नियामकत्वम्, न तु गुणस्य । ननु—तर्हि ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यतावच्छेदकं प्रमात्वमित्यागतम्, तच्च न संभवति; प्रमात्वस्य ज्ञानसामान्यसामग्र्याश्च विषयभेदेन नानात्वात् विषयसमसंख्यानां प्रमायां ज्ञानसामान्यसामग्रीहेतुत्वानामापत्तेः, एकस्मिन्नपि विषयेन्द्रियसन्निकर्षव्याप्तिनिश्चयादीनामेकरूपेणैकसंबन्धेन च हेतुत्वासंभवेन नानाहेतुत्वापत्तेः, तथा च गुणजन्यतावच्छेदकमेव प्रमात्वं वक्तुं युक्तम्; समवायाद्येकसंबन्धेन तत्तद्विशेष्यसंबद्धं यत् विशेषणं तद्वृत्तिर्या स्वप्रकारता तदाश्रयवृत्तिधर्मवत्त्वसंबन्धेन ज्ञानं प्रति तादृशसंबद्धविशेषणवृत्तिधर्मत्वेन हेतुत्वस्यैकस्यैव संभवात्, तादृशधर्मस्तु केवलान्वयिविषयत्वादिकम्, तदाश्रयत्वसंबन्धेन ज्ञानं घटादौ जायते, तत्र तादृशधर्मो विषयत्वादिकमस्ति, तस्य च विशेषणतासंबन्धेन हेतुत्वम्; तस्यैव केवलान्वयिधर्मं प्रति संबन्धत्वात्, तादृशप्रकारतामात्रसंबन्धेन कार्यत्वस्योक्तौ व्यभिचारः; तादृशधर्मवति सर्वत्र तादृशप्रकारतासंबन्धेन ज्ञानानुपपत्तेः, विशेष्यसंबद्धतत्तद्विशेषणवृत्तिविविशिष्टधर्मत्वेन हेतुत्वोक्तौ तु तादृशप्रकारतामात्रं संबन्धोऽस्तु; विशिष्टस्य कारणस्यान्यत्रासत्त्वेन व्यभिचाराभावात्—इति चेन्न; यद्यपि बह्व्यनुमितित्वादिकमेव कार्यतावच्छेदकम्, न तु बह्व्यादिप्रमात्वम्; तथापि दोषसहिता या बह्व्यादिविशिष्टज्ञानसामग्री तदधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणत्वे बह्व्यादिप्रमात्वव्याप्यतास्वीकारात्तादृशसामग्र्या प्रमैव जायते, दोषसहितया तु भ्रम एव; बह्व्यादिभ्रमत्वेन दोषकार्यत्वस्य भ्रमते स्वीकारात्, गुरुमते भेदाग्रहसहितयोर्विशेष्यविशेषणप्रमयोरिव प्रमाविषयत्वविशिष्टविशेष्यविशेषणयोर्भेदाग्रहस्यापि भ्रमत्वेन तस्यैव दोषप्रयुक्तत्वादिति कर्ममीमांसकाः मनस्त्वेन प्रमात्वावच्छिन्नं प्रत्युपादानकारणत्वस्वीकारात्, मनोघटितया सामग्र्या प्रमैव जायते; भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति स्वपरिणामाव्यवहितपूर्ववृत्तिविविशिष्टपल्लवाज्ञानत्वेनोपादानत्वस्वीकारात्, पल्लवाज्ञानदोषादिघटितसामग्र्या भ्रम एवेत्यौपनिषदाः । ननु—तथाप्येकस्मिन् पर्वते विद्यमानानां नानाबह्वीनामनुमित्यादौ भानं स्यात्—इति चेत्, स्यादेवेति संक्षेपः । ज्ञानायेति । सौरभत्वसामान्यलक्षणया सर्वेषां सौरभाणां नोक्तज्ञाने भानसंभवः; सामान्याश्रययत्किञ्चिद्व्यक्त्यंशे फलीभूतज्ञानकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्य लौकिकस्य तथा अपेक्षणात् । यदि च तथा स नापेक्ष्यते, उक्तज्ञाने यावत्सौरभाणां विशेषणतया भानमिष्टमेव; 'यावत्सौरभवृत्तिसौरभत्वाश्रयवच्चन्दन'मित्याकारकत्वसंभवात्, मुख्यविशेष्यतासंबन्धेन चाक्षुषं तु न सौरभे जायते; तत्संबन्धेन तदुत्पत्तौ लौकिकसन्निकर्षस्य हेतुत्वात्, विशेष्यतासंबन्धस्यैव सामान्यज्ञानकार्यतावच्छेदकत्वाच्चेत्युच्यते, तदा सुरभीत्यादेश्चन्दने सौरभत्वप्रकारकचाक्षुषभ्रमायेत्यर्थः । एवं सुरभित्वेत्यस्य सौरभत्वेत्यर्थः । तथा च चन्दने सौरभत्वभ्रमजनकदोषकाले चन्दनत्वेन सौरभत्वानुमानोपपत्तेः उक्तभ्रमोऽनुमितिरूप एव, न चाक्षुष इति ज्ञानं न प्रत्यासत्तिरिति भावः । अन्यथा ज्ञानस्य प्रत्यासत्तिर्वे । पक्षप्रत्यक्षेति । नच—बहिरिन्द्रियस्य स्वायोग्यमुख्यविशेष्यकज्ञानजनकत्वेन 'परमाणू रूपवानि'त्यादिज्ञानस्य चाक्षुषत्वाद्यसंभवादनुमितित्वमिति—वाच्यम्; मानसत्वसंभवात् । केवलव्यतिरेकिणि 'पृथिव्यां तदितरभेद' इत्याद्यनुमितौ । तदनभ्युपगमात् उक्तानुमित्यस्वीकारात् । नच—उक्तानुमितेः स्वीकारेऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानघटितानुमितिसामग्र्या एव कृतत्वेन तस्या एव बलवत्त्वमायाति, न त्वन्वयव्याप्तिधीघटितसामग्र्या इति तदस्वीकारोक्तिः व्यर्थेति—वाच्यम्; तादृशानुमितिस्वीकारे पृथिव्युद्देश्यकपृथिवीतरभेदविधेयकानुमितिसामग्रीत्वेन 'पृथिवी इतरभेदवती' इत्याकारकानुमित्युपधायकान्वयव्याप्तिसामग्र्याः पृथिवीविशेष्यकतदितरभेदनिष्ठा लौकिकप्रकारताशालिप्रत्यक्षं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनसंभवेन तादृशानुमित्यस्वीकारस्योक्त्युक्तत्वात् । नच—पृथिवीत्वावच्छेदेन पृथिव्याः पक्षत्वे अन्वयदृष्टान्ताभावे नान्वयव्याप्तिग्रह इति—वाच्यम्; पक्षैकदेशस्य घटादेरन्वयदृष्टान्तत्वसंभवात् । पटादौ साध्यसिद्धावपि न सिद्धसाधनम्; पृथिवीत्वावच्छेदेन साध्यस्यासिद्धत्वात् । ननु—परामर्शाद्युत्तरं जायमानस्य ज्ञानस्य लौकिकप्रत्यक्षत्वस्वीकारे तत्र परामर्शादेरपयोगो न स्यात्, इष्टापत्तौ च धूमेन पर्वते बह्विर्जात इति धीः पक्षतया पर्वते बह्विर्जात इति धीश्च न स्यात्, तस्मात् प्रत्यक्षसामग्रीबलक्षणसामग्रीकत्वेनाप्रत्यक्षमनुमितिरूपं ज्ञानमङ्गीकार्यमिति नानुमितिमात्रोच्छेदः, इति—चेन्न;

त्वमिति—वाच्यम्; अर्थापत्तिवादिभिरस्माभिस्तदनभ्युपगमात् । ‘पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य’ इति परामर्शात् साध्यविशेष्यकपक्षविशेषणकानुमित्यभ्युपगमे तु नैव काप्यनुपपत्तिः । अनुमितेः पक्षविशेष्यत्वनियमे मानाभावात् । किंच धूमत्वादिसामान्यं न स्वरूपतः प्रत्यासत्तिः; धूलीपटले धूमभ्रमानन्तरं धूमत्वेन सकलधूमनिष्ठवह्निव्याप्तिग्रहानुदयप्रसङ्गात्, तत्र स्वरूपतो धूमत्वाभावात्, नचेष्टापत्तिः तदुत्तरकालमनुमित्यनुदयापत्तेः, तथा च धूमत्वज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति—वाच्यम्; तच्च धूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमज्ञानात्प्राज्ञास्त्येव । निर्विकल्पके मानाभावात्, विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानत्वेन च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

परामर्शस्य तादृशप्रत्यक्षगतप्रमात्वप्रत्यक्षोपयुक्तत्वात् । वह्न्यादिव्याप्यवद्विशेष्यकवह्न्यादिप्रकारकज्ञानत्वरूपस्य वह्न्यादिप्रमात्वव्याप्यधर्मस्य हि निश्चयो वह्न्यादिप्रमात्वस्य विपरीतज्ञानोत्तरप्रत्यक्षे निश्चये प्रयोजकः, ‘पक्षतया जानामी’ति धीस्तु नाङ्गीक्रियते; तस्या हेतुत्वे प्राभाकरादीनां बहूनां विवादात् । नच—‘वह्निमनुमिनोमी’ति धीसिद्धस्यानुमित्वस्य कार्यमात्रनिष्ठजातितया परामर्शादिकार्यतावच्छेदकत्वमावश्यकमिति—वाच्यम्; अनुमित्वस्य तादृशव्याप्यधर्मवत्तानिश्चयनिश्चितप्रमात्वकप्रत्यक्षत्वरूपत्वेनाजातित्वात् । अभ्युपगमे तु पक्षधरादिस्वीकारादरे तु । नैवेति । पर्वतीयवह्नेरज्ञानेऽपि तद्विशेष्यकानुमितिसंभवादित्यादिः । ननु पक्षविशेष्यकपरामर्शोत्तरं पक्षीयसाध्यव्यक्त्यज्ञाने साध्यविशेष्यकानुमितेः पक्षधराद्यैरप्यनुक्तत्वात्तत्रानुमित्यपलापादनुपपत्तिरस्त्येव, तत्राह—अनुमितेरिति । पक्षविशेष्यकपरामर्शजन्यानुमितेरित्यर्थः । तथा च पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वेनैव तादृशपरामर्शविशिष्टत्वेनैव वा तादृशपरामर्शकार्यतास्वीकारात् साध्यविशेष्यकानुमितेरपि तत्संभवान्नानुपपत्तिः । पक्षीयसाध्यस्य ज्ञातत्वे तस्यानुमितौ विशेषणत्वम्, तदभावे विशेष्यत्वम् । पक्षधरोक्तेरादरस्तु, पक्षविशेष्यकत्वानियमज्ञापनमात्रार्थ इति भावः । स्वरूपतः इन्द्रियसन्निकृष्टनिष्ठज्ञायमानधूमत्वादिव्यक्तित्वेन । प्रत्यासत्तिः धूमादिप्रत्यक्षे कारणम् । धूमनिष्ठेति । धूमविशेष्यकेत्यर्थः । तत्र सकलधूमेऽपि ज्ञायमानधूमत्वव्यक्तित्वेन तत्र धूमत्वस्य सत्त्वेऽपि चक्षुस्सन्निकृष्टनिष्ठव्यविशिष्टोक्तव्यक्तित्वरूपेणाभावः । धूमे धूमत्वप्रत्यक्षकाले तद्धूमे तादृशव्यक्तित्वरूपेण धूमत्वसत्त्वं भवति । तथा च तादृशव्यक्तित्वविशिष्टस्य समवायेन हेतुत्वासंभवेऽपि स्वसमवायिवृत्तित्वोपलक्षितधूमत्वसंबन्धेन हेतुत्वमलौकिकधूमनिष्ठमुख्यविशेष्यतासंबन्धेन धूमत्वप्रकारकं प्रत्यक्षं प्रति संभवति, अतो धूलीपटले धूमभ्रमेत्युक्तम् । नच—इन्द्रियसन्निकृष्टविशेष्यकधीप्रकारीभूतधूमत्वादिव्यक्तित्वेन स्वसमवायिनिष्ठविषयतासंबन्धेन हेतुत्वं वाच्यम्, अतीतानागतधूमेऽपि समवायेनोक्तधूमत्वसंबन्धेन वा धूमत्वाभावात्तत्रोक्तविशेष्यतासंबन्धेन प्रत्यक्षोत्पत्त्यसंभवादुक्तविषयतासंबन्धेनेत्युक्तमिति—वाच्यम्; विषयता हि यद्यप्यतीतादिषु संबन्धः; तथापि सविषयकस्यैव, न तु घटत्वादेः । अथ घटत्वस्य स्वसमवाय एव संबन्धः तस्याश्रय इत्युच्येत, तथाप्याश्रयस्य संबन्धः स्ववृत्तिविषयतैव वाच्येति तद्विषयतादवस्थम् । अथैवं—स्वसमवायिसंयोगादयोऽपि घटत्वादेः संबन्धा न स्युरिति—चेत्, न स्युरेव; अतीतादौ समवायिनं प्रति संयोगस्य वर्तमानत्वेव संबन्धतया क्लृप्तत्वात् । विषयताया अतीतादिषु सविषयकं प्रत्येव संबन्धतया क्लृप्तत्वेन न घटत्वादिसमवायित्वं तद्वृत्तित्वं वा प्रति संबन्धत्वमिति भावः । तदुत्तरं धूलीपटले धूमत्वेन व्याप्तिग्रहोत्तरम् । अनुमित्यनुदयेति । ‘पर्वतो वह्निमानि’त्याद्यनुमित्यनुदयेत्यर्थः । ज्ञानमिति । अत एव ‘सा चेन्द्रियसंबन्धविशेषणता अतिरिक्तैवे’ति मणिवाक्यस्य सा सामान्यप्रत्यासत्तिः, इन्द्रियसंबन्धा इन्द्रियसंबन्धनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता, विशेषणताप्रकारता, यस्याः घटत्वादिरूपप्रत्यासत्तेः, सा तथा, अत्रोक्तदोषादुक्तमतिरिक्तैवेति, घटत्वादिनिष्ठतादृशप्रकारताशालिज्ञानरूपैव वेत्यर्थः । अत्र कल्पे धूमनिष्ठालौकिकविशेष्यतासंबन्धेन धूमत्वप्रकारकचाक्षुषं प्रति चक्षुस्संयुक्तविशेष्यकधूमत्वरूपस्य सामान्याश्रयज्ञानस्यानुत्पत्तेः उभयत्र चाक्षुषत्वोक्तिः । धूमत्वज्ञानविशेष्ये चक्षुस्संयोगे नष्टे सकलधूमचाक्षुषानुत्पत्तेर्विशेष्यकान्तमुक्तम् । एवं त्वाचादिप्रत्यक्षेऽपि बोध्यम् । मानसप्रत्यक्षे तु मनो लौकिकसन्निकर्षाश्रयविशेष्यकसुखत्वादिकारकमिवालौकिकमनस्सन्निकर्षाश्रयविशेष्यकमणुत्वादिप्रकारमपि मानसं स्वविषयसामान्याश्रयविशेष्यके हेतुः, अत एवाणुत्वेन यत्किञ्चिदणुपस्थितौ सकलाणुविशेष्यकमानसमुत्पद्यते इति प्राञ्चः । नव्यास्तु—सामान्यस्य निर्विकल्पकसाधारणज्ञानरूपैवेत्यतिरिक्तैत्यस्यार्थः । तथा च धूमत्वज्ञानत्वमात्रं कारणतावच्छेदकम् । अलौकिकमुख्यविशेष्यतासंबन्धेन धूमनिष्ठेन प्रत्यक्षत्वेन कार्यता । नच—कुत्रचिद्धूमे चक्षुस्संयोगासत्त्वकाले उत्पन्नाधूमत्वनिर्विकल्पकादपि सर्वधूमचाक्षुषमुत्पद्येतेति—वाच्यम्; सामान्यज्ञानजन्यबहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्य सामान्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यताश्रयकिञ्चिद्व्यक्त्यर्थे लौकिकविषयताशालित्वनियमेन तादृशव्यक्तौ कारणीभूतेन्द्रियलौकिकसन्निकर्षवदितसामग्र्या अपेक्षणीयत्वात् । एवं च स्मरणादेरिव चाक्षुषादेरपि सामान्यज्ञानात् सामान्याश्रयस्य स्पर्शनादिप्रत्यक्षं जायते—इत्याहुः ।

कार्यकारणभावानभ्युपगमात्, अवश्यकृतकार्यकारणभावविशेषेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः । नच धूम-
त्वेन सन्निकृष्टधूमव्यक्तिज्ञानानन्तरं तत्समानाकारमसन्निकृष्टधूमगोचरं ज्ञानान्तरमुत्पद्यत इत्यत्र
मानमस्ति; धूमत्वेन पुरोवर्तिनं धूमं साक्षात्करोमि न व्यवहितमित्यनुभवाच्च । अन्यथा जगतीगत-
सकलधूमव्यक्तीरहं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसीयेत । नचैवमनुभवमात्रशरणैरभ्युपेयते । किंच
सामान्यप्रत्यासत्त्यङ्गीकारे यत् प्रमेयं, तदभिधेयं, यत्प्रमेयवत्, तदभिधेयवदित्यादिव्याप्तिपरिच्छेदे
सार्वज्ञ्यापत्तिः । नचैष्टैव सा; परज्ञानविषयो घटो न वेत्यादिसंशयानुपपत्तेः । नच—घटत्वप्रकारक-
घटविषयकनिश्चयो घटसंशयविरोधी, प्रमेयमिति निश्चयस्तु घटविषयोऽपि न घटत्वप्रकारक इति—
वाच्यम्; भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिन एव प्रकारत्वात्, घटत्वस्यापि प्रमेयमिति ज्ञाने भासमान-
वैशिष्ट्यप्रतियोगित्वात्, घटत्वप्रकारकनिश्चयस्य घटत्वज्ञानजन्यत्वविशेषणाददोष इति चेत्, न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्र नव्यमतस्य सम्यक्त्वात्तदेवादौ दूषयति—तच्चेत्यादि । धूमज्ञानात् धूमे धूमत्वप्रकारकज्ञानात् । अवश्य-
कृतेति । परोक्षज्ञाने परामर्शादेरेव विशिष्टविषयतानियामकत्वम्, प्रत्यक्षज्ञाने तु सन्निकर्षादेः तत् अवश्यकृतम्,
तेनैव निर्वाहः । न च—‘जातिमान् घट’ इति प्रत्यक्षे अनवच्छिन्नघटत्वादिप्रकारतायामवच्छिन्नघटत्वादिविषयताक-
धीरवश्यं नियामिका वाच्या, अन्यथा ‘जातिमानि’त्याकारकप्रत्यक्षे घटत्वादौ नियमेनानवच्छिन्ना प्रकारता स्यात्;
इन्द्रियसन्निकर्षादेर्नियामकस्य सत्त्वात्, अनवच्छिन्नत्वं च प्रकारत्वानिरूपितत्वमिति—वाच्यम्; अनवच्छिन्नत्वविष-
यतावयोर्विशेष्यविशेषणभावस्याविनिगम्यत्वेन हेतुताद्वयापत्त्या संख्यातीतनिर्विकल्पकधीव्यक्तिकल्पनापत्त्या चोक्तविष-
यताकत्वेन हेतुत्वे गौरवेण तदपेक्षया लाघवादुक्तप्रकारताशालिप्रत्यक्षहेतुतावच्छेदकतयेन्द्रियसंयोगादिनिष्ठस्य जाति-
विशेषस्य कृतत्वेन तेनैव निर्वाहात् । ननु मास्तु निर्विकल्पकम्; चक्षुरादिसन्निकृष्टविशेष्यकधूमत्वादिप्रकारकचाक्षु-
षादिकमेव सर्वधूमादिचाक्षुषादिहेतुरिति प्राचीनमतमवलम्बनीयम्, तत्राह—नच्चेत्यादि । पुरोवर्तिनम् अव्यवहि-
तम् । व्यवहितम् एतदन्यम् । अन्यथा उक्तस्य साधकाभावस्य बाधकस्य चास्वीकारे । सकलधूमेति । ननु—
धूमत्वेन सर्वधूमानामनुव्यवसाये भानमिष्टमेव, तत्तद्व्यक्तित्वेन तेषां तत्र भानं तु नापादयितुं शक्यम्; तद्रूपेणोपस्थि-
त्यभावात्—इति चेन्न; धूमत्वेन सर्वधूमानां तत्र भानापत्तेः कृतत्वात्, तेषां व्यवसाये उपस्थितत्वेनानुव्यवसाये
भाने सामग्रीसत्त्वात्, सामान्यप्रत्यासत्तिजन्यभिन्नस्यापि एतद्धूमान्यधूमत्वप्रकारकज्ञानस्य सत्त्वे ‘तादृशविशिष्टं साक्षा-
त्करोमी’ति प्रत्ययस्योपलक्षणविधया तादृशधूमत्वप्रकारकस्यापत्तेश्च । तच्च नेष्टम्; अनुभवविरोधात्, तदिदमुक्तम्—
न चैवमनुभवमात्रेत्यादि । ‘इमं धूमं साक्षात्करोमि नान्य’मिति सर्वलोकानुभवः । अतएव धूमप्रत्यक्षवान् पुरुषः
‘एतदन्यधूमं साक्षात्करोमि किमि’ति पृष्ठो नहि नहीत्येव ब्रूते । ननु—चक्षुराद्यसन्निकर्षे लौकिकविषयत्वाभावेन
तस्य न ‘साक्षात्करोमी’ति प्रत्यये भानम्; लौकिकविषयतायास्तादृशप्रत्यये भानात्—इति चेन्न; सकलधूमादीनां
प्रत्यक्षे भानं किमनुमित्यादिकार्यानुरोधात्, अनुव्यवसायानुरोधाद्वा । तत्राद्यं पूर्वमेव निरस्तम्; अधुना तु द्वितीय-
मिति भावात् । नच—‘धूमं जानामी’त्यनुव्यवसाये सर्वधूमभानमिति—वाच्यम्; ‘इमं धूमं जानामि न त्वेतदन्य’-
मिति व्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वेन समाधानस्य तु तुल्यत्वात् । यत्प्रमेयमित्यादि । सार्वज्ञ्यं सर्वसंशयविरोधिज्ञान-
वत्त्वम् । प्रमेयत्वसामान्यधीस्तादृशज्ञानप्रयोजिका । प्रमेयवत्त्वसामान्यधीस्तु स्वयमपि तादृशधीरूपेणेत्याशयेन सोक्ता ।
सेति । ईशनिष्ठस्य सार्वज्ञ्यस्य सर्वांशे लौकिकप्रत्यक्षरूपत्वेन तत् उक्तसार्वज्ञ्यस्य वैलक्षण्यसंभवादिति शेषः ।
परेत्यादि । परस्य उक्तसामान्यज्ञानाधीनसार्वज्ञ्यवतो यो ज्ञानविषयो ‘घटो न वे’त्यादिसंशयस्तदनुपपत्तेरित्यर्थः ।
ज्ञानविषयत्वस्य घटत्वतदभावसहचरितधर्मत्वेन साधारणधर्मज्ञानस्य संशयहेतोः संपादनाय ज्ञानविषय इत्युक्तम् ।
तावता च धर्मितावच्छेदकप्रकारकधीविषयोक्तधर्मवत्ताज्ञानस्य कारणत्वलाभः । घटविषयकः घटत्वविशिष्टविशेष्यकः,
घटघटत्वोभयविशेष्यक इति यावत् । नेति । घटे इति शेषः । ज्ञाने भासमानेति । ज्ञानात् भासमानेत्यर्थः ।
तथाच प्रमेयमिति ज्ञानजन्ये प्रमेयवदिति ज्ञाने प्रमेयत्वरूपेण घटत्वस्य घटानुयोगिकवैशिष्ट्ये प्रतियोगितया भाना-
त्तादृशज्ञानं घटे घटत्वप्रकारकमिति भावः । एतेन—प्रमेयमिति ज्ञानं न घटे घटत्वप्रकारकम्; घटे भासमानवैशि-
ष्ट्यस्य भासमानं प्रतियोगित्वं प्रकारत्वमिति मतस्यैव स्वीकारेण घटानुयोगित्वविषयतानिरूपिता या वैशिष्ट्यविषयता-
निरूपितविषयता तदाश्रयप्रतियोगित्वस्य प्रकारतात्वेनोक्तज्ञाने तदसंभवात् वैशिष्ट्यतत्प्रतियोगित्वानुयोगित्वानामुक्त-
ज्ञाने विशेष्यतयैव हि भानम्, ननु संसर्गतया, न वा तद्विषयतानां निरूप्यनिरूपकभावः, तथाच तद्भावापन्न-
वैशिष्ट्यादिसांसर्गिकविषयताशालिज्ञानस्यैवोक्तसंशयविरोधित्वस्वीकाराज्जोक्तदोष—इति परास्तम् । शङ्कते—घटत्वे-
त्यादि । घटत्वज्ञानेति । घटत्वांशे अन्याप्रकारकवद्वत्त्वज्ञानेत्यर्थः । अदोष इति । उक्तज्ञानजन्यताया घटत्वांशे
अदौ. सि. ४४

विशेषणज्ञानत्वेनैव तस्य जनकता वाच्या; तस्याः प्रागेव निरासात्; स्वरूपसंबन्धविशेषाभ्युपगमे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अन्याप्रकारकघटत्वप्रकारकप्रत्यक्षत्वेनावच्छेदात्तादृशजन्यतायाः प्रमेयवदिति ज्ञानेऽभावाच्चोक्तदोष इत्यर्थः । ननु— तादृशघटत्वप्रकारकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तादृशहेतुत्वासंभवेऽपीन्द्रियसंयोगादेरेव जातिविशेषेण हेतुत्वस्यावश्यकत्वात्तज्जन्यत्वमेव विशेषणमस्तु, किंच घटत्वांशे अन्याप्रकारकं घटत्वप्रकारकं प्रत्यक्षं परोक्षं च त्वयापि स्वीकार्यमेव, आनुभाविकत्वात् । तथाच तस्यैवोक्तसंशयविरोधित्वस्वीकाराच्चोक्तदोष—इति चेन्न; प्राचीनतार्किकादिमते समानविषयकनिश्चय एव विरोधि, ननु समानाकारः; अत एव ‘अयं जातिमान्’ ‘अयं तद्व्यक्तित्वविशिष्टवान्’ ‘अयं घटत्वप्रकारकप्रमाविशेष्यान्यासमवेतवा’ नित्यादिघटत्वनिश्चयस्याप्युक्तसंशयविरोधित्वं तैः स्वीक्रियते । तथाच घटत्वांशे अन्याप्रकारकत्वमनिवेश्य घटत्वप्रकारकत्वनिश्चयत्वेनैव विरोधित्वस्वीकारात् ‘प्रमेयव’दिति निश्चयस्य विरोधित्वं दुर्वारम् । अतएव—निर्धर्मितावच्छेदकत्वाच्चोक्तज्ञानं विरोधीत्यपि—निरस्तम्; समानविषयकस्यैव विरोधित्वात् । यद्यत्तौ यद्यव्यक्तभावप्रकारकं यत् ज्ञानं तद्व्यक्त्यंशे तद्व्यक्तिविषयकज्ञानस्यैव तत्समानविषयकत्वात्तादृश-ज्ञानजन्यस्य ‘प्रमेयवदिद’मित्यादिज्ञानस्य विरोधित्वसंभवाच्च । ननु—बौद्धाधिकारे प्रकाशस्य सतस्सदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषो विषयतेत्युक्तम्, तत्र शिरोमण्यादिभिर्व्याख्यातम्—‘प्रकाशस्य ज्ञानस्य सतो विद्यमानस्य तदीय-तामात्ररूपः घटादिविषयसंबन्धरूपो विषयता । सामान्यतो विषयता ज्ञानमेव । घटादिविषयता तु घटादिसंबन्धित-तद्दीस्वरूपा । विषयस्याविद्यमानत्वेऽपि विद्यमानज्ञानरूपस्य विषयत्वस्य ‘इदानीं स विषयो ज्ञातः इदानीं तस्य ज्ञान’मित्यादिव्यवहारे कालविशेषावच्छिन्नत्वभानमुपपद्यते । विषयस्य विषयतात्वे तु तस्याविद्यमानत्वे विषयत्वस्य तन्नोपपद्यते । अतो ज्ञानमेव विषयतेति ज्ञापनाय सत इत्यनेन ज्ञानस्य विद्यमानतोक्ता । संबन्धसंबन्धिनोश्चाभेदो न दोषाय । सर्वत्र स्वरूपसंबन्धस्थले तथा कल्पनात्—इति । तथाच ‘प्रमेयव’दिति ज्ञानस्य घटे घटत्वप्रकारकत्वेऽपि नोक्तसंशयविरोधित्वम्; ज्ञानरूपविषयताविशेषरूपस्य प्रकारत्वस्य तत्तज्ज्ञानव्यक्तित्वेनैव रूपेण प्रतिबन्धकता-वच्छेदके निवेश्यत्वेन ‘प्रमेयव’दितिज्ञानव्यक्तैस्तद्व्यक्तित्वेन तत्र निवेशासंभवात्, तत्राह—स्वरूपसंबन्धेत्यादि । स्वं न स्वस्य संबन्धः; ‘स्वं न स्वीय’मित्यनुभवात् । अथ तत्तद्व्यक्तित्वेन संबन्धत्वं, ज्ञानत्वादिना संबन्धित्वम् इति रूपभेदेन भेदं स्वीकृत्य स्वस्यापि स्वप्रतियोगिकसंबन्धत्वं वाच्यम्, तथापि ज्ञानत्वविशिष्टस्य तद्व्यक्तित्वविशिष्टाभेदे तयोर्भेदासंभव इति भेदे मिथ्यात्वस्य वाच्यत्वेनानिर्वचनीयवादापत्तिः । अथ तयोरत्यन्तभेदः, तदा भाषान्तरेणाति-रिक्तविषयतैव स्वीकृता । ननु—आस्तामतिरिक्तैव विषयता, उक्तंच शिरोमण्यादिभिः—यदि ज्ञानमेव विषयता, तदा ‘घटपटा’न्निति समूहालम्बनस्य घटेऽपि पटत्वप्रकारताशालित्वापत्त्या भ्रमत्वापत्तिः; तद्दीरूपाया घटत्वप्रकारताया एव पटत्वप्रकारतात्वेन घटे पटत्वस्य प्रकारत्वसत्त्वात् । अथ यथा समवायः केवल एव सत्तायाः संबन्धः, रूपाद्यवच्छि-न्नस्तु रूपादेः; तथा निर्विकल्पकज्ञानं केवलमेव विषयता, सविकल्पं तु तत्तत्प्रकारावच्छिन्नम् । तथाच समूहालम्बनं, घटत्वविशिष्टं सत् घटस्य विषयता, नतु पटत्वविशिष्टम्; यद्विशिष्टं ज्ञानं यस्य विषयता, तत् तत्र विशेषणमुच्यते । नचैवं—घटत्वविशेषणकज्ञानस्य घटत्वविषयतात्वं न स्यात्, प्रकारविशिष्टस्यैव सविकल्पकस्य विशेषणं प्रति विषयतात्वात्, प्रकारीभूतघटत्वादिविशिष्टं तु ज्ञानं न घटत्वादावस्ति; स्वविशिष्टस्य स्वस्मिन् सत्त्वासंभवात्, स्वप्रकारोपलक्षितस्य तस्य वा तस्य विषयतात्वे घटत्वोपलक्षिततदुपहितयोः पटेऽपि सत्त्वादुक्तदोषावारणादिति—वाच्यम्; प्रकारावच्छिन्नं हि ज्ञानं विशेषणं प्रति विशेष्यता, विशेष्यविशेषणे प्रति विषयतात्वं तु केवलस्यैव सविकल्प-कस्य । एवंच यदवृत्तिना येन विशिष्टं यत् ज्ञानं यस्य विषयता, तत्र तस्य तत् भ्रमः । यदवृत्तिना येन विशिष्टं यत् ज्ञानं यस्य विषयता, तत्र तस्य तत् प्रमा । वस्तुतस्तु—येन संबन्धेन यदवृत्तियद्विशेषणविशिष्टेन येन संबन्धेन भ्रमो वाच्यः । तथाच यद्विशिष्टेन येन संबन्धेन विशिष्टं ज्ञानं यत्र विशेष्यता, तत्र तयोराद्यं विशेषणम्; अन्यं स्वम्, ज्ञाने संसर्गस्य वैशिष्ट्यं तु सामानाधिकरण्यमेकस्मिन् ज्ञाने तत्स्वरूपविषयतासंबन्धेन संबन्धि-घटत्वविशिष्टज्ञानरूपविशेष्यताया विशेष्यशब्देनैव लाभेन घटत्वेनेत्यस्य पुनरुक्तत्वापत्तेरिति—वाच्यम्; विशेष्य-शब्देन किञ्चिद्धर्मविशिष्टेन किञ्चित्संबन्धेन विशिष्टं ज्ञानमुच्यते, नतु घटत्वादिधर्मविशिष्टेन समवायेन विशिष्टम्; तथा सति ज्ञात इत्युक्ते केन रूपेणेति प्रश्नानुपपत्तेः । तथाच घटत्वेन घटो ज्ञात इत्यादौ घटत्वाद्यभिन्नधर्मविशिष्ट-संबन्धविशिष्टज्ञानरूपविषयतासंबन्धी घट इत्यर्थकत्वाच्च घटत्वेनेति पुनरुक्त इति चेन्न; घटत्वे समवायेन घटप्रकार-कज्ञानस्यापि घटविशेष्यकत्वापत्त्या ‘अयं घट’ इत्याकारकतद्दीन्यक्तिस्तादृशसमवायविशिष्टा घटविशेष्यतेति वाच्यम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथाच घटनिष्ठा तद्धीव्यक्तिर्विशेष्यता, घटत्वनिष्ठा विशेषणता, समवायनिष्ठा संसर्गतेत्यस्यैव लाघवादापत्तेः । घटे-
च्छादौ घटादिविषयकज्ञानादीनामनुगतरूपेण कारणत्वाद्यनुपपत्तेश्च । किञ्च विशेषणविशिष्टेन संसर्गेण विशिष्टं ज्ञानं
विशेष्यस्य विशेष्यता । अथवा विशेष्यविशिष्टेन संसर्गेण विशिष्टं ज्ञानं विशेषणं प्रति विशेषणता, तयोराद्यनिष्ठतद्धी-
रूपविषयता विशेष्यता, अन्यनिष्ठतद्धीरूपविषयता संसर्गता । अथवा विशेष्यविशिष्टेन विशेषणेन विशिष्टं ज्ञानं संसर्गं
प्रति सांसर्गिकविषयता, तयोराद्यनिष्ठा सा विशेष्यता, अन्यनिष्ठा सा विशेषणतेत्यस्य विधात्रयस्याविनिगम्यत्वात् प्रागुक्ता
विशेष्यादिव्यवस्था दुर्लभा । तस्मादतिरिक्तैव विषयता, तद्विशेषास्तु प्रकारत्वादयः । एवं विषयतात्वप्रकारतात्वादिक-
मपि । एतेन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वादयोऽपि व्याख्याताः । विषयताया अपि विषयता अतिरिक्तैव, एवं तस्या अपीति
प्रामाणिकी अनवस्था स्वीक्रियत एव; अन्यथानुपपत्तेः । सा च ज्ञाननिष्ठा; ज्ञाननिष्ठानुगतकारणताद्यवच्छेदकतया
कल्प्यमानत्वात् । नच—विषयनिष्ठापि सा प्रतियोगितासंबन्धेन तदवच्छेदिकास्त्विति—वाच्यम्; कारणवृत्तिधर्मस्यैव
कारणतावच्छेदकत्वेन कल्पनस्यौचित्यात् । तत्प्रतियोगितया चार्थे विषयत्वव्यवहारः । परे तु—‘विषयत्वविषयित्वे
भिन्ने एव प्रतियोगित्वानुयोगित्वे इव भावाभावयो’रित्याहुः । इत्थंच स्वभावविशेष इत्यस्य स्वीयधर्मविशेष
इत्यर्थः । प्रकाशस्येत्यनेन ज्ञानधर्मस्य विषयतात्वोक्त्या इच्छादेर्न स्वधर्मो विषयता, किंतु घटादिविषयकज्ञानजन्यत्वं
घटादिविषयकज्ञानमेव वेति—प्राञ्चः । तन्न; जन्यतावच्छेदकतयेच्छादावपि विषयतासिद्धेः, ईश्वरेच्छाया जन्यत्वा-
भावेन तत्रोक्तरीत्या असंभवात्, ज्ञानोपरमेऽपीच्छादौ सविषयकत्वव्यवहारस्य ज्ञानेनासंभवात्, इच्छायामेव स्वभावो
विषयता ज्ञाने तु तज्जनकत्वमित्यस्यैवापत्तेश्च । तस्मात् ज्ञान इवेच्छादावप्यतिरिक्तैव विषयता । तदयं शिरोमणित-
दीयटीकासिद्धान्तः । तथाच ‘घटो न वे’ति संशये घटत्वांशे अन्याप्रकारकत्वघटितरूपेण प्रतिबन्धकत्वे गौरवं यद्यपि;
तथापि घटत्वस्य या प्रकारतान्तरनिरूपितप्रकारतान्यप्रकारता, तच्छालिनिश्चयत्वेनैव तत्संभवात् ‘प्रमेयवदि’ति निश्चय-
स्योक्तसंशयविरोधित्वे मानाभावः । नच—उक्तप्रकारतान्यत्वनिवेशे गौरवात् घटत्वप्रकारतावन्निश्चयत्वेनैव तत्स्वीकारा-
दुक्तनिश्चयस्याप्युक्तविरोधित्वसिद्धिरिति—वाच्यम्; प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताभ्यः शुद्धघटत्वादिप्रकारताया भिन्नत्वेन
तद्व्यक्तेः निश्चयोपरि घटत्वस्य संसर्गतया निवेशेनागौरवात् । नच—जातित्वतद्व्यक्तित्वादिरूपेण घटत्वप्रकारतावन्निश्च-
यस्यापि विरोधित्वान्नोक्तरूपेण प्रतिबन्धकत्वकल्पनं युक्तमिति—वाच्यम्; तादृशनिश्चयस्योक्तविरोधित्वे विवादात्,
निश्चिताव्यभिचारकं रूपं परित्यज्य गृह्यमाणव्यभिचारकेण रूपेण कारणत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । अयं घटत्ववैविशि-
ष्टवानिति निश्चयस्योक्तविरोधित्वे सर्वसंमतत्वेऽपि न क्षतिः घटत्वत्वस्य घटेतरासमवेतत्वरूपघटत्वव्याप्यतारूपत्वेन
तद्विशिष्टप्रकारकनिश्चयत्वेन पृथगेव प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात्—इति चेन्न; तस्य पूर्वपक्षस्य स्वरूपसंबन्धेत्यादिमूलेन
निरस्तत्वात्, स्वं स्वीयज्ञानीयं यत् भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वानुयोगित्वाभ्यामतिरिक्तं प्रकारताविशेष्यतारूपं तस्य
ज्ञानविषययोः संबन्धविशेषस्याभ्युपगमे अनिवर्चनीयस्य विचारासहस्य वादस्योक्तसंबन्धकथनस्यापत्तेरित्यस्योक्तमूलार्थ-
त्वसंभवात् । ननु—कथमुक्तवादो विचारासह इति—चेत्—अत्रोच्यते; न प्रकारताविशेष्यते क्लृप्तपदार्थातिरिक्तं;
भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः क्लृप्तयोरेव तद्वृत्तासंभवात् । सांसर्गिकविषयतामात्रमतिरिक्तं स्वीक्रियते,
तथाच संयोगेन घटविशिष्टबुद्धौ संयोगीयप्रतियोगितानिरूपितानुयोगित्वस्य संसर्गतया भानात् संयोगीयसांसर्गिक-
विषयतानिरूपितप्रतियोगित्वीयोक्तविषयतानिरूपितानुयोगित्वीयोक्तविषयतासत्त्वादुक्तविषयताश्रयप्रतियोगित्वानुयोगि-
त्वयोः प्रकारताविशेष्यतात्वसंभवः । नच—प्रकारतां विशेष्यतां वा अतिरिक्तां स्वीकृत्य तदाश्रयप्रतियोगिकत्वं तदाश्र-
यानुयोगिकत्वं वा सांसर्गिकविषयत्वम्, नत्वतिरिक्तमित्येव कुतो न स्वीक्रियत इति—वाच्यम्; संयोगेन रूपादिप्रका-
रकज्ञानस्थले तदसंभवात् । नच—प्रतियोगित्वादावपि विशेषणाद्यंशे प्रकारतामङ्गीकृत्य संयोगादे रूपादिनिष्ठप्रकारता-
निरूपितप्रकारताश्रयप्रतियोगित्वनिरूपकत्वरूपं सांसर्गिकविषयत्वमुच्यतामिति—वाच्यम्; प्रतियोगित्वादेः प्रकारतया
भानस्य सर्वानुभवविरुद्धत्वात्, निष्प्रकारकज्ञाने निर्विकल्पकीयविषयतायाः क्लृप्तत्वात् । तस्या एव विशेषणविशेष्ययोः
स्वीकारात्तयोः विषयत्वव्यवहारः । तथाच यदीययोः प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः संसर्गता तत्त्वे सति विषयत्वं
प्रकारताविशेष्यते । वस्तुतस्तु—यदीयप्रतियोगितात्वेन रूपेण सांसर्गिकविषयता तत्त्वं प्रकारत्वम् । एवं विशेष्यता ।
तथाच विशेषणविशेष्ययोरपि सांसर्गिकमेव विषयत्वम् । तदन्यप्रकारत्वं न स्वीक्रियते; ‘घटप्रतियोगिकभूतलानुयोगिक-
संयोगेन द्रव्या’नित्यादिज्ञाने परेणापि घटत्वाद्यवच्छिन्नसांसर्गिकविषयतायाः स्वीकृतत्वात् तत्कल्पनेऽस्माकं गौरवम्,
एतेन स्वाश्रयसंयोगेन घटत्वप्रकारकज्ञानस्यापि घटत्वविशिष्टप्रकारकत्वापत्तिरित्यादिकमपास्तम्; घटत्वावच्छिन्नप्रति-
योगितात्वरूपेण प्रतियोगित्वसंसर्गकज्ञानस्यैव घटत्वावच्छिन्नप्रकारताकशब्देन व्यवहारात् । अथ—तादृशसांसर्गिक-
विषयताकधीत्वादिना कारणत्वादिकल्पनमपेक्ष्य घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नसांसर्गिकविषयताक-
धीत्वादिना कारणत्वादिकल्पने लाघवात् सांसर्गिकविषयतानात्मकप्रकारतैव कल्प्यताम् इति—चेन्न; तादृशप्रकारता

चानिर्वचनीयवादापत्तेः, इत्यादिदूषणानि बहुतरमूहनीयानि । तस्मात् सामान्यप्रत्यासत्त्या निषेधमात्रप्रतियोगित्वोपस्थितौ तदभावग्रहात् बाध इत्यनुपपन्नमेव ॥ इति सामान्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेष्यतयोः कल्पनामपेक्ष्योक्तगुरुरूपेण कारणत्वादेरेव युक्तत्वात् । प्रतियोगित्वानुयोगित्वविषयता हि विशिष्टबुद्धौ सर्वलोकानुभवसिद्धा । अस्मिन् ज्ञाने 'भूतले घटस्य संयोगः संसर्गतया विषयः' 'तत्र तस्य संयोगो मया संसर्गतया ज्ञात' इत्यादिलोकानुभवात् । किंच 'संयोगो न रूपप्रतियोगिक' इति निश्चये सत्यपि संयोगेन रूपप्रकारकबुद्ध्यापत्तेः 'संयोगो न रूपानुयोगिक' इति निश्चये सत्यपि रूपे संयोगेन घटादिप्रकारकबुद्ध्यापत्तेश्च विशिष्टबुद्धिमात्रे विशेषणप्रतियोगिता विशेष्यानुयोगिता च न भातीति मतं हेयमेव । तद्वाने तु बाधविधया तद्विरोधिनीति ध्येयम् । किंच 'भूतलं घटवदि'त्यादिज्ञानस्य कदाचिद्विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं कदाचिद्विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरमित्येवंरीत्या बुद्धित्वमिति व्यवस्थासिद्धये घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोगत्वेन यत्र सांसर्गिकविषयता, तत्र विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वम्, यत्र तु प्रतियोगितात्वमात्रेण, नतु घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वं प्रतियोगितायां भाति, तत्र द्वितीयबुद्धित्वम्; अन्यथा विषयवैलक्षण्यं विना विषयतावैलक्षणे ज्ञानयोर्वैलक्षण्यासंभवात्, 'अथैनैव विशेषो हि निराकारतया धियास्मि'त्याचार्योक्तेः, 'अयं घट' इत्यादौ विशिष्टवैशिष्ट्यस्याविषयत्वेऽपि समवायप्रतियोगित्वानुयोगित्वभानं विशिष्टबुद्धिमात्रे एकरूप्यानुरोधात् । अथवा—प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरेव संयोगादिनिष्ठसांसर्गिकविषयतानिरूपितत्वं प्रकारताविशेष्यतारूपत्वं च स्वीक्रियते । तथाच शिरोमण्याद्युक्तवाक्ये प्रकारत्वादेः प्रतियोगित्वानुयोगित्वादिकृत्पदार्थातिरिक्तत्वोक्तिरसङ्गता । उक्तवाक्ये हि एतेन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वादयोऽपि व्याख्याता इत्यनेन प्रतियोगित्वानुयोगित्वमतिरिक्तमुक्तम्, तस्मादतिरिक्तैव विषयतेत्यादिना च प्रकारत्वादि व्यतिरिक्तमुक्तम्, अथ—प्रतियोगित्वानुयोगित्वपदमभावनिष्ठानुयोगित्वस्याभावीयप्रतियोगित्वस्य चैव बोधकम्, नतु संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरपि; तयोः प्रकारत्वादिशब्देनैव उक्तत्वात्—इति चेन्न; अधिकरणशब्दस्य संबन्धानुयोगितासामान्यवचनत्वेन तत्समभिव्याहृतप्रतियोगिताशब्दस्यापि संबन्धप्रतियोगितासामान्यवचनत्वात्, आदिपदेनैवाभावीयप्रतियोगित्वादेर्ग्रहणात् । ननु—संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः प्रतियोग्यनुयोगिस्वरूपत्वस्यैव संभवेन प्रतियोगित्वानुयोगित्वपदं न तदर्थकमिति—चेन्न; 'तद्व्यक्तिस्तद्विशिष्टे'ति ज्ञानस्य प्रमात्वापत्त्या तयोरतिरिक्तत्वस्यावश्यकत्वात् । येन हि संयोगेन तद्व्यक्तेर्भूतलादौ प्रमा, तेनैव भूतलादेरपि तस्यां प्रमा । तथाच तस्य संयोगस्य तद्व्यक्तिप्रतियोग्यनुयोगिकत्वेनोक्तापत्तिः स्यादेव । तयोः अतिरिक्तत्वे तु तद्व्यक्तिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितायाः तत्तद्व्यक्तिनिष्ठत्वाभावान्नोक्तापत्तिः । नच—तद्व्यक्तिरूपा या संयोगीयप्रतियोगिता तन्निरूपितानुयोगितारूपे धर्मिणि संयोगेन तद्व्यक्तिप्रकारकत्वं संयोगेन तद्व्यक्तिप्रमात्वमित्युक्त्यैवोक्तापत्तिवारणसंभवादतिरिक्तयोः तयोः स्वीकारो न युक्त इति—वाच्यम्; 'तद्व्यक्तिर्द्रव्य'मिति प्रमायाः सत्त्वेन द्रव्यत्वरूपेण तद्व्यक्तेस्त्वात्मकानुयोगितानिरूपकप्रतियोगितारूपत्वात् संयोगीयत्वाच्चोक्तापत्तितादवस्थात् । तस्मादतिरिक्तप्रतियोगितादेरावश्यकत्वात् तदन्यप्रकारत्वाद्युक्तिः उक्तवाक्येन युक्ता । यदि चोक्तवाक्ये प्रतियोगित्वादिशब्देनाभावप्रतियोगित्वादिकमुच्यते, प्रकारत्वादिशब्देन तु भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वादिकमुच्यते, तथापि तस्य विशिष्टबुद्ध्याविषयत्वोक्तिः संबन्धसंबन्धाग्रहेऽपि विशिष्टज्ञानस्योपपादितत्वादिति मणिदीधितिवाक्ये युक्ता; उक्तयुक्तिभिस्तस्य विशिष्टधीविषयत्वस्यावश्यकत्वात् । तस्मात् पक्षधरान्तप्राचीनतार्किकादिसमतं भासमानवैशिष्ट्यस्य भासमाने प्रतियोगित्वानुयोगित्वे प्रकारताविशेष्यते इति तु मतमेव रम्यम् । तथाच 'प्रमेयव'दिति निश्चयस्य 'अयं घटो न वे'ति धीविरोधित्वं दुर्वारम् । ननु—भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिता शुद्धघटत्वादिनिष्ठा तादृशधीविरोधितावच्छेदके निवेद्या, प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्ना तु सा ततोऽन्येति नोक्तनिश्चये उक्तविरोधित्वापत्तिः—इति चेन्न; प्रमेयत्वघटत्वत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितानामन्यतमस्यैव घटो न वेत्यादिज्ञाने भानेन तस्यास्तदन्यत्वे मानाभावात् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रत्यक्षबाधोद्दारे सामान्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अथ प्रत्यक्षबाधोद्दारे सत्त्वनिर्वचनम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वस्य सत्ताजात्यसद्वैलक्षण्यार्थक्रियाकारित्वादिरूपस्य मिथ्यात्वविरोधित्वेऽपि असति प्रमाणाप्रवृत्त्या प्रमाविषयत्वरूपात् पृथक्प्रत्यक्षसत्त्वस्य तदन्यत्वेन असतोऽपि व्यवसायद्वारा प्रमाविषयत्वेन च तस्य केवलप्रमाविषय

यत्वरूपत्वाभावेऽपि सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वस्य असत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वस्य तादृशप्रमाविषयत्वयोग्यस्य वान्योन्याश्रयादिना तद्रूपत्वाभावेऽपि सतोप्यसत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेन केवलप्रमाविषयत्वस्यान्योन्याश्रयादिना सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वासत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वयोरपि तथात्वेऽपि, संयोगादावव्याह्या स्वसमानाधिकरणस्वसमानकालीननिषेधाप्रतियोगित्वस्यापि तथात्वेऽपि, एवमन्योन्याश्रयापत्त्या अवाध्यत्वस्यापि तथात्वेऽपि, “यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्यात् जगत्पि । तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः” इति तुच्छेऽतिव्याप्तेः नापरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मणि सत्त्वम् इति त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधाप्रतियोगित्वमेव प्रत्यक्षसिद्धं सत्त्वम् । अभावप्रत्यक्षतायां प्रतियोग्यसत्त्वं न तन्त्रम् ; जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावस्याप्रत्यक्षतापत्तेः, किंतु तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसजितोपलब्धिप्रतियोगिकाभाव एवेति योग्यानुपलब्ध्योक्तसत्त्वप्रत्यक्षोपपत्तेः । त्रैकालिकसार्वदिकनिषेधप्रतियोगिमिन्नत्वस्य विवक्षणे तु न काप्यनुपपत्तिः । अन्यथाऽभावप्रत्यक्षेऽधिकरणयोग्यताया एव तन्त्रत्वात् । पराभिमतमिथ्यात्वाभावस्यास्तित्वप्रकारकप्रमाविषयत्वस्यासद्वैलक्षण्यविशिष्टानारोपितत्वस्य वा तद्रूपत्वे तु न काप्यनुपपत्तिः । **वस्तुतस्तु**—सत्त्वानिर्वचनेऽपि ब्रह्मवत्सद्रूपत्वस्याङ्गीकारादुक्तबाधोपपत्तिरिति सत्त्वप्रत्यक्षबाधितविषयकत्वादुक्तमिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्वस्यैव ब्रह्मसत्त्वरूपत्वात्तस्य च जगत्पञ्जीकारे रजतत्वविरोधिशुक्तिसत्तया रजतस्यैव जडत्वविरोधस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्यात्वोपपत्त्या ब्रह्मसत्त्वमेव सन् घट इति प्रत्यक्षविषय इत्यङ्गीकारेण मिथ्यात्वविरोधासंभवः । **एतेन**—सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वमेव सत्त्वं तन्तु मिथ्यात्वविरोधीति—**पराह तम्**; चक्षुराद्ययोग्यानेकपदार्थघटितत्वेनैतादृशसत्त्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरसामर्थ्यात्, तादृशनिषेधप्रतियोगित्वस्य कस्याप्यप्रत्यक्षत्वेन योग्यानुपलब्धेरप्यप्रसरात्, स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्वस्यापि चक्षुराद्ययोग्यत्वात्, तद्योग्यत्वेऽपि तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, यस्मिन्कस्मिंश्चित्स्वदेशकालवृत्तिनिषेधे एतद्देशकालवृत्तिनिषेधं ज्ञात्वा तज्ज्ञानप्रत्यासत्त्योपस्थापितसार्वदिकसार्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वाभावस्यापि सन् घट इति चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वस्यासंभवात्, योग्यप्रतियोगिकाभाव एव हि संसर्गाभावो योग्य इति अतीन्द्रियसाधारणप्रतियोगित्वस्य चक्षुरादिना ग्रहणासंभवात्, पर्वतीयधूमेन्द्रियसंनिकर्षदशायां धूमत्वेन प्रकारेण महानसीयधूमे गृहीतव्याप्तेस्तत्रविशेषणासंसर्गाग्रहादिसामग्रीसत्त्वेन वैशिष्ट्यग्रहसंभवादसंभवेऽपि व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण पक्षधर्मताज्ञानस्यैव हेतुत्वसंभवादूमत्वेन सकलधूमानुपस्थितावप्यनुमितिसंभवात्सुखत्वप्रकारकज्ञानाद्वेदानागते सुखादौ सुखत्वाश्रये प्रवृत्तिसंभवात्, तमसो भावान्तरत्वेन स्वरूपत एव तद्व्यञ्जकत्वेन च प्रौढप्रकाशकतेजस्सामान्याभावज्ञानानपेक्षणेनैव तमःप्रत्यक्षतासंभवात्, तज्ज्ञानस्यैव तद्व्यञ्जकत्वेऽपि प्रतियोगितावच्छेदप्रकारकज्ञानादेवाभावज्ञानसंभवात्, विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव साध्यविशेषणकपक्षविशेष्यकानुमितिसंभवात्, अपेक्षितानागतादिज्ञानस्यानुमानशब्दादिभिरपि संभवाच्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्यङ्गीकारे प्रयोजनाभावात् यत् प्रमेयं तदभिधेयम् ‘यत् प्रमेयवत् तदभिधेयवत्’ इत्यादिपरिच्छेदेनैव सार्वव्यापत्तेः न सामान्यं प्रत्यासत्तिरिति तु पारमार्थिकं तत्त्वम् । सर्वथा त्रैकालिकत्वादिघटितसत्त्वं न सन् घट इति प्रत्यक्षविषयः । विद्यमानसर्वभासकेन तादृशरजतमिथ्यात्वावभासनेऽप्यतादृशगगनादिसंबन्ध्युक्तप्रतियोगित्वं न भास्यते इति न विरोधः । प्रामाण्यं हि शुक्तिरूप्यादिज्ञानव्यावृत्तं व्यवहारकालिकाबाध्यविषयकत्वरूपमेव विवक्षितमिति न तादृशसाक्षिबाधितत्वादुक्तानुमानं प्रयोजकम् । सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वादिरूपं प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्षण्यं हि देहात्मैक्ये ब्रह्मप्रमाव्यवहितपूर्वभ्रमे च व्यभिचारात् न पारमार्थिकत्वसाधकमित्यपि न साक्षिणा बाधः । ‘नेह नानास्ती’त्यादिश्रुतीनां स्वरूपतो द्वैतनिषेध एव तात्पर्यात्, सत्त्वनिषेधेऽपि ‘नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य’ इति वदुपपत्तेः, प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य बाधितविषयकत्वरूपातात्त्विकगोचरत्वस्यैवाभिमतत्वाच्च न कोऽपि दोषः । **एतेन**—सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिमिन्नत्वमेव सत्त्वमित्यादिशङ्का अपि—**पराह ताः**, उक्ततन्निषेधादिज्ञानासंभवात् । **एतेन**—पराभिमतमिथ्यात्वाभावः असद्वैलक्षण्ये सत्यनारोपितत्वम् अस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वं वा सत्त्वमित्यादिशङ्का अपि—**पराह ताः**; आद्ये शशशृङ्गादावतिव्याप्तेः, द्वितीये सर्वस्यापि क्षणिकत्वेनारोपितत्वेनासंभवात्, तृतीये अस्तित्वस्य सत्त्वरूपत्वे आत्माश्रयात्, वर्तमानत्वरूपत्वे मिथ्यात्वाविरोधाच्चेति भन्तव्यम् । कालसंबन्धित्वं तु न सत्त्वं शुक्तिरूप्यादीनामपि सत्त्वापत्तेरिति शिवम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

‘यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्पि’ति वचनस्य हि न ब्रह्मणो यादृशः स्वभावः तादृशः प्रपञ्चस्य स्वभाव इत्यर्थः, एतेन स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यस्वरूपत्वमेव ब्रह्मणः सत्त्वं तन्तु प्रपञ्चमिथ्यात्वाविरोधीत्युच्यते, किंतु यादृशेन सत्त्वेन ब्रह्मणि

मिथ्यात्वाभावप्रतिपत्तिः तादृशमेव सत्त्वं जगतोऽपि सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षविषय इति । नहि स्वप्रकाशचैतन्यत्वं मिथ्यात्वविरोधि, सर्वं प्रमेयमित्यादिज्ञानस्य मिथ्याभूतस्यापि स्वप्रकाशत्वात् । अवेद्यत्वरूपास्वप्रकाशत्वस्य सद्विलक्षणत्वादिरूपमिथ्यात्ववति तुच्छेऽपि विद्यमानत्वात्, ब्रह्मविषयकश्रौतसत्यत्वव्यवहारप्रयोजकराहित्यस्यैव मां प्रति सिषाधयिषितत्वेन स्वप्रकाशत्वादेरेव तत्सत्यत्वव्यवहारप्रयोजकत्वेन तदभावसाधने मां प्रति सिद्धसाधनात् इति सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वमेव सत्त्वं तच्च मिथ्यात्वविरोधीति न्यायामृतीयराद्धान्तो युक्त एव । सर्वदेशकालवृत्तिनिषेधानां चक्षुराद्ययोग्यत्वेऽपि तदभावस्य प्रतियोगित्वस्य च चक्षुरादियोगत्वसंभवात्, घटवृत्तिसंसर्गाभावप्रतियोगित्वस्य प्रागभावप्रतियोगित्ववद्योग्यत्वात्, घटादिज्ञानानन्तरमयमिहैव नान्यत्रेत्यन्यनिष्ठाभावं प्रति प्रतियोगित्वस्यानुभूयमानत्वात्, अन्यनिष्ठाभावस्य तु विशोभ्यासन्निकर्षेणाग्रहणेऽपि प्रतियोगित्वस्य स्वरूपविशेषात्मनो योग्यत्वेन तदुपलम्भापादनसंभवात्, मम मते शुक्तिरूप्यस्यैव तादृशनिषेधप्रतियोगित्वस्य साक्षिगोचरस्य दृष्टान्तत्वसंभवात्, एतेन—स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपं सत्त्वं चक्षुरादियोग्यमिति—सूचितम्; यस्मिन्कस्मिंश्चित्स्वदेशकालवृत्तिनिषेधे निषेधत्वं ज्ञात्वा तेन प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितत्रिकालनिषेधप्रतियोगित्वस्याभावस्य घटादौ ग्रहणसंभवात् । अतीन्द्रियसाधारणप्रतियोगित्वस्यायोग्यत्वेऽपि तदभावस्य चक्षुरादियोग्यत्वसंभवात्, नहि योग्यप्रतियोगिकाभाव एव योग्यः; घटे मनस्त्वाभावस्य जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावस्य च प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वव्यवस्थानुपपत्तेः, असद्भेदरूपसत्त्वप्रत्यक्षस्य प्रतियोगियोग्यत्वं विनाप्युपपत्तेश्च । सामान्यस्येन्द्रियप्रत्यासत्तित्वाभावेऽप्यनुमानात्सकलनिषेधानामुपस्थितिसंभवात् तत्प्रतियोगित्वाभावस्य तादृशप्रतियोगिभित्तव्यस्य वा चक्षुरादियोग्यत्वसंभवात् । एतेन—पराभिमतमिथ्यात्वाभावः, असद्वैलक्षण्ये सत्यनारोपितत्वम्, अस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वं वापि सत्त्वं सन् घट इति प्रत्यक्षगोचर इति न्यायामृतसिद्धान्तोऽप्युपपद्यत एवेति—सूचितम्; आद्ये परेषां तुच्छे व्यावृत्तस्यैव मिथ्यात्वस्य विवक्षितत्वात्तुच्छे व्यभिचाराभावात्, अनारोपितत्वं चानिर्वचनीयभिन्नत्वं मतद्वयेऽपि घटादीनां विद्यत इति द्वितीयेऽसंभवाभावात्, तत्काले स्वरूपतो विद्यमानस्य कालत्रयनिषेधरूपमिथ्यात्वानुपपत्त्या वर्तमानत्वरूपास्तित्वविवक्षणे तृतीयेऽपि दोषाभावात्—इति प्रत्यवतिष्ठन्ते ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वमित्यत्र ब्रह्मस्वभावो न विवक्षितः सिद्धिकारैरपि, किंतु श्रौतसत्यत्वव्यवहारप्रयोजकं सत्त्वधर्म एव । स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यस्वरूपमपि ब्रह्मधर्मत्वेन कल्पितमिति न दोषः । तादृशं च सत्त्वं जडभ्योऽत्यन्तभिन्नं न जगद्धर्मो भवितुमर्हति । अत्यन्तमेदे धर्मधर्मिभावात्, कल्पितेन जडतादात्म्येन जडधर्मत्वं तु शुक्तिगतसत्त्वेदन्त्वादे रजतादाविव ब्रह्मगततादृशसत्त्वादेः संसर्गारोपेण भवति । एवं च रजतत्वविरोधिनः शुक्तिसत्त्वादेः संसर्गारोपान्यथानुपपत्त्या रजतस्य शुक्ताविव ब्रह्मणि प्रपञ्चस्याप्यारोपितत्वस्यैव सिद्ध्या तस्य च मिथ्यात्वानुकूलत्वाच्च प्रत्यक्षबाधः । एतेन—स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्वाभावसाधने सिद्धसाधनादिकं—पराहृतम् । एतेन—सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वमपि न सत्त्वं प्रत्यक्षगोचरमिति—सूचितम्; नहि प्रतियोग्ययोग्यत्वेऽभावयोग्यत्वं संभवति । यदि प्रतियोगित्वं स्यात्तर्ह्युपलभ्येत्येत्यापादनस्यातीन्द्रियसाधारणप्रतियोगित्वेऽसंभवेन योग्यानुपलब्धेरभावात् । प्रागभावसत्त्वे आश्रयासन्निकर्षेण तदसत्त्वे प्रागभावासन्निकर्षेण च प्रागभावप्रतियोगित्वस्याप्रत्यक्षत्वेन तद्दृष्टान्तेन संसर्गाभावप्रतियोगित्वप्रत्यक्षसमर्थनासंभवात्, यत्किंचित्संबन्धप्रत्यक्षे संबन्धिप्रत्यक्षस्य हेतुतयाऽभावप्रत्यक्षं विना तत्प्रतियोगिप्रत्यक्षासंभवाच्च । एतेन—अयमिहैव नान्यत्रेति प्रत्यक्षमपि—व्याख्यातम्; तेन सन्निकृष्टदेशनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यैव विषयीकरणेनादोषात्, शुक्तिरूप्ये तु यथानिषेधप्रतियोगित्वं साक्षिणा गृह्यते, एवं निषेधोऽपि गृह्यत इत्यभावाप्रत्यक्षत्वे तत्प्रतियोगिप्रत्यक्षत्वस्य कुत्राप्यदर्शनात् । एतेन—स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमपि न सत्त्वमिति—सूचितम्; निषेधायोग्यत्वेन प्रतियोगित्वस्याप्ययोग्यत्वेन तदभावग्रहणासंभवात्, योग्यप्रतियोगिकाभावस्यैव योग्यत्वात्, मनस्त्वरूपेण घटादौ मनस्त्वाभावो न प्रत्यक्षः । एतेन—योग्यप्रतियोगिक एवाभावो योग्य इत्यस्य योग्यप्रतियोगिकान्यस्यायोग्यत्वपरत्वे योग्यायोग्यप्रतियोगिकोक्ताभावयोर्योग्यत्वापत्तिः, अयोग्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो न योग्य इत्यर्थपरत्वे महावायौ रूपसामान्याभावः प्रत्यक्ष इति वीधितिग्रन्थविरोधः, अयोग्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो न योग्य इत्यर्थपरत्वे घटादावुक्तप्रतियोगित्ववद्भेदस्य प्रत्यक्षनिराकरणमिति बाधसामान्यानुद्धार इति शङ्कापि—पराहृता; योग्यप्रतियोगिकपदेन स्वप्रतियोग्युपलम्भापादकतायोग्यप्रतियोगिक इत्यर्थविवक्षणे दोषाभावात्, भेदप्रत्यक्षेऽपि प्रतियोगियोग्यतापेक्षणावश्यकतया 'अतएव मूर्तसामान्यतद्वतोरिवोपाधिसामान्यतद्वतोरत्यन्ताभावान्योन्याभावौ न योग्यौ' इति वीधितिग्रन्थेन प्रतिपादनेन भेदप्रत्यक्षस्याप्युपपादनासंभवात् । एतेन—परमाणौ पृथिवीत्वाभावप्रत्यक्षमपि—व्याख्यातम् । एतेन—पराभिमतमिथ्यात्वाभावः असद्वैलक्षण्ये सत्यनारोपितत्वम्, अस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वं वापि सत्त्वं न भवतीति—सूचितम्; प्रथमे चक्षुराद्ययोग्यत्वात्, द्वितीये प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वेनारोपितभिन्नत्वाभावात्, तृतीये तत्काले

अथ साक्षिबाधोद्धारः ।

ननु—प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वे शुक्तिरूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व-
रूपं मिथ्यात्वं कथं प्रत्यक्षं स्यात् ? अथ तत्र रजतत्वविरोधिशुक्तित्वे साक्षात्कृते तदन्यथानुपपत्त्या च
रजतत्वाभावे निश्चिते मिथ्यैव रजतमभादिति तादृङ्निषेधप्रत्ययः स्वसंबन्धसर्वाभासकेन साक्षि-
णैवोपपन्नः, तर्हि साक्षात् स्वविषयस्य गगनादेर्भाविकालनिषेधाप्रतियोगित्वं सकलकालग्राहिणा
साक्षिणा गृह्यतां इति—चेन्न; साक्षिणो विद्यमानसर्वावभासकत्वेनाविद्यमानभाविबाधाभावभास-
कत्वानुपपत्तेः, साक्षिज्ञानस्य भ्रमप्रमासाधारणत्वेन प्रमाणाबाधकत्वाच्च । ननु—ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यन्
साक्षी घटादिगतमबाध्यत्वं गृह्यात्येव, नहि विषयाबाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम इति—चेन्न;
व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्रेण प्रवृत्तावपि संवादोपपत्तेः, तद्रूपगतप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि
विरोधाभावात् । नहि घटादिज्ञानस्य संवादिप्रवृत्तिजनकतावच्छेदकं प्रामाण्यं त्रिकालबाध्यविष-
यकत्वम्, किंतु शुक्तिरूप्यादिज्ञानव्यावृत्तं व्यवहारकालाबाध्यविषयकसकलज्ञानवृत्ति व्यवहार-
कालाबाध्यविषयकत्वमेव । तच्च न भाविकालबाधविरोधीत्युक्तम् । भाविकालबाधतदभावौ नच
मानं विना साक्षिणा ग्रहीतुं शक्यौ, तस्य विद्यमानमात्रग्राहित्वादिति चोक्तम् । ननु—तर्हि देहा-
त्मैक्यज्ञान'मुष्णं जल'मित्यादि ज्ञानं च प्रमा स्यात्, व्यवहारदशायां विषयाबाधात्—इति—चेन्न;
आब्रह्मज्ञानमबाधितत्वेन तेषामपि घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात् । ननु—कालान्तरस्थमपि यत्
बाधकं तदपि किं यत्कालावच्छेदेन अनेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधति, उतान्य-
कालावच्छेदेन, आद्ये कथमस्य प्रामाण्यम् ? अन्त्ये अनित्यत्वादिकमेव—इति चेन्न; अबाध्यत्वरूप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ साक्षिबाध्यत्वनिराकरणम् ।

तादृगिति । प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधेत्यर्थः । साक्षात् ज्ञानाज्ञानविशेषणनैरपेक्ष्येण गगनादेः साक्षिभास्व-
त्वस्वीकारात् । भाविकालनिषेधेति । भाविकाले प्रतीयमाननिषेधेत्यर्थः । साक्षिणः प्रमाणवृत्त्यनुपहितसाक्षिणः ।
विद्यमानसर्वावभासकत्वेन विद्यमानमात्रे तादात्म्येन विद्यमानकाले संबद्धतया । अविद्यमानेत्यादि । अवि-
द्यमानो यो भाविबाधः भाविकालावच्छिन्नं प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वधीविषयत्वं, तदभावासाधकत्वादित्यर्थः ।
उक्तधीविषयत्वस्येदानीं साक्ष्ययोग्यत्वात्तदभावोऽपीदानीं तथा । साक्षिणैव हि तादृशविषयत्वं ज्ञेयम्; तत्र मानान्तर-
स्येदानीमनवतारात्, अवतारे वा तत एव तदभावग्रहसंभवादिति भावः । अज्ञाततया तादृशाभावग्रहणं नु न वस्तु-
साधकम्; तस्याज्ञातांशे निश्चयत्वाभावात् । साक्षिग्राह्यत्वं स्वीकृत्याह—भ्रमप्रमेति । सुखाद्यंशे प्रमात्वस्यैव शुक्ति-
रूप्याद्यंशे भ्रमत्वस्यापि गृह्यमाणत्वेन त्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वांशेऽपि भ्रमत्वशङ्कासंभव इति भावः । व्यवहारे-
त्यादि । व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वमात्रेण ज्ञाने प्रवृत्तिसामान्यप्रयोजकत्वादिसंवादोपपत्तेरित्यर्थः । ननु दोषसम-
वहितप्रमायां प्रमात्वाग्रहेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः प्रमात्वेन ज्ञायमाननिश्चय एव प्रवर्तकः; त्वन्मते च विषयाबाधस्य साक्ष्य-
ग्राह्यत्वात् तस्यानुपपत्तिः, तत्राह—तद्रूपेति । ननु त्वन्मते संवादिप्रवृत्तिर्न स्यात्; तस्यां त्रिकालाबाध्यविषयकत्वेन
हेतुत्वकल्पनादित्याशङ्क्य प्रवृत्तौ यादृशमविसंवादित्वं तद्वटितमेव प्रमात्वं प्रवर्तकज्ञानेऽपेक्ष्यते, औचित्यादित्याशयेनाह—
न हीत्यादि । संवादीति । व्यवहारकालाबाध्यविषयकेत्यर्थः । व्यावृत्तमिति । शुक्तिरूप्यादिविषयकप्रवृत्तेरुक्त-
संवादित्वाभावात् शुक्तिरूप्यादिज्ञानाव्यावृत्तं प्रामाण्यमुक्तप्रवृत्तिप्रयोजकमिति भावः । विषयकत्वमेवेति । स्मृतेरपि
संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात् तत्साधारण्यं न दोषायेति भावः । अनेन इदानीन्तनेन प्रपञ्चज्ञानेन अनित्यत्वादीत्यादिना
निषेधस्याव्याप्यवृत्तिवत्त्वम् । एवकारान्तु न मिथ्यात्वधीरूपो बाधः; मिथ्यात्वस्य प्रतिपन्नदेशकालावच्छिन्नघटितत्वा-
दिति भावः । अबाध्यत्वेति । प्रतिपन्नदेशकालावच्छिन्ननिषेधस्य यत् प्रतियोगित्वं तद्धीविषयत्वसामान्याभावस्या-
नवच्छिन्नाधिकरणत्वेत्यर्थः । प्रामाण्यं व्यवहारकालावच्छिन्नस्य मिथ्यात्वनिश्चयाविषयत्वस्य य आश्रयः तद्विषयक-
धीत्वरूपम् । अत्रेदं बोध्यम्—तद्रूपप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि विरोधाभावादिति यदुक्तं, तत्रापिशब्देन तद्रूप-

प्रतीयमानत्वस्यैव शुक्तिरूप्यादावङ्गीकारेण कालसंबन्धित्वाभावेन स्वरूपतो निषेधसंभवेन वर्तमानकालसंबन्धस्याप्यभावेना-
दोषादिति सर्वमनवद्यम्—इति खण्डयन्ति ॥

इति सत्त्वनिश्चयः ॥

प्रामाण्यस्य प्रपञ्चज्ञाने मयानङ्गीकारात् । यत्कालावच्छेदेनैवानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधाभ्युपगमात् । तच्च प्रामाण्यं मयाभ्युपेयते । तत् व्यवहारदशायां विपरीतप्रमारूपबाधकस्यानुत्पन्नत्वादस्त्येव । नच—यत् भवतां घटादिवुद्धेः प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्षण्यं विषयस्य व्यावहारिकसत्त्वसाधकं, तदेवेह मम विषयस्य पारमार्थिकसत्त्वसाधकमस्त्विति—वाच्यम्; प्रातिभासिकबुद्धिवैलक्षण्यं हि घटादिवुद्धेः सप्रकारकज्ञानावाध्यविषयत्वादिरूपम्, तन्न पारमार्थिकसत्त्वं घटादेः, साधयितुं शक्तम्; देहात्मैक्यज्ञाने ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमे च व्यभिचारात् । ननु—‘घटस्सन्’ ‘रूप्यं मिथ्ये’ति प्रतीत्योरविशेषे कथं ‘घटो मिथ्या रूप्यमिथ्यात्वं न मिथ्ये’ति विशेषः ? नच तदपि मिथ्यैव; रूप्यतात्त्विकत्वापत्तेः—इति चेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि यथा न रूप्यस्य तात्त्विकत्वं तत्रोपपत्तेरुक्तत्वात् । नच—पारमार्थिकसत्त्वस्य प्रत्यक्षागोचरत्वे तन्निषेधश्रुतीनामप्रसक्तप्रतिषेधकता स्यादिति—वाच्यम्; तासां चक्षुरादिप्रसक्तद्वैतनिषेधपरत्वात्, पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधपरत्वेऽपि नाप्रसक्तनिषेधकत्वम्; परोक्षप्रसक्तेः संभवात्, ‘नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य’ इत्यादिवदप्रसक्तप्रतिषेधस्याप्युपपत्तेश्च । नच—अतात्त्विकप्रपञ्चे यदि तात्त्विकत्वमप्यध्यक्षेण न गृह्यते, कथं तर्हि तस्यातत्त्वावेदकत्वम् ? नहि तदेव तत्त्वेनावेदयत्तात्त्विकं नाम, दृश्यते च सार्वलौकिकप्रपञ्चे पारमार्थिकत्वानुभव इति—वाच्यम्; नह्यस्माकं तत्त्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, तद्विन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वम्, किंत्वबाधितविषयत्वं तत्त्वावेदकत्वम्, बाधितविषयत्वं चातत्त्वावेदकत्वम्, अबाधि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

प्रामाण्यं न साक्षिणा ग्रहीतुं शक्यत इति सूचितम् । तथाच तार्किकादिरीत्या साक्षात्क्रियमाणस्यैव साक्षिभास्यता वक्तुं शक्या; अन्यथा पिशाचाद्यभावस्यापि तदुक्त्यापत्तेः, तार्किकादिरीत्या तु व्यवहारकालावच्छिन्नस्य मिथ्यात्वनिश्चयाविषयत्वस्य न साक्षात्कारः संभवति; घटादिकं यदि व्यवहारकाले मिथ्यात्वेन निश्चीयेत, तदा तथा मयोपलभ्येतेत्यापादानासंभवेन योग्यानुपलम्भाभावात्, पुरुषान्तरीयमिथ्यात्वनिश्चये सत्यपि मयि तदभावेन मम तथोपलम्भाभावसंभवात् । अथ निश्चीयेतेत्यत्रापि मयेति विशेषणं देयं, तथापि व्यवहारकालीनस्य भूतभाबिकालघटितस्यापि संभवेन तद्वदितस्य बाधस्य सत्त्वेऽपि नोपलम्भसंभव इति न तदापत्तिः । किञ्च मिथ्यात्वमतीन्द्रियासन्निकृष्टाभावादिघटितमिति तद्वदितनिश्चयविषयत्वस्य सत्त्वेऽपि तत्त्वेन रूपेणोपलम्भासंभवान्नोपलम्भापत्तिरिति नानुपलब्धेः प्रतियोगिसत्त्वप्रसङ्गनप्रसङ्गतप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यतेति । नचैवं—प्रमात्वस्य स्वतोग्राह्यत्वाभावादोषासमवहितज्ञानमात्रस्य प्रमात्वग्राहकमानानवतारेऽपि प्रवर्तकत्वमानुभक्तिकं व्याहन्येतेति—वाच्यम्; मिथ्यात्वेन अज्ञातं यत् तद्विषयकज्ञानत्वरूपप्रमात्वस्य ज्ञानसामान्यग्राहकसाक्षिग्राह्यत्वरूपस्वतोग्राह्यत्वसंभवात्, प्रवृत्तिसामान्ये तादृशप्रमात्वेन जायमाननिश्चयस्य हेतुत्वसंभवात्, ‘ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन च सर्वं साक्षिभास्य’मिति विवरणोक्तेः ज्ञातत्वेन मिथ्यात्वविशिष्टस्य साक्षिभास्यत्वसंभवात्, भ्रमेऽपि बाधात् पूर्वमुक्तप्रमात्वधीसंभवेन ततः प्रवृत्तिसंभवात् । एवं संवादप्रवृत्तौ व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वेन हेतुत्वे न मानम्; संवादित्वस्य विसंवादित्वस्य वा जन्यतानवच्छेदकत्वात्, अन्यथा विषयनिष्ठायावन्तो धर्माः तद्वक्तितदन्यव्यक्त्यन्यतरत्वादयः प्रत्येकं तद्विश्लेष्यकप्रवृत्तिवेनापि जन्यतापत्तेरिति भावः । ननु दृश्यत्वादिहेतोः प्रत्यक्षबाध्यत्वं मास्तु । अनुमानबाध्यत्वं तु स्यात्; येन हेतुना भवतां व्यावहारिकत्वस्यानुमितिः पूर्वं सिद्धा । तेनैव पारमार्थिकत्वस्यानुमितिः सिद्धा; सा चेदानीं जायमानायां मिथ्यात्वानुमितौ प्रतिबन्धिकेत्याशयेन शङ्कते—नचेति । प्रातिभासिकेति । ब्रह्माविषयकधीबाध्येत्यर्थः । विषयब्रह्मधीबाध्यविषयकत्वसंग्रहः । तन्निषेधेति । तेन रूपेण द्वैतनिषेधेत्यर्थः । अप्रसक्तप्रतिषेधेति । येन रूपेण यत्र यत् न ज्ञातं, तेन रूपेण तत्र तन्निषेधकतेत्यर्थः । चक्षुरादीत्यादि । दृश्यत्वादिरूपेण चक्षुरादिना ब्रह्मणि ज्ञातस्य द्वैतस्य निषेधपरत्वादित्यर्थः । नान्तरिक्ष इत्यादि । यत्र निषेधे तात्पर्यं, तत्र प्रतियोगिप्रसक्त्यादिकं विना तत्कल्पनवैयर्थ्यात् तदावश्यकता, यत्र तु नान्तरिक्ष इत्यादौ न प्रतिषेधपरत्वम्, किंतु मानान्तरसिद्धतदनुवादद्वारा विधेयस्तुतिपरत्वं तत्र न तदावश्यकता । तथाच सत्यत्वविशिष्टद्वैतरूपप्रतियोगिनो ब्रह्मणि ज्ञानरूपां प्रसक्तिं विनापि मिथ्यात्वानुमानादिसिद्धस्य ब्रह्मगतस्य सत्यत्वरूपेण द्वैताभावस्यानुवादद्वारा उक्तश्रुतीनां विधेयब्रह्मस्तुतिपरत्वमिति भावः । अर्थवादाधिकरणे—‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवी’त्यत्र न प्रतिषेधधीः; प्रतियोगिनोऽन्तरिक्षादिनिष्ठचयनस्याप्रसक्तत्वात्, चयनविधिना पृथिव्यां चयनस्य प्रमितत्वेन प्रतिषेधबुद्ध्यसंभवात्, नच—पाक्षिकत्वाय निषेध इति—वाच्यम्; यद्यग्निं चेत्यमाणा’ इति पाक्षिकत्वसिद्धवदनुवादादिना तस्य सिद्धत्वात्, तस्मादुक्तवाक्यम-

तविषयत्वं च श्रौते ब्रह्मज्ञान एव, तद्विज्ञाने तात्पर्यवद्वेदत्वेनैव तत्त्वावबोधकत्वात् । तथाच प्रपञ्च-
प्रत्यक्षस्य तात्त्विकत्वागोचरत्वेऽप्यतत्त्वावेदकत्वं सङ्गच्छते । सार्वलौकिकी पारमार्थिकत्वप्रसिद्धिस्तु
जलगतपिपासोपशमनसामर्थ्यप्रसिद्धिवत् परोक्षतयाप्युपपन्ना नापरोक्षत्वपर्यवसायिनी ॥ तस्मादध्य-
क्षयोग्यस्य सत्त्वस्येहानिरुक्तितः । नाध्यक्षबाधो मिथ्यात्वलिङ्गस्यात्रोपपद्यते ॥ १ ॥ न लौकिकं न
सामान्यजन्यं साक्ष्यात्मकं न च । प्रत्यक्षं बाधते लिङ्गं मिथ्यात्वस्यानुमापकम् ॥ २ ॥

इति प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अथ सन्घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधः ।

‘किंचेदं रूपं’ इत्यत्र इदमितिवत् ‘सन् घट’ इत्यत्रापि सदित्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव भासते ।
नच—चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनस्य ब्रह्मणः कथं स्फुरणमिति—वाच्यम्; रूपादिहीनस्यापि कालादि-
न्यायेन स्फुरणस्य प्रागेवोपपादितत्वात् । नन्वेवं—‘नीलो घटः मिथ्या रूपमसन्नृशृङ्ग’मित्यादा-
वपि ‘नील’ इत्यादिरधिष्ठानानुवेध इति स्यात्, नच—नैल्यं घटादिष्वस्ति, सत्त्वं तु नेति—वाच्यम्;
अस्यारोपितत्वसिद्ध्युत्तरकालीनत्वेनान्योन्याश्रयात्; अन्यथा ‘सत्यं ज्ञान’ मित्यत्रापि सत्यमित्यधि-
ष्ठानानुवेध एव स्यात्—इति चेन्न; सन्नित्यस्य ‘घट’ इत्यनेन सामानाधिकरण्यस्य बाधित्वात् ।
तथाहि—सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनं वा स्वरूपसत्त्वनिबन्धनं वा कालत्रयावाध्यत्वनिबन्धनं वा सामा-
नाधिकरण्यं स्यात् । नचाभावादिसाधारणसत्प्रतीतौ सत्ताजातिस्फुरणं संभवति; अभावादिषु
त्वयापि तदनङ्गीकारात् । न च कचित्साक्षात्सम्बन्धेन कचित् परस्परसम्बन्धेन सदिति प्रतीत्युप-
पत्तिः; विजातीयसम्बन्धेन समानाकारप्रतीत्यनुपपत्तेः; अन्यथा सम्बन्धभेद एव न सिद्ध्येत् । नच

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रमाणमिति प्राप्ते, न पृथिव्यामिति वाक्यं शुद्धपृथिव्यां चयनाभावस्य नित्यानुवादो ‘हिरण्यं निधाय चेतव्य’मिति
विहितहिरण्यस्तुल्यर्थः, तदुपपादकं नान्तरिक्ष इत्यादिकम्, यथान्तरिक्षादौ न चयनं तथा शुद्धपृथिव्यामिति
सिद्धान्तितम् । तात्पर्यवदिति । तात्पर्यं तत्परता ब्रह्मपरतेति यावत् । पिपासोपशमनेति । दुःखविशेषानुत्पा-
दित्यर्थः । सामर्थ्येति । प्रयोजकशक्तीत्यर्थः । पर्यवसायिनी विशिष्टा । न लौकिकमित्यादि । लौकिकादिप्रत्यक्षं
न मिथ्यात्वानुमापकस्य बाधकम् । नापि पारमार्थिकत्वसाधकं लिङ्गं तद्बाधकमित्यर्थः । इति लघुचन्द्रिकायां
प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वासंभवात् प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अथ सन्घट इति प्रत्यक्षस्याधिष्ठानानुवेधेनोपपत्तिवर्णनम् ।

भासते आरोप्योत्पत्तिकालोत्पन्नतादात्म्यापन्नं सदपरोक्षतया भाति । तथाच सत्तादात्म्यांशे लौकिकमपि प्रत्यक्षं
न बाधकम्; तस्य मिथ्यात्वेन प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्ध्यनुकूलत्वादिति भावः । प्राक् मिथ्यात्ववादे । अधिष्ठानानुवेधः
आरोप्यघटादितादात्म्यापन्नमधिष्ठानम् । घटादिष्वस्ति आरोप्यमाणे कार्यवर्गे घटादावन्तर्भूतम्, नत्वधिष्ठानम् ।
सत्त्वं सद्रूपम् । न तथा नारोप्यमाणकार्यवर्गान्तर्गतम् । अस्य उक्तार्थस्य । अथ सद्रूपज्ञानस्य वेदान्तवाक्या-
धीनस्य सद्रूपनिष्ठघटादितादात्म्यबाधकत्वेन सद्रूपं नारोप्यान्तर्गतमिति समाधत्ते—न सन्नित्यस्येति । आरोप्यवर्गो
न सद्रूपघटित इति साध्ये हेतुः सन्नित्यस्येत्यादि । अनेनेति तृतीया सहाय्ये । सामानाधिकरण्यस्य तादात्म्यस्य ।
सन्नित्यस्येति सामानाधिकरण्ये बाधे चान्वेति । तथाच सन्नित्यस्य घटादिना सहितं यत् तदीयतादात्म्यं अस्मै
प्रतीयते; तस्य सद्रूपज्ञानरूपबाधोच्छेद्यत्वादित्यर्थः । अत्रोक्तोच्छेदयोग्यत्वं सदुपादानकत्वसम्बन्धत्वादिकं हेतुतया
विवक्षितम्, तेन नोक्तान्योन्याश्रयः । तमेव हेतुं साधयति—तथाहीत्यादिना युक्तमित्यन्तेन । निबन्धनं
वृद्धितम् । जातेः सर्वगतत्वपक्षे अभावादौ तत्सत्त्वेऽपि तदस्फुरणादेव तत्सामानाधिकरण्यबुद्ध्यभावः, अतो जातिस्फुरणे-
त्युक्तम् । अन्यथा साक्षात्संबन्धस्य प्रामाणिकत्वसंभवेऽपि परम्परासंबन्धकल्पने । संबन्धभेदः साक्षात्संबन्धनाना-
त्वम् । घटादेः संयोग एव समवाय एव वा साक्षात्संबन्धोऽस्तु; कपालादौ भूतलादौ वा परम्परासंबन्धसंभवात् । अथ क
साक्षात् क च परम्परेत्यस्याविनिगम्यत्वाद्भयत्र परम्परासंबन्धाननुभवाच्चोभयत्रापि साक्षात्संबन्धः, तर्हि द्रव्यादित्रये
साक्षात् अन्यत्र परम्परेति वा, अन्यत्रैव स्वरूपसंबन्धेन समवायत्वाभावत्वादिवदखण्डोपाधिः सत्ता वर्तते, द्रव्यादित्रये
तु स्वरूपसंबन्धवदितपरम्परासंबन्धेनेति वेत्यस्याविनिगम्यत्वात् उभयत्र परम्परासंबन्धाननुभवाच्च उभयत्रापि साक्षा-
त्संबन्धः । तत्र घटादेरुत्पत्तिकाले कपालादौ संयोगस्य भूतलादौ समवायस्य चासंभवात् संबन्धभेदसिद्धावपि प्रकृते
एक एव संबन्धः सर्वत्र संभवतीति स एव कल्प्यते । नच—जन्यसत्त्वावच्छिन्ने द्रव्यत्वेनोपादानत्वमवश्यं वाच्यम्;
अद्वै. सि. ४५

स्वरूपसत्त्वेनाभावादौ तत्प्रतीतिः; अननुगमात्, अननुगतेनापि अनुगतप्रतीतौ जातिमात्रोच्छेदप्रस-
ङ्गात् । अतएव न सर्वत्रापि स्वरूपसत्त्वेनैव सद्यवहारः; एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युप-
पत्तौ बहूनां तद्वेतुत्वकल्पने मानाभावात् । नापि कालत्रयावाध्यत्वनिबन्धनं तत्; तस्य चक्षुराद्यगम्य-
त्वस्योक्तत्वात्, 'सदिदं रजत' सित्यादिभ्रमे अभावाच्च । तस्मादेकं सर्वाधिष्ठानमेव सदिति सर्व-
त्रानुभूयत इति युक्तम्, नीलादेस्तु घटादिसामानाधिकरण्ये किमपि नास्ति बाधकम्, न वा नीलादे-
रधिष्ठानत्वं सम्भवति; प्रागसत्त्वात्, नीलपीतादिप्रातिस्विकानन्ताधिष्ठानकल्पने गौरवात्, अधिष्ठेय-
तुल्ययोगक्षेमत्वाच्च । अधिष्ठेयविषमसत्ताकमेव ह्यधिष्ठानं भवति; 'मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्ग' सित्यादौ
मिथ्यात्वासत्त्वयोरधिष्ठानत्वशङ्कापि नास्तीति शून्यवादापत्तेः । तत्र चानुपपत्तिरुक्ता; वक्ष्यते च ।
यत्तु—'सत्यं ज्ञानमनन्त' सित्यत्रापि तथा स्यात्—इति । तन्न; यतो न तत्र सत्तासम्बन्धेन सत्त्वम्,
किंतु स्वरूपेणैवेत्युक्तदोषानवकाशात् । नचैवं घटादावपि स्वरूपेणैव तथात्वम्; पूर्वमेव निराकृतत्वात्,
इति सन्धट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुबेधनिरूपणम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अन्यथा कपालरूपादेः कारणस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन घटादाविव कपालरूपादावपि सत्त्वात्त्रापि रूपादिक-
मुत्पद्येत, तथाच द्रव्यादित्रये सत्तासमवायस्यावश्यकत्वात् तद्वदितपरम्परासंबन्धेनान्यत्र सत्तासंभवादप्यत्र सत्तायाः
स्वरूपसंबन्धोक्तिर्न युक्तेति—वाच्यम्; एकैका एव नीलारुणादिव्यक्त्य इत्यस्मिन्मते रूपादीनामाकाशादिवदविद्यादिज-
न्यत्वेऽपि कपालरूपाद्यजन्यत्वेनोक्तयुक्त्यनवकाशादिति भावः । अननुगतेनापीत्यादि । अनेकव्यक्त्यनुगतवस्तुविषय-
कत्वेन सर्वसंमतप्रतीतेरननुगतानेकार्थविषयकत्वस्वीकारे । जातिमात्रोच्छेदापत्तिः गन्धादिकारणतावच्छेदकतयापि
पृथिवीत्वादिजातिर्न सिद्ध्येत्; 'पृथिवी गन्धकारण'मित्यादिप्रतीतेरपि तत्तद्व्यक्तिवावच्छिन्नकारणत्वविषयकत्वस्य वक्तुं
शक्यत्वात् । अनेकतादृशकारणतादिव्यक्तिकल्पनागौरवं तु कल्पनारूपप्रतीतेरनेकविषयकत्वगौरवे पर्यवसन्नमिति भावः ।
सर्वत्र अभावादिभिन्नस्थलेऽपि । अभावादौ स्वरूपसत्ताशङ्कायाः 'नच स्वरूपे'त्यादिना परिहृतत्वात् । स्वरूपसत्त्वेन
घटादिस्वरूपेण कालसंबन्धित्वस्वरूपेण वा सत्त्वेन । एकेनेति । अविद्यारूपमहाकालस्यैकस्यापि न सामान्यादिसाधारण
एकसंबन्धोऽस्तीति भावः । तस्मात् जात्यादेः सदाकारबुद्धिषु तादात्म्यभानासंभवात् सर्वाधिष्ठानं तादात्म्येन सर्वसंबन्धि-
ब्रह्म । यथाहि कार्यसामान्ये ब्रह्मणो निमित्तता, तथोपादानतापि कार्यत्वेन हेतुना आत्मनिमित्तोपादानकसुखा-
दिदृष्टान्तेन ब्रह्मरूपैकस्वनिमित्तोपादानकत्वानुमानात् । तथाच कार्यस्य सर्वस्य ब्रह्मतादात्म्यसत्त्वात् ब्रह्मैव सदित्यत्र
भाति, ब्रह्मणो ज्ञानरूपत्वेनापि ज्ञेयैः सर्वैर्विषयतारूपं तादात्म्यमस्तीत्यतोऽपि ब्रह्म तथा भातीति भावः । यत्तु
ब्रह्मबुद्ध्या घटतत्तादात्म्यादेर्बाधितत्वमुक्तम्, तत् मिथ्यात्वानुमाने सद्रूपतादात्म्यबुद्धेर्न विघातकत्वम्; प्रत्युतानुकूल्य-
मेवेति ज्ञापनायेति बोध्यम् । एतेन—प्रपञ्चे मिथ्यात्वस्याद्याप्यसिद्धत्वेन प्रपञ्चाधिष्ठानब्रह्मणः सदाकारबुद्धौ घटादिता-
दात्म्येन भासमानत्वोक्तिरसङ्गता; मिथ्याकार्योपादानत्वरूपाधिष्ठानस्वस्यैवासिद्धत्वात्—इत्यपास्तम्; घटादितादात्म्येन
भासमानत्वं प्रत्युपादानत्वादप्रयुक्तस्य घटादितादात्म्यस्यैव हेतुत्वेनोक्तत्वात् । ननु ब्रह्मण इव नीलरूपादेरप्युपादान-
त्वस्य वक्तुं शक्यतया नन्वेवमित्याद्युक्तापत्तेरनुद्धारस्तत्राह—नीलेत्यादि । नीलादिनिष्ठं घटादिसामानाधिकरण्यं प्रति
नीलादिविषयकं बाधकं ज्ञानं किमपि नास्तीत्यर्थः । तथाच नीलादेरुपादानत्वं न परिणामितया; कार्योत्पत्तिपूर्वं
परिणामिनःस्फुरणनियमात्, अतोऽपरिणामितया तद्वाच्यम्, तच्च न संभवति; बाधकज्ञानविषयस्यैव तत्स्वीकारात् ।
अधिष्ठानत्वमपरिणामितयोपादानत्वम् । नीलादेरेकैकनित्यत्वमते प्राक् सत्त्वादाह—नीलपीतेति । अविद्यासद्रूपयोः
सामान्योपादानत्वस्य कपालादेर्विशेषोपादानत्वस्य चावश्यकत्वेन नीलादेरन्यथासिद्धत्वेनोपादानत्वमप्रामाणिकम्, अतो
गौरवं दोष इत्यर्थः । यत्प्रमया यत् बाध्यते तत् तस्य तादृशोपादानम् । तच्च तदपेक्षया अधिकसत्ताकम्; समसत्ता-
कयोर्बाध्यबाधकधीविषयत्वस्यादृष्टत्वात्, स्वाप्नज्ञानयोर्बाध्यबाधकत्वं तु मिथ्यात्वेन ज्ञाप्यज्ञापकत्वरूपम्, न तूच्छयो-
च्छेदकत्वमिति भावः । नीलादेः प्राक्कालवृत्तिसद्रूपाधिष्ठानतादात्म्यज्ञानात् सत्यत्वशङ्कया अधिष्ठानत्वं शङ्कास्पदम्,
मिथ्यात्वेन तुच्छत्वेन वा ज्ञायमानस्य तु न तत्तथेत्याह—मिथ्यारूप्यमिति । शून्येति । रूप्यादौ मिथ्याभूत-
स्याधिष्ठानत्वे प्रपञ्चेऽपि तथा स्यादिति शून्यवादः स्यात्, अलीस्याधिष्ठानत्वे तु अलीकत्वव्याघातापत्तिरपि बोध्या ।
अपरिणाम्युपादानत्वरूपाधिष्ठानत्वे सत्यार्थक्रियाकारित्वरूपमत्यवापत्तेः । तथा स्यात् ब्रह्मणि सद्रूपतादात्म्यभानात्
सद्रूपोपादानकत्वं स्यात् । सत्तासंबन्धेन सत्तादात्म्येन । सत्त्वं सद्विषयकत्वम् । स्वरूपेणैव सदितरविषयकत्वं
विना ॥ इति लघुचन्द्रिकायां सन्धट इति प्रत्ययेऽधिष्ठानानुबेधनिरूपणम् ॥

अथ जात्युपक्रमान्यायैः प्रत्यक्षप्राबल्यनिरासः ।

किंच निश्चितप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षमितरबाधकं भवेत्, नचात्र प्रामाण्यं निश्चितम्; आगमविरोधात्, अनुमानविरोधात्, भाविबाधाभावाभिर्णयाच्च ॥ ननु—प्रत्यक्षमेव प्रबलमनुमानागमबाधकम्, नानुमानागमौ; प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तद्विरोधाभावेनानुमानागमयोः प्रामाण्यम्, तयोः प्रामाण्ये च तद्विरोधात् प्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात्, नहि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽप्येवमन्योन्याश्रयः; तस्यानपेक्षत्वात्—इति चेन्न; चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षे अनुमानागमविरोधेन तस्याप्रामाण्यदर्शनात् तेनापि स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमितराविरोधस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् । तथाचान्योन्याश्रयतुल्यत्वात् परस्परविरोधेन प्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्ताप्रणीतत्वादिना प्रमाजनकत्वव्याप्तेर्वेदप्रामाण्यनिश्चये जाते तेन स्वतस्सम्भावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य बाधात् अस्मन्मते कान्योन्याश्रयः ? अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षबुद्ध्या बाधादेहभिन्नत्वमप्यात्मनो नागमानुमानाभ्यां सिध्येत् । ननु—प्रत्यक्षमनुमानाद्यपेक्षया जात्यैव प्रबलम्; कथमन्यथा औष्ण्यप्रत्यक्षेण वह्निशैत्यानुमितिप्रतिबन्धः ? नच—तत्रोपजीव्यत्वनिबन्धनं प्रत्यक्षस्य बाधकत्वम्; धर्म्यादेश्चक्षुरादिनैव सिद्धेस्त्वचोऽनुपजीव्यत्वात्, किञ्च प्रत्यक्षस्य प्राबल्यमनुमाद्यगृहीतरेखोपरेखादिग्राहकत्वादनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्च—इति चेन्न; त्वाचप्रत्यक्षस्याप्युपजीव्यत्वेनैव शैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्, चक्षुरादिना धर्म्यादिग्रहेऽपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्धेरभावात् । तथाच न जात्या प्राबल्ये मानमस्ति । तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये प्रयोजकम्; प्रत्यक्षागृहीतधर्मादिग्राहकत्वेन परोक्षप्रमाणस्यैव प्राबल्यापत्तेः । नाप्यनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहनादिनिवर्तकत्वेन प्राबल्यम्; एतावता हि वैधर्म्यमात्रं सिद्धम् । नच तावतेतरप्रमाणापेक्षया प्राबल्यं भवति; अन्यथा त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवंशोरगभ्रमनिवर्तकत्वाच्चक्षुषोऽपि त्वगपेक्षया प्राबल्यं स्यात् । ततश्च चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुषस्य तद्विरोधित्वाच्चज्ञानात् बाधो न स्यात् । प्रत्युतागमस्यैव सर्वतः प्राबल्यं स्मार्यते । ‘प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम् ।’ इति । नच—तद्वैदिकार्थविषयमिति—वाच्यम्; अद्वैतस्यापि वैदिकार्थत्वात् । कच प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमागमबाधितमिति तु परीक्षितप्रामाण्यप्रत्यक्षविषयम् । ननु—प्रत्यक्षस्यासंज्ञातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेनैव प्राबल्यम् । उक्तं हि—‘असंज्ञातविरो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अथ जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्रत्यक्षप्राबल्यनिरासः ।

अनाप्ताप्रणीतत्वादिना । अमप्रमादादिदोषवत्पुरुषाकृतत्वादिना । जात्यैव प्रत्यक्षत्वेनैव नत्वनुमानविरुद्धत्वादिना । उपजीव्यत्वेति । धर्म्यादिज्ञापकविधया अपेक्षणीयत्वेत्यर्थः । त्वचः त्वाचस्य बह्व्यौष्ण्यप्रत्यक्षस्य । साध्यप्रसिद्धेः अनौष्ण्यरूपशैत्यज्ञानस्य । त्वचं त्वाचम् औष्ण्यप्रत्यक्षम् । विना अभावात् अनुपपत्तेः । धर्मादिग्राहकत्वेन यागादौ स्वर्गादिसाधनत्वस्य ग्राहकत्वेन । वैदिकार्थेति । वेदमात्रगम्येत्यर्थः । अद्वैतस्येति । वस्तुतो मानान्तराविषये मानान्तरस्यागमबाध्यत्वं न युक्तम् । यत्र हि ययोर्मानयोर्विषयत्वं प्रसक्तं, तत्र तयोर्बाध्यबाधकत्वमिति बोध्यम् । कच प्रत्यक्षत इत्यादि । उपलक्षणमिदं चक्षुरादिबलवत्त्वबोधकार्थत्वादादिरुपश्रुतीनां स्मृत्यन्तराणामपि । तेन दीक्षणीयेष्वर्थवादरूपाणां ‘एतद्धि वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुस्तस्मादाचक्षणामाहुरद्रागिति स यद्यदर्शमित्याहाथास्य श्रद्धधती’त्येतरेयब्राह्मणस्थानां ‘द्वौ विवदमानावेवायातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्धधते’ इति वाजसनेयशाखास्थानां च श्रुतीनां परीक्षितप्रामाण्यकचक्षुरादीनां मानान्तरादपरीक्षितप्रामाण्यकात् बलवत्त्वबोधकत्वं बोध्यम् । उक्तं न्यायमाह—उक्तं हीति । असंज्ञातविरोधित्वात् । न संज्ञातो विरोधी यस्य तत्त्वात् । अर्थवादः ‘अग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदस्तस्मादि’त्ययमुपक्रमस्थोऽर्थवादः । यथाश्रुतः मुख्यार्थक ऋग्वेदादिपदकः । आस्थेयः स्वीकार्यः । तद्विरुद्धस्य अर्थवादविरुद्धऋगादिमन्त्रवाचकस्य । विध्युद्देशस्य ‘उच्चैर ऋचा क्रियते उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ने’ति विधिवाक्येषु स्थितस्य ऋगादिपदस्य । लक्षणा ऋग्वेदादिरुपाथलक्षकत्वम् । तथाच ऋग्वेदेन यत् क्रियते विधीयते, तत्कर्म उच्चैस्त्वेन कुर्यादित्यर्थः । अत्रार्थवाद इत्यनेन पूर्वपक्षः सूचितः । स चार्थवादस्य साधनेतिकर्तव्यतारूपांशद्वयविशिष्टार्थभावनायां विधिवाक्यार्थभूतायां विशेषणीभूतप्राशस्त्यबोधकत्वेन विधिवाक्यं प्रति गुणीभूतत्वात् ‘अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यादि’तिन्यायादर्थवादस्थेषु ऋग्वेदादिपदेषु ऋगादिमन्त्रलक्षणां स्वीकृत्य तादृशमन्त्राणामेव प्राशस्त्यबोधनद्वारा विधिवाक्यार्थोक्तभावनायासुक्तमन्त्र-

धित्वादर्थवादो यथाश्रुतः । आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा—इति चेन्न; यत एकवाक्यस्य परस्परसापेक्षपदत्वेन उभयोः साम्ये सत्युपक्रमस्य वेदपदानुरोधेनोपसंहारस्थर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कृत्स्नवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृते तन्न्यायः संभवति; उभयोः साम्याभावात्, गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चितस्य प्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वात्; अन्यथा 'इदं रजत'मिति भ्रमोऽपि 'इयं शुक्ति'रिति आप्तोपदेशापेक्षया प्रबलं स्यात् । एतेन—लिङ्गात् श्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम्, तदुक्तम्—'प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलावलम् । शीघ्रमन्थरगामित्वाच्चैव श्रुतिलिङ्गयोः—' इत्यपास्तम्; परीक्षितस्य मन्थरगामिनोऽपि प्राबल्यात् । न च—'यदा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भाव्यकायामेव प्राशस्त्यबोधकत्वसंभवात् न ऋगादिपदानां वेदलक्षकत्वमित्येवंरूपः । असंजातविरोधित्वादित्यनेन तद्विरुद्धस्येत्यनेन च सिद्धान्तः सूचितः । स चोक्तरीत्या गुणीभूतस्याप्यर्थवादस्योपक्रमस्यत्वेनासंजातविरोधित्वादुक्तमन्त्रलक्षणकत्वरूपोपमर्दहेत्वभावेनार्थवादस्थपदानां वेदरूपमुख्यार्थकत्वमेव, तथा च गुणीभूतस्योपक्रमस्यत्वे अङ्गगुणविरोधन्यायस्य नावतारः । तादृशपदयुक्तेऽर्थवादे विरोधिति प्रवृत्ते सति पश्चात् प्रवर्तमानैर्विधिस्थोक्तपदैस्तद्विरुद्धमन्त्ररूपार्थेषु स्थातुमशक्यम्; विध्यर्थवादयोः प्रतीतैकवाक्यताभङ्गापत्तेः । 'चैत्रस्तपस्वी चैत्रः पूज्यता'मित्यादौ हि चैत्रे प्राशस्त्यज्ञानात्तत्कर्मकपूजायामपि प्राशस्त्यज्ञानेन प्रवृत्तिः । प्रथमचैत्रपदस्थले मैत्रपदघटितोक्तवाक्ये तु उक्तज्ञानाभावेनाप्रवर्तकत्वेन नैकवाक्यता । अतएव नापच्छेदन्यायेन विधिस्थपदानां प्राबल्यम्, पूर्वापरमानयोरैकविशिष्टार्थप्रमापकत्वे सत्युक्तन्यायाप्रवृत्तेरित्येवंरूपः । तौ च पूर्वोत्तरपक्षौ ज्योतिष्टोमप्रकरणपठितोक्तवाक्ये तृतीयतृतीयाद्याधिकरणे चिन्तितौ । अत्रोच्चैरादिस्वराणां कर्मसु साक्षात्साधनत्वासंभवेऽपि मन्त्रद्वारा साधनत्वं बोध्यम् । उभयोः ऋग्वेदादिक्रगादिपदयोः । साम्ये प्रमाणत्वेन निश्चितत्वे । तत्र हेतुः—परस्परसापेक्षपदत्वेनेति । एकप्रमाणजने अन्योन्यसापेक्षपदत्वेनेत्यर्थः । तत्रापि हेतुः—एकवाक्यस्येति । श्रुत्यपेक्षया न्यूनबलत्वादित्यन्वयः । भ्रमविलक्षणत्वेन बाधितविषयकान्यत्वेन । अन्यथा साम्याभावेऽप्युपक्रमस्यतामात्रेण बलवत्त्वस्वीकारे । अत्र भ्रमोऽपीत्यनेन बाधकज्ञानापेक्षणीयत्वाभावेन भ्रमस्येव प्रत्यक्षस्यापि श्रुत्यपेक्षणीयत्वाभावेनैकवाक्यत्वाभावात् नोपक्रमन्यायस्य प्रकृते अवतार इति सूचितम् । एतेनेत्यादि । 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा'दिति तृतीयतृतीयाद्याधिकरणे श्रुत्यादीनां मध्ये पारदौर्बल्यं पूर्वपूर्वापेक्षया परं परं दुर्बलम्; अर्थस्याङ्गताबोधरूपस्य प्रयोजनस्य विप्रकर्षात् । श्रुतिः साध्यत्वसाधनत्वयोः अन्यतरबोधकं तृतीयाद्वितीयादिपदम् । तत्कल्पिका योग्यता लिङ्गम् । तत्कल्पकः पदयोर्योगो वाक्यम् । तत्कल्पकं प्रधानस्य साकाङ्क्षत्वं प्रकरणम् । तत्कल्पकं पाठादिसान्निध्यं स्थानम् । तत्कल्पकं यौगिकं हौत्रादिपदं समाख्या । तथा च परस्य पूर्वकल्पनाद्वारा साधनत्वादिवोधनेनैवाङ्गताप्रापकत्वात्ततः पूर्वमेव पूर्वणाङ्गताप्रापणात् शीघ्रगामित्वेन श्रुत्यादीनां लिङ्गाद्यपेक्षया प्राबल्यम् । तथाचेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपालिङ्गादैन्येन ऋक् नेन्द्राङ्गम्, किं तु 'ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इति श्रुत्या गार्हपत्याङ्गम्, तदनुरोधेनैन्येनैन्द्रादिपदं असुख्यवृत्त्याऽपि गार्हपत्यस्यैव बोधकम् । एवं च यथा शीघ्रं लिङ्गात् श्रुतिः लिङ्गात् प्रबला, तथा प्रत्यक्षं श्रुत्यनुमानादित इत्येतेन बाधकत्वाभिमतप्रमाणस्य न्यूनबलत्वेनापास्तमित्यर्थः । ननु प्रत्यक्षस्योक्तरीत्या न्यूनबलत्वमिव श्रुत्यादेरपि प्रत्यक्षापेक्षया मन्थरगामित्वेन तदपेक्षया न्यूनबलत्वम्, तथाच द्वयोः साम्यात् न श्रुत्यादिना प्रत्यक्षं बाध्यताम्, तत्राह—परीक्षितस्येति । प्रमाणत्वेन निश्चितस्येत्यर्थः । मन्थरगामिनः आकाङ्क्षाव्याह्यादिनिश्चायकमानान्तरसापेक्षत्वेन विलम्बितफलकस्य । प्राबल्यात् अपरीक्षितमानापेक्षया बलवत्त्वात् । तथा च परीक्षितयोः श्रुत्यादिलिङ्गाद्योराधेन शीघ्रं विनियोगे कृते विनियुक्तस्य मन्त्रादेः साध्याकाङ्क्षायां निवृत्तायां लिङ्गादेस्तत्साध्यसमर्पकत्वाभावेन बाधो युक्तः, प्रत्यक्षस्य त्वपरीक्षितत्वेन परीक्षितश्रुत्यादिबाधकत्वमनुपपन्नमिति भावः । ननु दशमाष्टमे चिन्तितं—ज्योतिष्टोमे श्रुतं 'पदे जुहोति' 'वर्त्मनि जुहोति' इति, 'अनारभ्याधीतं यदाहवनीये जुहोती'ति । तद्विहितयोः पदाद्याहवनीययोः होमसामान्ये विकल्पः, न तु पदादिशास्त्रमन्यस्य बाधकम्; द्वयोरपि शास्त्रयोः प्रत्यक्षत्वात्, 'शरमयं बर्हि'रिति शास्त्रं तु प्रत्यक्षं कल्पस्य कुशादिदेशशास्त्रस्य बाधकमिति युक्तमिति प्राप्ते, सिद्धान्तसूत्रम्—'अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यन्वाहिकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्या'दिति । अस्यार्थः—यत् सामान्यशास्त्रं अविशेषेण जुहोति तत्प्रियस्य होमसामान्यस्य सर्वहोमसम्बन्धाल्लक्षणया होमव्यक्तित्वाहवनीयसम्बन्धबोधकं, तत् पदहोमादिविशेषे तत्सम्बन्धपरत्वेन संदिग्धं निर्णेतुमशक्यम्; विकल्पस्याष्टदोषदुष्टस्यान्याय्यत्वात्, अथापि स स्वीक्रियते; यदि शास्त्रयोः समबलत्वं स्यात्, प्रकृते तु यद्विशेषशिष्टं पदादिविशिष्टहोमविशेषविधायकं शास्त्रं तत् आरात् शीघ्रप्रवृत्तम्; तादृशविशेषस्य प्राकरणिकत्वेन शीघ्रोपस्थितत्वाद्वान्यहोमस्य तथाऽनुपस्थितत्वाच्च तादृशहोममात्रपरत्व-

हवनीये जुहोती'त्यस्मात् 'पदे जुहोती'त्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत्, घटविषयसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य सामान्यतो द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया प्राबल्यमिति—वाच्यम्; सामान्यविशेषन्यायस्य निश्चित-प्रमाणभावोभयविषयत्वात्, अन्यथा 'अयं गौरश्च'इत्यादेरपि गौरश्चो न भवतीत्यादितः प्राबल्यं भवेत् । न च—यथा 'यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ती'त्यत्रत्यस्य यत्किञ्चित्छब्दस्य यत्किञ्चित्प्रकृतवाचित्वेन सामान्यविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वात् 'यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूया'दित्यनेन निरवकाशेन संकोचस्तथा प्रत्यक्षेण निरवकाशेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निर्णयात्, सामान्यशास्त्रस्य तदितरपरत्वसंभवेन विषयप्राप्तेरिति । ननु—ग्रीह्यादिकं विना यागानिष्पत्तेः तस्य दृष्टार्थत्वं युक्तम्, आहवनीयं विनापि तु प्रक्षेपरूपहोमनिष्पत्तेः तस्यादृष्टार्थत्वात् पदादिभिः सह तस्य समुच्चय एवास्तु, पदादेराहवनीयजन्यादृष्टजनकत्वे मानाभावात्—इति चेन्न; निरपेक्षाधारताद्वारैव दृष्टार्थत्वात् । न चैवं—घटे अग्नेः प्रतिनिधिनिषेधो न स्यात्, आधारतारूपदृष्टार्थत्वादिति—वाच्यम्; अवश्यापेक्षणीयदृष्टार्थत्वाभावात् । तथा च यथा विशेषशास्त्रं सामान्यशास्त्रस्य बाधकम्; विशेषविषयकत्वात्, तथा प्रत्यक्षं श्रुत्यादिबाधकमास्तामित्याशङ्क्य निषेधति—न चेति । घटविषयसत्त्वग्राहिणः घटत्वादिविशेषरूपविशिष्टे सत्त्वप्रकारकस्य । सामान्यतः आत्मान्यत्वरूपद्वितीयत्वेन । द्वैतनिषेधकश्रुतीति । घटादिनिषेधकैकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतीत्यर्थः । यद्यपि 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'नात्र काचन भिदास्ति' 'इदं सर्वं यद्यमात्मे'त्यादिश्रुतिषु किमादिसर्वनामार्थघटत्वादिविशेषरूपविशिष्टेऽपि मिथ्यात्वबोधकत्वम्, 'न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति । न भूमिरापो मम वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च । एवं विदित्वा परमात्मरूपम्' 'अशब्दमस्पर्शमरूप'मित्यादिश्रुतेरपि पुण्यत्वादिविशेषविशिष्टे तत्; तथापि पूर्वोक्तवाक्य-मात्रालोचनेऽपि नोक्तन्यायावकाश इत्याशयेनाह—सामान्येति । ननु 'त्सरा वा एषा यज्ञस्य तस्माद्यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ती'त्यत्र ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतवाक्ये विहितमुपांशुत्वमग्नीषोमीयापेक्षया किं पूर्वस्य ज्योतिष्टोमीयभागस्याङ्गम्, उत तद्रूपतदार्थस्येति संशये तच्छब्दार्थमुद्दिश्यैवोपांशुत्वं विधेयम्; अन्यथा अग्नीषोमीय-प्राचीनादिपदार्थानां मिथोऽन्वयस्याव्युत्पन्नतया विशिष्टस्योद्देश्यत्वासंभवात्, तच्छब्दार्थश्च प्राचीनपदार्थ एव, स च ज्योतिष्टोमीयोऽग्निष्टोमीययागपूर्वभाग एव, न तु तद्रूपतदार्थाः; तेषामनेकत्वेनैकवचनासङ्गतेः, यत्किञ्चित्छब्दस्तु नानापदार्थवदिते भागे प्राचीनपदार्थपर्यग्राहकः । भागस्य च स्वरूपेणोद्देश्यत्वासंभवात्तस्यापूर्वासाधनत्वाच्च अपूर्वसाधन-ज्योतिष्टोमस्य प्रकृतत्वेन तदीयभागत्वेनोद्देश्यता । तथा चोपांशुत्वस्य ज्योतिष्टोमीयापूर्वप्रयुक्तत्वेन ज्योतिष्टोमीयविकृतौ तादृशभागान्तर्गतैष्वप्राकृतपदार्थेष्वपि तत्प्राप्तिरिति प्राप्ते, यत्किञ्चित्पदस्य बहुष्वेव प्रयोगात् स्वार्थपरत्वे संभवति तादृशसमूहतात्पर्यग्राहकत्वेन तस्य सार्थक्यायोगात् प्राथम्यात् बलवत्तस्यानुरोधेन च चरमोक्तप्राचीनपदाश्रितस्यैक-वचनस्य बहुत्वलक्षकत्वात्तेत्यनेन प्राचीनपदार्थतत्त्वपदार्थजन्याङ्गापूर्वसाधनमुद्दिश्योपांशुत्वं विधीयते । योग्यत्वात्ता-दृशपदार्थार्थमन्त्रो द्वारम् । त्सरेत्यादेरयमर्थः—एषा यज्ञस्य त्सरा ज्योतिष्टोमयागीयपदार्थजन्यापूर्वलाभाय च्छगतिः । उच्चैःशब्दरहितं साधनं यदुपांशुत्वम्, यथा पक्ष्यादिधारणायोच्चैःशब्दरहितं गमनादिकमिति नवमप्रथमे सिद्धान्तितम् । तत्र दीक्षणीयादिसकलप्राचीनपदार्थोद्देशेनोपांशुत्वविधानासमर्थमपि यत्किञ्चिदित्यादिवाक्यं यावत्येत्यादि-वाक्यविहितस्वरविशेषावरूढदीक्षणीयाप्रायणीयादिभिन्नतादृशपदार्थोद्देशेन तद्विधायकतयापि सावकाशत्वेन यावत्येत्या-दिना यथा संकुच्यते, तथा प्रत्यक्षेण तदविषयविषयकत्वेनापि सावकाशं श्रुत्यादि संकुच्यतामित्याशङ्क्य निषेधति—नचेति । चरन्तीत्यस्य संकोच इत्यग्रेऽन्वयः । निरवकाशेनेति यावत्येत्यनेन यत्किञ्चिदित्यादेः संकोच्यतायां हेतुः । दीक्षणीयातिरिक्ते सावकाशत्वादिति । दीक्षणीयाभिन्ने उपांशुत्वविधायकतयापि लब्धविषयकत्वादित्यर्थः । ननु यत्किञ्चिदित्यादेर्दीक्षणीयातदन्यसाधारणरूपेण पदार्थबोधकयत्किञ्चित्पदयुक्तत्वेन सामान्यशास्त्रत्वादेव यावत्येत्यादिविशेषशास्त्रेण सङ्कोचः संभवति, स च पूर्वमेवोक्तत्वात्तेदानीं वक्तुं युक्तस्तत्राह—यत्किञ्चित्छब्दस्येति । यत्किञ्चित्प्रकृतवाचकत्वेन दीक्षणीयत्वादिसकलविशेषरूपविशिष्टबोधकत्वेन । सामान्याविषयत्वे दीक्षणीयादि-सकलपदार्थसाधारणरूपविशिष्टबोधकत्वे । तथा च सर्वनामपदानां बुद्धिविशेषविषयधर्मरूपसाधारणधर्मविशिष्ट-ज्ञातत्वेऽपि घटत्वादिविशेषरूपेण स्वरूपतो भासमानेन घटादिशाब्दधीजनकत्वम् । अत एव सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा-वित्यादौ पुत्रत्वपशुत्वादिरूपेण सर्वादिपदेन फलबोधनात्तेन तेन रूपेणैव फलकामनया दर्शाद्यनुष्ठानं शास्त्रार्थः, 'अयं स' इति वाक्यजन्यबोधोत्तरम् 'अयं घटो नवे'ति न संशय इति भावः । यावत्या यादृशस्वरविशिष्टया । अनब्रूया-दिति । 'मन्द्रं प्रायणीयायां मन्द्रतरमातिथ्यायामुपांशुपसत्युच्चैरग्नीषोमीय' इति वाक्यशेषः । निरवकाशेनेति । दीक्षणीयाभिन्ने यथाकामस्वराविधायकेत्यर्थः । ननु—उक्तवाक्येन दीक्षणीयादिषु ज्योतिष्टोमाङ्केषु सर्वेभ्योमीय-

वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः किं न स्यादिति—
वाच्यम्; तात्पर्यलिङ्गेरूपक्रमादिभिर्द्वैतनिषेधपरत्वे अवधृते अद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्, प्रत्यक्ष-
स्यापि व्यावहारिकद्वैतविषयतया सावकाशत्वात्, विरुद्धयोश्च द्वयो 'रहं मनुष्य' इत्यादिप्रत्यक्षे
'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुत्योरिव तात्त्विकप्रामाण्यानुपपत्त्या कस्यचिद्व्यावहारिकं कस्य
चित्तात्त्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्; अत्यन्ताप्रामाण्यस्यान्याय्यत्वात्, तत्राद्वैतश्रुतेर्व्यावहारिकप्रामाण्य-
सम्भवे द्वैतग्राहिप्रत्यक्षादेस्तात्त्विकं प्रामाण्यं भवेत्, तदसम्भवे तु बलादेवाद्वैतश्रुतेस्तात्त्विकं
प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं पर्यवस्यतीति कृतबुद्धयो विदांकुर्वन्तु । ननु—पञ्च-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पूर्वेषु स्वरविशेषविधानात् यत्किञ्चिदित्यादिकमपि दीक्षणीयाद्यविषयकत्वे निरवकाशं स्यात्—इति चेन्न; दीक्षणीया-
देरङ्गेषु तस्य सावकाशत्वात् । यद्यपि दीक्षणीयाद्यङ्गस्य याजुर्वेदिकत्वेनोपांशु यजुषेयत्वेनोपांशुत्वं प्रसक्तं; तथापि तदति-
देशेन बाध्यते । दर्शपूर्णमासप्रकरणे ह्युक्तम्—'प्राक् स्विष्टकृतः प्रथमस्थानेन मध्यमेनेडायाः शेपे तृतीयस्थाने-
ने'ति । तस्यार्थः—स्विष्टकृतः प्राक्, प्रथमस्थानेन नीचैःस्वरेण, इडायाः प्राक् मध्यमेन स्वरेण, शेपे
इडोत्तरं तृतीयस्थानेन उच्चैःस्वरेणात् । तादृशस्याप्यातिदेशिकस्य यत्किञ्चिदित्यादिना बाधः, तस्यापि यावत्स्यादि-
नेति बोध्यम् । वृत्त्यन्तरेण सत्त्वप्रत्यक्षाविषयस्यैव मिथ्यात्वधीः यया वृत्त्या भवति तथा । तथा च 'एकमेवाद्वितीय'-
मित्यादौ द्वितीयादिपदस्य सत्त्वप्रत्यक्षाऽप्यद्वितीये लक्षणाकल्पनया तस्यैव मिथ्यात्वधीरिति भावः । 'नेह नानास्ति
किञ्चने'त्यादौ तु 'पृथग्विनान्तरेणैतं हिरुहं नाना च वर्जनं' इति कोशोक्तेर्नानाशब्दस्य वर्जनरूपात्यन्ताभावार्थकत्वादिति
कोऽपि निषेधो नास्ति, सर्वाश्रयत्वादित्यर्थ इत्याशयेनाह—अनेकार्थत्वेनेति । द्वैतनिषेधेति । द्वैतसामान्या-
भावेत्यर्थः । निरवकाशत्वादिति । सावकाशत्वं हि यस्माद्विषयात् सङ्कोचो यस्य पदस्य वाच्यः तत्र विषये यादृशी
वृत्तिः, तस्य पदस्य प्रसक्ता तादृशवृत्त्या विषयान्तरबोधकत्वम् । यथा दीक्षणीयातः संकुचितस्य यत्किञ्चित्पदस्य दीक्ष-
णीयाप्रसक्तशक्तिकस्य शक्त्यैव दीक्षणीयाद्यङ्गबोधकत्वम् । न हि 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादौ यजमानादिपदस्य यजमान-
कार्यसाधकरूपार्थं सावकाशत्वात् प्रस्तरयजमानयोः भेदप्रत्यक्षेण बाध्यता, किं तु उक्तश्रुतेस्तयोरभेदे तात्पर्याभावेनोक्त-
प्रत्यक्षापेक्षया दुर्बलत्वात् । प्रकृते तु विशेषणविशेष्यभावादिसामानाधिकरण्यापेक्षया अखण्डैक्यसामानाधिकरण्यस्य
तत्रैव श्रुतेरूपक्रमादिना द्वैतसामान्याभावे अवान्तरतात्पर्यद्वारा तदुपलक्षितब्रह्मरूपे महातात्पर्यग्रहेण दौर्बल्यस्याभावेन
सावकाशत्वादेव बाध्यत्वं वाच्यम्; तच्च न संभवति; प्रत्यक्षविषयद्वैते सङ्कोचावधौ द्वितीयपदस्य मुख्यवृत्तेः प्रसक्त-
तया तादृशवृत्त्या प्रत्यक्षाविषयद्वितीयविशिष्टबोधकत्वाभावादिति भावः । स्वरसतः प्रमाणविषयत्वेनानुभूयमानो
योऽर्थः, तदन्यार्थमादायापि सावकाशत्वस्वीकारे प्रत्यक्षस्यापि स्वरसतो विषयत्वेन त्वदभ्युपगतो यः पारमार्थिकसत्त्व-
रूपोऽर्थः, तदन्यव्यावहारिकसत्त्वमादाय सावकाशत्वमस्तीति नोक्तन्यायावतार इत्याशयेनाह—प्रत्यक्षस्येति ।
व्यावहारिकेति । व्यावहारिकसत्त्वाश्रयेत्यर्थः । द्वैतनिषेधेत्यादेरन्योऽर्थः । द्वैतनिषेधेति । देहत्वादिरूपेण देहादि-
निषेधेत्यर्थः । अद्वैतश्रुतेः 'देहेन्द्रियबुद्धिर्नास्ति न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य' इत्यादिश्रुतेः । निरवकाशत्वात्
देहः सन्नित्यादिप्रत्यक्षविषयस्यैव मिथ्यात्वबोधकत्वेन विषयान्तराभावात् । नच—प्रत्यक्षाविषयपिशाचादिदेहादेरेव
श्रुत्या मिथ्यात्वधीरिति—वाच्यम्; तादृशदेहादेरपि तदभिमानिपुरुषं प्रति प्रत्यक्षत्वात् । नच—अत्रापि देहादिकं
सर्वदा नास्ति तस्मादनित्यमित्यत्र तात्पर्यमिति—वाच्यम्; 'एवं विदित्वा परमात्मरूपम्' इत्युत्तरवाक्येन 'न भूमिरापो
मम वह्निरस्ति' इत्यादिपूर्ववाक्यान्तस्य सर्वविशेषणशून्यात्मनो ज्ञेयत्वेनानुवादात्, सर्वदेयध्याहारे मानाभावात्,
प्रासदेशकालयोरेव निषेधस्य स्वरस्यसिद्धत्वात् । प्रत्यक्षस्यापि प्रत्यक्षस्यैव । अथ अपरोऽर्थः—निरवकाशत्वात्
प्रत्यक्षेण घटादीनामिव शब्दानुमानादिना गुरुवपिशाचादीनामपि सत्त्वग्रहणेन द्वितीयस्य सर्वस्यैव मानान्तरेः
सत्यत्वसिद्ध्या 'नेहनाने'त्यादिश्रुतेर्मिथ्यात्वबोधकत्वासंभवेन निर्विषयकत्वात् । न च—उक्तश्रुतेः प्रपञ्चविनाशित्वे
तात्पर्यमिति—वाच्यम्; उपक्रमादिना द्वैतनिषेधे तात्पर्यग्रहात्, तादृशार्थत्यागे उपक्रमादिप्रमाणस्यापि बाधापत्तेः,
प्रत्यक्षादेरेव व्यावहारिकसत्त्वविषयकत्वेन सावकाशत्वस्य वक्तुं युक्तत्वात्, तदिदमुक्तम्—प्रत्यक्षस्यापीति । प्रत्यक्षा-
देरेवेत्यर्थः । ननुक्तरीत्या श्रुतेः सावकाशत्वखण्डने प्रत्यक्षादेरपि सावकाशत्वाभावात् परस्परविरुद्धोरप्यप्रामाण्यं
स्यात्, तथा च तव श्रुतिरपि कथं प्रमाणम् । किंच प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयकत्वोक्तिर्न युक्ता; तथा सति प्रत्य-
क्षस्य व्यावहारिकप्रामाण्यं स्यात्, तच्चायुक्तम्; श्रुतेर्वा प्रत्यक्षादेर्वा व्यावहारिकं प्रामाण्यमित्यस्याविनिगम्यत्वात्तत्राह—
विरुद्धयोरिति । द्वयोरिति । सत्त्वप्रत्यक्षाद्वैतश्रुत्योरिति शेषः । अत्यन्ताप्रामाण्यस्य व्यावहारिकसाधारणप्रामाण्य-
सामान्याभावस्य । भवेदिति । त्वदुक्तनिरवकाशन्यायेन संभाव्यत इत्यर्थः । तदसम्भवे त्विति । अद्वैतश्रुतेर्व्या-

दशरात्रे प्रथमेऽहन्यग्निष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्निष्टुद्धर्मभूता सुब्रह्मण्याग्नेयी प्राप्ता, तस्या अल्पविषयत्वाच्चतुर्दशाहस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्र्या सुब्रह्मण्या बहुविषयया यथा बाधः, बहुबाधस्यान्याय्यत्वात्; तथा द्वैताग्रहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्डसगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधयाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? तदुक्तम्—‘बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यम् । दृष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने’ इति—चेन्न; दृष्टान्ते बहुविषयाबाधोऽत्र बहुभिरिति वैषम्यात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यवहारिकप्रामाण्यासंभवे त्वित्यर्थः । व्यावहारिकप्रामाण्यं व्यावहारिकसत्त्वाश्रयविषयकत्वम् । उक्तसत्त्वं च बाध्यत्वे सति व्यवहारकालाबाध्यत्वम्; सत्यन्तानुक्तौ तात्त्विकप्रमाणस्यापि व्यावहारिकप्रामाण्यापत्तेः । उक्तसत्त्वं च नाद्वैतत्वोपलक्षितब्रह्मणः संभवति; तस्य साक्षिरूपत्वेन चिदानन्दरूपत्वेन च बाध्यत्वासंभवात् । तथा च तद्बोधकवाक्ये व्यावहारिकप्रामाण्यासंभवः । न च—साक्षिणो ब्रह्माभिन्नत्वेनाद्याप्यसिद्ध्या ब्रह्मणो बाध्यत्वे बाधकाभाव इति—वाच्यम्; साक्षिण ईश्वरत्वपक्षे शुद्धचिद्रूपत्वपक्षे च ब्रह्माभिन्नत्वस्य सिद्धत्वात्, ‘सलिल एको द्रष्टे’त्यादिवाक्यैरद्वैतीयत्वोपलक्षितजीवस्वरूपप्रामाण्यकत्वेन जीवस्वरूपसाक्षिणो बाध्यत्वासंभवेन च तेषां तात्त्विकप्रामाण्यस्यावश्यकत्वेन व्यावहारिकप्रामाण्यासंभवादिति भावः । श्रुतेस्तात्त्विकत्वमिति । द्वैताभावत्वविशिष्टरूपव्यावहारिकविषयकबोधस्यावान्तरतात्पर्यस्वीकारेऽपि द्वैताभावोपलक्षितब्रह्मणि महातात्पर्यात्तादृशतात्त्विकविषयकत्वेन तात्त्विकप्रामाण्यमिति भावः । पर्यवस्यतीति । उक्तरीत्या सावकाशत्वन्यायस्यानवतरेऽपि ‘यजमानः प्रस्तर’ इत्यादिश्रुतिः प्रत्यक्षेणैव प्रत्यक्षादिकमपि श्रुत्या दुर्बलत्वादेव बाध्यते; दुर्बलत्वं चोक्तश्रुतेरतत्परत्वात्, प्रत्यक्षादेस्तु तत्परत्वादियुक्तश्रुतिविरुद्धत्वादिति भावः । पञ्चदशरात्र इति । पञ्चदशयागरूपे सत्रे । अग्निष्टुन्नामके प्रथमेऽहनि प्रथमयागे । एकाहात्मकस्याग्नेयस्याग्निष्टुद्यागस्य । धर्मभूता अङ्गभूता । आग्नेयी सुब्रह्मण्या, नामातिदेशेन प्राप्ता प्रसक्ता । तस्या अल्पविषयत्वात् अल्पम् एकमग्निष्टुन्नामत्र विषयः अङ्गि यस्यास्तादृशत्वात् । बहुविषयया बहवश्चतुर्दश यागाः विषया अङ्गिनो यस्यास्तया ऐन्द्र्या यथा बाधः । ऐन्द्रीप्रापकं प्रमाणमाह—चोदकेनेति । अतिदेशेनेत्यर्थः । चोदकशब्दस्य चोदनालिङ्गकातिदेशे मुख्यस्यापि प्रकृते अतिदेशमात्रमर्थः । प्रथमान्येषु चतुर्दशयागेषु हि प्रथमयागत्रये ‘ज्योतिर्गौरायु’रिति नामकत्वेनैकाहकाण्डोक्ततन्नामकयागत्रयान्नामातिदेशेन च ऐन्द्री प्राप्यते । अन्येषु तु एकादशसु द्वादशाहादैन्द्री चोदनालिङ्गकातिदेशेन प्राप्यते । अत्र चतुर्दशाहस्सु प्राप्तया चतुर्दशाहस्सु आग्नेय्या बाध इत्येवं चतुर्दशाहःपदस्यावृत्त्या बोधः । तथा च चतुर्दशाहस्सु बाधस्य तेषु बाध्यप्राप्ति-सापेक्षत्वेनार्थात्तेष्वग्नेयीप्राप्तिरुक्ता । तथाचैकादशाध्याये आतिथ्येष्ट्यन्ते उपसत्काले च सुब्रह्मण्यापाठे कर्तव्ये सर्वसुत्यर्थे तत्रतायाः स्थापितत्वात् अग्निष्टुद्यागस्येतरचतुर्दशापेक्षया मुख्यत्वेनोपक्रमधिकरणन्यायेन बलवत्त्वात्तदीयसुब्रह्मण्याया आग्नेय्या एव पञ्चदशयागार्थं प्रसक्ताया ऐन्द्र्या सुब्रह्मण्याया बाध इति सिद्धान्तो भाष्यकारेणोक्तो यथेत्यर्थः । बहुविषयकत्वस्य बाधकताप्रयोजकत्वं प्रकटयति—बहुबाधस्यान्याय्यत्वादिति । बहुनामङ्गभूतसुब्रह्मण्याया बाधस्यायुक्तत्वादित्यर्थः । सुब्रह्मण्यानाम ‘इन्द्र आयाही’त्यादिनिर्गदविशेषः । प्रतीतार्थेति । यथाश्रुतार्थेत्यर्थः । दृष्टान्ते ऐन्द्र्या आग्नेयीबाधस्थले । बहुविषयाबाधः बहुविषयेषु यागरूपेषु अङ्गाबाधो न्यायसिद्धः । ‘विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात् स्वधर्मत्व’मिति सिद्धान्तसूत्रेण विरुद्धधर्माणां मेलनप्रसक्तौ बहूनां धर्माबाधस्योक्तत्वात् । अत्र प्रकृते । बहुभिरिति । विषयाबाध इत्यनुषज्यते । तृतीयार्थो ज्ञाप्यता । तथा च प्रकृते बहुप्रमाणज्ञाप्यस्य विषयस्य द्वैतसत्यत्वरूपस्याबाध इत्यर्थः । वैषम्यादिति । अनेनेदं सूचितम्—भाष्योक्तस्योक्तोदाहरणस्य वार्तिके दूषणादिदं दृष्टान्तमात्रं त्वयोक्तम्, न तूक्तन्यायस्योदाहरणम्; तदपि विषममिति ॥ उक्तं हि वार्तिके—‘सुब्रह्मण्याया देवताप्रकाशनार्थत्वादिन्द्रप्रकाशनेनाग्निप्रकाशनरूपोपकारालाभेन नात्र प्रसङ्गस्य प्रसक्तिः; अन्यत उपकारालाभे तत्साधनाननुष्ठानं हि प्रसङ्गः, तथा च सुत्याकालीनस्येवातिथ्येष्ट्यन्तकालीनादेरपि सुब्रह्मण्यापाठस्य न प्रसङ्गः । अत एव न तत्रता; एकादशे तदुक्तिस्तु एकदेवताकनानायागीयसुब्रह्मण्याविषया बोध्या । तस्मादुक्तोदाहरणस्याभावादुदाहरणान्तरमुच्यते, काभ्येष्टिकाण्डे ‘अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टकपालं निर्वपेदिन्द्राय प्रदात्रे पुरोडाशमेकादशकपालं’ ‘दधिमधुघृतमापौ धानास्तसंसृष्टं प्राजापत्यं पशुकाम’ इति वाक्ये आग्नेयपुरोडाशधानायागयोरग्नेयविकारत्वादमावास्यापौर्णमास्युभयधर्मकत्वेन न तत्र विरोधः । इतरेषु तु पञ्चसु सह क्रियमाणेषु आज्यभागयोर्वार्त्तनीवृधन्वतीमन्त्राणां हविरभिर्मर्शने चतुर्होतृपञ्चहोतृमयोश्चातुष्टाने विरोधः । ऐन्द्रो हि ऐन्द्राग्नस्य विकारः । दधियागा दधियागस्य । तत्र च वृधन्वतीपञ्चहोतृमन्त्राणाममावास्याधर्माणां प्राप्तिः । मधुघृतोदकानां तृपांशुयागविकारत्वेन वात्रेणीचतुर्होतृमन्त्राणां पौर्णमासीधर्माणां प्राप्तिः; ‘वात्रेणीपौर्णीमास्यामनुच्येते वृधन्वती

देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दाभासादिसत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेन प्राबल्यवदत्रापि अनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्यात्, विद्याविद्याभेदेन विद्वद्विद्वत्पुरुषभेदेन च विरोधाभावादिति । इति प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्राबल्यनिराकरणम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अमावास्यायां 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहोत्रामावास्या'मिति वचनाभ्यां तेषां तद्धर्मत्वावगमात् । तत्रैन्द्र-दध्नेर्मुख्यत्वेन तदीयधर्माबाधायामावास्याधर्मा एवानुष्ठेयाः, न ह्याज्यभागहविरभिमर्शनयोरेकेन मन्त्रेण उभयार्थे करणे सिद्धे अन्यमन्त्रानुरोधेन पुनःकरणं युक्तम्; गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तेरन्याय्यत्वादिति प्राप्ते, बहूनां धर्मबाधस्या-युक्तत्वादल्पसङ्ख्याकानां भूयोधर्मानुष्ठानेन न प्रसङ्गित्वमिति पौर्णमासीधर्मा एवानुष्ठेयाः; 'आसन्नानि हवींष्यभि-मृश'तीति वचनविहिताभिमर्शने चतुर्होत्रेत्यादिना मन्त्रमात्रविधानात् सकृदेव सर्वहविरभिमर्शनसम्भवात् । अमा-वास्यायामुपांशुयागस्याङ्गत्वपक्षे तु नेदमप्युदाहरणं युक्तम्; द्विविधमन्त्राणामप्यविरोधात्, अतोऽन्यदुदाहरणं मृग्यमिति । किंच वैषम्यादित्यनेनेदमपि सूचितम्—भूयोनुग्रहायाल्पस्य मुख्यस्य बाध इति सिद्धान्तो न सर्वसंमतः; 'विप्रतिषिद्धे'त्याद्युक्ताधिकरणव्यवहितोत्तरं हि 'मुख्यं वा पूर्वचोदनालोकवदि'त्यधिकरणे मुख्यामुख्य-योर्द्वयोर्धर्माणामनुष्ठाने विरोधे मुख्यस्यैव धर्मा अनुष्ठेयाः, अमुख्यस्य हि भूयस्त्वं मुख्यस्य बलवत्त्वापवादकम्, तदभावे तु मुख्यस्यैव प्राबल्यमित्युक्तम् । प्राचां मीमांसकैकदेशीनां मते तु विप्रतिषिद्धेत्यादिना भूयोनुग्रहाय मुख्याल्पबाध इति पूर्वपक्षयित्वा मुख्यं वेत्यादिना मुख्यस्यैकत्वेऽपि भूयसाममुख्यानां तेनोपमर्दः; लोके तथा दर्शनात्, इति सिद्धान्तितमिति वार्तिकादावुक्तम् । ननु 'विप्रतिषिद्धे'त्याद्यधिकरणे बहूनां धर्माबाधायाल्पस्य बलवतोऽपि धर्मबाध इत्युक्तम्; तथाच प्रत्यक्षादीनां बहूनां प्रामाण्यरूपस्य धर्मस्याबाधायानिश्चितप्रामाण्यकत्वेनानिश्चितप्रामाण्यक-प्रत्यक्षाद्यपेक्षया बलवत्या एकस्याः श्रुतेः प्रामाण्यरूपस्य धर्मस्य बाधो युक्त इति कथं वैषम्यं? तत्राह—देहेति । आभा-सेति । द्वन्द्वात् परतया प्रत्यक्षादेः सर्वस्य प्रत्येकं विशेष्यम् । आभासत्वं चानिश्चितप्रामाण्यकत्वम् । अनुमानं च 'आत्मा, देहैक्यवान्, प्रत्यक्षेण तथा प्रतीयमानत्वात्' इत्यादिरूपं बोध्यम् । तथार्थापत्त्यादिकमादिपदेन ग्राह्यम् । अत्रापि द्वैतसत्यत्वप्रत्यक्षाद्यद्वैतश्रुत्योर्विरोधेऽपि । प्राबल्यादिति । तथा च बाध्यबाधकमानयोर्द्वयोरपि प्रामाण्येऽनिश्चिते निश्चिते वा तादृशन्यायावतारः, न त्वेकस्य; तस्मिन्निश्चिते अन्यस्य चानिश्चिते 'शतमप्यन्धानां न पश्यती'ति न्यायेन भूयस्त्वस्यानुपयोगात्, अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षादेर्बलवत्त्वापत्तेरिति भावः । ननु तथाऽपि प्रत्यक्षादीनां कर्मोपासनाश्रुतीनां च प्रमाणत्वेन व्यवहारविरोधः, अतस्त्वविदामेव तद्व्यवहारवत् तत्त्वविदामपि तद्व्यवहारः स्यात्तत्राह—विद्येति । विद्या तत्त्वज्ञानम् । तत्रैव तात्त्विकं प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षादौ व्यावहारिकप्रामाण्याश्रये आविद्यकविषयकत्वेनाविद्यारूपे तद्व्यवहारस्त्वतत्त्वविदां दोषादेव, तत्त्वविदां तु दोषाभावात् तत्र स इति भावः ॥ इति लघु-चन्द्रिकायां प्रत्यक्षस्य जात्यादिना प्राबल्यभङ्गः ॥

प्रत्यक्षेण नानुमानस्य बाधः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

यदि हि चक्षुरादियोग्यं सत्त्वं न निर्वर्तुं शक्यते, तर्हि कथं सन् घट इत्याकारकप्रत्यक्षम्? नचाधिष्ठानानुबेधः; रूपादिहीनस्य ब्रह्मणः चाक्षुषत्वासंभवस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्, नीलो घटः, रूप्यं मिथ्या, शशशृङ्गमसत् इत्यादौ अद्यापि ब्रह्मैव सद्रूपमन्यत् मिथ्येत्यसिद्धत्वेन सत्त्वं घटादौ नास्तीत्यस्यारोपितत्वसिद्धधीनत्वेन अन्योन्याश्रयाच्चैत्यादिकं घटादावस्ति सत्त्वं तु नास्तीति निर्णयासंभवेनाधिष्ठानानुबेधतापत्तेश्च । एवं घटादिगतावाध्यत्वरूपसत्त्वावगाहित्वेनैवोक्तप्रत्यक्षोपपत्तेर्वर्णनीय-त्वात्तदनुमिल्याद्यगृहीतरेखोपरेखादिग्राहकत्वेन तदनिवर्तितदिज्जोहादिनिवर्तकत्वेन च वह्निशैल्यानुमाने स्पर्शनप्रत्यक्षस्य जात्यैव प्राबल्यस्य दर्शनेऽत्रापि जात्या प्रत्यक्षस्य प्रबलत्वेन तद्वाधितविषयकत्वेनानुमानमप्रयोजकम् । "प्राबल्यमागमस्यैव विध्युद्देशस्य लक्षणा ॥" इति वचनोपवृंहितोपक्रमाधिकरणन्यायः, "प्रत्यक्षे चानुमाने च यथालोकवलाबलम् । शीघ्रमन्धरगा-ध्विकरणत्वेन श्रुतपदवर्मादिना बाध इति सामान्यविशेषन्यायः, यत्किंचित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्तीत्यत्र यत्किंचिच्छ-ब्दस्य प्रकृतसामान्यवाचिनः सामान्यविषयस्यापि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वात् "यावत्सा वाचा कामयेत तावत्सा

दीक्षणीययामनुब्रूयादि”ति वचनेन निरवकाशे संकोचवत्, वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन विषयान्तरसावकाशाद्वैतश्रुत्यपेक्षया निरवकाशप्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यमिति सावकाशनिरवकाशन्यायः, पञ्चदशरात्रे द्वितीयादिचतुर्दशरात्रेषु ऐन्द्रीसमाहानेन भूयसः साम्याय प्रथमेऽग्निष्टुदहेऽपि ऐन्द्रा एव समाहानमिति सिद्धान्तोपबृंहितः “विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसः स्यात्स्वधर्मत्व”मिति न्यायश्च प्रत्यक्षस्यैव, प्राथमिकत्वेन शीघ्रगामित्वेन घटादिसत्त्वरूपविशेषविषयकत्वेन निरवकाशत्वेन द्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यानुमानकर्मकाण्डसृष्ट्यादिवाक्यसगुणोपासनादिवाक्याबाधेन च प्रत्यक्षमेव प्रबलमवगमयति, नानुमानागमौ । अनुमानागमप्रामाण्ये तद्विरोधेनाध्यक्षस्याप्रामाण्यं, सति च तस्मिन्मानाविरोधेन तयोः प्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयेण स्वतः प्राप्तस्य तत्त्वावेदनरूपप्रत्यक्षप्रामाण्यस्यानुमानागमविरोधेन त्यागायोगादिति जात्युपक्रमादिन्यायसिद्धप्राबल्यकप्रत्यक्षबाधितत्वादुक्तानुमानमप्रयोजकम्—इति प्रत्यवतिष्ठन्ते ॥

(२) तत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

रूपादिहीनत्वेऽपि कालादिन्यायेन ब्रह्मचाक्षुषत्वस्य पूर्वमुपपादनात् ‘सन् घट’ इति सामानाधिकरण्यस्य अभावासाधारण्येन संबन्धभेदेन तदुपपत्तौ समानाकारकत्वस्यानुपपत्त्या च सत्ताजाल्यादिस्फुरणनिबन्धनत्वस्य, एकेनैव सर्वानुगतेनोक्तसामानाधिकरण्योपपत्तौ बहूनां तद्वैतुत्वकल्पने गौरवेण स्वरूपसत्त्वनिबन्धनत्वस्य, चक्षुराद्यगम्यत्वेन सदिदं रजतमिति सामानाधिकरण्यासाधारण्येन च कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनत्वस्य चासंभवात्, अधिष्ठेयविषयसत्ताकस्यैवाधिष्ठानत्वेन ‘नीलो घटः’ ‘मिथ्या रूपं,’ ‘असद्बुद्ध्यङ्गमि’त्यादावप्यधिष्ठानानुवेधाप्रसङ्गाच्च सदधिष्ठानानुवेधेनैव ‘सन् घट’ इति प्रत्ययोपपत्तेर्वर्णनीयतयोक्तप्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमानबाधो न संभवति । निश्चितप्रामाण्यकस्यैव प्रत्यक्षस्येतरबाधकत्वेनागमानुमानविरुद्धोक्तप्रत्यक्षस्यातथात्वेनाबाधकत्वात्, त्वाचप्रत्यक्षस्यापि शैल्यरूपसाध्यप्रसिद्धधर्मपेक्ष्यत्वेऽप्युपजीव्यत्वेन प्राबल्यं ननु जाल्या; तदगृहीतग्राहित्वतदनिवर्तितनिवर्तकत्वादीनां वैषम्यप्रयोजकत्वेऽपि त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवशोरगप्रान्तिनिवर्तकचक्षुषस्त्वगपेक्षया प्राबल्यापत्त्या चित्रनिमोक्षतज्ञानस्य चाक्षुषस्य त्वाचज्ञानेन बाधानापत्त्या च तस्य प्राबल्यप्रयोजकत्वाभावात्, ‘प्राबल्यमागमस्यैव जाल्या तेषु त्रिषु स्मृतमि’ति वचनस्याप्येवं सत्येवोपपत्तेः, अद्वैतस्यापि वैदिकार्थत्वेन तद्विषयकत्वसाध्यङ्गीकार्यत्वात् । एतेन—असंजातविरोधन्यायादिभिरध्यक्षप्राबल्यनिरूपणमपि—पराहतम्; एकवाक्यस्थत्वेन परस्परसापेक्षपदत्वेन वा साम्यापन्नोभयविषयकस्योपक्रमन्यायस्य, आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलावलमिति न्यायेनापरीक्षितप्रत्यक्षापेक्षया परीक्षितानुमानादीनामेव प्राबल्यमिति सिद्धत्वेन परीक्षितप्रत्यक्षविषयकस्योक्तवचनोपबृंहितश्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायस्य, अयं गौरश्च इत्यादेरपि गौरश्चो न भवतीत्यतः प्राबल्यापत्त्या निश्चितप्रमाणभावोभयविषयकस्य सामान्यविशेषन्यायस्य, उक्तसावकाशनिरवकाशन्यायस्य, बहुविषयाबाधपरस्य विप्रतिषिद्धधर्माणामितिन्यायस्य च गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चयेन साम्याभावात्, अपरीक्षितत्वात्, उभयप्रामाण्यस्यानिश्चितत्वात्, तात्पर्यवलिङ्गोपक्रमादिभिरद्वैतपरत्वेनावधृताद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वाद्वावहारिकद्वैतविषयकतया प्रत्यक्षस्यापि सावकाशत्वात्, बहुभिरैवात्रबाधेन बहुविषयबाधाभावाच्च प्रत्यक्षप्राबल्यप्रयोजकत्वाभावात्, प्रत्युत देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दाभाससत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेनैवाद्वैतश्रुतेरेव प्राबल्यात् । एवंच चन्द्रप्रादेशिकत्वादप्रत्यक्षेऽनुमानागमविरोधेनाप्रामाण्यस्यापि दर्शनेन प्रत्यक्षप्रामाण्यस्याप्यनुमानादिप्रमाणाविरोधाधीनत्वेनान्योन्याश्रयस्य तुल्यत्वेनानाप्ताप्रणीतत्वादिना निश्चितप्रामाण्येनागमेन संभावितदोषकसाध्यक्षस्यैव बाधस्य युक्तत्वेन प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यात्रानुमानागमविरोधेन परित्यजनीयत्वाच्च जाल्यादिसिद्धप्राबल्यकमध्यक्षमिति न तेनोक्तानुमानादिबाधसंभवः—इति समर्थयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

इदानीं घट इति कालोल्लेखवद्ब्रह्मोल्लेखाभावेन कालादिन्यायेन रूपादिहीनब्रह्मचाक्षुषत्वोपपादनासंभवात्, लोहितः स्फटिक इति प्रतीतेः भ्रमत्वप्रमात्वान्यतररूपायाः संबन्धभेदविषयिण्या अपि समानाकारकत्वदर्शनेन ‘नीलो घटः’ ‘नीलो गुण’ इत्यत्रापि तथात्वेऽपि तथात्वसंभवेन संबन्धभेदेनाभावसामानाधिकरण्यसाधारण्यस्यापि संभवेन सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनत्वस्य, अननुगतेनापि प्रमेयत्वेनानुगतव्यवहारोपपत्तिवदननुगतेनापि सत्स्वरूपेणानुगतप्रतीत्युपपत्त्या स्वरूपसत्त्वनिबन्धनत्वस्य, पूर्वोक्तरीत्या चक्षुरादियोग्यत्वेन श्रुतिरूपसामानाधिकरण्यसाधारण्येन च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वनिबन्धनत्वस्य वा, ‘सन् घट’ इति सामानाधिकरण्यप्रतीतौ संभवात्, एतावतापि घटब्रह्मणोर्विषयसत्ताकत्वस्यानिर्णयेन अधिष्ठेयविषयसत्ताकत्वमेवाधिष्ठानत्वमिति वर्णनासंभवेन संभवेऽपि ब्रह्म सन्निति श्रौतप्रतीतेरिव स्वतः प्रमाणस्य ‘सन् घट’ इति प्रत्यक्षस्य घटसमसत्ताकसद्रूपे प्रमाणत्वेन विशेषणतया प्रतीतिमात्रेण तदधिष्ठानानुवेधकल्पने ‘नीलो घट’ इत्यादावपि तदापत्तेश्चोक्तप्रत्यक्षबाधोऽनुमानस्य संभवत्येव । श्रुतेरिव प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वेनोक्तं

प्रत्यक्षमात्रे तदनिश्चये हेत्वभावेन निश्चितप्रामाण्यकत्वात् । श्रैल्यानुमित्याद्यनिवर्तितपीतभ्रमनिवर्तकजातिविशेषावच्छिन्न-
ज्ञानजनकत्वेन प्रत्यक्षस्यापि प्राबल्याज्जाल्यापि प्रत्यक्षं प्रबलम् । तदनिवर्तितनिवर्तकत्वस्य तदगृहीतग्राहित्वस्य च वैषम्य-
मात्रप्रयोजकत्ववर्णनमपि न युक्तं; वंशोरगभ्रान्त्यनिवर्तकत्वस्य चक्षुषि दोषविशेषनिबन्धनत्वात्, 'प्राबल्यमागमस्यैव'ति
तु वैदिकार्थविषयकं नाप्रामाणिकमद्वैतं विषयीकरोति । अतएव कचन प्रत्यक्षप्राप्तमनुमानादिकं बाधते इति भगव-
त्पादवचनमप्युपपद्यते । परीक्षितप्रत्यक्षविषयकत्वेऽप्युक्तवचनस्य न दोषः; 'सन् घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्यापि परी-
क्षितत्वात्, शब्दानुमानादितः प्रत्यक्षप्राबल्यस्यैतरेयब्राह्मणसिद्धत्वात् । तत्रहि—'तस्मादीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्,
अथो खल्वाहुः के हि मनुष्या इति? सर्वं सत्यं वदितुं सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति' विचक्षणवती
वाचं वदेत्, चक्षुर्वै विचक्षणं विधानेन पश्यतीति, एतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुरित्यादिना शब्दापेक्षया
चक्षुषः प्राबल्यं प्रतिपादितम् । उपक्रमोपसंहारादिन्याया अपि प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यमनुगृह्णन्ति ॥ 'सन् घट' इति
प्रत्यक्षस्य भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चये बीजाभावेन प्रत्युत फलपर्यन्तपरीक्षया प्रामाण्यस्यैव निश्चितत्वेन च श्रुत्यपेक्षया
न्यूनबलत्वाभावेनोपक्रमोपसंहारन्यायस्य, उक्तसत्त्वप्रत्यक्षस्यापि परीक्षितत्वेन श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायस्य, फलपर्यन्तपरी-
क्षासत्त्वेन स्वतःप्रामाण्येन च प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यस्य निश्चितत्वेन निश्चितप्रमाणभावोभयविषयकसामान्यविशेषन्यायस्य,
उपक्रमादिलिङ्गैः श्रुतेर्द्वैतनिषेधपरत्वेऽपि प्रत्यक्षगृहीतघटादीतरविषयकत्वेन सावकाशत्वनिरवकाशत्वाभ्यामुभयोरपि
तात्त्विकप्रामाण्योपपत्तेरप्रामाण्यापरनामधेयव्यावहारिकप्रामाण्यकल्पनस्य अयोगेन सावकाशनिरवकाशन्यायस्य चाप्रत्यूहं
प्रवृत्तेः । यद्यपि निर्वापमन्त्र इव संस्कारकत्वात् प्रतिसंस्कार्यभेदेन तन्त्रस्य, एतत्संस्कारेण अन्यस्यानुपकारात् प्रसङ्गस्य
वाऽप्रवृत्त्या बहुविषयैन्द्रसुब्रह्मण्याऽऽग्नेयीसुब्रह्मण्याबाध इति भाष्यकारीयाधिकरणशरीरं कृत्वाचिन्तया प्रवृत्तमिति
नैतद्भूयोनुग्रहस्यायोदाहरणम्; तथापि दधिमधुघृतं पयो धानास्तत्संस्मृतं प्राजापत्यमिति सप्तहविष्के यागे सकृदभिमर्शनस्य
चोदकप्राप्तस्य मधुघृतपयोरुपभूयोनुग्रहार्थं पौर्णमासिकस्यैव ग्रहणमिति सिद्धान्तपरवार्तिककारीयाधिकरणशरीरपर्यालोचनया
भूयोनुग्रहस्यायस्य प्रामाणिकत्वात् अत्र बहुविषयवाधाभावेऽपि बहुबाधप्रसङ्गस्य बाधकताबीजस्य सत्त्वेन बहुभिरल्पबाध-
स्याप्युक्तन्यायसिद्धत्वात् भेदग्राहकप्रमाणत्वं बाधकत्वसमानाधिकरणं बहुविषयकत्वसमानाधिकरणत्वादित्यत्रैव तात्पर्याच्च
भूयोनुग्रहस्यायस्य चात्र प्राबल्यप्रयोजकत्वसंभवात् । अनात्ताप्रणीतत्वादिना वेदस्यैव परीक्षितत्वेन प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यस्य
निश्चितत्वेन जाल्या प्रबलेन तेनानुमानागमयोर्बाध इति न प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानादिसंभव इति सर्वमनवद्यम्—
इति निरूपयन्ति ॥

(४) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

रूपादिहीनस्यापि ब्रह्मणो घटाद्यवच्छेदेन प्रत्यक्षत्वस्य परिच्छिन्नत्वनिरुक्तानुपपादितत्वात् 'लोहितः स्फटिकः'
'नीलो घटः' 'नीलो गुणः' इत्यादौ सर्वत्र तादात्म्यसंबन्धेनैव नीलादिप्रकारकत्वेन संबन्धभेदेन समानाकारकत्वस्य
कुत्राप्यदर्शनेनाभावसामानाधिकरण्यसाधारण्येन सत्ताजातिस्फुरणाधीनत्वस्य प्रमेयत्वस्याप्यनुगतत्वेनानुगतेन सत्त्व-
रूपेणानुगतसत्प्रतीत्यनुपपत्त्या सत्त्वरूपनिबन्धनत्वस्य, पूर्वोक्तरीत्या चक्षुराद्ययोग्यत्वेन त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वनिब-
न्धनत्वस्य वाऽसंभवात्, अपरिणामतयोपादानत्वप्रयुक्तघटादितादात्म्यस्यैव ब्रह्मणः सदाकारबुद्धौ भासमानत्वप्रयोजकत्वेन
मिथ्यात्वसिद्धावप्यधिष्ठानानुबोधोपपादनसंभवेन 'नीलो घट' इत्यादौ तदापत्त्यसंभवेन च प्रत्यक्षेणोक्तानुमानबाधो न
संभवति; 'प्राबल्यमागमस्यैव जाल्या तेषु त्रिषु स्मृतमि'ति ब्रह्मतर्कवचनात् । यथाचाद्वैतस्यैव वैदिकार्थत्वं तथान्यत्र
विस्तरः । एतेन—एतद्वि वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुरित्यादि दीक्षणीयेष्वर्थवादादिकमपि—व्याख्यातम्; तेषां
सर्वेषामप्यपरीक्षितप्रामाण्यकत्वपरीक्षितप्रामाण्यकचक्षुरादिप्राबल्यबोधन एव तात्पर्यात् । अग्नेः ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेद
इत्युपक्रम्य श्रूयमाणेषु "उच्चैः ऋचा क्रियत" इत्यादिषु ऋगादिशब्दानां किं मन्त्रपरत्वमुत वेदपरत्वमिति सन्दिह्य 'अङ्गुण-
विरोधे च तादर्थ्यादि'ति न्यायेन प्रधानाविरोधेनैव गुणस्य नेयत्वान्मन्त्रपरा इति पूर्वैषक्षय्य गुणीभूतस्याप्युपक्रमस्थत्वेना-
संजातविरोधित्वेन तदविरोधार्थं विधिगतर्गादिपदानां वेदपरत्वमेवेति सिद्धान्तनेन प्रवृत्तोपक्रमोपसंहारन्यायस्य एकप्रमाज-
नने परस्परसापेक्षपदत्वेन समानयोरुपक्रमस्थस्य प्राबल्यबोधन एव तात्पर्येण श्रुत्येकवाक्यतारहितप्रत्यक्षप्राबल्यसोक्त-
न्यायेन बोधनासंभवात् । यथाच प्रत्यक्षस्यापि न परीक्षितत्वम् तथोत्तरत्र स्फुटीकरिष्यत इति नानुपपत्तिः । एतेन—
श्रुतिलिङ्गाधिकरणस्यापि नावकाश—इति सूचितम्; 'नेह नानास्ति किंचने'ति श्रुत्या घटत्वादिविशेषरूपविशिष्टस्यापि
मिथ्यात्वबोधनेन सामान्यविशेषभावाभावात्, भावेऽपि प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य अनिश्चितत्वात्, निश्चितप्रमाणभावोभयविषय-
सामान्यविशेषन्यायस्याप्यनवतारात् । सावकाशनिरवकाशन्यायस्तु नात्र प्रसरति । यस्माद्विषयात्संकोचो यस्य पदस्य
वाच्यः तत्र विषये यादृशी शक्तिः तस्य पदस्य प्रसक्ता तादृशवृत्त्या विषयान्तरपरत्वस्यैव सावकाशत्वेन प्रत्यक्षविषय-
द्वैतमुख्यवृत्तौ द्वितीयपदस्य तादृशवृत्त्याऽतादृशद्रव्योपस्थापकत्वासंभवेन श्रुतिसावकाशत्वोपपादनासंभवात् । अतएव हि

अथोपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षप्राबल्यनिराकरणम् ।

ननु—उक्तन्यायैः प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्याभावेऽपि उपजीव्यत्वेन प्राबल्यम्; उपजीव्यत्वं चानुमानागमापेक्षिताशेषार्थग्राहकतया, सा च क्वचित् साक्षात् क्वचित्परम्परया; दृष्टं चापेक्षितैकदेशग्राहिणामप्युपजीव्यत्वम्, तद्विरुद्धग्रहणे तेन बाधश्च; यथा—घटविभुत्वानुमाने पक्षग्राहिणा अक्षणा, नरशिरश्शुचित्वानुमाने साध्यग्राहकेणागमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञानासमवाय्याधारत्वहेतुग्राहकेणानुमानेन, किमु वक्तव्यमपेक्षिताशेषग्राहिणा स्वरुद्धग्राहकस्य बाधः? चक्षुरादेश्च शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्याद्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वादुपजीव्यत्वम् । दृष्टं च नरशिरःकपालाशुचित्वबोधकागमस्य तच्छुचित्वानुमानोपजीव्यशुचित्वागमसजातीयत्वेन तदनुमानात् प्राबल्यम्, नचेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुमानमुपजीवतीति सम एवोपजीव्योपजीवकभावः, अज्ञातकरणतया ज्ञानजननार्थमनुमानानपेक्षणात्, अनुमानागमादिना तु ज्ञानजननार्थमेव तदपेक्षणादिति विशेषात्—इति चेन्न; उपजीव्याविरोधात् । तथाहि—यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते; बाध्यते च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जात्या मुख्यत्वादिनोपजीव्यत्वान्यरूपेण । प्राबल्यं मिथ्यात्वबोधकानुमानागमापेक्षया बलवत्त्वम् । तद्विरुद्धग्रहणे तादृशोपजीव्यविरुद्धग्राहकेऽनुमानागमे । तद्बाधः तादृशोपजीव्यबाध्यत्वम् । पक्षग्राहिणा परिच्छिन्नतया घटग्राहिणा । नरेति । मृतनरेत्यर्थः । ग्राहकेण ग्राहकागमसजातीयागमेन । असमवायीति । असमवायिकारणेत्यर्थः । 'मनो, विभु, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वात्, आत्मवदि'त्यनुमाने मनसि आत्मसंयोगग्राहकेन बाध्यत्वम्; विभुनोरात्ममनसोः संयोगासंभवेन मनसि विभुत्वबाधनिश्चयात् । किमु वक्तव्यमिति । बाधक्रियाविशेषणत्वात् नपुंसकत्वम् तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादीति । शब्दग्राहिश्रोत्रजन्यशब्दज्ञानप्रामाण्यग्राहिसाक्ष्यादीत्यर्थः । तदपेक्षणादिति । यद्यप्यतीन्द्रियपक्षसाध्यहेतुकानुमानस्य प्रत्यक्षापेक्षणे मानाभावः; पूर्वपूर्वानुमानपरम्परयैव तत्संभवात्, शाब्दबोधस्य क्वचिदपेक्षणेऽपि तस्य शब्दानुमानादिनैव संभवेन शब्दप्रत्यक्षानपेक्षणात् किञ्च साक्षिणो भ्रमप्रमासाधारणत्वेन तज्जातीयत्वेन कथं प्राबल्यम्? अपिच साक्षिजातीयत्वं चक्षुरादिजन्यज्ञानस्य न प्रत्यक्षत्वजातिः; अस्मन्मते तस्यालीकत्वात्, नापि अनावृतचित्तादात्म्यापन्ननिष्ठविषयताकत्वम्; तस्यैकस्य साक्षिचाक्षुषादिज्ञानयोरभावेन साक्षिजातीयत्वरूपत्वाभावात्, साक्षिणि हि विषयता विषयतादात्म्यरूपा, चाक्षुषादिज्ञाने त्वाकाराख्या । किञ्च नोपजीव्यजातीयत्वेन प्राबल्यस्वीकारे मानमस्ति; अशौचागमस्योक्तजातीयत्वमनादत्यैव प्राबल्यसंभवात्, आगमत्वजात्यैव हि प्राबल्यस्योक्तत्वादित्यादिदूषणानि सन्ति; तथापि स्फुटत्वात्तान्युपेक्ष्य वाचस्पत्याद्युक्तं समाधानमाह—उपजीव्याविरोधादिति । यत् स्वरूपं व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वं ज्ञानस्य, तादृशाबाध्यत्वं विषयस्य । उपजीव्यते प्रयोजकत्वेनापेक्ष्यते । तात्त्विकत्वाकारः त्रिकालाबाध्यत्वम् । कारणत्वे प्रयोजकत्वे । अप्रवेशात् अवच्छेदकत्वाभावात् । व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूपेण मिथ्यात्वविशिष्टतया यदज्ञातं तद्विषयकत्वपर्यवसितेन प्रमात्वेन निश्चीयमानो यः शब्दनिश्चयः तत्त्वादिरूपेण शाब्दबोधादिहेतुत्वम्; तादृशरूपे च प्रयोजके तात्त्विकत्वं न निविशते । नन्वेवं—प्रातीतिकविषयकज्ञानात्तादृशप्रमात्वेन निश्चीयमानात् कार्योत्पादस्वीकारेण व्यावहारिकशब्दज्ञानत्वादिना हेतुत्वाप्रसक्तावपि प्रातीतिकदण्डादितो घटाद्यनुत्पत्तेः व्यावहारिकदण्डत्वादिना हेतुत्वे वाच्ये महागौरवात् तत्परिहाराय प्रपञ्चस्य व्यावहारिकप्रातीतिकरूपद्विविधत्वस्य त्यागेनैकविधत्वमेव उचितम्—इति चेन्न; दण्डादेर्दण्डत्वादिना

यजमानः प्रस्तर इत्यादौ यजमानपदस्य यजमानकार्यकारित्वरूपार्थं सावकाशत्वाच्चिरवकाशेन प्रत्यक्षेण बाधनमनुत्त्वोक्तश्रुतेस्त-
शोरभेदे तात्पर्याभावेनैव प्रत्यक्षबाध उक्त इति सर्वमनवद्यम् । वस्तुतस्तु—प्रत्यक्षेण घटादीनामिव शब्दानुमानादिना
श्रुत्वपिशाचादीनामपि सत्यत्वसिद्ध्या नेह नानास्तीति श्रुतेः निर्विषयकत्वमेवापाद्यत इति नोक्तन्यायावसरः । एतेन—भूयोनु-
ग्रहण्ययोऽपि—व्याख्यातः । यद्यपि प्राचां मीमांसकैकदेशिनां मते विप्रतिषिद्धेत्यादिना भूयोनुग्रहाय मुख्याल्पबाध इति
पूर्वपक्षस्य (मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवदिति) मुख्यस्यैकत्वेऽपि भूयसाममुख्यानां तेनोपमर्दः, लोके तथा दर्शनात् इति
सिद्धान्तितमिति वार्तिकोक्ते भूयोऽनुग्रहण्यये न मानम्; तथापि मतान्तरदृष्ट्या तद्व्यायशरीरोपपादनसंभवाच्च दोषः । स
चायं निश्चितप्रमाणभावोभयविषयक एव; अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षानुमानादिभिः तद्भेदश्रुतेरपि बाधापत्तेरिति प्रकृते प्रत्यक्षस्य
श्रुतिविरोधेन प्रामाण्यानिश्चयात् प्रत्युताप्रामाण्यनिश्चयान्नोक्तप्रसङ्गः । वेदस्य त्वनाप्ताप्रणीतत्वादिना प्रामाण्यनिश्चय इति
सर्वमवदातम्—इति समर्थयन्ति ॥

तात्त्विकत्वाकारः, स च नोपजीव्यते; कारणत्वे तस्याप्रवेशात् । तदुक्तम्—‘पूर्वसंबन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥’ इति । किंचापेक्षितग्राहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यता, तथा च बाधकत्वम्, तदाऽपेक्षितप्रतियोगिग्राहकत्वेन ‘इदं रजत’मिति भ्रमस्य बाधोपजीव्यत्वात् कथं ‘नेदं रजत’मिति बाधबुद्धिस्तद्विरुद्धोदीयात् ? अथ निषेधार्थसमर्पकतया प्रतियोगिज्ञानत्वेन तस्योपजीव्यत्वेऽपि तत्प्रामाण्यं नोपजीव्यम्, नहि प्रतियोगिप्रमात्वेनाभावज्ञानजनकता; गौरवात्, प्रतियोगिभ्रमादप्यभावज्ञानदर्शनाच्च, किंतु तज्ज्ञानत्वेनैव; लाघवात्, अतस्तद्विरुद्धविषयकं ज्ञानमुदीयादेवेति ब्रूये, तुल्यमिदं प्रकृतेऽपि, पक्षज्ञानत्वादिना कारणता, ननु तत्प्रमात्वादिनापीति । अथ—यत् प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थं च यत् प्रामाण्यमुपजीवति तत्तस्योपजीव्यम्; यथा स्मृतेरनुभवः, नच रजतभ्रमस्तथा—इति चेत्, तर्हि व्याप्तिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वं स्यात्; लिङ्गाभासादपि वह्निमिति वह्निप्रमादर्शनात् । ननु—येन विना यस्योत्थानं नास्ति तत्तस्योपजीव्यमित्येव वक्तव्यम्; तथाच रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव, ननु प्राबल्यम्; नह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्; किंतु परीक्षिततया । परीक्षा च सजातीयविजातीयसंवादविसंवादाभावरूपा । नच तौ रजतभ्रमे स्तः; प्रकृते चाक्षस्य परीक्षितत्वेन प्राबल्यम् । अस्ति हि ‘सन्घट’ इति विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तरं घटार्थक्रियाप्रत्यक्षे हृत्तदूरादिदोषाभावाच्च । एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हेतुत्वे स्वीकृतेऽपि न प्रातीतिकदण्डादितो घटादिकार्यस्योत्पत्त्यापत्तिः; व्यावहारिकत्वविशिष्टतत्त्वाकारणकलापाधिकरणक्षणोत्तरक्षणत्वस्यैव तत्तत्कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वस्वीकारादिति दिक् ॥ तदुक्तमिति । खण्डनकारैरिति शेषः । पूर्वसंबन्धनियमे कार्यप्राक्कालवदितो योऽनन्यथासिद्धकार्यव्यापकतावच्छेदकधर्मरूपो नियमः तद्रूपे हेतुत्वे । आवयोः प्रपञ्चसत्यत्वमिथ्यात्ववादिनोः, तुल्ये स्वीकृते । तादृशहेतुत्वात् बहिर्भूतयोरघटकयोः सत्त्वासत्त्वयोः कथा वृथा, न युक्तैत्यर्थः । तज्ज्ञानत्वेनैवेति । ननु—प्रतियोगिज्ञानस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयविधयैव हेतुता; तादृशनिश्चयस्य चाप्रमात्वेन गृह्यमाणस्याभावबुद्ध्यनुपधायकत्वात् प्रमात्वेन निश्चीयमानस्यैव सा वाच्या, तथाच कथं प्रमात्वावदितरूपेणैव सा ? इति चेन्न; प्रतियोग्यंशे प्रमात्वस्य हेतुताया व्यवच्छेद एव प्रकृतग्रन्थस्य तात्पर्यात् । तथाच प्रतियोगितावच्छेदकांशे प्रमात्वेन निश्चीयमानस्योपजीव्यत्वेऽपि न प्रतियोग्यंशे प्रमात्वस्य उपजीव्यता; प्रतियोग्यंशे भ्रमस्यापि तथात्वसंभवात् । नचैवं—लाघवादित्यसङ्गतम्; प्रमात्वापेक्षया प्रमात्वेन निश्चीयमानत्वस्यैव गुरुत्वात्, इति—वाच्यम्; प्रतियोग्यंशे प्रमात्वेन हेतुतावादिनापि हि प्रतियोगितावच्छेदकांशे प्रमात्वेन निश्चीयमानत्वं कारणतावच्छेदके निवेद्यमेव; अन्यथा तदंशे प्रमात्वसंशये सत्यपि प्रतियोगिज्ञानादभावबुद्ध्युत्पत्तेः । तथाच तन्निवेशेनैवोपपत्तौ प्रतियोग्यंशे प्रमात्वं न निवेद्यते; लाघवादिति भावः । तद्विरुद्धविषयकम् अनुपजीव्यप्रतियोगिवैशिष्ट्यांशे रजतभ्रमस्य विरुद्धविषयकम् । ज्ञानम् अभावज्ञानम् । प्रकृते मिथ्यात्वानुमानादौ । पृथिवी मिथ्या इत्यत्वादित्यनुमाने पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वादिना पृथिव्यादिप्रत्यक्षस्य हेतुता, ननु पृथिव्याद्यंशे प्रमात्वेनेत्यर्थः । एवं घटविभुत्वानुमानेऽपि नोपजीव्यांशे प्रत्यक्षस्य विरुद्धत्वम्; घटस्य परिच्छिन्नत्वांश एव प्रत्यक्षस्य विरुद्धत्वात्, किंतूपजीव्यत्वाश्रयविरोधमात्रम् । तथाचोपजीव्यजातीयविरोधवत्तस्यापि दोषत्वेन ताद्विकानामुक्तिरिति ध्येयम् । अत्र प्रतियोग्यंशे त्रिकालाबाध्यत्वं व्यवहारकालाबाध्यत्वं च यथा नाभावज्ञानस्योपजीव्यं तथा पक्षाद्यंशे त्रिकालाबाध्यत्वं नोक्तानुमानस्योपजीव्यम्; अतस्तस्य तेन बाधेऽपि न क्षतिः, तस्य व्यवहारकालाबाध्यत्वं तु तेन न बाध्यते, नचोपजीव्यते; मिथ्यात्वेनाज्ञातविषयकत्वरूपस्य पृथिवीत्वादिरूपपक्षतावच्छेदकाद्यंशे प्रमात्वस्य निश्चयः परं तादृशानुमानोपजीव्यः, नच तावता क्षतिः । यत्प्रामाण्यं यस्य प्रामाण्यम् । स्वरूपसिद्ध्यर्थं स्वनिश्चयार्थम् । अपवादेति । स्वाभाववत्त्वज्ञानेत्यर्थः । उपजीवति अपेक्षते । यथेति । स्मृतेः स्वजनकानुभवसमानविषयकत्वनिश्चयेन स्मृतौ प्रामाण्यस्य प्रमानुभवजन्यस्मृतिवत्त्वेनानुमानात् प्रमात्वव्याप्यतादृशस्मृतिवत्त्वानिश्चयस्य स्मृतावप्रमात्वान्निरासकत्वाच्चानुभवः स्मृतेरुपजीव्य इत्यर्थः । तथा तादृशोपजीव्यतावान् । सजातीयेत्यादि । सजातीयस्य ज्ञानान्तरस्य । विजातीयस्य प्रवृत्त्यादेश्चाबाधितविषयकत्वेन निश्चितस्य । संवादः समानविषयकत्वम् । तयोः संवादस्य विसंवादस्य विरुद्धार्थग्राहित्वस्य चाभाव इत्यर्थः । अक्षस्य प्रत्यक्षस्य । ज्ञानान्तरं, घटार्थक्रियेतिपाठः; न्यायामृतरूपे दूष्यग्रन्थे तथैव पाठसत्त्वात् । ज्ञानान्तरं, घटार्थक्रियेतिपाठः; घटार्थक्रियेत्यर्थः । तत्र विशेषदर्शनजन्यत्वोक्त्या संवाद उक्तः; स्वसमानविषयकत्वस्यैव स्वविषयव्याप्यवत्त्वविषयकत्वस्यापि संवादत्वात्तद्विषयानुकूलविषयकत्वस्यैव तत्संवादत्वसंभवादिति बोध्यम् । घटार्थक्रिया घटानयनादौ प्रवृत्त्यादिकम् । सजातीयविजातीय-

निषेधार्पकमेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं चादोषत्वात् परीक्षितमिति तदपि न बाध्यम् । एवमेव च दोषाभावादिविज्ञानरूपपरीक्षायामपि अनाश्वासे वेदे पौरुषेयत्वाभावज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिरहित्यज्ञाने ब्रह्ममीमांसायां प्रत्यधिकरणं सिद्धान्त्यभिप्रेतार्थे उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति प्रमाणतदाभासव्यवस्था न स्यात्—इति चेन्न; परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा, तथा च स्वसमानदेशकालीनविषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव । तथाच व्यवहारदशमात्राबाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं परीक्षितप्रमाणे व्यवस्थितमिति कथमत्यन्ताबाध्यत्वाभावग्राहकागमानुमानयोः प्रवृत्तिर्न स्यात् ? तस्माद्विश्वासप्रमाणतदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकं च व्यावहारिकमित्युपपन्नमेव सर्वं जगन्मिथ्येति ॥ ननु—प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्धस्य व्याख्यादेर्बाधेनानुमेयादेरनुमित्यादिप्रामाण्यस्य च बाधः; अनुमेयादेर्व्याख्यादिना अनुमितिप्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्, अन्यथा प्रातिभासिकव्याख्यादिमता बाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको वाग्निर्व्यावहारिकव्याख्यादिमता धूमेन तात्त्विकोऽग्निर्व्यावहारिकेणाबाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिद्ध्येत्—इति चेन्न; एतावता हि व्याख्यादिसमानसत्ताकमनुमेयं सिद्ध्यत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः, स चास्माकमिष्ट एव; नहि ब्रह्मभिन्नं कचिदत्यन्ताबाध्यमस्ति । नचायमनुमेयादेर्व्याख्यादिना समसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति; व्यभिचारिणापि लिङ्गेन साध्यवति पक्षे अनुमितिप्रमादर्शनात्; ध्वनिधर्मह्रस्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विभुभिर्वर्णैः सत्या शाब्दप्रमितिः क्रियत इति मीमांसकैरभ्युपगमात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याख्यादिमतापि पृथिवीत्वेनातात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्, प्रतिबिम्बेन च बिम्बानुमितिदर्शनात् । नच—तत्रापि बिम्बरहितावृत्तिरूपा व्याप्तिस्तात्त्विक्येवेति—वाच्यम्; एवं सत्यवृत्तिगगनादेरपि व्याप्यतापत्तेः । नच—तत्र बिम्बपूर्वकत्वमेवानुमीयते, बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपेणाप्रातिभासिकेन हेतु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योः संवादमुक्त्वा अविसंवादमाह—प्रत्यक्ष इत्यादि । चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षे क्लृप्तस्य दूरादिदोषस्याभावश्चेत्यर्थः । तथाच भ्रमत्वप्रयोजकदोषाभावेन मानान्तरविरुद्धग्राहित्वाभावात्तयोरपि संवाद इति भावः । नन्वागन्तुकदोषाभावेऽप्यविद्याकामकर्मरूपाणां नित्यदोषाणां सत्त्वात् कथं विसंवादाभावोक्तिः ? श्रुत्यादिविसंवादस्यैव च सत्त्वात्, तत्राह—एवमेव च दोषाभावेति । आगन्तुकदोषमात्राभावेत्यर्थः । प्रवृत्तीति । सजातीयसंवादविसंवादस्थलेऽपि प्रवृत्तिरूपसजातीयज्ञानफलसंवादादिसत्त्वात् प्रवृत्तिपदेनैव सजातीयविजातीययोर्ग्रहणमविसंवादप्रयोजकम् । दोषाभावादिकमपि परीक्षायामन्तर्भाव्याह—दोषाभावादिति । स्वसमानेति । स्वसमानकालीनं यत्प्रामाण्यस्य प्रामाण्यघटकं विषयनिष्ठमबाध्यत्वं, तद्व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः । धूमेनेत्यादि । यथोदयनाचार्यादिमते साध्ये हेतुसमानकालीनत्वभानस्यानुमितावौत्सर्गिकत्वस्वीकाराद्धूमेन तत्समानकालीन एव वह्निरनुमीयते, तथा एतज्ज्ञानविषयः अबाधितोऽबाधितविषयकत्वेन गृहीतज्ञानप्रवृत्त्यादिविषयत्वात् तादृशज्ञानाविरुद्धत्वादित्याद्यनुमानेन तादृशविषयत्वादिरूपसंवादादिहेतुसमानकालीनं विषयस्याबाध्यत्वमनुमीयत इत्यर्थः । ननु नवीनतार्किकैः साध्ये हेतुसमानकालीनत्वभानस्यौत्सर्गिकत्वं न स्वीक्रियते, तत्राह—तथाचेति । परीक्षयापि विषयाबाध्यत्वव्यवस्थादरे चेत्यर्थः । मात्राबाध्यत्वं मात्राबाध्यत्वमेव । प्रमाणे प्रमाविषये । व्यवस्थितमिति । तादृशसंवादादिशरीरे कालानवच्छिन्नमबाध्यत्वं न निवेशयितुं शक्यम्; तस्य दुर्ग्रहत्वेनोक्तत्वात् । तत्तद्व्यवहारकालावच्छिन्नस्य तस्य तत्र निवेशे च तस्यैव बाध्यत्वं वाच्यम्, नतु कालानवच्छिन्नस्य; श्रुतिरूप्यादौ व्यभिचारादिति भावः । योगक्षेमः सत्ता । मिथ्याभूतैः व्यवहारकाले बाध्यमानैः । सत्या व्यवहारकालाबाध्यविषयिका । क्रियते प्रयुज्यते । वर्णज्ञानस्यैव करणत्वात् । मीमांसकैः कर्मब्रह्ममीमांसकैः । औपनिषदानां मतेऽपि वर्णानामाकाशादिसमाननित्यत्वस्वीकारात् । अतात्त्विकगन्धेति । विशिष्टघटस्य केवलघटान्यत्वात्तत्र गन्धोऽतात्त्विकः । तस्य तदनतिरेकेऽपि स्वप्रागभावे गन्धस्य कालिकसंबन्धभानात्तथात्वम् । व्याप्यतापत्तेरिति । नच—सेष्टैव पक्षधर्मताधीनिलम्बादेवानुमितिबिलम्बसंभवात् इति—वाच्यम्; गगनादौ जगद्व्याप्यत्वव्यवहारस्यानुभवविरुद्धत्वात् । किंच व्याप्यविशेष्यकपरामर्शस्याप्यनुमितिहेतुत्वात् वह्निव्याप्यगगनं पर्वतीयमिति ज्ञानात् पर्वते वह्नयनुमितिः स्यात्; गगने अवृत्तित्वज्ञानस्य गगनप्रकारकधीप्रतिबन्धकत्वेन तत्काले तदनुत्पादेऽपि तद्विशेष्यकपरामर्शोत्पादे बाधकाभावात् । किंच गगनादेरित्यादिपदेन तत्तज्जलीयरूपादेरपि धूमादिव्याप्यतापत्तिरुक्ता; केनचित् संबन्धेन तस्यापि साध्याभाववद्वृत्तित्वस्याभावात्, हेतुतावच्छेदकसंबन्धेन वृत्तिनिवेशे

नेति—वाच्यम्; प्रयुक्तत्वं हि न तज्जनकजन्यत्वादिरूपम्; व्यतिरेकयोः परस्परं तदभावात्, किंतु व्याप्यव्यापकभावः, तथाच विस्वव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं हेतुः, स चाकाशादौ व्यभिचार्यैव । तस्मात्तत्र प्रतिविम्बेनैव विस्वानुमानम्, अनुमेयस्य लिङ्गव्याख्यादिसमानसत्ताकत्वनियमस्यापास्तत्वात् । एतेन—शब्देऽपि योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यतावाधेऽप्यवाधितः स्यादिति—परास्तम्; वेदान्तवाक्ये अखण्डार्थरूपवाक्यार्थावाधरूपाया योग्यताया अप्यवाधाच्च । नच—तथापि वेदान्ततज्ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम्; शब्दतज्ज्ञान तात्त्विकत्वं हि न विषयतात्त्विकत्वे तन्नम्, इदं रजतमित्यनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य च त्वन्मते तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात् । नच—ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं शुक्तिरूपज्ञाने दृष्टमिति प्रकृतेऽपि ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति—वाच्यम्; प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकम्, भ्रमप्रमावहिर्भूते निर्विकल्पके विषयवाधाभावात्, किंतु तदभाववति तत्प्रकारकत्वादिरूपमप्रामाण्यमेव तथा; तच्च प्रकृते नास्त्येव । नच—अर्थावाधरूपप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादर्थस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति—वाच्यम्; अबाधितार्थविषयत्वं हि यत् प्रामाण्यं तस्य मिथ्यात्वम् प्रकृतेनार्थावाधात्; तद्वाधकप्रमाणासंभवात्, तस्य सर्ववाधावधित्वात्, किंतु तद्विषयत्वरूपसंबन्धवाधात्तथा । तथाचाबाधितार्थविषयत्वरूपप्रामाण्यमिथ्यात्वेऽपि नार्थो मिथ्या । विशिष्टस्यैकांशमिथ्यात्वेऽप्यपरांशसत्यत्वात्, यथा दण्डबाधनिबन्धनदण्डपुरुषबाधेऽपि पुरुषो न बाधित एवेति ॥ इति अद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वमङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्तावान् द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तेरिति दिक् ॥ ननु प्रयुक्तत्वं क्षेमसाधारणी जन्यतैव; अन्यथा विस्वाभावात् प्रतिविस्वाभाव इतिवत् विस्वाभावात् गगनाभाव इत्यपि व्यवहियेतेत्यत आह—तस्मादिति । स्वेतरस्य यस्य यस्य सत्त्वे स्वस्य सत्त्वे अग्रिमक्षणे यत्सत्त्वं, तस्य तस्य सत्त्वेऽपि स्वस्याभावसत्त्वे उत्तरक्षणे अवश्यं तदसत्त्वम् तादृशसत्त्वं क्षेमसाधारणकारणत्वमिति रीत्या प्रतिविस्वाभावनिष्ठस्य क्षेमसाधारणजन्यत्वस्य प्रतिविस्वघटितत्वेनातात्त्विकत्वात् प्रतिविस्वेतरभागावैयर्थ्याच्च प्रतिविस्वमेव विस्वपूर्वकत्वेऽपि तादात्म्येन हेतुरिति भावः । विस्वं, तत्पूर्वकत्वं वा साध्यम् । एतेन कार्यकारणभावापन्नधीविषययोः समानसत्ताकत्वानियमेन । तन्नं समव्यापकम् । प्रयोजकं व्याप्यम् । बहिर्भूतेति । तार्किकादिरीत्योक्तम् । स्वमते त्वबाधितविषयकत्वरूपं प्रमात्वं निर्विकल्पेऽप्यस्त्येव । सर्ववाधावधित्वात् सर्वबाधकधीविषयत्वात् । तस्य बाधे तद्विषयः सर्वबाधकत्वं नोपपद्यत इति भावः । सत्यत्वादिति । त्वन्मतेऽपि सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपासत्त्वविशिष्टस्य शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वेऽपि तादृशसत्त्वस्य सत्त्वादिति भावः । ननु तथापि ज्ञानविषयत्वविशिष्टरूपेण मिथ्यात्वं ब्रह्मणि स्यादित्याशङ्क्य तत् स्वीक्रियत एव, तथापि शुद्धरूपेण सत्यतेति सदृष्टान्तमाह—यथेति ॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रत्यक्षस्य उपजीव्यताप्राबल्यमङ्गः ॥

अथ प्रत्यक्षबाधोद्धारे उपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षप्राबल्यनिराकरणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

उपजीव्यत्वादपि प्रत्यक्षं प्रबलं श्रुतिरिव स्मृतेः । उपजीव्यत्वं चानुमानापेक्षितशेषसमर्पकतया शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्यादिग्राहकश्रोत्रसाक्षिसजातीयतया च । दृष्टं च नरशिरःकपालाशुचित्वागमस्य शुचिलानुमानोपजीव्यागमसजातीयत्वेनोपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम् । अज्ञातस्यैवेन्द्रियस्य करणत्वाच्चानुमानादीनामप्युपजीव्यत्वमित्यागमानुमानापेक्षयाऽध्यक्षस्यैव प्राबल्यम् । अन्यथा तत्सिद्धव्याख्यादेर्योग्यतादेश्च बाधापत्त्याऽनुमेयस्य शब्दार्थस्य च बाधापत्तेः, अनुमेयस्य शब्दार्थस्य च व्याप्तिरयोग्यतादिना समानयोगक्षेमत्वात्, अतएव हि व्यावहारिकेण प्रातिभासिकेन वा धूमेन तात्त्विकस्य व्यावहारिकस्य वा वहेर्नानुमितिः । प्रतिविम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि विम्बरहितावृत्तिलरूपव्याप्तिरस्त्येव । यदि हि मिथ्यात्वानुमानमेव तत्त्वावेदकम्, ननु बह्व्यनुमानादिकमिति स्यात्तर्हि अधिकसत्ताकमिथ्यात्वं मिथ्यात्वादेः सिद्ध्येत् । नैतदस्ति; अस्तु वा हेतुसाध्ययोः कथंचिद्विषमसत्ताकत्वादिकं, तथापि प्रामाण्यसमसत्ताकत्वं विषयस्याङ्गीकरणीयमेव । अर्थावाधे अर्थावाधरूपप्रामाण्यसत्यत्वासंभवात्, रूप्यादिज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे रूप्यमिथ्यात्वस्यापि दर्शनाच्च । यत्प्रामाण्यं स्वरूप-

सिद्ध्यर्थं अपवादनिरासार्थं वा यत्प्रामाण्यमपेक्षते, तस्यैव तदुपजीव्यत्वेन प्रतिषेध्यज्ञानप्रामाण्यानायत्तप्रामाण्यकप्रतिषेध-
कज्ञानस्य न प्रतिषेध्यज्ञानवाध्यत्वापत्तिः । येन विना न यस्यानुत्थानं तत्तस्योपजीव्यं इति प्रतिषेध्यज्ञानस्याप्युपजी-
व्यत्वेऽपि परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वस्यैव प्राबल्यप्रयोजकत्वाच्चोक्तदोषः; प्रमानन्तरभ्रमस्य वेदवाह्यागमादेश्च प्राबल्य-
निराकरणार्थं परीक्षितत्वविशिष्टपरत्वस्यैव भवन्मतेऽपि प्राबल्यप्रयोजकत्वात् । परीक्षा च विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तररूप-
सजातीयसंवादरूपाद्यर्थक्रियारूपविजातीयविसंवादाभावरूपा न प्रतिषेध्यज्ञानस्यास्तीति न दोषः । सन् घट इति प्रत्य-
क्षस्य तूक्तरूपसंवादस्य विजातीयविसंवादाभावस्य च विद्यमानत्वात्स्वोत्तरानुमानादिबाधकत्वेन नोक्तानुमानं प्रयोजकम् ।
प्रतिषेध्यसमर्पकजीवेशभेदादिश्रुतेस्तु अदुष्टत्वात्स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमेवेति न दोषः । दोषाभावादिज्ञानपरीक्षायामस्यानाधा-
से तु सर्वत्रानाध्यासात् कापि व्यवस्था न सिद्ध्येदिति उपजीव्यप्रत्यक्षबाधितत्वाच्च प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

नात्रोपजीव्यविरोधः, उपजीव्यस्य व्यावहारिकस्वरूपस्याबाधात्, बाध्यस्य च तात्त्विकत्वस्यानुपजीव्यत्वात् । वस्तु-
तस्तु—सन् घट इति प्रत्यक्षस्यानुमानाद्युपजीव्यत्वमेव नास्ति; अपेक्षितार्थसमर्पकत्वमात्रेणोपजीव्यत्वे प्रतिषेध्यज्ञानस्य
प्रतिषेधकज्ञानोपजीव्यत्वापत्तेः । यथा हि प्रतिषेध्यज्ञानत्वेनैवोपजीव्यत्वं ननु तत्प्रमात्वादिना, एवं प्रकृतेऽपि पक्षज्ञानत्वा-
दिनैव कारणता, ननु तत्प्रमात्वादिनेति तुल्यं; लिङ्गाभासादपि बहिमिति बहिप्रमादर्शनात् । एतेन—यत्प्रामाण्यं
स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थं वा यत्प्रामाण्यमपेक्षते तत्तस्योपजीव्यमिति वचनमपि—परास्तम्; व्याप्तिज्ञानादेरनु-
मित्यनुपजीव्यत्वापत्तेः । यदधीनोत्थानकं यत् तत् तस्योपजीव्यमित्यङ्गीकारे तु नात्रोपजीव्यविरोध इत्यनुपदमेव निरूपि-
तम् । परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वस्यैव प्राबल्यप्रयोजकत्वेऽपि न विरोधः; उपजीव्यतावच्छेदकव्यावहारिकत्वस्यैव
परीक्षयाऽपि दृढीकरणेनोपजीव्यत्वेनैव परीक्षयाऽपि तात्त्विकत्वसाधनासंभवात् । एतेन—अनुमित्यादेः व्याप्त्यादिसमा-
नसत्ताकत्वनियमोऽपि—परास्तः; लिङ्गाभासात् व्यावहारिकबहुयनुमितिदर्शनात् । ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्ट-
त्वेन मिथ्याभूतैरपि वर्णैस्तात्त्विकवस्तुपरिच्छेददर्शनात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्तिमतापि पृथिवीत्वेना-
तात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात् । प्रतिबिम्बेन बिम्बानुमितिदर्शनाच्च, बिम्बरहितावृत्तित्वस्य गगनसाधारणस्य व्याप्तिता-
भावादिति मन्तव्यम् । वस्तुतस्तु—अनुमेयस्य व्याप्तिमानसत्ताकत्वेऽप्यस्माकमिष्टमेवेति न दोषः । एतेन—
शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वमपि न विषयतात्त्विकत्वे प्रयोजकमिति—सूचितम्; इदं रजतमिति शब्दस्य तज्ज्ञानस्य
च तात्त्विकत्वेऽपि विषयतात्त्विकत्वाभावेन व्यभिचारात् । अबाधितार्थविषयकत्वरूपप्रामाण्यमिथ्यात्वमर्थबाधेन तत्र
विषयत्वबाधेन वा संभवति । तत्रार्थस्य सर्वबाधावधित्वेन बाधकप्रमाणाभावेनाऽबाधितत्वेऽर्थाद्विषयताबाधेन पर्य-
वस्यतीति उपजीव्यप्रत्यक्षबाधासंभव इति प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानं न कथमपि दृष्टम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

अबाधितत्वादेस्तात्त्विकत्वस्य बाधे तात्त्विकाबाधितत्वघटितप्रामाण्यस्यापि बाधापत्त्या तात्त्विकत्वेनैवोपजीव्यत्वस्य
वक्तव्यत्वेनोपजीव्यविरोधस्तदवस्थ एव । परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वस्यैव प्राबल्यप्रयोजकत्वविवक्षणे तु सुतरां बाध-
प्रसङ्गः । मिथ्यात्वानुमित्या स्वदेशकालावच्छेदेनैव स्वस्य निषेधेन परीक्षया स्वसमानदेशकालीनविषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य
व्यवस्थाप्यत इति वर्णनासंभवात्, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधस्यात्मसाधारणस्य मिथ्यात्वानुमित्यविषयत्वात् । अत-
एवानुमेयस्य व्याप्त्यादिसमानयोगक्षेमत्वनियमोऽपि सङ्गच्छते । व्याप्त्यादिशब्देन तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणाऽबाधितत्वस्य
विवक्षणात् हेत्वादिनिष्ठं यादृशमबाधितत्वं तादृशाबाधितत्वमेवानुमेयादेः स्यादित्येवात्र विवक्षितम्; अन्यथा प्रातिभासि-
काबाधितत्ववता व्यावहारिकाबाधितत्ववतोऽनुमितिप्रसङ्गात्, बहिप्रमाजनके लिङ्गाभासे तु व्यावहारिकमेवाबाधितत्वं
विद्यते इति नानुपपत्तिः । यत्र पुनस्तादृशमबाधितत्वं बाधितं तत्र तादृशाबाधितत्वघटितप्रामाण्यादिकं न सिद्ध्यति;
यथा पृथिवीत्वहेतुकगन्धप्रागभावावच्छिन्नपक्षगन्धानुमितेः । दैर्घ्यादिकं तु न तत्त्वपरिच्छेदं प्रति निमित्तं, किंतु तज्ज्ञा-
नमेवेति—प्रातिभासिकाबाधितत्ववता दैर्घ्यादिना जन्ये तत्त्वपरिच्छेदे न व्यभिचारः । एतेन—प्रतिबिम्बेन बिम्बानुमान-
मपि—व्याख्यातम्; तत्रापि बिम्बरहितावृत्तित्वरूपतात्त्विकाबाधितया व्याप्त्यैव बिम्बानुमितिजननेनादोषात्, गगन-
साधारणस्य तदभाववदवृत्तित्वस्य व्याप्तित्वेऽपि पक्षधर्मताभावादेव आकाशेन न बिम्बानुमानमिति न कोऽपि दोषः ।
एवंच शब्दतात्त्विकत्वादिकं यथा विषयतात्त्विकत्वे प्रयोजकं तथा तन्मिथ्यात्वमपि विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकमित्यपि
सिद्धमेव; प्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयमिथ्यात्वस्याप्यावश्यकत्वात् । विषयताबाधेन प्रामाण्यमिथ्यात्वोपपादने मिथ्यात्वानु-
मितेरपि विषयताया एव बाधो नत्वर्थस्येत्वापत्त्या सविषयत्वघटिततत्त्वावेदकत्वमपि न सिद्ध्येदित्युपजीव्यप्रत्यक्षविरोधा-
न्मिथ्यात्वानुमानं न प्रयोजकम्—इति वर्णयन्ति ।

अथ प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वम् ।

किंच विपक्षबाधकसच्चिवमनुमानमपि प्रत्यक्षबाधकम् । ननु—एवमपि ‘औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्’ ‘ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते’ ‘शरमयं वह्निर्भवती’ति श्रुतित्रयग्राहि प्रत्यक्षं यथाक्रमं ‘औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्ये’ति स्मृतिरूपेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेन ‘कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्वसि दाशुष’ इति मन्त्रसामर्थ्यलक्षणेनेन्द्रशेषत्वश्रुत्यनुमानेन चोदनालिङ्गरूपेण कुशश्रुत्यनुमानेन च बाध्यते इति सर्वमीमांसोन्मृदिता स्यादिति—चेन्न; वैषम्यात्, तथाहि—किमिदमापाद्यते, श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षमनुमानैर्बाध्येतेति वा, प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयमिति वा । नाद्यः विरोधाभावेन तद्वाध्यबाधक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

औदुम्बरीं उदुम्बरवृक्षशाखाम् । ऐन्द्रा ‘कदाचन स्तरीरसि नेन्द्रसश्वसि दाशुष’इत्यादिक्रमात् । गार्हपत्यं नक्तमाधानसंस्कृताग्निम् । स्मृतिरूपेणेति । ज्ञायमानहेतोरनुमानत्वमते इदं, हेतुज्ञानस्यानुमानत्वमते तु स्मृतिविषयकधीरूपेणेति तदर्थः । औदुम्बरीसर्ववेष्टनस्मृतिः, तादृशश्रुतिमूलिका, बाधकाभावे सति शिष्टगृहीतस्मृतित्वात्; या बाधकाभावे सति यदर्थकशिष्टगृहीतस्मृतिः, सा तदर्थकश्रुतिमूलिका; यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलकस्मृतिरित्यनुमानरीतिः । इन्द्रेत्यादि । ‘कदाचने’त्यादिमन्त्रगतेन्द्रादिपदानामिन्द्रादिप्रकाशनसामर्थ्यरूपेणेत्यर्थः । शेषत्वश्रुतीति । उक्तसामर्थ्यम्, उक्तमन्त्रे इन्द्रशेषत्वबोधिकया श्रुत्या युक्तम्, उक्तसामर्थ्यत्वात्, यत् यन्निष्ठयदर्थप्रकाशनसामर्थ्यं, तत् तन्निष्ठस्य तदर्थशेषत्वस्य बोधिकया श्रुत्या युक्तम्, प्रत्यक्षश्रुतिविनियुक्तमन्त्रादिसामर्थ्यवदिति बोध्यम् । चोदनालिङ्गेत्यादि । विधिवाक्यसादृश्येत्यर्थः । सोमारौद्रचरुयागः श्रुतिबोधितवह्निर्ऋकः, तादृशपौर्णमासविधिसदृशविधिकत्वात्, यत् श्रुतिबोधितयदङ्गकयदीयविधिसदृशविधिकं, तत् श्रुतिबोधिततदङ्गकम्; यथा ‘यद्वाह्यणानि पञ्च हवींषि तद्वाह्यणानीतराणी’ति प्रत्यक्षवचनादिदिष्टश्रुतिबोधिताङ्गकम् । सादृश्यं तु निर्वपत्यादिपदद्विदेवतत्वादिकम् । अनुमानेन च बाध्यते इति । प्रथमतृतीये चिन्तितम्—ज्योतिष्टोमे सदोनामकमण्डपे औदुम्बरी निखन्य स्थाप्यते । तस्याः ‘सर्वा

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

यद्यप्यतीन्द्रियपक्षसाध्यहेतुकानुमाने न प्रत्यक्षापेक्षायां मानं; पूर्वपूर्वानुमानपरंपरयैव तत्संभवात् । शब्दबोधस्य कचिदपेक्षणेऽपि तस्य शब्दानुमानादिनैव संभवेन प्रत्यक्षानपेक्षणात्, यद्यपि च भ्रमप्रमासाधारणसाक्षिजातीयत्वस्य प्राबल्यप्रयोजकत्वं न संभवति; साक्षिजातीयत्वस्य चक्षुरादिज्ञाननिष्ठप्रत्यक्षत्वजातिरूपत्वस्यास्मन्मते जातिपरिभाषाया एवालीकत्वेनासंभवात्, अनावृतसाक्षितादात्म्यापन्ननिष्ठविषयताकत्वरूपत्वस्य तस्यैकस्य चाक्षुषज्ञानसाक्षिसाधारणस्याभावेनासंभवात्, संभवेऽपि अशौचागमस्यागमत्वजाल्यैव प्राबल्यमित्येवाङ्गीकारेणोपजीव्यजातीयत्वस्यप्राबल्यप्रयोजकत्वे मानाभावात्; तथापि स्फुटतया तदुपेक्ष्य वाचस्पत्युक्तमेव समाधानं सिद्धिकारैरुक्तम् । तत्र शब्दादेस्तज्ज्ञानस्य वा मिथ्यात्वेनानिश्चीयमानत्वेन वा, मिथ्यात्वेनानिश्चीयमानार्थविषयकत्वपर्यवसितप्रमात्वेन वा शब्दादिहेतुत्वस्याङ्गीकारेण प्रातिभासिकात्प्रातिभासिकज्ञानेन वा तादृशप्रातिभासिकविषयोक्तप्रमात्वाश्रयप्रमोत्पत्तिनिर्वाहेन हेतुतावच्छेदककोटौ तात्त्विकत्वनिवेशस्यायुक्तत्वात् सिद्ध्युक्तप्रकारेणोपजीव्यविरोधपरिहार एव सुस्थः संपद्यते; नतूपजीव्यविरोधतादवस्थम् । एतेन—परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वाश्रयत्वेनानुमानादिबाधकत्वमपि—पराहतम्; परीक्षायां प्रामाण्यघटकविषयनिष्ठाबाध्यत्वस्य स्वसमानकालिकस्यैव बोधकत्वस्वाभाव्येन मिथ्यात्वानुमित्या विरोधाभावात्, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधपक्षे कस्यापि प्रसङ्गस्याभावाच्च । एतेन—अनुमेयस्य व्याप्त्यादिसमसत्ताकत्वनियमोऽपि—परास्तः; व्याप्त्यादिज्ञानस्य मिथ्यात्वेनानिश्चीयमानार्थविषयकज्ञानत्वपर्यवसितप्रमात्वेनैव हेतुत्वेन तात्त्विकत्वाघटितत्वात् । प्रातिभासिकदैर्घ्यादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतवर्णविषयकज्ञानजन्यतत्त्वपरिच्छेदे व्यभिचारात्, नहि केवलदैर्घ्यज्ञानं तत्रार्थावबोधकं, किंतु दैर्घ्यादिविशिष्टवर्णज्ञानमिति व्यभिचारपरिहारासंभवात्, प्रतिबिम्बेन बिम्बानुमाने व्यभिचाराच्च । नहि बिम्बरहितावृत्तित्वेनाकाशस्यापि व्याप्यत्वं कस्याप्यभिमतं; बह्व्यादीनामपि गगने व्याप्यत्वव्यवहारापत्त्या बह्विव्याप्यं गगनं पर्वतीयमिति गगनविशेष्यकपरामर्शसंभवात् गगनहेतुनापि बह्व्यादिसाधनापत्त्या च तदभाववदवृत्तित्वस्य व्याप्तिरूपत्वाभावात् । एवंच शब्दादितात्त्विकत्वस्य विषयादितात्त्विकत्वाप्रयोजकत्ववत्तदतात्त्विकत्वस्य तदतात्त्विकत्वप्रयोजकत्वमपि न संभवतीति न ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वापत्तिः; विषयत्वविशिष्टत्वरूपेण ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वस्याङ्गीकारे तु ब्रह्मज्ञानाप्रामाण्ये विषयताबाधनिबन्धनमेव प्रामाण्यमिथ्यात्वमित्यननुगमोऽपि न संभवतीत्युपजीव्यजातीयप्रत्यक्षबाधासंभवात्प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यहैव—इति निरूपयन्ति ॥

इति प्रत्यक्षबाधोद्धारोपजीव्यतया प्रत्यक्षप्राबल्यनिराकरणम् ॥

इति शम् ॥

भावस्य शास्त्रार्थत्वाभावात्, अस्माभिरनभ्युपगमाच्च, अनुक्तोपालम्भमात्रत्वे निरनुयोज्यानुयोगापत्तेः । अतएव न द्वितीयः; प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयस्य लिङ्गबाधकत्वपरेऽपि शास्त्रे प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे विरोधाभावात्, नहि शब्दप्रत्यक्षयोरैक्यमस्ति; शब्दस्य च सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वमवोचाम । तस्मान्मौढ्यमात्रमेतन्मीमांसाविरोधोद्भावनम् । ननु—प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे बह्व्यौष्यप्रत्यक्षं शैत्यानुमानस्यात्मस्थायित्वप्रत्यभिज्ञानं च क्षणिकत्वानुमानस्य बाधकं न स्यात्, प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यात्—इति चेन्न; अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात् । अपरीक्षितप्रत्यक्षं हि परीक्षितानुमानापेक्षया दुर्बलं, 'नीलं नभः'

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

औदुम्बरी वेष्टयितव्ये'ति स्मृत्या सर्ववेष्टनं विहितम् । 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्भाये'दिति श्रुत्या च स्पर्शनं विहितम् । तदेवं प्रत्यक्षश्रुतिस्मृत्योर्विरोधे स्मृतिः प्रमाणमेव; शिष्टगृहीतस्मृतित्वात्, ग्रीहियवादिश्रुत्योरिव तत्कल्प्यश्रुतिप्रत्यक्षश्रुत्योरपि प्रामाण्यसंभवाच्चेति प्राप्ते, न प्रमाणम्; स्पर्शश्रुतिप्राप्तेनावेष्टितत्वेन 'वेष्टनीया न वे'ति जिज्ञासानुत्पत्त्या वेष्टन-स्मृत्या श्रुतेरेवाननुमानात्, अनुमिताया अपि श्रुतेः सापेक्षत्वकल्प्यत्वादिना प्रत्यक्षश्रुत्यपेक्षया दौर्बल्याच्चेति भाष्ये सिद्धान्तितम् । सा प्रमाणमेव; 'वेष्टनीया न वे'ति जिज्ञासाविरहेऽपि 'स्मृतेर्मूलं श्रुतिः लोभादिकं वे'ति जिज्ञासासंभवात्, शिष्टगृहीतस्मृतेर्लोभादिमूलकत्वे मन्वादिस्मृतेरपि तदापत्तेः, श्रुतिमूलकत्वस्य तत्रानुमानसंभवात्, परंतु यावत्तन्मूलश्रुतिर्न यस्य प्रत्यक्षा, तेन तावत्तदर्थं नानुष्ठेयः । अर्थवादादिकमन्यपरवाक्यं दृष्ट्वापि हि स्मृतिः प्रणेतुं शक्यते । सा च प्रत्यक्षश्रुत्यनुमेययोर्विरोधे न प्रमाणम् । वस्तुतस्तु—तन्मूलश्रुतियेन न दृष्टा तेनापि तदर्थोऽनुष्ठेय एव; तस्यामर्थवादादिमूलकत्वशङ्कायां मन्वादिस्मृतावपि तदापत्तेः । तस्मात् शाक्यादीनां वेदोक्ताहिंसादिधर्मवक्तृत्वेन शिष्टत्वात् तदीयस्मृतिर्मानमिति प्राप्ते, वेदप्रामाण्यास्वीकारेण तेषामशिष्टत्वात् न सा प्रमाणमित्येवाधिकरणं रचनीयमिति वार्तिकम् । 'सोमारौद्रं चरं निर्वपेत् कृष्णानां ग्रीहीणाम्' इति विहितेष्टौ 'शरमयं बहि' रिति श्रुताः शराश्चोदकप्राप्तं बहिर्न बाधन्ते; 'शरमयी भूमि'रित्यत्रेव बहुशरसंयोगमात्रस्य बहिषि प्राप्तेरुक्तसंयोगविधानस्यादृष्टार्थत्वापत्तेः । दृष्टं स्तररूपं बहिःकार्यमुद्दिश्य शरा विधीयन्ते, मयद्रुश्रुतिस्तु अतिदेशप्राप्तलवनादिसंस्कारविशिष्टतया शरविकारस्यानुवादः । नच—कुशकार्यस्येव कुशानामप्यतिदेशेनैकेन प्राप्तिः; पदार्थविशिष्टस्यैवोपकारस्यातिदेशात् । तथाच कुशकार्यप्रापकत्वेनातिदेशस्योपजीव्यत्वात्तत्प्राप्तकुशबाधासंभवेन कुशाभावकाले शरस्यानुष्ठानमास्तामिति—वाच्यम्; शरविधिपर्यालोचनेन कुशरूपपदार्थांशे अतिदेशस्य सङ्कोचात्, अन्यथा शरविधिवैयर्थ्यात् । कुशाभावकाले शराणां विधौ तु मानाभावः; 'यदि सोमं न विन्दे'दित्यादिवत् ज्ञापकाभावात्, शरविधेः प्रत्यक्षत्वेनोपजीव्येनापि कुशातिदेशेन तादृशोपमर्दासंभवात् कुशाभावकालविषयकत्वे शरशास्त्रस्य नित्यवत् श्रवणविरोधापत्तेश्च । तस्मात् कुशानां शरैर्बाध इति दशमचतुर्थे स्थितम् । तदेतस्मिन्नधिकरणद्वये प्रत्यक्षविषयश्रुतेरनुमानबाधकत्वमुक्तम्; त्वन्मते सत्त्वप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वानुमानेन बाधे उक्तश्रुतित्रयप्रत्यक्षस्योक्तस्मृतिहेतुकेनानुमानेन बाधः स्यादित्यर्थः । तद्वाध्यबाधकभावस्य उक्तश्रुतिविषयकप्रत्यक्षोक्तस्मृतिहेतुकानुमानयोर्बाध्यबाधकभावस्य । शास्त्रार्थत्वेति । उक्तानुमानस्योक्तश्रुत्यैव बाध्यता शास्त्रार्थः; तयोर्विरुद्धविषयकत्वात्, न तु तत्प्रत्यक्षेण तयोस्तदभावादित्यर्थः । तथाचोक्तप्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धविषयकत्वे बाध्यबाधकत्वं शास्त्रार्थः स्यात्, अतोऽविरुद्धविषयकत्वाच्चोक्तापत्तिर्युक्तेति भावः । ननु तस्याशास्त्रार्थत्वेऽपि त्वया प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यताया उक्तत्वेन तादृशप्रत्यक्षं तव मते तादृशानुमानबाध्यं स्यात्, तत्राह—अस्माभिरिति । विरुद्धविषयकप्रत्यक्षस्यैवास्माभिस्तर्कानुमानबाध्यताया उक्तत्वेन नोक्तापत्तिर्युक्तेति भावः । ननु उक्तश्रुतित्रयस्य प्रत्यक्षविषयत्वेनैव बाधकत्वं शास्त्रार्थः; तच्चोक्तरूपस्य बलवत्प्रत्यक्षघटितत्वादेव, तत्राह—प्रत्यक्षविषयेति । विरोधाभावादिति । तथाच नोक्तरूपेण बलवत्त्वं श्रुतेः वैकृतमत्रलिङ्गादिकल्प्यश्रुतेरप्यतिदेशरूपानुमानापेक्षया बलवत्त्वात्, किं तु निरवकाशत्वकृत्स्नत्वादिना । तथाच सद्रूपस्यैव बाधकत्वे प्रयोजकत्वम्, न प्रत्यक्षविषयश्रुतिवस्येति न प्रत्यक्षस्य बलवत्त्वं तत्रोपयुज्यत इति भावः । ननु प्रमाणमेवानुमानात् बलवत्; प्रमाणं च श्रुतिज्ञानं प्रत्यक्षरूपम्, न श्रुतिः, तत्रापि श्रुतिज्ञानमात्रं नानुमानात् बलवत्; श्रुत्यनुमितेः श्रुत्यनुमित्यपेक्षया बलवत्त्वासंभवात्, किंतु श्रुतिप्रत्यक्षम्, विरुद्धविषयकत्वमपि तस्यास्येव; शब्दधीद्वारा शब्दप्रमाणस्य सविषयकत्वात्; तथा च श्रुतिप्रत्यक्षं श्रुत्यनुमित्यपेक्षया बलवदिति शब्दप्रमाणयोरेव प्रत्यक्षत्वानुमिति-त्वाभ्यां बलाबलमुक्तशास्त्रार्थः, तत्राह—न हि शब्दप्रत्यक्षयोरैक्यमस्तीति । बाधकत्वेन शास्त्रे निर्णीतं यत् शब्दसामान्यं, तस्य प्रत्यक्षैक्यं न ह्यस्तीत्यर्थः । कुतः शब्दस्य तादृशस्य न प्रत्यक्षैक्यम्? तत्राह—शब्दस्येति ।

इति प्रत्यक्षमिव नभोनीरूपत्वानुमानापेक्षया, अतो न सामान्यतो दृष्टमात्रेण सर्वसङ्गरापत्तिः । नन्वेवं—पशुत्वेन शृङ्गानुमानमपि स्यात्; लाघवात् पशुत्वमेव शृङ्गवत्त्वे तन्नम्, नतु तद्विशेषगोत्वादिकम्; अननुगतत्वेन गौरवादित्येतत्तर्कसङ्घीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्रावल्यात्, अनुकूलतर्कसाचिव्यमेव हि अनुमाने बलम् । एवंच येनकेनचित् सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किंचिदनुमेयम् । लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात्, तावतैव प्रत्यक्षवाधकत्वादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्, नह्यत्र प्रत्यक्षवाधादन्यो दोषोऽस्ति—इति चेन्न; अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षवाधस्यासंभवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्कभासत्वस्य त्वयाऽपि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमाधेयत्वात्, न हि तर्काभाससङ्घीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाप्यभ्युपेयते; अत उपपन्नं सत्तर्कसाचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य बाधकमिति ॥ इति प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वसिद्धिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

वैकृतमन्त्रविशेषलिङ्गकल्पश्रुत्यादिरूपशब्दज्ञानस्य प्रत्यक्षान्यस्यापि प्रकृतमन्त्रादिप्रापकातिदेशादिसर्वप्रमाणबाधकत्वं शास्त्रानुसारिन्यायेनावोचाम पूर्वमित्यर्थः । तथाच शब्दप्रमाणस्य निरवकाशत्वकृत्स्नत्वादिना सावकाशत्वकल्पत्वादिमतोऽनुमित्यात्मकश्रुतिज्ञानात् बलवत्त्वस्योक्ताधिकरणार्थत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वानुमितित्वाभ्यां बलाबलं नोक्ताधिकरणार्थ इति भावः । शैत्यम् अनौष्ण्यम् । स्थायित्वं अक्षणिकत्वम् । अर्थक्रिया दाहादिकार्यम् । तन्नं व्याप्यम् । अयोग्यशृङ्गासाधन इति । न च—शृङ्गत्वावच्छेदेन योग्यत्वनिश्चयात् नायोग्यशृङ्गत्वेनानुमितिः संभवतीति—वाच्यम्; अस्मदादिचक्षुराद्ययोग्यस्य देवगवि शृङ्गस्य सत्त्वेनोक्तनिश्चयासंभवात्, अश्वादौ शृङ्गसंदेहकाले अयोग्यशृङ्गानुमितिसंभवात् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वम् ॥

अथ प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वे बाधकनिराकरणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वे 'औदुम्बरीं स्पृष्टोद्गायेत्' 'ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' 'शरमयं बर्हिस्तृणाति' इतिश्रुतित्रयग्राहि-प्रत्यक्षं यथाक्रमं 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टितव्ये'ति स्मृतिरूपेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेनेन्द्र सश्वसि दाशुषे इति मन्त्रसामर्थ्यरूपेणेन्द्र शेषलश्रुत्यनुमानेन, कुशश्रुत्यनुमानेन च बाध्येतेति सर्वैव मीमांसोन्मीलिता स्यात्, अन्वयौष्ण्यप्रत्यक्षस्यात्मस्थायिलप्रत्यक्षमिज्ञानस्य च यथाक्रमं तच्छैल्यानुमानेन च तत्सादित्वानुमानेन च बाधापत्त्या कालाल्ययापदिष्टकथाया एवोच्छेदापत्तिः, शृङ्गित्वे पशुत्वमेव तन्नं लाघवादिति लाघवतर्कसाचिवेन पशुत्वेन शशे शृङ्गानुमानापत्तिश्चेति तर्कसाचिव्यमात्रेणापि न प्रावल्यमिति न प्रत्यक्षं लिङ्गवाध्यम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

विपक्षबाधकसाचिवलादप्यनुमानस्यैव प्रावल्यम् । उक्तश्रुतित्रयप्रत्यक्षस्यानुमानस्य च विरोधाभावेन वाध्यबाधकभावाभावात्प्रत्यक्षविषयीभूतोक्तश्रुतित्रयस्य लिङ्गबाधकत्वपरेण मीमांसाशास्त्रेण प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाधकत्वबोधनासंभवेन मीमांसा-विरोधोद्भावस्य मौढ्यविजृम्भितत्वात्, परीक्षितप्रत्यक्षस्य श्रुत्यनुगृहीतप्रत्यक्षस्य च प्रावल्याद्वह्यौष्ण्यप्रत्यक्षेण तच्छैल्यानुमान-बाधसंभवेन कालाल्ययापदिष्टकथानुच्छेदात्, पशुत्वेन शशे शृङ्गानुमानस्य तर्कसाचिव्येऽपि सत्तर्कसाचिव्याभावात् तत्र शृङ्गा-भावप्रत्यक्षबाधोपपत्तेः अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्य असंभवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्क आभासत्वस्योभयसमाधेयत्वाच्चेति लिङ्गवाध्यमेव प्रत्यक्षमिति सर्वमवदातम्—इति प्रतिपादयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

नानुमानबाध्यं प्रत्यक्षम्; उक्ताधिकरणत्रयविरोधेन सर्वमीमांसोन्मीलनापत्तेः; स्पर्शगार्हपत्यशेषलशरबर्हिष्कत्वप्रतिपादकप्रत्यक्षविषयश्रुतेः स्पर्शादिविरोधिसर्ववेष्टनेन्द्रशेषत्वशरबर्हिष्कत्वार्थविरोधकृतश्रुतिविरोधवदनुमानबाधकत्वे श्रुतिद्वारा-प्रत्यक्षस्याप्यनुमानबाधकत्वस्याङ्गीकरणीयत्वात्, अतएव हि तार्तायीकबाधोऽप्राप्तबाध इति व्यवहियते । नहि श्रुतित्वेन श्रुतेर्बाधकत्वम्; अनुमितश्रुतेरपि बाधकत्वप्रसङ्गात्, किंतु प्रत्यक्षविषयश्रुतित्वेनेति प्रत्यक्षविषयश्रुतिबाधकत्वपरस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षबाधकतापरत्वेऽपि तात्पर्यस्याङ्गीकरणीयत्वात् । अन्यथा शैल्यानुमानस्यापि बाधानापत्त्या कालाल्ययापदिष्टकथोच्छेदापत्तेः । परीक्षितप्रत्यक्षस्यानुमानबाधकत्वे तु प्रकृतप्रत्यक्षस्यापि तथात्वेन न मिथ्यात्वानुमानसिद्धिरिति घट्टकुव्यामेव

अथ प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम् ।

किंच परीक्षितप्रमाणभावशब्दबाध्यमपि प्रत्यक्षम् । ननु—प्रत्यक्षं यदि शब्दबाध्यं स्यात्तदा जैमि-
निना 'तस्माद्भूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चि' रित्याद्यर्थवादस्या'दितिद्यौ' रित्यादिमन्त्रस्य च दृष्टविरो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्मादित्यादि । 'तस्माद्भूम एवे'त्यादेरर्थवादस्य 'गुणवादस्त्विति सूत्रेण 'अदितिरे' त्यादिमन्त्रस्य च 'गुणादवि-
प्रतिषेध' इति सूत्रेण गौणार्थता सिद्धान्तत्वेन नोच्येतेति योजना । दृष्टविरोधेनेति । अर्थवादाधिकरणे—'वायुर्वै
क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेर्धर्मानुत्पादकत्वं च स्वार्थानुवादकत्वं दृश्यते । 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वा' गित्यादेस्तु स्वार्थो
बाधित एव; मनः स्तेनसदृशम्, वागनृतप्रायवादिनीत्यर्थकत्वे त्वनुवादत्वापत्तेर्विधिकल्पकत्वं वाच्यम्, स च विधिर्वा-
जानसयोरनृतादियोगादन्येनापि तत्सेव्यमित्येवंरूपश्चेत्, प्रासार्थत्वादनुवादः स्यात्, 'नानृतं वदे'त्यादिशास्त्रविरुद्धश्च
स्यात् । 'अनृतेनैव स्वकार्यं साधयेत्' 'स्तेयेनैव द्रव्यमार्जयेत्' इति परिसंख्यारूपश्चेत् त्रैदोष्यापत्तिः, 'सत्यमेव वदेत्'
'प्रतिप्रहादिनैव द्रव्यमार्जये'दिति शास्त्रविरोधश्च । अत एवा'नृतं वदेदेवे'ति नियमविधिरूपोऽपि न । नापि विकल्पः;
कल्प्यत्वेनास्य दुर्बलत्वात्, तस्माच्छास्त्रविरोधेन विध्यकल्पकत्वात् स्तेनमित्यादिवाक्यानामप्रामाण्यम् । एवं 'तस्माद्भूम
एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः अर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमस्तस्माद्वाग्निरादित्यं गतो रात्रावादित्यस्त'मित्यादेर्दृष्टविरोधा-
दप्रामाण्यामिति 'शास्त्रदृष्टविरोधादि'ति सूत्रेणाशङ्क्यान्येषामप्यर्थवादानामन्यैः प्रकारैरप्रामाण्यमाशङ्क्य 'गुणवाद-
स्त्विति सूत्रेण बाधितार्थकानामुक्तार्थवादानां गौणार्थकत्वं प्रतिज्ञाय 'रूपात् प्रायादि'त्यादिसूत्रैरुपपाद्य गौणार्थधी-
द्वारा विध्यपेक्षितस्तुतिनिन्दाबोधकत्वमुक्त्वा सर्वार्थवादानां करणेतिकर्तव्यताविशिष्टभावनारागतप्राशस्त्याप्राशस्त्यधी-
परत्वमिति सिद्धान्तितम् । तत्र 'हिरण्यं हस्ते भवत्यथ गृह्णाती'ति विधेः शेषभूते 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्नि'त्यत्र
स्तेनशब्दः प्रच्छन्नकारित्वरूपाद्गूपात् गौणः; अनृतशब्दस्तु अनृतवाक्यबाहुल्यरूपात् प्रायात् गौणः; वाङ्मनस-
योर्निन्दया हिरण्यस्य विधेयस्य स्तुतिधीः । 'तस्माद्भूम एवे'त्यादौ तु 'दूरभूयस्त्वादि'ति सूत्रोक्तदूरभूयस्त्वादृशि-
गौणः । अत्र 'रूपात् प्रायात्' 'दूरभूयस्त्वादि'ति सूत्रस्थपञ्चम्या ल्यबन्तसमानार्थकत्वात् रूपप्रायदूरभूयस्त्वरूपान्
गुणानादाय गुणवादोऽनृतादिशब्द इत्यर्थो बोध्यः । दूरभूयस्त्वं च भूयस्त्वेन दूरस्थैर्दृश्यमानत्वम् । दिवा हि दूरस्थैः
भूयस्त्वेन धूम एव दृश्यते, नाग्निः । तथाच 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः
स्वाहेति प्रातर्जुहोती'ति मिश्रलिङ्गकमन्त्रविध्योः शेषभूतं तस्मादित्यादिकम् । उभयोर्देवतयोर्मेलनादुभयदेवताको होमः
प्रशस्त इत्यर्थः । वस्तुतस्तु—केवललिङ्गकमिश्रलिङ्गकमन्त्रविध्योर्मध्ये पठितमप्युक्तवाक्यद्वयं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः
स्वाहेति सायं जुहोति' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातर्जुहोती'ति केवललिङ्गकमन्त्रविधेः शेषः; 'उभाभ्यां सायं
हूयते उभाभ्यां प्रातर्न देवताभ्यः समं दधाती'त्यस्यार्थवादस्य मिश्रलिङ्गकमन्त्रविधिशेषस्य सत्त्वात् । तथाच यस्माद्दि-
वाग्निरादित्यगतस्तस्माद्वाग्निरादित्यस्यैव ज्योतिष्ठात्तन्मात्रलिङ्गकमन्त्रः प्रशस्त इत्यर्थः । एवमर्चिरेवेत्यादावपि बोध्यम् ।
मन्त्रस्येति । प्रथमद्वितीये चिन्तितम्—'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्ष'मित्यादिमन्त्रा अप्रमाणम्; अर्थबाधादिना
दृष्टविरोधादिसंभवात् । नच—अर्थवादस्यैव बाधितार्थकत्वेऽपि गौणार्थधीद्वारा प्राशस्त्याप्राशस्त्यधीपरत्वं तेषामास्ता-

प्रमातम् । शृङ्गस्य योग्यत्वनियमेन शृङ्गानुमानस्य योग्यशृङ्गविषयकत्वेन तत्र प्रत्यक्षबाधेनैवोपपत्तेर्वर्णनीयतया प्रत्यक्षावा-
धकत्वे शशे शृङ्गानुमानस्यापि साधुत्वापत्तिश्चेति प्रत्यक्षबाध्यमेवानुमानं नत्वनुमानबाध्यं प्रत्यक्षम्—इति वर्णयन्ति—

(४) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

सत्यं श्रुतिद्वाराऽनुमानविरुद्धविषयकस्य प्रत्यक्षस्याप्यनुमानबाधकत्वमुक्तशास्त्रेण बोध्यते । विरुद्धविषयकत्वस्य बाध्य-
बाधकभावप्रयोजकस्य तत्रापि कथंचिद्विद्यमानत्वात्; तथापि प्रकृते न प्रत्यक्षबाधकत्वप्रसङ्गः, सन् घट इति प्रत्यक्षस्या-
नुमानविरुद्धविषयकत्वाभावात् । वस्तुतस्तु—मन्त्रलिङ्गकल्पश्रुतेरपि अतिदेशरूपानुमानापेक्षया बलवत्त्वेन प्रत्यक्ष-
विषयत्वेनैव श्रुतेरनुमानबाधकत्वमपि न युक्तम्, किंतु कृत्स्ननिरवकाशत्वादिनैवेति न प्रत्यक्षबलवत्त्वं तत्रोपयुज्यत इति
मीमांसाविरोधोद्भावनस्य मौढ्याविजृम्भितत्वमेव सुस्थम् । यथाच सत्त्वप्रत्यक्षस्य परीक्षितस्यापि नोक्तानुमानबाधकत्वं तथा
पूर्वमेव निरूपितम् । शृङ्गत्वेन योग्यत्वनिश्चयस्तु न संभवति; देवगवि अस्मदादिचक्षुराद्ययोग्यस्यापि शृङ्गस्य सत्त्वात्,
अश्वादौ शृङ्गसन्देहकालेऽयोग्यानुमित्यापत्तिश्चेति शशे शृङ्गसाधने प्रत्यक्षबाधासंभवेन व्याप्तिप्राहकतर्केषु आभासत्वसमर्थनस्यै-
वावश्यकत्वात् प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वे न काप्यनुपपत्तिरिति सर्वमनवयमिति शिवम्—इति व्यवस्थापयन्ति ॥

इति प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिति—वाच्यम्; मन्त्रा हि न विधिसन्निहिता एव, किं तु ब्राह्मणभागस्थविधिशेषभूताः संहिताभागस्था अपि । तथाच दूरस्थानां तेषां न पदैकवाक्यतया प्राशस्त्यादिवोधकत्वमिति प्राप्ते, ब्राह्मणवाक्यस्येव मन्त्रस्य विशिष्टवाक्यार्थधीजनकत्वस्याविशेषात्तादृशधियश्चानुष्ठेयसंबन्धिप्रकाशनरूपत्वेन तादृशदृष्टोपकारद्वारा अनुष्ठेयप्रधानाङ्गत्वसंभवात्तादृशदृष्टोपकारासंभवे अदृष्टद्वारापि तदङ्गत्वसंभवात्तस्य प्रामाण्यमेव । यद्यपि हि मन्त्रवाक्यार्थस्य मानान्तरेणापि सिद्ध्या नागृहीतप्राहित्वरूपं प्रामाण्यं सर्वमन्त्रेषु संभवति; तथाप्यभिहितान्वयवादे विभक्त्यन्तपदार्थशाब्दबोधस्यैव पदज्ञानकरणकत्वेन क्रियाकारकान्वयशाब्दबोधस्योक्तशाब्दधीकरणकत्वेन मन्त्ररूपार्थज्ञानस्य करणत्वान्मन्त्रस्यापि प्रमाणत्वम्; ‘अनेन मन्त्रेण इममर्थं प्रकाशयेदि’ति क्रियाकारकान्वयबोधे मन्त्रेणेति विभक्त्यन्तपदार्थरूपमन्त्रकरणत्वशाब्दबोधस्य करणत्वात् । ‘अदिति’रित्यादिवाधितार्थकादिमन्त्राणां तु गौणार्थकत्वादिकल्पनया दृष्टविरोधादिकं परिहर्तव्यमिति । तत्सिद्धीत्यादि । तत्सिद्धिः तदुद्देश्यभूता सिद्धिः यजमानाद्युद्देश्या कार्यसिद्धिरिति यावत् । जातिः जननम्, सारूप्यं चक्षुर्ग्राह्यतेजस्वित्वादिरूपं सादृश्यम्, प्रशंसा प्राशस्त्यम्, भूमा बाहुल्यम्, लिङ्गसमवायः अल्पत्वसंबन्धः, गुणाश्रया इति सूत्रशेषः; गुणघटका इति तदर्थः । तथा च ‘यजमानः प्रस्तर’ इत्यादौ यजमानादिपदं यजमानापेक्षणीयसिद्धिहेतुत्वादिरूपगुणयोगात् प्रस्तरादिवोधनद्वारा ‘उत्तरं बर्हिषः प्रस्तरं सादयती’त्यादिविधेयवाक्यतया प्रस्तरादिस्तुतिपरम्—यस्मात् प्रस्तर उक्तहेतुः, तस्मात् प्रशस्त इति, न तु यजमानादिपदं प्रस्तरादिनाम; सोमादिपदवत् अर्थान्तरे अत्यन्तप्रसिद्धत्वात् । नापि प्रस्तरकार्यं सुगन्धारणादौ यजमानविधिः; उक्तविधेयवाक्यताभङ्गापत्तेः । ‘अग्निं ब्राह्मण इत्यादावग्निजननस्थानजातत्वगुणात् ब्राह्मणादिधीद्वारा ब्राह्मणादिस्तुतिपरमभ्यादिपदम्; सृष्टिकाले ब्रह्मणो मुखात् अग्निब्राह्मणयोजननस्य श्रुत्युक्तत्वात् । एवमादित्यो यूप इत्यादौ सारूप्यं गुणः । यद्यपि तत्सिद्धिहेतुत्वादिकमपि सारूप्यं; तथापि सारूप्यपदेन चक्षुर्ग्राह्यं तेजस्वित्वासादृश्यं विवक्षितमिति साम्प्रदायिकाः । तत्रेदं चिन्त्यम्—तत्सिद्धिसूत्रे तत्सिद्ध्यादीनां षण्णामन्यतममेव गौणशब्देन बोध्यत इति नियमो विवक्षितः; अन्यथा षण्णां कथनवैयर्थ्यात् । तथा चार्थवादाधिकरणे ‘रूपादि’त्यनेन ‘स्तेन मन’ इत्यादौ प्रच्छन्नकारित्वरूपसारूप्यरूपगुणनिर्देश एव वाच्यः; अन्यथा तस्य तत्सिद्ध्यादिरूपत्वासंभवेन षडाधिक्यापत्तेः । तथा च तस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेन सारूप्यत्वानुपपत्तिः । तस्मात् सारूप्यं सादृश्यम्; तच्च मीमांसकमते अतिरिक्तपदार्थः, न तु तत्सिद्धिहेतुत्वादिरूप इति ततो भेदः । सादृश्यस्य तत्तदसाधारणरूपत्वेऽप्यादित्यादिभेदविशिष्टस्य तेजस्वित्वादेरेव सादृश्यसारूप्यादिपदार्थत्वात् न तस्योक्तहेतुत्वादिरूपतत्सिद्ध्यादिरूपता, तत्सिद्ध्यादेर्यजमानादिभेदाविशेषितत्वादिति ध्येयम् ॥ ‘अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वा’ इत्यादावजादीनां तत्र विहितत्वेन न प्रतिषेधः, पर्युदासो वा; नापि ‘अयज्ञीया वै माषाः, इत्यादाविव प्रतिनिधितया प्राप्तस्य निषेधः; ‘पुरस्तात् प्रतीचीनमश्वस्योपदधाति पश्चात् प्राचीनमृषभस्ये’ति सन्निहितविधेयवाक्यताभङ्गापत्तेः, किं तु उक्तविध्यपेक्षितगवाश्वादिस्तुतिपरत्वम्; पशुपदस्य प्रशस्तपशुपरत्वात् । ‘सृष्टीरुपदधाती’त्यत्र इष्टकोद्देशेनोपधानं विधीयते इति भाष्यम् । वार्तिकं तु उपधानमात्रस्य विधेयत्वे ‘चित्रिणीरुपदधाति वज्रिणीरुपदधाती’त्यनेकवाक्यानां वैयर्थ्यापत्तिः; एकेनैव तद्विधिसंभवात् । अत इष्टकोद्देशेन मन्त्रविशिष्टोपधानभावना विधीयते । सृष्टिपदं हि सृष्ट्यर्थकपदघटितमन्त्रकरणकोपधानकर्मैष्टकाबोधकम्; ‘तद्ब्रह्मासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक्च मतौ’रिति । सूत्रविहितमतुबन्तत्वात् । यासामिष्टकानामुपधानकरणीभूतो मन्त्रः सृष्ट्यादिपदार्थसंबन्धी, तादृशेष्टकासु मतुबन्तम्, तत्र मतुपो लोपश्चेति सूत्रार्थः । उक्तपदार्थस्य संबन्धस्तु तदर्थकपदवत्त्वम् । ननु—एकपदार्थयोरुद्देश्यविधेयभावेन क्रियायामन्वयधीः ‘वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष’ इत्यादाविव व्युत्पत्तिविरुद्धा—इति चेन्न; उक्तसूत्रेणैष्टकारूपकर्मकारकस्य मन्त्रकरणकोपधानरूपकरणान्वितस्य तद्वितवाच्यत्वोक्तिसामर्थ्यादेव तादृशान्वयधियोऽपि प्रकृते व्युत्पत्तिसिद्धत्वकल्पनात् । न हि क्रियासंबन्धमप्राप्तयोः कारकयोरन्वयः शब्देन बोध्यते; ‘क्रियागर्भत्वात् संबन्धस्ये’ति वार्तिकायुक्तेः । अत एव ‘आग्नेयोऽष्टाकपाल’ इत्यादौ तद्वितेनैकेनोक्तयोरप्यग्न्यादिदेवताष्टाकपालादिद्रव्यरूपकारकयोः प्रथमतः क्रियायामन्वितयोरेव मिथोऽन्वयः तस्मादेकतद्वितोपस्थितयोरप्युपधानेष्टकयोः कर्मत्वकरणत्वरूपाभ्यामाख्यातार्थभावनान्वयो युक्त एव, धातुस्तु तद्वितोक्तोपधानस्यानुवादः । यदि तु तद्वन्मन्त्रकरणकेष्टकैव तद्वितवाच्या; करणत्वस्योपधानद्वारकत्वमुपदधातिसमभिव्याहारलभ्यमिति ज्ञापनाय उपधान इति सौत्रं पदमित्यालोच्यते, तदा तूक्तानुपपत्तिर्नास्त्येव । मन्त्ररूपकरणविशिष्टोपधानस्य तद्वितार्थत्वाभावेन तद्वितार्थेष्टकोद्देशेन विधेयत्वसंभवात् । अत्र यद्यपि ‘इष्टकाभिरग्निं चिनुत’ इति वाक्यबोधितेष्टकानिष्टचयनाङ्गत्वान्यथानुपपत्त्येवोपधानं प्राप्तुं शक्यम्; तथापीष्टकोद्देशेन तद्विधेः फलमुपधानस्य चयनसमानकर्तृकत्वसिद्धिः प्रतीष्टकमेकैकोपधानसिद्धिश्च; इष्टकासंस्कारद्वारा उपधानस्य चयनाङ्गत्वसिद्ध्याङ्गप्रधानयोरैककर्तृकत्वस्य प्रयोगविधिलभ्यत्वात्, प्रतिप्रधानं गुणवृत्ति-

धेनाप्रमाण्ये प्राप्ते गुणवादस्तु 'गुणादविप्रतिषेधः स्यादित्यादिना गौणार्थता नोच्येत, 'तत्सिद्धि-
जातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया' इति तत्सिद्धिपेटिकायां 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादेर्गौणार्थता
च नोच्येत, त्वयापि प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वपदयोर्लक्षणा नोच्येत, श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्य-
संभवात्, नच—तात्पर्यलिङ्गानामुपक्रमदीनामत्र सत्त्वाच्चाद्वैतश्रुतीनाममुख्यार्थत्वमिति—वाच्यम् ;
'यजमानः प्रस्तर' इत्यादावपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गस्य तात्पर्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात् । एकैकलिङ्गस्य
तात्पर्यनिर्णायकत्वे लिङ्गान्तरमनुवादकमेव, त्वन्मते प्रत्यक्षसिद्धे भेदे श्रुतिरिव, किं बाहुल्येन
इति—चेन्न; वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहार-
दशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिणो 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' 'अदितिद्यौ' 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादे-
स्तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽप्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षा-
देर्हि परीक्षया व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रं सिद्धम् ; तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते, बाध्यते तु तत्त्विकं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्यायाच्च । यद्यपि चेष्टकाप्रकाशकत्वेन मन्त्राणामुपधेयेष्टकाङ्गत्वं प्राप्तुं शक्यम् ; तथापि तद्विधेः फलमुपधाने तेषां
नियमः, उपधानेतरग्रहणादिपरिसंख्या वा मध्यमचितिसंबन्धश्च ; 'यां वै कांचन ब्राह्मणवतीमिष्टकामभिजानीयात्तां
मध्यमचितावुपदध्यादिति' श्रुत्या प्रत्यक्षश्रुतिविहितमन्त्रकाणामिष्टकानां मध्यमचितिसंबन्धविधानात् । ब्राह्मणशब्दो
हि विधायकवेदवाची अभिजानातिश्च प्रत्यक्षवाची । तथा च ब्राह्मणविशिष्टाया यस्या इष्टकायाः प्रत्यक्षविषयत्वं
तस्या उक्तसंबन्धो विहितः । इष्टकानां सर्वासां प्रत्यक्षविषयत्वेन तासु तदुक्तिर्व्यर्थेति तद्विशेषणस्य विधायकवेदस्यैव
तत् विवक्षितम् । ब्राह्मणशब्दार्थोऽपि प्रकृते ब्राह्मणावयवरूपं तद्वितपदमेव ; मनुप्रत्ययेन वाच्यत्वरूपस्य संबन्धस्य
बोधनात्, उक्ततद्वितस्यैवेष्टकावाचित्वात्, ब्राह्मणवाक्यवाच्यत्वस्याप्रसिद्धेश्च, प्रतिपाद्यत्वस्यैव मनुबर्थत्वे तस्य सांश-
भावनायामेव सत्त्वेनेष्टकायामसत्त्वात् । प्रतिपाद्यघटकत्वरूपाप्रसिद्धसंबन्धस्य बोधने तु प्रधानस्य प्रत्ययस्य प्रसिद्धार्थ-
त्यागेन पीडा स्यात्, तद्विरमप्रधानस्य ब्राह्मणपदस्यैव विधायकीभूतनामाख्यातसमुदायरूपवाक्यावयवे पदे लक्षणा
स्वीकृता । एवं च इतिकरणविनियुक्तलोकपट्टणमन्त्रकेष्टकाया मध्यमचितिसंबन्धव्यावृत्तिः । न च—'इष्टकाभिरग्निं चिनुत'
इत्यत्र विधायके विद्यमानेनेष्टकापदेन वाच्यानां सर्वेष्टकानां तत्संबन्धापत्तिस्तदवस्थेति—वाच्यम् ; इष्टकोद्देशेन
विधायकं यद्वेदवाक्यं, तदवयवस्यैव प्रकृते ब्राह्मणशब्दार्थत्वात्, अन्यथा 'यां वै कांचने'त्यादिवाक्यवैयर्थ्यात् । अत्र
सृष्टिप्रकाशकपदयुक्तोपधानमन्त्रा यद्यपि चतुर्दशैव ; तेष्वेव ब्रह्मासृज्यतेत्यादिरूपेण सृजधानुयोगात्, त एव च सृष्टिपद-
मुख्यार्थः, तथापि सृष्ट्यप्रकाशकाः ये त्रयो मन्त्राः तदपेक्षया बहुत्वयुक्तसृष्टिप्रकाशकमन्त्रघटितैकसमूहान्तर्गताः सप्त-
दश मन्त्राः बहुत्वरूपभूमघटितगुणयोगात् सृष्टिपदार्थः ; 'यत् सप्तदशेष्टका उपदधाती'त्यर्थवादात् ॥ 'प्राणभृत उपद-
धाती'त्यादौ तु प्राणभृत्पदाघटितमन्त्रापेक्षया बहुत्वशून्या ये तत्पदघटितमन्त्रास्तत्पदाघटितमन्त्राश्च तद्वितैकसमूहान्तर्ग-
तत्वरूपेण बहुत्वाभावरूपलिङ्गसमवायघटितगुणेन ते मन्त्राः प्राणभृत्पदार्थः । यन्तु—अल्पत्वघटित एव गुणो लिङ्ग-
समवाय—इति । तन्न ; छत्रिद्वयाछत्रिद्वयघटितसमूहस्थलेऽपि छत्रिणो यान्तीत्यादिप्रयोगे गौणच्छत्रिपदासंग्रहात्,
तादृशे वैदिके पदे लक्षणास्वीकारे प्राणभृदादिपदेऽपि तदापत्तेः । तस्मात् सृष्ट्यादिपदं विधायकम्, नोपधाननामधेयम् ।
न चानुवादः । भाष्यकारमते तु अनुवाद एव, न नामधेयम्, न वा विधिरिति नामधेयपादोक्ततत्सिद्धिसूत्रविवेचनम् ।
तत्सिद्धिपेटिकेति । तत्सिद्धिपदघटितं सूत्रं पेटिकेव ; सर्वगौणार्थानामभिमतानां प्राप्तिस्थानत्वादित्यर्थः । गौणार्थ-
तेति । शक्त्या सिंहपदेन जातिविशेषोपस्थितिर्जन्यते, तथा सिंहव्यक्त्युपस्थितिः, सा लक्षणा ; शक्योपस्थितिर्जन्यायाः
शक्यसंबन्धार्थोपस्थितेरेव लक्षणात्वात्, तथा जनिता शौर्याद्युपस्थितिर्गौणीवृत्तिः ; तद्विषयो गौणार्थ उच्यते । तदुक्तं
भट्टपादैः—'अभिधेयविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्भूतेरिष्टा तु गौणता ॥' इति । अभिधेयस्य
वाच्यस्य यत् संबन्धि तद्वीलक्षणा । लक्षणाविषयीभूतव्यक्तेर्गुणैर्योगात् विषयत्वरूपात् वृत्तेर्गुणोपस्थितेर्गौणता,
गौणीत्वमित्यर्थः । शौर्यादिगुणानां सिंहो बाल इत्यादिवाक्ये बालादिनामार्थे तादात्म्येनान्वयः । न च—सिंहादिना
स्ववृत्तिशौर्यादेरेवोपस्थितिः ; तेनैव सह पूर्व संबन्धस्य गृहीतत्वात्, तस्य च बाले बाधान्वान्वयसंभव इति—वाच्यम्,
स्ववृत्तितावच्छेदकजातिविशेषवरवसंबन्धेन विजातीयशौर्यादेर्बालादिवृत्तेरेव सिंहादिवाक्योपस्थितिसंभवात् । भट्टमते
समवायविशेषणयोरस्वीकारेण तयोः स्थाने तादात्म्यस्यैव स्वीकारेण गुणकर्मसामान्यादिरूपस्य सर्वस्यापि गुणस्य तादा-
त्म्येनैव नामाद्यर्थेऽन्वयः । अभावादिगुणस्य स्वाधिकरणस्वरूपस्य तादात्म्येनैव स्वाधिकरणेऽन्वयः । द्रव्यादिरूपस्य
गुणस्य संयोगादिनेति दिक् ॥ अत्र प्रत्यक्षबाधकाद्वैतश्रुतौ । नाद्वैतेति । 'यजमान' इत्यादिश्रुतौ तु नोपक्रमादिकम्,
अतस्तत्र गौणार्थतेति भावः । अपूर्वत्वेति । प्रस्तरयजमानाभेदादेर्मानान्तराज्ञातत्वरूपमपूर्वत्वम् । वाक्यशेषेति ।

प्रामाण्यम्, तत्तु परीक्षया न सिद्धमेव, अतो न विरोधः । 'धूम एवाग्ने'रित्यादेस्तु मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं व्याहन्येत । अतो विरोधात्तत्रामुख्यार्थत्वमिति विवेकः । यत्तु—प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वपदयोर्लक्षणा नाश्रीयतेति—तत्र; षड्विधलिङ्गैर्गतिसामान्येन चाखण्ड एवावधार्यमाणस्य तात्पर्यस्यानुपपत्तेः जीवेशगतसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादीनामैक्यान्वयेऽनुपपत्तेश्च तात्पर्यविषयीभूताखण्डप्रतीतिनिर्वाहाय लक्षणाङ्गीकरणस्यैवोचितत्वात्, तात्पर्यविषयीभूतान्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात् । नच—एवं सति अमुख्यार्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्; तद्धि प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरपरत्वं वा, अशक्यार्थत्वं वा । नाद्यः; सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानस्यैक्यस्यात्यागात् । नान्त्यः; जहदजहल्लक्षणाश्रयणेन शक्यैकदेशपरित्यागेऽपि 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशस्यान्वयाभ्युपगमात्, विशेषणवाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात् । तथा चोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यं त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेव । उक्तं हि शावरभाष्ये—'न विधौ परः शब्दार्थ इती'ति ॥ यथाचापूर्वत्वाद्येकैकतात्पर्यलिङ्गेन 'यजमानः प्रस्तर' इत्याद्यर्थवाद्वाक्यानां न स्वार्थपरत्वं तथा वक्ष्यामः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विधिवाक्यरूपवाक्यशेषेणार्थवादानां स्वापेक्षितस्तुतिनिन्दापरत्वनिश्चयादन्यपरेभ्योऽर्थवादेभ्यो न प्रत्यक्षविरुद्धार्थसिद्धिरिति प्रत्यक्षं व्यवहारकाले बाधितं नेत्यर्थः । गतिसामान्येन सर्ववेदान्तजन्यावगतीनां जीवब्रह्मैक्यविषयकत्वेन समानतया । किञ्चिज्ज्ञत्वेति । स्वीक्यावस्थात्रयमात्रभासकत्वेत्यर्थः । ऐक्यान्वये इति । ऐक्यबोधे इत्यर्थः । पदार्थतावच्छेदकविशिष्टयोरेव मिथोऽन्वयधीमुख्यया वृत्त्या सर्वत्रौत्सर्गिकी; यथा 'घटो मेयवा' इत्यादौ घटत्वघटयोर्मैयतद्वतोरभेदान्वयधीः । अतएव 'सर्वादीनि सर्वनामानी'ति सूत्रे—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यादौ लौहित्यस्य विशेषणत्वेन प्रचरणकाले उष्णीषे तत्सत्त्वमपेक्षितमिति 'सर्वपदस्यापि विशेषणत्वात् सर्वनामसंज्ञेति' महाभाष्यकाराः । यत्र तु पदार्थतावच्छेदकेनोपहित उपलक्षितो वा पदार्थः शाब्दबोधे विषयः, तत्र लक्षणैव; विशिष्टे शक्तिज्ञानेन शाब्दबोधे जननीये विशेषणस्य पदार्थान्तरयोग्यताज्ञानस्य सहकारित्वकल्पनेन शक्तिज्ञानजन्यबोधस्य पदार्थान्तरे पदार्थतावच्छेदकान्वयविषयकत्वनियमात् । तथा च लक्षणां विना 'तत्त्वमसी'त्यत्र जायमानो बोधः पदार्थतावच्छेदकस्य पदार्थान्तरे तत्त्वावच्छेदके चान्वयं विषयीकुर्यात्; अविषयीकुर्वन्वा विशिष्टे शक्तिज्ञानेन न जन्यते, किं तु विशेष्यमात्रे शक्तिज्ञानेनेति भावः । अन्वयेति । बोधेत्यर्थः । सामानाधिकरण्येन अकार्यकारणद्वयमात्रतात्पर्यकसमानविभक्तिकनानानामत्वेन । ऐक्यस्य शुद्धव्यक्तिमात्ररूपस्य । प्रतीयमानस्य प्रतीयमानत्वेन विवरणादौ निर्णीतस्य । विशेष्यमात्रान्वयस्य विशेष्यमात्रशाब्दधीप्रयोजकविशेष्यमात्रोपस्थितेः । व्यपदेशादिति । विशिष्टशक्तिज्ञानाकार्यशाब्दधीजनकोपस्थितित्वरूपलक्षणासाधर्म्याच्छक्योपस्थितेरपि लक्षणात्वोपचारः । न च—शक्यैकदेशानुभवस्य शक्तिज्ञानजन्यत्वे पशुरपशुगौर्निष्येत्यादौ प्रयोगे पशुत्वगोत्वादौ शक्त्यैवोपस्थापिते पशुभिन्नादेरभेदान्वयसंभवेनोक्तप्रयोगो योग्यः स्यादिति—वाच्यम्; शक्यविशेषणीभूतस्य शक्यस्य शाब्दबोधे तच्छक्तिज्ञानस्य हेतुत्वानभ्युपगमात्, शक्याविशेषणशक्यबोधस्यैव तच्छक्तिधीकार्यत्वात् । अत एवानुकूल्यत्वशक्तादाख्यातपदादनुकूलमात्ररूपेण 'रथो गच्छती'त्यादौ व्यापारस्य बोधः शक्त्यैवेति कुसुमाञ्जलावुक्तम्; अनुकूलत्वयत्नत्वाभ्यां विशिष्टे शक्तेः स्वीकारादनुकूलं न शक्ये विशेषणम् । बलवदनिष्टाजनकत्वसमानाधिकरणेष्टसाधनत्वशक्तस्यापि विधिप्रत्ययस्य 'इयेनेनाभिचरन्त्यजेते'त्यादौ केवलेष्टसाधनत्वबोधकत्वं लक्षणां विनैवेति मणिकारादिभिरप्युक्तम् । अनन्यशेषत्वात् तात्पर्यविषयवाक्यार्थप्रतिपादकत्वात् । विधौ विधायके अज्ञातज्ञापके वाक्ये । परः प्रतीयमानादन्यः शब्दार्थः तात्पर्यविषयः । न वक्ष्याम इति । 'उपक्रमोपसंहारयोरेकार्थनिष्ठत्वम्, अभ्यासार्थवादौ चे'ति त्रयं शब्दगतम्, अज्ञातत्वरूपमपूर्वत्वं फलवत्त्वमबाधितत्वरूपोपपत्तिश्चेति त्रयमर्थनिष्ठम्, षडेतानि लिङ्गानि तात्पर्यग्राहकाणि; तेष्वन्यत्रयं प्रामाण्यशरीरनिर्वाहकत्वात् आवश्यकम्, निष्फलार्थं प्रत्यक्षादेः प्रामाण्यसंभवेऽपि न श्रुतेस्तत्संभवः; फलवदर्थज्ञानादिकमुद्दिश्याध्ययनसंस्कृतश्रुतीनां विनियोगेन निष्फलार्थं तात्पर्याभावनिश्चयात् । यद्यपि तात्पर्याविषयेऽपि प्राशस्त्याप्राशस्त्यधीद्वारीभूते वाक्यार्थं वाचस्पतिमते अर्थवादादेः प्रामाण्यमिष्यत एव; तथापि यादृशप्रमामुद्दिश्योक्तविनियोगः तादृशप्रमायाः फलवदर्थविषयकत्वनियमात् अर्थवादादेश्च प्राशस्त्यादिरूपार्थप्रमामुद्दिश्यैव विनियोगात् तादृशप्रमाकरणत्वं फलवत्त्वघटितमेवेति बोध्यम् । आद्यत्रये त्वर्थवादस्य विधेयप्राशस्त्यनिषेध्याप्राशस्त्यधीद्वारा विधিনিषेधवाक्ययोः प्रमाजनकतायामावश्यकत्वम्; अन्यथा तद्विषयीभूतयोः प्रवर्तनातद्भावरूपनिवर्तनयोः तादृशधीरूपेतिकर्तव्यतानन्वये नोक्तप्रमाया अपर्यवसानात् । द्वितीयस्तु विरुद्धाद्वये तात्पर्यसंशये सति यत्रोपक्रमादिकं, तत्रैव तात्पर्यनिश्चयेन

ननु—अन्यशेषत्वानन्यशेषत्वे नामुख्यार्थत्वमुख्यार्थत्वयोः प्रयोजके, किं तु मानान्तरविरोधाविरोधौ; अन्यशेषेऽपि मानान्तरविरोधे 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे'त्यादौ लोके 'सोऽरोदी'दित्यादौ च वेदे प्रस्तरादिवाक्यवदमुख्यवृत्तेरनाश्रयणात्, अनन्यशेषेऽपि 'सोमेन यजेते' त्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय च सोमवता यागेनेति मत्वर्थलक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदुपयोगित्वम् । तथाच नापूर्वत्वादेरेकमात्रेण तात्पर्यनिश्चयसंभव इति विशेषतो मिथ्यात्वानुमाननिरूपणोत्तरं प्रथमपरिच्छेद एव वक्ष्यते । वैयधिकरण्येनेति । 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यादौ वाजपेयादिपदं न नामधेयम्, किं तु गुणस्य विधेयस्य बोधकम् । यद्यपि—यागे तादृशस्य गुणस्य नान्वयः; आख्यातार्थक्रियां प्रति हि धात्वर्थो यागादिः कर्मत्वेन करणत्वेन नान्वयं लभते; 'पचती'त्यादौ पाकं करोति पाकेनेष्टं साधयतीति द्वेधा विवरणात्, काष्ठैरित्यादिपदयोगे आद्यस्य तण्डुलमित्यादिपदयोगे द्वितीयस्य संभवात्, उभययोगे पाकस्य करणत्वेऽपि काष्ठानामितिकर्तव्यतात्वेनान्वयात्, तथाच कारकाणां मिथोऽन्वयासंभवः; क्रियां प्रति गुणीभूतानां कारकाणां मिथस्समत्वेन गुणप्रधानभावेनान्वयात्, नापि क्रियायामेव तदन्वयः; समानपदोपात्तयागस्य करणत्वेनान्वयस्य प्रथमं बुद्धत्वेन पश्चात् गुणस्य करणत्वेनान्वये आकाङ्क्षाविरहात्, नापि क्रियायां कारकाणामन्वयनियमेऽप्यकारकरूपेण तस्य यागेऽन्वयः; अभेदान्वयस्य बाधात्, भेदान्वयस्य धात्वर्थनामार्थयोरव्युत्पन्नत्वात् । नापि—वाजपेयपदस्य वाजपेयसंबन्धिनि लक्षणया तस्य यागेऽभेदान्वयः, धात्वर्थस्य कर्मत्वे तद्विशेषणपदस्य द्वितीया-न्तत्वापेक्षायामपि धात्वर्थस्य करणत्वे तद्विशेषणपदस्य तृतीयान्तत्वस्य संभवादिति—वाच्यम्; लक्षणाकल्पनापेक्षया वाजमन्त्रं सुरारूपं पेयमस्मिन्निति व्युत्पत्त्या यौगिकत्वस्वीकारेण नामधेयत्वस्यैवौचित्यात्, नापि स्वाराज्यकर्मिकायां क्रियायां यागस्य करणत्वेऽपि यागकर्मिकायां वाजपेयस्य करणत्वम्; एकेनाख्यातेन क्रियार्थबोधने आवृत्त्यापातेनावृत्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तेः, एकक्रियायां तु न कर्मद्वयस्यान्वयः; गुणीभूतयैकक्रियया प्रधानीभूतयोः कर्मणोर्वशीकर्तुमशक्यतया प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिन्यायेन क्रियापदस्याख्यातस्यावृत्त्यापत्त्या वाक्यार्थभेदापत्त्या वाक्यभेदापत्तेः । 'गुणीभूतानि हि कारकाणि क्रियैकापि पिण्डीकरोति, न प्रधानभूतानी'ति न्यायात्; तथापि—करणकर्मसाधारणेन संबन्धित्वमात्रेण यागस्यैकस्यामेव क्रियायामन्वयसंभवेन यागकर्मकांशमादाय तस्यां वाजपेयगुणस्य करणत्वेनान्वयः, यागकरणकांशमादाय तस्यां स्वाराज्यस्य कर्मत्वेनान्वयः, वाजपेयेन यागं कुर्यात् यागेन स्वाराज्यं कुर्यात् इति, इति प्राप्ते, न संबन्धित्वमात्ररूपेण यागस्यान्वयसंभवः; क्रियाया हि किं केनेत्याद्याकाङ्क्षापत्त्या कर्मत्वकरणत्वादिकारकरूपेणैव कर्मादिकं गृह्यते, अन्यथा आकाङ्क्षानिवृत्त्यसंभवात् । तथा चैकस्यां क्रियायां कर्मत्वकरणत्वाभ्यां यागस्यान्वयो वाच्यः, स च न संभवति, उक्तदोषात्; यजेरावृत्त्यापत्तेः, विरुद्धयोस्त्रिकयोर्बोधकृतस्य वैरूप्यस्यापत्तेश्च । विधेयत्वं गुणत्वमुपादेयत्वमित्येकं त्रिकम्, अनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमुद्देश्यत्वमित्यन्यदिति त्रिकद्वयम् । तत्र फलानुवादेन यागस्य यागानुवादेन गुणस्य चोत्पत्तिविधौ यागस्याज्ञातज्ञाप्यत्वरूपे, फलोद्देशेन यागस्य यागोद्देशेन गुणस्य च विनियोगविधौ यागस्य शेषत्वशेषित्वरूपे गुणत्वप्रधानत्वे, तादृशप्रयोगविधौ प्रकृतविधिप्रयुक्तकृति-साध्यताधीविशेष्यत्वतादृशकृत्युद्देश्यताधीविशेष्यत्वरूपे उपादेयत्वोद्देश्यत्वे स्याताम्, ते च मिथो विरुद्धे; परस्पराभावव्याप्यत्वात् । तथाचैकदा ज्ञातुमशक्ये । तस्माद्यागे गुणस्य करणत्वेनान्वयस्य वैयधिकरण्येनान्वयस्यासंभवादभेदान्वयरूपस्य सामानाधिकरण्येनान्वयस्य च गुणयागभेदप्रत्ययविरुद्धत्वाद्वाजपेयादिपदे मत्वर्थे वाजपेयसंबन्धिनि लक्षणा वाच्या; तस्याश्चान्याय्यत्वाद्वाजमन्त्रं सुरारूपं पेयमस्मिन्निति व्युत्पत्त्या यौगिकत्वमेव युक्तम्; वाजपेये सुराग्रहविधानात् । तथा च वाजपेयादिपदं यागनामैव; 'सोमेन यजेते'त्यादौ सोमादिपदस्य लताविशेषादावत्यन्तप्रसिद्धत्वेन यागनामत्वासंभवादगत्या सोमसंबन्धिलक्षणया यागे अभेदान्वयः; वरं ह्यत्यन्ताप्रसिद्धार्थकत्वकल्पनातो लक्षणाकल्पनमिति प्रथमचतुर्थे चिन्तितम् । तदिदमुक्तम्—वैयधिकरण्येनेत्यादि । मत्वर्थेति । ननु—भावनायां यागस्य यत् करणत्वं बुद्धं, तत् फलनिरूपितम्, सोमादेस्तु करणत्वं भावनायां तस्यां बुध्यमानं यागनिरूपितम्, तथा च यागेन करणेनावरुद्धापि सा सोमेन करेणाप्यन्वयमर्हत्येव; नैराकाङ्क्षयाभावात्—इति चेन्न; करणत्वरूपेणैव सोमादेः करणत्वं बोध्यम् । न तु यागनिरूपितकरणत्वरूपेण; तृतीयायास्तदबोधकत्वात् । लक्षणया च न तस्यास्तदबोधकत्वम्; प्रधानीभूतविभक्तौ लक्षणया अन्याय्यत्वेन प्रातिपदिक एव मत्वर्थलक्षणाया युक्तत्वात् । तथा च करणत्वमात्ररूपेण सोमस्यान्वये वाच्ये नैराकाङ्क्ष्यं दुर्वारम्; तेन रूपेण यागस्य प्रथममन्वितत्वात् । ननु—भावनापेक्षमाणा हि साधनं किं फलस्य मे । साधनानुग्रहः को वेत्यनुस्यूतमपेक्षते ॥ इति तर्कचरणे वार्तिके उक्तम्—तस्याय-

णाया आश्रयणात् । एवं विचारविधायके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'ति सूत्रे 'तद्विजिज्ञासस्वे'ति श्रुतौ च मानान्तराविरोधेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणायाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ चामुख्यार्थतायाः स्वीकृतत्वात्, सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधयोगाच्च, अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणावीजस्य विध्यविधिसाधारणत्वाच्च, शावरं तु वचनमर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरम्; तस्मान्न प्रत्यक्षं शब्दबाध्यं—इति चेन्न; भावानवबोधात् । तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम्, न शक्यार्थमात्रबोधकत्वम्; अन्यार्थतात्पर्यकत्वाच्चामुख्यार्थत्वम्; न लाक्षणिकत्वमात्रम् । तथा चाद्वैतागमस्य स्वतात्पर्यविषयी-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मर्थः; भावना स्वीयमंशत्रयमपेक्षमाणा इत्यनुस्यूतमेव फलवदितरूपमपेक्षते । फलस्य फलवदितरूपेणापेक्षणीयत्वं स्पष्टत्वादनुक्त्वा करणेतिकर्तव्यतयोस्तदाह—साधनं किमित्यादि । मे भावनायाः फलस्य साधनं करणं किमिति करणाकाङ्क्षा किंनिष्ठकरणतानिरूपकफलिका भावनेति यावत् । भावनास्वरूपे न करणापेक्षा; तथा सति यागकरणत्वबुद्ध्या तन्निवृत्तिर्न स्यात् । न हि यत्नविशेषरूपस्याङ्गकलापरूपस्य वा तस्य यागकरणत्वम्, किं तु यागजनकत्वम् । तथा च प्रथमं भावनायां फलान्वयात् मत्फले किं करणमित्येवं पर्यवसिता स्वर्गत्वादिविशेषमविषयीकुर्वती किंकरणकफलिका भावनेत्येव करणाकाङ्क्षा पार्ष्टिकान्वये । एवं स्वर्गकरणत्वेन यागादिभानात् साधनानुग्रहः । करणोपकारकं मे फलस्येत्यनुषज्यते । तथा च किमुपकृतकरणफलवती भावनेति इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । एवं च फलकरणाकाङ्क्षया यागाद्यन्वयेऽपि फलकरणोपकारकाकाङ्क्षायां सोमाद्यन्वयो भवतु—इति चेत्, भवत्वेवम्; तावता हि सोमादेरितिकर्तव्यतत्वेनैवान्वयः, स चोक्तरीत्या मत्वर्थलक्षणयैवेति दिक् । तस्मात् करणीभूतयागोपकारकाकाङ्क्षया सोमादिपदं सोमाद्युपकार्यं लक्षयित्वा तदभेदं यागे बोधयति । तथा च तृतीयाथौ न बाध्यते; यागीयकरणताया एव तथा बोधनात् । यस्यास्तु विभक्तेर्यौ भावनायां न निराकाङ्क्षः, तस्याः स्वप्रकृतिमुख्यार्थनिष्ठाधिकरणत्वादिवोधकत्वम्; यथा 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्यादौ समदेशादिनिष्ठाधिकरणत्वादिवोधकत्वम् । ननु—सोमादिपदं सोमाद्युपकार्यं लक्षयित्वा तदभेदं यागे बोधयतीति यदुक्तं तदयुक्तम्; यजिपदं हि यागकरणत्वं लक्षणया बोधयति, तदेकदेशे यागे सोमसाध्यस्यान्वये एकदेशान्वयदोषः, क्रियाविशेषणत्वेन सोमपदस्य द्वितीयान्तत्वापत्तिश्च—इति चेन्न; क्रियाविशेषणस्य हि द्वितीयान्तत्वं क्रियाफलविशेषणत्वे सत्येव, 'साधु पचती'त्यादौ विकृत्यादेः कर्मतया व्यापारं प्रति विशेषणतया प्रत्ययात् तद्विशेषणस्य साध्यादिपदस्यापि द्वितीयान्तताया युक्तत्वात्, प्रकृते तु फलाकर्मकव्यापाररूपे याग एव सोमपदस्य विशेषणत्वाद्यागस्य च करणत्वेनैव भावनायां विशेषणत्वात् सोमादिपदस्य तृतीयान्तत्वमेव युक्तम् । तृतीयान्तत्वमेव चैकदेशान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वं ज्ञापयति 'साधु पचती'त्यादौ द्वितीयान्तत्ववत् । अतएव सिद्धान्ते वाजपेयादिपदानां तृतीयान्तत्वं युक्तम् । यद्वा—प्रकृते सोमादिपदस्य यजिसामानाधिकरण्यं तद्वोध्यार्थबोधकत्वम्, ननु तदर्थविशेषणतया स्वार्थबोधकत्वम् । तथाच सोमसाध्यकरणत्वस्यैव भावनायामन्वयेन सोमसाध्यस्य न तादात्म्येन यागेऽन्वयः । एवं च सोमवता यागेनेति मत्वर्थेति मूलस्य वस्तुगत्या यागरूपो यः सोमसाध्यमत्वर्थः, तदर्थकत्वमेवेति न तेनापि यागे मत्वर्थान्वयस्य लाभः । परेतु—यजिना याग एव बोध्यते; न तत्करणत्वम् । संबन्धविधयैव तद्ज्ञानसंभवात्, अन्यथा स्वर्गकामादिपदेऽपि स्वर्गसाध्यत्वस्य लक्ष्यत्वापत्तेः । नच—सेष्टेति—वाच्यम्; स्वर्गकामस्य स्वर्गविशिष्टरूपेण साध्यतया तत्संबन्धेनान्वयसंभवे लक्षणाया अन्यायत्वात् । नच—किमित्याकाङ्क्षायाः साध्यत्वप्रकारकधीविषयकत्वादुक्तधियं विना तदनिवृत्तिरिति—वाच्यम्, उक्ताकाङ्क्षायाः साध्यत्वसंसर्गधीविषयकत्वात् । अत एव द्वादशे तन्त्ररत्नादायुक्तं, 'प्रयाजाद्यङ्गभावनाया इतिकर्तव्यतात्वेन प्रधानभावनायामन्वय' इति । नच तन्त्रापीतिकर्तव्यतात्वं लक्ष्यम्; वाक्यार्थस्य तत्संसर्गेणान्वयसंभवात्—इत्याहुः । मानान्तरेति । जिज्ञासाया ज्ञानस्यैव कृत्यसाध्यत्वेन कृतिसाध्यत्वव्याप्यविधिसंबन्धस्याभावग्राहकमानेत्यर्थः । विध्यन्वयाय अध्याहृतकर्तव्येतिपदलभ्यप्रवर्तनारूपविध्यन्वयाय । जिज्ञासाकरणकभावनायां प्रवर्तनान्वये जिज्ञासायामपि तस्यावश्यकत्वेनोक्तमानविरोधाद्विचारलक्षणेति भावः । वाक्यस्य अद्वैतवाक्यस्थपदस्य । इष्टत्वेन त्वदिष्टत्वेन । 'अद्वैतवाक्यं त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेवे'त्युक्तवाचस्पतिवाक्येनेति शेषः । तात्पर्येत्यादि । स्वकीयमुख्यतात्पर्यविषयवाक्यार्थबोधकत्वमित्यर्थः । प्राशस्त्यधीद्वारीभूतोऽर्थवादबोधयवाक्यार्थस्तु न मुख्यतात्पर्यस्य विषयः, किं तु अवान्तरतात्पर्यस्य; मुख्यतात्पर्यविषयोऽपि प्राशस्त्यं न वाक्यार्थः । अन्यार्थेत्यादि । स्वकीयमुख्यतात्पर्याविषयवाक्यार्थबोधकत्वमित्यर्थः । वाचस्पतिमते तु लक्षणद्वयेऽपि मुख्यपदं न देयम्, द्वारीभूतवाक्यार्थस्य तात्पर्याविषयत्वात् । विशेषणे यागादिनिष्ठे सोमादिसंबन्धे तात्पर्याभावादिति । सोमादिविशिष्टयागादिविशिष्टभावनायां विध्यन्वयप्रस्थले विशेषणीभूतसोमादेर्यागादिनिष्ठवैशिष्ट्ये श्रूयमाणविधेर्न तात्पर्यम् । यदि हि तत्र तात्पर्यं; तदा सोमेन यागं कुर्यादिति

भूतार्थबोधकत्वनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणेऽपि मुख्यार्थत्वमुपपन्नमित्यवोचाम । एवं च 'सोमेन यजेते'-
त्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्याभावान्मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच्च नामुख्यार्थत्वम् ।
जिज्ञासापदे तु ज्ञाधानुनेष्यमाणज्ञानलक्षणाङ्गीकारानङ्गीकारमतभेदेऽपि सन्प्रत्ययस्य विचारे जह-
ल्लक्षणाभ्युपगमस्योभयत्र तुल्यत्वात् शक्यार्थपरित्यागेऽपि विधितात्पर्यनिर्वाहात् नामुख्यार्थत्वम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यागोद्देश्यकसोमकरणकभावनाविधौ तात्पर्यपर्यवसानं वाच्यम्; एकक्रियायामन्वयमप्राप्तानां कारकाणां मिथोऽन्वय-
ज्ञानाभावनियमात्, विधेयक्रियाविशेषणत्वाभावे प्रवर्तनारूपविधिसंबन्धस्य सोमे ज्ञातुमशक्यत्वेन सोमानुष्ठानापर्य-
वसायिनो यागसोमसंबन्धमात्रतात्पर्यस्य व्यर्थत्वात् । तथाच 'यागेनेष्टं कुर्यात् सोमेन यागं कुर्यात्' इति विशिष्ट-
भावनाद्वयरूपवाक्यार्थभेदाद्वाक्यभेदः स्यात्; धात्वाख्यातपदावृत्तिप्रसङ्गात् । नहि यज्यादिपदस्य सकृत्प्रतिसन्धानेन
द्विस्तदर्थप्रत्ययः संभवति; सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेव स्वार्थं बोधयतीति व्युत्पत्तेः, विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्यादिदोषाच्च ।
तस्माद्विशिष्टविधेः सोमादिविशिष्टरूपसोमादिपदामुख्यार्थविषयकत्वेऽपि नामुख्यार्थकत्वम् । यत्परः शब्दः स शब्दार्थ
इति न्यायेनामुख्यार्थपरस्यैवामुख्यार्थत्वादिति भावः । ननु—विशेषणे तात्पर्याभावे विशिष्टविधेर्विशेषणविशेष्य-
संबन्धविषयकत्ववैयर्थ्येनोक्तसंबन्धज्ञापकपदवैयर्थ्यं स्यात्—इति चेन्न; विशिष्टविधिविषयीभूतो यो मानान्तराप्राप्ता-
बाधितोक्तसंबन्धः, तत्प्रमान्यथानुपपत्त्या विशेष्योद्देश्यकविशेषणसाधनकभावनाविधेः कल्प्यत्वात् । नहि कारकयोः
सोमयागयोरेकक्रियायां साधनसाध्यभावज्ञानं विना मिथस्तत् संभवति; न वा साध्यसाधनविशेषितक्रियानुष्ठान-
पर्यवसायिविधिं विना साधनविशिष्टसाध्यनिष्पत्तिः; न वा तां विनैवोक्तप्रमा । ननु—विशिष्टस्य विशेष्यविशेषणसंब-
न्धेभ्योऽतिरिक्तत्वेन विशिष्टविधेरुक्तसंबन्धविषयकत्वस्यैवासिद्धत्वात् । कथं तदन्यथानुपपत्त्योक्तकल्पनमिति—चेन्न;
विशिष्टस्य केवलविशेष्यात् भिन्नत्वेऽपि तदभेदस्यापि स्वीकारात् । न हि विशिष्टकेवलयोरत्यन्तभेदः; येन विशि-
ष्टधीः विशेष्ये विशेषणसंसर्गं न विषयीकुर्यात्, किं तु सोमविशिष्टः याग इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययेन तयो-
र्भेदाभेदस्वीकारेण विशेषणसंसृष्टरूपस्य केवलविशेष्यभिन्नस्यापि विशेषणसंसर्गघटितत्वात् विशिष्टधीर्विशेष्ये विशेषण-
संसर्गविषयिण्येव । तथाहि—विशिष्टस्य तेभ्योऽतिरिक्तत्वेऽपि हि नैत्यविशिष्टघटादिप्रकारकज्ञानोत्तरं केवलघटाद्य-
भावबुद्धेरिव घटादौ नैत्याद्यभावबुद्धेरनुदयात् नीलघटस्य विशेष्ये केवलघटप्रकारकत्वस्येव घटे नैत्यप्रकारकत्वस्यापि
नैत्यविशिष्टघटप्रकारकबुद्धौ स्वीकाराद्विशिष्टविषयकधीः केवलविशेष्ये विशेषणसंसर्गविषयिकैव । यदि तु विशिष्ट-
प्रकारकधियः केवलप्रकारकत्वाद्यस्वीकारेऽपि तादृशतादृशबुद्धिं प्रति पृथगेव विरोधित्वं कल्प्यते, तदा गौरवम् ।
तस्मात्तस्यां केवलप्रकारकत्वादिकमावश्यकम् । एतदभिप्रायेणैव पक्षेकत्वाधिकरणादौ विशिष्टविधेर्विशेषणविधिसापेक्षत्वं
'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टे उपजायत' इति न्यायादित्यादिकं टुप्टीकातन्त्ररत्नादाबुक्तम् । ननु 'सोमेन
यजेते'ति सोमादिपदघटितवाक्यस्य केवलयागभावनाप्रवर्तना न तात्पर्यविषयः, किंतु यजेतेत्यस्यैव, तथा च सोमे-
नेत्यादेरमुख्यार्थकत्वं स्थितम्, तत्राह—मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच्चेति । यद्यपि सोमपदे
सोमसाध्यलक्षणया 'सोमसाध्याभिन्नयागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थधीः स्वीक्रियते, अन्यथा समानपदोपात्तत्वप्रत्या-
सत्या प्रथमं भावनायां यागस्य करणत्वेनान्वयादाकाङ्क्षविरहेण सोमस्य करणत्वेनान्वयानुपपत्तेः; तथापि सोमस्य
विशेषणत्वेनैवान्वयः, नोपलक्षणत्वेन; विशेषणत्वस्योत्सर्गिकत्वात् । तथाच विशेष्यभूतयागान्विते करणत्वे सोमस्या-
प्यन्वयात् सोमेनेति पदस्य मुख्यार्थो न त्यज्यते । नच—यागकरणत्वान्वितभावनायां सोमकरणत्वस्य नैराकाङ्क्ष्या-
दनन्वयस्तदवस्थ इति—वाच्यम्; करणीभूते यागे करणीभूतसोमसाध्यत्वबोधेन यागद्वारा करणत्वपर्यवसानात् ।
यागस्य सोमसाध्यत्वं हि सोमसाधनकत्वम् । तथाच करणसाधनत्वे सति करणत्वं करणद्वारकं करणत्वमितिकर्तव्य-
तात्वम् । अतः करणत्वबोधस्येतिकर्तव्यतात्वबोधे पर्यवसानात् नैराकाङ्क्ष्यम् । नच—सोमस्य यागसाधनत्वे तात्पर्या-
भावस्योक्तत्वात् करणद्वारके करणत्वे न तात्पर्यम्, किं तु करणत्वमात्रे, तस्य च नैराकाङ्क्ष्यमेवेति—वाच्यम्, बोध-
विषयत्वं हि यत्र पर्याप्तं, तत्राकाङ्क्षा वाच्या, न तु तात्पर्यविषयत्वं यत्र पर्याप्तम्, शाब्दबोधविषयतापर्याप्तत्वेव
साकाङ्क्षत्वस्य नियामकत्वात् । तथाच सोमेनेत्यादेः सोमकरणिकायां यागकरणकभावनायां तात्पर्यात्तात्पर्यविषय-
स्वार्थबोधकत्वं स्थितमेव, अतात्पर्यविषयमत्वर्थलक्षणा तु न तत्र बाधिकेति भावः । इष्ट्यमाणेत्यादि । इष्ट्यमाण-
त्वेन रूपेण पदादनुपस्थितस्य ज्ञानस्य साधनाकाङ्क्षविरहेण विचाररूपे साधने अन्वयासंभवात् इष्ट्यमाणज्ञानत्वेन
ज्ञाधानुना ज्ञानं लक्ष्यत इति केचित् । तेन रूपेण ज्ञानस्यानुपस्थिततावपि साधनान्वये बाधकाभावः; अन्यथा विचा-
रस्यापि साधनत्वेनानुपस्थितस्य साध्यानाकाङ्क्षत्वापत्त्या साधनविचारत्वेन विचारस्य सन्प्रत्ययलक्ष्यतापत्तेरित्यन्ये ।
विधितात्पर्येति । जिज्ञासापदबोध्यस्य ज्ञानसाधनविचारस्याध्याहृतकर्तव्येतिपदलब्धभावनायां करणत्वेनाथशब्द-

न हि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या पदमात्रे लक्षणायामपि वाक्यस्यामुख्यार्थत्वम्; प्रतीतस्यार्थस्यानन्यशेषत्वेन मुख्यत्वात् । यत्र पुनः प्रतीत एव वाक्यार्थोऽन्यशेषत्वेन कल्प्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव । अन्यद्वि पदतात्पर्यमन्यच्च वाक्यतात्पर्यम्; 'सैन्धवमानय' 'गङ्गायां वसन्ती'त्यादौ वाक्यतात्पर्यैक्येऽपि पदतात्पर्यभेदात्, 'विषं भुङ्क्ष्वे'त्यादौ पदतात्पर्याभेदेऽपि वाक्यतात्पर्यभेदात् । अत एव 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे'त्यादि वाक्यार्थस्यावश्यं क्रेतव्येति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सोऽरोदी'दित्यादिवाक्यार्थस्य च 'बर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणे'ति विधिशेष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लभ्यमुमुक्षाविषयमोक्षस्य कर्मत्वेन अथशब्दलभ्यशमादीनामितिकर्तव्यतात्वेनान्वयादंशत्रयान्वितभावनाया विध्यन्वय इति भावः । मोक्षसाधनज्ञानं विचारेण भावयेदिति वाक्यार्थस्तु न युक्तः; 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यादाविवैकपदोपस्थितयोरुद्देश्यविधेयभावस्याव्युत्पन्नत्वात् । इष्टसाधनत्वमेव विधिप्रत्ययार्थ इति औपनिषदादिमते तु कर्तव्येति पदस्यानध्याहारेऽपि न क्षतिः; अथशब्दार्थस्य मुख्यमुमुक्षोत्तरत्वस्य ज्ञानसाधनविचारे लाभेन मोक्षरूपेष्टसाधनत्वलाभात् । पक्षद्वयेऽपि ज्ञानसाधनस्य मोक्षसाधनत्वं बुध्यमानं ज्ञानद्वारकमेव पर्यवस्यतीति न तादृशसाधनत्वलाभाय वाक्यान्तरं कल्प्यते, येन तच्छेषत्वेन श्रूयमाणवाक्यस्यामुख्यार्थत्वमिति भावः । ननु—नार्थवादस्यामुख्यार्थता संभवति; सा हि स्वप्रतिपाद्यवाक्यार्थभिन्नतात्पर्यकत्वम्, तेषां च प्राशस्त्यादिधीद्वारा वाक्यार्थात् स्वप्रतिपाद्यात् भिन्ने प्राशस्त्यादौ न तात्पर्यम्; तेषां पदविधया तदुपस्थापकत्वात्, पदस्य स्वार्थं तात्पर्याभावात्, प्राशस्त्यादिघटिते तु वाक्यार्थे सार्थवादविधेरेव तात्पर्यम्; न तेषाम्, यदि तु तेषां प्राशस्त्यादौ तात्पर्यं स्वीक्रियते, तदा स्वतात्पर्यविषयबोधकत्वेन मुख्यार्थत्वं स्यात्, न च—उक्तवाक्यार्थबोधकत्वमेव तदिति—वाच्यम्; अर्थवादस्यापि वाक्यत्वेन तदर्थप्राशस्त्यादेरपि वाक्यार्थत्वात्, तत्राह—अन्यदित्यादि । वाक्यतात्पर्यैक्य इति । लवणत्वादिविशिष्टघटितवाक्यार्थस्य शाब्दबोधात् पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वेन न वाक्यतात्पर्यं तद्वदितम्, किं तु सैन्धवपदार्थत्वेन लवणादिघटितवाक्यार्थघटितम्, तथा च लवणतुरगरूपपदार्थभेदेऽपि तस्यैक्यम् । भेदात् वैलक्षण्यात् । तच्च पदार्थविशेषप्रमारूपकार्यप्रयोजकत्वम् । विषमित्यादि । विषभोजनमिष्टसाधनमित्यत्रैकं वाक्यस्य तात्पर्यम् । शत्रोरन्नभोजने प्रसक्ते आसेनोक्तस्य विषमित्यादेः यदि शत्रोरन्नं भुज्यते, तदा 'विषं भुङ्क्ष्वे'ति वाक्यार्थाधीद्वारा शत्रोरन्नभोजनमनिष्टसाधनमित्यत्रापरं तात्पर्यमित्यर्थः । तथा च वाक्यस्य लवणतुरगपदार्थद्वयसाधारणप्रमाजननोपयोगितात्पर्यकत्वेऽपि लवणमात्रपक्षत्वेन सैन्धवपदज्ञानाल्लवणस्यैव प्रमोत्पत्तेः पदतात्पर्यमावश्यकमिति भावः । अथवा लवणत्वतुरगत्वादिरूपेण सैन्धवादिपदार्थस्य तात्पर्यं निवेशेऽपि न क्षतिः; लवणकर्मकानयनपरमित्येवंरूपस्य तात्पर्यस्य वाक्यार्थघटितत्वेन शाब्दधीपूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वेऽप्यानयने लवणकर्मकत्वप्रकारकधीपरमित्येवंरूपेण तात्पर्यस्य वाक्यार्थाघटितत्वेन पूर्वं ज्ञातुं शक्यत्वात् । तथा चैवं व्याख्येयम् । तात्पर्यैक्ये पदार्थयोरेकसंसर्गघटितत्वेन तात्पर्यैक्ये । भेदात् उक्तसंसर्गविषयकत्वेन भेदात् । पदार्थांशे वाक्यस्यानुवादकत्वेन पदार्थयोः संसर्गाशमात्रप्रमापकत्वेन संसर्गस्यैक्यात् वाक्यतात्पर्यैक्यम्; संसर्गप्रमापकत्वस्यैव वाक्यतात्पर्यरूपत्वात् । पदतात्पर्यं तु पदार्थभेदात् पदार्थसंसर्गाघटितत्वाच्च वाक्यतात्पर्याद् भिन्नम् । तस्य च वाक्यतात्पर्यविशेषग्राहकत्वेनोपयोगः । वस्तुतस्तु—पदपदं विभक्त्यन्तपदपरम्, वाक्यपदं तादृशपदद्वयपरम् । तथा चान्विताभिधानमते विभक्त्यन्तैकपदस्य शाब्दप्रमाजनकत्वस्यास्वीकारेऽपि मतान्तरे तत्स्वीकारात्, पदतात्पर्यमपि शाब्दप्रमाप्रयोजकम्; सर्वथा पदतात्पर्यस्यावश्यकत्वादर्थवादानां प्राशस्त्यादावपि तात्पर्यमस्त्येव । तथाच स्वतात्पर्यविषयो यः स्वघटकपदार्थसंसर्गः तद्वोधकत्वं मुख्यार्थकत्वं नार्थवादानाम्, किं तु स्वघटकपदार्थसंसर्गान्यतात्पर्यकत्वं मुख्यार्थकत्वमेवेति भावः । अत एव अन्यशेषत्वस्यामुख्यार्थत्वे प्रयोजकत्वादेव । क्रय्या क्रयार्हा । बर्हिषीत्यादि । 'बर्हिषि रजतं न देय'मितिविधेः 'हिरण्यं दक्षिणे'तिविधेश्च शेषत्वेनेत्यर्थः । तत्प्राशस्त्येति । हिरण्यदानप्राशस्त्येत्यर्थः । तस्य हिरण्यदानस्य प्राशस्त्यं यत् इति व्युत्पत्त्या रजतदानाप्राशस्त्येति चार्थः । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्; 'बर्हिषी'त्यादिविधिशेषस्याप्राशस्त्यलक्षकत्वावश्यकत्वात् । 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्वृक्ष रुद्रत्वं यदश्ववशीर्यत् तद्रजतमभवत् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति तस्मात् बर्हिषि रजतं न देय'मित्यत्र बर्हिःशब्दिते यज्ञे रजतदानं निषिध्यते । यथाश्रद्धं दक्षिणां ददातीति विहिते दक्षिणादाने रजतस्य स्वेच्छाप्राप्तत्वेन शास्त्राप्राप्तत्वाच्च विकल्पः । 'हिरण्यं दक्षिणे'ति विधेः शेषोऽपि तादृशं वाक्यम्, परं तु पुरास्येत्यादिस्थाने तस्माद्रजतमदक्षिण्यमश्रुजं हीत्यादिकम् । तच्च तत्र 'न हि निन्दे'ति न्यायेन रजतनिन्दाद्वारा हिरण्यस्तुतिपरमिति भावः । सर्वं ब्रह्म, यतः तज्जलान् । जायत इति जः, लीयत इति लः, अनितीत्यन्, तस्य ब्रह्मणो जलान्, तज्जलान् । उपादानत्वाधिकरणत्वकरणत्वानि संबन्धत्वरूपेण षष्ठा प्रतिपाद्यन्ते । 'शान्त उपासीते'ति शान्तः सन् मनोमयत्वादि-

त्वेन रजतनिन्दाद्वारा तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि'ति वाक्यार्थस्य 'शान्त उपासीते'ति शमविधिशेषत्वेनात्यनायाससिद्धत्वरूपतत्प्राशस्त्यलक्षकत्वादमुख्यत्वमेव । अत एव—मानान्तरविरोध एव लक्षणेति—अपास्तम्; 'इयं गौः कय्या बहुक्षीरे'त्यादिना प्राशस्त्यलक्षणायां व्यभिचारात्, किं तु परमतात्पर्यविषयीभूतार्थप्रतीतिनिर्वाहायैव सर्वार्थवादिषु लक्षणा, एतावांस्तु विशेषः—विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्रागर्थवादवाक्यार्थज्ञानम्, तस्य प्रमाणान्तरविरोधे बाध एव; यथा 'प्रजापतिरात्मनो वषामुदक्खिद'दित्यादौ । अत एव तत्र गुणवादमात्रम्, प्रमाणान्तरप्राप्तौ त्वनुवादमात्रम् 'अग्निर्हिमस्य भेषज'मित्यादौ । अत एव तदुभयत्रावाधिताज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यानिर्वाहादप्रामाण्यम् । यत्र पुनः प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधौ न स्तस्तत्र प्रामाण्यशरीरनिर्वाहात् भूतार्थवादत्वम्—यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादौ, अयमेव देवताधिकरणन्यायः । ननु—'तर्ह्यदित्यो यूष' इत्यादौ वाक्यार्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाङ्गीकारादमुख्यार्थत्वं न स्यात्; न स्याद्यद्यादित्यसदृशो यूष इति वाक्यार्थपर्यवसानं स्यात्, किं तु गुणवृत्त्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य यूषे पशुं वध्नातीति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमस्येव, तेनैवामुख्यत्वं, न त्वादित्यपदगौणतयेति तत्सिद्धिपेटिकायां सर्वोदाहरणेष्ववान्तरवाक्यार्थप्रतीतये गुणवृत्तिप्रकाराः प्रदर्शिता इति द्रष्टव्यम् । कर्मप्राशस्त्यलक्षणा च सर्वार्थवादसाधारणी तत्रास्त्येवेति नामुख्यार्थत्वानुपपत्तिः । अत उपपन्नं प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यमद्वैतवाक्यस्य । यच्चोक्तमर्थवादमुख्यार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरं शबरस्वामिवचनमिति, तन्न; अश्वप्रतिग्रहेष्टौ 'प्रतिगृहीया'दिति विधौ प्रतिग्राहयेदिति व्यवधारणकल्प-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपेण ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः । अत्यनायाससिद्धत्वेति । आयासो दुःखं स्वल्पमपि न भवति यथा, तथा सिद्धत्वेत्यर्थः । बलवदनिष्टाजनकत्वेति यावत् । लक्षकत्वादिति । उक्तप्राशस्त्यज्ञानस्य विध्यपेक्षितत्वेनार्थवादाधिकरणन्यायेन तल्लक्षणेति भावः । अनन्यशेषत्वान्यशेषत्वयोर्मुख्यार्थत्वामुख्यार्थत्वयोः प्रयोजकत्वं व्यवस्थाप्य परोक्तमानान्तरविरोधाविरोधयोस्तदूषयति—अत एवेति । मुख्यामुख्यार्थत्वयोरुक्तप्रयोजकस्यैव प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । ननु प्रस्तरादिवाक्येभ्यः 'सोऽरोदी'दित्यादिवाक्यानां को विशेषः ? येन पूर्वेषामेव तत्सिद्धिपेटिकायां गौणार्थत्वमुक्तम्, नोत्तरेषाम्, तत्राह—एतावांस्त्वित्यादि गुणवादमात्रं गौणार्थघटितवाक्यार्थबोधकत्वम्, न तु मुख्यार्थकसर्वपदवत्त्वम् । अप्रामाण्यं यथाश्रुतवाक्यार्थं प्रमापकत्वाभावः । भूतार्थवादत्वं यथाश्रुतवाक्यार्थप्रमापकत्वम् । अयमेवेति । अर्थवादानां प्राशस्त्यादिधीद्वारीभूते वाक्यार्थं वाचस्पत्यादिमते तात्पर्यस्यास्वीकारात्, विवरणकारादिमते तत्स्वीकारेऽपि मुख्यतात्पर्यास्वीकारात्, मुख्यतात्पर्याविषये अर्थं श्रुतेर्मनान्तरापेक्षया प्राबल्याभावात्, मानान्तरबाधितस्य वाक्यार्थस्य नार्थवादेभ्यः प्राशस्त्यधीद्वारतया सिद्धिः । 'अतः प्रजापति'रित्यादौ गौणार्थघटित एव वाक्यार्थो द्वारम् । अग्निरित्यादौ तु मानान्तरप्राप्त एव वाक्यार्थो द्वारं संभवतीति न गौणार्थघटितः सः कल्प्यते । 'इन्द्र'इत्यादौ तु यथाश्रुतस्यैव वाक्यार्थस्य द्वारतया सिद्धिः । प्रमाणानां प्रामाण्यस्योत्सर्गिकत्वेन तात्पर्याविषयस्याप्यवान्तरतात्पर्यविषयस्य वा तस्य सिद्धिः । अतएव दुःखासंभिन्नमुखादिरूपे स्वर्गादिस्वरूपे 'यन्न दुःखेने'त्यादिवाक्यस्य प्रामाण्यं पूर्वमीमांसकसंमतम्; इदं चोत्तरमीमांसकसंमतमपि; उत्तरमीमांसास्थदेवताधिकरणन्यायात् । तथाच तत्रापि गौणार्थकल्पनं न युक्तमिति भावः । अमुख्यार्थत्वं स्वघटकपदार्थसंसर्गान्यतात्पर्यकत्वम् । अमुख्यार्थत्वमिति । तादृशतात्पर्यकत्वमित्यर्थः । ननु तत्सिद्ध्यधिकरणे 'आदित्यो यूष'इत्यादौ गौणार्थघटितस्यैव वाक्यार्थस्योक्तत्वात् कथं प्राशस्त्यतात्पर्यकत्वम् ? तत्राह—तत्सिद्धीति । तत्रास्त्येवेति । प्रयोजनवदर्थपर्यवसानस्याध्ययनविधिबलबद्धत्वेन प्रयोजनवति कर्मप्राशस्त्यादौ अर्थवादाधिकरणसिद्धमर्थवादतात्पर्यमस्येव । यद्यपि करणेतिकर्तव्यताविशिष्टभावनायाः प्रवर्तनारूपविध्यन्वयाद्विशेषणीभूतकरणेतिकर्तव्यतयोरपि तत्सत्त्वात् तस्य तत्साधारण्येन कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वाक्षेपकत्वं; तथापि सिद्धे सोमादिरूपेतिकर्तव्यतादौ प्रवृत्त्यभावेनाभिषवादिर्मरूपव्यापारविशिष्टरूपेणैव तस्य प्रवर्तनान्वयपर्यवसानात् कर्मण एवेष्टसाधनत्वाद्याक्षेपपर्यवसानात्तत्रैवोक्तविशिष्टभावनान्वितत्वेन वार्तिकाद्युक्तस्यापि प्राशस्त्यादेरन्वयपर्यवसानमित्याशयेन कर्मप्राशस्त्येत्युक्तम् । तथाच यत्र पुरुषः प्रवर्तते तत् कर्मैव, तत्रैव प्रवर्तनान्वये विधेस्तात्पर्यात्तत्रैवेष्टसाधनत्वादिकमाक्षिप्यत इति तत्रैव प्राशस्त्यान्वये सार्थवादविधिवाक्यस्य तात्पर्यमिति भावः । प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यं प्रत्यक्षादिव्यावहारिकप्रमाणबाधितार्थकत्वेन गौणार्थघटितवाक्यार्थधीद्वारा कर्मप्राशस्त्यादितात्पर्यकेभ्यः वैषम्यम् तादृशतात्पर्यकत्वाभावरूपः स्वावृत्तिधर्मः । विधाविति । विधायकपदे प्रयोजकव्यापारे लक्षणायां व्यवधारणकल्पनाया अङ्गीकारादिति योजना । व्यवधारणं प्रयोजकव्यापारघटितवाक्यार्थतात्पर्यम् । तृतीयचतुर्थं चिन्तितम्—

नया अर्थवादानुसारेण प्रयोजकव्यापारलक्षणाया अङ्गीकरणात्; तस्माद्विधौ तात्पर्यवति वाक्ये प्रतीयमानवाक्यातिरिक्तोऽन्यः शेषी नास्तीत्येवंपरमेव तद्वचनम् । अतः सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणि-
कत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वमिति शिवम् ॥ इति प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वां देवतामार्च्छत् स पर्यदीर्यत स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत् तं निरवपत्ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपे’दित्यनारभ्यश्रुतेष्टिरश्वस्य दातुः प्रतिग्रहीतुर्वेति संशये, यद्यप्युपक्रमाधिकरणन्यायेन दातुरेव युक्ता; अनयत् प्रापयत्, देवतां दानसम्प्रदानवरुणरूपां जलोदररूपेण परिणताम्, आर्च्छत् आसवान्, वरुणपाशात् जलोदरात्, गृह्णाति जलोदररूपेण प्राप्नोतीत्युपक्रमस्थार्थवादा-
र्थात्; तथापि मैत्रायणीयशाखायाम्—‘अथैषोऽश्वः प्रतिगृह्यते स चानुभयतोदतं प्रतिगृह्यतो निर्व-
भत्यस्येन्द्रियं च पशूंश्च वरुणो वारुणो वा अश्वो वरुणदेवत्यो यो वा अश्वं प्रतिगृह्णाति वरुणं स प्रदिति तदश्वहविषा यष्टव्यं निर्वरुणत्वाय चतुष्कपाला भवन्ति । चतुष्पादश्वः कपालैरेवैनं प्राप्नोति यावन्तोऽश्वास्तावन्तः पुरोडाशा भवन्ति सर्वत एवैनं मुञ्चन्ती’ति वाक्येन प्रतिग्रहोपक्रमाया एवैतदिष्टे-
रुक्तत्वात्तदनुरोधेन शाखान्तरीयोक्तवाक्ये अनयदित्यादिपदे उपक्रमस्येऽपि प्रतिग्रहे लक्षणेति प्रतिग्रहीतुरेव सेष्टिरिति प्राप्ते, दातुरेवेयम्; मैत्रायणीयवाक्यानुरोधेनोक्तवाक्यस्थप्रबलोपक्रमस्ये पदे लक्षणायां मानाभावात्, मैत्रायणीय-
वाक्योक्तदूरस्थकर्मानुवादेनाश्वदानरूपोद्देश्यसंबन्धबोधकत्वानुपपत्त्योक्तकर्मभिन्नस्यैव कर्मण उक्तवाक्येन विधान-
संभवात्, नामादीनामुपस्थापकानामभावेन शाखान्तराधिकरणन्यायासंभवादेतद्वाक्यीयोपक्रमानुरोधेन मैत्रायणीय-
वाक्योपक्रमस्थपदे प्रयोजकव्यापारलक्षकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वेनैतद्वाक्यस्थोपक्रम एव लक्षणेत्यत्र विनिगमकाभावाच्च । किंच मैत्रायणीयवाक्योपक्रमपर्यालोचनायां दातुरेवेष्टिः सिद्ध्यति; तथा हि यो वा अश्वं प्रतिगृह्णाति वरुणं स प्रदिति तदश्वहविषा यष्टव्यं निर्वरुणत्वाये’त्यनेनाश्वप्रतिग्रहीतुरश्वदं प्रति वरुणरूपजलोदरदातृत्वोक्तेर-
श्वदातुरेव सवरुणत्वप्रतीत्या निर्वरुणत्वाय तस्यैव यष्टव्यं प्रतीयते । तथा च पूर्ववाक्ये प्रतिगृह्यत इत्यनादरे षष्ठी-
प्रतिग्रहीतारमनादित्य सः अश्वः अस्य दातुरिन्द्रियादीनि निर्वभति नाशयतीत्यर्थः । अत एव—‘मैत्रायणीयशाखायां दातृपक्रमतोऽज्ञिता । कर्माङ्गत्ववशादेव दातुरिष्टिः प्रसिध्यति ॥’ इति तन्नसारोक्तिः—अयुक्ता; तस्माद्विधिस्थेऽपि प्रतिगृह्णातौ प्रतिग्रहप्रयोजके दाने लक्षणा; अर्थवादस्थत्वेऽप्युपक्रमस्थत्वेनानयदित्यादिपदस्य प्राबल्यादिति । विधा-
वित्यादि । मुख्यतात्पर्यविषयो वाक्यार्थो नान्यशेष इत्यर्थः । नन्वेवं—“न चानन्यपरं वाक्यमुपचरितार्थं युक्तम्; उक्तं हि—‘न विधौ परः शब्दार्थ इति’ इति भामतीवाक्ये विधौ विधायकशब्दे परो लक्ष्यः शब्दार्थो न भवती”ति कल्पतरुकारव्याख्या न युक्ता—इति चेन्न; भावानवबोधात् । उपचरितार्थत्वं हि तात्पर्यविषयब्रह्मात्मासे-
दान्यार्थबोधकत्वम् । तच्च कर्मविध्यपेक्षितकर्तृस्तुतिबोधकतया, उक्ताभेदोपासनाविधायकतया वा । तत्रोक्ताभेदसिद्ध्य-
ननुकूलो लक्ष्योऽर्थो महावाक्ये न संभवति; तस्योक्ताभेदपरत्वादित्याशयेन लक्ष्यो नार्थ इत्यनेन तात्पर्यविषयसिद्ध्य-
ननुकूललक्ष्यो नार्थ इत्युक्तम् । विधायकवाक्ये अन्यशेषो नार्थ इत्युक्तौ तु उपासनापरत्वखण्डनं न स्यात्; अतस्तथा नोक्तम् । लक्ष्यमात्रनिषेधे तु प्रतिगृह्णातौ दाने ‘उच्चैर्वा क्रियते’ इत्यादौ ऋगादिपदे ऋग्वेदादौ च लक्षणायाः स्वीकारेणासङ्गतिः अतस्तदपि नोक्तमिति ध्येयम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम् ॥

अथ प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रत्यक्षं नागमबाध्यम्; ‘तस्माद्भूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्षिः, इत्याद्यर्थवादस्य अदितिद्यौरेत्यादिमन्त्रस्य च दृष्टाविरोधाय ‘गुणवादस्तु’ गुणादविप्रतिषेधः स्यादिति गौणार्थवर्णनस्य, तत्सिद्धिपेटिकया गौणार्थवर्णनस्य, युष्मन्मते तत्त्वपदयोर्लक्ष-
णावर्णनस्य चानावश्यकत्वापत्त्याऽन्यथोक्ताधिकरणादिविरोधापत्तेः । एतेन—प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैत-
वाक्यं तु न तथा—उक्तं हि “न विधौ परः शब्दार्थः” इति वाचस्पत्युक्तमपि—पराहतम्; नान्यन्यशेषत्वमन्त्रात्वा-
वा अमुख्यार्थत्वमुख्यार्थत्वयोः प्रयोजकम्, इयं गौः कथ्येति वाक्यशेषे बहुक्षीरेत्यादौ अमुख्यवृत्तेः, सोमेन यजेतेत्यादाव-
नन्यशेषे मुख्यवृत्तेश्चानाश्रयणात् । अत एव—तात्पर्यलिङ्गोपेतत्वमपि न मुख्यार्थत्वप्रयोजकमिति—सूचितम्; प्रस्तर-

वाक्ये सोमेन यजेतेत्यत्र चापूर्वतात्पर्यलिङ्गस्य सत्त्वादिति प्रत्यक्षविरोधाविरोधावेव तत्प्रयोजकौ । उपक्रमोपसंहारादीनां प्रत्येकमेव तात्पर्यलिङ्गत्वात्, लिङ्गान्तरस्यानुवादत्वेनाप्युपपत्तेः । अतएव जिज्ञासासूत्रे विचारलक्षणा, सर्वं खल्वित्यादौ अमुख्यार्थत्वमपि चोपपद्यते । सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधो न युज्यते; अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारण्यात् । शावरवचनं तु अर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेतिपरमिति न कोऽपि दोष इति नागमबाध्यमध्यक्षं किं लक्ष्यक्षबाध्य एवागम इति । तत्सिद्धं—यजमान-प्रस्तरत्वं यथा नार्थः श्रुतेर्भवेत् । ब्रह्मत्वमपि जीवस्य प्रत्यक्षस्याविशेषतः—इति निरूपयन्ति ॥

(२) तत्र सिद्धिकाराः—

न प्रत्यक्षबाध्य आगमः, किं लागमबाध्यमेव प्रत्यक्षम् । तथाहि—सत्यं विरुद्धयोः प्रत्यक्षागमयोः प्रत्यक्षमेव प्रबलम्, अन्यथा धूम एवाग्निरित्यादौ व्यावहारिकप्रामाण्यस्यापि बाधापत्तेः, तथाप्यद्वैतमुख्यार्थत्वे न कोऽपि दोषः । तात्त्विकप्रमाणेनाद्वैतागमेन प्रत्यक्षादिव्यावहारिकप्रामाण्यविधातेऽप्यविरोधात् । तत्त्वमसीत्यादावपि बहुविधतात्पर्यलिङ्गा-वधारिततात्पर्योपपत्त्यर्थमेव लक्षणाश्रिता, न तु प्रत्यक्षाविरोधाय । प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरपरत्वस्याशक्यार्थत्वस्य वानङ्गीकारान्नामुख्यार्थत्वापत्तिः । अपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गेन प्रस्तरादिवाक्यानामपि यथा न मुख्यार्थत्वं, तथोपपादयिष्यामः । एतदभिप्रायेणैवोक्तं प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थमद्वैतवाक्यं न तथा; उक्तं हि—“न विधौ परः शब्दार्थः । इती”ति । अमुख्यार्थत्वं हि अन्यार्थतात्पर्यकत्वं, न लाक्षणिकत्वमात्रम् । न हि इयं गौः कय्या, बर्हिषि रजतं न देयमि-त्यादिवाक्यशेषबहुक्षीरसोरोदीदित्यादिवाक्यं स्वार्थबोधनमात्रेण पर्यवसन्नं भवतीति प्रतीतमात्रस्य तदर्थस्यान्यशेषत्वकल्प-नादुक्तवाक्यानामन्यार्थत्वम् । ‘सोमेन यजेत’ तत्त्वमसीत्यादौ स्वार्थबोधनमात्रेणैव वाक्यार्थपर्यवसानान्नामुख्यार्थत्वमिति अन्यशेषत्वानन्यशेषत्वयोरमुख्यार्थत्वप्रयोजकत्वे न कुत्रापि व्यभिचारः । एवंच न प्रत्यक्षाविरोधायोक्तस्थलेषु लक्षणा, किंतु तात्पर्योपपत्त्यर्थमेवेति न दोषः । न विधौ परः शब्दार्थ इति वचनं हि विधौ तात्पर्यवति वाक्ये प्रतीयमानवा-क्यार्थातिरिक्तोऽन्यः शेषो नास्तीत्येवंपरं प्रमाणान्तरविरोधार्थमन्यार्थं वा तात्पर्यविषयीभूतार्थान्यार्थपरत्वं तात्पर्यवतो वाक्यस्य नास्तीत्येवंपरमिति यावत्, अथप्रतिग्रहेष्यधिकरणे ‘वेदो वा प्रायदर्शना’दित्युक्तां संज्ञातविरोधाधिकरणे चार्थवा-दमुख्यार्थत्वाय विधावपि लक्षणाया अङ्गीकारेण नार्थवादमुख्यार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरतया योजनं सहते इति सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात्प्रत्यक्षबाधकत्वम्—इति वर्णयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नागमबाध्यं प्रत्यक्षम्; अद्वैतागमस्य प्रत्यक्षस्य चोभयोरपि परीक्षितत्वाविशेषे पूर्वस्य तात्त्विकमुत्तरस्य व्यावहारिकं प्रामाण्यमिति कल्पनाया अयोगेनोभयोरपि समानयोगक्षेपत्वेन अध्यक्षेणैवागमस्य बाध्यत्वात्, प्रमाणान्तरविरोधे षड्विध-तात्पर्यस्यानिर्णयेन तद्विरोधाभावायैव लक्षणाया आश्रयणीयत्वाच्च । नहि तात्पर्यलिङ्गोपलम्भमात्रेण मुख्यार्थत्वम्; प्रस्तरा-दिवाक्ये व्यभिचारात् । एवंच शक्यार्थपरत्वमेव मुख्यार्थत्वमित्येवाङ्गीकरणीयमिति अनन्यशेषाणामप्यद्वैतागमानाममुख्यार्थ-त्वमेवेति मन्तव्यम् । अस्तु वाऽनन्यशेषत्वतदभावावेव मुख्यार्थमुख्यार्थत्वे । एवंचेदपि “तत्त्वमसि” ‘सोमेन यजेते’त्यादौ स्वरसतः प्रतीयमानसमानाधिकरणाभेदरूपवाक्यार्थनिर्वाहाय तत्त्वंपदयोर्जहदजहलक्षणाश्रयणं सोमपदे मत्वर्थलक्षणाश्रयणं च प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वे न स्यात्, प्रत्यक्षविरोधपरिहारायैव हि तदाश्रयणम् । एतेन—तात्पर्यविषयीभूतार्थपरत्वमेव मुख्यार्थत्वमिति वचनमपि—पराहतम्; मानान्तरविरोधे तात्पर्यस्यैवानुपपत्तेः, अन्यथा मानान्तरविरुद्धे वाक्यतात्पर्य-स्याङ्गीकारे तादृशे पदतात्पर्यस्यापि संभवेन सोमादिपदे मत्वर्थलक्षणाभावप्रसङ्गात्, अन्यशेषीभूतार्थप्रतिपादकानामपि ‘समिधो यजती’त्यादीनां मुख्यत्वव्यवहारदर्शनाच्च नानन्यशेषत्वमेव मुख्यत्वमिति मन्तव्यम् । “न विधौ परः शब्दार्थ” इति लर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरम् । अथप्रतिग्रहेष्यधिकरणे हि उपक्रमप्राबल्येनैव तदुपपत्त्यर्थं विधौ लक्षणाहता, नत्वर्थवादप्राबल्येन तदुपपत्त्यर्थमिति । वस्तुतस्तु तन्त्रसारे—‘मैत्रावरुणीयशाखायां दातुप्रक्रमतोऽभ्यूते । कर्माङ्गत्ववशादेव दातुरिष्टिः प्रतीयते’ इत्युक्तत्वेन वचनादेव दातुरिष्टिनार्थवादबलेन विधिवाक्ये व्यवधारणकल्पनादिनेति सर्वमनवद्यं न्यायान्तोक्तम्—इत्युपन्यस्यन्ति ॥

(४) ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—

नाध्यक्षबाध्य आगमः; किन्त्वागमबाध्यमेव प्रत्यक्षम् । तथाहि—परीक्षितत्वेन प्रामाण्यं व्यावहारिकं, तात्पर्यलिङ्गो-पेतश्रुतित्वेन प्रामाण्यं पारमार्थिकमिति प्रत्यक्षागमयोरविरोधात् नाध्यक्षबाध्य आगमः । तात्पर्यग्राहकप्रमाणानि ह्युप-क्रमोपसंहारादीन्येव, नतु प्रमाणान्तरविरोधः । एवंच प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरुद्धेऽप्यद्वैतश्रुतितात्पर्यनिर्णयसंभवात्तद-

अथापच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ।

किं चापच्छेदन्यायेनाप्यागमस्य प्राबल्यम् । यथा हि 'पौर्वापर्यं पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिव'दित्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन परेण प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य पूर्वसिद्धनिमित्तकस्य बाध इति स्थितम्, तथेहापि उदीच्यागमेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधः । ननु—प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे, युगपदपच्छेदे, क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पाश्चात्ये चावकाश इति युक्तः उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन बाधः; अन्यथा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पौर्वापर्यं परस्परनिरपेक्षयोरपच्छेदनिमित्तकविरुद्धप्रायश्चित्तकर्तव्यताग्राहकप्रमाणयोः पूर्वापरीभूतत्वेनोत्पत्तौ । पूर्वदौर्बल्यं पूर्वं पूर्वोत्पन्नप्रमाणस्य दौर्बल्यं, पश्चादुत्पन्नप्रमाणेन बाध्यते । प्रकृतिवदिति । श्येनयागादिरूपविकृतिप्रकरणपठितं 'शरमयं बर्हि'रित्यादिवाक्यं ज्योतिष्टोमादिप्रकृतिगताङ्गकलापातिदेशरूपात् 'प्रकृतिवत् कुर्या'दिति वाक्यात् पश्चात् प्रवर्तते; तत्प्रापितबर्हिरादिकार्यमुद्दिश्य शरादिविधायकत्वात् तेन यथा पूर्वं प्रवृत्तं तद्वाक्यं कुशादिप्रापकत्वांशे बाध्यते, तथेत्यर्थः । उद्गात्रपच्छेदेत्यादि । 'अध्वर्युं विनिष्कामन्तं प्रस्तोता सन्तनुयात्तं प्रतिहर्ता तमुद्गाता तं ब्रह्मा तं यजमान' इत्यध्वर्यादिकच्छेदं धृत्वा प्रस्तोत्रादीनां गमनं बहिष्पवमानस्तोत्रार्थं ज्योतिष्टोमे उक्तम् । सन्तनुयात् । कच्छं धृत्वा अनुगच्छेत् । तत्र विच्छेदे प्रायश्चित्तमुक्तम् । 'यदि प्रस्तोता अपच्छिन्ध्यात् ब्रह्मणे वरं दद्यात् यदि प्रतिहर्ता सर्ववेदसं दद्याद्यद्युद्गाता अदक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद्दद्याद्यपूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्' इति । सर्ववेदसं सर्वस्वम् । दद्यादिति । दक्षिणारूपेणेति शेषः । अदक्षिणयागेनेति । तादृशयागकर्तव्यताज्ञानेनेत्यर्थः । अदक्षिणयागोत्तरं पुनः प्रयोगस्य नैमित्तिकत्वेऽपि पुनः प्रयोगस्य सर्वस्वदक्षिणयागस्फुटविरोधाभावात् अदक्षिण्यमात्रमुक्तम् । तावता च विरुद्धयोः समुच्चयासंभवादेकेनापरस्यावश्यं बाध इति सूचितम् । ननु विरुद्धयोरदक्षिण्यसर्वस्वदक्षिणयोर्विकल्पोऽस्तु, पूर्वैर्नैव चोपक्रमन्यायेन परस्य बाधोऽस्तु, तत्राह—परेणेति । पश्चादुत्पन्नेनेत्यर्थः । एतावता पूर्वप्रमाणबाधकताप्रयोजकं पूर्वप्रमाणनिरपेक्षत्वं सूचितम् । तेन च विकल्पस्योपक्रमन्यायस्य चाभावः सूचितः । यदि हि विरोधिपूर्वप्रमाणं न बाध्यते, तदोत्तरस्योत्पत्तिर्नैव न संभवति । यदि चोत्तरप्रमाणं पूर्वप्रमाणसापेक्षं, तदा तद्बाधकत्वासंभवात् उपक्रमन्यायेन पूर्वप्रमाणानुसारितया तेन बाध्यमेव स्यात्; तदनपेक्षं तु तद्बाधित्वैवोत्पद्यते, तस्मात् निरपेक्षोत्तरप्रमाणत्वमेव पूर्वप्रमाणबाधकत्वे प्रयोजकमिति भावः । प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे उद्गातरनपच्छेदवति प्रयोगे प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे । युगपदिति । विरुद्धयोर्योगपद्ये विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वेन सर्वस्वदानाव-

पपत्त्यर्थमेव 'सोमेन यजेत' तत्त्वमसीत्यादौ लक्षणाङ्गीकृतेति न कोऽपि दोषः । प्रस्तरादिवाक्येन न तात्पर्यलिङ्गोपलम्भः; आज्ञातत्वापूर्वत्वफलवत्त्वाबाधितत्वरूपोपपत्त्यादीनां प्रामाण्यशरीरनिर्वाहकाणामभावात्, प्रस्तरे यजमानामेदस्य बाधितत्वात् । यथाच प्रकृते न प्रत्यक्षबाधादिकं तथोपपादितमधस्तादुपपादयिष्यते च । वस्तुतस्तु—'सोमेन यजेत' 'तत्त्वमसी'त्यादौ न लक्षणाङ्गीकारः; फलनिरूपितकरणस्य यागस्यैव यागनिरूपितकरणस्य सोमस्यापि साक्षादेव भावनायामन्वयसंभवेन मत्वर्थलक्षणाया अनङ्गीकारात्, शक्तिज्ञानजन्यशक्यैकदेशोपस्थित्यैव विशेष्यमात्रान्वयबोधस्याङ्गीकरणे जहदजहल्लक्षणाया तत्पदादावनादरणात् । आदरणेऽपि अमेदोपक्रमोपसंहाराद्युपपत्त्यर्थमेव तदादरणं इति प्रत्यक्षविरोधस्याप्रयोजकत्वात्, 'सोमेन यजेत'त्यादौ सोमपदेन केवलसोमविवक्षातात्पर्यग्राहकप्रमाणविरहात्प्रत्युतान्वयानुपपत्त्या विशिष्टविवक्षणस्यैव सिद्धत्वेन च न केवलसोमपरत्वम् । एवंचार्थवादानां प्राशस्त्यपराणामपि स्वघटकपदार्थसंसर्गबोधकत्वं मुख्यार्थत्वं नास्तीति अन्यशेषत्वानन्यशेषत्वयोः मुख्यमुख्यार्थत्वप्रयोजकत्वं भामत्युक्तं संगतमेवेति मन्तव्यम् । वाक्यनिष्ठमुख्यार्थत्वमेव तादृशं, ननु वाक्यार्थसाधारणं मुख्यत्वमिति 'समिधो यजती'त्यादिवाक्यानां मुख्यार्थत्वव्यवहारे न कोऽपि दोषः; प्रयाजादीनामन्यशेषत्वेऽपि वाक्यस्यान्यशेषाभावात् । एतदभिप्रायेणैवोक्तं "न विधौ परः शब्दार्थ" इति । नहीदं वचनं विधिवाक्ये लक्ष्यार्थविवक्षैव नास्तीति वा, अर्थवादमुख्यत्वाय विधौ लक्षणा नास्तीति वा प्रतिपादयति; प्रतिगृह्यतौ दाने "उच्चैरुचा" इत्यादौ ऋगादिपदे वेदे च लक्षणायाः स्वीकारेणसंगतेः, किंतु तात्पर्यविषयीभूतार्थानुसूतलक्ष्यार्थपरत्वं नास्तीति । मैत्रायणीयशाखाया अपि दातुपक्रमेणैव प्रवृत्तत्वात्, 'मैत्रायणीयशाखायां दातुपक्रमतोऽप्युते । कर्माङ्गत्वशादेव दातुरिष्टिः प्रतीयते ॥' इति तन्त्रसारोक्तिरपि न युक्तेति अर्थवादमुख्यत्वावमेवावधप्रतिग्रहेणधिकरणे विधौ लक्षणाया अङ्गीकारादिति सर्वमनवद्यमिति—सिद्धिकारोक्तं समर्थयन्ति ॥

इति प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वोपपत्तिवर्णनम् ॥

‘यदि प्रतिहर्ता अपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्या’दिति शास्त्रमप्रामाणं स्यात्, अत एव ‘विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्या’दित्यधिकरणे द्वयोर्युगपदपच्छेदे विकल्प उक्तः । किंच ‘यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद्येतरस्मिन्’न्नित्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदात्परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तं पूर्वं प्रयोगं दक्षिणाहीनं सम्पाद्य कर्तव्यज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे ‘तद्दद्याद्यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्’ इति श्रुत्युक्ता या दक्षिणा सा पूर्वभाविप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकपूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वदत्ताया अबाधेन सर्वस्वरूपैव, न तु या ज्योतिष्टोमे नित्या द्वादशशतरूपा । तस्मान्न प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः, किं तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम्, उक्तं हि टुण्टीकायां—‘तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेप’ इति । अपिच क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः संभवेन विरोध एव नास्ति; यथा बदरीफले क्रमिकनिमित्तवतोः श्यामरक्तरूपयोः । उक्तं ह्यपच्छेदाधिकरणे—‘नैमित्तिकशास्त्रस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

काश इति भावः । अन्यथा सावकाशत्वाभावेऽपि बाध्यत्वे । अत एव किञ्चिदवकाशमदत्त्वा शास्त्रस्य बाधितुमशक्यत्वादेव । विप्रतिषेधात् युगपदुत्पन्नयोरपच्छेदयोः समबलत्वेनान्यतरस्यापेक्षणीयत्वनिषेधासंभवात्, द्वयोरप्यपेक्षणीयत्वादिति यावत् । विकल्प इति । तथा च पाक्षिकानुष्ठानादेव शास्त्रस्य सावकाशत्वमिति भावः । नन्वपच्छेदयोः क्रमिकतास्थले प्रयोगान्तरे सावकाशत्वमिव प्रत्यक्षस्यापि व्यावहारिकप्रामाण्ये सावकाशत्वमस्येव, तत्राह—किंचेति । जघन्यः प्रतिहर्त्रपच्छेदात् पश्चादपच्छिन्नः । पुनर्यज्ञे अदक्षिणप्रयोगोत्तरानुष्ठीयमानप्रयोगे । यथेतरस्मिन् प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदवति प्रयोगे यथा सर्वस्वं दीयते । इत्यधिकरण इत्यस्येत्युक्तमित्यग्रे योजना । ‘यद्युद्गाता अपच्छिन्नाददक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद्दद्यात् यत् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्या’दिति श्रुतौ तत्रैत्यन्तभागः उद्गात्रपच्छेदनिमित्तमित्यादिना द्वितीयप्रयोगे इत्यन्तेन व्याख्यातः । दास्यन् उद्गात्रपच्छेदरूपनिमित्तज्ञानात्पूर्वं दातुमिच्छन् । पूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वेति पाठः । निमित्तकान्तं सर्वस्वान्वितम् । पूर्वप्रयोगस्येति पाठे सर्वस्वदानविशिष्टपूर्वप्रयोगस्येत्यर्थः । पाठद्वयेऽपि पूर्वप्रयोगाङ्गसर्वस्वदानाबाधेनेत्यर्थः । नित्या ‘तस्य द्वादशशत’मिति श्रुत्या निमित्तापुरस्कारेण विहिता । रूपेति । तस्याः सर्वस्वदानेन नैमित्तिकेन बाधादिति शेषः । अपच्छेदस्य अपच्छेदनिमित्तकस्य पूर्वप्रयोगाङ्गसर्वस्वदानस्य । निक्षेपः निक्षेपमात्रम् । पूर्वप्रयोगकाले अनुष्ठानबाध इति यावत् । तथाच पूर्वप्रयोग एव सर्वस्वदानं सावकाशम् । तत्कालाधिकरणकत्वबाधेऽपि तदङ्गत्वस्याबाधादिति भावः । नेदं परोक्तं युक्तम्; न हि पूर्वप्रयोगाङ्गीभूता सर्वस्वदक्षिणा द्वितीयप्रयोगकाले विधीयते, अपूर्वविधित्वाद्येष्टार्थत्वादिप्रसङ्गात्, किं तु द्वितीयप्रयोगस्यैव ज्योतिष्टोमत्वेन द्वादशशतं प्राप्नोति, ‘यद्येतावता नानमेयुरपि सर्वस्वेने’ति श्रुत्या द्वादशशतेनानत्यभावे सर्वस्वदानं च प्राप्नोतीति सर्वस्वदानं द्वितीयप्रयोगाङ्गतया नियम्यते । ‘प्रयोगान्तरे निक्षेप’ इति टुण्टीकावाक्यस्य तु प्रयोगान्तरकाले अनुष्ठानमित्यर्थो विरुद्धः, प्रयोगान्तराङ्गतया विधानमित्यर्थस्तु न्यायानुकूलः परेषां प्रतिकूलः । अत एव तन्नरत्ने व्याख्यातम्—‘तत्र तद्दद्यादित्यादिवचनं पूर्वप्रयोगे दातव्यं यत् प्राप्तं, तत्तत् आच्छिद्य पूर्वस्मात् प्रयोगान्तरे निक्षिपति, सर्वस्वदानेनैव पुनः कृतावधिकार’ इति । तथा चातिथ्याबहिर्गम्यथा आतिथ्यात् आच्छिद्य उपसत्सु विधीयते, न तदातिथ्याङ्गमिति पूर्वपक्षे उक्तं, तथा प्रकृतेऽपि सर्वस्वं न पूर्वप्रयोगे अङ्गमिति ध्येयम् । नास्तीति । तथा चापच्छेदस्थले बाध्यबाधकभावाभावात्तदृष्टान्तेन प्रत्यक्षस्य श्रुतिबाध्यत्वोक्तिरयुक्तेति भावः । नैमित्तिकशास्त्रस्येत्यादि । नानेन वाक्येनाविरोधः प्रतिपाद्यते, किं तु बाध्यबाधकभावः । तथा हि शास्त्रदीपिकायाम्—‘पूर्वं परस्य बाध्यम्, न तु परं पूर्वस्ये’ति सयुक्तिकमुपपाद्य ‘तस्मात्पूर्वदौर्बल्य’मित्यनेन सौत्रपदेन तत्र सूत्रकारस्वारस्यमुक्त्वा नैमित्तिकेन नित्यबाधं दृष्टान्तयितुमुक्तवाक्यमुक्तम् । अत एव नित्यमित्यादिवाक्यमग्रिमं शास्त्रदीपिकायां दृष्टान्तबोधकम् । तथा च निमित्तोपजननादित्यादेरयमर्थः । यत्र यत् निमित्तं न जातं, तन्नान्यथा कर्तव्योऽपि क्रतुर्यत्र तज्जातं तन्नान्यथा क्रियते । तस्मान्नित्यनैमित्तिकशास्त्रयोर्व्यवस्थितविषयकत्वसंभवेनाप्रामाण्यासंभवात् बाध्यबाधकत्वसंभव इति, तद्वदेव पूर्वापरीभूतविरुद्धापच्छेदनिमित्तकशास्त्रयोर्व्यवस्थितविषयकत्वसंभवेन बाध्यबाधकभाव इति । बदरश्यामरकत्वधियोस्तु न दृष्टान्तता; तयोर्भिन्नकालीनविषयकत्वेन बाध्यबाधकभावविरहेऽपि प्रकृते यस्मिन् प्रयोगे उत्पन्नं निमित्तापच्छेदद्वयं तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वदक्षिणत्वनिर्दक्षिणत्वयोर्नैमित्तिकयोरनुष्ठेयताप्रसक्त्या विरोधेन बाध्यबाधकत्वस्यावश्यकत्वात् । तस्मादविरोधप्रतिपादकमिदं वाक्यमित्युक्तिर्मौढ्यादेव । तस्मात् षष्ठपञ्चमस्थानां सुक्ताधिकरणानां सावकाशाज्ञापकत्वात् । अपच्छेदन्त्यायः पौर्वापर्य इत्याद्युक्तन्यायः । द्वितीयप्रयोग इति । यथा प्रथमप्रयोगे निमित्तसम्बन्धेनानुष्ठेयतया प्रसक्तमपि द्वितीयप्रयोगकालानुष्ठेयतया सावकाशं, तथा श्रुत्या तात्त्विकप्रामाण्यांशे बाधितमपि प्रत्यक्षं व्यावहारिकप्रामाण्ये सावकाशम्; तावतैव प्रत्यक्षप्रामाण्यग्राहकप्रमाणस्य लब्ध-

ह्ययमर्थः, 'निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तव्योऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्येवं कर्तव्यः' इति । तस्मादपच्छेद-
न्यायः सावकाशविषयः, अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्ति—इति चेन्न;
उद्गात्रपच्छेदाभावे युगपदुभयापच्छेदे प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य उद्गात्रपच्छेदे पाश्चात्ये च ज्योतिष्टोमद्वितीय-
प्रयोगे प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तसर्वस्वदक्षिणयागप्रतिपादकशास्त्रस्य सावकाशत्वव्यावहारिकप्रामाण्ये
प्रत्यक्षस्यापि सावकाशत्वात्, तत्रैकप्रयोगे विरोधवदत्रापि तात्त्विकत्वांशे विरोधात् । अत एव सगु-
णसंप्रपञ्चश्रुत्योर्निर्गुणनिष्प्रपञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्ठूक्तम् । तदुक्तमानन्दबोधाचा-
र्यैः—'तत्परत्वात्परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम् । पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥' इति ।
ननु—मानान्तरविरोधे श्रुतेस्तत्परत्वमसिद्धम्, परत्वं तु प्रमानन्तरभ्रमे व्यभिचारि । दृश्यते च 'न क्त्वा
सेडि'ति परं प्रति 'मृडमृदगुणकुषक्लिशवदवसः क्वे'ति पूर्वमपि बाधकम्, निर्दोषत्वं त्वर्थान्तरप्रामा-
ण्येनान्यथासिद्धम्, तदुक्तम्—'तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः । निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः
प्राबल्यं नैव साधयेत्'—इति चेन्न; प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं, श्रुतेस्तु तात्त्विकमिति विरोधा-
भावेन तत्परत्वसिद्धेः । परशब्देन च मानान्तराबाधितपरत्वं विवक्षितम्, तेन प्रमानन्तरभ्रमे न
व्यभिचारः; तस्य तदुत्तरभाविमानबाधितत्वात् । 'न क्त्वा से'डित्यस्य तु पाठतः परत्वेऽपि स्वभाव-
सिद्धकिञ्चित्त्वस्यानेनापाकरणं विना पुनस्तत्प्रतिप्रसवार्थं 'मृडमृदे' त्यादेरप्रवृत्तेस्तदपेक्षया अर्थतः
पूर्वत्वमेव; अपवादापवादे उत्सर्गस्यैव स्थिरत्वादतो निर्दोषत्वमपि नान्यथासिद्धम्; तात्पर्यविषय
एव प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वात् इत्यबोधमात्रविजृम्भितमपच्छेदन्यायवैषम्याभिधानमिति ॥

॥ इत्यपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयकत्वसंभवादिति भावः । व्यावहारिकप्रामाण्ये व्यवहारकालावच्छिन्नं यदबाध्यत्वं तदाश्रयविषयकत्वे । तत्र
सर्वस्वदक्षिणत्वे । एकप्रयोगे अदक्षिणप्रयोगकालानुष्ठानांशे । अत्र श्रुतिबाध्यप्रत्यक्षे । तात्त्विकांशे कालानव-
च्छिन्नं यदबाध्यत्वं तदाश्रयविषयकत्वांशे । यथा तत्र पूर्वप्रयोगस्याङ्गं कालान्तरावच्छिन्नं, तथात्र प्रत्यक्षविषयस्य
धर्मोऽबाध्यत्वं व्यवहारकालावच्छिन्नम् । परोक्तमनुसृत्येदमुक्तम् । वस्तुतस्तु—पूर्वांक्तरीत्या पूर्वप्रयोगाङ्गत्वमेव
नास्तीति कुतस्तस्य कालान्तरावच्छिन्नत्वेन सावकाशत्वम् । सुष्ठूक्तमिति । सगुणादिश्रुतेर्व्यवहारकाले प्रवृत्तत्वेन तदु-
त्तरकालप्रवृत्तिर्निर्गुणादिश्रुत्या बाधसंभवात् । तत्परत्वात् अद्वैतपरत्वात् । वैदिकं 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादिश्रुतिः ।
पूर्वस्य पूर्वप्रवृत्तप्रत्यक्षादेः । सगुणादिश्रुतेरुपासनाविधिपरत्वेन सगुणत्वादिपरत्वस्याभावात्, भावेऽपि तस्य परमता-
त्पर्यरूपत्वाभाव इत्यादेः द्वितीयपरिच्छेदे निर्गुणश्रुत्युपपत्तिप्रकरणे वक्ष्यमाणत्वात्, परमतात्पर्यविषयार्थकश्रुत्या बाध्य-
तेति भावः । ननु संप्रपञ्चादिश्रुतेः प्रपञ्चप्रसक्तिहेतुत्वेनाद्वैतश्रुत्यपेक्षणीयत्वेन न तद्बाध्यता, तत्राह—नाय-
मित्यादि । तथा च निषेधधीर्निषेधधर्मिणि प्रतियोगिमत्त्वज्ञानरूपां प्रसक्तिमपेक्षते, न तु तस्याः प्रमात्वमिति भावः ।
शास्त्ररूपे परप्रमाणेऽपि व्यभिचारमाह—दृश्यते चेति । 'न क्त्वा सेडि'ति परं, सेटः क्त्वाप्रत्ययस्य किञ्चिन्निषेधकं
पश्चादुच्चारितं न क्वेत्यादिसूत्रम् । पूर्वं पूर्वांचारितं मृडादीनां परस्य क्त्वाप्रत्ययस्य किञ्चिन्निषेधकम् । अन्यथासिद्धं
यथाश्रुतार्थं प्रामाण्यं विनापि सिद्धम् । इति विरोधाभावेन इति हेतोर्विरोधानिश्चयेन । उपक्रमादिनेति शेषः ।
परत्वे मृडेत्यादितः परत्वे । अनेन न क्वेत्यादिना । अपाकरणं निषेधम् । प्रतिप्रसवार्थं प्राप्त्यर्थम् । तेन न
पुनःपदस्यासङ्गतिः । अप्रवृत्तेः प्रवृत्तेरयुक्तत्वात् । अर्थत इति । बोधरूपफलत इत्यर्थः । प्रमाणफलज्ञानस्यैव
बाध्यबाधकत्वस्य विचार्यत्वेन यदा बोधजननं तत्काले परत्वमेव बाधकत्वे नियामकम् । ननु न क्वेत्यादेः पूर्वत्वेऽप्य-
पवादात्वादेव प्राबल्यम्, तत्राह—अपवादापवाद इति । एवकारः शेषः । तथाच तदपेक्षयापि मृडेत्यादेरपवाद-
कत्वम्; अन्यथा स्वभावसिद्धस्योत्सर्गस्य स्थापनासंभवादिति भावः । अतः तत्परत्वपरत्वयोर्निर्दोषत्वात् । विषय
एवेति । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति न्यायात् ॥ इति लघुचन्द्रिकायामपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ॥

अथ अपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अपच्छेदन्यायेन प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वमपि न संभवति; तस्योपजीव्योपजीवकभावानापन्नपूर्वोत्तरविषयकत्वात्, साव-
काशपूर्वविषयकत्वाच्च । विद्यते हि प्रतिहर्त्रपच्छेदोद्गात्रपच्छेदयोः उपजीव्योपजीवकभावभावः, प्रतिहर्त्रपच्छेदमात्रे,

युगपदपच्छेदे क्रमिकत्वेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पाश्चात्त्ये च “यदि प्रतिहर्तापच्छिन्नात्सर्ववेदसं दद्यात्” इति शास्त्रप्रामाण्यं च । **वस्तुतस्तु**—क्रमिकनिमित्तकयोः श्यामरक्तयोरिवाक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोरपि क्रमेणानुष्ठानसंभवात् विरुद्धपूर्वोत्तर-विषयक एवोक्तन्यायः । अतएव हि तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेप इति दुष्टीकादिवचनं संगच्छते । एवं च

“**पौर्वापर्यं विरोधश्च पूर्वाप्रामाण्यमेव च । नियमान्नास्ति यत्रासावपच्छेदनयो भवेत् ॥**”

इति परस्परविरुद्धयोरुपजीव्योपजीवभावानापन्नपौर्वापर्यवतोश्च प्रत्यक्षागमयोः विषये नोक्तन्यायस्य प्रसरः । नियमेन पूर्वाप्रामाण्यापत्त्या तत्सावकाशत्वाभावात् । **एतेन**—तत्परत्वात्परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम् । पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥” इत्यानन्दबोधोक्तमपि—**परास्तम्**; “तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः । निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः प्रावर्त्य नैव साधयेत्” इति निरोधात्, इति नापच्छेदन्यायविषयौ प्रत्यक्षागमौ इति वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

प्रतिहर्त्रुद्गात्रपच्छेदयोः कुत्रचित्प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सावकाशलवत् एकप्रयोग एव विरोधवच्च प्रत्यक्षागमयोरपि प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकप्रामाण्ये सावकाशलवत् तात्त्विकत्वांशे विरोधस्य च तुल्यत्वान्नोक्तन्यायवैषम्यम् । एतदभिप्रायेणैवानन्दबोधाचार्यैरपि तत्परत्वादिति वर्णितम् । प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति तत्परत्वस्य सिद्धत्वात् । “न क्त्वा सेडि”ति सूत्रस्य पाठतः परत्वेऽपि अर्थतः पूर्वत्वेन “मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वे”त्येतद्वाधकत्वेऽपि व्यभिचाराभावात् तात्पर्यविषय एव प्रामाण्यस्याप्युपगमनीयत्वेनान्यथासिद्ध्यभावाच्चेति समीचीनमेव भामत्युक्तमपच्छेदन्यायेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधनम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

अदक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोरेकस्मिन्प्रयोगे विरुद्धयोः सर्वस्वदक्षिणस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपपरवचनसत्त्वेऽपि प्रत्यक्षागमयोः प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकप्रामाण्ये सावकाशलकल्पकवचनाभावेनोक्तन्यायवैषम्यं सुहृदम्, तात्त्विकत्वस्यैव प्रमाणतया अतात्त्विके प्रमाणताया एव व्याघाताच्च । **एतेन**—आनन्दबोधीयमपि वचनं—**पराहृतम्**; व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिभागासंभवेन तत्परत्वस्यासिद्धेः, द्वितीये व्यभिचाराभावेऽपि प्रत्यक्षादिबाधितत्वेनासिद्धतादवस्थ्यात्, “न क्त्वा सेडि”ति दृष्टान्ते पुरस्तादपवादा इति न्यायेन पूर्वस्य बाध्यत्वात्परत्वोपपत्तेः, निर्दोषत्वे तात्पर्यविषये प्रमाणत्वेऽपि प्रमाणविरुद्धे तात्पर्यस्यैवासिद्धे—इति प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकाराः—

नहि पूर्वप्रयोगाङ्गभूता सर्वस्वदक्षिणा द्वितीयप्रयोगे विधीयते; अपूर्वविधित्वादृष्टार्थत्वादिप्रसङ्गात्, किं तु द्वितीयप्रयोगस्यैव, यद्येतावता न नमेयुः अपि सर्वस्वेनेति वचनं प्राप्तसर्वस्वदाने नियम्यते । “प्रयोगान्तरे निक्षेप” इति दुष्टीकावाक्यस्याप्ययमेवाशयः । तत्र न दद्यादिति वचनं पूर्वप्रयोगे दातव्यं यत्प्राप्तं तत्तत आच्छिद्य प्रयोगान्तरे निक्षिपतीति तन्त्रसारोक्तिरप्यत एव संगच्छते । एवंचापच्छेदन्यायः सावकाशपूर्वविषय इति न संभवत्येवेति पूर्वस्यात्यन्तबाध एव विवक्ष्यते । **प्रकृतिवदिति** दृष्टान्तोऽप्यत एव संगच्छते । अस्तु वा सावकाशपूर्वविषयः, तावताऽपि व्यवहारकालावच्छिन्नाबाध्यत्वविषयकत्वांशे सावकाशत्वाददोषः । उक्तरूपं तु व्यावहारिकप्रामाण्यमुभयसंमतम् । एवं तात्त्विकप्रामाण्यमपि कालानवच्छिन्नाबाध्यविषयकत्वमिति न दोषः । **एतेन**—आनन्दबोधीयवचनमपि—**व्याख्यातम्**; उक्तरूपव्यावहारिकत्वभागसंभवेन प्रथमहेतोः, प्रत्यक्षबाधासंभवेन स्वभावसिद्धस्योत्सर्गस्य स्थापनासंभवेन नक्त्वासेडपेक्षयाऽपि मृडमृदेत्यस्यापवादत्वस्याङ्गीकरणीयत्वेन च द्वितीयहेतोरप्युपपन्नत्वादिति सर्वमनवद्यम्—इति व्यवस्थापयन्ति ॥

इति अपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ॥

अथ मिथ्यात्वानुमितेः शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः ।

ननु—यदि प्रत्यक्षबाधितमप्यनुमानं साध्येत्तदा बह्व्यनौष्ण्यमपि साध्येत्; तथाच कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रोच्छिद्येत, नच—औष्ण्यप्रतियोगिकाभावे साध्ये पक्ष एव प्रतियोगिप्रसिद्धिरिति तत्र बाधः सावकाशः, प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धम्, तदविरुद्धं च मिथ्यात्वम्; तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधित्वादतो न व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यत इति—वाच्यम्; वह्नि-विशेषे औष्ण्याभावानुमाने शैत्यानुमाने वा तदभावात्, पक्षातिरिक्तस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थलस्य तत्र सत्त्वात् । नच—यत्र प्रत्यक्षं प्रबलं तत्र बाधव्यवस्था, नचात्र तथेति न बाध इति—वाच्यम्; प्रकृतेऽप्यौष्ण्यप्रत्यक्षसमकक्ष्यस्य प्राबल्यप्रयोजकस्य विद्यमानत्वात्, अनौष्ण्यानुमितेर्मिथ्यात्वानुमितेश्च समानयोगक्षेमत्वात् । नच—मिथ्यात्ववादिनां प्रतिपन्नोपाधावौष्ण्यनिषेधग्राह्यनुमानेन मिथ्यात्वानुमितेः समत्वमिष्टमेवेति—वाच्यम्; औष्ण्यानौष्ण्ययोर्भावाभावरूपतया तदनुमितिसाम्येऽपि शैत्यानुमितिसाम्यस्यानभ्युपगमात्, शैत्यस्यौष्ण्याभावरूपत्वाभावात् । तस्मात् बाधस्य दोषता वा त्याज्या, औष्ण्यप्रत्यक्षायजमानत्वप्रत्यक्षादेः सत्त्वप्रत्यक्षापेक्षया विशेषो वा वक्तव्यः । नच—औष्ण्यप्रत्यक्षं परीक्षितोभयवासिद्धप्रामाण्यं, सत्त्वप्रत्यक्षं तु न तथेति विशेष इति—वाच्यम्, सत्त्व-प्रत्यक्षेऽपि प्रामाण्यासम्मतौ हेत्वभावात्, परीक्षायास्तुल्यत्वात्—इति चेन्मैवम्; विरुद्धार्थग्राहि-त्वेन विशेषात्, प्रत्यक्षसिद्धायजमानत्वौष्ण्यादिवच्छब्दलिङ्गग्राह्यजमानत्वानौष्ण्याद्यपि व्यावहारिकमिति समत्वात् प्रत्यक्षेण बाध्यते, प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धं तद्विरुद्धं च न मिथ्या-त्वम्; तस्य पारमार्थिकसत्त्वाविरोधात् । अतो न तत् व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यते । ननु—एवं वदतस्तव को वाऽभिप्रायः? किं तात्त्विकविषयत्वात् बाधकतैव मिथ्यात्वानुमानादेर्न बाध्यता, उत सत्त्वमिथ्यात्वग्राहिणोर्व्यावहारिकतात्त्विकविषययोः परस्परविरुद्धविषयत्वाभावात् न बाध्यबा-धकभावः । अन्येऽपि किमध्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वमगृहीत्वैव तदसिद्धस्य तात्त्विकसत्त्वस्यैवा-भावं गृह्णात्यनुमानादि, उत प्रत्यक्षविषयीकृतस्यैव तात्त्विकमभावम् । नान्त्यः, प्रत्यक्षविषयाभाव-ग्राहिणि तदबाधकत्वोक्त्ययोगात् । न द्वितीयः, प्रत्यक्षागृहीतप्रतिषेधकत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः, प्रत्यक्षविषयस्य तात्त्विकत्वापत्तेश्च । न प्रथमः, उपजीव्यप्रत्यक्षविरोधेनानुमित्यादिविषयस्य तात्त्विकत्वासिद्धेः—इति चेन्न; प्रथमे द्वितीये च पक्षे अनुपपत्त्यभावात् । तथाहि—प्रथमे पक्षे न तात्त्विक-त्वासिद्धिः, यस्मादिदं रजतमित्यनेन 'नेदं रजत'मित्यस्य बाधादर्शनात् परीक्षितमेव बाधकम-भ्युपेयम् । परीक्षा च प्रवृत्तिसंवादादिरूपा व्यवहारदशायामबाध्यत्वं विनानुपपन्ना तदशाबाधग्रा-हिणं बाधते, नाद्वैतश्रुत्यनुमानादिकमित्युक्तमेव । द्वितीयेऽपि पक्षे नाप्रसक्तप्रतिषेधः, परोक्षप्रसक्तेः संभवात् । यत्तु केचिदात्मनि तात्त्विकसत्त्वप्रसिद्ध्या प्रसक्तिमुपपादयन्ति । तन्न; नहि प्रतियोगि-ज्ञानमात्रं प्रसक्तिः, किं तर्हि निषेधाधिकरणकप्रतियोगिज्ञानम् । नचात्मा निषेधाधिकरणम्; तस्मा-त्परोक्षप्रसक्तिरेव दर्शनीया । अथ वा माभूत् प्रसक्तिः, अभावप्रत्यक्षे हि संसर्गारोपत्वेन सोप-युज्यते, शब्दानुमानयोस्तु, तस्याः कोपयोगः । नचाप्रसक्तौ निषेधवैयर्थ्यम्; अनर्थनिवृत्तिरूपस्य प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात् । नच प्रत्यक्षविषयतात्त्विकत्वापत्तिः, तद्विषयाधिकरणस्यैव पारमार्थिकत्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कालात्ययापदिष्टः बाधितहेतुः । साध्य इति । अपेक्षणीये इति शेषः । तत्र पक्षे । वह्निविशेषे यत्र बह्ना प्रतियोगिप्रसिद्धिस्तदन्यवह्नौ । न बाध्यते इति । स्वसमानाधिकरणस्वान्यूनसत्ताकाल्यन्ताभाववत्त्वज्ञानस्यैव प्रति-योगिमत्त्वज्ञानविरोधित्वेन न्यूनसत्ताकव्यावहारिकसत्त्वज्ञानं न तात्त्विकमिथ्यात्ववत्ताज्ञानबाधकमित्यर्थः । मिथ्या-त्वस्य तात्त्विकत्वं तु तात्त्विकाधिकरणीभूतचिदात्मकाभाववदितत्वम् । ननु, 'नान्तरिक्ष' इत्यादेरिवाप्रसक्तप्रतिषेधो-ऽस्तु, तत्राह—प्रत्यक्षविषयस्येति । प्रत्यक्षविरोधेन प्रत्यक्षबाधितत्वेन । निषेधवैयर्थ्यमिति । 'अग्नीषोमाभ्या-माज्यभागौ यजते' 'न तौ पशौ करोति न सोमे अध्वरे' इति वाक्ये न तौ पशौ करोतीत्यत्रैव निषेधविधिः; ननु 'न सोमे अध्वर' इत्यत्र; सोमयागे आज्यभागयोरप्राप्तत्वेन तदभावस्य सिद्धत्वेन निषेधविधिवैयर्थ्यात्; तस्मात्तत्रार्थ-वादत्वमिति दशमाष्टमे स्थितम्; तथा प्रपञ्चे तात्त्विकत्वस्याप्रसक्तैस्तदभावस्य सिद्धत्वेन तद्वोधकश्रुतिरनुवादः स्यादिति भावः । अनर्थेत्यादि । प्रपञ्चतात्त्विकत्वस्य वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धत्वेनाद्वैतनिश्चयासंभवात् अद्वैतब्रह्मनिश्चय-द्वारा ब्रह्मात्मैक्यनिश्चयाधीनाज्ञाननिवृत्त्यर्थकत्वेनोक्तश्रुतिर्नानुवाद इत्यर्थः । पारमार्थिकमित्यादि । अद्वैतं हैता-

व्यतिरेकस्य बोधनात् । तथाच न काप्यनुपपत्तिः । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—‘पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः । विरोधादुपजीव्येन न विभेति कदाचन ॥’ इति । ननु—एवमप्यनौष्ण्यं तात्त्विकमिति तदनुमितिरपि न बाध्येत व्यावहारिकौष्ण्यग्राहिणाध्यक्षेण; एवं ‘चादित्यो यूष’ इत्यादावपि ‘तात्त्विकादित्यतां यूषस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः । विरोधादुपजीव्येन न विभेति कदाचन ॥’ इत्याद्यपि स्यात्—इति चेन्न; अनौष्ण्यं तात्त्विकं स्यादिति कोऽर्थः ? यदि तत्त्वत औष्ण्यं नास्तीत्यर्थः, तदा अद्वैते पर्यवसानादिप्रापत्तिः । यदि व्यवहारतोऽपि नास्तीति, तदा व्यवहारादिसंवादादिरूपपरीक्षितत्व-विशिष्टमौष्ण्यप्रत्यक्षं बाधकमिति नानौष्ण्यस्य तात्त्विकत्वसिद्धिः । एतेन शैल्यानुमानं व्याख्यातम् । एवमादित्ययूपभेदस्य तत्त्वतो व्यवहारतो वा निषेधे योज्यम् । श्रुतेरन्यशेषतया आदित्ययूपा-भेदपरत्वाभावेन परीक्षितप्रत्यक्षविरोधेन गौणार्थतया स्तावकत्वोपपत्तेश्च । अतएव—‘तात्त्विकादि-त्यतां यूषस्ये’त्यादिना अद्वैतश्रुतेर‘रादित्यो यूष’ इत्यादिश्रुतिसाम्यापादनम्—अपास्तम् । न च—अनु-मितिसिद्धमिथ्यात्वग्राहकत्वे सत्यद्वैतश्रुतिरनुवादिका स्यात्, यथा ‘ऽग्निर्हिमस्य भेषज’मित्यादि-श्रुतिः प्रमाणान्तरगृहीतहिमनिवारणशक्यतनुवादिकेति—वाच्यम्; स्वस्वचमत्कारानुसारिणोऽनु-मानस्य सकलसाधारण्याभावेन तस्य श्रुत्यनुवादकत्वाप्रयोजकत्वात् । तदुक्तं—‘तर्काप्रतिष्ठाना’-दित्यत्र वाचस्पतिमिश्रैः—‘यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोप-पाद्यते ॥’ इति । दृष्टान्तीकृतश्रुतौ तु हिमनिवृत्तिकारणताया वह्नौ सर्वसाधारणप्रत्यक्षार्थापत्तिभ्याम-वसेयत्वाद्वैषम्यम्; तस्मान्मिथ्यात्वानुमानस्य न वह्निशैल्यानुमितिसाम्यम् ॥

॥ इति मिथ्यात्वानुमानस्य शैल्यानुमितिसाम्यभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावं ब्रह्मस्वरूपम् । पारमार्थिकेन द्वैताभावेन घटितं वा, ब्रह्मगतपारमार्थिकत्वस्याभावरूपं वा, मिथ्यात्वं बोध-यन्ती श्रुतिर्नोपजीव्यविरोधात् विभेतीत्यर्थः । तत्त्वतः तात्त्विकत्वेन । औष्ण्यं नास्ति वह्नावौष्ण्यात्यन्ताभावोऽस्ति । व्यवहारतोऽपि नास्ति वह्नावौष्ण्यं व्यावहारिकात् भिन्नम् । यथाश्रुते व्यावहारिकत्वरूपेणात्यन्ताभावस्य व्यावहा-रिकस्य वात्यन्ताभावस्य पूर्ववदिष्टत्वात् । सकलसाधारण्येति । सर्वान् प्रति निर्दोषत्वेत्यर्थः । निवृत्तिकारण-ताया विरुद्धस्वभावतायाः । यथाश्रुते स्वभाववादे कारणत्वस्यास्वीकारेणासङ्गतेः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां मिथ्यात्वानुमितेर्वह्निशैल्यानुमितिवैषम्यम् ॥

अथ मिथ्यात्वानुमितेः शैल्यानुमितिसाम्यभङ्गः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे कालात्ययापदिष्टदोषता वा त्याज्या, व्यवस्थापकं वा वक्तव्यम्; तत्र खण्डनकृदुक्तं तत्सिद्ध-साध्यसमानसत्ताकवस्तुविषयकत्वरूपसमानविषयकत्वं तु न व्यवस्थापकम्; प्रकृतप्रत्यक्षानुमानयोरप्युक्तविधसमान-विषयकत्वस्य विद्यमानत्वात्, नहि प्रत्यक्षबाधितस्य अर्थस्य तात्त्विकत्वं संभवति; वह्नयनौष्ण्यानुमानस्यापि पारमार्थि-कानौष्ण्यविषयकत्वापत्तेः; एवंचादित्यो यूष इत्यादावपि तात्त्विकादित्यतां यूषस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः । विरोधा-दुपजीव्येन न विभेति कदाचनेत्यापत्तिः । मिथ्याभूतप्रपञ्चान्तर्गतत्वेनानौष्ण्यस्य व्यावहारिकत्वमेवेत्युक्तौ तु तादृशस्य घटादिमिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिकत्वापत्त्या घट्टकुट्यामेव प्रभातम् । प्रातिभासिकमिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वं व्यावहारिकमिथ्यात्वस्य तात्त्विकत्वमिति कल्पनायामपि न निस्तारः; वह्निगतानौष्ण्यस्यापि तात्त्विकत्वस्यैवापत्तेः । यथाकथञ्चिन्निस्तारेऽपि तात्त्विकमिथ्यात्वानुमितिबाधेन सत्यत्वस्य व्यावहारिकत्ववदनौष्ण्यानुमितिबाधेन वह्नयौष्ण्यस्य प्रातिभासिकत्वापत्तेः । श्रुत्यनुगृहीतत्वेन मिथ्यात्वानुमानस्य बाधकत्ववर्णनमपि न संभवति; अनुमितिसिद्धानुवादकत्व-नापि श्रुत्युपपत्तेः, तर्कानुगृहीतत्वं तु न प्रयोजकम्; ‘लिङ्गमाभासतामेति प्रत्यक्षार्थविरुद्धधी’रिति सुरेश्वराचार्यवचनात् । एवंचोपजीव्यप्रत्यक्षविरुद्धत्वादुक्तानुमानमप्रयोजकम् । एतेन—“पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः । विरो-धादुपजीव्येन न विभेति कदाचने”ति वचनमपि—पराहतं; मिथ्यात्वानुमित्या प्रत्यक्षसिद्धतात्त्विकसत्त्वाग्रहेण तात्त्विकसत्त्वनिषेधेऽप्रसक्तप्रतिषेधस्य, प्रत्यक्षसिद्धस्यैव तात्त्विकनिषेधमात्रविषयकत्वे तात्त्विकतदभावग्रहेण बाधकत्वायोगाच्च

प्रत्यक्षस्यैवात्र प्राबल्यात् । अतएव हि कालालयकथापि नोच्छिन्ना भवति । एतेन—साध्यग्राहकप्रत्यक्षविरुद्धत्वादौ-
ष्ण्यानुमानस्य बाधेऽपि प्रकृते न बाध इति शङ्कापि—पराहता; तस्य धर्मग्राहकत्वेनेवात्रापि धर्मिग्राहकत्वेनोपजीव्यप्रत्यक्ष-
बाधप्रसरादिति मन्तव्यम्—इति ब्रुवन्ति ।

(२) अद्वैतसिद्धिकाराः—

विरुद्धार्थग्राहिलमेव बाध्यबाधकभावनियामकम् । यथौष्ण्यायजमानत्वादिप्रत्यक्षतद्विरुद्धार्थविषयकानुमानागमयोः । प्रकृते
तु व्यावहारिकसत्त्वविषयस्य प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वाभावविषयकेनानुमानादिना न विरोध इति न बाधप्रसङ्गः; नापि
कालालयापदिष्टकथोच्छेदप्रसङ्गः । एतेन—वह्नयनौष्ण्यानुमानस्यापि तात्त्विकवह्निविषयकत्वापादनादिकं पराहतम् ।
यथाच मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वानापातस्तथा पूर्वमेव निरूपितमिति मिथ्यात्वस्य प्रपञ्चसमानस्वभावत्वाभावेऽपि
न विरोधः; अनौष्ण्यस्य तात्त्विकत्वे परीक्षितत्वविशिष्टप्रत्ययविरोध इवात्र विरोधाभावात् । ‘नेह नानास्ति किञ्चने’ति
श्रुत्यनुग्रहोऽप्यत्र नियामकः; स्वचमत्कारानुसारिणोऽनुमानस्य सकलसाधारण्याभावेन तर्काप्रतिष्ठानादिसूत्रविरोधेन च श्रुति-
पुरोवादात्संभवेन श्रुत्यनुवादताया असंभवात् । एतदभिप्रायेणैवोक्तम्—‘पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः ।
विरोधादुपजीव्येन न विभेति कदाचने’ति । अभावप्रत्यक्ष एव संसर्गारोपत्वेन प्रतियोगिप्रसक्तिरपेक्षिता, नतु
शान्दपरोक्षादावपि, अपेक्षायामपि परोक्षप्रसक्तिः संभवत्येवेति नाप्रसक्तप्रतिषेधदोषस्यात्र प्रसङ्ग इति प्रत्यक्षेण तात्त्विक-
सत्त्वाग्रहणेनैव पारमार्थिकसत्त्वाभावबोधनसंभवात् । एवंच व्यवस्थापकसत्त्वात् कालालयापदिष्टकथोच्छेदप्रसङ्गाच्च
प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानं निराबाधमेव—इति वर्णयन्ति ।

(३) तरङ्गिणीकाराः—

नहि तात्त्विकसत्त्वाग्रहणेन तात्त्विकभावननिषेधः संभवति, अप्रसक्तप्रतिषेधानुपपत्तेः । अभावप्रत्यक्ष एव प्रतियोगि-
प्रसक्त्यपेक्षेति तु न संगतम्; अपूर्वे चार्थवादः स्यादिति दशमाधिकरणविरोधापत्तेः । तत्र ह्यधिकरणे “न तौ पशौ
करोती”त्येतदनन्तरं श्रूयमाणस्य, न सोमेऽध्वरे इति वाक्यस्य सोमे आज्यभागनिषेधपरत्वं वा सोमभिन्ने तन्नियमनेन पर्यु-
दासपरत्वं वाऽर्थवादत्वं वेति संदिह्य प्रतिषेधपरत्वं पर्युदासपरत्वं वेति दीक्षणीयादिद्वारा सोमे आज्यभागप्रसक्त्युपपदानपूर्वकं
पूर्वपक्षस्य दीक्षणीयादेरिव पशोरपि सोमसंबन्धित्वेनानेनैव पशवापि निषेधसंभवेन “न तौ पशौ करोती”ति निषेधवैयर्थ्या-
पत्त्या साक्षात्प्रसक्त्यैव निषेधस्य वर्णनीयतया तस्याश्च सोमेऽतिदेशेनोपदेशेन वाऽसंभवादप्रसक्तप्रतिषेधेनानर्थक्यापत्त्या
न तौ पशौ करोतीत्येतदर्थवादत्वमेवेति सिद्धान्तितम् । तच्च मिथ्यात्वानुमानस्य तच्छ्रुतेर्वा तात्त्विकसत्त्वाभावपरत्वे विरुद्धेत ।
नहि मिथ्यात्वज्ञानस्यानर्थनिवृत्तिप्रयोजकत्वम्; सगुणोपासनस्यैव तत्त्वात् । एतेन—परोक्षप्रसक्तिमादायोक्तदोषपरिहारोऽपि—
परास्तः; श्रुत्या प्रत्यक्षेण वाऽननुगृहीतस्य अनुमानस्यार्थासाधकत्वेनानुमानिक्या श्रुत्या प्रसक्तस्य निषेधायोगेन विकल्पापत्त्या
च श्रौतायाश्च प्रसक्तेरुपपादनासंभवात् । एतेन—अप्रसक्तप्रतिषेधपक्षे “न तौ पशौ करोती”त्यत्र विकल्पसिद्धान्तपराधि-
करणविरोधोऽपि—सूचितः इति प्रत्यक्षानुमानयोस्तदागमयोर्वा विरुद्धविषयकत्वस्यैव समापत्त्या प्रत्यक्षबाधेनोक्तानु-
मानं न साध्वेवेति मन्तव्यम् । एतेन—श्रुत्यनुगृहीतत्वेनोक्तानुमानप्राबल्यमपि—पराहतम्; उक्तानुमानसिद्धमिथ्या-
त्वानुवादरूपत्वेन श्रुत्युपपत्तेः । अनुमानप्रामाण्ये परं प्रति तदुपन्यासनायोगादिति कालालयापदिष्टकथोच्छेदप्रसङ्गः प्रत्यक्ष-
स्यानुमानबाध्यत्वपक्षे तदवस्थ एव—इति निरूपयन्ति ।

(४) ब्रह्मानन्दसरस्वत्यस्तु—

तात्त्विकसत्त्वाभावबोधने नोक्ताधिकरणविरोधः; सोमे आज्यभागयोरप्राप्तत्वेन सिद्धस्यैव निषेधस्य बोधने प्रयोजना-
भावेऽपि प्रकृतेऽद्वैतब्रह्मनिश्चयद्वारा ब्रह्मात्मैक्यनिश्चयाधानेनानर्थनिवृत्तिरूपप्रयोजनसत्त्वे श्रुत्यनुवादस्यायोगात् । प्रतियोगि-
ज्ञानमेव निषेधे तन्त्रम्, नतु तत्प्रमेति पूर्वमुपपादितत्वेन आनुमानिक्याः आर्थिक्या वा प्रसक्तेरपि संपादनसंभवाच्च ।
श्रुत्यर्थोपपादनार्थत्वेनैवानुमानस्यापेक्षणेन श्रुत्यनुवादत्वकल्पनं तु न युक्तमिति प्रत्यक्षानुमानयोः तदागमयोर्वा विरुद्धविषय-
कत्वाभावात् न प्रत्यक्षबाध्यमनुमानादिकमिति प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्युहैव—इति प्रतिपादयन्ति ॥

इति मिथ्यात्वानुमितेः शैल्यानुमितिसाम्यभङ्गः ।

अथ प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् ।

किंच परीक्षितत्वेनैव प्रावलयम्, नोपजीव्यत्वादिना; अनुमानशब्दबाध्यत्वस्य प्रत्यक्षेऽपि दर्शनात् । तथाहि—इदं रजतमिति प्रत्यक्षस्यानुमानाप्तवचनाभ्यां, नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन, 'गौरोऽह'मित्यस्या 'हमिहैवास्मि सद्ने जानान' इत्यस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य चानुमानागमाभ्यां 'पीतः शङ्खस्तिको गुड' इत्यादेशानुमानाप्तवचनाभ्यां बाधो दृश्यते । ननु—साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनमेव विरोधीत्यभ्युपेयम्; अन्यथा परोक्षप्रमाया अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वोपपत्तौ वेदान्तवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वव्युत्पादनप्रयासो व्यर्थः स्यात्—इति चेन्न; 'नायं सर्प' इत्यादिवाक्यादिना सविलासाज्ञाननिवृत्त्यभावेऽपि भ्रमगताप्रमाणत्वज्ञापनेन भ्रमप्रमाणत्वबुद्धेस्तद्विषयसत्यताबुद्धेश्च निवर्तनात्, तावता च भ्रमनिवर्तकत्वव्यपदेशात्, भ्रमे प्रामाण्यविभ्रमस्य तद्विषये सत्यताविभ्रमस्य च परोक्षत्वेनापरोक्षबाधानपेक्षत्वात् । नहि दुष्टकरणाजन्यत्वमबाधितविषयत्वं वा प्रामाण्यं कस्यचित् प्रत्यक्षम् । न वा सर्वदेशसर्वकालसर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपं विषयसत्यत्वम् । अतस्तयोः परोक्षप्रमावाध्यत्वमुचितमेव । तयोश्च बाधितयोः रजतादिभ्रमः स्वरूपेण सन्नपि स्वकार्याक्षमत्वादसन्निवेति बाधित इत्युच्यत इत्यनवद्यम् । ननु—'इदं रजत'मित्यत्र सयुक्तिकं प्रत्यक्षं बाधकं, न युक्तिमात्रम्; 'गौरोऽह'मित्यत्रापि मम शरीरमिति बलवत् प्रत्यक्षमेव बाधकम्, 'अहमिहैवास्मि सद्ने जानान' इति तु प्रमाणमेव, जीवस्याणुत्वात्—इति चेन्न; रजताभेदशरीराभेदप्रत्यक्षयोर्जाग्रतोः युक्त्याः प्रतिबन्धाक्षमत्वे तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेरेवानवकाशात् । नच तत्र परम्परासंबन्धेन कर्दमलिप्ते वस्त्रे 'नीलं वस्त्र'मिति वत् 'गौरोऽह'मिति गौणम्; कर्दमवस्त्रयोरिव शरीरात्मनोर्भेदानध्यवसायेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । तथा चात्रैक्याध्यास एवोचितः । एवं 'चोष्णं जल' मित्यत्रापि । यदि कर्दमवस्त्रयोरिव तोयतेजसोर्भेदग्रहः, तदा गौणतैव । यदि च शरीरात्मवत् भेदानध्यवसायस्तदाऽध्यास एव; तथा च युक्तिबाध्यमेवेति, तदप्युदाहरणम् । यत्त्वहमिहैवेति प्रमाणमित्युक्तम्, तन्न; आत्मन 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इति सर्वगतत्वेन इहैवेति व्यवच्छेदस्याप्रामाणिकत्वात् । नच जीवोऽणुः; युगपदेव पादशिरोऽवच्छेदेन सुखदुःखानुभवात् । नह्येकोऽणुरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छिन्नो भवति । न च युगपत्प्रतीतिभ्रमः; उत्सर्गसिद्धप्रामाण्यपरित्यागे बीजाभावात् । विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः । ननु—नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन न बाधः, लिङ्गाभावात्, नच परममहत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वादेर्लिङ्गत्वम्; त्वन्मते असिद्धेः । निस्पर्शत्वं तु तमसि व्यभिचारि । पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादि चाप्रयोजकम् । तथाच नीरूपत्वग्राहकसाक्षिप्रत्यक्षमेव तद्बाधकं वाच्यम्; नच—रूपग्रहणासमर्थस्य साक्षिणः कथं नीरूपत्वग्राहकत्वमिति—वाच्यम्; पिशाचाग्राहकस्यापि चक्षुषस्तदभावग्राहकत्ववदुपपत्तेः, परेणापि साक्षिणोऽपि रूपवत्तमोग्राहकत्वाभ्युपगमाच्च, अचाक्षुषेऽपि नभसि वायाविव चक्षुषैव रूपाभावग्रहणसंभवेन चाक्षुषप्रत्यक्षबाधात्—इति चेन्न; 'नीलं नभ' इति प्रत्यक्षे जाग्रति रूपाभावग्रहणस्य चक्षुषा साक्षिणा चासम्भवात् । तथाच बलवती युक्तिरेव तद्बाधिका । नच लिङ्गाभावः; चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वात् रूपवदिति लिङ्गसंभवात् । नचाप्रयोजकत्वम्; नभो यदि सरूपं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मम शरीरं शरीरं मदन्त्यव्याप्यमदीयत्ववत् । यथाश्रुते संबन्धमात्रस्य तादात्म्यव्यावर्तकधर्मत्वाभावेनासङ्गतेः । अनवकाशादिति । युक्तेस्तु ग्राह्याभावव्याप्यवत्त्वनिश्चयरूपाया रजताभेदवत्त्वादिनिश्चयाप्रतिबन्धत्वेनोत्पत्तेरवकाश इति भावः । ननु—नात्मा साक्षी; येन तस्याणुत्वे नानावयवावच्छिन्नसुखादितादात्म्यापन्नसाक्षिरूपत्वासंभवेन दोषः, किं त्वात्मनश्चैतन्यं गुणः; तस्य च दीपप्रभायाः दीपासंयुक्तदेश इव आत्मासंयुक्तेऽप्यवयवे सत्त्वान्नानुपपत्तिस्तत्राह—न ह्येक इत्यादि । तथा चोक्तगुणस्वरूपस्यैवात्मत्वसंभवेन तदन्यस्मिन्नप्यात्मनि मानाभावः । ननु—'अणुर्ह्येवैष आत्मे'ति श्रुतेः उत्क्रान्त्यादिश्रुतेश्चाणुरेवात्मा, तत्राह—विस्तरेणेति । उक्तश्रुतीनामौपाधिकपरिच्छेदबोधकत्वमित्यादिविस्तरेणेत्यर्थः । त्वन्मते आकाशस्य जन्यत्वशरीरारम्भकत्वादिवादिनामद्वैतवादिनां मते । व्यभिचारीति । तमसि अनुद्भूतस्पर्शादौ मानाभावात् । तदभावेति । तन्नेदेत्यर्थः । तदत्यन्ताभावस्याप्रत्यक्षत्वात् । 'नित्यानुभवग्राह्यं तम' इति तत्त्वदीपनोक्तेस्तमस इव तदीयरूपस्यापि प्रातीतिकत्वेन साक्षिवेद्यत्वेऽपि व्यावहारिकरूपाभावस्य साक्षिवेद्यत्वे मानाभावस्तत्राह—अचाक्षुषेऽपीति । बाधात् बाधसंभवात् । अवर्जनीयमिति । चक्षुःसंयोगविशिष्टालोका-

स्यात्तदा चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधाधिप्रतीतौ रूपासंबन्धितया विषयो न स्यादिति तर्कोपपत्तेः । नचेष्टापत्तिः; सविधे रूपासंबन्धितया नभसः सिद्धेः सर्वजनसंमतत्वात् । नभसः साक्षिवेद्यतायामपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधानमवर्जनीयमेव; अन्यथाऽन्धस्यापि तद्ग्रहणं स्यात् । नच—पञ्चीकरणाद्रूपवदारब्धत्वेन नभसो नीरूपत्वं बाधितमिति—वाच्यम्, त्रिवृत्करणपक्षेऽस्य दूषणस्यानवकाशात् । पञ्चीकरणपक्षेऽपि अपञ्चीकरणदशायां यस्मिन् भूते यो गुणः स पञ्चीकरणाद्यवहारयोग्यो भवतीत्येतावन्मात्राभ्युपगमाच्चाकाशे रूपारम्भप्रसङ्गः । नच—‘नायं सर्प’ इत्युक्तेऽपि किमेवं वदसि परम्? अपि पुनः परामृश्य पश्यसि? इति प्रतिवचनदर्शनाच्च शब्दमात्रं रज्जुसर्पादिभ्रमनिवर्तकम्; किं तु प्रत्यक्षमेवेति—वाच्यम्; प्रतिवचनस्थले भ्रमप्रमादादिशङ्काक्रान्तत्वेन ‘नायं सर्प’ इत्यादेर्दुर्वलतया न भ्रमनिवर्तकत्वम् । यत्र तु तादृक्शङ्कानाक्रान्तत्वं, तत्र भ्रमनिवर्तकतैव । अतएव तादृक्शङ्कानाक्रान्तपित्रादिवचसि नेद्वक्प्रतिवचनम्, किंतु सिद्धवत्प्रवृत्त्यादिकमेव । ज्वालैक्यप्रत्यक्षमप्येवमेव युक्तिवाध्यम् । न च—निर्वापितारोपितस्थले स्पष्टतरभेदप्रत्यक्षबाधितमित्यन्यत्रापि दीर्घं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षमेव तद्बाधकमिति—वाच्यम्; निर्वापितारोपितातिरिक्तस्थले तावदयं विचारः, तत्र दीर्घं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षं वक्तुमशक्यम्; यैव ह्रस्वा सैवेदानीं दीर्घेति ह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदस्य साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तथाच ज्वालाप्रत्यभिज्ञा युक्तिवाध्यैव । सर्वदा पित्तदूषितनेत्रस्य ‘पीतः शङ्ख’ इति प्रत्यक्षे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे च परोक्षातिरिक्तस्य बाधकस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् युक्त्यादिबाध्यतैव वक्तव्या । ननु—सर्वत्रैवात्र प्रकारान्तरेणासत्कल्पे प्रत्यक्षे मानान्तरप्रवृत्तिः । तथा हि—द्विविधं ज्ञानं, द्विकोटिकमेककोटिकं च । अन्यमपि द्विविधं अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं तदकलङ्कितं च । तत्राद्यौ सर्वप्रमाणावकाशादौ; अर्थापरिच्छेदकत्वादप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वाच्च । अप्रामाण्यधीकलङ्कितत्वं च द्वेधा भवति; दुष्टकरणकत्वनिश्चयादार्थाभावनिश्चयाच्च । तथा च शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिर्दूरदोषनिवन्धना दृष्टेति दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययो दोषनिवन्धन एवेति निर्णयते । एवमाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्चयादूरे रूपवत्त्वधीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्चीयते । ‘पीतः शङ्ख’ इत्यादि प्रत्यक्षं तु प्राथमिकपरीक्षितप्रत्यक्षेण ‘शङ्खो न पीत’ इत्यर्थाभावनिश्चयादप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितमेवोत्पद्यते । एवं सवितृसुषिरादिप्रत्यक्षमपि । तथाच चन्द्रादिप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं दूरादिदोषनिश्चयात् ‘पीतः शङ्ख’ इत्यादिप्रत्यक्षं प्राथमिकार्थाभावनिश्चयादेव बाधितमिति पश्चादनुमानागमादिप्रसर इति न ताभ्यां तद्बाधः । येन हि यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते, तत्तस्य बाधकमित्युच्यते । नच चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते; भ्रमत्वज्ञानोत्तरकालमेव तत्प्रवृत्तेः । अप्रामाण्यज्ञानाकलङ्कितं तु स्वार्थपरिच्छेदकं निःशङ्कप्रवृत्तिजननयोग्यम् । यथा ‘वह्निरुष्ण एव’ ‘प्रस्तरो यजमानभिन्न एव’ ‘घटः सन्नेवेत्यादि, तन्नान्यस्यावकाशदर्शनाच्चाप्येन वाच्यम् । नह्यत्र प्रागिव दूरादिदोषधीर्वा अर्थाभावनिश्चयो वा कोट्यन्तरालम्वित्वं वास्ति । किंच क्वचित् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षान्तरगौरवाद्युक्तिबाध्यं भवतु । क्वचिच्च लिङ्गादिकं श्रुतिगौरवाच्चुत्यनुसारिप्रकरणादिबाध्यं भवतु । राजामात्य इव राजगौरवेण राजभृत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वच्छिन्नं नभः साक्षिवेद्यम्; अतादृशे नभस्यावरणस्वीकारात् । ननु—रूपवत्यपि नभसि चक्षुःसंयोगे मानाभावेन रूपाचाक्षुषोपपत्तेः कथमुक्ततर्कावतार—इति चेन्न; चक्षुःसंयुक्तालोकावच्छिन्ने नभसि चक्षुःसंयोगसंभवेऽपि तत्र रूपचाक्षुषानुपपत्तौ तत्र रूपवत्त्वे प्रमाणाभावात् । एवं नभो यदि नीलं स्यात्, तदा नीलत्वेन निकटस्थपुरुषीयचाक्षुषविषयः स्यात्, अनुद्भूतरूपे मानाभावादित्यादि बोध्यम् । पञ्चीकरणात् एकैकभूतभागचतुष्टये इतरभूतचतुष्टयस्य भागचतुष्टयसंयोगात् । स्थूलाकाशादीनामिति शेषः । तथाच संयोगविशेषस्यैव रूपादिकारणत्वं स्वीक्रियते, नतु स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन रूपादेः; तदिदमुक्तम्—एतावन्मात्रेति । वस्तुतस्तु—परिणामवादस्वीकारेण मिलितानां भूतानामाकाशादिपरिणामोत्पत्तावपि न शब्दादिकमुत्पद्यते, किंतु यस्य भूतस्य भागचतुष्टयं यत्र, तस्यैव तत्र गुणोऽभिव्यक्तो भवति । तथा च गुणाभिव्यक्तावेव संयोगविशेषो हेतुः । तदिदमुक्तम्—व्यवहारयोग्यो भवतीति । तदेतत् ‘एकैका एव नीलाख्यादिव्यक्तयो नित्या जातिवदखण्डाः; एवं शब्दो नोत्पद्यते नित्यत्वादि’ति भट्टमतम् । गुणगुणिनोक्तादात्म्याद्रूपादीनामुत्पत्तिः क्वचिद्व्यवह्रियते । रूपत्वादिना कार्यता तु न स्वीक्रियते, किं तु रूपविशेषादिविशिष्टत्वेन संयोगविशेषत्वेन कार्यकारणभावः । नित्यानित्ययोरपि जातिव्यक्त्योरिव तादात्म्यमविरुद्धम् ।

बाध्यः, तथापि न युक्तिमात्रस्य प्रकरणमात्रस्य वा प्रत्यक्षलिङ्गादिबाधकत्वम्; प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्य सर्वत्राभावात्, नहि प्रधानभूताचमनादिपदार्थविषयया 'आचामेदुपवीती दक्षिणाचार' इत्यादि-स्मृत्या पदार्थधर्मभूतक्रमादिविषयया 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति श्रुतिवेदकरणानन्तरं क्षुतनिमित्त-काचमनोपनिपाते बाध्यत इत्यन्यत्रापि तथा भवितव्यमिति चेन्मैवम्; यतो युक्तिरेवैषा । यत् यदूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानं तत् तदूरदोषनिबन्धनमप्रमा, शैलाग्रस्थविट्प्यल्पपरिमाणज्ञानवदिदमपि तथेति । तथा चैवरूपया युक्त्यैव चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्य बाधं वदन् युक्त्या न प्रत्यक्षस्य बाध इत्यनेनाजैषीः परं मन्दबुद्धे मन्दाक्षं, न तु परम् । एवं 'पीतः शङ्ख' इति प्रत्यक्षेऽपि प्राचीना-र्याभावप्रत्यक्षं न बाधकम्; तस्येदानीमभावात् । नच तत्स्मृतिर्वाधिका; तस्यानुभवादुर्वलत्वात् । केवलं युक्त्युत्पादन एव सोपयुज्यते । तेन युक्त्यागमाभ्यामेवोदाहृतस्थलेषु बाधः । यत्तु—कचि-द्युक्त्यादेर्बाधकत्वदर्शनमात्रेण सर्वत्र न बाधकत्वं वक्तुं शक्यम्; युक्त्यादिबाधकताया अनुस्रिय-माणप्रत्यक्षगौरवनिबन्धनत्वात्—इत्युक्तम् । एतदनुकोपालम्भनम्, नहि मया कचिदर्शनमात्रेण युक्तेर्बाधकता सर्वत्रोच्यते, अपितु चन्द्रप्रादेशिकत्वशङ्खपीतत्वप्रत्यक्षादौ यावदागमादेर्बाधकता-प्रयोजकं दृष्टं तावत्सत्त्वेन । नच तत्रानुस्रियमाणं प्रत्यक्षमस्ति; यद्वौरवेण बाधकतायामन्यथासिद्धिं ब्रूयाः । तस्माच्चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्षस्य च तुल्यवदेव बाध्यता । युक्त्या-गमयोश्च तुल्यवदेव बाधकतेति । न हि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षेऽपि प्रागेव दुष्टकरणत्वनिश्चयः; नैकव्यस्यापि कचिदोषत्वेन सर्वत्र परिमाणज्ञानाविश्वासप्रसङ्गात्, किंत्वागमादिना बाधानन्तर-मेव; तद्वत् प्रकृतेऽपि मिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरमेवाविद्यारूपदोषनिश्चयः । तथाच सर्वात्मना साम्यम् । यत्तु—दृष्टस्य वस्तुनो बलवद्दृष्टं विना अन्यद्बाधकं नास्तीत्युक्तम्—तत् दुर्बलशब्दलिङ्गादिविषयम् । यदप्युक्तं विवरणे—'यत्राविचारपुरस्सरमेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितमुच्छिन्नव्यवहारं भवति । तत्र तथा भवतु । यत्र पुनर्विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञानयोर्बलावलचिन्तया बाधनिश्चयस्तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्धिः'—इति, तदपि गृहीतप्रामाण्यकशब्दतदुपजीव्यनुमानाति-रिक्तयुक्तिविषयम्; एकत्र प्रामाण्यनिश्चये बलावलचिन्ताया एवानवकाशात् ॥

॥ इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लिङ्गादिकमिति दृष्टान्तः । प्रकरणमात्रस्य प्रकरणादिमात्रस्य । बाधकजातीयत्वमात्रेण न बाधकत्वमित्यत्र दृष्टान्त-माह—नहीत्यादि । स्मृत्या श्रुतिर्बाध्यत इति योजना । बाधकत्वे हेतुः—प्रधानेत्यादि । क्रमस्य पदार्थद्वयनिरु-ध्यत्वेन पदार्थस्य क्रमापेक्षया प्रधानत्वम् । आचामेदिति । क्षुत आचामेदित्यादीत्यर्थः । वेदं संमार्जनसाधनदर्भ-मुष्टिविशेषम् । वेदिं गार्हपत्याहवनीयमध्ये चतुरङ्गुलजातभूमिम् । अनन्तरं अन्यवहितम् । अन्यत्र पदार्थधर्माद्य-विषयकश्रुतौ । तथाच बाधिकया स्मृत्या भवितव्यम् । अत्र स्मृत्या श्रुतिरित्यनेन प्रमाणबलाबलाभ्यां बाधकत्व-बाध्यत्वे इति पूर्वपक्षः सूचितः । पदार्थप्राधान्योक्त्या च प्रमेयबलाबलाभ्यामेव ते; न हि प्रमाणयोः स्वत एव विरोधः, किंतु मिथो विरुद्धविषयकत्वेन । तथाच तत्पर्यालोचने प्रमेयबलाबलज्ञानस्य प्राथम्यात्तेनैव व्यवस्थेति सिद्धान्तः । प्रथमतृतीये—स्मार्तानामाचमनादीनां श्रौतक्रमादिभिः विरोधे श्रौतत्वात् क्रमादिकमेवानुष्ठेयम्, नहि 'क्षुत आचामे'दित्यादिस्मार्तानामनुष्ठाने वेदमित्यादिक्रमादिकं संभवतीति प्राप्ते, उक्तसिद्धान्त उक्तः । तत्तदूरदोष निबन्धनमिति । दूरत्वस्यापेक्षिकस्य सविधेऽपि सत्त्वात् दूरत्वमात्रस्यादोषत्वात् दूरत्वविशेषाणामेव भ्रमविशेषे दोषविधया हेतुत्वलाभाय द्वितीयतत्पदं दूरदोषे विशेषणम् । प्रथमतत्पदस्याप्रमेयत्र योजना । तथाच तेषां दूरत्वा-नामन्यतमजन्यं यद्यत् ज्ञानं तदप्रमेयार्थः । एतेन—न्यायप्रयोगे वीप्साया असाग्रदायिकत्वात्तत्तदित्यसङ्गतमिति—अपास्तम् । युक्त्यैव इदं ज्ञानमप्रमात्वव्याप्योक्तजन्यत्ववदिति निश्चयेन । बाध्यम् अप्रमात्वानुमितिम् । मन्दबुद्धे इति । युक्तिस्वरूपाज्ञानादुक्तयुक्तेरप्यागमविरुद्धविषयकत्वनिश्चयादेवोत्थानम् । अन्यथा 'इदं ज्ञानं दूरत्वदोषजन्यं न वे'ति सन्देहात् । तथाच तस्यैव प्रकृते युक्तिवसव्यापेक्षितत्वादागमजन्यस्य परिमाणज्ञानस्य विरोधिप्रत्यक्षस्य सत्त्वाव प्रथमतोऽनुत्पत्तावप्यागमतात्पर्यविरुद्धविषयकत्वनिश्चयस्य युक्तिवसंभवादिति सूक्ष्मदर्शनाभावाच्च बुद्धिमान्द्यम् । दुष्टकरणत्वेति । दोषसहकृतजन्यत्वेत्यर्थः । आगमादिना आगमादिघटितहेतुना आगमतात्पर्यविरुद्धविषय-कत्वेन । तद्वत् अनुमानविरुद्धविषयकत्वेन हेतुना । निश्चयः जन्यत्वनिश्चयः । लिङ्गादीति । लिङ्गाद्याभासेत्यर्थः । एकत्र बाध्यबाधकयोरेकत्र ॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् ॥

अथ प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

नहि प्रत्यक्षं कुत्रापि लिङ्गादिबाध्यं दृष्टम् । इदं रजतमिति ह्यपरोक्षभ्रमो न परोक्षयुक्तिवाधनमर्हतीति प्रत्यक्षबाध्य एवाङ्गीकरणीयः । एतेन—गौरोहमिति भ्रमोऽपि—**व्याख्यातः । वस्तुतस्तु**—कर्ममलिते वस्त्रे नीलं वस्त्रमिति प्रतीतिरिव गौण्येवेयं, नतु भ्रम इति न बाधप्रसरोऽपि, नभोनैल्यप्रत्यक्षं तु नानुमानबाध्यम्; महत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वादेः हेतोस्त्वन्मते-
ऽसिद्धत्वेन निस्पर्शत्वस्य तमसि व्यभिचारेण, पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादप्रयोजकत्वेन पञ्चीकरणपक्षेण तत्र रूपस्यैव सत्त्वेन बाधेन च बाधकानुमानासंभवादिति नीरूपत्वग्राहकसाक्षिबाध्यमेवाङ्गीकरणीयम् । एतेन—ज्वालैक्यप्रत्यक्षमपि—
व्याख्यातम्; निर्वापितारोपितस्थलीयस्फुटतरमेदप्रत्यक्षेणैव तस्य बाध्यत्वात् । अहमिहैवास्मि सदने इति तु प्रमाणमेवेति न कस्यापि बाध्यम्; जीवस्याणुत्वात् । एतेन—उष्णं जलमिति प्रतीतिरपि—**व्याख्याता**; तस्या अपि गौणत्वेन प्रमाणत्वात् । एतेन—चन्द्रपीतिमप्रत्यक्षः चान्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षश्चापि—**व्याख्यातः**; द्विविधं हि ज्ञानम् । द्विकोटिकमेककोटिकं च । द्वितीयमपि द्विविधमप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं, तदकलङ्कितं च । अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वं च बाधकतयाभिमतबाधोदयात्प्रागेव दोषज्ञानेन वा, अर्थाभावनिश्चयेन वा संभवति; तत्राद्यं चन्द्रप्रादेशिकत्वादप्रत्यक्षे; तस्य दूरदोषेणाप्रमाणत्वेनैवोत्पत्तेर्निर्णयत्वात् । द्वितीयं तु शङ्खपीतिमादिभ्रमे, तत्र प्रागेव परीक्षितप्रत्यक्षेणार्थाभावनिश्चयादिति शब्दाद्यवकाशदस्योक्तप्रत्यक्षस्य कथं वा शब्दादिबाध्यत्वमिति भवन्त एव विवेचयन्तु । एवंच प्रकृते सन् घट इति प्रत्यक्षस्य मेयाविद्यकत्वस्यैतावताप्यसिद्धत्वेन मानाविद्यकत्वस्य श्रुतिसाधारण्येन चान्यस्य दोषस्यासंभवात् अर्थाभावनिर्यायकपरीक्षितप्रत्यक्षाभावाच्च प्रामाण्यस्यैवासिद्ध्या नानुमानबाध्यत्वावकाशः । एतेन—दूरस्थस्यायं सर्प इति भ्रमोऽपि—
व्याख्यातः; दुर्बलस्य प्रमाणस्य बलवानाश्रयो यदा । तदापि विपरीतत्वं शिष्टाकोपे यथोदितमिति न्यायेन प्रबलप्रत्यक्षाश्रितत्वेनैव तत्र वाक्यबाधकत्वस्याभिमतत्वात् । अतएव नायं सर्प इत्युक्ते किं पुनः पश्यसि? अपितु परामृशसि? इति प्रतिवचनोपपत्तिः । अस्तुवा कुत्रचिदनुमानादिना प्रबलव्याप्तिप्रत्यक्षानुगृहीतेन प्रत्यक्षबाधोऽपि; एवमपि प्रकृते न निस्तारः; सत्त्वग्राहिव्याप्तिप्रत्यक्षस्योक्तानुमितिमूलत्वाभावादिति न प्रत्यक्षस्य लिङ्गाबाध्यत्वे किमपि बाधकम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकाराः—

प्रत्यक्षस्य लिङ्गाबाध्यत्वे 'इदं रजतम्', 'अयं सर्पः', 'पीतः शङ्खः' इत्यादीनामनुमानासवचनाभ्यां 'गौरोहं' 'अहमिहैवास्मि', इत्यादीनामनुमानागमाभ्यां नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन च भ्रमगताप्रमाणत्वज्ञापनेनानुभूयमानस्य बाधस्यानुपपत्तिः । एतेन—इदं रजतमिति भ्रमस्य गौरोहमिति भ्रमस्य ज्वालाऽभेदभ्रमस्य च बलवत्प्रत्यक्षबाध्यत्वमेवेति वचनं—**पराहतम्**; रजतशरीरज्वालाऽभेदप्रत्यक्षे जाग्रति तद्भेदप्रत्यक्षोदयासंभवात् । अहमिहैवास्मीति तु न प्रमाणं; जीवस्याकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इत्यादिना विमुक्तावगमेनाणुत्वाभावात्, अन्यथा युगपत्सर्वशरीरावच्छेदेन सुखानुभवविरोधापत्तेः । एतेन—नभोनैल्यप्रत्यक्षमपि—**व्याख्यातम्**; साक्षिणो भ्रमप्रमासाधारणस्य बाधकत्वेन चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपविशेषितप्रतीतिविषयरूपलिङ्गसंभवेन च तज्जन्यनीरूपत्वानुमानेनैव तद्बाध्यत्वस्य वर्णनीयत्वात्; त्रिवृत्करणपक्षानादरणेन पञ्चीकरणपक्षादरणेऽपि व्यवहारयोग्यानामेवान्यरूपादीनामन्यत्रोत्पत्त्यभ्युपगमेन च बाधाप्रसक्तेः । चन्द्रप्रादेशिकत्वशङ्खपीतिमप्रत्यक्षयोरपि लिङ्गाबाध्यत्वमेवाङ्गीकरणीयम्; दोषवत्तानिश्चयेनाप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितलोपपादनस्यान्यथाऽसंभवात् । यत् दूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानं तद्दूरदोषनिवन्धनमप्रमेयानुमानेनैव तस्य निर्णयत्वात् । प्राचीनस्य परीक्षितप्रत्यक्षस्य भ्रमकालेऽविद्यमानस्य तद्बाधकत्वायोगात्, स्मृतिस्तु नानुभवबाधिका; दुर्बलत्वात् । **वस्तुतस्तु**—नैकव्यादीनामपि क्वचिदोषत्वेन चन्द्रप्रादेशिकप्रत्यक्षे न दुष्टकरणकत्वनिश्चयः । अस्तुवा दुष्टकरणकत्वेनैवाप्रामाण्यनिर्णयः, एवमपि प्रकृते न हानिः; अत्राप्यविद्यादोषवत्तानिश्चयेनैवाप्रामाण्यनिर्णयसंभवेन श्रुतिबाधासंभवात्, श्रुत्यनुमानादिना प्रपञ्चमिथ्यात्वनिर्णयसंभवात् । एतेन—क्वचिदनुमानादिबाधकत्वदर्शनमात्रेणान्यत्रापि तदुन्नयनं न संभवतीति शङ्काऽपि—**पराहता**; बाधकताप्रयोजकरहितस्थले तदसंभवेऽपि तत्सत्त्वस्थले तदुन्नयने बाधकाभावादिति प्रत्यक्षं लिङ्गाबाध्यमेव—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

नापरोक्षज्ञानबाधकत्वं परोक्षज्ञानस्य युक्तम्; अपरोक्षभ्रमस्य अपरोक्षसाक्षात्कारेणैव बाध इति तत्रभवद्विरेकोक्तत्वेन विसंवादापत्तेः । एतेन—रजताद्यभेदग्रहे जाग्रति तद्बाधकप्रत्यक्षादेः नावकाश इति—**परास्तम्**; तद्बाधकयुक्तेरप्यनवकाशापत्तेः, अर्थासत्त्वपर्यवसाय्यप्रामाण्यशङ्कायाः क्वचिदप्यनुदयापत्तेः, मम देह इति स्फुटतरं भेदप्रत्यक्षस्यानुभवाच्चेति । अह-

अथ भाविवाधोपपत्तिः ।

एवंच 'भाविवाधनिश्चयाच्चे'ति यदुक्तं, तदप्युपपन्नमेव; प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेशिकत्व-
प्रत्यक्षस्य यथा आगमेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्व-
बोधकागमेन बाध इति निर्णयात् । एवंच—भाविवाधशङ्कामादाय यत्परैर्दूषणमुक्तं तदनुक्तोपालम्भ-
नतया—अपास्तम् । वस्तुतस्तु—बाधशङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य बाधकतोद्धारः समीचीन एव;
प्रत्यक्षशब्दयोर्वलावलविचारात् प्राक् किमयं शब्द उपचरितार्थः, आहोस्वित् प्रत्यक्षमप्रमाणमिति
शङ्कायामुभयोरबाधकत्वप्राप्तौ तात्पर्यलिङ्गैः श्रूयमाणार्थपरतया निश्चितस्यागमस्योपचरितार्थत्व-
शङ्काव्युदासेन लब्धावकाशत्वसंभवात् । नच—शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षाबाधकतया प्रत्यक्षान्तरस्या-
प्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेनाबाधकतया च बाधकसामान्याभावे निश्चिते बाधशङ्का न युक्तेति—
वाच्यम्; शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षबाधकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्प्रत्येकं विशेषाभावनिश्चयेऽपि विशेषा-
णामित्यन्तानवधारणदशायां संशयसंभवात्, प्रत्यक्षस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेन शङ्काविरहोपपा-
दनस्यासंभवदुक्तित्वाच्च । अथैवं—जाग्रदादिज्ञानस्याप्रमात्वे स्वप्नदृष्टस्य शुक्तिरूप्यादेश्च बाधा-
सिद्धौ कथं दृष्टान्तसिद्धिः स्यादिति—चेन्न; आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकविषयत्वेनापेक्षिकप्रमाणत्वेना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्युदासेनेति । प्रत्यक्षबाधकताशङ्काया इति शेषः । इयत्तानवधारणेति । एतावन्त्येव बाधकानीति निश्चय-
स्याभावेत्यर्थः । प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षान्तरस्य । तथाच प्रत्यक्षान्तरत्वावच्छेदेन प्रमात्वशङ्कायां तस्य बाधकत्वानिश्चयेऽपि
बाधकत्वसंशयसंभवात् प्रत्यक्षे प्रत्यक्षान्तररूपबाधकत्वस्यौचित्यावर्जितः संशयो दुर्वार इति 'ब्रह्माहमस्मी'ति
प्रत्यक्षरूपबाधकशङ्काऽस्त्येवेति भावः । आरोप्यसत्ताधिकेति । प्रातीतिकव्यावहारिकपारमार्थिकसत्तानां पूर्वपूर्वा-
पेक्षयोत्तरोत्तरमधिकम् । तत्र पल्लवाविद्यावच्छिन्ना चिदाद्या 'सदिदं रजत'मित्यादिभ्रमे रजतादिनिष्ठतया भाति ।
मूलाविद्यावच्छिन्ना चित् द्वितीया 'घटः सन्न'ित्यादिज्ञाने भाति । सदहमित्यादिज्ञाने शुद्धचिद्रूपा तृतीया भाति ।

मिहैवास्मीति तु प्रमाणमेव; उत्क्रान्तिगत्यादिभिस्तस्याणुत्वावगमात् । एतेन—नभोनैल्यप्रत्यक्षमपि—मण्डकवसाज्जनाक्त-
नेत्रस्य वंशे वंशलाप्रतीतावपि वंशसत्त्वावत्सविधे सामीप्यादिदोषेण नभःप्रतीतौ रूपाप्रत्यक्षेऽपि नभसि रूपाभावासिद्ध्या
रूपवदवयवारब्धत्वेन पृथिव्यामिवाकाशेऽपि पञ्चीकरणपक्षे रूपस्यावश्यमभ्युपगमनीयत्वाच्च बाधितत्वेन चक्षुरन्वय-
व्यतिरेकानुविधानं विना साक्षिवेद्यत्वस्य नभसोऽङ्गीकरणेन चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वरूप-
लिङ्गस्यापि दुष्टत्वेन लिङ्गभावेनोक्तप्रत्यक्षबाधकानुमानानुदयात् । चन्द्रप्रादेशिकत्वादप्रत्यक्षं तु प्रत्यक्षेणैव बाध्यमिति
पूर्वमेव निरूपितमिति न कुत्रापि प्रत्यक्षबाधकत्वमनुमानस्य दृष्टमिति न्यायामृतीय एव सिद्धान्तो युक्तः—इति
प्रत्यवतिष्ठन्ते ।

(४) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

नहि प्रत्यक्षं लिङ्गाबाध्यम्; रजताभेदभ्रमे जाग्रति तद्देदप्रत्ययोदयासंभवात् प्रत्यक्षबाध्यत्वासंभवेन ग्राह्याभावव्या-
प्यवत्तानिश्चयरूपायाः रजताभेदवत्त्वादिनिश्चयाप्रतिवध्यायाः संभवदुत्पत्तिकाया एव तत्र बाधकत्वस्याङ्गीकरणीयत्वात्,
मम शरीरमित्यादिप्रत्ययस्तु सम्बन्धसामान्यविषयको राहोः शिर इतिवदभेदेऽप्युपपन्न इति न तस्य बाधकत्वम् । एतेन—
अहमिहैवासि सदने जानान इति प्रत्यक्षमपि—व्याख्यातम्; उत्क्रान्तिगत्यागत्यादीनामौपाधिकानामेव तत्र विविक्षित-
त्वेन जीवाणुत्वस्याप्रामाणिकत्वेनोक्तप्रत्ययस्य भ्रमत्वात् । एतेन—नभोनैल्यप्रत्यक्षमपि—व्याख्यातम्; नभस उद्भूत-
नीलरूपवत्त्वे तत्त्वेन तस्य चाक्षुषत्वापत्त्या, एकैकभूतभागचतुष्टयस्येतरभूतचतुष्टयभागचतुष्टयसंयोगविशेषस्यैव रूपादिकारण-
त्वाङ्गीकारेण स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपादेस्तत्र कारणत्वानङ्गीकारेणानुद्भूतरूपस्यापि तस्यासिद्ध्याच दोषविशेषेण
तदग्रहमात्रोपपत्तिवर्णनस्यायुक्तत्वेन बाधानवकाशात्, चक्षुःसंयुक्तालोकवच्छिन्नस्य नभस एव साक्षिवेद्यत्वम्, अतादृशं
त्वावृतमित्याङ्गीकारेण चक्षुरन्वयव्यतिरेकं विना नभःप्रतीतेरसंभवेनोक्तहेतुनोक्तसाध्यसाधनसंभवेनानुमानिकबाध्यैवा-
त्राङ्गीकार्यत्वात् । परोक्षस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षाप्रामाण्यज्ञापकत्वरूपबाधकत्वं संभवत्येव । सर्वथापि प्रत्यक्षस्याप्रामाण्य-
शङ्कालङ्घितत्वेन प्रत्यक्षबाध्यत्वेन नोक्तानुमानाप्रयोजकतावर्णनं संभवति । चन्द्रप्रादेशिकत्वादप्रत्यक्ष इवोक्तानुमानेन
सन्घट इत्यादिप्रत्यक्षेऽप्रामाण्यस्य ज्ञापनात् इति सर्वमनवद्यम्—इति सिद्धान्तयन्ति ॥

इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाबाध्यत्वे बाधकम् ॥

न्यूनसत्ताकविषयत्वेन वा बाधकत्वात् । अतएव यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके—‘प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रद्वोधे मृषा भवेत् । स्वप्नादिदृष्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः ॥’ इति—तत्सङ्गच्छते । ननु—भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयैव धीर्वाधिका दृष्टा, नच विश्ववाधिका धीस्तथेति—चेन्न; अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, विश्वनिवर्तकब्रह्मज्ञानस्य तथात्वात् । नच—सप्रकारिकैव धीर्भ्रमनिवर्तिका, इयं तु निष्प्रकारिका कथं तथेति—वाच्यम्; निवर्तकतायां सप्रकारकत्वस्य गौरवादप्रवेशात् । ननु—आवश्यकः सप्रकारकत्वनियमः, व्यावृत्ताकारज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, अन्यथा अनुवृत्ताकारज्ञानादपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति—चेत्, सत्यम्; व्यावृत्ताकारत्वेन ज्ञानस्य भ्रमनिवर्तकता, ननु विशेषप्रकारकत्वनियमः । तथाहि—व्यावृत्ताकारता हि द्वेधा भवति । विशेषणादुपलक्षणाच्च । तत्राद्ये सप्रकारकत्वनियमः द्वितीयेऽपि धर्मान्तरस्य यदुपलक्षणं तस्माद्व्यावृत्ताकारत्वे सप्रकारकतैव । यदि तु स्वरूपोपलक्षणाद्व्यावृत्ताकारता, तथा निष्प्रकारकतैव; उपलक्षणस्य तत्राप्रवेशात्, स्वस्य च स्वस्मिन्नप्रकारत्वात् । नच—प्रमेयत्वादिवत् स्वस्यैव स्वस्मिन् प्रकारत्वमिति—वाच्यम्; त्वयापि केवलान्वयिन्येवागत्या तथाङ्गीकारात्, ननु सर्वत्र ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अज्ञानैक्ये तु अज्ञानविषयतावच्छेदककिंचिदवच्छिन्ना चित् द्वितीया । उक्तावच्छेदकान्यकिंचिदवच्छिन्ना चिदाद्या । शुद्धचिद्रूपा तृतीया । रङ्गादिकमेवोक्तावच्छेदकम्, ननु शुक्तिरूप्यादिकम् । सुखादिकं प्रातीतिकमेव द्वितीयपक्षे । ननु स्वाप्नभावाभावज्ञानयोः बाध्यबाधकत्वं स्वयमेव मिथ्यात्ववादे स्वीकृतम्; तयोश्च न बाध्यधीविषयसत्ताधिकसत्ताविषयकत्वरूपमापेक्षिकप्रमाणत्वम्, तत्राह—अन्यूनसत्ताकविषयकत्वेन वेति । अन्यूनसत्ताकत्वमधिकसत्ताकत्वं च मिथ्यात्ववादे विवेचितम् । प्रतियोगिनि बाधकतायोग्ये । दृष्टे प्रमिते । प्रमात्वेन निश्चित इति यावत् । अस्माकं ज्ञानातिरिक्तज्ञेयस्य उक्तसत्तावादिनाम् । स्वप्नादीत्यादिना शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकस्य व्यावहारिकस्य च संग्रहः । मृषा बाध्या । तव ज्ञानातिरिक्तं ज्ञेयमलीकं कल्पितभेदेन ज्ञानमेव ज्ञेयमितिवादिनो योगाचारस्य, ज्ञानं सर्वं तादृशमपि मिथ्येतिवादिनो माध्यमिकस्य च मते । भेदः बाध्यं स्वप्नादिज्ञानं, बाधकं जाग्रदादीति विशेषः । किंकृतः किंप्रयुक्तः । आद्यमते सर्वेषां ज्ञानानां सत्यत्वेन स्वात्मकविषयकत्वस्याविशेषात् कल्पितभेदस्याज्ञातसत्तानभ्युपगमेन व्यावहारिकत्वाभावाद्वावहारिकभेदविशिष्टस्य ज्ञेयस्य ज्ञानं प्रातीतिकभेदविशिष्टज्ञेयस्य बाधकमिति व्यवस्थाया वक्तुमशक्यत्वात् । माध्यमिकमतेऽप्यधिकसत्ताकविषयकत्वस्य प्रपञ्चबाधकज्ञाने वक्तुमशक्यतया न शून्यतासिद्धिः । अथान्यूनसत्ताकविषयकत्वेनैव बाधकत्वमिति चेन्न; बाधकज्ञानस्य त्वन्मते स्वप्रकाशत्वेन सिद्धिर्वाच्या, सा च न संभवति; बाध्यमानस्य बाधकत्वानुपपत्तेः । अथ—कालान्तरे तस्य बाधकमवतरतीति—चेन्न; चरमस्य बाधकज्ञानस्य बाध्यत्वानुपपत्त्या शून्यत्वासिद्धेः । अथ—पूर्वमेव तस्य बाधकमवतीर्णम्, मिथ्यात्वनिश्चयस्यैव बाधकत्वेन भाविनोऽपि बाध्यतासंभवात्—इति चेत्; तर्हि बाधितस्य बाधकत्वं सुतरामसङ्गतम् । तस्मान्नित्यसाक्षिणा त्रिका-लाबाध्येन सिद्धं जन्यज्ञानं बाध्यम्, साक्षिणस्तु स्वप्रकाशस्यासंसृष्टस्य न केनापि बाधः । संसृष्टेवेव बाधकस्य प्रवृत्तेरिति वेदान्तदर्शनमेव विजयते । सङ्गच्छत इति । शुक्तिरूप्यादेरलीकत्ववादिमाध्वादिमते तत्सत्ताधिकसत्त्वाप्रसिद्ध्या नोक्तबाधकताप्रयोजकं तत्र संभवति, मन्मते तु संभवत्येवेति भावः । भ्रमकालीनेत्यादि । तादृशबुद्धिः अधिष्ठानसामान्यांशधीः । तदविषयो विशेषः शुक्तित्वादिः । तथेति । शुद्धब्रह्मविषयिका धीः भ्रमनिवर्तिका; शुद्धं च सद्रूपं सर्वभ्रमेषु भालेव; उपहितभावे शुद्धभानस्यावश्यकत्वात् । अधिष्ठानतत्त्वज्ञानेति । अन्यविषयत्वानिरूपिताधिष्ठानविषयताकज्ञानेत्यर्थः । व्यावृत्ताकारत्वेन व्यावर्तकधर्माश्रयविषयकत्वेन । विशेषणात् व्यावृत्ताकारबुद्धौ भासमानव्यावर्तकधर्ममादाय । उपलक्षणात् उक्तबुद्धावभासमानं व्यावर्तकधर्ममादाय । धर्मान्तरस्य उत्तृणत्वादेः । उपलक्षणं काकादिकम् । तस्मात् तदादाय । सप्रकारकतैवेति । उत्तृणत्वं प्रति व्याप्यतया ज्ञापकं काकवत्त्वमुपलक्षणमुच्यते । उपलक्ष्यते ज्ञायते अनेनेति व्युत्पत्तेः । तथाच ‘देवदत्तगृहाः काकवन्त’ इत्यादौ काकवत्त्वोपस्थापितमुत्तृणत्वं गृहे प्रकारीभूय भातीति सप्रकारकत्वनियम इति भावः । स्वरूपोपलक्षणात् धर्मान्तरानुपस्थापकात् स्वोपलक्षितस्य शुद्धस्य स्वाश्रयस्यैव लक्षणयोपस्थापकमादायेति यावत् । निष्प्रकारकैति । ‘प्रकृष्टप्रकाशशब्द’ इत्यादिवाक्यजन्यबोधे लोके तथा दर्शनात् । उपलक्षणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यां शून्यस्य व्यावर्तकस्य । तत्र व्यावृत्ताकारबोधे । अप्रवेशात् अविषयत्वात् । ननु उपलक्षणस्य तत्राविषयत्वेऽपि उपलक्ष्यव्यक्तिरेव तादात्म्यसंबन्धेन स्वस्मिन् प्रकारीभूय भातु, तत्राह—स्वस्येति । अत्यन्ताभेदे विशिष्टप्रमा न संभवतीति भेदाभेदमतव्याख्याने यत् पूर्वमस्माभिः प्रपञ्चितं, तदेतन्मूलकम् । प्रमेयत्वादिवत् आकाशाभावादिप्रकारकप्रमाविशेष्यत्वादि-

अथ—आकारप्रकारयोरभेदात् ब्रह्माकारतैव ब्रह्मबुद्धेस्तत्प्रकारतेति—चेत्, न; । विशिष्टबुद्धेर्विशेष्याकारत्वेऽपि तदप्रकारकत्वात्, आकारप्रकारयोर्भेदात् । आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणव्यवहारहेतुरिति वक्ष्यते । तस्माद्यथाऽऽकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वोपलक्षितधर्मिस्वरूपमात्रं ज्ञायते, तद्वद्वापि द्वितीयाभावाद्युपलक्षितब्रह्मस्वरूपज्ञानं व्यावृत्ताकारं द्वैतनिवर्तकमपरोक्षम् । यथाच शब्दात्तादृग्ज्ञानसंभवस्तथा वक्ष्यते । नच—बाधकधियां भ्रमतद्धेतुज्ञानदोषाध्यस्तद्रष्टादीनामबाधकत्वं दृष्टमिति कथं ब्रह्मज्ञानस्य तद्बाधकत्वं घटतामिति—वाच्यम्; यत्र हि स्वप्ने द्रष्टारं दुष्टकरणवन्तं कल्पयित्वा तस्य भ्रमं कल्पयति, तत्र जागरणज्ञानेन सर्वेषां निवृत्तिदर्शनात् । जाग्रदृशायामपि यदा मनुष्यप्रतिकृतौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तिन्यनादर्श एवादृशत्वं कल्पयित्वा स्वप्रतिबिम्बमयं पश्यतीति कल्पयति, तदा नायं चेतनो न चायमादर्श इति प्रमया सर्वनिवृत्तिदर्शनाच्च नेयमदृष्टचरी कल्पना । तथाचैयं शुक्तिरित्याद्यधिष्ठानज्ञानं रज्ज्वां सर्पभ्रममिव द्रष्टाद्यध्यासं मा निर्वीवृतत्, तत्कस्य हेतोः? तदधिष्ठानसाक्षात्कारत्वाभावात्, ब्रह्मज्ञानं त्वाकाशादिप्रपञ्चभ्रममिव द्रष्टृदोषादिभ्रममपि निवर्तयेदेव, तत्कस्य हेतोः? अशेषभ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वात् । एवंच बाधबुद्धित्वं न दोषाद्यबाधकत्वे प्रयोजकम्, अपि तु तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारभिन्नत्वमिति द्रष्टव्यम् । ननु—कल्पितत्वादुक्तदृष्टान्तेन तत् बाध्यताम्, इह तु कथमिति—चेत्, हन्त ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पितत्वमङ्गीकुर्वतामस्माकमिदमनिष्टं महदापादितं देवानां प्रियेण । ननु—साक्षिप्रत्यक्षं न बाध्यम्; दोषाजन्यत्वात्, प्रत्युत श्रुतिजनिताद्वैतज्ञानमेव बाध्यम्; तात्पर्यभ्रमरूपदोषजन्यत्वादिति—चेत्, न; चैतन्यस्य स्वरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्; तत्प्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात् । अद्वैततात्पर्यग्रहस्य च प्रत्यक्षाद्यविरोधेन प्रमारूपतया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वत् । त्वयापीत्यपिना मन्मते केवलान्वयित्वमेव नास्ति; सर्वदृश्यानां सर्वत्राभावात् । दृशो निर्धर्मकत्वाच्चेति सूचितम् । ननु वृत्तौ व्यावृत्ताकारता न व्यावृत्तस्य विषयिता; चैतन्यस्यैव विषयित्वात्, अधिष्ठानारोप्ययोरेव हि विषयिविषयभावस्त्वन्मते स्वीक्रियते, तत्राह—आकारश्चेति । असाधारणेति । वह्नरेवेयमनुमितिर्न घटस्येत्यादीत्यर्थः । तथाच विषयित्वाभावेऽपि वृत्तौ विषयस्य कश्चन संबन्धः स्वीक्रियते । स च प्रतियोगिध्वंसयोरिव भिन्नकालीनयोरपि । ननु—शब्दात्तदर्थोपस्थितिः केनचिद्रूपेणैव लोके दृष्टा; तथा चाद्वितीयत्वसत्यत्वाद्युपलक्षितस्य शुद्धस्य कथं शब्दादुपस्थितिः? तत्राह—तस्मादिति । उपलक्षणात् व्यावृत्ताकारत्वस्योपपन्नत्वादित्यर्थः । स्वरूपमात्रमिति । प्रकृतवाक्यार्थबोधानुकूलाया एवोपस्थितेः पदेन साध्यत्वात् शुद्धस्याकाशादेः शाब्दानुभवोपयोगिनी शुद्धतदुपस्थितिराकाशादिपदात् स्वीक्रियते । उक्तं हि शब्दमण्यादौ—“आकाशादिपदस्य शब्दाश्रयत्वादिविशिष्टे न शक्तिः; किंतु तदुपलक्षिते । घटादिपदस्य हि घटत्वादिविशिष्टे शक्तिर्युज्यते; व्यक्तीनामानन्त्येन तत्र शक्तिग्रहासंभवात्, आकाशादिपदस्य तु एकस्यामाकाशादिव्यक्तावेव शक्तिग्रहसंभवात् शब्दाश्रयत्वादिकं न तच्छक्यम् । नचैवं—कदाचिच्छब्दाश्रयत्वेनाकाशोपस्थितिः कदाचिददृष्टव्यान्यद्रव्यत्वादिनेत्यत्र नियामकाभावाद्युपगत् सर्वै रूपैरुपस्थितिः स्यादिति—वाच्यम्, यद्रूपेणोपस्थिते आकाशादौ शक्तिर्गृह्यते, तद्रूपेण तदुपस्थितिरिति व्यवस्थायास्तद्रूपांशे शक्त्यभावेऽपि संभवात् । अस्तु वा आकाशादिपदान्निर्विकल्पकोपस्थितिरेव; शाब्दानुभवस्तु ‘आकाशमस्ती’त्यादिवाक्ये एकमस्तीत्याद्याकारकः, ननु शुद्धाकाशे एकत्वादिप्रकारकः; शाब्दानुभवमुख्यविशेष्यतायाः किंचिद्रूपावच्छिन्नत्वनियमादिति । तथाच पदार्थोपस्थितेस्तात्रिकैः स्वीकृतत्वात् सत्यादिपदेभ्योऽपि शुद्धोपस्थितिर्युक्तेति भावः । ननु कथमुपलक्षणाद्व्यावृत्ताकारस्य ज्ञानस्य द्वैतभ्रमनिवर्तकत्वम्; नहि व्यावर्तकधर्ममविषयीकुर्वतोऽपि विरोधित्वं संभवति, तत्राह—द्वैतनिवर्तकमिति । द्वैतनिवर्तकतायोग्यमित्यर्थः । तथाच तादात्म्येन पृथिवीं प्रति व्यापकतया गन्धे गृहीते सति पृथिवी गन्धाभाववतीति धीर्यथा तार्किकादिभिर्न स्वीक्रियते; गन्धव्याप्यत्वविशिष्टाया इव गन्धव्याप्यता-गोचरोद्बुद्धसंस्कारविषयीभूताया अपि पृथिव्या गन्धाभावव्यावर्तकधर्मत्वेन व्यावर्तकतावच्छेदकेन तादात्म्यसंबन्धेन तद्विशिष्टपृथिव्यां तदभावप्रकारकबुद्धेरनाहार्याया अनुत्पत्तेः, नहि गन्धव्याप्यवान् गन्धाभाववालिन्यनाहार्यधीर्भवति; तथा द्वैताभावव्याप्यतया गृहीते ब्रह्मणि न द्वैतवत्त्वधीरनहार्या जायते, ब्रह्मणि द्वैतव्यावर्तकधर्मत्वेन व्यावर्तकतावच्छेदकतादात्म्यसंबन्धेन तत्संबन्धिनि द्वैतस्योक्तबुद्धसंभवादिति भावः । तत्प्रतिफलितेति । तद्विषयाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं तद्विषयं प्रति साक्षी । सुखादावपि वृत्तिः स्वीक्रियत एव; तां विना संस्कारासंभवेन स्मृत्यनुपपत्तेः । नच—यद्वृत्त्यवच्छिन्नचित्ति यावन्तो विषयीभवन्ति तद्वृत्तिसूक्ष्मावस्था तावतां संस्कार इति स्वीकृत्य सुखा-

दोषत्वाभावात् न तज्जन्यमद्वैतज्ञानं बाध्यम्; भ्रमजन्यत्वस्य विषयबाधाप्रयोजकत्वाच्च । नच—
बाधकतुल्यमानताकद्वैतश्रुतिसंवादिद्वैतप्रत्यक्षं कथं बाध्यमिति—वाच्यम्; द्वैतस्य प्रत्यक्षादिलौ-
किकमानसिद्धत्वेन तद्बोधकश्रुतेरनुवादकतया फलवदज्ञातस्वार्थतात्पर्यकाद्वैतश्रुतिसाम्याभावात् ।
ननु—बाधकधीबोध्यं न बाध्यम्, भेदश्च बाधकधीबोध्यः, तथा स्वविषयस्य भिन्नत्वेनैव ग्रहणेदं
रजतमिति वदभिन्नतयोदासीनतया ग्रहणे बाधकत्वायोगादिति—चेत्, न; बाधकधियो भेदविषय-
त्वानभ्युपगमात्, इयं शुक्तिरित्येव बाधवुच्युदयात् । तस्यास्तु नेदं रजतमिति भेदबुद्धिः फलम् ।
व्यावृत्ताकारतैव बाधधिय आवश्यकी । सा च स्वरूपोपलक्षणबलान्निष्प्रकारकब्रह्मज्ञानेऽपि अस्तीति
न बाधकधीबोध्यत्वं भेदस्य । ननु—स्वप्रविलक्षणं फलपर्यन्तपरीक्षायामिति चेच्छङ्का स्यात्, तदा
अद्वैतश्रुतिप्रत्यक्षतत्प्रामाण्यशङ्कायामद्वैतश्रुतिरपि न सिध्येत् । बाधेऽपि बाधशङ्कायामबाधितबाध-
प्रसिद्धिरपि न स्यात्; बाधितबाधशङ्कायाश्चाबाध्यत्वाविरोधित्वात् । भाविबाधेऽपि बाधशङ्का-
पातेन स्वक्रियाव्याघातश्च स्यात् । शङ्काप्रत्यक्षेऽपि शङ्कायां शङ्कापि न सिध्येत् । एवं सर्वत्र
शङ्काप्रसारात् सर्वविप्लवापत्तिरिति—चेत्, मैवं मंस्थाः । यतः समत्वेन प्रमाणान्तरे उपस्थित एव
निश्चितेऽपि सत्त्वादौ शङ्का भवतीति ब्रूमः, ननु निश्चितमात्रे शङ्का भवतीति । तथाच यदुक्तं
बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके—‘दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते । गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न
सिद्ध्यति ॥’ इति, तदपि न विरुध्यते; गृहीतमात्रबाधस्य तच्छङ्कायाश्चानुक्तेः । ननु—सत्त्वादि-
प्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावनिश्चये कथं शङ्कोदयः, नच—क्लृप्तानामभावनिश्चयेऽप्यक्लृप्तस्य शङ्का
स्यात्; शब्दे क्लृप्तवक्तृनिवन्धनदोषस्य नित्यत्वेन वेदे अभावेऽपि दोषान्तरशङ्कायाः सुवचत्वात्,
नच—स्वाप्नप्रत्यक्षे तदा दूराद्यभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनेन तद्वदत्रापि शङ्केति—वाच्यम्;
शून्यमेव तत्त्वमिति स्वाप्नवेदेऽपि तदा भ्रान्त्यादिदोषाभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनस्य वेदेऽपि
समानत्वात्; स्वप्रवैषम्यानुभवस्तुभयत्रापि समान—इति चेत्, न; सत्त्वप्रत्यक्षाद्वैतागमयोः क्लृप्त-
दोषाभावनिश्चयस्य समानत्वेन प्रामाण्यशङ्कायामप्रतिबन्धकत्वात् । नहि सत्प्रतिपक्षे उभयत्र
दोषाभावनिश्चयः किमत्र तत्त्वमिति जिज्ञासां प्रतिबध्नाति; विरुद्धविशेषादर्शनकालिकस्यैव विशेष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिकालीनाया घटाद्याकारवृत्तेर्नाशो घटादेरिव सुखादेरपि संस्कार उच्यताम् किं सुखादौ वृत्तिकल्पनयेति—वाच्यम्;
सुखादिस्मृतौ हि सुखादिसंस्कारो हेतुः, संस्कारे सुखादेराकाराख्यसंबन्ध एव निवेश्यः; तथाच घटाद्याकारवृत्तौ
सुखादेरुक्तसंबन्धाभावात्तत्सूक्ष्मावस्थायाः कथमुक्तसंबन्धः । अथ—तस्यां घटाद्याकारकवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यसूक्ष्मा-
वस्थात्वस्वीकारेण तादृशचित्तादात्म्यात्तादृशचित्तश्च सुखादितादात्म्यात् सुखादिविषयकत्वमिति—चेन्न; सुखाद्यनु-
मितिनाशरूपस्य सुखादिसंस्कारस्य सुखाद्याकारकत्वेन सुखादिस्मृतौ हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वेन विद्यमानसुखादौ वृत्तिस्वीकारे
तेनैव निर्वाहात्, सुखादितादात्म्यरूपविषयतामादाय हेतुत्वान्तरस्याकल्प्यत्वात्, संस्कारकाले सुखादेरभावेन
तत्तादात्म्यासंभवाच्च । तस्मात्तदाकारवृत्तिनाशस्यैव तदाकारकत्वसंभवात् तदाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदेव तत्साक्षिणी;
तादृशस्यैव भासकत्वात् । ननु—तदाकारसंस्कारं प्रति तज्ज्ञानत्वेन हेतुत्वम्, तज्ज्ञानत्वं च तदीयासत्त्वापादका-
ज्ञानविरोधिविशिष्टचित्तम्, तथाच सुखादिषु वृत्तिं विनापि सुखादीनामेव तदज्ञानविरोधित्वात् तद्विशिष्टचित्तस्त्व-
ज्ञानत्वात् तथैव संस्काररूपो मनःपरिणामो जायत इति तस्य ज्ञाननाशत्वाभावेऽपि न क्षतिः—इति चेन्न ।
घटाद्याकारकवृत्तिनाशानां क्लृप्तानामेव घटादिसंस्कारत्वसंभवे अतिरिक्तानामनन्तानां घटादिसंस्काराणां कल्पने गौर-
वात् सुखाद्यपेक्षया घटादीनामनन्तत्वेन तेषु वृत्तिकल्पनापेक्षया तेषु अतिरिक्तसंस्कारस्वीकारे महागौरवात्,
वस्तुतस्तु सुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षेऽपि साक्षिणो भ्रमप्रमासाधारणत्वेन प्रमात्वानिश्चयात् बाध्यतासंभव इति
बोध्यम् । बाधकधियः बाधकधीमात्रस्य । अनभ्युपगमादिति । कचिदिति शेषः । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्;
गृहीतमात्रेति । गृहीतमात्रस्य आत्मानात्मरूपस्य । बाधे बाधस्वीकारे । माध्यमिकमते स्वपक्षः शून्यवादः न
सिद्ध्यति । तात्त्विकविषयकप्रमाणं विना बाधो न संभवतीति भावः । सत्प्रतिपक्षे भावाभावव्याप्यवत्त्वेनैकधर्मिणि
निश्चयस्थले । किमत्र तत्त्वम् अनयोर्व्याप्तयोः पक्षधर्मतयोश्च किमबाधितम् । जिज्ञासामिति । अनयोरन्यतरत्
बाध्यमिति धीप्रतिबन्धद्वारेति शेषः । ननु दोषाभाववत्प्रमाणत्वावच्छेदेनाबाध्यविषयकत्वनिश्चयादबाध्यविषयकत्व-
रूपप्रमात्वस्याभावं प्रति निर्दोषप्रमाणत्वस्य व्यावर्तकधर्मत्वेन तद्वृत्तान्तिश्चयः ‘अनयोरन्यतरत् बाध्यविषयकमिति’

दर्शनस्य शङ्काप्रतिबन्धकत्वात्; अवच्छेदकवृत्त्यनित्यत्वेन च साक्षिप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वोक्तैः । अतएव यदुक्तं तार्किकैः—‘तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा न भवन्ति’ । उक्तं च भट्टवार्तिके बौद्धं प्रति—‘इह जन्मनि केषांचिन्न तावदुपपद्यते । योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ॥’ इति । तथा च प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वादिव चोत्पत्तिस्वतस्त्वापवादस्य दोषस्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वापवादस्य बाधस्य चादर्शनात्, निर्मूलशङ्कायाश्च स्वक्रियाविरोधेनानुत्थानाभ्युपगमात् स्वस्थं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति—तदपि निरस्तम्; आगमादिप्रमाणमूलकशङ्काया एव स्वीकारात् । रूप्यादिनिषेधस्य तु ‘नेदं रजत’मित्यादेरद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वेन नाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दनम् । अतो न वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तिः । नापि ‘सन्धट’ इत्यादेर्‘नेदं रजत’मित्यनेन समानयोगक्षेमता; अद्वैतश्रुतिविरोधाविरोधाभ्यां विशेषात् । अतएव—सौषुप्तिकानन्दानुभवस्याप्यप्रामाण्ये कथमात्मन आनन्दरूपता तात्त्विकी, आनन्दश्रुतेरनुभूतातात्त्विकानन्दानुवादकत्वोपपत्तेरिति—अपास्तम्; आनन्दस्य ब्रह्मरूपत्वेनाद्वैतश्रुतिविरोधाभावेन तदप्रामाण्यप्रयोजकाभावात् । अतएव नानन्दश्रुतेरप्रामाण्यम् । तदुक्तं खण्डने—‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थं शब्दः करोति हि । अवाधात् प्रामात्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलम् ॥’ इति । उक्तं च सुरेश्वरवार्तिके—‘अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् । अवाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ॥’ इति । अत्र चाक्षादिवदिति निदर्शनं व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रेणेति द्रष्टव्यम् । एवं च तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमात् न स्वक्रियाव्याघातः । न वा ‘प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धीप्रतिबन्धद्वारा उक्तजिज्ञासाप्रतिबन्धकः स्यादेव, तत्राह—विरुद्धविशेषादर्शनेति । विरुद्धार्थग्राहित्वरूपो यो विरुद्धविशेषस्तदनिश्चयेत्यर्थः । विशेषदर्शनस्य प्रमात्वव्याप्यतया गृहीतनिर्दोषप्रमाणत्वनिश्चयस्य । शङ्केति । प्रमात्वाभावशङ्केत्यर्थः । तथाच निर्दोषत्वज्ञाने जातेऽपि मिथो विरुद्धग्राहिज्ञानद्वयविशेष्यकनिर्दोषत्वज्ञानत्वेन हेतुना तत्राप्रमात्वग्रहेण तस्य नोक्तप्रतिबन्धकत्वमिति भावः । दोषजन्यत्वोक्तेरिति । तथाच दोषजन्यत्वशङ्काया तत्राप्रमात्वसंशयः । वस्तुतः—कृत्तदोषाभावनिश्चयो न सत्त्वप्रत्यक्षे संभवति; अधिष्ठानसत्त्वस्य साक्षिध्यादिदोषस्य कृत्तदोषजातीयत्वात्, सुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षेऽपि सुखादेरेव दोषजन्यत्वेन तदवच्छिन्नसाक्षिणोऽपि तत्संभवात् । तदुक्तं विष्णुपुराणे—‘यदा तु सर्वं निजरूपि शुद्धं कर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् । तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदः ॥’ इति । अतएव यदुक्तमित्यादि । उक्तं तार्किकैस्तदेवेत्यादि । उक्तं च वार्तिके इहेत्यादि । तथाच प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं सुस्थमिति यत्, तत् अतएव परास्तमिति योजना । जन्मनि जन्मावधिककाले । सर्वबाध इति शेषः । न विद्म इति । प्रत्यक्षादेस्तात्त्विकप्रामाण्यप्रच्युतिपूर्वकं वेदान्ततात्त्विकप्रामाण्यं स्थास्यतीति यद्यपि निर्णेतुं शक्यते; तथापि सर्वबाधो न भविष्यतीति न माध्यमिकस्य बौद्धमुख्यस्य मतं सिद्धयतीति भावः । उत्पत्तौ स्वतस्त्वं ज्ञानसामान्यसामग्र्या दोषशून्यया प्रमैव जन्यते न अम इति नियमः । ज्ञप्तौ स्वतस्त्वं ज्ञानग्राहकसामग्र्या बाधकधीशून्यया प्रमात्वेनैव ज्ञानं गृह्यत इति नियमः । ननु नेदं रजतमित्यादि-प्रत्यक्षस्यापि अमबाधकत्वकाले अमत्वशङ्कासंभवेन शुक्तिरूप्यादेर्मिथ्यात्वानिश्चयेन आकाशादौ मिथ्यात्वानुमाने दृष्टान्तासिद्धिस्तत्राह—रूप्यादीति । अद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वेन अद्वैतश्रुतिविरुद्धविषयकत्वाभावेन । शङ्कास्कन्दनं शङ्काविषयत्वम् । वृद्धिं प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानम् । मूलहानिः दृष्टान्तासिद्धिः । अतएव अद्वैतश्रुतिविरुद्धविषयकान्यस्याप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितात्वादेव । प्रयोजकेति । शङ्काप्रयोजकेत्यर्थः । यद्यपि सौषुप्तानुभवः अज्ञानोपहितानन्दरूपस्वविषयांशे अम एव; तथापि शुद्धस्याप्युपहितज्ञानविषयत्वनियमेनोपहितानन्दांशे अमत्वे शुद्धानन्दांशेऽपि अमत्वम्, अमत्वशङ्काप्रसरादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तोऽपि शुद्धानन्दांशे प्रमात्वमादायैव । अतएव अप्रामाण्यशङ्काप्रयोजकाभावादेव । अत्यन्तेत्यादि । कलहादिस्थले अत्यन्तासति तात्कालिकबाधधीविषयेऽपि शब्दो ज्ञानं करोति जनयति; शाब्दान्यविशिष्टबुद्धावेव बाधज्ञानस्योक्तज्ञानोत्पत्त्यनुरोधेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । अत्र शुद्धानन्दे सद्वितीयत्वादिधीविषयत्वेनात्यन्तबाधितेऽपि प्रमासेव करोति, न अमम्; कुतः, अवाधात्, उत्पत्तिज्ञहयोः स्वतस्त्वापवादकयोः सदोषत्वबाधयोरभावात् । अद्वैतश्रुतौ न दोषः संभाव्यते; न वा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितां बाधकज्ञानम् । स्वतः प्रामाण्येति । उत्पत्तिज्ञस्वतस्त्वाश्रयप्रामाण्येन । निश्चलां स्वकार्यक्षमाम् । अवबोधकत्वेन अज्ञातज्ञापकत्वेन । उत्पत्तौ स्वतस्त्वापवादकं निरस्यति—दुष्टेति । ज्ञप्तौ तत् निरस्यति—अवाधादिति । वस्तुनि स्वविषये । निदर्शनमिति । यथा व्यावहारिकप्रामाण्ये आगन्तुकदोषाप्रयुक्तविषयकत्वं व्यवस्थापकं, तथा

गमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥' इत्यादि स्मृतिविरोधः । तस्मात्सिद्धं बाधनिश्चयेन तच्छङ्कया वा प्रत्यक्षादेरद्वैतागमानुमानाद्यविरोधित्वम् ॥

॥ इति भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तात्त्विकप्रामाण्ये दोषसामान्याप्रयुक्तविषयत्वमिति स्वापवादकदोषाप्रयुक्तविषयघटितप्रामाण्यपदार्थत्वेन साधारणधर्मेण दृष्टान्तदाष्टान्तिकतेति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अथ प्रत्यक्षबाधशङ्कया प्रत्यक्षबाधोद्धारः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

यथाहि परीक्षितत्वेनागमप्राबल्यात् सत्प्रत्यक्षप्राबल्याच्च तद्विरुद्धागमाभासाध्यक्षाभासावेवाऽप्रमाणं, नतु आगम-सत्प्रत्यक्षे एवं परीक्षितं 'सन्घट' इति प्रत्यक्षमपि न बाधमर्हतीति न तत्र बाधशङ्का; परीक्षितागमविरोधात् परीक्षितस्यापि प्रत्यक्षस्य बाधशङ्कायां परीक्षितागमविरोधात्परीक्षितोत्सर्गशास्त्रस्याप्यप्रामाण्यशङ्कापत्तिः । तत्रापि यदि प्रत्यक्षागमयोः बाध्यबाधकभावः स्यात्, तदा कथंचिदागमेन बाधशङ्का समुत्पद्येत; नैतदस्ति; लिङ्गागमयोः प्रत्यक्षाबाधकत्वस्य पूर्वमेवोपपादनात् । स्वप्नप्रत्यक्षस्य तु प्रत्यक्षत्वाभावाज्जाप्रत्कालिकज्ञानेन बाध इति युक्तम् । तत्र सुखपर्यन्तपरीक्षाया अभावात्, स्वाप्नेऽपि स्वाप्नावगाहनपानादिजन्यसुखपरीक्षा विद्यत इत्युक्तपरीक्षाया अप्रयोजकत्ववर्णने तु शून्यमेव तत्त्वमिति स्वाप्नेदतुल्यत्वात्पद्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतेरपि अप्रामाण्यापत्तिः । स्वाप्नश्रुत्यपेक्षयाऽद्वैतश्रुते-वैषम्यकल्पनं तु जाप्रत्कालीनप्रत्यक्षस्यापि समानम्; परस्यापि प्रातिभासिकवैलक्षण्यस्यान्यथाऽसिद्धेः । एवं च 'स्वाप्नाद्विशेष-स्यासिद्धौ शङ्काऽध्यक्षे भवेत् कुतः । नहि प्रत्यक्षशब्दलङ्घनं वैषम्यमीक्षते । बाधाबाधकतत्त्वेष विशेषः संप्रदर्श्यते ।' इति श्रुतितुल्यमानसत्प्रत्यक्षे कथं बाधशङ्कोदयः ? उक्तं हि सुरेश्वराचार्यैः—'अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् । अवाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः' ॥ इति । अतएव हि "प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने भृषा भवेत् । स्वाप्नादि-शुद्धिरस्माकं तव बाधोऽपि किञ्चित्' ॥ इति वार्तिकवचनस्याप्यविरोधः । अन्यथा बौद्धमत इव भवन्मतेऽपि जाग्रदादि-ज्ञानस्य भृषात्वेन तेन स्वाप्नबाधोपपादनासंभवात् । तत्रापि यदि यावद्वयवहारं न बाधः ब्रह्मज्ञानोत्तरं तु बाध इति स्यात्, तर्हि कथंचिदप्युक्तवचनाविरोधः संभवेत्, नैतदस्ति; ब्रह्मज्ञानस्य प्रपञ्चनिवर्तकत्वासंभवात् । भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेष-विषयिण्या एव धियो निवर्तकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यातादृशत्वात् । अतएव हि सप्रकारिकैव धीर्निवर्तिका, इति सिद्धान्तोऽप्युप-पद्यते; अस्तु वा कथंचिन्निष्प्रकारकस्यापि ब्रह्मज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेन निवर्तकत्वम्; एवमपि शुक्तिज्ञानेनेव भ्रमतद्धेल-ज्ञानदोषाध्यस्तद्रष्टृभूतजीवादीनामबाधात्प्रपञ्चसामान्यमिथ्यात्वसिद्धिः । एवं च बाधकतुल्यमानसंवादिनो न बाधकज्ञानबाध्य-त्वमिति नेदं रजतमिति बाधकज्ञानेनेयंशुक्तिरिति ज्ञानस्याबाधेन गृहीतस्य नियमस्यापि न भङ्गः । अद्वैतश्रुतितुल्यमानसंवादि-द्वैतश्रुतेरप्यबाधादिति भेदपरमार्थिकतायामेव सर्वश्रुतितात्पर्यम् । अतएव बाधकधीबोध्यं न बाध्यमिति नियमोऽपि रक्षितो भवति । एवं च प्रत्यक्षबाधस्याबाधितस्याप्रसिद्ध्या बाधितस्य सत्यत्वाविरोधित्वात् न प्रत्यक्षबाधशङ्कया प्रत्यक्षबाधो-द्धारः । भाविबाधेऽपि बाधशङ्कापत्त्या स्वव्याघाताच्च । तदुक्तं—'दुष्टज्ञानगृहीताथर्थप्रतिषेधो न युज्यते । गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि विहन्यते ॥' इति । एतेन—स्वाप्नप्रत्यक्ष इव दूराद्यतिरिक्तपुरुषदोषशङ्कयाऽपि बाधशङ्केति—पराहता; श्रुतावपि पुरुषदोषातिरिक्त्यतिरिक्तदोषशङ्कया बाधशङ्कापत्तेः । नहि श्रुतेऽनुमिते वा दृष्ट इव सा इति सुस्थमेव प्रत्यक्षप्राव-ल्यम्; साक्षिज्ञानरूपस्य तस्य बाधायोग्यत्वात्, अन्यथा सौप्तनानन्दानुभवस्याप्यतात्त्विकताऽऽपातेनात्मानन्दरूपताया अपि बाधापत्तेः । अतएव हि "प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमा" इति प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणत्वेन परिगणनमुप-पद्यते इति भाविबाधशङ्कया निर्मूलया प्रत्यक्षप्रामाण्यवर्णने शुक्तिरूप्यादिज्ञान इव तद्बाधकप्रमायामपि बाधशङ्कापत्त्या सर्वस्याऽपि सत्यत्वं सर्वज्ञानेनापि बाधेन सर्वस्यापि शून्यत्वं वै पर्यवस्येदिति सर्वैव व्यवस्थोन्मूलिता स्यादिति कृतमधि-केनेत्यनाशङ्क्याप्रामाण्यकेन प्रत्यक्षेण बाधितत्वात्त्वदुक्तानुमानेन न प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः—इति वर्णयन्ति ।

(२) तत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

नोक्तप्रत्यक्षस्योक्तानुमानबाधकत्वम्, तस्योक्तानुमानबाधितत्वस्य निर्णयेन तेन बाधनासंभवात्, यत्र तु बाध्यस्य प्रत्यक्षादेः प्रातिभासिकं प्रामाण्यं, तत्र व्यावहारिकप्रामाण्यव्यवस्थापकपरीक्षितत्वेन बाध्यत्वमिति युक्तम्; यथा चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्य-

क्षस्यागमेनानुमानेन च बाधः; अन्यूनसत्ताकतद्विरुद्धपरिमाणविषयकत्वादिति 'सन् घट' इति प्रत्यक्षस्य तु बाधितत्वस्य परीक्षितत्वनिबन्धनत्वाभावात्पूर्वोक्तदोषापादनानि अनुक्तोपालम्भनमात्रपराणीति मन्तव्यम् । यथाच प्रत्यक्षेणानुमानागमयोर्न बाधः, तथा पूर्वमेव निरूपितम् । एवंच यथा जाग्रत्कालिकमुखपर्यन्तपरीक्षा जाग्रत्कालीनमेव सत्त्वं व्यवस्थापयत्येवं स्वाप्रिकमुखपर्यन्तपरीक्षापि स्वप्रकालीनमेव सत्त्वं प्रातिभासिकरूपं व्यवस्थापयतीति जाग्रत्कालीनबाधज्ञानेन मिथ्यार्थविषयकेणापि स्वाप्रबाध उपपद्यते । एतेन—स्वाप्रपरीक्षापरीक्षितानां स्वप्रानामिव जाग्रत्परीक्षापरीक्षितानां प्रत्यक्षाणामपि श्रुत्या बाधे स्वाप्रपरीक्षापरीक्षितस्वाप्रशून्यवेदतुल्यत्वेनाद्वैतश्रुतेरपि बाधशङ्कापि—पराहता; स्वाप्रवेदे स्वाप्ररथादाविव निद्रादिदोषनिर्णयेऽपि अपौरुषेयाद्वैतश्रुतौ दोषाभावेनोक्तशङ्कानवसरात् । स्वाप्रास्वाप्रवेदयोर्दोषतदभावाभ्यामिव स्वप्रजाग्रत्प्रत्यक्षयोरेकस्यापि वैषम्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वात् । एतेन—स्वाप्रादिशेषस्यासिद्धाविति स्वीयकारिका अपि—पराहता; 'अतोऽवबाधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् । अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुते'रिति सुरेश्वराचार्यवचनमस्माकमेवानुकूलम् । यथा व्यावहारिकवस्तुनि प्रत्यक्षप्रामाण्यमेवं पारमार्थिकस्वरूपे श्रुतेः प्रामाण्यमित्येवोक्तवचनतात्पर्यात् । एतेन—'प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् । स्वप्रादिबुद्धिरस्माकं, तव भेदोऽपि किञ्चुतः' इति वार्तिकमपि—व्याख्यातम्; आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकविषयकत्वेनापेक्षिकप्रमाणत्वेनान्यूनसत्ताकविषयकत्वेन वा बाधकत्वस्यैवात्राभिप्रेतत्वात् । एवंच ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चबाधेऽपि न दोषः; अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वेन भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयकत्वेनानिवर्तकत्वात् । एतेन—सप्रकारिकैव धीर्निवर्तिकेति नियमोऽपि—परास्तः; व्यावृत्ताकारत्वेनैव ज्ञानस्य निवर्तकतया तस्य च स्वरूपोपलक्षणेन निष्प्रकारकत्वेऽपि संभवेन तत्र सप्रकारकत्वस्य गौरवेण निवर्तकतावच्छेदकतया विवक्षणायोगात् । यन्निरूपिताधिष्ठानत्वं यस्य तादृशाधिष्ठानज्ञानेन तस्यैव निवृत्तिरिति शुक्तिज्ञाने मूलज्ञानपक्षेऽज्ञानभ्रमदोषानध्यस्तपुरुषाद्यनिवर्तनेपि न दोषः । स्वप्ने कल्पितानां दुष्टकरणपुरुषभ्रमादीनां सर्वेषामपि जाग्रत्कालीनज्ञानेन बाधदर्शनात्, जाग्रद्दृश्यामपि मनुष्यप्रतिष्ठितौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तिन्यनादर्श एवाददर्शत्वं परिकल्प्य स्वप्रतिबिम्बमयं पश्यतीति कल्पितानां सर्वेषामपि 'नायं चेतनः' 'नचादर्शः' इत्यादि प्रत्यक्षेण बाधदर्शनाच्च बाधबुद्धित्वं दोषाय बाधकत्वे न तन्त्रम् । एतेन—बाधकतुल्यमानसंवादिनो न बाधकत्वमिति नियमेऽपि नास्माकं क्षतिरिति—सूचितम्; द्वैताद्वैतश्रुत्योः समप्रामाण्याभावात्, अधिष्ठानज्ञानत्वेनैव निवर्तकतया 'नेदं रजत'मिति ज्ञानस्य बाधसिद्धार्थानुवादित्वेन भेदस्य बाधज्ञानाविषयकत्वेन तत्पारमार्थिकत्वाभावात् । एतेन—बाधकधीबोध्यं न बाध्यमिति नियमोऽपि—व्याख्यातः; एवंच प्रत्यक्षेऽनुमानबाधशङ्कया न तेनानुमानबाधः; सेत्स्यमानस्य च बाधस्य बाधितत्वेऽपि यथा प्रपञ्चसत्यत्वं, तथा पूर्वमेव निरूपितम् । समत्वेन प्रमाणान्तरोपस्थितत्वेव बाधशङ्का, न निश्चितमात्र इति "दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधो न युज्यते । गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिद्ध्यती"ति वचनमपि—व्याख्यातम्; प्रत्यक्षे दोषशङ्काया इवापौरुषेये वेदे दोषशङ्काया अप्रसङ्गात्, वेदेऽपि दोषविशेषशङ्कायामपि प्रत्यक्षवेदयोः समप्रमाणत्वेन बाधशङ्कायाः संभवात् । अवच्छेदकवृत्त्यनित्यत्वेन तद्वध्यत्वेन च साक्षिज्ञानस्यापि दोषजन्यत्वावध्यत्वयोरुपपत्तेः । यथाहि घटसत्त्वादिप्रत्यक्षस्याद्वैतश्रुतिविरोधः, नैवं "नेदं रजत"मिति प्रत्यक्षस्य सौषुप्तिकानन्दानुभवस्य च तद्विरोध इति न तत्र बाधशङ्का; अद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वात् । व्यावहारिकप्रामाण्येऽर्थक्रियाकारिलोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधेपि न दोषात् । एतेन—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमा' इति स्मृतिरपि—व्याख्यातेति प्रत्यक्षबाधशङ्कया प्रत्यक्षबाधोद्धार—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकारास्तु—

न्यायामृतीयराद्धान्त एव समीचीनः । तथाहि—उपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षमेव प्रबलमिति सिद्धान्तितत्वेन परीक्षितस्य तस्यागमेन बाधनिर्णयो न संभवति । एवं तत्र बाधशङ्कापि नावतरति, शब्दप्रत्यक्षयोः प्राबल्यनिर्णयात्प्राक् किमयं शब्द उपचरितार्थः, आहो प्रत्यक्षमिति संशये फलपर्यन्तपरीक्षया स्वविषयसत्यत्वबोधनेन लब्धावकाशप्रत्यक्षेणाद्वैततात्पर्यलिङ्गबाधनेनाद्वैततात्पर्यानिर्णयात् । आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकार्थविषयकं जाग्रदादिज्ञानमिति ज्ञानस्य बाधितत्वेनाधिकसत्ताकत्वस्य असिद्धत्वेनान्यथास्वाप्रबाधोपपादनस्याप्यसंभवेन वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तिः । एवंच "प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रदि"ति वार्तिकविरोधः सुहृदः । नह्यधिष्ठानगतयत्किञ्चित्प्रकारानवगाहिनो ज्ञानस्य स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणधर्मज्ञानत्वरूपतत्त्वज्ञानत्वसंभवः; अधिष्ठानतत्त्वस्य ज्ञानमेव ह्यधिष्ठानतत्त्वज्ञानं, नत्वधिष्ठानस्वरूपज्ञानम् । तथाच भेद्यत्वे भेद्यस्यैव स्वस्यैव स्वस्मिन्प्रकारत्वापत्तौ न ब्रह्मज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वसिद्धिरिति भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयकत्वेनैव निवर्तकत्वमिति नियमो भज्येत । अतएव सप्रकारकज्ञानमेव निवर्तकमिति नियमोऽपि संगच्छते; व्यावृत्ताकारत्वेनैव निवर्तकतायामपि उपलक्ष्ये किञ्चिद्धर्ममादधत् एवोपलक्षणत्वादप्येत्थंभूतलक्षणतृतीयानुपपत्तेः । अद्वितीयादिपदानामपि सप्रकारकज्ञानजनकत्वस्यावश्यकत्वात् । अनावश्यकत्वेऽपि स्वरूपमात्रविषयकस्य ज्ञानस्य भ्रमविषयस्वरूपा-

अथ मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधोद्धारः ।

स्यादेतत्—अध्यक्षस्य भिन्नविषयत्वादिना बाधाक्षमत्वेऽपि अनुमानमेव बाधकं स्यात् । तथाहि—ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रसिद्धिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सत्य-सत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, विमतं वा, सत्, परमार्थसद्भा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

भिन्नविषयत्वादिनेति । श्रुत्यनुमानविषयमिथ्यात्वाविरोधिव्यावहारिकसत्त्वविषयकत्वादिनेत्यर्थः । आदि-पदात् त्रिकालाबाध्यसद्रूपीयकल्पिततादात्म्यविषयकत्वपरिग्रहः । त्रिकालबाध्यतादात्म्यस्य मिथ्यात्वाभावविशिष्ट-प्रतियोगिकतादात्म्यरूपत्वेन तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वसमानविषयकत्वेऽपि तादृशतादात्म्यस्याध्यस्तत्वेन बाधितत्व-

नपहारकत्वात् । स्वप्रकल्पितस्य दृष्टकरणवतो द्रष्टुः कल्पितद्रष्टृत्ववतो मनुष्यप्रतिकृतेश्च कल्पितत्वेन दृश्यत्वेन च द्रष्टृत्वाभावेन द्रष्टृत्वेऽपि तद्रष्टृभिन्नत्वेन यो यद्धर्मं द्रष्टा स तद्धर्मबाधेन न बाध्यत इति व्याप्तेरविकलत्वात् । प्रत्यक्षविषयद्वैताति-रिक्तसत्यभूताद्वैतबाधकत्वेन द्वैतश्रुतेरपि प्रामाण्येनानुवादकत्वाभावेन बाधकतुल्यमनसंवादि न बाध्यमिति नियमोऽप्यत एवोपपद्यते । एतेन—बाधकधीबोध्यं न बाध्यमिति नियमोऽप्यस्माकमेवानुकूल इति—सूचितम् ; शङ्कत्वप्रत्यक्षे सत्यपि “पीतः शङ्क” इति भ्रमस्यानुभाविकत्वेनेदं रजतशुक्तीनामभेदग्रहस्थले शुक्तिज्ञानस्याबाधकत्वेन “नेदं रजतमि”ति ज्ञानस्यैव भ्रमनिवर्तकत्वस्यानुभवसिद्धत्वेन चेयं शुक्तिरिति ज्ञानस्यानिवर्तकत्वात् । दोषशङ्कया बाधशङ्का तु अद्वैतवादि-नोऽपि तुल्या । एवं चेदपि यथा न प्रत्यक्षागमयोर्न समप्रामाण्यं, किन्तूपजीव्यत्वात्प्रत्यक्षमेव प्रबलं तथा पूर्वमेव निरूपितम् । अन्यथा “यजमानः प्रस्तर” इत्यादावपि गौणत्वनिर्णयानापत्तेः । एतेन—“गृहीतमात्रबाधे तु स्वप्रक्षोऽपि न सिध्यती”ति वचनविरोधोऽपि वज्रलेपायते इति—सूचितम् ; अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य साक्षित्वे प्रतिबिम्बनो-पाधेरविद्यावृत्तेः साक्षिविषयत्वार्थं तस्या एवोपपादनं न युक्तम् ; प्रतिबिम्बनोपाधिभूताविद्यावृत्तेर्विषयत्वे विषयत्वानुपपत्तेरिति केवलचैतन्यस्यैव साक्षिरूपत्वात्, तत्र दोषजन्यत्वबाध्यत्वयोरप्रसराज कथमपि प्रत्यक्षबाधशङ्का ‘स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्य’मिति श्रुतिसिद्धत्वात्प्रत्यक्षप्रामाण्यस्येति सर्वमनवयम्—इति ब्रुवन्ति ।

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

सिद्धिकारीय एव सिद्धान्तः संगतो न न्यायामृतकारीय इति निरूपयन्ति । तथाहि—यथाचोपजीव्यत्वेऽपि न प्रत्यक्ष-स्यागमाबाधकत्वम् ; किन्तु श्रुतिबाध्यमेवाध्यक्षं तथा पूर्वमेव निरूपितमिति प्रत्यक्षबाधनिर्णयसंभवाच्चानुमानबाधः । बाधा-निर्णयेऽपि प्राबल्यनिर्णयात्प्राक् किं तात्पर्यवह्निज्ञोपेतः शब्द उपचरितार्थः, उत प्रत्यक्षमेव तादृशमिति संशयेन बाधशङ्कायाः संभवात्, स्वाप्रतदभावयोरुभयोरपि प्रातिभासिकत्वेनाधिकसत्ताकाभावविषयकत्वेन प्रत्यक्षस्य स्वाप्रबाधकत्वाभावेऽपि स्वान्यु-नसत्ताकविषयकत्वेन बाधकत्वे बाधकाभावान्न वृद्धिमिच्छतो मूलहानिरिति “प्रतियोगिनि दृष्टे चे”ति वचनं न विरुद्धम् । अधिष्ठानस्यैवाधिष्ठानप्रकारत्वमन्तर्भावे संसर्गसंभवेन न संभवतीति ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र’ इत्यादाविव स्वरूपोपलक्षणेनापि व्यावृत्ताकारत्वसंभवेन सप्रकारकत्वस्य निवर्तकतायामतन्त्रत्वात्स्वरूपज्ञानस्य निवर्तकतासंभवेनोक्तनियमद्वयस्याप्रामाणिकत्वात् प्रपञ्चे ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं संभवत्येवेति मन्तव्यम् । ब्रह्मज्ञानं द्रष्टृदोषाद्यनिवर्तकं, बाधज्ञानत्वात्, शुक्तिज्ञानवत्, इत्यनुमाने, स्वप्रकल्पितद्रष्टृबाधज्ञाने व्यभिचारः । प्रपञ्चभ्रमद्रष्टृदोषादिकं न प्रपञ्चबाधकबाध्यं, प्रपञ्चभ्रमद्रष्टृदोषत्वात्, यो यद्धर्मद्रष्टृदोषः स तद्बाधकबाध्यो न भवति, यथा रजतादिद्रष्टृदोषादिकं तद्बाधकशुक्तिज्ञानबाध्यं न भवतीत्यनुमानेऽपि प्रपञ्चप्रयोजकाज्ञाना-प्रयुक्तमुपाधिरिति सामान्यव्याप्त्यसंभवस्य सिद्धाच्चैव सूचनेन द्रष्टृदोषादीनामपि बाध्यत्वात् । भेदस्य क्वचिद्बाधकधीबाध्यत्वेऽपि तन्नियमाभावात्, शुद्धस्वरूपसाक्षात्कारोऽपि निवर्तक एवेति न दोषः । यथाच “यजमानः प्रस्तर” इत्यादानुपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षप्राबल्येऽपि प्रकृते नोपयोगः, तत्सर्वं पूर्वमेव निरूपितम् । यथाहि तादात्म्येन पृथिवीं प्रति गन्धे व्यापकतया गृहीते पृथिवी गन्धभाववतीति विधिर्न तार्किकैरङ्गीक्रियते, गन्धव्याप्यत्वविशिष्टाया इव गन्धव्याप्यतागोचरोद्बुद्धसंस्कारविषयीभूताया अपि पृथिव्याः गन्धाभावव्यावर्तकधर्मत्वेन व्यावर्तकतावच्छेदकेन तादात्म्यसंबन्धेन तद्विशिष्टपृथिव्यां तदभावप्रकारकुञ्जा अनाहार्याया अनुत्पत्तिः, नहि गन्धव्याप्यवान् गन्धाभाववानित्यनाहार्यधीर्भवति, तथा द्वैताभावव्याप्यतया गृहीते ब्रह्मणि तद्वैतवत्त्वधीरनाहार्या न जायते; ब्रह्मणो द्वैताव्यावर्तकधर्मत्वेन व्यावर्तकतावच्छेदकतादात्म्यसंबन्धेन तत्संबन्धिनि द्वैतबुद्ध्य-संभवेन ब्रह्मेतरव्यावर्तकधर्मं विषयीकुर्वतोऽपि ज्ञानस्य निवर्तकत्वसंभवात् । स्वरूपचैतन्यरूपस्य साक्षिणो भ्रमप्रमासाधारणेन सुतरां बाधशङ्कोदय इति न प्रत्यक्षबाधशङ्कया न प्रत्यक्षमनुमानबाधकमिति सर्वमनवयम्—इति निरूपयन्ति ॥

इति प्रत्यक्षबाधोद्दारे भाविबाधोपपत्तिः ॥

सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवद्वेति—चेन्न; त्वन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन व्यर्थविशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धेः, अस्मन्मतमाश्रित्य हेतूकरणे च देहात्मैक्ये ब्रह्मज्ञानेतरावाध्ये व्यभिचारात् । नहि प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरवाध्यत्वादन्यत् । त्वया हि प्रातिभासिकस्य शुक्तिरूप्यादेरपक्षत्वाय सत्यन्तमाद्यं विशेषणत्रयं विकल्पेन पक्षे प्रक्षिप्तम् । तत्र ब्रह्म वृत्तिव्याप्यसिति मतेनाद्यम्, तदनभ्युपगमे तु शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमा हेतुरिति मतेन द्वितीयम्, अन्योन्याश्रयत्वात् न सा हेतुरिति मतेन तृतीयम् । तथाच प्रातिभासिकस्यासत्त्वानधिकरणत्वमङ्गीकृतमेव; अन्यथा तुच्छवारकासत्त्वानधिकरणत्वविशेषणेनैव तद्यावृत्तावेतावत्प्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । एवं च देहात्मैक्यस्यापि पक्षत्वे बाध एव । बाधे च सति पक्षविशेषणस्य पक्षत्वस्यासिद्ध्याश्रयासिद्धिरपि । अतएव स्वबाधकाभिमतवाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा स्वबाधकाभिमतवाध्यवाधाविषयत्वे सतीति वा स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानावाध्यत्वे सतीति वा विशेषणप्रक्षेपेऽपि न निस्तारः; देहात्मैक्ये पूर्वोक्तदोषाव्यावृत्तेरेव । यत्तु—प्रथमे साध्ये व्यावहारिकसत्त्वमादाय सिद्धसाधनम्, द्वितीयसाध्ये तु वादिनः परमार्थत्वविशेषणं व्यर्थम्; व्यावर्त्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निश्चयात् तज्ज्ञानस्य बाधितविषयकत्वरूपाप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितत्वेनाप्रतिबन्धकत्वमिति भावः । व्याप्यत्वासिद्धेरिति । व्याप्तिलक्षणे व्याप्यतावच्छेदकान्तरघटितान्यहेतुतावच्छेदकं निवेद्यत इत्यभिप्रायेणेदम् । अशक्तिविशेषज्ञापकतया व्यर्थविशेषणत्वस्य पुरुषनिग्राहकत्वमात्रम्; नतु हेत्वाभासत्वमिति मते तु व्याप्यत्वासिद्धेरित्यस्य व्याप्यत्वे प्रयोक्तुनिग्राहकान्यहेतुनिष्ठत्वासिद्धेरित्यर्थः । अस्मन्मतमिति । देहात्मैक्यस्य त्वन्मते अनङ्गीकारेऽप्यस्मन्मतमाश्रित्य हेतुप्रयोगेऽस्मन्मतसिद्धे देहात्मैक्ये व्यभिचारवारणमावश्यकमिति भावः । ननु—प्रतिभासमात्रशरीरत्वादिरूपं प्रातिभासिकत्वं हेतौ निवेद्यम्; तस्य च देहात्मैक्ये सत्त्वान्न व्यभिचारस्तत्राह—त्वया हीति । अन्योन्याश्रयत्वादिति । तात्पर्यं हि शाब्दप्रमानुकूलशक्तिः । प्रमात्वं चाबाधितार्थकत्वघटितम् । तथाच शब्दैकगम्ये अर्थे बाधाभावस्य शाब्दप्रमोत्पत्तेः पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वादन्योन्याश्रयः । तात्पर्यप्रमायां सत्यां शाब्दप्रमोत्पत्तिः, तस्यां च सत्यां तात्पर्यप्रमेति । नच—शाब्दानुभवानुकूलशक्तिरेव तात्पर्यम्, नतु विषयाबाधघटितमिति—वाच्यम्; शाब्दभ्रमशक्तौ तात्पर्यत्वाव्यवहारात् । ननु—तात्पर्यप्रमितिजन्येत्यत्र प्रमितिपदस्थाने कुतो न ज्ञानपदं निवेद्यत—इति चेन्न; कर्मप्राशस्त्यादौ वेदान्ततात्पर्यभ्रमजन्यो यः शाब्दबोधः, तदन्याबाधं कर्माप्राशस्त्यम्, तत्र बाधापत्तेः । तृतीयमिति । स्वग्रन्थे त्वयैव तथोक्तत्वादिति शेषः । तथाच पक्षतावच्छेदके ब्रह्मप्रमान्याबाध्यत्वादिनिवेशे च । अङ्गीकृतमेवेति । तथाच देहात्मैक्ये असदन्यत्वब्रह्मप्रमेत्यादिविशेषणयोः सत्त्वेन पक्षत्वावश्यकत्वात् प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपप्रातिभासिकत्वस्य हेतौ निवेशे स्वरूपासिद्धिः । ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वरूपप्रातिभासिकत्वनिवेशे च व्यभिचारः । नच—पक्षीयव्यभिचारो न दोष इति—वाच्यम्; अनुकूलतर्के सति पक्षीयव्यभिचारसंशये व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकत्वस्य ताद्विकैरस्त्रीकारेऽपि प्रकृते व्यभिचारनिर्णयस्य सत्त्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वस्त्रीकारात् । पक्षत्वे पक्षत्वात् । बाध एव बाधोऽपि । प्राचां मते साधकबाधकमानाभावरूपपक्षत्वस्याभाव आश्रयासिद्धिमध्ये निवेद्यत इत्यसिद्धिबाधयोराश्रयासिद्धित्वम् । नव्यमते तु बाध एव; अनुमित्युद्देश्यतावच्छेदकधर्मविशिष्टविषयकधीविरोधिधीविषयस्यैवाश्रयासिद्धित्वात् । स्वबाधकेत्यादि । स्वं प्रातिभासिकरूप्यादिकम् तद्बाधकावाध्यः तद्भ्रमजनकदोषः, तज्जन्यभ्रमविषयः तदेव रूप्यादिकम् तदन्यत्वं व्यावहारिकमात्रे । स्वेत्यादि । रूप्यादिबाधकावाध्यस्य 'नेदं रूप्य'मित्यादिबाधकस्य निषेध्यत्वेन विषयो रूप्यादिकम् तदन्यत्वं व्यावहारिकमात्रे । समानाधिकरणेति । स्वसमानाधिकरणं यत् कर्म तत्प्रागभावसमानकालीनं ब्रह्माविषयकं ज्ञानम् तद्बाध्यं रूप्यादिकम्, तदन्यत्वं व्यावहारिकमात्रे । पूर्वोक्तदोषाव्यावृत्तेरित्यनेन दूषणान्तराप्यपि सूचितानि । तथाहि—स्वामादिप्रातिभासिकविशेषस्य स्वबाधकजाग्रद्वोधबाध्यस्वामादिप्रातिभासिकदोषजज्ञानविषयत्वादाद्ये बाधादिकम् । द्वितीयेऽपि स्वामगजादिषु स्वबाधकजाग्रद्वोधबाध्यस्वामगजाद्यभावबुद्धेर्निषेध्यत्वेन विषयत्वात् बाधादिकम्; जाग्रद्वोधस्यापि तद्बाधनयोग्यत्वात्, तद्बाधनोपधायकत्वं तु न निवेशयितुं शक्यम्; तत्तद्विबिधान्तत्वेनाननुगतत्वात् । तृतीये त्वप्रसिद्धिः; ईश्वरज्ञानस्यैवोक्तप्रागभावसमानकालीनत्वेन तद्बाध्याप्रसिद्धेः, 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशा'दिति न्यायेन मनसि कर्मास्त्रीकारात् । स्वसमानाधिकरणपदेन स्वाधिकरणे मनस्यवच्छेदकतासंबन्धेन वर्तमानमुच्यते, ईश्वरोपाधिमायापरिणामयोरदृष्टरूपयोः प्रसादकोपयोर्मायावयवमनोवच्छिन्नत्वादित्युक्तावपि स्वत्वबाधकत्वदोषत्वादेरनुगतत्वाभावेन तत्तत्प्रातिभासिकव्यक्तिभेदकृतपर्यवसानेन दुर्ज्ञेयत्वं तु पक्षत्रयेऽपि । ब्रह्मज्ञानबाध्यशुक्ति-

प्रसिद्धेः—इति । तन्न; व्यावहारिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारमात्रमिति मतेन प्रथमप्रयोगात्, अनुगतं पृथग्व्यावहारिकं सत्त्वमिति तु मते द्वितीयः प्रयोगः । नच विशेषणं व्यर्थम्; परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धारस्य तत्प्रयोजनत्वात्, ईश्वरानुमाने जन्यकृत्यजन्यमित्यत्र जन्यत्वस्यैव विश्वपरमार्थत्ववादिनं प्रति परमार्थत्वस्य प्रमेयत्वादिवदुपरञ्जकत्वेन विशेषणत्वोपपत्तेश्च । तस्मात् पूर्वोक्त एव दोषः । हेतौ च व्यर्थविशेषणत्वदोषः । यद्यपि मतद्वयेऽपि अप्रामाणिकस्यापि निषेधप्रतियोगित्वाभ्युपगमादारोपितत्वेनोभयसंमतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्ति, अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वानुमाने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्वादोषसाम्यं स्यात्; तथापि हेतौ प्रातिभासिकत्वविशेषणं व्यर्थम्; अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तेः; शुद्धमेव हि ब्रह्म दृष्टान्तत्वेनाभ्युपेयम्; धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्यवैकल्यापत्तेः । साध्यं तु बाधाभावरूपत्वादधिकरणस्वरूपमेव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूप्यादिविशेषे बाधव्यभिचारादिकं तु पक्षषट्केऽपीति । व्यवहारमात्रमिति । एकमेवाभिष्टानीभूतं ब्रह्मसत्त्वं कल्पिततादात्म्यसंबन्धेन सदाकारधीमात्रे प्रकारः, ननु व्यावहारिकपारमार्थिकप्रातीतिकसत्त्वानां भेद इति 'सदिद'-मिति धीप्रकारस्वरूपैक्यसाधने न सिद्धसाधनम्; त्रिकालाबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपात्यन्ताभेदस्य प्रतिवादिना प्रपञ्चे अनङ्गीकारादिति भावः । अर्थगतं सकलव्यावहारिकविशेष्यकधीप्रकारः । पृथक् 'शुक्तिरूप्यं सत्' 'ब्रह्म सदि'त्यादिधीविषयाभ्यां प्रातीतिकपारमार्थिकसत्त्वाभ्यामन्यत् । त्रिविधसत्त्वानां लक्षणानि तूक्तानि । पञ्चवाविद्याकार्यगतं चैतन्यं प्रातीतिकं सत्त्वम् । मूलाविद्याकार्यगतं व्यावहारिकम् । शुद्धचिद्रूपं पारमार्थिकमित्यादि तत्त्वदीपनाद्युक्तम् । व्यर्थं प्रकृतानुमानोत्थापकस्य मते पारमार्थिकस्यैव सत्त्वस्य 'सदिद'मिति धीप्रकारत्वेन परमार्थेति विशेषणं व्यर्थमित्यर्थः । ईश्वरानुमान इति । मीमांसकं प्रतीत्यादिः । जन्यत्वस्येति । मीमांसकेनेश्वरास्वीकारान्नित्यकृत्यस्वीकारात् प्रति जन्यत्वं व्यर्थम् । वादिनं प्रकृतानुमानोत्थापकम् । उपरञ्जकत्वेन अव्यावर्तकत्वेन । तथाच नोभयवासिद्धेः व्यावर्तकत्वमपेक्ष्यते, किंत्वन्यतरवासिद्धम् । उक्तं हि मण्यादौ—“अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यानि जन्यानि, समवेतानि, स्वजनकादृष्टोत्तरोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि, समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटः । नच जन्यत्वस्य व्यावर्त्याप्रसिद्धिः; 'प्रमेयो घट' इतिवत् अव्यावर्तकत्वेऽपि तदुपरक्तबुद्धेरुद्देश्यत्वेन तस्योपरञ्जकत्वादि”त्यादि । ननु ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वमप्रसिद्धम्; मन्मते ज्ञानमात्रस्य सद्रूपब्रह्मविषयकत्वेन तदितरबाध्यत्वाप्रसिद्धेः, अथ ब्रह्मज्ञानपदेन ब्रह्ममात्रविषयकधीः निवेद्या; तथापि परमते तदप्रसिद्धिः, अतः पक्षहेत्वोरप्रसिद्धिः कुतो नोच्यते? किंच प्रातिभासिकस्याप्रामाणिकत्वेन तदन्यत्वमप्रसिद्धम्; वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यत्वस्य शुद्धब्रह्मशाब्दप्रमात्वरूपस्वावच्छेदकघटितत्वेन मोक्षहेतुत्वस्य विजातीयज्ञानस्वरूपस्वावच्छेदकघटितत्वेन च तादृशावच्छेदकाप्रसिद्धेः परमते अप्रसिद्धिः, तत्राह—यद्यपीति । अप्रामाणिकस्येति । अप्रसिद्धस्य प्रमाणाविषयस्य चेत्यर्थः । अहृदयवाचामहृदयमेवोत्तरमिति न्यायेन स्वमतासिद्धस्यापि परप्रसिद्धिमात्रेण निषेधप्रतियोगितया प्रयोगः । प्रमाणाविषयस्यापि अमाविषयत्वमात्रेण निषेधत्वधीश्च मतद्वयेऽपि स्वीक्रियत इति भावः । अभ्युपगमात् प्रसिद्धिरस्तीत्येका योजना । पक्षहेत्वोः सत्यन्तस्य प्रसिद्धिरस्तीत्यर्थः । देहात्मैक्यादौ बाधव्यभिचारादिवारणाय प्रातीतिकव्यावर्तकसत्यन्तस्थले विशेषणान्तरमाह—आरोपितत्वेनेत्यादिना प्रातिभासिकत्वस्येत्यन्तेन । अभ्युपगमादित्यनुषज्यते । तेनैतादृशप्रातिभासिकस्यापि प्रमाणाविषयत्वेऽपि न क्षतिः । प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्तीत्यपरा योजना । अनधिकरणत्वे सतीति । अस्माद्रीत्या प्रातिभासिके व्यभिचारप्रसक्तेरिदमुक्तम् । अनधिकरणत्वमधिकरणभेदत्वविशिष्टम् । तस्य च वृत्त्यनियामकेन ब्रह्मनिष्ठेन तादात्म्येन हेतुत्वे न दोषः; वृत्तिनियामकसंबन्धस्यैव ब्रह्मणोऽधिकरणतापादकत्वात् । एवं बाधाभावत्वविशिष्टे साध्येऽपि बोध्यम् । तादृशतादात्म्यमपि न ब्रह्माधिकरणकम्; यन्निरूपितमधिकरणत्वं वाच्यं, तदन्यसंबन्धानुयोगित्वस्यैव तत्त्वात् । साधकत्वेति । व्याप्तिग्रहोपयिकत्वेत्यर्थः । ननु ब्रह्मण्यज्ञानविषयत्वाद्यधिकरणत्वसत्त्वादनधिकरणत्वघटितहेत्वभावेन व्याप्त्यग्रहाद्व्याप्तिग्रहोपयिकतया तत्सार्थकम्, तत्राह—शुद्धमेवेति । उक्ताधिकरणत्वं शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव, किंतु उपहित इति भावः । नन्वसिद्धिवारकस्यापि व्यर्थत्वाभावः चक्षुस्तेजसत्त्वानुमानादौ दृष्टः, तथाच प्रातिभासिकत्वविशेषणस्यापि पक्षे हेत्वसिद्धिवारकत्वेन न व्यर्थत्वमित्याशङ्क्य यथा असिद्ध्या व्याप्तेरग्रहस्तद्वारकस्यैव सार्थकत्वम्; व्याप्तिग्रहोपयिकत्वात्, पक्षे हेत्वसिद्ध्या तु न व्याप्त्यग्रहः; दृष्टान्ते साध्यहेत्वोः सिद्धैव व्याप्तिग्रहात्, तथाच पक्षहेत्वसिद्धिवारकं प्रातिभासि-

न धर्मः; धर्म्यतिरिक्ताभावानभ्युपगमस्योक्तत्वात् तथाच चक्षुस्तैजसत्त्वानुमाने रूपादिषु मध्य इत्यस्यासिद्धिवारकस्यापि व्याप्तिग्रहौपयिकत्वेन व्यभिचारवारकविशेषणतुल्यतया यद्यपि सार्थकत्वम्, व्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे व्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रस्य तन्नत्वात्; तथापि 'क्षित्यादिकं न कर्तुंजन्यं शरीराजन्यत्वा'दित्यत्र शरीरस्यैव व्याप्तिग्रहानुपयोगित्वेन प्रातिभासिकत्वस्य वैयर्थ्यमेव; आकाशादावजन्यत्वकर्तुंजन्यत्वाभावयोरिव निर्धर्मके ब्रह्मण्यनधिकरणत्वपरमार्थसत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहोपपत्तेः । तथा चैकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्ध्यापत्तिः । स्वरूपासिद्धिपरिहारार्थं विशेषणं प्रक्षिपतो व्याप्यत्वासिद्धिरित्यर्थः; व्याप्तावनुपयोगस्य दर्शितत्वात् । किंच व्यावहारिकसत्त्वमात्रेणैवोपपत्तेः उक्तहेतोरप्रयोजकत्वम्; परमार्थसत्त्वे बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपरा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कत्वं हेतोर्विशेषणं व्यर्थमेवेत्याशयेनाह—तथाच चक्षुस्तैजसत्त्वेत्यादि । असिद्धिवारकस्य दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिवारकस्य । तैजसत्त्वानुमाने इति । चक्षुः, तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वात्, दीपवदित्यत्र मध्यान्तानुपादाने दृष्टान्ते हेत्वभावेन साध्यहेत्वोः सहचाराग्रहात् मध्यान्तं व्याप्तिग्राहकमिति भावः । ननु व्याप्तेरिव पक्षधर्मताया अपि ग्राहकत्वेन सार्थक्यं कुतो न स्यात्? व्याप्तिग्राहकस्यापि सार्थकत्वे अनुमितिप्रयोजकत्वस्यैव तन्नत्वात्, तथाच व्याप्तिविशिष्टहेतोः पक्षधर्मताग्राहकत्वेन प्रातिभासिकत्वविशेषणस्याप्यनुमितिप्रयोजकतया सार्थकत्वम्, तत्राह—व्यभिचारवारकस्येति । तथाच यद्विशेषणं विना कृतस्य व्याप्यतावच्छेदकत्वसंभवः तद्वदितं गौरवेण व्याप्यतायामनवच्छेदकम् । नच—व्याप्यतायाः स्वरूपसंबन्धरूपस्यातिरिक्तस्य वावच्छेदकत्वस्यानङ्गीकारात् अनतिरिक्तवृत्तिस्वरूपावच्छेदकत्वस्य तु गुरावपि स्वीकारात् नोक्तरीत्या वैयर्थ्यस्य दूषणत्वमिति—वाच्यम्; व्याप्यताया उक्तावच्छेदकत्वस्यास्वीकारे कारणत्वादेरपि तदापत्तेः । 'दण्डः कारण'मित्यादिधीरिव 'धूमो व्याप्य'इत्यादिधीरप्यवच्छेदकत्वावगाहिनी संभवत्येव । अतएव कम्बुग्रीवादिमत्वादिना व्याप्तिर्नश्यत एव । तथाच स्वविशिष्टव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकहेतुतावच्छेदकादिरूपव्याप्तिधीरोधित्वादुक्तावच्छेदकत्वशून्यहेतुतावच्छेदकरूपस्य व्यर्थविशेषणत्वस्य व्याप्यत्वासिद्धिरूपहेत्वाभासत्वमिति भावः । स्पष्टश्चायमर्थो मण्यादावीश्वरवादादौ तथाहि—'शरीराजन्यत्वे व्यर्थविशेषणत्वम्; लाघवेनाजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वात् । ननु—व्यर्थत्वमसिद्धम्; पक्षधर्मतौपयिकत्वाद्यभ्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे अनुमितिप्रयोजकत्वस्यैव वीजत्वात्—इति चेन्न; नीलधूमे धूमत्वमेव व्याप्यतावच्छेदकम्, ननु नीलत्वमपि; गौरवात्, दण्डत्वेन कारणत्वे रूपमिव; एवं शरीराजन्यत्वेऽपि न शरीरमवच्छेदकम्; गौरवात्, येन विशेषणेन विना व्याप्तिर्न गृह्यते, तस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वनियमात् । अतएव रूपादिमध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वादित्यत्र मध्यान्तं विना व्याह्यग्रहात्सार्थकमेवेत्यादिकं—तत्रोक्तम् । उक्तंच तत्र पक्षधरैः—'गौरवमेव तदहेतुतायां बीज'मिति । ननु—ससमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकान्तराघटितत्वं हेतुतावच्छेदके विशेषणं दीयते; तथाच नीलधूमत्वं न व्याप्यतावच्छेदकम्, शरीराजन्यतात्वं तु तदवच्छेदकमेव; धूमप्रागभावत्वादिवत्, स्वसमानाधिकरणेन व्याप्यतावच्छेदकान्तरेणाघटितत्वात्, अजन्यतात्वस्य जन्यतासामान्याभावनिष्ठत्वेन शरीराजन्यत्वरूपे जन्यताविशेषाभावे अभावात् । गौरवादनवच्छेदकत्वे पृथिवीत्वत्वादीनां तत्र तत्रावच्छेदकत्वोक्तिरसङ्गता स्यात्; गन्धत्वस्यैव तत्संभवात्—इति चेन्न; पृथिवीत्वत्वादीनां व्यतिरेकव्याह्यवच्छेदकत्वस्यैव तत्रतत्रोक्तत्वाद्यतिरेके व्यर्थविशेषणत्वस्य ताद्विकैरस्वीकारात् । किंचेश्वरवादीयपक्षधरीये 'तादृशधर्मान्तराघटितत्वेन हेतुतावच्छेदकं विशेषणीयमि'त्युक्तम् । तत्र तादृशपदं साध्यसंबन्धितावच्छेदकरूपव्याप्तिपरम्; पूर्वग्रन्थे तस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । तथाच स्वसमानाधिकरणप्रवेशस्य ताद्विकसंप्रदायासिद्धत्वात् स्वकपोलकल्पितत्वं निर्युक्तिकत्वं च । नहि धूमप्रागभावोपस्थितिकाले उपस्थितस्य धूमस्य हेतुत्वं नोद्भावयितुं शक्यम् । नच—विशेषणतासंबन्धेन या प्रागभावनिष्ठा व्याप्तिः, तदुपस्थितिकाले संयोगेन धूमनिष्ठव्याप्तेः उपस्थित्यनियमात् स्वसमानाधिकरणेत्याद्यवश्यं वाच्यमिति—वाच्यम्; धूमज्ञानेनैव धूमनिष्ठोक्तव्याप्तेरुपस्थितेः । तस्मात् स्वसमानाधिकरणेत्यादिविशेषणं, व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराघटितत्वं वा विशेषणं न देयमेव । धूमप्रागभावत्वं नीलधूमत्वं वा गौरवान्नावच्छेदकम्; उक्तताद्विकवाक्यानां तदेव स्वारस्यात् । अतः साधूक्तं व्याप्यत्वासिद्धिरिति । ननु—शुद्धब्रह्मणोऽनधिकरणत्वस्वीकारे साध्यवैकल्यम्; अथ वृत्त्यनियामकतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणि स्वीकाराच्च तथेत्युच्यते, तदा 'अज्ञः कालकाल' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणः अविद्यारूपकालाधारस्योक्त्यनुपपत्तिः; किंच प्रातिभासिकत्वस्योक्त्यानुयोगित्वरूपमधिकरणत्वं न हेतो निवेश्यम्, येनोक्तरीत्या वैयर्थ्यमुच्येत, किंतु प्रातिभासिकभेद एव; अतएव वक्ष्यते प्रातिभासिकव्यावृत्तीत्यादि, तत्राह—किंचेति । बाधानुपपत्तीति । 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विज्ञानत' इत्यादिश्रुत्यनूदितबाधानुपपत्तीत्यर्थः । यस्मिन्

घाताच्च । ननु—ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपं हेतुं प्रति व्यावर्तकतया प्रयोजकत्वेन परमार्थ-
सत्त्वं कृतम्; अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येवासद्यावृत्तिं प्रति तद्विरुद्धसत्त्वस्यैव प्रयोजक-
त्वात् । ज्ञानत्वानन्दत्वादिकं तु न तत्प्रयोजकम्; साक्षादसत्त्वाविरोधित्वात्, प्रपञ्चे तदभावाच्च;
तथाच ब्रह्मविश्वसाधारणं परमार्थसत्त्वमेव तत्प्रयोजकम्; न च—विश्वसिध्यात्वात्परमार्थसत्त्व-
मपि न विश्वसाधारणम्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिवदिति—वाच्यम्; अन्योन्याश्रयापत्तेः—इति चेत्,
अयुक्तमेतत्; नहि प्रातिभासिकासतोरेका व्यावृत्तिरुभयी वा समव्याप्ता; येनैकप्रयोजकप्रयोज्या
भवेत्, किंतु प्रातिभासिकव्यावृत्तिप्रयोजकं ब्रह्मविश्वसाधारणमेव वक्तव्यम्; असत्यपि
प्रातिभासिकत्वाभावात्, एवमसद्यावृत्तावपि प्रयोजकं ब्रह्मविश्वप्रातिभासिकसाधारणमेव
वक्तव्यम्; प्रातिभासिकेऽप्यसत्त्वाभावात् । तथाच तत्प्रयोजकद्वयसमावेशादेव ब्रह्मण्युभयव्यावृत्त्युप-
पत्तौ नीलघटत्ववत्पावच्छेदकद्वयसमावेशोपपन्ननीलघटत्ववत्प्रातिरिक्तप्रयोजककल्पनायामस्ति
किञ्चिन्मानमिति कृतबुद्ध्य एव विदांकुर्वन्तु । नित्यत्वं चोपाधिः; तुच्छप्रातिभासिकयोर्नित्यत्वव्यति-
रेके साध्यव्यतिरेकदर्शनात् । अत एवानिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वादित्यपि न हेतुः ।
किञ्च प्रमात्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वं तत्त्वावेदकत्वं वा । आद्ये दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यम् । नहि
परमार्थसतः शुद्धस्य ब्रह्मणः सप्रकारकज्ञानविषयत्वम् । नच धर्मवतो दृष्टान्ततेत्युक्तम्; तस्य पक्ष-
कुक्षिनिक्षिप्तत्वेन निश्चितसाध्यवत्त्वाभावात् । द्वितीये तत्त्वावेदकत्वस्यावाधितविषयत्वरूपत्वेन
साध्याविशेषपर्यवसानाद्धेतुग्रहे सिद्धसाधनम् । हेत्वग्रहे तु स्वरूपासिद्धिः । यत्तु—प्रमाविषयत्व-
मात्रेणैव परमार्थत्वोपपत्तौ विशेषणे व्यर्थः; इति । तन्न; पुरोवर्तिनं रजततया जानामीत्याद्यनुव्यव-
सायरूपप्रमाविषये प्रातिभासिके व्यभिचारवारकत्वात् साक्षात्पदस्य, तत्रैव च मिथ्यात्वप्रमितेः
साक्षाद्विषये व्यभिचारवारकत्वात् अनिषेध्यत्वेनेत्यस्य । नह्यनुव्यवसायमिथ्यात्वप्रमे भ्रमे भवतः ।
नाप्यनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वं हेतुः; सत्यत्वसिद्धिं विना अनिषेध्यत्वेनेत्यस्यासिद्धेः ।
तथा चान्योन्याश्रयः । नचेश्वरज्ञानविषयस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः; मिथ्याभूतस्य
मिथ्यात्वेनैव ग्रहणात् ऐन्द्रजालिकवत् भ्रान्तत्वायोगात्, अन्यथा सविषयकभ्रमज्ञातृत्वेन भ्रान्त-
त्वस्य दुर्वारत्वापत्तेः । अथ—निषेध्यत्वेन ज्ञाने तत्पालनार्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्—न; ऐन्द्रजा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्त्वज्ञानकाले । तथाच सर्वाणि भूतानि यत्कालीनात्मैवाभूदित्यर्थः । सर्वाणि भूतानि स्वकालपूर्वत्वाभाववद्यत्कालीना-
त्मतादात्म्यवन्तीति यावत् । 'तत्र को मोह' इत्यादेस्तत्काले चरमतत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणरूपे शोकादिकं स्वपूर्वत्वसंबन्धेन
नास्तीत्यर्थः । व्यावर्तकतया अनुमापकतया । साक्षात् भावाभावविधया । एका एकैव । ननु मास्वेकैव
व्यावृत्तिः; प्रातिभासिकत्वेन भेदस्य असत्त्वेन भेदस्य च सत्त्वात्, तथापि प्रातिभासिकासतोर्न्यतरत्वेन भेदस्यैकस्य
सत्त्वात्तदनुमापकतया ब्रह्मविश्वयोः पारमार्थिकत्वसिद्धिरास्ताम्, तत्राह—तथाचेति । द्वयसमावेशादिति ।
द्वयेन सह समावेशः सामानाधिकरण्यं यस्य तेन, ब्रह्मविश्वान्यतरत्वादिनेति यावत् । उभयव्यावृत्त्युपपत्तौ उभयो-
रेकमात्रभेदविशिष्टापरमात्रभेदस्यान्यतरत्वेन भेदस्य वानुमानसंभवे । नीलघटत्ववत् नीलघटत्वस्यैव । उभय-
व्यावृत्तेरिति शेषः । यथा घटीयनीलरूपं प्रति घटं प्रति च क्लृप्ताभ्यां कपालीयनीलरूपादिदण्डादिसामग्रीभ्यामेव
नीलघटस्योत्पत्तिसिद्धेर्न तत्रान्यत्कारणं कल्प्यते, तथा क्लृप्तेनोक्तान्यतरत्वादिनोभयव्यावृत्त्यनुमानसंभवात्तदर्थं न ब्रह्म-
विश्वयोरेकजातीयसत्यत्वादिकं कल्प्यते; अन्यथा तुच्छब्रह्मणोः प्रपञ्चव्यावर्तकमसत्यत्वं स्यात् । तदुभयान्यतरत्वस्य
तदुभयमात्रविशेष्यकधीविशेष्यत्वस्य व्यावर्तकत्वं तु तुल्यमिति भावः । नित्यत्वम् अविनाशित्वम् । व्यतिरेक
इति । सतिसप्तम्या व्यापकत्वमर्थः । तेनानित्यत्वव्यापकमपारमार्थिकत्वमिति लभ्यते । अतएव बाधानुपपत्तिलक्षण-
प्रतिकूलतर्कान्नित्यत्वाद्युपाधिमत्त्वाच्चैव । अनिषेध्यत्वेनेत्यादि । स्वाधिकरणवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वविषयत्वानि-
रूपितप्रमाविषयत्वादित्यर्थः । तस्य तत्र ईश्वरे । भ्रान्तत्वप्रसङ्गः विशेषदर्शनां भ्रान्तताव्यवहारप्रसङ्गः । मिथ्या-
त्वेनेति । तथाच स्वसमानाधिकरणविशेषदर्शनाकालीनस्य बाधितविषयकज्ञानस्याश्रयत्वं भ्रान्तत्वव्यवहारे विषयः
कालीनान्तविशेषणानुपादाने उक्तविशेषदर्शनकालीनस्य सोपाधिकभ्रमस्य आश्रये पुरुषेऽपि 'अहं भ्रान्त' इति व्यव-
हारः स्यादिति भावः । अन्यथा उक्तविशेषदर्शनकालीनभ्रममादाय भ्रान्तत्वव्यवहारस्वीकारे । सविषयकभ्रम-
ज्ञातृत्वेनेति । भ्रमविषयत्वपर्यायधिकरणं यत् सुखादिविशिष्टदर्पणादिकं तस्य भ्रमस्य च मिथ्यात्वेन यत् ज्ञातृत्वं
तेनेत्यर्थः । भ्रान्तत्वस्य भ्रान्तत्वव्यवहारस्य यथाश्रुते बाधितविषयकज्ञानत्वरूपभ्रान्तत्वस्येष्टत्वात् असङ्गतत्वात् ।

लिकप्रवृत्तिवदीश्वरप्रवृत्तेरपि तथाविधत्वात् । नापि सप्रकाराबाध्यार्थक्रियाकारित्वं हेतुः; न सप्रकारकजाग्रद्विधावाध्यस्वप्नजलावगाहनप्रियासङ्गमादिविशेषिताप्रमाणीभूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र व्यभिचारात् । अथ तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकं तच्चावाध्यमेवेति मतं, तदसत्; ज्ञानमात्रस्य हि तादृक्सुखाजनकत्वेन किञ्चिद्विशेषितस्यैव तथात्वं वाच्यम्, ज्ञाने च विशेषो नार्थातिरिक्तः । तदुक्तम्—‘अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।’ इति । अर्थेनेत्यर्थ एवेत्यर्थः । तथाच मिथ्याभूतविशेषितस्य जनकत्वाभ्युपगमे मिथ्याभूतस्यापि जनकत्वाद्यभिचार एव । तथा चोक्तं शास्त्रदीपिकायां बौद्धं प्रति—‘अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया तच्चाव्यभिचार्येव । नहि कचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्तीत्याशङ्क्य सत्यमेतन्न तु तेन पूर्वज्ञानप्रामाण्याध्यवसानं युक्तम्; अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वभावस्थायां सुखदर्शनात् ।’ इति । ननु—विषयविशेषोपलक्षितस्यैव ज्ञानस्य सुखजनकत्वमस्तु, तत् कुतो विषयस्य जनकत्वमिति—चेन्न; स्वरूपाणामनुगततया ज्ञानत्वादेश्चातिप्रसक्ततया अनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादुपलक्षणत्वासंभवात् । ननु—विशेषणत्वमप्यसंभवि अनागतज्ञानजन्ये तत्कालाविद्यमानस्य विषयस्य पूर्वभावित्वरूपजनकत्वसंभवात्—इति चेन्न; स्वव्यापारजन्ये व्यापारिणोऽसतो जनकत्ववत् स्वज्ञानजन्येऽप्यसतो जनकत्वसंभवात्, अतीतानागतावस्थस्यासत्त्वधर्माश्रयत्वेनैवाभ्युपगमात्, अन्यथा ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वतज्ज्ञानविषयत्वादीनामनाश्रयत्वापत्तेः, प्रमाणवलात् कारणत्वाभ्युपगमस्यात्रापि तुल्यत्वात् । किञ्च स्वरूपाबाध्यस्य विषयाबाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपबाधस्यावश्यकतया स्वप्नादिज्ञानं सदेवेत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अनादित्वस्य विषमव्याप्तस्योपाधित्वाच्च । नच—अर्थक्रियाकारित्वं प्रति परमार्थत्वस्य ब्रह्मणि प्रयोजकत्वेनावधारणादकारणककार्योत्पत्तिरूपविपक्षबाधक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथाविधत्वात् विसंवादित्वेन ज्ञायमानत्वात् । संवादित्वेन ज्ञायमानप्रवृत्तौ तादृशोपादानप्रत्यक्षादेहेतुत्वेऽध्यतादृशप्रवृत्तावतादृशस्य तस्य हेतुत्वमिति भावः । सप्रकारेत्यादि । सप्रकाराबाध्यं यदर्थक्रियाकारि तत्त्वादित्यर्थः । मनोवच्छिन्नचेतन्यादेरधिष्ठानत्वपक्षे जाग्रद्विधाध्यत्वेऽपि ब्रह्माधिष्ठानकत्वपक्षे तदबाध्या स्वामीरीति तत्पक्षे व्यभिचारमाह—जाग्रदिति । सङ्गमादीत्यादिना सोऽयमित्यादिवाक्यजन्यनिष्प्रकारकधीबाध्यमेदादिपरिग्रहः । विशेषितेति । विशिष्टेत्यर्थः । ज्ञानमेव केवलज्ञानम् । ननु सङ्गमादिविशिष्टम् । सङ्गमादिकं नार्थक्रियाकारीति यावत् । नार्थातिरिक्तः न स्वविषयान्यो जात्यादिः । उक्तमुदयनाचार्यैः । निराकारतयेति । यदि ज्ञानादत्यन्तभिन्नो बहिःस्थितः अर्थ एव ज्ञाने विशेष इति नोच्यते, तदा जात्यादिकं ज्ञानधर्मोऽपि ज्ञाने विशेषः स्यात्, तद्वदर्थोऽपि घटादिज्ञानगत आकाराख्यो धर्मः स्यात्; तथाच बहिरनुभूयमानार्थापलापेनानुभवबाधः स्यात्; विरुद्धनानाविधाकारत्वात् । समूहालम्बनज्ञानादेः साकारत्वादिकमेव दुर्वचं स्यात् । तस्मात् ज्ञानस्य निराकारत्वमेव युक्तम् । अतएव साक्षात्कारत्वमिन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वम्, अनुमितित्वादिकं व्याख्यादिधीजन्यज्ञानत्वादिकम्, ननु जातिरूपमिति भावः । स्वप्नज्ञानस्याप्रमात्वे संवादमाह—तथाचोक्तमिति । उपलक्षणत्वासंभवादिति । येनोपस्थापितोऽर्थ एव वाक्यार्थबोधे विषयः, ननु स्वयं तत् उपलक्षणम् । यथा ‘काकवतो गृहान् पश्यामी’त्यादौ काकोपस्थापितमृत्तृणत्वमेव गृहे विशेषणम्, ननु काकः । यथा वा शब्दाश्रय आकाशपदशक्य इत्यादौ व्यक्तिसात्रस्य शब्दाश्रयत्वोपस्थापितस्य शक्यतया भानम्, ननु शब्दाश्रयत्वस्यापि । ‘सङ्गमादिज्ञानं सुखहेतु’रित्यादिव्यवहारे तु विषयेण शुद्धज्ञानव्यक्तिरूपस्थिता हेतुत्वेन बुध्यते । अननुगतत्वेन व्यक्तेरनुगतधर्ममपुस्कृत्य हेतुत्वज्ञानासंभवात् । नापि तद्वतो धर्मः; साकारवादापत्त्यादिना तदसंभवादिति विषयो नोपलक्षणमिति भावः । ननु फलोत्पत्तिपूर्वकालासतोऽपि व्यापारिणः कारणत्वं युक्तम्; फलं प्रति यन्नियतपूर्वभावि, तन्नियतपूर्वभाविव्यपि कारणतायाः लोके ‘गोमयैः पचती’त्यादौ वेदे ‘तुषपका भवन्ति’ ‘स्वर्गकामो यजेते’त्यादौ व्यवहारात्, विषयस्य तु ज्ञानं प्रत्यपि पूर्वभावित्वाभावात् कथं कारणत्वम्? स्वस्वव्यापारान्यतरनिष्ठफलनियतपूर्ववृत्तिताकत्वस्यैव कारणस्वरूपत्वात्, तत्राह—अतीतेति । असत्त्वेति । तत्तत्कालावच्छिन्नं सर्वदेशनिष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । अनाश्रयत्वेति । तत्तत्कालावच्छिन्नाश्रयत्वस्याभावेत्यर्थः । अतीतादेस्तत्कालासंबन्धे तत्कालावच्छिन्नमसत्त्वादेर्धर्मस्याश्रयत्वं तत्र न स्यात् । अधिकरणे हि संबन्धमेवावच्छेदकम्, नासंबन्धमिति भावः । स्वरूपेत्यादि । ‘यत्र यत्र ज्ञाने स्वरूपबाधस्याबाध्यता, तत्र विषयतोऽपि न बाध्यत्व’मिति नियमाद्विषयाबाधस्य स्वरूपाबाधव्यापकतया व्यापकस्य विषयाबाधस्याभावे व्याप्यस्य स्वरूपबाधस्याप्यभाव इत्यर्थः । ‘इदं रजत’मिति यत् ज्ञानं जातं, तत् मिथ्येत्यादिप्रत्ययेन विषय-

तर्केण हेतोः साध्यव्यापकतया तदव्यापकतयोपाधेः साध्याव्यापकत्वमिति—वाच्यम्; प्रातिभासिक-
रज्जुसर्पादौ भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शनेन प्रातिभासिकसाधारणस्य तुच्छव्यावृत्तस्य प्रतीतिकाल-
सत्त्वस्यैवार्थक्रियाकारित्वं प्रति प्रयोजकत्वात्, प्रातिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वानभ्युपगमे सप्रकारा-
वाध्येति हेतुविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः, कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले केनापि पुरुषेणावाध्यत्वं हि
परमार्थसत्त्वम्; तदपेक्षया प्रतीतिकालसत्त्वस्य लघुत्वाच्च । किञ्च शुद्धस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात्
साधनविकलत्वम्, उपहितस्य पक्षनिक्षेपात् साध्यविकलत्वम् । आरोपितमिथ्यात्वकत्वादित्यपि न
हेतुः; आरोपितत्वं प्रातिभासिकत्वं चेत्, प्रपञ्चे हेतोरसिद्धिः; तत्सिद्धेः पारमार्थिकसिद्ध्युत्तरका-
लीनत्वात् । व्यावहारिकत्वं चेत्, शुक्तिरूपादौ व्यभिचारः; उभयसाधारण्येऽप्ययमेव दोषः । कल्प-
करहितत्वादित्यपि न हेतुः; असति व्यभिचारात् यथाश्रुतस्यासिद्धेश्च । ननु—नासिद्धिः, शुद्धं हि
चैतन्यं न कल्पकम्; अदृष्टत्वात्, नोपहितम्; कल्पितत्वादेवान्यथानवस्थानात्, तथाच याव-
द्विशेषाभावे कल्पकसामान्याभावसिद्धिः—इति चेन्न; शुद्धस्याप्यनाद्यविद्योपधानवशेन कल्पकत्वो-
पपत्तेः । कल्पकत्वं हि कल्पनां प्रत्याश्रयत्वं, विषयत्वं, भासकत्वं वा । तच्च सर्वं कल्पनासमसत्ताक-
त्वेन शुद्धत्वाव्याघातकम् । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—‘आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव
केवला । पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥’ इति । अस्तु वोपहितस्य
कल्पकत्वम्, नवानवस्था; अविद्याध्यासस्याध्यासान्तरानपेक्षत्वात्, स्वपरसाधारणसर्वनिर्वाहक-
त्वोपपत्तेः, अकल्पितस्य कल्पकत्वाददर्शनाच्च कल्पितप्रतिबिम्बविशिष्टादर्शादेरादर्शान्तरे प्रतिबिम्ब-
कल्पकत्वदर्शनाच्च, बिम्बस्य द्वितीयादर्शसंमुखत्वाभावेन तत्र कल्पकत्वायोगात्; अन्यथा अतिप्रस-
ङ्गात् । विस्तरेण चैतदपेक्षयामः । तदेवं निराकृताः परमार्थसत्त्वे साध्ये षडमी हेतवः । एवमन्ये-
ऽपि निराकार्याः । अथ—विमतं, न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वादात्मवदिति अनुमानान्तरं भवि-
ष्यतीति—मतम् । तन्न; प्रातिभासिके शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारात् नच—तत्रासद्विलक्षणत्वहेतुरेव
नास्तीति—वाच्यम्; असद्विलक्षणत्वाभावे हि अपरोक्षतया प्रतीतिरेव न स्यात् । ननु—तर्ह्यसद्वि-
लक्षणत्वे तद्विरुद्धसद्विलक्षणत्वायोगः, तथाच साध्यस्यापि विद्यमानत्वान्न व्यभिचार—इति चेन्न;
सत्त्वे सर्वजनसिद्धबाधविरोधात्, गजादौ गोवैलक्षण्येऽपि तद्विरुद्धाश्ववैलक्षण्ययोगवत् सद्वैलक्ष-
ण्येऽप्यसद्वैलक्षण्ययोगोपपत्तेः प्रथममिथ्यात्वनिरुक्ताबुक्तत्वात् । ननु—विमतं, न चैतन्याज्ञानकार्यम्,
न तत्कार्यधीविषयः, न तत्कार्यसत्त्ववत्, न तज्ज्ञानवाध्यसत्त्ववद्वा, तस्मिन्नपरोक्षेऽप्यनिषेध्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशिष्टस्य ज्ञानस्य मिथ्यात्वावगाहनाद्विषय एव मिथ्या, ननु ज्ञानमिति वक्तुं न शक्यमिति भावः । अकारणकेति ।
सत्यकारणहीनेत्यर्थः । मिथ्याभूतं यदि कारणं स्यात्, सत्यं स्यात् यन्नैवं तन्नैवं, यथा नृशृङ्गम्, अथवा कारणं ‘यदि
सत्यं न स्यात्, तदा कारणं न स्या’दित्यादिको बोध्यः । कालसत्त्वस्य कालसंबन्धस्य । अयमेवेति । ननु—
आरोपितपदेन मिथ्यात्वेनोभयवादिसिद्धं वाच्यमिति—चेन्न; जीवाणुत्वादिमिथ्यात्वस्य त्वया मया च मिथ्यात्वेन
स्वीकारात्तत्र व्यभिचारो मन्मतरीत्या हि दुर्वारः; मन्मते तस्य सत्यत्वाभावनिश्रयात् । किञ्चोक्तसिद्धत्वं यदि ज्ञातत्वं,
तदा शुक्तिरूप्यादिमिथ्यात्वे कदाचिन्मिथ्यात्वेन ज्ञातत्वाद्यभिचारः । यदि प्रमितत्वं, तदा तदसिद्धम्; प्रपञ्चे सत्त्व-
सिद्धेः पूर्वं तन्मिथ्यात्वज्ञानस्य प्रमात्वासिद्धेः । नच—व्यावहारिकप्रमात्वं निवेश्यम्, ननु तार्त्त्विकम्; तथाच
तत्त्वावेदकत्वरूपप्रमात्वस्य तत्रासिद्धावपि मतद्वयेऽपि व्यवहारकालाबाध्यमिथ्यात्वप्रकारकप्रमात्वरूपस्य व्यावहारिक-
प्रमात्वस्य निश्चयोऽस्त्येव, प्रपञ्चमिथ्यात्वं हि यदि प्रातीतिकं, यदि वा व्यावहारिकमुभयथापि तन्मिथ्यात्वं व्यावहा-
रिकमिति—वाच्यम्; तथा सति व्यवहारकालाबाध्यं यत् मिथ्यात्वं तदाश्रयमिथ्यात्वं पर्यवसितहेतुः । तथाच यस्य
प्रातीतिकस्य मिथ्यात्वे ब्रह्मज्ञानाव्यवहिते पूर्वकाले स्वप्रकाले वा मिथ्यात्वभ्रमः, तत्रापि हेतुसत्त्वाद्यभिचारः ।
बाध्यपदेन बाध्ययोगोक्तावपि स्वामाध्यासस्य मूलाविद्योपादानकत्वमते स्वामिथ्यात्वस्य व्यवहारकालबाधयोग्य-
त्वात् । ततश्च तद्वारणाय तत्त्वावेदकरूपोभयवादिसिद्धप्रमानिवेशे तार्त्त्विकमिथ्यात्वाश्रयमिथ्यात्वं पर्यवसितहेतुः ।
तथाच हेत्वप्रसिद्धिपर्यवसानम् । कल्पनासमसत्ताकत्वेन मिथ्यात्वेन । आश्रयत्वेत्यादि । तमसो अज्ञानस्या-
श्रयत्वं विषयत्वं शुद्धमित्येव । पश्चिमः पश्चाज्जातोऽहङ्काराद्यवच्छिन्नात्मा, पूर्वसिद्धतमसो नाश्रयादिः, पश्चिमत्वा-
देव । तथाच शुद्धस्याविद्याश्रयविषयत्वे अविद्याकार्यभ्रमतद्विषयौ प्रत्याश्रयत्वं विषयत्वमपि संभवतीति भावः ।

त्वेन साक्षाद्भासमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटे अपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानः पटो न घटाज्ञानकार्यादिः; विपक्षे च तदापरोक्ष्ये तदज्ञानव्याहतिरेव बाधिका, नचासिद्धिः; अधिष्ठानतया सुखादिसाक्षित्वेन तदानीमपि चैतन्यापरोक्ष्यात्—इति चेन्न; सामान्याकारेणापरोक्ष्येऽपि शुक्त्यादौ रजतादेरनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानतया तत्र व्यभिचारात् । अथ व्यावृत्ताकारेण यस्मिन् भासमाने यदनिषेध्यत्वेन साक्षात् भासते तत्र तदज्ञानकार्यादीति व्याप्तिरिति मन्यसे, तर्ह्यसिद्धिः; नहि चैतन्यमिदानीं भ्रमनिवर्तकत्वाभिमतव्यावृत्ताकारापरोक्षप्रतीतिविषयः; तथा सत्यधिष्ठानमेव न स्यात् । यदा तु वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तौ व्यावृत्ताकारतया अपरोक्षं, तदा अनिषेध्यत्वेन प्रपञ्चे आपरोक्ष्यशङ्कापि नास्ति । अतः प्रमाणजन्यासाधारणाकारभानस्यैवाज्ञानविरोधित्वान्नापरोक्षतामात्रेणाज्ञानपराहतिप्रसङ्गः । यत्त्वज्ञानपदेन ज्ञानाभावोक्तौ सिद्धसाधनम्; अनिर्वचनीयाज्ञानोक्तौ च तस्य खपुष्पायमाणत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति । तत्तुच्छम्; असत्प्रतियोगिकाभावं स्वीकुर्वतः पराभ्युपगममात्रेणैव प्रतियोगिप्रसिद्धिसंभवात् । ननु—विमतं, नात्मन्यध्यस्तम्; आत्मसाक्षात्कारवत् प्रवृत्तिविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो घटो न तत्राध्यस्तः, न चासिद्धिः; ईशजीवन्मुक्तयोरात्मसाक्षात्कारवतोरपि जगद्रक्षणभिक्षाटनादौ प्रवृत्तेः, शङ्खे अध्यस्तमपि पीतत्वं न शङ्खश्चेतत्वसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषय इति न तत्र व्यभिचार—इति चेन्न; प्रतिविम्बे व्यभिचारात् । स हि मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो मुखेऽध्यस्तः । तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्योपाधित्वाच्च । एवंच—विमतं, नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा चैत्रं प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः; विमतं, न जीवकल्पितम्, तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वात्, आत्मवत्, नचासिद्धिः; प्रत्यभिज्ञानात्; अदृष्टादेरभावे पुनरुत्थानायोगाच्च—इत्यपि निरस्तम्; आद्ये ऐन्द्रजालिकं प्रत्यपरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचारात्, मायाविद्ययोरभेदेन देहात्मैक्यभ्रमे व्यभिचाराच्च । द्वितीये त्वसिद्धेः । नच प्रत्यभिज्ञया प्रपञ्चस्य स्थायित्वसिद्धेर्नासिद्धिः; सुषुप्तिकालस्थायित्वासाधकत्वस्य प्रत्यभिज्ञाया दृष्टिदृष्टिसमर्थने वक्ष्यमाणत्वात्, अदृष्टादेः कारणात्मनाऽवस्थितत्वेन पुनरुत्थानसंभवाच्च । मिथ्यात्वं आत्मन्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत् इत्यपि न; मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वस्योपाधित्वात् । मिथ्यात्वं च सदसद्विलक्षणत्वं, सद्विलक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुद्धस्य धर्मासंबन्धपक्षेऽपि न क्षतिरित्याशयेनाह—अस्तुवेति । कल्पकत्वेति । कल्पनाहेतुत्वेत्यर्थः । विरोधादिति । तथाच बाधान्मिथ्यात्वमेव कल्प्यते, नासत्त्वम् । प्रत्यक्षत्वात् साक्षितादात्म्यं कल्प्यते नासत्त्वमिति भावः । व्यावृत्ताकारेण भ्रमनिवर्तकतायोग्यज्ञानेन । मुखैक्यसाक्षात्कारेति । दर्पणाशुपाधिसन्निधानरूपदोषविशेषजन्यज्ञानस्यैव विशेषदर्शनविरोधित्वम् । तदुक्तं मणिदीधित्यादौ—‘निर्णयात्मनि साधारणे वा दोषविशेषजन्यज्ञाने साधारणस्य निर्णयात्मनो वा विपरीतज्ञानस्य विरोधित्वादिति भावः । तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्य तद्विषयकोपलब्धिविषयत्वस्य । तत्पदमात्मपरम् । प्रपञ्चोपलब्धेः सद्रूपात्मविषयकत्वनियमात् साधनाव्यापकत्वम् । अत्रेदं बोध्यम्—तत्त्वसाक्षात्कारो विशेषणमुपलक्षणं वा । आद्ये घटादावसिद्धिः । नहि यदाऽऽमा साक्षात्क्रियते, तदा घटादौ ज्ञानं प्रवृत्तिर्वा । उक्तं हि विवरणे—‘कदाचिद्वैतदर्शनं कदाचिद् द्वैतदर्शनम्, नतु तयोः सन्तमसबहुलालोकयोरिव यौगपद्य’मिति । ईशाद्यात्मदर्शनं तु न द्वैतसाक्षात्कारप्रवृत्त्यादिविरोधिः; प्रमाणत्वाभावात् । द्वितीये शुक्तिवादिरूपेण प्रत्यक्षे जातेऽपि दिनान्तरे शुक्त्यादौ रजतादावारोपिते प्रवृत्तेर्व्यभिचारः । ऐन्द्रजालिकमिति । ऐन्द्रजालिको हि स्वमायापरिकल्पिताम्रवृक्षतत्फलादिग्रहणच्छेदनादौ प्रवृत्तौ दृश्यते । हरिवंशादौ प्रद्युम्नशम्बरयुद्धादौ—‘ततो मायां परां चक्रे देवशत्रुः प्रतापवान् । सिंहान् व्याघ्रान् बराहांश्च तरक्षूनृक्षवानरान् ॥ सुमोच धनुरादाय प्रद्युम्नस्य रथोपरि । गन्धर्वांश्चेन चिच्छेद् सर्वास्तान् खण्डशस्तदा ॥ प्रद्युम्नेन तु सा माया हता तां वीक्ष्य शम्बरः । अन्यां मायां सुमोचाथ दानवः क्रोधमूर्च्छितः ॥’ इत्यादौ तथा श्रूयतेऽपि सः । स्वमायाविनिर्मितगजादे रक्षणादौ प्रवृत्तिस्तत्प्रत्यक्षं विना न संभवति; प्रवृत्तौ उपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् । कारणात्मना कारणगतसंस्काररूपेण । नच—तर्हि तत्रैव साध्यं साधनीयमिति—वाच्यम्; अवस्थितत्वं हि स्थूलावस्थावत्त्वं वाच्यम्; अन्यथा-अवस्थितत्वान्यांशवैयर्थ्यापातात्, अबाधितशुक्तिरूप्यादिसूक्ष्मावस्थायां व्यभिचाराच्च । अत्रेदं बोध्यम्—ऐन्द्रजालिकेन द्वित्रिदिनस्थायिस्वमायाविनिर्मितमपि प्रदर्श्यते, तच्च तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यव्यवस्थितमेवेति तत्र व्यभिचारः ॥ मिथ्यामात्रेति । प्रतियोगित्वविषयत्वादौ व्यभिचारान्मात्रेत्युक्तम् । न्यूनवृत्तित्वस्येति । नच—प्रमेयत्वे आत्मान्यसर्वा-

णत्वमात्रं वा । आद्ये सिद्धसाधनम्, तस्यात्मन्यसर्वमध्यपतितासद्वृत्तित्वाभावात् । द्वितीये तु हेतौ मिथ्यापदस्य सदसद्वैलक्षण्यपरत्वे स्वरूपासिद्धिः; सद्वैलक्षण्यरूपे पक्षे तुच्छसाधारणे सदसद्वैलक्षणेतरावृत्तित्वरूपहेत्वभावात् । तस्यापि सद्वैलक्षण्यमात्रपरत्वे संदिग्धानैकान्तिकता; साध्याभाववत्यात्मभेदे हेतुसन्देहात् । अप्रयोजकत्वादिकं च पूर्वोक्तं दूषणमनुवर्तत एव । आत्मा, परमार्थसदन्यः, पदार्थत्वादनात्मवत् । नच कल्पितात्मप्रतियोगिकभेदेनार्थान्तरम्; कल्पितमिथ्यात्वेन मिथ्यात्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनापत्तेरित्यपि न; व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधने अतिप्रसङ्गाभावात्, अनानन्दत्वस्योपाधित्वाच्च । अथ आत्मा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा स्वज्ञानावाध्यानात्मवान्, स्वज्ञानावाध्यभावरूपानात्मवान्वा, पदार्थत्वात्, भावत्वाद्वा घटादिवत् इति । अत्र पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमपक्षे सिद्धसाधनपरिहाराय साध्ययोर्भावरूपपदमनात्मविशेषणमित्यपि मन्दम् । 'यावत्स्वरूप'मित्यस्य यत्किञ्चित्स्वरूपपरत्वे सिद्धसाधनात्, आत्मस्वरूपपरत्वे साध्याप्रसिद्धेः । नहि यावदात्मस्वरूपमनुवर्तमानोऽनात्मा प्रसिद्धोऽस्ति; तथा सत्यनुमानवैयर्थ्यात् । अथ—स्वरूपपदस्य समभिव्याहृतपरत्वाद्वाप्तिग्रहदशायां दृष्टान्तस्वरूपं पक्षधर्मताग्रहदशायां चात्मस्वरूपमेव प्राप्यत इति न साध्याप्रसिद्धिर्न वा सिद्धसाधनमिति—चेन्न; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमाने अनुपयोगात् । स्वज्ञानावाध्येत्यत्र स्वशब्देऽपि तुल्योऽयं दोषः । अतएव—विमता, बन्धनिवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानावाध्यानात्मसमकालीना, उक्तज्ञानावाध्यभावरूपानात्मसमानकालीना वा; बन्धनिवृत्तित्वात्; निगलबन्धनिवृत्तिवदित्यपि—निरस्तम्; पक्षदृष्टान्तयोर्वन्धपदार्थस्यैकस्याभावेन स्वरूपासिद्धि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्तर्गततुच्छावृत्तौ मिथ्यात्वान्यूनवृत्तौ च साध्याव्यापकत्वमिति—वाच्यम्; प्रमेयत्वस्य मिथ्याभूते स्वस्मिन्नवृत्त्या मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वात् । यद्यपि प्रमेयत्वे प्रमेयत्वान्तरं वर्तते; तथापि न प्रमेयत्वस्वरूपेण, संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरेकरूपेणास्वीकारात् । नच—प्रमेयत्वे मिथ्यात्वमसिद्धमिति—वाच्यम्; 'घटः प्रमेयत्व'मित्यारोपसत्त्वात् । तथाच येन रूपेण साध्ये वृत्तिर्निविष्टा, तेन रूपेणोपाधाविति न दोषः । नचैवं—मिथ्यात्वस्यापि स्वावृत्तित्वेन मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वात् साधनव्यापकत्वमिति—वाच्यम्; व्यावहारिकमिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य पूर्वमसिद्धत्वात् । अत एवासदन्यत्वादावपि न साध्याव्यापकत्वम् । असदन्यत्वरूपपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वादरे तु सुतरां न दोषः । किञ्च सदुपरागेणासतोऽपि प्रमाविषयत्वात् । अन्यथाऽऽत्मान्यसर्वमध्यपतितासद्वृत्तिसाध्यप्रमाया असंभवात् प्रमेयत्वादेः स्ववृत्तित्वमतेऽपि साध्यव्यापकत्वमक्षतम् । सर्वमध्येति । नच—सर्वपदेनासदन्यसर्वं वाच्यमिति—वाच्यम्; असत्त्वस्य त्वन्मते शुक्तिरूप्यादावपि स्वीकारेण सर्वपदवैयर्थ्यापत्तेः । मन्मतरीत्या सदसदन्यत्वस्य पक्षे निवेशेऽपि सदसदन्यत्वमात्मव्यक्तित्वावच्छिन्नभेद एव निवेश्यः; अन्यथा त्रिकालाबाध्यत्वस्य गुरुत्वेन तद्रूपेण भेदस्याप्रसिद्धेः । तथाचात्मासद्वाभिन्नत्वं स्वाश्रयसर्ववृत्ति नैत्यनुमाने बाध एव । गुरोरवच्छेदकत्वपक्षेऽपि मन्मते सदसदन्यत्वस्यात्मान्यत्वरूपतया मां प्रति बाध एव । तथाच मन्मते दुष्टहेतोर्मां प्रति उपन्यासो न युक्तः । अप्रयोजकत्वादित्यादिना सत्यत्वं, प्रातिभासिकान्यसर्ववृत्ति न, सत्यमात्रवृत्तित्वात्, आत्मत्ववदित्याद्याभाससाम्यम् ॥ पदार्थम् आत्मभेदपदार्थम् । नच—आत्ममति त्वन्मते तद्भेदस्यास्वीकारात् न सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; शुद्धब्रह्मणि जीवादेर्भेदसत्त्वात्, आनन्दो ब्रह्मणो धर्म इत्यादिभेदस्य व्यवहारकालाबाध्यत्वाच्च । अनानन्दत्वस्येति । नच—परमार्थसदैक्यरूपं साध्याभावं विनाप्यानन्दत्वस्य उपाध्यभावस्योपपन्नत्वात् न तस्य तद्व्याप्यताग्राहकतर्कोऽस्तीति—वाच्यम्; परमार्थसद्भेदस्यानन्दे संसर्गखण्डनयुक्तिर्भावात्, 'नाल्पा सुखमस्ती'त्यादिश्रुत्या परमार्थभेदादिरूपस्य परिच्छेदस्यानन्दावृत्तित्वोक्तेश्च भावाद्वैतमते तात्त्विकस्याभावरूपानात्मनः स्वीकारादाह—भावरूपेति । शब्दस्वभावेति । उदाहरणवाक्यस्थस्वपदस्य दृष्टान्तपरत्वे पदार्थत्वस्य यावत्स्वरूपानुवर्तमानानात्मवत्त्वव्यभिचारित्वेन व्यापकत्वग्रहासंभवः, स्वात्मकपदार्थत्वस्य हेतुत्वेन तद्वारणेऽपि स्वत्वान्यभागवैयर्थ्यं स्वरूपासिद्धिश्च । प्रतिज्ञाहेतुवाक्यनिर्दिष्टयोरुदाहरणादिवाक्ये व्याप्यव्यापकत्वादिलाभासंभवात् कुतोऽस्य गमकत्वमित्यादिजिज्ञासानिवर्तकत्वाभावः । तथाचोक्तशब्दस्वभावोपन्यासो नानुमानोपयुक्तः । उक्तं च मणावीश्वरवादे—'कार्यत्वहेतुस्रोपादानाभिज्ञजन्यत्वसाध्ययोर्व्याप्तिग्रहः किं घटोपादानान्तरभावेन, किं वा तत्तदुपादानान्तर्भावेन, किं वोपादानमात्रान्तर्भावेन । आदौ व्यभिचारः । द्वितीये तत्तदुपादानत्वस्याननुगतत्वात् कथं व्यापकताग्रहः ? अथ—तच्छब्दस्य समभिव्याहृतपरत्वाच्च दोष इति—चेन्न; अनुमाने शब्दस्वभावोपन्यासस्याप्रयोजकत्वात् । तृतीये तु, 'सिद्धसाधन'मिति । स्वपदस्य पक्षदृष्टान्तान्यतरपरत्वेऽपि सिद्धसाधनम् । बन्धपदार्थस्येति । तत्तत्सा-

मार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, ब्रह्मवदित्यपि न साधु; पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्योपाधित्वात् । साक्षिवेद्यं सुखादिपरमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, आत्मवदित्यपि न; शुक्तिरूप्यादिषु व्यभिचारात् । तेषां दोषजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि दोषाजन्यसाक्षिविषयत्वात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानभ्युपगमे दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च । दोषजन्यज्ञानाविषयत्वविवक्षायां वाऽसिद्धो हेतुः; साक्ष्यवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात् । असिद्धोचरशाब्दज्ञानात्मकविकल्पस्य दोषाजन्यत्वेनासति व्यभिचाराच्च । आत्मनो वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे दोषजन्यदेहात्मैक्यभ्रमविषयत्वात् साधनविकलो दृष्टान्तः, तदनभ्युपगमे तु अविषयत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तौ दोषजन्यज्ञानेति विशेषणवैयर्थ्यादप्यत्वासिद्धिः, तावन्मात्रं च पक्षे स्वरूपासिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः । विमतपरमार्थसत्, स्वविषयज्ञानात्पूर्वभावितात्, आत्मवदित्यपि न, दृष्टिसृष्टिपक्षे असिद्धेः । विषमव्याप्तस्यानादित्वस्योपाधित्वाच्च । अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्वटसमानाधिकरणैतद्वटप्रतियोगिकाभावत्वं, एतद्वटसमानाधिकरणावृत्ति, अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्वटसमानाधिकरणैतद्वटप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्तित्वात्, एतद्वटप्रागभावत्ववत्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणीयम् । अत्र च स्वसमानाधिकरणः स्वसमानकालीनो योऽत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वलक्षणसत्त्वसिद्धिरित्यपि न साधु; साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्यैतद्वटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तिवत्त्वस्योपाधित्वात् । नच—पक्षीभूतधर्मस्यात्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहे साधनाव्यापकत्वसन्देह इति—वाच्यम्; विपक्षसाधकतर्कानवतारदशायां सन्दि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वत्त्वेन प्रतीयमानं वस्तुमात्रम् । ब्रह्मणोऽप्यविद्यादिदेशकालसंबन्धात् । तथाच तदन्यभेदस्य देशादिसंबन्धरूपस्य साधने सिद्धसाधनम्; देशकालासंसृष्टसत्तारूपत्वाभावसाधनेऽपि विशेष्यवत्त्वेन निश्चितेऽधिकरणे यो विशिष्टस्याभावः, तस्य विशेषणाभावस्वरूपत्वमिति न्यायेन प्रकृतेऽपि सत्तारूपत्वेन निश्चिते उक्ताभावस्योक्तसंबन्धरूपतया पर्यवसानात्, किञ्चित्कालावच्छिन्नदेशाद्यसंबन्धान्यत्वमादायार्थान्तरं च, तद्वारणाय यदा यदा ब्रह्म, तदा तदा देशादिसंबन्ध इत्युक्तौ मूलोक्तो दोषः । पारमार्थिकत्वेनेत्यादि । परमार्थं परमप्रयोजनमर्हति यत् तादृशश्रुतितात्पर्यविषयत्वस्येत्यर्थः । तथाच मुख्यपधायकप्रमाविषयत्वं श्रुतिजन्यधीमात्रप्रयोजनत्वं चोपाधिः; तादृशविषयत्वयोग्यताया विवक्षितत्वात् । एतेन साधनविशेषितत्वान्नयमुपाधिराश्रयानुमाने शरीरजन्यत्वमिवेयपास्तम् । वस्तुतस्तु—साधनविशेषितत्वं नोपाधेराभासताप्रयोजकम्; दूषकतावीजविघटकस्यैव तथात्वेन दीधित्यादावुक्तत्वात्, साध्यव्यापकताप्राहकतर्कस्तु पूर्ववत् । साक्ष्यवच्छेदिकाया इति । नच—दोषजन्यत्वेनोभयवासिद्धिं यत् ज्ञानं तद्विषयत्वं वाच्यम्, अविद्यावृत्तिस्तु न तथेति—वाच्यम्; तथा सति जीवेशयोरेक्ये जीवानणुत्वे च तात्त्विकत्वसिद्ध्यापत्तेस्त्वन्मते व्यभिचारात्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचाराच्च । नहि तद्वीरुभयवासिद्धास्ति । मया अविद्यावृत्तेस्त्वया तदन्यस्याः स्वीकारात् । भ्रमविषयत्वादिति । विशिष्टविषयकाहमाकारवृत्तेः शुद्धात्मापि विषय इति भावः । स्वविषयेत्यादि । पूर्वभावित्वं पूर्वकालवृत्तित्वम् । तथाच यत्किञ्चित्स्वज्ञानात् पूर्ववृत्तित्वं शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारि, यावत्स्वज्ञानपूर्ववृत्तित्वं घटादावसिद्धम्, स्वप्रत्यक्षपूर्ववृत्तित्वं सुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षे तत्रासिद्धं स्वप्रत्यक्षोत्पत्तिकालोत्पन्नपरिमाणविशेषादावसिद्धं च । हस्तादिपरिमाणप्रत्यक्षे हि न संयुक्तसमवायमात्रं हेतुः; हस्तादिपरिमितवत्त्वादेस्तावदवयवावच्छिन्नचक्षुःसंयोगं विनापि प्रत्यक्षापातात्, किंतु तादृशसंयोगः स्वाश्रयचक्षुः संयुक्तमनःसंयोगवत्त्वसंबन्धेन पुरुषनिष्ठेन हेतुः । तादृशसंयोगवत् समवायस्य विषयनिष्ठसंबन्धेन हेतुत्वे तु तत्तत्पुरुषीयत्वस्य कार्यकारणतावच्छेदके निवेशे गौरवम् । नचैवं—तादृशपरिमाणस्योत्पत्तेः पूर्वक्षणेऽपि तत्प्रत्यक्षमुत्पद्येत, तावदवयवावच्छिन्नसंयोगस्य तत्पूर्वमपि सत्त्वादिति—वाच्यम्; विजातीयत्वेनैव तस्य हेतुत्वात्, तादृशसंयोगे तादृशवैजात्याभावात् । तथाचोक्तपरिमाणस्योत्पत्तिक्षणेऽपि तत्प्रत्यक्षमित्युक्तीत्या तत्र हेत्वसिद्धिः स्यादेव । अन्योन्येत्यादि । तद्वटभेदनिष्ठाभावत्वे बाधादतिरिक्तान्तम् । समवायेन तद्वटस्य योऽत्यन्ताभावः तन्निष्ठाभावत्वे बाधादेतद्वटसमानाधिकरणेति । एतद्वटसमवायिनिष्ठेत्यर्थः । कपालरूपादिनिष्ठे घटसमानाधिकरणत्वे बाधात्तद्वटप्रतियोगिकाभावेति । हेतौ च तद्वटभेदत्वे समवायावच्छिन्नतद्वटाल्यन्ताभावत्वे पटाल्यन्ताभावत्वे भेद्यत्वादौ च व्यभिचारात् क्रमेण विशेषणानि सार्थकानि । प्रागभावत्वे साधनवैकल्यात् दृष्टान्ते—एतद्वटेति । शुद्धसाध्यस्यैतद्वटसमानकालीनतत्तद्वटवृत्तित्वेऽपि सत्त्वात्तत्रोपाध्यसत्त्वादाह—साधनावच्छिन्नेति । एतद्वटेत्यादि । एतद्वटप्रतियोगिकं यदेतद्वटस्य जन्यं जनकं च तयो-
रन्यतरत् एतद्वटस्य प्रागभावो ध्वंसश्च, तन्मात्रवृत्तिवत्त्वस्येत्यर्थः । साध्यसमव्याप्तिरसार्थ—मात्रेति । विषमव्यापकस्या-

धोपाधेरपि दूषणत्वसम्भवात्, घटाल्यन्ताभावत्वे च व्यभिचारात्, संयोगसम्बन्धेन घटवत्यपि भूतले समवायसंबन्धेन घटाल्यन्ताभावसत्त्वात् साध्याभाववति हेतोर्वृत्तेरित्यलमतिविस्तरेण ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धुपाधित्वम्, साध्यव्याप्यत्वस्य दूषकतायामनुयोगादिति शुद्धमते तु तत् न देयम् । सन्देह इति । एतद्वदे मिथ्यात्वसन्देहकाले तत्समवायिनि समवायेन तदाल्यन्ताभावस्य सन्देहात् पक्षेऽल्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहः । तद्वदध्वंसप्रागभावकाले च तद्वत्समवायिनि समवायावच्छिन्नतदाल्यन्ताभावो नाभ्युपेयते; 'तद्वदो नास्तीतिबुद्धेस्तद्वदविरोधिप्रागभावाद्यवगाहित्वात् । अतएव यत्किञ्चित्प्रागभावादिति घटवति 'घटो नास्तीति बुद्धेर्नापत्तिः; प्रतियोगिविशेषणघटत्वादिविशिष्टं प्रति विरोधित्वेनैव संसर्गाभावस्याभावबुद्धौ भानात् । अतएव तादृशबुद्धेर्घटादिमत्ताधीविरोधित्वम्; घटादिविरोधिमत्ताज्ञानस्यैव तद्विरोधित्वात् । घटत्वाद्यवच्छिन्नाल्यन्ताभावत्वरूपेणापि केवलेनाभावस्य ज्ञानं न तद्विरोधि वक्तुं शक्यम्; अव्याप्यवृत्तितादृशाभाववत्त्वज्ञानस्य तदापत्तेः, किन्तूक्तविरोधित्वविशिष्टेन तद्रूपेणाभावज्ञानम् । वस्तुतस्तूक्तविरोधित्वाविषयकघटाद्यवच्छिन्नाभावबुद्धेरपि तद्विरोधित्वादव्याप्यवृत्तित्वज्ञानस्याप्रामाण्यज्ञानवदुत्तेजकत्वेनोक्तापत्तेरभावात् घटध्वंसादिकाले जायमानतादृशबुद्धेर्विरोधित्वानुरोधेन घटत्वाद्यवच्छिन्नाल्यन्ताभावविषयकत्वस्यावश्यकत्वम् । तथाच पक्षस्य तद्वदासमानकालीने तदाल्यन्ताभावे निश्चयेन पक्षे साधनस्योपाध्यभावस्य च निश्चयादुपाधेस्साधनाव्यापकत्वं निश्चितमेव । नच—अन्यतरवृत्तित्वस्य मात्रार्थाविशेषितस्योपाधित्वपक्षे साधनाव्यापकत्वं नेति—वाच्यम्; तस्यापि तदाल्यन्ताभावत्वे साधनाव्यापकत्वात् । न चैवं—तद्वत्समानाधिकरणतदाल्यन्ताभावत्वतद्वदाभावत्वयोः साध्याव्यापकत्वमिति—वाच्यम्; तयोः साध्यवत्त्वानिश्चयात् । सन्दिग्धेति । यत्र व्यभिचारशङ्काविरोधी तर्कोऽवतरति, तत्र व्यभिचारधीरूपकार्याक्षमत्वात् सन्दिग्धोपाधिर्न दूषणम् । तदनवतारे तूक्तकार्यक्षमत्वात् स दूषणमेवेति भावः । संयोगेत्यादि । नच—समवायेन तद्वदवति वृत्तेर्निवेशोक्तदोष इति—वाच्यम्; समवायेन घटवति संयोगेन घटाल्यन्ताभावसत्त्वादिति योजनास्वीकारात् । समवायेन तद्वदाभावस्य हेतौ निवेशे तु साधनवैकल्यम् । ननु समवायान्यसंबन्धानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं हेतौ निवेश्यम्, तथाच न व्यभिचारसाधनवैकल्ये, तत्राह—साध्येति । समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकाल्यन्ताभावस्य नित्यत्वात्तद्वत्समानकालीनत्वेन घटाल्यन्ताभावत्वमुक्तसाध्याभाववदिति भावः । ननु तद्वत्समवायवच्छिन्नं यत् तद्वत्कालवृत्तित्वं तद्वद्वृत्तित्वाभावः साध्यः, तथाच समवायेन तद्वदस्याभावो नोक्तवृत्तित्ववान्, तद्वत्समवायव्यावच्छेदेनैव तस्य तद्वत्त्वात्, तथाच न व्यभिचारस्तत्राह—अलमिति । मन्मते मिथ्यात्वघटकाल्यन्ताभावस्य प्रतियोग्यविरुद्धत्वेन देशकालावच्छिन्नवृत्तित्वाभावेन सिद्धसाधनम् ॥ पूर्वोक्तानुमानेषु द्वितीये अनुमाने भ्रमत्वदोषत्वयोरनुगतत्वेन तत्तद्वृत्तित्वेनैव भ्रमदोषयोः कार्यकारणभावस्य वाच्यत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारण्याभावेनासिद्धिः, साधनवैकल्यं वा, पक्षदृष्टान्तवृत्त्योर्हेतुत्वयोरन्यतरत्वेन हेतुत्वे दृष्टान्तवृत्तिहेतुत्वान्यभागवैयर्थ्यम्, उक्तहेतुत्वं चासिद्धम् । पदार्थत्वादित्यत्र पदशक्यत्वमसिद्धत्वान्न हेतुः, नापि पदलक्ष्यत्वम्; पदत्वलक्ष्यत्वयोरनुगतत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारण्याभावेनोक्तदोषापत्तेः । दोषाजन्येत्यादिहेतावपि दोषत्वस्य तत्तद्भ्रमजनकत्वरूपत्वादनुगतत्वेनोक्तदोष इति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गः ॥

अथ दृश्यत्वादिहेतोरनुमानबाधोद्धारः—

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अनुमानादिबाधिताश्च दृश्यत्वादयः । तथाहि—ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्त्यज्ञानान्येन मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यद्विमते वा सत्, परमार्थसद्वा, (१) प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्, (२) अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, (३) अनिषेध्यत्वेनैव प्रत्यपरोक्षत्वात्, (४) सप्रकारकत्वात्, (५) आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, (६) कल्पकरहितत्वादिति सत्प्रतिपक्षानुमानप्रयोगः । प्रातिभासिकवृत्तिरूप्यादेरपक्षत्वाय सत्यन्तम् । तत्रापि ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमिति मतेनायम्, शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमाहेतुत्वपक्षेण द्वितीयम्, अन्योन्याश्रयाच्च सा हेतुरिति मतेन तृतीयम्, यद्वा—स्वबाधकामिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा, स्वबाधकामिमतबाध्यबाधविषयत्वे सतीति वा, स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति बोधविशेषणस्थाने

देयम् । प्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्त्वं नाम सत्त्वेन प्रतीतिमात्रं, नतु तद्वत् सत्त्वमिति मतेन प्रथमसाध्यम्, मायिकमर्थगतं सत्त्वमिति मतेन द्वितीयसाध्यमिति विवेकः । सत्त्वेन धीमात्ररूपापारमार्थिकत्वस्य मन्मतेऽप्यङ्गीकारात्, परप्रसिद्धत्वमात्रेण परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धाररूपप्रयोजनसत्त्वाच्च, जन्यत्वस्य जन्यकृत्वजन्यत्वावच्छिन्नसकृत्कत्वसिद्धेरुद्देश्यतया प्रमेयवह्निमानित्यत्र प्रमेयत्वस्येवोपरजकत्ववदत्राप्युपपत्तेश्च न पारमार्थिकत्वविशेषणानर्थक्यं द्वितीयसाध्ये । मतद्वयेऽप्यप्रामाणिकस्यापि निष्प्रतियोगित्वस्याङ्गीकारे प्रथमहेतुप्रातिभासिकत्वरूपविशेषणाप्रसिद्धावपि न क्षतिः; आरोपितत्वेनोभयसंमतत्वरूपत्वस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वस्य तस्य प्रसिद्धेश्च । तत्र केवलावधिकरणत्वस्य दृष्टान्तेऽप्यभावेन चक्षुस्तेजस्त्वानुमानेऽसिद्धिवारकस्यापि रूपादिषु मध्ये इत्यस्य व्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रेणवैयर्थ्यवद् प्रातिभासिकत्वविशेषणम् । यत्किंचिदनधिकरणत्वस्य प्रातीतिकसाधारण्येन व्यभिचारवारकत्वेनापि चारितार्थ्याच्च । ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिं प्रति ज्ञानत्वानन्दत्वादेः साक्षादसत्त्वविरोधित्वेन विश्वमिथ्यात्वसिद्धितः पूर्वं परमार्थसत्त्वस्य विश्वासाधारण्यनिर्णयासंभवेन चापृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्यैवासत्त्वव्यावृत्तिं प्रत्यपि परमार्थसत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वेनाप्रयोजकशङ्कानुदयः । एतेन—द्वितीयहेतुरपि—व्याख्यातः; विषयत्वाधे प्रामाण्यायोगेन प्रामाण्यातत्त्वावेदकत्वयोर्व्यावृत्तत्वेन तालिकप्रमाविषयत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वात् । सर्वमप्यनिषेध्यत्वेनैवैश्वरस्य प्रत्यक्षम्, अन्यथा तस्य आन्तत्वापत्तेरपि तृतीयोऽपि हेतुः सिद्ध एव । स्वाप्रिकर्षणकार्यत्वमेव जलावगाहनादीनां, न स्वाप्रिकर्षणकार्यत्वमिति स्वाप्रिकर्षे व्यभिचाराभावाच्चतुर्थहेतुरपि साधुः । साक्षिणोऽज्ञानसाधकत्वेन दृष्टान्ते साध्यावैकल्यात्, व्यतिरेकेणासतो दृष्टान्तत्वाच्च । पञ्चमे तु प्रपञ्चमिथ्यात्वमपि मिथ्येत्येव पराभिमतत्वात् न हेत्वसिद्धिः । अत्र च हेत्वन्तर्गतं मिथ्यात्वमसत्त्वाभावरूपमिति नासति व्यभिचारः । षष्ठे तु न दोषलेशोऽपि; कल्पनोपयुक्तदेहेन्द्रियाद्यभावेन चित्तोऽन्यस्य च कल्पितत्वेन कल्पकराहित्यस्य सिद्धेः । (१) विमतं, न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवदित्यनुमानमपि बाधकं, असद्विलक्षण्यवत्सद्विलक्षणायोगेन साध्यस्यापि सत्त्वेन शुक्तिरूप्ये व्यभिचाराभावात् । (२) तथा विमतं, न चैतन्याज्ञानकार्यं, न चैतन्याज्ञानकार्यधीविषयः, न चैतन्याज्ञानकार्यसत्त्ववद्वा, चैतन्यज्ञानावाध्यं वा, चैतन्यज्ञानावाध्यसत्त्ववद्वा, तस्मिन्परोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा पटेऽपरोक्षेऽप्युक्तमानवान् घटो न पटाज्ञानकार्यादिः । चैतन्यस्य च सर्वप्रत्ययवेद्यत्वाच्च हेतुविशेषणासिद्धिः इति प्रयोगोऽपि बोध्यः । (३) विमतं, न आत्मन्यध्यस्तं, तत्साक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो घटो न तत्राध्यस्तः, आत्मसाक्षात्कारवतोरीशजीवन्मुक्तयोरपि पालनभिक्षाटनादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, शङ्खेऽध्यस्तस्य पीतत्वस्य शङ्खतत्त्वसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वाभावाच्च नासिद्धिव्यभिचारौ इति; विमतं, नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यथा चैत्रापरोक्षघटो न चैत्रमायाकल्पित इति (४) विमतं न जीवकल्पितं, तस्मिन्नुत्सेऽप्यवस्थितत्वादन्वया सुप्तोत्थितप्रत्यभिज्ञानाभावप्रसङ्गात् इत्यादिप्रयोगाश्चोहनीयाः । एतेन—(५) मिथ्यात्वं, नात्मान्यसर्ववृत्ति, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात् शुक्तिरूप्यत्ववत् इति, (६) आत्मा, परमार्थसदन्यः, परमार्थसद्भावान्यो वा, पदार्थत्वादन्यात्मवदिति, (७) आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा, पदार्थत्वाद्भावत्वाद्वा घटवदिति, (८) विमता बन्धनिवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानावाध्यानात्मसमकालीना, उक्तरूपभावरूपानात्मसमकालीना वा, बन्धनिवृत्तित्वात्, निगडबन्धननिवृत्तिवत्, इत्यादयः प्रयोगा अपि—सूचिताः विशेषानुमानान्यप्यत्रानुकूलानि । यथा—(१) आत्मधीः, न स्वविषयविषयकधीवाध्या, धीत्वात्, शुक्तिरूप्यधीवत्, (२) आत्माधिष्ठानकप्रमहेतुदोषः, न स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञानबाध्यः, भ्रमहेतुत्वात्, रूप्यहेतुकाचवत्, (३) ब्रह्मान्यदनादि, परमार्थसत्, अनादित्वात्, ब्रह्मवत्, (४) ब्रह्म कालासंबद्धं नावतिष्ठते, पदार्थत्वात्, घटवत्, (५) ब्रह्मान्यद्वेदेकगम्यधर्मादि परमार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, ब्रह्मवत्, (६) साक्षिवेद्यं सुखादि, परमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, आत्मवत्, (७) विमतं, परमार्थसत्, स्वविषयकसाक्षात्कारपूर्वभावित्वात्, आत्मवत्, त्वन्मतेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थावर्थं घटादेः साक्षात्कारपूर्वभावित्वस्याङ्गीकाराच्चासिद्धिः (८) अन्योन्याभावातिरिक्तद्वयसमानाधिकरणैतद्वयप्रतियोगिकाभावत्वं, एतद्वयसमानकालीनावृत्ति, अन्योन्याभावव्यतिरिक्तद्वयसमानाधिकरणैतद्वयप्रतियोगिकाभाववृत्तित्वात्, एतद्वयप्रतियोगिकप्रागभावप्रतियोगित्ववदिति । अत्रचानुकूलतर्काणां वक्ष्यमाणत्वाच्चोपाध्याभाससाम्यादिशङ्का । तथाच—असत्प्रतीतिकान्यत्वात् प्रमाणविषयत्वतः । अर्थक्रियाकारितादेर्विश्वं सत्यमिति स्थितम् ॥ इति निरूपयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

हेतुषट्केन सत्त्वपरमार्थसत्त्वान्यतरसाधनपरे प्रथमानुमाने प्रथमहेतौ युष्मन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सतीति विशेषणवैयर्थ्यं, अस्मन्मतमाश्रित्य हेतुकरणे देहात्मैक्ये व्यभिचारः तस्यापि पक्षत्वे बाधः, बाधे न सति पक्षविशेषस्य पक्षत्वस्यासिद्ध्याऽश्रयासिद्धिः, अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वस्यैव हेतुत्वसंभवेन व्यर्थविशेषणघटितत्वेन व्याप्यत्वासिद्धिः, उक्तविशेषणपरित्यागे च स्वरूपासिद्धिः, क्षित्यङ्कुरादिकं न कर्तृजन्यमित्यत्र शरीरविशेषणस्यैव व्याप्तिग्रहानुपयोगित्वेन रूपादिषु मध्ये इत्यत्रेवोपपत्त्यसंभवात्, शुद्धब्रह्मणो दृष्टान्तत्वे साधनवैकल्यम्, धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्य-

वैकल्यम्, बाधाभावरूपस्य साध्यस्याधिकरणस्वरूपत्वेन धर्मत्वाभावात्, बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतत्वेन ब्रह्मणीवास्यपि प्रातिभासिकत्वाभावेन तत्रैव प्रातिभासिकेऽप्यभावेन च **व्यावृत्तिद्वये** प्रयोजकद्वयस्यैव निरूपणीयत्वे परमार्थसत्त्वस्य प्रातिभासिकासत्त्वव्यावृत्तिप्रयोजकत्वाभावेन चाप्रयोजकता, तुच्छप्रातिभासिकयोर्नित्यत्वव्यतिरेकसाध्यव्यतिरेकस्य दर्शनेन नित्यत्वेन सोपाधिकत्वं चेति प्रथमहेतुर्न प्रयोजकः । **अतएव द्वितीयहेतुरप्यप्रयोजकः**; उक्तदोषात्, प्रमापदेन तत्त्वावेदकत्वस्य ग्रहणे तस्याबाधितविषयकत्वरूपत्वेन साध्याविशेषपर्यवसनाद्धेतुग्रहे सिद्धसाधनात्, हेतुग्रहे स्वरूपासिद्धेश्च । तृतीयहेतौ तु सत्यत्वसिद्धिं विनाऽनिषेध्यत्वस्य तेन विना सत्यत्वस्य चासिद्ध्याऽन्योन्याश्रयः, मिथ्याभूतस्य मिथ्यात्वेनैवैन्द्रजालिकवद्ग्रहणात्तद्वदेव पालनादौ प्रवृत्त्या च न भ्रान्तत्वापत्तिरिति मन्तव्यम् । **चतुर्थोऽपि न हेतुः**; सप्रकारकजाग्रदोधावाध्यार्थक्रियाकारिस्वाप्रजलावगाहनप्रियासंगमादिविशेषिताप्रमाणीभूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र व्यभिचारात्, “अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्” इति वचनेन, “नह्यसति सुखे सुखज्ञानं भवती”ति शास्त्रदीपिकावचनेन चाननुगतस्वरूपाणामतिप्रसक्तज्ञानत्वस्य चोपलक्ष्यतावच्छेदकत्वायोगेनोपलक्षणत्वं विना असतोऽपि व्यापारिणो जनकत्ववदविद्यमानस्याप्यर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वस्यावश्यमभ्युपगमनीयत्वात्, अनुपगमेऽपि स्वरूपाबाध्यस्य विषयाबाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपबाधव्याप्त्यावश्यकतया स्वप्रज्ञानस्याप्यसत्त्वेन तत्रैव व्यभिचारात्, प्रातिभासिकरज्जुसर्पादावपि भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शनेनार्थक्रियाकारित्वस्य परमार्थसत्त्वं प्रत्यप्रयोजकतयाऽकारणकार्योत्पत्तिरूपविपक्षबाधकतर्कानवतरणेन हेतोः साध्यव्यापकत्वाभावेन साध्यव्यापकत्वसंभवेन विषमव्याप्तेनानादित्वेन सोपाधिकत्वात्, प्रातिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेऽवाध्यान्तवैयर्थ्यात्, शुद्धस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेन साधनवैकल्याच्च । **पञ्चमहेतौ** तु आरोपितत्वस्य प्रातिभासिकत्वे प्रपञ्चेऽसिद्धिः, व्यावहारिकत्वे शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारः, उभयसाधारण्येऽप्ययमेव दोषः । कल्पकरहितत्वादिति तु न परमार्थसत्त्वसाधकम्; असति व्यभिचारात्, शुद्धस्याप्यविद्योपधानेन कल्पकलोपपत्त्या कल्पनासमसत्ताककल्पनाश्रयत्वविषयभासकत्वादीनां शुद्धत्वव्याघातकत्वाभावात्, उपहितस्यैव कल्पकत्वाच्च । यथाऽविद्याध्यासस्याध्यासान्तरानपेक्षत्वादिनाऽनवस्थापरिहारस्तथा सिद्धौ व्यक्तमिति हेतुषट्कमपि दुष्टमेव । **एतेन**—विमतं, न सद्विलक्षणम्, विमतं, न चैतन्याज्ञानकार्यादि, विमतं, नात्मन्यध्यस्तं, विमतं, नेश्वरमायाकल्पितम्, विमतं, न जीवकल्पितम्, मिथ्यात्वम् आत्मान्यसर्ववृत्ति न, आत्मा परमार्थसदन्त्यः, आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, विमता निवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानावाध्यानात्मसमकालीना, इत्यादिसामान्यानुमानप्रयोगा अपि—**पराहताः**; **प्रथमानुमाने**—असद्वैलक्ष्येऽपि सद्वैलक्ष्ययोगस्य बाधान्यथानुपपत्त्या पूर्वमेव निरूपितत्वात् शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारात् । **द्वितीयानुमाने**—तदापरोक्ष्यस्य व्यावृत्ताकारेण अनापरोक्ष्यादसिद्धेः; सामान्याकारेण विवक्षणे सामान्याकारेण परोक्षेऽपि शुक्त्यादौ अनिषेध्यत्वेन रजतादेः साक्षाद्भावेन तत्र व्यभिचाराच्च । **तृतीयानुमाने**—मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयमुखाध्यस्तप्रतिविम्बे व्यभिचारात्, तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वेन सोपाधिकत्वाच्च । **चतुर्थानुमाने**—ऐन्द्रजालिकापरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचारात् । **पञ्चमानुमाने**—प्रत्यभिज्ञायाः सुषुप्तिकालस्थायित्वासाधकत्वात्, कारणान्मनाऽवस्थितादृष्टादिनैव पुनरुत्थानसंभवाच्चासिद्धेः । **षष्ठानुमाने**—मिथ्यात्वस्य सदसद्विलक्षणस्वरूपत्वे तस्यात्मान्यासदवृत्तित्वस्य सिद्धत्वात्सिद्धसाधनात्, सद्विलक्षणस्वरूपत्वे हेतौ मिथ्यापदेन सदसद्वैलक्ष्यविवक्षणे स्वरूपासिद्धेः, तस्यापि सद्वैलक्ष्यरूपत्वे सन्दिग्धव्यभिचारादप्रयोजकत्वाच्च । मिथ्यात्वान्यूनवृत्तित्वस्योपाधित्वाच्च । **सप्तमानुमाने**—व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधनात्, अनित्यत्वेन व्याप्यत्वासिद्धेश्च । **अष्टमानुमाने**—यावत्स्वरूपमित्यनेन किञ्चित्स्वरूपविवक्षणे सिद्धसाधनात्, आत्मस्वरूपविवक्षणे दृष्टान्ते साध्यवैकल्याच्च । **नवमानुमाने**—पक्षदृष्टान्तयोरेकस्य बन्धपदार्थस्याभावेन स्वरूपासिद्धिसाधनवैकल्ययोरापातात्, हेतौ बन्धविशेषणवैयर्थ्येन व्याप्यत्वासिद्धेः; अप्रयोजकशङ्काकलङ्कितत्वाच्चेति मन्तव्यम् । विशेषानुमानान्यप्यप्रयोजकान्येव । **तथाहि—प्रथमानुमाने**—“अन्धोर्य रूपज्ञानवानि”ति कल्पितरूपज्ञानस्य ‘रूपं नान्यगम्यं’ इति प्रत्ययबाध्यत्वेन स्वविषयविषयकधीबाध्यत्वरूपहेतोस्तत्र व्यभिचारात्, धीपदेन चैतन्यमात्रविवक्षणे सिद्धसाधनात्, स्वविरोध्यविषयप्रत्ययविषयकत्वस्योपाधित्वाच्च । **द्वितीयानुमाने**—दूरादिदोषादुपलदा यत्र चाकचक्यकल्पना, तेन च दोषेण यत्र तत्र रजतकल्पना, तत्र दोषस्याधिष्ठानज्ञानबाध्यत्वेन तादृशादौ व्यभिचारात्, व्यावृत्ताकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्वस्य स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्वस्य वोपाधित्वेन सोपाधिकत्वाच्च । **तृतीयानुमाने**—ध्वंसाप्रतियोगित्वेन व्याप्यत्वासिद्धेः । **चतुर्थानुमाने**—यत्र यदा वा ब्रह्म, तत्र तदा कालसंबन्धः इति साधनस्य सिद्धविषयत्वात् । **पञ्चमानुमाने**—पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वेन व्याप्यत्वासिद्धेः । **षष्ठानुमाने**—शुक्तिरूप्यादीनामपि दोषजन्यसाक्षिविषयत्वेन व्यभिचारात्, शुद्धस्य वृत्त्यविषयत्वपक्षे दृष्टान्ते साधनवैकल्यात्, दोषजन्यज्ञानाविषयत्वविवक्षायामसिद्धेः, साक्ष्यवच्छेदकाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, दोषजन्यविकल्पविषयेऽसति व्यभिचारात्, दोषजन्यदेहात्मैक्यप्रत्ययविषये दृष्टान्ते साधनवैकल्याच्च । **सप्तमानुमाने**—दृष्टिदृष्टिपक्षेऽसिद्धेः, विषमव्याप्तस्यानादित्वस्योपाधित्वाच्च । **अष्टमानुमानेऽपि**—साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्यैतद्वदप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वस्योपा-

धिलात्, विपक्षसाधकतर्कानवतरणदशायां सन्दिग्धोपाधेरपि दूषणत्वात्, संयोगसंबन्धेन घटवत्यपि भूतले समवाय-
सम्बन्धेन घटाभावसत्त्वाद्वदाल्यन्ताभावे व्यभिचाराच्चेति नानुमानेन प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानवाधावसर इति सर्वमनवद्यम्—
इति वर्णयन्ति ।

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

हेतुषट्केन परमार्थसत्त्वसाधनपरेऽनुमाने न कोऽपि दोषः । तथाहि—प्रथमहेतौ युष्मन्मतमाश्रित्यैव हेतूकरणान्न सत्य-
न्तवैयर्थ्यम् । देहात्मैक्यामिथ्यात्वात्, मिथ्यात्वेऽपि मिथ्यात्वेन सत्यत्ववादिमिथ्यात्ववाद्युभयसंमतमिथ्यात्वकत्वरूपस्यैव
प्रातिभासिकस्य विवक्षणाच्च व्यभिचारः । एतेन देहात्मैक्यपक्षतापक्षे वाधाश्रयासिद्धी अपि—पराहते; पक्षविशेषणस्य
प्रातिभासिकव्यावर्तकस्यैव रूपस्यैव विवक्षणादिति मन्तव्यम् । अनधिकरणत्वतदभावाभ्यामधिकरणत्वस्यैव ब्रह्मणि प्राप्त्या
व्याप्तिप्रहौपयिकत्वेन अनौपयिकत्वेऽपि प्रातिभासिकत्वाधिकरणत्वाभावरूपस्याखण्डस्यैवात्र हेतुत्वेन विवक्षणेन न व्यर्थ-
विशेषणत्वम्; शरीराजन्यत्वादित्येऽपि तदभावस्यैव विवक्षणे व्यर्थविशेषणत्वाभावस्येष्टत्वात् । नहि ब्रह्मविश्वास्तु प्राति-
भासिकव्यावृत्तिरेका परमते संभवति; ब्रह्मणि धर्मिरूपायाः जगति व्यावहारिकान्योन्याभावरूपायाः असति असद्रूपा-
याश्च भिन्नरूपत्वात्, ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वेन जगतो व्यावहारिकधर्मवत्त्वेनाऽसतो निरुपाख्यत्वेन च सर्वानुगतव्यावर्तकधर्मा-
भावाच्च । एतेन—ब्रह्मविश्वप्रातिभासिकेवैवासद्व्यावृत्तिरपि—परास्ता । एवं ब्रह्मविश्वयोर्विद्यमानां व्यावृत्ति प्रति व्याव-
र्तकतयैवायं धर्मस्य वाच्यत्वात् तस्य च पारमार्थिकसत्त्वरूपत्वस्यैव युक्तवान्नाप्रयोजकता । एतेन—नित्यत्वं नोपाधिरि-
त्यपि—सूचितम्; ध्वंसप्रतियोगिरूपनित्यत्वाभावस्योक्तौ व्याघाताभावेनोपाधेः पक्षे साध्याभावासाधकत्वात्, उक्तानु-
कूलतर्कगृहीतसाध्यव्याप्तिकहेत्वव्यापकत्वेन साध्याव्यापकत्वाच्च । एतेन—द्वितीयहेतुरपि समीचीन एवेति—सूचितम्;
विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वादिरूपप्रमात्वस्य तत्त्वावेदकत्वरूपप्रमात्वस्य वा विशेषणे दोषाभावात्, शब्देऽनित्यत्वाग्रहेऽपि शब्द-
त्वानित्यत्वयोः व्याप्तिग्रहवच्छब्दादिनाप्यर्थसत्त्वग्रहसंभवेन तदज्ञाने तद्विषयकत्वसंभवाच्च । तृतीयोऽपि हेतुर्न दुष्टः;
ऐन्द्रजालिको हि सर्वं दर्शयामीति भ्रमयति, न तु पालयति, ईश्वरस्तु पालयति; “एष लोकपाल” इति श्रुतेः । एवं निषे-
ध्यत्वेनैवैश्वरस्य सर्वापरोक्ष्ये “हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी”त्यादिश्रुतावनिषेध्यत्वेनैव
सर्वविषयकेश्वरापरोक्ष्यवर्णनं विरुद्धं स्यादित्यसिद्धेरभावात् । एतेन—चतुर्थहेतुरपि—व्याख्यातः; असत्यपि गजे गज-
ज्ञानमासीदिति तज्ज्ञानस्य जाग्रत्यनुभवेन विषयासत्त्वेऽपि ज्ञानसत्त्वेन स्वरूपावाध्यसाक्षिविषयस्यापि रूप्यस्य वाध्यत्वदर्शनेन
च स्वाप्नज्ञाने व्यभिचाराभावात् । आश्रयत्वविषयत्वादिनाऽज्ञानादिसिद्धिरूपार्थक्रियाकारित्वस्य विश्वसाक्षिणो ब्रह्मणोऽपि सत्त्वेन
साधनावैकल्यात्, स्वरूपेणैव प्रपञ्चस्य निषेधवादिनां भवतां मते सत्त्वेन प्रतीयमानत्वातिरिक्तप्रातिभासिकसत्त्वाभावेन तस्य
हेतुत्वं प्रत्ययप्रयोजकत्वेन पारमार्थिकसत्त्वप्रयुक्तमेवार्थक्रियाकारित्वमित्यङ्गीकरणीयतया साध्याव्यापकत्वेनानादित्यनुपाधि,
त्वाच्च । पञ्चमे तु हेतौ न दोषलेशोऽपि; मिथ्यात्वेनोभयसंमतत्वरूपस्यारोपितत्वस्य हेतुत्वगर्भेनासिद्ध्यभावात् । एतेन—
कल्पकरहितत्वादिति षष्ठोऽपि हेतुः—व्याख्यातः । कल्पितेन संसारेणास्पृष्टस्य चैतन्यस्याभावे नित्यमुक्तश्रुतेर्निर्विषयत्वापत्त्या
अतात्त्विकसंसारास्पृष्टत्वस्य साधारण्येन च शुद्धचैतन्यस्य कल्पकत्वायोगात्, कल्पनां प्रति कर्तृत्वप्रयोजकशरीरेन्द्रियाद्यभावात्,
अविद्याध्यासस्य स्वपरनिर्वाहकत्वस्य निर्वाजत्वेन उपहितकल्पकताया अप्ययुक्तत्वाच्च हेत्वसिद्धेरभावादिति । एतेन—अनुमाना-
न्तरायपि समर्थितानि—भवन्ति; तत्र प्रथमानुमाने रूप्यस्य बाधप्रतीत्योरुपपत्त्यर्थं सत्त्वासत्त्वरूपत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वात्,
परस्परविरुद्धरूपयोः सत्त्वासत्त्वयोः सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च साध्यवति रूप्ये व्यभिचाराभावात् । द्वितीयानुमाने—
भ्रमनिवर्तकाभिमताधिष्ठानापरोक्षान्यूनविषयकाधिष्ठानापरोक्षज्ञानमात्रस्यापरोक्षपदेन विवक्षणात् तव मतेऽपि चैतन्यमात्रस्यैव
भ्रमनिवर्तकाज्ञानविषयत्वेन घटादिप्रत्यक्षेऽपि तस्य स्फुरणेनासिद्ध्यभावात् । तृतीयानुमाने—मुखभेदज्ञानवत्प्रवृत्तिविषय
एव प्रतिविम्ब इति तत्र व्यभिचाराभावात्, तद्व्यतिरेकेणेत्यस्य तद्वेदेनेत्यर्थपरत्वे शुद्धं ब्रह्म न जानामीति चैतन्यव्यतिरेके-
णैवोपलभ्यमानत्वेन, विनेत्यर्थपरत्वेऽपि रूपादिहीनेनासंसारमज्ञानावृत्तेन चैतन्येन विनाप्युपलभ्यमानत्वेन च पक्षव्यावृत्तत्वात्-
व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वेन सोपाधिकत्वाभावाच्च । चतुर्थानुमाने—ऐन्द्रजालिकस्य तन्मायिकापरोक्ष्याभावेन व्यभिचारा-
भावात् । पञ्चमानुमाने—प्रत्यभिज्ञायाः सुषुप्तिकालस्याखिलसाधकत्वस्य दृष्टिसृष्टिवादे एव अस्माभिरपि निरसिष्यमाण-
त्वात् । कारणात्मना विद्यमानानामप्यदृष्टानामदृष्टत्वेन तस्यापि नाशावश्यभावेन प्रत्यभिज्ञोपपादनस्य भवन्मतेऽसंभवेना-
सिद्ध्यभावात् । षष्ठानुमाने—पक्षीकृतमिथ्यात्वस्य सदसद्विलक्षणावरूपत्वे दोषाभावात्, साध्यमध्यपातिसर्वशब्देनासद्वि-
लक्षणस्यैव विवक्षणेन सिद्धसाधनाभावात् । मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वं तु नोपाधिः; प्रमेयत्वे साध्याव्यापकत्वात् । तस्यात्मान्य-
सर्वान्तःपातिन्यसति व्यावृत्त्यभावेन साध्यवतो मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वाभावात् । सप्तमानुमाने—आत्मनि स्वप्रतियोगि-
कस्य व्यावहारिकभेदस्य तव मतेऽप्यभावेनात्मान्यस्य परमार्थसतोऽभावेन परमार्थसदन्तराभावेन साध्यसिद्ध्यभावापत्त्या
व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधनानवसरात् । अष्टमानुमाने—स्वशब्दस्य समभिव्याहृतपरत्वेन व्याप्तिग्रहदशायां

दृष्टान्तस्वरूपपरत्वस्य पक्षधर्मताप्रहृदशायामात्मस्वरूपपरत्वस्य च संभवेनासिद्धिसाधनवैकल्ययोरभावात् । नवमानुमानेऽपि—त्वदीयैः ज्ञानप्रभयोः प्रकाशत्वोक्तिवदृष्टान्तपक्षसाधारण्येन बन्धशब्दप्रयोगोपपत्तेः, निवृत्तेः स्वरूपानात्मसहभवं विना तज्जन्यत्वासिद्धिरित्याद्यनुकूलतर्कसाचिव्येनाप्रयोजकशङ्काकलङ्काभावाच्चेति । विशेषानुमानान्यप्यत एव व्याख्यातानि । तथाहि—प्रथमानुमाने—रूपविषयतया कल्पितस्य ज्ञानस्य 'रूपं नान्धगम्यम्' इति ज्ञानसमानविषयकत्वाभावेन तत्र व्यभिचाराभावात् । द्वितीयानुमाने—कल्पितस्य चाकचक्यस्य भ्रमहेतुत्वाभावेन तज्ज्ञानं विनाऽरोपादर्शनेन तज्ज्ञानस्यैव हेतुत्वेन च तत्र साध्यस्यापि सत्त्वेन व्यभिचाराभावात्, प्रथमोपाधेः पक्षमात्रव्यावर्तकत्वेन द्वितीयोपाधेः तत्रारोपितस्य तदधिष्ठानभ्रमाहेतुत्वेन साधनव्याप्तिसंदेहस्याप्यभावेन साधनाव्यापकत्वेनाप्रयोजकत्वेनानुपाधित्वाच्च । तृतीयानुमाने—पक्षाव्यावृत्त्या ध्वंसाप्रतियोगित्वस्यानुपाधित्वात् । चतुर्थानुमाने—कालासंसृष्टसत्ताराहित्यस्यैव साध्यार्थत्वेन सिद्धसाधनानवसरात् । पञ्चमानुमाने—धर्मादीनामप्यपरमार्थतया श्रुतितात्पर्याविषयाणां पारमार्थिकत्वेनैव तत्तात्पर्यविषयत्वस्य वाच्यत्वेन साधनव्यापकत्वेन शरीरजन्यत्वस्यैव कारणघटितत्वेन व्यर्थविशेषणत्वेन च पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य अनुपाधित्वात् । षष्ठानुमाने—शुक्तिरूप्यादीनां साक्षिविषयत्वाभावेन व्यभिचाराभावात्, दोषजन्याविद्यावृत्तिरूपस्यावच्छेदकस्योभयसंमतत्वाभावेन विशिष्टाभावरूपहेतोः पक्षे सत्त्वेनासिद्ध्यभावात्, साक्षाद्विषयत्वेन विशेषणत्वेन विषयत्वस्य विवक्षणाच्च संसृष्टतया देहात्म्यैक्ये विशेषणतया भासमाने आत्मनि साधनवैकल्याभावात्, ब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्वपक्षेऽपि विशिष्टाभावसत्त्वात्, विशिष्टाभावस्याखण्डरूपत्वेन व्यर्थविशेषणाद्यभावाच्च । अष्टमानुमानेऽपि—एतद्वदपूर्वकालीनवृत्ति-तद्वत्त्वादौ साध्याव्यापकत्वात्, पक्षीकृते धर्मेऽत्यन्ताभाववृत्तित्वसंदेहे साधनाव्यापकत्वसन्देहेन साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वस्याप्यसंभवेनैतद्वदप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वस्यानुपाधित्वाच्चेति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

हेतुषट्केन प्रपञ्चसत्त्वानुमानं न संगतम्; अस्मन्मतमाश्रित्य प्रथमहेतुविवक्षणे तत्रास्मन्मते ब्रह्मप्रमातिरिक्त्वाध्यत्वस्यैव प्रतिभासिकत्वरूपत्वात् तादृशप्रतिभासिकत्वानधिकरणे असदन्यत्वसमानाधिकरणब्रह्मप्रमातिरिक्त्वाध्यत्वाद्विपक्षतावच्छेदकाकान्ते देहात्मैक्ये व्यभिचारः, प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपप्रतिभासिकत्वविवक्षणे स्वरूपासिद्धिः, बाधश्च । एतेन—स्वाधिकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानविषयत्वे सतीति वा स्वाधिकाभिमताबाध्यबाधविषयत्वे सतीति वा, स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वैव पक्षतावच्छेदकं विवक्षितमिति शङ्कापि—पराहता; आद्ये स्वाप्रमातिभासिकस्य स्वाधिकाजगद्बोधोधाबाध्यस्वाप्रादिप्रतिभासिकदोषजन्यज्ञानविषयत्वेन पक्षतावच्छेदकाकान्ते तत्र बाधः, द्वितीये—स्वाप्रगजादिषु स्वाधिकाजगद्बोधोधाबाध्यस्वप्रगजाभावबुद्धेः निषेध्यत्वेन विषयत्वात्तत्र बाधादिकम्, तृतीये—ईश्वरज्ञानस्यैवोक्तप्रागभावसमकालिकत्वेन तद्बाध्याप्रसिद्धिः, हेतुषट्केऽपि ब्रह्मज्ञानबाध्यशुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारादिकमिति मन्तव्यम् । एतेन—सत्यत्ववादिमिथ्यात्वाबाधुभयसंमतमिथ्यात्वकभिन्नत्वमेव हेतुघटकतया पक्षतावच्छेदकघटकतया च विवक्षितमिति वचनमपि—पराहतम्; एवमपि स्वाप्रमातिभासिकादौ शुक्तिरूप्यादौ च बाधव्यभिचारावारणात्, उभयसंमतमिथ्याकत्वस्योक्तस्थलेऽभावात् । दृष्टान्तेऽसिद्धिवारकेण विशेषणेन विना चक्षुस्तेजस्त्वानुमाने व्याप्त्यग्रहात्तत्र व्यर्थविशेषणत्वाभावेऽपि प्रकृते शुद्धब्रह्मण एव दृष्टान्ततया तत्राधिकरणत्वस्यासत्त्वेनासिद्ध्यभावेन पक्षीयासिद्धिवारकस्य विशेषणस्य व्याप्तिग्रहानुपयुक्तत्वेन प्रतिभासिकत्वाधिकरणत्वाभावरूपाखण्डाभावस्यापि नीलधूमत्वादीनामिव गौरवेण व्याप्यतानवच्छेदकत्वेन व्यर्थविशेषणत्वम् । यदि तु प्रतिभासिकत्वाधिकरणत्वपदेन प्रतिभासिकमेव एव विवक्षित इति न प्रतिभासिकत्वविशेषणवैयर्थ्यमिति विभाव्यते, तदाप्यप्रयोजकत्वमेव; परमार्थसत्त्वे बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतिश्च । असच्चावृत्तिप्रति प्रतिभासिकव्यावृत्तिं प्रति च ब्रह्मविधान्यतरत्वस्यैव प्रयोजकत्वात् पारमार्थिकसत्त्वस्याप्रयोजकत्वात् । पक्षे ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपनित्यत्वाभावोक्तौ श्रुतिविरोधरूपव्याघातसत्त्वेन नित्यत्वेन सोपाधिकत्वं चेति मन्तव्यम् । एतेन—द्वितीयहेतुरपि—व्याख्यातः; उक्तबाधकर्तृपराहतत्वात् । तृतीयोऽपि हेतुर्न समीचीनः; संवादित्वेन ज्ञायमानप्रवृत्तौ संवाद्युपादानप्रत्यक्षादेः हेतुत्ववद्विसंवादित्वेन ज्ञायमानप्रवृत्तौ विसंवादितादृशप्रत्यक्षस्य हेतुत्वेनैश्वरीयोपादानप्रत्यक्षादेः निषेध्यत्वेन तत्प्रत्यक्षविवक्षायां मप्युपपत्त्या “हन्ताहमिमा” इत्यादिश्रौतव्यवहारोपपत्तेः । चतुर्थहेतौ—यत्र यत्र ज्ञानं स्वरूपतो वाध्यं, तत्र विषयोऽपि स्वरूपतो वाध्यः; इदं रजतमिति यत् ज्ञानं तन्मिथ्येति विषयविशिष्टभ्रमस्य बाध्यत्वानुभावेन विषयबाधे ज्ञानबाधस्यावश्यकत्वात् स्वाप्रज्ञाने व्यभिचारः । एतेन—अर्थक्रियाकारित्वस्य पारमार्थिकसत्त्वप्रयोजकत्वेन साध्याव्यापकत्वानादित्वमुपाधिरित्यपि—परास्तम् । पञ्चमहेतौ—आरोपितपदेन मिथ्यात्वेनोभयसिद्धत्वस्य विवक्षणेऽपि जीवाणुत्वमिथ्यात्वमिथ्यात्वस्योभयसंमतत्वेन जीवाणुत्वे मन्मतरीत्या, व्यभिचारः; सिद्धत्वस्य ज्ञातत्वरूपत्वे कदाचिच्छुक्तिरूप्यादिमिथ्यात्वस्यापि मिथ्यात्वेन ज्ञानसंभवाच्छुक्तिरूप्ये व्यभिचारः, प्रमितत्वरूपत्वे प्रपञ्चसत्त्वसिद्धेः पूर्वं प्रपञ्चमिथ्यात्वमिथ्यात्वज्ञानस्य प्रमात्वसिद्ध्यसंभवादसिद्धिः, व्यावहारिकप्रमात्वमेव व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूपमत्र विवक्षितमिति व्यवहारकालाबाध्य

मिथ्यालोपेतमिथ्यात्वस्यैवात्र विवक्षणमिति तु न संभवति; व्यवहारकाले स्वप्नकाले वा मिथ्यात्वेन गृह्यमाणे ब्रह्मज्ञानाव्यवहितपूर्वमिथ्यात्वके प्रातीतिके व्यभिचारात् । एतेन षष्ठोऽपि हेतुर्व्याख्यातः; अविद्याश्रयस्य शुद्धस्य तत्कार्यभ्रमविषयाश्रयत्वस्यापि संभवदिति । एतेन—अनुमानान्तराण्यपि निराकृतप्रायाणि । प्रथमानुमाने—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वाभावस्य पूर्वमेवोक्तत्वात् शुक्तिरूप्ये व्यभिचारात् । द्वितीयानुमाने—असिद्धेः । तृतीयानुमाने—सन्निधानरूपदोषविशेषजन्यज्ञानस्यैव विशेषदर्शनविरोधित्वेन मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषये प्रतिबिम्बे व्यभिचारात्, तदविषयकोपाधिविषयत्व-रूपस्य तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्य प्रपञ्चोपलब्धेः सद्रूपात्मविषयकत्वनिर्णयेन साधनाव्यापकत्वसंभवात् तेन सोपाधिकत्वात्, तत्त्वसाक्षात्कारस्य विशेषणत्वे घटादावसिद्धेः, उपलक्षणत्वे शुक्तिवादिरूपेण प्रत्यक्षे दिनान्तरे श्रुत्यादावारोपिते रजतादौ व्यभिचारात् । चतुर्थानुमाने—ऐन्द्रजालिकस्य स्वमायाकल्पिताम्रवृक्षतत्फलच्छेदग्रहणादौ प्रवृत्तिदर्शनेन तस्यापि मायिकापरोक्षस्याङ्गीकरणीयत्वात् तत्र व्यभिचारात् । पञ्चमानुमाने—असिद्धेः, ऐन्द्रजालिककल्पितद्वित्रिदिनस्थायिनि मायिकपदार्थे व्यभिचाराच्च । षष्ठानुमाने—सर्वपदेनासदन्यस्य ग्रहणे लम्बते शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वेन सर्वपदवैयर्थ्यापत्तेः, मन्म-तरीत्या आत्मासद्भिन्नत्वस्यैव पक्षत्वेन आत्मासद्भावाभिन्नत्वं स्वाश्रयवृत्तिरिति साधने बाधात्, अप्रयोजकत्वात्, सत्यत्वं, प्रातिभासिकान्यसर्ववृत्तिरिति न, सत्यमात्रवृत्तित्वादात्मवदित्वाभाससाम्यात्, प्रमेयत्वे प्रमेयत्वस्वरूपेण प्रमेयत्वस्याभावेन साध्यवति तत्राप्युपाधिसत्त्वेन साध्यव्यापकत्वात् व्यावहारिकमिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य पूर्वमसिद्धत्वेन साधनाव्यापकत्वाच्च मिथ्यात्वन्यून-वृत्तित्वस्योपाधित्वाच्च । सप्तमानुमाने—“आनन्दो ब्रह्मणो रूप”मित्यादिश्रुतौ व्यवहारकालाबाध्यस्य जीवभेदस्योपलम्भेन तमादाय सिद्धसाधनात् । अष्टमानुमाने—शब्दस्वभाववर्णनस्यानुमानेऽनुपयोगात् स्वशब्दघटितसाध्यविवक्षणेऽसिद्धिसा-धनवैकल्ययोः प्रसङ्गात् । नवमानुमाने—तत्तत्त्वातन्त्र्यविरोधिनानास्वरूपबन्धपदार्थस्य दृष्टान्तपक्षासाधारण्येनासिद्धेः, साधनवैकल्याच्च । एतेन—विशेषानुमानान्यपि—परास्तानि । तथाहि—प्रथमानुमाने—रूपे “रूपमन्धगम्यमिति वाक्यजन्यज्ञानीयान्वयप्रत्यक्षविषयत्वे” रूपं नान्धगम्यमिति” वाक्यजन्यज्ञानवाध्ये व्यभिचारात्, समानविभक्तिकनामद्वयज-न्यज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वेन प्रकृते रूपमात्रविषयकतदुपलक्षणविधया तयोः ज्ञानयोरन्धगम्यत्वतदभावयोः प्रकारत्वेऽपि विशेषणविधाया प्रकारत्वाभावात् तादृशज्ञानयोरन्यूनानतिरिक्तविषयकत्वात् । द्वितीयानुमाने—चाकचक्यस्य सर्वस्य ज्ञानं न भ्रमहेतुः, किन्तु तत्तद्व्यक्तिविशेषाणाम् । तथाच तत्तद्व्यक्तिज्ञानापेक्षया तत्तद्व्यक्तेरेव हेतुत्वे लाघवात् कल्पिते तत्र व्यभिचारात्, प्रथमोपाधेर्यदभाववत्त्वेन ज्ञातमधिष्ठानं स्वजन्यभ्रमनिवर्तकं, तादृशदोषाजन्यत्वरूपत्वेन तादृशदोषप्रतियोगिक-त्वरूपविशेषणस्य चाकचक्यादिष्वव्यावर्तकत्वेन विपक्षाव्यावर्तकविशेषणानवच्छिन्नस्य साध्यव्यापकत्वसंभवेन पक्षेतरत्वतुल्य-त्वाभावेन तत्रारोपितस्य तदधिष्ठानहेतुत्वेऽप्यदोषेण साधनाव्यापकत्वसंभवेन चोपाधिव्याप्यस्यापि प्रसङ्गेन सोपाधिकत्वाच्च । तृतीयानुमाने—अनादेरपि प्रागभावस्य ध्वंसप्रतियोगित्वदर्शनेन अनादित्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वाप्रयोजकत्वेन पक्षव्या-वृत्त्या ध्वंसप्रतियोगित्वस्योपाधित्वात्, अनादित्वस्य प्रागभावाप्रतियोगित्वरूपत्वे तुच्छे बाध्यव्यभिचारौ । तद्विशिष्टभावरूपत्वे भावत्वस्य तुच्छान्यत्वरूपत्वे मन्मते शुक्तिरूप्यादौ तौ । एतेन—प्रागभावे साधनाव्यापकत्वेनाप्युक्तोपाधिः साधुरिति—सूचितम्, चतुर्थानुमाने—देशकालसंसृष्टसत्तारूपत्वाभावसाधने विशेष्यवत्त्वेन निश्चितेऽधिकरणे यो विशिष्टाभावः स विशेषणाभावस्वरूप इति न्यायेन प्रकृतेऽपि सत्तारूपत्वेन निश्चिते उक्ताभावस्योक्तसंबन्धरूपतया पर्यवसानात् किंवि-त्कालावच्छिन्नदेशाद्यसंबन्धान्यत्वमादायार्थान्तरात्, यदा यदा ब्रह्म तदा देशादिसंबन्ध इत्युक्तौ मूलोक्तदोषाच्च । पञ्च-मानुमाने—मुक्त्युपाधायकप्रमाविषयत्वस्य, श्रुतिजन्यधीमात्रप्रयोजनत्वस्य चोपाधित्वात्, साधनविशेषितत्वं तु नोपाधेरा-भासताप्रयोजकं, दूषकताबीजविघटस्यैव तथात्वेन दीधित्यादावुक्तत्वात् । षष्ठानुमाने—जीवेशैक्ये जीवानणुत्वे च तात्त्विकत्वसिद्ध्यापत्त्या दोषजन्यत्वेनोभयवादिसिद्धज्ञानविषयत्वस्य भवता विवक्षितुमशक्यत्वेन केवलस्य तस्य विवक्षणे सुखादीनामपि तादृशाविद्यावृत्तिविषयत्वेन स्वरूपासिद्धेः । सप्तमानुमाने—स्वविषयकिंचिज्ज्ञानपूर्ववृत्तित्वस्य शुक्तिर-ूप्यादौ व्यभिचारात्, यावत्स्वज्ञानपूर्ववृत्तित्वस्य घटादावसिद्धेः, स्वप्रत्यक्षपूर्ववृत्तित्वस्य सुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षे तत्र स्वप्रत्य-क्षकालोत्पन्नहस्तादिपरिमाणविशेषादौ चासिद्धेः । अष्टमानुमाने—तद्व्युत्पत्तिमानकालीने तद्व्युत्पत्त्यन्ताभावे पक्षे साधनस्यो-पाध्यभावस्य च निश्चयेनोपाधेः साधनाव्यापकत्वनिश्चयेन साधनावच्छिन्नोक्तोपाधेः दुरुद्धरत्वात्, अस्मन्मते मिथ्यात्वघटका-त्यन्ताभावस्य प्रतियोग्यविरोधित्वेन देशकालावच्छिन्नवृत्तिकत्वाभावेन सिद्धसाधनाच्च । पूर्वोक्तानुमानेषु द्वितीये भ्रमत्व-दोषत्वयोरननुगतत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारण्याभावेनासिद्धिसाधनवैकल्ययोः पदार्थत्वादिहेतौ पदशक्यत्वस्य विवक्षणेऽसिद्धेः, तद्व्यवस्थितविवक्षणे पदत्वलक्ष्यत्वयोरननुगतत्वेन तयोश्च प्रसङ्गेनोक्तानुमानानि दुष्टानीलमतिविस्तारेणेति शिवम्—

इति विवेचयन्ति ॥

इति अनुमानवाधनिरासः ॥

मिथ्यात्वे विशेषानुमानम् ।

मिथ्यात्वे च विशेषतोऽनुमानानि । (१) ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यब्रह्मान्यासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्तिः, ब्रह्मावृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, परमार्थसद्भेदवच्च, (२) विमतं, मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्, (३) परमार्थसत्त्वं, स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्तिः, सदितरावृत्तित्वात्, ब्रह्मत्ववत्, (४) ब्रह्मत्वमेकत्वं वा सत्त्वव्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्, (५) व्याप्यवृत्तिघटादिः, जन्याभावातिरिक्तस्वसमानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगी, अभावप्रतियोगि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ब्रह्मज्ञानेत्यादि । ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यं यत् ब्रह्मान्यत्, तद्वृत्तित्वविशिष्टः असत्त्वाभाव इत्यर्थः । पारमार्थिकसत्त्वेति । सामान्यानुमानोक्तरीत्या धीविशेषविषयत्वादिरूपं पारमार्थिकसत्त्वं बोध्यम्, तेन न तत्रोक्तदोषः । पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणवृत्तित्वमत्र व्यावहारिकं ग्राह्यम् । एतेन—ब्रह्मरूपस्य पारमार्थिकसत्त्वस्याधिकरणमप्रसिद्धम्, कल्पिताधिकरणत्वस्य तत्रैव प्रसिद्धावपि शुक्तिरूप्यत्वे साध्याप्रसिद्धिः, तद्वृत्तित्वस्य मिथ्यात्वं तु नाद्यापि सिद्धम्, येन तत्सत्त्वेऽपि तदभावसत्त्वान्नाप्रसिद्धिः; पारमार्थिकसत्त्ववृत्तिवेऽपि किञ्चिदवच्छेदेन तदभाववत्त्वमादाय सिद्धसाधनापत्त्या पारमार्थिकसत्त्ववृत्तिः यत् यत् तदन्यत्वस्यैव साध्याकार्यत्वात्, तस्य शुक्तिरूप्यत्वे ब्रह्मनिष्ठे न प्रसिद्धिरित्यादि—परास्तम्; अवच्छिन्नब्रह्मनिष्ठेऽपि शुक्तिरूप्यत्वे शुद्धब्रह्मवृत्तित्वाभावानपायाच्च । अवृत्तित्वमात्रस्य दृष्टान्तावृत्तित्वेन व्याप्यग्राहकत्वात् । ब्रह्मावृत्तित्वं हेतुकृतम् । नच—अवृत्तित्वमात्रस्यापि शुद्धब्रह्मनिष्ठतया व्याप्तिग्राहकतेति—वाच्यम्; ब्रह्मणि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापातात्, सत्त्वरूपत्वेन ब्रह्मणः प्रपञ्चवृत्तित्वात् परमते प्रपञ्चस्य पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणत्वात् । अतएव साधनवैकल्यमपि; ब्रह्मनिष्ठस्य प्रपञ्चवृत्तित्वस्याद्यापि मिथ्यात्वासिद्ध्या ब्रह्मण्यवृत्तित्वासिद्धेः । केवलस्यासत्त्वाभावस्य पारमार्थिकसत्त्ववृत्तित्वेऽप्युक्तपक्षतावच्छेदकरूपेण तदभावरूपसाध्यवत्त्वमक्षतम् । अतएव ब्रह्मान्येति सार्थकम् । प्रातीतिकवृत्तित्वरूपेणासत्त्वाभावः पारमार्थिकावृत्तिः, अतः सिद्धसाधनादबाध्यान्तमुक्तम् । नच—एवमपि ब्रह्मज्ञानबाध्यप्रातीतिकवृत्तित्वरूपेण तस्य पारमार्थिकावृत्तित्वेन सिद्धसाधनं तदवस्थमिति—वाच्यम्; 'सर्वं प्रातीतिकं स्वज्ञानविशेष्ये नास्ती'ति ज्ञानेन सर्वप्रातीतिकानां ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वात् यथोक्तपक्षे साध्यस्यासिद्धत्वात् । रूप्यत्ववदिति । शुक्त्यवच्छिन्नचिद्वृत्तेरपि शुक्तिरूप्यत्वस्य शुद्धब्रह्मावृत्तित्वमिति भावः । उपहितवृत्तेः शुद्धवृत्तित्वनियममते त्वाह—परमार्थसद्भेदवदिति । परमार्थसद्भेदोऽपि ब्रह्मवृत्तिः । अन्यथा परमार्थत्वस्य स्वधर्मत्वानुपपत्तेः । अतो ब्रह्मणि सत्त्वादिरूपपरमार्थभेदो विद्यमानोऽपि न परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः; तत्प्रतियोगिताया अवच्छिन्नत्वे मानाभावात् । व्यावहारिको वा परमार्थावृत्तिर्वा भेदो निवेश्यः; तादृशभेदस्य शुक्तिरूप्याद्युपहितचिद्वृत्तित्वेऽपि न शुद्धब्रह्मवृत्तित्वम्; परमार्थावृत्तित्वविशिष्टत्वरूपेण परमार्थवृत्तित्वासंभवात् । अतएव महाकालावृत्तित्वविशिष्टत्वरूपेण महाकालवृत्तित्वं नेच्छन्ति । मिथ्या सद्वैलक्षणम् । तेनासद्भाववृत्तिमिथ्यात्वस्यासत्त्वभावेऽपि न व्यभिचारः । स्वसमानाधिकरणान्योन्येत्यादि । अन्योन्याभावो व्यावहारिकः प्रतियोग्यवृत्तिर्वा ग्राह्यः । तेन ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मभेदं प्रातीतिकमादाय न दोषः । स्वसमानाधिकरणतादृशभेदप्रतियोगिवृत्तिः यद्यत् तदन्यत्वकृतः साध्यम् । यद्वा—स्वप्रतियोगिवृत्तित्वं स्वसमानाधिकरणं चेत्युभयसंबन्धेन उक्तभेदविशिष्टं यत् तदन्यत्वं साध्यम् । तेन स्वपदार्थस्य पक्षदृष्टान्तसाधारणस्य एकस्याभावेऽपि न क्षतिः । सदितरेति । परमार्थान्येत्यर्थः । सत्त्वव्यापकम् अबाध्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकम् । पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे तस्याः ब्रह्मान्यत्वादेकत्वं पक्षीकृतम् । तच्चाविनाशित्वादिरूपम् । संयोगादिवद्व्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरं स्यादतो व्याप्यवृत्तिरिति । दैशिकसंबन्धावच्छिन्ना किञ्चिदवच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य तदन्य इत्यर्थः । घटगोत्वादेः कालिकसंबन्धावच्छिन्नवृत्तेस्तन्वाद्यवच्छिन्नत्वादवच्छिन्नान्तम् । समवायेन घटादेरव्याप्यवृत्तित्वस्वीकारमते आह—आदिरिति । गोत्वादिरित्यर्थः । घटादौ त्ववच्छिन्नवृत्तिकान्यस्वसमानाधिकरणान्यन्ताभावप्रतियोगित्वं शुक्तिरूप्यादिदृष्टान्तेन साधनीयमिति भावः । भेदप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाधनान्मात्रेति । अजन्यस्य स्वसमानाधिकरणान्यस्याप्रतियोगीति पर्यवसितं साध्यम् । कपालादिनाशनाशयघटादौ स्वसमानाधिकरणान्यनाशप्रतियोगित्वेन बाधादजन्येति अन्यस्य विशेषणम् । अभाधप्रतियोगित्वादिति । ननु प्रतियोगितात्वेनैव हेतुत्वसंभवादभावेति व्यर्थमिति—चेन्न; प्रतियोगितासंबन्धेनाभावस्यैव हेतुत्वे तात्पर्यात् । यदि तु प्रतियोगितात्वं संयोगादिप्रतियोगितायामभावीयप्रतियोगितायां च नैकं, तदा प्रतियोगित्वशब्दस्य नानार्थकत्वेनाभावीयप्रतियोगित्वपरत्वाभावाभावपदम्; अन्यथा संयोगादिनिष्ठप्रतियोगित्वस्य हेतुत्वे गुणादौ भागासिद्ध्यापत्तेः । एते त्विति । अमिथ्यत्वमित्यनुषज्यते । मिथ्यैवेति । स्वसमानाधिकरणान्यन्ताभावप्रतियोग्यवृत्त्यर्थः । अजन्यस्य

त्वात्, अमिधेयत्ववत् । अमिधेयत्वं हि परमते केवलान्वयित्वादन्योन्याभावमात्रप्रतियोगी । स च समानाधिकरण एव, अस्मन्मते तु मिथ्यैवेति, नोभयथापि साध्यवैकल्यम् । (६) अत्यन्ताभावः, प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिः, नित्याभावत्वादन्योन्याभाववत् । (७) अत्यन्ताभावत्वं प्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्तिमात्रवृत्तिः, प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिमात्रवृत्ति वा, नित्याभावमात्रवृत्तित्वात्, अन्योन्याभावत्ववत् । (८) घटात्यन्ताभाववत्त्वं, स्वप्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्ति, एतत्कपालसमानकालीनैतद्वटप्रतियोगिकाभाववृत्तित्वात्, प्रमेयत्ववत् । (९) एतत्कपालमेतद्वटात्यन्ताभावाधिकरणमाधारत्वात्पटादिवत् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वसमानाधिकरणान्यस्याभावस्य स्वाश्रयभेदस्यैव प्रसिद्धत्वात् नाप्रसिद्धिः । प्रतियोग्यवच्छिन्नेत्यादि । प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धेन यत् प्रतियोगिमत्त्वं तदवच्छिन्नवृत्तिक इत्यर्थः । घटादिसंयोगित्वावच्छेदेन भूतलादौ जलादिसंयोगवत्प्रतीतेस्तादृशसंयोगादि साध्यं प्रसिद्धम्, घटादिभेदे तु साध्यसाधनयोः प्रसिद्धिः, उक्तभेदस्य कालवृत्तित्वे उक्तभेदाधिकरणदेशस्येव तद्वृत्तेः घटादिसंयुक्तत्वस्याप्यवच्छेदकत्वात्, 'इदानीं घटसंयुक्तदेशे घटभेद' इति प्रत्ययस्य घटसंयुक्तत्वविशिष्टे अवच्छेदकत्वावगाहित्वात् । अतएव संयोगावच्छिन्नघटात्यन्ताभावस्यापि घटसंयुक्तदेशोऽस्वीकारात्तदवच्छेदेन कालावृत्तित्वात् घटसंयुक्तत्वावच्छिन्नवृत्तिकत्वेन तत्र साध्यस्य सन्दिग्धत्वेन न बाधः । ननु कालिकसम्बन्धेन गोत्वादिमति काले तत्सम्बन्धावच्छिन्नस्याभावस्य दैशिकविशेषणतासम्बन्धेन वृत्तौ विरोधेनावच्छेदकभेदकल्पनस्य युक्तत्वेन तादृशाभावस्य गवान्यदेशावच्छेदेन वृत्तिर्युक्ता; गवाद्यवच्छेदेन काले गोत्वादेः कालिकसम्बन्धसत्त्वेन तदवच्छेदेनोक्ताभावस्यासत्त्वात्, समवायादिसम्बन्धेन यो गोत्वादेरभावस्तस्य काले दैशिकविशेषणतया वा कालिकविशेषणतया वा वृत्तौ नावच्छेदककल्पने मानमस्ति । तथाच तस्य कालवृत्तित्वे गवादिभिन्नदेशस्येव गवादिदेशस्याप्यनवच्छेदकत्वात् कथं प्रतियोगिमत्त्वावच्छिन्नवृत्तिकत्वमिति—चेन्न; वाच्यत्वादि-केवलान्वयिधर्माणां कालवृत्तित्वस्य देशावच्छिन्नवृत्तिकत्वाभावेऽपि व्यतिरेकिणां समवायादिसम्बन्धावच्छिन्नगोत्वा-भावादीनां गवादिभिन्नदेशावच्छिन्नकालवृत्तित्वाकत्वस्यावश्यकत्वात्, इदानीमगवि समवायेन गोत्वस्याभावः, नतु 'गवी'ति प्रत्ययात् । अथ—एवमपि तार्किकादिमते तादृशाभावस्योक्तवृत्तित्वाकत्वम्, भवन्मते त्वभावमात्रस्य केवलान्वयित्वेन नावच्छिन्नकालवृत्तित्वाकत्वमिति बाध इति—चेन्न; 'दृश्यं सर्वं स्वाधिकरणे कालत्रयेऽपि नास्ती'त्यादिप्रत्ययेन दृश्याभावमात्रस्योक्तवृत्तित्वस्वीकारात्, अन्यथा तस्य केवलान्वयित्वादेव धर्मसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यापि निरासपत्तेः । अथवा—प्रतियोगिमद्देशानवच्छिन्ना सती अवच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य तदन्यत्वं साध्यम् । तच्चावच्छिन्नवृत्तिकमिदमेव केवलान्वयिन्यभावे अस्येव । अथवा—प्रतियोगिना यदवच्छिन्नं विशिष्टं तत्र वृत्तिर्यस्य तत्त्वं तन्निरूपितवृत्तिकत्वं पर्यवसितं साध्यम् । यद्यपि यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिवेशे सिद्धसाधनम्, स्वप्रतियोगिनिवेशे च पक्षदृष्टान्तसाधारणस्य स्वत्वस्याभावेन साध्यवैकल्यादिकम्; तथापि स्वनिष्ठप्रतियोगिताकत्वं स्वसमानाधिकरणं चेत्युभयसम्बन्धेन विषयविशिष्टत्वमित्यादि साध्यं बोध्यम् । स्वपदार्थस्तु न प्रवेश्यते; प्रयोजनाभावात्, अन्यनिष्ठप्रतियोगितादेरन्यदीयसम्बन्धाघटकत्वेनाव्यावर्तकत्वात् । नित्याभावत्वादिति । ध्वंसादौ व्यभिचारान्नित्येति । ब्रह्मणि व्यभिचारादभावेति । सप्रतियोगिकस्वभावेत्यर्थः । प्रतियोग्यशेषेति । अशेषस्वप्रतियोगीत्यर्थः । पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्य स्वस्याभावरूपो यः प्रतियोगी तदधिकरणवृत्तिः सर्वोऽप्यन्ताभावः तन्मात्रवृत्तित्वं च पक्षे सिद्धमतोऽशेषेति । तथाच स्वप्रतियोग्यधिकरणत्वव्यापकं यस्य यस्याधिकरणं, तत्तदन्यत्ववदवृत्तित्वं साध्यं स्वप्रतियोगिकत्वं स्वसमानाधिकरणं चेत्युभयसम्बन्धेन विषयविशिष्टं यद्यत्तदन्यावृत्तित्वं स्वावच्छेदकविशिष्टवदवृत्तित्वं स्वरूपकत्वं चेत्युभयसम्बन्धेन प्रतियोगिताविशिष्टं यत् तदवृत्तित्वं वा पर्यवसितम् । प्रतियोग्यवच्छिन्नेत्यादि । प्रतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तिकान्यावृत्तीत्यर्थः । अवच्छिन्नवृत्तिकावृत्तीति वार्थः । अवच्छिन्नवृत्तिकत्वे दैशिकवृत्तिनिवेशादेशावच्छिन्नकालिकवृत्तिके भेदे भेदत्वस्य सत्त्वेऽपि न साध्यवैकल्यम् । तत्र वृत्तिसामान्यस्य निवेशे तु वाच्यत्वत्वादिकं दृष्टान्तः । आद्यपक्षेऽपि दैशिकव्याप्यवृत्तिभेदत्वं दृष्टान्तः । प्रतियोगिजनकेति । स्वप्रतियोगिजनकेत्यर्थः । स्वपदार्थः अत्यन्ताभावः । तत्प्रतियोगिजनकाभावस्तद्वटप्रागभावः । तत्समानाधिकरणं चानवच्छिन्नं निवेश्यम् । तेन तादृशाभावानवच्छेदकेन तद्वटध्वंसकालेनावच्छिन्नं तत्समानाधिकरणं तद्वटात्यन्ताभावनिष्ठमादाय न सिद्धसाधनादिकम् । तत्कपालनाशजन्यतद्वटध्वंसत्वे व्यभिचारात्—कालीनान्तम् । तत्कपालनाशनाशयघटव्यक्तिनिवेशे तु तत् न देयम् । अनादिप्रतियोगिकाभावत्वे व्यभिचारादेतद्वटप्रतियोगिकेति । तद्वटसंयोगत्वादौ व्यभिचारादभावेति । वस्तुतस्तु—एतद्वदेति । एतत्कपालनाशनाशयघटेत्यर्थः । एवंच तद्वटप्रागभावकालावच्छिन्नं सामानाधिकरणमादाय सिद्धसाधनात् सामानाधिकरण्ये अनवच्छिन्नत्वं देयम् । तद्वटध्वंसत्वे

(१०) ब्रह्मत्वं न परमार्थसन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, ब्रह्मवृत्तित्वादसद्वैलक्षण्यवत्,
 (११) परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदो न परमार्थसन्निष्ठः परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वात्, परमार्थ-
 सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत्, (१२) भेदत्वावच्छिन्नं, सद्वैलक्षण्यप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवत्,
 अभावत्वाच्छुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाववत्, (१३) परमार्थसन्निष्ठो भेदः, न परमार्थसत्प्रति-
 योगिकः, परमार्थसदधिकरणत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्, (१४) मिथ्यात्वं, ब्रह्मतुच्छो-
 भयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यावृत्तित्वात्, मिथ्यात्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि-
 त्वाद्वा, दृश्यत्ववत्, (१५) दृश्यत्वं परमार्थसदवृत्ति, अभिधेयमात्रवृत्तित्वाच्छुक्तिरूप्यत्ववत्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यभिचारात् कालीनान्तम् । तद्वदस्य समवायिनि तदत्यन्ताभावास्वीकारे त्वनवच्छिन्नत्वं न देयम् । ननु स्वप्रतियोगि-
 समानाधिकरणवृत्तित्वमात्रसाधनेऽपीष्टसिद्धेः किमिति जनकाभावनिवेश इति—चेत्, अयं तत्र भावः । घटादेरुत्पत्तिपूर्वं
 तत्समवायिनि तदभावः परेणापि स्वीक्रियते । तस्य चात्यन्ताभावान्यत्वे तद्देशकालावच्छिन्नवृत्तिकत्वे च गौरवान्मा-
 नाभावात् प्रतियोगिसत्त्वकाले तत्सत्त्वेऽप्यविद्यादिदोषेभ्यः तदप्रत्यक्षत्वाद्युपपत्तेः प्रतियोगिजनकत्वेन पराङ्गीकृता-
 भाव एव सः । किञ्च गवादिनाशकाले गवादौ गोत्वाद्यत्यन्ताभावः परैरपि स्वीक्रियते । अतएव ज्ञायमानगोत्वादेः
 स्वाश्रयप्रत्यक्षहेतुत्वे अतीतानागतगवादौ व्यभिचारमुद्गाध्य गोत्वादेर्ज्ञाने तदङ्गीकुर्वन्ति तार्किकाः । विवृतमेतदधिकं
 सूत्रमुक्तावलौ नः । अधिकरणम् अनवच्छिन्नाधिकरणतावत् । तेन तदनवच्छेदकावच्छिन्नतदत्यन्ताभाववत्त्वमादाय
 न सिद्धसाधनम् । परमार्थेत्यादि । मिथ्यातुच्छविलक्षणवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं साध्यम् । तेनाबाध्यनिष्ठ-
 भेदघटितात् सत्त्वव्यापकमित्युक्तसाध्यात् भेदः । भेद इति । स्वप्रतियोग्यवृत्तिभेद इत्यर्थः । तेन मिथ्यापरमार्थोभय-
 भेदादौ न बाधः । नच—तत्रापि परमार्थनिष्ठत्वं नास्ति; मिथ्यात्वात्, अतो व्यर्थमुक्तविशेषणमिति—वाच्यम्; तथापि
 ब्रह्मभिन्ने सर्वत्र परमार्थत्वनिषेधस्य प्रकृतानुमानफलस्य सिद्धये तदावश्यकत्वात् । अन्यथा परमार्थनिष्ठत्वमात्रस्य मिथ्या-
 त्वेन ब्रह्मवृत्तिभेदे साध्यस्योपपाद्यत्वेन प्रपञ्चवृत्तिभेदेऽपि तेनैवोक्तसाध्योपपत्त्योक्तफलासिद्धेः । परमार्थसत्प्रतियोगि-
 कत्वादिति । ननु—सप्रतियोगिकत्वमात्रस्यैव साधकत्वात् परमार्थसदिति व्यर्थमिति—चेन्न; अभावनिष्ठस्यैव
 सप्रतियोगिकत्वस्य लाभार्थं तदुपादानात् । यदि हि सप्रतियोगिकत्वमात्रं हेतुः, तदा संयोगादिमात्रनिष्ठस्य तस्य हेतुत्वे
 संयोगादेरेव पक्षत्वं वाच्यम् । संयोगादेरभावस्य च प्रतियोगितासु प्रतियोगितात्वस्य एकस्याभावेनोभयसाधारणस्य
 हेतुत्वासंभवात् । तथाच परमार्थनिष्ठत्वमात्रस्य मिथ्यात्वेनैव साध्योपपत्त्या ब्रह्मान्यस्य सर्वस्यापरमार्थत्वालाभः ।
 सति चोक्तविशेषणे संयोगादिमात्रनिष्ठं सप्रतियोगिकत्वं न लभ्यते; ब्रह्मणि निरवयवत्वेन मन्मते संयोगाद्यस्वीकारात् ।
 यदि तु प्रतियोगितापदार्थमात्रे प्रतियोगितात्वमेकं स्वीक्रियते, तदा सप्रतियोगिकत्वमात्रं हेतुः । प्रतियोगिकाभाव-
 वदिति । तादृशाभावश्च भेद एव; परमते परमार्थत्वस्य मेयत्वादिवदत्यन्ताभावस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्,
 मन्मतेऽपि मिथ्यात्वग्राहकमानेनाकाशत्वादेस्तत्सत्त्वेऽपि तस्य तत्सत्त्वे मानाभावात्, तत्तद्दीविषयत्वव्यवस्थापेक्षया गुरु-
 त्वाच्च । सद्वैलक्षणेति । सद्वैलक्षणं यत् स्वप्रतियोगिस्वाधिकरणयोरन्यतरत्, तत्संबन्धित्वं साध्यं तदन्यप्रतियोगि-
 कत्वसदन्याधिकरणकत्वयोरन्यतरत्वं पर्यवसितम् । तेन स्वपदार्थाननुगमेऽपि न स्वरूपासिद्ध्यादिकम् । सकलमि-
 थ्येत्यादि । यद्विशिष्टस्य व्याप्यं मिथ्यात्वं तत्त्वादित्यर्थः । मिथ्यात्वं यद्यद्भावंच्छिन्नाभाववृत्ति, तत्तद्भर्मभिन्नत्वादिति
 यावत् । मिथ्यात्वं मिथ्यात्वत्वम् । व्यापकं व्यापकतावच्छेदकम् । तेन मेयत्वादिरूपेण व्यापकत्वमादाय न सिद्ध-
 साधनम् । अप्रतियोगित्वात् प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् । नच—समानाधिकरणान्तं व्यर्थमिति—वाच्यम्; साधन-
 वैकल्यवारकत्वात् । नच—मेयत्वं ब्रह्मत्वं वा दृष्टान्तोऽस्त्विति—वाच्यम्; मन्मते मेयत्वस्यापि तदभावात्, ब्रह्मत्वस्य
 परमते घटादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । दैशिकविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्ना हि प्रतियोगिता हेतौ
 साध्ये च निवेद्या; अन्यथा स्वरूपासिद्धिबाधयोरपत्तेः, यदि च ब्रह्मत्वे परमते तन्न स्वीक्रियते मानाभावात्, तदा
 अधिकरणान्तं न देयम् । नच—स्वरूपासिद्धिरिति—वाच्यम्; मिथ्यात्वत्वस्य तत्तद्दीविषयत्वाद्यपेक्षया गुरुत्वेनोक्ता-
 वच्छेदकत्वाभावात् । नचैवं—प्रपञ्चे मिथ्यात्वास्वीकारेऽप्युक्तसाध्योपपत्तिरिति—वाच्यम्; ब्रह्मतुच्छोभयान्यवृत्त्य-
 त्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकं यद्विशिष्टस्य व्यापकतावच्छेदकं तदन्यत्वस्य साध्यत्वात्, प्रपञ्चे मिथ्यात्वास्वीकारे
 मिथ्यात्वत्वसमनियतलघुधर्मस्यावच्छेदकत्वात्, तस्य च मिथ्यात्वव्यापकतावच्छेदकत्वेन मिथ्यात्वत्वे साध्यानुपपत्तेः ।
 दृश्यत्वं दृक्प्रतियोगिकत्वविशिष्टं व्यापहारिकं तादात्म्यम् । प्रपञ्चनिष्ठस्य ब्रह्मतादात्म्यस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन बाधादाद्यं
 विशेषणम् । ब्रह्मणि ब्रह्मणः प्रातीतिकतादात्म्ये बाधादन्यम् । नच—तयोः ब्रह्मवृत्तित्वं मिथ्येति साध्यसत्त्वान्न बाध
 इति—वाच्यम्; तथापि सर्वदृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरूपस्य प्रकृतानुमानफलस्य उक्तविशेषणाधीनत्वात्, तदभावे पर-
 मार्थवृत्तिमिथ्यात्वेनैव साध्यसिद्ध्योक्तफलालाभात्, स्वरूपासिद्धेश्च । अभिधेयमात्रवृत्तित्वात् अवाच्यावृत्तित्वात्

(१६) दृश्यत्वं, परमार्थसिद्धिन्नत्वव्याप्यम्, दृश्येतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासिकत्ववत्, (१७) उभयसिद्धमसद्विलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणम्, आधारत्वाच्छुक्तिरूप्यत्ववत्, (१८) प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशः, अत्यन्ताभावाश्रयः, आधारत्वात्कालवत्, (१९) आत्मत्वावच्छिन्नं परमार्थसत्त्वानधिकरणप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्नरहितं, परमार्थसत्त्वात्, परमार्थसत्त्वावच्छिन्नवत्, परमार्थसति परमार्थसद्भेदाङ्गीकारादिमतेऽपि सद्भेदो न परमार्थसत्त्ववन्निष्ठः । किन्तु, घटत्वाद्यवच्छिन्ननिष्ठ एव । (२०) शुक्तिरूप्यं, मिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वात्, ब्रह्मवत् । साध्यसत्त्वमत्र त्रेधा । स्वस्यामिथ्यात्वेनोभयोर्मिथ्यात्वेनोभयोरमिथ्यात्वेन वा । तत्रान्तिमपक्षस्यासंभवात् पक्षे साध्यसिद्धिपर्यवसानं मध्यमपक्षेण, दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति विवेकः (२१) विमतं मिथ्या,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ब्रह्मावृत्तिवादितयावत् । पक्षभेदादाद्यानुमानाद्भेदः । ब्रह्मान्यवृत्तित्वविशिष्टं वा हेतुः । रूप्यादिपदानां प्रत्येकमभिधेयत्वानां तादात्म्येन तत्तद्व्यक्तित्वेन हेतुता तद्व्यक्तित्वेन पक्षता चेति वा । एतेन—शब्दार्थभेदाच्छुक्तिरूपाभिधाया भेदात् सर्वाभिधेयासंग्रह इति—अपास्तम् । दृश्येतरेत्यादि । गगनाद्यवृत्तिपदार्थेषु साध्यसामानाधिकरण्यघटितव्याप्यभावात्—धर्मैति । तदघटितव्याप्तेः साध्यत्वे तु तन्न देयम् । शुक्तिरूप्यादावंशतः सिद्धसाधनादुभयसिद्धिमिति । असिद्धित्वेनोभयवादिसिद्धं पक्षः । आधारत्वस्य ब्रह्मणि स्वीकारेऽपि तत्र न व्यभिचारः; धर्माधिकरणत्वाभावस्यापि मन्मते तत्र स्वीकारेण तस्य पक्षसमत्वात् । प्रतियोग्यवच्छिन्न इत्यादि । घटादिर्घटत्वाद्यभावस्यानवच्छिन्नाधिकरणतावानित्यर्थः । तेन घटादेः स्वनाशकालाद्यवच्छेदेन घटत्वाद्यभाववत्त्वेऽपि न सिद्धसाधनम् । समवायादिना घटत्वादेरभावस्य दैशिकविशेषणतयाऽधिकरणत्वं निवेद्यम् । कालवत् घटादिभिन्नकालवत्, तेन पक्षदृष्टान्तभेदः । वस्तुतः पक्षतावच्छेदकान्यरूपेण पक्षस्य दृष्टान्तमध्यपातेऽपि न क्षतिः । प्रत्युत कालविधया पक्षस्यापि साध्यवत्त्वेन पराभ्युपगतत्वप्रदर्शनं प्रकृतोपयुक्तम् । किन्तु घटत्वेति । नच—‘परमार्थसद्भटो नेत्यादिप्रतीतेः परमार्थसत्त्वोपहिते तद्भेदप्रकारत्वाद्भेदं युक्तमिति—वाच्यम्; तस्याः घटत्वाद्युपहितप्रतियोगिकभेदविषयकत्वेऽपि परमार्थसत्त्वोपहितप्रतियोगिकभेदाविषयकत्वात् । नच—परमार्थसत्तादृशघटो नेति प्रतीतेः परमार्थसत्त्वोपहितनिष्ठा घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिता विषय इति—वाच्यम्; सांप्रदायिकतार्किकैस्तदस्वीकारात् । उक्तं हि तैः ‘प्रतियोग्यं प्रेकारतावच्छेदकता यादृशविशिष्टधर्मपर्यासा प्रतियोगितावच्छेदकतापर्याप्यधिकरणत्वेनापि तादृशधर्म एव भाति । अतएव ‘वह्नित्वं पर्वतवृत्तिधूमवज्जिह्वात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकं नेति प्रतीतेः पर्वतवृत्तिवाविशेषितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविषयकत्वासम्भवाद्यभिचारपीकालेऽपि तादृशधीसम्भवेन तस्या नानुमितिहेतुत्व’मिति । अथवा—आत्मत्वं, परमार्थप्रतियोगिकभेदकूटान्तर्गतया कयापि व्यक्त्या न व्याप्यम्, परमार्थवृत्तित्वात्, परमार्थत्ववदित्यत्र तात्पर्यम् । परमार्थत्वे परमार्थप्रतियोगिकभेदत्वविशिष्टस्य व्याप्यतासत्त्वेऽपि परमार्थीयतत्तद्भेदव्यक्तित्वावच्छिन्नं प्रति व्याप्यता नास्ति; तस्य स्वप्रतियोगिनि परमार्थे अभावादिति परमार्थभेदवृत्तिः य उभयावृत्तिधर्मः तद्विशिष्टं प्रति व्याप्यत्वस्याभावरूपं साध्यं तत्रास्त्येव । आत्मान्यपरमार्थस्वीकारे तु तद्भेदव्यक्त्यव्याप्यमात्मत्वमिति तत्र तत्त्वाभावसाधनं परस्यानिष्टमिति ध्येयम् । मिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यत इति । मिथ्यात्वहेतुकस्य प्रपञ्चभेदवत्त्वस्याभाववदित्यर्थः । तादृशभेदवत्त्वं च प्रपञ्चभेदव्याप्यमिथ्यात्वप्रकारकस्वविशेष्यकप्रमाजन्यानुमितिविषयस्य प्रपञ्चभेदस्याश्रयत्वम् । यत्रोक्ताश्रयत्वं स्थाप्यं, सः स्वपदार्थः । ‘निर्धूमवान् धूमेन वह्निमानय’मिति वाक्यजन्यज्ञानं न प्रमा । अतः प्रमाघटितमेव हेतुत्वं तृतीयादिबिभक्त्यर्थः । तथाच मिथ्यात्वे प्रपञ्चभेदव्याप्तेरबाधितत्वाभावात् मिथ्यात्वव्यापकं यन्मिथ्यात्वसमानाधिकरणं, तत्त्वेन रूपेण प्रपञ्चभेदस्यात्यन्ताभावः पर्यवसितसाध्यम् । मन्मते तादृशरूपविशिष्टस्य प्रपञ्चभेदस्याप्रसिद्धावपि घटत्वेन पटस्योक्तरूपेणोक्तभेदस्याभावो नाप्रसिद्धः । व्यवहारेत्यविवक्षितः । स्वस्येति । यत्र साध्यं स्थाप्यं तस्येत्यर्थः । उभयोरिति । तस्य प्रपञ्चस्य चेत्यर्थः । अन्तिमपक्षस्येति । आद्यपक्षस्यासम्भवेनेत्यादि । तेनाद्यपक्षासम्भवानुक्त्या न न्यूनता; परमतेऽपि पक्षे मिथ्यात्वस्वीकारात् । तत्राद्यान्यपक्षयोरसम्भवः, तयोः सम्भवे तु प्रपञ्चभिन्नेऽपि पक्षे उक्तविशिष्टरूपेण प्रपञ्चभेदस्याभावसम्भवः; मिथ्यात्वसमानाधिकरणत्वरूपविशेषणाभावादिति भावः । मध्यमेति । मिथ्यात्वसमानाधिकरणत्वविशिष्टस्य प्रपञ्चभेदस्याश्रयेऽपि पक्षे उक्तविशिष्टरूपेण न प्रपञ्चभेदः; प्रपञ्चभेदे मिथ्यात्वव्यापकत्वरूपविशेषणाभावात् । प्रपञ्चः सत्यः पक्षो मिथ्येति स्वीकारे तूक्तविशिष्टरूपेण पक्षे प्रपञ्चभेदस्य सत्त्वान्न साध्यपर्यवसानम् । अतएव स्वस्य मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य सत्यत्वमिति पक्षः साध्यपर्यवसानानुपयुक्तत्वात् पूर्वं न विकल्पित इति भावः । प्रथमेति । दृष्टान्तस्योभयसंमतत्वापेक्षेण मन्मतेऽन्यन्यपक्षस्यासम्भवादुभयमतेऽपि मध्यमपक्षासम्भवात् प्रथमपक्षेणैव तत्र साध्यसिद्धिः । दृष्टान्तस्य

मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वे सत्यसदन्यत्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वं, (२२) परमार्थसत्त्वव्यापकम्, परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्ववत् (२३) एतत्पटात्यन्ताभावः, एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटानाद्यभावत्वात्, एतत्पटान्योन्याभाववत्, तन्तुनाशजन्यपटनाशस्य कदापि तन्तुवृत्तिता नास्तीति तत्र व्यभिचारवारणायानादिपदम् । यस्य पटस्याश्रयविभागेन नाशस्तदत्यन्ताभावस्य पक्षत्वे त्वनादिपदमनादेयमेव । अत्र चैतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नस्य पक्षीकरणान्न संबन्धान्तरेणाल्यन्ताभावमादायांशतः सिद्धसाधनम्; पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् । समवायसम्बन्धावच्छिन्नो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नश्च यः एतत्पटात्यन्ताभावः स एव वा पक्षः । तन्तुशब्देन च पटोपादानकारणमुक्तम् । तत्र च प्रागभावस्य सत्त्वान्न तेन व्यभिचारः । कार्यकारणयोरभेदेन सिद्धसाधनादिदूषणानि प्रागेव तत्त्वप्रदीपिकानुमानोपन्यासे निराकृतानि । (२४) यद्वा—समवायसम्बन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ताभावः, एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, संबन्धान्तरावच्छिन्नैतत्पटात्यन्ताभाववदिति विशिष्यानुमानम् । (२५) अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्युक्तपक्षतावच्छेदकवत्, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात्, संयोगवत् । नच विश्वात्यन्ताभावे व्यभिचारः; तस्याधिकरणस्वरूपत्वे अनात्मत्वहेतौरेवा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिवादिमात्रसंमतत्वापेक्षणे तु चरमपक्षेणापि तत्र साध्यसम्भव इति प्रथम इव चरमेऽपि मिथ्यात्वसामानाधिकरण्यरूपविशेषणाभावादुक्तत्वेणाभावस्य सम्भवादिति ध्येयम् । परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वादिति । नच—परमार्थसत्त्वस्यैव तादात्म्येनैव हेतुत्वसम्भवादन्यांशवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; नव्यमते धूमप्रागभाववदवैयर्थ्यात् । आस्तां वा तस्यैव हेतुत्वे तात्पर्यम् । नच—स्वरूपासिद्धिरिति—वाच्यम्; अबाध्यत्वव्यापकयत्किञ्चिद्दीविषयत्वस्यैव परमार्थसत्त्वरूपत्वेन तस्यैव पक्षत्वात् । श्रुतितात्पर्यविषयत्वेति । श्रुतिनिष्ठशक्त्यधीनप्रमाविषयत्वैत्यर्थः । स्वर्गसाधनयागादिनिष्ठे तादृशधीविषयत्वे साध्यवैकल्यात्—पारमार्थिकत्वेनेति । अबाध्यत्वव्यापकेत्यर्थः । स चोक्तविषयत्वविशेषणम् । तादृशविषयत्वं च परमते 'विश्वं सत्य'मित्यादिश्रुतिजन्यधीविषयत्वम्, मन्मते तु 'तत्त्वमसी'-त्यादिश्रुतिजन्यधीविषयत्वम्, पक्षदृष्टान्तयोरभेदस्तु न दोषः; पक्षतादृष्टान्ततावच्छेदकभेदात् । एतदित्यादि । पटान्तरप्रतियोगिकात्यन्ताभावे सिद्धसाधनात् पक्षे—एतदिति । तन्त्वन्तरनिष्ठत्वस्य सिद्धत्वात् साध्येऽप्येतदिति । पटान्तरप्रागभावे व्यभिचारात् हेतावेतदिति । पटेति व्यक्तिविशेषपरिचायकम्, नतु हेतौ प्रविष्टम् । पक्षत्वे त्विति । तस्य पक्षत्वे हेतावपि तत्पट एव निवेश्यः; अन्यथा स्वरूपासिद्धेः । तथाचानादीति व्यर्थत्वान्न देयमिति भावः । उद्देश्यत्वादिति । नचैवं—पक्षे एतदिति व्यर्थमिति—वाच्यम्, तद्व्यक्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वेनैवास्मिन् कल्पे पक्षत्वेन पटत्वेनानिवेशात् । व्यधिकरणेति । एतत्पटत्वान्येत्यर्थः । तेनोभयत्वाद्यवच्छिन्नाभावमादाय न सिद्धसाधनम् । ननु तत्पटप्रागभावस्तत्त्ववच्छिन्नचैतन्याविद्ययोरेव वर्तते, नतु तत्तन्तौ; सिद्धान्ते तस्य तत्पटानुपादानत्वात्, तथाच तत्र तत्तन्तुनिष्ठत्वाभावाद्यभिचारस्तत्राह—तन्तुशब्देनेति । तत्तन्तुशब्देनेत्यर्थः । पटोपादानेति । तत्पटोपादानेत्यर्थः । प्रागेवेति । चित्सुखाचार्यास्त्वित्यादिग्रन्थे इति शेषः । यद्वेत्यादि । अयंशब्दाथस्य विवरणं—समवायेत्यादि । समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्यर्थः । एतत्पटेति । एतत्पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्यर्थः । तत्तन्तुनाशजन्ये तत्पटनाशे व्यभिचाराद्धेतावत्यन्तेति । नाशानाशपटव्यक्तिनिवेशे तु तन्न देयम् । वस्तुतस्तु—अत्यन्ताभावत्वान्यभागवैयर्थ्यापत्त्या अत्यन्ताभावत्वं तत्पटव्यक्त्यभावत्वं चेति हेतुद्वयम् । आद्ये तत्तन्तुत्वात्यन्ताभावस्यापि पक्षसमत्वेन तत्राव्यभिचारात् । तत्पटपदस्य नाशानाशपटव्यक्तिपरत्वात्तन्तुनाशजन्ये पटनाशे द्वितीये न व्यभिचारः । अव्याप्येत्यादि । अव्याप्यवृत्तित्वमादाय सिद्धसाधनादेवार्णाय सत्यन्तम् । उक्तेति । ब्रह्मप्रमान्याबाध्येत्यादिपरकीयाऽऽद्यनुमानोक्त्यर्थः । स्वसमानाधिकरणेत्यादि । सामानाधिकरण्यं प्रतियोगिता चेत्युभयसंबन्धेनात्यन्ताभावः साध्यः । उक्तपक्षतावच्छेदकसमानाधिकरणधर्मं स्वप्रतियोगितावच्छेदकत्वं स्वाश्रयनिष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेदकत्वं चेत्युभयसम्बन्धेनात्यन्ताभावः साध्य इति तु निष्कर्षः । तेन स्वपदार्थस्य पक्षदृष्टान्तोभयसाधारण्याभावेन बाधसाध्यवैकल्यादेर्नापत्तिः, न वोभयत्वावच्छिन्नाभावादिकमादाय सिद्धसाधनम् । व्यभिचार इति । तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेनाधिकरणाप्रसिद्ध्या नोक्तसाध्यवरवं विश्वाभावत्वविशिष्टरूपेण न हेतुमत्वं चेति भावः । शुद्धे ब्रह्मणि व्यभिचारः, विश्वाभावत्वोपहिते वा । नाद्यः; तत्र हेत्वभावादित्याह—तस्येति । अभावादिति । एवंचाभावमात्रस्य ब्रह्मणि व्यभिचारित्वात् आत्मत्वप्रतियोगिकत्वविशेषणं दत्तमिति भावः । मिथ्यात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन । अत्यन्ताभावप्रतियोगितया स्वाधिकरणब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया ।

भावात्, अतिरिक्तत्वे तस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितया साध्यस्यैव सत्त्वात् । नच—अत्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावे तत्प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वासिद्धिरिति—वाच्यम्; अभावे अभावप्रतियोगित्वस्य भावगताभावप्रतियोगित्वाविरोधित्वात्, प्रागभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सर्वसिद्धत्वात् । उपपादितञ्चैतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे । अत्रचाव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणशब्देनैकदेशावच्छेदेनाविद्यमानत्वं पक्षविशेषणं विवक्षितम् । एतेन—स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वोक्तौ बाधः । अवयववृत्तित्वानधिकरणत्वोक्तौ घटादीनामपक्षत्वापत्तिरिति दूषणद्वयमपास्तम् । अनात्मत्वहेतुस्तु जडत्वहेतुव्याख्यानेनैव व्याख्यातः । (२६) अत एव नित्यद्रव्यान्यद्रव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्तपक्षतावच्छेदकवत्, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवदित्यपि साधु । दृष्टान्तश्चायं परीत्या । स्वमते तु शुक्तिरूप्यवदित्येव । नच—स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे अत्यन्तासत्त्वापातः; तद्वैलक्षण्यप्रयोजकाभावादिति—वाच्यम्; उत्पत्तिनिवृत्त्योरन्यतरप्रतियोगित्वेन परिहारात् । (२७) आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, आत्माप्रतियोगित्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत् । नच घटपटसंयोगे व्यभिचारः; हेतुमत्तया निर्णीते अङ्कुरादिव साध्यसन्देहस्यादोषत्वात् । एवमन्येऽपि प्रयोगा यथोचितमारचनीया विपश्चिद्विरिति दिक् 'हेतवोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः । अल्पाः परस्य दृष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम् ॥ अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलावलं चात्र परीक्ष्य यत्नात् । प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव ॥' इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नन्वेवं विश्वस्य सत्यतापत्तिः; विरुद्धयोरेकनिषेधे अपरस्य सत्यतानियमादिति शङ्कते—नचेति । अत्यन्ताभाव इति । बोध्य इति शेषः । मिथ्यात्वासिद्धिरिति । निषेध्यस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनि मिथ्यात्वासिद्धिरित्यर्थः । भावगतेति । प्रतियोगिगतेत्यर्थः । मिथ्यात्वे मिथ्यात्ववादे । एकदेशेत्यादि । दैशिकसम्बन्धावच्छिन्ना किञ्चिदवच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य तदन्यत्वं विवक्षितमित्यर्थः । घटादेः कपालाद्यवच्छेदेन कालवृत्तित्वादाद्यमवच्छिन्नान्तम् । बाध इति । उक्तप्रतियोगित्वाभाववत्तुक्तप्रतियोगित्वसाधने बाध इत्यर्थः । अपास्तमिति । नच—'तन्तुषु दशासु न पटः, किंतु दशान्यभागे' इत्यादिप्रतीतेः पटादेर्देशावच्छिन्नवृत्तिकत्वस्योक्तरूपस्य सत्त्वात् अयुक्तमिति—वाच्यम्; उक्तप्रतीतेः प्रमात्वे 'एकतन्तौ पटे न पटत्वम्, किंतु सर्वेषु पटारम्भकतन्तुष्वित्यादिप्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः । यदि चा'यं पटःसर्वेभ्य एतेभ्यस्तन्तुभ्यो जातः, न त्वेकतन्तुने'ति द्वितीयप्रतीतेर्विषय इत्युच्यते, तदा प्रथमप्रतीतेरपि दशाभागावच्छिन्नात् तत्तन्तुसंयोगात् पटो जातः, किंतु तदन्यभागावच्छिन्नादिति विषय इति विभावनियम् । नच—तथापि कपालादौ तन्नाशकालावच्छेदेन घटादेरसमवायादन्यकालावच्छेदेनैव समवायात्तस्यापक्षत्वापत्तिरिति—वाच्यम्, यदधिकरणनिरूपिता वृत्तिर्निवेश्या, तस्याधिकरणस्य नाशप्रागभावकालीनेनावच्छेदकेनावच्छिन्ना वृत्तिर्यस्य तदन्यत्वस्य निवेशात् । केवलान्वयीति । अत्यन्ताभावाप्रतियोगीत्यर्थः । अधिष्ठानचिद्रूपात्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे मानाभावात्तस्य केवलान्वयिनः प्रतियोगित्वमनात्ममात्रेऽस्तीति बोध्यम् । पदार्थत्वात् ब्रह्माविषयकविषयत्वात् । ब्रह्मणि व्यभिचारादविषयकान्तम् । स्वमते त्विति । आकाशादेः स्वमते वृत्तिमत्त्वात् उक्तानुमानात् पूर्वं साध्यवत्वेनासिद्धत्वात् स्वमते स न दृष्टान्तः । तथाच नित्यद्रव्यान्यदिति न देयमिति भावः । शुक्तिरूप्येति । ननु—शुक्तिरूप्यात्यन्ताभावस्य शुक्लवच्छिन्नचिद्रूपतदधिष्ठानरूपत्वेन घटादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वान्न केवलान्वयित्वमिति—चेन्न; विशिष्टचित्तः केवलचिदनन्यत्वपक्षे दोषाभावात् । तत्पक्षे हि शुक्तिरूप्याद्यधिष्ठानत्वं शुद्धचित्येव; तदवच्छेदकं शुक्त्यादिकमिति स्वीकारात् । स्वरूपेणेति । उक्त इति शेषः । तद्वैलक्षण्येति । अत्यन्तासद्वैलक्षण्येत्यर्थः । परिहारात् उक्तप्रयोजकाभावपरिहारात् । निवृत्तिप्रतियोगित्वमात्रं भावाद्वैतमते पञ्चमप्रकाराविद्यानाशे नासद्वैलक्षण्यसाधकम्, उत्पत्तिप्रतियोगित्वमनादौ न तत्साधकम्; अत उत्पत्त्यादिविशेषप्रतियोगित्वं तत्साधकं बोध्यम् । आत्माप्रतियोगिकत्वादिति । नच—अप्रतियोगिकत्वमात्रस्य ब्रह्मनिष्ठस्य साधकत्वसम्भवेनात्मेति व्यर्थमिति—वाच्यम्; ब्रह्मणो दृश्याभावत्वेन सत्प्रतियोगिकत्वात्तन्मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानपूर्वमसिद्धत्वात् परं प्रति दृष्टान्तत्वात्सम्भवात् स्वनिष्ठप्रतियोगित्वानिरूपकत्वसम्भवेनात्मन एव हेतुत्वसम्भवाच्च । अदोषत्वादिति । साध्याभाववत्त्वांशे संशयरूपस्य व्यभिचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकतर्काभावसहकृतस्यैव व्याप्तिग्राहविरोधित्वम्, न तूक्ततर्कसहकृतस्य; सन्दिग्धसाध्यवत्पक्षकानुमानमात्रलोपापत्तेः । प्रकृते च तर्का वक्ष्यन्ते । तथाच न तद्विरोधीति भावः । बहवश्चेति । तथाच बहूनामप्रामाण्यकल्पनामपेक्ष्य परकीयावपहेतुष्वेवाप्रामाण्यं युक्तमिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विशेषतो मिथ्यात्वस्यानुमानानि ॥

अथागमोवाधोद्धारः ।

ननु—अस्तु शब्दवाधः, तथाहि—‘विश्वं सत्यं’ ‘यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं’ ‘याथातथ्यतोऽर्थान्वयदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः’ इत्यादिश्रुतिभिः ‘असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर’मित्यादिस्मृतिभिः ‘नाभाव उपलब्धेः’ वैधर्म्याच्च ‘न स्वप्नादिव’दित्यादिसूत्रैश्च विश्वस्य सत्यत्वप्रतिपादनात् इति—चेन्न; श्रुतेस्तत्परत्वाभावात् । तथाहि—‘विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च न प्रमिणन्ति व्रतं वाम् । अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नो अन्नं युजेव वाजिना जिगात’मिति ऋक्संहिताद्वितीयाष्टकावक्यस्यायमर्थः । हे इन्द्रब्रह्मणस्पती ! मघवाना मघवानौ मघमिति धननाम, धनवन्तौ मघवन्ताविति वा । विश्वं सर्वं । सत्यं कर्म, सद्भूतत्वात्, फलस्यावश्यंभावित्वाद्वा । तादृशं कर्म । युवयोरित् युवयोः । इत् इत्थमवधारणे वा । युवामेवोद्दिश्य सर्वाणि कर्माण्यनुष्ठेयानीत्यर्थः । आपो व्यापनशीला देवताः । चनेत्येतत्पदद्वयसमुदायः, ऐकपद्यं त्वध्यापकसंप्रदायसिद्धम् । वां युवयोर्व्रतं संकल्पं कर्म वा । न प्रमिणन्ति न हिंसन्ति (मीड् हिंसायां, क्रैयादिकः,) किंत्वनुमोदन्त इति यावत् । नोऽस्माकं हविर्दध्यादिकं अन्नं च पुरोडाशादिकं च । अच्छ अभिलक्ष्य वाजिना वेगवन्तावश्वाविव । युजा युक्तौ सन्तौ । जिगातं देवयजनमागच्छतम् । (जिगातिर्गतिकर्मा जौहोत्यादिकः) अन्नं घासं प्रति अश्वाविवेति वा । यद्वा—हे इन्द्राब्रह्मणस्पती ! विश्वं सत्त्वेन परिदृश्यमानं जगत्, युवयोरित् युवयोरेव, युवाभ्यामेव सृष्टम् । अथवा—युवयोरेव विश्वं सर्वं स्तोत्रं, सत्यं यथार्थम् । यद्यत् गुणजातं स्तुत्वा प्रतिपाद्यते तत्सर्वं युवयोर्विद्यमानमेव न त्वारोपितमित्यर्थः । आपो व्यापनशीला देवताः, अबुपलक्षितानि पञ्चभूतानि वा । युवयोर्व्रतं जगदुपादानाख्यं कर्म न हिंसन्ति । इत्थं महानुभावौ युवां जिगातम् । शेषं पूर्ववद्वाख्येयम् । तथाच स्तुतिपरतया नास्य विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम् ॥ ‘शाकमना शाको अरुणः सुपर्ण आयो महः शूरः सनादनीलः । यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता’ इत्यस्याप्यष्टमाष्टकस्थस्येन्द्रस्तुतिपरतया न विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम् । तथाहि—शाकमना शाकैव शाकमा तेन शाकमना, वलेन । शाकः शक्तः, स्वशक्त्यैव सर्वं कर्तुं शक्त इत्यर्थः । नहीन्द्रस्य सहायान्तरापेक्षास्ति इन्द्रत्वादेव । अरुणः अरुणवर्णः कश्चित् शोभनवर्णः पक्षी आगच्छतीत्यध्याहारः; उपसर्गश्रुतेः । यो महो महान् शूरः विक्रान्तः, सनात् पुराणः, अनीलः अनीलः नीलस्याकर्ता । न हीन्द्रो अग्नवत् कुत्रचिदपि यज्ञे पक्षे निकेतनं करोति । एवं सुपर्ण इत्यादिरूपकेणेन्द्रमाह । स इन्द्र इदमिदानीं कर्तव्यमिति यच्चिकेत जानाति, तत्सत्यमित्सत्यमेव । न मोघं न व्यर्थम् । सः स्पार्हं स्पृहणीयं, वसु निवासार्हं, धनं जेता जयति । शत्रुभ्यः सकाशात् । उत अपि, दाता ददाति च स्तोत्रभ्यः । जेता दातेति तृजन्तेन ‘न लोके’त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । एवमेवान्यदपि सत्यत्वप्रतिपादकमुन्नेयम् । ‘याथातथ्यतोऽर्थान्वयदधा’दित्यपि वाक्यं न प्रपञ्चसत्यत्वे प्रमाणम् । तस्य पूर्वसृष्टप्रकारेण सर्जनमर्थः ननु जगत्सत्यत्वं जगत्सर्जनगतसत्यत्वं वा ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जगदाहुरिति । सत्यभिन्नं जगदिति मतस्यासुरलोकेः सत्यं जगदिति मतं शिष्टानामित्यभिमानः । कर्मसद्भावत्वादिति । ‘यो वै धर्मः सत्यं चैत’दित्यादिश्रुतिषु धर्मरूपे कर्मणि सत्यपदप्रयोगात् प्रकृतेऽपि सः; सतो ब्रह्मणो वेदाद्वा भव इति व्युत्पत्तेरिति भावः । ‘सत्यं ज्ञान’मित्यादिश्रुतेरिव ‘विश्वं सत्य’मित्यादिश्रुतेरपि स्वार्थे तात्पर्यम्; ‘आपश्च न प्रमिणन्ती’त्यस्योपपत्तिरूपस्य तात्पर्यग्राहकत्वात्, व्यापनशीला देवता अपि विश्वं सत्यमिति प्रमिण्वन्ति तात्त्विकतया जानन्तीति हि तदर्थं इति परेषामुक्तिमन्यथा कर्तुं चनेत्येतत्पदद्वयतया व्याचष्टे—चनेत्येतदिति । सिद्धमिति । यथा द्वितीयाष्टकस्थस्यैव “ददाति मह्यं यादुरी”त्यादेर्यादुरीत्यत्राध्यापकसंप्रदायसिद्धे ऐक्ये सत्यपि दुरी आदरवती या मह्यं ददातीति भिन्नपदत्वेन व्याख्यानं तथा प्रकृतेऽपीति भावः । अध्याहार इति । नच—आहोऽभिव्यास्यर्थकत्वसम्भवादध्याहारो न युक्त इति—वाच्यम्; अभिव्यासेः कर्माभावेन साकाङ्क्षत्वापत्तेः । नच—‘यच्चिकेत तदभिव्याप्य सत्यं भवेदित्यर्थं इति—वाच्यम्; यद्योगप्राथम्यबलादेव तादृशार्थलाभेनाहो व्यर्थत्वापत्तेः । स्पार्हं वसु अभिव्याप्य जेतैत्यर्थस्तु न युक्तः; अतिव्यवधानेनासक्यभावात् । यथा तथेति । यद्यपि दृष्ये न्यायासृते ग्रन्थे याथातथ्यत इति ईशावास्योपनिषद्भववाक्यं धृतं, तथाप्यर्थतौल्येन श्रुत्यन्तरस्थं यथातथेति धृतम् । पूर्वसृष्टेति । ननु—याथातथ्येत्यस्य नायमर्थो युक्तः तथाशब्दस्यैवाभावात्, किंतु यथार्थं तु यथातथमित्यमरोक्तेः यथातथशब्दस्य सत्यार्थकत्वेन स्वार्थिकतद्वितान्तत्वेन च सत्यार्थकत्वमिति—चेन्न; तथ्यशब्दस्यापि सत्यार्थकत्वेन याथेत्यस्य

यत्र च स्तुत्यादिपरत्वं नास्ति, तत्रापि प्रत्यक्षसिद्धानुवादकतया 'अग्निहिंस्य मेषज'मित्यादिवाक्य-
वन्न तत्परत्वम् । नच—त्वन्मते सर्वत्र ब्रह्मसत्त्वस्यैव स्फुरणात्तदतिरिक्तस्य कालत्रयावाध्यत्वरूपस्य
घटादिसत्त्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तेः तद्वोधकत्वेन श्रुतेर्नानुवादकत्वमिति—वाच्यम्; इतरसत्त्ववाच-
पुरस्सरत्वात् ब्रह्मसत्त्वस्फुरणाभ्युपगमस्य तत्रैव सत्यादिपदप्रवृत्तिस्वीकारेण तदतिरिक्तविश्वसत्य-
त्वस्य शाब्दबोधाविषयत्वात् तदादायानुवादकत्वापरिहारात् । अथ—'पृथिवी इतरभिन्ना' 'न हिंस्या-
त्सर्वा भूतानी'त्यादौ घटादावेकदेशे प्रत्यक्षेण, ब्राह्मणादावेकदेशे वाक्यान्तरेण, विधेयसिद्धावपि
सर्वत्रासिद्धत्वात् यथा नानुवादकत्वं तथा विश्वमात्रसत्यत्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वात् नानुवादकत्व-
मिति—मन्यसे, मैवम्; दृष्टान्ते हि पृथिवीत्वं हिंसात्वं च एकोऽनुगतो धर्म इति तदवच्छेदेन
विधेयस्याप्राप्तत्वेन तत्र नानुवादकत्वं युक्तम्, इह तु विश्वत्वं नाम नैको धर्मोऽस्ति, किंतु विश्वशब्दः
सर्वनामत्वात्तेन तेन रूपेण घटपटादीनामुपस्थापकः । तेषु च प्रत्येकं सत्त्वं गृहीतमेवेति कथं
नानुवादकत्वम्; प्रकारवैलक्षण्यभावात् । नच—एकशाखास्थविधिवाक्यैकार्थशाखान्तरस्थविधि-
वाक्यस्य पुरुषान्तरं प्रतीव येन पुंसा वादिविप्रतिपत्त्यादिना घटादिसत्ता प्रत्यक्षेण न निर्णीता तं
प्रत्यर्थवत्त्वेन नानुवादकत्वमिति—वाच्यम्; एवं सत्यनुवादस्थलस्यैवाभावप्रसङ्गात् । नच सर्वा-
विवादस्थलमेवोदाहरणम्; सर्वाविवादस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् । पुरोवादपूर्वकत्वादनुवादस्यात्रायं
पुरोवाद इत्यस्यैवाभावात् न शाखान्तरस्थवाक्यस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः । यत्तु—वृहदारण्यकभाष्ये
देहभिन्नात्मबोधिकायाः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशंक्य वादिविप्र-
तिपत्तिदर्शनादित्यादिना तत्परिहृतम्; तथाच प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वग्राहकत्वेऽपि वादिविप्रतिपत्तिनिरा-
सार्थकत्वेन नानुवादकत्वं प्रकृतेऽपीत्युक्तम्; तदयुक्तम्; भाष्यार्थानवबोधात् । तथाहि—तत्र
वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन देहव्यतिरिक्तत्वेनात्मनः प्रत्यक्षतैव नास्ति । अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिन-
श्चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्, नतु वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनास्तीत्यादेस्सार्थकत्वम्,
अननुवादकत्वं वा । तथाचोक्तं तत्रैव—तस्माज्जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्ति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यर्थत्वापत्तेः प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वे व्यर्थत्वापत्तेश्च । तस्मात् भावार्थकस्तद्धितः । ल्यब्लोपपञ्चम्यास्तसिलप्रत्ययः ।
तथाच पूर्वं सृष्टा अर्था यथा तथाभावं प्रतिसन्धाय व्यदधादिति वाक्यार्थः । किञ्च 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू'रिति
पूर्वभागस्य त्वन्मते वाक्यार्थेऽनुपयोगः, मन्मते तु, यतः कविः पूर्वकान्तं सर्वं दृष्टवान्, यतश्च मनीषी मनसा ईष्टे
ऊहापोहकुशलः, यतश्च पूर्वसृष्टविरुद्धमिच्छतां परिभवसमर्थः, यतश्च स्वयमन्यनैरेपक्षेण जगद्भवनसमर्थः, ततो हेतोः
पूर्वसृष्टभावं प्रतिसन्धाय जगत्सृष्टवानिति सकलं वाक्यं युक्तार्थकम् । यथातथार्थानिति वाक्येऽपि त्वन्मते यथेति
पदं व्यर्थम्; तथाशब्दस्य सत्यार्थकत्वेऽपि यथाशब्दस्य तदभावात्, तथाशब्दस्य तु तथ्यपदप्रकृतित्वेन तथागतेत्य-
स्मिन् बौद्धनामनि तथाशब्दस्य सत्यार्थकतायाः प्रामाणिकैरुक्तत्वात् । अनुवादकतयेति । उपलक्षणमेतत् । अद्वैत-
श्रुत्यनुमानादिविरुद्धार्थकतयेत्यपि बोध्यम् । न तत्परत्वमिति । प्रत्यक्षादिसिद्धव्यावहारिकसत्त्वानुवादकत्वसम्भवे
अद्वैतश्रुत्यादिविरुद्धार्थविश्वतार्विकत्वपरत्वकल्पना न युक्ता; नहि विश्वस्य तार्विकत्वं विना किञ्चिदनुपपन्नमिति
भावः । सर्वनामत्वात् बुद्धिविषयविशिष्टशक्तत्वात् । तथाच यथा तदादेः बुद्धिविषयविशिष्टशक्तत्वेऽपि घटत्वादि
विशेषरूपं स्वरूपतो विषयीकुर्वति शाब्दानुभवे हेतुत्वम्; अन्यथा तादृशसंशयादिनिवृत्तिस्तादृशबोधान्न स्यात्, तथा
विश्वशब्दस्यापि घटत्वादिकं स्वरूपतो विषयीकुर्वति बोधे हेतुत्वम् । अत एव 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा' वित्यादौ पुत्रत्वा-
दिनानाधर्माणामुद्देश्यतावच्छेदकत्वेनोद्देश्यभेदेऽप्येकपदार्थत्वाच्च वाक्यभेद इति वार्तिकादाबुक्तम् । कथमिति ।
नच—घटाद्यंशे प्रत्यक्षेण सत्त्वप्राप्तावपि परमाण्वाद्यंशे तदप्राप्त्या नानुवादकत्वमिति—वाच्यम्; तावतापि विध्यनु-
वादवैषम्यस्यापत्तेरेकस्यैव विश्वपदस्यांशभेदेन विधायकत्वानुवादकत्वयोः स्वीकारात् । हिंसात्वावच्छेदेनानिष्टसाधन-
त्वसम्बन्धस्तु न पूर्वं प्राप्त इति वैषम्यम् । तदिदमुक्तम्—प्रकारवैलक्षण्यभावादिति । एकशाखेत्यादि ।
इत्यादौ स्वाध्यायशब्दितशाखायाः एकवेदस्थशाखान्तरासाहित्यरूपैकत्वविशिष्टाया एवाध्ययनस्य विहितत्वेनैकवेदस्थ-
शाखाद्वयगतवाक्ययोरेकपुरुषेणाध्ययनस्याविहितत्वात् । तथाच तत्र यथा तादृशवाक्ययोः पुरुषभेदं प्रति बोधकत्वेन
नानुवादकत्वमिति शाखान्तराधिकरणे द्वितीयस्य निर्णीतम्, तथा वादिविप्रतिपत्त्यादिभिरनिर्णीतघटादिसत्ताकं पुरुषं
प्रति प्रवृत्ता विश्वसत्त्वश्रुतिर्नानुवादिकेत्यर्थः । अशक्यत्वादिति । 'अग्निहिंस्य'त्यादावपि स्वभाववादादौ हिमनिव-
र्तकत्वादावश्यादिनिष्ठे विन्नादात् । अत्रायं पुरोवाद इत्यस्येति । अत्र तद्वेदीयैकशाखाऽध्येतृपुरुषे अयं तद्वेदीय-

परिहारविशेषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तत इति । ननु—चातुर्मास्यमध्यपर्वणोः 'द्वयोः प्रणयन्ती'ति वाक्यस्य चोदकप्राप्ताग्निप्रणयनव्यतिरिक्ताग्निप्रणयनविधायकत्ववत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकसत्त्वविलक्षणत्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्त्वप्रमाणकत्वं प्रकृतेऽस्त्विति—चेन्न; त्रैकालिकसत्त्वनिषेधकश्रुतिविरोधेन विश्वसत्यत्वश्रुतेस्तैकालिकसत्त्वपरत्वाभावात् । नच—वैपरीत्यमेव किं न स्यात् ? विनिगमकाभावादिति—वाच्यम्; तात्पर्यान्यथानुपपत्तिगतिसामान्यानामेव विनिगमकत्वात् । अद्वैतश्रुतिर्हि षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेता । तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिङ्गम् प्रामाण्यशरीरघटकमर्थनिष्ठमज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्त्वं च । त्रिविधं तु शब्दनिष्ठमतिप्रसङ्गवारकमुपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यं अभ्यासः अर्थवादश्चेति । तत्र शब्दनिष्ठलिङ्गत्रये तावन्न विवादः; सर्वासामेवोपनिषदामेवं प्रवृत्तत्वात् । मानान्तरासिद्धतया मोक्षहेतुज्ञानविषयतया च अज्ञातत्वं सप्रयोजनत्वं च निर्विवादमेव । अबाधितत्वमात्रं सन्दिग्धम् । तच्चान्यथानुपपत्तिगतिसामान्याभ्यां च निर्णीयते । नहि सर्वप्रपञ्चनिषेधरूपमद्वैतं व्यावहारिकम्, येन तत्र श्रुतेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं स्यात्; अतस्तत्र तात्त्विकमेव प्रामाण्यम्, द्वैतसत्यत्वं तु व्यावहारिकम्; अतस्तत्र न श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यम्; परस्परविरुद्धयोर्द्वयोस्तात्त्विकत्वायोगात्, वस्तुनि च विकल्पासंभवात्, तात्त्विकव्यावहारिकप्रामाण्यभेदेन च व्यवस्थोपपत्तेः, अतत्परत्वेनावधारितस्य विश्वसत्यत्ववाक्यस्यैवान्यथा व्याख्यातुमुचितत्वात् । तथाहि—चतुर्धा हि सामानाधिकरण्यम्; अध्यासे 'इदं रजत'मित्यादौ, बाधायां 'स्थानुः पुमानि'त्येवमादौ विशेषणविशेष्यभावेन 'नीलमुत्पल'मित्यादौ अभेदेन 'तत्त्वमसी'त्येवमादौ । अत्र च बाधाया-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शास्त्रान्तरस्थवाक्यरूपो वादः पुरः पूर्वं अज्ञाततादशायामग्निहोत्रादेर्ज्ञापक इत्यस्यार्थस्येत्यर्थः । चातुर्मास्यमध्यमपर्वणोरिति । वैश्वदेवं वरुणप्रधासाः साकमेधाः शुनासीरीयं चेति पर्वचतुष्टयस्य प्रयोगचतुष्टयरूपस्य चातुर्मास्यव्यकर्मणः मध्यमपर्वणोरित्यर्थः । चातुर्मास्यप्रकरणे श्रुतम्—'द्वयोः प्रणयन्ति द्वाभ्यामेति, ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रधासाश्च साकमेधाश्चेति । तत्र सधर्मकं यत् सौमिकमग्निप्रणयनं, तदेव विधीयते; प्राकृतस्याधर्मकस्याग्निप्रणयनस्य विधाने वाक्यस्य वैयर्थ्यात्, तस्य चोदकेनैव प्राप्तिसंभवात् । अत एव सौमिकप्रणयने उत्तरवेदेः सत्त्वेन तस्या वैश्वदेवादावपि प्रसक्तौ 'न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपन्ति' 'न शुनासीरीये' इति तत्पर्युदासः सङ्गच्छते । तेन तयोर्द्वयवेदिभिन्नाः सौमिकप्रणयनधर्माः कार्याः । अथवा—अतिदेशप्रवृत्तेः पूर्वं प्राकृतमेवाग्निप्रणयनमत्र विधीयते । तत्प्रयोजनं तूत्तरवेदिरूपगुणस्य मध्यमपर्वणोरेव प्राप्स्येतरपर्वणोक्तगुणपरिसंख्या । एतद्वाक्याभावे हि पर्वचतुष्टयेऽपि प्राकृताग्निप्रणयनप्राप्त्या तदुद्देशेनोत्तरवेदिविधानं पर्वचतुष्टयेऽपि स्यात् । एतद्वाक्यसत्त्वे तु तेनोपदेशेन मध्यमपर्वद्वयीयप्रणयनस्यैव विशिष्योपस्थितत्वात्तत्रैव तदिति प्राप्ते, न सौमिकम्; तस्यानुपस्थितस्य विनियोगासंभवात् । नापि प्राकृतं; तस्याहवनीयोत्पादकत्वेनाहवनीयापादानकत्वासंभवात् । 'आहवनीयात् द्वावग्नी प्रणयतः अध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता चे'ति शास्त्रान्तरवाक्ये च प्राकृतप्रणयनकालोत्तरमाहवनीयापादानकप्रणयनं विधीयते । तस्मादप्राकृतमसौमिकं प्रणयनान्तरं विधीयते । तच्च मध्यमपर्वणोरेव; द्वाभ्यामित्याद्यर्थवादात् । तत्र च 'उपात्र वपन्ती'ति वाक्येन 'उत्तरवेद्यामग्निं निदधाती'त्यनेन चोत्पत्तिविनियोगाबुत्तरवेदेर्विधीयते । प्रथमोत्तमयोस्तत्प्रतिषेधवाक्यं तु नित्यानुवाद इति सप्तमवृत्तीये स्थितम् । तथाच तत्र यथा प्राप्तप्रणयनाद्विलक्षणं प्रणयनं विधीयते, तथा विश्वसत्त्वश्रुत्या प्रत्यक्षप्राप्तसत्त्वाद्विलक्षणतात्त्विकसत्त्वं बोध्यत इति समुदायार्थः । गतिसामान्येति । सर्ववेदान्तवाक्यानामद्वैतावगतिजनकत्वेन समानतेत्यर्थः । 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' इति वृद्धोक्तौ उपक्रमोपसंहारपदाभ्यां विचार्यवाक्यस्याद्यन्तभागयोरेकार्थपर्यवसानं लक्ष्यते । अभ्यासः अनन्यपरं पुनः श्रवणम् । अर्थवादः स्तुतिनिन्दान्यतरबोधकवाक्यम् । एतन्नयं शब्दघटितत्वाच्छब्दनिष्ठम् । तत्राद्यस्यैकार्थतात्पर्यनिर्णायकत्वेन लिङ्गत्वम्; तात्पर्यविषयत्वेन सन्दिग्धानां बहूनां मध्ये यस्मिन्नर्थे आद्यन्तभागयोः पर्यवसानं, तस्मिन्नेव तात्पर्यनिर्णयात्, अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात् । क्वचिच्चानुवादत्वादिशङ्कापसारकतयापि तस्य लिङ्गत्वम्; यदि हि तस्मिन्नर्थे वाक्यमनुवादः स्यात्, तदोक्तपर्यवसानं व्यर्थं स्यादिति युक्तेः । द्वितीयं तु समिदादिवाक्येषु यद्यपि विलक्षणानाकर्मविधाने तात्पर्यग्राहकम्, विहितविधानायोगात्; तथापि सिद्धार्थविषयकं सदेकार्थतात्पर्यज्ञापकम्, अन्यथा पुनःश्रवणवैयर्थ्यात् । तस्मादादरज्ञापनद्वारा तस्य तात्पर्यज्ञापकत्वम् । तदुक्तं भामत्याम्—'अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथा अहो दर्शनीया अहो दर्शनीये'ति । आदरश्च यद्यपि प्राशस्त्यरूपोऽभ्यस्त्यमानस्यार्थस्य विधेयत्वानुमानद्वारा तात्पर्यविषयत्वं ज्ञापयति; अर्थवादोऽपि प्राशस्त्यज्ञापनद्वारा तथैव तज्ज्ञापकः; तथाप्यर्थवादबोध्यं प्राशस्त्यं बलवद्विष्टानकत्वरूपम्, अभ्यासबोध्यं तु अर्थान्तरादुत्कृष्टत्वरूपमिति नाभ्यासार्थवादयोरर्थेक्यम् ।

मध्यासे वा सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सत्यत्वबोधकश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिबाधकत्वम् । ननु—आत्मन आनन्दत्वबोधिका श्रुतिरपि 'सुखं सुप्तोऽसी'ति साक्षिप्रत्यक्षसिद्धानन्दानुवादिनी सत्त्वश्रुतिवद्भवेत्—इति चेन्न; साक्षिण उपहितानन्दविषयत्वेन श्रुतेश्च निरुपाधिका-नन्दविषयत्वेन भिन्नविषयत्वादनुवादत्वायोगात् । तथा हि स्वरूपानन्दो गृह्यते । स्वरूपं चाज्ञानोपहितमेव साक्षिविषयः । ननु—'तत्त्वमसी'त्यादौ नवकृत्वोऽभ्यासवत् पिपासितस्य जलगोचर-प्रमाणसंप्लववदैक्ये षड्विधतात्पर्यलिङ्गवद्भावरूपाज्ञाने प्रत्यक्षसिद्धे 'तम आसी'दित्यादिश्रुतिवत् सत्त्वश्रुतिर्दाढ्यार्था—इति चेन्न; अशेषविशेषग्राहिप्रत्यक्षप्राप्ते तद्दाढ्यार्थमन्यानपेक्षणात् । पिपासितस्य शब्दलिङ्गानन्तरं जले प्रत्यक्षमपेक्षितम्, न तु प्रत्यक्षानन्तरं शब्दलिङ्गे । नच—तर्हि 'तम आसी'दित्यादेः न किञ्चिदवेदिषमिति प्रत्यक्षसिद्धानुवादादर्थार्थत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; 'तम आसी'दित्यस्य सृष्टिपूर्वकालसंबन्धित्वेनाज्ञानग्राहितया सुषुप्तिकालसंबन्धित्वेनाज्ञानग्राहकं प्रत्यक्षमपेक्ष्य भिन्नविषयत्वेनैव प्रामाण्यसंभवात् । ननु—'षड्विंशतिरस्य वङ्कयः' इति मन्त्रस्याश्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अपूर्वता प्रकृतवाक्यार्थधीविषये उक्तधीपूर्वमज्ञातत्वम् । फलमुक्तधियः प्रयोजनवत्त्वम् । उपपत्तिः उक्तधीविषय-स्याबाधितत्वम् । एतस्य तु त्रयस्य प्रमात्वघटकतया तात्पर्यं प्रति व्यापकतया लिङ्गत्वम्, यथा यज्ञोपवीतादिकं ब्राह्मण्यं प्रति । तत्राद्यमनुवादवाक्यस्य स्वार्थं प्रामाण्यवारणाय । द्वितीयं 'उत्ताना वै देवगवा' इत्यादेस्तद्वारणाय । तृतीयं 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादेः । नच—उत्तानादिवाक्यस्य निष्प्रयोजनार्थपरत्वे तदध्ययने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः स्वार्थं तात्पर्याभावेऽपि प्रामाण्यशरीरे प्रयोजनवत्त्वनिवेशो व्यर्थ इति—वाच्यम्; यादृशं ज्ञानं प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वारा साक्षाद्वा प्रमातुरिष्टप्रयोजकं तस्यैव प्रमात्वेन लोके व्यवहारेण निष्प्रयोजनस्याप्रमात्वात् । अतएव 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' तस्य 'ज्ञानमुपदेशः' 'व्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वा'दिति जैमिनिसूत्रे तथै-वोक्तम् । औत्पत्तिकः शब्दार्थयोः संबन्धः, ननु दोषवत्पुरुषकृतः सङ्केतः । अतस्तस्य धर्मस्य ज्ञानं ज्ञापकं वाक्य-मप्यौत्पत्तिकं निर्दोषत्वेनानादि । किञ्च तादृश उपदेशो व्यतिरेको बाधकज्ञानवत्त्वरूपेण प्रमाणवैधर्म्येण शून्यः । किञ्चानुपलब्धे अज्ञातेऽर्थे सप्रयोजने धर्मे उपदेशरूपत्वात्तद्वाक्यं प्रमाणमेवेति तदर्थो वार्तिकादावुक्तः । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतेति । अर्थनिष्ठमिति । प्रयोजनवद्दीविषयत्वविशिष्टरूपेणार्थस्यापि प्रयोजनवत्त्वं बोध्यम् । अतिप्रसङ्गेति । अद्वितीये इव सत्यकामत्वादिविशिष्टेऽपि ब्रह्मण्यबाधितत्वादित्त्रयं सम्भवति; श्रुतिबोधितत्वेनाबाधितत्वस्य उपासनाविषयत्वेन प्रयोजनवत्त्वस्य च सम्भवात्, अतस्तत्रापि तात्पर्यं प्रसक्ते अभ्यासा-देरद्वितीये विद्यमानत्वेन तत्रैव तात्पर्यम्; अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेरित्येवंरीत्या तस्य सगुणतात्पर्यातिप्रसङ्गवारकत्वमिति भावः । सर्वासामिति । छान्दोग्ये 'एकमेवाद्वितीय'मित्युपक्रमः, 'एतदात्म्यमिदं सर्व'मित्युपसंहारः, एतदात्म्य-मित्यादेर्नवधाऽऽवृत्तिरभ्यासः, 'येनाश्रुतं श्रुत'मित्याद्यर्थवादः । एवं श्रुत्यन्तरेऽपि द्रष्टव्यम् । अन्यथानुपपत्तीति । तात्पर्यान्यथानुपपत्तीत्यर्थः । ननु तात्पर्यस्य प्रमानुकूलशक्तिरूपत्वेऽपि तदन्यथानुपपत्त्या नाद्वैतस्य त्रिकालाबाध्यत्वं सिध्यति; प्रमात्वस्य व्यवहारकालाबाध्यत्वघटितत्वसम्भवात्, तथाच व्यावहारिकप्रामाण्येऽप्यद्वैतश्रुतिः कथं प्रत्यक्षादिबाधिका ? तत्राह—नहीत्यादि । रूपमुपलक्षितं व्यावहारिकं व्यवहारकालावच्छिन्नस्याबाध्यत्वस्याश्रयः । व्यवहारकालवृत्तिबाधस्याविषयत्वे सति बाध्यमिति यावत् । साक्षिस्वरूपस्याद्वैतस्योक्तव्यावहारिकत्वस्यासम्भवः; सर्वदैवाबाध्यत्वादिति भावः । अन्यथा व्याख्यानं प्रकटयति—तथाहीति । सामानाधिकरण्यं समानविभक्ति-कमिथस्साकाङ्क्षनामद्वयत्वम् । अध्यासे आधारारोप्योस्तादात्म्यबोधकनिष्ठं, यदाश्रिताज्ञानस्य यः परिणामस्तयो-स्तादात्म्यबोधकनामद्वयनिष्ठमिति यावत् । बाधायां बाध्यमानतादात्म्योपलक्षितस्याधिष्ठानस्य बोधकनिष्ठम् ॥ स्थाणुत्वेन पूर्वं ज्ञातः पुमानेवेत्यर्थकत्वात् । विशेषणविशेष्यभावेन उक्ततादात्म्यान्यतादात्म्यबोधकनिष्ठम्; अभेदेन शुद्धव्यक्तिमात्रबोधकनिष्ठम् । अध्यासे वेति । वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पे, बाधिते शुक्तिरूपादौ बाधायाम् । अबाधिते आकाशादौ त्वध्यासे । अथवा तत्त्वे साक्षात्कृते बाधायाम् । तत्पूर्वं त्वध्यासे इति भावः । उपहितमेवेति । उपहितविषयकस्य शुद्धविषयकत्वनियमपक्षेऽपि बाधकाभावे सत्येवोक्तनियमः । प्रकृते तु शुद्धानन्दस्यावृत्तत्वमेव बाधकम् । प्रत्यक्षप्राप्ते इति । प्रमात्वेन साक्षिसिद्धप्रत्यक्षप्राप्ते इत्यर्थः । सृष्टिपूर्वेति । 'नास'दित्यादिश्रुतौ तदानीमिति पदसत्त्वात् सृष्टिपूर्वकाललाभः । षड्विंशतिरित्यादि । 'अश्वरूपरो गोमृगस्ते प्राजा-पत्या' इत्यादिपञ्चत्रयमश्वमेधे श्रुतम् । तत्रैकप्रयोगत्वेन तत्रेणाग्निगुप्रेषे पठनीये अश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्कित्वादितरयोः प्रत्येकं षड्विंशतिवङ्कित्वात् पूर्वाधिकरणरीत्या समस्य वचने षडशीतिरेषां वङ्कय इत्यादिप्रयोगः प्राप्तः । तत्र 'चतु-

मेधे चोदकप्राप्तस्य 'चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो'रिति वैशेषिकमन्त्रेणापोदितस्य षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति वचनवत् प्रत्यक्षप्राप्तजगत्सत्त्वस्य मिथ्यात्वश्रुत्यापाततोऽपोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं सत्त्व-श्रुतिः—इति चेन्न; मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वाभ्युपगमे तस्याः बलवत्त्वेन तद्विरोधात् सत्यत्व-श्रुतेरन्यपरत्वादेवताधिकरणन्यायासंभवाच्च प्रतिप्रसवार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ननु—सत्त्वप्रत्यक्ष-प्रामाण्ये तेनैव मिथ्यात्वश्रुत्यनुमानादिबाधः, तदप्रामाण्ये न तेन सत्त्वश्रुतेरनुवादकत्वम्—इति चेन्न; प्रत्यक्षाप्रामाण्येऽपि तत्सिद्धबोधकस्यानुवादकत्वसंभवात् । नहि प्रमितप्रमापकत्वमनुवादकत्वम्, किंतु पश्चाद्बोधकत्वमात्रम् । पश्चात्त्वं च प्रमाणावधिकमप्रमाणावधिकं चेति न कश्चिद्विशेषः । नच—श्रुतेः सर्वसिद्धप्रमाणभावायाः सदर्थत्वायानुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाप्राप्ततात्त्विकसत्त्वविष-यत्वमवश्यं वक्तव्यम्, तथाचाप्रमाणेन प्रत्यक्षेण कथं श्रुतेरनुवादकत्वमिति—वाच्यम्; सत्त्वांशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि वाक्यार्थस्य क्रियादिसमभिव्याहारसिद्धस्यापूर्वत्वेन तद्विषयतयैवानुवादकत्वो-पपत्तावद्वैतश्रुतिविरुद्धतात्त्विकसत्त्वविषयत्वकल्पनायास्तदर्थमयोगात् । परमार्थसद्विषयता तु सर्व-श्रुतीनां शुद्धब्रह्मातात्पर्यकत्वेनैव । अवान्तरतात्पर्यमादाय व्यावहारिकसद्विषयतेति कर्मकाण्डप्रामा-ण्योपपादने वक्ष्यते । नच—प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादमपेक्षत इति न तेन श्रुतेरनुवा-दकत्वम्; अन्यथा 'सत्यं ज्ञानं' 'नेह नाने'त्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात्, ब्रह्मसत्त्वस्य लोकतो भ्रमाधिष्ठानत्वेन लिङ्गेन च मिथ्यात्वस्य दृश्यत्वाद्यनुमानेनावेदमूलप्रवाहानादिविज्ञानवादिना च प्राप्तेरिति—वाच्यम्; यदि हि दृष्टेऽप्यर्थे प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवादमपेक्षेत तदा श्रुतिसंवादविरहिणि दृष्टे कुत्रापि निश्शङ्कप्रवृत्तिः न स्यात् । न स्याच्चैवम'शिर्हिमस्य भेषज'-मित्याद्यपि अनुवादकम् । नचेष्टापत्तिः; मानान्तरगृहीतप्रमाणभावप्रत्यक्षनिर्णीते मानान्तरस्यानु-वादकत्वे जगत्तनुवादकत्वकथोच्छेदप्रसङ्गात् । नच 'सत्यं ज्ञानं' 'नेह नाने'त्यादेरप्यनुवादकता-पत्तिः; अनुवादकता हि न तावत् प्रत्यक्षेण; ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वादिकं ह्यनेन प्रतिपा-दनीयम्, तच्च न प्रत्यक्षगम्यम् । नाप्यनुमानेन; नहि तर्कः सर्वदेशकालीनपुरुषसाधारण इत्यादिना प्रागेव निराकृतत्वात् । नापि प्रवाहानादिविज्ञानवादिमतेन; तस्यापौरुषेयश्रुत्यवधिकपूर्वत्वाभावात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्गीरश्च स्वधितिः समेती'तिमन्त्रेणौपदेशिकेन षड्विंशतिपदयुक्तस्याग्निगुप्तेषान्तर्गतमन्नस्याति-देशिकस्य बाधात् 'अश्वस्य चतुस्त्रिंश'दित्यादिमन्त्रः, इतरयोस्तु 'द्विपञ्चाशदनयोर्वङ्कय' इत्यादिसमस्यपाठ इति प्रसक्ते 'न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूया'दित्यनेन चतुस्त्रिंशदित्यादिमन्त्रनिषेधाद्विकल्पः । नच—चतुस्त्रिंशदिति पदमात्रस्यायं निषेधः, नतु तद्युक्तमन्नस्येति—वाच्यम्; तथा सति 'षड्विंशतिरित्येव ब्रूया'दित्यनुवादस्यानुपपत्तेः । न हि चतुस्त्रिंशत्पदमात्रनिषेधे षड्विंशतिपदस्य प्राप्तिः । नच—तद्वाक्यं षड्विंशतिपदस्य विधरेव, नानुवाद इति—वाच्यम्; अननुवादत्वे निषेधवाक्यैकवाक्यत्वस्य प्रतीयमानस्य भङ्गापत्तेः । चतुस्त्रिंशदित्यस्याद्यपत्त्वेन तद्युक्तमन्नबोध-कत्वं सम्भवत्येव । नच—'न गिरा गिरेति ब्रूयादैरं कृत्वोद्वेय'मित्यत्रैरमित्यादेरिव षड्विंशतिरित्यादेर्विधित्वमिति—वाच्यम्; एवकारेण विधिशक्तिप्रतिबन्धात् इति नवमचतुर्थं स्थितम् । तथाच 'न चतु'रित्यादिवचनं यथा षड्विंशतीत्यादेः प्रतिप्रसवः, तथा विश्वसत्त्वश्रुतिः विश्वसत्यत्वस्येत्यर्थः । वैशेषिकेति । विकृतिप्रकरणपाठ-कल्पितवचनविनियुक्त्यर्थः । अपोदितस्येति । 'न चतुस्त्रिंश'दिति ब्रूयादिति शेषः । वचनवत् वचनमिव । प्रतिप्रसवार्थमिति । दृष्टान्ते विहितप्रतिषेधेन पाक्षिकः प्रतिप्रसवः, दार्ष्टान्तिके तु न नित्यः; वस्तुनि विकल्पा-संभवात् । मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षरूपप्रतिपक्षवत्त्वेन सत्यत्वश्रुतिबाध्यतेति भावः । मिथ्यात्वेत्यादि । बाधकत्वा-भ्युपगमे तस्याः श्रुतेर्विरोधात् देवताधिकरणन्यायाभावः । ततश्च सत्त्वपरत्वं न सिध्यति । मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधक-त्वानभ्युपगमे तु प्रत्यक्षसिद्धानुवादकत्वमेव सत्त्वश्रुतेरपि भावः । ननु सत्त्वश्रुतेः प्रमाणत्वस्यावश्यकत्वात् सत्त्वपर-त्वम्, तत्राह—अन्यपरत्वादिति । स्तुतिपरत्वादित्यर्थः । मिथ्यात्वश्रुतेरज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्यस्यावश्यकत्वात् व्यावहारिकसत्त्वानुवादकतया स्तुतिपरत्वम्; नहि प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वे व्यावहारिकमपि मिथ्यात्वं सम्भवतीति भावः । क्रियादीति । प्रमिणन्तीत्यादिपदेत्यर्थः । वाक्यार्थस्य । स्तुतिरूपस्य । वाक्यलक्षितस्य तद्वद्विषयस्य महावा-क्यार्थस्य वा । अपूर्वत्वेन मानान्तराज्ञातत्वेन । तदर्थम् अज्ञातसदर्थकत्वार्थम् । विज्ञानवादे प्रपञ्चस्य ज्ञानाति-रिक्तस्यालीकत्वं स्वीक्रियते; नतु मिथ्यात्वम्, तत्राह—आदीति । शून्यवादेत्यर्थः । शून्यवादे ज्ञानहेयादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं स्वीक्रियत इति भावः—ब्रह्मत्वेत्यादि । ब्रह्मत्वविशिष्टे सत्त्वादिविशिष्टधीद्वारकप्रमा जन्यत इत्यर्थः । निराकृतत्वादिति । 'वस्तुतः ब्रह्म सत्, अधिष्ठानत्वा'दित्याद्यनुमानस्य ब्रह्मण्यसत्त्वादिधीनिवर्तकत्वेऽपि सत्त्वाद्युप-

नच—सत्त्वश्रुतेः सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वात् न सापेक्षानुवादकत्वम्, निरपेक्षानुवादकत्वं तु धारावाहनवन्नाप्रामाण्यहेतुः; उक्तं हि नयविवेके—‘सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, नतु दैवानुवादे, धारावाहनवदिति’ इति वाच्यम्; यतो लाघवानुवादकत्वमेवाप्रामाण्ये प्रयोजकम्, नतु सापेक्षानुवादकत्वम्; अनधिगतार्थबोधकत्वस्य प्रामाण्यघटकत्वस्य तावतैव गतार्थत्वात् । नच तर्हि धारावाहनबुद्ध्यावप्रामाण्यम्; तस्याः वर्तमानार्थग्राहकत्वेन तत्तत्क्षणाविशिष्टग्राहकतया अनुवादकत्वाभावात्, किंतु श्रुतेरतत्परत्वे प्राप्तत्वमात्रमेव प्रयोजकम्; अन्यथा वैफल्येन स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेः । अपिचेयं सत्त्वश्रुतिरपि सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षत्वात् सापेक्षानुवादिन्येव । नहि सत्त्वप्रत्यक्षं विना तन्मूलशक्त्यादिग्रहमूलकशब्दप्रवृत्तिसंभवः । अतएव यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति; द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकार्थप्रवृत्तेः, प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम् । प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं प्रत्यक्षादिभ्यो यथार्थमवगच्छति, न तथाऽऽश्नायतः । तत्र व्युत्पत्त्यपेक्षत्वादिति वाचस्पतिमतमप्येतमर्थं संवादयति, तेनाश्नायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षत्वेन प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्यैवोक्तेः । नच—वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनकत्वेन न निष्प्रयोजनानुवादकत्वं, सप्रयोजनानुवादकत्वं तु न स्वार्थपरत्वविरोधि; विद्वद्वाक्ये समुदायद्वित्वापादनरूपप्रयोजनवत्त्वेनानुवाद्यस्वार्थपरताया दृष्टत्वात्, अत एव तत्र वाक्यैकवाक्यतोक्ता; अन्यथा अर्थवादवत् पदैकवाक्यतैव स्यादिति—वाच्यम्; प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूपप्रयोजनवत्त्वेन प्रमाणान्तरस्य सप्रयोजनतया स्वार्थपरत्वोक्तौ ‘अग्निर्हिमस्य भेषज’मित्याद्यपि तेनैव प्रयोजनेन सप्रयोजनं, स्वार्थपरं च स्यात् । तथाच न प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थमन्यपेक्षा, दृष्टान्ते तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्षिताखण्डस्वरूपप्रमानुत्पादकत्वात्तत्त्वमसीत्यादेरुक्तस्वरूपैक्यप्रमाया असम्भवेनोक्तैक्याज्ञानानिवृत्तेस्तादृशप्रमोत्पादकतया सत्यादिवाक्यं नानुवादः । वर्तमानेति । स्वाधिकरणक्षणविशिष्टेत्यर्थः । स्वं ग्राहकधीः । नच ‘क्षणानामतीन्द्रियत्वेन नेन्द्रियजन्यधीविषये’ति प्रत्यक्षमण्यादावुक्तं युक्तम्; संयुक्तादिविशेषणतया स्थूलकालस्येव क्षणानामपि तद्विषयतासम्भवात्, तेषां प्रतिबन्धकत्वकल्पने मानाभावात् । उक्तं हि न्यायरत्नाकरादौ—‘घटोऽत्र दृष्टो न वेति पृष्टो जनो वदति सन्नहितक्षणे दृष्ट एवे’ति । यदि तु क्षणस्यातीन्द्रियत्वं शपथेन निश्चिनोपि, तदा हि धारावाहिकज्ञानानां स्वोत्पत्तिक्षणद्वितीयक्षणविनाशिस्थूलकालविशिष्टार्थग्राहकत्वमास्ताम् । वस्तुतो ज्ञानसामान्यस्य स्वोत्पत्तिक्षणविशिष्टार्थग्राहकत्वं स्वीक्रियते; तच्च नेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणविशेषप्रयुक्तम्, किंतु ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते ।’ इत्यादिमीमांसकसिद्धान्ते ज्ञानसामान्यस्य कारणं तादृशार्थविषयकमेव ज्ञानं जनयतीति नियमेन ज्ञानकारणमात्रनियम्यम् । अतएव प्रमात्वस्यापि तथात्वमिति प्राभाकराः । वैफल्येनेत्यादि । अध्ययनस्य हि प्रयोजनवदर्थज्ञानोद्देशेन विधानम्, न त्वक्षरावाह्युद्देशेनेति पूर्वमीमांसकमते तादृशज्ञानस्यान्यतः सिद्धत्वात् तदुद्देशेनानुवादकवाक्यस्याध्ययने अध्ययनविधिना प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः । विद्वद्वाक्ये ‘य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते स यावदुक्थ्येनोपाप्मोति तावदुपाप्मोति य एवं विद्वानमावास्यां यजते स यावदतिरात्रेणोपाप्मोति तावदुपाप्मोति’ति वाक्ये । समुदायेत्यादि । ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते’ति वाक्यबोधितं यत्समुदाययोर्द्वित्वं तत्सम्पादनरूपप्रयोजनवत्त्वेनेत्यर्थः । पौर्णमास्यमावास्यापदाभ्यां विद्वद्वाक्यगताभ्यां त्रिकस्य त्रिकस्योक्त्या एकधीविषयत्वरूपसमुदायविशिष्टयोस्त्रिकयोर्विद्वद्वाक्येन लाभे सति दर्शत्यादिवाक्येन तयोर्द्वित्वं बोद्धुं शक्यते, नान्यथा; तदबोधेऽत्र न षण्णामेव फलसम्बन्धः, किंत्वन्वेषामपि आज्यभागयोर्हि द्वित्वं प्रसिद्धम्, न दर्शादिकालयोगित्वम्; आग्नेयादिषड्भ्यस्तु तत् प्रसिद्धम्, न द्वित्वम् । अतस्तदुभययुक्तस्य बोधकं दर्शपौर्णमासाभ्यामिति पदं लक्षणया आज्यभागान्नेयादिसकलयागपरं स्यात् । समुदायबोधे तु विद्वद्वाक्येन कृते षण्णामेवाग्नेयादीनां फलसम्बन्ध इति भावः । अतएव स्वार्थपरत्वादेव । वाक्यैकवाक्यता फलवाक्यार्थान्वितसमुदायद्वयप्रमापकता । अन्यथा अज्ञातसमुदायद्वयबोधकत्वेन स्वार्थपरत्वाभावे । अर्थवादवत् अर्थवादान्तरवत् । स्तुतिपरत्वेनेति शेषः । पदैकवाक्यता फलवाक्यापेक्षितस्तुतिलक्षकपदता । विद्वद्वाक्ये इति शेषः । समुदायानुवादेन विद्वद्वाक्यसिद्धसमुदाये द्वित्वसम्पादनस्य द्वित्वबोधस्य फलवाक्याधीनस्य शक्यत्वादिति । वस्तुतस्तु—तत्रापि न स्वार्थपरत्वम्; तद्धि स्वार्थप्रमापकत्वम् । प्रमा च विद्वद्वाक्येन स्वार्थत्रिके न जन्यते, किंतु तद्वोद्धारं समुदायद्वयप्रमा मानान्तरेणैव । तथाच ‘धूमोऽस्तीति’ वाक्यस्येव परम्परया प्रमोपयोगेऽप्यनुवादकत्वमस्त्येव, किंतु तत् सप्रयोजनम्, विश्वसत्त्वानुवादकत्वं तु निष्प्रयोजनम् । वादिविप्रतिपत्तिनिरासस्तु न प्रयोजनम्; विश्वसत्त्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । यदि त्वन्यतोऽसिद्धप्रयोजनवती या अबाधितविषयकधीः प्रमा तज्जननानुकूल-

समुदायानुवादेन द्वित्वसम्पादनस्योद्देश्यस्यान्यतो लब्धुमशक्यतया तेन प्रयोजनेन स्वार्थपरत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् । एतदभिप्रायं च पूर्वोक्तं नयविवेकवाक्यम् । नच—अनुवादत्वेऽपि नैष्कल्य-मात्रम्, नत्वप्रामाण्यम्, याथार्थ्यमेव प्रामाण्यं, नत्वधिगतार्थत्वे सति याथार्थ्यमिति—वाच्यम्; तात्पर्यविषये शब्दः प्रमाणम् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यभियुक्ताभ्युपगमात्, अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेरुक्तत्वाच्च । नह्यन्यतः सिद्धेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यम्, अतो न तत्र प्रामाण्यम् । यदाहुर्भट्टाचार्याः—'अप्राप्ते शास्त्रमर्थव'दिति । ननु—अयमनुवादः न 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादिवत् स्तुत्यर्थः; न वा 'दध्ना जुहोती'त्यादिवदन्यविधानार्थः; अनुवाद्यत्वेऽप्यन्यविधानाय प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमात्, नहि 'व्रीहीन्प्रोक्षती'त्यादावारोपितव्रीह्या-देर्धीः, अनुवाद्यस्यासत्त्वे ह्याश्रयासिद्धौ धर्मधर्मिसंसर्गरूपानुमितिर्वेद्य इवानुवाद्यविधेयसंसर्गरूप-वाक्यार्थो बाधितः स्यात्—इति चेन्न; अस्यानुवादस्याप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वात् । नच प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमः; स्वप्राध्याये, शुक्तौ 'नेदं रजत'मिति वाक्ये च व्यभिचारात् । अथ तत्र ज्ञानविष-यतया निषेध्यतया चानुवाद इति न तात्त्विकत्वम्, तर्हि प्रकृतेऽपि 'नेह नाने'ति निषेधार्थत्वादस्या-नुवादस्य न तात्त्विकत्वमिति गृहाण । अतएव न वाक्यार्थस्यासत्त्वप्रसङ्गः; तात्पर्यविषयस्य सत्त्वात् । अथ—'किंचने'त्यनेनैवानुवादस्य कृतत्वात् किमधिकेनेति—चेन्न; सामान्यतो निषेधस्य हि 'किंचने'त्यनेन निषेध्यसमर्पणेऽपि विशिष्य निषेधे विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्योपयोगात् । अथ—निषेधवाक्यस्य न निषेध्यसमर्पकवाक्यान्तरापेक्षा; अन्यथा 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादावपि निषेध्य-समर्पणार्थं 'कलञ्जं भक्षये'दित्यादिवाक्यान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्ग—इति चेन्न; सर्वत्रापेक्षानियमाभावात्, सति संभवे प्रकृते त्यागायोगात्, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'-त्यादौ वाक्यान्तरप्राप्तस्य निषेधदर्शनाच्च । नच तद्वदेव विकल्पापत्तिः; सिद्धे वस्तुनि विकल्पायोगात्, ग्रहणाग्रहणवाक्ययोरुभयोरपि मानान्तराप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्ववदिह सत्त्वश्रुतेर्मानान्तरप्राप्त-विषयत्वेन निषेधश्रुतेश्चाप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्वाभावाच्च । अतएव निषेधवाक्यप्रावल्यात्तदनुरोधे-नेतरन्वीयते; अथ—अप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वेऽप्यलौकिकस्य 'आपश्च न प्रमिणन्ती'त्यादिपदार्थसंसर्गस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शक्तिरेव तात्पर्यमित्युच्यते, तदा 'अर्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाण'मिति जैमिन्युक्तावनुपलब्धपदस्य लाक्षणिकत्वापत्तिरिति भावः । एतदभिप्रायं सप्रयोजनानुवादाभिप्रायम् । याथार्थ्यम् अबाधितार्थकत्वम्; यथाशब्दस्य सत्यार्थकत्वात् । सः शब्दार्थः स एव शब्दप्रमेयः । मुख्यतया शब्दमेय इति यावत् । तेन तात्पर्याविषयस्यापि देवताविग्रहा-देर्वाचस्पतिमते शब्दप्रमेयत्वेऽपि न दोषः । न तत्रेति । येन ज्ञानेन यस्यार्थस्य सिद्धिः विपरीतज्ञानानुपत्तियोग्य-त्वरूपा, तत्रार्थे तत् ज्ञानं प्रमा । उक्तयोग्यत्वं च अज्ञाननिवृत्तिरूपम् । तच्चाप्राप्त एवार्थे ज्ञानाधीनम्, न प्राप्तार्थे; अतथाभूतस्यापि प्रमात्वे इच्छाद्वेषादेरपि प्रमात्वापत्तिरिति भावः । अयमनुवादः 'विश्वं सत्यं' 'इदं सर्वं यदय-मात्मे'त्याद्यनुवादः । स्तुत्यर्थः स्तुतिधीद्वारः । इत्यादिवत् इत्यादिविध्यर्थकजुहोतीत्यंश इव । अप्राप्तेत्यादि । विश्वं सत्यमिति देवा अपि न प्रमिणन्तीत्येवं निषेधस्याप्राप्तस्य प्राप्त्यर्थत्वादित्यर्थः । तथाचान्यविधानाद्यैवायमनुवादः; अप्राप्तप्रापणस्यैव विधानत्वादिति भावः । स्वप्राध्याये स्वमफलस्याज्ञानस्य ज्ञानपरग्रन्थे । ज्ञानेति । भ्रमेत्यर्थः । निषेध्यतया मिथ्यात्वेन अस्यानुवादस्य नेहनानेत्यादिवाक्यैकवाक्यतापन्नस्य 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्याद्यनुवादस्य । सर्वपदेन सर्वेनाम्ना सत्यपृथिवीत्वादिना पृथिव्यादेरनुवादान्निषेधार्थत्वसम्भवः, पूर्वोक्तमन्नगतस्य विश्वं सत्यमित्यस्य तु विध्येकवाक्यत्वात्, न नेहनानेत्यादिनिषेधार्थत्वमिति ध्येयम् । न तात्त्विकत्वमिति । विधानायानुवाद्यस्य ज्ञान-मात्रमपेक्ष्यते, नतु तात्त्विकत्वमित्यर्थः । सामान्यतो दृश्यमात्रस्याधिकरणे ब्रह्मणि । निषेध्यसमर्पणे ब्रह्मरूपा-धिकरणनिष्ठतया आकाशादिबोधने । किंचनेति सर्वेनाम्ना ब्रह्मनिष्ठाकाशत्वादिनैव बोधत्वम् । विशिष्य 'विश्वं सत्यं' न प्रमिणन्ती'त्यादिरूपेण । निषेधे, विशिष्य घटाद्यधिकरणे यत्र निषेधः तत्रैव प्रतियोगिप्रसक्तेरपेक्षणात् 'विश्वं सत्य'मित्यादिवाक्येनैव सेति भावः । वाक्यान्तरापेक्षा वाक्यान्तरापेक्षानियमः । प्रसङ्ग इति । तत्र रागेणैव प्रतियोगिप्रसक्तौ प्रकृतेऽपि तथेति भावः । सतीति । रागमूलप्रत्यक्षादिनेवोक्तवाक्येनापि सा सम्भवतीति भावः । यद्यपि स्तुत्यर्थकत्वमपि सम्भवति; तथापि तस्य पूर्वमेवोक्तत्वाद्वा त्र विधानार्थानुवादत्वपक्षस्य परेणाशङ्कितत्वात्तदेवो-क्तम् । ननु सत्यत्वासत्यत्वयोरेकत्रासम्भवेऽपि क्वचिद्दृश्ये सत्यत्वं क्वचिच्चासत्यत्वं बोध्यताम्, तत्राह—षोडशी-त्यादि । अलौकिकस्य प्रत्यक्षाद्यविषयस्य । आपश्च न प्रमिणन्ति व्यापनशीला देवा अपि यथार्थतया ज्ञान-

विधेयस्य सत्त्वान्न निषेधार्थानुवादकत्वमिति—चेन्न; तदन्यपरत्वस्य प्रागेवोक्तत्वात् । ननु 'यत्तन्ने'ति निषेधानुवादलिङ्गाभावाच्चानुवादः, न; यत्किञ्चिल्लिङ्गाभावेन लैङ्गिकाभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ननु—तर्हि 'तत्सत्यमि'त्याद्यपि 'न सत्तन्नासदुच्यत' इति, 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति च निषेधाय 'सन्घटः' 'सद्घटज्ञानं' 'सत्सुखस्फुरण'मित्यादिसिद्धब्रह्मसत्त्वानुवादि स्यात्—इति चेन्न; ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वस्य प्रत्यक्षादिभ्योऽप्राप्तेः शून्यवादप्रसङ्गेन तस्य निषेधयोगाच्च । 'य इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यत्रानुवादलिङ्गसम्भवेन कल्पनाच्च । एवमानन्दश्रुतेरपि, 'अदुःखमसुखं सम'मिति निषेधाय न प्रत्यक्षप्राप्तानन्दानुवादित्वम्; दुःखसाहचर्येण सुखस्यापि वैषयिकस्यैव ग्रहणेन तन्निषेधाय ब्रह्मरूपसुखानुवादायोगात् । एतच्च सर्वमुक्तं विवरणे—निष्प्रपञ्चास्थूलादिवाक्यानुसारेण 'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्यादीनि निषेध्यसमर्पकत्वेनैकवाक्यतां प्रतिपद्यन्ते; सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायां पुरुषार्थत्वदर्शनादिति । अथ—निष्प्रपञ्चता न पुरुषार्थः; मूर्च्छायां तत्त्वादर्शनात्, नच—तदा तदज्ञानमात्रं ननु तदभाव इति—वाच्यम्; समं सुषुप्तावपीति—चेन्न; मूर्च्छायां स्वरूपसुखस्फुरणाभावात् । तथाच सूत्रम्—“मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषा'दिति । सुषुप्तिमुक्तिकालीननिष्प्रपञ्चतायां स्वरूपसुखानुभवेन तस्याः पुरुषार्थत्वात् । तथाच श्रुतिः—“द्वितीयाद्वै भयं भवतीति ।' अथ 'तस्मादे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्तीति, तदन्यपरत्वस्य तस्योक्तवाक्यस्य स्तुतिपरताया, उक्तत्वात् न प्रमिणन्तीति योजनया न हिंसन्तीत्यर्थधी-द्वारा स्तुतिपरत्वस्योक्तवादित्यर्थः । अनुवादलिङ्गेति । यच्छब्दरूपलिङ्गेत्यर्थः । कल्पनादिति । यच्छब्दादिलिङ्गरहिते विश्वसत्त्वानुवादे यच्छब्दादिरूपलिङ्गस्य कल्पनादित्यर्थः । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन यच्छब्दादिकमुपसंहियते । वस्तुतस्तु—'न तौ पशौ करोती'त्यादेः निषेधार्थानुवादत्वेऽपि यच्छब्दाद्यभावात् तादृशानुवादत्वं यच्छब्दादिकं विनापि कल्प्यते इति भावः । अनुसारेण बलवत्त्वानुरोधेन । एकवाक्यताम् उक्तवाक्यैकवाक्यताम् । मैत्रेयी-ब्राह्मणे—'इदं सर्वं यदयमात्मे'त्युक्त्वा 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मे'वाभूत्तत्केन कं पश्ये'दित्याद्युक्तम् । तत्रैवकारेणात्मान्य-सर्वदृश्यनिषेधात् केन कमित्याक्षेपार्थककिंशब्देनापि तथा निषेधात्तदर्थमिदं सर्वमित्यादिवाक्यं प्रतियोगिप्रसङ्गतयो-पयुज्यत इति भावः । 'इदं सर्वं यदय'मित्यादौ बाधायां सामानाधिकरण्यस्वीकारे 'इदं सर्वं य'दित्यस्यैव दृश्याभाव-वदोषकत्वेन निषेधरूपत्वानुवादत्वमिति । इत्यादीनीत्युक्तेः 'स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्यादौ पश्यत्याद्यन्तवाक्यानां निषेधार्थानुवादत्वं लभ्यते । निष्प्रपञ्चवाक्यस्य बलवत्त्वे प्रयोजकमाह—निष्प्रपञ्चतायाः पुरुषार्थत्वदर्शनादिति । जाग्रत्स्वप्नसुखापेक्षया जाग्रत्स्वप्नरूपप्रपञ्चशून्यसौषुप्तसुखस्य पुरुषैरुक्तृ-त्वेन व्यवहारदर्शनादित्यर्थः । सुषुप्तौ भासमानं सुखं यद्यपि जाग्रत्स्वप्नयोरपि भाति, 'मा भूवमिति न, किंतु भूयास'-मित्यस्या अन्येच्छानधीनेच्छायास्तयोरामन्युत्पत्तेः सुखभिन्ने तस्या असम्भवात्; तथापि 'कष्टं कर्मे'ति लोकानुभवात् जाग्रत्स्वप्नयोः स्थूलसूक्ष्मदेहक्रियाभिर्दुःखोत्पत्तेर्विषयसुखानामपि तादृशदुःखमिश्रितत्वात् दुःखान्तरहेतुत्वाच्च जाग्र-दादिसुखापेक्षया सुषुप्तिसुखमुक्तृष्टम्, लोके त्वविवेकात् तथा न ज्ञायते । तदुक्तमाचार्यैः—कष्टं कर्मेत्यनुभवो लोका-नामिति । उक्तं च वार्तिकामृते—'न तदस्ति सुखं लोके यन्न दुःखकरं भवेत् । विषयप्राप्तिविच्छेदक्षयेष्वसुखकृत्यत' इति । तथाच जाग्रदादिसुखात् सुषुप्तिसुखमिव सुखमात्रात् निष्प्रपञ्चं मुक्तिसुखमुक्तृष्टम् । अतस्तस्य साक्षात्कारप्रयो-जके निष्प्रपञ्चवाक्यार्थज्ञाने परमप्रयोजकत्वात् अज्ञातविषयकत्वाच्च निष्प्रपञ्चश्रुतेस्तात्पर्यस्यावश्यकत्वात् सप्रपञ्चश्रुते-रतथात्वेन तदपेक्षया निष्प्रपञ्चश्रुतेर्बलवत्त्वात्तदुपकारकानुवादत्वं तस्याः स्वीक्रियत इति भावः । निष्प्रपञ्चता सुषुप्ति-कालीना । न पुरुषार्थः न स्वतःप्रयोजनम् । तथाच सुषुप्तौ सुखस्य भासमानस्याभावात्पुरुषार्थ एव न, जाग्रदाद्यपेक्ष-योत्कर्षस्तु दूरापेत इति भावः । सुषुप्तावपीत्यपिशब्दो हेतौ, तेन नच वाच्यमित्यत्र हेतुलाभः । स्फुरणेति । अना-वृत इति यावत् । साक्षिणीति शेषः । अर्धसम्पत्तिः सुषुप्तेरर्धम् । ज्ञानेन्द्रियाणामुपरमेऽपि कर्मेन्द्रियाणामनुपरमेण संपूर्णसुषुप्त्यभावात् । कर्मेन्द्रियानुपरमश्च हस्तादिचेष्टापरिशेषात् इति व्याससूत्रार्थः । कालीनेति । कालीनत्वेन श्रुति-बोधितेत्यर्थः । निष्प्रपञ्चतायामिति । प्रमितेनेति शेषः । 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति' । 'आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' । 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् ततस्तु जातं सकलं विचित्र'मित्यादिश्रुतिभिः सुषुप्तौ प्रपञ्चलयास्य तदुत्तरं प्रपञ्चोत्पत्तेश्चोक्तत्वात्, 'सुखमहमस्वाप्त'मिति सुषुप्त्युत्तरस्मृतेश्च सुषुप्तौ संस्काराविद्याद्यन्यप्रपञ्च-शून्यत्वरूपा निष्प्रपञ्चता प्रमितेति भावः । निष्प्रपञ्चसुखं भासमानं सुषुप्तौ साधयित्वा तस्य जाग्रदादिसुखाद्युक्तपे-मानमाह—तथाचेति । द्वितीयात् अनात्मज्ञानात् । भयं 'दुःखसाधनमिदमि'ति धीप्रयुक्तो वृत्तिविशेषः । तथा

काकी न रमत' इति श्रुतेः सप्रपञ्चतापि पुरुषार्थः, न; तस्या दुःखसाधनत्वेन पुरुषार्थत्वायोगात्, कर्मकाण्डवदस्याः श्रुतेः अविवेकिपुरुषपरत्वाच्च । ननु—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तस्ते-नामृतत्वमेती'ति भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणात् कथं न सप्रपञ्चता पुरुषार्थः—इति चेन्न; मतेः पूर्वं ममापि प्रेरकपृथक्त्वदृष्टेः सगुणब्रह्मज्ञानवत् प्रेरकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यापि परम्परयोपकारकत्वात्, 'एकधैवानुदृष्टव्य'मित्यादिवाक्यस्वारस्यादभेदज्ञानस्यैव साक्षात् मोक्षहेतुत्वात् । अतएव प्रेरकत्वज्ञानस्य जोषहेतुत्वमुक्तम् । तथोत्तरत्रापि 'वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा ये विमुक्तास्तदात्म-तत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोक' इत्यभेद एव श्रूयते । अतो न भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम् । एतेन—'नेह नाने'ति श्रुतिरेव 'विश्वं सत्य'मित्यवाध्यत्वरूपवाधनिषेधाय विज्ञानवादिप्राप्त-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चानात्ममात्रस्य दुःखसाधनत्वेन लोकानामनुभूयमानत्वात् तस्य च श्रुत्यानुवादाज्जाग्रदादिकाले च दुःखसाधनानां सुषुप्तिकालीनाज्ञानाद्यपेक्षया बाहुल्यात् सुषुप्तिमुखं जाग्रदादिसुखापेक्षया अर्थादुत्कृष्टमिति भावः । सप्रपञ्चता जाग्रत्स्वप्नसुखम् । पुरुषार्थः सुषुप्तिमुखतुल्यपुरुषार्थः । दुःखसाधनत्वेन दुःखोपधायकक्रियाकूटविशिष्टत्वेन विषयाप्राप्त्यादिमूलककालान्तरीयदुःखप्रयोजकरागजनकानुभवविषयत्वेन च । पुरुषार्थत्वायोगात् सुषुप्तिमुखतुल्य-पुरुषार्थत्वायोगात् । अविवेकीति । येषां विवेकाभावेन जाग्रत्स्वप्नसुखे उक्तदुःखसाधनत्वाग्रहः तेषां तत्र द्वेषा-भावादिच्छायां सत्यां विषयाप्राप्तेरकाकित्वे तयोरभावः । तदनुवादिका चोक्तश्रुतिः, ननु तावता सौषुप्तसुखतुल्यता तस्येति भावः । सप्रपञ्चता सप्रपञ्चजाग्रदादिसुखम् । पुरुषार्थः सौषुप्तसुखादुत्कृष्टपुरुषार्थः । यथा निष्प्रपञ्चसुख-रूपब्रह्मसाक्षात्कारो मुक्तिसाधनं त्वयोच्यते, तथा प्रेरकत्वादिप्रपञ्चयुक्तब्रह्मसाक्षात्कारो मन्मते मुक्तिसाधनम् । तथाच स्त्रीपुत्रादिद्वितीयज्ञानस्यैव दुःखहेतुत्वं द्वितीयादित्यादिश्रुत्या अनुदितम्, न त्वनात्मधीमात्रस्य । तथाच प्रेरकत्वादि-विशिष्टेश्वरादिसाधारणसप्रपञ्चवाक्यमात्रं कथं निष्प्रपञ्चवाक्योपकारकमिति भावः । प्रेरकत्वेन पृथक्त्वेन च मत्वा मुच्यते इति नोक्तश्रुत्यर्थः, किंतु तत्त्वमतेः पूर्वं प्रेरकत्वेन पृथक्त्वेन च उपलभ्यमानखण्डात्मरूपं मत्वा मुच्यत इत्यर्थ इति भावेनाह—मतेरित्यादि । प्रेरकत्वादिरूपेण मत्वेत्यर्थकत्वेऽपि न क्षतिरित्याशयेनाह—सगुणेति । गुणान्तरयुक्त्यर्थः । एकधेत्यादि । केवलार्थकैकपदेन शुद्धब्रह्मण उक्तत्वात् तत्स्वरूपविषयरूपप्रकारो धाप्रत्ययेनो-च्यते । तथाच शुद्धब्रह्मविषयकमेव ज्ञानं मोक्षहेतुः, न प्रेरकत्वादिविशिष्टस्य ज्ञानमित्यर्थः । इत्यादीत्यादिपदेन 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' 'सोऽयमात्मा स विज्ञेय' इत्यादिश्रुतिसंग्रहः । ननु सङ्ख्यावाचकादेकशब्दाद्वाधप्रत्यय-विधानात् केवलार्थकशब्दादुत्तरः सोऽसाधुरिति—चेन्न; केवल्यस्यापि गौणैकत्वरूपत्वेन गौणसङ्ख्यात्वात् । 'पशुना गजेते'त्यादौ हि पश्वन्तर्राहिल्यरूपमेकत्वमेकवचनार्थः; अन्यथा पशुद्वयस्यापि प्रत्येकं मुख्यैकत्वसङ्ख्यासत्त्वेनैकवच-नेन छागान्तरस्यानिवारणात्, 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादावेकपदेन 'येन जातानि जीवन्ती'त्यादावेकवचनेन च केवल्यमेव बोध्यते । 'एका जातिः जातेर्ज्ञान'मित्यादौ च न मुख्यैकत्वस्य बोधसंभवः, किंतु केवल्यस्यैव । किंच केवल्यस्यैव सर्वत्रैकपदैकवचनप्रतिपाद्यत्वसम्भवेन न मुख्यैकत्वस्य तत्र भानम् । तथाच केवल्यरूपैकत्वादिवाचकादेव धाप्रत्ययोऽनुशिष्टः । अतएव प्रेरकज्ञानस्य साक्षान्मोक्षाहेतुत्वादेव । जोषेति । ब्रह्मलोकावच्छिन्नप्रीतिविशेषेत्यर्थः । तथाच मत्वा प्रीतः सन् ततस्तादृशप्रीतिसमाप्तौ । तेन मननेन । तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा मुच्यत इत्यर्थः । तथेति । शुद्धज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वोक्तिरित्यर्थः । उत्तरत्र 'उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिन् स्वप्रतिष्ठाक्षरं च । अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना' इत्यादिवाक्ये 'प्रेरितारं च मत्वा मुच्यत' इति यदुक्तमेतदुद्गीतमात्रम्, ननु मुक्तेः साक्षात्कारणबोध-कम् । परमं शुद्धं तु, ब्रह्म वेदविदो विदित्वा वेदान्तवाक्यस्य तात्पर्यज्ञानद्वारा साक्षात्कृत्य शुद्धब्रह्मणि लीना उपाधिमात्रोच्छेदेनैकीभूता योनिमुक्ता जन्महीना भवन्तीति साक्षान्मुक्तिकारणोक्तेरित्यर्थः । कीदृशं परमम्, तत्राह—तस्मिन् परमे, त्रयं स्थूला सूक्ष्मा च समष्टिपञ्चीकृतभूतानि, स्वप्रतिष्ठमनादि, अक्षरभ्रव्याकृतं चेत्येतानि सन्ति । अत्र एतेषु । अन्तरमधिष्ठानम् । श्वेताश्वतरीयोक्तवाक्यं प्रथमाध्याये । द्वितीयाध्यायेऽपि तदात्मतत्त्व-मित्यादिवाक्यं तादृशमित्याशयेनाह—तदात्मेति । वीतशोक इति । यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपञ्चेदिति शेषः । तथाच युक्तः त्रिरुन्नतमित्यादिना पूर्वोक्तयोगविशिष्टः सन् दीपोपमेन स्वप्रकाशेन येनात्मनस्तत्त्वेना-नारोपितरूपेणाभिन्नं ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत्, तत्तु तदखण्डमेव प्रकर्षेण श्रवणाद्युत्तरं सम्यग्वेदान्तवाक्येनेक्षित्वा एकः द्वितीयशून्यः, कृतार्थो भवते तदेव ब्रह्म प्राप्नोति; 'भू प्राप्ता'विति स्मृतेः । एतेन निष्प्रपञ्चसुखस्य सप्रपञ्चसुखा-दुत्कृष्टत्वेन सप्रपञ्चसुखबोधकस्य विश्वसत्त्वबोधकवाक्यस्य निष्प्रपञ्चवाक्यशेषतत्त्वर्णनेन । निरस्तमित्यत्र हेतुवन्तरम-प्याह—भावेत्यादि । श्रुतेरेवेति । विश्वसत्त्वाभावबोधकत्वेनेति शेषः । विश्वगतसत्त्वे सद्रूपब्रह्मसंबन्धस्य प्राप्तत्वेन

विश्वनिषेधानुवादिनी किं न स्यादिति—निरस्तम्; भावाभावयोः परस्परविरह रूपत्वे समेऽपि भावग्रहो निरपेक्षत्वात् नाभावग्रहमपेक्षते, अभावग्रहस्तु सप्रतियोगितया भावग्रहमपेक्षते । अतो 'नेति नेति' श्रुतेरेव सत्त्वश्रुत्यपेक्षा, ननु सत्त्वश्रुतेर्नेति श्रुत्यपेक्षा; अन्यथा अन्योन्याश्रयापत्तेः । ननु—उत्सर्गापवादस्यायोऽस्तु, यथा हि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानी'ति श्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि हिंसा-त्वसामान्यस्य प्रत्यक्षादिप्राप्तत्वात्निषेध्योपस्थितौ नाग्नीषोमीयवाक्यमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षते, तथा 'नेति ने'त्यादिश्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि प्रत्यक्षप्राप्तघटादिसत्त्वरूपनिषेध्यमादाय निराकाङ्क्षा सती न प्रत्यक्षाप्राप्तधर्माधर्मादिसत्यत्वबोधिकां 'विश्वं सत्य'मित्यादिश्रुतिमपि निषेध्यसमर्पणाया-पेक्षितुमर्हति, यत्र तु मानान्तरेण निषेध्यस्याप्राप्तिस्तत्र निषेध्यसमर्पणाय श्रुत्यन्तरमपेक्षत एव; यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः, मानान्तरेण निषेध्योपस्थितावपि वाक्यापेक्षणे अग्नीषोमीयहिंसाया अपि निषिद्धत्वेनाधर्मत्वं स्यात्—इति चेत्, मैवम्; अग्नीषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषय-त्वेनानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्त्वेन च न निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषता, 'विश्वं सत्य'-मित्यादेस्तु निषेधविषयसमविषयत्वेन स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्य-शेषतोचितैव । अतएव प्रत्यक्षाप्राप्तधर्मादिसत्त्वोपस्थापनेन वाक्यसाफल्यमपि । स्वार्थतात्पर्यरहि-तत्वेन च नाग्नीषोमीयवाक्यतुल्यत्वमित्युक्तम् । अतो दृश्यत्वादिहेतोर्धर्माद्यंशेऽपि श्रुत्या न बाधः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्यापि 'नेति नेती'त्यादिश्रुत्या निषेधात्तत्र विश्वसत्त्वश्रुत्यपेक्षा; विश्वसत्त्वाभावत्वप्रकारकज्ञाने विश्वसत्त्वज्ञानस्य हेतु-त्वादिति भावः । ननु सत्त्वश्रुतेरिति । ननु—सत्त्वं मिथ्यात्वाभाव एव; तथाच विश्वस्मिन्मिथ्यात्वाभावबोधं प्रति विश्वमिथ्यात्वबोधस्य हेतुत्वान्मिथ्यात्वबोधिकां नेतीत्यादिश्रुतिं सत्त्वश्रुतिरपेक्षत एवेति—चेन्न; विश्वसत्त्वस्य पृथिवी-सत्त्वजलसत्त्वादिरूपस्य निषेधं ब्रह्मणि 'नेती'त्यादिश्रुतिः बोधयतीत्यवश्यं वाच्यम्; ब्रह्मणि प्राप्तस्य सर्वस्य ब्रह्मणि तया निषेधबोधनात् । तथाच तावतैव प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वलाभेन प्रपञ्चे ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वबोधने तस्या-स्तात्पर्यं मानाभावः । नच—तस्या विश्वसत्त्वाभावस्य ब्रह्मणि बोधने न तात्पर्यम्; किंतु प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि निषेध इत्येव किं न स्यादिति—वाच्यम्; विश्वसत्त्वस्यापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन तन्निषेधे तात्पर्यस्यावश्यकत्वात् । तथाच 'नेती'त्यादिश्रुत्या विश्वसत्त्वाभाव एव बोध्यते ब्रह्मणि, न घटादेरभाव इति घटादौ ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वा-बोधकत्वेन न सा सत्त्वश्रुत्यापेक्ष्यते । ननु त्वन्मते 'नेती'त्यादिश्रुतेर्विश्वसत्त्वाभाव एव तात्पर्यं युक्तम्, मन्मते तु तस्याः शून्यतः प्राप्तानुवादित्वस्वीकारेण सर्वमिथ्यात्वानुवादकत्वात् सत्त्वश्रुत्यपेक्षणीयत्वम्, तत्राह—अन्यथेति । 'नेती'त्यादिश्रुतेरसत्त्वश्रुत्यपेक्षणीयत्व इत्यर्थः । नेतीत्यादिश्रुतेर्विश्वसत्त्वाभावांशे सत्त्वश्रुत्यपेक्षा, सत्त्वश्रुतेर्मिथ्यात्वाभाव-घटितसत्त्वांशे 'नेती'त्यादिश्रुत्यपेक्षेत्यन्योन्याश्रयः । तस्माद्विश्वसत्त्वस्य प्रत्यक्षादिना ज्ञातत्वात् सत्त्वश्रुतिरनुवादः, विश्व-सत्त्वाभावस्य तु शून्यवाद्यभिज्ञं प्रति प्राप्तत्वेऽपि सर्वान् प्रत्यप्राप्तत्वेन 'नेती'त्यादिश्रुतिर्नानुवादः । ननु—सत्त्वस्यापि सत्त्वाभावाभावत्वेन तद्गृहेऽपि नेतीत्यादिश्रुत्यपेक्षास्तीति—चेन्न; उक्तरूपेण ग्रहे तदपेक्षणेऽपि सत्यतारूपेण ग्रहे तद-नपेक्षणात् । तदिदमुक्तं—भावग्रहो निरपेक्षत्वात् नाभावग्रहमपेक्षत इति । प्रतियोगितावच्छेदकरूपेण ग्रहे नाभावग्रहापेक्षेति भावः । नाग्नीषोमीयेति । रागप्राप्तनिषेधबोधकत्वेनैव 'न हिंस्यादि'ति वाक्योपपत्तौ तत्र शास्त्रबाध-कत्वस्य विकल्पापादकस्यान्याय्यत्वादग्नीषोमीयहिंसाद्यन्यहिंसानिषेधे तत्तात्पर्यकल्पनान्न तेनाग्नीषोमीयवाक्यमपेक्ष्यत इति भावः । न्यूनैति । न्यूनविषयकस्यैवापवादकत्वम्; तद्विषये उत्सर्गप्रवृत्तिसम्भवात् । समेति । अन्यूनैत्यर्थः । रहितत्वेनेति । यथा पटादेः सत्त्वं प्रत्यक्षप्राप्तं, तथा धर्मादेरनुमानादिना प्राप्तम् । नहि प्रमाया भ्रमस्य च ज्ञानस्यो-त्पत्तिकाले तत्र सद्विषयकत्वरूपं प्रामाण्यमावयोर्मते तद्वाहकेण न गृह्यते; स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमात्, तथाच धीवि-षयस्य सर्वस्य सत्त्वप्राप्त्या तदनुवादिकैव विश्वसत्त्वश्रुतिः समभिव्याहृतविध्यपेक्षितस्तुतिमात्रपरेति भावः । अतएव निषेधवाक्यशेषत्वादेव । धर्मादीति । यद्यपि धर्मादेरप्यनुमानादिना सत्त्वं प्राप्तम्; तथापि न प्राप्तमिति परेणोक्तत्वात् तदनुसृत्यैवमुक्तम् । अथवा ननु—स्वतःप्रामाण्यादुक्तरीत्या विश्वसत्त्वं ज्ञानग्राहकेण प्राप्तं यत्, तत् व्यावहारिक-मेव, श्रुत्या तु तात्त्विकं तत् प्रतिपाद्यते; तथाच सा नानुवादः, तत्राह—अतएवेत्यादि । धर्मादीत्यादिपदेन प्रत्यक्षप्राप्तघटादेः संग्रहः । एवकारोऽपिकारश्च स्थानव्यत्ययेन योज्यः । तथाच प्रत्यक्षप्राप्तघटादेस्तदन्यधर्मादेशोपस्थापन-द्वारा निषेधवाक्यशेषत्वादपि वाक्यसाफल्यं भवत्येवेत्यर्थः । तथाच व्यावहारिकसत्त्वोपस्थापनेनापि साफल्यसंभवे तात्त्विकसत्त्वतात्पर्यकल्पनं व्यर्थम्; अन्यथा 'यजमानः प्रस्तर'इत्यादेरपि तात्त्विकभेदपरत्वापत्तेः । मानान्तरसिद्धार्थानु-वादेन वाक्यस्यान्यशेषत्वेनोपपत्तावद्वैतश्रुतिबाधो न युक्त इति तु सममिति भावः । 'विश्वं सत्य'मित्यादिश्रुतेर्मिथ्यात्व-श्रुत्यबाधकत्वे स्थिते मिथ्यात्वानुमानाबाधकत्वमपीत्याह—अतइति । दशाविशेषे परलोकानङ्गीकर्तृत्वादिविप्रति-

अथवा—व्यावहारिकसत्त्वपरेयं विश्वसत्यत्वश्रुतिः । नच व्यावहारिकसत्त्वे सर्वाविप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यम्; दशाविशेषे स्वर्गनरकादिसत्त्वप्रतिपादनेन तत्प्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तत्प्रयोजनत्वात् । व्यावहारिकत्वं च ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वं न त्ववाध्यत्वम्; मिथ्यात्वबोधकश्रुतिविरोधात् । नचैवं दृढभ्रान्तिजनकत्वात् अत्यन्ताप्रामाण्यापत्तिः; स्वप्रार्थप्रतिपादनवदुपपत्तेः । एतावानेव विशेषः—तत्प्राप्तिभासिकं, इदं तु व्यावहारिकमिति । ननु—मिथ्यात्वश्रुतेर्लक्षणया अखण्डचिन्मात्रपरत्वेन सत्त्वबोधनात् अविरोधित्वमेव, न; अखण्डार्थबोधस्य द्वितीयाभावबुद्धिद्वारकत्वेन जगत्सत्यत्वविरोधित्वात् । नच प्रपञ्चसत्यत्वश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः; अतत्त्वावेदकत्वस्यावान्तरतात्पर्यमादायेष्टत्वात्, परमतात्पर्येण तु तत्त्वावेदकत्वं सर्वश्रुतीनामपि समम्; प्राप्तिभासिकव्यावृत्तस्य व्यावहारिकस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वादिरूपस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् । आसां व्यावहारिकं प्रामाण्यमव्याहतमेव । 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यादिश्रुत्यनुरोधेनापि 'तत्सत्य'मित्यादिश्रुतिर्न ब्रह्मणि व्यावहारिकसत्त्वपरा; ब्रह्मणो व्यवहारातीतत्वात्, तस्यापरमार्थत्वेन च निरधिष्ठानतया शून्यवादापत्तेः, किञ्चित्तत्त्वमगृहीत्वा च बाधानुपपत्तेः । अतएव सत्यत्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवान्यपरेत्यपि न; षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतत्वेन मिथ्यात्वश्रुतेरनन्यपरतया प्रबलत्वात्, वैदिकतात्पर्यविषयस्य च तात्त्विकत्वनियमेन तात्पर्यज्ञापकानामपि लिङ्गानामर्थतथात्व एव पर्यवसानात् । सत्त्वश्रुतिवाक्यस्थपदानां चान्यपरत्वाच्च सत्त्वे तात्पर्यलिङ्गाशङ्का । ननु—यदि सत्त्वश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वाच्च स्वार्थपरा, तर्हि मिथ्यात्वश्रुतिरपि तद्विरुद्धार्थत्वात् स्वार्थपरा न स्यात्, तत्प्राप्तिनद्विरोधयोस्तात्पर्याभावहेत्वोरुभयत्रापि समत्वात्—इति चेन्न; प्रत्यक्षापेक्षया चन्द्राधिकपरिमाणबोधकागमस्येव मिथ्यात्वबोधकागमस्यापि बलवत्त्वेन प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्त्वश्रुत्यपेक्षयापि बलवत्त्वात्; अन्यथोभयोरपि अप्रामाण्यापत्तेः । नदुक्तं संक्षेपशारीरके—'अतत्परा तत्परवेदवाक्यैर्विरुध्यमाना गुणवाद एवेति ।' अतएवानन्यशेषमिथ्यात्वश्रुतिविरोधात् न प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्वपरा जगत्सत्यत्वश्रुतिरित्युक्तम् । अद्वैतश्रुतेश्च प्राबल्ये निरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिकमेव प्रयोजकम्, न निषेधवाक्यत्वम् । एतेन—निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये किति तद्विते

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पत्या स्वर्गादौ सत्यतासन्देहदशायाम् । यद्यपि स्वप्नादिविषयमिव मिथ्यात्वसत्यत्वाभ्यां सन्दिग्धमपि स्वर्गादिकमुद्दिश्य प्रवृत्त्यादिकं सम्भवत्येव; तथापि तत् 'अलीकं न वे'ति सन्देहे तदसम्भवादलीकवैलक्षण्यज्ञानाय श्रुत्या सत्तादात्म्यरूपं सत्त्वमुच्यते, तच्च व्यावहारिकम्; व्यवहारकाले प्रपञ्चस्याबाधादिति भावः । प्रयोजनवत्त्वादिति । तथाच स्वार्थानुवादरूपत्वेऽपि समुदायद्वित्वसम्पादनरूपप्रयोजनवत्त्वाद्विद्वद्वाक्यं यथा स्वार्थपरं, तथोक्तप्रयोजनसत्त्वाद्विश्वसत्त्ववाक्यमिति भावः । श्रुतिविरोधादिति । व्यावहारिकसत्त्वपरत्वे सम्भवति मानान्तरासिद्धाबाध्यत्वपरत्वकल्पने गौरवादित्यपि बोध्यम् । दृढभ्रान्तीति । श्रुतिजन्यभ्रान्तेर्मानान्तरप्राप्तार्थकत्वेन संवादात् भ्रमत्वज्ञानाविषयत्वरूपं दृढत्वमित्यर्थः । अत्यन्ताप्रामाण्येति । उक्तदृढभ्रान्तिजनकत्वव्यवहारित्यर्थः । प्रतिपादनवत् प्रतिपादनस्य 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीया'दिति श्रुतेः पश्यतीत्यन्तभागस्येव । मिथ्यात्वश्रुतेः एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतेः । समानविभक्तिकनानानामरूपत्वेनेति शेषः । अगृहीत्वा चेति । चकारात् ब्रह्मणः साक्षित्वेन बाधानुपपत्तेरिति हेत्वन्तरस्य समुच्चयः । तथाच बाध्याधिकसत्ताकविषयकत्वं बाधकत्वे प्रयोजकमिति पक्षे तात्त्विकविषयकज्ञानस्यैव बाधकत्वात् शून्यवादानुपपत्तिः । बाध्यान्यूनसत्ताकविषयकत्वस्यैव बाधकत्वे प्रयोजकत्वमिति पक्षे च साक्षिणो बाधानुपपत्त्या सेति भावः । नन्वद्वैतश्रुतेः प्राबल्येऽपि कर्मवाक्यवत् व्यावहारिकप्रामाण्यमस्तु, तत्राह—वैदिकतात्पर्येति । वेदमहातात्पर्येत्यर्थः । तथात्वे तात्त्विकत्वे । नन्वेवं विश्वसत्त्वेऽपि तात्त्विकत्वमस्तु; तच्छ्रुतेरुपपत्तिरूपतात्पर्यलिङ्गसङ्गात्, 'आपश्च न प्रमिणन्ती'ति प्रामाणिकत्वं तत्र मोघमित्यर्थ-क्रियाकारित्वं चोपपत्तिर्हि वाक्यशेषे तत्राप्यस्ति, तत्राह—सत्त्वश्रुतीति । अन्यपरत्वात् स्तुतिपरत्वात् । मन्मते ब्रह्मात्रपरमतात्पर्यकत्वात् परमते स्तुतिद्वारा वादिविप्रतिपत्तिनिरासद्वारा वा प्रवृत्तिनिवृत्तिपरमतात्पर्यकत्वात् । चकारान्मानान्तरप्राप्तिविरोधाभ्यां विश्वसत्त्वे न तात्पर्यम् । तद्विरुद्धेति । प्रत्यक्षतदनुवादादिसत्त्वश्रुतिविरुद्धेत्यर्थः । प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्त्वश्रुतीति । प्रत्यक्षं च तत् प्राप्तानुवादिसत्त्वश्रुतिश्चेति उभयेत्यर्थः । प्रत्यक्षापेक्षयेव बलवत्त्वमागमत्वादिनाक्तश्रुत्यपेक्षयाप्युक्तं, तथापि दूषणान्तरनिराचकीर्षया श्रुत्यपेक्षया पुनराह—प्राप्तेति । अतत्परा स्वार्थपरत्वशून्या विश्वसत्त्वादिश्रुतिः । गुणवादः स्वार्थपरश्रुतिशेषस्वार्थबोधहेतुः । किति चेतीति । इलक्षणगुण-

वृद्धिविधायकात् 'कितिचे'ति सूत्रात् सामान्यतो गुणवृद्धिनिषेधकं 'कितिचे'ति सूत्रं बलव-
त्स्यात्, अग्नीषोमीयवाक्यादहिंसावाक्यं षोडशिनो ग्रहणवाक्याद्ग्रहणवाक्यं 'सत्यं ज्ञान' मित्या-
दिवाक्यात् 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यादिवाक्यं च बलवत्स्यादित्यपास्तम् । सामान्यविशेषभा-
वादिना सावकाशत्वनिरवकाशत्वादिरूपबलवैपरीत्यात्, 'विश्वं सत्य'मित्यादेस्तु व्यावहारिक-
सत्यविषयतया अन्यशेषतया च सावकाशत्वादेः प्रागुक्तत्वात् । तस्मान्न सत्त्वश्रुतिविरोधः ॥ नापि
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । एतां वृद्धिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥' इत्यादिस्मृति-
विरोधः; सद्विविक्तत्ववादिनो मम जगत्सद्वैलक्षण्यज्ञीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृतिविरोधाभा-
वात् । ननु—'नाभाव उपलब्धेः' 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिव'दिति सूत्रद्वयेन जगतः पारमार्थिकसत्त्व-
बोधनेन विरोधः, नचनेन शून्यवादिनिरासार्थेनासद्वैलक्षण्यमात्रप्रतिपादान्न विरोधः; अर्थक्रि-
याकारित्वलक्षण्यस्यासद्वैलक्षण्यस्य शून्यवादिमतेऽपि सत्त्वेन तन्मतनिरासार्थत्वानुपपत्तेः, निषेधा-
प्रतियोगित्वरूपस्यासद्वैलक्षण्यस्य त्वयाप्यनङ्गीकारात् असद्वैलक्षण्यमात्रस्य साधने सूत्रे स्वप्नवै-
लक्षण्योक्त्ययोगाच्च, व्यावहारिकसत्यत्वमात्रेण स्वप्नवैलक्षण्यस्य त्वयाप्यङ्गीकारात्, असद्वैलक्ष-
ण्यमात्रस्य तन्मतेऽपि सत्त्वाच्च, तदुक्तं बौद्धैः—'द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना' इति—
चेन्न; सूत्रार्थानवबोधान् तथाहि—सद्रूपात् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदित्यनु-
मानेन विरोधसन्देहे 'न सन्नासन्न सदसत् न चानुभयतत्त्वकम् । विमतं तर्कपीड्यत्वान्मरीचिषु
यथोदकम् ॥' इति ब्रह्मसाधारण्यान्निस्तत्त्वतायां प्राप्तायां सूत्रेण परिहारः । सतो ब्रह्मणो नाभावः
न शून्यत्वं, उपलब्धेः सत्त्वेन प्रमाणात् प्रतीतेः । तथाच किञ्चित्परमार्थसदवश्यं शून्यवादिनापि
स्वीकार्यम्; अन्यथा बाधस्य निरवधिकत्वप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः सच न प्रपञ्चसिध्यात्वविरोधी ।
तथाचोक्तं—'बाधितोऽपह्नवो मानैः व्यावहारिकमानता । मानानां तात्त्विकं किञ्चित् वस्तु नाश्रित्य
दुर्भणे'ति । नापि स्वप्नवैधर्म्योक्त्ययोगः; तस्याः 'विमतं निस्तत्त्वं तर्कपीड्यत्वात् मरुमरीचिकाजलव'दि-
त्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणागम्यत्वदोषजन्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनपरत्वात् विज्ञानवादनिराकरणपरेणापि
नानेन सूत्रेण विरोधः । रूपादिरहितब्रह्मजगदुपादानत्वप्रतिपादकसमन्वयस्य नीलाद्याकारं विज्ञानं
साध्यता अनुमानेन विरोधसन्देहे 'स्वप्नधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्ध्याऽर्थस्य सहेक्षणात् । तद्भेदेनानिरू-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वृद्धोर्निषेधोऽयम् । 'किति चे'ति विहिता वृद्धिस्तु नेगलक्षणा । इगलक्षणत्वं हि इक्पदमुच्चार्य विहितत्वम् । तथाच
भिन्नविषयत्वाद्ग्र सामान्यविशेषन्यायोक्तिः परस्य आन्त्यैवेति बोध्यम् । सावकाशत्वेत्यादि । सावकाशत्वादिकं
बलवैपरीत्यं, निरवकाशत्वादिकं बलमिति व्युत्क्रमेणान्वयः । वादिनः वादिनोऽपि । तत्प्रतिपादकेति । जगतः
सदसदन्यत्वपरेत्यर्थः । यतः अनीश्वरम् ईश्वरोपादानशून्यमतोऽसत्यं सत्योपादानशून्यम् । अतश्च बाधावधिरूपप्रति-
ष्ठाशून्यमिति ये माध्यमिका वदन्ति, तन्निन्दया सत्योपादानकं सत्यज्ञानबाध्यं चेत्युक्तस्मृतावुक्तम् । शास्त्रदर्पणोक्ता-
मधिकरणरचनामाह—तथाहीत्यादि । वदतः प्रतिपादयतः । समन्वयस्य प्रथमाध्यायस्य । तर्कपीड्यत्वात्
तर्कविरुद्धरूपात् । तथाहि—न सत् बाधयोग्यत्वात् । नासत् कालसंबन्धात् । न सदसत् विरोधात् । नचानु-
भयतत्त्वकं तात्त्विकत्वेन सदसद्भेदयोरभाववत्; ताभ्यां निर्वचनासंभवात् । विमतं सत्त्वेन प्रतीयहम् । तेन तुच्छे
न बाधासिद्धी, चरमसाध्योस्तु विषयत्वेनैव पक्षता; तुच्छेऽपि हेतुसाध्यसत्त्वात् । न शून्यत्वमिति । ब्रह्म, न
बाध्यम्, बाधायोग्यत्वात्, इत्यत्र तात्पर्यम् । निरवधिकत्वेति । बाध्याधिकसत्ताकवस्त्वविषयकत्वेत्यर्थः । बाधित
इत्यादि । वस्तुनामपह्नवो बाधः । मानैर्बाधितः मानानामबाधितविषयकत्वरूपप्रामाण्यस्यौत्सर्गिकत्वात् मान-
विषये बाधासंभव इति भावः । ननु बाधकप्रमाणबलाद्ब्रह्मस्तुग्राहकमानानां व्यावहारिकमानतास्तु, तत्राह—व्याव-
हारिकेत्यादि । अनाश्रित्य बाधकधीविषयत्वेनास्वीकृत्य । यत् यद्बाधकधीविषयः, तत् तदपेक्षया अधिकसत्ताकम्;
अन्यथा समबलत्वेन बाध्यबाधकत्वव्यवस्थानुपपत्तेः । अतस्तात्त्विकस्य धीरेव व्यावहारिकस्य बाधिकेति भावः ।
अथवा—अनाश्रित्य साक्षित्वेनास्वीकृत्य । साक्षिणो बाधे तस्य साक्षी अन्यो वाच्यः तस्याप्यन्य इत्यनवस्था ।
साक्ष्यन्तरास्वीकारे निःसाक्षिकबाधानुपपत्तिः । तदुक्तम्—'अप्रत्यक्षप्रकाशस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति ।' इति । अप्र-
काशमानप्रकाशेन नार्थसिद्धिरित्यर्थः । उपाधीति । बाध्यत्वादेः स्वप्नधर्मस्य ब्रह्मादावभावप्रदर्शनेन स्वप्नादौ
निश्चितसाध्यव्यापकत्वं ब्रह्मणि साधनाव्यापकत्वं च दर्शितमिति भावः । विमता नीलाद्यनुभवरूपा धीः, ज्ञानव्यतिरि-
क्तालम्बना, न स्वात्यन्तविलक्षणविषयिका, नानुभवत्वशून्यविषयिकेति यावत्; स्वस्वरूपसमानसत्ताकविषयतादात्म्य-

प्यत्वात् ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम् ॥ विप्रता धीः, न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्, स्वप्नधीवत् । विपक्षे च ज्ञानाभावेऽप्यर्थभानप्रसङ्गो बाधकः । नहि भिन्नयोरश्वमहिषयोः सहोपलम्भनियमोऽस्ति । तस्मान्न ज्ञानातिरिक्तं सदिति प्राप्ते परिहारसूत्रं 'नाभाव उपलब्धे'रित्यादि । बाधेन सोपाधिकतानुमाने उपायाभावेन सहोपलम्भः सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदस्थूलार्थभङ्गो भवतोऽपि तुल्यः । सूत्रार्थस्तु, नाभावः—ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्य नास्त्यम्, किंतु व्यवहारदशावाध्यार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वमेव । उपलब्धेः—ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलब्धेः । स्वप्नवैधर्म्योक्तिः बाध्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनाय । तेन बाधात् सोपाधिकत्वाच्च पूर्वानुमानं दुष्टमित्यर्थः । तस्मान्नैवमपि विरोधशङ्का । तदुक्तं तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः, किंतु बाह्यः । स चार्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽपि अद्वैतश्रुतिवशात् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन्नितिसिद्धान्तस्य सुगतमतोद्भेद इति । उक्तं चात्मतत्त्वविवेके—'न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः । नोचेदनित्यसिद्धमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥' इति । धर्मिग्राहकमानवाधश्च प्रागेव परिहृत इति शिवम् ॥ इति विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिवाधोद्धारः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

युक्तेति वार्थः । विज्ञानवादिना हि ज्ञानतद्विषयप्रमात्रादीनामत्यन्ताभेदेऽपि कल्पितभेदेन प्रमाणप्रमातृप्रमेयप्रमितिभेद इत्युच्यते । अनीलादिव्यावृत्त्युपहितं ज्ञानं प्रमेयम् । तत्प्रकाशनोपहितं प्रमितिः । तद्व्यत्युपहितं प्रमाणम् । तदाश्रयत्वोपहितं प्रमातृ । उक्तं च भामतीकल्पतर्वादावेवम् । तथाच ज्ञानविषयतत्तादात्म्यानामेकजातीयसत्ता विज्ञानवादे स्वीक्रियते । औपनिषदमते नीलादितादात्म्यमनुभवनिष्ठमपि नानुभवसमानसत्ताकमिति न सिद्धसाधनम् । धीत्वात् अनुभवत्वात् । स्वप्नधीवत् अनुभवविषयकस्वाप्नधीवत् । औपनिषदमते शुद्धस्यानुभवस्य स्वाप्ने अवच्छिन्नानुभवे विषयतारूपतादात्म्यसत्त्वाच्च साध्यवैकल्यम् । नच—उक्तानुभवविषयस्य जडस्यानुभवत्वशून्यत्वात् बाध इति विज्ञानमात्रविषयके अननुभवाविषयकत्वसत्त्वात् सिद्धसाधनं तदवस्थमिति—वाच्यम्; तवानुभवाविषयकत्वावच्छेदेनानुभवाविषयकत्वासत्त्वात्, औपनिषदं प्रत्यनुभवत्वाश्रयविषयकत्वस्यैव साध्यत्वाद्वा । नीलादिरूपो योऽननुभवस्तद्विषयकत्वावच्छेदेनानुभवविषयकत्वस्यास्तिकैरस्वीकाराच्च सिद्धसाधनम् । योगाचारेण तु एकव्यक्तेरवानुभवत्वनीलत्वादिस्वीकारात् । नीलत्वाद्याश्रयविषयकत्वावच्छेदेनैवानुभवविषयकत्वं स्वीक्रियत इति न बाधः । एवं नीलाद्यनुभवः, स्वसमसत्ताकनीलत्वादिसंसर्गयुक्तः, अनुभवत्वात्, यो यद्विषयकानुभवः सः तद्व्यतिरिक्तसाधारणधर्मस्य स्वसमानसत्ताकसंसर्गवान् यथाऽनुभवविषयकानुभवोऽनुभवत्वस्य स्वसमसत्ताकसंसर्गवानिति सामान्यतो व्याप्तिः । बुद्ध्यर्थस्य सहेक्षणादित्यादेस्तर्कप्रदर्शनपरत्वमाह—नहीत्यादि । ननु—तुच्छस्य ज्ञानत्वशून्यस्यापि ज्ञानविषयत्वाद्यभिचारः, तत्राह—न ज्ञानातिरिक्तं सदिति । ज्ञानत्वशून्यं न सत् न तुच्छविलक्षणमित्यर्थः । तथाच तुच्छविलक्षणविषयकज्ञानत्वमेवानुभवत्वम्, तुच्छज्ञानं तु विकल्पः, नानुभव इति नानुभवत्वं व्यभिचारीति भावः । बाधेनेति । सहायं तृतीया । ज्ञानादत्यन्तभेदस्थार्थेषूपलम्भात् ज्ञानज्ञेययोरभेदानुमानं बाधितार्थकं बाध्यत्वादुपाधियुक्तं चेत्यर्थः । उपायेति । यथा प्रभा रूपग्रहे उपायभूता तद्विषयीभूतापि न रूपं, तथा ज्ञाने उपायभूतो विषयो ज्ञानग्रहे विषयीभूतोऽपि न ज्ञानम्, विषयोपरागेणैव ज्ञानग्रहाद्विषयस्य ज्ञानोपायता । अथवा—उपायो ज्ञानग्रहस्य विषयग्राहकतानियामकं ज्ञानविषयत्वम्, तस्य भावेन विषये विद्यमानत्वेन, सर्वथापि सहोपलम्भो नोक्तसाध्यसाधक इति भावः । ननु ज्ञानेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः ज्ञानान्यविषयकल्पने गौरवम्, तत्राह—सारूप्येत्यादि । अपिशब्दः काकाक्षिवदुभयत्रान्वेति । स्थूलार्थभङ्गेऽपि सारूप्यतो ज्ञानतदर्थयोरत्यन्तभेदः सौत्रान्तिकस्येव तव योगाचारस्यापि आवश्यकत्वेन तुल्यः । सौत्रान्तिको ह्यवयवविखण्डनादियुक्तिभिः स्थूलार्थं खण्डयित्वा परमाणुसमूहमेव ज्ञानादत्यन्तभिन्नमर्थमङ्गीकृतवान्; अन्यथा ज्ञाने विषयस्य प्रतिबिम्बरूपसारूप्यानुपपत्तेः । त्वयापि स्थूलार्थं खण्डयता तथाऽङ्गीकार्यम्, अन्यथा विषयात्मकरूपस्य तादात्म्यरूपं यत्तदभ्युपगतं ज्ञाने विषयस्य सारूप्यं तदनुपपत्तेः, ज्ञानविषययोरभेदे तादात्म्यानुपपत्तेः । नहि ज्ञानं ज्ञानमिति तादात्म्यधीः संभवति । नच—तयोः कल्पितभेदस्वीकारेण नोक्तानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; भेदस्येव तादात्म्यस्यापि कल्पितत्वस्योचित्यात् । अन्यथा ज्ञानस्योत्पत्तिविनाशकल्पने गौरवात्, संसर्गखण्डनयुक्त्या ज्ञाने नीलादितादात्म्यस्य बाधात् । नच—औपनिषदानामते विषयाणामुत्पत्तिनाशकल्पनेन मया साम्यमिति—वाच्यम्; अनादिविषयकज्ञानस्थले तव ज्ञानोत्पत्त्यादिगौरवात्, तेषां विषयस्याप्युत्पत्त्यकल्पनात् । बाध्यत्वाद्युपाधीति । स्वप्नधीर्बाध्येति तत्र साध्यव्यापकता । जाग्रदीरबाध्येति तत्र साधनाव्यापकतेति भावः । ननु मिथ्यात्वानुमाने मानसिद्धस्यैव पक्षत्वादभिग्राहकमानबाधः, तत्राह—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मीति । धर्मिग्राहकमाने व्यावहारिकप्रामाण्यमुपजीव्यम्; तच्च मिथ्यात्वानुमानेन नापसार्यते, यच्चापसार्यते, तत् तात्त्विकप्रामाण्यं नोपजीव्यमित्यादि पूर्वमुक्तम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विश्वमिथ्यात्वे आगमादिबाधोद्धारः ॥

अथागमबाधोद्धारः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

“विश्वं सत्यं” “यच्चिकेत सत्यं” “याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः” इति श्रुतिबाधिताश्च दृश्यत्वादयः; प्रथमश्रुत्या विश्वसत्यत्वस्य द्वितीयश्रुत्या सत्यजगत्सृष्ट्यस्य तृतीयश्रुत्या प्रपञ्चयाथातथ्यस्य च प्रतिपादनात् । “सन् घट” इत्यादिप्रत्यक्षे सद्रूपब्रह्मानुवेधमात्रं, नतु ब्रह्मसत्त्वस्य भानमित्यङ्गीकारेण भवन्मते प्रत्यक्षप्राप्त्यसंभवेन प्रथमश्रुतेः, जगत्सृष्ट्यस्य मानान्तराप्राप्तत्वेन द्वितीयश्रुतेश्चानुवादकत्वायोगात्, यथाकथंचन प्रत्यक्षप्राप्तत्वेऽपि “पृथिवी इतरेभ्यो भिन्ना” “न हिंस्यात्सर्वा भूतानी”त्यादाविवैकदेशविधेयसिद्धावपि विश्वमात्रसत्यत्वस्यासिद्ध्या सिद्धावपि “दध्ना जुहोती”त्यादीनामिवांशतः प्राप्तत्वेऽपि “आपश्च न प्रमिणन्ती”त्यप्राप्तांशमादाय, एकशाखास्थवाक्यैकार्थशाखान्तरीयवाक्यानां पुरुषविशेषं प्रतीव विप्रतिपत्त्याऽनिर्णीतविश्वसत्तावन्तं पुरुषं प्रति सार्थकत्वसंभवेनानुवादकत्वासंभवात् । उक्तं हि भवदीयैरप्यस्तीत्येवोपलब्धव्य इति श्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिलमाशङ्क्य वादिविप्रतिपत्तिनिरसनेन सार्थक्यम् । युक्तं चैतत्; “द्वयोः प्रणयन्ती”ति वाक्यावैयर्थ्याय चातुर्मास्यमध्यपर्वणोश्चोदकाप्राप्तप्रणयनप्रापकत्ववदुक्तश्रुत्यवैयर्थ्याय वर्तमानमात्रावगाहप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयाबाध्यत्वरूपसत्यत्वप्रापकत्वसंभवात् । अतएव हि आत्मानन्दत्वश्रुत्यननुवादकलोपपत्तिः; अन्यथा तस्या अपि सुप्तोऽहं सुखमित्यादिप्रत्यक्षप्राप्तानुवादलापत्तेः । “अग्निर्हिमस्य मेषजमि”तित्वप्राप्तविषयान्तराभावादनुवाद इति युक्तम्; तत्रापि यदि प्रत्यक्षप्राप्ते तत्रानाश्वासः स्यात्, तर्हि तन्निरासे न श्रुत्यादीनामपेक्षेति युक्तम्; नैवमग्निहिममेषजत्वे कस्याप्यनाश्वासः । एतेन—प्रत्यक्षसिद्धसर्वाशेषबोधकत्वेऽप्युक्तश्रुतिः प्रमाणमेवेति—सूचितम्; प्रत्यक्षानाश्वासनिराकरणेन दार्ढ्यार्थत्वात् । तदुक्तम्—“बहुप्रमाणसंवादश्च दार्ढ्यार्थहेतुरिति”ति । एवंचाद्वैतश्रुतेरिव द्वैतश्रुतेरपि स्वार्थप्रामाण्यमेवाङ्गीकार्यम् । उभयाप्रामाण्ये चासिद्धेऽद्वैतश्रुतिगौणविषया संपद्यते । वस्तुतस्तु—प्रत्यक्षप्राप्तद्वैतसत्यत्वनिराकरणपराद्वैतश्रुतिबाधनेन प्रतिप्रसवार्था एव द्वैतसत्त्वश्रुतयः; यथाऽश्वमेधे चोदकप्राप्तस्य “षड्विंशतिरस्य वङ्क्य” इत्यस्य चतुर्विंशद्वाजिनो “देवबन्धोरिति”ति वैकृतमन्त्रविशेषेण बाधितस्य प्रतिप्रसवार्था “षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति”ति श्रुतिः ॥

तस्मात्—

धर्मिप्रमातृधर्मादिभेदान्न द्वैतगीर्वृथा । अहिंसावाक्भिन्नशाखावाक्द्विप्रणयनादिवत् ॥ इति सिद्धम् ।

वस्तुतस्तु—प्रत्यक्षस्य श्रुतिपुरोवादत्वं न युक्तम्; तस्य प्रमाणत्वे श्रुत्यादिबाधकत्वेन अप्रमाणत्वे प्रमापकत्वाभावेन च तत्त्वायोगात्, प्रमाभ्रमयोरेकविषयत्वाभावेन प्रमितप्रमापकत्वरूपानुवादकत्वस्य श्रुतौ निरूपयितुमशक्यत्वात्, स्वप्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादापेक्षस्य प्रत्यक्षस्य पुरोवादत्वासंभवात् । अतएव हि “सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म”त्यननुवादकत्वसिद्धान्तोपपत्तिः; अन्यथा लोकतो भ्रमाधिष्ठानत्वलिङ्गेन च प्राप्तार्थबोधकत्वेन तस्याप्यनुवादलापत्तेः । किंच श्रुतेः किं सापेक्षानुवादत्वमुत निरपेक्षानुवादत्वम् । आद्ये—श्रुतेः सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वेनासिद्धिः, द्वितीये—धारावाहिकज्ञानवन्नाप्रामाण्यहेतुः । सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिरिति नयविवेकवाक्यं वाचस्पतिमतं चात्रानुकूलम् । किंच किं सप्रयोजनानुवादत्वमुत निष्प्रयोजनानुवादत्वम् । नाद्यः; विद्वद्वाक्यवत्स्वाध्यायपरतायामविघातात् । अस्तु वा कथंचिदनुवादकत्वमेव श्रुतेः, तावताऽपि नेष्फल्यमात्रमेव नाप्रामाण्यम्; याथार्थ्यस्यैव प्रामाण्यरूपत्वात् । नहि वायुक्षेपिष्ठादिवाक्यवत्सुत्यर्थः; नित्यानुवादप्रयोजनस्याबाधरूपस्यैवाङ्गीकार्यत्वात्, दृष्टं ह्यनूद्दितानामपि व्रीहीणां तात्त्विकवनियमो “व्रीहीन्प्रोक्षती”त्यादौ । नेहनानास्तीति श्रुतावेव किंचनपदेन निषेधसमर्पणाच्चिषेधार्थत्वे नानुवादोपयोगः । “सुरां पिबेदिति” वाक्यान्तराभावेऽपि स्ववाक्यसमर्पितं निषेध्यमादायापि निषेधस्य “न सुरां पिबेदिति”त्यत्राङ्गीकारात्, यत्तत्रेति निषेधार्थानुवादलिङ्गाभावाच्च । निषेधलिङ्गाभावेऽपि तदर्थमनुवादे तत्सत्यमित्यादि “न सत्तन्नासदुच्यते” इति निषेधाय “सन् घट” इति प्रत्यक्षप्राप्तसद्रूपब्रह्मानुवाद इत्यापत्तेः । एतेन—आनन्दश्रुतेरप्यसुखमित्यादिनिषेधार्थलापत्तिः—सूचिता । वस्तुतस्तु—“विश्वं सत्यमि”त्यादिवाक्यप्रतिपाद्यबाध्यत्वनिषेधाय नेहेत्यादिश्रुतिरेव विज्ञानवादसिद्धिमिथ्यात्वानुवादिनीत्यापत्त्या विनिर्गमनाविरहेण द्वैतश्रुतिरेवानुवादिनीति कल्पना निरालम्बनैव; प्रत्यक्षाप्राप्तशब्देकगम्यधर्मादिसत्त्वानुवादकत्वस्य कथमप्यङ्गीकर्तुमशक्यत्वात्,

शब्दप्राप्तस्य शब्देनानुवादे एतच्छाखास्थाम्रीषोमीयवाक्यस्य “न हिंसादि”ति निषेधार्थं शाखान्तरस्थाम्रीषोमीयहिंसानु-
वादिलस्य सत्यमित्यादिवाक्यस्य “इदं वाग्र”इति निषेधाय तत्सत्यमित्यादिवाक्योक्तब्रह्मसत्तानुवादिलस्य चापत्तेश्च ।
एतेन—षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतत्वादद्वैतश्रुतिप्राबल्यशङ्काऽपि—**निराकृताः** तात्पर्यग्राहकाणां लिङ्गानां अर्थतथालग्राहक-
त्वायोगेन तत्पारमार्थिकत्वानिर्णयात् । एवंच सत्यलक्ष्यतेः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वेन स्वार्थपरत्वाभावे मिथ्यात्वश्रुतेस्तद्विरुद्धार्थ-
परत्वेन तदापत्तिः । प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वनिषेधपरा मिथ्यात्वश्रुतिरिति चेत्, सत्यलक्ष्यश्रुतिरपि तादृशसत्यत्व-
परेति श्रुतिबाधितत्वात् दृश्यत्वादिहेतवोऽप्रयोजकाः । **एतेन**—अद्वैतवाक्यस्य निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्यशङ्कादिकं—
पराहृतम्; अम्रीषोमीयादिवाक्यादहिंसावाक्यस्य ग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यस्य सत्यज्ञानादिवाक्यादसद्वैत्यादिवाक्यस्य च
प्राबल्यापत्तेः, अनुपजातविरोधित्वविशेषविषयत्वनिरवकाशत्वादिना द्वैतवाक्यस्यैव प्राबल्याच्च । अतएव “असत्यमप्रति-
ष्ठितं ते जगदाहुरनीश्वरं” “नाभाव उपलब्धेः” “वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि” त्यादिस्मृतिसूत्राद्युपपत्तिः । **नच**—उक्तस्मृति-
सूत्रे शून्यवादनिरासार्थं न द्वैतनिरासार्थं इति—शङ्कनीयम्; अर्थक्रियाकारित्वादिना शशशृङ्गादिवैलक्षण्यस्य तन्मतेऽपि
सत्त्वात्, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मन्मतेऽसद्वैलक्षण्यं तन्मते तु तन्नास्तीति वैलक्षण्यात् तन्मतनिराक-
रणार्थमेवोक्तसूत्रप्रवृत्तिरिति तु नाशङ्कनीयम्; “द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बहूनां धर्मदेशना । लोके संवृत्तिसत्यत्वं सत्त्वं च
परमार्थतः । सत्त्वं तु द्विविधं प्रोक्तं सांवृतं पारमार्थिकम् । सांवृतं व्यावहार्यं स्यान्निवृत्तौ पारमार्थिकम् ॥” इति बौद्धोक्त्या
द्विविधस्य सत्त्वस्य शून्यत्वादिसतेऽप्यङ्गीकाराज्जाग्रत्स्वप्नप्रयोरपि तन्मतेऽपि वैलक्षण्यस्य सिद्धत्वेन “वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि”ति
सूत्रान्तरविरोधतादवस्थ्यात् इति आगमबाधिता दृश्यत्वादिहेतव इत्युपपन्नम्—इति वर्णयन्ति ।

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

नोक्तागमबाधिता दृश्यत्वादयः । **तथाहि**—प्रथमश्रुतेरिन्द्राब्रह्मणस्पतिस्तुतिपरत्वेन द्वितीयश्रुतेरिन्द्रस्तुतिपरत्वेन तृती-
यश्रुतेः पूर्वसर्जनक्रमेण सर्जनमात्रपरत्वं, नतु जगत्सत्त्वप्रतिपादकत्वं सर्जनसत्त्वप्रतिपादकत्वं वेत्यङ्गीकरणीयत्वेनोक्तश्रुति-
त्रयेण बाधाप्रसक्तेः । यत्र सुत्यादिपरत्वं नास्ति, तत्र तु प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वानुवादकत्वमात्रं नतु तदबाधितत्वबोधनेऽपि
तात्पर्यम्, अग्निहिंसस्य भेषजमितिवत् । “सन् घट” इति प्रत्यक्षे ब्रह्मसत्त्वमेव स्फुरतीति वचनस्य हि नान्यादृशं सत्त्वं
निर्वक्तुं शक्यमित्यभिप्रायत्वेन तत्रैव सत्यादिपदप्रवृत्तिस्वीकारेण तदतिरिक्तस्य विश्वसत्त्वस्य श्रुत्या बोधयितुमशक्यत्वेनानु-
वादकत्वपरिहारात् । पृथिवीलं हिंसालं च यथाऽनुगतो धर्मः, तथा न विश्वत्वमनुगतो धर्म इति पृथिव्यमेकदेशे विधेया-
सिद्धिवत् ब्राह्मणहिंसेतरहिंसायां निषेधासिद्धिवच्चात्र कुत्रापि प्रपञ्चे सत्त्वस्याप्राप्त्यभावेनोक्तदृष्टान्तेनानुवादकत्वशङ्काऽप्र-
सरात्, शाखाभेदेनाप्राप्तमानसमानार्थकवाक्यद्वयेऽयमेव पुरोवाद इति निर्णायकाभावेन पुरुषभेदेन सार्थक्योपपादनेऽपि
अत्र प्रत्यक्षस्य पुरोवादत्वनिर्णयेन पुरुषभेदेन सार्थक्यवर्णनस्याप्ययुक्त्वात्, अन्यथाऽग्निहिंसस्य भेषजमित्यादावपि अनुवा-
दत्वानापत्त्याऽनुवादकथाया एवोच्छेदापत्तिः । **एतेन**—बृहदारण्यकभाष्ये “अस्तीत्येवोपलब्धव्य” इत्यत्र प्रत्यक्षप्राप्तानु-
वादत्वमाशङ्क्य वादिविप्रतिपत्तिदर्शनादित्यादिना यत्परिहृतं तस्यापि वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन देहव्यतिरिक्तत्वेनात्मनः
प्रत्यक्षतैव नास्तीति जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वादौ शास्त्रमेव प्रमाणमित्येवाशय इति—**सूचितम्**; “विश्वं सत्यमिति”
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामध्यासेवाप्युपपत्त्या षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिबाधिते त्रैकालिकाबाध्यत्वे उक्तश्रुतितात्पर्या-
संभवेन “द्वयोः प्रणयन्ती”ति दृष्टान्तस्याप्येतदननुगुणत्वमेव । सुखमहमस्वाप्समित्युपहितानन्दविषयः, श्रुतिस्तु स्वरूपान-
न्दविषयिणीति मित्रविषयत्वेनानन्दश्रुत्यनुवादत्वं नापादनमर्हति । अग्निहिंसभेषजत्व इव प्रत्यक्षसिद्धे विश्वसत्यत्वेऽप्यना-
श्वासाप्रसङ्गेन न दार्ढ्यार्थत्वेनापि द्वैतश्रुत्युपपत्तिसंभवः । सुषुप्तिकालसंबन्धित्वेन ज्ञानग्राहकं श्रुत्यप्रत्यक्षमपेक्ष्य सृष्टिपूर्वका-
लसंबन्धित्वेन तद्ग्राहकश्रुतेर्मित्रविषयत्वेन तत्र दार्ढ्यार्थत्वमिति हि युक्तम् । **एतेन**—प्रतिप्रसवार्थत्वं द्वैतश्रुतेरिति
शङ्काऽपि—**पराहृताः** मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वेऽपि द्वैतश्रुतेस्तद्बाधकत्वस्य न चतुर्विंशदिति ब्रूयादत्रेव निषेधाश्रव-
णेनायुक्तत्वात् । नहि प्रमितप्रमाणकत्वमेवानुवादकत्वम्, किंतु ज्ञातज्ञापकत्वमात्रमिति अप्रमाणस्याऽपि प्रत्यक्षस्य पुरोवा-
दत्वं संभवत्येव; प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादापेक्षत्वे श्रुतिसंवादविरहिणि कुत्रापि दृष्टेऽर्थे निःशङ्कप्रवृत्त्यनापत्तेः,
“अग्निहिंसस्य भेषज”मित्यादीनामपि अननुवादकत्वापत्त्याऽनुवादकत्वकथोच्छेदप्रसङ्गाच्च । **एतेन**—सत्यं ज्ञानमिति श्रुत्य-
नुवादकत्वशङ्काऽपि—**पराहृताः**, ब्रह्मसामानाधिकरण्येन सत्त्वस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वाऽप्राप्तत्वात् । अनुवादकत्वस्यैव
लाघवेनाप्राप्त्यन्तर्वात्सापेक्षानुवादत्वादिकल्पस्य नावकाशः । **वस्तुतस्तु**—सत्त्वप्रत्यक्षं विना तन्मूलशक्त्यादिग्रहमूल-
कशब्दप्रवृत्त्यसंभवात्सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षानुवादत्वेऽपि नास्माकं क्षतिरिति सर्वमनवद्यम्; वाचस्पतिमतस्याप्यत्रैव स्वारस्यात् ।
समुदायद्विधापादनस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य विद्वद्वाक्येनैव बोधनीयतयाऽनुवादस्याऽपि तस्य स्वार्थपरत्वेऽपि प्रकृते स्वार्थ-
परत्वायोगात् । वादिविप्रतिपत्तिनिरसनरूपप्रयोजनेन स्वार्थपरत्वोपपादनेऽग्निहिंसस्य भेषजमित्यादिवाक्यानामपि तदापत्तिः ।

‘अप्राप्ते शास्त्रमर्थवद्भवती’ति न्यायेन “यत्परः स शब्दार्थ” इति न्यायेन च याथार्थ्यरूपमेव प्रामाण्यमिति विवक्षितुमशक्यत्वेनानुवादत्वेऽपि नैष्कल्यमात्रमेव नाप्रामाण्यमिति वर्णनासंभवात् । इदं रजतमिति यत् ज्ञानं तन्मिथ्येति वाक्ये स्वाप्राध्यासे च व्यभिचारेणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमाभावेन तत्रैव निषेधार्थत्वेनानुवादसार्थक्यान्नानुपपत्तिः । किंचनेत्यनेन सामान्यतो निषेध्यसमर्पणेऽपि वाक्यान्तरेण विशिष्य निषेध्यसमर्पणे बाधकाभावात्, “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती”ति वाक्यान्तरप्राप्तस्याऽपि वाक्यान्तरेण निषेधदर्शनेन सति संभवे वाक्यान्तरस्यापि निषेध्यसमर्पकत्वात्, “आपश्च न प्रमिणन्ती”त्यादीनां श्रुत्यर्थत्वेन निषेधार्थसमर्पकत्वेनैवानुवादप्रयोजनस्य वर्णीयत्वात्, लिङ्गाभावेन लैङ्गिकाभावस्य वक्तुमशक्यत्वेन “यत्तत्रेत्या”द्यनुवादलिङ्गाभावेऽपि क्षतिविरहात् । “न सत् तन्नासदुच्यते” इति तु शून्यवादप्रसङ्गात् ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्यत्वस्य प्रत्यक्षादिभ्योऽप्राप्तेश्च न सत्यत्वादिनिषेधपरम् । एतेन—आनन्दश्रुत्या अदुःखमसुखमिति निषेध्यमेव समर्प्यत इति शङ्काऽपि—पराहता; तत्र सुखपदेन वैषयिकसुखस्यैव विवक्षणेन भिन्नविषयकत्वात् । एतेन—विज्ञानवादसिद्धमिथ्यात्वनिषेधेन सत्यत्वविधानार्थमेव “नेहे”त्यादिश्रुतिरिति शङ्का—परास्ता; भावाभावयोः परस्परविरहपत्वेऽपि भावग्रहो निरपेक्षत्वान्नाभावग्रहमपेक्षते, अभावग्रहस्तु सप्रतियोगिकतया भावग्रहमपेक्षत इति सत्यत्वबोधनार्थं मिथ्यात्वश्रुत्यनपेक्षणात् । अग्नीषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषयत्वं नानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्त्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षाप्राप्तधर्मादिसत्त्वोपस्थापनेन निषेधविषयसमविषयकत्वेन स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन चान्यशेषत्वेन च निषेधवाक्यशेषत्वे बाधकाभावात् । एतेन—सत्यत्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवानुपपत्तेर्यादिशङ्का—परास्ता; वैदिकतात्पर्यविषयस्य तात्त्विकत्वनियमेन तात्पर्यग्राहकाणामपि लिङ्गानामर्थतथात्वे एव पर्यवसाने षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतेर्वलीयस्त्वात् । एवं च प्रत्यक्षप्राप्तार्थबोधकत्वेनानुवादभूतसत्यत्वश्रुतिरद्वैतश्रुतिर्वाच्यैवेति सिद्धम् । “अतत्परा तत्परवेदवाक्यैर्विरुद्ध्यमाना गुणवाद एवे”ति सङ्क्षेपशारीरोक्तेः । “निरवकाशतात्पर्यवत्त्वादिकमेवाद्वैतश्रुतिप्रबलतायां तन्त्रमि”ति निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये उपपादिताग्नीषोमीयादिवाक्याप्रामाण्यापत्त्यादयः अनुक्तोपालम्भनमात्रमित्यवसेयम् । यथाचासंजातविरोधत्वादिना न द्वैतवाक्यप्राबल्यं तथा पूर्वमेव प्रत्यक्षबाधोद्वारे निरूपितमिति नोक्तश्रुतिबाधिता दृश्यत्वादयः । एतेन स्मृतिसूत्रविरोधोऽपि परिहृतप्राय एव; शून्यवादनिरासपराणां तेषामस्मन्मतेनाविरोधात् । “नाभाव उपलब्धे”रिति सूत्रेण ब्रह्मसत्त्वस्यैव प्रतिपादनात्, विमतं नित्वस्तं, तर्कपीड्यत्वादित्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणगम्यत्वदोषजन्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनेन विज्ञानवादस्यैव वैधर्म्याच्च न स्वाप्रादिव”दित्यनेन निषेधादिति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

आगमबाधिता एव दृश्यत्वादयः । तथाहि—स्तुतिपराणामप्युक्तश्रुतीनां देवताधिकरणन्यायेन विश्वसत्यत्वेऽपि तात्पर्यस्याङ्गीकरणीयतया बाधकत्वस्य संभवात्, घटत्वाद्यवच्छेदेन सत्यत्वस्य प्रत्यक्षतः प्राप्तेऽपि विश्वत्वाद्यवच्छेदेनाप्राप्तत्वात्, ‘पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते’ न हिंस्यादि’त्यनयोरिव सार्थकत्वेनानुवादकत्वायोगात्, विश्वशब्दस्य सर्वनाम्नोऽपि सर्ववृत्त्यनुगतधर्मप्रकारेण सर्वोपस्थापकत्वस्यानुभवसिद्धत्वेन विश्वत्वं नानुगतं पृथिवीत्वं लनुगतमिति वचनस्यायुक्तत्वात् । ‘न हिंस्या’दित्यत्र हिंसात्वावच्छेदेन न किंचिदपि विधीयते इति हिंसात्वानुगमकथनं वितथम् । भूयस्त्वेनोभयश्रुतिन्यायेन कर्मस्वरूपनिश्चयवद्वेदद्रष्टृप्रथमव्यक्त्यपेक्षया पुरोवादनिश्चयेऽपि व्यक्तिभेदेन शाखाभेदेनाप्रायमानवाक्यद्वयचारितार्थवत्त्वादिप्रत्यक्षस्थानादिवेदपुरोवादकत्वायोगेन पुरुषभेदेन सत्त्वप्रत्यक्षश्रुत्योः सावकाशत्वसंभवात् । “अग्निर्हिंसस्य मेघजमि”त्यादौ तु सर्वाविवादस्य सिद्धत्वादनुवादत्वमिति युक्तम्; वादिविप्रतिपत्त्यादीनामभावात् । एवं च यथा आत्मास्तित्वे शास्त्रमेव प्रमाणम् वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन तत्र प्रत्यक्षप्रमाणस्याप्रवृत्तेरिति भवदीयभाष्ये उक्तम्, एवमत्रापि वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन प्रत्यक्षप्रमाणस्य न प्रवृत्तिरिति न तस्य पुरोवादत्वमिति मन्तव्यम् । द्वैताद्वैतवाक्ययोर्विरोधे भानान्तराविरुद्ध एवार्थोऽध्यवसातव्यः; अन्यथा “यजमानः प्रस्तर” इत्यादीनामपि तात्त्विकयजमानाभेदबोधकत्वापत्त्या तत्त्वमसीत्यादीनामपि तात्त्विकविशिष्टाभेदपरत्वापत्त्या मीमांसाद्वयोन्मूलनापत्तेरिति द्वैतश्रुतेरेवाद्वैतश्रुतिबाधकत्वेन त्रैकालिकाबाध्यत्वरूपसत्त्वपरत्वेन विश्वसत्यत्वश्रुतेरुपपत्तेर्वर्णीयतया “द्वयोः प्रणयन्ती”ति दृष्टान्तोऽनुगुण एव । एतेन—‘सुखमहमस्वाप्समि’ति प्रत्यक्षसिद्धानन्दस्वरूपानुवादकत्वमेवानन्दश्रुतेरपि स्यादित्यापत्तिरपि—व्याख्याता; भिन्नविषयत्वादिनाऽनुवादत्वपरिहारो विश्वसत्त्वश्रुतेरपि तत्त्वेन समानः । “एतावन्तं कालं शुद्धं ब्रह्म नावेदिष”मित्यनादिकालसंसृष्टत्वेनाज्ञानानुभवात् सृष्टिकालसंबन्धेनाप्यज्ञानस्यानुभवात् “तम आसी”दित्यादीनामप्यनुवादत्वापत्तिः । प्रत्यक्षानाश्वासनिरासेन दार्ढ्यार्थत्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम् । “असंयोगाद्भिद्विकि”दिति कित्वविधिसन्धिपठितस्य “मृडमृदगुधकुपक्लिशवदवसः क्त्वा” इति सूत्रस्य “न क्त्वासेडि”ति कित्वापवादं प्रति निषेधाश्रवणेऽपि यथा बाधकत्वं, तथा प्रकृतेऽपि प्रतिप्रसवार्थत्वसंभवात् । मास्तु वोक्तपक्षः, एवमपि प्रमाणस्य श्रुतेरप्रमाणप्रत्यक्षावधिकमनुवादित्वं न संभवतीति न प्रत्यक्षसिद्धानुवादत्वं श्रुतेरिति मन्तव्यम्; प्रमितप्रमापकत्वमेवानुवादत्व-

मिति नास्माभिरभिहितमिति तत्खण्डनादिकं निरालम्बमेव । अन्यथा अज्ञोऽस्मि सत्सुखस्फुरणमित्यादिप्रत्यक्षेणाज्ञत्वस्फुरणस्यैव ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन प्रत्यक्षप्राप्तसत्त्वानुवादित्वमेव सत्यादिवाक्यस्येत्यापत्तेः । **वस्तुवस्तु**—“सत्यं ज्ञानमि”ति वाक्यमपि न ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वप्रतिपादनपरं, तस्य “ब्रह्मविदाम्प्रोति परं” इत्युपक्रान्तवेदनकर्तृस्वरूपबोधनार्थमेव प्रवृत्तत्वादिति मन्तव्यम् । याथार्थ्यमेव प्रामाण्यमित्यनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वाच्च केवलानुवादत्वमेवाप्रामाण्यप्रयोजकम्, किंतु सापेक्षानुवादत्वमेवेति सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षसत्त्वश्रुतेः केवलानुवादत्वेऽपि प्रामाण्यमङ्गीकरणीयमेव; अन्यथा “सत्यं ज्ञान”मित्यादीनामपि सापेक्षानुवादत्वापत्त्या प्रामाण्यापत्तेः । वादिविप्रतिपत्तिनिरासेन सप्रयोजनत्वाद्विद्वद्वाक्यवत्त्वार्थप्रामाण्यमप्यङ्गीकरणीयमेव; “अग्निर्हिमस्य मेषजमि”ति वाक्यस्याऽपि सत्यां विप्रतिपत्तौ स्वार्थपरत्वस्येष्टत्वात् । किंचायमनुवादो न तावत्सुखार्थोऽन्यविधानार्थो वेति निषेधार्थमिति वर्णनीयम् तत्र चास्थूलमित्यादिभिः विशिष्य निषेधेन “नेहे”त्यादिना च सामान्यतो निषेधेन विशिष्य निषेध्यस्यानपेक्षणात् न निषेध्यसमर्पकत्वसंभवः । अन्यथा “अदुःखमसुखमि”त्यादौ अपेक्षितनिषेध्यसमर्पणार्थैवानन्दश्रुतिरित्यापत्तेः; दुःखस्यैव वैषयिकत्वाव्यभिचारेण दुःखसामान्यपरदुःखशब्दसहकृतसुखशब्देनाप्यानन्दसामान्यग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । सत्यत्वस्य भावरूपमिथ्यात्वाभावरूपतया तद्बोधयन्त्याः श्रुतेरेव मिथ्यात्वश्रुत्यपेक्षत्वमिति द्वैतसत्यत्वं एव सर्वागमतात्पर्यम् । यथाच अग्निषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषयत्वेन न निषेध्यसमर्पकत्वम्, एवं प्रत्यक्षप्राप्तधर्माधर्मादिसत्वबोधकविश्वसत्यत्वश्रुतेरपि “नेति नेती”ति निषेध्यसमर्पकत्वस्यासंभवात्, यथाचाद्वैतश्रुतेस्तात्पर्यलिङ्गवत्त्वं, तथा द्वैतश्रुतेरपीति तात्पर्यविषयस्य द्वैतसत्यत्वस्यापि तात्त्विकत्वस्यावश्यकत्वेन मिथ्यात्वानुमानासंभवात्, वादिविप्रतिपत्तिनिरासेन सप्रयोजनत्वाच्च । “अतत्परा तत्परवेदवाक्यै”रिति सङ्क्षेपशारीरकवचनविरोधाभावात्, प्रत्युत मिथ्यात्वश्रुतेरेव मानान्तरविरोधेन प्रस्तरादिवाक्यवदतत्परत्वेन भवन्मत एवोक्तवचनविरोधादिति श्रुतिवाधिता दृश्यत्वादय इति सिद्धम्; एवं “वैधर्म्याच्च न खप्रादिवदि”ति सूत्रविरोधोऽपि विज्ञेयः । निस्तत्त्वानुमाननिराकरणपरया स्वप्नवैधर्म्योक्त्या मिथ्यात्वानुमानस्यापि तद्रूपत्वात्तन्निराकरणेऽपि सामर्थ्यं विद्यत इति भवतां प्रतिकूलत्वादिति सर्वमनवयम्—इति प्रत्यवतिष्ठन्ते ॥

(४) अत्र लघुचन्द्रिकाकाराः—

नागमवाधिता दृश्यत्वादयः; प्रत्यक्षादिसिद्धव्यावहारिकसत्त्वविषयकत्वेनैवोपपत्तौ अद्वैतश्रुतिसिद्धविरुद्धतात्त्विकसत्त्वपरत्वकल्पनाया अयुक्तत्वेन देवताधिकरणन्यायाप्रवृत्तेः, “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासावि”त्यादौ पुत्रत्वपशुत्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकनानात्वेऽप्येकपदार्थत्वाच्च वाक्यभेद इति वार्तिकादावुक्तत्वेन विश्वशब्देनापि घटत्वादधर्मपुरस्कारेण व्यक्तिविशेषविवक्षाया एवावश्यकत्वेन पृथिवीतरभेदानुमानादिन्यायाप्रसारात्, “न हिंस्यादि”ति वाक्ये हिंसोद्देशेनानिष्टसाधनत्वसंबन्धबोधनेन तत्रानुगमकथनस्यापि सार्थकत्वात् । एकवेदगतशाखाद्वयाध्ययनस्य शास्त्रतोऽप्राप्तेरध्ययनायोग्यशाखागतानां समानार्थकवाक्यानां एकेन पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात् पुरुषभेदेनानुवादकत्ववदत्र तदसंभवेन तद्दृष्टान्तेनापि सार्थकत्ववर्णनासंभवात्, साद्विप्रत्यक्षस्य कथमनादिवेदपुरोवादत्वमिति तु प्रश्नः अग्निर्हिमस्य मेषजमित्यादौ भवतामपि मते समान इति “यश्चोभयो-रि”ति न्यायविषयत्वात् । नहि घटादिसत्त्वे वादिविप्रतिपत्तिर्दृश्यते; अस्माभिरपि घटादीनां व्यावहारिकसत्त्वस्याङ्गीकारात् । एवंचाग्नेर्हिममेषजत्वे व्यावहारिकत्वेऽपि विप्रतिपत्त्यभावात् यथा तद्वाक्यमनुवादः; एवं विश्वसत्त्वश्रुतिरप्यनुवाद एवेति मन्तव्यम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यासार्थवादरूपशब्दनिष्ठेन प्रामाण्यशरीरानधिगतत्वाबाधितत्वादिसंपादकार्थनिष्ठेनापूर्वतोपपत्तिफलरूपेण च त्रिकद्वयेन लिङ्गेनाद्वैतश्रुतेरेव प्रावत्यमिति सिद्धत्वेनोक्तलिङ्गरहितस्य “यजमानः प्रस्तर” इत्यादिवाक्यस्य द्वैतसत्यत्वश्रुतेश्च दुर्बलत्वेन द्वैतपारमार्थिकसत्यत्वस्याप्रामाणिकतया द्विप्रणयनदृष्टान्तस्याप्यननुगतत्वात् । **एतेन**—आनन्दश्रुत्यनुवादत्वापत्तिरपि—**पराहता**; तद्विषयकप्रत्यक्षागमयोर्भिन्नविषयत्वात्, उपहितविषयस्य शुद्धविषयत्वनियमस्य बाधकाभावे सत्येव प्रसारात् । अत्रच शुद्धस्यावृत्तत्वस्य बाधकत्वेन सुषुप्तावभानात् । **एतेन**—“तम आसीदि”ति श्रुत्यनुवादत्वमपि—**व्याख्यातम्**; “मृदमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वे”ति सूत्रे हि शब्दत एव कित्त्वं विहितमिति तस्य “न क्त्वा सेडि”ति सूत्रप्रतिप्रसवार्थत्वं युक्तम् । अत्र च विश्वसत्यत्वस्य पारमार्थिकस्य देवताधिकरणन्यायेन कल्पनीयतया ततश्च यस्य च श्रुतिविरोधेऽप्रवृत्तेर्न प्रतिप्रसवार्थत्वमिति “न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयादिति”न्यायोऽपि न प्रसरति । भ्रमसिद्धस्याप्यर्थस्येदंरजतमिति यत् ज्ञानं तन्मिथ्येति निषेधप्रमार्थमनुवादस्य दर्शनेन प्रमाणस्य श्रुतेरप्रमाणप्रत्यक्षबोधितानुवादत्वमपि संभवत्येव । “सत्यं ज्ञान”मिति तु ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्यत्वप्रतिपादनपरमेवेति न “यो वेदे”ति वाक्यान्तरैकवाक्यता तत्रेति न दोषः । “सत्यं ज्ञान”मिति वाक्यमपि सत्यपदशक्तिग्रहार्थं सत्त्वप्रत्यक्षापेक्षं चेदपि तत्र लक्षितसत्यस्वरूपबोधनतात्पर्येण नानुवादित्वम् । एवंचोक्तसत्त्वानुवादस्य निषेध्यसमर्पणेनैव सप्रयोजनत्वं ननु वादिविप्रतिपत्तिनिरासेन, प्रत्यक्षसिद्धेऽर्थे वादिविप्रतिपत्त्यसंभवादिति विश्वसत्यत्वे नोक्तश्रुतितात्पर्यं, “नेहनानास्ती”ति श्रुत्या ब्रह्मणि प्रपञ्चसत्त्वा-

अथासत्साधकत्वोपपत्तिः ।

ननु—सत्त्वसाधकानां मिथ्यात्वसाधकानुमानेभ्यः प्राबल्यम् ; मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वबोधने सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः, तद्वोधने परस्परव्याहृतिराश्रयासिद्धादिकं चेति—चेन्न; मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वबोधनेऽपि व्याहृत्यभावात्, प्रतिज्ञादिभिस्तेषां त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वाप्रतिपादनात् । ननु—साधकत्वान्यथानुपपत्त्या परमार्थसत्त्वमायाति परमार्थसत् एव साधकत्वात्, साधकतायाः प्राक् सत्त्वघटितत्वात्, ननु धीमात्रविषयत्वम्, अपरोक्षधीविषयत्वं, सत्त्वेन तादृशधीविषयत्वं वा साधकताप्रयोजकम्, तुच्छे नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्त्यव्याप्तिभ्याम् । तत्त्वेन ज्ञानमपि न तत्र प्रयोजकम्; वह्नित्वेनाज्ञातेऽपि वह्नौ दाहकत्वदर्शनात् वह्नित्वेन ज्ञातेऽपि गुञ्जापुञ्जे तददर्शनाच्च, नापि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधितासत्त्वप्रतीतिस्तन्नम्; आत्मनो गौरत्वेनानित्यत्वस्य नभसो नैत्येन स्पर्शवत्त्वस्य चापत्तेः, गौरोऽहं, 'नीलं नभ' इत्यादिप्रतीतावपि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधात्, यौक्तिकबाधस्य त्वन्मते प्रकृतेऽपि भावादिति—चेन्न; यादृश्या बुध्या तव नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तया घटादौ सत्त्वसिद्धिः, तादृक्बुद्धिविषयत्वस्यैव साधकत्वे तन्नत्वात् । अत एव लोकप्रसिद्धिस्तन्नमितीष्टसिद्ध्युक्तमप्युक्ताभिप्रायेण सम्यगेव । एवं त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

परस्परेति । मिथ्यात्वसाधकानां प्रतिज्ञादीनामनुमितेश्च मिथो व्याघातः । प्रतिज्ञया मिथ्यात्वस्य हेतुवाक्यादिना हेतुत्वादेश्चाबाध्यत्वलाभः । प्रतिज्ञाद्यधीनया मिथ्यात्वानुमित्या च मिथ्यात्वहेतुत्वादिदृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वरूपबाध्यत्वलाभ इति व्याघातात् । एवं पक्षादौ तद्विशेषणीभूतधर्माणामभावस्य मिथ्यात्वानुमित्यादिविषयीकरणादाश्रयासिद्धादिकम् । तथाचोक्तव्याघातादिमत्त्वेन मिथ्यात्वसाधकं दुर्बलमिति भावः । प्रतिज्ञादिना मिथ्यात्वादेरबाध्यत्वं लभ्यत इति यदुक्तं, तत् प्रतिज्ञादेस्तद्वोधकत्वाद्वा, तद्वोधकत्वान्यथानुपपत्तेर्वा । नान्त्यः; व्यवहारकालाबाध्यबोधकत्वेनैव तदुपपत्तेरित्याह—मिथ्यात्वेति । नाद्य इत्याह—प्रतिज्ञेति । अप्रतिपादनादिति । तद्वाचकपदाभावादिति शेषः । ननु—एवमप्याश्रयासिद्धादिकं स्थितमेव । नच—मिथ्यात्वानुमितेः पूर्वमाश्रयासिद्धाद्यनिश्चयात्तस्या उत्पत्तौ बाधकाभाव इति—वाच्यम्; कार्योत्पत्तिकाले बाधबुद्ध्यभावस्यापेक्षणीयत्वेन मिथ्यात्वानुमितेः दृश्यमात्रे तदाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वप्रकारिकाया उत्पत्त्यसंभवात्, प्रतिज्ञादिजन्यबोधेन तस्याः पूर्वमप्याश्रयासिद्धादिबोधनाच्चेति—चेन्न; व्याहृत्यभावादित्येनैवाश्रयासिद्धादिकृतव्याहृत्यभावस्याप्युक्तत्वात् । तथाहि—अनुमित्या प्रतिज्ञादिजन्यबोधेन वा पक्षतावच्छेदकविशिष्टे मिथ्यात्वं बोध्यते । नच तावता आश्रयासिद्धादिधीः; पक्षविशेषणतावच्छेदकादिविशिष्टे पक्षादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वज्ञानस्यैवाश्रयासिद्धादिनिश्चयत्वात् । यथा 'आकाशीयकुसुमं नीलगन्धवत् शुक्लरसवत्त्वादित्यादौ कुसुमादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्याकाशीयत्वादौ ज्ञानस्य । पृथिवी मिथ्येत्यादिविशेषानुमानेषु तु नाश्रयासिद्धादेः शङ्कापि । किञ्च प्रतियोगिव्यधिकरणाभावस्याश्रयासिद्धादिघटकत्वान्निमित्थात्वे च तस्याघटकत्वान्न कोऽपि दोषः । ननु—स्वतः प्रामाण्यबलात् धीमात्रस्य तद्वाहकेणाबाध्यविषयकज्ञानत्वरूपं प्रामाण्यं गृह्यत इति—चेन्न; त्रिकालाबाध्यत्वादिघटितप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वासंभवेन मिथ्यात्वेन यदज्ञातं तद्विषयकज्ञानत्वरूपप्रामाण्यस्यैव स्वतस्त्वात् । नहि ज्ञानग्राहकेण साक्षिणा स्वासंबद्धं कालादिकं गृह्यते, अज्ञातत्वं तु स्वसंबन्धत्वात् गृह्यत एव । तद्विशेषणतया मिथ्यात्वमपि गृह्यते । तदुक्तं विवरणे—'ज्ञाततया अज्ञाततया वा सर्वं साक्षिभास्य'मिति । साधकत्वेति । सिद्धिजनकत्वेत्यर्थः । ननु सत्यत्वरूपं सत्त्वं न साधकताघटकम्, किंतु धीविषयत्वादिकं, तत्राह—ननु धीति । धीमात्रं धीत्वविशिष्टम् । साधकाप्रयोजकं साध-

भाव एव बोध्यते, न प्रपञ्चभाव इति न सा सत्त्वश्रुत्याऽपेक्ष्यते इति तदनुवादेन मिथ्यात्वनिषेध एवोक्तश्रुतितात्पर्यमिति शङ्काप्येतेन पराहता । अमीषोमीयवाक्यस्य न्यूनविषयकत्वमेवेति युक्तम्, अन्यथोत्सर्गशालानवकाशत्वापत्तेः, विश्वसत्त्वश्रुतेस्तु न्यूनसत्त्वविषयकत्वे मानाभावः, घटादीनामिव धर्मादीनामप्यनुमानतः प्राप्तत्वादिति न तन्न्यायस्यात्र प्रसङ्गः । षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतेरेव द्वित्रिलिङ्गोपेताद्वैतश्रुत्यपेक्षया प्राबल्येनातत्परिति वचनमस्माकमेवानुकूलम् । यथाच शून्यवादमतवैलक्षण्यमद्वैतमते, न निस्तत्त्वमेव च मिथ्यात्वं, तथा पूर्वमेव निरूपितमिति न वैधर्म्याच्चेति सूत्रविरोध इति सर्वमनवद्यम्—इति समर्थयन्ति ॥

इति आगमबाधोद्धारः ॥

वादिप्रतिवादिप्राश्निकादीनां सत्त्वबुद्धिस्तन्वमित्युपपन्नमेव । गुञ्जापुञ्जस्य वह्नित्वे आत्मनो गौरत्वे नभसो नीलत्वे च तादृग्बुद्धिविषयत्वस्य तवाप्यसंप्रतिपत्तेः; अन्यथा तेषामपि तत्र सत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् । अथ—यादृश्या शब्दे क्लृप्तदोषरहितया बुद्ध्या तव ब्रह्मणि सत्त्वसिद्धिः; तादृश्या प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषरहितया मम जगति सत्त्वसिद्धिरस्तु साधकतुल्यत्वादिति—चेन्न; ब्रह्मसत्त्वबुद्धिवत् जगत्सत्त्वबुद्धेरवाधितत्वाभावात्, त्रिकालाबाध्यत्वरूपस्य सत्त्वस्य प्रत्यक्षाविषयताया उक्तत्वाच्च । नच—बुद्धिविषयत्वस्य तन्त्रत्वे वह्नित्वेनाज्ञातस्य वह्नेरदाहकत्वप्रसङ्गः, अमृतत्वेन ज्ञातस्य च विषयस्य सञ्जीवकत्वप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; वह्नौ तादृग्बुद्धिविषयत्वस्येश्वरादिसाधारणस्य सत्त्वात्, विषये सञ्जीवकत्वप्रसङ्गस्य नभोनैल्यादितुल्यत्वात् । वस्तुतस्तु—ज्ञाताज्ञातसाधारणं व्यावहारिकं सत्त्वमेव साधकत्वे तन्त्रम्; तच्च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वमेव; तच्च न मिथ्यात्वघटितम्; अत्यन्ताबाध्ये ब्रह्मज्ञानबाध्ये च तुल्यत्वात् अत एव नेदं परमार्थसत्त्वव्याप्यम् । एवंच परमार्थसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वेन तदभावेऽपि न साधकतानुपपत्तिः । एतेन—व्यावहारिकत्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं वा, व्यावहारिकविषयत्वे सति सत्त्वं वा, सत्त्वेन व्यवहारमात्रं वा । नाद्यः; मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयात् । नापि द्वितीयः; तस्यास्माकं मिथ्यात्वाविरोधित्वेनेष्टत्वात् । न तृतीयः; सत्त्वाभावे साधकत्वानुपपत्तेरिति—निरस्तम्; उक्तनिरुक्तेरदुष्टत्वात् । नच—हेत्वादीनां व्यावहारिकसत्त्वे साध्यस्यापि व्यावहारिकसत्त्वमेव स्यादनुमितिर्विषयसाध्यस्य परामर्शविषयहेतुना समानसत्ताकत्वनियमादिति—वाच्यम्; दृश्यत्ववन्मिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिकत्वेन समानसत्ताकत्वस्येष्टत्वात्, समानसत्ताकत्वनियमासिद्धेश्च, धूलीपटले धूमभ्रमादपि वह्न्यनुमितिप्रमादर्शनात्, गन्धव्याप्यपृथिवीत्वप्रमातोऽपि गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे पक्षे बाधास्फूर्तिदशायामनुमितिभ्रमदर्शनाच्च । मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्यत्वोपपत्तिः; सत्त्वेन सत इव मिथ्यात्वेन मिथ्याभूतस्यापि प्रमाणगम्यत्वाविरोधात्, एकांशे तत्त्वावेदकत्वाभावेऽपि अपरांशे तत्त्वावेदकत्वोपपत्तेः । ननु—व्यावहारिकत्वं साधकतायामतन्त्रम्; अज्ञानादिसाधके परमार्थसति साक्षिणि तदभावादिति—चेन्न; ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वस्यात्यन्ताबाध्येऽपि सत्त्वस्योक्तत्वात् । त्रैविध्यविभागे पारमार्थिकव्यावृत्तव्यावहारिकत्वनिरुक्तावपि जनकतायां तत्साधारण्येऽप्यदोषात् । वस्तुतस्तु—साक्ष्यप्यज्ञानोपहित एवाज्ञानादिसाधकः, स च व्यावहारिक एव; अनुपहितेन परमार्थसदाकारेण तस्यासाधकत्वात्, एवंच व्यावहारिकसत्त्वमेव सर्वत्र साधकतायां प्रयोजकमिति स्थितम् । यथाचाज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नात्माश्रयादिदोषः, तथोक्तं दृश्यत्वहेतूपपादने प्राक्; अग्रे च वक्ष्यते । यत्र च यत्साधकं व्यावहारिकं, तत्र तद्व्यावहारिकम्; यत्र तु साधकं प्रातीतिकं, तत्र फलमपि तथैव; न तु व्यावहारिकमिति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

कताघटकसत्त्वरूपम् । तादृग्बुद्धीति । व्यावहारिकसत्त्वेन धीरेव तादृशीति भावः । उक्तमेतत् खण्डने—‘कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम्; प्राक्सत्त्वनियमानभ्युपगमात् असत्त्वस्य सर्वासत्त्वविशेषादिति चेन्न; इदमस्मात् प्राक्सदिति बुद्ध्या विशेषात् । यादृश्या त्रिचतुरक्षयाबाधानवबोधे विश्रान्तया वस्तुसत्तानिश्चयस्ते, तादृश्यैव कारणतानिश्चयो ममापीति । आत्मनो गौरत्व इति । पारलौकिकफलार्थकानुष्ठानायापेक्षितेन देहात्मनोर्भेदनिश्चयेनात्मगौरत्वादेर्व्यवहारकालबाध्यत्वात्तत्र व्यवहारकालाबाध्यसत्त्वधीर्नेति भावः । नैल्यादीति । नैल्यादिसाधकताप्रसङ्गेल्यर्थः । सत्त्वमेवेत्येवकारेण पारमार्थिकसत्त्वमेव प्रयोजकमिति नियमो व्यवच्छिद्यते, न तु प्रातीतिकसत्त्वस्य प्रयोजकत्वम्; तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तत्त्वावेदकेत्यत्र तत्त्वं व्यवहारकालाबाध्यमबाध्यं वा । आद्ये आह—सत्त्वेनेति । व्यावहारिकसत्त्वेनेत्यर्थः । प्रमाणेति । व्यावहारिकप्रमाणेत्यर्थः । द्वितीये आह—एकेति । मिथ्यात्वेत्यर्थः । अंशान्तरेति । मिथ्यात्वघटकस्यात्यन्ताभावस्य तात्त्विकत्वे तदंशे तत्त्वावेदकत्वम्, तस्य व्यावहारिकत्वे परमतात्पर्येण ब्रह्मांशे तदित्यर्थः । अज्ञानादिसाधक इति । अज्ञानादिघटितेनाज्ञानादिज्ञानत्वेन रूपेणाज्ञानादिविषयकेच्छाद्वेषादिकार्यजनक इत्यर्थः । यथाश्रुते त्वसङ्गतिः; अज्ञानसाधकत्वं हि अज्ञाननिश्चयत्वम्, न तु कवित्कार्ये जनकत्वम् । ननु—व्यावहारिकसत्त्वमेव प्रयोजकमिति यदुक्तं, तन्न युक्तम्; प्रातीतिकादपि विषयसंबन्धात् सुखविशेषरूपकार्योत्पत्तेर्दृष्टत्वात्; अथालीकस्य व्यावृत्त्ये एवकारः, न तु प्रातीतिकस्येति वाच्यम्, तथापि स्वप्नयागादिना व्यावहारिकस्वर्गादिकं स्यात्, तत्राह—यत्र चेत्यादि । यत्र कार्ये । साधकं कारणम् । व्यावहारिकं व्यवहारसिद्धं प्रामाणिकमिति यावत् । यस्य यत्कार्यं प्रति कारणता प्रमाणसिद्धेत्यर्थः । तत्र तद्व्यावहारिकमिति । तस्मात्कारणात्कार्योत्पत्तिः प्रामाणिकीत्यर्थः । प्रातीतिकमप्रामाणिकम् । तथैव अप्रामाणिकमेव । कारणतायां प्रमाणाभावे कार्योत्पत्तावपि स इत्यर्थः । न तु व्यावहारिकं न तु व्याव-

सर्वविधिप्रतिषेधादिव्यवहारासङ्करः । अतएव—लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाधात्
भ्रान्तत्वापत्तिरित्युदयनोक्तमपि—निरस्तम्; व्यावहारिकसत्त्वेन लोकमर्यादानतिक्रमात् । भट्टाचार्य-
वचनानि विरुद्धत्वेन भासमानानि सत्त्वत्रैविध्यानिरूपणायामविरोधेन व्याख्यास्यन्ते । तस्मात्
पक्षादिसर्वमिथ्यात्वसाधनेऽपि न व्याहतिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वोपपत्तिः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हारिकमेव कारणं कार्यमिति वा नियम इत्यर्थः । यादृशयोः कार्यकारणत्वं प्रामाणिकं, तादृशयोरुत्पत्तितत्प्रयोजकत्वम्,
न तु व्यावहारिकत्वाद्यन्तर्भावेन नियम इति भावः । ननु—व्यवहारकालावाध्यत्वस्य प्रयोजकत्वं न कारणतावच्छे-
दकत्वम्; तद्रूपेण कारणतायां मानाभावात्, तद्व्याप्यरूपेणैव कार्यकारणत्वविशेषाणां स्वीकारेण निर्वाहात्, नापि
कारणताव्याप्यत्वम्, प्रातीतिकस्येवालीकस्य कारणत्वाप्रतिक्षेपात्, नापि कारणताव्यापकत्वम्; प्रातीतिकस्यापि
कारणत्वात्, अतएवालीकान्यत्वस्य प्रयोजकत्वमपि दुर्वचमिति—चेत्, अत्रोच्यते—तुच्छवैलक्षण्यस्य कार्यप्रयो-
जकत्वं यत्रचेत्यादिग्रन्थेन लब्धम् । अलीकवैलक्षण्यं च कालसंबन्धरूपम् । तस्य च कारणतानवच्छेदकत्वेऽपि
कार्योत्पत्तिप्रयोजकत्वमस्त्येव; कार्यवद्देशावच्छेदेन कार्याव्यवहितपूर्वकालसंबन्धस्य कारणनिष्ठस्य कार्योत्पत्तिनियामक-
त्वात् । ननु—‘सत्यत्वं न च सामान्यं; मृषार्थपरमार्थयोः । विरोधात्, न हि सिंहत्वं सामान्यं सिंहवृक्षयो’रित्या-
दीनि तर्कचरणीयानि भट्टवाक्यानि ब्रह्मप्रपञ्चप्रातीतिकसाधारणं त्वदभ्युपगतं तुच्छवैलक्षण्यरूपसामान्यधर्मं न सहन्ते,
तत्राह—भट्टेत्यादि । व्याख्यास्यन्ते इति । परमसत्यत्वस्य मृषार्थनिष्ठतोक्तवचनेन निषिद्धा, न तुच्छवैलक्षण्या-
देरित्यादि वक्ष्यत इत्यर्थः । इति लघुचन्द्रिकायामसतः साधकत्वम् ॥

अथासतः साधकत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

सत्त्वसाधकप्रमाणपेक्षया मिथ्यात्वसाधकानुमानानि दुर्बलानि; मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाहेतूदाहरणादिप्रापितसाध्यसाधन-
व्याप्त्यादीनामपि मिथ्यात्वबोधने परस्परव्याहतिबाधस्वरूपासिद्धिव्याप्यत्वासिद्ध्यापत्त्या, तुच्छनित्यानीन्द्रियेष्वतिव्याप्यव्याप्तिभ्यां
धीमात्रविषयत्वस्यापरोक्षतया धीविषयत्वमात्रस्य वा साधकतायामतन्त्रत्वेन, गौरोऽहं नीलं नभ इति प्रत्यक्षसिद्धगौरव-
नीलत्वादीनामप्यनित्यत्वस्पर्शवत्त्वसाधकत्वापत्त्या त्रिचतुरकस्यास्वबाधितसत्त्वस्य तादृशवादिप्राश्रिकसम्बन्धिधीविषय-
त्वेऽपि वा तथात्वेन, ब्रह्मज्ञानाबाध्यत्वरूपस्य अबाध्यत्वरूपसत्त्वविशेषस्य सत्त्वेन व्यवहारमात्रस्य वाऽपि क्रमेणान्योन्या-
श्रयेष्टापत्तिसाधकत्वानुपपत्तिपराहतत्वेन तथात्वेन, केवलव्यावहारिकत्वस्यापि साक्षिणोऽज्ञानासाधकत्वापत्त्या तथात्वेन,
प्रयोज्यवैजात्याभावेन तृणारणिमणिन्यायाप्रवृत्तेरनुगमेन च सत्तात्रयस्यापि पृथक् पृथक् तत्रातथात्वेन च, पारिशेष्या-
त्पारमार्थिकसत्त्वस्यैव साधकतायां तन्त्रत्वेनासतां दृश्यत्वादीनामसाधकत्वात् । यदि तु तदर्थं प्रतिज्ञादिप्रापितानामपि न
बोध्यत्वं बाध्यत इत्यङ्गीक्रियते, तर्हि सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः—इति वर्णयन्ति ।

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

धडादिसत्त्वसाधकत्वेन भवदभिमतनभोनैल्यादिधीव्यावृत्तधीविषयत्वस्य ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकसत्त्वस्य वा
साधकतायां तन्त्रत्वे न कोऽपि विरोधः; यत्रा ज्ञातस्यापि बह्वेदाहकत्वं, यत्रचामृतत्वेन ज्ञातस्य विषयस्य न संजीवकत्वं,
तत्र क्रमेणेश्वरसाधारणोक्तधीविषयत्वं, तादृशधीविषयत्वव्यतिरेकश्चैव विद्यत इति मन्तव्यम् । साक्षिणोऽप्युक्तरूपं व्यावहा-
रिकत्वं विद्यत इति नानुपपत्तिः । प्रयोज्यवैजात्यकल्पनया यत्र यत्साधकस्य व्यावहारिकत्वं, तत्र तद्व्यावहारिकम्, यत्र
यत्साधकं प्रातिभासिकं, तत्र तत्प्रातिभासिकम् इति साधकमेदकल्पने तु न किञ्चिदनुपपन्नम्; साक्षिणोऽप्यज्ञानोपहितस्य
व्यावहारिकत्वात् । एतेन—हेतुसमानसत्ताकत्वेऽपि साध्यादेरविरोध इति—सूचितम् । वस्तुतस्तु—प्रातिभासिक-
धूमादपि व्यावहारिकबहुयनुमितिदर्शनादुक्तनियमोऽप्रामाणिक इति निरूपितमिति मन्तव्यम् । एतेन—यादृश्या तव सत्त्व-
सिद्धिः, तादृशी धीर्मम तन्त्रमिति खण्डनकृद्बचनमपि—व्याख्यातं भवति; यथा सत्त्वसाधकत्वेन भवदभिमतबुद्धेर्बाधि-
तत्वेनाप्रामाण्यं परमार्थसत्त्वासाधकत्वं च तथाऽन्यत्र विस्तर इति । पारमार्थिकसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वाच्च मिथ्यात्वानु-
मानदैर्बल्यमिति—इति निरूपयन्ति ।

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तधीविषयत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वाव्यभिचारितया लाघवेन परमार्थसत्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वं युक्तम्; ब्रह्मणो

अथासतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम् ।

ननु—सत्त्वापेक्षया तुच्छविलक्षणत्वादेर्गौरवतरत्वेन साधकत्वे कथं तन्त्रत्वमिति—चेन्न; त्रिकाल-
बाधविरह रूपस्य सत्त्वस्य लघुत्वाभावात्, जात्यादिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, उभयसिद्धे
सद्विवेके साधकत्वदर्शनेन पारमार्थिकसत्त्वस्य साधकत्वाप्रयोजकत्वाच्च । तथाहि—प्रतिबिम्बे
बिम्बसाधकत्वं तावदस्ति । तस्य बिम्बात्मना सत्त्वेऽपि प्रतिबिम्बाकारेणासत्त्वात् परमार्थसत्त्वं
न साधकत्वे प्रयोजकम् । एवं स्वप्रार्थस्यासतोऽपि भाविशुभाशुभसूचकत्वम् । यद्यपि तत्रत्यदर्शन-
स्यैव सूचकत्वम्; 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यती'त्यादिश्रुतिबलात्; तथापि दर्शनमात्रस्यातिप्रस-
क्तत्वेन विषयोऽप्यवश्यमपेक्षणीय एव । एवं स्फटिकलौहित्यस्य उपाधिसन्निधानसाधकत्वं च ।
नच—लौहित्यं स्फटिके न मिथ्या, किंतु धर्ममात्रप्रतिबिम्ब इति न पृथगुदाहरणमिति—वाच्यम् ।
धर्मभूतमुखादिनैरपेक्ष्येण तद्धर्मभूतरूपादिप्रतिबिम्बादर्शनात्, प्रतिबिम्बस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमेन
लौहित्यस्य स्फटिके व्याप्यवृत्तिप्रतीत्ययोगाच्च । लौहित्ये स्फटिकस्य त्वारोपे तस्य प्रतिबिम्बत्वम्,
स्फटिके लौहित्यारोपे तु तस्य मिथ्यात्वमिति विवेकः । स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहित-
मेति लोहितो मिथ्यात्वं दर्शितं प्रतिबिम्बसत्यत्ववादिभिः पञ्चपादिकाकृद्भिः । एवं रेखातादा-
त्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम् । नच—रेखास्मारिता वर्णा एवार्थसाधका इति—वाच्यम्;
आशेषवमयं ककारोऽयं गकार इत्यनुभवात् अमेदेनैव सरणात्, विवेके सत्यपि दृढतरसंस्कार-
वशात् नारोपनिवृत्तिः । अतएव ककारं पठति लिखति चेति सार्वलौकिको व्यवहारः । वर्णारोपित-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बिम्बात्मनेति । औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे सति उपाध्यन्तर्गतत्वरूपेणारोपितधर्मेण विशिष्टत्वं प्रतिबिम्बत्वम् ।
तादृशधर्मशून्यत्वे सति उपाधिसन्निहितत्वं बिम्बत्वम् । सत्यन्तं घटाकाशे घटरूपोपाधिसमानपरिमाणेऽतिव्याप्तिवारणाय ।
अपेक्षणीय एवेति । तथाच कारणत्वस्याभावेऽपि तदवच्छेदकत्वात् ज्ञानरूपं कार्यं प्रति प्रयोजकत्वरूपं साधक-
त्वमिति भावः । धर्ममात्रेति । जपापुष्पधर्ममात्रेत्यर्थः । लोहितमेति । आत्मनः कर्तृत्वादिकं दार्ष्टान्तिकम् ।
पञ्चपादिकेति । तथाच तन्मतमालम्ब्योक्तम् । तेन वाचस्पतिमते लौहित्यं प्रतिबिम्बो धर्मारोपस्य धर्म्यारोप-
व्याप्यत्वेऽपि धर्मप्रतिबिम्बस्य न धर्मिप्रतिबिम्बव्याप्यत्वनियम इत्युक्तावपि न दोषः । ननु—कर्तृत्वादेर्मनोधर्मस्यात्मनि
संसर्ग आरोप्यते, न तु स्वरूपम्; 'इदं रजत'मित्यादौ रजतत्वादेः शुद्धस्यारोपे तस्य व्यावहारिकरजतादावविद्यमान-
स्यैवोत्पत्तेर्बाध्यत्वेन व्यावहारिकरजतवृत्तिरजतत्वाविप्रकारकप्रवृत्त्यादिकार्यस्य अमाधीनस्यानुपपत्तेः, तथाच दृष्टान्तेऽपि

वृत्तिव्याप्यत्वाभावपक्षे जगतोऽपि ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वेन शुक्तिज्ञानस्याऽपि ब्रह्मज्ञानत्वेन रजतादीनामप्युक्तव्यावहारिकत्वेन
यथाकथंचित्तस्य जगन्मात्रवृत्तिसंपादनेऽपि लाघवेनाबाध्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वात् । अज्ञानोपहितस्यैव साक्षित्वेऽन्योन्या-
श्रयभावापत्त्या केवलस्यैव तत्त्वस्याङ्गीकरणीयतयाऽज्ञानसाधकत्वे परमार्थसत्त्वप्रयोजकतया उभयसंमतत्वात् । प्रातिभासि-
केनापि स्वाप्नप्रदार्थेन व्यावहारिकफलानुभवस्य भवद्विरेवोपपादितत्वेन यत्र साधकं प्रातिभासिकं तत्र तत्फलं प्रातिभासिक-
मित्यादिवचनस्याप्युक्तत्वात् । यथाच प्रातिभासिकधूमाद्यावहारिकबहिसाधनं न संभवति, तथा पूर्वमेव निरूपितम् । एवंच
परमार्थसत्त्वस्यैव साधकतायां तन्त्रत्वेन प्रतिज्ञादिप्रापितानां मिथ्यात्वबोधने न प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति न्यायामृतीयसिद्धान्त
एव युक्तः—इति वदन्ति ।

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तधीविषयत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वाव्यभिचारस्य ब्रह्मणः श्रुतितात्पर्यविषयत्वप्रयुक्तत्वेन तद्वाधितत्वेन
जगत्स्य प्रत्यक्षानुसारेण तादृशसत्त्वाङ्गीकारयोगेन तस्य साधकताप्रयोजकतावच्छेदकत्वाभावात्तादृशीविषयत्वस्य, इतर-
विषयत्वानिरुपितात्मविषयताकात्मज्ञानेतरबाध्यत्वस्यैव ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वपदेन विवक्षणेन विरोधाभावेन तस्यैव
साधकतायां तन्त्रत्वेनादोषात्, यत्र चेत्यादिग्रन्थस्य कालसंबन्धरूपतुच्छवैलक्षण्यमेव साधकतायां तन्त्रमित्येव तात्पर्याच्चा-
सतोऽपि साधकत्वोपपत्तिः । यथोः कार्यकारणभावः प्रामाणिकः, तयोरेव प्रयोज्यप्रयोजकभावे तुच्छवैलक्षण्यं तन्त्रमिति न
स्वामिप्रकाशागात्स्वर्गापत्तिरित्यन्यत्र विस्तर इति सर्वमनवद्यम्—इति प्रतिपादयन्ति ।

इति असतः साधकत्वोपपत्तिः ॥

दीर्घह्रस्वत्वादीनां च नगो नाग इत्यादावर्थविशेषप्रत्यायकत्वम् । नच—वर्णेष्वनारोपितध्वनि-
साहित्यं तदभिव्यक्तिरूपं वा दैर्घ्यं प्रत्यायकम्, एवं ह्रस्वत्वादिकमपीति—वाच्यम्; ध्वनीनाम-
स्फुरणेऽपि दीर्घो वर्ण इत्यादिप्रत्ययात् । ननु—आरोपितेन वर्णदैर्घ्यादिना कथं तात्त्विकार्थसिद्धिः,
न ह्यारोपितेन धूमेन तात्त्विकवह्निसिद्धिरिति—चेन्न; साधकतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव साधकतायाः
प्रयोजकम्, न त्वारोपितत्वमनारोपितत्वं वा, धूमाभासस्य त्वसाधकत्वम्; साधकतावच्छेदकरूप-
व्याप्यभावात्, नासत्त्वात्; अनाभासत्वग्रहश्च तत्र बहुलोर्ध्वतादिग्रहणवद्यातिग्रहणार्थमेवापेक्षितः ।
तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—‘यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः, तथैवासत्त्वा-
विशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, नतु धूमाभासादिने’ति । दृष्टं हि मायाकल्पितहस्यादेः
रज्जुसर्पादेश्च भयादिहेतुत्वं सवित्सुषिरस्य च मरणसूचकत्वं शङ्काविषस्य च मरणहेतुत्वम् ।
ननु—तत्र शङ्कैव भयमुत्पाद्य धातुव्याकुलतामुत्पादयतीति सैव मरणहेतुः, नतु शङ्कितं विषमपि;
एवं सवित्सुषिरमायाकल्पितगजादीनामपि ज्ञानमेव तत्तदर्थक्रियाकारि, नत्वर्थोऽपि; तथाच सर्वत्रो-
दाहृतस्थलेषु ज्ञानमेव हेतुः, तच्च स्वरूपतः सत्यमेव; अन्वयव्यतिरेकावपि ज्ञानस्यैव कारणतां
ग्राहयतः, नहि सन्निहितं सर्पमजानानो विभेति । नच—अर्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽति-
प्रसङ्गादर्थवच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः, तथाचार्थोऽपि हेतुरेवेति—वाच्यम्; अर्थवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य
हेतुत्वेऽपि अवच्छेदकस्यार्थस्य ताटस्थ्येनाहेतुत्वोपपत्तेः (१) घटावच्छिन्नस्य तदत्यन्ताभावतद्-
ध्वंसादेर्घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽप्यवच्छेदकस्य घटस्य तदभाववत्, (२) घटेच्छा-
ब्रह्मज्ञानयोर्घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटब्रह्मणोः तदभाववत्, (३) घटप्रागभावस्य घटं प्रति
जनकत्वेऽपि घटस्याजनकत्ववत्, (४) विशेषादर्शनस्य भ्रमं प्रति जनकत्वेऽपि विशेषदर्शनस्य
तदभाववत्, (५) विहिताकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वेऽपि विहितकरणस्य तदभाववत्, (६) स्वर्ग-
कामनायाः यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत्, (७) अतीतादिस्मृत्यादेर्दुःखादिजनकत्वेऽ-
प्यतीतादेस्तदजनकत्ववत्, (८) असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्व्यवहारहेतुत्वेऽप्यसतस्तदभाववत्,
(९) चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदहेतुत्ववत्, (१०) ब्रह्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वेऽ-
प्युदासीनस्वभावस्य ब्रह्मणस्तदभाववत्, (११) ब्रह्माज्ञानस्य जगत्परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रह्मणस्तद-
भाववच्च । नच—तथापि मिथ्यार्थं ज्ञानव्यावर्तकताऽस्तीत्यसतोऽपि हेतुत्वमिति—वाच्यम्; नहि
व्यावृत्तधीहेतुत्वं व्यावर्तकत्वम्, किंतु व्यावृत्तिधीहेतुधीविषयत्वमेव; सत्यपि दण्डे तदज्ञाने
व्यावृत्त्यज्ञानात् । अथावच्छेदकस्य मिथ्यात्वे अवच्छिन्नस्यापि तन्नियमः, न; तुच्छज्ञाने तुच्छवैलक्षण्ये
च तुच्छत्वस्य, प्रातिभासिकाद्वैलक्षण्ये प्रातिभासिकत्वस्य, पञ्चमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां वा
अनिर्वचनीयाज्ञानस्य निवृत्तौ चतुर्थप्रकारानिर्वचनीयत्वस्य, पारमार्थिकात्मस्वरूपे तद्विज्ञे वा अनृत-
द्वैतस्याभावेऽनृतत्वस्य चादर्शनात् तत्रावच्छेदकानामसदादीनां ताटस्थ्येऽत्रापि तथास्त्विति—
चेत्, अत्रोच्यते—यदुक्तं ताटस्थ्यलक्षणमुपलक्षणत्वमेव सर्वत्रावच्छेदकस्येति । तन्न; विशेषणत्वे
संभवत्युपलक्षणत्वायोगात् । विशेषणवाधपूर्वकत्वादुपलक्षणत्वकल्पनायाः; अन्यथा ‘दण्डी प्रैषवा-
नन्वाह’ ‘लोहितोष्णीषा कृत्विजः प्रचरन्ती’त्यादावपि वेदे दण्डलौहित्यादेरुपलक्षणत्वात् तदभावेऽपि
अनुष्ठानप्रसङ्गः, ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’त्यत्र सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, ‘जन्माद्यस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लौहित्यसंसर्गस्यैवारोपोक्तिसंभवात् कथं लौहित्यस्वरूपमिथ्यात्वसाधकत्वं पञ्चपादिकाया इति—चेदुच्यते; संसर्गारोप-
मात्रेण न प्रतिविम्बत्वम्, किंत्वन्तरैकदेशावच्छिन्नसंसर्गारोपेण । लौहित्यस्य तु स्फटिके व्याप्यवृत्तित्वात् नोक्तारोप इति न
प्रतिविम्बत्वम्, किंतु संस्पृष्टरूपेण मिथ्यात्वमिति भावः । ध्वनिसाहित्यं दैर्घ्याश्रयध्वनिसाहित्यम् । नासत्त्वात् नारोपि-
तत्वात् । शङ्काविषेति । ‘विषमिद’मिति भ्रमस्य भयविशेषोत्पादकस्य विशेष्येत्यर्थः । अवच्छेदकस्य उपाधेः । अव-
च्छिन्नस्य तदुपहितस्य । उपलक्षणत्वात् उपलक्षणत्वापातात् । अनुष्ठानेति । यद्यपि मैत्रावरुणरूपदण्डी नात्र वाक्ये
विधीयते, ‘मैत्रावरुणः प्रैष्यति चान्वाहे’ति वचनप्राप्तत्वात्; तथापि दण्डस्यात्रावश्यं विधिः, तस्यचोपलक्षणत्वे प्रैषानु-
वचने साधनतया तद्विधानेऽपि कदाचित् सत्तामात्रेण तस्य साधनत्वसंभवेनोद्देश्यानुवचनकालव्याप्यं च तद्वारणं नानु-
ष्ठीयेत । यद्यपि हि तस्यावलम्बनरूपदृष्टद्वारा प्रैषानुवचने साधनता; तथापि तत्पूर्वसत्तामात्रेणापि तत्संभवात् तत्कालसत्ता
दण्डस्य न लभ्यते । विशेषणत्वस्वीकारे तु अनुवचनकर्मकभावनायां साधनतयाऽऽन्वितस्य दण्डस्य विशेष्यीभूतभावना-

यत' इत्यत्र जन्मनो ब्रह्मलक्षणत्वं न स्यात्; विशेषणार्थत्वेन तद्वृणसंविज्ञानबहुव्रीहिसंभवेऽप्युपलक्ष-
णार्थत्वेनातद्वृणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकारप्रसङ्गात् । एवं 'असिपाणयः प्रवेश्यन्ता'मित्यादिलौकिकप्र-
योगेऽपि प्रतिबिम्बादिज्ञानानां जनकत्वे च विशेषणतया प्रतिबिम्बादीनामपि जनकत्वे बाधाभावात्
नोपलक्षणत्वपक्षो युज्यते, उदाहृतस्थलेषु सर्वत्र बाधकमस्त्येवेति विशेषः । तथाहि—प्रथमे घट-
देशकालौ गृहीत्वा तद्विन्नदेशकालत्वं तदत्यन्ताभावादौ ग्राह्यम्; घटस्यापि तत्संबन्धे तद्देशकाल-
मिन्नदेशकालत्वमेव व्याहृतं स्यात् । द्वितीये त्विष्टापत्तिः; क्वचित् घटज्ञानस्य घटेच्छाजनकत्ववत् घटं
प्रत्यपि जनकत्वात्, ब्रह्मणो वेदान्तसाध्यत्वे तु नित्यत्वविरोधः । तृतीये प्रागभाववत् घटस्य स्वजन-
कत्वे प्रतियोगिप्रागभावयोः समानकालीनत्वापत्तिः, स्वाधिकपूर्वत्वघटितजनकत्वस्य स्वस्मिन्व्या-
हृतत्वं च । चतुर्थे पञ्चमे च प्रतियोगितदभावयोः सहावृत्त्या भ्रमप्रत्यवाययोरनुत्पत्तिप्रसङ्गः । षष्ठे
कामनावत् कामनाविषयस्य यागजनकत्वे तस्य प्राक्सत्तया तत्कामनैव व्याहन्येत; सिद्धे इच्छाविर-
हात् । सप्तमे अतीतस्य जनकत्वे कार्याव्यवहितपूर्वकाले स्वस्वव्याप्यान्यतरसत्त्वापत्तिः । अष्टमे असतो
जनकत्वे निःस्वरूपत्वव्याघातः । नवमे चिकीर्षितघटज्ञानवत् स्वस्य जनकत्वे पूर्ववद्व्याघातः । दशमे
उदासीनस्य ब्रह्मणो न निवर्तकत्वम्; स्वरूपतः उपहितस्यैव वृत्तिविषयत्वेन तस्या विषयत्वात्,
उपहितस्य च निवर्तकत्वमस्त्येव । एकादशे ब्रह्माज्ञानस्य परिणामिकारणत्वेऽपि न ब्रह्मणो जगत्कार-
णत्वम्; कार्यं जडत्वोपलम्भात् । एवंविधबाधकवलेन तत्रोपलक्षणत्वस्वीकारात् न च प्रकृते
बाधकमस्ति; अव्यवहितदेशकालादिवृत्तित्वस्य प्रातिभासिकसाधारणत्वात् । इदानीमत्र सर्प इत्यादि-
प्रतीत्यविशेषात् । न हि क्वचित् बाधकवलेन मुख्यपरित्यागः कृत इति सर्वत्र तथैव भविष्यति;
उत्कर्षाद्यनुविधानाच्च । तथाहि—स्वप्ने जागरे चोत्कृष्टकलधौतदर्शनात् उत्कृष्टं सुखम् उत्कृष्टसर्पादि-
दर्शनाच्चोत्कृष्टं भयादि दृश्यते; विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षानुविधानं कार्यं न स्यात्; न ह्यकारणोत्कर्षः
कार्यमनुविधत्ते इति न्यायात् । न च ज्ञानप्रकर्षादेव तत्प्रकर्षः; ज्ञानेऽपि विषयगतप्रकर्षं विहाया-
न्यस्य प्रकर्षस्याभावात् । अथ ज्ञानगता जातिरेव प्रकर्षः । न, चाक्षुषत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्,
विषयप्रकर्षणैवोपपत्तौ चाक्षुषत्वादिव्याप्यनानाजात्यङ्गीकारे गौरवान्मानाभावाच्च । किंच ज्ञानस्य
भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिन्नत्वमेव कारणतावच्छेदकमास्थेयम् । ज्ञानत्वेन जनकत्वे अतिप्रसङ्गात् ।
तथाच मिथ्यात्वावच्छिन्नत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वात् भ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि
मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव । जनकतावच्छेदकरूपेण च मिथ्यात्वे रूपान्तरेण सत्त्वमपसत्त्वात्

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्ययिन्यनुवचने समानकालीनत्वसंबन्धेनान्वयादनुवचनकालीनदण्डस्य साधनतालाभः, यथा 'पक्ता दण्डी'त्यादौ
पाकादौ समानकालीनतासंबन्धेन दण्डाद्यन्वयः । वस्तुतस्तु दण्डस्य पदार्थैकदेशत्वेन भावनायामन्वयासंभवादेव
विशेषणत्वं स्वीक्रियते; विशेषणत्वे हि दण्डिनो भावनायां साधनत्वेनान्वयात्तद्विशेषणतापन्नस्य दण्डस्यापि भावनायां
साधनत्वेनान्वयसंभवः । तत्र भावनायां दण्डिनः साधनतया प्राप्तत्वेऽपि दण्डस्याप्राप्तत्वात्तत्रैव विधितात्पर्यम् । क्वचि-
दिति । स्वसहकारिलाभस्थले । जनकत्वेति । उपधायकत्वैत्यर्थः । कार्यमात्रस्य कर्तृज्ञानादिजन्यत्वम्; कुलालादेर्घटा-
द्यालोचनद्वारैव घटादिहेतुत्वात् । स्वस्वव्यापारान्यतरेति । पूर्ववर्तिन एव कारणत्वम्, तच्च साक्षादिव परम्परयापि
संभवन्ति; 'गोमयैः पचती'त्यादिलौकिके 'तुषपक्ता भवन्ती'ति वैदिके च प्रयोगे कारणकारणेऽपि तद्व्यवहारात् । अथ
तत्र प्रयोजकत्वमेव व्यवहियते; न कारणत्वम्, तथापि यागादेः स्वर्गादौ कारणत्वमावश्यकम्, इष्टकारणत्वमेव हि
विधिना बोध्यते, नेष्टकारणकारणत्वमपि; शक्तिद्वयकल्पने गौरवात् । तथाच कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति यत् स्वस्वकार्य-
योरन्यतरत्, तत्संबन्धित्वमेव कारणत्वम् । स्वकार्यत्वं च स्वाधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वमिति नानवस्था-
दिकम् । तस्मादिति । तस्य कारणत्वे तद्व्यापारसत्त्वापत्तिरिति भावः । कारणत्वं परिणामित्वं । जडत्वेति । जड-
वमात्रेत्यर्थः । कार्यस्य चित्परिणामत्वे चिद्रूपता स्यात्, न तु जडत्वमात्रमिति भावः । ननु प्रतिबिम्बादेः लिङ्गविधया
बिम्बानुमित्यादिकारणत्वं वाच्यम्, तच्च न युक्तम्; अतीतानागतधूमादेरिव तस्यापि कारणत्वस्य हातुमुचितत्वात्,
अन्यथा गौरवात्, तत्राह—न हीति । क्वचित् अतीतलिङ्गादिस्थले । मुख्येति । प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्गज्ञानमनुमिति
कारणमित्याकारके प्रत्यक्षादिरूपे कारणताग्राहके ज्ञाने लिङ्गस्य विशेषणत्वसंभवेन तत्रापि कारणताग्राहकत्वम्, विशिष्टे
प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य हि विशेषणेऽपि प्रवृत्तिरौत्सर्गिकत्वेन मुख्या, अतीतधूमादिस्थले तु बाधादेव न सा; तथाचोक्त-
गौरवं प्रामाणिकमिति भावः । सङ्करेति । तस्यादोषत्वे तु ज्ञान इव विषयेऽप्येकस्य वैजात्यस्य सिद्धापत्तेः

नातिरिच्यते; अनुपयोगात् । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—‘अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चरलुण्ठितवेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुसरती’ति । स्वरूपेणापि तु भ्रमज्ञानस्य मिथ्यात्वमस्त्येव; स्वरूपतो वाधाभावे विषयतोऽप्यबाधप्रसङ्गात् । नच गुणजन्यत्वमुपाधिः; तस्याप्यापाद्यत्वेन बह्वनुमाने वह्निसामग्र्या इव साधनव्यापकत्वेनानुपाधित्वात्, विषय इव मिथ्यात्वप्रयोजकदोषादिसमवहितसामग्र्या अज्ञानेऽपि अविशेषाच्च । तुच्छज्ञानतद्वैषम्यादौ च तुच्छत्वादार्शनमवाधकम्; अवच्छेद्यावच्छेदकयोः सर्वत्र सारूप्यनियमानभ्युपगमात्, प्रकृतेचावच्छेदक इवावच्छेद्येऽपि मिथ्यात्वप्रयोजकरूपतुल्यत्वेन सारूप्योपपत्तेः । सर्वसाधारणं चैकं कारणत्वमभ्युपगम्यैतद्वोचाम । वस्तुतस्तु—दण्डतन्त्वादिसाधारणमेकं कारणत्वं नास्त्येव; यत्र तव सत्त्वमवच्छेदकं, तत्र न मम तुच्छविलक्षणत्वादिकम्, किं तु कार्यतावच्छेदकं घटत्वपटत्वादिकारणतावच्छेदकं च दण्डतन्त्वादि । तद्वेदाच्च कारणत्वं भिन्नम् । यथा गोगवयसादृश्यमन्यत् भ्रातृभगिन्यादिसादृश्यमन्यत्; तत्र नैकमवच्छेदकम्, किंतु गवयत्वभगिनीत्वादिकमेव; तद्वदत्रापि दण्डत्वादिकमेव सत्त्वासत्त्वोदासीनमवच्छेदकं वाच्यम् । तथाच जनकत्वानुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—‘पूर्वसंबन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुसत्त्ववहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥’ इति । ‘अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ।’ इति च । न चैवम्—‘अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः ॥’ इति तवापि समानमिति—वाच्यम्; ममाधिष्ठाने स्वरूपत

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयस्य हेतुत्वसिद्धिः । नच—व्यावहारिकसुवर्णज्ञानसाधारण्येन कारणत्वस्य सुवर्णेऽपि स्वीकारे व्यावहारिकसुवर्णादज्ञातादपि सुखविशेष उत्पद्येतेति—वाच्यम्; तावतापि तादृशवैजात्यस्य स्वाप्नप्रातीतिकसुवर्णे व्यावहारिकसुवर्णज्ञाने च वृत्तौ बाधकाभावात् । अन्यदेति । अतीतानागतादेर्यदा ज्ञानं, तदा सूक्ष्मावस्थारूपेण सत्ताऽवश्यं वाच्या; अन्यथा तस्य प्रमाणाविषयत्वासंभवादिति पूर्वमुक्ते, कालान्तरे सत्त्वात् तस्य ज्ञानमुपपद्यते इत्याशङ्क्यामन्यदेत्यादिकं खण्डन उक्तम् । तस्यायमर्थः । पाटच्चरश्चोरः । यामिकः, तद्वारणाय जाग्रत्पुरुषः । प्रमाया अतीतादिविषये विषयित्वासंभवः; अलीके संबन्धासंभवात्, कालान्तरसत्त्वं तु एतत्कालीनज्ञानेन संबन्धे न प्रयोजकम्; संबन्धिनोरेकक्षणवृत्तित्वस्य संबन्धे प्रयोजकत्वमित्यस्य संयोगादिस्थले दृष्टत्वादिति । तदिदं रूपान्तरेण सत्त्वेऽपि तुल्यम् । यद्रूपोपहितस्य हि कारणत्वं तद्रूपोपहितस्य सत्त्वमपेक्षितम्; अन्यथा कार्याव्यवहितपूर्वक्षणसंबन्धस्यासत्यसंभवेन कारणत्वासंभवात्, त्वन्मते हि मिथ्यात्वस्यालीकत्वरूपत्वं स्वीकृत्य मिथ्याभूतस्य न कारणत्वमित्युच्यत इति भावः । नचेति । भ्रमो यद्यबाधितः स्यात्, तदा अबाधितविषयकः स्यादित्यत्रेति शेषः । दोषादीत्यादिपदादविद्या गृह्यते । तथाचाविद्यापरिणामत्वादिना भ्रमस्य मिथ्यात्वं बाधावतारकाले विषय इव ज्ञायते । दोषस्य स्वविशिष्टं प्रति कारणत्वम् । दोषविशिष्टत्वं च दोषाश्रयशुक्त्याद्यवच्छिन्नचित्तादात्म्यम् । तच्चाविद्यापरिणामत्वेन रजतादितदाकाराविद्यावृत्त्योरविशिष्टमिति भावः । अनभ्युपगमादिति । वस्तुतः तुच्छज्ञानादेस्तुच्छोपहितरूपेण तुच्छत्वेऽपि न क्षतिः, न हि तेन रूपेण तस्य कारणत्वादिकं त्वयापि स्वीक्रियते; किं तु जातिविशेषरूपेण, प्रातीतिकस्य तु कालसंबन्धादिनोत्कर्षादिना च तन्मया स्वीक्रियत इति बोध्यम् । नचैवं—मिथ्यात्वस्य तुच्छवैलक्षण्यघटितत्वेन तद्विद्योऽपि तुच्छत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; तुच्छवैलक्षण्यादेः कालसंबन्धत्वादिना मिथ्यात्वादिवटकत्वात् । पूर्वसंबन्धनियमे अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नकार्यसामानाधिकरण्याश्रयस्यान्योन्याभावस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वे । सिद्धान्ते दण्डादिमत्यपि दण्डादेरत्यन्ताभावस्वीकारादत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं त्यक्तवान्योन्याभावादिकमुक्तम् । हेतुतत्त्वं हेतुता । तद्वहिर्भूतं तदघटकम् । तादृशे ये सत्त्वासत्त्वे तत्कथा वृथेत्यर्थः । यदि कारणस्य सत्तासंबन्धोऽपेक्ष्यते, तदा सोऽस्त्येव कल्पितः, कल्पिते अकल्पितस्तु संबन्धोऽलीकः, परं तु स नापेक्षित इत्याशयेन कथा वृथेत्युक्तम् । कारणस्य सत्तानियमे साधकाभावमुक्त्वा बाधकमाह—अन्तरित्यादि । अन्तर्भावितसत्त्वं सत्ताविशिष्टं, सत्ता तदाश्रयश्चेति यावत् । यदि तदुभयं कारणं, तदा सत्तानाश्रयः कारणमिति सिद्धम् । न हि सत्तायां सत्तान्तरमस्ति । न वा सैव सत्ता; आद्ये द्वितीयादिसत्ताया अपि स्वप्रत्यक्षादिकारणत्वसिद्धये सत्तान्तरस्वीकारादनवस्था, नानासत्तास्वीकारेण सत्ताकारानुगतधीलङ्घने जातिमात्रलोपापत्तिश्च । यदि च अन्तर्भावितसत्त्वं न कारणं, सत्ता न कारणम्, किंतु सत्तोपलक्षितं कारणं, तथापि सत्ताभावकाले अतीततादृशरूपे दण्डादेः कारणत्वादसत् कारणमिति सिद्धम् । अथ सत्ता कारणताश्रये न विशेषणम्, नाभ्युपलक्षणम्, किं तु उपाधिः; यदा यदा यत्र कारणत्वं, तदा तदाऽवश्यं तत्र सत्तेति यावत्, तथापि सत्यरूपादन्यत् कारणमित्यागतम् । न हि सत्तासंबन्धि दण्डादिकं सद्रूपम्, ब्रह्मणः सद्रूपताया आविर्भावकत्वेन तत्संबन्धादेव तत्र सद्रूपताप्रत्ययसंभवात्, श्रुत्यादिवाध्यत्वाच्च । न चैवमित्यादि । कारणत्वस्थले

एव सत्ताङ्गीकारः, तव तु कारणे स्वरूपातिरिक्तसत्ताङ्गीकार इति विशेषात् । यत्तु—अर्थो न ज्ञानस्य जनकतायामवच्छेदकोऽपि; मानाभावात्, न चातिप्रसङ्गः; विषयावच्छेदकमनपेक्ष्यैव सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्यावृत्तिसिद्धेः । तथाहि—सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्यावृत्तिर्व्यावर्तकाधीना । नच विषयस्तत्सम्बन्धो वा व्यावर्तकः; स्वरूपातिरिक्तद्विनिष्ठसंबन्धस्याभावात्; असंबन्धस्य चाव्यावर्तकत्वात् । अथ संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्यं ज्ञानस्वरूपमेव वा ज्ञानमात्रनिष्ठः कश्चिद्धर्मो वा संबन्धः, तर्हि विषयमनन्तर्भाव्यैव ज्ञानात्तद्वतधर्माद्वा विशेषसिद्धिरित्यायातम् । किंच सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद्धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्; तज्जनकविलक्षणजन्यत्वात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अधिष्ठानत्वमादाय पूर्वोक्तदोष इत्यभिमानः । स्वरूपत इति । सद्रूपमेवावच्छिन्नज्ञानवच्छिन्नरूपेण प्रातीतिकव्यावहारिकाध्यासमात्राधिष्ठानमिति भावः । स्वरूपेति । दण्डादिकारणस्वरूपेत्यर्थः । उक्तयुक्तिभिः सद्रूपस्याकारणत्वात् सद्रूपसंबन्धिन्येव कारणत्वं त्वया वाच्यम्; तथाच सद्रूपं कारणं तवासिद्धमिति भावः । ननु—दण्डत्वादिना कारणत्वे स्वीकृते प्रातीतिकदण्डादेरपि घटाद्युपधायकत्वापत्तेः व्यावहारिकदण्डत्वादिनैव तत्स्वीकार्यं त्वया; तथाच हेतुतत्त्वबहिर्भूतेत्याद्यसङ्गतमिति—चेन्न; तावतापि पारमार्थिकत्वरूपसत्त्वस्य हेतुत्वबहिर्भावानपायात् । किंच न व्यावहारिकत्वघटितरूपेण कारणत्वं कापि स्वीक्रियते, अथ—तदुक्तापत्तिः कथं वार्थत इति—चेत्, सामग्रीव्याप्तिमध्ये व्यावहारिकत्वविशिष्टपदार्थानामेव निवेशात् व्यावहारिकेण कारणतावच्छेदकेन विशिष्टं यद्यावहारिकं तत्समूहस्य व्यावहारिकसंबन्धविशिष्टो यो व्यावहारिकक्षणः, तस्माद्यावहारिकोत्तरत्वविशिष्टो यो व्यावहारिकक्षणः, तत्त्वं कार्योत्पत्तिव्याप्यमिति स्वीकारात् प्रातीतिकदण्डादेर्न घटाद्युपधायकत्वम् । न च—प्रातीतिकघटादेरपि व्यावहारिकदण्डादितः उत्पत्तिः स्यादिति—वाच्यम्; आपादकाभावात्, कार्यतावच्छेदकविशिष्टं प्रत्येव तादृशक्षणत्वस्य व्याप्यत्वादकार्यतावच्छेदकप्रातीतिकत्वरूपेण कार्यस्यापत्त्यसंभवात् । न च—दण्डादिकं विनापि प्रातीतिकघटाद्युत्पत्त्या व्यभिचार इति—वाच्यम्; व्यावहारिकं प्रति मूलाविद्यायाः, प्रातीतिकं प्रति पल्लवाविद्यायाः परिणामिकारणत्वेन सामग्रीभेदात्, आद्यया कार्यजनने दण्डादेः, द्वितीयया कार्यजनने दोषादेः सहकारित्वात् । एवंच व्यावहारिकं साधकमित्यादि व्याख्यातं मूले । साधकस्य व्यावहारिकत्वं मूलाविद्यात्वम् । प्रातीतिकत्वं पल्लवाविद्यानङ्गीकारे तत्स्थानीयविषयावरणत्वम् । न च—तथापि प्रातीतिकेनापि कार्यजननात् सामग्रीव्याप्तौ सर्वत्र कथमुक्तरीत्या व्यावहारिकत्वं निवेशितमिति—वाच्यम्; प्रातीतिकस्य कुत्रापि कार्ये हेतुत्वास्वीकारात् तज्ज्ञानस्यैव हेतुत्वात् । न च—तद्विषयकत्वघटितरूपेण ज्ञानस्यापि प्रातीतिकत्वम्, उक्तंचाचार्यैः—‘ज्ञानमिथ्यात्वं विना विषयस्य मिथ्यात्वासंभवः; स्वरूपतो बाधाभावे विषयतो बाधासंभवा’दिति, “इदं रजत” मिति ‘यत् ज्ञानं जातं, तन्मिथ्ये’ति विषयविशिष्टज्ञानस्य मिथ्यात्वानुभावादिति इति—वाच्यम्; तावता वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य स्वरूपतः प्रातीतिकत्वेऽपि चिद्रूपस्य तदभावात् । रजतादिप्रातीतिकविषयकत्वरूपेण न चित्तो हेतुत्वम्, किंतु रजतत्वावच्छिन्नविषयताकत्वरूपेण । तच्च न प्रातीतिकघटितम्, अतस्तद्विशिष्टचित्तोऽपि न प्रातीतिकत्वम् । न च—अमस्थले रजतादितादात्म्यस्य शुक्ल्याद्यवच्छिन्नचित्युत्पद्यमानस्य विषयतात्वेन विषयता प्रातीतिकीति—वाच्यम्; व्यावहारिकपूर्वसिद्धतादात्म्येनैव रजतादेरुत्पत्तेरिदमादितादात्म्यं रजताद्यवच्छिन्नचित्ति जायमानं, न विषयता, सांसर्गिकविषयताश्रयत्वात् । न हि विषयविषयतयोरभेदः परैः स्वीक्रियते । तथा चेदमादेर्विषयतापि भ्रमात् पूर्वसिद्धा । तथा संसर्गरूपमुक्ततादात्म्यमपि पूर्वसिद्धसांसर्गिकविषयतासंबन्धेन जायत इति विषयतामात्रं व्यावहारिकम् । नहि ज्ञानं तद्विषयताचारोप्यते इति परैः स्वीक्रियते, किंतु विशेषणं विशेष्यविशेषणयोः संसर्गश्च; द्वयोरपि बाधानुभावात् । तस्मात् प्रातीतिकं न कारणम् । यद्वा यादृशकार्यं प्रति शक्तिर्यत्र तिष्ठति, तत्तस्य कारणम्; शक्तेरेव कारणतारूपत्वात्, प्रातीतिके दण्डादौ च न घटादेः शक्तिः, यस्य च शक्तिः प्रातीतिके, तत्तस्माज्जायत एव । तथाच व्यावहारिकत्वस्य उक्तरीत्या न व्याप्तौ निवेशः । नचैवमपि—व्यावहारिकत्वस्य कारणतास्ववच्छेदकत्वकल्पने गौरवमिति—वाच्यम्; कारणे वस्तुगत्या येन रूपेण संबन्धेन च यत्कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे कार्याधिकरणे यत् संबन्धः, तद्रूपसंबन्धाभ्यां तादृशसंबद्धत्वविशिष्टेष्वेव तच्छक्तेः स्वीकारात्, विशिष्टस्य च केवलातिरिक्तत्वेनानतिप्रसङ्गात्, व्याप्तेरिव शक्तेरवच्छिन्नत्वे स्वरूपसंबन्धरूपे मानाभावात् । अनयोः कल्पयोर्द्वितीयस्यैव मूलानुसारित्वेऽपि प्रथमः परपराभवे प्रभुरेव । द्विष्टेति । एकानुयोगिकापरप्रतियोगिकेत्यर्थः । कश्चिद्विषयताविशेषरूपः । विशेषेति । व्यावृत्तीत्यर्थः । ननु उक्तरूपयोर्न व्यावर्तकता; आद्यस्याननुगतत्वात्, द्वितीयस्य सर्पत्वावच्छिन्नस्य विशेष्यत्वस्य प्रकारत्वस्य वा सकलेषु सर्पज्ञानेष्वभावात्, किंच प्रत्यक्षे व्यावर्तकज्ञाने तयोर्विषयघटितरूपेणैव भानात्तेनैव रूपेण व्यावर्तकत्वमुचितम्, तत्राह—किंचेति । धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्य विलक्षणं

यवाङ्कुरात् कलमाङ्कुरवत्, तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्वा, यवबीजात्कलमबीजवत् । नच विलक्षणविषय-
संबन्धेनैव हेत्वोरुपपत्तावप्रयोजकत्वम्; तथावे हि यवबीजतदङ्कुरविलक्षणजन्यजनके कलमाङ्कुर-
तद्बीजेऽपि यवाङ्कुरतद्बीजाङ्कुराभ्यां कलमाङ्कुरतद्बीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्षण्यं विना कदाचिदुप-
लक्षणीभूतचैत्रादिसंबन्धित्वमात्रेण विलक्षणे स्याताम् । साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञानादन्यसंबन्धिता-
मात्रेण विलक्षणः स्यात् । एवंच यथा प्रतियोगिनमनन्तर्भाव्यैव घटस्याभावो भावान्तरात्, यथाच
विषयमनन्तर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माणोद्धरणकृतिः, यथाचातीतादिज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञान-
व्यवहारौ च ज्ञानान्तरादितः, अन्यथा तत्कार्यसङ्करः स्यात्; एवं सर्पज्ञानमपि रज्जौ सर्पज्ञानस्य
भ्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेऽपि सर्पज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वात् स्वत एव वा असर्पज्ञानाद्विलक्षणमिति न
कोऽपि दोषः । न चाभावादावपि प्रतियोग्यादेरवच्छेदकत्वं; ध्वंसादेः कृतेरतीतादिज्ञानस्य च सत्ता-
समये प्रतियोगिविषययोरसत्त्वात्—इति । तन्न; सर्पज्ञानत्वावच्छिन्नस्यासर्पज्ञानाद्यावृत्तौ प्रयोजकं
न तत्तत्स्वरूपमेव; सर्वज्ञानसाधारण्याभावात्, किंत्वनुगतो धर्मः कश्चित् । सोऽपि सर्पज्ञानमात्रे
न जातिरूपः; प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्, किं तूपाधिरूपः, । स च स्वरूपसंबन्धेनाध्या-
सिकसंबन्धेन वा संबन्धिभूतविषयादन्यो न भवति; मानाभावात् । अत एव धर्म्यन्तरसंबन्ध-
मनपेक्ष्य विलक्षणमित्युक्तानुमानं बाधितं द्रष्टव्यं व्यभिचारि च । तथाहि—घटसंयोगः, पटसंयोगात्
जात्या भिद्यते, तद्वृत्तिजात्यनधिकरणत्वात्, किंतु घटरूपोपाधिनैवेति धर्म्यन्तरसम्बन्धमपेक्ष्यैव
विलक्षणे घटसंयोगत्वावच्छिन्ने साध्याभाववति उक्तहेतुसत्त्वाद्यभिचारः, अप्रयोजकं च । नच—
उपलक्षणीभूतचैत्रसंबन्धेनापि कलमाङ्कुरादेर्व्यावृत्ततापत्तिः; विपक्षबाधायामिष्टापत्तेः । न हि
जातेर्व्यावर्तकत्वे उपाधिरव्यावर्तको भवति । एवं शिलोद्धरणमाणोद्धरणकृत्योः परस्परं जात्या
व्यावृत्तावपि विषयरूपोपाधिनापि व्यावृत्तिरविरुद्धा । शिलोद्धरणे च जातिविशेषविशिष्टायाः
कृतेर्जनकत्वेन तद्रहिताया माणोद्धरणकृतेस्तदनिष्पत्तिरविरुद्धा । व्यावृत्तेरन्यतोऽपि सिद्धिसंभवे
कार्यकारणभावादिनिर्वाहाय जातिविशेषस्यापि कल्पनात्, अतीतासद्विषयकज्ञानव्यवहारादौ चातीता-
सतोरेव व्यावर्तकत्वम् । न हि व्यावृत्तिधीजनकत्वं तत्; येन सत्त्वाभावे प्राक्सत्त्वशरीरतया न
स्यात्, किं तु व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्वमित्युक्तम् । तच्चातीतादौ सुलभमेव । अत एवाभावादिनि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वविषयसंबन्धान्येन वैलक्षणेन युक्तम् । तेन विषयतामादाय न सिद्धसाधनादिकम् । शक्यन्येत्यपि विशेषणं
वैलक्षणे देयम् । तज्जनकेति । असर्पज्ञानजनकेत्यर्थः । विलक्षणेति । भिन्नेत्यर्थः । असर्पज्ञानावृत्तिजन्यताश्रय-
त्वादिति पर्यवसितो हेतुः । सर्पज्ञानत्वादेर्जन्यतावच्छेदकत्वे गौरवात् तदन्यदखण्डवैलक्षण्यं विना जन्यताया अव-
च्छिन्नत्वानुपपत्तिरनुकूलतर्कः । स्यातामिति । चैत्रादिसंबन्धत्वादेर्गुरुत्वात्तदन्यदखण्डवैलक्षण्यं जन्यजनकतावच्छेदकं
कल्पयत इत्युक्तौ सर्पज्ञानेऽपि तथेति भावः । सर्पज्ञानेति । सर्वसर्पज्ञानेत्यर्थः । जातिरूपः जातिपदेन तात्त्विकै-
र्व्यवहार्यः । मानाभावादिति । सर्पज्ञानमात्रवृत्तिकारणत्वादेरवच्छिन्नत्वस्य स्वरूपसंबन्धरूपस्यावश्यकत्वे अव-
च्छेदकत्वाख्यविषयताविशेषसंबन्धेन सर्पत्वादिजात्यैव तत्संभवः । वस्तुतस्तु—तादृशावच्छिन्नत्वे मानाभावः;
अतएव स्थूलसर्पत्वादिगुरुधर्मस्यावच्छेदकत्वे गौरवात्तदवच्छिन्नविषयताकज्ञानमात्रवृत्तिकारणताद्यवच्छेदकत्वेनाखण्ड-
धर्मविशेषो जात्यन्यः कल्पयत इति—परास्तम्; कारणतारूपशक्तिविशेषस्तु स्वीक्रियत एवेति भावः । घटसंयोग
इत्यादि । घटसंयोगः, पटसंयोगावृत्तिजातिजन्यः, तादृशजातिग्राहकमानाविषयकत्वादित्यत्र तात्पर्यम् । धर्म्यन्तर-
संबन्धमिति । 'यो यदवृत्तिजन्यतावान्, स स्वाधिकरणसंबन्धान्यस्य तदवृत्तिधर्मस्याश्रय' इति व्याप्तिः पूर्वमुक्तेः
त्याशयेन इदम् । ज्ञानेचोक्तसाध्यमस्ति; विषयस्य ज्ञानानधिकरणत्वात् । एतेन—स्वविषयसंबन्धान्यधर्मत्वेन
पूर्वाक्तरूपेण साध्यतायां न व्यभिचारः, किंतु साध्याप्रसिद्धिरिति—परास्तम् । व्यभिचार इति । संयोगजन्या-
इति भावः । कार्यकारणभावेति । कार्यतादेरवच्छिन्नत्वे मानाभावः । न चैवं—प्रतियोगितादेरपि अवच्छिन्नत्वं न
स्यात्, प्रतियोगिताविशेषसंबन्धेन घटादिविशिष्टाभावस्यैव 'घटो नास्ती'त्यनुभावादिनिर्वाहकत्वसंभवादिति—वाच्यम्;
इष्टत्वात् । अतोऽभावादीत्यादिपदमुक्तम्, तेनच जातिविशेषविषयकप्रत्यक्षस्यानुभवो गृह्यते । तथा च कारणता-
देरवच्छेदकतया जातिर्मा कल्प्यताम्, तादृशानुभवेनैव तत्सिद्धिस्तु भवत्येवेति भावः । अत एवेत्यादि ।
अपिशब्दोऽत एवेत्यस्योत्तरं योजनीयः । तेनाभावसिद्धिर्ज्ञानस्यासिद्धत्वादिति समुचीयते । तथाहि—घटाभावाद्वा प्रति-

दर्शनमपि निरस्तम्; उक्तरूपव्यावर्तकत्वस्यात्यन्तासत्यपि सम्भवेन कदाचित् सति संभवस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वात् । ननु—विषयस्य व्यावर्तकत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणत्वासंभवात् उपलक्षणत्वमेव वाच्यम्; उपलक्षणेन चोपलक्ष्यगतस्वसंबन्धव्यतिरिक्तः कश्चिद्धर्म एवोपस्थाप्यते, काकेनेव गृहसंबन्धिना तद्गतसंस्थानविशेषः; तथाच स एव व्यावर्तक इति विषयसंबन्धमनपेक्ष्य स्वगतेनैव धर्मेण ज्ञानस्य व्यावृत्तिरिति—चेन्न; विषयस्य विशेषणत्ववदुपलक्षणत्वस्याप्यनभ्युपगमात् । येन हि स्वोपरागाद्विशेष्ये व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते, तद्विशेषणं व्यावृत्तिबुद्धिकाले विशेष्योपरञ्जकमित्यर्थः; यथा गोत्वादि । येन च स्वोपरागमुदासीनं कुर्वता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते तदुपलक्षणम्, यथा काकादि । यत्तु—विशेष्ये नोपरञ्जकम्; न वा धर्मान्तरोपस्थापकम्, अथ च व्यावर्तकं तदुपाधिः यथा पङ्कजशब्दप्रयोगे पद्मत्वं, यथा बोद्धिदादिशब्दप्रयोगे यागत्वावान्तरजातिविशेषः । अत्र हि पद्मत्वयागत्वावान्तरधर्मौ पङ्कजनिकर्तरि फलोद्भेदनकर्तरि च न धर्मान्तरमुपस्थापयतः; अप्रतीतेः; न वा स्वोपरक्तां बुद्धिं जनयतः; समुदाये शक्यन्तरानभ्युपगमात्, अथ च कुमुदज्योतिष्टोमादिभ्यो व्यावर्तकावित्युपाधी एव । इदं च प्राभाकराणां भाट्टानां च संमतमुदाहरणयुगलम् । तार्किकाणां त्वाकाशशब्दप्रयोगे शब्दाश्रयत्वमुदाहरणम् । अतएवाविद्यादिकं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योगिभिन्नो विशेषो न प्रत्यक्षः; नापि कारणताद्यवच्छेदकतया अनुमेयः; तस्यावच्छिन्नत्वे मानाभावात्, भावे वा प्रतियोग्यविशेषितरूपेणाभावस्यान्यथासिद्धेः प्रतियोगिन एव तदवच्छेदकत्वात्, उक्तान्यथासिद्धस्वीकारे तदभावव्यक्तेरेव स्वनिष्ठकारणताद्यवच्छेदकत्वसंभवेनोक्तविशेषासिद्धेः । स्वोपरागात् स्वोपरागमादाय । विशेष्योपरञ्जकमिति । व्यावृत्तिधीविशेष्ये विशेषणतया व्यावृत्तिधीकाले भासमानं सत् व्यावृत्तिधीकाले विद्यमानमित्यर्थः । ध्वंसादेरितरस्मात् व्यावर्तके प्रतियोग्यादावुपाधावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम् । उपलक्षणे तद्वारणाय सदित्यन्तं विशेषणदलम् । ननु 'अयं न गवेतर' इत्यनुमितौ गोत्वलिङ्गिकायां गोत्वस्याविषयत्वात् व्यावृत्तिधीकाल इत्युक्तम्, अत आह—येन चेति । उदासीनं कुर्वतेत्यस्य विवेचनं विशेष्येत्यादि । व्यावर्तकेति । व्यावृत्तिव्याप्येत्यर्थः । तथाच यस्य धर्मस्य व्यावृत्तिबुद्धौ तत्कारणे व्यावर्तकधर्मवत्त्वेन व्यावर्तनीयधर्मिणो ज्ञाने च न भानं, तस्योपरागः उदासीनः । यस्य तु तस्यां तस्मिन्वा भानं, तत् विशेषणम् । अतो व्यावृत्तिबुद्धिकाले भासमानमित्यनेन व्यावर्तकव्यावर्तनीयवैशिष्ट्यज्ञाने विशेष्यतावच्छेदकतया व्यावर्तकरूपविशेषणविधया वा विषयो विवक्षित इति भावः । अत्रोपलक्षणलक्षणे कुर्वत्यन्तेन विशेषणान्यत्वं विशेषणमित्युक्तम्, तदनुक्तौ विशेषणस्यापि व्यावर्तकान्तरोपस्थापकत्वात्तत्रातिव्याप्तिः । विशेष्य इति । व्यावृत्तिधीकाल इति शेषः । विशेषणादुपलक्षणाच्चान्यत्वे सति व्यावर्तकमित्यर्थः । शब्दप्रयोग इति । शब्दजन्यानुभव इत्यर्थः । उपस्थापयतः उपस्थापकधीविषयौ । जनयतः जनकधीविषयौ । व्यावर्तकौ उक्तानुभवविषयस्य व्यावर्तकौ । उपाधी एवेति । उक्तानुभवानुपरक्तत्वात् उक्तानुभवहेतुधर्मान्तरज्ञानजनकज्ञानाविषयत्वादुक्तानुभवविषयव्यावर्तकत्वादुक्तानुभवं प्रत्युपाधी, गोत्वादेस्तत्कव्यावृत्तिबुद्ध्युपरक्तत्वादिना तादृग्बुद्धिं प्रति विशेषणत्वादिकमिति भावः । ननु पद्मत्वादेरिव तत्तत्पद्मव्यक्तिवस्य तावत्पद्मव्यक्तीनामन्यतमत्वस्य चोक्तानुभवविषयव्यावर्तकत्वेन तस्यापि प्रयोगोपाधित्वव्यवहारः स्यात्, किंच कुमुदादावपि पङ्कजादिपदप्रयोगसंभवात् कथं ततो व्यावर्तकत्वम्; नहि त्वया समुदायशक्तिः स्वीक्रियते, नच—विशेषसंबन्धेनोक्तानुभवं प्रति पद्मत्वादिकं कारणम्, अतो न कुमुदादौ प्रयोग इति—वाच्यम्; अवयवशक्तिभिर्लक्षणया वा कुमुदादौ प्रयोगस्योत्पत्तेः, तत्राह—इदं चेति । संमतं युक्त्या स्वीकृतम् । सा चोच्यते—यावदवयवशक्तिज्ञानजन्यशाब्दानुभवे पद्मत्वादिना पद्मादेस्तादात्म्येन हेतुत्वात् पद्मान्वये अनुपपत्तिज्ञानकाले लक्षणयैव कुमुदादौ प्रयोगः । तथाचोक्तकारणतावच्छेदकतयोक्तानुभवविषयव्यावर्तकत्वं पद्मत्वादेरेव; न तद्व्यक्तित्वादेः । किंच तत्परिचायकः पद्मत्वादेरेव वाच्यः; तथाच तत्रैव व्यावर्तकत्वव्यवहारः । अतएव शब्दप्रणावपि प्राभाकरमते स्थित्वा मणिकृतोक्तं—यथा 'सर्वनामतत्त्वमहंपदेषु बुद्धिस्थत्वसंबोध्यत्वोच्चारयितृत्वानि प्रयोगोपाधयः; तेन बुद्धिस्थत्वादिकं तेन तेन बोध्यते, किं तु तदुपलक्षितम्; तस्यैव तच्छक्यत्वात् । तथा पद्मत्वादिकं पङ्कजादिपदेषु प्रयोगोपाधिः । तेन तत् तेन बोध्यते, किंतु तदुपलक्षितमिति । यत्तु—बुद्धिस्थत्वोपलक्षितधर्मविशिष्टे सर्वनाम्नां शक्तिज्ञानात् बुद्धधट्वादिप्रकारेण घटादेः शाब्दबोधः । संबोध्यतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मविशिष्टे युष्मच्छब्दस्योच्चारयितृतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मविशिष्टे अस्मच्छब्दस्य शक्तिग्रहाच्छुद्धचैत्रवादिप्रकारेण शाब्दबोधः, न तु तत्र बुद्धिस्थत्वादिभानम् । तथाच इष्टान्ताभावाच्च पद्मत्वादेः प्रयोगोपाधित्वमिति अत्र पक्षधरैरुक्तम्, तन्न; बुद्धिस्थत्वाद्युपलक्षिततत्तद्धर्मविशिष्टे शक्तिज्ञानं तत्त-

साक्षित्वादाधुपाधिरिति सिद्धान्तो वेदान्तिनाम् । अतो यत्र विषयस्य विशेषणत्वं न संभवति, तत्कालासत्त्वात्, तत्रोपाधित्वाभ्युपगमान्नोपलक्षणत्वनिबन्धनदोषावकाशः, सन्देहे तु विशेषणत्वमेवाभ्यर्हितत्वादुपेयते । तस्माद्विषय एव सर्वत्र ज्ञाने व्यावर्तकः । एकविषयकस्मृत्यनुभवयोः परोक्षापरोक्षयोश्च विषयमनपेक्ष्य जात्या परस्परव्यावृत्तिदर्शनात् । सर्वत्र विषयनिरपेक्षा जातिरेव व्यावर्तिकेति न युक्तम्; भिन्नविषयके समानजातीये तदसंभवात् । नच—तत्रापि जातिरस्ति क्षीरा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मप्रकारकशब्दबोधे हेतुरित्यवश्यं वाच्यम्; अन्यथा कदाचित् घटत्वं कदाचिदन्यत् शब्दबोधे प्रकार इत्यत्र नियामकाभावात् । तथाच धर्मविशेषमादाय कार्यकारणभावे गौरवात् बुद्धिस्थत्वादिकं विषयतावच्छेदकत्वसंबन्धेन शब्दबोधं प्रति हेतुरिति प्रयोगोपाधित्वमेव युक्तम् । सर्वनामतदादिपदस्य धर्मविशिष्टे शक्तिः । घटे वक्तुर्बुद्धिस्थे सति तादृशशक्तिज्ञानादिना घटत्वप्रकारकः शब्दबोधः । युष्मदस्मत्पदयोरात्मन्येव शक्तिः । यस्यात्मनो यदा संबोधित्वमुच्चारयितृत्वं वा, तदा तस्यात्मनि शक्तिज्ञानाच्छब्दधीः । सर्वनाम्नां पर्यायत्वापत्तिस्तु इष्टा । वस्तुतः उद्देश्यतावच्छेदकबुद्धिः सर्वपदे, प्रश्नोपक्रमबुद्धिः किंपदे, तत्पदोद्देश्यबुद्धिर्यत्पदे, अवान्तरवाक्योद्देश्यबुद्धिस्तत्पदे, प्रत्यक्षबुद्धिरिदमेतत्पदयोः, परोक्षबुद्धिरदपदे नियामिका । तावता विशेषेण पर्यायतावारणात् । अत एव युष्मदस्मदोरपि न पर्यायता, 'सोऽयं नवा' 'त्वमहं नवे'ति 'संशयस्त्विदं पदादिबोधव्यवहारप्रकारक' इति दिक् ॥ शब्दप्रयोगे शब्दजन्यबोधे । उदाहरणमिति । शब्दाश्रयत्वस्योक्तबोधे अनुपरक्तत्वात्तदुपरक्तधर्मान्तरानुपस्थापकत्वाच्चोपाधित्वमिति भावः । उक्तं हि शब्दमणौ—'आकाशपदं शब्दाश्रयत्वोपलक्षितव्यक्तौ शक्तम् । तस्या एवोपस्थापकमनुभावं च । शब्दाश्रयत्वांशे शक्तिर्न स्वीक्रियते । शक्यानां नानात्वे हि तेषु प्रातिस्विकरूपेण शक्तिग्रहासंभवात् अनुगतरूपेण शक्तिग्रहार्थं तदपेक्षेऽपि शक्तिः स्वीक्रियते । घटत्वेन रूपेण हि शक्तिग्रहे तद्रूपेणैव शब्दबोधः, न चाशक्यस्य शब्दबोधे संसर्गो भाति; तस्मात्तत्रापि शक्तिः । आकाशपदे तु शुद्धाकाशे शक्तत्वज्ञानात् शब्दधीसंभवात् न शब्दाश्रयत्वे शक्तिः । ननु—द्रव्यगुणादेः केनचिद्रूपेणैव भानम्, नतु शुद्धस्य । किंचाकाशमस्तीत्यादिवाक्यादाकाश एकत्वादेरन्वयधीर्न स्यात्; शब्दबोधीयमुख्यविशेष्यतायाः किंचिद्रूपावच्छिन्नत्वनियमात्, न च—एकत्वादावाधेयत्वसंबन्धेनाकाशस्य विशेषणत्वमिति—वाच्यम्; विभक्त्यर्थे संख्यायां नामार्थस्य विशेषणत्वासंभवात् । अन्यथा पाशाधिकरणविरोधादिति—चेत्, अत्रोच्यते; एकत्वविशिष्ट आकाशे अस्तित्वान्वयधीरेव प्रकृते स्वीक्रियते, न तु शुद्धाकाशविशेष्यकेति । साक्षित्वादाविति । अनावृतविषयप्रकाशत्वरूपे साक्षित्वेऽनुपरक्तं तदाश्रयव्यावर्तकान्तरानुपस्थापकमविद्यादिकमुपाधिरेवेति भावः । तत्रोपाधित्वेति । यद्यपि व्यावृत्तिधीकाले व्यावर्तनीये विद्यमानं विशेष्यान्वयिन्यन्वितं व्यावर्तकमुपाधिः; यत् 'तादृशविद्यमानं सद्विशेष्यान्वयिन्यन्वितं व्यावर्तकं, तद्विशेषणम्; यत् न तादृशविद्यमानं, न वा विशेष्यान्वयिन्यन्वितमथापि व्यावर्तकं, तदुपलक्षणमिति कल्पतर्वादायुक्तम्; तथाच ध्वंसादौ प्रतियोग्यादिकमुपलक्षणम्; धर्मान्तरोपस्थापकत्वस्य तल्लक्षणेऽनुपादानात्; तथापि तस्य व्यावर्तकत्वं सर्वसंमतमेव । नच—तस्योपाधित्वस्वीकारो निर्मूल इति—वाच्यम्; तस्य संक्षेपशारीरकादिमूलकत्वात् । तथा हि तत्रोक्तम्—'लक्ष्यस्वरूपमपि सद्यदमुष्य साक्षात् अर्थान्तरात् भवति भेदकमेतदाहुः । अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं खं छिद्रं जलं द्रवमितीदृशमेव लोके ॥ स्वानुरक्तमिति जन्मकारणं यत् पुनर्भवति लक्ष्यवस्तुनि । तद्विशेषणतयास्य लक्षणं केसरादिकमिवाध्वस्तुनः ॥ स्वानुरक्तमिति जन्महेतुतां लक्ष्यवस्तुनि निरस्य लक्षणम् । अस्वरूपमपि तस्य यत् भवेत् काकवत्तदुपलक्षणं विदुः ॥' इति । यद्यप्यत्रोपलक्षणोपाध्योर्द्वयोरुपलक्षणत्वेन ग्रहणम्; तथापि तयोरवान्तरलक्षणं नापलपितुं शक्यते । अतएव जगत्कारणत्वादिकं ब्रह्मणः इतरव्यावृत्त्युपलक्षितस्वरूपबुद्धौ उपाधिरेवेति विशेषणस्वलक्षणान्यव्यावर्तकत्वेनैकीकृत्योपलक्षणपदेन शास्त्रे व्यवहारः । अत एव शब्दमणौ—'शब्दाश्रयत्वमाकाशपदप्रयोगे उपलक्षणमिति युक्तम् । 'गोत्वोपलक्षिते धेनुपदशक्तिरित्युक्तम् ॥ विशेषणान्यत्वेनोपलक्षणत्वव्यवहारसंभवात् । वस्तुतस्तु—धर्मान्तरोपस्थापकमुपलक्षणमित्येव युक्तम् । कल्पतर्वादिवाक्यमपि तदनुसारेण नेयम् । तथाहि—विशेषणोपाध्युपलक्षणानां पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरापेक्षया श्रेष्ठत्वम् । तेषामन्यतमस्य वाक्यादिप्रमेयत्वसंदेहे पूर्वपूर्वस्यैव तत्प्रमेयत्वमिति यावत् । तथाचोपाध्यपेक्ष्योपलक्षणस्य जघन्यत्वे व्यावर्तकान्तरोपस्थापकतया तत्सापेक्षत्वं व्रीजम् । व्यावृत्तिधीकाले व्यावर्तनीये विद्यमानत्वाभावमात्रं तु न व्रीजं संभवति; उपाधिव्यावर्तकत्वाविशेषात् । अथ—यथा तव मते उपाधेर्विशेषणव्यावर्तकत्वेऽपि व्यावृत्तिधीकालासत्त्वादेव जघन्यत्वं, तथा मन्मते उक्ताभावमात्रेण उपलक्षणमुपाधितो जघन्यमिति—चेन्न; तथापि स्वतो व्यावर्तकस्य व्यावर्तकोपस्थापकादव्यावर्तकात् श्रेष्ठत्वं त्वयापि वाच्यम् । तच्च त्वन्मते न प्रतिपादितम् । तेन तव न्यूनता । अथ—तत्रापि विशेष्यान्वयिन्यन्वितानन्वितयोराद्ये श्रेष्ठत्वम्, तच्च

दिमाधुर्यवदिति—वाच्यम्; चाधुषत्वादिना सङ्करस्योक्तत्वात् । नच—तव मते तत्तद्वृत्तेस्तत्तदाकारत्वेन चैतन्यस्य तत्प्रतिबिम्बितत्वेन वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्वभावत्वेन तत्तद्व्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यमिति—वाच्यम्; विषयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन स्वभावव्यवहारयोः परिचायकत्वेन च तन्नैरपेक्ष्येण व्यावर्तकताया वक्तुमशक्यत्वात्; अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात् । विशेषणत्वोपाधित्वयोः संभवे च नोपलक्षणत्वमित्युक्तम् । नच 'कथमसतः सज्जायेते'ति श्रुत्या 'नासतोऽदृष्टत्वा'दिति सूत्रेण शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनादित्यादिभाष्येण च विरोधः; तेषां तुच्छे जनकत्वनिषेधपरत्वात्, अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात् । तस्मात् साद्विविक्तत्वं साधनमिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वाभावे बाधकम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वन्मते न प्रतिपादितम्, तेन तव न्यूनतेति—चेन्न; मम हि विशेषणोपाध्योस्तादृशमुख्यजघन्यत्वमनुक्तमर्थाल्लभ्यते । अथ—तर्हि ममापि साक्षात् परम्परया व्यावर्तकयोर्मुख्यजघन्यत्वमर्थाल्लभ्यत इति—चेत्, तर्हि नास्यावयोर्विवादः । ननु—'दण्डयमासी'दित्यादौ दण्डे विशेषणे अव्याप्तिः व्यावृत्तिधीमति एतत्काले तस्यासत्त्वात्, 'दण्डिनं भोजये'त्यत्र दण्डस्य विशेषणत्वाभावात्तत्रातिव्याप्तिः; व्यावृत्तिधीकालसत्त्वादिति—चेन्न; आद्ये अतीतसत्तायां दण्डस्य विशेषणत्वेऽपि व्यावृत्तिबुद्धावविशेषणत्वात्तद्विशेषणस्यैव प्रकृते लक्ष्यत्वेनाव्याप्त्यभावात् । अतएव नातिव्याप्तिः; भोजनीयत्वं प्रत्यविशेषणस्यापि व्यावृत्तिबुद्धौ विशेषणत्वात् । सामान्यतो विशेषणलक्षणं तु यत् यदुपरक्तं, तत् तत्र विशेषणमित्यादि बोध्यम् । तत्तदाकारत्वेनेत्यादि । तृतीयानामभेदोऽर्थः । तस्य च वैलक्षण्येऽन्वयः । वृत्तिश्चिदुपरागार्थत्वपक्षे प्रतिबिम्बितत्वेनेति । आवरणभङ्गार्थत्वपक्षे तदभिव्यक्तत्वेनेति । आकारसमर्पकत्वेन तत्तद्विषयितारूपाकारापेक्षणीयत्वेन । तच्चोक्तरीत्या बोध्यम् । व्यवहारेति । व्यवहारजनकेत्यर्थः । परिचायकत्वेन इतरस्याव्यावर्तकत्वेन । ज्ञानस्वभावानामननुगतत्वात् तेषामेव न तेषु व्यावर्तकत्वम् । न वा व्यवहारजनकत्वं व्यावर्तकत्वस्योपधायकतारूपत्वे अननुगमात् । स्वरूपयोग्यतारूपत्वे जनकतावच्छेदकरूपत्वेन विषयघटितत्वावश्यकत्वात् ॥ इति लघुचन्द्रिकायामसतः साधकत्वाभावे बाधकम् ॥

अथासतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

असतः साधकत्वं कुत्रापि न दृष्टम्; प्रतिबिम्बस्य त्वन्मते स्वाप्नस्य मन्मते च सत्त्वेन मतद्वयेऽपि “पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यती”ति स्वाप्नदर्शनस्यैव शुभाशुभसूचकत्वेनचासतः साधकत्वाभावात् । पारमार्थिकस्यैव लौहित्यस्य स्फटिके प्रतिबिम्बदर्शनेन प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात् । एतेन—रेखारोपिवर्णप्रत्यायकत्वं वर्णदैर्घ्यस्यार्थभेदसाधकत्वं; शङ्काविषय मरणसाधकत्वं, सवितृसुषिरादेरिष्टसाधकत्वं च व्याख्यातम्; प्रथमे रेखास्मारितवर्णानामेवार्थप्रत्यायकत्वेन द्वितीये दीर्घध्वनिसाहित्यस्य तद्व्यक्तिरूपस्य वा दैर्घ्यस्य वर्णगतस्य सत्यत्वेन असत्यत्वेऽपि तदज्ञानस्यैवात्रार्थभेदसाधकत्वेन च तृतीये शङ्कानिमित्तभयजन्यधातुविकलताया एव मरणहेतुत्वेन चतुर्थे सत्यप्यर्थे तदज्ञाने भयाद्यजनने तज्ज्ञानस्यैवारिष्टादिहेतुत्वेन च दोषाभावात् । (१) घटावच्छिन्नतदत्यन्ताभावध्वंसयोः घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽपि घटस्य तदभावत्वात् (२) घटेच्छाब्रह्मज्ञानयोः घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटब्रह्मणोस्तदभाववत् । (३) घटप्रागभावस्य घटजनकत्वेऽपि घटस्य तदभाववत् । (४) विशेषादर्शनस्य भ्रमजनकत्वेऽपि विशेषदर्शनस्य तदजनकत्ववत् (५) विहितकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वेऽपि विहितकरणस्य तदजनकत्ववत् (६) स्वर्गकामनायाः यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत् (७) अतीतादिस्मृतेर्दुःखादिजनकत्वेऽप्यतीतादेः तदजनकत्ववत् (८) असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्व्यवहारहेतुत्वेऽप्यसतस्तदभाववत् (९) चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदभाववत् (१०) ब्रह्मज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदभाववत् (११) ब्रह्मज्ञानस्य जगत्परिणामित्वेऽपि ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववच्चार्थावच्छिन्नज्ञानस्यैव साधकत्वेऽप्यर्थस्यासाधकत्वात् मिथ्यार्थज्ञानाव्यावर्तकस्यापि व्यावृत्तिधीविषयरूपत्वात् । यथाच तुच्छप्रातिभासिकानिर्वचनीयानां ज्ञानपारमार्थिकब्रह्मणां तुच्छप्रातिभासिकत्वानिर्वचनीयत्वामिथ्यात्ववत्त्वेऽपि तदवच्छिन्नतुच्छज्ञानप्रातिभासिकवैलक्षण्यप्रथमप्रकाराविद्यानिवृत्तिब्रह्मभित्तानां न तुच्छत्वादित्वम्, एवमत्राप्यवच्छेदकमिथ्यात्वेऽपि अवच्छिन्नज्ञानमिथ्यात्वाप्रसाराज्ञानसाधकत्वेऽप्यनिस्तारः । वस्तुतस्तु—विषयावच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः; संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्य-

स्वरूपस्य वा ज्ञानमात्रनिष्ठधर्मस्य वा संबन्धत्वमङ्गीकृत्य तेन संबन्धेन ज्ञानसंबन्धस्य विषयस्य व्यावर्तकत्वकल्पनापेक्षया तादृशज्ञानधर्मादेव व्यावर्तकत्वसंभवेन विषयस्य हेतुतावच्छेदकत्वाभावेऽतिप्रसङ्गाभावात् । नहि सर्पज्ञानकार्यमसर्पज्ञानाद्भवति । तज्जनकविलक्षणजन्यत्वेन विषयसंबन्धमनपेक्ष्यैव वैलक्षण्यसंभवाच्च । यथाहि यवाङ्कुरात्कलमाङ्कुरवैलक्षण्यम् । एतेन—तज्जन्यविलक्षणजनकत्वेनापि यवबीजात्कलमबीजस्यैव वैलक्षण्यमिति—सूचितम् ; नहि कलमाङ्कुरतद्बीजे चैत्र-संबन्धमात्रेण यवाङ्कुरतद्बीजाभ्याम्, साक्षात्कारो वा विषयसंबन्धमात्रेण परोक्षज्ञानाद्विलक्षणतयाऽनुभूयन्ते; एवंच प्रतियोगिनमनन्तर्भाव्यैव यथा घटाभावात्पटाभावो विलक्षणः यथा विषयमनन्तर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माणोद्धरणकृतितो विलक्षणा, यथावाऽतीतादिज्ञानं ज्ञानान्तरतो विलक्षणं, तथा सर्पादिज्ञानमपि विषयमनन्तर्भाव्यैवासर्पज्ञानाद्विलक्षणमिति न दोषः । तदुक्तम्—सर्पभ्रमादावपि हि ज्ञानमस्त्येव तादृशम् । तदेवार्थक्रियाकारि तत्सदेवार्थकारकम् ॥ एतेन—अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्तत्तः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्तत्तः ॥ इति खण्डनोक्तम्—परास्तम्; अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्तत्तः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्तत्तः ॥ इत्यपि पठितुं शक्यत्वात् । अत एव हि कथमसतः सजायेतेति श्रुतिः, नासतोऽदृष्टत्वादिति सूत्रं चोपपद्यते; अन्यथाऽसतोऽपि साधकत्वे तद्दिशोधापत्तेरिति सर्वमनवयम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अत्राद्वैतसिद्धिकाराः—

असतः साधकत्वाभावे विम्बरूपेण सतोऽपि प्रतिविम्बाकारेणासतः प्रतिविम्बस्य स्वप्नार्थस्य स्फटिकारोपितलौहिलस्य विम्बशुभाशुभसूचनोपाधिसन्निधानसाधकत्वमनुभूयमानं बाधितं स्यात् । एतेन—रेखारोपितवर्णप्रत्यायकत्वं; वर्णारोपितदैर्घ्यस्यार्थभेदप्रत्यायकत्वं च—व्याख्यातम्; ककारं लिखति गकारं पठति इत्यादिसार्वलौकिकव्यवहारेण रेखाणामेव वर्णात्मत्वारोपेणार्थप्रत्यायकत्वं, नतु तत्स्मारितवर्णानामित्यङ्गीकरणीयत्वात् । ध्वनीनामस्फुरणेऽपि दीर्घो वर्ण इति प्रत्ययेन दैर्घ्यादीनां वर्णं समारोपस्यैवाङ्गीकरणीयत्वाच्च । अतएव हि सवितृसुषिरादेस्तज्ज्ञानस्य वाऽऽरिष्टसाधकत्वमुपपद्यते; अवच्छिन्नस्य जनकत्वेऽवच्छेदकस्यापि तत्त्वावश्यकत्वात् । घटदेशकालौ गृहीत्वा ग्राह्यस्य तद्विज्ञानदेशकालत्वस्य घटाभावादि-संबन्धस्य घटेनापि संबन्धे तद्देशकालभिन्नदेशकालत्वस्यैव व्याहृत्वापत्त्या घटस्याभावे, वेदान्तसाध्यत्वे नित्यत्वविरोधापत्त्या ब्रह्मणो ज्ञाने, स्वस्य स्वजनकत्वे प्रतियोगिप्रागभावयोः समकालिकत्वापत्त्या घटस्य प्रागभावे, प्रतियोगितदभावयोः सदा वृत्त्या भ्रमप्रत्यवाययोरनुपपत्तिप्रसङ्गेन विशेषदर्शनविहितकरणयोः तदभावे च सिद्धे इच्छानुपपत्त्या कामनाया एव व्याहृत्वापत्त्या स्वर्गस्य कामनायां, कार्याव्यवहितपूर्वकाले स्वस्वव्याप्यान्यतरसत्त्वापत्त्याऽतीतस्य स्मृतौ, निःस्वरूपत्वव्याधा-तापत्त्याऽसतः परोक्षज्ञाने, घटस्यापि स्वजनकत्वे चिकीर्षाया एव व्याहृत्या चिकीर्षितघटस्य ज्ञाने, शुद्धब्रह्मणो वृत्त्यविषय-त्वेन निवर्तकत्वायोगेन ब्रह्मणो ज्ञाने च विशेषणत्वस्य बाधादुपलक्षणत्वाङ्गीकारेऽपि सूर्यसुषिरादिज्ञाने सूर्यसुषिरादेर्विशेषणत्वे बाधकाभावात् नोपलक्षणत्वमित्यसतो विषयस्यापि साधकत्वस्यानुभवात् । अत एव ह्युत्कृष्टसर्वविज्ञानेनोत्कृष्टभयाद्यनुविधानोपपत्तिः । एतेन—ज्ञानत्वेनैव जनकत्वं न तु विषयावच्छिन्नत्वादिनेति वस्तुतस्त्वित्यादिना प्रतिपादितम्—निरस्तम्; स्वरूपस्य सर्वज्ञानसाधारण्याभावेऽनुगतस्य कस्यचन धर्मस्यैवासर्पज्ञानादिव्यावृत्तिप्रयोजकत्वस्य वर्णनीयतया तस्य च चाक्षुषत्वादिना सांकर्येण ज्ञानत्वजातिरूपत्वासंभवात्स्वरूपसंबन्धेन वाऽध्यासिकसंबन्धेन वा ज्ञानसंबन्धिविषयरूपत्वं एव पर्यवसानाद्विषयस्यापि साधकत्वमित्यस्यैव युक्तत्वात् । एतेन—तज्जनकविलक्षणजन्यत्वेन तज्जन्यविलक्षणजनकत्वेन च हेतुना धर्म्यन्तरसंबन्धानपेक्षवैलक्षण्यानुमानमपि—पराहतम्; उक्तप्रकारेण विषयसंबन्धमपेक्ष्यैव वैलक्षण्यस्य वर्णनीयतया बाधात्, घटरूपोपाधिसंबन्धेनैव विलक्षणे घटसंयोगे व्यभिचारात्, अप्रयोजकत्वाच्च । अतीतादेरपि व्यावृत्तिजनकधीविषय-त्वं व्यावर्तकत्वं विद्यत एवेति नानुपपत्तिः । एतेन—विषयस्यैव विषयावच्छिन्नज्ञानस्यापि मिथ्यात्वमिति—सूचितम्; स्वरूपतो वाधाभावे विषयतोऽप्यबाधप्रसङ्गात्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोः सर्वत्र सारूप्यनियमाभावात् तुच्छज्ञानादौ तुच्छत्वाददर्शनमप्यबाधकम् । वस्तुतस्तु—सत्त्वं न तावत्कारणतावच्छेदकं, न वा तुच्छविलक्षणत्वं, किंतु दण्डादिकमेव, तद्भेदाच्च कारणमपि भिन्नभिन्नम्; तथाच जनकत्वाद्यनुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः । तदुक्तं—खण्डनकृद्भिः—पूर्वसंबन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुसत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्तत्तः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्तत्तः ॥ इति । एतेन—अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्तत्तः । नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्तत्तः ॥ इति । साम्यापादनं—पराहतम्; अधिष्ठाने मया स्वरूपेण सत्ताङ्गीकारवत्त्वया कारणे तदनङ्गीकारेण वैषम्यात् । कथमसत इति श्रुत्यादिकं तु तुच्छे जनकत्वनिषेधपरं नास्माकं प्रतिकूलम्; अस्मन्मतेऽपि तुच्छस्य जनक-त्वानङ्गीकारादिति सर्वमनवयम्—इति वर्णयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

विम्बप्रतिविम्बयोरभेदे विम्बाकारातिरिक्तप्रतिविम्बाकारसंभवेन प्रतिविम्बस्य सत्यस्यैव विम्बसाधकत्वेन स्वाप्नज्ञानस्यैव

अथ दृक्दृश्यसंबन्धभङ्गः ।

ननु—मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकं, सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेरिति—चेन्नः दृक्दृश्यसंबन्धानुपपत्तेः । नहि ज्ञानं ज्ञेयासंबन्धमेव प्रकाशकम्; अतिप्रसङ्गात् । नापि संबन्धम्; आत्मस्वरूपस्य तद्वृणस्य वा ज्ञानस्य ज्ञेयेन संयोगसमवाययोरभावात्, अन्यस्य चानाध्यासिकस्य संबन्धस्याभावात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संयोगसमवाययोरभावादिति । गुणादौ नात्मनः संयोगः । द्रव्येऽपि तस्यातीतत्वादिकाले उत्पत्तिकाले वा न सः । नच—उत्पत्तिकाले संयोगो मास्तु, अतीतादौ तु तदीयसूक्ष्मावस्थासंयोगद्वारकः संबन्धः; एवं गुणादावपि द्रव्यद्वारेति—वाच्यम्, बुद्ध्यादेर्निर्वच्यवत्त्वेन तत्र तद्वृणदौ च तदसंभवात्सावयव एव संयोगस्य स्वीकारान्निरवयवे

शुभसूचकत्वं, ननु स्वाप्रत्येयज्ञीकारेण दृढतरभेदप्रत्यये सति रेखावर्णयोरभेदारोपासंभवेन “ककारं लिखती”त्यादिव्यवहारानां गौणत्वेन ध्वन्यस्फुरणे दीर्घत्वग्रहणस्याप्यसिद्ध्या च दैर्घ्यादीनां वर्णधर्मत्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वेन चासतः साधकत्वाभावे न बाधकम् । विषयावच्छिन्नस्य ज्ञानस्य साधकत्वे विषयस्यापि साधकत्वं तु विषयविशेषणत्वस्थले एव; यथा लोहितोष्णीषा इत्यादौ; प्रकृते तु ज्ञाने विषयस्योपलक्षणत्वमेव, ननु विशेषणत्वम् । व्याप्त्यादिज्ञाने तथाऽवधारणात्, व्याप्तिभ्रमादनुमित्यभावापत्तेर्व्याप्तिनाऽपि हेतुत्वाङ्गीकारयोगात्, भ्रमस्थलेऽप्यनिर्वचनीयव्याप्त्युत्पत्त्यङ्गीकारे तु अतीतत्वेन निश्चितधूमज्ञानादनुमित्यभावापत्तेः । ज्ञानोत्कर्षस्तु दोषोत्कर्षेणाप्युपपद्यत इति विषयावच्छिन्नत्वेनैव हेतुत्वं न युक्तं, किंतु, ज्ञानत्वेनैवेति युक्तमुत्पश्यामः । सांकर्यस्य जातिबाधकत्वे न प्रमाणमिति ज्ञानत्वादिजातिसिद्धेरप्रत्यूहत्वात्, अननुगतानामपि स्वरूपाणां सादृश्यविशेषादिनाऽनुगमेनासर्पज्ञानव्यावर्तकत्वोपपत्तेश्च । एतेन—सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद्धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्यैव विलक्षणम्, तज्जनकविलक्षणजन्यत्वादित्यनुमानमपि साध्वेवेति—सूचितम्; धर्मिशब्देन स्वखानाश्रितस्यैव विवक्षणेन स्वाश्रितघटसंबन्धपक्षे संयोगे व्यभिचाराभावात् । चैत्रसंबन्धित्वेन यवबीजतदङ्कुरयोः कलमबीजतदङ्कुराभ्यां वैलक्षण्यानापत्तिरूपबाधकतर्कसत्त्वेनाप्रयोजकशङ्काभावात्, पूर्वोक्तप्रकारेण बाधाभावाच्च । अतएव—स्वरूपतोऽपि ज्ञानस्य बाध्यत्वमपि—परास्तम्; शुद्धचैतन्यस्याबाधितत्वेऽपि विषयाविद्याया बाधितत्वेन स्वरूपाबाधेऽपि विषयबाधेन स्वरूपबाधस्य विषयबाधाप्रयोजकत्वात् । निर्गुणब्रह्मविषयकदहरोपासनानामखण्डार्थनिष्ठवेदान्तवाक्यस्य च स्वरूपतो मिथ्यात्वेन विषयतोऽपि मिथ्यात्वापत्तेश्च । एवंच परमार्थसत एव साधकत्वादसतः साधकत्वे न किमपि प्रमाणमिति मन्तव्यम् । दण्डत्वतन्तुत्वादेः दण्डाभासादिष्वतिप्रसक्तत्वेन सद्विशेषदण्डत्वादेरेव कारणतावच्छेदकत्वेन सत्त्वस्यापि कारणत्वप्रयोजकत्वादिति सर्वमनवयम्—इति वर्णयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

विम्बाकारातिरिक्तप्रतिविम्बाकारस्योपाध्यन्तर्गतत्वेनारोपितधर्मेण विद्यमानत्वात्तत्संसृष्टत्वेन प्रतिविम्बस्य मिथ्यात्वात् प्रतिविम्बादिरूपलिङ्गज्ञानमनुमितिकारणमित्याकारककारणताग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य विशिष्टविषयकस्य प्रमाणस्य विशेषणविषयत्वस्योत्सर्गिकत्वेनातीतादिधूमस्थले बाधेन धूमादिकारणतया ग्रहणात्परमार्थसत एव साधकत्वे प्रतिविम्बेन विम्बानुमित्यनुपपत्तिः स्यादिति विषयावच्छिन्नत्वेनैव ज्ञानस्य साधकत्वं, ननु ज्ञानत्वेन; चाक्षुषत्वादिना साङ्कर्येण तस्य जातित्वाभावात्, तस्यादोषत्वे विषयेऽप्येकस्य वैजात्यस्य सिद्ध्यापत्त्या विषयस्यापि स्वाप्रिकप्रातिभासिकरूपस्य हेतुत्वसिद्ध्यापत्तेः । यावता च विषयावच्छिन्नत्वेनैव ज्ञानस्य साधकत्वं, तावताऽविद्यापरिणामत्वेन विषयस्यैव तदवच्छिन्नभ्रमस्यापि बाधितत्वेन तज्ज्ञानसाधकतावादेऽप्यसत्साधकत्वं निरपवादमेव । दण्डत्वादेः प्रातिभासिकसाधारण्येऽपि व्यावहारिकसत्त्वघटितत्वेन कारणतास्वीकारेणैवोपपत्तौ पारमार्थिकसत्त्वघटितत्वस्यासिद्ध्या हेतुसत्त्वबहिर्भूतेत्यस्य नासंगतिः । वस्तुतस्तु—सामग्रीव्याप्तिमध्ये व्यावहारिकत्वविशिष्टपदार्थानामेव निवेशेन व्यावहारिकेण कारणतावच्छेदकेन विशिष्टव्यावहारिकसमूहीयव्यावहारिकसंबन्धविशिष्टव्यावहारिकक्षणीयव्यावहारिकोत्तरत्वविशिष्टव्यावहारिकक्षणत्वव्याप्यं कार्योत्पत्तिव्याप्यमित्यङ्गीकारेणैव सर्वदोषनिवारणात् व्यावहारिकघटितत्वरूपेणापि कारणत्वं कुत्रापि न स्वीक्रियते । घटत्वादिकमेव कार्यतावच्छेदकमिति न प्रातीतिकघटाद्यापातः, प्रातीतिकं तु कुत्राऽपि न कारणं किंतु तज्ज्ञानमेव; वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य मिथ्यात्वेऽपि चिद्रूपस्यामिथ्यात्वानुपपत्तिः । एवंच साधकत्वस्य सत्त्वाघटितत्वात् नासत्साधकत्वानुपपत्तिः इति सर्वमनवयम्—इति व्यवस्थापयन्ति ॥

इति असतः साधकत्वाभावे बाधकविवरणम् ॥

नच विषयविषयिभावः सः; तस्य विषयित्वविषयत्वरूपस्य एकैकमात्रनिष्ठत्वेन द्विनिष्ठसंबन्धात्मकत्वासंभवात्, दुर्निरूपत्वाच्च । तथा हि (१) विषयत्वं किं ज्ञानजन्यफलाधारत्वं, (२) किंवा ज्ञानजन्यहानादिवुद्धिगोचरत्वं, (३) उत ज्ञानकर्मत्वं, (४) ज्ञानाकारार्पकत्वं वा, (५) दृश्यमानत्वे सति तत्त्वं वा; (६) ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्वं वा, (७) सन्निकृष्टकरणेन यज्ज्ञानमुत्पाद्यते तत्त्वं वा, (८) यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः; तथाच संविदि भासमानत्वमिति वा, (९) संबन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्वं वा । आद्ये फलं न तावत् ज्ञातता, अनङ्गीकारात्; अतीतादावभावाच्च । नापि हानादिः; गगनादौ तदभावात्, कलधौतमलादेरपि तज्ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गाच्च । नाप्यभिज्ञाभिलपने; तयोर्ज्ञावृत्तित्वात् । नच—विषयविषयिभावेन ते तत्र स्त इति—वाच्यम्; तस्यैव विचार्यमाणत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि । न तृतीयः; ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेन निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । न चतुर्थः; ज्ञानतदाकारयोरभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापातात्, अनुमित्यादिविषये तदभावाच्च । न पञ्चमः; दृश्यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयात् । न षष्ठः; योग्यतायां योग्यतान्तराभावात् । नच—योग्यता योग्यतां विनैव योग्या, यथा दृश्यत्वं दृश्यत्वान्तरं विनैव दृश्यमिति—वाच्यम्; अवच्छेदकरूपापरिचये योग्यताया एव ग्रहीतुम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अवच्छेदकासंभवात्, दिक्कालविशेषाणां तु बुद्ध्यादौ संबन्धस्य दैशिकव्याप्यवृत्तितया दैशिकाव्याप्यवृत्तिस्वभावसंयोगादौ अवच्छेदकत्वासंभवात् । आत्मगुणत्वं तु न ज्ञानस्य संभवति; तत्र मनस एवोपादानत्वात् । अन्यथात्मनस्तत्रोपादानत्वं मनसो निमित्तत्वमित्यत्र गौरवात् । आत्मरूपज्ञानस्य जगदुपादानस्य समवायो नातीतादौ संभवति, न वा अनादौ । अनाध्यासिकस्येति । अधिष्ठानारोप्ययोः यत्तादात्म्यं, तदन्यस्येत्यर्थः । उक्ततादात्म्यं तु ज्ञानस्वरूपस्याधिष्ठानत्वं विषयस्यारोप्यत्वं साधयतीति वक्ष्यते । द्विष्टसंबन्धात्मकत्वेति । संबन्धस्य यो द्विष्टस्वभावस्तदात्मकत्वेत्यर्थः । संयोगस्य द्विष्टत्वेनोभयवादिसिद्धत्वात् कल्प्यो ज्ञानविषययोः संबन्धोऽपि तादृशः कल्पयितुमुचितः; अन्यथा विषयनिष्ठा विषयता ज्ञाननिष्ठा च विषयितेति द्वयोः कल्पने गौरवात्, तदकल्पने विषयस्य प्रमात्वानुपपत्तेः । अतएव स्वत्वादिसंबन्धोऽपि न युक्तः; स्वस्वामिनोर्विद्यमानस्यैकसंबन्धस्यैव युक्तत्वात् । न हि चैत्रधनयोः संबन्धद्वयं कस्यापि बुद्धिविषयः; अतएव गुणगुण्यादिस्थले तादात्म्यमेव भट्टादिमते स्वीक्रियते । न चैवं—स संबन्धो गुणे गुणवतो वृत्तिनियामकः स्यादिति—वाच्यम्; कुण्डबदरनिष्ठस्यापि संयोगस्य कुण्डवृत्त्यनियामकत्वस्य दृष्टत्वात् । अनङ्गीकारादिति । अज्ञानस्य प्रामाणिकत्वेन तन्निवृत्तेरेव ज्ञानफलत्वसंभवेन ज्ञातता न स्वीक्रियते । नच—सैव विषयतेति—वाच्यम्; प्रतीतिके अनुवाद्ये च विषये तदसंभवात् । अतीतादाविति । ज्ञातता नातीते ज्ञानेनोत्पादयितुं शक्यते; तदुत्पत्तिपूर्वमुपादानस्य विषयस्य सत्त्वाभावात् । नच—विद्यमानविषये तादात्म्येन संबन्धा सा निरूपकत्वसंबन्धेनात्मनि संबध्यते इत्यवश्यं वाच्यम्; अन्यथा ज्ञानोपरमेऽपि पुरुषविशेषीयतया तस्याः प्रत्यक्षं न स्यात्, तथाचात्मन्येव तादात्म्येन सर्वत्र स्रोतव्यते; विषये तु निरूपकत्वसंबन्धेनेति न विषयस्तस्या उपादानमिति—वाच्यम्; तादात्म्यस्यैव सामानाधिकरण्यप्रत्ययनियामकत्वेन तदभावे विषये तदनुपपत्तेः । ननु—भट्टमते एककनकव्यक्तिपरिणामानां कटककुण्डलादीनामुपादानाभूततादृशव्यकत्यात्मना भेदाभेदयोः स्वीकारादेकमव्यक्तिपरिणामयोः स्थूलसूक्ष्मभावापन्नयोः कार्ययोरपि तादात्म्यस्वीकारात् घटतत्सूक्ष्मावस्थयोरपि भेदाभेदस्वीकारात् सूक्ष्मावस्थायां ज्ञातताया उत्पत्त्या स्थूलावस्थारूपे घटादौ सामानाधिकरण्यप्रत्ययोपपत्तिः; अतएव भट्टवार्तिके यागादेरुत्तरावस्था स्वर्गादेः पूर्वावस्था वा अपूर्वम्, अतो यागादेः स्वर्गादौ साक्षादेव कारणत्वमित्युक्तमिति—चेन्न; ज्ञाततायाः सूक्ष्मावस्थायाः प्रत्ययेऽपि स्थूलस्यातीतस्य ज्ञातत्वप्रत्ययात् । किंच ज्ञानं विषये संबद्धं सदेव ज्ञाततां जनयतीति विषये ज्ञानस्य ज्ञाततान्यसंबन्धस्यावश्यकत्वेन तेनैव 'ज्ञातमिदं'मिति धीः । नच—ज्ञानेन ज्ञातत्वोत्पत्तिं विना धीकर्मत्वं नोपपद्यत इति ज्ञाततान्यसंबन्ध इव ज्ञातताप्यावश्यकतीति—वाच्यम्; तावतापि तस्याः विषयज्ञानयोः संबन्धत्वासिद्धेः । परोक्षस्थल इवाज्ञाननिवृत्तेः संस्कारादेर्वा धीकर्मतात्वसंभवाच्च । गगनादाविति । सदा संबन्धापेक्षाभ्यां हानोपेक्षयोस्तत्रासंभवादुपादानस्य पूर्वसिद्धत्वात् न तेषां तत्र फलत्वम् । कलधौतेति । कलधौतमात्रस्य ज्ञानेन तन्मलालोचनद्वारा तद्वानजननात्स्य तद्विषयत्वापत्तिः । न द्वितीय इति । हानाद्यभावबुद्धेः पूर्वसत्त्वेन गगनादौ हानादिबुद्धेरसंभवात् उपादानबुद्धेः पूर्वसिद्धत्वाच्च हानादिधीर्न फलम् । तदाकारेति । तत्स्वरूपात्मकाकारपदार्थेत्यर्थः । हेतूनामिति । अर्पकत्वस्य हेतुत्वरूपस्यैव वाच्यत्वादिति शेषः । यथा दृश्यत्वमिति । इत्तादात्म्ये इत्तादात्म्यान्तरं न स्वीक्रियते; अनवस्थापत्तेः; अतः स्वस्मिन् स्वरूपसंबन्धेन तत्सत्त्वात् दृश्यत्वव्यवहारः; तथा योग्यतायां तथैव

शक्यत्वात् । न च ज्ञानविषयत्वं तदवच्छेदकम् ; आत्माश्रयात् । न सप्तमः ; नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । नाष्टमः ; संविदीति न तावदधिकरणसप्तमी ; ज्ञानस्य ज्ञेयानधिकरणत्वात् । नापि विषयसप्तमी ; तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् , संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य च विषयित्वमिति वैपरीत्यापाताच्च । नापि सति सप्तमी ; भासमानत्वस्य विषयताघटितत्वेनात्माश्रयात् । नापि नवमः ; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानसमवायस्य संबन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्य 'इदं रूप'मिति ज्ञानेऽपि विषयत्वापातात् । ननु—ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग एव ज्ञानविषययोः संबन्धः ; यथा अभियुक्तस्य मन्त्र इति प्रयोगविषयत्वमेव मन्त्रलक्षणम् , न चान्योन्याश्रयः ; पूर्वपूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरोत्तरप्रयोगादिति—चेन्न ; एतावता हि ज्ञेयत्वमात्रं सामान्यतः स्यात् , न त्वेतदज्ञानविषयत्वम् । न चास्मिन् सादौ पूर्वप्रयोगमपेक्ष्य उत्तरोत्तरप्रयोगो वक्तुं शक्यते ; तस्यानादिमात्रविश्रान्तत्वात् । किंच प्रयोगोऽपि स्वविषये संबन्ध इत्यात्माश्रयोऽपि । ननु—यद् ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः ; करणपाटवाद्यभावेन व्यवहारानुदयेऽपि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वरूपं कारणत्वमस्त्येव , न च निर्विकल्पकविषये अव्याप्तिः तस्याङ्गीकारात् , न च यत्तज्ज्ञानमनुगमो दोषः ; कस्य को विषय इति अननुगतस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तस्यादोषत्वात् , न च घटज्ञानानन्तरं प्रमादाद्यद्यत्र पट इति व्यवहारस्तत्र घटज्ञानस्य पटाभिलपनरूपव्यवहारजनकत्वेन पटविषयत्वापत्तिः ; समानविषयाभिलापं प्रत्येव ज्ञानस्य जनकतया भिन्नविषयतया तत्राजनकत्वादिति—चेन्न ; अभिलपनरूपव्यवहारजननयोग्यत्वं न प्रातिस्विकरूपेण निर्णयम् ; अवच्छेदकत्वस्य फलनिर्णयत्वात् ; प्रतिस्वं च फलादर्शनात् , अजनितफले प्रातिस्विकयोग्यतायां मानाभावात् , किंतु तत्र तत्रानुगततत्तद्वृत्तिविषयत्वेन । तथाच आत्माश्रयः । अतएव—ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम् , कर्मत्वं च न कारकविशेषः ; येनातीतादौ तदभावो भवेत् , किंतु क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयवत्त्वम् ; अन्यथा घटं करोतीत्यादावसिद्धं घटादिजनकं सिद्धं च न कृतिकर्मेति द्वितीयाविभक्तिरनर्थिका स्यादिति—निरस्तम् ; व्यवहारयोग्यत्वं न व्यवहाररूपफलोपहितत्वम् ; कुत्रचित् प्रतिरुद्धे व्यवहारे अव्याप्तेः । नापि तत्स्वरूपयोग्यत्वम् ; विषयत्वादित्यस्य तस्यासंभवादिति पूर्वोक्तदोषात् । न च—अवच्छेदकात् भिन्नं सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं तदिति—वाच्यम् ; अनुगतावच्छेदकधर्मं विना तस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात् । घटं करोतीत्यत्र सिद्धस्यैव कपालादेः कृतिकर्मता ; व्यापारकार्यतया सिद्धस्यैव कृतिकर्मताङ्गीकारात् । अतएव निष्पादनावाचिधातुसभामिव्याहृतकर्मपदे शक्यावयवे निरूढलक्षणामाहुरस्तकार्यवादिनः । सत्कार्यवादिनां तु पूर्वसतोऽप्यभिव्यञ्जनीयतया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तद्व्यवहारः । संविद इति । घटे ज्ञानमित्यादौ प्रकृत्यर्थस्य विषयत्वप्रतीतेः प्रकृतेऽपि तथा स्यात् । विषयताघटितत्वेन विषयताश्रयत्वरूपत्वेन । मत्समवेतं मत्समवायवत् । अन्योन्याश्रय इति । प्रयोगे जाते तेन संबन्धेन विषये ज्ञानस्य विशिष्टप्रमयाऽयं ज्ञानविषय इति प्रयोगः ; तस्मिन् सति च सेत्यन्योन्याश्रयः । अभियुक्तस्य मन्त्रे एव मन्त्रशब्दप्रयोक्तृत्वस्य मन्त्रत्वघटितत्वादित्यादिस्य दुर्बलत्वान्मन्त्रपदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वमेव मन्त्रत्वम् । स च धर्म आनुपूर्वीविशेषो नानाविधः । यद्यपि विषयपदशक्यतावच्छेदकवत्त्वं विषयत्वमिति शक्यते वक्तुम् , शक्तेरखण्डधर्मत्वमते शक्त्या घटितत्वेनानुगमसंभवात् ; तथाप्यत्रैवायं ज्ञानस्य विषयत्वमिति व्यवहारो न तेन संभवति ; तस्य सर्वत्र सत्त्वात् । अतएव वायुभिन्न एव रूपसमवाय इति प्रमया समवायनानात्वमाहुरित्याशयेनाह—एतावतेति । ननु तत्तद्विषये पूर्वपूर्वप्रयोग एवोत्तरोत्तरज्ञानस्य विषयत्वम् , तत्राह—न चास्मिन् सादाविति । तस्य पूर्वप्रयोगस्य । प्रथमं सादिपदार्थं ज्ञानविषयोऽयमिति प्रयोगो न स्यात् ; पूर्वप्रयोगाभावात् । न च—ज्ञानस्यैव पूर्वप्रयोगस्यापि पूर्वमुत्पन्नस्येदानीमुत्पन्नविषये संबन्धात्तज्ज्ञानादेवेदानीं प्रयोग इति—वाच्यम् ; तद्विषयव्यक्तिमात्रप्रयोगस्य पूर्वसत्त्वे मानाभावात् । अतएव भाविप्रयोगमादायापि नोपपत्तिः । तत्र तत्रेति । घटादिव्यवहारे इत्यर्थः । तत्तद्वृत्तिविषयत्वेनेति । घटादिनिष्ठं यद्वृत्तिविषयत्वं , तद्वदितेन घटादिज्ञानत्वेनेत्यर्थः । विषयत्वादिति । कारणतावच्छेदकरूपं स्वरूपयोग्यत्वं विषयताघटितमित्यर्थः । तस्यापीति । कारणतावच्छेदकवत्त्वेन यन्निर्णीतं , तस्यैव कार्याभाववत्त्वं सहकार्यभावप्रयुक्ततया ज्ञातुं शक्यते ; शिलादावङ्कुराद्यभाववत्त्वस्य जलाद्यभावप्रयुक्तत्वेनाज्ञानात् । तथाचोक्तान्योन्याश्रयः स्थित एवेति भावः । क्षणिकविशेषस्य तद्व्यक्तित्वेन कारणस्य कार्याभाववत्त्वमेव नास्ति ; सहकारिकूटसंपन्नत्वात् , कुतस्तस्य सहकार्यभावप्रयुक्तत्वम् ? अतोऽनुगतेत्युक्तम् । कार्यानुपधायकवृत्तीति तदर्थः । शक्यावयवे स्वशक्यसंबन्धि-

न कारकत्वकृतिकर्मत्वयोरनुपपत्तिः । एतेन—‘यस्यां संविदी’त्यादिपूर्वोक्तेऽपि न दोषः संविदीति सति सप्तमी, भासमानत्वं च व्यवहारयोग्यत्वम्, तच्च सति कारणान्तरे व्यवहारावश्यम्भाव इत्येतदपि—निरस्तम् । ननु—यः संबन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावश्च स तस्य विषयः; यद्यप्यात्मा स्वविषयज्ञानसमवायवान्; तथापि न तस्य ज्ञानावच्छेदे समवायापेक्षा, ज्ञानासमवायिनोऽपि घटादेस्तदवच्छेदकत्वदर्शनात्, यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतं ध्वस्तमिष्टमित्यादौ रूपज्ञानाविषया अप्यात्मसमवायेच्छाध्वंसादयः संबन्धान्तरमनपेक्ष्य ज्ञानावच्छेदकाः; तथापि समवेतेष्यमाणप्रतियोग्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावा एव; संबन्धेच्छादीनां संबन्धीष्यमाणाद्यवच्छिन्नस्वभावत्वादिति नातिव्याप्तिः । ज्ञानविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः; ज्ञानस्य घटाद्यवच्छिन्नस्वभावत्ववत् घटादेशानावच्छिन्नस्वभावत्वाददर्शनात् । यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयीभूतं ज्ञानविषयिकानुमित्यनुव्यवसायादिकं ज्ञानं ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम्; तथापि स्वयं यत् ज्ञानं प्रति विषयस्तदवच्छिन्नस्वभावं नेति नाव्याप्तिरिति—चेन्न; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवायविषयकत्वाभावप्रसङ्गात्; आत्मसमवायस्य संबन्धत्वेन संबन्धिभूतस्वज्ञानावच्छिन्नत्वात्, घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटावच्छिन्नस्वभावत्वं यथा ज्ञानस्य, तथा ज्ञातो घट इति प्रतीत्या घटस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेनासंभवाच्च । अथ—यज्ज्ञानं यदीयस्वभावं, स तस्य विषयः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावो, न तु रूपज्ञानं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेषे । तेन रूपं करोति सुखं करोतीत्यादौ रूपादिसमवायिनि नाशं करोतीत्यादौ नाशप्रतियोग्यादौ लक्षणा लभ्यते । यः संबन्धेत्यादि । स्वान्यसंबन्धाद्यघटितस्य ज्ञानसंबन्धित्वस्याश्रय इति अवच्छेदकान्तार्थः । स्वविषयकज्ञानसमवायित्वादात्मन्यव्याप्तिमाशङ्क्य निरस्यति—यद्यपीति । ज्ञानावच्छेदे ज्ञानावच्छेदकत्वे । समवायापेक्षा समवायघटितत्वम् । यज्ज्ञानानवच्छिन्नेत्यस्य कृत्यमाह—यद्यपि चेति । समवेतेत्यादि । आत्मसमवायस्य स्वभावः समवेतात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नः, इच्छाया इष्यमाणात्मकेन, नाशस्य प्रतियोग्यात्मकेन रूपज्ञानेनावच्छिन्नः स्वभाव इत्यर्थः । घटाद्यवच्छिन्नेति । ज्ञानं स्वग्राहकेण विषयावच्छिन्नरूपेणैव गृह्यते इति तदेव तत्स्वभावः; विषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नरूपेणैव गृह्यते इति स न तथेति भावः । यज्ज्ञानानवच्छिन्नेत्यत्र यत्पदकृत्यमाह—यद्यपि स्वग्राहकेति । ननु—सर्वं ज्ञानं वाच्यत्वेन जानामीत्याद्यनुव्यवसायः स्वं प्रति विषयः स्वेनावच्छिन्नस्वभावश्चेत्यव्याप्तिः; अथ—येन रूपेण विषयता, तेन रूपेण तज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता वाच्या; प्रकृते च येन सर्पज्ञानत्वेन विषयता, तेन रूपेण न ज्ञानावच्छिन्नता, किंतु ज्ञानत्वमात्रेणेति—चेत्, तथापि वाच्यस्य ज्ञानं वाच्यत्वेन जानामीत्यनुव्यवसाये अव्याप्तिः; अतो असङ्गतेयं परोक्तिरिति ध्येयम् । संबन्धिभूतस्वज्ञानेति । नच—यत्र ज्ञाने समवायो विषयः, तेनानवच्छिन्नत्वं तत्राक्षतमिति—वाच्यम्; समवायस्यैकत्वेन रूपज्ञानसमवायस्य रूपज्ञानज्ञानीयत्वात् रूपज्ञानं मत्समवेतधीविषय इति ज्ञानावच्छिन्नत्वस्य समवाये सत्त्वाच्च । असंभवादिति । ननु—ज्ञानत्वेनावच्छेदकत्वं निवेश्यम्, आत्मसमवायस्य तु स्वविषयकज्ञानं संबन्धित्वेनावच्छेदकम्, नतु ज्ञानत्वेन; विषयस्तु न केनापि रूपेण ज्ञानावच्छिन्नः; ज्ञानं विनापि घटोऽयमित्यादिरूपणादिति—चेन्न; ज्ञानत्वेनावच्छेदकतानिवेशे तज्ज्ञानानवच्छिन्नेत्यस्य कृत्याभावात् । नहि नाशेच्छादौ ज्ञानत्वेन ज्ञानमवच्छेदकम्, किंतु प्रतियोगित्वविषयत्वादिना । अथ येन रूपेण संबन्धिताधीस्तेनावच्छेदकत्वं निवेश्यम्; तथाच ज्ञानं नष्टमित्यादौ ज्ञानत्वेन संबन्धित्वस्य प्रत्ययात्तद्धारणम्, तर्हि प्रकृतेऽपि तथा प्रत्ययाच्च दोषः । विषयस्त्वित्यादिकं तूक्तव्याप्तिनिरासान्निरस्तम्; ज्ञानं गुण इत्यादौ विषयं विनापि ज्ञाननिरूपणाच्च । नच—यज्ज्ञानप्रत्यक्षत्वं यदीयसंबन्धव्याप्यं, तस्य स विषय इति—वाच्यम्, यज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षे विषयतानिवेशे आत्माश्रयात्, संबन्धसामान्यनिवेशे आत्मादेर्धीमात्रविषयत्वापत्तेः । अथ यदित्यादि । ‘प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्रनिबन्धनः स्वभावविशेषो विषयते’त्युदनाचार्यवाक्यं बौद्धाधिकारस्थम् । तत्र शिरोमण्यादीनां व्याख्यानं—प्रकाशस्य ज्ञानस्य । सतः विद्यमानस्य । विषये विद्यमाने अतीतादौ च विद्यमानज्ञानसंबन्धज्ञापनायेदम् । तदीयतामात्रनिबन्धनं तदीयत्वोपहितस्वभावः स्वरूपमिति । ननु—तदीयत्वं ज्ञानविशेषपरिचायकम्, नतु लक्षणे प्रविष्टम्; तथाच वस्तुगत्या यदीयं यत् ज्ञानं तत् तस्य विषयता, तत्राह—रूपेति । अनेन शिरोमण्युक्तदूषणेन दूषणान्तराण्यपि सूचितानि । तदुक्तं शिरोमणिभिः—यदि ज्ञानमेव विषयता तदा घटपटाविति समूहालम्बनस्य अमत्वापत्तिः, घटत्वाभाववति पटे घटत्वविषयकत्वात् । यैव हि घटनिष्ठा तद्धीरूपा विषयता घटत्वविषयतानिरूपिता, सैव पटनिष्ठा विषयता । किंच यथा घटादिज्ञानं तत्स्वरूपं

तदवच्छिन्नस्वभावम्; इदंच ज्ञानस्यैव विषयत्वमुक्तम्; नत्विच्छादिसाधारणमिति नाव्याप्तिरिति—
चेन्न; यदीयस्वाभावमिति तद्वितस्य यद्विषयकत्वार्थकत्वे आत्माश्रयात्, अर्थान्तरस्य निरूपयितु-
मशक्यत्वात्, रूपज्ञानाभावाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेन रूपज्ञानस्याप्यभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेः ।
ननु—ज्ञानजनककरणसन्निकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वम्, नच रूपज्ञानकरणमनस्सन्निकर्षाश्रयस्यात्मन-
स्तद्विषयत्वापत्तिः; करणपदेनासाधारणज्ञानकरणस्यैव विवक्षितत्वात्, नच साधारणज्ञानकरण-
चक्षुस्सन्निकर्षाश्रयस्य मनसोऽपि रूपज्ञानविषयत्वापत्तिः; सन्निकर्षपदेनाप्यसाधारणज्ञानजनकसन्नि-
कर्षस्यैवोक्तत्वादिति—चेन्न; चक्षुर्मनस्संयोगस्यापि चाक्षुषज्ञानासाधारणकारणत्वेन मनसोऽपि
चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्तेः, परोक्षविषये अव्याप्तेश्च । नच—तत्र लिङ्गज्ञानं करणम्, तत्र च लिङ्गिनः
तद्व्याप्तत्वं संबन्धोऽस्तीति—वाच्यम्; लिङ्गस्यापि स्वज्ञानसंबन्धित्वेनानुमिति विषयत्वापत्तेः ।
नचानुमितौ तद्व्याप्ततारूपसंबन्ध एव विषयतानियामकः; व्यापकतावच्छेदकव्यापकसंबन्धादीनाम-
विषयत्वापत्तेः । नच—ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरणो ज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्याप्यधर्मो
विषयत्वम्, इदंच नित्यपरोक्षसाधारणमिति—वाच्यम्; वस्तुत्वादिकमेव विषयत्वमित्यापत्तेः;
ज्ञानावच्छेदकत्वस्य रूपज्ञानाविषये समवायेऽपि सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च । नच—ज्ञानज्ञेययोः स्वरूप-
संबन्ध एव विषयत्वमिति—वाच्यम्; असिद्धेः । तथाहि—स्वरूपसंबन्ध इत्यस्य स्वरूपं संबन्ध इत्य-
र्थत्वे संयोगादावतिव्याप्तिः, नच तदुभयान्यत्वं विशेषणम्; हिमवद्विन्ध्ययोरपि स्वरूपसंबन्धा-
पत्तेः, संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं स्वरूपसंबन्ध इति चेन्न; आत्मानं जाना-
मीत्यत्राव्याप्तेः, तत्र संबन्धान्तरस्य समवायस्यैव सत्त्वात् अतीन्द्रियाभावादावव्याप्तेश्च, न हि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धेन घटादीयं, तथा स्वीयं कालीयं स्वाभावीयं चेति स्वाभावादिविषयकत्वेनापि व्यवहियेत । अपिच
विषयता विषयतात्वं वा यदि नातिरिच्यते ज्ञानात्, तदा घटविषयकज्ञानत्वादिना कथं हेतुत्वादिकम्, तत्त-
ज्ज्ञानव्यक्तीनामननुगमात्, तस्माद्विषयता विषयतात्वं च ज्ञानादन्यत् । प्रकारत्वादयस्तद्विशेषाः । एवं प्रति-
योगित्वाधिकरणत्वादिकमपि प्रतियोग्यादिभिन्नम् । नचैवं—विषयताया अपि विषयता तदन्या, एवं तद्विषयता-
पीत्यनवस्थेति—वाच्यम्; ‘अगत्या तत्स्वीकारा’दिति । तदेतत् ‘अनवस्थादयो दोषाः सत्तां निघ्नन्ति वस्तुनः । अद्वैतिनां
ते सुहृदः प्रपञ्चे तत्प्रसङ्गाः ॥’ इति खण्डनोक्तरीत्याऽस्मदनुकूलम् । दूषणान्तरं चाचार्यैर्वक्ष्यते । इति चेन्नेति ।
प्रत्यक्षं प्रतीन्द्रियमनोयोगत्वेनेव चाक्षुषं प्रति चक्षुर्मनोयोगत्वेन हेतुत्वादिति शेषः । तत्पुरुषीयचाक्षुषवृत्तिजातिविशेषा-
वच्छिन्नं प्रति जातिविशेषेण चक्षुस्संयोगस्य हेतुत्वेऽपि चाक्षुषत्वेन कार्यत्वमवश्यं वाच्यम्; जन्यमात्रवृत्तितया प्रत्यक्षा-
दिसिद्धजातेः कार्यतावच्छेदकत्वं विना आकस्मिकत्वापत्तेः । तत्र च कारणत्वं चक्षुष्ट्वेन संयोगत्वेन वेत्यस्याविनिगम्य-
त्वाच्चक्षुर्मनोयोगस्यापि चाक्षुषमात्रे हेतुत्वम् । यथाहि समवायेन चाक्षुषं प्रति संयोगेन चक्षुः करणं संभवति, तथाऽ-
वच्छेदकतासंबन्धेन चाक्षुषं प्रति तेनैव चक्षुर्मनोयोगोऽपि; तस्य शरीरे तत्संबन्धसंभवात् । वस्तुतो रसनादीन्द्रिय-
संयुक्ते मनसि सति चक्षुर्विषयसंयोगेऽपि चाक्षुषानुत्पत्तेश्चाक्षुषं प्रति चक्षुर्मनोयोगस्य जातिविशेषेणोक्तसंबन्धेन हेतुत्व-
मावश्यकमिति भावः । लिङ्गज्ञानं लिङ्गादिज्ञानम् । तद्व्याप्तत्वं स्वविषयलिङ्गव्यापकत्वम् । ननु—व्याप्तिघटकसंबन्ध-
स्वरूपेणानुमितिस्थलीयसन्निकर्षो निवेश्यः, स च व्यापकधर्मसंबन्धयोरपीति—चेन्न; व्याप्तिघटकप्रतियोगित्वादा-
वतिव्याप्तेः । नच ज्ञानेत्यादि । ‘ज्ञानं मदीयं’ ‘घटं जानामी’त्यादौ ज्ञानावच्छेदकत्वादात्मादिकं घटज्ञानादिविषयः
स्यादत्त आद्यं दलम् । मनआदिवारणाय द्वितीयम् । ज्ञानावच्छेदकत्वस्य परम्परासंबन्धेन व्याप्यो धर्मो मनआदावपि,
अतः साक्षात्संबन्धेन व्याप्यतालाभाय—साक्षादिति । वस्तुत्वादीति । ज्ञानसामान्यकारणत्वं यदि निवेश्यते,
तदोक्तलक्षणं वस्तुमात्रेऽपीति वस्तुत्वादिकमेव लाघवाल्लक्षणमस्तु । यदि तत्तद्धीकरणत्वं निवेश्यते, तथापि सन्निकर्ष-
स्यानतिप्रसक्तस्य दुर्बलत्वात् संबन्धमात्रस्य निवेशे स एव दोषः । तथाचा‘स्य ज्ञानस्यायमेव विषयो नान्य’ इति
व्यवहारो न स्यादिति भावः । संयोगादौ संयोगसमवाययोः । ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपं सामान्यतः कस्यचित् ज्ञानस्य
विषयतेत्युक्तावप्ययं दोषः । तदुभयान्यत्वं संयोगसमवायान्यत्वम् । हिमवदिति । तत्तज्ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपं तयो-
र्विषयतेत्युक्तावप्ययं दोषः । स्वस्यैव स्वस्मिन् संबन्धत्वे हिमवति विन्ध्यस्य स्वरूपसंबन्धेन धीरपि प्रमा स्यात् । अथ
तत्र बाधात् स्वरूपं न संबन्धः, तर्हि ज्ञानेऽपि ज्ञेयस्य बाधात्तथा । अथ संबन्धान्तरं तद्बाधधीविषयः, तर्हि तत्रापि
तथा स्यात् । तस्मात् स्वं न स्वस्मिन् ‘स्वं न स्वीय’मित्यनुभवेन स्वस्य स्वप्रतियोगिकत्वस्वानुयोगिकत्वयोर्बाधात्
स्वरूपं न संबन्ध इति भावः । समवायस्येति । संबन्धान्तराविषयकधीरेव निवेश्येत्युक्तौ त्वनवस्थादिकम् । स्वरू-
अद्वै. सि. ५८

तस्य विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वे मानमस्ति । अन्यथा तेन विशिष्टप्रत्ययजननापत्तेः । किंच विशिष्ट-
प्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा संबन्धः, तादृशस्वरूपद्वयमेव वा । आद्ये स्वरूपस्य संबन्धत्व-
व्याघातः, प्रतीतिघटितस्याप्यचाक्षुषादिज्ञानागोचरत्वप्रसङ्गश्च । न द्वितीयः; अननुगमात् । किंचैवम-
भावभ्रमानुपपत्तिः; तत्रापि विशिष्टप्रतीतिसंभवे स्वरूपसंबन्धस्य सत्त्वात् । नच प्रमात्वघटितं
तल्लक्षणं; वास्तवसंबन्धसत्त्वे प्रमात्वस्याप्यापाद्यत्वात् । अन्यथा तत्र तस्याप्रमात्वे संबन्धाभावः
तस्मिंश्च तस्य प्रमात्वमित्यन्योन्याश्रयात् । ननु—संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता-
वच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपस्य संबन्धत्वं संयोगत्वावच्छिन्नस्य दण्डीत्यादौ संबन्धत्ववत्, विशिष्ट-
बुद्धिश्चावच्छेदिकाविषयिण्येवावच्छेद्यविषया, अतो न स्वरूपसंबन्धगोचरविशिष्टबुद्धेश्चाक्षुषत्व-
विरोधः; नच—तर्ह्यभावप्रमाभ्रमयोः स्वरूपद्वयमात्रविषयत्वाविशेषात् प्रमाभ्रमव्यवस्थानुपपत्ति-
रिति—वाच्यम्; घटाभाववति घटाभावज्ञानत्वेन तद्विज्ञानत्वेन च व्यवस्थोपपत्तेः । ननु—अतिरि-
क्ताविषयत्वे तस्यैवानुपपत्तिः, नहि भवद्गीत्या तस्योभयात्मकत्वेन तदुभयसत्त्वेन व्यधिकरणप्रकारत्व-
रूपभ्रमत्वस्यैवाभावे भ्रमतदन्यत्वाभ्यां व्यवस्था संभवतीति—चेन्न; घटाभावाभावस्य घटत्वेन
तद्वति घटाभावज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वसंभवात् । किंच भ्रमस्य वस्तुगत्या यत् घटवत्स
विषयः, ननु प्रमाया इत्यतिरिक्तविषयत्वमस्त्येव; नचातीन्द्रियाभावे अव्याप्तिः; अत्यन्ताभावे
प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वं, प्रागभावादौ प्रतियोगिदेशत्वे सति प्रतियोगिकालान्यकालत्वम्, अन्योन्या-
भावे प्रतियोगितावच्छेदकदेशान्यदेशत्वं, विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतावच्छेदकम् । तदवच्छिन्नत्वं च
विशिष्टप्रतीत्यजनकेऽप्यतीन्द्रियाभावे सुलभम्, नह्यरण्यस्थो दण्डो न घटजननयोग्यतावच्छेदका-
वच्छिन्न इति—चेत्, मैवम्; नित्यस्यातीन्द्रियस्याकाशाल्यन्ताभावादेर्विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यताव-
च्छेदकावच्छिन्नत्वे अवश्यं विशिष्टप्रत्ययजनकत्वप्रसङ्गात् । नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकारिसम-
वधाननियमात् । किंच विशिष्टस्य प्रत्यय इत्यत्र स्वरूपसंबन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वे आत्माश्रयः, संबन्धमा-
त्रस्य तदर्थत्वे आत्मत्वादिविशिष्टात्मसंबन्धिसमूहालम्बनविषये घटपटादावतिव्याप्तिः; तयोरपि
विशिष्टसंबन्धविशिष्टविषयज्ञानजनकत्वात् । ज्ञानस्याभावः ज्ञातोऽभाव इति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं
न स्यात्; ज्ञानाभावयोरुभयोरेवोभयत्र स्वरूपसंबन्धत्वे विषयकृतविशेषाभावात् । अतएव—
विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं ज्ञानज्ञेयादिस्थले अतिरिक्तमेव संबन्ध इति—निरस्तम्; अतीन्द्रिये
नित्याभावेऽव्याप्तेः । न हि तत्र विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता; फलोपधानापत्तेः, प्रतीतिघटितस्य
चाक्षुषादिप्रतीतावविषयत्वप्रसङ्गाच्च । तस्मात्सत्यत्वे संबन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव दृग्दृश्ययोः
संबन्ध इति ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यस्य संबन्धस्वरूपस्य । अभावभ्रमेति । यस्य स्वरूपं संबन्धस्तद्वन्मेत्यर्थः । अवच्छेदकाविषयिणीति । संब-
न्धतावच्छेदकं यत् संयोगत्वादिकमुक्तयोग्यतावच्छेदकं वा तदविषयिणीत्यर्थः । अवच्छेद्यविषया संयोगादिस्व-
रूपमात्रनिष्ठसांसर्गिकविषयताका । तस्य घटाभाववतः । उभयात्मकत्वेन उभयात्मकरूपसंबन्धघटितत्वेन । घट-
त्वेनेति । तथाच तद्विज्ञेयस्य घटवद्विशेष्यकरूपतद्विलक्षणेत्यर्थः इति भावः । तेन तस्यैवानुपपत्तेरिति यदुक्तं तत्
तस्यैवोपपत्त्या समाहितम् । नियमादिति । एतादृशनित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे सहकारिसमवधानमावश्यकम्; अन्यथा
तत्साधारणोक्तगुरुत्वेन तदङ्गीकारे मानाभावादभावत्वादिनैव स्वरूपयोग्यतासंभवात् । अत्रेदमपि बोध्यम्—
प्रतियोगिदेशान्यदेशवृत्त्यभावस्वरूपस्य विशिष्टधीस्वरूपयोग्यतां वदतापि न दूषणमुद्धृतम्; प्रतियोगिदेशे अभाव-
धियः प्रमात्वापत्तेः पूर्वोक्ताया अनुद्धारात् । नच घटादेराश्रये तदभावधीर्भ्रमः, अन्यत्र सा प्रमेत्युक्तं युक्तम्; तद्वति
तद्वदन्यत्वस्वरूपसंबन्धस्यावारितत्वात् । एतेनोक्तरूपेण नाभावधीस्वरूपयोग्यता, किंतूक्तरूपोपहितमभावस्वरूपमेव
अभावस्य संबन्ध इत्यपास्तम् । तयोः घटपटाद्योः । विशिष्टसंबन्ध आत्मसमवेतम् । अविशिष्टविषयेति ।
स्वविषयकसमूहालम्बनेत्यर्थः । अविशिष्टेयत्वेन घटपटाद्योर्मिथो वैशिष्ट्यशून्ययोः स्वरूपसंबन्धो न युक्त इति सूचितम् ।
विषयकृतैति । नच—ज्ञानस्याभाव इत्यत्र या ज्ञानव्यक्तिर्विषयः, ज्ञातोऽभाव इत्यत्र न सा विषय इति विषयभेद
इति—वाच्यम् । विषयतावच्छेदकरूपेण विषयस्य हि भेदः प्रकृते अवश्यं वाच्यः; अन्यथा स्वाभावविषयकज्ञानविषय-
योरुक्ताकारज्ञानयोर्विषयव्यक्तिभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अतिरिक्तेति । ज्ञानज्ञेयादिस्वरूपान्यो धर्मविशेष इत्यर्थः ।
॥ इति लघुचन्द्रिकायां प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धभङ्गः ॥

अथ दृग्दृश्यसंबन्धभङ्गः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्; सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेः । तथाहि—अन्यच्चेत्संविदो नीलं न तद्भासेत संविदि । भासते चेत्कुतः सर्वो न भासेतैकसंविदि । नियामकं न संबन्धं पश्यामि नीलतद्वियोरिति वचनं विज्ञानवाद्युक्तयुक्तिच्छेदि-
मात्रम् । **तेषामयमाशयः**—विषयत्वस्य विषयित्वस्य वा द्विनिष्ठत्वाभावेन संबन्धात्मकत्वं न संभवति, यथाकथंचि-
त्संबन्धात्मकत्वसंभवेऽपि अनुगतविषयत्वनिर्वचनं न संभवति । तस्य (१) ज्ञानजन्यफलाधारत्व (२) ज्ञानजन्यहानादि-
बुद्धिगोचरत्व (३) ज्ञानकर्मत्व (४) ज्ञानाकारसमर्पकत्व (५) दृश्यमानत्वविशिष्टत्व (६) ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्व (७)
तत्संनिकृष्टकरणजन्यज्ञानसंबन्धित्वरूपत्वे **प्रथमे**—फलपदेनानङ्गीकारेण ज्ञानतायाः, गगनादावभावेन हानादेः ज्ञेयवृत्ति-
तयाऽभिज्ञाऽभिलपनयोश्च विवक्षणायोगः, **द्वितीये**—गगनासाधारण्यं, **तृतीये** ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारका-
जन्यत्वेन निर्विषयत्वप्रसङ्गः, **चतुर्थे**—ज्ञानतदाकारयोः स्थलभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापातः, अनुमित्यादिविषये
तदभावश्च, **पञ्चमे**—दृश्यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयः, **षष्ठे**—योग्यतायां योग्यतान्तराभावेनाव्याप्तेः,
सप्तमे—ईश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गश्चेति यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते, स तस्या विषय इति संविदि भासमानस्य
संबन्धान्तरं विना ज्ञानावच्छेदकत्वस्य तद्रूपत्वविवक्षणे तत्रापि संविदीति सप्तम्या ज्ञेयस्य ज्ञानानधिकरणत्वेनाधिकरणत्वस्य
संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य विषयत्वमिति वैपरीत्यापातेन विषयत्वस्य बोधनासंभवेन सतिसप्तम्या विवक्षणे भासमानत्वस्य
विषयताघटितत्वेनात्माश्रयस्य, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानसमवायस्य संबन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्यैवं
रूपमिति ज्ञानेऽपि विषयत्वस्य चापातेन न विषयत्वनिर्वचनं निर्दुष्टं संभवति—इति । नैतद्युक्तम्; बहुप्रकारैस्तन्निर्वचनसंभ-
वात् । **तथाहि**—(१) पूर्वपूर्वप्रयोगज्ञानेनोत्तरोत्तरप्रयोगोपपत्त्या अन्योन्याश्रयानापत्त्या ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग
इति वा, (२) कदाऽपि व्यवहाराजनकस्य निर्विकल्पस्यानुपगमेनाव्याप्त्यभावात् कस्य को विषय इत्यनुगते प्रश्ने अननुगत-
स्यैव वक्तव्यत्वेन अननुगमदोषाभावात् घटज्ञानानन्तरप्रामादिकपटज्ञाने घटज्ञानस्याहेतुत्वेनातिव्याप्त्यभावाच्च यत् ज्ञानं
यदभिलपनरूपव्यवहारहेतुः स तस्य विषय इति वा, (३) असिद्धस्याजनकत्वेन सिद्धस्य कृतिकर्मत्वाभावेन द्वितीया-
विभक्तिसार्थक्यार्थं क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयत्वमेव कर्मत्वं न तु कारकविशेष इति ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वमिति वा,
(४) दृश्यत्वे दृश्यत्ववत् आध्यासिकसंबन्धे आध्यासिकसंबन्धवच्च योग्यत्वेऽपि योग्यत्वोपगमेन सति कारणे व्यवहाराव-
श्यंभावरूपव्यवहारयोग्यत्वस्यैव भासमानत्वपदेन विवक्षणेनात्माश्रयाद्यसंभवेन यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषय
इति वा, (५) अहमित्याकारके ज्ञाने स्वज्ञानस्यात्मना समवायसत्त्वेऽपि तस्य तदपेक्षैव ज्ञानावच्छेदकत्वाभावेनाव्याप्त्य-
नवसरात् रूपज्ञानं ध्वस्तमित्यादौ संबन्धान्तरमनपेक्षैव रूपज्ञानावच्छेदकस्यापि ध्वंसदेः तज्ज्ञानरूपावच्छिन्नस्वभावत्वेन
तत्रातिव्याप्त्यभावाच्च यः संबन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, स तस्यां विषय इति वा,
(६) यत्समवेतं रूपज्ञानमित्यस्यात्मनिरूपितसमवायवद्रूपज्ञानमिति नार्थः, किंतु रूपज्ञाननिरूपितसमवायो मध्यस्तीति
समवायत्वस्य रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वं, न तु रूपज्ञानस्य समवायावच्छिन्नस्वभावत्वमित्यतिव्याप्त्यभावात्, यज्ज्ञानं यदव-
च्छिन्नस्वभावं स तस्य विषय इति वा, (७) करणपदेन सन्निकर्षपदेन चासाधारणज्ञानकरणस्य तादृशज्ञानजनकसन्निकर्षस्यैव
च विवक्षणादात्मनो मनसो वा रूपादिज्ञानविषयत्वानापातेन ज्ञानजनककरणसंनिकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वमिति वा तन्निर्वे-
चनसंभवात् । इदंच नियतविषयकजन्यज्ञानलक्षणं; ज्ञानजनकसंनिकर्षसमानाधिकरणज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्याप्यधर्मो विष-
यत्वमिति विवक्षणे तु न कुत्राप्यव्याप्तिरिति सर्वमनवद्यम् । एतादृशस्य च विषयस्य ज्ञानेन स्वरूप एव संबन्ध इति
दृश्यत्वेऽपि सत्यत्वोपपत्त्या सिद्धमिदं यन्मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

विषयत्वं दुर्निरूपम्; सादौ एतज्ज्ञानविषयत्वं पूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरप्रयोग इति वक्तुमशक्यत्वात्तस्यानादिमात्रविश्रान्त-
त्वेन प्रयोगस्यापि स्वविषयसंबन्धरूपत्वेनात्माश्रयेण च **प्रथमप्रकारस्य**, अवच्छेदकत्वस्य फलनिर्णयत्वेन प्रतिखं
च फलादर्शनेन प्रातिस्विकयोग्यतायां मानाभावात्प्रातिस्विकरूपेणाभिलपनव्यवहारयोग्यत्वनिर्णयासंभवेन तत्र तत्राबु-
गतवृत्तिविषयत्वेनैव तस्य निर्णयत्वेनात्माश्रयात् **द्वितीयप्रकारस्य**, कुत्रचित्प्रतिरुद्धव्यवहारके घटादावव्याप्त्या व्यव-
हाररूपफलोपहितरूपव्यवहारयोग्यत्वस्य विषयत्वादन्वयस्य तस्यासंभवेन स्वरूपयोग्यत्वस्य तस्य विवक्षितमशक्यत्वेन
व्यापारकार्यतया सिद्धस्यैव घटादेः कृतिकर्मत्वङ्गीकारेण सत्कार्यवादेन कारकलकृतिकर्मत्वयोरनुपपत्त्यभावेन च
कारकविशेषस्यैव कर्मत्वस्य विवक्षणीयतयाऽतीतादावव्याप्त्या **तृतीयप्रकारस्य**, तत एवच **चतुर्थप्रकारस्य**, यत्सम-

देतं रूपज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवायस्य संबन्धत्वेन संबन्धिभूतस्वज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेन समवायविषयकत्वाभावप्रसङ्गात् घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटादिज्ञानस्य घटावच्छिन्नस्वभावत्ववज्ज्ञातो घट इति प्रतीत्या घटस्याऽपि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेनासंभवाच्च **पञ्चमप्रकारस्य**, यदीयस्वभावमिति तद्धितस्य यद्विषयत्वार्थकत्वे आत्माश्रयात् अर्थान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् रूपज्ञानाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेनाभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेश्च **षष्ठप्रकारस्य**, चक्षुर्मनःसंयोगस्यापि चाक्षुषासाधारणकारणत्वेन मनसोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्त्या अनुमितिकरणलिङ्गज्ञानसंनिकर्षव्याप्तत्वसंबन्धेन लिङ्गिन इवोक्तज्ञानसंनिकृष्टलिङ्गस्याऽपि अनुमितिविषयतापत्त्या व्याप्तारूपसंबन्धस्यैव विषयतानियामकत्वे व्यापकतावच्छेदकताव्यविषयतापत्त्या च **सप्तमप्रकारस्य** चासंभवात् । एतेन—वस्तुत्वादिकमेव विषयतेत्यापत्त्या ज्ञानावच्छेदकत्वस्य रूपज्ञानविषये समवायेऽपि सत्त्वेनातिव्याप्त्या च नित्यानित्यज्ञानसाधारणमपि तन्निर्वचनम्—**पराहतम्**; स्वरूपसंबन्धस्तु दृग्दृश्ययोर्न संबन्धः, अतीन्द्रियाभावादेः, विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वे मानाभावेन तत्रात्मनि संबन्धान्तरस्य समवायस्यैव सत्त्वेन तत्र चाव्याप्त्या संबन्धान्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वस्य स्वरूपसंबन्धपदार्थत्वाभावात् । किंच विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा संबन्धः, तादृशस्वरूपद्वयमेव वा, आद्ये स्वरूपसंबन्धत्वव्याघातः, प्रतीतिघटितस्य चाक्षुषज्ञानागोचरत्वप्रसङ्गश्च । **द्वितीयेऽनुगमः** । यत्र विशिष्टप्रतीतिः, तत्र स्वरूपसंबन्ध इत्यापत्त्या घटाभावादिभ्रमानुपपत्तिः, तस्यापि प्रमात्वापातात्, विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपस्यैव संबन्धत्वमिति विवक्षणेनोक्तसर्वविधदोषपरिहारेऽपि नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकारिसमवधाननियमात् तादृशस्यातीन्द्रियस्याकाशाभावादेर्विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेऽवश्यं विशिष्टबुद्धिं प्रत्यजनकत्वप्रसङ्गो दुर्वार इति दृग्दृश्यसंबन्धो न निरूपयितुं शक्यते । यदि विषयस्य संबन्धस्य च दृश्यव्यस्तत्वं नाङ्गीक्रियते इति दृश्यत्वस्य प्रपञ्चसत्यत्वेऽनुपपन्नत्वान्मिथ्यात्वसाधनमुपपन्नमेवेति मन्तव्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(३) अत्र तरङ्गिणीकाराः—

अनादौ पूर्वप्रयोगापेक्ष उत्तरप्रयोगः, सादौ तु नेति कल्पनायां विनिगमकाभावेन लिप्यादिसंप्रदायवदुपपत्त्या शब्दप्रयोगस्य संबन्धरूपत्वाभावेन भावेऽपि संबन्धत्वेनाप्रवेशेन च **प्रथमप्रकारे**, विशेषसामग्रीसहिताया एव सामान्यसामग्र्याः कार्यजनकत्वेनातिप्रसङ्गाभावेन संशयादिभिन्नज्ञानत्वस्य योग्यतावच्छेदकत्वेऽन्योन्याश्रयानवसरेण **द्वितीयप्रकारे**, कृतेरसिद्धविषयत्वनियमेन सिद्धरूपघटादिविषयत्वे तन्निधमभज्ञापत्त्या व्यापारकार्यत्वातिरिक्तकर्मत्वानुभवेन तद्रूपेण कर्मत्वस्याप्यसंभवदुक्तिकत्वेन मुख्यस्य क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयत्वरूपस्यैव कर्मत्वस्य विवक्षणीयतया **तृतीयप्रकारे**, तत एव **चतुर्थप्रकारे**, संयोगादिसाधारणसंबन्धत्वेन दुःखादिसाधारणात्मसमवेतत्वेन वा ज्ञानसमवायस्य ज्ञानावच्छिन्नत्वेऽपि ज्ञानत्वेन ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेन मत्समवेतं रूपज्ञानमिति ज्ञानस्य समवायविषयकत्वाभावाप्रसङ्गेन, न जानामीत्यज्ञानस्यैव ज्ञानमस्तीत्यादावपि सामान्यतो विषयस्य निरूपकत्वेन विषयेण विज्ञाननिरूपणासंभवेन ज्ञानस्य विषयावच्छिन्नस्वभावत्वेऽपि दण्डी देवदत्त इत्यादौ देवदत्ते दण्डस्यैव ज्ञातो घट इत्यादौ ज्ञानस्यापि विषयमात्रत्वेन ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वस्य विषयेऽभावेनासंभवाप्रसङ्गेन च **पञ्चमप्रकारे**, यदीयशब्देन यत्संबन्धित्वविवक्षणेन **षष्ठप्रकारे**, अर्थसन्निकर्षावच्छिन्ने मनःसंयोगस्य कारणत्वेन चक्षुर्मनःसंयोगस्य कारणत्वे एव मानाभावात्तदसाधारण्यस्य दूरापास्तत्वेनैकैव कार्यकारणभावेनानतिप्रसङ्गे तत्तदिन्द्रियमनःसंयोगरूपानेककारणतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवेण मनसश्चाक्षुषज्ञानविषयत्वानापत्तेः, व्यापकतावच्छेदकावच्छिन्नेन पक्षसंबन्धविशेषवता लिङ्गिना व्याप्तलिङ्गेन संबन्धस्यैवानुमितिविषयतानियामकत्वेन परोक्षज्ञाने विषयेष्वव्याप्त्यभावाच्च **सप्तमप्रकारे च**, दोषाभावाच्च विषयानिर्वचनीयत्वम् । एवंच “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” इति श्रुत्यवगतैश्वर्यसिद्धेश्वरसंबन्धन्यथाकरणसामर्थ्यस्य नित्यस्यापीच्छाविरहेण कार्यानुपधायकत्वदर्शनेन स्वरूपयोग्यस्य नित्यस्य सहकारिसमवधाननियमासंप्रतिपत्तेः नित्यातीन्द्रियाकाशात्यन्ताभावस्य विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेऽपि विशिष्टप्रतीतिजनकताप्रसङ्गाभावेनोक्तरूपस्य स्वरूपस्य संबन्धत्वे बाधकाभावात् दृग्दृश्यानाध्यासिकसंबन्धसिद्धिरिति मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकमेवेति पश्यामः—इति प्रत्यवतिष्ठन्ते ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

प्राथमिकसादिप्रयोगे तद्विषयव्यक्तिमात्रप्रयोगस्य पूर्वतनस्य सत्त्वे मानाभावेन सर्वसाधारण्याभावेन **प्रथमप्रकारस्य**, कारणातावच्छेदकत्वेन यन्निर्णीतं तस्यैव कार्याभाववत्त्वं सहकार्यभावप्रयुक्तं, शिलादावङ्कुराद्यभावस्य जलाभावप्रयुक्तत्वाज्ञानादिति एडमूकाज्ञानस्य वाग्निन्द्रियापाटवेन व्यवहारप्रयोजकस्य विषयेऽव्याप्त्या योग्यत्वस्य विषयताघटितत्वावश्यकत्वेनान्योन्याश्रयापत्त्या **द्वितीयप्रकारस्य**, तत एवान्योन्याश्रयापत्त्या **तृतीयप्रकारस्य**, तत एव **चतुर्थप्रकारस्य**, प्रतियोगित्वविषयत्वादिना ज्ञानावच्छेदके ध्वंसादौ ज्ञानत्वेन तदवच्छेदकत्वाभावेनैवातिव्याप्तिवारणसंभवेन ज्ञानावच्छिन्नस्व-

अथानुकूलतर्कनिरूपणम् ।

स्यादेतत्—सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मकदृग्ध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित् कदाचित् किञ्चित् प्रति-
प्रकाशाय त्वयाऽपि तत्तत्सन्निकृष्टेन्द्रियजन्यतत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवानावृतदृक्संबन्धः स्वीकृतः;
तथाच सत्यत्वेऽपि तद्द्वारक एव संबन्धोऽस्तु, किमाध्यासिकसंबन्धदुर्व्यसनेन, नहि भवतां
विज्ञानवादिनामिव तत्तज्ज्ञाने तत्तदर्थध्यासस्वीकारः, शुद्धदृशः स्वतो भेदाभावात् उपाधिविशि-
ष्टाया भेदेऽपि घटादिवत्तस्या अपि मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वायोगादिति;—चेन्न; प्रकाशस्य साक्षात्
स्वसंसृष्टप्रकाशकत्वनियमेन चैतन्यस्य परम्परासंबन्धेन विषयप्रकाशकत्वायोगात् । नहि प्रदीपः
परम्परासंबन्धं प्रकाशयति; अतो विषयाधिष्ठानचैतन्यमनावृतमेव प्रकाशकम्, आवरणभङ्गश्च
वृत्त्या; अतो वृत्तेः पूर्वमाध्यासिकसंबन्धे विद्यमानेऽपि दृश्याऽप्रतीतिरूपपन्ना । अतएव—वृत्तिप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वृत्तिद्वारकः वृत्तिसापेक्षः । तद्द्वारकः स्वावच्छिन्नवृत्तिविषयत्वम् । परोक्षवृत्तिविषयत्वस्य प्रकाशासम्पादक-
त्वात्—स्वावच्छिन्नेति । यत्र विषयत्वं स्थाप्यं, स स्वपदार्थः । वस्तुतो वृत्त्यवच्छेदकत्वमेव संबन्धः; वृत्त्यविषये
वृत्त्यवच्छेदकत्वाभावात् । ननु तत्तत्पुरुषीयज्ञाने तत्तद्विषयाणामध्यासेनाध्यासिकसंबन्धो वृत्त्यनपेक्ष एव विषयप्रका-
शनियामकः; नहि दृष्टिसृष्टिपक्षे वृत्तिसापेक्षो विषयप्रकाशः, अपितु तत्तन्मनःपरिणामानां घटादीनां तत्तन्मनोऽवच्छि-
न्नचित्यध्यासादाध्यासिकतादात्म्यमात्रापेक्षः, तत्राह—न हीति । भवतां शुद्धचिति घटादेरध्यास इति सृष्टदृष्टिपक्षं
वदताम् । ननु सृष्टदृष्टिपक्षेऽपि एकस्यां चिति नाध्यासः; किंतु भिन्नभिन्नचिति भिन्नभिन्नविषयाणाम्, तत्राह—
शुद्धेति । जीवचिदेव विषयप्रकाश इति पक्षे तस्या जगदनुपादानत्वे घटादौ तादात्म्याभावेन वृत्तिद्वारकोक्त-
संबन्ध एव विषयभानव्यवहारे कारणं त्वदुक्तमिष्टमेव । नच—तर्हि दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिरूपतर्कः
मिथ्यात्वसिद्ध्यनुकूलो न स्यात्, दृग्दृश्ययोस्तादात्म्यस्यैवानुपपन्नत्वादिति—वाच्यम्; उक्तसंबन्धस्याप्यनुपपन्न-
त्वात् । संसर्गमात्रस्यानुपपन्नत्वं हि वक्ष्यते । तस्या जगदनुपादानत्वे तु तादात्म्यरूपसाक्षात्संबन्धसंभवे उक्त-
संबन्धो विषयावभासको न युक्तः । अतएव मनोवच्छिन्नचितो जीवत्वपक्षे जीवस्य जगदनुपादानत्वेन विषयता-
दात्म्याभावेऽपि ब्रह्मण एव जगदनुपादानत्वेन विषयतादात्म्यात् विषयप्रकाशकं तादात्म्यमेव, वृत्तिस्तु विषयभासक-
ब्रह्माभेदाभिव्यक्त्यर्थेत्याशयेनाह—प्रकाशस्येति । ज्ञानालोकयोरन्यतरस्येत्यर्थः । साक्षात्स्वसंसृष्टप्रकाशक-
त्वेति । स्वकीयसाक्षात्संबन्धाश्रये कार्यविशेषप्रयोजकत्वेत्यर्थः । प्रकाशयति स्वप्रयोज्यकार्यविशेषभाजं करोति ।
यथाऽऽलोकः संयोगरूपसाक्षात्संबन्धेन घटादौ गतो 'घटः प्रकाशत' इति व्यवहारं तमोनाशं च जनयति, तथा चित्
तादात्म्येन घटादौ गता घटो 'भाती'त्यादिव्यवहारं प्रवृत्त्यादिकं च; परम्परासंबन्धेन तज्जनकत्वे गौरवादिति भावः ।
नन्वनावृतचित्तादात्म्यस्य जनकत्वे वृत्तेरेव तद्युक्तम्; तस्या एवावरणविरोधित्वात्, लाघवाच्च, तत्राह—अतो विष-

भावश्चेति विशेषणवैयर्थ्येन तत्सार्थक्यार्थं येन रूपेण संबन्धिताधीस्तेनावच्छेदकत्वनिवेशे प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वेन रूपेण
संबन्धिताधियां ज्ञानत्वेनैव तदवच्छेदकत्वेन मत्समवेतरूपज्ञानमित्यादिज्ञानविषयताया समवायेऽप्यापत्त्या ज्ञानं गुण
इत्यादौ विषयं विनापि ज्ञाननिरूपणेन ज्ञातो घट इत्यादौ ज्ञानस्येव घटज्ञानमित्यादौ घटस्य विशेषणमात्रत्वेन ज्ञानस्यापि
विषयावच्छिन्नस्वभावभावापत्त्या ज्ञानस्येव विषयस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वस्य प्रतीतिविशेषमवलम्ब्य वर्णनीयत्वेना-
संभवेन च पञ्चमप्रकारस्य, यदि ज्ञानमेव विषयता, तदा घटपटाविति समूहालम्बनस्य भ्रमलापत्तिः, घटज्ञानं यथा
घटीयं, तथा स्त्रीयं कालीयं स्वाभावीयं चेति तेषामपि तद्विषयतापत्तिः; अपिच विषयता विषयतावत्त्वं च यदि नातिरिच्यते,
तर्हि घटविषयकज्ञानत्वादिना कथं हेतुत्वादिकमिति ज्ञानान्यस्वरूपत्वमेव विषयतादेः, अगत्याऽनवस्थादोषः सोढव्य एवेति
शिरोमणिवचनेन विरोधात्पष्ठप्रकारस्य, मनसि रसनादीन्द्रियसंयुक्ते सति चक्षुर्विषयसंयोगेऽपि चाक्षुषानुत्पत्तेश्चाक्षुषं प्रति
मनःसंयोगस्य जातिविशेषेणोक्तसंबन्धेन हेतुत्वसावश्यकत्वेन मनसोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्त्या, व्याप्तिघटकसंबन्धत्व-
रूपेण संनिर्कर्षनिवेशे तद्वटकप्रतियोगित्वादीनामपि विषयत्वापत्त्या च सप्तमप्रकारस्य चासंभवेन विषयस्यानिर्वचनी-
यत्वेन, अभावत्वादिनैव स्वरूपयोग्यतासंभवे उक्तगुत्तररूपेण तस्य स्वरूपयोग्यत्ववर्णने मानाभावेनैतादृशनित्यस्य सहका-
रिसमवधाननियमस्यावश्यकत्वेनोक्तदोषावारणेन पूर्वोक्तशिरोमणिवचनविरोधेन च स्वरूपसंबन्ध एव विषयतेति शङ्काया
अप्यनवसरेण च दृग्दृश्यसंबन्ध आध्यासिक एवेति नोक्तानुमानमप्रयोजकमिति सर्वमनवद्यम्—इति परिहरन्ति ॥

इति दृग्दृश्यत्वभङ्गः ॥

विम्बितचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापातः, घटाभिव्यक्तचैतन्यस्य घट-
प्रकाशकत्वे आवश्यकं न वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्येनैव घटप्रकाशकत्वोपपत्तौ तदधिष्ठानचिदभिव्यक्ति-
कल्पनायोग इति—निरस्तम्; परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहारार्थं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्प-
नाया युक्तत्वात् । नच—शुद्धचैतन्यस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्वं नाभिव्यक्तिः, अभिव्यक्तस्य च घटाद्य-
वच्छिन्नचैतन्यस्य न तदधिष्ठानत्वम्, आत्माश्रयादिति—वाच्यम्; चरमसाक्षात्कारात् पूर्वमपि
शुद्धचैतन्यस्याविद्यावशादधिष्ठानभूतस्य मूलज्ञाननिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्यभावेऽपि तदवस्थाविशे-
षादिनिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्या विषयप्रकाशकत्वोपपत्तेः । नच—घटप्रकाशिकायाः दृशो मिथ्यात्वे-
नाधिष्ठानत्वं सत्यत्वे दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात् सत्यं स्वविषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयतःपाशा
रञ्जुरिति—वाच्यम्; यतो दोषाजन्यत्वं न प्रमात्वप्रयोजकम्; चैतन्यस्य सर्वत्र दोषाजन्यत्वात्,
किंतु दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वम्; प्रकृते च तदभावात् न विषयस्य सत्यत्वम् । अतो मिथ्याभूत-
विषयं प्रत्यधिष्ठानत्वं सत्याया दृशो युक्तम् । ननु—तार्त्त्विकसंबन्धासंभवे आध्यासिकसंबन्धकल्प-
नम्? स एव तु कुतः; कृतसंयोगवाधे गुणगुणिनोः समवायवत्तदुभयवाधे तृतीयस्य संभवात्,
नच तत्र मानाभावः; समवायवदनुमाध्यक्षयोः सत्त्वात् । तथाहि—परस्परासंयुक्तासमवेतविशेष-
णविशेष्यकविशिष्टधीर्विशेषणविशेष्यसंबन्धविशिष्टविषया, विशिष्टधीत्वात्, दण्डीति विशिष्टधी-
वत्; उक्ता जन्यप्रमा, विशेषणविशेष्यसंबन्धनिमित्तका, अबाधितजन्यविशिष्टधीत्वात्, संमतवत्;
विमता धीः, अबाधितविशेषणविशेष्यसंबन्धविषया अबाधितविशिष्टधीत्वादण्डीति विशिष्टधीवत्;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

येति । आवरणभङ्गोऽनावृत्तत्वम् । कचिदिति शेषः । तथाच वृत्तेरुक्तजनकत्वे सुखादिस्थले तदभावादनुपपत्तिः ।
किंच वृत्तिमात्रस्योक्तजनकत्वाभावात् अपरोक्षत्वेन तस्य जनकत्वं वाच्यम्; तच्चानावृत्तचित्तादात्म्यवद्विषयकत्वम् ।
तथाचोक्तचित एवोक्तकारणत्वे लाघवमिति भावः । अतएव अनावृताधिष्ठानचितः प्रकाशकत्वादेव । अतन्त्र-
तापात इति । प्रतिबिम्बचितोऽनधिष्ठानत्वादिति शेषः । घटाभिव्यक्तेति । घटावच्छेदेनाभिव्यक्त्येत्यर्थः । स्फुटतरः
भातीत्यादिरूपः । युक्तत्वादिति । अन्यथोक्तचैतन्यस्य परोक्षस्थलेऽपि सत्त्वेनोक्तव्यवहारापत्तिः । तदधिष्ठानत्वं
तदुपादानत्वम् । शुद्धेति । घटाद्यनुपहितेत्यर्थः । अविद्यावशादधिष्ठानेति । ब्रह्मण उपादानत्वपक्षे अविद्याविशि-
ष्टतया अविद्योपहिततया वोपादानत्वम् । जीवस्योपादानत्वपक्षेऽप्यविद्योपहितस्यैव जीवत्वात् सुतरां तथेति भावः ।
तदवस्थाविशेषेति । पल्लवाविद्येत्यर्थः । आदिपदादेकाज्ञानपक्षे मनोऽनवच्छेदप्रयुक्तस्य विषयचित्प्रमानुचितोभेदस्य
संग्रहः । तथाच मूलाविद्या घटाद्यवच्छिन्नचितं नावृणोति । एकाज्ञानपक्षे मनोऽसंबद्धमेव विषयमावृणोति; अतो
नोक्तदोष इति भावः । प्रमात्वादिति । प्रमाविषयत्वेनेति शेषः । प्रकृते घटादिभासकदृशि । तदभावादिति ।
बाधितविषयकवृत्तेः भ्रमत्वेन दोषजन्यतेति भावः । विशिष्टधीः 'ज्ञातो घट' इत्याकारकधीः । विशेषणविशेष्यसं-
बन्धविषया ज्ञानघटयोर्विषयगताभ्यां निरूपिता या किञ्चिन्निष्ठविषयता तद्विशिष्टा । तेन ज्ञानघटयोः संबन्धविशेषस्य
पूर्वमसिद्धावपि न क्षतिः । नवा ज्ञानत्वादिसंसर्गमादाय सिद्धसाधनम् । संयोगसमवायविषयकत्वमादायार्थान्तरवारणाय
विशेष्यकान्तम् । परस्परेति । परस्परमसंयुक्तमसमवेतं च यद्विशेषणविशेष्यं तद्विषयकेत्यर्थः । ज्ञानत्वावच्छिन्नविष-
यतानिरूपिता या संयोगे समवाये वा सांसर्गिकविषयता तच्छून्येति यावत् । एतेन—परस्परासंयुक्तत्वादिति निर्णयस्य
संयोगादिनिष्ठसांसर्गिकविषयताकत्वसिद्धावप्रतिबन्धकत्वादुक्तविशेषणं नोक्तार्थान्तरस्य वारकमिति—अपास्तम् । न
चैवमपि—ज्ञानघटस्वरूपयोः पक्षीभूतज्ञानविषयस्य घटादेर्वा सांसर्गिकविषयतामादायार्थान्तरमिति—वाच्यम्; स्वरू-
पयोः स्वप्रतियोगिकत्वासंभवेन घटादेरुक्तज्ञानविषयत्वेन च तस्याः बाधात् । विशिष्टधीत्वात् सप्रकारकधीत्वात् ।
दण्डीति । दण्डज्ञानयोः विशिष्टधियः पक्षत्वे ज्ञानं संयोगेन दण्डविशिष्टमिति भ्रमो दृष्टान्तः । यदि तु यत्त्वं तत्त्वं
चानुगतमिति प्राचां मतमवलम्ब्यते, तदा यदुभयविशेष्यविशेषणकं यत्, तत् तदुभयविषयतानिरूपिततया किञ्चिन्नि-
ष्ठसांसर्गिकविषयतया विशिष्टमिति सामान्यतो व्याप्तौ 'दण्डी पुरुषः' इति प्रमापि दृष्टान्तः संभवति । विशेषणविशे-
ष्यसंबन्धनिमित्तकेति । स्वीययोर्विशेष्यताविशेषणतयोरश्रयौ यौ, तयोः संबन्धेन जन्येत्यर्थः; तेन संयोगज्ञानयो-
र्विशिष्टद्वन्द्वौ संयोगजन्यत्वात् न सिद्धसाधनम् । स्वपदं पक्षीभूतधीपरम् । विषयविधया संबन्धस्य जनकत्वं निवेद्यम्;
तेन कालादिविधया तदादाय नार्थान्तरम् । अत्र स्वत्वानुगमात् साध्याप्रसिद्धिः । नच—संयोगसमवायस्वरूपसंब-
न्धानिमित्तकत्वेन पक्षविशेषणेऽपि सामान्यतः संबन्धनिमित्तकत्वेन पक्ष एव सन्देहात् संशयरूपा प्रसिद्धिरिति—
वाच्यम्; तत्संशये हेतौ तत्सामानाधिकरणस्याप्यौचित्यावर्जितसंशयोद्वेगेन व्याख्याननिश्चयात्, तावतापि दृष्टान्ते साध्य-

गोमांश्चैत्र इत्यादेरपि पक्षकुक्षिनिक्षेप एवेति न तत्र व्यभिचारशङ्का । तथाच संयोगसमवायातिरिक्त-
संबन्धसिद्धिरिति—चेन्न; प्रथमे द्वितीये चार्थान्तरम्; आध्यासिकसंबन्धस्यैव विषयत्वेन निमित्त-
त्वेन चोपपत्तेः । द्वितीये परोक्षधीषु व्यभिचारश्च । तृतीये ब्रह्मज्ञानपर्यन्ताबाधितत्वेन सिद्धसाधन-
मेव । सर्वथा अबाधितधीषु विषयत्वे साध्ये साध्यवैकल्यम् । नच—तात्त्विकसंबन्धबाधे आध्यासिक-
संबन्धसिद्धिः, तथाच संयोगसमवायातिरिक्ततात्त्विकसंबन्धबाधपर्यन्तं नाध्यासिकसंबन्धसंभावना,
तथाच कथमर्थान्तरसिद्धसाधनसाध्यवैकल्यानीति—वाच्यम्; तात्त्विकसंबन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या-
बाधात् । तथाहि—तात्त्विकसंबन्धस्य व्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः । सचातीतादिविषय-
कज्ञानादीनां नास्त्येवेति कथं तात्त्विकस्तेषां संबन्धः । नच—समवायवत् संबन्धभावविप्रकर्षाद्य-
विरुद्धत्वेनैव तत्सिद्धिरिति—वाच्यम्; समवायस्यापि देशकालविप्रकृष्टयोः संबन्धव्यवहाराप्रयोजक-
त्वात् । नहि संबन्धभावेऽपि सन् समवायोऽद्य नष्टं घटं श्वस्तनेन रूपेण विशिनष्टि । नचाध्यासि-
कत्वे संबन्धस्य साध्ये धर्मिग्राहकमानबाधः; विशिष्टबुद्धित्वेन प्रथमतात्त्विकातात्त्विकसाधारणसंब-
न्धत्वस्यैव सिद्धेः । किंच संबन्धग्राहक एव तात्त्विकसंबन्धव्यापकानुपलब्धिरूपबाधसहकृताध्या-
सिकसंबन्धे पर्यवस्यति । अतो न धर्मिग्राहकबाधशङ्कापि । न चैवं—युतसिद्धयोरेव संयोगरूपसंब-
न्धदर्शनादयुतसिद्धिरपि संयोगस्य बाधिका स्यादिति—वाच्यम्; अयुतसिद्धयोरपि कचित्संबन्धा-
दर्शनेन युतसिद्धत्वस्य संबन्धाप्रयोजकत्वात्, यस्मिन् सत्यवश्यं संबन्धः स एव संबन्धस्य प्रयोजक

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वैकल्याच्चेति दूषणं स्फुटत्वादुपेक्ष्य दूषणान्तरमाह—प्रथमे द्वितीये चेति । व्यभिचारश्चेति । नच—लौकिका-
परोक्षत्वस्य हेतौ निवेशान्न व्यभिचार इति—वाच्यम्; संबन्धांशे तन्निवेश्यते, सर्वविषयांशे किंचिद्विषयांशे वा ।
आद्ये द्वितीये च 'ज्ञातो घट' इति चाक्षुषादिप्रमायां स्वरूपासिद्धिबाधौ । तृतीये संबन्धांशे परोक्षे व्यभिचारः,
पक्षतावच्छेदके लौकिकमानसापरोक्षत्वनिवेशे चाक्षुषादौ साध्यासिद्धिः, मन्मते आश्रयासिद्धिश्चेति भावः । ननु—
स्वसंबन्धिसमसत्ताकसंबन्धविषयकत्वादिकं साध्यम्, अतो न बाधितसंबन्धेनार्थान्तरमिति—चेन्न; किंचित्संबन्धिसम-
सत्ताकत्वं निवेश्यते, यावत्संबन्धिसमसत्ताकत्वं वा । आद्ये विषयस्यातात्त्विकत्वेनार्थान्तरावारणम् । द्वितीये त्वप्रसिद्धिः;
ज्ञानज्ञेयोभयसमसत्ताकाप्रसिद्धेः । किंच स्वपदं पक्षस्य दृष्टान्तस्य वा विषयसंबन्धं वदति । आद्ये साध्यवैकल्यम् ।
द्वितीये बाधः । विप्रकर्षाभाव इति । यद्देशावच्छेदेन काले कालिकसंबन्धेन यस्याधिकरणत्वं प्रतीयते, तत्रैव देशे
दैशिकसंबन्धस्तस्य स्वीक्रियते । यथा भूतलाद्यवच्छेदेन घटादेः काले कालिकसंबन्धेनाधारत्वप्रत्ययात् भूतलादौ घटा-
देरेव संयोगादिदैशिकसंबन्धः प्रामाणिकः, ननु मेरुविन्ध्ययोः । तथाच यथा तयोरेकावच्छेदेनापरस्य काले कालिकसंब-
न्धेनाधिकरणत्वं न संभवति, तथा ज्ञानज्ञेययोर्भिन्नकालीनयोरपि । सोऽयं देशकालविप्रकर्षो मेरुविन्ध्ययोरिवातीतादि-
विषये ज्ञानस्य तदीयकालिकाधिकरणतानवच्छेदकत्वरूपः । तदभावस्य चोक्ताधिकरणतानवच्छेदकत्वस्य तदीयदैशिक-
संबन्धसामान्यव्यापकत्वात्तदभावेन तदभावः सिध्यति । नच—केवलान्वयिवाच्यत्वादेः संबन्धस्य घटादौ सत्त्वात्तत्र
वाच्यत्वीयकालिकसंबन्धावच्छिन्नाधिकरणत्वावच्छेदकत्वस्याभावाच्चोक्तव्यापकत्वमसिद्धम्, अतो नोद्देश्यसिद्धिरिति—
वाच्यम्; तावता व्यतिरेकिप्रतियोगिकसंबन्धव्यापकत्वे बाधकाभावात् । घटादेः कालिकसंबन्धवत्यपि महाकाले
तदीयोक्ताधिकरणतावच्छेदकत्वाभावात् दैशिकेति संबन्धविशेषणम् । नच—अतीतादिविषयस्य ज्ञानकाले सूक्ष्मा-
वस्थासत्त्वात्तस्यां सत्यसंबन्धसंभवेन तत्तादात्म्यात् स्थूलस्य विषयत्वव्यवहार इति—वाच्यम्; स्थूलज्ञानस्य
सूक्ष्मविषयकत्वव्यवहारापत्तेः, स्थूलसूक्ष्मयोरत्यन्तभेदस्येवात्यन्ताभेदस्याभावेन भिन्नकालीनत्वान्मिथ्यातादात्म्यस्यैव
वाच्यत्वेन स्थूले ज्ञानस्य साक्षात्तादात्म्यस्यैव मिथ्याभूतस्य वक्तुमुचितत्वाच्च । ननु—मूले तात्त्विकसंबन्धस्येत्यत्र
तात्त्विकपदमनुपपन्नम्; स्वमते संबन्धस्य तात्त्विकत्वासिद्धेः, किंच तद्वर्थम्; ययोः संबन्धव्यापकस्याभावः,
तयोर्न संबन्ध इत्यस्यैव नियमस्योद्देश्यत्वादिति—चेत्, सत्यम्; तथापि तदुक्तावयं भावः—उक्तनियमेन
संबन्धाभावसिद्धावपि तद्विरोधी मिथ्यासंबन्धः ज्ञानतद्विषययोर्विशिष्टधीबलात् कल्प्यते शुक्तिरजतयोरिवेति,
सत्यत्वेन संबन्धस्याभावोऽनुमानात् पर्यवस्यतीति । समवायवदिति । यथा समवायस्यैकत्वपक्षे रूपादेर्नांशेऽपि
तदीयः समवायो घटादावस्ति; तस्य नानात्वपक्षेऽपि नित्यत्वात् स तदा तत्रास्त्येव; तथा नष्टस्यापि
विषयस्य विषयता ज्ञानेऽस्तीति भावः । विशिनष्टि विशिष्टव्यवहारभाजं करोति । तथाच विद्यमानेऽपि
समवाये नष्टप्रतियोगिकत्वाभावेनोक्तनियमे न व्याहतिः; यत् येन विप्रकृष्टं, तत् तत्प्रतियोगिकसंबन्ध-
ज्ञानमित्यस्याक्षतत्वात् । लाघवाद्माह—किंचेति । अध्यासोऽपि अधिष्ठानारोप्योक्तादात्म्यमपि । अतिरिक्तः

इति समव्याप्तत्वाभावेन युतसिद्ध्यनुपलब्धेरवाधकत्वात्, यत्र संबन्धस्तत्रावश्यं युतसिद्धिरिति विषमव्याप्तिकल्पनेऽपि मानाभावात्, अनुकूलतर्कादर्शनात्, देशकालविप्रकर्षाभाववतां तु सर्वेषां संबन्धदर्शनेन विप्रकर्षे तददर्शनेन च समव्याप्ततया प्रयोजकस्य देशकालविप्रकर्षाभावस्यानुपलब्धेः संबन्धवाधकत्वस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । नहि प्रयोजकाभावे प्रयोज्यसंभवः । नन्वेवं—ध्वंसादे-
रतीतादिना, मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गतस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना, शक्तेः शक्येन अज्ञानस्याज्ञेयेन, इच्छाया इष्यमाणेन, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्येन, वाक्यस्यार्थेन, वृत्तिरूपज्ञानस्य ज्ञेयेन, संबन्धो नेति त्वद्वाक्योक्तसंबन्धाभावस्य ज्ञानेनासंबन्धात् स्वन्यायस्वक्रियास्ववचनविरोधाः स्युः; नहि ज्ञाने ज्ञेयमिव प्रतियोग्यादिकमभावादावध्यस्तमिति—चेन्न; यद्यप्युक्तन्यायसाम्येन ध्वंसादीनां स्वप्रतियोग्यादिभिस्तात्त्विकः संबन्धो नास्त्येव, अध्यासोऽपि न ज्ञानज्ञेयन्यायेन, उभयोरपि मिथ्यात्वात्; तथापि प्रतीयमानं प्रतियोग्यनुयोगिभावादिकं सर्वथा न निराकुर्मः, किंतु तात्त्विकाध्यासाभ्यां भिन्नमेव ज्ञेयकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् मिथ्याभूतमङ्गीकुर्मः । सच संयोगादिवदतिरिक्तो वा स्वरूपं वा पराङ्गीकृतपदार्थान्तर्गतो वा तदतिरिक्तो वेत्यस्यां काकदन्तपरीक्षायां न नो निर्वन्धः । नच मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयः; दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्या ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वे सिद्धे तन्मध्यपतितस्य प्रतियोग्यभावादिसंबन्धस्यापि मिथ्यात्वं, न तु प्रतियोग्यभावादिसंबन्धमिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरं दृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरिति व्यवहारोपयुक्तसंबन्धसामान्यस्याप्रतिक्षेपात् न स्ववचनादिविरोधः । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः ‘वाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं? दृढे तदपि वाध्यताम् । क ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्’ ॥ इति । न चादृढत्वं वाधस्य; व्यापकानुपलब्धिरूपतर्कस्योक्तत्वात्, स्वक्रियादिविरोधरूपप्रतिकूलतर्कस्य परिहृतत्वाच्च । अतएव न जातिवादिसाम्यम्; तेन हि नियमसापेक्षानित्यत्वसाधककृतकत्वादौ नियमानपेक्षणदर्शनमात्रेण रूपवत्त्वादिकमापाद्यते, न त्वस्माभिस्तथानियमनिरपेक्षेण साहचर्यमात्रेण किञ्चिदापाद्यते । न चैवं—ज्ञानज्ञेययोरपि प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य एव संबन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्; परस्पराध्यासात्मकसंबन्धासंभवेनैव संबन्धान्तरकल्पनात्, तत्सम्भवे तस्यैव संबन्धत्वात् । नच—अज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो विषयिण्यज्ञानेऽनध्यासेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धिभ्यां भिन्नः । अन्तर्गत इति । स्वरणसंबन्धाश्रयत्वादिरूपत्वादिति शेषः । न नो निर्वन्ध इति । विप्रकर्षस्य बाधकस्य सर्वेषु पक्षेषु तुल्यत्वेन मिथ्यात्वस्यावश्यकत्वेन तस्यैव सर्वानुपपत्तिपरिहारकत्वादिति शेषः । ननु प्रतियोगीति । ननु—प्रतियोग्यनुयोगिभावादिसंबन्धे मिथ्यात्वसंशये संबन्धव्यापकत्वमविप्रकर्षे न निश्चेतुं शक्यते इति—चेन्न; उक्तानुकूलतर्कसत्त्वे व्यभिचारसंशयस्याप्रतिबन्धकत्वात्, अन्यथा पक्षावृत्त्युपाधौ साध्यव्यापकत्वस्यानिश्चयापत्तेः । वाधे विप्रकर्षहेतुकस्य संबन्धाभावानुमानस्य सामर्थ्यात् । अदृढे तर्कानवतारेणानुपपन्ने । अन्यसाम्यात् किमिति । ज्ञानज्ञेये, तात्त्विकसंबन्धयुक्ते, विशिष्टप्रमाविषयत्वात्, प्रतियोग्यभावादिवदिति सत्प्रतिपक्षरूपादन्यसाम्यघटितात् प्रयोगात् किं फलम् न किमपीत्यर्थः । संपन्नायां ह्यनुमानसामर्थ्यां प्रत्यनुमानसामग्री सफला, नासम्पन्नायामिति भावः । दृढे उक्ततर्कावतारेण तस्यां संपन्नायाम् । तदपि साम्यप्रतियोगी प्रतियोग्यभावसंबन्धोऽपि । वाध्यतां विप्रकर्षेण प्रतियोग्यादावभावादिसंबन्धाभाव उक्तसामर्थ्यवानुमीयताम्; तस्यास्तर्कवत्त्वेन निस्तर्कौक्तसामर्थ्या सत्प्रतिपक्षासंभवादिति भावः । वाधे दृढे इत्यत्र न्याये दृढे इति पाठकल्पनं तु न युक्तम्; खण्डनग्रन्थे तदभावात् । दर्शनेति । सहचारदर्शनेत्यर्थः । रूपवत्त्वादिकं रूपादिसाधकत्वम् । समकक्ष्यः अधिष्ठानारोप्योर्थः संबन्धस्तदन्यः । परस्पराध्यासात्मकेति । संबन्धिनोः परस्परावच्छेदेन अध्यस्तं यत् परस्परतादात्म्यं तत्स्वरूपेत्यर्थः । संबन्धासंभवेनेति । संबन्धिनोर्विप्रकर्षात् संबन्धस्य मिथ्यात्वे सिद्धे मिथ्यासंबन्धोपहितरूपेण संबन्धिनोरपि मिथ्यात्वं सिध्यति । तथाचोक्तरूपेण ज्ञानज्ञेययोर्मिथ्यात्वेऽपि शुद्धरूपस्य ज्ञानस्यामिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वसंभवात्तयोः संबन्धः अधिष्ठानारोप्ययोः पर्यवस्यति, प्रतियोग्यभावयोस्तु नाधिष्ठानारोप्यतासंभवः; द्वयोरपि तयोः शुद्धरूपेणापि ज्ञेयत्वेन मिथ्यात्वात् । तस्मात् शुद्धरूपेण संबन्धिनोर्मिथ्यात्वसाधकाभावे अधिष्ठानत्वमेवेति भावः । ननु—प्रतियोग्यभावयोः परस्परावच्छेदेन तादात्म्याध्यासासंभवे ‘घटोऽत्यन्ताभावीयः अत्यन्ताभावो घटीय’ इति धीस्तयोः परस्परविशेष्यविशेषणता च न स्यात्; नच—घटावच्छेदेन तदत्यन्ताभावस्य तादात्म्यानध्यासात् घटवित्संबन्धस्य उक्ताभावचित्संबन्धानवच्छेदकत्वेऽपि घटांशे उक्ताभावस्य विशेषणत्वव्यवहारो नानुपपन्नः, उक्ताभावीय-प्रतियोगिताया घटावच्छेदेन तादात्म्याध्यासासंभवात्तादृशतादात्म्यरूपसांसर्गिकविषयताया घटविषयतावच्छिन्नत्व-

विषयस्य विषयिण्यध्यासनियमो न सिद्ध इति—वाच्यम्; एवं नियमानभ्युपगमात्, किं तु ज्ञाना-
ज्ञानयोरध्यास एव विषयेण संबन्धः । स च ज्ञाने ज्ञेयस्याज्ञेये चाज्ञानस्याध्यासात् उपपद्यते ।
अत एवाध्यासिकसंबन्धव्यतिरेकप्रदर्शने अज्ञानस्याज्ञेयेनेत्यनुदाहरणम् । ननु—श्रवणादीनां चरम-
साक्षात्कारान्तानां स्वविषयेण ब्रह्मणा संबन्धानुपपत्तिः; नहि श्रवणादौ साक्षात्कारे वा ब्रह्माध्यस्त-
मिति—चेन्न; साक्षात्कारो हि वृत्तिर्वा, तदभिव्यक्तचैतन्यं वा । आद्ये तस्याः ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेना-
ज्ञानाज्ञेययोरिव संबन्धोपपत्तेः । अतएव श्रवणादिनापि मानसक्रियारूपेण न संबन्धानुपपत्तिः;
द्वितीये तु अमेदेन संबन्धानुपयोगात् तत्संबन्धानुपपत्तिर्न दोषाय । अतएव—चरमसाक्षात्का-
रस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् यदि तद्विषयत्वं, तदा घटसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् तद्विषय-
त्वापत्तिरिति—निरस्तम्; घटसाक्षात्कारस्य घटाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वे ब्रह्मण्यनध्यासात्, वृत्तिरूपत्वे
तस्याः ब्रह्मण्यध्यासेऽपि नाधिष्ठानभूतब्रह्मणो विषयत्वम्; ब्रह्मविषयताप्रयोजकस्याध्यासविशेषस्य
तत्राभावात्, तस्य च फलबलकल्प्यत्वात्, न हि चरमवृत्तौ ब्रह्माकारतावदत्राऽपि साऽनुभूयते,
इच्छेद्यमाणयोस्तु ज्ञानद्वारक एव संबन्ध इति न पृथक्संबन्धापेक्षा । नच—ज्ञाने सन्निकर्षाधीन-
स्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येवेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषयसंबन्धस्यानुभवात् सन्निकर्षादिभ्यो भिन्न
इव ज्ञानात् भिन्न एव संबन्धो वक्तव्य इति—वाच्यम्; संबन्धानुभवस्य ज्ञानद्वारकसंबन्धेनाप्युप-
पत्तेरतिरिक्तसंबन्धकल्पने मानाभावात्, ज्ञानाधीनसंबन्धान्तरस्यानुभवात् । ज्ञाने त्विन्द्रिय-
सन्निकर्षादिना न संबन्धानुभवोपपत्तिः; इन्द्रियसन्निकर्षादीनामतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिनोप-
स्थितिं विनैव घटज्ञानमित्यादि संबन्धानुभवात् । स्मृतौ तु अनुभवाधीनसंबन्धस्य शङ्कैव नास्ति;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संभवादिति—वाच्यम्; तावतापि घटांशे उक्ताभावस्य विशेषणत्वासंभवात्, यदीयविषयताविशिष्टसंसर्गविषयता यदी-
यविषयत्वेनावच्छिन्ना, तदेव तत्र विशेषणमिति विवेचितम्; न चोक्ताभावविषयता घटादिविषयत्वेनावच्छेत्तुं शक्या,
तयोर्भिन्नेदंशावच्छिन्नत्वादिति—चेन्न; प्रतीयमानस्य विशेष्यविशेषणभावस्यापलापायोगात्, उक्तानुपपत्तेर्मिथ्यात्व-
साधकसहायत्वेनासदनुकूलत्वात् । न हि परमतेऽपि तत्रानुपपत्तिर्नास्ति; संबन्धस्यैवासंभवात् । ज्ञानाज्ञानयोरिति
इच्छादेर्विषयेऽध्याससंबन्धासंभवाद्विषये विषयिणोऽध्यासः संबन्ध इति नोक्तम् । अध्यासः अधिष्ठानारोप्यगतः ।
उपपद्यत इति । यद्यपि ज्ञाने ज्ञेयस्येवाज्ञाने तद्विषयस्य तादात्म्यमेव न संबन्धः, किंतु विषयितापि, तथापि
सोक्ताध्यास एव; अधिष्ठानारोप्यगतत्वादिति भावः । अज्ञानतद्विषयशुद्धचित्तोः परस्परवच्छेदेन न तादात्म्याध्यासः;
सुषुप्तौ भासमानस्याज्ञानाध्यासस्य निर्विकल्पकत्वेन निर्विशेष्यकत्वादज्ञानचित्संबन्धेऽवच्छेदकस्य चित्संबन्धस्य वक्तुम-
शक्यत्वात् । अतो ज्ञानाज्ञानयोः स्वविषयेण परस्पराध्याससंबन्ध इति नोक्तम् । अध्यासविशेषस्य 'अहं ब्रह्मे'-
त्यादिवाक्यघटितसामग्रीजन्यवृत्तिनिष्ठस्य ब्रह्मतादात्म्यस्य । तथाच तादृशसामग्र्येव शुद्धब्रह्माकारतायां वृत्तिनिष्ठायां
नियामिकेति भावः । फलेति । यादृशसामग्रीजन्यज्ञाने ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिफलत्वं, तस्यैव ब्रह्माकारत्वं कल्प्यत इति
भावः । अनुभवबलमप्याह—न हीति । अत्र घटादिज्ञाने । नन्वविप्रकर्षस्य संबन्धव्यापकत्वे इच्छाया भाविविषय-
कत्वं न स्यात्; तस्मादिच्छाया इव ज्ञानस्यापि विप्रकृष्टे संबन्धोऽस्त्विति शङ्कां प्रतियोगिध्वंसादिन्यायेन पूर्वतिर-
स्तामपि प्रकारान्तरेण निरस्यति—इच्छेति । ज्ञानद्वारकः स्वोपधायकज्ञानविषयत्वरूपः । तथाच नेच्छासंबन्धो
दृष्टान्तः; ज्ञानसंबन्धस्यैव इच्छासंबन्धत्वादिति भावः । अधीनस्य द्वारकस्य । ज्ञानात् भिन्नः ज्ञानाघटितः ।
नन्वेवं ज्ञानस्यापि स्वोपधायकेन्द्रियसन्निकर्षादिकमेव संबन्धोऽस्तु, तत्राह—ज्ञाने त्विति । उपस्थितिं विषयताम् ।
संबन्धानुभवादिति । घटप्रत्यक्षकाले घटज्ञानमित्याकारको घटज्ञानयोः संबन्धानुभवो वर्तते । स च संबन्धो
नेन्द्रियादिघटितः; तस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षज्ञानाविषयत्वात्, साक्षिज्ञानेन हि स्वासंबन्धोऽपि विषयः स्वसंबन्धज्ञान-
विषयो गृह्यते; इन्द्रियादिघटितसंबन्धस्तु स्वासंबन्धोऽपि स्वासंबन्धज्ञानस्याप्यविषयो न तद्विषयतया ग्रहीतुं शक्यत
इति भावः । प्रत्यक्षाविषयस्यापि अनुमित्यादिविषयत्वेन साक्षिग्राह्यतासंभवात् अनुमित्यादिनोपस्थितिं विनैत्युक्तम् ।
असत्त्वादिति । अनुभवाधीनः संबन्धः स्वोपधायकानुभवविषयत्वं, स्वोपधायकसंस्कारोपधायकानुभवविषयत्वं वा ।
नान्त्यः; संस्कारस्य साक्ष्यभास्यत्वेन साक्षिग्राह्यस्मृत्यविषयत्वेन च पूर्वोक्तन्यायेन घटस्मृतिसंबन्धानुभवानुपपत्तेः ।
नाद्यः; अनुभवस्य स्वाुपधायकत्वात्, नह्यविद्यमानमुपधायकमिति भावः । ननु स्वोपधायकत्वं न संबन्धे निवे-
द्यम्, किंतु स्वसमानाधिकरणीयं यत् घटत्वाद्यवच्छिन्नं विषयत्वं तत्त्वेन रूपेण संबन्धता; अतएवेच्छाजनकमनो-
वृत्त्यादिनाशेऽपि तदुपलक्षिततादृशविषयत्वस्य सत्त्वात्तदेवेच्छाया इव स्मृतेरपि घटादिविषयेण संबन्धोऽस्तीति स एव
अद्वै. सि. ५९ ।

अनुभवस्य तदानीमसत्त्वात्, उभयोरपि ज्ञानत्वेन तुल्यवदेव संबन्धसंभवाच्च । नच—समूहालम्बन-
जन्यैकविषयेच्छायामुभयविषयत्वापत्तिः; जनकज्ञानस्योभयविषयत्वादिति—वाच्यम्; अतिरिक्त-
संबन्धपक्षेऽपि तुल्यत्वात् । अथैकविषयावच्छेदेनैव ज्ञानस्य जनकत्वात् नोभयविषयत्वं, समं
ममाऽपि; जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्वस्यैव संबन्धत्वात् । नच नित्येश्वरेच्छाया विषयत्व-
संबन्धानुपपत्तिः तस्याः अस्माभिरनङ्गीकारात्, तार्किकाणामपि तत्साधकमानवलेन विल-
क्षणसंबन्धकल्पनेऽपि जन्यज्ञानजन्येच्छयोरुक्तप्रकारेणैव विषयताभ्युपगमात्, नच—पुत्रादिधी-
जन्यसुखादेः पुत्रादिविषयत्वापत्तिः, इच्छान्यायादिति—वाच्यम्; वैषम्यात् । ज्ञानस्य समान-
त्वेऽपि इच्छादावेव सविषयत्वप्रतीतिः, न तु सुखादौ । वस्तुस्वाभाव्यात् त्वयाप्यस्यैवा-
र्थस्य वक्तव्यत्वात् । अन्यथा स्फटिके जपाकुसुमसन्निधानाल्लौहित्यवल्लोष्ट्रेऽप्यापद्येत । अथ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साक्षिणा गृह्यते, तत्राह—उभयोरिति । समूहालम्बनेति । ‘घट इष्टसाधनं’ ‘पटो मेय’ इति ज्ञानेत्यर्थः । तुल्य-
त्वात् ज्ञानविषयतामात्रस्येच्छाविषयताप्रयोजकत्वस्वीकारे तवाप्युक्तदोषापत्तेरित्यर्थः । एकविषयावच्छेदेनैव
इष्टसाधनत्वप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता यत्र तदवच्छेदेनैव । जनकत्वात् विशेष्यतासंबन्धेनेच्छोत्पादकत्वात् ।
जनकतावच्छेदकेति । स्वप्रयोजकेत्यर्थः । एतेन—स्वजनकतावच्छेदकविषयत्वसंबन्धेनेच्छां प्रति ज्ञानस्योक्त-
विशेष्यतासंबन्धेन हेतुत्वे आत्माश्रय इति—निरस्तम्; प्रयोजकत्वस्य कारणतावच्छेदकसाधारणस्य कारणतान्यत्वात् ।
नच—स्वप्रयोजकविषयतात्वरूपेण संबन्धताकल्पने गौरवाद्विषयता ज्ञानस्येवेच्छाया अपि साक्षात्संबन्धो युक्त इति—
वाच्यम्; इच्छादेर्घटादिविषयकत्वे घटादिज्ञानस्य कारणत्वादिकं न तेनैव रूपेण, किंतु ज्ञानत्वविशिष्टेन; तेन तथात्ववत्
तद्विशिष्टज्ञानत्वेनापि कारणत्वादिकं वाच्यम्; विनिगमकाभावात्, एवंच महागौरवम् । नच—स्वप्रयोजकविषयताया
इष्टसाधनत्वेऽपि सत्त्वात्तत्रापीच्छाविषयत्वं स्यादिति—वाच्यम्; कारणतावच्छेदकसंबन्धविधया प्रयोजकत्वस्य निवेशेन
स्वप्रयोजकेष्टसाधनताप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकघटत्वादितत्तद्धर्मस्य संबन्धत्वे पर्यवसानात् । एवंच जनकज्ञा-
नीयोक्तविशेष्यताया एवेच्छादिसंबन्धत्वेन घटत्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यताख्यविषयतान्तराकल्पनादपि लाघवं बोध्यम् ।
अनुपपत्तिरिति । प्रयोजकविषयता प्रयोज्येच्छाया एव संबन्धः, नित्येच्छा तु न प्रयोज्या; जन्यतावच्छेदकस्य
जन्येच्छात्वाघटितत्वेन तच्छून्यत्वात् । नच—प्रयोजकत्वमनिवेश्योक्तविशेष्यतात्वेनैव विषयता निवेश्येति—वाच्यम्;
उक्तविशेष्यतात्वरूपेणेच्छाप्रतियोगिकसंबन्धत्वाभावात्, अन्यथा ज्ञानाविशेषापत्तेः । अनङ्गीकारादिति । वस्तु-
तस्तदङ्गीकारेऽपि प्रयोजकत्वमनिवेश्य स्वसमानाधिकरणज्ञानीया योक्तविशेष्यता, तदवच्छेदकघटत्वाद्यवच्छिन्नोक्तविशे-
ष्यता वा इच्छादेः संबन्ध इति वक्तुं शक्यते । अथोक्तज्ञानीयत्वस्थले स्वकालीनत्वमेव निवेश्यम्; लाघवात् । तथाच
ज्ञानीयोक्तविशेष्यताया एव स्वकालीना या घटत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यता तत्त्वेनैव संबन्धता; ज्ञानोपरमेऽप्युक्तविषयताया
ज्ञानातिरिक्ताकाराख्यायाः सत्त्वादिच्छादिसंबन्धत्वम्, भाविविषयकं हि ज्ञानमिच्छाहेतुः । तच्च वृत्तिरूपम्; तदीया
च विषयता आकाराख्या; तार्किकादिमतेऽपि हि ज्ञानान्या विषयता ज्ञानोपरमेऽपि स्वीक्रियते एव; समवायवत्तस्याः
नित्यत्वस्य लाघवेन स्वीकारात् । अस्मन्मतेऽपि आकाशदिवत्तस्या जन्यत्वेऽपि तद्वदेव कल्पपर्यन्तस्थायित्वे बाधकाभावः ।
तदिदं मूले वक्ष्यते । उक्तप्रकारेणेति । जनकज्ञानीयविषयतैव केनचिद्रूपेण जन्येच्छादिसंबन्ध इत्युक्तप्रकारेणेति
तदर्थः । तत्साधकमानेति । ‘आद्यकार्यं, सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवदि’त्यनुमानरूपनित्यज्ञानेच्छाकृतमित्यजन्यत्व-
साधकेत्यर्थः । विलक्षणेति । जन्येच्छायां तजनकज्ञानीयविषयत्वं संबन्धः, नित्येच्छायां तु तत्समानाधिकरणज्ञानीयं
सर्वविषयत्वमिति भावः । जन्येति । तथाच जन्यनित्यज्ञानीयत्वयोर्विशेषयोः सत्त्वेऽपि स्वकालीनघटत्वाद्यवच्छिन्न-
विषयतात्वरूपेण विषयता जन्यनित्येच्छयोः संबन्धः; अन्यथा इष्टान्ते उपादानादिविषयता इच्छादेर्यादृशी तादृशी न
सिषाधयिषितसाध्यगतेच्छादौ इति पक्षे साध्यवैकल्याद्यापत्तेरिति भावः । अभ्युपगमादिति । बौद्धाधिकारादौ
स्वीकारादित्यर्थः । ‘प्रकाशस्य सतस्त्वदीयतामात्रनिबन्धनः स्वभावविशेषो विषयते’त्युदयनाचार्योक्तौ प्रकाशपदं ज्ञानार्थ-
कम् । इच्छादेर्हि विषयता याचितमण्डनन्यायेन न स्वाभाविकीति वर्धमानादयः । एतेन—यदि जनकज्ञानं तद्वि-
षयत्वं वा इच्छादेः संबन्धः, तदा समूहालम्बनमादायातिप्रसङ्गः, अथ यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्येच्छादौ जनकता,
तद्विषयकज्ञानादिकं तथेत्युच्यते, तदा नित्येच्छायाः सर्वविषयकत्वं न स्यात्; तेन रूपेण इच्छां प्रत्यजनकत्वात् । अथ
यद्विषयकज्ञानस्य स्वसमानाधिकरणयद्विच्छासमये तदव्यवहितपूर्वसमये वा नियमतः सत्त्वं, तद्विषयकज्ञानं तद्विच्छा-
संबन्धो महाप्रलयाव्यवहितपूर्वक्षण एवेश्वरेच्छासमयाव्यवहितपूर्वं इति—चेत्, तर्हि पाकादीच्छायामिष्टसाधनत्वादि-
विषयकत्वं स्यात्, न स्याच्च कृतेः पाकादिविषयकत्वमित्यादिकं बौद्धाधिकारीयशिरोमण्युक्तदूषणमनवकाशमिति—

धर्मे तात्पर्यस्यानध्यासात्तात्पर्यसंबन्धो न स्यात्, न; तात्पर्यं हि तत्प्रतीत्युद्देश्यकत्वम्, प्रती-
तेश्च ज्ञेयान्तरेणेव धर्मेणाऽपि संबन्धोऽध्यस्य एव, प्रतीतिद्वारा च धर्मतात्पर्ययोः संबन्ध
इत्यनुपपत्त्यभावात् । नच—ज्ञानस्य प्रकाशत्वेन प्रदीपसाम्येऽपि आन्तरत्वेन तद्वैलक्षण्यमङ्गी-
कर्तव्यम्; अत इच्छादिवद्विप्रकृष्टेनापि संबन्धः स्यात्, अन्यथा प्रदीपवदेवाध्यासिकसंबन्धो-
ऽपि न स्यात्, परोक्षवृत्तौ विप्रकृष्टसंबन्धदर्शनाच्चेति—वाच्यम्; देशकालविप्रकर्षाभावस्य
संबन्धसामान्यप्रयोजकत्वे संभवत्यान्तरप्रतियोगिकसंबन्धभिन्नसंबन्ध एवास्य प्रयोजकत्वमिति
कल्पनावीजाभावात् । इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्संबन्धः, किं तु ज्ञानद्वारकः परंपरासंबन्ध
एवेत्युक्तम् । परोक्षस्थले तु यद्यप्यधिष्ठानचैतन्येन साक्षादेव संबन्धः; तथापि विषयाकारवृत्त्या
साक्षात्संबन्धाभावात् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्य परंपरासंबन्ध एव । ननु—तवापि मते ज्ञेयस्य
न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः; अनध्यस्तस्य तुच्छस्य पञ्चमप्रकारत्वपक्षे अविद्यानिवृत्तेः भावा-
द्वैतपक्षे अभावस्य दृग्रूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासात्, अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्य व्यावहारिक-
स्यातीतादेर्नित्यातीन्द्रियस्य च परोक्षानुभवरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे
स्वज्ञानेऽनध्यासात्, प्रातिभासिकस्य च प्रातिभासिके स्वज्ञानेऽनध्यासात्, त्वन्मते भ्रमरूपज्ञान-
स्यापि कल्पितत्वादिति—चेत्, मैवम्; तुच्छस्याज्ञेयत्वेन ज्ञाने अध्यासाभावाद् ज्ञेयस्य हि ज्ञाने-
ऽध्यासः, तुच्छस्य तु न ज्ञेयतेत्यग्रे वक्ष्यते । पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेरपि प्रतियोग्यधिकरणे ध्वंस-
स्यापि तत्र वृत्तेरवश्यंभावात् अध्यास एव संबन्धः । वस्तुतस्त्वविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वं च
भावाद्वैतं चानभ्युपगमपराहतम् । यथाचाविद्यानिवृत्तेर्ब्रह्मरूपत्वं सर्वाद्वैतं च तथोपरिष्ठाद्वक्ष्यते ।
अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्यातीतादेरनुमित्यादिरूपज्ञाने अनध्यासेऽपि यस्मिंश्चैतन्ये तदध्यस्तं
तदेव चैतन्यमनुमित्यादिरूपवृत्त्यवच्छिन्नमिति नाध्यासानुपपत्तिः । अतिप्रसङ्गपरिहारार्थं चैत-
न्यस्य विषयसंबन्धे वृत्त्युपरागापेक्षायामपि नाधिष्ठानत्वेन तदपेक्षा । एवमेव नित्यपरोक्षस्थले
स्मृतिस्थलेऽपि प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिक्यां वृत्तावनध्यासेऽप्यधिष्ठानविषयकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य
एवाध्यास इति न काप्यनुपपत्तिः । नच—रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्तं, भासते च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सूचितम् । ज्ञानस्य ज्ञानजन्यत्वस्य । लोष्टेऽपीति । लौहित्यमिति शेषः । तथाच त्वन्मते स्फटिक इव लोष्टेऽपि
लौहित्यस्य स्वाश्रयसंयोगेन प्रमा स्यात् । अवाधितप्रत्ययाभावस्तु, समानः । एवं परमते यथा समवायादिसंबन्धेन
घटादेः कार्यतास्वीकारात् समवायो घटादेरेव संबन्धो नाभावादेः, तथोक्तसंबन्धेन इच्छादेर्ज्ञानादिकार्यत्वस्वीकारात्-
स्वैवोक्तसंबन्धो न सुखादेरिति मन्मते स्वीक्रियते इति बोध्यम् । साक्षादेवेति । एतेन—यत्र चैतन्ये विषयोऽध्य-
स्तदेव वृत्त्यवच्छिन्नं सज्ज्ञानम्; अतो ज्ञानस्य विषये अध्यास एव संबन्ध इति नियमो न व्याहत इति वक्ष्यमाणं—
सूचितम् । परम्परेति । स्वावच्छेदकवृत्तिविषयत्वेत्यर्थः । नच—वृत्तिविषयतादात्म्यविशिष्टा चिदेव ज्ञानमस्तु,
तथासति हि विषये ज्ञानस्य तादात्म्यसंबन्ध एव लभ्यत इति—वाच्यम्; पुरुषान्तरीयवृत्तिमादाय निवृत्तिकस्यापि
पुंसो 'घटं जानामी'ति व्यवहारापत्तेः । नच—स्वतादात्म्याश्रयविषयकवृत्तिमत्त्वसंबन्धेनोक्तव्यवहारे ज्ञानं विशेषण-
मिति—वाच्यम्; वृत्तौ चितः परम्परासंबन्धद्वयनिवेशे गौरवात् । नच—चिदेव ज्ञानमस्तु तस्य चोक्तसंबन्धेनोक्त-
व्यवहारविषयत्वमिति—वाच्यम्; शुद्धचित्तो जानातिनाऽनुपस्थितेः किञ्चिद्रूपेणैव लोके ज्ञानपदार्थस्य भानात्, वृत्ति-
विशिष्टचिद्वाचित्वं विना जानातेः सकर्मकतानुपपत्तेश्च । अतएव धातुवाच्यं यत् चिद्रूपधातुवाच्यव्यापारव्यधिकरणं
वृत्तिरूपं फलं विषयतासंबन्धेन तद्विशिष्टत्वात् घटादेः कर्मता । वृत्तेरावरणभङ्गाथकत्वपक्षेत्वं सत्त्वापादकाज्ञानावि-
षयत्वप्रयोजकविशिष्टचिदेव जानात्यर्थः । उक्तविषयत्वरूपफलवत्त्वादेव घटादेः कर्मता । सुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षे तु
तादृशप्रयोजकत्वं स्थूलावस्थसुखादितादात्म्यस्य बोध्यम् । सूक्ष्मावस्थे हि सुखादावज्ञानं भ्रमादितत्कार्योदयात्, ननु
स्थूलावस्थे इति भावः । ज्ञेयस्य चित्तादात्म्यवतः । निवृत्तेरिति । अध्यासः संबन्ध इत्यनेन योजना । प्रतियोग्य-
धिकरण इति । सतीति शेषः । तत्र प्रतियोग्यधिकरणे कपालनाशजन्ये घटनाशे व्यभिचारात् सत्यन्तम् । अध्यास
एवेति । अविद्यानिवृत्तेरविद्योपादानकत्वाभावात् ज्ञानान्वित्यत्वात्तन्मध्यात्वाभावेन पञ्चमप्रकारत्वेऽपि चित्तादात्म्यं
विना स्फुरणसत्तासंबन्धप्रत्ययासंभवात्तदावश्यकम् । एवं भावाद्वैतमते प्रपञ्चाभावादेः सत्यत्वेऽपि तदावश्यकम् ।
ननु तत्र चित्तादात्म्यस्वीकारे इदृश्यसंबन्धानुपपत्तिरुपतर्कसहकृतेन इदृशत्वादिहेतुना मिथ्यात्वसिद्धेः पञ्चमप्रकार-
त्वादिकमनुपपन्नम्, तत्राह—वस्तुत इति । तदेवेति । ब्रह्मणि घटादिविषयाणां तदाकारवृत्तेर्वाध्यासात् घटाद्यधि-

अविद्यावृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्येनेति विषयिणि ज्ञाने विषयस्याध्यासः कथमिति—वाच्यम्; एकावच्छिन्न एवापरावच्छेदेन निरपेक्षोपाधेरिवात्र भेदकत्वाभावात्, अतएव अभियुक्तैः फलैक्यादैक्यं ज्ञानस्योच्यते । नच—रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वे रूप्यज्ञानस्य ज्ञाने भ्रमोत्पत्तिस्तज्ज्ञानेन तद्विवृत्तिरिति च स्यात्, अधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासस्य जन्मनिवृत्त्योनिर्यतत्वात्, ज्ञानं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति—वाच्यम्; रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रजतभ्रमाधिष्ठानत्वानभ्युपगमात्, इदमंशावच्छिन्नचैतन्यमेव तु रजतभ्रमाधिष्ठानम्, तच्च दैवाद्रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमपि, नैतावता भ्रमाधिष्ठानत्वे तदपेक्षा । तस्य च भ्रमविरोधिगुक्तित्वाद्याकारेणाज्ञानं भ्रमकारणम् । तेनाकारेण ज्ञानं भ्रमनिवर्तकम् । अतएव न ज्ञानं रजतमिति भ्रमाकारापत्तिः; वृत्त्यवच्छिन्नस्यैव ज्ञानत्वात्तस्यचाधिष्ठानत्वाभावात् । अधिष्ठानतादात्म्येन चारोप्यप्रतीतिरिति इदं रजतमित्येव भ्रमाकारः । ननु—घटादेः स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं सत्त्वेन तत्राध्यासो न युक्तः । नच—या घटेन्द्रियसन्निकर्षजा वृत्तिस्तया घटो न प्रकाश्यः । येन च प्रकाश्यो घटाधिष्ठानचैतन्येन न तत्सन्निकर्षजमिति—वाच्यम्; वृत्त्यतिरिक्तज्ञाने मानाभावात् । अज्ञाननिवृत्तेरपि तत एव भावादिति—चेन्न; वृत्त्युदयात् प्रागज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं वृत्त्यतिरिक्तज्ञानस्यावश्यमभ्युपेयत्वात् । अन्यथा तस्य साधकाभावेन शशशृङ्गतुल्यतया सन्निकर्षतज्जन्यज्ञानहेतुत्वेन प्राक् सत्त्वकल्पना निष्प्रामाणिकी स्यात् । तस्माद्यादृशस्य घटादेरिन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वेन ज्ञानकारणत्वं तादृशस्य साधकं किञ्चिन्मानमवश्यमभ्युपेयम् । अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकयोरग्रहेण कार्यकारणभावाग्रहात् सर्वमानमेयादिव्यवस्थोच्छिद्येत । तच्च मानं न वृत्तिरूपम्; तदानीं वृत्तिकारणाप्रवृत्तेरिति तद्विलक्षणं नित्यं स्वप्रकाशमेव लाघ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ष्ठानस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वम् । जीवस्य जगदुपादानत्वेऽप्येवम् । तथाच यत् विषयाधिष्ठानं तत्रावश्यं ज्ञानत्वोपहिताभेद इति नियमः, ननु ज्ञानत्वोपहितत्वरूपेणावश्यमधिष्ठानत्वमिति; प्रत्यक्षस्थलेऽपि तदसंभवादिति भावः । संबन्धे 'घटं जानामी'ति संबन्धव्यवहारे । निरपेक्षेति । तावेवोपाधी स्वोपहितयोर्मयो भेदकौ, यौ अन्योन्यनिरपेक्षेण स्वोपहितस्योपधायकौ; यथा भिन्नदेशस्थौ घटौ स्वोपहिताकाशस्य भेदकौ भवतः, तद्वृत्तिघटयोस्तु स्वोपहिताकाशं प्रति न भेदकता । नचैवम्—'अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टरूपयोः । घटते न यदैकदा तदा सुतरां तद्विपरीतरूपयो'रिति संक्षेपशारीरकवाक्यविरोधः; तस्य ह्ययमर्थः—अविरुद्धे मिलिते, ये विशेषणे घटत्वद्रव्यत्वादिरूपे, तदुपहितयोर्यदा नैकता घटते, तदा जगत्कारणत्वसंसारित्वरूपविरुद्धविशेषणोपहितयोः सुतरामेकता न घटत इतीति—वाच्यम्; एकतेत्यस्यात्यन्ताभेदार्थकत्वात् । तथाच मिलितयोरुपाध्योर्भेदकत्वेऽपि नात्यन्तभेदकता; अमिलितयोस्तु सा; तस्मान्निरपेक्षोपाधिरमिलितमुपाधिद्वयम् । तयोर्यथा एकोपहितादन्योपहितस्यात्यन्तभेदः, तथा शुक्त्युपहितचित्तः अविद्यावृत्त्युपहितचित्ता नेत्यर्थः । तत्र हेतुः—एकेत्यादि । एकावच्छिन्ने शुक्त्युपहिते चैतन्य एव अपरावच्छेदेन विद्यावृत्त्युपहितत्वेन । अभियुक्तैः पञ्चपादिकाविवरणकारादिभिः । फलैक्यात् अभिव्यक्तत्वरूपफलत्वाश्रयस्य चैतन्यस्यैकतापन्नाभ्यां शुक्तिरजतादिभ्यामवच्छिन्नत्वात् । ज्ञानस्य शुक्त्यवच्छिन्नाविद्यावृत्त्यवच्छिन्नचित्तः । उच्यते उपचर्यते । तथा च विषययोर्मेलनात् तदाकारप्रत्यक्षवृत्तिद्वयस्यापि मेलनेन तदुपहितचिद्रूपज्ञानयोरत्यन्तभेदाभावात् अत्यन्ताभेद उपचर्यत इति भावः । पञ्चपाद्यामुक्तमेकमेव ज्ञानमेकफलमिति । व्याख्यातं च तद्विवरणे—'विषयावच्छिन्नं फलम्, विषयश्च सत्यमिध्यावस्तुनोरन्योन्यात्मकतयैकतामापन्नः, तेनैकविषयावच्छिन्नफलैकत्वोपाधौ सत्यमिध्याज्ञानद्वयमप्येकमित्युपचर्यत' इति । तथाचानिरपेक्षोपाध्योरत्यन्तभेदकत्वमेतद्व्यतिरिक्तम्; अत्यन्तभेदाभावस्य प्रकृते एकत्वोपचारनिमित्तत्वादिति भावः । इदमंशेति । शुक्तिविशिष्टेत्यर्थः । वृत्त्यवच्छिन्नस्येति । ननु—प्रत्यक्षवृत्त्यवच्छिन्नचित्तः घटादिविषयेऽपि तादात्म्येन सत्त्वात् 'घटो जानाती'त्यादिव्यवहारप्रतिरिति—चेन्न; आख्यातार्थस्यानुकूलव्यापारस्य प्रकृते मनोनिष्ठस्यैव प्रत्ययादनुकूलताविशेषस्यैव भावे समभिन्वाहारविशेषस्य नियामकत्वात्; अन्यथा तण्डुलक्रयणादिव्यापारस्यापि पचतीत्यादौ बोधापत्तेः । विद्यमानसुखादौ वृत्त्यस्वीकारपक्षे तु स्वप्रतिबिम्बाश्रयो वृत्तिपदार्थः । स्वपदं विशेष्यभूतचित्परम् । 'सुखं जानामी'त्यादौ द्वितीयाथसंज्ञाद्वयम् । स्वप्रतिबिम्बविशिष्टसुखे तदन्वयः । 'घटं जानामी'त्यादौ तु स्वप्रतिबिम्बाश्रयवृत्तौ द्वितीयाथस्य विषयत्वस्यान्वयः । यदि तु प्रतिबिम्बविशिष्टरूपेण सुखादेः केवलसुखादितो भेदसत्त्वात्तद्विषयकत्वं स्वीक्रियते, तदा जानातिसमभिन्वाहृतद्वितीयाभावस्य विषयित्वमेवार्थः । असत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचित्तो जानात्यर्थत्वे तु तादृशप्रयोजकमेव वृत्तिपदार्थः । उक्ताभावे द्वितीयाथसंज्ञाधेयत्वस्यान्वयः । विस्तरस्तु सिद्धान्तबिन्दुटीकायां मदीयायां ज्ञातव्यः । अधिष्ठानतादात्म्येन आधारतादात्म्येन । कारणाप्रवृत्तेरिति । 'अज्ञातो घट' इत्याकारा प्रमाणवृत्तिर्न

वात्, वृत्तिगतोत्पत्तिविनाशजडत्वादिभिस्तदसंस्पर्शात् । तदेव च नानाविधोपाधिसंबन्धान्नानावि-
धव्यवहारभाक् भवति नभ इव घटमणिमल्लिकाद्युपाधिभेदेन; तच्चाज्ञानसाधकत्वात्स्वरूपतो नाज्ञान-
निवर्तकं, वृत्त्युपरक्तं त्वज्ञाननिवर्तकमिति न वृत्तेरनुपयोगः । तथाच सर्वाज्ञानसाधके साक्षि-
चैतन्ये तस्मिन् घटादेरध्यास इति काऽनुपपत्तिः? तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—‘सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः
स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः । यदभ्युपगमादेव तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः ॥’ इति । ‘सर्वतीर्थदृशां तावत्सामान्यं
मानलक्षणम् । अज्ञातार्थावगमनं तदुक्ते तन्न युज्यते ॥ स्वतः सिद्धोऽथवासिद्धो देहादिस्ते भवन्
भवेत् । प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभयत्रापि लभ्यते ॥ प्रमाणान्यन्तरेणापि देहादिश्चेत् प्रसिध्यति । वद
प्रमाणैः कोऽन्वर्थो न हि सिद्धस्य साधनम् । स्वतोऽसिद्धे प्रमेये तु नासतो व्यञ्जिका प्रमा । नाभिव्य-
नक्ति सविता शशशृङ्गं स्फुरन्नपि ॥’ इति नच—‘घटोऽयमित्यसौ वृत्तिराभासस्य प्रसादतः । विज्ञातो

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संभवति; प्रमाणवृत्तेरज्ञातताविरोधित्वेन स्वसमानकालीनाज्ञातताविषयत्वासंभवात् । स्वासमानकालीनाज्ञातताविषय-
कप्रमाणवृत्तेः संभवेऽपि तस्याज्ञातत्वविशिष्टघटादौ कारणतादिग्रहेऽनुपयोगः । अतः स्वसमानकालीनाज्ञातत्वविशिष्ट-
घटादिविषयकं चिद्रूपं प्रत्यक्षमेव तदुपयोगि वाच्यम् । किंचोक्तघटादिज्ञानं विनोक्तघटेन्द्रियसंयोगानुकूलव्यापारे
प्रवृत्तिर्न स्यात् । नच—स्मरणसंशयाद्यप्रमाणवृत्त्यैव सेति—वाच्यम्; उक्तघटस्याननुभूतत्वस्थले स्मरणसंभवात् ।
‘घटोऽज्ञातो न वे’ति संशयोत्तरंचौचित्यावर्जितः अज्ञातघटेन्द्रियसंयोगादेः संशय एव स्यात्, न तु निश्चय इति
भावः । ननु अप्रमाणवृत्तिसंशयादिनोक्तघटादिग्रहणासंभवेऽप्यविद्यावृत्तिस्तद्वाहिकास्तु, तत्राह—तद्विलक्षण-
मित्यादि । वृत्तेर्जडत्वेन मिथ्यात्वेन च मोक्षानन्वयित्वात् अप्रकाशमानसुखरूपस्य मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च स्वप्रकाश-
चिद्रूपत्वं मोक्षस्यावश्यकम् । तथाच तस्य नित्यत्वादेकत्वाच्च वृत्त्युपहितः स एव ज्ञानम्; अन्यथा वृत्तेर्ज्ञानत्वे ‘तदा
ज्ञातम्’ ‘इदानीं घटो ज्ञातः’ ‘पटो ज्ञात’ इत्यादिप्रत्ययानामनुगतैकविषयकत्वमानुभाविकमपलप्येत । वृत्तेरपि स्वप्र-
काशत्वे कल्प्यमाने गौरवं चापद्येत । नच—चितः स्वप्रकाशत्वं तत्तद्देहादौ संशयाद्ययोग्यत्वम्; तदपि देहादावना-
वृतत्वम्, चितो हि पूर्णानन्दरूपेणावृतत्वेऽपि स्फुरणरूपेणानावृतत्वमेव; अन्यथा ‘अहं स्फुरामि न वा’ ‘मनः स्फुरति
न वे’ति ‘न स्फुरती’ति वा संशयविपर्ययापत्तेः, तथाच वृत्तिज्ञानस्यापि तादृशस्वप्रकाशत्वमस्त्येवेति कथं गौरवम्?
तदुक्तं तार्किकादिभिरपि—‘न हि जानन्नैव पुरुषो जानामि न वेति न जानामीति वा जानाती’ति, ‘घटज्ञानवान्
पुरुषो’ ‘घटमहं जानामि न वेति घटं न जानामी’ति वा नानुभवतीति तदर्थं इति—वाच्यम्; स्वान्यभानानपेक्ष-
भातीतिव्यवहारविषयत्वं स्वप्रकाशत्वमिति हि मूल एव जडत्वस्य मिथ्यात्वहेतोर्विवेचने उक्तम् । तथाचोक्तविषयत्वे
वृत्तौ स्वीक्रियमाणे गौरवम् । ‘सुखं भाति’ ‘चिदाती’त्यादौ चित्तादात्म्यस्यैव प्रयोजकतया क्लृप्तत्वेन वृत्तिभातीत्यादौ
वृत्तितादात्म्यस्य प्रयोजकतया कल्पनीयत्वात् । किंच तार्किकादिमते संशयाद्ययोग्यत्वरूपमनावृतत्वं
निश्चयविषयत्वम्, नत्वावरणाविषयत्वम्; तैर्भावरूपस्यावरणस्यास्वीकारात् । तथाच वृत्तेर्घटादिवदुक्तविषयत्वेऽपि
न स्वप्रकाशत्वम् । नच—तन्मते सर्वस्य ज्ञानस्यानुव्यवसायाभावेनोक्तविषयत्वासंभवात् संशयादिविषयत्वे
ज्ञानतादात्म्यमेव विरोधित्वेन कल्प्यम्, तथाच तादृशतादात्म्यमेव स्वप्रकाशत्वमिति—वाच्यम्; उक्तकल्पनायां
गौरवात्, तैर्दुक्तविषयत्वं प्रति निश्चितत्वमवश्यं विरोधि वाच्यम्; अविद्यमानस्यापि घटादिज्ञानस्यात्मनि निश्चये
तत्संशयानुत्पत्तेः । तथाच विद्यमानेऽपि घटादिज्ञाने निश्चितत्वस्यैवोक्तविरोधित्वं संभवति; अनुव्यवसायस्य
सर्वदोषस्यसंभवेऽपि चिद्रूपनित्यत्वानुव्यवसायेन निश्चितत्वसंभवात् । किंच सुखादेरप्युक्तविरोधित्वं त्वया
वाच्यम् । तथाच सुखत्वादिसाधारणस्याहमर्थविशेष्यतानिरूपितनिश्चयप्रकारतावच्छेदकत्वस्य धीत्वभीत्वादिनिष्ठ-
संशयादिप्रकारतावच्छेदकत्वविरोधित्वसंभवात् सुखादीनामनन्तविरोधित्वकल्पनं न युक्तम् । तस्मान्न जन्मज्ञानादेः
स्वप्रकाशत्वम्; चित्तादात्म्येनैव तस्य भातीत्यादिव्यवहारात् स्वान्यभानेत्यादिलक्षणाभावादिति भावः । अज्ञान-
निवर्तकमिति । यद्यप्यज्ञानस्य प्रमावृत्तिदुपरागस्य वा निवर्तकत्वं वृत्तावेव; आवरणभङ्गश्च वृत्त्येति मूले
पूर्वमुक्तं; तथापि तदुपरक्तचित्यपि तदस्तीति तथोक्तम् । न हि तन्निवृत्तिजनकत्वं तत्; येनोक्तचित्तरूपेण तदुक्तौ
गौरवं स्यात्, किं तु तद्विरुद्धस्वभावत्वम् । ननु—प्रमोत्पत्तेः पूर्वमप्रतीतमप्यज्ञातघटादिकं पश्चादनुमानादिना ज्ञेय-
त्वात् नासत्; अन्यथा कदाचित् केनचिदप्रतीतिमात्रेणासत्त्वे सर्वमसत् स्यात्, नच तदा केनापि तस्याप्रतीतत्वमिति
वक्तुं शक्यम् । नच—अज्ञातताकाले घटादिज्ञानाभावे प्रत्यक्षे तत्कारणेन्द्रियसन्निकर्षे चोक्तघटादेः कारणताग्राहकान्व-
यव्यतिरेकज्ञानसंभव इति—वाच्यम्; उक्तघटादेरभानापादकाज्ञानकाले अनुमित्यादिनापि तत्संभवात्तत्राह—नाभि-
व्यनक्तीति । नाभिव्यक्त्युद्देश्यकप्रवृत्तिमानित्यर्थः । तथाच यथा जगत्तमोनाशमुद्दिश्य सन्निवृत्तिः प्रवृत्तिः, ननु शश-

घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत् ॥' इति वदता वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य घटानधिष्ठानचैतन्यस्य घटानु-
भवत्वोक्तिविरोध इति—वाच्यम् । वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटाधिष्ठानचैतन्येन सह भेदाभावात्,
चैतन्यस्यैकत्वात् । यथाचैकस्यैव चैतन्यस्य सर्वभासकत्वं तथा विस्तरेणोपपादितं 'नाभाव उपलब्धे-
रित्यस्मिन्नधिकरणे' भाष्यकृद्भिः । ननु—दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता,
किं वा सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम् । नाद्यः; तत्सामग्र्यभावात् । तथाहि—आक्षेप्य-
स्योपपादकत्वं; प्रमाणाविरुद्धत्वं, आक्षेपकस्यानुपपद्यमानत्वं, प्रमितत्वंचेत्यर्थापत्तिसामग्री । प्रकृते
चाक्षेप्यसंबन्धिनो मिथ्यात्वं नाक्षेपकस्य संबन्धस्योपपादकम्, प्रत्युत प्रतिकूलमेव । नचाध्यस्तत्व-
रूपसंबन्धस्य न तत्प्रतिकूलत्वम्; तस्याद्याप्यसिद्धेरनाक्षेपकत्वात् । प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेदमाक्षेप्यम् ।
नाप्येकस्य दृश्यत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकस्य त्यागो युक्तः । आक्षेपकं च न दृग्ध्यस्तत्वम्; तस्यैव फलत
आक्षेप्यत्वात् । नापि दृग्विषयत्वरूपो दृक्संबन्धः; तवासिद्धेः । दृग्धीनसिद्धिकत्वम्; दृग्विषयत्वा-
तिरिक्तस्य तस्यासिद्धेः । नान्त्यः; सत्त्वेऽप्युक्तरीत्या संबन्धान्तरेणैव दृश्यत्वस्योपपन्नतया अनुपपत्ते-
रेवाभावादिति—चेन्न; अनुकूलतर्कस्यैव प्रकान्तत्वेनार्थापत्तिर्वैत्यादिविकल्पानवकाशात्, उभयथाप्य-
दोषाच्च । तथाहि—सत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्तिः । मिथ्यात्वं च तदुपपादकम्, न तत्संबन्ध-
प्रतिकूलम्; मिथ्यात्वेऽपि शुक्तिरूपस्येदमंशेऽध्यस्तत्वरूपसंबन्धदर्शनेन संबन्धसामान्ये प्रतिकूल-
त्वाभावात् । आक्षेपकोऽपि दृग्विषयत्वरूपो दृक्संबन्ध एव अध्यासरूपस्य दृग्विषयत्वस्य ममाऽपि
संप्रतिपत्तेः; तात्त्विकस्यैव तस्य निषेधात् । न चाध्यस्तत्वस्याद्याप्यसिद्धिः; दृक्संबन्धसामान्य-
स्याक्षेपकस्य प्रसक्तविशेषनिषेधेऽप्यध्यस्तत्वरूपविशेषपर्यवसानेनासिद्ध्यभावात् । न हि अध्यस्त-
संबन्धत्वेनाक्षेपकता, किं तु संबन्धत्वेन । स चाध्यस्तत्वसंबन्धसंभावनयाप्यबाधित एवेति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शृङ्गीयतमोनाशमुद्दिश्य; तस्यालीकत्वेनाज्ञानासंभवात्, तथा घटाज्ञाननाशार्थं न कस्यापि प्रवृत्तिः स्यात्, घटाज्ञानस्य
प्रमाणज्ञानासंभवात्, अतस्तस्य ज्ञानं साक्षिचिदेव । ननु—प्रमाणवृत्त्यभावेऽपि घटादेरज्ञाततया भानस्वीकारे तदा
तत्र भातीति व्यवहारः स्यादिति—चेत्, अज्ञाततया भातीति स्यादेव; घटादेरनुमित्यादिकाले अनुमितत्वादिना
घटो भातीतिवत्, घटो भातीति व्यवहारस्य तु नापत्तिः; अज्ञातत्वज्ञातत्वाभ्यामुपहितस्यैव घटादेस्तदनावृत्तसाक्षि-
तादात्म्यस्वीकारात् । अतएवोक्तं विवरणे—'अज्ञाततया ज्ञाततया च सर्वं साक्षिभास्य'मिति भावः । आभा-
सस्य वृत्तिप्रतिबिम्बितचित्तः । ब्रह्मानुभवतः ब्रह्माभिन्नसाक्षिणः । वदतेति । त्वदाचार्येणेति शेषः । चैतन्यस्य
शुद्धचिदुपहितचित्तः । एकत्वात् तादात्म्यात् । इत्यस्मिन्नधिकरणे इति । सर्वदृश्यानुस्यूतत्वात् स्वप्रकाशचिद्रूप-
त्वाच्चात्मा स्वेतरसर्वभासक इत्यादि तत्रोक्तम् । आक्षेप्यस्य अर्थापत्तिकल्पस्य । उपपादकत्वं यद्विना आक्षेप-
कमनुपपन्नं तत्त्वम् । आक्षेपकस्येति । यस्यानुपपन्नत्वधीरर्थापत्तिकरणं तस्येत्यर्थः । अर्थापत्तीति । अनुपपत्ति-
धीकरणकार्थापत्तीत्यर्थः । अथवा यत्संशयोऽर्थापत्तिकरणं, सोऽप्याक्षेपकः । तथाच संशयकरणिकाप्यर्थापत्तिः प्रकृते
ग्राह्या । यथा हि जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं विना अनुपपन्नमिति धीः उपपादकस्य बहिः सत्त्वस्य
देवदत्ते अर्थापत्तिरूपे ज्ञानविशेषे करणम्; तथा जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वज्ञानं पूर्वनिश्चितयोर्जीवनगृहसत्त्वनिय-
मयोः संशयाहितजीवनसंशयद्वारा करणम्, उक्तनियमसंशयो वा जीवनसंशयद्वारा करणम्, करणस्य सव्यापारत्वा-
नियमात्, जीवनसंशय एव वा करणम्; देवदत्तो बहिरस्तीत्यर्थापत्यन्वयव्यतिरेकानुविधानस्याविशेषात् । बहिः सत्त्वं
विनानुपपन्नत्वं तु बहिः सत्त्वाभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम् । प्रकृते तु 'दृग्दृश्ययोरन्यतरमिथ्यात्वं विना संबन्धोऽनु-
पपन्न' इति धीः, पूर्वनिश्चितयोः दृग्दृश्ये संबन्धे एव तयोः संबन्धः सत्य एवेति नियमयोः, संशयाहितं दृग्दृश्ये संबन्धे
न वेति संशयं द्वारीकृत्य विप्रकर्षहेतुकः तयोः सत्यसंबन्धाभावनिश्चयः तादृशसंशयो वा करणमुक्तान्यतरन्मित्येत्यर्था-
पत्ताविति द्रष्टव्यम् । प्रतिकूलमिति । संबन्धमिथ्यात्वे संबन्धमिथ्यात्वनियमात् मिथ्यात्वस्य च तुच्छत्वरूपत्वात्
संबन्धस्वरूपस्य कालादिसंबन्धिनः प्रतिकूलं संबन्धमिथ्यात्वमिति पराभिमानः । परमते शुक्तिरूप्ये मिथ्यात्वसंबन्धस्य
शुक्तिरूप्याभावस्य च सत्यत्वस्वीकारात् तत्र मिथ्याप्रतियोगिकत्वमिथ्यानुयोगिकत्वयोर्मिथ्यात्वासाधकत्वाज्ञेयं परोक्तिः
युक्ता । मन्मतेऽपि प्रपञ्चाभावे ब्रह्मस्वरूपे व्यभिचारो बोध्यः । उक्तरीत्या इच्छादाबिव ज्ञानेऽपि विषयस्य सत्य-
संबन्ध इत्यादिरीत्या । संबन्धान्तरेण अध्यासान्यसंबन्धेन । आक्षेप्यं विनाक्षेपकस्यानुपपत्तिमाह—सत्यत्व इति ।
दृग्दृश्यसत्यत्वे इत्यर्थः । नन्वनध्यस्तसंबन्धस्य त्वयानङ्गीकारादध्यस्त एव संबन्ध आक्षेपकः; अध्यस्तता च नाक्षेपात्पूर्वं
संभवति, आक्षेपस्यैव सर्वदृश्यमिथ्यात्वसाधकत्वादित्याशङ्क्य निषेधति—नचाध्यस्तत्वस्येति । संबन्धत्वेन
विप्रकृष्टयोः संबन्धत्वेन । स च तादृशरूपविशिष्टसंबन्धश्च । अबाधित इति । तथाच मिथ्यात्वरूपेण संबन्धस्यैव

नच—घटस्य ज्ञानमिति धीसिद्धसंबन्धसामान्यस्याध्यस्तत्वं न विशेषः, न हि रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीतिरस्तीति—वाच्यम्; रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभावेऽपि रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानमिति प्रतीत्या अध्यस्तत्वस्य संबन्धविशेषत्वसिद्धेः, चैत्रस्य मैत्र इति प्रतीत्यभावेऽपि चैत्रस्य पिता मैत्र इति प्रतीतिवत् आक्षेप्यमत्र प्रमाणाविरुद्धमेव; अध्यक्षादिविरोधस्य प्रागेव परिहृतत्वात् । आक्षेपके च प्रमितत्वमनपेक्षितमेव; अप्रमितेनापि प्रतिबिम्बेन विम्बाक्षेपदर्शनात् । तर्कपरतायामपि नाप्रयोजकता; सत्यत्वे संबन्धानुपपत्तेर्भवदुक्तन्यायखण्डनेन प्रथमत एवोपपादितत्वात् । दृश्यत्वाभावस्यापादकमत्र सत्त्वमनिर्वाच्यत्वाभावो वा त्रिकालावाध्यत्वं वा । उभयथाऽपि न दोषः । नचानिर्वाच्यत्वाभावस्य तुच्छे परोक्षधीवेद्यतया दृश्येऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः कारणासामर्थ्येन तत्र तदाकारवृत्तिसमुल्लासेऽपि दृक्संबन्धरूपस्य दृश्यत्वस्य तुच्छविरोधिनस्तत्राभावात्, तुच्छाकारताया वृत्तिगतत्वेऽपि वृत्तिसंबन्धस्य तुच्छगतत्वाभावोपपत्तेः । नापि—यथा सतो ब्रह्मणः स्वव्यवहृत्या संबन्धः, तथा घटादेरपि सत एव खज्ञानेन संबन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्; दृष्टान्ते ब्रह्मण्यध्यासस्यैव व्यवहृत्तिसंबन्धत्वात् । तथाच उभयसंबन्धिसत्त्वे विषयविषयिभावानुपपत्तिः नाप्रयोजकत्वादिना परिभूयते । एतेन—आध्यासिकः संबन्धो नाम अध्यस्तसंबन्धो वा, अध्यस्तत्वमेव वा, आद्ये संबन्धस्य मिथ्यात्वेऽपि संबन्धनो दृश्यस्य दृश इव मिथ्यात्वानुपपत्तिः । द्वितीये ज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्र अध्यासानुपपत्तिः खज्ञानपरंपरायामध्यासस्वीकारे अनवस्था चेति—निरस्तम्, ज्ञानं हि वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, तत्रावच्छेदिकाया वृत्तेर्जडाया अध्यस्तत्वेऽप्यवच्छेद्यस्य चैतन्यस्य प्रकाशरूपस्य अनध्यस्तत्वेन तत्र दृश्यस्याध्यासाद् दृश्यमिथ्यात्वेऽप्यनवस्थाविरहस्योपपत्तेः । अत एव—शाब्दवृत्तिविषयो ब्रह्म न वृत्तौ कल्पितमविद्याविषयो ब्रह्माविद्यायां न कल्पितं यथा, तथा दृश्यं न दृशि कल्पितम्; तथाच दृक्दृश्यादेस्तात्त्विक एव संबन्धः, सामान्यसंबन्धेनैवातिप्रसङ्गे निरस्ते विशेषजिज्ञासाविशेषोक्तिश्च विशेषजिज्ञासादिवदनर्थिकैवेति—निरस्तम्, वृत्त्यविषयोः ब्रह्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासात् संबन्धोपपत्तेः, अतस्तत्र तात्त्विकसंबन्धाभावात्, कथं तद्दृष्टान्तेन दृग्दृश्ययोरपि तात्त्विकसंबन्ध इत्युच्यते? तथाच प्रसिद्धविशेषे बोधिते सामान्यस्यैव बाधकशङ्काया अतिप्रसङ्गे प्राप्ते विशेषजिज्ञासाया विशेषोक्तेश्च साफल्यात् न ते निरर्थिके । एतेन—संबन्धस्य प्रामाणिकत्वे यथाकथंचन लक्षणं भविष्यति । तथाहि—संयोगसमवायान्तर्भावे तल्लक्षणमेव लक्षणं भविष्यति, तदनन्तर्भावे तु तदुभयभिन्नसंबन्धत्वमेव लक्षणमस्त्विति—निरस्तम्; उक्तयुक्त्या प्रामाणिक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदभावस्यापि निश्चयो नाक्षेपपूर्वमस्तीति मिथ्यात्वरूपेण संबन्धसिद्धौ न बाधकमिति भावः । न विशेष इति । अधिष्ठानारोप्ययोः संबन्धः अध्यस्तसंबन्धशब्दार्थः । सच न संभवति; अधिष्ठाने आरोप्यस्य संबन्धप्रत्ययासंभवात्, अधिष्ठानज्ञानं हि आरोप्यसंबन्धज्ञानविरोधीति भावः । ननूक्तप्रत्ययोऽपि न संभवति; शुक्तिरूप्ययोः संबन्धविषयकत्वात्, तत्राह—चैत्रस्येति । अभावे अभावकाले । तथाच चैत्रमैत्रयोः मिथो वैशिष्ट्यग्रहासंभवकाले यथा चैत्रस्य पिता मैत्र इत्यत्र ज्ञाने चैत्रस्य जनकतायां विशेषणत्वं, तथा शुक्तिरविशिष्टस्य रूप्यसंबन्धग्रहासंभवेऽपि भ्रमविशेषत्वरूपाधिष्ठानत्वघटके भ्रमे रूप्यस्य संबन्धावगाही प्रत्ययो नानुपपन्न इति भावः । वृत्तिगतत्वेऽपीति । ननु—वृत्तौ तुच्छाकारतास्वीकारे तुच्छे वृत्तिसंबन्धोऽपि स्वीकृत इति—चेन्न; वृत्तौ तुच्छाकारता हि न सार्वदिकी, किंतु वृत्तिकालावच्छिन्ना; तुच्छे तु वृत्तिविषयत्वं यद्युच्यते, तदा तदपि तादृशमेव वाच्यम्, सार्वदिकत्वासंभवात् । तथाच वृत्तिकालस्य तुच्छासंबन्धत्वेन तुच्छनिष्ठे वृत्तिविषयत्वे अवच्छेदकत्वासंभवादनुपपत्तिरिति भावः । उक्तंच माध्वादिभिरपि—‘ध्वंसादावेव प्रतियोग्यादेः संबन्धो, न तु प्रतियोग्यादौ ध्वंसादेः संबन्धः’ इति । नच—तुच्छे वृत्तिनिष्ठसंबन्धनिरूपकत्वं विनोक्तसंबन्धोऽनुपपन्न इति तदवश्यं वाच्यम्; तथाच तस्याप्यसार्वदिकत्वावच्छिन्नत्वस्यावश्यकत्वादनुपपत्तिरिति—वाच्यम्; संबन्धस्य तदन्यसंबन्धास्वीकारात् । सामान्यसंबन्धेन संबन्धसामान्येन । इति सत्येनेत्यादिः । प्रसिद्धविशेषे सत्यसंबन्धे । सामान्यस्य संबन्धसामान्यस्य । बाधकशङ्कयेत्यादि । यदि सत्यसंबन्ध एव विशेषः, तदा विप्रकृष्टयोः संबन्धिनोस्तदसंभवात् संबन्धसामान्यं न स्यात्, विप्रकृष्टयोर्विशिष्टसंबन्धाविषयिकैवेति स्वीकारे सन्निकृष्टयोरपि सा तथा स्यादित्यतिप्रसङ्गः, तस्मात् विशेषान्तरं मिथ्यासंबन्धरूपं वाच्यम्, तच्च कथमुपपद्यत इति जिज्ञासा तदुपपादनं च न व्यर्थम्; संबन्धसामान्यस्थापनद्वारोक्तातिप्रसङ्गनिरासस्य फलस्य सत्त्वादित्यर्थः । संबन्धिभिन्नत्व इति । दृग्दृश्ययोः संबन्धसात्रस्य

संबन्धस्य संयोगसमवायान्तर्भावस्य च दूषितत्वात् । तदुभयवहिर्भूतसंबन्धत्वं तु वयमपि न निरा-
कुर्मः, किं तु तस्य प्रामाणिकत्वम् । किंच दृग्दृश्ययोः न तात्त्विकसंबन्धः; संबन्धिभिन्नत्वे अनवस्था-
नात् । नच दृश्यत्वान्तरहीनस्य दृश्यत्वादेरिव संबन्धस्यापि स्वनिर्वाहकत्वं क्वचित् भविष्यतीति—
वाच्यम्; दृश्यत्वमपि द्वक्संबन्ध एव । तस्य च स्वनिर्वाहकत्वं न मायिकत्वं विनेति नास्माकं प्रति-
कूलमभ्यधायि देवानांप्रियेण; अभिन्नत्वे संबन्धत्वायोगात् । नचैवमाध्यासिकसंबन्धत्वेऽप्येतदोप-
प्रसङ्गः, तस्य मायिकत्वेन मायायाश्चाघटितघटनापटीयस्त्वेन सर्वानुपपत्तेर्भूषणत्वात् । नच—अति
प्रसङ्गनिराकरणार्थं दृग्दृश्ययोः संबन्धनिर्वचनं प्रकृतम्, न तु विषयत्वनिर्वचनम्, अतो विषयत्व-
खण्डनमनुक्तोपालम्भनमिति—वाच्यम्; विषयत्वखण्डनेन निरुच्यमानप्रकृतसंबन्धस्यैव खण्डनात् ।
नच—विषयित्वानिरुक्तावपि विषयिणः सत्यत्ववत् विषयित्वानिरुक्तावपि विषयः सत्यः स्यादिति—
वाच्यम्; विषयित्वानिरुक्तावपि विषयाध्यासेनैव तदुपपत्त्या विषयिणः सत्यत्वं युक्तम्, विषयत्वा-
निरुक्तौ तु विषयस्य सत्यत्वं न युक्तम्; विषयिणोऽनध्यस्तत्वे विषयाध्यासमन्तरेणान्यस्योपपादक-
स्याभावात् । यत्र तु विषयिण एवाध्यासः । तत्र विषयः सत्य एव; यथा ज्ञानविषयो ब्रह्म । नचोभया-
ध्यासः; शून्यवादप्रसङ्गात् । अन्यतराध्यासे च विनिगमकमनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वप्रकाशजडत्वादिकमेव ।
तस्माद्विषयिणो नित्यदृशोऽनध्यासात् विषयस्यैवात्राध्यासः । नच—‘प्रमाणजातं स्वविषयावरणे’-
त्यादियुक्त्या दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वस्य हेतूकरणेन च त्वयाऽपि विषयत्वं निर्वाच्यमेवेति—वाच्यम्;
तत्त्वतोऽनिर्वाच्यत्वेऽप्यध्यस्तत्वेन घटादिसमकक्षनिर्वाच्यत्वस्य संभवात् । ननु—कथं प्रमाणज्ञान-
विषयोऽध्यस्त इति—चेन्न; प्रपञ्चविषयकज्ञाने तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावादिति गृहाण ।
अतएव—यादृशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः । तादृशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रतीति—
निरस्तम्; चिदात्मनोऽनध्यासेऽपि वृत्तेस्तत्राध्यस्तत्वेन तद्दृष्टान्तेन प्रकृतेऽप्यनध्यासस्य वक्तुम-
शक्यत्वात् । स्यादेतत्—मिथ्यात्वनिर्वचनात्तत्साधनं दृश्यत्वादिकं निर्वक्तव्यमेव, नहि घटाद्यसङ्कीर्णा-
कारज्ञानं विना तद्विलक्षणव्यवहारः; अथ निरुक्तासङ्कीर्णाकारज्ञानमात्रेण तदुपपत्तिः, तर्हि तुल्यं
ममपि । इयांस्तु विशेषः; यत्तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु त्वन्मतसिद्धप्रातिभासिकवैल-
क्षण्यसाधकमानसिद्धमसत्ताकः, न हि लक्षणोक्त्यनुक्तिभ्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहा-
निलाभौ; ब्रह्मण्यपि श्रौतस्यापि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य खण्डनरीत्या असंभवात्, त्वयैव—
‘कीदृक्तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगिति द्वयम् । यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारये’तिब्रह्मणोऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वसंबन्धिभिन्नत्वे इत्यर्थः । अनवस्थानादिति । घटतद्दृशोः स्वभिन्ने संबन्धे द्वक्संबन्धान्तरं तत्रापि द्वक्संबन्धा-
न्तरमिति अनवस्थानादित्यर्थः । स्वनिर्वाहकत्वं सं प्रति संबन्धत्वम् । संबन्धत्वायोगात् ‘स्वं न स्वस्य न वा
स्वस्मि’न्निति प्रतीतेः । स्वप्रतियोगिकत्वस्वानुयोगिकत्वयोः कुत्राप्यभावात् सं प्रति कस्यापि न संबन्धत्वम् । न चैवं—
घटादाविव दृश्यत्वेऽपि ईशस्तादात्म्यं मिथ्याभूतं स्वीक्रियतामेवं तत्रापीत्यनवस्था तव मतेऽपि दुर्वरेति—वाच्यम्;
घटादाविव दृश्यत्वादौ तदननुभवात्, यावदनुभवमेव मिथ्याभूतस्य स्वीकारात् । भूषणत्वादिति । उक्तं हि खण्डने
‘अनवस्थादयो दोषाः सत्तां निघ्नन्ति वस्तुनः । अद्वैतिनां ते सुहृदः प्रपञ्चे तत्प्रसङ्गाः ॥’ इति । सत्तां निघ्नन्ति
सत्ताभावं ज्ञापयन्ति । तत्प्रसङ्गाः सत्ताभावज्ञापकाः । न चेति । भिन्नत्वे अनवस्थादिनेति शेषः । तदुपपत्त्येति ।
अधिष्ठानान्यमिथ्यात्वमेव उपपादकमिति भावः । अन्तरेणेति । विनिगमकाभावाद्विषयतः संबन्धयोर्मिथ्यात्वमुपपाद-
कम्, न तु तत्संबन्धमात्रस्येत्यर्थः । अन्यतराध्यासे विषयविषयिणोरन्यतराध्यासे आवश्यकः । अनुवृत्तत्वेत्यादि ।
ननु—यत् भ्रमान्तरानुवृत्तं, तदवश्यं तद्भ्रमैतद्भ्रमाधिष्ठानमिति वा तत् एतद्भ्रमेऽनारोपितमिति वा न व्याप्तिः;
शुक्तिरूप्याद्यवच्छिन्ने चैतन्ये भ्रमान्तरोदयेन शुक्तिरूप्यादेः स्वभ्रमानधिष्ठानत्वादिना व्यभिचारात्, नापि सर्वभ्रमानु-
वृत्तत्वमारोपितत्वव्यतिरेके हेतुः; तावतापि शुक्त्यवच्छिन्नचित्तोऽधिष्ठानत्वासिद्धादितादवस्थादिति—चेत्, सत्यम्;
तथापि यस्य भ्रमस्य बाधकाले बाधकधीविषयतया यदनुवर्तते, तत् तद्भ्रमाधिष्ठानमित्यादिव्याप्तिः संभवः । ज्ञानस्वरूपं
हि चैतन्यम् तथा, शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्थलेऽपि शुक्त्याद्यवच्छिन्नसद्रूपेण तत्तथा । इयं शुक्तिः सतीति हि बाधकज्ञानम्
भवति च शुद्धब्रह्मज्ञानमपि सर्वभ्रमबाधने स्वरूपयोग्यम् । एवं यद्यत् स्वप्रकाशं, तत् न मिथ्या; तद्बाधकमनोवृत्तेस्तेन
भास्यत्वासंभवात्, तस्यां भासकान्तरकल्पने च गौरवात् । आदिपदेन त्रिनाशित्वाविनाशित्वसंग्रहः । यद्यद्विनाशि,
तत् न सर्वभ्रमाधिष्ठानम्; तत्रादौ तस्याधिष्ठानत्वासंभवादित्यादि बोध्यम् । तत्त्वेति । त्रिकालाबाधेत्यर्थः । सत्ता
त्रिकालाबाध्यता । तादृक् परोक्षम् । ईदृक् अपरोक्षम् । यत्र न प्रसरति यस्य प्रतीचो न समसत्ताकलक्षणं

दुर्निरूपत्वोक्तेश्च, प्रपञ्चेऽपि त्वदुक्तानिर्वाच्यत्वसमक्षलक्षणसंभवाच्च, 'यत्कठिनं सा पृथिवी'त्यादि-
श्रुत्या पृथिव्यादीनामपि लक्षणत्वोक्तेश्च । तस्मादनिर्वाच्यत्वं न सत्त्वविरोधि । सत्त्वेऽप्यनुद्भूतत्वा-
देवानिर्वाच्यत्वोपपत्तेः । नच निर्वाच्यत्वमपि सत्त्वप्रयोजकम्; नहि शुक्तिरूप्यस्यापीतरमेदसाधकं
रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुवचमपि सत्यम् । किंच ब्रह्मण आनन्दत्वज्ञानत्वसत्यत्वस्वप्रकाश-
त्वादि खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचमिति ब्रह्म तत्त्वतोऽनानन्दाद्यात्मकं स्यात् । तस्मादिक्षुक्षीरादिमाधुर्य-
वदनिर्वाच्यमपि विषयत्वं सदेवेति, अत्रोच्यते—दृश्यत्वादेरनिर्वचनीयत्वं किं सत्त्वेन, उत स्वरूपेण ।
नाद्यः; सत्त्वेनानिर्वचनीयत्वेऽपि तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितत्वमात्रेण हेतुत्वोपपत्तेः तन्निर्वचनान-
पेक्षणात् । न द्वितीयः; तात्त्विकातात्त्विकसाधारणेन दृक्संबन्धित्वादिना रूपेण दृग्विषयत्वस्य निर्व-
क्तुमशक्यत्वात् । लक्षणोक्त्यनुक्त्योर्न सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वाच्यत्वहानिलाभकरत्वमिति यद्वोचः;
तदपि न; पूर्वोक्तव्यापकानुपलब्धिसहिताया लक्षणानिरुक्तेः उक्तरूपानिर्वचनीयत्वप्रयोजकत्वात् ।
यत्त्वानन्दत्वादिना धर्मेण कीदृगित्यादिना स्वरूपेण च दुर्निरूपत्वात् ब्रह्मणोऽप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्ग
इति तन्न; आनन्दत्वादिधर्मवत्तया दुर्निरूपत्वेऽपि दुःखप्रत्यनीकत्वाद्युपलक्षितस्वरूपस्य सत्त्वेन निर्वक्तुं
शक्यत्वात् । नचैवं प्रपञ्चे सत्त्वं शक्यनिर्वचनम्; बाधकसद्भावात् । अतएव—कठिनस्पर्शवत्त्वादिना
पृथिवीत्वादीनां निर्वचनमस्त्येव, सत्त्वेऽप्यनुद्भूतत्वादिना निर्वाच्यत्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्; नहि
निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूमः, किंतु सत्त्वादिना निरुक्तिविरहेण । स च प्रपञ्चे बाधकादस्त्येव ।
नच—ज्ञाने विषयस्याध्यस्तत्वे तदज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्त्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वं तदनुविद्धतया
प्रतीयभावश्च न संभवतीति—वाच्यम्; चैतन्यमात्राज्ञानजन्यत्वात् । तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च घटादि-
प्रपञ्चस्येत्युक्तत्वात् । सदिति प्रतीयमानाधिष्ठानचैतन्यानुविद्धतया प्रतीयमानत्वमप्यस्त्येव । तस्मा-
त्सत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धत्वानुपपत्तिर्दृढैव ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मूलाज्ञानविषयत्वादिकमपरोक्षमपि न समसत्ताकम् । दुर्निरूपत्वोक्तेः अनिर्वाच्यत्वस्यैव लक्षणस्योक्तेः । अनिर्वा-
च्यत्वं सत्यस्य लक्षणादेरनिर्वचनम् । खण्डनोक्तरीत्येति । 'अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैव-
माज्ञा । तत्तानि कस्मान्न यथावदेव सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्व'मिति रीत्येत्यर्थः । संसर्गखण्डनादियुक्तिभिः
पराभ्युपगतप्रक्रियाखण्डनरूपाभीष्टसिद्धौ सत्यामपि खण्डनानां स्वाभ्युपगतप्रक्रियाखण्डने स्वतन्त्रतारूपा या राज्ञा-
मिवाज्ञा सा नाखण्डि नास्माभिः निरस्ता । तस्माद्यथावत् परप्रक्रियायामिव स्वप्रक्रियायामपि तानि खण्डनानि,
कस्मान्न योजयध्वम्, यूयं द्वैतवादिन इत्युक्तपदार्थः । तथाच ब्रह्मण्यनन्दत्वादिसंसर्गखण्डनेन ब्रह्मानानन्दाद्या-
त्मकमिति भावः । स्वरूपेण सत्त्वान्यरूपेण । तन्निर्वचनेति । सत्त्वेन निर्वचनेत्यर्थः । व्यापकानुपलब्धीति ।
सत्यत्वव्यापकाविप्रकर्षाद्युपलब्धिविरोधिविप्रकर्षादिग्राहकमानेत्यर्थः । मिथ्यात्वसाधकमानेति यावत् । लक्षणानुक्तेः
सत्यलक्षणानुक्तेः । कीदृगित्यादिना समसत्ताकलक्षणार्थमेकं । सत्त्वेन निर्वक्तुं शक्यत्वात् तत्सदित्यनानन्द-
त्वसत्यत्वाद्युपलक्षितस्वरूपप्रमापकशब्दस्य वक्तुं शक्यत्वात् । प्रतीयभावश्चेति । त्रयं विषयस्य वाच्यं, तच्चेति शेषः ।
तदज्ञानकार्यभ्रमविशेष्यत्वं तज्ज्ञाननिवर्त्यभ्रमविशेष्यत्वं तदनुविद्धतया प्रतीयभावश्चेति त्रयं न संभवतीत्यर्थः । ज्ञानस्य
स्फुरणकाले विषयाध्याससत्त्वादाद्यद्वितीययोरसंभवः । अधिष्ठानस्यावृत्तत्वेन तदनुविद्धतया आरोप्यप्रतीतिर्वाच्या, सापि
न संभवति; 'घटं जानामी'ति ज्ञानानुविद्धतयैव विषयप्रतीतेरिति तृतीयासंभव इति भावः । अस्त्येवेति । तथाच
सद्रूप इव ज्ञानरूपेऽप्यनुविद्धतया विषयप्रतीतेस्तद्रूपं नाधिष्ठानम्, अपितु शुद्धचिद्रूपं पूर्णानन्दरूपम्; तदनुविद्धतया
चाप्रतीतिरस्त्येवेति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां मिथ्यात्वानुमाने अनुकूलतर्कनिरूपणम् ॥

अथानुकूलतर्कनिरूपणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मैकदृग्ध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित्कदाचित्किंचित्प्रति प्रकाशाय तत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवानावृत्त-
दृक्संबन्धोऽङ्गीकृतः; वृत्तिद्वारकसंबन्धात्प्राक् अध्यस्तरूपे संबन्धे सत्यपि दृश्याप्रतीतेः । एवंच विषयसत्यत्वेऽपि वृत्तिद्वार-

कस्य तत्संबन्धस्य संभवाच्च दृश्यत्वं मिथ्यात्वप्रयोजकम् । घटाकारवृत्तिप्रतिफलितचैतन्येन घटप्रकाशोपपत्तौ घटाधिष्ठानचैतन्यव्यक्त्यनपेक्षणादभिव्यक्तमधिष्ठानचैतन्यमेव प्रकाशकमिति वर्णनासंभवात् । नहि घटाधिष्ठानं शुद्धचैतन्यं ब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वमभिव्यज्यत इति युक्तम्; घटावच्छिन्नचैतन्यं तु आत्माश्रयाच्च घटाधिष्ठानमित्यभिव्यज्यमानेऽपि तस्मिन्घटादीनामनध्यासाच्च दृग्दृश्ययोराध्यासिकसंबन्धः । यदितु घटावच्छिन्नचैतन्यमेव प्रकाशकं, तदेव सत्यत्वाधिष्ठानमात्माश्रयोऽपि न दोषायेत्युच्यते, तर्हि तादृशदृशो दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात् तद्विषयघटादयोऽपि सत्या इति दृश्यत्वं न सत्यत्वविरोधि ।

एतेन—दृग्दृश्ययोः संबन्धो नेति वचनमपि—**पराहतम्**; गुणगुण्यादेः संयोगाभावेऽपि समवायवत् ज्ञानज्ञेययोः उभयासंभवेऽन्यस्य संभवात्, समवाये इवानुमानस्य प्रकृतेऽपि समत्वात् । **तथाच प्रयोगः**—(१) परस्परसंयुक्तासमवेतविशेषणविशेष्यविषयकविशिष्टधीः, विशेषणविशेष्यतत्संबन्धविषयिका, विशिष्टधीत्वात्, दण्डीतीधीवत्, (२) उक्ता जन्यप्रमा; विशेषणविशेष्यसंबन्धनिमित्तका, अबाधितविशिष्टजन्यधीत्वात्, संमतवत् (३) विमता धीः, अबाधितविशेषणविशेष्यसंबन्धविषयिका, अबाधितविशिष्टधीत्वात्, दण्डीति प्रमावत् । **अत्रच** यथा पृथक्सिद्धयोर्युतयोरैव संयोग इति स्थितेऽपि अपृथक्सिद्धत्वादित्येव समवायः सिद्ध्यति; धर्मिग्राहकमानेनोक्तरूपसमवायस्यैव विषयीकरणादित्युच्यते, एवमत्रापि धर्मिग्राहकमानं संबन्ध्यभावज्ञेयविप्रकर्षौ यथा न स्वस्य बाधकौ स्यातां, तथैव सिद्ध्यतीति संबन्ध्यभावो ज्ञानज्ञेययोर्विप्रकर्षौ वा न बाधकः, अन्यथा (१) ध्वंसादेरतीतादिना (२) मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गतस्याभावस्य प्रतियोगिना (३) वेदान्तिनिष्ठतात्पर्यस्य ब्रह्मणा (४) जीवाश्रितस्याज्ञानस्याज्ञेयेन ब्रह्मणा (५) व्यवहारस्य व्यवहर्तव्येन ब्रह्मणा (६) मुमुक्षायश्च मोक्षेण (७) लघुक्तदूषणस्य च दूष्येण (८) लब्धाक्यस्य चार्थेनासंबन्धात्स्वन्यायविरोधस्य, ज्ञानस्य ज्ञेयेन लब्धाक्योक्तसंबन्धाभावस्याज्ञानेन चासंबन्धात् स्वक्रियावचनविरोधस्य च समापत्तेः **एतेन**—न्याये दृढे न्यायसाम्यात्किमन्यदपि बाध्यताम् । न ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥ इति खण्डनोक्तमपि—**परास्तम्**; स्वव्याहतस्य न्यायाभासतया न्यायदाढ्याभावात्, अन्यथा जातिवादिसाम्यापत्तेः । यदिच भावाभावादेः संबन्धान्तरमन्तरेण तद्विशिष्टव्यवहारजननयोग्यस्वरूपात्मकः स्वभावसंबन्धो वा असंबन्धरूपं प्रतियोगित्वादिकं वा नियामकं सत्संबन्धकार्यकारि, तर्हि प्रकृतेऽपि तथास्तु; भावाभावादेरपि संबन्धस्य मिथ्यात्वं ल्यन्योन्याश्रयाच्च सिद्ध्यति; घटाभावे घटाभाव इत्यादौ अभावसमसत्ताकसंबन्धवत् ज्ञानसमसत्ताकसंबन्धस्यैव ज्ञानज्ञेयसंबन्धत्वात्, अन्यथा श्रवणमननादीनां श्रोतव्यादिरूपेण ब्रह्मणा चरमसाक्षात्कारस्य च साक्षात्कर्तव्येन ब्रह्मणा तत्रानध्यस्तत्वेनासंबन्धापत्तेः । चरमसाक्षात्कारस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् तद्विषयकत्वे घटसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात्तद्विषयकत्वापत्तिः । अतएव हि तात्पर्यानध्यस्तस्य तात्पर्यसंबन्धः, मुमुक्षायामनध्यस्तस्य मोक्षस्य मुमुक्षासंबन्धश्चोपपद्यते; ज्ञाने संनिकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येवेच्छायामपि ज्ञानाधीनस्य विषयसंबन्धस्यानुभवात् । अन्यथा स्वविषयकज्ञानजन्यत्वस्यैवेच्छाया विषयेषु संबन्ध इत्यङ्गीकारे घटपटाविति समूहालम्बनज्ञानजन्यायाः पटेच्छाया घटीयत्वस्य नित्येध्वरेच्छाया निर्विषयत्वस्य पुत्रादिधीजन्यसुखादेः पुत्रादिविषयत्वस्य चापत्तेः । एवंचेच्छाया इव ज्ञानस्याप्यन्तरत्वेन प्रतीपवैलक्षण्याद्विप्रकृष्टेनापरोक्षवृत्तेरिव संबन्धः संभवत्येव; प्रकाशत्वेनैव प्रतीपसाम्यं ज्ञानस्य विवक्षितं, नतु सर्वात्मना; अन्यथा प्रदीपे इव ज्ञानेऽप्याध्यासिकसंबन्धो न स्यात् । एवं न ज्ञाने ज्ञेयस्याध्यासः । अतएव हि (१) तुच्छस्य पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेः भावाद्वैतमतेऽभावस्य च ज्ञाने, अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्याज्ञानादेः परोक्षानुभवे, स्मर्यमाणस्य स्मृतौ, प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिके भ्रमे चानध्यास उपपद्यते । **युक्तं चैतत्**—नहि स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानपूर्वस्य स्वस्य स्वोत्तरज्ञानेऽध्यास उपपद्यते; वृत्तेरेवाज्ञाननिवर्तकत्वेन प्रकाशकत्वेन स्वाधिष्ठानचैतन्यप्रकाशताया अयोगात् । **उक्तं च भवदीयैः**, “घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः । विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत् ॥” इति घटानधिष्ठानचैतन्येनैव घटप्रकाश इति । किंच दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता, उतानुकूलतर्कमात्रम् । **नाद्यः**; आक्षेप्योपपादकत्वप्रमाणाविरुद्धत्वाक्षेपकानुपपद्यमानत्वतत्प्रमितत्वरूपार्थापत्तिसामग्रीषु नहि संबन्धिमिथ्यात्वं संबन्धस्वरूपोपपादकं भवति, किंतु तत्प्रतिकूलमेवेति प्रथमसामग्र्याः, नापि बाध्यस्वरूपसंबन्धोऽद्यापि सिद्ध इति चतुर्थसामग्र्याः, स्वतःप्रमाणप्रत्यक्षसिद्धसंबन्धस्य विनैव बाधकं मिथ्यात्वायोगेन सत्यत्वेन संबन्धिमिथ्यात्वं विनाप्युपपद्यमानत्वेन तृतीयसामग्र्याः, आक्षेप्यस्य मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वेन द्वितीयसामग्र्याश्चाभावेनार्थापत्तेरप्रसरात् । **तद्यमाशयः**—यथाक्षेपकं दृश्यत्वं दृग्दृश्यत्वस्वरूपं, तदा चतुर्थसामग्र्यभावः, यदि दृग्दृश्यत्वस्वरूपं, तदा तृतीयसामग्र्यभावः, दृग्दृश्यत्वातिरिक्ताध्यासिकसंबन्धविशेषास्य प्राप्तिश्चा दृग्धीनसिद्धिकत्वमपि तत्रैव पर्यवस्यतीति तत्रापि तृतीयसामग्र्यभाव एवेति । **एतेनान्यपक्षोऽपि पराहतः**; उक्तरीत्या सत्त्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्त्या प्रयोजकत्वात् । नचात्र सत्त्वं यदि स्यात्तर्हि दृश्यत्वं न स्यादित्यापादनं संभवति; अनिर्वाच्यत्वाभावरूपसत्त्ववतोऽपि तुच्छस्य दृश्यत्वात्, पारमार्थिकत्वरूपसत्त्वस्यैवात्र विवक्षणेऽपि ब्रह्मणः स्वव्यवहृत्येव घटादीनामपि स्वज्ञानेन संबन्धोपपत्तेः । एवं—

शब्दबुद्धेर्हि विषयो ब्रह्म तत्र न कल्पितम् । यथा, तथा दृग्दृश्यो दृश्यं दृशि न कल्पितम् ॥
अविद्याविषयो ब्रह्म अविद्यायां न कल्पितम् । यथा, तथा दृशा ग्राह्यं न विभ्रं दृशि कल्पितम् ॥

इति दृग्दृश्येच्छेष्यमाणादेः नाध्यासिकः संबन्धः । किंत्वन्य एव । सच पूर्वमनुमानेन साधितः संबन्धलक्षणाकान्तश्चेति न लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति न्यायविरोधः । विशेषसंज्ञा तु यथारुचि कल्प्येति न तत्र नो निवेशः । सर्वथा तु दृश्यत्वं न मिथ्यात्वप्रयोजकमिति सिद्धम् । ज्ञानविषयकत्वनिरुक्तिखण्डनं प्रकृतानुपपत्तम् । नहि विषयत्वानिरुक्तिमात्रेण विषयमिथ्यात्वसिद्धिसंभवः, विषयित्वानिरुक्तावपि विषयिण इव सत्यत्वोपपत्तेः । प्रमाणज्ञानं स्वविषयावरणेत्यादि-स्वोक्तिव्याघातश्च । नहि प्रमाणज्ञानविषयोऽध्यस्त इत्यध्यस्तविषयत्वस्यैवात्र ग्रहणमिति परास्तम् । वस्तुतस्तु—

यादृशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः । तादृशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रति ॥

इति विषयस्य ब्रह्मण इव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वमेव । किंच त्वयापि व्यावहारिकसत्त्वस्यासंकीर्णव्यवहारस्य च सिद्ध्यर्थं विषयत्वलक्षणं वक्तव्यम् । असंकीर्णकारज्ञानमात्रेणासंकीर्णव्यवहारोपपत्तिवर्णनं तु ममापि समम् । इयांस्तु विशेषः—तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम परं सन्निति निरुच्यमानोऽपि स येन मानेन तव प्रातिभासिको मम तेन तात्त्विकः । अस्तु वा दुर्निरूपत्वं लक्षणेन, नह्येतावताऽतात्त्विकत्वम् ; अन्यथा—

कीदृक् तत्प्रत्यभिगति चेत् तादृगीदृगिति द्वयम् । यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारयेत् ॥

इति दुर्निरूपत्वेन भवता प्रतिपादितस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकतायाः “यत्कठिनं सा पृथिवी”ति श्रौतलक्षणलक्षितायाः पृथिव्या एव तात्त्विकतायाः, ब्रह्मणः आनन्दत्वज्ञानत्वसत्यत्वानां खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचनत्वेन ब्रह्मणोऽनानन्दाद्यात्मकतायाश्च आपत्तेरिति सर्वमनवद्यम्—इति निरूपयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अनादृतचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वेन वृत्तेरावरणाभिभवेनैवोपक्षयात्, साक्षात्स्वसंस्पृष्टस्यैव प्रदीपस्य प्रकाशकत्वेन वृत्तिद्वार-कपरंपरासंबन्धेन प्रकाशोपपादनासंभवेन, परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहारोपपत्त्यर्थं चैतन्यस्याभिव्यक्तिकल्पनाया अप्यावश्य-कत्वाद्वृत्तिप्रतिफलितचैतन्येनैव विषयप्रकाशनोपपादनसंभवेन, घटाद्यधिष्ठानशुद्धचैतन्यस्य मूलज्ञाननिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्तेः चरमसाक्षात्कारात्पूर्वमभावेऽपि तदीयावस्थाविशेषेनवृत्तिलक्षणाभिव्यक्तेः संभवेनाभिव्यक्तेन चैतन्येन घटादीनां नाध्या-सिक एव संबन्धोऽङ्गीकरणीयः । एतेन—शुद्धचैतन्यस्य घटाद्यधिष्ठानत्वे तस्य दोषजन्यत्वेन प्रमालात् घटादीनामपि सत्यत्वसिद्धिरिति—पराहतम् ; भ्रमेऽपि चैतन्यस्य दोषजन्यत्वेन दोषजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वस्यैव भ्रमत्वप्रयोजकत्वेन प्रकृतघटादिज्ञानानामविद्यादोषजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वेन प्रमालाभावात् । एवं गुणगुण्यादेः समवाय इव दृग्दृश्ययोरेनाध्यासि-कसंबन्धस्याप्रामाणिकत्वाच्च दृश्यत्वं सत्यत्वविरोधीति न्यायामृतीयानुमानान्यप्यर्थान्तरसिद्धसाधनादिप्रस्तानीति—सूचितम् ; प्रथमे आध्यासिकसंबन्धस्यैव विषयत्वेनार्थान्तरात् । द्वितीये उक्तसंबन्धस्यैव निमित्तत्वेन उक्तदोषात्परोक्षधीषु व्यभि-चाराच्च । तृतीये—सर्वथाऽबाधितधीविषयत्वसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्, अबाधितविषयत्वमात्रसाधने ब्रह्मज्ञानेन-राबाधितविषयत्वमादाय सिद्धसाधनाच्च । नहि युतसिद्धयोरेव संबन्ध इति नियमे मानमनुकूलतर्को वाऽस्तीत्ययुतसिद्धयोरपि संबन्धस्य प्रमाणान्तरबाधितत्वात्समवायानुमाने न दोषः ; अयुतसिद्धयोरपि संबन्धदर्शनेन युतसिद्धत्वस्य संबन्धप्रयोज-कत्वात् । प्रकृते तु देशकालाविप्रकर्षतद्भावयोः संबन्धतद्भावयोर्दर्शनेन व्यापकत्वेनावधृतस्य देशकालाविप्रकर्षस्यानुप-लब्ध्या व्याप्यसंबन्धोऽपि बाधित इति तात्त्विकसंबन्धव्यापकानुपलब्धिरूपबाधसहकृतोक्तसंबन्धग्राहकानुमानस्याध्यासि-कसंबन्ध एव पर्यवसानेन न कोऽपि पर्यनुयोगः । ध्वंसादीनामप्यतीतादिनाऽध्यासिकसंबन्धस्यैवाङ्गीकारात् । तस्य च संयोगादिवदतिरिक्तत्वे स्वरूपत्वे रूपान्तरत्वे वा नास्माकमभिनिवेशः । एवंच दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्या ज्ञेयमात्रस्याध्यासि-कत्वे सिद्धे तन्मध्यपतितं प्रतियोग्यभावादिसंबन्धमिथ्यात्वम्, न तु प्रतियोग्यभावादिसंबन्धमिथ्यात्वानन्तरं दृश्यमिथ्यात्व-सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयाच्च स्ववचनविरोधादयः ; व्यवहारोपयुक्तसंबन्धसामान्याप्रतिक्षेपात् । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—बाधे दृढेऽऽन्यसाम्यादिति । स्वक्रियाविरोधरूपप्रतिकूलतर्कनिराकरेण व्यापकानुपलब्धिरूपानुकूलतर्कप्रदर्शनेन संबन्धबाध-दार्ढ्यस्योपपादनाच्च जातिवादिसाम्यापत्तेरवकाशः । घटाभाव इत्यादौ आध्यासिकसंबन्धबाधादभावसमसत्ताकसंबन्धो-ऽङ्गीकृतः, प्रकृतेतु न तथाऽङ्गीकर्तुं युज्यते । ज्ञानविषययोराध्यासिकसंबन्धे उक्ते मानसक्रियारूपश्रवणादिभिर्ब्रह्मसंबन्धो न स्यादित्यापादनं आम्रान् पृष्ठः कोविदारानाचष्टे इति न्यायसममेवेति मन्तव्यम् । चरमसाक्षात्कारस्य तु ज्ञानरूपस्यापि विषयेण ब्रह्मणाऽध्यासिकसंबन्धोऽङ्गीकृत एवेति न दोषः । नचैतावता ब्रह्मणोऽप्यध्यस्तत्वापत्तिः, विषयस्य विषयिण्यध्यास-नियमस्यास्माभिरनङ्गीकारात् । यथाचाध्यस्तत्वाविशेषेऽपि चरमसाक्षात्कारमात्रमेव ब्रह्मविषयकं, घटसाक्षात्कारस्तु न, अधिष्ठानचैतन्यरूपस्य साक्षात्कारस्यानध्यासात्, अध्यस्तस्य वृत्तिरूपस्य विषयताप्रयोजकाध्यासाभावात्, तथाऽन्यत्र विस्तरः । तात्पर्यं हि तत्प्रतीत्युद्देश्यकत्वम्, तत्र प्रतीतेः ज्ञेयान्तरेणेव धर्मेणाप्याध्यासिक एव संबन्ध इति प्रतीति-द्वारा धर्मतात्पर्ययोः संबन्ध इति नानुपपत्तिः । इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्संबन्धः, किंतु ज्ञानद्वारक एव ; सन्निकर्षा-

दीनामतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिनोपस्थितिं विना ज्ञाने संबन्धानुभवाज्ञाने विषयसंबन्धः साक्षादित्यङ्गीकारेऽपि ज्ञाना-
धीनसंबन्धान्तरस्येच्छायामननुभवात् ज्ञानद्वारकसंबन्धेनैव तत्रोपपत्त्याऽतिरिक्तसंबन्धकल्पने मानाभावादिति सुमुखाया
मोक्षसंबन्धोऽपि व्याख्यातः । जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्वस्यैवेच्छायां संबन्धत्वादीश्वरेच्छायाश्चाजन्यायाः
अनङ्गीकाराच्च न पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । ज्ञानेच्छयोरिव सुखादावपि सविषयत्वप्रतीतिस्तु वस्तुस्वाभाव्येनैव परिहरणीया ।
अन्यथा स्फटिकमणाविव लोष्टेऽपि लौहित्यप्रतिफलनापत्तेः । एतेन—इच्छाया इव ज्ञानस्यापि विप्रकृष्टेनापि संबन्धः
परोक्षवृत्तेरिव विषयेणेति शङ्काऽपि—पराहता; परोक्षस्थले वृत्तिनिर्गमनाभावेनागत्या तथाऽङ्गीकारात् । एवंच ज्ञाने
ज्ञेयस्याऽध्यासिक एव संबन्ध इति सिद्धम् । तुच्छस्याज्ञेयत्वेन पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेः भावाद्वैतस्य चानभ्युपगमपराहत-
त्वेन अतीतादेरपि स्वाकारवृत्त्यवच्छिन्नाधिष्ठानचैतन्येऽध्यासेनच न्यायान्मृतीयापत्तीनां नावकाशः; रजतादीनामपि स्वाका-
रवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याभिज्ञेदमवच्छिन्नचैतन्यमेवाधिष्ठानमित्यधिष्ठानतादात्म्येनैवारोप्यप्रतीतेर्न ज्ञानं रजतं इत्याकारप्रसङ्गश्चेति
मन्तव्यम् । खोत्तरवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य स्वाधिष्ठानस्वसाधकचैतन्यस्यचाभिन्नत्वेन “घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसा-
दतः । विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेदि”ति सुरेश्वराचार्यवचनविरोधोऽपि परिहृतप्राय एवेति घटानधिष्ठानचैत-
न्येनैव घटप्रकाशवचनं निरालम्बनमेवेति दृश्यसंबन्धस्याध्यासिकत्वात् तादृशसंबन्धान्यथानुपपत्त्या सत्यत्वं दृश्यत्वे
न स्यादित्यनुकूलतर्केण वा प्रपञ्चमिथ्यात्वं सिद्धमेवेति मन्तव्यम् । यद्यपि अनुकूलतर्केनिरूपणमेवात्र प्रकृतमित्यर्थापत्तिप्र-
माणं नात्र निरूपणीयम्; तथापि अर्थापत्तिर्वानुकूलतर्को वेति विकल्पेनोभयस्यापि दूषणात्तदुक्तिखण्डनार्थमुभयमप्यत्र
समर्थितमिति मन्तव्यम्; तथाहि—शुक्तिरूप्यसंबन्धमिथ्यात्वस्येदमंशेऽध्यस्तत्वरूपसंबन्धोपपादकत्ववत्प्रकृतेऽपि दृश्यमि-
थ्यात्वस्य दृश्यसंबन्धोपपादकत्वेन प्रथमसामग्र्याः रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभावेऽपि रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानं इति प्रतीतिस-
त्त्वेनाध्यस्तत्वस्यापि संबन्धविशेषलसिद्ध्या दृक्संबन्धसामान्यस्याक्षेपकस्य प्रसक्तविशेषनिषेधेऽध्यस्तत्वरूपविशेषे पर्यवसानेन
चाध्यस्तत्वस्याप्यसिद्धभावेन चतुर्थसामग्र्याः, अध्यक्षादिविरोधस्य प्रागेव परिहृतत्वेन श्रुतिबोधितत्वेन प्रपञ्चसत्यत्वासंभ-
वेन मिथ्यात्वं विना अनुपपाद्यमानत्वेन तृतीयसामग्र्याः आक्षेप्यस्य मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षविरोधाभावेन द्वितीयसामग्र्याश्च
सत्त्वेन नार्थापत्तिप्रमाणस्यात्राप्रवृत्तिः । यदि त्वाक्षेपकस्याध्यस्तत्वस्य संभावनायामपि न प्रमितत्वमुच्यते, तर्हि प्रतिबिम्बेन
बिम्बाक्षेपदर्शनाक्षाक्षेपकस्य प्रमितत्वं साधनमिति मन्तव्यम् । एतेन—अनुकूलतर्कपरतयाप्युक्तग्रन्थयोजनसंभव इति—
सूचितम्; सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात् । दृश्यत्वाभावस्यापादकं च सत्त्वम् अनिर्वाच्यत्वाभावो वा त्रिकालावाध्यत्वरूपं
वोभयथापि न दोषः । तुच्छे दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वस्याभावात् तुच्छाकारत्वस्य वृत्तिगतत्वेऽपि तुच्छे वृत्तिसंबन्धाभावोप-
पत्तेश्च । एतेन—शाब्दवृत्तिविषयस्याविद्याविषयस्य च ब्रह्मण उक्तवृत्त्यविद्ययोरिव विश्वस्यापि दृग्विषयस्य दृश्यकल्पितत्वो-
पपत्तिरिति—परास्तम्; वृत्त्यविद्ययोर्ब्रह्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासेन संबन्धोपपत्तिवदत्रोपपत्त्यसंभवात् ।
अतएव—अप्रामाणिकस्य संबन्धस्य लक्षणानपेक्षणेन लक्षणनिर्वचनाद्यन्यथाऽनुपपत्त्यैव संबन्धप्रामाणिकत्वसिद्धिरिति
शङ्काऽपि—पराहता; तत्त्वावेदकप्रामाण्याभावेऽपि व्यावहारिकप्रामाण्याङ्गीकारेणानुपपत्त्यभावात् । तात्त्विकप्रामाण्यस्यै-
वात्रास्माभिरपि निराकरणात् । यथाहि कल्पिताविद्यायाः साक्षात्कारस्य च ब्रह्मण्यध्यासिक एव संबन्धः, एवं कल्पितस्य
प्रपञ्चस्यापि दृशि आध्यासिक एव संबन्ध इति निरूपणं हि विषयानिर्वाच्यत्व एव सिद्ध्यतीति विषयत्वनिर्वचनखण्डनमपि
प्रकृतोपयुक्तमेव । विषयित्वानिरुक्तावपि विषयाध्यासेनैव विषयित्वोपपत्त्या नित्यदृश्यस्यानध्यासेन सत्यत्वोपपत्तावपि
विषयस्य तत्त्वाप्रसङ्गात् । एवंच चिदात्मनोऽनध्यासेपि तत्र विषयत्वस्य समर्थनात् “यादृशं विषयत्वत” इति वचनं—
परास्तम्; नहि अनिर्वचनीयत्वमात्रेणातात्त्विकत्वम्, किंतु सत्त्वेनानिर्वचनीयत्वेनेति सद्रूपेण निर्वचनीयस्य ब्रह्मणो
नातात्त्विकत्वापत्तिः । एतादृशं तु निर्वचनीयत्वं प्रपञ्चस्य न संभवति; बाधकसत्त्वादिति कठिनस्पर्शवत्त्वादिति कठिनस्पर्श-
वत्त्वादिना निर्वचनीयस्यापि पृथिव्यादेर्न तात्त्विकत्वसिद्धिरिति सर्वमनवद्यम्—इति वर्णयन्ति ।

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सर्वव्यापिनश्चैतन्यस्याविद्यावृत्तस्य वृत्त्याऽऽवरणे निवृत्तेऽनावृत्तेन चैतन्येन सत्यानामेव घटादीनां भानसंभवेनाध्यासिक-
संबन्धकल्पनं व्यर्थमेव; आवश्यकेन्द्रियजन्यवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनैव स्फुटतरव्यवहारस्याप्युपपत्तेः । नचाधिष्ठानचैतन्य-
मेवाधिष्ठेयस्य प्रकाशकं भवति; ऐन्द्रियिकवृत्त्या शुद्धचैतन्यरूपाधिष्ठानावरणानिवृत्तेः, एकावरणनिवृत्तावप्यावरणान्तरसत्त्वेन
घटाद्यधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्त्यसंभवात् । शुद्धचैतन्यस्य दोषाजन्यत्वेन ज्ञानरूपतद्विषयाणां घटादीनामपि सत्यत्वापत्त्या-
शुद्धाधिष्ठानताया एव भङ्गापत्तेः; दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव प्रमात्वेऽपि घटाद्याकारवृत्तेः संभावितेन्द्रियदोषाजन्य-
त्वात् अखण्डाकारवृत्त्यादीनामपि भ्रमत्वापत्त्याऽविद्याया ज्ञानसामान्यदोषत्वेन तद्रूपदोषजन्यत्वाच्चोक्तदोषापरिहाराच्च ।
न हि प्रामाणिकस्य संबन्धस्यातात्त्विकत्वसंभवः । साधितं च तत्त्वमनुमानत्रयेण न्यायान्मृतकारैः । तत्र प्रथमानुमाने
तात्त्विकसंबन्धबाधे एवाध्यासिकसंबन्धसंभावनासंभवेन बाधपर्यन्तं तदसंभवेनाध्यासिकसंबन्धमादायार्थान्तरस्य द्वितीयानु-

माने तस्यैव निमित्तत्वसंभावनामादायार्थान्तरस्य तृतीयानुमाने आनन्दस्य स्फुरणस्य ब्रह्मणो वा या सत्ता तद्वतः संबन्धस्य सिद्ध्या संबन्धिसमसत्ताकविशेष्यविशेषणसंबन्धविषयत्वरूपसाध्यस्यासिद्धत्वेन सिद्धसाधनस्य सिद्धिग्रन्थापादितस्यात्राप्रसक्तेः । पृथक्सिद्धसंबन्धविषयकत्वस्य संबन्धविषयकव्यापकस्य निवृत्तावप्यपृथक्सिद्धिर्यथा समवायानुमानस्य बाधिका; निरुक्तस्य व्यापकस्य निवृत्त्या पक्षे साध्याभावसिद्धेः, पक्षे साध्याभावसिद्धौ च व्यभिचाराभावेन निरुक्तव्यापकत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्; तथा प्रकृतेऽपि देशकालाविप्रकर्षव्यापकसिद्धिः पक्षे साध्याभावसिद्ध्यधीना; तद्व्यापकत्वसिद्ध्यधीना च पक्षे साध्याभावसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयाच्च किञ्चिदपि बाधकम् । वस्तुतस्तु—देशकालाविप्रकर्षो न तात्त्विकसंबन्धव्यापकः; देशकालाविप्रकर्षवतीषु सपत्नीषु तात्त्विकसंबन्धदर्शनात् । देशकालाविप्रकृष्टानां गोगोमतामपि तात्त्विकसंबन्धदर्शनाच्चेति मन्तव्यम् । अस्तुवा कथंचिदपि विषयत्वमिथ्यात्वम्; एवमपि विषयमिथ्यात्वं न सिद्ध्यति; तार्किकाणां मते नित्यविभुद्रव्याणां संयोगस्य मिथ्यात्वेऽपि नित्यविभुसत्यत्वदर्शनेन संबन्धमिथ्यात्वस्य संबन्धिमिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात् । तत्र तात्त्विकसंबन्धान्तरस्यापि सत्त्वात् प्रकृते च तस्यासंभवात् न दोष इति चेत्, मिथ्याभूतसंयोगप्रतियोगिनीः दण्डचैत्रयोरपि मिथ्यात्वापत्त्या तयोरेव दृष्टान्तत्वमत्र विवक्षितम् । एवं च कश्चित् संबन्धमिथ्यात्वे रजतादिसम्बन्धिमिथ्यात्वसाहचर्यमात्रेणोक्तनियमकल्पनं न शोभावहमिति मन्तव्यम् । एतेन—ज्ञेयमिथ्यात्वसिद्ध्यर्थमिच्छादिषु क्लृप्तविषयविषयिभावपरित्यागेन ज्ञानज्ञेययोराध्यासिकसंबन्धकल्पनमपि विफलमिति—सूचितम्; संबन्धमिथ्यात्वस्य सम्बन्धिमिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात् । अन्यथा ब्रह्मणोऽपि साक्षात्कारादिनाऽध्यासिकसंबन्धवत्त्वात् मिथ्यात्वस्याविषयत्वस्य वाऽऽपत्तेः साक्षात्काराध्यासाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणस्तद्विषयत्वे घटादिसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मविषयकत्वापत्तिः । एवं चाध्यासविशेषस्य तदीयताप्रयोजकत्वकल्पनापेक्षयेच्छादिषु क्लृप्ततात्त्विकविषयत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वकल्पनमेव युक्तम् । अतएवहि तात्पर्यस्य धर्मादिसंबन्ध उपपद्यते । अन्यथा प्रतीतिद्वारकपरंपरासंबन्धेन तत्संबन्धकल्पने घटादीनामपि तदापत्तेः । एवं ज्ञाने ज्ञेयस्याध्यासएव संबन्ध इति वचनमसंगतमेवेति तात्त्विक एव संबन्धो ज्ञानज्ञेययोरिति सिद्धम् । अतीतादेशानं हि न तदधिष्ठानचैतन्यमात्रं; किंतु अनुमित्यादिवृत्त्यवच्छिन्नमिति तत्रानाद्यध्यासादर्शनेन भवदीयनियमस्य व्यभिचरितत्वात् । अतएव हि रूप्याकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन रूप्यस्य सम्बन्ध उपपद्यते । वस्तुतो वृत्तिद्वयावच्छिन्नचैतन्यस्यैक्येऽपि एकैकवृत्त्याद्यवच्छिन्नत्वेनाधिष्ठानज्ञानत्वेन रूप्यज्ञानत्वेन च व्यवहारात् चैतन्ये सत्यत्वज्ञानानिवृत्तेः वृत्त्यां सत्यां च तन्निवृत्तेर्वृत्त्यतिरिक्तज्ञाने न मानमस्ति; वृत्त्युदयात्पूर्वमपि योगिवृत्त्यन्तरसत्त्वेन वृत्त्युदयात्पूर्वं घटादिसिद्धिसंभवादिति—“घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः । ज्ञातो घटोऽयमित्युक्तिः ब्रह्मात्मानुभवतो भवेत् ॥” इति सुरेश्वरवचनमत्रैवानुकूलम् । एवं च दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वसिद्धिरित्यर्थापत्तिसमर्पणार्थत्वं सत्यत्वं यदि स्यात् तर्हि दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कसमर्पणार्थत्वं बोध्यमपि प्रकृतग्रन्थस्य न संभवति । संबन्धस्य ह्यन्यत्र क्लृप्तसत्यसंबन्धित्वेनैवाक्षेपकता, नलक्लृप्ताध्यस्तत्वादिरूपेण तथान्वयेन रूपेण तदाक्षेपकता, तद्रूपाकान्तस्याक्षेप्यसंबन्धिमिथ्यात्वं प्रति प्रातिकूल्यमेव प्रथमसामग्र्याः, ज्ञेयज्ञानसंबन्धसामान्यव्यवहारे ज्ञेयज्ञानयोः षष्ठीप्रथमान्ताभ्यां निर्देशवत् अध्यस्तत्वरूपविशेषसंबन्धव्यवहारेऽध्यस्तस्य षष्ठ्यन्तेनाधिष्ठानस्य प्रथमान्तेन च निर्देशापत्तिः, नतु तथास्ति; रूप्यस्य किञ्चिच्छुक्तिरिति संबन्धसामान्यं प्रति रूप्यस्याधिष्ठानं शुक्तिरित्यस्य विशेषत्वेऽपि ज्ञेयज्ञानसंबन्धं प्रति विशेषत्वाभावादित्यप्यध्यस्तत्वस्यासिद्ध्या सिद्धावपि प्रमितानेकवस्तुबाधस्यायोगेन एकदृश्यबाधस्यैवाङ्गीकार्यत्वात् प्रमितत्वाभावेन प्रतिविम्बस्य त्वन्मतेऽपि सत्यत्वादसत्यत्वेऽपि तज्ज्ञानस्यैव विम्बाक्षेपकत्वेन चाक्षेपकस्य प्रमितत्वमनपेक्षितमिति च चतुर्थसामग्र्याः, प्रत्यक्षप्राबल्यस्य पूर्वमुपपादितत्वेन तृतीयद्वितीयसामग्र्योश्चाविद्यमानत्वादार्थापत्तिप्रमाणस्यात्र प्रवृत्त्यसंभवात् । वृत्तिसंबन्धातिरिक्तदृश्यत्वस्य घटादावप्यभावेन तुच्छाकारताया वृत्तिगतत्वे तुच्छेऽपि वृत्तिसंबन्धस्यावश्यकत्वेन चानिर्वाच्यत्वाभावादिरूपसत्त्ववति तुच्छेऽपि दृश्यत्वसत्त्वेनोक्ततर्कस्यानुकूलत्वाभावाच्च । एवं च विषयिण्यां शब्दवृत्तौ विषयस्य ब्रह्मण इव विषयिण्यां वृत्तौ घटस्यापि नाध्यस्तत्वसिद्धिः । ज्ञानविषययोः संबन्धः किमनिर्वाच्यमायाप्रयुक्तः, उत सत्यभूतेश्वरशक्तिप्रयुक्त इति विचारणायां द्वितीयपक्ष एव समादरणीय इति ज्ञेयज्ञानसंबन्धस्तात्त्विक एवेति सर्वमनवद्यमिति—इति निरूपयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

मनोवच्छिन्नचितो जीवत्वपक्षे तस्य जगदनुपादानत्वेन विषयतादात्म्याभावेऽपि ब्रह्मण एव जगदुपादानत्वेन विषयतादात्म्यात् विषयप्रकाशकं तादात्म्यमस्त्येव; वृत्तिस्तु विषयभासकब्रह्माभेदाभिव्यक्त्यर्थेति वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्येन वृत्त्या वा विषयप्रकाशस्य स्फुटतरस्यासंभवेन दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव संबन्धोऽङ्गीकरणीयः । वृत्तिमात्रस्य स्फुटतरव्यवहाराजनकत्वेनापरोक्षत्वेन तज्जनकत्वस्य वक्तव्यत्वादपरोक्षत्वस्य चानावृत्तचित्तादात्म्यविषयकत्वाच्छाधवेन चित्तादात्म्यस्यैव तस्य युक्तत्वात् । अतएवहि सुखादिप्रकाशोपपत्तिः । यथाच घटाद्याकारवृत्तेरविद्यादोषजन्यत्ववत् वेदान्तवृत्तेरपि तथात्वेऽपि ब्रह्माबाधोपपत्तिस्तथा पूर्वमेव चतुर्थमिथ्यात्वादिप्रकरणे स्पष्टमेव निरूपितमिति न शुद्धचैतन्याधिष्ठानतायां घटादिसत्यत्वाद्या-

अथ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः ।

ननु—विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्षाधीनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तिरिति—चेन्न; वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येऽध्यासेन प्रातिभासिकस्थलापेक्षया वैलक्षण्यात् । तथाहि—अन्तःकरणं चक्षुर्वत्तेजोवयवि । तच्चेन्द्रियद्वारेण तत्संयुक्तं विषयं व्याप्य तदाकारं भवति । यथा नद्याद्युदकं प्रणाड्या निःसृत्य केदाराद्याकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते । तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत् सर्वगतं अन्तःकरणोपाधिकं सत् परिच्छिन्नमिति मतद्वयम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिकर्मव्यवस्थायाः कस्यचित्पुंसः कदाचिदेव कश्चिदेव विषयो ज्ञानकर्म, न सर्वस्य सर्वदा सर्वं इति प्रतिनियतकर्मव्यवस्थायाः । चक्षुर्वेदिति । तथा च यथा चक्षुः तेजस्वात् प्रभावत् शीघ्रं दूरस्थसूर्यादिसंयुक्तरूपेण परिणमते, तथा मनोपीति भावः । यथा नदीत्यादि । यथा नदीजलं नद्या अविभक्तमेव केदारादिना संयुज्यते, तथा देहादविभक्तं मनः विषयेणेति भावः । सर्वगतमिति । यथा गोत्वादिजातिः स्वरूपादिसंबन्धेन सर्वगतापि गवादिव्यक्तावेवाभिव्यक्तत्वात् तत्रैव समवायेन वर्तते इति प्राचीनतार्किकादय आहुः, तथा जीवः सर्वतादात्म्यविशिष्ट-

पातः । नहि ज्ञानज्ञेययोः संबन्धः प्रामाणिकः, येन तात्त्विकः स्यात् । उक्तानुमानेषु स्वत्वानुगमेन साध्याप्रसिद्धेः, संशयरूपतत्प्रसिद्धेः पक्षे संभवेऽपि व्याप्यनिश्चयस्य ज्ञातो घट इति चाक्षुषादिप्रमायां स्वरूपासिद्धिबाधाभ्यां संबन्धांशे परोक्षे व्यभिचारात् । पक्षतावच्छेदके लौकिकमानसापरोक्षत्वनिवेशे चाक्षुषादौ साध्याप्रसिद्धेः, मन्मते आश्रयासिद्धेः पक्षे संबन्धांशे सर्वविषयांशे चिद्विषयांशे वा लौकिकापरोक्षत्वनिवेशायोगेन प्रथमद्वितीयानुमानयोः परोक्षे व्यभिचारस्य, ज्ञानज्ञेयोभयसत्ताकत्वस्याप्रसिद्धेर्वावत्संबन्धिसमसत्ताकत्वरूपस्य वा स्वसंबन्धिसमसत्ताकसंबन्धविषयकत्वरूपस्य वा साध्यस्य विवक्षाणासंभवेन तृतीयानुमाने सिद्धसाधनस्य च प्रसङ्गात् । यथा मेरुविन्ध्ययोर्भिन्नदेशावच्छिन्नयोरेककालावच्छेदेनैकावच्छेदेनापरस्य संबन्धो न भवति, एवं भिन्नकालीनयोः ज्ञेयज्ञानयोरप्येकावच्छेदेनापरस्य संबन्धो न भवतीति तृतीयकालिकाधिकरणतावच्छेदकरूपविप्रकर्षाभावः संबन्धव्यापक इति तदभावाच्च ज्ञानज्ञेययोस्तात्त्विकसंबन्धः । उक्तरूपो हि विप्रकर्षो गोगोमादिषु विद्यते चेदप्युक्तरूपसंबन्धोऽपि नास्तीति न व्यभिचारः । सपत्नीषु तु उक्तरूपविप्रकर्ष एव विद्यत इति न व्यभिचारः; एवंच संबन्धिनोर्विप्रकर्षात् संबन्धमिथ्यात्वे सिद्धे तदुपहितरूपेण संबन्धिनोरपि मिथ्यात्वान्मिथ्याभूतसंयोगोपहितत्वेन शुद्धरूपेण वा ज्ञेयत्वेन दण्डचैत्रयोरपि मिथ्यात्वमिष्टमेव; ज्ञानस्य तु शुद्धरूपेणाज्ञेयत्वेनामिथ्यात्वादधिष्ठानत्वसंभव इति न दोषः । इच्छायां स्वविषये स्वोपधायकज्ञानविषयत्वमेव संबन्धः, ननु साक्षाद्व्यादिविषयत्वम्; “अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टरूपयोः । घटते न यदैकता तदा सुतरां तद्विपरीतरूपयो” इति संक्षेपशारीरकवचनं हि एकदेशस्थोपाधिद्वयावच्छिन्नयोरात्यन्तिकभेदमेव निराचष्टे, ननु तादात्म्यमपीति रूप्यादीनां स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यासस्य विद्यमानत्वेन ज्ञाने ज्ञेयाध्यासः कुत्रापि न व्यभिचरति; वृत्तेर्जडत्वेन मिथ्यात्वेन च मोक्षानन्वयित्वात्प्रकाशमानसुखरूपमोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च स्वप्रकाशचिद्रूपत्वं मोक्षस्यावश्यकम्, सैव च नित्यत्वादेकत्वाच्च वृत्त्युपहिता सती ज्ञानम्, तदा ज्ञानमिदानीं ज्ञानं घटो ज्ञातः पटो ज्ञात इत्यादिप्रत्ययानामनुगतैकविषयकत्वानुभवोऽप्यत एवोपपद्यते; वृत्तेरपि स्वप्रकाशत्वे सुखं भातीत्यादौ चित्तादात्म्यं वृत्तिर्भातीत्यादौ वृत्तितादात्म्यं प्रयोजकमिति कल्पनागौरवापत्तेरिति जगत्तमोनाशमुद्दिश्य न कस्यापि प्रवृत्तिः स्यात्, घटाज्ञानस्य प्रमाणज्ञानासंभवादिति साक्षिरूपं चैतन्यमेव ज्ञानमित्यङ्गीकरणीयत्वम् ॥ घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः । विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत् ॥ इति वचनं सिद्ध्युक्तरीत्यैव व्याख्येयम् । एवंचार्थापत्तिसमर्पणार्थत्वेनानुकूलतर्कसमर्पणार्थत्वेन बोभयथापि प्रकृतग्रन्थयोजने न किमपि बाधकमुत्पश्यामः । यथाहि जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वं बहिःसत्त्वं विनाऽनुपपन्नमिति धीः, उपपादकस्य बहिःसत्त्वस्य देवदत्तेऽर्थापत्तिरूपे ज्ञानविशेषे कारणम्, जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वज्ञानं पूर्वनिश्चितजीवनगृहसत्त्वनियमयोः संशयाहितजीवनसंशयद्वारा कारणं; तथा प्रकृते दृग्दृश्ययोरन्यतरमिथ्यात्वं विना संबन्धोऽनुपपन्न इति ज्ञानं पूर्वनिश्चितयोः ‘दृग्दृश्ये संबन्धे एव’ ‘तयोः संबन्धः स एवे’ति नियमयोः संशयाहितं दृग्दृश्ये संबन्धेन वेति संशयं दूरीकृत्य विप्रकर्षहेतुकः तयोः संबन्धाभावनिश्चयः तत्संशयो वा कारणमिति संबन्धमिथ्यात्वं न संबन्धमिथ्यात्वप्रतिकूलमिति अर्थापत्तिप्रमाणप्रवृत्तेरप्रत्यूहत्वात्, यथा वृत्तौ तुच्छाकारता वृत्तिकालावच्छिन्ना नैवं तुच्छे वृत्तिसंबन्धो वृत्तिकालावच्छिन्नः; तुच्छस्य कालासंबन्धित्वात् । उक्तं हि—माध्वादिभिरपि ध्वंसादेव प्रतियोग्यादेः संबन्धो ननु प्रतियोग्यादौ ध्वंसादेरिति । सत्यत्वं यदि स्यात् तर्हि दृश्यत्वं न स्यादित्यापादनस्येष्टापत्तिप्रसक्तत्वाभावेनानुकूलतर्कस्याप्यप्रतिभटत्वात् । यथाचेत्परस्य सत्यभूतता मायातिरिक्ता शक्तिर्न प्रामाणिकी तथोत्तरत्र स्फुटीकरिष्यामः इति सर्वमनवद्यम्—इति व्यवस्थापयन्ति ॥

तत्राद्ये विषयप्रकाशकं जीवचैतन्यम् । द्वितीये ब्रह्मचैतन्यम् । आद्ये पक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्यानावृतम् आवृतं च । तत्राद्ये वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था । द्वितीये त्वावरणाभिभवार्था । परिच्छिन्नत्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकाशकतदधिष्ठानचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्था । अनावृतत्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः; असङ्गत्वात्, यथा गोत्वं सर्वगतमपि सास्त्रादिमद्यक्त्याऽभिव्यज्यते, न तु केसरादिमद्यक्त्या; यथावा प्रदीपप्रभा आकाशगन्धरसादिव्यापिन्यपि तान्न प्रकाशयन्ती रूपसंसर्गितया रूपमेव प्रकाशयति तद्वत्; केवलाद्यदाहस्यापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चित्तादात्म्यादिसंबन्धेन सर्वगत इत्यर्थः । जीवचैतन्यमिति । जीवस्य जगदुपादानत्वे स एव भासकः । तस्य तदभावपक्षे तु तदुपरक्तमधिष्ठानचैतन्यमेव भासकम् । वक्ष्यते हि—‘अधिष्ठानचिदेव भासिका, प्रकाशस्य साक्षात्संबन्धभासकत्वा’दित्यादि । तथाचाद्ये जीवोऽपि भासकः, द्वितीये ब्रह्मैवेत्यर्थः । अनावृतमावृतं चेति । जीवस्य जगदुपादानत्वपक्षे मनआदेरिव घटादेरपि सर्वस्य व्यवहारकाले भातीतिव्यवहारापत्त्या मन आद्यवच्छेदेनानावृतमपि घटाद्यवच्छेदेनावृतं जीवचैतन्यम्, तस्य जगदनुपादानत्वपक्षे तु वक्ष्यमाणस्य भासकतानियामकसंबन्धस्य कादाचित्कत्वादेव घटादेरुक्तव्यवहारे कादाचित्कत्वसंभवादानावृतमेव तदिति भावः । उपरागार्थेति । स्वप्रतिबिम्बाश्रयवृत्तिसंश्लेषार्थेत्यर्थः । वृत्तेः संश्लेषस्तु संयोगादिराकाराख्यविषयता चेत्युभयरूपो बोध्यः । रूपाकारवृत्तेः संयुक्तसमवायस्य रसादावपि सत्त्वादिष्वप्यतानिवेशः । परोक्षवृत्त्या रूपादेर्भानवारणाय संयोगादिनिवेशः । उक्तोभयस्थाने अवच्छेदकता निवेश्यते । सा च न परोक्षवृत्तेः; न वा रसादौ रूपाकारवृत्तेः, वृत्त्यवच्छेदकत्वस्येन्द्रियसन्निकर्षादिसामग्रीनियम्यत्वादिति तु वस्तुगतिः । द्वितीये त्विति । तुल्यत्वादुपरागार्थत्वव्यवच्छेदः । जीवस्योपादानत्वे घटादौ तादात्म्यरूपोपरागस्य सिद्धत्वादिति शेषः । आवरणाभिभवार्थेति । एवकारः शेषः । तेनोपरागार्थत्वपक्षेऽप्यावरणाभिभवार्थत्वलाभः । ब्रह्माकारवृत्तेर्हि नोपरागार्थत्वम्; साक्षिणस्तादात्म्यरूपोपरागस्य ब्रह्मणि वृत्तिं विनापि संभवात् । न हि वृत्तिघटित एवोपरागः सर्वत्रापेक्ष्यते; अविद्यातद्वृत्तिषु मनस्तत्परिणामेषु च तदभावात् । अथवा साक्षिणः प्रतिबिम्बमेव सर्वत्रोपरागेऽपेक्ष्यते । मनआदाविव मनस्त्वादावपि वृत्तिं विनापि साक्षिणः प्रतिबिम्बं स्वीक्रियते । घटादावपि वृत्तिसंश्लिष्टे साक्षिणः प्रतिबिम्बं स्वीक्रियते । अतएव स्वल्पजलादिसंयुक्तमृदादौ सूर्यादिप्रतिबिम्बमनुभूयते । नच—जलादावेव तत्प्रतिबिम्बं न तु मृदादाविति—वाच्यम्; जलादियुक्तमृदाद्यन्तर्गततया सूर्यादेः प्रत्ययात् । तथाच वृत्तिं विना ब्रह्मणि साक्षिणः प्रतिबिम्बरूपोपरागाभावादुपरागार्थेन सर्वत्र वृत्तिः प्रथमपक्षे इति भावः । अभेदाभिव्यक्त्यर्थेति । मनोऽनवच्छेदप्रयुक्तं भेदं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठमनोवृत्तिर्नाशयति । स्वत एव मनोऽवच्छिन्नस्य सुखाद्यवच्छिन्नब्रह्मचैतन्यस्य तु सुखादिभासनाय न वृत्त्यपेक्षा । मनोऽवच्छिन्नस्यापि ब्रह्मणो धर्मादेश्चावृतत्वादेव न भानम् । अत एव ब्रह्मणि वृत्तिर्न जीवाभेदाभिव्यक्त्यर्था, किंत्वावरणाभिभवार्था । उक्तंच सिद्धान्तविन्दौ—‘जीवस्य जगदुपादानत्वे आवरणाभिभवार्था, ब्रह्मणस्तत्त्वे तु आवरणाभिभवार्था प्रमातृचिदुपरागार्था चे’ति । ब्रह्मण्यावरणाभिभवार्था अन्यत्र प्रमातृपरागार्थेति द्वितीयकल्पार्थः । नन्वभेदार्थेयैव वक्तुमुचितम्; लाघवात्, किमित्यभेदाभिव्यक्त्यर्थेत्युक्तम्? उच्यते; रूपाद्याकारवृत्त्या रसाद्यवच्छिन्नचिति प्रमात्रभेदेऽपि ‘मया रसः साक्षात्क्रियत’ इति व्यवहाररूपाभेदाभिव्यक्त्यभावात् यदाकारा वृत्तिस्तदवच्छिन्नचितस्तत्साक्षात्कारत्वेन व्यवहारः; पूर्वोक्तदीयसंश्लेषविशिष्टवृत्त्यवच्छिन्नचित एव तत्साक्षात्कारत्वात् इति ज्ञापनायाभिव्यक्तीत्युक्तम् । शुद्धं ब्रह्म न जगदुपादानम्, किंत्वविद्ययोपहितं विशिष्टं वेति पक्षे तु शुद्धब्रह्मणि मनस्तादात्म्याभावेन प्रमात्रनुपरागादेवाभानोपपत्तावपि शुद्धं ब्रह्म न जानामीत्यावरणानुभवाज्जगदुपादानाच्छुद्धब्रह्मणो मनस्तादात्म्येन प्रमात्रनुपरागात्तत्रावरणस्यावश्यकत्वाच्च तदभिभवार्थावृत्तिरिति भावः । वृत्त्यैवोपरज्यत इति । भासकतानियामकसंबन्धोऽविद्यातद्वृत्तिमनस्तत्परिणामेष्वेव जीवस्येत्यर्थः । ‘जीवेशावाभासेन करोति’ ‘माया चाविद्या य स्वयमेव भवती’त्यादिश्रुत्या जीवस्याविद्याप्रतिबिम्बत्वान्नमनसो जीवस्वरूपमाधारीकृत्य ‘अज्ञोऽह’मित्यारोपादविद्यादृश्योरिव मनस्तत्परिणामयोरपि स्वच्छत्वाच्चाविद्यातद्वृत्तिमनस्तत्परिणामेष्वेव साक्षिणः प्रतिबिम्बरूपोपराग इति भावः । विषयैः अविद्यादिभिर्ज्ञैः । असङ्गत्वात् उक्तविषयोक्तोपरागवत्त्वे मानाभावात् । तथाच घटादावुपरागार्थमेव वृत्तिरिति भावः । संबन्धान्तरेण संसृष्टस्यापि नान्यसंबन्धप्रयुक्तकार्यकरत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । सर्वगतमपि गोत्वादिकं सास्त्रादिमत्त्वेन यथाभिव्यज्यते ‘अयं गौ’रित्यादिव्यवहारं जनयति, तथा सर्वगतोऽपि जीवः अविद्यातद्वृत्त्यादावेव वृत्त्यभावे ‘अविद्यां साक्षात्करोमी’ति व्यवहारं जनयति, नतु घटादौ । उक्तव्यवहारजनकत्वं चोक्तोपरागवत्त्वमेव । ननु—घटादौ साक्षिणः प्रतिबिम्बमेवेन्द्रियसन्निकर्षादिना जायत इति स्वीक्रियताम्, किं वृत्तिघटितोपरागेण? तत्राह—केवलाग्रीत्यादि । यथा अग्निरनभिव्यक्त-

अयःपिण्डादिसमारूढाग्निदाह्यत्ववच्च केवलचैतन्याप्रकाशस्यापि घटादेस्तत्तदाकारवृत्त्युपाख्यचैतन्यप्रकाशत्वं युक्तम् । एवञ्चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्यस्य तत्तदुपरागे तत्तदर्थ-प्रकाशः । आवृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्यावरणाभिभवेन तत्तदर्थप्रकाशः । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वे जीवस्यावच्छेदकान्तःकरणतत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तत्तत्प्रकाशः । यद्यपि प्रकाशकमधिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं जीवचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम् ; तथापि चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वात् व्यवस्थोपपत्तिः । ननु—इयं प्रतिकर्मव्यवस्थानोपपद्यते, तथाहि—स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं घटादेः सत्त्वे प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्तकाल्पनिकत्वायोगः । नच काल्पनिकत्वविशेषः प्रातिभासिकत्वादिरेव तद्व्याप्तः ; गौरवात्, नच प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिनैव कल्पितत्वं भविष्यति; प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्याप्यापाद्यत्वात्, प्रतीतेर्विश्वसत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि स्वप्नादिवदिन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्षतया वोपपत्तेः, व्यावहारिकत्वस्यापि भ्रान्तिदैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्चेति—चेत्, मैवम् ; प्रतीतिमात्रशरीरत्वस्य कल्पितत्वं न व्याप्यम् ; दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादिसहकृतोक्तानुमानात् प्रपञ्चे कल्पितत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञावलाच्च स्थायित्वे तत्रैव व्यभिचारात् । नच—शुक्तिरूप्यादिप्रत्यभिज्ञासाम्यं प्रकृतप्रत्यभिज्ञाया इति वाच्यम् ; प्रतीत्यविशेषेऽपि वणिग्वीथीस्थशुक्तिरूप्ययोः परीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वास्थायित्वरूपविशेषसंभवात् । तथापि वा परोक्षवृत्तेरिवापरोक्षवृत्तेरपि प्रकाशत्वमस्तु, किं तदुपरक्तचैतन्येनेति चेन्न; परोक्षस्थलेऽपि परोक्षवृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वात् । अथ तत्राप्यपरोक्षैकरसचैतन्योपरागे विषयापरोक्ष्यप्रसङ्गः न; विषयचैतन्याभिव्यक्तावेव विषयस्यापरोक्ष्यम् । नच परोक्षस्थले तदस्ति; विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनात्, अन्तरेव तत्र धीसमुल्लासात् । अपरोक्षस्थले तु प्रमातृचैतन्याभेदाभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्योपरागो विषयेऽस्ति; तत्र विषयस्य कर्मकारकत्वात् । नच वृत्तिगतविशेषादापरोक्ष्यम् ; तत्र हि विशेषो विषयकृतश्चेदोमिति ब्रूमः । जातिकृतस्तु विशेषो न संभवति; सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः संकरप्रसङ्गात्, अव्याप्यवृत्तित्वात्, प्रमात्वादिना संकरप्रसङ्गाच्च । किंच वृत्तेर्जडत्वादेव न प्रकाशकत्वम् । नच—वृत्तावन्तःकरणावृत्त्यापि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानत्ववदिति—वाच्यम् ; स्वप्रकाशात्मसंबन्धेनैव तस्याः प्रकाशत्वोपपत्तौ तत्स्वप्रकाशत्वे मानाभावात् । किंच घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मकवृत्त्यन्या संवित् घटप्रकाशरूपा घटः प्रकाशत इत्याकारकानुभवसिद्धैव । नच—करोति यतते चलति गच्छतीत्यादावेकार्थत्वेऽपि सकर्मकाकर्मकस्वभावत्वदर्शनात् अत्राप्येकार्थत्वेऽपि तथा स्यादिति—वाच्यम् ; तत्राप्येकार्थत्वाभावात् । अनुकूलयत्नो हि कृञ्धात्वर्थः, यत्यर्थस्तु यत्नमात्रम्, एवं गम्यर्थ उत्तरसंयोगफलकः स्पन्दः, चलत्यर्थस्तु स्पन्दमात्रम् ; तथाचैकार्थकत्वे कुत्रापि न सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्था । नच—त्वन्मते परिणतेरकर्मकत्वात् परिणतिविशेषभूताया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपेण सर्वगोऽपि तृणाद्ययःपिण्डाद्यभिव्यक्त एव दहति, न त्वतादृशः ; तथा घटादितत्तद्विषयसंश्लिष्टवृत्त्यभिव्यक्त एव साक्षी घटादिकं भासयतीत्यर्थः । तथाच केवलविषयस्यास्वच्छत्वान्मनसः प्रतिबिम्बयोग्यत्वस्य क्लृप्तत्वाच्च क्लृप्तवृत्तिरूपेण परिणतमनस्येव प्रतिबिम्बः स्वीक्रियत इति भावः । चैतन्याभेदेनेति । विषयाधिष्ठानब्रह्मणो मनोऽनवच्छेदप्रयुक्तस्य जीवभेदस्याभावेनेत्यर्थः । गौरवादिति । कल्पितत्वं मिथ्यात्वम् । प्रातीतिकत्वं तु यदा यदा स्वयं तिष्ठति, तदा तदाऽनावृतं यत् तत्त्वम् । तथाच प्रातीतिकत्वे मिथ्यात्वात् न गौरवम् ; प्रत्युत मिथ्यात्वमेव स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियोगित्वादिवदितत्वात् प्रातीतिकत्वादुह । तस्मात् गौरवोक्तिः परस्य भ्रान्त्येति बोध्यम् । नन्विन्द्रियसन्निकर्षं विना प्रत्यक्षवृत्त्यसंभवात् प्रपञ्चो न भायात्, तत्राह—प्रतीतेरिति । भानस्येत्यर्थः । तथाच तावता प्रपञ्चः सत्योऽस्तु, इन्द्रियजननोवृत्तिं विनापि स्वप्नवत् प्रत्यक्षो वास्त्विति भावः । परीक्षितत्वेति । मानान्तरसंवादाविस्मृतिरित्यर्थः । व्यावहारिकस्योक्तपरीक्षितत्वेन स्थायित्वसिद्धिः, प्रातीतिकस्य तु न मानान्तरेण संवादो 'नात्र रूप्य'मित्यादिमानेन विसंवादश्चेति भावः । विषयकृतम् अनावृतचित्तादात्म्यविशिष्टविषयकत्वम् । सकर्मकवृत्तीति । सकर्मकज्ञानेत्यर्थः । घटप्रकाशरूपा घटकर्तृकस्फुरणरूपा । तथाच एकस्यां क्रियायामेकस्य कर्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधादेकस्याः क्रियायाः सकर्मकत्वाकर्मकत्वयोर्विरोधादनावृतचिद्वृत्तस्फुरणक्रिया घटकर्तृका, पूर्वोक्तजानात्यर्थरूपक्रिया घटकर्मिकेति भावः । अनुकूलयत्न इति । कालसंबन्धप्रयोजकयत्न इत्यर्थः । उक्तमेतत् न्यायकुसुमाञ्जल्यादौ—'तथाहि

वृत्तेः कथं सकर्मकत्वमिति—वाच्यम्, एकस्य हि सकर्मकत्वाकर्मकत्वे एकरूपेण विरुद्धे न तु रूपान्तरेणापि; मानाभावात्, यथा स्थितेरकर्मिकाया अपि अगमनत्वेन रूपेण सकर्मकत्वम्; तथा परिणतित्वेन रूपेणाकर्मिकाया अपि वृत्तेः ज्ञानत्वेन सकर्मकत्वं भविष्यतीत्यदोषः । ननु तर्ह्यतीतः प्रकाशते इति धीर्न स्यात्, न; इष्टापत्तेः, तत्रापि वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यसत्त्वेन प्रकाशत इत्यादि-प्रयोगसंभवाच्च । ननु यथा ज्ञानविरोधिवृत्तावनुभवत्वं नास्ति, किंतु अन्यत्र; तथा द्वेषविरोधि-वृत्तेरन्यत्रेच्छात्वमित्यपि स्यादिति—चेन्न; बाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्, अत्रेव तत्र सकर्मका-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

—फलानुकूलत्वेनैव करोतिशक्यता, ननु यत्नत्वेन फलानुकूलयत्नत्वेन वा; यततिकरोत्योरेकार्थकत्वापत्तेः, 'रथो गच्छती'त्यादौ करोत्यर्थकाख्यातस्य मुख्यार्थकत्वानुपपत्तेश्चेत्याशङ्क्य, कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया । यत्न एव कृतिः पूर्वापरस्मिन् सैव भावना ॥ यत्नपूर्वकत्वस्य प्रतिसन्धानात् घटादौ कृतत्वव्यवहारात्तदप्रतिसन्धाने सहेतुक-त्वप्रतिसन्धानेऽप्यङ्कुरादौ कृतत्वाभावव्यवहारादाश्रयार्थकर्तृजन्यकर्तृपदस्य कृत्याश्रय एव प्रयोगाच्च न फलानुकूलमात्रं करोत्यर्थः, किंतु तादृशयत्नः सैव भावना; यतः परस्मिन् स्वकार्ये पूर्वा कारणीभूता, भावयतीति व्युत्पत्तेः । तथाच-करोतिना विवरणादाख्यातमपि तादृशार्थकम्, 'रथो गच्छती'त्यादौ त्वेकदेशे फलानुकूले प्रयोगः; साङ्गवेदाध्येतृवा-चकस्य श्रोत्रियपदस्य ब्राह्मणमात्रे प्रयोग इवे'ति—कुसुमाञ्जलौ मूलटीकाभ्यामुक्तम् । तण्डुलक्यणादिकाले पचतीत्यादिप्रयोगः स्यादित्याशङ्क्य यादृशोऽनुकूलताविशेषाश्रयव्यापारः परेषामर्थः, तादृशो यत्नो ममापीत्युक्तं—शब्दमणावपि । यत्तु—यत्नत्वमेवाख्यातस्य शक्यतावच्छेदकम्, अनुकूलत्वं तु धात्वर्थस्य संसर्गतया यत्ने भासत इति—पक्षधरादिटीकायामुक्तम्, तत् न युक्तम्; वर्तमानत्वादिसमानाधिकरणस्यानुकूलत्वस्य लडादिसमभि-व्याहारे संबन्धतया भानापत्त्या लडादेर्वर्तमानत्वादौ शक्तिलोपापत्तेः । अथ पचतीत्यादौ समवायादेरेव संबन्धत्वेन भानं, ननु वर्तमानत्वादेः; तस्य त्वाख्यातात्पर्यकारत्वेन भानमिति ब्रूये, तर्हि तुल्यं तत् अनुकूलत्वे । किंच गम्या-देरपि क्रियामात्रमर्थोऽस्तु; 'ग्रामं गच्छती'त्यादौ द्वितीयार्थं संयोगादिकं स्वीकृत्य तस्यानुकूलत्वसंबन्धेन क्रियायाम-न्वयः स्वीक्रियताम्; अथ द्वितीयाविभक्तिं विनापि 'चैत्रस्य गमन'मित्यादौ संयोगाद्यनुकूलक्रियात्वरूपेण प्रतीतेस्तेन रूपेण बोधकत्वं विना तस्य सकर्मकत्वानुपपत्तेः फलानुकूलव्यापारवाचित्वस्य स्ववाच्यव्यापारव्यधिकरणफलवाचित्वस्य वा सकर्मकत्वरूपत्वात् तेन रूपेण गम्यादिशक्यताऽऽवश्यकी, तर्हि 'अङ्कुरः कृत' इति प्रयोगादङ्कुरो यत्न इत्यप्रयोगात् करोतेः सकर्मकत्वाच्च करोतिरनुकूलयत्नार्थकः; करोतिना विव्रियमाणत्वादाख्यातमपि तथा । अतएव—'भूवादयो धातव' इति सूत्रे करोतिरूपादनार्थकः अन्यथा यतिवदकर्मकतापत्तेरिति—महाभाष्ये उक्तम् । 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय' इति सूत्रे च वैयाकरणैरुक्तम्—'कृजोऽकर्मकतापत्तेः नहि यत्नोऽर्थ इष्यते । किंतूपादनमेवातः कर्मवत् साधनाद्यपी'ति । उत्पादनमुत्पत्तिप्रयोजकव्यापारः; उत्पत्तिः कालसंबन्धत्वेनैव निवेश्यते, नतूत्पत्तित्वेन; अननुगतत्वादुत्पत्तिरूपकालसंबन्धस्यैव कारणप्रयुक्तत्वेन तन्निवेशस्य व्यर्थत्वाच्च । यदि तूत्पत्तित्वेनैवोत्पत्तेः प्रकृते अनु-भवः, तदा कालवृत्तित्वमेवोत्पत्तिरनुगता निर्वाच्या । तच्च स्वाधिकरणकालध्वंसानधिकरणत्वं कालिकत्वं चेत्युभयसंब-न्धेन बोध्यम् । आद्यक्षणे हि तत्संबन्धेन जन्यमात्रं वर्तते । एवंच 'घटं करोती'त्यादौ घटनिष्ठोत्पत्तेरिव 'पचती'त्यादावपि पाकनिष्ठोत्पत्तेः प्रयोजको यत्नो बुध्यते । यदि च यत्नत्वेनैवाख्यातस्य करोतेश्च शक्यतेत्याग्रहः, तदापि करोतेः सकर्मकत्वा-नुरोधाल्लक्षणया अनुकूलोपस्थितेः संभवात्तादृश एव बोधः । यत्तु—जानातीच्छत्यादिकमिव करोतिरपि न सकर्मक-इति । तन्न; जानातेः सकर्मकत्वस्योक्तत्वात्, इच्छत्यादेरपि फलप्रयोजकेच्छाद्यर्थकत्वेन सकर्मकत्वात् । फलं चेच्छायाः सुखादौ प्रमातृसंबन्धादिः, गवादौ स्वत्वादिः, द्वेषस्य शत्र्वादौ तत्तदनिष्टम्, सुखाद्यनुत्पत्तावपि इच्छादेरुक्तसंबन्धस्व-रूपयोग्यत्वानपायात् 'सुखमिच्छती'त्यादिप्रयोगो ग्रामप्राप्त्यनुपधानेऽपि 'ग्रामं गच्छती'त्यादिप्रयोगवदिति बोध्यम् । कुत्रापि । ननु—भावेनेतिशब्दस्याख्याततुल्यार्थकत्वेऽपि न सकर्मकता, किंत्वाख्यातस्याख्यातान्तपदस्य वेति—चेन्न; नाम्नः सिद्धत्वे आख्यातस्य साध्यत्वे च शक्तेर्निरूढलक्षणाया वा स्वीकारेण तयोरतुल्यार्थकत्वात् । तदुक्तं भर्तृ-हरिणा—'सिद्धभावस्तु यस्तस्याः साधनादिनिबन्धनः । साध्यभावस्तु यस्तस्याः स आख्यातनिबन्धनः ॥' इति । एवं तृतीयादिविभक्तेः करणादिशब्दस्य च भिन्नार्थकत्वात्तस्या एव साकाङ्क्षत्वम्, ननु तस्य; तस्य तु तृतीयादिविभक्तिद्वारेण तत् । उक्तं हि वार्तिके—'कृदन्तेन कारकशक्तिविशिष्टं द्रव्यमुच्यते, ननु निष्कृष्टा से'ति । वृत्तेः ज्ञानस्य । स्थितेः गतिनिवृत्तेः । अगमनत्वेन गमनसंसर्गाभावत्वेन । यद्यपि 'ग्रामं न गच्छति ग्रामस्यागमन'मित्यादौ गमनस्यैव सकर्मकतया ज्ञेयस्याभावधीः; तथापि 'गच्छ गच्छसि चेदूर'मित्यादौ गमिना लक्षणीयस्यागमनस्य सकर्मकत्वसंभवः, अभावविशेषणे गमने दूरदेशरूपकर्मान्वयादिति भावः । इष्टापत्तेरिति । अनावृतचित्तादात्म्यस्योक्तधीविषयत्वा-
अद्वै. सि. ६१

कर्मकविलक्षणक्रियाननुभवाच्च । यथाच वृत्त्यतिरिक्तभानसिद्धिस्तथा स्वयं ज्योतिष्प्रस्तावे विस्तरेण वक्ष्यामः । ननु—अस्तु चैतन्यस्य विषयप्रकाशकत्वं, तथाप्यन्तःकरणस्य देहान्निर्गतिः न कल्प्या; परोक्षवैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षचिदुपराग एव वक्तव्यः, चिदुपरागादौ चापरोक्षवृत्तेस्तदाकारत्वमेव तन्मू; तस्य च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्तेरिव तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वेनोपपत्तिः, नतु प्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्लेषस्तन्मू, नेत्रान्निर्गच्छद्भुवाद्याकारवृत्त्यैव स्वसंश्लिष्टनेत्रस्थकज्जलादेर्ध्रुवनेत्रमध्यवर्तिनः परमाण्वादेश्चापरोक्षत्वापातादिति—चेत्, न; विषयेष्वभिव्यक्तचिदुपरागे न तदाकारत्वमात्रं तन्मू; परोक्षस्थलेऽपि प्रसङ्गात्, किंतु तत्संश्लेषः; प्रभाया विषयसन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वदर्शनात् तैजसस्य मनसोऽप्यज्ञानरूपावरणाभिभावाय तत्संश्लेष आवश्यकः; ध्रुवादिदेहमध्यवर्तिपरमाण्वादावतिप्रसङ्गस्तु तदाकारत्वप्रयोजकसामग्रीविरहादेव परिहरणीयः; अन्यथेन्द्रियसन्निकर्षादेर्विद्यमानत्वात् परमाण्वाद्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः । तस्मात् प्रभाविशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् कृप्तं सन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वं, तस्य तदाकारत्वरूपविशेषापेक्षायामपि न त्यागः । नहि पृथिवीत्वगन्धत्वादिना कार्यकारणभावे आवश्यके अनित्यगुणत्वद्रव्यत्वादिना तत्यागः । अतएव—तदितरहेतुसाकल्ये सति घटचक्षुःसन्निकर्षस्यैव घटानुभवजनकत्वम्, नतु घटमनःसन्निकर्षस्य, तद्विलम्बेन तद्विलम्बाभावादिति—निरस्तम्; आवरणभङ्गे सन्निकृष्टतेजःकारणत्वावधारणेन तस्याप्यावश्यकत्वात् । नच—स्पर्शानप्रत्यक्षे चक्षुरादिवन्नित्यतगोलकद्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्ययोगादावरणाभिभावानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्वसंभवात् । नच—अन्तःकरणवृत्तित्वाविशेषादिच्छाद्वेपादिरूपवृत्तयोऽपि देहान्निर्गत्य विषयसंसृष्टा भवन्तीति कथं न स्वीक्रियत इति—वाच्यम्, आवरणाभिभावकतेजस्त्वस्य तत्प्रमापकस्य ज्ञानवत्

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिति शेषः । अभ्युपेत्याह—तत्रापीति । क्रियाननुभवादिति । 'सुखमिच्छती'त्यादेरेव प्रयोगस्य दृष्ट्या सक्मकत्वमेवेच्छादिक्रियायाः । उक्तं हि वैयाकरणैः—'विषयताप्रयोजककाम एवेच्छत्यादेरर्थ' इति । यद्यपीच्छाया विषयत्वमिच्छोत्पत्तिकालेऽप्यस्ति; तथापीच्छायाः स्वजनकसामग्र्युपहितरूपेण स्वविषयताप्रयोजकत्वमक्षतम् । अथवा विषयत्वमत्रासत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वरूपम्; तत्प्रयोजकत्वं हि प्रमाणवृत्त्युपहित इव कामद्वेषादिवृत्त्युपहितेऽपि चैतन्ये स्वीक्रियत एव, नहि कामादिवृत्तिमति प्रमाणवृत्तिज्ञानेऽपि सुखादावुक्ताज्ञानमनुभूयते; अतएव सुखादौ विद्यमाने वृत्त्यस्वीकारपक्षे सुखादेरेवोक्ताज्ञानविरोधित्वात् सुखाद्यवच्छिन्नचित्तोऽप्युक्ताज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपज्ञानत्वमित्युक्तम् । तत्संश्लेषस्तन्मसिति । संश्लेषः संश्लेषमात्रम् । मात्रेत्यनेन विषयत्वरहितसंश्लेषलाभः । तेन कज्जलादौ वृत्त्यविषयेऽप्यापत्तिरुच्यते । ननु कज्जलादौ संयोगादिरूपस्य संश्लेषस्य सत्त्वे मानाभावः, तत्राह—परमाण्वादेरिति । तत्र महत्त्वाभावादिप्रत्यक्षानुरोधेन संश्लेष आवश्यकः । आदिपदाद्रूपाकारवृत्तेरसादौ संश्लेषादापत्तिः । ननु विषयत्वसंश्लेषोभयसंबन्धेन वृत्तेर्निवर्तकत्वे गौरवात् वृत्तावपरोक्षत्वजातिं स्वीकृत्य तद्रूपेण विषयत्वमात्रसंबन्धेन तस्या अज्ञाननिवर्तकत्वं स्वीक्रियताम्; अपरोक्षार्थविषयकशाब्दादिधीसामग्र्या अपि तादृशविशिष्टवृत्तिनियामकत्वसंभवात्तत्रापि तन्निवर्तकत्वम्, तत्राह—तस्मादिति । सन्निकृष्टतेजस्त्वेन सन्निकर्षसंबन्धेन तेजस्त्वेन । न त्याग इति । 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावो बाधकं विना तत्सामान्ययोरपि स' इति न्यायादज्ञानतमोऽन्यतरनाशं प्रति संयोगेन संयुक्तसमवायादिना च संबन्धेन तेजस्त्वेन हेतुत्वम् । न चैवं—विशेषतः कार्यकारणभावो व्यर्थ इति—वाच्यम्; आलोकसंयोगे सति मनश्चक्षुरादिभिः सह घटादेः संयोगे चासति घटादौ शाब्दादिवृत्त्या आवरणनिवृत्त्यापत्तेश्चक्षुरादिसंयोगे सति आलोकसंयोगेचासति मनोवृत्त्या आवरणनिवृत्त्यापत्तेर्विषयत्वसंश्लेषोभयसंबन्धेन मनोवृत्तेरभानापादकाज्ञाननाशे हेतुत्वं, संयोगाद्यन्यतमसंबन्धेन प्रमायास्तमोनाशे हेतुत्वमिवेत्यस्यावश्यकत्वात् । अवच्छेदकत्वसंबन्ध एवोक्तोभयसंबन्धस्थानीयो लाघवादिति तूक्तम् । एवंचापरोक्षत्वजातेरद्विष्टोत्पत्तौ शाब्दादिसामग्र्या नियामकत्वस्य चाकल्पनालाघवम् । सन्निकृष्टतेजःकारणत्वेति । सन्निकर्षसंबन्धेन मनोवृत्तिकारणत्वेत्यर्थः । तत्रावरणभङ्गे कारणत्वं तत्कार्यप्रवृत्त्यादिकारणत्वं बोध्यम् । वृत्तेर्हि नाज्ञाननाशे हेतुत्वम्, किंत्वावरणविरोधित्वमात्रम् । आलोकस्यापि तमोर्ध्वस्वरूपाच्चाक्षुरादिमनोवृत्त्यादिरूपकार्यं हेतुत्वम्, नतु तमोनाश इति बोध्यम् । तस्य मनःसन्निकर्षस्य । चक्षुरादेरिव मनसोऽपि सन्निकर्षश्चाक्षुरादिकार्यं हेतुः; विनिगमकाभावात् । यदि हि मनो न स्थूलं तार्किकादिमतवत् स्यात्, तदा तस्य जीवनकाले देहात् बहिरगमनाच्च घटादिसन्निकर्षसंभवः ।

तत्राभावात् । ननु—घटप्रकाशकं चैतन्यमुपदेशसाहचर्यनुसारेण घटाकारधीस्था चिद्वा; परागर्थ-
प्रमेयेष्वित्यादिवाचिकोक्तरीत्या धीप्रतिबिम्बितचैतन्याभेदाभिव्यक्तविषयाधिष्ठानचैतन्यं वा, नाद्यः;
आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापातात् । न द्वितीयः; आवश्यकेन विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्ये-
नैव तदज्ञाननिवृत्तिवत् तत्प्रकाशस्याप्युपपत्तौ किं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनेनेति—चेन्न;
प्रकाशकं तावत् अधिष्ठानचैतन्यम् । तच्चाध्यासेन विषयैः सह साक्षात्संबद्धं प्रकाशस्य च स्वयं
भासमानस्य स्वसंबद्धसर्वभासकत्वमपि क्लृप्तमेव; एतदनभ्युपगमे कल्पनान्तरगौरवापत्तेः । तच्चान-
भिव्यक्तं निर्विकल्पकरूपमाच्छादितदीपवन्न प्रकाशकमिति तदभिव्यक्तिरपेक्षिता । तच्च परोक्षस्थले
वृत्त्यवच्छेदेनैवाभिव्यज्यते । अपरोक्षस्थले तु वृत्तिसंपर्कादावरणाज्ञानाभिभवे विषयोऽभिव्यज्यते;
वृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वात् । नच परोक्षस्थलेऽप्येवं प्रसङ्गः; द्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्यभावात् ।
ननु—वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयत्वम्; त्वयैव निरासात् । नापि तस्मिन् चैतन्योपरागयोग्य-
तापादकत्वं, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा; उभयोरपि तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात् । नापि घटा-
दिवत् पृथुबुधोदराद्याकारत्वम्; साकारवादापातात्, संस्थानहीनजातिगुणादिवृत्तेर्निराकारत्वप्र-
सङ्गाच्च; घटपटाविति समूहालम्बने विरुद्धनानाकारत्वापत्तेश्चेति—चेन्न; अस्तीत्यादितद्विषयकव्यव-
हारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वरूपत्वात् तदुभयं
च स्वकारणाधीनस्वभावविशेषात् । न चात्माश्रयः; निवृत्तिजननस्वरूपयोग्यतया फलोपधानस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यदा तु युगपद्वस्तुपादाद्यवच्छेदेन सुखदुःखादिनानापरिणामभागित्वेन स्थूलं, तदा चक्षुरादितुल्यत्वेन तत्सन्निकर्षः कथं
न चाक्षुषादिहेतुः ? चाक्षुषादिहेतुतावच्छेदकजातिविशेषस्य तत्रापि संभवात्, चक्षुरादेर्मनोमिश्रितत्वात् घटादिसंयुक्त-
चक्षुरादिभागावच्छेदेनापि तदितरचक्षुरादिभागावच्छेदेनैव विनिगमकाभावेन चक्षुरादौ मनसः संयोगस्य चाक्षुषाद्यु-
त्पत्तिकाले सत्त्वात् घटादौ मनःसंयोगस्यावश्यकत्वाच्च । नहि मनश्चक्षुरादेरेकदेश एव संयुज्यत इति नियन्तुं शक्यते,
किंतु विशरारुतेजोभागबहुलत्वेन तदीयसर्वभागेषु । तथाच चक्षुरादेः क्रियैव मनसो घटादिसंयोगे हेतुः । एवंच
घटादौ संयुज्यमानं चक्षुरादिमिश्रितं मन एव घटाद्याकारवृत्तिः चक्षुरादिसंयोगनान्तरीयकत्वात् तज्जन्यतया व्यवहि-
यते, ननु सा तज्जन्येति लाघवम् । तादृशवृत्तौ चक्षुरादिक्रियाया अपि न हेतुत्वम्; प्रयोजनाभावात् । संयोगविशेष
एव घटादिनिष्ठे तस्या हेतुत्वम्; तदर्थमेव चक्षुरादियुक्तमनःक्रियायां प्रमातृप्रवृत्तिरिति संक्षेपः । अधिष्ठानस्येति ।
कर्णादिकं यथा श्रोत्रादेरधिष्ठानं, तथा त्वमेव त्वगिन्द्रियस्याधिष्ठानमिति भावः । तेजस्त्वस्येति । विषयसंयुक्ते-
न्द्रियसंयुक्तमनस्त्वस्येत्यपि बोध्यम् । तत्प्रमापकस्य विषयसंश्लिष्टत्वप्रमापकस्य । ज्ञानवत् चाक्षुषादिमनोवृत्ता-
विव । परागित्यादि । ‘परार्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता । संवित् सैवेह मेयोऽथो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥’ इति
वार्तिकम् । प्रकाशकमिति । साक्षिचित् प्रकाशिका । तदुक्तं सिद्धान्तबिन्दौ—सर्वानुसन्धातृचैतन्यं जीवेशा-
नुगतं साक्षीत्युच्यते’ इति । तथाच बिम्बप्रतिबिम्बचितोरीशजीवत्वपक्षे शुद्धचिदेव तदुभयानुगता साक्षिणी जगदु-
पादानम् । अविद्याप्रतिबिम्बमनःप्रतिबिम्बयोरीशजीवत्वे तु अविद्याबिम्बत्वोपहिता चित् तथा । अविद्यामनोगतचि-
दाभासयोरीशजीवत्वे त्वीश एव तथा । तत्र आद्यः पक्षो विवरणकृतः । द्वितीयः संक्षेपशारीरककृतः तृतीयः
वार्तिककृतः । वाचस्पतिमते तु जीव एव तथा; तस्यैवाविद्याविषयत्वोपहिते ईशे तादात्म्येनानुगतत्वात् । घट-
त्वद्रव्यत्वोपहितयोरिवाविद्याविषयत्वाश्रयत्वोपहितयोस्तादात्म्यसंभवात्तयोरिव भेदस्यापि सत्त्वात् नेशजीवसाङ्कर्यम् ।
नहि द्रव्यत्वघटत्वोपहितयोरत्यन्ताभेदः । ईशं प्रति दृश्यमात्रस्यानावृत्तत्वात् तं प्रति जीवस्य भासकत्वं न वृत्तिसापे-
क्षमिति दिक् । कल्पनान्तरेति । भातीति व्यवहारे विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचितः प्रयोजकत्वे सुखादौ तदसंभ-
वादानावृत्तचित्तादात्म्यस्यापि तत्कल्पनया तत्रापि वृत्तिकल्पनया च गौरवं, वृत्तावपि वृत्त्यन्तरकल्पनाप्रयुक्तानवस्था
चेति भावः । निर्विकल्पकरूपं तार्किकादिसंमतनिर्विकल्पकतुल्यम् । जानामीत्यादिव्यवहाराविषय इति
यावत् । आच्छादितेति । यथा सूक्ष्मवस्त्राद्यावृतो दीपोऽनन्धतमसविरोध्यप्यनन्धतमसाविरोधित्वाद्व्यवहारे-
रूपेणैव घटादेर्व्यवहारे प्रयोजकः, ननु रूपविशेषादिमत्त्वेन, तथानभिव्यक्तं चैतन्यमज्ञातत्वेनैव तद्व्यवहारे ननु
ज्ञातत्वादिनेति भावः । आपादकत्वं संपादकत्वम् । अभिभावकत्वं अभिभवप्रयोजकतावच्छेदकरूपवत्त्वम् ।
प्रयोज्यत्वेन घटितत्वेन । स्वप्रतिबिम्बवद्वृत्त्याकारत्वस्यैवोक्तसंबन्धरूपत्वात्तदाकारकवृत्तिज्ञानत्वस्यैवोक्ताभिभव-
प्रयोजकतावच्छेदकत्वाच्चोक्ततत्तदाकारत्वस्योक्तत्वे आत्माश्रय इति भावः । अस्तीत्यादीत्यादिपदात् सन्निति
व्यवहारसंग्रहः । अज्ञानेत्यनेनासत्त्वापादकाज्ञानमुक्तम् । तत्सन्निकृष्टेति । तदीयव्याप्तिज्ञानादिरूपेत्यर्थः ।

साध्यत्वेन स्वानपेक्षणात् । ननु—दृशि विषयाध्यासस्वीकर्तृजीवचैतन्यं वा विषयदृक् ब्रह्मचैतन्यं वा । नाद्यः जीवे अवच्छिन्नचित्स्वरूपे कल्पिते अध्यासायोगात् । नच—विषयदृक् जीवचैतन्यमेव, अध्यासस्तु ब्रह्मचैतन्य इति—वाच्यम् ; दृश्ययोरेवाध्यासिकसंबन्धापत्तेः, अध्यस्ताधिष्ठानयोरुभयोरपि दृग्भिन्नत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि; ब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वेन तत्राध्यासायोगाच्च । नच—शुद्धचैतन्यमेकमेव; तदेवाधिष्ठानम्, तत्रावच्छेदकमविद्यादिकं नाधिष्ठानकोटौ प्रविशति; तदेव च जीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यपदिश्यते । उपाधिविशेषात्, तथाच जीवचैतन्यस्य दृक्त्वेऽपि दृश्याध्यासो नानुपपन्न इति—वाच्यम् ; शुद्धचैतन्यस्य आसंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गादिति—चेन्न; मूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन सर्वत आवरणाभिभवाभावेऽपि घटाद्यवच्छेदेनावरणाभिभवात् आन्ध्यविरहोपपत्तेः । ननु—तर्हीदानीमपि ब्रह्मस्फुरणे चरमवृत्तिवैयर्थ्यम्; अधिकभागेऽपि तस्य स्फुरणात्, नह्यखण्डार्थवेदान्तजन्यायां वृत्तौ भावो अभावो वा विशेषणमुपलक्षणं वा प्रकारः प्रकाशत, इति—चेन्न; उपाध्यविषयकब्रह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तस्याः साफल्यत्वात्, प्रकारास्फुरणं तु तस्याः भूषणमेव; इदानीन्तनस्फुरणस्य सप्रकारत्वेनोपाधिविषयत्वात्, 'एकधैवानुदृष्टव्य'मित्यादिश्रुतिबलात् स्वसमानविषयज्ञानादेवचाज्ञानवृत्तेरखण्डचिन्मात्रज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वावधारणात् । नच—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्तिदशायां तदभावेन कृतहान्याद्यापत्तिरिति—वाच्यम् ; तदाप्यस्य कारणात्मनाऽवस्थानात्, स्थूलसूक्ष्मसाधारणस्यान्तःकरणस्योपाधित्वात् । 'तदपीतेःसंसारव्यपदेशा'दित्यस्मिन् सूत्रेचायमर्थः स्पष्टतरः । नच—वृत्त्युपरक्तत्वं चैतन्यस्य न तत्प्रतिबिम्बितत्वम्; दर्पणे मुखस्येवानुद्भूतरूपेऽन्तःकरणे शब्दान्यप्रतिबिम्बनोपाधिताया अचाक्षुषचैतन्यस्य प्रतिबिम्बितायाश्चायोगादिति—वाच्यम् ; उद्भूतरूपवत्त्वं न प्रतिबिम्बितोपाधिताप्रयोजकम्; अस्वच्छेऽपि लोष्टादौ प्रतिबिम्बापत्तेः, किंतु स्वच्छत्वम्, तच्च प्रकाशस्वभावत्वेन मनसस्तत्परिणामभूताया वृत्तेश्चास्त्येव; त्रिगुणात्मकस्याप्यज्ञानस्य स्वच्छसत्त्वात्मकताया अपि सत्त्वेन तत्रापि प्रतिबिम्बितोपाधितायाः सत्त्वात् । नापि चाक्षुषत्वं प्रतिबिम्बितत्वप्रयोजकम् । अचाक्षुषस्याप्याकाशदेः प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात् । ननु—चाक्षुषवृत्त्युपारूढचितः कथं रूपमात्रप्रकाशकत्वम् ? नच प्रभावनि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जन्यत्वस्य जन्यतावच्छेदकस्य । तदीयो यः आकाराख्यः संबन्धविशेषः तद्विशिष्टत्वस्येति यावत् । यद्यप्युक्ताज्ञाननिवृत्तियोग्यत्वमपि तदेव; तथापि तादृशसंबन्धस्योक्तनिवृत्तिजनकत्वे व्याप्तिज्ञानादिजन्यत्वे चावच्छेदकीभूयोपपादकत्वेन स आवश्यक इति ज्ञापनाय द्वैविध्योक्तिरित्याशयेनाह—तदुभयमिति । तदुभयात्मक आकाराख्यः संबन्धः । स्वकारणेत्यादि । स्वस्य वृत्तिज्ञानस्य कारणाधीनात् स्वभावविशेषात् अनुगतरूपेणैव कारणनियम्यत्वादनुगतरूपेणैव कार्यनियामकत्वाच्च । तथाचोक्तसंबन्धं विना तयोरसंभवात् स आवश्यकः । तस्य च युक्तिदुष्टतायाः पूर्वमुक्तत्वेऽप्यनिर्वाच्यत्वात् 'घटं जानामी'त्यादिसाक्ष्यनुभवसिद्धत्वाच्च नापलाप इति भावः । ननुक्तवृत्तिजनकतावच्छेदकरूपत्वेनोक्तनिवृत्तिजनकत्वे आत्माश्रयः; जनकतायां तद्वटितस्यावच्छेदकत्वात्, तत्राह—नचेति । स्वरूपयोग्यतया तत्तदाकारकत्वेन । तथाच तदाकारतात्वेनैवावच्छेदके निवेशः निवृत्तिजनकतावच्छेदकत्वेनेति भावः । दृग्भिन्नत्वात् भासकान्यत्वात् । ब्रह्मणोऽपीति । दृश्यत्वादिति शेषः । एकधेति । ननु—धाप्रत्ययस्य प्रकारोऽर्थः, स च विशेषणीभूतो विषय इति कथमुक्तश्रुतिबलात् निर्विकल्पकस्य मोक्षहेतुतेति—चेन्न; नहि धीविशेषणरूपप्रकारार्थक एव धाप्रत्यय इति नियमः; एकधा भुक्तमित्यादौ तदसंभवात्, किंतु कचित् कश्चन प्रकार इति प्रकृते विषयमात्ररूप एव प्रकार आत्मदर्शने बुध्यते । इत्यादीत्यादिपदात् 'अव्यवहार्यमलक्षणं प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते सोऽयमात्मा स विज्ञेय' इत्यादिश्रुतिसंग्रहः । कारणात्मना सूक्ष्मरूपेण । साधारणस्य साधारणानुगतरूपस्य । अवस्थानां भेदेऽप्यवस्थास्वनुगतरूपं प्रत्यभिज्ञादिबलात् स्वीक्रियत इत्युक्तमन्यतरत्वेन वोपाधित्वमिति भावः । उद्भूतरूपहीनेऽपि गुहाकाशादौ सुखाद्यवच्छिन्नशब्दादिप्रतिबिम्बनोपाधितादृष्टेः शब्दान्येति । स्वच्छत्वं प्रतिबिम्बनोपाधितायोग्यत्वम् । प्रकाशस्वभावत्वेन उक्तोपाधिताविरोधिरूपहीनत्वेन । अस्त्येवेति । अनुगतरूपेणोपाधीनामेकस्य हेतुत्वस्यासंभवात् प्रतिबिम्बरूपफलं दृष्ट्वा तदनुसारेण तत् कल्पयत इति भावः । सत्त्वात्मकताया अपील्लादिशब्देनैवं सूचितम् । सत्त्वात्मकत्वमपि नोपाधितायां प्रयोजकम्; जीवेशभेदे अविद्याचित्संबन्धादौचाविद्यानात्मकेऽपि तत्स्वीकारात्, अन्यथा तस्य भास्यत्वानुपपत्तेरिति । दर्शनादिति । तथाच दर्शनमेव नियामकम् । यद्यप्याकाशादेः प्रतिबिम्बितत्वं वाचस्पत्यादिभिर्विप्रतिपन्नं तथापि विवरणकारादिसंमतमेव । कथमिति । स्वप्रति-

यमः; वैषम्यात्, तथाहि—प्रभायां तमोविरोधित्वं रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यपि समम्; नहि सा गन्ध-
देशस्थं तमो न निर्वर्तयति, नच—अज्ञाननिरोधित्वलक्षणं प्रकाशकत्वं रूपं प्रत्येव, नतु रसादीन्प्र-
तीति—वाच्यम्; अज्ञाननिर्वर्तकत्वस्य वृत्तिभिन्नेऽनङ्गीकारात्, प्रभाया रूपग्राहकचक्षुःसहकारित्ववत्
गन्धादिग्राहिग्राणादिसहकारित्वाभावेऽपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन तद्वत्सहकारिविलम्बेन
विलम्बस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तथाच चितः सर्वगतत्वेन सर्वसंबन्धाद्रूपादिवत् गुरुत्वादेरप्याश्रयद्वारा
साक्षाद्वा संबन्धित्वात् प्रकाशापत्तिः; वृत्त्युपरक्तचित्संबन्धस्यैव प्रकाशकत्वात्, 'असङ्गो ह्ययं पुरुष'
इति श्रुतिस्तु तत्कृतलेपाभावपरा, नतु संबन्धनिषेधिका; 'स यत्तत्र यत्किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन
भवती'ति पूर्ववाक्यात्, 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महा'नित्यादिस्मृतेश्चेति—चेन्न;
प्रभाया रूपरसादिदेशगततमोनाशकत्वं तत्संबन्धाद्युज्यते, चैतन्यस्य तु स्वभावतोऽसंबद्धत्वात्
तदाकारवृत्त्या तदेकसंबन्धस्योपादानात् कथमन्यावभासकत्वप्रसङ्गः? स्वभावतो ह्यसङ्गत्वे 'असङ्गो
ह्ययं पुरुष' इति श्रुतिः प्रमाणम् । नचैषा लेपाभावपरा; अकर्तृत्वप्रतिपादनाय संबन्धाभावपरत्वात् ।
यथाचैतत्तथा व्यक्तमाकरे । एवं स्मृतिरप्येतच्छ्रुत्यनुरोधेन नेया । अतः सर्वैः सह संबन्धाभावात्
न सर्वावभासः; किंतु यदाकारा वृत्तिस्तस्यैव । अत एव 'इदं रजत' मिति भ्रमे इदमाकारवृत्त्यवच्छि-
न्नचैतन्येन रजतभानानुपपत्तेः रजताकाराप्यविद्यावृत्तिरभ्युपेयते; स्वतश्चिद्विम्बाग्राहके चैतन्यस्य
तदाकारत्वायोगात्, स्वतश्चिद्विम्बाग्राहके त्वन्तःकरणवृत्त्यादौ न वृत्त्यपेक्षेति नानवस्था । नच—
आश्रयसंबन्धाविशेषेऽपि रूपाकारा वृत्तिर्न गन्धाद्याकारेति कुत इति—वाच्यम्; यथा तव चाक्षुषज्ञाने
आश्रयसंबन्धाविशेषेऽपि न गन्धो विषयः, तथाऽस्माकमपि चक्षुर्द्वारकवृत्तौ न गन्धाद्याकारत्वम्,
इन्द्रियविषयसंबन्धानां स्वभावस्य नियामकस्य समानत्वात् । ननु—आध्यासिकसंबन्धो वृत्तेः पूर्वमप्य-
स्येव, अन्यस्तूपरागो न दृश्यत्वे तन्नमिति किं तदर्थया वृत्त्येति—चेन्न; जीवचैतन्यस्याधिष्ठानचैतन्यस्य
वाऽभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वाद्दृष्टेः । अन्यथा मयेदं विदितमिति संबन्धावभासो न स्यात् । ननु—जीव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बिम्बवद्वृत्तिसंयुक्तसमवायरूपस्योपरागस्य रूप इव रसादावपि सत्त्वादिति भावः । रूपं प्रत्येवेति । रूपावच्छिन्नम-
ज्ञानं चाक्षुषवृत्त्यवच्छिन्नचित्ता निवर्त्यते, नतु रसाद्यवच्छिन्नाज्ञानमित्यर्थः । तथाच चिदुपरागसत्त्वेऽपि रसादावज्ञान-
सत्त्वान्न प्रकाश इति भावः । ननु यथा प्रभा चक्षुःसहकारित्वात् तद्वाह्यस्यैव भासिका, तथा चिदपि स्यात्तत्राह—
प्रभायामिति । सहकारित्वेति । ग्राह्यभासकत्वेत्यर्थः । विलम्बेन अभावेन । विलम्बस्य गन्धाद्यभासकत्वस्य ।
यदि स्वप्रतिबिम्बवद्वृत्तिसंश्लेषसंबन्धेन चितो भासकत्वं, तदा आश्रयद्वारेत्युक्तम् । यदि तु तत्संसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नचितः
सर्वगतत्वनियामकसंबन्धेन भासकत्वं तदाह—साक्षाद्वेति । आश्रयद्वारा वेत्यर्थः । तेन जीवस्य गुरुत्वादौ तादा-
त्म्याभावेऽपि नासङ्गतिः । आकरे बृहदारण्यकभाष्यादौ उक्तं हि तत्र—'यदि स्वाभाविकं कर्तृत्वं स्यात्, तदा-
त्मनो मोक्ष एव न स्यात्; अतो द्रष्टव्यं पुण्यं च पापं चेत्यादिना कर्तृत्वाभावप्रतिपादनेन स्वभावतोऽकर्तृत्वं ज्ञापितम् ।
'ध्यायतीव लेलायतीवे'त्यादिना च पूर्वमकर्तृत्वमुक्तम् । तत्रचासङ्गत्वं हेतुः । कारकसङ्गिनो हि मूर्तस्यैव कर्तृत्वम् ।
अतएव व्यासः 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।' इति । नेयेति । जीवस्येव ब्रह्मणो वस्तुतोऽस-
ङ्गत्वेऽप्युपादानत्वात् ब्रह्म प्रपञ्चाश्रयः; अत एव 'न च मत्स्थानि भूतानी'ति स्मृतिरिति भावः । तस्यैवेति । तथाच
स्वप्रतिबिम्बवद्वृत्तिविषयत्वघटितसंश्लेषसंबन्धेनावच्छेदकत्वसंबन्धेन प्रतिबिम्बसम्बन्धेनैव वा जीवस्य भासकत्वम् ।
अतएव न सर्वावभासकत्वप्रसङ्ग इति भावः । अत एव निरुक्तसंबन्धेन जीवस्य भासकत्वादेव । स्वतः स्वरूपेण ।
चिद्विम्बाग्राहके चित्प्रतिबिम्बायोग्ये वृत्तिं वृत्तिसंश्लेषम् । तदाकारत्वायोगात् स्वतश्चिद्विम्बाग्राहके प्रतिबिम्ब-
त्वायोगात् । सूर्यादेः जलादिसंयुक्तमृदादाविव जीवचितो वृत्तिसंश्लिष्टे घटादौ प्रतिबिम्बस्य संभव इति भावः ।
ननु—सुखादेरिव शुक्तिरूप्यादेरपि स्वच्छत्वसंभवात्तत्र वृत्तिकल्पना न युक्तेति—चेन्न; अस्वच्छव्यावहारिकरजतादि-
जातीयं कामयमानस्य पुरुषस्य प्रवृत्तिरस्वच्छरजतादावेव जायत इति तदनुरोधेन भ्रमस्थले तादृशमेव रजतादिकं
कल्प्यते । किञ्च रजतत्वावच्छेदेनास्वच्छत्वास्वीकारे यस्या व्यावहारिकरजतव्यक्तेरुत्पत्तिद्वितीयक्षणादौ प्रत्यक्षोत्तरं नास्ति
तस्याः वृत्तिर्न स्वीक्रियेत; इष्टापत्तौ च 'व्यावहारिकरजतप्रत्यक्षं सर्वमिन्द्रियजन्यमि'ति प्रतिसन्धाय तदर्थमिन्द्रिय-
व्यापारे प्रवृत्तेरनुपपत्तिरिति भावः । स्वभावस्य गन्धादिभेदसामानाधिकरण्यस्य । द्रव्यसमवेतस्य चाक्षुषे गन्धादि-
व्यावृत्तरूपेण रूपादेर्हेतुत्वं रूपादिव्यावृत्तरूपेण गन्धादेः प्रतिबन्धकत्वं वेति न गन्धादौ चाक्षुषादिकमिति भावः ।
अन्यः वृत्तिसंश्लेषादिरूपः । दृश्यत्वे भास्यत्वे । अभेदाभिव्यक्तीति । अभेदाभिव्यक्त्युपरागेत्यर्थः । संबन्धाव-

चैतन्यस्यासङ्गत्वे ब्रह्मचैतन्यं सुतरामसङ्गम्, तथाच मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतः सार्वज्ञ्यं न स्यात्, नच—ब्रह्म सर्वोपादानत्वादुपाधिं विनैव स्वस्वरूपवत्त्वाभिन्नं जगदवभासयतीति—वाच्यम्; उपादानत्वं न तावद्विशिष्टनिष्ठं परिणामित्वम्; आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापत्तेः, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच्च, नापि शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वम्; शुद्धस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादेरभावादिति—चेन्न; ब्रह्मणोऽसंगत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव तस्य सर्वप्रकाशकतया सार्वज्ञ्योपपत्तेः । नच—शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वं नोपादानत्वम् सार्वज्ञ्याभावादित्युक्तमिति—वाच्यम्; अविद्याकल्पितानां सर्वज्ञत्वादीनां शुद्धे सत्त्वात् । अन्यथा तेषां तटस्थलक्षणत्वमपि न स्यात् । ननु—आवरणाभिभवार्थत्वपक्षो न युक्तः; विवर्ताधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनात्, अन्यस्याज्ञानकल्पितस्यावरणस्याभावादिति—चेन्न; अज्ञानादिसाक्षित्वेन स्वप्रकाशेऽप्यशानायाद्यतीतत्वादिना प्रकाशाभावादावरणस्यावश्यत्वात् ननु—अज्ञानस्य नयनपटलवत् पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननाशेऽपि मैत्रस्य तदनाशात् अप्रकाशो युक्तः, विषयगतत्वे तु चैत्रार्जितया वृत्त्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यादिति—चेन्न; चैत्रावरणशक्तेरेवाज्ञानगतायाश्चैत्रार्जितवृत्त्या नाशितत्वेन स पश्यति, न मैत्रः; तत्प्रतियोगिकावरणशक्तेरनाशात्, आवरणशक्तीनां द्रष्टृविषयमेदाभ्यां भिन्नत्वात्, तमस्तु, न तथेत्येकानीतप्रदीपेनाप्यन्यान्प्रति प्रकाशो युज्यते । एतेन—एकाज्ञानपक्षे शुक्तिज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ सद्य एव मोक्षापातः, अनिवृत्तौ रूप्यादेः सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधयोग इति—निरस्तम्; आवरणशक्तिनाशेऽपि मूलाज्ञाननाशाभावेन सद्यो मोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासशक्तिमदविद्यानिवृत्तिरूपबाधस्यचोपपत्तेः । ननु—एकाज्ञानपक्षे रूप्यादेः शुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुद्गरप्रहारेणेव घटस्य; न त्वज्ञानं निवर्त्यत इति ते मतं न युक्तम्; यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तिवलात् ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिद्वारैवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्य रूप्यादिनिवर्तकत्वायोगात्, शुक्तिज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धाभावेन भ्रान्ताविव बाधेऽपि शुक्तेरप्रकाशापत्तेश्चेति—चेन्न; यतो ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात्, स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थाने तदनङ्गीकारात्, शुक्तिज्ञानस्यचानवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपमूलाज्ञाननिवर्तकत्वेऽपि अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धात् बाधदशायां रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाशयोरप्युपपत्तेः । नच—उपादेयभूतया वृत्त्योपादानभूताविद्याभिभवो न घटते; उपादेयेनोपादानाभिभवाददर्शनादिति—वाच्यम्; वृश्चिकादिना गोमयादेरुपादानस्याप्यभिभवदर्शनात् । आरम्भवादानभ्युपगमाच्च न गोमयावयवानामुपादानत्वशङ्का । ननु—चक्षुरादिजन्यशुक्त्यादिवृत्तेः सप्रकारिकायाः निष्प्रकारकशुद्धचैतन्याविषयतया तदावरणरूपमूलाज्ञानाभिभवाभावेऽप्यवच्छिन्नविषयया तथा अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञानाभिभवो युज्यत इति ते मतमयुक्तम्;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भासः विषयसाक्षिणोः संबन्धेत्यर्थः । मायोपाधिकेति । मायावृत्तिरूपोपाधिघटितेत्यर्थः । अधिष्ठानत्वम् अकल्पिते कल्पितस्य तादात्म्यम् । असङ्गत्वेपीति । अविद्यादौ यादृशः स्वप्रतिबिम्बरूपसंबन्धस्तादृशस्य घटादावभावेऽपीत्यर्थः । अध्यासेन अध्यासतादात्म्येन नोपादानत्वं न सर्वभासकताप्रयोजकोपादानत्वपदार्थः । शुद्धस्येति शेषः । कल्पितानामिति । परमार्थतः शुद्धमपि अविद्ययेव दृश्यान्तरैरपि सार्वज्ञ्यादिभिः संबध्यत इति भावः । तेषामिति । शुद्धं प्रतीति शेषः । उक्तं च विवरणादौ तथेति भावः । अन्यस्य अन्यस्मिन् कल्पितस्य । कल्पिते कल्पितत्वादुपपत्तिरिति तत्त्वार्थः । अज्ञानादीत्यादि । अज्ञानाद्युपाध्यवच्छिन्नस्य प्रकाशेऽप्यशानायाद्यतीतत्वोपलक्षितपूर्णां नन्दरूपेणावरणमावश्यकम्; अप्रकाशादित्यर्थः । शक्तिमदविद्येति । शक्तिनाशाच्छक्तिविशिष्टरूपेणाविद्याया नाश इति भावः । उच्छेदेति । ज्ञानमज्ञानप्रयुक्तस्यैवोच्छेदकमित्येवंरूपत्वादित्यर्थः । अज्ञानप्रयुक्तत्वं चाज्ञानव्याप्यत्वम् । तच्चाज्ञाने तच्चाप्ये अनादिदृश्ये तत्कार्यं चास्त्येव । उच्छेदश्च पूर्वोक्तो बोध्यः । यदि तु ज्ञानमेवाज्ञानस्य नाशस्तदुत्पत्तिक्षणस्य चाज्ञानप्रयुक्तदृश्याधिकरणकालपूर्वत्वाभावनियम इति स्वीक्रियते, तदा निवर्तकमित्यस्य निवृत्तिरित्यर्थ इति ज्ञानमज्ञानस्यैव निवृत्तिरिति नियमो बोध्यः । तदनङ्गीकारात् ज्ञानमज्ञानस्यैवेति नियमास्वीकारात् । अज्ञानभिन्नस्य ज्ञानात् सूक्ष्मरूपता नेत्यस्यास्वीकारादिति यावत् । तथाचैकाज्ञानपक्षे शक्तिभेदस्य शुक्तिरूप्याद्यनुपादानत्वेऽपि शुक्त्यादिज्ञानेन रूप्यादिनिवृत्तिर्युज्यत एवेति भावः । शक्तिभेदस्य पल्लवाज्ञानस्य वा तदुपादानत्वपक्षे तु बाध एव संभवतीत्याह—शुक्तिज्ञानस्य चेति । तूलाज्ञानेति । मूलाज्ञानीयावस्थातच्छक्त्यन्यतरेत्यर्थः । अनभ्युपगमादिति । उपादानमविद्यादिकम् आकाशादिरूपेण परिण-

अवच्छिन्ने अविद्याकल्पिते अप्रसक्तप्रकाशे मूलाविद्याया इव तदावरणशक्तेरयोगात्, त्वयानभ्युप-
गतत्वाच्च, जडविशिष्टात्मानं प्रति तदभ्युपगमेच विशेषणानावारकविशिष्टावारकशक्त्यभिभवस्य
विशेष्यावारकशक्त्यभिभवं विनाऽयोगेन शुक्त्याकारवृत्त्यैव शुद्धात्मप्रकाशापातादिति—चेन्न;
अनवबोधात् । न ह्यविद्याकल्पितेऽवच्छिन्ने अस्माभिरविद्या वा तच्छक्तिर्वाभ्युपेयते, किंतु चैतन्यमात्र-
एव; तस्मिंस्तु सर्वं जडमध्यस्तमस्तीत्येकाश्रयाश्रितत्वसंबन्धात् जडावच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति व्यप-
देशः, घटाद्याकारवृत्त्या तु तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत
इति न शुद्धात्मप्रकाशापत्तिः । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—‘आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्ति-
रेव केवला । पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥’ ‘बहु निगद्य किमत्र
वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासने । सकलवाङ्मनसातिगता चित्तिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् ॥’
इति च । तस्मादविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा तूलाज्ञाननाशाद्वा अवस्थाविशेषप्रच्यवाद्वा,
एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटावदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वा, आवरणभङ्गानिर्मोक्षवाधानामुपपत्तिः ।
ननु—अवस्थाशेषाणामज्ञानाभिन्नत्वे एकाज्ञानपक्षक्षतिः, अज्ञानभिन्नत्वे च साक्षात् ज्ञानेन निवृत्तिः
भ्रमाद्युपादानत्वं च न स्यात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननाशं विना नाशप्रसङ्गश्च, शुक्त्यज्ञानं
नष्टमित्यनुभवविरोधश्चेति—चेन्न; यतोऽवस्था तावदवस्थावतोऽभिन्नैव, अज्ञानैक्यं तु सर्वावस्था-
नुस्यूतैकाकारमादाय । एवंचाज्ञानावस्थाया अज्ञानत्वेन न ज्ञानसाक्षान्नवित्यवस्थाद्यनुपपत्तिः ।
यत्त्ववस्थाविशेषाणामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना निवृत्त्यापादानं, तदयुक्तम्; अज्ञान एव
ज्ञानस्य साक्षाद्विरोधावधारणेनाज्ञानावस्थायास्तदभिन्नायाः ज्ञानसाक्षान्नवित्यवस्थात्वात्, न तु
रूप्यादीनाम्; अनीदृक्त्वात् । अनेकाज्ञानपक्षे तु शङ्कापि नोदेति । ननु—अस्मिन्पक्षे एकया वृत्त्या
सर्वतदज्ञानस्य निवृत्तिः, उत एकतदज्ञानस्य; आद्ये पुनः शुक्तेः कदाप्यप्रकाशो न स्यात्, अन्त्ये
वृत्तिकालेऽपि प्रकाशो न स्यात्, एकस्यावरणस्य निवृत्तावप्यावरणान्तरानिवृत्तेरिति—चेन्न; एकया
वृत्त्या एकाज्ञाननाशेऽपि तथैवावरणान्तराणां प्रतिरुद्धत्वात् यावत् सा तिष्ठति तावत्प्रकाशः, तस्या-
मपगतायां पुनरप्रकाशश्चोपपद्यते; अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वात् । यथा तव एकं ज्ञानमेकमेव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मते, मिथः संयुक्तकपालद्वयादिकं घटादिरूपेण परिणमते इत्येव स्वीक्रियते । तथाच घटादौ कपालादेः संबन्धो नास्ति ।
तस्य हि स्वीकारे घटस्येव कपालद्वयस्यापि गुरुत्वादिकं स्वकार्यानुमानादिकं कुर्यात्, तस्मात् परिणामवाद एव युक्तः ।
उक्तं चारम्भणाधिकरणभाष्यादौ—‘द्रव्यारम्भोऽपि न सर्वत्रारम्भकसंयोगादेवेति । तथाचावयवसंयोगेनैव
द्रव्योत्पत्तावनुभवविरोधः; शीघ्रमेव प्रभादिस्थले द्रव्यस्योत्पत्तेः । अभिव्यक्तौ प्रमावृत्तिदुपरागे । तदवच्छेदेनै-
वेति । यद्यपि शुद्धनिष्ठमेव सर्वमावरणम्; तथापि तदभिभवो घटाद्याकारवृत्त्या क्रियमाणो घटाद्यवच्छिन्न एव । स हि
यद्यज्ञाननाशः, तदा वृत्तिज्ञानस्वरूपत्वात् घटाद्यवच्छिन्न एव; प्रत्यक्षमनोवृत्तेस्तथावस्थेन्द्रियसन्निकर्षाधीनत्वात् ।
परोक्षवृत्तिप्रयुक्तस्याभिभवस्य प्रमावृत्तात्रनिष्ठाज्ञाननाशरूपत्वाच्च घटाद्यवच्छिन्नत्वमिति वक्ष्यते । आवरणस्य शक्ति-
रूपत्वेऽपि तदभिभवो वृत्तिस्वरूपत्वात् तथैव । यदि तु वृत्त्यभावविशिष्टो योऽज्ञानसंबन्धः, तदभाव एवाभिभवः,
नत्वज्ञानस्य नाशः; अज्ञानस्यैकत्वेन घटादिवृत्त्या नाशासंभवात्, तदापि घटादिवृत्त्या संपाद्यमानः स एवेति भावः ।
शक्त्यभिभवाद्देति । शक्तिः आवरणशक्तिः । तूलाज्ञानम् आवरणविक्षेपशक्तियुक्तं ब्रह्मज्ञानान्यज्ञाननाश-
मूलाज्ञानतादात्म्यानापन्नमज्ञानम् । अवस्थाविशेषस्तु तादृशं मूलाज्ञानतादात्म्यापन्नम् । वक्ष्यति हि ‘अज्ञानाव-
स्थायास्तदभिन्नाया’ इति । एकदेशनाशस्तु वृत्तौ सत्यामज्ञानं स्वकार्याक्षमम्, तत्रापि वृत्तिकालाभावविशिष्टमज्ञानं
भानविरोधीत्युपान्त्यपक्षः । वृत्त्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकालाभावविशिष्टमज्ञानं भानविरोधीत्यन्त्यपक्षः । अतएव यथा
प्रतिभटागमनक्षण एव भीरुभटापसरणं, तथावृत्त्युत्पत्तिक्षण एवावरणाभिभवः । यथा च हस्तसंयोगोत्पत्त्युत्तरं कटस्य
वेष्टनं, तथा वृत्त्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकाले आवरणाभिभव इत्याशयेन दृष्टान्तो युज्यते । अत एव च नानाज्ञानपक्षे
शक्तेः ज्ञाननाशत्वपक्षे वा वृत्त्यावरणस्याभिभवो वृत्तिरेव वा स इति पक्षद्वयं बोध्यम् । वक्ष्यमाणरीत्या चरमपक्षाभ्यां
भिन्न एव वा एकदेशनाशपक्षो बोध्यः । एकाकारं एकाज्ञानस्वरूपम् । यथा घटादिरूपावस्थास्त्रुगतमप्यज्ञानं
घटादिनाशेऽपि न नश्यति, तथा अज्ञानरूपनानावस्थासु अनुगतमज्ञानं तासां नाशेऽपि न नश्यति । एतावांस्तु
विशेषः—यत् घटाद्यवस्थाऽनादिरज्ञानोच्छेदं विना नोच्छिद्यते । अज्ञानरूपावस्था तु स्वानुगताज्ञानवदनादिः तदुच्छेदं
विनाप्युच्छिद्यते च—इति । नच—अज्ञानत्वादेव तासां ज्ञाननाशत्वसंभवाच्च मूलाज्ञानतादात्म्यस्वीकारो

प्रागभावं नाशयति, तन्नाशरूपेणोदयात् प्रागभावान्तरनिबन्धनमज्ञातत्वादिव्यवहारं च प्रतिबध्नाति; तथा ममाप्येकं ज्ञानमेकमेवाज्ञानं निवर्तयति, अज्ञानान्तरनिबन्धनं च प्रयोजनं प्रतिबध्नातीति किमनुपपन्नम्? अत्र च प्रतिबन्धपदेन कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्वं कारणाभावप्रतिबन्धकसाधारणमभिहितम् । एवमवस्थाविशेषपक्षेऽपि प्रकाशाप्रकाशावुपपादनीयौ । एवममूर्तस्याज्ञानस्य यद्यपि दण्डादिना गवादीनामिवापसरणं करादिना कटादीनामिव संवेष्टनं च न संभवति; तथापि कार्याक्षमत्वसाम्येनावरणसंवेष्टनपक्षौ योजनीयौ । यथाहि उत्तेजकाभावसहकृतस्य मणेः प्रतिबन्धकतायामुत्तेजकसत्त्वे प्रतिबन्धककार्याक्षमत्वम्; तथा वृत्त्यभावसहकृतस्याज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायां वृत्तौ सत्यां तत्कार्यानुदय इति द्रष्टव्यम् । ननु चैतन्यस्य निरवयवत्वात् तस्यैकदेशेन प्रकाशो न युज्यते; अथाकाश इव तत्तदार्थावच्छिन्नत्वमेकदेशशब्दार्थः, तर्हि नागन्तुकपदार्थावच्छिन्नचैतन्यमनाद्यज्ञानस्य विषयः; निर्विषयस्यावरणस्यायोगात्, प्रागनवच्छिन्नावरणमेवेदानीमवच्छिन्नावरणं जातमित्यपि न; अवच्छिन्नचैतन्यज्ञानेनैवानवच्छिन्नावरणनाशापत्तेः; एतेन व्यक्तिः पूर्वं जातिरिव विषयात्पूर्वमज्ञानमस्तीति निरस्तमिति—चेन्न; अनाद्यज्ञानविषये अनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदाभ्युपगमात्, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवले' त्युक्तत्वात् । यदवच्छिन्नगोचरा च वृत्तिस्तदवच्छे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यर्थ इति—वाच्यम्; 'अजामेकां' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञान'मित्यादिश्रुतिस्मृतिष्वावारकस्यैकस्वरूपाभिन्नत्वप्रत्ययात्, 'अज्ञातः पटः' 'अज्ञातो घटः' इत्याद्यनुगतप्रतीतिषु तथाप्रत्ययाच्चेति भावः । अनीदृक्त्वात् अज्ञानत्वशून्यत्वात् । प्रागभावान्तरनिबन्धनमिति । 'अज्ञातो मे घट' इत्यादिप्रत्यक्षधीस्तत्पुरुषीयज्ञानाविषयवृत्तित्वविशिष्टं तत्पुरुषीयज्ञानस्य संसर्गाभावमवगाह्यत इति परैः स्वीक्रियते । तत्र यथा तत्पुरुषीयकिञ्चिज्ज्ञानविषये घटे तादृशप्रत्यक्षाभावः, विषयविधया तादृशप्रत्यक्षे कारणीभूतस्य तादृशाभावस्याभावात्; तथा मन्वते वृत्तिज्ञानमेकाज्ञाननिवर्तकमन्याज्ञानप्रयुक्तस्य 'घटो न भाती'ति व्यवहारस्यानुत्पत्तौ प्रयोजकम् । तत्त्वं च तादृशव्यवहारं प्रति घटाकारवृत्तेः प्रतिबन्धकत्वात्, वृत्तिविषयत्वाभावकालोपहित एव घटे आवृत्तत्वस्वीकारात् वृत्त्यविषयत्वविशिष्टं यदज्ञानं, तदभावविशिष्टचितो भानत्वस्वीकारेण वृत्तिकाले तस्याः घटादौ सत्त्वाद्वा । सर्वथापि तादृशव्यवहाररूपकार्यानुत्पत्तिव्याप्यार्थकं प्रतिबन्धकपदं वृत्तावसदीयैः प्रयुज्यते इति समुदायार्थः । प्रतिबन्धकपदेन प्रतिबध्नातीत्यनेन । प्रतिबन्धकतायां 'घटो भाती'त्यादिव्यवहारोत्पत्तिप्रयोजकाभावप्रतियोगितायाम् । सा च भातीत्यादिव्यवहारे वृत्त्यभावविशिष्टसंबन्धस्य प्रतिबन्धकत्वाद्वा वक्ष्यमाणरीत्या वा बोध्या । अत्रेदं बोध्यम्—वृत्त्यनवच्छेदकत्वासमानाधिकरणो योऽज्ञानसंबन्धः, तस्य भातीतिव्यवहारे प्रतिबन्धकत्वात् घटादौ वृत्त्यवच्छेदकत्वकाले तथा व्यवहारः । अथवोक्तसंबन्धाभावाश्रयतादात्म्यापन्ना चिदेव भानम्, तेनोक्तकाले अज्ञानसंबन्धसत्त्वेऽपि विषयसत्त्वादुक्तव्यवहारः । तदन्यकाले तु विषयासत्त्वादेव नोक्तव्यवहारः । एतस्मिन् पक्षे च प्रतिबन्धकत्वं न कल्प्यते । वृत्तिविषयत्वासमानाधिकरणासत्त्वापादकाज्ञानसंबन्धाभावस्यास्तित्वव्यवहारे प्रयोजकत्वमपि तथैव बोध्यम् । अज्ञानस्य संबन्धस्तु सर्वत्र विषयतावच्छेदकत्वम् । तच्च घटादावेव; न सुखादाविति वृत्त्यभावेऽपि सुखादौ भातीत्यादिव्यवहारः । यद्यपि ब्रह्मणि वृत्तिविरहकालेऽप्युक्तावच्छेदकत्वस्याभावात् 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'ति व्यवहारापत्तेर्भानं न तद्वदितं; तथापि विषयत्वतदवच्छेदकत्वयोरन्यतरदुक्तावच्छेदकत्वशब्दार्थ इति ब्रह्मणि वृत्तिविरहकाले अज्ञानविषयत्वसत्त्वेन उक्तान्यतराभावस्यासत्त्वात् उक्तान्यतराभावविशिष्टविषयतादात्म्यापन्नसाक्षिणो विषयसाक्षात्कारत्वे दोषाभावः । अवच्छेदाभ्युपगमादिति । अज्ञानस्यैकत्वपक्षेऽपि शुद्धचिन्निष्ठा विषयता काचित् केनाप्यनवच्छिन्ना स्वीक्रियते; सैव ब्रह्मज्ञाननिवर्त्या, अन्यास्तु विषयताः शुद्धचिन्निष्ठा अपि आगन्तुकेनापि कादाचित्कप्रकाशेन घटादिनाऽवच्छिद्यन्ते । यथा घटाद्यत्यन्ताभावस्यानादिविशेषणतासंबन्धे परमते कालविशेषस्यावच्छेदकत्वं, तद्वदेव च तत्र न नियामकापेक्षा । अथवा कादाचित्कप्रकाशस्य घटादिकार्यस्य स्वावच्छिन्नविषयिताकत्वसंबन्धोनाविद्यानिष्ठायामुत्पत्तौ तादात्म्यसंबन्धेनाविद्यायाः कारणत्वात् घटादिनिष्ठोक्तविषयतावच्छेदकत्वमविद्यानियम्यमेव; अनादीश्वरादिनिष्ठं तत् केवलम्, न हेतुनियम्यम्, । अथवावच्छेदाभ्युपगमादित्यस्याज्ञानविषयता घटाद्यवच्छिन्नेत्यत्र न तात्पर्यम्, किंत्वज्ञानविषये शुद्धचित्ति घटादिसंबन्ध इत्यत्र । नचैवं—सुखादौ भातीति व्यवहारो न स्यात् घटादौ हि वृत्त्यभावकाले तद्वारणाय वृत्त्यनवच्छेदकनिष्ठस्याज्ञानतादात्म्यस्योक्तव्यवहारोऽर्थित्वं वाच्यं, तच्च सुखादावप्यस्तीति—वाच्यम्; सुखादावेकस्या अविद्यावृत्तेरनादेः स्वीकारसंभवात्, प्रतिभासव्याप्यस्थितिकस्य कार्यस्य विषयित्वसंबन्धेन तादृशवृत्तिनिष्ठोत्पत्तौ तादृशवृत्तेस्तादात्म्येन कारणसंभवात् । यदवच्छिन्नगोचरेति । यत्संश्लिष्टं यदाकारा चेत्यर्थः । तदवच्छेदेनैवावरणापसरणादिति । तस्यैवोक्ताज्ञान-

देनैवावरणापसरणात् नानवच्छिन्नचैतन्यावरणभङ्गप्रसङ्गः । अत एव वृत्तिविषयावच्छिन्नचैतन्यात् प्रागज्ञानमस्तीत्यभिप्रायेण विषयात्प्रागज्ञानमस्तीति साधूक्तम् । तस्मादधिष्ठानचैतन्यं स्वाध्यस्तं भासयतीति सिद्धम् । तदयमत्र निष्कर्षः—यद्यपि विषयप्रकाशकं विषयाधिष्ठानभूतं प्रमेयचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं तु तस्य प्रमातृ, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं तु प्रमाणम्; तथापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संबन्धाभाववत्वादित्यर्थः । आवरणमभानापादकं ग्राह्यम् । तेन परोक्षवृत्तेः प्रमात्रवच्छेदेनावरणनिवर्तकत्वेऽपि न क्षतिः । प्रसङ्ग इति । अज्ञाननाशं प्रति ब्रह्माकारवृत्तेरेव हेतुत्वात् घटाद्याकारवृत्त्या नाज्ञानस्य नाशः, किंतु तदीयानां घटाद्यवच्छिन्नानां विषयतानां पल्लवाज्ञानानां मूलाज्ञानशक्तीनां चेति न तथा मूलाज्ञाननाशप्रसङ्ग इति भावः । तदेवमेकदेशपक्षान्तर्भावेनोपान्त्यान्त्यपक्षयोर्व्याख्यानं कृतम् । अथवा तयोः पक्षयोः उपपादनं पूर्वमेव कृत्वा 'ननु चैतन्यस्य निरवयवत्वा'दित्यादिनोक्तपक्षाभ्यां भिन्नत्वेन स्वीकृत्य एकदेशनाशपक्ष उपपाद्यते । तत्र यदवच्छिन्नेत्यादेरयमर्थः । यत्कालावच्छेदेन घटादौ मनोवृत्तिः, तत्कालावच्छेदेन नाज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्, किंतु तदन्यकालावच्छेदेन । तथाचास्मिन् पक्षे अज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वविशिष्टघटादेस्तादात्म्यविशिष्टा चिदेव घटादेर्भानम् । अस्तित्वं त्वसत्त्वापादकाज्ञानघटितमिति लाघवम् । यत्तु—शुक्त्यादिज्ञानस्याज्ञानशक्तिनाशकत्वमयुक्तम्; शक्तेर्भ्रमोपादानत्वे अज्ञानत्वापत्तेः, भ्रमानुपादानत्वे तन्निवृत्तावपि भ्रमानिवृत्त्यापत्तेः, शक्यन्यस्याज्ञानस्य वैयर्थ्याच्च—इति, तन्न; भ्रमोपादानत्वेऽपि हि शक्तेर्नाज्ञानत्वम्, तादृशशक्तिमत्त्वस्यैवाज्ञानलक्षणत्वात् । अत एव न तस्या वैयर्थ्यम्; कार्यप्रयोजकशक्तिमत्त्वं विना कारणत्वासंभवात् । अथवा शक्तिर्नोपादानम्, किंतु तद्वदज्ञानम् । शक्तिर्हि मीमांसकमते कारणतैव न तु कारणम्, तन्मात्रस्य निवृत्त्यापि रूप्यादिनिवृत्तिः संभवत्येव; शक्तिविशिष्टरूपस्योपादानस्य नाशात् । यद्यपि—नानाऽज्ञानपक्षे अज्ञानीयनानाशक्तिपक्षे च शुक्त्यादिज्ञानेन किंचिदज्ञानस्य शक्तेश्च नाशः, ज्ञानस्य शक्यन्तरस्य च कार्यक्षमतया अवस्थानं च न युक्तम्; सर्वत्राज्ञाने शक्तौ च कार्याक्षमत्वस्य वक्तुं शक्यत्वादेकाज्ञानपक्षस्यैव युक्तत्वात्—इति, तदपि न युक्तम्; 'ज्ञानादज्ञानं नष्टमिति प्रत्ययस्य बाधस्य चोपपादनाय नानाऽज्ञानशक्तिपक्षयोरपि युक्तत्वात् । अधिष्ठानचैतन्यमिति । जीवचैतन्यस्य भासकत्वपक्षेऽपि तस्याधिष्ठानीभूतचित्स्वरूपत्वादयमुपसंहारो युक्तः । अतएव प्रकाशकं तावदधिष्ठानचैतन्यमेवेत्यादिपूर्वग्रन्थः यथाश्रुतोऽपि रम्य एव । एवंच जीवस्य सर्वगतत्वजगदुपादानत्वयोः स्वीकारपक्षे जीवस्यैव भासकत्वं पूर्वोक्तं न विरुध्यत इति बोध्यम् । ननु एकजीववादे जीवस्य जगदुपादानत्वादावरणभङ्गायैव घटादौ वृत्तिः, तथाचैकस्य प्रमातुः तादृशवृत्तिकालेऽपरस्यापि घटादिकमपरोक्षं स्यात्, एवमेको जीवोऽसङ्गः सर्वगतो ब्रह्मैव जगदुपादानमिति पक्षे साक्षिचिदुपरागायैव सा; तथाचोक्तपत्तिः, साक्षिणः सर्वान् प्रमातृन् प्रत्यविशिष्टत्वेन घटादिचिदुपरक्तत्वादित्यत आह—तदयमित्यादि । प्रमेयचैतन्यमिति । जीवचैतन्यस्य भासकत्वपक्षेऽपि तद्भास्यं घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यम्; मनोवृत्तेस्तदाकारत्वात्, घटादेस्तु तदवच्छेदकत्वस्यैव स्वीकारात् । घटादिकं तु तादृशेन प्रमेयचिता भास्यते । अतएव तत् स्वयं भासमानं सत् स्वाध्यस्तं घटाद्यपि भासयतीति मूले अग्रे वक्ष्यते । अन्तःकरणेति । देहावच्छिन्नमनोभागेत्यर्थः । अन्तःकरणवृत्तीति । देहविषययोर्मध्यस्थमनोभागेत्यर्थः । प्रमाणमिति । विषयस्थमनोभागावच्छिन्ना चित्तु प्रमितिरिति शेषः । विषयीभूतचित्ति आवरणाभिभवस्य फलस्य विषयगतमनोभागसंबन्धाव्यवहितोत्तरक्षण एव संप्रत्या तदवच्छिन्नचिदेव क्रियारूपा प्रमितिः, तस्यास्तु प्रमातृव्यापाराविष्टेनोक्तमध्यभागेन संप्रत्योक्तमध्यभागावच्छिन्ना चित् प्रमाणम् । कर्तृव्यापारेण हि नमनोन्नमनादिनाऽऽविष्टं कुठारादिकं भिदादिक्रियानिष्पादकं करणं भवति । तादृशकरणं प्रति देहावच्छिन्नप्रयत्नेन देहावच्छिन्नभागस्य प्रेरकत्वात् प्रमासाधनसकलकारकेषु स्वतन्त्रत्वाच्च तदवच्छिन्ना चित् प्रमात्री; केवलस्योक्तभागस्याचेतनत्वात्, केवलचित्तोऽपि निर्व्यापारत्वात्, कर्तृत्वासंभवात् मिथस्तादात्म्यं प्राप्तस्य तदुभयस्य प्रमातृत्वम् । तस्य च तादृशेनैव चिदात्मकेन स्वव्यापारेण प्रमारूपेण विषयं व्यामुष्यामहमितीच्छया तादृशव्यापाररूपेण विषयसंश्लिष्टपरिणामप्राप्तेस्तस्या अपि विषयशरीरमध्यस्ततादृशपरिणामप्राप्तिद्वारकत्वात् प्रमितिप्रमाणयोरपि चिद्विद्वत्त्वम् । न हि चैत्रकुठारच्छिदानामिव प्रमात्रादीनां मिथोऽत्यन्तभिन्नत्वम्, अपि तु प्रमासुद्ध्यैव प्रमातुः प्रयतोदयात् प्रमायाश्च प्रमातृपरिणामरूपत्वेन चिद्विद्वत्त्वमेव । ननु—चक्षुरादीनामपि प्रमाणत्वसंभवात् तदनुकल्या न्यूनतापत्तिरिति—चेन्न; प्रत्यक्षप्रमात्रात्रे प्रमाणादिकं प्रकृते विवक्षितम्; तच्चोक्तमेव, चक्षुरादिकं तु तद्विशेषे प्रमाणम् । तथाच तदनुक्तिर्न दोषः । किंचान्तःकरणवृत्तित्यनेन चक्षुरादिद्वारेत्यनेन च चक्षुरादिकमपि प्रमाणमित्युक्तमेव । मनो हि चक्षुरादिनैक्यं प्राप्तमेव विषयसंश्लिष्टरूपेण परिणमते । तथापि त्रयाणामौपाधिकमेदसत्त्वेऽपि । यदीयेति । यत्प्रमातृसंबन्धीत्यर्थः । तथाच प्रमातृरुपरागायैव वृत्तिर्न साक्षिण इति नैकप्रमातृवृत्त्या अपरप्रमातृ-

यदीयान्तःकरणवृत्त्या विषयपर्यन्तं चक्षुरादिद्वारा निस्सृतया यत्प्रकाशकं चैतन्यं यत्प्रमातृचैतन्या-
भेदेनाभिव्यज्यते तमेव स एव जानाति नान्यं नान्यो वा । अतएवैकवृत्त्युपाख्यलक्षणैकलोलीभावापन्नं
प्रमातृप्रमाणप्रमेयचैतन्यं भवति । ततस्तदवच्छेदेनाज्ञाननिवृत्त्या निवृत्त्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमप-
रोक्षं फलमित्युच्यते । तत् स्वयं भासमानं सत् स्वाध्यस्तं घटाद्यपि भासयतीति तत् फलव्याप्यमित्यु-
पेयते । यन्निष्ठा च यदाकारा वृत्तिर्भवति तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं सा नाशयतीति नियमात् प्रमातृप्रमेयो-
भयव्यापिन्यपरोक्षवृत्तिः स्वावच्छेदेनावरणमपसारयति; प्रकाशस्य स्वावच्छेदेनावरणापसारकत्व-
दर्शनात् । अतः प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्नस्याभानावरणस्य चापसरणात् घटोऽयं
मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः । परोक्षस्थले तु इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणद्वाराभावादन्तःकरणनिस्सरणा-
भावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन सह प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपाख्यत्वा-
भावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोलीभावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नम-
सत्त्वावरणमात्रं निवर्तते; तावन्मात्रस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वात् । इदमेव सुषुप्तिव्यावृत्तिशब्देन विवरणा-
चार्यैर्व्याख्यातम् । विषयावच्छिन्नाभानावरणतत्कार्यसद्भावेऽपि प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणनिवृत्त्या
अनुमानादौ व्यवहारोपपत्तिः । अत एव जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्तीति, स तु कीदृश इति मे न
भातीत्यादिव्यवहारः । त्रयाणामेकलोलीभावे अपरोक्षत्वम्, द्वयोरेकलोलीभावे तु परोक्षत्वमिति
न सङ्करः । वृत्तेश्च विषयेण सर्वं साक्षादेवापरोक्षस्थले संबन्धः, परोक्षस्थले त्वनुमितेरनुमेयेन
तद्व्याप्यज्ञानजन्यत्वम्, शाब्दाः संसर्गेण सह तदाश्रयवाचकपदजन्यत्वम्, स्मृतेः स्मृत्येन सह
तद्विषयानुभवजन्यत्वम् । एवमन्यत्रापि परम्परासंबन्ध एवेति परोक्षापरोक्षविभागः । विस्तरेण
व्युत्पादितास्माभिरियं प्रक्रिया सिद्धान्तबिन्दौ । तस्माद्विषयस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेरिति
दिक् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्यक्षता घटादेरिति भावः । यत्प्रकाशकं यदवच्छिन्नम् । यत्प्रमातृचैतन्येति । यत्प्रमातृमनोवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ये-
त्यर्थः । जानाति साक्षात्करोति । अन्यम् असत्त्वमन्यम् । तेन स्वच्छस्य सुखादेर्वृत्तिं विनैव प्रत्यक्षत्वेऽपि न दोषः ।
अन्यः अन्यजीवः । तेनेशस्य चक्षुरादिद्वारकवृत्तिं विनैव सकलदृश्यप्रत्यक्षत्वत्वेऽपि न दोषः । तदवच्छेदेन तद्विषया-
वच्छेदेन । अज्ञाननिवृत्त्या अनभिव्यक्तिनिवृत्त्या । तेन वृत्तेः प्रमातृचिदुपरागार्थत्वपक्षस्यापि संग्रहः । अनुपरागस्या-
प्यनभिव्यक्तिवात् । निवृत्त्या भासमानं निवृत्त्यभिन्नस्य भासमानत्वस्याश्रयः । फलमिति । वृत्तेरेवावरणनाशत्वात्
प्रमानुपरागत्वाच्च फलत्वात्तद्विशिष्टरूपेण घटादिचैतन्यं फलम् । नच—फलत्वं क्रियारूपवृत्तेरनुपपन्नमिति—वाच्यम्;
घटादिसंयोगोपधायकक्रियोपहितरूपेण वृत्तेः क्रियात्वं तादृशसंयोगोपहितरूपेण फलत्वमिति स्वीकारात्, तादृश-
रूपयोः पौर्वापर्यात् । फलव्याप्यं फलभास्यम् । ननु परोक्षवृत्तिस्थलेऽप्यावरणं नष्टमित्यनुभवात् परोक्षभ्रमोच्छेद-
दर्शनाच्चावरणभङ्गस्य वाच्यत्वात् तत्रापरोक्षभ्रमस्योच्छेदः स्यात्; 'पर्वते वह्निं जानामी'तिवत् 'पर्वते वह्निं साक्षात्करो-
मी'ति व्यवहारः स्यात्, तत्राह—यन्निष्ठेत्यादि । निष्ठा संश्लिष्टा । तन्निष्ठं तदवच्छिन्नाश्रयताकम् । तदाकारं
तदवच्छिन्नविषयताकम् । अज्ञानम् अनभिव्यक्तिम् । स्फुरति भानाश्रयः । आदिपदात् 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादि-
संग्रहः । मे इति । प्रमातृविशेषनिरूपितत्वं पञ्चमर्थः । तस्य च स्फुरणघटके ज्ञाने अन्वयः । इदमेव असत्त्वापादका-
ज्ञानमेव । अभानापादकत्वमसत्त्वापादकत्वं च जातिविशेषौ । प्रमात्रवच्छिन्नेति । विषयनिष्ठवह्न्यादिजनकत्वाद-
सत्त्वापादकस्याप्यज्ञानस्य विषयनिष्ठत्वं वक्तुमुचितम्; अन्यथा हृदादिवित्संबन्धरूपविशेष्यताया वह्न्यादिवित्संबन्ध-
रूपप्रकारतावच्छिन्नत्वासंभवात् । न हि दूरस्थयोरवच्छेद्यावच्छेदकत्वं संभवति । अभानापादकस्याप्यज्ञानस्य प्रमात्र-
वच्छिन्नत्वे प्रमाणाभावः, प्रमातृविशेषस्य तु निरूपकत्वमेवाज्ञाने संबन्धः; अन्यथा 'ब्रह्म मे न स्फुरती'त्यादौ का
गतिः ? न हि मूलाज्ञानं प्रमात्रवच्छिन्नम् । तथाच द्विविधमप्यज्ञानं विषयेणैवावच्छिन्नं न प्रमात्रेति युक्तं पश्यामः ।
सिद्धान्तबिन्दुटीकायामधिकं विवेचितमस्माभिः । साक्षादेवेति । अवच्छेदकतारूप इत्यर्थः । परंपरेति ।
अभ्युपेत्य वादोऽयम् । आकाराख्यविषयताया साक्षात्संबन्धस्याचार्यैरेव स्थलान्तरे उक्तत्वात् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां
प्रतिकर्मव्यवस्था ॥

अथ प्रतिकर्मव्यवस्था ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्त्याऽपि मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम् । तथाहि—यथा तदाकोदकं छिद्राभिर्गल्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणाकारं भवति, एवं तैजसमन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गल्य विषयाकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते । तस्याश्च प्रयोजनम्—अनावृतमन्तःकरणोपाधिकं जीवचैतन्यमेव प्रकाशकमिति मते चैतन्यस्यासङ्गस्य विषयोपरागासंभवेन जातेर्व्यक्तिविशेषमात्रेणैव वृत्त्यैवोपरागेण तद्वारा विषयप्रकाशनम्, अनावृतमविद्योपाधिकं जीवचैतन्यमेव प्रकाशकमिति मते आवरणाभिभवः, अन्तःकरणोपाधिकं परिच्छिन्नमेव जीवचैतन्यं तच्च न प्रकाशकं किंतु ब्रह्मचैतन्यमेवेति मते तत्तद्विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभिव्यञ्जनमिति विवेकः । तत्र मतत्रयेऽपि विषयेन्द्रियसंनिकर्षस्यैव वृत्तिनिर्गमप्रयोजकत्वेन वृत्तितः पूर्वमेव घटादिसत्त्वमङ्गीकरणीयमिति प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः—इति ह्यद्वैतिनामभिमतम्, तत्र युक्तम्; मतत्रयेऽपि शुक्तिरूप्यादौ कल्पिते प्रतिभासमात्रशरीरत्वस्य दृष्टत्वात्, ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्यैवेदानीमापाद्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वादिकल्पितत्वविशेषे प्रतिभासमात्रशरीरत्वव्याप्यत्वविवक्षाया असंभवात्, विश्वसत्यत्वेन स्वाप्नदिन्द्रियसन्निकर्षानपेक्षतयैव प्रतीत्युपपत्तेः, आन्तिदैर्घ्यमात्रेण व्यावहारिकत्वस्योपपत्तेः, विषयापरोक्षस्यावश्यकवृत्तिगतविशेषणैवोपपत्त्या परोक्षस्थल इवापरोक्षस्थलेऽपि वृत्त्यैव प्रकाशोपपत्त्या चैतन्यप्रकाशत्वकल्पनस्यायुक्तत्वात्, क्रियैक्येऽपि करोति यतते गच्छति स्पन्दते इत्यादाविव जानामि प्रकाशते इत्यनयोः सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थोपपत्तिसंभवेनेच्छालक्षणत्वादिवदुपादानावृत्तिकस्य स्वप्रकाशत्वस्य वृत्तावप्यङ्गीकारेऽपि बाधकाभावात्, चैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वेऽपि नेत्राभिर्गतध्रुवाद्याकारवृत्त्यैव घटादीनामपि प्रकाशापत्त्या तत्संश्लेषमात्रस्यावरणानिवर्तकत्वेन तदाकारत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वेन तस्य च बहिर्निर्गमनं विनाऽपि त्वाचप्रत्यक्षादाविवार्थमनःसंयोगस्य प्रत्यक्षाहेतुत्वेनोपपत्तिसंभवादन्तःकरणबहिर्निर्गमकल्पनस्यायुक्तत्वात्, युक्तत्वेऽपि आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रत्वापातेन वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य, तदभिव्यक्तिकल्पनस्य वैयर्थ्येन तदभिव्यक्तचैतन्यस्य वा प्रकाशकत्वायोगात्, भवद्विरेव निरासेन तत्तद्विषयत्वरूपस्य, विषयचैतन्योपरागयोग्यतासंपादकत्वतदज्ञानाभिभावकत्वयोस्तदाकारत्वप्रयुक्तत्वेन तयोः, साकारवादापत्त्या विरुद्धनानाविषयसमूहालम्बनानुपपत्त्या अप्रकारकचरमसाक्षात्कारानुपपत्त्या च पृथुबुध्राद्याकारत्वस्य च तदाकारत्वरूपत्वाभावात्, दृक्दृश्यसंबन्धस्याध्यासिकत्वानापत्त्या विशिष्टब्रह्मजीवयोः निर्विशेषस्यासंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गेन चिन्मात्रस्य वा विषयदृक्त्वाभावाच्च प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेः । तत्र प्रथमे मते चितो वृत्तिमात्रोपरक्तत्वं किं प्रभाया इव रूपमात्रनिर्वर्तकत्वम्, उत तदात्मना विकृतत्वम्, (२) आहो गोलादिवत्तदाश्रितत्वम्, (४) आहोस्वित् घटाकाशादिवत्तदन्तस्थत्वम्, अथवा दर्पणे मुखस्यैव तत्प्रतिबिम्बितत्वम् । नान्त्यः, अनुद्भूतरूपेऽन्तःकरणे अचाक्षुषचैतन्यप्रतिफलनासंभवात् । नाद्यः; निर्विकारत्वश्रुतिविरोधात् न द्वितीयः; चितोऽनाश्रितत्वात्, सर्वत्राभिव्यक्तत्वाच्च । न तृतीयः; सर्वगतायाश्चितो घटान्तस्थत्वं नास्ति वृत्त्यन्तःस्थलमात्रं विद्यते इति कल्पनाया निर्मूलत्वात् । चतुर्थे तु—तमोविरोधित्वस्य रूपं प्रतीय गन्धं प्रत्यपि सत्त्वात्, अज्ञानविरोधित्वस्य रूपं प्रत्यभावात्, स्वरूपमात्रग्राहिप्रमाणसहकारित्वस्य दार्ष्टान्तिकाननुगुणत्वाच्च नोपपत्तिः एवं च चितः सर्वगतत्वेन सर्वसंबन्धात्सर्वप्रकाशो दुर्वार एव । असङ्गो ह्ययमिति श्रुतिस्तु तत्कृतलेपाभावपरा, “अनन्वागतस्तेन भवती”ति पूर्ववाक्यात् । किंच किमर्थमिदं वृत्तिकल्पनं? न तावदृश्यलोपपत्त्यर्थम् वृत्तितः पूर्वमप्याध्यासिकदृक्संबन्धेन तदुपपत्तेरिति विफला सा । तथाहि जीवचैतन्यमसङ्गं, तथा ब्रह्मचैतन्यमप्यसङ्गमेवेति तस्यापि वृत्तिद्वारकस्यैव विषयोपरागस्य वाच्यत्वात्सतः सार्वत्र्यं ब्रह्मणो न स्यात्; अनाद्यविद्याद्यपरिणामेन परिणामित्वरूपोपादानत्वेन सार्वत्र्यादेर्विशिष्टनिष्ठत्वेन शुद्धनिष्ठाधिष्ठानत्वेन वा सार्वत्र्योपपादनासंभवात् । द्वितीयमते—अज्ञानं किं पुंगतम्, उत विषयगतम्, आद्येऽपि किं तदेकम्, उतानेकम् । तत्र नाद्यः; शुक्तिज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ मोक्षापातात्, अनिवृत्तौ रूप्यादेः सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधायोगात्, ज्ञानस्य साक्षादज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानानिवर्तनेनान्यानिवर्तनासंभवेन स्वाकारेण लयमात्रमेव रूप्यादेरिति वर्णनस्याप्यसंभवात्, अतएव हि बाधे शुक्तेः प्रकाशोपपत्तिः । खद्योतादिप्रकाशैर्महान्धकारस्यैवाज्ञानस्यैकदेशेन नाशाद्वा भीरुभट्टवदपसरणाद्वा कटवंतंसेष्टेनाद्वा चैतन्यस्याप्येकदेशेन प्रकाश इति तु न युक्तम्; अनाद्यज्ञानचैतन्ययोर्निर्वयवत्वात्, उपादेयभूतया वृत्त्या उपादानभूताविद्याऽभिभावयोगात् । वृश्चिकवृक्षादिना गोमयमृदादेरिवोपादेयस्याप्युपादानाभिभावकत्वेऽपि चक्षुरादिजन्यशुक्तिवृत्तेः रूपादिहीनशब्दैकगम्यशुद्धात्माविषयतया तदावरणशक्त्यप्रतिबन्धकत्वात्, अन्यथाऽखण्डसाक्षात्कारवैयर्थ्यात्, अविद्याकल्पितं जडं प्रत्यविद्याया इव तद्वतावरणशक्तेरप्ययोगात्, मूलाज्ञानावस्थाविशेषाः रजताद्युपादानानि शुक्तिज्ञानेन साध्यासं निवर्तन्ते इति तु न वाच्यम्; तेषामज्ञानविशेषत्वेऽनेकाज्ञानवादप्रसङ्गात्, नचेत्साक्षात्ज्ञानेन निवृत्तेर्भोपादानतायाश्चायोगात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विनाऽनिवृत्त्याऽऽपातात्, शुक्त्यज्ञानं नष्टमित्य-

नुभवविरोधाच्च । आद्ये द्वितीयेऽपि किमेकया वृत्त्या सर्वतदज्ञानानां निवृत्तिः, उत एकतदज्ञानस्य । आद्ये—शुक्तेः पुनः कदाप्यप्रकाशो न स्यात् । अन्ये—तदापि प्रकाशो न स्यात्; एकस्यावरणस्य विनाशेऽप्यन्यस्य सत्त्वात्, सादिशुक्त्यादेः तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वाऽनाद्यज्ञानविषयत्वेनाज्ञानस्य निर्विषयावरणस्यानापाताच्च । न द्वितीयः; मैत्राज्ञानानशेन चैत्रप्रकाशाद्यापत्तेः । एवंच—व्यक्तिः पूर्वं जातिरिव विषयात्पूर्वमज्ञानमप्यस्तीति—निरस्तमिति प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्त्या मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकमिति मन्तव्यम्—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादिबाधसहकृतोक्तानुमानेन प्रपञ्चकल्पितत्वसिद्ध्या प्रतीत्यविशेषेऽपि परीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वविशेषसद्भावेन प्रत्यभिज्ञावलात्स्थायित्वसिद्ध्या च प्रपञ्चे व्यभिचारात् कल्पितत्वस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वव्याप्यत्वाभावात्, विषयचैतन्याभिव्यक्त्येवापरोक्षत्वेन परोक्षवृत्तेरप्यपरोक्षत्वाप्रसङ्गेन परोक्षस्थलेऽपि वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वेन केवलवृत्तिप्रकाशतावादस्यायुक्तत्वात्, अर्थभेदेनैव सकर्मकाकर्मकत्वव्यवस्था; तथैव करोति यतते इत्यादौ दशनादिति वृत्तिस्वप्रकाशतावादे उक्तव्यवस्थाया अपि भङ्गापत्तेः, परोक्षस्थलेऽपि तदाकारत्वसत्त्वेन तदाकारत्वस्य त्रिदुपरागेऽतन्त्रत्वेन प्रभाया इव संश्लेषेणैव विषयसंनिकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वेन तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव सर्वत्र द्वारत्वेन त्वाचप्रत्यक्षाद्युपपत्त्याचान्तःकरणवर्हिर्निर्गमकल्पनस्यावश्यकत्वात्, वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य प्रकाशकत्वेऽप्यध्याससिद्धेः । विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यज्जनावश्यकतायाश्च पूर्वमेवोपपादितत्वात्, अस्तीत्यादितद्विषयव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य तत्संनिकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वस्यापि निर्वचनसंभवात् उपाधिविशेषाजीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यवहियमाणस्य शुद्धचैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेऽपि तदीयमूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन जगदान्ध्याप्रसङ्गात्, उपाध्यविषयकब्रह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तत्सार्थक्यसंभवाच्च पूर्वोक्तमतत्रयमपि युक्तमेव । प्रथममते—लोद्यादावपि प्रतिबिम्बापत्तेरुद्भूतरूपवत्त्वस्य प्रतिबिम्बोपाधिताप्रयोजकत्वासंभवेन स्वच्छत्वस्यैव तत्त्वात् सत्त्वगुणवत्त्वेन स्वच्छायामविद्यायां नीरूपस्याकाशस्यैव तादृशस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवेन तत्प्रतिबिम्बितत्वरूपस्य तदुपरकत्वस्य चिति संभवात्, स्वभावतोऽसंबद्धस्य चैतन्यस्य तदाकारवृत्त्या तदेकसंबन्धेन प्रभाया रूपरसादिगततमोनाशकत्वत् सर्वावभासकत्वाप्रसङ्गात्, अकर्तृत्वप्रतिपादनपराया असङ्गश्रुतेः संबन्धसामान्याभावपरत्वस्यैव युक्तत्वात्, ब्रह्मणोऽप्यसङ्गत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव तत्र सर्वप्रकाशकत्वरूपसर्वज्ञत्वस्याविद्याकल्पितस्याङ्गीकाराच्च न कोऽपि दोषः । द्वितीयमतेऽपि—शुक्तिज्ञानेनावरणशक्तिविनाशेऽपि मूलज्ञानविनाशाभावेन सद्योमोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासाज्ञाननिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तेः, ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात्, अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धाद्बाधदशायां रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाशयोरप्युपपत्तेः, चैतन्यमात्र एवाविद्यायास्तच्छक्तैर्वाङ्गीकारेऽपि तस्मिन्नेव सर्वस्यापि जडस्याध्यासेनोक्ताश्रयाश्रितत्वसंबन्धाज्जडावच्छिन्नचैतन्यमावृत्तमिति व्यपदेश इति घटाद्याकारवृत्त्या तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति शुद्धात्मप्रकाशानापत्तेः, अविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा, तूलाज्ञाननाशाद्वा, अवस्थाविशेषप्रच्यावाद्वा, एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटवदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वाऽवरणभङ्गनिर्माक्षवाधानामुपपत्तेः, अज्ञान इव तदवस्थायामपि तदभिज्ञायां ज्ञानसाक्षात्तत्वे वाधकाभावात्, एकावरणनिवर्तकवृत्त्येवावरणान्तराणामपि प्रतिरोधेन यावद्वृत्ति प्रकाशोपपत्तेः, अनाद्यज्ञानविषयेऽनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदकाभ्युपगमेन निर्विषयावरणावस्थानाप्रसङ्गाच्च न कोऽपि दोषः । तदयं निष्कर्षः—एकवृत्त्युपारोहलक्षणैकलोलीभावापन्नं सत् प्रमातृप्रमाणभिन्नः तस्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते, तेन भास्यं तदध्यस्तं तु फलव्याप्यमित्युच्यते; एवंच प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्नस्याभानावरणाज्ञानस्य चापसरणाद्वदोऽयं मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः । परोक्षस्थले तु इन्द्रियसंनिकृष्टलक्षणद्वाराभावादान्तःकरणनिःसरणाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरनिर्गमाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपरूढत्वाभावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोलीभावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणमात्रनिवृत्तिरिति विवेक इति सर्वमनवद्यम्—इति खण्डयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकाराः पुनः—

स्वाप्नसाधारणपरीक्षायाः स्थायित्वासाधकत्वेन, दृग्दृश्यसंबन्धोपपत्त्या दृश्यत्वेन मिथ्यात्वासिद्धेरुपपादितत्वेन च सामान्यस्यैव व्याप्यत्वे संभवति विशेषस्य तथात्वं न युक्तमिति न्यायेन कल्पितत्वस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वव्याप्यत्वात्, अतीतप्रकाशत इति व्यवहारापत्त्या परोक्षवृत्तेरिवापरोक्षवृत्तेरपि प्रकाशत्वस्यैव युक्तत्वात्, कृञो यत्नार्थत्वात्तेनाख्यातविवरणान्तस्यापि यत्नोऽर्थ इति करोतियतलोः समानार्थकत्वस्य कुशुमाञ्जलादायुक्तत्वात् भावनैक्येऽपि नामपदाख्यातपदाभ्यां कारकान्वयायोऽयतदन्यान्वययोग्यभावनाप्रतीतेराघोषितत्वाच्च, शब्दभेदमात्रेण ज्ञानप्रकाशरूपत्वाङ्गीकारेऽपि सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थोप-

पत्तेः, इन्द्रियान्तरगोलकस्येन्द्रियान्तराधिष्ठानत्वे मानाभावेनैकस्मिन् गोलके एकेन्द्रियस्यैव श्रुतिसिद्धत्वेन च त्वगिन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियगोलकानाधिष्ठानत्वेन त्वगिन्द्रियस्य गोलकान्तरद्वारा बहिर्निर्गमनासंभवेन त्वाचप्रत्यक्षानुपपत्त्याऽर्थमनःसंयोगस्याप्य-
परोक्षहेतुत्वासंभवेनान्तःकरणबहिर्निर्गमनकल्पनस्यायुक्तत्वात्, विषयावच्छिन्नचैतन्यमेव प्रकाशकमिति नियमस्यासिद्ध्याऽ-
ध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रत्वापातात् तदभिव्यक्तिकल्पनस्य व्यर्थत्वाच्च वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यादिप्रकाशकतावादस्याप्य-
युक्तत्वात्, अज्ञाननिवृत्तिघटितस्योक्तयोग्यत्वरूपतदाकारत्वस्याज्ञाननिवृत्त्यप्रयोजकत्वेन तदाकारत्वनिर्वचनस्याप्यसंभवात्,
घटपटाविति समूहालम्बनज्ञानात् घटाज्ञानं निवृत्तमिति व्यवहारोपपत्त्यर्थं तदज्ञाननिवर्तकतायां तद्विषयत्वमेव तन्त्रं, नतु
तदितराविषयत्वमित्यङ्गीकार्यत्वेन सप्रकारकब्रह्मविषयसंशयस्य निष्प्रकारकब्रह्मज्ञानेन बाधासंभवेन एकधैवेति श्रुतौ प्रकारार्थ-
बाधप्रत्ययस्याप्यन्यथाऽनुपपत्त्या च सप्रकारकब्रह्मज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वमिति विशिष्टज्ञानेनैव शुद्धस्यापि प्रकाशाच्छुद्ध-
चैतन्यमेवाधिष्ठानम्, तदेव घटाद्यवच्छिन्नं चक्षुरादिवृत्त्या प्रकाशत इत्यङ्गीकारे चरमसाक्षात्कारवैयर्थ्यापाताच्चोक्तमतत्रय-
मप्ययुक्तमेव । **प्रथममते**—स्वच्छत्वातिरिक्तस्योद्भूतरूपवत्त्वस्याप्रसिद्ध्याऽऽकाशादीनां नीरूपाणां जलप्रतिबिम्बानङ्गीकारेण च
वृत्तिप्रतिबिम्बितत्वरूपस्य तदुपरक्तत्वस्य चित्तसंभवात् । यथाह्यन्येन संबन्धः, एवं वृत्त्यादिनापि न सङ्गः स्यात्; वृत्तेरपि
चित्संबन्धो यदि वृत्त्यन्तराधीनस्तर्हि अनवस्थापत्तिरित्यसङ्गश्रुतेरसंबन्धपरत्वायोगात् सर्वसंबन्धस्यावर्जनीयतया सर्वप्रकाश-
दुर्वात्त्वात्, शुद्धे सार्वत्र्योपगमेऽपसिद्धान्तापाताच्च । बहवो दोषाः सन्तीति न तन्मतमादरणीयम् । **द्वितीयेऽपि**
मते—शुक्त्यज्ञानस्याज्ञानातिरिक्तत्वे आवरणायोगेन तद्रूपत्वेऽपि तन्नाशं विना रूप्यनाशासंभवेन सविलासाज्ञाननिवृत्ति-
रूपबाधानुपपत्तेः शुक्तिज्ञानेनैव ब्रह्माज्ञानस्यापि निवृत्तौ सद्योमोक्षस्य च प्रसङ्गात्, शुक्त्यज्ञानस्य रूप्यभ्रमोपादनत्वे तस्यैवा-
विद्यात्वापत्त्या ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वेऽप्यनिस्तारस्य तदनुपादानत्वे तन्निवृत्तावपि तदुपादाना-
निवृत्तेर्बाधदशायामपि रूप्यनिवृत्तेः उपादानानिवृत्तावप्युपादेयनिवृत्तौ श्रुतज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्त्याऽज्ञानासिद्धेश्च
प्रसङ्गात्, यथाहि तमसा सहैकस्मिन् विद्यमानस्य घटस्य प्रकाशसंबन्धे सति तद्भूतलस्यापि प्रकाशः, तथा घटाकारवृत्त्या
तदवच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तदधिष्ठानचैतन्यप्रकाशोऽप्यवर्जनीय एवेति घटाद्याकारवृत्त्या तदवच्छिन्नचैतन्यमेव प्रकाशते न
शुद्धात्मेत्यस्य बाध्मात्रत्वात्, अवस्थाविशेषाणामज्ञानभिन्नत्वे नानाज्ञानवाद एव पर्यवसानम्, तद्विबले तेषामज्ञानोपा-
दानत्वेनाज्ञाननाशं विना नाशासंभवेन तन्नाशस्याप्यङ्गीकारे सद्योमोक्षत्वम्, उपादाननाशं विनापि नाशाभ्युपगमे मूला-
ज्ञानमेव रजतोपादानं भवतु, किमवस्थाविशेषकल्पनयेति मूलाज्ञान इवावस्थाज्ञानेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यासंभवात्, एकाज्ञान-
स्यैव वृत्त्या प्रतिबन्धेन विषयप्रकाशोपपत्त्याऽज्ञाननानात्वकल्पनस्य व्यर्थत्वात्, अनाद्यज्ञानविषये चैतन्ये तत्तदागन्तुक-
पदार्थावच्छेदाभ्युपगमेऽपि शुद्धचैतन्यावरणस्यैव शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यावरणत्वेन शाखावच्छेदेन संयोगाधारस्य वृक्षत्ववत्
शुक्त्यवच्छेदेन भग्नावरणस्यापि शुद्धत्वाच्छुक्तिसाक्षात्कारेणैव मोक्षप्रसङ्गाच्च न तन्मतमादरणीयम्—इतिप्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

प्रमाणान्तरसंवादविसंवादरूपपरीक्षायाः स्वप्नसाधारण्याभावेन परीक्षितप्रत्यभिज्ञायाः स्थायित्वसाधकत्वेन दृग्दृश्यसंबन्धानु-
पपत्त्या दृश्यत्वेन मिथ्यात्वसिद्धेः पूर्वमुपपादितत्वेन च यदा यदा स्वयं तिष्ठति तदा तदाऽनावृतत्वरूपप्रतिभासिकत्व-
विशेषस्य स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियोगित्वादिघटितमिथ्यात्वापेक्षया तस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वेन कल्पितत्वस्य प्रतिभासमात्र-
शरीरत्वव्याप्यत्वस्यासंभवात्, अतीतः प्रकाशत इति व्यवहारस्येष्टत्वेन परोक्षवृत्तेरपि चैतन्यावच्छेदकत्वेनैव प्रकाशत्वाङ्गी-
कारेण तद्वृष्टान्तेनापरोक्षवृत्तेरपि स्वतो भासकत्वोपपादानासंभवात्, फलानुकूलत्वेनैव करोतिशक्यता, नतु यत्नत्वेन
फलानुकूलयत्नत्वेन वा; यततिकरोत्योरेकार्थकत्वापत्तेरित्याशङ्क्य—कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया । यत्न एव कृतिः
पूर्वाऽपरस्मिन्सैव भावनेति यत्नपूर्वकत्वस्य प्रतिसंधानात् घटादौ कृतत्वव्यवहारात् तदप्रतिसंधाने सहेतुकत्वप्रतिसंधानेऽपि
अङ्कुरादौ कृतत्वव्यवहारादाश्रयार्थतृजन्तकर्तृपदस्य कृत्याश्रय एव प्रयोगाच्च न फलानुकूलमात्रं करोत्यर्थः; किंतु तादृशयत्नः,
सैव भावनेति कुसुमाज्जलादुत्पत्त्येन अङ्कुरः कृत इतिवत् अङ्कुरो यत्तः इति प्रयोगाभावेन करोतेः सकर्मकत्वस्य
यततेश्चाकर्मकत्वस्य च करोतियत्तयोरेकार्थकत्वाभावेनैवोपपादनीयतया शब्दभेदमात्रेण सकर्मकत्वादिव्यवस्थया असं-
भवेनोक्तव्यवस्थाभङ्गापत्तेः यथाहि कर्णादिकं श्रोत्रादेरधिष्ठानमेवं त्वगिन्द्रियस्यापि त्वगाधिष्ठानमिति त्वाचप्रत्यक्षेऽपि
तद्वारा मनःसंयोगोपपादनसंभवेनान्तःकरणनिर्गमनकल्पनस्यार्थमनःसंयोगोपपत्त्यर्थमावश्यकत्वात्, रूपादेः संयुक्त-
समवायादिसत्त्वेऽपि प्रकाशाननुभवात्, गुरुत्वादेराकाख्यविषयतासत्त्वेऽपि तथात्वात् संयोगादिविषयलोभयसंबन्धस्य
भासकतानियामकत्वेन चैतन्यस्य प्रतिबिम्बाश्रयवृत्तिविषयत्वं विना संयोगादीन्विना च भासकत्वासंभवेन वृत्तिप्रति-
बिम्बितचैतन्येनापि घटादेः संयोगस्यावच्छेदकत्वस्य बाङ्गीकरणीयत्वेनाध्यासिकसंबन्धात्तत्त्वाभावेन प्रतिबिम्बितचैतन्या-
वच्छेदकत्वं च घटादेः प्रतिबिम्बितचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदेनैव भवतीति तयोरभेदासंभवेन वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्याभि-

अथ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् ।

ननु—मिथ्यात्वानुमानं प्रतिकूलतर्कपराहृतम् । तथाहि—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, सत्याधिष्ठानं स्यात्, न चैवम्; सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निस्सामान्ये च ब्रह्मण्यसंभवादिति—चेन्न; स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेणाज्ञातत्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वेन ज्ञातविशेषवत्त्वस्याप्रयोजकत्वात् । ‘पुरुषो न वे’ति संशयधर्मिणः स्थाणोरप्यन्यत्र ज्ञातस्थानुत्वरूपविशेषवत्त्वात् तत्राज्ञातविशेषवत्त्वमपि न प्रयोजकम्; विशेषवत्त्वेनाज्ञातत्वस्यैव लघुत्वेन प्रयोजकत्वात् । तथाच निस्सामान्ये निर्विशेषे च ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानात् परिपूर्णत्वानन्दत्वादिना चाज्ञानादधिष्ठानत्वमुपपन्नम् । वस्तुतस्तु—कल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं ब्रह्मण्यपि सुलभमेव; अकल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं चाप्रसिद्धम् । नच तत्कल्पने अन्योन्याश्रयः; कल्पितसामान्यविशेषाणां प्रवाहानादित्वात्, सत्यत्वानन्दत्वादीनामेव कल्पितव्यक्तिभेदेन सामान्यत्वात्, परिपूर्णानन्दत्वादीनां च विशेषत्वात् । अत एव सामान्याकारज्ञानं विना संस्कारानुद्बोधात् कथमध्यास इति न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेणाज्ञातत्वस्येति । ज्ञातत्वे सत्यज्ञातत्वमेव प्रयोजकम् । ज्ञातस्याज्ञातत्वं च न विरुध्यते; स्वरूपविशेषरूपाभ्यां ज्ञातत्वाज्ञातत्वसंभवादित्याशयेनोभयरूपोक्तिः । यद्यपि सद्रूपपूर्णानन्दरूपयोरन्यूनधिकवृत्तिकत्वरूपः सामान्यविशेषभावः; तथापि अमे भासमानाभासमानत्वरूपो बोध्यः । तत्राज्ञातेति । यद्यपि स्थाणुत्वमन्यत्र ज्ञातमपि स्थाणावज्ञातमित्यज्ञातविशेषवत्त्वमक्षतम्; तथापि अमधर्मिणि ज्ञातविशेषस्यान्यत्राज्ञातत्वेऽपि अमानुषत्तेस्तत्राज्ञातत्ववश्यं वाच्यम्, तथाच गौरवमिति भावः । स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानात् स्वप्रकाशचिद्रूपज्ञानात् । पूर्णानन्दत्वादिना चाज्ञानात् पूर्णानन्दसत्यादिस्वरूपाज्ञानाच्च । उपपन्नमिति । यद्यप्युक्तरूपद्वयमेकम्; तथापि तयोरविद्यकानादिभेदः स्वीक्रियते, ‘पूर्णानन्दो नास्ति न भाति चिद्रूपमस्ति आती’ति व्यवहारात् । तथाच रजतादिभ्रमेषु शुक्त्याद्यवच्छिन्नमिव जगद्धमेऽनवच्छिन्नमेवाज्ञातत्वं प्रयोजकमिति भावः । वस्तुतस्तु विचारतस्तु । सुलभमिति । अज्ञातस्वरूपत्वमेव अमे प्रयोजकम्, न त्वज्ञातविशेषवत्त्वम्; ‘सोऽयमित्यादिभ्रमे तथा दर्शनात्, शुक्तिरूप्यादिभ्रमे प्रयोजकस्याज्ञातत्वस्य विशेषावच्छिन्नत्वेनाज्ञातविशेषवत्त्वं प्रयोजकमिति न नियमः; विशेषस्य हि शुक्तित्वादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वाभावात् । अथापि यदि तवाज्ञातविशेषवत्त्वमपेक्ष्यते, तदा तदस्यैव प्रकृते इति भावः । कल्पितसामान्यविशेषाणां स्वरूपेण मिथ्याभूतानां घटकपालादिसामान्यधर्माणाम् । प्रवाहानादित्वादिति । तथाच कपालादिसामान्ये घटादेरध्यासेऽपि घटादिसामान्ये न कपालादेरध्यासः, किं तु स्वावयवे, तस्यापि स्वावयवे व्यक्तविषयावच्छिन्नचैतन्यमेव घटादिभासकमिति अभिव्यक्तिकल्पनस्याप्यावश्यकत्वेन मतान्तरस्याप्युपपत्त्याचादोषात्, तत्तदाकारतात्वेनैवावच्छेदके तत्तदाकारत्वस्य निवेशः, ननु निवृत्तिजनकतावच्छेदकत्वेनेत्यन्योन्याश्रयाद्यनवकाशेन तत्तदाकारत्वादनिर्वचनस्यापि संभवात्, क्वचित् कस्यचित् प्रकारस्य बोधकेन धाप्रत्ययेनाऽऽत्मदर्शने विषयमात्रे प्रकारविशेषस्यैव बोधनेन निर्विकल्पस्यैवात्मदर्शनस्य मोक्षसाधनत्वेन विशिष्टज्ञानस्यातथात्वेन चरमसाक्षात्कारवैयर्थ्याभावाच्च मतत्रयेऽपि न कोऽपि दोषः ।

प्रथमते—नीरूपस्याप्याकाशस्य विवरणमते प्रतिबिम्बाङ्गीकारेणान्तःकरणवृत्तौ चित्प्रतिफलरूपचिदुपरागसंभवात्, संयोगादिना सर्वसंबन्धेऽपि अवच्छेदकत्वादिना सर्वसंबन्धाभावेन सर्वप्रकाशाप्रसङ्गेनाऽऽसङ्गश्रुतेः कर्तृत्वाभावप्रतिपादनोपयोगिकारकासंबन्धपरत्वस्यैव युक्तत्वेनादोषात् । अविद्यादिभिरिव सार्वत्र्यादिभिरपि शुद्धे काल्पनिकसंबन्धाङ्गीकारेऽप्यपसिद्धान्ताभावाच्च न कस्यापि दोषस्य प्रसङ्गः ।

द्वितीयमते—शक्त्यज्ञानस्याज्ञानरूपत्वेऽपि शक्तिविशिष्टत्वरूपेणाविद्याया विनाशाङ्गीकारेण सविलासाज्ञाननिवृत्तिरूपबाधस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रूप्यशक्तिमद्विनाशेऽपि प्रपञ्चशक्तिमद्विनाशाभावेन तस्य ब्रह्मज्ञानमात्रसाध्यत्वेन सद्योमोक्षभावस्य चोपपत्तेः । रूप्यभ्रमोपादानत्वेऽपि शक्त्यज्ञानस्य तादृशशक्तिमदविद्यालक्षणाभावेनाविद्यात्वापत्त्या, शक्तेः कारणतारूपत्वेनानुपादानत्वेऽपि शुक्त्यादिसाक्षात्कारेण तद्विशिष्टज्ञाननिवृत्त्या रूप्यनिवृत्तिसंभवेन शक्त्या शक्तिमतोऽन्यथासिद्धसंभवेनचादोषात्, शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयसाक्षात्कारस्य शुद्धविषयकस्यापि शुद्धज्ञाननिवर्तकत्वेन चरमसाक्षात्कारसार्थक्यात्, अविद्यातादात्म्यापन्नानामप्यवस्थानामज्ञानरूपत्वाभावेऽपि तूलाज्ञानवत्पृथगावरणविक्षेपशक्त्यङ्गीकारेण नानाज्ञानवादपर्यवासानाद्यभावात्, वृत्त्यनवच्छेदकत्वसमानाधिकरणज्ञानसंबन्धस्य भातीति व्यवहारे प्रतिबन्धकत्वाद् वृत्तिकालेऽज्ञानान्तरसंबन्धेऽपि घटादिप्रकाशोपपत्तेः, यथैकाज्ञानपक्षः प्रामाणिक एवं नानाज्ञानपक्षोऽपीत्यन्यतरपक्षेण मतार्थताशङ्काया अप्ययोगाच्च सर्वोपपत्त्या न कोऽपि दोषः इति सर्वमनवद्यम्—इति व्यवस्थापयन्ति ॥

इति प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः ॥

वाच्यम्; सदात्मना स्वरूपज्ञानस्यैव सामान्यज्ञानत्वात् । न ह्यध्यसनीयं सदात्मना न भाति । एतावानेव विशेषः—यदधिष्ठानं स्वत एव सदात्मना भाति, अध्यसनीयं तु तत्संबन्धात् । ननु—अधिष्ठानतिरोधानं विना भ्रमासंभवः, प्रकाशरूपतिरोधाने तु तदध्यस्ताविद्यादेः प्रकाशानुपपत्तिरिति—चेत्, न; एकस्यैवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकाशसंभवात् । तदुक्तं वार्त्तिककारपादैः—‘यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम् । तमप्यपहुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम् ॥’ इति । नच—बाधकालेऽपि सद्विशेषज्ञानमस्तीति—वाच्यम्; परिपूर्णानन्दत्वादेः सत एव विशेषत्वेन तदा तदज्ञानाभावात्, धर्मत्वमात्रस्यैव कल्पितत्वात् । यद्वा—भ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्नं, न तु विशेषाज्ञानम्; विश्वोपादानगोचराज्ञानस्य श्रवणादिजन्यमात्रमात्रविषयकं वृत्तिरूपं ज्ञानं विरोधि, न तु चिद्रूपं स्वतःसिद्धं ज्ञानम्; भ्रमविरोधिनश्च वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्येदानीमभावोऽस्त्येव । ननु—आत्मानात्मनोर्दृष्टृदृश्यत्वात्मानात्मत्वादिना भेदज्ञानात् कथमध्यस्ताधिष्ठानभाव—इति चेन्न; इदमनिदं न भवतीति पुरोवर्त्यपुरोवर्तिनोर्भेदग्रहेऽपीदं रजतमित्यध्यासवत् सन् घट इत्याद्यध्यासो भविष्यति । न हि रूपान्तरेण भेदग्रहो रूपान्तरेणाध्यासविरोधी; सन्धट इत्यादिप्रत्यये च सद्रूपस्यात्मनो घटाद्यनुविद्धतया भानान्न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठानतानुपपत्तिः, सद्रूपेण च सर्वज्ञानविषयतोपपत्तेर्न रूपादिहीनस्याप्यात्मनः कालस्येव चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः । ननु—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तदा सप्रधानं स्यात्, न चैवम्; तस्मात् न कल्पितमिति—चेन्न; अत्रापि प्रधानस्य सजातीयस्य सत्त्वात्, पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्यैवोत्तरप्रपञ्चस्याध्यसनात् । अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते, न तु संस्कारविषयस्य सत्यताम्; अनुपयोगात् । नच—प्रमाजन्य एव संस्कारो भ्रमहेतुः, अतो विषयसत्यत्वमावश्यकमिति—वाच्यम्; मानाभावात्, विपरीते लाघवाच्च । अतएव—अध्यस्तसजातीयं पूर्वमध्यस्तापेक्षयाऽधिकसत्ताकमपेक्षणीयमित्यपि—निरस्तम्; सत्यतावदधिकसत्ताया अप्यनुपयोगात् । पूर्वं तु ज्ञानमात्रमपेक्षते, तच्चास्त्येव । ननु—एवमधिष्ठानस्यापि ज्ञानमात्रमेव हेतुः, न तु तदिति न सदधिष्ठानापेक्षा स्यादिति शून्यवादापत्तिरिति—चेन्न; अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेऽप्यज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेन सत्त्वनियमात् । भ्रमोपादानाज्ञानविषयो ह्यधिष्ठानमित्युच्यते, तच्च सत्यमेव; असत्यस्य सर्वस्याप्यज्ञानकल्पितत्वेनाज्ञानाविषयत्वात्, तदसत्यत्वे तज्ज्ञानस्य भ्रमाबाधकत्वप्रसङ्गात्, जगति भ्रमबाधव्यवस्था च न स्यात् । बाधेन हि किञ्चिद्विरुद्धं तत्त्वमुपदर्शयता आरोपितमतत्वं बाधनीयम्, उभयाध्यासे तु किं केन बाध्यते ? अत

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इति तत्सामान्यानां प्रवाहानादित्वाज्ञानान्योन्याश्रयः । नन्वाकाशादेरध्यासे सत्त्वानन्दत्वादिकमेव सामान्यधर्मः; ‘सदाकाश’मित्यादिभ्रमोदयात्, तथा च सत्त्वादीनामपि संसृष्टरूपेण ब्रह्मधर्मतया कल्पितत्वात्तदध्यासे आकाशादिकमेव सामान्यमित्यन्योन्याश्रयः, तत्राह—सत्त्वेति । सत्त्वानन्दत्वादिसामान्यधर्मस्यानादिसंसर्ग एव ब्रह्मणि स्वीक्रियते इति नान्योन्याश्रयशङ्का । तस्य सादित्वस्वीकारेऽप्यज्ञानविषयत्वमेव तदध्यासे सामान्यम्, नाकाशादिः; तज्ज्ञानाद्येवेति न तदध्यासे अन्यसामान्यापेक्षेति भावः । व्यक्तिभेदेनेति । वस्तुतस्तु भ्रमे भासमानत्वमेव सामान्यत्वम्, न तु नानाव्यक्तवृत्तित्वम्; एकमात्रवृत्तिधर्मविशिष्टेऽपि धर्मिण्यारोपात् । कथमिति । ‘इदं रजत’मिति भ्रमे तादृशसंस्कारस्य सादृश्यादिविशिष्टधर्मिज्ञानोद्भूतस्य यथा हेतुत्वं, तथा ‘सदाकाश’मित्यादिभ्रमे तादृशसंस्कारस्यापीति भावः । ननु सद्रूपं नाधिष्ठानम्, अध्यसनीयानुविद्धत्वेनाप्रतीयमानत्वात्तत्राह—न हीति । नन्वध्यसनीयापेक्षया अधिकसत्ताको योऽज्ञातविशेषः तद्वत्त्वमधिष्ठानत्वे तन्नम्; रूप्यादौ तथा दर्शनात्तत्राह—यद्वेति । न तु विशेषाज्ञानं न त्वधिष्ठानवृत्तित्तादृशविशेषस्याज्ञानम् । ‘नायं स’इत्यादिभ्रमे शुद्धव्यक्तिमात्राज्ञानस्यैव हेतुत्वेन तदधिष्ठाने तादृशज्ञानस्याहेतुत्वादिति शेषः । प्रधानपदेन यदि कालान्तरे देशान्तरे वा विद्यमानमध्यस्तसजातीयमुच्यते, तत्राह—अत्रापि । यदि तु तादृशं सत्त्वमुच्यते, तत्राह—अध्यासो हीति । विपरीते भ्रमजन्यसाधारणेन संस्कारत्वेन हेतुत्वे । हेतुः प्रयोजकम् । न तु तत् न तु प्रमाघटकतया अधिष्ठानं प्रयोजकम् । शून्येति । तथाचाधिष्ठानप्रमाया हेतुत्वेन अधिष्ठानं यथा सत्यमपेक्ष्यते, तथा प्रमाजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वेन प्रधानमपि सत्यमिति भावः । भ्रमाहेतुत्वे भ्रमाप्रयोजकत्वे । अज्ञानद्वारा अज्ञातत्वोपहितरूपेण । हेतुत्वेन उपादानत्वेन । अज्ञानकल्पितत्वेन अज्ञानप्रयुक्ततायोग्यत्वेन अस्वप्रकाशात्वेनेति यावत् । तथाच जडस्य प्रकाशाप्रसक्त्या नाज्ञातत्वमिति भावः । भ्रमाबाधकत्वेति । व्यावहारिकभ्रमाबाधकत्वव्यर्थः । ननु मिथ्याविषयकमप्युक्तभ्रमबाधकमस्तु, तत्राह—जगतीति । विरुद्धं व्यावृत्तरूपम् । तत्त्वं बाध्यापेक्षयाऽधिकसत्ताकम् । उपदर्शयता विषयीकुर्वता । एवकारः शेषः । ननु—आचार्यैरेव द्विती-

एव भगवता भाष्यकारेण—“सत्यावृत्ते मिथुनीकृत्ये”त्युक्तम् ॥ ननु—एतत्प्रपञ्चसाध्यार्थक्रियाकारिणः प्रपञ्चान्तरस्याभावेन खोचितार्थक्रियाकारिणोऽस्य न मिथ्यात्वमिति—चेन्न; स्वाप्नमायादौ व्यभिचारात्, खोचितार्थक्रियाकारित्वस्य पारमार्थिकसत्त्वाप्रयोजकत्वात् । नापि श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिमत्त्वं सत्त्वे तन्नम्; स्वप्नप्रपञ्चे व्यभिचारात्, तस्यापि “न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथस्सृजत” इत्यादिश्रुत्योत्पत्त्यादिप्रतिपादनात् । नच कल्पाद्यभ्रमायोगः; कल्पान्तरीयसंस्कारस्य तत्र हेतुत्वात् । नच जन्मान्तरीयसंस्कारस्य कार्यजनकत्वे अतिप्रसङ्गः; अदृष्टादिवशेन क्वचिदुद्बोधेऽप्यन्यत्रानुद्बोधोपपत्तेः, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्, अन्यथा जातस्य स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । ननु—चैत्रेण मैत्रे संस्काराध्यासेऽपि मैत्रस्य भ्रमादर्शनात् जगद्भ्रमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं दुर्वारम्, नच खेनाध्यस्तात्संस्काराद्भ्रमः; भ्रमात् पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासनियमाभावादिति—चेन्न; शुक्तिरूप्यस्य कुण्डलाजनकत्ववच्चैत्राध्यस्तसंस्कारस्य मैत्रभ्रमाजनकत्वेऽपि वणिग्वीथीस्थरूप्यस्य कुण्डलजनकत्ववत्खेनाध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्यध्यासजनकत्वोपपत्तेः तत्प्रतीत्यभावेऽपि तदध्यासस्य पूर्वं सत्त्वात् कृत्स्नस्यापि व्यावहारिकपदार्थस्याज्ञातसत्त्वाभ्युपगमात् । ननु—प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य त्वन्मते व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववद्यावहारिकप्रपञ्चेऽपि ‘नेह नाने’ति त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकप्रपञ्चान्तरविषयताऽवश्यं वाच्येति—चेन्न; भ्रमबाधवैयधिकरण्यापातेनास्य पक्षस्यानङ्गीकारपराहतत्वात् । अङ्गीकारेऽपि व्यावहारिकनिषेधे पारमार्थिकनिषेधत्वं न संभवति; अप्रतीतस्य निषेधायोगात् । प्रतीत्या सहाध्यासातिरिक्तसंबन्धाभावेन पारमार्थिके प्रतीतत्वाभावात् । ननु—प्रधानाधिष्ठानयोः सादृश्याभावात्कथमध्यासः ? अथ निर्गुणयोरपि गुणयोः सादृश्यवदत्रापि किञ्चित्सादृश्यं भविष्यतीति, तन्न; निर्धर्मके ब्रह्मणि तस्याप्यध्यासाधीनत्वेनान्योन्याश्रयात् । यद्यपि सादृश्यं सोपाधिकाध्यासे न कारणम्, व्यभिचारात्; तथापि निरुपाधिकाध्यासेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् सोपाधिकेऽपि ‘रक्तः स्फटिक’ इत्यादौ द्रव्यत्वादिना सादृश्यस्य सत्त्वाच्चेति—चेन्न; अविद्याध्यासस्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य सादृश्यानपेक्षत्वात्, अन्तःकरणाध्यासेऽप्यविद्यासंबन्धित्वस्यैव सादृश्यस्य विद्यमानत्वात् । वस्तुतस्तु—न भ्रमे सादृश्यापेक्षानियमः; निरुपाधिकेऽपि ‘पीतः शङ्ख’ इत्यादौ व्यभिचारात् । ‘रक्तः स्फटिक’ इत्यादावपि द्रव्यत्वादिना सादृश्यमस्तीत्यपि न; प्रधानमात्रवृत्तितया प्रागवगतमध्याससमये चाधिष्ठानवृत्तितया गृहीतं यत् तदेव हि सादृश्यं विपर्ययप्रयोजकमिति त्वयापि वाच्यम्, नतु प्रागेव प्रधानाधिष्ठानोभयवृत्तितया गृहीतम्; तस्य सांशयिकत्वात् । द्रव्यत्वादि च लोहितालोहितवृत्तितया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यमिध्यात्वविवेचने स्वाप्ननिषेधस्य स्वाप्नबाधकत्वमुक्तम् । सत्यम्; तत्र बाधकत्वं भ्रमत्वज्ञापकत्वम्, न तूच्छेदकत्वमित्यस्माभिर्व्याख्यातम् । तथाच स्वाप्नस्य गजाद्यभावस्य स्वाप्नगजादिसमसत्ताकत्वेन अन्यूनसत्ताकाभावघटितं मिथ्यात्वं ज्ञापयन्निषेधो बाधक इत्युच्यते इति बोध्यम् । न चेति । तत्कल्पीयज्ञानजन्यसंस्कारस्य पूर्वमभावात् इति शेषः । स्तन्यपानादाविति । इष्टसाधनत्वस्मृत्यसंभवेनेति शेषः । कार्यानुमेयेत्यादि । यतः कार्यलिङ्गैकगम्यः संस्कारः, अतः कार्यात् पूर्वं तदप्रतीतेः तत्सत्त्वे मानाभावादित्यर्थः । प्रतीत्यभावेऽपीति । ननु—संस्कारकल्पनागौरवात् अध्यस्तत्वमाकाशादेस्त्वक्तुं युक्तमिति—चेन्न; तत्तज्ज्ञाननाशस्यैव संस्कारत्वेन त्वयापि संस्कारस्य पूर्वानुभूतविषयकत्वावश्यं वाच्यत्वेनागौरवात् । प्रपञ्चान्तरविषयतेति । उक्तनिषेधप्रतियोगित्वेन प्रपञ्चान्तरविषयतेत्यर्थः । निरुपाधिकेऽपीति । नच—‘पीतः शङ्ख’ इत्यादौ चक्षुषा सहितस्य पित्तद्रव्यस्य शङ्खादौ संसर्गात्तदीयपीतत्वमनुभूयमानमारोप्यते इति जपासंयुक्तस्फटिकादौ लौहित्यादिबीजदोषाधिकाध्यास एवायमिति—वाच्यम्; पित्तद्रव्यस्य शङ्खादिसंयोगे पुरुषान्तरेण तस्य तद्रूपपीतरूपस्य वा ग्रहणापत्तेः, पुरुषान्तरं प्रति तदयोग्यत्वकल्पने गौरवापत्तेश्च । चक्षुर्गोलकस्थपित्तद्रव्यस्यैव सूर्यमाणपीतिमभ्रमजनकत्वादादिपदप्राप्ते रजतपात्रादौ स्थिते जलादौ नैव्यभ्रमे सोपाधिकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वात् । न हि तत्र स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्मसंक्रामकसोपाधिपदार्थस्य संभवोऽस्ति । प्रागवगतमिति । प्रधानसंबन्धितया यत् कदाचिदवगतं, तस्यैव सादृश्यस्य शुक्लत्वादेर्ज्ञानस्य संबन्धिज्ञानविधया प्रधानसंस्कारोद्बोधद्वारा भ्रमहेतुत्वात् प्रागवगतत्वमावश्यकम् । अध्याससमये अध्यासोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे । प्रागेव अध्यासोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे एव । सांशयिकत्वादिति । प्रधानस्य लौहित्यादिमत्तया अधिष्ठानस्य च स्फटिकादेर्लौहित्याद्यभाववत्तया ज्ञानात्तु-

प्राग्गृहीतमिति न विपर्ययप्रयोजकम् । किञ्च सादृश्यं न स्वतो भ्रमकारणम्; मानाभावात्, किंतु संस्कारोद्बोधेन सामग्रीसंपादकतया, संस्कारोद्बोधश्च न सादृश्येकनियतः; अदृष्टादिनापि तत्संभवात् । तदुक्तम्—‘सदृशादृष्टचिन्तायाः स्मृतिबीजस्य बोधकाः’ । इति । चिन्तादिकं च प्रणिधानसूत्रे व्याख्यातम् । तथाचान्यतः संस्कारोद्बोधे सति सादृश्यमनुपयोगि । तदुक्तं विवरणे—‘निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इतिवत् सादृश्यान्तरं वा, शङ्खपीतिमादाविव कारणान्तरं वा कल्पयतीति । ननु—दोषं विना भ्रमस्वीकारे तदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वापत्तिः, दोषजन्यत्वस्वीकारे तु दोषस्याप्यध्यसनीयत्वेनानवस्थापत्तिरिति—चेन्न; अनाद्यविद्याध्यासस्य दोषानपेक्षत्वात् । साद्यध्यासस्य चाविद्यादोषजन्यत्वात् नाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्; नाप्यनवस्था । अन्यथा तार्किकाणामप्यनादिप्रमा गुणं विनापीति प्रामाण्यपरतत्त्वं भज्येत । जन्यप्रमामात्रस्य गुणजन्यत्वं तु जन्याध्यासमात्रस्य दोषजन्यत्वेन समम् । ननु—लाघवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रं प्रति संसर्गधिय इव धूममात्रं प्रति दोषादीनां जनकत्वादविद्याध्यासोऽपि कथं कलत्रकारणेन विना भवतु ? अन्यथा संसर्गधीरपि प्रवृत्तिविशेषे वह्निरपि धूमविशेषे हेतुरिति स्यात्; तथाचाख्यातिवादश्चानुमानमात्रोच्छेदश्चापद्येयाताम् । किञ्च अविद्यारूपविषयस्यानादित्वेऽपि तत्प्रतीतेर्दोषाजन्यत्वेऽप्रामाण्यापातः; अप्रामाण्यप्रयोजकस्य दोषजन्यत्वस्याभावात्, अथ भेदवदविद्याख्यदोषस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्, एवमपि भेदो भिन्न इतिवत्, ‘अज्ञानज्ञात’मिति व्यवहारो भवतु; प्रतीतिमात्रशरीरस्य स्वविषयधीहेतुत्वं कुतः? स्वस्य स्वस्मात् पूर्ववृत्तित्वासंभवादिति—चेन्न; अध्यासत्वस्य लघुत्वेऽपि प्रथमोपस्थितत्वेऽपि न दोषजन्यतायां तन्नत्वम्; दोषस्यापि दृश्यत्वेनाध्यसनीयतयाऽनवस्थापत्तेः । यथा नित्यज्ञानवादिनां ज्ञानत्वस्य न शरीरजन्यतादाववच्छेदकत्वम्, नवा गुणजन्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वम्; बाधकबलात्, तद्वत् जन्याध्यासं प्रत्येव दोषादीनां कारणत्वम्; गुणाजन्यत्वेऽप्यबाधितविषयतया नित्यज्ञानप्रामाण्यवत् दोषाजन्यत्वेऽपि बाधितविषयतयाऽनाद्यध्यासस्याप्यप्रामाण्योपपत्तिः । बाधितविषयत्वेऽपि न दोषजन्यत्वमवच्छेदकम्; दोषजन्यत्वेऽप्यवच्छेदकान्तरान्वेषणेऽनवस्थापातात् । बाधितविषयत्वस्य दोषाजन्यवृत्तित्वेऽपि दोषजन्यत्वस्य तद्व्याप्यत्वोपपत्तेः । अत एव शबरस्वामिना ‘यस्य दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनो नान्य’ इति वदता दुष्टकरणजन्यत्वमन्तरेणापि अर्थान्यथात्वमप्रामाण्यप्रयोजकमुक्तम् । अविद्याध्यासरूपस्य साक्षिचैतन्यस्याविद्याजन्यत्वानभ्युपगमात् न प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याघातः; ‘अहमज्ञ’ इत्याद्यभिलापकारणीभूतवृत्तिरूपाध्यासं प्रति त्वविद्यायाः कारणत्वमस्त्येव, घटादीनामिव स्वप्रत्यक्षं प्रति । वह्निविशिष्टधियोस्तु बाधकाभावात् सामान्येनैव धूमप्रवृत्ती प्रति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भयवृत्तित्वेन द्रव्यत्वादिज्ञानस्य साधारणधर्मवद्भिन्नज्ञानविधया संशयहेतुत्वादित्यर्थः । तथाच संशयसामग्र्यां सत्यां न निश्चयरूपो भ्रम इति भावः । सादृश्यं सादृश्यादिधीः । उद्बोधेन शक्त्युत्पादनेन । अथवा—न स्वतो भ्रमकारणमिति । सादृश्यधीत्वेन भ्रममात्रे न कारणमित्यर्थः । संस्कारोद्बोधनेन संस्कारसहकारित्वेन । सामग्रीति । कान्विकभ्रमसामग्रीत्यर्थः । एवंच संस्कारसहकारिविशेषत्वमेवोद्बोधकत्वमिति स्वीकारेऽपि न क्षतिः । प्रणिधानसूत्र इति । गौतमीयन्यायपञ्चाध्यायीतृतीयाध्यायद्वितीयाह्निकस्थे ‘प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसंबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मेनिमित्तेभ्य’ इति सूत्र इत्यर्थः । प्रणिधानं मनोधारणं यस्मिन् विषये, तद्गतविशेषस्य स्मारकम्, निबन्धः एकवाक्योक्ताः, अभ्यासः ज्ञानावृत्तिकृतः संस्कारः शीघ्रं स्मारकः, लिङ्गं व्याप्यव्यापके, लक्षणं व्यावर्त्यव्यावर्तके, सादृश्यं सदृशः, परिग्रहः स्वस्वामिनौ, आश्रयाश्रितौ पोषकपोष्यौ, संबन्धः शिष्याचार्यादयः, आनन्तर्यं पूर्वापरकालानुष्ठेयाः ज्ञानतर्पणादयः, वियोगः वियुक्ताः, एककार्यम् एककार्याः, विरोधो विरुद्धाः, अतिशयः आश्रयान्यूनानाधिकाः, व्यवधानम् प्राप्तिः प्राप्यप्रापकौ, प्रमाणप्रमेयादयः, असिकोशादय आच्छाद्याच्छादकाः, एते मिथः स्मारकाः । सुखदुःखे अनुभूयमाने स्वमूलस्य, इच्छा ज्ञेहः, अर्थित्वम् अप्राप्तेच्छा, रागो लब्धविषये बुभुक्षा, एते द्वेषश्च यत्र विषये जातास्तस्य मुहुः स्मारकाः । भयं यतो जातं तस्य, धर्मः गतजन्मादेः, अधर्मो यस्य ज्ञानादुःखं जायते तस्य, निमित्त-उन्मादादिकम् । सूत्रे स्मृतिरिति शेषः । गुणावयवसामान्येति । गुणद्वारा अवयवद्वारा वा सादृश्येत्यर्थः । कारणान्तरं सादृश्यनिरपेक्षदोषादिकारणम् । घटादीनामिवेति । तथाच विषयविधया अविद्यायास्तत्र जनकत्वादेवा-

हेतुतेति न पूर्वोक्तदोषापातः । ननु—अविद्याध्यासस्यानादित्वेन दोषाद्यनपेक्षावदधिष्ठानानपेक्षापि स्यादिति—चेन्न; जनकत्वेनाधिष्ठानानपेक्षायामप्याश्रयत्वेन तदपेक्षानियमात् । परममहत्त्वादेराश्रयापेक्षावत् अध्यासस्य साधिष्ठानकत्वनियमेनावपि परतन्त्रत्वस्य समत्वात्, भास्यस्याविद्याध्यासस्य भासकतयाप्यधिष्ठानापेक्षणाच्च । अविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्याविद्यादिसकलद्वैतद्रष्टृत्वात् तस्यैव चान्तःकरणावच्छेदेन प्रमातृत्वात्, भ्रमप्रमयोः सामानाधिकरण्योपपत्तर्भ्रमस्य सामानाधिकरणप्रमानिवर्त्यत्वमुपपद्यते । ननु देहेन्द्रियादिकं विना कथमन्तःकरणाध्यासः ? काऽत्रानुपपत्तिः ? अधिष्ठानापरोक्षत्वं हि अपरोक्षभ्रमे कारणम्, तत् यत्राधिष्ठानं स्वतो नापरोक्षम्, यथा शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यम्, तत्र तदपरोक्षतार्थं देहेन्द्रियाद्यपेक्षा, प्रकृतेचाविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमधिष्ठानम्, तत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेनाविद्यायाश्च तदध्यस्तत्वेन तेनैव साक्षिणा अपरोक्षत्वात् कुत्र देहेन्द्रियाद्यपेक्षा ? अथैवं प्रलये देहेन्द्रियाद्यभावेऽप्यज्ञानसद्भावेनान्तःकरणाध्यासप्रसङ्गः, न; तदा देहेन्द्रियादिसर्जनविलम्बहेतुनैव तद्विलम्बसंभवात्, अन्यथा तदा देहेन्द्रियादिकमपि कुतो नोत्पद्येत ? नच—दोषादीनामध्यस्तत्वेन तदभावस्य तात्त्विकत्वात् अतात्त्विकेन तात्त्विककार्यप्रतिबन्धस्यायुक्तत्वात् बौद्धेन दुष्टतया कल्पितस्य वेदजन्यज्ञानस्यैव कल्पितदोषजन्यस्य द्वैतविज्ञानस्य प्रामाण्यापात इति—वाच्यम्; बौद्धकल्पितस्य प्रातिभासिकदोषस्य व्यावहारिकवेदापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वेन तदप्रामाण्याप्रयोजकत्वेऽप्यविद्याख्यदोषद्वैतप्रपञ्चयोः समसत्ताकत्वेन कार्यकारणभावनियमेन च कारणीभूताविद्याख्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विद्यारूपदोषजन्यत्वमप्रामाण्यप्रयोजकं स्थितमेव । न हि भ्रमत्वेन दोषजन्यत्वं तत्प्रयोजकम्; तत्तदननुगतदोषकार्यत्वस्य भ्रमत्वाविशेषिततत्तद्व्यक्तित्वादिनैवावच्छेदात्, अपि तु भ्रमत्वव्याप्यरूपेण दोषजन्यत्वं तत्प्रयोजकम् । तथाचाविद्यारूपविषयजन्यवृत्तिज्ञानमात्रनिष्ठधर्मस्योक्तविषयजन्यतावच्छेदकस्यापि भ्रमत्वव्याप्यत्वेन तद्रूपेण जन्यत्वमपि तथा । नच—विषयजन्यप्रत्यक्षस्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वमावश्यकम्, तदभावान्न विषयजन्यत्वमिति—वाच्यम्; इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षस्यैवोक्तनियमात्, तार्किकादिनव्यमतेऽपि सुखादिप्रत्यक्षस्येन्द्रियाजन्यत्वस्वीकाराच्च । साधिष्ठानकत्वेति । यस्य ज्ञानादध्यासोच्छेदस्तत्तादात्म्येत्यर्थः । उपपद्यत इति । ननु—बाधितविषयकत्वेन भ्रमत्वं नित्यज्ञानस्य दोषाजन्यवेऽपीत्युक्तम्; गुणाप्रयुक्तत्वेन प्रमात्वस्यैव दोषाप्रयुक्तत्वेन भ्रमत्वस्यापि स्वतस्त्वापत्तेः, अतएव शाबरवाक्ये दुष्टकरणजन्यत्वं मिथ्यात्वधीश्वर समुच्चितमुभयमप्रमात्वप्रयोजकमित्यर्थ इति—चेन्न; भावानवबोधात् । यथा हि तार्किकमते जन्यप्रमात्वं गुणजन्यतावच्छेदकम्, न तु प्रमात्वमात्रम्; तस्य नित्यसाधारण्यात्, तथा जन्यभ्रमत्वमेव दोषजन्यतावच्छेदकम्; न च तावता तस्य स्वतस्त्वम्, शाबरवाक्यं तु नोभयस्याप्रमात्वप्रयोजकत्वपरम्; चरमस्यैव तत्संभवात्, आद्यं तु जन्यभ्रमत्वस्य दोषजन्यतावच्छेदकत्वज्ञापनाय । तदपि भ्रमत्वं बौद्धसम्मतस्य स्वतस्त्वस्य निरासायेति बोध्यम् । यदपि—विषयजन्यप्रत्यक्षत्वं प्रमात्वव्याप्यम्—इति, तदपि न; अनुभूयमानरक्तत्वादेः स्फटिकादावारोपे व्यभिचारात् । कुतो नेति । ईक्षणाभावात् आकाशादिसृष्टौ विलम्बः, ततश्च देहादिसृष्टौ विलम्ब इति भावः । ननु—कुत ईक्षणोत्पत्तौ विलम्बः ? इति—चेत्, परेषां मतेऽप्याद्यकार्यस्योत्पत्तौ कुतो विलम्बः ? अथ—तार्किकाणां व्याणुकोत्पादकसंयोगः परमाणुक्रियाविशेषादेव; साङ्ख्यानं सत्त्वादिगुणपरिणामविशेषादेव महत्त्वोत्पत्तिः, तथाच प्रलये आद्यकार्यविलम्बः तदभावादिति—चेत्, तर्हि ममापि तथैव समाधानम् । यथा हि सांख्यानां मते प्रलये सत्त्वादिगुणानां परस्परापेक्षयोर्द्विकपरिणामस्य सृष्टिप्रयोजकत्वास्वीकारेऽपि परस्परापेक्षया समाना एव परिणामाः स्वीक्रियन्ते, तथा मन्मतेऽपि । एतावांस्तु विशेषः—यत्तैः क्षणिकाः परिणामाः स्वीक्रियन्ते; 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा कृते चिच्छक्तेरिति तत्सिद्धान्तात्, अस्माभिस्तु क्षणद्वयस्थायिनस्ते स्वीक्रियन्ते; उत्तरपरिणामस्य पूर्वपरिणामनाशकत्वात्—इति । तात्त्विकत्वादिति । प्रामाण्यापात इत्यग्रेऽन्वयः । प्रामाण्यं तात्त्विकप्रामाण्यम् । ननु दोषाणामेव प्रतिबन्धकत्वात् कथं तात्त्विकप्रामाण्याश्रयस्योत्पत्तिः ? तत्राह—अतात्त्विकेनेति । तात्त्विककार्येति । तात्त्विकप्रामाण्याश्रयत्वार्थः । तेन तस्यायुक्तत्वे दृष्टान्तमाह—बौद्धेनेति । दुष्टतया दोषजन्यतया । समसत्ताकत्वेनेति । ननु स्वसमसत्ताकेऽपि ब्रह्मज्ञाने अविद्यादोषो नाप्रामाण्यप्रयोजकः; मिथ्यात्वात्, अतो द्वैतज्ञानेऽपि तथा । न च—ब्रह्मज्ञाने अविद्याया उपादानत्वेऽपि भ्रमत्वेन नाविद्यादिदोषनिमित्तकारणतानिरूपितकार्यतेति सा न तथेति—वाच्यम्; न ह्युक्तकार्यता भ्रमत्वेन प्रपञ्चज्ञानेऽप्यस्ति, किंतु कार्यत्वेनाविद्यादोषादानतानिरूपितकार्यतैवेत्यत आह—कार्यकारणभावनियमेनेति । यथाच यत्र विषयेऽविद्या उपादानं तस्यैव ज्ञाने अप्रामाण्यप्रयोजिकेति न ब्रह्मज्ञाने सा तथेति भावः । सत्यतापातः तात्त्विकप्रामाण्यादिरूपस्य भ्रमवैलक्षण्यस्यापातः । ननु विद्यमानस्याख्यविद्यादो-

दोषाभावे कार्यभूतद्वैतप्रपञ्चतद्विज्ञानयोरभावनियमेन नाविद्यामिथ्यात्वेन द्वैतज्ञानसत्यतापातः कारणमिथ्यात्वे कार्यमिथ्यात्वस्यावश्यकत्वात्, ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य बाध्यावाध्यसाधारणस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यनपेक्षत्वात् न सत्त्वविभागासिद्धिः । ननु—दोषादीनां रूप्यादिभ्रमहेतूनां पारमार्थिकसत्त्वमौत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धमिति परमार्थसतामेव तेषां हेतुत्वमिति—चेन्न; व्यावहारिकप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि त्रिकालावाध्यत्वरूपतात्त्विकप्रामाण्यं न केनापि गृह्यत इति प्रत्यक्षबाधोद्दारे प्रागेवाभिहितत्वात् । नच—रूप्याद्यध्यासे दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दृष्टमिति इहापि तथेति—वाच्यम्; साधर्म्यसमजात्युत्तरत्वात् । वस्तुतस्तु सर्वत्र चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेन कुत्रापि दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वाभावात् । नच—बाधकज्ञानं सत्यमेव वक्तव्यम्, अन्यथा बाधपरम्पराया अनवस्थापत्तेरिति—वाच्यम्; वेदान्तवाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तेः कतकरजोन्यायेन स्वपरबाधकतयाऽनवस्थाया अभावात् । दृश्यत्वमात्रेण युगपत्कृत्स्नबाधसंभवात् । नहि गुहायां न शब्द इति शब्दः स्वं न निषेधति; अन्यथा स्वस्य स्वेनानिषेधे तत्राप्यनवस्थापत्तिः, शब्दमात्रनिषेधानुभवविरोधश्च । यद्यपि बाधकज्ञानं वृत्त्युपरक्तचैतन्यरूपं स्वतः सत्यमेव; तथापि तदवच्छेदिकाया वृत्तेर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वात् बाधोपपत्तिः । ननु—बन्धस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वे तदभावार्थं यत्नो न स्यात्; अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वात्, अतएव न तत्प्रतीत्यभावार्थमपि यत्नः; तस्या अपि मिथ्यात्वात्, अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धप्रतीत्या तद्दशायामपि प्रातिभासिकबन्धापातात् । अथ पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वम्, स्वरूपेण तु निवृत्तिरेव, न; तस्याः स्वरूपाबाधेनाप्युपपत्तेरिति—चेन्न; सत्यस्य ब्रह्मणो निवृत्त्यदर्शनेन स्वरूपतो मिथ्यात्वाभावे निवृत्त्ययोगात् मिथ्यात्वं निवृत्त्यनुकूलमेव । नच तदर्थं प्रवृत्त्यनुप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

षस्य मिथ्यात्वेन तात्त्विकस्य तदभावस्य सत्त्वात् कुतो न तात्त्विकप्रामाण्यापातः ? तस्य ब्रह्मज्ञाने तत्प्रयोजकतया क्लृप्तत्वात्, तत्राह—कारणीभूतेति । दोषाभावे प्रतियोगिव्यधिकरणदोषाभावे । तथाच नोक्ताभावः ब्रह्मज्ञाने उक्तप्रयोजकत्वेन क्लृप्तः; आवयोः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वेन ब्रह्मज्ञाने प्रामाण्यस्योक्तप्रयोजकं विनापि तात्त्विकत्वसंभवात्, न हि तदपवादकं बाधकज्ञानं तत्रास्ति; उक्ताभावमात्रस्य तात्त्विकप्रामाण्ये प्रयोजकत्वे काचादिदोषस्य मिथ्यात्वेन तत्कालेऽपि तदभावस्य तात्त्विकस्य सत्त्वेनोक्तदोषजन्येऽप्युक्तप्रामाण्यापत्तेश्च । अतएव—भ्रमत्वे दोषस्य प्रयोजकत्वात्तदभावे तात्त्विको दोषाभावः प्रयोजक—इत्यपास्तम् । अथ प्रतियोगिव्यधिकरणः स भ्रमत्वाभावे प्रयोजक उच्यते, तदपि न; तावता काचादिदोषाभावस्य तत्संभवेऽप्यविद्याभावस्य तादृशस्य तदसंभवात्काले द्वैतज्ञानस्यैवाप्रसिद्ध्या तत्र तत्प्रयोजकत्वस्याप्यप्रसिद्धत्वादिति भ्रमवैलक्षण्यं न द्वैतज्ञाने आपादयितुं शक्यते इति भावः । नन्वेवं द्वैतज्ञाने भ्रमत्वं निर्मूलम्; न हि तस्य भ्रमत्वेन रूपेण कार्यता; मानाभावात्, तत्राह—कारणमिथ्यात्व इति । कारणस्या विद्यारूपप्रयोजकस्य । मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वे । कार्यस्याविद्याप्रयुक्तद्वैतमात्रस्य । मिथ्यात्वावश्यकत्वात् अविद्यानिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वावश्यकत्वात् । तथाच भ्रमत्वेन कार्यत्वस्यास्वीकारेऽपि द्वैतस्याविद्याप्रयुक्तत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वसत्त्वात् तज्ज्ञानस्य मिथ्याविषयकत्वरूपं भ्रमत्वमावश्यकमिति भावः । नन्वेवं बौद्धदुष्टवेदजन्यज्ञानस्य द्वैतज्ञानस्य च कल्पितदोषप्रयुक्तत्वेऽप्यविद्यादोषस्य द्वैतज्ञानसमसत्ताकत्वात् भ्रमत्वप्रयोजकत्वमिति पर्यवसितम्; तच्च न युक्तम्; भ्रमत्वनिश्चयात् पूर्वं समसत्ताकत्वस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वरूपस्य तयोरनिश्चयात्, तत्राह—ब्रह्मज्ञानेति । तथाच पूर्वं ब्रह्मज्ञानेतरावाध्यत्वरूपसत्ताया ब्रह्मणीव प्रपञ्चेऽपि निश्चयसंभवात् द्वैतं यदि मिथ्या न स्यात्, तदा स्वसमानसत्ताकाविद्याप्रयुक्तं न स्यादिति तर्केण मिथ्यात्वनिश्चयः युक्तः, उक्तवेदज्ञाने तु न तथा; बौद्धकल्पितदोषस्य प्रातीतिकतया स्वसमसत्ताकतत्प्रयुक्तं न स्यादित्यापत्तेरिष्टत्वादिति भावः । साधर्म्येत्यादि । तर्काभावेऽपि दोषत्वादिसाधर्म्यमात्रेण यदापादनं तद्बोधकवाक्यत्वात् । तदभावार्थं तदत्यन्ताभावार्थम् । असाध्यत्वादिति । निवृत्तिस्तु बन्धस्य न संभवति; शशविषाणवत्तस्य मिथ्यात्वेन तुच्छत्वात् । मिथ्यात्वादिति । तथाच तस्या निवृत्त्यसंभवेनात्यन्ताभावार्थमेव यत्नो वाच्यः, तत्रासाध्यत्वदोष उक्त इति भावः । ननु—क्षेमसाधारणं साध्यत्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्ति, तत्राह—अन्यथेति । अनिवर्त्यस्यापि मिथ्याभूतस्य बन्धत्वे इत्यर्थः । पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वमिति । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । निवृत्तिरेवेति । न तु मिथ्यात्वमिति शेषः । नेति । अथेत्यादिकं यदुक्तं तत्रेत्यर्थः । मिथ्यात्वं बन्धस्य मिथ्यात्वम् । तदर्थं मिथ्याबन्धस्य निवृत्त्यर्थम् । प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति । स्वमदृष्ट्यानिष्टस्य निवृत्त्यर्थं प्रवृत्त्यदर्शनादिति शेषः । तथे-

पत्तिः; अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं तथैव, ततः पूर्वं तु कण्ठगतविस्मृतचामीकरप्राप्तये इव भ्रम-
बाधकज्ञानोत्पत्तये प्रवृत्त्युपपत्तेः । अत्यन्ताभावाधिकरणे च प्रतियोगिवत्तन्निवृत्तिरप्युपपादितैव ।
नच—त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिनि तुच्छे निवृत्तिर्न दृष्टेति कथं तादृशि प्रपञ्चे सा स्यादिति—
वाच्यम्; यथाकथंचित् सजातीयेऽदर्शनस्याप्रयोजकत्वात् । अन्यथा अनुत्पन्ने निवृत्तिर्न दृष्टेति
प्रागभावोऽपि न निवर्तत । तस्मात् स्वभावविशेष एव तुच्छनित्यविलक्षणो निवृत्तिप्रयोजक इति
वाच्यम् । सा च निवृत्तिरधिकरणस्वरूपेति पक्षे घटनाशार्थं मुद्गरपातादाविव मननादौ प्रवृत्तिरु-
हनीया । अतिरिक्तेति पक्षे त्वनिर्वचनीया, पञ्चमप्रकारा चरमवृत्तिरूपा वा सा; सर्वथा जन्यैवेति
न काप्यनुपपत्तिः । ननु—बन्धस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे तन्निदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वेति । तदा बन्धनाशस्य सिद्धत्वनिश्रयादिति शेषः । बन्धनाशस्यात्मस्वरूपत्वे हि तत्त्वज्ञानोपलक्षितात्मस्वरूपे तत्र
तदा सिद्धत्वं निश्चितम् । एवं पक्षान्तरेऽपीति भावः । चामीकरप्राप्तये चामीकरसंबन्धाय तस्य सिद्धत्वेऽप्यसिद्धत्व-
भ्रमेण तत्रेच्छेति ज्ञापनाय कण्ठगतत्वविस्मृतत्वयोरुक्तिः । भ्रमबाधकज्ञानोत्पत्तये बन्धनाशाय; तादृशज्ञान-
स्योत्पत्तिर्यस्यै इति व्युत्पत्तिसंभवात् । चरमवृत्तिरेव बन्धनाश इति पक्षे तु यथाश्रुत एवार्थः । ननु ‘निवृत्तिरात्मा
मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः’ इति वार्तिकोक्त्या तत्त्वज्ञानोपलक्षितस्यात्मनोऽज्ञाननिवृत्तित्वम्, अज्ञानमेव च बन्धः;
‘अविद्यास्तमयो मोक्षः; सा च बन्ध उदाहृतः’ इति वार्तिकोक्तेः, तथाचोक्त्यात्मनोऽज्ञाननाशत्वे तस्य ज्ञानपूर्वमपि
सत्त्वेन सिद्धत्वनिश्रयात् तदुद्देशेन प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, न च—ज्ञानोपहितात्मोद्देशेनैव प्रवृत्तिः, तादृशात्मनोऽसिद्धत्व-
निश्चयादिति—वाच्यम्; ज्ञानोपलक्षितात्मनोऽज्ञाननाशत्वोक्तिरूपवार्तिकविरोधात्तत्राह—सा चेति । घटनाशेति ।
घटावयवविभागाद्युपहितस्य घटावयवस्य निष्पत्तिर्घटनाशः । ऊहनीयेति । बन्धनाशार्थत्वेनोहनीयेत्यर्थः । तथा च
ज्ञानोपहितात्मस्वरूपनिष्पत्त्यर्थं मननश्रवणयोः प्रवृत्तिः; उक्तस्वरूपस्याज्ञाननाशत्वस्वीकारात् । वार्तिके ज्ञानोपलक्षि-
तात्मनोऽज्ञाननाशत्वोक्तिस्तु ज्ञाने नष्टेऽपि ज्ञानोत्तरमनःपरिमाणोपहितस्याप्यात्मनोऽज्ञाननाशत्वसूचनाय; आत्म-
स्वरूपमात्रस्य तद्भावात्वे ज्ञानात्पूर्वमप्यज्ञाननाशव्यवहारापत्तेर्ज्ञातत्वोपलक्षितत्वोक्तिवैयर्थ्यापत्तेश्च । अथैवं—चरमस्य
मनःपरिणामस्य नाशः कः ? इति—चेत्, न कोऽपि । तर्हि स क्व गतः ? इति चेत्, नायमस्मान् प्रत्येव; तार्किकादीन्
प्रत्यपि तत्संभवात् । यद्यपि हि तेषां मते दुःखस्य पापस्य वा चरमो नाशो मोक्ष इत्युच्यते; तथापि तादृशदुःखादि
क्व गतमिति पर्यनुयोगस्तान् प्रत्यस्त्येव । सांख्यादिमतेऽपि दुग्धादेर्दध्यादिपरिणामकाले दुग्धादि क्व गतमिति
पर्यनुयोगः । अथ—यथा घटादिकं कुत आगतमिति न पर्यनुयोगः; यत्क्षणे आगतं तदव्यवहितपूर्वक्षणे दण्डादिसा-
मग्रीसंबन्धादेवागतमित्युत्तरात्, तथा क्व गतमित्यपि न सः; नाशजनकसामग्रीमत्क्षणस्य प्रतियोग्यधिकरणकालपूर्व-
त्वाभावनियमाज्ञाशक्षणे प्रतियोगी नास्त्येवेति स्वीक्रियते, न तु कुत्रापि गत इत्युत्तरादिति तार्किकादिभिर्वाच्यमिति—
चेत्, तर्हि प्रमायाः स्वसमानविषयकाज्ञानाधिकरणकालपूर्वत्वाभावनियमवचनस्य तत्त्वज्ञानोत्तरमनःपरिणामस्य
स्वपरिणाम्यज्ञानतत्प्रयुक्तदृश्याधिकरणकालपूर्वत्वाभावनियमस्यास्माभिः स्वीकारादस्मान्प्रत्यपि न पर्यनुयोगः । तस्मा-
द्यथा विभक्तरूपेणासिद्धत्वात् घटावयवे सिद्धेऽपीच्छा, तथा स्वरूपेण सिद्धेऽप्यात्मनि ज्ञानोपहितरूपेणासिद्धत्वा-
दिच्छा । न च—एवमुक्तरूपेण साध्यत्वात् बन्धनाशस्य सिद्धचामीकरस्य तद्दृष्टान्ततया पूर्वमुक्तिर्विरुध्येतेति—
वाच्यम्; यथा चामीकरं स्वरूपेण सिद्धमपि कल्पितेन कण्ठावृत्तित्वेनासिद्धतया ज्ञायमानत्वात् इष्यते, तथा स्वरूपेण
सिद्धोऽप्यात्मा कल्पितेन बन्धनाशत्वावच्छेदकोक्तरूपेणासिद्धतया ज्ञायमानत्वादिष्यत इति भावात् । चरमवृत्त्यादेर्बन्ध-
नाशत्वपक्षेऽपि दृष्टान्तो नानुपपन्नः । यथोक्तरूपेण कल्पिते चामीकरे इच्छा, तथा कल्पितबन्धप्रतियोगिकनाशत्व-
रूपेण कल्पिते चरमवृत्त्यादाविति भावात् । ननु ज्ञानोपहितात्मनोऽज्ञाननाशत्वे ज्ञानादज्ञाननाशोत्पत्तिर्न संभवति;
युगपदेव ज्ञानतदुपहितात्मनोरूपादात्, तथाच ‘ज्ञात्वा देवं मुच्यते’ इत्यादिश्रुतिविरोधः, तत्राह—अतिरिक्ते-
त्यादि । अनिर्वचनीयेति । अतिरिक्ताया अपि निवृत्तेर्भुज्यमानादृष्टासमानकालीनेन तत्त्वज्ञानेन तत्संस्कारेण
वोच्छेद्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वम् । ननु तत्त्वज्ञानान्तरस्यानुत्पादेऽपि भोगसमाप्तौ कैवल्यसंभवादुक्तनिवृत्तेः
ज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवेनानिर्वाच्यत्वासंभवः; संस्कारद्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वं तु न मिथ्यात्वम्; साक्षाज्ज्ञानोच्छेद्यत्वस्यैव
तद्रूपत्वात्, तत्राह—पञ्चमप्रकारेति । ज्ञानानुच्छेद्येत्यर्थः । तथाच ज्ञानानुच्छेद्यत्वेऽपि चिदात्मत्वादेव तस्य मिथ्या-
त्वम् । संस्कारद्वारकसाधारणं ज्ञानोच्छेद्यत्वं वा मिथ्यात्वम् । ननु—ज्ञानमेवाज्ञाननाशोऽस्तु, अतिरिक्ततत्कल्पने
गौरवात्तत्रेष्टापत्तिमाह—चरमवृत्तिरिति । न कापीति । यद्यपि प्रथमपक्ष एव बन्धनाशः सुखरूपत्वेन पुरुषार्थः,
न त्वन्यपक्षेषु; तथापि सुखाभिव्यक्तिरूपत्वेनाप्यनात्मरूपनिवृत्तेरपि पुरुषार्थता, अज्ञाननिवृत्तिर्हि स्वप्रकाशसुखरूपा-

श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वं च न स्यात्; नहि देवतानिदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कार-
निवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तम्; न वा दूरागमनादिनियमादृष्टसापेक्षसेतुदर्शननिवर्त्यं दुरितं तत्रा-
ध्यस्तमिति—चेन्न; आत्माध्यस्तगौरवादेः शुक्त्याद्यध्यस्तरूप्यादेश्च तत्तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्श-
नेन प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्ततया तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वस्यावश्यकत्वात् । नहि शुक्त्याद्यध्यस्तं
रूप्यादि शुक्त्यादिज्ञानं विना निवर्तते । देवतादर्शनादिना तु प्रायश्चित्तसमयकक्षयेण दुरितस्य
कारणात्मनावस्थानमात्रं क्रियते, नतु शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव निवृत्तिः; अधिष्ठानाज्ञानरूपोपादानकस्या-
रोपितस्य तन्निवृत्तिं विना निवृत्त्ययोगात्, अज्ञाननिवृत्तिश्चाधिष्ठानज्ञानादेवेत्युक्तं प्राक् । श्रवणादि-
नियमादृष्टं च न मुक्तिं प्रति कारणम्, किंतु ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति । ननु—अवघातसाध्यवैतुष्यान्या-
पूर्वस्येव श्रवणादिसाध्यापरोक्ष्यान्यमुक्तेरेव तत्साध्यत्वम्; अन्यथा श्रवणनियमादृष्टसाध्ये साक्षात्कारे
श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तरस्याप्रसक्त्या तत्प्रसक्त्यधीननियमविध्ययोगात्, नच—परोक्षज्ञानं श्रव-
णात्, अपरोक्षं तु नियमादृष्टादिति—युक्तम्; श्रवणादिविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिदिध्यासनसाध्या-
परोक्षस्यैव दृशिनोद्देशात्, त्वन्मते परोक्षज्ञाने कामनाया अयोगेन तस्योद्देश्यत्वायोगाच्चेति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मोऽभिव्यक्तिः । ननु—सुखमेव पुरुषार्थः, न तु तदभिव्यक्तिः; यदवगतं सदवश्यमिष्यते, स. पुरुषार्थ इति तार्किक-
कोकेरिति—चेत्, सत्यम्; परं तु मन्मते केवलसुखस्वरूपस्यात्मनः सुखत्वमभिव्यक्त्युपहितत्वम्, न तु तत्स्वरूप-
त्वम्; तत्स्वरूपस्य सदा सिद्धत्वेनावृत्तत्वेन चेच्छायोग्यत्वाभावात्, उक्तोपहितत्वविशिष्टात्मन एव सुखपदवाच्यत्वाच्च,
लोकेऽपि चन्दनादियोगजन्यमनोवृत्त्युपहितात्मन एव सुखपदेन व्यवहारात् । तथाचोक्तसुखत्वविशिष्टं मन्मतेऽपि
पुरुषार्थः । तच्चावगतमवश्यमिष्यते । एवंमात्मनः स्वरूपाभिव्यक्तेरपि पुरुषार्थत्वमव्याहतम्; अभिव्यक्तात्मन इवात्मा-
भिव्यक्तेरपि सुखपदवाच्यत्वादिच्छायोग्यत्वाच्च, यदवगतमवश्यमिष्यते इति पुरुषार्थलक्षणसत्त्वात् । जातिरूपं
वा सुखत्वमभिव्यक्तात्मनि आत्माभिव्यक्तौ च स्वीक्रियते । अत एव कल्पितव्यक्तिभेदेन ज्ञानत्वानन्दत्वादिकं
जातिरित्यनुपदमेव मूल उक्तम् । अभिव्यक्तपूर्णानन्दमभिव्यक्त्योरस्तु सर्वदुःखविरोधित्वेन परमपुरुषार्थ-
त्वमिति भावः । निवृत्तिः बाधः । निवृत्त्ययोगात् बाधायोगात् । श्रवणादिनियमादृष्टमिति ।
श्रवणाद्याश्रितनियमजन्यादृष्टमित्यर्थः । अवघातादिनियमविधिस्थले हि वैतुष्यादिविशिष्टबीज्याद्यर्थमवघातादिकं
न विधीयते; तस्य प्राप्तत्वात्, किंतु अवघाताद्याश्रितो नियमः । अतएव कृष्णलयागादाववघातादिबाधात्तदा-
श्रितनियमस्य नानुष्ठानम् । अथवा—नियमतात्पर्यकविधिविषयश्रवणादिजन्यादृष्टमित्यर्थः । अवघातादेर्हि वैतुष्यादि-
विशिष्टे साधनतया प्रापकत्वमाक्षेपस्य यद्यप्यस्ति; तथापि तत्प्रवृत्तेः पूर्वमेव प्रत्यक्षविधिस्तप्रापकः स्वीक्रियते;
प्रयोजनसत्त्वात् । आक्षेपप्रवृत्तिप्रतिबन्धेन दलनादिनिवृत्त्या अवघातादिनियमो हि प्रयोजनम् । सोऽपि न व्यर्थः
नियमप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या अवघातादेर्वागीयापूर्वसाधनापूर्वविशिष्टबीज्याद्युद्देशेन विध्यन्तरकल्पनात् यागीयापूर्वं
अवघातादिजन्यापूर्वसाध्यत्वप्रत्ययस्य फलत्वात् । अतएवावघातादौ तज्जन्यापूर्वस्य पश्चात्कल्प्यत्वेन न प्रयोजकत्वम्,
किंतु वैतुष्यादिदृष्टफलस्येति तदभावात् कृष्णलयागादाववघातादिलोपः । अप्रसक्त्येति । मुक्तौ तु तादृशोपायान्तरं
प्रसक्तमिति पराभिमानः । दृशिनेति । साक्षात्कारस्यैव निदिध्यासनप्रयोजनत्वेन तदुद्देशेनैव तद्विधानात् श्रवण-
मननयोरपि तथा वाच्यम्; अन्यथा परोक्षज्ञानबोधनाय दृशेरावृत्तिप्रसङ्गात्, एकप्रतिसन्धानेनार्थद्वयबोधनासंभवात्,
'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयती'ति व्युत्पत्तेः । ननु—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य'
इत्यादौ मनननिदिध्यासनसहितं श्रवणमात्मनिश्चयाय विधीयते; दृशेः श्रावणज्ञानवाचित्वेऽपि प्रकृते निश्चये लाक्षणि-
कत्वात्, निश्चयत्वं चासंभावनाविपरीतभावनाप्रयुक्ताप्रामाण्यधीरहितधीत्वम् । तथाचासंभावनानिवृत्तिद्वारा मननस्य
विपरीतभावनानिवृत्तिद्वारा निदिध्यासनस्य प्रधानीभूतश्रवणफलनिश्चयोपकारकत्वात् श्रवणस्यापि तात्पर्यनिश्चयद्वारक-
तात्पर्यसंशयनिवृत्तिद्वारा निश्चयसाधनत्वात् दृशिना निश्चयत्वेनैव ज्ञानमुद्दिश्यते । तथाच साक्षात्कारस्वमेव श्रवणादि-
नियमादृष्टप्रयुक्तम्, तच्च साक्षात्कारत्वेन प्रतीयमानत्वं परोक्षत्वेनाप्रतीयमानत्वंच, उक्तं हि विवरणे—'आपरोक्ष्य-
निश्चयानुकूलस्तर्को मननम्, आपरोक्ष्यधीविरोधितर्को निदिध्यासन'मिति; मनननिदिध्यासनस्वरूपयोर्दृष्टविधयोक्त-
साक्षात्कारत्वप्रयोजकत्वेऽपि तदीयनियमादृष्टस्य उक्तसाक्षात्कारत्वप्रतिबन्धकस्यासंभावनादिजनकस्य च पापस्य निवर्तकत-
योपयोगः । एवं श्रवणनियमादृष्टस्यापि तात्पर्यसंशयादिजनकस्य उक्तसाक्षात्कारत्वप्रतिबन्धकस्य च पापस्य निवर्तकत-
योपयोगः । अपरोक्षत्वेनानिश्चितादप्रमात्वेन गृह्यमाणाद्वा नाविद्यानिवृत्तिः; अतोऽतादृशज्ञानं तथा अपेक्ष्यते, तच्च
श्रवणादिनियमादृष्टजन्यं तत्त्वज्ञानस्वरूपम् । तस्यापरोक्षात्मविषयकज्ञानत्वरूपमपरोक्षत्वंच वाक्यादिकारणप्रयुक्तं श्रव-

चेन्न; तत्र क्रत्वर्थस्य नियमापूर्वस्य परमापूर्वसाधकत्वेऽपि पुरुषार्थहिरण्यधारणादनियमादृष्टस्य तदभाववत् श्रवणादिसाध्यसाक्षात्कारान्यफलाभावेऽपि तेनैव फलवत्त्वोपपत्तेः, 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वव'दिति न्यायात्, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मृतेश्च । अत्र सर्वाखिलपदाभ्यां कर्मशब्दवाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने समाप्तिर्दर्शिता; मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिरूपस्य ज्ञानातिरिक्तसाध्यत्वनियमाच्च । ज्ञाने त्वसंभावनादिनिवृत्त्या प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्या च दृष्टादृष्टांशोपयोगः । सामान्यपुरस्कारेण च प्रसक्तस्य साधनान्तरस्य निवृत्तिः सर्वत्र नियमविधेः फलम्, विशेषरूपेण त्वपूर्वविधित्वमेव । यथाहि 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादावपूर्वसाधनीभूतव्रीहिवैतुष्ये विशिष्यावघातातिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावपि व्रीहिवैतुष्यमात्रे प्रसक्तस्य नखविदलनादेर्निवृत्तिः; विशिष्य कार्यकारणभावबोधनात्, तथा निर्विशेषब्रह्मात्माभेदसाक्षात्कारप्रतिबन्धनिवृत्तौ श्रवणाद्यतिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावप्यात्मज्ञानमात्रप्रतिबन्धनिवृत्तौ साङ्ख्यादिशास्त्रस्यापि प्रसक्तेः तन्निवृत्तिर्विशिष्य वेदान्तवाक्यविचारविधानादिति परमगम्भीरोऽयं ग्रन्थार्थः । ननु—यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा 'जन्माद्यस्य यत' इति सूत्रे 'यतो वा इमानी'त्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः, 'ईक्षतेर्नाशब्द'मिति सूत्रे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

णादिकं नापेक्षते; तत्पूर्वमपि तदुत्पादात्, तथा च श्रवणं साक्षात्कारत्वे न प्रयोजकम्, किंतु तददृष्टम्, तत्राह—
त्वन्मत इति । अयोगेनेति । 'ब्रह्मज्ञानं भवत्विति'च्छायाः पूर्वं 'ब्रह्मज्ञानमिष्टसाधन'मिति ज्ञानस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् तत्र च ब्रह्मणो ज्ञानविशेषणतया परोक्षज्ञानस्य पूर्वमेव सिद्धत्वज्ञानसंभवेन नोक्तेच्छा संभवतीति भावः । सोपाधिव्रह्मज्ञानस्यापातब्रह्मज्ञानस्य च सिद्धत्वेन 'ब्रह्मणोऽन्याविषयको निश्चयो भवत्विति' इच्छाया एव वाच्यत्वेनापातब्रह्मज्ञानादपि तदुत्पत्तिसंभवेन च नेयमनुपपत्तिरिति बोध्यम् । क्रत्वर्थनियमापूर्वस्येति । क्रतुं तत्कारकं वा उद्दिश्य विहितं यत्, तदीयनियमादृष्टस्येत्यर्थः । परमापूर्वेति । अवघातादिभिन्नाङ्गनियमादृष्टाभिप्रायेणेदम्; अवघातादेस्तृतीयाध्याये 'तेषामर्थेन संबन्ध' इत्यधिकरणे आप्तेयाद्युत्पत्त्यपूर्वार्थत्वस्य स्थापितत्वेन परमापूर्वार्थत्वाभावात्, अन्यथा अवघातादेराज्यादिषु वारणासंभवात् । पुरुषार्थेति । तृतीयचतुर्थे स्थितं—'सुवर्णं हिरण्यं धार्यं सुवर्णं एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवती'ति वाक्ये अनारभ्याधीते शोभनवर्णहिरण्यधारणं क्रत्वर्थम्, उत पुरुषार्थमिति संशये, पुरुषार्थत्वे फलकल्पनागौरवात् अभिहोत्रादिकर्मस्वङ्गम्; रात्रिसत्रादावार्थवादिकफलकल्पना युक्ता, न तु प्रकृते; धारणसंस्कृतसुवर्णस्य क्रतूपयोगसंभवादिति प्राप्ते, नैवम्, क्रतुं प्रति हि नाहवनीयादेरिव धारणस्य विधिरस्ति, नापि जुह्वादेरिव सुवर्णस्य क्रतावव्यभिचरितसंबन्धः, येन तस्य क्रतूपस्थापकतया क्रत्वपूर्वसाधनीभूतं तदुद्दिश्य हिरण्यधारणविधिसंभवात् क्रत्वर्थत्वं शङ्कनीयम्; लोकेऽपि हि हिरण्यस्योपयोगसंभवेन जुह्वादेरिव क्रत्वव्यभिचरितसंबन्धाभावात् । तस्मादार्थवादिकं भ्रातृव्यदुर्वर्णत्वादिकं पुरुषापेक्षितमुद्दिश्य हिरण्यधारणं विधीयते । 'सक्तून् जुहोती'तिवद् द्वितीयाविभक्तिः करणतायां लाक्षणिकी । सोऽयं नियमविधिः; उक्तफले साधनान्तरनिवृत्तिफलकसाधननियमस्य प्रत्यवायनिवृत्त्यर्थत्वात्, यथा प्रतिग्रहादेर्नियमविधिना साधनान्तरेण द्रव्यार्जने पुरुषस्य प्रत्यवायः तथा साधनान्तरेण भ्रातृव्यदुर्वर्णतायाः स्वकीयसुवर्णतायाश्च करण इति । तथाच हिरण्यधारणादनियमापूर्वस्य यथा परमापूर्वसाधनत्वं, तथा श्रवणादनियमापूर्वस्येति भावः । साक्षात्कारान्येति । साक्षात्कारप्रतिबन्धकनिवर्त्येत्यर्थः । तेनेति । उक्तनिवृत्तिरूपफलेनेत्यर्थः । सर्वापेक्षेति । सर्वकर्मणां तत्त्वसाक्षात्कारे अपेक्षा । 'विविदिषन्ति यद्देने'त्यादिश्रुतेः, 'कषाये कर्मभिः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इति स्मृतेश्च । यथाश्वो रथचलनादावपेक्ष्यते, न तु लाङ्गलाकर्षणादौ; अनुपयुक्तत्वात्, तथा तत्त्वज्ञाननिवृत्तिरूपे मोक्षे तत्त्वज्ञानैकसाध्ये कर्मणां नापेक्षेति सूत्रार्थः । ज्ञाने समाप्तिः ज्ञानसाध्याजनकत्वे सति ज्ञानजनकत्वम् । सामान्येति । नियमविध्यभावे वैतुष्यत्वरूपसामान्यावच्छिन्नं प्रति दलनादिकं पाक्षिकतया प्राप्तम्, न तु यागीयव्रीहिवैतुष्यमात्रगतधर्मावच्छिन्नं प्रति; आक्षेपस्य तादृशविशेषरूपमपुरस्कृत्यैव प्रवृत्तेः । तथाच दलनादिनिवृत्तिफलकनियमपरत्वमवघातादिविधेर्नायुक्तमिति भावः । विशेषरूपेण प्रकृतयागापूर्वप्रयोजकवैतुष्योद्देश्यकावघातभावनावोधकत्वेन । विशिष्येत्यादि । प्रकृतापूर्वप्रयोजकवैतुष्यविशिष्टमवघातेनैव भावयेदित्यादिबोधनादित्यर्थः । श्रवणादीति । श्रवणादनियमापूर्वस्येत्यर्थः । शास्त्रस्येति । ननु—शुद्धात्मसाक्षात्कारप्रतिबन्धकनिवृत्तौ कथं साङ्ख्यश्रवणस्य प्राप्तिः, तादृशश्रवणस्य हि स्वप्रकाशत्वाकारककर्तृत्वादिप्रकारकज्ञानजनकत्वेन तादृशज्ञानप्रतिबन्धकनिवृत्तिरेव तेन जन्यते इति—चेत्, उच्यते; अकर्तृत्वादिप्रकारकज्ञानद्वारकस्यैव शुद्धात्मसाक्षात्कारस्य वेदान्तश्रवणसाध्यत्वेन द्वारोत्पत्तिप्रतिबन्धकस्य द्वार्युत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् साङ्ख्यश्रवणस्यापि शुद्धात्मधीप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमिति भावः । जन्माद्यस्येति । जन्मादि अस्य यत इत्यर्थः ।

‘तदैक्षते’त्यादिश्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः, ‘लोकवत्तु लीलाकैवल्य’मिति सूत्रे ‘आप्तकामस्य का स्पृहे’त्यादिश्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिः, ‘वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादिति’ सूत्रे ‘पुण्येन पुण्यं लोकं नयती’त्यादिश्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेनावैषम्योक्तिः, ‘तेजोऽतस्तथा ह्याहे’-ति सूत्रे ‘वायोरग्नि’रित्यादिश्रुतौ च तेजआदेर्व्यादिजन्यत्वोक्तिः, ‘विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चे’ति सूत्रे ‘पृथिव्यप्सु प्रलीयत’इत्यादिस्मृतौ च पृथिव्यादीनामवादौ लयोक्तिरित्याद्युक्तं स्यात्, न हि कल्पिते तत्तद्विरोधशङ्का तन्निराकरणं च युक्तमिति—चेन्न; प्रपञ्चस्य कल्पितस्यापि व्यावहारिक-सत्त्वाभ्युपगमेन तद्वशायां विरोधशङ्कातत्परिहारयोरुचितत्वात्, इन्द्रजालादावध्यस्तेऽप्येन्द्रजालि-कादेरीक्षापूर्वकस्रष्टृत्वादेर्दर्शनाच्च । यथाच कल्पितस्यापि जन्माद्युपपत्तिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे वक्ष्यते । स्वप्नेऽपि सृष्ट्यादेः श्रुत्या प्रतिपादनाच्च । अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदिजनकत्वमप्युपपन्नम्; ‘तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स’ इति सूत्रे च तत्तद्भावा-पन्नस्य ब्रह्मण एव कारणत्वाभिधानात् । अवादौ पृथिव्यादिलयोक्तिरपि तत्तद्भावापन्नचैतन्ये व्याख्ये-येति नाधिष्ठानातिरिक्ते लयोक्तिः । वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्कापरिहारादिकं तूपासनावस्थायाम् । ‘भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकव’दिति आपाततः परिणामवादाभ्युपगमेन, ‘तदनन्यत्वमारम्भणश-ब्दादिभ्य’इति तु विवर्तवादे परमसिद्धान्तदशायां न शङ्का न चोत्तरम्; मायाविन इवेश्वरस्य स्वप्र-तिबिम्बभूतजीवभ्रमयितृत्वेन सर्वविरोधनिरासोपपत्तेः । ननु—ईश्वरस्यापि सपरिकरस्य जीवेना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जन्माद्युक्तिः जन्मादिहेतुत्वरूपब्रह्मलक्षणोक्तिः । ईक्षतेरित्यादि । यतो वा इत्यादि वाक्यं न प्रधानस्य जन्मादिहे-तुत्वबोधकम्, प्रधानबोधकशब्देन शून्यं हि तत्; उक्तशून्यत्वे हेतुमाह—ईक्षतेरिति । तदैक्षतेति । ईक्षतिधातु-समभिव्याहारविशेषादित्यर्थः । लोकवदिति । तुशब्दः प्रयोजनाभावादीशो न स्वष्टेति पूर्वपक्षस्य व्यवच्छेदकः । यथा लोके प्रयोजनमनुद्दिश्यापि राजादीनां लीलारूपा प्राणिनां च निःश्वासादिरूपा दृश्यन्ते चेष्टाः, तथेशस्य सृष्ट्या-दिक्रिया । वैषम्येति । कस्यचिदुत्कर्षं कस्यचिदपकर्षं सृजतीति वैषम्यं, दुःखं संहारं च सृजतीति नैर्घृण्यं निर्दय-त्वरूपं चेशस्य स्यादिति चेन्न; पुण्यापुण्ये अपेक्ष्य तथा करणादित्यर्थः । तेजोऽत इति । अतो वायोरिव तेजो जायते । हि यस्मात् ‘वायोरग्नि’रिति श्रुतिस्तथाहेत्यर्थः । विपर्ययेणेति । अतः सृष्टिक्रमाद्विपर्ययेण विपरीतो लयस्य क्रमः । दृश्यते हि लोके सृदादिकं सृष्ट्वा घटादिकं सृज्यते । घटादिकं सृदि लीनं कृत्वा सृदादिकं तत्कारणे लीनं क्रियत इत्यर्थः । विरोधशङ्केति । सत्यस्य ब्रह्मणः लक्षणं सत्यमेव वाच्यं, जन्मादिहेतुत्वं न सत्यमिति लक्षणानुपप-त्तिरित्यादिपूर्वपक्ष इत्यर्थः । युक्तमिति । लक्षणादेर्मिथ्यात्वेन तन्नानुपपत्त्युक्तेरनौचित्यादिति भावः । तदभिध्या-नादेवेति । स ईश एवाकाशादिभावापन्नो वाय्वादिकं जनयति; ‘बहु स्यामि’ति सर्वकार्यभावाभिध्यानात्, ‘तत्तेज ऐक्षते’ति तेजआदिभावं प्राप्त्येक्षितृत्वमुक्त्वा ‘तदपोऽसृजते’ति स्रष्टृत्वोक्तिलिङ्गात् । ब्रह्मण एवेति । तथाच ‘तत्तेज ऐक्षत तदपोऽसृजते’त्यादिश्रुतौ तत्पदस्य प्रक्रान्तब्रह्मपरत्वेन तेजस्तादात्म्यापन्नं ब्रह्मैक्षताऽपोऽसृजत इत्यर्थः । एवं ‘आकाशाद्वायु’रित्यादिश्रुतौ तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यनुषङ्ग्यते, तेनाकाशादिभावापन्नात् ब्रह्मणो वायुरित्याद्यर्थ इति भावः । उपासनेत्युपलक्षणम्, कर्मानुष्ठानकाले इत्यपि बोध्यम् । अभ्युपगमेनेति । उक्तं हि तदनन्यत्वमार-म्भणशब्दादिभ्य’ इत्यधिकरणभाष्ये—अभ्युपगम्य चेमं भोक्तृभोग्यलक्षणं व्यावहारिकं विभागं ‘स्याल्लोकव’दिति परिहार उक्तः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्तीति । संक्षेपशारीरकेऽप्युक्तम्—‘आरम्भसंहतिविकारविवर्तवादाना-श्रित्य वादिजनता खलु वावदीति । आरंभसंहतिमते परिहृत्य वादौ द्वावत्र संप्रहृपदं नयते मुनीन्द्रः ॥ तन्नापि पूर्वमुप-गम्य विकारवादं भोक्त्रादिसूत्रमवतार्य विरोधनुच्यै । प्रावर्तत व्यवहृतेः परिरक्षणाय कर्मादिगोचरविधावुपयोगहेतोः ॥ विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः ॥’ इत्यादि । विधावुपयोगेति । ‘विधिषु श्राद्धोऽधिकारी’ति न्यायेन विवर्तवादात्मनेन प्रपञ्चमिथ्यात्वे निश्चिते विहिते प्रवृत्त्यसंभवात्, परिणामवादस्यैव विहितप्रवृत्त्युपयोग इति भावः । ‘भोक्त्रापत्ते’रिति । भोग्यानां भोक्तृतादात्म्यापत्तिः, भोक्त्रभिन्नब्रह्माभिन्नत्वात्, एवं भोक्तुरपि भोग्याभेदा-पत्तिः, तथाच भोक्तृभोग्यविभागो न स्यादिति चेत्, तदा साप्यापत्तिः व्याख्यातेति । पूर्वसूत्रस्थस्य व्याख्याता इत्यस्य विभक्तिवचनयोर्विपरिणामेनानुषङ्गः, विरुद्धतया ख्यातेति तदर्थः । यतो लोके समुद्राभिन्नयोरपि तरङ्गकेन-योर्यथा नामेदस्तथा ब्रह्माभिन्नयोरपि भोक्तृभोग्ययोरित्यर्थः । तदनन्यत्वमिति । तस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं द्वितीय-शून्यत्वम् । ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेय’मित्यादिश्रुतिभ्यः । मायाविन इत्यादि । यथा मायाविना सृज्यमाने नगरे दृश्यमानानां पुरुषाणामुत्कर्षापकर्षादिकं नापादयति, तथेशसृष्टानामित्यर्थः । स्वप्रतिबिम्बत्वेनेनेशजीवयोर्विम्ब-

ध्यस्तत्वात् कथं भ्रमयितृत्वम् । न; अविद्योपहितचित्त एवानादेरीश्वरत्वेनान्तःकरणोपहितजीवकल्पितत्वायोगात्, जीवकल्पितत्वपक्षेऽपि तादृग्धर्मविशिष्टतयैव कल्पनेन तस्य भ्रमयितृत्वाद्युपपत्तेः, 'परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेदुरगो यथा न तु नभो मलिन'मिति न्यायात् । ननु—जीवानां वाय्वादिभ्योऽश्याद्युत्पत्तिरिति भ्रमोऽस्ति, यः स्वाप्नभ्रम इव श्रुतेरालम्बनं स्यात्, न च भ्रान्तिं विना कल्पितमस्ति; न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिकल्पितमेव एतद्वाक्यालम्बनम्; वेदस्य भ्रमजनकत्वप्रसङ्गात्, अनुवादे तु न दोषः, न चेश्वर एव तत्कल्पकः; तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, तदभ्युपगमेऽपि न विस्तारः; भ्रान्तेर्देहेन्द्रियादिकार्यत्वात् तेषां न पृथिव्यादिकार्यत्वात् पृथिव्याद्युत्पत्तेः प्राक् भ्रान्त्ययोगादिति—चेन्न; भ्रान्तिमात्रे देहेन्द्रियाद्यपेक्षायाः प्रागेव निरासात्, ईश्वराध्यस्तवाय्वादिहेतुकाश्याद्युत्पत्त्यालम्बनत्वेन वेदस्य भ्रमाजनकत्वात्, अध्यस्तस्य चाध्यस्तत्वेन स्फुरणान्न मायाविन इव ईश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । न चाध्यस्तत्वे उत्पत्त्याद्यनुपपत्तिः; अनध्यस्तस्य काप्युत्पत्त्याद्यदर्शनेनाध्यस्तत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्, सत्कार्यवादासत्कार्यवादिनिषेधेनानिर्वचनीयकार्यवादमात्रे कार्यकारणभावरपर्यवसानात् । तदेवं कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्याद्वये ब्रह्मणि कल्पनोपपत्तेर्न प्रतिकूलतर्कपराहतिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणि प्रपञ्चकल्पनोपपादनेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वप्रतिबिम्बत्वाभ्यां कल्पितत्वसूचनेन सुतरामविरोध इति सूचितम् । अविद्योपहितेति । अविद्यायां बिम्बीभूत इत्यर्थः । अन्तःकरणोपहितेति । अन्तःकरणतत्संस्कारान्यतरोपहिताज्ञानप्रतिबिम्बितेत्यर्थः । पक्षेऽपीति । दृष्टिसृष्टिपक्षे जीवस्याविद्यामात्रोपाधिकत्वेनानादित्वात्तस्यैव जगदुपादानत्वादीदोऽपि भ्रमयितृत्वादिविशिष्ट एव तदुपादानक इति भावः । मरणायेति । महाभयोत्पादनद्वारेति शेषः । भ्रमाजनकत्वादिति । वस्तुतो भ्रमजनकत्वेऽपि न दोषः । पूर्वपूर्वकल्पसिद्धस्य जीवभ्रमस्योत्तरोत्तरकल्पे श्रुत्यानुवादेनाद्वैतप्रतिपादनसंभवादिति ध्येयम् । स्फुरणात् ईशं प्रति स्फुरणात् । भ्रान्तत्वेति । भ्रान्तत्वव्यवहारेत्यर्थः । तथाच भ्रान्तत्वव्यवहारस्य मिथ्याविषयकत्वेनागृह्यमाणभ्रमत्वविषयकत्वाद्देशो भ्रान्तत्वेन जीवैव्यवहित इति भावः । पर्यवसानात् पर्यवसानस्य भाष्यादायुक्तत्वात् । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य सत्त्वे कारणव्यापारवैकल्यात्, असत्त्वे तत्र कार्यासंबन्धकालस्यावच्छेदकत्वासंभवात्, सदैव कार्यस्यासत्त्वापत्तिः; अतः सत्त्वासत्त्वाभ्यामुत्पत्तेः पूर्वमनिर्वाच्यं कार्यम्, व्यावहारिकोत्पत्त्यादिमप्रतीयमानोत्पत्त्यादेर्मानसिद्धत्वेऽपि श्रुतियुक्त्यादिबाधात् । इति लघुचन्द्रिकायां मिथ्यात्वानुमितौ प्रति-कूलतर्कनिराकरणम् ॥

अथ प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

प्रतिकूलतर्कपराहतं च मिथ्यात्वानुमानम् । तथाहि—विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तर्हि सत्याधिष्ठानकं स्यात्, (१) ससत्यप्रधानकं स्यात्, (२) ससत्यप्रधानाधिष्ठानसादृश्यकं स्यात्, (३) ससत्यदोषहेतुकं स्यात्, (४) बन्धनिवृत्त्यर्थयज्ञो न स्यात्, (५) ब्रह्मनिदिध्यासनसाध्यासाक्षिनिबल्यम्, (६) श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिबल्यं च न स्यात्, (७) “जन्माद्यस्य यतः,” इति सूत्रे यतो वेति श्रुतौ च जन्माद्युक्तिः “ईक्षतेर्नाशब्दम्,” इति सूत्रे तदैक्षतेति श्रुतौ चेश्वरस्य ईक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः, “लोकवत्तु लीलकैवल्यम्” इति सूत्रे आत्मकामस्य का स्पृहेति श्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलायाः सृष्ट्याद्युक्तिः, “वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादिति” सूत्रे “पुण्येन पुण्यं लोकं नयती”ति श्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेन अवैषम्योक्तिः, तेजोतस्तथाह्याहेति सूत्रे “वायोरग्नि”रित्यादिश्रुतौ च तेजआदेर्वाय्वादियज्यत्वोक्तिः, “विपर्ययेण तु कमोऽत उपपद्यते चे”ति सूत्रे पृथिव्यप्सु प्रलीयते इति श्रुतौ च पृथिव्यादीनामवादौ लयोक्तिश्च (८) बाधिता स्यादिति नोक्तानुमानं प्रयोजकम् । तत्र घटाद्यनुविद्धतयाऽप्रमीयमाणत्वेन प्रतीयमानत्वेऽप्यात्मनस्तिरोधाने तदध्यस्ताविद्याद्यप्रकाशापत्त्या तदतिरोधानस्याऽङ्गीकरणीयतया यथाकथञ्चित्तदुपपत्तावपि आत्मानात्मनोर्भेदग्रहसत्त्वेनाऽध्यासासंभवेनाविद्याविषयभङ्गे चिद्रूपज्ञानस्यैवाज्ञानविरोधित्वं नतु कृतेरित्यस्य वर्णयिष्यमाणत्वेन भ्रमविरोधिज्ञानाभावस्य सामान्याकाराज्ञाने संस्कारानुद्बोधादसद्विशेषाज्ञानस्य च बाधकत्वेऽपि सत्त्वाच्च स्वरूपाज्ञानस्य विशेषाज्ञानस्य चाधिष्ठानत्वेऽतन्त्रत्वे सामान्यतोऽज्ञातत्वे सति विशेषतोऽज्ञातत्वस्यैव तथात्वस्य अङ्गीकरणीयतया निःसामान्यविशेषस्यात्मनोऽधिष्ठानत्वांसंभवेनाऽन्यस्य चाधिष्ठानस्य निरूपयितुमशक्यत्वेन च निरधिष्ठानत्व एव पर्यवसानात् प्रथमतर्कोपपत्तिः । प्रधानमिव धीमात्रादधिष्ठानमपि भ्रमे । हेतुः सुगतीत्या

स्यात् अवाधस्तु द्वयोः समः । इति खोचितार्थक्रियाकारिणः श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्य च प्रपञ्चस्य स्वरूपेण त्रैकालिक-निषेधायोगात् नेह नानास्तीति श्रुतेरपि प्रातिभासिके त्रैकालिकनिषेधस्य व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववत् पारमार्थिकप्रपञ्चविषय-त्वस्यैवाऽङ्गीकार्यत्वात् शुक्तिरजतभ्रमस्थले इव प्रमाजन्त्यसंस्कारस्यैव भ्रमहेतुत्वस्याङ्गीकार्यत्वादन्वयाऽन्योन्याश्रयकल्पाद्यभ्रमा-नुपपत्त्यादिदोषापत्तेः, सत्यप्रधानस्य हेतुत्वानङ्गीकारेण तत्संस्कारमात्रस्यैव हेतुत्वाङ्गीकारेऽपि भ्रमात् पूर्वं स्वस्य कार्यानु-मेयाध्यासनियमाभावात् तत्सत्यत्वस्याऽऽवश्यकत्वाच्च द्वितीयतर्कोपपत्तिः । कल्पितसादृश्यस्याप्यविद्याध्यासाधीनत्वे-नान्योन्याश्रयापत्त्या निरुपाधिकभ्रमे सादृश्यनियमाच्च यथाकथंचित् सादृश्यस्य ब्रह्माविद्ययोरप्यङ्गीकर्तव्यतया निर्गुणे ब्रह्मणि तदसंभवात् तृतीयतर्कोपपत्तिः । यथाहि रूप्याद्यध्यासे व्यावहारिकसत्त्वस्यैतावताऽप्यसिद्धत्वेन दोषाणां व्यावहारि-कसत्त्वं बौद्धकल्पितानां दोषाणां वेदजन्यज्ञानाप्रामाण्यासंपादकत्वेन दोषाद्यध्यासस्यापि दोषान्तराधीनत्वादिनानवस्था-पातेन कस्यचिदोषाभावेऽप्यारोपेऽप्रामाण्यस्वतस्त्वापत्त्या अविद्याया इव प्रपञ्चस्यापि स्वनिर्वाहकत्वसंभवेनाधिष्ठानान-पेक्षापातेन च तत्प्रातिभासिकसत्त्वं वा न प्रयोजकं, तथा दोषमिथ्यात्वस्यैतावताऽप्यसिद्धत्वेनाधिष्ठानज्ञानबाध्यसत्त्वमेव तेषाम-ध्यासप्रयोजकम्, एवं च “लोकोऽधिष्ठानवत् सत्यो दोषादिभ्रमकारणम् । दृष्टोऽतोऽदृष्टवत् सत्यो दोषादिः स्यात् जगद्भ्रमे” इति चतुर्थतर्कोपपत्तिः । पारमार्थिकत्वाकारेण अत्यन्ताभावस्य स्वरूपाबाधेनाप्युप-पत्त्या मिथ्यात्वस्यात्यन्ताभावरूपस्य स्वरूपेण निवृत्तिरूपत्वाभावेनासाध्यत्वात् पञ्चमतर्कोपपत्तिः । यथाहि देवतानिदि-ध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिर्वर्त्य दुरितादि न तत्राध्यस्तम्, एवं प्रकृतेऽपीति षष्ठतर्कोपपत्तिः । अवघातस्य वैतुष्यान्या-पूर्वस्यैव श्रवणादिसाध्यापरोक्षान्यमुक्तेरेव नियमादृष्टसाध्यत्वेन अपरोक्षज्ञानस्यैव श्रवणविध्युद्देश्यत्वेन श्रवणेन परोक्षं नियमे-नापरोक्षमिति कल्पनाया अप्यसंभवेन साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षोपायान्तराप्रसक्त्या नियमविधिलायोगेन च सप्तम-तर्कोपपत्तिः । रूप्यादेरिव पृथिव्यादेर्जन्येक्षापूर्वं स्रष्टृत्वस्य तद्भ्रान्तेः प्रयोजनापेक्षाया वा सुखदुःखेश्वरादिविषयभ्रान्त्ये-श्वरवैषम्यनैर्घृण्यादिप्रसक्तेर्वा कल्पितान्तरात् कल्पितान्तरोत्पत्तेर्वा तत्र लयस्य वाऽयुक्त्वात् अष्टमतर्कोपपत्तिः, इति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ।

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

घटाद्यनुविद्धतया प्रतीयमानत्वेन परिपूर्णानन्दत्वात्माना तिरोहितस्यापि सदात्मनाऽनावृतत्वेनाविद्यादिप्रकाशोपपत्त्या पुरोवर्त्यपुरोवर्तिनोः भेदग्रहे सत्यपीदंरजतमित्यध्यासदर्शनेन रूपान्तरेण भेदग्रहस्य रूपान्तरेणाध्यासाविरोधित्वेन प्रपञ्चा-ध्याससंभवेन, वृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वेन चिद्रूपज्ञानस्य सिद्धस्य तदविरोधित्वेन च विरोधिज्ञानाभावस्य सदात्मना स्वरूपज्ञा-नस्यैव सामान्यज्ञानत्वेन परिपूर्णानन्दत्वादेः सत एव विशेषत्वेन बाधकालेऽपि सद्विशेषज्ञानस्य चाभावे भावेन स्वरूपज्ञानस्य विशेषाज्ञानस्य चैवाऽधिष्ठानत्वेन तन्त्रत्वेन सत्यरूपात्माधिष्ठानकत्वापादनस्येष्टापत्तिपराहतत्वेन प्रथमतर्कोऽप्रयोजकः । खोचितार्थक्रियाकारित्वस्य स्वाप्रमायादौ व्यभिचारेण पारमार्थिकसत्त्वाप्रयोजकत्वेन श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकत्वस्य स्वप्ने व्यभि-चारेण च तादृशस्य प्रपञ्चस्य त्रैकालिकनिषेधे बाधकाभावात्, प्रातिभासिके त्रैकालिकनिषेधे व्यावहारिकरूप्यविषयत्वस्य भ्रमबाधवैयधिकरणत्वापातेनास्माभिरनङ्गीकारेणाङ्गीकारेऽपि व्यावहारिकनिषेधस्याप्रतीतपारमार्थिकनिषेधत्वासंभवात् भ्रम-प्रमासाधारणज्ञानजन्यसंस्कारस्यैवाध्यासहेतुत्वेन गौरवेण प्रमाजन्त्यसंस्कारस्य तदहेतुत्वेन पूर्वपूर्वाध्यासस्योत्तरोत्तराध्यास-हेतुत्वाङ्गीकारेऽपि बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयस्यादोषत्वेन कल्पाद्यभ्रमस्यापि कल्पान्तरीयसंस्कारेणादृष्टादिना तदोद्बुद्धेनोपपत्त्य-ज्ञानद्वारा ब्रह्मणोऽहेतुत्वेऽपि अज्ञानद्वारा अध्यासहेतुत्वेन शून्यवादाप्रसक्त्या च पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्यैवोत्तरप्रपञ्चस्याध्यासात् द्वितीयतर्कोऽप्रयोजकः । अविद्याध्यासस्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य सादृश्यानपेक्षत्वात् सादृश्यस्यादृष्टादीनामिव संस्कारोद्बोधेन सामग्रीसंपादनद्वारैव भ्रमकारणत्वेन तस्य सादृश्यैकनित्यतत्त्वाभावेन पीतशङ्खभ्रमे व्यभिचारेण च निरुपाधि-कभ्रमेऽपि सादृश्यनियमाभावात् तृतीयतर्कोऽप्रयोजकः । ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य मिथ्यात्वसिद्ध्य-नपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयानवकाशात् व्यावहारिकसत्त्वस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि पारमार्थिकसत्त्वस्य तेनाग्रहणाच्च रूप्याध्यासे यथा व्यावहारिकसत्त्वमेव दोषाणां प्रयोजकम्; तथा प्रकृतेऽपि कल्पितस्यापि दोषस्य प्रपञ्चसमसत्ताकत्वेन बौद्धपरिकल्पितदोष-वैषम्येण कारणमिथ्यात्वे कार्यसत्त्वायोगेन च व्यावहारिकसत्त्वमेवाऽध्यासप्रयोजकम् । यथाहि गुणजन्यत्वं जन्यज्ञान-प्रामाण्यं प्रत्येव प्रयोजकं नतु ज्ञानत्वेन तत्प्रामाण्यप्रयोजकं, तथा जन्याध्यासं प्रत्येव दोषकारणकत्वमङ्गीक्रियते, एवमपि दोषजन्यत्वस्य बाधितविषयत्वव्याप्यताया उपपत्त्याऽविद्याध्यासप्रामाण्यानापत्तेरिति दोषाध्यासस्य दोषान्तराध्यासाधीनत्वा-दिना नानवस्थापत्तिः । एतेन—अविद्याध्यासस्यैव प्रपञ्चाध्यासस्यापि स्वनिर्वाहकत्वसंभवादधिष्ठानानपेक्षेति शङ्काऽपि—पराहता; जनकत्वेनाविद्याध्यासाधिष्ठानानपेक्षायामपि आश्रयत्वभासकत्वादिना तस्यापि अधिष्ठानापेक्षानियमेन दृष्टान्ता-संप्रतिपत्तेः, रूप्यादिषु अधिष्ठानज्ञानाबाध्यसत्त्वमेव दोषाणां तन्त्रमिति प्रपञ्चाध्यासेऽपि तदावश्यकताशङ्कादिकं तु साधर्म्य-समजात्युत्तरत्वात् नात्र दोषावहमिति चतुर्थतर्कोऽप्रयोजकः । सत्यस्य ब्रह्मणो निवृत्त्यदर्शनेन स्वरूपतो मिथ्यात्वाभावे अद्वै. सि. ६४

निवृत्त्ययोगात् मिथ्यात्वस्य निवृत्त्यनुकूलत्वेनोक्तनिवृत्तेरधिकरणस्वरूपत्वपक्षे अनिर्वचनीयत्वपक्षे पञ्चमप्रकारत्वपक्षे वा प्रवृत्त्युपपत्त्या च **पञ्चमतर्कोऽप्रयोजकः** । निदिध्यासनसाध्यदेवतासाक्षात्कारेण दुरितस्य कारणात्मना अवस्थानमात्रस्य करणेन शुक्तिज्ञानेनेव बाधाभावात् बाधकसाक्षात्कारविषये बाध्याध्यासेऽप्यतादृशे तदभावेनेष्टापत्त्या **षष्ठतर्कोऽप्रयोजकः** । “सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्” “सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते” इति सूत्रस्मृतिभ्यां कर्मशब्दवाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने परिसमाप्तिवर्णनेनाविद्यानिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्य ज्ञानान्यादृष्टसाध्यत्वेन च पुरुषार्थहिरण्यधारणवन्नियम्यफलेनैव नियमादृष्टफललोपपत्त्याऽपूर्वसाधनीभूतव्रीहौ अवघातातिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावपि सामान्यपुरस्कारेण तत्प्रसक्तिमादायावघातनियमवज्ज्ञानत्वसामान्येन श्रवणाद्युपायान्तरप्रसक्तिमादाय नियमविधित्वसंभवेन च **सप्तमतर्कोऽप्रयोजकः** । कल्पितस्यापि प्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन तद्दशायां विरोधपरिहारयोरुचितत्वेन अध्यस्तेऽप्यैन्द्रजालिके ईक्षापूर्वकस्रष्टृत्वदर्शनेनाध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदिजनकत्वसंभवेन असंभवेऽपि तदभिध्यानादिति न्यायेन तद्भावापन्नब्रह्मण एव जनकत्वविवक्षणेन तत एव तत्र लयस्याप्युपपन्नत्वेन वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्कापरिहारादिकस्य विवर्तवादेन परमसिद्धान्ते सर्वथाऽप्रसक्त्या परिणामवादेन तत्प्रसक्तावपि तस्य व्यवहारदशाविषयत्वेनाऽनुपपत्त्यभावेन चाष्टमतर्कोऽप्रयोजकः इति नोक्तानुमानमप्रयोजकमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

इदं रजतमिति वत् आत्मा घट इति प्रतीत्यभावेन देवदत्तः पञ्चतीत्यत्र पाकाश्रयतया देवदत्तस्यैव सत्ताद्याश्रयता घटभानस्यैव सन् घट इत्यत्र विवक्षणीयतया प्रकाशमात्रस्वभावे निर्विशेषात्मनि सत्त्वानन्दत्वयोः प्रकाशाप्रकाशासंभवेन सदात्मनानन्दात्मना च सामान्यविशेषज्ञानज्ञानयोरप्युपपादनासंभवेन च **प्रथमतर्कोपपत्तिः** । श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्य प्रपञ्चस्य स्वाप्रवत् स्वरूपेण निषेधे मिथ्यात्वासिद्ध्या पारमार्थिकत्वेन निषेधपक्षे ब्रह्मवत्प्रपञ्चस्यापि सद्रूपत्वापत्त्या च प्रपञ्चसत्यत्वावश्यकत्वात् ज्ञानत्वेन ज्ञानजन्यसंस्कारस्यैव हेतुत्वे तद्वदेव लाघवेनाधिष्ठानधीत्वेन तद्विषय एव तदेतुत्वापत्त्या अधिष्ठानसत्त्वासिद्ध्या ज्ञानवदज्ञानस्यापि वस्तुसद्विषयं विना हेतुत्वसंभवेन अज्ञानद्वारा हेतुत्वविवक्षणेऽप्यनिस्तरेण च शून्यवादापत्तेश्च **द्वितीयतर्कोपपत्तिः** । पीतः शङ्ख इति भ्रमस्यापि नयनगतपित्तपीतिमविषयस्य सोपाधिकभ्रमत्वेन निरुपाधिकभ्रमनियतसादृश्याभावात् **तृतीयतर्कोपपत्तिः** । प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् प्रातिभासिकपारमार्थिकयोरेव सत्त्वे तृतीयस्य व्यावहारिकस्यासिद्धेः बौद्धपरिकल्पितदोषाणामिव वेदज्ञानस्याद्वैतिपरिकल्पितदोषाणामपि प्रपञ्चज्ञानस्याप्रामाण्याप्रयोजकत्वात् तत्रैव प्रकृतेऽपि तात्त्विकदोषाभावेन प्रामाण्यमेवाङ्गीकरणीयम् ; अन्यथा दोषाध्यासस्यापि दोषान्तराध्यासाधीनत्वादिनाऽनवस्थापातात् । गुणजन्यत्वं प्रमात्वप्रयोजकमिति स्वतःप्रामाण्यवादिनामुभयेषां मतेऽप्यनङ्गीकारेण दोषाजन्यत्वेऽपि बाधितविषयत्वेनाप्रमात्वे तस्यापि स्वतस्त्वापातेन बाधितविषयत्वे दोषजन्यत्वस्यैवावच्छेदकत्वेन दोषान्तराध्यासं विनाविद्याध्यासासंभवात् जन्याप्रामाण्यस्यैव स्वतस्त्वादिना साध्यध्यासावच्छेदेनैव बाधितविषयत्वदोषजन्यत्वयोः व्याप्तिस्वीकारेऽपि तादृशे अविद्याज्ञाने तत्पूर्ववर्तिनोऽवियेतरस्यैव दोषत्वं वर्णनीयम् । एवं तज्ज्ञानेऽपि तदितरदोषस्येत्यनवस्थापातात् । एवंच रूप्यादिषु दोषाणां पारमार्थिकसत्त्वमेवाध्यासप्रयोजकं दृष्टमिति प्रकृतेऽपि तथैवापत्त्या न मिथ्यात्वसिद्धिरिति **चतुर्थतर्कोपपत्तिः** । मिथ्याप्रतियोगिकस्य ध्वंसस्याभावेन भावेऽपि पारमार्थिकत्वाकारेणाल्यन्ताभावस्य स्वरूपेण निवृत्तेरनित्यत्वपर्यवसन्नत्वेनासदनिष्ठाभावेन च **पञ्चमतर्कोपपत्तिः** । अवघातनखविदलनादेः स्वसाध्यवैतुष्याश्रयापूर्वसत्त्वतदभावाभ्यां विशेषेऽपि उभयत्रापि वैतुष्यस्यैवावच्छेदकत्वाद्येन रूपेण अवघातप्राप्तिः तेनैव रूपेण नखविदलनादेरपि प्राप्या यथा नियमविधित्वं नैवं ज्ञानत्वस्यैव श्रवणादिविध्युद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तन्नियमविधित्वसंभवः ; साक्षात्कारत्वस्यैव तत्त्वस्य साक्षात्कर्तव्यो द्रष्टव्य इत्यादिभिरवगमात्, नियमादृष्टस्य साक्षात्कारातिरिक्तफलवत्त्वस्यावश्यकत्वात् सर्वकर्मल्यादीनां श्रवणादिनियमापूर्वैतरविषयत्वाच्च **सप्तमतर्कोपपत्तिः** । कल्पितत्वेन जडस्य जनकत्ववदवच्छेदकत्वस्यासंभवेन जडावच्छिन्नत्वस्य जडभावस्य वा ब्रह्मण्यसंभवात् सृष्टिलयादिश्रुत्यनुपपत्तेः भ्रान्त्या प्रसक्तस्य परिणामवादस्य सूत्रेण साधनायोगेन तस्यैव परमसिद्धान्तत्वस्यावश्यकत्वेन वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्काया अप्यनुपपत्तेश्चाष्टमतर्कोपपत्तिरिति सर्वमवदातमिति—वर्णयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

इदं रजतमित्यत्र रजतात्मना भासमानस्येदमो रजतानुविद्धतयेव प्रपञ्चतादात्म्येन भासमानस्य सद्रूपतामनः प्रपञ्चानुविद्धतया भानस्याङ्गीकरणीयत्वात् न्यूनाधिकवृत्तित्वरूपसामान्यविशेषभावस्य सदानन्दादावभावेऽपि भ्रमे भासमानत्वाभासरूपत्वस्य स्वरूपेण मिथ्याभूतकपालघटादिधर्मरूपस्य वा तस्य संभवेनाविद्यकानादिभेदवत् सदानन्दाद्यात्मना कपालघटादिविशिष्टात्मना वा सामान्यतो विशेषतश्च ज्ञातत्वाज्ञातत्वयोः सत्त्वेनाऽसत्त्वेऽपि शुक्तिलादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वाभावेन शुक्तिरूप्य-

अथ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ।

एतदनुमानमे'कमेवाद्वितीय'मित्यादिश्रुतिरप्यनुगृह्णाति । ननु—श्रुत्या स्वस्वरूपस्वप्रामाण्यस्वयोग्यतादेर्मिथ्यात्वाबोधनेन प्रत्यक्षादिसिद्धतत्सत्त्वोपजीवनेन च ब्रह्मेतरसकलमिथ्यात्वासिद्धिः, 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्ये'ति न्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धिश्च, योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने च श्रुत्यर्थस्यातात्त्विकत्वापत्तिः; शब्दबोधस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्वनियमात्, न च सदर्थस्वाप्रदेवतावाक्ये व्यभिचारः; आप्तत्वापौरुषेयत्वायोगेन तस्य शब्दत्वेन प्रामाण्यायोगात्, किं तूपश्रुतिवत्तादृशशब्दज्ञानं लिङ्गत्वेन प्रमाणमिति—चेन्न; निर्दोषशब्दत्वेन तस्य शब्दविधयैव प्रामाण्यसंभवात्, आप्तत्वापौरुषेयत्वयोर्दोषाभाव एवोपक्षयात् व्याख्याद्युपस्थितिकल्पने गौरवात्, वक्तुः कल्पितत्वेऽपि तद्वत्तदोषस्यार्थसंवादेन कल्पयितुमशक्यत्वाच्च । तथाच शब्दसमसत्ताकत्वस्य व्यभिचारात् योग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमसिद्धेरप्रयोजकत्वाच्च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सन्निपातेत्यादि । सन्निपातः संबन्धः लक्षणं निमित्तं यस्य तादृशो विधिस्तद्विधातस्य स्वनिमित्तभूतसन्निपातविधातस्य निमित्तं कारणं नेत्यर्थः । तथाच यथा शतानीत्यादौ शिसन्निपातं निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो नुस्विधिनान्तत्वरूपद्वारकषट्संज्ञया शिलोपेन तद्विधातस्य न निमित्तं, तथा मिथ्यात्वधर्मिग्राहकप्रत्यक्षादिप्रामाण्यसन्निपातं निमित्तीकृत्य प्रवर्तमाना विश्वमिथ्यात्वश्रुतिर्नोक्तसन्निपातविधातस्य निमित्तमित्यर्थः । आप्तेति । वाक्यार्थप्रभावदुक्त्यर्थः । अयोगादिति । तथाच यद्यत्रमाणशब्दादिसमसत्ताकमिति व्याप्तौ न बाध इति भावः । उपश्रुतीति । एतत्कर्तव्यं नवेति सन्दिहानेन श्रूयमाणमन्यस्य कर्तव्यतापरमवश्यमेतत्कर्तव्यमिति वाक्यमन्यस्य अन्येनोच्यमानमुपश्रुतिस्तस्य कर्तव्यतया सन्दिग्धस्यार्थस्य कर्तव्यतायां शब्दतया न प्रामाण्यम्; तस्य तत्परत्वाभावादाप्तोक्तत्वाभावाच्च, तथाप्यनु-

भ्रमेऽज्ञातविशेषत्वस्याभावेनाज्ञातत्वस्यैव सोऽयमित्यादिभ्रमे अज्ञातसामान्यवत्त्वस्याप्यभावेन ज्ञातत्वस्य चैव अधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वादात्माधिष्ठानकत्वस्येष्टत्वात् प्रथमतर्कोऽप्रयोजकः । स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वा प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य पूर्वमुपपादनात् प्रधानसंस्कारस्य भ्रमप्रमासाधारणज्ञानस्याध्यासहेतुत्ववत् अधिष्ठानविधयोऽपि धीत्वेन हेतुत्वेऽपि वस्तुसदधिष्ठानविषयकधिय एव हेतुत्वं पर्यवस्येत्; नह्यवस्तुसदधिष्ठानविषयकं ज्ञानं भयहेतुर्भवति; अज्ञानोपहितत्वेनाधिष्ठानचैतन्योपादानतानिर्वाहात्, यतोवेत्यादिश्रुतिविरोधाच्च । एतेन—ज्ञानवदज्ञानमप्यवस्तुसद्विषयमिति वचनमपि—पराहतम्; आश्रयत्वेतिवचनानुसारेण वस्तुसच्चैतन्यमात्रविषयस्य तस्य तत्त्वायोगात् । भ्रमबाधव्यवस्थादिकमत एवोपपद्यते इति द्वितीयतर्कोऽप्रयोजकः । पितृद्रव्यस्थशङ्खादिसंयोगे पुरुषान्तरेणाऽपि पीतित्रो ग्रहणापत्त्या पुरुषान्तरं प्रति तदयोग्यत्वकल्पने गौरवेण रजतपात्रस्थजले नैत्यविभ्रमे सोपाधिकत्वस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वेन चोभयत्र व्यभिचारेण निरुपाधिकभ्रमस्य सादृश्यनियतत्वाभावेन च तृतीयतर्कोऽप्रयोजकः । प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धेः प्रागपि अबाध्यत्वब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादिरूपत्रिविधसत्त्वसिद्धेः वेदविषमसत्ताकबौद्धपरिकल्पितदोषवैषम्येणाविद्याज्ञानादीनामपि विषयविधया कारणाविद्याजन्यत्वेनैव भ्रमत्वोपपत्त्या सादिभ्रमत्वावच्छेदेन दोषजन्यत्वबाधितविषयत्वयोः व्याप्यव्यापकभाव एव “यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्यय” इति शाबरवचनस्य प्रमाणत्वेन दोषाजन्यत्वेऽपि अनाद्यध्यासस्य स्वतस्त्वानापत्त्या च खान्यूनसत्ताकदोषजन्यत्वेनैव भ्रमत्वोपपत्तेर्दोषसत्यलस्यानपेक्षणात् यत्र विषये अविद्योपादानं तज्ज्ञानस्यैव अविद्याऽप्रामाण्यप्रयोजिकेति ब्रह्मज्ञानसमसत्ताकयापि तथा तदप्रामाण्याप्रयोजनाच्च चतुर्थतर्कोऽप्रयोजकः । बन्धस्य शशविषाणवत्तुच्छत्वाभावेन निवृत्तिसंभवात् तस्या आत्मस्वरूपलक्षणे अनिर्वाच्यत्वलक्षणे पञ्चमप्रकारत्वलक्षणे वा सिद्धेऽपि कण्ठगतचामीकार इव प्राप्त्यर्थयत्नोपपत्त्या पञ्चमतर्कोऽप्रयोजकः । यागीयव्रीहिवैतुष्यसाधनत्वेन नखविदलनाद्यप्रसक्तावपि वैतुष्यत्वेन तत्साधनतया प्रसक्तिमात्रेण यथाऽवघातनियमः, एवं प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वेन प्रसक्तसाधनान्तरनिवृत्तिद्वारा नियमविधित्वसंभवेन हिरण्यधारणनियमस्य परमापूर्वासाधनत्ववत् प्रकृतेऽपि बन्धनिवृत्त्यनुपयोगेनापि नियमविधित्वसंभवात् दृशत्वादिना साक्षात्कारविवक्षणेऽपि दोषाभावाच्च सप्तमतर्कोऽप्रयोजकः । बहुभ्यां प्रजायेयेत्यादिना सर्वभावस्य ब्रह्मणः प्रतिपादनेनाकाशादिभावापन्नस्य ब्रह्मणो जनकललाधारत्वादिविवक्षणे बाधकाभावात् विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवाद इति संक्षेपशारीरकवचनानुसारेण भ्रान्तिप्रसक्तस्यापि परिणामवादस्य सूत्रेण साधनस्य युक्तत्वात् वैषम्यनैर्घृण्यादिशङ्कापरिहाराणामपि व्यवहारोपपत्त्यर्थतया युक्तत्वाच्चाष्टमतर्कोऽप्रयोजक इति मिथ्यात्वानुमानं नाप्रयोजकमिति—शिशदयन्ति ॥

इति प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् ॥

परोक्षत्वानित्यत्वाद्युपाधिसंभवाच्च श्रुत्या योग्यतादिसकलमिथ्यात्वबोधनेऽपि तदर्थस्य न मिथ्यात्वम्; मिथ्यात्वप्रयोजकरूपाभावात् । महाभाष्योक्तन्यायोदाहरणमपि न युक्तम्; विषयवैषम्यात् । तथाहि—‘शतानि सहस्राणी’त्यत्र सर्वनामस्थानसंज्ञकशिसन्निपातेन विहितो नुम् ‘णान्ता षड्’ति षट्संज्ञाद्वारा ‘षड्भ्यो लुङि’ति शिखरूपसर्वनामस्थानस्य पञ्चेत्यादाविव लुङ्निमित्तं न भवति; तत्सन्निपातेनैव विहितत्वात्, तत्सद्भावनियमेनैव विहितत्वादित्यर्थः । अलुप्तस्यैव सर्वनामस्थानस्य नुम्निमित्तत्वात्, ‘न लुमताङ्गस्ये’ति लुमता लुप्तेऽङ्गकार्यनिषेधात् । तथाचालुप्तप्रत्ययत्वेन यत्र निमित्तता तत्र सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, यत्र तु ‘प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि’ति न्यायेन लुप्तेऽपि प्रत्यये कार्यं भवति, तत्रालुप्तत्वविशेषणनैरपेक्षेण प्रत्ययत्वमात्रेणैव निमित्तत्वात् न सन्निपातलक्षणन्यायावतारः; प्रत्ययसद्भावस्य तत्रानुपजीव्यत्वात् । एवं स्थिते यद्यमिथ्याभूतत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमित्तता स्यात्, तदा प्रत्ययस्यालुप्तत्वेन निमित्ततायामिव भवेदेतन्न्यायावतारः । प्रत्यक्षादेस्तु स्वरूपेणैव निमित्तता स्वमाद्यर्थस्याप्यर्थक्रियाकारित्वदर्शनेन प्रागेवोपपादिता । अतो यत् बाध्यते तात्त्विकत्वं तन्नोपजीव्यम्, यच्चोपजीव्यमर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणव्यावहारिकप्रामाण्यं तच्च न बाध्यत इति किं केन सङ्गतम्? तदुक्तं टीकाकृद्भिः—‘उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वादिति । अतएव—ज्योतिष्टोमादिविधेरुपजीव्याग्निविद्यावद्विषयत्वेनेव द्वैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन सङ्कोचस्य वा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मापकतया आगमेन तथाबोधनात् तथोक्तवाक्यस्य स्वार्थ इत्यर्थः । शब्देति । स्वबोधकशब्दादीत्यर्थः । व्यभिचारात् प्रमाणशब्दबोध्यत्वं प्रत्यव्यापकत्वात् । नियमसिद्धेः उक्तव्याप्तिज्ञानस्य । अप्रयोजकत्वात् निश्चायकस्य तर्कस्थानवतारेणानिश्चयरूपत्वात् । परोक्षत्वेति । साक्षिभिन्नत्वेत्यर्थः । यथाश्रुतस्य घटादौ साध्याव्यापकत्वात् । नच—पक्षेतरत्वतुल्यतेति—वाच्यम्; उक्तोपाधिर्यदि साध्यव्यापको न स्यात्, तदा साक्षिणः स्वबोधकयोग्यतादिसमसत्ताकत्वे तस्य बाध्यत्वं निःसाक्षिकं स्यादिति तर्केण व्यापकतानिश्चयात्, बाधोन्नीतपक्षेतरत्वतुल्यत्वात्, आत्मगुरुत्वान्यतरत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकं यथाश्रुतं परोक्षत्वमेव वोपाधिः । अनित्यत्वेति । विनाशित्वेत्यर्थः । गगनादेरपि विनाशित्वान्न साध्याव्यापकत्वनिश्चयः । वैषम्यादिति । दृष्टान्ते शिसद्भावस्य निमित्तत्वात्तद्विधातकत्वेऽपि दार्ष्टान्तिके तात्त्विकप्रामाण्यस्यानिमित्तत्वात्तद्विधातकत्वेऽपि नोक्तन्यायबाधः; व्यावहारिकप्रामाण्यस्य निमित्तत्वेऽपि तद्विधातकत्वमुक्तश्रुतेर्नैष्यत एवेति भावः । सर्वनामस्थानसंज्ञकेति । शि सर्वनामस्थानमित्यनेन विहितोक्तसंज्ञकेत्यर्थः । विहित इति । सर्वनामस्थाने इति अनुवृत्तौ ‘नपुंसकस्य झलच’ इत्यनेन विहित इत्यर्थः । विहितत्वादिति । नच—उपदेशकाले यत् णान्तं, तस्यैव षड्संज्ञा विधीयते; अन्यथा येन विधिस्तदन्तस्येत्यन्तग्रहणसिद्धौ अन्तग्रहणं व्यर्थं स्यात्, तथाच शतानीत्यादौ सा न युक्तेति—वाच्यम्; संख्येत्यस्यानुवृत्तौ मानाभावेन विषुष इत्यादावपि षट्संज्ञा स्यात्, अन्ते गृहीते तु स्त्रीलिङ्गनिर्देशान्यथानुपपत्त्या संख्यानुवृत्तिः; तथाच तत्रैवार्थापत्तेरुपक्षयात् स्वभावनान्तत्वानाक्षेपात्, ‘सन्निपातेत्या’दिन्यायेनैव स्वभावनान्तत्यागासंभवेन स्वभावनान्तत्वाक्षेपवैयर्थ्याच्च । लुमतेति । लुवर्णवता लुक्झलुबिल्येतेषामन्यतमेनेत्यर्थः । अङ्गस्येति । ‘यस्मात् प्रत्ययविधिसिद्धादी’त्यनेन विहिताङ्गसंज्ञकस्येत्यर्थः, प्रकृतेरिति यावत् । लुप्ते विहितलोपयोग्ये । तेन लोपात् पूर्वमपि नाङ्गकार्यम् । लुप्तेऽपीति । अग्निचिदित्यादौ लुप्तेऽपि किपादौ तुगादिकार्यमित्यर्थः । यद्यपि ‘स्थानिवदादेशः’ इत्यादिनैव लुप्तप्रत्ययस्य निमित्तता, प्रत्ययलोप इत्यादिकं तु प्रत्ययमात्रनिमित्तकमेव कार्यं प्रत्ययलोप इति नियमार्थम्; तेन बोधनीतीत्यादौ लुप्तप्रत्ययनिमित्तकं यङो ङित्वेऽपि नात्मानेपदमित्यादिवैयाकरणैरुक्तं; तथापि नियमबोधकवाक्येन नियम्यप्रापकस्थानीत्याद्येवोक्तम् । एवं स्थिते येन रूपेण यद्यस्योपजीव्यं, तेन रूपेण तत्तेन न विहन्यते इत्यस्योक्तन्यायस्वरूपत्वे स्थिते । अमिथ्याभूतत्वेन सत्यविषयकत्वेन । अर्थक्रियासामर्थ्येति । प्रवृत्त्यादिकार्यसामर्थ्येत्यर्थः । तात्त्विकत्वं तात्त्विकप्रामाण्यम् । न बाध्यत इति । विचारकाले प्रपञ्चस्य बाधेऽपि तत्पूर्वकालाबाध्यविषयकत्वरूपं व्यावहारिकप्रामाण्यं न बाध्यत इत्यर्थः । टीका भामती । उत्पादकं उपजीव्यम् । वस्तुतस्तु—तात्त्विकत्वेन प्रत्यक्षादेरुपजीव्यत्वेऽपि प्रकृते तन्न्यायस्य नावतारः; सामान्यविषयकोक्तन्यायस्य विशेषविषयकेनाद्वैतश्रुतितत्पर्यान्यथानुपपत्त्यादिना ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य’ इति न्यायेन ‘प्राबल्यमागमस्यैव ज्ञाया तेषु त्रिषु स्मृत’मिति स्मृत्या च बाधसंभवात्, अत एव महाभाष्ये—‘नदि ब्राह्मणी’त्यादौ तन्न्यायानवतारात्तन्न्यायस्य प्रत्याख्यानमाशङ्क्य तन्न्याय आवश्यकः, दोषेषु तु प्रतिविधातव्यमित्युक्तम् । यत्र यत्र बाधकं तदन्वस्थले तस्यावतार इत्यर्थः । तथाच ‘एङ्हस्वात्सखुद्धे’रिति सूत्रे गुणादित्युक्त्वा एङ्हस्वादिति करणं ज्ञापयति, यदेतदन्यविषय एवोक्तन्यायावतारः । यदि हि ‘नदि ब्राह्मणी’त्यादौ सन्निपातन्यायेन संबुद्धिलोपबाधः, तदा गुणात् संबुद्धेरित्येव सूत्रं क्रियेतेत्यादिकमिबोक्तान्यथानुपपत्त्यादिकमपि बाधकमिति ध्येयम् । उपजीव्याग्नीत्यादि । उप-

सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वस्य वोपपत्तौ न तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्वकल्पनं युक्तमिति—
अपास्तम्; दृष्टान्ते अग्निविद्यादेरिव दार्ष्टान्तिके योग्यतादेस्तात्त्विकस्यानुपजीव्यत्वात् । नहि योग्यता
तात्त्विकयोग्यतात्वेन निमित्तम्, किंतु योग्यतात्वेनैव । सकलद्वैताभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेन तद-
धिकरणस्य च ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'तत्सत्यं स आत्मे'त्यादिश्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनात्
न सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वोपपत्तिः । तस्माद्योग्यतादेर्मिथ्यात्वेऽपि वेदान्तबोध्यं सत्यमेवेति
स्थितम् । यथाचाविद्यातत्कार्यस्य स्वरूपतो निषेधेऽपि तुच्छवैलक्षण्यं, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे
वा पारमार्थिकत्वधर्मशून्यस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेण सत्त्वं, तथोपपादितमधस्तात् । ननु—तत्त्वमस्या-
दिवाक्येन प्रत्यक्षाद्यविरोधाय तत्त्वंपदलक्षितयोरैक्यमिव मिथ्यात्वश्रुत्यापि तदविरोधाय प्रत्यक्षा-
दिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यम्; अन्यथा प्रत्यक्षाद्यनुग्रहाय व्यावहारिकमपि सत्त्वं न कल्प्येत,
'नेह नाने'त्यादिनिषेधेनात्यन्तसत्त्वबोधनात्—इति चेन्न; विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन
सर्वत्र विशिष्टाभेदपरवाक्यस्य लक्षितविशेष्यैक्यपरत्वनियमेन 'तत्त्वमसी'त्यत्रापि तथाभ्युपगमात् ।
तदुक्तम्—'अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः । घटते न यदैकता तदा नतरां तद्वि-
परीतरूपयोः ॥' इति । मिथ्यात्वबोधकश्रुतौ तु नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः; तात्त्विकत्वांशस्यानुपजीव्य-
त्वात्, व्यावहारिकसत्त्वस्य चोपजीव्यत्वान्नात्यन्तासत्त्वकल्पनमित्यस्याप्युक्तप्रायत्वात् । ननु—श्रुते-
स्तात्पर्यं चैतन्यमात्रे वा, द्वितीयाभावविशिष्टे वा, तदुपलक्षिते वा, नाद्यः; विश्वमिथ्यात्वासिद्धेरि-
ष्टापत्तेः, तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेन श्रुतिवैयर्थ्याच्च । न द्वितीयः; अखण्डार्थत्वहानात् ।
अतएव न तृतीयः; काकवदितिवत् द्वितीयाभाववदित्यनेनापि सप्रकारकज्ञानजननेनाखण्डार्थत्वा-
योगात्, चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेन तदन्यस्य च मुमुक्ष्वज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीया-
भावेनोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावात् तस्योपलक्षणत्वायोगाच्चेति—चेन्न; काकस्य संस्थानविशेष इव द्विती-
याभावस्य स्वरूपमेवोपलक्ष्यमित्युपलक्ष्याभावनिवन्धनोपलक्षणत्वानुपपत्तेरभावात् । उपलक्षणत्वे
हि उपलक्ष्यसत्त्वमात्रं तन्नम्, नतु तस्य स्वरूपातिरिक्तत्वमपि; गौरवात्, उपलक्ष्यतावच्छेदकरूपा-
भावेऽपि स्वतोव्यावृत्तजातिवदुपलक्ष्यत्वसंभवात् । अतएव न सप्रकारकत्वापत्तिः; काकवदित्यत्रा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जीव्ये ये अग्निविद्ये तद्वत्पुरुषाधिकारिकत्वेनेत्यर्थः । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिविधिषु चतुर्णामपि
वर्णानामधिकारः अपशूद्राणां वेति संशये, विशेषाश्रवणाच्चतुर्णामिति प्राप्ते, 'आहवनीये जुहोती'त्यादिविधिना
आहवनीयाद्यग्नीनां सामर्थ्यकल्पितविधिना अनुष्ठेयार्थज्ञानस्य च ऋत्वङ्गत्वात् शूद्रस्य चाहवनीयाद्यर्थज्ञानोपा-
याधानाध्ययनाभावात् क्रयादिनाहवनीयादेः दृष्ट्यादिनार्थज्ञानस्य च तत्र कल्प्यत्वे गौरवात् 'वसन्ते ब्राह्मणो-
ऽग्नीनादधीते'त्यादिविहिताधानादिसिद्धाहवनीयादिमत्तया क्लृप्तानां त्रैवर्णिकानामेवाधिकार इति षष्ठप्रथमे स्थितम् ।
विषयत्वस्य निषेधबोधकत्वस्य । तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वेति । तात्त्विकं यत् स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभा-
वस्वरूपं, तत्प्रतियोगित्वेत्यर्थः । ननु प्रपञ्चः स्वरूपेण निषिद्धस्तुच्छः स्यात्, पारमार्थिकत्वेन निषिद्धश्चेत् ब्रह्मापि
तथास्तु, निर्धर्मकत्वात्, अथ ब्रह्म तेन रूपेण मिथ्या, शुद्धस्वरूपेणैव सत्, तर्हि प्रपञ्चोऽपि तथास्तु, तत्राह—यथा
चेति । स्वरूपतः आविद्यकत्वादिरूपेण । ब्रह्मणो ब्रह्मण एव । स्वरूपेण शुद्धरूपेण । अधस्तात् प्रथममिथ्यात्व-
विचारे । सत्त्वेन ज्ञेयत्वात् तुच्छवैलक्षण्यम्; पारमार्थिकत्वशून्यस्यापि प्रपञ्चस्य शुद्धरूपेण न सत्त्वम्; तस्य शुद्धरू-
पत्वाभावात्, भावेऽपि श्रुत्यनुमानाभ्यां तस्यैव मिथ्यात्वम्, न ब्रह्मणः; मानाभावात्, साक्षित्वाच्चेत्याद्युक्तम् । विशे-
षणयोरैक्यापातेनेति । वाच्यविशिष्टं प्रमेयविशिष्टमित्यादाविव 'सोऽय'मित्यादौ तत्तेदन्तयोर्विशेषणत्वे विशेष्यान्व-
यनियमेनान्योन्यमभेदान्वयापातेनेत्यर्थः । सर्वत्र विशेषणयोरभेदबाधस्थले । अभेदपरेति । अभेदपरत्वयोग्येत्यर्थः ।
विशिष्टोपस्थापकसमानविभक्तिकपदद्वययुक्तेति यावत् । लक्षितविशेष्यैक्येति । लक्षितशुद्धविशेष्यव्यक्तिमात्रेत्यर्थः ।
विशिष्टबोधकपदस्य विशिष्टप्रतियोगिकान्वयबोधकत्वमावश्यकम्; मुख्यवृत्तिज्ञानसहकृतस्य तस्य तादृशान्वयबोधोपा-
धायकत्वस्य क्लृप्तत्वात्, अन्यथा 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यादौ लौहित्यादेर्विशेषणता न स्यादुपलक्षणताया
उपाधिताया वा वक्तुं शक्यत्वात्, अतो मुख्यां वृत्तिं त्यक्त्वैव वा विशेषणत्वं वाच्यम् । तत्रापि तात्पर्याविषयस्योपा-
धित्वेऽपि मानाभावादुपलक्षणत्वमेवावशिष्यते । तथाच शुद्धव्यक्तिमात्रधीपरत्वमिति भावः । एकता अत्यन्ताभेदः ।
विपरीतेति । जीवत्वेनैव स्वरूपविरुद्धविशेषणघटितेत्यर्थः । तथाचात्यन्ताभेदपरत्वान्यथाप्यनुपपत्त्या शुद्धलक्षणेति
भावः । संस्थानविशेषस्य उच्छेदत्वादेः । स्वतोव्यावृत्तेति । घट इति ज्ञाने अन्याविशेषितरूपेण भासमानवद-

प्युपलक्षणस्याप्रकारत्वात्, किंतु स्वरूपातिरिक्तधर्मस्य तत्रोपलक्षणत्वेन सप्रकारत्वम्, इह तु तत्रेति वैषम्यम् । नचोपलक्षणवैयर्थ्यम्; अनर्थनिवृत्तिहेतुत्वेन द्वितीयाभावद्वारकस्वरूपज्ञानस्योद्देश्यत्वात्, तस्य प्रागसिद्धत्वात् । नच मिथ्यात्वासिद्धोपपत्तिः; अवान्तरतात्पर्यस्य तत्रापि सत्त्वात्, तद्वारैव स्वरूपचैतन्ये महातात्पर्यात् । अतएव—श्रुतिबोध्यस्य विशेषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः, असत्त्वे चादण्डे दण्डीति वाक्यवत् काकहीने काकवदिति वाक्यवच्चाद्वैतवाक्यस्यातत्त्वावेदकत्वापत्तिरिति—निरस्तम्; आद्ये द्वितीयाभावसत्त्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापादनस्यानुचितत्वात्, अभावस्याधिकरणातिरेकानभ्युपगमाच्च । द्वितीये तु सृष्ट्यादिवाक्यवदुपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वमादाय तत्त्वावेदकत्वात्, मुख्यतात्पर्यविषयस्यासत्यतायामेवातत्त्वावेदकत्वाभ्युपगमात् । अतएव महातात्पर्याभिप्रायेण चैतन्यमात्रे तात्पर्यमित्याद्यपक्षेऽपि न दोषः; अवान्तरतात्पर्येण मिथ्यात्वसिद्धेरपि स्वीकारेणैवापत्तेरप्यसंभवात् । ननु—द्वितीयाभावे महातात्पर्याभावः किं प्रमाणान्तरप्राप्त्या, यथा वायुक्षेपिष्ठत्वादौ, उत तद्विरोधित्वेन; यथात्मवपोत्वननादौ, उतोद्देश्यविशेष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वादित्यर्थः । उपलक्ष्यत्वेति । उपस्थाप्यत्वेत्यर्थः । अनर्थेति । सद्वितीयत्वज्ञानेत्यर्थः । द्वितीयाभावद्वारकेति । द्वितीयाभाववत्त्वेन ब्रह्मोपस्थितिद्वारकलक्षणाज्ञानाधीनेत्यर्थः । अवान्तरतात्पर्येति । मन्त्रार्थवादादेर्देवताविग्रहादिवोधनद्वारा स्तुत्यादिपरमतात्पर्यकस्य देवताविग्रहादाववान्तरतात्पर्यस्य विवरणकारादिमत इवाद्वितीयत्वादिरूपेण ब्रह्मज्ञानाधीनया विरोधप्रतिसन्धानाधीनया लक्षणाकल्पनया शुद्धब्रह्मपरत्वेन गृह्यमाणस्याद्वितीयादिवाक्यस्याद्वितीयत्वादिविशिष्टब्रह्मण्यवान्तरतात्पर्यस्य स्वीकारः । उक्तं हि संक्षेपशारीरके—‘सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागान्वयः पश्चादेव विशेषणैतरतया पश्चाद्विरोधोद्भवः । उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मके वृत्तिलक्षणा भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सुरिभिः ॥ सामानाधिकरण्यमत्र पदयोर्ज्ञेयं तदीयार्थयोः संबन्धस्तु विशेषणैतरतया ताभ्यां सहास्यात्मनः । संबन्धोऽप्यथ लक्ष्यलक्षणतया विज्ञेय एवं बुधैरेतान्यर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु ॥’ इति पदयोः सामानाधिकरण्यमर्थयोर्विशेषणाविशेष्यभावसंपादकं तादात्म्यं च ज्ञेयम् । ततो विरोधप्रतिसंधानात् । शुद्धे लक्षणया धीरित्यर्थः । तथाच पदोपस्थाप्ययोर्विशिष्टयोरभेदबोधस्य द्वारत्वेनोक्तत्वात्तत्रावान्तरतात्पर्यमिति ज्ञापितम् । ननु—उक्तपदैरद्वितीयत्वादिविशिष्टे ब्रह्मणि नावान्तरतात्पर्यसिद्धिः; तेषां ह्ययमर्थः—‘सत्यं ज्ञानमनन्तमेकमेवाद्वितीय’मित्यादिवाक्यस्थानां सत्यादिपदानां प्रथमतोऽत्यन्ताभिन्नार्थकत्वं निर्णीयते । एतानि स्वबोध्यार्थानामत्यन्ताभेदपराणि, समानविभक्तिकनानानामत्वात्, नीलो घट इत्यादिवत्; भिन्नयोस्तादात्म्यबोधने मुख्यसामानाधिकरण्यबाधात्, अत्यन्ताभेदो ह्यखण्डैक्यरूपो मुख्यं सामानाधिकरण्यमिति संक्षेपशारीरके एव प्रपञ्चितम् । पश्चात् ब्रह्मपदार्थे उक्तवाक्यतात्पर्यविषयीभूतबोधविषये सत्याद्वितीयपदवाच्यार्थानां विशेषणत्वमुपलक्षणत्वं वेति ज्ञायते; प्रमेयविशिष्टं वाच्यविशिष्टमित्यादौ विशेषणत्वस्य ‘सोऽय’मित्यादौ चोपलक्षणत्वस्य वाच्यार्थेषु दृष्टत्वेनात्रापि तयोः संभावितत्वात्, पश्चाद्विशेषणत्वे विरोधदर्शनेनोपलक्षणत्वस्यैव निर्णयेन लक्षणावृत्तिर्निर्णय इति; तथाच विशिष्टयोरभेदे वा उपलक्षितस्वरूपे वा तात्पर्यमिति तात्पर्यसंशय एव द्वारतयोक्तः, नतु विशिष्टयोरभेदबोध इति तत्रावान्तरतात्पर्ये मानाभावस्तत्राह—तद्वारैवेति । सत्यादिवाक्येन शुद्धब्रह्मबोधे जन्यमाने ब्रह्मणि सत्यत्वाद्युपहिताभेदनिर्णयो द्वारम्; अन्यथा ब्रह्म सत्यं मिथ्या वेति संशयानिवृत्त्योक्तज्ञाने मिथ्याविषयकत्वरूपाप्रामाण्यसंशयेन तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थबोधेऽपि तदुत्पादात्तस्याविद्यानिवर्तकत्वं न स्यात्, एवं ब्रह्म ज्ञानत्वोपहितं न वेति संशयानिवृत्त्या ब्रह्मस्वरूपसुखस्याप्रकाशमानत्वसंशयेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वसंशयेन मोक्षार्थप्रवृत्तिर्न स्यात् । एवमानन्दत्वसंशयानिवृत्त्यापि सा न स्यात्, एवमनन्तत्वसंशयानिवृत्त्यापि विनाशित्वादिसंशयेन सा न स्यात्, एवमद्वितीयत्वसंशयानिवृत्त्या जीवब्रह्मस्वरूपयोः संसारित्वैश्वर्याद्वैतविशिष्टयोरैक्यमनुपपन्नम् । विरुद्धधर्मयोगित्वप्रयुक्तभेदसंशयेन तयोरैक्यनिश्चयेऽप्रामाण्यसंशयादिसंभवात्तस्याविद्यानिवर्तकत्वं न स्यात्, तस्मात् पश्चादेव विशेषणैतरतयेत्यस्य द्वावर्थौ बोध्यौ । विशेषणविशेष्यभावेन ब्रह्म सत्यमित्यादिरूपो द्वारीभूतो बोधः पश्चादित्येकः । सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयबोधे सत्यादिपदवाच्यतावच्छेदकं विशेषणमुपलक्षणं वा, द्वयोरपि संभावितत्वादिति प्रतिसन्धानं पश्चादित्यपरः । एवंच सामानाधिकरण्यमित्यादेरयं फलितार्थः । सामानाधिकरण्यं प्रथमोऽन्वयः । अन्वयपदं मुख्यतात्पर्यविषयधीप्रयोजकार्थकम् । पश्चाद्विशेषणैतरतयान्वयः, पश्चाद्विरोधज्ञानम्; सत्यत्वादिसंसर्गस्य मिथ्यात्वात्, तद्वद्वितीयत्वाधिष्ठानत्वाभावात् शुद्धव्यक्तिरूपैक्यबोधकत्वस्य मुख्यसामानाधिकरण्यत्वाच्च संसर्गवदितत्वेनोक्तवाक्यतात्पर्यमुपपद्यत इत्याकारम् । अन्वयः विरोधोक्तज्ञान इति ध्येयम् । द्वितीयाभावासिद्धीति । द्वितीयाभावरूपद्वितीयासिद्ध्याद्वैतहानीत्यर्थः । क्षेपिष्ठत्वेति ।

णत्वादिना यथा ग्रहैकत्वादौ, नाद्यः; त्वयैव द्वितीयाभावस्य प्रमाणान्तरप्राप्त्यनभ्युपगमात् । द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न तावत्प्रत्यक्षादि द्वैतग्राहिः त्वन्मते तस्यैव श्रुतिबाध्यत्वात्, नाद्वैतवाक्यान्तरम्; तस्यात्ममात्रपरत्वे द्वितीयाभावाविरोधित्वात्, न हि विशेष्यविषयं 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति वाक्यं विशिष्टविषयेण 'दक्षा जुहोती'ति वाक्येन विरुध्यते, द्वैताभावपरत्वे त्वेकविषयत्वेन सुतरामविरोधात् । नापि तृतीयः; 'ग्रहं संमार्ष्टी'त्यत्र संमार्जनस्येवाखण्डार्थपरे वाक्ये विधेयान्तरस्याभावेन विशेष्यस्य शास्त्रगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्तत्वेनोद्देश्यत्वायोगाच्च द्वितीयाभावस्योद्देश्यविशेषणत्वानुपपत्तेः; अविवक्षाहेतोरनुवाद्यत्वस्याप्यभावाच्चेति—चेन्न; स्वयमेव स्वबोधितमपि द्वितीयाभावं द्वितीयत्वादेव निषेधतीति स्वविरोधादेव श्रुतेस्तत्रातात्पर्यात् । मानविरोधित्वमात्रस्य तात्पर्याभावे प्रयोजकत्वात् स्वविरोधेऽपि न क्षतिः । ननु—एकेनैव प्रमाणेनैकस्य प्राप्तिनिषेधावनुपपन्नौ, न; रूपभेदेनाविरोधात् । द्वितीयाभावस्वरूपं हि शास्त्रेण प्राप्यते । तस्य च प्राप्यतावच्छेदकरूपं द्वितीयाभावत्वम्; तच्च न निषेध्यतावच्छेदकम्, किंतु द्वितीयत्वमेव निषेध्यमात्रानुगतम् । तत्र तदनभ्युपगमे तु न तस्य निषेध्यत्वम्, न वा तेनात्मनः सद्वितीयत्वापत्तिरिति न कोऽपि दोषः । यत्र तु प्राप्यतावच्छेदकमेव निषेध्यतावच्छेदकं, तत्र प्राप्तिनिषेधशास्त्रयोरतुल्यविषयत्वेऽपि विशेषशास्त्रविषयपरित्यागेन सामान्यशास्त्रप्रवृत्तिः, तुल्यविषयत्वे त्वगत्या विकल्प इति न निषेधस्यासङ्कोचेन प्रवृत्तिः; यथा 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधशास्त्रस्य 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'त्यादिप्राप्तिशास्त्रविषयेतरविषयत्वं 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती' त्यादिप्राप्तिनिषेधशास्त्रयोस्तु विकल्पेनैकविषयत्वम्; एकस्यैव हिंसात्वस्य षोडशिग्रहत्वस्य च प्राप्तिनिषेधयोरवच्छेदक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अतिक्षिप्रत्वेत्यर्थः । वपोत्खननादाविति । 'स प्रजापतिरात्मनो वपासुदक्खिददि'त्यादिवाक्यार्थे वपोत्खननादावित्यर्थः । ग्रहैकत्वादाविति । दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यादौ ग्रहमुद्दिश्य दशापवित्रेण सम्मार्जनस्य विधौ ग्रहत्वादमात्रमुद्देश्यविशेषणतया विवक्षितम्; न तु ग्रहैकत्वादिकम्; यावता विशेषणेन विना नोद्देश्यं पर्यवस्यति, तावत् एव विवक्षितत्वात् । उद्देश्यं हि क्रियां प्रति प्रधानं तत्पर्यवसितं सन्नतरेण विशेषणेन नियन्तुं शक्यते, विधेयं तु गुणीभूतं श्रुतेन सर्वेण विशेषणतया नियम्यत एव । तदुक्तं वार्तिके—'प्रधानक्रिया कारकाणि पिण्डीकरो'तीति । एवं 'यस्योभयं हविरातिमार्ष्टेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपे'दित्यादौ निमित्तीभूतहविरात्यादौ नोभयत्वादिकं विवक्षितमिति भावः । स्वबोधितं स्वेन बोध्यमानम् । अतात्पर्यात् मुख्यतात्पर्याभावात् । न क्षतिः न मानविरोधक्षतिः । तथाच वपोत्खननादिवाक्यवत् न मुख्यार्थमहातात्पर्यकमद्वितीयपदमिति भावः । नन्वित्यादि । ग्रहणाग्रहणवाक्याभ्यां ग्रहणस्यैकस्यैव विधिनिषेधयोः स्वीकारात् एकेनेत्युक्तम् । एकेनैव वाक्येन निषेधस्य प्राप्तिः निषेधस्य निषेधश्चोपपद्यत एवेत्येकस्येत्युक्तम् । एकेन वाक्येनैकस्य प्राप्तिनिषेधयोः स्वीकारे तु क्रमेण तयोः स्वीकारे विरम्यव्यापारापत्तिः; युगपत्स्वीकारे निषेधार्थं विधेयस्यानुवादायोगः, अनुवादस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् सकृदुभयत्र तात्पर्यसंभवेनावृत्तिकल्पनापत्तेर्वाक्यभेदापत्तिः, किञ्चैकस्य वाक्यस्य प्राप्तिनिषेधयोः स्वतन्त्रतात्पर्यास्वीकारे तयोर्वैयर्थ्यम् । नहि निषेधार्थमेव किञ्चिद्विधीयत इति कुत्रापि दृष्टमिति भावः । रूपभेदेनेति । स्वतन्त्रतात्पर्यभेदस्वीकारे सत्येव विरम्यव्यापारादिकं दोषः; 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादौ स्वार्थं विधाय तद्वारा स्तुत्यादितात्पर्यस्वीकारात् । स्वतन्त्रतात्पर्याभावेऽपि विधिर्न व्यर्थः । यत्र ह्येकरूपेण विधिनिषेधौ, तत्र विधिवैयर्थ्यः; निषेधार्थमेव तत्र विधानाद्विधेयस्यैव निषेधाच्च, प्रकृते तु द्वितीयमात्रस्य निषेधः, न तु विधेयस्य द्वितीयाभावस्यैव तद्विधिरपि न तन्निषेधार्थः; किंत्वखण्डवाक्यार्थसिद्ध्यर्थः । तथाच द्वितीयाभावस्य स्वस्वेतररूपसर्वद्वितीयनिषेधरूपत्वेन निषेध एव तात्पर्यम्; न विधौ । तदेतद्वक्ष्यति—'प्रकृते तु निषेधस्यैव शास्त्रार्थत्वादि'ति । तदपि तात्पर्यं न मुख्यम्; तद्विषयस्यान्यशेषत्वात् । तथाच न द्वितीयाभावस्य तात्त्विकत्वम्, न वा विधेयत्वनिषेध्यत्वयोर्विरोध इति भावः । ननु द्वितीयाभावस्य ब्रह्मरूपत्वस्वीकारपक्षे ब्रह्मभिन्नत्वरूपं द्वितीयत्वं न तदनुगतम्, तत्राह—तत्रेति । द्वितीयाभाव इत्यर्थः । तदनभ्युपगमे द्वितीयत्वास्वीकारे । ननु—यथा 'न हिंसा'दिति निषेधो विहितान्यहिंसाविषयकः, तथा द्वितीयसामान्यनिषेधो द्वितीयाभावान्याद्वितीयविषयकोऽस्तु; यथावा षोडशिग्रहणाग्रहणवाक्याभ्यां विकल्पसिद्धिः, तथा द्वितीयाभावप्राप्तिनिषेधाभ्यां सास्तु, तत्राह—यत्र त्वित्यादि । अतुल्यविषयकत्वे सामान्यविशेषभावाद्यापन्नविषयकत्वे । तुल्यविषयकत्वे सामान्यविशेषभावाद्यनपन्नविषयकत्वे । अगत्येति । निषेधशास्त्रस्यासंकुचवृत्तित्वे प्राप्तिशास्त्रवैयर्थ्यापत्तिरूपवक्ष्यमाणदोषेण सङ्कोचाभावरूपगतेरसंभवेनेत्यर्थः । विकल्पेन पाक्षिकानुष्ठानेन । एकविषयकत्वम् एकस्यातिरात्रस्य विधिनिषेधोभयसंबन्धबोधकत्वम् ।

त्वात्, तत्र निषेधशास्त्रस्यासंकुचवृत्तित्वे प्रातिशास्त्रस्य सर्वात्मना वैयर्थ्यापत्तिः; प्रकृते च द्वितीय-
त्वेन रूपेण निषेधस्यैव शास्त्रार्थत्वाच्च कस्यापि वैयर्थ्यशङ्का । अतएव—द्वितीयाभावनिषेधे पुनर्द्विती-
योन्मज्जनापत्तिरिति—निरस्तम् । उपपादितमेतत् मिथ्यात्वमिथ्यात्वसाधने । यथा प्रतियोग्यभाव-
योर्निषेध्यतावच्छेदकैक्ये नैकनिषेधेऽपरसत्त्वापत्तिरिति । नच—स्वेनैव निषिद्धस्य द्वितीयाभावस्य
द्वितीयस्येव विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा पुनरुपादानं न युक्तमिति—वाच्यम्; अभावबुद्धौ निषिद्ध-
स्यापि प्रतियोगिनः ‘सा शुक्ति’रित्यत्र प्रतिषिद्धस्यापि पूर्वप्रतीतरजतस्योपलक्षणतयोपादानदर्शनात्,
असङ्कीर्णज्ञानप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात् तस्मात् ‘एकमेवाद्वितीय’मित्यादिश्रुतिर्विश्वमि-
थ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

ग्रहणे अनुष्ठिते तत्सहितैरङ्गैरुपकारः, अननुष्ठिते तद्विहितैरप्युपकारः, परं तु तत्सहिताङ्गोपकृतेनातिरात्रेण जनिते फले
भूमास्ति; अन्यथा तत्सहिते प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति कल्प्यत इति भावः । निषेधस्य द्वितीयाभावसाधारणद्वितीयत्वसा-
मान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य । शास्त्रार्थत्वात् अद्वितीयपदघटितशास्त्रस्यान्तरतात्पर्यविषयत्वात् । न
कस्यापीति । द्वितीयाभावोऽत्र न प्राप्यः; तस्यापि द्वितीयत्वेन तत्प्राप्तेरेव तन्निषेधरूपत्वात् द्वितीयसामान्याभावो
हि एकः स्वेतरस्येव स्वस्यापि द्वितीयस्याभाव इति तत्प्राप्तिरपि द्वितीयत्वरूपेण तद्विशिष्टबुद्धौ विरोधिनी तन्निषेध
एवेति निषेधशास्त्रस्यैव तत्प्रापकशास्त्रत्वेन न तद्वैयर्थ्यशङ्केति भावः । अत एव उक्तवाक्यस्य सर्वद्वैतनिषेधमात्रतात्प-
र्यकत्वादेव । उन्मज्जनेति । प्राप्तीत्यर्थः । निरस्तमिति । द्वितीयाभावो ब्रह्मणि नास्तीति निषेधपर्यवसाने द्वितीयो-
न्मज्जनं स्यात् । द्वितीयाभावो द्वितीयं च किमपि ब्रह्मणि नास्तीति पर्यवसाने तु सुन्दोपसुन्दन्यायेन द्वयोरपि निषेधान्न
तयोरैकस्याप्युन्मज्जनमिति भावः । विशेषणत्वेनेति । विशेषणत्वेन द्वितीयस्योपादानं यथा न युक्तम्; निषेधस्य
पूर्वकृतस्य व्यर्थत्वापत्तेः, तथा द्वितीयाभावस्योपलक्षणतया पश्चादुपादानं व्यर्थत्वादयुक्तमित्यर्थः । निषिद्धस्य पुनरुपल-
क्षणत्वेनोपादानं व्यर्थमित्यत्राशङ्क्यते । निषिध्यमानस्य निषेधकेन विशेषणतयोपादानं युक्तम्; प्रापकस्य निषेधकत्ववि-
रोधादित्याशङ्क्य रूपभेदेनाविरोधादिति समाहितं पूर्वमिति न पौनरुक्त्यम् । अभावबुद्धौ ‘नात्र रजत’मिति बुद्धौ ।
निषिद्धस्यापि रजतस्य; प्रतियोगिनः ‘सा शुक्ति’रित्यत्रोपलक्षणतयोपादानदर्शनादिति योजना । ननु ‘सा शुक्ति’-
रित्यत्र रजतस्य तत्पदार्थस्य विशेष्यत्वेन नोपलक्षणत्वम्, तत्राह—प्रसिद्धस्येति । भ्रमसिद्धस्येत्यर्थः । तथाच ‘सा
शुक्ति’रिति ज्ञानं भ्रमबाधकत्वेन भ्रमतद्विषयविरोधित्वाच्च तद्विषयकमिति भावः । तत्पदबोध्यत्वं प्रतीतत्वादेवेत्याशयेन
पूर्वप्रतीतेत्युक्तम् । उपलक्षणतया विशेष्यीभूतेदन्वविशिष्टोपस्थापकत्वे सति अभासमानतया । ननु ‘इयं शुक्ति’
रिति ज्ञानं भ्रमविशेष्येदन्वविशिष्टे शुक्तित्वं विषयीकुर्वदेव बाधकम्; नान्यथा, तत्र विशेष्योपस्थापकतया रजतस्यो-
पादानमुपयुज्यते, द्वितीयाभावस्य तु ब्रह्मज्ञाने विशेष्यीभूते किञ्चिद्धर्मविशिष्टे नोपस्थापकत्वम्; तत्राभासमानत्वमात्रेण
तु नोपलक्षणत्वम्, तत्राह—असङ्कीर्णज्ञानेति । व्यावृत्ताकारकज्ञानेत्यर्थः । तुल्यत्वादिति । किञ्चिद्धर्मविशिष्टा-
नुपस्थापकत्वेऽपि शुद्धब्रह्मोपस्थापकत्वादुपलक्षणतया व्यावर्तकत्वस्यापि पूर्वमुक्तत्वाद्यावृत्ताकारकधीप्रयोजकत्वेन
द्वितीयाभावस्याप्युपयोग इति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां सामान्यतो मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ॥

अथ मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

श्रुत्या स्वरूपप्रामाण्यतद्वेतुयोग्यतादिमिथ्यात्वबोधने प्रत्यक्षादिसिद्धतत्सत्यत्वोपजीवने च ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वासिद्धिः
सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न्यायविरोधेन घटादिमिथ्यात्वासिद्धेः, तन्मिथ्यात्वबोधने तु शब्दबो-
ध्यस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमेन श्रुतिबोध्यस्य तात्त्विकत्वासिद्धिः । स्वाप्रवाक्ययोग्यताप्रामाण्यादीनां
सर्वेषामपि सत्त्वात् तदर्थं सति व्यभिचाराभावात्, युष्मन्मते शब्दस्यासत्त्वेऽपि तादृशशब्दे आह्वयपौरुषेयत्वयोरभावेन
यादृच्छिकसंवादित्वस्य बोधश्रुतिवह्निवृत्तेनैव प्रामाण्यस्य वै युक्तत्वेन व्यभिचाराभावात् । तत्रापि यदि तात्त्विकसर्वमिथ्या-
त्वपरत्वं श्रुतेः निर्णीतं स्यात्, तर्हि योग्यतादिसमसत्ताकत्वमर्थस्येति नियमोऽप्रमाणमिति स्यात्, नैतदस्ति; स्वरूपेण
पारमार्थिकत्वेन वा त्रैकालिकनिषेधरूपसत्यत्वविरोधिमिथ्यात्वबोधने श्रुतितात्पर्याभावस्य पूर्वमेवोपपादितत्वात्, अथोच्येत
तत्त्वमसीत्यादाविव प्रत्यक्षाविरोधार्थं प्रत्यक्षासिद्धमिथ्यात्व एव श्रुतितात्पर्यं युक्तमिति । अत्रेदं विवेचनीयम्—

किं मिथ्यात्वश्रुतित्वेन भवदभिमतं वाक्यं चैतन्यस्वरूपमात्रपरम् उत द्वितीयाभावविशिष्टचैतन्यपरम्, आहोस्वित् द्वितीयाभावोप-
लक्षितचैतन्यपरम् । आद्ये—विश्वमिथ्यात्वासिद्ध्या इष्टापत्तिः, स्वप्रकाशत्वेन तस्य नित्यसिद्धतया श्रुतिवैयर्थ्यं च । द्वितीये—
अखण्डार्थत्वहानिः । तृतीये—द्वितीयाभाववदिति सप्रकारकबोधेऽखण्डार्थत्वबाधः, नित्यसिद्धतया चिन्मात्रस्य मुमुक्ष्व-
ज्ञेतया विशिष्टचैतन्यस्योपलक्ष्यतावच्छेदकधर्माभावेन धर्मान्तरस्य बोधलक्ष्यत्वासंभवेन द्वितीयाभावस्योपलक्षणत्वायोगः ।
अस्तुवा कथंचित् द्वितीयोपलक्षणता, एवमपि तस्य सत्त्वेऽद्वैतहानिः, मिथ्यात्वे अतत्त्वावेदकताऽऽपत्तिः, द्वितीयाभावेऽतात्पर्ये-
तु इष्टापत्तिश्रुतिवैयर्थ्यं पूर्वोक्ते । वस्तुतस्तु—मानान्तराप्राप्ते श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वेन प्रत्यक्षस्याविरोधकत्वात् आत्ममात्र-
परत्वे द्वितीयाभावविरोधित्वात्, द्वितीयाभावपरत्वे समानविषयकत्वेन चैको द्रष्टाऽद्वैतो भवतीति वाक्यान्तरस्याप्यविरोधनि-
च द्वितीयाभावे किञ्चिन्मित्तकत्वाविशेषेऽपि कृतिचेति सूत्रस्य कितिचेति वृद्धविषयत्ववत् हिंसात्वाविशेषेऽपि न हिंसादित्य-
स्याग्नीषोमीयालम्बाविषयत्ववच्च द्वितीयत्वाविशेषेऽपि नेहेत्यादिश्रुतिबोधितनिषेधविषयत्वासंभवात् द्वितीयाभावतात्पर्यकता-
वादो न संभवदुक्तिकः । स्ववचनेन स्वस्य निषेधे व्याघातात् तत्परिहारस्य स्वतात्पर्यकत्वकल्पनया वर्णने अन्योन्याश्रयात्
स्वेतरविषयत्वेन संकोचेनैव वर्णनीयत्वात् यद्विशेषणं विना उद्देश्यत्वसिद्धिः, तद्विशेषणं न विवक्षितमित्यत्रैव ग्रहैकत्वाधिक-
रणाभिप्रायेणाशानायायतीतसत्यज्ञानादिविशेषणं विना अनिर्ज्ञातस्य ब्रह्मणो विशेषणस्य द्वितीयाभावस्यापि विवक्षावश्यक-
त्वात् श्रुतितात्पर्यविषय एव द्वितीयाभाव इति न सर्वमिथ्यात्वसिद्धिः । प्रमाणगम्यस्यापि तस्य तात्पर्याविषयत्वे तु आत्म-
वोपलक्षणनवत्प्राप्तिभासिकत्वापत्तिः उपक्रमोपसंहारादिभिः प्राकरणिकत्वेनावगतस्य निष्प्रपञ्चत्वस्यावान्तरतात्पर्यविषयत्वेन
व्यावहारिकसत्त्वकल्पनं तु न युक्तम् । वस्तुतस्तु—अवान्तरतात्पर्यविषयस्यापि महातात्पर्यविषयसमसत्ताकल्पनियमाद-
वान्तरतात्पर्यविषयत्वेऽपि तत्पारमार्थिकत्वात् अद्वैतहानिरपरिहार्यैव । यथा शुक्तौ रजताभावस्य तात्त्विकत्वात् शुक्तौ रजतं
कल्पितम् । एवं द्वितीयाभावो ब्रह्मणि तात्त्विक इति द्वितीयं तत्र कल्पितमिति व्यवहारोऽप्यत एवोपपद्यते; अन्यथा द्विती-
यवत् द्वितीयाभावस्यापि व्यावहारिकत्वे श्रुत्या प्रत्यक्षयापि बाधायोगादिति ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वसिद्धिर्न श्रुतिसिद्धापीति सर्वमन-
वयमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) सिद्धिकारास्तु—

आप्तत्वापौरुषेयत्वयोः दोषाभाव एवोपक्षयेण निर्दुष्टत्वेनाप्तपौरुषेयवचनानामिव स्वाप्रदेवतावाक्यानामपि सदर्थानां
शब्दत्वेनैव प्रमाणतया तादृशार्थं व्यभिचारेणार्थस्य शब्दसमसत्ताकत्वनियमस्य व्यभिचरितत्वेन अपरोक्षत्वात्नित्यत्वाभ्यां
सोपाधिकत्वेनच मिथ्यात्वातात्त्विकत्वानापत्त्या शब्देन स्वस्वरूपप्रामाण्यादीनामपि मिथ्यात्वबोधनात् प्रत्यक्षस्यामिथ्याभूत-
त्वेन निमित्तत्वाभावेन पूर्वोक्तरीत्योपजीव्यविरोधाभावेन संनिपातलक्षणन्यायानवतारेण ज्योतिष्टोमादिविधेरन्निविद्योपजीव्य-
त्वात् मिथ्यात्वश्रुतेः तात्त्विकयोग्यतायनुपजीव्यत्वेन तस्याभिविद्यावद्विषयत्वेनेव स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन संकोचा-
प्रसक्तेश्च न ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वासिद्धिः । स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वा त्रैकालिकनिषेधरूपसत्यत्वविरोधिमिथ्यात्वबोधन
एव श्रुतितात्पर्यमिति पूर्वमेवोपपादितत्वात्, विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन सर्वत्र विशिष्टाभेदपरवाक्यस्य
विशेष्यमात्रपरत्वनियमानुसारेणैव तत्त्वंपदयोः लक्षणाऽऽश्रिता, नतु प्रत्यक्षाविरोधायेति न तद्वृष्टान्तेनात्राऽपि संकोचादि-
शङ्कावसरः । अस्तुवा प्रत्यक्षाविरोधायैव तत्र लक्षणा आश्रितेति, एवमपि प्रकृते न संकोचावसरः; मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षा-
विरोधस्य पूर्वमेवोपपादनात् । चैतन्यस्वरूपमात्रपराया अप्युक्तश्रुतेः द्वितीयाभावद्वारकस्वरूपज्ञानस्यैवानर्थनिवृत्तिहेतुत्वेनाव-
न्तरतात्पर्येण द्वितीयाभावबोधकत्वमप्यङ्गीक्रियत इति न विश्वमिथ्यात्वासिद्धेष्टापत्त्यादिप्रसङ्गः । अवान्तरतात्पर्यविषयस्यापि
द्वितीयाभावस्य काकस्येवोपलक्षणत्वस्यैव स्वीकाराच्च सप्रकारकत्वमिति नाखण्डार्थत्वहानिः । एतावास्तु विशेषः—
यत्कालोपलक्ष्यः संस्थानविशेषः, द्वितीयाभावोपलक्ष्यं तु स्वतोव्यावृत्तं जातिस्वरूपमिव ब्रह्मस्वरूपमेवोपलक्ष्यमिति । एवंच
द्वितीयाभावोपलक्षितब्रह्मस्वरूपपरायाः श्रुतेः प्रत्यक्षस्याविरोधान्नात्र संकोचावसर इति मन्तव्यम् । तत्र यथा गृहे प्रसक्तस्य
काकस्य कदाचिदसंबन्ध एवोपलक्षणत्वम् । एवं ब्रह्मणि प्रसक्तस्य द्वितीयाभावस्यापि कदाचित् ब्रह्मसंबन्ध एव तत्त्वमिति
द्वितीयाभावस्यापि द्वितीयत्वेन मिथ्यात्वमङ्गीकरणीयम् । काकस्य गृहासंबन्धवेलायामन्यसंबन्धस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तस्य
ब्रह्मासंबन्धदशायामन्यसंबन्धस्य प्रमाणसिद्धत्वाभावात् द्वितीयाभावस्य मिथ्यात्वेऽप्युपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वाच्चातत्त्वावेदक-
ताऽऽपत्तिः । अस्तुवा द्वितीयाभावोऽपि तात्त्विक इति, नचैतावता अद्वैतहानिः; द्वितीयाभावसत्त्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापा-
दनस्यासंभवात् । वस्तुतस्तु—द्वितीयाभावस्य स्वमानविरोधेन तात्पर्याविषयत्वाच्च तत्सत्त्वशङ्कावसरः । प्राप्यनिषेध्यता-
वच्छेदकैक्ये विशेषशाल्वविषयपरिख्यागेन सामान्यशाल्वप्रवृत्तावपि तद्भेदे तदभावेन द्वितीयत्वद्वितीयाभावत्वरूपप्राप्यनिषेध-
तावच्छेदकभेदसत्त्वाच्च प्रकृतेऽपि तादृशन्यायप्रसर इति न द्वितीयाभावेतरविषयकत्वमेव निषेधश्रुतेरिति मन्तव्यम्—
इति निरूपयन्ति ।

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

मिथ्यात्वबोधकत्वेनाभिमतता श्रुतिः, स्वस्वरूपप्रामाण्यादिसमसत्ताकार्थबोधिका, शब्दासाधारणप्रामाण्यप्रयोजकत्वत्वादित्यनुमाने मानान्तरसाधारण्येन निर्दोषत्वस्य विशिष्टप्रमामात्रसाधारण्येन योग्यतायाश्च शब्दासाधारणप्रामाण्यप्रयोजकत्वेनाप्यपौरुषेयत्वयोरेव तत्वात् स्वाप्रवाक्यानां शब्दत्वेन प्रमाणत्वासंभवात् लिङ्गत्वेनैवोपश्रुतित्वप्रामाण्याच्च स्वाप्रदेवतावाक्ये व्यभिचाराभावात् घटादावाकाशादौच साध्याव्याप्त्या परोक्षत्वानिलत्वयोरनुपाधित्वाच्च शब्दतदर्थयोः समसत्ताकत्वनियमात् मिथ्यात्वश्रुत्या योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने मिथ्यात्वतात्त्विकत्वासिद्ध्या तात्त्विकप्रामाण्ये तात्त्विकयोग्यतादेरेव निमित्तत्वेनोपजीव्यविरोधेन सन्निपातलक्षणन्यायवतारेण ज्योतिष्टोमादिविधेरभिधियावद्विषयत्वेनैव योग्यतादीतरविषयत्वेन संकोचोपपत्तेश्च न ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वसिद्धिः । विशिष्टैक्यपराणां वाक्यानां विशेष्यैक्यपरत्वस्य प्रत्यक्षानुग्रहनिबन्धनत्वेन तदविरोधे विशिष्टैक्यपरत्वस्यैवापत्त्या प्रत्यक्षोपरोधे तत्त्वमसीत्यादावपि विशिष्टपरत्वस्यैव विवक्षितं शक्यत्वेन तदनुरोधेनैव लक्षणाया अङ्गीकारात् प्रकृतेऽपि तदविरोधार्थं प्रत्यक्षसिद्धेतरमिथ्यात्व एव श्रुतितात्पर्यस्याङ्गीकरणीयत्वात् । **अयमाशयः**—यथोपजीव्यविरोधेऽपि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधेनोपपत्तिवर्णनमेव युक्तमिति तत्त्वमसीत्यादौ लक्षणा आश्रिता, तथा प्रमाणान्तरविरोधेनैव मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिसंभवेन तद्वाधनमपि युक्तमिति । अवान्तरतात्पर्यविषयस्य खण्डवाक्यार्थस्य महातात्पर्यजन्यज्ञाने महावाक्यजन्यज्ञान इव भाननियमेन द्वैतनिषेधश्रुतेरखण्डार्थत्वहान्यापत्त्याऽवान्तरतात्पर्यमहातात्पर्ययोः सप्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानजनकतया विरोधेन श्रुतेस्तादृशतात्पर्यासंभवेनच द्वितीयाभावद्वारकस्वरूपचैतन्यपरस्यापि वाक्यस्य यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायेन चैतन्यमात्रपरत्वस्यैव युक्तत्वेन विश्वमिथ्यात्वासिद्ध्या द्वितीयाभावतात्पर्यकत्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वेन तस्यानन्यशेषत्वेन सत्यत्वात् । नहि द्वारविशेषाजन्यः शुक्तिसाक्षात्कारो न रूप्यभ्रमनिवर्तकः, येनापरोक्षज्ञानस्य विरोधनिवर्तने द्वारविशेषापेक्षया द्वितीयाभावोपलक्षितब्रह्मस्वरूपसमर्पकत्वोपपत्तिः । यदि तु तदर्थं द्वितीयाभावे एव तात्पर्यम्, तर्हि अद्वैतहानिः, नहि द्वितीयाभावो ब्रह्मस्वरूपः । तथात्वे ब्रह्मणः स्वतःसिद्धत्वेन द्वितीयाभावबोधकवाक्यवैयर्थ्यात्, अभावत्वेन तद्बोधनेऽखण्डार्थत्वहानेऽपि ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वे न श्रुतितात्पर्यम् । मानान्तराविरुद्धे तदप्राप्ते चार्थे द्वितीयाभावेऽतात्पर्यवर्णनस्यायुक्तत्वात् । द्वितीयत्वेन निषेधेऽपि तत्स्वरूपानुपमर्देन निर्धर्मकब्रह्मण इव सत्यत्वापत्त्या च न द्वितीयाभावमिथ्यात्वसिद्धिः । **वस्तुतस्तु**—द्वितीयत्वेनापि द्वितीयाभावस्य न निषेधसंभवः; निषेधवाक्यासाधारणार्थस्य निषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे निषेध्यवाक्यत्वस्यैवापत्त्या निषेधवाक्यत्वस्यैवानापत्तेः । नह्येकस्यैव वाक्यस्य तत्वात्त्वावेदकत्वे युक्ते इति ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वानुमानानुप्राहकश्रुतिविरहेण प्रत्यक्षबाधितत्वादुक्तानुमानमप्रयोजकमिति सिद्धमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

आप्तेः यथार्थप्रमारूपायाः पुरुषधर्मत्वेन शब्दधर्मत्वाभावेन दोषाभावसंपादकतयैव प्रामाण्यप्रयोजकत्वेन निर्दुष्टत्वेन स्वाप्रवाक्यस्यापि प्रामाण्यात् सदर्थं तत्र व्यभिचारात् साक्षिभिन्नत्वं यदि साध्यव्यापकं न स्यात्, तर्हि साक्षिणः स्वबोधकयोग्यतादिसमसत्ताकत्वे तस्य बाध्यत्वं निःसाक्षिकं स्यादिति व्यापकतानिश्चयेन बाधोन्नीतपक्षेतरत्वतुल्यत्वात् साक्षिभिन्नत्वस्य आत्मगुरुत्वान्यतरावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वेन यथाश्रुतपरोक्षत्वस्य वा गगनादीनामपि विनाशित्वेन साध्यव्यापकत्वादिनाशित्वस्य चोपाधित्वाच्च शब्दादितदर्थयोः समसत्ताकत्वाभावेन मिथ्यात्वश्रुत्या योग्यतादिमिथ्यात्वबोधनेऽपि मिथ्यात्वतात्त्विकत्वसिद्ध्या तात्त्विकप्रामाण्ये तात्त्विकयोग्यतादेरनिमित्तत्वेन निमित्तत्वेऽपि नदि ब्राह्मणि इत्यत्र सन्निपातन्यायेन संतुद्धिलोपबाधापत्त्या तत्प्रत्याख्यानमाशङ्क्य तत्र दोषेषु प्रतिविधातव्यमिति महाभाष्ये उक्तत्वेन बाधकसत्त्वेन सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिवत् प्रकृतेऽपि अद्वैतश्रुतितात्पर्यान्यथानुपपत्त्यादेः तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः इति न्यायस्य प्राबल्यमागमस्यैव जाल्या तेषु त्रिषु स्मृतेश्च बाधकानां सत्त्वेन सन्निपातन्यायानवतारेण योग्यतादीतरविषयत्वेन संकोचानुपपत्त्या च ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यहैव । सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागान्वयः पश्चादेव विशेषणेततरतया पश्चाद्विरोधोद्भवः । उत्पन्ने च विरोध एकरसिके वस्तुन्यखण्डात्मके वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सूरभिः इति संक्षेपशारीरकवचनानुसारेणाद्वितीयादिवाक्येऽद्वितीयत्वादिविशिष्टब्रह्मण्यवान्तरतात्पर्यस्यानन्तरमेव विरोधप्रतिसंधानेन शुद्धलक्षणाया अङ्गीकारेण तात्पर्यनिर्वाहार्थमेव तत्त्वमसीत्यादौ लक्षणा आश्रिता, ननु प्रत्यक्षाविरोधसंपादनार्थमिति न प्रत्यक्षसिद्धेतरविषयत्वेनापि संकोचावकाशः । शुद्धब्रह्मस्वरूपस्यैवोपस्थापकतयोपलक्षणत्वेन व्यावर्तकत्वस्यापि पूर्वमुक्तत्वेन व्यावृत्ताकारधीप्रयोजकत्वेन द्वितीयाभावस्याप्युपयोगेन तत्रावान्तरतात्पर्यानङ्गीकारेऽपि मुख्यतात्पर्यानङ्गीकाराच्च द्वितीयाभावतात्त्विकत्वम् । **वस्तुतस्तु**—द्वितीयाभावतात्त्विकत्वेऽपि यथा नाद्वैतहान्यादिकं तथा पूर्वमेव निरूपितमिति न दोषः । द्वितीयाभावस्य स्वस्वेतरसर्वद्वितीयनिषेधरूपत्वेन निषेध एव तात्पर्येण विधिरूपत्वाभावाच्चाद्वैतवाक्यतात्त्विकातात्त्विकतादिप्रसङ्गाः । निषेधवाक्यासाधारणार्थस्य स्वासाधारणनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वासंभवेऽपि तत्साधारणतदवच्छेदकावच्छिन्नत्वे बाधकाभावाच्च निषेधवाक्यत्वा-

अथ अद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः ।

ननु—आपातप्रतिपन्न एव न तावच्छ्रुत्यर्थः; ‘कश्छन्दसां योगमावेद धीर’ इति श्रुत्या ‘विभेद्यल्प-
श्रुताद्वेद’ इति स्मृत्या च वेदार्थस्यातिगहनतोक्तेः, मीमांसावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, किंतु मानान्तरेण
पूर्वोत्तरेण चाविरुद्ध एवार्थः; अविरोधग्रहणार्थं च मीमांसासाफल्यम्, अत एव ‘आज्यैः स्तुवते’
‘आकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ इत्यादावापातप्रतीतघृतगगनादिपरित्यागेनाज्याकाशादिपदानां सामपर-
मात्माद्यर्थत्वं स्थापितं पूर्वोत्तरमीमांसयोश्चित्राकाशाद्यधिकरणेषु; अन्यथा तत्तत्पूर्वपक्षाभ्युपगमा-
पत्तेः, तथाचोक्तं वार्तिककारैः शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानमित्यत्र—‘असन्निकृष्टवाचा
च द्वयमत्र जिहासितम् । ताद्रूप्येण परिच्छेदस्तद्विपर्ययतोऽपि च ॥ विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कश्छन्दसामित्यादि । छन्दसां वेदवाक्यानां । योगं तात्पर्यम् । धीरोऽपि को वेदेत्यर्थः । छन्दसां गायत्र्या-
दीनां योगं स्तुतशस्त्रात्मना विनियोगं को वेदेति माधवीयभाष्यव्याख्यानस्यापि वेदतात्पर्यदुर्ज्ञेयत्वे तात्पर्यम् । अल्प-
श्रुतात् अल्पविद्याकात् पुरुषात् । आज्यैरित्यादि । ‘आज्यै’रित्यादौ घृतादित्यागेन स्तोत्रपरत्वं पूर्वमीमांसायां चित्रा-
धिकरणे स्थापितम् । आकाशादित्यादौ गगनादित्यागेन परमात्मपरत्वमुत्तरमीमांसायामाकाशाधिकरणे स्थापित-
मित्यर्थः । सामपदं स्तोत्रपरम् । सामगानविशिष्टमन्त्रकरणकं गुणाभिधानं स्तोत्रम् । ‘चित्रया यजेत पशुकामः’ ‘पञ्चद-
शान्याज्यानी’त्यादौ चित्राज्यादिपदानां गुणवाचित्वं कर्मनामत्वं वेति संशये, चित्राज्यादिशब्दानां चित्ररूपघृतादिषु
रूढत्वेन यागनामत्वासंभवाच्चित्रावाक्ये चित्रत्वस्वीत्वोभयं करणत्वेनाग्नीषोमीयपशुयागीयद्रव्यपरिच्छेदकतया विधी-
यते; ‘दधि मधु घृतं पयो धाना’ इत्यादिप्रकृतयागेषु करणत्वासंभवात् । एवमाज्यादिवाक्येषु सन्निधौ स्थापयेदित्यध्या-
हारेणाज्यादेः स्तोत्रसन्निधौ स्थापनं प्रकृतस्तोत्रं प्रत्यदृष्टद्वारा करणत्वेन विधीयत इति प्राप्ते, अग्नीषोमीये अजोऽग्नी-
षोमीय इत्यादिप्राकरणिकवाक्यविहितपुंस्वावरूढद्रव्यकत्वेन स्वीत्वस्य विधानासंभवात् पशुकामपदवैयर्थ्याच्च चित्रापदं
न गुणविधायकम्, किं तु प्रकृतयागानामेव पशुफलसंबन्धविधिपरे वाक्ये तेषां नामधेयम्; इष्टेत्यस्याध्याहारात्
स्त्रीलिङ्गोपपत्तेः । यागस्य चित्रत्वं दध्यादिनानाद्रव्यकयागसमुदायान्तर्गतत्वम् । एवं पञ्चदशानीत्यस्य ‘स्तोमे ऽविधि’-
रित्यनेन स्तुतिसंख्यायां उपलब्धयानुशासनात् पञ्चदशाज्यपदयोरसमस्तत्वेन मिथोऽनन्वयात् विशिष्टविध्यसंभवादाज्य-
नामकस्तोत्रे संख्यामात्रं विधीयते । स्तोत्रं चाज्यैः स्तुवते इत्यादिवाक्यैर्विहितमिति प्रथमचतुर्थे स्थितम् । ‘अस्य लोकस्य
का गति’रिति प्रश्नोत्तरे ‘आकाश इति होवाचे’ति वाक्ये आकाश इति पदस्य भूताकाशे रूढत्वात् प्राथमिकत्वाच्च
तदनुरोधेन ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ इत्यादिकं चरमोक्तं वाद्यवादिभूतकारणत्वपरम्; तथा-
च भूताकाशमुद्गीथे संपाद्योपास्यमिति प्राप्ते, आकाशपदं ब्रह्मपरम्; ततोऽपि प्रथमं अस्य लोकस्य का गतिरित्यनेन
सर्वलोककारणस्य पृष्टत्वात्, प्रश्नानुसारेण सर्वपदस्यासंकोचादिति प्रथमप्रथमे शारीरिके स्थितम् । तथाचोक्तं ‘मानान्तरा-
विरुद्धस्य शास्त्रार्थत्वमुक्ति’मिति । अत्रेति । शाबरभाष्यस्थवाक्ये इति शेषः । यद्यपि ज्ञातसंबन्धस्य एकदेशदर्शना-
देकदेशान्तरे असन्निकृष्टार्थे बुद्धिरनुमानमित्यनुमानलक्षणभाष्यव्याख्यानानुसारे वार्तिके असन्निकृष्टवाचेत्याद्युक्तम्,
न तु शास्त्रलक्षणभाष्यव्याख्यानानुसारे; तथापि तुल्यन्यायत्वात्तत्रापि तत् संबध्यते; असन्निकृष्टेत्यनेन हि प्रमाकरणत्वं
विवक्षितम्, प्रमायां शाब्दत्वं शब्दप्रमाणलक्षणेऽनुमितित्वमनुमानलक्षणे प्रविष्टमिति परं विशेषः इत्याशयेन शास्त्र-
लक्षणेऽपि तदुक्तमित्युक्तम् । ताद्रूप्येणेत्यादि । येन रूपेण वाक्यबोधयता तेन रूपेण पूर्वप्रमितत्वं तद्विपरीतरूपेण
प्रमितत्वंच जिहासितमभावविशेषणतया शब्दप्रमाणलक्षणे प्रविष्टमित्यर्थः । तथाच मानान्तरेणाप्रमितमबाधितं यत्त-
द्विषयवाक्यत्वं शास्त्रत्वमिति पर्यवसितम् । वस्तुतस्तत्त्वमिहितान्वयवादस्य भाष्यवार्तिककारादिसंमतत्वेनासन्निकृष्टेऽर्थे
ज्ञानमिति भाष्ये ज्ञानपदं ज्ञानहेतुपरम्; सस्यस्यन्तयोर्न सामानाधिकरण्यम्; किंतु वैयधिकरण्यम्; तथाचासन्निकृष्टे
वाक्यार्थे ज्ञापकं यत् शब्दज्ञानजन्यमर्थज्ञानं तच्छब्दप्रमाणमित्यर्थः; प्रत्ययान्तपदार्थज्ञानं शब्दजन्यं वाक्यार्थज्ञानं
कारणमित्यभिहितान्वयवादस्य द्वितीयपरिच्छेदे स्पष्टं मूले विवेचयिष्यमाणत्वात् । एतेन—शब्दज्ञानं प्रमाणं बोध्यम्,
न त्वर्थज्ञानं शब्दज्ञानजन्यं शब्दप्रमाणमिति काशिकाकारोक्तं व्याख्यानं—परास्तम्; शब्दज्ञानं वाक्यार्थधीजनक-

नुपपत्तिरिति द्वितीयाभावतात्त्विकत्वेऽपि श्रुतितात्पर्यभावात् भावेऽपि तस्य ब्रह्मरूपत्वेनाद्वैतहान्याद्यनापाताच्च ब्रह्मेतरसर्व-
मिथ्यात्वानुमानं श्रुत्यनुगृहीतमेवेति न प्रत्यक्षादिबाधावकाश इति सर्वमनवद्यम्—इति विवेचयन्ति ॥

इति सामान्यतो मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ।

पवादयोः । बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात् ॥ अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्यार्थः प्रतीयते । अन्यस्तु परिपूर्णं समस्ताङ्गोपसंहृतौ ॥' इति । अन्यत्राप्युक्तम्—'विरुद्धवत्प्रतीयन्त आगमा यत्र ये मिथः । तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्था विवक्षिताः ॥' इति, तथाच प्रत्यक्षादिविरोधात् पूर्वोत्तर-विरोधाच्च नाद्वैतपरत्वमेकमेवेत्यादिवाक्यानामिति—चेन्न; द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवत् संभावितप्रामाण्यतया अद्वैतश्रुतिविरोधित्वाभावात् । यथाच श्रुत्या प्रत्यक्षं बाध्यते, तथा प्रपञ्चित-मध्यस्तात् । किंच प्रत्यक्षं नियतविषयम्, श्रुतिः सर्वविषया; तथाच यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृहीतः, तत्रैवाभेदश्रुतेरवकाशः । ननु—ययोरैक्यं श्रुत्या बोध्यते तयोर्भेदः प्रसक्तो, न वा । नान्त्यः; अप्र-सक्तप्रतिषेधापातात्, नाद्यः; प्रसज्जकप्रमाणविरोधेनैक्यस्य बोधयितुमशक्यत्वादिति—चेन्न; अन्य-पक्षाभ्युपगमे दोषाभावात् । अप्रसक्तप्रतिषेध इति च किमप्रसिद्धप्रतियोगित्वं, किंवा निष्प्रयोजनत्व-मिति विवेचनीयम् । नाद्यः; अन्यत्र प्रसिद्धस्यैव भेदस्य भेदत्वेनोपस्थितस्य परस्परप्रतियोग्यनु-योगिभावेनान्यत्र निषेधसंभवात् । न च तत्रैव प्रसिद्धिस्तत्रम्; निषेधप्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; अनर्थनिवृत्तेरेव प्रयोजनत्वात्, 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य' इत्यादौ स्तुतिमात्रप्रयोजनेनाप्य-प्रयोजनेनाप्यप्रसक्तनिषेधदर्शनाच्च । अथ श्रुत्या ययोरभेदो बोध्यते तयोरुपस्थितिरस्ति, न वा, नान्त्यः; अनुपस्थितयोरभेदबोधनायोगात् । आद्ये सा किं श्रुतिजन्या, प्रत्यक्षादिजन्या वा । नाद्यः; श्रुतेर्मानान्तरागोचराभेदमात्रपरत्वेन घटाद्युपस्थितेस्तज्जन्यत्वाभावेन सर्वाद्वैतासिद्धेः, श्रुतिस्यकिंच-नेत्यादिपदानामनुवादकत्वाभ्युपगमात् । द्वितीये तु तयोर्भेदोऽपि प्रत्यक्षादिसिद्ध इति काद्वैतश्रुत्य-वकाशः? मैवम्; यत् प्रत्यक्षादिना गृह्यते, तद्भेदोऽपि तेन गृह्यत एवेति नियमाभावात् । तथा हि—न तावत्पदार्थस्वरूपज्ञानमेव भेदज्ञानम्; अभेदभ्रमोच्छेदप्रसङ्गात् । स्वरूपभेदवादिनामपि स्वरूपज्ञानात् घटत्वादिप्रकारकात् भेदत्वप्रकारकं भेदज्ञानं विलक्षणमेव; अन्यथा भेदाग्रहनिबन्धन-व्यवहारानुदयप्रसङ्गात् । अतएव स्वरूपज्ञानोत्तरकालमवश्यं भेदज्ञानमित्यपि न; अनवस्थाप्रस-ङ्गाच्च । तथाहि—'घटपटौ भिन्नौ जानामी'ति घटपटभेदधीः स्वप्रकाशा वा, अनुव्यवसायसिद्धा वा, साक्षिसिद्धा वा, न स्वप्रतियोगिकभेदविषया; प्रतियोगिधीजन्यत्वनियमेन प्रतियोगिधीव्यक्ति-भिन्नव्यक्तित्वावश्यकत्वात् स्वस्या एव स्वजन्यत्वानुपपत्तेः । ज्ञानान्तरेण च तद्भेदग्रहे कश्चित् भेद-धीधारा विश्रान्तिरवश्यं वाच्या; अन्यथा सुषुप्तिविषयान्तरसञ्चारादिकं न स्यात् । अतः तत्रापि चरमभेदधीरेवोदाहरणम् । तथाच बाधकत्वाभिमतता या घटपटभेदधीः स्वभेदाविषया भासते, तया सह बाध्यत्वाभिमतताया ऐक्यधिय ऐक्यं बोधयित्वा निर्वाधा सती श्रुतिः सर्वाभेदे पर्यवस्यति । न ह्यभेदेऽपि बाध्यबाधकभावः; स्वस्यापि स्वबाधकतापत्तेः । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—'सुदूरधावन-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मित्यन्विताभिधानवादस्य तद्भूताधिकरणीयभाष्ये दूषितत्वेन तत्परतया भाष्यव्याख्यानस्यानौचित्यात् । ननु द्वैतप्रत्य-क्षादिनैरपेक्षेणाद्वैतवाक्यं द्वैतमित्यात्वबोधकं कुतो न भवतीति, तत्राह—अन्यएवेत्यादि । एकदेशमात्रपर्यालोचने-नार्थनिर्णये अतिप्रसङ्ग इति भावः । अङ्गेति । एकदेशेत्यर्थः । अन्यत्रेति । स्मृतिपादीयवार्तिक इत्यर्थः । उक्तमित्यनु-पप्यते । अन्त्यपक्षेति । आद्यपक्षे प्रसज्जकं प्रत्यक्षादिमानं श्रुत्यादिना बलवता बाध्यत इत्यस्य पूर्वमेवोक्तत्वात् अन्त्यपक्षेत्याद्युक्तम् । तत्रैव निषेधाधिकरण एव । प्रसिद्धिः प्रमा । निषेधप्रमामात्रोच्छेदेति । यत्रातिरात्रादि-व्यक्तौ ग्रहणादिनिषेधः, तत्र तत्प्रमाया असंभवात् भ्रमरूपा तत्र तत्प्रसक्तिर्वाच्या; तथाच संशयरूपा सास्तीति तद्बाधेऽपि न प्रमाणबाध इति भावः । नान्तरिक्ष इत्यादि । अर्थवादाधिकरणे अन्त्ययोर्यथोक्तमिति सूत्रे 'नान्तरिक्ष' इत्यादिवाक्यं 'हिरण्यं निधाय चेतव्य'मित्यनेन विहितस्य हिरण्यस्य स्तुतिपरम्, स्तुत्युपपादकस्तु निषेधबोध इत्यु-क्तम् । तत्र यथाऽप्रसक्तस्य निषेधः, तथा प्रकृत इति भावः । न स्वप्रतियोगिकेति । स्वविषयेषु घटपटभेदेषु ज्ञानान्तरेषु च स्वभेदमनवगाहमानेत्यर्थः । भिन्नव्यक्तित्वेति । उत्तरवृत्तित्वेत्यर्थः । तेनानुव्यवसायसिद्धत्वादपिप्रक्षयोः व्यक्तिभेदस्य पराभ्युपगतत्वेऽपि न क्षतिः । स्वस्याः स्वकीयायाः प्रतियोगिधीपूर्वकालीनायाः प्रतियोगिधीसमानकाली-नायाश्च । स्वजन्यत्वानुपपत्तेः प्रतियोगिधीजन्यत्वानुपपत्तेः । तथा चेति । चरमधिया स्वभेदस्य कुत्राप्यग्रहणे चेत्यर्थः । सर्वाभेद इति । चरमधीर्ययोर्भेदं गृह्णाति, ताभ्यां तद्भेदेन च सह तस्य अभेदमद्वैतश्रुतिर्बोधयतीति सा धीः तादृशभेदविषयकत्वेन बोद्धुमशक्या नाद्वैतश्रुतिबाधकतया बुध्यते । एवंच पूर्वपूर्वधीरपीति श्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति भावः । न ह्यभेद इत्यादि । ययोर्भेदश्चरमधीविषयः ताभ्यां तद्भेदेन च तस्या अभेदे ज्ञाते बाध्यबाधकविबोधाभेदे

श्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा । निवृत्तावद्वयान्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥' इति । नच—सिद्धान्ते घट-
तद्धीभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिन्नितरभेदस्यापि ग्रहणान्नानवस्था, अन्यथा स्वस्य
घटादिभ्योऽभेदसंशयः स्यादिति—वाच्यम्; साक्षिणः स्वप्रकाशत्वेऽपि स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेदग्रहे
इतरप्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षत्वात् । अन्यथा स्वस्यान्तःकरणाद्यभेदभ्रमो न स्यात् । स्वप्रकाशेन
भेदाग्रहेऽपि मानान्तरेण भेदग्रहात् न घटाद्यभेदसंशय इति न किञ्चिदेतत् । स्यादेतत्—'घटपटौ
भिन्नाविति प्रत्यक्षं स्वस्याद्वैतज्ञानादिना भेदं विनानुपपत्तेस्तमप्याक्षिपतीति सर्वत्र भेदस्याप्रत्यक्ष-
त्वेऽपि नाद्वैतश्रुतेरवकाशः—अत्रोच्यते; आक्षेपो हि अनुमानमर्थापत्तिर्वा । तत्र विवादाध्यासिता
बुद्धिः सर्वतो भिन्नेति नानुमानं संभवति; स्वतोऽपि भेदसाधने बाधात्, दृष्टान्तस्य च साध्यविकल-
त्वात् । यतः कुतश्चित् भेदसाधने त्वनुमानाविषये लब्धावकाशा श्रुतिरभेदं बोधयिष्यति । नच
स्वव्यतिरिक्तात् सर्वतो भिन्नेति साध्यम्; अद्वैतवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणत्वात् । एतेन—सर्वं सर्व-
स्माद्विन्नमिति वाक्यमपि—निरस्तम्; तदुक्तम्—'हेत्वाद्यभावसर्वज्ञे सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते । किञ्चित्तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञाते बाध्यबाधकभावज्ञानं न संभवति; स्वस्य भेदज्ञानस्य स्वाधिकतया ज्ञानापत्तेरित्यर्थः । बाधकस्य स्वविषयेण सह
भेदाज्ञाने भेदविशेषविषयकत्वेन तद्वद्विप्रमात्वेन च तस्य ज्ञातुमशक्यतया बाध्यबाधकधियोरैकविषयकत्वग्रहेण च
बाध्यबाधकभावज्ञानासंभव इति भावः । ननु—कथमद्वैतज्ञानेन द्वैतं बाध्यते? द्वैतस्य स्वविषयैक्येन गृहीततया बाध्य-
त्वेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अद्वैतस्यापि स्वैक्येन गृहीततया तद्विषयकत्वेन तद्वद्विप्रमात्वेन च स्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वा-
दिति—चेन्न; अद्वैतज्ञानस्योत्पत्तिक्षणे भेदानुपमर्दकत्वेन तस्य द्वैतस्य च तथा ग्रहीतुं शक्यत्वात्, तादृशज्ञानस्य पूर्वज्ञान-
चरमभेदज्ञानादिबाधकत्वसंभवेनानुपपत्त्यभावात् । तादृशज्ञानोत्तरं तु बाधकत्वज्ञानं नास्त्येव; सर्वद्वैतोपमर्दात् । भेदज्ञानं
तु पूर्वं जातमपि न सर्वभेदविषयकमिति न तेनाद्वैतज्ञानस्योत्पत्तिप्रतिबन्ध इति भावः । सुदूरेत्यादि । चरमभेदधी-
भिन्नेषु सर्वेषु विषयरूपदेशेषु भेदावगाहनरूपं धावनं कृतवत्यपि सुषुप्तिलोपाद्यापत्तिरूपश्रान्त्या चरमभेदधीरूपदेशे
भेदावगाहनरूपं धावनं कर्तुमशक्ता बाधबुद्धेर्भेदज्ञानस्य च परंपरा श्रेणी, निवृत्तौ तस्या अद्वयश्रुतिबाधकत्वायोग्यत्व-
प्राप्तौ, पार्ष्णिग्राहैर्विरुद्धविषयकत्वरूपबाधकतावच्छेदकयुक्तरद्वयान्नायैर्बाध्यत इत्यर्थः । इतरप्रतियोगिकभेदेति ।
स्वविषयात् ज्ञानान्तराच्च भेदेत्यर्थः । इतरप्रतियोगी इतरात्मकप्रतियोगी । सप्रतियोगिकत्वेन भेदस्फुरणस्यैवा-
भेदज्ञानविरोधित्वात्तदेव प्रकृते वाच्यम्, तच्च न संभवति; प्रतियोग्यनुपस्थितिकालीनस्य साक्षिनिष्ठभेदस्यावृत्तत्वेन
तस्फुरणस्य प्रतियोगिधीसापेक्षत्वात्, अभावमात्रस्यानुपलब्धिमानगम्यत्वे तु न भेदे साक्षिवेद्यत्वशङ्कापीति भावः ।
अन्यथा साक्षिणः इतरनैरपेक्ष्येण स्वनिष्ठभेदग्राहकत्वे । अन्तःकरणाद्यभेदभ्रमः अन्तःकरणादेर्भेदाविषयकोऽह-
मिति भ्रमः, न स्यात् । इतरसापेक्षतयोक्तभेदग्राहकत्वे तु विपरीतसंस्काररूपदोषाभावस्योक्तभेदस्फुरणापेक्षणीयत्वा-
त्तदभावाच्च तादृशस्फुरणम् । न च—मम मन इति भेदस्फुरणं सर्वदास्त्येवेति—वाच्यम्; तस्य तादात्म्यविषयत्वेऽपि
भेदाविषयकत्वात्, शरीरत्वेनेव मनस्त्वेनापि तादात्म्याध्यासस्य स्वीकारात्, मम मन इत्यस्य संभवेऽपि ममाहमित्यस्या-
संभवात्तदापादनसंभवाच्च । एतेन—मनआत्मनोर्भेदज्ञानस्य सत्त्वेऽपि विपरीतभावनारूपदोषात्तयोरभेदभ्रमसंभव
इति तदभावापादनमयुक्तमिति—अपास्तम् । ज्ञानादिनेत्यादिना स्वविषयग्रहः । भेदम् ऐक्याज्ञानात् स्वविषयाच्च
स्वस्य भेदम् । सर्वतोभिन्नेति । बुद्धित्वात् बुद्ध्यन्तरवदिति शेषः । अनुमानाविषये अनुमेयभेदाप्रतियोगिनि ।
वाक्यमपीत्यपिनाऽनुमानसमुच्चयः । हेत्वादीत्यादि । सर्वस्मिन् पक्षीकृते हेतोरभावः; तस्मिन् तस्याभावेन हेतौ
स्वरूपासिद्धिः, अद्वैतमते साध्यहेत्वोरभेदेन साध्याविशेषः, तयोः पक्षस्य चैक्यात् बाधस्वरूपासिद्धिर्व्याप्यत्वा-
सिद्धादिकं च, एवं दृष्टान्तस्यापि पक्षत्वादृष्टान्तासिद्धिश्च । सर्वस्य भेदप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्य तत्तद्रूपेण
निवेश्ये; अन्यथा केनचिद्रूपेण ते आदाय सिद्धसाधनार्थान्तरयोरपत्तेः । तथाच तत्तद्रूपेण ज्ञाने आवश्यकं सार्वज्ञ्या-
पत्तिः । एवंच हेत्वाद्यभावे सार्वज्ञ्ये च अद्वैतवादिभिरास्थिते आपादिते सति सर्वं पक्षयता पक्षयितुं पूर्वं
प्रवर्तमानेन त्वया किञ्चित् कानिचित् त्यक्तव्यानि पक्षात् बहिष्कार्याणि । तथाच सैव त्यक्ता तत्तत्स्वरूपैवाद्वयश्रुतेः
सर्वाद्वैतबोधनरूपगमनाय चरमोपायरूपा द्वाः त्वया दत्तौ । तुशब्दादनुमानप्रयोगव्यवच्छेदः । तथाचानुमानप्रयोगे
त्वया कृतेऽपि श्रुतिप्रवृत्तिर्निरोद्धुं शक्यत इति भावः । ननु—उक्तप्रत्यक्षं यद्यद्वैतज्ञानात् स्वविषयाच्च भिन्नं न स्यात्,
तदा भेदविषयकं न स्यात्; ययोर्भेदो विषयः, तयोरैक्यविषयकत्वात् भेदप्रतियोग्यनुयोगिनोः स्वविषयीभूतयोः
स्वभिन्नत्वाभावे तयोर्भेदानुपपत्तेः, न हि स्वात्यन्ताभिन्नमुभयं मिथो भिन्नमिति संभवति, विशेषादिति युक्तेरुक्तप्रत्य-
क्षं स्वविषयादद्वैतज्ञानाच्च भेदं विना भेदविषयकत्वमनुपपन्नमित्यनुपपत्तिधीकरणिकार्थापत्तिर्भेदग्राहिकाऽऽः; तथाच

त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥' इति । नाप्यर्थापत्तिः सर्वभेदविषया; स्वाविषयत्वात् । ययोर्हि भेदं विना यत्रानुपपत्तिर्गृहीता, तयोस्तत्र भेदग्रहेऽप्यनुपपत्तावनुपपत्त्यन्तराग्रहणात् । सर्वत्र तद्ग्रहणे तु धाराविश्रान्तौ चरमधीरुदाहरणम् । तदुक्तम्—'आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता । स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ इति । ननु—यावदुपपादकं तत्सर्वमर्थापत्तेर्विषयः, ननु यत्किंचिदुपपादकम्; तथाचार्थापत्तेरितरस्मात् भेदाभावे तत्रैवाभेदश्रुतेर्लब्धावकाशत्वात् घटपटभेदासिद्ध्यापत्तेरर्थापत्तिभेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेनार्थापत्तिविषयत्वं वाच्यम्, अन्यथा दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिश्च स्वमिथ्यात्वविषया न स्यात्; 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतिः 'नेह नाने'ति ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधानुपपत्तिश्च स्वाभेदविषया न स्यात्; तथाच तत्रापि श्रुत्यन्तरमर्थापत्त्यन्तरं वा वाच्यमिति तवाप्यनवस्थापत्तिः—इति । मैवं वोचः; वस्तुत उपपादकत्वं नार्थापत्तिविषयत्वे तन्नम्, किंतूपपादकत्वेन ज्ञातत्वम्; अन्यथा अर्थापत्तिभ्रमानुपपत्तेः । तथाच येन रूपेणोपपादकत्वं गृहीतं, तद्रूपावच्छिन्नमुपपादकमर्थापत्तेर्विषयः । तत्र यद्यर्थापत्तिगतभेदसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकं भवेत्, तदा सोऽपि भायादेव । न चैवमस्ति; तदनिरूपणात् । तथाहि—घटपटभिन्नत्वमुपपाद्यम्, तदुपपादकं च न सर्वभिन्नत्वम्; स्वतोऽपि भेदापत्त्या तदसंभवात् । नापि स्वातिरिक्तसर्वभिन्नत्वम्; अद्वैतवादिनं प्रति स्वातिरेकविशेषणासिद्धेः, स्वत्वाननुगमाच्च । तथाच तेन तेन रूपेण तत्तद्भिन्नत्वमेव उपपादकमुपेयम् । अत उपपादकतावच्छेदकनानात्वान्न सर्वमुपपादकमर्थापत्तेर्विषय इति पृथक्पृथगनुपपत्तिज्ञानापेक्षायां सर्वत्रानुपपत्तिज्ञाने अनवस्थानात् कचिद्धाराविश्रान्तौ तत्रैव लब्धावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति किमनुपपन्नम्? दृष्टान्ते च सर्वत्र स्वसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकमेवेति तदवच्छिन्नतया स्वस्यापि भानमिति वैषम्यम् । तथाहि—दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्वं विना दृक्संबन्धानुपपत्तिग्रहात्तदवच्छिन्नमिथ्यात्वमर्थापत्तेर्विषय इति स्वमिथ्यात्वमपि स्वविषयः, एवमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम्; तत्रापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कथमद्वैतश्रुत्यवकाशः? तत्राह—नाप्यर्थेति । स्वाविषयत्वं विवृणोति—ययोरित्यादि । ययोरद्वैतज्ञानाद्युक्तप्रत्यक्षयोर्भेदं विना यत्रोक्तप्रत्यक्षस्य घटपटभेदविषयकत्वे अनुपपत्तिर्गृहीता, तत्रोक्तप्रत्यक्षस्य तादृशविषयकत्वे निमित्ते तदुपपत्त्य इति यावत् । तयोरद्वैतज्ञानाद्युक्तप्रत्यक्षयोर्भेदग्रहेऽपि अनुपपत्तौ अर्थापत्तिप्रमायामनुपपत्त्यन्तरस्याद्वैतज्ञानादितो भेदं विना किंचिदनुपपन्नमित्यस्याग्रहात् । तथाचोक्तार्थापत्तावद्वैतज्ञानादिभेदाग्रहान्नार्थापत्तिः सर्वभेदविषयेति भावः । सर्वत्रोक्तापत्त्यादौ । ग्रहे त्विति । सुषुप्तिलोपाद्यापत्तेरिति शेषः । चरमधीः चरमार्थापत्तिः, अद्वैतज्ञानादिभेदं विना यस्यां किंचिदनुपपन्नमिति न गृहीतं, सार्थापत्तिरिति यावत् । आद्येत्यादि । आद्यधीः 'घटो न पट' इति धीः । तद्वेद्यभेदीया धियस्तादृशभेदविषयकत्वमद्वैतज्ञानादितः तस्यां भेदं विनानुपपन्नमित्याकारा अनुपपन्नता अनुपपत्तिधीरद्वयश्रुतिं न बाधते; स्वज्ञानापेक्षणात्, स्वस्मिन् तादृशानुपपत्तिज्ञाने अद्वैतज्ञानादिभेदज्ञानमपेक्ष्यैव तस्यास्तद्बाधकत्वसंभवात्, स्वस्मिन् उक्तभेदाज्ञाने तत्रैव श्रुतेरवकाशेन सर्वाद्वैतपर्यवसानात् । अथ तस्यामपि तादृशभेदं विनोक्तभेदविषयकत्वमनुपपन्नमिति ज्ञानात्तादृशभेदग्रहः, तथाप्यन्ते धाराविश्रान्तौ तान्न बाधत इत्यर्थः । उपपादकमिति । यद्विनानुपपन्नत्वमन्यत्र ज्ञायते, तदित्यर्थः । इतरस्मात् अद्वैतज्ञानादितः । नेह नानेत्यादि । 'नेह नाने'तिवाक्यरूपस्य ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधस्यानुपपत्तिरित्यर्थः । अभेदस्याखण्डब्रह्मस्वरूपत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् भेदाभावातिरिक्तत्वात् भेदनिषेधानुपपत्तिगम्यत्वमिति भावः । अर्थापत्तिभ्रमेति । अर्थापत्तिरूपभ्रमेत्यर्थः । येन येनेत्यादि । यद्यद्रूपावच्छिन्नं विनानुपपन्नत्वं गृहीतमित्यर्थः । सोऽपि अर्थापत्तिगतभेदोऽपि । भिन्नत्वं भेदविषयकत्वम् । सर्वभिन्नत्वं सर्वस्मात् भिन्नत्वम् । अद्वैतवादिनम् अद्वैते सन्दिहानम् । तथाचाद्वैते विप्रतिपत्तिकाळे स्वातिरिक्तसर्वत्वनिर्णयासंभव इति भावः । स्वत्वेति । तथाच भेदग्राहकं यद्यज्ज्ञानं, तत्र तत्र तत्तदन्यसर्वभिन्नत्वमर्थापत्तिविषयो वाच्यः । एवंचोक्तज्ञानस्य प्रत्यक्षार्थापत्त्याद्यनन्तत्वेनानुगतत्वं विना पक्षतया साध्यघटकतया च न तन्निर्देशसंभवः । नच—भेदग्राहकत्वेन तेषामनुगम इति—वाच्यम्; भेदग्राहकभिन्नभेदस्य साध्यत्वे भेदग्राहकाणां मिथो भेदस्यार्थापत्त्यविषयतया तेष्वेवाद्वैतश्रुत्यवकाशादिति भावः । नानात्वात् तत्तद्दर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वरूपत्वात् । विश्रान्ताविति । तत्तदनन्तधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदानां दुर्ज्ञेयत्वात् कचित् कस्यचित् भेदज्ञानसंभव इत्यपि बोध्यम् । तथाहीति । प्रपञ्चस्येति शेषः । सर्वभेदे उक्तार्थापत्तिविषये सति । स्वाभेदः स्वाभेदापत्तिः । कथमित्यादि । चरमज्ञाने आदौ लब्धपदा पश्चात् सर्वाद्वैतविषयेति कथमित्यर्थः । द्वाग्नेव युगपदेव ।

दृश्यत्वादेरेकस्यैवावच्छेदकत्वात् । एवंच ब्रह्मणि सर्वाभेदबोधिकायाः श्रुतेर्भेदमात्रनिषेधान्यथानु-
पपत्तेश्च स्वाभेदविषयत्वमविरुद्धम् । न हि सर्वभेदे स्वभेदापत्तिरिव सर्वाभेदे स्वाभेदो दोषाय ।
तस्मादद्वैतश्रुतिर्वाध्यबाधकयोरैक्यबोधनेन निरावाधा सर्वाद्वैतं प्रतिपादयति । ननु—शब्दबुद्धि-
कर्मणां विरम्य व्यापाराभावात् कथमादावल्पविषया बुद्धिः पश्चात् बहुविषयापि भवतीत्युच्यत
इति—चेन्न; श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतबुद्धेः प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्तीनामस्मद्-
बुद्धीनामेव क्रमेण जायमानत्वात् । अयोग्यताज्ञानं च न शाब्दबोधे प्रतिबन्धकम्, न वा योग्यता-
ज्ञानं हेतुः; येन प्रथमं सर्वाद्वैतबुद्धिर्न स्यात् । तदुक्तम्—‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति
हि । अवाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥’ इति । वेदान्तकल्पलतिकायामस्यार्थस्य प्रपञ्चो
द्रष्टव्यः । एतेन—चरमज्ञानमिथ्यात्वेऽपि न तद्विषयस्य मिथ्यात्वम्; ज्ञानमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्या-
त्वासाधकत्वात्, अद्वैतज्ञाने व्यभिचारादिति—निरस्तम्; श्रुत्यैव द्वैतमात्रनिषेध्यत्वबोधनात् ।
अद्वैतज्ञानविषये च मिथ्यात्वबोधकाभावादेव सत्यत्वम्, न तु ज्ञानमिथ्यात्वादिति न किञ्चिदेतत् ।
ननु—द्वैतज्ञानाद्वैतज्ञानयोरभेदे कथं बाध्यबाधकभावः ? न च व्यावहारिकभेदमात्रेण सः; द्वैतज्ञान-
स्यापि बाधकत्वापत्तेः—इति चेन्न; व्यावहारिकभेदमात्रस्य बाधकत्वाप्रयोजकत्वात् । यद्धि परीक्षित-
प्रमाणभावत्वेन बलवत्, तत् बाधकम्, यत्तु सन्दिग्धप्रमाणभावत्वेन दुर्बलं तत् बाध्यमिति व्यव-
स्थायां द्वैतज्ञानस्य दुर्बलत्वेनाबाधकत्वस्याद्वैतज्ञानस्यच बलवत्त्वेन बाधकत्वस्य शब्दप्रत्यक्षबलावल-
विचारे दर्शितत्वात् । यत्तु—‘आपो वा इदं सर्वं भूतं’मित्यादिश्रुतिः ‘विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात्
जलवदि’त्यनुमानं वा स्वबाधकस्य जलाभेदं गृहीत्वा निर्बाधं सत् त्वदुक्तन्यायेन सर्वस्य जलाभेदं
बोधयेत्—इति, तन्न; जलाभेदबोधनेऽपि बाध्यबाधकयोरैक्यबोधनात् बाधकस्य बाधकत्वोपपत्तेः,
ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावस्य जलाभेदज्ञानेनानपायात् । बाधकाभेदो हि बाधकत्वाभावे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रामाण्यमित्यादि । यत्र प्रत्यक्षादिना भेदो न गृहीतः, तत्र श्रुतेरबाधितविषयकत्वम्, प्रत्यक्षादिविषये तु सर्वत्र
श्रुतेः प्रवृत्त्या प्रत्यक्षादिकं नाबाधितविषयकं संभवति; अतः श्रुतिः प्रत्यक्षादिबाधिका । एवं श्रौतमद्वयज्ञानं सर्वद्वैतो-
च्छेदकत्वेन बाधकत्वाभिमतप्रत्यक्षादिस्वरूपोच्छेदकम्; अतः प्रत्यक्षादिकं न तद्बाधकम् । बाध्यज्ञानोत्पत्त्युत्तरकाले हि
बाधकमनुच्छिन्नस्वरूपं वाच्यम् । सर्वकल्पनामूलोच्छेदकत्वादपि श्रौतज्ञानमबाध्यम् । तदुक्तं खण्डने—‘प्रवृत्तेना-
प्यनौचित्यमूलं येन न ल्यते । तत्रानौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥’ इति । अत्राद्वैतज्ञाने इत्यादिरीत्या श्रुतेः
बाध्यत्वशङ्कानिरासेन प्रामाण्यं व्यवस्थापयतामस्मदीयज्ञानानामेव क्रमेणोत्पत्तिः, श्रुत्या तु युगपदेव सर्वाद्वैतं बोध्यते,
नतु प्रत्यक्षाद्यगृहीतभेदके चरमज्ञाने वा प्रथमतः पश्चादन्यत्राद्वैतं बोध्यत इति भावः । न स्यादिति । प्रत्यक्षादिरू-
पेणायोग्यताज्ञानेन प्रतिबन्धादिति शेषः । अत्यन्तासति विपरीततया निश्चिते कलहादिस्थले इति शेषः । अबाधा-
दिति । कलहादिस्थले वाक्यार्थज्ञानस्यानासत्वाक्यजन्यत्वादिना भ्रमत्वेऽपि श्रौतज्ञानस्योक्तरीत्या भ्रमत्वज्ञानरूपबा-
धासंभवादित्यर्थः । स्वतःप्रामाण्यनिश्चलां स्वतःसिद्धप्रमात्वेनाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दिताम् । विपरीतज्ञानरूपायो-
ग्यताज्ञानप्रतिबध्यता परोक्षापरोक्षसाधारणरूपेण न संभवति; प्रत्यक्षस्येच्छाविषयस्याप्रतिबध्यत्वेन तद्व्यावृत्तरूपेणैव
तस्याः वाच्यत्वात् । अत एवोक्तं मणिकारेण—‘प्रत्यक्षादावुत्पन्ने ज्ञाने अप्रामाण्यमासज्यते बाधेन, अनुमितौ तु
उत्पत्तिरेव प्रतिबध्यत’ इति । तथाच परोक्षस्यानुमित्वेनैव प्रतिबध्यत्वम् । विपरीतधीसत्त्वे उद्बोधकसत्त्वे माना-
भावेन तदभावादेव स्मृत्यनुत्पादात् अनुगतोद्बोधके मानाभावात् । भावे वा कलहादिस्थले शाब्दज्ञानस्य विपरीत-
निश्चयाप्रतिबध्यत्वात् शाब्दधीव्यावृत्तेन जातिविशेषेणैव प्रतिबध्यत्वम् । एवं योग्यताज्ञानस्य शाब्दधीहेतुत्वेऽपि न
मानम्; इतरकारणकलापे सति तद्विलम्बेन तद्विलम्बादिति भावः । श्रुत्यैवेत्येवकारार्थो विवक्षितः । स च ज्ञान-
मिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वसाधकत्वव्यवच्छेदः । श्रुतेर्बाधकत्वं तु नात्र विवक्षितम् । तेन एतेनेत्यनेन न पौनरुक्त्यम् ।
मिथ्यात्वादिति । विषयमिथ्यात्वमिति शेषः । विचारे इति । प्रकृतविचारे चेति शेषः । दर्शितत्वादिति ।
नच—अद्वैतज्ञानवता द्वैतवादिनं प्रति श्रुतिप्राबल्योपन्यासे तदीयव्यवहारव्याघात इति—वाच्यम्; अद्वैतज्ञानेन
प्रपञ्चस्य बाधितत्वेऽपि भुज्यमानकर्मणा प्रतिबन्धेन भोगशेषानुकूलप्रतिभासानिवृत्त्या व्यवहारसंभवात् । तदुक्तं
खण्डने—‘नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि । असिद्धभेदात् व्याघातः पतेदापादकात् कुत’ इति । असिद्धभे-
दात् असिद्धो बाधितः आपाद्यादितो भेदो यत्र तस्मात् । आपादकात् यदि त्वमद्वैतज्ञानवान्, तदा व्यवहारवान्
न स्या इत्यस्मात् । बाध्यबाधकयोः आपः सर्वमिति ज्ञानपृथिव्यादयो नाप इति ज्ञानयोः । उपपत्तेरिति । जले

प्रयोजकः; बाधकस्य स्वबाधकत्वाददर्शनात् । अतो न बाध्यबाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदज्ञानसाम्यम् । एतेन—सर्वं सर्वस्माद्विन्नमिति मद्वाक्यमद्वैतवाक्यतद्भानतद्विषयाणां तेभ्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत्सर्वभेदे पर्यवस्यतीति—निरस्तम्; बाध्यबाधकयोरभेदे बाधकत्वाभाववत् भेदेऽपि बाधकत्वं न स्यादित्यत्र हेत्वभावात् पूर्वोक्तदोषाच्चेति दिक् । सर्वासत्त्वं सर्वमिथ्यात्वान्नातिरिच्यते; अतः 'सर्वमसदिति' प्रत्यवस्थानमनवकाशम् । ननु—श्रुत्या सर्वस्य मिथ्यात्वं वा बोध्यते, ब्रह्माभिन्नत्वं वा । आद्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सामानाधिकरण्यं न स्यात्; सत्यानृतयोरैक्यायोगात् । द्वितीये 'इदं रजतं' 'गौरोऽह'मित्यादिभ्रमाणां प्रमात्वं स्यात्; आत्मनि देहादिभेदस्यानृताद्यावृत्तेश्च बोधकानां वेदान्तानां 'नेदं रजत'मित्यादिबाधकस्य चाप्रामाण्यं स्यात् । घटज्ञानेनैव तदभिन्नब्रह्मतदभेदादेः सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्यम्, वेदान्तानां वैयर्थ्यम्, सद्योमोक्षश्च स्यात्, सुखदुःखबन्धमोक्षभेदादभेददूषणभूषणजयपराजयभ्रान्तिप्रमादादेरपि वस्तुतो भेदाभावेन सर्वसङ्करापत्त्या स्वक्रियास्वन्यायस्ववचनविरोधाश्च स्युरिति—चेन्न; आद्ये 'मृद्वटः' 'इदं रजत'मित्यादाविव उपादानोपादेयभावेनापि सामानाधिकरण्योपपत्तेः । द्वितीये वस्तुतो भेदाभावेऽपि आविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपत्तेः । नच—भेदस्याप्यनाविद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोग इति—वाच्यम्; आविद्यकत्वस्याप्याविद्यकस्यैवाङ्गीकारात्, अथाविद्यकत्वस्यापि ब्रह्माभिन्नत्वात् कथमाविद्यकत्वमिति चेत्, तस्मिन्नपि तस्य कल्पितत्वादिति गृह्याण । ननु—मुक्तावाविद्यकस्यापि भेदस्याभावेनानन्दस्य दुःखाभिन्नत्वेनापुरुषार्थत्वापातः, तत्तदसाधारणस्वभावस्य तत्र तत्राभावेऽपि तत्तदभेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येत्, असाधारणरूपेण भेदमभ्युपेत्य सद्रूपेण भेदनिषेधेऽपि इष्टापत्तिरप्रसक्तनिषेधश्चेति—चेन्न; एकस्यामेव ब्रह्मव्यक्तौ तत्तदसाधारणस्वभावानां कल्पितत्वेनासत्त्वात् सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितधर्मावच्छिन्नभेदाभेदादिप्रसक्तेरयोगात् । अतएव नाप्रसक्तप्रतिषेध इष्टापत्तिर्वा; 'सद् द्रव्यं' 'सन् गुण' इत्यादिप्रतीत्या प्रसक्तानां तत्तद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रतिषेधात् । अतः सर्वधर्म-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सर्वस्येति शेषः । बाधकाभेदः बाधके बाध्याभेदः । बाध्यबाधकैक्येति । सर्वाद्वैतेत्यर्थः । निर्बाधं सदिति । बाधकत्वाभिमतमद्वैतज्ञानं तद्विन्नत्वेन निश्चितमस्त्येन भेदज्ञानं बाध्यतया न निश्चेतुं शक्यत इति भावः । हेत्वभावादिति । अद्वैतज्ञानं साक्षिणा तद्विन्नत्वेन न गृह्यते; स्वस्मिन् स्वाभेदविषयके च शाब्दबोधे विपरीतधीर्न विरोधिनीत्युक्तमिति भावः । पूर्वोक्तेति । भेदज्ञानस्य स्वस्मादपि भेदसिद्ध्यापत्त्या बाधकत्वाभावापत्तिः; स्वातिरिक्तसर्वभेदविषयकत्वे वाच्ये अद्वैतवादिनं प्रत्यसिद्धिरित्यादीत्यर्थः । 'आपो वे'त्यादिनारायणीयोपनिषद्वाक्यस्य स्तुतिपरत्वेनाभेदपरत्वाभावात् भेदप्रत्यक्षादुर्वलत्वं, सर्वं न सर्वमित्यादिवाक्यस्यानासोक्तत्वेन घटो न घट इत्यादिवदपार्थक्यत्वेन च तथात्वमित्यपि बोध्यम् । ननु 'इदं वाग्रे नैव किञ्चन आसीदिति' श्रुतिः 'विमतमसत् ज्ञेयत्वा'दित्यनुमानं च स्वबाधकस्य सत्यादिवाक्यस्यासत्त्वं गृहीत्वा सर्वासत्त्वं बोधयेत्तत्राह—सर्वासत्त्वमिति । प्रत्यक्षादिगृह्यमाणस्यालीकत्वं वक्तुमशक्यम्, अतो मिथ्यात्वरूपमसत्त्वं वाच्यम् । तच्चेष्टम् । वस्तुतस्तत्त्ववाक्यं व्याकृतप्रपञ्चनिषेधमप्रकाले बोधयतीति भावः । श्रुत्या 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादिश्रुत्या । मिथ्यात्वमिति । अद्वितीयपदस्य सद्वितीयत्वेन ज्ञाते ब्रह्मणि द्वितीयशून्याभेदबोधनादिति शेषः । ब्रह्माभिन्नत्वमिति । अद्वितीयपदस्य द्वितीयत्वरूपविशेषणनिषेधपरत्वेनेति शेषः । ब्रह्मद्वितीयत्वस्य ब्रह्मभेदव्यापकतया द्वितीयत्वनिषेधात् भेदनिषेधस्यार्थिकतया लाभः । एकादिपदस्य तु भेदशून्यरूपकेवलवाचकत्वेन सङ्कोचकाभावात् सर्वभेदशून्यबोधकत्वमिति भावः । गौरोऽहमित्यादि । तथाच श्रुतीनां पूर्वापरविरोध इति भावः । अप्रामाण्यं स्यादिति । सर्वस्य सर्वाभिन्नब्रह्माभेदेन सर्वाभिन्नत्वादिति शेषः । द्वितीयपक्षेऽपि 'नेह नाना' 'अतीन्द्रियमविषयम्' इत्यादिश्रुतिभिः मिथ्यात्वेन बोधिते प्रपञ्चे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुत्या ब्रह्माभेदबोधानुपपत्तिर्बोध्या । उपादानोपादेययोः सामानाधिकरण्ये पराभ्युपगतं दृष्टान्तमाह—मृद् घट इति । सत्यानृतयोः सामानाधिकरण्ये पराभ्युपगतं दृष्टान्तः—इदमित्यादि । तत्तदसाधारणेति । दुःखादिमात्रवृत्त्यपुरुषार्थत्वादीत्यर्थः तत्र तत्र मोक्षानन्दादौ । तत्तदभेदे दुःखाद्यभेदे । सद्रूपेण सदभिन्नत्वेन । तत्तदसाधारणेति । दुःखत्वापुरुषार्थत्वादीत्यर्थः । असत्त्वात् निषेधयोग्यत्वात् । काले कालोपलक्षितमुक्तामादौ । भेदाभेदादीति । भेदो दृष्टान्तत्वेनोक्तः । अत एव द्वितीयमात्रस्य सद्रूपे ब्रह्मणि कल्पितत्वादेव । तत्तद्धर्माणां भेदानां द्रव्यगुणादिरूपभेदानां च । सर्वशून्याया इति । भेदभेद्यसामान्याभावव्यव्यावृत्ताकरेणोपलक्षिताया इत्यर्थः । न पारिभाषिक इति यादृशभेदस्य ज्ञानं यद्विषयप्रमयोच्छेदं, तादृशभेदविरोधी अभेदः स एव । भेदमात्रस्य

शून्याया एकस्या एव सद्यक्तेश्चिदानन्दरूपायाः प्रतिपादनाच्च पारिभाषिकोऽयमभेद इति सिद्धम् । तदेवं 'सर्वं ब्रह्माभिन्नमिति' मते मिथ्याभूतस्य ब्रह्मभेदोऽपि सन्मात्रमेव ब्रह्माभिन्नमिति मते वा न प्रत्यक्षादिविरोधः, नापि पूर्वोत्तरविरोधः ॥ इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञानाखण्डोक्तव्यक्तिप्रमयोच्छेद्यम्; उक्तव्यक्तेः सर्वाधिष्ठानत्वादुक्तव्यावृत्ताकारोपलक्षितत्वाच्च । अतः सैव व्यक्तिः सर्वभेदविरोधभेद इति भावः । सर्वं ब्रह्माभिन्नमिति मते इति । द्रव्यगुणादिकं द्रव्यत्वगुणत्वाद्यवच्छिन्ना या ब्रह्मभेदाभावानुयोगिता तद्भवति, श्रुत्यापि तादृशभेदाभावो बोध्यत इति मते इत्यर्थः । मतान्तरमाह—मिथ्येत्यादि । एकमेवेत्यादिश्रुत्या मिथ्यात्वेन बोधितेत्यर्थः । सद्रूपेणैव द्रव्यादेर्ब्रह्मभेदाभावानुयोगित्वम्, नतु द्रव्यत्वादिना; तेन रूपेण ब्रह्मभेदानुयोगित्वस्य सत्त्वेन विरोधात् । अतएव ब्रह्मभेदस्य पारमार्थिकत्वेनैवाभावः तत्र स्वीक्रियते, नतु ब्रह्मभेदत्वेन; येन रूपेण प्रतियोगी यत्र वर्तते, तेन रूपेणाभावस्य तत्रानभ्युपगमात् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुत्याप्युक्तानुयोगित्वमेव बोध्यते, तदेतन्मतमभ्युपेयवादः । उक्तं हि द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणे आचार्यैरेव—नात्र रजतमिति बाधेन 'नेह नाने'त्यादिश्रुत्या च स्वरूपेणैव निषेधः, न तु पारमार्थिकत्वेनेति । न प्रत्यक्षेत्यादि । आद्यमते 'नेदं रजत'मित्यादिप्रत्यक्षादिविरोधो न, द्वितीयमते 'सर्वं खल्विदं'मित्यादिश्रुतिविरोधप्रयुक्तः पूर्वापरश्रुतिविरोधो नेत्यर्थः । इति लघुचन्द्रिकायामद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः ।

अथ अद्वैतश्रुतेः बाधोद्धारः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

मानान्तरैः पूर्वोत्तरवाक्यैश्चाविरुद्धानामेवार्थानां वेदार्थत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेन पूर्वोत्तरवाक्यैश्च विरुद्धे अद्वैते नागमानां तात्पर्यम् । ऐक्यश्रुत्या हि अप्रसक्तभेदनिषेधानुपपत्त्या तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्याङ्गीकरणीयत्वे तत्प्रतिषेधेनाभेदबोधनासंभवात्, अप्रसक्तप्रतिषेधेऽपि नान्तरिक्षेऽस्मिन्नेतद्व्यः इत्यादाविवोपपत्तौ तु किंचनेत्यादिपदानामनुवादकत्वेन श्रुतेरभेदमात्रपरत्वेन च प्रतियोग्युपस्थितेः प्रत्यक्षादिनैव वर्णीयतया तेनैव भेदस्यापि सिद्धतया तन्निषेधासंभवात् प्रत्यक्षस्य नियतविषयकत्वेन घटपटौ भिन्नौ इति ज्ञानस्य घटपटभेदविषयकत्वेऽपि ऐक्यज्ञानभेदाग्रहणात् बाधकाभिन्नस्य भेदज्ञानस्यैक्यज्ञानबाधकत्वं न संभवतीति न शङ्कनीयम् । खेनाग्रहणेऽपि ज्ञानान्तरेण तद्ग्रहणसंभवात् । चरमधियां भेदग्राहकप्रमाणान्तरासंभवात् तत्र लब्धावकाशाया अद्वैतश्रुतेः सर्वाद्वैते पर्यवसानमित्यपि न युक्तम्, चरमधियोऽपि प्रमाणान्तरसिद्धत्वे तद्भेदस्यापि तथात्वे च तन्निषेधेनाभेदबोधनासंभवात्, प्रमाणान्तरसिद्धौ तु येन केनचित् यस्यकस्यचिदभेदबोधनापत्त्या बाध्यबाधकत्वेनाभिमतचरमध्यैक्यज्ञानयोरभेदबोधनासंभवेन प्रत्यक्षाबाधकत्वोक्त्यसंगतेः । वस्तुतस्तु—घटपटौ भिन्नाविति ज्ञानं स्वस्याभेदज्ञानभेदं विनाऽनुपपत्तेस्तमाक्षिपतीति नाद्वैतश्रुतेः कुत्राप्यवकाशः, उक्तार्थापत्तिस्तु इतरभेदाभावे घटपटाद्यभेदापत्त्या तद्भेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेन हृदयत्वज्ञाननिर्वर्त्यत्वान्यथानुपपत्त्यादीनां तत्तन्मिथ्यात्वविषयत्ववत् स्वभेदमपि विषयीकरोत्येवेति—“आद्यधीवेद्यभेदीयाद्यन्यथानुपपन्नता । ज्ञानोपलक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्” इति खण्डनोक्तमपि पराहृतम्, तत्रापि यदि सर्वं सर्वस्मादभिन्नमिति किमपि वाक्यमुपलभ्येत, तदा युज्येतैव अद्वैतवादः, नैवमस्ति, तत्र यदि अर्थापत्त्यादिकं कल्प्यते, तर्हि दुरपह्नवोऽनवस्थादोषः । अस्मन्मते तु घटपटभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा घटपटज्ञानस्यापीतरभेदग्रहणात् नानवस्थादिकम् । एवं च सामान्यविषयश्रुतेः विशेषविषयेण प्रत्यक्षेण संकोच एव न्यायः, नतु प्रत्यक्षबाधकता । अस्तुवा चरमधिय ऐक्यज्ञानेन भेदाग्रहः, एवमपि प्रथमादिज्ञानाद्यभेदः कथं वा सिद्ध्येदिति न सर्वाद्वैते पर्यवसानम् । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापारायोगेन क्रमेणाभेदग्रहासंभवात्, ब्रह्मणि सर्वाभेदस्यैव श्रुतत्वेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायकल्प्यघटपटाद्यभेदस्य श्रुतिबोध्यत्वाभावेन युगपदेव श्रुत्या सर्वाभेदबोधनासंभवात् । किंच—सर्वाद्वैते पर्यवसानमित्यनेन किं सर्वमिथ्यात्वे पर्यवसानमिति विवक्षितम्; उत सर्वाभेदे? आहोस्वित् सर्वभेदनिषेधे वेति विवेचनीयम् । तत्र नाद्यः; अद्वैतज्ञानस्यैव स्वरूपतो मिथ्यात्वेऽपि विषयाबाधेन व्यावहारिकसत्त्वेन भेदज्ञानस्यापि प्रमात्वसंभवेन भेदमिथ्यात्वायोगात्, अन्यथा इदं वा अग्रे नैव किंचनास्तीति श्रुतिर्वा विमतं सत् प्रमितत्वात् इत्यनुमानं वाऽऽदौ स्वबोधकसत्यादिवाक्यस्यासत्त्वं गृहीत्वा निर्वाधं सत् सर्वासत्त्वं बोधयेदित्यापत्तेः, सत्यानृतयोरेक्यायोगेन सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च । नान्यौ—यत्र प्रत्यक्षासिद्धो भेदः, तत्र श्रुत्या अभेदग्रहासंभवात्, अन्यथा “आपो वा इदमिति” श्रुत्या विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वादित्यनुमानेनादौ स्वबाधकेनाभेदं गृहीत्वा निर्वाधेन सर्वाभेदबोधनापत्त्याऽनाध्यासात् इदं रूपं गौरोऽहमित्यादिप्रमाणां प्रमात्वस्य आत्मनि देहानृतादिव्यावृत्तिबोधकवेदान्तवाक्याप्रामाण्यस्य घटज्ञानेनैव तदभिन्नस्य

ब्रह्मतदभेदादेः सर्वस्य वस्तुतो ज्ञातत्वेन वेदान्तवैयर्थ्यसद्योमोक्षयोः सुखदुःखबन्धमोक्षभेदाभेददूषणभूषणजयपराजय-
भ्रान्तिप्रमादादीनामपि वस्तुतोऽभिन्नत्वेन सर्वसंकरापत्त्या स्वक्रियास्ववचनविरोधानां चापत्तेश्च काल्पनिकभेदेन वास्तवभेद-
कार्यप्रतिबन्धात् मोक्षे आविद्यकभेदाभावेनानन्दस्य दुःखात्मकत्वेनापुमर्थत्वापातात् । अनाविद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोगाच्च
नाविद्यकभेदेन सर्वव्यवस्थोपपत्तिरिति प्रत्यक्षबाधितत्वाच्च सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति सर्वमनवयमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवत्संभाविताप्रामाण्यतयाऽद्वैतश्रुतिविरोधाभावात् भावेऽपि नियतविषयेण प्रत्यक्षेण
यत्र भेदो न गृहीतः तत्राद्वैतश्रुतेरवकाशाच्चाद्वैत एवागमानां तात्पर्यम् । निषेधमात्रोच्छेदप्रसङ्गेन तत्रैव प्रसिद्धेतरत्वे-
नान्यत्र प्रसिद्धिमात्रेणोपस्थितिसंभवादसंभवेऽपि नान्तरिक्ष इत्यादाविव सप्रयोजनत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधस्यादोषत्वात् प्रति-
योग्यादिविषयकप्रत्यक्षस्य भेदविषयकत्वे मानाभावादप्यथा पदार्थस्वरूपज्ञानमात्रस्य भेदज्ञानत्वेऽभेदभ्रमोच्छेदप्रसङ्गाच्च प्रत्य-
क्षमात्रस्याद्वैतश्रुतिबाधकत्वासंभवात् । एतेन—ज्ञानान्तरेण भेदग्रहादद्वैतवाधादिशङ्का अपि—**पराहताः**; चरमधिया
ऐक्यज्ञानभेदग्राहकप्रमाणान्तराभावेन स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेदग्रहे प्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षसाक्षिणाऽपि ग्रहणासंभवेनच
चरमधिया एकीभावाद्वैक्यज्ञानस्य सर्वाद्वैत एव पर्यवसानात् । एतेन—भेदार्थापत्तेरद्वैतश्रुतिबाधकत्वमपि—**पराहतम्**;
यत्र स्वसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकं तत्र तदवच्छिन्नतया स्वस्यापि भानम् । यथा दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्वं विना दृश्य-
संबन्धानुपपत्तिग्रहात्तदवच्छिन्नमिथ्यात्वमर्थापत्तेरपि विषयः, यथावा ज्ञाननिर्वर्त्यत्वान्यथानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम्, प्रकृ-
तेतु स्वतोऽपि भेदापत्त्या सर्वभिन्नत्वस्योपपादकत्वाभावात् स्वव्यतिरेकविशेषणस्य द्वैतवादिनं प्रति असिद्धतया स्वव्यतिरेक-
सर्वभिन्नत्वस्यापि तथात्वात् तत्तद्रूपेणैवोपपादकत्वस्याङ्गीकरणीयत्वेन उपपादकनानात्वाच्च स्वभेदोऽपि गृह्यते इति तत्र तदर्थं
ज्ञानान्तरादिपरिग्रहे चरमधियोऽभेदस्य केनाप्यग्रहणात्तत्रैवाऽभेदश्रुतेरवकाशेन सर्वाद्वैत एव पर्यवसानात् । अयोग्यता-
ज्ञानस्य योग्यताज्ञानस्य च शाब्दबोधे प्रतिबन्धकत्वेहेतुत्वयोरभावेन श्रुतितो युगपदेव सर्वाद्वैतबोधने बाधकाभावाच्च शब्द-
बुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभाव इति न्यायविरोधः । सर्वद्वैतशब्देन च सर्वमिथ्यात्वस्य सर्वाभेदस्य वा कस्यापि विवक्षणे न
किमपि बाधकम् । अद्वैते मिथ्यात्वबोधकमानाभावेन सत्यत्वेऽपि द्वैते तदसंभवेन मृद्वद इदं रजतमित्यादाविवोपादानोपा-
देयभावेनापि सामानाधिकरण्योपपत्त्या च प्रथमपक्षे अदोषात् । जलाभेदबोधनेऽपि बाध्यबाधकयोरैक्याबोधनात् बाधकस्य
बाधकत्वोपपत्त्या बाध्यबाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदज्ञानसाम्याभावेन आविद्यकत्वेऽपि कल्पिताविद्यकत्वाङ्गीकारेणानाविद्यक-
ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि भेदाविद्यकत्वे बाधकाभावेनाविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपत्त्या सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितधर्मा-
वच्छिन्नभेदाभेदादिप्रसक्तेरभावेन मुक्तौ आनन्दस्य दुःखाभिन्नत्वस्याप्यभावेन पुरुषार्थत्वोपपत्त्या च द्वितीयपक्षेऽदोषात् इति
सर्वमनवयमिति—**उपपादयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

श्रौतनिषेधस्य तदधिकरणप्रसक्तिपूर्वकत्वनियमात् प्रसक्तिं विना निषेधस्याप्रामाण्यहेतुत्वात् अन्यथाऽभानिप्रतिषेधन्याय-
विरोधापत्तेश्चाप्रसक्तप्रतिषेधेऽप्रामाण्यापातेन प्रत्यक्षसिद्धत्वस्य भेदेऽवश्यवर्णनीयत्वेन तथावर्णने निषेधानुपपत्त्या च नद्वैत-
तात्पर्यकत्वमागमानाम् ; स्वरूपज्ञानस्यैव भेदविषयकत्वेऽपि अभेदभ्रमहेतुदोषसत्त्वे तत एव प्रतिबन्धेन भेदाग्रहोपपत्तेः,
दोषप्रयुक्तभेदाग्रहनिबन्धनाभेदज्ञानस्य भ्रमलानियमेन श्रौताभेदज्ञानस्यापि भ्रमलापत्त्या दोषवशात् प्रपञ्चस्वरूपज्ञाने भेदा-
ग्रहः तत्राभेदग्राहकत्वं श्रुतेरिति वर्णनस्याप्यसंभवाच्च स्वरूपज्ञानेनापि सर्वेण भेदस्यापि गृहीतत्वेनाद्वैतश्रुतेः कुत्राप्यव-
काशाभावात्, इतरत्वेन यत्किञ्चिदितरप्रतियोगिज्ञानेऽपि तद्वेदस्य साक्षिणा ग्रहणसंभवात् चरमज्ञानेनापि स्वेतरभेदग्रह-
णात् चरमधियैकीभावादद्वैतज्ञानं सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति वचनमपि पराहतम् । तद्वेदसिद्धिविरोधिभेदाभावविरहस्वरूपस्यैव
घटपटभेदोपपादकतावच्छेदकत्वेन तस्यार्थापत्तिसाधारण्यादर्थापत्तिभेदोऽपि प्रकृतार्थापत्त्या गृहीत इति तत्सिद्धत्वादपि भेद-
निषेधस्यायोगात् । यथाहि घटपटभेदज्ञानस्याद्वैतज्ञानेन भेदाभावे घटादिभेदसिद्धिर्न भवति, तथाऽर्थापत्तेरद्वैतज्ञानात् भेदा-
भावेऽप्युक्तरीत्या घटपटभेदसिद्धिर्न भवतीति युक्तमुपादकतावच्छेदकस्यार्थापत्तिसाधारण्यम् । ‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थं ज्ञानं
शब्दः करोति ही’ति वचनेनात्यन्तासत्यपि शाब्दज्ञानसंभवप्रतिपादनेनायोग्यतानिश्चयस्य शाब्दधीप्रतिबन्धकत्वाभावेऽपि
तदप्रामाण्यहेतुत्वेनायोग्यतानिश्चयेन ब्रह्मणि सर्वाभेदबुद्धेरप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितायाः सकृदेव कथमप्यनुदयात् सर्वाद्वैतपर्य-
वसानस्य क्रमिकताया एवाङ्गीकरणीयत्वेन शब्दबुद्धिकर्मणामिति न्यायविरोधादपि न सर्वाद्वैते पर्यवसानम् । यथा प्रत्यक्षा-
दिना गृहीतभेदे घटादौ प्रथममद्वैतश्रुतेरप्रवृत्तिः, किंतु चरमज्ञान एव, तथा सत्यादिवाक्यैः मानान्तरेण च गृहीतसत्त्वे ब्रह्म-
घटादौ “इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीदिति” वाक्यस्य न प्रवृत्तिः, किंतु मानान्तरेण गृहीतसत्त्वके घटादौ, ततस्तु सर्वासत्त्वे
पर्यवसानमित्यापत्त्या मृद इव ब्रह्मणः परिणामित्वाभावेनोपादानत्वाभावेनोपादानोपादेयभावेन सामानाधिकरण्योपपत्त्यसंभ-

अथ एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः ।

ननु—यद्यपि 'सलिल एको द्रष्टा अद्वैत' इत्यत्र सलिलशब्दस्य तत्सादृश्यात् स्वच्छत्वमात्रपरत्वात् तस्य च सर्वमलासंसर्गित्वस्वरूपस्याद्वैतेऽप्युपपत्तेः 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र चाग्रपदस्य 'तदैक्षत नामरूपे व्याकरो'दित्यादेश्च कालेक्षणनामरूपात्मकप्रपञ्चप्रापकस्याविद्यकद्वैतविषयकत्वेन वास्तवाद्वैतविरोधित्वाभावः; तथापि 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यनेन इदंशब्दोदितस्य विश्वस्य सदभेदेन सत्त्वमुक्त्वा पुनरद्वितीयपदेन तन्निषेधे व्याघातः, न हि 'सदासी'दित्यस्यासदासीदित्यर्थः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सलिलशब्दस्य सलिलवाचकशब्दस्य । तेन तत्सादृश्यादित्यत्र तच्छब्दस्य प्रकान्तसलिलबोधकत्वम् । स्वच्छत्वेति । सलिलवत् स्वच्छ इति बृहदारण्यकभाष्ये व्याख्यानात् स्वच्छबोधकं सलिलपदम् । तस्य जलवाचकत्वेन नपुंसकत्वेऽपि स्वच्छबोधकत्वे वाच्यलिङ्गत्वात् पुंस्त्वम् । सलिलमिवाचरतीत्याचारार्थे निवृत्त्यन्यतः पचाद्यच्प्रत्ययसंभवात्, 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिप्' इत्याचारार्थे क्तिप्प्रत्ययानुशासनात् । सलिलवदाचारश्च सर्वमलासंसर्गित्वम् । यत्तु 'आपो वा इदमासन् सलिलमेवे' त्यादिश्रुतेः सृष्टिपूर्वकाले अद्वितीयो द्रष्टा परमात्मा सलिले भवतीत्यर्थः—इति । तन्न; उक्तवाक्यस्य त्वंपदार्थबोधकप्रकरणस्थत्वेनोक्तार्थस्यानन्वयात् । नच—द्वैताद्वैतयोर्भिन्नसत्ताकत्वेनाविरोधित्वेऽपि द्वितीयाभावोपलक्षितब्रह्मज्ञानस्य द्वितीयविशिष्टब्रह्मविषयकत्वासंभव इति—वाच्यम्; पारमार्थिकत्वेन यो द्वैताभावः, तदुपलक्षितब्रह्मज्ञानस्य तत्संभवात्, द्वैतमूलोच्छेदकस्यैव द्वैतविशिष्टब्रह्मविषयकत्वासंभवाच्च । सदभेदेनेत्यादि । सदभेदविशिष्टप्रपञ्च आसीदित्यर्थं प्रतिपाद्येत्यर्थः । तन्निषेधे व्याघातः सत्त्वस्य प्रपञ्चे प्रतीतस्य व्याघातः । ननु सदभिन्नस्य सत्त्वमिवाद्वितीयत्वं न विरुद्धम्; सदात्मनोभयोः संभवात्, तत्राह—नहीत्यादि । सद्रूपमात्रस्य न

वेन सर्वाद्वैतं न सर्वमिथ्यात्वरूपम् । जलभेदबोधनद्वारा वाध्यबाधकैक्यस्यैव बोधनेन जलभेदज्ञानेन विमतं जलभिन्नमिति ज्ञानवाधासंभवापत्त्या प्रत्यक्षगृहीतभेदघटपटाद्यभेदस्यैक्यज्ञानेन निषेधासंभवात् भेदाविद्यकत्वेऽप्याविद्यकत्वाङ्गीकारे भेदतात्त्विकत्वे एव पर्यवसानेनाविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपादनासंभवेन बन्धमोक्षव्यवहाराद्युच्छेदापत्त्या च सर्वाभेदोऽपि न सर्वाद्वैतशब्दार्थ इति नाद्वैततात्पर्यकलमागमानाम्—इति प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अतिरात्रादौ व्यक्तौ भ्रमरूपाया ग्रहणप्रसक्तेरिवान्नापि संशयरूपायाः भेदप्रसक्तेः संभवेनासंभवेऽपि नान्तरिक्ष इति वाक्ये स्तुत्युपपादकतयेवात्राप्यभेदोपपादकतया भेदनिषेधोपपत्त्या च प्रत्यक्षसिद्धस्यापि भेदस्य प्रत्यक्षप्रमात्वानिश्चयान्निषेध उपपन्न एवेति अद्वैततात्पर्यकत्वमेवागमानाम् । चरमधीः ययोः भेदं गृह्णाति ताभ्यां तद्भेदेन च तस्या अभेदस्याप्यद्वैतश्रुत्या बोधनेन तादृशभेदविषयकत्वेन बोद्धुमशक्यायाश्चरमधियोऽद्वैतश्रुतिबाधकत्वासंभवात् । एतेन—पूर्वपूर्वधीरपि—व्याख्याता; तस्या अपि स्वविषयस्वेतरभेदाभिन्नतयाऽद्वैतश्रुतिबाधकत्वासंभवात् अद्वैतज्ञानोत्पत्तिक्षणभेदानुपमर्दकत्वेन तस्य द्वैतस्य च तथा ग्रहीतुं शक्यत्वात्तादृशज्ञानस्य च पूर्वज्ञानचरमज्ञानादिबाधकत्वसंभवेन च नाद्वैतश्रुतिबाधकत्वेनानुपपत्तिः, उक्तज्ञानानन्तरं सर्वद्वैतोपमर्दान्न द्वैतज्ञानसंभवः, पूर्वज्ञानानां तु सर्वभेदाविषयकत्वाद्द्वैतज्ञानप्रतिबन्धकत्वमिति मन्तव्यम् । भेदग्राहकं यद्यत् ज्ञानं तत्र तत्र तत्तदन्यसर्वभिन्नत्वस्यार्थापत्तिविषयत्वस्य वाच्यतया तत्र प्रत्यक्षार्थापत्त्याद्यनुगतधर्मविना पक्षतया साध्यघटकतया वा तन्निर्देशासंभवेन भेदग्राहकत्वेनानुगमेऽपि भेदग्राहकमिथोभेदस्यार्थापत्त्यविषयतया तेष्वेवाद्वैतश्रुतेः सावकाशत्वाच्चापत्तिसिद्धोऽपि भेद इति मन्तव्यम् । तद्भेदसिद्धिविरोधिभेदाभावविरहूपलभेवोपपादकतावच्छेदकमित्यर्थापत्तिभेदोऽप्यर्थापत्तिविषय इति वचनमपि—एतेन—पराहतम्; कलहादिस्थले वाक्यार्थज्ञानस्यानाप्तवाक्यजन्यत्वादिना भ्रमत्वेऽपि श्रौतज्ञानेऽप्रामाण्यशङ्कानुदायादयोग्यतानिश्चयेऽपि सकृदेव सर्वाद्वैतज्ञानसंभवाच्च शब्दबुद्धीति न्यायविरोध इति सर्वाद्वैत एव पर्यवसानम् । प्रत्यक्षादिगृहीते घटादावलीकलरूपस्यासत्त्वस्य बाधान्मिथ्यात्वरूपस्य तस्येष्टत्वाच्च सर्वासत्त्वपर्यवसानस्येष्टत्वेन, वस्तुतस्तु व्यक्तप्रपञ्चस्याप्रकालावच्छेदेन निषेधबोधकस्योक्तवचनस्य सर्वासत्त्वेऽप्रमाणत्वेन युष्मन्मते इदं रजतमिति सत्याचतयोरिव सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यास्यासन्मतेऽप्युपपत्त्या च सर्वमिथ्यात्वं सर्वाद्वैतमिति युक्तमेव । आपोवेति नारायणीयोपनिषद्वाक्यस्य स्तुतिपरत्वेनाभेदपरत्वाभावेन प्रत्यक्षदौर्बल्यात् सर्वस्य जलभेदाद्यप्रसक्त्या भेदाविद्यकत्वाविद्यकत्वस्य मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्यैव सत्यत्वाप्रयोजकत्वेनाविद्यकभेदेन सर्वव्यवस्थोपपत्त्या च सर्वाभेदो वाऽद्वैतशब्दार्थ इति सर्वमनवयमिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः ।

इति—चेन्न; सद्यतिरेकेण नासीदित्यर्थस्यैव निषेधार्थत्वात् । विवृतं चैतत् भाष्यकारादिभिरारम्भणाधिकरणे । नच—सद्यतिरेकेणासत्त्वोक्तौ सदात्मना सत्यत्वमागच्छतीति—वाच्यम्; आगच्छतु नाम, को हि ब्रह्माभिन्नस्यासत्त्वसाधनाय प्रवृत्तो यो विभीयात् । अद्वैतवाक्यस्य च षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया बलवत्त्वेनाविद्यकद्वैतप्रतिपादकत्वं सृष्ट्यादिवाक्यानामिति श्रवणस्वरूपनिरूपणे वेदान्तकल्पलतिकायामभिहितमस्माभिः । इहाप्यभिधास्यते षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि प्रदर्शयद्भिः । अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञयोपक्रमात् 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्युपसंहाराच्च अद्वैतस्यैव महाप्राकरणिकतया तदनुसारेण तद्वाक्यस्थपदानां व्याख्येयत्वावधारणात् नानार्थपदानामर्थान्तरोपस्थापकत्वसंभवेऽपि प्रकृतवाक्यार्थानन्वयितया तत्परित्यागेन प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितिपरत्वंमेवास्थेयम् । तत्र न द्वितीयमद्वितीयमिति तत्पुरुषाभ्युपगमे न द्वितीयम्, किंतु प्रथमं तृतीयं चेत्यर्थः स्यात्, स च न संभवति; तयोरपि किंचिदपेक्ष्य द्वितीयत्वात्, अतो न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुव्रीहिरेवादर्शनीयः । नच—एकेनैवाद्वितीयपदेन भेदत्रयनिषेधसंभवे एकावधारणपदयोर्वैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; विजातीयं किंचिदपेक्ष्य द्वितीयत्वावच्छिन्ननिषेधस्याद्वितीय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्त्वमुच्यते, किंतु सद्भिप्रपञ्चस्य; तथाच तन्निषेधेनासत्त्वरूपमिध्यात्वस्य तत्र लाभादासीदित्यनेन सत्त्वलाभाद्विरोध इति भावः । घटादिकं स्तोतृत्तिपूर्वं मृदेवासीदित्यादौ यथा घटाद्यभेदोपलक्षितमृदेवासीदित्यर्थः, तथा प्रकृतेऽपीदमभेदोपलक्षितसदेवाग्र आसीदित्यर्थ इत्याशयेनाह—सद्यतिरेकेणेति । सदन्यरूपेणेत्यर्थः । सदन्यदिति शेषः । निषेधार्थत्वात् सदेवेत्येवकारार्थत्वात् अद्वितीयादिपदार्थत्वाच्च । एवंच प्रपञ्चे सत्यसंबन्धो न बुद्ध्यत इति नोक्तविरोधः, विशेष्यसङ्गतैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदार्थकत्वेन सदन्यसामान्येऽग्रकालासत्त्वबोधकत्वमिति भावः । असत्त्वोक्तौ अग्रकालासत्त्वोक्तौ अद्वितीयादिपदैः सदन्यसामान्यस्य निषेधोक्तौ च । सदात्मना सदैक्येन । ब्रह्माभिन्नस्येति ब्रह्मैक्यापन्नस्येत्यर्थः । ब्रह्मैक्यरूपेणेति यावत् । विभीयादिति । ननु—अग्रकालासत्त्वस्याग्रकालीनाभावप्रतियोगित्वस्य वा सदन्यसामान्ये बोधनेऽपि न मिध्यात्वसिद्धिः, व्याकृतप्रपञ्चस्य स्वकाले स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वासिद्धिः—इति चेन्न; उक्तासत्त्वप्रतियोगित्वयोः न प्रकृते धीः, किंत्विदमभिन्नमग्रे यदासीत् तत् सदेव; एकमेवाद्वितीयमित्येवमुद्देश्यविधेयभावस्य विवक्षितत्वात् अग्रे विद्यमानमनूद्याखण्डसद्वितीयविधानात् आग्रकालविद्यमानत्वोपलक्षिते वस्तुनि अखण्डसद्वितीयस्यैव धीः । तथाचावान्तरतात्पर्येण द्वितीयसामान्यस्य मिध्यात्वधीः । एवंचाग्रादिपदानि न व्यर्थानि । शून्यवादिनो हि सृष्टिपूर्वकाले सद्वस्तु नाङ्गीकुर्वन्ति, तदङ्गीकुर्वन्तोऽपि तार्किकादयो नाद्वितीयमङ्गीकुर्वन्ति तत्र सदित्यनेनाद्यानां निरासः । अद्वितीयादिपदैस्तु द्वितीयानामिति सार्थक्यात् । नन्वतात्त्विकाद्वैतमद्वैतवाक्यस्य, तात्त्विकं द्वैतं द्वैतवाक्यस्यार्थोऽस्तु; द्वैतवाक्यमध्यस्थस्याद्वैतवाक्यस्य उपांशुयाजवाक्यमध्यस्थविण्णवादिवाक्यस्येव स्तुत्यादिपरतया नेतुं शक्यत्वात्, तत्राह—अद्वैतवाक्यस्येति । आविद्यकेति । 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग'मिति न्यायेन द्वैतवाक्यानामद्वैतवाक्यशेषत्वात् निषेधापेक्षितप्राप्तिप्रयोजकत्वादिनोपयोग इति भावः । पदानाम् अद्वितीयादिपदानाम् । प्रकृतेति । एकमेवाद्वितीयमित्यर्थः । वाक्यार्थेति । अद्वितीयत्वाद्युपलक्षिताखण्डब्रह्मेत्यर्थः । प्रथमादिरूपस्याद्वितीयादिपदार्थस्य न केवलमखण्डवाक्यार्थविरोधित्वान्निरासः किंत्वसंभवादपीत्याह—तत्रेत्यादि । द्वितीयत्वादिति । तयोः प्रथमत्वादिना नाद्वितीयपदबोध्यता, किंतु द्वितीयान्यत्वादिना; सा च न संभवति; द्वितीयत्वादिति भावः । भेदत्रयेति । भेदभेद्यमात्रस्य द्वितीयत्वाद्वितीयपदेन दृश्यमात्रनिषेधसंभव इति भावः । अपेक्ष्येति । विजातीयद्वितीयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकनिषेधोऽर्थ इति भावः । सङ्कोचो द्वितीयपदस्य विजातीयद्वितीयपरत्वम् । एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैरिति । एकपदेन एवकारेण अद्वितीयपदेन चेत्यर्थः । अत्राद्वितीयपदेन विजातीयद्वितीयनिषेधादर्थान्तादद्वितीयभेदो निषिध्यते । अथवा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यकिंचन मिष'दिति वाक्ये मिषदिति पदं आसीदित्यर्थकमित्येतरेयभाष्ये व्याख्यानात् तदेकवाक्यतया प्रकृते द्वितीयपदस्यान्यार्थकत्वात् लक्षणायाश्चावश्यकत्वे द्वित्वसङ्ख्यापूरकत्वत्वागेनात्मान्यविजातीयत्वेन लक्षणाया एव युक्तत्वात् तादृशत्वेनैकरूपेण निषेधे भेदस्य निषेधस्य च निषेधः सिध्यति; विशेषणस्य भेदस्यापि विशेष्यभूतमेव स्येव निषेधे बाधकाभावात् । एवमेकपदस्य केवलार्थकतया केवल्यस्य च स्वान्यसर्वशून्यत्वरूपत्वेऽपि प्रकृते सङ्कोचेन जीवेश्वरादिरूपं यदात्मान्यत् सजातीयं तच्छून्यत्वरूपत्वेन तद्बोधकत्वात् भेदनिषेधबोधकत्वम् । एवकारस्यान्यतादात्म्यव्यवच्छेदकत्वेऽपि प्रकृते संकोचेनात्मान्यस्यात्मविजातीयस्य पृथिव्यादेस्तादात्म्यव्यवच्छेदबोधकत्वम् । तथाच शब्दएव भेदनिषेधः । एवंच भेदत्रयस्य पदत्रयेण निषेधोक्तिः प्रकृतश्रुतेः ब्रह्मभिन्नसर्वमिध्यात्वे पर्यवसानोक्तिश्च न

शब्दार्थत्वात् । अयं चात्र सङ्कोचो बलीवर्दपदसन्निधानात् गोपद इव सजातीयस्वगतभेदनिषेधकै-
कावधारणपदसन्निधिप्रयुक्त एव । तदुक्तम्—‘वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः । वृक्षान्तरा-
त्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥ तथा सद्भस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते । एकावधारणद्वैतप्रति-
षेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥’ इति । स्वगतभेदः नानात्वरूपजीवेश्वरभेदः । सजातीयभेदोऽत्र द्रव्यत्वादिना
सजातीयपृथिव्यादिभेदः विजातीयभेदो गुणादिभेदः । अथवा—जडभेदो विजातीयभेदः । चैतन्य-
भेदः सजातीयभेदः । ज्ञानानन्दादिधर्मभेदः स्वगतभेदः । यदि च “अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते
गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते नाश्वो न गर्दभ” इति महाभाष्यानुसारात् समानजातीयद्वितीयपरत्वं
द्वितीयशब्दस्य तदा अद्वितीयशब्दस्य सजातीयभेदनिषेधपरत्वम्; विजातीयस्वगतभेदनिषेधपरत्वं
तु एकावधारणपदयोर्यथेष्टं व्याख्येयम् । अथवा अद्वितीयपदेनैव भेदत्रयनिषेधः, एकावधारणपदे
तु सङ्कोचशङ्कापरिहाराय । यत्तु केनचित् प्रलपितं—द्वितीयशब्दः सहायवाची; ‘असिद्वितीयोऽनु-
ससार पाण्डव’मिति प्रयोगात्, ‘असिद्वितीयः असिसहायः’ इति महाभाष्योक्तेश्च; तथाचाद्वितीय-
मसहायमित्यर्थोऽस्तु, एवमेकशब्दस्यापि नानार्थत्वेनाविरुद्धार्थमादायोपपत्तौ न मिथ्यात्वपर्यवसा-
यिताऽऽख्येया । तथाच ‘एके मुख्यान्यकेवला’ इत्यमरः, ‘एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसङ्ख्या-
प्रथमसमानवाची’ति ‘एको गोत्र’इति सूत्रे कैयटः । ‘ष्णान्ता षड्’ति सूत्रे महाभाष्यकारोऽपि
एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, अस्ति सङ्ख्यार्थः, अस्त्यसहायवाची, अस्त्यन्यार्थ इत्यादि व्याख्यातवान् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्याहता । यदि तु भेदानामेव शब्दो निषेधः मेद्यानां त्वार्थ इत्युच्यते, तदा द्वितीयसामान्याभावे श्रुतेरवान्तरता-
त्पर्यसङ्गतावपि भेदमात्रनिषेधपरतया सङ्कोचे मानाभावः; विजातीयादिमेद्यानामपि द्वितीयादिशब्दैर्बोधनसंभवादिति
ध्येयम् । ननु पृथिव्यादिकं न ब्रह्मसजातीयम्; ब्रह्मणो द्रव्यत्वास्वीकारपक्षे तत्त्वासंभवात्तत्राह—अथवेति । चैतन्य-
भेद इति । स्वभिन्नत्वे सति चिदात्मकत्वं साजात्यं जीवादौ वर्तते । तेन तन्निष्ठभेदः सजातीयभेदः । स च ब्रह्मण्यपि
प्रसक्तः; ब्रह्मणः सर्वानुगतत्वात्, अतः तस्य निषेध इति भावः । स्वगत इति । ज्ञानानन्दादिस्वरूपे ब्रह्मधर्मस्यारोपि-
तत्वात्तद्वतो भेदः स्वगतभेदः । यदि चेत्यनेनास्वारस्य सूचितं, तदुच्यते—व्यावर्तकपदान्तरयुक्तस्य यद्धर्मविशिष्टवाच-
कपदस्य सन्निहितं द्वितीयपदं तद्धर्मविशिष्टद्वितीयमभिधत्ते । तथाचास्य गोर्द्वितीय इत्यादौ व्यावर्तकेनास्येति पदेन
युक्तस्य गोपदस्य सन्निहितेन द्वितीयपदेन गोरूपद्वितीयबोधनेऽपि प्रकृते व्यावर्तकपदान्तराभावान्न सजातीयद्वितीयबोध-
कत्वम् । अतएव ‘द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः’ इत्यादौ द्वितीयसामान्यबोधकत्वम् । सजातीयव्यक्त्यन्तराभावादपि
न सजातीयद्वितीयपरत्वम् । यद्धर्मविशिष्टविषयकबोधे तात्पर्यं तद्धर्मैव हि साजात्यं वाच्यम्, नच प्रकृते किञ्चिद्धर्म-
विशिष्टबोधपरत्वम्; अखण्डधीपरत्वात् इति । अथवेत्यादि । जीवेशादेरिव प्रपञ्चस्यापि कल्पितचिदात्मकत्वमादाय
सजातीयत्वसंभवः, चित्स्वरूपत्वं तु न जीवादेः; उपहितादिरूपेण मिथ्यात्वात्, एवं ज्ञानानन्दादेरपि सजातीयत्वम्;
कल्पितभेदचिदात्मकत्वयोः सत्त्वात् । तथाच सजातीयनिष्ठभेदोपहितरूपेण ज्ञानानन्दादेर्जडानां च निषेधसंभवात्
रूपान्तरेण स व्यर्थः । किञ्च सजातीयब्रह्मान्यत्वादिरूपेण पदत्रयस्य लक्षणैव वाच्या; ‘द्वितीयगामी’त्यादौ स्वान्य-
त्वेन लघुरूपेणापि प्रयोगस्याभाक्तस्य सत्त्वेनोक्तगुरुरूपेण शक्यसंभवात् । तथाच द्वितीयपदस्य स्वान्यसामान्यबो-
धकत्वस्य मुख्यवृत्त्यैव संभवादद्वितीयपदस्यैव द्वितीयसामान्यनिषेधपरत्वसंभवेन पदान्तरं तस्य तत्परत्वग्राहकमिति
युक्तम् । नच—अद्वितीयपदस्यैव पदान्तरतत्परत्वग्राहकत्वं किं न स्यादिति—वाच्यम् । तथासत्यक्षरत्रयात्मक-
द्वितीयपदनृपदयोः स्वार्थपरत्वाभावकल्पनस्यान्याय्यस्यापत्तेः । नच—एकावधारणपदयोरद्वितीयपदात् प्राथम्यमेव
स्वार्थपरत्वे नियामकमुपक्रमन्यायादिति—वाच्यम्; द्वितीयपदनृपदयोरेकादिपदयोरेकैकापेक्षया भूयस्त्वेन तयोरेव
स्वार्थपरत्वस्यौचित्यात्, ‘विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्व’मिति न्यायस्योपक्रमन्यायापवा-
दकत्वात्, अद्वयानन्दविज्ञानधन एवाहमस्मीत्यादिश्रुत्यन्तरे अद्वयपदस्यैव मुख्यत्वाच्चेति भावः । अन्यप्रधानेत्यादि ।
‘प्रज्ञामेका रक्षत्यूर्जमेका’ इत्यादावन्त्यार्थः । ‘एकपुरुषो धनुष्मा’नित्यादौ प्रधानार्थः । एकहृत्मध्येऽनादेशादेरि-
त्यादावसहायार्थः; एको द्वावित्यादौ सङ्ख्यार्थः, एकेऽल्पप्राणा इत्यादौ प्रथमार्थः, अल्पप्राणा लघुप्रयत्नोच्चार-
णीयवर्णाः तेनैकदिक् इत्यादौ समानार्थः, ‘एतावेकधना’वित्यादौ ‘साधारणार्थोऽपी’ति पदमञ्जरी । णान्ते-
त्यादि । अष्टानामित्यत्र ‘अष्टन आ विभक्ता’वित्यनेनात्वे कृते नान्तत्वाभावात् षट्संज्ञा न स्यात्; ततश्च षट्चतुर्भ्यश्चे-
त्यनेन नुमपि न स्यादित्याशङ्क्य षट्संज्ञायामुपदेशवचनं शताद्यष्टनाद्यर्थमिति समाधाय, अथवा पकारनकारान्ता
सङ्ख्या षट्संज्ञकेत्यर्थ इति समाधानान्तरमुक्त्वा, तर्हि एकास्ता इत्यादौ ‘षट्भ्यो लुगि’ति लुक् स्यादित्याशङ्क्य एक-

तथा च जीवादिभ्योऽन्यत्वं प्राधान्यं वा एकशब्दार्थोऽस्तु । एवमन्यान्यपि श्रुतिपदानि व्याख्येयानि—इति; तत् पूर्वोक्तयुक्तिभिरपास्तम् । विस्तरेण च वक्ष्यते तात्पर्यनिरूपणे । तदेवं सद्रूपे ब्रह्मणि पदत्रयेण भेदत्रयनिषेधात् तद्विचित्रमिथ्यात्वे पर्यवसितम् ‘एकमेवाद्वितीय’मिति वाक्यम् । एवमन्या अपि श्रुतयः स्मृतयश्च ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः । स्वयमेव सूरिभिराकरे द्रष्टव्याः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ सर्वाद्वैतश्रुतेः अद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शब्दोऽयं नानार्थ इत्याद्युक्त्वा योऽन्यार्थं वर्तते तस्यैवायं प्रयोग इति समाहितम् । प्राधान्यं चेति । यद्यपि प्राथम्यादिकमपि तदर्थं इति परेणाशङ्कितम्; तथापि सर्वकार्यमूलकारणत्वबोधकपदेभ्योऽपि तल्लाभादविद्यादृष्टादिसहायपक्षत्वेनासहायत्वासंभवात् अद्वितीयत्वविरोधिनः सङ्ख्यादेरभावात् एकवचनेनैव प्राप्तिसंभवाच्च सर्वलीलाविग्रहाणां नानाविधतत्तत्कार्यकारित्वेन कार्यतः साम्याभावात् सर्वशरीरावच्छिन्नेश्वर्यक्तेरेकत्वेनैव गुणतः साम्याभावात् तद्विचित्रत्वे सति तद्गुणजातीयगुणवत्त्वस्यैव गुणतः साम्यत्वात् । असहायत्वं कैवल्यम्, तच्च एकहल्मध्ये इत्यादौ संकोचमानवलात् स्वरेतरायुक्तत्वादिरूपम् । प्रकृते संकोचकाभावात् स्वान्यसामान्यशून्यत्वमेवेति तदर्थकमेकपदमस्मादिष्टम्, प्राथम्यं तु प्राधान्यमेव । यत्तु—तेनैकदिगिति सूत्रे सुदान्ना पर्वतेन सहैका समाना दिगस्या इति सौदामिनीत्युक्त्वा समानार्थकत्वकल्पनम्, तन्न युक्तम्; एकजातीयत्वेन समाने गौणप्रयोगसंभवात् । एकधनावित्यादावपि एकजातीययथेष्टविनियोगार्हत्वेन गौणः । तथा च सुदान्नः सदृशदिक्सौदामिनी सुदामाख्यपर्वतयुक्तदिकसदृशदिशुक्तेति यावत् । चैत्रमैत्रौ सदृशधनौ चैत्रो मैत्रीययथेष्टविनियोगार्हधने यथेष्टविनियोकेति यावत् । अत एवामरः प्रथमाद्यर्थं नोक्तवान्, इत्यतश्चान्यत्वं प्राधान्यं चेति द्वयमेवाचार्यैरुक्तम् । तदुभयमप्यद्वितीयपदविरुद्धत्वेन यद्यपि सङ्ख्यातुल्यम्; तथापि एकवचनात् सा प्राप्ता । तत्तु स्रष्टृत्वादिना प्राप्तमपि न शब्दादित्यतः सा नोक्ता । एवमन्यानीति । नेह नानेत्यादीनि प्रपञ्चे ब्रह्मणः पृथग्भावनिषेधकानि । अथवा ‘महान्तं विभु’मित्यादिनोक्तानां धर्मादीनां ब्रह्मणि नानात्वेन निषेधकानि । विभुत्वादिधर्मादिकं ब्रह्मणि नानासन्नास्तीत्यर्थः । पूर्वोक्तेति । अद्वैतब्रह्मणः प्राकरणिकतया तदनुसारेण नानाभूतस्य किंचनेति पदोपस्थापितस्य दृश्यमात्रस्य निषेधोचित्यात्, अन्यथा विभुत्वादिधर्मादीनां निषेधे किंचनेत्यस्य संकोचापत्तेः । ब्रह्मपार्थक्यस्य प्रपञ्चे निषेधस्तु न युक्तः; नानापदेन पार्थक्योक्तौ किंचन पार्थक्यं ब्रह्मणि नास्तीत्येव निषेधः स्यात्; प्रपञ्चस्याधिकरणत्वबोधकपदाभावात् । नच—अस्तूक्तनिषेध एवोक्तवाक्यार्थं इति—वाच्यम्; कठवल्यां तादृशवाक्यपूर्वं यदेवेह तदमुत्रेत्यनेन तस्य सिद्धत्वात् । अथ—यदेवेत्युक्तमप्रपञ्चमात्रं नेह नानेत्यत्रेहशब्देनोच्यते । तथाच तत्र ब्रह्मणः पार्थक्यं निषिध्यते, यदेवेहेत्यत्रेव नेह नाना इत्यत्रेहशब्देन ब्रह्मण उक्तत्वादिति—चेन्न; इहशब्दस्य हि पूर्वोक्तेहशब्दसमानार्थकत्वे प्रपञ्चमात्रं वदेदतोऽमुत्रेत्युच्येत, यदेवेहेत्यत्र विद्यमानेन इहशब्देन तु ब्रह्मणो न पार्थक्ये प्रतियोगित्वेनोपस्थितिः; तथाच प्रतियोगिविशेषानुपादानात् पार्थक्यसामान्यस्यैव निषेधादस्मादिष्टसिद्धिः, किंचनेति पदवैयर्थ्यं च । ननु—गुणगुणिभावावयवावयविभावादिप्रयुक्तं यद्यत् ब्रह्मणः प्रपञ्चे पार्थक्यं, तत् किमपि प्रपञ्चे नास्तीत्यर्थलाभार्थकत्वेन तत्सार्थकमिति—चेन्न; नानाशब्दस्य स्वार्थिकनानाप्रत्ययान्तनञ्शब्दत्वेन निपातत्वात् तदर्थं पार्थक्ये किंचनेति शब्दार्थस्याभेदान्वयाभावात् । विस्तरस्तु बृहच्चन्द्रिकायां द्रष्टव्यः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामेकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थनिर्णयः ।

अथ एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः ।

(१) तत्रन्यायामृतकाराः—

एकमेवेत्यादिश्रुतीनामपि नाद्वैतपरत्वम्; “सलिल एको द्रष्टाऽद्वितीयो भवती”त्यत्र सलिलपदेन “सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति”त्यत्रापदेन “तदैक्षत नामरूपे व्याकरवाणी”त्युत्तरद्वैतवाक्येन च विरोधात् । ग्रामाण्यस्य स्वतत्त्वेनाद्वैतवाक्येनेवाद्वैतस्य द्वैतवाक्येन द्वैतस्यापि सत्यत्वात् अविरोधार्थं लक्षणादिना द्वैतवाक्यानामप्यद्वैतपरत्वमतात्त्विकविषयकत्वं वा तु कल्पयितुं न युक्तम्; अपच्छेदन्यायनिरासेनानिरासेऽपि उत्तरद्वैतवाक्यवत्सर्वस्याप्यसंजातविरोधन्यायेनावाधाच्च विपरीतकल्पनापत्तेः । अनुवादकत्वेन द्वैतवाक्यदौर्बल्यं तु न संभवति; सलिलसृष्टिकालेक्षणानीनां मानान्तराप्राप्तत्वेनानुवादकत्वात् । सदभेदेन पूर्वं सत्त्वमुक्त्वा पुनः द्वितीयपदेन निषेधे व्याघाताच्च नाद्वैतसिद्धिः । एवंच एकमेवेतिश्रुतिः नाद्वैते प्रमाणम् । एकशब्दो हि अन्यप्रधानासहायप्राथम्यसमानादिरूपानेकार्थबोधको मानान्तराविरुद्धान्यत्वप्राधान्यप्राथम्यादिवोधने-
नेश्वरस्य सृष्ट्यादौ सहायानपेक्षत्वं कुसमयप्राप्तनिर्गुणनिषेधं चैव ज्ञापयतीति न तेन प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः । वृक्षस्य

स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादिभिः । तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते । ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैः त्रिभिः क्रमात् इति स्वगतभेदपरस्यैकशब्दस्य मिथ्यात्वसमर्पकत्वासंभवाच्च । एतेन—अद्वितीय-पदमपि—**व्याख्यातम्**; तथाहि—किमयं कर्मधारयः, उत बहुव्रीहिः, आद्ये ब्रह्मतृतीयत्वप्रथमत्वयोरपत्तिः, द्वितीये प्राथम्येन कर्मधारये संभवति न जघन्यबहुव्रीहिप्रयोगः, नापेयं वृणीते इत्यादाविव पर्युदासार्थत्वे संभवति वाक्यभेदापादक-प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयायोगात् अघटं भूतलमित्यादाविव बहुव्रीहिविवक्षया वाक्यभेदपरिहारेऽपि द्वितीयाभावनिषेधे व्याघाताप-त्त्याऽनिषेध्येन तेनैव सद्वितीयत्वापातश्च । किंच अद्वितीयपदेन सजातीयात्यन्ताभावविवक्षायामग्र इत्यस्यामङ्गतिः, प्राग-भावोक्तौ मिथ्यात्वासिद्धिः । एवंच द्वितीयशब्दस्यासिद्धितीयोऽनुससार इत्यादाविव सहायपरत्वस्य वा, अस्य गोद्वितीयोऽन्वे-ष्टव्य इत्युक्ते सदृशो गौरवोपादीयते नाथो न गर्दभः इति गुहाधिकरणभवद्वाध्यानुसारेण समे द्वितीयशब्द इत्यादिस्मृत्यनु-सारेण च प्रकृतसमानपरत्वस्यैव वाङ्गीकरणीयत्वेनाद्वितीयपदेन न सर्वनिषेधसंभव इति तदपि न मिथ्यात्वसमर्पकम् । तथाच ज्ञानानन्दाद्यभिन्नत्वादेकः सर्वोत्तमत्वतः । अद्वितीयो महाविष्णुः पूर्णत्वात् पुरुषः स्मृतः । भेदाभेदनिवृत्त्यर्थमेवशब्दोऽव-धारय इति स्मृत्यनुसारेण “एक एवाद्वितीयोऽसावाकाशे सवितेतिवत् । एकमेवाद्वितीयं सदग्रे इत्यपि योज्यताम् । अधिकं हि विजातीयं सजातीयं समं भवेत् । गुणादिकं तु स्वगतं तद्भेदोऽत्र निषिध्यते” इति न कथमप्यद्वैततात्पर्यकत्वमेकमेवेति श्रुतेरिति सिद्धम् । एतेन—“नेह नानास्ति किंचने”ति श्रुतिरपि—**व्याख्याता**; “वाक्यशेषस्थधर्माख्ये विशेषे पर्यवस्यति । किंचनेति हि शब्दोयमक्ताशब्दो घृते यथा” । इति ब्रह्मणि नानाधर्मनिषेस्य नानात्वनिषेध एव पर्यवसानात् । एवंच नानाशब्दस्य विनार्थकत्वेन पृथग्भावनिषेधस्यापृथग्भावे पर्यवसानान्नास्माकमनिष्टमिति नाद्वैते नेह नानेति श्रुतेरपि तात्पर्यम् । एवमन्यासामपीति मन्तव्यमिति—**वर्णयन्ति ।**

अत्र द्वैताद्वैतवाक्यानि सर्वाण्यपि स्पष्टतया ब्रह्मसूत्रभाष्योपोद्धात एव तत्तन्मतप्रक्रियानुसारेण व्याख्यातानीति तत एव द्रष्टव्यम् ।

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

सलिलशब्दार्थस्य सर्वमलासंसर्गित्वरूपस्याग्रपदस्य तदेक्षत नामरूपे इत्येतदर्थस्याविद्यकद्वैतरूपस्य चाद्वैताविरोधित्वात् सद्यतिरेकासत्त्वस्यैव विवक्षणेन सदेवेदमिति वाक्येन सदभिन्नत्वेन सत्त्वेन बोधतस्यापि अद्वितीयपदेन निषेधोपपत्तेः पञ्चिधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुत्यनुसारेण द्वैतश्रुतीनामप्यद्वैततात्पर्यकत्वस्यैवाङ्गीकारेण द्वैतसत्यत्वानवगमाच्च महाप्राकरणि-काद्वैतपरतयैवैकमिति श्रुतिः व्याख्येयेति अद्वितीयादिपदानां सर्वनिषेधादिपरतया व्याख्यानमेव युक्तम् । तृतीयप्रथमयोरपि किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वेन अद्वितीयपदे तत्पुरुषाश्रयणायोगेन न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुव्रीहेरेव युक्तत्वात् द्वितीयपदस्य समानद्वितीयपरत्वेऽपि न दोषः; सजातीयद्वितीयभेदस्यैव तेन विवक्षणात् । **वस्तुतस्तु**—अद्वितीयपदेनैव सर्वनिषेधा-देकावधारणपदे तात्पर्यग्राहके एवेति न दोषः । एतेन—एकपदमपि—**व्याख्यातम्**; सहायादिपरत्वं तु नात्र युक्तम्; प्रकरणादितात्पर्यग्राहकप्रमाणवाधादित्येकमेवेति श्रुतिरद्वैतप्रमाणमेवेति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

प्लवगतौ इति धातोरौणादिके इलचि निष्पन्नस्य सलिलशब्दस्य नपुंसकत्वेन जले एव प्रसिद्धस्यासंसर्गिपरत्वे लक्षणापत्त्या इष्टापत्तावपि किंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्न आपः तमिद्गर्भं प्रथमं दध्न आप इति श्रुतौ आप एवेदमग्रे आसुरिति श्रुतौ अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदमित्यादिश्रुतौ च सलिलादिपदप्रयोगस्य सदेवेत्यादावग्रादिपदस्य कथमप्यनुपपत्त्या च सलिलादिसत्ताबोधकद्वैतवा-क्यानुसारेणैव “वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते” इत्युपक्रान्ताया वैश्वानरेष्टेः यस्मिन् जात एतामिष्टमित्युपसं-हारैकवाक्यतानुसारेणैव तन्मध्यपतिताष्टकपालादिवाक्यानामद्वैतवाक्यानां नेयत्वेन द्वैतेऽपि अपूर्वत्वादित्वात्पर्यलिङ्गसत्त्वेन-चाद्वितीयादिपदानां न्यायामृतोक्तरीत्या व्याख्यानमेव युक्तमिति नाद्वैततात्पर्यकत्वमेकमेवेति श्रुतेः नेह नानेति श्रुतेर्वैति—**प्रतिपादयन्ति ॥**

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

जलवाचकत्वेन नपुंसकस्यापि सलिलशब्दस्याचारक्रियन्तत्वविवक्षया पुंस्त्वासंसर्गिलबोधकत्वयोरुपपत्त्या आपोवा इदमा-सन् सलिलमेवेत्यादिवाक्यानां त्वंपदार्थशोधकानां सृष्टिकाले परमात्मा सलिले आसीदित्येतदर्थपरत्वानुपपत्त्याच सलिलपदस्य घटादिकं स्तोत्पत्तिपूर्वं मृदेवासीदित्यादौ यथा घटाद्यभेदोपलक्षितमृदेवासीदित्यर्थः तथेदमभेदोपलक्षितसदेवासीदित्यर्थ-स्यैवात्र विवक्षणेनाग्रकालविद्यमानलोपलक्षिते वस्तुनि अखण्डसद्वितीयत्वस्यैव विधानेन शून्यवादादिनिराकरणार्थत्वेनाग्रा-दिपदानां चोपपत्त्या पञ्चिधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिसन्निधौ पठितं द्वैतवाक्यं फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायेनाद्वैत-वाक्यापेक्षितनिषेध्यसमर्पकमित्येव वर्णनीयमिति व्यावर्तकपदान्तरविशिष्टस्य यद्धर्मविशिष्टवाचकपदस्य सन्निहितं द्वितीयपदं तद्धर्मविशिष्टद्वितीयाभिधानस्वभावस्य द्वितीयपदस्यास्य गोरित्यादावस्येतिपदस्यैव प्रकृते व्यावर्तकपदान्तराभावात् द्वितीय-

अथ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः ।

‘तरति शोकमात्मवित्’ ‘तथाविद्यान्नामरूपाद्भिमुक्तः’ ‘भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिबोधितज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिरपि बन्धमिथ्यात्वे प्रमाणम्; सत्यत्वे ब्रह्मवदनिवर्त्यत्वापत्तेः । तथाहि—शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादौ ज्ञाननिवर्त्यत्वे न तावत्तत्तद्रूपवत्त्वं ज्ञाननिवर्त्यतावच्छेदकम्; अननुगमात्, किंतु सर्वानुगतमिथ्यात्वमेवाज्ञानकल्पितत्वापरपर्यायमवच्छेदकम्; एवं ज्ञानस्यापि तन्निवर्तकत्वे न शुक्त्यादिविषयत्वमवच्छेदकम्; अननुगमात्, किंतु सर्वानुगतमधिष्ठानप्रमात्वमेव । तथाच यत्र ज्ञानस्याधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र मिथ्यात्वेनैव निवर्त्यतेति नियमः सिध्यति । एतादृशनियमानभ्युपगमेचानन्तनियमकल्पनागौरवरूपो बाधकस्तर्कः । तथाहि—यन्निष्ठा यदाकारा प्रमारूपान्तःकरणवृत्तिरुदेति, तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमस्य सिद्धत्वात्, उपादाननाशस्य चोपादेयनिवर्तकत्वात् शुक्त्यादिज्ञानेन तत्तदाकाराज्ञाननाशे तदुपादेयानां रजतादीनां निवृत्तिरौचित्यावर्जितैवेति नियमान्तराकल्पनेन लाघवमनुकूलस्तर्कोऽस्मत्पक्षे । अज्ञानोपादेयत्वं च शुक्तिरजतादीनामन्वयव्यतिरेकसिद्धमग्रे स्थास्यति । एवं स्थिते कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्यात्मप्रमानिवर्त्यत्वे तदज्ञानकल्पितत्वमेव तत्रावच्छेदकं कल्प्यते, न त्वननुगतमाकाशत्वादि; न वा ब्रह्मभिन्नत्वं सद्भिन्नत्वं वा सर्वानुगतमपि;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तरति अत्यन्तमुच्छिनत्ति । शोकं भीतिहेतुं द्वैतमिति यावत् । भिद्यते नाशयते । हृदयग्रन्थिः अहङ्कारः । छिद्यन्ते कारणोच्छेदादुच्छिद्यन्ते । श्रुतिबोधितेति । ‘धातुसंबन्धे प्रत्यया’ इत्यनुशासनाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं श्रुतिबोधितम्; जन्यजनकभावसंबन्धस्यैव निवृत्तिज्ञानयोर्बोधात् । अथवा यत् आत्मविदत्तरतीति श्रुत्यर्थ इति भावः । बन्धमिथ्यात्वे दृश्यमात्रमिथ्यात्वे । अधिष्ठानप्रमात्वमिति । मिथ्यानिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन नाशं प्रति स्वसमानविषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतरत्वसंबन्धेन प्रमात्वेन हेतुतेति भावः । ननु—दृश्यनिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन नाशं प्रति प्रमात्वेन हेतुत्वमस्तु । यन्निष्ठेत्यादिवक्ष्यमाणनियममूलीभूतहेतुत्वानां मयापि स्वीकारान्न घटादिप्रमया पटाद्यज्ञाननाशः । तथाचाकाशादेरज्ञानानुपादानकत्वेऽपि व्यावहारिकदृश्यनाशे मूलाज्ञाननिवृत्तेर्हेतुत्वकल्पनादाकाशादेरात्मज्ञाननिवर्त्यत्वस्य श्रौतस्योपपत्तिः । शुक्त्यादिप्रमाया अपि शुक्त्याद्यज्ञाननिवृत्तौ शुक्तिरूप्यादिनिवृत्तिं प्रति विशिष्य हेतुत्वेन क्लृप्तायां हेतुत्वम्, न तु शुक्तिरूप्यादेरज्ञानप्रयुक्तत्वात् ज्ञाननाशत्वम्; येन तत्र क्लृप्तसामान्यहेतुत्वेनैवाकाशादिनाशासिद्धिः शुक्तिरूप्यादेर्मध्वादिमते तुच्छत्वेनाज्ञानप्रयुक्तत्वात् । एवं चाकाशादेरज्ञानप्रयुक्तत्वासिद्ध्या मिथ्यात्वासिद्धिः—अत आह—एतादृशनियमानभ्युपगम इति । नियमान्तराकल्पनेनेति । शुक्तिरूप्यादिनिवृत्तौ शुक्त्यज्ञानादिनाशस्य विशिष्य हेतुत्वकल्पनमूलकनियमाकल्पनेनेत्यर्थः । आत्मप्रमानिवर्त्यत्वे आत्मप्रमाजन्येनात्माज्ञाननाशेन निवर्त्यत्वे । तदज्ञानकल्पितत्वं तदज्ञानप्रयुक्तत्वम् । सामान्यतो मिथ्याविशेषनिवर्तकत्वाय यन्निष्ठेत्याद्युक्तनियममूलहेतुत्वविशेषस्यैव प्रयोजकनाशस्य स्वविशिष्टे प्रयोज्यनाशे हेतुत्वस्यापि क्लृप्तत्वात् आत्माज्ञाननाशात् प्रपञ्चनाशनिर्वाहाय प्रपञ्चस्योक्तप्रयुक्तत्वं कल्प्यते । जीवेशभेदाद्यनादेरप्यज्ञानप्रयुक्तत्वान्नाशोपपत्तिः । प्रयोजकनाशं विनाप्यदृष्टविशेषादिना कार्यस्य नाशात् स्वविशिष्टत्वप्रवेशः । निमित्तनाशोपादाननाशोभयसाधारण्येनैव हेतुत्वलाभायोपादानत्वादिकं विहाय प्रयोजकत्वनिवेशः । तच्च निमित्तोपादानसाधारणः अखण्डधर्मविशेषः । स्वप्रतियोगिप्रयुक्तप्रतियोगिकत्वसंबन्धेन नाशविशिष्टनाशं प्रति उक्तप्रयुक्तत्वसंबन्धेन नाशो हेतुः प्रतियोगितासंबन्धेन कार्यत्वमिति भावः । तत्रावच्छेदकं कल्प्यत इति । अवच्छेदकत्वेन क्लृप्तं तत्र कल्प्यत इत्यर्थः । आकाशत्वादीति । अनन्तकार्यकारणत्वमूलकान-

गामी नहि शब्द एष न इत्यादाविव द्वितीयसामान्यनिषेधस्यैवात्र विवक्षणीयत्वेन द्वितीयमिथ्यात्वं विनैकमेवेति श्रुत्यनुपपत्त्या निपातार्थपार्थक्ये किंचनपदार्थान्वयासंभवात् संभवेऽपि प्रतियोगित्वेन कस्याप्यनुपस्थित्या पार्थक्यसामान्यस्यैवैहशब्देन प्रपञ्चग्रहणे प्रपञ्चे निषेधेनास्मद्विष्टसिद्ध्या किंचनपदवैयर्थ्यात् तत्सार्थक्येऽपि यदेवेति पूर्ववाक्येनैवैहशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणे उक्तवाक्यार्थस्य ब्रह्मणि किंचन पार्थक्यं नास्तीत्यस्य सिद्ध्योक्तवाक्यस्यैव वैयर्थ्यापाताच्च प्रपञ्चविशिष्टे ब्रह्मणि प्रपञ्चनिषेधपरत्वेनैवोपपत्त्या नेह नानास्ति किंचनेति श्रुतेरपि द्वितीयमिथ्यात्व एवोपपत्त्या च सिद्धिकारीयव्यवस्थैव समाद-रणीयेति—विवेचयन्ति ॥

इति एकमेवेत्यादिश्रुत्यर्थविचारः ।

तुच्छेऽतिप्रसक्तेः, तद्वारकविशेषणप्रक्षेपे तु सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमेव निवर्त्यताप्रयोजकं पर्यवसितम्; अन्यथा नियमान्तरकल्पनागौरवापत्तेः । तथाच शुक्त्यादिज्ञानस्य येन रूपेण निवर्तकत्वं, तेन रूपेणात्मज्ञानस्य निवर्तकत्वम्; रूप्यादौ येन रूपेण निवर्त्यत्वं, प्रपञ्चे तद्रूपं विनानुपपद्यमानं स्वोपपादकतया तत्र तत् कल्पयतीति सिद्धं मिथ्यात्वम् । ननु—भवेदेतदेवम्; यद्यात्मज्ञानस्य प्रपञ्चे निवर्त्यं शुक्त्यादिज्ञानसाधारणमधिष्ठानप्रमात्वमेवावच्छेदकमित्यत्र किञ्चिन्मानं भवेत्; रूपान्तरेणापि निवर्तकत्वसंभवात्, श्रुतिस्तु द्वैतप्रपञ्चस्याद्वितीयात्मज्ञानं निवर्तकमित्येतावन्मात्रे प्रमाणम्, नत्ववच्छेदकविशेषेऽपि । नच ज्ञाननिवर्त्यतामात्रान्मिथ्यात्वसिद्धिः; सेतुदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादिषु व्यभिचारात्, तत्र विहितक्रियात्वादिना निवर्तकत्वान्न व्यभिचार इति चेत्, प्रकृतेऽपि रूपान्तरं नावच्छेदकमिति कुतो निरणायि? ज्ञानस्य हि स्वप्रागभावं प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता, पूर्वज्ञानादिकं प्रति तु उत्तरविरोधिगुणत्वेन, संस्कारं प्रति फलत्वेन, रागादिकं प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन, विषं प्रति गरुडध्यानत्वेन, सेत्वादिदर्शनस्य दुरितं प्रति विहितक्रियात्वेन, एवं च मिथ्यात्वं विनापि ज्ञाननिवर्त्यत्वदर्शनात् न तन्मिथ्यात्वस्य साधकम्; उदाहृतेष्वपि सत्यत्वासंप्रतिपत्त्या मिथ्यात्वमेवास्तीति चेत्, अस्तु वा मास्तु; ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रं तु न तस्य साधकमिति ब्रूमः, हेत्वन्तरेण सिद्धौचैतदुपन्यासो व्यर्थः । शुक्तिरूप्यादौ कथमिति चेच्छृणु; अधिष्ठानज्ञानत्वेन तत्र ज्ञानस्य निवर्तकत्वात् । अधिष्ठानज्ञानत्वं हि अज्ञाननाशकज्ञानत्वं वा, अज्ञानसमानविषयकप्रमात्वं वेति तेन रूपेण निवर्तकत्वे तन्निवर्त्यस्य तज्ज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वं सिध्यतीति युक्तं शुक्त्यादिज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादेर्मिथ्यात्वम्, सेत्वादिदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वमिति न मिथ्यात्वम् । एवंचात्मज्ञानस्यापि विहितक्रियात्वेन निवर्तकत्वसंभवात् अधिष्ठानज्ञानत्वेन च निवर्तकत्वे मानाभावात् नात्माज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिः प्रपञ्चस्येति—प्राप्तम् । अत्रोच्यते; आत्मज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेनैव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्तनियमापत्तेरिति शेषः । तुच्छे इति । शुक्तिरूप्यादौ चेति शेषः । अतिप्रसक्तेरिति । तुच्छस्यानिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादेर्मूलाज्ञाननाशानाशयत्वादुक्तत्वं मूलाज्ञाननाशानाशयत्वमतिप्रसक्तमिति भावः । निवर्त्यताप्रयोजकं प्रमाणमात्रनिवर्त्यतावच्छेदकम् । अन्यथेति । सत्यत्वस्वीकारेणाज्ञानप्रयुक्तत्वमस्वीकृत्य मूलाज्ञाननाशं प्रति तत्कालीनदृश्यत्वरूपेण व्यावहारिकदृश्यत्वेन नाशयतास्वीकार इत्यर्थः । नियमान्तरेति । उक्तनाशयताकल्पनमूलकनियमेत्यर्थः । येन रूपेण निवर्तकत्वमिति । येन प्रमात्वेन धर्मेण येन च स्वसमानविषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतरत्वसंबन्धेन निवर्तकत्वं मिथ्यामात्रनिवर्तकत्वं येन प्रयोजकीभूताज्ञाननाशद्वारेण रूप्यादिनिवर्तकत्वं चेत्यर्थः । येन रूपेण निवर्त्यत्वमिति । येन मिथ्यात्वेन प्रमासामान्यनिवर्त्यत्वं येनाज्ञानप्रयुक्तत्वेनाज्ञाननाशानाशयत्वं चेत्यर्थः । तद्रूपं विनेति । उक्तसंबन्धं विना । तेन संबन्धेन निवर्तकत्वमनुपपन्नम्; उक्तद्वारं विना तद्वारेण निवर्तकत्वमनुपपन्नं मिथ्यात्वं विना प्रमासामान्यनिवर्त्यत्वमज्ञानप्रयुक्तत्वं विना । तेन रूपेणोक्तनाशयत्वं चानुपपन्नमित्यर्थः । अधिष्ठानप्रमात्वमेवेति । उक्तान्यतरसंबन्धेन प्रमात्वेन प्रयोजकीभूताज्ञाननाशद्वारा वा निवर्तकत्वं न प्रपञ्चेऽस्ति; येन तत्रोक्तसंबन्धो मिथ्यात्वं वा कल्प्यमिति भावः । दोषदर्शकत्वेनेति । रम्यत्वसंस्कारस्यारम्यत्वरूपदोषसंस्कार एव नाशकः; विरोधिसंस्कारत्वात्, तद्वारोक्तदोषनिश्चयोऽपि तथेति भावः । एवास्तीति । असत्येवेत्यर्थः । तथाच मिथ्यात्वं विनेति यदुक्तं तदसिद्धमिति भावः । हेत्वन्तरेण दृश्यत्वादिना । अज्ञाननाशकेति । तदुपादानाज्ञाननाशकेत्यर्थः । तेन रूपेणेति । तद्रूपव्याप्येत्यर्थः । यद्यपि विहितक्रियात्वेनेति परेणोक्तम्; तथापि प्रतियोगित्वादिनापि निवर्तकत्वशङ्कासंभवात्तामपि निरस्यति—तत्रेत्यादि । रूपत्वादिति । आकाशादेरधिकवृत्तित्वादिना नाज्ञानप्रागभावत्वमित्यपि बोध्यम् । ननु—दृष्टिसृष्टिपक्षे आकाशादेः मनःपरिणामत्वात्तादात्म्येन पृथिव्याद्यसंबन्धित्वेनानधिकवृत्तित्वात् ज्ञानप्रागभावत्वमस्तु; भावस्यापि तस्य स्वध्वंसरूपज्ञानप्रागभावत्वे बाधकाभावात्, तत्राह—ज्ञानस्येति । असिद्धेरिति । ज्ञानस्य स्वनिवर्तकत्वासंभवोऽपि बोध्यः । जनकत्वाभावादिति । मनआदेर्जनकत्वेऽप्यसंस्कारत्वात् । न हि जनकमात्रं फलनाशयमिति शेषः । दोषदर्शनस्य बहुविधदुःखप्रयोजकत्वादिवर्शनस्य । आकरेषु समन्वयसूत्रभाष्यादिषु । अज्ञानमात्रहेतुकत्वेन अज्ञानात्मकमात्रपरिणामकत्वेन । निवर्तकेति । निवृत्तिजनकेत्यर्थः । असंभावनादिरूपदोषाभावस्यात्मनिश्चयनिष्ठायां बन्धनिवर्तनशक्तौ व्याप्यतामात्रम्; प्रतिबन्धकस्य कारणनिष्ठशक्तिनाशकत्वात्, न तु जनकत्वम् । अदृष्टमपि न निवृत्तौ कारणम्; सुखदुःखतजनकेष्वेव तस्य

प्रपञ्चं प्रति निवर्तकत्वम्, प्रकारान्तरासंभवात् । तथाहि—प्रतियोगित्वं तावन्नावच्छेदकम्; प्रपञ्चस्य भावरूपत्वात्, ज्ञानस्य प्रागभावनिवृत्तिरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन प्रागभावनिवर्तकत्वासिद्धेश्च । नाप्युत्तरगुणत्वम्; आकाशादेरात्मविशेषगुणत्वाभावात्, इच्छादेरपि प्रपञ्चनिवर्तकत्वापाताच्च । नापि फलत्वम्; संस्कारस्य स्मरणजनकत्ववदाकाशादेरात्मज्ञानजनकत्वाभावात्, संस्कारस्य स्मृत्यनाशयत्वेनोदाहरणासिद्धेश्च । विषयदोषदर्शनस्य तु रागादिनिवर्तकत्वं रागादिकारणीभूत-वलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनत्वभ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनेति न प्रकृतोदाहरणादतिरिच्यते; शुक्तिरूप्यतुल्यत्वात् । गरुडध्यानं तु न प्रत्युदाहरणम्; ध्यानस्य रागादेरिव ज्ञानत्वानभ्युपगमात्, ज्ञानस्येच्छानधीनत्वेन तदधीनज्ञानापेक्षया वैलक्षण्यात् । स्पष्टं चैतदाकरे । ज्ञानत्वेऽपि तस्य सेतुदर्शनपक्षान्नातिरेकः; शास्त्रविहितत्वाविशेषात् । केवलं सेत्वादिदर्शनवद्विहितक्रियात्वमवशिष्यते । तच्च न संभवति; ज्ञानस्य कर्तुमकर्तुमशक्यत्वेन विधेयत्वायोगात् । विस्तरेण च ज्ञाने विधिराकरेषु निराकृतः । निराकरिष्यते चेहापि । सेतुदर्शने कथमिति चेत्? विशिष्टाकारेण विधेयत्वोपपत्तिः । न हि सेतुदर्शनमात्रस्य दुरितनाशकत्वम्; तत्रत्यग्लेच्छानामपि दुरितनाशप्रसङ्गात्, किंतु परग्राह्यपस्थानादिपूर्वकव्रतकलापविशिष्टस्य; तथाच छत्रपादुकादिवर्जनदोषोद्धोषणदूरदेश-गामित्वभिक्षाभोजित्वादिनियमानां कृतिसाध्यत्वात् तद्विशिष्टं सेतुदर्शनमपि कृतिसाध्यमिति विशिष्टरूपेण विधानोपपत्तिः । आत्मज्ञाने तु नास्ति किञ्चिद्विशेषणमपि कृतिसाध्यम्, येन तद्विशिष्टत्वेनापि विधेयत्वं स्यात्; कर्मसमुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वात्, बन्धस्याज्ञानमात्रहेतुकत्वेन ज्ञानातिरिक्तनिवर्तकानपेक्षणाच्च । बन्धस्याज्ञानहेतुकत्वं च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धम् । वक्ष्यते चाग्रे । अज्ञाननिवर्तकज्ञानस्य चोत्पत्तिमन्तरेणान्यापेक्षा नास्तीति शुक्त्यादिज्ञाने दृष्टम् । तथाचोक्तं वार्तिककृद्भिः—'तत्त्वमस्या-दिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥' इति । 'प्रत्य-ग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत् । साचात्मोत्पत्तितो नान्यद्धान्तध्वस्तावपेक्षते ॥' इति च । अत एव 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन कं पश्ये'-दित्यादिश्रुतिः, 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥' इत्यादिस्मृतिश्चाविद्यावस्थायां संसारोपलम्भं विद्यावस्थायां च तदनुपलम्भं दर्शयति । तस्मादधिष्ठानप्रमात्वेनात्मज्ञाननिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिष्विव बन्धेऽपि मिथ्यात्वं सिद्धम् । यस्वीश्वरज्ञानेन सत्यं घटादि निवर्तत इति प्रत्युदाहरणम् । तन्न; ईश्वरज्ञानस्य तार्किकमतेऽपि उपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्वेनैव कारणत्वात्, अभावस्य च निरुपादानत्वात्; अभावं प्रति कारणत्वे मानाभावात्, सोपादानत्वे तु समवेतत्वेन तस्यापि भावत्वापत्तेः, अत्यन्ताभावादिवच्च तदजन्य-त्वेऽपि ध्वंसस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः । न च तादृगीश्वरज्ञाने संप्रतिपत्तिरप्यन्येषामिति न काप्यनु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्त्वात् । उक्तंच द्रव्यवर्धमानादौ—'तथा कालस्य हेतुत्वेऽपि ज्ञानमपि काल इति तदन्यमात्रवृत्तिरूपविशिष्ट-स्यैव कारणस्य प्रकृते व्यवच्छेदान्न दोषः । साधारणकारणं हि निवृत्तौ प्रतियोग्यपी'ति । तन्न व्यवच्छिद्यते । न हि प्रकृते कालादिकं विधेयम्, नवाऽनुष्टातुं योग्यम् । येन तद्विशिष्टतया ज्ञानं कृतिसाध्यमिति भावः । इत्यादीत्यादिना 'व्यवहरन्नास्ते माययैव मायया ह्यन्यदेव' 'तम आसीत्' 'मायामयमिदं द्वैतं' 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसि ॥' इत्यादिश्रुतिस्मृतयो बोध्याः । दर्शयतीति । यद्यन्यदपेक्षेत, तदा विद्यासत्त्वेऽपि तद्विलम्बेन कार्यं विलम्बेत; विद्यासत्त्वे कार्याविलम्बे तु तदन्यहेतुत्वमप्रामाणिकमिति भावः । तस्मा-दिति । शुक्तिरूप्यादेर्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वदता त्वयापि शुक्त्यादिप्रमात्वेन तन्ननिवर्तकता न वाच्या; गौरवात्, किंतु उक्तरीत्या प्रयोजकाज्ञाननाशद्वारा प्रमामात्रस्य; तथाचात्माज्ञाने प्रपञ्चप्रयोजकत्वस्य श्रुत्यादितो लाघवाच्च सिद्धेरा-त्मज्ञाने प्रपञ्चनिवर्तकत्वं लोकसिद्धत्वादुक्तदोषाच्च न विधेयम् । शुक्तिरूप्यादेर्ज्ञाननिवर्त्यत्वं तु शुक्त्यादिप्रमात्वा-तदज्ञानतत्प्रयुक्तं नष्टमित्यनुभवात् दोषादिनिमित्तसत्त्वेऽपि तन्नाशस्योत्पत्त्या निमित्तनाशनाशयत्वेनान्यथासिद्धसंभ-वात् इति भावः । उपपत्तेरिति । किञ्चिद्विषयकत्वे नियामकाभावेन बाधकाभावात्, श्रुत्यादिद्वयं सर्वविषयकत्व-मिति भावः । अन्येषाम् औपनिषदादीनाम् । तादृगीश्वरज्ञाने ध्वंसकारणे ईश्वरज्ञाने । ईक्षणस्य व्याक्रियमाण-कार्यं प्रत्येव हेतुत्वेन सूक्ष्मावस्थारूपं नाशं प्रति अहेतुत्वमिति भावः । ननु—सोपादानकार्यं तदुपादानज्ञानादि-

पपत्तिः । यथाच शुक्त्यादिज्ञानस्य रूप्यादिनिवर्तकत्वमप्रामाण्यज्ञानविरहमपेक्ष्यैव, एवमात्मज्ञानस्यापि श्रवणादिनिवृत्तावसंभावनादिनिवृत्तिरूपाप्रामाण्यज्ञानविरहापेक्षत्वमिति न किञ्चिदप्यधिकं कल्पितम् । आत्मज्ञानस्य सर्वसुकृतसाध्यत्वं शुक्त्यादिज्ञानापेक्षया विलक्षणमिति तु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यमात्रोद्भावनात् वैधर्म्यसमा जातिः । अज्ञानस्य च समानाधिकरणसमानाकारज्ञाननिवर्त्यत्वम् । जीवन्मुक्तौ च प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धेन बन्धनाशविलम्ब इत्यादि सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते । सत्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे तु आश्रयविषयोभयसंबन्धित्वादिना अतिप्रसङ्गो विवरणकारैर्वर्णितः । तस्मादधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मत्वेनैव कार्यमात्रं प्रति ज्ञानत्वादिनेशज्ञानादेः हेतुत्वसंभवात्तार्किकेलाद्युक्तमिति—चेन्न,—ज्ञानादिमत्त्वेन ज्ञानादिमतो हेतुतां गृह्णदेव हि प्रमाणं ज्ञानादेरपि हेतुतां गृह्णाति, विशिष्टे प्रवृत्तस्य मानस्य विशेषणे प्रवृत्तेरौत्सर्गिकत्वात् । तथाच यादृशमुपादानज्ञानादिकं विशेषणं तादृशस्यैव कारणत्वं प्रामाणिकम्, न त्वतादृशस्य । ननु कुरूपेण सेतुदर्शनस्येवाध्ययनादिनियमादृष्टादिविशिष्टरूपेणात्मज्ञानस्यापि विधेयत्वमास्ताम्; अन्यथा अनधीतवेदान्तादिजन्यात्मज्ञानमपि बन्धं नाशयेत्, तत्राह—यथाच शुक्त्यादीति । निवृत्तिरूपेति । निवृत्तिप्रयोज्येत्यर्थः । वाक्यार्थे असंभावितत्वज्ञानेन प्रपञ्चसत्यत्वेदेहात्मत्वसंस्काररूपविपरीतभावनया च दोषेण बाधितविषयकत्वरूपप्रमात्वं ज्ञाप्यते; तादृशत्वात्तत्राज्ञाननिवर्तकत्वं प्रमात्वेन ज्ञायमानस्यैव; शुक्त्यादिज्ञानस्य तथात्वस्य दृष्टत्वात् । तथाचाध्ययनश्रवणादिनियमादृष्टादेरुक्तप्रमात्वाज्ञाननिवृत्तौ तादृशाज्ञानशून्यप्रमाप्रतिबन्धकपापनिवृत्तौ वा हेतुत्वम् । असंभावनादिनिवृत्तौ श्रवणादेर्हेतुत्वं प्रमात्वेन निश्चीयमानज्ञानत्वेनाज्ञाननिवर्तकत्वं च क्लृप्तम्, अतो न विधेयम् । नच—उक्तनियमविशिष्टरूपेण ज्ञानं विधेयमिति—वाच्यम्; ज्ञानोद्देशेनोक्तनियमस्यैव विहितत्वेन तद्विशिष्टज्ञानस्य विधौ मानाभावादिति भावः । ननु लोके शुक्त्यादिज्ञानस्य पापनाशनिरपेक्षतयैवाज्ञानकार्यनिवर्तकत्वं दृष्टमतस्तादृशज्ञाननिवर्त्यत्वस्य मिथ्यात्वव्यापकतया तदभावात् प्रपञ्चे मिथ्यात्वाभावस्तत्राह—आत्मज्ञानस्येति । साध्यत्वं पापनाशद्वारकं जन्यत्वम् । वैधर्म्यमात्रेति । अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकत्वं शुक्त्यादेरात्मनश्च ज्ञाने तुल्यम् । शुक्त्यादिज्ञाने काचादिदोष आत्मज्ञाने पापविशेषः प्रतिबन्धकः । तयोर्वैधर्म्यमात्रमप्रयोजकम् । अन्यथा काचादीनां मिथो वैधर्म्यमपि दूषणं स्यादत उक्तव्याप्तिरसिद्धेति भावः । ननु ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमित्यत्र ज्ञानं वृत्तिः, तत्प्रतिबिम्बितचिद्वा । नाद्यः; तस्या अज्ञसित्वात् । नान्त्यः; सुक्त्यानन्दस्य ज्ञस्यभावापत्त्या तस्या अपि ज्ञसित्वाभावात् । सुखादौ तदभावाच्चेत्यत्राह—अज्ञानस्य चेति । अनावृतचित्त एव ज्ञसित्वेऽप्यनावृतत्वप्रयोजकवृत्तावपि ज्ञानपदप्रयोगात् तमादायोक्तनियम इति भावः । ननु लोके अधिष्ठानतत्त्वे साक्षात्कृते कर्मादिना न भ्रमनिवृत्तिप्रतिबन्धः, तथाच जीवन्मुक्तावनुवृत्तं जगत् सत्यम्, तत्राह—जीवदिति । प्रतिबिम्बादिभ्रम इव जीवन्मुक्तीये देहादिभ्रमेऽप्यनुभवबलादनुवृत्तिः स्वीक्रियते । अन्यथा हि दशादिवर्षावच्छिन्नभोगजनककर्मणः पञ्चादिवर्षावच्छिन्नभोगजनकत्वादिकल्पने अनन्तहेतुत्वादिकल्पनापत्तेः । किञ्च 'तस्य तावदेव चिर'मित्यादिश्रुत्यापि तथा सिद्धम् । तथाच भुज्यमानकर्मणः देहादिनिवृत्तौ न प्रतिबन्धकत्वम्, ज्ञानस्य नाज्ञानकार्यनाशकत्वम्, किंतु दृश्यविरोधित्वमात्रमिति पक्षे तु भुज्यमानकर्माभावकालीनात्मज्ञानस्यानात्मविरोधित्वमात्रकल्पनात् नोक्तप्रतिबन्धकत्वं कल्प्यत इति भावः । आश्रयविषयेत्यादि । ज्ञानेन सत्यस्य निवृत्तिश्चेत्, कीदृशस्य ज्ञाननाश्वत्वनियमः, किं ज्ञानस्याश्रयेण, अथ विषयेण, आहोस्वित् उभयेन संबन्धस्य । नाद्यः; आत्मज्ञानेनाहमित्याकारेण धर्माद्यनाशात् । न द्वितीयः; नीलपीतावयविनो नीलत्वेन ज्ञानात् पीतिमाद्यनिवृत्तेः । न तृतीयः; देहज्ञानेन देहात्मतादात्म्यानिवृत्तेः । मिथ्याभूतस्यैव ज्ञाननिवर्त्यत्वपक्षे तु ज्ञानात्तत्समानाश्रयविषयकाज्ञानस्यैव निवृत्तिः । तथाचाज्ञानप्रयुक्तस्यैव निवृत्तिरित्यादिविवरण उक्तम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्त्या विश्वमिथ्यात्वसिद्धिः ॥

अथ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथाऽनुपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिरपि न मिथ्यात्वे मानम्; (१) ज्ञानमात्रेण स्वसमानविषयकाज्ञानानुपादानकस्वप्रागभावस्य (२) ईश्वरज्ञानेन घटादेः (३) उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य (४) प्रत्यभिज्ञानादिना संस्कारस्य (५) विषयदोषदर्शनेन रागादेः (६) सुह-

दर्शनेन दुःखादेः (७) गरुडध्यानादिना विषादेः (८) अग्निचित्कपिलादिदर्शनेन दुरितादेः (९) सेत्वादिदर्शनेन ब्रह्महत्या-
देश्च सत्यस्य निवृत्तिदर्शनेन ज्ञानमज्ञानस्यैव मिथ्याभूतस्य वा निवर्तकमिति नियमाभावात् । यथा सेतुदर्शनं विधेयं एवं ब्रह्म-
ज्ञानमपि यथावा दूरगमनादिवैशिष्ट्यं प्रथमस्यैव श्रवणमननादिवैशिष्ट्यमुत्तरस्येति सेतुदर्शनेन ब्रह्महत्यानिवृत्तिरपि प्रत्युदाह-
रणमेव । **वस्तुतस्तु**—लोकेऽदृष्टत्वेऽपि विषयवाधकविरहेण सत्यस्यापि प्रपञ्चस्य श्रुत्या निवृत्तिबोधनसंभवेन न ज्ञाननिव-
र्त्यत्वानुपपत्तिः । अन्यथा लोकदृष्टसाम्यापेक्षणे लोके कल्पितस्य कर्मसाध्यान्तःकरणशुद्धिजन्यज्ञानस्यैव निवर्तकत्वस्य दर्शनेन
तादृशस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्तकत्वस्य कल्पिते संस्कारनिरपेक्षज्ञाननिवर्त्यताया एव दर्शनेन प्रपञ्चस्य श्रवणादिजनितसंस्कारसापे-
क्षज्ञाननिवर्त्यतायाश्चानापत्तेः । यथाकथंचित् निवर्तकत्वादावपि प्रपञ्चसत्यतासिद्धेश्च । **अतएव**—अज्ञानाज्ञेययोः दोषाधि-
ष्ठानयोश्च समानसत्ताकत्वनियमोऽप्युपपद्यते । **एतेन**—चित्रावयवविनि नीलविशिष्टद्रव्यज्ञानेन पीतिमाऽनिवृत्तेः, आत्मज्ञाने-
नात्मगतधर्माधर्माद्यनिवृत्तेः शरीरज्ञानेन देहात्मबन्धानिवृत्तेश्च न ज्ञानेन सत्यनिवृत्तिरिति विवरणोक्तमपि **पराहतम्**—
इदमंशज्ञानेन तत्रारोपितरूपस्य चैत्रीयघटज्ञानेन तदात्मारोपितदेहतादात्म्यस्य आत्मनिष्ठदेहविषयकज्ञानेन देहात्मतादात्म्य-
स्यानिवृत्त्या ज्ञानेनारोपितनिवृत्तेरप्युपपादनासंभवात् । ज्ञानेन स्वसमानाश्रयविषयकाज्ञानस्यैव निवृत्तिः, निवृत्ते चाज्ञाने
स्वयमेव तत्कार्यनिवृत्तिरिति तु न शङ्कनीयम्; विम्बप्रतिबिम्बैक्यसाक्षात्कारेणैक्याज्ञानस्यारोपितभेदस्य च निवृत्त्योक्तनिय-
मस्याप्रामाणिकत्वात् । **परमार्थतस्तु**—“यस्य प्रसादात्परमार्थरूपादस्मात् संसारात् मुच्यते नापरेण” । “मन्त्रप्रसादा-
त्तरिष्यसि” इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः ईश्वरप्रसादसाध्यत्वमेव बन्धनिवृत्तेः, न तु ज्ञाननिवर्त्यत्वं, ज्ञानस्य तु प्रसाद एवोपयोगः
“यथा दृष्ट्वा प्रसन्नः सन् राजा बन्धापनोदकृत् । एवं दृष्टः स भगवान् कुर्यात् बन्धविभेदनम्” इत्यादिवचनात् । “दृष्ट्वैव
तं प्रमुच्यते” इत्यवधारणं तु अयोगव्यवच्छेदपरं मोक्षहेतुप्रसादेऽन्ययोगव्यवच्छेदपरं वेति न ज्ञाननिवर्त्यत्वं बन्धस्य ।
“एवं ज्ञाते तु भगवान् अनादिः पुरुषोत्तमः । प्रसीदति ततस्तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः” । इति विष्णुपुराणवचनमप्यत
एव संगच्छते इति न ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्त्या प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति सर्वमनवयमिति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

प्रपञ्चस्य भावरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन आकाशादेरात्मविशेषगुणलाभावेनोत्तरगुणत्वेन संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वादात्मज्ञा-
नाजनकत्वेन फलत्वेनानुगतत्वेन तत्तद्रूपवत्त्वेन वा निवर्त्यताया असंभवेन मिथ्यात्वेनैकनिवर्त्यतायाः अननुगमेनैव
शुक्त्यादिविषयकत्वेनानिवर्तकत्वेनाधिष्ठानप्रमात्वेनैव निवर्तकतायाश्चाङ्गीकरणीयतया मिथ्यात्वं विना ज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवः,
रागादिकारणीभूतबलवदधिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनत्वभ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनैव विषयदोषदर्शनस्य रागादिनिवर्तकत्वेन प्रकृ-
तोदाहरणतुल्यतया इच्छाधीनत्वेन तदनधीनज्ञानापेक्षया ध्यानस्य वैलक्ष्येण छत्रपादुकादिवर्जनदोषोद्घोषणादिकृतिसाध्य-
घटिततया विशिष्टरूपेण सेतुदर्शनस्येवात्मज्ञानस्य तदघटिततया कृतिसाध्यत्वाभावेनाविधेयत्वेनोपादानगोचरापरोक्षज्ञान-
त्वेनैवैश्वरज्ञानस्य कारणत्वेन निरुपादानाभावकारणत्वासंभवेनैश्वरज्ञानस्य घटानिवर्तकत्वेन च रागादिनिवर्तकविषयदोषदर्शन-
विषयनिवर्तकगरुडध्यानब्रह्महत्यानिवर्तकसेतुदर्शनघटनिवर्तकेश्वरज्ञानानां प्रत्युदाहरणत्वासंभवात् । **तदुक्तं**—“तत्त्वमस्या-
दिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति” इति । सत्यस्य ज्ञानानिवृत्तौ लोकदृष्टविरोधः,
सुकृतसाध्यत्वेन नात्मज्ञानस्यातादृशशुक्तिज्ञानतो वैलक्षण्यं तु वैधर्म्यसमा जातिरिति नातिप्रसङ्गः । यथाचाज्ञानाज्ञेययोः
दोषाधिष्ठानयोश्च न समसत्ताकत्वं तथा पूर्वमेव निरूपितम् । **एतेन**—सत्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे आश्रयविषयोभयसंबन्धित्वा-
दिनाऽतिप्रसङ्गोऽपि—**व्याख्यातः**; इति विवरणीयमपि वचनं समीचीनमेव । एवंच निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानानुपा-
दानकस्य दुरितादेरिमिथ्यात्वेऽपि तादृशाज्ञानोपादानस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमङ्गीकरणीयमेवेति दुरितादेरिव सत्यस्यैव प्रपञ्चस्य
निवृत्तिरिति वर्णनमसङ्गतमेव; “तरति शोकमात्मवित्” “विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः,” “भिद्यते हृदयग्रन्थिदिच्छन्ते सर्वसं-
शयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे” । इत्यादिवचनजातैरात्मज्ञानमात्रस्यैव पुरुषार्थबन्धनिवृत्तिसाधनत्वा-
वगमात् । ईश्वरप्रसादबन्धनिवर्तकतापरवचनानां तादृशात्मतत्त्वज्ञानविषयतत्परत्वस्यैव युक्तत्वाच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुप-
पत्तिर्मिथ्यात्वसाधिकैवेति सर्वमनवयमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

आत्मज्ञानं संसारनिवर्तकमिति बोधयन्त्या श्रुत्या अबच्छेदकविशेषाविषयीकरणात् विषयीकरणेऽपि शुक्तिरूप्यादेः ज्ञान-
निवर्त्यत्वाननुभवेन मिथ्यात्वस्य निवर्त्यतानवच्छेदकत्वात् न ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्त्या प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिसंभवः । दूरदेश-
गमनादिविशिष्टरूपेण सेतुदर्शनस्येवाध्ययनादिनियमादृष्टविशिष्टरूपेणात्मज्ञानस्यापि विधेयत्वेन ईश्वरेच्छया सर्वं भवतीत्यापा-
तानुभवेनेच्छया इव तज्ज्ञानस्यापि कार्यमात्रनिमित्तत्वेन कर्तृत्वनिविष्टज्ञानस्योपादानगोचरतया हेतुत्वेऽपि कार्यमात्रहेतोस्तस्य
तन्निमित्तमाभावेन च ब्रह्महत्यानिवर्तकसेतुदर्शनकार्यमात्रनिवर्तकेश्वरज्ञानयोश्च प्रत्युदाहरणत्वसंभवेन तन्निवर्त्यब्रह्महत्यादिवत्

अथ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः ।

शुक्तिरूप्यस्वप्नादिवत् दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्यापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः । अथ केयं दृष्टिसृष्टिः ? (१) दृष्टिरेव सृष्टिरिति वा (२) दृष्टिव्यतिरिक्तसृष्ट्यभावो वा (३) दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावो वा (४) दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा (५) दृष्टिसमानकालीनसृष्टिर्वा (६) दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिर्वा (७) सदसद्विलक्षणत्वं वा (८) त्रिविधसत्त्ववहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं वा (९) अज्ञातसत्त्वाभावो वा (१०) ज्ञातैकसत्त्वं वा । आद्ये वृत्तिरूपा, चैतन्यरूपा वा, दृष्टिरभिमता । प्रथमे चरमवृत्तिविषयब्रह्मणोऽपि दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः । द्वितीये सर्वदापि सृष्ट्यापत्तिः । न द्वितीयः; चैत्रेण सृष्टो मया दृष्ट इति वैलक्षण्येन व्यवहारानुपपत्तेः । न तृतीयः; 'ज्ञातो घटो न ज्ञान'मिति अनुभवविरोधात् । न चतुर्थः; एकसामग्री-प्रसूतत्वेन घटादेर्दृष्ट्यभिन्नत्वेनानन्तरोक्तदोषात् । न पञ्चमः; शाब्दादिज्ञानसमकालोत्पन्नघटादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरतापत्तेश्च । न षष्ठः; उभयसत्त्वेऽप्युपपत्तेः सिद्धसाधनात् । न सप्तमः; अस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः । नाष्टमः; त्रिविधसत्त्वमध्ये प्रातिभासिकसत्त्वस्याप्यन्तर्भावेन दृष्टिसृष्टिपक्षे तद्वति जगति तद्वहिर्भावानुपपत्तेः । न नवमः; तुच्छसाधारण्यात् । न दशमः; सुखादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तराच्चेति—चैत्र; दोष-प्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य ज्ञातैकसत्त्वस्याज्ञातसत्त्वाभावस्य वा, प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यज्ञातैकसत्त्वस्य वा,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दृष्ट्यभिन्नत्व इति । दृष्टिभिन्नत्वे मानाभावात् दृष्ट्यभिन्नत्वं वाच्यम्; तथाचानन्तरोक्तदोषः । नच—तद्वा-रणान्यथानुपपत्तिरेव दृष्टिभेदे मानमिति—वाच्यम्; एकसामग्रीजन्यत्वस्याभेदव्याप्यतया सामग्रीभेदस्यावश्यकत्वादिति भावः । तद्वहिर्भावेति । तच्छून्यत्वेत्यर्थः । दोषेत्यादि । दोषत्वं तावदन्यतमत्वं भ्रमत्वावच्छिन्नं प्रति जनकतावच्छेदिका या अविद्यात्वजातिः तद्वत्त्वं वा । भ्रमत्वजातिमद्विषयत्वं दोषप्रयुक्तम् । तथाच दोषप्रयुक्तत्वे भ्रमत्वजातिमद्विषयत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वं लक्षणम् । परमते असत्यस्य अमाङ्गीकारेण सिद्धसाधनादूमप्रागभाव-वदवैयर्थ्याच्च विशेष्यदलम् । स्वज्ञानव्याप्यत्वं तदर्थः । व्याप्यत्वव्यापकत्वे कालिके ग्राहे । अज्ञानशून्यचिद्रूपं ज्ञान-मपेक्ष्य लाघवादाह—अज्ञातसत्त्वाभावस्येति । स्वीयाज्ञानाभावेन व्याप्यत्वस्येत्यर्थः । निबन्धनस्येत्यन्तमनुप-ज्यते । तस्य च पूर्वत्रेवात्रापि दोषप्रयुक्तवृत्तेरित्यर्थः । पुरुषान्तरवेद्ये च नाज्ञानम्; मानाभावात् । यत्र हि यं पुरुषं प्रति प्रकाशप्रसक्तिः, तत्र तस्याज्ञानं युक्तम् । तथाच तत्तत्पुरुषीयाज्ञानाभावव्याप्यत्वं तत्तत्पुरुषं प्रति दृष्टिसृष्टिरिति बोध्यम् । परोक्षविषयसंग्रहायासत्त्वापादकमज्ञानं लक्षणद्वयेऽपि निवेश्यम् । प्रतिपन्नेत्यादि । स्वप्रतिपत्तिविशेष्य-

सत्यत्वोपपत्तेः । एवं यथाऽज्ञानसमानविषयकप्रमानिवर्त्यस्याप्यज्ञानस्याज्ञानानुपादानकत्वम्, एवं तादृशप्रमानिवर्त्यस्यापि शुक्तिरूप्यादेरज्ञानानुपादानकत्वेनोपपत्त्या न ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्त्याऽज्ञानोपादानकत्वादिसिद्धिः । एतेन—अज्ञानाज्ञे-ययोः समानसत्ताकत्वनियमोऽपि—व्याख्यातः; यावताच निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानानुपादानकत्वं तावता तादृशस्य दुरितादेरिव प्रपञ्चस्यापि सत्यस्यैव निवृत्तिरिति ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तेरनवसरात् । “तरति शोकमात्मविदि”त्यादीनां तु आत्मज्ञानस्येश्वरप्रसादद्वारा मोक्षपरत्व एव तात्पर्यमिति न्यायासृतीयव्यवस्थोपपन्नैवेति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

शुक्तिज्ञानस्यैवाज्ञानसमानविषयकात्मज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वेन प्रमात्वेन स्वसमानविषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतरत्वसंबन्धेन मिथ्यानिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन नाशं प्रति हेतुताया एव विवक्षणीयतया मूलाज्ञाननिवृत्त्या व्यावहारिकदृश्यनाश इति नियमान्तरकल्पने गौरवेण प्रयोजननाशस्य स्वविशिष्टप्रयोज्यनाशे क्लृप्तकार्यकारणभावेनैवाज्ञाननाशेन व्यावहारिकदृश्यनाश इति पक्षस्याप्युक्तरीत्यैवोपपादनीयतयैव अज्ञानप्रयुक्तत्वावश्यकत्वेन च ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्त्या सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्व-संभवः । ज्ञानोद्देशेनोक्तनियमविधानेऽपि तद्विशिष्टज्ञानस्याविधेयत्वेन सेतुदर्शनतुल्यत्वाभावेनेक्षणस्य व्याक्रियमाणकार्यं प्रत्येव हेतुत्वेन सूक्ष्मावस्थारूपनाशं प्रति ईश्वरज्ञानस्याहेतुत्वेन च सेतुदर्शनेश्वरज्ञानयोः प्रत्युदाहरणत्वासंभवात् । यथाचाज्ञान-निवर्त्यत्वस्य मिथ्यात्वव्याप्यत्वं तथा पूर्वमेव निरूपितमित्यज्ञानाज्ञेययोः समानसत्ताकत्वनियमोऽपि पराहत इति सर्वमन-वद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः ।

द्रष्टृन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात् । तथाच न सुखाद्यंशे सिद्धसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा । ननु—‘जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥’ इति प्राचां वचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यभिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकेन च सूत्रभाष्यविवरणादिग्रन्थेन विरोध इति—चेन्न; अनाद्यतिरिक्तसृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकारात्, कारणात्मना स्थायित्वस्वीकाराच्च । तावतैव बौद्धाभिमतक्षणिकत्वनिराकरणोपपत्तेर्नाकरविरोधः, प्रत्युताकारेषु बहुशो दृष्टिसृष्टिरुपपादितैव । नन्वेवं—प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादिविधेः ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेति—चेन्न; स्वाप्रकार्यकारणभावबोधकवाक्यवदुपपत्तेः । न चैवं वेदान्तवाक्यस्य तन्मीमांसायाश्च स्वप्रवाक्यतन्मीमांसातुल्यतापत्तिः; विषयबाधाबाधाभ्यां विशेषोपपत्तेः । अत एव—तृतीयं भोजने परप्रत्यायनार्थं शब्दादौ च प्रवृत्तेरयोगेन स्वक्रियाव्याघात इति—निरस्तम्; स्वाप्रव्यवहारवदुपपत्तेः । अथैवं—घटादेः स्वज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः; अधिष्ठानस्यापि शुक्तीदमंशस्य रूप्यादिवत् ‘इदं रजत’मिति ज्ञानात्प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इत्यस्य स्वरूपलक्षणस्य चायोग इति—चेन्न; प्रतिकर्मव्यवस्थायाः संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकारिविषयत्वात् । सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्यविरुद्धम्, न हीदमंशावच्छिन्नं चैतन्यं न वस्तु; न वा मिथ्यारूप्यस्य तेन सह न संभेदावभासः । नच—‘इदं रूप्य’मिति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोध इति—वाच्यम्; ‘इदं रूप्य’मिति ज्ञानकाले शुक्तित्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्यविरोधात् । नहि सत्ताकाल इव सत्ताविरहकालेऽपि अज्ञानं विरुध्यते । नच—‘इदं रूप्यं नेदं रूप्य’मिति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; भिन्नविषयत्वेऽपि विषययोः सारूप्यात् स्वप्रबाध्यबाधकयोरिव बाध्यबाधकभावोपपत्तेः । नच—रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिसृष्टित्वे तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धिरिति—वाच्यम्; बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजकम्, न त्वधिकसत्ताकत्वमित्यस्योपपादितत्वेन व्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधवत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधाविरोधात् । नच—सुषुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रतिसुषुप्ति प्रतिप्रलयं च मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तिरिति—वाच्यम्; जीवब्रह्मविभागादेरनादित्वेन दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमस्योक्तत्वात् । न च सुषुप्तं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दृष्टिजन्यवृत्तिज्ञातैकसत्त्वस्येत्यर्थः । अधिष्ठानसामान्यांशदृष्टारोप्यमात्रे हेतुत्वेनोक्तदृष्टिजन्यत्वं जन्यमात्रस्याक्षतम् । द्रष्टृन्तरेत्यादि । दृष्टिसृष्टिपक्षे पुरुषान्तरीयसुखादिकं न ज्ञायते, किंतु पुरुषान्तरीयत्वेन स्वस्मिन्नेव कल्प्यत इति भावः । सृष्टिविषये सृज्यमान एव या दृष्टिः साऽनाद्यन्यत्र, न त्वनादौ स्वीक्रियते । तत्र मिथ्यात्वसिद्धिस्तु दृश्यत्वादिवैव; न तु दृष्टिसृष्ट्येति भावः । विषयाबाधेति । ननु—स्वप्नाविशेषे बाधाभावोऽप्यनुपपन्न इति—चेत्, न; दोषप्रयुक्तत्वाज्ञानेनाबाधोपपत्तेः । सत्यस्य वस्तुनः इदमवच्छिन्नचितः । मन्दाधिकारीति । अधिकारिभेदकल्पिता हि प्रक्रियाभेदाः शास्त्राचार्यैरनूदिता इति भावः । यद्यपीदं ‘इदं रजत’मित्यादौ इदमादिरूपाधिष्ठानाकारा वृत्तिः पूर्वं संभवति, पूर्वजाताया अपि तस्या रूप्यकालानुवृत्तिसंभवात्; तथापीदं रूप्यमित्याकारा विशिष्टविषयिकैव वृत्तिः, लाघवात्, अधिष्ठानज्ञानहेतुत्वपक्षे तु वृत्तिद्वयस्वीकारात् न दोष इति भावः । चैतन्यं न वस्त्विति । उपाधेर्मिथ्यात्वेऽपि तदवच्छेदेन अधिष्ठानताश्रयस्य शुद्धचैतन्यस्य सत्यत्वमिति भावः । स्थित्यविरोधादिति । सृष्टदृष्टिपक्षेऽपि भाविनि ज्ञानविषयत्वस्येवाज्ञानविषयत्वस्य स्वीकारादिति भावः । सत्ताकाल इति । सृष्टदृष्टिपक्ष इत्यादिः । आव्यवच्छेदेनाज्ञानमनुभवबलात् कार्यान्यथानुपपत्तेश्च कल्प्यत इति भावः । भिन्नविषयत्वेऽपीत्यादि । पूर्वज्ञाने रूप्यमिदमात्मकम्, द्वितीयज्ञाने तु स्वप्रतियोगिकत्वसंबन्धेनाभावगतम् । यथाज्ञानं सृष्टिस्वीकारात् । अतो भिन्नविषयकत्वेऽपि स्वप्नवदुक्तरूप्ययोरुक्तरूप्यत्वरूपानादिधर्मेण सारूप्यमिति भावः । यद्वा—सारूप्याद्विरोधिधीविषयत्वेन समानत्वात् यथा सृष्टदृष्टिपक्षे तद्विशिष्टबुद्धौ तदभावधीविरोधिनी, तथा दृष्टिसृष्टिपक्षे रूप्यान्तराभावधीः; विरोधितावच्छेदकशक्तिविशेषस्य तस्यामपि स्वीकर्तुं शक्यत्वात् । तथाच रूप्यत्वादेः प्रतिदृष्टि भेदेऽपि न क्षतिः । व्यावहारिकेणेति । अभावेनेति शेषः । तृतीयार्थः प्रकारित्वम् । तथाच व्यावहारिकाभावधीर्व्यावहारिकद्वैतवस्वधीबाधिका यथेत्यर्थः । उक्तत्वादिति । वस्तुत ईशस्येव जीवेशभेदादेरपि स्थूलमनःपरिणामत्वमेव; सुषुप्त्यन्यकाल एव तस्य

प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनः प्रबोधयोगः; कारणात्मना संस्कारादेः सत्त्वात् । न च मोक्षस्य दृगन्यत्वेन स्वाप्नमोक्षवत् दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः; मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन दृग्भिन्नत्वासिद्धेः । न च—चैतन्यमात्ररूपा दृष्टिर्न सृष्टिः, किंतु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा वा, वृत्तिरूपा वा, दृष्टिः सृष्टिरिति वाच्यम्; तथाच तस्या अपि दृष्ट्यन्तरं सृष्टिरित्यनवस्थेति—वाच्यम्, चैतन्यमात्रस्य दृष्टित्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादेः सदातनत्वापत्तिः; तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टिशब्दार्थः । वृत्तावपि वृत्तिरेव स्वस्वरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था । अत एव—दोषाज्ञानादृष्टदेहेन्द्रियादीनामभावे न भ्रम इति तेषामपि दृष्टिसृष्टित्वे अनवस्थेति—निरस्तम्; स्वाप्नभ्रमवदेहेन्द्रियादिनैरपेक्षेणाप्युपपत्तेः । अन्वयव्यतिरेकानुविधानं च तद्वदेव । न च—दृष्टिसृष्टेरपि दृष्टिसृष्टित्वेन घटादेरदृष्टिसृष्टित्वापत्तिरिति—वाच्यम्; ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेऽपि विषयस्याज्ञेयत्वाभाववत् दृष्टिसृष्टेर्दृष्टिसृष्टित्वेऽपि घटादेर्दृष्टिसृष्टित्वोपपत्तेः । ननु—ऐक्यप्रत्यभिज्ञाविरोधः; पूर्वकालप्रतीतस्येदानीमभावात्, न चैषा भ्रान्तिः; दीपादौ परिणामभेदस्येवेह बाधकस्याभावात्, तदभावेऽपि भ्रान्तित्वे घटादेरप्येकस्मिन् क्षणे भेदस्यात्मनोऽपि प्रतिक्षणं भेदस्य प्रसङ्ग इति—चेन्न; 'नेह नाने'त्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधृते रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव प्रतिभासकालातिरिक्तकालसत्त्वे बाधकम्, अतो भिन्नकालानामात्मभिन्नानां प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः । आत्मन्येकप्रतीतिरेककालावच्छेदेन घटादौ चैक्यप्रत्यभिज्ञा न भ्रान्तिः । एककालावच्छिन्नघटादावात्मनि चाभेदे बाधकाभावात् । पुरुषान्तरप्रतीतेन सहैककालावच्छेदेनापि घटादौ प्रत्यभिज्ञानं भ्रम एव; प्रतिभासस्य भेदात् । यथा एकस्यामेव रज्ज्वां मृन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परसंवादेनैक एव सर्पः सर्वैरनुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः; अन्यभ्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञातुमशक्यत्वात् । ननु—अत्र कथमभेदभ्रमः? तत्कारणस्य सादृश्यादेः कस्याप्यभावादिति—चेन्न; स्वप्नाभेदभ्रमवत् दृष्टिसृष्टिसिद्धसादृश्यादिसंभवात् । न चैवम्—अभेद एवोत्पद्यतामिति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः, रज्जुसर्पादिवदुत्पन्नस्यैव ग्रहणनियमात् । न च कचिदुत्पद्यते कचिन्नेत्यत्र नियामकाभावः; मायाया विचित्रशक्तिकत्वाभ्युपगमात् । न च—'सोऽयं देवदत्त' इति दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहल्लक्षणयैक्यपरत्वोक्त्ययोग इति—वाच्यम्, यद्यपि धर्मवद्भ्रमभेदोऽपि बाधित एवेति जहदजहल्लक्षणापि न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दृष्टेः । अज्ञानसत्त्वेन च न सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिरिति ध्येयम् । संस्कारादेरिति । अज्ञायमानकार्यस्य दृष्टिसृष्टिपक्षे अनङ्गीकारात्तादृशसंस्कारादेरभाव इति भावः । कारणात्मना कारणगतसूक्ष्मावस्थारूपेण । तस्य च रूपस्य न दृष्टिसृष्टिः; असंभवात्, न हि प्रलये सुषुप्तौ वा संस्काररूपसूक्ष्मावस्था जीवेन ज्ञातुं शक्यते । न च—सर्वकार्याणां ज्ञातैकसत्त्वनियमाभङ्गाय सूक्ष्मावस्थैव न स्वीक्रियतामिति—वाच्यम्; आतत्त्वसाक्षात्कारं दृष्टयानामुच्छेदाभावेन कस्याश्चिदवस्थाया अवश्यवाच्यत्वात् । न च—मिथ्यात्वव्यापकस्य दृष्टिसृष्टिमत्त्वस्याभावेन मिथ्यात्वाभावापत्तिरिति—वाच्यम्; अनादिषु व्यभिचारेण दृष्टिसृष्टिमत्त्वस्य मिथ्यात्वाव्यापकत्वात् । अत एव धर्माधर्मयोरपि विहितनिषिद्धक्रियासूक्ष्मावस्थारूपत्वेन दृष्टिसृष्ट्यभावेऽपि न क्षतिः । अथवा—कारणात्मना कारणीभूतसाक्षात्त्वविषयसूक्ष्मावस्थारूपेण । तथाच सुषुप्तिप्रलययोः सूक्ष्मावस्थाविषयकनिर्विकल्पकाविद्यावृत्तिस्वीकारात् तदवच्छिन्नसाक्षिविषयत्वं सूक्ष्मावस्थायां स्वीक्रियते; अज्ञानाद्याकाराया अविद्यावृत्तेः सृष्टदृष्टिपक्षेऽपि स्वीकारात्तस्या एव सूक्ष्मावस्थाविषयकत्वान्नाधिककल्पनागौरवम् । वस्तुतः तथाकल्पने जागरादौ तद्विषयकाविद्यावृत्त्यन्तरकल्पने गौरवात् सूक्ष्मावस्थोपपत्तिक्षण एव तद्विषयिका सैवोत्पद्यत इति कल्प्यते; अन्यथानुपपत्तेः । तस्या एव वृत्तेः सूक्ष्मावस्थातदाश्रयसंबन्धादिकमपि विषयः; सांसर्गिकविषयतायाः तस्यामभावेन न तथा विशिष्टव्यवहारापत्तिः सूक्ष्मावस्थातदाश्रयवैशिष्ट्यसिद्धिस्त्वनुमानादिनेति दिक् । सदातनत्वेति । अनाद्यनन्तत्वेत्यर्थः । स्वस्वरूपेति । स्वच्छेषु सुखादिषु चित्प्रतिबिम्बसंभवात् वृत्तिर्न स्वीक्रियते । तत्स्वीकारेऽपि परस्परविषयकवृत्तिद्वयस्वीकारान्नानवस्था । यदि तु तत्तद्दृष्ट्यावच्छिन्नचिदेव तत्तद्दृश्यसत्तेति न सदातनत्वापत्तिरिति विभाव्यते, तदाप्यविद्यावृत्त्यस्वीकारे चाक्षुषादिविषयत्वविशिष्टस्यैव घटादेरुपपत्तिर्वाच्या; अन्यथा घटं पश्यामीत्यनुभवानुपपत्तेः । अत एव स्वप्ने तथा स्वीक्रियत इति भावः । सृष्टित्वापत्तिरिति । दृष्टिसृष्टेर्मिथ्यात्वे घटादौ तदभावसिद्धिरिति भावः । ज्ञानस्येत्यादि । यथा ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेऽपि तद्विषयस्य नाज्ञेयत्वं, तथा दृष्टिसृष्टेः स्वसमसत्ताकदृष्टिसिद्धावपि तद्विषयघटादेरपि स्वसमसत्ताकदृष्टिरव्याहतेति भावः । अन्यभ्रमसिद्धस्य अन्यदीयाज्ञानावस्थोपादानकस्य । विचित्रशक्तिकत्वेति । विचित्रकार्योपादाननिनिज्जा-

युज्यते; तथापि यदा धर्माभेदो बाधान्न गृहीतः, किंतु धर्म्यभेद एव, तदा 'सोऽय'मित्यादौ जहद-
जहल्लक्षणासंभवेन दृष्टान्तत्वोपपत्तिः । न चाभेदस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तज्ज्ञानस्य बाधकत्वायोगः;
आत्माभेदस्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावात्, अन्यूनसत्ताकत्वमात्रेण बाधकत्वोपपत्तेश्च । नच—
साक्षात्कारस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्वाभावात् तत्त्वज्ञानत्वाभावेन ततो मुक्तिर्न स्यादिति—
वाच्यम्; अबाधितविषयत्वेनैव तत्त्वज्ञानत्वोपपत्तेः, तस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यक्षतेः । न च 'ध्रुवा
द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे' ध्रुवं विश्वमिदं जग'दित्यादिश्रुतिविरोधः; अनित्यतावादिभिरपि
ध्रुवेत्यस्यान्यथानयने आवश्यकं दृष्टिसृष्टिप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन आकल्पं संतानाविच्छेदपरत्वस्यैव
युक्तत्वात्, अन्यथा 'ध्रुवो राजे'त्यादाववगतेः । दृष्टिसृष्टौ च 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे
लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ती'ति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात्
प्राणादिस्सृष्टिं प्रतिपादयन्ती प्रमाणम् । नच—सुषुप्तौ प्राणादिपञ्चकस्य सत्त्वात्मिकमर्थं पुनः सृष्टि-
रिति—वाच्यम्; 'नतु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्ये'दित्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्य-
प्रपञ्चलयश्रवणात् । न च सुषुप्तौ हिता नाम नाड्य 'इति नाडीसत्त्वप्रतिपादकवाक्यविरोधः; केन
क्रमेण सुषुप्तौ भवतीत्यपेक्षायां हिता नाम नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवस्य
पुरीतति शेते' इत्यादिना सुषुप्त्यव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसत्त्वं प्रतिपाद्यते, न तु सुषुप्तिकालेऽपि,
वाक्यान्तरविरोधात्; प्राक् सत्त्वमात्रेण च क्रमाभिधानपर्याप्तः । ननु—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभू'दिति
यच्छब्देन सुप्ताधारत्वेनोक्तस्य ब्रह्मण एवास्मादात्मन इत्यनेन परामर्शात्तत्कर्तृकैव प्राणादिस्सृष्टिर्न
तु सुप्तोत्थितजीवकर्तृका; अन्यथाऽयूर्णनाभ्यादेस्तन्तुविस्फुलिङ्गादिजननोक्तिरत्रापि वाक्ये सर्वलोक-
सृष्ट्युक्तिश्चालीकार्था स्यात्, न हि दृष्टिसृष्टिपक्षे अयूर्णनाभ्यादेस्तन्त्वाद्विजनकत्वं सर्वलोकसृष्टिर्वा-
स्तीति—चेत्, न; यत्रेत्यस्य कालपरत्वेन यच्छब्देन ब्रह्मणो निर्देशाभावात् । न च यत्रेत्यस्य ब्रह्मरूपा-
धिकरणपरत्वं कालपरत्वं वेत्यत्र विनिगमनाविरहः; अनन्तरवाक्ये कैष तदाभूदित्यत्र क तदेति
पदद्वयोपादानस्यैव विनिगमकत्वात्, यत्रेत्यनेन देशनिर्देशो केति देशप्रश्नानुपपत्तेः, कालानिर्देशो च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ज्ञानावस्थावत्त्वैत्यर्थः । जगदिति । 'ध्रुवो राजा विशामय'मिति शेषः । अनित्यतावादिभिरिति । अनित्यतैव
पृथिव्यादेः, न तु दृष्टिसृष्टिरिति वादिभिरित्यर्थः । अन्यथानयने नित्यरूपमुख्यार्थभिन्नार्थकत्ववचने । सन्ताना-
विच्छेदेति । सृष्टिदृष्टिपक्षे यावत् पृथिव्यादिकं तिष्ठति, तावत्कालं पृथिव्यादेरवस्था स्वीक्रियते; स्थूलावस्थादृष्ट्य-
भावकालेऽपि सूक्ष्मावस्थादृष्टिसंभवात् । ननु—ध्रुवेत्यादे राजस्थैर्यशासने विनियोगः, पृथिव्यादि यथा स्थिरं, तथा त्वं
राजा स्थिर इति चार्थ इति माधवीयभाष्योक्तिविरोध इति—चेन्नः सन्तानाविच्छेदस्यैव स्थैर्यत्वात् । अगतेरिति ।
राजत्वाश्रयस्य देहस्य मरणपर्यन्तं न स्थैर्यम्; बाल्यौवनादौ वृद्धिहासाभ्यां परिणामित्वेनास्थैर्यात् । अतः स्थूलसूक्ष्म-
भावापन्नेदेहप्रवाहाविच्छेद एव स्थैर्यमिति भावः । काल इति । नाडीसत्त्वमित्यत्रान्वेति । 'यदा सुषुप्तो भवति,
न कस्यचन वेद । हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि ताभिः प्रत्यवस्य पुरीतति शेते । यथा कुमारो वा
महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिग्रीमानन्दस्य गत्वा शयीत । एवमेवैष एतच्छेते' इति वाक्ये यदा सुषुप्तः शेते, तदा
एष एवमेतच्छेते । एतदिति । पूर्ववाक्योक्तब्रह्माधारकार्थकं शयनक्रियाविशेषणम् । कीदृशं शयनम्? तत्राह—यथे-
त्यादिशयीतेत्यन्तम् । गत्वा शयीतेति । शयित्वा गच्छेदित्यर्थः, मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादिवत्; अन्यथा शय-
नोत्तरमेवानन्दप्राप्तेर्यथाश्रुतासङ्गतेः । तथाच यथा कुमारादिः शयित्वानन्दातिशयं गच्छति, एवं विज्ञानमयस्य शयित्वा-
नन्दातिशयरूपब्रह्मप्राप्तिरूपं शयनमित्यस्मिन्नर्थे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवाक्ययोः पर्यवसानम् । आनन्दातिशयप्राप्तिरूप-
शयनान् पूर्व शयनं विवेचयन्ती श्रुतिराकाङ्क्षितं क्रममाह—हिता नामेत्यादि । एवंच पुरीतदाधारिका सुषुप्तिरिति
प्रलापो वाक्यार्थाज्ञानादेव; पुरीतत्प्राप्त्युत्तरं मनआद्युपाधिलयेन मनआद्युपाधिकृतभेदाभावरूपब्रह्माप्राप्तेरेव सुषुप्ति-
त्वस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । अतएव 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि चे'ति सूत्रे नाडीपुरीतब्रह्मणां सुषुप्तौ क्रमसमुच्चयः
सिद्धान्तितः । वाक्यान्तरेति । 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं' मित्यादिवाक्यैत्यर्थः । सर्वलोकसृष्टिः सर्व-
लोककर्मिकैका सृष्टिः । अनन्तरवाक्येति । गार्ग्यं प्रति ब्रह्म ज्ञापयन् अजातशत्रुर्गार्ग्यस्य ब्रह्मप्रश्नेऽप्यसामर्थ्यात्
स्वयमेव प्रश्नपूर्वकं ब्रह्मोक्तवान् । 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूय एष विज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाभूत् कुत एतदागा'दिति
प्रश्नः । यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेपां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय एषोऽन्तर्हृदय
आकाशस्तस्मिन् शेते' इति प्रत्युत्तरम् । तत्र केत्यनेन देशस्यैव प्रश्नः; अन्यथाऽऽकाशरूपदेशोत्तरासङ्गतेः । तथाच
यत्रेति कालस्यैव निर्देश इति भावः । ननु यत्रेति केत्यस्य विशेषणं तत्राह—कालानिर्देश इति । ननु—तथा-

तदेति प्रतिनिर्देशानुपपत्तेः, भाष्यकारादिभिश्च स्थूलाधिकारिणं प्रति तथा व्याख्यानात्, ऊर्णनाभ्यादेस्तन्वादिजन्मोत्पत्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्धकार्यकारणभावप्रसिद्धिर्मानुरुध्य । सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद्दृष्टिव्यक्तमभिप्रेत्य; यदा यत् पश्यति, तत्समकालं तत् सृजतीत्यत्र तात्पर्यात् । न चाविद्यासहकृतजीवकारणकत्वे जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिः, जगदुपादानस्याज्ञानस्य विचित्रशक्तिकत्वात् । उपपत्त्यन्तरंचात्र सिद्धान्तविन्दुकल्पलतिकादावस्माभिरभिहितम् । वासिष्ठवार्तिकामृतादावाकरे च स्पष्टमेवोक्तम् । यथा—‘अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव । क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥’ इत्यादि । तस्मात् ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नं द्वैतजातं ज्ञानज्ञेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसत्त्वं सर्वस्येति सिद्धम् ॥ रज्जुसर्पादिवद्विश्वं नाज्ञातं सदिति स्थितम् । प्रबुद्धदृष्टिसृष्टित्वात्सुषुप्तौ च लयश्रुतेः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्याकाशशब्दितं ब्रह्मैव एतस्मादात्मन इत्यत्रोक्तमिति—चेन्न; एवमेवैष एतच्छेते इत्यत्राव्यवहितपूर्ववाक्ये जीवस्यैव प्राधान्येनोक्तत्वेनैतत्पदबोध्यत्वौचित्यात्, ‘पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रं’मित्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अत एव तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश इत्यादिश्रुतावात्मपदं सार्थकम्; ब्रह्मात्मकजीवकारणत्वपरत्वात् । अतएव श्रुत्यन्तरे ब्रह्मकारणत्वं जीवकारणत्वरूपं बोध्यम् । अतएव ‘असतोऽधि मनोऽसृजत मनः प्रजापतिमसृजत । तच्चेदं मनस्येव प्रतिष्ठितं यदिदं किंचे’त्यादिश्रुत्या जगतो मनःपरिणामत्वमुक्तम् । ‘एतत्सर्वं मन एवे’ति श्रुतिव्याख्याने वार्तिकेऽप्युक्तम् । शुक्लं कृष्णमणु स्थूलमिति धीः कर्मणो वशात् । द्वैताधिकारमापन्ना वैश्वरूप्यं न गच्छति । धीर्विपर्ययरूपेयं यतः शुद्धादिरूपिणि । मन एवेत्यतः प्राज्ञाः सर्वं रूपं प्रचक्षते’ इति ॥ यतो धीर्मेनःपरिणामः, अतस्तद्विषयोऽपि; सुषुप्तौ मनोऽभावे दृश्यदर्शनयोरभावात्, सुप्तोत्थितस्य मनोऽन्वये कार्यान्वयाच्चेत्यर्थः । गौडपादीयभाष्यतदानन्दगिरिवासिष्ठसंक्षेपशारीरकादौ चायमर्थः प्रपञ्चितः । स्थूलाधिकारिणमिति । उक्तं हि संक्षेपशारीरके—तत्त्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्त्वक्षतिर्मध्यमा तत्त्वप्रच्युतिविभ्रमक्षतिकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मेता । जीवैकत्वमुसुक्षुमेदगतितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वदृष्टिर्भवे’दिति । प्रत्यक्षादिमानानां तत्त्वावेदकत्वदृष्टिराद्या । तेषां व्यावहारिकमानत्वदृष्टिः द्वितीया । तत्त्वप्रच्युतेः व्यावहारिकमानत्वस्य शुक्तिरूप्यादिबुद्धाविव प्रत्यक्षादिमानेषु विभ्रमत्वदृष्ट्या क्षतिकरी जन्यदृश्यमात्रे प्रातिभासिकत्वदृष्टिर्पर्ववसिता तृतीया । सापि जीवैकत्वे मुसुक्षुमेदे च गमनात् द्विविधा । व्यावहारिकमानत्वाभावभ्रमत्वविषयकत्वेन व्यामिश्रा दृष्टिः । पूर्वपूर्वेति । मुसुक्षुमेददृष्टेः पश्चादुक्तत्वेऽप्यार्थिकं जीवैकत्वदृष्टितः पूर्वत्वं बोध्यम् । उपपत्त्यन्तरमिति । अज्ञायमानतादशायां घटादावनन्तसंयोगादिकं इन्द्रियक्रियासंयोगादिकं तस्य प्रत्यक्षहेतुत्वादिकं प्रातीतिकव्यावहारिकयोर्मिथो व्यावृत्तरूपेणान्यत्र हेतुत्वादिकं न कल्प्यते । ज्ञानहेतुत्वस्थले विषयस्यैव हेतुत्वं जन्यज्ञानाकल्पनं चेति लाघवम् । घटं पश्यामीत्यादिप्रत्यये च घटादौ चाक्षुषाद्यभेदो विषयो घटादावेव चाक्षुषत्वादिधर्मस्वीकारादित्यादिरूपमिति शेषः । द्वैतजातं जातद्वैतम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां दृष्टिसृष्ट्युपपादनम् ॥

अथ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

“जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्मिदा । अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः” । इति खवचनेन प्रत्यभिज्ञादिना विश्वस्थायिलप्रतिपादकविवरणेन च विरोधात् तत्तत्कार्यस्य प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियततत्तत्करणजन्यतया स्वर्गाद्यर्थज्योतिष्टोमादिविधेयकाशादेः बाष्पादिहेतुत्वोक्तेः तृत्याद्यर्थभोजनादिप्रवृत्तेश्वानुपपत्तेः घटादेर्ज्ञानात् पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेः शुक्तीदमंशस्यापि रूप्यवदिदं रूप्यमिति ज्ञानात् पूर्वमसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपतदस्थलक्षणस्य सत्यस्य मिथ्यावस्तुसंभेदावभासरूपस्वरूपलक्षणस्य चायोगात् इदं रूप्यमिति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेर्भावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिक्रियाविरोधात् इदं रूप्यमिति नेदं रजतमिति ज्ञानयोः भिन्नविषयकत्वेन बाध्यबाधकभावस्य रूप्यबाधस्याऽपि प्रातिभासिकत्वेन च रूप्यमिथ्यात्वस्य चासिद्धेः, सुप्तिप्रल्यादौ जीवब्रह्मविभागाभावेन प्रतिसुप्तिप्रलयं पुनरावृत्त्यापातात् सुप्तं प्रति संस्कारादेरभावेन पुनरुद्बोधासंभवात् मोक्षस्यापि दृगन्यत्वेन प्रातिभासिकत्वापत्तेः चिन्मात्रस्य घटादिदृष्टिवे तस्य सदा प्रतीत्यापत्त्या विशिष्टस्य तत्त्वे तस्यापि दृष्टिदृष्टिरूपत्वेन दोषाज्ञानादीनामपि प्रतीतिमात्रशरीररूपानामेव भ्रमजनकत्वेन चानवस्थाप्रसङ्गात् दृष्टिसृष्टेरपि दृष्टिसृष्टिवे घटादेरदृष्टिसृष्टिवापत्तेः क्षीपादौ परिणामभेदकत्वेनात्र बाधकस्याभावेन

प्रत्यभिज्ञाविरोधापत्त्या सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञादृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहल्लक्षणासिद्धान्तविरोधापत्तेः प्रतिभासमात्रशरीरामेदज्ञानबाधकत्वासंभवात्, 'ध्रुवं विश्वमिदं जगदि'ति श्रुतिविरोधाच्च दृष्टिसृष्टिवादोऽपि न युक्तः । तदयं संग्रहः—

निर्वाधप्रत्यभिज्ञानात् ध्रुवं विश्वमिति श्रुतेः । स्वक्रियादिविरोधाच्च दृष्टिसृष्टिर्न युज्यते इति ॥ एतेन—चैत्रे सुप्ते तद्देहादिकं तं प्रति नास्त्येव, जाग्रतो मैत्रस्य तु तद्भ्रान्त्या भासते, प्रत्यभिज्ञा तु सोऽयं वीपप्रत्यभिज्ञेव भ्रान्तिरिति वचनं—**परास्तम्**; “अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि” इति वाक्यमपि “नाच्चो द्वांसप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततं” “यथोर्णनाभिः” “यथाग्नेः क्षुद्राविष्फुलिङ्गाः” इत्यादिवाक्यशेषानुसारेण सुप्ताधारब्रह्मणः तद्ब्रह्मतापरं दृष्टिसृष्टिपक्षाननुगुणमेवेति दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्यापि न प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति—**वर्णयन्ति** ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

शुक्तिरूप्यस्वाप्नादिवदृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्तेरपि प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः; दोषप्रयुक्तत्वनिवन्धनादिरूपज्ञातैकसत्त्वरूपदृष्टिसृष्टेरनाद्यतिरिक्तविषयत्वस्यैवाङ्गीकारेण कारणात्मना स्थायित्वस्वीकारेण च षडस्माकमिति वचनेन प्रत्यभिज्ञायाः स्थायित्वप्रतिपादकविवरणेन चाविरोधात्, विषयबाधाबाध्यां विशेषोपपत्त्या स्वाप्रकार्यकारणभावबोधवाक्यवत्तद्व्यवहारवच्च ज्योतिष्टोमादिविधेः भोजनादिव्यवहारस्य चोपपत्तेः, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वलक्षणात्तदस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकास्तिविषयत्वेन तदयोगस्येष्टत्वात्, मिथ्यारूप्यस्येदमंशावच्छिन्नचैतन्येन सह संभेदावभासस्य विद्यमानत्वेनाध्यासस्वरूपलक्षणस्य दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्युपपत्तेः, सत्ताकाले इव सत्ताविरहकालेऽप्यज्ञानस्थित्यविरोधेन शुक्तित्वाज्ञानकार्यतादिसिद्धान्तप्रक्रियाया अप्युपपत्तेः, भिन्नविषयत्वेऽपि विषयसारूप्येण बाध्यान्यूनसत्ताकत्वस्यैव बाधकताप्रयोजकत्वेन व्यावहारिकेण व्यावहारिकस्यैव प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधस्याप्युपपत्त्या च स्वाप्रबाध्यबाधकयोरिवेदं रजतं नेदं रजतमिति ज्ञानयोरपि बाध्यबाधकभावोपपत्तेः, जीवब्रह्मविभागादेः दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमेन संस्कारस्य च कारणात्मना स्थायित्वेन मुक्तपुनरनावृत्तिसुप्तपुनःप्रबोधयोरप्युपपत्तेः ब्रह्मस्वरूपस्य मोक्षस्य दृगन्यत्वाभावेन प्रातिभासिकत्वानुपपत्तेः, वृत्तिप्रतिफलितचैतन्यस्यापि स्वोपाधिबृत्तिफलनस्यैवाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तरानपेक्षयाऽनवस्थाऽप्रसङ्गेन तस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेऽपि बाधकाभावेनाज्ञानस्यैव दोषत्वेन तस्य दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमेन देहेन्द्रियाभावेऽपि स्वाप्रभ्रमवदुक्तभ्रमोपपत्त्या चानवस्थाऽप्रसङ्गात्, ज्ञानस्याज्ञेयत्वेऽपि विषयाणां ज्ञेयत्ववत् दृष्टिसृष्टेरदृष्टिसृष्टित्वेऽपि घटादेरपि दृष्टिसृष्टिलोपपत्तेः “नेह नानास्तीति” श्रुत्या रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वस्य प्रपञ्चे बोधनेन प्रतिभासकालातिरिक्तकालसत्त्वे उक्तश्रुतेरेव बाधकत्वेन प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तिरिति तद्विरोधस्याकिञ्चित्करत्वात्, धर्म्यभेदस्यापि बाधितत्वेऽपि यदा तत्र बाधाग्रहः, तदा सोऽयमित्यादौ जहदजहल्लक्षणासंभवेन दृष्टान्तलोपपत्त्या तद्दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये लक्षणासिद्धान्तस्याप्यविरुद्धत्वात्, आत्माभेदस्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावेन दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यन्यूनसत्ताकत्वेन बाधकत्वोक्त्या चाभेदज्ञानबाधकलोपपत्तेः, दृष्टिसृष्टिश्रुत्यनुरोधेन कल्पान्तरसन्तानाविच्छेदपरत्वेन ध्रुवश्रुतेरुपपत्तेः, सुषुप्त्यव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसत्त्वप्रतिपादकत्वेन लौकिकप्रसिद्धिसिद्धकार्यकारणभावप्रसिद्ध्यनुसारेण च वाक्यशेषद्वयोपपत्त्या यत्रेति शब्दस्य कालपरस्य ब्रह्मपरत्वाभावेन ब्रह्मसृष्टिप्रतिपादनतात्पर्याभावेन दृष्टिसृष्टिपक्ष एवास्मादात्मन इति श्रुत्युपपत्तेश्च दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्या प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्युद्भवति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

जीवब्रह्मविभागादीनां दृष्टिसृष्टित्वे दृष्टिसृष्ट्या सर्वमिथ्यात्वासिद्ध्यापत्त्या तथा विश्वमिथ्यात्वसिद्धिरिति श्लोकस्या कारणस्यापि मिथ्यात्वेन दृष्टिसृष्टित्वेन प्रत्यभिज्ञाया स्थायित्वसाधकविवरणेन च विरोधात्, स्वाप्नसाम्ये विषयबाधाबाध्यां विशेषासंभवेन स्वाप्नादिसाम्यज्ञाने ज्योतिष्टोमादौ जागरे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, स्वाचार्यप्रक्रियायाः मन्दाधिकारिविषयत्वकल्पनायोगेन प्रतिकर्मव्यवस्थाधनुपपत्ताविष्टापत्त्ययोगात्, इदं वृत्तेः प्राणिदमोऽभावेन तदवच्छिन्नचैतन्यस्याभावेन तस्य मिथ्यात्वेन च स्वरूपलक्षणसमन्वयस्याप्यसंभवात्, ज्ञानस्यैव तत्सत्तारूपत्वेन सत्ताकालेऽज्ञानासंभवेन सत्ताकाले इवेति दृष्टान्तासङ्गत्या ज्ञानस्य ज्ञातैकसत्त्वेनाज्ञानस्य तदवच्छेदकविषयत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वेनावच्छेदकस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽज्ञानविषयत्वासंभवेन शुक्तित्वाज्ञानकार्योऽध्यास इति स्वप्रक्रियाविरोधात्, सारूप्यस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेनोभयानुगतस्य तस्यासंभवेन सारूप्येण बाधव्यवस्थाया अप्यसंभवात्, जीवब्रह्मविभागादेः अदृष्टिसृष्टित्वे बाधकस्योक्तत्वेन कारणात्मना स्थायित्वस्यापि खण्डितत्वेन च मुक्तपुनरनावृत्तिसुषुप्तपुनरबोधयोरप्यपरिहरात्, असाध्यत्वापत्त्या मोक्षस्यापि दृगन्यत्वेन प्रातिभासिकत्वापत्तेः, वृत्तिज्ञानं विना वृत्तिस्वरूपासिद्ध्या वृत्तिविशिष्टचैतन्याभावेन वृत्तिस्वरूपसिद्ध्यर्थं वृत्त्यन्तरविशिष्टचैतन्यस्य वृत्तिज्ञानत्वमेवमन्यस्यान्यस्येयनवस्थाप्रसङ्गेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां भ्रममात्रे देहादिहेतुत्वेन स्वाप्नेऽपि तद्धेतुत्वेन च तदभावे भ्रमाभावप्रसङ्गात्, तत्सत्यमित्यादेरपि सन्तानाविच्छेदपरत्वापत्त्या माधवीयव्याख्यानुसारेण विश्वस्यैवपरतया व्याख्यायनस्यैव युक्तत्वेन च ध्रुवश्रुतिविरोधापत्तेः,

अथ एकजीववादः ।

स च द्रष्टृक एव; तन्नानात्वे मानाभावात् । ननु—कथमेक एव जीवः; प्रतिशरीरं 'अहं सुखी अहं दुःखी अहं संसारी अहमस्वाप्स'मित्याद्यनुभवविरोधादिति—चेन्न; अविद्यावशात् ब्रह्मैवैकं संसरति । स एव जीवः । तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिवुद्धिः । स्वाप्नशरीरे 'अयं सुखी अयं दुःखी'—त्येव यत्र बुद्धिर्न त्वहं सुखीत्यादि, तत्तु निर्जीवम् । यत्र त्वहमित्यादि तत् सजीवम् । जाग्रच्छरीरान्तरे अहमिति प्रतीत्यवच्छेदके सजीवतोक्तिर्न द्वितीयेन जीवेन सजीवत्वमित्यभिप्रेत्य; तत्र मानाभावात् । बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिस्तत्र मानमिति चेन्न; बन्धमोक्षगुरुशिष्यादिव्यवस्थायाः स्वप्रवद्यावद्विद्यमुपपत्तेः । न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः; समष्ट्यभिमानिनो मुख्यजीवस्यासुप्तत्वात् । तस्मिन् लयकाले प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः । अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु, सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति; तदुपाधीनामप्रलीनत्वात् । संस्कारस्य कारणात्मना स्थितेर्न सुप्तस्य पुनरुत्थानानुपपत्तिरित्युक्तम् । एतेन—मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगः; तव कल्पकत्वे त्वत्कल्पितास्मदादिवोधार्थं तव शब्दप्रयोगाद्यनुपपत्तिः, न च स्वप्रवत् पर्यनुयोगायोगः; एवमपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारप्रसङ्गादिति—निरस्तम्; चैत्रमैत्रादिसर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन तव ममेत्यादिविकल्पानुपपत्तेः । नापि स्वक्रियादिविरोधः; स्वक्रियायाः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निर्जीवं जीवावच्छेदकमनःसुखाद्यनवच्छेदकम् । समष्ट्यभिमानिनः तत्तन्मनोऽवच्छिन्नानां तत्तद्देहाभिमानानां माश्रयस्य । लयकाले । तमेव तन्मनोऽवच्छिन्नमेव । कल्पकत्वेन मनस्तत्परिणाममात्रद्रष्टृत्वेन । कल्पितत्वादीत्यादिना एकजीवेन सर्वप्रमात्रादिकं कल्पितमित्यादिग्रहणम् । तथाच जीवभेदज्ञानात् एकबोधनार्थमपरस्य प्रवृत्तिः एकजीवकल्पितं सर्वमिति निश्चयेऽपि मनोऽवच्छिन्नानां भिन्नत्वात् युज्यते । न ह्येकमनोऽवच्छिन्नेनापरमनोऽवच्छिन्नं कल्पितम् । नच—एकस्य मोक्षार्थप्रवृत्तिं जानतोऽपरस्य तदर्थं प्रवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्; परप्रवृत्त्या मोक्षावश्यंभावानिश्चयात्,

“यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाज्य” इत्यत्र यदानिर्देशात्सुषुप्तिकाले एव नाडीसत्त्वावगमेन युष्मद्भाष्येऽपि सुषुप्त्याधारात्परमात्मनः सृष्टिपरतयैव तस्मादात्मन इति श्रुतेर्व्याख्यातत्वेन दृष्टिसृष्टौ प्रमाणाभावाच्च न दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्या प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

जीवब्रह्मविभागादीनां दृष्ट्यसृष्टित्वेऽपि दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वसिद्ध्या तथा विश्वमिथ्यात्वस्यास्मदनभिमतत्वेन दृष्टिसृष्टिमत्वस्य मिथ्यात्वव्यापकत्वाभावेन स्वविवरणवचनविरोधाभावात्, स्वाप्नसाम्येऽपि दोषप्रयुक्तत्वाज्ञानेनाबाधोपपत्त्या बाधाबाधभ्यां विशेषोपपत्त्या ज्योतिष्टोमादिविधिवृत्त्युपपत्तेः अधिकारिभेदकल्पितप्रक्रियाभेदानामाचार्यान्ूदितानामधिकारिविशेषविषयकत्वे बाधकाभावेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेरिष्टत्वात्, इदं रूपमित्याकारविशिष्टविषयकैकवृत्तेरेवाङ्गीकारेणोपाधेर्मिथ्यात्वेऽपि तदवच्छेदेनाधिष्ठानताश्रयस्य चैतन्यस्य सत्यत्वेन चाध्यासस्वरूपलक्षणसमन्वयसंभवात्, सृष्टिदृष्टिपक्षे तद्विशिष्टबुद्धौ तदभावबुद्धेरिव दृष्टिसृष्टिपक्षे रूपान्तराभावधिय इव विरोधित्वस्वीकारसंभवेनेदं रजतं नेदं रजतमिति ज्ञानयोः बाध्यबाधकभावोपपत्तेः, स्थूलमनःपरिणामरूपजीवेशभेदादेः सुषुप्तिप्रलययोरभावेऽप्यज्ञानसत्त्वेन मुख्यभावोपपत्तेः, कार्यान्वयथानुपपत्त्याऽनुभववलेन च भाव्यवच्छेदेनाप्यज्ञानाङ्गीकारेण श्रुतिरूप्याज्ञानकार्यतादिप्रक्रियाविरोधाभावात्, जीवब्रह्मविभागादेर्दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वोपपत्त्या सुषुप्तिप्रलययोः सूक्ष्मावस्थाविषयकनिर्विकल्पकाविद्यावृत्तिस्वीकारेण तदवच्छिन्नसाक्षिविषयत्वस्य सूक्ष्मावस्थायां संभवेन कारणात्मना स्थायित्वोपपत्त्या च मुक्तपुनरावृत्त्याद्यप्रसारात्, स्वच्छेषु सुखादिष्विव वृत्त्यन्तरं विनैव वृत्तौ चित्प्रतिफलनोपादानसंभवेनासंभवेऽपि परस्परविषयकवृत्तिद्वयस्वीकारेणैवानवस्थादिपरिहारात् राजस्थैर्यशासने विनियुक्तायाः ध्रुवश्रुतेः राजत्वाश्रयदेहस्य बालययौवनादौ वृद्धिहासाभ्यां परिणामित्वेनास्थैर्येण स्थूलसूक्ष्मभावापन्नदेहप्रवाहाविच्छेदपरत्वस्यैव युक्तत्वेनोक्तश्रुतिविरोधाभावात्, “एवमेवैष एतच्छेते” इत्यव्यवहितपूर्ववाक्ये जीवस्यैव प्राधान्येनोक्तत्वेनैतत्पदबोध्यत्वौचित्यात्, “पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीव” इति श्रुत्यन्तरात् “एतस्मादात्मन” इत्यात्मपदसार्थक्यात् वार्तिकदावप्येवमेवोक्तत्वाच्च जीवकारणतायामेवोक्तश्रुतितात्पर्येण दृष्टिसृष्टिपक्षस्यापि ग्रामाणिकत्वाच्च सादिदृश्यानां सर्वेषामपि तदन्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यूहैवेति—विवेचयन्ति ॥

इति दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः ।

कल्पितत्वादिनिश्चयविरहकालीनत्वेन पर्यनुयोगायोगात् । अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्ध-
मोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः, न; मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तद-
विरोधः । न हि मृगतृष्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावशुष्का मरुभूमिरार्द्रा भवति । एतेन—कल्पितस्य
जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगः; तेन कल्पकेन प्रत्यक्त्वेनाज्ञानात्, अन्यस्यानुभवितुरभावात्,
तथानुभवापलापे एकजीवाद्वैतश्रुत्यादेरप्यसिद्धिरिति—निरस्तम्; अनेकशरीरे एकजीववादस्याङ्गी-
कारात् । नच—तर्हि तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरयोगः, मैत्रं प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य
तमेव प्रति अहमितिधीविषयत्वायोगश्चेति—वाच्यम्; भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तः-
करणादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाहमित्यादिवृद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेः । न च चैत्रसुखदुःखादीनां
मैत्रेणानुसन्धानापत्तिः; अन्तःकरणावच्छिन्ननाविद्यावच्छिन्नेन वा । नाद्यः; तत्र परस्परं भेदात् । न
द्वितीयः; इष्टापत्तेः । अत एव—चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रजतभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्तिः
स्यादिति—निरस्तम्; अन्तःकरणभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः । ननु—एवं मुक्तावपि चैत्राद्यन्यतमान्तःकरणा-
वच्छेदेन साक्षात्कारे उत्पन्ने तदवच्छेदेनैव संसारनिवृत्तिः स्यात्, न तु तदितरान्तःकरणावच्छे-
देनेति—चेन्न; तत्साक्षात्कारस्य सविलासमूलाज्ञाननिवृत्तिरूपतया तत्कालेऽन्तःकरणस्याभावेन
वैषम्यात् । ननु—श्रुतिषु ‘अविद्यायामन्तरे वर्तमाना’ इत्यादावविद्या, ‘रमणीयचरणा’ इत्यादौ
कर्मबन्धः, ‘सति सम्पद्य न विदुः’ इत्यादौ सति सुषुप्तिः, ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था’ इत्यादौ
तत्त्वज्ञानं, ‘परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे’ इत्यादौ मुक्तिश्च चेतनधर्मः कथमनेकेष्वुच्यत इति—चेन्न;
‘अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते’ इत्यादिश्रुतिष्वेकवचनप्राप्तैकत्वविरोधेनोदाहृतश्रुतीनाम-
नेकत्वपरत्वाभावात् । सार्वजनीनभ्रमसिद्धतदनुवादेनाविरोधात् । नच—उदाहृतश्रुतिविरोधेन
‘इति सृष्टौ विनिश्चिता’ इति पूर्वेण ‘स पूज्यः सर्वभूतानां’मित्युत्तरेण च विरोधेनेदमेकवचनं ‘यदा
नीतिपरो राजा’ ‘स्वर्गकामो यजेते’त्यादिवचनैकत्वपरमित्येव किं न स्यादिति—वाच्यम्; प्रत्यक्त्व-
पराक्त्वत्वमहमित्यादिव्यवहारप्रयोजकान्तःकरणाभेदाध्यासबलात् बहुत्वस्य प्राप्तत्वेन पूर्वोत्तर-
वाक्योदाहृतश्रुत्यादीनामतत्परत्वात् । नच—मुक्तबहुत्वं नान्यतः प्राप्तमिति—वाच्यम्; जीवबहु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मुमुक्षुवत् प्रतारकाणामपि दृष्टत्वात्, निषेकिनां मोक्षार्थं प्रवृत्तेरेव रोचमानत्वात्, सांसारिकप्रवृत्तेः दुःखबहुत्वनिश्चया-
दिति भावः । तथानुभवेति । नानाशरीरेषु जीवस्य प्रत्यक्त्वेनानुभवेत्यर्थः । असिद्धिरिति । तदनुभवस्याप्यपलाप-
संभवात् इति शेषः । वैषम्यादिति । पल्लवाज्ञानस्य तत्तन्मनोवच्छिन्नत्वेन तत्तन्मनःपरिणामज्ञानेन निवृत्तिः,
मूलाज्ञानस्य त्वनवच्छिन्नत्वेन किञ्चिन्मनःपरिणामज्ञानेन निवृत्त्या सर्वदृश्यनिवृत्तौ मनोऽन्तरमेव दुर्लभम्, दूरतस्तत्र
संसारपत्तिः, प्रारब्धकर्मसत्त्वे तु मनोन्तरे संसार इष्टः, तत्त्वज्ञानावच्छेदकमनसि चेति भावः । ननु—सर्वाभिमा-
निनो हिरण्यगर्भस्य जीवस्य स्वीकारे तस्य कल्पान्ते मुक्त्या सर्वमुक्त्यापत्तिरिति—चेन्न; ‘ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते
प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदं’मित्यनेन सगुणब्रह्माहमित्युपासकानामपुनरावृत्त्या ब्रह्मलोकस्थि-
तानां कैवल्यप्राप्तिर्बोध्यते, न तु कल्पान्ते अवश्यं सेति बोध्यते; यदा कुत्रचिन्मनसि तत्त्वदर्शनं, तदा तेषामपि
कल्पान्ते प्रारब्धभोगसमाप्त्या कैवल्यप्राप्तिरित्यत्रैव तात्पर्यादिति भावः । एकवचनेति । इदमुपलक्षणम्—‘एको
देवः सर्वभूतेषु गूढः’ इति श्रुतावेक इति पदस्यापि । तत्र ‘साक्षी चेता’ इत्यादिवाक्यशेषात् देवपदं पुरत्रयक्रीडकपरम्,
अज्ञानावृतवस्तुस्वरूपकत्वेन गूढ इति भावः । इत्यादिश्रुतीत्यादिपदात् ‘पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं
सकलं प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते, स एष इह प्रविष्टः’ इत्यादिश्रुतयो देही कर्मानुगोऽवज्ञः शरीराणि
विहाय जीर्णान्यन्यानि गृह्णाति नर’ इत्यादिस्मृतयश्च ग्राह्याः । अनेकत्वेति । जीवानेकत्वेत्यर्थः । अनेकत्वानुवा-
देनेति । वस्तुतो अविद्यान्तरे वर्तमानत्वमविद्याप्रयुक्तदुःखाद्यभिमानित्वम् । अतएव पण्डितमन्यमाना इति
शेषः । तथाच अविद्यान्तरे वर्तमानत्वं रमणीयचरणत्वं सति लीनोपाधिकत्वं चेति त्रयं मनोऽवच्छिन्नस्यैव, ‘सति
संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामह’ इति वेत्तृत्वाभावस्तु स्मर्तृत्वाभावरूपः; अन्यथा संपद्येत्यस्य स्थाने संपद्यमाना
इत्युच्येत । तथा च मनोऽवच्छिन्नताकाल एव साक्षिणस्तदुक्तिः । एवं सुनिश्चितार्थत्वं मनोऽवच्छिन्नस्यैव । परमुक्तिरपि
शुद्धाभेदविवक्षया तस्यैव; अन्यथा हेतुफलयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः । गौडपादीये अनादिमाययेत्यादिवाक्ये ‘स्वर्गकाम’
इति यजेतेतिचैकवचनस्योपादेयकत्रैक्यपरत्वेऽपि स्वर्गकाम इतिवत् सुवेकवचनमविवक्षितम्; उद्देश्यविशेषणस्य ग्रह-
कत्वाधिकरणादौ तथोक्तत्वात् । अत एव पुंस्त्वस्याविवक्षया स्त्रिया अपि पतिसाहित्येनाधिकारः षष्ठे उक्त इति भावः ।

त्वस्य प्राप्तत्वेन मुख्यंश एवाप्राप्तत्वपर्यवसानात् । न चैकस्यैव जीवस्य सर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणत्वं निषिध्य ईश्वरकारणत्वविधायकैः श्रुत्यादिभिर्विरोधः; अविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादने निरसिष्यमाणत्वात् । नच—एवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिवोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वम्; शुद्धचैतन्ये सत्त्वस्यैवाभावात्, ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावात्, जीवे सार्वज्ञस्यानुभववाधितत्वादिति—वाच्यम्; समष्ट्यभिमानिनो जीवस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिसिद्धिकारात् । न चानुभवविरोधः; अन्तः-करणाभेदाध्यासबलात्तदननुभवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः । सर्वाभिमानिनस्तु सार्वज्ञ्यानुभवो-ऽस्त्येव । अत एव 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपे'त्याद्युपपद्यते । नच—'आचार्यवान्पुरुषो वेदे'ति श्रुतेरुपदेशं विना जीवस्य तत्त्वज्ञानमनुपपन्नम्, उपदेष्टव्यादन्यस्य चैतन्यस्याभावाच्च नोपदेशो गुज्यत इति—वाच्यम्; स्वप्न इवोपदेष्टुः कल्पितस्य संभवात् । ननु—उपदेष्टृत्वं न कल्पितमात्रस्य, किंतु तत्त्ववित्त्वेन कल्पितस्य, तथाचोपदेशात्प्राक् तत्त्वज्ञाने तदैव मोक्षापत्तिः, उपदेशवैयर्थ्यं च, नचैवं स्वप्नेऽपि तुल्यम्; तदा हि शब्दविशेषवक्तृत्वेनैव गुरुकल्पना, न तूपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेष-वित्त्वेनेति विशेषादिति—चेन्न; अत्रापि तद्वदेव वाक्यविशेषवक्तृत्वेनैव तत्कल्पनसंभवात् । ननु—तर्हि 'यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही' त्यादिश्रुतिः 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि-स्मृतिश्चायुक्ता स्यादिति—चेन्न; सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वेनाज्ञाततत्त्ववित्त्वेन तत्त्वम-स्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्य उपदेष्टृत्वसंभवेन उदाहृतवाक्याविरोधात् । अन्यथा तवापि मते तत्त्ववित्त्वेन प्रमित एवाचार्यत्वेनानुसरणीय इति प्रथमत एव तत्त्वज्ञाने तत्कालमोक्षापत्त्युपदे-शवैयर्थ्यादिकं च स्यात् । एतेन—'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्य'मित्यादिविधिरपि भावितत्त्व-ज्ञानिकल्पकचेतनं प्रत्येव, नच तस्य शिष्यः स्वाज्ञानकल्पित इति ज्ञानतस्तन्मोक्षार्थं प्रवचने प्रवृत्ति-र्युक्ता; न च स्वप्नवत् कल्पितत्वाज्ञानात्प्रवृत्तिः; तत्त्वविदस्तदज्ञानानुपपत्तेरिति—निरस्तम्; स्वप्नगु-रुवत् कल्पितत्वेन गुरोरपर्यनुयोज्यत्वात् । नच—तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन वेदस्य मीमांस्यत्ववत् गुरोरपि पर्यनुयोज्यत्वमिति—वाच्यम्; तर्केण वेद इव तत्तद्रूपकल्पनया गुरावपि तत्परिहारात् । नच—कथास्वपि सदुत्तरपरिस्फूर्तावहं त्वत्कल्पितो न पर्यनुयोज्य इत्युत्तरं स्यादिति—वाच्यम्; कथायाः कल्पितत्वानिश्चयकालीनत्वेन समयबन्धविशेषनिबन्धनत्वेन च तादृगुत्तरानवकाशात् । तस्माच्छि-ष्यवत् गुरोरपि कल्पितत्वात् स्वप्नवत्सर्वव्यवस्थोपपत्तिः । अथ—कल्पको न निश्चिताद्वैतः; शास्त्र-प्रणयनवैयर्थ्यात्, नाप्यनिश्चिताद्वैतः; शास्त्रस्य प्रमामूलकत्वाभावप्रसङ्गादिति—चेन्न; प्रमामूलक-त्वाभावेऽप्यवाधितविषयत्वेन शास्त्रप्रामाण्योपपत्तेरन्यपक्षाभ्युपगमात् । न चामुकः स इत्यनिश्चये बह्वायाससाध्यमोक्षार्थप्रवृत्त्ययोगः; प्रतिशरीरमहमहमिकया 'बद्धोऽह'मिति निश्चयस्य स्वानुभव-साक्षिकत्वेन प्रवृत्तिसंभवात्, एकेनैव जीवेन चैत्रमैत्रादिशरीराणां सजीवत्वसंभवस्य प्रागेवोक्त-त्वात् । किंच चैत्रमैत्रादिषु 'कोऽसा'विति प्रश्नस्य किं केनचित् क्रोडीकृतं चैतन्यं विषयः, किं वा निरस्तसमस्तभेदम् । नाद्यः; तस्य कल्पितत्वेनाकल्पकत्वात् । न द्वितीयः; तस्यैकत्वेन तदनिश्चया-सिद्धेः । शुद्धचित्त एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारित्वेऽपि आवरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वाश्रिताविद्याव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अतत्परत्वादिति । एकत्वश्रुत्यादिकं तु तत्परम् । तस्याप्राप्तत्वाह्लादवाचेति भावः । समष्ट्यभिमानिनः तत्तन्म-नोऽवच्छिन्नतत्तदभिमानवतः अविद्योपहितस्येत्यर्थः । सर्वाभिमानिन इति । स्वकल्पितसर्वात्मकत्वसर्वज्ञत्वादि-विशिष्टेश्वराभेदोपासनाधीनसर्वाभिमानयुक्तस्येत्यर्थः । उपपद्यत इति तादृशाभिमानयुक्तप्रमात्रैव तथोक्तमिति भावः । ननु भेदस्यापि तादृशज्ञानविषयत्वसंभावनया भेदवादिनोऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वसंभवाद्विशिष्य तत्त्वज्ञत्वेनैव गुरुः कल्प्यः, तत्राह—अन्यथा तवापीति । तथाच भेदिमते स्वसिद्धान्तश्रवणाद्यथा नाद्वैते तत्संभावना, तथैवाद्वैतमतेऽपि भेदे न तत्संभावना । यथाच तव भेदानिर्णयेऽपि भेदनिर्णयवानयमिति कल्पना, तथा ममाद्वैत-निर्णयवानिति कल्पना; अन्यथा तत्त्वनिर्णयात् पूर्वं तत्र मोक्षसाधनत्वज्ञानासंभवाद्विच्छापि न स्यात् । यथा तवेदानीं भेदधीसत्वेऽपि विचारजन्यं शास्त्रीयज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तथा ममाऽपि तादृशमद्वैतज्ञानमेव तथेति भावः । भावित-त्वज्ञानकल्पकचेतनमिति । सर्वमोक्षकारणतत्त्वज्ञानयुक्तो भावीति शिष्यशास्त्रादिकल्पकचेतनः, तमित्यर्थः । प्रवचने अध्यापने । समयबन्धेति । नियमबन्धेत्यर्थः । तादृशतादृशक्षेपपर्यनुयोगघटितकथाया एव तत्त्वनिर्णयहे-तुत्वादिति भावः । प्रमेति । निश्चयेत्यर्थः । अन्त्येति । आद्यपक्षेऽपि न दोषः । 'चैत्रो ब्रह्मे'ति वाक्यजन्यनिर्विकल्प-

ज्ञात् संसारित्वकल्पकत्वमोक्षार्थतमानत्वाद्युपपत्तिः । ननु—अनादौ संसारे कस्यचित्तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्चाभूच्च वा, आद्ये इदानीं संसारोपलब्धिर्न स्यात्; जीवस्यैकत्वात्, अन्ये संप्रदायासंभवेन तत्त्वज्ञानासंभव इति—चेन्न; न ह्यसंप्रदायिकत्वमुत्पत्तिविरोधि; अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किंतु कारणासत्त्वं; तन्नेदानीमुपदेष्टृत्वादिकारणस्य कल्पनासुदृढस्य सत्त्वात् । जीवैक्यस्य प्रमाण-सिद्धत्वे संसारोपलम्भ एवातः पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ प्रमाणम् । नच—तत्त्ववित्त्वेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्माभूत्, मम तु भविष्यतीति कथं श्रद्दध्यादिति—वाच्यम्; शास्त्रप्रामाण्य-दाढ्यादिति गृहाण । अन्यथा तेषां महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शङ्कापिशाच्या-प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः । ननु—तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो जीवभेदः; पूर्वमपि केषांचिन्मो-क्षश्चाभ्युपेयताम् । श्रूयते हि—‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्’ ‘अजो ह्यको जुषमाणोऽनुरोते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः’ ‘नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्’ इत्यादि । स्मर्यते च—‘बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमाश्रिताः । इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-मागताः ॥’ इत्यादीति—चेन्न; उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकभ्रमसिद्धभेदानुवादकत्वेन तत्परत्वाभा-वात्, जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्तास्यार्थपरत्वात्, स्वप्न्यायेन भेदस्य कल्पितत्वो-पपत्तेश्च । ज्ञानस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातुं शक्नुवन्ति; तात्पर्यवद्वाक्याविरोधेनाता-त्पर्यवद्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः । ‘अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः । ततोऽप्यनन्त-गुणिता जीवानां राशयः पृथक् ॥’ इत्यादिस्मृतिरपि जीवोपाधिभेदानुवादकतया व्याख्येया । तस्माद-विद्योपाधिको जीव एक एवेति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ एकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कनिश्चयस्य मोक्षाजनकत्वेन विजातीयस्यैव मोक्षजनकत्वेन तादृशानिश्चयेन शास्त्रप्रणयनसंभवात्, मोक्षजनकज्ञानमूल-कत्वं तु न शास्त्रस्यापेक्ष्यत इति ध्येयम् । केनचित् मनआदिना । कोडीकृतं विशिष्टं प्रमातृरूपम् । एकत्वेनेति । नच—तत्तन्मनउपहिते अमुक इत्यनिश्चय इति—वाच्यम्; अविद्योपहितस्यैव मनउपहितत्वेन सर्वमनउपहितानां कल्पकत्वनिश्चयात् । संप्रदायेति । अनादितत्त्वज्ञानप्रवाहेत्यर्थः । अपूर्वजातीयेति । पूर्वानुपलब्धचैत्रत्वादिजाती-येत्यर्थः । ननु—विहितक्रियातज्जनकादृष्टतत्फलानामनादित्वेन नापूर्वजातीयमुत्पद्यत इति—चेत्, तथापि न क्षतिः; चैत्रत्वादिजातेः दृष्टकारणप्रयोज्यत्वात् । न हि चैत्रशरीरमुद्दिश्य किंचिद्विहितम् । किंच यत् सुखस्य दुःखस्य वा जनकं विजातीयं, तदेवादृष्टजन्यम्, अतादृशं तु दृष्टकारणैकजन्यं साधेव । किंच तत्त्वज्ञानमप्यनाद्येव; अधीतवाक्या-धीनतत्प्रवाहानादित्वसंभवात्, असंभावनादिशून्यजातीयं ज्ञानं तु साधेव; तादृशज्ञानत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात् । नच—विजातीयत्वेन तत्त्वज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वाद्विजातीयत्वस्यावश्यं कार्यतावच्छेदकत्वेन तदाश्रयस्यानादित्वापत्ति-रिति—वाच्यम्; एकजीववादे तद्वक्तित्वस्यैव जातिस्थानीयत्वात्, सर्वजातीनामाश्रयानादित्वस्यानुभवविरोधात् । न हि विजातीयघटादिकं सर्वदाऽस्तीत्यत्र मानमस्ति ॥ इति लघुचन्द्रिकायामेकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः ॥

अथ एकजीववादः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

एकस्मिन् जीवे सुप्ते जगदप्रतीत्यापातात्, उद्बोधकसंस्काराभावेन पुनरुद्बोधयोगात्, मम कल्पकत्वे मोक्षार्थत्वेऽप्युत्ते-तव कल्पकत्वेऽस्मदादिबोधार्थशब्दप्रयोगस्य चानुपपत्तेः निर्मर्यादतया कथानधिकारापातेन स्वाप्नपुरुषवत्कल्पितत्वेनापर्य-नुयोगासंभवात्, सजीवशरीरेष्विवान्यत्रापि अहं सुखी दुःखीत्याद्यनुभवविरोधात्, ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षा-विति नित्यमुक्तव्यश्रुतिविरोधात्, कल्पितस्य जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगात्, मैत्रं प्रति त्वमिति धीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रति अहमिति धीविषयत्वासंभवेन तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरसंभवेन अन्यसुखदुःखानुसंधानप्रयोजकस्य व्यावहारिकजीवभेदस्याप्यभावेन चैत्रसुखदुःखानां मैत्रेणानुसन्धानापत्त्या शुकादिदेहस्थस्य तत्त्वज्ञानमोक्षौ नान्यस्येति बन्ध-मोक्षव्यवहारस्य अविद्यायामन्तरे वर्तमाना” “रमणीयचरणाः” “सति संपद्य न विदुः” वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः” इत्यादौ चेतनधर्माविद्याकर्मबन्धमुपुत्तितत्त्वज्ञानानामनेकधर्मत्वोक्तेर्जावकारणत्वनिषेधेन तत्कल्पितेश्वरकारणत्वव्यवस्थापनस्य च विरोधेन चानेकशरीरैकजीववादासंभवात्, जीवकल्पितेश्वरस्याहं सर्वज्ञः इति ज्ञातृत्वाभावेन “तान्यहं वेद सर्वाणी”ति स्मृतिविरोधात्, “यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि” “उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः” इति श्रुतिस्मृतिविरो-

धापत्योपदेशाध्यज्ञानविषयविशिष्टत्वेनैव गुरुकल्पनाया आवश्यकत्वेनोपदेशात् प्रागेव तत्त्वज्ञानेन मोक्षोपदेशवैयर्थ्ययोः प्रसङ्गात्, तत्त्वविदः कल्पित्वाज्ञानानुपपत्त्या स्वकल्पितः शिष्य इति जानतो गुरोः प्रवचने प्रवृत्त्यसंभवेन “स्वाध्यायप्रवचनाभ्यामिति विधिवैफल्यात्, शास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यापातेन तस्य प्रमामूलकत्वाभावप्रसङ्गेन च निश्चितद्वैतस्यानिश्चितद्वैतकस्य वा कल्पकत्वासंभवात् गुरुशिष्यादिशब्दैः केनचित् कोडीकृतचैतन्यस्य शुद्धचैतन्यस्य वा प्रथमस्याकल्पकत्वेन द्वितीयस्यैकत्वेन निश्चितत्वेन प्रवृत्त्यनुपपत्त्या च विवक्षणासंभवात्, अनादौ संसारे कस्यचित् तत्त्वज्ञानोपपत्तौ इदानीं संसारानुपलब्ध्यनुपपत्तौ संप्रदायासंभवेन च तत्त्वज्ञानं वामदेवादीनां तत्त्वज्ञानाभावेऽपि मम परं भविष्यतीति श्रद्धायाश्वासंभवापत्तेः, शास्त्रप्रामाण्यादुपपत्तिवर्णने च “तद्यो यो देवानामि”ति शास्त्रप्रामाण्येन पूर्वमपि केषांचित् तत्त्वज्ञानावश्यकत्वेनेदानींतनसंसारोपलब्धिः विरोधापत्तेश्चैकजीववादो न युक्त इति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अविद्यावशात् सर्वशरीरेषु संसरतः समष्ट्यभिमानिन एव मुख्यजीवत्वेन तस्यासुप्तत्वेन सुप्ते च तस्मिन् लयकाले जगदप्रतीतेरिष्टत्वात्, संस्कारस्य कारणात्मनाऽवस्थितेः सुप्तपुनरुत्थानोपपत्तेः, समष्ट्यभिमानिन एव कल्पकत्वेन प्रतिशरीरमहं प्रत्ययविषयत्वेन च तव ममेत्यादिविकल्पाद्यनुपपत्तेः, ब्रह्मण एव जीवत्वेऽपि बन्धस्याविद्यकत्वेन नित्यमुक्तलक्ष्म्यतिविरोधाभावात्, भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराकत्वादिव्यवस्थोपपत्त्या तत् एव चैत्रसुखानां मैत्रेणाननुसंधानस्य “अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते” इति एकत्वश्रुतिविरोधेनाविद्यायामित्यादिश्रुतेर्भ्रमप्राप्तबहुत्वानुवादेनैवोपपत्तेर्वर्णनीयतयाऽविद्याकर्मबन्धादीनामनेकधर्मत्वोक्तेश्चोपपत्त्येश्वरकारणत्वव्यवस्थापनसिद्धान्तविरोधाभावस्याविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादनावसरे निरूपयिष्यमाणत्वेन चानेकशरीरैकजीववादसंभवात्, समष्ट्यभिमानिनो जीवस्यैव सर्वज्ञत्वस्य “तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपे”ति स्मृत्यनुसारेण वर्णनीयतया सर्वज्ञत्वादश्रुतीनामुक्तस्मृतेश्च निर्विषयत्वाभावेन तद्विरोधाभावात्, सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविशेषवित्त्वेनाज्ञाततत्त्ववित्त्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्योपदेष्टृत्वसंभवेन “यदेव भगवानित्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधमोक्षापदेशवैयर्थ्यानामप्रसङ्गात्, शिष्यबहुरोरपि कल्पितत्वेन स्वप्रगुरोरिव प्रवचनादौ प्रवृत्त्युपपत्त्या सर्वव्यवस्थोपपत्तेः, प्रमामूलकत्वाभावेऽप्यवाधितविषयकत्वेन शास्त्रप्रामाण्योपपत्त्याऽनिश्चितद्वैतकल्पकत्वाविरोधात्, एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारिणोऽपि शुद्धचैतन्यस्य स्वाश्रिताविद्यावशेन कल्पकत्वाद्युपपत्तेः, अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गेनासांप्रदायिकत्वस्योत्पत्तिविरोधित्वाभावेन कारणासत्त्वस्यैव तद्विरोधित्वेन च कारणाभावात् पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तावपि कारणसमवधाने इदानीं पश्चाद्वा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसंभवेन शास्त्रप्रामाण्यदाढ्यात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिविषयकश्रद्धादेरपि संभवात् “तद्यो यो देवानामि”त्यादिश्रुतीनां भ्रमसिद्धजीवभेदाद्यनुवादकत्वेन तद्विरोधाभावाच्चैकजीववादोऽपि युक्त एवेति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

समष्ट्यभिमानिनो हिरण्यगर्भस्य मुक्तेः प्रमाणसिद्धत्वेनेदानींतनसंसारोपलम्भविरोधापत्त्या स्वस्याचित्त्वे जगदान्ध्यापातेन चान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैव मुख्यजीवत्वेन नानाजीववाद एव पर्यवसानात्, बन्धतत्त्वज्ञानमोक्षावच्छेदकानां भेदे नानाजीववादापत्तेः अमेदे चैत्रसुखाद्यननुसंधानस्य मैत्रादौ, एकस्यैव प्रत्यक्त्वपराकत्वयोश्चानुपपत्तेः, अनादित्वेनोत्पन्नजातीयापूर्वस्याप्रसिद्धाऽसांप्रदायिकत्वस्यैवोत्पत्तिविरोधित्वेन संप्रदायासंभवे तत्त्वज्ञानश्रद्धाद्यसंभवात् भेदस्यापि सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयत्वसंभावनया विशिष्य ज्ञातव्यत्वेन भेदवादिनोऽपि तत्त्वज्ञस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन च सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानवित्त्वादिरूपेण कल्पितस्याद्वैतोपदेष्टृत्वायोगेनोपदेशाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेनैवोपदेष्टृकल्पनाया आवश्यकत्वेनोपदेशादिवैयर्थ्यप्रसङ्गेन “यदेव भगवानि”त्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्चैकजीववादो न युक्त इति प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

“ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे” इति वचनेन सगुणब्रह्मोपासकानां ब्रह्मलोकस्थानां प्रारब्धभोगसमाप्त्या कैवल्यबोधनेऽपि कल्पान्ते हिरण्यगर्भमुक्त्यबोधनेनेदानींतनसंसारोपलम्भोपपत्त्या मनसो बन्धतत्त्वज्ञानमोक्षावच्छेदकत्वेन चैत्रसुखादीनां मैत्रेणाननुसंधानोपपत्त्या अन्तःकरणभेदेन तदवच्छिन्नजीवाभासभेदसिद्धावपि मुख्यजीवभेदासिद्ध्या च नानाजीववादपर्यवसानाभावात् चैत्रत्वादजातेरिवानादित्वेऽप्युत्पत्त्युपपत्त्याऽपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गेनानुपपत्तावपि अधीतवाक्याधीनतत्प्रवाहानादित्संभवेन तत्त्वज्ञानस्याप्यनादित्वेनासांप्रदायिकत्वस्योत्पत्तिविरोधित्वेऽपि बाधकाभावेन च तत्त्वज्ञानतच्छ्रद्धाद्युपपत्तेः, भेदमते स्वसिद्धान्तश्रवणेनाद्वैत इवाभेदमते भेदेऽपि तत्संभावनाऽप्रसङ्गेन सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वेन तादृशविषयसमर्पकतत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन उपदेष्टृकल्पनाया अविरोधात् वस्तुतस्तु तत्रैव ममापि विचार-

अथाज्ञानवादेऽज्ञानलक्षणनिरुक्तिः ।

अथ—कैयमविद्या ? न तावदनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्या सेति; सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचेत-
न्यावारकाज्ञानेऽव्याप्तेः, तस्यानादित्वाभावात् । अभावोपादानाज्ञाने च भावत्वाभावात्तत्राव्याप्तिः,
अभावस्य भावोपादानकत्वे असत्यस्यापि सत्योपादानकत्वं स्यात्, अज्ञानानुपादानकत्वे तस्य
ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्यात्—इति, अत्र ब्रूमः, रूप्योपादानाज्ञानमप्यनादिचेतन्याश्रितत्वादानाद्येव, उदीच्यं
शुक्त्यादिकं तु तदवच्छेदकमिति न तत्राव्याप्तिः । भावत्वं चात्राभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्,
अतः आरोपिताभावोपादानाज्ञानेऽप्यभावविलक्षणत्वस्वीकाराच्चाव्याप्तिः । नच—सजातीयोपादान-
कत्वनियमः; अन्यथा असत्यस्यापि सत्यमुपादानं स्यादिति—वाच्यम्; सर्वथा साजात्ये सर्वथा
वैजात्ये वोपादानोपादेयभावाददर्शनेन तथा साजात्यस्य वैजात्यस्य वा आपादयितुमशक्यत्वात् ।
न हि कार्याकारकारणाकारतोऽप्यभेदे कार्यकारणभावः; सत्यस्य त्वसत्योपादानत्वे सत्यस्य निवृत्त्य-
संभवेन तदुपादेयस्यासत्यस्यापि निवृत्तिर्न स्यात्, उपादाननिवृत्तिमन्तरेणोपादेयानिवृत्तेः, अतो
न सत्यमसत्यस्योपादानम्; सत्यस्यापरिणामित्वाच्च । विवर्ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव । नच—ब्रह्मा-
ज्ञाने ब्रह्मणो वृत्त्यव्याप्यत्वपक्षेऽव्याप्तिः, तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वादिति—वाच्यम्; स्वरूपसदुपाधिमत्त-
द्विषयकज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तन्मतेऽपि भावात् । उपपादितं चैतत् दृश्यत्वहेतूपपादने । अथ—औपा-
धिकभ्रमोपादानाज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरविद्यमानजीवन्मुक्ताज्ञाने च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावादव्याप्तिः;
तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वे उपाधिकालजीवन्मुक्तिकालयोरेव ज्ञानप्रागभाववत्तन्निवृत्त्यापत्तिरिति—चेन्न;
उपाधिप्रारब्धकर्मणोः प्रतिबन्धकयोरभावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बेऽपि तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वान-
पायात् । न हि क्वचिद्विलम्बेन जनकस्य क्वचित् प्रतिबन्धेन विलम्बे जनकताऽपैति । न च तर्हि
ज्ञातेऽपि तत्राज्ञात इति व्यवहारापत्तिः; तादृग्व्यवहारे आवरणशक्तिमदज्ञानस्य कारणत्वेन तदा-
वरणशक्यत्वाभादेव ईदृग्व्यवहारानापत्तेः । यथा चैतत्तथोपपादयिष्यते । न चाविद्याचेतन्यसंबन्धेऽति-
व्याप्तिः; साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, तस्याप्यविद्यात्मकत्वाद्वा । न च विशेषणान्तर-
वैयर्थ्यम्; अनादिपदस्योत्तरज्ञाननिवर्त्यं पूर्वज्ञाने भावपदस्य ज्ञानप्रागभावे ज्ञानजन्यकार्यप्रागभावे
चातिव्याप्तिवारकत्वेन सार्थकत्वात् । ज्ञानत्वेन साक्षात्तन्निवर्त्यत्वं तु भवति लक्षणान्तरम् । ननु—
असंभवः; कल्पितत्वेन दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावविलक्षणस्य च रूप्य-
वदनादित्वायोमादिति—चेन्न; कल्पितत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम्,
किंतु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं, सादिकल्पकवत्त्वं, विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्तनिवृत्ति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्यादिति । तथाचेति शेषः । तदवच्छेदकमिति । तार्किकादिमते अनाद्यत्यन्ताभावस्य यथा तत्तत्कालादिरव-
च्छेदक इति शेषः । न सत्यमिति । निमित्तनाशादिनैवासत्यस्य नाश इति तु न युक्तम्; दृश्यमात्रे ज्ञाननाशत्वस्य
श्रुत्यनुभवादिसिद्धत्वेन उपादानाज्ञाननाशस्यावश्यकत्वात् । अपरिणामित्वादिति । परिच्छिन्नत्वस्य मिथ्यात्व-
व्याप्यत्वादिति शेषः । स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकेति । उपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकेत्यर्थः । कारणत्वेन
विषयत्वेन । यथाचैतदिति । शक्तेरज्ञानान्यत्वेऽपि न तस्यामतिव्याप्तिः; निवर्त्यशक्तिमत्त्वस्यैव लक्षणत्वसंभवादि-
त्याद्युपपादनमिति भावः । अविद्यात्मकत्वादिति । स्वरूपमेव संबन्ध इति भावः । प्रतिभासकल्पकेत्यादि ।
स्वविषयकजन्यधीकालत्वव्याप्यस्वद्रष्टृकत्वमित्यर्थः । अविद्याविषयकाविद्यावृत्तेः प्रलयादावस्वीकाराच्चाविद्यायां तदिति
भावः । सादिकल्पकेति । अविद्योपहितविद्रूपोऽविद्याकल्पकोऽनादिः । शुक्तिरूप्यादेस्त्वधिष्ठानज्ञानवान् कल्पकः
सादिः । अथवा सादिकल्पनाविषयत्वमित्यर्थः । अविद्यायास्तु कल्पना स्वोपहितचिदेव, न वृत्तिरिति भावः ।
प्रलयादावप्यविद्याविषयिका वृत्तिरन्यदेव वेति मतेऽप्याह—विद्येति । विद्याया अनिवृत्तिः संबन्धः तदप्रयुक्ता
निवृत्तिः नाज्ञानस्य किंतु तत्कार्यस्य; जीवेशभेदादिनिवृत्तिरपि तदप्रयुक्तेति भावः । तस्या अपि तदप्रयुक्तत्वे आह—

जन्यतत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वेन तत्त्वविषयविशेषविज्ञानस्योपदेशात् प्रागेव सत्त्वेऽपि मोक्षोपदेशवैयर्थ्याप्रसङ्गाच्च सर्वव्यवस्थो-
पपत्त्या एकजीवनादोऽपि युक्त एवेति—विब्रेचयन्ति ॥

इत्येकजीववादोपपत्तिः ।

प्रतियोगित्वं, प्रागभावप्रतियोगित्वं वा तन्नम् । न च तत् प्रकृतेऽस्ति । ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविद्यायाः सादित्वसाधने 'अजामेकाम्' 'अनादिमायये'त्यादिशास्त्रविरोधः, अनादित्वसाधकेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्वेन सत्प्रतिपक्षश्च, भावत्वस्योपाधित्वं च । नच—अभावविलक्षणाविद्यादौ भावविलक्षणत्वमसंभवि, परस्परविरोधादिति—वाच्यम्; भावत्वाभावत्वयोर्बाधकसत्त्वेन तृतीयप्रकारत्वसिद्धौ परस्परविरहव्यापकत्वरूपविरोधासिद्धेः, परस्परविरहव्याप्यत्वरूपस्तु विरोधो नैकविरहेणापरमाक्षिपति । नहि गोत्वविरहोऽश्वत्वमाक्षिपतीत्युक्तम् । नचात्मवदनादेरभावविलक्षणस्यानिवर्त्यत्वम्; आत्मत्वस्यैवोपाधित्वात् । नचात्यन्ताभावान्योन्याभावयोः साध्याव्याप्तिः, अधिकरणातिरिक्तस्यानिवर्त्यस्यात्यन्ताभावादेरनभ्युपगमात् । नच तुच्छे साध्याव्याप्तिः, अभावविलक्षणत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोपपत्तेः । किंच सादित्वमनादित्वं वा न निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकम्; ध्वंसप्रागभावयोस्तदभावात् । नापि भावत्वविशेषितं तत् तथा; अभावे तदसत्त्वेन भिन्नभिन्नप्रयोजककल्पनापत्तेः, भावनिवृत्त्यनिवृत्त्योरेव तयोः प्रयोजकत्वे च भावविलक्षणाविद्यादौ ताभ्यां तयोरनापादनात् । तस्मान्नाशसामग्रीसन्निपातासन्निपातावेव निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकाविति मन्तव्यम् । तौ च फलबलकल्प्याविति न कोऽपि दोषः । अपि च यद्यविद्यादेरभावविलक्षणत्वसमानाधिकरणानादित्वेनात्मवदनिवर्त्यत्वं साध्यते, तर्हि भावविलक्षणत्वेन प्रागभाववन्निवर्त्यत्वमेव किं न साध्यते ? नच ध्वंसात्यन्तान्योन्याभावेषु व्यभिचारः; अधिकरणातिरेके तेषामपि निवर्त्यत्वाभ्युपगमात् । नच—अज्ञानस्य यावत्स्वविषयधीरूपसाक्षिसत्त्वमनुवृत्तिनियमेन निवृत्त्ययोग इति—वाच्यम्; दुःखशुक्तिरूप्यादेः स्वभासके साक्षिणि सत्येव निवृत्त्यभ्युपगमेन साक्षिभास्यानां यावत्साक्षिसत्त्वमवस्थाननियमानभ्युपगमात् । किंच केवलचिन्मात्रं न साक्षि, किंत्वविद्यावृत्त्युपहितम्; तथाचास्थिराविद्यावृत्त्युपहितस्य साक्षिणोऽप्यस्थिरत्वेन तत्सत्त्वपर्यन्तमवस्थानेऽप्यविद्यादेर्निवृत्तिरूपपद्यते । नच वृत्त्यनुपधानदशायामविद्यादेः शुक्तिरूप्यवदसत्त्वापत्तिः; सादिपदार्थ एवैतादृङ्नियमात्, धारावाहिकाविद्यावृत्तिपरम्पराया अतिसूक्ष्माया अभ्युपगमाच्चेति शिवम् ॥ यद्वा भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम् । इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्षे, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे, ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा; अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः; इतरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादानं विशेषणीयमिति न दोषः; न वाऽभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्येऽव्याप्तिः; तस्यापि भ्रमोपादानत्वात् । ननु—भ्रमे भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्वं न घटते; भ्रमस्य भावविलक्षणत्वे उपादेयत्वायोगात्, भावत्वे च भावोपादानकत्वनियमादिति—चेन्न; अज्ञानस्य भ्रमस्य च भावविलक्षणत्वेऽप्युपादानोपादेयभावोपपत्तेः । नहि भावत्वमुपादानत्वे उपादेयत्वे वा प्रयोजकम्; आत्मनि तद्दर्शनात्, किंत्वन्वयिकारणत्वमुपादानत्वे तन्नम्; सादि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रागभावेति । प्रकृते अज्ञाने । बाधकेति । विनाशिभावस्य सादित्वनियमो भावत्वे उपादानत्वादिसम्बन्धभावत्वे बाधकम् । वस्तुतो भावत्वं सद्रूपत्वम्, अभावत्वमसद्रूपत्वम् । आद्ये बाध्यत्वादि बाधकम् । द्वितीये जनकत्वादि । अत एवाभावविलक्षणत्वं तुच्छव्यावृत्तमिति वक्ष्यते । अभावत्वधर्माश्रयविलक्षणत्वं तुच्छेऽप्यस्ति । अत एव सद्विलक्षणयोरज्ञानभ्रमयोरित्यादि वक्ष्यते । यत्तु—तृतीयप्रकारे सिद्धे विरोधासिद्धिः तस्यां सत्यां स इत्यन्योन्याश्रयः—इति, तन्न; तृतीयप्रकारस्य बाधकसत्त्वाधीनत्वेन विरोधासिद्धयनपेक्षत्वात्, अन्यथा कर्मादौ द्रव्यगुणाद्यपेक्षया तृतीयप्रकारो न स्यात् । अनादेरिति । अनादित्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं हेतुः । प्रागभाववारणाय विशेष्यम् अभावमात्रं तु तुच्छत्वान्नासद्विलक्षणम् । अभावस्यातुच्छत्वेऽपि तुच्छवारणायैव तत् । साक्षिणि अविद्योपहितचित्ति । वृत्त्युपहितस्य साक्षित्वमतेऽप्याह—किंचेति । धारावाहिकेति । सर्वदोषपक्षमानेत्यर्थः । अविद्याविषयिणि वृत्तिरेकैवेति स्वीकारे संस्कारानुपपत्तिः । संस्कारोत्पत्तिपूर्वमेकैव वृत्तिरिति स्वीकारे संस्कारोत्पत्तिकाले अनाद्यविद्यादेरसत्त्वापत्तिः । यावत्कालं वृत्तिस्वीकारे दोषाभावः, तावत्कालमेकैव सा तन्नाशे कारणविशेषकल्पनात्तत्तद्वृत्तिमात्रेण तदापत्तिः, अन्यथाऽनन्तवृत्तिकल्पने गौरवादिति तु युक्तम् । यत्तु—प्रतीतिसत्त्वे सुखादेर्नाशासंभवः; तन्नाशकस्यैव तन्नाशकत्वात्, वृत्त्युपहितचित्तः सुखादिसाक्षित्वे तु सुखादिधीः व्यावहारिकप्रमा न स्यात्; दोषजन्यत्वात्—इति; तन्न; सुखादिनिमित्तानाशादेरपि सुखादिनाशकत्वसंभवात्, भागन्तुकदोषाजन्यत्वेनाविद्यादोषजन्यस्यापि सुखाविज्ञानस्य प्रमात्वसंभवाच्च । ब्रह्मणः परिणामित्ववादिनं प्रत्यप्याह—अचेतनत्वेनेति । निवर्त्ये निवर्त्याज्ञाने । तस्यापीति । अभाव-

त्वमुपादेयत्वे, तदुभयं च न भावत्वनियतम् । अत उपादानोपादेयभावोऽपि न भावत्वनियतः । न चैवं ध्वंसस्याप्युपादेयत्वापत्तिः; इष्टापत्तेः । न चैवं—ज्ञानप्रागभावस्यैव भ्रमोपादानत्वमस्तु, किमभावविलक्षणाज्ञानोपादानकल्पनेनेति—वाच्यम्; प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन भ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धेः; तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैव दूरनिरस्तत्वात् । अतः सद्विलक्षणयोरज्ञान-भ्रमयोर्युक्त उपादानोपादेयभावः । भ्रमस्य च सद्विलक्षणत्वमुक्तम् । वक्ष्यते च । नच—एवमज्ञानानु-विद्धतया भ्रमस्य प्रतीत्यापत्तिः; मृदनुविद्धतया घटस्येवेति—वाच्यम्; यत् यदुपादानकं, तत् तदनुविद्धतयैव प्रतीयत इति व्याप्त्यसिद्धेः । न हि घटोपादानकं रूपं घट इति प्रतीयते; प्रकृतिष्णुकाद्यनुविद्धतया प्रतीतेः परैरप्यनभ्युपगमात्, केनचिद्धर्मेण तदनुवेधस्तु प्रकृतेऽपीष्ट एव । नच यावन्ति ज्ञानानि तावन्यज्ञानानीति पक्षे भ्रमापूर्वकप्रमानिवर्त्येऽज्ञाने अव्याप्तिः; भ्रमोपादानतायो-ग्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, सहकारिवैकल्यात् कार्यानुदयेऽपि योग्यतानपायात् । अथ योग्यतावच्छे-दकरूपपरिचये कथं तद्ग्रहणम् ? प्रथमलक्षणस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वात् । एकमेवाज्ञानमिति पक्षे तु तत्र भ्रमोपादानत्वमक्षतमेव । न चैवं शुक्तिज्ञानेनैवाज्ञाननाशे मोक्षापत्तिः; तस्यावस्थाविशेषना-शकत्वाङ्गीकारात् । व्युत्पादितं चैतदस्माभिः सिद्धान्तविन्दौ । ज्ञानत्वेन रूपेण साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा तल्लक्षणमिति च प्रागुक्तमेव; तस्मान्नाविद्यालक्षणासंभव इति सर्वमवदातम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धाव-विद्यालक्षणोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विलक्षणस्याप्यज्ञानस्याभावोपादानत्वसंभवस्योक्तत्वेनेत्यादिः । आत्मनीति । शुद्धात्मा नोपादानमिति पक्षे शुद्धात्म-नीत्यर्थः । अन्वयिकारणत्वं कार्यात्मककारणत्वम् । ज्ञानप्रागभावस्य भ्रमनिवृत्तिस्वरूपयोग्यप्रमाप्रागभावस्य । निरस्तत्वादिति । प्रागभावे मानाभावः, भावे वा मनोनिष्ठे परोक्षप्रमाप्रागभावे शुक्तिरूप्याद्युपादानत्वासंभवः; यत्र विषये कदापि प्रत्यक्षप्रमा न जाता, तत्र तत्प्रागभावस्यालीकत्वेन तदसंभवः; यत्र प्रत्यक्षप्रमास्ति, तत्रापि न प्रागभावस्य भ्रमोपादानत्वेन सिद्धिः; तस्य सप्रतियोगिकत्वकल्पने गौरवात् । ननु 'शुक्लो घट' 'मृदट' इत्यादिशुक्ल-स्वमृत्त्वादिना रूपप्रकृत्यादितादात्म्यं प्रतीयत एव, तत्राह—केनेति । यथा शुक्लत्वादिना रूपाद्यनुवेधः, तथा जडत्वा-दिना अज्ञानानुवेधोऽस्त्येव; अज्ञानत्वेनानुवेधस्तु, भ्रमस्य भ्रमत्वेनाज्ञानात्, अत एव बाधकाले 'नेदं रूपं, रूप्यमिति यत् ज्ञानं तदज्ञान'मिति प्रतीयत इति भावः योग्यतेति । कारणतावच्छेदकीभूताज्ञानत्वजातीत्यर्थः । अवच्छेदकरूपेति । व्याप्येत्यर्थः । अवस्थाविशेषास्वीकारपक्षेऽप्याह—व्युत्पादितमिति । प्रमाविरहविशिष्टमज्ञानं न भातीत्यादिव्यवहारनियामकमित्याद्युक्तम् । नव्यमते उक्तज्ञानादेरपि ज्ञानत्वादिनैव स्वपूर्वत्वसंबन्धेन निवर्तकत्वा-दाह—साक्षादिति । समानविषयत्वप्रत्यासत्त्येत्यर्थः । ज्ञानस्य स्वप्रागभावं प्रति प्रतियोगित्वेनैव नाशकत्वमिति नातिव्याप्तिः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामविद्यालक्षणम् ॥

अथाऽज्ञानवादेऽज्ञानलक्षणनिरुक्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अनादित्वे सति भावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं, भ्रमोपादानत्वं वाऽज्ञानलक्षणमिति, यदद्वैतिनो वदन्ति तत्र सङ्गतम्; सादि-शुक्लवच्छिन्नाज्ञानस्य सादित्वेनारोपिताभावोपादानकाज्ञानस्याभावत्वेन ब्रह्मविषयब्रह्माज्ञानस्य सोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञान-स्य च ज्ञानानिवर्त्यत्वेन च तेष्वव्याप्तेः । ज्ञाननिवर्त्यत्वपदेन शुक्तिरूप्यवारकानादिलविशेषणवैयर्थ्यापत्त्या साक्षाज्ज्ञाननि-वर्त्यत्वविवक्षणायोगेन साक्षात्परसाधारण्येनैव तस्य विवक्षणीयतया चिदविद्यासंबन्धेऽतिव्याप्तेः । कल्पितत्वेन ज्ञाननि-वर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेन वा अज्ञानस्य सादित्वेनानिर्वचनीयत्वेन भावविलक्षणस्याभावत्वनियमेन च भाव-त्वस्याभावविलक्षणत्वस्य वाप्यज्ञानेऽसत्त्वेन ध्वंसात्यन्ताभावयोरपि निवृत्त्यापत्त्या भाववैलक्षण्यस्य तदसाधकत्वेन प्रत्युता-भावविलक्षणत्वेनात्मवद्भावत्वात्मत्वयोरत्यन्ताभावासतोः साध्याव्याप्याऽनुपाधिलेनानादिभावत्वेनैव विरोधिसन्निपातशून्य-त्वेन प्रतिभासमात्रशरीरस्याज्ञानस्य स्वविषयधीसाक्षिसत्त्वपर्यन्तमनुवृत्तिनियमेन चाज्ञानस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वेन चासंभवाच्च । एतेन—द्वितीयमपि लक्षणं—पराहतम्; प्रथमलक्षणस्य दूषितत्वेन योग्यतावच्छेदकरूपपरिचयेन भ्रमोपादानत्वयो-ग्यत्वविवक्षणायोगेन भ्रमपूर्वकप्रमानिवर्त्ये योगेऽपि अभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्येऽभावेऽज्ञाने चाव्याप्तेः । ब्रह्मोपादानत्वपक्षे तत्सहिताविद्योपादानत्वपक्षे च ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः । अभावविलक्षणत्वाङ्गीनां गौरवेणोपादानत्वातन्त्रत्वेन भावत्वसत्त्वयोरेव

तत्त्वेन भावविलक्षणस्य प्रागभावस्येव भावविलक्षणत्वेन घटानुविद्धतयाऽप्रतीयमानस्य तन्त्वादेरिव तादृशस्य अज्ञानस्याप्यनुपादानत्वेन चासंभवाच्च । अत एव—ज्ञाननिर्वर्त्यत्वं तल्लक्षणमिति वचनमपि—पराहतम्; प्रपञ्चेऽतिव्याप्तेः इति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अनादित्वैतन्याश्रितरूप्योपादानाज्ञानस्याप्यनादित्वेन सर्वथा साजाले उपादानोपादेयभावाभावेनारोपिताभावोपादनस्याभावविलक्षणत्वेऽपि बाधकाभावेन ब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्वेऽपि ब्रह्मविषयकाज्ञानस्य उपाधिप्रारब्धकर्मणोः प्रतिबन्धकयोरभावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बेऽपि सोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञानस्य च स्वरूपबहुपाधिमद्विषयकज्ञाननिर्वर्त्यत्वेन च तेष्वव्याप्त्यभावात् उत्तरज्ञाननिर्वर्त्यपूर्वज्ञानवारणेनानादिविशेषणसार्थक्येन साक्षाज्ज्ञाननिर्वर्त्यत्वविवक्षणेन चिदविद्यायोगस्याप्यविद्यात्मकत्वाङ्गीकारेण वा तत्रातिव्याप्त्यभावात् । अजामेकामित्यादिशाल्वविरोधेनानादित्वानुमानेन सत्प्रतिपक्षेण भावत्वेन सोपाधिकत्वेन च ज्ञाननिर्वर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेन स्वविषयकजन्यधीकालत्वव्याप्यस्वद्रष्टृकत्वसादिकल्पकवत्त्वाविद्यानिवृत्तिप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतिप्रयोगित्वप्रागभावप्रतियोगित्वानामेव सादित्वप्रयोजकत्वेन कल्पितत्वेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेन वाऽज्ञानसादित्वासंभवेन भावत्वाभावत्वयोः बाधकसत्त्वेन तृतीयप्रकारसिद्धौ भावविलक्षणस्याभावत्वनियमाभावेन भावत्वाभावेऽप्यभावविलक्षणत्वसत्त्वेनाभावविलक्षणत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वस्य संभवेनात्मत्वस्योपाधित्वेनानाद्यभाववैलक्ष्येनात्मत्वदनिर्वर्त्यत्वसाधनासंभवेन फलबलेन विरोधिसन्निपातस्यापि कल्पनेन ध्वंसात्यन्ताभावादिनिर्वर्त्यत्वस्यापीष्टत्वेन प्रागभाववन्निरवर्त्यत्वस्यैव सिद्ध्या शुक्तिरूप्यादेरिवाज्ञानस्यापि साक्षिसत्त्वपर्यन्तमनुवृत्तिनियमाभावेन चाज्ञानस्य ज्ञाननिर्वर्त्यत्वेनासंभवाभावाच्च प्रथमलक्षणे न दोषः । एतेन—द्वितीयलक्षणमपि—व्याख्यातम्; प्रथमलक्षणस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वेनाभावस्यापि सोपादानकत्वेनच भ्रमोपादानयोग्यत्वस्य कुत्राप्यव्याप्त्यभावात् । परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादानविवक्षणेन विश्वभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्षाङ्गीकारेण वातिव्याप्तिपरिहारात् । आत्मनि व्यभिचारेण भावत्वस्योपादानोपादेयभावात्तत्त्वेनान्वयिकारणत्वसादित्वयोरेव तत्त्वेन भ्रमकारणत्वासिद्ध्या प्रागभावानुपादानत्वेऽपि घटरूपाद्यननुविद्धत्वेऽपि प्रकृतिव्यणुकघटादेरिव ज्ञानादिप्रपञ्चाननुविद्धस्याज्ञानस्योपादानतायां बाधकाभावेनासंभवाभावात् । अतएव—तृतीयलक्षणमपि समीचीनमेवेति सूचितमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सर्विलासाविद्यानिवृत्तिरूपरूप्यबाधानुपपत्त्या रूप्योपादानाज्ञानस्यानादिशुद्धचैतन्यानाश्रितत्वेन न्यायामृतोक्तरीत्या तस्य सार्वित्वेन वैजालेऽप्युपादानोपादेयभावे समवायिकारणनाशाद्विरोधिसन्निपाताद्वा कार्यनाशोपपत्तेः सत्यस्य दुग्धदेरिव परिणामित्वाच्च सत्यासत्योपादानोपादेयभावापत्त्याऽभावविलक्षणत्वे अभावोपादानत्वासंभवेन अशुद्धब्रह्मज्ञानस्य शुद्धब्रह्माज्ञानानिवर्तकत्वात् प्रतिबन्धकाभावस्य ज्ञानस्वरूपमात्रपर्यवसानात् प्रतिबन्धकाभावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बासंभवाच्च ब्रह्माज्ञानसोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञानयोः ज्ञाननिर्वर्त्यत्वासंभवेन च तेष्वव्याप्तेः ज्ञानपदसार्थक्यार्थं ज्ञानत्वेन तन्निर्वर्त्यत्वविवक्षणावश्यकतया तत एव सर्वदोषवारणेनानादिभावपदवैपर्य्यापत्त्या तत्सार्थक्यार्थं साक्षात्परंपरासाधारण्येन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वविवक्षणे चिदविद्यासंबन्धेऽतिव्याप्तेः अजामित्यादीनां प्रकृतिभगवदिच्छापरत्वेन तद्विरोधाभावेन स्वरूपासिद्ध्याऽनादित्वेन सत्प्रतिपक्षासंभवेन ध्वंसे साध्याव्याप्त्या भावलानुपाधित्वेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेन कल्पितत्वानुमितप्रागभावप्रतियोगित्वादिना वाऽज्ञानसादित्वेन अन्योन्याश्रयापत्त्या तृतीयप्रकारसिद्ध्या भावविलक्षणस्याभावत्वनियमेनचाज्ञानाभावविलक्षणत्वेन असति साध्याव्याप्त्या साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वस्याप्यसंभवेनात्मत्वानुपाधित्वादानाद्यभाववैलक्ष्येनात्मत्वदनिर्वर्त्यत्वसाधनसंभवेन शुक्तिरूप्यसुखादीनामिव साक्षिसत्त्वपर्यन्तमनुवृत्तिनियमेन चासंभवाच्च प्रथमलक्षणं न सङ्गतम् । एतेन—द्वितीयलक्षणमपि—व्याख्यातम्; दूषितत्वेन प्रथमलक्षणेन योग्यतावच्छेदकापरिचयेन योग्यत्वस्यालक्षणत्वेन भ्रमापूर्वप्रमानिवर्त्याज्ञानेऽव्याप्तेः । भावत्वायुतसिद्धत्वरूपान्वयित्वस्याज्ञानेऽसिद्ध्याऽन्वयिकारणत्वेनाप्यज्ञानोपादानत्वासिद्ध्या तत एवाज्ञानाननुविद्धतया ज्ञानादिप्रपञ्चानुभवोपपत्त्याऽन्यथा शुक्लो घटो मृत् घट इत्यादिप्रतीतौ रूपपघटादीनां घटमृदाद्यनुविद्धतयेव प्रतीत्यापत्त्या चासंभवाच्चेति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

तत्तत्कालाद्यवच्छिन्नस्यात्यन्ताभावस्येव शुक्त्याद्यवच्छिन्नस्याज्ञानस्याप्यनादित्वेन दृश्यमात्रे ज्ञानेनानैयत्वस्य श्रुत्यनुभवसिद्धत्वेनोपादानाज्ञाननाशं विनोपादेयनाशानुपपत्तिबाधकेन सत्यस्यासत्योपादानकत्वासंभवेऽपि भावाभावविलक्षणाज्ञानस्य अभावोपादानत्वे बाधकाभावेनोपहितान्याविषयकत्वविशिष्टोपहितविषयकत्वेनोपहितज्ञानेनापि शुद्धब्रह्माज्ञाननिवृत्त्या सोपाधिकभ्रमोपादानशुद्धब्रह्माश्रिताज्ञानयोरपि ज्ञाननिर्वर्त्यत्वेन चाव्याप्त्यन्तवसरात् । ज्ञानत्वेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्य लक्षणान्तरत्वेन

अज्ञानवादे तत्र प्रत्यक्षप्रमाणोपपत्तिः ।

तत्रचाज्ञाने 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामी'ति प्रत्यक्षं, 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति विशेषतः प्रत्यक्षं, 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिष'मिति परामर्शसिद्धे सौपुषप्रत्यक्षं च प्रमाणम् । नच—अहमर्थस्याज्ञानानाश्रयत्वेन कथमन्यं प्रत्ययो भावरूपाज्ञानपक्षे उपपद्यत इति—वाच्यम्; अज्ञानाश्रयीभूतचैतन्ये अन्तःकरणतादात्म्याध्यासेन एकाश्रयत्वसंबन्धेनोपपत्तेः । अत एव—जडे आवरणकृत्याभावात् । 'घटं न जानामी'त्यादिप्रतीतेर्ज्ञानाभावविषयत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्विति—निरस्तम्; तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वे तत्रापि तद्व्यवहारोपपत्तेः । नच—साक्षिवेद्ये सुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र न जानामीति प्रतीतिः कथमुपपद्यत इति—वाच्यम्; स्वस्मिन्विद्यमाने साक्षिवेद्ये सुखादौ स्वभ्रमसिद्धे रूप्यादौ च 'न जानामी'ति व्यवहारासंभवात्, परसुखादौ 'न जानामी'ति व्यवहारस्य परोक्षज्ञाननिवर्त्येन प्रमातृगताज्ञानेनैवोपपत्तेः । अत एव—परोक्षज्ञानेन प्रमातृगताज्ञाने नाशितेऽपि विषयगताज्ञानसत्त्वेन 'न जानामी'ति व्यवहारापत्तिरिति—निरस्तम्; प्रमातृगताज्ञानकार्यस्य 'न जानामी'ति व्यवहारस्य विषयगताज्ञानेनापादयितुमशक्यत्वात् । ननु—भावरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्य 'अहमज्ञ' इति प्रत्ययस्य 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति ज्ञानाभावविषयात् प्रत्ययात् 'अघटं भूतल'मिति प्रत्ययस्य 'घटो नास्ती'ति प्रत्ययादिव विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासं विना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदाप्रतीतिरिति—चेत्; सत्यम्, धर्मप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां ज्ञानसामान्याभावज्ञानस्य व्याहृतत्वेन 'मयि ज्ञानं नास्ती'त्यस्यापि भावरूपाज्ञानविषयत्वेन विषयभेदाप्रतीतेर्युक्तत्वात् । तथाहि—'मयि ज्ञानं नास्ती'ति प्रतीतिः 'वायौ रूपं नास्ती'ति प्रतीतिवद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावविषया, सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकयावद्विशेषाभावविषया वा अभ्युपेया । तथाच तत्कारणीभूतधर्मप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां कथं न व्याघातः? यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावात्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । अन्यथा सामान्याभावसिद्धिर्न स्यात् । यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावानभ्युपगमेऽप्ययं दोषः । यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतल'मिति प्रतीतिः स्यात्, 'वायौ रूपं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उपपत्तेरिति । 'पूर्वसिद्धतमस' इत्यादिन्यायादज्ञानाश्रयकोटौ चिदन्यनिवेशे गौरवाच्चेति भावः । विषयात् विषयत्वेनास्मदभिमतत्वात् । तेन सत्यमित्यग्रिमस्य न विरोधः । इच्छेत्यादि । 'इच्छामि न द्वेष्मी'ति ज्ञानयोर्यथा भिन्नो विषयः प्रतीयते, तथा प्रकृते नेत्यर्थः । नन्ववच्छेदकत्वं नानतिरिक्तवृत्तित्वादिकम्; 'प्रमेयघटो नास्ती'त्यादेरपि प्रमात्वापत्तेः, किंत्वखण्डधर्मविशेषः, स च सामान्यधर्मस्य किञ्चिद्विशेषाभावप्रतियोगितां प्रत्यप्यास्ताम्, तत्राह—अभावज्ञानेति । धर्मस्यैवेति । अन्यथा घटो नास्तीत्यादौ पटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगित्वभानापत्तेरिति भावः । ननु प्रतियोगिनि प्रकारीभूतं तद्व्यापकं वा अवच्छेदकतया भाति; अत एव 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादौ घटत्वादि-कमवच्छेदकतया भातीति तत्र प्रमात्वमेव, पूर्वस्यावच्छेदकत्वासंभवे सत्येवोत्तरस्य तथा स्त्रीकारान्नातिप्रसङ्गः, तत्राह—अन्यथेति । सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन विशेषाभावस्यापि भाने इत्यर्थः । अभावधीमात्रे तथा संभवादिति शेषः । अयं प्रतियोगिन्यप्रकारस्यावच्छेदकत्वासंभवरूपः । नच—प्रतियोगिन्यपि सामान्यधर्मः प्रकार प्रकृते ज्ञाननिवर्त्यपदस्य पूर्वज्ञानवारकत्वेनैवोपपत्त्या विशेषणान्तरवैयर्थ्येन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य चाविद्यासंबन्धेऽतिव्याप्त्यप्रसारात् । अज्ञानस्यैव प्रकृतित्वेन तत्परजामित्यादिश्रुतिविरोधेन पूर्वोक्तरीत्याऽज्ञानस्यापि ज्ञाननिवर्त्यत्वेन स्वरूपासिद्धि-भावादानादित्यानुमानसत्प्रतिपक्षेण ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविद्याचित्संबन्धादौ व्यभिचारेण कल्पितत्वेन प्रागभावप्रतियोगित्यानुमानासंभवात् कल्पितत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेन वा सादित्यानुमानासंभवेन तृतीयप्रकारस्य बाधकसत्त्वाधीनत्वेन विरोधसिद्धेनधीनत्वेनान्योन्याश्रयानवकाशात् भावविलक्षणस्याभावलानियमेन चासंभवाभावाच्च प्रथमलक्षणं निर्दुष्टमेव । एतेन—द्वितीयलक्षणमपि—व्याख्यातम्; तत्रोपादानलयोग्यत्वविवक्षणेनाव्याप्त्यनवसरात् । कार्यात्मककारणलरूपान्वयिकारणत्वेनाज्ञानोपादानत्वसिद्ध्या शुक्लादिना रूपाद्यनुबन्धस्येव जडलादिनाऽज्ञानानुबन्धस्यापि सत्त्वेन चासंभवाभावाच्चेति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अज्ञानलक्षणनिरुक्तिः ।

नास्ति' 'पुरोदेशे रजतं नास्ती'त्याद्याप्तवाक्यजन्यप्रतीत्यनन्तरमपि तत्तत्संशयनिवृत्तिर्न स्यात्; एकविशेषाभावबोधनेऽपि विशेषान्तरमादाय संशयोपपत्तेः । अथ—अभावबोधे प्रकारीभूतधर्मस्यावच्छेदकत्वं पूर्वानुपस्थितमपि संसर्गमर्यादया शाब्दबोधे अन्यत्र च भासते, न ह्यवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसंबन्धविशेषस्य ग्रहे अन्या सामग्री कृता; तथाच तत्तद्विशेषाभावानां तत्तद्विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यावद्विशेषाभावकूटे वा व्यासङ्गवृत्ति तदतिरिक्तसामान्याभावे वा प्रत्येकविश्रान्तमिति तादृगभावप्रतीतेर्यावद्विशेषप्रतीतिविरोधित्वात् कुतो विशेषसंशयादिरिति—चेत्, सत्यम्; प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतेर्यावज्ज्ञानविशेषविरोधिनीति कथं तत्तत्कारणत्वाभिमतज्ञानविशेषे सति सा न व्याहन्यते । तथाच कृताभावप्रतीतिवैलक्षण्येऽवश्यकल्प्ये लाघवाद्विषयस्यैवाभाववैलक्षण्यं कल्पयितुमुचितम्; विषयवैलक्षण्ये प्रतीतिवैलक्षण्यायोगात् । विषयाज्ञानमनुभूय च पुरुषस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारे प्रवर्तत इति सर्वानुभवसिद्धम् तद्यदि ज्ञानविशेषाभावो 'न जानामी'ति प्रतीतिविषयः, तदा ज्ञातेऽपि तथा प्रतीत्यापातः; तद्विचारार्थं च प्रवृत्तिः स्यात् । सामान्याभावे च बाधकमुक्तमेव । तस्मादभावविलक्षणमेवाज्ञानं 'मयि ज्ञानं नास्त्यहमज्ञ' इत्यादि धीविषय इति सिद्धम् । ननु—अभावविलक्षणमप्यज्ञानं 'न जानामी'ति ज्ञानविरोधित्वेनैव भासते, मोहादिपदेऽपि प्रलयादिपदवत्तदनुल्लेखमात्रम्; उक्तं च विवरणे—'अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधाना'दिति । अन्यथा ज्ञानस्याज्ञानविरो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इति—वाच्यम्; तथासति सामान्यधर्माश्रयणां सर्वेषामेव प्रतियोगितया भानापत्त्या विशेषाभावभानोक्तिविरोधात् । प्रतीतिः प्रमा । संशयोपपत्तेरिति । नच—रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन विशेषाभावस्य धीरपि सामान्यसंशयविरोधिनीति—वाच्यम्; 'घटत्वेन पटो नास्त्यत्रे'ति ज्ञानस्य घटवदिदमिति विरोधित्वापत्तेः, अभावांशे प्रतियोगिनः येन रूपेण प्रकारता, तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वधीत्वेनैव तद्रूपविशिष्टवत्ताधीविरोधित्वस्य त्वयापि वाच्यत्वात् । संशयनिवर्तकत्वमुक्तवाक्यस्य व्युत्पादयन् तद्वद्वष्टान्तेन 'न जानामी'ति ज्ञानस्यापि ज्ञानसामान्याभावविषयकत्वावश्यकत्वेन विरोधमाह—अथाभावेत्यादिना व्याहन्यत इत्यन्तेन । अवच्छेदकत्वं प्रतियोगितावच्छेदकत्वम् । तेन प्रतियोगित्वस्याप्यनुपस्थितस्य संसर्गतया भानं लभ्यते । अन्येति । अवच्छेदकस्य ग्रहे तु प्रतियोग्यंशे प्रकारतया भासिका सामग्र्येव सामग्रीत्वेन कृतेति भावः । ज्ञानविशेषविरोधिनीति । ज्ञानादिमिति ज्ञानाद्यभाववत्त्वज्ञानानुदयात् तार्किकादिमते स्वरूपसत् ज्ञानादिकं स्वाभाववत्त्वधीविरोधि स्वीक्रियते; तस्य साक्षिभास्यत्वमते स्वविषयत्वमते च विद्यमानं स्वाश्रये प्रकारतया ज्ञायत एवेत्युभयथापि ज्ञानादिसत्त्वे तत्सामान्याभावधीः विरुध्यत इति भावः । ननु रूपाद्यभाववत्त्वबुद्धे रूपादिमत्त्वधीप्रतिबध्यत्वेऽपि न जानामीति बुद्धेर्न ज्ञानादिमत्त्वधीप्रतिबध्यत्वम्, नच—तथापि 'न जानामीति' बुद्धेर्भ्रमत्वं स्यादिति—वाच्यम्; इष्टत्वात्, तत्राह—तथाचेति । 'न जानामी'ति बुद्धेरिति शेषः । वैलक्षण्ये 'जानामी'ति ज्ञानाप्रतिबध्यत्वे । लाघवादिति । घटादौ ज्ञानवत्त्वधीप्रतिबध्यत्वं बटादौ ज्ञानाभावबुद्धेस्त्वयापि वाच्यम्; तथाच समानविशेष्यतावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्यैव ज्ञानतदभाववत्त्वबुद्ध्योर्मिथः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्वं कल्प्यताम् । एवं च 'न जानामी'ति बुद्धावगत्या भावरूपाज्ञानं विषयः कल्प्यताम् । तथाच तस्यां भ्रमत्वदोषजन्यत्वयोः कल्पनाप्रयुक्तं गौरवं न भविष्यति । नच—'घटो न जानाति न जानामी'ति ज्ञानयोर्विषयवैरूप्यं दोष इति—वाच्यम्; 'इदमसुरं बलिरसुर' इति ज्ञानयोरिव तस्यादोषत्वात् । असुरमित्यस्य हि सुरशून्यमर्थः, असुर इत्यस्य तु सुरविरोधीति भावः । ननु प्रतियोग्यंशे प्रकार एव प्रतियोगितावच्छेदकतया भातीति नियमस्त्वयापि न वाच्यः, पारमार्थिकत्वेन प्रपञ्चाभावघटितस्य प्रपञ्चे मिथ्यात्वस्य त्वयोक्तत्वात्, तथाचोक्तबुद्धौ ज्ञानविशेषत्वं प्रतियोगिन्यप्रकारोऽपि ज्ञानसामान्यनिष्ठप्रतियोगित्वे अवच्छेदकतया भासतामिति—चेन्न; विशेषरूपेण सामान्याभावासिद्धेः । 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति ज्ञानस्य हि घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभाव एव विषयः; विषयान्तरस्यासंभवात्, तद्व्यक्तित्वेन घटो नास्तीत्यस्य तु तद्व्यक्तिमात्रस्याभावो विषयः संभवतीति न तद्वलात् तादृशाभावसिद्धिः । अतएव घटत्वेन तद्वटो नास्तीति ज्ञानेऽपि तद्वटत्वावच्छिन्नाभाव एव विषय इति भावः । विषयाज्ञानं विषयविशेषितमज्ञानम् । ज्ञानविशेषेति । विषयविशेषितज्ञानविशेषेत्यर्थः । ज्ञातेऽपीति । विषय इति शेषः । विषयज्ञानं विना विषयविशिष्टज्ञानस्य ज्ञानासंभवादिति भावः । द्वयसापेक्षेति । अज्ञानं भावरूपं स्वाश्रयविषयकमित्युक्त्वा, अज्ञानं न स्वविषयाश्रितम्, अस्य पुरुषस्यात्र विषये अज्ञानमिति विषयाश्रयभेदानुभवादि-
त्याशङ्क्य अस्य पुरुषस्येति गान्धानाश्रयभानम्, किंतु अस्यात्र यत् ज्ञानं; तद्विरोधित्वेनाज्ञानभावमित्याशङ्केयम्—

धित्वमप्रामाणिकं स्यात्; तथाच विरोधनिरूपकज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां तवापि कथं न व्याघातः? एवं निर्विषयाज्ञानाप्रतीतेर्विषयज्ञानाज्ञानयोरपि व्याघात आपादनीयः; तथाच 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥' इति न्यायेन उभयपरिहरणीयस्य व्याघातस्य ज्ञानाभावपक्ष एवापादनमनुचितमिति—चेन्न; प्रमाणवृत्तिनिवर्त्यस्यापि भावरूपाज्ञानस्य साक्षिवेद्यस्य विरोधनिरूपकज्ञानतद्व्यावर्तकविषयग्राहकेण साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद्याहत्यनुपपत्तेः । अज्ञानग्रहे विषयगोचरप्रमापेक्षायां व्याहृतिः स्यादेव, सा च नास्ति । तदुक्तं विवरणे—'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे'ति । न चैवं—ज्ञानाभावपक्षेऽपि विषयादिज्ञानं साक्षिरूपम्, 'न जानामी'ति धीस्तु प्रमाणवृत्त्यभावविषयेति न व्याहृतिरिति—वाच्यम्; भावरूपाज्ञानस्य साक्षात् साक्षिवेद्यत्वेन तदवच्छेदकविषयादेस्तद्व्याहृतिः साक्षिवेद्यत्वसंभवेऽपि अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वेन साक्षात् साक्षिवेद्यत्वाभावात् न तद्व्याहृतिः तदवच्छेदकविषयादेः साक्षिवेद्यत्वमिति वैषम्यात् । यद्यपि ज्ञानं साक्षिवेद्यम्, तद्व्याहृतिः तदवच्छेदको विषयश्च साक्षिवेद्यः; तथापि ज्ञानाभावो न साक्षिवेद्यः, तस्यानुपलब्धत्वात् । उत्पन्नं च ज्ञानं साक्षात् साक्षिवेद्यम् । तस्मिन्नेवोत्पन्ने तद्विषयोऽपि स्फुरतीति कुतो ज्ञानाभावोऽपि? अज्ञानविशेषणतया तु अनुत्पन्नमपि ज्ञानं साक्षिवेद्यमिति न दोषसाम्यम् । नच—अवच्छेदकस्य विषयादेः प्रागज्ञाने कथं तद्विशिष्टज्ञानज्ञानम्? विशेषणज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्टज्ञानस्येति—वाच्यम्; विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वे मानाभावात्, प्रतियोगित्वाभावत्वयोः पूर्वानुपस्थितयोरपि तार्किकैरभावबोधे प्रकाराभूय भाना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अज्ञानमिति । द्वयसापेक्षेत्यादि । आश्रयविषयरूपद्वयसापेक्षं यत् ज्ञानं तत्पर्युदासेनाज्ञानमित्यभिधानादित्यर्थः । तवापीति । प्रमाणवृत्त्यभावकाले 'न जानामी'ति धीः वाच्या; अन्यथा अविद्यावृत्तिकालेऽपि सा न स्यात् । तथाच व्याघातः; उक्तधियः प्रमाणवृत्तिसामान्यविरोधित्वेनाज्ञानविषयकत्वेन तदुत्पत्तेरुक्तविरोधित्वप्रकारकप्रमाणवृत्तिसापेक्षत्वात्, ननुक्तविरोधित्वमपि साक्षिमात्रभास्यम्; येनोक्तवृत्तिनैरपेक्षयेण साक्षिमात्रेण तदज्ञानमुच्येत, किंतु विषयविशेषिताज्ञानमात्रं साक्षिभास्यम् । नच—उक्तविरोधित्वस्मृत्यादिनैव 'न जानामी'ति धीसंभवाच्च व्याघात इति—वाच्यम्; क्वचित्संभवेऽपि सर्वत्र तदभावेन प्रमाणवृत्तिसापेक्षतावश्यकत्वात् । यदिच ज्ञानविरोधित्वं साक्षिमात्रवेद्यमज्ञाने स्वीक्रियते, तदा तत्प्रमाणावेद्यत्वेन व्यावहारिकं न स्यात्, अज्ञानस्वरूपवत् । तत् इदम् उक्तम् । अन्यथा अज्ञानस्य ज्ञानविरोधित्वमप्रामाणिकं स्यादिति भावः । वस्तुतोऽत्रास्याज्ञानमिति प्रत्यये पुरुषविशेषनिरूपितं विषयविशेषाश्रितमज्ञानत्वरूपाखण्डधर्मविशिष्टं विषयः । तत्तत्पुरुषनिरूपितत्वं च तत्तत्पुरुषीयज्ञाननिवर्त्यतानियामकम् । विषयनिष्ठकार्योपादानत्वेन चाज्ञानस्य विषयाश्रितत्वम् । तथाच अस्य यत् ज्ञानं तद्विरोधित्वस्योच्छेदे मानाभावः, विवरणोक्तिस्तु अज्ञाने नष्टे ज्ञानविरोधितया तदनुभवाभिप्राया न विरुध्यते । नच—'घटं न जानामी'ति वाक्ये नञो विरोध्यर्थकतया ज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानप्रत्ययादज्ञानकाले उक्तवाक्यजन्यज्ञाने व्याघात इति—वाच्यम्; नञपूर्वकज्ञानातेरज्ञानत्वजातिमिति लक्षणया तादृशज्ञानस्य तद्विषयकत्वात्, अधर्मादिपदानां पापत्वादिजातिविशिष्टे लक्षणया तज्जन्यज्ञानस्य तद्विषयकत्ववत् । तस्मान्नास्मन्मते व्याघात इति ध्येयम् । तद्व्यावर्तकेति । अज्ञानविशेषणेत्यर्थः । तत्साधकेनेति । प्रमाविरोधित्वसविषयकत्वविशिष्टाज्ञानस्यानावृतसाक्षिसंबन्धवत्त्वं साक्षिणोऽज्ञाननाशकत्वेऽनुपपन्नमिति भावः । अज्ञानग्रहे अज्ञानं विषयीकर्तुम् । वेद्यत्वाभावादिति । सविषयकत्वविशिष्टस्य सर्वस्यानावृतसाक्षिसंबन्धवत्तया क्लृप्तत्वेन ज्ञानादिविशेषणत्वेनाभावस्य साक्षिवेद्यत्वेऽपि तद्विशेषणत्वरूपेण तदभावादित्यर्थः । ननु ज्ञाने विशेषणतया तद्विषय इव विशेष्यतया तदभावोऽपि साक्षिवेद्योऽस्तु, तत्राह—यद्यपीति । अनुपलब्धत्वादिति । घटादौ ज्ञानाभावस्यानुपलब्धिरूपप्रमाणेनैव धीः । नहि ज्ञानाभावस्याहमर्थभिन्नेऽपि साक्षिवेद्यता संभवति । यादृशस्य हि तार्किकादिमते मानसं प्रत्यक्षं, तादृशस्यैव त्वया सा वाच्या; अन्यथाऽनुभवविरोधात् । तथाच ज्ञानाभावस्यानुपलब्धत्वेन क्लृप्त्वादात्मन्यपि तस्य तथात्वमिति भावः । ननु साक्षिणा ज्ञानं गृह्यत इति क्लृप्तम्; तेनैव ज्ञानाधिकरणे तदभावोऽपि गृह्यताम्, तथाच नोक्तदोषः, तत्राह—उत्पन्नमिति । विद्यमानमित्यर्थः । अभा-
वोऽपीति । साक्षात् साक्षिवेद्य इति अनुषङ्ग्यते । तथाच ज्ञानतदभावयोरेकसत्त्वे अपरासत्त्वादविद्यमानेचानावृतसाक्षितादात्म्यस्याभावाच्च तयोर्युगपत्साक्षिवेद्यतेति भावः । अनुत्पन्नम् अविद्यमानम् विषयस्यैव ज्ञानस्याप्यविद्यमानस्याज्ञानविशेषणतया भानम्; प्रमिणोमीत्यादौ प्रमाविशेषणतया प्रमात्वादेरिव न जानामीत्यादावज्ञानविशेषणतया प्रमाविरोधस्यापि भानसंभवात्, अविद्यमानत्वं च प्रमायामिव प्रमात्वघटकाज्ञातत्वेऽपि सममिति भावः ।

भ्युपगमात् । तथापि—विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं विना कथं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिरिति—चेन्न; विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वेन विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावे मानाभावात्; प्रत्यक्षत्वादिरूपेण पृथक् पृथक् कृतकार्यकारणभावेनैवोपपत्तेः विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वस्यार्थसमाज-
सिद्धत्वात्, इह च सामग्रीतुल्यत्वेन 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तर'मिति न्यायेन विशिष्ट-
वैशिष्ट्यज्ञानसंभवात् । अन्यथा तार्किकाणामपीश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वं न स्यात् । भ्रमविषयस्य स्वात-
न्येण ग्रहे भ्रान्तत्वापत्त्या भ्रमावच्छेदकतयैव तद्ग्रहणं वाच्यम्; तथाच क प्रकृतदवच्छेदकग्रह-
नियमः ? ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वं च प्रकृतेऽपि समम् । ननु श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य
सत्त्वेन तज्ज्ञानं त्वयापि वाच्यम्; तथाच तत्रापि व्याहृतिस्तुल्येति—चेन्न; श्रवणादिसाध्यमोक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

'अहं प्रमावा'निति भ्रमकाले अहं 'प्रमाभाववा'निति बुद्धेरनुत्पादात् तस्यां प्रमोपलब्ध्यभावस्य हेतुत्वेन क्लृप्ततया
अनुपलब्धिप्रमाणवेद्यस्य प्रमाभावस्य साक्षिवेद्यत्वे मानाभावः । नच—प्रतियोगिज्ञानं विना नानुपलब्ध्याऽभावज्ञानम्,
तद्वैक्षण्ये च व्याघात उक्त इत्यगत्या प्रमाभावस्य साक्षिग्राह्यतेति—वाच्यम्; तावतापि व्याघातानुद्धारात्, वृष्यव-
च्छिन्नस्यैव साक्षित्वेन तस्यापि तज्जन्यत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वात् । नहि 'न जानामी'ति प्रत्यक्षकाले प्रमारूपप्रति-
योगिष्मृतिनियमः; तथासति त्वन्मतेऽनन्तस्मृतिव्यक्तिकल्पने गौरवादित्यपि बोध्यम् । अज्ञानज्ञानम् अज्ञानाकाराविद्या-
वृष्यवच्छिन्नचिद्रूपम् । अविद्योपहितचिद्रूपस्यैव साक्षित्वे तु नायं दोषः; जन्यविशिष्टबुद्धावेव विशेषणधीहेतुत्वात् ।
सिद्धत्वादिति । 'दण्डो रक्तो न वे'ति संशयोत्तरं 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तर'मिति रीत्या जायमाने
'रक्तदण्डवानि'ति ज्ञाने विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताया अपि वक्तुं शक्यत्वात्, विशेष्यानवयिना यदन्वितं तस्यैव धीः तद्वि-
शिष्टवैशिष्ट्यरित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वाच्चेति भावः । उक्तहेतुत्वं स्वीकृत्याप्याह—इहचेति । विशेषणतावच्छेदक-
प्रकारकनिश्चयासंभवस्थले चेत्यर्थः । सामग्रीतुल्यत्वेनेति । यावन्ति कारणानि विशिष्टस्य वैशिष्ट्यबुद्धौ क्लृप्तानि
तावतां विशेष्ये विशेषणमित्यादिरीत्या ज्ञानोपधायकत्वसंभवेनेत्यर्थः । न्यायेनेति । सर्वेषां विशेषणतावच्छेदकाना-
मिति शेषः । अथवा—इह चेति । विशेषणतावच्छेदकांशे धर्मान्तरं यत्र धर्मितावच्छेदकतया न भाति, तत्र स्थले
चेत्यर्थः । विशिष्टस्य वैशिष्ट्यं, विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरमित्येतयोरिति शेषः । घटवदित्यादिबुद्धेरुक्तद्वै-
विध्ये सत्यपि तस्यां विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयो न हेतुः, किंतु 'रक्तदण्डवदि'त्यादिविशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ; 'दण्डो
रक्तो न वे'त्यादिसंशये तदनुत्पत्तेः । तथाच ज्ञानविरोधित्वसविषयवत्त्वविशिष्टज्ञानवैशिष्ट्यबुद्धावपि न स हेतुः । नहि
ज्ञानविरोधित्वसविषयकत्वयोरैकमपरत्र धर्मितावच्छेदकतया भातीति नियमः; न वा धर्मान्तरं तथेत्यपि नियमः; माना-
भावादिति भावः । विशेष्ये इत्यादि । अज्ञानस्वरूपे उक्तविशेषणयोरेकत्र द्वयमिति रीत्या विशेषणत्वं, तत्र ज्ञानादे-
र्विशेषणत्वमित्यर्थः । विशिष्टेति । विरोधित्वादिविशिष्टेत्यर्थः । एवंच विशिष्टवैशिष्ट्येत्यपि सार्थकम् । अन्यथा
न्यायेन ज्ञानसंभवादित्येवोच्येत । ननु ससंबन्धिकस्य प्रत्यक्षं, विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्यैव; अन्यथा रक्तदण्डो
नास्तीत्यभावप्रत्यक्षेऽप्युक्तरीतिनियमो न स्यात्, उक्तंच—'प्रतियोगिविशेषिताभावभानं तु विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादां
नातिशेत्'इति, तत्राह—अन्यथेति । अज्ञानप्रत्यक्षस्योक्तरीतिनियमे इत्यर्थः । विषयस्य विशेष्यविशेषणयोः । स्वात-
न्येण विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्या । ग्रहे रजतेदंज्ञानवानितिग्रहे । भ्रमावच्छेदकतया भ्रमांशे विशेषणतया
तद्ग्रहणं विशेष्यविशेषणयोर्ग्रहणम् । तथाचेति । ससंबन्धिकस्य प्रत्यक्षे उक्तरीत्यनियमे चेत्यर्थः । प्रागित्यादि ।
अज्ञानप्रत्यक्षोत्पत्तेः पूर्वमज्ञाने विशेषणतयावच्छेदकज्ञानादिग्रहनियम इत्यर्थः । नच—हृदंरजतयोर्विशेषणतया भानेऽपि
तद्विशेषणतयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावाभावेन तादृशभ्रमज्ञत्वं समूहालम्बनज्ञानज्ञत्वसाधारणमिति—वाच्यम्; विशिष्टस्य
वैशिष्ट्यमिति रीतावपि तदभानस्य तुल्यत्वात् । अथ 'रजतेदंज्ञानवा'निति ज्ञाने रजतमिदंविशिष्टे ज्ञाने विशेषणम्,
नत्विदंमात्रे; तथाच ज्ञानस्येदंविषयताविशिष्टत्वेन विशेष्यत्वाद्विशेष्यतावच्छेदकेदंविषयतावच्छिन्नविषयतासंबन्धेन
रजतस्य ज्ञाने विशेषणत्वमिति मन्यसे, तर्हि रजतस्येदमंशे विशेषणत्वं विनापि तत् बोध्यम् । ननु ईश्वरस्य भ्रमग्रहणे
तथा स्वीकारेऽपि 'न जानामी'ति प्रत्यक्षे न तथा स्वीकर्तुं शक्यते, आकारविशेषविरोधात्तत्राह—ग्रहणसामग्रीतुल्य-
त्वमिति । ग्रहणस्य सामग्री समग्रता तत्तद्विषयावगाहित्वरूपा तुल्या । यथा विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमित्यत्र, तथा विशेष्ये
विशेषणं तत्रापिच विशेषणान्तरमित्यत्र । प्रकृतेऽपि यथा रजतेदं जानामीति प्रत्यक्षे, तथा न जानामीत्यत्र समाना ।
तथाच विषयताभेदेऽप्याकारस्य तुल्यत्वाज्जाकारविरोध इति भावः । यथाश्रुतं तु सामग्रीपदमसङ्गतम्; ईशप्रत्यक्षे
कारणकृटरूपसामग्र्यप्रसिद्धेः । अत्र विशेष्ये विशेषणमित्यादिरीत्या न जानामीति प्रत्यक्षस्य ज्ञानाभावप्रकारकत्वासंभवः ।
अभावप्रत्यक्षे विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति विषयतायाः सर्वसंसर्गत्वादिति ध्येयम् । रजतेदं जानामीत्याकारस्य प्रत्यक्षस्ये

हेतुब्रह्मज्ञानरूपस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याहृत्यभावात्, न हि श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतु-
त्वादिप्रकारकब्रह्मज्ञानज्ञानं ब्रह्मज्ञानमपि सत् श्रवणादिसाध्यं, मोक्षहेतुर्वा; येन तस्मिन् सति
तादृशज्ञानप्रागभावो व्याहृत्येत । नन्वेवं—‘न जानामी’ति धियो ज्ञानाभावविषयत्वेऽपि न प्रतियोगि-
ज्ञानादिना व्याहृतिः; सामान्यतो विषयप्रतियोगिज्ञानेऽपि विशेषतस्तदभावसंभवात्, अन्यथा
प्रागभावधीर्न स्यात्; तत्प्रतियोगिविशेषस्य सामान्यधर्मं विना विशेषतो ज्ञातुमशक्यत्वादिति—चेन्न;
विशेषज्ञानाभावे हि विशेषज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रतियोगीति तस्य ज्ञाने स विशेषोऽपि ज्ञात एवेति
विशेषज्ञानाभावव्याघातात् । यत्किञ्चिद्विशेषाभावश्च न सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्युक्तम् ।
प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभावेन प्रागभावप्रतीतिरसिद्धैव । ननु—प्रतियोगितावच्छेदक-
प्रकारकज्ञानं नाभावज्ञाने कारणम्, किंत्वभावज्ञाने भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारकं ज्ञानम्;
सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्यभ्युपगमे तु प्रतियोगिविषयत्वमपि तस्याधिकम्, इतरथा तु तदेव इष्टवृ-
त्तिसामान्यधर्मप्रकारकज्ञानमिवास्तिद्व्यक्तिविषयेच्छाकृत्योः । नच—प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मेण
कथं प्रतियोगिता गृह्यतामिति—वाच्यम्; विशेषावच्छिन्नाया व्याप्तेरिव सामान्येन ग्रहणसंभवात् ।
तथाहि—‘इदमभिधेयवत्, प्रमेया’दित्यनुमाने ‘यत्र प्रमेयं तत्राभिधेय’मिति व्याप्तिग्रहणसमये
वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेनैव सामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिसत्त्वेऽपि तस्याः प्रमेयत्वरूपेणैव ग्रहणम्; न
तु वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन; गौरवात्, वृत्तिमत्त्वविशेषणस्य व्यभिचारावारकत्वेन वैयर्थ्याच्च, अवृत्तिषु
साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्त्यभाववत् साध्याभावसामानाधिकरण्यरूपव्यभिचारस्याप्यभावात्,
व्यर्थविशेषणत्वरहितत्वे सति व्यभिचारिव्यावृत्तत्वमात्रेणैव व्याप्यतावच्छेदकत्वसंभवाच्च । तथाच
यथा वृत्तिमत्प्रमेयगतापि व्याप्तिः प्रमेयत्वेनैव गृह्यते, तथा तत्तन्नीलादिव्यक्तिगता प्रतियोगिता
नीलत्वादिरूपेण गृह्यत इति न काचिदनुपपत्तिः । एवंच ‘इहेदानीं घटो नास्ती’ति प्रतीतिरिव
घटोपादानगततत्प्रागभावविषया ‘मयि ज्ञानं नास्ती’ति प्रतीतिरपि प्रमातृगततत्प्रागभावविषयेति
न काप्यनुपपत्तिरिति—चेन्न; अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे भासमानस्य धर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया
यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले ‘निर्घटं भूतल’मिति
घटज्ञानवत्यपि स्वस्मिन्मयि घटज्ञानं नास्ती’ति च प्रतीतेरापत्तेः पूर्वोक्तदोषात् । यत्किञ्चिद्वटज्ञानं
घटाभावज्ञाने प्रतिबन्धकमिति तु ज्ञानज्ञानेऽपि तुल्यम्, उदाहृतव्याप्तिग्रहणे तु बाधकाभावात्
सामान्यावच्छेदेऽपि न दोषः । अथैवं प्रागभावप्रतीतिरेव न स्यात्, न स्यादेव; ‘घटो भविष्यती’ति
प्रतीतेः धात्वर्थभविष्यत्ताविषयत्वेन प्रागभावाविषयत्वात् । अन्यथा दिनान्तरोत्पत्त्यमानघटे एत-
द्दिनवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वेन ‘अद्य घटो भविष्यती’ति धीप्रसङ्गः । भविष्यत्त्वं च प्रतियोगित-
त्वं सानाधारकालसंबन्धित्वम् । ध्वंसत्वं च प्रागभावानङ्गीकर्तृमते कादाचित्काभावत्वमेव । तदङ्गी-
कर्तृमतेऽपि प्रतियोग्यजनककादाचित्काभावत्वम् । जनकत्वं च स्वरूपसंबन्धविशेषः, न प्रागभाव-
घटितः; प्रागभावस्याजनकत्वापत्तेः, अन्यथात्माश्रयात् । अतः प्रागभावमङ्गीकुर्वतोऽपि तत्प्रत्यक्षत्वं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वीकारेऽपि न तत्र भ्रान्तताव्यवहारस्यापत्तिः; उक्तव्यवहारे विशेषादर्शनकालीनस्यैव बाधितविषयकज्ञानवत्त्वस्य विषय-
त्वात् । अन्यथा तार्किकादिमते दर्पणे मुखं नास्तीति विशेषदर्शनवतो दर्पणे मुखदर्शिनोऽपि भ्रान्तत्वेन व्यवहार्यता स्यात् ।
परंतु ईशप्रत्यक्षस्य तादृशाकारत्वे मानाभावात्तार्किकेस्तत् न स्वीक्रियते इति ज्ञापनाय तार्किकाणामित्युक्तम् । न्यायशूराणा-
मिति तदर्थः । विशेषतस्तदभावेति । ज्ञानत्वावच्छिन्नतया ज्ञानविशेषीयतया च भासमाना प्रतियोगिता यस्य तादृशा-
भावेत्यर्थः । विशेषतः तद्व्यक्तित्वेन । प्रतियोगितावच्छेदकेति । तत्तद्व्यक्तित्वरूपेत्यादिः । प्रतियोगीति । प्रागभाव-
प्रतियोगीत्यर्थः । तदेवेति । अभावज्ञाने कारणमित्यनुषज्यते । तत्प्रागभावेति । प्रमाप्रागभावैत्यर्थः घटवतीति ।
सामान्यधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया भाने प्रतियोग्यंशेऽपि प्रकारत्वस्यावश्यकत्वादित्यादिः । अवच्छेदेऽपीत्यपिकारेण
इदं सूचितम्—गगनादाववर्तमानव्याप्तेः प्रमेयत्वं नावच्छेदकम्; अतिप्रसक्तत्वात्, वृत्तिमत्त्वावच्छेदेन व्याप्तिधीसंभवेन
इत्थंविशेषणत्वस्याप्यसंभवात्, वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छिन्नत्वस्य व्याप्तौ सत्त्वे तद्ग्रहणस्यादोषत्वात् । असत्त्वे तद्ग्रहणस्य
असत्त्वादिति । कादाचित्काभावत्वमिति । कालत्वाव्यापकाभाववत्त्वमित्यर्थः, अखण्डोपाधिरूपं वा, ननु प्राग-
भावप्रतियोग्यभावत्वमिति शेषः । प्रागभावघटितः कार्यप्रागभाववत्कालत्वरूपेण कार्यप्राक्कालत्वेन घटितः । आत्मा-

दुर्लभम्, तमनङ्गीकुर्वतस्तु न कापि हानिः । 'इहेदानीं घटो नास्तीति'ति प्रतीतिस्तु सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्कालावच्छिन्नयावद्विशेषाभावविषया; समयविशेषस्याप्यभाववच्छेदकत्वात् । अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूप' इत्यादिप्रतीतिर्न स्यात् । अथ—अस्मिन्पक्षे सामान्याभावो न सिद्ध्येदिति—चेत्, प्रागभावाभ्युपगमेऽपि तुल्यमेतत्, सामान्याभावप्रागभावयोः सुन्दोपसुन्दोरिव परस्परपराहतत्वात् । तथाहि—प्रागभावसिद्धौ विशेषाभावस्यापि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् न तावन्मात्रप्रमाणकसामान्याभावसिद्धिः, सामान्याभावसिद्धौ च विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावात् कादाचित्काभावस्य च सामान्याभावत्वायोगात् न सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकविशेषप्रतीतिमात्रशरणप्रागभावसिद्धिः, इति न तदुभयमपि विपश्चितां चेतसि चमत्कारमावहति । ननु—यावद्विशेषाभावनिश्रयेऽपि 'रूपं वायुवृत्ति न वा' 'वायू रूपवान्न वे'ति रूपाभावसन्देहात् निश्चिते च संशयायोगाद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अत एतावन्त्येव रूपाणीति निश्चयदशायामेतादृशसंशयस्याननुभूयमानत्वेन तदनिश्चयदशायामेवैतादृशः संशयो वाच्यः, तथाच 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्तवृत्ति भविष्यती'त्यधिकसंभावनया निश्चितेष्वेव संशयः, उक्तसंभावनाविरहसहकृतनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति—चेन्न; एवं प्रतिबन्धककल्पने मानाभावात्, उक्तसंभावनाविरहदशायामप्येतादृशसंशयदर्शनाच्च । ननु—यथा यावद्विशेषाभावेभ्योऽतिरिक्तः सामान्याभावो रूपस्य संशयकोटिः, तथा रूपसामान्यमपि यावद्विशेषेभ्योऽतिरिक्तं संशयकोटिर्नाभ्युपगन्तुं शक्यते । तथाच कथं रूपस्य संशयकोटित्वम्? सर्वरूपाभावनिश्चयात् । यदि तु नीलपीताद्यभावत्वेन निश्चयेऽपि रूपाभावत्वेनानिश्चयाद्रूपासंशय इति ब्रूये, तदा किं सामान्याभावेन; रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संशयसंभवात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वेन यावद्विशेषाभावानामेव रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वकल्पनात्, अतो न यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्ग इति—चेन्न; यावद्विशेषाभावेषु यद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तत् प्रत्येकं विश्रान्तं, व्यासज्यवृत्ति वा । आद्ये यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्गः, द्वितीये तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याव्यासज्यवृत्तिस्वभावत्वेन तद्यतिरिक्तं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं व्यासज्यवृत्ति कल्पनीयम्, तद्वरं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभावः कल्प्यते; ममैकोऽभावः रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं चेति वस्तुद्वयं कल्प्यम्, तव तु रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वेन बहुष्वभावेषु प्रत्येकं संबन्धा इति बहु कल्प्यम् । 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्व'मिति न्यायस्तु कल्पनीयाधिक्यापेक्षः । किंच घटद्वये यावद्विशेषाभावसत्त्वेऽपि रूपसामान्याभावबुद्ध्यनुदयात् एकाधिकरण्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रयादिति । प्रतियोगिजनकत्वेन प्रागभावः कल्प्यते, उक्तजनकत्वं च प्रागभावकल्पनात् पूर्वं ज्ञातुमशक्यम्; प्रागभावघटितत्वात् । अतः प्रागभावज्ञप्तिः स्वाधीनेति ज्ञप्तावात्माश्रयः । अन्यथा प्रतियोगिमत्यन्ताभावास्वीकारे । न स्यादिति । प्रागभावस्यैव नीरूप इति धीविषयत्वे रूपवत्यपि भाविरूपप्रागभावमादाय सा स्यादिति शेषः । यद्यपि सामान्याभावोऽप्युक्तधीविषयः संभवति; तथापि विशेषाभावकूटोक्तिः अथेत्यादिग्रन्थावतारायेति बोध्यम् । तावन्मात्रेति । उक्तप्रतियोगिताकत्वधीमात्रेत्यर्थः । ननु विशेषाभावप्रतियोगितापि सामान्यरूपेण वाच्या, अन्यथा इदानीं कपाले घटो नास्तीति प्रतीतौ तद्वटाभावस्य घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन भानं न स्यात् । नच तत्र सामान्याभाव एव भाति; तस्य कालानवच्छिन्नतयैव सर्वत्र भानात्, तत्राह—कादाचित्केति । कालावच्छिन्नतया भासमानेत्यर्थः । सामान्येति । सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकेत्यर्थः । सामान्याभावानभ्युपगमे विशेषाभावकूटे उक्तप्रतियोगिताकत्वमुक्तधीविषयः । सामान्याभावस्वीकारेऽपि कदाचित् संसृष्टव्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको विशेषाभाव एव तथा । अथवा—कादाचित्काभावस्य विद्यमानस्वरूपकाभावस्य । ध्वंसत्वेन प्रागभावत्वेन वा अभिमतस्यायोगादित्यन्तं तत्र हेतुः । तत्रापि हेतुरभावादित्यन्तम् । चकारोऽप्यर्थकः । तथाच विशेषाल्यन्ताभावस्यैव कादाचित्काभावस्यापि प्रतियोगिता न सामान्यावच्छिन्नेत्यर्थः । विशेषेति । विशेषाभावेत्यर्थः । दशायामिति । विशेषाभावकूटनिश्चयेऽपीति शेषः । प्रत्येकं संबन्धा इति । प्रत्येकावृत्तेः समुदायवृत्ति-त्वासंभवात् समवायवत् बहुष्वेकस्य संबन्धत्वासंभवाच्च नाना पर्याप्तिसंबन्धा वाच्या इत्यर्थः । समवायस्य प्रत्येकानुयोगिकत्वेन नानात्वम्, पर्याप्तेस्तु तदभावेनैकत्वमित्याशयेन त्वग्रे सामान्याभावं खण्डयिष्यति । अवच्छेदेन विशिष्ट-

वच्छेदेनाप्यभावा विशेषणीयाः; तथाचातिगौरवम् । अपि च व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रहे यावदाश्रय-
ग्रहस्तद्देदग्रहश्च हेतुः; अगृहीतेषु भिन्नतया वाऽगृहीतेषु वस्त्रादिषु द्वित्वादिवृत्त्यनुदयात्, तथाच
यावदभावतद्देदाग्रहे प्रथमत एव नीरूप इति धीर्न स्यात्; व्यासज्यवृत्तिसामान्यप्रतियोगिताकत्वस्या-
ग्रहणात् । अतः सामान्याभावस्य प्रामाणिकत्वात् कथं तत्पराहतिरिति—चेत्, अत्र ब्रूमः—एवं
तर्हि सामान्यप्रकारेण विशेषाभावाप्रतीतेर्ज्ञानविशेषप्रागभावो न जानामीति धियो ज्ञानत्वावच्छिन्न-
प्रतियोगिताको न विषय इति सिद्धं नः समीहितम् । न हि प्रागभावोऽपि कश्चित्सामान्याभावोऽस्ति;
येन तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मेणावच्छिद्येत, विशेषाभावप्रतियोगिता तु तत्तद्वद्वत्त्वादिना विशेषे-
णावच्छिद्यते । न च तेन तेन रूपेण भविष्यद्वदादि ज्ञातुं शक्यम्; तज्ज्ञानानन्तरं तु तत्तद्रूपेण
तज्ज्ञानसंभवेऽपि न प्रागभावधीः प्रत्यक्षा स्यात्; तदानीं प्रागभावासत्त्वात्, प्रत्यक्षस्य विषयजन्य-
त्वात् । सामान्यप्रकारकज्ञानं च न विशेषाभावज्ञाने हेतुरित्युक्तम्; प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रति-
योगिज्ञानस्याभावत्वप्रकारकाभावज्ञाने हेतुत्वात्, तस्यानुमानगम्यत्वेऽपि 'न जानामी'ति धियः
अपरोक्षयास्तद्विषयत्वायोगात् । अव्यभिचारिलिङ्गाद्यभावात्तदनुमानमपि दूरनिरस्तमेव । ननु—
'इदं मा भू'दितिच्छाविषयतया तत्सिद्धिः, न; प्रागभावस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेन प्रतियोगिजनक-
विघटनेन तत्संबन्धस्येवात्यन्ताभावसंबन्धस्यापि साध्यत्वात्तेनैवान्यथासिद्धेः । अथ—उत्पन्नस्य द्विती-
यक्षणे पुनरुत्पत्त्यभावात्तत्पूर्वक्षणे सामग्र्यभावो वाच्यः; स च प्रागभावाभावादेव, अन्यहेतूनां
सत्त्वादिति—चेन्न; सामयिकात्यन्ताभावेनैवान्यथासिद्धेः, उत्पन्नस्यैव स्वोत्पत्तिविरोधित्वाच्च । अपिच
सामग्री कार्यसत्त्वे प्रयोजिका, न तु तस्याद्यकालसंबन्धरूपोत्पत्तावपि । आद्यकालसंबन्धो हि
स्वसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधारकालाधारत्वम् । तत्र सामग्री कार्यस्य कालाधारत्वांशमात्रे प्रयो-
जिका, न तु विशेषणांशेऽपि; तस्य तादृक्पदार्थध्वंससामग्रीविरहादेव सिद्धेः । पाकजरूपादिभेदोऽ-
प्यग्निसंयोगभेदात् पूर्वरूपादिध्वंसभेदाद्वा, न तु प्रागभावभेदात्, प्रतियोगिभेदं विना प्रागभाव-
भेदायोगाच्च । नाप्युपादानत्वव्यवस्था तत्र मानम्; तन्तुत्वादिनैव तत्सिद्धेः । अन्यथा प्रागभावस्य
संबन्धविशेषोऽपि कुतः सिद्धेत्? न च तदत्यन्ताभाववतः कथं तदुपादानत्वम्? संबन्धा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वेन । विशेषणीया इति । अन्यथा पृथिव्यां सर्वं नीलरूपमितिवत् पृथिव्यां रूपं नास्तीत्यपि स्यादिति शेषः ।
इदंत्वादिनाभावस्य प्रत्यक्षं वारयितुमाह—अभावत्वप्रकारकेति । ज्ञाने प्रत्यक्षे । हेतुत्वादिति । अन्यथा नेत्या-
कारकप्रत्यक्षापत्तेरिति शेषः । साध्यत्वात् क्षेमसाधारणसाध्यत्वात् । सामयिकेति । समयविशेषावच्छिन्नेत्यर्थः ।
ननु—पाकजानां रूपरसादीनां मिथो भेदः कारणभेदं विनानुपपन्नः प्रागभावं कारणत्वेन कल्पयति पाकादिकारणानाम-
भेदात्; तत्राह—पाकजेति । ननु प्रागभावेति । तयोः क्लृप्त्वादित्यादिः । यद्यपि रूपाद्यत्यन्ताभावस्य रूपादौ
कारणत्वं संभवति; तथापि रूपव्यक्तीनामेकेन तेजःसंयोगादिना जातानां मिथो भेदाय तत्तद्ध्वंसहेतुत्वमुक्तम् । भेदं
भेदसिद्धिम् । भेदेति । भेदसिद्धीत्यर्थः । वैलक्षण्येति । प्रतियोग्यधिकरणानधिकरणवृत्तित्वेत्यर्थः । त्रयमिति ।
तत्तदधिकरणसंबन्धसमुदायत्वेन संबन्धानामेकत्वम् । रोचत इति । यद्यपि समवायः प्रत्यधिकरणं विशिष्टप्रमालि-
यामकत्वेन प्रत्यधिकरणव्यक्ति भिन्नः; तथापि पर्याप्तिः प्रत्येकाधिकरणव्यक्तौ विशिष्टबुद्ध्यनियामकत्वेन न प्रत्यधिकरणं
भिन्ना । तथाच प्रत्येकानतिरिक्तसमुदायानुयोगिकपर्याप्तेः प्रत्येकानुयोगिकत्वेऽपि समुदितत्वावच्छिन्नाया एकस्या एव
तस्याः स्वीकारात् सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य सर्वविशेषाभावेऽप्येकैव पर्याप्तिः; सामान्याभावस्य तु तत्तदधि-
करणेषु विशेषणताः तदतिरिक्ताः कल्प्याः । स्वरूपसंबन्धस्य निरस्तत्वादित्यन्त्यः पक्ष एव रोचत इति भावः । यत्तूक्त-
प्रतियोगितानिरूपकत्वमव्यासज्यवृत्तिस्वभावतत्तदभावस्वरूपत्वात् न व्यासज्यवृत्तिकं संभवतीत्यनुमानमणिदीधितावुक्तं
तन्न युक्तम्; बौद्धाधिकारटीकायां विषयतायाः ज्ञानस्वरूपत्वं निषिध्य एवं प्रतियोगित्वानुयोगित्वादिकमप्यति-
रिक्तं न प्रतियोग्यादिस्वरूपमित्यस्य महता प्रबन्धेन स्थापितत्वात् । अनुयोगिताविशेषरूपस्योक्तनिरूपकत्वस्याभाव-
स्वरूपत्वाभावात् । यदपि पृथिव्यां यावन्ति नीलरूपाणीतिवत् पृथिव्यां रूपं नास्तीति वाक्यमपि योग्यं स्यादिति,
तदपि न; यावन्नीलत्वावच्छिन्नाधेयताया पृथिव्यनिरूपितत्वेन नीलत्वावच्छिन्नाधेयताया एव पृथिवीनिरूपितत्वेन
यावन्नीलेषु बोधात्, पृथिव्यां न रूपमित्यत्रापि रूपत्वावच्छिन्नाप्रतियोगिताकाभावत्वावच्छिन्नाधेयताया एव बोधस्य
व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । सिद्धत्वादिति । तथाच सामान्यरूपेणाभावे समयविशेषावच्छिन्नवृत्तिकेन विवादो निरस्तः ।
स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकरूपेणात्यन्ताभावबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्, अन्यथा निर्वर्तं सघटमित्याद्यापत्तेः ।

न्तरेण त्वयाप्यभ्युपगमात्समयावच्छेदतदनवच्छेदाभ्यां वैलक्षण्याभ्युपगमाच्चैत्यलमतिविस्तरेण । एवं सामान्याभावोऽपि गौरवपराहत एव । तथाहि—सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, अभावः तस्य च तत्तदधिकरणसंबन्धा इति त्रयं वा कल्प्यताम् ? क्लृप्ततत्तदधिकरणसंबन्धानामेकाधिकरणवृत्तित्वावच्छेदेन सिद्धानामभावानां सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वमिति द्वयं वा कल्प्यताम् । तत्रोत्तरः पक्ष एव प्रेक्षावद्भ्यो रोचते; आद्यक्षणे 'घटो नीरूप' इति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वात्, यावदाश्रयतद्भेदग्रहस्य द्वित्वादिग्रहे हेतुत्वेऽपि उक्तप्रतियोगिताग्रहे हेतुत्वानभ्युपगमात्, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात् । नचैवमतिलाघवात् क्लृप्तानामधिकरणानामेवाभावधीहेतुत्वमस्तु, किं विशेषाभावैरपीति—वाच्यम्; अस्माकमिष्टापत्तेः, घटाभावो नेत्यादावतिरिक्ताभावस्य त्वयाप्यनभ्युपगमेन भावस्याप्यभावत्वप्रकारकप्रमाहेतुत्वस्योभयवासिद्धत्वात् । यदपि कश्चिदाह—प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वाद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अन्यथा अभावभेदासिद्धेः, प्रतियोगिभेदस्याभावभेदकत्वे एकघटप्रतियोगिकस्य प्रागभावादिचतुष्टयस्याभेदप्रसङ्गात्, अवच्छेदकभेदात्तु तद्भेदे न कोऽपि दोषः; क्वचित्तादात्म्यस्य क्वचित्संसर्गस्य क्वचित् पूर्वापरकालीनतद्वटत्वादेश्च भेदात्—इति । तन्न; संसर्गप्रतियोगिविशेषणसाधारणस्यैकस्यावच्छेदकत्वस्य दुर्वचत्वात्, तादात्म्यादेश्च प्रतियोगितावच्छेदकत्वे मानाभावात् । भेदसिद्धिस्तु भाववदभावस्यापि विरुद्धधर्माध्यासादेव । अवच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वं लिङ्गविधया तज्ज्ञापकत्वमेव वाच्यम्, न तु तज्जनकत्वम् । तच्च न; विपक्षबाधकतर्काभावेन सामानाधिकरण्याभावेन च व्यातिरेवासिद्धेः । अत एव—तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वव्याप्यमित्यपि—निरस्तम्; एवंचावृत्तीनां गगनादीनां समनियतानां वाऽन्येषां धर्माणामेक एवात्यन्ताभावः; युगपद्विनष्टानामुत्पन्नानां वा समानदेशानामसति बाधके एक एव ध्वंसः प्रागभावो वा; व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽपि चेदभावः प्रामाणिकः, तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिताः सर्वैरेव व्यधिकरणैः सर्वैश्च समानाधिकरणैः संबन्धैरेवावच्छिद्यन्ताम्, आकाशाभाव एव वा तथाऽस्ताम्; एकेनैवोपपत्तावभावभेदकल्पने मानाभावात् । नच—एवमेक एव जगतीतले भवत्वभावः, स एव तत्तदवच्छेदकदेशकालादिभेदेन तत्तद्व्यवहारभेदं जनयिष्यतीति किमधिककल्पनयेति—वाच्यम्; उपपद्यते चेदस्तु । प्रकृते तु न बाधकं किञ्चित् । अत एव वैशेषिकाणां स्वाभ्युपगतकालपदार्थस्यैव सर्वव्यवहारहेतुत्वोपपत्तौ न पदार्थान्तरसिद्धिरित्यद्वैतवादिनो वदन्ति । तदेवं 'अहमज्ञ' इति ज्ञानस्याभावज्ञानसामग्रीविलक्षणसामग्रीजन्यत्वादभावविलक्षणविषयत्वं सिद्धम् ॥ एवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रत्यक्षस्यापि । ननु—साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयं प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येतद्विषयकमुदाहृतज्ञानम्, तच्च न साक्षादर्थविषयम्; प्रमाणज्ञानावच्छेद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

एवंच सामान्यरूपेण विशेषस्य प्रागभावादिरिह कपाले घटो नास्तीत्यादौ समवायावच्छिन्नतया भातीति परोक्तमपास्तमिति भावः । ग्रहे निरूपकत्वग्रहे । अनभ्युपगमादिति । उक्तप्रतियोगिताकत्वान्यव्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षत्वेन शक्तिविशेषवत्त्वेन वा कार्यता । अन्यथा अनन्तसामान्याभावकल्पने महागौरवं स्यादिति भावः । संसर्गः संयोगादिः । तद्वटत्वेति । तद्व्यक्तित्वेत्यर्थः । तत्परिचायकमाह—पूर्वापरकालीनेति । साधारणस्येति । विशेषणस्य न्यूनाधिकवृत्तेर्नावच्छेदकत्वम्, संसर्गस्य तु तादृशस्यापि तदिति वैलक्षण्यात्तदवच्छेदकत्वयोर्भेद इति भावः । तादात्म्येति । तादात्म्यं भेदस्य प्रतियोगितायां नावच्छेदकम्, तत्तद्व्यक्तित्वं न ध्वंसप्रागभावयोः, मानाभावादिति भावः । सामानाधिकरण्येति । यत्र यत्रावच्छेदकभेदः, तत्र तत्राभावभेद इत्युक्तावभावे व्यभिचाराद्यत्र यत्रैकावच्छेदकभिन्नापरावच्छेदकत्वं, तत्र तत्रैकाभावभिन्नापराभावत्वमिति वाच्यम् । तथाच साध्यहेत्वोरसामानाधिकरण्यम् । युगपदित्यादि । युगपदुत्पन्नानामेकः प्रागभावः । युगपद्विनष्टानां चैको नाशः । मूलाग्रावच्छिन्नयोस्तु नाशयोः प्रागभावयोर्वा नैक्यम् । भिन्नावच्छेदेन प्रत्ययादित्यर्थः अभावांशे प्रतीतेरनुगताकारत्वायेदम् । तदनपेक्षायां तु तत्तदधिकरणेष्वेवाभावत्वं पूर्वोक्तं युक्तम् । उपपद्यते चेदिति । रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यावच्छेदकत्वं वाच्यत्वादवच्छेदकत्वम् । तथाच किमपराद्धं वाच्यत्वादिमात्रवृत्त्यभावेन ? संबन्धादिकल्पनमपि तुल्यमिति भावः । सिद्धिः तात्त्विकत्वम् । काल एव चिद्रूपोऽस्तु । तदन्यत् सर्वं तद्भास्यत्वान्मिथ्या । शुक्तिरूप्यादिवदिति भावः । साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयमिति । विषयीभूतज्ञाने विशेषणं यत्र त्वदुक्तार्थस्तदन्यत् त्वदुक्तार्थविशेषणकं ज्ञानमित्यर्थः । तदभावः

कतयार्थस्य भानात्, अतो न व्याघात इति—चेन्न; साक्षात्त्वदुक्तार्थमवेत्य हि तदभावो ग्राह्यः । तज्ज्ञानं च न साक्षिणा; स्वस्मिस्तादृक्प्रमाणज्ञानाभावात्, अन्यनिष्ठं तु शब्दादिना ग्राह्यम् । शब्दादिश्च त्वदुक्तार्थं बोधयन्नेव तद्विषयत्वं ज्ञाने बोधयेत् । तथाच प्रथमतस्तदुक्तार्थविषयकं साक्षादेव ज्ञानमागतमिति तन्निषेधे न कुतो व्याघातः ? अत एव—विशेषस्य स्वरूपतो ज्ञानेऽपि विशेषप्रकारकज्ञानाभावो न व्याहत—इत्यपास्तम्, करतलामलकज्ञाने स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्वं प्रसिद्धमिह निषिध्यत इत्यपि न; त्वदुक्तत्वस्यापि मदुक्ताद्यावर्तकत्वेन सामान्यतो व्यावर्तकधर्मविषयत्वस्य निषेद्धमशक्यत्वात् । ननु—अवच्छेदकतया विशेषज्ञाने जातेऽपि न व्याहतिः । तथाहि—न हि विशेषज्ञानाभावस्त्वदुक्तार्थविषयकज्ञानाभावो वात्र प्रतीयते, किंतु त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानाभावः, तत्र च त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानेऽपि तादृक्प्रकारकतद्विशेष्यकज्ञानाभावसंभवः; अस्य ज्ञानस्य ज्ञाने विशेष्ये विशेषप्रकारकत्वप्रकारकत्वात्, यत्रापि त्वदुक्तविशेषं न जानामीत्यभिलापः, तत्राप्येवमेव व्याहृत्यभावः कथंचिदुच्यते । नच—यत्रोक्तप्रतियोग्यप्रसिद्धिः, तत्र कथमभावप्रतीतिरिति—वाच्यम्; समवेतवाच्यत्वं नास्तीत्यत्रेव विशेष्ये विशेषणाभावविषयत्वेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयत्वेन वोपपत्तेरिति—चेन्न; अनुभवविरोधात्, विशेषज्ञानाभावस्य त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च । न चैवं दृश्यते । स्वतःप्रामाण्यमते तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेष्यकत्वे च गृह्यमाणे तद्वत्त्वग्रहणस्यावश्यकतया तदंशे तत्प्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने संभवात् स्पष्ट एव व्याघातः, भावरूपाज्ञानपक्षे तु सर्वस्यापि साक्षिवेद्यतया न व्याघात इत्युक्तम् । तदेवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रत्यक्षभावरूपाज्ञानविषयमिति सिद्धम् । एवमेतावन्तं कालं न किंचिदवेदिषमिति परामर्शसिद्धं सौपुंसं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव । ननु—परामर्शः किमनुमानं, किं वा स्मरणम् । आद्ये ज्ञानाभाव एवानुमीयताम्, किं भावरूपाज्ञानेन ? तथाहि—संप्रतिपन्नोदयास्तमय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

उक्तज्ञानाभावः । तज्ज्ञानं ज्ञानज्ञानम् । अर्थं त्वदुक्तार्थम् । बोधयन्निति । 'त्वदुक्तार्थज्ञानवानयमि'ति वाक्यजन्यबोधः अर्थस्त्वदुक्त इत्यवान्तरवाक्यार्थबोधपूर्वको वाच्यः । अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यबोधत्वासंभवात्, तन्मूलीभूतप्रत्यक्षस्य भानप्रत्यक्षत्वेनोक्तबोधत्वनियमेन तस्यापि तन्नियमाच्च । नच—त्वदुक्तार्थप्रमात्वादिना स्मरणान्तेन रूपेण प्रमाभावस्य प्रत्यक्षमस्त्विति—वाच्यम्; त्वदुक्तार्थस्याननुभवे तद्विशिष्टप्रमात्वेन पूर्वानुभवायोगात् । अतएव त्वदुक्तार्थस्मृत्यापि तत्प्रमानुमानादेरसंभवः । अतएव विशेषप्रकारकज्ञाने ज्ञेयविशेषप्रकारकज्ञानस्यावश्यकत्वादेव । स्वरूपतो विशेष्यतया । अशक्यत्वादिति । त्वदुक्तत्वान्यव्यावर्तकनिवेशेऽपि त्वदुक्तं नीलघटादिकं न जानामीत्यत्र नीलत्वघटत्वादिद्व्यावर्तकविषयकत्वेन विरोधात्तदन्यस्यापि निवेशे नीलघटत्वादिना निश्चयस्थलेऽपि नीलघटादिकं न जानामीति स्यात् । इष्टापत्तवानुभवविरोधात् स्वपदार्थाननुगमेन स्वविषयव्यावर्तकधर्माज्ञानकाले प्रतियोग्यप्रसिद्धेश्चाशक्यत्वमिति भावः । कथंचिदिति । विशेषनिष्ठानवच्छिन्नविषयताकज्ञानाभावो विषयः । प्रतियोगिज्ञानं तु विशेषत्वेन विशेषप्रकारकमिति भावः । विशेष्ये विशेषणाभावेति । त्वदुक्तार्थज्ञाने विशेषप्रकारकत्वस्य विशेषप्रकारकज्ञानादौ त्वदुक्तार्थविषयकत्वादेर्वा अभावेत्यर्थः । अनुभवविरोधात् त्वदुक्तार्थविशेषविशेषितज्ञानविरोधित्वेनानुभवस्यापलापपत्तेः । अनभ्युपगम इति । 'त्वदुक्तार्थं जानामी'ति धीकाले इत्यादिः । दृश्यत इति । तादृशाभावस्यानभ्युपगमे तु प्रतियोग्यज्ञानादेव तव नोक्तानुभवः, मम तु निर्विघ्नः स इति शेषः । तद्वत्त्वग्रहस्येति । तदंशे इत्यग्रे अन्वयः । त्वदुक्तार्थं विशेषप्रकारकग्रहस्येत्यर्थः । तत्प्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्य विशेषप्रकारतानिरूपितत्वदुक्तार्थविशेष्यताकत्वस्य । प्रतियोगिज्ञाने उक्तविशेष्यताकत्वेन ज्ञानस्य ज्ञाने । संभवादिति । नच—विद्यमान एव ज्ञाने प्रमात्वस्य साक्षिणा ग्रहादविद्यमानज्ञानस्योक्तविशेष्यताकत्वेन ग्रहः न तदंशे तत्प्रकारक इति—वाच्यम्; अविद्यमानस्याप्युक्तविशेष्यताकत्वेनेव प्रमात्वेनापि पूर्वानुभवसत्त्वे स्मृतिसंभवाद्विशेष्यविशेषणयोरुपस्थितिसत्त्वेऽपि विशिष्टधीसंभवेन प्रमात्वाग्रहेऽपि तदंशे तत्प्रकारकत्वे बाधकाभावाच्च । परतः प्रामाण्यमते प्रामाण्यस्य क्वचित् संशयस्योपपत्तये प्रथमानुव्यवसायसामग्र्यादेः प्रामाण्यग्रहे प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् स्वतःप्रामाण्येत्युक्तम् । त्वदुक्तघटं जानामीत्यत्रेव त्वदुक्तं घटं न जानामीत्यत्र स्वरूपतो घटत्वं भाति । तेन रूपेण च घटो विशेषणम् । तथाच तेन रूपेण ज्ञानस्य कारणस्यापेक्षणं त्वदुक्तविशेषं न जानामीत्यत्रापि स्वरूपत एव विशेषस्य भानात् स्वरूपतज्ज्ञानापेक्षायां व्याघातो गूढ इति सूचयति । स्पष्ट इति । तत्कालमहं तत्कालीनोऽहम् । तद्वत्तया ज्ञानवत्तया । नियमेन सर्वदा । स्वयमाणेऽपि-

कालवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमयोरन्तरालकालमनुमाय तत्कालमहं ज्ञानाभाववान्, अवस्था-
विशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, तुल्ययोगक्षेम आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेना-
स्मर्यमाणत्वाद्वेति प्रयोगसंभवात् । द्वितीये तु नास्त्युपपत्तिः; संस्कारासंभवात्, विनश्यदेव हि ज्ञानं
संस्कारं जनयति; विना व्यापारं व्यवहितकार्यजननाक्षमत्वात्, अविनश्यता तु तेन स्वयमेव
तत्कार्यस्य जनयितुं शक्यत्वात् किमिति संस्कारो जन्येत? न हि संस्कारोऽपि प्रत्यक्षः, येन कार्या-
न्यथानुपपत्तिमन्तरेणापि अभ्युपेयते; सौषुप्तं चानाद्यज्ञानोपरक्तं साक्षिचैतन्यरूपं ज्ञानं स्वतो वा
उपाधितो वा न विनश्यतीति संस्कारं कथं जनयेत्? तदभावात् कथं स्मर्येत, अस्मर्यमाणं वा कथं
प्रमाणत्वेनोदाह्रियेतेति—चेन्न; न तावदनुमानं तत्र संभवति । हेतोः पक्षविशेषणस्य चाज्ञानात् ।
न हि ज्ञानाभावमन्तरेणावस्थायां विशेषो वक्तुं शक्यः । ज्ञानसामग्रीविरहश्च ज्ञानाभावानुमेयत्वे-
नान्योन्याश्रयग्रस्तः । न चेदानीन्तनेनेन्द्रियप्रसादेन पूर्वकालीनं तदुपरममनुमाय सामग्रीविरहानु-
मानम्; इन्द्रियप्रसादस्य सुखानुभवहेतुकस्य तदुपरमहेतुकत्वासिद्धेः । नियमेनास्मर्यमाणत्वं च
यथाश्रुतं वा सुषुप्तिकालावच्छेदेनेति वा । आद्ये असिद्धिः, द्वितीये तूपेक्षणीयज्ञानाभावो न सिद्धयेत्,
तत्रैव व्यभिचारश्च । नच—तर्हि प्रातरनुभूतचत्वरं गजज्ञानाभावज्ञानं कथमिति—वाच्यम्; ज्ञाना-
नुपलब्ध्यैवेत्यवेहि । अनुपलब्धिज्ञानं च भावरूपाज्ञानेन लिङ्गेन । तथाहि—पूर्वकालेऽहं, गजज्ञाना-
भाववान्, गजाज्ञानवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजज्ञानवानहमिति, एवं सर्वत्राज्ञानस्य ज्ञानाभा-
वव्याप्यत्वेन तदनुमापकत्वम् । नच—सुषुप्तिकाले ज्ञानाभावानुमानार्थं भावरूपाज्ञानमिव रागाभा-
वानुमानार्थं द्वेषोऽपि स्वीकरणीयः, तद्विरोधिपदार्थानुभवं विना तदभावानुमानायोगादिति—
वाच्यम्; भावरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावेन वा रागाभावानुमानसंभवात्, तस्यापि तद्विरोधित्वात् ।
अथापरोक्षतो ज्ञातेऽज्ञानाभावात् कथं परोक्षज्ञानाभावानुमानम्? सामग्रीविरहादिनेति गृहाण ।
न चात्राप्यन्योन्याश्रयः; शब्दादीनां योग्यानां योग्यानुपलब्ध्या अभावनश्चयेन परोक्षज्ञानविरहज्ञानं
विनैव सामग्रीविरहनिश्चयात्, सुषुप्तिकालेचेन्द्रियादिघटितसामग्रीविरहस्य फलाभावं विना
ज्ञातुमशक्यत्वेनान्योन्याश्रयोक्तेः । न च स्मरणपक्षे संस्कारानुपपत्तिः; अज्ञानस्याज्ञानवृत्तिप्रति-
बिम्बितसाक्षिभास्यत्वेन वृत्तिनाशादेव संस्कारोपपत्तेः, अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैव साक्षि-
पदार्थत्वात् । नच—जागरेऽप्यज्ञानस्य वृत्तिवेद्यत्वे वृत्त्यभावदशायां संशयाद्यापत्तिरिति—
वाच्यम्; अज्ञानविषयाज्ञानाभावेन तदयोगात्, संशयादेस्तत्कारणीभूताज्ञानसमानविषयत्वनिय-
मात् । भावत्वादिना संशयेत्विष्टापत्तिरेव; भावत्वादेः साक्षिवेद्यत्वाभावेनाज्ञानविषयत्वात्,
अज्ञानस्य स्वरूपेणैव साक्षिवेद्यत्वात् । ननु—तदा ज्ञानाभावोऽपि स्वरूपेणैव भासताम्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यन्तं यदि तत्कालमहं ज्ञानवान् स्यां, तदा तद्वत्तया स्मर्यमाणः स्यामिति तर्कज्ञापनाय, नतु हेतौ प्रविष्टम् । किमि-
तीति । स्मृतिव्हेनानुभवस्य स्वयमेव जनयितुमशक्यतया संस्कारः स्मृत्युपधायकतया सार्थकः । ज्ञानस्य नाशे सति
तु स एव संस्कारो लाघवादिनि नेदं परोक्तं युक्तमिति ध्येयम् । स्मर्यतेति । अज्ञानमित्यादिः । वक्तुं शक्य इति ।
नच—प्राज्ञपरिष्वङ्गरूपा सुषुप्तिः श्रुत्यैव बोध्यते इति—वाच्यम्; सौषुप्तानुभवसिद्धस्यैव श्रुत्याऽनुवादात्, श्रुत्यप्रतिस-
न्धानेऽपि न किञ्चिद्वेदितमिति प्रत्ययाच्च । सुखानुभवेति । सुषुप्तावपि स्वरूपसुखानुभवोऽस्तीति स एव प्रसादहेतुः ।
स्वरूपसुखाकारकवृत्तेरेव हेतुत्वात् न सर्वदा प्रसादः । उक्तवृत्तिर्हि सुषुप्तौ समाध्युत्तरकाले चित्तावैयर्थ्यकाले च
भवति । इन्द्रियोपरमस्य प्रसादहेतुत्वे तु उक्तकालेषु स न स्यात्, स्मरणकाले च स्यादिति भावः । अवच्छेदेनेति ।
नियमेनास्मर्यमाणत्वमित्यनुषज्यते । तथाच सुषुप्तिकालावच्छिन्नज्ञानत्वेनास्मर्यमाणत्वमित्यर्थः । असिद्धिरिति ।
यद्यपि सुषुप्तिकालीनोऽहं पक्षः; तथापि तस्य ज्ञानवत्त्वेन आन्त्या स्मर्यमाणत्वमस्यैवेति भावः । द्वितीयेत्येति ।
तुशब्दादसिद्धिव्यवच्छेदः । सुषुप्तिमात्रस्याव्यावर्तकतया पक्षीभूताहमर्थसुषुप्तेरेव निवेश्यतया पक्षस्य तदीयसुषुप्तिका-
लीनज्ञानवत्त्वेनानुभवात् । पक्षीभूताहमर्थसुषुप्तिकालीनपुरुषान्तरस्यैव तेन स्मर्यमाणत्वात् । उपेक्षणीयेति । यः
स्वकीयसुषुप्त्यादिरूपयत्कालीनयद्विषयकज्ञानवत्त्वेन न स्मर्यते, स तत्कालीनतद्विषयकज्ञानप्रतियोगिकाभावस्याश्रयः,
यथाहं प्रातर्घटज्ञानवत्त्वेनास्मृतः प्रातर्घटज्ञानाभाववानिति सामान्यतो व्याप्तिर्वाच्या । अन्यथा दृष्टान्ताभावात्तत्र
चोपेक्षणीयज्ञानस्यैव निवेशे उपेक्षणीयज्ञानाभावो न सिद्धेदित्यर्थः । ज्ञानसामान्यस्यैव निवेशे आह—तत्रैवेति । उपे-
क्षणीयज्ञानवदिति इत्यर्थः । उक्तज्ञानवत्त्वेनास्मर्यतेयुक्तज्ञानसत्त्वाच्चभिचार इति भावः । फलाभावमिति । हेतुमिति

सप्रतियोगिकत्वेनाभावज्ञान एव प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वात्, अन्यथा 'प्रमेय'मिति ज्ञानेऽप्य-
भावो न भासेतेति—चेन्न; साक्षिणा तावन्न स्वरूपेणाभावावगाहनम्; तस्य साक्षात्साक्ष्यवेद्य-
त्वात् । नापि शब्दादिना तदानीं तेषामभावात् । नाप्यनुपलब्ध्या; तस्याः प्रतियोगिज्ञाननिरपे-
क्षाया अजनकत्वात् । नच—दृष्टाभावान्तरविलक्षणस्वभाव एवायमभाव इति स्वरूपेण साक्षिवेद्यो-
ऽस्त्विति—वाच्यम्; निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्वे भावत्वस्यैवाचिन्त्यात्, अन्यथा परिभाषामात्रापत्तेः ।
ननु ज्ञानविरोधित्वादेस्तदानुभवेन 'नावेदिष'मिति तेनाकारेण कथं परामर्शः? न; द्रष्टृह्यन्तःकरण-
तादात्म्येनाहमुल्लेखस्येव ज्ञानविरोधित्वादेरपि तदैवानुभूयमानत्वेन तदंशे परामर्शत्वानभ्युपगमात्,
सुषुप्तिकालीनस्य द्रष्टुरेव परामृष्टत्वात् । नन्वज्ञानवृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य
जाग्रत्यपि विद्यमानत्वात् कथमज्ञानस्मरणम्? न हि धारावाहिकेषु अनुभवेषु तुल्यसामग्रीकेषु
स्मरणव्यवहारः; तथाच धारावाहिकोऽज्ञानानुभव इति वक्तव्यम्, न तु परामर्श इति, सत्यम्;
सुषुप्त्याख्यायास्तामस्या अज्ञानवृत्तेर्नाशे जाग्रति तद्विशिष्टाज्ञानस्य साक्षिणाऽनुभूयमानत्वाभावेन
संस्कारजन्याविद्यावृत्त्यैव सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानभानात् परामर्शत्वोपपत्तेः; केवलाज्ञानांशे तु तुल्यसा-
मग्रीकत्वाद्धारावाहिकत्वमेव; अत एव कार्योपाधिविनाशसंस्कृतमज्ञानमात्रमेव प्रलयोपमं सुषुप्ति-
रित्यभिप्रेत्य वार्तिककारपादैः सौषुप्ताज्ञानस्मरणमपाकृतम् । तथाचोक्तम्—'न सुषुप्तिगविज्ञानं
नाज्ञासिषमिति स्मृतिः । कालाद्यव्यवधानत्वाच्च ह्यात्मस्थमतीतभाक् ॥ न भूतकालस्पृक्प्रत्यक् न
चागामिस्पृगीक्षते । स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥' इत्याद्यव्याकृतप्रक्रियायाम् ।
विवरणकारैस्तु—'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रे'ति योगसूत्रानुसारेण तमोगुणात्मकावरणमात्रा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शेषः । अजनकत्वादिति । अन्यथा तया नेत्याकारकज्ञानोत्पत्त्यापत्तिरिति भावः । तदैवेति । सविकल्पकवृत्तेरहंकार-
जन्यत्वेन ज्ञानविरोधित्वसविषयकत्वप्रकारकाविद्यावृत्तिर्न सुप्तौ जायते । अतएव 'सिद्धान्तविन्दानुक्तम्—अहंकारा-
भावाच्च नैका विशिष्टवृत्तिरिति । वस्तुतस्तु—ज्ञानत्वसविषयकत्वाभ्यां रूपाभ्यामेव ज्ञानस्येव ज्ञानविरोधित्वसवि-
षयकत्वाभ्यामेवाज्ञानस्यानुभवः; तस्येव तस्यापि सविकल्पकैकवेद्यत्वात् । तथाच तदन्यप्रकारकज्ञानस्यैव सुषुप्ताव-
भावनियमात्तादृशज्ञानं प्रत्येवाहंकारस्य हेतुता । विस्तरेण चेदं विन्दुटीकायामुक्तम् । परामृष्टत्वात् स्मृतत्वात् । प्रमा-
प्रत्येव मनसः परिणामित्वेनाविद्यावृत्तिरूपस्मृतेरविद्यापरिणामत्वादविद्योपहितसाक्षिण एव तदाश्रयत्वमिति भावः ।
वृत्त्यैवेति । नच—जागरे बाधाभावादागन्तुकदोषाजन्यत्वाच्च सुषुप्तज्ञानं नाविद्यावृत्तिरिति—वाच्यम्; देहात्मैक्य-
सुखादिविषयकाविद्यावृत्तेर्ब्रह्मज्ञानैकबाध्यत्वेनेदानीमबाध्यत्वादविद्यावृत्तेरिदानीं बाध्यत्वानियमात्, उक्तवृत्तिवदेवोक्त-
दोषजन्यत्वसंभवाच्च । सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानेति । अज्ञानस्य विशिष्टस्वरूपमात्रेत्यर्थः । भानात् विषयीकरणात् । केव-
लाज्ञानेति । विशिष्टान्याज्ञानस्वरूपेत्यर्थः । एकैव निर्विकल्पकवृत्तिर्विशिष्टकेवलाज्ञानस्वरूपद्वयविषयिका विशिष्टांशे
स्मृतिः; केवलांशे त्वनुभव इति भावः । विनाशसंस्कृतं विनाशरूपसूक्ष्मावस्थायुक्तमज्ञानमात्रम् । ननु वृत्तिः ।
सुषुप्तिकालमात्रगाया एकस्या वृत्तेरस्वीकार इति भावः । सुषुप्तिगेति । सुषुप्तिकालमात्रगत्येत्यर्थः । एकैवाविद्या-
वृत्तिः सुषुप्त्यादिकालस्थायिनी, ननु सुषुप्तिकालमात्रवृत्तिः काचन वृत्तिः । यन्नाशात् स्मरणमित्यर्थः । अथवा
प्रलयवदेव सुषुप्तौ वृत्तिर्न स्वीक्रियत इत्याशयेन प्रलयोपममित्यस्योक्तत्वाद्विज्ञानजन्यज्ञानं सुषुप्तौ नेत्यर्थः । काला-
द्यव्यवधानत्वात् सुषुप्तिजाग्रत्कालयोः संस्कारकालेन व्यवधानाभावात् । ननु सौषुप्तवृत्तिनाशाभावेऽपि विषयना-
शाद्विषयावच्छिन्नचिन्ताशेन स्मृतिरास्ताम्, तत्राह—न हीति । आत्मस्थम् अज्ञानम् । अतीतभाक् अतीतम् ।
हेतुमाह—न भूतेति । प्रत्यक् अज्ञानोपहितचित् । तेन उक्तहेतुना । विकल्पः ननु स्मृतिरूपनिर्विकल्पः । सः नावे-
दिषमिति प्रत्ययः विकल्पतां घटयति । यतस्तस्य प्रत्ययस्य स्वार्थदेशः स्वार्थाधिकरणकः । परार्थोऽर्थः विषयः अज्ञाने
अज्ञानभिन्नो ज्ञानविरोधित्वादिरूपो विषय इति यावत् । अभावेत्यादि । अभावस्य सर्ववृत्त्यभावस्य । प्रत्ययः
कारणम् । उद्विक्ततमोगुणः आलम्बनं विषयो यस्याः सा तथा प्रतीयते प्राप्यते कार्यमनेनेति व्युत्पत्तेः प्रत्ययपदस्य
कारणार्थकत्वात् । तमोगुणस्योद्वेके सति सत्त्वगुणपरिणामरूपा सुषुप्तिरूपा वृत्तिः, ननु तमोगुणस्यैव परिणामः;
'सत्त्वात् संजायते ज्ञान'मिति स्मृतेः । अतएव सुषुप्तिरुक्तोपपादने भामत्यामीक्ष्यधिकरणे वृत्त्यन्तराभावकारणतमो-
गुणावलम्बना वृत्तिरित्युक्तम् । कारणेति । प्रमाणादीतरवृत्त्यभावकारणेत्यर्थः । मात्रपदं ज्ञानविरोधादिधर्मान्तरस्या-
ज्ञाने विशेषणत्वनिरासाय । एतेन गुणत्रयाज्ञानविषयकत्वस्य पूर्वमुक्तत्वाद्विरुद्धमिदं तमोगुणमात्रविषयकत्ववचनमिति
परास्तम् । मात्रपदस्य गुणान्तराव्यवच्छेदकत्वात् । इति धीः अज्ञानांशे स्मृतिर्वेनानुभूयमानधीः । सुषुप्ते इति ।

लभ्यना काचिद्वृत्तिः सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य तदुपरक्तचैतन्यस्य तन्नाशेनैव नाशात्तत्कालीनाज्ञानानुभव-
जनितसंस्कारवशेन न किञ्चिदवेदिष'मिति 'स्मरणमभ्युपेत'मिति वार्तिकविवरणयोरप्यविरोधः ।
अत एवोक्तं वार्तिककारैरुपस्तिब्राह्मणे—'न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते । नावेदिषं सुषुप्तोऽह-
मिति धीः किं वलाद्भवेत् ॥' इत्यादि । अभिप्रायस्तु वर्णितः । एवं च साक्ष्यज्ञानसुखाकारास्तिष्ठो-
ऽविद्यावृत्तयः सुषुप्त्याख्यैकैव वा वृत्तिरित्यन्यदेतत् । निर्विकल्पकस्यापि स्मरणजनकत्वम् । अहं-
कारोपरागकालीनत्वाभावेन तत्तानुल्लेख इत्यादि सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तविन्दौ । तस्मात्
सौषुप्तानुभवोऽपि भावरूपाज्ञानविषय इति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानप्रत्यक्षत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धीरित्यन्वयः । तेन सुषुप्तौ नावेदिषमित्यस्य सविकल्पकत्वेऽपि न क्षतिः । उक्तधियः अज्ञानांशेऽनुभवत्वं वक्तुं
शक्यम् । ननु सुषुप्त्यंशे स्वरूपसुखांशे वा । नहि विक्षेपबाहुल्यकाले जागरे तदनुभवसंभवः । नच—कार्यसामान्य-
संस्कारोपहितचैतन्यज्ञाने स्वरूपसुखसुषुप्तिप्रकाशरूपचैतन्यनाशत्वस्योक्तसंस्कारनाशरूपजाग्रदवस्थायां स्वीकारात्तत्
एव तयोः स्मृतिरिति—वाच्यम्; उक्तसंस्कारस्य तदुभयाविषयकत्वेन तन्नाशात्मकजाग्रदवस्थायास्तदुभयविषयक-
संस्कारत्वासंभवात् । अथोक्तचैतन्यात्मकत्वस्यापि तस्य स्वीकारात्तत्संभव इति चेन्न; वृत्तिचैतन्ययोरेकजातीयविषयत्वा-
भावेन तदन्तर्भावेन संस्कारस्य हेतुत्वासंभवात्, वृत्तेर्हि विषयत्वमाकाराख्यम् । चैतन्यस्य तु तादात्म्यम् । तथाचा-
नुमित्यादिवृत्तिनाशस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वेन प्रकृते वृत्तिरावश्यकी । किञ्च चित्स्वरूपस्यैव सुखत्वेन जागरमध्येऽपि
तस्मृतिसंभवेन सुषुप्त्युत्तरमेव सुखमासमिति स्मृतिरित्यत्र बीजाभावः । तस्मात् सुषुप्तौ सुखाकारा वृत्तिरावश्यकी ।
सैवाज्ञानाकारा सुषुप्तिस्तद्विषयिकापि तत्सूक्ष्मावस्था तस्मृतिहेतुः; वृत्तिमात्रस्यैव नाशे तद्विषयेष्विव तत्रापि स्मृति-
हेतुत्वकल्पनात् । ज्ञातत्वेन हि सर्वैः स्मर्यत इति भामत्यामध्यासभाष्यस्थायामुक्तम् । तथाचैतादृशसुषुप्तौ स्वरूपसुखे-
चोक्तानुभवो न चेदभ्युपेयते, नावेदिषमिति धीस्तदुभयविषयिका किंनिबन्धनेत्यनेन तदुभयविषयकत्वानुरोधेन सौषुप्त-
वृत्तिरावश्यकी । ततश्च तस्यामेवाज्ञानाकारत्वं स्वीकृत्य तदुभयस्मृतेरज्ञानेऽपि स्मृतिवत्मानुभाविकं नापलपनीयमिति
ज्ञापितम् । वर्णित इति । विवरणस्य योऽभिप्राय उक्तः, स एव 'न चेदि'त्यादिवार्तिकस्येत्यर्थः । जनकत्वमिति ।
आकाशादिपदात् शुद्धाकाशशक्तत्वेन ज्ञानात् शुद्धाकाशस्मृतिर्मणिकारादिभिरुक्तेति निर्विकल्पकानुभवस्य सविकल्पकानु-
भवस्येव स्मृतिजनकत्वे बाधकाभाव इति भावः । अहमित्यादि । सप्रकारकाज्ञानं प्रत्यहंकारस्य हेतुत्वात्तदभावेन
सौषुप्तज्ञाने तद्देशकालासंबन्धरूपतत्तत्प्रकारकत्वाभावात् तज्जन्यस्मृतेरपि स इति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां
अज्ञानप्रत्यक्षोपपादनम् ॥

अथाज्ञानवादे अज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

साक्षिवेद्ये सुखादावज्ञानाभावेन जडे आवरणकृत्याभावेन घटं न जानामीत्यादिप्रतीतेरिव ज्ञानाभावविषयकत्वात् तत्
एव परोक्षे धर्मादौ ज्ञाते न जानामीत्यनुभवोपपत्तेश्चाहमज्ञः अहं न जानामीत्यादिप्रत्ययानामपि ज्ञानाभावविषयकत्वमेव ।
न हि भवन्मतेऽप्यहमर्थस्याज्ञानाश्रयत्वसंभवः । अतएव ह्यहमज्ञो मयि ज्ञानं नास्तीति प्रत्यययोः विशेषणविशेष्यभाव-
व्यत्यासं विना विषयभेदाप्रतीत्युपपत्तिः । श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य सत्त्वेन तज्ज्ञाने प्रतियोगिज्ञानाज्ञा-
नाभ्यां व्याहृतेस्तुल्यत्वेन नात्र पर्यनुयोगावकाशः । एवं च यथा सामान्यरूपेण प्रतियोगिज्ञानस्य प्रागभावस्थले विशेषरूपेण
निषेधे कारणत्वान्न व्याहृतिः, एवं प्रकृतेऽपि सामान्यतो वृत्तिज्ञानस्य साक्षिवेद्यत्वेन विशेषतोऽभावज्ञानमुपपद्यत इति व्याह-
र्यभावात् । अस्तुवा कथंचिद्व्याहृतिप्रसङ्गः, तथापि अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानादिति विवरणवचनोपपत्त्यर्थं
अज्ञानज्ञानविरोधप्रामाणिकत्वोपपत्त्यर्थं च न जानामीत्यादौ ननुल्लेखेऽपि मुग्धोऽस्मीत्यादौ ज्ञानविरोधित्वेनैवाज्ञानस्याङ्गीक-
रणीयतया भावरूपाज्ञानवादेऽपि विरोधनिरूपकज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याहृतिसाम्येन यश्चोभयोरिति न्यायेन न पर्यनुयोगावसरः ।
तमोनीहारादिशब्दैः सामान्यतः तत्प्रतीतौ विरोधाप्रत्ययेनाज्ञानस्य विरोधनिरूपकज्ञानाज्ञाननियतत्वं तु ज्ञानाभावेऽपि समम्;
प्रमेयत्वादिनाऽभावज्ञानेऽपि प्रतियोगिज्ञानानपेक्षणात् । एवं च अहमज्ञ इति प्रत्यक्षं न भावरूपाज्ञाने प्रमाणम्; एतेन—
ब्रह्म न जानामीति प्रत्ययोऽपि—**व्याख्यातः**; विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य वा
हेतुत्वेनावच्छेदकब्रह्मज्ञानाज्ञानाभ्यां ब्रह्माज्ञानज्ञानासंभवात् । एतेन—त्वदुक्तार्थं न जानामीत्यनुभवोऽपि—**व्याख्यातः**;

सामान्यतोऽर्थज्ञानस्यैव विशेषतः तदभावज्ञानहेतुत्वात् । यदितु विशेषज्ञानज्ञानस्यैव तदभावज्ञानहेतुत्वमित्याग्रहः, एवमपि स्वरूपेण विशेषज्ञाने सत्यपि संशयादिविरोधिभूतविशेषप्रकारकज्ञाननिषेधस्यैवात्र विवक्षितत्वेन स्वरूपेण विशेषज्ञानज्ञानसत्त्वेऽपि न दोषः । **वस्तुतस्तु**—ब्रह्म न जानामीत्यस्य त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यस्य च ब्रह्मज्ञानादिकं नास्तीति नार्थः, येन प्रतियोगित्वेन विशेषज्ञानापेक्षा स्यात्, किंतु ब्रह्मज्ञाने करतलमलकज्ञाने इव स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयकलनिषेध एवेति न कोऽपि दोषः । **परमार्थतस्तु**—साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकं प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येव न जानामीति प्रत्ययार्थ इति साक्षात्प्रत्ययाविषयत्वेनार्थासत्त्वेन प्रमाणज्ञाननिषेधोपपत्त्या सर्वोपपत्तिः । **एतेन**—न किंचिदवेदिषं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शसिद्धः सौषुप्तिकानुभवोऽपि—**व्याख्यातः** तस्यापि पूर्वोक्तप्रकारेण दुःखं नावेदिषमित्यादीनामिव ज्ञानाभावविषयकत्वात् । **किंच** परामर्शशब्देन किमनुमानम्, उत स्मरणं विवक्षितम्, **आद्ये**—अवस्थाविशेषवत्त्वेन ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वेन तुल्ययोगक्षेमे आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वेन वा हेतुना सुषुप्तौ ज्ञानाभावस्यैवानुमानेन भावरूपाज्ञानाविषयीकरणम् । **द्वितीये**—अनाद्यज्ञानोपरक्तसाक्षिचैतन्यरूपसौषुप्तज्ञानस्य स्वतो बोधाधितो वाऽविनाशित्वेन संस्काराजनकत्वेन संस्कारद्वाराऽनुभवजन्यज्ञानत्वरूपसृष्टित्वानुपपत्तिः । **एतेन**—ज्ञानविरोधिभावरूपाज्ञानेनैव सुषुप्तौ ज्ञानानुभव इति वचनमपि—**पराहतम्**; विरोधिपदार्थानुभवेन विरोध्यन्तराभावानुमाने सौषुप्तिकरागाभावानुमानार्थं द्वेषानुभवस्याप्यङ्गीकारापत्तेः । ज्ञानाभावेन रागाभावानुमानं तु न संभवति; आत्मनः प्रकाशमानत्वात् । एवंचाज्ञानस्यैव ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपतो मानसंभवेनाज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य जाग्रत्यपि सत्त्वेन अहमंशे इव स्मरणरूपत्वाभावेन च सौषुप्तानुभवोऽपि न भावरूपाज्ञाने मानमिति सिद्धमिति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

स्वस्मिन् विद्यमाने साक्षिवेद्ये सुखादौ न जानामीति व्यवहारासंभवेन परसुखादौ तद्व्यवहारस्य परोक्षज्ञाननिवर्त्यप्रमात्रज्ञानेनोपपत्त्या परोक्षज्ञानेन प्रमात्रज्ञाननिवृत्त्यैव तत्कार्यज्ञातधर्माद्यज्ञानानुभवोपपत्त्याऽज्ञानाश्रयचैतन्य एवान्तःकरणतादात्म्याध्यासेनैकाश्रयत्वसंबन्धेनाहमज्ञ इत्यादिप्रत्ययानामपि घटावच्छिन्नचैतन्याश्रिताज्ञानविषयकस्य घटं न जानामीत्यादिप्रत्यक्षस्यैव भावरूपाज्ञानविषयकत्वमेव युक्तम्; मयि ज्ञानं नास्तीति प्रतीतेः ज्ञानाभावविषयत्वे ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतेः यावज्ज्ञानविशेषविरोधित्वेन तत्कारणत्वाभिमतज्ञानविशेषोदये व्याघातापत्त्याऽभावबुद्धिवैलक्षण्यस्याङ्गीकरणीयतया विषयाभाववैलक्षण्यसिद्ध्या अहमज्ञः मयि ज्ञानं नास्तीति प्रत्यययोर्विषयभेदाप्रतीतेः ज्ञानद्वयस्यापि भावरूपाज्ञानगोचरत्व एवोपपत्तेः । श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतुत्वप्रकारकब्रह्मज्ञानज्ञानस्य श्रवणासाध्यत्वेन तत्प्रागभावविषातेन नास्मन्मतेऽपि व्याघातसाम्यम् । एवंच प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानस्यैवाभावज्ञानहेतुत्वेन सामान्यतः प्रतियोगिज्ञानेन विशेषतोऽभावज्ञानोपपादनासंभवेनेहेदानीं घटो नास्तीति प्रतीतेरपि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकालविशेषावच्छिन्नयावद्विशेषाभावविषयकत्वेन प्रागभावप्रतीतावपि तादृशकार्यकारणभावाभावेन प्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याहृत्या न ज्ञानाभावविषयं प्रत्यक्षमिति मन्तव्यम् । सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिगोचर इति विवरणोक्त्या अज्ञानग्रहे साक्षिचैतन्यापेक्षायामपि विषयगोचरप्रमानपेक्षणात् भावरूपाज्ञानपक्षे न व्याहतिः । वृत्तिज्ञानस्य साक्षिवेद्यत्वेऽपि तदभावस्य साक्षिवेद्यत्वाभावेन न ज्ञानाभावस्यापि साक्षिमात्रापेक्षत्वेन व्याहृत्यभावः । एवंच अहमज्ञ इति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञानविषयमेवेति सिद्धम् । **एतेन**—ब्रह्म न जानामीति प्रत्ययोऽपि—**व्याख्यातः**; विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य तत्त्वावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य वाऽहेतुत्वेन, हेतुत्वेऽपि विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणमिति रीत्या विशिष्टबुद्धिसंभवेनावच्छेदकविषयज्ञानं विनापि तत्प्रत्ययसंभवात् । **अत एव**—त्वदुक्तमर्थं न जानामीति प्रत्यक्षमपि तत्र प्रमाणमिति—**सूचितम्**; विशेषज्ञानाभावस्य त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन व्यवहारापत्त्याऽनुभवविरोधेन विशेषप्रकारकज्ञानाभाव एवात्र विवक्षित इति वर्णयितुमशक्यत्वात् । **एतेन**—करतलमलकज्ञाने प्रसिद्धं स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्वमेवात्र निषिध्यत इति वचनमपि—**पराहतम्**; त्वदुक्तस्यापि मदुक्तत्वाव्यावर्तकत्वेन सामान्यतो व्यावर्तकधर्मविषयत्वस्य निषेद्धमशक्यत्वात् । साक्षात् त्वदुक्तार्थस्यान्यनिष्ठस्य शब्दादिप्रमाणादिना बोधने तद्विषयत्वस्यापि ज्ञाने बोधनेन त्वदुक्तार्थविषयकं ज्ञानमागतमिति तन्निषेधे व्याघातापत्त्या साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकं प्रमाणज्ञानं नास्तीत्येवंपरतया व्याख्यानमपि न युक्तम् । **एतेन**—परामर्शसिद्धसौषुप्तानुभावोऽपि—**व्याख्यातः**; ज्ञानाभावमन्तरेणावस्थायां विशेषवत्त्वस्याशक्यवचनत्वेन ज्ञानाभावानुमापकज्ञानसामग्रीविरहस्य ज्ञानाभावानुमेयत्वेनान्योन्याश्रयेण यथाश्रुतस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वस्यासिद्ध्या सुषुप्तिकालावच्छिन्नस्योपेक्षणीयज्ञानाभावासाधकत्वेन तत्रैव व्यभिचारेण चाज्ञानाभावानुमित्यसंभवात् प्रातरनुभूतचत्वरं गजज्ञानाभावज्ञानं भावरूपाज्ञानलिङ्गकानुपलब्धिज्ञानेन सर्वत्राज्ञानस्य ज्ञानाभावव्याप्यत्वेन ज्ञानाभावेनैव रागाभावानुमानमपि संभवत्येवेति मन्तव्यम् । अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वेन वृत्तिनाशात् संस्कारोपपत्त्या जाग्रत्यपि सुषुप्त्याख्यतामसाविद्यावृत्तिविशिष्टज्ञानस्य साक्षिणाऽननुभूयमानत्वेन न किंचिदवेदिषमित्यादेः स्मरण-

रूपत्वेऽपि तु बाधकाभावः । इदं तु अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निर्देति योगसूत्रानुसारीति “न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिपमिति स्मृतिः” इति प्रस्थानान्तरपरवार्तिकेन न विरोध इति सर्वमनवयमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

स्वसमवेतस्वभ्रान्तिसिद्धसुखादौ साक्षिवेद्ये न जानामीति व्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वेनैकस्यैवाज्ञानस्य विषयप्रमातृगतत्वेन विषयाज्ञानविनाशे धर्मादौ ज्ञातेऽपि न जानामीति व्यवहारापत्त्या शुद्धचैतन्यस्याज्ञानाश्रयतया विशिष्य प्रतीत्यसंभवेनाहमज्ञ इत्यस्यैव मुख्यप्रत्ययत्वेनाहमर्थस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेन चाहमज्ञ इत्यादिप्रत्ययानां ज्ञानाभावविषयकत्वमेवाङ्गीकरणीयम् । अतएव हि मयि ज्ञानं नास्तीति प्रतीत्या अहमज्ञ इति प्रतीतेः विषयतोऽविशेषोऽप्युपपद्यते । सामान्यधर्मस्यापि विशेषाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य स्वरूपसंबन्धरूपस्याङ्गीकारात् प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानेऽपि ज्ञानविशेषाभावज्ञाने व्याघातानापत्त्या वायौ रूपाभावादज्ञानवैजात्यकल्पनायोगात् योगेऽपि यावदभावकिंचिदभावविषयकत्वेनैव तत्कल्पनस्य युक्तत्वाच्च मयि ज्ञानं नास्तीति प्रतीतेः ज्ञानाभावविषयकत्वस्यैव युक्तत्वाहमज्ञ इति प्रतीतेरपि ज्ञानाभावविषयत्वस्यैव युक्तत्वात्, अन्यथा श्रवणादिसाध्यनिष्प्रपञ्चात्मज्ञानप्रागभावज्ञानार्थं निष्प्रपञ्चात्मज्ञानज्ञाने सति प्रागभावासत्त्वे भवतामपि मते व्याघातापत्तेः । एवंच प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानस्यैवाभावज्ञानहेतुत्वेऽपि व्याघातानापत्त्या न भावरूपाज्ञानविषयमहमज्ञ इत्यादिप्रत्यक्षमिति मन्तव्यम् । भावरूपाज्ञानस्यापि विरोधिज्ञानोत्पत्त्यनुपपत्तिभ्यां व्याघातापत्त्या साक्षिचैतन्यस्यैवापेक्षणेन तत्परिहारस्य ज्ञानद्वारकज्ञानविषयविषयकसाक्षिज्ञानस्य प्रकृतेऽपि संभवेनाविशेषात् । तस्मात् न जानामीति ज्ञानविरोधिनः कस्यचिदनुभूयमानस्याभावविषयत्वं प्रकल्प्य तद्वारा विषयानुभवकल्पनापेक्षया हृत्तेऽभावे विषयानुभावकताकल्पनमेव लाघवेन युक्तम् । ब्रह्म न जानामीति विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने यथा विशेषणज्ञानस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य वा न हेतुत्वं हेतुत्वेऽपि विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानमेवाङ्गीक्रियते, तथैव ज्ञानाभावज्ञानपक्षेऽप्यङ्गीक्रियते इति न कापि हानिरिति भावरूपाज्ञाने नाहमज्ञ इति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । एतेन—सौषुप्तानुभवोऽपि—व्याख्यातः; श्रुतिसिद्धप्राज्ञपरिष्वङ्गलक्षणकालविशेषस्य सुषुप्त्याख्यस्य ज्ञानाभावातिरिक्तस्य सुवचत्वेन स्वरूपसुखानुभवस्येन्द्रियोपरमाप्रयोजकत्वादिन्द्रियविषयानुभवजन्यसुखानुभवस्य तदानीमभावाच्चेदानीन्तनेन्द्रियप्रसादेनैवेन्द्रियोपरमानुमानेन अन्योन्याश्रयानवकाशेन तुल्ययोगक्षेमे इत्यत्र तुल्यपदेनानुपेक्षणीयस्यैव विवक्षणेनोपेक्षणीयज्ञानवति व्यभिचाराप्रसङ्गेन च ज्ञानाभावानुमितिसंभवात् । एतेन—परामर्शपदेन स्मरणमेव विवक्ष्यते इति वचनमपि—पराहतम्; दोषाजन्यत्वेन व्यवहारदशायाम्बाध्यत्वेनच सुषुप्तेरविद्यावृत्तिलायोगेन योगेऽपि अज्ञानांशे सुषुप्तिजागरयोः तुल्यसामग्रीकत्वाद्धारावाहिकबुद्धित्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वात् । अतएव अव्याकृतप्रक्रियागतं वार्तिकमप्युपपद्यते इति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

असत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचित्त एव जानात्यर्थत्वेन परोक्षज्ञानेनोक्ताज्ञानविनाशेन ज्ञाते धर्मादौ न जानामीति व्यवहारानापत्त्या “पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिम” इति न्यायेनाज्ञानाश्रयकोटौ चिदन्यनिवेशासंभवेनाहमर्थज्ञानयोरेकाश्रयत्वेनैवाहमज्ञ इत्यादिप्रत्ययोपपत्त्या घटो नास्तीत्यादौ पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमानापत्त्या प्रतियोगिनि प्रकारस्य तद्व्यापकस्यैव वावच्छेदकत्वेऽपि सामान्यधर्मस्य प्रतियोगिन्यप्रकारत्वेन सामान्यधर्मस्य प्रतियोगिन्यपि प्रकारत्वेऽपि सामान्यधर्माश्रययावद्विशेषाभावस्यैव वायौ रूपं नास्तीत्यत्रेवाङ्गीकरणीयतया घटत्वेन पटो नास्तीति धियो घटवदिदमिति ज्ञानविरोधार्थमभावांशे येन रूपेण प्रकारता तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकधीत्येनैव तद्रूपविशिष्टवत्ताधीविरोधित्वेन सामान्यधर्मावच्छिन्नज्ञाने विशेषाभावविषयकत्वासंभवेन यावज्ज्ञानाभावविषयकत्वस्यावश्यकत्वाद्वाघातापत्त्या मयि ज्ञानं नास्तीति प्रत्ययस्यैव भावरूपाज्ञानविषयकत्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वेन चाहमज्ञ इति प्रत्ययो भावरूपाज्ञाने प्रमाणमेव । श्रवणादिसाध्यत्वादिप्रकारकनिष्प्रपञ्चात्मज्ञानज्ञाने सत्यपि तत्प्रागभावविरोधेन सामान्यधर्मावच्छिन्नकालविशेषावच्छिन्नब्रह्मज्ञानात्यन्ताभावविषयकत्वेऽपि इदानीं ब्रह्मज्ञानं नास्तीति व्यवहारोपपत्त्या विवरणोक्तरज्ञाने नष्टे ज्ञानविरोधेन तदननुभवाभिप्रायत्वेन विषयविशेषाश्रिताखण्डधर्मविशिष्टस्यैवाज्ञानस्य ज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानप्रत्ययस्यास्माभिरनङ्गीकारेणाङ्गीकारेऽपि साक्षिभास्यत्वेनास्मन्मते न व्याघातः । यथाचाज्ञानविरोधित्वस्याज्ञानवत्साक्षिभास्यत्वं नैवं ज्ञानाभावविशेषणज्ञानावच्छेदकानामपि साक्षिभास्यत्वम्; विद्यमानस्यैव साक्षिभास्यत्वेन ज्ञानतदभावयोरुभयोरपि साक्षिभास्यत्वाभावादिति प्रतियोगिज्ञानं साक्षिरूपमपि न सिद्ध्यतीति भवन्मते न व्याघातासंभवः । एतेन—ब्रह्म न जानामीत्यादेः अद्वैतमत इव विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वमेवेति वचनमपि—पराहतम्; प्रतियोगिविशेषिताभावबुद्धिर्विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादां नातिशेते इति सिद्धान्तविरोधस्य भवन्मते समापत्तेः । एवंच अहमज्ञ इत्यादिप्रतीतेर्भावरूपाज्ञानविषयत्वमेवाङ्गीकरणीयमिति सिद्धम् । एतेन—परामर्शसिद्धसौषुप्तानुभवोऽपि—व्याख्यातः; तत्र परामर्शसिद्धेन हि न ज्ञानाभावानुमानविवक्षा; सौषुप्तानुभवसिद्धस्यैव प्राज्ञपरिष्वङ्गादिश्रुत्याऽनु-
अद्वै. सि. ७१

अथ अज्ञानवादे अनुमानोपपत्तिः ।

अनुमानमपि तत्र विवरणोक्तं प्रमाणम् । 'विवादपदं प्रमाणज्ञानं, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न-प्रदीपप्रभाव'दिति । अत्र प्रमाणपदं प्रमाणवृत्तेरेव पक्षत्वेन सुखादिप्रमायां साक्षिचैतन्यरूपायामज्ञानानिवर्तिकायां बाधवारणाय । धर्म्यशप्रमाणवृत्तेरिदमित्याकाराया अज्ञानानिवर्तिकायाः पक्षवहिर्भावाय विवादपदमिति विशेषणम् । विशेषाकारप्रमाणवृत्तिरिति फलितोऽर्थः । परोक्षप्रमाया अप्यसत्त्वावरणरूपप्रमातृगताज्ञाननिवर्तकत्वात् न तदंशोऽपि बाधः । नन्विदमिति प्रमाणवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वे अज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रमात्वेन व्यवहारो न स्यात्, न; इदमाकारभ्रमसंशयादर्शनेन तद्गोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन तत्र सुखादिज्ञानवद्यथार्थत्वमात्रेण प्रमात्वव्यवहारोपपत्तेः । यदाहुः—'धर्म्यशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः ।' इति । यदि तु भ्रमसंशयाजनकमपि तदाकारमज्ञानमनुभवबलादास्थीयेत, तर्हि सापि पक्षेऽन्तर्भवतु; प्रमाणवृत्तित्वावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वानपायात्, तदाच विवादपदमिति विशेषणमनादेयम् । एतस्मिन् पक्षे भ्रमोपादानत्वयोग्यत्वमविद्यालक्षणं द्रष्टव्यम्; भ्रमोपादानत्वस्य धर्म्यशज्ञाननिवर्त्याज्ञानेऽव्याप्तेरित्यवधेयम् । धारावाहिकबुद्धीनां च तत्तत्कालावच्छिन्नार्थविषयत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमस्त्येव; कालस्य सर्वप्रमाणवेद्यत्वाभ्युपगमात् । अनात्माकारप्रमाणवृत्तीनां च तत्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन स्वविषयावरणनिवर्तकत्वमस्त्येव; चित्त्वेनैव प्रकाशप्रसक्तेः; न त्वनवच्छिन्नचित्त्वेन, गौरवात्; 'एतावन्तं कालं मया न ज्ञातोऽयमिदानीं ज्ञात' इत्यनुभवाच्च । रूपादिहीनस्यापि तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वमुक्तं प्राक् । प्रतिकर्मव्यवस्थामभ्युपगम्य चेदमनुमानम्, न तु दृष्टिसृष्टिपक्ष इति ध्येयम् । साध्ये चाद्यं विशेषणं' प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मते प्रागभावेनार्थान्तरवारणाय । तदुदीच्यध्वंसादिकमादाय नार्थान्तरप्रसक्तिः, किंतु पूर्ववृत्त्यभावमादायेति वस्तुगतिमनुरुध्य प्राक्पदम् । अवैयर्थ्यं च प्रतियोगिविशेषणत्वेनाखण्डाभावसंपादकतया । एतेन—यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति नियम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेषाकारेति । इदंत्वान्यप्रकारिकेत्यर्थः । प्रमात्वं चेन्द्रियादिजन्यवृत्तिनिष्ठो जातिविशेषः । असत्त्वावरणेति । स्वविषयविषयकेत्यादिः । यथार्थत्वेति । व्यवहारकालावाध्यविषयकत्वेत्यर्थः । धर्म्यशे इदंत्वांशे । प्रकारे इदंत्वान्यांशे । भ्रमोपादानत्वस्य भ्रमोपधायकत्वस्य । कालावच्छिन्नेति । कालविशिष्टेत्यर्थः । नच—क्षणानामतीन्द्रियत्वात् स्थूलकालस्य च प्रथमज्ञानेनैव गृहीतत्वाद्वितीयादिज्ञानानां न तद्विषयकाज्ञाननाशकत्वमिति—वाच्यम्; स्वोत्पत्तिकालोत्पन्नस्थूलकालस्यैव तत्तज्ज्ञानविषयत्वात्, क्षणानामतीन्द्रियत्वे मानाभावाच्च । तदुक्तं शास्त्रदीपिकायाम्—'अस्मिन् क्षणे घटो मया दृष्ट इति प्रत्यक्षे क्षणो भाती'ति । नच—परोक्षस्य कालाविषयकत्वादपरोक्षोऽपि तथेति—वाच्यम्; परोक्षेऽपि कालाभाननियमात् । उपपादितं च परिच्छिन्नत्वस्य मिथ्यात्वहेतुत्वोपपादने तदस्माभिः । सर्वप्रमाणेति । परिच्छिन्नत्वहेतूपपादने विवेचितमेतत् । तत्तदवच्छिन्नेति । ज्ञानसामान्यसामग्र्या एव ज्ञाने तत्तदर्थोपहितचिद्रूपसत्ताविषयकत्वे प्रयोजकत्वमित्यादि पूर्वोक्तं स्मर्तव्यम् । न ज्ञातोऽयमिति । अयं घटादिः अज्ञातचित्तवच्छेदक इत्यर्थः । प्रतियोग्यतिरिक्तेति । घटात्तत्प्रागभावो नष्ट इत्यनुभवात् यथा घटजन्यस्तत्प्रागभावनाशः, तथा ज्ञानादज्ञानं नष्टमित्यनुभवात् ज्ञानजन्योऽज्ञाननाशः । प्रतियोग्येव प्रागभावनाश इति मते तु ज्ञानमेवाज्ञाननिवृत्तिरिति तदनुसार्येव साध्यम्, नतु यथोक्तमिति । अवैयर्थ्यमिति । संभवप्राचुर्येणेदम् । साध्ये व्यर्थविशेषणस्या-

वादेन श्रुत्यप्रतिसन्धानेन न किञ्चिदवेदिषमिति प्रत्ययेन च प्राज्ञपरिष्वङ्गादिज्ञानाभावातिरिक्तविशेषासंभवेन इन्द्रियोपरमस्य समाध्युत्तरकालिकचित्तवैराग्यादिकालिकेन्द्रियप्रसादप्रयोजकत्वासंभवेन उक्तप्रसादसाधारणतत्प्रसादं प्रति स्वरूपसुखाकारवृत्तेरेव हेतुत्वेन सामग्रीविरहस्य ज्ञानाभावैकानुमेयत्वेनान्योन्याश्रयापत्त्या तुल्यपदेनानुपेक्षणीयस्य विवक्षणे उपेक्षणीयज्ञानाभावासिद्ध्या च हेतुत्रयस्याप्यप्रयोजकत्वादिति स्मरणरूपत्वमेवाङ्गीकरणीयम् । दोषाजन्यत्वेऽपि व्यवहारदशायामबाधेऽपि च देहात्मैक्यसुखाद्याकारवृत्तेरिव सुषुप्तेरप्यविद्यावृत्तित्वसंभवात् अज्ञानांशे धारावाहिकानुभवत्वाङ्गीकारेऽपि नास्माकं क्षतिः । तदनुभवेनैव तत्सिद्धिसंभवात् इति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः ।

स्तस्मात् स्वनिवर्त्यपदेनैव प्रागभावव्युदासे किमाद्यविशेषणेनेति—निरस्तम्; प्रमात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व-
मन्येषां नेत्यत्र तात्पर्यात् । न च स्वविषयावरणपदेनैव तद्युदासः; 'अस्ति प्रकाशत' इति व्यवहार-
विरोधित्वरूपस्यावरणत्वस्य भावाभावसाधारणत्वात् । वृत्तिजनकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय तु विशेषण-
मिदम् । न चावरणपदेनैव तद्युदासे स्वविषयेति व्यर्थम्; यददृष्टं स्वविषयज्ञानजनकं विषयान्तर-
ज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावारकं, तादृशादृष्टपूर्वकत्वेनार्थान्तरवारकत्वात् । नच—जडे अज्ञानस्यानङ्गी-
काराच्चितश्चाज्ञानादिसाक्षितया भासमानत्वात् कावरणमिति—वाच्यम्; आज्ञानादिसाक्षितया चितः
प्रकाशमानत्वेऽपि 'अस्ति प्रकाशत' इति व्यवहाराभावेन तदंशेऽज्ञानावरणस्यावश्यकत्वात् ।
वक्ष्यते चैतत् । स्वनिवर्त्येति च विशेषणं वृत्तिप्रतिबन्धकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय । नच—चरम-
साक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टस्य तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धिः; तन्निवर्त्यत्वे तद्युदसनमशक्य-
मिति—वाच्यम्; प्रतिबन्धकादृष्टे विद्यमाने न ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रथमं तन्निवृत्तेः कारणात्मना
स्थितस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च मिथ्यात्वम् । न चैवमपि स्वनिवर्त्यत्वमव्याहतम्; स्वनिवर्त्यस्वरूपत्वे
तात्पर्यात् । अन्धकारेणार्थान्तरवारणार्थमिदमिति—केचित् । तन्न; स्वदेशगतेत्यनेनैव तद्युदासात् ।
यथाच वृत्तिप्रतिबन्धितचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येन सहैकलोलीभावादज्ञाननिवर्तकत्वं,
तथोक्तं प्राक् । स्वदेशगतेति च विशेषणं विषयगताज्ञातत्वेनार्थान्तरवारणाय । यद्यप्यविद्या-
विषयत्वरूपमज्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वाभावरूपं तु प्रथमविशेषणेनैव परास्तं; तथापि प्रथमेन
प्रागभावव्युदासादात्यन्ताभावव्युदासाय चतुर्थमिति द्रष्टव्यम् । ननु—कथं ज्ञानाश्रयगतत्वमज्ञान-
नस्य? वृत्त्यादिरूपस्य ज्ञानस्याज्ञानाश्रयचिदनाश्रितत्वादिति—चेन्न; अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दोषत्वात्, दोषत्वेऽपि प्रागभावव्युदासाखण्डोपाधित्वेनाभावत्वानिवेशात् । विरोधित्वेति । प्रतिबन्धकत्वेत्यर्थः । चाक्षु-
षवृत्तिप्रतिबन्धद्वारा तमस इवाज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य चोक्तव्यवहारानुत्पादप्रयोजकत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वमिति भावः ।
इदं स्वविषयावरणत्वेवरूपम् । अदृष्टस्य चरमफलनाशत्वेन स्वात्मकचरमफलजनकस्य स्वनिवर्त्यत्वाच्चद्वारणायेदमिति
भावः । वारकत्वादिति । नच—तथापि स्वजनकं स्वसमानविषयकज्ञानान्तरप्रतिबन्धकं चादृष्टमादायार्थान्तरमिति—
वाच्यम्; आलोकविषयाप्रसिद्ध्या स्वविषयविषयकोक्तव्यवहारनिवेशासंभवेन स्वप्रयुक्तोक्तव्यवहारप्रतिबन्धकत्वनिवे-
शात्, ज्ञानान्तरप्रतिबन्धकस्य स्वप्रयुक्तोक्तव्यवहारप्रतिबन्धकत्वाभावात् । तमस्तु आलोकजन्यस्वनाशाधीनचाक्षुष-
प्रतिबन्धद्वारा चाक्षुषजन्ये आलोकप्रयुक्तोक्तव्यवहारे प्रतिबन्धकमिति आलोके साध्यावैकल्यम् । अज्ञानमपि स्वनाश-
द्वारा वृत्तिप्रयुक्तोक्तव्यवहारे साक्षादेव प्रतिबन्धकमिति वक्ष्यते । तदंशे जडांशे । जडांशे व्यवहाराभावेन तदवच्छे-
देन चित्तावरणस्यावश्यकत्वादिति भावः । तात्पर्यादिति । ज्ञानप्रयुक्तो यदीयावस्थासामान्याभावस्तत्त्वं मिथ्यात्व-
मित्युक्तम्, प्रकृते तु स्वजन्यनाशप्रतियोगित्वमात्रं स्वनाशत्वं निवेद्यमिति भावः । तद्युदासादिति । स्वदेश-
गतत्वं स्वाश्रयतावच्छेदकान्यदेशानवच्छिन्नाश्रयताकत्वं वाच्यम्; अन्यथा स्वाश्रयगतत्वमात्रेण विषयगताज्ञातत्व-
वरणस्य वक्ष्यमाणस्यासंभवात् । स्वाश्रयत्वगतत्वे हि तादात्म्येन संबन्धेन वाच्ये; तादात्म्येनैवालोक्ततमसोः वृत्त्यज्ञान-
योश्चैकचित् सत्त्वात् । तथाच विषयगतो ज्ञातत्वाभावोऽपि वृत्तितादात्म्यवत्सां विषयचित्ति तादात्म्येनैव संबद्धः ।
एवंच तमसो वृत्तितादात्म्यापन्नचित्तादात्म्येऽपि वृत्त्याश्रयतानवच्छेदकदेशावच्छिन्नत्वेन व्युदासः । नहि तमो वृत्त्य-
वच्छेदकदेशेनैवावच्छिद्यते; मानाभावात्, अज्ञानं तु वृत्तिनाशयत्वात् तथा; तथाभूतस्य वृत्तिनाशयत्वात् । नच—
तमोऽवयवस्तथा संभवतीति—वाच्यम्; तमसः सावयवत्वे मानाभावात् । स्वल्पदेशस्थालोकेन बहुदेशस्थतमसो
नावयवो नाशयते, किंतु तदैवालोकासंयुक्तदेशे तमोन्तरमुत्पन्नं तत्रानुभूयते । दृष्टान्तस्तु स्वन्यूनदेशवृत्तितमोनाश-
कालोक इति न साध्यवैकल्यम् । विषयगतोऽज्ञातत्वाभावस्तु वृत्त्यनवच्छेदकदेशोनाप्यवच्छिद्यते इति तद्वारणमिति
भावः । तथोक्तमिति । तथाच विषयचिदज्ञानमपि प्रमाश्रयचिदाश्रितमिति भावः । असिद्धं विषयावृत्तिः ।
अविद्याविषयतावच्छेदकत्वं त्वविद्यासिद्धेः पूर्वमसिद्धत्वेनोद्देश्यसिद्धिकरत्वान्नार्थान्तरसंपादकमित्यपि बोध्यम् । अत्यन्ता-
भावेति । सामयिकाल्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनाशयत्वमते इत्यादिः । मतान्तरे तु तस्य स्वनिवर्त्यदलेनैव वारणम् ।
चिदनाश्रितत्वादिति । शुद्धस्याज्ञानोपहितस्य वा अज्ञानाश्रयत्वात्तस्य च वृत्त्यादिरूपज्ञानाश्रयत्वमिति भावः ।
चिदाश्रितत्वेन अज्ञानोपहितत्वचिदाश्रितत्वेन । चिदाश्रितत्वेति । उक्तचिदाश्रितत्वेत्यर्थः । अज्ञानोपहितत्वचिदेव
ज्ञानाज्ञानयोराश्रय इति भावः । ननु शुद्धस्याज्ञानाश्रयत्वे तथापि दोषः, नच—अज्ञानपरिणाममनसोऽपि तत्पक्षे
शुद्धाश्रितत्वेन तत्परिणामवृत्तेरपि तदाश्रितत्वमिति—वाच्यम्; अज्ञानोपहिताश्रितत्वेन मनसः शुद्धानाश्रितत्वात्,

तद्वत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रितत्वसंभवात्, किञ्चिदवच्छिन्नतदाश्रितस्यापि तदाश्रितत्वानुपायात्, कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशाश्रितस्य शब्दस्याकाशाश्रितत्ववत् । एवं च भावाभावसाधारणमावरणमिति मतेन साध्यमुपपादितम् । अभावो नावारक इति सिद्धान्ते तु साध्यद्वये तात्पर्यम् । स्वप्रागभावातिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्येकम् । स्वविषयावरण (स्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर) पूर्वकमित्यपरमिति न किञ्चिदसमञ्जसम् । हेतौ च प्रकाशकत्वं प्रकाशकपदवाच्यत्वं, अप्रकाशविरोधित्वं वा ज्ञानालोकयोः साधारणम् । यद्यपि प्रकाशकपदवाच्यत्वं नामकरणवशात् कस्मिंश्चित् पुरुषेऽप्यस्ति; तथापि, प्रकाशकशब्देन शास्त्रे सर्वदेशकालयोर्वा व्यवहियमाणत्वं तद्विवक्षितम् । अथवास्तु साधारणम् । अप्रकाशितार्थगोचरेति विशेषणात् व्यभिचारव्युदासः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अत एवाज्ञानस्य स्वोपहिताश्रितत्वपक्षेऽप्यनुपपत्तिः; ज्ञानस्यापि तत्पक्षे स्वोपहिताश्रितत्वात्, तत्राह—किञ्चिदिति । द्वितीयपक्षे न दोषः । अज्ञानोपहितस्यैव वृत्त्युपहितत्वेन स्वोपहिताश्रितमपि ज्ञानमज्ञानोपहिताश्रितम् । अज्ञानस्य शुद्धाश्रितत्वपक्षे शुद्धस्यैवाधिष्ठानत्वेन तत्तदुपाधिसंबन्धात्तदाश्रितत्वं ज्ञानस्यास्येवेति भावः । आकाशेति । तार्किकादिमते शुद्धाकाशान्यत्वेन स्वीकृतस्य कर्णावच्छिन्नाकाशस्य धर्मः शब्दो यथा शुद्धाकाशस्यापि धर्मः; अन्यथा शब्दाश्रयत्वेन तस्यानुमानं तेषां नोपपद्यते, तथा मन्मतेऽपि; उपहितविति शुद्धस्यानुगमात्तत्प्रतीतौ प्रतीतेश्च 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वमि'त्यादिश्रुतेरुपहितचिदाश्रितस्य शुद्धाश्रितत्वम्, दृश्यत्वादिकं तु उपहिताश्रितमेव, न शुद्धाश्रितम्; शुद्धचित्तादात्म्यरूपत्वात्, अत्यन्ताभेदे संबन्धाभावात् । यथाश्रुतस्वदेशगतत्वानुसारेण इदमुक्तम्, विवक्षितं तु स्वावच्छेदकदेशान्यानवच्छिन्नत्वं घटाद्यवच्छिन्नपल्लवाज्ञान इवानवच्छिन्नमूलाज्ञानेऽप्यस्येव । नहि स्वोपहितचिन्मात्रगताया अपि वृत्तेः घटाद्यवच्छिन्नत्वं न संभवतीति ध्येयम् । आवरणम् 'अस्ति प्रकाशते' इति व्यवहारप्रतिबन्धकत्वम् । नावारकः नोक्तव्यवहारप्रतिबन्धकः । सिद्धान्ते अस्त्वसिद्धान्ते । अवश्याभ्युपेयस्याज्ञानस्यैवोक्तप्रतिबन्धकत्वम्, नतु ज्ञानाभावस्य; अज्ञानत्वजात्यपेक्षया ज्ञानाभावत्वस्य गुरुत्वात् । ननु—अज्ञानस्योक्तप्रतिबन्धकत्वे मानाभावः; असत्त्वापादकाज्ञानशून्यचिद्रूपस्यास्तित्वस्याज्ञानशून्यचिद्रूपस्य भानस्य च व्यवहारे तादृशाज्ञानस्याज्ञानसामान्यस्य चानुपलब्धेः हेतुत्वादुक्तव्यवहारानुत्पादकाले उक्ताज्ञानसत्त्वे तदनुपलब्ध्यसंभवेन तत एवोक्तव्यवहारानुत्पादेनाज्ञानस्योक्तप्रतिबन्धकत्वकल्पनावैयर्थ्यादिति—चेन्न; यत्र हि प्रतियोगिसत्त्वेऽप्यभावव्यवहारकाले प्रतियोग्यनुपलब्धिस्तत्रैव तस्या हेतुत्वम्, अज्ञानस्य तु सत्त्वे सुषुप्तिसमाध्यादिकाले यद्यपि तद्वैशिष्ट्यानुपलब्धिः, तथापि तदभावस्य व्यवहारकाले न सेति न तस्या उक्तव्यवहारहेतुत्वम्, किंतु लाघवाद्ज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकत्वम् । नच—अज्ञानाभावस्यानुपलब्धत्वत्यागे साक्षिभास्यत्वमेवास्तु, अज्ञानसत्त्वे च तदभावासत्त्वात् नोक्तव्यवहार इति—वाच्यम्; मन्मते अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसत्त्वेऽपि तद्वति सत्त्वेनाज्ञानकालेऽपि तदभावस्य साक्षिभास्यतापत्तेः । अतएव शुक्तिरूप्यादेरपि स्वाभावव्यवहारे प्रतिबन्धकत्वम् । तस्मादुक्तास्तित्वभानयोरविद्यावृत्तिरूपे व्यवहारे उक्तज्ञानं प्रतिबन्धकम् । शब्दप्रयोगमात्ररूपे व्यवहारे तस्य प्रतिबन्धकत्वे तु तयोः स्फुरणं दुर्वारम् । यद्यपि मन्मते प्रतिबन्धकाभावो न कारणः; तथापि प्रतिबन्धकस्य कारणशक्तिविघटनद्वारा कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वस्वीकारात्, प्रकृते च विषयविधयाऽस्तित्वादेः स्वाकारवृत्तिकारणत्वात्तन्निष्ठशक्तिविघटकत्वमज्ञानस्येति दिक् ॥ अपरमिति । साध्यद्वयेऽपि वस्त्वन्तरपदं प्रसामान्यस्य भ्रमपूर्वकत्वसिद्धिमादायार्थान्तरस्य वारणाय स्वनिवर्त्यजन्यभ्रमान्यार्थकम् । यद्यपि द्वितीयसाध्ये स्वदेशगतत्वं न विषयगताज्ञातत्ववारणाय, प्रागभावस्यैवात्यन्ताभावस्यापि ज्ञानीयस्य स्वविषयावरणपदेनैव वारणात्; तथापि जीवेशविभागपूर्वकत्वेन ब्रह्मप्रमायां सिद्धसाधनवारणाय तत् । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितेरुद्देश्यत्वेऽपि प्रसामान्यमेकैकं जीवेशविभागं निवर्तयति; तस्यैव क्लृप्तजातीयस्य स्वविषयावरणत्वमप्यास्ताम्, नास्तां चावरणस्य तस्य सौषुप्तनिर्विकल्पकविषयत्वम्; नावेदिषमित्यस्यानुभवत्वसंभवादित्यर्थान्तरात् । नचैवं—विषयगताज्ञातत्वस्य सिद्धान्त आवरणत्वास्वीकारेऽपि क्लृप्तस्य तस्यैव स्वविषयावरणत्वमास्तामिति परेण वक्तुं शक्यत्वात्तदाद्यार्थान्तरसंभवादेकमेव साध्यं कुतो न कृतमिति—वाच्यम्; परमते हि ज्ञानमात्रमस्तित्वं प्रत्यक्षज्ञानं च भावं वाच्यम् । तथाचोक्तव्यवहारस्यानुत्पादं प्रति कारणाभावतया प्रयोजकत्वस्य विषयगताज्ञातत्वे सत्त्वेऽपि कारणशक्तिविघटकतयोक्तप्रयोजकत्वरूपप्रतिबन्धकत्वस्य निवेशे अर्थान्तरासंभवः । जीवेशभेदादेस्तु मन्मतरीत्योक्तप्रतिबन्धकत्वमादायार्थान्तरं परेण वक्तुं शक्यते । एकसाध्यवादिनां प्राचां तूक्तप्रतिबन्धकत्वनिवेशस्य प्रयोजनं विषयगताज्ञातत्ववारणमेव । तच्च स्वदेशगतत्वप्रागभावान्यत्वाभ्यामेव सिध्यतीति स व्यर्थ इत्याशयः । प्रकाशशब्दस्य लक्षणया ज्ञानालोकभिन्नेऽपि व्यवहारादाह—सर्वदेशेति । सर्वदेशेषु व्यवहियमाणत्वं व्यवहार्यतायोन्यत्वं, प्रकाशपदस्यानादि-

अप्रकाशितत्वं च 'न प्रकाशत' इति व्यवहारगोचरत्वम्, तच्च स्वप्रकाशचैतन्येऽप्यस्तीत्युपपादितम् । एवं निरुक्ताप्रकाशविरोधित्वमपि ज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्धम् । उक्तञ्च विवरणे—'ज्ञानप्रकाश-त्वादज्ञानविरोधित्वादन्त्यदेव आलोकप्रकाशत्वं तमोविरोधित्वं नामे'ति । अत उभयोरेव साक्षाद्-प्रकाशविरोधित्वसंभवाच्चेन्द्रियसन्निकर्षादौ व्यभिचारः । एवंचाप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति प्रकाश-शब्दवाच्यत्वात् अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वादिति वा हेतुः पर्यवसितः । विपर्ययविषयस्तु नाज्ञातः; विपर्ययान्यकालासत्त्वेन तस्यानिर्वचनीयस्य मानगोचरत्वाभावेन प्रकाशप्राक्कालसत्त्वघटिताप्रकाशि-तत्वासंभवात्, अत एव स नाप्रकाशविरोधी; स्वविषये अप्रकाशाभावात्; अधिष्ठानाप्रकाशस्तु तस्य जनक एव । स्मरणे च व्यभिचाराभावः स्पष्टः । अनुकूलतर्कश्च 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यादिरूपः प्रागुक्त एव । एतेन गोशब्दवाच्यत्वेन पृथिव्या अपि शृङ्गित्वानुमाना-पातोऽपास्तः; तत्रानुकूलतर्काभावात् । अज्ञानस्य स्वरूपेणाज्ञानविषयत्वेऽपि तद्भावत्वादिकमज्ञान-विषयो भवत्येव; तस्याज्ञानग्राहकसाक्ष्यग्राह्यत्वात् । अन्यथा तत्र विवादो न स्यात् । एवं प्रमाया स्वविषयावरणभावपूर्वकत्वमपि न प्रमास्वरूपग्राहकसाक्षिग्राह्यम् । तथाच तद्भाहिकाया एतस्या अनुमितेः साध्यसाधनोभयाधिकरणत्वात् न कोऽपि दोषः । दृष्टान्तेचान्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्वं विशेषणम् । तेन न प्रथमपदवैयर्थ्यं न वा द्वितीयादिप्रमायां साध्यसाधनवैकल्यम् । विस्तरेण

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सङ्केतवत्त्वमिति यावत् । विशेषणादिति । अप्रकाशितार्थगोचरत्वमप्रकाशितार्थं प्रकाशत इति यो व्यवहारः तत्प्र-योजकत्वम् । तच्च ज्ञाने अज्ञाननाशद्वारकमालोके च तमोनाशजन्यचाक्षुषद्वारकम् । चैतन्येऽपीति । न प्रकाशत इति व्यवहारः प्रकाशविरोध्याश्रयविषयकः । तादृशाश्रयत्वं च यद्यपि तमोऽज्ञानप्रयुक्तयाऽऽलोकज्ञानयोरेव, तथापि तदवच्छेदकत्वात् घटादावपि न प्रकाशत इति व्यवहार इति भावः । निरुक्तेति । न प्रकाशत इति व्यवहारगोचरेत्यर्थः । तादृशो योऽप्रकाशः, तद्विरोधित्वमित्यर्थः । ज्ञानप्रकाशत्वात् ज्ञानप्रयुक्तनाशवत्त्वात् । अज्ञानविरोधित्वात् अज्ञानस्य नाशत्वरूपविरोधित्वघटितात् ज्ञानप्रयुक्ताज्ञाननाशवत्त्वपर्यवसितादिति यावत् । तमोविरोधित्वं तमसो नाशत्वेन घटितमालोकप्रयुक्ततमोनाशवत्त्वपर्यवसितमिति यावत् । वाच्यत्वात् अनादि सङ्के-तवत्त्वात् । उक्तगोचरत्वस्याधुनिकसङ्केतविषयत्वस्य च सन्निकर्षादौ व्यभिचारित्वेनोक्तवाच्यत्वमेवोपसंहृतम् । प्रकाश-त्वादिति । यद्यपि विरोधित्वान्त एव हेतुः; तथापि विरोधित्वं नाशकतावच्छेदकरूपं प्रमात्वमालोकत्वं चोक्तावच्छेदकत्वे-नानुगतं हेतुः । ज्ञानत्वमालोक्यं च प्रकाशपदवाच्यतावच्छेदकत्वेन आद्यहेतौ प्रविष्टमिति ज्ञापयितुं प्रकाशत्वादित्यु-क्तम् । तावता च पक्षीभूतप्रमादृष्टान्तीभूतालोकयोरन्यतरत्वं च हेतुरित्यपि सूचितम् । सत्यन्तव्यावर्त्यमाह—विपर्यये-त्यादिना । नाज्ञातः नोक्ताप्रकाशितः । घटितेति । व्याप्येत्यर्थः । अत एवेत्यादि । तथाच सत्यन्तं द्वितीयहेतौ न देयमिति भावः । जनक एवेति । न नाश इति शेषः । स्पष्टः द्वितीयहेतौ स्पष्टः । प्रमात्वस्य विरोधितावच्छेदकस्य स्मरणवृत्तित्वात् प्रथमहेतावपि प्रत्यक्षादिगृहीतार्थकशब्दादिवृत्तौ व्यभिचारवारणाय न प्रकाशत इति व्यवहारगोचरस्य नाशं द्वारीकृत्य प्रकाशत इति व्यवहारप्रयोजकत्वस्य सत्यन्तेन वाच्यत्वादव्यभिचारः । विशेष्यदलं तु सन्निकर्षादिवारणा-थेति बोध्यम् । न चासिद्धिः; न प्रकाशत इति व्यवहारगोचरत्वेन पराभ्युपगतस्य प्रकाशप्रागभावस्य प्रकाशनिवर्त्यत्वेन प्रकाशत इति व्यवहारप्रयोजकतज्ञाशप्रयोजकत्वस्य सत्यन्तपर्यवसितार्थस्य पक्षे सत्त्वात् । नच—उक्तनाशे नोक्तव्यव-हारःप्रयोजकः, किंतु प्रकाश एवेति—वाच्यम्; कालादिविधयोक्तनाशे व्यधिकरणप्रकाशस्यापि प्रयोजकत्वेनासाधा-रणस्य नाशप्रयोजकत्वस्य लाभायैवाद्यप्रयोजकान्तस्योक्तहेतौ निवेशात् । अन्यथा वैयर्थ्यात् । अतएव तमसो द्रव्यत्वा-स्वीकारमते न साध्यसाधनवैकल्यम्; आलोकप्रागभावस्यालोकनाश्यादिसत्त्वात् । अतएव द्वितीयहेतुरपि नासिद्ध इति ध्येयम् । तद्भाहिकायाः अज्ञाने अभावत्वादिकं प्रमायामुक्तपूर्वकत्वं च गृह्णन्त्याः । साध्येति । भावत्वाद्य-ज्ञाननाशकत्वेनेत्यर्थः । दोषौ असिद्धिबाधौ । अन्धकारेत्यादि । स्वसमानाधिकरणतमःकालवृत्तित्वमित्यर्थः । तेनो-त्पत्त्यादेर्वैयर्थ्यत्वेऽपि न क्षतिः । उक्तविशेषणव्यावर्त्यमाह—न वेति । वैकल्यमिति । साध्यवैकल्यं नेत्यपि बोध्यम् । साध्यसाधनयोरप्रकाशनाशोपधानं प्रविष्टम् । अन्यथोक्तपक्षतावच्छेदकावच्छेदेन तदसिद्ध्या अर्थान्तरापत्तेः । तथा-चोक्तविशेषणाभावे दोष इति भावः । ननु—तमोनाशकत्वमुपाधिरिति—चेन्न; सौषुप्तसुखाकाराविद्यावृत्त्यादौ तत्सु-खावारकस्वामुबुद्धादिनिवर्तके उक्तसाध्यसत्त्वेन तदव्यापकत्वात् । नच—उक्तवृत्त्यादेरस्ति भातीति व्यवहाराप्रयोज-कत्वेन स्वविषये स्वप्रयुक्तोक्तव्यवहारप्रतिबन्धकत्वरूपविषयावरणत्वस्य स्वनिवर्त्यजन्यत्वभ्रमान्यरूपवत्स्वनंतरस्य च स्वमुबुद्धादावभाव इति—वाच्यम्; सुखमस्वाप्समिति स्मृतिद्वारा सौषुप्तसुखमस्तीत्यादिव्यवहारे उक्तवृत्त्यादेः प्रयोज-

चान्यत्र व्युत्पादितमिदमस्माभिः । ननु—अनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा, न निवर्त्य-
निष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मत्ववत् । निव-
र्त्यत्वं वा, नानादिभावनिष्ठं, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं नेति वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभाव-
त्ववत् । अनादित्वं वा, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत् । प्रमाणज्ञानं
वा अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वात्, भ्रमवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षता; कृत्यभावमात्रे-
णाकृतस्य कृतिवत् पूर्वप्रकाशाभावमात्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशोपपत्तेरप्रयोजकत्वं चेति—चेन्न;
अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात्, सिद्धान्तिहेतोश्चानुकूलतर्कसद्भावेन साध्यव्याप्यत्वे निश्चिते
सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वादीनामनवकाशात् । अनादिभावत्वस्य निवर्त्यावृत्तित्वेऽप्यविद्याया
भावविलक्षणाया निवर्त्यत्वोपपत्तेराद्यानुमानेनाविरोधश्च । द्वितीये त्वनाश्रितमात्रवृत्तित्वमुपाधिः ।
तृतीयचतुर्थयोः सकलनिवर्त्यावृत्तित्वमुपाधिः । पञ्चमे सकलानाद्यवृत्तित्वमुपाधिः ।
षष्ठे प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिरिति च दूषणानि । तत्त्वप्रदीपिकोक्तं च—चैत्रप्रमा,
चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावत्; विगीतो विभ्रमः, एतज्जनका-
वाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवदिति । अत्राद्ये सुखादिज्ञानेषु न बाधः; अन्तः-
करणवृत्तेरेव प्रमापदेनोक्तेः । चैत्रगतत्वं च नानादेर्विशेषणम्; मैत्रप्रमायाश्चैत्रनिष्ठानादिनिवर्त-
कत्वाभावेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापातात्, किंतु प्रमातदभावयोरन्यतरस्यः प्रमायाश्चात्मगतत्वं
प्राग्व्याख्यातम्, साध्ये तु प्रमापदमुपरञ्जकमेव । यदि त्वभावे प्रागिति विशेषणं नास्ति, तदा
भावरूपाज्ञानस्यापि स्वाभावाभावत्वेन तदतिरिक्तानादिनिवर्तकत्वे बाधवारणाय । चैत्रासमवेतत्वं
चैत्रान्यसमवेतत्वं च नोपाधिः; चैत्रसुखादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वात् । नच चैत्रप्रमा
चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमादिवदिति सत्प्रतिपक्षः प्रतियोगि-
प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां व्याहृतेः । चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्वं तु नोपाधिः; चैत्रगतप्रमा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कत्वात्, स्वाप्सुखादिबुद्धेर्भ्रमान्यत्वेनोक्तवस्त्वन्तरत्वात् अविद्यावृत्तित्वेन तस्याः स्वावच्छेदकान्यदेशानवच्छिन्नत्वरूपं
स्वदेशगतत्वमप्युज्येयम् । अनुकूलतर्केण साध्यव्याप्यतया गृहीतहेतोरव्यापकत्वेनोक्तोपाधिः साध्याव्यापकत्वग्रहाच्च ।
अज्ञानस्याभावविलक्षणत्वस्वीकारेऽप्याह—अभावविलक्षणत्वं वेति । निवर्त्यत्वोपपत्तेरिति । नच—अभाव-
विलक्षणस्य निवर्त्यत्वे सादित्वं प्रयोजकमिति—वाच्यम्; अज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतरस्यैव ज्ञाननाशयताप्रयोजकत्वेनोक्त-
त्वात् । अनाश्रितेति । ध्वंसत्वादौ साध्याव्यापकत्वं नाशङ्क्यम्; प्रागभावध्वंसरूपघटाद्यवृत्तित्वस्याखण्डोपाधिरूप-
ध्वंसत्वे अभावात्, जन्यत्वे सति भावान्यत्वस्यापि मन्मते निवर्त्यवृत्तित्वात् । सकलेति । नच—उपाध्यभाववत्त्वेन
निश्चिते नाशसामग्रीमत्त्वे साध्यसंशयेनोपाधौ साध्यव्यापकत्वं न ग्रहीतुं शक्यम्, साध्ये उपाधिव्यभिचारादिसंशया-
दिति—वाच्यम्; मां प्रति हि प्रयुक्तस्य त्वदनुमानस्य मन्मते निर्दोषत्वमपेक्ष्यते, तच्च नास्त्येव; मयोक्तसामग्रीमत्त्वे
अनादिभावनिष्ठताया निश्चितत्वेन ममोक्तसंशयाभावात् । अतएव सकलानाद्यवृत्तित्वोपाधावप्यावरणावृत्तिरूप-
साध्यव्यापकत्वस्य मया निश्चितत्वेन प्रागभावप्रतियोगित्वादौ त्वदीयोक्तसाध्यसंशयः अप्रयोजक इति भावः । अप्रसि-
द्धेति । अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावस्त्वयैव स्वीक्रियते, न तु मया; तथाच मन्मते निर्दोषता नोक्तानुमानस्येति भावः ।
एतज्जनकावाध्यातिरिक्तेति । एतज्जनकं यदबाध्यं, तदन्येत्यर्थः । संमतवत् पुरुषान्तरीयभ्रमवत् । पुरुषा-
न्तररूपोक्ताबाध्योपादानकत्वं परेणापि दृष्टान्ते स्वीक्रियते, जनकान्तानुपादाने तु साध्यवैकल्यमिति भावः । आत्म-
गतत्वमाध्यासिकचैत्राद्यात्मतादात्म्यम् । तथाच मनस इव तदुपहितात्मनोऽपि वृत्त्युपादानत्वात्तत्रापि तत्प्रागभाव
इति भावः । अज्ञानस्यापीति । प्रतियोगिजनकाभावत्वरूपप्रागभावत्वे अखण्डोपाधिरूपाभावत्वस्य लाघवेन प्रवे-
शात् प्राक्पदलभ्यजनकान्तत्यागे तावन्मात्रमज्ञानेऽपीति भावः । निवर्तकत्वे बाधेति । निवर्तकत्वबाधेत्यर्थः ।
व्याहृतेरिति । उक्तनिवर्तकत्वं क्वचित् गृहीत्वैव तदभावोऽनुमेयः; अन्यथा विशेषणज्ञानाभावेन साध्यव्याप्यग्रहात्,
उक्तग्रहणं च चैत्रप्रमायामेवेति बाधः । नच—चैत्रप्रमायामुक्तनिवर्तकत्वज्ञाने जातेऽपि पश्चात्तत्र भ्रमत्वं कल्प्यत
इति—वाच्यम्; एतदनुमानेनैव तत्र भ्रमत्वस्य कल्प्यतया अन्योन्याश्रयात् । नच—असतः प्रतियोगिनो मन्मते
ख्यातिः संभवति, सा च विकल्पत्वान्नानुमानबाधिकेति—वाच्यम्; मां प्रति प्रयुक्ते ह्यनुमाने प्रतियोगिज्ञानं ममेवा-
पेक्ष्यते, मया तु नासत्ख्यातिः स्वीक्रियत इति भावः । चैत्रगतप्रमाभावेति । चैत्रगतप्रमाया अभावेत्यर्थः ।
निवर्तकतया निवृत्तिरूपव्यवहारजनकतया । यद्यपि प्रतियोग्यन्या प्रागभावस्य निवृत्तिरिति मते नेदमनुमानम्; तथा-

भावातिरिक्तस्य स्वजन्यव्यवहारप्रागभावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वात् । विपक्षबाधक-
सत्त्वाच्च नाभाससाम्यम् । अत एव द्वितीयानुमानमपि सम्यक् । नच—विगीतो विभ्रमः, एतज्ज्ञान-
जनकबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवदिति सत्प्रतिपक्ष इति—वाच्यम्; बाध्यस्य
त्वन्मते अजनकत्वात्; साध्याप्रसिद्धेः, ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधाच्च । नव्यास्तु विमता
प्रमा, प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वात्, घटवत्; भ्रमानुत्तरप्रमा, स्वाभावातिरिक्त-
स्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, प्रमोत्तरप्रमावत्, ज्ञानत्वं, स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रका-
शितार्थप्रकाशवृत्तित्वात्, आलोकत्ववत्; अनित्यज्ञानं, अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधि-
करणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वात्, अनित्येच्छावत्; सा हि तादृग्द्वेषसमाना-
धिकरणा । न चैतेषु अप्रयोजत्वशङ्का; विपक्षबाधकर्तृकस्योक्तत्वात् । एवमन्यदप्यूहनीयम् ।
ज्ञानविरोधित्वं, अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्, दृश्यत्ववत् । यद्वा—
अनाद्यभावविलक्षणत्वं ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववदिति ।
एवमभावविलक्षणाज्ञाने अनुमानान्यूहनीयानि ॥ इत्यद्वैतसिद्धावविद्यानुमानोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च व्यवहार एव तत्प्रागभावस्य निवर्तकः, न तु ज्ञानम्; तथापि ज्ञानस्यापि व्यवहारद्वारा तत्प्रागभावनिवर्तकत्वम् ।
प्रयोजकत्वमात्रस्यैव साध्यव्यापकतासंभवेन जनकत्वनिवेशे वैयर्थ्यात् । शरीरजन्यत्वोपाधौ शरीरविशेषणवत् तात्त्विक-
प्रमात्वस्य हेतुत्वे तूक्तनिवृत्तिहेतुत्वमपि साधनव्यापकम्; ब्रह्मप्रमाया घटाद्यभावनिवर्तकत्वात् । ननु घटश्चैत्रेच्छा,
चैत्रभ्रमो वा, स्वप्रागभावान्यानादिनिवर्तकः, घटत्वादिच्छात्वात्, भ्रमत्वाद्वा, पटवत्, मैत्रेच्छावत्, मैत्रभ्रमवद्वा, इत्यपि
स्यात्तत्राह—विपक्षेति । प्रमापक्षकोक्तानुमान एवेत्यादिः । न जानामीत्याद्यनुभावो न ज्ञानाभावविषयक इत्युक्तम्;
शुक्ल्यादौ प्रतीयमानरूप्यादेः परिणामिकारणं शुक्ल्यादिनिष्ठमेव; तच्च लाघवात् । अनादिज्ञाननाश्यत्वं तु ज्ञानेना-
ज्ञानं नष्टमित्यनुभवादित्यादितर्कयुक्तमस्मदनुमानम्, त्वदुक्तानुमाने तु न तर्क इति भावः । साध्याप्रसिद्धेः एतज्ज्ञ-
मजनकं यत् बाध्यं तदप्रसिद्धा तदन्योपादानकत्वस्य साध्यस्याप्रसिद्धेः । नच—एतज्ज्ञमजनकं यत् बाध्यान्यत् तदु-
पादानकत्वं साध्यमिति—वाच्यम्; ब्रह्माविद्योभयेत्युक्तदोषतादवस्थयात्, जनकान्तवैयर्थ्याच्च । अबाध्योपादानकत्वे
भ्रमस्य बाध्यत्वानुपपत्तिः प्रतिकूलतर्कः । अप्रकाशितार्थप्रकाशेति । प्रमाऽऽलोकान्यतरेत्यर्थः । नित्यज्ञाने बाधात्—
अनित्येति । स्वविरोधीति । स्वनाश्यत्वस्वप्रतिबध्यत्वान्यतरयुक्त्यर्थः । निवृत्तिः प्रवृत्त्यभावः, न तु यत्नविशेष
इति मते प्रवृत्तौ व्यभिचारात् । प्रयत्नान्यत्वे सतीति । तादृशद्वेषेति । उक्तविरोधिवृत्तेत्यर्थः । समानविषययोः
समानाधिकरणयोरिच्छाद्वेषयोर्मिथः प्रतिबन्धकत्वम् । अन्यथा तयोरेकसत्त्वेऽपि इतरोत्पादापत्तेरिति भावः । ज्ञान-
विरोधित्वं ज्ञानप्रयुक्तनाशप्रतियोगित्वम् । तेनाज्ञानसिद्धिपूर्वं दृश्यमात्रस्य साक्षात् ज्ञाननाशत्वासिद्धावपि न साधन-
वैकल्यम् । परमतेऽप्यदृष्टादीनां ज्ञानप्रयुक्तनाशप्रतियोगित्वमावश्यकमिति भावः । अनादिभावत्वम् अभावविलक्षणा-
नादित्वम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायामज्ञानानुमानोपपत्तिः ॥

अथ अज्ञानवादे अनुमानोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

(१) विवादपदं प्रमाणज्ञानं, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाश-
कत्वात्, अन्धकारोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् (२) चैत्रप्रमा, चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्,
(३) विगीतो भ्रमः, एतज्ज्ञानकाबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवत्, इत्यनुमानान्यपि न भावरूपाज्ञान-
साधनानि । तत्र प्रथमानुमाने प्रमाणज्ञानपदेन सुखादिप्रमाया अपि विवक्षणे तत्र बाधात्, वृत्तेः वृत्तित्वेन विवक्षणे स्वविष-
याज्ञानानिवर्तकपरोक्षवृत्तौ बाधस्यापरोक्षवृत्तित्वेन विवक्षणे परोक्षवृत्तौ व्यभिचारस्य परोक्षवृत्तिभिन्नत्वे सतीति हेतुविशेषणे
अप्रयोजकत्वस्येदमंशवृत्तौ बाधस्येदमंशवृत्त्यन्यस्यैव पक्षत्वे धारावाहिकद्वितीयादिप्रमायां तादृशप्रमायां चासिद्धिबाधयोः
तदन्यस्यैव पक्षत्वे त्वन्मते जडावारकाज्ञानाभावेन नीरूपस्यात्मनः प्रत्यक्षविषयत्वासंभवेनावच्छिन्नचैतन्यस्यापि जडत्वेन च
जडावच्छिन्नचैतन्यविषयकत्वस्य ज्ञानेऽज्ञाने वाऽसंभवेनच जडविषयकापरोक्षवृत्तौ बाधस्यच प्रसङ्गः । ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त-
कमिति त्वन्मतेऽभावनिवृत्तिरेव भाव इति मन्मतेच स्वनिवर्त्यपदेनैव व्यावृत्तिसिद्ध्या मतान्तरानुसरणेऽप्यभावव्यतिरिक्तो
विशेषणेनैवोपपत्त्याच साध्यघटकस्वप्रागभावातिरिक्तो विशेषणस्य, जडे अज्ञानानङ्गीकारेण शुद्धचैतन्ये स्वप्रकाशे

आवरणासंभवेन खविषयावरणत्ववाधेनावधेऽपि खोत्पादकादृष्टव्यावृत्तेरावरणपदेन खनिर्वर्त्यपदेन वा सिद्ध्या खविषया-
वरणेति विशेषणस्य, चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टस्यैव घटादिप्रमाप्रतिबन्धकादृष्टस्यापि तन्निर्वर्त्यत्वेन भक्षि-
तेऽपि लक्षणे न रोगशान्तिरिति न्यायेन खनिर्वर्त्येति विशेषणस्य, चिन्मात्राश्रितस्य तद्विषयस्य वाऽज्ञानस्य वृत्तितत्प्रति-
फलितचैतन्यादिरूपप्रमाश्रिताश्रितत्ववाधेनावधेऽपि अविद्याऽसिद्ध्या तद्विषयत्वमादायार्थान्तरस्याद्यविशेषणेनैव व्यावृत्त्या
ज्ञानाभावमादायार्थान्तरस्य वा प्रसङ्गेन स्वदेशगतेति चतुर्थविशेषणस्य, प्रमाप्रागभावतदुत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टज्ञातत्वाना-
मावरणत्वाभावेनावरणस्यापि तमसः प्रमामात्रविषयावरणत्वासंभवेन च खविषयावरणातिरिक्तसर्वविशेषणानां च वैयर्थ्यम् ।
हेतौ प्रकाशकपदेन दृष्टान्तासाधारणत्वेन ज्ञानत्वस्य असिद्ध्या इन्द्रियादौ व्यभिचारेण च ज्ञानहेतुत्वस्येन्द्रियादौ
व्यभिचारेणैव साक्षात् परंपरया वा व्यवहारहेतुत्वस्याज्ञानान्धकारानुगततमस्त्वाभावात् साध्यावैशिष्ट्याच्च तमोनिवर्तक-
त्वस्य तत एव शलाकादौ व्यभिचाराच्चावरणनिवर्तकत्वस्य साध्यावैशिष्ट्यादज्ञानान्धकारान्यतरनिवर्तकत्वस्य
वा विवक्षणासंभवेन प्रकाशकपदवाच्यत्वमात्रपरत्वस्यैवाङ्गीकरणीयतयाऽप्रयोजकत्वं, शब्दसाम्येन साध्यसाधने गोत्वेन
पृथिव्या अपि शृङ्गसाधनापत्तिः, यथाकथंचिदप्रयोजकतापरिहारेऽपि प्रमाणस्य ब्रह्मज्ञानस्य चिदन्याप्रकाशकत्वेन
स्वप्रकाशचित्तवाच्यप्रकाशितत्वाभावात् स्वरूपासिद्धिः । किंच उक्तानुमितेरप्रकाशितप्रकाशत्वाभावे प्रकाशितप्रकाशकत्व-
मप्रकाशत्वं वा स्यादिति वैयर्थ्यम्; अप्रकाशितप्रकाशत्वे बाधो व्यभिचारो वा; अज्ञानगोचराज्ञानानङ्गीकारात् । एतेन—
(१) अनादित्वे सति भावत्वम्, अभावविलक्षणत्वं वा, न निर्वर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तित्वात्, अनाद्यभावविलक्षण-
मात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मवत्, (२) निर्वर्त्यत्वं, नानादिभावनिष्ठं, नानाद्यभावविलक्षणनिष्ठं वा, प्रागभावत्ववत्, (३) अना-
दित्वं, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, (४) प्रमाणज्ञानम्, अभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वात्, भ्रमवत्, इत्यादिना-
सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वादिकमपि—सूचितम् । द्वितीयानुमानेऽपि—उत्तरीत्या सुखादिप्रमासु बाधः । साध्यघटकस्य
चैत्रगतत्वस्य प्रमातत्प्रागभावयोरानुगतत्वाभावेनानादिविशेषणत्वे अङ्गीकरणीये सति दृष्टान्ते साध्यवैकल्यस्य तत्र प्रमापद-
वैयर्थ्यस्य, चैत्रप्रमा, चैत्रगताभावातिरिक्तानाद्यनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्, इति प्रकरणसाम्यस्य, चैत्रगतप्रमा-
भावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्वेन सोपाधिकत्वस्य (१) चैत्रप्रमा, स्वप्रागभावातिरिक्ताभावनिवर्तिका, प्रमात्वात्, चैत्रप्रमावत्
(२) घटः, चैत्रेच्छा, चैत्रप्रमा वा, स्वप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, घटत्वात्, चैत्रेच्छात्वात्, अप्रमात्वाद्वा,
घटमैत्रेच्छातदप्रमावदित्याभाससाम्यस्य च प्रसङ्ग इति तदप्यप्रयोजकम् । एतेन—तृतीयानुमानमपि—पराहृतम्; भ्रान्ति-
तद्विषययोरज्ञानानुपादानकत्वस्य पूर्वमेवोपपादनात् । विगीतो विभ्रमः, स्वजनकवाध्यातिरिक्तोपादानकः; विभ्रमत्वात्,
संमतवत्, इत्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षाच्च । एतेन—(१) विमताऽनित्यप्रमा, स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्,
भ्रमोत्तरप्रमावत्, (२) ज्ञानत्वं, खविषयावरणनिवर्तकनिष्ठं, प्रकाशवृत्तित्वात्, आलोकत्ववत्, (३) अनित्यज्ञानम्,
अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणं, प्रयत्नत्वे सति अनित्यत्वे सति सविषयकत्वात्, अनित्येच्छावत्, इत्यादिनवी-
नानुमानान्यपि—परास्तानीति मन्तव्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

भ्रमसंशयादर्शनेन सुखादिगोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन सुखादिप्रमायाः इदमंशवृत्तेश्च प्रमाणपदवाच्यत्वाभावेन
भावेऽपि विवादपदेन तद्व्यावर्तनेन, परोक्षवृत्तेरप्यसत्त्वावरणरूपाज्ञाननिवर्तकत्वेन चोक्तज्ञानेषु बाधाभावेन धारावाहिकद्विती-
यादिप्रमाया अप्यनधिगतकालादिविषयकत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वेन तत्रासिद्धिबाधयोरप्रसङ्गेनानात्माकारवृत्तीनामपि तदवच्छिन्न-
चैतन्यविषयकाणामज्ञाननिवर्तकत्वेन तत्र बाधाप्रसङ्गेन च प्रथमानुमानं निर्दुष्टमेव । प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मते
प्रागभावानर्थान्तरवारणेन प्रतियोगिविशेषणत्वेनाखण्डाभावसंपादनेन च प्रागभावव्यतिरिक्तेति प्रथमदलस्य विषया-
न्तरज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावारकस्वविषयज्ञानजनकस्वनिर्वर्त्यादृष्टेनार्थान्तरवारणेन खविषयावरणदलस्य चरमसाक्षात्कार-
प्रतिबन्धकादृष्टस्यापि स्वरूपेण नाशस्य तत्प्रयुक्तत्वाभावेन खनिर्वर्त्यस्वरूपत्वरूपज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्य प्रतिबन्धकादृष्टसाधारण्येन
खनिर्वर्त्यदलस्य प्रथमेन प्रागभावव्युदासेऽप्यत्यन्ताभावाव्युदासेन ज्ञातत्वात्यन्ताभावाव्युदासेन ज्ञातत्वात्यन्ताभावेन अर्थान्तर-
वारणेन कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशाश्रितस्य शब्दस्याकाशाश्रितत्ववदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याश्रितवृत्तितत्प्रतिफलितचैतन्यादी-
नामपि चैतन्याश्रितत्वसंभवेन च स्वदेशगतेति विशेषणस्य प्रागभावादिसाधारणमावरणमिति मतेनोक्तसाध्यनिर्देशात्
खविषयावरणातिरिक्तसर्वदलानां च वैयर्थ्याभावात् । अभावो नावारक इति मतेतु साध्यभेद एव तात्पर्यम्, अनुकूलतर्का-
भावेन गोत्वेन शृङ्गानुमानानापत्त्या प्रकाशशब्दवाच्यत्वेऽपि विपर्ययस्य अप्रकाशितार्थागोचरत्वेन च हेतौ प्रकाशकपदेन तदा-
च्यत्वस्याप्रकाशविरोधित्वस्य विवक्षणेन प्रकाशते इति व्यवहाराभावेन चित्तोऽप्यप्रकाशस्याङ्गीकरणीयतया प्रमाणब्रह्मज्ञानादौ
स्वरूपेणाज्ञानविषयस्याप्यज्ञानस्य भावत्वादिरूपेणाज्ञानविषयत्वेन प्रमाणभूतप्रकृतानुमाने च न स्वरूपासिद्धिः । अनादिभाव-
त्वस्य निर्वर्त्यावृत्तित्वेऽप्यविद्याया आवविलक्षणाया निर्वर्त्यलोपपत्त्या नानादिभावत्वमिति प्रथमानुमानेन विरोधः । द्विती-

यत्तृतीयतुरीयपञ्चमानि तु अनाश्रितमात्रवृत्तित्वसकलनिर्वर्त्यवृत्तित्वसकलानाद्यवृत्तित्वैः यथासंभवं सोपाधिकानि । षष्ठे तु प्रतियोग्यप्रसिद्धा साध्याप्रसिद्धिः । यथाच सिद्धान्तिहेतोरनुकूलतर्कसद्भावेन साध्यव्याप्यत्वनिर्णयेऽपि सत्प्रतिपक्षहेतोः तदभावेनाप्रयोजकत्वं तथान्यत्र विस्तरः । एतेन—द्वितीयानुमानमपि—**व्याख्यातम्** ; अन्तःकरणवृत्तेरेवात्र प्रमापदेन विवक्षणेन सुखादिप्रमायां बाधाप्रसङ्गात्, प्रमातृप्रागभावयोरानुगतत्वस्य पूर्वमेवोपपादनेन चैत्रगतत्वस्य तद्विशेषणत्वस्यैवाङ्गीकारात्, अभावे प्रागिति विशेषणाभावे भावरूपाज्ञानस्य स्वाभावभावत्वेन तदतिरिक्तानादिनिवर्तकत्वे बाधवारणेनोपरजनकत्वेन वा प्रमापदसार्थक्यात् चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्तव्यवहारप्रागभावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वेन चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्वस्यानुपाधित्वेन व्याप्यत्वासिद्धिर्भावात् प्रतियोगिप्रसिद्धप्रसिद्धिभ्यां व्याहृत्या प्रकरणसाम्यस्य विपक्षबाधकसत्त्वेनाभाससाम्यस्य चाप्रसङ्गाच्च । एतेन—तृतीयानुमानमपि—**व्याख्यातम्** ; भ्रान्तितद्विषययोरज्ञानोपादानकत्वस्य पूर्वमेवोपपादितत्वात् बाध्यस्य लन्मतेऽजनकत्वेन साध्याप्रसिद्धा ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधेन च सत्प्रतिपक्षाभावाच्च । एतेन—नवीनानुमानान्यपि—**व्याख्यातानि** ; विपक्षबाधकतर्कसत्त्वेनाप्रयोजकशङ्कानुदयात् । एवमन्यदप्यनुमानमत्रोहनीयम् । (१) ज्ञानविरोधित्वम्, अनादिभावत्वसमानाधिकरणं सकलज्ञानविरोधित्वत्वात्, दृश्यत्ववत् (२) अनाद्यभावविलक्षणत्वं, ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववत् इति भावरूपाज्ञाने अनुमानमपि प्रमाणमिति सिद्धमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

परोक्षवृत्त्या विषयावरणनिवृत्तावपरोक्षत्वापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणाज्ञाननिवृत्तावपि विषयावच्छिन्नावरणनिवृत्त्यभावेन परोक्षवृत्तौ बाधेन, स्वरूपायोग्यस्य किञ्चिदवच्छिन्नस्याप्यचाक्षुषत्वेन शाब्दज्ञान इव तत्समानविषयकेऽपरोक्षज्ञानेऽपि तदविषयत्वेन चानात्माकारवृत्तिनिर्वर्त्याज्ञानासिद्ध्या तत्रैव बाधप्रसङ्गेन च प्रथमानुमानं न समीचीनम् । प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मतस्याप्रामाणिकत्वेन तत्त्वनिर्णयकथायां लघुना साध्यनिर्देशेन साध्यसिद्धौ संभवन्त्यामखण्डाभावान्तर्भावेन साध्यस्यानिर्देश्यत्वाच्च **प्रागभावातिरिक्तेति** विशेषणस्य सत्ताप्रकाशयोः प्रकाशमानचिन्मात्रत्वे नास्ति न प्रकाशते इति व्यवहारानुपपत्त्या चैतन्यावरणत्वबाधेनापि स्वजनकत्वविषयज्ञानान्तरप्रतिबन्धकत्वविषयावरणादृष्टविशेषमादायार्थान्तरतादवस्थेन **स्वविषयावरणदलस्य** विशिष्टशुद्धयोरतिरेकवादिनां भवतां मतेऽन्तःकरणवच्छिन्नचैतन्याश्रयलोपपादनासंभवेन विशिष्टशुद्धानतिरेकेऽपि वृत्तौ वृत्तिप्रतिफलितचैतन्ये वा घटाद्यनध्यासेन तयोर्ज्ञानत्वाभावात् तदभिव्यक्तचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन तस्याज्ञानाश्रयचिन्मात्राश्रितत्वासंभवेन संभवेऽपि स्वप्राक्पदविरहितेनाद्यविशेषणेनैव ज्ञातत्वात्यन्ताभावेनार्थान्तरवारणेनच **स्वदेशगतेति** विशेषणस्य च वैयर्थ्यात् । उक्तीत्या ज्ञानाज्ञानयोः समानदेशत्वाभावात् प्रागभावस्य स्वनिर्वर्त्यत्वाभावेन प्रथमसाध्ये **स्वप्रागभावातिरिक्तेति** विशेषणवैयर्थ्यात् द्वितीयसाध्ये आवरणपूर्वकत्वेनैव पूर्णत्वाच्च स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वनिर्वर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकत्वस्वविषयावरणस्वनिर्वर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकलरूपसाध्यभेदतात्पर्यकत्वस्याप्ययोगात् । पर्वतमहानसृष्टिधूमव्यक्तयोरेकस्य धूमत्वस्येव ज्ञानालोकसाधारणस्य प्रकाशत्वस्याभावेन पक्षदृष्टान्तानुगतस्य प्रकाशशब्दवाच्यत्वादेरहेतुत्वेनासिद्धिसाधनवैकल्ययोरपि प्रसङ्गः । अनादित्वे सत्यभावविलक्षणत्वेनानिर्वर्त्यत्वस्यापि प्रसङ्गेनाभावविलक्षणनिवृत्तौ सादित्वस्यैव प्रयोजकत्वेनानादिभावत्वमिति प्रथमानुमानविरोधोऽपि दुष्परिहारः । द्वितीयानुमाने तु अनाश्रितमात्रवृत्तित्वं नोपाधिः, ध्वंसत्वे साध्याव्याप्तेः । एतेन—तृतीयचतुर्थानुमाने अपि—**व्याख्याते** ; अभावविलक्षणविनाशे सादित्वस्य प्रयोजकत्वेनानादिभावे विनाशसामग्रीयुक्तत्वाभावेनानादिभावनिष्ठत्वाभाववति विनाशसामग्रीयुक्तत्वे सकलनिर्वर्त्यवृत्तित्वाभावेन सकलनिर्वर्त्यवृत्तित्वस्य तत्रानुपाधित्वात् । निश्चितोपाधिव्यतिरेकवति प्रागभावप्रतियोगित्वादौ साध्यसन्देहेनोपाधेः व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या पञ्चमानुमानमपि न सकलानाद्यवृत्तित्वेन सोपाधिकम् । अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावस्योभयसंमतत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धा साध्यप्रसिद्ध्यसंभवेन षष्ठानुमानमपि निराबाधमेवेति मन्तव्यमिति सत्प्रतिपक्षादिना प्रथमानुमानं न प्रयोजकम् । एतेन—द्वितीयानुमानमपि—**पराहतम्** ; वृत्तिरूपोपाध्याखण्डत्वेन प्रमायाश्चैत्रगतत्वे प्रमाणप्रमातृप्रमेयसाङ्कर्यापत्त्या सर्वव्यवस्थानुपपत्त्या प्रमातृप्रागभावयोश्चैत्रगतत्वासंभवेन बाधात्, स्वशब्देनैव प्रतियोगितया प्रमाविवक्षणसंभवेन प्रमापदवैयर्थ्याच्च । एतेन—तृतीयानुमानमपि—**परास्तम्** ; प्रतियोग्यप्रसिद्धेरभावप्रसिद्धिं प्रति गुणत्वेन विगीतो विभ्रमः स्वजनकवाध्यातिरिक्तोपादानकः विभ्रमत्वादित्यनेन सत्प्रतिपक्षादिति सर्वमनवद्यमिति—**प्रतिपादयन्ति ॥**

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

परोक्षवृत्त्याऽसत्त्वावरणनिवृत्तावपि अमानावरणनिवृत्त्या अपरोक्षत्वानापत्त्या प्रमात्राश्रितस्याप्युक्तावरणस्य विषयावच्छिन्नचैतन्यविषयकत्वस्यैवाङ्गीकारेण विषयास्तित्वव्यवहारप्रयोजकावरणनिवृत्तेः परोक्षवृत्तिकार्यत्वेन च परोक्षवृत्तौ बाधाभावेन **अद्वै. सि. ७२**

अथाज्ञानवादे श्रुत्युपपत्तिः ।

एवं श्रुतयश्च । तत्र छान्दोग्ये अष्टमाध्याये—‘तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढा’ इति श्रुतिर्ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनानृतं ब्रुवाणा तादृगज्ञाने प्रमाणम् । नच—ऋतशब्दस्य ‘ऋतं पिवन्ता’वित्यत्र सत्कर्मणि प्रयोगदर्शनात् ‘ऋतं सत्यं तथा धर्म’ इति स्मृतेश्च ऋतशब्दस्य सत्कर्मपरत्वादनृतशब्दस्य दुष्कर्मपरत्वमिति—वाच्यम्; उत्तरत्र ‘य आत्मापहतपाप्मे’त्यादिना आत्मनोऽपहतपाप्मत्वप्रतिपादनेन दुष्कर्मप्रत्यूढत्वविरोधात्, सुषुप्तौ कर्ममात्रनाशे दुष्कर्मणोऽप्यभावात्, कारणात्मनावस्थाने चाज्ञानस्यावश्यकत्वात्, कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्च । ब्रह्मवेदनप्रतिबन्धकतया ह्यनादिब्रह्मावारकं ज्ञाननिवर्त्यं वाच्यम् । तथाच कर्मैव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम्; तयो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अनृतेन हि प्रत्यूढाः अन्धीभूताः अस्फुरद्ब्रह्मस्वरूपाः । ज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनास्फुरणव्याप्यत्वेन । अपहतपाप्मत्वेति । पापशून्यस्वभावत्वेत्यर्थः । कादाचित्कपापसत्त्वे तच्छून्यस्वभावत्वमात्मनोऽनुपपन्नम् । नच—मिथ्याभूतं पापं प्रतिबन्धकमास्त्वामिति—वाच्यम्; अविद्यां विना तत्परिणामरूपस्य तस्यासंभवात् । कारणात्मना कारणगतसंस्काररूपेण । अनादीति । न च—पापानां प्रवाहरूपेणानादित्वात् पापत्वेन प्रतिबन्धकत्वसंभव इति—वाच्यम्; पापं पुण्यं मिथ्याज्ञानजन्यसंस्कारो वा ‘अस्ति भाती’ति व्यवहारे प्रतिबन्धक इत्यत्र विनिगमकाभावात्तन्मयोऽतिरिक्तस्यैवाज्ञानस्य तथात्वेन कल्पनस्यैवचित्यात्, कल्प्यस्यानुपस्थितत्वेन तदादाय विनिगमनाविरहाप्रसक्तेः । ननु

स्वोत्पत्तिकालोत्पन्नस्थूलकालस्यैव तत्तज्ज्ञानविषयत्वेन क्षणानामतीन्द्रियत्वे मानाभावात् शब्दज्ञानेऽपि कालभाननियमाद्धारावाहिकद्वितीयादिप्रमायामपि दोषाभावेन च कुत्राप्यदोषेण प्रथमानुमानं समीचीनमेव । प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मतस्यापि घटात्तप्रागभावो नष्ट इत्याद्यनुभवेन प्रामाणिकत्वेनाप्रामाणिकत्वेऽपि स्वरूपनिवृत्तिप्रतियोगित्वस्यैव साध्यविशेषणत्वेन साध्ये व्यर्थविशेषणस्यादोषत्वेन दोषत्वेऽपि प्रागभावत्वस्याखण्डत्वेनाभावत्वानिवेशेन च प्रागभावातिरिक्तेति विशेषणस्य आलोकविषयाप्रसिद्ध्या स्वविषयविषयकोक्तव्यवहारनिवेशासंभवेन स्वप्रयुक्तोक्तव्यवहारप्रतिबन्धकत्वस्यैव स्वविषयावरणपदेन विवक्षणेन स्वजनकस्वसमानविषयकज्ञानान्तरप्रतिबन्धकादृष्टेनार्थान्तराप्रसक्त्या स्वविषयावरणदलस्य अज्ञानोपहितस्यैव वृत्त्युपहितत्वेन खोपहिताश्रयस्यापि ज्ञानस्याज्ञानोपहिताश्रयत्वेनाज्ञानस्य खोपहिताश्रयत्वपक्षे शुद्धस्यैवाधिष्ठानत्वेन तत्तदुपाधिसंबन्धात्तदाश्रितत्वस्याज्ञानेऽपि सत्त्वेनाज्ञानस्य शुद्धाश्रितत्वपक्षे च स्वाश्रयतावच्छेदकान्यदेशानवच्छिन्नाश्रयताकलरूपस्य स्वदेशगतत्वस्याज्ञाने संभवेन ज्ञातत्वात्यन्ताभावेनार्थान्तरवारणेन च स्वदेशगतेति विशेषणस्य च सार्थक्यात् । उक्तरीत्या ज्ञानाज्ञानयोः समानदेशत्वेन प्रागभावस्य खनिर्वर्त्यत्वेन च प्रथमसाध्ये स्वप्रागभावातिरिक्तेति विशेषणसार्थक्यात् । द्वितीयसाध्ये विषयावरणत्वेनास्मद्भ्युपगतजीवेशमेदेनार्थान्तरवारणार्थं स्वदेशगतत्वविशेषणस्यावश्यकत्वेनावरणपूर्वकत्वमात्रेण पूर्णत्वाभावाच्च साध्यद्वयतात्पर्यकत्वस्यापि युक्तत्वाच्च । प्रकाशपदवाच्यतावच्छेदकत्वेन प्रमाऽऽलोकान्यतरत्वेन हेत्वनुगमेनासिद्धिसाधनैकत्वयोरप्रसङ्गः । अज्ञानतत्प्रयुक्तान्यतरत्वस्यैव ज्ञाननाशयताप्रयोजकत्वेनानादिभावत्वादिनाऽनिवर्त्यत्वस्याप्यनुमानासंभवेनानादिभावत्वमिति प्रथमानुमानेन न विरोधः । एतेन—द्वितीयानुमानमपि—व्याख्यातम्; प्रागभावध्वंसरूपघटाद्यवृत्तित्वस्याखण्डोपाधिरूपध्वंसत्वेऽभावेन जन्यत्वे सति भावान्यत्वस्यापि मन्मते निर्वर्त्यनिष्ठत्वेन चोपाधेः साध्यव्यापकत्वात् । अत एव—तृतीयतुरीये अपि—व्याख्याते; अस्मन्मतेऽनादिभावेऽपि विनाशसामग्रीयुक्तत्वस्य विद्यमानत्वेन विनाशसामग्रीयुक्तत्वे साध्यसंशयाप्रसक्त्या साध्यव्यापकत्वग्रहसंभवात् । सकलानाद्यवृत्तित्वरूपोपाधावपि आवरणावृत्तित्वरूपसाध्यव्यापकत्वस्य मया निश्चितत्वे प्रागभावप्रतियोगित्वादौ त्वरीयसाध्यसंशयस्याप्रयोजकत्वे पञ्चमानुमानमपि सोपाधिकमेव । एतेन—षष्ठमपि—व्याख्यातम्; अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावस्य मयानङ्गीकारेण मन्मतेन निर्दोषताया असंभवात् । प्रमातृप्रागभावयोर्मनस इव तदुपहितात्मनोऽपि वृत्त्युपादानत्वेन चैत्रात्मगतत्वसंभवेनावाधात् द्वितीयानुमानमपि समीचीनमेव । वाध्यरूपप्रतियोग्यप्रसिद्धौ तदन्योपादानकलरूपसाध्यस्याप्यप्रसिद्ध्या भ्रमजनकं यद्यद्वाध्यान्यतदुपादानकत्वमिति विवक्षणेनाप्रसिद्धिपरिहारेऽपि ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनार्थान्तरप्रसङ्गेन जनकान्तविशेषणवैयर्थ्येन च सत्प्रतिपक्षानुदयात् तृतीयानुमानमपि समीचीनमेवेति दिगिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अनुमानोपपत्तिः ।

ज्ञानानिवर्त्यत्वात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वे च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरित्यादिश्रुतिर्मानम् । नच—अत्र निवृत्तिस्तरणमात्रम्, 'मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृतेरिति—वाच्यम्; ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्त्यतिरिक्तस्यासम्भवेन उभयोर्नाशमात्रार्थत्वात् । नच—'तम आसी'दित्यस्य सत्त्वप्रतिपादकस्य बाधकं विना पारमार्थिकसत्त्वपरत्वेन कथमावरणस्यानृतत्वमिति—वाच्यम्, 'नासदासीन्नोसदासी'दित्यनेन पारमार्थिकत्वतुच्छत्वयोर्निषेधेन व्यावहारिकसत्त्वपरत्वात् । नच—अनेन माया प्रतिपाद्यते; मायाशब्दार्थश्च नाज्ञानम्, मायिनो ब्रह्मणोऽज्ञानित्वे सर्वज्ञत्वनिरवद्यत्वादिश्रुतिविरोधादिति—वाच्यम्; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनेश्वरासार्वभौम्याद्यापादनायोगात्, सार्वभौम्याद्यैश्वर्यस्य मायानिवन्धनत्वाच्च । नच—'मयज्ञान'इतिधात्वर्थानुसारात् माया कथमज्ञानमिति—वाच्यम्; 'एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासीकरोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती'ति श्रुत्या मायाविद्ययोरेक्यप्रतिपादनान्माया अज्ञानमेव; 'घटचेष्टाया'मिति धातुजस्यापि घटशब्दस्य चेष्टावाचकत्वाभाववदत्रापि ज्ञानवाचकत्वाभावात् । माया प्रज्ञा व्युनमिति ज्ञानपर्याये निघण्टुकारवचनं च ज्ञानाकारपरिणामित्वादज्ञानस्योपपन्नम् । वृत्तिज्ञानस्याज्ञानाभिन्नत्वात् अज्ञानस्यैवानिर्वचनीयविचित्रशक्तियोगात् न विचित्रशक्तिमति मायाशब्दप्रयोगानुपपत्तिः, कचिन्मणिमन्त्रादौ तत्प्रयोगस्तूपचारात् । नच—शुक्तिरूप्यादौ मायाशब्दाप्रयोगात् न मृषार्थोऽयमिति—वाच्यम्, वज्रादौ पृथिवीत्वादिव्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्ववत् व्यवहाराभावेऽपि मायात्वानपायात्, ऐन्द्रजालिकादौ बहुशो मायाशब्दप्रयोगदर्शनाच्च, मायाया अज्ञानान्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वविरोधाच्च । नीहारतमःशब्दावप्यस्मिन्मते अज्ञानस्यावारकत्वाद्युज्येते, नान्यमते । अनृतनीहा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रधानमेव तथास्तु तस्यैकत्वेन पापाद्यपेक्षया लघुत्वात्तत्राह—तथाचेति । विश्वमायेति । असत्त्वापादकाभानापादकसर्वाज्ञानेत्यर्थः । प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन प्रतिबिम्बमेव प्रति आवरकत्वादिना । ऐक्येति । शुद्धसत्त्वमलिनसत्त्वोपाधिभ्यां मायाविद्ययोर्भेदेऽपि स्वयमेवेत्यनेनैकव्यक्तित्वमुक्तमिति भावः । वस्तुतः उपाधिभ्यां भेदोऽपि न स्वीक्रियते; एकस्यैवाज्ञानस्य विक्षेपशक्तिमत्त्वेन मायापदवाच्यत्वात्, आवरणशक्तिमत्त्वेनाविद्यापदवाच्यत्वाच्च । अविद्यायां बिम्बत्वस्येशोपाधित्वं प्रतिबिम्बत्वस्य जीवोपाधित्वमित्येतावता जीवेशभेदादिति भावः । परिणामित्वादिति । मायापरिणामित्वेन ज्ञाने मायापदप्रयोगः । सुखादेर्मयापरिणामित्वेऽपि वृत्तिज्ञान एव भूरिप्रयोगान्निरूढलक्षणा । वस्तुतः प्रमाणार्थकमीधातोर्मायेतिपदं 'माछाससिभ्यो य' इत्याणादिकसूत्रसिद्धयप्रत्ययान्तम्, 'मयज्ञाने' इति तु पाणिनीयधातुपाठे नास्त्येव; 'अयपयमयचयतयणय गता'वित्यस्यैव तत्र सत्त्वात् । यत्तु—'चिन्तिपूजी'त्यादौ चकारान्मयधातोर्इप्रत्ययेन मायापदमिति—तच्च; चकारात्तोलयतेरइप्रत्ययेन तुल्येतिपदस्य हरदत्तादिभिरुक्तत्वेन तुलाशब्दस्याइप्रत्ययान्तत्वेऽपि मायाशब्दस्य तथात्वे मानाभावात्, मायापदस्य माछेत्यादिसूत्रोदाहरणत्वेनोच्चलदत्तीयादिवृत्तौ उक्तत्वाच्च । तथाच माङ् मान इति धातुपाठान्मानशब्दस्य परिमाणज्ञानयोः प्रयोगाद्योगेन ज्ञानार्थकत्वमिव रूढ्या अज्ञानार्थकत्वम् । अत एवोच्चलदत्तीयवृत्तौ माया छद्मेति व्याख्यातम्; छद्मनोऽपि दुर्घटकार्यकारित्वरूपेण रूढ्यर्थगुणेन मायापदबोध्यत्वात् । अतएव—'माया स्यात् शाम्बरीबुद्धोर्मयः पीताम्बरेऽसुरे' इति मेदिनी युक्ता; शाम्बर्यामविद्यायामप्युक्तगुणयोगेन मायापदप्रयोगात् । नच—दुर्घटकारित्वमेव रूढ्यर्थोऽस्त्विति—वाच्यम्; 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयते' इत्यादिस्मृत्या मिथ्यात्वविशिष्टे मायापदशक्तिनिरूपणात् तिलरसमुख्यार्थकस्यापि तैलपदस्य भूरिप्रयोगेन सार्षपरसे निरूढगौणत्ववत् दुर्घटकारिणि मायापदस्य गौणत्वादिति भावः । विचित्रशक्तीति । विचित्रोपादानत्वेत्यर्थः । अनिर्वचनीयविचित्रस्य निमित्तमात्रे मायाविपुरुषादौ तदप्रयोगात् । कचिदिति । मन्त्रविशेषादिरूपमायाश्रयत्वेन पुरुषे मायापदप्रयोगादित्यादिः । उपचारात् मिथ्याभूतार्थनिमित्तत्वात् । अभावेऽपीति व्यञ्जकाभावदशायामिति शेषः । व्यञ्जकदशायाम् तु वज्रादौ पृथिवीत्वादेरिव शुक्तिरूप्यादौ मायात्वं व्यवहियत एव । अतएव—'यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकमि'ति सांख्यैरुक्तम् । 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसि ॥' इति मोक्षधर्मवाक्ये भगवता दृश्यमात्रे मायापदं प्रयुक्तम् । किञ्च कष्टं कर्मेति लोकानुभवेन व्यापारमात्रस्य दुःखहेतुत्वेऽपि प्रकृष्टदुःखस्यैव साधने यथा तद्व्यवहारः, तथा चमत्कारविशेषाधायकत्वेन प्रकृष्टायामेव मायायां मायात्वव्यवहारः । नीहारतमःशब्दाविति । नीहारेण प्रावृता इत्यादौ । सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेतीत्यादौ चेत्यादिः । युज्यते इति । अज्ञाते इत्यादिः । नान्यमत इति । अज्ञानस्यैवावारकत्वादिसंभवस्योक्तत्वादिति शेषः । व्याख्यातं च माधवीयभाष्ये—नीहारेण नीहारसदृशेन अज्ञानेनेति ।

रादिशब्दानां दुष्कर्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तजीवेशभेदकत्वोपादानत्वादिविरोधश्च । तस्मादनुतेन प्रत्युदाः 'नीहारेण प्रावृताः' 'तम आसीत्' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'अजामेकां लोहितशुक्ल-
कृष्णाम्' 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरित्याद्याः श्रुतयो वर्णिता अज्ञाने प्रमाणमिति स्थितम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दुष्कर्मैति । आवारकपापेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेति । अनीशया शोचति मुह्यमान इत्यादिश्रुतीत्यर्थः । आवारकस्ये-
त्यादिः । मोहप्रयुक्तनानीशया ईश्वरत्वविरोधिनेशभेदेन शोचति संसरतीत्युक्तश्रुत्यर्थः । उपादानत्वादीत्यादिना त्रिगुण-
त्वादिकं ग्राह्यम् । तथाच कर्मण आवारकत्वे तस्यैव मोहत्वात् भेदकत्वादिकं वाच्यम्, तच्च न संभवति; सादेस्तस्या-
नादिभेदप्रयोजकत्वसर्वकार्योपादानत्वाद्यसंभवात् । 'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । भवत्यभेदो भेदश्च
तस्याज्ञानकृतो भवेत्' इति विष्णुपुराणोक्तेरपि तथा बोध्यम् । 'देवादिभेदमध्यास्ते नास्येवावरणो हि स'
इति विष्णुपुराणोक्तौ भेदमिथ्यात्वे आवरणप्रयुक्तत्वहेतूक्त्यापि मिथ्याभूताज्ञानमेवावरणम्, नतु कर्मादिकमिति
भावः । तस्मादित्यादि । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्तीत्यन्यथात् नीहाररूपावरणप्रयुक्तत्वं
दृश्यमात्रस्य बुध्यत इति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां अविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः ॥

अथ अज्ञानवादे श्रुत्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अनुतेन प्रत्युदा इति श्रुतिरपि न सत्यप्रकृतीश्वरशक्त्याद्यतिरिक्तपराभिमतानिर्वाच्याविद्यायां प्रमाणम् । तत्र अनुत-
शब्दस्य "ऋतं पिबन्तावि"त्यादौ धर्मपरऋतशब्दघटितानुतशब्दस्य दुष्कर्मपरत्वस्य अनुतं परिणमते इत्यादिस्मृतिष्विव तम
आसीत् गौरनाद्यन्तवती निलेत्यादिश्रुतिभिः सत्यत्वनिलेत्यादिनाऽवगतप्रधानपरत्वस्य त्रिगुणात्मिकेत्यादिस्मृतिष्विव "योग-
मायां समादिशत्" "ऋते मायां विशालाक्षी" "पार्जन्यवारुणी माये व्यधत्तां वारिविक्षरे" । "एकस्त्वमेव भगवानिद-
मात्मशक्त्या मायाख्यया" इति भागवतरामायणहरिवंशादिवचनेष्विव च विचित्रशक्तिपरत्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वेनोक्तश्रुतेरविद्या-
प्रमाणत्वाभावात् । एतेन—तमोनीहाराविद्यादिशब्दा अपि—व्याख्याताः । एतेन—मिथ्यैव मायाशब्दार्थ इत्यपि—
परास्तम्; शुक्तिरूप्यादावपि मायाशब्दप्रयोगापत्तेः । विश्वमायानिवृत्तिरिति तु तरणपरं, न विनाशपरम् । एवंच मायानुता-
विद्यादिशब्दानां सत्यप्रकृत्यादिपरत्वमेव युक्तम्; नतु भावरूपाज्ञानपरत्वम्; मयज्ञाने इति धातुप्रकृतिकस्य मायाशब्दस्या-
ज्ञानपरत्वायोगात् । ऐन्द्रजालिकादौ मायाशब्दस्त्वमुख्य इति श्रुतिरपि न तत्र प्रमाणमिति सिद्धमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अपहृतपाप्मन आत्मनो दुष्कर्मप्रत्युदलविरोधात् सुषुप्तौ दुष्कर्मणोऽप्यभावात् कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्चानुतशब्दस्य
दुष्कर्मपरत्वस्य नासदासीन्नोसदासीदिति श्रुतिविरोधेन व्यावहारिकसत्त्वपरत्वस्यैव तम आसीदित्यादिविषयतया अनुतं परिण-
मते इत्यादिस्मृतिष्विव सत्यप्रधानपरत्वस्य वाऽसंभवेनानिर्वचनीयविचित्रशक्तिमदनर्वाच्याविद्यापरत्वस्यैवोक्तश्रुतेरङ्गीकरणी-
यतया "अनुतेन प्रत्युदाः" "नीहारेण प्रावृताः" "तम आसीत्" "मायां तु प्रकृतिं" "अजामेकां" "अविद्यायामन्तरे
वर्तमाना" इत्यादिश्रुतयोऽप्यज्ञाने प्रमाणमेवेति मन्तव्यम् । "माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"ति श्रुत्या मायाविद्य-
योरैक्येन घटचेष्टायामिति धातुनिष्पन्नस्य घटशब्दस्य चेष्टावाचकत्वाभाववत् मयधातुप्रकृतिकमायाशब्दस्याज्ञानवाचकत्वेऽपि
बाधकाभावेन सृष्टार्थ एव मायाशब्दः; ऐन्द्रजालिकादौ बहुशो मायाशब्दप्रयोगदर्शनात् । अत्रादौ मायाशब्दप्रयोगस्तु
गौण एवेति न दोषः । शुक्तिरूप्यादावपि मायाशब्दप्रयोगापादनं तु नहि निमित्तमस्तीति नैमित्तिकारोप इति
न्यायिर्मबलम्व्य परिहरणीयम् । अतएवहि "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति"ति श्रुत्युपपत्तिः । ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्त्य-
तिरिक्तरूपत्वाभावेन "मायामेतां तरन्ति ते" इत्यस्यापि नाशपरत्वादिति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

अपहृतपाप्मन्यज्ञानसंबन्धस्याप्यभावेनानाविर्भूतस्वरूपविवक्षया दुष्कर्मप्रत्युदलस्यापि संभवेनानुतपदस्य दुष्कर्मपरत्वस्यैवाङ्गी-
करणीयत्वेनानङ्गीकारेऽपि "नीहारेण प्रावृताः" "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" "अज्ञानेवावृत्"मित्यादीनामिव सत्यभूत-
प्रकृतिपरत्वस्य जीवस्य ब्रह्मस्वरूपतिरोधायकभगवच्छक्तिपरत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वाच्चाज्ञाने श्रुतिप्रमाणसिद्धिः । एतेन—"भूय-

अथाज्ञानवादे अर्थापत्त्युपपत्तिः ।

(१) जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशान्यथानुपपत्तिश्च तत्र मानम् । न च जीवस्य ब्रह्मभेदेनैव तादृगप्रकाशोपपत्तिः; जीवब्रह्मभेदस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात् । नचानवच्छिन्नानन्दस्यापि प्रकाशमानप्रत्यङ्गावत्त्वेनाप्रकाशमानत्वानुपपत्तिः; शरीरप्रतियोगिकस्यात्मनि स्वरूपभेदस्यात्माकारेण प्रकाशमानत्वेऽपि भेदाकारेणाप्रकाशमानत्ववद्रूपान्तरेण ब्रह्मणः प्रकाशमानत्वेऽपि उक्ताकारेणाविद्यावशादप्रकाशमानत्वोपपत्तेरुक्तत्वात् । (२) भ्रमस्य सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि अविद्यायां प्रमाणम् । न चान्तःकरणमुपादानम्; अन्तःकरणस्य ज्ञानजनने प्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन प्रमाणाविषये शुक्तिरूप्यादौ ज्ञानाजनकत्वात्, सादित्वेनानादिभ्रमपरम्परानुपादानत्वाच्च । नच ब्रह्मवोपादानम्; तस्यापरिणामित्वात् । नच विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वम्; अविद्यामन्तरेणातात्त्विकान्यथाभावलक्षणस्य विवर्तस्यैवासम्भवात्, शुक्त्यादेरधिष्ठानावच्छेदकतया विवर्ताधिष्ठानत्वाभावात् । नच—उपादानापेक्षस्य विवर्तस्य तात्त्विकातिरिक्तोपादानकल्पनवदविद्यादेराश्रयसापेक्षस्य ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकमधिकरणं कल्प्यं स्यादिति—वाच्यम्; ब्रह्मण एव विकारित्वे अनित्यत्वादिप्रसक्तवत् ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वे बाधकाभावेन द्वितीयस्याधिकरणस्याकल्पनात् । नच—असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणपरिणाम्यनपेक्षत्वेन परिणामित्वेनापि नाविद्याकल्पनमिति—वाच्यम्; परिणामिसत्तासमानसत्ताकत्वनियमेनासत्यत्वस्यैवाभावात् । नच—घटादौ स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वदर्शनेन प्रपञ्चेऽपि तादृशोपादानकल्पने घटादेः स्वाधिकसत्ताकोपादानानपेक्षत्ववत् वियदादेरपि ब्रह्मानुपादानकत्वं स्यादिति—वाच्यम्; ‘तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः’ इत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आत्माकारेण आत्मत्वेन । भेदाकारेण भेदत्वेन । रूपान्तरेण शुद्धचित्स्वरूपेण । उक्ताकारेण अनवच्छिन्नानन्दरूपेण । उक्तरूपयोराविद्यकभेदः स्वीक्रियत इति भावः । वस्तुतः उक्तभेदास्वीकारेऽपि न क्षतिः; प्रमाणजन्यज्ञानस्यैवाज्ञानविरोधितया स्वतःप्रकाशमानेऽपि शुद्धरूपे अज्ञानं युक्तमिति ध्येयम् । प्रमाणव्यापारेति । विषयगतप्रमाणव्यापारेत्यर्थः । प्रमाणाविषये प्रमाणव्यापारशून्ये । तथाच शुक्तिरूप्यादौ तज्ज्ञानोत्पत्तिपूर्वं चक्षुरादिसंयोगासंभवाच्चाक्षुषादिमनोवृत्त्यसंभवः । नच—भ्रमरूपे चाक्षुषे दोष एव चक्षुःसंयोगस्थानीय इति—वाच्यम्; तथापि दोषो मनः शुक्त्यादिकं वा भ्रमपरिणामीत्यत्र विनिगमकाभावात्, दोषाद्युच्छेदं विना भ्रमोच्छेदासंभवाच्च । अनादीति । प्रवाहरूपेणानादीत्यर्थः । मनसोऽपि प्रवाहरूपेणानादित्वेऽपि मनसः उपादानमनाद्येव वाच्यम्; अन्यथा तत्राप्युपादानान्तरकल्पने अनवस्था, गौरवं च । तथाच तदेव सर्वकार्योपादानं युक्तम् । असंभवादिति । अतात्त्विकत्वस्य तत्त्वप्रमानिवर्त्यत्वव्याप्यतया रूप्यादौ ग्रहादुक्तनिवर्त्यत्वस्य च प्रपञ्चे साक्षात् कल्पने गौरवस्योक्तत्वेनाज्ञाननाशद्वारैव तद्वाच्यम् । तथाच तस्यानुपादानत्वे तन्नाशस्य प्रपञ्चनाशे हेतुत्वं कल्प्यम्, तस्योपादानत्वे तु तत्कृतम्; अत उपादानत्वमावश्यकम् । किञ्च ब्रह्मणोऽन्यथाभावो विवर्तः; न च ब्रह्मान्यथा भवतीति तद्वताविद्याया अन्यथाभवनं वाच्यम् । नच—यस्य कारणस्य विषमसत्ताकं यत् कार्यं, तस्य तद्विवर्त इति लक्षणाद्विनाप्यविद्यां ब्रह्मणि विवर्तो जायतामिति—वाच्यम्; घटादिकार्यस्य मृदादिपरिणामत्वदृष्ट्या आकाशादिसर्वकार्याणामपि परिणामत्वस्य वाच्यतया अविद्यासापेक्षत्वात् । सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणेति । सत्यसंसृष्टासत्यस्वरूपेत्यर्थः । कल्पनमिति । ब्रह्मण एव परिणामित्वसंभवादिति शेषः । मृदवस्थेति । सन् घट इत्यादिविद्या सदुपादानम् । मृद्वत इत्यादिविद्या अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च मृदादिकम्, मृदवच्छिन्नचित्त्वादिना तु नोपादानत्वम्; येन गौरवमिति भावः । पर्यनुयोगः श्रान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति श्रुतिरपि—व्याख्याता; मायायां सत्यामेव तत्कृतपराभवाभावस्यैव तदर्थत्वादिति नानिर्वचनीयाविद्यायां श्रुतिरपि प्रमाणमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

पापशून्यस्वभावे कादाचित्कपापसंबन्धस्याप्यसंभवेन “तरति शोकमात्मवित्” “विद्वानामरूपोऽस्मिन्” इत्यादाविव “भूयश्चान्ते” इत्यादावपि तरतिधातोः निवृत्तिपरत्वस्यैवाङ्गीकरणीयत्वेन माछाससिभ्यो य इति सूत्रसिद्धप्रमाणार्थमाद्यु-
प्रकृतिकप्रत्ययान्तमायाशब्दस्याविद्यापरत्वे बाधकाभावेन चोक्तश्रुतिसिद्धैव मायेति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे श्रुत्युपपत्तिः ।

नेन न्यायेन घटादेरपि मृदवस्थचैतन्योपादानकतया तादृशोपादानानपेक्षत्वासिद्धेः । अत एव—
रूप्येऽपि स्वसमानसत्ताकस्य निमित्तस्यापि कल्पनापत्तिरिति—निरस्तम्; निमित्तमात्रे वा इयं
कल्पना, विशेषे वा । नाद्यः; अधिष्ठानरूपनिमित्तस्य सर्वत्राधिकसत्ताकत्वात् । द्वितीये तूत्तरो-
त्तरभ्रमे पूर्वपूर्वभ्रमस्य निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः । नच—त्रिगुणात्मकं प्रधानमुपादानमिति—वाच्यम्;
तस्यासत्यत्वे अविद्यानतिरेकात् । सत्यत्वेऽपि सावयवं, निरवयवं वा । आद्ये अनादित्वभङ्गः ।
द्वितीये परिणामित्वायोगो ब्रह्मवत् । न चाविद्यापक्षेऽपि समः पर्यनुयोगः; तस्याः काल्पनिकत्वेन
पर्यनुयोगायोगात् । तस्मादर्थापत्तिरविद्यायां प्रमाणम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धावविद्यायामर्थापत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सावयवत्वादिविकल्पः । काल्पनिकत्वेन युक्तिविरुद्धत्वव्याप्यमिथ्यात्वेन । यत्तु मृदाद्यवस्थचित उपादानत्वे नोक्त-
सूत्रं साधकम्; किंतु निमित्तत्वे इति; तत्र 'तदभिध्यानात्' 'सोऽकामयत बहु स्या'मिति सर्वकार्यात्मकतया
'स्वोत्पत्त्यभिध्यानात्, य आकाशमन्तरो यमयती'त्यादिलिङ्गाच्च, चेतनानधिष्ठितादचेतनात्कार्यासंभवेन चेतनकर्तृत्व-
स्यावश्यवाच्यत्वेन विनिगमकाभावात्, सत्तादात्म्यप्रत्ययस्य कार्यमात्रे दर्शनादुपादानत्वस्याप्यावश्यकत्वेन स आत्मापि
वाय्वादाबुपादानं नाकाशाद्येवेत्यर्थकत्वेनोक्तसूत्रस्य प्रत्ययात् विश्वस्य योनिमित्यादिश्रुतिः 'योनिश्च हि गीयत' इत्यादिसूत्रं
च तत्र मानम् । किंच 'नेदं रजत'मित्यादिनिश्चयोत्तरं 'इदं रजत'मित्यादिभ्रमस्यानुत्पत्त्योक्तनिश्चयस्याभाव उक्तभ्रमे
हेतुर्वाच्यः । तथाचागृहीताप्रामाण्यकानाहार्यतादृशनिश्चयसामान्याभावत्वेन हेतुत्वापेक्षया 'नेदं रजत'मित्याकारका-
ज्ञानत्वेनोपादानत्वमेव युक्तम्; गृहिताप्रामाण्यके आहार्येचोक्तनिश्चये सत्युक्ताज्ञानसत्त्वादतादृशोक्तनिश्चये सति
चोक्ताज्ञानासत्त्वात् उक्तभ्रमोत्पादानुत्पादौ । विस्तरेणचानिर्वचनीयस्यातिविवेचने विवेचितमिदमस्माभिः ॥ इति
लघुचन्द्रिकायां अविद्यायामर्थापत्तिः ॥

अथ अज्ञानवादे अर्थापत्त्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अन्तःकरणोपादानकत्वेन श्रुतिसिद्धसत्यनिर्गुणप्रधानोपादानकत्वेन वान्यथासिद्धेरविद्याया अपि अनादित्वेन निरवयवतया
ब्रह्मवदेव विकारासंभवाच्च भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि नाविद्यायां प्रमाणम् । एतेन—श्रुतिसिद्धनिर्विकारब्रह्मोपादानत्वा-
नुपपत्तिरपि न तत्र मानम्; तात्त्विकविकारासंभवेऽपि अतात्त्विकविकारासंभवेन श्रुतिवदविद्यां विनापि विवर्ताधिष्ठानत्वो-
पपत्तेः । अन्यथाऽऽश्रयसापेक्षाविद्यादेः तात्त्विकाधिकरणान्तरकल्पनापत्तेरिति—सूचितम्; अत एव परिणामित्वेनापि
नाविद्यासिद्धिः; असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिरूपपरिणाम्यनपेक्षत्वात् । कार्यापेक्षितस्वसत्तासमसत्ताकत्वेनापि नाविद्याकल्पनं;
घटादेरिव विद्यदादेः स्वाधिष्ठानसत्ताकब्रह्मानुपादानकत्वापातेन रूप्ये स्वसमानसत्ताकनिमित्तकारणस्यापि कल्पनापातेन च
तस्याकल्पकत्वात् । एतेन—जीवस्यावच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशानुपपत्तिरपि न तत्र मानमिति—सूचितम्; मेदेनैवोपपत्तेः,
अनवच्छिन्नानन्दस्यापि प्रकाशमात्ररूपत्वेनानन्दाप्रकाशानुपपत्तेश्चेति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

प्रमाणव्यापारापेक्षया ज्ञानपरिणामिनोऽन्तःकरणस्य प्रमाणविषयश्रुतिरूप्यादिज्ञानापरिणामित्वेन परिणामित्वेऽपि तस्य
सादित्वेनानादिभ्रमपरंपरानुपादानत्वेन निरवयवस्य सत्यस्य प्रधानस्य ब्रह्मण इव परिणामित्वासंभवेन चान्तःकरणप्रधानो-
पादानकत्वेनान्यथासिद्धिभावात्, काल्पनिकत्वेन निरवयवत्वेऽप्यविद्यापरिणामित्वोपपत्तेर्भ्रमोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरप्य-
विद्यायां प्रमाणम् । श्रुतिसिद्धब्रह्मोपादानत्वमप्यत एवोपपद्यते । अतात्त्विकान्यथाभावलक्षणविवर्तस्याविद्यां विना-
ऽसंभवेन विवर्तोपादानत्वेऽप्यनिस्तारात्, उपादानापेक्षस्य विवर्तस्य तात्त्विकातिरिक्तोपादानकत्वस्यैव युक्तत्वात् ।
यथाच ब्रह्मण एव परिणामित्वे निर्विकारश्रुतिविरोधः, नैवं ब्रह्मण एव अविद्याश्रयत्व इति नाश्रयापेक्षस्याविद्यादेरता-
त्त्विकाश्रयान्तरसिद्धिः । अतएव परिणामपरिणामिनोरपि समसत्ताकत्वनियमेन परिणामस्येव परिणामिनोऽपि
व्यावहारिकसत्यत्वावश्यकत्वेन परिणामित्वेनाप्यविद्यासिद्धिः । "तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स" इति न्यायेन घटादेरपि
चैतन्योपादानकतया तद्गृह्णन्तेन विद्यदादेस्तदनुपादानकत्वापादानासंभवात् । स्वसमानसमसत्ताकोपादानकत्वसिद्ध्यर्थमपि
अविद्याकल्पनम् । एतेन—रूप्ये स्वसमानसत्ताकनिमित्तकारणापादानमपि—पराहतम्; उत्तरोत्तरभ्रमे पूर्वपूर्वभ्रमस्य

अथाज्ञानवादे तत्प्रतीत्युपपत्तिः ।

साक्षाविद्या साक्षित्रेद्या, न तु शुद्धचित्प्रकाश्या । साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम् । तेन—निर्दोषचित्प्रकाशयत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः, मोक्षेऽपि तत्प्रकाशापत्तिः, न च तदानीमविद्याया निवृत्तत्वात् प्रकाशाभावः, प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनुवृत्तौ निवृत्त्ययोगादित्यादिदोषानवकाशः ॥ अत एवोच्यते राहुवत् स्वावृतचैतन्यप्रकाश्याऽविद्येति । नचैवं कदाचिदविद्याया अप्रतीत्यापत्तिः, इष्टापत्तेः, समाधौ तथाभ्युपगमात् । नचाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वाद्वा कथमविद्यावृत्तिः? अविद्याया एव दोषत्वात् । न च वृत्तेरपि वृत्त्यन्तरप्रतिबिम्बितचिद्भास्यत्वे अनवस्थाः स्वस्या एव स्वभानोपाधित्वात् । ननु—प्रमाणगम्यायामविद्यायां प्रमाणोपन्यासवैयर्थ्यम्, नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

एवं कादाचित्काविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बभास्यत्वे । अविद्याया एवेति । भ्रमसामान्ये अविद्याया एव परिणामित्वादविद्यारूपसाधारणदोषजन्यत्वमक्षतम् । असाधारणदोषजन्यत्वं तु शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्यैव । अथवाविद्याद्यनदिषु जातिविशेषो भ्रमजनकतावच्छेदकतया कल्प्यते । तद्विशिष्टाविद्यादिकमेव तद्भ्रमजनको असाधारणदोषः । सुखादौ तु भ्रमे मन एव स्वपरिणामत्वसंबन्धेन हेतुः । तदेव तादृशदोषः । स्मरणरूपाविद्यावृत्तौ तु उद्बोधकानामेव दोषत्वम् । स्वस्या एवेति । अविद्यादेः समाध्यादिकाले भानवारणाय संस्कारोत्पत्तये च तत्राविद्यावृत्तरावश्यक्ये । तस्यां

निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः । एतेन—जीवस्यानवच्छिन्नानन्दाप्रकाशानुपपत्तिरपि तत्र मानमिति—सूचितम्; रूपान्तरेण प्रकाशेऽपि रूपान्तरेणाप्रकाशोपपत्तेः । जीवब्रह्मभेदस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वेन तेनानुपपत्तेश्चेति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

शुक्तिविषयप्रमाणसहितेनान्तःकरणेन दोषविशिष्टेन रूप्यविशिष्टशुक्तिविषयकज्ञानजननसंभवेनाविद्यायामविद्यात्वेनेव निरवयवे प्रधानेऽपि ईश्वरशक्त्या सर्वानुपपत्तिपरिहारसंभवेनान्तःकरणप्रधानोपादानकत्वेनान्यथासिद्ध्या भ्रमोपादानत्वानुपपत्तिरपि नाविद्यायां प्रमाणम् । अविद्यान्तरं विनैव अविद्याया इव अविद्यां विनैव वियदादिविवर्तसंभवेन कार्यविषयसत्ताकत्वरूपविवर्तोपादानत्वस्याप्यविद्याकल्पनं विनैवोपपत्त्या श्रुतिसिद्धब्रह्मोपादानत्वमपि न तत्र मानम् । अस्तु वा अविद्ययैव विवर्तोपादानत्वमिति, एवमपि असंसारिणः संसारित्ववत् अपरिणामिनोऽपि मिथ्याभूतपरिणामित्वसंभवेन ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वस्यैव श्रुतिविषयत्वात् । “तदभिध्यानादेव तु” इति न्यायस्य घटादौ चैतन्योपादानकत्वेऽप्रमाणत्वेन घटादेरिव रूप्यस्यापि स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वासिद्ध्या तदन्यथानुपपत्तिरपि न तत्र मानमिति । एतेन—अनवच्छिन्नानन्दाप्रकाशानुपपत्तिरपि न तत्र मानमिति—सूचितम्; दूषणाभासस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वेन जीवब्रह्मभेदेनैव तदुपपत्तेरिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

दोषा मनः शुक्त्यादिकं वा भ्रमपरिणामीत्यत्र विनिगमनाविरहे दोषाद्युच्छेदं विनापि भ्रमोच्छेदसंभवेनाविद्यातिरिक्तेष्वरीयशक्तौ मानाभावेनान्तःकरणप्रधानोपादानकत्वेनान्यथासिद्ध्याभावेन भ्रमोपादानत्वानुपपत्तिरप्यविद्यायां प्रमाणम् । अतात्त्विकस्य तत्त्वप्रमानिवर्त्यत्वव्याप्यत्वेनोक्तनिवर्त्यत्वस्य प्रपञ्चे साक्षात्कल्पने गौरवेणोपादाननाशद्वारेणैव तस्य वाच्यतया शुक्तिज्ञानेनेव ब्रह्मज्ञानेनापि साक्षादविद्यानिवृत्तिसंभवेनाविद्यान्तरापेक्षायामपि वियदादिप्रपञ्चस्याविद्याविनाशं विना विनाशासंभवेन चोपादानत्वेनाविद्यासिद्धेरप्रत्यूहत्वात् । अन्यथा भावरूपो हि विवर्तो न निर्विकारस्य ब्रह्मणः संभवतीति श्रुतिसिद्धिब्रह्मोपादानत्वसिद्ध्यर्थमप्यविद्या कल्पनीया; कार्यविषयसत्ताकारणत्वरूपविवर्तस्याविद्यां विनोपपत्त्यसंभवात्, संभवेऽपि घटादिकार्यस्य भृदादिपरिणामत्वदर्शनेनाकाशादिकार्याणामपि यत्किञ्चित्परिणामत्वस्य वाच्यतया अविद्यासिद्धिसंभवात् । “तदभिध्यानादेव तु तद्विज्ञात् स” इति न्यायस्य घटादिसर्वकार्यस्य चैतन्योपादानकत्वं एव तात्पर्यस्य युक्तत्वेन घटादाविव रूप्यादावपि अविद्याचैतन्योभयकारणकत्वस्याङ्गीकरणीयत्वादर्थोपपत्तिप्रमाणसिद्धमप्यज्ञानम् । युक्तं चैतत्—अगृहीताप्रामाण्यकानाहार्यनिश्चयसामान्याभावत्वेन नेदं रजतमिति ज्ञानाभावस्येदं रजतमिति ज्ञानहेतुत्वकल्पनापेक्षया नेदं रजतमित्याकारकाज्ञानत्वेन हेतुत्वकल्पने लाघवादिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अर्थापत्त्युपपत्तिः ।

प्रमाणैरसद्भाववृत्तिमात्रं बोध्यत इति—वाच्यम्; अज्ञानमगृह्यतां तत्रासद्भाववृत्तिबोधेऽप्यसामर्थ्यादिति—चेन्न; प्रमाणोपनीतासद्भाववृत्तिविशिष्टाज्ञानं हि साक्षिणा गृह्यते । तथाचासद्भाववृत्त्युपनयने प्रमाणानां चरितार्थत्वात् न काप्यनुपपत्तिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतीत्युपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संस्कारस्तु तयैवेति न तस्यां वृत्त्यन्तरापेक्षेति भावः । प्रमाणेत्यादि । प्रमाविषयीभूतमसद्भाववृत्तिविशिष्टाज्ञानमेव साक्षिणा गृह्यते, न तु तदविषयीभूतमित्यर्थः । पक्षविशेषान्तर्भावेनैवानुमितिः, अतो असद्भाववृत्तिविशिष्टरूपेण प्रमाणगम्यमप्यज्ञानं सविषयकत्वादिरूपेण साक्षिमात्रवेद्यमित्याशयेनाह—तथाचेति । व्यावृत्त्युपनये व्यावृत्तिविशिष्टाज्ञानप्रमाणे । चरितार्थत्वात् अज्ञाननिवृत्तिरूपफलवत्त्वात् । तथाच विशिष्टाकारज्ञाने विशेष्यस्य विशिष्टरूपेण भाननियमेऽपि प्रकृते विशिष्टरूपस्यैवाज्ञातत्वेनाज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमाणफलवत्त्वात्तत्रैव प्रमेयतेति भावः । इति लघुचन्द्रिकायामविद्याप्रतीत्युपपत्तिः ॥

अथ अज्ञानवादे अविद्याप्रतीत्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

नाविद्यायाः प्रतीतिसंभवः । सा हि किं साक्षिणैव, शुद्धचैतन्येन, उत वृत्तिप्रतिफलितचैतन्येन । आद्ये—निर्दोषचैतन्यविषयस्याविद्यायास्तात्त्विकत्वापत्तिः, मोक्षेऽपि तत्प्रतीत्यापत्तिः, प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनिवृत्तौ निवृत्त्यसंभवेन मोक्षदशायां तन्निवृत्त्या तदप्रतीत्यसंभवात् । एतेन—अविद्यायाः स्वावृत्तचैतन्यभास्यत्वमपि—पराहतम् । द्वितीये—कदाचित्तदप्रतीत्यापातः, वृत्तिपदेनाविद्यायाः प्रमाणविषयत्वाभावेन प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्तेः अविद्यायामविद्यान्तराभावेन स्वस्मिन् स्वस्यादोषत्वेन च दोषजन्याविद्यावृत्तेश्च विवक्षणासंभवः । एतेन—अविद्यायां प्रमाणोपन्यासोऽपि—पराहतः; प्रातिभासिकस्याज्ञानस्य प्रमाणाविषयत्वात्, प्रमाणविषयस्य चाज्ञानस्य प्रातिभासिकोपादानत्वासंभवात् । अज्ञानग्रहे तत्रासद्भाववृत्तिबोधनस्याप्यसंभवेन तदीयासद्भाववृत्तिमात्रस्यैव प्रमाणविषयत्वमिति प्रकारस्याप्यसंभवादिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अविद्यावृत्तिप्रतिफलितचैतन्यरूपसाक्षिभास्यैवाविद्या, नाऽभास्या, नापि वा निर्दुष्टचैतन्यभास्या । तस्याः कदाचिदप्रतीतिरपि संमतैव, समाधौ तथाऽभ्युपगमात्, अविद्याया एव दोषत्वसंभवेन दोषजन्याविद्यावृत्तिसंभवात् । एतेन—तत्र प्रमाणोपन्यासोऽपि युक्त एवेति—सूचितम्; प्रमाणोपनीतासद्भाववृत्तिविशिष्टाज्ञानस्यैव साक्षिणा ग्रहणेनासद्भाववृत्त्युपनयने प्रमाणानां चरितार्थत्वादिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

प्रतिबिम्बनोपाधिं प्रति सत्त्वस्य प्रयोजकत्वेन तत्सिद्धेः साक्षिरूपाविद्याप्रतीतिसिद्ध्यधीनत्वेन तस्याश्चोक्तसत्त्वसिद्ध्यधीनत्वेनान्योन्याश्रयापत्त्या केवलशुद्धचैतन्यस्यैवाविद्याभासकत्वस्याङ्गीकरणीयतया तत्तात्त्विकत्वमपरिहार्यमेव । एतेन—तत्र प्रमाणोपन्यासोऽपि न युक्त इति—सूचितम्; यत्र यदगृहीतं तत्र तद्विशिष्टग्रहे तद्ग्रहस्योपनयत्वेनाज्ञाने असद्भाववृत्तिग्रहं विना तदुपनयासंभवेनासद्भाववृत्त्युपनये प्रमाणचारितार्थासंभवात् इति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

वृत्तिगोचरवृत्त्यन्तराभावेऽप्यविद्यावृत्तेः व्यावहारिकसत्यायाः प्रतिबिम्बनोपाधित्वसंभवात् अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपसाक्षिभास्यत्वेऽप्यविद्यातात्त्विकतानापत्तिः । एतेन—तत्र प्रमाणोपन्यासोऽपि युक्त इति—सूचितम्; पक्षविशेषान्तर्भावेनैवानुमित्यङ्गीकारेण यत्र यदगृहीतं तत्र तद्विशिष्टग्रह एवोपनयः सन्निकर्ष इति वर्णनासंभवेनासद्भाववृत्तिविशिष्टरूपेणाज्ञानस्यापि प्रमाणगम्यत्वस्य संभवादिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अविद्याप्रतीत्युपपत्तिः ।

अथाज्ञानवादेऽविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ।

अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव । तदुक्तम्—‘आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला । पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो भवति नापि गोचरः’ इति । दर्पणस्य मुखमात्रसंबन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिविम्बे जीवे संसारः, न विम्बे ब्रह्मणि; उपाधेः प्रतिविम्बपक्षपातित्वात् । ननु—कथं चैतन्यमज्ञानाश्रयः ? तस्य प्रकाशस्वरूपत्वात्, तयोश्च तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वादिति—चेन्न; अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किंतु वृत्तिप्रतिविम्बितम्; तच्च नाविद्याश्रयः, यच्चाविद्याश्रयः, तच्च नाज्ञानविरोधि । नच तर्हि शुद्धचितोऽज्ञानविरोधित्वाभावे घटादिवदप्रकाशत्वापत्तिः; वृत्त्यवच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्, स्वतस्तृणतूलादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतृणतूलादिदाहकत्ववत् स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्य चैतन्यस्य वृत्त्यवच्छेदेन तदाहकत्वात् । ननु—अहमज्ञ इति धर्मिग्राहकेण साक्षिणा अहङ्काराश्रितत्वेनाज्ञानस्य ग्रहणात् बाधः, नच—स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासात् दग्धत्वायसोरेकाग्निसंबन्धादयो दहतीतिवदज्ञानाहङ्कारयोरेकचिदैक्याध्यासाद्वा ‘अहमज्ञ’ इति धीभ्रान्तेति—वाच्यम्; चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्ध्या अन्योन्याश्रयादिति—चेन्न; अहंकारस्याविद्याधीनत्वेन तदनाश्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे ‘अहमज्ञ’ इति प्रतीतेरैक्याध्यासनिबन्धनत्वेनाबाधकत्वात् । नच—अविद्याश्रयत्वादेवाहङ्कारोऽकल्पितोऽस्तु, कल्पित एव वा तदाश्रयत्वमस्तु अविद्यायामनुपपत्तेरलङ्कारत्वादिति—वाच्यम्; अहमर्थस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन दृश्यत्वेनाकल्पितत्वायोगात्, चिन्मात्राश्रितत्वं विना तद्वोचरचरमवृत्त्यनिवर्त्यत्वापातात्, स्वकल्पितस्य स्वाश्रितत्वेन स्वाश्रयत्वायोगात् । नचाविद्यायामनुपपत्तिरलङ्कारः; अनुपपत्तिमात्रं नालङ्कारः, किंतु सत्त्वादिप्रापकयुक्तावनुपपत्तिः, अन्यथा वादिवचसोऽनवकाशापत्तेः ननु—‘निरनिष्टो नित्वद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्त’ इति श्रुतिविरोधात् न शुद्धचितोऽविद्याश्रयत्वम्; नहि मौढ्यं न दोषः, नापि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः, नच तात्त्विकाविद्यादेरेव निषेधः; त्वन्मते तस्याप्रसक्तेः, जीवेऽपि तदभावेन जीवब्रह्मणोः सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थाश्रुतिविरोध इति चेन्न; अवद्यस्य चित्ति कार्यकारित्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकरत्वाभ्यामेव सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थोपपत्तेः, उपाधेः प्रतिविम्बपक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिविम्बपक्षपातित्वात् । प्रतिविम्ब एव कार्यविशेषजनकत्वात् । यथा मलिनदर्पणः मालिन्यं स्वान्तर्गतत्वं च प्रतिविम्ब एव जनयति, न तु विम्बे; तथा अविद्या जीवं प्रत्येवावृणोति, आवरणप्रयुक्तं मनआदिकार्यं च जीव एव जनयतीति भावः । नाज्ञानेति । अज्ञानविरोधित्वं प्रमायामेव, न चिन्मात्र इति भावः । स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्येति । यद्व्यवच्छिन्नस्य यदविद्यातत्कार्यनाशकत्वं, तां वृत्तिं विनैव तदविद्यातत्कार्यभासकस्येत्यर्थः । वृत्त्यवच्छेदेन तदधिष्ठानगोचरवृत्त्यवच्छेदेन । स्थौल्येति । अहङ्कारावच्छिन्नचित्तीत्यादिः । चिदैक्याध्यासात् चित्यहङ्कारस्यैक्येनाध्यासात् । यद्यप्यहङ्कारोपादानीभूतमूलाज्ञानं नावच्छिन्नाश्रयताकम्, अत इदमंशावच्छिन्नाश्रयताकतूलाज्ञानपरिणामरूप्यादेः इदमवच्छिन्नत्ववत् नाहङ्कारस्याज्ञानावच्छिन्नत्वसंभवः; तथादि घटादेर्मृदादिपरिणामत्वान्मृदवच्छिन्नचित्तीवाहङ्कारादेरज्ञानपरिणामत्वाद्ज्ञानावच्छिन्नचित्यैक्याध्यासादुक्तभ्रम इति भावः । अज्ञानं नोपादानमिति पक्षेऽप्याह—दग्धत्वेत्यादि । यथाग्नावयसस्तादात्म्येनाध्यासादग्निधर्मस्य दग्धत्वादेरयसि अयोधर्मस्य पिण्डत्वादेरग्नौ चाध्यासः, तथा चित्यहङ्कारस्य तादात्म्येनाध्यासात् चिद्धर्मस्याज्ञानाश्रयत्वप्रेमास्पदत्वमित्यत्वादेरहङ्कारे तद्धर्मस्य कर्तृत्वादेश्च चित्यध्यास इति भावः । भ्रान्तेति । नत्वहङ्कारस्य सत्यस्य सत्यो धर्मः अज्ञानमिति परीत्या प्रमेति शेषः । अविद्याधीनत्वेति । ‘जायते प्राणो मनः’ ‘मायां प्रकृतिं’ ‘एवमेवैषा माया स्वव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वे’त्यादिश्रुतिभिरित्यादिः । अकल्पितः अविद्यानधीनः । उक्तश्रुतेः ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेश्चाह—कल्पित एवेति । चिन्मात्रेति । अज्ञानस्येत्यादिः । आपातादिति । अमानापादकाज्ञानस्य स्वाश्रयविषयकज्ञानेनैव निवर्त्यत्वादिति शेषः । स्वकल्पितस्य अज्ञानकल्पितस्य । नालङ्कार इति । अनुपपत्तिस्वीकारो न कुलधर्मः, किंतु परिहर्तुमशक्यानुपपत्तिरनिर्वाच्यतास्यापकवेन स्वीक्रियत इति भावः । युक्तौ अनुमानादितत्सहकारित्वेण । अनुपपत्तिः प्रतिकूलतर्कः । अन्यथा परिहारयोग्यानुपपत्तेरपि स्वीकारे । दोषः अवद्यम् । चित्ति जीवान्यचित्ति । कार्यकारित्वेति । अहङ्कारतत्कार्यरागादिकार्यकारित्वेत्यर्थः । प्रमाणत्वात् शुद्धस्याज्ञानवत्त्वे प्रमाणत्वात् । केवलस्य मायित्वेऽपि महेश्वरत्वोपहिततादात्म्याद्युक्तश्रुतिसङ्गतिः, जीवस्य मायाश्रयत्वे तु तस्योक्ताभेदाभावात्तदसङ्गतिः । न

पातित्वात् । नच—चिन्मात्रस्याविद्याश्रयत्वे प्रभाणाभावः, जीवाश्रितत्वे च प्रमाणमस्तीति—वाच्यम्; 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'मिति श्रुतेरेव प्रमाणत्वात् । नच 'ज्ञाज्ञावीशानीशा'विति जीवाज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः; तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगितया अज्ञत्वव्यपदेशोपपत्तेः । नच—ब्रह्मणोऽपि जीवाश्रिताज्ञानविषयत्वेन मायित्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्; जीवत्वस्याश्रयतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । ननु—शुक्त्याद्यज्ञानवत् ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिना स्वनिवर्तकेन तत्त्वज्ञानादिना स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामानाधिकरण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठम्, ननु चैतन्यरूपज्ञानाश्रितमिति—चेत्, न; चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपत्वस्य सम्यक्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकरण्यस्य चोपपत्तेः । नचैवं—ज्ञातृत्वे सत्यविद्याश्रयत्वम्, अविद्यायां ज्ञातृत्वमित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; अविद्याया ज्ञातृत्वानपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयभावात् । नहि सामानाधिकरण्यमस्तीत्येतावतैव तदपेक्षया अनया भवितव्यम् । नच—शरीरेऽपि ज्ञातृत्वाध्याससंभवेन तत्राप्यज्ञानाश्रयत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; नहि ज्ञातृत्वाध्यासो अज्ञानाश्रयत्वे प्रयोजकः, येन तन्मात्रेण तदापद्येत, किंतु प्रसक्तप्रकाशत्वम् अज्ञानानाश्रितत्वं च । नचैवं—अविद्याश्रयस्य ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेश इति—वाच्यम्; अविद्यावच्छिन्नस्य हि ज्ञातृत्वम्, अविद्या च नाविद्यावच्छेदेन; सामानाधिकरण्यं चावच्छेद्यांशैक्यमादाय । यथोपाधिसंबन्धो मुखमात्र एव, औपाधिकमालिन्यसंबन्धस्तु उपाध्यवच्छिन्ने, बिम्बप्रतिबिम्बयोरेक्यात्, तथा सामानाधिकरण्यमपि । यथा प्रतिबिम्बो न वस्त्वन्तरं, तथा वक्ष्यते । ननु—शुक्त्यज्ञानमपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतं वाच्यम्, तथाचा 'हं जानामीच्छामी'तिवत् 'अहं न जानामी'ति ज्ञातृत्वत्वानुभवविरोध इति—चेन्न; अज्ञानद्विविध्यात् । एकं हि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितं तद्वता-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चैवं—केवलस्य जीवेनाप्यभेदाजीवस्यापि मायावत्त्वेन श्रुतिसङ्गतिः स्यादिति—वाच्यम्; 'मायया सन्निरुद्धः मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैवे'त्यादेरेव तादृशश्रुतित्वात् । न हि कुठारायुक्ते कुठारेण छिनत्तीति प्रयोगः, न वा निगलशून्धे निगलेन बद्ध इति भावः । योगितयेति । ज्ञपदस्य जीवव्यावृत्तसर्वज्ञत्वरूपेण बोधकत्वादज्ञपदस्यासर्वज्ञत्वरूपेणैव बोधकत्वमित्यपि बोध्यम् । यद्यप्यज्ञानाश्रयकेवलाभेदाजीवस्याज्ञत्वोक्तिः संभवति; तथापि ईशेऽपि तथा संभवात् प्रकृते सा नादृता । ब्रह्मणोऽपीति । अज्ञानानाश्रयत्वेऽपीति शेषः । जीवत्वस्येत्यादि । मनोऽवच्छिन्नचित्त्वरूप-जीवत्वमाश्रयतावच्छेदकं परेण वाच्यम्; 'अहमज्ञ' इति प्रतीतेः प्रमाणत्वेनोपन्यासात्, तच्च जीवत्वमज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयः । अज्ञानावच्छिन्नचित्त्वरूपं जीवत्वं तु वाचस्पतिमते अज्ञानाश्रयतावच्छेदकं वक्ष्यत एव, परं तु तस्मिन् पक्षे आश्रयताया अवच्छिन्नत्वकल्पने गौरवादनवच्छिन्नाश्रयतापक्ष एव युक्तः । यदि तु नाज्ञानाश्रयतायां जीवत्वं संयोगादौ शाखादिकमिवावच्छेदकम्, किंतु आश्रयीभूतजीवस्योपाधितामात्रम्; शुद्धस्याश्रयत्वपक्षे 'ज्ञाज्ञा'विति श्रुतावज्ञपदस्याज्ञानकार्यविशेषाश्रय इव वाचस्पतिपक्षे 'मायिन'मिति श्रुतिपदे मायाविषयिणि लक्षणा न दोष इत्यालोच्यते, तथाप्युपहितचिदपेक्षया शुद्धचितो लघुत्वात्तत्रैवाश्रयत्वम् । अहमर्थाश्रितमज्ञानमित्यपरपक्षस्तु सर्वथा न युक्तः; अहमर्थानुपपत्तिदशायां तदाश्रितत्वासंभवात्, शुद्धचिदाद्याश्रितत्वे अवश्यं वाच्ये तेनैवोक्तरीत्याहमज्ञ इति बुद्ध्युपपत्तिरज्ञानकार्यकारित्वादहमर्थोऽज्ञानाश्रितोऽहमर्थाश्रितं चाज्ञानमिति स्थितौ अन्योन्याश्रयाच्च । चैतन्यस्य अज्ञानाश्रयशुद्धचिदभिन्नसाक्षिणः । ज्ञातुरर्थाप्रकाशोऽज्ञानमित्यत्र ज्ञातृसंबद्धमज्ञानमित्यर्थः प्रतीयते, स चाक्षतः; साक्षिणि ज्ञातरि अज्ञानवदभेदात्, एवं भ्रमादिसामानाधिकरण्यमपीति भावः । वस्तुतो ज्ञातारं प्रत्यावारकत्वमेव वृद्धोल्लिख्यते, ननु ज्ञातृनिष्ठत्वम्; शुक्त्याद्यज्ञानस्येदमंशादौ कार्यजनकत्वानुरोधेन स्वसमानाश्रयज्ञाननिवर्त्यत्वनियमानुरोधेन चेदमंशावच्छिन्नचिति अहमर्थावच्छिन्नचिति चाश्रयत्वावश्यकत्वेऽपि मूलाज्ञानस्य शुद्धचित्येव स्वकार्यजनकत्वात्, स्वकार्यमनःपरिणामविशेषनिवर्त्यत्वनियमेनैवानतिप्रसङ्गाच्च शुद्धाश्रितत्वमेव युक्तमिति ध्येयम् । अनावृतचित्तादात्म्यादहङ्कारेऽपि प्रकाशप्रसक्तेराह—अज्ञानानाश्रितत्वं चेति । यद्यपि प्रसक्तप्रकाशत्वमज्ञानविषयत्व एव प्रयोजकम्; तथापि अभानापादकाज्ञानस्य स्वविषयश्रितत्वात्तद्विषयत्वतदाश्रयत्वयोः तत् प्रयोजकमिति भावः । सामानाधिकरण्यम् अज्ञो ज्ञातेत्यभेदोक्तिः । अवच्छेद्यांशैक्यम् अविद्यावच्छिन्नेन शुद्धस्य तादात्म्यम् । ऐक्यात् तादात्म्यात् । सामानाधिकरण्यमपि बिम्बीभूतग्रीवास्थमुखं मलिनमित्याद्यभेदोक्तिरपि । न वस्त्वन्तरमिति । किंतु बिम्बमेवोपाधिस्थत्वादिविशिष्टं सत् प्रतिबिम्बमिति शेषः । वाच्यमिति । मूलाज्ञानवदित्यादिः । रूपादौ स्फटिकादिसंयुक्तजपालौहित्यादौ । आकाशादौ जलप्रतिबिम्बिताकाशादौ । श्रुतीति । 'जीवेशावाभासेन करोति'

परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयापरोक्षप्रमानाश्रयम्, अपरं च परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयप्रमानाश्रयम् प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितमित्युक्तं प्राक् । तत्र प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानविषयकोऽयमनुभवः । तेन प्रमातृनिष्ठत्वविषयतास्य न विरुध्यते । अत एव विषयगताऽज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रमातृगताज्ञाननाशेन न जानामीति व्यवहाराभावः । ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वान्न ब्रह्मणः संसारित्वमित्युक्तं, तदयुक्तम्; बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात् । तथाहि—अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य गन्धरसादिवत् प्रतिबिम्बतानर्हत्वात्, प्रतिबिम्बत्वे जीवस्य सादित्वापाताच्च, सूर्यस्य सरिज्जल इव मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलनेन चिदसमानसत्ताकस्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगात्, अस्वच्छस्याज्ञानस्य प्रतिबिम्बतोपाधित्वायोगाच्च, अविद्यायाश्चिन्मात्राभिमुख्यासंभवाच्च, अज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापाताच्चेति—चेन्न; रूपवत् एव प्रतिबिम्ब इत्यस्या व्याप्तेः रूपादौ व्यभिचारात् यथा भङ्गः, एवमाकाशादौ व्यभिचाराच्चाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्ब इत्यस्या अपि व्याप्तेर्भङ्गः । वस्तुतस्तु—श्रुतिबलाच्चितः प्रतिबिम्बे सिद्धे तत्रैव व्यभिचाराच्चेयं व्याप्तिः; तथाच रसादिव्यावृत्तं फलैकोन्नेयं प्रतिबिम्बप्रयोजकम् । नापि जीवस्य सादित्वापत्तिः; उपाधिबिम्बसम्बन्धानादित्वेनानादित्वोपपत्तेः । विस्तरस्तु सिद्धान्तविन्दौ । यत्तुक्तं मरीचिकाजले सूर्यप्रतिबिम्बादर्शनात् बिम्बसमानसत्ताकत्वं प्रतिबिम्बोद्गाहित्वे प्रयोजकमिति । तत्र; अध्यस्तस्य स्फटिकलौहित्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनात् । तस्मान्मरीचिकाजलव्यावृत्तं स्वच्छत्वं फलैकोन्नेयं अननुगतमेव प्रतिबिम्बोद्गाहित्वे प्रयोजकम्, तच्च प्रकृतेऽप्यस्ति । अत एवाज्ञानस्यास्वच्छत्वान्न प्रतिबिम्बोपाधित्वमिति निरस्तम् । यच्चोक्तं—चिन्मात्राभिमुख्याभावादिति, तर्हि सर्वात्मना चिदाभिमुख्याभावाद्वा, आभिमुख्यमात्राभावाद्वा । नाद्यः; चैतन्यवद्विभुत्वपक्षे सर्वात्मनापि संभवात् । न्यूनपरिमाणत्वेऽपि न दोषः; न्यूनपरिमाणस्यापि अधिकपरिमाणाकाशादिप्रतिबिम्बोद्गाहित्वदर्शनात् । न द्वितीयः; चैतन्यस्य सर्वतोऽपि प्रसृतत्वेन व्यवधानाभावेन च आभिमुख्यस्य सद्भावात् । नचाकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापत्तिः; प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपाविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानपायात् । नच—मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्ररूपव्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘मायां चाविद्या च स्वयमेव भवति’ ‘रूपं रूपं प्रतिरूपं’ इत्यादिश्रुतीत्यर्थः । विस्तर इति । भ्रमहेतूनां विचित्रत्वाद् दचाक्षुषस्यापि प्रतिबिम्बः । ‘आभास एव च’ ‘अतएव चोपमा सूर्याकादिव’ इत्यादिसूत्राणि च तत्र मानमित्यादिविस्तर इत्यर्थः । अध्यस्तस्येति । स्फटिके साक्षात् संबन्धेन लौहित्यादिप्रत्ययस्यानुभाविकत्वात् बाधाच्च तत्र तदध्यस्तमिति भावः । व्यावहारिकस्य दर्पणादेरिवाज्ञानादेरपि प्रतिबिम्बोपाधित्वमित्यपि बोध्यम् । अतएव अननुगतस्य प्रतिबिम्बोपाधितायोग्यत्वस्यैव स्वच्छत्वरूपत्वादेव । विभुत्वपक्षे अज्ञानस्य परममहत्त्वपक्षे । न्यूनेति । जलादेरित्यादिः । सद्भावादिति । देशविशेषस्थत्वं बिम्बोपाध्योराभिमुख्यं प्रतिबिम्बप्रयोजकमिति तु न युक्तम्; अननुगतत्वात् । रूपाविरोधीति । स्फटिकादेश्रृणोदिरूपपरिणामस्य प्रतिबिम्बविरोधित्वेऽपि पात्रविशेषरूपपरिणामो न तथेति परिणाममात्रं न तथेति भावः । मुखप्रतिमुखेत्यादि । बिम्बमुखप्रतिबिम्बमुखयोरनुगतस्य मुखान्यस्य मुखमात्रत्वरूपस्य व्यक्त्यन्तरस्येत्यर्थः । अपरामृष्टभेदस्येति । प्रतिबिम्बत्वोपहितमुखादितः परामृष्टो भेदो यत्र बिम्बत्वोपहितमुखादौ तदन्यस्येत्यर्थः । मात्रार्थत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतं मुखमात्रमिति पूर्वोक्तवाक्यस्थमात्रशब्दार्थत्वेन । धर्म्यतिरेकेति । उपाधिभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव केवलोपहितयोर्भेदात्ताभ्यां केवलमुखं भिन्नमवश्यं वाच्यम्, तच्च तयोरवश्यमनुगतमुपहितकेवलयोस्तादात्म्यस्यानुभवादिति भावः । विवादविषयेति । नच—तूलाज्ञाने सहचारदर्शनेन व्याप्तिग्रहान्मूलाज्ञानेऽपि तदापादनीयमिति—वाच्यम्; अमानापादकतूलाज्ञानस्य स्वानाश्रये प्रमातर्येव आन्तिजनकत्वादसत्त्वापादकस्य तस्यापि स्वानाश्रये विषय एव भ्रमविषयजनकत्वात् तूलाज्ञानेऽपि सहचारदर्शनात्, तत्र प्रतिबिम्ब एव । नाद्य इति । स्वधर्मस्यैव प्रतिभासकत्वं स्वधर्मसामान्यस्य प्रतिभासकत्वं वाभिप्रेतम् । आद्यं सुषुप्तेत्यादिना निरस्य द्वितीयं निरस्यति—ज्ञानेति । ननु—कर्तृत्वादेरविद्यापरिणामत्वाद् विद्यानिष्ठत्वेनाद्यपक्ष एव युक्तः, तत्राह—अविद्यास्तमय इति । बन्धो वा बन्धश्च । नतु बद्धा नतु कर्तृत्वादिबन्धाश्रयः । तथाच कर्तृत्वादिकं नाविद्यापरिणाम इत्यभिमानः । धर्मसंक्रामकत्वं धर्मस्यैव संक्रामकत्वम् । बिम्ब इति । प्रतिबिम्बभिन्ने स्वकार्यप्रतिभासकत्वं द्वितीयस्य पर्यवसितार्थः, स च न संभवतीति भावः । ननु विच्छेदो बिम्बभेदः स्वनिष्ठः न स्वकार्य इति तस्य प्रतिबिम्बे संक्रामकत्वेऽपि प्रकृते न दोषः, तत्राह—मुखस्येति । प्रतिबिम्बपक्षपातित्वमित्यत्र

कृत्यन्तरस्येव जीवब्रह्मानुगतचित्त्वातिरिक्तचिन्मात्ररूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोग्यव्यक्त्यन्तरस्याभावान्मुख-
मात्रसंबन्ध्यादर्शवच्चिन्मात्रसंबन्ध्यज्ञानमिति कथमिति—वाच्यम्; अपरामृष्टभेदस्य मुखादेर्मात्रार्थ-
त्वेनानुगतधर्म्यतिरेकसंभवात् । ननु—उपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तेरज्ञानं स्वाश्रय
एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेषव्याख्या बाध इति—चेन्न; विशेषव्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य विवाद-
विषयातिरिक्तेऽसंभवेन विशेषव्याप्त्यसंभवात् । नच बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षसामानाधिकरण्या-
नुपपत्तिः; अवच्छेद्यांशमादाय सामानाधिकरण्यस्योक्तत्वात् । ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं
तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वं वा, स्वकार्यप्रतिभासकत्वं वा, स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा, प्रति-
बिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा । नाद्यः; सुषुप्त्याद्यनुवृत्तस्याविद्यारूपस्याविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य
वा, तत्प्रतिबिम्बितत्वस्य वा, सुषुप्तादावननुवृत्तस्य कर्तृत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्याज्ञान-
निष्ठत्वाभावात्, ज्ञानक्रियासंस्कारादीनां त्वन्मते अज्ञाननिष्ठत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि
कदाप्यप्रतीतेः । ‘अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः ।’ इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका
बन्धो वा, न तु बद्धा, येन स्वनिष्ठबन्धरूपधर्मसंक्रामकत्वं स्यात् । न द्वितीयः; विच्छेदादेरुपाधिकार्यस्य
बिम्बे महाकाशे च दर्शनात्, मुखस्य बिम्बत्वादेर्ब्रह्मस्यसार्वभ्यादेशानौपाधिकत्वापाताच्च । नापि
तृतीयचतुर्थौ; दर्पणघटादावदृष्टेः । एवं बुद्धिरूपाधिरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातीति—चेन्न; अतिश-
येन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम् । तथाच विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि स्थौल्याद्यवभास-
रूपकार्यकरत्वेन दर्पणादेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूपकार्यपरत्वेनावि-
द्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोपपत्तेः । यत्तूक्तं मुखादिगतं बिम्बत्वं ब्रह्मगतं सार्वभ्यादिकं चानौ-
पाधिकं स्यादिति । तन्न; उपाधौ बिम्बकार्यकरत्वमेव नेतीति न ब्रूमः; किंतु प्रतिबिम्बे अतिशये-
नेति । यदपि बुद्धिरूपाधेरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, तस्य प्रतिबिम्बापक्षपातिजपाकुसुम-
स्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्यादर्शस्थानीयत्वाभावादिति । तन्न; स्वनिष्ठस्थौल्यावभासकत्वेनादर्शस्येवा-
स्यापि स्वनिष्ठधर्मावभासकत्वेन तद्वत् पक्षपातित्वसंभवात् । तस्मादविद्याकृतविच्छेदेन ब्रह्मण्येव
नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिव्यवस्थोपपत्तिः । एतेन—असर्वज्ञत्वादिनानुभवसिद्धा-
जीवात् अन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वभ्यादिश्रुतिनिर्विषया स्यात्, एकजीववादे संसार्यसंसारिव्यव-
स्थाऽयोगात् ‘द्वा सुपर्णा’ ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ इत्यादिश्रुतिभिः ‘अन्यश्च परमो राजन् तथाऽन्यः
पञ्चविंशकः । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप’ इत्यादिस्मृतिभिः ‘शारीरश्चोभयेऽपि हि
भेदेनैनमधीयते’ ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इत्यादिसूत्रैः ‘तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः । आत्मानौ तावेतौ
चेतनौ एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरीतोऽपहृतपाप्मत्वादिगुण’ इत्यादिभाष्यैः ‘तत्त्वज्ञानसंसरणे
चावदातत्वइयामत्वादिवत् नेतरेतरत्रावतिष्ठेते’ इत्यादिविवरणग्रन्थैश्च विरोध इति—निरस्तम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतिबिम्बपदमुपाध्यन्तर्गतपरतया अवच्छिन्नाकाशाद्यर्थकमपीत्याशयेन पूर्वं महाकाश इत्यग्रे घटादावितिचोक्तम् ।
अतिशयेनेति । यथा सर्वाभिमतदातापि भगवान् भक्तान् प्रत्यतिशयेन तथात्वात् तत्पक्षपातीत्युच्यते, तथा
बिम्बप्रतिबिम्बयोः कार्यकरोऽप्युपाधिरतिशयेन प्रतिबिम्ब एव कार्यकरत्वात् तत्पक्षपातीति भावः । उपपत्तेरिति ।
यथा अनुभवबलादर्पणादेः प्रतिबिम्ब एव मालिन्यादिभ्रमजनकत्वं, तथा श्रुत्यनुभवादिवलादविद्याया जीव एव
मनस्तत्परिणामहेतुत्वम्, ईशो तु सर्वज्ञत्वाकाशादिहेतुत्वमिति भावः । प्रतिबिम्बं प्रत्येव स्वविषयाच्छादकमिति
चतुर्थपक्षोऽपि युक्तः; दर्पणादौ तदभावेऽप्यविद्यायां तत्संभवात् । न हि सर्वत्रोपाधावैकजातीयप्रतिबिम्बपक्षपातित्व-
मस्ति । एवंच मनस्तत्परिणामयोरीशनिष्ठत्वेऽपि न क्षतिः; जीवं प्रति स्वरूपावरणं नेशं प्रतीत्यस्यैव विशेषस्येशो
संभवात् । ईशस्य नीरागत्वादिश्रुतिस्तु जीवन्मुक्तस्य नीरागत्वादिश्रुतिवत्तद्दृष्टिमाश्रित्य नेया । एवंच ईशस्य सर्व-
कार्योपादानत्वमुपपद्यते । एतेन—प्रतिबिम्बे अतिशयेन कार्यकरत्वमीशनिष्ठकार्योपेक्षया जीवेऽधिकसंख्याककार्यकरत्वं
वा, विलक्षणकार्यकरत्वं वा । नाद्यः; ईशनिष्ठाकाशादिकार्योपेक्षया जीवनिष्ठकार्याणामाधिक्यानिर्णयात्, नान्यः;
ईशोऽपि जीवनिष्ठकार्योपेक्षया विलक्षणकार्यकरत्वेन बिम्बपक्षपातित्वस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति—परास्तम्; जीवं
प्रत्यावरणस्यैव विलक्षणकार्यस्य विवक्षितत्वेन द्वितीयपक्षस्यादोषत्वादित्याशयेनाह—तस्मादित्यादि । विच्छेदेन
भेदेन । नित्यमुक्तत्वेति । बद्धान्यत्वेत्यर्थः । बन्धस्तु सत्यत्वेन ज्ञायमानो दृश्यसंबन्धः । आत्मनि जीवे । तिष्ठन्निति ।
आत्मानमन्तरो यमयतीति शेषेणान्वयः । शारीरश्चेति । ब्रह्मणोऽन्य इति शेषः । उभये क्राववा माध्यन्दिनाश्च ।

ननु—चिन्मात्रस्याज्ञानं स्वाभाविकमौपाधिकं वा । नाद्यः, आत्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गात् । नान्यः, स्वस्यैवोपाधित्वे आत्माश्रयात्, एतदपेक्षान्यापेक्षत्वे अन्योन्याश्रयात्, तदन्यान्यापेक्षत्वे चानवस्थानादिति—चेन्न; स्वस्यैवाश्रयत्वोपाधित्वात् । न चात्माश्रयः, भेदस्य स्वभेदकत्ववदुपपत्तेः, स्वाभाविकस्यापि घटरूपस्य तत्प्रागभावस्य च निवृत्तिदर्शनात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

‘यो विज्ञाने तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्निति’ च । भेदेन नियमनियामकभावेन । हि यस्मात् । अधीयते पठन्ति । तत्त्वज्ञानसंस्करणे अनावरणावरणे ॥ इति लघुचन्द्रिकायामज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ॥

अथ अविद्यायाश्चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

“आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला । पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः” इति वचनानुसारेण शुद्धचैतन्यमात्रस्याज्ञानाश्रयत्वं न युक्तम्; ब्रह्मणोऽसर्वज्ञत्वापत्तेः । वस्तुतस्तु—शुद्धचैतन्याज्ञानयोर-अश्रयश्रिभावा एव न संभवति । तथाहि—

“विरोधाद्धर्मिमानेन बाधाच्छ्रुतिविरोधतः । भ्रान्त्यैकाधिकरण्याच्च नाज्ञानं शुद्धचिद्रूपम् ॥”

यथाहि तमःप्रकाशयोः परस्परविरुद्धस्वभावयोर्नाश्रयाश्रयिभावः, एवं ज्ञानाज्ञानयोरपि । नच—चैतन्यरूपं ज्ञानं नाज्ञानविरोधि, किंतु वृत्तिरूपमेवेति—शङ्क्यम्; वृत्तौ ज्ञानलोपचारादिति विवरणोक्त्या तस्या मुख्यज्ञानत्वाभावेन तद्विरोधिनो मुख्याज्ञानत्वासंभवात् । एवंच चैतन्यमेव ज्ञानविरोधि । अतएव तस्य प्रकाशत्वोपपत्तिः । अहमज्ञ इति धर्मिग्राहकमानमप्यत एवोपपद्यते । इदं हि अहंकाराश्रितमेवाज्ञानमवगमयति । स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासात् अज्ञानाहंकारयोरेकचिदैक्याध्यासाद्वोक्तानुभवभ्रान्तिकल्पनं तु न युक्तम्; केवलचित्तोऽज्ञानाश्रयत्वग्राहकप्रमाणान्तरस्यैतावताप्यसिद्ध्योक्तप्रतीतिभ्रान्तिकाल्पनासंभवात्, अविद्याधीनस्याप्यहंकारस्याविद्याश्रयत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात्, अविद्यायामनुपपत्तेरलंकारत्वात् । अतएव “निरनिष्ठो निरवयः शोकं मोहमलेति नित्यमुक्त” इति श्रुतिरप्युपपद्यते । शुद्धचित्तोऽज्ञानाश्रयत्वे तु तस्यावयवमूढत्वादिसंज्ञेन उक्तश्रुतिसिद्धानवयवत्वादिबाधापत्तिः । तात्त्विकाविद्यादेरेव निषेध इति तु न युक्तम् । लन्मते तस्याप्रसङ्गेनाप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः । जीवेऽपि तात्त्विकाविद्याभावेन जीवब्रह्मणोः सावयवनिरवयवत्वादिव्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गात् “ज्ञात्वावीशानीशौ” इति जीवाज्ञत्वप्रतिपादकवचनमप्यत एवोपपद्यते । एवंच शुद्धचैतन्यं नाज्ञानाश्रयं, किंतु अहमज्ञ इति प्रतीतिसिद्धौ जीव एवेति मन्तव्यम् । अतएव स्वकार्यभ्रान्त्यादिना स्विनवर्तकतत्त्वज्ञानेन स्वसमानयोगक्षेमज्ञानप्रागभावादिना चाज्ञानस्य सामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते । शुद्धचैतन्यं तु न ज्ञातृत्वविशिष्टम्, अध्यस्तज्ञातृत्वेन तु नाज्ञानाश्रयत्वनिर्वाहः; शरीरादीनामप्यज्ञानाश्रयत्वापत्तेः । अविद्याश्रयस्यैव ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेशापत्तेः, ब्रह्मणोऽपि संसारित्वापत्तेश्च । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वाच्च ब्रह्मणः संसारित्वमिति तु न युक्तम्, अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य प्रतिबिम्बतानर्हत्वेन अर्हत्वेऽपि चिदसमानसत्ताकाज्ञानस्यास्वच्छस्य प्रतिबिम्बोपाधित्वायोगेन योगेऽपि तस्य चिन्मात्राभिमुख्याभावेन भावेऽपि तस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापातेन अनापातेऽपि प्रतिबिम्बस्य जीवस्य सादित्वापत्त्याच बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात् संभवेऽपि मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखरूपव्यक्यन्तरवज्जीवब्रह्मानुगतचित्त्वातिरिक्तचिन्मात्ररूपव्यक्यन्तराभावेन चिन्मात्राश्रितमज्ञानमिति वादो न युक्त एव । उपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तेः अज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रमहेतुरिति विशेषव्याप्त्या बाधादपि न ब्रह्मसंसारितानिराकरणसंभवः । किंच किमिदं प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं ? किं तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वम्, उत स्वकार्यप्रतिभासकत्वम्, आहोस्वित् स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वम्, आहोस्वित् प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वम् । आद्ये—सुषुप्ताद्यनुवृत्ताविद्यारूपतदवच्छिन्नत्वतत्प्रतिबिम्बत्वानां तदननुवृत्तिकर्तृत्वप्रमातृत्वादेश्च जीवनिष्ठत्वेन प्रतीयमानस्याज्ञानधर्मस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः, अज्ञानधर्माणां ज्ञानक्रियासंस्कारादीनां नित्यातीन्द्रियाणामात्मनि प्रतीत्यापत्तिः, बन्धरूपाविद्याया अधर्मस्य बन्धस्यात्मन्यप्रसङ्गश्च । द्वितीये—विच्छेददेरुपाधिकार्यस्य बिम्बेऽपि दृश्यमानस्यायोगः, मुखबिम्बत्वादेः ब्रह्मसार्वभ्युदेशानौपाधिकत्वापातश्च । स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा तु दर्पणघटादावदृश्यम् । एतेन—बुद्धेः प्रतिबिम्बपक्षपक्षपातित्वमपि—पराहृतम् । एवंच अज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वे संसार्यतिरिक्तस्य चेतनस्याभावेन बहुजीववादे नित्यमुक्तत्वावस्थादिश्रुति-

निर्विषयतापत्तिः, एकजीववादेऽपि जीवब्रह्मणोः संसारासंसारदिव्यवस्थाविरोधः, जीवब्रह्मणोः व्यावहारिकभेदस्याप्यभावेन “द्वा सुपणौ” “य आत्मनि तिष्ठन्” “अन्यश्च परमो राजन् तथा अन्यः पञ्चविंशकः” । “तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप” “शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते” “भेदव्यपदेशाच्चान्य” इति श्रुतिस्मृतिस्मृत्यविरोधोऽपि दुष्परिहरः । किंच चिन्मात्राज्ञानस्य स्वाभाविकत्वे आत्मवदनिवृत्त्यापत्तिः, औपाधिकत्वे उपाधिः स एव चेदात्माश्रयः, अन्यश्चेदन्योन्याश्रयः, चक्रकमनवस्थाचेति न चिन्मात्राश्रितमज्ञानमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

“आश्रयत्वविषयत्वभाणिनी”ति वचनानुसारेण शुद्धचिदाश्रितमेवाज्ञानमङ्गीकरणीयम् । नच विरोधः; वृत्तिप्रतिफलित-चैतन्यस्यैवाज्ञानविरोधितया वृत्त्यवच्छिन्नत्वेन चैतन्यविरोधित्वेऽपि चैतन्यत्वेन तद्विरोधित्वाभावात् । एतेन—मुख्याज्ञान-त्वमपि व्याख्यातमिति चैतन्यप्रकाशताप्युपपद्यत इति—सूचितम्; येन हि रूपेण विरोधित्वं न तेनैव रूपेण भासकत्व-मिति नियमः, सौरालोके स्वरूपतो तृणमूलादिभासके सूर्यकान्तावच्छेदेन तद्वाहकत्वदर्शनात् । येन स्वरूपतोऽज्ञानविरोधित्वा-भावेऽप्रकाशत्वापत्तिः । अविद्यायामनुपपत्तिमात्रस्यालंकारत्वे वादिवचसोऽनवसरापत्त्याऽविद्याश्रितस्याहंकारस्याविद्याश्रय-त्वस्य बाधितत्वेनाहमज्ञ इति प्रतीतेरैक्याध्यासनिबन्धनत्वस्याङ्गीकरणीयत्वेन धर्मिग्राहकमानविरोधोऽपि नावसरं लभते । एतेन—“निरिण्टो निरवद्य” इति श्रुतिरपि—व्याख्याता; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनावद्यस्य चिति कार्यकारित्वा-भावामिप्रायत्वात् “मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्” इत्यादिश्रुतिरप्यत एवोपपद्यते । “ज्ञाज्ञावि”ति श्रुतिस्तु जीवस्याज्ञानकार्ययोगित्वाभिप्राया न जीवाश्रितत्वे प्रमाणम् । एवंच जीवत्वस्याज्ञानाश्रयत्वावच्छेदकत्वे इतरेतराश्रयापत्त्या शुद्धचैतन्याश्रितैवाविद्याङ्गीकरणीया । चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थप्रकाशरूपत्वस्य सम्यग्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामा-नाधिकरण्यस्य चोपपत्त्या तदनुपपत्तिरपि नात्र प्रसरति । अविद्यापेक्षत्वेऽपि ज्ञातृत्वस्य तदनपेक्षत्वात् न चैतन्यज्ञातृत्व-पक्षेऽन्योन्याश्रयः । एवंच प्रसक्तप्रकाशत्वस्याज्ञानाश्रयत्वप्रयोजकत्वादध्यस्तज्ञातृत्वादिवतां शरीरादीनामपि नाज्ञानाश्रयत्व-प्रसङ्गः । तथाच यदवच्छेदेन ज्ञातृत्वं यथाविद्यावच्छेदेन न तदवच्छेदेन अविद्याश्रयत्वम्, अनवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाविद्या-श्रयत्वादिति न जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेशापत्तिः । सामानाधिकरण्यप्रतीतेरवच्छेदाशैक्यमादायोपपत्तेः । ब्रह्मणस्तु न संसा-रित्वापत्तिः; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादित्युक्तम् । श्रुतिबलाच्चितः प्रतिबिम्बे सिद्धे रूपवत् एव प्रतिबिम्ब इति व्याप्तेर-सिद्ध्या चैतन्यस्यापि प्रतिबिम्बतार्हत्वेन अध्यस्तस्य लौहिल्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनेनोपाधेः बिम्बसमसत्ताकलनियमा-सिद्ध्या फलोन्नेयस्य स्वच्छत्वस्याविद्यायामपि संभवेनाविद्यायाः उपाधिलयोगेन सर्वतः प्रसृतचिदाभिमुख्यस्यापि सत्त्वेन प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानपायेन उपाधिबिम्बसंबन्धानादित्वेन जीवाना-दित्वोपपत्त्या च बिम्बप्रतिबिम्बभावे बाधकाभावात् । अज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रान्तिहेतुरिति विशेषव्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य विवादविषयातिरिक्तेऽसंभवेन तयोपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तिबाधासंभवाच्च न दोषः । प्रतिबिम्बपक्ष-पातित्वं च प्रतिबिम्बेऽतिशयेन कार्यकरत्वमेवेति विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि स्थौल्यावभासकरत्वेन दर्पणादेरिव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूपकार्यकारित्वेनाविद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातिलोपपत्तेः । एवंच बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्येऽपि अविद्या-कृतविच्छेदेन ब्रह्मण एव नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिव्यवस्थोपपत्त्या बहुजीववादेन सार्वथादिश्रुतिरपि सावकाशेति सिद्धम् । एतेन—एकजीववादे “द्वा सुपणौ” “अन्यश्च परमो राजन्” “भेदव्यपदेशाच्च” इत्यादिश्रुतिस्मृति-सूत्राणि—व्याख्यातानि; तच्चेदमज्ञानं चिन्मात्रस्यौपाधिकमेव । भेदस्य स्वभेदकत्ववत् स्वाश्रयत्वेऽपि बाधकाभावादिति नानिवृत्तिप्रसङ्गः । वस्तुतस्तु—स्वाभाविकत्वेऽपि न क्षतिः; घटरूपस्य तत्प्रागभावस्य स्वाभाविकस्यापि निवृत्तिदर्शनेन स्वाभाविकत्वस्यानिवृत्तिप्रयोजकत्वाभावादिति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

अहमज्ञ इति धर्मिग्राहकमानेनाहंकार एवाज्ञानस्य साक्षात्संबन्धस्यावगतत्वादहंकारभिन्नाश्रयत्वं नाज्ञानस्य युक्तम्; नाहमज्ञ इति बाधज्ञानाभावेन तस्य भ्रान्तित्वायोगात् । “निरिण्ट” इत्यादिश्रुतिरपि शुद्धचैतन्ये अज्ञानाश्रयत्वं निराक-रोति । निरवद्यपदस्य कथंचिन्निर्दोषपरत्वेऽपि मोहमत्येतीत्यस्याविद्यासंबन्धनिराकरणेनैवोपपत्तेर्वर्णनीयत्वात् । “ज्ञाज्ञावि”ति श्रुतिरपि अहंकारस्यैव ज्ञातुरविद्यासंबन्धं बोधयति । नच—शुद्धचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेनोक्तश्रुतेः तत्कार्ययोगितयै-वोपपत्तिरिति—वाच्यम्; “ज्ञाज्ञावि”ति श्रुतिविरोधेन शुद्धचैतन्याश्रयत्वस्यासिद्धेः । “मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्”ति श्रुतिस्तु मायविषयमीश्वरं बोधयन्ती न चिन्मात्राश्रितत्वे प्रमाणम् । अज्ञानस्य भ्रान्तिसामा-नाधिकरण्यमप्यत एवोपपद्यते । शुद्धचैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वस्याप्यध्यस्तस्याङ्गीकारे तु अविद्यापेक्षं ज्ञातृत्वं ज्ञातृत्वसिद्ध्याधीना चिन्मात्रेऽज्ञानसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । यथाहि इदं रजतं न जानामीत्यनुभवबलादिदं मंशावच्छिन्नचैतन्यविषयकमप्य-

अथाज्ञानवादेऽविद्यायाः सर्वज्ञाश्रयत्वोपपत्तिः ।

ननु—शुद्धब्रह्मणः चिन्मात्रस्याज्ञानाश्रयत्वे सार्वश्यविरोधः । नच—विशिष्ट एव सार्वश्यम्; 'तुरीयं सर्वदृक् सदा' इति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वोक्तेरिति—चेन्न; सर्वदृक्पदेन सर्वेषां दृग्भूतं चैतन्यमित्युच्यते; न तु सर्वज्ञं तुरीयम्; तस्माद्विशिष्ट एव सार्वश्यम् । तच्चाविद्यां विना न संभवतीत्यविद्यासिद्धिः । तथाहि—सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, स्वरूपज्ञप्त्या वा । तत्र प्रमाणस्य भ्रान्तेश्चाविद्यामूल-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सर्वेषां दृक् सर्वभासिका । भूतमभिन्नम् । चैतन्यं शुद्धचित् । अविद्यामिति । शुद्ध इत्यादिः । प्रमाणतः वृत्तिज्ञानेन । प्रमाणस्य भाविगोचरानुमितिरूपाया अविद्यावृत्तेः । भ्रान्तेर्विद्यमानगोचराया नष्टगोचरस्मृतिरूपायाश्च ।

ज्ञानं प्रमात्राश्रितं, ननु इदमवच्छिन्नचैतन्याश्रितम्, एवं शुद्धचैतन्यविषयकमप्यज्ञानं प्रमात्राश्रितमित्येव युक्तम् । अज्ञानद्वैविध्यकल्पनादिनोपपत्तिवर्णनं तु न युक्तम्; प्रमाणाभावात् । रक्तघटे नष्टेऽपि शुक्लघटसत्त्वेन घटोऽस्तीतिवत् प्रमात्राश्रिताज्ञानसत्त्वेन बाधज्ञानानन्तरमपि न जानामीति प्रत्ययापत्तेश्च । अस्तु वा कथंचिच्चिन्मात्राश्रितत्वसिद्धिः, एवमपि जीवस्यैव ब्रह्मणोऽपि संसारित्वापत्तिः; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनोक्ताशङ्कापरिहारस्तु न संभवति । “रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवे”ति श्रुतेस्त्वदभिमतप्रतिबिम्बपरत्वाभावेन रूपवत् एव प्रतिबिम्ब इति व्याप्तेरव्यभिचारेण चैतन्यस्य प्रतिबिम्बतानर्हत्वेन कुसुमयोगेन स्फटिके लौहिल्यान्तरोत्पत्तेरेवाभ्युपगमेन लौहिल्याध्यासासिद्ध्याऽध्यस्तस्य कुत्रापि तदधिकसत्ताकोपाधौ प्रतिबिम्बाभावेनोपाधेः विषमसमसत्ताकलनियमेनास्वच्छाविद्यायाः चित्प्रतिबिम्बोपाधिलयायोगेन प्राच्यलप्रतीच्यलादिरूपमिमुख्यस्याभावेनापरिच्छिन्नाकाशादिपरिणामार्थं सर्वेषामप्यविद्यांशानां परिणामस्यावश्यकत्वेन प्रतिबिम्बापायापत्त्या उपाधिसंबन्धस्यानादित्वेऽविनाशापत्त्या जीवसादित्वापत्त्याच विम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात् दर्पणादिसंबन्धात् पूर्वकालीनस्य मुखमात्रस्यैव अविद्यासंबन्धात् पूर्वकालीनस्य चिन्मात्रस्याभावाच्च न चिन्मात्रमज्ञानाश्रितम् । विम्बे विम्बत्वादेरसाधारणस्योपाध्यधीनत्वेनातिशयेन कार्यकारिलरूपपक्षपातित्वस्यापि विम्बेऽपि सत्त्वेनोपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनापि नेश्वरसंसारितापरिहारः । एतेन—औपाधिकस्याज्ञानस्यैव चैतन्यसंबन्धः इति वचनमपि—पराहतम्; स्वस्यैव स्तोपाधिलासंभवात् । भेदस्य स्वभेदकत्वं तु नाङ्गीकृतमेवेति मन्तव्यमिति सर्वमनवयमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अभानापादकाज्ञानस्य स्वाश्रितविषयकज्ञानेनैव निवृत्त्या अहंकाराश्रितत्वे प्राथमिकाहं प्रत्ययैर्नैव तस्य निवृत्त्यापत्त्या संसारानुपलब्धिप्रसङ्गेन शुद्धचैतन्याश्रितत्वमेवाङ्गीकरणीयम् । नाहमज्ञ इति बाधज्ञानाभावेऽपि अहंब्रह्मास्मीति बाधज्ञानसत्त्वेनाहमज्ञ इति प्रत्ययो भ्रान्तिरूप एव । निरनिष्ट इति श्रुतिरपि अहंकाराद्यविद्याकार्यकार्ययोगमेव निषेधतीति न विरोधः । एतेन—ज्ञानाविति श्रुतिरपि—व्याख्याता । अतएव हि “मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरमि”ति श्रुत्युपपत्तिः । यदितु केवलस्येश्वरेणैव जीवेनाप्यभेदेन जीवस्यापि मायावित्वमिति विभाव्यते, तर्हि “मायया सन्निरुद्धः मूढ इति व्यवहरन्नास्ते माययैवे”त्यादि श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति मन्तव्यम् । शुक्लज्ञानस्य शुक्तौ कार्यजनकत्वानुरोधेन स्वसमानाश्रयज्ञाननिवर्त्यत्वानुरोधेन चेदमंशावच्छिन्नचित्तहमर्थावच्छिन्नचित्ति चाश्रयत्वावश्यकत्वेऽपि मूलाज्ञानस्य शुद्धचित्तत्वेव स्वकार्यजनकस्य स्वकार्यमनःपरिणामविशेषनिवर्त्यस्य च शुद्धचिदाश्रितत्वमेव युक्तम् । नच जीवस्यैव तस्यापि संसारित्वापत्तिः; “रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव” “अत एव चोपमा सूर्यकादिवदि”त्यादिश्रुतिसूत्रादिभिर्भ्रमहेतूनां विचित्रत्वेनावाधुपस्यापि चैतन्यस्य प्रतिबिम्बतार्हत्वेन बाधान्यथानुपपत्त्या स्फटिकलौहिल्यस्याध्यस्तत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वेन तस्य दर्पणे प्रतिबिम्बानुपपत्त्या विम्बासमानसत्ताकस्याप्युपाधित्वेनाविद्यायाश्चित्प्रतिबिम्बोपाधिलयायोगेन देशविशेषस्थलरूपमिमुख्यस्याननुगतत्वात्प्रतिबिम्बाप्रयोजकत्वेनाविद्यायां चिदाभिमुख्यस्यापि सत्त्वेन अनादिभावस्यापि रूपादेः भाट्टमते निवृत्त्यङ्गीकारेणोपाधिसंबन्धस्यानादित्वे बाधकाभावेन चूर्णादिरूपेण परिणतस्फटिकादेः प्रतिबिम्बविरोधित्वेऽपि पात्रान्तररूपेण परिणतस्य तदविरोधित्ववदाकाशादिरूपेण परिणताविद्याया अपि प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानुपायेन च विम्बप्रतिबिम्बभावसंभवेनोपाधेः प्रतिबिम्बमात्रपक्षपातित्वेन ब्रह्मणि संसारप्रसक्तेः । प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं च प्रतिबिम्बे विम्बविलक्षणकार्योत्पादकरूपत्वमिति विम्बे विम्बत्वादेः विलक्षणकार्यत्वाभावेन नोपाधिप्रयुक्तत्वं प्रयुक्तत्वेऽपि उपाधिना प्रतिबिम्ब इव विम्बे न संसारकार्यमुत्पाद्यते इति श्रुत्यनुभवबलात् सिद्ध्यतीति न किंचिदनुपपन्नमिति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे अज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः ।

त्वात्, असङ्गस्वरूपज्ञप्तेश्चाविद्यां विना विषयासङ्गतेः । तदुक्तम्—‘स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं विनाऽविद्यासंबन्धं नैव सिध्यति ॥’ इति । नच—स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः कालाद्यसंबन्धेऽसत्त्वापातेन स्वतःसंबन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन चाविद्ययेव स्वत एवान्येन संबन्धो वक्तव्य इति—वाच्यम्; अविद्यासंबन्धस्याप्याविद्यकत्वेनाविद्ययेवेति दृष्टान्तानुपपत्तेः । स्वतः परतो वा कालादिसंबन्धेन सर्वसंबन्धेन चासद्वैलक्षण्यसर्वगतत्वयोरुपपत्तेर्न तयोरर्थं स्वतः कालसंबन्ध-सर्वसंबन्धापेक्षा । असङ्गत्वश्रुतिरपि स्वतः सङ्गाभावविषयत्वेनोपपद्यते । अत एव—‘अज्ञताऽखिलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चने’ति—निरस्तम् । तस्माच्चिन्मात्राश्रितैवाविद्या ॥ इत्यज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रमाणाजन्याया अविद्यावृत्तेः । प्रमाणैः अविद्यावृत्तिभिः । वस्तुस्थितिरियमुक्ता । वस्तुतो अविद्याश्रयत्वेन न सर्वज्ञत्वस्य विरोधः, किंतु यं प्रत्यावारिका अविद्या तत्र न सार्वज्ञ्यम् । नच जीवान्यं प्रत्यावारिकेति ध्येयम् । संवेत्तुरिति वृजन्तम् । यत्तु ताच्छीलिकतृन्नन्तमिति । तन्न; कैवल्ये विषयवेत्तृत्वाभावेनाविषयावेदनस्वभावत्वात्, ज्ञानार्थकविदेः सेदकत्वेन वेदितृपदस्यैव साधुत्वाच्च इति लघुचन्द्रिकायां सर्वज्ञस्याज्ञानाश्रयत्वोपपत्तिः ॥

अथ अज्ञानवादे सर्वज्ञस्याज्ञानाश्रयत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

शुद्धचैतन्यस्य सर्वज्ञत्वादपि नाज्ञानाश्रयत्वम् । सर्वं हि यो विजानाति न कुत्रापि तदज्ञता । नहि यो यद्विजानाति स तत्राज्ञानवान् भवेत् । विम्बचैतन्यमेव सर्वज्ञम् । तच्च नाज्ञानाश्रयमिति न विरोध इति तु न शङ्क्यम्, “तुरीयं सर्वदृक् सदे”ति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वश्रवणात् । एतेन—स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं विनाऽविद्यासंबन्धं नोपपद्यते, इति वचनमपि—पराहतम् । नच—स्वरूपज्ञस्यैव सर्वज्ञत्वं विवक्षितम्, स्वरूपज्ञप्तेश्च विषयसंबन्धोऽविद्याद्वारैवेति स्वरूपज्ञस्या सर्वज्ञत्वमविद्यासंबन्धमपेक्षते इति—वाच्यम्; स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः सर्वकालदेशाद्यसंबन्धेऽसत्त्वापातेन स्वतः सर्वसंबन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन चाविद्येवान्येनापि स्वत एव संबन्धोपपत्तेः । तदुक्तम्—अज्ञताऽखिलसंवेत्तुः घटते न कथंचनेति—इति वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

सविशेषमेव सर्वज्ञम्, “तुरीयं सर्वदृक्सदेति श्रुतिरपि तुरीयस्य सर्वदृग्रूपत्वं चैतन्यत्वमेव बोधयति, नतु सर्वज्ञत्वम् । तच्च अविद्यां विना न संभवतीत्यविद्यासंबन्धसिद्धिः । तदिदमुक्तं—स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं विनाऽविद्यासंबन्धं नैव सिध्यति”ति । परतः कालादिसंबन्धेनाप्यसत्त्ववारणसंभवेनाविद्यासंबन्धस्याविद्यकत्वेन च न स्वत एव चैतन्यस्य सर्वसंबन्धः; असङ्गत्वश्रुतिविरोधात् । एतेन—“अज्ञताऽखिलसंवेत्तुः घटते न कथंचने”ति वचनमपि पराहतम् इति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

“तुरीयं सर्वदृक्सदे”त्यनेन शुद्धस्य सर्वज्ञत्वमेवोच्यते, नतु चैतन्यरूपत्वम्; सर्वपदवैयर्थ्यापत्तेः तुरीयं प्रति सर्वस्य अभावाच्चेति सर्वज्ञत्वस्याविद्याश्रयत्वस्यच परस्परविरुद्धत्वाच्च सर्वज्ञं शुद्धं चैतन्यमविद्याश्रय इति प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

सर्वेषामिति पञ्चार्थोऽभेद एवेति सर्वाभिन्नचैतन्यरूपमेव तुरीयं नतु सद्वितीयमित्यत्रैव तात्पर्येण तुरीयसर्वज्ञत्वे उक्तश्रुतेः प्रमाणत्वाभावात् विशिष्टस्यैव सर्वज्ञत्वात् तस्य चाविद्यापेक्षत्वात्सर्वज्ञस्याप्यविद्याश्रयत्वम् । वस्तुतस्तु—यं प्रत्यविद्याऽऽवारिका, तस्यैव सर्वज्ञत्वं विरुद्धं नत्वविद्याश्रयस्येति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वेऽपि नाविद्याश्रयत्वविरोध इति—विवेचयन्ति ॥

इत्यज्ञानवादे सर्वज्ञस्याज्ञानाश्रयत्वोपपत्तिः ।

अथाज्ञानवादेऽविद्याया वाचस्पतिसंमतजीवाश्रयत्वोपपत्तिः ।

वाचस्पतिमिश्रेस्तु जीवाश्रितैवाऽविद्या निगद्यते । ननु—जीवाश्रिताऽविद्या तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यं वा, तदवच्छिन्नचैतन्यं वा, तत्कल्पितभेदं वा जीवः; तथाचान्योन्याश्रय इति—चेन्न; किमयमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ, ज्ञप्तौ, स्थितौ वा । नाद्यः; अनादित्वादुभयोः । न द्वितीयः; अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चित्तेः स्वप्रकाशत्वेन तदभास्यत्वात् । न तृतीयः; स किं परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात् । तन्न; उभयस्याप्यसिद्धेः, अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चित्ति अविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावात् । नचैवमन्योन्याधीनताक्षतिः; समानकालीनयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रेण तदुपपत्तेः, घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिव प्रमाणप्रमेययोरिव च । तदुक्तं—‘स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्भूतं घटादिकम् । तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः’ इति । एतेन—यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्रप्रतिबन्धकत्वेनान्योन्यापेक्षताया अदोषत्वं, तदा चैत्रमैत्रादेरन्योन्यारोहणाद्यापत्तिरिति—निरस्तम्; परस्परमाश्रयाश्रयिभावस्यानङ्गीकारात् । नचेश्वरजीवयोरीश्वरजीवकल्पितत्वे आत्माश्रयः, जीवेशकल्पितत्वे चान्योन्याश्रयः, न च शुद्धा चित् कल्पिका, तस्या अज्ञानाभावादिति—वाच्यम्; जीवाश्रिताया अविद्याया एव जीवेशकल्पकत्वेनैतद्विकल्पानवकाशात् । तस्माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्कल्पितभेदं तथा कल्पित ईशस्य भेदो यत्र तच्चैतन्यम् । चिद्भास्यत्वेऽपि साक्षिरूपजीवभास्यत्वेऽपि चित्तेः जीवस्य । तदभास्यत्वात् अविद्याभानरूपसाक्षिजन्यविषयभानाविषयत्वात् । चिदाश्रयत्वे जीवाश्रितत्वे । चिदधीनस्थितिकत्वे जीवनियमितस्थितिकत्वे । जीवान्यावृत्तित्वे इति यावत् । तदधीनस्थितिकत्वयोः तदन्यावृत्तित्वयोः । जीवस्य शुद्धचिद्वृत्तिवाङ्मात्रावृत्तित्वमिति भावः । अन्योन्याधीनता अविद्यानाशस्य जीवनाशव्यापकत्वेनाविद्याया जीवोपाधित्वेन वा । तत्राद्यमाह—समानकालीनयोरिति । व्याप्यव्यापकभावापन्नयोरित्यर्थः । यदा यदा अविद्या, तदा तदाऽवश्यं जीव इति व्याप्तावपि जीवनाशस्याविद्यानाशव्याप्यतासंभवः; सा च न क्षतिकरीति भावः । द्वितीयेऽपि न क्षतिरित्याशयेनाह—अवच्छेद्यावच्छेदकेति । उपहितोपाधीत्यर्थः । स्वोपहितेऽपि जीवेऽविद्याया आश्रयत्वं संभवति; स्वस्य स्वाश्रयत्वं प्रत्युपाधित्वेऽप्यविशेषणत्वेन स्वाश्रयत्वास्वीकारादिति भावः । देशे प्रदेशे । स्वावच्छिन्न इति यावत् । अविद्याया एवेत्येवकारो हेत्वन्तरव्यवच्छेदार्थः । नैतदिति । जीवेशौ प्रति कल्पकत्वं कल्पनाहेतुत्वम्, जनकत्वं, द्रष्टृत्वं वा । आद्ये अविद्यावृत्तिरूपकल्पनां प्रति अविद्याया एव दोषतया उपादानतया च हेतुत्वम् । द्वितीयं तु नाभ्युपेयते; जीवेशयोरनादित्वात् । तृतीये तु उभयोरपि स्वरूपतः स्वप्रकाशत्वम्, न तु दृश्यत्वम्; अविद्याविषयत्वेन स्वस्याविद्याश्रयत्वादिना, जीवादिद्रष्टृत्वं त्वीशे स्वरूपचैतन्येन, न त्वविद्यावृत्त्या; ईशस्याविद्यानाश्रयत्वेऽपि तदुपपद्यते, जीवे त्वविद्याविषयत्वाश्रयत्वादिना ईशजीवादिद्रष्टृत्वमविद्यावृत्त्यादिनैवेति नानुपपत्तिरिति भावः । विषयतासंबन्धेनाविद्या प्रपञ्चं प्रति निमित्तम्, न तूपादानम्; तेन ब्रह्मणः प्रपञ्चाधारत्वोपपत्तिः । जीव एव वा प्रपञ्चाधारः, न ब्रह्म; तेन जीवाविद्ययोरेव प्रपञ्चोपादानत्वम् । जीवब्रह्मणोर्वास्तवाभेदात् ब्रह्मणो जगदुपादानत्वादिश्रुत्युपपत्तिः । यद्वा—जगत्कारणाविद्याविषयत्वादिकमेव ब्रह्मलक्षणं यतो वेत्यादिश्रुत्यर्थः । अत एवाविद्यैव शुद्धब्रह्माश्रिता जगदुपादानं, न तु ब्रह्म जीवो वेति पक्षे तथैव स्वीक्रियते ॥ इति लघुचन्द्रिकाया-मज्ञानस्य जीवनिष्ठतोपपत्तिः ॥

अथ वाचस्पतिसंमतजीवाश्रिताज्ञानपक्षोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

वाचस्पतिसंमतजीवाश्रिताज्ञानवादेऽपि न युक्तः; तत्र जीवशब्देनाविद्याप्रतिबिम्बितस्य तदवच्छिन्नस्य तत्कल्पितभेदवतो वा चैतन्यस्य विवक्षणे अन्योन्याश्रयात् । व्यक्तिभेदाभावात् न वीजाङ्कुरन्यायेन परिहारः । घटाकाशसिद्धिं विनापि घटसिद्धिर्जीवसिद्धिं विना अविद्यासिद्धेरभावात् स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्ब्रह्मादिकम् । तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदा इति वचनमपि पराहतम् । नच—अन्योन्याश्रयस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा जीवाज्ञानयोरनादित्वेनाज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चित्तोऽज्ञानभास्यत्वाभावेन चादोषत्वमिति—वाच्यम्; सर्वथा तदनपेक्षस्य तदधीनत्वानुपपत्त्या परस्परप्रयुक्तौ परस्परापेक्षया आवश्यकत्वेन तत्प्रतिबन्धेनैव तदोषत्वनिर्वाहात् । एवंच ॥

अथाज्ञानवादेऽज्ञानविषयनिरूपणम् ।

अविद्याया विषयोऽपि सुवचः । तथाहि—चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः; तस्याकल्पितत्वेनान्योन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तेः, स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसंभवाच्च, नान्यत्; तस्याज्ञानकल्पितत्वात्, अप्रसक्तप्रकाशत्वेनावरणकृत्याभावाच्च । ननु—किमावरणकृत्यं (१) सिद्धप्रकाशलोपो वा, (२) असिद्धप्रकाशानुत्पत्तिर्वा, (३) सतः प्रकाशस्य विषयासंबन्धो वा, (४) प्राकट्याख्यकार्यप्रतिबन्धो वा, (५) नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारो वा, (६) अस्ति प्रकाशत इति व्यवहाराभावो वा, (७) नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्वं वा, (८) अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा । नाद्यद्वितीयौ; स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वेन तल्लोपानुत्पत्त्योरसंभवात्, तदन्यस्य च स्वप्रकाशे तस्मिन्ननपेक्षितत्वात् । न तृतीयः; ज्ञानस्य विषयसंबन्धैकस्वभावत्वात्, स्वयं ज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते संबन्धानपेक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अन्योन्याश्रयादीति । अज्ञानजन्यस्याज्ञानाश्रयत्वे अन्योन्याश्रयः, मनोऽवच्छिन्नचिदादेरज्ञानविषयत्वे तत्प्रकाशानुपपत्त्यादिरिति भावः । अज्ञानकल्पितत्वात् अज्ञानप्रयुक्तत्वात् । अज्ञाननाशनाशयत्वादिति यावत् । तथाचाज्ञानस्याभिध्याविषयकज्ञाननिर्वर्त्यत्वादभिध्याविषयकत्वमावश्यकमिति भावः । तल्लोपानुत्पत्त्योः तल्लोपतदुत्पत्त्यभावयोः । असंभवात् अप्रसिद्धेः । त्वन्मते त्वदभ्युपगते शुद्धचैतन्ये । व्यवहाराभावेन व्यवहाररूपकृत्यस्याभावेन । प्रसङ्गादिति । कृत्यसत्त्वादिति शेषः । अभिज्ञादीति । वृत्तिज्ञानाभिलाषादीत्यर्थः । नास्ति त्वमसत्त्वापादकाज्ञानविशिष्टा चित् । अप्रकाशः अभानापादकाज्ञानविशिष्टा चित् । ते च नास्ति न प्रकाशत इत्याकारकाविद्यावृत्तिविषयौ । अस्ति प्रकाशत इति । उक्ताज्ञानाभ्यां शून्यचितावस्तिप्रकाशौ अस्ति प्रकाशत इत्याकारकवृत्तेर्विषयौ । साचोक्ताज्ञानविशिष्टचिदुपलब्ध्यभावकरणिका । तत्रास्मन्मते यद्यपि प्रतियोग्युपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावसत्त्वादभावधीप्रसङ्गेन प्रतियोग्युपलब्धेः कारणगतशक्तिविघटकस्वरूपस्य प्रतिबन्धकत्वस्य स्वीकाराद्व्याप्यभावविशिष्टबोधे घटाद्युपलब्धेरुक्तप्रतिबन्धकत्वम्; तथापि प्रातीतिकस्याज्ञानादेरभावविशिष्टबोधे अज्ञानादिसंबन्धस्यैवोक्तप्रतिबन्धकत्वसंभवात् अज्ञानाभावोपहितचिदाकारवृत्तावज्ञानोपहितचित् उक्तप्रतिबन्धकत्वादुक्तवृत्त्यभावस्याज्ञानचित्संबन्धरूपावरणप्रयुक्तत्वात् उक्तावरणकृत्यत्वमव्याहतम् । नच—उक्तवृत्तेर्नाविद्यावृत्तित्वम्; ब्रह्म भातीति व्यवहारकाले अविद्याया अभावात्, नाप्यनुपलब्धत्वम्; प्रतियोग्यनुपलब्धेरहेतुत्वस्यानुपदमुक्तत्वात्, प्रतिबन्धकस्य सिद्धान्ते कारणशक्तिविघटकत्वेऽपि तदभावस्य कारणत्वास्वीकारादिति—वाच्यम्; प्रतियोग्युपलब्ध्यभावाजन्यापि मनोवृत्तिरुक्ताभावकाली-

यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्रप्रतिबन्धे न दोषता । तर्हि स्याच्चैत्रमैत्रादेरन्योन्यमधिरोहणम् । किंच—को जीवकल्पकः इति विवेचनीयम् । तत्र न तावान् जीवः, आत्माश्रयात् । नापीश्वरः; तस्याज्ञानशून्यत्वात् । एवंच सर्वथा जीवाश्रिताज्ञानपक्षो न युक्त इति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

जीवाश्रिताज्ञानपक्षोऽपि युक्त एव; नचान्योन्याश्रयः; तस्योत्पत्तौ ज्ञप्तिविव चाज्ञानस्य चिदाश्रयत्वचिदधीनस्थितिकल्ययोरपि चितोऽज्ञानाश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावेन स्थितावप्यदोषत्वात् । घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिव समानकालीनयोरवच्छेदकभावेनापि परस्पराधीनता निर्वहल्येव । चैत्रमैत्रादेः परस्पराश्रयाश्रयिभावानङ्गीकाराच्च परस्परोहणाद्यापत्तिः । जीवाश्रिताविद्याया एव जीवेशादिकल्पकत्वेन नोक्तविकल्पाद्यवसर इति सर्वमनवयमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नात्राद्वैतसिद्धिराद्धान्तानखण्डयन्निति तु वयमपि तत्संग्रहार्थं न प्रवर्तामहे ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारा अपि—

यद्यपि तरङ्गिणीखण्डनार्थं न विशेषमवतारयन्ति स्म; तथापि अद्वैतसिद्धिवाक्यान्धेव कुत्रचित् विवृण्वन्ति स्म, तत्तु नाऽस्माकमिदानीमवसरप्राप्तमिति तु विरम्यते ॥

इत्यज्ञानवादे जीवाश्रिताज्ञानवादोपपत्तिः ।

णाच्च । नापि चतुर्थः; त्वन्मते चैतन्यातिरिक्तस्य तस्याभावात् । नापि पञ्चमः; सुषुप्तौ व्यवहाराभावे-
नानावरणापातात् । नापि षष्ठः; व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वात्' वृत्तेश्च
मोक्षेऽप्यसत्त्वात् । अभिलपनरूपत्वे मोक्षेऽप्यावरणप्रसङ्गात् । नापि सप्तमाष्टमौ; तयोरप्यारोपि-
तत्वेनावरणं विनायोगादिति—चेन्न; नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहार एवाभिज्ञादिसाधारणः; अस्ति
प्रकाशत इत्येतद्व्यवहाराभावो वा आवरणकृत्यम् । आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसंबन्धरूपा सुषु-
प्त्यादिसाधारणी आब्रह्मज्ञानमवतिष्ठते । तेन सुषुप्तिकाले नानावरणं, मोक्षकाले च नावरणम् । यदुक्त-
मस्याप्यारोपितत्वेनावरणसापेक्षत्वमिति । तन्न; अज्ञानसंबन्धरूपस्यावरणस्यानादित्वेन चित्प्रकाश्य-
त्वेन च उत्पत्तौ ज्ञप्तौ स्थितौ वा खानपेक्षणात् । ननु—अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा व्यवहारेऽपि
अवस्थात्रयेऽप्यसन्दिग्धाविपर्यस्तत्वेन प्रकाशमानात्मरूपे अध्यासाधिष्ठाने सुखादिज्ञानरूपे चिन्मात्रे
तदभावेन तत्कल्पयोर्योग्यत्वायोग्यत्वयोरभाव इति—चेन्न; शुद्धरूपायाश्चितः प्रकाशमानत्वेऽपि
तस्या एव परिपूर्णाद्याकारेणाप्रकाशमानत्वात्, तदर्थं तस्या एवावरणकल्पनात्, परिपूर्णाद्याकारस्य
मोक्षदशानुवृत्तत्वेन शुद्धचिन्मात्रत्वात् । नच—निर्विभागचितः कथमेवं घटत इति—वाच्यम्; आव-
रणमहिम्नैव परिपूर्णं ब्रह्म नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारः अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारप्रतिबन्धश्च,
अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानता चाविरुद्धेति ॥ अत एव—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व-
रूपस्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वायोग्यत्वे कथमिदानीमपि ब्रह्मणि स्याताम्? नच—अज्ञानादिमत्त्वे-
नापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण च तदयोग्यत्वमित्यविरोध इति—वाच्यम्; स्वरूपस्याप्रकाशत्वा-
दिति—निरस्तम्; परिपूर्णाद्याकारेण इदानीं व्यवहाराभावेऽपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानपायात् ।
नचैवं—सुखादेरज्ञानावच्छिन्नचित्प्रकाश्यत्वे 'सुखादिकं न प्रकाशत' इत्यनुभवापातेन सुखादिकं
प्रकाशत इत्यनुभवार्थं चितोऽज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशोऽङ्गीकरणीय इति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः, अनुक्तो-
पालम्भनत्वात् । न ह्यज्ञानावच्छेदेन चित् प्रकाशत इति ब्रूमः । अतएवच—नित्यातीन्द्रियेऽप्यज्ञानाव-
च्छेदकतया अपरोक्षव्यवहारेण तत्रापि स्वप्रकाशापत्तिरिति—निरस्तम्; अज्ञानानवच्छेदेन तादृशस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नकारणजन्येत्यनुपलब्धस्वरूपजातेस्तत्र संभवात्तादृशजात्यवच्छिन्नं प्रत्युपलब्ध्यविघटितकारणशक्तेः प्रयोजकत्वेनानुप-
लब्धिहेतुकत्वव्यवहारस्यापि संभवात् । उक्तवृत्तेरप्रमात्वस्वीकारे त्वविद्यावृत्तित्वमपि संभवति; आवरणशक्तिनाशेऽपि
जीवन्मुक्तौ विक्षेपशक्त्या अविद्यासंस्कारेण वा तत्संभवात् । ननु—अस्तीति व्यवहारे चिन्मात्रमेव विषयोऽस्तु,
भातीति व्यवहारे तु तस्य विषयत्वे अस्तीति व्यवहारस्यापि तत्समानविषयकतया तत्राप्यभानापादकाज्ञानसंबन्धस्य
प्रतिबन्धकत्वापत्तेरुक्ताज्ञानाभावविशिष्टा चिदेव भातीति व्यवहारविषयोऽस्तु इति—चेन्न; तथासत्यकृतसंसाध्यापाद-
काज्ञाने प्रतिबन्धकत्वस्य कल्पनायां गौरवापत्तेः, उक्ताज्ञानाभावविशिष्टचित्, तद्विषयत्वे तु प्रातीतिकस्य सर्वस्य
स्वाभावविशिष्टविषयकानुपलब्ध्यज्ञाने प्रतिबन्धकतायाः कृतत्वेनागौरवमिति ध्येयम् । अतएव नास्तीत्यादिव्यवहा-
रेऽप्युक्ताज्ञानमेव विषयः, न त्वन्यत्; उक्ताज्ञानविषयकापरोक्षज्ञाने उक्ताज्ञानहेतुत्वस्य कृतत्वात्, अन्यविषयकत्वे
तत्र तद्धेतुत्वस्य कल्प्यत्वात् । एवंच व्यवहाराभावो वेत्यत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः । तूलाज्ञानास्वीकारपक्षे तु वृत्त्य-
विषयत्वसमानाधिकरणं यदज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं तदभाववद्विषयतादात्म्यापन्ना चिदेवास्तित्वादिरूपेति बोध्यम् ।
नानावरणमिति । सुषुप्तौ नास्तीत्यादिवृत्त्यभावस्तु विशिष्टधीकारणस्याहंकारस्याभावादिति भावः । मोक्षकाले
चेति । अस्तीत्यादिवृत्त्यभावः न तदावरणात्, किंत्वहंकाराभावात् । अतएव जीवन्मुक्तस्य बाधिताहंकारानुवृत्त्या
उक्तवृत्तिर्भवत्येव । अस्य आवरणस्य । चित्प्रकाश्यत्वेन च चिन्निष्ठत्वेन च । ज्ञप्ताविति । चिद्रूपा ज्ञप्तिः न कारण-
सापेक्षा, अविद्यावृत्तिरूपा तु तत्सापेक्षापि न शक्तिकरीति भावः । योग्यत्वायोग्यत्वयोः नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्य-
त्वास्तीत्यादिव्यवहाराभावयोग्यत्वयोः । निर्विभागेति । पूर्णापूर्णभेदशून्येत्यर्थः । महिम्ना अनुभवबलेन । प्रतिबन्धः
अभावः । अविरुद्धेति । वस्तुतो भेदाभावेऽपि पूर्णानन्दचिद्रूपयोर्भेदः अनादिः स्वीक्रियते; अन्यथा आवरणानावरण-
योरेकत्रानुपपत्तेः, तथाच न विरोध इति भावः । इदं परमतमनुसृत्योक्तम् । प्रकाशमानेऽपि शुद्धात्मन्यज्ञानतद-
भावविषयोक्तव्यवहाराभावाभावयोरविरोधश्चरमवृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वेन चित्प्रकाशस्य तदविरोधित्वादिति त्वसकृदु-
क्तम्, अज्ञानकाले आत्मास्तीति व्यवहारस्तु विशिष्टात्मविषयक इति बोध्यम् । अपरोक्षव्यवहारेति । भातीति
व्यवहारेत्यर्थः । व्यवहाराभावे भातीति व्यवहाराभावे । योग्यत्वेति । अभानापादकाज्ञाननाशकवृत्तेः कदाचिद्विष-
यत्वैत्यर्थः । अज्ञानानवच्छेदेनाज्ञानान्वावच्छेदेनापि । नित्येति । परमाद्यु अज्ञानं भातीति व्यवहारयोग्यत्वस्य

व्यवहारस्योक्तेः । ननु—प्रदीपावारकघटादिवच्चैतन्यावारकाविद्या चैतन्यस्यान्यसंबन्धं प्रतिवध्नातु अन्यं प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव चैतन्ये उक्तयोग्यत्वरूपप्रकाशविरोधिनी सा, न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशते; तमःसंबन्धापातात्, नच—कल्पितभेदं जीवचैतन्यं प्रति शुद्धचैतन्यमाच्छादयतीति—वाच्यम्; आवरणं विना भेदकल्पनस्यैवायोगात् । यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाच्चेति—चेन्न; कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृतत्वात् । नच—भेदकल्पनस्यावरणोत्तरकालीनत्वादिदमयुक्तमिति—वाच्यम्; भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परमानन्तर्याभावात् । यच्चोक्तं—यो मोक्षे भावी चैतन्यं प्रति प्रकाशः तदभाव इदानीमज्ञानसाध्य—इति । तन्न; मोक्षे जन्यस्य चैतन्यप्रकाशस्याभावात्, कल्पितभेदापगमे शुद्धचैतन्यं प्रत्येव प्रकाशस्य जीवं प्रत्यपि संभवात् । यच्चोक्तं—प्रकाशस्वरूपे चैतन्ये कथमज्ञानम्? न ह्यालोके तमः—इति । तन्न; अज्ञानतमसोर्विरोधितायामनुभवसिद्धिविशेषात् । तथाहि—‘त्वदुक्तमर्थं न जानामी’ति प्रकाशमाने वस्तुनि अज्ञानस्यानुभवात् स्वरूपचैतन्यं साक्षी वा नाज्ञानविरोधिं, तमसस्तु आलोके सत्यनुभवात् आलोकमात्रं तद्विरोधि । वस्तुतस्तु—अवतमसे विषयप्रकाशकालोकसहभावदर्शनेन तमस्यपि नालोकमात्रं विरोधि । नच—‘त्वदुक्तार्थो न प्रकाशत’ इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमाने अज्ञानम्, सुखादिस्फुरणं भासमाने न प्रकाशत इत्यनुभवात् कथं तत्राज्ञानमिति—वाच्यम्; सुखादिस्फुरणं न प्रकाशत इत्यनुभवाभावेऽपि अनवच्छिन्नाकारेण न प्रकाशत इत्यनुभवात्, आवारकाज्ञानस्य तत्राप्यावश्यकत्वात् । यदपि—‘त्वदुक्तमर्थं न जानामी’त्यत्र भासमाने नाज्ञानम्, किंतु गुहास्थं तमश्छन्नमिति वत् त्वदुक्तं न जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैव विशेषाज्ञानमनुभूयते, न हि परचित्स्थमज्ञानं प्रातिस्विकरूपेणानुद्यते, एवंच तद्विशेषसंशयं प्रति तत्सामान्यनिश्चय इव तद्विशेषावच्छिन्नाज्ञानज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः; तथा दर्शनात्, न हि विशेषे ज्ञाते तदज्ञानधीर्दृष्टा, अवच्छेदकज्ञानस्य ह्यवच्छिन्नज्ञानहेतुतापि दर्शनादेव कल्प्या, नचातिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषभावस्यैव नियामकत्वात्—इति । तन्न, अज्ञानं हि विशेषावच्छिन्नतया भासते, सामान्यावच्छिन्नतया वा । आद्ये विशेषे भासमानत्वमागतमेव । न हि विशेषमभासयन्विशेषाज्ञानमित्यवभासयति । तथाच सामान्यनिश्चय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

फलव्याप्यत्वाभावरूपावेद्यत्वस्य च सत्त्वात्तत्रापि स्वप्रकाशत्वापत्तिरिति भावः । अज्ञानानवच्छेदेनेति । अज्ञानादिविषयतया भातीति व्यवहारयोग्यत्वव्यावृत्तत्वेनेत्यर्थः । तादृशेति । भातीत्याकारेणेत्यर्थः । उक्तवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्येति समुदायार्थः । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्; फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टस्याज्ञानानवच्छेदेन भातीति व्यवहारयोग्यत्वस्य सुखादावपि सत्त्वेन स्वप्रकाशत्वापत्तेः । ननु नित्यप्रकाशो न जीवं प्रति प्रसक्तः; भेदापगमे शुद्धं प्रत्येव तस्य दृष्टत्वात्, तथाच जीवं प्रत्यावरणकल्पना व्यर्था, तत्राह—कल्पितभेदापगम इति । जीवं प्रतीति । इदानीमित्यादिः । तथाच शुद्धं प्रति प्रसक्त्या तदभिन्नमीशं प्रतीव जीवं प्रत्यपि सेति भावः । अनवच्छिन्नेति । सुखाद्यनवच्छिन्नेत्यर्थः । प्रातिस्विकेति । विशेषेत्यर्थः । मानाभावेनेति । विशेषज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिस्तु न मानम्; सामान्यज्ञानस्य विशेषाज्ञानधीहेतुत्ववद्विशेषज्ञानस्यैव सामान्याज्ञाननाशकत्वसंभवात् । सामान्यावच्छिन्नतया विशेषाज्ञानबुद्धौ सामान्यस्यावच्छेदकतया भासमानस्योक्ताज्ञाने विषयतावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते, न त्वाश्रयतावच्छेदकत्वम्; विशेषस्य विषयतावच्छेदकत्वेन कुत्राप्यकृत्स्नत्वात् । तथाच विशेषावच्छिन्नविषयताकाज्ञानाप्रसिद्धेर्विशेषज्ञानस्योक्ताज्ञान एव नाशकत्वान्नोक्तानुपपत्तिरिति भावः । अवच्छेदकतया द्वेषादिविशेषणतया । तद्विषयत्वात् विशिष्टविषयकत्वात् । किंचित् द्वेषादिकम् । साध्यतया उद्देश्यतया । अवच्छेदकतया उद्देश्यतावच्छेदकतया । स्वातन्त्र्येण शुक्ल्याद्यंशे रजतादिकम् । ज्ञानावच्छेदकतया ज्ञानविशेषणविषयत्वांशे विशेषणतया । एवं दृष्टान्ताभावे । ननु—यथा द्वेषादौ मदीयत्वं गृहीतमपीच्छायां न भाति, यथावा सत्यत्वेनास्माभिर्गृह्यमाणोऽपि भ्रमविषयो नेशेन सत्यतया गृह्यते, यथावा विशेषरूपैरीशस्य सर्वज्ञानं विशेषरूपविषयकत्वेन नास्माभिर्गृह्यते, तथा विशेषमगृहीत्वैव सामान्यावच्छिन्नतया विशेषाज्ञानं गृह्यतामिति—चेन्न; विषयमगृह्यता ज्ञानेन विषयिणो ग्रहीतुमशक्यत्वात् । नहि यस्य ज्ञानस्य यत् प्रत्यक्षं, तत् तद्विषयाविषयकं दृष्टम् । तदुक्तं मणौ—‘विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्, अतो ज्ञानवित्तिवेषो विषय’ इति । तथाच कंचिद्विषयं गृह्यन् कंचिच्चागृह्यन् भ्रमस्य ग्रहो युक्तः, ईशस्य विशेषमात्रविषयकं त्वज्ञानं विशेषाविषयकेण साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यम् । वक्तव्यत्वेनेति । अज्ञानस्याज्ञातत्वाभावेन प्रकाशसंभवेऽपि तदवच्छेदकस्या-

जनितोऽपि संशयो विशेषमवगाहते यथा, तथा सामान्यज्ञानजनितोऽप्यज्ञानप्रत्ययो विशेषं विषयी-
करिष्यतीति कुतो भासमाने नाज्ञानमिति । न द्वितीयः; सामान्यज्ञानेन तदवच्छिन्नतयैव गृहीतस्या-
ज्ञानस्य विशेषसंबन्धित्वे मानाभावेन भासमाने सामान्य एवाज्ञानमवगतम् । वस्तुनः प्रतीतिप्रमाण-
कत्वात् । तथाच परचित्तस्थं यथा अनुद्यते, तथा ज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति सिद्धम् । ननु—यथा
द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य नेष्टत्वम्, ईश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वेऽपि न भ्रमविषयज्ञत्वम्; अस्मदादीनामीश्वर-
सार्वभ्यज्ञानेऽपि न सर्वज्ञत्वम्, एवमज्ञातज्ञानाभावेऽपि अज्ञानज्ञानमिति—चेन्न; दृष्टान्तासंप्रति-
पत्तेः । तथाहि—इच्छा तावज्ज्ञानसमानविषया, ज्ञानं चावच्छेदकतया द्विष्टमपि विषयीकरोतीति
इच्छाया अप्यवच्छेदकतया तद्विषयत्वात् । नहीच्छा इष्टतावच्छेदकाविषया भवति । एतावानेव
विशेषः । किञ्चित् साध्यतया विषयीकरोति, किञ्चित् अवच्छेदकतया । ईश्वरोऽपि भ्रमविषयमगृहीत्वा
भ्रमं न गृह्णाति । भ्रमो हि भ्रमत्वेन ग्राह्यः । भ्रमत्वं च रजताभाववति रजतख्यातित्वं वा, असत्ख्या-
तित्वं वा, अनिर्वचनीयख्यातित्वं वा । तस्मिन् गृह्यमाणे सर्वथा विषयग्रहः । इयांस्तु विशेषः । यत्
भ्रान्तः स्वातन्त्र्येण गृह्णाति, ईश्वरस्तु तज्ज्ञानावच्छेदकतयेति, ईश्वरसार्वभ्यज्ञानमस्माकं तु सर्वज्ञ-
पदेन । तत्र सर्वपदप्रतिपाद्यं जानन्नेवास्मदादिस्तत्र ज्ञानसंबन्धं गृह्णातीति ईदृशं सार्वभ्यसिष्टमेव ।
विशेषस्त्वैश्वरस्य न कुत्राप्यज्ञानम्, अस्मादृशां तु विशेषेष्वज्ञानमिति कृत्वा । एवं च ज्ञात एव
विशेषे अज्ञानज्ञानमिति । नच—घटादेरज्ञानावच्छेदकतया भावेऽपि घटाद्यज्ञाननिवृत्तिं विना तद-
वच्छिन्नसंयोगादिज्ञानादर्शनेन प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं तदवच्छेदकविषयाज्ञाननि-
वृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधिज्ञानवत् अज्ञानाविरोधिनी अज्ञाननिवृत्तिरपि स्वीकार्या स्यादिति—
वाच्यम्; संयोगादिसत्त्वस्यावच्छेदकघटादिसत्त्वसापेक्षत्वेऽपि यथा अभावे न स्वाधिकरणीयप्रति-
योगिरूपावच्छेदकसत्त्वापेक्षा, विरोधात्; तथा अज्ञानज्ञानस्यापि न स्वविषयाज्ञाननिवृत्त्यपेक्षा,
विरोधात् । न चैवं—तद्विषयकज्ञानापेक्षापि मास्तु; विरोधस्य समानत्वात्, अविरोधकल्पनावीजस्य
ज्ञान इवाज्ञाननिवृत्तावपि समानत्वात्; तथाच विषये अज्ञात एवाज्ञानं ज्ञायते, विषयविशेषावच्छिन्न-
बुद्धिस्तु तमसीव विशेषज्ञानानन्तरं 'एतावत्कालममुमर्थं नाज्ञासिषमित्येवंरूपा जायत इति—वाच्यम्;
हन्तेवमभावस्वभावविरोधिप्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञानविषयत्वमभाववैलक्षण्यसाधकमज्ञाने उपपा-
दितमायुष्मता । किञ्च यद्यज्ञानं स्वकाले विषयावच्छिन्नतया न भासयेत्, तदा तु 'त्वदुक्तमर्थं न
जानामी'ति विषयावच्छिन्नाज्ञानस्य वर्तमानार्थप्रत्ययो विरुद्धेत । तस्मात् विषयाज्ञानसाधकत्वात्
साक्षिरूपविषयप्रकाशोऽपि नाज्ञानविरोधी, किंतु प्रमाणवृत्तिः । एकविषयत्वेऽपि प्रमाणवृत्तितद-
तिरिक्तवृत्त्योरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयोः सौरालोकज्ञानयोः सौरचाक्षुषप्रकाशयोर्वा
तमोविरोधित्वाविरोधित्ववदुपपद्येते । नच—वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्थेति मते अस्या अज्ञान-
निवर्तकत्वाभावात् इदमयुक्तमिति—वाच्यम्; अज्ञाननिवर्तकत्वेन निवृत्तिप्रयोजकत्वस्यैव उक्तत्वात् ।
तच्च संबन्धसंपादनद्वाराऽस्मिन्पक्षेऽपि अस्यैव । नच—अज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन
मोक्षेऽप्यज्ञानापात इति—वाच्यम्; मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तिश्रवणेन स्वविरोधिज्ञानप्रागभावमात्र-
व्यापकत्वात् । नच—कथं प्रमाणवृत्तिमात्रविरोधित्वे अज्ञानस्य ज्ञानमात्रविरोधित्वेनैव न जानामीत्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

ज्ञातत्वेनोक्तप्रकाशासंभवेन तदज्ञाननिवृत्तिर्वाच्येति भावः । अवच्छेदकघटादीति । स्वाधिकरणसंयुक्तघटादीत्यर्थः ।
ननु—तर्हि विशेषावच्छिन्नत्वमज्ञानस्यासिद्धम्, तत्प्रत्यये तत्र तदभावात्, तत्राह—विषयविशेषेति । तमसी-
वेति । तमसि नष्टे घटादितम एतावत्कालं स्थितमिति धीरिवेत्यर्थः । 'घटं न जानामी'ति प्रत्यक्षे मन्मते घटादिज्ञानं न
कारणम्, विशेषणज्ञानादेरहेतुत्वात् । परं तु जातेऽपि प्रत्यये दोषात् तत्र प्रमात्वाग्रहे तद्विषये त्वदुक्तार्थं न जानामीति
प्रत्यक्षम्, त्वन्मते तु तस्य ज्ञानाभावविषयकत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षा; अभावप्रत्यक्षस्य प्रतियोगिज्ञानानपेक्षणे नेत्याकार-
कतानुपपत्तेः, तस्मात्तस्य तदपेक्षायां विरोधाद्भावविषयकत्वं न वाच्यम्, किंतु भावरूपाज्ञानविषयकत्वमिति पूर्वमुक्तम् ।
तथाच स्वमतहानाय यतसे इत्याशयेनाह—हन्तेति । वर्तमानार्थं वर्तमानविषयको न जानामीत्यत्र लटा स्वप्रयोगा-
धिकरणतत्त्वक्षण उल्लिख्यते, न तु स्थूलकालः; अज्ञाननाशकालेऽप्युक्तप्रयोगापत्तेरिति भावः । इदमुपलक्षणम्—
'एतावत्कालं नाज्ञासिष'मिति धीः स्मृतिः, अनुमितिः, अर्थापत्तिर्वा । नाद्यः; विशेषविषयकत्वेन पूर्वमननुभवात् ।
नेतरौ; विशेषज्ञानत्वस्य विशेषाज्ञाननाशकत्वाव्याप्यत्वात्, विशेषप्रमात्वस्याज्ञानसिद्धेः पूर्वमसिद्धत्वेन तयोरहेतुत्वादित्यपि

कारेण प्रत्ययः ? इति—वाच्यम् ; घटादिमात्रविरोधिनो घटाभावादेः भावसामान्यविरोधित्वेनाभाव-
त्वेन प्रतीतिवत् ज्ञानविशेषविरोधिनोऽप्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वेन प्रतीतिसंभवात् । नह्य-
भावपदादिनाभावप्रतीतौ घटाभावो न भासते । अथ सा विरोधिता तत्र विशेषमात्रपर्यवसन्ना, समं
प्रकृतेऽपि; अन्यत्राभिनिवेशात् । नच—‘न जानामी’ति ज्ञप्तिविरोधित्वस्यैवानुभवात् कथं वृत्तिविरो-
धित्वम् ? त्वन्मते चैतन्यस्यैव ज्ञप्तिवात्, चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञानत्वाज्ञानत्वायोगादिति—
वाच्यम् ; मन्मते वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जानामीति व्यवहारविषयः । तथाच न जानामीत्यनेन
वृत्तिचितोरुभयोरप्यज्ञानविरोधित्वं विषयीक्रियते । एवंच न चैतन्ये अज्ञानविरोधित्वम् ; नापि
वृत्तौ; वृत्त्युपाख्यवृत्ति एवार्थप्रकाशकत्वेन तथात्वात् । ननु—वृत्तेरप्यर्थप्रकाशकत्वं विना जातिविशे-
षेणैवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवत् सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाशकत्वेन
तन्निवर्तकत्वे वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्सत्त्वेन तन्निवर्तकत्वावश्यम्भावेन तन्निवृत्त्यापातः; नित्याती-
न्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामप्यज्ञानानिवृत्त्या सुखादावपरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेन
चान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानविरोधित्वात्—इति चेन्न; प्रमाणवृत्त्युपाख्यप्रकाशत्वेन निवर्त-
कत्वं ब्रूमः, न तु जातिविशेषेण, प्रकाशत्वमात्रेण वा । अतो नेच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवदेतन्निव-
र्त्यानां सत्त्वापत्तिः, न वा चैतन्यमात्रस्य निवर्तकत्वापत्तिः । अत एव—शाब्दादिवृत्तौ सत्यामपि
अज्ञानानिवृत्त्या सुखादौ प्रमाणवृत्त्यभावे स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरण-
स्यैवाज्ञानादौ विरोधित्वमिति—निरस्तम् ; परोक्षवृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वाभावेन न विषयगताज्ञाननिवर्त-
कत्वम्, सुखादौ च ज्ञातैकसत्त्वादज्ञाननिवृत्तिं विनैवाज्ञानादर्शनम् । अतोऽन्वयव्यतिरेकयोरन्यथा-
सिद्ध्या स्फुरणमात्रं नाज्ञानविरोधि । न चात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वे स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन
स्वप्रकाशत्वसाधनायोगः; परिपूर्णत्वादिना अप्रकाशविधुरत्वाभावेऽप्यध्यासाधिष्ठानत्वादिना
प्रकाशमानतयाऽप्रकाशविधुरत्वसंभवात् । नच—वृत्तिचितोर्वैषम्योक्तिर्युक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि
समानविषयतया अज्ञानविरोधित्वानुभवात्, अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखादौ मैत्रस्येव चैत्रस्याप्य-
ज्ञानं स्यात्, नो चेन्मैत्रस्याप्यज्ञानं न स्यादिति—वाच्यम् ; साक्षिणि यदज्ञानविरोधित्वमनुभूयते
तन्नाज्ञाननिवर्तकत्वनिवन्धनम्, किंतु स्वविषय इच्छादौ यावत्सत्त्वं प्रकाशादज्ञानाप्रसक्तिनिवन्ध-
नम् । वृत्तेश्च स्वविषये प्रसक्ताज्ञाननिवृत्तिनिवन्धनमेवेत्युभयोर्वैषम्योक्तिर्युक्तैव । अज्ञानाप्रसक्तेरेव
चैत्रेच्छादौ चैत्रस्य नाज्ञानव्यवहारः, मैत्रस्य तु प्रमात्रज्ञानादेव तद्व्यवहारः । नच—तर्ह्यात्मन्यपि तत्
एव तदप्रसक्तिरिति—वाच्यम् ; दत्तोत्तरत्वात् । किंच साक्षिवेद्यत्वं तदप्रसक्तौ तन्नम्, आत्मा तु
न तद्वेद्यः; चिद्रूपत्वात् प्रकाश एवेति । नच—तर्हि सुतरामज्ञानानुपपत्तिः तेजसीव तमसः, अन्यथा
घटादिरालोकमिवात्मापि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेतेति—वाच्यम् ; अज्ञानावृत्तत्वात् घटवदज्ञान-
निवर्तकान्तरापेक्षा चेत्तर्हीष्टापत्तिः; वृत्तेरेवापेक्षणात्, प्रकाशान्तरापेक्षायां जडत्वस्योपाधित्वात्,
प्रकाशत्वेऽप्यज्ञानाविरोधित्वस्योपपादितत्वात् । अत एव सर्वं वस्तु ज्ञाततयाज्ञाततया च साक्षि-
चैतन्यस्य विषयः; ज्ञानाज्ञानयोः स्वविषयावच्छिन्नयोरेव भानात् । एतेन—अन्धकारावृतवत् ज्ञाना-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

बोध्यम् ॥ प्रकाशोऽपीत्यपिना प्रमात्वेनागृह्यमाणवृत्तेः समुच्चयः । प्रमाणवृत्तिः प्रमात्वेन भासमानवृत्तिः । चाक्षुष-
प्रकाशयोः चक्षुःपरिणामतेजसोः । निवर्तकत्वेन विरोधित्वपदेन । अस्त्येव उपरागस्य स्वप्रागभावादिनिवर्त-
कत्वमस्त्येव । पर्यवसन्नेति । अभावपदस्य घटादिविरोधित्वरूपेण लक्षणयेति शेषः । सममिति । अज्ञानपदस्य
ज्ञाननाश्यत्वरूपेण ज्ञानविशेषनाश्यपरत्वम् । असुरादिपदस्य हरिहरादिभक्तेऽपि बलिबाणादौ सुरविशेषविरोधिनि
प्रयुक्तस्य तत्परत्ववत् । वृत्तिप्रतिबिम्बितेति । सुखादावपि तदात्मकवृत्तिप्रतिबिम्बितचिदस्त्येवेति भावः ।
उभयोः मिलितयोः । अर्थप्रकाशकत्वेन अर्थे अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारप्रयोजकत्वेन । प्रकाशत्वेन चित्सम-
नियतप्रमात्वजाल्या । अर्थप्रकाशे प्रमात्वव्यवहारेण वृत्त्यवच्छिन्नचित्येव तत्स्वीक्रियते, न तु केवलवृत्ताविति भावः ।
जातिविशेषेण वृत्तिमात्रनिष्ठेन चाक्षुषत्वादिना । सत्त्वापत्तिरिति । प्रमात्वेन प्रमानिवर्त्यस्य सत्यत्वेनासंप्रतिपत्ते-
रिति शेषः । वस्तुतो वृत्तेः प्रमात्वेन निवर्तकत्वेऽपि न सत्त्वापत्तिः, न हि प्रमात्वेन प्रमानिवर्त्यस्य सत्त्वं कचिदृष्टम् ।
वृत्तिचितोः प्रमाकेवलचितोः । वृत्तेः प्रमायाः । अज्ञाननिवर्तकान्तरेति । अज्ञाननिवर्तकप्रमाघटकान्तरेत्यर्थः ।
जडत्वस्येति । यद्यदज्ञातं तत् स्वव्यवहारे स्वान्यप्रकाशापेक्षमिति व्याप्तेः जडत्वमुपाधिः । तच्च मिथ्यात्वादिरूपम्, न

भावावच्छेदकविषयवच्चाज्ञानावृत्तस्याप्यप्रकाशेन साक्षिवेद्यत्वायोग इति—निरस्तम्; विषयावच्छेदेनानुभवविरोधात् । ननु—वृत्तेरज्ञानविरोधित्वेऽप्यात्मविषया वृत्तिरिदानीमप्यस्येवेति कथं तत्राज्ञानम्? किंच त्वन्मते घटाद्यपरोक्षवृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वेन सुतरां चित्यज्ञानासंभवः, नच—विशिष्टचैतन्यरूपजीवविषया वा घटावच्छिन्नचैतन्यविषया वा वृत्तिरज्ञानविषयीभूतकेवलचिद्विषयत्वादज्ञानविरोधिनी न स्यादिति—वाच्यम्; ‘दण्डी चैत्र’ इति वृत्त्या चैत्राज्ञानानभिभवापातात् । घटाकाशज्ञाने महाकाशज्ञानस्य महत्त्वाज्ञाने पर्यवसानम् । अत एवाकाशो ज्ञात इति प्रतीतिः । नच श्रवणादिजन्यैव वृत्तिरज्ञानविरोधिनी; भ्रमकालीनापरोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनापि अज्ञानानिवृत्तावतिप्रसङ्गात्, अनधिकविषयत्वे श्रवणादिवैयर्थ्यात्, सत्यत्वापाताच्चेति—चेन्न; यावन्ति ज्ञानानि तावन्यज्ञानानीति मते अज्ञानविशेषः एकाज्ञानपक्षे अवस्थाविशेषः शक्तिविशेषो वा अविद्यागतो विशिष्टगोचरवृत्त्या निवर्तत एव । प्रपञ्चनिदानभूतं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डार्थगोचरवृत्तिनिवर्त्यमज्ञानं परमवशिष्यते; भेदभ्रमस्यानुभूयमानत्वात् । यथा अयमिति ज्ञानात्तत्राज्ञाने निवृत्तेऽपि सोऽयमित्यभेदगोचरवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमवशिष्यते । तथाच विषयकृतविशेषाभावेऽपि कारणविशेषजन्यत्वेन विशेषेण निवर्तकत्वे श्रवणवैयर्थ्यं सत्यतापत्तिश्च निरस्ता; अन्यथा सोऽयमित्यत्राप्यगतेः । किंच जीवविषया वृत्तिरविद्यावृत्तिः, न तु प्रमाणवृत्तिः; तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात् । तदुक्तं विवरणे—‘जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यत’ इति । अस्यार्थः—जीवाकाराहंवृत्तिप्रकारिकाविद्यावृत्तिः, तथा परिणतान्तकरणेनान्तःकरणपरिणामभूतज्ञानरूपवृत्तिसंसर्गेण जीवोऽभिव्यज्यत इति । नच—‘घटोऽयमिति ज्ञानेन चरमवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमपि निवर्ततामिति—वाच्यम्; तदवच्छिन्नाज्ञातत्वप्रयोजकाज्ञानविशेषादेरेव तदवच्छिन्नज्ञाननिवर्त्यत्वस्य फलवलेन स्वीकारात् । अवतमस इव विषयप्रकाशकालोकस्य सर्वतमोऽनिवर्तकत्वेऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तु चिदन्वत्वम्; पक्षेतरत्वरूपतापत्तेः । अनुभवेति । अज्ञानानुभवत्वर्थः । वृत्तिरिति । अहमित्याकरेति शेषः । स्यात् भवति । अतिप्रसङ्गादिति । शुक्तौ रजतं नास्तीति बाधकालेऽपि भ्रमो अनुवर्तत; कारणविशेषजन्येनैवोक्तबाधेन पश्चात् स निवर्ततेत्यतिप्रसङ्गादित्यर्थः । सत्यत्वापातात् अधिष्ठानधीसामान्यानिवर्त्यत्वेन प्रपञ्चस्य सत्यत्वापातात् । वृत्त्या अहमिति वृत्त्या । ननु सोऽयमिति ज्ञानं तत्तेदंतोपहितयोः तादात्म्यविषयकं तादृशज्ञाननिवर्तकम्, अयमिति ज्ञानं तु नोक्तविषयकम्, अतो न तथेत्याशङ्कोक्तवाक्यस्याखण्डार्थकत्वमतेन तथेत्याशयेनाह—तथा चेति । नच—उक्तमतमप्रामाणिकमिति—वाच्यम्; एकस्यां शुद्धव्यक्तौ भेदकल्पकाज्ञानस्य तत्तेदंतविषयकत्वे मानाभावेन शुद्धव्यक्तिमात्रविषयकत्वेन तन्नाशकज्ञानस्यापि तदावश्यकत्वात् । तदुपहितयोर्हि तादात्म्यं न संभवति, ऐक्यं तु दूरतः । न हि घटाकाशं पटाकाशमिति तादात्म्यप्रमास्ति, किंतु द्रव्यं घट इत्यादिरेव प्रमा । तथाच तत्तेदंतोपलक्षितयोरैक्याज्ञानं तयोरभेदभ्रमकारणं तयोरैक्यज्ञाननाशयमित्येव वाच्यम् । एवंच सोऽयमिति सामग्रीविशेषजन्यमेव ज्ञानमज्ञाननाशकम् । नचात्र गौरवम्; न ह्युक्तज्ञानत्वेन नाशकता, किंतु शक्तिविशेषेणेत्याशयेनाह—करणेति । आपातज्ञानेन चैत्रो ब्रह्मेति वाक्यजज्ञानेन चाज्ञानानिवृत्तेः शक्तिविशेषेणैव नाशकत्वम्, प्रमात्वेन सामान्यतो नाशकत्वस्यापि स्वीकारादधिष्ठानप्रमासामान्यनाशयत्योग्यताया अपि प्रपञ्चेऽनपायाज्ञ सत्यतापत्तिः । तदिदमुक्तम्—सत्यतापत्तिश्चेति । शक्तिविशेषानादरे दोषमाह—अन्यथेति । अगतेरिति । तत्तेदंतोपहितयोस्तादात्म्यस्योक्तरीत्या अधिष्ठानत्वासंभवात् तत्प्रमात्वेन नाशकत्वे गौरवाच्च शक्तिविशेषेणैव नाशकत्वमिति भावः । यथाश्रुते मनोवृत्तेरहमाकारत्वप्रतीतेर्व्याचक्षते—अस्यार्थ इति । तथेति । अभिव्यज्यत इति । क्रियायां कर्तृपदं व्यञ्जयतावच्छेदकमहमर्थत्वमाह—परिणतान्तःकरणेनेति । सौप्तसूक्ष्मरूपेण परिणतमनःसंस्पृष्टस्याव्यङ्ग्यत्वात् ज्ञानरूपेत्युक्तम् । घटाद्याकारवृत्तिज्ञानेति तदर्थः । तथाचोक्तवृत्तिश्च परिणतान्तःकरणं च तत् । तथाच तदभेदेनाभिव्यज्यत इति शब्दार्थः । अहमाकारवृत्तिरविद्यावृत्तिरेव; अप्रमायामविद्याया एव परिणामित्वेन क्लृप्तत्वात्, प्रमायां प्रमाणव्यापारसहकृतस्यैव मनसः परिणामितया क्लृप्तत्वादहमर्थं च वृत्तेः पूर्वं चक्षुरादिवत् सर्वप्रमाणव्यापाराभावात् । तस्माद्वृत्तीयन्तेनाविद्यावृत्तिरूपव्यञ्जककथनम् । अन्तःकरणेनेत्यन्तेन तु व्यञ्ज्यस्य मनोऽवच्छिन्नविद्वत्पक्ष्यप्रमाणसामान्यव्यापारशून्यताख्यापनद्वारा व्यञ्जकवृत्तेरविद्यापरिणामत्वख्यापनमिति भावः । वस्तुतो वृत्त्यन्तमभिव्यक्तिक्रियायां विशेषणम् । जीवाकाराहंवृत्तिः यस्यां तादृश्याः साक्षिरूपाभिव्यक्तेर्विषयः वृत्तिज्ञानरूपेण परिणतमनस्संसृष्टचैतन्यमिति वाक्यार्थ इत्याशयेन तृतीया सहायिकोक्ता । तदवच्छिन्नेति । घटाद्यवच्छिन्नविदित्यर्थः ।

किञ्चित्तमोनिवर्तकत्वम् । तस्मात्सिद्धमाश्रयत्वविषयत्वभागिनी शुद्धचिदिति । एतेन—देहादिभेदो वा अभोक्तृत्वाद्यभेदो वा ब्रह्माभेदो वा अद्वितीयमात्राभेदो वा तद्विशिष्टात्मा वा न तद्विषयः; तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषात्, भिन्नत्वे अद्वैतक्षतेः, आविद्यकत्वे अन्योन्याश्रयादिति अनुक्तोपालम्भनमपास्तम् । ब्रह्माभेदादेरात्ममात्रतापक्षे तस्याज्ञानविषयत्वमेव; दोषस्य परिहृतत्वात् । यत्तु प्रसङ्गादुक्तम्—द्वितीयाभावोपलक्षितात्मनोऽज्ञानविषयत्वे तादृशस्यैव चरमवृत्तिविषयत्वं वाच्यम्; तथाच वेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तोक्तात्मपरत्वे अखण्डार्थताहानिः; अकाके काकवदित्यस्यैवास्याप्यप्रामाण्यापत्तिः, उपलक्षणस्य मिथ्यात्वात्—इति । तत्राखण्डार्थवादे वक्ष्यामः । नच—न्यूनाप्यङ्गुलिरधिकमाच्छादयति; अविषयसंबन्धित्वात्, इयं हि विषयसंबन्धिनी कथमधिकाच्छादयेदिति—वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वात् । तस्मादविद्या स्वरूपत आश्रयतो विषयतश्च सुनिरूपा ॥ इत्यद्वैतसिद्धावविद्याया विषयोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अलोकस्येति । घटाद्यवच्छिन्नचिज्ज्ञानस्येति शेषः । यथावतमसस्थघटादावालोकस्य गाढागाढतमोरूपसर्वतमोनाशकत्वं नास्ति, गाढतमस एवाभावात्; तथाऽवच्छिन्नचिदाकारवृत्तेः मूलाज्ञाननाशकत्वं नास्ति; तत्समानविषयकत्वाभावाद्वाप्यविषयकत्वे सति चिद्विषयकत्वं हि तयोः समानविषयकत्वमिति भावः । अभोक्तृत्वाद्यभेदः भोक्तृत्वाद्यभावत्वविशिष्टचिदभेदः; अभावस्याधिकरणरूपत्वात् । तद्विषयः मूलाज्ञानविषयः । उक्तदोषात् घटाद्यवच्छिन्नचिज्ज्ञानादपि तत्राशापत्यादिदोषात् । अद्वैतहानेः उक्ताज्ञाननाशिकायाः उक्तभेदादिधियः प्रमात्वायोक्तभेदादेस्ताविकत्वस्य वाच्यतया अद्वैतहानेः । अन्योन्याश्रयात् भेदादिसिद्धौ तद्विषयकाज्ञानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तज्जन्यभेदादिसिद्धिरित्यभिमानः । वस्तुतो भेदादेरनादित्वेऽपि अविद्यानाशनाशयत्वेनाविद्यकत्वव्यवहारात् नान्योन्याश्रयः । अकाके काकश्च न्ये । इयं हि इयं तु । दत्तेति । अविद्याया अप्यात्मवद्विभुत्वपक्षे न्यूनत्वमेव नास्ति, अविभुत्वक्षेऽप्यनुभवबलादाच्छादकत्वं नानुपपन्नम्, न ह्यविद्याया आच्छादकत्वं वस्त्रादेरिव, येन न्यूनत्वं तद्विशेषात्, किंतु नास्तीत्यादिव्यवहारहेतुत्वादीत्युत्तरमविद्याया विभुत्वाद्युक्त्या दत्तमिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामविद्याविषयनिरूपणम् ॥

अथाज्ञानवादे अज्ञानविषयनिरूपणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

यथाऽज्ञानं स्वरूपत आश्रयतश्च दुर्निरूपम्, एवं विषयतोऽपीति मन्तव्यम् । तथाहि—न चैतन्यमात्रं तद्विषयः; आवरणकृत्यासंभवात् आवरणकृत्यं हि (१) सिद्धप्रकाशलोपो वा, (२) अस्तित्वप्रकाशानुपपत्तिर्वा (३) सतोऽपि प्रकाशस्य विषयसंबन्धो वा, (४) प्राक्तव्याख्यकार्यप्रतिबन्धः (५) नास्ति न प्रकाशते इति व्यवहारो वा (६) अस्ति प्रकाशते इति व्यवहारभावो वा (७) नास्तीति व्यवहारयोग्यत्वम् (८) अस्तीति व्यवहारयोग्यत्वं वा, । आद्यद्वितीययोः स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धस्य लोपानुपपत्त्योरसंभवः । तृतीये विषयशब्देन घटादेर्विवक्षणे ज्ञानस्य विषयसंबन्धस्वभावत्वेन विषयसंबन्धो नावरणकृतः, चैतन्यविवक्षणे स्वयमेव ज्ञानरूपत्वेन स्वसंबन्धानपेक्षणम् । चतुर्थे चैतन्यातिरिक्तज्ञाततादिरूपकार्यस्य लन्मतेऽप्रसिद्धिः । पञ्चमे व्यवहारपदेनाभिज्ञाया विवक्षणे भ्रान्तिरूपायास्तस्या आवरणसाध्यत्वेनाऽऽवरणत्वायोगः । आलपनविवक्षणे तु तस्योक्तभ्रान्तिसाध्यत्वेन सुतरां तदयोगः । पक्षद्वयेऽपि सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापातः । षष्ठे व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वेनानावरणापत्तिः, वृत्तेः मोक्षेऽपि सत्त्वेनावरणापत्तिश्च । आलपनरूपत्वेऽप्ययमेव दोषः । न सप्तमाष्टमौ—तयोरप्यारोपितत्वेनावरणं विनायोगात् । अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथाव्यवहारेऽपि सदाऽप्रकाशमाने अध्यासाधिष्ठाने आत्मरूपे सुखादिज्ञानरूपेच चिन्मात्रे तदभावेन तत्कल्पयोग्यत्वायोग्यत्वयोः अभावात् । तयोरपि स्वप्रकाशत्वविरुद्धत्वेनेदानीमप्यभावाच्च । अज्ञानावच्छिन्नत्वरूपेणापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण तु नेति तु न युक्तम्; स्वरूपास्वप्रकाशत्वापातात्, नित्यातीन्द्रियस्याप्यज्ञानावच्छेदेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन स्वप्रकाशत्वापत्तेः । एवंच—

स्वप्रभत्वेन परोक्षव्यवहारार्ह आत्मनि । तद्योग्यत्वाभावरूपमविद्यावरणं कथम् ॥ किञ्च—चैतन्यावारकाविद्यया चैतन्यस्यान्यप्रकाशप्रतिबन्धेऽपि चैतन्यप्रकाशप्रतिबन्धो न भवतीति न चैतन्ये उपयोग्यत्वरूपप्रकाशविरोधः । कल्पितभेदं जीवचैतन्यं प्रति स्वरूपचैतन्यावरणमेवात्र विवक्षितमिति तु न युक्तम्; आवरणं विना भेदकल्प-

नायोगात् । योगेऽपि चिन्मात्रस्य परमपुरुषार्थरूपप्रकाशाभावस्यैव संसारदशायामज्ञानसाध्यतया कल्पितभेदं जीवं प्रति तदसाध्यतयाऽऽवृताभिमतकालेऽपि चैतन्यस्य दीपवत् प्रकाशाज्ञानविषयत्वम् । अनवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशार्थमेवाज्ञानस्य कल्पितत्वेन प्रकाशमाने नाज्ञानसंबन्धः । यद्वपेण प्रकाशमानत्वं न तद्वपेणाज्ञानविषयत्वं किंतु रूपान्तरेणेति गुहास्थं तमश्छन्नमिति वत् खदुक्तमर्थं न जानामीति प्रत्ययोऽपि नानुपपन्नः । सुखादिस्फुरणं न प्रकाशते इत्यनुभवोऽप्यत एवोपपद्यते । तत्सामान्यविश्वयस्य तद्विशेषसंशयं प्रतीव तत्सामान्यज्ञानस्य तद्विशेषाज्ञानानुभवहेतुत्वस्याप्यभ्युपगमाच्चातिप्रसङ्गादिकम् । अज्ञातज्ञानाभावेऽप्यज्ञातज्ञानमप्युपपद्यत एव । अतएव द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य अनिष्टत्वम् ईश्वरस्य भ्रान्तिज्ञस्यापि भ्रान्तिविषयाज्ञत्वं अस्मदादीनामीश्वरसर्वज्ञज्ञानेऽप्यसर्वज्ञत्वं चोपपद्यते । अन्यथा अज्ञानज्ञानं विनाऽज्ञानज्ञाने अज्ञातेऽज्ञाननिवृत्तेरपि कल्पनाप्रसङ्गः । आरोपितावच्छिन्नाभावसत्त्वसारोपितसत्त्वानपेक्षत्ववद्विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानस्य न विषयावच्छिन्नाज्ञाननिवृत्तिसापेक्षत्वमिति कल्पनायां तु अविरोधकल्पनाधीजस्याज्ञानानिवृत्ताविव ज्ञानेऽपि समानत्वाद्विषयविशेषज्ञानमप्यनावश्यकमेव । एवंच प्रकाशमाने नाज्ञानसंबन्धः, विरोधात् । नच—वृत्तिरेवाज्ञानविरोधिनीति—वाच्यम्; विषयोपरागार्थत्वमते तस्या अज्ञानानिवर्तकत्वात्, ज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेऽप्यज्ञानापाताच्च । न जानामीति ज्ञप्तिविरोधित्वेनैवानुभवोऽप्यत एवोपपद्यते । चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञातत्वाज्ञातत्वयोगस्तु पूर्वमेवोक्तः । वस्तुतस्तु—आवरणाभिभवार्था वृत्तिरिति मतमपि न युक्तमेव; वृत्तेर्जातिविशेषेण निवर्तकत्वे इच्छानिवर्त्यद्वेषादिवत् सत्यत्वापत्त्या अर्थप्रकाशकत्वेनैव तस्य वक्तव्यतया तस्य च चैतन्यनिवर्तकत्वेऽप्युपपत्तेः सुखादावपरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेनचान्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिचैतन्यस्यैवाज्ञानविरोधित्वस्यैव युक्तत्वात् । अतएव सत्यामपि परोक्षनिवृत्तौ नित्यातीन्द्रियेऽज्ञानानिवृत्तिरप्युपपद्यत इति चैतन्यमेवाऽज्ञानविरोधि । स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेनात्मस्वप्रकाशत्वानुमानमप्यत एवोपपद्यते । एवंच—

साक्षी स्वविषयेऽज्ञानविरोधी न भवेद्यदि । तद्वेद्ये सुखदुःखादावज्ञानं केन वार्यते ॥ सदा प्रकाशमानत्वेन सुखादावज्ञानाप्रसक्तौ तु आत्मन्यपि सदा प्रकाशमाने न सेति घट्टकुट्यां प्रभातम्; प्रकाशरूपे दीपे अन्धकारस्यैव स्वप्रकाशे आत्मन्यपि तदप्रसक्तेः । एतेन—साक्षिवेद्यत्वमेव तदप्रसक्तौ तन्त्रमिति शङ्कापि—पराहता; अन्यथा घटादेरा लोक इवात्मनोऽपि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरापेक्षापत्तेः । एतेन—सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिभास्यमिति वचनमपि—पराहतम्; अस्तुवा वृत्तिरेव वाऽज्ञानविरोधिनीति, एवमप्यात्मनि नाज्ञानम्; इदानीमपि आत्माकारवृत्तिसत्त्वात् । अतएव जीवाकाराद्वृत्तिपरिणतान्तःकरणेन च जीवोऽभिव्यज्यत इति विवरणवचनमुपपद्यते । मास्तुवात्माकारवृत्तिरपि, एवमपि घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयकापरोक्षवृत्त्यैवाज्ञाननाशात् सद्यो मोक्षापत्तिः । विशिष्टविषयकवृत्त्या शुद्धाज्ञानानिवृत्त्यभ्युपगमे चैत्र इति ज्ञानोत्तरमपि चैत्राज्ञानानुभवापत्तिः । एतेन—श्रवणादिजन्यवृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वमिति शङ्कापि—पराहता; विषयकृतवैषम्यरहितस्य कारणान्तरजन्यत्वमात्रेण निवर्तकत्वेऽपीतसाक्षात्कारस्यापि न पीतभ्रमनिवर्तकत्वं किंतु श्रवणादिजन्यापीतसाक्षात्कारस्यैवेत्याद्यतिप्रसङ्गात् । एवंच चिन्मात्राज्ञानविषयता नोपपद्यते । एतेन—देहादिभेदः भोक्तृत्वाद्यभावः, ब्रह्मभेदो वा, द्वितीयमात्राभावो, तद्विशिष्टात्मा वा, तद्विषय इति वचनमपि—पराहतम्; तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषात्, भिन्नत्वे सत्यत्वेऽद्वैतहानेः, आविद्यकत्वेऽन्योन्याश्रयादेः, द्वितीयाभावोपलक्षितात्मस्वरूपमपि नाविद्याविषयः; वेदान्तानामपि तादृशात्मविषयकत्वापत्त्याऽखण्डार्थत्वहान्यापत्तेः । किंच न्यूनयाऽविद्यया विषयसंबन्धिन्या कथं ब्रह्मावरणम् ? इति सर्वमनवद्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

स्वरूपतः आश्रयतो विषयतश्चाज्ञानं सुनिरूपमेव । तथाहि—चिन्मात्रमेवाज्ञानाश्रयः । अभिज्ञादिसाधारणस्य “नास्ति न प्रकाशते” इति व्यवहाररूपस्य “अस्ति प्रकाशते” इति व्यवहाराभावरूपस्य वाऽऽवरणकृत्यस्य तत्रैव संभवात् । आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसंबन्धरूपा सुषुप्त्यादिसाधारणी आब्रह्मज्ञानमवतिष्ठते इति सुषुप्त्यादौ नानावरणं मोक्षकाले वाऽऽवरणमापद्यते । इदंचाऽऽवरणं अनादित्वेन चित्प्रकाशयत्वेन चोत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा न सापेक्षमिति नात्माश्रयादिकम् । सदा स्वरूपतः प्रकाशमानस्यापि शुद्धचैतन्यस्य परिपूर्णाद्याकारेणाप्रकाशमानत्वात् तत्रावरणकल्पने न किमपि बाधकम् । एतेन—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपस्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वायोग्यत्वे कथं ब्रह्मणि संभवतः ? अज्ञानादिमत्त्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यं स्वरूपेण तु नेति कल्पने स्वरूपाप्रकाशत्वापत्तिरिति वचनमपि—पराहतम्; कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृत्तत्वमेव विवक्षितमिति न स्वप्रकाशविरोधः । भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परानन्तर्याभावाच्चान्योन्याश्रयः । कल्पितभेदापगमस्य जीवस्यापि शुद्धचैतन्यतया जीवं प्रत्यपि चिन्मात्रप्रकाशाभावस्यैवाज्ञानसाध्यतायामपि न विरोधः । अज्ञानतमसोः (आलोकतमसोः?) यादृशो विरोधो न तादृश एव चैतन्याज्ञानयोः । प्रकाशमाने वस्तुनि अज्ञानानुभववदालोके तयोऽनुभवाभावादिति स्वरूपचैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वे न किमपि बाधकम् । सुखादिस्फुरणं न प्रकाशते इत्यनुभवाभावेऽपि अवच्छिन्नाकारेण न प्रकाशते इत्यनुभवाच्छुद्धचैतन्यस्याज्ञानविषयत्वे न कोऽपि दोषः । खदुक्तमर्थं न जानामीति भास-

मान एवाज्ञानानुभवात् । सामान्यनिश्चयजनितविशेषसन्देहेनेव सामान्यज्ञानजनितविशेषज्ञानेनापि विशेषविषयीकरणस्यावश्यकत्वेन भासमाने नाज्ञानमित्युक्तानुक्तप्रत्ययविरोधापत्तेः । द्वेषस्येव द्विष्टस्याप्यवच्छेदकतया इच्छाविषयत्वात् । ईश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वस्येव भ्रमविषयज्ञत्वस्यापि विद्यमानत्वात् अस्मदादीनामपि सर्वत्वेन सर्वज्ञानस्य विद्यमानत्वाच्च द्वेषस्येष्टत्वेऽपीत्यादिदृष्टान्तोऽप्यसंप्रतिपन्न इत्यज्ञानज्ञानाभावे नाज्ञानज्ञानासंभव इति प्रकाशमान एवाज्ञानम् । प्रतियोग्यभावयोरिव ज्ञानाज्ञानयोरपि विरोधादभावस्य प्रतियोगिसत्त्वानपेक्षत्वदज्ञानज्ञानस्यापि स्वविषयाज्ञाननिवृत्त्यनपेक्षत्वात् नाज्ञानविरोधिन्या अज्ञाननिवृत्तेरपि कल्पनाप्रसङ्गः । विरोधस्य समानत्वात्तद्विषयकज्ञानापेक्षापि मास्तु इति वर्णने तु अभावस्वभावविरोधिप्रतियोगिज्ञानविषयत्वमज्ञानस्याभाववैलक्षण्यसाधकमेवोपपादितमित्यस्मन्मत एव पर्यवसानम् । एवंच वृत्त्यवच्छेदेन चैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वं न स्वरूपत इति स्वरूपचैतन्यस्य अज्ञानविषयत्वे न कोऽपि दोषः । चिदुपरागार्था वृत्तिरिति मतेऽपि अज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वेन वृत्तेरेवाऽज्ञानविरोधित्वमिति मन्तव्यम् । जानामीति व्यवहारस्यापि वृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यमेव विषय इति न कोऽपि दोषः । वृत्तेस्तु निवर्तकत्वं प्रमाणवृत्त्युपाख्यप्रकाशत्वेन विवक्षितं, ननु जातिविशेषत्वेन प्रकाशत्वेन वा, परोक्षवृत्तेस्तु विषयपर्यन्तत्वाभावाच्च विषयाश्रिताज्ञाननिवर्तकत्वम् । एतेन—सुखादिस्फुरणमपि—व्याख्यातम् ; तत्र सुखादेः ज्ञातैकसत्त्वेन अज्ञाननिवृत्तिं विनैवाज्ञानादर्शनादिति स्फुरणमात्रस्याज्ञानविरोधित्वे प्रमाणाभावः । परिपूर्णत्वादिनाऽप्रकाशविधुरत्वाभावेऽपि अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानत्वात् स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन स्वप्रकाशत्वसाधनमप्युपपन्नमेव । साक्षिवेद्ये सुखदुःखादौ तु नाज्ञानप्रसक्तिः । आत्माच प्रकाशरूपो न साक्षिवेद्य इति स एवाज्ञानविषयः । घटादिरिव स्वतमोनिवर्तकमालोकमात्मापि स्वतमोनिवर्तकवृत्तिमपेक्षते इति न दोषः । अतएव सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिभास्यमिति विवरणवचनमप्युपपद्यते । अज्ञानविशेषः शक्तिविशेषोऽवस्थाविशेषो वाऽविद्यागतो विशिष्टगोचरवृत्त्या निवर्तत एव । प्रपञ्चोपादानमूलज्ञानं परं भेदभ्रमस्यानुभूयमानत्वेन श्रवणादिकारणविशेषजन्येनैव ज्ञानेन निवर्तते । घटोऽयमिति ज्ञानेनापि तदवच्छिन्नाज्ञातत्वप्रयोजकाज्ञानविशेष एव निवर्तत इति न सद्यो मोक्षापत्तिरिति वृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वे न किमपि बाधकम् । तत्सिद्धम् “आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवले”ति । एतेन—आत्ममात्ररूपदेहादिभेदोऽज्ञानविषय इति पक्षोऽपि—व्याख्यातः ; द्वितीयाभावोपलक्षितात्मस्वरूपमेवाज्ञानविषय इत्यङ्गीकारेऽपि न दोषः ; तत्पराणामपि वाक्यानामखण्डार्थत्वाद्युपपत्तेर्वर्णयिष्यमाणत्वात् इति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नास्तीति व्यवहारयोग्यत्वास्तित्वव्यवहारायोग्यत्वयोरप्यावरणानपेक्षणे आवरणाधीनताया अयोगेनान्यथा अनादित्वेन जीवब्रह्मविभागापन्नस्य जीवस्य ब्रह्मणो वैवाज्ञानविषयत्वोपपत्तौ चिन्मात्राविषयताया अनादरणीयत्वापत्त्या च शुद्धचैतन्ये आवरणानपेक्षस्यावरणकृत्यस्याभावाच्च चिन्मात्रमज्ञानविषयः । नहि स्वप्रकाशे आवरणसंभवः । निर्विभागचित्ति प्रकाशमानाकारासंभवे परिपूर्णकारेणाप्रकाशत्ववर्णनमप्यत एव पराहतम् ; स्वप्रकाशत्वेनावरणस्य विरोधात् । कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृत्तत्वविवक्षणमपि न युक्तम् ; भेदावरणयोरनादित्वेऽपि परस्परापेक्षतयाऽन्योन्याश्रयापत्तेः । त्वदुक्तमर्थं न जानामीति तु न प्रकाशमाने अज्ञानमवगाहते ; सामान्यज्ञानस्यैव विशेषाज्ञानानुभवहेतुत्वात् । अज्ञानानवच्छेदकस्यापि सामान्यस्य ज्ञानमज्ञानज्ञानं प्रति हेतुरिति दर्शनबलादङ्गीक्रियते । नहि यद्यद्विषयकं तत् तदवच्छेदकविषयकमपीति युक्तम् । स्ववृत्तित्वसाध्यत्वादिना द्वेषस्येव द्विष्टस्येच्छाविषयत्वाभावात् । अन्यथा इच्छाद्वेषयोरेकत्र साङ्ग्ये तयोः विरोधो न स्यात् । विशेषरूपेण सर्वज्ञानाभावेऽपीश्वरसार्वज्ञानुभवोऽस्मदीयोऽत एवोपपद्यते । त्वदुक्तमर्थं न जानामीति विषयावच्छिन्नाज्ञानस्य वर्तमानत्वप्रत्ययोऽपि स्थूलकालमादायोपपन्नः । एवंच चैतन्ये भासमाने नाज्ञानसंबन्धः ; चैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वात् । चिदुपरागार्था वृत्तिरिति मते वृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वमिति वर्णनासंभवात् । निवृत्तिप्रयोजकत्वेन निवर्तकत्वं तु चैतन्यस्यापि समानमिति ज्ञानसामान्यमज्ञानविरोधीत्येवाङ्गीकरणीयम् । घटाभावपटाभावादीनामनेकत्ववदिहाज्ञानानेकत्वाभावेनैकस्यैवाज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वस्य वर्णनीयत्वात् । जानामीत्यादिव्यवहारविषयोऽपि दृश्याध्यासाधिष्ठानं शुद्धहेतवेति मन्तव्यम् । एतेन—प्रमाणवृत्त्युपाख्यप्रकाशत्वेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वं वृत्तेरिति वचनमपि—पराहतम् ; प्रकाशस्यैव तन्निवर्तकत्वे शेषवैयर्थ्यात्, सुखादिस्फुरणे व्यभिचाराच्च । सुखादेः ज्ञातैकसत्त्वमपि चैतन्यविरोधित्वपक्ष एवोपपद्यते । परिपूर्णत्वादिनाऽप्रकाशत्वेऽपि अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशविधुरत्वेन तूक्तसाधनोपपत्तिर्न संभवति ; निर्विभागे तदसंभवस्योक्तत्वात् । वृत्तेरेवाज्ञाननिवर्तकत्वे तु घटादिज्ञानेनैव सद्यो मोक्षापत्तिः । अज्ञानविशेषादीनामेव निवृत्तिरिति तु न युक्तम् ; यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षस्य निरस्तत्वात् इति न चैतन्यमात्रमज्ञानविषय इति सिद्धमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

नास्तीतिव्यवहारायोग्यत्वास्तीतिव्यवहारयोग्यत्वयोरविद्यानाशजन्यनाशप्रतियोगित्वेऽप्यविद्यानधीनत्वेन अधीनत्वेऽप्यविद्याया अमिथ्याविषयकज्ञाननिवर्त्यत्वेनामिथ्याविषयकत्वस्यैवावश्यकत्वेनच विधिद्विजब्रह्मादीनामज्ञानविषयत्वासंभवाच्च

अथाहमर्थानात्मत्वोपपत्तिः ।

ततश्चाहंकारादिसृष्टिः । ननु—अहमर्थ आत्मैव, तस्य कथमविद्यातः सृष्टिः, नच—सुषुप्तौ स्वयं-प्रकाशमानस्यात्मनः संभवेऽप्यनेवंविधस्याहमर्थस्याभावः, यदि च सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशितः तर्हि स्मर्येत ह्यस्तन इवाहंकारः, अनुभूते स्मरणनियमाभावेऽपि स्मर्यमाणात्ममात्रत्वादिति—वाच्यम्; हेतोरसिद्धेः, तर्के इष्टापत्तेः । नह्यद्यापि स्वप्रकाशात्मान्यत्वमहमर्थे सिद्धमस्ति । आत्मान्यत्वेनाप्रकाशत्वसाधने तेन च तदन्यत्वसाधने अन्योन्याश्रयः । न चाहमर्थस्यापरामर्शः, सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति तस्यैव परामर्शादिति—चेन्न; अहंकारस्तावदिच्छादिविशिष्ट एव गृह्यत इत्यावयोः समम् । सुषुप्तौ च नेच्छादय इति कथं तदाऽहमर्थानुभवः? नच—इच्छादिगुणविशिष्ट एवाहमर्थो गृह्यत इत्यत्र न नः संप्रतिपत्तिरिति—वाच्यम्; गुणिग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वात्, अन्यथा रूपादि-हीनोऽपि घटः प्रथेत । नच—रूपादिरहितानां तेषामसत्त्वं तत्र बीजमिति—वाच्यम्; पूर्वरूपनाशाग्रि-मरूपानुत्पत्तिक्षणायक्षणादौ तद्विनापि सत्त्वात् । एवं च गुणाग्रहणे कथं गुणिग्रहणम्? तथाच निर्गुण एवात्मा गृह्यत इति स्वीकर्तव्यम् । अनुभवाभावे च न तस्य जागरे परामर्शः । तथाचाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्तावनुभूयमानादात्मनोऽहंकारो भिन्नः । एवमेवात्मान्यत्वे सिद्धे अस्वप्रकाशत्वसाधने नान्योन्या-श्रयः । नच तर्हि 'अहमस्वाप्स'मित्यहमर्थस्य परामर्शानुप्रवेशानुपपत्तिः; तदंशे परामर्शत्वासिद्धेः । एवं सत्यपि यथाऽज्ञानांशे तस्य परामर्शत्वं, तथोपपादितमधस्तात् । यद्यप्यहमस्वाप्समित्यादिज्ञाना-न्नान्य आत्मपरामर्शः, तथाप्यहमर्थस्य सुषुप्तिकालाननुभूतत्वेन तत्काले अज्ञानाश्रयत्वेन चानुभूता-त्मन्येव परामर्शत्वपर्यवसानम् । अतएव चिदस्वपीत् स्वयमस्वपीदिति परामर्शाकारतापत्तिर्निरस्ता; तत्कालानुभूतान्तःकरणसंसर्गे अहमित्याकारोपपत्तेः । यत्तूक्तं विवरणे—'अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं ब्रूमः, न निष्कलङ्कचैतन्ये, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्' इति । तदत्र न विरोधाय । मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वादिति हेतूक्त्या न निष्कलङ्क इति ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अभाव इति । तथाचाहंकारोऽनात्मा आत्मप्रकाशेऽप्यप्रकाशादित्यनुमानं मानम् । अहंकारत्वं चाहमिति धीविष-यत्वम्, तच्च न शुद्धे, किंतु विशिष्टे आत्मनीति भावः । व्याप्तत्वादिति । नच—अहमर्थ एकत्वविशिष्टतया सुषुप्तौ गृह्यत इति—वाच्यम्; सुषुप्तौ विशिष्टधीस्वीकारे सुषुप्तिभङ्गापत्तेः, अहमर्थैकत्वग्रहस्य तार्किकादिविप्रतिपन्नत्वात्, विशेषगुणग्रहे गुणिग्रहव्यापकत्वस्य तावताप्यभङ्गाच्च । अनुत्पत्तिक्षण इति । पाकजरूपाद्युत्पत्तेः पूर्वं घटादेः नीरू-पत्वादिकमावश्यकम्; रूपादौ तदत्यन्ताभावस्य हेतुत्वात् । आद्यक्षणादाविति । तथाच द्वितीयक्षणादौ घटादे रूपाद्यविषयकप्रत्यक्षपत्तिः; आद्यक्षणे इन्द्रियस्य संयोगाभावेऽपि संयुक्तसमवायादेर्घटादौ सत्त्वात् द्वितीयक्षणे रूपादि-सत्त्वेऽपि आद्यक्षणे तत्र सन्निकर्षाभावेन द्वितीयक्षणोत्पन्नप्रत्यक्षे रूपाद्यविषयकत्वसंभवात् । निर्गुण इति । एवकारात् सगुणात्मनो ग्राह्यत्वव्यवच्छेदः । सगुणात्मा चाहंकार एवेति बोध्यम् । तस्य अहंकारस्य । अज्ञानाश्रयत्वेन अज्ञानेन सह । अनुभूयमानादिति । अविद्यावृत्तिरविद्यात्मोभयविषयिका; नतूभयसंसर्गविषयिका सुषुप्तौ तदसंभवात् । स्वयम् । अहमर्थधाररूपमविद्योपहितचैतन्यम् । यद्यप्यविद्योपहितत्वेन स्मृतिर्नापादयितुं शक्यते, तथाननुभवात्; तथापि वस्तुगत्या यदविद्योपहितं साक्षिरूपं तदाकारवृत्तेः सुषुप्तौ सत्त्वात् तथैव स्मृत्यापत्तिर्बोद्ध्या । उपपत्तेरिति । एकस्या एव वृत्तेरहमर्थो प्रत्यक्षत्वं साक्ष्यंशे स्मृतिस्त्वमिति भावः । उक्तमिति । सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्, आत्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन ज्ञाननाशरूपसंस्कारासंभवादित्याशङ्कोत्यादिः । विशिष्ट एवेति । तथाच वृत्तिज्ञानस्य

न्मात्रमेवाज्ञानविषयः; स्वप्रकाशेऽपि चैतन्ये परिपूर्णत्वाद्याकारेणावरणसंभवात् । वस्तुतस्तु—स्वप्रकाशचैतन्यस्य नाज्ञा-नविरोधित्वं इत्यसकृदुक्तत्वाच्चिन्मात्राज्ञानविषयतायां न कोऽपि दोषः । कल्पितमेदस्यापि जीवस्य वस्तुतः शुद्धचिद-भिन्नत्वेनेशं प्रतीव जीवं प्रत्यप्यावरणकल्पना युक्तैव । त्वदुक्तमर्थं न जानामीति प्रकाशमान एवाज्ञानानुभवादपि प्रकाशमान एवाज्ञानसंबन्धः; अज्ञानावच्छेदकज्ञानं विना अज्ञानज्ञानासंभवात् । नहि यस्य ज्ञानस्य यत्प्रत्यक्षं तत्तद्विषयाविषयकं दृष्टम् । तदुक्तं मणौ—विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमिति । एवं च चैतन्यस्य प्रकाशमानस्याप्यज्ञानविरोधित्वेन प्रकाशमाने चैतन्य एवाज्ञानसंबन्ध इति चिन्मात्रमेवाज्ञानविषय इति ततोऽहंकारादिरूपमुपपन्नमेवेति सिद्धमिति—**विवेचयन्ति ॥**

इत्यज्ञानवादे अज्ञानविषयनिरूपणम् ॥

उपाधिमात्रविरहिणि प्रत्यभिज्ञाननिषेधेन चान्तःकरणपदस्य उपाधिमात्रपरत्वात् । तथाच सुषुप्तावप्यज्ञानोपहित एवात्मा गृह्यते । किंचान्तःकरणविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाननिषेधो नाभिज्ञाननिषेधोऽपीति न विरोधः; सुषुप्तावभिज्ञाया एवोक्तत्वात् । नच—यद्यहमर्थो न परामृश्येत, तर्हि 'एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वे'ति संशयः स्यात्, न त्वहमेवेति निश्चय इति—वाच्यम्; सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासादिति गृहाण । यथा पूर्वदिनानुभूतदेवदत्तादिभिन्नतयानुभूते चैत्रे सोऽयं न वेति न संशयः, किंतु स एवेति निश्चयः । किंच निश्चये सति संशयाभावनियमः, न तु निश्चयाभावे संशयनियमः । तदुक्तम्—'आरोपे सति निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति । नच—एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रदासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यत्रापि अहमंशे परामर्शत्वानुभवात् कथं तत्रापरामर्शत्वमिति—वाच्यम्; परामृश्यमानात्मैकारोपात्तज्ञानांशे परामर्शत्वाभिमानात् । नच—अपरामर्शं परामर्शत्वारोपो न दृष्ट इति—वाच्यम्; तद्विज्ञे तत्त्वेनानुभूयमाने परामर्शत्वारोपदर्शनात् । अतएव—अहमर्थस्यात्मान्यत्वे यः पूर्वं दुःखी, सोऽधुना सुखी जात इतिवत् यः पूर्वं मदन्यः सुषुप्तः सोऽधुना अहं जात इति धीः स्यादिति—निरस्तम्; यथा दुःखित्वेन प्राक् ज्ञानं, तथा मदन्यत्वेन प्राक् ज्ञानाभावात् । सुषुप्तावहमर्थाप्रकाशवत् तदन्यत्वस्याप्यप्रकाश एव । एवंच प्रागसत्त्वाग्रहणात् पूर्वकालगृहीतेनाभिन्नतया गृह्यमाणत्वाच्च नाहङ्कारे जन्मप्रत्ययः । विवेकिनां चैतादृग्वुद्धाविष्टापत्तेः । नच—सिद्धे अहमर्थस्यामान्यत्वे परामृश्यमानात्मैकारोपः, सिद्धे च तस्मिन् सुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; आत्मान्यत्वसिद्धेः प्रागेवाहमर्थापरामर्शस्य साधनात् अहमस्वाप्समित्यस्यैवात्मपरामर्शत्वाङ्गीकारेण न दृष्टहानादृष्टकल्पनापत्तिः । अतएवच सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे ह्यस्तन इव स्मर्यतेत्यत्र नेष्टापत्त्यवकाशः । किंच 'एतावन्तं कालमहमित्यभिमन्यमान आस'मिति परामर्शः स्यात् । नच—अहमर्थप्रकाशे तदभिमानापादनं कर्णस्पर्शं कटिचालनमिति—वाच्यम्; तवैव हि तत् । अहमर्थमात्रसापेक्षतया तदभिमानप्रकाशयोरुभयोः समव्याप्ततया परस्परप्रकाशेन परस्परपरामर्शापादनस्याव्यधिकरणत्वात् । न च तवापि 'आत्मेत्यभिमन्यमान आस'मिति परामर्शापत्तिः; अहंकारस्य तत्र तन्नतया तदभावे तत्रापादयितुमशक्यत्वात् । यत्तु—सुषुप्तावहमर्थो भासत एव । 'न किंचिदहमवेदिष'मिति अज्ञानपरामर्शत्वात्माद्यज्ञानादन्यदिवाहमर्थाज्ञानादन्यदेवाज्ञानं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्र सत्त्वात् तन्नाश एव संस्कार इति भावः । निषेधेनेति । अविद्योपहितेऽप्यविद्यावृत्तेर्विवरणोक्तत्वेन तज्जन्यसंस्कारेण प्रत्यभिज्ञासंभवात्तदनुकल्या न्यूनत्वेनेति शेषः । उपाधिमात्रेति । नचैवं—मनसः प्रतिषुषुप्ति नाशात् तथापि प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरित्याशङ्क्य मनसः सुषुप्तावत्यन्तानुच्छेदेन प्रत्यभिज्ञोपपत्तिरिति यत् समाहितं, तत्प्रतिपादकोत्तरग्रन्थरूपविवरणविरोध इति—वाच्यम्; अन्तःकरणपदस्य पूर्वग्रन्थे उपाधिमात्रपरत्वेऽप्यन्तःकरणमात्रांशे उक्तानुपपत्तेस्तद्वन्थाविरोधात् । अभिज्ञाया इति । जागरेऽपि स्मृतेरेवोक्तत्वादित्यपि बोध्यम् । नियम इति । कादाचित्कसंशयस्तु स्यादेव; अहमर्थक्षणिकत्ववादिविप्रतिपत्त्यादिना तत्संभवादिति भावः । तद्विज्ञे स्मर्यमाणभिन्ने । तत्त्वेन स्मर्यमाणभेदेन । अनुभूयमान इति । अनुभवे इति शेषः । तथाचानुभूयमाने स्मर्यमाणभेदारोपस्थले अनुभवे स्मृतिस्वमारोप्य तादृशाभेदारोप इति भावः । अतएव अहमर्थस्य पूर्वमज्ञातत्वादेव । प्रागसत्त्वाग्रहणात् उत्पत्त्याग्रहणात् । पूर्वकालेति । पूर्वकालीनतयेत्यर्थः । तथाचोत्पद्यमानत्वाभावावच्छेदकत्वेन गृहीतस्य पूर्वकालीनत्वस्य ग्रहान्नोत्पद्यमानत्वग्रह इति भावः । आपादनं परामर्शापादनम् । परस्परप्रकाशेन अहमर्थतदभिमानयोरन्यतरप्रकाशेन । अभिमानरूपवृत्तेश्चिद्रूपप्रकाशस्य च न प्रमाणव्यापारापेक्षत्वम्, किंतु अहमर्थमात्रापेक्षत्वम् । एवंच उक्तभिमानस्य साक्षिमात्रभास्यत्वात् सुषुप्तौ तत्प्रकाशेन पश्चात् परामर्शापादनं युक्तमिति भावः । ननु—अहमर्थस्याणुजीवरूपत्वात् सुषुप्तावपि तत्सत्त्वादहमाकारवृत्तौ न तन्मात्रापेक्षा, किंतु तस्य मनोवृत्तित्वेन, मनआद्यपेक्षेति सुषुप्तौ मनोवृत्तेन त्वज्ञानोयोगरूपकारणाभावेन वा न सेति न तत्परामर्शापादनं युक्तमिति—चेत्, न; अहमर्थस्य सुषुप्तौ साधकाभावात् । तत्र तत्साधकं हि नाहमाकारवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षी; त्वयाप्यस्वीकारात् । नाप्युक्तवृत्त्यनवच्छिन्नसाक्षी; उक्तवृत्तिं विनाप्यहमर्थस्य साक्षिवेद्यत्वे तस्यां त्वन्मते मानाभावादनुभवविरोधाच्च । नापि परामर्शान्यथानुपपत्तिः परामर्शस्य साक्षिमात्रांश एव व्यवस्थापितत्वात् । तन्नतयेति । आत्मेत्यभिमानोऽपि ह्यहमाकारवृत्तिरेव; केवलात्मनो वेदैकवेद्यत्वेनाभिमानाभावात् । आत्माद्यज्ञानादिति । यथा तव चिन्मात्रांशे नाज्ञानम्, किंतु पूर्णान-

विषयः; अन्यथा विरोधात्—इति । तदज्ञानविजृम्भितम्, न हि साक्षिवेदनमज्ञानविरोधि । सुषुप्तौ च यथाहमर्थानवभासः तथोक्तम् । न विज्ञानालयमहमस्मीति सुषुप्तिविषया श्रुतिरपि तदानींतनाहमर्थाज्ञाने प्रमाणम् । नचेयं श्रुतिर्नात्मानं न परांश्चेति सुषुप्तावाहमाज्ञानश्रुतिवद्विशेषाज्ञानपरा, 'अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सति संपद्य न विदुः' रित्यात्मवेदनबोधकश्रुतिविरोधेन विशेषाज्ञानपरत्वं युक्तम् न च प्रकृते तथा; विरोधाभावात् । यत्तु—अहमर्थस्तावत् स्मर्ता । स चाविद्यावच्छिन्नचैतन्यं वा, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं वा । आद्ये योऽहमकार्षं सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि सरामीत्यनुभवविरोधः । अन्त्ये त्वहमर्थस्यैव तदनुभवित्वं वाच्यम् । स्मृतिसंस्कारानुभवानामेकाग्रयाणामेव कार्यकारणभावात्, योऽहमन्वभूवं सोऽहं सरामी'ति प्रत्यभिज्ञानाच्च—इति । तन्न; दत्तोत्तरत्वात् । उक्तं ह्यविद्यावच्छिन्नचैतन्यमनुभवित् । तदेव चान्तःकरणावच्छेदेनानुभूयमानं स्मर्त्रिति न तयोर्वैरूप्यम् । नच—अविद्यावच्छिन्नचितोऽपि नैक्यमस्ति, अन्तःकरणरूपोपाधिभेदेन भेदादिति—वाच्यम्; अविद्यावच्छिन्न एवान्तःकरणवच्छेदात् । नच—तथाप्यविद्यान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन मठाकाशतदन्तःस्थघटाकाशयोरिव उपहितभेदः स्यादिति—वाच्यम्; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः । तयोरेवोपाध्योः परस्परमुपहितभेदकत्वम् । यौ परस्परानुपहितमुपधत्तः । अन्यथा कस्त्ववच्छिन्नग्रीवावच्छिन्नाकाशादन्य एव घटाकाशः स्यात् । नचैवं सुषुप्तावहमर्थाभावे अहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्त्यर्थं प्रवृत्त्ययोगः; 'कशोऽहं स्थूलो भवामी'तिवत् प्रवृत्त्युपपत्तेः । नच—तत्र काश्यादिनिष्कृष्टस्य शरीरस्यैव स्थौल्याधिकरणतया विवेकिनामुद्देश्यत्वमिति—वाच्यम्; प्रकृतेऽप्यन्तःकरणादिनिष्कृष्टस्यैव तदुद्देशविषयत्वात् । ननु—'योऽहं सुप्तः सोहं जागर्मि' 'योऽहं पूर्वद्युरकार्षं सोऽहमद्य करोमी'ति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः; अहमर्थस्य भेदात्, कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च; कर्तुर्भौक्तृश्चाहमर्थस्य भिन्नत्वात्, अभिन्ने चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात्, तदारोपस्याप्यभावात्, देहादावतिप्रसङ्गाच्चेति—चेन्न; सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्यैव उत्पत्त्यङ्गीकारेण सर्वोपपत्तेः । नच—'अथ हैतत्पुरुषः स्वपिती'त्यारभ्य 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मन' इत्यादिश्रुतौ मनआदीनामेवोपरमोक्तेर्नाहंकारोपरम इति—वाच्यम्; मनस उपरमे तेनैवाहंकारोपरमस्यापि प्राप्तेः । अहंकारो हि अनुभवामीत्यात्मानुबन्धननुभवस्याहं कर्तेत्यचिदनुबन्धिकर्तृत्वादेश्चाश्रयः चिदचित्संबलनात्मकत्वाद्ध्यस्तः । तस्य चाचि-

गौडब्रह्मनन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नदीशे, तथा मन्मते अहमर्थांशेऽपि नाज्ञानमिति भावः । न हीत्यादि । तथाच चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशस्याप्यज्ञातत्वं संभवात् साक्षिवेद्यस्यापि त्वदभ्युपगतस्याहमर्थस्याज्ञातत्वं संभवाच्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकावयुक्ताविति भावः । न विज्ञानातीति । 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानालयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानी'ति छान्दोग्यश्रुतेरर्थतो ग्रहणमिदम् । नाहेति ह्रस्वः प्रसिद्धौ । नाशब्दो निषेधार्थः । नात्मानमित्यादि । 'नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् । प्राज्ञः किञ्चन संवेति तुरीयं सर्वदृक् सदे'ति गौडपादोक्तश्रुतिर्यथात्मनः परान्यत्वेनाज्ञानं बोधयति, तथा नाह खल्वयमित्यादिश्रुतिरहमर्थस्य परान्यत्वेनाज्ञानं बोधयतीत्यर्थः । दृष्टान्तो विषम इति दूषयति—अहरिति । 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा' इति श्रुतेरर्थतो ग्रहणम् । वेदनेति । ब्रह्मगमनसत्सम्पत्त्योः कार्योपाधिशून्यतया प्रकाशमानत्वरूपतया उक्तश्रुतेरात्मवेदनबोधकत्वम् । तथाच प्रकाशमाने शुद्धात्मन्यज्ञानस्य मानसिद्धत्वेऽपि प्रकाशमाने साक्षिणि अज्ञानासंभवात्तद्वोधकोक्तश्रुतिर्विरोध्यते । नच—शुद्धात्मनि नात्मानमित्यादिश्रुत्येव नाहेत्यादिश्रुत्या साक्षिण्यज्ञानं सिध्यतीति—वाच्यम्; परामृश्यमानत्वान्यथानुपपत्तिसिद्धमज्ञानं नात्मानमित्यादिश्रुत्याऽनूद्यते । नाहेत्यादिश्रुत्या तु न साक्ष्यज्ञानमनूद्यते; मानान्तराप्राप्तत्वात् । नच—एवमप्यात्मवेदनश्रुतिविरोधो न विशेषाज्ञानपरत्वे हेतुः किंतु प्राज्ञाविषयकत्वेनाज्ञानस्य यः परामर्शः, तदभाव इति स एव वक्तुमुचित इति—वाच्यम्; अपरामर्शात् प्राज्ञे अज्ञानाभावसिद्धौ चात्मवेदनबोधकश्रुतिरनावृतप्राज्ञप्रकाशं बोधयतीति कल्प्यते । अत एवोक्तश्रुत्योर्गच्छन्त्य इत्यन्तं सति संपद्येत्यन्तं च सार्थकम्; प्राज्ञस्यानावृतप्रकाशत्वेऽपि शुद्धात्मनो न तदित्यर्थकत्वात् । अतएव कार्योपाधिमत्त्वेनाभानं सत्संप्रत्यादिपदार्थ इत्यपास्तम्; तादृशाभानेऽपि शुद्धात्मभावमित्यर्थस्यासङ्गतत्वात् । यथोक्तसत्संप्रत्यादरे तु शुद्धात्मन्येवाज्ञानं न तु प्राज्ञ इति ज्ञापयन्ती श्रुतिः प्राज्ञान्वात्मस्वरूपपरेति ध्येयम् । निष्कृष्टस्येति । साक्षिगतनिर्दुःखत्वमात्रमुद्देश्यम् । अहमर्थस्य त्विच्छाविषयत्वमवर्जनीयं परस्यार्थग्रामो मे भवत्वितिच्छाविषयत्वं परसंबन्धस्येवेति भावः । अनुबन्धीति । अभिज्ञेत्यर्थः । यद्यप्यहमर्थस्य चिद्वदितत्वेऽपि बटः स्फुरतीत्यादाविवा अनुभवाश्रयत्वं संभवति; तथाप्यहमिति प्रत्यये अब्रह्मिण्यनुभवरूपेणाहमर्थभानादव-

तोऽन्तःकरणस्योपरमे उपरतिः । 'अथातोऽहंकारादेशः अथात आत्मादेश' इति श्रुतिरपि पृथगुपदेशेन पार्थक्ये प्रमाणम् । ननु—आत्मनस्त्वन्मते 'स एवाधस्ता'दित्युपदिष्टेन भूमेवाहंकारेणाप्येक्येऽपि पृथगुपदेशो युक्तः । नच—भूमात्मनोभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगुपदेश ऐक्यार्थः, द्वयोः सार्वार्थ्यायोगात्, अहंकारस्य तु आत्मैकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य पृथगुपदेशो भेदार्थ इति—वाच्यम्; अहमर्थादन्यस्यात्मनो भूमाख्यब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षासिद्धत्वात्तयोरप्युपदेशो भेदार्थः, अहमर्थस्य तु ब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तयोरुपदेश ऐक्यार्थ एव किं न स्यात्—इति चेन्न; अहंकारात् भिन्नात्मनो भूमरूपब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धत्वेऽपि तदभिन्नत्वस्यापि तदसिद्धतया उभयोः सार्वार्थ्योपदेशानुपपत्तिसहकारेणास्याः श्रुतेस्तयोरभेदपरत्वमुचितम्, प्रकृते चाभेदपरत्वे विरोधः; जडाजडयोरैक्यायोगात् । नच—त्वन्मते भूमाहंकारात्मनां विम्बप्रतिबिम्बमुखस्थानीयाविद्योपाधिकब्रह्मजीवचिन्मात्रत्वसंभवेनाहंकारस्य जीवात् पार्थक्यासिद्धिरिति—वाच्यम्; 'यत्र नान्यत् पश्यति' 'स एवाधस्ता'दित्यादिना भूमस्वरूपोक्त्यनन्तरं यत्रेत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात्स इति पारोक्ष्यनिर्देशाच्च द्रष्टृजीवादित्युपपत्तौ तद्वारणार्थं 'अथातोऽहंकारादेश' इत्यहंकारेण भूम्नि निर्दिष्टे अहंकारस्य देहादिसंघाते अविवेकिप्रयोगदर्शनात् तदभेदप्रसक्तौ निष्कृष्टाहंकारकेवलात्मस्वरूपमादाय 'अथात आत्मादेश' इति द्रष्टृभेद उच्यत इत्येतादृशार्थपरत्वेन विम्बप्रतिबिम्बकल्पनाया अत्रासंभवात् । संभवेवा विद्योपाधिकजीवस्याहंकारत्वोक्तिः स्थूलारुन्धतीन्यायेन । अतएव—'स एवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मेवेदं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च्छिन्नानुभवस्य चानवच्छिन्नत्वानुगतत्वादात्मानुबन्धनुभवावच्छेदकमनसः तादृशानुभवाश्रयत्वेनोक्तिरिति ध्येयम् । अचिदनुबन्धीति । अचित्परिणामीत्यर्थः । तथाचाहमर्थस्यावच्छिन्नचिद्रूपेण कर्तृत्वादिपरिणामवत्त्वेन चानुभवाच्चिदचित्तित्वमिति भावः । उपरतिरिति । 'सुषुप्तिकाले सकले' इत्यादिश्रुत्या सुषुप्तौ सर्ववृत्त्युपरतिरिति भावः । सिद्धयोरिति । भेदः ज्ञातत्वेन श्रुतितत्पर्याविषय इत्यर्थः । पृथगिति । सार्वार्थ्येनेत्यादिः । ऐक्यार्थः अत्यन्ताभेदतात्पर्यकः । अयोगादिति । सार्वार्थ्यं हि बाधायामध्यासे वा सामानाधिकरण्यात् भूमात्मभ्यामन्यज्ञास्तीत्येवंरूपं भूमात्मानौ सार्वार्थ्यावित्येवंरूपं वा । तत्र द्वयोरधिष्ठानत्वे मानाभावादकस्यैवानादिसाधारणसर्ववृत्त्यनुगतसद्रूपतया धीसंभवाच्च पृथगुपदिश्यमानयोरुक्तसार्वार्थ्यमनुपपन्नमिति प्रतिसन्धानद्वारा सार्वार्थ्येनोपदिश्यमानयोरत्यन्ताभेदे तादृशोपदेशतात्पर्यमिति भावः । भेदार्थ इति । परिच्छिन्नस्याहंकारस्य न स्वरूपेण सार्वार्थ्यम्, किंतु सार्वार्थ्यात्मघटितत्वेनेत्येतत् ज्ञापयितुम् 'अथात आत्मादेश' इत्यादिकमुक्तम् । न चैवम्—'अथातोऽहंकारे'त्यादिकमनुक्त्वा अथात आत्मेत्याद्येवोच्यताम्, तावतैव ब्रह्मात्मनोरैक्यलाभादिति—वाच्यम्; आत्मपदस्य लोके अहमर्थ एव प्रयोगात् शुद्धात्मनः सार्वार्थ्यबोधनासंभवात्, अहंकारवाक्योत्तरमात्मादेशवाक्योक्तौ तु पौनरुक्त्यप्रतिसन्धानद्वारात्मपदस्य शुद्धात्मपरत्वनिश्चयेन शुद्धात्मनः सार्वार्थ्ये उक्ते तद्वदितत्वेनाहंकारस्य सार्वार्थ्योक्तिरिति निश्चयसंभवः । तथाचोक्तरीत्याहंकारविविक्तारमणि आत्मपदतात्पर्यनिर्णायकत्वेन पृथक् निर्देशो भेदार्थ इति भावः । जडाजडयोः अहमर्थब्रह्मणोः । अविद्योपाधिकेति । अविद्याविम्बप्रतिबिम्बेत्यर्थः । पार्थक्येति । तथाचाहमर्थस्य शुद्धात्मभेदेऽपि सुषुप्तौ तदभानाद्युक्तिरुक्तेति भावः । यत्रेत्यादि । यत्र ब्रह्मणि अन्यद् दृश्यमन्यो द्रष्टा पश्यतीत्यादिरूपा त्रिपुटी नेत्यर्थः । द्रष्टुरिति । भूमीत्यादिः । निर्दिष्ट इति । अहंकारवाक्ये यस्य सार्वार्थ्ये तात्पर्यं, तत् भूमाभिन्नम्, द्वयोः सार्वार्थ्यायोगादिति ज्ञापिते सतीत्यर्थः । अविवेकीति । अहंकारेत्यस्योच्चारयितृज्ञकत्वेऽपि चिदचित्संवलितस्योच्चारयितुरविवेकेनैव ग्रहः, शुद्धात्मनि प्रयोगो यद्यपि तादृशशक्यसम्बन्धरूपलक्षणया; तथापि शुद्धात्मज्ञानस्य प्रमात्वेन नाविवेकाधीनत्वमिति भावः । द्रष्टृभेद इति । आत्मादेशवाक्यं शुद्धात्मसार्वार्थ्यबोधनद्वारा अहंकारादेशवाक्यस्य सार्वार्थ्यचिद्वदितत्वाहंकारे तात्पर्यं ग्राहयतीत्यहंकारशुद्धात्मनोः भेदे पर्यवसन्नम् । यदि चाहंकारवाक्यस्याहंकाराहमादिपदानामपरोक्षस्वभावशुद्धचित्ति लक्षणातात्पर्यग्राहकत्वमात्मादेशवाक्यस्योच्यते, तथाप्यहंकाररूपशक्यार्थसार्वार्थ्यानुपपत्तिर्धीपूर्वकं शुद्धलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वेनोक्तभेदपर्यवसानमक्षतमिति बोध्यम् । नन्वाहंकारशब्देनाविद्याप्रतिबिम्बरूपजीवोक्तावप्युक्तीत्या प्रसक्तभेदवारणम्, पश्चादात्मादेशवाक्येन शुद्धमादाय द्रष्टृभेदोक्तिश्च संभवतीत्यत आह—संभवे वेति । स्थूलेति । यथाऽरुन्धतीनिकटस्था स्थूला तारा अरुन्धतीयमित्युक्त्वा प्रदर्श्यते; सूक्ष्मत्वेनारुन्धत्याः प्रथमतो दर्शनासंभवात्, पश्चाज्ज्येयमारुन्धती किंत्विं निकटस्था सूक्ष्मतारा इत्युक्त्वा अरुन्धतीप्रदर्शनात् पूर्ववाक्यस्यारुन्धतीज्ञाने तात्पर्यनिश्चयात् प्रदर्शिततारयोर्भेदे पर्यवसानं, तथाहंकारशब्देनाविद्याप्रतिबिम्बमेवाहंकाराश्रयवैत-

सर्व'मित्याद्युपसंहाराणां 'स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्ता'दित्युपक्रमैः सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व' इत्यादिश्रुतिभिश्च (स्मृतिभिश्च?) सर्वगतत्वपरत्वेन न सार्वान्तर्यपरत्वम्, येनाहं-पदस्य निष्कृष्टाहंकारचैतन्यपरत्वं स्यात् । सर्वगतत्वं चानेकेष्वपि संभवत्येव । भूमात्मोपदेशाभ्यामेव ब्रह्मात्मैक्यसिद्ध्या मध्ये अहंकारोपदेशवैयर्थ्यं चेति—निरस्तम् । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति प्रश्नानन्तरं किं कचिदधिष्ठानत्वमात्रं पृष्ठं, परमार्थतः कचिदधिष्ठितत्वं वा । आद्ये स्वे महि-स्त्रीत्युक्त्वा द्वितीये भूमातिरिक्तमेव नास्तीत्येतदर्थपर—'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित' इति पूर्ववाक्यानुसारेण 'स एवाधस्ता'दित्यादेरपि सार्वान्तर्यपरत्वे निश्चिते एकत्रैव वाक्ये उपक्रमादिकल्पने-नार्थान्तराकल्पनात्; कल्प्यमानस्य च प्रकृतार्थानुपपादकत्वात्, सर्वगता जातिरिति पक्षे व्यापक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्यमुच्यताम् । पश्चादात्मादेशवाक्येन तस्योक्तरीत्या शुद्धसार्वान्तर्यतात्पर्यनिश्चय इत्यहंकारपदलक्षिताविद्याप्रतिबिम्बस्य शुद्धात्मभेदे वाक्यपर्यवसानमप्युच्यतां, तथापि नास्माकं क्षतिरिति भावः । नचैवमविद्याप्रतिबिम्बमेवाहंकारपदवा-च्यम्; तथा सति सुषुप्तौ तन्नानानुपपत्तितादवस्थ्यात् । नच—श्रुतिः पार्थक्ये प्रमाणमिति प्रतिज्ञाहानिरिति—वाच्यम्; अहंकारपदवाच्यस्य श्रुत्यनुक्तत्वेऽपि अहंकारपदलक्ष्यप्रतिबिम्बात् निरुपाधिकात्मनः पार्थक्ये श्रुतिः प्रमाणमिति प्रति-ज्ञाहानाभावादिति ध्येयम् । अत एव 'स एवाधस्ता'दित्यादिवाक्यस्य भूमात्मैकत्वपरत्वादेव । सर्वगतत्वं चेति । वाच्यत्वज्ञेयत्वादिविवेति शेषः । स्वे महिस्त्रीत्युक्त्वेति । स्वकीये प्रपञ्चरूपे महिम्नि स्थित इत्यर्थं स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इत्युक्त्वैत्यर्थः । यदि स्वे महिम्नि स्थितः; तदा राजा गवाश्वादिमहिमस्थ इत्यादौ महिमपदस्य महिमवत्सम-सत्ताके भोगसाधने प्रयोगात् प्रपञ्चस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वप्राप्त्या सन्नक्तिभेदप्रतियोगित्वादिरूपस्य वस्तुपरिच्छेदादेः प्राप्त्या ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वरूपभूमत्वव्याघात इत्याशङ्कायां गोऽश्वमहिमेत्याचक्षत इत्यादिना कृतायां नात्र महिम-शब्दः उक्तार्थकः; उक्तदोषात् किंतु दृश्यार्थकः; स्वध्यस्तरूपस्वीयार्थकस्वशब्दयोगान्महिमशब्दोऽप्युक्तर्षवाची । उत्कर्षश्च राजादौ स्वामित्वद्वारा गवादिकमिव ब्रह्मणि भासकत्वादिद्वारा दृश्यमात्रमपीत्याशयेन 'अहमेवं ब्रवीमीति होवाचे'त्यनेन निरस्तायामिति शेषः । द्वितीय इति । द्वितीयकोटिनिषेधे यदि वा नो महिस्त्रीत्यनेनोक्त इत्यर्थः । हेत्वाकाङ्क्षायामिति शेषः । अन्यो ह्यन्यस्मिन्निति । सत्यद्वयं चेत्, तदा भूमत्वं व्याहतम् । उक्तं च 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिना ब्रह्मणो भूमत्वम् । अतः सत्यस्य भूमान्यस्वाभावात् भूम्नो नान्यप्रतिष्ठितत्वं परमार्थत इति श्रुत्या-शय इति भावः । पूर्वेति । पूर्ववाक्येनाद्वितीयब्रह्मणि प्रमिते तच्छेषिभूतं भूमात्मनोरैक्यं स एवेत्यादिनोच्यत इति अवश्यं वाच्यम्; अन्यथा पूर्वापरवाक्यवैयर्थ्यात् । न हि पूर्वापरवाक्ये भूमानं भूमात्मनोरैक्यं वोपास्यतया बोधयतः; उपासनायां लक्षणास्वीकारेऽपि श्रुतहानाश्रुतकल्पना, दृष्टार्थकत्वसंभवे अदृष्टार्थकोपासनापरत्वे गौरवं, द्वैतसामान्य-विरोध्यद्वैतज्ञाने उपासनाया असंभवश्चेति भावः । निश्चित इति । 'स एवाधस्ता'दित्यादावधस्तादित्यस्याधरमिति उपरिष्ठादित्यस्योर्ध्वमिति पश्चादित्यस्यापरमिति पुरस्तादित्यस्य पूर्वमिति दक्षिणत इत्यस्य दक्षिणमिति उत्तरत इत्यस्योत्तर-मित्यर्थः । यद्यपि 'द्विच्छब्देभ्यः सप्तमी प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्ताति'रिति सूत्रे सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रुढेभ्यो दिग्दे-शकालेषु वर्तमानेभ्यो अस्तातिप्रत्ययः स्वार्थे विहितः । 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चेपा'मिति सूत्रेण च पूर्वादिभ्यः असिप्रत्ययो अस्तात्यर्थे विहितः । तद्योगे तेषां पुरादय आदेशाश्च विहिताः । 'अस्ताति चे'ति सूत्रेण च तेषामस्तातियो-गोऽपि पुरादय आदेशा विहिताः । तत एव ज्ञापकाच्च नासिप्रत्ययस्यास्तातिप्रत्ययबाधकत्वम् । पश्चादिति सूत्रेण चाप-रशब्दस्य पश्चभावः अस्तात्यर्थ आतिप्रत्ययश्च विहितः । 'दक्षिणोत्तराभ्यामतमुजि'ति सूत्रेण चास्तात्यपवादकः अतमुच्-प्रत्ययो विहितः । 'उपर्युपरिष्ठादि'ति सूत्रेण चोर्ध्वशब्दस्योपादेशो रिस्त्रिष्ठातिलौ च प्रत्ययावस्तातेर्विषये विहितौ । तथाचाधस्तादित्यादेरधरे अधरादित्याद्यर्थकत्वमपि; तथापि पूर्ववाक्यानुसारेण सार्वान्तर्यपरत्वनिश्चयादधरमित्याद्यर्थ-कत्वम् । तथाचाधरो देशः कालो दिक् स एवेत्याद्यर्थकत्वं पर्यवसितम् । अत्र परमते पूर्ववाक्यानुसरणानादरेऽपि नोपक्रमः उपसंहारनियामकः; निश्चितार्थोपक्रमस्यैवोपसंहारनियामकत्वेन सन्दिग्धस्योपक्रमस्यातथात्वात्, वाक्यशे-षेण तु 'स एवेदं सर्व'मित्यनेन निर्णयार्थकेनोपक्रमस्यार्थनिश्चय इत्यपि बोध्यम् । एकत्रैव 'स एवाधस्ता'दित्यादावेव । पूर्ववाक्यमननुसृत्येत्येवकारार्थः । 'तरति शोकमात्मवित्' एष तु वातिवदति यः सत्येनातिवदति सुखं भगवो विजि-ज्ञासे भूमेव सुखं यत्र नान्यत् पश्यति स भूमे'त्यादिपूर्ववाक्यपर्यालोचनेनाज्ञाते सत्यसुखाद्वितीयभूमात्मन्येव सप्तम-प्रपाठकतात्पर्यनिश्चय इति भावः । अर्थान्तराकल्पनात् सर्वगतत्वमात्ररूपस्यार्थस्य कल्पनाया असंभवात् । प्रकृ-तेति । स द्वितीयभूमात्मैत्यर्थः । स एवाधस्तादित्यादेः सर्वगतत्वपरत्वेऽपि परेष्टस्य भूमात्मनोर्भेदस्य न सिद्धिः । स एव अहमेव आत्मैव इत्येवकारत्रयेणाधरादिषु भूमाद्यन्ययोगव्यवच्छेदबोधनेन भूमादिरूपैक्यस्य पर्यवसानादित्यपि

जातेरिव भूम्नोऽपि अन्याधिष्ठितत्वसंभवात्, 'सर्वं समाप्नोषी'त्यादिश्रुतेः सार्वान्तर्यपरत्वस्य उपपादितत्वात् । नापि मध्ये अहंकारोपदेशवैयर्थ्यम्; ब्रह्मण आपरोक्ष्याय अहंकारैक्योक्तेः । नच—त्वन्मते प्रत्यगर्थरूपस्यात्मन एवापरोक्षैकरसत्वेन तदैक्योक्त्यैवापरोक्ष्यसिद्ध्या अहंकारे अविद्यमान-सार्वान्तर्योक्त्ययोग इति—वाच्यम्; आत्मसंबन्धेनैवाहंकारोऽप्यपरोक्ष इत्यात्मैक्यादेवापरोक्ष्यं यद्यपि सिद्धं, तथाप्यहंकारे आपरोक्ष्यस्य सुप्रसिद्धत्वादहंकारोक्तिर्नायुक्ता । यत्तु—'भूमा नारायणाख्यः स्यात् स एवाहंकृतिः स्मृतः । जीवस्यस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः ॥ अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः । आत्मेत्युक्तः स च व्यापी'त्यादिस्मृत्या श्रुतेः सार्वान्तर्यं नार्थः, किंतु सर्वगतत्वम्—इति । तन्न; श्रुतिविरोधेन स्मृतेरेव सार्वान्तर्यपरत्वम्, न तु स्मृत्या श्रुतेरन्यथानयनम् । नच—मोक्षधर्मे—'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः । योऽसौ व्यक्तत्वमाप्नो निर्ममे च पितामहम् ॥ सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ।' इत्यनेन 'सैव हि सत्यादय' इति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बोध्यम् । ननु "अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित" इति वाक्यं नोक्तरीत्या भूम्नि प्रतिष्ठितत्वनिषेधे हेतुभूतस्य द्वैताभावस्य बोधकम्, किंतु भूमा नान्यप्रतिष्ठित; अनादिषु साक्षादसंबन्धात्, कार्येषु तादात्म्यात् । यो हि यस्मादत्यन्तभिन्नः स तत्र प्रतिष्ठित इति उच्यते—यथा राजा गजादावित्यर्थकं तत्राह—सर्वेति । सर्वजातीयसर्वेत्यर्थः । घटत्वादजातिस्तादात्म्येन घटादौ स्वरूपसंबन्धेन चान्यत्र संबन्धेति यथा स्वीक्रियते; अन्यथा भिन्नभिन्नदेशस्थेषु घटादिषु घटत्वादेरेकस्य वृत्त्यसंभवात्, तथाच परमते भूमा कार्यमात्रे तादात्म्येन स्वज्ञानविषयत्वादिसंबन्धेनानादिषु संबद्ध इति जातेरिव भूम्नः सर्वप्रतिष्ठितत्वं न विरुद्धम् । कार्यरूपान्यप्रतिष्ठितत्वं नतरां विरुद्धमिति नोक्त-वाक्यमुक्तार्थपरमिति भावः ॥ अथवा—भूमान्य एवान्यत्र प्रतिष्ठितः, नतु भूमा; व्यापकत्वात् । यद्धि कचिदेव संबद्धं, तत् प्रतिष्ठितमुच्यत इत्येतत्परा यदि वा नो महिम्नीत्यादि अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यन्तश्रुतिः । स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति तु व्यापकत्वपरमित्याशयेन स एवेत्यादिना व्यापकत्वमुपपादितम् । तथाच सार्वान्तर्यपरत्वोक्तिर्न युक्ता । 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिकं तु यत्र विषयेनान्यत् कर्तुं पश्यतीत्याद्यर्थकतया भूम्नो दुर्ज्ञेयत्वपरम्, तत्राह—सर्वगतेति । तथाच जाल्यादौ सर्वप्रतिष्ठितत्वस्य व्यवहारात् कचिदेव प्रतिष्ठितत्वं प्रतिष्ठितशब्दार्थ इत्युक्तम् । किंच "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित" इत्यनेन सर्वव्यापकत्वोक्तौ "यदि वा नो महि-म्नी"त्यनेन सर्वाव्यापकत्वमुच्यत इति वाच्यम्; भावाभावयोरेव ताभ्यां प्रत्ययात्, अन्यथा "यदि वे"त्यादिना कचिदेव संबद्धत्वस्याभावबोधने सर्वव्यापकत्वपर्यवसानेन पौनरुक्त्यापाताच्च । तथाच परमते विरुद्धभावाभावयोर्बो-धनमयुक्तमप्रयोजनं चेति भावः । उपपादितत्वादिति । सम्यक् तादात्म्येन आप्नोषि संबध्यसे ततः सर्वो-ऽसीत्यर्थस्योपपादितत्वादित्यर्थः । श्रुतीति । भूमात्मैक्यश्रुतीत्यर्थः । परत्वमिति । व्यापीत्यस्य सर्वतादात्म्यपर-त्वम् । तादात्म्यस्यान्तरङ्गत्वेनान्यसंबन्धेन व्यापकत्वपरत्वाभावात् संकोचकाभावेन किंचिद्व्यापकत्वापरत्वाच्च । विभुत्वं चापरिच्छिन्नत्वादिरूपम्, नतु सर्वमूर्तसंयोगित्वम्; सिद्धान्ते निरवयवे संयोगास्वीकारात् । अणुरूपो दह-राकाशादिरूपेण परिच्छिन्नः जीवस्यः अविद्याप्रतिबिम्बरूपजीवाश्रितः अनिरुद्ध इहामुत्र संचारित्वेन न निरुद्धः सोऽहंकार इति । तथाच तदुपलक्षितापरोक्षचिदभेदात्पर्येण स एवाहंकृतिरित्युक्तम् । एवंच सर्वजीवप्रत्यक्चैतन्य-रूपशुद्धात्मैव भूमेत्याह—अणुरूप इत्यादि । वासुदेवो वसति सर्वभूतेषु दीव्यतीति चाहंकारस्यात्मत्वमिति 'अनि-रुद्धो हीत्यादिस्मृतौ पितामहादिजगन्निर्मातृत्वेना'त्मन एवेदं सर्वं मित्यादिश्रुत्युक्तात्मन्यहंकारपदप्रयोगात् 'सैव हि सत्यादय' इति सूत्रेण एकस्याः सत्यविद्यायाः प्रतिपादकतया निर्णीते 'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद । सर्वं ब्रह्मे'त्यादि 'तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एतस्मिन्मण्डले यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्योपनिषदह'मिति बृहदारण्यके दक्षिणाक्षिगतपुरुषस्याहं नामत्वोक्तेश्चाहंकारस्यात्मत्वमित्यर्थः । व्याप्त्युक्तिः अपरिच्छिन्नत्वोक्तिः । महदादिपदैरिति शेषः । वस्तुतः परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविशारदाः । तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तद्विदुर्जनाः ॥ अव्यक्ता-व्यक्तमुपपन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् । अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात् परः ॥ योऽसौ व्यक्तत्वमाप्नो निर्ममे च पितामहम् । सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥ पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिश्च पञ्चमम् । अहं-कारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्च च ॥' इति मोक्षधर्मवाक्ये सांख्यसिद्धमहदहंकारौ मदहंकारपदार्थौ । तौ च मन्मते भगवद्दीक्षणचिकीर्षारूपतया गीतादिपण्यादौ मूलकारैरुक्तौ निर्मातृत्वात्मत्वादिविशेषणाद्दीक्षणचिकीर्षोपहितभगव-त्स्वरूपौ वा । तादृशाहंकारस्य न सर्वव्यापकत्वसंभवः; दीक्षणोपहितेश्वररूपमहत्तत्त्वकार्यत्वेन तदव्यापकत्वात् । न चा तस्य प्रकृते कथनस्योपयोगोऽस्ति, न वा तस्यात्मत्वम्; कार्योपाधिकत्वेन कार्यत्वात् । अत एव 'तस्य चिन्तयत'

सूत्रेण चाहंकारस्यात्मत्वम्, अन्यथा व्याहृतिरयुक्ता स्यादिति—वाच्यम्; ‘अहंकारश्चाहं कर्तव्यं चे’ति श्रुतेः ‘महाभूतान्यहंकार’ इति स्मृतेः अहंकारस्य व्यापकत्वासंभवात्; ‘अहं मनुरभव’मित्यादा-
विवाहस्पदस्य निष्कृष्टाहंकारचैतन्यपरत्वात् । ननु—अनयोः श्रुतिस्मृत्योर्महत्तत्त्वकार्यं मनआदीनां
कारणं वैकारिकादिभेदेन त्रिविधमहंकारादिपदवाच्यं विषयः, न त्वहमर्थः; तथाच स्मृतिः—‘मह-
त्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्दीर्यचोदितात् । क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत ॥’ इत्यादेरविरुद्धार्थमा-
दायोपपत्तेः । विरुद्धार्थत्वकल्पनायां ‘बुद्धिरव्यक्तमेव चे’त्यत्र क्षेत्रे प्रयुक्तबुद्धिशब्देन संविद उक्तौ
संविदोऽपि क्षेत्रत्वापत्तिः । नच—बुद्धिशब्दस्य नानार्थत्वम्, न त्वहंकारस्यात्मातिरिक्तार्थकत्व-
मिति—वाच्यम्; ‘दम्भाहंकारसंयुक्ता’ इत्यादौ देहे अहंबुद्धौ गर्वे च प्रयोगेण ‘गर्वोऽभिमानोऽहंकार’
इत्यभिधानेन चाहमर्थवाचित्वनियमाभावात्, तथाचात्मवाच्यहंशब्दोऽस्मच्छब्दसिद्धः । अहंकार-
शब्दोऽनात्मवाची । तत्पर्यायस्त्वहंशब्दो मान्ताव्ययमिति—चेन्न; मान्तदान्तत्वभेदेनार्थभेदकल्पनम-
युक्तम् । सर्वेषामेव तेषां ‘अहं’मिति प्रतीयमानाहंकारविषयत्वमेव; पर्यायतयैव प्रयोगदर्शनात् ।
अहंकारातिरिक्तात्मनि प्रयोगस्तु लक्षणया; मान्तदान्तत्वेनानिर्धारिताहंशब्दस्याहंकारे प्रयोगदर्शनस्य
नियामकत्वात् । यथा ‘अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः । योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे
च पितामहम् ॥’ इति । ‘सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ।’ इत्यत्र लक्षणयाऽहंकारशब्दः
आत्मनीतिः । यत्तु—अहमर्थे आत्मानात्मधर्मदर्शनमसिद्धम्; कर्तृत्वादेरात्मधर्मत्वात्—इति । तत्र
कर्तृत्वादेरात्मधर्मत्वं यथा तथा वक्ष्यामः । ननु—अनात्मधर्मत्वेऽपि कर्तृत्वादेस्तदाश्रयस्याभानेऽपि
कर्तृत्वादिकमात्मनि भासताम्, ‘गौरोऽहं’मित्यत्र शरीरगतगौरत्वमिवेति—चेन्न; दृष्टान्तासंप्रति-
पत्तेः, तत्रापि देहत्वेनाभानेऽपि गौरत्वमनुष्यत्वादिना तत्प्रतीतेः । अनुमानं च—अहमर्थः, अनात्मा,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्मृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः । अहङ्कारस्तु’ इत्यादिकं स्थलान्तरे मोक्षधर्म उक्तम् । अहङ्कारश्चेत्यादि । ‘यथा
सोम्य वयांसि वासाय वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं हैतत् सर्वे परे आत्मनि संप्रतिष्ठते मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं
चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं चे’ति प्रश्नोपनिषत् । इति स्मृतेरित्यादि । एतत्क्षेत्रमित्यन्तस्मृतेः । आत्मनिष्ठत्वेन क्षेत्रत्वेन च
निश्चयादिति शेषः । अहंकारस्य अहंकारपदमुख्यार्थस्य । व्यापकत्वेति । व्यापकात्मस्वरूपत्वेत्यर्थः । अहंपद-
स्येति । ‘अनिरुद्धो ही’त्यादिस्मृतौ ‘स यो हैत’मित्यादिश्रुतौ चाहंकाराहंपदयोरित्यर्थः । लक्षणयेति शेषः ।
तथाच शुद्धात्मा नाहंकारादिपदमुख्यार्थः । मनआदीनां मनइन्द्रियभूतानाम् । कारणं क्रमेण हेतुः । वैकारि-
कादीति । सात्त्विकराजसतामसेत्यर्थः । प्रतीयमानेति । चिदचिद्ब्रह्मन्थिरूपेति शेषः । यथोक्तश्रुतिस्मृत्योरहंकारपदं
चिदचिद्ब्रह्मन्थिरूपं । तथा ‘दम्भाहंकारसंयुक्ता’ इत्यादावप्यहंकारगते धन्तिवाभिजातत्वाद्यभिमानेऽप्युक्तग्रन्थिरूपभेद-
विवक्षया तत्पदम् । उक्तग्रन्थिश्चाहमिति शब्देन प्रतीयत इति मान्तदान्तयोरर्थभेदे मानाभावः । अतएवाहन्ताहंभाव
इत्यादिनोक्तग्रन्थिभावः प्रतीयते । नहि दान्तशब्दादहंभावादपदं सिध्यति । अतएवाविद्याहंमतिरित्युक्तग्रन्थिर्बुद्धेः
पर्याय इति भावः । नन्वहंकाराहंपदयोरुक्तग्रन्थौ प्रयोगौ नैकरूपेणेति भिन्नार्थकत्वमास्ताम्, तत्राह—पर्याय-
तयेति । एकरूपेण बोधकतयेत्यर्थः । प्रयोगः अहंब्रह्मेत्यादिप्रयोगः । प्रयोगेति । लौकिकवैदिकभूरिप्रयोगेत्यर्थः ।
नियामकत्वादिति । शुद्धात्मलक्षणायामित्यादिः । अहंकारः नात्मवाचीति वदतस्तव मतेऽप्यहंकारशब्द आत्मनि
लाक्षणिकः । तथाच तद्वदहंशब्दोऽप्यहंकारवाची मान्तदान्तसाधारण आत्मनि लाक्षणिक इत्याह—यथेति । ननु—
अहंकारपदाहंपदयोरुक्तग्रन्थिवाचित्वे परकीयोक्तग्रन्थावपि परस्य प्रयोगापत्तिरिति—चेन्न; त्वन्मतेऽप्यहंकार-
मान्ताहंपदयोः परकीये क्षेत्रे प्रयोगापत्तेः । अथ जातिविशेषविशिष्टे परकीयक्षेत्रे अहंकारोऽस्तीत्यहमस्मीत्यादिप्रयोग-
मिच्छसि, तर्हि वयमपीच्छामः । एतावांस्तु भेदः । तव शक्त्या मम लक्षणया । मम हि उच्चारयितृतावच्छेदकवत्त्वेना-
हंकारदान्तमान्ताहंपदानां स्वोच्चारयितरि शक्त्या, तव दान्ताहंपदस्यैव । एवंच शुद्धात्मनोऽनुच्चारयितृत्वेन
लक्ष्यत्वम् । ‘महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणा’ इत्यादिस्मृतौ महत्तत्त्वं भगवतो वीक्षणम् । तस्माद्विकुर्वाणात्तदवस्थामायापरिणामः
सूक्ष्मावस्थारूपः । त्रिगुणात्मकमायापरिणामित्वात् सात्त्विकादिरूपेण त्रिविधोऽहंकारः पूर्वपूर्वपरिणामावस्थमायाया
एवोत्तरोत्तरपरिणामोपादानत्वाच्चिकीर्षारूपाहंकारावस्थमायाया एव सात्त्विकाद्यंशेन मनआदिसात्त्विकादिकार्यहेतुत्वात्
त्रिविधाहंकारस्य मनआदिहेतुत्वोक्तिर्युक्ता । तादृशाहंकारस्य च ‘तदात्मानं स्वयमकुरुते’ति श्रुत्युक्तकृतिजनकत्वेनोच्चार-
यितृजीवाहंकारपदवाच्यमायाया गौण्या वृत्त्याऽहंकारपदबोधयत्वेत्याशयेन क्रियाशक्तिरित्युक्तमिति ध्येयम् । तत्रापि
गौरोऽहमित्यत्रापि । तत्प्रतीतेः गौरत्वाश्रयप्रतीतेः । तथाचानुभूयमानारोपस्यले धर्माध्यासस्य प्रतिबिम्बरूपत्वं
अद्वै. सि. ७६

अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत् । नचाहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभूतचित्तोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वात् तत्र व्यभिचारः; येन रूपेणाहंप्रत्ययविषयता तेन रूपेण तस्याप्यनात्मत्वात् स्वरूपेणाहंप्रत्ययविषयत्वाभावाच्च व्यभिचारः । अहमर्थः, आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारशब्दाभिधेयवत् । नचात्रासिद्धिः; पर्यायताया दर्शितत्वात् । नच—त्वयाऽऽत्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मा न भूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्वं अहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारेणात्मनः स्वप्रकाशत्वं चोक्तम्, तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वे न युक्तं स्यादिति—वाच्यम्; इदम इवाधिष्ठानावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वोक्तेः । परमप्रेमास्पदत्वमहमर्थे आत्मैक्यारोपात् । नचैवमन्योन्याश्रयः; सुषुप्तिकालीनप्रकाशाप्रकाशाभ्यां वैधर्म्येण भेदसाधनात् । नचाहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्य प्रेम्णोऽननुभवः; परामर्शसिद्धसुषुप्तिकालीनतादृशप्रेमानुभवस्य सत्त्वात् । नच—अहिते हितबुद्ध्या प्रेमोत्पत्तिदर्शनेऽपि अप्रेमास्पदे प्रेमास्पदतारोपो न दृष्ट इति—वाच्यम्; अहमर्थे आत्मैक्यारोपनिबन्धनं प्रेमास्पदत्वम्, नतु स्वाभाविकमिति ब्रूमः, नतु प्रेमास्पदत्वारोपम् । अहमर्थात्मनोभेदेऽपि अहमर्थस्य प्रकाशाव्यभिचारः स्वप्रकाशात्मसंबन्धं विना न घटत इति सोऽपि तत्र प्रमाणमिति नायुक्तिलेशोऽपि । नच—‘समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् । विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥’ इति वाचस्पत्युक्तेरन्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तिरिति—वाच्यम्; किमधिष्ठानगतधर्मस्यारोप्येऽभानमापाद्यते, आरोप्यगतधर्मस्याधिष्ठाने भानं वा । नाद्यः; यद्धर्मवत्तया ज्ञायमाने अधिष्ठाने आरोप्यनिवृत्तिस्तस्यैवारोप्येऽभाननियमेन प्रकृते तदभावात् । न द्वितीयः; अधिष्ठानगतधर्मप्रतीत्यविरोधिनः आरोप्यगतस्याधिष्ठाने भानेऽपि प्रकृते अविरोधात् । आत्मैक्याध्यासकाल एव प्रेमास्पदत्वसंभवेनारोप्येऽपि अप्रेमास्पदत्वाप्रतीतेः कुतो विषये तत्प्रतीतिः? यथा इदमिति रजताध्यासकाल एव रजते अनिदन्त्वाप्रतीतिः । यत्तु—कैश्चित् परिह्रियते—सुखानुभवरूपस्यात्मनो अहमर्थात् भेदेनैव सुखमनुभवामीत्यादौ प्रतीतिः—इति, तन्न; वैषयिकसुखानुभवस्यात्मान्यत्वात् । नच—मोक्षे अहमर्थाभावेनात्मनाशो मोक्ष इति बाह्यमतापत्तिः, प्रेमास्पदस्याहमर्थस्य त्वन्मतेऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मध्यासस्य प्रतिबिम्बरूपत्वं धर्मध्याससाहित्यं वेति नियमात् प्रकृते प्रतिबिम्बाभावाद्धर्मध्याससाहित्यमावश्यकम् । अतएव ‘सुरभि जल’मित्यादौ धर्मध्यास आवश्यकः । यत्र स्मर्यमाणसौरभादेरारोपः, तत्र तस्यानियम इति भावः । विषयत्वादिति । विशिष्टबुद्धेः शुद्धविशेष्यकत्वनियमस्वीकारेऽपि विषयत्वं केनचिद्रूपेणावच्छिन्नं निवेद्यम्, तच्च न शुद्धे इति भावः । अहंशब्दाभिधेयत्वात् मान्ताहंशब्दवाच्यत्वात् । वाच्यत्वमात्रस्य व्यभिचारित्वेन तत्र विशेषणम् । अहंकारशब्देति । परमते मान्ताहंपदवाच्ययोरनात्मत्वात् साध्यसाधनावैक्यम् । अधिष्ठानावच्छेदकत्वेन आरोपात्पूर्वमधिष्ठानगतत्वेन । यथाश्रुते अनवच्छिन्नचित्त एव गौरत्वाद्यध्यासाधिष्ठानत्वेनासङ्गतिः । सुषुप्तिकालीनेति । सुषुप्तौ निर्विकल्पसुखधीरेव प्रेमोत्पादिका । प्रेम च नेच्छा । येन सिद्धसुखे न स्यात्, किंतु ज्ञेयरूपवृत्तिविशेषः । अथवा—सुषुप्तीत्यादेः सुषुप्तिकालीनस्य प्रेममूलानुभवस्येत्यर्थः । तथाच सुषुप्तौ सप्रकारकज्ञानेच्छयोरसंभवेऽपि सुषुप्तानुभवजन्यस्मृत्या सौषुप्तसुखे उत्तरकालसत्त्वेनेच्छा अहमर्थविषयिका नेत्यर्थः । नायुक्तिलेशः न किमप्ययुक्तम् । रूपेण धर्मेण । विषयः अधिष्ठानम् । रूपवान् धर्मवान् । अप्रेमास्पदत्वस्यैवेति । एवकारादात्मगतस्य प्रेमास्पदत्वस्यान्तःकरणे धीव्यवच्छेदः । धर्मस्य धर्मसामान्यस्य । तस्यैवेति । अधिष्ठानधर्मसामान्यस्यारोप्ये भानाभावे तु रूप्यादाविदन्त्वादिकं न भायादिति भावः । प्रतीत्यविरोधिनः प्रतीतिप्रतिबध्यधीविषयान्यस्य । आरोप्यगतस्य रज्ज्वाद्यारोप्यसर्पादिगतस्य भीषणत्वादेः । अविरोधादिति यदुक्तं तद्विवेचयति—आत्मैक्येति । प्रेमास्पदत्वेन भासमानात्मैक्येत्यर्थः । प्रेमास्पदत्वेति । आरोप्ये भासमानेत्यादिः । प्रेमास्पदत्वं हि प्रेमविषयतायोरयत्वं सुखत्वेन भासमानत्वरूपम् । तस्य च मनआद्यध्यासपूर्वमेवात्मनि प्रतीतेः तदभावविशिष्टतया नात्मनि मनआद्यध्यासो नतरामुक्ताभावस्यात्मन्यध्यास इति भावः । कैश्चित् परमतानुयायिभिः । भेदेनैवेति । तथाचाहंकारस्य नात्मन्यैक्यारोप इति तस्य प्रेमास्पदत्वासंभव इति भावः । वैषयिकेति । यद्यध्यात्मैव सुखस्वरूपम्; तथापि सुखमनुभवामीत्यादौ विषयसंबन्धजन्यवृत्त्यवच्छिन्नात्मन एव सुखपदवाच्यत्वात् स एव तत्र विषय इति भावः । आत्मान्यत्वात् यादृशे अविद्योपहितात्मन्यहंकारैक्याध्यासः तद्वैलक्षण्यात् । तद्वृत्तेः अहमर्थभेदस्य प्रतीयमानस्याश्रयत्वात् । वैषयिकसुखानुभवे अहमर्थभेदधीरहमर्थाधिष्ठाने त्वविद्योपहिते ऐक्यधीरेवेति भावः । स्वभावतः सुखरूपेण भासमानं यत्, तस्य न मन्मते नाशः, मनस्तु शरीरमिव न तथेति तन्नाशो मोक्षे न

नाशात्, तदन्यस्य शून्यस्य तन्मतेऽप्यनाशादिति—वाच्यम्; औपाधिकप्रेमास्पदनाशेन बाह्यमत-
प्रवेशापत्तौ शरीरनाशेऽपि तदापत्तेः । एतावताहमर्थस्य मुख्यनन्वयेऽपि 'माममृतं कृधि' 'ज्योतिरहं
विरजा विपाप्मा भूयास'मिति श्रुतिरपि चैतन्यगतमेवामृतत्वं विषयीकरोति, 'अहं पुष्टः स्या'मिती-
च्छेव स्वसमयविद्यमानशरीरवृत्तिपुष्टिम् । नच—'शरीरं पुष्टं स्या'दिति शरीरमात्रे पुष्टेच्छावत्
'आत्ममात्रं मुक्तं स्या'दितिच्छाया अदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; इच्छासमये अन्तः-
करणाध्याससंभवेन यद्यपि नात्ममात्रगतमुक्तीच्छा, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छाया एव विवक्षितवि-
वेकेन विशेष्यमात्रगतमुक्तिविषयत्वपर्यवसानात् तस्यामिष्टत्वोपपत्तेः । नचाहमर्थस्यान्तःकरणग्रन्थित्वे
'मम मन' इति धीर्न स्यात्; चिदचिद्ग्रन्थिरहंकारः, अचिन्मात्रमन्तःकरणम् इति भेदेन षष्ठ्युपपत्तेः ।
नचैवं—'मनः स्फुरति मनोऽस्ती'त्यादिज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात्, चिदचित्सं-
वलनविषयत्वाविशेषादिति—वाच्यम्; संवलनं हि न संबन्धमात्रम्, किंतु तादात्म्येन प्रतिभासः ।
स च तत्र नास्तीति विशेषात् । ननु—सर्वापि भ्रान्तिर्द्यंशविषया; अन्यथा निरधिष्ठानकभ्रमापत्तेः,
नच 'अहं'मिति बुद्धेर्द्यंशत्वमनुभूयते; कल्प्यते चेत्, आत्मेति बुद्धेरपि द्यंशत्वं कल्प्यतामिति—
चेन्न; किमिदं द्यंशविषयत्वम्? अधिष्ठानारोप्यविषयत्वं चेत्तर्हीष्टापत्तिः; अहमर्थमिथ्यात्वस्यैव
द्वितीयांशविषयत्वे प्रमाणत्वात् । आत्मेत्यत्र तु द्यंशविषयत्वे नैवं प्रमाणमस्ति, येन तथा कल्प्यते ।
नच द्यंशविषयत्वं भिन्नभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्यविषयत्वम्; रजतत्वसंसर्गारोपनिबन्ध-
नेदंरजतमिति प्रतीतौ व्यभिचारात् । नहि रजतत्वेऽपि तत्र कश्चन प्रकारो भासते; रजतादेस्तत्र
प्रकारत्वकल्पने मानाभावात्, तत्कल्पनां विनैवोपपत्तेः, तथा कल्पनायामतिप्रसङ्गादप्रयोजकत्वाच्च ।
यद्वा—अत्राप्य'हं स्फुरामि' 'अहमस्मी'ति द्यंशता भात्येव 'रूप्यं स्फुरति' 'रूप्यमस्ती'त्यत्रेव । इयांस्तु
विशेषः—यत्तत्र इदंत्वावच्छिन्नस्फुरणमधिष्ठानमिति इदं रूप्यमिति धीः, इह तु स्फुरणमात्रमधि-
ष्ठानमिति स्फुरामीत्येव बुद्धिः । नच भ्रमस्याप्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानत्वायोगः, भ्रान्तोऽसि । स्फुरणं
चैतन्यं ब्रूमः, नत्वविद्यावृत्त्यादिकम् । एवंच न प्रत्यक्षमहमर्थस्यात्मत्वे प्रमाणम् । नाप्यनुमानम् ।
तथाहि—अहमर्थो, मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्, संमतवत्, इत्यत्र विशेषव्याप्तौ दृष्टान्ता-
भावः । न हि कृत्याश्रये मोक्षान्वयित्वं कश्चित् संप्रतिपन्नमस्ति; सामान्यव्याप्तेः स्वर्गसाधनकृत्याश्रये
ऋत्विजि स्वर्गानन्वयेन व्यभिचारात् । अहमर्थः, अनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, संमतवदि-
त्यत्र शरीरे व्यभिचारः । नच तत्रानर्थाश्रयत्वमसिद्धम्; 'अहमज्ञ' इति प्रतीत्या अहमीव 'स्थूलो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दोष इत्याह—औपाधिकेति । अमृतं कृधीति । 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः
कामास्तत्र मामृतं कृधी'ति श्रुतिः । अनिष्टत्वेति । परमपुरुषार्थत्वाभावेत्यर्थः । अहमर्थगतत्वेन नाशित्वापत्त्ये-
त्यादिः । विशेष्यमात्रेति । इच्छाभासकसाक्षिणा अहमर्थभासनादिच्छोल्लेखकाले अहमर्थोल्लेखेऽपि विवेकिनामहमर्थ-
विविक्तात्मगतत्वेनैव मुक्ताविच्छा, अविवेकिनामपि मदनुभूयमानदुःखमूलवति तदुच्छेदोऽस्त्वित्तीच्छायाः शुद्धात्मगत-
मुक्तिविषयकत्वेन पर्यवसानम्; तस्यैव दुःखमूलाज्ञानवत्त्वात्, शरीरं पुष्टं स्यादितिच्छोल्लेखस्तु युक्त एव । शरीरत्वे-
नात्मनि शरीराध्यासाभावादात्मतादात्म्याविशेषितेन शरीरत्वेनैवेच्छाभासकसाक्षिणा भासमानत्वादिति भावः ।
नास्तीति । स्फुरतीत्यादौ स्फुरणादेशाश्रयत्वमाख्यातेनोल्लिख्यते, ननु तादात्म्यमिति भावः । स्फुरणत्वावच्छिन्नस्य
तादात्म्यमवच्छेदकं वा तत्रोल्लिख्यते, स्फुरणत्वादिकं त्वनावृत्तचित्त्वादिकम् । अहमित्यादौ त्वविद्योपहितचित्त्वावच्छि-
न्नस्य तादात्म्यमुल्लिख्यते इति वा विशेषो बोध्यः । इष्टापत्तिरिति । अहमिति प्रतीतेः द्यंशत्वे इत्यादिः । रजत-
त्वेति । यत्रानुभूयमानारोपस्थले शुक्तौ रजतस्य न तादात्म्यारोपः, तद्भेदग्रहात्तत्र रजतत्वस्य संसर्गारोपे तस्य न
प्रतिबन्धकत्वम्; समानाकारज्ञानस्यैव नव्यमते प्रतिबन्धकत्वात् । तत्रेदं बोध्यम्—वस्तुतस्तु—रजतादेस्तादात्म्यं
यत्रारोप्यते, तत्र रजतत्वादेः संसर्गोऽप्यवश्यमारोप्यते । रजतत्वादौ रजतादेशाधेयतासंबन्धेन रजतत्वत्वादेः स्वरूप-
संबन्धेन भावे तु न नियमः । शाब्दादिभ्रमे तद्बोधकशब्दानियमादुपस्थित्यनियमाच्चेति ध्येयम् । निबन्धनेति । वृत्ति-
त्यर्थः । स्फुरणमात्रविद्योपहितचित् । अधिष्ठानं आधारः । अज्ञोऽहमिति प्रतीतेरनावृत्तचित्प्रस्फुरणत्वेनेवाविद्यो-
पहितचित्त्वेनाप्याधारता बोध्या । विशेषव्याप्ताविति । यद्यन्मोक्षसाधनकृत्याश्रयः, तन्मोक्षाश्रय इति व्याप्ता-
वित्यर्थः । सामान्यव्याप्तेः यद्यत्फलसाधनकृतिमत्फलवदिति व्याप्तेः । ऋत्विजीति । उपलक्षणमिदम् । जातेष्ट्यादि-
कृत्याश्रये मित्रादौ पुत्रपूतत्वादिकलस्याभाव इत्यपि बोध्यम् । तत्सत्त्वात् अज्ञानसंबन्धरूपानर्थसत्त्वात् । नन्वज्ञान-

‘ऽहमहं’ इति प्रतीत्या शरीरेऽपि तत्सत्त्वात्, अन्यथा असिद्धिप्रसङ्गात् । अनात्मत्वं, नाहमर्थवृत्तिः, अनात्ममात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववदित्यत्र कृत्याश्रयावृत्तित्वमुपाधिः । नापि ‘कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि’ ‘स प्राणमसृजत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता’ इत्यादौ जगत्कारणे सति प्राणमनःसृष्टेः पूर्वमहन्त्वोक्तेः ‘तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मी’त्यवधारणेन शुद्धात्मनोऽहन्त्वोक्तेः अनवद्यस्य ब्रह्मणोऽहमुल्लेखोक्तेः ‘अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः । स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥’ इत्यादौ मोक्षान्वयोक्तेश्चैताः श्रुतयः प्रमाणम्; विशिष्टवाचकस्यैवाहम्पदस्य लक्षणया निष्कृष्टाहङ्कारचैतन्ये प्रयोगात् । लक्षणाबीजभूताऽनुपपत्तिरुक्ता । एतेन—‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’ इत्यादिस्मृतयोऽपि—व्याख्याताः । अतएव ‘तद्योऽहं सोऽसा’वित्यादावपि लक्षणाऽऽश्रयणीया; विशिष्टवाचकत्वेन ह्यस्तस्य विशेष्ये लक्षणाया आवश्यकत्वात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धावहमर्थस्यानात्मत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्यानादिसंबन्ध एव हेतुः, शरीरे तु स नानादिः, अधिष्ठानगताज्ञानस्य शरीरे संसर्गाध्यासोत्पत्तेः, तत्राह—अन्यथेति । उक्तहेतोरुदाहरण इत्यर्थः । उपाधिरिति । मुक्तौ तु न साध्याव्यापकत्वं दोषः; तस्याः साध्यवत्त्वेन सन्निधत्तया पक्षसमत्वात्, निश्चितसाध्यवति उपाध्यसन्देहात् । नच—अहं करोमीत्यहमर्थान्तर्गताधिष्ठानचित्तोऽपि कृत्याश्रयत्वात् तत्र मुक्तेर्वर्तमानत्वात् साध्याव्यापकत्वमिति—वाच्यम्, उक्तचित एव मुक्तिवत्त्वेन तत्र तस्यावर्तमानत्वात् । प्राणमसृजतेति । ‘प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मन’ इति प्रश्नोपनिषत् । इत्यादाविति । ‘अन्नमशितं त्रेधा विधीयते योऽणिष्ठस्तन्मनः आपः पीतास्त्रेधा योऽणिष्ठः स प्राण’ इत्यादि छान्दोग्यम् । विशिष्टेति । उच्चारयितृतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मविशिष्टेत्यर्थः । प्राणादिस्वरूपे ब्रह्मैक्येन ज्ञेयात्मनि चोच्चारयितृत्वाभावाल्लक्षणाऽऽवश्यकी । नहि सृष्ट्यारम्भकाले अहंपदस्योच्चारयितृ ब्रह्म; वीक्षणमात्रस्य श्रुत्या तदा बोधितत्वात् । एतेन । वाच्यार्थान्वयासंभवाल्लक्षणवश्यकत्वेन । व्याख्याता इति मां चिन्मात्रमेव । प्रपद्यन्ते तत्त्वमस्यादिश्रुत्या साक्षात्कुर्वन्तीत्याद्यर्थकत्वेनेत्यादिः । इति लघुचन्द्रिकायामहमर्थस्यानात्मत्वोपपत्तिः ।

अथाहमर्थविचारः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अहमर्थ आत्मैव, कथमविद्यातस्तत्सृष्टिः? सुषुप्तावहमर्थोऽपि प्रकाशत एव । अतएव सुखमहमस्वाप्समिति अहमर्थोऽस्मिन् स्मरणमुपपद्यते । यदि नाहमर्थे परामर्शः, तर्ह्यात्मपरामर्शोऽपि न स्यात् । नह्यहंज्ञानादन्यदात्मज्ञानमस्ति । अतएव—विवरणे—“अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं न निष्कलङ्के; तस्य मोक्षावस्थायिनः शाल्वैकसमधिगम्यत्वात्” इत्युक्तम् । इदमर्थव्यावृत्ताहमर्थप्रकाशे एतावन्तं कालं सुप्तोऽहं वाऽन्यो वेति संशयादिप्रसङ्गः, अहमेवेति निश्चयानुपपत्तिश्च । प्रत्यक्त्वं तु चिदस्वपीदिति स्वयमस्वपीदिति च प्रतीत्यापत्त्याऽहमस्वाप्समिति प्रतीत्ययोगेन च चिन्मात्रस्य प्रतिद्वन्द्वचित्त्वम्, अन्यत्वं प्रतिद्वन्द्वस्वत्वं वा न संभवतीति युष्मदर्थरूपपरागव्यावृत्तत्वम् अहमर्थत्वं वैव प्रत्यक्त्वं वक्तव्यमिति एकस्यात्मनः प्रत्यक्त्वादहमेवेति निश्चयोपपत्तिवर्णनमहमर्थानात्मत्ववादिनां न संभवति । अहमंशेऽनुभव आत्मनि स्मरणमिति कल्पनायामज्ञानांशेऽप्यनुभवापत्तिः, अज्ञानं चाहमर्थश्रयमेव प्रकाशते, नानाश्रयम्, अन्याश्रयं वा । अनुभवसिद्धं हि एतावन्तं कालं जाग्रदासमित्यादाविविधास्वाप्समित्यत्राप्यहमंशे परामर्शत्वम् । अन्यथा यः पूर्व मदन्त्यः सुप्तः सोऽहमिदानीं जाग्रदिति धीप्रसङ्गः । परामृश्यमानात्मैक्याध्यासनिबन्धनोऽपरामर्शत्वारोपस्तु अपुरोवर्तिन्यनुभवे परामर्शत्वारोपेऽनुव्यवसायाप्रमात्वापत्त्या न संभवति । नह्येतावताप्यात्मान्यत्वमहमर्थस्य सिद्धमिति परामृश्यमानात्मैक्याध्यासवर्णनमपि न संगतम् । आत्मैक्यभिमन्यमान आसमिति धीरिव अहमित्यभिमन्यमान आसमिति धीरपि न संभवतीति सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे न काप्यनुपपत्तिः । न किञ्चिदवेदिषमिति प्रकाशमानेऽप्यहमर्थेऽज्ञानानुभवस्तु—आत्मप्रकाशवादिनामात्मान्यविषयकाज्ञानविषयक इवाहमर्थान्यविषयकाज्ञानविषयक इति न कोऽपि दोषः । न विज्ञानाल्पमहमस्मीति सुषुप्तिविषया श्रुतिस्तु विशेषाज्ञानपरा, न सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे विरोधिनी । अहमर्थस्य स्मृतत्वं हि तस्यैवानुभवितृत्वे उपपद्यते; ज्ञानसंस्कारस्मरणानामैकाधिकरणनियमात् । अविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्यैवान्तःकरणावच्छेदोऽपि मठाकाशतदन्तःस्थषटाकाशयोरिवौपाधिकभेदसत्त्वादहमर्थस्य कर्तृता तदनुभवितृत्वे एवोपपद्यते । एवं च सुषुप्तावहमर्थो विद्यत एव । अतएव—निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्तौ

प्रवृत्त्युपपत्तिः । “योऽहं सुषुप्तः सोऽहं जागर्मि” इति प्रत्यभिज्ञाऽवाधश्च । अन्यथा प्रतिसुषुप्त्यहंकारप्रलयेऽहंकारव्यक्तिभेदात्कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । सुषुप्तौ प्राणकार्यथासाद्युपलम्भोऽपि अहंकारस्याविलये लिङ्गम् । “अथ हैतत्पुरुषः स्वपिती”त्यारभ्य “गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः” इति श्रुतौ अहंकारपरामर्शोऽप्यत एवोपपद्यते । यथा भूमाभिज्ञस्याप्यात्मनः भूतः पृथगुपदेशः, एवात्माभिज्ञस्याप्यहमर्थस्याथात आत्मादेशः अथातोऽहंकारादेश इति पृथगुपदेश उपपद्यते । प्रत्यक्षसिद्धं भेदं निरस्याभेदबोधनार्थमात्मभूतोः पृथगुपदेश इति कल्पनं तु अहमर्थातिरिक्तात्मनो भूमाख्यब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च संभवति । लक्ष्मणे श्रुत्युक्तानां भूमाहंकारात्मनां विम्बप्रतिविम्बमुखस्थानीयाविवोपाधिकब्रह्मजीवचिन्मात्रत्वसंभवात् अहंकारस्य जीवात् पार्थक्यसिद्धिः । स एवेदं सर्वमित्याद्युपसंहाराणां स एवाधस्तादित्याद्युपक्रमानुसारेण सर्वगतत्वपरत्वेन सार्वान्त्र्योपदेशपरत्वाभावेन जीवब्रह्माभेदार्थ एवात्मभूमपृथगुपदेश इति कल्पनाऽयोगः । अन्यथा मध्येऽहंकारोपदेशो वितथ एव स्यात् । अस्तुवा अहंकारस्यात्मनः पृथगुपदेशः, एवमपि नाहमर्थात्मात्मत्वसिद्धिः । नह्यहंकारोऽहमर्थः; दम्भोऽभिमानोऽहंकार इत्यादौ तस्य बुद्धिधर्मत्वबोधनात् । अहंशब्दोऽहमर्थवाची दकारान्तः, बुद्धिधर्मवाची मकारान्तो ह्ययमिति शब्दभेदोऽप्यत एवोपपद्यते । स्वरूपतः सर्वाहमर्थभेदेऽपि देहादिप्रतिसंबन्धिभेदेन भिन्नत्वात् नान्यस्मिन्नहमिति धीः । ज्ञानानन्दादिकं तु आत्मधर्म एव नात्मा, तेन अहं जानामीत्यनुभवोऽप्युपपद्यते । (१) अहमर्थः, अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत् । (२) अहमर्थः, आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारशब्दाभिधेयवत् इत्यनुमाने तु न प्रमाणं भवतः; आद्येऽधिष्ठानचैतन्ये व्यभिचारात्, द्वितीयेऽसिद्धेश्च । गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मा न भूवमिति परमप्रेमास्पदत्वम्, अहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकवैधुर्येण स्वप्रकाशत्वं चात्मनः लयोक्तं अहमर्थानात्मत्वे नोपपद्यते । परमप्रेमास्पदत्वमैक्यरूपेऽपि ‘समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् । विषयस्य तु रूपेण समारोपो न रूपवानिति वाचस्पत्युक्त्या अहमर्थप्रेमास्पदत्वासिद्धिः । किंच अहमर्थस्य परमप्रेमास्पदत्वे प्रेमास्पदनाशो मोक्ष इति बौद्धमतप्रवेशोपपत्तिः, अहं मुक्तः स्यामितिच्छानुदयप्रसङ्गश्च । किंच—‘मास्मृतं कृधी’ति श्रुतिः, मम मन इत्यनुभवश्चाहमर्थानात्मत्वे विरुद्धे स्याताम् । इदं रजतमित्यादाविवाहमित्यत्रेदमंशानुभवाभावोऽप्यमुमर्थं हस्तावलम्बयति । अहं स्फुरामीत्यत्र तु लम्बते अविद्यावृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव स्फुरणपदार्थ इति स्फुरणांशमादायेत्यंशतासमर्थनमपि न युक्तम्; भ्रमज्ञानस्याधिष्ठानत्वात् । तस्मान्नाहमर्थ अनात्मा; किंत्वामैव । तत्रच (१) अहमिति प्रत्यक्षम् (२) अहमर्थः, मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्, संमतवत्, (३) अहमर्थः, अनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, संमतवत्, (४) अनात्मत्वं, नाहमर्थनिष्ठं, अनात्ममात्रवृत्तित्वात् घटत्ववत् इत्याद्यनुमानानि (५) कस्मिन्नहमुक्तान्ते उक्तान्तो भविष्यामीति प्राणादिष्टेः प्रागहंलोकविविशिष्टा श्रुतिः (६) ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे’त्यादिस्मृतिश्च प्रमाणमिति अहमर्थस्योपपत्त्यर्थमविद्यानिरूपणमिति न संगतमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अहमर्थोऽनात्मैवेति अविद्यातः तत्सृष्टिवर्णनमुपपद्यत एव । इच्छादिविशिष्टस्याहंकारस्य सुषुप्ताविच्छादीनामप्रकाशादप्रकाशेन सुषुप्तौ आत्मप्रकाशेन च प्रकाशाप्रकाशाभ्यां आत्माहमर्थयोर्भेदस्यावश्यकत्वात्, रूपादिज्ञानाभावेऽपि घटस्य ग्रहणापत्या गुणिग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वेनेच्छादिगुणाग्रहणेऽहमर्थग्रहणवर्णनासंभवात् । एतेन—सुखमहमस्वाप्समिति जागरप्रत्ययोऽपि—व्याख्यातः; तस्याहमंशोऽपरामर्शत्वात्, अज्ञानांशे तु परामर्शत्वं पूर्वमुपपादितम् । एवंचाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्तावनुभूयमानात्मन्येव परामर्शपर्यवसानम् । अहमित्याकारस्तु तत्कालानुभूताहमर्थसंसर्गेणेति न चिदस्वपीत्यादिप्रतीत्यापादनसंभवः । अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानमिति विवरणवचनमप्येतेन व्याख्यातम्; अभिज्ञाया अहमर्थे सुषुप्तावसंभवेऽपि तत्संसर्गेणैवात्मनि परामर्श इत्येतदर्थपरत्वात् । सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासात् नैतावन्तं कालं सुप्तोऽहं वा मदन्यो वेति संशयादिप्रसङ्गः । पूर्वानुभूतचैत्राभिन्नतयाऽनुभूयमाने मैत्रे सोऽयं वा नवेति संशयो हि नोदेति; निश्चये सति संशयाभावनियमः, नतु निश्चयाभावे संशयनियमः; आरोपे सति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोप इति न्यायात् । सुखमहमस्वाप्समिति अहमर्थेऽपि परामर्शत्वानुभवस्तु परामर्शमानात्मैक्याध्यासनिबन्धनतद्ज्ञानांशपरामर्शलारोपनिबन्धनः; तद्विज्ञे तत्त्वेनानुभूयमाने परामर्शलारोपदर्शनात् । मदन्यत्वेन पूर्वविज्ञानाभावात् मदन्यः सुप्त इति प्रत्ययाप्रसङ्गः । अहंकारस्याभिमन्यमान आसमिति प्रत्ययप्रयोजकत्वेन मन्मते आत्मैक्यभिन्यमान आसमिति प्रत्ययापादनासंभवेन सुषुप्तौ अहंकारभाने अहमित्यभिमन्यमान आसमिति प्रत्ययप्रसङ्गः; अहंकाराभिमानप्रकाशयोः समव्याप्ततया परस्परप्रकाशेन परस्परप्रकाशापादनसंभवात् । न विजानात्ययमहमस्मीति श्रुतिरपि सुषुप्तावहमर्थाज्ञाने लिङ्गम् । सुषुप्तौ अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सति संपद्य न विदुरित्याद्यात्मभानप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन आत्माज्ञानानुभवस्य विशेषाज्ञानविषयत्वेऽपि अहमर्थाज्ञानविषयत्वेऽविरोधात् । अविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्यैव अन्तःकरणावच्छेदेनैकदेशस्थोपाध्योरुपधेयाभेदकत्वेन योऽहमनुभवामि सोऽहं स्मरामीत्यादिप्रत्यभिज्ञानाद्यविरोधः । कृशोऽहं स्थूलो भवामीत्यादौ कार्यादिनिष्कृष्टस्यैव शरीरस्य विवेकिनां

उद्देश्यत्वमिति प्रकृतेऽपि अन्तःकरणादिनिष्कृष्टस्यैवोद्देश्यत्वमिति निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्तौ प्रवृत्त्युपपत्तिः । अन्तःकरणोपरमेणाहंकारोपरमोऽपि सिद्धप्राय इति “अथ हैतत्पुरुषः स्वपिती”त्यारभ्य मनआदीनामेवोपरमवर्णनमपि न दोषाय । अथातोऽहंकारादेशः अथात आत्मादेश इति पृथगुपदेशोऽपि इदानीमुपपन्नः । अहंकाराद्विज्ञात्मनो भूमाख्यप्रत्यगभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि उभयोः सार्वान्तर्योपदेशानुपपत्तिसहकृतोक्तश्रुतेरभेदपरत्वेऽपि प्रकृते चिज्जडयोरभेदानुपपत्त्या अमेदबोधनासंभवात् । “स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः” इति प्रश्नानन्तरं किं कचिदधिष्ठानत्वमात्रमुत परमार्थतः कचिदधिष्ठितत्वं वा । आद्ये स्वे महिनि इत्युक्त्वा द्वितीये भूमातिरिक्तमेव नास्तीत्येतदर्थपरान्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति पूर्ववाक्यानुसारेण “स एवाधस्ता”दित्यादेरपि सार्वान्तर्यापरत्वस्योपपादितत्वेन तस्य सर्वगतत्वपरत्वाभावेन सार्वान्तर्योपदेशस्यात्रापि सिद्धत्वात् । मध्येऽहंकारोपदेशस्तु ब्रह्मापरोक्षायः तत्रापरोक्षस्य सुप्रसिद्धत्वेन तदभेदेन ब्रह्मण्यपि तत्सिद्धिसंभवात् । मान्तदान्तत्वकृतभेदेनार्थभेदकल्पनस्यापर्यायत्वकल्पनस्य वाऽयोगेनाहमहंकारशब्दयोरेकत्रैव प्रयोगदर्शनेन च पर्यायत्वात् पृथगुपदेशेन भेदवर्णनमुपपन्नमेव । कर्तृत्वादीनामनात्मधर्माणामहमर्थे दर्शनादप्यहमर्थोऽनात्मा । अहमर्थः अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्, अहमर्थः आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारशब्दाभिधेयवत्, इत्यनुमाने अपि प्रथमेऽहंप्रत्ययविषयतावच्छेदकरूपेणाधिष्ठानस्यापि आत्मान्यत्वात् तत्र व्यभिचारेण, द्वितीयेऽहमहंकारशब्दयोः पर्यायत्वसमर्थनेनासिद्ध्यभावेन चाहमर्थानात्मत्वे प्रमाणम् । अधिष्ठानावच्छेदकस्याप्यधिष्ठानत्वात् भ्रमकालिकज्ञानविषयाधिष्ठानधर्मस्यारोप्ये भानदर्शनात्, स्वप्रकाशात्मसंबन्धेनानात्मनोऽपि प्रकाशाव्यभिचारसंभवाच्चात्मनो गौरोऽहमित्यनात्मागोपाधिष्ठानत्वोक्तिः, परमप्रेमास्पदलोकिरहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारेणात्मनः स्वप्रकाशत्वोक्तिश्च नानुपपन्ना ॥ अधिष्ठानारोप्यविषयत्वरूपं ज्ञां विषयत्वमहंप्रत्ययस्यापि विद्यत एव; अहमर्थमिथ्यात्वानुपपत्त्या तत्कल्पनात् । एवंचाहमर्थतात्मत्वे न प्रत्यक्षम्, अहमर्थः, मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्वाश्रयत्वात्, अहमर्थोऽनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थश्रयत्वात्, अनात्मत्वं, नाहमर्थवृत्तिः, अनात्ममात्रवृत्तिः, घटत्ववदित्याद्यनुमानानि च न प्रमाणम्; द्वितीये शरीरे व्यभिचारात्; स्थूलोऽहमज्ञ इति प्रत्ययेन शरीरस्याप्यनर्थश्रयत्वात् । प्रथमे ऋत्विजि व्यभिचारात् । तृतीये कृत्वाश्रयावृत्तित्वस्योपाधित्वात् । कस्मिन्नहमुक्त्वान्ते इत्यादिपूर्वादाहृतश्रुतिस्मृतिषु तु अहंशब्दो लक्षणया निष्कृष्टाहंकारचैतन्यमात्रपर इति न दोष इति सर्वमनवयमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारः—

अहमर्थ आत्मैव; आत्मनि प्रकाशमाने प्रकाशमानत्वात्; सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शान्यथानुपपत्त्याऽहंकारस्यापि सुषुप्तौ परामर्श इत्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्तःकरणविशिष्ट एव प्रत्यभिज्ञानमिति विवरणानुसारात् । अन्तःकरणस्यान्वहं विनाशात्तद्विशिष्टस्यापि विनाशित्वाच्च प्रत्यभिज्ञानविषयत्वमिति शङ्कोत्तरेण संसारावस्थायामन्तःकरणविशिष्टरूपानपायादिति विवरणवाक्येन विरोधात् निरुपाधिकात्मपरामर्शनिषेध एव विवरणतात्पर्यमिति वर्णनासंभवाच्च । अहमर्थस्यात्मव्यतिरेके एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वेति संशयप्रसङ्गः; निश्चयाभावेऽपि कदाचित्संशयापादनसंभवात् । परामर्शयमानात्मनि प्रत्यक्षनिश्चयादपि न संशयनिरासः; अहमर्थत्वस्यैव प्रत्यक्त्वात् । एवं चाहमंशेऽनुभवः आत्मांशे परामर्श इति परास्तम् । अन्यथाऽज्ञानांशेऽप्यनुभवत्वापत्तिः; विद्यमानमप्यज्ञानमहमर्थश्रितमेव विद्यत इति सुषुप्तौ तत्प्रकाशेऽहमर्थस्यापि प्रकाशस्याङ्गीकरणीयत्वात् । **एतेन**—अहमर्थपरामर्शे अहमभिमानस्यापि परामर्शापत्तिः । अहमभिमानतत्प्रकाशयोः समव्याप्तत्वादिति शङ्का—**पराहता**; उभयोः समव्याप्तत्वेऽपि सुषुप्तावहमभिमानप्रकाशाभावेन दोषवारणात् । अहमर्थप्रकाशस्यैवाभिमानप्रकाशत्वे लिष्टापत्तिः । न विज्ञानालयमिति श्रुतिस्तु विशेषाज्ञानविषया नात्मानमिति श्रुतिरिवेति मन्तव्यम् । अहरहरित्यादेरात्मवेदनबोधकत्वाभावेन प्रत्युत न विदुरिति किञ्चित्स्वरूपाज्ञानस्यैव प्रतीत्या नात्मानमित्यादिनैवाहरहरिति श्रुतिवाधनेन चादोषः । अन्तःकरणावच्छिन्नस्याज्ञानादिस्मृतृत्वान्यथानुपपत्त्यापि सुषुप्तावहमर्थसिद्धिः; अविद्यावच्छिन्नस्यैवान्तःकरणवच्छेदेऽपि उपाधिभेदप्रयुक्तोपधेयभेदावश्यकत्वात् । उपाध्योर्भिन्नदेशत्वादिकं त्वप्रयोजकम् । अतएव अहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्तौ प्रवृत्त्युपपत्तिः । अहमर्थविनिर्मुक्तस्य चैतन्यमात्रस्य निर्दुःखं स्यामितीच्छया असंभवेन कृशोऽहं स्थूलो भवामीतिवन्नोपपत्तिः । अथ हैतत्पुरुषः स्वपितीत्यादां गृहीतं मन इति मनोग्रहणं मनसोऽनहंकारत्वेन अहंकारस्याप्युपलक्षणमिति वर्णनं न संभवति । अथातोऽहंकारादेश इत्यादिपृथगुपदेशोऽपीदानीमनुकूलः । “स्वे महिनी”त्यत्र महिमशब्दार्थो नाल्पः, किंतु परिपूर्ण इति बोधनार्थम् स एवाधस्तादित्यादिप्रवृत्तिः, नतु सार्वान्तर्यार्थम्, येनोभयोः सार्वान्तर्योपदेशः अन्यथानुपपत्तिसहकारेण श्रुतेरभेदबोधकत्वमाशङ्क्यते । अस्तु वा अहंकारपदं जडपरम् । एवमपि अहमर्थो जीव एव । **एतेन**—अहमर्थः आत्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्, अहमर्थः आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारशब्दाभिधेयवत्, इति अनुमाने अपि चिदंशं विना स्वरूपेणाहंप्रत्ययविषयत्वस्य पक्षेऽप्यभावेन स्वरूपेणेति विशेषणासंभवेन प्रथमानुमानेऽधिष्ठानचित्ति व्यभिचारेण, द्वितीयानुमानेऽहमहंकारशब्दयोर्भिन्नार्थत्वस्य साधनेन दृष्टान्तेऽसिद्धितादवस्थेन च नाहमर्थोऽनात्मत्वे प्रमाणमिति—**सूचितम्**; अहमर्थमनन्तर्भाव्यात्मनि प्रेमास्पदत्वभावादर्शनेन आत्मैक्यारोपनिबन्धनैवा-

अथ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ।

ननु—कर्तृत्वं यद्यनात्मधर्मः स्यात्, कथमात्मनि भासेत ? नच—जपाकुसुमस्य लौहस्य स्फटिक इवान्तःकरणगतं कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्यते, नतु तात्त्विकम्; निर्विकारवश्रुतिविरोधात्; सुषुप्तौ बुद्ध्यभावेऽकर्तृत्वदर्शनाच्चेति—वाच्यम्; एवंहि 'रक्तं कुसुम'मिति वत् कदाचित् मनः कर्त्रिति प्रत्यक्षप्रमा'लोहितः स्फटिक' इति वत् चैतन्यं कर्त्रिति भ्रमश्च स्यादिति—चेन्न; कर्तृत्वविशिष्टान्तःकरणस्य चैतन्यात्मनाध्यासेन न तथा प्रतीतिः । कुसुमस्य तु स्फटिकात्मना नाध्यास इति वैषम्यात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विरोधादिति । धर्मधर्मिणोक्तादात्म्यात् धर्मस्योत्पत्त्या धर्मिणोऽप्युत्पत्तिः, धर्मस्य मिथ्यात्वे तु न तथा; तादात्म्यस्य मिथ्यात्वादिति भावः । विरोधीति । 'मम मनः पाठे प्रवर्तते, नतु कार्यान्तरे' इति धीर्जायत एव । अहं करोमीत्यत्र चिति कर्तृत्वमपि प्रतीयते । तथाच फलतस्तदात्म्यानारोप एवापादनीयः, तदापादनं च न संभवति । तादा-

हमर्थप्रेमास्पदत्वबुद्धिरित्यसंभवेनोक्तप्रतीतिरपीदानीमेवानुकूल । अहमिति बुद्धेः स्फुरणरूपत्वे सुषुप्त्यादावपि प्रतीत्यापातेन अविद्यावृत्तिरूपत्वात्तस्यानधिष्ठानत्वेन व्यंशकत्वनानुपपत्तेश्च नाहमर्थोऽनात्मेति सर्वं सुस्थमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अहमर्थः अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात् । गुणाग्रहणेनाहमर्थरूपगुणिनोऽपि सुषुप्तौ भानाभावादहमंशे न परामर्शत्वमिति नासिद्ध्यादिकम् । एतावन्तं कालं सुप्तोऽहं वाऽन्यो वेति संशयस्तु निश्चीयमानात्मैक्याध्यासादहमर्थं न संभवति; निश्चयाभावे संशयनियमाभावाच्च । कदाचित्तु आत्मक्षणिकत्वविप्रतिपत्त्यादिना संशयः संभवत्येव । अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानमिति विवरणवचनं हि—सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञा न स्यात् । आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन ज्ञाननाशरूप-संस्कारासंभवादित्याशङ्क्य प्रवृत्तं, नतु अन्तःकरणस्यान्वहं विनाशात्तद्विशिष्टस्यापि विनाशेन प्रत्यभिज्ञाऽविषयत्वमित्याशङ्क्य, येनान्तःकरणविशिष्टस्य सुषुप्तौ सत्त्वमाशङ्क्यते, अत उक्तं विवरणवचनमपि नास्माकं प्रतिकूलम् । यथाचात्रोत्तरग्रन्थाविरोध-स्तथाऽन्यत्र विस्तरः । नकिंचिदवेदिमिति प्रत्ययस्तु आत्माज्ञानयोः परामर्शः अहमर्थं तु अनुभव इत्यन्यत्र व्यवस्थापितं विस्तरेण । यथाचाज्ञानं खानन्तराहमर्थानाश्रितं किंतु शुद्धचैतन्याश्रितं तथाऽन्यत्र विस्तर इत्यज्ञानानुभवान्यथानुप-पत्त्यापि न सुषुप्तौ अहमर्थकल्पनाप्रसङ्गः । यथा चित्प्रकाशो न प्रमाणव्यापारापेक्षः एवं ममाभिमानोऽपीति सुषुप्ताव-भिमानाप्रकाशायोगेन एतावन्तं कालमहमित्यभिमान्यमान आसमिति परामर्शापादनमपि युक्तमेव । अभिमानाकारवृत्तेरहमर्थ-मात्रापेक्षत्वात् । सुषुप्तौ चाहमर्थं नाहमाकारवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षी, तदनवच्छिन्नसाक्षी परामर्शानुपपत्तिर्वा साधयति । अह-माकारवृत्तेः तदाप्यनङ्गीकारात् उक्तवृत्तिं विनापि अहमर्थस्य साक्षिवेद्यत्वे तस्यां त्वन्मते मानाभावात् । साक्षिमात्रवेद्यत्वा-दात्मनः स्वसंवेदनं यथा प्रमाणान्तरसिद्धं नैवमहमर्थस्येति नाहमर्थस्य परात्वेनाज्ञानमेव 'न विजानात्यय'मिति श्रुते-रर्थः, किंतु सर्वथा अज्ञानमेवेत्युक्तश्रुतिरप्यनुकूलयति । अहरहर्ब्रह्मज्ञानसत्संपत्ती कार्योपाधिश्चान्यताप्रकाशमानतारूपे एवेति अहरहरिति श्रुतिरपि सुषुप्तावात्मसंवेदने प्रमाणमेव । एकदेशस्थोपाध्योरुपधेयभेदाप्रयोजकत्वात् अविद्यावच्छिन्नमेवान्तः-करणावच्छिन्नमिति न स्मरणान्यथानुपपत्त्यापि स्मर्तुरहमर्थस्य सुषुप्तौ भानकल्पनाप्रसङ्गः । यथा परस्यायं ग्रामो भवत्विति परसंबन्धः कामनाविषयः, एवं साक्षिगतं निर्दुःखत्वमिच्छाविषयं संभवेदिति निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्तिप्रवृत्तिरप्युप-पन्नैव । सुषुप्तिकाले सकले विलीन इति सकलविलयश्रुत्या गृहीतं मन इति मनःपदमहंकारस्याप्युपलक्षणमिति पश्यामः । स एवाधस्तादिति श्रुतिस्तु सार्वभूम्योपदेशपरैवेत्युपक्रमोपसंहारादिभिरवगम्यत एवेति द्वयोः सार्वभूम्यानुपपत्तिसहकृतमविद्याया एकात्मगोचरत्वमेवेति तेनाप्यतिरिक्ताहमर्थसिद्धिः । एतेन—अहमर्थ अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, अहमर्थः, आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, इत्यनुमाने अपि—व्याख्याते; प्रथमानुमाने किंचिद्रूपावच्छिन्नस्य विषयत्वस्यैव विव-क्षणेन शुद्धचित्ति व्यभिचाराभावात्, अहंशब्दाभिधेयत्वस्य मान्ताहंशब्दाभिधेयत्वरूपत्वेन द्वितीयानुमाने दृष्टान्तेऽसिद्धसंभ-वाच्च । अहमिति बुद्धिर्हि स्फुरणाहंकारव्यंशविषया । तत्र स्फुरणस्य चैतन्यरूपस्याधिष्ठानत्वात् अहंकारस्य चारोप्यत्वात् व्यंश-विषयलोपपत्तिः । स्फुरणं चात्मरूपं परमप्रेमास्पदमिति तदैक्यारोपनिबन्धनैवाहमर्थप्रेमास्पदत्वबुद्धिरिति प्रत्यक्षेणानुमानेन श्रुत्या वा कथमपि नाहमर्थात्मत्वसिद्धिरित्यविद्यातः तत्सृष्टिवर्णनमुपपद्यत एवेति—विवेचयन्ति ॥

इत्यहमर्थानात्मत्वोपपत्तिः ॥

नच—अधिष्ठानात्मनाऽनध्यस्तजपाकुसुमस्थानीयमुपाधिं विना भीषणत्वादियुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तबुद्धेऽधिदात्मनाध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्यैवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्यानध्यासेन सोपाधिकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; आत्मनि कर्तृत्वान्तरस्यैवाध्यासात् । नच तर्हि कर्तृत्वद्वयस्य विविच्य प्रतीतिः स्यात्; आत्मान्तःकरणयोरैक्याध्यासात् । रज्जुसर्पादौ अध्यस्यमानकूर्त्वादि-विशिष्टसर्पापेक्षया अधिकसत्ताकस्य सर्पान्तरस्य संभवेन नायमुपाधिः; अतो निरुपाधिकत्वम् । अत्रत्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टमन्यदधिकसत्ताकं नास्त्येवेति अन्तःकरण-मत्रोपाधिरिति न सोपाधिकत्वानुपपत्तिः । नच—एवमपि मनो न स्फुरणम्, किंतु स्फुरतीति तयो-भेदधीदशायां प्रत्येकं 'रक्तं कुसुमं' 'स्फटिको रक्तः' इतिवत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्त्रि'ति प्रतीत्या-पत्तिरिति—वाच्यम्; तादात्म्यारोपविरोधिभेदग्रहस्यैव तत्प्रयोजकत्वात्; प्रकृते च तदभावात् । यस्त्वभेदग्रहदशायामपि 'अयं भीषणः सर्पो भीषणः, अहं गौरः शरीरं गौर'मिति वत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्त्रि'ति प्रतीतिः स्यादिति, तन्न; तादात्म्यग्रहस्यैव प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन दृष्टान्तस्यैवासं-प्रतिपत्तेः । यदपि सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनाधिष्ठानसमसत्ताकत्वमुपाधेः तद्धर्मस्य वा, अध्यस्यमाना-पेक्षयाधिकसत्ताकत्वं वा तयोरिति पक्षद्वयमुद्भाव्य प्रकृते तद्वयं न संभवतीति दूषणाभिधानम्, तदनुकोपालम्भनम्; यदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया यत्प्रतीयते तदपेक्षया अधिकसत्ताकतद्धर्मा-श्रयान्तराभावस्यैव सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वात् । नचैवं क्षीरसंपृक्तनीरैक्याध्यासनिबन्धनक्षीरधर्म-प्रतीतिः सोपाधिकी स्यात्; तस्याः सोपाधिकत्वे इष्टापत्तेः । ननु—बुद्धिगतं कर्तृत्वं किमहमर्थे, अहमर्थगतं वात्मनि अध्यस्यते । आद्ये आरोपितस्याप्यनर्थस्यात्मन्यभावे तस्य बन्धमोक्षानधिकरण-त्वापत्तिः, द्वितीये अनध्यासेनैव 'अहं कर्ते'ति प्रतीत्युपपत्तौ किमध्यासेनेति—चेन्न; अहंकारस्तु चिदचिद्ब्रह्मरूपतया द्व्यंशः । तत्राचिदंशे बुद्धौ कर्तृत्वसत्त्वेऽपि तद्विशिष्टाया बुद्धेश्चित्यैक्याध्यासं विना 'अहं कर्ते'ति प्रतीतेरयोगेनाध्यासस्यावश्यकत्वात् । एतेन—आरोपितकर्तृत्वस्याप्यभावे आत्मनो बन्धमोक्षानधिकरणत्वं स्यादिति—निरस्तम् । नच—'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'त्यधिकरणे त्वयाऽपि साङ्ख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते, जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन विरोधः? नचाविवेक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्यैव मनोऽध्यासे हि तत्पूर्वं विद्यमानो मनोभेदग्रहः प्रतिबन्धकः वाच्यः; स च नास्त्येव; तत्सत्त्वे तादात्म्येन मनो-ऽध्यासासंभवादिति भावः । तादात्म्यग्रहस्येति । अयं भीषणः सर्पो भीषण इति पृथगुल्लेखस्यात्यन्तिकभेदग्रहव्याप्य-त्वात्तादृशग्रहे सति च तादात्म्यज्ञानस्यानुत्पादात्तादात्म्यारोपकाले नोक्तग्रह इति भावः । वस्तुतस्तु—भीषणत्वादि-रूपेण नात्यन्तिकभेदग्रहः; तेन रूपेण तादात्म्याध्यासात्, शरीरत्वमनस्त्वादिना तादात्म्यं नाध्यस्यते, किंतु मनुष्य-त्वगौरत्वकर्तृत्वादिनेति । अहं गौरः शरीरं गौरं मनः कर्तृ चैतन्यं कर्तृ इति व्यवहार आत्यन्तिकभेदधीव्याप्योऽपीष्ट एवेति ध्येयम् । यदपि सोपाधिकत्वे इत्यादि इति पक्षद्वयं सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनोद्भाव्य प्रकृते तत्पक्षद्वयं न संभव-तीति योजना । तत् दूषणाभिधानमित्यर्थः । यदन्वयव्यतिरेकानुविधायितयेति । यस्योपाधिरूपस्य धर्मिणः सन्निधिकाल एवेत्यर्थः । यत् प्रतीयते यो धर्मः प्रतीयते । तदिति । तद्धर्मैत्यर्थः । अधिकसत्ताकतद्धर्माश्रया-न्तराभावस्येति । अधिकसत्ताकं तद्धर्मस्य यदाश्रयान्तरं तदभावस्येत्यर्थः । सोपाधिकत्व इति । यद्यपि तद्धर्म-सोपाधिकत्वे इति वक्तुमुचितम्; तथापि नात्मनि कर्तृत्वाद्यन्तरमुत्पद्यते, किं तु कर्तृत्वादिविशिष्टस्य मनस आत्मन्या-रोपात् विशेषणीभूतकर्तृत्वादेर्मनस्येकः आत्मन्यन्यः संबन्धः स्वीक्रियते । तथाच कर्तृत्वादिकं नात्मन्योपाधिकम्, किंतु तत्संबन्ध इत्यस्यापि विवरणोक्तपक्षान्तरस्य संप्रहाय सामान्यतः सोपाधिकत्वे इत्युक्तम् । कर्तृत्वादिकमन्यदा-त्मनि जायत इति पक्ष एव युक्तः । अन्यथा स्फटिके लौहिल्यान्तरं जायत इत्यपि न स्यात् । स्वीक्रियते च पञ्चपादिका-कृद्भिः; "स्फटिकमणेरिव लोहितिमा कर्तृत्वादिकमात्मनो मिथ्ये"ति तैरुक्तत्वात् । यदि तु दर्पणे मुखस्येव स्फटिके लौहिल्यस्य संबन्धः प्रतिबिम्बितत्वरूपो जायते इति तत्राभिप्रेतं, तदा मिथ्येति नोक्तं स्यात्; प्रतिबिम्बस्य तन्मते सत्यत्वात् । तस्मात् स्फटिके लौहिल्यं तत्संबन्धश्च मिथ्येति प्रत्ययात् द्वयमपि स्फटिके जायत इति तद्वदात्मन्यपि कर्तृत्वादितत्संबन्धौ जायते इति स एव पक्षः कण्ठत उक्तः । इष्टेति । उपाध्यधिष्ठानयोरमिलितत्वेन ग्रहणं तु न सोपाधिकत्वे प्रयोजकम्; अयो दहतीत्यादौ तदभावादिति भावः । अहंकारस्त्वित्यादि । न बुद्धिगतमहमर्थेऽध्यस्यते, अहमर्थस्य द्वांशत्वादधिष्ठान एव बुद्धिगतस्याध्यासात् । नाप्यहमर्थगतमात्मनि । अहमर्थे कर्तृत्वादेरस्वाभाविकत्वात् अध्यासं विनैवाहं कर्तेति बुद्धेरसंभवः, अहमित्युल्लेखस्याध्यासविषयकत्वादिति भावः । विनैति । कर्तृत्वादिविशिष्टत-

निबन्धनं जीवनिष्ठत्वम्; अविवेकस्य साङ्ख्यमतेऽपि सत्त्वादिति—वाच्यम्; बुद्धेरेव कर्तृत्वम्; भोक्तृत्वं चैतन्यस्येति पूर्वपक्षं कृत्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमेन भोक्तृत्ववत् कर्तृत्वमप्यङ्गीकर्तव्यमित्युक्तम्; न तु बुद्धेः अकर्तृत्वं आत्मनो वा स्वाभाविकं कर्तृत्वमिति । ‘यथाच तक्षोभयथा’ इत्युत्तराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तस्यात्मकर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वपूर्वपक्षे औपाधिकत्वस्य स्थापितत्वात् । अतो न तदधिकरणविरोधः । यदपि बुद्धेः कर्तृत्वे करणत्वं कथमिति ? तदप्युक्तम्; अन्यत्र कर्त्र्या एव बुद्धेरुपलब्धिं प्रति करणत्वोपपत्तेः । नच—कर्तृत्वाद्यनर्थरूपबन्धस्य बुद्धिगतत्वेन मोक्षस्यापि तदन्वयापत्तिः, अनर्थतन्निवृत्त्योरैकाधिकरण्यनियमादिति—वाच्यम्; कर्तृत्वादेश्चेतनगततयैवानर्थतया बुद्धेरनर्थानाश्रयत्वात् । न च चैतन्यगतस्यानर्थत्वे चैतन्यस्याप्यनर्थकोटौ निवेशापत्तिः; आत्मसंबन्धित्वेनैवानर्थस्य हेयत्वेनात्मनोऽपि हेयत्वं सर्वमतेऽपि स्यात् । आरोपितत्वपुरस्कारेणानर्थत्वाभावात् नान्योन्याश्रयः । नच—शुद्धात्मनः कदापि नानर्थाश्रयत्वेन प्रतीतिः, भ्रमकाले अहं भोक्ता प्रमाकाले बुद्धिर्भोक्त्रीति प्रतीतेरिति—वाच्यम्; शुद्धस्य भोक्तृत्वाद्यनर्थानाश्रयत्वेऽपि उपहितस्य शुद्धात्स्वाभाविकभेदाभावेन बन्धमोक्षसामानाधिकरण्योपपत्तेः । एतेन—बुद्धिः श्रवणादिकर्त्रीति तस्या एव फलं मोक्षोऽपि स्यादिति वाच्यम्; ‘शास्त्रफलं प्रयोक्तरी’ति न्यायात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति—निरस्तम्; जातेष्टिपितृयज्ञयोर्व्यभिचारात् । नच पूतपुत्रकत्वं स्वर्गभाषिपितृकत्वं वा कर्तृगतमेव फलम्; तस्य फलत्वेनाश्रवणात् । न च तादृक्पुत्रकत्वं फलेन सम्बन्धः, न तु फलमिति—वाच्यम्; एवं हि संयुक्तसमवायादिना पित्रन्यस्यापि तत्फलं स्यात्, अशास्त्रीयत्वाविशेषात् । नच—पित्रर्थपुत्रगतं पूतत्वादिकं तदनुष्ठातुः पितुरेव फलम्, तेन तदुद्दे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यैक्याध्यासस्यावश्यकत्वे तु विनिगमकाभावात्, कर्तृत्वादिधर्माध्यासोऽप्यावश्यक इति भावः । चैतन्यस्येति । सुखदुःखानुभवत्वरूपं भोक्तृत्वं चित एव युक्तमिति भावः । ‘नियमेनेति । ‘करोमि भुञ्जे’ इति धीसिद्धेनेति शेषः । कर्तृत्वमपीति । असंसर्गाग्रहस्य वैशिष्ट्यव्यवहारहेतुत्वे गौरवाद्विशिष्टबुद्धेरेव तद्देतृत्वादहंकर्तृत्वादिव्यवहारात् कर्तृत्वादिकमप्यात्मात्मनि वाच्यम् । न च—कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमादरे बुद्धेरपि भोक्तृत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; सुखाद्यनुभवतादात्म्यारोपस्य बुद्धौ सत्त्वेनेष्टापत्तेः । अन्यत्र लौकिकवैदिकक्रियामात्रे । कर्त्र्याः ‘विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे’ति श्रुत्युक्तकर्तृत्वयुक्तायाः । उपलब्धिं वृत्तिप्रतिबिम्बितां वृत्त्यवच्छिन्नां भग्नावरणां वा चितम् । प्रति कारणत्वेति । वृत्तिद्वारकहेतुत्वर्थः । चेतनगततया चिन्निष्ठकर्तृत्वादिना । अनर्थतया द्वेषोद्देश्यतया । अनर्थानाश्रयत्वात् द्वेषोद्देश्यतावच्छेदकधर्मविशिष्टानाश्रयत्वात् । स्वसंबन्धित्वेन यस्य यत्र द्वेषः, तस्य स्वसंबन्धित्वेन तदभावे इच्छेति नियमः; इदं माऽस्तु इति द्वेषादेतदभावो मेऽस्तिवतीच्छानुभवात् । तथाच स्वसंबन्धित्वेन कर्तृत्वादिकं द्विषता स्वसंबन्धित्वेन तदभावस्येव्यमाणत्वात् कर्तृत्वादिबन्धाभावश्च चिन्निष्ठ एव युक्तः, नतु बुद्धिनिष्ठतयाऽऽपादनाहं । नच प्रतियोगिमिति सर्वत्र ध्वंसावश्यंभावः; आश्रयनाशजन्यनाशे व्यभिचारात् । ननु बुद्धेः कर्तृत्वादिकं न बन्धः, किंत्वात्मनो मिथ्याकर्तृत्वादिकमिति कल्पना मिथ्यात्वसिद्ध्यधीना, मिथ्यात्वसिद्धिश्चोक्तकल्पनाधीनेत्यन्योन्याश्रयः, तत्राह—आरोपितत्वेति । बुद्धिर्यदि बन्धस्याश्रयः स्यात् तदा मोक्षस्यापि स्यात् इति त्वयोक्ते तर्के विपर्ययानुमानमस्मदभिमतमिति समाधानं कर्तृत्वादेरित्यादिनोक्तं नतु मिथ्याभूतस्य बन्धकल्पनया किञ्चित् साधितमिति भावः । स्वाभाविकेति । तादात्म्यविरोधीत्यर्थः । भेदस्येव तादात्म्यस्यापि सत्त्वेनेति यावत् । एतेन उपहितचिन्निष्ठकर्तृत्वादेः शुद्धाभिन्ननिष्ठत्वेन । जातेष्ट्यादीति । ननु—यत्राप्रयोक्तृगततया शास्त्रेणैव फलमुक्तं, तत्रोक्तन्यायो न प्रवर्तते; सन्देहाभावात्, किंत्वन्यत्रेति—चेत्, तर्हि मोक्षस्याविद्यातत्कार्योच्छेदस्य प्रयोक्तृनिष्ठवासंभवात् तत्रापि नोक्तन्यायप्रवृत्तिः । वस्तुतस्तु—मोक्षो न शास्त्रफलम्; यत्फलसाधनत्वे शास्त्रतात्पर्यं, तदेव हि तत् । ज्ञाने मोक्षसाधनत्वं तु लोकसिद्धमित्यादि बोध्यम् । एवं हि संयुक्तसमवायादिनेति छेदः । एवंशब्देन तु फलमित्यस्य पूर्वोक्तस्य परामर्शः । हि यतः । कर्मान्तरस्येति शेषः । तथाच यतः जातेष्ट्यादिभिन्नकर्मणः फलं स्वाश्रयसंयुक्तसमवायादिना कर्तरि न जायते, अतः तादृगित्यादिकं न च वाच्यमिति पूर्वोक्तान्वयः । यथाश्रुतं त्वसंज्ञतम्; प्रयोक्तृत्वेन फलस्य न्यायसिद्धतया पित्रन्यस्य तदापादनासंभवात् । पित्रन्यस्य पुत्रस्य । स्यात् भवत्येव । अशास्त्रीयत्वेति । पुत्रगतं फलं शास्त्रेण बोध्यम् । कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यं तु शास्त्राबोधितमपि विकल्पमानं पितरीव पुत्रेऽपि संभवति; कार्यस्य कारणस्य वा परंपरासंबन्ध इत्यस्याविनिगम्यत्वात् । तथाच प्रयोक्तृत्वेनेति नियमः भग्न एव । नच प्रयोक्तरीत्युच्यते, नतु प्रयोक्तृत्वेति—वाच्यम्; ऋत्विजां फलसंबन्धवारणाय प्रयोक्तृत्वेत्यस्या-

ज्ञातुः न चेद्वात्मा अन्तःकरणार्थः, येनात्मगतो मोक्षः तस्योद्देश्यः स्यादिति—वाच्यम्, आत्मा यद्यपि नान्तःकरणार्थः, अहमर्थगततया तथापि फलस्योद्देश्यत्वानुभवात् अहमर्थस्य चात्मानात्मरूपत्वेनात्मन्यपि फले उद्देश्यगतत्वानपायात् । यद्वा—आरोपितानारोपितसाधारणं कर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तच्चात्मन्यस्येव । नच—शरीरेऽप्यारोपितकर्तृत्वेन फलभाक्त्वापत्तिः; फलपर्यन्तमसत्त्वेन फलभाक्त्वासंभवात् । न हि कर्तुः फलभाक्त्वनियमं ब्रूमः, किंतु फलभाजः कर्तृत्वनियमम्; अजनितफलकर्मकर्तरि व्यभिचारात्, अप्रयोजकत्वाच्च । ननु—मनसः कर्तृत्वं न घटते; कृतिकर्मत्वस्य करणत्वस्य च तद्विरोधिनः श्रुत्यादिसिद्धत्वात्, बुद्ध्यभावेऽपि कर्तृत्वस्य श्रूयमाणत्वाच्च । तथाहि ‘तन्मनोऽङ्कुरते’त्यादौ मनसः कृतिकर्मत्वम् ‘शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसे’त्यादिश्रुतौ ‘शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नर’ इत्यादिस्मृतौ च करणत्वम्, मन उदक्रामन्मीलित इवाश्रन् पिवन्नास्तेवेत्यादिश्रुतौ मनउत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वम्, तथा परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण इत्यादौ स्वरूपाविर्भारूपपरममुक्तावपि कर्तृत्वं ‘कर्ता विज्ञानात्मा यो वेदेदं जिघ्राणी’ति ‘स आत्माऽऽनन्दमुक्ता प्राज्ञ’ इत्यादिश्रुतितश्च कर्तृत्वम्, तथाच बुद्धिर्न कर्त्रीति—चेन्न ‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’ इत्यादिश्रुत्या मनसः कर्तृत्वेन स्वकृतिकर्मत्वविरोधेऽपि तत्रेश्वरकृतिकर्मत्वस्य उपलब्धिं प्रति करणत्वस्य चाविरोधात् ईश्वरे अविद्यावृत्तिरूपज्ञानेच्छावत् तद्रूपकृतिसंभवात् । नच—विज्ञानपदं ब्रह्मपरम्, ‘विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान् कामान् समश्नुते ।’ इत्यादिवाक्यशेषादिति—वाच्यम्; वाक्यशेषोक्तमुमुक्षुज्ञेयशुद्धब्रह्मणो यज्ञकर्तृत्वासंभवेन कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यमाने विज्ञाने ततोऽर्थान्तरत्वनिश्चयात्, ‘अन्नं ब्रह्मेत्युपास्त’ इत्येतद्वाक्यसमानयोगक्षेपत्वाच्च । ‘तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यती’त्यादि स्मृतेः ‘प्रकृतेः क्रियमाणानी’त्यादिस्मृतेश्च । नचात्मनि स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वनिषेधबोधकत्वमनयोः; सामान्यतो निषेधे बाधकाभावात् । अतएव ‘ध्यायतीव लेलायतीवे’त्यादाविवशब्दः । नचेवशब्दः परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेतिवत् जीवकर्तृत्वे परतन्त्रतामात्रपरः, तद्वदत्र बाधकाभावात् । नच—बुद्ध्यभावेऽपि आत्मनः कर्तृत्वश्रवणात् बुद्धेः कर्तृत्वासंभव इति—वाच्यम्; बुद्धेः कर्तृत्वे जनकत्वमात्रे वा सर्वथा तस्या जीवनिष्ठत्वेनाभिमतयां कृतावपेक्षणीयत्वेन तदभावे कर्तृत्वबोधकस्य तवापि मते उपचरितार्थत्वात्, निर्धर्मकत्वनिर्विकारत्वनिष्क्रियत्वादिबोधकश्रुतिविरोधाच्च । नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वश्यं वाच्यत्वात् । पित्रर्थपुत्रेति । सुखादियोगित्वेन पितुरिच्छाविषयपुत्रेत्यर्थः । तेन पित्रा । तदुद्देशात् पुत्रगतत्वेन फलस्य काम्यत्वात् । यथा ग्रामादेः स्वनिष्ठत्वाभावेऽपि स्वसुखसाधनत्वेन गृहीतं यत् स्वत्वादिकं, तद्वत्त्वेनेष्टवं, तथा पुत्रपूतत्वादेः स्वसुखप्रयोजकत्वेनेष्टेति भावः । आत्मा शुद्धात्मा । अन्तःकरणार्थः शुद्धान्तःकरणार्थः । सुखस्फुरणं भवतु सुखस्य भवतु स्फुरणम् । स्फुरणं निर्दुःखं भवत्वितिच्छानुभवात् पुत्रादिवदात्माप्यन्तःकरणार्थ एवेति यद्यपीत्यनेन सूचितम् । अहमर्थगततया तथापि तथाप्यहमर्थगततया । आत्मन्यपि फले मोक्षरूपके-वलात्मगतेऽपि फले । उद्देश्यगतत्वानपायात् अन्तःकरणार्थाहमर्थान्निष्ठात्मगतत्वानपायात् । ‘कर्ता विज्ञानात्मे’ति प्रश्नोपनिषत् । आनन्दमुगिति । ‘विश्वो हि स्थूलभुक् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् । आनन्दभुक् तथा प्राज्ञश्चिदा भोगं निबोधत’ ॥ इति गौडपादोक्तमाण्डूक्यवाक्यम् । उपलब्धिं प्रतितीतिम् । तथाच शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मत्यादावप्युपलब्धिपूर्वककर्मसूपलब्धिद्वारकमनसः करणत्वमुक्तमिति भावः । एतद्वाक्येति । एतदर्थकं यत् ‘सर्वं वै तेऽज्ञामा-वन्ति । येऽज्ञं ब्रह्मोपासते’ इत्यादिवाक्यं तदित्यर्थः । समानेति । उक्तवाक्यशेषे सत्यपि ‘ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुष’ इत्यादावन्नपदं न ब्रह्मार्थकम्; अनन्वयापत्तेः । एवं ‘विज्ञानं ब्रह्म चे’त्यादिशेषे सत्यपि ‘विज्ञानं यज्ञ’मित्यादौ विज्ञानपदं न ब्रह्मार्थकम् । ब्रह्मविदामोतीत्यादौ प्रकृतं ब्रह्म हि विज्ञानादावुपास्यमुच्यते । तच्च शुद्धमेवेति न कर्तृत्वा-न्वययोग्यमिति भावः । बाधकाभावादिति । ‘पञ्चैते तस्य हेतवः’ इति पूर्ववाक्ये क्रियासामान्ये आत्मान्यपञ्चाना-मेव हेतुत्वमित्युक्त्वा एवं सति केवलं कर्तृत्वादिशून्यमात्मानं तु यः कर्तारं पश्यति स दुर्मतिरित्यर्थस्य स्फुटमुक्तत्वे-नाहंकारविमूढत्वस्य कर्ताहमिति बुद्धौ हेतुतयोक्तत्वेन चास्वातन्त्र्यं नार्थ इति भावः । इवशब्द इति । ‘इवोपमाया-मत्पत्वे’ इत्यादिकोशात् आभासत्वरूपात्पत्वेन कर्तृत्वादिबोधक इति दोषः । उपचरितेति । प्राणसंवादाक्ये मन-

निर्धर्मकत्वरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघातात् ज्ञानत्वसाक्षित्वादिवत् सत्यस्यासत्यस्य वा ज्ञातृत्वादे-
रप्यात्मन्येव संभवाच्च निर्धर्मकत्वश्रुतिर्न श्रूयमाणार्थपरेति—वाच्यम्; निर्धर्मकत्वस्य धर्माभावरूपस्य
ब्रह्मस्वरूपानतिरेकेण धर्मत्वाभावेन व्याहृत्यभावात् । यत्त्वसत्यस्य सत्यस्य वा ज्ञातृत्वस्यात्मन्यपि संभव
इत्युक्तम् । तदिष्टमेव; न ह्यारोपितमपि कर्तृत्वमात्मनि प्रतिषेधामः । नच—निर्विकारत्वं द्रव्यान्तररूप-
तया परिणामाभावपरम्, नतु विशेषाकाराभावपरम्, तच्चात्मनः कर्तृत्वादिसत्त्वेऽप्यविरुद्धमिति—
वाच्यम्; द्रव्यान्तररूपतया परिणामनिषेधकमपीदं वाक्यं निर्धर्मकश्रुत्यनुसारेण विशेषाकारमात्रस्यैव
निषेधपरम्, सामान्यनिषेधेनैव विशेषनिषेधप्राप्तेः । नापि—निष्क्रियत्वे क्रिया परिस्पन्दो वा धात्वर्थो
वा । आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये आत्मन्यपि अस्त्यादिधात्वर्थरूपसत्तादेः सत्त्वेनासिद्धिरिति—वाच्यम्;
ब्रह्मण एव सद्रूपत्वेन तत्र सत्तादेरप्यभावात्, क्रियापदस्य कृतिपरत्वाच्च । अत एव मनसोऽभावे
सुषुप्तौ कर्तृत्वाद्यदर्शनम् । नच—तदापि श्वासादिकर्तृत्वं दृश्यत एव, सुषुप्तौ 'भूर्भूरित्येव प्रश्वसि-
ती'ति श्रुतेरिति—वाच्यम्; 'न तु द्वितीयमस्ती'त्यादिश्रुत्या तं प्रति श्वासस्यैवाभावेन तत्कर्तृत्वस्य
सुतरामसंभवात् । यद्वा—क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राणात्मकस्यान्तःकरणस्य तदापि सत्त्वेन तदुपा-
धिककर्तृत्वस्य तदापि सत्त्वात् । तथाच श्रुतिरन्यपरा । दर्शनं च द्रष्टृविद्याकल्पितश्वासादिविषयम् ।
इदं च दृष्टिसृष्टिवाद एव समर्थितम् । 'कामः संकल्प' इत्यारभ्य 'हीर्धाभिर्रित्येतत्सर्वं मन एवे-
त्यन्ता श्रुतिरपि मनसः कर्तृत्वपरा, न तु मनसो निमित्तत्वपरा । नच—'मनसा वा अग्रे संकल्प-
यती'त्यादिश्रुत्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोकेत्याहुर्मनीषिण' इत्यादिश्रुत्या च मनसः करणत्वमिति—
वाच्यम्; मनोव्यतिरिक्तस्य संकल्पानाश्रयत्वेन 'मनसा वा' इति श्रुतेरुपचरितार्थत्वात् । नापि—(१)
आत्मा, मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, संमतवत्, (२) अज्ञानं, ज्ञानसमानाधि-
करणम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्, (३) दुःखादिभोगः, मोक्षसमानाधिकरणः, बन्ध-
त्वात्, संमतवदित्याद्यनुमानैरात्मनः कर्तृत्वसिद्धिरिति—वाच्यम्, आद्यानुमाने आरोपितानारोपि-
तसाधारणकृतिमत्त्वं वा साध्यं अनारोपितकृतिमत्त्वं वा आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये जातेष्टिपितृयज्ञ-
जन्यफलान्वयिनि व्यभिचारः । द्वितीयानुमानेऽपि आरोपितानारोपितसाधारणज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं
वा, अनारोपितज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा । अत्राप्याद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये अनादिभावभिन्नत्वस्योपा-
धित्वम् । तृतीयानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणसंबन्धेन मोक्षसमानाधिकरण्ये इष्टापत्तिः,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उक्तमणौ कर्तृत्वादिवचनं वपोत्वननवाक्यवत् गौणार्थकम्; 'मनो होचक्राम तत्संवत्सरं प्रौढ्य पर्यलोवाचे'त्यादेर्बा-
धितार्थकत्वात्, परममुक्तावपि कर्तृत्वं तु जीवन्मुक्तस्य मनःस्थितावेव, विज्ञानात्मना कर्तृत्वं तु बुद्धितादात्म्यात् ।
प्राज्ञस्यानन्दभुक्त्वं चानन्दानुभवस्याश्रयत्वमनुकूलव्यापारवत्त्वं वा मनोऽप्यस्ति; कृतेरेव मनोमात्रनिष्ठत्वात् ।
श्रुतीति । 'केवलो निर्गुणः' 'कृतस्थोऽद्वितीयः' इत्यादिश्रुतीत्यर्थः । धर्मत्वाभावेनेति । धर्माभावत्वविशिष्टरूपेण
धर्मत्वस्य कल्पितत्वेन धर्माभावसाधारणधर्मसामान्यस्याभावबोधनद्वारोक्तश्रुतेरखण्डबोधकत्वेनाव्याहृतिरिति भावः ।
सामान्येति । परिणामसामान्येत्यर्थः । विशेषेति । द्रव्यान्तरादिरूपेण परिणामेत्यर्थः । ननूक्तात्मस्वरूपा सत्ता न
धात्वर्थः, मायावच्छिन्नचित्त्वेनाबाध्यत्वेन वा धातुशक्यतावच्छेदेन उपहिता सत्ता शुद्धात्मन्यस्येव, तत्राह—
क्रियापदस्येति । अदर्शनमिति । अन्वयव्यतिरेकदर्शनेन मनसः कर्तृत्वाद्युपादानत्वमेव कल्प्यते; कार्याश्रयनि-
ष्ठत्वेनान्तरङ्गत्वात्, नतु निमित्तत्वम्, आत्मा तु कार्यमात्रे विवर्तोपादानमेव परेणापि ज्ञेयस्य ज्ञानसंबन्धो वाच्य
एव । तथा मनः निमित्तम् आत्मा वा उपादानम् इति परेण वाच्यम् । मया तु मन उपादानमेवोच्यते । परस्य ज्ञान-
ज्ञेयसंबन्धवत् मम इदयात्मनोः संबन्ध इति मे लाघवमिति भावः । इष्टिसृष्टिपक्षे तेन प्रमात्रा अज्ञाततत्प्राणादेरसं-
भवेऽपि पक्षान्तरे तत् संभवतीत्याशयेनाह—यद्वेति । अन्यपरेति । 'देवाः परमात्मानं भूरित्युपासाञ्जकुः । तस्माद्धै-
वैतर्हि सुप्तः पुरुषो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिती'ति श्रुतौ तस्मादित्यादि उपासनास्तुतिपरमित्यर्थः । उपचरितेति । उप-
लब्धौ मनसः करणत्वेऽपि सङ्कल्पादौ तदभावात् मनःपदं मनोगतायाः सङ्कल्पादिसामग्र्या बोधकम् । वस्तुतः—
उक्तसामग्र्युपहितरूपेण मनस एव करणत्वं प्रकृत्यर्थः; सामग्र्याः करणघटितत्वात् । अतएव 'मनसैव मनो जयेदि'-
त्यादावपि नानुपपत्तिः । फलान्वयित्वादिति । यो यत्फलवान्, स तत्साधनकृतिमानिति व्याप्तिर्बोद्ध्या । अना-
रोपितेति । धर्मिसमसत्ताकेत्यर्थः । द्वितीये द्वितीयेऽपि । साध्याप्रसिद्धिरिति । आत्मसमसत्ताकसंबन्धनिवेदो

अनारोपितसंबन्धेन सामानाधिकरण्ये साध्याप्रसिद्धिः । तस्मात्सिद्धं मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अप्रसिद्धिः, धर्मिसमसत्ताकतन्निवेशे सिद्धसाधनम्; अहमर्थरूपधर्मिसमसत्ताकत्वस्य सिद्धत्वादिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ॥

अथ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वं, नत्वौपाधिकमारोपितम् । प्रत्येकं स्फटिके पुष्पे भवेद्रक्तत्वबुद्धिवत् । चित्ति बुद्धौच कर्तृत्वसाक्षात्कारः कदाचन । यथाच रक्तत्वं पुष्पगतं प्रत्यक्षमेवं कर्तृत्वमपि साक्षिभासं प्रत्यक्षमेवेति मनः कर्तृ चैतन्यं कर्तृ इतिच प्रत्ययप्रसङ्गः । मनसश्चैतन्यात्मनाध्यासेऽपि रज्जुसर्पस्थले रज्जौ भीषणत्वान्तरमिव चैतन्ये कर्तृत्वान्तरप्रतीतिप्रसङ्गः । यदापि मनो न स्फुरणं, किंतु स्फुरतीति प्रतीतिः, तदापि प्रत्येकं न कर्तृत्वप्रत्ययो दृश्यते । अमेदग्रहदशायामपि अयं भीषणः सर्पों भीषण इति प्रतीतिद्वयमिव नात्र तत् दृश्यते । एतेन—बुद्धिगतं कर्तृत्वमहमर्थेऽहमर्थगतं वा आत्मन्यध्यस्तमिति न प्रतीतिद्वयप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; आत्मनो मोक्षानन्वयापत्तेः, अनध्यासेनैवोपपत्तावध्यासायोगात् । किंच सोपाधिकाध्यासे उपाधेस्तद्धर्मस्य वाऽधिष्ठानसमसत्ताकत्वमध्यस्यमानाधिकसत्ताकत्वं वा तन्त्रम् । दृश्यतेहि पुष्पे, तद्रक्तिमनिच अधिष्ठानसमसत्ताकत्वम् अध्यस्यमानप्रातिभासिकरक्तताधिकसत्ताकत्वंचेति प्रकृतेऽन्तःकरणतद्धर्मयोः चित्समसत्ताकत्वं अध्यस्यमानव्यावहारिककर्तृत्वाधिकसत्ताकत्वं वा न विद्यत इति न सोपाधिकोऽयमध्यासः । वस्तुतस्तु—मनःकरणत्वप्रसिद्धितत्कर्मत्वकरणत्वश्रुतिभ्यां विरोधात् बन्ध-मोक्षयोः कृतिफलयोश्च वैयधिकरण्यापत्तेश्च न मनः कर्तृ इति जानीमः । विज्ञानं यज्ञं तनुते इति वाक्यं तु विज्ञानं ब्रह्म-चेद्वेदेत्यादिवाक्यशेषानुसारेण ब्रह्मकर्तृत्वपरमेव; ननु मनःकर्तृतापरम् । अतएवहि मन उदकामन्मीलित इवाश्वन् पिव-न्निवेति श्रुतौच मनउत्क्रमणानन्तरं मुक्तौ चात्मकर्तृत्वश्रवणमुपपद्यते । अहं करोमीत्यादिप्रत्यक्षम्, (१) आत्मा मोक्षसाधन-कृत्याश्रयः, मोक्षान्वयित्वात्, संमतवत्, (२) अज्ञानं ज्ञानसमानाधिकरणं, ज्ञाननिर्वर्त्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्, (३) दुःखादिभोगः, मोक्षसमानाधिकरणः, बन्धत्वात्, संमतवत्, इत्यनुमानम्, कर्ता विज्ञानात्मा यो वेदेदं जिघ्राणानि” “स आत्मा आनन्दभुक् तथा प्राज्ञः” इत्यादिश्रुतयश्चातएवोपपद्यन्ते । यथाहीश्वरकर्तृत्वं प्रमाणान्तरप्राप्तं नैवमहमर्थान्या-त्मरूपस्वकर्तृत्वमपीत्युक्तश्रुत्यनुवादत्वशङ्का नात्रावसरं लभते । निर्धर्मकत्वेन सधर्मकत्वाज्ञानत्वासाक्षित्वादिवदात्मन्येव सत्य-स्यासत्यस्य वा ज्ञातृत्वादेरसंबन्धाच्च निर्धर्मकत्वं । सत्तारूपधात्वर्थ्याश्रयत्वेन निष्क्रियत्वम् । गुणाश्रयत्वेऽपि द्रव्यान्तरत्वाप-त्तिरूपविकारानापातेन निर्विकारत्वं वा नात्र बाधकम् । सुषुप्तावपि सुप्तो भूर्भूरित्येव श्वसितीति कर्तृत्वश्रवणात् तत्र तद-भावश्रवणमपि न बाधकम् । देशादिवन्मनसोऽपि निमित्तत्वेनापि तदुपपत्तेश्च । एतेन—कामः संकल्प इत्यादिश्रुतिरपि—**व्याख्याता**; “तस्या अपि मनःकरणत्वेनोपपत्तेः । अतएव मनसा वा अग्रे संकल्पयती”त्यादिश्रुत्युपपत्तिः । “ध्यायतीव लेलायतीव” “अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते” इत्यादिकंतु जीवपारतन्त्र्यविवक्षयोपपन्नमिति न दोष इति सर्वथा आत्मैव कर्तेति सिद्धम् : अतएव कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति बुद्धिकर्तृत्वनिरासेन जीवकर्तृत्वव्यवस्थापनमप्युपपन्नमिति—**प्रतिपादयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

न स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वं किंतु सोपाधिकाध्यासविषयत्वादारोपितम् । कर्तृत्वविशिष्टान्तःकरणस्य चैतन्यात्मनाध्या-सात्तु न मनः कर्तृ चैतन्यं कर्तृ इति प्रतीतिद्वयमुपलभामहे । मनोनिष्ठकर्तृत्वादतिरिक्तमेव कर्तृत्वमात्मनि विद्यते चेदपि चैतन्यमनसोरैक्याध्यासात् न विविच्य कर्तृत्वद्वयप्रतीतिः । यदन्यव्यतिरेकानुविधानेन यत्प्रतीयते तदपेक्षयाऽधिकसत्ताक-तद्धर्माश्रयान्तराभावस्यैव सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वात् न रज्जुसर्पभ्रमस्यापि सोपाधिकत्वापत्तिः । एतेन—उपाधेस्तद्धर्मस्य वाऽधिष्ठानसमसत्ताकत्वमध्यस्यमानाधिकसत्ताकत्वं वा सोपाधिकत्वे तन्त्रमिति कल्पना तद्गुणादिकमनुक्तोपालम्भनमिति—**सूचितम्** । अहंकारस्तु चिदचिद्वन्धरूपोऽध्याससिद्ध्यधीन इति बुद्धिचैतन्याध्यासं विना नाहं कर्तेति प्रतीतिसिद्धिः । एतेन—अहमर्थगतकर्तृत्वस्यात्मन्यारोपपक्षेऽध्यासवैयर्थ्योपपादनं—**परास्तम्** । मनस उपलब्धिकरणत्वं नान्यकर्तृत्वविरोधि, एवं ईश्वरनिरूपितं कार्यत्वमपीति न कर्मत्वकरणत्वश्रुत्यादीनामपि मनःकर्तृत्वे विरोधः । सत्यो बन्धो यद्यपि बुद्धिनिष्ठः,

आरोपितस्तु आत्मन्यपीति बन्धमोक्षसामानाधिकरण्यं कृतिफलसामानाधिकरण्यं च नानुपपन्नम् । विज्ञानं यज्ञं तनुते इति वाक्यं ज्ञेयशुद्धब्रह्मणः कर्तृत्वासंभवेन न ब्रह्मपरं, किंतु मनःपरमेवेति मनोऽकर्तृत्वे तद्विरोधोऽपि दुष्परिहर एव ॥ बुद्धेः कर्तृत्वे निमित्तत्वे बोभयाथापि बुद्धिविगमानन्तरं कर्तृत्वव्यपदेश औपचारिक एवेति न मन उदकामत् इत्यादिश्रुतिविरोधः । अहं करोमीति प्रत्यक्षं तु आत्मकर्तृत्वे न प्रमाणमिति पूर्वमेव निरूपितम् । एतेन—आत्मा, मोक्षसाधनकृत्वाश्रयः, मोक्षान्वयित्वात्, संमतवत्, (२) अज्ञानं ज्ञानसामानाधिकरणं, ज्ञाननिर्वर्त्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत् (३) दुःखादिभोगः, मोक्षसामानाधिकरणः, बन्धत्वात्, संमतवत्, इत्याद्यनुमानान्यपि—**पराहृतानि**; प्रथमानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणकृतिमत्वस्य साध्यत्वे इष्टापत्तिः । एतेन—द्वितीयतृतीययोरपि आरोपितानारोपितसाधारणसामानाधिकरण्यविवक्षणे इष्टापत्तिरिति—**सूचितम्**; अनारोपितकृतिमत्वस्य तादृशसामानाधिकरण्यस्य च विवक्षणे प्रथमानुमाने जातेष्टिफलान्वयिनि पुत्रे व्यभिचारः, **द्वितीयानुमाने** अनादिभावभिन्नत्वेन सोपाधिकत्वं, **तृतीये** साध्याप्रसिद्धिरिति । निर्धर्मकत्वं धर्माभावरूपं ब्रह्मरूपमेवेति न तेनैव सधर्मकत्वम् । एतेन—निष्क्रियत्वमपि—**व्याख्यातम्**; आत्मनः सत्तारूपत्वात् अकृतिमत्त्वाच्चेति निर्धर्मकत्वेनाविरोधात् नात्मकर्तृत्वे कर्ता विज्ञानात्मैत्यादिश्रुतयः प्रमाणतामर्हन्ति; आरोपितकर्तृताबोधनेनापि तदुपपत्तेः । निर्विकारत्वं तु निर्धर्मकत्वश्रुत्येकवाक्यतया विशेषाकारमात्रनिषेधरूपमिति तदप्यत्र बाधकमिति पद्यामः । अतएव—मनसोऽभावे सुषुप्तौ कर्तृत्वाद्यदर्शनम् । ननु द्वितीयमस्तीति सुप्तं प्रति सर्वनिषेधाच्छ्वासस्यैवाभावे कर्तृत्वं सुतरां न भविष्यति । अस्तु प्राणोपाधिकं कर्तृत्वं सुषुप्तावपि सर्वथा आत्मकर्तृत्वं नोपपद्यते; मनसा वेति श्रुतेः मनोऽन्यस्य संकल्पानाश्रयत्वेनोपचरितार्थत्वात् । कामः संकल्प इति श्रुतिरपि मनःकर्तृत्वे प्रमाणम् । अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ध्यायतीत्येवादिर्कचात् एवोपपद्यते । स्वातन्त्र्यनिषेधे तात्पर्यकल्पनं त्वप्रमाणमिति नात्मकर्तृत्वं स्वाभाविकमुपपद्यते । कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरणमपि उत्तराधिकरणपर्यालोचनया कल्पितकर्तृत्वपरमेवेति न कोऽपि दोष इति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वम्; नारोपितम् । आरोपितत्वे सोपाधिकाध्यासो वाऽयम्, उत निरुपाधिकाध्यासः स्यात्, अन्ये सोपाधिकत्वोक्तिविरोधः । आद्ये लोहितः स्फटिको लोहितं कुसुममिति प्रतीतिद्वयवदिहापि प्रतीतिद्वयमापद्यते । सोपाधिकाध्यासस्थले हि नाधिष्ठानस्योपाधितादात्म्येनाध्यासः, किंतूपाधिगतधर्ममात्रस्याधिष्ठाने आरोपः, इहतु चिन्मनसोस्तादात्म्यारोपो विवक्षितः, ननु धर्मारोप इति न सोपाधिकाध्याससमुपपद्यते । अत्राप्यात्मनि कर्तृत्वान्तराध्यासकल्पनात्, कर्तृत्वादिमदन्तःकरणतादात्म्याध्यासेनैव कर्तृत्वप्रतीतिसंभवाच्च संभवति । तदारोपकल्पनायां तु कर्तृत्वद्वयं विविच्य प्रतीयेत । सोपाधिकाध्यासे तादात्म्यारोपो न दृष्ट इति आत्मान्तःकरणयोरैक्याध्यासेनोक्तदोषपरिहारोऽपि न भवत्येव । यदन्वयव्यतिरेकानुविधानेन यत्प्रतीयते तदपेक्षयाऽधिकसत्ताकतद्धर्माश्रयान्तराभावोहि स्फटिकरक्तताऽऽरोपेऽसंभवीति नैतत् सोपाधिकाध्यासे तन्त्रम् । अन्यथा नीरक्षीरविभ्रमस्यापि सोपाधिकाध्यासत्वापत्तिः । नचेष्टापत्तिः; उपाधेः पृथग्दर्शनेन तत्र सोपाधिकत्वव्यवहाराभावादित्युपाधेः धर्मस्य वा अधिष्ठानसमसत्ताकलमध्यस्थमानाधिकसत्ताकत्वं वा सोपाधिकत्वे तन्त्रमिति न कर्तृत्वाध्यासः सोपाधिकः । बुद्धिगतकर्तृत्वस्यात्मन्यारोपरूपपक्षान्तराङ्गीकारेणाहमर्थगतकर्तृत्वस्यात्मन्यारोपासंभवशङ्कासमाधानवर्णनमात्रानुपपत्तिः कोविदारानाचष्टे इति न्यायविषयत्वादानादरणीयम् । सच पक्षः कर्तृत्वद्वयप्रतीत्यापादनेन पूर्वमेव निरस्तः । मनसोऽन्तःकरणत्वेनैव प्रसिद्धिरपि तस्याकर्तृत्वे प्रमाणम् । कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यधिकरणमपि जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरमस्साकमेवानुकूलम् । असति बाधके कर्तुरेव भोक्तृत्वमिति नियमात्, अन्यथा बुद्धेरपि भोक्तृत्वापत्तेः । उपहितानुपहितयोर्भेदाद्वन्धमोक्षवैयधिकरण्यमपि दुष्परिहरम् । एतेन—आत्मा, मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वादित्याद्यनुमानत्रयमपि—**व्याख्यातम्**; प्रथमानुमाने अनारोपितकृतेः **द्वितीयतृतीययोरनारोपितसामानाधिकरण्यस्य** चैव निवेशेन सिद्धसाधनाभावात् । जातेष्टिफलान्वयित्वं तु न पुत्रस्य, पुत्रपूतत्वादेः पुत्रासमेवेत्त्वादिति न प्रथमानुमाने व्यभिचारः । सत्तादौ साध्याव्याप्तेरनादिभावभिन्नत्वं, द्वितीयानुमाने नोपाधिः । मोक्षसत्तायां मोक्षसामानाधिकरण्यप्रसिद्ध्या, तृतीयानुमाने न साध्याप्रसिद्धिरिति सर्वं सुस्थम् । अतएव आत्मकर्तृत्वश्रुतय उपपद्यन्ते । निर्धर्मकत्वं न कर्तृत्वविरोधि; तस्यैव कर्तृत्वस्यापि अधिकरणरूपत्वात् । एतेन—मनःकरणत्वपराः श्रुतयोऽपि—**व्याख्याता** इति आत्मैव कर्तृते सिद्धमिति—**वर्णयन्ति ॥**

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

स्वाभाविकं नात्मनः कर्तृत्वं; किंतूरोपितमेव । आरोपश्चात्र सोपाधिकाध्यास एव । इदयतेहि सोपाधिकाध्यासस्थलेऽपि अधिष्ठानस्योपाध्यात्मनाऽवभासः । यथा अयो दहतीत्यत्र । तत्र यथा अयो दहति अग्निर्दहतीति न प्रतीतिद्वयं तद्वदिहापि न प्रतीतिद्वयम् । तादृशसोपाधिकाध्यासे च यदन्वयव्यतिरेकानुविधानेन यत् प्रतीयते तदपेक्षयाऽधिकसत्ताकतद्धर्माश्रयान्तराभावएव तन्त्रम् । तत्राधिकसत्ताकान्तं तद्धर्माश्रयस्य न विशेषणम्, येन स्फटिकलौहिल्यभ्रमेऽसंभवः स्यात्, किंतु तद्धर्मा-

अथ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः ।

ननु—‘अहमर्थस्यानात्मत्वे ब्राह्मणोऽहं काण’ इत्यादिप्रत्यक्षं देहेन्द्रियादौ आत्मैक्याध्यासे प्रमाणं न स्यात्, ऐक्यबुद्ध्यावात्मनोऽविषयत्वादिति—चेन्न; अहमित्यस्य द्वांशत्वेन चिदंशे कर्तृत्वादिविशिष्टान्तःकरणैक्याध्यासवत् ब्राह्मणत्वकाणत्वादिविशिष्टदेहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासेनात्मैक्यविषयत्वसंभवात् । तथाचात्मनि देहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासो युज्यत एव । नच—एवं देहात्मैक्यस्य प्रत्यक्षत्वे तद्विरोध्यनुमानागमयोरप्रामाण्यप्रसङ्गः, वह्निसैत्यानुमानवत्, श्रूयमाणार्थे ‘यजमानः प्रस्तर’ इत्यागमवच्च, तथाच न देहात्मनोभेदसिद्धिः स्यादिति—वाच्यम्; चन्द्रपरिमाणप्रत्यक्षविरोध्यनुमानागमादिदृष्टान्तेन प्रत्यक्षविरोधिनः परीक्षितागमानुमानादेः प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वेन तथापि तयोर्भेदसिद्धिसंभवात् । नच—परस्परभिन्नत्वेन निश्चितानां देहेन्द्रियादीनां युगपदेकात्मैक्याध्यासायोगः, न हि भिन्नत्वेन निश्चितयो रजतरङ्गयोरेकदैकशुक्तिकायामैक्याध्यास इति—वाच्यम्; ‘देहादिन्द्रियमन्यत्’ ‘इन्द्रियादेहोऽन्य’ इति भेदबुद्ध्या ‘देहोऽहमिन्द्रिय’मित्यैक्याध्यासासंभवेऽपि ब्राह्मणादन्यः काणः काणादन्यः ब्राह्मण इति भेदबुद्ध्यभावेन ब्राह्मणोऽहं काण इत्येकदा ऐक्याध्याससंभवात्, समानप्रकारकभेदधिय एव विरोधित्वात् । ननु—भेदमात्रस्याप्यध्यस्तत्ववादिनस्तव देहात्मनोभेदस्याप्यध्यस्तत्वेन जीवब्रह्मणोरिव तदभेदस्तात्त्विकः स्यात्, मिथ्यात्वं हि अधिष्ठानज्ञानावाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । तद्वाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि असंभवात् । अमेदश्च भेदात्यन्ताभाव इति कथं भेदमिथ्यात्वे अमेदः सत्यो न स्यात्? नच—देहस्याप्यध्यस्तत्वेन तेन सहात्मनो न भेदो नाप्यभेद इति—वाच्यम्; अध्यस्तादपि रूप्याच्छुक्तेः स्वज्ञानावाध्यभेददर्शनादिति—चेन्न; भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि अमेदो न तात्त्विकः, भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात् । इयांस्तु विशेषः—यदत्राभेदो व्यवहारकालीनेन परीक्षितप्रमाणभावेनानुमानादिना वाध्यते, भेदस्तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चिदंशे अज्ञानोपहितचिति । ननु—तथापि शुद्धात्मैक्याध्यासे न प्रमाणम्, तत्राह—तथा चेति । उपहितात्मैक्याध्यासादुपहिते शुद्धस्यानुस्यूतत्वेन भानादुपहितमिष्टं शुद्धतादात्म्यं देहादावारोप्यत इति भावः । समानेति । ‘ब्राह्मणस्याक्षि काण’मित्यादौ ब्राह्मणभेदविशिष्टे अक्षणि काणत्वादिकं विशेषणम्, ननु काणत्वादिविशिष्टे ब्राह्मणभेदः, अक्षित्वविशिष्टस्य तु ब्राह्मणत्वविशिष्टे अध्यासो नास्त्येव । ब्राह्मणदेहो न काणः ‘काणं चक्षुर्न ब्राह्मण’इति धीस्तु काणो ब्राह्मण इति बुद्धौ न विरोधिनी । काणभेदाद्यंशे हि देहत्वादिकं विशेष्यतावच्छेदकम् । ब्राह्मणत्वादिकं तु तद्विशिष्टे विशेषणमिति भावः । सत्त्वेऽपि स्वाश्रयसत्यत्वेऽपि । प्रागेवेति । स्वान्यूनसत्ताकाल्यन्ताभावघटितमिथ्यात्वं प्रपञ्चे साध्यते । तेन प्रातीतिकात्यन्ताभावमादाय न सिद्धसाधनम् । तथाच मिथ्यात्वघटकात्यन्ताभावोऽधिष्ठानरूपस्तात्त्विकोऽधिष्ठानान्यो व्यावहारिको वेत्यादिकं प्रतिपन्नोपाधीत्यादिमिथ्यात्वलक्षणे उक्तम् । तत्त्वेन तद्देशकालवृत्तित्वेन उपस्थिताद्देवदत्तादभेदभ्रमस्य सोऽयमित्याकारकस्य यज्ञदत्ते दर्शनात् । भेदयुतः अमेदान्यसंसर्गयुक्तः । विशिष्टं न विशेषणविशेष्याभ्यामतिरिक्तम्, तथाचोभयपर्याप्तत्वेऽपि योग्यवृत्तित्वान्मनुष्यवृत्तित्वादिकं चक्षुषा गृह्यतामिति

श्रयाश्रयान्तरस्येति न कोऽपि दोषः । एतेन—नीरक्षीरविभ्रमोऽपि व्याख्यातः । नहुपाध्यधिष्ठानयोः पृथग्रहणं सोपाधिकाध्यासत्वविरोधि; अयो दहतीत्यादौ सोपाधिकत्वानापत्तेः । नहि बुद्धिगतं कर्तृत्वमहमर्थेऽध्यस्याहंकर्तेति व्यवहारः; अधिष्ठान एवारोपेणाहमर्थेऽनारोपात् । अहमर्थकर्तृत्वं लब्ध्यासं विना न सिद्ध्यतीति नात्मस्वाभाविककर्तृत्वमुपपद्यते । मनःकरणत्वपरास्तूपलब्धिकरणत्वमेव गौरयन्ति । अन्तःकरणत्वप्रसिद्धिरपि तच्चिन्धनैव । कर्तृत्वेनाप्रसिद्धिर्विवेकाग्रहनिबन्धना । एतेन—अनुमानान्यपि—व्याख्यातानि । यो यत्कलवान् स तत्साधनकृतिमानिति व्याप्तौ जातेष्टिफलपूतत्ववति पुत्रे व्यभिचारात् प्रथमानुमानमप्रयोजकम् ॥ द्वितीयानुमाने सत्तायां साध्याभावेन साध्यव्याप्त्याऽनादिभावभिन्नत्वमुपधिः तृतीये आत्मसमसत्ताकसंबन्धनिवेशेऽप्रसिद्धिः, धर्मिसमसत्ताकतच्चिन्धने सिद्धसाधनम्; अहमर्थरूपधर्मिसमसत्ताकत्वस्य सिद्धत्वात् । निर्धर्मकत्वमभावरूपत्वात् ब्रह्मस्वरूपं न कर्तृत्वमिति कर्तृत्वश्रुतीनामुवाचलमिति सर्वमनवयमिति—विवेचयन्ति ॥

इति कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ॥

देहात्मनोर्न तेन, किंतु चरमवृत्त्येति । नच—एवं गेहीतिवत् ‘देहीति प्रतीति’न स्यात्, किंतु देहोऽह-
मिति—वाच्यम्; देहत्वेन भेदग्रहात् ब्राह्मणत्वादिना भेदाग्रहाच्च ब्राह्मणोऽहं देहहमित्युभयप्रतीत्यु-
पपत्तेः । देवदत्ताद्यज्ञदत्तोऽस्य इति भेदबुद्ध्यावपि तत्त्वेनोपस्थितादेवदत्ताद्यज्ञदत्ते ‘सोऽय’ मित्यभेद-
भ्रमदर्शनात् । ननु—ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति कथमध्यासरूपम् ? मनुष्यत्वब्राह्मणत्वादेः शरीर-
विशिष्टात्मवृत्तित्वेन प्रमात्वस्यैव संभवात् । तदुक्तं—‘ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिस्तु प्रमेव
नः । देहभेदयुतो यस्मात् ब्राह्मणादिपदोदितः ॥’ इति—चेन्न; मनुष्यत्वादेर्देहविशिष्टात्मवृत्तित्वे
चक्षुरादिगम्यत्वं न स्यात्, देहविशिष्टात्मनश्चक्षुरगम्यत्वात् । नच—एकदेशस्य चक्षुर्गम्यत्वात्
विशिष्टगतजातिः चक्षुषा गृह्यत इति—वाच्यम्; व्यासज्यवृत्तेरुभययोग्यतायामेव योग्यत्वनियमात् ।
अन्यथा ऐन्द्रियकानैन्द्रियकवृत्तिसंयोगद्वित्वादेः प्रत्यक्षता स्यात् । व्यासज्यवृत्तित्वस्य जातावदृष्ट-
चरत्वात् पृथिवीत्वादिना संकरापत्तेः, तव मते आत्मनोऽणुत्वेन तद्वृत्तित्वेऽतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् ।
न चैवं ‘देहो ब्राह्मणो मनुष्य’ इत्यादिप्रतीत्यापत्तिः; अहंत्वसामानाधिकरण्यभ्रमजनकदोषस्यैव
तादृक्प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वात् उक्तबाधकैर्देहवृत्तित्वे अनन्यगतिकत्वेन तथा कल्पनात्, ‘कृशोऽहं
स्थूलोऽहं’मित्यादौ काश्यादिविशिष्टैक्याध्यासस्यावश्यकत्वाच्च । नच—अयमौपचारिकप्रयोगः पुत्रे
कृशे अहं कृश इतिवत्, तदुक्तं—‘कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ काश्यादिर्देहसंस्थितः । पुत्रादिस्थित-
काश्यादिवदात्मन्युपचर्यते ॥’ इति—वाच्यम्; एवंसति देहादिभिन्नात्मास्त्वप्रतिपादिकाया
‘अस्तीत्येवोपलब्धव्य’ इति श्रुतेरनुवादकतापत्तेः, मम देह इत्यनौपचारिकः, अहं गौर इत्याद्यौप-
चारिक इत्यत्र विनिगमकाभावाच्च । ननु—इदं विनिगमकम्, जातमात्रस्य पश्वादेः प्रवृत्त्यादिहेतोरिष्ट-
साधनताद्यनुमितेर्हेतुर्यस्तन्यपानं, तदिष्टसाधनम्, यथा पूर्वदेहीयं स्तन्यपानमित्यादिव्याप्तिस्मृति-
स्तावन्न देहान्तरास्मृतौ युक्ता, न च ‘मम प्राक् देहान्तरमभूदिति स्मरतस्तस्यैक्यधीः संभवति-
कित्वेनकमण्यनुस्यूतसूत्रमिवानेकदेहेष्वनुस्यूतमात्मानं पश्यतः स्वतो भेदधीरत्रेति—चेन्न; पूर्वदेह-
स्मृतिं विनापि अनुमितिहेतुव्याप्तिस्मृतैः संभवात् । न हि व्याप्त्यनुभव इव व्याप्तिस्मारणसमयेऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शङ्कते—न चेति । ननु—विशिष्टस्यातिरिक्तत्वपक्ष एवालम्बनीयः; केवलात्मन एव चक्षुराद्ययोग्यत्वेन देहविशिष्टस्य
तद्योग्यतासंभवात्, तत्राह—तवेति । आत्मन इति । देहादिविशिष्टात्मनोऽपीत्यर्थः । मन्मते सद्रूपस्यात्मनश्चक्षुरादि-
वेद्यत्वाद्देहविशिष्टरूपेणापि तत् संभवति, परं तु वक्ष्यमाणरीत्यात्मनि कल्पिततादात्म्यान्यस्य देहवैशिष्ट्यस्य वक्तुमशक्य-
त्वात् गौरोऽहमित्यादौ देहैक्याध्यासस्यावश्यकत्वाच्च देहस्यैव मनुष्यत्वादिकं स्वाभाविकमुच्यते, त्वन्मते तु पार्थि-
वाद्यणोरिवात्मनोऽपि विशिष्टरूपेणापि चक्षुराद्ययोग्यत्वं विशिष्टपरमाणुं पश्यामीत्येव विशिष्टात्मानं पश्यामीत्य-
स्यापि प्रत्ययस्याभावादिति भावः । ननु—ब्राह्मणात्मानं पश्यामीति धीरत्येव, अथवा—आत्मत्वं न विशिष्टवृत्तीति
नोक्तधीः स्वीक्रियते, ब्राह्मणत्वादिमात्रस्य तु विशिष्टात्मनि प्रत्यक्षमस्त्येव, विशिष्टपरमाणौ तु विजातीयचक्षुःसंयोगे
मानाभावेन नोक्तप्रत्ययापत्तिरिति—चेन्न; तादृशप्रत्यये विषयस्यापि ब्राह्मणत्वादेरात्मनिष्ठत्वे मानाभावात्, विजाती-
यचक्षुःसंयोगानामनन्तानामात्मनि कल्पने गौरवात् । अथ—ब्राह्मणत्वादिकमणावप्यात्मनि साक्षिवेद्यं सुखादिवत्,
परकीयात्मनि तु लिङ्गादिगम्यमिति—चेन्न; गौरत्वादेरपि तथात्वापत्तेः । एतेन—कर्तृत्वादेरिव ब्राह्मणत्वादेरपि
द्वयस्य त्वया वाच्यत्वेनात्मन्येव ब्राह्मणत्वादिकं स्वीक्रियताम्, नतु देह इति—परास्तम्; स्वदेहे उक्तधीरापाद्यते,
परदेहे वा । नान्त्यः; इष्टत्वात् । चक्षुषा दृश्यमानो अवयवी ब्राह्मण इतिवदयं देहो ब्राह्मण इत्यस्यापि संभवदित्य-
भिप्रेत्य नाद्योऽपीत्याह—अहंत्वेति । दोषस्य अहं ब्राह्मण इत्यादिभ्रमजन्यवासनादेः । प्रतिबन्धकत्वेति ।
वस्तुतो देहत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको यो भेदः, तदवच्छेदकतया गृहीतस्याहंत्वादेः ब्राह्मणत्वाद्यवच्छेदेन भ्रमो देह-
त्वावच्छेदेन ब्राह्मणत्वाद्यवच्छिन्नभेदभ्रमेण सहितो न ब्राह्मणत्वादिप्रतिबन्धकतया क्लृप्तः । तत्सामग्रीत्वेन वासना-
देरपि तत्प्रतिबन्धकत्वं क्लृप्तमेव । देहत्वानवच्छिन्नदेहविशिष्टविशेष्यताकं ब्राह्मणोऽयमित्यादिप्रत्यक्षं तु उक्तज्ञानाप्रति-
बन्धं जायत एव । नच—देहो न ब्राह्मण इति धीरेव देहो ब्राह्मण इति धीसामग्र्या प्रतिबन्धयतामिति—वाच्यम्;
दोषघटितसामग्र्या बलवत्त्वेन क्लृप्तत्वात् । आवश्यकत्वादिति । तथाच देहस्यैन्द्रियकत्वेन ब्राह्मणत्वादेरपि
तत्सिद्धेर्देहविशिष्टात्मन्यनन्तेन्द्रियसंयोगकल्पने गौरवमिति भावः । औपचारिकः आत्मनि कृशादिदेहस्वामित्वविष-
यकः । एवं सतीति । आत्मनि गौरत्वाद्यवच्छिन्नभेदधीव्याप्ये उक्तौपचारिकत्वे सतीत्यर्थः । देहादिभिन्नेति ।
गौरत्वाद्यवच्छिन्नभिन्नेत्यर्थः । ननु आत्मा देहो नेति बुद्धेस्त्वयापि स्वीकारात् तादृशभेदेनात्मनि गौरत्वाद्यवच्छिन्न-

दृष्टान्तज्ञानापेक्षा । येन तदर्थं तदेहस्मृतिरपेक्ष्येत । नच—तथापि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणप्तुननुभवामि योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः, सोऽहमिदानीं मनुष्यदेह' इति देहभेदधी-
पूर्वकं स्वसैक्यमनुसन्दधानः कथं ततो भेदं न जानीयादिति—वाच्यम्; विरुद्धधर्मरूपलिङ्गधी-
जन्यभेदधीसंभवेऽपि अपरोक्षाभेदभ्रमे अविरोधात् । नच—प्रत्यक्षे धर्मिणि भेदकसाक्षात्कारो
भेदसाक्षात्कारव्याप्तः, इह च व्यावृत्तत्वेन बुद्धिस्थदेहादितो भेदकस्यानुवृत्तत्वस्यात्मनि प्रत्यभिज्ञा-
प्रत्यक्षसिद्धत्वात् व्यावर्तकसाक्षात्कारस्यैक्यापरोक्षभ्रमविरोधित्वात् निरुपाधिकत्वेन विशेषदर्शना-
प्रतिवध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् कथमैक्यभ्रम इति—वाच्यम्; भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षा-
त्कारेण व्याप्तेरैक्यारोपेण सह विरोधस्य चासिद्धेः । नीला बलाके'त्यत्र नीलात् भेदकस्य बलाका-
त्वस्य ग्रहेऽपि नीलभेदसाक्षात्काराभावस्य तदभेदसाक्षात्कारस्य च दर्शनात् । न च तत्र दोषप्राव-
ल्यात् तथा; प्रकृतेऽपि दोषप्रावल्याच्चेति केन तुभ्यमभ्यधायि? एवं 'ब्राह्मणो यजेते'त्यादिश्रुतिरपि
ब्राह्मणत्वाश्रयशरीरस्य जडत्वेनानियोज्यतया तदैक्याध्यासापन्नमात्मानं नियुज्जाना तत्र प्रमाणम् ।
न च ब्राह्मणत्वाश्रयदेहेन संबन्धान्तरमादायैव नियोज्यत्वोपपत्तिः; तस्यानतिप्रसक्तस्य वक्तुमशक्य-
त्वात् । तथाहि—न तावत्संयोगः; आत्मनो विभुत्वेन सर्वदेहसाधारण्यात् । नापि स्वस्वामिभावः
संबन्धः; पश्वादिसाधारणत्वात् । नापि साक्षात् स्वस्वामिभावः संबन्धः; पश्वादिव्यावृत्तस्य देहादि-
गतस्वस्वामिभावे साक्षात्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नापीच्छानुविधायित्वम्; आमवातजडीकृते
तदभावात् । नापि तदिन्द्रियाश्रयत्वम् । तद्धि तत्संबन्धेन्द्रियाश्रयत्वं वा, तज्ज्ञानजनकेन्द्रियाश्रयत्वं
वा । नाद्यः; अतिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; ज्ञानपदेन स्वरूपचैतन्योक्तावसंभवः, अन्तःकरणवृत्त्युक्तौ तेनापि
संबन्धार्थमध्यासस्यावश्यकत्वात् । तद्वरं देहस्यैवाध्यासिकः संबन्ध इत्युच्यताम् । अतएव—
साक्षात् प्रयत्नजन्यक्रियाश्रयत्वं वा, तद्भोगायतनत्वं वा, तत्कर्माजितत्वं वा संबन्ध इति—निरस्तम्;
तत्कर्माजितत्वस्य पुत्रादिसाधारणत्वाच्च । नच—तत्रादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते, न तु पुत्रादिरिति—
वाच्यम्; ग्रामादिवत् पुत्रस्य सिद्धत्वाभावेन स्वत्वोत्पादनार्थमपि तदुत्पादनस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा
स्वदेहसुखादिष्वप्यस्यादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते, नतु स्वदेहादिरित्यपि स्यात् । तथाच पूर्वानुत्पन्नम-
दृष्टेन स्वत्वसहितमेवोत्पाद्यते । पूर्वोत्पन्ने तु स्वत्वमात्रमिति विभागः । एतेन—श्रुतिस्थं ब्राह्मणपदं
किं लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवत्परम्, देहविशेषसंबन्धपरं वा । संबन्धस्तु अन्यस्याभावादैक्या-
ध्यास एव । यद्वा—देहविशेषपरम्, आत्मा तदैक्याध्यासात्प्रवर्तत इति । नाद्यः; विधौ लक्षणाया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

भेदानुमितिसंभवात् स्वन्मतेऽप्युक्तश्रुतिरनुवादिका, तत्राह—मम देह इति । तथाचाहं गौर इत्यादितादात्म्यबुद्ध्या मम
देह इत्यस्यौपचारिकत्वसंभवेन गौरत्वाद्यवच्छिन्नभेदनिश्चयः । किंच मम देह इति धीरहं देह इति ज्ञानस्यौपचारि-
कत्वं साधयति, न त्वहं गौर इत्यस्य; भिन्नाभ्यां रूपाभ्यां भेदाभेदयोः संभवात् । व्याहयनुभव इति । व्याहयनु-
भवकाल इत्यर्थः । दृष्टान्तज्ञानेति । देहत्वावच्छिन्नभेदविषयकदृष्टान्तज्ञानेत्यर्थः । विरुद्धधर्मेति । यत् यदनुवृत्तं,
तत् तदननुवृत्तभिन्नमिति व्याहया आत्मनि तदेहानुवृत्तत्वेन हेतुना तदेहाननुवृत्तदेहभेदानुमितिरित्यर्थः । व्यावर्तक-
साक्षात्कारस्येति । भेदसाक्षात्कारव्याप्यभेदकसाक्षात्कारस्य । ननु भेदस्यासाक्षात्कारेऽपि भेदकसाक्षात्कार एव
विरोध्यस्तु, तत्राह—एक्यारोपेणेति । यद्यपि देहान्तरानुवृत्तत्वं विद्यमानदेहभेदव्याप्यत्वेन गृहीतम्; तथाप्या-
त्मनि तद्विनीपरोक्षेति विद्यमानदेहाभेदोपाविरोधिनीति भावः । ननु—भेदके प्रत्यक्षे भेदोऽपि प्रत्यक्षोऽस्तु; साम-
ग्रीसत्त्वात्, इत्याशङ्क्याभेदप्रत्यक्षहेतुदोषस्य प्रतिबन्धकत्वात् सामग्र्यभावं सहृष्टान्तमाह—नीलेति । दोषप्रावल्यात्
रात्रिकालरूपदोषस्य भेदधीप्रतिबन्धकत्वरूपात् प्रावल्यात् । तथा भेदाप्रत्यक्षम् । दोषेति । वासनाविशेषेत्यर्थः ।
शङ्को न पीत इत्यनुमितिसत्त्वेऽपि पित्तादिदोषेण तादृशप्रत्यक्षप्रतिबन्धकेन शङ्कोः पीत इत्यादिप्रत्यक्षोत्पत्तिदर्शनेन
भेदस्य परोक्षधीसत्त्वेऽपि वासनादिदोषादभेदप्रत्यक्षमिति भावः । अनियोज्यतया अप्रवर्तनीयतया । नियुज्जाना
प्रवर्तयन्ती । अतिप्रसङ्गादिति । इन्द्रियेषु सर्वात्मसंयोगादिसंबन्धसत्त्वादित्यादिः । अतएव घटकस्य तादात्म्यस्या-
ध्यासिकत्वादेव । तत्प्रयत्नजन्यक्रिया घटादावपीति साक्षादित्युक्तम् । स्वत्वसहितमिति । सति स्वामिनीत्यादिः ।
असति स्वामिनि तु तस्यैव स्वत्वकारणस्याभावात् स्वत्वासहितमेवोत्पाद्यते । अतएव पुत्रोत्पत्तेः प्राङ् स्मृतस्यादृष्टेन
जनिते पुत्रे स्वत्वासंभवात् स्वत्वमात्रं न फलम्, किंतु पुत्रादिकमपीति भावः । वस्तुतः—पुत्रादौ पित्रादेः स्वत्वं
प्रति पुत्रादेरेव हेतुत्वम्, न तत्रादृष्टत्वं । न हि स्वत्वविशिष्टं पुत्रादिकं फलत्वेन विधिर्बोध्यति । गोभिरित्यादि ।

अयोगात्, पुत्रमित्रादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति अध्यासकास्त्रीरेण ब्राह्मणमित्रस्य शूद्रस्याधिकारप्रसङ्गात्—शूद्रमित्रस्य ब्राह्मणस्यानधिकारप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः; तदिन्द्रियाश्रयत्वादेः संबन्धान्तरस्यैव संभवात् । न तृतीयः; तस्य जडत्वेन नियोज्यत्वासंभवादिति—निरस्तम्; चरमपक्षे दूषणमनुक्तोपालम्भनम्; प्रथमद्वितीयपक्षयोरेव क्षोदसहत्वेनाङ्गीकारविषयत्वात्, विधौ लक्षणायाः ‘गोभिः श्रीणीत मत्सर’मित्यादौ दर्शनात् स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धाननिबन्धनस्य पुत्रमित्रादिव्यावृत्तस्यैव सर्वानुभवसाक्षिकस्याध्यासस्य प्रयोजकतया नोक्तस्थले अतिप्रसङ्गाप्रसङ्गौ । कादाचित्कस्य तादृशाध्यासस्यैव ब्राह्मणपदप्रयोगनिमित्तत्वेन ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः सुषुप्तविषयत्वादिकमपि संगच्छते । तथा जीवन्मुक्तविषयत्वमपि; तस्यावरणशक्तिनिबन्धनाध्यासाभावेऽपि विक्षेपशक्तिनिबन्धनाध्याससंभवात् । नचैवं कदाचिदध्यासस्य प्रयोजकत्वे महापातकेन नष्टब्राह्मण्यस्याप्यधिकारप्रसङ्गः; तत्र महापातकस्यैवानधिकारप्रयोजकत्वम्, नतु ब्राह्मण्याभावस्य; ‘पतितो ब्राह्मण’इति व्यवहारेण तदभावस्यैवाभावात् । तथाचोक्तं भाष्ये—‘सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्राण्यध्यासमूलानी’ति । प्रमातृत्वाद्यन्यथानुपपत्तिरप्यध्यासे मानम् । कदाचिदध्यासस्यैव प्रयोजकत्वेन सुषुप्तौ तदभावेऽपि ज्ञातृत्वस्य घटादिप्रमाकाले तदभावेऽपि प्रमातृत्वस्य दर्शनात् कथमैक्याध्यासः तत्र प्रयोजक इति—निरस्तम् । तदुक्तं भाष्ये—‘प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलमिति । अतएव चार्वाकादीनामनभिसंहितप्रबलागमानुमानादीनां देह एवात्मेति प्रवादः । अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनस्तस्य तादृशव्यवहारानुपपत्तेः । नच—चार्वाकादेरनुमानाभासाज्जाते देहात्मैक्यभ्रमे प्रत्यक्षत्वाभिमान इति—वाच्यम्; प्रत्यक्षेण भेदे गृहीते अनुमानाभासा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गोविकारैः पयोभिर्मत्सरं सोमरसं श्रीणीतेत्यर्थः । यद्यप्ययं मन्त्रः पयसा श्रीणीतेति विधिविहितश्रपणप्रकाशकः; तथापि वाक्यशेषविधयोक्तविधिस्थपयःपदे गोपयोलक्षणायां प्रमाणमिति भावः । आदिपदात् ‘उच्चैर्नचाक्रियते’ इत्यादौ ऋगादिपदे ऋग्वेदादिलक्षणेति बोध्यम् । वस्तुतो ब्राह्मणत्वादिविशिष्टे ब्राह्मणादिपदस्य शक्तिः, ब्राह्मणादिवैशिष्ट्यं च देह इव आत्मन्यपि व्यावहारिकत्वात् शक्यशरीरे प्रविष्टम्; आजानिकव्यवहारस्य शक्तिप्राहकस्योभयत्र तुल्यत्वादुभयोरेकत्वेन व्यवहारकाले निश्चयाच्च । तथाच क्व लक्षणादोष इति ध्येयम् । स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धाननिबन्धनस्य स्वीयत्वादिवुच्यप्रयुक्तत्वयोग्यस्य । पुत्रमित्यादौ स्वीयत्वादिवुच्या तत्साकल्यादिधर्माणां स्वस्मिन्नध्यासात् सकलत्वादिना पुत्रादेरपि स्वस्मिन्नध्यासः, अप्रतिबिम्बरूपे धर्माध्यासे सति धर्म्यध्यासनियमात् । तथाच ब्राह्मणमित्रादेरपि सकलत्वादिनैव शूद्रादौ तादात्म्याध्यासः, नतु ब्राह्मणत्वादिनैति ब्राह्मणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकतादात्म्याध्यासः स्वीयत्वादिवुच्यप्रयुक्तत्वयोग्य इति भावः । प्रयोजकतया उक्तश्रुतिविषयत्वेन नियोज्यप्रयोजकतया । कादाचित्कस्येति । ‘न शूद्रयाजिनः श्राद्धे भोजनीयाः’ इत्यादौ कदाचित् शूद्रयाज्यादौ शूद्रयाज्यादिपदस्येव कदाचित् ब्राह्मणदेहतादात्म्याध्यासवति ब्राह्मणादिपदप्रयोग इति भावः । वस्तुतो हननस्य सुषुप्तपुरुषे कृतस्यापि प्रबुद्धतदीयदेहप्राणवियोगानुकूलव्यापारत्वात् प्रबुद्धतादशायां च ब्राह्मणोऽहमित्यध्यासानियमेऽपि ब्राह्मणदेहप्राणवियोगानुकूलव्यापाररूपस्य ब्राह्मणहननस्य संभवात् ‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ इत्यादेः सुषुप्तब्राह्मणहनननिषेधकत्वमव्याहतम्, एवं जीवन्मुक्तशरीरादावपि हनननिषेधश्रुतिविषयत्वमिति ध्येयम् । आवरणशक्तिनिबन्धनेति । पूर्णानन्दो नास्ति न भातीत्यादिरूपेति शेषः । निबन्धनेति । प्रारब्धकर्माधीनब्राह्मण्यादीति शेषः । प्रसङ्ग इति । तथाच ब्राह्मण्याभावस्यैवानधिकारप्रयोजकत्वे हननादिनिषेधाविषयत्वेऽपि स प्रयोजकः स्यादिति भावः । नतु ब्राह्मण्येति । वस्तुस्थितिरियमुक्ता । ब्राह्मण्याभावस्यानधिकारप्रयोजकत्वेऽपि निषेधाविषयत्वे तस्य कादाचित्कस्य प्रयोजकत्वं सुषुप्तौ हननादेः शिष्टविणीतस्येव बाधकत्वादिति ध्येयम् । तथाचोक्तमिति । विधिनिषेधश्रुतिस्थब्राह्मणादिपदमुकरीत्याऽध्यासार्थकमुक्तं चेत्यर्थः । प्रमातृत्वादित्यादिना ज्ञातृत्वादिग्रहणम् । अध्यासे देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमाने । प्रयोजकत्वेनेति । सुषुप्तावित्यादि निरस्तमिति योजना । तदभाव इति । यद्यपि ज्ञातृत्वं सुषुप्तावविद्यावृत्तिरूपं न देहेन्द्रियाध्यासापेक्षम्, अविद्याध्यासस्तु सुषुप्तावस्त्येव । एवं घटादिप्रमाकालेऽपि मनुष्योऽहमित्यादिसाक्षिरूपाध्यासोऽस्त्येव; अन्यथा नाहं मनुष्य इत्यादिज्ञानापत्तेः, नच प्रयोजनाभावान्नाभिलष्यते; तथापि समाधानप्राप्त्यर्थज्ञापनाय कादाचित्काध्यासप्रयोजकत्वमुक्तम् । ‘आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वाणि प्रमाणानि प्रवर्तन्ते देहेन्द्रियादावहंममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रबुध्यनुपपत्तेः’ इत्यादिभाष्यार्थं संक्षेपे-

दिनाऽभेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात् । तथाच प्रत्यक्ष एवायमैक्यभ्रमः । अतएवाङ्गुल्या देहं प्रदर्श्य वदत्ययमहमिति । अतएव देहात्मैक्यनिषेधकश्रुतिरप्युपपद्यते; अन्यथा तस्याप्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः । नच कुसमयप्राप्तनिषेधिका सा; प्रत्यक्षविरुद्धकुसमयस्याप्यनवकाशात् । तस्मादाभीरसाधारणात् 'अहं गौर' इत्यादिप्रत्ययादात्मन्यन्तःकरणैक्याध्यासाद्देहतद्धर्माध्यासोऽपीति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

णाह—प्रमातृत्वादिकमध्यासेति । प्रत्यक्षेणेति । ऐक्यप्रत्यक्षरूपविरोध्यभावादित्यादिः । अशक्यत्वादिति । ननु प्रपञ्चे सत्त्वेन प्रत्यक्षे सत्यपि सिद्धान्ते मिथ्यात्वानुमानमिव भेदप्रत्यक्षे सत्यपि ऐक्यं चार्वाकादिभिरनुमेयम्, तत्राह—अतएवेति । मिथ्यात्वव्याप्यवद्विशेष्यकत्वज्ञानेन सतर्केण प्रपञ्चे सत्त्वज्ञानमाभासीकृत्य मिथ्यात्वं यथा अस्माभिरनुमीयते, तथैक्यव्याप्यवद्विशेष्यकत्वज्ञानेन सतर्केण भेदप्रत्यक्षमाभासीकृत्य न तेषामैक्यानुमानसंभवः उक्तव्याख्याद्यप्रतिसन्धानेऽपि अयमहं स्थूलो गौर इति स्वाभाविकव्यवहारदर्शनात्, परंतु नाहं गौर इत्यादिप्रत्यक्षाभावादहं गौर इत्यादिप्रत्यक्षसंभवात्तेषामैक्यव्यवहार इति भावः । कुसमयस्य देहात्मैक्यबोधकत्वेन कुत्सितशास्त्रस्य । अनवकाशादिति । श्रुतिस्मृती विना प्रत्यक्षविरुद्धं शास्त्रे आस्तिकानामविश्वासात्तत्प्राप्तार्थनिषेधकत्वं न श्रुतेर्युक्तमिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां देहात्मैक्याध्याससिद्धिः ॥

अथ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

देहात्मैक्याध्यासे न ब्राह्मणोऽहं काण इत्यादिप्रत्यक्षं मानम्; अहमर्थानात्मत्वस्य भवदभिमतत्वेनोक्तबुद्धौ आत्मनोऽविषयत्वात् । यदि हि देहात्मैक्यं प्रत्यक्षं स्यात्, तर्हि तद्विरोध्यनुमानागमयोरप्रामाण्यप्रसङ्गात् देहात्मभेदो न सिध्येत् । नहि परस्परभिन्नत्वेन निश्चितानां देहेन्द्रियादीनां तादृशरङ्गरजतयोरिवैकदैकत्रात्मन्यध्यास उपपद्यते । किंच भेदमात्राध्यस्तत्वादिनस्तव तदभावरूपाभेदः सत्य एव स्यादिति देहात्मैक्याध्यासो न युज्यत एव । अधिष्ठानज्ञानावाध्यास्यन्ताभावप्रतियोगित्वं हि मिथ्यात्वम् । स्वरूपेणाध्यस्तत्वेऽपि देहस्यात्मना सह भेद उपपद्यत एव । रूप्ये शुक्तिभेदस्य शुक्तिज्ञानावाध्यस्य दर्शनात् । अपिच देहात्मैक्याध्यासे 'अहं देह' इत्येव प्रतीतिः स्यात्, नलहं देहीति । ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति प्रत्ययस्तु ब्राह्मण्यमानुषत्वादेः शरीरविशिष्टात्मवृत्तित्वात्प्रमेव न भ्रमः । कृशोऽहमित्यादिप्रत्ययस्तु पुत्रे कृशे अहं कृश इति प्रतीतिरिव गौण्येवेति भावः । 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इति श्रुतिस्तु कुसमयप्राप्तदेहात्मत्वनिरासपरा, नानुवादिका । जातमात्रस्यापि पश्चादेः प्रवृत्त्यादिहेतुस्तन्यपानेष्टसाधनतास्मृतिर्देहान्तरास्मृतौ न युक्त्यनेकमप्यनुस्यूतसूत्र इव अनेकशरीरानुगतात्मन्यपि भेदधीः संभवत्येवेति मम देह इति प्रत्ययो न गौणः, किंतु कृशोऽहमिति प्रत्यय एवेति पश्यामः । योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं, सोऽहं प्रनप्तननुभवामि, योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः सोऽहमिदानीं मनुष्यदेह इति देहात्मनोर्व्यावृत्तत्वानुवृत्तत्वरूपभेदकसाक्षात्कारस्य धर्मिणि प्रत्यक्षे भेदसाक्षात्कारव्याप्तत्वेन देहात्मैक्यभ्रमो नोत्पत्तुमर्हति । भेदकस्य बलाकालस्य ग्रहेऽपि बलाकायां नीलभेदसाक्षात्कारस्तु दोषप्रावल्याच्च भवतीति न नीला बलाकेति भ्रमानुपपत्तिः । एतेन—ब्राह्मणो यजेतेति श्रुतिरपि—व्याख्याता । तत्र हि ब्राह्मणशब्दस्य जडस्यानियोज्यत्वाच्च शरीरमर्थः । नापि—देहविशेषसंबन्धपरं ब्राह्मणपदम् । संबन्धश्चान्यस्यासंभवादध्यासरूप इति—शङ्कनीयम्; संयोगस्य आत्मविभुत्वे स्वस्वामिभावस्य, तस्य पश्चादिसाधारण्ये इच्छानुविधायित्वस्य वातजडीकृते देहे तदभावे तदिन्द्रियाश्रयत्वस्य तज्ज्ञानजनकेन्द्रियाश्रयत्वस्य, साक्षात्प्रयत्नजन्यक्रियाश्रयत्वस्य तद्भोगायतनत्वस्य तत्कर्माजितत्वस्य वा संबन्धस्यान्यस्य संबन्धेनाध्याससंबन्धत्वादायोगात् । नापि लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवत्परत्वं ब्राह्मणशब्दस्य; पुत्रादीनामिव ब्राह्मणभृत्यादीनामपि शूद्राणां ब्राह्मण्यापत्त्या कर्माधिकारप्रसङ्गात्, ब्राह्मणानामपि शूद्रस्वामिनां भृत्यानां वा कर्मानधिकारापाताच्च, जीवन्मुक्तस्याब्राह्मण्येन न ब्राह्मणो हन्तव्य इत्यादिनिषेधाविषयत्वापत्तेः । कादाचित्काध्यासस्तु महापातकनष्टब्राह्मणस्यापि कर्माधिकारापातेन न ब्राह्मण्यप्रयोजकः । एतेन—सर्वाण्यपि विधिप्रतिषेधशास्त्राण्यध्यासमूलानीति परभाष्यमपि—प्रत्याख्यातम् । प्रमातृत्वं तु अध्यासाभावेऽपि सुषुप्तौ ज्ञातृत्वदर्शनाच्चाध्यासमूलम् । घटादिप्रमाकाले तदध्यासाभावेऽपि प्रमातृत्वदर्शनाच्चेति प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलमिति परभाष्यमपि प्रत्युक्तम् । चार्वाकादीनां देहात्मत्वविप्रतिपत्तिस्तु देहातिरिक्तदर्शनमूलकानुमानाभासजन्यज्ञाने प्रत्यक्षत्वाभिमाननिबन्धनो न देहात्मैक्यं प्रत्यक्षसिद्धमवगमयति । अङ्गुल्या देहं प्रदर्शयामि इति वादस्तु अङ्गारं प्रदर्श्य अयं वह्निरिति वत् पृथग्दर्शयितुमशक्यत्वात् । उक्तं च—“व्याप्तत्वादात्मनो देहे व्यवहारेष्वपादवात् ।

भेदज्ञानेऽपि चाङ्गारवह्निवत्स्वाविविक्तवत् ॥ भवन्ति व्यवहाराश्च नहि प्रत्यक्षगानपि । अर्थान् यथानुभवतः प्रतिपादयितुं क्षमाः ॥” इति ॥ तस्माद्देहादेरात्मैक्येन स्वरूपेण चानध्यस्तत्वाज्जगत् सत्यमेव नानिर्वाच्यमिति सिद्धमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

देहात्मैक्याध्यासे ब्राह्मणोऽहं काण इत्यादि प्रत्यक्षं प्रमाणम् । अहमित्यस्य चिदचित्संवलनरूपत्वेन चिदंशे कर्तृत्वादिविशिष्टान्तःकरणाध्यासवत् ब्राह्मणत्वादिविशिष्टदेहेन्द्रियाध्यासोऽप्युपपद्यते । परीक्षितानुमानागमादिप्राबल्यस्य पूर्वमेवोपपादितत्वात् न देहात्मैक्यभेदासिद्धिः । देहादिन्द्रियमन्यदिति परस्परभेदग्रहेऽपि ब्राह्मणादन्यः काण इति भेदग्रहाभावाच्चाध्यासानुपपत्तिः । यथा भेद इव देहात्माभेदोऽपि मिथ्या; भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वात्तथा पूर्वमेव सूचितम् । उभयमिथ्यात्वेऽपि देहात्माभेदः परीक्षितानुमानादिना बाध्यते भेदस्तु नेति विशेषो नात्र किञ्चित्करः । देहत्वेन भेदग्रहात् देहेऽहमिति प्रतीत्यभावेऽपि ब्राह्मणोऽहमिति प्रतीतिर्न नोपपद्यते । रूपान्तरेण भेदग्रहो रूपान्तरेण तादात्म्यज्ञानेन न प्रतिबन्धक इत्यसकृदवीवदाम । मनुष्यत्वादिर्हि न शरीरविशिष्टात्मधर्मः; अप्रत्यक्षत्वापत्तेः, विशिष्टधर्मो हि विशिष्टप्रत्यक्षतायामेव प्रत्यक्षो भवति, नैकदेशापरोक्ष्येऽपि । जातिस्तु न विशिष्टवृत्तिः । पृथिवीत्वादिना साङ्ख्यापत्तेरिति ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिप्रत्ययो विभ्रम एव, न प्रमा । अहंत्वसामानाधिकरण्यभ्रमजनकदोषविशेषप्रतिबन्धकत्वात् न देहो ब्राह्मण इति प्रतीतिः प्रसज्यते । एतेन—कृशोऽहमिति प्रत्ययोऽपि—व्याख्यातः । अस्तीत्येवोपलब्धव्य इत्यादिश्रुत्यनुवादत्वायोगेन उक्तप्रतीत्यौपचारिकता हि न युज्यते । मम देह इति प्रत्ययस्यैव गौणत्वमित्यापत्तेश्च । पूर्वदेहस्मृतिं विनापि अनुमितिहेतुव्याप्तिस्मृतिः संभवत्येव । नहि व्याप्त्यनुभव इव व्याप्तिस्मरणेऽपि दृष्टान्तज्ञानापेक्षा । एवंच पूर्वदेहस्मरणाभावान्न देहात्मैक्यधियोऽनुपपत्तिः । योऽहं बाल्ये आसमित्यादिव्यावृत्तत्वादिलिङ्गकानुमितिस्तु देहात्मभेदविषया न परोक्षभ्रमनिवर्तने पारयति । भेदकसाक्षात्कारो हि भेदसाक्षात्कारेण न व्याप्तः, सत्यपि बलाकालग्रहे नीलभेदसाक्षात्कारानुदयात् । दोषप्राबल्यकल्पनं तूभयत्रापि समानम् । एतेन—ब्राह्मणो यजेतेति श्रुतिरपि—व्याख्याता; ब्राह्मणशब्दार्थो हि शरीरमपि नात्र जडं तन्नियोज्यमिति वयमङ्गीकुर्मः । देहसंबन्धस्वात्माऽत्र नियोज्य इति वदामः । संबन्धश्च देहात्मनोर्न संयोगः; आत्मनो विभुत्वात् । पश्वादिव्यावृत्तस्वस्वामिभावननिर्वचनासंभवात् न स्वस्वामिभावः । तत्संबन्धेन्द्रियाश्रयत्वं त्वतिप्रसक्तम् । तज्ज्ञानकेन्द्रियाश्रयत्वं तु ज्ञानपदेन अन्तःकरणवृत्तेरेव विवक्षणीयतया तत्संबन्धार्थमध्यासस्यावश्यकत्वात् देहस्यैवाध्यासिकसंबन्धं वरमापादयति । साक्षात्प्रयत्नजन्यक्रियाश्रयत्व-तद्गोचरगतनत्व-तत्कर्माजितत्वानामदृष्टानां पुत्राद्युत्पादनेऽपि सामर्थ्यात्पुत्रादिसाधारण्याच्च संबन्धत्वमिति आध्यासिक एव परिशिष्यति । शरीराध्यासवत्परत्वेऽपि न दोषः । विधावपि लक्षणाया अदोषात्, अन्यथा तात्पर्यविषयानिर्वाहात् । अध्यासश्चात्र कादाचित्क एव प्रवृत्तिनिमित्तः, तेन जीवन्मुक्तानां न ब्राह्मणो हन्तव्य इति निषेधोद्देश्यत्वानुपपत्तिः । स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धानपूर्वक एव स विवक्षित इति न शूद्राधिकारादिप्रसङ्गः । महापातकेनानधिकारप्रयोजनान्न नष्टब्राह्मण्यस्यापि कर्माधिकारः । एतदभिप्रायमेव ‘सर्वाणि विधिप्रतिषेधशाल्वाण्यध्यासमूलानी’ति भाष्यमिति न दोषः । सुषुप्तौ तु प्रकाश एव न ज्ञातृत्वमिति प्रमातृत्वमप्यध्यासमूलमेव । प्रत्यक्षमात्रप्रामाण्यवादिनश्चार्वाकस्य देह एवात्मेति वादोऽपि देहात्मैक्ये प्रत्यक्षं प्रमाणमवगमयति । नहि प्रत्यक्षविरुद्धोऽपि समयो व्यवहारपथं याति । तस्मादाभीरसाधारण्यात् अहं गौर इत्यादिप्रत्ययस्यात्मन्यन्तःकरणदेहतद्धर्माध्यासमूलक एवायं संसारोऽनिर्वचनीय एवेति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

चित्करणमिति प्रतीत्यभावेन चित्येवेन्द्रियादीनामध्यास इत्ययोगादहमर्थ एव तदावश्यकत्वात्तस्य चानात्मत्वात् नात्मैक्याध्यासः ब्राह्मणोऽहं काण इत्यादिप्रत्यक्षप्रमाणकः । इदंच प्रत्यक्षं दूरादिदोषाभावात्प्रमाणमेवेति तस्य देहात्मैक्यविषयत्वे श्रुत्यनुमानादिसिद्धतद्भेदानुपपत्तिः । ब्राह्मणस्याक्षि काणमिति ब्राह्मणत्वेन रूपेणापि भेदग्रहान्नेदमध्यासरूपमिति पर्यायः । यथा देहेन्द्रियादीनां परस्परभेदाध्यवसायान्नात्मन्यध्यासः, एवं देहात्मनोरपि भेदप्रत्ययाच्च तदध्यासः । ब्राह्मणत्वेन देहभेदज्ञानाभावेऽपि ब्राह्मणोऽहमित्यादीनां प्रमात्वमेव । ब्राह्मण्यं हि देहविशिष्टात्मवृत्त्यपि प्रत्यक्षमेव । अतएव पुरुषे दृष्टे ब्राह्मणो वेति संदेहः सम्यक् दर्शनेन तन्निरासश्च । उपपादितं हि वार्तिके—ब्राह्मण्यं सर्वेषामपि प्रत्यक्षमिति । एतेन—‘अहं कृश’ इति प्रत्ययोऽपि—व्याख्यातः; तस्यौपचारिकत्वात् । देहात्मभेदस्तु जातमात्रस्तन्यपानप्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताव्याप्तिस्मृतिर्देहान्तरास्मृतौ न युक्तेति तदन्यथानुपपत्त्या सिध्यतीति न मम देह इति प्रत्यय एव गौण इति पर्यनुयोगोऽत्रावकाशं लभते । व्याप्तिस्मरणं हि व्याप्तिस्वरूपस्य सामानाधिकरण्यघटितत्वात् अधिकरणस्मरणं विना नोपपद्यत इति देहान्तरस्मरणमपेक्षितमेव । योऽहं बाल्य इत्यादिप्रत्यक्षमपि भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षात्कारव्यासत्वादेहात्मभेदे प्रमाणम् । यत्र यत्र बलाका, तत्र तत्र नीलभेदसाक्षात्कारोऽपि विद्यत इति दैशिकव्याप्तौ न कोऽपि दोषः ।

अथ अनिर्वाच्यत्वलक्षणोपपत्तिः ।

ननु—एवमविद्यायां तन्निबन्धनाध्यासे च सिद्धेऽपि न तस्यामनिर्वाचनीयत्वसिद्धिः; लक्षणप्रमाण, योरभावात् । तथाहि—किमिदमनिर्वाच्यत्वम्, न तावन्निरुक्तिविरहः (१); तन्निमित्तज्ञानविरहो वा (२)-तन्निमित्तार्थविरहो वा (३), तन्निमित्तसामान्यविरहो वा (४) । आद्ये अनिर्वाच्य इत्यनेनैव निरुक्त्या 'इदं रूप्य'मिति निरुक्त्या च व्याघातः, द्वितीये निरुक्तिरूपफलसत्त्वेन तन्निमित्तविरहस्य वक्तुम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्यां स्वप्रयुक्ताध्याससहितायामविद्यायाम् । तेन रूप्याद्यनिर्वाच्यत्वस्यापि समर्थनमग्रे सङ्गच्छते । अशक्यत्वा-
निशि तु दोषवशात्तदभावेऽपि कालिकव्याख्यानङ्गीकारानुपपत्तिः । नहि सदातनोऽभेदभ्रमः प्रसिद्धः, येन अहं गौर
इत्यादावपि दोषविशेषादिकल्पनया सदातनभ्रमत्वं साध्येत । एतेन—ब्राह्मणो यजेतेति श्रुतिरपि—व्याख्याता; अत्र हि
ब्राह्मणशब्दो न कादाचित्कशरीराध्यासवत्परः, नष्टब्राह्मण्यस्यापि कर्माधिकारापत्तेः । महापातकादेः ब्राह्मण्याभावसम्पादन-
द्वारैव कर्मानधिकारप्रयोजकत्वेनोभयप्रयोजकत्वे गौरवात् ब्राह्मण्याभावस्यैव तत्प्रयोजकत्वस्याङ्गीकरणीयत्वात् । एतेन—
ब्राह्मणादन्यस्य शरीरसंबन्धपरत्वमेव; संबन्धश्चान्यस्यासंभवादाध्यासिक एवेति वर्णनमपि—परास्तम्; तत्कर्माजितत्वस्य
संबन्धत्वसंभवात्, पुत्रादीनां तु स्वकर्माजितत्वमेव, नतु पित्रादिकर्माजितत्वम्, पित्रादिकर्मणां तु तत्स्वत्वमात्रे उपयोग
इत्येवाङ्गीकरणीयत्वात्, पक्षद्वयेऽपि विधौ लक्षणाऽयोगोऽधिको दोषः । गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति तु पयसा श्रीणीते इति
विधेरर्थवादो नतु विधिरिति न तत्रैव लक्षणोपपत्तिः । एवंच न देहात्मैक्ये प्रत्यक्षं प्रमाणमिति सिद्धम् । चार्वाकादीनां तु
भेदसाक्षात्कारे सत्यपि लैङ्गिकतदभेदज्ञानं सन् घट इति प्रत्यक्षे सत्यपि भवतां तन्मिथ्यात्वानुमानमिव संभवतीति न
दोषः । तन्मते संभावनायाः प्रमाणान्तरत्वाङ्गीकारात् । एतेन—अध्यासमूलानि शास्त्राणि इत्यादिपरकीयभाष्यमपि—
पराहतमिति न्यायामृतसिद्धान्तः सर्वोऽपि समीचीन एवेति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

इन्द्रियैक्याध्यासेन चित्कारणमिति प्रतीत्यसंभवादज्ञानोपहितचैतन्ये इन्द्रियाद्यध्यास उपपद्यत एवेति ब्राह्मणोऽहं काण
इत्यादिप्रत्यक्षं देहात्मैक्याध्यासे प्रमाणमेव । ब्राह्मणत्वेनाक्षित्वेन च भेदग्रहेऽपि ब्राह्मणत्वेन काणत्वेन च भेदाग्रहात्
ब्राह्मणोऽहं काण इत्यभेदभ्रम उपपद्यते । ब्राह्मणस्याक्षि काणमित्यत्र हि अक्षित्वविशिष्टस्य काणत्वविशिष्टस्य चैव भेदोऽवगा-
ह्यते, नतु ब्राह्मणत्वविशिष्टस्य काणत्वविशिष्टस्य च । ब्राह्मणोऽहमिति ब्राह्मणप्रत्यक्षं हि ब्राह्मण्यशरीरधर्मत्वं एवोपपद्यते ।
नहि पार्थिवपरमाणुः कस्यापि प्रत्यक्षः । वार्तिकोक्त्यादीनां च देहधर्मत्वं एवाविरोधात् । अन्यथा अहं गौर इति प्रतीत्यनु-
सारेण गौरत्वमप्यात्मधर्मः समापद्येतेति ब्राह्मणोऽहमित्यादीनां न प्रमात्वमिति मन्महे । एतेन—अहं कृश इति प्रत्यक्ष-
मपि—व्याख्यातम्; मम देह इति बुद्धेः अहं देह इति तादात्म्यविरोधित्वेऽपि अहं गौर इति तादात्म्यविरोधित्वात्त-
दनुसारेण मम देह इति प्रत्यय एवौपचारिकः, नतु कृशोऽहं गौरोऽहमित्यादिप्रत्यय इत्युपपन्नमेव । न व्याप्तिघटकसामा-
नाधिकरण्यज्ञानोपयोग्यधिकरणज्ञानं देहत्वावच्छिन्नभेदविषयकमपेक्षितमिति जन्मान्तरदेहादिस्मरणमनावश्यकमेवेति न
देहात्मभेदे प्रमाणं किमपि । नहि शङ्को न पीत इत्यनुमितेः शङ्कोपीतिमभ्रमविरोधिलभनभूयते इति भेदकसाक्षात्कारस्य
भेदसाक्षात्कारव्याप्तत्वं न प्रामाणिकमिति मन्यामहे इति योऽहं बाल्य इति प्रत्ययोऽपि न देहात्मभेदप्रत्ययजनकः । ब्राह्मणो
यजेतेति श्रुतिरप्यत एव व्याख्याता; ब्राह्मणपदस्य शरीराध्यासिकसंबन्धवत्परत्वस्यैव युक्तत्वात् । पुत्रोत्पत्तेः प्राक् मृत-
स्यादृष्टेन जनिते पुत्रे स्वत्वाभावात्पुत्रादिकमेवादृष्टकार्यम्, स्वत्वं तु पुत्रकार्यमिति तत्कर्माजितत्वादिकं न संबन्धः । एतेन—
ब्राह्मणशब्दस्य शरीराध्यासवत्परत्वमपि न दुष्टमिति—सूचितम्; सुप्तहननमिव जीवन्मुक्तहननमपि पापायैव भवति ।
एवंच ब्राह्मण्यस्यैव कर्मानधिकारप्रयोजकत्वे हननादिनिषेधोऽपि ब्राह्मण्याभाव एव प्रयोजकः स्यादिति विप्रहननात्पापत्वा-
पत्त्या महापातकादिकमेव कर्मानधिकारप्रयोजकमिति न नष्टब्राह्मण्याधिकारादिप्रसङ्गः । गोभिः श्रीणीत मत्सरमित्यस्यापि
विधिवाक्यशेषत्वेन विधित्वात्तत्रेवात्रापि न लक्षणा दोषाय भवति । वस्तुतस्तु—प्रयोगप्राचुर्यस्योभयत्र समानत्वात्
शरीरे तदध्यासवति वा ब्राह्मणपदं शक्तमेवेत्युरीकुर्मः । प्रत्यक्षप्रमाणमूलकचार्वाकसंमतदेहात्मत्ववादाऽपि प्रत्यक्षस्य देहा-
त्मैक्यविषयत्व एवोपपद्यते । नहि भेदसाक्षात्कारवतां तदभेदानुमानं युक्तिसहं भवति । मिथ्यात्वव्याप्यवद्विशेष्यत्वज्ञानेन
सत्तर्केण प्रपञ्चेऽस्माभिर्यथा सत्त्वज्ञानमाभासीक्रियते, नैवमैक्यव्याप्यवद्विशेष्यकत्वज्ञानेन चार्वाकैर्भेदसाक्षात्कार आभासी-
क्रियते इत्यस्तीत्येवोपलब्धव्य इत्यादिश्रुतीनामप्येवं सत्येवानुवादलोपपत्तिरिति सिद्धिकारादतः सर्वोऽपि सिद्धान्तो दर्श-
नीयतम एवेति जानीम इति—विवेचयन्ति ॥

इति देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः ॥

शक्यत्वम्, अतएव न तृतीयः; अर्थस्य निरुक्तावनिमित्तत्वाच्च । फलसत्त्वादेव न चतुर्थः । नापि सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम्; सदसद्रूपत्वेऽप्युपपत्तेः । अतएव न सत्त्वरहित्ये सत्यसत्त्वविरहः (६), तथाच लक्षणासंभव इति—चेन्न; सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वं (७), सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन विचारासहत्वं वा (८), प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वं वा (९) इत्यादिलक्षणे निरवद्यत्वसंभवात् । नच—आद्ये सतोऽपि सदन्तरविलक्षणत्वात् सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; सत्त्वावच्छिन्नभेदस्य सन्नेति प्रतीतिप्रयोजकस्य सद्द्वैलक्षण्यपदार्थत्वात् । नहि सति सदन्तरभेदेऽपि सन्नेति प्रतीतिः । अतो न सिद्धसाधनम् । एवंच सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सदसत्त्वरहितत्वमपि साधु । स्यादेतत्—सत्त्वं तावत् सत्ताजातिर्वा (१), अर्थक्रियाकारित्वं वा (२), अबाध्यत्वं वा (३), प्रामाणिकत्वं वा (४), अशून्यत्वं वा (५), ब्रह्मत्वं वा (६), पराङ्गीकृतं वा । (७) नाद्यद्वितीयौ; शुद्धात्मनि सद्द्वैलक्षण्यस्य प्रपञ्चे सद्द्वैलक्षण्याभावस्य चापातात्, न तृतीयः; त्वन्मते तुच्छस्याप्यबाध्यत्वेन तत्र सद्द्वैलक्षण्यस्यानिर्वाच्यत्वस्य बाध्यत्वेनासद्द्वैलक्षण्यस्य चायोगात् । न चतुर्थः; प्रमा ह्यन्तःकरणवृत्तिः, तद्विषयत्वस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन सद्द्वैलक्षण्यस्य तत्रासत्त्वप्रसङ्गात् । न पञ्चमः; तस्य प्रपञ्चेऽपि विद्यमानत्वेन सद्द्वैलक्षण्याभावप्रसङ्गात्, न षष्ठः; तद्द्वैलक्षण्यस्य जगति सत्त्वेनेष्टापत्तेः, न सप्तमः; पराभ्युपगतसत्त्वस्यासत्त्वविरहरूपत्वेन उभयवैलक्षण्योक्त्ययोगात् । अतएव—एतेषां विरहस्यासत्त्वरूपत्वं—निरस्तम्; अथासत्त्वं, निरुपाख्यत्वं, निःस्वरूपत्वं वा । नाद्यः; असदादिपदेनैव ख्यायमानत्वात्, न द्वितीयः; स्वरूपेण निषेधपक्षे शुक्तिरूप्यादेरपि निःस्वरूपत्वेनासद्द्वैलक्षण्यान्युपपत्तेरिति—चेन्न; पराभिमतसत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते, नतु पारिभाषिके, अतो न तादृक्सदसद्द्वैलक्षण्योक्ताविष्टापत्तिः । नापि—तयोः परस्परविरुद्धत्वेन एकनिषेधस्यापरविधिपर्यवसन्नतया एकत्रोभयवैलक्षण्यं व्याहृतमिति—वाच्यम्; निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वाङ्गीकारात् न व्याहृतिः । नह्यतात्त्विकरजतेन शुक्तेर्विरोधः । नच तर्हि सदादिवैलक्षण्योक्तिः कथम् ? तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपताभावप्रकटनाय । नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं संभवति । ननु—सत्त्वादिराहित्यस्यातात्त्विकत्वेऽपि सत्त्वादेर्दुर्निरूपत्वमात्रेणानिर्वाच्यत्वे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ ‘नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षय’ इति अनिर्वाच्यत्वनिषेधायोगः; सत्त्वादिवत्तद्राहित्यस्याप्यतात्त्विकत्वे सत्त्वादौ प्रमाणनिरासेन तद्राहित्ये तदुक्त्ययोगः, अविरोधाय विधिसमुच्चयस्यैवातात्त्विकत्वस्वीकारश्चेति—चेन्न; पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे नैतन्नितयविलक्षणत्वमात्रमनिर्वाच्यत्वम्, किंतु मुक्तिकालानवस्थायित्वसहितम् । तथाच मुक्तिकालावस्थायिन्यामविद्यानिवृत्तौ अनिर्वाच्यत्वनिषेधो युज्यते । सत्त्वादिराहित्ये

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिति । निरुक्तिरूपफलसत्त्वे तत्कारणज्ञानादिकमावश्यकमिति भावः । अर्थे तन्निमित्तत्वं तत्कारणधीविषयत्वं, तत्कारणत्वं वा, आद्ये आह—अतएव न तृतीय इति । द्वितीय आह—अर्थस्येति । प्रतिपन्नोपाधौ स्वाधिकरणे बाध्यत्वं वर्तमानाभावप्रतियोगित्वम् । इत्यादीत्यनेन पूर्वोक्तज्ञाननिवर्त्यत्वादिसंग्रहः । सिद्धसाधनम् उक्तलक्षणमिष्टम् । सत्त्वासत्त्वाभ्यां सदसत्त्वेन च विचारासहत्वं सत्त्वादेरत्यन्ताभाववत्त्वमित्यग्रे वक्ष्यते । तत्रापि सत्त्वादेः सामान्याभावनिवेशात् किञ्चिन्निष्ठसत्त्वादेरभावमादाय न दोष इत्याशयेनाह—एवंचेति । सत्त्वासत्त्वयोर्मिथो विरहरूपत्वं नास्तीति मिथ्यात्वानुमाने उक्तम्, तथापि तयोस्तदङ्गीकृत्य समाधत्ते—पराभिमतेति । इष्टापत्तिः इष्टसंपत्तिः । न व्याहृतिरिति । पराभ्युपगतयोः सत्त्वासत्त्वयोरभावावसत्त्वस्वरूपौ न लक्षणे निवेश्येते, किंत्वतात्त्विकत्वेन प्रतियोगिसमानाधिकरणौ व्याप्यवृत्तौ, अतो न व्याहृतिरिति भावः । कथं किमर्थम् । अतात्त्विकयोस्तदभावयोस्तदधिकरणे ममापीष्टत्वात्तदुक्तिरेव व्यर्थेति भावः । न सा व्यर्था; तादृशाभावयोः प्रतियोगिसमसत्ताकयोरेव निवेशेन स्वान्यूनसत्ताकस्य स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्य सत्त्वादौऽप्यपत्त्वादित्याशयेनाह—तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपत्वेति । प्रपञ्चसत्त्वादिमिथ्यात्वेत्यर्थः । ननु—त्वन्मते प्रपञ्चे सत्त्वाद्यभावस्य तात्त्विकत्वमेव युक्तम्; अन्यथा सत्त्वादेस्तत्र तात्त्विकतापत्तेः, तत्राह—स्वरूपतो दुर्निरूपस्येति । मिथ्याभूतस्येत्यर्थः । किञ्चिदपि सत्त्वादिकमधिष्ठानान्यरूपम् । दुर्निरूपत्वेति । मिथ्यात्वेत्यर्थः । अनिर्वाच्यत्वे अनिर्वाच्यत्वपदार्थत्वे । नानिर्वाच्योपीति । न सन्नासन्न सदसन्नित्यादिः । तत्क्षयः अविद्यानाशः । सत्त्वादिवदिति । प्रपञ्चेत्यादिः । तदुक्त्ययोगः प्रमाणोक्तेरयुक्ता । स्वीकारः स्वीकारापत्तिः । युज्यते इति । अविद्यानाशस्य मुक्तित्वमते नानिर्वाच्यत्वं संभवति; अनिर्वाच्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वावश्यकत्वात्, अन्यथा ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपस्य मिथ्यात्वलक्षणस्य तत्राभ्यासपत्तेः । तेन

तु अबाधितार्थविषयकप्रमाणोक्तिर्नास्त्येव । ज्ञापकमात्रोक्तिस्तदंशेऽसाधारणी । अतो वादिविप्रति-
पत्तिनिरासार्था । अतात्त्विकविधिसमुच्चयापत्तिस्त्विष्टैव । नह्यतात्त्विकसत्त्वासत्त्वे निषेधसमुच्चयेऽपि
विरुध्येते । यत्तु विधिसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वपक्षे भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादित्युक्तम् ; तन्न ; अतात्त्विक-
त्वादेव भ्रान्तेर्बाधस्य सत्त्वप्रतिषेधस्याप्रतिक्षेपात् सत्त्वस्यातात्त्विकत्वाच्च तदुपपत्तेः । ननु—निषेध-
समुच्चयस्यातात्त्विकत्वं किमुभयातात्त्विकत्वाद्वा, एकैकातात्त्विकत्वाद्वा । नाद्यः ; उभयतात्त्विकत्व-
वदुभयातात्त्विकत्वस्यापि विरुद्धत्वात्, विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वापाताच्च, एकैकप्रतियोगितात्त्विक-
त्वापत्तेरेव न द्वितीयोऽपि ; तात्त्विकात्यन्ताभावप्रतियोगिन एव अतात्त्विकत्वादिति—चेन्न ; उभ-
यातात्त्विकत्वादेव निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वम् । नचोभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकत्वमप्येकत्र
विरुद्धम् ; वल्मीकादावेकत्र स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरतात्त्विकत्वदर्शनात् । नच परस्परविरुद्धरूपयोरेकत्रो-
भयोरतात्त्विकत्वं विरुद्धम् ; एकत्र तन्त्वादौ घटतत्प्रागभावयोरुभयोरपि अतात्त्विकत्वदर्शनात् ।
न च प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरेवायं नियमः ; नियामकाभावादस्माकमसंप्रतिपत्तेः । वस्तुतस्तु—
सत्त्वासत्त्वयोर्न परस्परविरुद्धरूपत्वम्, किंतु परस्परविरुद्धव्याप्यतामात्रम् । नच—तादृशपारिभाषिक-
सदसद्वैलक्षण्योक्तौ नास्माकमनिष्टमिति—वाच्यम् ; सत्त्वमबाध्यत्वम्, असत्त्वं सत्त्वेन प्रतीयनर्हत्वम्,
तदुभयवैलक्षण्यं च तव जगत्संप्रतिपन्नमिति कथमिष्टापत्त्यवकाशः ? इष्टापत्तौ च कथं न मतक्षतिः ?
अतएव ध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपनित्यत्वानित्यत्वयोः सत्ताहीने सामान्यादाव-
भाववदुत्तरावधिराहित्यं नित्यत्वं, भावान्यनिवृत्तिमत्त्वं चानित्यत्वम्, तदुभयाभावः प्रागभाव इव
शुक्तिरूप्यादौ मिथ्याभूते सत्त्वासत्त्वयोरभावः स्यादित्याहुः ; उक्तसत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरुद्धव्याप्य-
त्वेऽपि परस्परविरुद्धानात्मकत्वात् । उक्तनित्यत्वानित्यत्ववत् । ननु—इदं नित्यत्वानित्यत्वयोर्मिलित-
योर्व्यतिरेकः सामान्ये प्रागभावे चास्तीत्युक्तमयुक्तम् ; नित्यत्वस्य सामान्यानुगतध्वंसाप्रतियोगित्व-
रूपत्वात्, अनित्यत्वस्य च प्रागभावस्यापि प्रतियोग्येव ध्वंसः ; भावस्यैवाभावो निवृत्तिः, अभावस्य
तु भाव एवेति स्वीकारात् । ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र सामा-
न्यादौ भाववदेकत्र सत्त्वासत्त्वे स्यातामित्यपि स्यादिति—चेन्न ; नहि वयं दृष्टान्तमात्रेण सत्त्वासत्त्व-
व्यतिरेकयोरेकत्र स्थितिं ब्रूमः, येन ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपपारिभाषिकनित्यत्वा-
नित्यत्वयोरेकत्र सामान्यादौ सद्भावनिर्देशनेन सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र सत्त्वमुच्येत, किंतु प्रमाणैः सिद्धे
निषेधसमुच्चये सामान्यादिव्यावृत्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चयं दृष्टान्तयामः । एवंच सामा-
न्याद्यनुगतत्वदुक्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चयस्यादृष्टान्तत्वेऽपि न क्षतिः । अतएवोक्तमध्यस्ते
नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावौ न विरुद्धौ ; धर्मिण एव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि
धर्मयोरभावात्, इति । नचैवं कल्पितस्यानित्यत्वाभ्युपगमविरोधः ; तात्त्विकानित्यत्वाभावेऽपि
धर्मिसमसत्ताकनित्यत्वसत्त्वेनाभ्युपगमे विरोधाभावात् । नच—कल्पितत्वहेतोर्विरुद्धधर्माभावरूप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तद्व्यावृत्तये विशेषणमावश्यकमिति भावः । ज्ञापकमात्रोक्तिः व्यावहारिकसत्त्वाद्यभावस्यानुमानाद्युक्तिः । तदंशे
व्यावहारिकसत्त्वाभावाद्यंशे । असाधारणी । अतः प्रपञ्चः सत्त्वेव असत्त्वेव वा इत्येवंरूपेण न स्यादिति सत्तादेस्तदभावस्य
चातात्त्विकत्वे सत्त्वादिधीर्भ्रान्तिः तदभावधीर्बाध इति व्यवस्था न स्यात् । अतात्त्विकस्य तात्त्विकाभावधीर्बाध इत्य-
भिमानः । अतात्त्विकत्वात् सत्त्वाद्यतात्त्विकत्वात् । सत्त्वप्रतिषेधस्य सत्त्वादिप्रतिषेधरूपस्य । सत्त्वस्य
सत्त्वादेः । अतात्त्विकत्वाच्च । अतात्त्विकत्वादेव । तदुपपत्तेः सत्त्वादिबाधोपपत्तेः । तात्त्विकाभावधीत्वं बाधत्वे
तन्न नेत्यर्थः । उभयेति । निषेधद्वयेत्यर्थः । उभयतात्त्विकत्ववदिति । एकधर्मिणीत्यादिः । मिथो विरुद्धयोरेक-
धर्मिणि तात्त्विकतयेवातात्त्विकतयापि स्थितिर्विरुद्धेति भावः । नियामकेति । उक्तनियमग्राहकतर्कैत्यर्थः । प्रतियोगि-
समवायिन्यत्यन्ताभावास्वीकारमते कपालादौ भाविघटादेस्तदभावस्य ह अतात्त्विकस्य अत्रेदानीं घटो घटेति संशय-
दर्शनात् प्रतियोगितदभावयोरतात्त्विकयोरेकत्र सत्त्वं न विरुद्धमित्यपि द्रष्टव्यम् । सत्त्वमबाध्यत्वमित्यादि विवेचितमिदं
मिथ्यात्वानुमाने । ध्वंसानुपलक्षितेत्यादि । ध्वंसाप्रतियोगिवृत्तित्वविशिष्टसत्तायोगित्वं नित्यत्वम् । ध्वंसप्रतियोगि-
वृत्तित्वविशिष्टसत्तायोगित्वमनित्यत्वम् । तयोः सामान्यादावभाववदित्यर्थः । उत्तरावधिराहित्यं ध्वंसाप्रतियोगि-
त्वम् । भावान्यनिवृत्तिमत्त्वं भावान्या या निवृत्तिः तत्प्रतियोगित्वम् । आहुः अस्मदाचार्याः । नचैवमिति ।
एवं कल्पितस्य नित्यत्वानित्यत्वयोरभावस्वीकारे । तात्त्विकानित्यत्वाभावेऽपि तात्त्विकत्वेनानित्यत्वस्याभाव-

साध्यस्य च भावाभावाभ्यां व्याघात इति—वाच्यम्; अतात्त्विकहेतुसद्भावेन तात्त्विकधर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावात् । अतएव स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किञ्चिदपि रूपं वास्तवं संभवतीति प्राचामुक्तिरपि सङ्गच्छते; व्यावहारिकेणैव दुर्निरूपत्वेन हेतुना व्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य साधनात् । अतएव—दुर्निरूपत्वरूपहेतोर्वास्तवरूपाभावसाध्यस्य चातात्त्विकत्वेऽसिद्धिबाधौ तात्त्विकत्वे व्याघात इति—निरस्तम्; धर्मिसमसत्ताकहेतुसाध्यादिसत्त्वेनासिद्ध्याद्यभावात्, तात्त्विकहेत्वाद्यभावाच्च न व्याघातः । स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं च कल्पितत्वमेव । एतेन—किमिदं स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं केनापि प्रकारेण वा, केनापि दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण वा, सत्त्वासत्त्वाभ्यां वा । नाद्यः; केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्यनेन प्रकारेण दुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वाभ्यां व्याघातात् । अतएव न द्वितीयः; केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण दुर्निरूपत्वस्य केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वान्यत्वात्, मिथ्यात्वादिना कल्पितस्य सुनिरूपत्वाच्च । न तृतीयः; तस्य सदसद्वैलक्षण्यावास्तवत्वाहेतुत्वादिति—निरस्तम्; तृतीयपक्षस्य क्षोदसहत्वाच्च । तथाहि—सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वं हि बाधिततद्वयकत्वम् । तच्च धर्मविशिष्टधर्म्यतात्त्विकत्वे हेतुः । तथाच सदसद्वैलक्षण्यमपि धर्मस्तदात्त्विकत्वे कथं न हेतुः स्यात्; नच—एवं कल्पितस्य दृश्यादृश्यबाध्याबाध्यदुर्निरूपसुनिरूपत्वादिवहिर्भावोऽपि स्यादिति—वाच्यम्; तात्त्विकदृश्यत्वाद्यशेषधर्मवहिर्भावस्य कल्पिते इष्टत्वात्, अतात्त्विकस्य दृश्यत्वादेर्व्यावहारिकप्रमाणैर्यथायथमङ्गीकृतस्यैवमप्यविरोधात् । अदृश्यत्वादिकं तु व्यावहारिकं नास्त्येव । प्रातिभासिकं चैतदप्यङ्गीकुर्म एव । एवंच तार्किकमते संयोगतदभावयोरिव भट्टमते भेदाभेदयोरिव सत्त्वासत्त्वाभावयोरप्यविरोध एव । नच—एवं सत्त्वासत्त्वयोरपि तद्वदेवाविरोधः स्यादिति—वाच्यम् अतात्त्विकयोरविरोधे इष्टापत्तेः, निषेधसमुच्चस्यापि तात्त्विकस्यानङ्गीकारेण तत्साम्येन विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकस्यापादयितुमशक्यत्वात् । नच तात्त्विकसंयोगतदभावनिर्दानबलात्तदापादनीयम्; दृष्टान्तेऽपि तात्त्विकत्वासंप्रतिपत्तेः । ननु—अनिर्वाच्यत्वं सत्त्वासत्त्वादिना विचारासहत्वम् । तच्च न तावत् सत्त्वाद्यनधिकरणत्वम्; असतो ब्रह्मणश्च निर्धर्मकत्वेन तत्रातिव्याप्तेः । नच—कल्पितसत्त्वाधिकरणत्वं ब्रह्मण्यपीति—वाच्यम्; तस्य जगत्यपि विद्यमानत्वेन तत्रातिव्याप्तेः । नापि सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणम्; निर्धर्मकब्रह्मणः सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन तुच्छेऽप्यसत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन कथंचिदतिव्याप्तिनिरासेऽपि तुच्छब्रह्मणोर्निर्धर्मकत्वेन धर्मवत्त्वादेरेवानिर्वाच्यत्वलक्षणत्वापातात्, निर्विशेषश्रुत्यापि व्याघातेन धर्ममात्रनिषेधायोगेन ब्रह्मणि सत्त्वरहित्ये तदत्यन्ताभावस्य दुर्वारत्वात् । नापि सद्रूपत्वाद्यभावः; ब्रह्मणः सत्त्वाभावेन सद्रूपत्वाभावेन तत्रातिव्याप्तेः । नापि सत्त्वादेरित्यमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम्; ब्रह्मण्यपि सत्त्वस्येत्यमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात् । नापि सत्त्वादिना प्रमाणागोचरत्वम्; अखण्डार्थनिष्ठवेदान्तैकवेद्यब्रह्मणोऽपि सत्त्वादिप्रकारकप्रमाणागोचरत्वादिति—चेन्न; सत्त्वादिना विचारा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्त्वेऽपि । कल्पितत्वहेतोरित्यादि । कल्पितत्वहेतुना धर्मसामान्यस्य तात्त्विकत्वेनाभावः साध्यः । तथाच कल्पितत्वहेतोः स्वविषयस्य धर्माभावरूपधर्मस्य तात्त्विकत्वेनाभावग्राहिकानुमितिः । अतस्तस्याः स्वस्मिन् स्वोपजीव्यपरामर्शे चाप्रामाण्यसंपादकत्वेन व्याघात इति भावः । तात्त्विकं प्रामाण्यं स्वस्मिन् स्वोपजीव्ये च नास्त्येव, किंतु व्यावहारिकम्, अतो न व्याघात इत्याशयेनाह—अतात्त्विकहेत्विति । तात्त्विकधर्माभावस्य तात्त्विकत्वेन धर्माभावस्य । व्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य धर्मस्य वास्तवत्वेन व्यावहारिकस्याभावस्य । धर्मिसमानसत्ताकैति । व्यावहारिकेत्यर्थः । मन्मते हेत्वाद्यभावस्य सार्वत्रिकत्वाद्यावहारिको हेत्वादिमद्भेद एवासिद्धादिरिति भावः । कल्पितत्वमेवेति । बाधितसत्त्वासत्त्वोभयकत्वरूपवक्ष्यमाणमिथ्यात्वमेवेत्यर्थः । एतेन दुर्निरूपत्वहेतुकत्वस्य धर्माभावानुमानस्य संभवेन । वैलक्षण्यावास्तवत्वेत्यादि । सदसत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वं स्वाधिकरणस्यावास्तवत्वसाधकम्, ननु स्वसमानाधिकरणस्य सदसद्वैलक्षण्यादिधर्मस्येत्यभिमानः । हेतुरिति । धर्मविशिष्टो धर्मा बाध्यः, दुर्निरूपत्वादित्यनुमानात् विशिष्टस्य साध्यतासिद्धिः । अथवा—धर्मा बाध्यः, अबाध्यत्वेन धर्मस्याभाववांश्च, दुर्निरूपत्वादित्यनुमानात्तत्सिद्धिः । वस्तुतो धर्मिणां धर्माणां चोक्तदुर्निरूपत्वस्याविशेषेण सिद्धा तेन बाध्यत्वसिद्धिरित्यपि संभवति । तात्त्विकदृश्यत्वादीत्यादि । दृश्यत्वादेस्तात्त्विकत्वेनाभावस्येत्यर्थः । तार्किकेत्यादि । प्रमाणसिद्धत्वांशे दृष्टान्तः । तदिति । विधिसमुच्चयातात्त्विकत्वमित्यर्थः । अतिव्याप्तिरिति । भावरूपधर्माभावेऽप्यभावरूपधर्मसत्त्वादिति शेषः ।

सहत्वं सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम् । नचातिव्याप्तिः; ब्रह्मणि सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्य-
भावात्, अन्यथा निर्विशेषत्वादिश्रुतिविरोधापत्तेः । नच निर्विशेषत्वरूपविशेषसत्त्वासत्त्वाभ्यां
व्याघातेन श्रुतिरन्यपरा; विशेषस्य कल्पितत्वेन तदभावासत्त्वेन तत्सत्त्वाभावेन व्याघाताभावात्
स्वाप्नगततदभाववत् । अतएव—सत्त्वरहित्येऽपि तदत्यन्ताभाव आवश्यक—इत्यपास्तम् । ननु—
एवं विशेषवत्त्वम्, धर्मवत्त्वं वा अनिर्वाच्यत्वमस्त्विति—चेन्न; आस्तां तावदयं सुहृदुपदेशः ।
उक्तलक्षणस्य निष्पन्नत्वात् । यद्वा—सत्त्वादिना विचारासहत्वं सद्रूपत्वाद्यभावः । सत्त्वरूपधर्मा-
भावेऽपि यथा ब्रह्मणः सद्रूपत्वं तथोपपादितमधस्तात्, अतो न अत्रातिव्याप्तिः । नच—एवं सदात्मके
ब्रह्मणि श्रौतसत्यपदादौ लाक्षणिकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; सत्त्वधर्मविशिष्टवाचकस्य तस्य
निर्धर्मके लक्षणाया आवश्यकत्वात् । नहि निर्धर्मकरूपवाचकत्वं कस्यचिदपि पदस्यास्ति । ननु—
सत्त्वादिरहित्यमतात्त्विकमपि न तावत् प्रातिभासिकम्; रूप्यप्रपञ्चयोर्ब्रह्मवत् पारमार्थिकत्वापत्तेः;
नापि धर्मिसमसत्ताकम्; बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगात् । नापि व्यावहारिकम्; जगति
व्यावहारिकत्वे रूप्ये प्रातिभासिकत्वे चोक्तदोषात्, रूप्ये व्यावहारिकत्वे च जगति पारमार्थिकत्वा-
पातेनाद्वैतहानिरिति—चेन्न; धर्मिसमसत्ताकस्यैव सत्त्वादिविरहस्येष्टत्वात् । नच बाधबोध्यस्य
भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगः; बाधस्याधिष्ठानमात्रगोचरत्वेन रूप्यवत्तत्त्वविरहस्यापि साक्षिसिद्ध-
तया बाधबोध्यत्वाभावात् । नचैवं सत्त्वप्रतीतिविरोधः; अतात्त्विकस्य तस्याप्यङ्गीकारात् । नच—
एवं तात्त्विकसत्त्वविरहस्यैव लक्षणत्वपर्यवसानम्, तात्त्विकत्वं चाबाध्यत्वम्, तथाच बाध्यत्वमेव
लक्षणमस्त्विति—वाच्यम्; बाध्यत्वस्यान्यविशेषणत्वेनोपात्तस्य लक्ष्ये धर्मिण्यनन्वयेन तन्मात्रमुपा-
दायेतरवैयर्थ्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—श्रुत्या युक्त्या च भेदं निराकुर्वता कथं सदसद्भिन्नत्वरूपं
तद्व्याप्तं वाऽनिर्वाच्यत्वं समर्थ्यत इति—वाच्यम्; मा विषीद; अतात्त्विकस्यैव तस्य समर्थनात्,
बाध्यत्वं तु मिथ्यात्वनिरूपणसमय एव निरूपितम् । तस्मात् न शुक्तिरूप्यप्रपञ्चसाधारणानिर्वाच्यत्व-
लक्षणानुपपत्तिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अनिर्वाच्यत्वलक्षणम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कथंचिदिति यदुक्तं तत् स्फुटयति—निर्विशेषेति । सत्त्वाभावो ब्रह्मणि विद्यमानोऽपि मिथ्यात्वान्नास्तीत्याह—ब्रह्मणि
सत्त्ववदिति । तथाच वक्ष्यमाणरीत्या धर्मिसमसत्ताकाल्यन्ताभावो लक्षणमनतिग्याप्तमिति भावः । समाधत्ते—
विशेषस्येति । विशेषसामान्यस्येत्यर्थः । तदभावासत्त्वेन विशेषाभावरूपविशेषस्याप्यसत्त्वेन । तत्सत्त्वाभावेन
व्याघाताभावात् निर्विशेषत्वस्यासत्त्वेन व्याघातः तस्यासत्त्वात् । विशेषतदभावयोरेकत्र कल्पितत्वे दृष्टान्तमाह—
स्वप्नेति । अतएव ब्रह्मणि सत्त्वाभावादेर्विद्यमानस्याप्यभावादेव । तदत्यन्ताभावः धर्मिसमसत्ताकः तदत्यन्ताभावः ।
आवश्यकः ब्रह्मण्यवश्यकः । एवं धर्मिसमसत्ताकत्वविशेषणावश्यकत्वे । निष्पन्नत्वादिति । नच—सत्त्वाद्य-
भावत्वं व्यर्थमिति—वाच्यम्; तद्वक्तित्वेनोक्ताभावस्य लक्षणत्वात् । अस्मिन्मते लक्षणवाक्यस्येतरव्यावृत्ताखण्डार्थ-
कत्वे प्रामाण्यस्य वक्ष्यमाणत्वेन वैयर्थ्यशङ्काविरहाच्च । अधस्तात् मिथ्यात्वानुमाने । कस्यचिदिति । आकाशादि-
पदस्यापि शुद्धे शक्तिर्न सर्वसंमतेति भावः । यद्यपि विशिष्टवाचकस्य शुद्धेऽपि शक्तिरेव; तथापि विशिष्टबोधकत्वस्यौ-
त्सर्गिकस्य बाधेन लक्षणेति व्यपदेश इति पूर्वोक्तमिह बोध्यम् । इष्टत्वात् लक्षणत्वेनेष्टत्वात् । बाधबोध्यत्वेति ।
यादृशविषयकत्वेन ज्ञानस्य भ्रममूलभूताज्ञाननाशकता, तादृशत्वाभावात् । वक्तुमशक्यत्वादिति । भूमप्रागभावे
भूमत्वमिव बाध्यतात्वं नान्यवैयर्थ्यसंपादकमिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामनिर्वाच्यत्वलक्षणम् ॥

अथानिर्वाच्यत्वलक्षणोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अविद्यायास्तन्निबन्धनाध्यासस्य च नानिर्वचनीयत्वसिद्धिः; अनिर्वचनीयत्वलक्षणासंभवात् । (१) अनिर्वाच्यपदेनैव निरुक्त्या
इदं रूप्यमिति निरुक्त्या च निरुक्तिविरहः, (२) निरुक्तिरूपव्यवहारफलस्य निमित्तं विनाऽसंभवेन तन्निमित्तविरहः (३) फल-
सत्त्वादेव तन्निमित्तसामान्याभावः, सदसद्रूपत्वेनाप्युपपत्त्या न सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं सत्त्वरहित्ये सति असत्त्ववि-
रहो वा नानिर्वचनीयत्वम् । (४) सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम् । (५) सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारा-
सहत्वे सति सदसत्त्वेन विचारासहत्वम्, (६) सत्त्वरहितत्वे सत्यसत्त्वरहितत्वे सति सत्त्वासत्त्वरहितत्वं वापि न तत्; शुद्धा-

तानि सदैवलक्षण्यस्य प्रपञ्चे सदैवलक्षण्याभावस्य चापातेन सत्ताजाल्यर्थक्रियाकारित्वे, तुच्छस्यापि युष्मन्मतेऽवाध्यत्वेन तत्र सदैवलक्षण्ययोगेन अवाध्यत्वरूपप्रमाविषयत्वस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन तत्र सदैवलक्षण्यासंभवेन प्रामाणिकत्वाशून्यत्वे, ब्रह्मवैलक्षण्यस्य प्रपञ्चे सत्त्वेनेष्टापत्त्या ब्रह्मत्वम्, उभयवैलक्षण्योक्त्ययोगात् असत्त्वविरहत्वं वा सत्त्वं न संभवति । एतेन—असत्त्वमपि निरुपाख्यपदेनैव ख्यायमानत्वात् निरुपाख्यत्वम्, स्वरूपेण निषेधपक्षे शुक्तिरूप्यादेरपि निःस्वरूपत्वेन तस्यासदैवलक्षण्यासंभवेन निःस्वरूपत्वं वा न भवतीति—**सूचितम्** । किंच सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरुद्धत्वेनैकनिषेधस्यापरविधिपर्यवसन्नतया एकत्रोभयवैलक्षण्यं व्याहतमिति किमर्थं तदुक्तिरिति विवेचनीयम् । न तावत् प्रतियोगिदुर्निरूपत्वप्रकटनाय । प्रतियोगिरूपसत्त्वदुर्निरूपत्वेन तदाश्रयत्वेन प्रतीयमानस्यानिर्वाच्यत्वे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ नानिर्वाच्यश्च तत्क्षय इति अनिर्वाच्यत्वनिषेधो नोपपद्येत । सत्त्वादिराहित्यस्यातात्त्विकत्वे तु सत्त्वादाविव तत्र प्रमाणनिरासस्यावश्यकत्वेन तत्र परमप्रमाणोक्त्ययोगः । एतेन—अतात्त्विकसत्त्वासत्त्वराराहित्ययोर्न विरोध इति वर्णनमपि—**पराहतम्**; विधिसमुच्चयस्यैवातात्त्विकत्वान्न विरोध इत्यपि सुवचत्वाच्च । अपिच निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वं नोभयातात्त्विकत्वेन उभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकस्यापि विरुद्धत्वात्, विधिसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वान्ताभावप्रतियोगिनः एकैकप्रतियोगिनो वा तात्त्विकतापत्तेश्च । परस्परविरुद्धानात्मकध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपत्वयोः उत्तरावधिराहित्यभावरूपनिवृत्तिमत्त्वरूपयोर्वा नित्यत्वानित्यत्वयोः सामान्यादौ प्रागभावे चाभाववत्तदात्मकसत्त्वासत्त्वयोरभावसमर्थनं तु न युक्तम्; नित्यत्वानित्यत्वयोः ध्वंसप्रतियोगित्वप्रागभावप्रतियोगित्वरूपयोः उभयोरपि सामान्यादावभावात् । ध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपयोस्तयोः सामान्यादौ भाववत् सत्त्वासत्त्वयोरपि समावेशापत्त्या न पारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्रासमावेशदृष्टान्तो युक्तः । एतेन—स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किंचिदपि रूपं वास्तवमिति प्राचामुक्तिरपि—**पराहता**; स्वरूपतो दुर्निरूपत्वेन केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वरूपत्वे केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्यनेन दुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वाभ्यां विरोधात् । नापि सत्त्वासत्त्वाभ्यां तत्; तस्य सदसदैवलक्षण्ययोरविरोधे सत्त्वासत्त्वयोरप्यविरोधः स्यात् । सत्त्वासत्त्वादिना विचारासहत्वं तु निर्धर्मके ब्रह्मणि असति चातिव्याप्तेर्न सत्त्वाद्यनधिकरणत्वम्, कल्पितसत्त्वाधिकरणत्वं तु जगत्पि विद्यत इति तदनधिकरणत्वमसंभवग्रस्तम् । धर्मत्वादेर्वाऽनिर्वाच्यलक्षणत्वापातेन ब्रह्मणि सत्त्वराराहित्ये तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वस्यार्थसिद्धतया ब्रह्मण्यतिव्याप्त्या च न सत्त्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं विचारासहत्वम् । अतएव ब्रह्मण्यतिव्याप्त्या न सद्रूपत्वाद्यभावः; ब्रह्मणः सत्त्वायोगे सद्रूपत्वायोगात्; अन्यथा सदादिपदानां लक्षणिकत्वाभावात् । एतेन—सत्त्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम्, असत्त्वप्रकारकप्रमाणागोचरत्वं वा न तदिति—**सूचितम्** । एवंच यथा सदसदैवलक्षण्यदिकं तात्त्विकं जगति न संभवति; अद्वैतहानापत्तेः । एवं न तत् प्रातिभासिकम्; कल्प्यप्रपञ्चयोर्ब्रह्मवत्पारमार्थिकत्वापातात् । नापि धर्मिसमसत्ताकम्; उक्तदोषादिति मन्तव्यम् । अपिच श्रुत्या युक्त्या च भेदं निषेधतां भवतां कथं वा सदसद्भिन्नत्वरूपं तद्व्याप्तं वाऽनिर्वाच्यत्वं सिद्ध्येत ? इति अविद्याद्यनिर्वाच्यत्वं लक्षणाभावाच्च सिध्यतीति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्, सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सति सदसत्त्वाभ्यां विचारासहत्वं, प्रतिपन्नोपाधौ वाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वम् । सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविवक्षणात् न सदन्तरभेदमादाय सिद्धसाधनम् । सत्त्वासत्त्वे च पराभिमत एव विवक्ष्यते । तयोः परस्परविरोधेऽपि तदभावौ प्रातिभासिकावेकत्र संभवत एव प्रातिभासिकयोस्तयोरुपपादनं तु प्रतियोगिनः सत्त्वादेः दुर्निरूपत्वप्रकाशनाय । नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं भवति । पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे तु तद्व्यावृत्तं मुक्तिकालानवस्थायित्वसहितमेवोक्तलक्षणमनिर्वचनीयत्वमिति नानिर्वाच्यश्च तत्क्षय इति प्राचामुक्तेर्विरोधः । यथा सत्त्वे प्रमाणनिरासेऽपि वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्था तदभावज्ञापकमात्रोक्तिरिति न विरोधः । विधिसमुच्चयापादनमपि अस्माकं संमतमेव । यथाचात्र भ्रान्तिबाधव्यवस्थोपपत्तिस्तथाऽन्यत्र विस्तरः । यथा एकत्र वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरध्यासः, यथा वा परस्परविरह्वरूपयोरपि पटतत्प्रागभावयोः एकत्र तन्तौ समावेशः, तथा सत्त्वासत्त्वाभावयोरपि एकत्र निवेश उपपद्यत एवेत्युभयातात्त्विकत्वेन निषेधसमुच्चयातात्त्विकत्वं न विरुद्धम् । **वस्तुतस्तु**—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वमेव, नतु तद्रूपत्वम् । सत्त्वं चावाध्यत्वम् असत्त्वं सत्त्वेन प्रतीयर्हत्वमिति तदुभयवैलक्षण्यं न भवतामिष्टम् । परस्परविरहव्याप्ययोस्तु ध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपनित्यत्वानित्यत्वयोरिवैकत्र समवधानं न दोषाय । प्रमाणसिद्ध एव निषेधसमुच्चये इदं निदर्शनं नतु निदर्शनेनानेन तत् साधयामः । येन निदर्शनान्तरेण सत्त्वासत्त्वयोरैकत्र समवधानमेवमाशङ्क्येत । एतेन—स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं न वास्तवमिति प्राचामुक्तिरपि—**व्याख्याता** । स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं च सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्, तच्च बाधितसत्त्वासत्त्वकत्वं, तेन तु धर्मविशिष्टधर्म्यतात्त्विकत्वं जानीमः । यथाच निषेधसमुच्चयवत् प्रातिभासिकविधिसमुच्चयोऽपि नास्माकमनिष्टः, तथाऽन्यत्र विस्तरः । सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वं तु सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्, सद्रूपत्वाद्यभावो वा ब्रह्मणि निर्विशेषत्वसत्त्वा-

अथाविद्याद्यनिर्वाच्यत्वे प्रत्यक्षानुमानप्रमाणनिरूपणम् ।

प्रमाणं च प्रत्यक्षानुमानागमार्थापत्तयः । प्रत्यक्षं तावन्मिथ्यैव रजतमभा' दित्यादि । नच मिथ्याशब्दोऽसत्पर्यायः; वक्ष्यमाणयुक्त्या नृशृङ्गादिसाधारणासत्त्वस्य ख्यायमानरूप्यादौ वक्तुम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्यक्षेत्यादि । अभावस्य प्रत्यक्षत्ववादिनं प्रति—प्रत्यक्षेत्युक्तम् । तस्यानुपलब्धत्ववादिनं प्रति त्वभावघटितमि-

सत्त्वयोरुभयोरपि उपपत्त्या व्याघाताभावात्, सत्त्ववत्तदभावस्याप्यभावाच्च प्रथमे तत्रातिव्याप्तिः । विशेषवत्त्वादेरनिर्वाच्यत्व-
लक्षणत्वापादनमपि सुहृदुपदेश एव । यथाच सत्त्वाभावेऽपि ब्रह्मणः सद्रूपत्वे न बाधस्तन्निरूपितमिति सत्त्वाभावेऽपि सद्रू-
पत्वोपपत्त्या सत्त्वधर्मविशिष्टवाचकस्य धर्मिमात्रपरत्वस्य लक्षणैकनिर्वाच्यत्वेन च द्वितीयलक्षणमप्यदुष्टमेव । अतात्त्विकेऽपि
निषेधसमुच्चये धर्मिसमसत्ताकत्वमेव विवक्षितम्, बाधस्याधिष्ठानमात्रगोचरत्वेन रूप्यवत्सत्त्वविरहोऽपि साक्षिसिद्ध एवेति
न तस्य बाधबोध्यत्वम् । श्रुतियुक्त्यादिभिर्भेदनिषेधस्तु तात्त्विकस्यैवेति न प्रातिभासिकसदसद्भिन्नत्वसाधनमस्माकं प्रतिकूलमिति
अविद्याद्यनिर्वचनीयत्वलक्षणमुपपन्नमेवेति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहानात्मकत्वे त इव तदभावावप्यतिरिक्तावज्जीकरणीयाविति परस्परविरहस्वरूपयोरेकसत्त्वेऽपर-
सत्त्वायोगेन व्याघातः । निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वेन तत्परिहारे तादृशतद्बोधनवैयर्थ्यम् । प्रतियोगिदुर्निरूपत्वप्रकाशनेन
तत्सार्थक्यं तु 'नानिर्वाच्यस्तु तत्क्षय' इति पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्त्यनिर्वाच्यत्वनिषेधानुपपत्त्या न संभवति । पञ्चमप्रकारा-
विद्यानिवृत्तिव्यावृत्तत्वं तस्या अपि ब्रह्मभिन्नस्येव मुक्तकालानवस्थायित्वात् मुक्तिकालानवस्थायित्वविशेषितस्योक्तलक्षणस्य न
संभवति । सत्त्वेऽपि वादिविप्रतिपत्त्या तत्रापि ज्ञापकमात्रोक्तिस्तदभाव इवावश्यकी । निषेधसमुच्चयो नैतावतापि प्रमाण-
सिद्धः; विरोधात्, अन्यथाऽन्योन्याश्रयादिति, न तत्र प्रमाणसिद्धे सामानाधिकरण्योपपादनार्थं दृष्टान्तापेक्षणम्; किंतु
पारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्वयोरिव सामानाधिकरण्यमिति सामानाधिकरण्यसमर्थनार्थमेव तदिति न्यायाभूतोक्तरीत्या विधिस-
मुच्चयापत्तिस्तदवस्थैवेति परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि न सामानाधिकरण्यम् । नहि संयोगतदभावयोरपि एकावच्छेदेन एक-
वृत्तित्वं, किंतु एकमात्रवृत्तिलमिलवच्छेदकभेदेन सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र वृत्तिर्न विरोधाय । अयं तु विवेकः—संयोगस्थले
देशोऽवच्छेदकः, प्रकृते तु काल इति । एतेन—सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सद्रूपत्वाद्यभाव इति—परास्तम् । सत्त्व-
रहितस्य ब्रह्मणः सद्रूपत्वे तत्र सदादिपदाप्रवृत्तिः, नहि विशेषणत्यागमात्रेण लक्षणा, किंतु शक्यार्थातिरिक्तार्थगोचरतयेति
लक्षकत्वेनापि नोपपत्तिः । एतेन—स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किञ्चिदपि रूपं वास्तवमिति प्राचाभुक्तिरपि—परास्ता ॥
एतेन सदसद्वैलक्षण्यादिकं नानिर्वाच्यत्वलक्षणम्, अतात्त्विकं हीदं न प्रातिभासिकं; प्रपञ्चतात्त्विकतापत्तेः, नापि व्यावहारि-
कम्; भ्रान्तिबाधव्यवस्थानुपपत्तेः, सत्त्वाभावस्य साक्षिभास्यत्वमेव नतु बाधविषयत्वमिति तु न युक्तम्; रूप्यं नास्तीति
सत्त्वाभावस्यापि बाधविषयत्वादिति—सूचितमिति सर्वमनवद्यमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वं नास्तीति मिथ्यात्वानुमाने निरूपितम्, प्रकृते तु तुष्यतु दुर्जनन्यायेनाज्जीकृत्यापि
परस्परविरहरूपत्वं पराभ्युपगतसत्त्वासत्त्वयोः प्रतियोगिविधया निवेशेऽपि सत्त्वाभावासत्त्वाभावयोः प्रतियोगिसामानाधिकरणयोः
व्याप्यवृत्तिकयोरेव लक्षणे प्रवेशात् न निषेधसमुच्चयानुपपत्तिः । तत्रच प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरप्यतात्त्विकेनान्यूनसत्ताका-
भावघटितमिथ्यात्वेनानिर्वचनीयत्वमुपपन्नमेव, पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिस्तु विनाशापत्त्या नानिर्वाच्यमिति मुक्तिकालानव-
स्थायित्वविशेषितसदसद्वैलक्षण्यादिकं न तत्साधारणमिति नानिर्वाच्यस्तु तत्क्षय इति वचनविरोधः । सत्त्वेऽपि वादिविप्रति-
पत्तावपि तदभावानुमानादिना तद्वाधितत्वाच्च प्रमाणोपन्यासस्तत्र संभवति । वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थं तदभाव एव
किमपेक्षामहे । अद्वितीयादिश्रुतिसिद्ध्या तात्त्विकनिषेधसमुच्चयादिकरणार्थं दृष्टान्तमात्रमपेक्ष्यत इति न कमपि साधयितुं
दृष्टान्तादरणम् । एतेन—सत्त्वाभावासत्त्वाभावयोः कालिकाव्याप्यवृत्तिव्यतिरिक्तमपि—परास्तम्; सद्रूपस्यापि ब्रह्मणः शक्यत्व-
मेवेत्यन्यत्र विस्तर इति तत्र सदादिपदाप्रवृत्तिरिति सदसद्वैलक्षण्यादिरूपमनिर्वाच्यत्वलक्षणमदुष्टमेवेति—व्यवस्थापयन्ति ॥

इत्यनिर्वचनीयत्वलक्षणोपपत्तिः ॥

शक्यत्वात् । नचैतावन्तं कालमसदेव रजतमभादित्यनुभवविरोधः; अनिर्वाच्यत्वैकदेशसत्त्वव्यतिरेकविषयत्वेनैवोपपत्तेः । नचैवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यत्रापि सत्यमित्यस्यासत्त्वव्यतिरेकविषय-तयैवोपपत्तिः; ब्रह्मणि सद्रूपतायाः प्रागुपपादितत्वेन तस्यासत्त्वव्यतिरेकविषयत्वकल्पनाया अनुचितत्वात् । तथाच ब्रह्मणि सत्प्रत्ययस्य रूप्ये असत्प्रत्ययस्य च सत्त्वासत्त्वयोर्बाधकासत्त्वतत्सत्त्वाभ्यां विशेषेण न प्रसङ्गसाम्यम् । अनुमानं च 'विमतं सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सत्त्वासत्त्वरहितम्, बाध्यत्वाद्विषययुक्तमानत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्म । नचाप्रसिद्धविशेषणत्वम्; सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वादूपरसवत्, सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, असत्त्वं वा, सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वादूपव'दिति सामान्यतस्तत्सिद्धेः । नच साध्यैकदेशसिद्ध्या अंशतः सिद्धसाधनम्; गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम् समानाधिकृतत्वादित्यत्रेव सिषाधयिषाबलेन सिद्धसाधनविरहस्योपपादितत्वात् । नच—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया साध्यं व्याहतमिति—वाच्यम्; अतात्त्विकत्वेन परस्परविरहानात्मकत्वेन च समाहितत्वात् । भेदस्य तात्त्विकस्यैव निरसिष्यमाणत्वेन न तेन विरोधः । नच ब्रह्मवत् सत्त्वरहित्येऽपि सद्रूपत्वेनानिर्वाच्यत्वाभावोपपत्त्या अर्थान्तरम्; सत्त्वरहितस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे मानाभावेन बाधात् । ब्रह्मणि च शून्यतापत्तिरेव सद्रूपत्वे प्रमाणम् । नच—विमतं सदसदात्मकम्, बाध्यत्वात्, व्यतिरेकेण ब्रह्मवदित्याभाससाम्यं, विमतमसत् सत्त्वानधिकरणत्वात्, नृशृङ्गवदिति सत्प्रतिपक्षश्चेति—वाच्यम्; ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिलक्षणविपक्षबाधकर्तृकस्य वक्ष्यमाणत्वेनाभाससाम्यसत्प्रतिपक्षयोरभावात् । नचासदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षबाधः; असदित्यस्य सत्त्वाभावविषयकत्वस्योक्तत्वात्, अन्यथा ख्यात्यनुपपत्तेः । अतएव—सिध्याशब्दोऽप्यसत्पर्याय इति—निरस्तम् । नचैवं ब्रह्मण्यपि सत्त्वाभावेनासदिति बुद्धिः स्यात्; निर्धर्मके सत्त्वरूपधर्माभावविषयकप्रतीतेरिष्टत्वात्, तुच्छत्वविषयकप्रतीतेरापादकाभावात् । नचैवमसत्त्वाभावेन जगति सदिति प्रतीत्यापत्तिः; इष्टापत्तेः । नच—नृशृङ्गासत्त्वबुद्धितो नास्या वैलक्षण्यमनुभूयत इति—वाच्यम्; एतावता तस्या अपि सत्त्वरहित्यविषयकत्वमस्तु नतु तदनुरोधेन एतस्यास्तुच्छत्वविषयकत्वम्; तुच्छत्वे अत्र बाधकसत्त्वात्, समानाकारप्रतीत्योरपि विचित्रविषयकत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वाच्च । यत्तु—सत्त्वासत्त्वविकल्पेषु आद्यद्वितीययोर्जगति सत्त्वरहित्यांशे रूप्यादावसत्त्वरहित्यांशे तृतीयचतुर्थयोः उभयत्राप्यसत्त्वरहित्यांशे पञ्चमे तूभयत्र सत्त्वरहित्यांशे सप्तमेऽप्युक्तन्यायेन उभयत्राप्यसत्त्वरहित्यांशे एवमेवाबाध्यत्वशून्यत्वे प्रामाणिकत्वशून्यत्वे च पक्षे बाधाः, षष्ठे त्वबाध्यत्वरूपसत्त्वेनाप्युपपत्त्या अर्थान्तरम्—इति, तन्न; पूर्वोक्तासत्त्वमादायांशतो बाधसिद्धसाधनादेः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ख्यात्वेऽनुपलब्ध्यनुमानाद्येव मानं बोध्यम् । ख्यायमानेति । प्रत्यक्षेत्यर्थः । न प्रसङ्गेति । सत्यपदस्यासत्त्वाभाववर्धकत्वे लक्षणापत्तिः; अबाध्य एव तस्य रूढत्वात्, असत्पदस्य सदन्वयार्थकत्वे तु न लक्षणेत्यपि बोध्यम् । अप्रसिद्धविशेषणत्वं सत्त्वाभावसमानाधिकरणस्यासत्त्वाभावस्य सदसत्त्वरहितत्वांशे विशेषणस्याप्रसिद्धिः । समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी मिथः समानाधिकरणौ यौ अत्यन्ताभावौ तयोः प्रतियोगिनी । धर्मत्वात् धर्मद्वयत्वात् । असत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, असदन्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकं सदन्वयत्वे सति असदन्यत्वे सति सदसदन्यत् । बाध्यत्वादित्यनुमानेन विशेषणप्रसिद्ध्यर्थमिदं बोध्यम् । सिषाधयिषाबलेन एकदेशसिद्धावपि समुदितस्यासिद्धस्य सिद्धेरुद्देश्यत्वबलेन । ननु न सद्भेदादिघटितसाध्यकानुमानं संभवति; त्वन्मते भेदनिरासात्, तत्राह—भेदस्येति । ख्यातीति । प्रत्यक्षेत्यर्थः । समानाकारेति । समानशब्दोल्लिख्यमानेत्यर्थः । सत्त्वासत्त्वविकल्पेति । सत्त्वं तावत् सत्ताजातिर्वा, अर्थक्रियाकारित्वं वा, अबाध्यत्वं वा, प्रामाणिकत्वं वा, अशून्यत्वं वा, ब्रह्मत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा, इत्यादिपूर्वोक्तविकल्पेष्वित्यर्थः । सत्त्वरहित्यांश इति । बाध इत्यग्रेऽन्वयः । एवमन्यत्रापि । असत्त्वरहित्यांश इति । सत्ताजातेरर्थक्रियाकारित्वस्य वा असत्त्वाभावत्वेन तयोः रूप्यादौ बाध इत्यभिमानः । वस्तुतः प्रातीतिकेऽपि तयोः संभव उक्त एव । तृतीयचतुर्थयोरिति । अबाध्यत्वप्रामाणिकत्वयोः सत्त्वरूपत्वे तदभावयोरसत्त्वरूपयोस्त्वन्मते प्रपञ्चरूपयोः सत्त्वात्तदभावांशे तदुभयत्र बाध इति भावः । सप्तमे असत्त्वाभावरूपं सत्त्वमिति पराङ्गीकृतपक्षे । उक्तन्यायेन सत्त्वनिषेधे सत्त्वाभावरूपमसत्त्वमावश्यकमिति न्यायेन । अबाध्यत्वशून्यत्वे तृतीयपक्षरूपसत्त्वस्याभावांशे । प्रामाणिकत्वशून्यत्वे चतुर्थपक्षरूपसत्त्वस्याभावांशे । अन्मते इति शेषः ।

परिहृतत्वात् । एवं सामान्यतो अनिर्वाच्यत्वसाधकमप्येतदर्थपरतया नेयम् । व्याघातादिपरिहारोऽप्येवमेव । ननु—साध्यप्रसिद्ध्यर्थानुमाने सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्पराल्यन्ताभावत्वात्, घटत्वाघटत्ववत्, असत्त्वं, सत्त्वानधिकरणानिष्ठं न, तत्प्रतिषेधरूपत्वात्, यथा अनित्यत्वं, नित्यत्वानधिकरणानिष्ठं न, एवं सत्त्वमपि पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यमिति सत्प्रतिपक्षता, परस्परविरहानात्मकत्वं चोपाधिरिति—चेन्न; सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहानात्मकत्वस्योक्तत्वेन हेतोरसिद्धत्वात्, उपाधेः साधनव्यापकत्वाच्च, ख्यातिवाधान्यथानुपपत्त्या विपक्षवाधकतर्केण उपाधिसत्प्रतिपक्षयोरनवकाशात् । यत्तु—नित्यानित्यत्वदृष्टान्ते साधनवैकल्यमुक्तं, तदयुक्तम्; परेण ध्वंसाप्रतियोगित्वतत्प्रतियोगित्वयोः परस्परविरहरूपयोः नित्यत्वानित्यत्वयोः सविध एवोक्तेः । यत्तु—घटत्वाघटत्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वादूपरसवत्, कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वादूपवदिति चाभाससाम्यम्, सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वकल्पितत्वाकल्पितत्वदृश्यत्वादृश्यत्वदुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वादौ प्रथमस्य द्वितीयतृतीययोर्थथाक्रमसद्विलक्ष्ये सद्विलक्षण्ये च त्रिष्वपि ज्ञेयत्वव्यवहार्यत्वादौ व्यभिचारश्च—इति, तन्न; क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवदित्यनुमाने अङ्कुरः सकर्तृकः कार्यत्वादित्याभाससाम्यं अङ्कुरादौ व्यभिचारो वा यथा न दोषः, तथा धर्मत्वेन हेतुना समानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं साध्यतो मम घटत्वाघटत्वादौ साध्यसत्त्वेन व्यभिचाराभावात् हेतोश्चानाभासत्वात् । नह्यविरुद्धधर्मत्वादिकं तादृक्साध्यसत्त्वे प्रयोजकम्, किंतु धर्मत्वमात्रम् । नहि दृश्यत्वादिधर्माणां कुत्राप्यभावासंभवः । तदुक्तं—‘न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं संभवती’ति । अतएवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न व्यभिचारः । नचात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरम्; आत्मनो निर्धर्मकत्वेनात्यन्ताभावस्याप्यभावात्, अनात्मनिष्ठत्वेन विशेषणाद्वा । नचैवं कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अकल्पितत्ववदित्याभाससाम्यम्; अस्याः प्रसक्तेरिष्टत्वात् । मिथ्यात्वे यथा मिथ्यात्वसाधकदृश्यत्वादेर्न व्यभिचारः, तथास्यापि वादिविशेषं प्रति एकदेशसाधनेन साध्याप्रसिद्धिशङ्कापि । तथाहि—सत्ख्यातिवादिनं प्रति असद्विलक्षणं विमतं सद्विलक्षणम्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरजतसंसर्गवत्, असत्ख्यातिवादिनं प्रति सद्विलक्षणं विमतम्, असद्विलक्षणम्, अपरोक्षधीविषयत्वात्, घटवत् । पक्षधर्मतावलादनिर्वचनीयत्वसिद्धिः । यथाच न सिद्धसाधनव्याघातादिकं, तथोक्तमधस्तात् । एवं प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्वं, सत्त्वासत्त्वोभयवृत्ति, प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वात्, व्यवहार्यत्ववत् । सदसदुभयवृत्तित्वं, प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्ति, सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्त्यशेषवृत्तित्वात्, भेदप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पक्षे जगति । पूर्वोक्तासत्त्वं पराभ्युपगतं सत्त्वेन प्रतीयनहृत्वरूपं वाऽसत्त्वम् । सत्त्वासत्त्वे इत्यादि । सत्त्वमसत्त्वाल्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, असत्त्वाल्यन्ताभावत्वात्, यो यदत्यन्ताभावः, स तदत्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, यथा घटत्वस्यात्यन्ताभावः । अघटत्वं घटत्वाल्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यर्थः । असत्त्वमित्यादि । असत्त्वम्, सत्त्वानधिकरणनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकम्, सत्त्वाल्यन्ताभावत्वात्, यो यदत्यन्ताभावः, स तदनधिकरणनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकः, यथा नित्यत्वाभावो नित्यत्वानधिकरणनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदक इत्यर्थः । परस्परविरहानात्मकत्वं यदत्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पूर्वानुमाने साध्यं तदत्यन्ताभावानात्मकत्वम् । अनवकाशादिति । आद्यानुमाने मन्मते साध्यवैकल्यमित्यपि बोध्यम् । द्वितीयानुमाने न साध्यवैकल्यम्; नित्यभिन्ने नित्यभिन्नभेदस्य मयाप्यस्वीकारादिति सूचयन् साधनावैकल्यमपि तत्र शिष्यव्युत्पत्त्यर्थमाह—यत्त्वित्यादि । प्रथमस्य सत्त्वासत्त्वयोरुक्तप्रतियोगित्वानुमानस्य । यथाश्रुते तत्रायं दोषः, ननु विवक्षिते । द्वितीयतृतीययोः असत्त्वानधिकरणानिष्ठत्वसत्त्वानधिकरणानिष्ठत्वसाध्यकयोरुक्तानुमानयोः । न दोष इति । तस्य पक्षसमत्वादिति शेषः । अर्थान्तरं सत्त्वशून्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमादायोक्तानुमाने अर्थान्तरम् । अत्यन्ताभावस्येति । आत्मनि विद्यमानस्यापीति शेषः । तथाचासत्त्वादिशून्ये वर्तते तत्समसत्ताको यः अत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वस्य सत्त्वादौ साध्यत्वान्नार्थान्तरमिति भावः । अस्य अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वहेतोः । वादिविशेषमिति । वस्तुत इत्यादिः । सत्ख्यातिवादिनं प्रपञ्चसत्त्ववादिनम् । असत्ख्यातीति । प्रपञ्चासत्त्वेत्यर्थः । नैकदा त्रयाणां त्रिवाद इति न्यायादेकैकं प्रत्येवानुमानं वाच्यम् । तत्रचाभावद्वयनिवेशो व्यर्थ इति भावः ।

योगित्ववत् । अप्रयोजकत्वमनुकूलतर्कोक्त्या निरसिष्यते । तस्मादनुमानमत्र मानम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सर्वान् प्रत्येकमेवानुमानमुच्यतां, तथापि न विशेषणाप्रसिद्धिरित्याशयेनाह—एवमिति । प्रतियोगित्ववदिति । प्रपञ्चः सत्त्वासत्त्वोभयाभाववान्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरूपवदित्याद्यपि बोध्यम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायाम-निर्वाच्यत्वानुमानम् ॥

अथानिर्वचनीयत्वे प्रत्यक्षानुमानप्रमाणनिरूपणम् ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अविद्याद्यनिर्वचनीयत्वे न मिथ्यैवेदं रजतमभादिति प्रतीत्युपपत्तिः । सत्त्वव्यतिरेकमात्रस्यात्र विषयीकरणे ब्रह्मसत्त्व-प्रतीतावपि प्रत्यासत्त्या असत्त्वाभावस्यैव विषयत्वापत्तिः । नहि ब्रह्मसत्प्रत्ययस्य रूप्यासत्प्रत्ययस्य च कोऽपि विशेषः समस्ति । एतेन—विमतम्, अनिर्वचनीयम्, बाध्यत्वात्, दोषप्रयुक्तभानाद्वा, यन्नैवं तन्नैवं, यथा ब्रह्म इत्यनुमानमपि—**पराहतम्**; अप्रसिद्धविशेषणत्वात्, अंशतः सिद्धसाधनात्, ब्रह्मवत् सद्रूपत्वेन अनिर्वाच्यत्वाभावोपपत्त्याऽर्थान्तरात् । विमतं, सदसदात्मकं, बाध्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा ब्रह्मेत्याभाससाम्यात् । विमतम्, असत्, सत्त्वानधिकरणत्वात्, शशशृङ्गवत्, इति सत्प्रतिपक्षात्, सत्त्वाभावासत्त्वाभावयोरेकत्रासमावेशेन साध्ये व्याघातात्, सत्त्वासत्त्वयोः सत्ताजात्यर्थक्रियाकारित्वावाध्यत्वप्रामाणिकत्वाशून्यत्वब्रह्मत्वपराङ्गीकृततद्विरुद्धादिरूपत्वे, **प्रथमद्वितीययोर्जगति सत्त्वरहिष्यांशे रूप्येऽसत्त्वरहिष्यांशे, तृतीयचतुर्थयोः** उभयत्राप्यसत्त्वरहिष्यांशे बाधात्, षष्ठेऽबाध्यत्वरूपसत्त्वेनाप्युपपत्त्याऽर्थान्तरात् । **अतएव—**साध्यप्रसिद्ध्यर्थं सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवदिति चानुमानं—**निरस्तम्**; सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्परालम्ब्यन्ताभावत्वात्, घटत्वाघटत्ववत्, असत्त्वं सत्त्वानधिकरणनिष्ठं न, तत्प्रतिषेधरूपत्वात्, यथा नित्यत्वं नित्यत्वानधिकरणनिष्ठं न भवति इति सत्प्रतिपक्षात्, परस्परविरहानात्मकत्वस्योपाधित्वात्, घटत्वाघटत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवत्, कल्पितत्वम्, अकल्पितत्वाधिकरणनिष्ठम्, धर्मत्वात्, रसवदित्याभाससाम्यात्, सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वादौ प्रथमस्य असद्वैलक्षणे द्वितीयस्योभयोर्ज्ञेयत्वादौ व्यभिचारात्, आत्मनिष्ठालम्ब्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तराच्च । सर्वथाऽप्रसिद्धविशेषणत्वं दुर्वारमेव । वादिविशेषं प्रति एकैकदेशसाधनेन तत्परिहारोऽपि व्याघातप्रसराच्च संभवतीति नानिर्वाच्यत्वेऽनुमानप्रमाणमपि प्रसरतीति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

ख्यायमानरूप्यादौ शशशृङ्गादिसाधारणासत्त्वाभावेन रूप्यमसदिति प्रतीतेः सत्त्वाभावविषयत्वेऽपि ब्रह्मसत्त्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वेन तत्सत्त्वप्रत्ययस्यासत्त्वाभावविषयत्वं न संभवतीति प्रतीतिद्वयवैलक्षणेन मिथ्यैव रूप्यमभादिति प्रत्यक्षमनिर्वचनीयत्वे प्रमाणमेव । सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहानात्मकत्वेन हेतुसिद्ध्या साध्यप्रसिद्ध्यर्थानुमाने सत्प्रतिपक्षानुदयात् । साधनव्यापकत्वेन परस्परविरहानात्मकत्वस्यानुपाधित्वात्, घटत्वाघटत्वसद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वादीनामपि पक्षसमत्वनोक्ताभाससाम्यव्यभिचाराद्यप्रसरात्, आत्मनो निर्धर्मकत्वेनानात्मनिष्ठेतिविशेषणेन वाऽऽत्मनिष्ठालम्ब्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरानवकाशात्, सत्त्वासत्त्वे इत्यनुमानेन वादिविशेषं प्रत्येकैकदेशसाधनेनाप्रसिद्धिविशेषणदोषाप्रसरात्, गुणादिकमित्यत्रेव सिषाधशिषावलेन अंशतः सिद्धसाधनविरहात्, बाधितस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मवत्सद्रूपत्वानुपपत्त्याऽर्थान्तरानवकाशात्, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिलक्षणविपक्षबाधकर्तृसत्त्वेन आभाससाम्यसत्प्रतिपक्षयोरप्रसरात्, पूर्वोक्तरीत्या व्याघाताभावात् परामिमतसत्त्वमादायांशतः सिद्धसाधनबाधयोः सत्त्वविकल्पेनापादितयोरप्रसराच्च विमतमनिर्वचनीयम् बाध्यत्वात्, दोषप्रयुक्तभानत्वादित्यनुमानमपि तत्र प्रमाणमेवेति मन्तव्यमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नहि नृशृङ्गमसदिति बुद्धेः रूप्यमसदिति बुद्धेः कोऽपि विशेषः, येन सत्त्वाभावविषयत्वेनोपपत्तिः संभाव्येत । अन्यथा तत्रापि तद्विषयकत्वापत्त्या विकल्पज्ञानमेवाप्रसिद्धं स्यात् । तथाच सति शब्दज्ञानानुपातीति पातञ्जलसूत्रं विरुध्येतेति न

अर्थापत्त्यन्तरत्वात्, आकरे एकत्वोक्तिस्तु प्रयोजनैक्यादिति कण्ठतस्तात्पर्यतश्चेति—आहुः । यद्वा—अवाध्यत्वमेव सत्त्वम्; नच तर्ह्यापाद्यावैशिष्ट्यम्, अवाध्यत्वं हि त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम् । तेन च विपरीतप्रमाविषयत्वाभाव आपाद्यत इति नापाद्यावैशिष्ट्यम् । व्यवहारस्यापाद्यत्वेन वा नापाद्यावैशिष्ट्यम् । नच—वाध्यत्वेनैवासद्व्यावृत्तेरपि सिद्ध्या अनिर्वचनीयत्वसिद्धिपर्यवसानेन शेषवैयर्थ्यम्, न प्रतीयेतेत्यत्र विपर्यये दृश्यत्वेनैव सद्वैलक्षण्यसिद्ध्या न वाध्येतेत्युक्तिरप्ययुक्तेति—वाच्यम्; बाध्यत्वदृश्यत्वयोरेकैकस्य सदसद्व्यावृत्त्युभयसाधकत्वं यद्यपि संभवति; तथाप्येकैकस्य एकैकदेशव्याप्यत्वग्रहदशायामुभयोः साफल्यत्वात्, उभयव्याप्यमप्येकैकमेकदेशसाधकत्वेनोपन्यस्यतः प्रति एकैकसाधकत्वस्य दोषावहत्वाभावात् । अर्थापत्तिद्वयं वैतत्, एकत्वोक्तिस्तु असतो वाध्यत्वं सतोऽप्यात्मनो दृश्यत्वमङ्गीकुर्वतः परस्य मते एकैकेन उभयसाधनासंभवनिवन्धना । ननु—न वाध्येतेत्यत्र बाधः किं बाधकज्ञानेन निवृत्तिः, त्रैकालिकनिषेधो वा । आद्य इष्टापत्तिः । द्वितीये असद्वैलक्षण्यत्वपक्षेण वाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसानमिति—चेन्न; उभयव्याप्यदोषात् । नचाद्य इष्टापत्तिः; ज्ञाननिवर्त्यत्वे श्रुत्यादिसंमतेरुक्तत्वात् । द्वितीयेऽपि नासद्वैलक्षण्यत्वेन विपर्ययापर्यवसानम्; प्रतिपन्नोपाधिस्थनिषेधप्रतियोगित्वस्यासत्यसंभवेनासद्वैलक्षण्यस्यैव विपर्ययपर्यवसानप्रयोजकत्वात् । असच्चेदित्यत्रापि यद्यप्यसत्त्वं न सत्ताजातिराहित्यम्; सत्ताहीने सामान्यादौ व्यभिचारात् । यत्त्वात्मनि व्यभिचारादित्युक्तं परैः, तन्न; तन्मते आत्मनि सत्तायाः सत्त्वेनापादकस्यैवाभावात्, अस्मन्मते च तत्र दृश्यत्वस्यैवाभावेनापाद्यस्यैवाभावात्, नापि बाध्यत्वम्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारापत्तेः; तथापि निरूपाख्यत्वं निःस्वरूपत्वं वा असत्त्वम् । नच—निरूपाख्यत्वं ख्यात्यभावः तथाचापाद्यावैशिष्ट्यमिति—वाच्यम्; निरूपाख्यत्वस्य पदवृत्त्यविषयत्वरूपत्वात् । ननु—निःस्वरूपत्वं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, तच्च प्रपञ्चसाधारणमिति तत्र व्यभिचारः, नच—पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधो न स्वरूपतः प्रपञ्चस्येति—वाच्यम्; निर्धर्मकब्रह्मण्यपि तेन रूपेण निषेधात्तस्यापि मिथ्यात्वापत्तेरिति—चेन्न; मिथ्यात्वलक्षणे प्रतिपन्नोपाधाविति विशेषणबलात्तत्र नातिव्याप्तिरित्युक्तत्वात् । यस्मिन्नपि पक्षे प्रपञ्चस्य स्वरूपेण निषेधः, तदा अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वं निःस्वरूपत्वम् । नचैतत् प्रपञ्चेऽस्ति, येन तस्मादसन्न भवतीति विपर्ययपर्यवसानं न स्यात् । ननु—न प्रतीयेतेत्यत्र प्रतीतिसामान्यविरहस्तावदापाद्यते, तदयुक्तम्, असन्नशृङ्गमित्यादिवाक्यादसतोऽपि प्रतीतेः, अन्यथा असद्वैलक्षण्यज्ञानायोगः, असत्प्रतीतिनिरासायोगश्च, असत्पदस्य अनर्थकत्वे प्रयुक्तपदानां संभूय कार्यकारित्वायोगे बोधकत्वानुपपत्तिः, असतोऽसत्त्वेनाप्रतीतौ असद्व्यवहारा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यस्यानिर्वाच्यत्वसाधकार्थापत्त्यन्तराभिप्रायकत्वस्य वक्ष्यमाणतया सच्चेन्न बाध्येतेत्यस्यापि सदसदन्यत्वसाधकत्वस्यावश्यकत्वात् सत्त्वं सदसद्वैलक्षण्यान्यत्वपर्यवसितम् । तस्याः ख्यात्युक्तेः । अर्थापत्त्यन्तरत्वात् सदसद्वैलक्षणं न चेन्न प्रतीयेतेत्यर्थापत्त्यन्तरसहकारितर्कान्तरपरत्वात् । प्रयोजनेति । सदसदन्यत्वसिद्धौत्यर्थः । आहुरिति । केचिदित्यनेन पूर्वोक्ताः इत्थं स्वमतं व्याकुर्वत इत्यर्थः । त्रैकालिकेति । स्वाधिकरणवृत्तीत्यादिः । विपरीतेति । स्वाधिकरणे निषेध्यत्वेत्यर्थः । व्यवहारस्याबाध्यत्वेन प्रमितत्वस्य, श्रुतिमुख्यतात्पर्यविषयत्वस्येति यावत् । सच्चेदुक्तविषयत्ववत् स्यात्, ब्रह्मवत्, न चोक्तविषयत्ववत् । तस्मात् श्रुतिबाध्यत्वान्न सदिति बोध्यम् । एवंच परकीयस्य सत्त्वव्यवहारस्य प्रपञ्चे सत्त्वेऽपि न क्षतिः । दृश्यत्वेन वृत्तिविषयत्वेन । शुद्धब्रह्मणो वृत्त्यविषयत्वपक्षे इत्यादिः । एकैकदेशेति । उक्तव्यावृत्त्योरेकमात्रं प्रतीत्यर्थः । उपन्यस्यतः उपन्यासकर्तुः । असतः शुक्तिरूप्यादेः । बाध्यत्वं स्वाधिकरणे निषेध्यत्वम् । इष्टापत्तिरिति । मन्मते रूप्यादेः बाधकज्ञानानादयत्वादिति शेषः । पक्षेणेत्यादि । असद्वैलक्षण्यत्वसाधनाय यत् बाध्यते चेत्यादिविपर्ययानुमानपर्यवसानं तदभाव इत्यर्थः । प्रतिपन्नोपाधिस्थेति । स्वसमानाधिकरणेत्यर्थः । पदवृत्तीति । शशविषणादिविकल्पो न पदवृत्तिसापेक्षः, किंतु पदज्ञानमात्रसापेक्षः; ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प’ इति पातञ्जलोक्तेः । प्रतिपन्नोपाधौ स्वाधिकरणे, निषेधांश इत्यादिः । अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वे । कालासंबन्धित्वं दलद्वयार्थः । उपपत्तेरिति । प्रपञ्चोऽसद्वैलक्षण्य इत्यादिवाक्यादसदंशे विकल्पः, प्रपञ्चांशे तु प्रमा, तदुभयावच्छिन्नचित्तमादाय संभूयकारित्वम् । अतएवेदं रजतमित्यादिवाक्यात् प्राभाकरादिभिः ज्ञानद्वयं स्वीक्रियत इति भावः । ननु ‘प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय’ इति पातञ्जलसूत्रे ज्ञानस्यैव विभाग उक्तः, वृत्तिमात्रस्य विभागे त्विच्छादिकमपि तत्रोच्येत । नच—एवमिच्छादिवृत्तीनामपि निरोद्धव्यतया पूर्व-

नुपपत्तिः, तदुक्तं—‘असद्विलक्षणज्ञप्तौ ज्ञातव्यमसदेव हि । तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते ॥’ इति—चेन्न, प्रतीत्यभावेऽपि असतो असन्नृशृङ्गमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्तेः । तदुक्तं—‘शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प’ इति । नच—विकल्प इच्छादिवत् ज्ञानान्यवृत्तिर्वा, ज्ञानविशेषो वा । आद्ये अनुभवविरोधप्रतीत्ययोगौ, द्वितीये असतः प्रतीतिरागतैव । वस्तुशून्य इत्यत्रापि किमपि नोल्लिखतीति वा, असदेवोल्लिखतीति वा, आद्ये अनुभवविरोधः, द्वितीये इष्टापत्तिरिति—वाच्यम्; विकल्पस्य ज्ञानान्यवृत्तित्वे बाधकाभावात्, शशविषाणमनुभवामीत्यप्रत्ययाच्च । वस्तुशून्यता च सोपाख्यधर्मानुल्लेखित्वम्, अतो न कोऽपि दोषः । विकल्पस्य ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञानविषयत्वाभाव आपाद्यः । शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वे च प्रतीतिविषयकत्वं विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं वानुपपन्नमित्यनिर्वाच्यत्वसिद्धिः । यद्वा—सत्त्वेन प्रतीत्यभाव एवापाद्यः । ननु—प्रमारूपतादृक्प्रत्ययाभावापादनमिष्टमेव । नह्यसतः सत्त्वेन प्रतीतिः केनचित् प्रमोच्यते । नच तादृग्भ्रान्तिविरहः तादृक्प्रतीतिसामान्यविरहो वाऽऽपाद्यः; येन पुंसां शशे शृङ्गाभावो नावगतः तस्य गोशृङ्गमस्तीति वाक्यादिव शशशृङ्गमस्तीति वाक्यादपि भ्रान्तिदर्शनात्, नहि घटधषादिशब्दवदत्र पदार्थानुपस्थापकत्वम्, नवा कुण्डमजाजिनमित्यादिवदन्वयाबोधकत्वम्, अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताभ्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसङ्घीचीनस्य सत्त्वात्, अन्यथा प्रतीत्याद्यभावप्रसङ्ग इति—चेन्न; ‘इदं रजत’मिति प्रात्यक्षिकभ्रमवत् अस्याप्यनिर्वाच्यविषयत्वात्, नच—अस्याप्यनिर्वाच्यत्वे रूप्यात् भेदो न स्यादिति—वाच्यम्; को हि अनिर्वाच्यादनिर्वाच्यं भेत्तुमध्यवसितः? यमेवमाक्षिपसि, किंतु निःस्वरूपात् । यथाच सत्त्वेन न निःस्वरूपविषयत्वं तथोक्तं प्राक् । नचैवं शशशृङ्गादेरनिर्वाच्यत्वे निःस्वरूपत्वोच्छेदः; शशशृङ्गमस्तीत्यत्र शशे शृङ्गारोपेण शशीयत्वारोपेण वा अनिर्वाच्यविषयत्वेऽपि ‘असन्नृशृङ्ग’मित्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं विकल्प्यमानाखण्डशशशृङ्गादेरनिर्वाच्यानात्मकस्य निःस्वरूपत्वात् । नचात्र निःस्वरूपत्वादिविकल्पः; उक्तोत्तरत्वात् । नच—‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।’ इति त्वन्मते तस्याध्यस्तस्यास्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेऽपि ‘शशशृङ्गमस’दिति वाक्यादिव ‘शशशृङ्गमस्ती’ति वाक्येऽपि शशशृङ्गशब्देनासत् एव प्रतीतिरिति—वाच्यम्; अस्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेन शशशृङ्गपदाभ्यां तदधिष्ठानमवश्यं वक्तव्यम् । अत्यन्तासत्त्वानधिष्ठानमिति न शशशृङ्गपदाभ्यां तदुपस्थितिः, दृष्टान्तीकृतवाक्ये तु नानिर्वाच्यं किञ्चिदपि प्रतीयत इति नाधिष्ठानज्ञानापेक्षेति वैषम्यात् । अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमित्यादि तु अस्त्यादिपदासमभिव्याहृतशशशृङ्गमसदिति वाक्यपरम् । नच—‘तद्वैक आहुः असदेवेदमग्र आसी’दिति श्रुत्या असतः सत्त्वेन प्रतीतिरिति—वाच्यम्; यथा नानया असतः सत्त्वप्रतिपादनं तथोक्तं मिथ्यात्वलक्षणे । तार्किकास्तु—शशशृङ्गादिपदानामपार्थक्यतैवेति—वदन्ति । नचानन्वयनिश्चयविरहदशायां प्रवृत्तिपर्यन्तानुभवविरोधः, अनन्वयनिश्चयदशायामेवाबोधकतोक्तेस्तद्विरहदशायामपि नाखण्डशशशृङ्गादिवोधकत्वम्, किंतु सन्मात्रगोचरव्यधिकरणप्रकारकज्ञानं वा, सदुपरागेणासद्गोचरज्ञानं वा । केवलसद्धाने सामग्रीविरहात् । तदुक्तं बौद्धाधिकारे—‘सङ्गतिग्रहणाभावात् शशशृङ्गादिपदानामबोधकते’ति । नच यौगिकशब्दानामवयवसङ्गत्यतिरेकेण पृथक्सङ्गत्यनपेक्षत्वम्; अवयवशक्तिप्राधान्येन बोधने अखण्डासद्बोधनस्याशक्तत्वात्, अवयवानां स्वशक्त्यपुरस्कारेणाप्रत्यायकत्वात् । नहि पाचकादिः पाकादिमबोधयन् बोधयति । नच तर्हि शशशृङ्गमसच्छशशृङ्गं नास्तीत्यादिवाक्यानामबोधकत्वम्; तेषां शशे शृङ्गाभावबोधकत्वात् । एषा तु बोधकता न शशशृङ्गपदमात्रे, किंतु नास्तीति-पदसमभिव्याहृते । अतो न नास्तीति पौनरुक्त्यरूपशङ्काभासाद्यवकाश इति । यद्वा—अपरोक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सूत्रोक्ततया तदनुकला न्यूनतेति—वाच्यम्; इच्छादीनां ज्ञानमूलत्वेन ज्ञाननिरोधेनैव तन्निरोध इत्याशयेन ज्ञानमात्रोक्तिसंभवात्, तत्राह—विकल्पस्य ज्ञानत्वे इति । ज्ञानत्वे ‘हीर्द्धाभी’रिति श्रुत्युक्तवीचजातिमत्त्वे । घटधषेति । अगृहीतार्थसङ्केतेत्यादिः । नवेति । अयोग्यार्थकेति शेषः । शाब्दादिज्ञानस्यालीकविषयकत्वादाह—प्रात्यक्षिकेति । तथोक्तमिति । मिथ्यात्वानुमान इति शेषः । अनिर्वाच्यत्वे इति । असति सत्त्वासंबन्धेन सत्त्वसंसर्गस्यानिर्वाच्य एव भानादित्यादिः । अपार्थक्यता वाक्यार्थाबोधकत्वम् । अखण्डेति । शशीयत्वाद्यधितेत्यर्थः । सदुपरागेति । वाचस्पतिमिश्रमते सदुपरागेणासतः संसर्गस्य भ्रमस्थले भानं बोध्यम् । शशे शृङ्गेति । शृङ्गपदस्य शाननिष्ठे नञ्प-

प्रतीत्यभाव आपाद्यः । नच—यदसत्तत्र प्रतीयत इति व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षमावश्यकम्, अतश्चास-
तोऽपि प्रत्यक्षत्वम्; ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयविषयकत्वनियमात् । किंच शशशृङ्गाद्यत्यन्ताभावप्रत्यक्ष-
मावश्यकम्; अन्यथा असतोऽपि असत्त्वबुद्धिर्न स्यात्, तथाच शशशृङ्गादेः प्रत्यक्षत्वमेवेति—
वाच्यम्; साक्षादित्यनिषेध्यतयेति चापरोक्षप्रतीतिविषयविशेषणात् । उक्तस्थले च ज्ञानविषयतया
निषेध्यतया च विषयत्वमिति नास्ति विशिष्टाभावस्यापाद्यसांभवः । यद्वा—सत्त्वेनापरोक्षप्रतीति-
विषयत्वाभाव आपाद्यः । नच—इदं रूप्यमित्यादिभ्रान्त्या अत्यन्तासदेव सत्त्वेन प्रतीयत इति—
वाच्यम्; अत्यन्तासतस्तादृशप्रतीतिविषयत्वे सामर्थ्यभावात् । इन्द्रियसन्निकर्षो हि प्रत्यक्षे सामा-
न्यसामग्री, नचासति सोऽस्ति । नच—प्रातिभासिकत्वपक्षे रूप्यादेः प्रतीतिपूर्वकालेऽसत्त्वेन कथं
सन्निकर्षरूपप्रत्यक्षसामग्रीसंभव इति—वाच्यम्; अस्मन्मते ज्ञातैकसति रूप्यादौ साध्यपरोक्षे
अज्ञाननाशकान्तःकरणवृत्तिप्रयोजकसन्निकर्षानुपयोगात् । नहि तवापीश्वरसाधारणप्रत्यक्षमात्रे
सन्निकर्षो हेतुः । नच—प्रमायां निर्दुष्टेन्द्रियसन्निकर्षो हेतुः, नतु भ्रमे, स हि दोषसहितेन्द्रिया-
देव भविष्यतीति—वाच्यम्, सन्निकर्षो हि इन्द्रियवत्सामान्यसामग्री, तदनपेक्षस्येन्द्रियस्याजनकत्व-
मित्युक्तत्वात् । नच तर्हि शाब्दबोधसामान्यसामग्र्या योग्यताज्ञानादेरभावात् कथं परोक्षविकल्पः
स्यात्? अयोग्यताज्ञानविरहो हि सामान्यसामग्री, नतु योग्यताज्ञानम्; असंसर्गाग्रहरूपायोग्यता-
ज्ञानविरहस्य विशिष्टज्ञाने आवश्यकत्वात् । स चासद्बोधके वाक्येऽस्त्येव । नहि शशशृङ्गे असत्त्वं
नास्तीति जानानः शशशृङ्गमसदित्यवगच्छति । एतन्निबन्धन एवापरोक्षप्रतीतौ प्रद्वेषः एतेन—
सन्मात्राविषयकापरोक्षज्ञानमसद्विषयकम्, सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्वादसद्विषयकपरोक्षप्रती-
तिवत् । नच—अत्र प्रातिभासिकसाधारणसद्विवक्षायामाश्रयासिद्धिः । परमार्थसद्विवक्षायां
मात्रपदवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; भ्रममात्रस्यैवाधिष्ठानीभूतपरमार्थसद्विषयतया मात्रपदं विना आश्र-
यासिद्धेर्दुष्परिहरत्वादिति—निरस्तम्; सामग्रीविरहेण बाधात्; शाब्दत्वस्योपाधित्वात्, धर्मादि-
कमपरोक्षप्रतीतिविषयः प्रतीतिविषयत्वादित्याद्याभाससाम्याच्च । किंचासतो रूप्यस्यापरोक्षप्रतीति-
विषयत्वे शशशृङ्गादेरप्यपरोक्षप्रतीतिविषयत्वं स्यात्, विशेषाभावात्, सविशेषत्वे असत्त्वव्याको-
पात् । ननु—सदसतोः सत्तानिःस्वरूपत्वादिनेव नृशृङ्गशशशृङ्गादीनामपि परस्परं नृशृङ्गशशशृङ्गा-
दिशब्दैरेव परोक्षप्रतीतिव्यवहारविषयत्वादेर्विशेषस्यासत्त्वाविरोधिनो बुद्धिसिद्धस्य संभवः, नच—
सर्वसामर्थ्यहीनस्यासतः सता ज्ञानेन कथं संबन्धः? विषयत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात्, भाति
प्रतीयत इत्यादिकर्तृकर्मत्वादिविरोधाच्चेति—वाच्यम्; अतीतादेः स्मृत्यनुमित्यादिविषयत्वादिवदु-
पपत्तेः, नच—तत्र प्रतीत्यादेरेव विषयत्वम्, तावतैव तत्र विषयताव्यवहार इति—वाच्यम्; समं
ममापीति—चेत्, मैवम्; शशशब्दस्य नरि भ्रमदशायां नृशृङ्गशब्देनेव शशशृङ्गशब्देनापि नृशृङ्गस्य
प्रतीयमानत्वेन नृशृङ्गादिशब्दैरेव प्रतीयमानत्वादेरपि परस्परविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—
दुष्टेन्द्रियादे रूप्यसंस्कारसाचिव्यवच्छशशृङ्गसंस्कारसाचिव्याभावात् तस्यापरोक्षभ्रमाविषयत्वम्,
अन्यथा तवाप्यनिर्वाच्यान्तरमेव तत्र कथं नोत्पद्येतेति—वाच्यम्; संस्कारस्य न तावत्प्रतीतौ
साक्षादुपयोगः, स्मृतित्वापत्तेः, किंत्वर्थोत्पत्तिद्वारा । तथाच संस्कारनियामकतापि अनिर्वाच्याता-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दस्य शृङ्गाभावे लक्षणा । शशपदं तत्तात्पर्यग्राहकमिति भावः । ननु शशशृङ्गपदाभ्यामपि तादृशाभावधीसंभवान्ना-
स्तीति व्यर्थम्, तत्राह—एषेति । तथाच तथा स्त्रीकारेऽपि नास्तीत्यस्य तात्पर्यग्राहकत्वेन सार्थक्यमिति भावः ।
सत्त्वेनापरोक्षेत्यादि । अपरोक्षधियो या सत्त्वप्रकारता तन्निरूपितविशेष्यत्वाभाव इत्यर्थः । नच—अनिर्वाच्यस्यैव
सत्त्वेन धीस्त्रीकारात् धीमात्रमेव निवेद्यतां, किं प्रत्यक्षनिवेशेनेति—वाच्यम्; असतः प्रत्यक्षविषयत्वस्य पराभ्युप-
गतस्य निरासाय प्रत्यक्षघटितस्यापाद्यतया प्रतिज्ञानात् । सामान्यसामग्री प्रत्यक्षसामान्ये हेतुः पक्षे मतेऽपि सामा-
न्यधर्मावच्छेदेनैव प्रमाणप्रवृत्तेर्भ्रमे प्रत्यक्षत्वे चाक्षुषत्वादौ वा स्वीकृते सन्निकर्षजन्यत्वावश्यकत्वात् । अन्यथा तत्र
प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियजन्यत्वे वा मानाभावात् स्वविशिष्टं प्रति दोषाणामेव हेतुत्वेनोपपत्तेः । नच—अस्तु तथा, तथापि
साक्षिणैव भ्रमविषयस्य प्रत्यक्षतेति—वाच्यम्; त्वन्मते तस्यासत्त्वेन सता साक्षिणा संबन्धानुपपत्तेः । ननु रूप्यत्वा-
दिविशेष एव शुक्तिरूप्यादेः प्रत्यक्षतानियामकः, तत्राह—सविशेषत्वे इति । रूप्यत्वादेः सतोऽसत्संबन्धानुपपत्तेः ।
असन्विशेषस्तु न तन्नियामकः, अलीकेऽपि सत्त्वादिति भावः । शब्दस्य शब्दशक्तेः । अशक्यत्वादिति । प्रत्यक्ष-

पक्ष एव, न त्वसद्विषयतापक्षे । वस्तुतस्तु—संस्कारस्तावत् तात्त्विकरजतादिगोचर एव प्राथमिकरजतादिभ्रमे प्रयोजकः सर्वमते, स चासद्रूप्यशशशृङ्गादिसर्वसाधारण एव, तद्विषयत्वाविशेषात् । तथाच कथं स नियामको भवतु ? एवं प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिरपि प्रमाणम् । इदमंशस्यासद्रूप्यात्मना प्रतीतौ सामग्रीविरहस्योपपादनात् । ननु—अनिदंरूपे प्रातिभासिके यदिदंत्वं व्यावहारिकसत्त्वं च तद्व्यं न तावत् सत्; अद्वैतव्याकोपात्, नाप्यनिर्वाच्यम्; तथा सति तस्यासद्वैलक्षण्यार्थं प्रातिभासिकत्वाय सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम् । एवंच तदपि सत्त्वमनिर्वाच्यं चेत्, तस्यापि सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यमित्यनवस्था, तथाच तयोरसत्त्वं वाच्यम् । तदुक्तम्—‘अन्यथात्वमसत्तत्त्वात् भ्रान्तावेव प्रतीयते । सत्त्वस्यासत् एवं हि स्वीकार्यैव प्रतीतता ॥ तस्यानिर्वाचनीयत्वे स्यादेव ह्यनवस्थितिः ।’ इति । टीकायामपि इदंत्वंसत्त्वयोः सत्त्वायोगादनिर्वाच्यत्वे इदंत्वेन रूप्यावगाहि तदप्रतीतौ प्रवृत्त्ययोगात् सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्त्वादिविकल्पप्रसरेणानवस्थानादिदंत्वंव्यावहारिकसत्त्वयोरसत्त्वमित्युक्तमिति—चेन्न; तयोरसत्त्वे अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वे सामग्र्यभावादेर्वाधकस्योक्तत्वात् अनिर्वाच्यत्वमेव । नच तथा सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम्; इष्टापत्तेः । नचैवमनवस्था; सत्त्वस्य सदिति प्रतीतावतिरिक्तसत्त्वस्यानपेक्षणात्, अन्यथा त्वत्पक्षेऽप्यसतिरूप्ये यत्सत्त्वं प्रतीयते तस्य सत्त्वायोगात् असत्त्वे च तथैव प्रतीतौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, सत्त्वेन प्रतीतावनवस्था च स्यात् । नच—सत्त्वे सत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्येऽपि असतः सत्त्वेन प्रतीत्या प्रवृत्त्युपपत्तेः असति प्रतीतस्य सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावपि असत्त्वसिद्धेश्च नास्माकं काप्यनुपपत्तिः, तव तु रूप्यादिसत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतौ प्रवृत्त्युपपत्तावपि प्रातिभासिकत्वानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; एवं हि तत्सत्त्वं स्वरूपतो न सत्, तुच्छत्वात्, विज्ञानतोऽपि न सत्; सत्त्वेनाप्रतीतेः । तथाच असति कथं तन्निबन्धनो व्यवहारः, नच—प्रतिभासकाले सत्त्वे स्वरूपतो निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्, पारमार्थिकत्वे निषेधप्रतियोगित्वे अनवस्थैवेत्यसत्त्वमेव रूप्यादीनामिति—वाच्यम्; प्रतीतिकाले सत्त्वेऽपि स्वरूपतो निषेधस्य पारमार्थिकत्वेन निषेधेऽप्यनवस्थापरिहारस्य चोक्तत्वात् । नापि—प्रत्येकात्मकत्वे अनुपपत्त्या उभयात्मकतैवास्त्विति—वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात्, भ्रमत्वानुपपत्तेश्च । नचानिर्वाच्यविषयत्वेन यथा तव मते

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हेतुविशेषाभावे तात्पर्यं बोध्यम् । तेन तत्तद्दीविषयत्वादिविशेषसत्त्वेऽपि न क्षतिः । स्मृतित्वेति । प्रत्यभिज्ञायां तु नव्यतार्किकमते स्मृतिरेव हेतुः, न संस्कारः, मनमते तु प्रत्यभिज्ञा तत्तांशे स्मृतिरेवेति भावः । यस्य पुरुषस्य रजतभ्रमो जातः, तस्यासद्रजते संस्कारसत्त्वात्तज्जन्ये भ्रमान्तरे तथैव भ्रानम्, नतु शशशृङ्गादेः; समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणत्वसंभवात् । यस्य तु प्रथमत एवासद्रजतभ्रमः; तस्य तत्र भ्रमे सत्यरजतसंस्कार एव हेतुः परेण वाच्यः । तत्र यद्यसत्प्रकारकत्वरूपं भ्रमत्वं कार्यतावच्छेदकं, तर्ह्यसत्त्वाविशेषात् शशशृङ्गादिकमप्युक्तभ्रमे भायादित्याशयेनाह—वस्तुतस्तित्वेति । सर्वसाधारणः सर्वासङ्गमजननयोग्यः । ननु रजतत्वावच्छिन्नं यदसन्निष्ठं प्रकारत्वं, तच्छालित्वेन न कार्यता, किंतु तदसद्व्यक्तिनिष्ठोक्तप्रकारताकत्वेन, तथाच न शशशृङ्गादे रजतभ्रमे भानापत्तिः, तत्राह—तद्विषयत्वेति । तद्व्यक्तिविषयकसंस्कारत्वेन कारणत्वे कार्यतापि तद्व्यक्तिघटितरूपेण स्यात्; समानविषयकसंस्कारभ्रमयोः कार्यकारणत्वदर्शनात् । तद्व्यक्त्यन्यसत्यविषयकसंस्कारस्य हेतुत्वे तु कार्यतावच्छेदकस्यैकैकासद्व्यक्तिघटितत्वे विनिगमकाभावः । नहि रजतत्वेन तदसद्व्यक्तिरेव भ्रमे विषयः, नान्यासद्व्यक्तिरित्यत्र त्वया मानमानेतुं शक्यम् । तथानन्तासद्व्यक्तीनां भाने गौरवमननुभवपराहतिश्च । अथ—असद्रजतनिष्ठोक्तप्रकारताकत्वं तथेति—चेन्न; असतो हि रजतत्वं सद्व्यक्तिसाधारणं सद्भा, तदसाधारणमसद्भा । आद्ये सदसतोः संबन्धयोगः, अन्ये शशविषाणादिमात्रगतधर्मघटितस्यापि तथात्वापत्तिस्तदवस्था, सत्यरजतत्वादिप्रकारकेच्छावतां भ्रमविषयेऽप्रवृत्तिश्चेति दिक् । प्रवृत्तीति । सन्निकर्षादीत्यर्थः । प्रातिभासिके प्रातिभासिकसंसृष्टतया प्रतीयमानं शुक्लाद्यधिष्ठाननिष्ठं यत् इदंत्वं व्यावहारिकसत्त्वं च, तत् उक्तसंसृष्टरूपेण न सत्, अद्वैतहानेः । नानिर्वाच्यम्; असद्वैलक्षण्यप्रयोजकस्य सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्यावश्यं वाच्यत्वेनानवस्थितेः । अन्यथात्वमित्यादि । अन्यथात्वं शुक्लादे रूप्यादिरूपत्वम् । भ्रान्तौ असद्विषयकज्ञाने । एवं हि एवं च । सत्त्वस्यासत् एव प्रतीतता भ्रान्तौ स्वीकार्यैत्यर्थः । तदप्रतीतौ इदंत्वाप्रतीतौ । इदंत्वेन रूप्यावगाहिप्रवृत्त्ययोगात् सत्त्वाप्रतीतावपि सद्विषयकत्वरूपप्रामाण्याग्रहेण प्रवृत्त्ययोगात् । इदंत्वंव्यावहारिकसत्त्वयोः शुक्लादिनिष्ठयोरपि रूप्यादिसंसृष्टतया प्रतीयमानयोः असतः शुक्तिरूप्यादेः । असत्त्वसिद्धेरिति ।

भ्रमत्वं, तथा सदसदात्मकत्वे यत् सत्त्वं तद्विषयत्वेन भ्रमत्वमस्तु; एवं तर्हि 'सच्चासच्च रजत'मित्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः । नच—असदेव रूप्यमिति बाधस्य सदैलक्षण्यविषयत्ववत् सद्रजतमिति भ्रमस्याप्यसदैलक्षण्यमेव विषयोऽस्तु, तथाच प्रातीतिकमपि सत्त्वं मास्त्विति—वाच्यम्; तथा सति बाधेन भ्रमविषयसत्त्वानपहारे बाधकत्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्, अगृहीतासत्त्वस्यापि इदं रजतं सदिति प्रतीतेश्च । नहि पुनरगृहीतसत्त्वस्यासद्रूप्यमभादिति प्रत्ययः; बाधस्य प्रसक्तिपूर्वकत्वात् । ननु—असद्विलक्षणं चेन्न बाध्येत, सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेत, अतोऽनुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वाभाव एव किं न सिध्येत्, नच—बाधाप्रतीत्योर्लाघवात् सत्त्वासत्त्वे प्रयोजके, नत्वसदैलक्षण्यसदैलक्षण्ये, गौरवादिति—वाच्यम्; बाधप्रतीत्योरेव प्रथमोपस्थितयोः प्रयोजकजिज्ञासायामसत्त्वसत्त्वयोः प्रयोजकत्वं कल्प्यते, लाघवात्, प्रथमोपस्थितत्वाच्च, नतु सद्विलक्षणत्वादेः; गौरवात्, चरमोपस्थितत्वाच्च । तदनन्तरं च भानप्रयोजकाभावादेवाभानोपपत्तौ न प्रयोजकान्तरकल्पना । नृशृङ्गादेरसत्त्वेऽपि न बाधः, प्रसक्त्यभावादिति—चेत्, मैवम्; सत्त्वं न तावत् प्रतीतिप्रयोजकम्; रूप्यस्य उभयमतेऽप्यप्रतीत्यापत्तेः, नाप्यसत्त्वं बाधप्रयोजकम्; उभयमतसिद्धासति बाधादर्शनात्, रूप्ये चासत्त्वस्याद्याप्यसिद्धेः, प्रत्युतासत्त्वेऽनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् गौरवं प्रामाणिकम् । तस्मात् सिद्धं ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वमिति ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भ्रमप्रकारत्वादिनेत्यादिः । तन्निबन्धनः तद्धेतुकः । व्यवहारः सदाकारानुगतव्यवहारप्रवृत्तिः । दत्तेत्यादि । विरोधादिनेत्यादिः । अनुपपत्तेरिति । सद्विषयकधीः प्रमैवेति भावः । दुर्निवारतेति । ननु—सत्त्वमेव भ्रमे भाति, असत्त्वं तु भ्रमविषयत्वादिना सेत्स्यतीति—चेन्न; सदसदात्मविषयकत्वस्य भ्रमत्वरूपत्वोक्तिविरोधात्, सत्त्वादिसत्त्वोक्तिदोषाणां सत्त्वादिसमुच्चयेऽपि संभवाद्विरोधाच्च । प्रथमेति । स्वाभावधीपूर्वमित्यर्थः । सदैलक्षण्यदेरप्रतीत्यादिप्रयोजकत्वे सत्त्वादेः प्रतीतिप्रयोजकत्वं वाच्यम्, तच्च न संभवतीत्याह—मैवमिति । प्रतीतिप्रयोजकं ज्ञेयत्वसमव्यापकम् । अप्रतीत्यापत्तेरिति । नच—प्रतीतिवलात् सत्त्वं साधनीयमिति—वाच्यम्; प्रतीतेः सत्त्वव्याप्यत्वासिद्धेः । बाधादर्शनादिति । नच—असदैलक्षण्यस्य त्वन्मते बाधाप्रयोजकत्ववदुपपत्तिरिति—वाच्यम्; सदसदन्यत्वस्यैव मन्मते बाध्यताप्रयोजकत्वात् । ननु—भ्रमविषयः सर्वमसत् बाध्यते, शशविषाणादिरपि तादृशः, बाध्यत्वात्तत्राह—रूप्ये चेति । तथाच बाध्यमाने रूप्यादौ असत्त्वानिश्चयादसत्त्वस्य बाध्यताप्रयोजकत्वं न कल्प्यत इति भावः । प्रामाणिकमिति । ज्ञेयत्वप्रयोजकं मिथ्यात्वरूपं सत्त्वं वाच्यम् । तथाच लाघवात् कालसंबन्धादिकमेव तदुच्यताम् । एवं बाध्यताप्रयोजकं मिथ्यात्वं कालसंबन्धादिकं वा युक्तम्, नतु सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कालसंबन्धादिकं वा; गौरवात्, कालसंबन्धादेर्ब्रह्मण्यपि सत्त्वाच्च । किंच सत्त्वासत्त्वयोः ज्ञेयत्वबाध्यताप्रयोजकत्वे तर्काभावः; अनिर्वाच्यस्याप्यपरोक्षबाधयोः संभवात्, कालसंबन्धस्य तत्त्वे त्वस्ति तर्कः; कालसंबन्धिन एवापरोक्षधीरूपप्रसक्तेर्बाधस्य च संभवात् । तस्मादसत्त्वस्याज्ञेयत्वे सत्त्वस्याबाध्यत्वे च प्रयोजकत्वं प्रामाणिकम्; तदवच्छेदकस्य कालसंबन्धादेर्लघुत्वादिति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः ॥

अथ ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

विमतं रूप्यादि सचेत् न बाध्येत असचेत् न प्रतीयेत, बाध्यते, च प्रतीयते चेति ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिरपि न रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् । आपादकं सत्त्वं युष्मदनङ्गीकारेण प्रपञ्चे ब्रह्मज्ञानबाधे आपादस्य व्यवहारकालाबाध्यत्वरूपत्वेऽपि यौक्तिकबाधवति तस्मिन् व्यभिचारेण च सत्ताजाल्यर्थक्रियाकारित्वरूपम्, आपाद्याविशेषेण बाध्यत्वेनैवानिर्वचनीयत्वसिद्धेः शेषवैयर्थ्येन चाबाध्यत्वरूपम्, तत्त्वावेदकश्रुतिवैद्ये निर्विशेषत्वादौ व्यभिचारेण स्वतःप्रकाशमाने ब्रह्मणि चिन्मात्रे वैयर्थ्येन प्रमाणासत्त्वात् ब्रह्मभिन्न एव तत्प्रवृत्त्या प्रामाणिकत्वस्य बाध्यत्वेन सह व्याख्या च प्रामाणिकत्वरूपं वा न संभवति । किंच रूप्याप्रामाणिकत्वं किं बाधज्ञाननिबन्धनम्, उत अन्यनिबन्धनम् । आद्ये बाधज्ञानस्य तत्त्वावेदकत्वेऽद्वैतहानिः, अतत्त्वावेदकत्वेऽप्रामाणिकत्वज्ञापकत्वासंभवः । द्वितीये तु प्रमाणाभावः । अपिच व्यावहारिकप्रमाणबोधितमप्यद्वैतं यथा परमार्थं, तथा तादृशं रूप्यमिति पारमार्थिकं भवतु । अद्वैतश्रुतिस्तु प्रत्यक्षप्राप्तरूप्यनिषेधानुवाद इति न दोषः । एतेन—

सत्त्वं सदसद्विलक्षणरूपमेवाऽऽपाद्यमिति केषांविन्मतमपि—प्रत्युक्तम्; प्रतियोग्यप्रसिद्धाऽऽपादकाप्रसिद्धेः । सदसद्विलक्षणत्वघटकसत्त्वेऽपि विकल्पतद्दूषणानि पुनरुहनीयानि । आपद्येऽपि अबाध्यत्वे बाधः असद्विलक्षणत्वपक्षेण बाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसानेन न त्रैकालिकबाधरूपः । बाधकज्ञानेन निवृत्तिमात्रे तु दृष्टापत्तिः । नहि ज्ञाननिवर्त्यः प्रपञ्च इति मिथ्यात्वनिरुक्तौ निरूपितम् । एतेन—सत्ताहीने सामान्यादौ व्यभिचारात् सत्तादिराहित्यम्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारेण बाध्यत्वम्, आपाद्यावशेषेण ख्यात्यभावरूपनिरुपाख्यत्वम्, स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चसाधारण्येन पारमार्थिकत्वेन निषेधस्य निर्धर्मकब्रह्मसाधारण्येन च निःस्वरूपत्वं वा नापादकमसत्त्वम् । एवं न प्रतीयेतेति किं प्रतीतिमात्रविरहो विवक्षितः, उत सत्त्वेन प्रतीतिविरहः, आहोस्वित् अपरोक्षप्रतीत्यभावः, अथवा सत्त्वेनापरोक्षप्रतीत्यभावो वा । आद्येऽसद्विलक्षणज्ञानासद्यवहारतत्तत्प्रतीतिनिरासाद्यनुपपत्तिः । द्वितीयेऽसतोऽप्युक्तन्यायेन प्रतीतिसिद्ध्या सतोऽसत्त्वेन असतोऽपि सत्त्वेन भ्रमविषयत्वात् तदभावायोगः । शशशृङ्गमस्तीति वाक्यादपि प्रतारक्रीयात् ज्ञानोत्पत्तिर्हि दृश्यते । वाक्यबोधकत्वं हि पदार्थोपस्थितिप्रयुक्तमत्रापि विद्यते एव । दास्याः पुत्र इत्यादिवाक्यादपि शाब्दबोधदर्शनाच्च योग्यताज्ञानं शाब्दबोधे कारणम् । शब्दज्ञानानुपातीति सूत्रं तु विकल्पस्याप्यनुभवानुरोधेन ज्ञानत्वाद्वस्तुशून्यत्वस्य असदुल्लेखिलरूपत्वाच्चास्माकं प्रतिकूलम् । निःस्वरूपस्य शशशृङ्गस्याप्यनिर्वाच्यत्वेऽनिर्वाच्यादनिर्वाच्यभेदं न क्षोदक्षमम् । एतेन—शशशृङ्गमस्तीति वाक्यजन्यज्ञानस्यानिर्वाच्यविषयत्वं—पराहतम् । शशशृङ्गमसदिति वाक्य इव शशशृङ्गमस्तीति वाक्येऽप्यसतः प्रतीत्यनिवारणात् । एतेन—असदेवेदमग्र आसीदिति श्रुतिरपि—व्याख्याता । ‘शशशृङ्गादिपदमपार्थकं’ इति चिन्तामण्युक्तं तु अपार्थकशब्देन अप्रत्यायकोक्तौ अनन्वयानिश्चयदशायां प्रवृत्तिपर्यन्तप्रवृत्त्यादिविरोधात् असत्प्रत्यायकपरत्वेन योजनीयम्; यौगिकशब्दानामवयवसंगत्यतिरेकेण संगत्यनपेक्षणात् सतो वाऽसतो वाऽर्थस्य बोधनसंभवात् । शशशृङ्गशब्दे संगत्यग्रहणादबोधकत्वमिति आत्मतत्त्वविवेकोक्तमत एव परास्तम् । एतेन—शशशृङ्गशब्दस्य शशो शृङ्गाभावोऽर्थ इति वार्तिकोक्तमपि—परास्तम्; शशशृङ्गं नास्तीति नास्तिपदवैयर्थ्यापत्तेश्च । अतः अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभावो विवक्षित इति तृतीयकल्पोऽपि न युक्तः । यदसत्तन्न प्रतीयते इति व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षतावश्यकत्वात्, अन्यथाऽसतोऽसत्त्वासिद्धेः । सन्मात्राविषयकमपरोक्षज्ञानमपरोक्षभ्रमो वा न सद्विषयः, सत्त्वानधिकरणविषयत्वादित्याद्यनुमानैरसतोऽपि अपरोक्षत्वसिद्धेश्च । अपरोक्षधीश्चैवमसद्विशेषस्य शुक्तिरूप्यादेरेव; रूप्यादिसंस्कारसचिवदुष्टेन्द्रियस्यैव कारणत्वात् । यथाच नृशृङ्गशशशृङ्गादीनां तत्तच्छब्दजन्यप्रतीतिविषयत्वादिना भेदः, एवं सत्यादसतोऽपि असत्त्वसद्विलक्षण्यादिना भेद इति नासत्त्वव्याघातः । अतीतादेः स्मृत्यनुभवादिकमिवासतोऽपि भाति ज्ञायते इति कर्तृकर्मादिप्रतीत्यविरोधः । अनुमित्यादेवेव यदि तद्विषयकत्वं नातीतादौ तद्विषयत्वं तर्हि, प्रकृतेऽपि समानम् । एतेन—प्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तिरपि न रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वे प्रमाणमिति—सूचितम् । यथा प्रतीतितः पूर्वमनिर्वचनीयत्ववादिनामपि रजताभावेऽपि प्रमाया एवार्थजन्यत्वादिना न रूप्यभ्रमानुपपत्तिः अनिर्वचनीयरूप्यतादात्म्येन प्रतीयमानत्वेनेदंकाराभिमुखी प्रवृत्तिश्च, एवं प्रकृतेऽपि दुष्टेन्द्रियस्याधिष्ठानसन्निकर्षादेवेदमोऽसदात्मना प्रतीत्या प्रवृत्त्युपपत्तिरिति न कोऽपि विरोधः । अपिच अनिर्दरूपे प्रातिभासिके च रूप्ये प्रतीयमानयोरिदंलव्यावहारिकत्वयोरद्वैतविरोधेन सत्त्वायोगात् असद्विलक्षणार्थं प्रातिभासिकत्वाय च पुनः सत्त्वप्रतीतिरित्यनवस्थापातेन अनिर्वाच्यत्वायोगाच्च सद्रूपमेवाङ्गीकरणीयमिति तस्यापरोक्षत्वेन कथं सत्त्वेनापरोक्षज्ञानाभावः, मन्मते तु असतः सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावपि नासत्त्वसिद्धिरिति नास्मन्मतेऽप्यनवस्थादिप्रसङ्गः । एवंच न ख्यातिबाधयोरनुपपत्तिरिति सिद्धम् । अस्तु वा तदनुपपत्तिः, एवमपि तथा सदसदात्मकत्वमेव स्यात्; निषेधसमुच्चयवद्विधिसमुच्चयस्याप्युपपत्तेः । यथा तवानिर्वाच्यविषयत्वेन भ्रमत्वम्, तथाऽस्माकमपि सदसद्विषयत्वेन तदिति न दोषः । वस्तुतस्तु—असद्विलक्षणं चेत् न बाध्येत, सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेतेति ख्यातिबाधानुपपत्तिरनिर्वाच्यत्वाभावे एव प्रमाणम् । अबाधाप्रतीत्योः प्रतियोगिविधया प्रथमोपस्थितबाधप्रतीत्योरेव प्रयोजकत्वम्, नतु अबाधाप्रतीत्योरिति लाघवस्याकिञ्चित्करत्वाच्च सत्त्वासत्त्वयोरेवाबाधाप्रतीत्युपयोगितया चिन्तनं युक्तम् । सर्वथा न रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वेऽर्थापत्तिः प्रमाणमिति सिद्धमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

सच्चेन्न बाध्येत असच्चेन्न प्रतीयेतेति ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिरपि रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् । आपादकं हि सत्त्वं प्रामाणिकत्वम् । प्रमाणत्वं च तत्त्वावेदकत्वं न निर्विशेषत्वादाविति न तत्र व्यभिचारः । स्वप्रकाशस्यापि ब्रह्मणो व्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिरासार्थं प्रमाणप्रवृत्तिरपेक्ष्यत एवेति न बाध्यत्वेन सह प्रामाणिकत्वस्य व्याप्तिः; ब्रह्मणि व्यभिचाराद्विरोधाच्च । बाध्यन्यूनसत्ताकत्वस्यैव बाधकत्वे तत्रत्वेन बाधकस्य तत्त्वावेदकत्वे नाद्वैतहानिरिति न बाधज्ञानसिद्धप्रामाणिकत्वं शुक्तिरूप्यस्येति रूप्यसद्विलक्षणत्वमवगम्यते । एतेन—अद्वैतवत् रूप्यपारमार्थिकत्वापादनं—परास्तम्; रूप्यज्ञानस्य भ्रमत्वेन स्वतःप्रामाण्याभावात् । अथवाऽबाध्यत्वमेव सत्त्वम् । तच्च त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वमिति न व्यावहारिकबा-

धाभारूपापाद्याविशेषः । अथवा—व्यवहारापाद्यतया तत्परिहारो मन्तव्यः । ख्यात्यनुपपत्तिर्बाधानुपपत्तिर्वैकैकापि अत्र प्रमाणमेव । बाध्यत्वदृश्यत्वयोरेकैकस्य एकैकदेशव्याप्तिग्रहदशायामुभयोः साफल्यत्वात् । यदि तु असतो बाध्यत्वं सतोऽप्यात्मनो दृश्यत्वं चोरीकुर्वाणस्य परस्यैकैकेन बाध्यत्वदृश्यत्वोभयसाधनासंभवः, तर्हि ख्यातिबाधोभयानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणं भवतु । सर्वथा शेषवैयर्थ्यापादनं निरालम्बनमेव । एतेन—सत्पदेन सदसद्विलक्षणं विवक्ष्यत इति केषांचिदुक्तिरपि—**व्याख्याताः**; प्रतियोगिप्रसिद्धेः पूर्वमेव साधनात् । एतेन—न बाध्येतेत्यत्र बाधोऽपि निवृत्तिः, त्रैकालिकनिषेधो वेति—**सूचितम्** । प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्यासत्यभावेनासद्विलक्षणत्वस्यैव पर्यवसानात् ॥ असच्चेदित्यन्तासत्त्वमपि पारमार्थिकत्वेन निषेधरूपम् अप्रतिपन्नोपाधिकलविशिष्टस्वरूपावच्छिन्ननिषेधप्रतियोगित्वं वेति न प्रपञ्चसाधारण्यादिकम् । न प्रतीयतेति तु प्रतीतिसामान्यविरहः, सत्त्वेनाप्रतीतिः, अपरोक्षप्रतीत्यभावः, सत्त्वेनापरोक्षप्रतीत्यभावो वा । असतस्तु ज्ञानान्यविकल्पवृत्त्यैव व्यवहारादिकम् । नहि शशविषाणामनुभवामीति प्रत्ययः, येन विकल्पस्यापि ज्ञानरूपत्वमाशङ्क्येत । तस्यापि ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञानविषयत्वाभाव एवापाद्य इति न प्रथमेऽनुपपत्तिः । शशशृङ्गमस्तीति वाक्यजन्यज्ञानस्य शशे शृङ्गारोपेण शृङ्गे शशीयत्वारोपेण वाऽनिर्वाच्यविषयविषयत्वेऽपि असत् शशशृङ्गमिलादौ तद्विषयीकरणात् न सत्त्वेन प्रतीतिविषयत्वमसतो वक्तुं शक्यते । प्रतीतिद्वयेऽपि शशशृङ्गस्य भानेऽपि प्रथमप्रतीतौ अस्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेनासतोऽनधिष्ठानत्वेन अनिर्वाच्यविषयत्वम्, द्वितीयस्यां तु असतोऽतादृशत्वेनाधिष्ठानानपेक्षणेन तद्विषयत्वमिति 'अत्यन्तासत्यमपि ह्यर्थं ज्ञानं शब्दः करोति ही'ति वचनम् अस्तिपदासमभिव्याहृतवाक्यपरतया योजनीयम् । असदेवेदमिति श्रुतिस्तु नासत् सत्त्वेन गोचरयतीति मिथ्यात्वनिरुक्तौ उपपादितम् । शशशृङ्गादिपदानामबोधकतेति । चिन्तामण्याद्युक्तिरप्यत्र एव व्याख्याता । शशशृङ्गमसदित्यादिवाक्यं तु शशे शृङ्गाभावबोधकम् । एषा च बोधकता नास्त्यादिपदसमभिव्याहारे एवेति न नास्त्यादिपदवैयर्थ्यमिति न द्वितीयेऽनुपपत्तिः । साक्षादनिषेध्यतया च प्रत्यक्षविषयत्वाभावस्यैव प्रत्यक्षविषयत्वाभावपदेन विवक्षणात् यदसत्तत् प्रतीयते इति व्याप्तिज्ञाने ज्ञानविषयतया निषेध्यतया च विषयत्वेऽपि नापादनविरोधः । अन्तःकरणवृत्त्यात्मकापरोक्षज्ञानं हि न विषयेन्द्रियसन्निकर्षं विना जायते । असत्तत्त्वेन्द्रियासन्निकर्षात् सामग्र्यभावेन न तदपरोक्षज्ञानसंभवः । यत्र ह्येन्द्रियिकं प्रत्यक्षं तत्रेन्द्रियसन्निकर्षोऽप्यपेक्षितः, अस्मन्मते तु रूपस्य साक्षिभास्यत्वादाविद्यकवृत्तिभास्यत्वात् वा नार्थसत्त्वं प्रथमतोऽपेक्षितमित्यपरोक्षप्रतीतिविषयत्वं संभवति । सन्मात्राविषयकमपरोक्षज्ञानमसद्विषयकं, सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्वादित्यनुमानं तु सामग्रीविरहेण बाधात् शब्दत्वस्योपाधित्वात्, धर्मादिकमपरोक्षधीविषयः, प्रतीतिविषयत्वादित्याभाससाम्येन चाप्रयोजकम् । अन्यथा शशशृङ्गस्यापरोक्षधीप्रसङ्गः । नृशृङ्गशशशृङ्गयोः शब्दभेदेऽपि नरि शशलारोपदशायामेकार्थबोधकत्वेन शब्दभेदेन तयोर्भेद एवेति दृष्टान्तासंप्रतिपत्त्या संप्रतिपत्तावपि संस्कारस्य साक्षात्प्रतीतानुपयोगितायां स्मृतित्वापत्त्या अर्थापत्तिद्वारैव स इति संस्कारनियामकताया अनिर्वचनीयत्वसाधकतायामुपयोगात् न तन्महिम्ना असद्विषयप्रत्यक्षोपपत्तिः । अन्यथा सत्यरजतसंस्कारस्यैव प्राथमिकभ्रमकारणत्वात् शशशृङ्गादीनामपि भानापत्तेः । एतेन—प्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमिति—**सूचितम्** ॥ इदमशस्य असद्रूप्यात्मना प्रतीतौ सामग्रीविरहस्योक्तत्वात्, नहीदंत्वं व्यावहारिकत्वं च रजते भासमानमसत् । सामग्रीविरहेण अपरोक्षत्वानुपपत्तेरिति तत्सत्त्वमेवाङ्गीकरणीयम् । सत्त्वं सदिति प्रतीतौ मेयत्वे मेयत्वान्तरवत्सत्त्वान्तरानङ्गीकारात् नानवस्थादिकम् । अन्यथा युष्मन्मतेऽपि रूप्यासत्त्वं न स्वरूपतः सत्, तुच्छत्वात्, विज्ञानतोऽपि न सत् सत्त्वेनाप्रतीतेरिति रूप्यासत्त्वसत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्यायोगादसत्त्वेन प्रतीतेरैव विवक्षणीयतयाऽनवस्थापातात् । एवंच ख्यातिबाधानुपपत्तिर्नान्यथासिद्धा । साच न सदसदात्मकत्वे प्रमाणम्, प्रपञ्चोभयानुपपत्तयः पूर्वमेव निरासात् । सच्चासच्च रजतमिति प्रतीत्यापत्त्या भ्रमलाभानुपपत्तिश्च । सत्त्वं न तावत्प्रतीतिप्रयोजकम्, मतद्वयेऽपि रूप्याप्रतीत्यापत्तेः, नाप्यसत्त्वं बाधप्रयोजकम्, उभयमतसिद्धिबाधादर्शनात्, रूप्येऽसत्त्वस्याद्याप्यसिद्धेः । प्रामाणिकं गौरवं फलमुखत्वाददोषः इति ख्यातिबाधानुपपत्तिरविद्यायनिर्वचनीयत्वे प्रमाणमिति सिद्धमिति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयतेति ख्यातिबाधौ नानिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् । तत्र सत्त्वस्य ब्रह्मनिर्विशेषत्वादौ व्यभिचारात् नातत्त्वावेदकप्रमाणवेद्यत्वरूपम् । अन्यथा ब्रह्मसविशेषत्वापातात्, उभयाप्रामाणिकत्वं तु विरुद्धम् । स्वप्रकाशे ब्रह्मणि व्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवृत्त्यर्थं प्रमाणापेक्षायां तु तादृशाप्रामाणिकत्वस्य जगतीष्टत्वात् बाध्यत्वाप्रामाणिकत्वयोः व्याप्त्यग्रहान्नाबाध्यत्वेन प्रपञ्चेऽप्रामाणिकत्वं सिध्येत् । एतेन—अबाध्यत्वं न सत्त्वमिति—**सूचितम्**; बाध्यत्वदृश्यत्वयोः एकैकस्यापि उभयसाधनत्वेन बाध्यत्वेतरभागवैयर्थ्यात् । नचेष्टापत्तिः; एकत्वोक्तिविरोधात् । प्रयोजनैक्यं तु न संभवति । बाध्यत्वमपि न निवृत्तिः; श्रुतिरूप्यादौ निवृत्त्यभावेनेष्टापत्तेः । असच्चेदित्यत्रासत्त्वमपि नाप्रतिपन्नोपाधौ स्वरूपेण निषेधप्रतिशोणित्वरूपं निःस्वरूपत्वम्; असतोऽपि प्रतिपन्नोपाधिसमर्थनेन सत्स्वरूपत्वापातात्; न प्रतीयतेति प्रतीत्यभावोऽपि न प्रतीतिमात्रविषयत्वाभावः । शब्दात्स्वर्गमनुभवामीतिवत् शब्दात् शशशृङ्गमनुभवामीत्यनुभवसत्त्वेन विकल्पस्यापि ज्ञानात्मकत्वेनासत्तः

अथ निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ।

केचित्तु—वाध्यत्वं सत्यसति चानुपपन्नमिति अनिर्वाच्यत्वमिति—आहुः । नच—अतीते तत्काला-
सति ध्वंसप्रतियोगित्ववत् सर्वदा असत्यप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्यात्, तथाच वाध्यत्वं नात्य-
न्तासत्त्वविरोधीति—वाच्यम्; कालान्तरसत्तायाः कालान्तरसत्तां प्रत्यनुपयोगेऽपि विद्यमानताद-
शायामेव घटादौ ध्वंसप्रतियोगित्वम्; ‘अनित्यो घटोऽस्ती’ति प्रतीतेः, नतु ध्वंसादिकाले घटे
ध्वंसप्रतियोगित्वम्; तदानीं घटादीनामेवाभावात् । नच तर्हि घटो न ध्वंसप्रतियोगीति प्रत्ययः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कालान्तरसत्तायाः ध्वंसप्रतियोग्यादेः स्वकालसत्तायाः । कालान्तरसत्तां ध्वंसप्रतियोगित्वादेः ध्वंसकाल-
सत्ताम् । तदानीमिति । तत्कालस्याधिकरणासंबन्धाद्ध्वंसप्रतियोगित्वानवच्छेदकत्वमिति भावः । सममिति ।
ध्वंसप्रतियोगिभेदस्योक्तधीविषयत्वात् स्यात् भ्रमः । अत्यन्ताभावविषयकत्वे तु द्वयोः प्रमात्वं घटस्योत्पत्तिकाले रूप-
स्येव नाशकाले तत्प्रतियोगित्वस्याप्यत्यन्ताभावसत्त्वादिति भावः । यत्तु ‘स्वाधिकरणक्षणे घटो न नश्यति, किंतु

परोक्षवृत्तिविषयत्वसत्त्वात् । नापि सत्त्वेन प्रतीतिविषयत्वाभावः; शशश्चक्षुर्मस्तीति वाक्येन तादृशप्रतीतेरपि जननात् । यथा-
श्वादौ गोश्चक्षुर्मस्तीत्यादिप्रत्यये विशिष्टस्यैवानुभवः, एवं शशश्चक्षुर्मस्तीत्यादावपि विशिष्टस्यैव भानं विवक्षितम् । समस्तपद-
बोध्यस्यैवेतरपदार्थान्वयौचित्यादिति न शशे श्चक्षुरोपः श्चक्षुः शशीत्यवारोपो वा तत्र विवक्षित इति अनिर्वाच्यविषयकत्वं
पराहतम् । एवंचासच्छशश्चक्षुर्मिति वाक्याच्छशश्चक्षुर्मस्तीति वाक्ये न कोऽपि विशेषः । एतेन—शशश्चक्षुपदाबोधकत्वा-
दिकं—परास्तम् । अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभावोऽपि नात्रासिद्धः; सन्मात्राविषयकमपरोक्षज्ञानमित्यनुमानेनासदपरोक्षज्ञा-
नसाधनसंभवात् । सन्निकर्षो हि न ज्ञानसामान्यसामग्री । सन्निकर्षे सति काप्यप्रमाया अदर्शनेन प्रत्युत प्रमाया एव दर्श-
नेन इन्द्रियबुभुयानुगल्यभावेन तत्त्वायोगादिति न सामग्रीविरेहेण तत्र बाधः, नापि वा शाब्दत्वमुपाधिः; अनुमितिभ्रमे
साध्याव्यापकत्वात् । एतेन—सत्त्वेनापरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभावोऽपि—निरस्तः; अन्यथा रूप्येदंत्वव्यावहारिकत्वादीना-
मनवस्थापरिहारार्थमसतां प्रतीत्युपपादनासंभवात् । सत्त्वेनाप्रतीतस्यासतोऽपि सत्त्वं प्रतीतिमात्रेण व्यवहारोपयोगि भव-
तीति न कोऽपि विरोधः । एवंच न ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसिद्धिः । सिद्धावपि ख्यातिबाधाभ्यां सदसदात्मकत्वमेव
सिद्ध्येत्, नानिर्वचनीयत्वम् । युष्माकं मते रूप्यस्यासद्विलक्षणत्वेऽपि रूप्यमसदिति बाधो यथा न भ्रमः, एवमस्मन्मते
सद्रूप्यमिति भ्रमस्याविद्यमानासद्विलक्षणविषयकत्वेन भ्रम इति न भ्रमानुपपत्तिः । वस्तुतः सदसदात्मकस्य भ्रमेऽपि तदा-
त्मतयैव भानं न नियतम्; अन्यथा रूप्यं सदसद्विलक्षणमिति भवन्मतेऽपि प्रतीत्यापत्तेः । सर्वथा न ख्यातिबाधान्यथानु-
पपत्त्या रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वसिद्धिरिति सर्वमनवद्यमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

वेदान्तानां निर्विशेषत्वादौ न परमतात्पर्यम्, किंतु शुद्धब्रह्मण्येवेति मुख्यतात्पर्यविषयत्वरूपं प्रामाणिकत्वं यदि स्यात् तर्हि
न बाध्येतेत्यापादने न व्यभिचारः । यथाऽज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयः प्रामाणिकः एवं तदवच्छेदकमपीति घटाद्यप्रमाणत्व-
निर्वचनीयत्व एवोपयुज्यते । यथाचात्रावाध्यत्वं सत्त्वं, यथा वा न शेषवैयर्थ्यं एकलोक्त्यविरोधश्च तथाऽद्वैतसिद्धावेव व्यक्त-
मिति न पिष्टपेषणार्थं प्रवर्तमहे । बाधोऽपि निवृत्तिरूपः शुक्तिरूप्यादिसाधारण एवेति मिथ्यात्वनिरुक्तौ व्यक्तम् । असत्तु
प्रतिपन्नोपाधिकत्वाभावे अप्रतिपन्नोपाधित्वस्य सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपत्वेन वा न कालासंबन्धरूपिणः स्वरूपत्वासत्त्वे कोऽपि
विरोधः । शशश्चक्षुर्मनुभवामीति तु न प्रत्यय इति विकल्पो न ज्ञानम् । ज्ञानविभाजकपातञ्जलसूत्रानुरोधेन ज्ञानत्वेऽपि विक-
ल्पान्यवृत्तिविषयत्वाभाव एवात्रापाद्य इति न दोष इत्यपि सिद्धावेव निरूपितम् । असति सत्त्वासंबन्धेन शशश्चक्षुर्मस्तीत्य-
त्रानिर्वचनीयस्यैव भानम् । नहि नृश्चक्षुर्वत् शशश्चक्षुर्मपि विशिष्टमपि सत्त्वान्वययोग्यं प्रसिद्धम्, येन तस्येव सत्त्वान्वयः
संभाव्येत । एतेन—असत् नृश्चक्षुर्मिति वाक्याच्छशश्चक्षुर्मस्तीति ज्ञानस्य विशेषोऽपि—व्याख्यातः । सन्निकर्षाभावेन तु
नासद्विषयरूपपरोक्षज्ञानमुत्पद्यते । यथाच सन्निकर्षस्य प्रत्यक्षसामान्ये हेतुत्वं तथाऽन्यत्र व्यक्तम् । एतेन—बाधासन्मा-
त्राविषयकमित्यनुमानमपि—पराहतमिति ख्यातिबाधौ नान्यथासिद्धौ । नच तथा सदसदात्मकत्वसिद्धिः; प्रमाणा-
भावात् । नहि रूप्यं सदसदात्मकमिति प्रतीतिर्विद्यत इति ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वं सिद्धमिति—
व्यवस्थापयन्ति ॥

इति ख्यातिबाधान्यथाऽनुपपत्तिनिरूपणम् ॥

स्यात्; न रूपवानित्यस्यापि प्रसङ्गात् । अथ यावत्सत्त्वं रूपसत्त्वान्नैवम्, समं प्रकृतेऽपि । वस्तुतस्तु—
ध्वंसकालेऽपि घटो ध्वस्त इति ध्वंसप्रतियोगिता घटे प्रतीयत एव । तथाचानागतवर्तमानाती-
तावस्थाः क्रमेणाविर्भावयन् तिरोभावयन्श्चानिर्वाच्यो घटः कालत्रयेऽप्यनुस्यूत इति नः सिद्धान्तः ।
एवंच सत्यनिर्वाच्यत्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमिति स्थितम् । ननु—असद्वैलक्षण्यापेक्षया
लघुत्वात् सत्त्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमस्तु, तथाचानिर्वाच्यत्वेऽपि प्रतियोगित्वादिकमनुप-
पन्नमेवेति—चेत्, सत्यम्; सत्त्वमेव यत्किञ्चित्कालावाध्यत्वरूपं तत्र प्रयोजकम्, ननु त्रिकालावा-
ध्यत्वरूपम्; गौरवात् । नच तर्हि कथं ? सति वाध्यत्वमनुपपन्नम्; न सन्मात्रे, किंतु परमार्थसती-
त्यवेहि । तथाचानिर्वाच्यतापक्षे नानुपपत्तिः । नच तर्हि कथमसद्वैलक्षण्यप्रतियोगित्वमसति कथं
वा नासदासीदिति श्रौतनिषेधः; असत्त्वं तावन्निःस्वरूपत्वम् । तद्वैलक्षण्यं सत्स्वरूपत्वं तच्च
निष्प्रतियोगिकमेव । श्रुत्यर्थोऽपि तदेव । तथाच नास्तिप्रतियोगित्वप्रतिपत्तिः । नच—शश-
शृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षत एवासति निषेधप्रतियोगित्वमनुभूयत इति—वाच्यम्; योग्यानुपलब्धिस्ता-
वदभावग्राहिका । योग्यता च शशशृङ्गादीनां दोषघटिता वाच्या । तस्यां नानुपलम्भः । अनुपलम्भे
च न सेति योग्यानुपलब्धेरसंभवात् । तदुक्तं—‘दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता । तस्यां
नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भन’ इति । नच—प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिरेव तद्ग्राहिका,
सा च प्रकृतेऽस्त्येवेति—वाच्यम्; स्तम्भात्मनि योग्यत्वप्रसिद्ध्या पिशाच उपलम्भापादनं संभ-
वति । शशशृङ्गास्तित्वं न योग्यतया व्यातम् । यद्वलात्तेन उपलम्भ आपाद्येत । तथाच नात्र प्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वानधिकरणक्षणे’ इति प्रत्ययात् घटादेः स्वाश्रयक्षणे न नाशप्रतियोगित्वमिति, तन्न, स्वानधिकरणक्षणे नश्यती-
त्यत्र हि नाशप्रतियोगित्वस्योक्तक्षणावच्छिन्नस्य न धीः, तथा सत्येतत्क्षणे नश्यति घटः एतत्क्षणोत्तरं न नश्यतीति
धीः स्यात्, किंतु उक्तक्षणोत्पत्तिकनाशप्रतियोगि घट इति धीः; उत्पत्तेरप्याख्यातार्थत्वात् । तथाचोक्तप्रतियोगित्वस्य
घटाधिकरणक्षणावच्छिन्नत्वेपि न क्षतिः । तार्किकादिरीत्येदमुक्तम् । स्वसिद्धान्तमाह—वस्तुत इति । अनिर्वाच्य-
स्तत्तदवस्थाभ्यो भेदाभेदादिना दुर्वचः । अनुस्यूत इति । संकुचितप्रसारितादिनानावस्थासु वस्त्रादिस्वरूपमिव
मृत्पिण्डकपालघटभग्नघटादिनानावस्थासु घटस्वरूपमेकमनुस्यूतम् । अतएव यन्मृदासीत् कपालं चासीत् पश्चात्तदेव
जलाहरणादियोग्यं जातमिदानीं तदेव भग्नं तदयोग्यमिति प्रत्यभिज्ञा । तस्यादवस्थासु मिथो भिन्नासु व्यक्तिस्वरूपमनु-
गतं तदभिन्नमिति भावः । किञ्चित्कालावाध्यत्वरूपं किञ्चित्कालावच्छिन्नं बाधाविषयत्वमित्यर्थः । ब्रह्मनुच्छयोर्व्या-
वृत्तये अवच्छिन्नान्तम् । ब्रह्मणि बाधाविषयत्वं न कालावच्छिन्नम्; सार्वत्रिकत्वात्, तुच्छे तु कालस्यासंबन्धादपि न
तदवच्छिन्नं तदिति भावः । समाधत्ते—न सन्मात्र इति । बाध्यत्वमनुपपन्नमित्यनुषज्यते । निःस्वरूपत्वं सत्त्वेन
प्रतीयनर्हत्वम् । सत्स्वरूपत्वं सत्त्वेन ज्ञेयत्वम् । निष्प्रतियोगिकमिति । तथाचासद्वैलक्षणादिपदमुक्तार्हत्वरूपेण
निरुद्धलक्षणाया बोधकमिति भावः । योग्यानुपलब्धिः योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिः । दोषघटिता ग्रहोपधाय-
कदोषघटिता । तदुक्तमिति । न्यायकुसुमाञ्जलाविति शेषः । ईश्वराभावग्राहकप्रमाणसद्भावादीश्वरो नास्तीति चतुर्थ-
प्रतिपत्तौ ‘योग्याऽदृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्दिः कुतस्तराम् । कायोग्यं बाध्यते शृङ्गं कानुमानमनाश्रयम् ॥’ इति
समाहितम् । अयोग्य ईश्वरे । योग्याऽदृष्टिः योग्यानुपलब्धिः । कुतः अनुपलब्धिमात्रस्याभावग्राहकत्वे त्वतीन्द्रि-
यमात्रस्याभावग्रहणेन विलोपापत्तिः । नन्वेवं शशशृङ्गादीनामभावोऽपि सिद्धेव, तत्राह—प्रतिबन्दिः कुत इति ।
शशशृङ्गे साधकाभावमात्रं न तदभावसाधकमिति नोक्तप्रतिबन्दिः, ईश्वरे तु साधकं पञ्चमस्तबके वक्ष्यते । अयोग्यं
शशशृङ्गम् । क्व बाध्यते शशशृङ्गं नास्तीत्यनुभवस्य शशे शृङ्गबाधकत्वम्, शृङ्गत्वेन योग्यतास्त्येव । ननु प्रयोजनधी-
शरीरयोर्व्यापकयोरभावाद्वाप्यस्य कर्तृत्वस्य ईश्वरेऽभावोऽनुमेयः, तत्राह—कानुमानमिति । आश्रयस्येश्वरस्य
सिद्धिहेतुतत्साधकमानेनैव तस्य कर्तृत्वादिकमपि सिद्धमिति कारिकार्थः । नन्वसत्त्वस्यात्युपनीते ईशे तदनुमेयम्, तत्राह
‘व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता । अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥’ इति । व्यावर्त्यः निरस-
नीयः कर्तृत्वादिः । तदभाववत्ता भाविकी ग्रामाणिकी । विशेष्यता आश्रयानुमानेन वाच्या । नचालीके सा
संभवति, अस्तु तर्ह्यलीकस्येशस्याभावानुमानम्, तत्राह—अभावेति । वस्तुनो न त्वलीकस्य । तथाचानुयोगित्व-
प्रतियोगित्वे नालीके स्त इति भावः । ननु अयोग्यस्याप्यनुपलब्ध्या तदभावो गृह्यताम्, तत्राह—दुष्टेत्यादि । दुष्टा
दोषसहिता शशशृङ्गाद्युपलम्भस्य सामग्री वासनाहितशब्दादिरूपकारणकूटं योग्यतेति योग्यस्यैव प्रतियोगिनोऽनुप-
लब्धिरभावग्राहिका वाच्या; अन्यथाऽतीन्द्रियमात्रस्य सर्वत्राभावसिद्ध्यापत्तेः । सा च प्रकृते नास्तीति भावः । प्रतियो-

योगिसत्त्वविरोधिनी अनुपलब्धिः । अतएव पिशाचादीनां भेदः प्रत्यक्षः, नात्यन्ताभावः । नच—
शृङ्गादिकं योग्यतया व्याप्तमेवेति—वाच्यम्; तावता हि शृङ्गाभाव एव योग्यानुपलब्धिसंभवः,
न त्वलीकाभावे । एवंच शशशृङ्गं नास्तीत्युल्लिखन्त्या अपि बुद्धेः शशो शृङ्गाभाव एव विषयः । गवि
शशशृङ्गं नास्तीत्यस्या अपि गवाधिकरणकशृङ्गे शशीयत्वाभावो विषयः, अनन्यगतिकत्वात् । अत-
एव गोरनन्वयोऽपि नास्ति; शशशृङ्गादेरुपस्थित्यभावात् न तदभावग्रह इति तार्किकरीत्या उक्त-
त्वाच्च । अतएव सप्तमे पदार्थत्वनिषेधस्यासंभवात् पदार्थाः षडेवेत्यत्र कुसृष्टिव्याख्यानम् । नच—
'घटो नास्ती' ति बुद्धेर्घटसंसर्गाभाव एव विषयः, नतु घटाभावः; पूर्वं तत्र घटस्य सत्त्वेन तदत्य-
न्ताभावस्याभावात्, प्राक्प्रध्वंसाभावयोः प्रतियोगिकाले असम्भावितत्वात्, भेदस्य घटापसरणा-
नपसरणयोस्तुल्यत्वात्, संसर्गोऽपि न तात्त्विकः; प्रतियोगिनि पूर्ववद्ध्वंसाद्यनुपपत्तेः, किंतु असन्
संसर्ग इति—वाच्यम्; उक्तमत्रोदयनाचार्यैः—यन्निबन्धना हि यत्प्रतीतिः तदभावनिबन्धनैव तदभा-
वप्रतीतिः । इहच घटास्तित्वप्रतीतिः संयोगनिबन्धना, तदभावप्रतीतिः संयोगाभावनिवन्धनैव ।
स च संयोगस्तात्त्विक एव । नच ध्वंसादिविकल्पः; घटानयनात् प्राक् संयोगप्रागभावस्य घटे
अपसारिते संयोगध्वंसस्य सत्त्वात् । नहि घटे अन्यत्र नीते तद्देशे घटसंयोगोऽस्ति, येन प्रागभावा-
दिव्याह्नयेत । तथाच संसर्गप्रतियोगिकाभावस्वीकारेऽपि नासत्प्रतियोगिकाभावसिद्धिः । वस्तु-
तस्तु—घटप्रतियोगिकत्वेनैवाभावस्यानुभवान्नायं संयोगप्रतियोगिको भवितुमर्हति । एवंच सति
कालविशेषसंसर्ग्यन्ताभावो वा उत्पादविनाशशीलः तुरीयः संसर्गाभावो वा भूतलालसंयुक्तस्य
घटस्य विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावो वा अङ्गीकरणीयः । नच—अत्राद्ये ध्वंसादेरुच्छेदः कपा-
लेऽपि घटान्यकालसंसर्गिणैवात्यन्ताभावेन तद्व्यवहारोपपत्तेरिति—वाच्यम्; 'दण्डी गौरश्चलतीति

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गिसत्त्वविरोधिनी प्रतियोगिसत्त्वेन या प्रतियोग्युपलब्धिरापादयितुं शक्यते, तदभावरूपा । तद्ग्राहिका अभाव-
ग्राहिका । एवकारात् पूर्वोक्तानुपलब्धिर्न । तथापिशाचादिभेदस्य स्तम्भादौ मनस्त्वात्यन्ताभावस्य घटादौ ग्रहे तदभावा-
दित्यर्थः । स्तम्भारमणि स्तम्भाभिन्ने स्तम्भो यदि पिशाचः स्यात्, तदोपलभ्येतेत्यापादनं तु संभवति; स्तम्भाभिन्नत्व-
स्योपलब्धिबिषयत्वरूपयोग्यत्वव्याप्यत्वात् । अत्र यदि शशशृङ्गं स्यात्, तदोपलभ्येतेत्यापादनं तु न संभवति; शश-
शृङ्गस्योक्तव्याप्यत्वाभावादिति समुदायार्थः । ननु शशशृङ्गं नास्तीत्युल्लेखानुपपत्त्या शृङ्गत्वादिना योग्यानुपलब्धिरेव
शशशृङ्गाद्यभावग्राहिका, तत्राह—एवं चेति । अतएव अप्रसिद्धस्याभावबुद्धौ विशेष्यतया विशेषणतया वा प्रत्यया-
भावादेव । सप्तमे द्रव्यादिषड्भिन्ने पदार्थाः षडेवेत्यत्र षडित्यस्योद्देश्यत्वाद्विशेष्यसङ्गतैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेद-
बोधकत्वेन द्रव्यादिषडन्येष्वभावेषु पदार्थत्वव्यवच्छेदः 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्यादौ पार्थान्येषु धनुर्धरत्वव्यवच्छेद इव
बोध्यः । स चाप्रसिद्धत्वात् बाधितत्वाच्च विशेषणतया बोद्धुमशक्यः । बाधवारणाय षडन्यभावे पदार्थत्वव्यवच्छेदे
बोधये विशेष्याप्रसिद्धिरपि । तथाच तद्देव शशशृङ्गादेरप्रसिद्धस्य नाभावविशेषणतया बोध इति भावः । कुसृ-
ष्टीति । षडेव पदार्था इत्यत्र षडन्येष्वभावेषु पदार्थत्वव्यवच्छेदे उक्ताभावः प्रतीतो न वा । आद्ये सप्तैव पदार्थाः ।
द्वितीये कथं निषेधः ? अथ—पदार्थेषु सत्त्वं नेत्यर्थ इति—चेन्न; घटादिषु सत्त्वसत्त्वात् । अथ—द्रव्यत्वादिषड-
धर्मेषु सत्त्वं नास्तीत्यर्थ इति—चेन्न; षडन्यभावसत्त्वेऽपि तत्संभवात् । अथ—भावानां द्रव्यत्वादिषट्परित्यागो
नेत्यर्थ इति—चेन्न; षट्सु तस्येष्टत्वात् । षडन्यभावस्याप्रसिद्धेरित्याद्याशङ्का भावत्वावच्छेदेन द्रव्यत्वादिधर्माणां
षण्णामयोगसमुदायव्यवच्छेदो बोध्यते । स च समुदायोऽभावेषु प्रसिद्धः । तथाचायोगव्यवच्छेदबोधः । अथवा—
द्रव्यादिषडन्ययोगव्यवच्छेदादन्ययोगव्यवच्छेदबोध इति लीलावत्यां व्याख्यातम् । असंभावितत्वादिति । घटो
नास्तीत्यादौ घटसामान्यस्य ध्वंसः प्रागभावो वा विषयो वाच्यः । तत्र आद्यो महाप्रलयान्यकालेष्वप्रसिद्धः । द्विती-
यस्तु सर्वदैवाप्रसिद्ध इति भावः । यद्यपि घटसंयोगादिसामान्यध्वंसः प्रागभावो वा न महाप्रलयान्यकाले प्रसिद्धः;
तथापि घटसंयोगाः यावन्तः तत्प्रतियोगिकाः संसर्गाभावा उक्तधीविषया इत्याशयेनाह—घटानयनादित्यादि ।
अनुभवस्यादरे अभावकूटमपि न विषयः, किंतु सामान्याभाव इत्याशयेनाह—एवंचेति । विशेषसंसर्गां विशेषा-
वच्छिन्नाश्रयताकः । आद्ये इति । तृतीये तच्चद्विशेषणसंसर्गाभावकूटप्रयुक्तस्य संसर्गाभावकूटस्याभानमित्युक्तौ तदु-
पपत्तिस्तद्व्यक्तिध्वंसमादायैवेति न तदन्यथासिद्धिः, द्वितीये तु यद्यप्युत्पत्त्यादिमता सामान्याभावेन तद्व्यक्तिनाश-
स्यान्यथासिद्धिः; तथाप्यत एवेत्यादिना तस्य समाधेयत्वात् । आद्य एव समयविशेष एव । संसर्गश्चेत्यादेः कथनी-
यत्वादाद्य इत्येवोक्तम् । घटान्यकालेति । तत्कालावच्छेदेन घटवतः कालादन्यकालेत्यर्थः । विलक्षणेति । नास्ती-

विलक्षणव्यवहारत्रये द्रव्यगुणकर्माणि विलक्षणानि हेतुर्यथा, तथात्रापि नास्ति नष्टो भविष्यतीति विलक्षणव्यवहारत्रयस्यैकेनात्यन्ताभावेनोपपादयितुमशक्यत्वाद्विलक्षणाभावत्रयसिद्धिः । समयविशेष-संसर्गश्च तत्समयावच्छिन्नं स्वरूपमेव संयोगध्वंसादिर्वा । नच—संयोगादिध्वंसादिनैवावश्य-केन तर्हि प्रतीत्युपपत्तिरिति—वाच्यम्; घटप्रतियोगिकत्वेनानुभवानुपपत्तेरुक्तत्वात् । नच—कपा-लेऽपि घटध्वंसादिः संबन्धस्थानीयोऽस्तु, एक एवात्यन्ताभावो व्यवहारयत्विति—वाच्यम्; विलक्षण-व्यवहारत्रयानुपपत्त्या दत्तोत्तरत्वात् । अतएव द्वितीयतृतीयपक्षावपि क्षोदसहो; घटप्रतियोगिक-त्वानुभवस्यान्यथा उपपादयितुमशक्यत्वात् । एतेन—दण्डसत्त्वेऽपि पुरुषासत्त्वाद्दण्ड्यभावदर्शना-दस्तु तत्र विशिष्टाभावः, नचात्र संयोगसत्त्वे संयोग्यभावो दृष्टः, तथाच न विशिष्टस्याभावः, किंतु विशेषणस्यैवेति—निरस्तम्; संयोगिप्रतियोगिकत्वेनानुभवात् । संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे शरणमिति । तस्मान्निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्त्यापि अनिर्वाच्यत्वसिद्धिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ निषेध-प्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यत्रात्यन्ताभावत्वं नष्ट इत्यत्र ध्वंसत्वं भविष्यतीत्यत्र प्रागभावत्वमभावांशे प्रकारः । तानि च सखण्डा अखण्डा वोपाधय इत्यन्यदिति भावः । स्वरूपं भूतलाद्याश्रयरूपम् आश्रयत्वम् । तत्तदधिकरणस्य स्वस्मिन् संबन्धत्वासंभवा-दाह—संयोगध्वंसादिर्वेति । आदिना संयोगप्रागभावादिसंग्रहः । तथाच घटस्य संयोगनाशोत्तरं पुनर्नयने नास्तीति व्यवहारस्य नापत्तिः; तत्र तत्संयोगप्रागभावकालीनस्य तत्तत्संयोगध्वंसस्यैव संबन्धत्वात् । प्रतियोगिकत्वेनेति । यत्राधिकरणे प्रतियोगि न संयुक्तं तत्र नान्यपक्ष इति बोध्यम् । यत्तु घटो नास्तीति धीर्न संयोगमात्रनिबन्धना, किंतु यत्र नास्तीति धीः, तस्य घटसंयोगनिबन्धना । स च संयोगः असन्नेवेति, तन्न; यत्र कादाचित्को घटसंयोगः, तत्रोक्तधीः उक्तसंयोगनिबन्धनैव, अन्यत्र उक्तधीस्थलेऽपि न दोषः । यन्निबन्धनेत्याचार्योक्तेर्ह्ययमर्थः—प्रतियोग्यनु-योगिनोर्येन संबन्धेन रूपेण चाभावाविषयकधीविषयत्वं, तेन संबन्धेन रूपेण चाभावधीविषयत्वम् । तथाच प्रति-योगितानुयोगितावच्छेदकरूपेण प्रसिद्धिरभावबुद्ध्याऽपेक्ष्यते, नतु तदधिकरणीयतत्तत्संबन्धविशिष्टप्रतियोगित्वादिना । तदुक्तं—‘सद्भावाभावो निरूप्यत’ इति । एवंच घटसंयोगित्वभूतलत्वाभ्यां सतोः प्रसिद्धिः प्रकृतेऽस्त्येव ॥ इति लघुचन्द्रिकायां निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ॥

अथ निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिः ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिरपि नानिर्वचनीयत्वे प्रमाणम्; असत्त्वस्यात्यन्तिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपत्वेन तेन रूप्याद्यनिर्व-चनीयत्वसाधनासंभवात् । प्रागभावादिसंयोगासत् एव घटादेस्तत्प्रतियोगित्वमिति धर्मिसत्त्वानपेक्षमेव प्रतियोगित्व-मिति तस्य न रूपादिसाम्यं युक्तिसहम् । असद्वैलक्षण्याद्यपेक्षया लघुभूतस्य सत्त्वस्यैव प्रतियोगित्वप्रयोजकत्वेन तेन सत्त्वमेव सिद्धेनानिर्वचनीयत्वम् । अतएवासद्वैलक्षण्ये नासदासीदिति श्रुतौ चासत्तः प्रतियोगित्वनिर्देश उपपद्यते । शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षमपि असत्प्रतियोगित्व एव प्रमाणम्, अन्यथा तदनुपपत्तेः । प्रतियोगित्वविरोध्यनुपलब्धिरेव ह्यभावप्राहिका, सा च प्रकृतेऽप्यविशिष्टा । नहि प्रतियोगिप्रत्यक्षत्वमभावप्रत्यक्षत्वे तन्नम्; स्तम्भे पिशाचान्योन्याभावाप्रत्यक्षत्वापत्तेः, जलपर-माणौ पृथिवीत्वाभावप्रत्यक्षप्रसङ्गाच्च । शशे च शृङ्गानुपलब्धिर्महत्त्वे सत्युद्भूतरूपशृङ्गसत्त्वविरोधिनीति शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षमप्युपपन्नमेव । एतेन—शशशृङ्गं नास्तीत्यस्य शशे शृङ्गाभावविषयकत्वमपि—परास्तम् । किंच घटो नास्ती-त्यादौ प्रतियोगिकाले तत्प्रागभावध्वंससंयोगविषयत्वेन पूर्वं तत्र घटसत्त्वेन तदत्यन्ताभावस्याप्यविषयत्वात्तत्संसर्गाभाव एव विषय इति संसर्ग एवासत्, नतु घट इति निषेधप्रतियोगित्वेन रूप्यादिष्वनिर्वचनीयत्वसाधनमनुपपन्नमेव । संसर्गतात्त्विकत्वं तु तस्य भूतत्वे ध्वंसः, भावित्वे प्रागभावः, कदाप्यभावेऽत्यन्ताभाव इति नेत्यसतोऽपि प्रतियोगित्वमवर्जनीयमेव संभवति । एतेन—घटाल्यन्ताभावस्य भूतत्वेन संबन्धश्च न तत्संयोगध्वंसादिः अथवान्योन्यभाव इति वर्धमानोक्तमपि—परास्तम्; आवश्यकसंयोगध्वंसादिनैवाभावप्रतीत्युपपत्तेः, संयोगस्यैव निषेध्यकोटिलादिष्टसिद्धेः । दण्डे सत्यपि पुरुषाभावेन दण्ड्य-भाववत् भूतलसंयोगे सत्यपि घटाभावेन संयुक्ताभावादर्शनेन विशिष्टाभावान्तरकल्पनायोगाच्चेति निषेधप्रतियोगित्वं संसर्गा-देरसत् एवेति न तेनानिर्वचनीयत्वसिद्धिरिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिरपि रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् । विद्यमानतादशायामेव घटादीनां ध्वंसप्रतियोगितया भानम्; घटोऽनित्य इत्यादिप्रतीतेः, नतु ध्वंसादिकाले घटे तत्प्रतियोगित्वम्; तदानीं घटाद्यभावात् । नच तावता घटो ध्वंसाप्रतियोगीति प्रत्ययापत्तिः; अरूपवानित्यपि प्रत्ययापत्तेः । यावत्सत्त्वं रूपवत्त्वेन यथा न तदापत्तिरेवमत्रापीति मन्तव्यम् । **वस्तुतस्तु**—अनागताद्यवस्थाः प्रादुर्भावयतः तिरोभावयतश्च कालत्रयेऽप्यनुस्यूतत्वाद्घटे ध्वंसप्रतियोगिताप्रत्ययोऽपि नानुपपन्नः । एवं च सतोऽसतो वा ध्वंसप्रतियोगित्वाभावात्तदन्यथाऽनुपपत्त्या रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वम् । **एतेन**—असद्वैलक्षण्यापेक्षया लघुभूतत्वात् सत्त्वमेव प्रतियोगित्वप्रयोजकमिति—**परास्तम्** । तत्र सत्त्वं किं किञ्चित्कालावाध्यत्व-रूपम्, उत त्रिकालावाध्यत्वरूपम्, **आद्ये** इष्टापत्तिः । तद्वि त्रिकालावाध्यत्वेऽनुपपन्नं सत् सद्भिन्नत्वे गमकम् । **द्वितीये** गौरवम् । असत्त्वं तावन्निःस्वरूपत्वं, तद्वैलक्षण्यं च निष्प्रतियोगिकं सत्त्वरूपत्वमिति नासदासीदिति श्रुत्यर्थोऽपि नानुपपन्न इत्यसति नास्ति प्रतियोगित्वप्रतिपत्तिः, शशशृङ्गं नास्तीति तु न प्रत्यक्षम् । योग्यानुपलब्धेरेव तत्कारणत्वात्, दुष्टायामुपलम्भ-सामर्थ्यां सत्यां शृङ्गोपलम्भस्यैव सत्त्वान्न तदनुपलम्भः । प्रतियोगिसत्त्वविरोधिन्प्राप्यनुपलब्ध्या शृङ्गाभाव एव शशे प्रत्यक्षः स्यात्, नत्वसत्तशशशृङ्गाभाव इत्यगत्या शशशृङ्गाभावविषयकत्वमेवोक्तप्रत्यक्षस्याङ्गीकरणीयम् । **एतेन**—घटो नास्तीति बुद्धिरपि—**व्याख्याता**; यन्निबन्धना यत्प्रतीतिस्तदभावनिबन्धनैव तदभावप्रतीतिरिति घटास्तिबुद्धेः तत्संयोगनिबन्धनत्वात्तदभावस्यैव तत्र विषयत्वम् । सच संयोगस्तात्त्विक एवेति नासत्प्रतियोगित्वसिद्धिः । **परमार्थतस्तु**—घटप्रति-योगिको विशिष्टाभाव एवात्र विषयः; अनुभवानुसारात् । यथाचात्र न प्रागभावध्वंसादिसिद्ध्यनुपपत्तिस्तथा सिद्धौ विस्तरः । सर्वथाचानुभवशरणानां प्रामाणिकानां न कुत्राप्यसत्प्रतियोगित्वानुभव इति रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वं सिद्धमिति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

प्रागभावादप्रतियोगित्वं घटादीनाम् अङ्गीकरणीयमेव; अन्यथाऽनुभवविरोधात् । नच तेषां कालत्रयानुस्यूतत्वम् । घटे नष्टे घटान्तरादानप्रवृत्तिर्हि तदाऽनुपपन्ना स्यात् । अनिर्वाच्ये बाधानुपपत्त्या सत्त्वायोगात् सत्त्वस्य प्रतियोगित्वप्रयोजकत्वे न रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वसिद्धिरिति निषेधप्रतियोगित्वं नानिर्वचनीयत्वप्रयोजकम् । सामान्याभावग्राहकसामर्थ्या एव विशेषाभाव-ग्राहकत्वात् शृङ्गाभावग्राहकसामर्थ्यैव शशशृङ्गाभावोऽपि प्रत्यक्ष इति शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षमप्यसत्प्रतियोगित्वे प्रमाणम् । **एतेन**—भूतले घटो नास्तीति बुद्धिरपि—**व्याख्याता** । नबुद्धेखिना हि प्रत्ययेन भूतलघटसंयोगो विषयीक्रियते नतु संयोगमात्रमिति तस्य घटापहरणानन्तरमसत्त्वमित्यसत्प्रतियोगित्वे तदपि हि प्रत्यक्षं प्रमाणम् । **एतेन**—विशिष्टाभाव-विषयत्वमपि—**परास्तम्**; संयोगाभावविषयत्वेनैवोपपत्तेरित्यसत् एव निषेधप्रतियोगित्वाच्च तदन्यथाऽनुपपत्त्या रूप्याद्य-निर्वचनीयत्वमिति—**प्रतिपादयन्ति** ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

घटादीनामवस्थाभेदेन कालत्रयानुस्यूतत्वेऽपि न घटे नष्टे उदकाहरणार्थं घटान्तरादानप्रवृत्त्यनुपपत्तिः; अवस्थाविशेष-स्यैव कार्यविशेषप्रयोजकत्वात् । अतएव हि—यन्मृदासीत्कपालं चासीत् पश्चात्तदेव जलाहरणादियोग्यं जातमिदानीं भ्रम-मिति प्रत्यभिज्ञोपपद्यते । बाध्यस्यापि प्रातिभासिकं सत्त्वं विद्यत एवेति सत्त्वस्य प्रतियोगित्वप्रयोजकत्वेऽप्यनिर्वचनीयत्वा-विघातः । अप्रसिद्धस्य शशशृङ्गस्य विशेषणतया विशेष्यतया वा प्रतीत्यभावात् शशशृङ्गस्यासतः शृङ्गत्वव्याप्यधर्माभावेन शृङ्गविशेषत्वाभावाच्च न सामान्याभावग्राहकसामर्थ्यामपि शशशृङ्गाभावप्रत्यक्षोपपत्तिरित्यसत्प्रतियोगित्वे न शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । **एतेन**—घटो नास्तीति प्रत्ययोऽपि—**व्याख्यातः**; संयोगत्वावच्छिन्नाभावविषयत्वेनोपपत्तेः, प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन भावाभावबुद्ध्योः घटोऽस्तिनास्तीत्याकारयोः संयोगमात्रविषयत्वात् । **एतेन**—विशिष्टाभावस्य घटप्रतियोगिकस्याभानमनुभवानुरोधात्साध्विति—**सूचितमिति** सर्वमनवद्यमिति—**विवेचयन्ति** ॥

इति रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वे निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिः ।

अथ श्रुत्यर्थापत्त्युपपत्तिः ।

‘नासदासीन्नो सदासी’ दित्यादिश्रुतयोऽप्यनिर्वाच्यत्वे प्रमाणम् । नच—अत्र सदसच्छब्दौ पञ्चभूतपरौ, ‘न सत्तन्नासदुच्यत’ इत्यादौ भूते प्रयोगात्, ‘यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चेत्यस’दिति श्रुतेश्चेति—वाच्यम्; प्रसिद्धपरत्वे संभवति अप्रसिद्धपरताया अयुक्तत्वात्, नहि भूते सदसच्छब्दौ प्रसिद्धौ, किंतु पारमार्थिकापारमार्थिकयोरेव । नच ‘नासदासी’दित्यत्राप्रसिद्ध-प्रतिषेधापत्तिः; ‘नो सदासी’दित्यनेन सद्भिन्नत्वे उक्ते असत्त्वस्यापि प्रसक्तेः । नच तदानीमित्यस्य वैयर्थ्यम्; ‘नासीद्रजो नो व्योमे’ति रजोनिषेधादावेव तदन्वयात् । नहि रजःप्रभृतीनां सर्वदा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नासदासीदिति । ‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्म-
गम्भः किमासीद्रहन् गभीरम् । न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया
तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास । तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छेनाभवपिहितं
यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् । कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासी’दित्यादिसूक्तम् । पारमार्थि-
कयोरिति । भूतेषु शास्त्रीयप्रसिद्धिमात्रम्, सत्यालीकयोस्तु शास्त्रीया लौकिकी च प्रसिद्धिः; अतस्तयोर्बलवत्त्वम् ।
अतएव माधवीयभाष्ये व्याख्यातम् । प्रलये स्थितं कारणस्वरूपमाह—नासदित्यादि । तदानीं प्रलये असन्नि-
रूपाख्यं नासीत्; तस्याकरणत्वात् । नापि सत् सत्त्वेन निर्वाच्यमासीत्; सद्रूपस्य तद्विलक्षणजगत्परिणामित्वासंभ-
वात् । तथाचानिर्वाच्यमासीदित्यर्थः । रज इति । रजांसि लोक इति यास्कः । एकवचनं तु सामान्यापेक्षम् । व्योमा-
देवैक्ष्यमाणत्वात् तदन्यलोकास्तदानीं नासीरन्नित्यर्थः । तथा व्योम अन्तरिक्षलोकः परः परस्तादुपरि बुलोकादिसत्य-
लोकान्तं च तदानीं नासीत् । एवं चतुर्दशभुवनगर्भब्रह्माण्डं निषिध्य तदावारकत्वेन पुराणप्रसिद्धानि भूतानि निषे-
धति—किमावरीव इति । आवृणोतेर्यङ्मुलुगन्ताच्छन्दसि लटि तिपि रूपमावरीव इति । किमावरीणीयं भूतान्या-
वृण्वन्तु, आवरणीयाभावात्, तदा नावारकाणि भूतान्यासन्नित्यर्थः । कुह कुत्र देशे स्थित्वा भूतमावृणुयात्तादृशदेशोऽपि
तदा नेत्यर्थः । कस्य शर्मन् शर्मणे भोगाय आवृणुयात् भोक्तरोऽप्युपाधिमनोलयात्तदा नासन्नित्यर्थः । ‘आपो वा
इदमग्रे सलिलमासीद’ति श्रुत्या अम्भःसत्त्वभ्रमं निरस्यति—अम्भः किमासीदिति । प्रलये संहर्ता मृत्युः स्यात्त-
त्राह—न मृत्युरिति । तर्हि अमृतं जीवनं स्यात्तत्राह—अमृतमिति । न रात्र्या इति । रात्र्या अह्नाश्च प्रकेतः
प्रज्ञानं नासीत्; चन्द्रसूर्याभावात् । आनीदित्यादि । तत् सर्ववेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्म आनीत् जीवितवत् । प्राणासंबन्धात्
कथं जीवनम्? तत्राह—अवातमिति । आसीदित्यर्थकमानीदित्युक्तमिति भावः । स्वधया मायया सहितम् ।
स्वस्मिन् धार्यते इति स्वधा । स्वधेत्यनेन सहार्थकर्तृतीयया च मायाया ईश्वरानाश्रितत्वमीश्वरेक्षणानपेक्षत्वं च साङ्ख्योक्तं
वार्यते । एकमद्वितीयं सर्वदा द्वैतशून्यम् । एवंच स्वधासाहित्योक्तिर्व्यवहारतः, न परमार्थत इति बोध्यम् । ननु यदि
स्वधासहितं ब्रह्म तदास्ति, तदा न रज इत्याद्यसंगतम्, नहि मायातः अन्यद्रजआदिकम्, तत्राह—तस्माद्धान्य-
दिति । तस्मात् स्वधासहितब्रह्मणोऽन्यत् परः सृष्टिकाले जायमानं नास तदा न बभूव । हशब्देनानिर्वाच्यस्य कार्य-
जातस्य प्रसिद्धिं द्योतयति । ननु—यदि तदा जगन्नासीत्, कथं तर्हि जनक्रियाकर्तृत्वम्? कारकविशेषस्यैव कर्तृत्वात्,
क्रियानिमित्तत्वं च कारकत्वम्, पूर्ववर्तिन एव च निमित्तत्वम्, तत्राह—तम आसीत्तमसा गूढमग्रे इति ।
तमसा अन्धकारवत् भावरूपेणात्मस्वरूपावारकेणाज्ञानेन । गूढं संस्काररूपापत्त्या स्ववशीकृतम् । तमः अज्ञाना-
भिन्नं जगत्तदानीमप्यासीदित्यर्थः । तथाचाविर्भावः स्थूलतापत्तिरूपः उत्पत्तिः । संस्कारावास्थैव नाशः । एतेनास-
त्कार्यवादिनो निरस्ताः । ननु तमसा गूढं तम इति विरुद्धम्, तत्राह—अप्रकेतं तमसोऽत्यन्तभिन्नत्वेनाज्ञायमानं
उक्तभेदे प्रमाणशून्यमिति यावत् । अतएव तमसि सलिलं सङ्गतं तादात्म्येन संबद्धम् । ‘षल गता’विति धातोर्गोणादिक
इलप्रत्ययः । सर्वं जगत्तदाप्यासीत् अस्तेर्लङि तिपि ‘बहुलं छन्दसी’ति इडभावे ‘हल्ङ्याभ्य’ इति तिलोपे ‘तिप्यनस्ते’-
रिति दकाराभावः । यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमा । यथा नीरं क्षीरयुक्तमेकतापन्नं, तथा कारणगतं जगदित्यर्थः ।
तुच्छेन सद्विलक्षणेन अपिहितं निगूढम् एकं संस्काररूपैकावस्थापन्नम्, आभु, आसंमतात् भवनयुक्तं यज्जगदासीत्;
तत् तपसः ईश्वरालोचनस्य महिम्ना स्थूलविचित्ररूपेणाजायत आविर्बभूव । अथवा—अपिहितम् आवृतम् एकम्
अद्वितीयम् आभु विभु संस्कारतापन्नजगदनुस्यूतं यत् ब्रह्म आसीदित्यर्थः । प्रसक्तेरिति । सद्भिन्नत्वेनैवासत्त्वस्यानु-
मानसंभवादिति भावः । नच—एवं शास्त्रमूलकप्राप्तियुक्तस्य शास्त्रेणैव निषेधे विकल्पापत्तिरिति—वाच्यम्; अननुष्ठेये
विकल्पासंभवात् । नहि अयं घटो न घट इत्यादौ विकल्पः; विरोधात् । वैयर्थ्यमिति । नासदासीदित्यत्रान्वये

अनस्तित्वम् । नच 'नो सदासी'दित्यनेनैव रजःप्रभृतिनिषेधे सिद्धे पृथङ्निषेधानुपपत्तिः; 'नो सदासी' दित्यत्र सच्छब्दस्य परमार्थसत्परत्वेन व्यावहारिकसतो रजःप्रभृतेर्निषेधस्य ततः प्राप्त्यभावात्, 'आनीदवातंस्वधया तदेक'मिति वाक्यशेषात् ब्रह्मणोऽपि अनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः 'तम आसी'-दिति वाक्यात् अविद्याया इवेति चेत्, श्रुत्यन्तराविरोधाय सदेकं ब्रह्म सदासीन्न सदसद्विलक्षणमित्यर्थपर्यवसानात् ॥ इति अद्वैतसिद्धौ नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

इत्यादिः । रजोनिषेधादावेव, न त्वसदादिनिषेधे । वस्तुतो नासदासीन्नो सदासीदित्यस्य सदसद्विज्ञमासीदित्यर्थः । तस्य च वाक्यस्य तम आसीदित्यनेनैकवाक्यतया सदसद्विज्ञं तम आसीदित्यर्थपर्यवसानसंभवात्तदेकवाक्यतार्थमेव नासदित्यादौ तदानीमित्यन्वयः आवश्यकः । नचः पर्युदासार्थकत्वास्वीकारे तु सन्नासीदित्यत्र बाधः सत आत्मनः सदा सत्त्वात् । अथ—आनीदवातमित्यनेनैकवाक्यतया आत्मान्यसन्नासीदित्यर्थ इति—चेन्न; प्रतियोग्यप्रसिद्धेः । सदसतोर्निषेधसहकृतेन तम आसीदित्यनेन सदसद्विज्ञमासीदित्यस्यार्थाह्लाभः स्यात् । पर्युदासपक्षे तु तस्य शाब्दत्वमेवेति स एव युक्तः; 'आग्नेयं चतुर्धा करोति पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इति वाक्ययोरिवोपसंहारेणैव विवक्षितार्थसिद्धेः । अत एव रजोनिषेधादावेव तदन्वयादिति मूले उक्तम् । तत्र ह्ययं भावः—यदि सदसतोर्निषेधेन शाब्देन तमसि सदसदन्यत्वमार्थिकमुच्यते, तदा नासदासीदित्यादौ तदानीमित्यस्यान्वयः आवश्यकः । नहि कदाचित्सदसतोर्निषेधेन सहकृता कालान्तरे तमसः सत्त्वोक्तिसमसः सदसदन्यत्वं विना अनुपपन्ना, किंत्वेकदा तदुभयोक्तिस्तद्विना अनुपपन्ना । यदि तु सदसदन्यत्वं शाब्दं, तदा रजआदिनिषेध एव तदन्वयः, नतु सदसन्निषेधः; तस्य नञा प्रकृते बोधनाभावादिति । अतएव मूले सद्भिन्नत्वे उक्ते इत्युक्तम् । नजोक्तेत्यर्थः । व्यावहारिकसतः सत्त्वेन व्यवहार्यस्य । एतेन—प्रातीतिकस्यापि पृथगुक्त्यापत्तिरिति—परास्तम् । रजआदिपदस्य प्रातीतिकादिघटितलोकपरत्वेन व्याख्यातत्वात् । शङ्कते—आनीदित्यादि । यदा तम आसीदित्यादिवाक्यशेषादविद्यायास्तदात्मकार्यसामान्यस्य च सदसदन्यत्वं लभ्यते । तमःपदस्याविद्यात्मकार्यकत्वादविद्यात्मके आसीदित्यस्यान्वयात्, अविद्यायामपि सदन्वयादर्थान्तस्यामपि सत्त्वलाभसंभवाच्च, तदा आनीदित्यस्यासीदित्यर्थकतया आनीदित्याद्युपसंहारेण ब्रह्मणोऽपि सदसदन्यत्वं स्यादिति भावः । चेदिति । नेति शेषः । तेन पर्यवसानादिति हेतोर्नासङ्गतिः । श्रुत्यन्तरेति । 'सदेव सोम्ये'ति 'सत्यं ज्ञान'-मित्यादिश्रुतीत्यर्थः । न सदसद्विलक्षणमासीदिति । 'नासदासी'दित्यादिना सदसद्विलक्षणस्य प्रलये व्यवहारतः सत्त्वोक्तावपि आनीदित्यत्र विद्यमानैकपदेन 'एकमेवाद्वितीय'मित्याद्येकवाक्यतापन्नेन सदसद्विलक्षणस्य द्वितीयसामान्य-स्याभावस्तदानीं लभ्यत इति भावः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः ॥

अथ श्रुत्यर्थापच्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

नापि नासदासीदिति श्रुत्यर्थानुपपत्तिरनिर्वचनीयत्वे प्रमाणम् । तत्र हि सदसच्छब्दौ यदन्यद्वयोरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चासदिति श्रुत्यनुसारेण पञ्चभूतपरौ । प्रसिद्धपरत्वेऽप्रसक्तप्रतिषेधापातात्; तदानीमित्यस्य नासदासीदित्यनेनैव सिद्धत्वेन आसीद्रज इत्यस्य च वैयर्थ्याच्च । अन्यथा आनीदवातमिति वाक्यशेषात् ब्रह्मानिर्वाच्यं स्यादिति—वर्णयन्ति ।

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

नासदासीदिति श्रुतिरप्यनिर्वाच्यत्वे प्रमाणम् । तत्र हि सदसच्छब्दौ प्रसिद्धपरौ । नो सदासीदित्यनेन प्रपञ्चस्य सद्भिन्नत्वे उक्ते प्रसक्तस्यासत्त्वस्य निषेधार्थमावश्यकनासीद्रजो नो व्योमेति रजःप्रभृतिनिषेध एवान्वयान्न कस्यापि वैयर्थ्यम् । आनीदवातमिति वाक्यशेषात् ब्रह्मणस्तु नानिर्वाच्यत्वम्; श्रुत्यन्तरविरोधादिति न कोऽपि दोष इति—प्रतिपादयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नो सदिति श्रुत्या सद्भिन्नत्वे निषिद्धे तया प्रसाधितस्यासत्त्वस्य श्रुत्या निषेधायोगः । अतएव हि षोडशिग्रहणविकल्पः, न तौ पशौ करोतीति निषेधान्यथानुपपत्त्या पशावाज्यभागविकल्पश्चोपपद्यते इति सद्भिन्नत्वनिषेधस्यासत्त्वाप्रसङ्गकत्वादप्रसक्त-प्रतिषेधापत्त्या सदसच्छब्दौ पञ्चभूतपरावेव, अन्यथा तदानीमित्यस्य नासीद्रज इति वाक्यस्य च वैयर्थ्यापत्तेः ।

अथासत्ख्यातिभङ्गः ॥

तस्मादनिर्वाच्यख्यातिरेव । प्रमाणसंभवात्, न त्वसदन्यथाख्यातिः; प्रमाणविरहात् । नचास-
द्धाने असदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षं मानम्; अनन्तरोक्तवाधकेन सद्बैलक्षण्यविषयकत्वात्;
नचेदं प्रत्यक्षमपि, त्वयापि हि असदात्मनः सतः प्रत्यक्षत्वमङ्गीक्रियते । नचात्र पूर्वकालीनभान-
विषये रजते असत्त्वमिति ज्ञानम् असदात्मना सद्विषयीकरोति । नच विमतमसत्, सत्त्वानधि-
करणत्वात्, शशशृङ्गवत्, विमता अप्रमा असद्विषयिणी, सत्त्वानधिकरणविषयकत्वात्, सन्मात्रा-
विषयकत्वे सति सविषयकत्वात् । नृशृङ्गमसदित्यादिवाक्याजन्यपरोक्षवदित्यनुमानं तत्र मानम् ।
पूर्वाक्तयुक्त्या तत्र बाधात्, प्रथमानुमाने शब्दैकसमधिगम्यत्वस्य द्वितीयतृतीययोः परोक्षत्वस्यो-
पाधित्वाच्च । किंचासत्ख्यात्यङ्गीकारेण बौद्धमतप्रवेशापत्तिः । नच सदुपरागो विशेषः; तथाप्यसत्ख्या-
त्यापत्तेः तदवस्थत्वात् । नच—तार्किकैरपि असतः संसर्गस्य भानाङ्गीकारेण तेषामप्येवमापाद्येतेति—
वाच्यम्; तथाङ्गीकारे तेषामपि तथैव । वस्तुतस्तु—तेषामपि सत्संसर्गभान एव निर्भरता । शुक्ति-
रूप्यं तत्तादात्म्यं चेत्यतोऽन्यस्य रजतभ्रमे अविषयत्वात्, तेषां च सत्यत्वात्, नच तर्हि भ्रमत्वा-
नुपपत्तिः; व्यधिकरणप्रकारकत्वेन तत्त्वात् । नच—रजतप्रतियोगिकसंसर्गस्य शुक्त्यनिष्ठत्वादसत्सं-
सर्गभानं विना व्यधिकरणप्रकारकत्वमेव न स्यादिति—वाच्यम्; तत्किमायुष्मन्नसत्संसर्गः
शुक्तिनिष्ठः, येन तद्विषयत्वं व्यधिकरणप्रकारकत्वाय अङ्गीकुरुषे । तस्मात् भासमानवैशिष्ट्य-
प्रतियोगित्वं न प्रकारत्वं, किंतु ज्ञानविषययोः स्वरूपसंबन्धविशेषः । स च स्वरूपसंबन्धः सन् वा
संसर्गो भासतामसत्त्वा । उभयथापि समान एव । नच शशशृङ्गमसदित्यादिवाक्यैरसत्यपि परोक्ष-
प्रतीतेस्त्वयाङ्गीकारेण तवाप्यसत्ख्यात्यापत्तिः; तत्र हि न प्रतीतिः, किंतु विकल्पमात्रमित्युक्तत्वात् ।
तस्मान्नासत्ख्यातिः ॥ इत्यसत्ख्यातिभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न त्वसदन्यथाख्यातिरिति । असत्ख्यातिरन्यथाख्यातिर्वा नत्वित्यर्थः । अङ्गीक्रियत इति । अन्यथा शशशृङ्ग-
मसदित्यपि प्रत्यक्षमङ्गीक्रियेतेति शेषः । सद्विषयीकरोतीति । नच—इदं विशिष्टस्य सतोऽसदात्मकतया प्रत्यक्षं
मानमिति—वाच्यम्, सदसदन्यत्वस्यैव तत्र भानमित्युक्तत्वात् । पूर्वोक्तेति । असतः प्रत्यक्षत्वाद्यसंभवेत्यर्थः ।
परोक्षत्वस्य परोक्षधीत्वस्य । ननु—आद्यस्योपाधेरुत्पत्त्यादौ साध्याव्यापकत्वम्, तस्य स्वज्ञानानुव्यवसायविषयत्वात्,
द्वितीयस्यापि स्वज्ञानानुव्यवसाये साध्याव्यापकत्वमिति—चेन्न; शाब्दान्यज्ञानं प्रति साक्षादुपेक्ष्यत्वेनाविषयत्वस्य
प्रथमोपाधित्वात्, अप्रमाया असदन्यत्वादिविषयकत्वमादाय सद्विषयकत्वपर्यवसानवारणाय साक्षादसद्विषयकत्वस्यैव
साध्याकार्यतया द्वितीयस्यापि साध्याव्यापकत्वात् । असन्वा मिथ्या वा । समानः तदभाववद्विशेष्यतानिरूपित-
तत्प्रकारताकरूपव्यधिकरणप्रकारकत्वनिर्वाहकतया तुल्यः । वस्तुतो भासमानस्य वैशिष्ट्यस्य प्रतियोगित्वं मास्तु
प्रकारत्वम् । वैशिष्ट्यस्य भासमानं प्रतियोगित्वं तु स्यादेव । रूप्यादौ शुक्त्यादिनिष्ठवैशिष्ट्यस्य प्रतियोगित्वभानादिकं
सामान्यलक्षणाखण्डने विवेचितम् । तत्र हीति । हिशब्दोऽवधारणे । नैव प्रतीतिरित्यर्थः ॥ इति लघुचन्द्रिकायाम्
असत्ख्यातिभङ्गः ॥

व्यावहारिकसन्निषेधार्थत्वेन तत्सार्थक्ये प्रातिभासिकसन्निषेधार्थं वाक्यान्तरावश्यकतापत्तिः । एतेन—तदानीमित्यस्य
नासीद्रज इत्यत्रान्वय इति—निरस्तम्; सर्वान्वयोपपत्तौ प्रक्रमभङ्गायोगाच्च । आनीदवातमित्यस्य तदेकं ब्रह्म सदा-
सीचतु सदसद्विलक्षणमित्यर्थपरत्वे तदनन्तरवाक्येन सद्बैलक्षण्यभाव एव प्रतिपाद्येतेति नाविद्याद्यनिर्वचनीयत्वसिद्धिरिति
सर्वथाऽनिर्वचनीयतावादो न संभवदुक्तिक इति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अननुष्ठेये विकल्पासंभवादसत्त्वस्य सद्भिन्नत्वनिषेधप्रसञ्जितत्वेऽपि न दोषेण नासदासीदिति नाप्रसक्तप्रतिषेधः । नापि
तदानीपदवैयर्थ्यम्; रजआदिनिषेध एवान्वयात् । रजआदिनिषेधस्तु व्यावहारिकप्रातिभासिकसाधारणसर्वलोकनिराकरणार्थ-
मिति न प्रातीतिकनिषेधपृथगुक्त्यापत्तिः । वस्तुतस्तु—नासदासीदिति प्रसज्यप्रतिषेधासंभवात् सदसद्भिन्नत्वमासी-
दित्यर्थ एव तात्पर्यमिति मन्तव्यम्, ब्रह्म निर्वाच्यत्वं तु न संभवत्येवेति—विवेचयन्ति ॥

इत्यनिर्वचनीयत्वे श्रुत्यर्थापत्तिः ॥

अथासत्ख्यातिभङ्गः ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

यावता च नानिर्वाच्यत्वं तावताऽनिर्वचनीयख्यात्यसंभवादुद्बुद्धसंस्कारसचिवदुष्टेन्द्रियं स्वसन्निकृष्टं शुक्तीदमंशमसद्व्यात्मना गृह्णातीति असत्ख्यातिरेव युक्ता । असद्रूप्यमाने चासदेवेदं रजतमभादिति प्रत्यक्षं, विमतमसत्, सत्त्वानधिकरणत्वात्, शशशृङ्गवत्, विमता अप्रमा असद्विषयिणी, सत्त्वानधिकरणविषयत्वात्, नृशृङ्गमसदिति वाक्यजन्यपरोक्षप्रतीतिवत्, इत्यनुमानं च मानम् । नचैतावता बाह्यमतप्रवेशापत्तिः; सदुपरागेण तदवैषम्यात् । अन्यथा तार्किकमतेऽपि असत्संसर्गमानेन तदापत्तेः । शुक्तिरूप्योभयं तादात्म्यं चैव भासते, तच्च सत्यमिति तु न शङ्कनीयम्; तादात्म्यस्य रूप्यत्वसंसर्गस्य चेदमंशनिष्ठत्वेनाग्रहणे इदं च रूप्यंचेति प्रतीत्यापत्त्या इदं रूप्यत्वेन ज्ञातमित्यनुव्यवसायायोगेन पुरोवर्त्यभिमुखप्रवृत्त्यनुपपत्त्या सन्मात्रविषयकत्वेऽप्रामाण्यायोगेन असतोऽपि तत्र भानमवश्यमङ्गीकरणीयमेव । तदभाववति तत्प्रकारकत्वमपि तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वेनैव, नतु विशेषणज्ञानजन्यत्वेन ईश्वरज्ञाननिर्विकल्पकत्वायोगादिति न कोऽपि दोष इति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

रूप्याद्यनिर्वचनीयत्वेन अनिर्वचनीयख्यातिरेव भ्रमे युक्ता, नत्वसत्ख्यातिः; रूप्याद्यसत्त्वे प्रमाणाभावात् । असदेवेदं रजतमभादिति सिद्धिञ्चलविषयम् । असदात्मना सत एव हि त्वयापि प्रत्यक्षमिष्यते । नच पूर्वकालीनभानविषयरजतेऽसत्त्वज्ञानमसदात्मना सद्विषयकम् । एतेन—विमतमसत्, सत्त्वानधिकरणत्वात्, शशशृङ्गवत्, विमता अप्रमा, असद्विषयका, असत्त्वानधिकरणविषयत्वात्, शशशृङ्गमसदिति वाक्यजन्यपरोक्षज्ञानवदित्यनुमानद्वयमपि—परास्तम्; पूर्वयुक्त्या बाधात् । शब्दैकसमधिगम्यत्वपरोक्षत्वयोः; यथाक्रममुपाधिलाच । एतेन—असत्ख्यातिवादे बाह्यमतप्रवेशापत्तिरपि—सूचिता । नहि सदुपरागेण विशेषेणासत्ख्यात्यापत्तिः परिहर्तुं शक्यते । तार्किकाणां तु सतोरेव शुक्तिरूप्ययोः तत्तादात्म्यस्य च भ्रमे भानात्रासत्ख्यात्यापत्तिः । असत एव संसर्गस्य तत्र भानमिति तु युक्तम् । भ्रमत्वं तु व्यधिकरणप्रकारकज्ञानत्वरूपं न संसर्गासत्त्वं विना नोपपद्यते । नहि भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्, किंतु स्वरूपसंबन्धविशेष इति न तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वाद्यर्थमसत्संसर्गविषयत्वमङ्गीक्रियेत । शशशृङ्गमसदिति वाक्येन तु विकल्पमात्रमेवोत्पद्यते, नतु ज्ञानमिति नास्माकमसत्ख्यात्यापत्तिरिति—वर्णयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

एकदेशबाधेनैव विशिष्टबाधसंभवात् असदात्मकसदभादिति बाधाकाराभावेऽपि असदेवेदमित्यस्य न बाधत्वानुपपत्तिरिति प्रत्यक्षेण पूर्वोक्तानुमानद्वयेन च भ्रमासद्विषयकत्वमुपपन्नमेव । शाब्दज्ञानानुव्यवसायविषये नृशृङ्गादौ तादृशानुव्यवसायादौ च साध्याव्याप्त्या शब्दैकसमधिगम्यत्वं परोक्षत्वं वा नोपाधिः; उपाधिमति ब्रह्मणि तज्ज्ञाने वा साध्याभावात् अप्रयोजकत्वात् । व्यधिकरणप्रकारकत्वं हि तदुल्लेखित्वं वा तस्य ज्ञाने स्वरूपसंबन्धो वा । उभयमपि व्यधिकरणं प्रकारं व्यधिकरणत्वेनोल्लिखति ज्ञानेऽप्यस्ति । तस्मात्तथाविधप्रकारस्य पुरोवर्तिनिष्ठत्वेन ग्रहणमेव तदिति भ्रमत्वमप्युपपन्नमेव । अन्यथाऽसत्संसर्गमाने तदनुपपत्तिरिति । यथा तार्किकाणां सदुपरागमात्रेण बौद्धमताप्रवेश एवमस्माकमपीति मन्तव्यमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

शशशृङ्गमसदिति प्रत्यक्षापत्त्याऽसत्प्रत्यक्षस्य वर्णयितुमशक्यत्वादसदेवेदमभादिति प्रत्यक्षं नासद्रजतस्य भ्रमे भाने प्रमाणम् । एतेन—अनुमानस्य तत्र प्रामाण्यमपि—निरस्तम्; शाब्दान्यज्ञानं प्रति साक्षादनिषेध्यत्वेन विषयत्वेन साक्षाद्विषयकत्वस्य साध्याकार्यत्वेन परोक्षधीत्वेन च सोपाधिकत्वात्, रूप्यादीनां भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं नास्तीति सामान्यलक्षणाखण्डने निरूपितमिति सर्वथा नासत्ख्यातिरित्यनिर्वचनीयख्यातिः सिद्धेति—विवेचयन्ति ॥

इत्यसत्ख्यातिभङ्गः ॥

अथान्यथाख्यातिभङ्गः ।

नाप्यन्यत्र स्थितस्य रूप्यस्य भानादन्यथाख्यातिः; अत्यन्तासत इवान्यत्र सतोऽप्यपरोक्षप्रतीति-
प्रयोजकसन्निकर्षानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । न च संस्कारस्मृतिदोषाणां प्रत्यासत्तित्वम्; रजतप्रत्यक्षमात्रे
रजतसंयोगत्वेन कारणत्वावधारणात्, सन्निकर्षान्तरसत्त्वेऽपि तदभावे रजतप्रत्यक्षोत्पत्तेर्वक्तुम-
शक्यत्वात् । न च लौकिकप्रमारूपप्रत्यक्ष एव तस्य कारणत्वम्; अस्य विभागस्य स्वशिष्यानेव
प्रत्युचितत्वात्, गौरवकरत्वात्, निर्विकल्पकसाधारण्याभावाच्च । रजतेन्द्रियसन्निकर्षजन्य रजते
रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य भ्रमत्वानुपपत्तेः । 'इमे रङ्गरजते' इति भ्रमे विद्यमानोऽपि रजतसन्निकर्षो
जनको न भवति, अनुमिताविव कचिद्विद्यमानोऽपि विषयः । अथानुमितेर्विषयजन्यत्वे प्रत्यक्षत्वा-
पत्तिः, अतीते अनागते च विषये अनुमितिर्न स्यादिति बाधकम्, रजतप्रत्यक्षस्य रजतसन्निकर्ष-
जन्यत्वे प्रमात्वापत्तिः, असन्निकर्षे च तत्प्रत्यक्षं न स्यादिति बाधकं प्रकृतेऽपि तुल्यम् । यदि तु
दोषमहिम्ना रजतसन्निकर्षस्य रङ्गज्ञानांशे जनकत्वम्, रङ्गसन्निकर्षस्य च रजतज्ञानांशे, तदा
रजतज्ञानांशे तत्सन्निकर्षजन्यत्वात् प्रमात्वाभाववत् प्रत्यक्षत्वाभावोऽपि स्यात् । तस्मात् इमे इत्येवे-
न्द्रियजन्यम् । 'रङ्गरजते' इति तु स्मृतिरूपमविद्यावृत्त्यात्मकमनिर्वचनीयत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ॥
इत्यन्यथाख्यातिभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

संस्कारस्मृतीति । इदं रूप्यमित्यादिभ्रमो रूप्याद्यंशे उपनयसन्निकर्षजन्य इति प्राञ्चः,—तस्य संस्कारस्योपन-
यत्वे तज्जन्यप्रत्यक्षस्य स्मृतिरित्याद्यापत्या स्मृतिरेवोपनयः, न संस्कार इति—वदन्ति । नव्यास्तु—उपनयप्रयोज्यस्य
विषयत्वस्य लौकिकत्वासंभवेनेदं रूप्यं साक्षात्करोमीति प्रत्ययानुपपत्तेः दोषाणामेव अमीयलौकिकविषयत्वे नियाम-
कत्वमिति—आहुः । प्रत्यक्षमात्र इति । द्रव्यनिष्ठविषयतया प्रत्यक्षसामान्ये इन्द्रियसंयोगस्य हेतुत्वकल्पनया
लाघवाद्द्रव्यनिष्ठया लौकिकविषयतया प्रत्यक्षे इन्द्रियसंयोगः, अलौकिकविषयतया प्रत्यक्षे उपनयादिहेतुरिति कल्पना-
नवकाशात्, 'सुरभि चन्दन'मित्यादिज्ञानस्थले 'सौरभं स्मरामी'त्याद्यनुगवसायस्यैव स्वीकारेणोपनयादेः प्रत्यक्ष-
हेतुत्वे मानाभावाच्च । अतएव दोषाणां रजताद्युत्पत्तावेव हेतुत्वम्, न तु तद्भ्रमे, लाघवाद्भ्रजतत्वादिनैव तत्कार्यता-
स्वीकारात् । तत्र रजतादौ चाक्षुषत्वादिकमधिष्ठानेदमादिगतमेव प्रतीयते । साक्षिसंबन्धादपरोक्षमित्यादिकं विवेचित-
मस्माभिः सिद्धान्तविद्योतने । ननु प्रत्यक्षभ्रमसामान्ये इन्द्रियसन्निकर्षानुपपत्तिरिति यदुक्तं तत्र युक्तम्; 'इमे
रङ्गरजते' इति रजतरङ्गयो रङ्गरजतभ्रमे तत्संभवात्, तत्राह—रजतेन्द्रियेति । रजतेरजतत्वप्रकारकेति । यथा
रजते रजतत्वं प्रकारस्तथा रजतं तादात्म्येन स्वस्मिन् प्रकारोऽस्तु, न तु रङ्ग एवेति ज्ञापनायेदमुक्तम् । भ्रमत्वानुप-
पत्तेरिति । रजतसन्निकर्षस्य तादात्म्येन रजतप्रमाहेतोः सत्त्वात् भ्रममात्रत्वानुपपत्तेः उक्तप्रमात्वापत्तेः रजतेति ।
रङ्गे रजतप्रकारकप्रत्यक्षस्य । असन्निकर्षे इदं रजतमित्यादिभ्रमस्थलीयरजतासन्निकर्षे । रङ्गज्ञानांशे तादात्म्येन
रङ्गप्रकारकज्ञानांशे । रजतज्ञानांशे तादात्म्येन रजतप्रकारकज्ञानांशे । एवकारः शेषः । रजतादिसन्निकर्षसत्त्वेऽपि न
रजतादिप्रमा; दोषेणैव प्रतिबन्धात्, किंतु धर्मीन्द्रियसन्निकर्षसहकृतदोषबलाद्भ्रजतादिभ्रम एवेत्यर्थः । ज्ञानांशे
भ्रमांशे । तत्सन्निकर्षजनकत्वात् रजतसन्निकर्षस्याजनकत्वात् । प्रत्यक्षत्वाभावोऽपीति । दोषस्य प्रत्यक्षहेतुता
तु प्रत्युक्तेति भावः । प्रमासामान्ये मनस उपादानत्वाच्चक्षुरादिप्रमाणसहकृतस्यैव मनसश्चाक्षुषादिप्रमोपधायकत्वात्
भ्रमसामान्ये अविवेचोपादानम्; तत्तद्दोषसंस्कारादिसहकृताविद्याया एव भ्रमविशेषोपधायकत्वम् । तथाच भ्रमा-
त्मकवृत्तेश्चाक्षुषादिरूपत्वे मानाभावः । अधिष्ठानचाक्षुषे भ्रमस्य तादात्म्याध्यासाच्चाक्षुषादिविषयाधिष्ठाने रजता-
देस्तादात्म्याध्यासाच्च रजतं पश्यामीत्यादिप्रत्यय इत्याशयेनाह—तस्मादित्यादि ॥ इति लघुचन्द्रिकाया-
मन्यथाख्यातिभङ्गः ॥

अथान्यथाख्यातिभङ्गः ।

अत्रान्यथाख्यातिवादो न खण्डनीयन्यायामृतग्रन्थे तरङ्गिणीग्रन्थे वा विद्यते इति नायं वादो द्वैतिनामभिमतः । तथापि
अवसरप्राप्तनैयायिकादिसंमततद्वाखण्डनमपि सिद्धिब्रह्मानन्दीययोर्विद्यते । तदनुवादं तु चतुर्ग्रन्थीसंग्रहस्यैवास्माकमव-
सरप्राप्तत्वाच्च वयं कुर्म इति सूचयामः ॥

इत्यन्यथाख्यातिभङ्गः ॥

अथ आविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः ।

तच्चानिर्वचनीयमज्ञानोपादानकम्, तत्त्वज्ञानेन नाशयं च । ननु—एवं ‘रूप्यमुत्पन्नं नष्टं चे’ति धीप्रसङ्गः, त्रैकालिकनिषेधप्रतीतिश्च न स्यादिति—चेन्न, उत्पादविनाशप्रतीतिरियं भ्रान्तिसमये आपाद्यते, बाधसमये वा । नाद्यः; पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्ल्यभिन्नतया ग्रहस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वात्, विरोधिज्ञानानुदयेन रूप्यस्याविनाशाच्च । न द्वितीयः; अत्यन्ताभावग्रहस्यैव प्रतियोगिग्रह इव तदुत्पादविनाशग्रहेऽपि प्रतिबन्धकत्वात् । न हि कुत्रापि कदापि अत्यन्ताभावाधिकरणत्वेन प्रतीते उत्पादविनाशप्रतीतिरस्ति । नच—त्रयाणां सत्त्वे कथमत्यन्ताभावबुद्ध्या विनाशबुद्धिप्रतिबन्धः ? विनाशबुद्ध्यैवात्यन्ताभावबुद्धिः किमिति न प्रतिबध्यते ? नियामकाभावादिति—वाच्यम्; फलबलेनात्यन्ताभावधीसामग्र्या एव बलवत्त्वेन तस्यैव विनिगमकत्वात् । नच तर्हि उत्पादाद्यधिकरणे अत्यन्ताभावः कथम् ? प्रतीतिमुपलभस्व । यथा अपरोक्षप्रतीत्याद्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धोत्पादादिकस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं विषयीक्रियते । यद्वा—न स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्, किंतु पारमार्थिकत्वाकारेण । नच—पारमार्थिकसत्त्वस्यापि प्रतिभाससमये प्रतीतत्वेन न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं संभवति रजतप्रतियोगित्वेनानुभवविरोधश्चेति—वाच्यम्; प्रतीतिकालप्रतीतं पारमार्थिकत्वमपि प्रातीतिकमेवेति न तत् निषिध्यते, किंत्वन्यत्रवृत्त्येवेति तेनाकारेण रजतस्यैव निषेध इति न तत्प्रतियोगित्वेऽनुभवविरोधोऽपि । ननु—यद्यपि प्रसक्तिर्ज्ञानम्, सा च स्मृतिरूपा पारमार्थिकत्वस्यास्त्येव; तथापि निषेध्यताप्रयोजकपारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकस्य प्रसक्तिर्नास्तीति—चेन्न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिको ह्ययमभावः, तत्प्रतीतौ च न विशिष्टप्रसक्तिरुद्देश्या; प्रत्येकप्रसक्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः । निर्विकल्पकादभावप्रतीतिरिष्टापत्त्यैव परिहरणीया । यद्वा—लौकिकपरमार्थरजतस्यैव तत्र त्रैकालिकनिषेधः । नच तर्हि ‘नेह नाने’ति निषेधायापि तात्त्विकप्रपञ्चान्तरोररीकारापत्तिः; नेह नानेति निषेधस्थले किंचनेति पदसन्दंशात् प्रतीयमानसर्वनिषेधस्यावश्यकतया निषेध्यत्वेन प्रपञ्चान्तरकल्पनाया गौरवकरत्वात्, प्रकृते तु सर्वत्वेन प्रतियोग्यनुल्लेखात् आपणस्थरूप्यनिषेधस्य इदम्यावश्यकत्वेनाप्रतीतनिषेधकल्पनैव युक्ता । नचान्यथाख्यातिमिया तस्याप्रसक्तौ कथं तन्निषेधः ? अपरोक्षत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपतत्प्रसक्तेः संभवात् । एतेन—अधीस्थं पारमार्थिकत्वमवच्छेदकम्, अनवच्छेदकस्याभासस्य धीस्तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पूर्वोत्पत्तेति । ननु—आरोप्यधर्म उत्पादादिकमधिष्ठाने प्रत्येतुमुचितमिति—चेन्न; यद्रूपविशिष्टस्यारोप्यता तद्रूपस्यैवाधिष्ठाने धीः, उत्पादादिकं तु मिथ्यात्वादिकमिवाव्यक्तत्वाच्च तथा; अन्यथा त्वदभ्युपगतमसत्त्वमपि रूप्यादिनिष्ठं तथा स्यात् । विचारदशायां तु प्रमाणवृत्त्योत्पादादिकं गृह्यत एव । एतेन—कपालादौ घटादेर्नाशकाले अत्यन्ताभावस्यैव नाशस्याप्यनुभवान्नाशबुद्धौ नात्यन्ताभावबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वम्, भ्रमस्थल एवान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनं तु न युक्तम्; तथा भ्रमे सदुपरागेणासद्विषयकत्वमसति प्रत्यक्षरूपत्वमिति कल्पनस्यैव युक्तत्वादिति—परास्तम्; सदुपरागेणासद्ज्ञानस्याप्यसंभवेन भ्रमविषये प्रत्यक्षत्वासंभवात्, उत्पादादेः संभवे तद्वाहकसामग्र्या अनवतारादेव तदग्रहात् । एवं चोक्तानवतारकालीनाया अत्यन्ताभावबुद्धेर्नाशादिवुद्ध्यनुत्पत्तिव्याप्यत्वेन नाशादिधीप्रतिबन्धकत्वमुक्तम् । अतएव न हि कुत्रापि त्याद्यपि तदभिप्रायकमिति ध्येयम् । कथमिति । अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनेव ध्वंसप्रागभावाभ्यामपि नैककालावच्छेदेन सामानाधिकरण्यमित्यभिमानः । पारमार्थिकत्वेन ‘रूप्यं नास्ती’ति बाध्यस्य रूप्यनिषेधाविषयकत्वेन रूप्ये पारमार्थिकत्वनिषेधविषयकत्वं वाच्यम्, तथाचासङ्गतिरित्याशङ्क्य निषेधति—न चेति । अन्यत्रैत्यव्ययम् । तेनान्यत्र वृत्तिर्यस्य तदन्यवृत्तौत्यर्थः । उक्तविषय इति शेषः । तेनाकारेणेति । तद्विषयकत्वं न निषेध्यत्वेन, किंत्ववच्छेदकत्वेनेति भावः । न विशिष्टेति । यद्रूपविशिष्टस्य प्रतियोगित्वधीस्तद्रूपविशिष्टस्य प्रसक्तिरपेक्ष्यते, व्यधिकरणधर्मविशिष्टस्य तु न सेति तदपेक्षेति भावः । नन्वेवं पारमार्थिकत्वस्योक्तबुद्ध्यावप्रकारत्वेन तन्निर्विकल्पकोत्तरमपि सा स्यात्तत्राह—निर्विकल्पकादिति । पारमार्थिकत्वेत्यादिः । अभावेति । उक्ताभावेत्यर्थः । इष्टेति । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यधीहेतुत्वेऽप्युक्ताभावबुद्धेः पारमार्थिकत्वाप्रकारकत्वाच्च तत्र तत्प्रकारकज्ञानापेक्षेति भावः । प्रतीयमानेत्यादि । निषेधाधिकरणे प्रतीयमानं यत्तदीयनिषेधस्येत्यर्थः । अप्रतीतनिषेधेति । निषेधाधिकरणे यदप्रतीतं तदीयनिषेधेत्यर्थः । अधीस्थं प्रतियोगिप्रसक्तावप्रकारः । अवच्छेदकं निषेध्यतावच्छेदकम् । आभासस्य प्रातीतिकपारमार्थिकत्वस्य ।

निषेधधीहेतुरिति—परास्तम् । नच—आरोपपूर्विकैव निषेधधीः, तस्यानारोपात् कथं तदभावप्रत्यय इति—वाच्यम्; आरोपस्य हेतुतायां मानाभावेन प्रतियोगिस्मरणाधिकरणानुभवादिनैव तदुपपत्तेः । अत एव न बुद्धिपूर्वकतदारोपोऽपि । अन्यथाख्यातेः सामर्थ्यभावेनासत्ख्यातिवत् प्रागेव निरासादारोपस्य विशेषादर्शनजन्यत्वेन बुद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तेश्च । किंचाभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिः । ननु—आभास इत्यप्रसक्ते रजतत्वाकारेणाभासानाभासयोः प्रसक्तिर्वाच्या, सा चानुपपन्ना; उभयोरेकसामान्याभावात्, फलवलेन व्याप्तिग्रहे सामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वेऽपि अन्यत्रातिप्रसङ्गेन तदभावाच्चेति—चेन्न; शुक्तिरूप्यस्यापणरूप्येण प्रातीतिकस्य सामान्यस्याभावे तदर्थिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या तदुभयसामान्यस्यैकस्यावश्यकत्वात् । तेन सामान्येन प्रत्यासत्त्या आपणरूप्ये ज्ञानं न ब्रूमः, किंतु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं प्रतियोग्यविषयकमपि अभावप्रतीत्युपयुक्तं संवृत्तमिति । अतो न सामान्यप्रत्यासत्तिनिवन्धनातिप्रसङ्गावकाशः । यत्तु व्याप्तिग्रहे सामान्यप्रत्यासत्तिमङ्गीकृत्यातिप्रसङ्गेनान्यत्र तदनङ्गीकरणं, तदाशीविषमुखे अङ्गुलिं निवेश्य वृश्चिकाद्भयनाटनम् । प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञः स्यादिति व्याप्तिग्रह एवातिप्रसङ्गस्य प्राचीनैरुक्तत्वात् । इदंच यथाश्रुतप्राचीनग्रन्थानुसारेणोक्तम् । अन्योन्याभावमादाय तु लौकिकपरमार्थरजतस्य निषेध्यत्वं प्राग्व्याख्यातं न विस्मर्तव्यम् । नच सोपादानत्वे सकर्तृकत्वापत्तिः; इष्टापत्तेः । ननु—एवमपि रूप्यस्य कथमज्ञानमुपादानम्? तदनुविद्धतया अप्रतीतेः, इदमंशानुविद्धतया प्रतीतेरङ्गुलिनिर्देशाच्चेलाञ्चलवन्धनादितश्चेदमंश एव सत्यविकाराविरोधेन मिथ्याविकारात्मना विवर्तत इत्यङ्गीक्रियतामिति—चेन्न; शुक्त्यज्ञानस्य तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमावश्यकमिति उपादानमपि तदेवास्तु । तत्कल्पनाया एवाभ्यर्हितत्वात्, उपादानान्तरासिद्धेः । किंच शुक्तिज्ञानमज्ञानं नाशयद्रूप्यमपि नाशयति । तच्च तदुपादानत्वं विना न घटते; निमित्तनाशस्य कार्यनाशं प्रत्यप्रयोजकत्वात्, उपादेये उपादानानुवेधनियमाभावात्, 'रूपं घटः' 'कपालं घट' इत्यप्रतीतेः, कथंचिदनुवेधस्य जडत्वादिनात्रापि संभवात् । अज्ञानावच्छेदकतया इदमंशे इदमंशानुविद्धतया प्रतीतिरेव तदनुविद्धतया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हेतुरिति । इत्ययुक्तमिति शेषः । आरोपेति । प्रतियोगिप्रसक्त्यर्थः । तत्प्रसक्तिः लौकिकपरमार्थप्रसक्तिः । अतिप्रसङ्गेन सार्वज्ञ्यापत्त्या । प्रातीतिकस्य प्रतीतिप्रकारस्य । सामान्यस्य रजतत्वाद्येकजातीयत्वस्य । तदर्थिप्रवृत्तिः व्यावहारिकनिष्ठरजतत्वादिविशिष्टेच्छावतः प्रवृत्तिः । प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं रूप्यत्वादिरूपेणाभासीभूतरूप्यादिप्रसक्तिः । प्रतियोग्यविषयकं लौकिकपरमार्थरूप्याविषयकम् । प्राचीनग्रन्थेति । लौकिकपरमार्थरूप्यनिषेध्यताबोधकतत्त्वप्रदीपिकादिवाक्येत्यर्थः । व्याख्यातमिति । 'इदं रूप्यमिति' अमे प्रातीतिकव्यावहारिकरूप्ययोरभेदावगाहनात् नेदं रूप्यमिति बाधस्तयोर्भेदमेवावगाहते इत्यादिकं व्याख्यातमित्यर्थः । तथाच तयोरेकजात्यभावेऽपि प्रातीतिके व्यावहारिकजातीयार्थाप्रवृत्तिस्तत्तादात्म्यारोपादेवोपपद्यत इति भावः । यत्तु—उभयानुगतं सामान्यं प्रातीतिकं न वा, आद्ये व्यावहारिकस्य रूप्यत्वं व्यावहारिकं न स्यात्, द्वितीये प्रातीतिकस्य रूप्यत्वं व्यावहारिकं स्यात्, तथाच 'इदं रूप्यमिति' धीविषयसामान्ये रूप्यत्वं नास्तीति बाधो न स्यात्—इति तन्न; 'इदमंशे यद्विशेषणं अमे भातं तद्रूप्यमेव इदं तु न रूप्यमिति बाधकाले प्रत्ययेनोक्तबाधस्याप्रामाणिकत्वात् । नच—प्रमाणवृत्तिं विना व्यावहारिकस्य रूप्यत्वादेर्ग्रहणासंभव इति—वाच्यम्; अमस्थले हि रूप्यत्वादिविशिष्टप्रकारिका अविद्यावृत्तिरूप्यते । तथाच रूप्यत्वादेर्विशेषणत्वेनेदमंशेऽपि प्रकारत्वादिदमंशसंसृष्टतया प्रातीतिकत्वेनाविद्यावृत्तिविषयतया साक्षिवेद्यत्वमेव । रूप्यनिष्ठोऽपि रूप्यत्वादिस्वबन्धः स्वतो व्यावहारिकोऽपि प्रातीतिकरूप्यानुयोगिकत्वरूपेण प्रातीतिकत्वादुक्तवृत्तिविषयः । अतएवेदमंशस्यापि व्यावहारिकस्य प्रातीतिकेन रूप्यतादात्म्येन विशिष्टतया प्रातीतिकत्वादुक्तवृत्तिविषयत्वम् । इष्टापत्तिरिति । अधिष्ठानप्रकाशत्वेन हेतुत्वात्तद्वत् एव कर्तृत्वम्; कार्यानुकूलसोपादानप्रकाशस्यैव हि लाघवेन कर्तृत्वरूपत्वात् । अनुकूलताविशेषोपादानान्नातिप्रसङ्गः । उपादानज्ञानेच्छाकृतिमत्त्वस्य कर्तृत्वेऽपि ईश्वरीयं तदस्तीति भावः । अभ्यर्हितत्वात् आश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात् । इदमंशो मनो दोषो वा उपादानमित्यत्र विनिगमकाभावादुपादानत्वेन तदतिरिक्तमज्ञानं कल्प्यत इत्यादि पूर्वोक्तं स्मर्तव्यम् । नाशयति अत्यन्तमुच्छिन्नं च । तदुपादानत्वम् अज्ञानमुपादानम् । नाशम् अत्यन्तोच्छेदम् । तेन दोषादिनिमित्तनाशस्य अमादिनाशप्रयोजकत्वेऽपि न क्षतिः । कपालमिति । कपालं घटोपादानमित्यज्ञानतो यथा कपालं घट इति न धीः, तथा अज्ञानं रूप्योपादानमित्यज्ञानतो रूप्यमज्ञानमिति न धीः, रूप्याज्ञानयोः साक्षिवेद्यत्वेऽपि तयोस्तादात्म्यमावृत्तमिति भावः ।

प्रतीतिः । कार्यकारणयोरभेदादङ्गुलिनिर्देशादिकमप्युपपद्यते । नच—परोक्षज्ञानस्याप्यज्ञाननाशक-
तया श्वेत्यानुमित्या अज्ञाने नाशिते पीतभ्रमानुदयः स्यात्, उपादानाभावादिति—वाच्यम्, विषय-
गताज्ञानस्य परोक्षवृत्त्याऽनाशात् । नच—अपरोक्षवृत्तेरज्ञाननाशकतायामपि 'घटोऽय'मिति साक्षा-
त्कृते पटोऽयमिति वाक्याभासात् भ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गः । न ह्यत्र वह्निना सिञ्चतीत्यत्रेवान्वयविरो-
ध्युपस्थितिरस्ति, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेदिति—वाच्यम्; यदा हि घटत्वं पटत्वविरुद्धतया-
ऽवगतं, तदा हि तद्दर्शनं विरोधिदर्शनमेवेति कथं नेष्टापत्त्यवकाशः? यदा घटत्वस्य पटत्वविरुद्धतया
न ज्ञानं, तदा घटत्वज्ञानेन तदज्ञाननाशोऽपि पटत्वविरुद्धतया अज्ञातविशेषाज्ञानस्य सत्त्वात्तदुपा-
दानक एव भ्रम इति न काप्यनुपपत्तिः । नच—साक्षिवेद्याज्ञानसुखादौ ज्ञानाभावत्वदुःखाभावत्वा-
रोपौ न स्याताम्, अज्ञानरूपोपादानाभावादिति—वाच्यम्; दुःखाभावभिन्नत्वेन ज्ञानाभावभिन्नत्वेन
दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तयाऽज्ञानत्वविरुद्धधर्मवत्तया वा अधिष्ठानज्ञानं भ्रमनिवर्तकम् । तच्च विरोध-
भेदादि न साक्षिगम्यम्, किंत्वनुपलब्धिगम्यम् । तथाच तदज्ञानमेव भ्रमोपादानम् । नच—
परोक्षाध्यासो न परोक्षज्ञानेन निवर्तत, तस्याज्ञानानिवर्तकत्वादिति—वाच्यम्; परोक्षाध्यासे हि
प्रमातृगताज्ञानमेवोपादानम् । तच्च परोक्षज्ञानेनापि निवर्तत इत्युक्तत्वात् । नच—रूप्यं दृष्ट्वाऽधिष्ठा-
नतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य पुंसोऽज्ञाननिवृत्त्यभावेन रूप्यतज्ज्ञानयोरविद्यापरिणामयोरनिवृत्त्या
रूप्यधीसामग्रीसद्भावेन तद्धीर्दुर्वैरैवेति—वाच्यम्; रूप्यं तद्धीश्च उत्पन्ने तावदुदीच्यज्ञानेन उपा-
दाने विलीयते । उपादानस्य निवृत्तिः परं न भवति; अधिष्ठानतत्त्वज्ञानाभावात् । रूप्यबुद्ध्यन्तरोत्प-
त्तिस्तु इदमाकारान्तःकरणवृत्तिसद्भावेनानुत्पन्नाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारस्य भवत्येव । तदभावे
तद्विलम्बादेव विलम्ब इति न काप्यनुपपत्तिः । तथाच सर्वप्रत्ययानां स्वगोचरशूरत्वात् प्रतीति-
काले रजतस्य विद्यमानता सिद्धा । नचैवं—तात्त्विकत्वमपि सिध्येत्, तस्यापि प्रातीतिकत्वादिति—
वाच्यम्; अपरोक्षप्रतीत्या तावत् त्रिकालाबाध्यत्वरूपं तात्त्विकत्वं विषयीकर्तुं न शक्यत इत्युक्त-
त्वात् । परोक्षप्रतीत्या विषयीकृतमपि तात्त्विकत्वं प्रातीतिकमेव; कालान्तरबाधेन पुनरतात्त्विक-
त्वस्य संभवात् ॥ इत्याविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अभेदादिति । इदमः कारणीभूतचिदवच्छेदकत्वात्तत्रेति शेषः । अनाशादिति । ननु—श्वेतत्वाज्ञाने श्वेतत्वार्थि-
प्रवृत्तिर्न स्यादिति—चेन्न; स्यादेव, तदा हि शङ्खत्वादिकमेव प्रवृत्तौ प्रकारः, न तु श्वेतत्वादिकम् । पटत्वविरुद्धतया
पटत्वाभावव्याप्यतया । तद्दर्शनम् इदंत्वविशिष्टे तद्दर्शनम् । विरोधि 'अयं घट' इति भ्रमविरोधि । दुःखत्वविरु-
द्धेति । दुःखत्वघटितो यो दुःखाभावत्वविरुद्धो दुःखाभावत्वाभावव्याप्यः सुखत्वादिः स इत्यर्थः । अज्ञानत्वविरु-
द्धेति । ज्ञानाभावत्वाभावव्याप्यतया गृहीताखण्डाज्ञानत्वैत्यर्थः । न साक्षीति । सविषयकत्वादिरूपेणैव साक्षिगम्यम-
ज्ञानम्, न तूक्तविरुद्धधर्मवत्त्वादिनेति भावः । विलीयते इति । संस्काररूपेणेति शेषः । स्थूलरूपेण पुनरुत्पत्ति-
र्वक्ष्यमाणसामग्र्या नानुपपन्ना । स्वगोचरशूरत्वात् बाधादिमानान्तराविरोधेन स्वविशेष्ये स्वविशेषणव्यवस्थापक-
त्वात् । काल इति । प्रतीत्यभावकाले रूप्यादिसत्त्वे तदाकारसंस्कारसहितेन साक्षिणा तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानस्य
निर्दोषपुरुषेऽप्यापत्तिः । न हि रूप्यादिगततत्तास्मृतौ दोषस्यागन्तुकस्य हेतुत्वं, येन तदभावे सा न स्यात् । किञ्च
मनःपरिणामयोरविद्यापरिणामयोरपि परेण पूर्वस्य नाशाद्रूप्यरङ्गयोरविद्यापरिणामयोरपि तथा स्वीकारात् कथं रूप्यस्य
प्रतीत्यभावकाले स्थितिः? उक्तत्वादिति । तथाचाधिष्ठानसद्रूपसंबन्ध एव गृह्यत इति भावः । तस्यां मनोवृत्तौ ।
तादात्म्यस्य अविद्यावृत्तिततादात्म्यस्य ॥ इति लघुचन्द्रिकायामाविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः ॥

अथ रजताविद्यकत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अध्यस्तं नाज्ञानोपादानकं तत्त्वज्ञाननाशं च; रूप्यमुत्पन्नं नष्टं चेति धीप्रसङ्गात्, त्रैकालिकनिषेधप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । रूप्यं
नासीदस्ति भविष्यतीति स्वरूपेणैव निषेधानुभवेन नार्थक्रियाकारित्वेन रूप्यनिषेधः । अर्थक्रियाकारित्वादीनामपि रूप्यवत्प्रती-
तित्वेन प्रतीतिकाले सत्त्वाच्च तेनाऽपि रूपेणार्थं निषेधः । आपणस्थरूप्यस्य निषेधे तु नेह नानास्तीति निषेधोपपत्त्यर्थं

तात्त्विकप्रपञ्चान्तराङ्गीकारापातः, तस्याप्रसक्त्याऽप्रसक्तनिषेधानुपपत्तिश्च । प्रतीतस्यैव निषेधानुभवेनाभासप्रसक्त्या पारमार्थिक-निषेधो नोपपन्नः । नहि यस्य निषेधस्तस्यानारोप इति युज्यते । बुद्धिपूर्वकारोपकल्पना तु अनारोपितनिषेधवादिनां नोपपद्यते । आभासानाभाससाधारणरजतत्वादिक्तं तु न प्रसिद्धमिति न रजतत्वादिना निषेधसंभवः । किंचाध्यस्तस्य सोपादानकत्वे सकर्तृकत्वस्याप्यापत्तिः, घटे मृद इव रूप्येऽप्यज्ञानानुवेधापत्तिरिति दमंशविवर्तत्वमेव रजतस्याङ्गीकरणीयम् । अतएव हि—शैल्यानुमित्यादिनाऽज्ञाननाशेऽपि पीतः शङ्ख इति भ्रमः, घटत्वेन साक्षात्कृते घटे घटत्वाज्ञानाभावेऽपि पटोऽयमिति वाक्याभासाद्भ्रमोत्पत्तिः, साक्षिवेद्ये सुखादौ दुःखाभावत्वाद्यारोपश्चोपपद्यते । एवंच परोक्षज्ञानस्यापरोक्षज्ञानस्य साक्षिणो वाऽज्ञानानिवर्तकत्वात् निवर्तकत्वेऽपि अधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य पुंसः सामग्रीसत्त्वेन रूप्यप्रतीतेर्दुर्वारत्वाच्च न रूप्यमज्ञानोपादानकम् । सर्वज्ञानानां स्वगोचरशून्यत्वेन यथाभ्रान्त्यर्थसत्त्वाङ्गीकारस्तु न संभवति; अबाधितज्ञानस्यैव तत्त्वभावत्वात्, अन्यथा भ्रमविषयतात्त्विकतापत्तेरिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

रूप्याद्यनिर्वचनीयमज्ञानोपादानकं तत्त्वज्ञानविनाश्यं च । उत्पत्तिविनाशप्रत्ययस्तु भ्रान्तिसमये पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्ति-तादात्म्यग्रहणस्य निषेधसमये प्रतियोगिग्रह इवात्यन्ताभावस्यैव च प्रतिबन्धकत्वाच्च संभवति । फलबलेन तु अत्यन्ता-भावसामग्र्या एव नाशादिग्रहप्रतिबन्धकत्वमिति न दोषः । उत्पन्नस्यापि तस्य नासीदस्तीति प्रत्यक्षानुपपत्त्या त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वमपि ग्रामाणिकमेव । मास्तु वा स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, किंतु पारमार्थिकत्वेनैव । प्रतीतिकालप्रतीतं पार-मार्थिकत्वमपि प्रातीतिकमेवेति तदन्यस्यैव निषेधप्रतियोगितावच्छेदकत्वेन तेन रूपेण रजतस्यैव निषेध इति नानुपपत्ति-बाधोऽपि । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकेऽभावे न विशिष्टप्रसक्तिरपेक्षितेति पारमार्थिकत्वाप्रसक्तिरपि रजते न दोषाय; लौकिकपरमार्थरजतस्यैव शुक्तौ त्रैकालिकनिषेधाच्च, नेह नानास्तीति शुक्तौ तु किंचनपदेन सर्वप्रपञ्चबाध-नाच्च प्रपञ्चान्तराङ्गीकारप्रसङ्गः । प्रसक्तिस्तु स्मृतिरूपा विद्यत एवेति नान्यथाख्यात्यापत्तिः । नहि रजतं लौकिकं शुक्ताव-परोक्षं वयमुररीकुर्मः । एतेन—आरोपं विना निषेधानुपपत्तिः—परास्ता; प्रतियोगिस्मरणाधिकरणानुभवादिनैव तदुप-पत्तेः । अस्तु वाऽऽभासप्रसक्तिरेव परमार्थस्यापि प्रसक्तिः । शुक्तिरूप्ये रूप्यत्वजातेः परमार्थरजतसाधारणया अनङ्गीकारे प्रवृत्त्यनुपपत्त्याऽभासानाभाससाधारणसामान्याङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् । सोपादानत्वेन सकर्तृत्वापादानं तु दृष्टापत्तिपराहतम् । शुक्त्यज्ञानस्य रूप्यं प्रति यत्कारणत्वं तदुपादानत्वरूपमपि । नह्यन्यथा शुक्तिज्ञानेन तदज्ञानस्यैव रूप्यस्यापि विनाश उपप-द्यते । नहि तदुपादानत्वे तदनुवेधः प्रयोजकः; रूपं घट इति प्रतीत्यापत्तेः । अज्ञानं च द्विविधम्—विषयगतं प्रमातृगतं चेति । तत्र परोक्षज्ञानेन प्रमातृगतस्यापरोक्षवृत्त्योभयस्य च विनाश इति हि समयः । एवंच शैल्यानुमित्या न द्विविधाज्ञान-निवृत्तिः । यदाहि घटत्वं पटत्वविरुद्धतयाऽवगतं नहि तदा साक्षात्कृतघटस्य घटेऽयं पट इति वाक्याभासात् भ्रम उपप-द्यते । अधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य तु रूप्यतद्विद्योरुदीच्यज्ञानेनोपादाने विलयात् रजतबुद्ध्यन्तरमुत्पद्यत एव । तथाच सर्वप्रत्ययानां स्वविषयशरत्वात् रजतं प्रतीतिकाले सदेव । एवं तात्त्विकत्वमपि प्रातीतिकमेव । तस्मादधिष्ठानांशेऽन्तःकरण-वृत्तिः अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिरिति नाख्यातिमतप्रवेश इत्यादि सर्वं सुस्थमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

रूप्यं नाज्ञानोपादानकं तत्त्वज्ञाननाश्यं च; इदमंशस्येदानीमुत्पन्नरूप्यतादात्म्येन प्रतीतस्योत्पादविनाशप्रत्ययप्रसङ्गात् । समारोप्यधर्माणामेव हि विषये प्रतीतिः; नतु विषयधर्मस्य समारोप्ये । उत्पादादिप्रत्ययेनैवात्यन्ताभावप्रतीतिप्रतिबन्धसंभ-वेन निषेधसमयेऽत्यन्ताभावप्रतिबन्धकतायोगाच्च । नासीदस्तिभविष्यतीति तु प्रत्ययो रूप्याद्यसत्त्वमेव गोचरयतीति तदा-विद्यकत्वे स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगः । एतेन—पारमार्थिकत्वेन तन्निषेधोऽपि—परास्तः; येनाकारेण निषेधस्तेना-कारेण प्रतियोगिप्रसक्तेरपेक्षणीयतया पारमार्थिकत्वस्यापि रूप्यतुल्यत्वापत्तेः । निषिध्यमानस्य निषेध्यतावच्छेदकवैशिष्ट्यं विना निषेधायोगेनानिवर्चनीयस्य पारमार्थिकवैशिष्ट्यज्ञानं हि दुर्वारमेव । एतेन—स्मृतिरूपप्रसक्तिवर्णनमपि—परास्तम्; प्रसक्तप्रतिषेधात्मकबाधलस्य प्रसक्तेः स्मृतिरूपत्वेऽसंभवात् । आभासानाभाससाधारणं सामान्यं तु न सिद्ध्यति । तस्य प्रातीतिकत्वेऽप्रातीतिकत्वोभयथाऽऽभासत्वानाभासत्वयोरापत्तिः, उभयावच्छेदेनोभयरूपत्वे तु दृष्टविरोधापत्तिः । अनुगत-मेकं रूप्यमेव तत्र प्रतीयते इति कल्पनापत्त्याऽन्यथाख्यात्यापत्तिः, प्रवृत्तौ रूप्यसामान्यज्ञानं न कारणं, किंतु रूप्यज्ञानं-मेवेति न दोषः । किंचाध्यासस्य सोपादानत्वे सकर्तृत्वापत्तिः, नचेष्टापत्तिः; जीवस्येश्वरस्य वा तत्कर्तृत्वायोगात्, साक्षादि-मते प्रपञ्चस्याकर्तृकत्वेऽपि सोपादानकत्वेऽपि न रूप्यादीनामज्ञानमुपादानम् । शुक्त्यज्ञानसत्त्वे रजतानुभवः, तज्ज्ञांशे तज्ज्ञांश इत्यन्वयव्यतिरेकज्ञानं तु तन्निमित्तत्वमात्रेणाप्युपपद्यते । अतएव हि परोक्षज्ञानेन प्रमातृगताज्ञानस्यैव नाश इति न युक्तम्; पीतभ्रमकाले शङ्खं शैल्यासिद्ध्या श्वेतार्थप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । एवंच शङ्खशैल्यानुमितावपि शङ्खपीतत्वभ्रमानुभवेऽध्य-

अथ भ्रमस्य वृत्तिद्वयोपपत्तिः ।

तस्मादधिष्ठानांशे अन्तःकरणवृत्तिः, अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः । तस्यां च तादात्म्यस्य भ्रान्तात् नाख्यातिमतप्रवेशः ॥ ननु—एवमिदमशस्याप्यध्यस्तत्वेन इदमिति व्यात्मकम्, इदं रूप्यमिति च व्यात्मकम्, स्वप्ने इदं रूप्यमिति ज्ञानं चतुरात्मकं च स्यादिति—चेन्न; इदं त्वस्याध्यस्तत्वेऽपि नेदमिति व्यात्मकम्; इदं त्वाद्यधिष्ठानस्य स्वप्रकाशकत्वात् । न हि वयं सर्वत्राध्यासे व्यात्मकतां ब्रूमः, अपित्वन्तःकरणवृत्तिसव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकाशे । अत एव नेदं रूप्यमिति व्यात्मकम्, स्वप्ने तु चतुरात्मकत्वशङ्का सर्वथाऽनुपपन्ना; इदं रूप्ययोरप्यध्यसनीयत्वात्, अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूपाधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वात् । नच रूप्यज्ञानस्याचाक्षुषत्वे ‘रूप्यं पश्यामी’ति चाक्षुषत्वानुभवविरोधः; चाक्षुषेदं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्याविद्यापरिणामत्वेन चाक्षुषत्वोपचारात्, अनुभवत्वमात्रानुभव एव ‘आत्मानं पश्यामी’त्युल्लेखदर्शनाच्च । ननु—रूप्यज्ञानस्याविद्यावृत्तित्वेन प्राप्तिभासिकतया प्रतिभासावश्यभावेनाध्यस्तविषयज्ञानस्य चाध्यस्तत्वनियमेनाविद्यावृत्तेरपि अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यवेद्यत्वम्, एवं तस्यापि तस्यापीत्यनवस्थितिरिति—चेत्, सत्यमेतत् । न पुनरनवस्था; अविद्यावृत्तिप्रतिभासके चैतन्ये अविद्यावृत्तेः स्वत एव उपाधित्वेन वृत्त्यन्तरानपेक्षत्वात् । ननु—अज्ञानस्य रूप्याकारज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमिति प्रतीतेर्ज्ञानगताकारेणैवोपपत्तावतीतविषयकज्ञानन्यायेन वोपपत्तौ रूप्यरूपाविद्यापरिणामकल्पना न युक्तेति—चेन्न; ज्ञानाकारेणैव सविषयकत्वे साकारवादप्रस-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

एवं अध्यस्तस्याधिष्ठानविषयकमनोवृत्तिसापेक्षत्वे । इदमंशस्य इदं त्वस्य । अध्यस्तत्वेन संसृष्टरूपेणाध्यस्तत्वेन । इदं त्वाद्यधिष्ठानस्य संसृष्टत्वं प्रत्याधारस्य रूप्यावच्छिन्नचितः । स्वप्रकाशत्वात् मनोवृत्तिविषयानात्मकत्वात् । व्यात्म्यकतां मनोवृत्त्यविद्यावृत्तिविषयाभ्यामाधारारोप्याभ्यां घटितताम् । सव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकाशे सव्यपेक्षोऽधिष्ठानप्रकाशो यस्य तादृशभ्रमे । यत्रादौ रूप्यभ्रमः पश्चात्तत्र चैत्रीयत्वादिभ्रमः, तत्र रूप्यं चैत्रीयमिति ब्रह्मात्मकत्वेऽपि यत्र युगपत्तादृशभ्रमस्तत्रैकैव वृत्तिः, न व्यात्मकं ज्ञानम्; मनोवृत्तिरूपाधिष्ठानधीजन्यभ्रमे तु ब्रह्मात्मकत्वमावश्यकमिति भावः । स्वप्ने तु चतुरिति । यत्रादाविदमिति शुक्तिधीः, पश्चात्तत्र रूप्यमिति धीः, तत्र स्वप्ने वृत्तिद्वयात्मकम् । यत्र तु युगपदिदं रूप्यं चाध्यस्तं तत्र स्वप्ने तदुभयगोचरैका वृत्तिः । अविद्यावच्छिन्नचिद्रूपाधिष्ठानगोचराप्यविद्यावृत्तिरन्या । तथाच पूर्वस्थले व्यात्मकं ज्ञानम्, द्वितीयस्थले तु ब्रह्मात्मकं ज्ञानम् । चतुरात्मकत्वं तु स्वाप्नस्येदं रूप्यमित्यादेर्नैति भावः । स्वप्रकाशत्वात् पूर्वजाताविद्यावृत्तिविषयत्वात् । प्रतिभासके चैतन्य इति । चैतन्य-

स्तानुपादानत्वं गमयति । एतेन—साक्षात्कृतघटानां घटत्वं पटत्वविरुद्धमिति जानतामपि अयं पट इति वाक्याभासात्पुरोवर्तिनि पटत्वानुभवोऽप्यस्माकमनुकूलः, इदं त्वपटत्वयोर्विरोधज्ञानाभावादिति—सूचितम् । अत एवाधिष्ठानज्ञानमन्तरा निवृत्तस्य पुनरपि भ्रमानुवृत्त्यापादनमपि दुष्परिहरम् । नहि रूप्यस्योदीच्यज्ञानेन ध्वंसे पुनरुत्पत्त्या तदनुभवोपपत्तिः, नापि वा पिशाचादाविव तत्र तिरोधानशक्तौ किञ्चित्प्रमाणमस्ति । एवंच रजताविद्यकत्वे न तन्निषेध्यत्वानुभवः । नहि स्वकाले सत्त्वग्रहे कालत्रयेऽपि तदभावग्रह इति युक्तमिति सर्वमनवद्यमिति—निरूपयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अध्यस्तमज्ञानोपादानकं तत्त्वज्ञाननाश्यं च । सोत्पत्तिकस्य विनध्वरस्यापि तस्यातादृशेदं तादात्म्यग्रहज्ञान तत्प्रत्ययः । यद्रूपविशिष्टस्यारोपस्तद्रूपस्यैवाधिष्ठाने प्रतीतिः, उत्पादादिकं तु मिथ्यात्वमिव न व्यक्तमिति नेदम उत्पन्नत्वादप्रत्ययापादनमप्यवसरं लभते । अन्यथा रूप्यासत्त्ववादिनां भवतामपि इदमोऽसत्त्वप्रतीतिप्रसङ्गात् । त्रैकालिकनिषेधज्ञाने न पारमार्थिकत्वं प्रकार इति न निषेधप्रतियोगिनः पारमार्थिकत्वज्ञानमपेक्षितम् । एवंचाविद्यकस्य स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वा निषेध उपपद्यत एव । अथवा—लौकिकपरमार्थरजतस्यैव निषेध इत्यपि मिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तरीत्योपपन्नमेव; आभासानाभाससाधारणरजतत्वाङ्गीकारादाभासप्रसक्त्यैवानाभासस्यापि प्रसक्तेः । इदं रूप्यमिति धीविषयसामान्ये रूप्यत्वं नास्तीति बाधस्तु इदमंशे यद्विशेषणं तद्रूप्यमेव, इदं तु न रूप्यमिति बाधकालिकप्रत्ययेनाप्रामाणिकः । व्यावहारिकस्यापि रूप्यस्याविद्यावृत्तिविषयत्वं संभवत्येव । शङ्खश्चैत्यानुमित्यनन्तरं तु न श्वेतार्थप्रवृत्तिः, किंतु शङ्खार्थैवेति न दोष इत्यादि सर्वं निरवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति रजताद्याविद्यकत्वोपपत्तिः ।

ज्ञात् । अतीतविषयवदुपपादनेऽपि अपरोक्षत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात् । नच—दोषाणां स्वाश्रय एवाति-
शयहेतुत्वेन चक्षुर्गतदोषजन्यो भ्रमः कथमचाक्षुषः स्यात् ? अन्यथा त्वचा गृहीते शङ्खे चक्षुषा
गृहीते रूप्यसादृश्ये च निमीलितचक्षुषोऽपि पीतभ्रमरूप्यभ्रमयोरापत्तेरिति—वाच्यम्; दोषाणां
स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वमित्यस्यैवासिद्धेः नियामकाभावात् । नचोक्तातिप्रसङ्गो नियामकः;
स्वसंबन्धिनि कार्यजनकत्वाङ्गीकारेणानतिप्रसङ्गात् । संबन्धश्च स्वाश्रयजन्यज्ञानविषयत्वरूपः । स
च न तदेति संस्कारविषयग्राहीन्द्रियजन्याधिष्ठानज्ञानस्यापरोक्षभ्रमहेतुत्वात् त्वचा गृहीते तदभा-
वात् सादृश्यं गृहीत्वा चक्षुर्निमीलनस्थले इदंवृत्तिसद्भावे प्रमाणाभावेन नातिप्रसङ्गापादनं शक्यम् ।
तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरेव । ननु—एवं वृत्तिभेदे ज्ञानैक्यानुभवविरोधः । नच—अध्यस्तेनाभेदेन
विषययोरेकतापन्नत्वात् ज्ञानयोरैक्यमुपचर्यत इति—वाच्यम्; एवमेकत्वप्रतिपादकप्रयोगसमर्थ-
नेऽपि अनुभवविरोधस्यापरिहारादिति—चेन्न; विषययोरभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यासे इत्यस्य
उपचारशब्दार्थत्वेनानुभवविरोधाभावात् । नच—तर्हि धारावाहिकज्ञानेष्वैक्याध्यासापत्तिः
विषयैक्यज्ञानस्यारोपनिदानस्य सत्त्वादिति—वाच्यम्; आरोपस्य कारणानापाद्यत्वात् । नच—
विषयैक्यस्य ज्ञानैक्याध्यासनिमित्तत्वं न दृष्टमिति—वाच्यम्; पूर्वोक्तयुक्त्या ज्ञानभेदे सिद्धे अपूर्व-
कल्पनायामपि दोषाभावात् । यद्वा—यथेदमंशावच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वात् रूप्यमिदंत्वेन
भाति, तथेदमाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वेन रूप्यज्ञानसिद्धज्ञानत्वेन
भाति । नच तर्हि बाधकाद्विषययोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीप्रसङ्गः; विषयभेदग्रहज्ञानभेदग्रहयोर्भिन्न-
सामग्रीकत्वेनापादनस्याशक्यत्वात् । केचित्तु—भ्रमकाले विषयैक्यग्रहनियमवत् न ज्ञानैक्यग्रह-
नियमः; तं विनापि प्रवृत्त्याद्युपपत्तेः, तथाच बाधकाले न तदनैक्यग्रहनियमोऽपीति—आहुः । नच—
इदंवृत्तेर्ज्ञातैकसत्त्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानमेव नास्तीति—वाच्यम्; वृत्तेः साक्षिवेद्यत्वेन यद्यपि
तद्गोचराज्ञानं नास्ति; तथापि तदवच्छिन्नचैतन्ये शुक्त्यवच्छिन्नगोचराज्ञानसत्त्वात् । तथाच इदं-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मेव प्रतिभासकम्, वृत्तिस्तु विद्यमाना सती व्यावर्तिकेत्युपाधिः । तथाच वृत्तेः स्तोपहितचित्तापि भास्यत्वसंभवान्न
वृत्त्यन्तरापेक्षेति भावः । उक्तत्वादिति । अपरोक्षत्वं न ज्ञानगतोऽखण्डविशेषः; 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया
धिया'मित्यादिसिद्धान्तादनावृत्तचित्संबन्धस्यैव सुखादावपरोक्षत्वरूपतया कृत्स्नत्वेन तेनैव निर्वाहादिति भावः ।
स्वाश्रये स्वाश्रयजन्ये । अतिशयहेतुत्वेन भ्रमत्वादियोजकत्वेन । त्वचेत्यादि । त्वचा गृहीते शङ्खे 'शङ्खः पीत'
इति भ्रमापत्तेश्चक्षुषा गृहीते सादृश्ये निमीलितचक्षुषोऽपि पुंसि 'इदं रजतमि'ति भ्रमापत्तेश्चल्यर्थः । रूप्यसादृश्यचाक्षु-
षस्य जनकतासंबन्धेन संयोगसंबन्धेन वाऽऽश्रयश्चक्षुः । तदजन्येऽपि ज्ञाने भ्रमत्वमुक्तचाक्षुषप्रयोज्यं स्यादिति भावः ।
सचेति । पित्ताश्रयचक्षुर्जन्यधीविशेष्यत्वसंबन्धश्चेत्यर्थः । तदा त्वङ्मात्रेण शङ्खग्रहणकाले । ननु धर्मान्द्रियसन्निकर्ष
एवेन्द्रियजन्यभ्रमहेतुः, अन्यथा शङ्खादौ रूपाद्यविषयकचाक्षुषाद्यसंभवात्, श्वेतरूपादेश्च पीतरूपादिभ्रमजनकदोषेणैवा-
ग्रहात्, पीतरूपादिभ्रमपूर्वं शङ्खादिचाक्षुषासंभवात् । नच—पीतरूपशङ्खयोर्वैशिष्ट्यमगृह्यत्तदुभयचाक्षुषं भ्रमपूर्वं जाय-
तामिति—वाच्यम्; नियमेन भ्रमपूर्वमुक्तचाक्षुषोत्पत्तौ मानाभावात्, युगपदेव तादृशचाक्षुषभ्रमयोरूपादसंभवात् ।
तथाच स्वाश्रयजन्यधीविषयतासंबन्धेन दोषस्य हेतुतासंभवस्तत्राह—संस्कारविषयग्राहीति । संस्कारहेतुनुभव-
जनकेत्यर्थः । भ्रमहेतुत्वात् भ्रमव्यवहारप्रयोजकत्वात् । परोक्षभ्रमे इन्द्रियजन्याधिष्ठानज्ञानानियमादपरोक्षेत्युक्तम् ।
कारणानापाद्यत्वादिति । यज्जातीयं कारणं यज्जातीयारोपे कचिदृष्टं, तज्जातीयात् सर्वस्मात्तज्जातीयस्यानापाद्यत्वा-
दित्यर्थः । फलबलाद्दोषाणां विशिष्ट्यैव हेतुत्वमिति भावः । अशक्यत्वादिति । ज्ञानयोः कार्यकारणत्वादिविचार-
काले कदाचित् भेदो गृह्यत एव, तयोः कार्यकारणभावास्वीकारे तु मनोऽविद्ययोः परिणामरूपा वृत्तिरेकैव स्वीक्रि-
यते । अतएव 'सुरभि चन्दन'मित्याकारा वृत्तिश्चन्दनांशे चाक्षुषमनःपरिणामः, सौरभांशे स्मृतिरूपाविद्यापरिणामः ।
अतएवच मितिमात्रांशे सर्वं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्राभाकराः । यथाचोक्तचाक्षुषस्य सौरभादौ विषयतासत्त्वेऽपि चाक्षुष-
त्वावच्छिन्नाधिकरणताया अत्रासत्त्वात् सन्निकर्षकारणत्वे व्यभिचारः, तथा रूपादावपीति ध्येयम् । ग्रहनियम इति ।
यथा निदाघकाले शीतजलहृदे मग्नस्य पुंसो नानावयवावच्छिन्नानानासुखानां न भेदधीः; तथा प्रकृतेऽपीति भावः ।
नियमोऽपीति । अर्थतत्त्वव्यवस्थापकोऽपि बाधः ययोरैक्यं भ्रमे आरोपितं भाति तयोरिव भेदमवगाहते । ज्ञानयोरै-
क्यस्य भ्रमाविषयत्वे तु तयोर्भेदं नावगाहते । वस्तुतो अर्थतत्त्वव्यवस्थापकत्वं भ्रममूलाज्ञानविषयविषयकत्वम्, नतु
यावदुक्तविषयविषयकत्वम्; आक्षिप्तबोधे तदभावात् । नवा भ्रमे ययोरैक्यारोपस्तयोर्भेदविषयकत्वं । तत एव । तथाच

वृत्तिराश्रयावच्छेदिका ननु विषयावच्छेदिकेति वस्तुस्थितिः । अतएव—शुक्तितत्त्वं जानतः इदंवृत्ति-
तत्त्वं चाजानतो रूप्यनिवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्ग इति—निरस्तम् ; शुक्तितत्त्वाज्ञानस्यैव उभय-
परिणामित्वात्, इदमंशस्तदाकारवृत्तिश्च एतद्व्यमाश्रयमात्रावच्छेदकमित्युक्तत्वात् । नचैवमपि अवा-
धितज्ञानैक्यानुभवविरोधः; अध्यस्तेन सहेन्द्रियासंप्रयोगस्यैव बाधकत्वात् । नच सन्निकर्षः प्रमासा-
मग्रीः करणानां प्राप्यकारित्वानियमेन सन्निकर्षस्यापि सामान्यसामग्रीत्वात् । नहि दृष्टा छिदा दारु-
वियुक्तकुठारेणेत्यन्यत्र विस्तरः । यत्तु शुक्तिरेव विवर्ताधिष्ठानमस्तु, न चैतन्यमिति, तत्र अधिष्ठानस्य
भ्रमजनकाज्ञानविषयत्वेन तदकल्पिततया सत्यत्वनियमात्, शुक्तेश्च मिथ्यात्वात् । यद्वा—अविद्या-
वृत्तेर्न ज्ञानत्वम्, अतः ज्ञानैक्यधीः; ज्ञानत्वस्याज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वात् । नच—एवं धारावाहन-
स्थले द्वितीयादिज्ञाने ज्ञानत्वं न स्यादिति—वाच्यम् ; तस्यापि तत्कालविशिष्टग्राहकत्वेनागृहीतग्रा-
हकतयाऽज्ञाननिवर्तकत्वात् । वस्तुतस्तु—यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति व्यवहितज्ञानेनेवाव्य-
वहितज्ञानेनापि अज्ञाननिवर्तनादिति न काप्यनुपपत्तिः । परोक्षस्थलेऽपि प्रमातृगताज्ञाननिवृत्तिरस्त्ये-
वेति तत्र जानामीति प्रत्ययः । तेन सहाभेदग्रहात् परोक्षभ्रमेऽपि जानामीति प्रत्ययः । नच विवरणे
अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात् इदंवृत्तेरपि ज्ञानत्वोक्तौ विवरणविरोधः; तस्य प्रकाशत्वनिव-
न्धनज्ञानपदप्रयोगविषयत्वमित्येतत्परत्वात्, नत्वज्ञाननिवर्तकत्वनिवन्धनज्ञानपदप्रयोगोऽप्यौपचारिक
इति तस्यार्थः । तथाचाविद्यावृत्तौ यत्र ज्ञानपदप्रयोगः, तत्रौपचारिक एव । नच—अविद्यावृत्तेरज्ञानत्वे
ज्ञानस्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमिति विरुध्येत, निरपवादनियमस्यैव संभवादिति—वाच्यम् ; इच्छाजनक-
वृत्तिमात्रस्य ज्ञानत्वमभिप्रेत्य उत्सर्गत्वोक्तेः । यद्वा—वृत्तिभेदेऽपि इदं रूप्ययोरीदमंशावच्छिन्नचैतन्य-
प्रकाश्यत्वेन फलैक्यात् ज्ञानैक्यधीः । नच—परोक्षभ्रमे अपरोक्षैकरसचैतन्यरूपफलैक्याभावात् कथं
तन्निवन्धनज्ञानैक्यानुभव इति—वाच्यम् ; तत्र फलैक्यमप्युपचर्य ज्ञानैक्योपचार इत्येव विशेषात् ।
ननु—त्वन्मते यथाक्रममिदं रूप्याकारान्तःकरणवृत्त्यविद्यावृत्तिप्रतिविम्बिताभ्यां वा, तदभिध्यक्ताभ्यां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भ्रमस्य ज्ञानयोरैक्यविषयकत्वेऽपि न क्षतिः । नन्विदंवृत्तेर्ज्ञातत्वेऽपि तस्यां रजताकारवृत्तिभेदस्याज्ञातत्वात्तदज्ञानमेव
रजतज्ञानोपादानं कुतो नोच्यते ? तत्राह—अत एवेति । इदंवृत्तितत्त्वं इदंवृत्तौ रजतवृत्तेर्भेदम् । तदज्ञानेति ।
उक्तभेदाज्ञानेत्यर्थः । तथाच रूप्यज्ञानस्याप्यनुवृत्त्यापत्तिरिति भावः । वस्तुतः अज्ञानानुच्छेदे तत्कार्यस्य रजतज्ञान-
स्यानुच्छेदेऽप्युत्तरज्ञानेन निवृत्तिसंभवात्तदनिवृत्तावपि रूप्यनाशादेव रूप्यं साक्षात्करोमीति व्यवहारासंभवानुप-
पत्तिः, परंत्वेकस्यैवाज्ञानस्य रूप्यतज्ज्ञानोपादानत्वं लाघवावुक्तम् । आश्रयमात्रेति । इदं रूप्यमस्य ज्ञानं रूप्य-
ज्ञानमिति व्याकारानुभवादज्ञानमूलकभ्रमविरोध्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नस्यैवाज्ञानाधारतावच्छेदकत्वादकस्यैवाज्ञानस्य
द्वयमाश्रयतावच्छेदकम् । नचैवम्—अस्य ज्ञानं रूप्यमित्यपि भ्रमाकारः स्यादिति—वाच्यम् ; ‘अस्य ज्ञानं न रूप्य-
मिति बाधासत्त्वादिदमादिनिष्ठयैव प्रत्यासत्त्वा दोषाणां हेतुत्वादिदमादावेव रूप्याद्युत्पत्तेः । असंप्रयोगस्य असंयोग-
प्रतिसन्धानस्य । अध्यस्तम्, इन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः, इन्द्रियासन्निकृष्टत्वादित्याद्यनुमानं बाधितमिति भावः ।
सामान्येति । भ्रमसाधारणेत्यर्थः । तदकल्पिततया अज्ञानाप्रयुक्ततया । वस्तुतः शुक्त्यादेरज्ञानविषयत्वेऽपि न
परोक्तदूषणावकाशः; ज्ञानस्यैवाज्ञानस्यापि विषयतायाः कादाचित्कत्वसंभवात् । मिथ्यात्वादिति । शुक्त्यवच्छिन्न-
चित्तो मिथ्यात्वेऽपि नाज्ञानविषयत्वम्, किंतु शुद्धचिन्निष्ठे तस्मिन् शुक्त्यादेरवच्छेदकत्वमिति प्रतिकर्मव्यवस्थादा-
वुक्तम् । किंच मिथ्यात्वेऽपि तस्या एव तत्, न शुक्त्यादेः; अप्रकाशस्वरूपत्वात् । न कापीति । वस्तुतः अज्ञान-
निवृत्तिस्वरूपयोग्यत्वं प्रमात्वपर्यवसितं ज्ञानत्वम् । अतएव इदमाकारवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि न क्षतिः । तेनेति ।
परोक्षेणाज्ञाननिवर्तकेनेत्यर्थः । भ्रमेऽपीत्यपिशब्दादपरोक्षे भ्रमेऽप्यधिष्ठानाभेदग्रहाजानामीति धीरिति सूचितम् ।
इत्थंच भ्रमे ज्ञानत्वानङ्गीकारो विचारदशायामपि ज्ञानैक्यवृत्तुपपादनायेति बोध्यम् । प्रकाशकत्वेति । असत्त्वापा-
दकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकोपहितचित्त्वेत्यर्थः । विषयत्वमिति । औपचारिकमिति शेषः । उक्तचित्तस्य जानातिशक्य-
तावच्छेदकत्वेन वृत्तौ तत्प्रयोगो न मुख्य इति भावः । निवर्तकत्वनिवन्धनेति । निवर्तकनिरुद्धलाक्षणिकत्वप्रयुक्ते-
त्यर्थः । अज्ञानत्वेन ज्ञानान्यत्वेन । ज्ञानत्वं ज्ञानपदस्य निरुद्धलक्षणम् । सुखादौ वृत्त्यस्वीकारेत्वंसत्त्वापादकाज्ञान-
विषयतानवच्छेदकत्वस्यैवेच्छाविषयतायां प्रयोजकत्वम्, ननु वृत्तेः । तथाच ज्ञानस्यैत्यादौ ज्ञानपदमुक्तानवच्छेद-
कत्वाश्रयविषयकचित्परम् । फलैक्यादिति । आवरणनाशरूपफलविशिष्टत्वेनेदमंशावच्छिन्नचित्देव फलम्, ननु रज-
तावच्छिन्ना । तथाचोक्तफलस्यैक्यात्तदवच्छिन्नवृत्तिज्ञानयोरैक्यव्यवहार इति भावः । तदभिध्यक्ताभ्यां वृत्तिकृतावरण-

वा, इदमंशावच्छिन्नतदनवच्छिन्नाभ्यामिदमंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वा, वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात् कथं फलैक्यम् ? अनवच्छिन्नफलीभूतचिन्मात्राभेदस्य सर्वत्र समानत्वात् । नहीदमंशेऽपि तदवच्छिन्नमेव चैतन्यमुपादानम् ; आत्माश्रयात् । न वा रूप्ये इदमंशानवच्छिन्नमुपादानम् ; 'इदं रूप्य'मिति प्रतीयनुपपत्तेरिति—चेन्न; अविद्यावृत्तिस्तावन्नाज्ञाननाशिका किंत्वन्तःकरणवृत्तिरिदमाकारा । तथाच तदभिव्यक्तचैतन्यमेव रूप्यमभिव्यनकीति फलैक्यसंभवात् । नह्यवच्छेदकभेदेन फलभेदः, किंतु व्यञ्जकभेदेन । तथाच परमार्थसचैतन्यमधिष्ठानमध्यस्तज्ञानस्य । तच्च द्विविधं व्यावहारिकसत् प्रातिभासिकसचेति । तदुक्तं—'प्रागव्यावहारिकसत्त्वविषयत्वात् प्रत्यक्षं नागमबाधक'मिति । परमार्थसत्त्वमादाय त्रिविधं सत्त्वम् ॥ इति भ्रमस्य वृत्तिद्वयत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नाशविशिष्टाभ्याम् । वृत्तेष्विदुपरागार्थत्वे प्रथमः पक्षः, आवरणनाशार्थत्वे तु द्वितीयः पक्षः । अथ मनोऽवच्छिन्नचितो जीवत्वपक्षे विषयचैतन्यमनावृतमेव; जीवस्य विषयचैतन्येनाभेदानभिव्यक्त्येव वृत्त्यभावकाले विषयाद्रष्टृत्वात्, अतस्तत्पक्षमाश्रित्वाह—इदमंशेति । चैतन्याभ्यामिति । इदमंशरूप्यवृत्तिकृतप्रमात्रभेदापन्नाभ्यामिति शेषः । यद्यपि दूष्यग्रन्थे न्यायामृते मध्यमो वाकारो नास्ति; तथापि पक्षत्रयसंभवात् स उक्तः । अभिव्यनकीति । इदमंशे अज्ञानास्वीकारपक्षेऽपि इदमाकारवृत्तेर्द्रव्यत्वाद्याकारकत्वसंभवेन द्रव्यत्वादिविशिष्टांशे अज्ञाननाशकत्वं बोध्यम् । व्यञ्जकेति । अज्ञाननाशकवृत्तित्यर्थः । अज्ञाननाशकभेदेनेति यावत् । तच्च अध्यस्तं च ॥ इति भ्रमस्य वृत्तिद्वयोपपत्तिः ॥

अथ भ्रमस्य वृत्तिद्वयोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अध्यस्ताविद्यकत्वे तदनुभवो न संभवति । अधिष्ठानांशेऽन्तःकरणवृत्तिः, अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः तादात्म्यस्यापि भानाशाख्यातिमतप्रवेश इति तु न युक्तम्; इदमोऽप्यध्यस्तत्वेन तदंशे इदमिति हि व्यात्मकं, इदंरूप्यमिति च व्यात्मकं, स्वप्ने चतुरात्मकं च स्यात् । अतएव हि रूप्यचाक्षुषलोपपत्तिः । अन्यथा रूप्यज्ञानस्याविद्यावृत्तित्वे प्रातिभासिकतया प्रतिभासस्यावश्यकत्वेनाध्यस्तविषयज्ञानस्य चाध्यस्तत्वनियमेनाविद्यावृत्तेरपि अविद्यावृत्तिफलितचैतन्यवेद्यत्वेनानवस्थाप्रसङ्गः । नहि चक्षुर्गतदोषजन्यो भ्रमोऽचाक्षुष इति युज्यते । अन्यथा त्वचा शङ्खस्य चक्षुषा रूप्यसादृश्यस्य च ग्रहणेन निमीलितचक्षुषोऽपि पीतभ्रमरूप्यभ्रमयोरापत्तिः । एवंचैकभेदेदं रजतमिति ज्ञानं, नतु तत्र वृत्तिद्वयम्; अन्यथा तदैक्यानुभवविरोधापत्तेः, विषयैक्येन तु न तदैक्यापत्तिः; धारावाहिकज्ञानानामेकत्वापत्तेः । वस्तुतस्तु—विषयैक्यस्य ज्ञानैक्याध्यासनिमित्तत्वं न दृष्टम् । विषयभेदग्रहकाले ज्ञानभेदाग्रहोऽपि तन्निमित्तत्वं विधटयति । किंचेदंवृत्त्यवच्छेदेनाविद्यावृत्तिर्न संभवति; तस्या ज्ञातैकत्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानाभावात्, शुक्तिरत्वं विजानतः इदंवृत्तिरत्वं चाजानतः रूप्यनिवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्गाच्च । अबाधितज्ञानैक्यानुभवोऽप्यत एवोपपद्यते । सन्निकर्षस्य प्रमामात्रसहकारित्वादसंप्रयोगेऽपि प्रत्यक्षोपपत्तिः । ज्ञानत्वमन्तःकरणवृत्ताविद्यावृत्तावपि विद्यत एव; अन्यथा रजतं जानामीत्यनुभवविरोधात् । अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानलोपचारादिति विवरणानुसारेणदं वृत्तेरपि ज्ञानत्वाभावेनदंवृत्तिरपि न ज्ञानं स्यादिति ज्ञानैक्यानुभवविरोधोऽपरिहार्य एव । अज्ञाननिवर्तकत्वस्य धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानेऽभावात् प्रकाशकचैतन्यप्रतिफलनोपाधिलमेव ज्ञानत्वप्रयोजकमिति अविद्यावृत्तिरपि ज्ञानमेव; परोक्षभ्रमैकत्वानुभवविरोधात् । अपरोक्षैकरससाक्षिरूपफलैक्येनापि नैकत्वानुभव उपपद्यते । परमार्थतस्तु—उपाध्यवच्छिन्नतदनवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदेन न फलैक्यमपि । अनवच्छिन्नफलीभूतचैतन्याभेदस्तु सर्वत्र समानः । सर्वथा भ्रमे वृत्तिद्वयं नोपपद्यते इति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

अधिष्ठानांशेऽन्तःकरणवृत्तिः, अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः । एवमपि तादात्म्यस्य भानात् नाख्यातिमतप्रवेशः । नहि वयं सर्वत्राध्यासे व्यात्मकतां ब्रूमः, किंतु अन्तःकरणवृत्तिसापेक्षाधिष्ठानप्रकाशे इति इदंत्वाद्यधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वाज्जेदमिति व्यात्मकतापत्तिः । एतेन—इदंरूप्यमित्यस्य व्यात्मकतापत्तिः स्वप्ने चतुरात्मकतापत्तिश्च—पराहता; स्वप्ने इदंरूप्ययोरुभयोरप्यविद्यावच्छिन्नचैतन्याधिष्ठानकत्वेन तस्य स्वप्रकाशत्वाच्च । चाक्षुषत्वानुभवस्तु अनुभवत्वमात्रेऽपि आत्मानं पश्यामीति वदौपचारिकः । उपचारे च निमित्तं चाक्षुषेदंवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्याविद्यापरिणामत्वमिति मन्तव्यम् । अविद्यावृत्तिप्रतिफलिते चैतन्येऽविद्यावृत्तेः स्वत एवोपाधित्वेन नाविद्यावृत्तेरपि प्रातिभासिकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गः । रूप्यमिति तु न ज्ञानगता-

अथ सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ।

ननु—एवं सत्त्वत्रैविध्यविभागो नोपपद्यते, प्रातिभासिकादप्यपकृष्टस्य स्वाप्तरूपस्य व्यावहारिका-
दप्युत्कृष्टाया अविद्यानिवृत्तेः सद्भावादिति—चेन्न; स्वप्ने प्रातिभासिकनिकृष्टत्वे प्रमाणाभावात् ।
तथाहि—प्रातिभासिकत्वं हि प्रतिभासमात्रसत्त्वम्, तच्च स्वप्नजागरयोः समानम् । ननु—जागरे
अधिष्ठानतावच्छेदकेदमंशस्याधिकसत्ताकत्वं, स्वप्नकाले तस्यापि प्रातिभासिकत्वमित्येव निकृष्टव-
मिति—चेन्न; स्वप्ने हि इदमो नाधिष्ठानावच्छेदकत्वम्; तुल्यवदारोप्यत्वात् । तत्राधिष्ठानमविद्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आरोप्यत्वादिति । यत्तु—स्वप्ने इदमंश आरोपितोऽपि न बाध्यते, तेन रूप्यादुत्कृष्टं तदिति प्रकृते विव-

कारः; साकारवादप्रसङ्गात् । अपरोक्षत्वानुभवस्तु नातीतविषयवदुपपद्यते । दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वमित्यत्र न
विनिगमकं दृश्यते । स्वसंबन्धिन्येव कार्यजनकत्वाङ्गीकारात् नानिप्रसङ्गावकाशः । ज्ञानैक्यानुभवस्तु विषयभेदेनोपचार-
निबन्धनः । उपचारशब्दार्थश्च विषययोरभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यासे इति नानुभवविरोधोऽपि । यावता च ज्ञानभेदस्ता-
वता विषयैक्याध्यासस्य ज्ञानैक्याध्यासनिमित्तत्वमपूर्वमपि कल्प्यत एव । सामर्थ्यभावात् विषयभेदग्रहकाले न ज्ञानभेदग्रह
इति न तदापत्तेरवकाशः इदं वृत्त्यवच्छेदेन रजतवृत्तिस्तु शुक्तयवच्छिन्नचैतन्यगोचराविद्याया एव परिणामः, ननु तदव-
च्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामः । इदं वृत्तिर्हि आश्रयावच्छेदिकैव ननु विषयावच्छेदिकेति न दोषः । शुक्तिरत्वं जानतः
इदं वृत्तिर्यं चाजानतो रूप्यनिवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्गोऽप्येतेन पराहतः; शुक्तित्वाज्ञानस्यैवोभयपरिणामित्वात् । अध-
स्तेन सहेन्द्रियासंप्रयोगात् वाधकात्वाधितज्ञानैक्यानुभवः । सन्निकर्षस्य प्रमाणात्रसामग्रीत्वाभावात् प्रत्यक्षत्वोपपत्तिर-
प्यविद्यावृत्त्यङ्गीकार एवोपपद्यते । अथवाऽविद्यावृत्तिर्ज्ञानम्; ज्ञानत्वस्याज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वादिति न ज्ञानैक्यानुभव-
विरोधः । धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानमपि तत्कालविशिष्टविषयकत्वेनानधिगतविषयमेवेति नानुपपत्तिः । परोक्षभ्रमेऽपि
फलैक्योपचारेण ज्ञानैक्यानुभवोपपत्त्या फलैक्यनिबन्धनो वाऽयमैक्यानुभव इति सर्वं सुस्थमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

इदमंशाधिष्ठानस्य स्वयं प्रकाशः तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वृत्तिकृत इति इदमंशे व्यात्मकतायाः तत एवेदं रूप्यमिति
व्यात्मकतायाः स्वप्ने उभयाध्यासेऽपि इदमोऽबाधेन तत्रोत्कृष्टायाश्चाविद्यावृत्तेरङ्गीकरणीयतयाऽविद्याधिष्ठानस्वयंप्रकाशतदव-
च्छिन्नचैतन्यसंबन्धिवृत्तिकृतप्रकाशाभ्यां चतुरात्मकतायाश्च समापत्त्या न भ्रममात्रे ज्ञानभेदः । इदं पश्यामीतिवत् पीतं पश्या-
मीत्यपि अनुभवेनोपचारकल्पने मानाभावाच्चाक्षुषत्वानुभवोऽप्यस्माकमेवानुकूलः । अविद्यावृत्तेः प्रातिभासिकायाः प्रतीतौ
सत्त्वं, सत्त्वे च प्रतीतिरित्यन्योन्याश्रयात्स्वयमेवानुपाधितया वृत्त्यन्तरेणैवाविद्यावृत्तिप्रकाशस्यावश्यकतया वृत्तिभेदपक्षेऽनव-
स्थाप्रसङ्गोऽप्यपरिहार्य एव । ज्ञानैक्यानुभवोऽपीदानीमेव रक्षितो भवति । विषयैक्येन तु न तदुपपत्तिः; एकविषयकप्रत्य-
क्षानुमित्यादीनामपि तदापत्तेः । अन्यथा बाधकाले विषयभेदग्रह इव ज्ञानभेदग्रहोऽपि समापद्येत । कदापि बाधकाले
वृत्तिभेदग्रहस्याभावाच्च सामग्रीविरहात्तदभावः । इदं वृत्तेः ज्ञानैकसत्त्वेन तदवच्छेदेनाधिष्ठानावरणं विना नाविद्यावृत्त्युत्पत्ति-
संभवः । शुक्तित्वाज्ञानस्यैवोभयपरिणामत्वाच्छुक्तिरत्त्वज्ञानेनोभयनाश इति कल्पनायां तु अज्ञानद्वयविवर्तत्वोक्त्ययोग
इति—व्यासादिसूत्रतर्काम्बुपूरैः पक्षयुगं युजि । न्यायामृततरङ्गिण्यामनिर्वाच्यस्य खण्डनम् । इति—
प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

यत्रादौ रूप्यभ्रमः तत्र पश्चाच्चैत्रीयत्वादिभ्रमः, तत्र रूप्यं चैत्रीयमिति यद्यपि व्यात्मकम्; तथापि यत्र युगपत्तादृश-
भ्रमः, तत्रैकमेवाज्ञानमिति मनोवृत्तिरूपाधिष्ठानधीजन्यभ्रमो वृत्तिद्वयात्मक एव । एतेन—स्वाप्नभ्रमोऽपि—व्याख्यातः ।
अयमाशयः—यत्रादौ इदमिति शुक्तिधीः पश्चात्तत्र रूप्यमिति धीः, तत्राविद्यावच्छिन्नचैतन्यगोचराविद्यावृत्त्या साकं
वृत्तित्रयं, यत्र तु युगपत्तादृशभ्रमः, तत्र तथा साकं वृत्तिद्वयमिति नेदं ज्ञाने इदं रूप्यमितिज्ञाने स्वाप्तरूप्यभ्रमे च द्वित्रिचतु-
रात्मकतापादनमत्रावसरं लभते । रूप्यं पश्यामीति तु अनुभवः औपचारिक एवेति न तदपरोक्षत्वानुपपत्तिः स्वोपहि-
तचित्तैवाविद्यावृत्तिप्रकाशसंभवाद्बृत्त्यन्तरस्यानावश्यकत्वादविद्यावृत्तेः स्वयमेवोपाधित्वान्नानवस्थाप्रसङ्गोऽपि । ज्ञानैक्यानुभवस्तु
अभेदाध्यासनिबन्धनः । कार्यकारणत्वादिविचारकाले कदाचिज्ज्ञानभेदोऽपि गृह्यत एवेति विषयभेदग्रहकाले ज्ञानभेदाग्रहस्य
सामग्रीविरहनिबन्धनत्वे न कोऽपि दोषः । एकस्यैवाज्ञानस्योभयपरिणामित्वेऽपि रूप्यनाशेनैव तत्प्रतीत्यभावोपपत्त्याऽज्ञान-
द्वयविवर्तत्वानङ्गीकारादिति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति भ्रमस्य वृत्तिद्वयोपपत्तिः ॥

वच्छिन्नमेव चैतन्यमिति वक्ष्यते । अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारतापक्षे संसारकालीनसत्त्वस्यैवायं विभाग इति न न्यूनता । यद्वा—अविद्यानिवृत्तेः सत्त्वाभावेन सत्त्वविभागे न तदसंग्रहनिबन्धनो दोषः । वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तिः ब्रह्मस्वरूपा अनिर्वचनीया वेति न विभागन्यूनता । नच—विभागस्य तात्त्विकत्वे अपसिद्धान्तः, अतात्त्विकत्वे त्रिविधत्वं गतमेवेति—वाच्यम्; ब्रह्मातिरिक्त-मतात्त्विकमिति वदतो विभागातात्त्विकत्वस्येष्टत्वात् । नच तर्हि तात्त्विकत्रैविध्यहानिः; को हि त्रैविध्यस्य तात्त्विकत्वं ब्रवीति? किंतु व्यावहारिकत्वमेव । नच—तात्त्विकस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकाच्छु-किरूप्यात् बाधाधिगम्यस्य विभागस्य कथमतात्त्विकत्वमिति—वाच्यम्; बाधबोध्यत्वं न तात्त्विकत्वे प्रयोजकम्, किंत्वाध्यत्वम् । तच्च न ब्रह्मातिरिक्तवृत्तिः; नेहनानेत्यादिना बाधात् । नच त्रिविध-सत्त्वाङ्गीकारे ब्रह्मैव सदिति स्वमतविरोधः; तस्य परमार्थसद्ब्रह्मैवेत्येतत्परत्वात् । एतेन—विश्व-मिथ्यात्वब्रह्मनिर्विशेषत्वादावप्येवं विकल्प्य दूषणमिति—अपास्तम् । ननु—अत्र परमार्थसदेव सदितरद्वयं सद्विलक्षणमेव सत्त्वेन भाति, बाधविलम्बाविलम्बाभ्यां तद्भेद इत्यभिप्रेतम्, उत वा सत्त्वस्यैवावान्तरभेद इति । नाद्यः; त्वन्मते रूप्याभावे रूप्यधीरिव सत्त्वाभावे सत्त्वबुद्धेरयोगात् । कदाचिदपि सत्त्वाभावे तुच्छवदुत्पत्त्याद्ययोगात्, व्यावहारिके प्रातिभासिकार्थगतविशेषाभावेन तत्रार्थक्रियादेः श्रुतीनां तद्विषयत्वेन प्रामाण्यस्य चायुक्त्यापातात् । प्रत्युत नभोनैल्यभ्रमहेतोरिव अर्थ-भ्रान्तिहेतुत्वेनाप्रामाण्यनिश्चय एव स्यात् । नान्यः; आरोपितानारोपितसाधारणसामान्यधर्माभावात्, व्यावहारिकस्यानारोपितविशेषत्वे इष्टापत्तेश्चेति—चेन्न; द्वितीयपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात् । तथाहि—अबाध्यत्वरूपमारोपितानारोपितयोः सामान्यम् । अन्यदा बाध्येऽपि स्वकालाबाध्यत्वमात्रेणारोपितेऽपि तस्य संभवात्, आरोपितानारोपितयोरेकसामान्याभावे प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेरुक्तत्वात् । अतएवोक्तं—‘आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्गात्रे सत्यता काचिदन्या । तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥’ इति । यथा प्रातिभासिकरजते ज्ञातैकसदेकं रजतत्वम्, लौकिकपरमार्थरजते चाज्ञातसदपरं रजतत्वम्, तदुभयानुगतं चारोपितानारोपितसाधारणं रजतत्वं रजतशब्दालम्बनम्, एवमाकाशादावारोपितैका सत्यता, चिदात्मनि चानारोपिताऽपरा, तदुभय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

क्षितम्—इति, तन्न; ‘स्वप्नदृष्टं सर्वं दृश्यं मिथ्ये’ति जागरप्रत्ययेनेदमंशस्यापि बाधात्, बहिस्थस्येदमंशस्य व्यावहा-रिकस्य प्रत्यक्षाद्यनवतारेण स्वप्ने ग्राहकाभावेन रूप्यवदिदमंशस्यापि प्रातीतिकत्वाच्च, जाग्रत्यपि शुक्तिरूप्यादिदमंशस्यो-क्तोत्कर्षसंभवेन जाग्रच्छुक्तिरूप्यापेक्षया स्वाप्नशुक्तिरूप्यस्य तावताप्यपकर्षाप्रतिपादनेन प्रकृतानुपयोगाच्च । सत्त्वा-भावेनेति । नच तस्यास्तुच्छत्वापत्तिः; उत्पत्त्यादिमत्वात् । ब्रह्मस्वरूपा केवलब्रह्मरूपा ज्ञायमानब्रह्मरूपा वा । द्वितीयपक्षे ज्ञानरूपत्वे पर्यवसानम् । अनिर्वचनीया वेति । तथाच पञ्चमप्रकारत्वपक्षे नाशस्याविद्योपादानकत्वा-भावादेव चिदास्यत्वादिनिर्वाच्यत्वं तु दुर्वारमिति भावः । अयुक्त्यापातात् अयुक्तत्वापातात् । अप्रामाण्यनिश्चय इति । व्यावहारिकज्ञानस्य उक्तश्रुतीनां चेत्यनुषज्यते । अनारोपितविशेषत्व इति । प्रातिभासिकव्यावृत्तस्यानारो-पितविशेषस्याश्रयत्वे । अबाध्यत्वरूपं बाधविषयत्वसामान्याभावरूपम् । स्वकालाबाध्यत्वेति । स्वकालावच्छिन्नोक्ता-भावेत्यर्थः । मात्रपदादनवच्छिन्नस्योक्ताभावस्य व्यवच्छेदः । तृतीयार्थस्याभेदस्य तस्यैत्यन्वयः । प्रवृत्त्याद्यनुप-पत्तेरिति । येन रजतत्वादिना विशिष्टं पूर्वमुपलब्धम् तत्प्रकारकप्रवृत्तेर्भ्रमस्थलेऽप्यनुभवात् भ्रमस्य तत्प्रकारकत्व-मावश्यकम् । तथाच अबाध्यत्वप्रकारकप्रवृत्त्यर्थं तत्प्रकारकत्वमपि भ्रमस्यावश्यकमिति भ्रमविषये अबाध्यत्वसामान्य-सिद्धिरिति भावः । ज्ञातैकसदिति । उभयानुगतजातेरागन्तुकदोषाज्ञानादिकार्यतावच्छेदकत्वासंभवात् प्रमाण-व्यापारं विना प्रातीतिकनिष्ठतया भानासंभवाच्च ज्ञातैकसद्व्रजतत्वादिकमावश्यकमिति भावः । अज्ञातसदपरमिति । साक्षिमात्रभास्यरजतत्वादेः प्रमाणवेद्यत्वानुपपत्तेः प्रातीतिकसाधारणेन रजतत्वादिना व्यावहारिकस्य कार्यविशेषं प्रति हेतुत्वे प्रातीतिकरजतादयुक्तकार्योत्पत्त्यपत्तेश्च साक्षिभास्यादन्यदुक्तकार्यहेतुतावच्छेदकं व्यावहारिकमात्रवृत्त्यावश्यक-मिति भावः । उभयानुगतत्वे मानमाह—रजतशब्देति । रजतादिशब्दानां प्रातीतिकेऽपि प्रयोगादुभयजालोः प्रयो-गनिमित्तत्वे नानार्थत्वापत्तेरुभयविशेष्यकस्य रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य हर्षविशेषादिकार्यं प्रति उभयातिरिक्तरजतत्वप्रकार-कत्वेनैव हेतुत्वादुभयानुगतं रजतत्वाद्यावश्यकमिति भावः । यत्तु—प्रातीतिकव्यावहारिकयोरेकसामान्यासंभवः—इति, तन्न; ब्रह्मदृश्ययोर्बाध्यत्वसामान्यस्येव तादात्म्यस्येव च तयोस्तत्संभवात् । यदपि—प्रातीतिकमात्रवृत्तिर-जतत्वादौ भानाभावः; दोषादिकार्यत्वस्य दोषादिविशिष्टत्वेनैव संभवात्, प्रातीतिकसंसृष्टरूपेण व्यावहारिकरजतत्वा-

साधारणी चान्या व्यावहारिकी सत्यता, सत्यशब्दालम्बनमिति भावः । सद्विशेषत्वेऽपि व्यावहारिकस्य प्रपञ्चस्य नानारोपितविशेषत्वम्, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेत्; सत्त्वस्यानारोपितत्वात्मकत्वाभावात् । सत्त्वाङ्गीकारादेव नोत्पत्त्यादिविरोधोऽपि । नच—स्वरूपेण बाध्यत्वं प्रपञ्चेऽपि नास्ति; तुच्छत्वप्रसङ्गात्, पारमार्थिकत्वाकारेण बाध्यत्वं निर्धर्मकतया ब्रह्मण्यप्यस्तीति कथं कदाचिद्बाध्यत्वमादाय व्यावहारिकत्वादित्यितिरिति—वाच्यम्; मिथ्यात्वरूपसाध्यनिरुक्तावेवास्य दत्तोत्तरत्वात् । यत्तु—सप्रकारकस्यैव ज्ञानस्य—प्रपञ्चबाधकत्वं वक्तव्यम्; निष्प्रकारकत्वे बाधकत्वायोगात्, तथाच स प्रकारस्तात्त्विक एव स्यात्—इति, तन्न; स्वरूपोपलक्षणोपलक्षितस्वरूपविषयकव्यावृत्ताकारज्ञानस्यैव निष्प्रकारकत्वेऽपि बाधकत्वमित्यस्यापि प्रागेवोक्तत्वात् । स्वरूपोपलक्षणनिबन्धनव्यावृत्ताकारत्वेऽपि यथा नाखण्डार्थत्वक्षतिः; तदप्युक्तमधस्तात् । ननु—व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्बाध्यत्वाविशेषे किंनिबन्धनो भेदः, न तावन्मायिकत्वाविद्यकत्वाभ्यां भेदः; मायाविद्ययोरभेदात्, अर्थगतविशेषाभावे तदयोगाच्च । नाप्यर्थक्रियाकारित्वाकारित्वाभ्यां विशेषः; स्वप्नघटादौ स्वप्नजलाहरणाद्यर्थक्रियादर्शनात् । नचार्थक्रियायां व्यावहारिकत्वं विशेषणम्; अन्योन्याश्रयात्, स्वप्नाङ्गनालिङ्गनादौ प्रातिभासिके व्यावहारिकसुखजनके अतिव्याप्तेश्च । नापि ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वतद्विज्ञानबाध्यत्वाभ्यां विशेषः; त्वन्मते रूप्यादेरपि शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मधीबाध्यत्वात्, ब्रह्मण्यध्यस्तस्य क्षणिकत्वादेरपि प्रातिभासिकस्य ब्रह्मधीबाध्यत्वेनातिप्रसङ्गाच्च । नापि ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वतदन्यप्रमाबाध्यत्वाभ्यां विशेषः; त्वन्मते ब्रह्मज्ञानस्यैव प्रमात्वात् । नापि प्रमाबाध्यत्वभ्रान्तिबाध्यत्वाभ्यां विशेषः; भ्रान्तिबाध्यत्वस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वात् । नापि पारमार्थिकविषयधीबाध्यत्वव्यावहारिकविषयधीबाध्यत्वाभ्यां विशेषः; अन्योन्याश्रयात् । नाप्यन्योन्येतरत्वाभ्याम्; भेदकाभावे इतरत्वस्यैवायोगात्; अन्योन्याश्रयाच्चेति—चेन्न; सप्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वाभ्यां शुद्धब्रह्मधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा महावाक्यजन्यधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा स्वबाधकधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा भेदसंभवात् । शुद्धशब्देन निर्धर्मकाधिष्ठानमात्रमेवात्र विवक्षितम् । नच—निर्धर्मकं यद् वस्तुगत्या तज्ज्ञानं भ्रमकालेऽपि, निर्धर्मकत्वविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा ज्ञानं चेद्विवक्षितं, तदा अखण्डार्थताहानिः; प्रकारीभूतनिर्धर्मकत्वद्वितीयाभावादेस्तात्त्विकत्वापत्तिश्चेति—वाच्यम्; निर्धर्मकं यद् वस्तुगत्या तन्मात्रगोचरज्ञानस्य विवक्षितत्वात्, तस्य च भ्रमकालेऽभावात् । निर्धर्मकत्वादेस्तदुद्भाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

देरपि प्रातीतिकत्वेन साक्षिमात्रवेद्यत्वादिसंभवाच्च । किञ्चोक्तसामान्यमुक्तमानादास्ताम्, आकाशादिमात्रगतसत्यतायां तु न मानम्—इति, तदपि न; दोषादिविशिष्टत्वस्य नित्यसाधारणत्वेन दोषादिजन्यत्वेऽनवच्छेदकत्वात्, तत्तद्रजतव्यक्तित्वानां तत्स्वीकारे महागौरवादेकजातीयदोषेण चिरमनुवर्तमानेन रजतादिनानाव्यक्तीनामुत्पादात् । अथ—नित्यसाधारण्यवारणाय सामानाधिकरण्यकालिकसंबन्धाभ्यां दोषविशिष्टत्वं जन्यतावच्छेदकमिति—चेन्न; उक्तोभयत्वविशिष्टसंबन्धेन दोषविशिष्टत्वं कालिकसंबन्धेन घटत्वाविशिष्टं सत् सामानाधिकरण्यसंबन्धेन दोषविशिष्टं यत्तत्त्वं वा दोषकार्यत्वावच्छेदकमित्यस्याविनिगम्यत्वात् । कल्पेन तु रजतत्वादिना सह न विनिगमनाविरहोक्तिसंभवः; कल्पस्य पूर्वमनुपस्थितत्वात् । किञ्च कालिकसंबन्धवृत्तित्वविशिष्टं यत् सामानाधिकरण्यसंबन्धवृत्तित्वं, तद्विशिष्टोभयत्वं संबन्धतावच्छेदकम् । तथाचोक्तवृत्तित्वयोर्विशेष्यविशेषणभावे कामचारात् कार्यताया अवच्छेदकभेदेन भेदापत्त्या रजतत्वादिकमेवावच्छेदकतया कल्पयितुमुचितम्, आकाशादिमात्रगतसत्यतायां तु 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मित्यादिश्रुतिरेव मानम् । अर्थगतेति । व्यावहारिकप्रातीतिकयोरविशेषे द्वयोरपि मायिकत्वमाविद्यकत्वं वा स्यादिति भावः । ब्रह्मधीति । ब्रह्म न क्षणिकमिति धीत्यर्थः । त्वन्मत इति । तथाच तदन्यप्रमात्वमप्रसिद्धमिति भावः । भ्रान्तिबाध्यत्वस्य ब्रह्म मिथ्येति आन्त्या मिथ्यात्वेन ज्ञाप्यत्वस्य । अन्योन्याश्रयादिति । पारमार्थिकत्वस्य ज्ञानात्तद्वदितव्यावहारिकत्वस्य ज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात् । अन्योन्येतरत्वाभ्यां व्यावहारिकान्यत्वप्रातीतिकान्यत्वाभ्याम् । विशेष इत्यनुषज्यते । भेदकाभावे अनुगतानतिप्रसक्तस्य भेदप्रतियोगितावच्छेदकस्याज्ञाने । इतरत्वस्य भेदज्ञानस्य । ननु प्रातीतिकान्यत्वरूपेण व्यावहारिकत्वेन भेदः प्रातीतिकत्वम्, तत्राह—अन्योन्येति । सोऽयमित्यादिजन्यनिष्प्रकारकधीबाध्यभेदस्य व्यावहारिकत्वापत्तेराह—शुद्धेति । शुद्धस्य विषयत्वास्वीकारेऽप्याह—महावाक्येति । वाक्यस्य न बाधकसाक्षात्कारहेतुत्वम्, किंतु भावनासहकृतमनस इति भावतीमतेऽप्याह—स्वबाधकेति । तदुद्भौ चरमतदुद्भौ । तस्मादित्यस्यार्थ स्पष्टयति—उपाधीत्यादि । प्रतिपक्षः सत्प्रतिपक्षः ।

पायत्वमात्रम्, न तु तद्वृद्धौ विषयत्वम् । अतो नाखण्डार्थताहानिप्रकारतात्त्विकत्वापत्ती । निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयादिनिवर्तकत्वमुपपादितमेव । तस्मादज्ञानोपादानकं जगन् मिथ्येति सिद्धम् ॥

उपाधिबाधप्रतिपक्षशून्यं निपक्षवाधागमसव्यपेक्षम् ।

दृश्यत्वमव्याहतमम्बरादिमिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढं हि मानम् ॥

तदेवं दृश्यस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात्तदतिरिक्तब्रह्मरूपाखण्डार्थनिष्ठवेदान्तवाक्यं परतत्त्वावेदकम् । सखण्डार्थविषयकं सर्वमतत्त्वावेदकमेवेति । यद्यपीदं ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमविषये प्रातिभासिके व्यावहारिकलक्षणमतिव्याप्तम् । प्रातिभासिकलक्षणं चाव्याप्तम्, तथापि करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं तदसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं च तयोर्लक्षणं निरवद्यम् ॥

इति सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ॥

अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे यमद्वैतं सत्यं प्रततपरमानन्दममृतम् ।

भजन्ते भूमानं भवभयमिदं भव्यमतयो नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये ॥

अनादिस्वखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः ।

त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-

विरचितायामद्वैतसिद्धौ सपरिकरप्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणं नाम

प्रथमः परिच्छेदः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विपक्षबाधस्तर्कः । दृश्यत्वं दृश्यत्वादिहेतुः । दृढं हि दृढमेव । करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वमिति । करणसन्निकृष्टविषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या या दोषनिष्ठा प्रयोजकता तन्निरूपितप्रयोज्यतावत्त्वमित्यर्थः । काचादिदोषाणां हि चक्षुरादिसन्निकृष्टविषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या प्रातीतिकाध्यासहेतुत्वम्; परोक्षभ्रमस्थलेऽपि व्याप्तिज्ञानादिकरणसंसृष्टपक्षादिनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव प्रातीतिकाध्यासदोषयोः कार्यकारणभावः; अन्यथा हृदादौ बह्व्याद्युत्पत्त्यसंभवात्, अविद्यायास्तु व्यावहारिकविषयकं भ्रमं प्रति तादात्म्येनैव हेतुत्वम् । अतः करणसंसृष्टप्रत्यासत्त्यनवच्छिन्नप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावत्त्वं तदसंसर्गात्वादेरर्थः । अविद्यान्यदोषप्रयुक्तत्वमविद्यादोषप्रयुक्तत्वं च द्वयोः पर्यवसितार्थः । तेन करणसन्निकर्षादेरनुगतत्वेऽपि न शक्तिः । दोषत्वं च शक्तिविशेषः । तदवच्छिन्ना प्रयोजकता प्रथमलक्षणे निवेद्या, तेन दोषप्रत्यक्षादौ व्यावहारिके नातिव्याप्तिः । तादृशप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतापि शक्तिविशेषेणैव । द्वितीयलक्षणे तु मूलाविद्यानिवेशात् न प्रातीतिके अतिव्याप्तिः । तत्प्रयुक्तत्वस्य चानादिदृश्येऽपि सत्त्वान्नाव्याप्तिः । अविद्यान्यदोषकार्यतावच्छेदकसंबन्धश्च स्वाश्रयाविद्याविषयतावच्छेदकत्वं शुक्तिवादिविशिष्टनिष्ठम् । नच—रजतादेरिदमादावेव तादात्म्येनोत्पत्तिः, रजतादिभ्रमस्य चेदमादिज्ञान एव तादात्म्येनोत्पत्तिरित्यत्र नियामकाभावादव्यवस्थेति—वाच्यम्; तत्तद्दोषविशिष्टरजतत्वाद्यवच्छिन्नस्य तादात्म्येनोत्पत्तौ तत्तद्दोषाणामिदमादिनिष्ठसंबन्धेन हेतुत्वानां स्वीकारात्, स्वाश्रयतावच्छेदकेदमादिविषयकज्ञानत्वसंबन्धेन पल्लवाविद्याया हेतुत्वं स्वाश्रयाविद्याश्रयतावच्छेदकेदमादिज्ञाननिष्ठतादात्म्येन भ्रमत्वेन कार्यत्वमित्यस्य कार्यकारणभावस्य स्वीकाराच्च । आकाराख्यविषयतासंबन्धेन भ्रमं प्रति भ्रमान्यो यः स्वपरिणामस्तद्वृत्तिविषयतासंबन्धेन पल्लवाज्ञानस्य हेतुत्वान्तरस्वीकारात् भ्रमस्य रजताद्याकारकत्वनिर्वाहः । विवेचितं चेदं परस्परध्यासविवेचने ग्रन्थादावेव । अत्र यद्यपि ब्रह्मज्ञानजन्यनाशतज्जन्यनाशयोरन्यतरप्रतियोगित्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वम्, तच्च न प्रातीतिकविशेषेऽस्ति; तन्नाशहेतुपल्लवाविद्यानाशस्यैव ब्रह्मज्ञानजन्यनाशजन्यत्वात्, तादृशपल्लवाविद्यापि मूलाविद्येव व्यावहारिकेत्येवेति न तत्राप्यतिव्याप्तिः; तथापि पल्लवाविद्यानङ्गीकारपक्षे प्रातीतिकविशेषे अतिव्याप्तिर्बोद्ध्या । अत्र पल्लवाविद्यापक्षे मूलपल्लवाविद्याप्रयुक्तत्वे लक्षणे । अविद्याप्रयुक्तत्वं च अविद्यातत्प्रयुक्तान्यतरत्वम् । पक्षान्तरे मूलाविद्यामनस्तत्परिणामान्यत्वे सति अविद्याविषयतानवच्छेदकत्वं प्रातीतिकत्वम् । उक्तलक्षणशून्यत्वे सति दृश्यत्वं व्यावहारिकत्वमिति बोध्यम् ॥ इति सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ॥

यः पूर्णानन्दमग्नौऽप्यनुगतमनसां बलुवीनां विधेयो

यश्चेन्द्रादेर्नियन्ता विजयहयतनूमार्जने सावधानः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यश्च श्रीशः सुदाम्नः पृथुककणगणात्यादरास्वादयुक्त-

स्तस्य श्रीपादुकाया भवतु कृतिरियं मालिका मल्लिकायाः ॥

इति श्रीमत्परमानन्दसरस्वतीश्रीनारायणतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीब्रह्मानन्द-

सरस्वतीविरचितायां लघुचन्द्रिकाख्यायामद्वैतसिद्धिटीकायां

प्रथमपरिच्छेदः ॥

अथ सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

ब्रह्म पारमार्थिकसत्, जगद्वावहारिकसत्, शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकसदिति सत्तात्रैविध्यविभागो नोपपद्यते; स्वाप्रशुक्तिरूप्याजगद्विषयशुक्तिरूप्यवैलक्षण्यनिर्वाहाय प्रातिभासिकादपि निरुद्धस्य सत्त्वान्तरस्य पञ्चमप्रकाराव्यावहारिका-पारमार्थिकाविद्यानिवृत्तौ व्यावहारिकादुत्कृष्टस्य सत्त्वान्तरस्य च कल्पनीयत्वात् । अपिचायं विभागोऽपसिद्धान्तापत्त्या न तात्त्विकः; त्रैविध्यहान्यापत्त्याऽतात्त्विकश्च न भवति ।

व्यावहारिकसत्योऽपि बाध्योऽबाध्योऽथवा भवेत् । उक्तदोषश्चोभयत्र सर्वमेतेन दूषितम् ॥

एतेन—विश्वमिथ्यात्वब्रह्मनिर्विशेषत्वादिकमप्युक्तविकल्पेन दूषितप्रायमिति—सूचितम् । किञ्च परमार्थसदेव सदितरद्वयं सद्विलक्षणमपि सत्त्वेन भानमात्रेण सदिति व्यपदेशभाक् । तथापि बाधविलम्बाविलम्बाभ्यां भेद इति न कल्पना संभवति । रूप्याभावे रूप्यधीरिव सत्त्वाभावे सत्त्वेन भ्रान्तेरयोगात्; अन्यथाऽसत्ख्यात्वापत्तेः । आरोपितानारोपितसाधारणसामान्यस्याभावान्न सत्येऽवान्तरभेदः, व्यावहारिकस्यानारोपितविशेषत्वे लिङ्गापत्तिः । स्वरूपेण बाध्यत्वस्य तुच्छत्वापत्त्या प्रपञ्चेऽप्ययोगेन पारमार्थिकत्वेन तस्य ब्रह्मसाधारण्याच्च ब्रह्मप्रपञ्चयोर्विशेषः कदाचिद्बाध्यत्वेन संभवति । बाधश्चायं न सप्रकारकः; प्रकारतात्त्विकतापत्तेः । नापि निष्प्रकारकः; तत्त्वायोगादिति तु दोषान्तरम् । एतेन—व्यावहारिकात् प्रातिभासिकभेदोऽपि—पराहतः । सहि मायाविद्ययोरभेदादर्थगतविशेषाभावे भेदायोगाच्च न मायिकत्वाविद्यकत्वनिबन्धनः, स्वाप्तालङ्घनादीनामप्यर्थक्रियाकारित्वात् व्यावहारिकार्थक्रियाकारित्वाच्च न बाधार्थक्रियाकारित्वतदभावनिबन्धनः । रूप्यादेरपि शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मधीवाध्यत्वाद्ब्रह्माध्यस्ततःक्षणिकत्वादेरपि ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वाच्च नापि ब्रह्मज्ञानतदन्यज्ञानबाध्यत्वप्रयुक्तः । ब्रह्मप्रमातदन्यप्रमाबाध्यत्वे तु युष्मन्मते ब्रह्मप्रमाऽन्यप्रमाऽप्रसिद्धा न विशेषके । प्रमाबाध्यत्वभ्रान्तिबाध्यत्वे च ब्रह्मणोऽपि भ्रान्तिबाध्यत्वान्न प्रयोजके । एतेन—पारमार्थिकविषयधीवाध्यत्वव्यावहारिकविषयधीवाध्यत्वे महावाक्यजन्यतदन्यधीवाध्यत्वे वा न भेदके इति—सूचितम्; प्रथमद्वितीययोरन्योन्याश्रयात् । तृतीये तज्ज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वे बाधकत्वायोगात् । सप्रकारकत्वे तत्प्रकारतात्त्विकतापत्तेरखण्डार्थताहनेत्येति जगतः सत्यत्वात्सत्यजगत्कर्तृत्वाद्यनन्तगुणे ब्रह्मण्येव वेदान्ताः प्रमाणं, नतु निर्विशेषे इति सिद्धमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

ब्रह्म पारमार्थिकं, जगत् व्यावहारिकं, शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकमिति सत्तात्रैविध्यमुपपद्यत एव । नहि स्वाप्ते प्रातिभासिकान्निकर्षे प्रमाणमस्ति । स्वप्ने हि अविद्यावच्छिन्नचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति इदमंशस्य तत्राधिष्ठानानवच्छेदकत्वान्नाधिष्ठानावच्छेदकस्यापि स्वाप्ते प्रातिभासिकत्वं जागरे तु रूप्यमात्रस्येति विशेषः संभवति । संसारकालीनस्यैव सत्त्वस्यात्र विभाग इति न पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिसाधारणसत्त्वाविभागनिबन्धना न्यूनता । वस्तुतस्तु—तस्याः सत्त्वमेव नास्तीति न तदसंग्रहो दोषः । परमार्थतस्तु—तस्याः ब्रह्मस्वरूपलक्षस्यानिर्वचनीयत्वपक्षस्यैव च युक्तत्वाच्च दोषलेशोऽपि । सचायं विभागः अतात्त्विक एव । अबाध्यत्वं हि तात्त्विकत्वप्रयोजकत्वम्, नतु बाधबोध्यत्वमिति व्यावहारिकत्रैविध्यविभागोऽप्युपपद्यत एव । ब्रह्मैव सदिति तु पारमार्थिकसत्त्वाभिप्रायम् । व्यावहारिकत्वप्रातिभासिकसत्त्वे च सत्येवावान्तरविशेषौ । स्वकालाबाध्यत्वस्य शुक्तिरूप्यादावपि सत्त्वात् अबाध्यत्वमारोपितानारोपितसामान्यम् । एवंच सत्तात्रैविध्यमुपपन्नमेव । अतएव “आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यक्षात्रे सत्यता तावदन्या । तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥” इति वचनमपि—व्याख्यातम्; सद्विशेषोऽपि व्यावहारिकप्रपञ्चो नानारोपितः, ब्रह्मप्रपञ्चोस्तु भेदेऽबाध्यत्वबाध्यत्वे प्रयोजके । यथाच स्वरूपेण प्रपञ्चबाध्यत्वं पारमार्थिकत्वेनापि ब्रह्मणो न तत्, तथा मिथ्यात्वनिरूपौ

उपपादितम् । एतेन—व्यावहारिकप्रातीतिकयोरपि विशेषो—**व्याख्यातः**; सप्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानवाध्यत्वाभ्यां शुद्ध-
ब्रह्मधीवाध्यत्वतदितरधीवाध्यत्वाभ्यां महावाक्यजन्यधीतदन्यधीवाध्यत्वाभ्यां स्वबाधकधीवाध्यत्वतदन्यधीवाध्यत्वाभ्यां वा
तस्य संभवात् । यथाच स्वरूपोपलक्षणोपलक्षितव्यावृत्ताकारकज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वेऽपि निर्वर्तकत्वं निर्धर्मकत्वादीनां द्वैतनिवर्त-
कबुद्धौ उपायत्वमेव, तथा प्रागेवोपपादितम्, उपपादयिष्यते चेति न प्रकारतात्त्विकतापत्तिरखण्डार्थताहानिर्वेति अज्ञानोपादानकं
जगत् न पारमार्थिकमिति कर्तृत्वादिशून्यनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाद्वितीयब्रह्मैव वेदान्तार्थ इति सिद्धमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सत्तात्रैविध्यविभागो न युज्यते; प्रातिभासिकादपि निकृष्टस्य स्वाप्निकसत्त्वान्तरस्यापि कल्पनीयत्वात् । इदमः स्वप्नेऽधिष्ठान-
तावच्छेदकत्वेऽपि न बाधो दृश्यत इति प्रातिभासिकात् स्वाप्नस्य विशेषः । एतेन—पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ सत्त्वान्तरा-
कल्पनेन न्यूनताऽपि—**सूचिता** । मुक्तिदशानुगतब्रह्मसत्त्वासंप्रहापत्त्या न संसारकालीनस्यैव सत्त्वस्य विभागः । नापि वा
तस्याः सत्त्वमेव नास्तीति कल्पनोपपत्तिः; तुच्छत्वप्रसङ्गात् । तद्ब्रह्मस्वरूपत्वं त्वसाध्यत्वापत्त्या न संभवदुक्तिकमपि । सचायं
विभागो नातात्त्विकः; ब्रह्मणोऽपि अतात्त्विकत्वप्रसङ्गात्, किंतु तात्त्विक एव । अतएव तस्य स्थूलमित्यादिश्रुतिबोध्यत्वोपपत्तिः ।
एतेन—ब्रह्मैव सदिति वचनमपि—**व्याख्यातम्**; नह्यारोपितानारोपितसाधारणसत्त्वं निर्वर्तकुलम् । उभयसाधारणस्यो-
भयात्मकतायां विरोधात् । बाध्यत्वावाध्यत्वाभ्यां ब्रह्मप्रपञ्चवैलक्षण्यं तु न संभवतीति पूर्वमेव निरूपितम् । एतेन—
व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्विशेषोऽपि—**परास्तः**; निष्प्रकारकबाधकत्वाद्ययोगादिति सर्वमनवद्यमिति—**प्रतिपादयन्ति ॥**

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

स्वप्नदृष्टं सर्वं दृश्यं मिथ्येति जागरप्रत्ययेनेदमंशस्यापि बाधात् बाह्यस्येदमंशस्य प्रत्यक्षाद्यसंभवेन रूप्यवत्तस्यापि प्रातीति-
कत्वात् जाग्रत्यपि शुक्तिरूप्यादिदमंशस्योत्कर्षसत्त्वेन जाग्रच्छुक्तिरूप्यापेक्षया स्वाप्नशुक्तिरूप्यस्य ततोऽप्यपकर्षाप्रतिपाद-
नेन प्रकृतानुपयोगाच्च । स्वाप्नप्रातिभासिकयोरेकरूपत्वात् उत्पत्त्यादिमत्त्वेन तुच्छत्वानापत्त्या पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेः सत्त्वा-
भावेऽप्यदोषेण तस्या ज्ञानरूपत्वेन वोपपत्तेश्च सत्तात्रैविध्यमुपपद्यत एव । सचायं विभागोऽतात्त्विक इत्याद्यद्वैतसिद्धावेव
सम्यङ् निरूपितम्; न तरङ्गिणीकारैरपि दूषितमिति विस्तरभयादुपरमाम इति सर्वं सुस्थमिति—**विवेचयन्ति ॥**

इति सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ॥

इति महामहोपाध्यायविरुद्धभूषितश्रीपञ्चापगेशगुरुवरप्रसादलब्धाद्वैतविद्याप्रकाशस्य

विद्वद्भरसुब्रह्मण्यतनूजस्यानन्तकृष्णशास्त्रिणः कृतिषु चतुर्ग्रन्थ्यां

प्रथमः परिच्छेदः ॥

ब्रह्मार्पणमस्तु ॥



॥ श्रीः ॥

॥ द्वितीयपरिच्छेदः ॥

तत्राखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः ।

हेयं निरूप्य बन्धाख्यं तन्निवृत्तेर्निबन्धनम् । यज्ज्ञानं तदखण्डार्थमादेयमधुनोच्यते ॥

तच्चाखण्डार्थं द्विविधम् । एकं पदार्थनिष्ठम्, अपरं वाक्यार्थनिष्ठम् । एकैकं च पुनर्वैदिकलौकिक-
भेदेन द्विविधम् । पदार्थनिष्ठं वैदिकमपि द्विविधम् । तत्पदार्थनिष्ठं त्वंपदार्थनिष्ठं च । तत्र 'सत्यं ज्ञान-
मनन्त'मित्यादि तत्पदार्थनिष्ठम् । 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इत्यादि त्वंपदार्थ-
निष्ठम् । 'प्रकृष्टप्रकाश' इत्यादि तु लौकिकं पदार्थनिष्ठम् । वाक्यार्थनिष्ठमपि वैदिकं 'तत्त्वमस्या'दिवा-
क्यम्, 'सोऽयं देवदत्त'इत्यादि तु लौकिकम् ॥ अत्राहुः—किमखण्डार्थत्वम्? न तावन्निर्भेदार्थत्वम्;
यतो निर्भेदार्थत्वस्य शब्दबोध्यत्वे विशेषणतायामुपलक्षणतायां च 'निर्घटं भूतल'मिति वत् सखण्डार्थ-
तैव स्यात्, शब्दबोध्यत्वे तु वस्तुगत्या यन्निर्भेदं ब्रह्म तद्वोधकसगुणवाक्यानामपि अखण्डार्थत्वा-
पत्तिः । अथ यन्निर्भेदं वस्तुगत्या, तन्मात्रपरत्वम्, न; प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येऽव्याप्तेः, तेषां धर्मिसम-
सत्ताकभेदवद्वस्तुपरत्वेन वस्तुगत्या निर्भेदार्थनिष्ठत्वाभावात् । अत एव निर्विशेषार्थत्वमपि न ।
नाप्यपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्; शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यादाव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मा भैष्टेत्यमृतस्यन्दिमुखचन्द्रमनोहरम् । गोवर्धनधरं धाराधरधौरेयमाश्रये ॥

श्रीनारायणतीर्थानां पदपङ्केरुहस्मृतिः । स्मृतिमव्याहतां कुर्यात् सदा पदपदार्थयोः ॥

पदार्थनिष्ठं पदार्थयोर्भेदबुद्धिविरोधित्वे सत्यखण्डविषयकम् । वाक्यार्थनिष्ठं उक्तबुद्धिविरोधित्वे सत्यखण्डविषय-
कम् । पदार्थो च महावाक्यीयौ ग्राह्यौ । तेन 'सत्यं ज्ञान'मित्यादेरपि स्वघटकपदार्थयोर्भेदधीविरोधित्वेऽपि न दोषः ।
महावाक्यार्थबोधोपयोग्यखण्डवाक्यार्थबोधजनकं पदार्थनिष्ठम् । अनन्यशेषाखण्डवाक्यार्थबोधजनकं वाक्यार्थनिष्ठ-
मिति वा बोध्यम् । यन्महावाक्यीयपदार्थयोः भेदबुद्धिविरोधि सत् तन्महावाक्यीयपदार्थरूपाखण्डार्थकं यत्, तत्
तन्महावाक्यीयपदार्थनिष्ठम् । यन्महावाक्यार्थबोधोपयोगिपदार्थबोधपर्यवसायि यत्, तत् तन्महावाक्यपदार्थनिष्ठम् ।
यन्महावाक्यीयपदार्थयोर्भेदबुद्धिविरोधि सत् तन्महावाक्यार्थरूपाखण्डार्थकं यत्, तत् तन्महावाक्यार्थनिष्ठम् ।
यन्महावाक्यार्थबोधे अनन्यशेषे पर्यवसायि यत्, तत् तन्महावाक्यार्थनिष्ठमिति निष्कर्षः । सोऽयं देवदत्त
इत्यादीत्यादिपदादयं चन्द्र इत्यादिसंग्रहः । प्रकृष्टप्रकाश इत्यादीत्यादिपदेन लम्बकर्णो देवदत्त इत्यादेरपि । पदार्थनिष्ठस्य
ग्रहणात्तदुपकार्यस्य सोऽयमित्यादेरुक्तिर्नासङ्गतेति बोध्यम् । शब्दबोध्यत्वे सोऽयमित्यादिपदयोरन्यतरेणोपस्थाप्य-
तावच्छेदकत्वे । विशेषणतायाम् उपाधित्वे विशेषणत्वे च उपलक्षणतायामिति । उपलक्ष्यतावच्छेदकधर्मान्तरेण
बोधजनकस्यैवोपलक्षणतानियमादुपलक्षणतायामपि सखण्डार्थत्वमित्यभिमानः । अपर्यायेत्यादि । अपर्याययोः
प्रातिपदिकयोरर्थमात्रेण एकस्मिन् प्रातिपदिकार्थे पर्यवसायित्वम्, भिन्नरूपेण स्वार्थस्मृतिद्वारा एकमात्रप्रातिपदिकार्थानु-
भावकनानानामत्वमिति यावत् । 'घटः कलश' इत्यादिवारणाय द्वारान्तम् । 'शीतोष्णस्पर्शौ पयःपावका'वित्यादेर्वार-
णाय शेषम् । एकप्रातिपदिकार्थमात्रानुभावतावच्छेदकाकाङ्क्षादिमत्त्वार्थकम् । नच 'घटः कलश' इत्यादेरनाकाङ्क्षत्वेना-
न्यदलेनैव वारणादाद्यदलं व्यर्थमिति—वाच्यम्; उद्देश्यविधेययोरेक्येन सप्रकारकबोधं प्रत्यनाकाङ्क्षत्वेऽपि 'एको द्वा'-
वित्यादाविव 'संभेदे नान्यतरवैयर्थ्य'मिति न्यायेन प्रातिपदिकार्थमात्रानुभावकत्वे बाधकाभावात् । अतएव
प्रातिपदिकार्थानतिरिक्तविषयाणि ग्राह्य भगवान् प्रथमाशब्दितविभक्त्या पाणिनिः । अतः सकलतर्कसमयज्ञो वष्टि
वचसोऽनतिरिक्तविषयत्वमित्यनेनोच्चैरित्यादौ नामप्रथमादिविभक्त्योरेकार्थानुभावकत्वमुक्तं संक्षेपशारीरके । नच—एवं

नेकप्रातिपदिकार्थपरेऽतिव्याप्तेः । नच—संभूयार्थपरत्वमत्र नास्त्येव, प्रत्येकं त्वेकैकार्थपरत्वं लक्षण-
वाक्यत्वादिति नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम् ; तथापि ब्रह्मण्यभावात्, अभिधया लक्षणया वा वेदान्त-
वाक्यानां निःसंबन्धे ब्रह्मणि पर्यवसानानुपपत्तेः । अत एव नैकविशेष्यपरत्वमपि; तद्वि शिष्टैकविशेष्य-
बोधकनीलोत्पलादिवाक्ये अतिव्याप्तेरिष्टापत्तेश्च । यत्तु—अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रसितिजन-
कत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थत्वम् । तदुक्तं पञ्चपादिकाकृद्भिः—
'पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानां अनन्याकाङ्क्षाणां अव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थमात्रान्वयः इति ।
उक्तञ्च तत्त्वप्रदीपिकाकृद्भिः—'संसर्गसङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् । उक्ताऽखण्डार्थता
यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥' इति । तन्न; आद्ये 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग' इत्यादौ संयोगलक्षण-
वाक्येऽव्याप्तेः । अथ पदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वं विवक्षितम्, तत्रापि 'द्विषदन्नं न भोक्तव्य'-
मित्येतत्परे 'विषं भुङ्क्ष्वे'ति वाक्ये अतिव्याप्तिः । नच—'द्विषदन्नं न भोक्तव्य'मिति शास्त्रमूलत्वेन
शास्त्रीयपदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वादत्र नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम् ; युक्तिमूलत्वेनास्य शास्त्र-
मूलत्वासिद्धेः । अथ प्रतिपिपादयिषितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वमत्र विवक्षितम्, तत्राप्यसंभवः;
चन्द्रब्रह्मादिशब्दार्थानां स्वरूपतो ज्ञाततयाऽप्रतिपिपादयिषितत्वेन संसर्गविशेषप्रतियोगित्वेनैव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

'घटः कलश' इत्यादौ लक्ष्यत्वमेव स्वीक्रियतामिति—वाच्यम् ; अखण्डार्थत्वं हि भिन्नरूपेणोपस्थितिद्वारा स्वार्थयोर्भेद-
बुद्धिविरोधितादृशानुभवजनकस्यैव । तथाच घटकलशपदार्थयोर्भेदबुद्धेराहार्यत्वेन तां प्रति विरोधित्वस्याप्रसिद्ध्या न
तत्पदयोरेखण्डार्थत्वम् । अखण्डविषयकस्यापि तादृशानुभवस्यापि तादृशानुभवस्य तादृशभेदधीविरोधित्वं भिन्नरूप-
विशिष्टयोस्तादात्म्यधीद्वारकत्वाच्चानुपपन्नम् । तादृशधीद्वारकत्वं च संक्षेपशारीरके उक्तम् । 'सामानाधिकरण्यमत्र
भवति प्राथम्यभागान्वयः पश्चादेव विशेषणेतरेतया पश्चाद्विरोधोद्भवः । उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मधीः
सर्वैरेव ततः पदैरयमिह श्रेयः क्रमः सूरिभिः' ॥ इति । सामानाधिकरण्यं पदयोः समानविभक्तिकत्वनिश्चयः ।
अन्वयस्तात्पर्यविषयशाब्दधीप्रयोजकः । विशेषणेतरेतया भिन्नधर्मविशिष्टयोस्तादात्म्यधीः विरोधोद्भवः तादृश-
धियः प्रमात्वाभावेन तात्पर्याविषयत्वज्ञानमिति भावः । अर्थपरत्वम् एकनामार्थमात्रपरत्वम् । प्रत्येकमिति ।
यद्यपि 'पयः शीतस्पर्शम्' 'पावक उष्णस्पर्श' इति वाक्यद्वयं प्रकृते न श्रूयते, न वा कल्पनीयम्, द्विवचनान्तपदाभ्या-
मेव तात्पर्यविषयधीसंभवात् ; तथापि समासान्तर्गतयोरपि पयःपदशीतस्पर्शपदयोः सुबन्तत्वमतुबन्तत्वप्रतिसन्धानं
विना न शाब्दधीः, स्वप्रकृत्यव्यवहितोत्तरत्वेन प्रत्ययज्ञानस्यासमासस्थले हेतुतया क्लृप्तत्वात् । एवं सुबन्तयोरप्यव्यव-
हितत्वेन ज्ञानापेक्षणात्तादृशवाक्यद्वयस्य प्रकृतेऽवश्यं प्रतिसन्धेयत्वेन तस्यैव प्रत्येकशब्देन लक्ष्यत्वेन ग्रहणम् ।
अथवा—समासवाक्येनालक्ष्येण वाक्यार्थं बुद्ध्वा पश्चात् प्रतिसन्धीयमानमुक्तवाक्यद्वयमिह प्रत्येकं लक्ष्यत्वेनाभिमतम्,
समासवाक्यं तु संसर्गाविषयकानुभवजनकत्वरूपलक्षणस्यैव लक्ष्यम् । अतएव संसर्गसङ्गीत्यादितत्त्वप्रदीपिकादौ
लक्षणद्वयमुक्तम् । प्रकृतलक्षणानुरोधेनैकनामार्थमात्रविषयकबोधद्वये उक्तवाक्यस्य तात्पर्यकल्पनेनोक्तवाक्यजन्यबो-
धोत्तरं वाक्यद्वयानुसन्धानस्यावश्यकत्वात् वस्तुतो वाक्यद्वयानुसन्धानाभावेऽपि श्रूयमाणोक्तवाक्यस्यैव बोधद्वयोप-
धायकत्वमुक्तलक्षणानुरोधितात्पर्यवशादिति ध्येयम् । एकैकार्थपरत्वम् एकैकार्थमात्रपरत्वम् । नातिव्याप्तिरिति ।
वस्तुतः समुदितवाक्येऽपि लक्ष्यत्वं लक्षणवाक्यस्थमात्रपदस्य विशेषणीभूतपदार्थान्तरव्यवच्छेदपरत्वेन पदार्थान्तरा-
विशेषणकनामार्थधीपर्यवसायित्वं लक्षणं च संभवतीति बोध्यम् । निःसंबन्ध इति । निःसंबन्धत्वात् कल्पितोऽप्य-
भिधालक्षणसंबन्धो न भवतीत्यभिमानः । इष्टापत्तेरिति । नीलादिविशेषणभानेऽपि विशेष्यमुत्पलादिरूपमेकं मन्म-
तेऽपीष्टमिति भावः । परस्परानवच्छिन्नार्थानां वाच्यतासंबन्धेन परस्पराविशेषितार्थानामन्योन्यवाच्यवाचकाना-
मपर्यायानामिति यावत् । अव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थमात्रान्वयः यतः अव्यतिरिक्तं विशेषणीभूतेन पदा-
र्थान्तरेणाविशेषितम्, अत एकरसं पदार्थान्तरसंसर्गनैरपेक्ष्येण भासमानं यत् तस्य प्रातिपदिकार्थमात्रस्य च अन्वयः ।
प्रमापकत्वमिति । पूर्वोक्तलक्षणयोः संवादो बोध्यः । वेदान्तानामनन्यशेषत्वरूपमनन्याकाङ्क्षत्वम्, नतु स्तुतिपर-
तया कर्मविशेषत्वम् । अत उक्तप्रमापकत्वसंभव इति ज्ञापनार्थमनन्याकाङ्क्षाणामित्युक्तम् । अथवा—'घटो गन्धा-
श्रयः पृथिवी'त्यादौ गन्धाश्रयपदस्य घटपदरूपान्याकाङ्क्षत्वे पृथिवीपदमनाकाङ्क्षम् । अतो न पृथिवीरूपाखण्डप्रमाप-
कत्वमतस्तदुक्तम् । तत्प्रातिपदिकार्थता एकप्रातिपदिकार्थमात्रप्रमापकत्वम् । मूलत्वासिद्धेरिति । यद्यपि शास्त्र-
स्यामूलत्वेऽपि तादृशमासवाक्यं मूलं संभवति; तथापि न सर्वत्र, क्वचित्तदभावेऽपि शब्दान्यमानमूलकस्य 'विषं
भुङ्क्ष्वे'ति वाक्यतात्पर्यविषयस्य शत्रुगृहभोजनानिष्टसाधनत्वस्य संभवात् । प्रतिपिपादयिषितेति । प्रकृतवाक्य-

प्रतिपिपादयिषितत्वात् । अत एव न द्वितीयलक्षणमपि, तथाच लक्षणासंभवात् प्रमाणमप्य-
संभवि; अलक्षिते प्रमाणस्योपन्यसितुमशक्यत्वात्—इति । अत्रोच्यते—पदवृत्तिसारितातिरिक्तमत्र
संसर्गपदेन विवक्षितम् । तथाचापर्यायशब्दानां पदवृत्तिसारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वमाद्य-
लक्षणं पर्यवसितम् । तथाच न संयोगलक्षणे अव्याप्तिः; तस्य पदवृत्तिसारितत्वात् । नापि द्विपद-
भोजननिषेधके अतिव्याप्तिः; तत्रानिष्टसाधनत्वसंसर्गस्य पदवृत्त्यसारितस्य प्रतिपाद्यत्वात् । ‘शीतो-
ष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावका’ वित्यत्र त्वखण्डार्थत्वमिष्टमेव । नच—धर्मधर्मिभावासहमखण्डार्थत्वं कथं
धर्मिभेदं सहतामिति—वाच्यम्; एकत्रासहिष्णुतायाः सर्वत्रासहिष्णुतायामहेतुत्वात्, शीतस्पर्श-
वत् पयः, उष्णस्पर्शवान् पावक इति वाक्यार्थभेदाच्च । असंभवस्तु तन्मात्रप्रशोत्तरत्वादिति हेत्व-
सिद्ध्युद्धारं निरसिष्यते । अत्रच ‘घटः कलश’ इत्यादौ संसर्गाप्रमापके एकार्थपरेऽतिव्याप्तिवारणाय-
पर्यायशब्दानामिति । तत्रापि बहुवचनेन संभूयैकार्थप्रतिपादकत्वस्य लाभान्न ‘धवखदिरपलाशा’
इत्यादावतिव्याप्तिः । पदज्ञाप्येत्युक्ते अर्थापत्त्या पदज्ञाप्यमनिष्टसाधनत्वमादाय ‘विषं भुङ्क्ष्वे’ति वाक्ये

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तात्पर्यविषयैत्यर्थः । पदवृत्तीति । स्वघटकपदवृत्तीत्यर्थः । स्वं लक्ष्यभूतं वाक्यम् । अपर्यायेत्यादि । स्वघटकपद-
वृत्तिसारितान्यागोचरप्रमाजनकत्वे सति पर्यायतापन्ननामद्वयवदितत्वमर्थः । तस्य संयोगस्य । धर्मधर्मिभावासहं
विशेषणविशेष्यभावासहम् । धर्मिभेदं पदार्थद्वयविषयकत्वम् । एकत्र विशेषणविशेष्यभावे । सर्वत्र पदार्थद्वयविषय-
कत्वादौ । अहेतुत्वात् अव्याप्तत्वात् । वाक्यार्थभेदादिति । तथाच प्रत्येकमुक्तवाक्यद्वयं लक्ष्यम्, न तु समुदि-
तवाक्यम् । नच—एवं ‘पयःपावका’ वित्यत्र त्वखण्डार्थत्वमिति पूर्वोक्तप्रतिज्ञाविरोध इति—वाच्यम्; इत्यत्रेत्यस्योक्त-
वाक्यसमानविषयकवाक्यद्वय इत्यर्थकत्वादिति भावः । एकार्थपरे एकार्थप्रमापके । तत्प्रमितिशक्तत्वस्यैव तत्परत्वरूप-
त्वात् । यथाच प्रमापकत्वं तथोक्तमनुपदम् । एवंच प्रमाजनकत्वदलमक्षतमिति भावः । बहुवचनेनेति । द्विवचन-
बहुवचनद्वन्द्वसमासानां साहित्यबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् साहित्यस्य चैकक्रियान्वयित्वरूपत्वादुक्तप्रमारूपैक-
क्रियजनकत्वमेव प्रकृते बहुवचनलभ्यमिति भावः । इत्यादाविति । इति आदिर्यस्य तादृशे धवखदिरपलाशास्तत्त-
दसाधारणधर्मयुक्ता इति वाक्ये इत्यर्थः । यथाश्रुते तु नामार्थेषु सुवर्थसङ्ख्यादिसंसर्गप्रमापकत्वेन पदसारितातिरिक्ता-
गोचरप्रमाजनकत्वाभावादेव वारणसंभवेन साहित्यविवक्षाया व्यर्थत्वात् । ननु—उक्तवाक्यस्यासाधारणधर्मोपलक्षिता-
खण्डार्थत्वेन संसर्गाविषयकत्वेऽपि धवादिनानाविषयकप्रमारूपैकक्रियान्वयित्वरूपसाहित्यस्यापि सत्त्वात् कथं तद्वारणम् ?
न ह्येकमात्रार्थप्रमा प्रकृतलक्षणे प्रविष्टा; येन तादृशप्रकृतक्रियान्वयित्वरूपसाहित्यं प्रकृते लभ्यते । यदि च तद्वदितमेव
लक्षणमुच्यते, तदा ‘शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावका’ वित्यत्र लक्षणोक्तिर्विरुध्येतेति—चेत्, सत्यम्; तथापि
पूर्वोक्तरीत्या ‘धवोऽसाधारणधर्मयुक्तः खदिरोऽसाधारणधर्मयुक्त’ इत्यादिवाक्यानामनुसन्धानेनैव शाब्दबोधात् । नच
संभूयेत्यादिमूलानुपपत्तिः; यत्र क्रमिकोक्तानुसन्धानेभ्यः क्रमेणैव धवाद्यखण्डबोधा जाताः, न तु युगपत्, तत्रप्रत्येक-
वाक्यस्यैव एकवाक्यविशिष्टापरवाक्यस्याप्येकवाक्यार्थमात्रप्रमाजनकत्वानुपायात्तत्रातिव्याप्तिवारणायोक्तप्रमां प्रति जनक-
तावच्छेदकं यत्पदसमभिव्याहृतयत्पदत्वं तत्पदसमभिव्याहृततत्पदत्वमखण्डार्थत्वमित्यर्थलाभाय साहित्यस्योक्तत्वात् ॥

यद्यप्येवमपि पदान्तरविशिष्टसोऽयमित्यादिवाक्ये अतिव्याप्तिः स्यादेव, ननु—पदान्तरविशिष्टप्रत्येकवाक्यं प्रत्येक-
वाक्यादतिरिक्तं, न वा, आद्ये तस्य जनकतावच्छेदकशून्यत्वान्नातिव्याप्तिः; द्वितीये तस्य लक्ष्यत्वादेव न सेति—
चेन्न—आद्ये तस्य जनकतावच्छेदकत्वात् । न हि विशिष्टसत्ता सत्तात्वशून्या, सत्तादिविशिष्टघटो वा घटत्वशून्यः;
विशिष्टसत्ता सत्तेत्यादिप्रत्ययात्, विशिष्टे केवलतादात्म्यस्येव केवलवृत्तिधर्मसंसर्गस्यारोपात्, केवले विशिष्टतादात्म्यत-
द्धर्मयोरिव विशिष्टेऽपि केवलतादात्म्यतद्धर्मयोरारोपात्, परस्पराध्यासानुरोधात् । किंच ‘सोऽय’मित्यादिवाक्यज्ञानस्य
स इति पदोत्तरायमिति पदविषयकत्वेन नाखण्डधीहेतुत्वम्; स इति पदत्वेन घटादिविषयकज्ञानादखण्डप्रत्ययात् ।
तथाचैकपदविशिष्टापरपदत्वे जनकतायाः स्वरूपसंबन्धरूपावच्छेदकत्वाभावेऽपि यत्पदविशिष्टयत्पदविषयिता तत्त-
दखण्डधीजनकताव्याप्या तत्पदविशिष्टतत्पदत्वमखण्डार्थत्वमिति वाच्यम्, तथाच प्रत्येकवाक्यस्यैव पदान्तरविशिष्ट-
स्यापि तस्य विषयिता तादृशजनकताव्याप्येति तत्रातिव्याप्तिः स्यात्; तथापि तादृशजनकताव्याप्यविषयिताकं
तादृशविषयिताकेनान्येनावष्टितं यत् तत्त्वमेवाखण्डार्थत्वम् । एतेन—प्रमेयत्वादिधर्मविशिष्टस्य सोऽयमित्यादेरपि
वारणम्; तस्य तादृशविषयिताकत्वे सत्यपि तादृशविषयिताकेनान्येन सोऽयमित्यनेन वदितत्वात् । एवंच पदान्तर-
विशिष्टस्य सोऽयमित्यादेः सर्वस्याखण्डार्थकस्य वारणाय निरुक्तार्थकसाहित्योक्तिरिति पर्यवसितम् । उक्तजनकतावच्छे-

अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय—वृत्तीति । तथाप्यन्विताभिधानवादिमते शक्यत्वाऽभिहितान्वयवादि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दकानुपूर्वी यावत्सु पदेषु पर्याप्ता, तावदितरपदाघटितत्वं लक्षणमिति निष्कर्षः । ध्वेत्यादिकं तु उपलक्षणम् । तत्र बहुवचनं नामानेकत्वमात्रस्य बोधकम्, नतु नामबहुत्वबोधकम्; नाश्वोरप्यखण्डार्थकत्वादिति बोध्यम् । वस्तु-
तस्तु—धवखदिरपलाशा इत्यत्र धवेति खदिरिति प्रत्येकपदेऽतिव्याप्तेर्बहुवचनेनैकप्रमाजनकानेकनामघटितत्वं लक्षणे निवेश्यते । नच—ध्वेत्येकनाम्नः प्रमाजनकत्वाभावादेव तत्र नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्; अभिहितान्वयमते प्रत्ययादिनिरपेक्षप्रकृतेः प्रकृत्यादिनिरपेक्षप्रत्ययस्य च स्वार्थानुभावकत्वेन तादृशानुभवस्यैव प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्ग-
बोधे हेतुत्वात्, शाबरभाष्यादौ तथैवोक्तत्वात् । यत्तु—स्वार्थप्रतियोगिकस्य स्वार्थान्तरगतस्य संसर्गस्यानुभावके यौगिके पङ्कजादिपदे अतिव्याप्तेर्वारणाय बहुवचनम्—इति, तन्न शोभते; स्वघटकपदवृत्तिस्मारितान्याविषयक-
प्रमाजनकत्वस्यैव प्रकृते निवेश्यतया पङ्कादिरूपस्वघटकपदवृत्तिस्मारितपङ्कादिभिन्नसंसर्गप्रमापकत्वस्यैव पङ्कजादि-
पदे सत्त्वात् । नच—एवं ‘पङ्कजं गन्धविशेषवत्’ ‘पावको धमनविशेषव’ नित्यादिलक्षणवाक्येष्वव्याप्तिरिति—
वाच्यम्; तेषां पङ्गादिरूपमात्रपरत्वेन पङ्कादिसंसर्गप्रमापकत्वात् । अथ—अन्विताभिधानमते अभिहितान्वयमते च प्रकृत्यर्थान्वितप्रत्ययार्थेऽपि शक्तिस्वीकारात् पङ्कजन्मादिसंसर्गोऽपि पदवृत्तिस्मारित इति—चेत्, न; अन्वितशक्ते-
रन्वयांशे कृत्वस्यानुपदमाचार्यैर्वक्ष्यमाणत्वात् । ननु—पदवृत्तिपदेन कृतद्वितान्तसमासा अपि ग्राह्याः, स्मारि-
तपदेन तज्ज्ञाप्या अपि ग्राह्याः, तथाच पङ्कादिसंसर्गोऽपि पदवृत्तिस्मारितः । अतएव द्वितीयलक्षणस्थवृत्तिपदस्य तथैवार्थः, अन्यथा औपगवादिनामार्थस्य तत्र वृत्तिविषयत्वोक्तिविरोधादिति—चेन्न; द्वितीयलक्षणे अभ्युपेत्य तथो-
क्तावपि प्रथमलक्षणे तथोक्तौ मानाभावात्, तावतापि बहुवचनेन तद्वारणासंभवाच्च । तथाहि—बहुवचनं नानेक-
नामार्थकम्; पङ्कजादिसाधारण्यात्, नापि सुबन्तत्वेन प्रतिसन्धीयमानानेकार्थकम्; सरसिजमित्यादौ तत्सत्त्वात्,
‘तत्त्वमसी’त्यादावव्याप्तेश्च । नापि विभक्त्यन्तत्वेन ज्ञायमानानेकार्थकम्; सरसिजमित्यादिसाधारण्यात् । अर्था-
पर्या ‘द्विषदन्नभोजनमनिष्टसाधन’मित्यर्थं विना आसोक्तस्य विषमित्यादिवाक्यस्यार्थवत्त्वमनुपपन्नमित्याद्यर्थापर्या ।
अनिष्टसाधनत्वं द्विषदन्नभोजनस्यानिष्टसाधनत्वसंसर्गम् । वृत्तीति । पदवृत्तित्वार्थः । ननु स्मारितेति त्यक्त्वा
ज्ञाप्येति कुतो नोक्तम्? उक्तार्थापर्या ज्ञाप्ये अनिष्टसाधनत्वसंसर्गे वृत्तेरनुपयोगात् साक्षाद्वृत्तिज्ञानजन्यज्ञानविषय-
त्वाभावाच्च तद्विवक्षणेनोक्तसंसर्गवारणसंभवात्, वृत्तिज्ञानाधीनविषभोजनस्मृतिद्वारकार्थापर्यैव तज्ज्ञापनात्तत्राह—
तथाप्यन्वितेति । संसर्गस्यान्विताभिधानमते शक्यत्वा ज्ञाप्यत्वादभिहितान्वयमते लक्षणया ज्ञाप्यत्वादतिव्याप्ति-
रिति योजना । प्रकृत्यर्थस्येवाभिहितान्वयमतेऽपि प्रकृत्यर्थसंसर्गस्य शक्तिलभ्यत्वाद्वाक्यार्थसंसर्गस्येत्युक्तम् । क्रियाकार-
कयोः संसर्गस्येति तदर्थः । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—‘प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहिर्विद्यतेऽभिहितसङ्गतिश्च नः ।
प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुनर्नित्यमन्वितधियोर्निमित्तता’ इति । अभिहितसङ्गतिरिति । पदजन्यशब्दधीमात्रजन्यानु-
भवविषयत्वमित्यर्थः । पदजन्यानुभवाविषयत्वे सति पदजन्यानुभवजन्यानुभवविषयत्वमिति यावत् । प्रत्ययप्रकृति-
शब्दतो बहिरिति । प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्यः संसर्गस्तदन्यसंसर्गस्येत्यर्थः । प्रकृत्यर्थान्वितप्रत्ययार्थप्रतियोगिकसंसर्गस्येति
यावत् । अभिहितान्वयमते हि पक्षत्रयं वार्तिकादावुक्तम् । तथाहि—तर्कचरणे वाक्याधिकरणीयवार्तिके—‘भावनैव
हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया । अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययार्थस्तु सेव्यते ।
कैश्चिदन्यैस्तु धात्वर्थः सामीप्येनोपकारतः ॥ अपरैः समुदायार्थस्तथैवाभ्युपगम्यते । पाकादौ यत्र दृष्टास्ति भवत्यादौ
तथैव च ॥’ इति । वाक्यार्थः वाक्यप्रयुक्तशब्दधीमुख्यविशेष्यः । आख्यातवत्तया आख्यातसामान्यप्रतिपाद्य-
त्वात् । तेन वर्तमानत्वादौ लडादिमात्रप्रतिपाद्ये न व्यभिचारः । वाक्यार्थत्वं प्रकटयति—अनेकेत्यादि । सामीप्ये-
नेति । प्रत्ययस्येत्यादिः । तथाच प्रत्ययस्य पूर्ववृत्तिरूपसामीप्यसंबन्धेनावच्छिन्नं प्रकृतिनिष्ठायां शाब्दबोधहेतुता-
यामवच्छेदकत्वम्; प्रकृतेरेव तत्संबन्धेन प्रत्ययविशिष्टरूपेण भावनाविशिष्टे पाकादावनुभावकतास्वीकारात् । समु-
दायार्थः प्रकृतिप्रत्ययोभयार्थः, प्रकृतिविशिष्टप्रत्ययार्थ इति यावत् । प्रकृत्यर्थान्वितप्रत्ययार्थशाब्दबोधे उत्तरवृत्तिता-
संबन्धेन प्रकृतिविशिष्टप्रत्ययस्य हेतुतास्वीकारात् विशिष्टहेतुताग्राहकमानेन विशेषणेऽपि हेतुताग्रहादुभयोर्हेतुता ।
कार्यतावच्छेदकं तु पच्यादिधातोः पाकान्वितभावनाशाब्दत्वं पाकान्वितशाब्दत्वं वा । तिबादिप्रत्ययस्यापि कार्यान्वि-
तभावनाशाब्दत्वमन्वितभावनाशाब्दत्वं वेति वक्ष्यते । अत्र प्रत्ययार्थत्वं प्रत्ययमात्रजन्यशाब्दधीविषयत्वम्; प्रकृति-
प्रत्ययसमुदायार्थत्वपक्षस्य वक्ष्यमाणत्वात्, एवं धात्वर्थत्वादिकं बोध्यम् । तथाच भावनादिकं प्रत्ययमात्रवाच्यम्;
तच्छाब्दबोधानुकूलशक्तेरेव तद्वाचकत्वरूपत्वात् । उपलक्षणमेतत् । एवं तद्रीत्या कर्मत्वादिकं सुवर्थो नामार्थ उभयार्थो
वेत्यपि बोध्यम् । एवंच प्रथमपक्षे कर्मत्वादिकममाद्यर्थ इव घटत्वादिकं घटादिनामार्थः । तथाच प्रकृत्या प्रत्ययेन च

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वार्थघटत्वादिमात्रं प्रथमतोऽनुभाव्यते; स्वार्थसंस्कारसहितस्य पदज्ञानस्य साक्षादेव स्वार्थानुभवे हेतुत्वात्, नतु तदर्थ-
स्मृतिद्वारं तत्र स्वीक्रियते । यथा पञ्चपाद्यां स्वीकृतं—‘व्यासिसंस्कारविशिष्टं लिङ्गज्ञानमनुमितिहेतुः, नत्वनन्तरव्यासि-
स्मृति’रिति । ताभ्यां प्रकृतिप्रत्ययजन्यानुभवाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गशाब्दधीर्जायते, नतु प्रकृतिप्रत्ययाभ्याम् ।
तथा प्रकृत्यर्थान्वितकर्मत्वादिसंसर्गस्य क्रियायां शाब्दधीरित्याद्यः पक्षः । प्रत्ययपूर्ववृत्तिविविशिष्टप्रकृतेः कर्मत्वादिविशिष्ट-
घटत्वादावनुभावकत्वं प्रकृत्युत्तरप्रत्ययस्य घटत्वादिविशिष्टकर्मत्वादावित्यपरं पक्षद्वयम् । तयोराद्यमादाय करणत्व-
विशिष्टं दधि विधीयते इति गुणकामाधिकरणे शास्त्रदीपिकादायुक्तम् । द्वितीयमादाय दधिविशिष्टं करणत्वं विधीयत
इत्युक्तम् । तत्र कर्मत्वादिकारकस्य विशेष्यत्वमेव युक्तम्; ‘प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययार्थः प्राधान्येन’ति
नैरुक्तानुशासनात् । अतएव भावार्थाधिकरणे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । नच—तथापि घटत्वाद्यन्वितकर्मत्वादेः
घटादिपदमेव वाचकम्; मुख्यत्वात्, नतु तदुत्तरप्रत्ययः; जघन्यत्वादिति—वाच्यम्; तथासति प्रत्ययार्थस्य
निरुक्तकाराद्युक्तप्राधान्यानुपपत्तेः, प्रत्ययस्यावाचकत्वेन तदर्थस्यैवाप्रसिद्धेः, संभवत्यर्थसाधुत्वे पदसाधुत्वस्य द्योतकत्व-
मात्ररूपस्यान्यार्यत्वात्, घटपदापेक्षया अमौद्घसां भूयस्त्वेन मुख्यत्वन्यायस्य प्रकृते वाधस्यौचित्यात् । ‘विप्रतिषिद्ध-
धर्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्व’मिति न्यायेन कर्मण्यमादिविधायकानुशासनसिद्धममादीनां भूयसां कर्मत्वादि-
वाचकत्वरूपं धर्मं न बाधितुं युक्तम्, किंतु एकस्य घटपदस्य मुख्यत्वन्यायसिद्धं कर्मत्वादिवाचकत्वमेव बाध्यते ।
अतएवैकत्वादिसंख्यापि अमाद्येकवचनादेरेवार्थः, नतु नामार्थः, नामार्थस्तु जातिरेव । व्यक्तिरपि लक्षणयैव ।
यत्र बहुषु धर्मो न प्राप्तः, किंतु सन्निधः, यथा नव्यतार्किकमते शब्दसमवायित्वमेकस्यैवैशस्य, उत बहूनां
जीवानामिति सन्देहे, जीवेषु तस्याप्राप्तत्वेन वाधाप्रसक्त्या ईशस्य प्राथम्यरूपमुख्यत्वस्याभावाच्च विप्रतिषिद्धेत्यादि-
न्यायाविषयत्वादेकत्र तत्कल्पने लाघवान्न जीवेषु तत्कल्पनम् । तस्माद्विभक्तेर्द्योतकत्वं स्वीकृत्य प्रातिपदिकार्थपञ्चक-
त्वमतमयुक्तमेव । अतएव निपातानां द्योतकत्वं भट्टवार्तिके दूषितम् । किंच घटपटादिपदानां घटत्वपटत्वादिकर्म-
करणत्वादिष्वनन्तशक्तिकल्पने अवच्छेदकगौरवं महदित्याशयेन द्वितीयपक्षस्यैवावलम्बनम् ॥

ननु—प्रथमपक्षे पदार्थसंसर्गाविषयकः पदार्थविषयकशाब्दबोधः कुत्रोपयुज्यते? प्रवृत्ताविति चेन्न; उपादानताव-
च्छेदकप्रकारकप्रत्यक्षमिष्टसाधनत्वादिज्ञानं च तत्र हेतुः । तत्रोक्तशाब्दबोधो नाद्यः, सप्रकारकत्वप्रत्यक्षत्वयोरभावात् ।
न द्वितीयः; घटत्वादिकर्मकानयनमिष्टसाधनमित्याद्याकारकत्वाभावात् । अथ—तत्र विशेषणधीविधया स उपयुज्यते,
तदुक्तं नामधेयचरणे भट्टैः—‘अनुपस्थितविशेषणविशिष्टधीर्न जायते, नत्वनभिहितविशेषणापी’ति—चेन्न; न
त्वनभिहितविशेषणेत्यनेनैव विशेषणस्य शाब्दबोधानपेक्षोक्तेः । तथाच पदजन्यपदार्थस्मृत्यैव विशिष्टधीसंभवात्
नोक्तशाब्दबोध आवश्यकः । उच्यते—यथा क्रियाकारकयोरन्वयबोधे घटमित्यादिपदज्ञानं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरन्वय-
धीद्वारा न कारणम्; तादृशधिय एव तत्र हेतुत्वसंभवेन तद्वारा तस्य हेतुत्वे गौरवात्, किंतु तादृशधियं प्रत्येव तस्य
पदार्थस्मृतिद्वारा हेतुत्वमिति द्वितीयतृतीयपक्षयोः स्वीक्रियते, तथा तादृशधियं प्रत्युक्तस्मृतिद्वारोक्तपदज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि
गौरवादुक्तपदज्ञानस्य पदार्थमात्रविषयकशाब्दबोधं प्रति साक्षादेव हेतुता । तन्मात्रविषयकत्वं तु सांसर्गिकविषयित्वा-
निरूपिततद्विषयताशालित्वम् । तेन घटमित्यादिपदस्य घटत्वकर्मत्वादिसमूहालम्बनजनकत्वेऽपि तत्संग्रहः । घटत्व-
विशिष्टकर्मतादिशाब्दधीत्वं नोक्तपदधीजन्यतावच्छेदकम् । तत्स्वीकारे तु तदपेक्षया गौरवम् । ‘श्वेतोऽश्वो धावती’-
त्यस्यैव वाक्याजन्यस्य घटत्वविशिष्टकर्मतादिविषयकशाब्दबोधस्य भट्टमते स्वीकारेण तत्र व्यभिचारवारणाय कार्यता-
वच्छेदके तादृशपदज्ञानविशिष्टत्वनिवेशात् सुतरां गौरवम् । पदार्थमात्रशाब्दबोधस्तु न पदं विनोत्पद्यते । येन तत्रापि
व्यभिचारवारणापेक्षा । न च—प्रथमपक्षेऽपि पदजन्यबोधस्य घटत्वीया कर्मतेत्यादिशाब्दबोधं प्रति हेतुत्वस्य स्वीकारा-
त्तादृशकारणस्य पदजन्यबोधाजन्ये ‘श्वेतोऽश्वो धावती’ति बोधतुल्यबोधे व्यभिचारवारणाय तत्कार्यतावच्छेदके तादृश-
कारणवैशिष्ट्यनिवेशस्यावश्यकत्वात् प्रथमपक्षेऽपि गौरवं तुल्यमिति—वाच्यम्; घटत्वीया कर्मतेत्यादिबोधे घटमित्यादि-
पदजन्यघटत्वकर्मत्वधीरूपाया आसक्तेः कारणतायाः पक्षत्रयेऽपि स्वीकारात् । तत्र व्यभिचारवारणस्य पक्षत्रयेऽपि
कर्तव्यत्वात् । एतावांस्तु विशेषः—यथाऽऽद्यपक्षे पदजन्यशाब्दधीरेव तादृशी आसक्तिः, इतरपक्षयोस्तु पद-
जन्या स्मृतिरिति । वृत्त्या पदजन्यपदार्थज्ञानस्य स्वविशिष्टशाब्दत्वं जन्यतावच्छेदकमिति तु पक्षत्रयेऽपि बोध्यम् ।
नच—घटमित्यादिपदज्ञानं घटपदतदर्थयोर्वृत्तिरूपसंबन्धविषयकसंस्कारसहितं घटादिनामविभक्त्यर्थयोः संसर्गविष-
यकशाब्दधीहेतुरस्तु, किमासक्तेर्हेतुत्वकल्पनयेति—वाच्यम्, घटः कर्मत्वमित्यादिनिराकाङ्क्षपदजन्यपदार्थोपस्थित्या
नामविभक्त्यर्थयोः संसर्गविषयकपदप्रयोज्यशाब्दबोधवारणाय तादृशशाब्दबोधे घटमित्यादिवाक्यघटकपदजन्यपदार्थ-
ज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनात् । तादृशपदजन्यत्वं च वृत्त्या ग्राह्यम् । तच्च घटादिपदतदर्थवृत्तिज्ञानजन्यसंस्कारसहकृतत्वम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथाचोक्तसंस्कारोक्तपदाभ्यां जनितज्ञानस्य हेतुत्वम् । अतएवाकाशमिति पदादाश्रयाश्रयिभावसंबन्धेनाकाशसंबन्धि-
तया गृहीतादुपस्थितस्याकाशस्याकाशमेकमिति न शाब्दधीः । अतएवार्थाध्याहारवादिभिरपि तादृश्या घटकर्मत्वाद्युप-
स्थित्या सहितादानयेत्यादिपदात् घटमानयेत्यादिवाक्यस्थलीयो बोधो न स्वीक्रियते । भट्टमतेऽपि वाक्याजन्यस्य
शाब्दबोधस्य स्वीकारेऽपि नोक्तोपस्थित्या शाब्दधीः स्वीक्रियते । पदाजन्याभिरेव साकाङ्क्षपदजन्याभिरेव वा तादृ-
शोपस्थितिभिस्तस्याः स्वीकारात् । अतएवानयेति पदमात्रस्मरणे घटकर्मत्वस्य पदाजन्योपस्थित्या भट्टमते क्रियाकार-
कयोर्नान्वयधीः; 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति भट्टोक्तेः; शाब्दी शब्देन केनचिच्छाब्दबोधे जनयितव्ये या
आकाङ्क्षा, सा शब्देनैव निष्पाद्यते । यत्र शब्दः कोऽपि न श्रुतः, तत्र शब्दस्य नाकाङ्क्षासंपादकत्वम् । यथा 'पश्यतः
श्वेतिमारूप'मित्यादौ भट्टैरुक्ते शाब्दबोधे शाब्दबोधेच्छारूपैवाकाङ्क्षा पदाद्यघटितैव । किंच घटमित्यादिपदे विस्मृतेऽपि
तादृशार्थज्ञानात्तादृशसंसर्गशाब्दधीर्दर्शनाज्ज्ञोक्तपदधीः साक्षाद्हेतुः । नच—एवं निर्विकल्पकपदार्थमात्रशाब्दधीरपि
घटमित्यादिसाकाङ्क्षपदधीजन्या, कथं तत्रापि घटादिपदस्यामादिपूर्ववृत्तित्वे विस्मृतेऽपि तादृशशाब्दधीः स्यादिति—
वाच्यम्; तस्याः साकाङ्क्षपदधीजन्यपदार्थस्मृतिस्थानीयत्वेन घटादिपदे अमादिपदपूर्ववृत्तित्वरूपाकाङ्क्षाविस्मरणे सति
तस्या उत्पत्त्यसंभवात् । न हि तादृशविस्मरणे सति घटादिपदमात्रजन्या स्मृतिः साकाङ्क्षपदजन्या । अतएव न घट-
त्वीया कर्मतेति शाब्दधीजनिका । तस्मात् पदजन्योपस्थितिजन्ये पदार्थसंसर्गशाब्दबोधे तादृशासत्तेर्हेतुतया पदार्थमात्र-
विषयकस्यापि शाब्दबोधस्योक्तसंसर्गशाब्दबोधोपयोगित्वम् । पदार्थस्मृतिस्तु प्रथमपक्षे नासत्तिः संभवति; लाघवेन
पदार्थमात्रानुभावकत्वस्य एतत्पक्षे पदे कल्पनात्, पदार्थमात्रशाब्दानुभवस्यैव पदादुत्पत्तिसंभवेन स्मृतिकल्पनाया
व्यर्थत्वात् । नच—पदार्थमात्रं प्रति स्मारकत्वमेव पदस्य कल्प्यते, नानुभावकत्वमिति—वाच्यम्; हस्तिहस्तिप-
कयोर्हि संयोगादिसंबन्धेन मिथःसंबन्धितया गृहीतत्वात्तयोरेकज्ञानस्यापरस्मारकत्वं युक्तम्, पदस्य तु स्वार्थं प्रत्यनु-
भावकत्वस्याकल्पनात् पदार्थसंसर्गानुभावकत्वस्य गौरवेणाभावात् संबन्धान्तरस्य च तत्र तस्याभावात् स्मारकत्वा-
संभवात् । नहि स्मृतिशक्तत्वरूपं स्मारकत्वमेव स्मृतिप्रयोजकः संबन्धः; हस्तिहस्तिपकादिस्थले तददर्शनात्, तथा-
ननुभवाच्च । एवंच घटमित्यादिपदात् प्रथमतः पदार्थानुभवस्यैवोत्पादात्तस्य पदार्थसंसर्गबोधं प्रति विशेषणधीविध-
यापि हेतुत्वसंभवः । कर्मता घटस्वीयेति बोधे कर्मताया अविशेषणत्वेऽपि विशेष्यतावच्छेदकप्रकारकधीविधया
तद्वियो हेतुता; क्रियाकारकसंसर्गबोधे तस्या अपि विशेषणत्वेन तत्रैव तदुपयोगसंभवाच्च । ननु—एवमपि पदार्थ-
मात्रानुभवस्य ज्ञातविषयकत्वेनाप्रमात्वात् तज्जनकत्वेऽपि शब्दस्य प्रमाणत्वं न स्यादिति—चेन्न; प्रमाकरणत्वाभावेऽपि
प्रमाप्रयोजकत्वरूपस्यैव प्रमाणत्वस्य शब्दे प्रथमपक्षे स्वीकारात्, उक्तलाघवानुरोधात् । तथेन्द्रियादीनामपि प्रत्यक्षादि-
प्रमायां प्रयोजकत्वमेव स्यात्, नतु कारणत्वविशेषरूपं करणत्वम्; निर्विकल्पकीयतुरीयविषयतासंबन्धेनैव प्रत्यक्षं प्रत्यपि
लाघवेनेन्द्रियस्य संयोगादिसंबन्धेन हेतुतास्वीकारसंभवात् । नच—निर्विकल्पकस्यातीन्द्रियत्वात्तदादाय साक्षात्करो-
मीति मानसं न स्यादिति—वाच्यम्, भट्टमते ज्ञानमात्रस्यातीन्द्रियत्वेन प्राकव्यरूपज्ञाततामादायैव साक्षात्करोमीति
मानसधीनिर्वाहात्, शब्दप्रयोज्ये शब्दाजन्ये शाब्दत्वस्यैव इन्द्रियप्रयोज्ये इन्द्रियाजन्येऽपि सप्रकारकबोधे साक्षा-
त्कारत्वस्य संभवात् । अतएव शब्दजन्यतापि जातिरूपपदार्थनिष्ठतुरीयविषयताशालिशब्दत्वेनैव; सांसर्गिकविषयत्वा-
निरूपितत्वादिनिवेशे गौरवात्, तुरीयविषयताया विषयत्वान्तरानिरूपितत्वेन पदार्थसंसर्गबोधे व्यभिचाराभावात् ।
तथाच निर्विकल्पधीरेव प्रथमपक्षे शब्देन्द्रियादिजन्या । अतएवालोकननामकं निर्विकल्पमेवेन्द्रियजन्यमित्यन्येऽपि
वदन्ति । संसर्गप्रमायां तदयोगव्यवच्छिन्नकारणरूपं करणम् । एवमनुमित्यादिकमपि प्रथमं निर्विकल्पकं जायते ।
पश्चात् सविकल्पकं, प्रथमत एव वा तत् सविकल्पकम्; तत्र व्याख्यादिघटकतया साध्यादिज्ञानसत्त्वेनानुमित्यादिरूप-
विशिष्टधीसंभवेन निर्विकल्पकानुमितिर्वैयर्थ्यात्, 'तद्धेतोरेव तदस्तु' इति न्यायात् । अतएवाभिहितान्वयवादो भट्टमते ।
तन्मते अभहितेन पदार्थेन करणेन पदार्थसंसर्गशाब्दधीर्जायते । तथा च व्यवहारः, द्वितीयतृतीयपक्षयोरप्यभिहितेन
प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गेण करणेन क्रियाकारकयोः संसर्गशाब्दधीः । अभिधानं च पदजन्यानुभवः । तस्य करणत्वेन
तद्विषयत्वविशिष्टस्य करणत्वव्यवहारः । तदेवं प्रथमपक्षोपपादनम् । द्वितीयतृतीयपक्षवादिनां त्वयमाशयः । न निर्विकल्प-
कस्य शब्दप्रमाणजन्यतासंभवः; प्रमाणत्वावच्छेदेनागृहीतग्राहिधीजनकत्वनियमात् । नच—उक्तधीप्रयोजकत्वस्यैव
नियमस्तदवच्छेदेनेति—वाच्यम्; साक्षात्तज्जनकत्वसंभवे परंपरया जनकत्वाकल्पनात् । नच—निर्विकल्पकविषय-
तायाः शब्दकार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात्तथा कल्पनमिति—वाच्यम्; स्मृतावेव शब्दजन्यत्वतुरीयविषयत्वयोः संभवेन
शब्दजन्यनिर्विकल्पके शाब्दत्वे मानाभावात्, स्मरामीति मानसस्यैव तत्र तज्जन्यज्ञातताया वोत्पत्त्या शाब्दयामीति
मानसाभावात् । नच संबन्धाभावेन स्मारकत्वासंभवः; पदार्थसंसर्गानुभावकत्वस्यैव पदे पदार्थसंबन्धत्वसंभवात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नच—अगृहीतग्राहित्वस्य प्रमाणजन्यज्ञाने नियमे मानाभाव इति—वाच्यम्; विषयव्यवस्थापकत्वस्यैव तत्र मानत्वात् । तच्च स्वविशेष्ये स्वविशेषणस्य विपरीतज्ञानाभावप्रयोजकत्वम् । ज्ञानान्तरेण तत्र तस्य गृहीतत्वे तु तस्य ज्ञानान्तरस्य तादृशाभावप्रयोजकतया कृतत्वेन गृहीतग्राहिणस्तत्कल्पने मानाभावः । किञ्च तुरीयविषयताशालिशब्दत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वेऽपि घटत्वाद्यंशे निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्मके 'श्वेतोऽश्वो धावती'त्याकारे वाक्याजन्यशाब्दबोधे च व्यभिचारान्तुरीयविषयतावच्छिन्नशाब्दत्वमेव तथा वाच्यम्, तथाचाप्रसिद्धम्; पदार्थयोः संसर्गविषयतायामेव शाब्दत्वावच्छेदकत्वस्वीकारात् । कर्मतायां घटत्वस्य संबन्धं शृणोमि घटत्वीयकर्मतां शृणोमि घटत्वं कर्मताविशिष्टं शृणोमि शाब्दयामीत्याद्यनुभवस्यैवोदयेन शुद्धघटत्वं स्मरामीत्येव प्रत्ययात् । अतएव पर्वते वह्निसंबन्धमनुमिनोमि, नतु केवलपर्वतं वह्निसंयोगं वेति प्रत्ययः पक्षसाध्यसंसर्गविषयतावच्छिन्नमनुमित्वमवगाहते । तस्मादज्ञातस्यैव विशेष्यविशेषणसंसर्गस्य प्रमाणप्रयुक्तविषयताकत्वेन न पदार्थमात्रविषयता प्रमाणप्रयुक्ता । ननु—अनुभवमात्रस्यागृहीतग्राहित्वेऽपि शब्दजन्यबोधोऽनुभवविलक्षणः, पदार्थमात्रेण सह पदस्य स्मृतिप्रयोजकसंबन्धाभावेन स्मृतिविलक्षणश्च, पदार्थसंसर्गानुभावकत्वे गौरवेण पदार्थमात्रे तत्स्वीकारे च स्मारकत्वकल्पनाया वैयर्थ्यादभिधायकत्वस्यैव पदे स्वीकारात्, स्मृतिशक्तत्वस्य स्मृतिप्रयोजकसंबन्धतायाः कुत्राप्यदृष्टत्वेन संबन्धान्तरस्यैव तस्याः सर्वत्र कल्पनादिति—चेन्न; निर्विकल्पके शाब्दत्वस्याप्रामाणिकत्वेन पदार्थसंसर्गानुभावकत्वस्यैव पदानामुचितत्वस्योक्तत्वात्, स्मृत्यनुभवविलक्षणानन्तबोधकल्पनापेक्षया स्मृतिद्वारकसंसर्गानुभावकत्वस्यैव लघुत्वाच्च । त्वयापि हि निर्विभक्तिकघटादिपदात् घटत्वादिस्मृतिः स्वीक्रियत एव । तथाच घटादिपदत्वेनैव स्मारकत्वस्य त्वयापि स्वीकारात् शाब्दनिर्विकल्पके स्मृतिव्यवस्था दुर्वारत्वेन तुरीयविषयतावच्छिन्नशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति शब्दस्य हेतुतान्तरकल्पनस्य वैयर्थ्येन पदार्थद्वयविषयतानिरूपितसंसर्गिकविषयतावच्छिन्नशाब्दत्वेनैव शब्दकार्यत्वं युक्तमिति । अपिच वृद्धयोर्व्यवहारं दृष्ट्वा यथा बालस्य शक्तिग्रहः, तथा प्रथमतः सुबन्ततिङन्तसमुदायरूपे महावाक्ये एकवाक्यताप्रकारकज्ञानस्य विशिष्टैकवाक्यार्थशाब्दबोधहेतुतां गृहीत्वा तदन्यथानुपपत्त्या सुबन्ततिङन्तपदानां समुदायघटकानां कार्यप्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गबोधं तादृशहेतुतायां बालो द्वारतया कल्पयति । तत्रापि तादृशसंसर्गबोधस्य साक्षात् सुबन्तादिपदजन्यत्वानुपपत्त्या द्वारतया पदार्थमात्रज्ञानं विभक्त्यन्तपदघटकनामादिपदजन्यं कल्पयति । तत्र पश्चात् पदार्थमात्रज्ञानजनकत्वमेव नामादिपदस्य विभक्त्यादिसहितस्य गृहीत्वा प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गशाब्दधीजनकत्वस्य त्यागे उपजीव्यविरोधापत्तिः । नच—एकवाक्यताज्ञानस्य हेतुत्वे मानाभाव इति—वाच्यम्; अन्वयव्यतिरेकज्ञानसहकृतप्रत्यक्षस्य तत्र मानत्वात् । नच—वाक्याजन्ये 'श्वेतोऽश्वो धावती'ति शाब्दबोधे व्यभिचार इति—वाच्यम्; वाक्यार्थबोधे पदार्थज्ञानमाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिसहकृतं सामान्यसामग्री, विशेषसामग्री तु एकवाक्यताप्रकारकपदसमूहविशेष्यकज्ञानं तद्विशिष्टे वाक्यार्थज्ञाने । श्वेतोऽश्वो धावतीत्यादौ तु श्वेतरूपदर्शनस्थले गवादिद्रव्याभावनिश्रयात् अश्वसंसर्गं विना दृश्यमानं श्वेतत्वमनुपपन्नमिति धीः श्वेतरूपस्याश्वान्यद्रव्यवृत्तित्वबाधधीसहकृता द्रव्यवृत्तित्वधीर्वा धावनकर्तृत्वं विनोपलभ्यमानं खुरविक्षेपशब्दादिकमनुपपन्नमिति धीर्धावनकर्तृत्वस्य तादृशद्रव्यवृत्तित्वधीर्वा 'पश्यतः श्वेतिमारूपं हेपाशब्दं च शृण्वतः । खुरविक्षेपशब्दं च श्वेताश्वो धावतीति धीः । दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित् ॥' इति वार्तिकोक्तेरिति ।

ननु—अत्र पक्षे 'अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः । परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुगमेव पूर्वम् ॥' इति संक्षेपशारीरकोक्तिविरोधः; प्रकृत्यादिपदस्य स्मृतिजनकत्वेन स्मृतिसमेत्यस्यासङ्गतेः, यदि हि पदार्थस्मृत्यनन्तरं स्मृतिसमो बोध इत्युच्यते, तदाप्यसङ्गतिः; प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गस्याज्ञातत्वेन तद्बोधस्य स्मृतिसमत्वाभावात्, अन्विताभिधानमतेऽपि पूर्वं स्मृतेर्द्वितीयार्थे उच्यमानत्वेन मतयोर्विशेषालाभाच्चेति—चेन्न; पदपदस्य सुबन्तनामपरत्वात् । तथाचान्त्यपक्षे यद्यपि नाम्ना सुपा च स्वार्थस्य स्मृतिरेव जन्यते, नतु प्रथमपक्ष इव शाब्दानुभवः; तथापि तत्त्वमस्यादिवाक्यस्थलेऽखण्डार्थकधीरेव मिलिताभ्यां सुबन्तपदाभ्यां जन्यते । अखण्डस्यार्थस्य च चिद्व्यक्तिमात्रस्वरूपत्वेन पूर्वं ज्ञातत्वात् प्रत्येकमपि ताभ्यां तादृशाखण्डबोधस्यैव जननात् स्मृतिसमबुद्धियुगं ताभ्यां जन्यते, नतु घटमानयेति पदाभ्यामिव प्रत्येकमज्ञातविषयकम् । अन्विताभिधानमते तु स्मृतिसमा तादृशधीर्न स्वीक्रियते; महावाक्यार्थबोधस्यैव शाब्दत्वस्वीकारात्, अवान्तरबोधस्य शाब्दत्वस्वीकारे शाब्दधीसामान्ये स्वीकृतस्य कार्यान्वितविषयकत्वस्य भङ्गापत्तेः । अतः सुबन्तपदयुगलात् स्मृतियुगमेव; प्रत्येकैकस्मृतिजननात्, मिलितातु महावाक्यार्थरूपस्य क्रियाकारकान्वयस्य शाब्दधीः; ज्ञानविध्येकवाक्यतया तत्त्वमसीत्यस्य बोधकत्वात्, कार्यत्वाविषयकशाब्दबोधास्वीकारात् । अभिहितान्वयमते तदादिपदस्य स्वघटितवाक्यतात्पर्यविषयकशाब्दबोधं प्रति प्रथमान्यपक्षयोर्हेतुत्वम् । स च बोधो निष्प्रकारक एव; 'अर्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाण'मिति जैमिनिसूत्रेणाज्ञाते सिद्धार्थेऽपि तात्पर्यस्योक्तत्वात् । अत्र पदमात्रस्य सामान्यतः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वघटितवाक्यतात्पर्यविषयशाब्दधीहेतुत्वेऽपि विशेषतः कारणत्वं चिन्त्यते । प्रकृत्यर्थान्विते प्रत्ययार्थकर्मत्वादौ घटेत्यादि-
प्रकृत्युत्तरप्रत्ययपदस्यामादेरनुभावकत्वरूपा शक्तिः प्रत्ययपूर्ववृत्तिघटादिपदस्य कर्मत्वाद्यन्वितघटत्वादौ सेत्युक्ते पक्षद्वये
समुच्चयस्वीकारे घटत्वान्वितकर्मत्वं कर्मत्वान्वितं घटत्वमिति बोधद्वैविध्यस्य युगपदापत्त्या वाक्यभेदापत्तिः, यदि
प्रकृत्यर्थान्वितकर्मत्वादौ प्रत्ययस्य प्रकृत्युत्तरस्यानुभावकत्वमित्येव स्वीक्रियते, तदा प्रकृतेः अवाचकत्वापत्तिः, प्रकृते-
रेव कर्मत्वाद्यन्वितघटत्वाद्यनुभावकत्वस्वीकारे प्रत्ययस्यावाचकत्वापत्तिः, प्रकृतिप्रत्यययोः द्वयोर्विशिष्टार्थानुभावकत्वे
केवलप्रकृतिपदे प्रत्ययपदे चोभयवाचकत्वापत्तिः, एकैकस्यैककार्थानुभावकत्वे पूर्वोक्तपक्षत्रयमध्ये पूर्वपक्ष एव स्वीक्रि-
येत । किंच वेदान्तमहावाक्यस्थपदानामखण्डार्थबोधं प्रत्येव विशेषतो हेतुत्वस्य वाच्यतया कथं सर्वपदानामन्वित-
बोधकत्वम् ? तस्मात् नान्विते पदानां शक्तिः, किंत्वनन्विते घटत्वादौ, तदनुभवात् पदजन्यादन्वितानुभव इति
प्रथमपक्ष एव युक्त इति पार्थसारथिमिश्रादयः । तदसत् ; अन्वितशक्तिवादस्याशयानवबोधात् । अभिहितान्वयमते
अन्विताभिधानमते चाकृत्यधिकरणन्यायेन जातावेवानुभावकत्वरूपा पदानां शक्तिरित्युच्यते । तस्य च घटत्वादिकमेव
घटादिपदानुभाव्यमिति पक्षे यथाश्रुत एवार्थः । अन्यान्वितघटत्वादिकं तदर्थः इत्युक्तपक्षे तु तादृशशक्तेः यदीयतया
ग्रहः शाब्दधीप्रयोजकः, सोऽर्थो वाच्यतया व्यवहियते । सा च जातिरेवेति तत्रैव वाचकत्वं घटादिपदे व्यवहियते,
ननु घटत्वाद्यन्विते अन्यान्वितघटत्वादौ वा । अतएव च न नानार्थत्वापत्तिः । यत्र हि नानाधर्माणां प्रत्येक-
निरूपितत्वेन पदे शक्तिग्रहास्तत्तद्धर्मशाब्दधीषु कारणानि, तत्रैव पदस्य नानार्थत्वम् । प्रकृते तु घटत्वशक्तित्वेन घटपद-
शक्तेर्ज्ञानं कारणम्, न त्वन्यधर्मशक्तित्वेनापीति न घटपदस्य नानार्थत्वम् । तस्मादन्यान्वितघटत्वं घटपदस्य शक्यम् ।
अन्यान्वितकर्मत्वममादिपदस्येत्यादिविवरणाद्युक्तेरयमर्थः । शाब्दत्वावच्छेदकविशेष्यतानिरूपितसंसर्गानिरूपितघटत्व-
प्रकारताशालित्वं घटपदधीकार्यतावच्छेदकम् । घटत्वीयकर्मतांशे अनुमित्यादिरूपे घटत्वीयकरणत्वाद्यंशे शाब्दज्ञाने
घटपदं विनाप्युत्पत्तेर्व्यभिचारः स्यात् अतः—शाब्दत्वावच्छेदकेति तादृशप्रकारताविशेषणम् । कर्मतायां घटत्वं
शाब्दयामीति प्रत्ययात्तस्यां तत्त्वस्वीकारात् । उक्तप्रकारताशालिशब्दत्वेन कार्यत्वस्वीकारेऽपि स एव दोषः । केवल-
विशेष्यतात्वेन केवलप्रकारतात्वेन वा शाब्दत्वावच्छेदकत्वाभावात् शाब्दत्वावच्छेदकत्वं विशिष्टप्रकारताविशेषणम् ।
तथा च विशिष्टप्रकारतात्वावच्छिन्नशाब्दत्वावच्छेदकतालाभः । घटत्वप्रकारतानिरूपितसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतात्वाव-
च्छिन्नावच्छेदकताकशाब्दत्वेन वा तत्कार्यता; घटत्वान्वितं शाब्दयामीति प्रत्ययादुक्तायाः शाब्दत्वावच्छेदकतायाः
स्वीकारात् । घटत्वादिविषयतामात्रावच्छिन्नशाब्दत्वेन तु न तत्कार्यता; शाब्दत्वस्य तन्मात्रानवच्छिन्नत्वात्, घटमित्या-
दिवाक्यजन्यधीस्थले घटत्वं स्मरामीत्येव प्रत्ययेन घटत्वं शाब्दयामीत्यप्रत्ययात् । अतएवानुवादवाक्यार्थे स्मरामीत्येव
प्रत्ययादनुवादवाक्यात् प्रमोत्पत्तिवारणाय प्रमामात्रे तत्तदर्थविषयकाज्ञानस्य हेतुत्वात् शाब्दादिज्ञानस्य च
प्रमात्वनियमात्, सामान्यसामग्रीबाधेन नोक्तस्थले प्रमोत्पत्तिः । तस्मादुक्तव्यभिचारवाणाय उक्तप्रकारतावच्छिन्नेनोक्त-
विशेष्यतावच्छिन्नेन वा शाब्दत्वेन घटादिपदज्ञानकार्यता । तार्किकादिमते तु घटत्वीयकर्मतांशे अनुमित्यादिरूपस्य
घटत्वीयकरणतांशे शाब्दज्ञानस्यैवास्वीकारादुक्तव्यभिचाराभावेन घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयताशालिशब्दत्वेनैव तत्कार्यता ।
तन्मते जातेः संस्थानव्यङ्ग्यत्वानियमेनानुमितित्वशाब्दत्वादिजातिस्वीकारेणानुमित्यात्मकशाब्दज्ञानस्य स्वीकारेण
सांकर्यापत्त्या भिन्नविषयकानुमित्यादिसामग्र्या शाब्दबोधादौ प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात् । मीमांसकमते तु गुणादौ जात्य-
स्वीकारेण विषयताविशेषरूपशाब्दत्वानुमितित्वादस्वीकारात् । तेषां साङ्कर्यस्यादोषत्वात् । तथाच घटं घटेन घटाये-
त्यादिसाधारणघटत्वाद्यन्वितकर्मत्वादिविशेष्यतावच्छिन्नशाब्दत्वं घटादिपदधीकार्यतावच्छेदकम् । अमादिपदधीकार्यता-
त्वन्वितकर्मतादिविशेष्यतावच्छिन्नशाब्दत्वेनैव घटं पदमित्यादिसाधारणेन । वस्तुतस्तु—विशेष्यतात्वं न निवेद्यते ।
किंतु विषयतात्वं विशेष्यताप्रकारतासाधारणं घटत्वतदन्वितयोर्निवेद्यते । तेन घट इत्यादावेकत्वद्वित्वादिप्रकारता-
निरूपितघटत्वादिविशेष्यताया अपि संग्रहः ॥

ननु—घटं घटेनेत्याद्यानुपूर्वीविशेषज्ञानत्वेन घटत्वादिकर्मताकरणतादिशाब्दं प्रति हेतुत्वमवश्यं वाच्यम् । अन्यथा
अम् घटेत्याद्यानुपूर्वीज्ञानादपि तदापत्तेः । तथाच घटादिपदज्ञानत्वेन घटत्वाद्यन्वितशाब्दत्वेन च कार्यकारणत्वं
वृथा । अथ—घटमित्याद्यानुपूर्वीविशेषाणामेकस्याप्यज्ञानदशायां घटान्वितशाब्दसामान्याभावस्योपलभ्यमानस्य
घटमित्याद्यानुपूर्वीविशेषाभावकृतेन प्रयुक्तत्वकल्पने गौरवात् घटत्वान्वितस्य शाब्दसामान्येन घटपदज्ञानत्वेन कार्य
कारणत्वं प्रकल्प्य घटपदज्ञानसामान्याभावप्रयुक्तत्वमुक्तशाब्दसामान्याभावस्य कल्प्यते, तादृशकार्यकारणत्वाकल्पने तु
न तत्प्रयुक्तत्वं तस्य सिध्यति, कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाभावस्यैव कारणतावच्छेदकावच्छिन्नाभावप्रयुक्तत्वादिति—
चेन्न; निर्विभक्तिघटादिपदज्ञानकाले घटादिपदज्ञानसामान्याभावस्याभावेन तदा तत्प्रयुक्तत्वस्य तादृशशाब्दसामा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्याभावे वक्तुमशक्यतया तादृशानुपूर्वीज्ञानविशेषाभावकूटस्यैव तत्प्रयोजकताया वाच्यतया घटादिपदसामान्याभाव-
कालेऽपि उक्तविशेषाभावकूटस्यैव प्रयोजकतासंभवेनोक्तकार्यकारणत्वकल्पनस्य वैयर्थ्यादिति ॥

अत्रोच्यते—निर्विभक्तिघटादिपदज्ञानदशायामुक्तसामान्याभावस्याभावेन तस्य तत्प्रयोजकत्वासंभवेऽपि घटादि-
पदज्ञानसामान्याभावकालावच्छिन्नस्य उक्तशाब्दसामान्याभावाधिकरणत्वस्य तत्तत्पुरुषनिष्ठस्य घटादिपदज्ञानसामान्या-
भावप्रयुक्तत्वस्य लाघवेन स्वीकारसंभवेन तदनुरोधेनोक्तकार्यकारणत्वकल्पनात् सविभक्तिकघटादिपदज्ञानत्वेन वा
कारणत्वमास्ताम् । यदि तु विशेषकारणेणुगतं, यत्सामान्यरूपं तेन रूपेण कारणत्वस्यास्वीकारेऽपि तदवच्छिन्नाभावे
विशेषकार्यानुगतसामान्यरूपावच्छिन्नाभावे प्रयोजकः स्वीक्रियते, तादृशलघुधर्मावच्छिन्नाभावत्वस्यैव तत्त्वावच्छेद-
कत्वसंभवादिति चिन्त्यते, तदास्तां तथैव । नच—एवं घटादिपदोत्तरामादिपदज्ञानत्वेन हेतुत्वादीनां स्वीकारेऽपि
घटादिपदज्ञानत्वेन तदभावात् घटादिपदे घटत्वादिशक्त्यभावेन तादृशशक्तिज्ञानहेतुत्वासंभवः, तत्पदज्ञानत्वावच्छि-
न्नाया हेतुताया एव मीमांसकमते शक्तिरूपत्वादिति—वाच्यम्; घटपदोत्तराभ्युपगमनत्वेनैवाभ्युपगम्यतु घटपदज्ञान-
त्वेनापि हेतुताया विनिगमकाभावेन स्वीकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्, घटत्वप्रकारतानिरूपितकर्मताविशेष्यताकशाब्दत्वेनैव
कर्मताविशेष्यतानिरूपितघटत्वप्रकारताकशाब्दत्वेनापि कार्यतायाः स्वीकारात् । घटत्वीयानुभावकतारूपशक्तेस्तादृश-
शक्तित्वेन घटपदज्ञानं हेतुः, अभ्युपगम्यतु घटत्वस्य कर्मताविशेष्यकत्वस्य वा तत्र निवेशेऽपि घटत्वशक्तत्वस्य घटपदे
अक्षतत्वात् । तथाच घटमित्यादिपदज्ञानस्य घटादिपदविशेष्यघटत्वादिशक्तिज्ञानजन्यसंस्कारोद्बोधकस्वघटकघटादिपद-
ज्ञानजनितघटत्वादिसंस्मृतिद्वारा घटत्वीयकर्मतादिशाब्दधीहेतुत्वम् । घटः कर्मत्वमित्यादिराकाङ्क्षपदजन्यघटत्वादि-
स्मृतेर्घटमित्यादिपदघटकघटादिपदाजन्यत्वात्तादृशस्मृतिद्वारा घटमित्यादिपदज्ञानस्य नानुभावकतेति घटादिपदस्य
स्वघटकेति विशेषणम् । घटमित्यादिपदघटकेति तदर्थः । एवंच घटादिपदज्ञानत्वादिरूपेण घटत्वाद्यन्वितानुभावकत्वा-
भावेऽपि न क्षतिः । घटत्वीयकर्मतासंसर्गो निरूपकत्वरूपो दर्शनादिक्रियानिष्ठ उक्तकर्मताशाब्दबोधेन लक्षणया
अनुभाव्यते । ननु—यथा गङ्गादिपदात् तीरादिशाब्दबोधस्थले तीरादौ गङ्गादिपदशक्यसंबन्धरूपलक्षणायाः ज्ञानं
कारणं, यथा वा तत्पदशक्योपस्थित्यधीनतीराद्युपस्थितिरूपा लक्षणा प्राचीनमते स्वरूपसती कारणं, तथा प्रकृते
उक्तनिरूपकत्वरूपसंसर्गो घटमित्यादिपदशक्यं यत् घटत्वीयं कर्मत्वादिकं, तत्प्रतियोगिकत्वादिरूपसंबन्धज्ञानं तदुप-
स्थित्यधीना तदुपस्थितिर्वा वारणमपेक्ष्यते, तदभावे तु तादृशसंसर्गशाब्दज्ञानासंभव इति—चेन्न; तत्रैव हि बोध्य-
बोधकसंबन्धज्ञानं पूर्वमपेक्ष्यते, यत्र बोध्यप्रमापूर्वं बोध्योपस्थितिरपेक्ष्यते । यथा घटत्वाद्यन्वितशाब्दप्रमापूर्वं घटादिपदे
घटत्वादेरनुभावकत्वरूपशक्तिज्ञानं विना घटत्वाद्युपस्थितिरूपकारणाभावेनोक्तप्रमाविरहात् उक्तोपस्थितिहेतुतयोक्त-
शक्तिज्ञानमपेक्ष्यते । यथा वा गङ्गादिपदतीराद्योः संबन्धज्ञानं विना गङ्गादिपदोपस्थापितप्रवाहादितीराद्योः संबन्धज्ञानं
विना वा तीराद्युपस्थित्यभावेन तीराद्युपस्थितिहेतुतीरादिशाब्दप्रमाविरहादुक्तोपस्थितिरपेक्ष्यते । यत्र तु बोध्यप्रमापूर्वं
तदुपस्थितिर्नापेक्ष्यते, तत्र तत्रापेक्ष्यते । यथा रूपादिचाक्षुषादिप्रमापूर्वं रूपाद्युपस्थितेरनपेक्ष्यतया रूपादिचक्षुरादि-
संबन्धज्ञानं रूपाद्युपस्थितिहेतुतया नापेक्ष्यते, किंतु रूपादौ चक्षुरादिसंयुक्तघटादिसमवेतत्वं स्वरूपसत् कारणमपेक्ष्यते ।
तथाच वाक्यार्थभूतस्य क्रियाकारकसंसर्गस्यापूर्वत्वात्तदुपस्थितेस्तच्छाब्दप्रमायामनपेक्ष्यतया तद्हेतुतयोक्तसंसर्गरूपे
बोध्ये तद्बोधकस्य घटत्वीयकर्मत्वादिरूपार्थस्य संबन्धज्ञानं नापेक्ष्यते, किंतु तत्कार्यस्य दर्शनादिक्रियानिष्ठसंसर्गं संबन्ध-
सत्तामात्रम् । अन्यथा तादृशक्रियाकारकसंसर्गज्ञानस्य प्रमात्वानुपपत्तिः । ननु—तादृशसंबन्धे घटादिपदस्य न
लक्षणा; तच्छक्यघटत्वसंबन्धित्वाद्यभावात्, उक्तकर्मत्वादेस्तदशक्यत्वात्तदबोध्यत्वाच्च । अतएव न घटमित्यादिपदस्य
सा; लक्षणया तत्पदबोध्यनिष्ठस्य तत्पदबोध्यप्रतियोगिकसंबन्धस्यैव तत्पदलक्षणात्वात्, कर्मत्वादिनिरूपकत्वरूपस्य
संसर्गस्य चोक्तपदाबोध्यत्वात् । गङ्गायां घोषोऽस्तीत्यादौ हि लक्षणया गङ्गादिपदबोध्यतीरादौ स्थितस्य गङ्गादिपद-
बोध्यप्रवाहादिप्रतियोगिकसंसर्गस्य लक्षणात्वं दृष्टम्, अतो घटत्वीयकर्मत्वादिसंसर्गस्य लक्ष्यत्वानुपपत्तिरिति—चेन्न;
लाक्षणिकपदस्य लक्ष्यार्थबोधकत्वेनोक्तरीत्या लक्षणात्वस्यानिरूपणात् । स्वार्थधीद्वारा बोधकत्वं तु तीरादौ गङ्गादिपद-
स्यैव घटत्वीयकर्मत्वादिसंसर्गं घटमित्यादिपदस्याप्यस्त्येव । गङ्गादिपदेन हि प्रवाहस्योपस्थितिः प्रथमतः, तथा तीरोप-
स्थितिः, तथा तच्छाब्दधीः । तथा घटमित्यादिपदेनोक्तकर्मत्वादेः शाब्दधीः प्रथमतस्तयोक्तकर्मत्वादेः संसर्गस्य
स्मृत्यभावेऽपि शाब्दधीः । तस्मात् शब्दार्थधीबोध्यनिष्ठस्य शब्दार्थप्रतियोगिकसंसर्गस्य लक्षणात्वं निर्दोषम् । शब्दा-
र्थश्च त्रिविधः पदार्थः प्रत्ययान्तपदार्थः वाक्यार्थश्च । आद्यो गङ्गायामित्यादौ प्रवाहादिः । द्वितीयो घटमानयेत्यादौ
घटकर्मतादिः । तृतीयोऽर्थवादवाक्यार्थः । लक्षकत्वं तादृशशब्दार्थनिष्ठं लक्ष्यशाब्दधीजनकधीविषयत्वम् । तच्च पदार्थं
लक्ष्यस्मृतिद्वारा, अन्ययोः साक्षादिति विवेकः । व्यक्तीभविष्यति चेदमग्रे द्वितीयपरिच्छेदे एव मूले । तदिदमुक्तं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मूले—“अभिहितान्वयवादरूपे द्वितीयपक्षे चाज्ञाताया एव पदार्थनिष्ठाया लक्षणाया वृत्तिवाङ्गीकारात् न संसर्गस्य पदस्मारितत्व”मिति । पदार्थनिष्ठाया घटत्वीयकर्मतादिरूपप्रत्ययान्तपदार्थसंबन्धरूपायाः । लक्षणायाः प्रत्ययान्त-पदार्थधीबोध्यक्रियाकारकसंबन्धानुयोगिकसंबन्धरूपायाः । वृत्तिवेति । शाब्दधीप्रयोजको यो बोध्यबोधकसंबन्धः तत्त्वमित्यर्थः । क्रियाकारकसंबन्धांशे शाब्दधीयो निर्वाहे अज्ञातैव लक्षणा वक्ष्यमाणरीत्योपयुज्यत इति भावः । अन्विताभिधानवादे तु तादृशसंबन्धस्य पदशक्यत्वमेव न तु घटत्वीयकर्मतादिशाब्दधीमात्रजन्यशाब्दधीविषयत्वम् । कार्यत्वाविधेयतानिरूपिता क्रियानिष्ठोद्देश्यतावच्छेदकता या घटकर्मत्वादिकारकनिष्ठा, तत्संबन्धेन शाब्दबोधं प्रति घटः कर्मत्वमित्यादिनिराकाङ्क्षपदाजन्या या घटकर्मताद्युपस्थितिः तद्वारा घटमित्यादिपदज्ञानं घटकर्मत्वाद्यर्थाध्याहाररूपं मानान्तरं वा हेतुः; घटमित्यादिपदज्ञानकाले आनयेत्यादिपदज्ञानकाले तादृशमानान्तरादुक्तसंबन्धेन शाब्दबोधोत्पत्तेः । एवं कार्यत्वविधेयत्वनिरूपिता या क्रियानिष्ठोद्देश्यता, तत्संबन्धेन शाब्दबोधं प्रति आनयनं कार्यत्वमित्यादि-निराकाङ्क्षपदाजन्या या आनयनकार्यत्वाद्युपस्थितिः, तत्संबन्धेनानयेत्यादिपदज्ञानमानयनकार्यत्वाद्यर्थाध्याहाररूपं मानान्तरं वा हेतुः । कार्यत्वान्विते पदानां शक्तिरिति प्राभाकरवाक्यस्यास्मिन्नेवार्थे पर्यवसानम्; साक्षात् परम्परया कार्यत्वान्वितत्वस्य दुर्वचत्वेन तदाश्रयविषयकत्वस्य पदकार्यतानवच्छेदकत्वात् । तत्र च कार्यानुकूला शक्तिस्तृण-फूत्कारसंबन्धादौ; न तु तृणादौ । फूत्कारासंबद्धतृणादितोऽपि वह्न्यादिकार्यात्पत्त्यापत्तेरिति यथा स्वीक्रियते, तथोक्ता-ध्याहारपदज्ञानयोः कारकक्रियापदयोर्वा मेलने तादृशशक्तिः न तु पदज्ञानादाविति स्वीक्रियते । तेन क्रियापदज्ञान-कारकाध्याहारयोः कारकपदक्रियापदज्ञानयोर्वा मेलनं कृत्वा शाब्दधीः, न तु कारकक्रियाध्याहारयोरेव मेलने; प्राभाकरसिद्धान्ते तथैव स्वीकारात् । तथाच क्रियाकारकसंबन्धशाब्दबोधानुकूला शक्तिः पदघटिते स्वीक्रियते । पदं तच्छक्तमुच्यते । तादृशशक्तेश्च घटत्वकर्मकं दर्शनं कार्यमित्याकारकशाब्दधीर्यद्यपि निरूपिका; तथापि तस्यां घटत्वशाब्द-धीत्वस्यापि सत्त्वात् घटत्वधीनिरूपितशक्तित्वेनैव शक्तेर्घटादिपदे ज्ञानं कारणम्, लाघवात्, न तु क्रियाकारकसंबन्ध-शाब्दधीनिरूपितशक्तित्वेनेति संबन्धांशे कुब्जशक्तिवाद इत्युच्यते । तदिदमुक्तमाद्यपक्षे कुब्जशक्त्यङ्गीकारादिति । अङ्गीकारान्न संसर्गस्य पदस्मारितत्वमिति योजना । अज्ञाताया एव शक्तेः संबन्धांशे आनुभाविकत्वेन न संबन्ध-स्मारकत्वमित्यर्थः । संबन्धांशे अनुभवं प्रति पदस्य कारणत्वेन तत्र तदनुकूला शक्तिरस्यैव, परंतु यथा घटत्वादि-जात्यंशे ज्ञाता सती तस्मृतिद्वारा क्रियाकारकसंबन्धशाब्दबोधं जनयति, तथोक्तसंबन्धांशे ज्ञाता सती तस्मृतिद्वारा तच्छाब्दबोधं न जनयति तस्य वाक्यार्थत्वेनापूर्वत्वात्, तदनुभवस्मृती विनापि तच्छाब्दबोधोत्पत्तेः । प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां बुद्ध्यमानो योऽर्थः, तस्य द्वयोः संबन्धरूपत्वे तदंशेऽप्यज्ञातैव शक्तिः तथा, यथा घटेनानयेत्यादौ घटत्वकरणत्वयोश्चान-यनकार्यत्वयोर्वा संबन्धांशे; तस्यापि वाक्यार्थत्वेन स्मरणानपेक्षणात्, तस्यातत्त्वे तु तदंशेऽपि शक्तिर्ज्ञातैव तदीयशब्दानु-भवप्रयोजिका । यथा तत्त्वमस्यादिमहावाक्ये तत्त्वम्पदाभ्यां बुध्यमानशुद्धचैतन्यं ज्ञातयैव शक्यता बुध्यते; विशिष्टशक्तस्य पदस्य केवलव्यक्तिरूपैकदेशेऽपि शक्तिसत्त्वात् । अतएव तत्र प्रत्येकं पदाभ्यां स्मृतिद्वयमुत्पाद्य तद्वारा शाब्दधीर्जन्यते; पदतदर्थयोः शक्तिरूपसंबन्धस्य गृहीतत्वेन पदरूपसंबन्धिग्रहणे सत्यर्थस्मृतिसंभवात् । ननु—एवमभिहितान्वयवा-देऽपि तृतीयपक्षे तथा संभवात् अभिहितान्वयवादे पदाभ्यां स्मृतिसमबुद्धिद्वयम्, अन्विताभिधानवादे च ताभ्यां स्मृति-द्वयमिति विशेषः कुतः संक्षेपशारीरके उक्त इति—चेत्, उच्यते—अभिहितान्वयवादे प्रत्येकं विभक्त्यन्तपदाभ्यां स्मृतिद्वयद्वारा शाब्दधीर्द्वयं जन्यते । महावाक्यार्थधीस्तु तेनैव धीद्वयेन, न तु पदज्ञानेन । अतएव पदज्ञानासत्त्वे मानान्तरजन्याभ्यामाकाङ्क्षायोग्यतादिसहिताभ्यामर्थज्ञानाभ्यां जन्यते । अतएव ‘पश्यतः श्वेतिमारूपं हेष्वाशब्दं च शृण्वतः । खुरविशेषशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः । दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित् ॥’ इति वार्तिक-वाक्ये पदज्ञानसामान्यभावेऽपि शाब्दधीः, तदर्थज्ञानाभावे तु न कापीत्युक्तम् । तथाचाभिहितान्वयवादे पदज्ञान-स्थले महावाक्यार्थधीकरणस्य शाब्दबोधस्यावश्यकतया स्मृतिसमोऽपि स कल्प्यते । यद्यपि स्मृतिसमत्वं ज्ञातविषय-कत्वं, प्रमाणजन्यज्ञानं चाज्ञातविषयमेव, अनुवादवाक्यादिस्थले वाक्यार्थज्ञानं स्मृतिरेव, प्रमाणादप्रमानुत्पत्तेः । अत एव घटत्वीयकर्मतादिप्रमायां वाक्येन जननीयायां तद्विषयकाज्ञानं सहकारि कल्प्यते; तथाप्यगत्या महावाक्यादिस्थले पदजन्यो बोधः स्मृतिसमः कल्प्यते । तथाच स्मृतिप्रमाविलक्षणमपि ज्ञानं प्रमाणजन्यं स्वीक्रियते; अन्यथानुपपत्तेः । अतएव घटोऽस्तीत्यादिवाक्यजन्ये अस्तित्वं घटत्वीयमिति शाब्दबोधे घटत्वनिर्विकल्पकशाब्दबोधः स्मृतिसम एव करणम् । निर्धर्मितावच्छेदकशाब्दबोधासंभवेनैकत्वप्रकारकघटत्वविशेष्यकशाब्दबोधस्य तत्रासंभवात् । नहि शाब्दबो-धीयविशेष्यता केनाप्यनवच्छिन्ना स्वीक्रियते । अन्विताभिधानवादिनस्तु नेदं क्षमन्ते । क्रियाकारकसंबन्धादिरूपस्य महावाक्यार्थस्य ज्ञानं पदजन्यं वदन्ति । तदुक्तं—‘यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते । तेन तेनान्वितस्वार्थः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पदैरेवावगम्यते ॥' इति । सन्निधानं पदजन्यस्मृतिविषयत्वम् । तथाचाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिसहकृतपदैरेव वाक्यार्थस्य क्रियाकारकसंबन्धादिरूपस्य शाब्दबोधोत्पत्तेः नावान्तरवाक्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययार्थसंबन्धादिरूपस्य शाब्दधीविषयत्वे मानमस्ति । विशेष्ये विशेषणं तत्रच विशेषणान्तरमिति रीत्या महावाक्यार्थधीसंभवात् कुतः स्मृतिसमबोधस्वीकारः ? अन्यथानुपपत्त्यभावात् । यदि हि घटवीर्यकर्मतादिमात्रस्य शाब्दधीः स्वीक्रियते, तदा शाब्दबोधानां कार्यत्वविषयकत्वनियमस्य प्राथमिकव्युत्पत्तिकाले क्लृप्तस्य भङ्गः स्यात् । अथापि क्रियाकारकसंबन्धादिबोधात् पूर्वं प्रकृतिप्रत्ययार्थसंबन्धादिविषयकमवान्तरवाक्यार्थज्ञानं मन्यसे; तादृशज्ञानस्यानुभाविक्त्वात्, विशिष्टवैशिष्ट्यबोधात्मकस्य क्रियाकारकसंबन्धबोधस्योक्तज्ञानं विना अपलापापत्तेः, तर्हि प्रत्येकपदार्थस्मृतिजन्यामवान्तरस्मृतिं मन्यस्व । प्रत्येकपदार्थसंबन्धितया प्रकृत्यर्थविशिष्टप्रत्ययार्थस्य गृहीतत्वेन तत्स्मृत्या तत्स्मृतिर्भवति, नैतावता तस्य शाब्दबोधोऽपि भवितुं शक्यः । यत्तु—वाक्यार्थकर्मके कुलकादौ चावान्तरवाक्यार्थधीपूर्विका महावाक्यार्थधीः, घटमानयेत्यादौ त्वनियमः—इति, तन्न; वाक्यार्थकर्मके कुलकादौ च सकारकैकक्रियाबोधे पदैर्जाते तत्कर्मकक्रियान्तरबोधस्य पदैरेव जननं 'पश्य मृगो धावती'त्यादौ युक्तम्, घटमानयेत्यादावनियमस्तु न युक्तः; लाघवेन महावाक्यार्थबोधस्यैकस्य पदजन्यत्वस्वीकारात्, भट्टमते महावाक्यार्थबोधस्य नियमेन विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्ववत् गुरुमते 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरमिति बोधस्यैव सर्वत्र संभवात्, अशाब्दस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य सत्त्वे तु विशिष्टवैशिष्ट्यशाब्दबोधस्यापि कचित्संभवात् । तस्मादन्विताभिधानमते अवान्तरवाक्यार्थबोधाभावेन न स्मृतिसमो बोधः तत्त्वमसीति वाक्यात्, किंत्वभिहितान्वयमत इत्यभिहितघटनेत्याद्युक्तियुक्तैव । अन्विताभिधानमतेऽपि क्रियाकारकसंबन्धबोधं प्रति पदस्योक्तरीत्या कारणत्वेन शक्तत्वात् पदशक्तेरुक्तसंबन्धशाब्दधीप्रयोजकत्वादुक्तसंबन्धस्य शक्तिरूपपदवृत्तिप्रयुक्तशाब्दधीविषयत्वरूपं पदवृत्तिज्ञाप्यत्वमस्त्येव; तथापि न पदवृत्तिप्रयुक्तस्मृतिविषयत्वरूपं पदवृत्तिस्मारितत्वम् । ननु—तादृशशक्तेस्तादृशसंबन्धीयसंबन्धरूपायाः पदे पूर्वं ग्रहणे सति पदरूपैकसंबन्धिज्ञानादुक्तसंबन्धरूपापरसंबन्धिस्मृतिरपि कदाचिजायत एवेति तादृशस्मारितत्वमुक्तसंबन्धेऽप्यस्त्येवेति स्मारितपदानेऽप्युक्तसंबन्धप्रमापकवाक्ये अखण्डार्थलक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्थेति—चेन्न; स्मारितान्तेन स्वजन्यस्मृतिद्वारा यद्विषयकशाब्दबोधे पदवृत्तिः प्रयोजिका, तत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । यत्पदेन योऽर्थो ग्राह्यः, तद्विषयकस्मृतिः स्मृतिपदेन ग्राह्या । तथाचोक्तसंबन्धशाब्दबोधे पदवृत्तेः प्रयोजकत्वं नोक्तद्वारा; तादृशस्मृतिं विनापि तस्य शाब्दबोधोत्पत्तेः जातिशक्तिज्ञानस्य जातिस्मृतिद्वारा व्यक्तिस्मृतिप्रयोजकत्वात् तद्वारा च व्यक्तिशाब्दधीप्रयोजकत्वात् जातिशक्तेरप्युक्तप्रयोजकत्वमस्त्येव । तस्मादुक्तसंबन्धस्योक्तरीत्या पदवृत्तिस्मारितत्वेऽपि न क्षतिः । ननु—बह्व्यादिनिष्ठशक्तेर्हादिकार्यं इव शाब्दबोधरूपे पदकार्यं पदनिष्ठशक्तेः प्रयोजकत्वं युक्तम्, उक्तसंबन्धे लक्षणायास्त्वज्ञाताया न तत्संभवः । नच—लक्ष्यस्योक्तसंबन्धस्य शाब्दबोधे लक्षणाया घटत्वादीयकर्मतादिरूपशब्दार्थसंबन्धरूपायाः प्रमाणीयसंबन्धविधया हेतुत्वम्; शब्दार्थस्यैव क्रियाकारकसंबन्धविषयकशाब्दधीकारणत्वात्, इन्द्रियविषयसंबन्धस्य प्रत्यक्षे हेतुत्वदर्शनेन प्रमाणप्रमेयसंबन्धस्य सामान्यतो हेतुत्वसंभवादिति—वाच्यम्; धूमभ्रमजन्यप्रमाणमितावयवोऽनोलकं वह्निमदित्याकारिकायां बह्व्यादौ धूमादेर्व्यापकत्वरूपसंबन्धसत्त्वेऽपि द्रव्यत्वादिलिङ्गकपर्वतो वह्निमानित्याद्यनुमितौ द्रव्यत्वादिव्यापकत्वाद्यभावादिति—चेन्न; साध्यवद्विशेष्यकं यत् स्वज्ञानं, तद्विशेष्यवृत्तित्वोपलक्षितनिष्ठसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविषयत्वस्य लिङ्गसंबन्धस्य लिङ्गिनि सर्वत्र संभवात्, अतीतादिसाध्ये अनुमित्यव्यवहितपूर्वमुक्तविशेष्यवृत्तिवत्त्वस्य तदुपलक्षितनिष्ठसाध्यतावच्छेदकस्य वाऽभावेऽपि तदवच्छिन्नविषयत्वस्य सत्त्वात्, प्राभाकरादिमते अनुमितिपरामर्शयोः एकवह्व्यादिविषयकत्वनियमास्वीकारादनुमितिविधेये तादृशविषयत्वस्यानुमितिजनकपरामर्शस्य सत्त्वानियमेऽपि अनुमातृपुरुषीयसंशयादिपुरुषान्तरीयस्मरणारिरूपज्ञानान्तरीयस्य नियमेन सत्त्वात् । भ्रमानुमितौ तूक्तसंबन्धासत्त्वेऽपि न क्षतिः; तस्यामनुमितिवज्जातेरसत्त्वात्; मन्मते मनोवृत्तिरूपप्रमायामेव तत्स्वीकारेणाविद्यावृत्तिरूपभ्रमे तदस्वीकारात्, तत्र दोषादेरेव कारणत्वेन तत्संबन्धस्य प्रातीतिकसाध्ये सत्त्वात्, ज्ञेयमात्रे ज्ञानकारणसंबन्धस्य हेतुत्वेऽपि क्षतिविरहात् । अतएव तर्कचरणे वाक्याधिकरणे लक्षणाया अज्ञायमानतयैव वाक्यार्थीभूतसंसर्गशाब्दबोधे हेतुत्वमुक्तम् । अथ—उक्तपरंपरासंबन्धसाधारणस्य प्रमाणप्रमेयसंबन्धत्वस्यैकस्याभावेनेन्द्रियविषयसंबन्धदृष्टान्तेन नानुमानानुमेयादिसंबन्धस्य हेतुत्वं युक्तमिति—चेन्न; प्रत्यक्षस्थल इवानुमितिशाब्दबोधादिस्थलेऽपि विशेषरूपेणैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य हेतुत्वसंभवात् । नहि मन्मते तद्व्यतिरेके अनुमित्यादिकमुत्पद्यते; तार्किकादिमते गुणविशेषाभावे प्रमाणत्वादवत् । वस्तुतस्तु—तात्पर्यज्ञान इव लक्षणाज्ञानेऽपि घटमित्यादिपदार्थत्वेनैव पदार्थमानसंभवात् घटकर्मताप्रतियोगिकानयननिष्ठसंबन्धविशेषत्वेन संबन्धस्याभावेन क्षतिविरहात् लक्षणया वाक्यार्थीभूतसंबन्धे ज्ञानमेव हेतुः ।

मते च लक्षणाया वाक्यार्थभूतसंसर्गस्य वृत्तिज्ञाप्यत्वात् सर्वत्र प्रमाणवाक्ये अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय उक्तं—स्मारितेति । आद्यपक्षे कुब्जशक्त्यङ्गीकारात्, द्वितीयपक्षे चाज्ञाताया एव पदार्थनिष्ठाया लक्षणाया वृत्तिवाङ्गीकारात् न संसर्गस्य पदस्मारितत्वम्, किंत्वनुभाव्यत्वमित्यतिव्याप्तिपरिहारः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अज्ञाताया एव लक्षणायास्तच्छाब्दधीप्रयोजकत्वमिति ग्रन्थे अज्ञातपदमुक्तविशेषरूपेणाज्ञातार्थकम् । एवं च शाब्दबोधविषयसामान्यस्य वृत्तिज्ञानविषयताप्रयोज्यत्वनियमो न व्याहतः । संभवति चोक्तनियमः; लक्ष्यशाब्दधीसामान्यस्य लक्षणाधीजन्यत्वस्वीकारेऽभिहितान्वयमते आद्यपक्षे जातेः शाब्दबोधस्य शक्तिज्ञानेनैव व्यक्यादिशाब्दबोधस्य लक्षणाज्ञानेनैव जननात् । अन्यथा जातिशाब्दबोधेऽपि शक्तिज्ञानं प्रयोजकं न स्यात् । वाक्यार्थ इव जातावपि व्युत्पत्तिग्रहस्यानपेक्षासंभवात् अज्ञाताया लक्षणाया इव शक्तेरपि प्रयोजकत्वसंभवात् पदार्थे व्युत्पत्तिग्रहस्यानव्यव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वं वाक्यार्थे तु न तौ स्त इति तु वासनामात्रम् । अतएवान्विताभिधानवादिन आहुः—‘वाक्येनैव हि वाक्यार्थः साक्षादेवाभिधीयते । उपलक्षणतश्चास्य संबन्धग्रहसंभवः ॥ वाक्यं गोपदयुक्तं यत्तत्साक्षादिमदन्वितम् । वाक्यार्थं वदतीत्येवं व्युत्पत्तिः सुकरैव हि ॥’ इति । साक्षात् वाक्यार्थस्मृतिमवान्तरवाक्यार्थशाब्दबोधं चाद्वारीकृत्य । उपलक्षणतः साक्षादिमत्त्वादिरूपोपलक्षणमन्तर्भाव्य । गोकर्मत्वान्वितानयनादिरूपस्य वाक्यार्थस्य शाब्दबोधात्पूर्वमज्ञानात् साक्षादिमत्कर्मत्वान्वितानयनस्य वाचकं गामानयेति वाक्यम् गोकर्मकस्यानयेति पदार्थस्य वाचकमुक्तवाक्यमित्येवंरीत्या शक्तिरूपव्युत्पत्तिग्रहे साक्षादिमत्त्वमानयेति पदार्थत्वादिकं वोपलक्षणतया भासते; वाच्यकोटावप्रवेशात्, गोत्वादेरेव शाब्दबोधे भावेन तत्प्रवेशात् । तस्माद्वाक्यार्थेऽपि व्युत्पत्तिग्रहस्यानव्यव्यतिरेकौ तात्रिकसंमतौ । किंच तार्किकादीनामपि तौ संमतौ । तथाहि—‘सङ्घुत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधे सङ्घुत्पत्तिधीः कारणम् । सा च घटमिति पदधीः घटवृत्तिकर्मताशाब्दधीकारणमिति धीरूपा । विपरीतव्युत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधे विपरीतव्युत्पत्तिधीः कारणम् । सा च घटः कर्मत्वमिति वाक्यधीः तादृशशाब्दधीकारणमिति धीरूपा । तथाचानुभावकत्वस्यैव मीमांसकमते शब्दशक्तित्वात् घटमिति पदं घटवृत्तिकर्मतावाचकमिति ग्रहे घटवृत्तिकर्मता आनयतिपदार्थायसंसर्गविशेषप्रतियोगिनीति ग्रहे च सति तादृशोक्तकर्मतावाचकं घटमिति पदमित्याकारकं लक्षणाज्ञानं संभवतीति तद्वेतुत्वं निर्दोषम् । अभिहितान्वयमते प्रथमपक्षे घटपदाम्पदयोः प्रत्येकरूपेणैवानुभावकत्वेन घटमित्यस्यानुभावकत्वेऽपि तयोरेकवाक्यताज्ञानस्य व्याघरत्नादावनुभावकत्वस्वीकारेण घटमित्यस्य तत्रैकविशिष्टार्थबोधकत्वरूपैकवाक्यत्वांशे विशेष्यविधयानुभावकत्वसत्त्वादिति दिक् । कुब्जशक्त्यङ्गीकारादिति । यद्यपि संसर्गानुभवं प्रत्यपि पदस्य जनकत्वेन संसर्गांशेऽपि शक्तिरस्त्येव, तज्जनकस्यैव तच्छक्तत्वात्; तथापि तच्छक्तत्वेन प्रकृतिप्रत्ययपदज्ञानं न कारणं, किंतु घटत्वकर्मतादिशक्तत्वेनेत्यन्विताभिधानस्य निष्कर्षः । उक्तं हि शब्दमण्यादौ—‘ननु—पदानामन्वयज्ञानजनकत्वात्तत्र शक्तिरस्त्येव; अशक्तस्याजनकत्वादिति—चेत्, सत्यम्, किंत्वन्वयबोधे स्वरूपसती सा व्याप्रियते, न तु ज्ञाता; घटज्ञानशक्तत्वेन ज्ञानादेव घटान्वयबोधोपपत्तेः । यथा जातिशक्तस्य पदस्य तव व्यक्तिज्ञाने शक्तिः स्वरूपसत्युपयुज्यते न तु ज्ञाते’ति । तवेति । प्रभाकरं प्रति मणिकारस्यान्विताभिधानमतपरिच्छन्दनेन उक्तिः । कार्यान्वितशक्तौ हि खण्डितायामन्विताभिधानं प्रभाकरेण पूर्वग्रन्थे अवलम्बितम् । तत्रोक्तमतनिष्कर्षाभिधानेन प्रभाकरो निरस्तः । अन्विताभिधानं च “नन्वर्थपत्तिरस्ति, यत्पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः । न च शक्तिमन्तरेण तद्वकल्पत” इत्यनेन शाबरभाष्ये तद्भूताधिकरणे आशङ्क्य “तन्न; अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् भवेदर्थपत्तिः । यद्यसत्यामपि शक्तौ नान्यन्निमित्तमवकल्पयेत् । अवगम्यते तु निमित्तम्, किं ? पदार्थाः, पदानि हि स्वस्वार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्थाः अवगताः सन्तो वाक्यार्थमवगमयन्तीत्यादिना, तस्मात् पदार्थप्रत्ययत एव वाक्यार्थो नास्य पदसमुदायेन संबन्धः” इत्यन्तेन दूषितम् । तथाचोक्तनिकृष्टमतेन उक्तलक्षणकरणज्ञ दोष इति भावः । अज्ञाताया इति । शक्यसंबन्धरूपलक्षणायाः संसर्गं सत्त्वेऽपि ज्ञानं नापेक्षितमिति भावः । किंत्वनुभाव्यत्वमिति । आकाङ्क्षादिज्ञानस्यैव संसर्गानुभावकत्वम्; आकाङ्क्षादिघटकपदवृत्तिस्मारितो वस्तुगत्यां योऽर्थः तात्पर्यविषयः, तत्संसर्गानुभवत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वात्, न घटमानयेत्यादौ घटादिलक्षणायुक्तस्यापि कपालादेरनुभवप्रसङ्ग इति भावः । यत्तु—घटमानयेत्यादावुक्तलक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था स्वघटकपदवृत्तिस्मारितान्यागोचरप्रमाणजनकत्वमित्यस्य उक्तस्मारितान्यप्रमापकान्यत्वम्, उक्तस्मारितान्याविषयकप्रमाणजनकत्वं वार्थः । आद्ये स्वं गामानयेत्यादिवाक्यं तद्वद्वकपदवृत्तिस्मारितान्यो यो गवादिसंसर्गः, तदप्रमापकत्वस्य घटमानयेत्यादौ सत्त्वात् । नान्त्यः; सत्यादिवाक्यस्य संसर्गाबोधकत्वे अनुवादकत्वापातात्—इति, तन्न शोभते; घटमानयेत्यादेरपि स्वपदस्मारितान्यप्रमापकतया तदन्यत्वाभावात् । स्वपदेन यावद्भक्तं शक्यते, तावत्सामान्यभेदस्यैव नञा बोधनात् । अन्यथा स्वसमानाधिकरणात्यन्ता-

एवं द्वितीयमपि लक्षणं सम्यगेव । तत्राप्येकत्वं प्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वम्, नत्वेकमात्रव्यक्तित्वम् । अतो यौगिकार्थोपगवादिप्रश्नोत्तरे 'श्यामो दीर्घः लोहिताक्ष औपगव' इत्यादौ अनेकार्थात्मके वनसेनादिप्रश्नोत्तरे एकदेशस्था वृक्षा वनमित्यादौ च नाव्याप्तिः । 'शीतोष्णस्पर्श-वन्तौ पयःपावका'विति तु प्रत्येकमेकैकार्थपरत्वात् संग्राह्यमेव । तदुक्तं कल्पतरुहृद्भिः—'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम् । एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपदिरे ॥' इति । ननु—प्रवृत्ति-निमित्तभेदे अपर्यायत्वम्, स चानन्तादिपदेषु न संभवति; शुद्धब्रह्ममात्रनिष्ठत्वात्, अतो वेदान्तेषु लक्षणाऽव्याप्तिरिति—चेन्न; प्रवृत्तिनिमित्तभेदं स्वीकृत्यैव लक्षणयाऽनन्तादिपदानां शुद्धब्रह्मपरत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । नच—शुद्धे संवन्धाभावात् लक्षणापीति—वाच्यम्; अतात्त्विकसंवन्धेनैव लक्ष-णोपपत्तेः, भ्रमप्रतीतरजतत्त्वेन संवन्धेन शुक्तौ रजतपदलक्षणावत् । शुद्धस्यैव सर्वकल्पनास्पदत्वेन शुद्धे न कल्पितसंवन्धानुपपत्तिः । यथाचानन्तादिपदानां लाक्षणिकत्वेऽपि ब्रह्मणि नान्तवत्त्वादि-प्रसङ्गः, तथा वक्ष्यते ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावाप्रतियोगीत्यादौ विभागादेषां बोध्यत्वापत्तिः, उक्तात्यन्ताभावप्रतियोगिसंयोगान्यत्वस्य तत्र सत्त्वात्, द्वितीयपक्ष-स्यैवाचार्योक्तलक्षणवाक्यार्थतायाः स्फुटत्वेन विकल्पानवकाशाच्च । अनुवादकत्वं तु निराकरिष्यत एव । तस्माद्यत्कमेव तव आन्तत्वम् । द्वितीयमपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थप्रमापकत्वमित्येवंरूपम् । ननु औपगवः श्यामत्वादिमान् वनमेकदेशस्थवृक्षा इत्यादावव्याप्तिः; श्यामत्वादिमत्त्वोपलक्षितस्यौपगवादेस्तद्विषयत्वेन श्यामादिप्रातिपदिकार्थस्य तद्विषयत्वेऽप्यौपगवादिप्रातिपदिकार्थानां तद्विषयत्वेनैकमात्रप्रातिपदिकार्थत्वाभावात्, मात्रार्थानिवेशे च नानानामार्थ-संसर्गविषयकत्वेऽपि लक्षणोपपत्तिः, तत्राह—तत्राप्येकत्वमिति । वृत्तिविषयत्वं शक्तिलक्षणाकृतद्विदान्तसमा-सानामन्यतमज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वम् । तथाच यादृशधर्मविशिष्टस्य शक्यादिज्ञानाधीनधीविषयत्वं तादृशयत्किंचिद्धर्म-विशिष्टभिन्नाविषयकप्रमाजनकत्वं पर्यवसितम् । नाव्याप्तिरिति । औपगवादिसमुदायस्य शक्तिलक्षणयोरभावेऽपि तद्विदान्तत्वेन तज्ज्ञानाधीनधीविषयत्वस्य गोसमीपवृत्त्यपत्यत्वविशिष्टे सत्त्वात्तन्मात्रप्रापकत्वात् श्यामादिवाक्ये लक्ष-णान्वयः । वनसेनापदयोस्तु शक्तिज्ञानाधीनस्मृतिविषयत्वस्य वनत्वादिविशिष्टेषु नानावृक्षेष्वपि सत्त्वात्तद्वन्वयः । यद्यप्येकदेशस्थनानावृक्षत्वमेव वनत्वम्, तथाच एकदेशस्थेत्यादेर्यथाश्रुतार्थत्वे पर्यायशब्दद्वयत्वान्न लक्ष्यता; तथापि तस्यासाधारणधर्मान्तरपरत्वाल्लक्ष्यता बोध्या । वस्तुतस्तु—श्याम इत्यादेरौपगवादेः स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तर-त्वेन तन्मात्रविषयकत्वसंभवात् तद्विदादिपदस्य तत्स्वरूपमात्रलाक्षणिकत्वान्न यौगिकार्थविषयकत्वम् । एकदेशेत्यादे-रपि वनादिपदलक्षितनानावृक्षस्वरूपमात्रविषयकत्वम् । नच—वनादिस्वरूपस्य संसृष्टरूपत्वात् संसृष्टमेव तद्विषय इति—वाच्यम्; चन्द्रादिस्वरूपस्यापि चन्द्रत्वादिंसंसृष्टत्वात् प्रकृष्टप्रकाशेत्यादेश्चन्द्रव्यक्तिमात्रविषयकत्वानुपपत्तेः । तथाच शक्तिलक्षणान्यतररूपा लक्षणारूपा वा या एका नाशोवृत्तिः, तज्ज्ञानजन्यस्मृतिविषयान्याविषयकप्रमाजनकत्व-मेव लक्षणं संभवति; एकदेशेत्यादावेकस्या वनपदलक्षणाया विषयत्वस्य नानावृक्षस्वरूपेष्वनपायात् । आचार्याणां तु श्यामेत्यादेः संसृष्टनामार्थविषयकत्वाभ्युपगमेऽपि लक्षणं संभवति; एकव्यक्तिविषयत्वस्य निवेशे तस्यैव वृत्तिस्मारि-तत्पर्यवसन्नतया एकपदस्य नामपदस्य च वैयर्थ्यात्, तस्यानो च पूर्वलक्षणाविशेष इत्याशयः । अखण्डाभावनिवेशात् न वैयर्थ्यम्, अखण्डार्थवाक्ये एकनामार्थमात्रं विषयः, नतु नामार्थद्वयमाख्याताद्यर्थो वेति व्युत्पादनस्य प्रयोजनत्वा-ज्ञानतिप्रयोजनकत्वम् । अतएव प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेऽपि कथमखण्डार्थता ? संसृष्टस्यैव नामार्थत्वादित्याशङ्का प्राति-पदिकार्थविशेष्यांशमात्रपरत्वस्य साध्यत्वादित्याचार्यैरेव वाच्यमिति तु ध्येयम् । यत्तु—शीतोष्णस्पर्शौ पयःपावका-वित्यादेर्द्वन्द्वत्वेन भेदबोधकत्वान्नखण्डार्थत्वम्—इति, तन्न; द्वन्द्वस्य भेदभेदोदासीनपदार्थबोधकत्वाल्लक्षणवाक्यत्वेनैव साहित्यरूपभेदाबोधकत्वात्, साक्षात् प्रत्येकवाक्यद्वयद्वारा वा अखण्डविषयकबोधद्वयमात्रे तस्य तात्पर्याच्च । अवि-शिष्टं पदार्थान्तरानन्वितम् । एकं एकवृत्तिविषयः । अखण्डम् अखण्डशब्दार्थम् । शक्यतावच्छेदकरूपस्य प्रवृत्ति-निमित्तस्य भेदेऽपि लक्षणया अखण्डार्थत्वमित्याह—न प्रवृत्तीति । ननु गङ्गादिपदलक्ष्यस्यागङ्गात्वादिकमिवानन्ता-दिपदलक्ष्यस्य ब्रह्मणोऽन्तवत्त्वादिकं स्यात्, तत्राह—यथाचेति । वक्ष्यत इति । जहल्लक्षणाख्यल एव येन पदेन यल्लक्ष्यं तत्तच्छब्दस्वरूपात् अन्यत्, नान्यल्लक्षणाख्यले । अतएव छत्रिपदलक्षितानामेकसार्थगतानां कस्यचिच्छत्रित्व-मित्यादि वक्ष्यते ॥ इति लघुचन्द्रिकायाम् अखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः ॥

अथ सत्यादिवाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः ।

एवं लक्षणसंभवे प्रमाणसंभवोऽपि । तथाहि—सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ-
निष्ठं वा, लक्षणवाक्यत्वात् तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र' इत्यादिवाक्यवदिति पदार्थ-
विषयाखण्डार्थत्वानुमानम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठमात्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा, अकार्य-
कारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, सोऽयमित्यादिवाक्य-
वदिति वाक्यार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानम् । नच सत्यादिवाक्ये तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वमसिद्धम्; 'ब्रह्म-
विदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मवेदनस्यैवेष्टसाधनतया तन्मात्र एव बुभुत्सातः तन्मात्रस्यैव प्रश्नविषय-
त्वात् । नच प्रकृष्टादिवाक्ये साध्यवैकल्यम्; तद्वाक्यं पक्षीकृत्य तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वेन चन्द्रमात्रनिष्ठ-
तायाः सामान्यव्याप्तिमवलम्ब्य साधनात् । एवं 'तत्त्वमस्या'दिवाक्येऽपि तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वं नासि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अखण्डार्थनिष्ठं स्वघटकपदवृत्तिस्मारितान्याविषयकप्रमाजनकम् । लक्षणवाक्यत्वात् इतरव्यावृत्तिप्र-
त्वात्, यावन्ति लक्षणवाक्यानि तावन्मात्रमुख्यविशेष्यकधीमुख्यविशेष्यत्वाद्वा । आद्ये हेतौ यत् यन्निष्ठस्येतरभेदस्य
ज्ञानपरं, तत् तत्स्वरूपान्याविषयकप्रमाहेतुरिति सामान्यमुख्यव्याप्तेः पर्यवसानम्; स्मारितान्तस्य साध्ये निवेशे
प्रयोजनाभावात् । मन्मते इतरव्यावृत्तौ तात्पर्याभावस्य वक्ष्यमाणत्वेऽपि परमते तात्पर्यावश्यकत्वाच्च हेत्वसिद्धिः ।
धीविशेष्यमुख्यविशेष्यत्वं तु स्वमतसाधारणो हेतुः । द्वितीयसाध्ये हेतुमाह—तन्मात्रेति । ब्रह्मप्रातिपदिकार्थबुभुत्सा-
निवर्तकधीमात्रपरत्वादित्यर्थः । यो यन्नामार्थबुभुत्सानिवर्तकधीमात्रपरः, सः तन्नामार्थमात्रप्रमापक इति पर्यवसानं
बोध्यम् । अकार्येत्यादि । कार्यकारणभावापन्नद्रव्यद्वयबोधकं यद्यत् तदन्यत्वे सति द्रव्यान्यप्रतियोगिकसंसर्गविषयकं
यत् तदन्यत्वे च सति विरुद्धविभक्तिकनामद्वयाद्यघटितनानापदत्वादित्यर्थः । मृद्वट इत्यादेर्वारणायार्थं सत्यन्तम् ।
नीलो घट इत्यादेर्वारणाय द्वितीयम् । घटस्य कपालमित्यादेः षष्ठ्यर्थसंबन्धेन घटप्रकारकधीजनकत्वमते द्रव्यान्यसंसर्गा-
विषयकत्वात् तद्वारणाय घटितान्तम् । घटादावेकपदमात्रे च व्यभिचाराच्चरमदलम् । संसर्गविषयकपदेन मुख्यविशे-
ष्यांशसंसर्गविषयकोक्तेः नाद्यदलं व्यर्थम् । मृद्वट इत्यादौ च मृत्वादिविशिष्टस्यैव मुख्यविशेष्यत्वम् । तत्र च मृत्वादे-
र्द्रव्यान्यस्य संसर्गो न विषयः, किंतु शुद्धे मृदादौ । अतएवोक्तसंसर्गांशे विशेष्यताऽनवच्छिन्ना । यन्नाम स्वार्थद्रव्यानु-
पादेयस्य द्रव्यस्य बोधकेन स्वसमानविभक्तिकेन नाम्ना समभिव्याहृतं, स्वविरुद्धविभक्तिकपदासमभिव्याहृतं, तन्नाम-
घटितवाक्यं यद्यत् भवति, तत्तन्नामार्थान्याविषयकप्रमाजनकमिति तु पर्यवसानं बोध्यम् । नीलो घट इत्यादौ नीलादि-
नाम्नोऽपि स्वार्थानुपादेयद्रव्यबोधकेन घटादिनाम्ना समभिव्याहारात्तद्वटितवाक्ये तदर्थान्याविषयकप्रमाजनकत्वा-
भावेन व्यभिचारात् स्वार्थद्रव्येत्युक्तम् । तथाच सोऽयमित्यादौ तत्पदार्थानुपादेयस्य इदंपदार्थस्य बोधकेन तत्पदसमान-
विभक्तिकेन युक्तं नाम तत्पदं तद्वटितवाक्यं सोऽयमिति । तच्च तत्पदार्थान्याविषयकप्रमाहेतुरेव । तत्त्वमस्यादिवा-
क्येऽपि स्वपदेन तदादिपदमादाय योजनीयम् । ननु—'नीलो घट' इत्यादौ नीलघटयोस्तादात्म्यसंबन्धो भाति,
'सोऽय'मित्यादौ त्वखण्डार्थकत्वमित्यत्र किं नियामकमिति—चेत्, अत्रोच्यते—चतुर्धा सामानाधिकरण्यम् ।
विशेषणविशेष्यभावे—यथा 'नीलो घट' इत्यादौ । अध्यासे—यथा 'इदं रजत'मित्यादौ । व्यावहारिकतादात्म्यं
विशेषणविशेष्यभावः । प्रातीतिकतादात्म्यम् अध्यासः । बाधार्था—यथा 'यश्चोरः स स्थाणु'रित्यादौ यश्चोरत्वेन
ज्ञातः स चोरो न, किंतु स्थाणुरित्यर्थः । ऐक्ये—यथा 'सोऽय'मित्यादौ, तत्तेदन्तयोरेककालावृत्तित्वेन तदुपहितयो-
स्तादात्म्यासंभवेन तदुपलक्षितयोरखण्डव्यक्तिमात्ररूपैक्यं भाति । तथाच यत्र तादात्म्यं न संभवति, तत्राखण्डार्थ-
त्वात् जीवत्वेशत्वोपहितयोस्तादात्म्यासंभवादखण्डार्थत्वम्, 'नीलो घट' इत्यादौ तु तादात्म्यं संभवति; गुणक्रिया-
द्रव्यरूपकार्याणां सामान्यविशेष्ययोश्चाकार्ययोः तादात्म्यस्वीकारात्, विशिष्टकेवलयोरंशानिश्च तादात्म्यं संभवति;
केवले विशिष्टस्य अंशिनो चांशस्य कल्पितत्वेन कार्यत्वात् पुरुषो दण्डीत्यादावपि दण्डसंयोगस्य गुणत्वेन द्रव्ये तादा-
त्म्यात्तद्विशिष्टस्यापि पुरुषे तादात्म्यसंभवः । नित्यगुणस्य ज्ञानानन्दादिरूपस्य नित्यांशस्य च जलादिपरमाणौ ब्रह्मणि
च तादात्म्यं संभवत्येव; गुणत्वादेव । अतएव नित्यगुणद्रव्ययोरकार्यकारणनिष्ठसामानाधिकरण्यस्य व्यभिचारित्वात्
द्रव्यनिवेशः । ननु—स्वं घटपदं, तदर्थानुपादेयद्रव्यबोधकमृत्पदसमभिव्याहृतं तदेव, तद्वटितवाक्ये च तदर्थान्या-
विषयकप्रमाहेतुत्वाभावाच्च व्यभिचार इति—चेत्, सत्यम्; तद्वारणाय स्वार्थद्रव्यानुपादानस्येत्यपि द्रव्यस्येत्यत्र विशे-
षणं वाच्यम् । एवमपि परमते 'गगनं मह'दित्यादौ स्वपदेन महत्पदमादाय तदर्थानुपादानगगनबोधकपदयुक्तद्व-
टितवाक्यत्वस्य व्यभिचारित्वात् स्वार्थद्रव्येत्याद्यावश्यकमिति ध्येयम् । द्वितीयसाध्ये हेतुमाह—तन्मात्रेति ।
अत्र पूर्वोक्तरीत्या पर्यवसानं बोध्यम् । तन्मात्रस्य ब्रह्ममात्रस्य । प्रश्नविषयत्वात् सत्यादिवाक्यनिवर्त्यबुभुत्साविषय-

द्धम्; 'कोऽह'मित्यात्मस्वरूपस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तदधिकप्रत्युक्तेरयुक्तः । नाप्यत्र दृष्टान्तासिद्धिः; देवदत्तस्वरूपमात्रे पृष्ठे अस्य प्रवृत्तेः । नचाप्रयोजकत्वम्; प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, विपक्ष-
वाधकतर्कस्य विद्यमानत्वात् । नच—संसर्गागोचरप्रसिद्धिजनकत्वं साध्यमप्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादि-
नापि इदमित्थमिति विशेषसंसर्गागोचराया एव प्रसितेर्जननादिति—वाच्यम्; निर्विकल्पकस्वीक-
र्तृणां तस्मिन्नेव प्रसिद्धेः, इतरेषां तु प्रमात्वं संसर्गागोचरवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वादभिधेयत्ववदिति
सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः । यद्यप्यत्रापि अप्रयोजकत्वं संभाव्यते; तथापि सन्देहरूपा साध्यप्रसिद्धिर्न
दुर्लभा । वस्तुतस्तु प्रकृष्टादिवाक्य एव तत्प्रसिद्धिर्दर्शिता । नच—लक्षणवाक्यत्वं सत्यादिवाक्येष्व-
सिद्धम्; सत्यत्वादेः परापरजातितया तस्याश्चान्यत्रापि विद्यमानत्वेनासाधारण्याभावात्, नच—
तात्त्विकं तत् ब्रह्मणि, अद्वैतश्रुतिविरोधात्, अतात्त्विकं त्वन्यत्रापि तुल्यमिति—वाच्यम्; परमार्थ-
सत्यादिरूपतायाः ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वात् । अस्मन्मते यद्यपि सत्याद्यन्यतमपदं स्वरूपलक्षणपरम्, ब्रह्म-
णोऽन्यस्य तदाभासत्वात्; तथापि परैरपि सत्यत्वस्य सत्यत्वे सति ज्ञानत्वस्य सत्यत्वे सत्यानन्द-
त्वस्य शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानन्दात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारान्मिलितं विना न निर्वि-
चिकित्सब्रह्मसिद्धिरिति मिलितं लक्षणम् । नचैवं विशिष्टस्य लक्षणत्वे सखण्डार्थत्वप्रसङ्गः, वाच्यस्य
सखण्डार्थत्वेऽपि लक्ष्यस्याखण्डत्वात् । यद्यपि सर्वेषां सत्यादिपदानां लक्ष्यमेकमेव निर्विशेषं ब्रह्म;
तथापि निवर्तनीयांशाधिक्येन न पदान्तरवैयर्थ्यम् । अतो वाच्यार्थवैशिष्ट्यस्याखण्डसिद्धानुपायत्वात्
न तद्विरोधिता । ननु—इदं विरुद्धमसाधारणधर्मरूपलक्षणपरवाक्यस्य सखण्डार्थत्वनियमादिति—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वात् । यद्विषयकत्वेनेष्टसाधनत्वं तदन्यविषये बुभुत्सायां मानाभावादिति भावः । तत्प्रसिद्धिरिति । प्रश्नोत्तर-
योर्वैयधिकरण्यापत्तिकेण प्रमात्वपक्षकोक्तानुमानेन तादृशप्रमासिद्धौ तज्जनकत्वरूपसाध्यस्य प्रकृष्टादिवाक्ये प्रसिद्धि-
रिति भावः । यथाश्रुते तूक्तप्रमाया एवाप्रसिद्धेः तज्जनकत्वसिद्ध्यसंभवेनासङ्गतेः । वस्तुतस्तु—विशेषणतावच्छे-
दकप्रकारकनिश्चयस्य विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यहेतुत्वात् वादिविप्रतिपत्त्यादिना 'प्रमा संसर्गागोचरा न वे'ति संदेहेऽपि
व्याप्तिनिश्चयादिसंभव इति भावः । यत्तु प्रमात्वं, विशेष्याविषयकवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वादभिधेयत्ववदित्याभास-
साम्यमिति, तन्न शोभते; सप्रकारस्यैव सविशेष्यकत्वेन विशेष्याविषयकं निर्विकल्पकमेवेत्युक्तानुमानस्याप्यनाभास-
त्वात् । निर्विषयकवृत्तित्वानुमानं तु तर्कशून्यमित्युक्तानुमानमुक्ततर्कवत्त्वात् तत्त्वम् । अत्र सत्यादिवाक्यजन्यप्रमा,
संसर्गागोचरा, लक्षणवाक्यजन्यप्रमात्वात्, या या संसर्गविषयिका, सा न लक्षणवाक्यजन्यप्रमा, यथा घटमानयेति-
वाक्यजन्यप्रमेत्याद्यनुमानेषु न साध्याप्रसिद्ध्यादिशङ्केति ध्येयम् । सत्यत्वादेः सत्यत्वज्ञानत्वादेः । परापरेति ।
सत्यत्वं सर्वेषु जातिमत्सु वर्तमानत्वात् परा जातिः, ज्ञानत्वादिकं तु अतथात्वादपरा जातिः । तस्याः सत्यत्वादजातेः ।
अन्यत्रापीति । ब्रह्मलक्षणत्वेन ब्रह्मणि तत् सत्यत्वं त्वया वाच्यमेव; अन्यत्रापि सत्त्वेन तदतिव्याप्तमिति भावः ।
मन्मते सत्यत्वं न जातिः; मानाभावात्, बाधाविषयत्वेनैव सदाकारबुद्ध्युपपत्तेश्च । बाधाविषयत्वं स्वकालविषयत्वं
स्वकालावच्छेदेन प्रपञ्चेऽपि सत्त्वान्न ब्रह्मलक्षणम् । त्रिकालाबाध्यत्वं लक्षणं भवदपि न स्वरूपलक्षणम् । स्वरूपलक्षण-
बुभुत्सया च सत्यादिवाक्यं प्रवृत्तम् । अतस्त्रिकालाबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपात्मकं सत्यत्वं स्वरूपलक्षणं सत्यपदार्थः ।
एवं वृत्त्यवच्छिन्नचित्त्वादिरूपज्ञानत्वाद्युपलक्षितस्वरूपं ज्ञानत्वादिकं ज्ञानादिपदार्थ इत्याशयेनाह—परमार्थसत्त्वा-
दिति । नन्वेवं त्वन्मते सत्यादिपदानामेकस्यैव लक्षणबोधकत्वसंभवात् पदान्तरं व्यर्थम्, तत्राह—अस्यदिति ।
तदाभासत्वात् परमार्थसत्यादिस्वरूपत्वाभावात् । सत्त्वस्येति । ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारादित्यत्रान्वयः । ज्ञानानन्दा-
त्मकत्वस्येति । मिथ्याभूतज्ञानस्याकार एव तद्विषयः । सोऽपि मिथ्यैव; शून्यवादस्य विज्ञानवादविशेषरूपत्वात् ।
तथाचानन्दोऽपि ज्ञानाकारत्वात् ज्ञानाभिन्न इति ज्ञानात्मकानन्दत्वं तन्मते ब्रह्मभिन्नेऽपीति तद्वारणाय सत्यमिति
भावः । न निर्विचिकित्सेति । परमते सत्यत्वादेः ब्रह्मभिन्ने स्वीकारात् सत्यत्वाद्युपलक्षितं ब्रह्म जडादिरूपं न वेति
संशयाजडादिविलक्षणब्रह्मस्वरूपनिश्चयाय ज्ञानादिपदमावश्यकमिति भावः । विशिष्टस्य सत्यज्ञानत्वादिविशिष्टस्या-
नन्दत्वस्य । वाच्यस्य वाच्यसत्यत्वादिवदितस्य । लक्ष्यस्य सत्त्वाद्युपलक्षितस्य । सत्त्वाद्युपलक्षितमेकमेव लक्षणम् ।
सत्त्वाद्येकैकोपलक्षिते जडत्वादिसंशयेन ज्ञानादिपदान्तरवाच्यज्ञानत्वाद्युपलक्षितस्यैव बोधस्तन्निवर्तक इति न सखण्डा-
र्थता । इदमेव विवेचयति—यद्यपीति । निवर्तनीयांशेति । जडत्वादिभ्रमरूपनिवर्तनीयेत्यर्थः । न पदान्तर-
वैयर्थ्यं न ज्ञानादिपदवैयर्थ्यम् । नन्वेवं वाच्यघटितवाक्यार्थस्य सखण्डत्वं स्वीकृतं विरुध्येत, तत्राह—अतो
वाच्येति । वैशिष्ट्यस्य वैशिष्ट्यबोधस्य । उपायत्वात् द्वारत्वात् । तद्विरोधिता अखण्डार्थसिद्धिविरोधिता ।

चेत्, न; सर्वलक्षणवाक्यानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वेन नियमासिद्धेः, धर्मलक्षणस्याखण्डत्वविरोधित्वेऽपि स्वरूपलक्षणस्य तदविरोधित्वाच्च । नचाभेदे लक्ष्यलक्षणभावायोगः; अन्तःकरणवृत्तिनिबन्धनाकारभेदेन उभयोपपत्तेः, आवृतत्वानावृतत्ववत्, अन्यथा स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणविभागो न स्यात् । नच यावद्द्रव्यभावित्वाभावित्वाभ्यां व्यवस्था; तावता हि स्थायित्वास्थायित्वव्यवस्था स्यात्, न तु स्वरूपादिरूपा; तव मते पार्थिवरूपादौ स्वरूपलक्षणे अव्याप्तेश्च, ब्रह्मणि यावद्द्रव्यभाविधर्मविरहाच्च । वस्तुतस्तु—द्वारत्वेन लक्षणे तात्पर्यं न द्वारिणोऽखण्डार्थत्वं विरुणद्धि । नच—स्वरूपज्ञानस्य प्रागेव सामान्यतो जातत्वात् तज्ज्ञाने नैतद्वारापेक्षेति—वाच्यम्; ज्ञानमात्रेऽस्य द्वारत्वाभावेऽपि संशयादिनिवर्तकैतज्ज्ञाने तद्वारापेक्षणात् । नच सखण्डवनादिलक्षणवाक्ये व्यभिचारः; तत्रापि साध्यसत्त्वस्य व्युत्पादनात् । नच किं चन्द्रलक्षणमित्यसाधारणधर्मप्रश्नोत्तरे प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये व्यभिचारः; तत्र हि न चन्द्रस्वरूपपरत्वम्, किंतु प्रकर्षाश्रयो यः प्रकाशः, तत्स्वरूपपरत्वम्; तथाच प्रकर्षोपलक्षितप्रकाशव्यक्तिस्वरूपमात्रप्रतिपादकत्वेन तत्राप्यखण्डार्थत्वाविरोधात् । अत एव—धर्मे पृष्ठे चन्द्रस्वरूपं वक्तुं नोचितमिति—निरस्तम्; धर्मस्यैव स्वरूपत उक्तत्वात्, अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः । ननु—इदं बाधितम्, धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकं मोक्षहेतुं सप्रकारकज्ञानं प्रति साधनत्वेन वेदान्तविचारविधानान्यथानुपपत्त्या वेदान्तवाक्ये

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अभ्युपेत्याह—धर्मलक्षणस्येति । भावायोगः भावव्यवहारायोगः । इतरव्यावृत्त्यनुमितिं प्रति पक्षो लक्ष्यम् । हेतुलक्षणम् । तदुभयरूपत्वमत्यन्तभेदे न संभवति; हेतौ पक्षसंबन्धाभावादिति भावः । अन्तःकरणेति । विभिन्नमनोवृत्तिरूपाधिभेदादेकस्याभ्युपहितरूपेण भेदसंभवासंबन्धसंभवः । तादृशमनोवृत्तिश्च ब्रह्मपदार्थस्वरूपमात्रस्य लक्षणयोपस्थितिः, तद्विषयत्वेन लक्ष्यता, सत्यादिपदार्थस्वरूपमात्रस्य लक्षणयोपस्थितिश्च, तद्विषयत्वेन लक्षणत्वम् । साचोपस्थितिरभिहितान्वयमते अनुभवः । मतान्तरे स्मृतिः । तादृशविषयत्वरूपेण लक्ष्यलक्षणयोः साक्षिणैव प्रथमं गृहीतयोरनुमितिहेतुपरामर्शविषयत्वम् । यदि तु 'इतरव्यावृत्तिरर्थात् न तु शब्दा'दिति कल्पतरुक्तरीत्या इतरव्यावृत्तिरर्थापत्तिरेव, नानुमितिः, तदापि ब्रह्मपदार्थस्य सत्यादिपदार्थानामैक्यं यदखण्डाकारशाब्दधिया प्रमितं, तदसत्यादिव्यावृत्तिं ब्रह्मपदार्थनिष्ठां विना अनुपपन्नमित्यनुपपत्तिज्ञानेनासत्यादिव्यावृत्तिर्ब्रह्मनिष्ठेत्यर्थापत्तेरुत्पादात् ब्रह्मपदार्थत्वस्य ब्रह्मपदजन्यतादृशधीविषयत्वरूपत्वाद्यत्रानुपपन्नं गृह्यते तस्यैव लक्ष्यत्वादिना व्यावृत्त्युपपाद्यस्यानुपपन्नस्यैव लक्षणत्वादनुपपन्नविषयकमनोवृत्तिविषयत्वेन लक्षणत्वासिद्ध्या लक्ष्यलक्षणभावो मनोवृत्तिभेदेनैवेति भावः । आवृतत्वानावृतत्ववदिति । यथा एकस्मिन्नपि ब्रह्मणि आविद्यकभेदेन पूर्णानन्दरूपेणावृतत्वं चिद्रूपेणानावृतत्वं, तथोपाधिभेदेनाविद्यकभेदात् संबन्ध इति भावः । यावद्द्रव्यभावित्वाभावित्वाभ्यामिति । यावत्कालं लक्ष्यं तिष्ठति, तावत्कालस्थायि पृथिवीत्वादिकं पृथिव्यादेः स्वरूपलक्षणं तदन्यत् गन्धादिकं तटस्थलक्षणमित्यर्थः । न तु स्वरूपादीति । नच—यावदाश्रयस्थायि पृथिवीत्वादिकं न पृथिव्यादिभिर्भिन्नम्, किंतु सविशेषाभेदवत् । अत एवोक्तं 'यावद्वस्तु न भेदवदि'ति । यावद्धर्मि स्थायिनि धर्मे धर्मिभेदाभेदौ न स्तः, किंतु धर्मिणः सविशेषभेद इत्यर्थः । पार्थिवरूपादिकं तु न स्वरूपलक्षणमिति—वाच्यम्; भेदस्यैव विशेषपरिभाषाकरणेनात्यन्ताभेदाभावेन पृथिवीत्वादेः पृथिव्यादिस्वरूपलक्षणत्वासंभवात्, सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्यैवाभेदनियामकतया पार्थिवरूपादेरप्याश्रयेण सविशेषाभेदस्य दुर्वास्त्वात्, अन्यथा पृथिव्यां सत्यां रूपस्यैव पृथिवीत्वे सति पृथिव्या अपि नाशात्तयोरप्यभेदानुपपत्तेः । तस्मात् स्वरूपलक्षणं लक्ष्यात्यन्ताभिन्नं, विशेषलक्षणं यावदाश्रयभावि तटस्थलक्षणं स्वकालावच्छेदेन स्वाश्रयनिष्ठमिति विवेको युक्त इति भावः । ब्रह्मणीति । नच—आश्रयकालत्वव्यापकत्वस्यैव यावद्द्रव्यभावित्वरूपत्वेनाविद्याविषयत्वादिकमेव तादृशधर्म इति तस्य स्वरूपलक्षणत्वं भवन्मते कुतो नोच्यत इति—वाच्यम्, जगत्कर्त्रभिन्नोपादानत्वस्यैवाविद्याविषयत्वादेरपि मन्मते स्वरूपान्यत्वेन तटस्थलक्षणत्वव्यवहारात् । नच—भवन्मते जगत्कारणत्वादेः तटस्थलक्षणत्वानुपपत्तिः, कर्त्रभिन्नोपादानत्वरूपस्य तस्य ब्रह्मकालव्यापकत्वादिति—वाच्यम्; मन्मते स्वरूपलक्षणान्यत्वेन तत्र तटस्थलक्षणत्वोपचारात्, उपादानाभिन्नकर्तृत्वस्यैव मन्मते मुख्यतटस्थलक्षणत्वस्वीकारात्, कर्तृत्वस्य मायापरिणामज्ञानेच्छाकृतिरूपत्वेन स्वकालावच्छेदेन स्वाश्रयनिष्ठत्वात्, मन्मते कालत्वव्यापकजातेरेव विशेषलक्षणत्वेन जगदुपादानत्वादेर्मुख्यतटस्थलक्षणत्वसंभवाच्च, स्वरूपतटस्थलक्षणयोरेव मन्मते स्वीकारसंभवाच्चेति भावः । लक्षणे सत्यत्वादिधर्मस्य ब्रह्मणि वैशिष्ट्यबोधे । संशयादिनिवर्तकेति । सत्यत्वादिवैशिष्ट्यबोधोत्तरवर्तिनि सत्यत्वाद्युपलक्षिताखण्डबोधरूप इत्यादिः । प्रकाशव्यक्तिस्वरूपेति । नच—चन्द्रसंबन्धित्वेन प्रश्नात्तेनैवोत्तरवाक्येन बोध इति—वाच्यम्, चन्द्रस्यासाधारण-

साध्याभावनिश्चयादिति—चेन्न; अनृतादिप्रतिषेधकव्यावृत्ताकारज्ञानेनैव अनृतादिसंशयादिनिवृत्त्युपपत्तेरन्यथासिद्धत्वात् । न हि सप्रकारकत्वमात्रं तत्र तन्त्रम् । भ्रमकालीनानुवृत्ताकारज्ञानस्य सप्रकारकत्वेन संशयादिनिवर्तकत्वे भ्रमकथैवोच्छिद्येत । ज्ञानस्याज्ञानसमविषयत्वेनैव तन्निवर्तकत्वम्, नतु समानप्रकारकत्वेनाऽपि; गौरवात् । अज्ञानविषयश्च शुद्धं ब्रह्म; अज्ञानकल्पितस्य तदितरस्याज्ञानविषयत्वायोगात् । तथाच शुद्धब्रह्माकारा चित्तवृत्तिः निष्प्रकारिकैवाज्ञाननिवर्तिका; प्रकारमात्रस्याविद्याकल्पितत्वेन तद्विषयतायां वृत्तेरविद्यासमविषयत्वाभावात् । यथाचाविद्यातत्कार्यविषयं ज्ञानं तदनिवर्तकं तथा व्युत्पादितं प्राक् । द्रव्याद्याकारज्ञानानां च घटाद्याकारत्वस्यानुभवनिरस्तत्वान्न द्रव्याद्याकारज्ञानेन घटाद्याकारज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गः; द्रव्यत्वघटत्वयोर्भेदेन विषयभेदाच्च । यथाच समानप्रकारकत्वमादायापि न निस्तारः, तथा प्रतिपादितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामिति दिक् । ननु—अस्तु सत्प्रतिपक्षः, तथाहि—सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः, संसृष्टरूपः संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, संमतवत्, सत्यादिवाक्यं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानावाध्य-संसर्गपरं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानावाध्यस्वकरणकप्रमाविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा, प्रमाणवाक्यत्वादग्निहोत्रादिवाक्यवत्, 'विषं भुङ्क्ष्वे'त्यादौ वाच्यार्थसंसर्गपरत्वाभावेऽपि स्वकरणकप्रमाविषयपदार्थसंसर्गपरत्वान्न व्यभिचारः, 'खं छिद्रं कोकिलः पिक' इत्यादौ चानतिभिन्नार्थत्वे सामानाधिकरण्यायोगेन छिद्रकोकिलादीनां खपिकादिशब्दवाच्यत्वसंसर्गपरत्वान्न व्यभिचार इति—चेन्न, आद्यानुमाने संसृष्टरूप इति साध्ये संसर्गे संसर्गरूप इति साध्ये च संसृष्टरूपे पदार्थे व्यभिचारात्;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धर्मश्चन्द्रलक्षणमित्यस्य ज्ञातत्वेन तत्स्वरूपमात्रस्य पृष्ठत्वेनोत्तरवाक्यजन्यधीविषयत्वात् । अनृतादिप्रतिषेधकव्यावृत्ताकारेति । अनृतादिद्रव्यावर्तकं यत् सत्यत्वादिरूपं व्यावृत्तं विशेषरूपं तदुपलक्षितविषयकेत्यर्थः । अनृतादिसंशयेति । ब्रह्मानृतं न वेति संशयेत्यर्थः । निवर्तकत्वात् अज्ञानतत्कार्यसंशयादिनिवर्तकत्वात् । निदिध्यासनपूर्वस्यापातज्ञानस्य तु नाज्ञाननिवर्तकत्वम्, अनावृतप्रमात्वेनैव तत्स्वीकारात् । तत्र च प्रमात्वस्य सन्दिग्धत्वेनावृतत्वात् । विवेचितमेतज्ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमित्यात्वलक्षणे । द्रव्याद्याकारज्ञानानां द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नविषयताकज्ञानानाम् । घटाद्याकारत्वस्य घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयताकत्वस्य । न घटेत्यादि । तथाच तूलाज्ञाननिष्ठप्रतियोगितासंबन्धेन नाशं प्रति स्वविषयतावच्छेदकावच्छिन्नविषयताकत्वसंबन्धेन प्रमात्वेन हेतुत्वमिति भावः । बाधाचेति । तथाच स्वसमानविषयकत्वसंबन्धेनैव हेतुत्वसंभवः । द्रव्यघटत्वादिविशिष्टरूपविषयभेदेन द्रव्यघटाद्याकारज्ञानाज्ञानयोः न नाशनाशकभावापत्तिरिति भावः । तथा प्रतिपादितमिति । घटं न जानामीत्यज्ञानस्य जातिमानित्यादिज्ञानेन नाशः स्यात् । अनवच्छिन्नघटवत्प्रकारताकत्वस्य निवेशे तु घटत्वमात्रप्रकारकधीप्रकारवानित्यस्याप्यनाशकत्वापत्तिर्गौरवं च । तस्माद्द्रव्यघटजातिमदादीनां विषयाणां भेदादेकज्ञानादन्याज्ञानं न निवर्तत इति समानविषयकत्वमेव संबन्धः । शक्तिविशेषाणामेव वा तत्तद्विषयकाज्ञाननाशकतावच्छेदकत्वम् । अन्यथा तत्तद्विषयकत्वप्रमात्वादीनां मिथो विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावाद्नेकेहेतुत्वापत्तेरित्यादि प्रतिपादितमित्यर्थः । पूर्वानुमाने बाध्यसंसर्गादिपरत्वेनार्थान्तरादाह—स्वतात्पर्येत्यादि । इष्टान्ते तात्पर्यविषयसंसर्गस्य ब्रह्मधीबाध्यत्वात् ज्ञानान्तम् । अखण्डब्रह्मणोऽप्यभावादौ स्वरूपसंबन्धरूपत्वात् सिद्धसाधनादाह—स्वकारणकेत्यादिनिरूप्यान्तम् । अनतिभिन्नार्थत्व इति । भिन्नम् अत्यन्तभिन्नम् अतिक्रान्तो अतिभिन्नः भेदाभेदवान् तादृशार्थत्वाभाव इत्यर्थः । संसर्ग इति । नच—द्वयोः पदार्थयोरयं संसर्ग इति प्रत्ययात् संसर्गस्यापि संसृष्टत्वात् न व्यभिचार इति—वाच्यम्; तथा सति प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये चन्द्रत्वादिसंसृष्टपरत्वमादाय सिद्धसाधनादर्थान्तराद्वा तद्वरणाय सत्यादिवाक्यघटकपदार्थानामेकसंसृष्टापररूप इति साध्यकरणे संसर्गे व्यभिचारावश्यकत्वात् । संसृष्टरूप इति । नच—संसर्गरूप इत्यस्य संसर्गनिरूपक इत्यर्थकत्वात् न पदार्थे व्यभिचार इति—वाच्यम्; ब्रह्मण्यप्यविद्यादिसंबन्धनिरूपकत्वादिसत्त्वेन सत्यत्वादिविशिष्टतादात्म्यनिरूपकत्वेन च सिद्धसाधनात् । संसर्गनिरूपकत्वेन तात्पर्यविषय इति साध्ये च बाधः । न हि तेन रूपेण पदार्थतात्पर्यविषयः; निरूपकत्वस्य संबन्धसंबन्धस्य शाब्दबुद्धावभानात्, संसर्गे व्यभिचाराच्च । अथ—तात्पर्यविषयतापर्याप्त्यधिकरणत्वेन हेतुना एकपदार्थसंसृष्टापरपदार्थान्यन्ताभिन्नत्वं साध्यम्, केवलः पदार्थः संसर्गो वा नोक्तपर्याप्त्यधिकरणम्, ब्रह्मणि तु सत्त्वादिसंसृष्टज्ञानादेः तादात्म्यसत्त्वेऽपि नात्यन्ताभेद इति—चेन्न; पूर्वसाध्येऽप्येवं वाच्यतया तद्विशेषापत्तेः, अप्रयोजकत्वाच्च । तात्पर्यावेदकमानस्य शुद्धे सत्त्वे तस्यैव तात्पर्यविषयत्वे बाधकाभावादबाध्यपरत्वस्याग्निहोत्रादिवाक्येऽप्यभावादाह—प्रमितिविषयपरत्वेति । व्यवहारकालाबाध्यपरत्वेत्यर्थः । पदार्थाबाधस्याप्रमा-

तयोरुभयोरपि प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात् । द्वितीयानुमाने प्रमाणवाक्यत्वस्यावाध्यपरत्वमात्रेण प्रमितिविषयपरत्वमात्रेण वोपपत्तौ विशिष्टसाध्यस्य तत्रातन्त्रत्वेनाप्रयोजकत्वात्, अलक्षणवाक्यत्वस्योपाधित्वाच्च । नापि वेदान्तवाक्यजन्यप्रमा, सप्रकारिका, विचारजन्यत्वात्, संशयनिवर्तकत्वाद्वा, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवत्, वेदान्तजन्या प्रमा, ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधित्वात् ब्रह्मविचारजन्यत्वाद्वा, यदेवं तदेवम्, यथा कर्मकाण्डजन्यो निश्चय इति प्रतिसाधनमस्त्विति—वाच्यम्; तव मते ज्ञानमात्रस्य सप्रकारकत्वेन विचारजन्यत्वसंशयविरोधित्वयोर्व्यर्थत्वात्, अप्रयोजकत्वात्, निष्प्रकारकज्ञानादपि संशयादिनिवृत्तिसंभवात्, लक्षणवाक्याजन्यत्वस्योपाधित्वाच्च । अतएव—द्वितीयानुमानमपि—अपास्तम्; ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषयत्वसाधने दृष्टान्ताभावाच्च । सर्वेषु च प्रतिसाधनेषु प्रश्नोत्तरयोः वैयधिकरण्यापत्तिः प्रतिकूलतर्कोऽवसेयः । ननु—दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, तथाहि—प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं न तावदभिधया अखण्डार्थनिष्ठम्; प्रकृष्टादिपदस्याखण्डे अभिधया अभावात्, त्वयानङ्गीकाराच्च, नापि लक्षणया; प्रकृष्टप्रकाशस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा चन्द्रे अन्वयोपपत्तेः अन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजाभावादिति—चेन्न; ‘यष्टीः प्रवेशये’त्यादौ लोके ‘तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ती’त्यादौ वेदे च यथाश्रुतान्वयसंभवेऽपि यथा तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्त्या यष्टिधरपुरुषेषु सवनीयहविर्मात्रे च यष्टिपुरोडाशशब्दयोर्लक्षणाऽऽश्रिता, तथैवेह तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्तिनिमित्तया लक्षणया अखण्डार्थपरत्वोपपत्तेः, कश्चन्द्र इति चन्द्रस्वरूपे पृष्ठे तन्मात्रपरस्यैवोत्तरस्यो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

णवाक्येऽपि सत्त्वादवाध्यविषयकत्वं त्यक्त्वा अबाध्यपरत्वमुक्तम् । अप्रमाणवाक्ये चावाध्यपदार्थस्य तात्पर्याविषयत्वात्तद्व्यापकत्वस्य । अलक्षणवाक्यत्वस्येति । लक्षणवाक्यानां सर्वेषां संदिग्धसाध्यकतया पक्षत्वेन तद्विज्ञेयत्वेन साध्यव्यापकत्वनिश्चय इति भावः । नच—साध्याभावं प्रति उपाध्यभावस्य व्याप्यत्वाग्रहणान्नयमुपाधिरिति—वाच्यम्; पक्षे लक्षणवाक्यत्वस्य निश्चयसत्त्वेन संसर्गपरत्वरूपव्यापकसंदेहस्य व्याप्तिग्रहविरोधित्वात्, अङ्कुरादौ निश्चितकार्यत्वादिहेतौ सकर्तृकत्वसंदेहवत् प्रकृतेऽपि प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्त्यादितर्कसत्त्वाच्च । व्यर्थत्वात् असाधकत्वात् । विचारजन्यादिज्ञाने सप्रकारकत्वे यत् साधकं तत्तात्पर्यग्राहकमानादिकं, तदेव विचारजन्यादिज्ञानेऽपि तत्साधकमिति भावः । अथवा विचारजन्यत्वं विचारजन्यतावच्छेदकीभूतं विचारसमानविषयकनिश्चयत्वमेव । संशयविरोधितापि तद्वच्छेदकं तत्समानविषयकनिश्चयत्वम् । निश्चयत्वं च विरुद्धाविषयकज्ञानत्वमिति ज्ञानत्वान्यभागो व्यर्थविशेषणमिति भावः । नच—सप्रकारकनिश्चयत्वस्य साध्यत्वात् ज्ञानत्वमात्रस्य तत्र व्यभिचारित्वेन नेतरवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; उक्तजन्यताविरोधित्वयोरवच्छेदकं हि सप्रकारकत्वघटितं न वा । आद्ये तयोरवच्छेदकघटितत्वेन स्वरूपासिद्धिः, द्वितीये सप्रकारकत्वं विनापि तयोरुपपत्तिस्त्वयापि स्वीकृतैव । अथ जन्यताप्रतिबन्धकत्वयोः सप्रकारकत्वावच्छिन्नत्वेऽपि न तद्वदितत्वम्, जन्यताजनकत्वयोः अखण्डत्वस्वीकारात्, तथापि वस्तुगत्या तदवच्छिन्नयोस्तयोः पक्षे असिद्धिरेव । तयोर्वस्तुगत्या तदनवच्छिन्नत्वस्वीकारे तूक्तसाध्यं विनापि हेतूपपत्तिसंभवादिति विवेचितमनुपदमेतत् । अतएव व्यर्थत्वाप्रयोजकत्वाभ्यामेव । दृष्टान्ताभावादिति । नच—‘यो यो यद्धर्मिकसंशयविरोधी, स तन्निष्ठप्रकारकविषयक’ इत्यादिसामान्यव्याप्तौ निश्चयो दृष्टान्त इति—वाच्यम्; त्वन्मते संशयत्वनिश्चयत्वादेः प्रकारविशेषादिघटितत्वनियतत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारण्याभावेन पक्षविषयकसंशयादिनिर्देशे साधनवैकल्यात्, दृष्टान्तविषयकतन्निवेशे स्वरूपासिद्धेः । तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्त्येति । भोजनप्रस्तावादिना यष्टिधरकर्मत्वान्वितप्रवेशन्यायेन सवनीययागान्विततरसे गृहीततात्पर्यविषयत्वस्यानुपपत्त्येत्यर्थः । न्यायस्तूच्यते, तृतीयान्व्याधिकरणे स्थितं—‘शाक्यानामयनं नाम सत्रं षट्त्रिंशदाब्दिकम्’ । तत्र श्रूयते—‘संस्थिते अहनि ग्रहपतिर्गृह्यां याति स यान्मृगान् हन्ति तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा’ इति । तत्र तरसशब्दितं मांसं विधीयमानं सर्वपुरोडाशकार्यार्थमुत्तमं धानादिरूपस्य सवनीयहविःपञ्चकस्य कार्यार्थमिति संशये विधिप्रत्यासन्नत्वात् पुरोडाशशब्दितं पुरोडाशकार्यमुद्दिश्य मांसविधिः, सवनीया इति न विवक्षितम्; उद्देश्यविशेषणत्वात्, किंतु सृष्टिशब्द इव लिङ्गसमवायन्यायेन सवनीयासवनीयपुरोडाशानुवाद इति प्राप्ते ब्रूमः—विधेयतरसप्रत्यासत्तेर्मुख्यत्वाच्च सवनीयशब्दो विवक्षितार्थ एव । अन्यथा सवनीयपदस्य सवनीयासवनीयपुरोडाश इव पुरोडाशपदस्यापि पुरोडाशकार्ये लक्षणेति लक्षणाद्वयं स्यात् । तस्मात् सवनीयपदस्य मुख्यार्थान् यागविशेषानुद्दिश्य तदीयधानादिहविर्वाधेन तरसं विधीयते । तादृशान्वयस्य तात्पर्यविषयत्वानुरोधेन पुरोडाशधानादिहविःसंबन्धित्वेन रूपेण सवनीया एव लक्षणया पुरोडाशपदेनानुच्यन्ते । तथाच पुरोडाशादिपदमेवोद्देश्यविशेषणत्वाद्बिबक्षितार्थमिति । सवनीयहविर्मात्रे पुरोडाशधानादिहविकसवनी-

चित्तत्वात् । ननु—चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वे तत्र प्रश्नो न युज्यते; अज्ञातत्वे धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सासंदेहयोश्चन्द्र इत्यनूय क इति प्रश्नस्थचन्द्रशब्दस्यार्थवत्त्वाज्ञानेनाप्रातिपदिकतया तदुत्तरसुविभक्तेश्चायुक्तत्वप्रसङ्गात्, चन्द्रस्वरूपे ज्ञातेऽपि तस्यासङ्कीर्णं स्वरूपं न ज्ञातमिति न युक्तम्; तस्मिन् रूपद्वयाभावात्, असङ्कीर्णत्वेन न ज्ञातमिति चेत्, असङ्कीर्णत्वप्रकारकप्रतीतिपरत्वं पर्यवसितम्, तच्च व्यावर्तकवैशिष्ट्यं वा व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं वा, उभयथाप्यखण्डार्थत्वभङ्ग इति—चेन्न; भावानवबोधात् । तथाहि—चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वाभ्युपगमादेव तदज्ञातत्वनिबन्धनदोषानवकाशः । ज्ञातत्वेऽपि च विपर्ययविरोधिज्ञानानुदयदशायां तदुदयार्थं प्रश्नो युज्यत एव; अन्यथा सर्वत्र प्रश्नमात्रोच्छेदापत्तेः । अथानभ्यासदशापन्नं ज्ञानं न विपर्ययविरोधि; प्रकृतेऽपि समम्, विषयतुल्यत्वेऽपि ज्ञानविशेषस्यैव विपर्ययनिवर्तकत्वस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वात् । ‘शङ्खः श्वेतो न पीत’ इत्यादिपरोक्षज्ञाने भासते यादृशं श्वेत्यस्वरूपं पीताभावस्वरूपं वा, तादृशमेवापरोक्षज्ञानविषयतादशायां विपर्ययविरोधीति विपर्ययविरोधिफलोपहितमेवासङ्कीर्णमित्युच्यते । फलोपधानतदभावौ च दोषविशेषतदभावयोर्वैपरीत्येनेत्यन्यदेतत् । तथाच एकमेव स्वरूपं दशाविशेषभेदेन संकीर्णमसंकीर्णं चेति संकीर्णतादशायां युगपत् ज्ञानाज्ञानयोरुपपत्तिः । अतएव—व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं व्यावर्तकवैशिष्ट्यं वा असंकीर्णत्वमिति—अपास्तम्; ‘शङ्खः श्वेतो न पीत’ इत्यत्रोभयसद्भावेऽपि विपर्ययाविरोधित्वरूपसंकीर्णताया दर्शनात् । ‘यद्यपि यश्चन्द्रः तत्र चन्द्रत्वं तमोनक्षत्रादिव्यावृत्तिश्चास्तीति मया ज्ञायत एव; तथापि चन्द्रस्वरूपं परं न ज्ञायत’ इत्यनुभवेन व्यावर्तकव्यावृत्तिवैशिष्ट्यस्याजिज्ञासितत्वेन जिज्ञासितं चन्द्रस्वरूपमेव विपर्ययविरोधिज्ञानविशेषं जनयता ‘प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र’ इति वाक्येन बोध्यत इति किमनुपपन्नम्? व्यावृत्तेः शाब्दबोधफलत्वेऽपि तदविषयत्वान्नाखण्डार्थत्वव्याघातः; तद्वोदकपदाभावाच्च । अथ लक्षणया व्यावृत्तेः शाब्दबोधे भानम्, न; वैयर्थ्यात्तत्र तात्पर्याभावेन लक्षणया अयोगात् । तथाहि—चन्द्रे व्यावृत्तिर्बोध्यते व्यक्तिविशेषे वा, नाद्यः, ‘या शुक्तिः सा रजतादिभिन्ने’ति ज्ञानेऽपि शुक्तिस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययादिदर्शनवत् ‘यश्चन्द्रः; स तमआदिविलक्षण’ इति ज्ञानेऽपि चन्द्रस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययादिदर्शनात् । द्वितीये त्वावश्यकत्वाद्यक्तिविशेष एव बोध्यताम्, किं व्यावृत्त्या शब्दानुपस्थितया? व्यक्तिविशेषबोधादेव तत्सिद्धेः । न हि ‘धूमोऽस्ती’ति वाक्ये बहौ लक्षणा । अतएव—विनैव लक्षणां व्यावृत्तिः शाब्दबोधे भासते, ‘घटेन जलमाहरे’त्यत्र छिद्रेतरत्ववदिति—निरस्तम्; छिद्रेतरत्वस्यानन्यलभ्यत्वेन शब्दतात्पर्यविषयत्वेऽपि न व्यावृत्तेस्तथात्वम्; हानोपादानादिवत् फलत्वेनान्यलभ्यत्वात् । छिद्रेतरत्वमपि लक्षणां विना न शाब्दबोधविषयः; अन्यथा लक्षणोच्छेदापत्तेः, किंतु शाब्दबोधविषये जलाहरणसाधने वस्तुगत्याऽस्तीत्यन्यत्र विस्तरः । अतएवोक्तमाकरे—‘अन्यतो व्यावृत्तिरर्थात् न शब्दा’दिति । नच कश्चन्द्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यमात्रे । विषयीभूतान्वयानुपपत्तीति । विषयीभूतस्यान्वयो यस्यां तादृशानुपपत्तीत्यर्थः । विपर्ययविरोधिज्ञानेति । ‘चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशो नै’त्यादिधीविरोधि यत् प्रकृष्टप्रकाशत्ववैशिष्ट्यधीद्वारकमुक्तप्रकाशत्वोपलक्षितस्वरूपज्ञानं तदित्यर्थः । ननु विषयाभेदे पूर्वोत्तरज्ञानयोरविरोधित्वरूपवैचित्र्यमनुपपन्नम्, तत्राह—अन्यथेति । प्रश्नमात्रेति । उत्तरवाक्यसमानविषयकाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दिज्ञानपूर्वकप्रश्नमात्रेत्यर्थः । अनभ्यासदशापन्नम् अप्रामाण्यशङ्कस्पदम् । ज्ञानविशेषस्य अप्रामाण्यशङ्काशून्यस्य । वैपरीत्येन व्युत्क्रमेण पितादिरूपे दोषे दृष्टे सति फलानुपधानं, तदभावे सति फलोपधानमित्यर्थः । यत्तु प्रश्नोत्तरयोरसङ्कीर्णस्वरूपं विषय इति न युक्तम्; विपर्ययविरोधिफलोपहितरूपस्य तत्वेनोक्तफलस्य तदविषयत्वादिति, तत्र शोभते; फलस्योपाधित्वेन तत्र तद्विषयत्वस्य केनाप्यनुक्तत्वात् । फलत्वे फलीभूतधीविषयत्वे चन्द्रे चन्द्रत्वादिविशिष्टे । शुक्तिस्वरूपाज्ञानेति । इदं रजतादिभिन्नत्वेन न जानामीत्यज्ञानेत्यर्थः । चन्द्रस्वरूपाज्ञानेति । ‘इदं तमआदिभिन्नत्वेन न जानामी’त्यज्ञानेत्यर्थः । बहौ लक्षणेति । साक्षात् परंपरया वा लक्षणां विनापि योऽर्थः सिध्यति, तद्वोदार्थं लक्षणया अन्याय्यत्वात् । व्यक्तं चेदं शब्दमण्यादाविति शेषः । अर्थादिति । अखण्डस्वरूपलक्षणस्य व्यावृत्तेश्च पक्षादन्यत्राज्ञातत्वेनान्वयव्याप्यग्रहणेन व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानरूपार्थापत्ति एव व्यावृत्तिधीरिति भावः । पदार्थाधीनत्वे स्वरूपे प्रकृष्टप्रकाशादितावत्पदार्थवैशिष्ट्यधीद्वारकत्वे । इतरव्यावृत्तिफलकत्वेन प्रकृष्टप्रकाशेतरनक्षत्रादितादात्म्यधीनिवृत्तिफलकत्वेन । तावत्पदाज्ञानात् नक्षत्रादितादात्म्यज्ञानानिवृत्तिः सर्वानुभवसिद्धेत्याह—अन्यथेति ।

इति धर्मप्रश्नोऽयम्; कश्चन्द्रधर्म इति स्वाधीने शब्दप्रयोगे निष्प्रयोजनलक्षणाया अन्याय्यत्वात्, तद्वोधनेऽप्यखण्डार्थत्वोपपादितत्वाच्च । ननु—सर्वलक्षणवाक्यानां वस्तुगत्या परस्परभिन्नत-
त्तत्प्रातिपदिकार्थमात्रविषयज्ञानजनकत्वेन सप्रकारकज्ञानजनकत्वाभावात् प्रश्नवाक्यस्य विशेष्यमात्र-
समर्पकं चन्द्रादिपदमेव प्रयोक्तव्यमुत्तरवादिना, किं प्रकृष्टप्रकाशादिपदेनेति—चेन्न; स्वरूपमात्रस्य
ज्ञेयत्वेऽपि स्वरूपज्ञानस्य तावत्पदार्थाधीनत्वे सत्येव तावत्पदार्थेतरव्यावृत्तिफलत्वेन सर्वपदानां सफल-
त्वात्, अन्यथा संशयाद्यनुवृत्तेरनुभवसिद्धत्वात् । ननु—उत्तरस्य प्रकृष्टत्वादिविशिष्टबोधपरत्वा-
भावे तात्पर्यतो यः कश्चिच्चन्द्र इत्येवावबोधनाद्वस्तुतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वं स्यात्, तात्पर्यविषये चायं
चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावेन चन्द्रबुभुत्साया अनिवृत्तिः, कश्चन्द्र इति प्रश्नस्यो-
त्तरं च न स्यादिति—चेन्न; यथा गङ्गासंबन्धित्वविशिष्टे तात्पर्याभावेऽपि वस्तुगत्या गङ्गासंबन्धेय-
तीरं गङ्गापदेन लक्ष्यते, यथा वा 'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यादौ व्रीह्यादिस्वरूपे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्याद्ब्रीहि-
भिर्यजेतेत्यादिवाक्यसिद्धापूर्वसंबन्धित्वलक्षणायामपि वस्तुगत्या व्रीहित्वाद्याश्रयीभूता एव व्यक्तयो
व्रीह्यादिपदैर्लक्ष्यन्ते, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां वस्तुगत्या स्वाश्रयीभूतैव व्यक्तिलक्ष्यते,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्ष्यत इति । लक्षणया बोध्यते । गङ्गासंबन्धिन एव लक्ष्यत्वेन ज्ञातत्वात्तदेव लक्षणया बोध्यत इति भावः ।
वैयर्थ्यादिति । व्रीह्यादिस्वरूपस्य प्रोक्षणाद्यसाध्यत्वेन तत्साध्यकभावनायां साधनत्वेन प्रोक्षणादिविधानं व्यर्थम् ।
भावनानामर्थं प्रति साधनत्वपर्यवसानार्थं हि भावनां प्रति साधनत्वेन विधिरिति भावः । वैयर्थ्यादपूर्वसंबन्धित्व-
लक्षणायामिति योजना । व्रीहीणामपूर्वसंबन्धित्वे मानमाह—व्रीहिभिर्यजेतेत्यादिवाक्यसिद्धेति । यागस्वरूपे
अनर्थकत्वादुक्तवाक्येनाप्यपूर्वसाधनयागमुद्दिश्य व्रीहिविधानाद्यागद्वारा अपूर्वसंबन्धित्वं लभ्यते । तथाचापूर्वस्य प्रोक्ष-
णादिशून्यव्रीहिप्रयोज्ययागेन सिद्धौ मानाभावेनापूर्वसंबन्धित्वविशिष्टमुद्दिश्य प्रोक्षणादिसाधनकभावनाविधिर्न व्यर्थ
इति भावः । वस्तुगत्या व्रीहित्वादीति । प्रदेयनिष्पादकतत्तत्क्रियाद्वारकस्यापूर्वप्रयोजकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदक-
त्वात् व्रीहीणामेव तद्वत्त्वेन लक्ष्यतेति भावः । प्रोक्षणाद्यवातादीनां व्रीहित्वादिविशिष्टमुद्दिश्य विधानम्, अपूर्वसाध-
नत्वविशिष्टमुद्दिश्य वा । आद्ये श्यामाकचर्वादौ व्रीहित्वाद्यभावात् प्रयोजकाभावेन प्रोक्षणादिलोपः, द्वितीये तु
श्यामाकादीनामप्यपूर्वसाधनत्वात् प्रोक्षणादीनामूहः । यद्यपि हि प्रकृतौ यस्य यत्संबन्धः श्रुतः तस्य विकृता-
वन्यथाभावेन तत्संबन्धज्ञानमूहः; तथापि प्राकृतापूर्वयथादशोपकारविशिष्टोद्देशेन प्रकृतौ यद्विहितं वैकृतापूर्वयता-
दशोपकारविशिष्टोद्देशे सत्येव स सिद्ध्यति । अन्यथा अश्यादिपदयुक्तस्यैव मन्त्रस्यादृष्टादिप्रयोजनविशिष्टसूर्यादिदेवतो-
द्देशेनातिदेशे सूर्यादौ सूर्यादिपदस्याश्यादिपदस्थाने 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामी'त्यादिमन्त्रेपूहो न स्यात् । वैकृतापूर्वय-
प्राकृतोपकारविशिष्टोद्देशेनातिदेशे तु प्रकाश्यत्वरूपप्राकृतोपकारविशिष्टसूर्यादिदेवताया अश्यादिपदेन साधयितुमशक्य-
त्वादश्यादिपदस्थाने सूर्यादिपदोहसिद्धिः । अतएवोपकारपृष्ठभावेनैव पदार्थानामतिदेश इति दशमे वक्ष्यते । तस्मात्
प्राकृतापूर्वयथादश्यादशोपकारः येन येन साधितः वैकृतापूर्वयथादशतादशमुपकारं तेन तेन साधयेदित्येवरूप एवाति-
देश ऊहप्रयोजकः । तत्रारादुपकारकप्रयाजादिस्थलेऽपि यद्यप्युद्देश्यसमभिव्याहारो नास्ति; तथापि प्रकरणेन यागाङ्ग-
तयैव तद्विधानाद्यागत्वमेव तत्रोद्देश्यतावच्छेदकम् । तथाच प्रयाजादीनां सर्वयागार्थत्वमेव । अथवा—अनुवादस्य सति
संभवे सन्निहितगामित्वेनाग्नेयत्वादिनैवोद्देश्यता नत्वपूर्वघटितरूपेण; तादृशलक्षणायां मानाभावात् । प्रधानापूर्वार्थ-
त्वस्याविशेषेणाग्नेयादेरिव प्रयाजादेरपि प्रधानत्वापत्तेः । नचैवमुक्ताङ्गानामतिदेशोच्छेदः; अपूर्वविशेषार्थत्व इवाग्नेयाद्यर्थ-
त्वेऽपि तद्वत्कुर्यादित्यतिदेशेनाग्नेयादिस्थानापत्तेः सूर्यादावतिदेशोपपत्तेः । एवंच 'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यादौ व्रीहित्वादिनैवो-
द्देश्यसंबन्धात् सुतरां व्रीहित्वादिविशिष्टोद्देशेन प्रोक्षणादिविधिः । यद्यपि व्रीह्यादिस्वरूपस्य प्रोक्षणाद्यसाध्यता; तथापि
प्रोक्षणादिविशिष्टव्रीहीणामेव कल्पितवाक्यान्तरेणापूर्वार्थत्वं कल्प्यताम्, नतु व्रीह्यादिपदेष्वेवापूर्वसाधनलक्षणा; निषा-
दस्यपत्यधिकरणविरोधापत्तेः । अथवोपस्थितत्वाद्वाच्यं विजातीययागसाधनव्रीहित्वादिकमेव लक्ष्यतावच्छेदकम्,
नत्वपूर्वसाधनत्वम् । नच विजातीययागे प्रोक्षणादिभिन्ना सामग्री क्लृप्ता, येन तत्रापि तदसाधनत्वमाशङ्क्येतेति प्राप्ते,
विजातीययागसाधनत्वेन उद्देश्यतास्वीकारेऽपि व्रीहित्वादिकं नोद्देश्यतावच्छेदके निविशते । तत्र युक्तेर्वक्ष्यमाणत्वादिति
श्यामाकादिष्वपि प्रोक्षणादिकं सिध्यत्येव, परं तु विजातीययागसाधनत्वेन नोद्देश्यता संभवति; प्रोक्षणादिकं विनापि
देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपस्य यागसामान्यस्योत्पत्त्या सामान्यस्य विशेषात्मकत्वमन्तरेणापर्यवसानेनाग्नेयादिरूपविजाती-
यत्वस्य तत्रावश्यकत्वात्, विशेषान्तरत्वस्य तत्राभावात् । तथाच व्रीह्यादिस्वरूपस्यैव विजातीययागसाधनत्वविशिष्ट-
स्वरूपस्यापि प्रोक्षणाद्यसाध्यत्वेन तदुद्देशेन विधानार्थकयादपूर्वसाधनत्वेनैव प्रोक्षणादिविधिर्बुद्ध्यता । एवं प्रयाजादि-

ननु या काचिदिति विशिष्टतात्पर्याभावेऽपि न पूर्वोक्तदोषः । अयं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणभावाभावेऽपि तदुभयप्रतिपादकपदाभ्यामुपस्थितस्यैकस्वरूपस्यैव उद्देश्यविधेयभानसंभवेन बुभुत्सानिवृत्तेरुत्तरत्वस्य च संभवात् । निष्प्रकारकस्यापि ज्ञानस्य संशयादिनिवर्तकत्वं प्रागुपपादितमेव । तदेतन्निष्कृष्टम्—प्रश्नोत्तरे तावत् चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रविषये, चन्द्रप्रातिपदिकार्थश्च प्रकृष्टप्रकाशाश्रयीभूतासाधारणी विशेष्यभूता व्यक्तिः, न तु प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टा; प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति सहप्रयोगानुपपत्तेः विशेष्यव्यक्तिश्चाखण्डेत्यखण्डार्थतैव । ननु—गामानयेत्यत्र गामुद्दिश्यानयनविधानात् यथा गोत्वस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वादानयनेनानन्वयेऽपि प्रकारत्वं, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वयेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वात् प्रकारत्वं दुर्वारम्, न हि गामानयेत्यत्र गोत्वं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विधुद्देश्यताप्यपूर्वसाधनत्वेनैव । अपूर्वप्रयोजकयोग्यतायाः प्रधाने जनकत्वेन न प्रयाजादीनां प्रधानत्वाद्यापत्तिः । यत्तु ब्रीहित्वादिनैव प्रोक्षणादिविधेरुद्देश्यता, तदानर्थक्यवारणाय तु पश्चात्प्रोक्षणादिमन्त्रीहित्वादेरपूर्वार्थत्वं कल्पितवाक्येनेत्युक्तं; तन्न; ब्रीहित्वादिविशिष्टकर्मभावनायां प्रोक्षणादिसाधनस्यायोग्यतानिश्चयेन शाब्दबोधासंभवेन निपादस्थपत्तिन्यायानवतारात् । तस्मादपूर्वसाधनत्वस्य श्यामाकादावपि सत्त्वात् प्रकृतिवत्कुर्यादिति शब्देन प्रकृतिसंबन्धियज्जातीयार्थं यज्जातीयं श्रुतं विकृतिसंबन्धितज्जातीयार्थं तज्जातीयं कुर्यादिति बोधनात् विकृत्यपूर्वसाधनश्यामाकाद्यर्थं प्रोक्षणाद्यनुष्ठानसिद्धिः । अथापूर्वप्रयोजकत्वरूपापूर्वसाधनत्वघटकानां यागत्वादीनां निवेश आवश्यकः; अपूर्वादिकं प्रत्यनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपेण यागादिनिष्ठापूर्वादिसाधनत्वेन तस्य घटितत्वात् । तथाचापूर्वसाधनयागसाधनप्रदेयद्रव्यसाधनावघातादिसाधनोलुल्लसलमुसलोद्देशेन विहितं प्राकृतं प्रोक्षणम् । नैवारश्चरुर्नखावपूतानामिति विहितचरौ नखेपूलखलादिस्थानीयेष्ववघातव्यविशिष्टभावान्न प्रोक्षणादिसिद्धिरिति प्राप्ते साधनत्वस्य शक्तिविशेषरूपत्वेनाखण्डत्वादवच्छेदकाघटितत्वात् साधनतावच्छेदकस्य यागत्वब्रीहित्वावघातत्वादेर्नापूर्वप्रयोजकत्वशरीरे निवेशः; गौरवात्, तत्तत्साधनताश्रयत्वेन निवेशेऽप्यनतिप्रसङ्गाच्च । तस्मादपूर्वसाधनताविशेषाश्रयनिरूपितसाधनताविशेषाश्रयत्वादेरुद्देश्यतावच्छेदकस्य नखादिष्ववघाताद्यभावेऽपि वैतुष्यसाधनक्रियासाधनत्वेनान्वयात्तेषु प्रोक्षणादिसिद्धिः । अथ ब्रीहिन्यप्रोक्षतीत्यादौ यागत्वावघातत्वादेरश्रुतस्यानिवेशेऽपि श्रुतस्य ब्रीहित्वादेस्त्यागे मानाभावः, युगपद्वृत्तिद्वयस्य विरुद्धत्वेऽप्यपूर्वप्रयोजकब्रीहित्वादिनैव लक्षणासंभवः, तथाच श्यामाकादौ ब्रीहित्वाद्यभावात् न प्रोक्षणादिसिद्धिरिति प्राप्ते ब्रीहित्वादिनिवेशं विनैव तत्तत्साधनताविशेषनिवेशेऽनतिप्रसङ्गात् ब्रीह्यादिनिष्ठासाधनताविशेषलाभार्थमेव ब्रीह्यादिपदोपादानात्तन्निवेशे मानाभावः । यद्यपि ब्रीहियवनिष्ठयोः साधनत्वयोर्गुणाद्भेदः; तथाप्यपूर्वप्रयोजकताविशेषाश्रयप्रदेयनिरूपिता या तत्तद्वापारनिष्ठासाधनताघटिता प्रयोजकता, तत्त्वेनोद्देश्यतावच्छेदकत्वाद्यवेष्वपि प्रोक्षणविधिलाभ इति द्रव्यसङ्घेयत्वाद्यधिकरणेषु नवमप्रथमे स्थितम् । लक्ष्यलक्षणभावाभावेऽपीति । विशेषणविशेष्यभावरूपो यः पराभिमतो लक्षणवाक्याधीनो लक्ष्यलक्षणधर्मस्तदभावेऽपीत्यर्थः । तदुभयप्रतिपादकपदाभ्यां चन्द्रत्वविशिष्टस्य प्रकृष्टप्रकाशत्वविशिष्टस्य च प्रतिपादकपदाभ्याम् । एकस्वरूपस्येति । कश्चन्द्र इति प्रश्नस्य प्रकृष्टप्रकाश इत्येवोत्तरम्; प्रश्नवाक्यस्थचन्द्रादिपदानुपङ्गेणैवोत्तरवाक्यार्थबोधस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । अनुषक्तस्यापि चन्द्रादिपदस्य प्रश्नवाक्यस्थचन्द्रादिपदसमानविषयकत्वम्; तथैव व्युत्पत्तेः । तथाच परमते चन्द्रत्वादिविशिष्टस्यैव मन्मते शुद्धचन्द्रव्यक्तेः प्रश्नविषयत्वादुत्तरवाक्येऽपि विषयत्वम् । तस्य च पूर्वज्ञातस्वनिष्ठविषयतात्वेनोद्देश्यतात्वमिवाज्ञाननिवर्तकतावच्छेदकविषयतात्वेन विधेयतात्वमपि युक्तम् । नहि विशेष्यतात्वमुद्देश्यतात्वव्यापकम्; पृथिव्यां गन्ध इत्यादौ पृथिव्यादिविषयतायां व्यभिचारात् । नचोद्देश्यतात्वं विधेयतानिरूपितत्वव्याप्यम्; विषयतानां निरूप्यनिरूपकभावस्य सांसर्गिकविषयताशालिज्ञानस्थल एव सर्वसंमतत्वेनाखण्डबोधस्थले तदभावेऽप्युक्तलक्षणोद्देश्यतात्वस्यापह्नोतुमशक्यत्वादिति भावः । बुभुत्सानिवृत्तेरुत्तरत्वस्य चेति । बुभुत्सा तावत् स्वविषयबोधेनैव निवर्त्या । सा च प्रकृते शुद्ध एवेति स एव निवर्तकः । तज्जनकत्वादेव च वाक्यमुक्तमिति भावः । आश्रयीभूता उपलक्षिता । ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादौ चन्द्र इत्यस्य प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टार्थकत्वे सहप्रयोगानुपपत्तेरखण्डार्थकत्वमुक्तं, तदयुक्तम्; चन्द्र इत्यस्य चन्द्रप्रातिपदिकवाच्यार्थकत्वसंभवेन सहप्रयोगोपपत्तेरखण्डार्थकत्वे मानाभावादिति शङ्कते—ननु गामानयेत्यादि । आनयनविधानात् आनयनकर्मत्वविधानात् कर्मत्वस्य प्रत्ययार्थत्वेन विशेष्यत्वेऽपि विधेयत्वं गुणानां गुणत्वाभिसंबन्ध इत्यादावभिसंबन्धस्यैव बोध्यम् । उद्देश्यतावच्छेदकत्वादिति । आनयनकर्मत्वान्वितगोव्यक्तौ प्रकारत्वात् । आनयनेन आनयनकर्मत्वेन । प्रकृष्टप्रकाशस्येति । विधेयेनेति शेषः । प्रातिपदिकार्थत्वेनेति । चन्द्रप्रातिपदिकार्थस्य तादात्म्येन विधेयत्वेऽपि तदर्थत्वस्यापि तच्छरीरप्रवेशेन विधेयत्वोक्तिः ।

विनाऽन्वय इति—चेन्न; प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वस्य प्रातिपदिकार्थत्वनियतत्वेनाप्रातिपदिकार्थं तदवच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तथाच प्रकृष्टप्रकाशस्य प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वे प्रातिपदिकार्थत्वं दुर्वारमेव । ननु—पृथिवीत्ववती पृथिवीत्यादौ पृथिवीत्वस्य विधेयेन पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वेन नान्वयः; पृथिवीत्वस्य पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वात्, सहप्रयोगस्तु पृथिवीशब्दस्य तद्व्यवहर्तव्यतापरतयेति तत्र व्यभिचार इति—चेत्, न; पृथिवीशब्दार्थत्वेन पृथिवीत्वजातिविशिष्टमजानतः पृथिवीत्वपदेन जातेरुपस्थित्यभावात् अनन्वय एव स्यादिति पृथिवीत्वजातिविशिष्टे पृथिवीशब्दार्थत्वग्रहोऽवश्यं प्रागेव श्रोतुर्वक्तव्यः । तथाच वचनवैफल्यमित्यनन्यगत्या जलादिव्यावृत्तगन्धसमानाधिकरणजातिमती पृथिवीत्याद्यर्थं पर्यवसितमुत्तरम् । गन्धसमानाधिकरणजातिमत्त्वादिकं च न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दुर्वारमिति । तथाच प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टे चन्द्रपदार्थत्वविशिष्टमुत्तरवाक्यजन्यबुद्धौ विशेषणमिति सा नाखण्डविषयिकेति भावः । प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वस्य । प्रातिपदिकार्थत्वनियतत्वेन चन्द्रपदार्थत्वव्याप्यत्वेन । अप्रातिपदिकार्थं चन्द्रपदार्थभिन्ने । तदवच्छेदकत्वस्य चन्द्रपदार्थतावच्छेदकत्वस्य । यो यत्पदार्थतावच्छेदकः, स तत्पदार्थ इति सामान्यतो नियमः । पदानां विशिष्ट एव शक्तिः; अन्यथा शक्यान्यस्य शाब्दधीप्रकारवानुपपत्तेरिति भावः । दुर्वारमेवेति । ननु—चन्द्रपदार्थतावच्छेदकं चन्द्रत्वं जातिरूपमेव; परंतु लक्षणवाक्यं चन्द्रपदवाच्यत्वं प्रकृष्टप्रकाशाश्रयेऽवगाहते, ननु चन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकत्वं प्रकृष्टप्रकाश इति—चेन्न; तथासति लक्षणवाक्यस्यानुवादकतापत्तेः, तेजस्वाद्युपहिते चन्द्रपदवाच्यत्वस्य पूर्वं ज्ञातत्वात् प्रकृष्टप्रकाशानुपलक्षितेऽपि चन्द्रपदवाच्यत्वस्य निवारणासंभवाच्च । अथ—अप्रकृष्टप्रकाशो न चन्द्रपदवाच्य इत्यत्र तात्पर्यमिति—चेन्न; पदद्वयेऽपि लक्षणापत्तेरप्रकृष्टप्रकाशस्य चन्द्रत्वस्य चन्द्रपदवाच्यत्वेन बाधाच्च । तस्मात् घटो ज्ञात इत्यादौ घटत्वादर्शाततावच्छेदकत्वमिव लक्षणवाक्ये प्रकृष्टप्रकाशादेश्चन्द्रादिपदवाच्यतावच्छेदकत्वं लभ्यते; विधेयतावच्छेदके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमानस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । तथाच वाच्यतावच्छेदकत्वेन तस्य वाच्यत्वं दुर्वारमिति तदङ्गीकारेण चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाश इत्यादिलक्षणवाक्ये नाम्नोरेकस्य वाच्यत्वविशिष्टलक्षणिकत्वेन सहप्रयोगोपपादनापेक्षया मन्मतसिद्धशक्यैकदेशपरत्वमादाय मुख्यार्थपरत्वेन लक्षणवाक्यस्याखण्डार्थत्वमुचितमिति भावः । ननु पृथिवीत्ववती पृथिवीत्यादिनाम्नोरेकार्थत्वस्य सर्वसंमतत्वादेकपदस्य स्ववाच्यत्वविशिष्टपरत्वेनैव सहप्रयोग उपपादनीयः । तथाच पृथिवीत्वविशिष्टे पृथिवीपदवाच्यत्वविशिष्टान्वये पृथिवीत्वे वाच्यतावच्छेदकत्वस्य व्युत्पत्तिबलालाभेन वाच्यतावच्छेदकस्य वाच्यत्वनियमात् विशेषणीभूतपृथिवीत्वे वाच्यत्वविशिष्टान्वयेऽपि न क्षतिरिति लक्षणवाक्यस्याखण्डार्थत्वनियमे व्यभिचार इत्याशयेन शङ्कते—ननु पृथिवीति । ननु पृथिविपदस्य स्ववाच्यताविशिष्टपरत्वोक्तिर्न युक्ता; मुख्यार्थयोरैवान्वयसंभवात् । नह्यत्र मुख्यार्थयोरन्वये वाच्ये उद्देश्यतावच्छेदकरूपेण विधेयता, येन निराकाङ्क्षत्वमभिया मुख्यार्थत्वान्वयेत । स्वरूपतो हि पृथिवीत्वं विधेयतावच्छेदकम्, पृथिवीत्वत्वेन तु उद्देश्यतावच्छेदकम् तत्राह—सहप्रयोगस्त्विति । सहप्रयोगो हीत्यर्थः । प्रकृतेत्यादिः । तद्व्यवहर्तव्यतापरः पृथिवीशब्दवाच्यतापर एव । पृथिवीत्वत्वविशिष्टरूपेणाप्युद्देश्यत्वे पृथिव्यन्वयो निराकाङ्क्ष एव । अत एव गुणानां गुणत्वाभिसंबन्ध इत्यत्राप्यनाकाङ्क्षत्वमुक्तं गुणवर्धमानादौ । अतः पृथिवीपदस्य स्ववाच्यताविशिष्टपरत्वमावश्यकं प्रकृते इति भावः । उपस्थित्यभावादिति । पृथिवीतरावृत्तित्वादिना बोधाभावात् प्रकृत्यर्थेतरावृत्तित्वेन भावप्रत्ययबोध्यतेति व्युत्पत्तिग्रहे सत्येव भावप्रत्ययादर्थबोध इति पृथिव्याः पृथिवीप्रकृत्यर्थत्वज्ञानस्य पूर्वमनुत्पत्तौ न पृथिवीत्वपदार्थज्ञानसंभव इति भाव इत्याद्यर्थ इति । पृथिवीत्वपदे उक्तजातित्वेन लक्षणया लभ्ये इति शेषः । न पृथिवीपदवाच्यमिति । ननु—उक्तजातित्वोपहिते पृथिवीपदवाच्यत्वमस्येव, उक्तजातित्वविशिष्टे तदनन्वयस्तु इष्ट एव, अन्यथा पृथिवीत्वत्वविशिष्टे तदनन्वय एव दोषत्वेन कुतो नोक्त इति—चेन्न; उक्तजातित्वस्य सत्ताद्वयत्वादिसाधारण्येन तदुपहितस्य तद्वाच्यत्वासंभवात् । नच—गन्धवदन्त्यावृत्तिगन्धव्यापकसमवायी पृथिवीपदवाच्य इत्यर्थसंभवात्तादृशव्यापकधर्मेऽपि वाच्यत्वान्वय इति—वाच्यम्; तादृशधर्मोपस्थित्यभावेन तदसंभवात्तादृशधर्मे घटसमवेतत्वादिविशिष्टत्वादिना वाच्यतावच्छेदकत्वशङ्कासंभवेन पृथिवीसामान्यस्य पृथिवीपदवाच्यत्वापर्यवसानाच्च । अथ—तादृशधर्मस्य स्वरूपतो वाच्यतावच्छेदकत्वबोधेन तथा पर्यवसानमिति—चेन्न; स्वरूपत उद्देश्यतावच्छेदकधर्मस्थल एव तथा बोधस्य व्युत्पन्नत्वात्, पदद्वयजहल्लक्षणापेक्षयाऽखण्डार्थत्वस्यैव युक्तत्वाच्चेति भावः । यत्तु पृथिवी पृथिवीपदार्थ इत्यजानतोऽप्याहोपदेशेन पृथिवीत्वं पृथिवीत्वपदार्थ इति धीसंभव इति, तत्तुच्छम्; पृथिवीत्वपदात् पृथिवीत्वत्वेन बोधो हि न समुदायशक्त्या; शक्त्यानन्त्यप्रसङ्गेन तदभावात्, किंतु इतरादिशक्तिभिः,

पृथिवीपदवाच्यमिति कथं नानन्वयः ? व्यवहर्तव्यतालक्षणया सहप्रयोगोपपादनं चायुक्तम् ; व्यवहर्तव्यतायां हि जहल्लक्षणा, तत्र च स्वार्थहानिः, स्वरूपे तु जहदजहल्लक्षणा, तत्र स्वार्थान्वय इति स्वरूपे जहदजहल्लक्षणाया एवोचितत्वात् । तदुक्तं 'व्याप्तेश्च समञ्जस'मित्यधिकरणे भाष्यकृद्भिः— 'लक्षणायां सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत' इति । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्यत्र किमोङ्कारसदृशमुद्गीथमित्यर्थः, किंवोद्गीथावयवमोङ्कारमिति विवक्षायां गौण्यां वृत्तौ स्वार्थहानेरवयवलक्षणैव ज्यायसी । सन्निकृष्टत्वादिति तत्र निर्धारितम् । एतेन—धर्मिणश्चन्द्रस्य सामान्यतो ज्ञातत्वात् नक्षत्रादिभ्यो व्यावर्तकधर्मस्य व्यावृत्तेश्च घटादौ प्रागेव ज्ञातत्वाद्विशिष्टविषये एव प्रश्नोत्तरे, तत्र यदि व्यावृत्तिवैशिष्ट्यमेव प्रष्टुः साक्षाद् बुभुत्सितं, तदापि तत्तद्व्यावृत्तेः समासहस्तेनापि वक्तुमशक्यतया वह्निबुभुत्सायां धूममिव व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेवाभिधत्ते, नहि वह्निबोधार्थस्य धूमोऽस्तीति वाक्यस्य न धूमे तात्पर्यम्, न वा यागाक्षेपकस्य 'यदाज्ञेय' इत्यादिवाक्यस्य द्रव्यदेवतासंबन्धे । यदा तु तत्तद्व्यावृत्तेर्वक्तुमशक्यतामवगम्य व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेव पृच्छति, तदा सुतरां प्रश्नोत्तरयोर्विशिष्टपरत्वमिति—निरस्तम् ; प्रथमे प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, द्वितीये श्रुतार्थपरित्यागापत्तेः । प्रथमेऽपि श्रुतार्थपरित्यागः स्थित एव । नचानन्यगत्या श्रुतार्थपरित्यागाभ्युपगमः ; गत्यन्तरस्योक्तत्वात् । ननु—प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः यदि स्वरूपे लक्षणा, तदा वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीत्युत्तरे वह्नौ लक्षणास्त्विति—चेन्न ; धूमोऽस्तीति वाक्येनाहत्य शक्यता लिङ्गे बोधिते तत एव वह्निबोधोपपत्तौ तात्पर्यानुपपत्तिकल्पलक्षणाया अयोगात्, श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायेन वाक्यापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वाच्च, प्रकृते चासंकीर्णचन्द्रस्वरूपसिद्धौ वाक्यातिरिक्तप्रमाणाभावेन वैषम्याच्च । ननु—किंलक्षणश्चन्द्र इत्यस्यासाधारणधर्मविषयकस्य कतमश्चन्द्र इत्यस्य जातिविषयकस्यानयोः कतरश्चन्द्र इत्यस्य जातिगुणक्रियाभिः पृथक्करणरूपनिर्धारणविषयकस्य प्रश्नस्योत्तर इवात्रापि प्रतिवचने लक्षणोक्तेः प्रश्नेऽपि प्रकृष्टप्रकाशः अप्रकृष्टप्रकाशो वेति धर्मवाचकं पदं कल्पनीयं तत्सूचककिंशब्दप्रयोगाच्चेति—चेन्न ; वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीति प्रतिवचनदर्शनेन प्रतिवचनोक्तत्वस्य प्रष्टुर्बुभुत्सितत्वेऽतन्त्रत्वात् । अथ तत्र बुभुत्सितबोधोपपुक्तत्वादुक्तिः, प्रकृतेऽपि नोपयोग इति केन तुभ्यमभ्यधासि ? किंलक्षण इत्यादिप्रश्नतथावे तद्वाचकपदवत्त्वस्योपाधित्वात्, क्वचिद्दर्शनमात्रस्याप्रयोजकत्वाच्च, किंशब्दस्य बुभुत्सासूचकत्वेन तस्य धर्मबुभुत्सानियतत्वाभावाच्च । एवंच प्रश्ने धर्मवाचिपदाभावात्तदनुरोधिन्त्युत्तरे धर्मवाचकं पदं स्वरूप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावप्रत्ययेनेतराद्युपस्थितौ पृथिवीपदपृथिव्योः शक्तिग्रहाधीनपृथिव्युपस्थितौ च पृथिव्यन्यासमवेतत्वस्वरूपेण बोधः । तथाच तयोः शक्तिमजानतोऽपीति कथम् ? अथ समुदायशक्तिभ्रमात्तथा संभवः, तथापि विशेषदर्शिनो तदसंभव एव ; पृथिवीपदस्य स्ववाच्यत्वविशिष्टे लक्षणामङ्गीकृत्यापि दूषितम् । सैव न युक्त्याह—व्यवहर्तव्येति । पृथिवीपदवाच्यतेत्यर्थः । सन्निकर्षविप्रकर्षौ युक्तत्वायुक्तत्वे । स्वार्थहानिरिति । 'सिंहो बाल' इत्यादौ सिंहादिपदस्य कूरत्वशूरत्वादिनेव ओमिति पदस्य प्राशस्त्यविशेषेण गौण्या वृत्त्या बोधकत्वे मुख्यार्थहानिरिति भावः । अवयवलक्षणा उद्गीथावयवत्वेन लक्षणा सन्निकृष्टत्वात् उद्गीथरूपमुख्यार्थघटितार्थधीप्रयोजकत्वात् । वैयधिकरण्यापत्तेः व्यावृत्तिप्रश्नस्य व्यावर्तकबोधकोत्तरस्य साक्षाद्विषययोर्मेदाद्वैयधिकरण्यमिति भावः । श्रुतार्थत्यागापत्तेः कश्चन्द्र इति प्रश्नस्य जिज्ञासितश्चन्द्र इत्यर्थकत्वेन श्रुतत्वाजिज्ञासितव्यावर्तकधर्मयुक्तश्चन्द्र इत्यर्थकत्वे श्रुतार्थत्यागापत्तेः । एवं प्रथमेऽपि जिज्ञासितव्यावृत्तिकश्चन्द्र इति प्रश्नार्थो न श्रुत इति बोध्यम् । लिङ्गस्य बलवत्त्वादिति । यद्यपि प्रकृते लिङ्गवाक्ययोः एकविषयकत्वेन न विरोधः ; तथापि वाक्यस्य लक्षणया प्रवृत्तौ लिङ्गज्ञानाधीनवह्निस्मृतेरपेक्षाया आवश्यकत्वेन लिङ्गलिङ्गिसंबन्धज्ञानजन्यानुमित्याकाङ्क्षोच्छेदेन न वाक्यप्रवृत्तिरिति प्रथमप्रवृत्तत्वेन बलवत्त्वं न व्याहतमिति भावः । असंकीर्णचन्द्रस्वरूपसिद्धौ विपर्ययविरोधचन्द्रस्वरूपज्ञाने । कल्पनीयमिति । कश्चन्द्र इति प्रश्नोऽसाधारणचन्द्रधर्मवैशिष्ट्यबोधकः ; तादृशोत्तरकत्वात् । यो यो यद्धर्मवैशिष्ट्यबोधकोत्तरयुक्तः प्रश्नः, स तद्धर्मवैशिष्ट्यबोधकः । यथा किंलक्षणश्चन्द्र इत्यादिप्रश्न इत्यनुमेयमित्यर्थः । तत्सूचकेति । उक्तविकल्पसूचकेत्यर्थः । अतन्त्रत्वात् अव्याप्यत्वात् । लक्षकतया अखण्डबोधोपपुक्तवैशिष्ट्यबोधविषयतया । किंलक्षण इत्यादिप्रश्नतथावे किंलक्षणश्चन्द्र इत्यादिप्रश्नपदसाधारणधर्मबोधकत्वानुमाने । उपाधित्वादिति । नच—किंशब्दस्योक्तविकल्पसूचकत्वेन धर्मवाचकपदवत्त्वात् साधनव्यापक उपाधिरिति—वाच्यम् ; किंशब्दस्य जिज्ञासितचन्द्रस्वरूपवाचकत्वेन स्वरूपविकल्पसूचकत्वेऽपि धर्मविकल्पसूचकत्वात् । तदिदमुक्तम्—बुभुत्सासूचकत्वे-

परमेव । स्वरूपबुभुत्साया उपपादितत्वेन लक्षणाबीजाभावात् न प्रश्नवाक्यस्य चन्द्रपदं तदसाधारण-
धर्मलक्षकम् । यत्तु—लक्षणवाक्यं चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतावैशिष्ट्यपरम्, अतो नाखण्डार्थता, चन्द्र-
व्यवहारस्तु चन्द्रपदविशेषितो व्यवहारः, न तु चन्द्ररूपार्थविशेषित इति तज्ज्ञानाज्ञानाभ्यां वैयर्थ्यबोध-
नाशक्यतादोषौ न भवतः । नच—वृद्धव्यवहार एव शक्तिग्राहकोऽस्तु, किं लक्षणवाक्येनेति—वाच्यम्;
उपायस्य उपायान्तरादूपकत्वात्—इति, तन्न; प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्तेरुक्तत्वात्, प्रश्नवाक्यस्य-
चन्द्रशब्दे लक्षणाबीजाभावात् असाधारणं चन्द्रस्वरूपमज्ञात्वा तत्र चन्द्रशब्दविशेषितव्यवहारवैशि-
ष्ट्यस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वेन तेनैव वाक्यप्रामाण्योपपत्तेर्व्यवहारकर्तव्यतापरत्वे
मानाभावात् । अतएवोक्तं—‘मानान्तरसिद्धं प्रकृष्टप्रकाशवैशिष्ट्यमखण्डार्थसिद्धानुपायमात्र’मिति ।
अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रश्नसमये प्रत्यक्षेणैव अन्यदापि प्रकारान्तरेणैव तस्य ज्ञातत्वात्,
अन्यथा तस्यानुवाद्यत्वानुपपत्तेः, चन्द्रस्वरूपे तु ज्ञातेऽप्यसङ्कीर्णज्ञानाभावात् बुभुत्सोपपादित्वेति
प्रथमानुमानमनाविलम् । द्वितीयानुमानेऽपि नाप्रसिद्धविशेषणत्वबाधसत्प्रतिपक्षसाध्यवैकल्यादयो
दोषाः । तथाहि—साध्यं तावत् ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्वम्, अन्यथा ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन
सखण्डार्थत्वप्रसङ्गात् । प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं च प्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रपरं भवतीति सामान्य-
व्याप्तौ दृष्टान्ते न साध्यवैकल्यमपि । ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रनिष्ठत्वं हि अखण्डार्थत्वमेव ।
तत्प्रश्नोत्तरत्वहेतुव्युत्पादनमपि पूर्वोक्तप्रकृष्टादिवाक्यन्यायेनैवेति नासिद्धिबाधौ । प्रश्नोत्तरवैयधि-
करण्यापत्तिरूपविपक्षबाधकसङ्घीचीनतया सत्प्रतिपक्षप्रयोजकत्वोपाधीनामनवकाशः । नच—
सत्यादिरूपप्रतिवचने प्रश्नस्य कश्चन्द्र इतिवदश्रवणात्तदुत्तरानुसारेण प्रश्नवाक्ये कल्पनीये धर्म-
विषयकमेव तत् कल्प्यते, बाधकाभावात्, तथाचासिद्धिरिति—वाच्यम्; ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’
‘एकधैवानुद्वृष्टव्य’मित्यादिवाक्यबलात्सत्यत्वादिवैशिष्ट्याविषयकस्यैव ब्रह्मविषयकत्वेदनस्य मोक्षजन-
कत्वात् तदतिरिक्तबुभुत्साविरहेण तद्विषयकप्रश्नवाक्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन कश्चन्द्र इतीव किं
ब्रह्मेत्येव वाक्यं कल्प्यत इति नासिद्धिः । ननु—कतम आत्मेत्यत्र कतरः स आत्मेत्यत्र च त्वंपदार्थ-
प्रश्ने ‘वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने उतमचू’ ‘द्वयोरेकस्य निर्धारणे उतरचू’ इति सूत्राभ्यां निर्णीतजात्या-
द्यर्थकतमादिपदप्रयोगात् तत्प्रतिवचने ‘योऽयं विज्ञानमय’ इत्यादौ पक्षे त्वदभिमतहेतोरसिद्धिः,
नच—यद्यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदखण्डार्थमिति न ब्रूमः, किंतु यत् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति—वाच्यम्;
एवं सामान्यव्याप्त्या व्यभिचारेऽपि तद्वलादेतत् पक्षीकृत्याखण्डार्थत्वसाधनेऽखण्डार्थप्रश्नोत्तरत्वा-
दिति पर्यवसितहेतावसिद्धेरनुद्धारादिति—चेत्, नैष दोषः, तात्पर्यविषयस्यैवार्थत्वेन विवाक्षित-
त्वात्, यथाहि धर्मवाचकपदसत्त्वेऽपि उत्तरस्य न धर्मे मुख्यतस्तत्पर्यं तथा प्रश्नेऽपि तद्वाचक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नैति । स्वरूपबुभुत्सासूचकत्वस्यापि संभवेनेति तदर्थः तदनुरोधिनीति । प्रश्नापेक्षया चरमत्वेन प्रश्नबोधित-
बुभुत्सानिवृत्तिं प्रति शेषत्वेन चोत्तरवाक्यं प्रश्नापेक्षया दुर्बलम् । अतएवाकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणे प्रश्नवाक्यस्य-
त्वेन लोकपदस्य प्राबल्येन तदनुसारेणाकाशादिपदं ब्रह्मार्थकमिति ‘अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवा-
चे’ति वाक्ये निर्णीतमिति भावः । उपपादितत्वेनेति । स्वरूपस्य ज्ञातत्वेऽपि असङ्कीर्णस्वरूपज्ञानेच्छासंभवादि-
नेत्यादिः । व्यवहारकर्तव्यता व्यवहर्तव्यता । तज्ज्ञानाज्ञानाभ्यामित्यादि । तज्ज्ञाने तद्व्यवहारस्यापि संभ-
वेन व्यवहर्तव्यताज्ञापनं व्यर्थम्; तदज्ञाने विशेषणाज्ञानेन तद्विशेषितव्यवहारज्ञापनमशक्यमित्यर्थः । लक्षणा-
बीजाभावात् व्यवहर्तव्यत्वलक्षणाबीजाभावात् । अन्यदा प्रकृष्टप्रकाशवैशिष्ट्यसेन्द्रियासन्निकर्षकाले । प्रका-
रान्तरेण अनुमानादिना । चन्द्रः, प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टः, ‘तमोनक्षत्रादिभिन्नत्वादि’त्यनुमानेन चन्द्रस्य प्रकृष्टप्रकाश
इति शब्दादिना च प्रमीयत इति भावः । अनुवाद्यत्वेति । व्यवहर्तव्यं प्रति प्रकृष्टप्रकाशादेरुद्देश्यत्वस्यावश्यं वाच्य-
त्वेनानुवाद्यत्वमावश्यकम्; ज्ञातमुद्दिश्याज्ञातं विधीयत इति स्थितेरिति भावः । सामान्यव्याप्ताविति । पूर्वोक्त-
रीतिः स्मरण्या । जनकत्वात् जनकत्वावधारणात् । यत्तु तमेव विदित्वेत्यादौ तत्पदं सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टरूपपर-
मित्यादि, तन्न; तत्पदस्य तद्वोधकत्वेऽपि तदन्याविषयकज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वलाभेनाखण्डार्थत्वस्यैवार्थात्, ‘प्रपञ्चोपशमः
स आत्मा स विज्ञेय इत्यादिना तुरीयस्य ज्ञेयत्वोक्तेश्च । सामान्यव्याप्तावपि विशेषतः साध्यसिद्ध्यर्थं विशेषतो हेतु-
ज्ञानावश्यकत्वात् अखण्डमात्रनिष्ठत्वसाध्यसिद्ध्यर्थमखण्डप्रश्नोत्तरत्वरूपहेतुमत्ताज्ञानस्य पक्षे वाच्यतया स्वरूपासिद्धि-
रित्याह—एवमित्यादि । तात्पर्यविषयस्य मुख्यतात्पर्यविषयस्य । विवाक्षितत्वादिति । तदर्थमात्रमुख्यतात्पर्य-

तमादिप्रत्ययसत्त्वेऽपि न मुख्यतस्तत्परत्वम्; असाधारणात्मस्वरूपस्य मुख्यतो बुभुत्सितस्योपाय-
त्वेन तदुपयोगात्, आत्मस्वरूपबोधस्यैव पुरुषार्थत्वात् । नच—सर्वस्याप्युत्तरस्य प्रश्ननिर्धारितधर्मि-
निष्ठानिर्धारितैकधर्मपरत्वाद्विरुद्धो हेतुरिति—वाच्यम्; अनिर्धारितनिर्धारणत्वेनैवोत्तरतोपपत्तौ
तादृग्धर्मपरत्वस्योत्तरत्वाप्रयोजकत्वेन नियमासिद्धेः । ननु—कथं स्वरूपमात्रपरस्य निर्धारकत्वम्?
लक्षणवाक्यत्वादिति गृहाण । नच—एवमुत्तरजन्यज्ञानस्य निष्प्रकारकतया कथं सप्रकारकसंशय-
निवर्तकत्वमिति—वाच्यम्; निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयनिवर्तकतया उपपादितत्वात् । ननु—यदि
प्रश्नादुत्तरमधिकविषयं न स्यात्, उत्तरमेव न स्यात्, प्रश्न एवोत्तरं स्यादिति—चेन्न; प्रश्नादन-
धिकविषयत्वेऽपि असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्वेन निर्विचिकित्सधर्मिप्रतिपादकत्वेन वोत्तरत्वसंभ-
वात् । अत एव प्रश्नो नोत्तरम्; तत्प्रयोजकरूपविरहात् । नच—किं करोति किमानेयमित्यादिप्रश्नो-
त्तरे अध्ययनं करोति गामानयेत्यादौ व्यभिचारः, न हि तत्राध्ययनत्वगोत्वादित्यागेन लक्षणया
कर्मादिमात्रपरत्वमिति—वाच्यम्; अत्र हि न कृत्यानयनयोः प्रश्नः, किंतु कृतिकर्मानयनकर्मणोः,
अन्यथा किं करणं किमानयनमित्येव पृच्छेत् । तथाच प्रश्नोत्तरयोरध्ययनत्वादिविशिष्टकर्माविषय-
त्वात् यत् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति सामान्यव्याप्तौ व्यभिचाराभावात् । एवं सति—सत्यादिवा-
क्यार्थो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रं तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वादित्यादि न्यायदीपावलीस्थमप्यनुमानं—
साधु । ननु—एकप्रातिपदिकार्थमात्रप्रश्नोत्तरत्वेन एकप्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेऽपि कथमखण्डार्थ-
त्वम्? पञ्चकस्य त्रिकस्य वा वैयाकरणमते प्रातिपदिकार्थत्वात्, तदुक्तं—‘स्वार्थो द्रव्यं तथा लिङ्गं
संख्या कर्मादयोऽपि च । नामार्थपञ्चकं प्राहुराद्यं त्रिकमथापरे ॥’ इति । प्राभाकरमतेऽस्मदेकदेशि-
मते चान्वितस्यैव प्रातिपदिकार्थत्वाच्च, अभिहितान्वयवादिमतेऽपि जातिविशिष्टाया एव व्यक्तेः
प्रातिपदिकार्थत्वपक्षे प्रातिपदिकार्थस्यैव विशिष्टत्वाच्च । जातावेव शक्तिः व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्येति
मते प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेन विशेष्यचन्द्रादिव्यक्तिपरत्वं न स्यात् । ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन सुत-
रामस्य प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वादिति—चेन्न; ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यांशमात्रपरत्वस्य साध्य-
त्वात् । तथाच प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वेऽप्यखण्डार्थत्वसिद्धिः; ‘प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचन-
मात्र’ इत्यत्र लिङ्गादेरपि प्रातिपदिकार्थत्वेन तद्ब्रह्मवैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रातिपदिकार्थपदस्य लिङ्गाद्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कत्वं साध्यतया विवक्षणीयमित्यर्थः । न मुख्यत इति । द्वारतया अवान्तरतात्पर्यं तु अस्त्येव, तदिदमाह—असा-
धारणेति । उपायत्वेति । सत्यत्वादिधर्मवैशिष्ट्यधीद्वारकस्यैवाखण्डज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वेन सत्यत्वादिधर्मप्रश्नोऽपि
युक्त इति भावः । कतर आत्मेत्यस्य पूर्वमैतरेयकोपनिषदि कोऽयमात्मेति प्रश्नस्य सत्त्वात् स्वरूपमात्रस्य तद्विषय-
त्वात् कतर आत्मेत्यस्य जघन्यत्वेन न मुख्यतात्पर्याविषयजातिविषयकत्वनिर्णयः । अत एवोत्तरवाक्ये ‘येन पश्यति
येन वा शृणोती’त्यादिना दर्शनादिकं चिन्मात्ररूपेण येन घटितं, तदात्मस्वरूपमिति निर्णीतम् । न हि दर्शनादिकं
जातिमदात्मघटितम् । एवं कतम आत्मेति वाजसनेयवाक्यस्य ‘पूर्वमात्मैवास्य ज्योतिर्भवत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते
पश्यन्ते’ इत्यत्र अस्तमित आदित्य इत्यादिपूर्ववाक्योक्तस्वप्नज्योतिःशब्दादिव्यवहारप्रयोजकत्वेन चिन्मात्ररूपात्म-
स्वरूपस्योक्तत्वेन मनआदावात्मस्वरूपत्वविप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिरासाद्योक्तस्य कतम आत्मेत्यादेर्व्यवहारप्रयोजकवि-
न्मात्रविषयत्वम्, नहि जातिविशिष्टात्मचित् व्यवहारप्रयोजिका, किंत्वसत्त्वापादकाज्ञानाभावोपहितेत्यसकृदुक्तम् ।
अत एव ‘स एष नेति नेत्यात्मा स यत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष आनन्दोऽजर’ इत्युत्तर-
वाक्येषु शुद्धात्मानमुक्त्वा अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेत्युक्तमिति ध्येयम् । यत्तु ‘पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं
शिवमच्युतम् । नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणं’मित्यादितैत्तिरीयश्रुतेः ‘सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुव-
मित्याद्यनुवाकपूर्वोक्तत्वेन सहस्रशीर्षत्वादिमदेव मुमुक्षुर्ज्ञेयम्, एकधेत्यादिकं तु धर्मधर्मिभावादिभेदनिषेधकमिति,
तन्न; सत्त्वादेरिव सहस्रशीर्षत्वादेरपि द्वारत्वेनैवोपयोगसंभवेन धर्मधर्मिभावादिभेदनिषेधविषयकत्वेन सङ्कोचे
मानाभावात्, नात्र काचन भिदेत्यादिना भेदसामान्यनिषेधाच्च । अध्ययनत्वादिविशिष्टकर्माविषयत्वात् अध्य-
यनत्वकृतिकर्मत्वाद्युपलक्षितव्यक्तिस्वरूपमात्रविषयत्वात् । तत्तदर्थकं तत्तन्मात्रार्थकम् । स्वार्थो जातिः । द्रव्यं
व्यक्तिः । लिङ्गं स्त्रीत्वादिः । अस्मदेकदेशिमते अस्माकं तत्त्ववादिनां मायावादिनां चैकदेशिमते । अन्वित-
स्येति । प्राभाकरमते कार्यान्वितम्, अस्मदेकदेशिमते चेत्यपदार्थान्वितमर्थ इति बोध्यम् । न स्यादिति । किंतु
चन्द्रत्वादिपरत्वं स्यादिति शेषः । यौगिकत्वेनेति । धातोरुत्कर्षरूपवृद्धिः प्रत्ययस्य त्वाश्रयोऽर्थः । प्रातिपदि-
कार्थविशेष्यांशेति । नामवृत्तिज्ञानाधीनस्मृतिमुख्यविशेष्येत्यर्थः । इत्यत्रेति । पाणिनिसूत्र इति शेषः । लिङ्गा-

विशिष्टस्वरूपमात्राभिधायकतया समाधानस्याभियुक्तैरुक्तेश्च । यत्तु पञ्चकत्वादिकं प्रातिपदिकार्थ-
स्योक्तं, तदनङ्गीकारपराहतं युक्तिविरुद्धं च; द्रव्यादिप्रातिपदिकात् गुणकर्मणोरप्राप्तेः । अन्यथा
द्रव्यमित्युक्ते 'नीलं पीतं वा चलति न वे'ति सन्देहो न स्यात् । नच—जिज्ञासान्यथानुपपत्त्या
सामान्यतस्तदुक्तावपि विशिष्टानभिधानात् सन्देह इति—वाच्यम्; द्रव्यत्वाद्याक्षिप्तसामान्यज्ञाना-
देव जिज्ञासोपपत्तेः, सङ्ख्याकर्मत्वादीनां च वचनविभक्त्यादिनैव प्राप्तेश्च । अन्विताभिधानरूपैकदे-
शितमपि न युक्तिसहम्, अन्वयस्याकाङ्क्षादिसहकारिवशात् पदार्थमात्रशक्तादेव सिद्धेः । नच
प्रातिपदिकार्थमात्रपरस्य कथमेकदेशपरत्वम्? विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वेन प्रागेव तदुपपादनात् ।
न चाप्रयोजकत्वम्; स्वरूपमात्रवृत्ताप्रवृत्तत्वरूपविपक्षबाधकस्योक्तत्वात् । ननु—सत्यादिवाक्ये
सत्सु विशेषणेषु सस्तुतिकविधिवाक्ये प्राशस्त्य इव विशेषणार्थेऽपि रक्तपटन्यायेनाकाङ्क्षोत्थाप-
नीया, उक्तं हि—'आकाङ्क्षणीयाभाव आकाङ्क्षाया अभाव' इतीति—चेन्न; सत्यादिवाक्ये विशेषणे
सत्यपि न तदोचराकाङ्क्षाकल्पनम्; प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र विशेषणे सत्यपि कश्चन्द्र इति स्वरूप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यविशिष्टेति । आदिपदात् संख्याद्यविशिष्टलाभः । तथाचासंसृष्टं नाम्ना लक्षणयोपस्थापितं प्रथमयापि निरुद्धलक्ष-
णयोपस्थाप्यत इति सोयऽमित्यादौ संसर्गाविषयकशाब्दबोधः पाणिन्यादिसंमतः । तदुक्तं च संक्षेपशारीरके—
'भेदो भिन्नश्चातिरेकोऽतिरिक्तोऽभेदोऽभिन्नः संविदः स्वप्रकाशाः । इत्येतस्मिन् विद्यते नार्थभेदो वेदान्तानामप्यख-
ण्डस्तथार्थः ॥ एवं तावदखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितो लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकम् । येनायं
स्मरति प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसैवाद्यां विभक्तिं मुनिः ॥' इति । भेदत्वावच्छिन्ने
तस्य संबन्धाभावात् प्राभाकरमते स्वप्रकाशत्वस्यैव संवित्त्वरूपत्वात्तदवच्छिन्नादौ तत्संबन्धाभावादखण्डार्थत्वम् ।
अभियुक्तैरिति । संसृष्टस्य प्रकृत्यभिहितत्वेन प्रथमाभिहितत्वं व्यर्थमिति विवेचकैरित्यर्थः । विशिष्टत्वेऽपीत्यपि ना
व्यक्तिमात्रं पदशक्यम्, जातिस्तु तत्त्वावच्छेदकमात्रम् । लक्ष्यत्वाभाव इव शक्यत्वाभावेऽप्यवच्छेदकस्य भान-
संभवः । उक्तं च 'एकं द्विकं त्रिकं चे'त्यादिना । व्यक्तिमात्रस्यैव नामार्थत्वमिति नव्यमतं न सङ्गतम्; नीलं चलमित्या-
दिनाम्ना गुणकर्मप्रतीतेरत आह—द्रव्यादिप्रातिपदिकादिति । जिज्ञासान्यथानुपपत्त्येति । यद्यपि नीलत्वादि-
विशेषरूपेण सन्देहाद्विशेषरूपेण गुणादेर्नाभिधेयता; तथापि विशेषजिज्ञासां प्रति सामान्यतो ज्ञानस्य हेतुत्वात्तदुपप-
त्त्ये सामान्यतो गुणादिकमभिधेयमिति भावः । सामान्यज्ञानात् गुणादिसामान्यज्ञानात् । तथाच गुणत्वकर्म-
त्वादिविशिष्टमिव सङ्ख्यात्वविशिष्टमपि न नामार्थ इति भावः । वचनविभक्त्यादिना एकवचनद्वितीयादिविभ-
क्तिभिः । पदार्थमात्रेति । अन्वयांशे अज्ञाता शक्तिः प्रयोजिकेति कुञ्जशक्तिवादस्त्वष्टः । अनाकाङ्क्षितत्वे-
नेति । यत्तु तमेव विदित्वेत्यादेः शुद्धज्ञानान्मोक्ष इति बुद्धौ सत्यादिवाक्ये विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वसिद्धिः, तस्यां
च सत्यां तमेवेत्यादेस्तथाबोधकत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति, तत्तुच्छम्; तमेवेत्यादेः फलवाक्यत्वेन प्रथमप्रवृत्त-
त्वादाकाङ्क्षोत्थापकत्वेनोपजीव्यत्वाच्च बलवत्त्वेन तदनुरोधेन सत्यादिवाक्ये विशेषणसंसर्गस्यावान्तरतात्पर्यविषयत्वक-
ल्पनेऽपि मुख्यतात्पर्यविषयत्वाकल्पनात् । अत एव 'कतरः स आत्मा कतम आत्मा अयं वाव खलवात्मा ते कतमो
भगव' इत्यादिप्रश्नानां जातिविषयकाणां सत्त्वेऽपि 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषिता वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति । अचेतनमिदं शरीरं कस्यैव खल्वीदृशो महिमा येनैतद्विध-
मेतच्चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिताऽस्य को भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते कुत एष प्राणो जायते
कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन् सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति कासौ पुरुष इति केष एतद्दालाके पुरुषोऽशयिष्ठ कैतदभूत्
कुत एतदागात् कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' इत्याद्यनन्तवाक्यानामुक्त-
फलवाक्यानुकूलशुद्धविषयकत्वेन बलवत्त्वात्तदनुसारेण कतरादिवाक्यानामपि शुद्धमुख्यतात्पर्यकल्पनात् । तत्त्वम्पदा-
र्थशोधकोत्तरवाक्यानां शुद्धविषयकत्वमव्याहतम् । सस्तुतिकेति । स्तुत्यर्थवादसहितेत्यर्थः । अस्तुतिके विधौ
बलवदनिष्टासाधनत्वरूपप्राशस्त्यस्याक्षेपलभ्यत्वेऽपि सस्तुतिके विधौ प्राशस्त्ये शाब्दी आकाङ्क्षेति भावः । रक्तपट-
न्यायेति । यथा रक्तः पटोऽस्तीत्यादौ रक्तान्वयं विना वाक्यार्थसमाप्तिसंभवेऽपि रक्तपदवैयर्थ्यविरहाय रक्तवैशिष्ट्या-
ंशेऽपि आकाङ्क्षा कल्प्यते, तथा सत्यत्वाद्यन्वयं विना तत्संभवेऽपि सत्यादिपदवैयर्थ्याय तत्र सा कल्प्यतामित्यर्थः ।
आकाङ्क्षणीयाभावे आकाङ्क्षणीयाभाव एव । दर्शनादिति । 'काकवन्तश्चैन्नगृहा' इत्यादौ काकाद्यन्वयांशे आका-
ङ्क्षाभावदर्शनादित्यपि बोध्यम् । तत्र काकपदलक्ष्योत्पत्तित्वस्य धर्मतयाऽऽकाङ्क्षासंभवेऽपि सत्यादिवाक्ये सर्वपदलक्ष-
णीयरूपस्यात्यन्ताभिज्ञत्वेनान्वयसंभवाच्च तदाकाङ्क्षासंभव इति ध्येयम् । व्यावृत्तिबोधमात्रेण नक्षत्रादिरूपा-

मात्राकाङ्क्षादर्शनात् । नच तत्रापि तत्कल्पनम्; तत्कल्पनं विनापि व्यावृत्तिबोधमात्रेणैव तत्सार्थक-
त्वोपपत्तेः । व्यावृत्तिविशेषबोधश्च विशेषणपरत्वाभावेऽपि तद्वारकस्वरूपमात्रज्ञानमात्रेणैवोपपद्यते ।
ननु—सप्रकारकज्ञानस्यैव मोक्षहेतुतया 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यर्थेन 'य एवं विद्वानमृत इह भव-
ती'ति श्रुत्या 'यो वेद निहितं गुहाया'मित्युत्तरवाक्येन च मुमुक्षोः सप्रकारक एव धर्मज्ञाने साध्ये बुभु-
त्सोचितेति—चेन्न; निष्प्रकारकज्ञानस्यैव स्वरूपोपलक्षणोपलक्षिताधिष्ठानज्ञानत्वेन अमादिनिवृत्त्या
मोक्षहेतुताया उपपादितत्वेन तदनुरोधात् ब्रह्मविदित्यादेः सप्रकारकब्रह्मज्ञानपरतायां मानाभा-
वात् । य एवं विद्वानित्यस्यार्थे इतरप्रकारत्वं नार्थः, किंतु एवंप्रकारोपलक्षितत्वम्; एकधैवेत्याद्यनु-
सारात् । नच—एवं सगुणवाक्यस्यापि ब्रह्मबुभुत्सायां कर्मकाण्डस्यापि कर्मबुभुत्सायां वैद्यकादि-
शास्त्रस्यापि औषधादिवुभुत्सायामखण्डब्रह्माखण्डकर्मखण्डौषधादिपरत्वं स्यादिति—वाच्यम्; नहि
वयं बुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वमात्रेणाखण्डार्थत्वं ब्रूमः, किंतु स्वरूपमात्रबुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वेन । नच
तत्रापि स्वरूपमात्रबुभुत्सा; विशिष्टपरत्वे वाधकाभावात् । तत्रापि चेन्नलक्षणवाक्यादौ तथा, तदेषाप-
त्तेश्च । नच तर्हि सगुणवाक्यानां सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वेन प्रामाण्यायोगः, कर्मकाण्ड-
वद्वावहारिकप्रामाण्याविरोधात् । ननु—ब्रह्मणि धर्म इवालक्षणवाक्यमस्ति, तदप्यखण्डार्थं
स्यादिति—चेन्न; अवान्तरतात्पर्यमादाय चेत्, तदा ब्रह्मपरत्वस्यैवाभावात् महातात्पर्यमादाय
चेत्तदेषापत्तेः । किंच 'एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्याद्यनेकाकारनिषेधकवाक्यं 'उदरमन्तरं कुरुत' इत्यादि-
भेदनिषेधकवाक्यं 'केवलो निर्गुणश्चे'ति गुणनिषेधकं 'एकमेवाद्वितीय'मिति द्वितीयमात्रनिषेधक-
वाक्यं च वाधकं, तथा सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुपरानन्तशब्दब्रह्मशब्दौ च । नच—तेषामैक्यभेदा-
भावादिविशिष्टार्थपरत्वे वेदान्तमात्रस्याखण्डार्थत्वासिद्धिः, सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वे
प्रामाण्यायोग इति—वाच्यम्; ऐक्यभेदाभावादीनां स्वरूपत्वेन विशिष्टपरत्वस्यैवाभावात्, भेदा-
भावादेः कल्पितप्रतियोगिकतया कल्पितत्वे तु सत्यादिपदवद्विशिष्टार्थाभिधानद्वारा स्वरूपपरत्वेन
प्रामाण्योपपत्तेश्च । नच—एवं तेषां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वेन तद्विरोधेन विशिष्टार्थस्य सत्यादिवाक्यस्य
मुख्यार्थत्यागः, विशेष्यपरस्य विशिष्टपरेणाविरोधादिति—वाच्यम्; द्वारतयोपस्थितस्याप्यैक्यभेदा-
भावादेर्विशिष्टार्थविरोधितया मुख्यार्थत्यागसंभवात् । नच—द्वारतयोपस्थितैक्यादेः मिथ्यात्वेन
सत्यत्वादिधर्मपरत्वविरोधिता, सत्यत्वे चापसिद्धान्त इति—वाच्यम्; भिन्नत्वे सति सत्यतायामे-
वापसिद्धान्तात् । नचाभेदे द्वारत्वानुपपत्तिः; कल्पितधर्मताकत्वेन द्वारत्वसंभवात् । नच—अत्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रकृष्टप्रकाशव्यावृत्तिधीमात्रेण । तत्सार्थकत्वेति । प्रकृष्टादिपदसार्थकत्वेत्यर्थः । स्वरूपज्ञानमात्रेण स्वरूपात्मक-
लक्षणस्य व्यावृत्तिं विनानुपपत्तिज्ञानमात्रेण । अर्थाव्यावृत्तिबोध इत्यस्य अन्तःकरणवृत्तिभेदेनैकस्यापि लक्ष्यलक्षण-
भाव इत्यस्य च पूर्वमुक्तत्वात् प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यजन्यधीविषयत्वधीविशिष्टस्य स्वरूपत्वानुपपत्त्या स्वरूप-
स्याप्रकृष्टप्रकाशव्यावृत्तिसिद्धिः । तथाच तादृशधियः प्रकृष्टप्रकाशत्वादिवैशिष्ट्यधीद्वारकत्वात् प्रकृष्टपदमावश्यक-
मिति भावः । ब्रह्मविदित्यादि । 'ब्रह्मविदि'त्यादिवाक्यस्य योऽर्थोऽर्थोपपत्तिः तथा 'य एवं'मित्यादिश्रुत्या 'यो
वेदे'त्यादिवाक्येन च मुमुक्षोः सप्रकारकज्ञान एव बुभुत्सेत्यर्थः । परंप्राप्तिर्नामोत्कृष्टाभिज्ञे स्वस्मिन्नज्ञाननिवृत्तिः,
तत्साधनं चोत्कृष्टब्रह्माभिज्ञे स्वस्मिन्नज्ञानम् । तथाचोत्कर्षविशिष्टविषयकाज्ञानस्य निवृत्तेस्तादृशज्ञानं विनानुपपत्तेः
सप्रकारकज्ञानस्यैव मोक्षहेतुताप्रयुक्ता या ब्रह्मविदित्यादिश्रुत्यार्थापत्तिः, या च तादृशहेतुतारूपेण स्वार्थेन घटिता
'य एवं'मित्यादिश्रुतिः, यच्च तादृशहेतुतारूपेण स्वार्थेन घटितं यो वेदेत्यादिवाक्यं, तेन सप्रकारक एव ज्ञाने
मुमुक्षोर्जिज्ञासेति भावः । विशिष्टपरत्व इति । प्रश्नवाक्यस्येत्यादिः । वाधकाभावादिति । चन्द्रादौ प्रकृष्ट-
प्रकाशत्वादेरिव धर्मादौ तत्तद्विशेषस्य मानान्तरसिद्धत्वाभावेन तद्विशिष्टपरत्वमेव तत्रेति भावः । यदि तु को धर्म
इत्यादिधर्मादिस्वरूपमात्रबुभुत्साप्रवृत्तवाक्ये तदापाद्यते, तर्हि तदिष्टम्; अलौकिकश्रेयःसाधनं धर्म इत्यादिलक्षण-
वाक्यस्योक्तसाधनत्वाद्युपलक्षितपरत्वसंभवादित्याह—तत्रापि । ननु ब्रह्मणीत्यादि । अग्निहोत्रादिवाक्यमिव
नेह नानेत्यादिकमलक्षणवाक्यम्, तदप्यखण्डार्थकं स्यात्; वेदान्तसामान्यस्य त्वया तथा स्वीकारादिति भावः ।
महातात्पर्येति । तथाचाखण्डमुख्यतात्पर्यकत्वं वेदान्तसामान्य एव मन्योच्यते, तत्रापि तदिष्टमिति भावः । उदर-
मन्तरं कुरुत इति । उत् अपि अरम् अल्पम् अन्तरं भेदं कुरुते जानातीत्यर्थः । सर्वतोऽनवच्छिन्नेति ।
सद्वृत्त्यभावप्रतियोगिस्वरूपपरिच्छेदस्याभावो भेदादिसत्यत्वे न संभवतीत्यर्थः । लक्षणया अखण्डार्थत्व इति छेदः । न

सत्यत्वादेर्द्वारत्वेनोपादानात्तेषामेवैतद्विरोध इति—वाच्यम्; सत्यत्वादेः कल्पितजातिरूपस्य द्वार-
तया स्वरूपेणोपादानेऽपि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधकानामविरोधात् । एतेन—ब्रह्मानन्तपद-
योरपि बाधकत्वं—व्याख्यातम् । ननु—‘अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन्गुणा’ इत्यादि-
श्रुत्या ‘महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहु’रित्यादिस्मृत्या च ब्रह्मानन्तपदयोः सगुणवाचित्वेन निर्वचनात्
कथं न ताभ्यां विरोधः? इति—चेन्न; उक्तश्रुतिस्मृत्योः सगुणप्रकरणस्थितब्रह्मानन्तशब्दार्थविषय-
त्वेन लक्षणवाक्यस्थितब्रह्मानन्तशब्दार्थनिर्वचनपरत्वायोगात् । ननु—इमे हेतवः प्रतिकूलतर्क-
पराहताः । तथाहि—पक्षदृष्टान्तलक्षणमैक्यपरवाक्यं यदि संसृष्टार्थं न स्यात्, वाक्यमेव न स्यात्;
आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमत्वाभावात् । आकाङ्क्षा हि अभिधानापर्यवसानम्, तच्च येन विना यस्य
न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम्, तदेव तस्यापर्यवसानम् । सन्निधिस्त्वव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युप-
स्थितिः, योग्यता च एकपदार्थसंसर्गं अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मशून्य-
त्वम्, नैतन्नयं संसर्गाविषये संभवति इति, नैष दोषः; अखण्डार्थेऽप्येतन्नित्यसंभवात् । तथाहि—
निराकाङ्क्षयोरपि यत्किञ्चिदन्वयानुभावकतया तात्पर्यविषयान्वयानुभावकत्वमेवाकाङ्क्षा वाच्या ।
तथाचान्वयांशो व्यर्थः; येन विना यस्य तात्पर्यविषयानुभावकत्वमित्येतावन्मात्रस्यैव सामञ्ज-
स्यात् । तात्पर्यविषयश्च कचित्संसृष्टः क्वचिदखण्ड इति न विशेषः । अतः सा तात्पर्यविषयाखण्डार्थानु-
भवजननात् प्राग्वेदान्तवाक्येऽप्यस्त्येव । आसत्तिरप्यव्यवधानेन शब्दबोधानुकूलपदार्थोपस्थिति-
मात्रम्, न त्वन्वयप्रतियोगित्वविशेषितपदार्थोपस्थितिः; गौरवात् । सा च संसर्गाबोधकेऽप्य-
स्त्येव । योग्यतापि तात्पर्यविषयाबाध एव, न त्वेकपदार्थसंसर्ग इत्यादिस्वरूपा; यत्र बाधिता-
बाधितसंसर्गद्वयसंभवः, तत्र बाधिततात्पर्यविषयकेऽतिव्याप्तेः । तात्पर्यविषयाबाधश्चाखण्डार्थेऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तद्विरोधेनेत्यादि । ऐक्यादिविरोधात् सत्यादिवाक्यस्य यो मुख्यार्थत्यागस्त्वदभ्युपगतः स न स्यादित्यर्थः । कल्पित-
जातिरूपस्य प्रपञ्चसाधारण्येन कल्पितस्य स्वकालाबाध्यत्वस्य । स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाविशेषितरूपेण । लक्षणवाक्ये
स्थितमनन्तादिपदमखण्डार्थमित्याशयेन सामान्यतो लक्षणवाक्यस्थितेत्युक्तम् । यत्तु सगुणपरत्वं सर्वत्रैव वेदान्त
इति निर्गुणपरत्वं नाद्यापि सिद्धमिति, तन्न; ‘केवलो निर्गुणः वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद्विदुरस्मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ती’ति । ‘द्वे विद्ये वेदितव्ये परा
चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेद’ इत्यादि ‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते; यत्तदद्देश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं
तदपाणिपाद’ मित्यादिश्रुतेः । ‘एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । येचाप्यक्षरमित्यादिगीतावाक्यात् ‘प्रत्यस्त-
मितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥’ इत्यादेः—‘न तद्योगयुजा शक्यं नृप
चिन्तयितुं यतः । अतः स्थूलं हरे रूपं चिन्त्य’मिति विष्णुपुराणात् ‘संचिन्तयेद्भगवतश्चरणाविन्द’मित्यादेः—‘मुक्ता-
श्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः । आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षत’ इत्यादि
सगुणभजनोपक्रमक ‘भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि स्यान्निरुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रति’रित्यादेश्च भागवतात् ‘द्वे विद्ये
वेदितव्ये’ इति चाथर्वणी श्रुतिः । परया त्वक्षरप्राप्तिः ऋग्वेदादिमयी परा ॥ यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् ।
अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् । विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम् । व्याप्यं यतः सर्वमिदं तद्वै पश्यन्ति
सूरयः ॥ तद्ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्वयं मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥’ इति विष्णुपुराणाच्च निर्गुणस्य मुमुक्षुज्ञेयत्वेन श्रुतेस्तत्परत्वाव-
श्यकत्वात् । येन विना यत्पदाव्यवहितोत्तरत्वप्रकारकस्वविशेष्यकज्ञानं विना । यस्य यत्पदज्ञानस्य । स्वार्थान्वयानु-
भावकत्वं तत्पदार्थप्रकारकस्वार्थविशेष्यकशब्दबोधाभाववत्त्वम् । तदेव तत्पदाव्यवहितोत्तरत्वं तादृशबोधाभाववत्त्वं
च । तस्य पदस्य तादृशबोधे आकाङ्क्षा । तत्राद्यं ज्ञातं द्वितीयं स्वरूपसत् कारणम् । एकपदार्थेत्यादि । यस्य यः संसर्गः
यन्निष्ठस्य प्रतियोगिव्यधिकरणस्य संसर्गाभावस्याप्रतियोगी तस्य तत्र शब्दबोधे सा योग्यतेत्यर्थः । शब्द आकाशीय
इत्यादावाकाशस्य शब्दनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्, न त्वाकाशसंसर्गस्य । सेकान्वितजलस्य संसर्गो न सेकनिष्ठाभावा-
प्रतियोगीति तत्परे पयसा सिञ्चतीति वाक्ये च योग्यता । निराकाङ्क्षयोः घटः कर्मत्वमिति पदयोः । यत्किञ्चि-
दन्वयानुभावकतया अभेदरूपान्वयानुभावकतया । तथाच तयोरैकपदव्यतिरेकप्रयुक्तमपरपदस्याभेदान्वयानु-
भावकत्वमस्तीत्यभेदान्वय इव भेदान्वयेऽपि साकाङ्क्षता स्यात् । नच—यदन्वयानुभावकत्वमुक्तप्रयुक्तं, तदन्वयं प्रति
तत्साकाङ्क्षत्वमित्येवोच्यतामिति—वाच्यम्; यदन्वये तात्पर्यं नास्ति, तत्रापि साकाङ्क्षतापत्तेः, तात्पर्यविषये यदन्वये
इत्यस्यावश्यकत्वात् । तात्पर्यविषयाबाध इति । स्वाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोगि यद्यत्, तदन्वयत्वं तात्पर्यविषयनिर्दि-

सुलभः । अथवा—अन्वयस्य भेदघटितत्वनियमाभावेनाभेदसंसर्गमादायाकाङ्क्षादिनिर्वाहः कर्तव्यः; एकपदार्थस्याखण्डस्य तात्पर्यविषयत्वमपि नानुपपन्नम् । यत्र ह्यसाधारणस्वरूपेणैकः पदार्थो ज्ञातः, तत्र पदार्थान्तरविशिष्टः स प्रतिपाद्यते । यत्र तु न तथा ज्ञातः, तत्र स न शक्यः पदार्थान्तरेर्विशेष्यमिति स एव प्रतिपाद्यः; तत्रैव वाक्यपरिसमाप्तेः । प्रकृत्यसत्यत्वादेस्तत्तद्धारकत्वरूपबोधेन व्यावृत्तिभेद उपयोगादिति न वाक्यत्वानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतिः । ननु—संसृष्टार्थत्वं न चेत्, तदा वेदान्तानां निर्विषयत्वापत्तिः अखण्डवाक्यार्थस्य स्वप्रकाशचिन्मात्रस्याविद्याद्यध्यासाधिष्ठानत्वेन तत्साक्षित्वेन च नित्यसिद्धत्वादिति—चेन्न; अनाद्यविद्योपहितत्वेनादोषात्, स्वतःसिद्धस्यापि प्रमाणवृत्तिमन्तरेणाविद्यानिवर्तकत्वाभावात् । प्रमाणवृत्तेश्चाविद्यानिवृत्तिफलोपहितत्वात् न काप्यनुपपत्तिः । नच—बाधकं विना मुख्यार्थत्यागायोगः प्रतिकूलतर्कः, एकरसत्वादिप्रतिपादकश्रुतीनामप्यखण्डार्थपरत्वेन बाधकत्वाभावादिति—वाच्यम्; द्वारतयोपस्थितस्यापि बाधकताया उक्तत्वात् । ननु—वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानं निष्प्रकारकं चेत्, ज्ञानमेव न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योग्यता । बाधितस्य तु न तदन्यत्वम् । यद्यपि घटादेरप्युक्तप्रतियोगित्वम्; तथापि व्यवहारकाले उक्तप्रतियोगित्वेन निश्चितं यत् तदन्यत्वम् । नच—येन संबन्धेन यत्र यत्प्रकारकशाब्दधीः, तेन संबन्धेन स्वाधिकरणतन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वेन निश्चितं यत् तदन्यत्वमेव वाच्यम्, अन्यथा भ्रमानुव्यवसायसमानविषयकवाक्यस्य भ्रमविषयविशिष्टज्ञानां शेष्ययोग्यतापत्तेः, तथाच संबन्धघटिता योग्यता नाखण्डार्थवाक्य इति—वाच्यम्; भ्रमविषयस्य सिध्दात्वनिश्चयोत्तरमुक्तापत्तेरिष्टत्वात्, संबन्धनिवेशे प्रयोजनाभावात्, नच—एवं भ्रमविषयो मिथ्येति वाक्यमप्ययोग्यं स्यादिति—वाच्यम्; तात्पर्यविषयपदेन विधेयस्योक्तत्वादुक्तस्थले मिथ्यात्वस्यैव विधेयत्वेन तस्योक्तप्रतियोगित्वेनानिश्चितत्वेनादोषात् । वस्तुतः—पदानां यादृशसमभिव्याहारस्य धीर्यादृशशाब्दधीहेतुः, स एव तस्यामाकाङ्क्षा, योग्यता तु शाब्दत्वावच्छिन्ने न हेतुः; बाधितविषयेऽपि कलहादौ शाब्दबोधोदयात्, तदनङ्गीकारेऽपि विशिष्टधीसामान्ये बाधस्य विरोधित्वादेव बाधितस्थले शाब्दबुद्ध्याभावसिद्धेः । नच—जनितयादृशबोधान्तरापत्तिवारणाय यत्पदस्य येन पदेन विना यादृशान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यं तस्य तादृशबोधं प्रत्याकाङ्क्षेत्यावश्यकमिति—वाच्यम्; समानाकारशाब्दबोधं प्रति शाब्दबोधस्य प्रतिबन्धकत्वादेव तद्वारणात् । नच—योग्यताप्रमायाः शाब्दप्रमात्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वात् शाब्दधीसामान्येऽपि योग्यताधीर्हेतुरिति—वाच्यम्; शाब्दप्रमात्वस्यार्थसमाजप्रस्तत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात्, तदीय-शाब्दप्रमासामान्ये विशेष्यसंबन्धतत्तज्ज्ञानत्वादिना हेतुत्वसंभवाच्च । आसत्तिस्तु आचार्योक्तैव । स्वप्रयोज्यपदार्थोपस्थितिसंबन्धेनाकाङ्क्षाहेतुत्वादेव पदाप्रयोज्यपदार्थोपस्थित्या न शाब्दबोधः । यत्तु शाब्दबोधानुकूलार्थोपस्थितिरासत्तिरित्युक्तम्; ‘शब्दो गुणः पर्वतोऽग्निमानि’त्यादौ पदज्ञानत्वेन शाब्दबोधानुकूलां शब्दपदार्थस्य शब्दपदस्योपस्थितिमादायातिव्याप्तेरिति, तन्न; यादृशशाब्दबोधे स्वप्रयोज्यद्यत्पदार्थोपस्थितिसंबन्धेनाकाङ्क्षाज्ञानं हेतुः, तादृशबोधे तादृशकाङ्क्षाज्ञानप्रयोज्यतत्तदुपस्थितिरासत्तिरित्यर्थलाभाय शाब्दबोधानुकूलेत्युक्तम् । शब्दो गुण इति शाब्दबोधे शब्दगुणपदार्थोपस्थितिसंबन्धेन शब्दो गुण इत्यानुपूर्वीज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि तदभावेनोक्तस्थले तत्प्रयोज्यशब्दगुणपदार्थोपस्थितेरप्यभावेन तादृशबोधानुकूलासत्तिलक्षणातिव्याप्त्युत्तरसङ्गतत्वात्, उक्तस्थले शब्दो गुण इत्यानुपूर्वीज्ञानसत्त्वे तु तत्प्रयोज्योपस्थितेरपि सत्त्वेन तस्य लक्ष्यत्वेनादोषात् । एवंचावान्तरवाक्यार्थबोधे समूहालम्बनतावदर्थसृष्टिरेव, महावाक्यार्थबोधे तु अवान्तरवाक्यार्थानुभवोऽप्यासत्तिरिति ध्येयम् । परमते अन्वयस्य संसर्गरूपस्य भेदानियतत्वेन तदनुसत्याह—अथवेति । अभेदसंसर्गमिति । अखण्डार्थबोधे स्वरूपात्मकाभेदस्य सांसर्गिकविषयत्वाभावेऽपि परमते स्वरूपे तस्य तत्संसर्गावगाहिबोधस्वीकारेण तस्य सांसर्गिकविषयत्वरूपान्वयित्वसंभवेन स्वरूपे स्वरूपस्यान्वयानुभावकत्वादिरूपाकाङ्क्षादि बोध्यमिति भावः । अत्रेदमपि बोध्यम्—येन वाक्येन यत्र यद्वैशिष्ट्यावगाहिशाब्दानुभवो जन्यते तद्वारकबोधे तद्वारकतद्भावाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिहेतुत्वनियमे मानाभावः । तथाच धूमोऽस्तीत्यादिवाक्यस्य वह्न्यादिबोध इव सत्यादिवाक्यस्यापि सत्यत्वादिवैशिष्ट्यविषयकशाब्दानुभवद्वारकाखण्डार्थबोधेऽपि न तद्वेतुत्वम् । एतावांस्तु विशेषः—प्रथमस्यानुमितित्वेन तदजन्यत्वम्, द्वितीयस्य तद्वतलक्षणाज्ञानजन्यत्वेन शाब्दत्वेऽपि संसर्गाविषयकत्वम्; तत्संसर्गशाब्दबोधस्यैव तस्वीकारात्, विशिष्टार्थे पदवृत्तिज्ञानस्यैवाकाङ्क्षादिसहकारिकत्वकल्पनात् । शुद्धवाक्यार्थानुभवे तु तत्तात्पर्यज्ञानादिसहकृतस्य शुद्धलक्षणाज्ञानस्यैव हेतुत्वम् । निराकाङ्क्षादौ मृद इत्यादौ च शुद्धलक्षणाज्ञानस्य क्वचित् सत्त्वेऽपि पदविशेषसमभिव्याहारज्ञानजन्यशाब्दबोधस्य द्वारीभूतस्य सहकारिणो विरहेण नाखण्डार्थबोध इति दिक् । बाधकत्वाभावादिति । स्वरूपमान्नबोधस्य विशिष्टस्वरूपबोधाविरो-

स्यात्; ज्ञानस्येच्छादितुव्यतया सविषयकत्ववत्सप्रकारकत्वस्यापि नियमात्, किञ्चित्प्रकारं विना वस्तुनो बुद्धावनारोहाच्चेति—चेन्न; व्याप्त्यसिद्धेः, तार्किकादिभिरपि निर्विकल्पकज्ञानाभ्युपगमात् । शब्दवाच्यत्वं तु किञ्चित्प्रकारमन्तरेण संभवति न वेति वादिनो विवदन्ते । तच्चास्माभिर्ब्रह्मणो नाभ्युपेयते । आकाशादिपदवत् किञ्चित्प्रयोगोपाधिमादाय तदपि संभवत्येव । नच शब्दत्वेन सविकल्पकत्वसाधनम्, स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्वस्य स्वरूपपरवाक्याजन्यज्ञानत्वस्य चोपाधित्वात्, ज्ञानत्वस्येव शब्दत्वस्यापि सविकल्पकत्वव्याप्यत्वग्रहे मानाभावाच्च । नच—वेदान्तानामबुभुत्सितार्थत्वापत्तिः, धर्मिणः प्रागेव ज्ञानात् तत्र बुभुत्साविरहादिति—वाच्यम्; स्वरूपस्य ज्ञातत्वेऽप्यसाधारणस्वरूपबुभुत्साया उपपादितत्वात् । नापि विचारविध्यनुपपत्तिः; विचारस्य वेदान्ततात्पर्यनिश्चयादिफलकतया निष्प्रत्यूहनिष्प्रकारकब्रह्मज्ञानार्थत्वोपपत्तेः, आपातदर्शनस्य प्रतिबद्धत्वेनाज्ञानानिवर्तकत्वात् । शुद्धब्रह्मविषयाणामप्याधिकरणानामप्यारम्भो नानुपपन्नः; विषयादिपञ्चकसंभवात् । व्यावृत्ताकारेणाज्ञातो हि विषयः, ब्रह्म च तथा भवत्येव । विषयस्वरूपनिर्धारणाधीनं च प्रयोजनं न निर्धारणे सप्रकारकत्वमपेक्षते । निष्प्रकारके वस्तुनि स्वरूपनिर्धारणत्वाव्याघातात् । अद्वैताद्युपलक्षिताखण्डार्थज्ञानं च निर्धारणम् । तदधीनं प्रयोजनं मुक्तिरेव । पूर्वपक्षसिद्धान्तौ च कल्पितप्रकारावलम्बिनौ । संशयोऽपि कल्पितसमानधर्मधीजन्मैवेति नानुपपत्तिः । अतएव—प्रथमाध्यायतृतीयपादीयाधिकरणानामनारम्भ एव प्राप्तः; विषयादिपञ्चकाभावात्, विशिष्याज्ञातो हि विषयः, साधारणधर्मधीजन्यश्च संशयः, मिथ्यासत्यैकप्रकारावलम्बिनौ च पूर्वपक्षसिद्धान्तौ, एकप्रकारेण निर्धारणाधीनं च प्रयोजनम्, तच्च पञ्चकं निर्विशेषे कथं स्यादिति—परास्तम्; उक्तरीत्योपपत्तेः । नच 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति सामान्यतो ज्ञातत्वात् सत्यादिवाक्यवैयर्थ्यापत्तिः; असाधारणस्वरूपज्ञानार्थत्वेन साफल्यत्वात् । नच—सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावे तात्पर्यतो यत्किञ्चिद्ब्रह्मेत्येव बोधनात् यस्य कस्यापि ब्रह्मत्वं स्यात्, इदं ब्रह्मेति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावाच्चेति—वाच्यम्; लक्षणस्वाभाव्याद्रस्तुगत्या तत्स्वरूपलाभस्य प्रागेवोक्तत्वात्, एकस्मिन्नपि कल्पितोद्देश्यविधेयभावसंभवात् । अप्राप्तविधेयमात्रपरत्वाद्वाक्यस्य नाखण्डार्थत्वव्याघातः । ननु स्वरूपेण ज्ञातस्य विधेयस्योद्देश्यसंसृष्टतयैव बोधनीयत्वं वाच्यम् । तथाच सखण्डार्थतैव । उक्तं हि—'किञ्चिद्विधीयतेऽनूद्य वाक्येनेति सतां स्थितिः । सत्यज्ञानादिवाक्येन कथ्यतां किं विधीयते ॥' इति, नैष दोषः; असाधारणस्वरूपस्य प्रमेयतया विधेयत्वात्, सत्यत्वादिविचारकस्वरूपज्ञानेनासाधारणज्ञापनपर्यवसानात्, द्वारफलाभ्यामप्राप्तप्रापणसंभवात् । तथाचोद्देश्यता च विधेयता च स्वरूपमात्रपर्यवसन्नैव । ननु—एवं सत्यादिपदानां लक्षणा न स्यात्, अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरूपायास्तस्या असंभवात्तद्वीजस्यान्वयानुपपत्तेश्चात्राभावादिति—चेन्न; वृत्त्या हि पदार्थोपस्थितिः, ननु सैव वृत्तिः, अतो नोक्तरूपा लक्षणा, किंतु शक्यसंबन्धः । स च प्रकृतेऽप्यस्त्येव । उपस्थितिरूपत्वेऽपि लक्षणायास्तात्पर्यविषयानुकूलोपस्थितिरेव सा नोक्तोपस्थितिरूपा; अतात्पर्यविषयतादृगुपस्थितौ गतत्वात् । नापि बीजानुपपत्तिः; तात्पर्यानुपपत्तेरेव बीजत्वात् । नापि सत्यादिपदानां पर्यायतापत्तिः; वाच्यार्थभेदात् । सत्यत्वं ह्यस्मन्मते त्रिकालाबाध्यत्वम्, परमते कुम्भादिसाधारणी परजातिः सत्यपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । ज्ञानपदानन्दपदयोरप्यस्मन्मतेऽन्तःकरणवृत्त्युपधानलब्धभेदचिदानन्दविशेषानुगते ज्ञानत्वानन्दत्वे, परमते तु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

धित्वमिति भावः । आकाशादिपदवदित्यादि । शब्दाश्रयत्वं यथा नाकाशादिपदशक्यम्, तद्विनाप्यष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वादिना तत्पदाच्छब्दबोधोपपत्तेः, नानाव्यक्तिष्वनुगतधर्मं विना शक्यत्वग्रहासंभवेन व्यक्तियानात्वस्थल एव धर्मं शक्यत्वस्य सार्थक्याच्च, किंतु तदुपलक्षितव्यक्तिः, तथा त्रिकालाबाध्यत्वाद्युपलक्षितमेव सत्यादिपदशक्यं संभवतीति लक्षणाज्ञानं विनैवाखण्डानुभवसंभवः, परंतु नास्माकं तत्राऽऽग्रह इति भावः । शब्दत्वेनेति । सत्यादिवाक्यजन्यज्ञाने इत्यादिः । स्वरूपोपलक्षणज्ञानेति । धर्मिस्वरूपमात्रस्योपलक्षणं स्ववैशिष्ट्यधीद्वारा बोधकं यत् सत्यादि, तद्वैशिष्ट्यज्ञानेत्यर्थः । स्वरूपपरवाक्येति । धर्मिस्वरूपमात्रपरवाक्येत्यर्थः । तादृशोपलक्षणत्वादिकं तु पूर्वं स्थापितमेव । निष्प्रत्यूहेति । अप्रामाण्यशङ्काशून्येत्यर्थः । तात्पर्यनिश्चयरूपेण विचारफलेनोक्तशङ्काबीजस्य तात्पर्यसंशयस्योच्छेदेन नोक्तशङ्केति भावः । व्यावृत्ताकारेणाज्ञातः स्वरूपनिश्चयनादयाज्ञानविषयः । प्रमेयतया अज्ञाननाशकज्ञानविषयतया । असाधारणज्ञापनेति । सत्यत्वादिसंशयनाशकज्ञानजनकलक्षणादिज्ञापनेत्यर्थः । विधेयता चेति । विवेचितमनुपपदमेवैतत् । अशक्येत्यादि । अशक्योऽसदृशो योऽन्वयप्रतियोगी, तदुपस्थितेरित्यर्थः ।

स्वभावलब्धभेदज्ञानानन्दनिष्ठे अपरजाती प्रवृत्तिनिमित्ते । तथाच लक्ष्यार्थाभेदेऽपि न पर्यायता-
शङ्का । ननु—कुम्भाद्यनुगतसत्ताया ब्रह्मलक्षणत्वायोगः; मिथ्यासत्यानुगतसामान्याभावात्,
तथाचानृताद्यावृत्त्यसिद्धिः, त्रिकालाबाध्यत्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति त्वन्मतहानापत्तिश्चेति—चेन्न;
ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतया तद्रूपसत्तायाः सर्वानुस्यूतत्वेन जातित्वव्यपदेशात्, कल्पितधर्मत्वमा-
दाय ब्रह्मव्यक्तिकत्वाच्च । तच्च सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वमेवेति । न तस्य श्रौतत्वहानिः; तस्यानृतं
प्रत्यधिष्ठानत्वेऽपि अनृताश्रितत्वाभावेन तद्यावर्तकत्वसंभवात् । आनन्दत्वादिकल्पितजाति-
साहित्येन लक्षणोक्तिः परीत्या । नच—धर्मिसमानसत्ताकभेदं विनैवौपाधिकभेदमात्रेणाकाश-
त्वादेरिव ज्ञानत्वादेरपि जातित्वायोग इति—वाच्यम्; ज्ञानत्वादीनां धर्मिसमसत्ताकभेदवदु-
पहितवृत्तित्वात् । तर्हि शुद्धस्य कथं ज्ञानत्वादि लक्षणम्? नहि गन्धो जलस्य लक्षणमिति चेन्न;
उपहितवृत्तित्वेऽप्युपधेयवृत्तित्वानुपायात् । तदुक्तं—‘सत्यत्वादिविशिष्टशवलब्रह्मवाचिनां सत्या-
दिपदानां शुद्धे ब्रह्मणि लक्षणे’ति । नच—अनृतस्वरूपे शवले सत्यत्वायोगः, योगे वा ततो
नानृतव्यावृत्तिरिति—वाच्यम्; शवले हि सत्यता एषैव यत् परमार्थसंसर्गेण प्रतीयमाने तस्मिन्
सत्यशब्दसङ्गतिग्रहः । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—‘आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता-
काचिदन्या । तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥’ इति । एवमानन्दा-
दिपदेष्वपि द्रष्टव्यम् । तथाच कथं तेषां नानृतादिव्यावर्तकत्वम्? एतेन—शुद्धादन्यत्र सत्यत्वाद्य-
संभवात् सत्यादिवाक्यस्य लक्षणया अखण्डार्थत्वे शुद्धे सत्यत्वादेरभानात् पर्यायत्वं दुर्वारमिति—
परास्तम् । स्वरूपमात्रपरत्वेऽपि न पदान्तरवैयर्थ्यम् व्यावृत्तिभेदबोधनेन साफल्यमिति चोक्तमेव ।
नच—व्यावर्तकस्य सत्यत्वादेस्तात्पर्यतोऽसमर्पणे व्यावृत्त्यसिद्धिरिति—वाच्यम्; ‘गम्भीरायां नद्यां
घोषः प्रतिवसती’ त्यत्र यथा तीरे तात्पर्येऽपि नद्यामगम्भीरव्यावृत्तिरभिधावलाल्भ्यते; तात्पर्यविष-
यागम्भीरनदीतीरव्यावृत्ततीरबुद्धावुपायत्वात्, तथात्राप्यभिधावलात् सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्या-
भावेऽप्यापाततस्तत्प्रतीतिमात्रेणैव व्यावृत्तिसिद्धिः; तात्पर्यविषयानृतादिव्यावृत्तस्वरूपबुद्धावुपाय-
त्वस्य तुल्यत्वात् । नच नद्यादिपदलक्ष्ये तीरादावनदीत्वादिवत् सत्यत्वादिपदलक्ष्येऽपि ब्रह्मण्यस-
त्यत्वाद्यापत्तिः, जहल्लक्षणानभ्युपगमात् । यदि हि तीरादौ नदीत्वादिवत् ब्रह्मण्यपि सत्यत्वादिक-
मभिधावलात् न प्रतीयेत, तदैवं स्यात्, नत्वेवमस्ति; नद्यादौ नदीत्वादिवत् सत्यत्वादेर्ब्रह्मण्येव
प्रतीतेः । नचैवं निर्धर्मकत्वव्याकोपः, व्यावहारिकस्य धर्मस्य सत्त्वेऽपि स्वसमानसत्ताकधर्मविरहेण
तदुपपत्तेः, वाचकानामपि लक्षकत्वमन्यानुपरक्तस्वरूपभानायेत्यन्यत् । तदुक्तं कल्पतरुहृद्भिः—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गौण्या वृत्तेर्वारणायासदृशेति । अन्तःकरणेत्यादि । इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यवृत्त्युपहितचित्तं ज्ञानत्वम् । चन्दना-
दिषिषयत्वकसंयोगजन्यवृत्त्युपहितचित्तवर्तमानन्दत्वम् । तादृशचिद्वृत्तजातिविशेषौ वा ते इति भावः । स्वभाव-
लब्धेति । परमते ज्ञानानन्दयोः स्वत एव भेद इत्यर्थः । सत्तायाः सत्तारूपपरजातेः । ब्रह्मलक्षणत्वायोगः
कल्पतरुक्तब्रह्मलक्षणत्वमयुक्तमिति भावः । जातित्वव्यपदेशात् कल्पतरौ परजातित्वव्यपदेशात् । त्रिकालाबा-
ध्यत्वमेवेति । त्रिकालाबाधविषयत्वाभावस्याधिकरणीभूतसत्तारूपत्वेन तत्स्वरूपा सत्तेति भावः । तस्य त्रिका-
लाबाध्यत्वोपलक्षितसत्त्वस्वरूपस्य । अनृताश्रितत्वाभावेनेति । त्रिकालाबाध्यत्वस्येत्यादिः । त्रिकालाबाध्यत्वोपल-
क्षितसत्त्वस्वरूपस्य स्वरूपलक्षणस्येति शेषः । तद्यावर्तकत्वसंभवात् अनृतव्यावर्तकत्वसंभवात् । स्वरूपलक्षणं
यत्स्वरूपं, तत् इतरव्यावर्तकम् अतः उक्तोपलक्षितसत्त्वस्य ब्रह्मस्वरूपतया तदितरव्यावर्तकत्वं युक्तमिति भावः ।
नन्वेवं सत्यपदेनैव लक्षणसमर्पणे त्वन्मते आनन्दादिपदं व्यर्थमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति—आनन्दत्वादीति ।
धर्मिसमानसत्ताकभेदं स्वाश्रयसमसत्ताकभेदम् । स्वं भेदः । लक्षणम् उपलक्षणम्; जाल्युपलक्षितव्यक्तिसवरूप-
स्यैव । सिद्धान्ते लक्षणत्वात् । परीत्यैवेदम् । एका स्वकालाबाध्यस्वरूपा । काचिदन्या त्रिकालाबाध्यस्वरूपत्वरूपा ।
तत्र आकाशादौ । अन्या त्रिकालाबाध्यस्वरूपतादात्म्यरूपा । तत्र उक्ततादात्म्यवति । व्युत्पन्नः गृहीतशक्तिः ।
तत्र प्रथमद्वितीयसत्यत्वाभ्यां ‘सत्यस्य सत्यं’ ‘सत्यं चानृतं च सत्यमभव’ इत्यादिश्रौतप्रयोगोपपादनेऽपि लोके व्यवहारात्
शक्तिग्रहस्त्रिकालाबाध्यसद्रूपात्मक एव; घटः सन् इत्यादौ तत्वेनैव लोके घटादेः प्रत्ययात् । ‘सदेव सोम्येदं’ ‘सत्यं
ज्ञान’मित्यादिवाक्ये तु सत्यादिपदेनोक्तरूपात्मकत्वेनोपहितब्रह्मणः शक्त्या बोधनेऽपि लक्षणया शुद्धब्रह्मबोधकत्वम् ।
तावता नोपहितस्य मिथ्याभूतस्य त्रिकालाबाध्यसद्रूपता, नवोक्तसद्रूपात्मकत्वेन शुद्धेऽपि वर्तमानेनोपलक्षितस्य

‘सत्तादीनां तु जातीनां व्यक्तीतादात्म्यकारणात् । लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति न ॥’ इति । गौर्नित्यो गौरनित्य इत्युभयत्रापि एकदेशान्वयार्थं लक्षणाभ्युपगमेऽपि जातिव्यक्त्योरुभयोरपि तार्किकैर्गोपदार्थत्वाभ्युपगमाच्च । ननु—औपनिषदे पुरुषे धर्मा न प्रत्यक्षेण प्राप्ताः, किंतु तत्त्वावेदकेन वेदेन, तथाच कथं व्यावहारिका इति—चेन्न वेदादापाततः प्रतीतानामपि वेदात्तात्पर्यविषयत्वाभावादतात्त्विकत्वोपपत्तेः । तात्पर्यविषये हि वेदस्य प्रामाण्यम्, यत्र च तस्य प्रामाण्यं, तदेव तात्त्विकमिति नियमात् । नच—वेदस्यातत्परत्वमात्रेण । कथं व्यावहारिकत्वम् ? वाध्यत्वेन चेत्, प्रस्तरेऽपि यजमानत्वं व्यावहारिकं स्यात्, यजमानत्वस्य तत्रानध्यासात् अव्यावहारिकत्वे शुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; वेदात्तात्पर्याविषयत्वेनातात्त्विकत्वे सिद्धे तत्त्वावेदकवाध्यत्वव्यावहारिकावेदकवाध्यत्वाभ्यां व्यावहारिकप्रातिभासिकव्यवस्थोपपत्तेः । नच तत्त्वावेदकस्य विशेष्यमात्रपरत्वान्न बाधकत्वम्; विशेषणबुद्धिद्वारकत्वेन तन्मात्रपरस्यापि बाधकत्वसंभवात्; विशेषणेऽप्यवान्तरतात्पर्याभ्युपगमाद्वा । ‘यजमानः प्रस्तर’ इत्यादौ तु न विशेषणे अवान्तरतात्पर्यम्; तात्पर्यविषयसिद्धावनुपायत्वात् । महातात्पर्यविषयसिद्ध्यापाये हि अवान्तरतात्पर्यमिति सर्वमतसिद्धम् । ननु—व्यावृत्तयः सत्या मिथ्या वा, नाद्यः; व्यावर्तकानामपि सत्यत्वापत्तेर्व्यावहारिकाणां पारमार्थिकव्यावृत्त्यसाधकत्वात्, नान्यः; शुक्तेः शुक्तितो व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे शुक्तित्वस्य शुक्तिसमसत्ताकत्ववदनृतव्यावृत्तेः ब्रह्मणि मिथ्यात्वे अनृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तेरिति—चेन्न; उभयथाप्यदोषात् । तथाहि—व्यावृत्तेर्ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वेऽपि व्यावर्तकं पारमार्थिकमिति कुतः ? नहि यत् पारमार्थिकबोधकं, तत् पारमार्थिकमिति नियमोऽस्ति; बोध्यबोधकयोः समसत्ताकत्वस्य पदतदार्थादौ व्यभिचारेण प्रागेव निरस्तत्वात्, दोषाप्रयुक्तभानत्वस्य सत्त्वप्रयोजकत्वात् । नापि व्यावृत्तिबोधकं व्यावृत्तिसमसत्ताकमिति नियमः; स्वाप्राज्ञनादेरपि स्वजन्यसुखापेक्षया सुखान्तरव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वात्, कारणस्य कार्यव्यावर्तकत्वात् । सा च व्यावृत्तिः तव मते पारमार्थिक्येव । मम तु मते व्यावहारिकी । सर्वथापि प्रातिभासिकव्यावर्तकापेक्षयाधिकसत्ताकैव । नच व्यावृत्तेर्ब्रह्माभिन्नत्वे ब्रह्मपदेनैव तद्भावादितरपदवैयर्थ्यम्; सामान्यतस्तत्सिद्धावप्यनृतादिव्यावृत्त्याकारेण तत्सिद्धौ साफल्यम् । एवमज्ञानादिव्यावृत्तीनामन्योन्याभेदे सत्यपदेनैव चारितार्थमिति अपास्तम्; तत्तदाकारेण सिद्धेस्तत्तत्पदं विनानुपपत्तेः । नच—एवं सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्माणामपि व्यावृत्तिवत् ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वमस्तिवति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः । तदेवं व्यावृत्तेः सत्यत्वे न कोऽपि दोषः । व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वपक्षेऽपि नानृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तिः, एकबाधकवाध्यत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, व्यावृत्तिबाधकवाध्यस्यैव प्रतियोगिनो व्यावृत्त्यधिकसत्ताकत्वम्, नत्वेकबाधकवाध्यस्यापि; कल्पितरजतव्यावृत्तेः कल्पितरजते मिथ्यात्वेऽपि तदपेक्षया तस्याधिकसत्ताकत्वाभावात् । अधिकं मिथ्यात्वमिथ्यात्वोपपादने द्रष्टव्यम् । ननु—तत्त्वजिज्ञासुं मुमुक्षुं प्रति मिथ्याबोधनायोगः, नचानृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तत्; अधिष्ठानब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शुद्धचिद्रूपलक्षणस्यानृतव्यावर्तकत्वासंभव इति भावः । यत्तु—सत्यत्वादेरुपहितगतस्य शुद्धेऽपि संबन्धस्वीकारे शुद्धस्य सत्यादिपदवाच्यतासंभवे तल्लक्ष्यत्वानुपपत्तिः, उपहिते सत्यत्वस्य श्रौतपदवाच्यत्वेन त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति सिद्धान्तभङ्गः, तात्त्विकसत्त्वस्य सत्यपदाबोध्यत्वेन तद्बोध्यसत्त्वस्य लक्षणत्वासंभव—इति, तन्न; लक्षणां विना निष्प्रकारकबोधासंभवेन लक्षणावश्यकत्वात् । त्रिकालाबाध्यत्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति सिद्धान्तस्यायमर्थः—यच्छ्रुतिजन्येन सत्यत्वाद्युपलक्षितशुद्धब्रह्मज्ञानेन शुद्धब्रह्मण्यनृतादिशयनिवृत्तिरिति । सत्यादिपदेन शक्या बोध्यसत्त्वस्यालक्षणत्वं तु मन्मते दृष्टमेव; लक्षणया तद्बोध्यस्यैव लक्षणत्वात् । लक्षणाभ्युपगमेऽपीति । तार्किकाणां मतेऽपि विशिष्टस्य शक्यत्वाद्विशिष्टान्वयस्य मुख्यत्वाच्च शक्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकं विशिष्टान्वयबोध्यत्वमित्येकदेशीभूतव्यक्तिमात्रान्वयो लक्षणयैव, जातिमात्रान्वयस्तु सुतरां लक्षणया । व्यक्तिविशेषणत्वेन शक्त्योपस्थितस्य व्यक्तिनैरपेक्षेणान्वयाबोधादिति भावः । तात्पर्यविषये मुख्यतात्पर्यविषये । प्रामाण्यं तात्त्विकप्रामाण्यम् । विशेषणबुद्धिद्वारकत्वेन निर्धर्मत्वादिवैशिष्ट्यधीद्वारकत्वेन । विषयसिद्धौ प्रस्तरस्तुतिरूपविषयसिद्धौ । अनुपायत्वादिति । तत्सिद्धिपेटिकान्यायेन यजमानकार्यसाधकत्वस्य यजमानपदलक्षितस्य प्रस्तरे ज्ञानमेव तदुपाय इति भावः । अनृतत्वस्येति । ब्रह्मण्यनृतव्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे ब्रह्मणि प्रतीतस्येत्यादिः । पदतदार्थादाविति । नगनागादिपदेषु विशुद्धनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टतया प्रातीतिकत्वेऽपि तदर्थस्य तदभाव इति भावः । मिथ्याबोधनायोगः ।

णैव तन्निवृत्तिसंभवे भ्रान्त्यन्तरोत्पादनायोगात्, नहि वस्मीके स्थाणुरयमिति भ्राम्यतः पुरुषोऽय-
मित्युपदिश्यत इति—चेन्न; निवर्तकाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार एव तस्योपायत्वात्, स्थूलारुन्धती-
न्यायेन पूर्वपूर्वभ्रमनिवृत्तये कात्पनिकोपदेशस्य पञ्चकोशस्थले दर्शनाच्च । यथाचात्मनि कल्पितेन
ब्राह्मण्येनाशङ्किता ब्राह्मण्यभ्रान्तिर्निवर्तते, तथा व्यावहारिक्या व्यावृत्त्या प्रातिभासिक्यनुतादिभ्रा-
न्तिर्निवर्तते । नचासद्यावृत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽनपोदितप्रामाण्येन 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति वाक्ये-
नासत्त्वस्य पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः; 'नेह नाने' त्यनेन तस्य निषेधात्, असद्वा इत्यादेरन्यपरत्वस्य
प्रागेव दर्शितत्वाच्च । तथाच मीमांसकमते अनृतस्याप्यर्थवादार्थस्य सत्ये प्राशस्त्य इव मिथ्या-
भूतानामपि व्यावृत्तीनां सत्ये ब्रह्मणि द्वारत्वेन बोधनं युक्तम् । उक्तं हि—'सत्ये ब्रह्मणि सत्यादिशब्दा
व्यावृत्तिद्वारा पर्यवस्यन्ती'ति । नच व्यावृत्तिज्ञानस्य धर्मिणीसाध्यत्वेन वैपरीत्यापातः; धर्म-
विशिष्टधर्मिज्ञानसाध्याया व्यावृत्तेः शुद्धधर्मिज्ञाने द्वारत्वाङ्गीकारात् । नच—शाब्दे अर्थे आर्थिकस्य
द्वारत्वमनुपपन्नम्, अन्यथा नीलमुत्पलमित्यादेरनीलव्यावृत्तिद्वारा स्वरूपमात्रपरत्वं स्यादिति—
वाच्यम्; नीलमुत्पलमित्यादौ स्वरूपमात्रबोधे तात्पर्याभावाच्च शाब्देऽर्थे आर्थिकार्थापेक्षा, विशिष्टा-
र्थतात्पर्यात् । अत्र तु स्वरूपमात्रे तात्पर्यम्, तच्चार्थिकार्थस्य द्वारत्वं विनाऽनुपपन्नम् । नच—
विशेषस्य त्वन्मतेऽभानात् किं प्रागज्ञातं व्यावृत्त्या ज्ञापनीयमिति—वाच्यम्; अन्याविषयकस्य स्वरू-
पज्ञानस्य भ्रमविरोधिनः साध्यत्वात् । नचैवमन्याज्ञाने द्वारत्वम्; अन्यज्ञानप्रतिबन्धद्वारेण शुद्धज्ञान
एव द्वारत्वसंभवात् । नच व्यावृत्तिज्ञान एव स्वरूपज्ञानं द्वारमस्तु; तस्याभिधावललब्धविशिष्टज्ञाना-
देवोपपत्तेः । नच—प्राचीने ब्रह्माज्ञाननिवर्तकब्रह्मापरोक्षज्ञाने तदज्ञानकार्यस्यान्यस्य भानायोगः,
ब्रह्मप्रातिपदिकार्थबुभुत्सायामेव एतद्व्याक्यप्रवृत्तिरिति स्वप्रक्रियाविरोधश्चेति—वाच्यम्; ब्रह्माप-
रोक्षज्ञानं हि तत्स्वरूपं वा, वृत्तिरूपं वा । आद्ये नान्यभानानुपपत्तिः; तस्याविद्यानिवर्तकत्वाभावात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिथ्याभूताया व्यावृत्तेर्बोधनमयुक्तम् । अनृतस्यापीति । 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्गुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्वशीर्यत तद्रजतम-
भव'दित्याद्यर्थवादाथो बाधितत्वात्प्रातीतिकरूपानृतः, तथापि न तद्व्याक्यमप्रमाणम्; उक्तार्थस्य तात्पर्यविषयीभूत-
स्तुतिद्वारत्वेऽपि तात्पर्याविषयत्वात् । एवं मुख्यतात्पर्यविषयीभूताखण्डब्रह्मधीद्वारत्वेऽपि व्यावृत्तेर्मुख्यतात्पर्याविषय-
त्वेन व्यावहारिक्यास्तस्याः बोधनेऽपि सत्यादिवाक्यं तात्त्विकप्रमाणमेव, उक्तार्थवादाथस्य तु व्यावहारिकमानबाधि-
तत्वेन तदंशे अवान्तरतात्पर्यस्याप्यभावेन न व्यावहारिकप्रामाण्यमिति भावः । अन्याविषयकस्य सत्यं न वेत्यादि-
संशयानात्मकस्य । अन्यज्ञाने संशयोच्छेदे । अन्यज्ञानप्रतिबन्धद्वारेण लक्षणाजन्यज्ञाने उक्तसंशयरूपत्वघटन-
द्वारेण । यद्यपि वाक्यं शक्यता सत्यत्वादिवैशिष्ट्यमात्रबोधकम्; तथापि तात्पर्यं संशयादिदोषात् तेन सत्यत्वादितदभाव-
कोटिकसंशयो जायते । तथाच सत्यत्वादिवैशिष्ट्यनिश्चयरूपद्वाराभावादप्रामाण्यशङ्काशून्यमखण्डार्थज्ञानं न जायते ।
विचारादिना तूक्तदोषनिवृत्तौ सत्यत्वादिवैशिष्ट्यनिश्चयाद्यावृत्तिनिश्चयेनेतरव्यावृत्ताखण्डज्ञानमुक्तशङ्काशून्यं जायत इति
व्यावृत्तिधीप्रयोजिकया सत्यत्वादिवैशिष्ट्यधीसामग्र्या संशयानात्मकज्ञानजननाद्यावृत्त्या संशयानात्मकज्ञानं साध्यमिति
व्यवहारः । अथवा—वाक्यं लक्षणया अखण्डार्थबोधकमप्युक्तदोषसहकृतं न तथा, किंतु सत्यत्वादिसंशयजनकम्,
उत्तरीत्या व्यावृत्तिनिश्चये तु अखण्डार्थबोधकम् । अथवा—अन्याविषयकस्येति कः स्वार्थः । तथाचाप्रामाण्यसंशय-
रूपान्याविषयस्याखण्डविषयकवृत्तिज्ञानस्य साध्यत्वादित्यर्थः । व्यावृत्त्यनिश्चये अखण्डज्ञानमप्रमात्वेन सन्दिह्यते इति
व्यावृत्तिनिश्चयस्तादृशाखण्डज्ञाने द्वारमिति भावः । विशिष्टज्ञानादेवेति । यद्यप्यखण्डज्ञानोत्तरमपि धीविशेषविषय-
त्वाभ्यामखण्डस्य पक्षत्वहेतुतासंभवेन व्यतिरेकव्याख्या व्यावृत्तिधीः संभवत्येव, सत्यत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानस्य व्यावृत्तिबोध-
फलकत्वास्वीकारेऽपि सत्यत्वाद्युपलक्षिताखण्डधीद्वारा मिथ्यात्वादिसंशयनिवृत्तिफलकत्वान्न सत्यादिपदं व्यर्थम् । अतएव
निवर्तनीयांशाधिक्येन न पदान्तरवैयर्थ्यमित्युक्तम्; तथापि व्यावृत्तिद्वारा पर्यवस्यन्तीति प्राचीनोक्तिरपि निरवधेति
भावः । अत एवाखण्डज्ञानं प्रकृत्य व्यावृत्तेः शाब्दबोधफलत्वेन तदविषयत्वादिति अखण्डस्याप्यन्तःकरणवृत्तिभेदेन
लक्ष्यलक्षणभाव इतिचोक्तम् । नहि व्यावर्त्यव्यावर्तकभावादन्यो लक्ष्यलक्षणभाव इति ध्येयम् । ब्रह्मज्ञानस्यान्याविषय-
कत्वं व्यावृत्तिधियेत्युक्तं, तन्न युक्तम्; यदि हि प्राचीने ब्रह्मज्ञाने अन्यविषयकत्वं संभाव्यते, तदा चरमस्य ब्रह्मज्ञानस्य
तदभावो व्यावृत्तिधिया वाच्यः । नच प्राचीनमप्यन्यविषयकत्वेन संभाव्यते; अविद्यातत्कार्यनिवृत्तिस्वरूपयोग्यत्वा-
विद्यातत्कार्याविषयकत्वादित्याशयेन शङ्कते—नच प्राचीन इति । निवर्तकत्वाभावात् निवृत्तिस्वरूपयोग्यत्वस्याप्य-

वृत्तिरूपमप्यापातदर्शनं नाविद्यानिवर्तकम्; तस्यासाक्षात्कारत्वाद्वा, साक्षात्कारत्वेऽपि प्रतिबद्धत्वाद्वा । विचारजन्यं तु फलीभूतं भवत्यविद्यानिवर्तकम् । ननु तत्प्राचीनमिति किमनुपपन्नम्? ननु—सत्यशब्देनासद्भाववृत्तिद्वारा यद्वोधितं, तदेव ज्ञानादिपदैरज्ञानादिव्यावृत्तिद्वारा बोध्यमिति पदान्तरवैफल्यम्, नच द्वारविकल्पः; सत्यादिपदानां नित्यवच्छ्रवणात्, एकस्मिन् प्रयोगे ब्रीहियवयोरिवैकस्मिन् वाक्ये सत्याद्यनेकपदोपादानायोगात्, अनृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्तिरूपदृष्टकार्याणां भिन्नत्वेन ब्रीहियवादिवत् विकल्पप्रयोजकस्यैककार्यत्वस्याप्यभावाच्चेति—चेन्न; समुच्चितानां द्वारत्वेन सफलत्वात् । प्रधानस्य ब्रह्मणः प्रतिपत्युपयोगिनामानन्दादीनां भावरूपाणां 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'त्यनेनास्थूलत्वादीनामभावरूपाणाम् 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्त'मित्यनेन च सूत्रेण निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तावेव सर्वशाखोपसंहारस्य प्रतिपादितत्वेन द्वारसमुच्चयस्यैवेष्टत्वात् । ननु—सगुणे ब्रह्मण्युपासनार्थं भवतु शाखान्तरीयगुणोपसंहारः, निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तौ तु किं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण? सत्यादिपदानां प्रत्येकं लक्षकत्वेन लक्ष्यब्रह्मबोधने प्रत्येकमेव समर्थत्वात्, सत्यत्वादेश्च प्रत्येकं लक्षणत्वात् । नहि प्रकृष्टत्वादिकमिव सत्यत्वादिकमतिव्याप्तमिति—चेत्, न; प्रकृष्टप्रकाशपदयोरिव सत्यादिपदानामपि कुमतप्राप्तातिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थं समुच्चयापेक्षणात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावात् । नाविद्यानिवर्तकं नाविद्यानिवृत्त्युपधायकम् । प्राचीनमित्यादिः । तथाच निवृत्त्युपधायकस्यैव सत्यत्वादिवैशिष्ट्यनिश्चयाधीनव्यावृत्तिनिश्चयाधीनत्वेन व्यावृत्त्यविषयकत्वनियमः, प्राचीनं तु निवृत्तिस्वरूपयोग्यमप्यन्यविषयकं संभाव्यत इति चरमस्यातथात्वनियमाय व्यावृत्तिबुद्धिरवश्यापेक्षणीयेति भावः । असाक्षात्कारत्वादिति । साक्षिसंबन्धविषयत्वमात्रान्न साक्षात्कारत्वम्, किंतु भ्रमत्वेनागृह्यमाणत्वविशेषितं तदिति भावः । ननु तत्प्राचीनं न तु तत्प्राचीनतुल्यम् । तुल्यत्वमन्यविषयकत्वेन । तथाच तस्यान्याविषयकत्वाय व्यावृत्तिधीरपेक्षणीयेति भावः । यत्तु प्राचीनेत्यादिशङ्काया व्याख्यानं—द्वारीभूतव्यावृत्तिज्ञानात् प्राचीने सत्यत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानत्वाभिमतं ब्रह्मज्ञाने अविद्याकार्यभानायोगः; तस्यैवाविद्यानिवर्तकत्वसंभवात् । तथाचाविद्यानिवर्तकमुत्तरज्ञानमङ्गीकृत्य तत्र व्यावृत्तिधीसाध्यत्वस्वीकारो व्यर्थः—इति, तन्न शोभते; सत्यत्वादिवैशिष्ट्यबोधोत्तरज्ञानस्यैवानृतत्वादिसंशयनिवर्तकत्वेनानुभवसिद्धत्वेन तदनुत्तरज्ञानस्यानुपयुक्तत्वात् । किंच सत्यत्वादिवैशिष्ट्यधीत्वेनाभिमतं सत्यादिवाक्यजन्यज्ञानं, तत् कथं ब्रह्माविद्यानिवर्तकम् । अथ पदार्थाज्ञाननिवर्तकत्वमेव तत्र प्रकृते उक्तमिति वाच्यम् । तथाप्यविद्याकार्यसामान्यस्य तद्विषयकत्वासंभवोक्तिर्न युक्तैव । कथं वा सत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वमुक्तमिति । तस्मात् स्पष्टमसि प्रतारकः । द्वारविकल्पः द्वारीभूतबोधसाधनसत्यादिपदानां वैकल्पिकमुपादानम् । नित्यवच्छ्रवणात् नित्यानुष्ठीयमानात् शिष्टानां सत्यज्ञानादिसकलपदविचाररूपाच्छ्रवणात् । एकवाक्ये सत्याद्यनेकपदानामेकबोधार्थं शिष्टानां यदुपादानं प्रतिसन्धानरूपं तदयोगात् । अथवा—नित्यवत् वाशब्दादियोगं विनैव । श्रवणात् पाठात् । ननु वाशब्दादियोगं विनाप्येकप्रयोजनकानां विकल्पस्वीकारात् अविकल्पनियामकत्वं न वाशब्दाद्यभावस्येत्यत आह—अनृतत्वादीति । भिन्नत्वेनेति । यथा पञ्चप्रयाजानामदृष्टरूपकार्यभेदात् समुच्चयः; एककार्यस्यान्येनोत्पादे मानाभावात् । एवं दृष्टरूपकार्यभेदेऽपि अज्ञानां समुच्चयः । अत एवाज्ञानाभ्यञ्जननामकसत्रे गौगुलत्वेन प्रातःसवने अभ्यङ्ग इत्यादिनोक्तं गौगुलवाद्यभ्यञ्जनं प्राकृतस्य नवनीताभ्यञ्जनस्य न निवर्तकम्, किंतु नवनीताभ्यञ्जनं स्नेहनार्थम् । गौगुलवादिकं तु रूक्षीकरणार्थमिति दृष्टकार्यभेदात् समुच्चय इति दशमचतुर्थे सिद्धान्तितम् । 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति तृतीयाध्यायस्थसूत्रस्यायमर्थः—यत्र शाखायामानन्दादिपदानामन्यतमं न श्रूयते, तत्रापि तदुपसंहर्तव्यम् । यतः तत्प्रधानस्य ब्रह्मणोऽनृतादिव्यावृत्तस्वरूपस्य प्रतिपत्युपाय इति । अस्थूलत्वादीनामिति । ब्रह्मणः प्रतिपत्युपयोगिनामित्यनुपपद्यते । 'अक्षरधिया'मित्यादेरपि तृतीयाध्यायस्थसूत्रस्यायमर्थः—वृहदारण्यके 'एतद्वै तदक्षर'मित्युपक्रम्योक्तत्वेन अक्षरधियः अस्थूलत्वादयः । अक्षरस्य धीः येभ्यः ते अक्षरधियः । ते यत्र 'यत्तदद्वैश्यमग्राह्य'मित्यादौ न श्रूयन्ते, तत्रापि तेषामवरोध उपसंहारः । सामान्यात् प्रपञ्चमात्रनिषेधेन ब्रह्मप्रतिपादनस्य सर्वत्र समानत्वात् । तद्भावात् 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्वैश्य'मित्यादिवाक्येष्वक्षरस्य प्रतिपाद्यतया भावात् सत्त्वात् । औपसदवत् यथा जामदग्न्यहीने पुरोडाशनीघृपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणामभेदे होत्रं वेरध्वरमित्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामध्वर्युभिः संबन्धो भवति; पुरोडाशप्रदानस्याध्वर्युकर्तृत्वादज्ञानांच प्रधानतन्त्रत्वात्, तदुक्तं पूर्वमीमांसायां—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग' इत्यत्र, तथेहाप्यक्षररूपप्रधानतन्त्राणामस्थूलत्वादीनां यत्र क्वचिदुत्पन्नानां सर्वत्र विद्यमानेनाक्षरेण प्रधानेन संबन्ध इति । लक्षणत्वात्

नह्यनृतव्यावृत्तिबोधनं विना 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यत्र शून्यवादव्यावृत्तब्रह्मसिद्धिः । एवमेकैकपदाभावे सर्वत्रातिव्याप्तिरुहनीया । तथाच सत्यत्वादिकमनृतादिव्यावृत्तिद्वारा शून्यवादादिव्यावृत्तब्रह्मसिद्धेरुपायः । नच—व्यावृत्तिः किं ब्रह्मविशेषणत्वेन बोध्या, स्वतन्त्रा वा, आद्ये सखण्डार्थत्वम्, द्वितीये ब्रह्म जिज्ञासुं प्रति तदुपदेशोऽसङ्गत इति—वाच्यम्; व्यावृत्तिर्यद्यपि विशेषणतयैवार्थिकबोधे भासते, तथापि न शब्दबोधे सखण्डार्थत्वम् । यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ इति न्यायात् । तदुक्तं वार्तिककारैः—'मानान्तरादपोहस्तु न शब्दस्तेन स स्मृतः ।' इति । नचार्थिकेनापि विशेषणेन ब्रह्मणः सखण्डत्वापत्तिः; निर्धर्मकत्वादिश्रुतेर्विशेषणस्य धर्म्यसमानसत्ताकत्वेन सखण्डत्वाप्रयोजकत्वात् । नच—अनन्तशब्देनान्तवद्यावृत्तेस्साक्षादेव बोधनाच्च तस्य आर्थिकत्वम्, तथाचानन्तपदस्य सखण्डार्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्; यद्यपि 'तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टौ विशेषणम् ॥' इति तैत्तिरीयवार्तिकोक्तदिशा विधिपदानां स्वार्थार्पणप्रणाडिकया अर्थादितरनिवृत्तिबोधकत्वम्; निषेधपदानां तु साक्षादिति स्थितं, तथापि द्वारभूते ज्ञाने सखण्डार्थत्वेऽपि परमतात्पर्यविषयज्ञाने नाखण्डार्थत्वव्याघात इत्यसङ्गदुक्तम् । एतदेवोक्तमानन्दबोधाचार्यैः—'लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः । विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थते नहि ॥' इति । एवं पदे लक्षणेति पक्षे समाहितम् । केचित्तत्र वाक्ये लक्षणांमाहुः, न पदे । तथाहि—यथा 'गम्भीरायां नद्यां घोष' इत्यत्र गम्भीरनद्योः परस्परमन्वयबोधानन्तरं विशिष्टार्थसंबन्धि तीरं लक्ष्यते, तथा प्रकृते परस्परविशिष्टार्थबोधानन्तरं तत्सम्बन्ध्यखण्डं लक्ष्यते । तथाच न पदवैयर्थ्यम् । नच तत्रापि प्रत्येकं लक्षणा; तथासति गम्भीरनदीतीरादिलाभेन विशिष्टतीरबुद्धिर्न स्यात् । नच तत्र गम्भीरनदीपदयोरिव इह सत्यादिपदानां परस्परमन्वयबोधकत्वं त्वन्मते नास्तीति—वाच्यम्; एकस्मिन् ब्रह्मणि द्वारीभूतस्य परस्परार्थान्वयबोधस्य सत्यादिपदैः मिलित्वा जननात्, उत्तरकाल एव लक्षणया अखण्डबोधस्याभ्युपगमात् । नच—'सत्यं ज्ञानं विज्ञानमानन्द'मित्यादौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्षणीभूताखण्डस्वरूपस्य स्ववैशिष्ट्यज्ञानाधीनव्यावृत्तिधीद्वारा बोधकत्वात् । सत्यत्वादिकं सत्यत्वाद्येकैकमात्रेण उक्तद्वारा बोधितम् । शून्यवादव्यावृत्तेति । शून्यवादोत्थितविप्रतिपत्त्याऽनृतत्वेन सन्दिह्यमानं यत् तदन्येत्यर्थः । उक्तव्यावृत्तिबोधोत्तराखण्डज्ञानस्यैवोक्तसंशयनिवर्तकत्वमिति भावः । अपोहः अनृतादिव्यावृत्तिः । परिशिष्टौ सत्यादिपदेषु । विशेषणमिति । सत्यत्वादिरिति शेषः । निषेधपदानांसिति । तथाचानन्त इति अस्थूलादीनामुपलक्षणमिति भावः । ननु—मिथ्यात्वाद्यभावरूपसत्यत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानस्याप्यनृतत्वादिसंशयनिवर्तकत्वात् तन्मात्रद्वाराकाखण्डज्ञानेनापि शून्यवादिव्यावृत्तं ब्रह्म सिध्यतीत्यनृतादिव्यावृत्तिनिश्चयस्य द्वारत्वं व्यर्थम्, ज्ञानत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानस्यैव जडत्वादिसंशयविरोधित्वं संभवतीति ज्ञानादिपदस्थलेऽपि तद्व्यावृत्तिधीद्वारत्वं व्यर्थमिति, एवमनन्तपदस्यापरिच्छिन्नबोधकत्ववत् सत्यादिपदमप्यनृताद्यन्वयबोधकमिति साक्षात्स्वार्थविशेषणतायाः सत्यादिपदेष्वपि संभव इति—चेन्न; अनृतत्वस्य स्वाधिकरणवृत्तिसान्मन्यूनसत्ताकाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, प्रमानिवर्त्यत्वं, सदसद्विलक्षणत्वम्, इत्यादिरूपतया तदभावरूपसत्यत्वस्यापि नानात्वेन एकविधसत्यत्ववैशिष्ट्यज्ञानेऽपि अन्यविधानृतत्वसंशयानिवृत्तेस्तन्निवृत्तये तत्तदनृतत्वविशिष्टव्यावृत्तिवैशिष्ट्यज्ञानमेकविधसत्यत्वहेतुकमवश्यं वाच्यम्; सर्वसत्यत्वानामेकदा सत्यपदेनाबोधनात् । नच—एकसत्यत्वस्यैव सर्वानृतव्यावृत्तिव्याप्यतया ग्रहात्तज्ज्ञानमेव सर्वानृतत्वविरोधीति—वाच्यम्; तादृशग्रहाभावकाले तदसंभवात् । किंच सत्यत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानं मिथ्यात्वव्याप्यस्यागन्तुकदोषजन्यधीविषयत्वस्य वैशिष्ट्यज्ञाने न विरोधि, सत्यत्वादिहेतुकमुक्तविषयत्वविशिष्टान्यत्वज्ञानं तु तद्विरोधीति तदावश्यकम् । अतएव ज्ञानत्वादिहेतुकव्यावृत्तिधीरपि न व्यर्था; ज्ञानाद्यन्वयव्याप्यदृश्यविशेषत्वज्ञाने ज्ञानत्वादिवैशिष्ट्यज्ञानस्याविरोधित्वात् । अथवा—परमते सत्यत्वादेरिव तुल्ययुक्त्या अनृतत्वादेरपि जातित्वादेकवैशिष्ट्यधीनापरवैशिष्ट्यधीविरोधिनी । तथाचानृतत्वजडत्वानानन्दत्वादज्जातिविशिष्टसंशये सत्यत्वादिहेतुकमुक्तविशिष्टभेदज्ञानस्यैव निवर्तकत्वात्तदावश्यकमिति दिक् । अन्वयबोधानन्तरमिति । उक्तान्वयबोधं विनोक्तविशिष्टार्थं वाक्यज्ञाप्यत्वाभावेन स्वज्ञाप्यसंबन्धरूपलक्षणायास्तीरे ज्ञानुपशङ्क्यत्वात् उक्तान्वयबोध आवश्यक इति भावः । विशिष्टार्थसंबन्धि तीरं लक्ष्यते तीरत्वेन रूपेण वस्तुगत्या गम्भीरनदीसंबन्धि तीरं लक्ष्यते । एवंच शुद्धं ब्रह्म वस्तुगत्या विशिष्टवाक्यार्थसंबन्धि लक्ष्यत इति दृष्टान्तसादृश्यम् । अतएव वक्ष्यते 'गम्भीरनदीतीरत्वेन लक्षणानभ्युपगमा' इति । तथासतीत्यादि । प्रत्येकपदज्ञाप्यत्वस्य प्रत्येकार्थेऽपि सत्येन प्रत्येकार्थमात्रसंबन्धि यत्तीरं तीरत्वेन रूपेण तद्विषयिकापि शाब्दधीः

अन्योन्यानपेक्षाणां सत्यादिपदानां ब्रह्मलक्षकत्वदर्शनात् कथं गम्भीरायामित्यादितुल्यन्यायतेति—
वाच्यम्; यत्र वस्तुगत्या गम्भीरनद्यभिप्रायेणैव नद्यां घोष इत्युक्तं, तत्र परस्परनिरपेक्षलक्षकत्वस्य
गम्भीरायामित्युक्तौ च मिलितलक्षकत्वस्य दर्शनात्, गुणोपसंहारन्यायेन द्वारसमुच्चयस्य स्थापित-
त्वाच्च । नच—परस्परपदसाहित्येन तत्र गम्भीरनदीसंबन्धि तीरं लक्ष्यते, अन्यथा त्वेकैकसंबन्धि,
प्रकृते त्वधिकलाभो न पदान्तरेणापीति—वाच्यम्; तत्रापि युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्त्या गम्भीरनदी-
तीरत्वेन लक्षणानभ्युपगमात्, वस्तुगत्या विशिष्टसंबन्धिनः प्रत्येकपदादपि लाभात् । अथ विशिष्ट-
बुद्धिद्वारत्वाद्वारत्वाभ्यां विशेषः, प्रकृतेऽपि स तुल्य एव । ननु—गम्भीरायामित्यत्रापि न मिलिते
लक्षणा, किंतु नदीपद एव; परस्परसाहित्येन विशिष्टबोधानन्तरं स्वज्ञाप्यविशिष्टसंबन्धिनि लक्षणा-
संभवात्, स्वज्ञाप्यसंबन्ध एव हि लक्षणा; लाघवात्, नतु तद्विशेषः शक्यसंबन्धः; गौरवात्,
तथाच पदद्वये लक्षणा, लक्षणाद्वयं वा न युक्तम् । एवंच वृत्तेः पदवृत्तित्वनियमोऽपि सङ्गच्छत
इति—चेत्, नैतत्सारम्; स्वज्ञाप्यसंबन्धो हि लक्षणेति त्वयोच्यते । तच्च ज्ञाप्यं प्रकृते विशिष्टम्,
तज्ज्ञापकत्वं चोभयोः साधारणमिति कथं नदीपद एव लक्षणा? न गम्भीरपदे; विनिगमकाभावात् ।
नच—गाम्भीर्येण सह तीरस्य परम्परया संबन्धः, नद्याः साक्षात्संबन्ध एव विनिगमक इति—
वाच्यम्; ‘निम्नं गभीरं गम्भीर’मिति कोशात् गम्भीरपदस्य निम्नरूपनदीद्रव्यवाचित्वेन साक्षा-
त्संबन्धस्यापि साधारणत्वात् । नच—विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वात् गम्भीरपदलक्षणायां
विभक्त्यर्थानन्वय इति—वाच्यम्; विशिष्टबोधसमये गम्भीरपदस्य विशेषणपदत्वेऽपि विशिष्टसंबन्धि-
लक्षणासमये विशेष्यपदत्वात् । विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वमित्यप्यसंबन्धम्; अभेदार्थकत्वस्य
नैयायिकैः प्रत्येकमन्वयस्य च मीमांसकैरुणाधिकरणसिद्धस्य चाभ्युपगमात् । एवमन्यदपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्थात्, नतु नियमेन विशिष्टार्थसंबन्धि तीरं तीरत्वेन गाहमानेति भावः । नच सत्यमित्यादि । सत्यं ज्ञानमित्या-
दितैत्तिरीयवाक्ये आनन्दपदनैरपेक्षेण विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति बृहदारण्यकवाक्ये च सत्यपदनैरपेक्षेण ब्रह्मलक्ष-
कत्वात् कथं तुल्यतेति भावः । वृत्तिद्वयविरोधेति । नच—विशिष्टतीरत्वरूपेण लक्षणास्वीकारेण गम्भीरत्वा-
दिना शक्यधीनबोधानङ्गीकाराच्चेदं युक्तमिति—वाच्यम्; विशिष्टतीरत्वरूपेण लक्षणायां हि गम्भीरायामित्यादौ
विशिष्टरूपेणैव बोधस्यानुभूयमानत्वं साधकम् । तथाच साधकबलादेव शक्या बोधितस्य गम्भीरनदीसंबन्धित्वस्य
लक्षणयोपस्थिततीरेऽन्वयोऽस्तु, किं विशिष्टगुरुरूपेण लक्षणया? युगपद्वृत्तिद्वयविरोधोऽपि वाक्यलक्षणान्यस्थल एवेत्या-
पत्तिः । तथाच व्युत्पत्तिभेदकल्पने गौरवमित्यत्र विरोधापत्त्येत्यस्य तात्पर्यात् । यदि तु विशिष्टतीरत्वेन बोधे नियमा-
भावः, तदा केवलतीरत्वेन बोधस्थले ‘गम्भीरायां नद्यां घोष’ इत्यनयोरविशेषः स्थित एवेति भावः । प्रत्येकपदाद-
पीति । तीरत्वेन तीरविशेषतात्पर्यादिना धीसंभव इति भावः । द्वारत्वाद्वारत्वाभ्यामिति । गम्भीरनदीरूप-
विशिष्टस्य धीर्गम्भीरायामितिपदस्य सत्त्वे तीरत्वेन तीरविशेषधीद्वारम्, तदसत्त्वे तु सा न तथेत्यर्थः । तुल्य इति ।
‘नद्यां घोष’ इत्यत्रापि वस्तुगत्या गम्भीरनदीसंबन्धिनो लाभसंभवेन दृष्टान्त इव दार्ष्टान्तिकेऽपि विषयतोऽधिकलाभः,
प्रयोजनतस्तु दृष्टान्ते अधिकालाभेऽपि दार्ष्टान्तिके शून्यवादादिव्यावृत्तब्रह्मसिद्ध्या अधिकलाभ उक्त एवेति ध्येयम् ।
स्वज्ञाप्यविशिष्टेति । विशिष्टवाक्यार्थो वाक्येनेव पदेनापि ज्ञाप्यत इति भावः । ननु पदस्यैव लक्षकत्वनियमे
स्वशक्यसंबन्ध एव लक्षणा संभवति, वाक्यार्थश्च न स्वशक्यः, तत्राह—स्वज्ञाप्यसंबन्ध एवेति । परंपरया
स्वाश्रयनदीसंयोगाभिन्नः । निम्नरूपनदीद्रव्यवाचित्वेनेति । निम्नत्वेन नदीवाचित्वेनेत्यर्थः । गम्भीरनद्यामपि
स्वज्ञाप्यतावच्छेदकगम्भीरत्ववैशिष्ट्यसत्त्वेन तत्संयोगरूपः साक्षात्संबन्ध एव तीरेऽस्तीति भावः । विभक्त्यर्थानन्वय
इति । नदीपदोत्तरविभक्त्यर्थस्य गम्भीरपदलक्ष्येऽनन्वयः; प्रत्ययानां स्वप्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वादिति भावः ।
नैयायिकैरिति । विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वमुक्त्वा ‘यद्वा विशेषणविभक्तिरभेदार्थिके’ति शब्दमणावुक्तम् ।
संभवत्यर्थसाधुत्वे पदसाधुत्वमयुक्तमित्यत आह—यद्वेतीति । मिश्रैस्तदवतारितम् । प्रत्येकमन्वयस्य भावनान्वित-
प्रत्येकविभक्त्यर्थकारकेषु आरुण्यादिरूपनार्थानन्वयस्य । अरुणाधिकरणेति । उद्योतिष्टोमे श्रूयते—‘अरुणया पिङ्गाक्ष्या
एकहायन्या सोमं क्रीणाती’ति । तत्र पिङ्गाक्ष्यादिपदद्वयस्य जातिवचनत्वासंभवेन विशिष्टद्रव्यवाचित्वम् । तच्च द्रव्यद्वयं
सामानाधिकरण्यादेकम् । अरुणापदस्य तु आकृत्यधिकरणन्यायेन जातिवदनुगताखण्डारुण्यगुणो वाच्यः । स च
न क्रयार्थः; अमूर्तत्वेन क्रये साधनत्वासंभवात्, किंतु वाक्यं भित्त्वा प्रकरणेन प्राकरणीकक्रियामात्रे । यद्यपि तत्रापि
न साक्षात्साधनत्वम् । अमूर्तत्वात्, द्रव्यपरिच्छेदकत्वेन तत्रान्वये चैकहायन्यादिपरिच्छेदकत्वेन क्रयभावनाभावेन
अ. सि. ८८

वाक्यलक्षणोदाहरणमनुसन्धेयम् । गच्छ गच्छसि चेत् कान्तेत्यादि विषं भुङ्क्ष्वेत्यादि च । ननु—अत्र जन्मना मरणानुमानम्, तेन च तत्साधनीभूतायाः गतेरकर्तव्यतानुमानमित्यनुमानपरम्परैव, न लक्षणा; अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्, न हि धूमोऽस्तीति वाक्यं वह्निलक्षकम्, विषमित्यादावपि विषभोजनस्येष्टसाधनतोक्त्या शत्रुगृहान्नभोजनस्यानिष्टसाधनत्वमाक्षिप्यते । यद्वा—आप्तस्य प्रमाण-विरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपोऽनुमीयते । तत्र च प्रसक्तशत्रुगृहान्नभोजनस्य हेतुत्वं कल्पयित्वा तत्राकर्तव्यतानुमानम्, न लक्षणेति—चेत्, नैतत्साधु; जन्मना मरणाक्षेपेऽपि तन्मरणे गमनस्य हेतुत्वानाक्षेपात्, शतवर्षानन्तरं जरादिनापि तदुपपत्तेः । तथाच प्रियामरणे हेतुत्वं गमनस्य न लक्षणां विनाऽवगन्तुं शक्यम् । नापि प्रियामरणहेतुत्वेन गमनस्याकर्तव्यत्वानुमानम्; प्रियामरणहेतोरपि तत्त्वेनाज्ञानद-शायां गुरुनिदेशाद्वा आत्मत्राणार्थं वा कुलापकीर्तिपरिहारार्थं वा कर्तव्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात् । तथाच गमनस्य प्रियामरणहेतुत्वं तादृशस्य चाकर्तव्यत्वमित्युभयमपि लक्षणाधीनम्; जन्मनिर्देशस्य च प्रकृतेऽनुपयोगात् तेन प्रकृतोपयोगिन्यगमने तात्पर्यं ज्ञाप्यते समुदायस्य । तथाच समुदाय एव लक्षणा । न प्रत्येकपदे; प्रत्येकं तात्पर्यज्ञापकाभावात् । तथाच नात्रानुमितिपरम्परा, नवा प्रत्येकपदे लक्षणा । एवं 'विषं भुङ्क्ष्वे'त्यत्रापि विषभोजनेष्टसाधनत्वेन शत्रुगृहान्नभोजनानिष्टसाध-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निवेशो युक्तः, एकवाक्यत्वानुरोधात्; तथापि एकस्मिन् उक्तवाक्ये एकहायन्या विधेयत्वेनानुवाद्यत्वासंभवात् वाक्यान्तरविहितप्राकरणिकद्रव्यमनूद्यारुण्यादिविशिष्टद्रव्यं लक्षणया अरुणापदेन उपस्थाप्यं विधीयते । द्रव्यमात्रस्य प्राप्तत्वेऽपि तद्वारा प्रकृतक्रियायामारुण्यं विधीयते इति प्राप्ते, क्रयान्वितभावनायामारुण्यरूपमुख्यार्थस्यैवान्वयोऽस्तु, न प्राकरणिकक्रियामात्रे उक्तद्रव्यस्य; लक्षणावाक्यभेदयोरन्याय्यत्वात्, अमूर्तस्यापि तस्य द्रव्यपरिच्छेदद्वारा करणत्वसंभवात् । अन्यथा द्रव्यद्वाराप्यमूर्तस्य करणत्वासंभवात् । तथाच प्रथममेकहायनीपिङ्गाक्षीपदार्थयोरिवारुण्यस्यापि करण-कारकान्वयद्वारा भावनायामेवान्वयेऽपि एकहायनीपरिच्छेदद्वारा क्रयोद्देशेनारुण्यस्य पश्चाद्विधिकल्पनात् सोमादेर्गान्-दाविव आरुण्यस्य क्रयेऽङ्गतेति तृतीयप्रथमे 'अथैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्माज्जियमः स्या'दित्यधिकरणे स्थितम् । वाक्यार्थ-कत्वसंभवे एकहायनीद्रव्यारुण्ययोरैकक्रयाङ्गत्वादेकहायन्यामेवारुण्यं शास्त्रार्थः, ननु प्राकरणिकद्रव्यमात्रे इति नियम इति सूत्रार्थः । यत्तु वाक्यलक्षणा न युक्ता, सा हि नदीत्यन्ते वा नद्यामित्यन्ते वा । नाद्याः; तस्याप्रकृतित्वेन तदर्थं सुबर्थस्यानन्वयात् । अत एव नान्त्यः; सुबर्थे सुबर्थस्यानन्वयाच्चेति मण्यादायुक्तं, तत्तुच्छम्; आद्ये समुदायस्य लक्ष्यार्थवत्त्वेन नामत्वात्, द्वितीयेऽपि सुम्मात्रार्थयोरनन्वयेऽपि समुदितवाक्यार्थस्यातत्त्वेनादोषात् । नच—द्वितीयपक्षे वाक्यस्य सुबन्तत्वाभावेन वृत्त्याऽर्थबोधकत्वानुपपत्तिः; अर्थवत्त्वेन नाम्नोऽपि तस्य तीररूपार्थो नाभेदेन क्रियान्वयी; अयोग्यत्वात् । नापि भेदेन; अव्युत्पत्तेरिति—वाच्यम्; तीरवृत्तावेव लक्षणास्वीकारेण वाक्यस्य द्वितीयान्तत्वसंभवेना-भेदान्वयस्य क्रियायां संभवात् । यत्र तु न द्वितीयान्तत्वसंभवः यथा 'गम्भीरया नद्या वृक्षा जनिता' इत्यादौ, तत्र नदीत्याद्यन्त एव लक्षणास्वीकारात् नासाधुत्वं नवाऽनन्वयः । एषैव रीतिरर्थवाद्वाक्येऽपि लक्षके बोध्या । तत्रापि हि भावनारूपक्रियायामेवान्वेषामिव बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यस्याप्यन्वयः प्रथमम् । पश्चादेव धात्वर्थः । प्रथममेव वा करणेतिकर्तव्यताविशिष्टायां भावनायां तदन्वयाद्विशेषणीभूतयोः करणेतिकर्तव्यतयोस्तदन्वय इति ध्येयम् । मरणानुमानमिति । मद्गमनारम्भोत्तरं प्रतीयमानमेतस्या जन्म, पूर्वशरीरप्राणविद्योगरूपमरणपूर्वकम्, पूर्वशरीरप्राणविद्योने सति शरीरग्रहणासमर्थस्य शरीरग्रहणत्वात्, संमतवदिति अनुमानम् । अनिष्टसाधनत्व-माक्षिप्यत इति । विषभोजनं न तृप्तिरूपस्येष्टस्य साधनम्, नवेष्टान्तरस्य; मरणहेतुत्वात्, किंतु शत्रुगृहभोजनस्य प्रसक्तस्य दुःखसाधनत्वं संभावितमिति शत्रुगृहभोजनद्वारा मृतत्वप्रतिसन्धानजन्यदुःखस्यानुत्पादरूपेष्टस्य । तस्मा-त्तादृशदुःखोत्पादरूपबलवदनिष्टसाधनं शत्रुगृहभोजनं विना विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यमाप्तोक्तमनुपपन्नमित्याक्षिप्यते । अथवा—विषमित्यादिवाक्यं शत्रुगृहभोजनप्रसक्तवृत्त्यमानं सावधारणम् । विषभोजनमेव बलवदनिष्टसाधनत्वे सतीष्टसाधनं ननु शत्रुगृहभोजनमित्यर्थकमिति तदर्थकत्वं तस्य शत्रुगृहभोजने बलवदनिष्टसाधनत्वं विनानुपपन्नमित्या-क्षिप्यत इत्यर्थः । प्रकृते प्रियावाक्ये । अनुपयोगात् गमनं मास्त्वितिच्छन्त्याः प्रियायास्तात्पर्यविषयत्वायोग-यथाश्रुतार्थकत्वात् । प्रकृतोपयोगिनि प्रियातात्पर्यविषयत्वयोगे । ननु—'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेज-प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते ।' इत्यादौ वेदे विज्ञानब्रह्मवेदनादेः पापनाशादौ 'वृष्टिश्चेज-वेत्तदा सुभिक्षं भवेत्' इत्यादौ लोके च वृष्ट्यादेः सुभिक्षादौ चेच्छब्देन हेतुताबोधनात् प्रकृतेऽपि गमनस्य जन्मनि हेतुत्वं बोध्यते जन्मना च मरणमनुमीयते । नच मरणप्रयोजकत्वेन गमनस्याकर्तव्यत्वानुमाने उक्तव्यभिचारः; गमनं

नत्वं नाक्षेप्तुं शक्यते; व्यधिकरणत्वात्, तेन विनाप्युभयोरपीष्टसाधनतयोपपत्तिसंभवाच्च । नहि येन केनचिद्यत्किञ्चिदाक्षिप्यते, किंवनुपपद्यमानेनोपपादकम् । नाप्याप्तत्वे सति प्रमाण-
विरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपानुमानं, कोपेन च तद्धेतौ शत्रुगृहान्नभोजने अकर्तव्यतानुमानम्, आप्त-
स्यापि पित्रादेर्भ्रमादिना विनापि कोपं प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वदर्शनेन व्यभिचारादाप्तकोपहेतोरपि
भ्रमादिना प्रियामरणहेतोरिव कर्तव्यत्वदर्शनेन तत्रापि व्यभिचाराच्च । तथाचाप्रसक्तप्रतिपादनेन
प्रसक्तवारणे तात्पर्यं ज्ञात्वा तेनाकल्पितपदविभागे समुदाय एव लक्षणां कल्पयति, नतु
प्रत्येकपदे; तत्र तत्र विशिष्य तात्पर्यज्ञापकाभावात् । तथाच पदार्थतात्पर्यान्वयानुपपत्तिभ्यां
लक्षणा पदे । वाक्यार्थं तद्वयानुपपत्त्या लक्षणा वाक्ये । वाक्यार्थान्वयानुपपत्त्यनिवन्धनत्वं
च लक्षणायाः पदवृत्तित्वसाधने उपाधिरित्यवधेयम् । एवमेवाधर्मन्तरर्थं बहिरित्यादौ लोके
अर्थमन्तर्वेद्यर्थं बहिवेदीति वेदेऽपि वाक्य एव लक्षणा । नच—तत्राप्यर्थस्यान्तस्त्वे सत्यर्थस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न कार्यं, स्वनाश्यमानेष्टाधिकेष्टाहेतुत्वेसतीष्टनाशप्रयोजकत्वादित्यनुमाने गुरुनिदेशाकरणजन्यपापानुत्पादस्य इष्टस्य
प्रयोजकत्वेन गमने हेत्वभावादिति—चेन्न; विज्ञानमित्यादौ हि चेच्छब्देन विज्ञानब्रह्मवेदनाद्यन्वयव्यतिरेकव्यापका-
न्वयव्यतिरेकित्वरूपस्य विज्ञानब्रह्मवेदनादिनिमित्तकत्वस्य पापनाशादौ लाभादास्तां विज्ञानादौ तद्धेतुतालाभः, गच्छे-
त्यादौ तु यदि गच्छसि, तदा गच्छेत्यर्थकत्वेन चेच्छब्दस्यानावश्यकत्वमात्रद्योतकत्वेनोक्तार्थकत्वाभावः । किंच 'आस्तां
ते गमनं कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवा' इत्यादौ चेच्छब्दाभावेऽपि गमनस्याकर्तव्यत्वप्रतीतिः तदर्थं तव मते गमनस्य
जन्महेतुत्वबोधः कथं? कथंचोक्तहेतुत्ववत्यपि तत्त्वेनाज्ञायमाने गमने न व्यभिचारः? तत्त्वेन प्रमितत्वस्य हेतुत्वेऽपि
प्रारब्धकर्मवशात् ज्योतिःशास्त्रादिना मरणस्यावश्यकत्वनिश्चयाद्वा क्रियमाणे तथा प्रमिते गमने व्यभिचार एवेति
दिक् । ननूक्तरीत्या व्यधिकरणमप्यनिष्टसाधनत्वं विषभक्षणनिष्टस्येष्टसाधनत्वस्योपपादकत्वात् तेनाक्षेप्तुं शक्यमेव,
अन्यथा तस्यानुपपन्नत्वात्, तत्राह—तेन विनापीति । इष्टसाधनतया बलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधनतया ।
विषभक्षणस्येष्टसाधनत्वं तत्समानाधिकरणबलवत्तरानिष्टसाधनीभूताभावप्रयोगित्वेनाप्युपपद्यते । दृष्टं हि व्यायामादेः
श्रमरूपाणिष्टसाधनस्यापि बलवत्तरानिष्टसाधनीभूताभावप्रतियोगित्वेनेष्टसाधनत्वम् । तथाच विषभक्षणाभावे जीवने
सति राजदैवाद्युपहतप्रयुक्तबलवदनिष्टं मम निश्चित्यात्तेन विषं भुङ्क्ष्वेत्युक्तमिति निश्चयात् विषभक्षणं मरणाभावद्वार-
कानिष्टसाधनीभूताभावप्रतियोगित्वेन उक्तानिष्टानुत्पादरूपेष्टप्रयोजकम् । शत्रुगृहे भोजनमपि शत्रुसन्तोषद्वारा शात्रवो-
च्छेदरूपेष्टसाधनम् । अतएव बलवदनिष्टाजनकमिति निश्चेतुं शक्यत्वाद्वाधिकरणमनिष्टसाधनत्वं नोपपादकत्वेन कल्प्यम् ।
समानाधिकरणस्य तत्संभवेऽपि व्यधिकरणस्य तत्कल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भावः । यत्तु—विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यं
शृण्वन् कल्पयति विषभक्षणनिष्टमिष्टसाधनत्वं, शत्रुगृहभोजननिष्टादिष्टसाधनत्वादुत्कृष्टम्; तदवधिकत्वेनाप्तेनोच्य-
मानत्वात्, यद्यदवधिकत्वेनाप्तोक्तं, तत्तत् उत्कृष्टं यथा संमतम् । तस्य च तत् उत्कर्षो बलवदनिष्टसाधनत्वसामाना-
धिकरण्यमेव नान्यादृशम्; असंभवात् । तेन च शत्रुगृहभोजननिष्टेष्टसाधनत्वे अपकर्षो बलवदनिष्टसाधनत्वरूप
आक्षिप्यते—इति, तच्चुच्छम्; हेत्वसिद्धेः । नहि विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यमिष्टसाधनतायामुत्कर्षं बोधयति; मानाभावेन
लक्षणाया अकल्पनात्, उक्तरीत्योभयोरपि बलवदनिष्टसाधनत्वसंभवेनोत्कर्षं तत्तात्पर्याग्रहात् । भ्रमादिनेति ।
नच—भ्रमप्रमादादिशून्यत्वरूपाप्तत्वस्य भ्रमादिमति विरहान्न व्यभिचार इति—वाच्यम्; भ्रमादिमत्यपि कदाचित्त-
च्छून्यत्वानपायात् । अथ—यदा भ्रमादिशून्यत्वे सति बाधितार्थवक्ता यः, स तदा कोऽपीति वाच्यमिति—चेन्न;
तदा भ्रमादिशून्यत्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, धातुवैषम्यादिना वृद्धेषु भ्रमादिशङ्कासंभवात्, प्रत्युत प्रमाणविरुद्धवक्तृत्वेन
भ्रमाद्यनुमानसंभवात्, भ्रमादिना कोपाहेतुत्वभ्रमादिना । हेतोरिवेति । हेतुत्वेनाज्ञायमानत्वरूपेण सादृश्यं
बोध्यम् । अप्रसक्तेत्यादि । शत्रुगृहे भोक्तव्यं मयेति ज्ञापित आप्तो वदति तर्हि विषं भुङ्क्ष्वेति । तत्र शत्रुगृहभोजने
विषभोजनसादृश्यपरत्वं ज्ञायते । यथा 'मारितास्तद्वयं कृष्ण मथुरां यदि गच्छसि ।' इत्यादौ कृष्णस्य मथुरागमने
गोपीमारणसादृश्यपरत्वम् । सादृश्यं चाकर्तव्यत्वेन तत्प्रयोजकेन बलवदनिष्टसाधनत्वेन वेत्यन्यदिति भावः । नन्वेवं
पदे कापि लक्षणा न स्यात्, तत्राह—तथाच पदार्थेति । यद्विनाऽनुपपन्नत्वेन यत्संसृष्टतया च यत् गृह्यते, तस्य
तत्संसृष्टतयैव तेन कल्प्यत्वात् पदसंसृष्टतया लक्षणां विनानुपपन्नत्वेन च गृहीतं लक्ष्यार्थतात्पर्यं पदसंसृष्टत्वेनैव
लक्षणां कल्पयति; वाक्यसंसृष्टतया तथा गृहीतं तत् वाक्यसंसृष्टत्वेन तां कल्पयतीति भावः । अर्थमन्तरर्थं बहि-
रिति । गृहे चैत्रस्येति शेषः । वेद इति । यूपमानं प्रकृत्योक्त इति शेषः । लक्षणेति । आद्ये यस्मिन् गृहस्य प्रदेशे
स्थितस्य चैत्रस्याधं गृहान्तः अधं गृहबहिस्तिष्ठति तादृशप्रदेशे लक्षणा । द्वितीयेऽपि यस्मिन् देशे मीयमानयूपस्याधं

वह्निष्टेनान्तरालानुमानम्, न लक्षणेति—वाच्यम्; छिन्ने गृहे अन्तरालाहित्येऽपि तद्व्यदर्शनेन व्यभिचारात्, यथाकथंचिदनुमानसंभवे वा सर्वत्र शब्दप्रमाणोच्छेदापाताच्च । एवंच ब्रह्मजिज्ञासापदेन विचारो लक्ष्यत इति विवरणकारोक्तं यज्ञायुधपदेन यजमानो लक्ष्यत इति संक्षेपशारीरकोक्तं च वाक्यलक्षणयोपपन्नम्; ब्रह्मजिज्ञासायज्ञायुधशब्दयोः सुबन्तत्वलक्षणपदत्वेऽपि शक्तत्वलक्षणपदत्वाभावेन शक्यसंबन्धरूपाया लक्षणाया अयोगात्, स्वज्ञाप्यसंबन्धरूपा तु लक्षणा यौगिकपदसमुदायेऽपि वाक्यस्थानीये नानुपपन्ना । एवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादौ अर्थवादेऽपि प्राशस्त्यप्रतिपत्तये वाक्य एव लक्षणाऽङ्गीकार्या; प्रत्येकपदात्तदनुपपत्तेः । नच—तत्र कर्मणि क्षिप्रदेवताप्रसादहेतुत्वरूपतत्पदार्थसंबन्धबोधकत्वमेव, न तु तदन्यप्राशस्त्यलक्षकत्वमिति—वाच्यम्; पदार्थमात्रसंसर्गबोधे वायुः शीघ्रतम इत्येव धीः स्यात्, न कर्मप्राशस्त्यविषया सा स्यात् । नच—लिङाय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वेदेरन्तरार्धं तद्वहिश्च भवति तस्मिन् देशे लक्षणेत्यर्थः । अर्धस्यार्धावच्छेदेन । अन्तस्त्वे गृहान्तरवर्तित्वे । अर्धस्यार्धान्तरावच्छेदेन । वह्निष्टेन गृहवहिष्टत्वेन । अन्तरालानुमानं गृहस्यान्तर्बहिर्देशयोरन्तरालस्य देशस्याधेयतासंबन्धेन चैत्रे पक्षे अनुमानम् । एवं वेदेरन्तःस्थत्ववहिष्टत्वाभ्यां स्वार्थद्वयावच्छिन्नाभ्यां पक्षे वेद्यन्तर्बहिर्देशयोरन्तरालदेशानुमानमित्यर्थः । तथाचाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादौ द्रव्यदेवतासंबन्धेनानुमितयागविधानवत् यूपमानाद्युद्देशेनानुमितान्तरालदेशविधानमिति भावः । आद्यवाक्याभिप्रायेण दोषमाह—छिन्न इति । यत्र भित्तिश्छिद्विधं भग्ना भग्नावच्छेदेन च चैत्रोऽस्ति, तत्रापि तादृशप्रयोगात्तन्त्रान्तरालदेशस्यैवाभावात् तदनुमानासंभवः । वाक्यद्वयमभिप्रेष्य दोषमाह—यथाकथंचिदिति । 'होतुरन्तर्वेद्येकपादो भवति बहिर्वेद्येकपाद' इति दर्शपूर्णमासयोः श्रुतम् । यूपमानं प्रकृत्य ज्योतिष्टोमे श्रुतम् । अर्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्थं बहिर्वेदिति । तत्रान्तर्वेदिदेश एव एकपादयूपार्धाङ्गतया विधीयते, अथवा अन्तर्वेदिबहिर्वेदिशब्दलक्षितदेशविशेषो होत्रवस्थानं यूपमानं चोद्दिश्य विधीयत इति संज्ञाये लक्षणायां मानाभावात् प्रथमः पक्षः । तथाच पादान्तरार्धान्तरयोर्बहिर्वेदिदेशस्यार्थाप्यास्या बहिर्वेदीत्याद्यनुवाद इति प्राप्ते आद्योदाहरणे दार्शिकवेदेर्हविरासादनार्थाय एकपादोद्देशेन विधौ एकत्वस्योद्देश्यविशेषणत्वेनाविवक्षापर्या बहिर्वेद्येक इत्यनुवादायोगात् तत्रापि विधित्वे वाक्यभेदापत्तेरगत्या द्वितीयपक्षाश्रयणम् । नच—यद्यप्यन्तर्वेदिबहिर्वेदिरूपाध्वयविधौ वाक्यभेदः एवमेकविशिष्टापरं च न शक्त्या विधातुं शक्यम्; कारकयोर्भावनायामेवान्वयेन मिथोऽनन्वयात्, तथापि लक्षणयैकविशिष्टापरं विधीयताम्, देशविशेषलक्षणापेक्षया तल्लक्षणायाः पदद्वयार्थवदितत्वेन न्यायत्वादिति—वाच्यम्; अन्तर्वेदि बहिर्वेदि वा विशेषणमित्यस्याविनिगम्यत्वेन लक्षणाद्वयेन लक्ष्यद्वयविध्यापर्या वाक्यभेदस्यापरिहारात् । द्वितीयोदाहरणेऽपि सौमिक्या वेदेर्देशत्वेन प्रधानतदङ्गार्थत्वस्य स्थापितत्वेन तुल्यन्यायतया तदङ्गादिसाधारण्यस्य वाच्यत्वात्, अन्यथा अग्नीषोमीयाङ्गप्रयाजपशुपुरोडाशहविरासादनौ वेदिप्राप्तिसंभवात् यूपार्धद्वयेऽपि वेदेः प्राप्तत्वेन एकाधोद्देशेन विधाने परिसङ्ख्यापत्तेः । नच—वाक्येन प्रकरणगम्यसर्वार्थत्वं वेदेर्बाध्यत इति वेदेर्धूपार्धद्वयाङ्गत्वानवगमात् न परिसङ्ख्येति—वाच्यम्; षट्त्रिंशत्परिमाणार्थवादस्य ह्यति शक्यामहे कर्तुमित्यस्य सर्वार्थत्वज्ञापकत्वेन तद्वाधानुपपत्तेः । तथाच यूपार्धान्तरार्थत्विनिषेधस्य पूर्वार्धार्थत्वस्य च विधेयत्वेन शाब्दपरिसङ्ख्यायां त्रैदोष्यम् । तद्वरं देशविशेषे एका लक्षणैव । नच—यूपार्धोद्देशेन बहिर्वेदि विधीयते, अर्धान्तरे च वेदेः प्राप्तत्वेनार्धमन्तर्वेदीत्यनुवाद इति लक्षणा न युक्तेति—वाच्यम्; अनुवादवैयर्थ्यापर्या लक्षणावश्यकत्वात् । अतएव समुदितवाक्ये लक्षणा; पदे लक्षणायां पदान्तरवैयर्थ्यात्, विनिगमकाभावाच्चेति तृतीयसप्तमे स्थितम् । तदनुपपत्तेरिति । प्राशस्त्यरूपलक्ष्यार्थतात्पर्यस्य लक्षणां त्रिनाऽनुपपन्नस्य वाक्यनिष्ठत्वेन ज्ञानात् वाक्यनिष्ठत्वेनैव लक्षणाकल्पकत्वं नतु प्रत्येकपदनिष्ठत्वेनेति भावः । तत्पदार्थसंसर्गेति । वायुर्वा इत्याद्यर्थवादगतपदार्थानामेकसंसृष्टापर्येत्यर्थः । नतु तदन्येति । क्षिप्रदेवताप्रसादहेतुत्वमेव प्राशस्त्यं प्रत्येकपदशक्त्यैव लभ्यत इति भावः । इत्येव धीरिति । 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इति विधेः 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवेनं भूतिं गमयती'त्यर्थवादः । तत्र वायुः शीघ्रतमस्तं स्वेन स्वकीयेन श्वेतपशुरूपेण भागेन यजमानः उपधावति यजते स इष्टो वायुरेनं यजमानं प्रति भूतिं गमयति कर्मफलं प्रापयतीत्यर्थः । स चाध्वरमीमांसकमते चेतनदेवतातत्फलदातृत्वादेरलीकत्वात् बाधितोऽपि बलवदनिष्टाजनकरूपप्राशस्त्यधीद्वारं भवति सोऽरोदीदित्यादिवाक्यार्थवत् । यदि तूक्तार्थद्वारोक्तप्राशस्त्यलक्षकत्वं नोच्यते, तदा प्रत्येकपदशक्यवायुः शीघ्रतमः इत्याद्युक्तार्थस्यैव धीः स्यात्, नतु क्षेपिष्ठदेवताप्रसादहेतुत्वरूपस्य त्वदुक्तकर्मप्राशस्त्यस्यापि; प्रसादहेतुत्वस्याशब्दार्थत्वात् । अथ—भागधेयेन श्वेतपशुद्रव्यक्यागेन उपधावति प्रसादयतीति व्याख्यानसंभवात्तस्य शब्दार्थत्वमिति—चेन्न; भागशब्दस्य स्वत्वात्पदद्रव्याद्यंशे

भिधेयकार्यस्यान्वयानुपपत्तिस्तत्र लक्षणाबीजमस्ति, प्रकृते च सर्वपदानां लक्षकत्वादभिधेयान्वयानुपपत्तिर्नास्तीति—वाच्यम्; केन तुभ्यमभाष्यभिधेयानुपपत्त्या लक्षणेति? किंतु तात्पर्यानुपपत्त्या । तच्च तात्पर्यमभिधेयान्वयविषयमन्वयसामान्यविषयं स्वरूपमात्रविषयं वेति न कश्चिद्विशेषः । अन्यथा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात् । नच—भोजनप्रयोजनकप्रवेशनस्य यष्टिष्वन्वयानुपपत्तिरेवास्तीति—वाच्यम्; एवमपि प्रवेशनविशेषे तात्पर्यग्रह एवोपजीव्य इति तदनुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमस्तु । विनिगमनाविरहेण द्वयोरपि व्यवस्थितविकल्पेऽप्यस्माकं न क्षतिरित्यवधेयम् । ननु—सर्वपदानां लाक्षणिकत्वे वाक्यार्थानुभवो न स्यात्, लाक्षणिकस्यानुभावकत्वादिति—चेन्न; लाक्षणिकत्वेऽप्यनुभावकत्वोपपत्तेः । शक्तत्वेन ह्यनुभावकत्वम्, नतु तच्छक्तत्वेन; गौरवात् । लाक्षणिकमपि क्वचिच्छक्तमेव; भट्टाचार्यैर्वाक्यार्थस्य सर्वपदलक्ष्यत्वाभ्युपगमाच्च । तथाहि—अभिहितान्वयवादे पदैः स्वशक्तिवशात् पदार्था अभिधीयन्ते, नतु स्मार्यन्ते; स्मार्यस्मारकसंबन्धातिरिक्तमूलसंबन्धकल्पनापत्तेः । एकसंबन्धिज्ञानं ह्यपरसंबन्धिस्मारकम्; नतु स्मारकत्वमेव संबन्धः; हस्तिपकादिषु तथा दर्शनात् । अतएवोक्तं—‘पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते ॥’ इति । अज्ञातज्ञापकत्वाभावान्नानुभावकम्, संबन्धान्तराभावाच्च न स्मारकम्, किंतु शक्याऽज्ञातज्ञापकमिति स्मारकसदृशमित्यर्थः । स्मृत्यनुभवातिरिक्तं च ज्ञानं प्रमाणवलादायातमङ्गीकार्यमेव; पदार्थज्ञाने तत्तानुल्लेखाच्च, तत्तोल्लेखनियमभङ्गेनात्र तत्प्रमोषकल्पने चातिगौरवात् । तथाच पदजन्यस्मृत्यनुभवविलक्षणज्ञानविषयीभूताः पदार्थाः अभिहिता इत्युच्यन्ते । तादृशाश्चाकाङ्क्षानुसारेण स्वान्वय-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उपधावतेश्चाश्रयणरूपत्यागोद्देश्यत्वादौ मुख्यत्वेनोक्तार्थयोराधुनिकलक्षणापेक्षया वाक्यतात्पर्यानुपपत्त्या समुदितवाक्य एव प्राशस्त्यलक्षणाया युक्तत्वात्, देवताप्रसादस्याध्वरमीमांसकानामलीकत्वेन तन्मते तत्र तात्पर्यासंभवात्, प्रसादहेतुत्वस्य विध्यनपेक्षितत्वेन विधिना त्वेकवाक्यत्वादित्यादिना उक्तैकवाक्यत्वभङ्गापत्तेश्च । अथ—उक्तहेतुत्वेन विध्यपेक्षितबलवदनिष्ठाननुबन्धित्वाक्षेपान्नोक्तदोष इति—चेन्न; बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वं विनाप्युक्तहेतुत्वोपपत्तेः, तात्पर्यविषये बोधेऽलीकार्थभानासंभवस्य तावताप्यनुद्वाराच्च, सोऽरोदीदित्यादौ शक्तिलभ्यवाक्यार्थस्य सर्वसंमतालीकत्वेन तात्पर्याविषयत्वात् तदन्यवाक्यार्थस्य वाक्यलक्षणयैव वाच्यत्वाच्च । कार्यस्यान्वयानुपपत्तिरिति । प्राशस्त्यं विना कर्मणः कार्यत्वानुपपत्त्या कर्मद्वाराऽपूर्वस्यापि कार्यत्वानुपपत्त्या कार्यान्वयानुपपत्तिरित्यर्थः । प्राभाकरमतेन कार्यस्याभिधेयत्वम् । भट्टमते प्रवर्तनारूपाभिधेयान्वयानुपपत्तिर्बोध्या । अथवा यथाश्रुतस्यार्थवादायस्य क्वचित्प्राप्तत्वेन क्वचिद्वाधितत्वेन क्वचिद्विध्यनपेक्षितत्वेन क्रियारूपाभिधेयस्य तत्रान्वयानुपपत्तिरिति सर्वमतसाधारणोऽर्थः । प्रकृते सत्यादिवाक्ये । अभिधेयान्वयविषयं शक्यार्थमात्रबोधस्थले । अन्वयसामान्यविषयं शक्यलक्ष्यबोधस्थले । स्वरूपमात्रविषयं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये । प्रवेशनविशेषेति । प्रवेशनत्वरूपेण प्रवेशनविशेषे तात्पर्यं गृहीत्वैव तदन्वयानुपपत्तिर्ग्राह्या; अन्यथा प्रवेशनान्तरे तात्पर्यग्रहे उक्तप्रवेशनान्वयानुपपत्तेरकिञ्चित्करत्वात् । तथाचोपजीव्यत्वात्तात्पर्यमेवानुपपन्नं लक्षणाकल्पकमस्तु । नच—तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपतात्पर्यापेक्षया अभिधेयान्वयस्य लघुत्वात्तदनुपपत्तिरेव तत्कल्पिकेति—वाच्यम्; तत्प्रमाशक्तत्वरूपतात्पर्यस्याभिधेयान्वयापेक्षया गुरुत्वाभावात्, प्रमात्वस्य जातित्वात् प्रत्युत वेदविश्वादिपदाभिधेयस्यातिगुरुत्वेनाभिधेयान्वयस्यैव तात्पर्यापेक्षया गुरुत्वात् । तत्तद्वाक्यपदव्यक्तिषु तत्तदर्थतात्पर्यानुपपत्तेर्निवेशोऽपि न गौरवम् । आक्षेप्यसमानाधिकरणस्यैवाक्षेपकस्य वाच्यतया गङ्गापदादौ पदान्तराभिधेयान्वितार्थकत्वस्यानुपपत्तेरेव त्वया वाच्यत्वात् । नन्वर्थवादेषु प्राशस्त्ये सत्यादिवाक्यस्य चाखण्डे तात्पर्यानुपपत्तिधीर्हेतुरस्तु; लाघवात्, नतु शक्तिलभ्यार्थानामन्वयानुपपत्तिधीः, गौरवात्, गङ्गायां घोष इत्यादावपि गङ्गादिपदे तीरतात्पर्यानुपपत्तिधीर्हेतुरस्तु, नतु घोषान्वितार्थकत्वस्य; गौरवात्, राजा यातीत्यादौ तु राजपदस्य राजकार्यकारिण्यामलोहिताक्षौपगवत्वादिगुस्तरूपेण लक्षणा, तत्र गमनान्वितार्थकत्वस्यानुपपत्तिधीरेव हेतुः, नतूक्तरूपविशिष्टपरत्वस्य; गौरवात्, तत्राह—विनिगमनाविरहेणेति । उक्तविशिष्टपरत्वानुपपत्तिज्ञानस्य उक्तस्थले हेतुत्वज्ञापकव्यक्त्याभावेनेत्यर्थः । व्यवस्थितविकल्प इति । उक्तस्थले उक्तार्थकत्वस्य स्थलान्तरे तत्तदर्थपरत्वस्यानुपपत्तिधीः हेतुरिति व्यवस्थितविकल्प इत्यर्थः । स्मारकसंबन्धेति । स्मारकत्वरूपसंबन्धेत्यर्थः । एकसंबन्धिज्ञानं स्मारकत्वान्यो यः स्मार्यस्य संयोगादिः संबन्धस्तद्विशिष्टज्ञानम् । तथा दर्शनात् स्मार्यहस्यादिसंयोगादिना ज्ञाततया स्मारकत्वदर्शनात् । अङ्गीकार्यमिति । प्रातीतिकविषयज्ञानस्य तथात्वमङ्गीकृतमित्यपि बोध्यम् । स्मृतेस्तत्तावगाहित्वनियमेन तत्तानुल्लेखादपि न स्मृतिस्वमित्याशयेनाह—पदार्थज्ञानेति । तादृशाः उक्तज्ञानविषयाः । अनुभावयन्तीति । उक्तज्ञानस्यानुभवहेतुत्वात्-

मनुभावयन्तीति वाक्यार्थो लक्ष्य इत्युच्यते; पदेन यत् बोध्यते तच्छक्यम् पदार्थेन यत् बोध्यते, तल्लक्ष्यमिति नियमात् । अतएवोक्तं—‘वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितम् ।’ इति । यद्यपि पदाभिहितपदार्थस्मार्थत्वं तीरादौ लक्ष्यत्वम्, वाक्यार्थं तु तदनुभाव्यत्वमिति विशेषः; तथापि पदार्थबोध्यत्वमादाय लक्ष्यत्वव्यपदेशः । अतएव पदार्थेन पदार्थलक्षणायां पूर्वसंबन्धज्ञानापेक्षा; तस्य स्मार्थत्वात्, वाक्यार्थलक्षणायां तु न तदपेक्षा; तस्यानुभाव्यत्वेन पूर्वसंबन्धज्ञानानपेक्षत्वात् । पदार्थलक्षणायां पूर्वसंबन्धज्ञानमेव वाक्यार्थलक्षणायामाकाङ्क्षादिकमेवेति परस्परनिरपेक्षमुभयं नियामकम् । अतोऽपूर्वं वाक्यार्थं शक्यसंबन्धितया ज्ञानुमशक्ये कथं लक्षणेत्पपास्तम्; पदार्थलक्षणाया एव तथात्वात् । एवंच पदशक्तेः पदार्थोपस्थितावेवोपक्षयादुपस्थितानां च पदार्थानामन्वयानुभावकत्वात् सर्वपदलाक्षणिकत्वेऽपि न वेदान्तवाक्यानामन्वयानुभावकत्वानुपपत्तिः । स्यादेतत्—अभिहितान्वयवादे मा भूदनुपपत्तिः; अन्विताभिधाने तु भवति । तथाहि—पदानामन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरित्युच्यते, एकैकपदार्थोपस्थितिस्तु स्मृतिरूपा, न शक्तिसाध्या; एकसंबन्धज्ञानादपरसंबन्धस्मरणस्य हस्तिपकादिसाधारणत्वात्, अन्वयानुभवजननसामर्थ्यरूपस्य च मूलसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् । अतएव पदशक्यसाध्यत्वात् पदार्थोपस्थितेः स्मृत्यन्तरसाधारणायास्तद्वैजात्यकल्पने च मानाभावादार्थाध्याहार एवासति बाधके, न पदाध्याहारः; पुष्पेभ्य इत्यत्र साधुत्वार्थं स्पृहयतिपदस्य ‘विश्वजिता यजेते’त्यत्र नियोज्यलाभार्थं स्वर्गकामपदस्य सौर्यं चरावतिदेशप्राप्ते ‘अग्नये जुष्टं निर्वपामी’ति मन्त्रे प्रकृतौ वाचकपदवत्तया कृतोपकारे अग्निपदवाधेन वाचकपदलाभाय सूर्यपदस्य चाध्याहारेऽपि पदार्थस्मरणाय वाक्यार्थानुभावाय वा तदनपेक्षणात् । शाब्दत्वं च पदजन्यान्वयानुभवत्वेनैव, न पदजन्योपस्थितिजन्यान्वयानुभवत्वेन; गौरवात् । अतएव योग्यतावच्छेदकस्य छिद्रेतरत्वादेः पदादनुपस्थितस्यापि पदजन्यान्वयानुभवविषयत्वाच्छाब्दत्वम्; अन्यैरण्यनुकूलत्वप्रतियोगित्वादीनां तथात्वाभ्युपगमात् । एवं च चैत्रोऽयमित्यादौ लोके ‘उद्भिदा

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

द्विपयेषु तदुपचारो बोध्यः । अतीतानागतार्थानां हेतुत्वासंभवात् जातिरूपस्य पदार्थस्य नित्यत्वेन तदभिप्रायेण वेदं, लिङ्गस्यैव ज्ञानसंबन्धेनार्थस्य हेतुत्वं वा बोध्यम् । अविद्यमानस्यापि तेन संबन्धेन हेतुत्वं विवेचितमेव । वेदान्तवाक्यानामिति । प्रत्येकरूपेण पदानामननुभावकत्वेऽपि एकपदसमभिव्याहृतपदान्तरत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानविधया वाक्यज्ञानमनुभावकम्, येन रूपेण लक्षणा तेन रूपेणानुभावकत्वास्वीकारेण लाक्षणिकानुभावकत्वप्रयुक्तवक्ष्यमाणदोषाभावादिति भावः । लाक्षणिकस्यानुभावकत्वे दोषं वक्तुमन्विताभिधानवादं प्राभाकरसंमतं व्युत्पादयति—तथाहि पदानामित्यादि । पदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधोपधायकार्थस्मृतेः । स्मृत्यन्तरसाधारणायाः पदाजन्यस्मृतिसाधारणरूपेण शाब्दबोधहेतोः । तद्वैजात्यकल्पने पदाजन्यस्मृतिव्यावृत्तरूपेण तस्याः शाब्दधीहेतुत्वकल्पने । अर्थाध्याहारः द्वारमित्यादौ पिधानादिरूपार्थकल्पनम् । न पदाध्याहारः न पिधेहीत्यादिपदकल्पना । साधुत्वार्थं स्पृहयतीत्यादियोगे सत्त्वेव साधुत्वाय । नियोज्यलाभार्थमिति । यागे स्वर्गकामनियोज्यकत्वज्ञानस्य यागविशेष्यकस्वर्गकामकार्यत्वान्वयबोधं प्रति योग्यतारूपस्वर्गसाधनत्वान्वयबोधे योग्यताज्ञानत्वात् नियोज्यान्यबोधाय स्वर्गकामपदाध्याहारः । यजेतेति लिङ्गं यदि कार्यवाची न स्यात्, तदा स्वर्गकामपदसमभिव्याहृतो न स्यात् इति तर्केणैव लिङ्गः कार्यवाचकतासिद्धेः तत्कामनियोज्यकत्वशाब्दबोधस्य तत्कामवाचकपदयोगं विनाननुभूयमानत्वेनार्थाध्याहारेण तदनिर्वाहात् । नियोज्यत्वं च कामनाविशिष्टस्य ममेदं कार्यमिति बोधजनकत्वम् । तथाच विश्वजिद्यागविशेष्यकोक्तधीजनकः स्वर्गकामनाविशिष्ट इति शाब्दबोधो नियोज्यान्यबोधः । ननु—स्वर्गकामकर्तृत्वमेव योग्यतास्त्विति—चेन्न; कामना विशेषणमुपलक्षणं वा । नान्त्यः; अनुगतानतिप्रसक्तस्योपलक्ष्यतावच्छेदकस्यासंभवात् । नाद्यः; कृतिसमवायित्वस्य कामनायां बाधात् । कृतिजनकत्वस्वप्रकृते कर्तृत्वरूपत्वे तु कामनायाः गुरुमते साक्षात् कृत्यजनकत्वात् तस्यां बाधः, कृतिकारणीभूतं यत् ममेदं कार्यमिति ज्ञानं तत्र लिङ्गतावच्छेदकविधया कामना प्रयोजिका; काम्यसाधनताल्लिङ्गकृतिसाध्यताज्ञानस्य गुरुमते कृतिहेतुत्वात् । तथाच कृतिप्रयोजकत्वनिवेशे कृतिसाध्यताधीद्वारा तज्ज्ञानस्य वाच्यत्वात् प्रथमं तादृशीजनकत्वं कामनायामवश्यं ज्ञातव्यमिति तदेव योग्यतेति ध्येयम् । वाचकपदवत्तया कृतोपकारे स्वीयपदशक्यधीनबोधरूपोपकारजनकतया कृते । उपकारपृष्ठभावेन पदार्थानामतिदेशात् प्रकृत्यपूर्वसाधनदेवतां प्रति पदशक्तिज्ञानजन्यबोधरूपोपकारस्य प्रकृतौ कृतस्य सौर्यापूर्वसाधनसूर्यदेवतोद्देशेनातिदिष्टस्याग्निपदेनासंभवात् सूर्यपदोह इति भावः । तदनपेक्षणा-

यजेत पशुकाम' इत्यादौ च वेदे प्रत्यक्षोपस्थितानामेव चैत्रोद्भिदादिपदानां नामत्वेनान्वयः; अन्यथा चैत्रपदवाच्योऽयं उद्भिदपदवाच्येन यागेनेत्यादिकल्पने लक्षणाप्रसङ्गात्, अगृहीतसङ्गतिके पदे तदयोगात् । 'घटः पटो न' इत्यत्र नञन्वय इव चैत्रोऽयमित्यादिनामधेयान्वयेऽपि विभक्त्यर्थद्वारात्त्वानपेक्षणेन व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनात् नञन्वये विभक्त्यर्थापेक्षायां जितमद्वैतवादिभिः; नीलं सुगन्धि महदुत्पलमितिवत् घटपटनञर्थानामभेदान्वयोपपत्तेः । नामधेये विभक्त्यर्थापेक्षायां वेदे नामधेयत्वं न सिध्येदिति जितं पूर्वपक्षिणा, 'सोमेन यजेते' इत्यत्रेव मत्वर्थलक्षणयोद्भिदा यजेतेत्यादावपि विशिष्टविधित्वोपपत्तेः; उभयत्र लक्षणायास्तुल्यत्वेऽपि प्रवृत्तिविशेषकरत्वेन विधित्वस्यैवोचितत्वात् । वार्तिककाराणां तु पदार्थोपस्थितेः पदशक्तिसाध्यत्वात्तदर्थं सर्वत्र पदाध्याहाराङ्गीकारेऽपि नामधेयान्वये व्युत्पत्त्यन्तराश्रयणमस्त्येव । तथाच स्वयमेव व्युत्पादितं नामधेयाधिकरण इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः—एवं स्थिते लाक्षणिकमप्यन्वयानुभावकं चेदन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरिति लाक्षणिकस्यापि तद्वत्त्वान्मुख्यजघन्यविभागो न स्यात् । तथाच लिङ्गाधिकरणविरोधः । तत्र हि 'बहिर्देवसदनं दामी'त्यादिमन्त्राणां मुख्ये जघन्ये चार्थे लिङ्गाद्विनिर्गमः उत मुख्य एवेति संशय उभयोरपि शाब्दत्वादुभयत्रापि विनियोग इति प्राप्ते, मुख्य एवेति सिद्धान्तितम् । 'अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसंबन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगादि'ति । अर्थाभिधानसामर्थ्यरूपालिङ्गाच्छ्रुत्यविनियुक्तेषु बहिर्देवसदनं दामीत्यादिमन्त्रेषु शेषभावो विनियोगः स्यात् । तच्च सामर्थ्यं मुख्ये, न जघन्ये शब्दसामर्थ्यादुपस्थितो ह्यर्थो मुखमिवाव्यवहितो भवतीति मुख्य उच्यते । मुख्यार्थसंबन्धादुपस्थितस्तु जघनमिव व्यवहितो भवतीति जघन्य उच्यते । तथाच जघन्येऽर्थे विनियोगं ब्रुवतापि तदुपस्थितये मुख्योपस्थितिर्वक्तव्या । तथाचोत्पत्तिसंबन्धः स्वभावसंबन्धोऽर्थाभिधानसंबन्ध एव विनियोजकः स्यात्; तस्यार्थनियतत्वात्, तावतैव स्वाध्यायविधेश्चरितार्थत्वात् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिति । तथाच शाब्दबोधजनकता पदाजन्यस्मृतिसाधारणरूपेणैव क्लृप्ता न व्याहृतेति भावः । शाब्दत्वं शाब्दत्वाश्रयणीविषयत्वम् । अन्यैः प्राचीनतार्किकादिभिः । प्रत्यक्षोपस्थितानां प्रत्यक्षाद्युपस्थितानाम् । तेन स्मृत्यादिविषयनाम्नामप्यन्वयः । अगृहीतसङ्गतिके अगृहीतशक्तिके । शक्तिग्रहं विना शक्यसंबन्धज्ञानं नेति भावः । ननु विभक्तिवैयर्थ्यपरिहाराय चैत्रादिपदे तद्वाच्यलक्षणावश्यकैः; अन्यथा चैत्रादिनामोत्तरप्रथमादिविभक्तेर्विशेषणविभक्तित्वेनाभेदस्य तदर्थत्वेन तस्य नामार्थान्तरे अन्वयासंभवात्, एवमुद्भिदेत्यादिवेदे तृतीयार्थकरणत्वस्य भावनां प्रति उद्भिदादिनामसंभवात् यागपरिच्छेदद्वारा तत्संभवेऽपि यागनिष्ठकरणताबोधकत्वेनोद्भिदेत्यस्य यजिसामानाधिकरण्यभङ्गापत्तिरित्याशङ्क्य विभक्तेः प्रकृते पदसाधुत्वनिर्वाहकत्वमात्रम्, न तु विवक्षितार्थकत्वमिति सहट्टान्तं सयुक्तिकं चाह—घटः पट इत्यादि । व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनादिति । यत्रामार्थं चैत्रादिनामो वाच्यतासंबन्धेनान्वयः, तन्नामसमानविभक्तिकत्वं तस्यापेक्ष्यते । अत एव 'हिमालयो नाम नगाधिराजः', 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' इत्यादियथाश्रुतमेव सङ्गच्छते । यद्वात्वर्थे उद्भिदादीनामन्वयः, तद्वातुसमभिव्याहृततृतीयाद्यन्तत्वं तस्यापेक्ष्यते । अत एव 'अग्निहोत्रं जुहोति'त्यादौ द्वितीयाद्यन्तमपि साधु । यथाचाव्ययतिपातान्यनामार्थयोरेवाभेदान्वयनियमात् नञर्थे अभेदान्यसंबन्धेन नामार्थान्वयः, तथा नामोपस्थाप्ययोरेवाभेदान्वयनियमात् नामानुपस्थाप्यस्य नाम्नो नामार्थान्वय इति भावः । अभेदान्वय इति । ननुत्तरं प्रथमाविभक्तेः पदसाधुत्वायावश्यं वाच्यतया विशेषणविभक्तिजातीयविशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वव्युत्पत्त्या च घटो भेदाभिन्न इति बोधापत्तिः, प्रतियोगित्वानुयोगित्वे तु न प्रथमार्थः; तत्कल्पनापेक्षया विभक्त्यर्थनैरपेक्ष्येण शाब्दबोधं प्रत्युक्तनञ्घटितसमभिव्याहारज्ञानस्यैव हेतुवौचित्यात्, अन्यथा विभक्त्यर्थव्यवहितार्थबोधे तद्वेतुत्वस्य प्रतियोगित्वादौ प्रथमाशक्तेश्च कल्पने गौरवादिति भावः । विशिष्टविधित्वोपपत्तेरिति । सोमविशिष्टस्यैवोद्भिद्रव्यविशिष्टयागस्य विधित्वोपपत्तेरित्यर्थः । उभयत्र उद्भिदादिपदवाच्ये उद्भिदादिद्रव्यविशिष्टे च । प्रवृत्तिविशेषकरत्वेन नामधेयपक्षे नाम्नः सङ्कल्पाद्युपयोगेऽपि द्रव्यविशिष्टविधिपक्षे यागस्वरूपनिर्वाहकत्वेनाभ्यर्हितद्रव्यविशेषानुष्ठानप्रयोजकत्वेन । विधित्वस्य द्रव्यविशिष्टविधित्वस्य । वार्तिककाराणां त्विति । अभिहितान्वयवादित्वेनेति शेषः । श्रुतेर्वलवत्त्वेन तया विनियुक्तमत्रो न लिङ्गेन विनियुज्यत इति तदन्यमत्रपरतया सौत्रमत्रपदं व्याचष्टे—श्रुत्यविनियुक्त्विति । विनियोगः अभिधानसामर्थ्यरूपालिङ्गाभिहितार्थरूपबहिर्छेदनादिकर्मकभावनां प्रति कारकत्वेन बोधः । तच्च अनुभावकत्वरूपं च । न जघन्य इति छेदः । शाब्दसामर्थ्यात् शाब्दस्यानुभावकत्वरूपात् । ननु मुख्यार्थानुभावकत्वेन लिङ्गेन विनियुक्तोऽपि मन्त्रोऽमुख्यार्थबोधकत्वेन लिङ्गेन पश्चाद्वि-

मुख्यसंबन्धस्तु न लिङ्गम्; अनेकेषां मुख्यसंबन्धित्वेनार्थानियमाच्चरमत्वाच्चेति सूत्रार्थः । अत एव मुख्यसंभवे लक्षणा नोपादेयेति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । पदवृत्तिर्हि शक्तिः पदार्थवृत्तिश्च लक्षणा । सा च बहुप्रकारेत्यन्यत् । लाक्षणिकपदेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितौ कृतायां यदवशिष्टं शक्तं, तदेवान्वयानुभावकम् । अर्थवादपदानां सर्वेषां लाक्षणिकत्वेऽपि तदेकवाक्यतापन्नं विधिपदमेवानुभावकम्; विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति न्यायात् । तथाच सत्यादिपदानां सर्वेषामपि लाक्षणिकत्वे कथमन्वयानुभवोपपत्तिरिति—चेत्, नैष दोषः; शक्यस्यैवान्वयानुभवाभ्युपगमात्, लक्षणा त्वेकदेशत्यागमात्राय, नत्वशक्यार्थोपस्थितये गौर्नित्य इत्यादिवत् । अत एव वाचकानामेव स्वार्थं लक्षणेयमित्युक्तं प्राक् । ननु जहल्लक्षणाभ्युपगमे कथमन्वयानुभवः ? शक्यैकदेशस्यापि तत्राभावात् । तथाचोक्तं संक्षेपशरीरके—‘सामासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ग्रहशब्दस्तथाहं शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्ष’ इति । अस्मिन् पक्षे अन्विताभिधानवादानभ्युपगमान्न दोषः । पक्षद्वयाश्रयणं तु जहदजहल्लक्षणापक्ष एव । तथाच दर्शितं तत्रैव—‘अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः । परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम् ॥’ इति । तत्त्वप्रदीपिकाकृदादयस्तु अभिहितान्वयपक्षमेवोपरी-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नियुज्यताम्, तत्राह—तावतेति । तथाचाकाङ्क्षाशान्तेः न पश्चाद्विनियोग इति भावः । मुख्यसंबन्धः मुख्यार्थज्ञानद्वारकममुख्यार्थबोधकत्वम् । न लिङ्गं न लिङ्गतया विनियोजकम् । अनेकेषामिति । मुख्यार्थानामेव तु मुख्यार्थविशेषविनियोगे तात्पर्यग्राहकमेव तद्विनियोगे नियामकम्, तदभावे तु नानामुख्यार्थविनियोग इष्ट एवेति भावः । चरमत्वात् मुख्यार्थोपस्थित्युत्तरमुपस्थितत्वात् । ननु अनेकेषां मुख्यसंबन्धत्वे तदाश्रयविशेषे तात्पर्यग्राहकमेव तद्विनियोगे नियामकम्, तदसत्त्वे तु नानामुख्यार्थेष्वपि विनियोग इष्यताम्, नच—चरमत्वं लक्ष्याविनियोगनियामकमिति—वाच्यम्; शक्तिसंबन्धेन मुख्यार्थस्यैव शक्यसंयोगादिरूपलक्षणासंबन्धेन लक्ष्यार्थस्यापि पदसंबन्धितया तयोर्द्वयोरपि पदेन प्रथममुपस्थितिसंभवात्, अत आह—अत एव मुख्येति । ननूक्तरीत्या तादृशसिद्धान्त एवानुपपन्नः, तत्राह—पदवृत्तिर्हीति । पदार्थवृत्तिरिति । शब्दबोधानुकूलस्मारकत्वप्रयोजकमूलसंबन्धो वृत्तिः । सा च पदे अनुभावकत्वम्, अर्थे तु शक्यरूपे लक्ष्यार्थसंयोगादिरित्यर्थः । तथाच गङ्गापदे तीरादेः संयुक्तशक्तिकत्वादिरूपेण संबन्धनिश्चयो यदा न ज्ञातः, तदापि शक्या प्रवाहोपस्थित्युत्तरं प्रवाहस्य तीरसंबन्धित्वेन ज्ञानातीरोपस्थित्या शब्दबोधात् पदज्ञानस्य न लक्ष्यस्मारकत्वम्, किंतु शक्यार्थज्ञानस्य । अत एव शक्यादशक्योपस्थितिर्लक्षणेति बृद्ध-
 तार्किकाः । अशक्योपस्थितिर्येनेति बहुव्रीहिणा शक्यमाश्रित्येत्यर्थकपञ्चम्या येनेति प्रयोजकत्वात्कतृतीयाया वा । अशक्योपस्थितिप्रयोजकस्य शक्यनिष्ठस्याशक्यसंबन्धस्य लक्षणात्वमुक्तम् । यथाश्रुते पदसंबन्धिवृत्तिज्ञानप्रयो-
 ज्यस्य पदार्थज्ञानस्य शब्दधीहेतुत्वम्; न तु शब्दधीहेतुपदार्थज्ञानमेव वृत्तिरिति; असङ्गतेः । पदसंबन्धित्वं तु पद-
 तच्छक्यान्यतरनिष्ठत्वमिति भावः । वस्तुतो लक्षणायाः पदवृत्तित्वेऽपि लाघवाच्छक्यबोधकत्वरूपं सामर्थ्यं विनियो-
 जकम्, नतु शक्यसंबन्धेन बोधकत्वरूपमिति बोध्यम् । लाक्षणिकपदेनेति । तस्माल्लिङ्गाधिकरणविरोधपरिहारा-
 येत्यादिः । न्यायादिति । इति वाच्यमिति शेषः । शक्यस्यैवेति । सत्यादिपदानामित्यादिः । सत्यत्वादिविशिष्ट-
 विषयकानुभवे विशेष्यतया शुद्धात्मनोऽपि भानात् शुद्धात्मानुभावकत्वं सत्यादिपदानामस्त्येवेति जहदजहल्लक्षणा-
 न्यलक्षणास्थल एव लाक्षणिकमननुभावकमिति भावः । अभिहितघटना अभिहितान्वयमताश्रयणम् । परदृशि
 शुद्धात्मनोऽपि भानात् शुद्धात्मनि स्मृतिसमबुद्धियुगम् । अन्विताभिधानमताश्रये पुनः परदृशि स्मृतियुगम् ।
 पूर्वं शब्दबोधात्पूर्वम् । पदे इति द्विवचनम् । युगादिपदं चाविवक्षितार्थकम् । तेन सत्यादिवाक्येषु नानापदज्ञान-
 जन्यज्ञानलाभः । अत्र परदृशि । स्मृतिप्रयोजकोऽनुभावकत्वरूपः मूलसंबन्धः स्मृतिसमबुद्धिप्रयोजकः । शक्तिश्च-
 परदृशि जहल्लक्षणायां न संभवतीति जहदजहल्लक्षणापक्ष एव तदुभयोक्तिरिति भावः । ननु विशिष्टबोधे शुद्धविशे-
 ष्यभानानभ्युपगमपक्षे कथमन्विताभिधानपक्षाश्रयणं, विशिष्टानुभावके सत्यादिपदे शुद्धात्मानुभावकत्वानियमेन
 जहदजहल्लक्षणावत् तदन्यसाधारण्येनानुभावकत्वनियमादित्यत आह—तत्त्वप्रदीपिकेति । सर्वथा विशिष्टबोधे
 विशेष्याभानपक्षेऽपि । ननूक्तरीत्याऽभिहितान्वयान्विताभिधानपक्षयोर्व्युत्पादनं न युक्तम्; तार्किकादिमतस्य
 तदप्रवेशापत्तेः, तथाहि—नाद्यपक्षे तत्प्रवेशः, तार्किकादिमते पदानामनुभवप्रयोजकशक्तिस्वीकारेण तस्या एव
 मूलसंबन्धत्वसंभवेनार्थस्मारकत्वसंभवात्; नाप्यन्ये; तार्किकादिभिरन्विताभिधानपक्षस्य दूषणात्, उक्तं हि
 मणिकारादिभिः—यद्यपि पदजन्योऽनुभवः अन्विताविषयकः; तथाप्यन्वितास्वार्थशब्दधीत्वेन पदजन्यता, किंतु

चक्रुः, सर्वथापि सिद्धान्तानुकूलत्वादिति न किञ्चिदवद्यम् । तार्किकमतस्योभयपक्षवहिर्भावादिकं च वेदान्तकल्पलतायां व्युत्पादितमित्युपरम्यते ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः ॥

अथ तत्त्वमस्यादिवाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः ।

एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्यपक्षकानुमानमपि निर्दोषम् । न च सोऽयं देवदत्त इत्ययं दृष्टान्तः साध्य-
विकलः; विशिष्टाभेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात् । तथाहि—किमत्र तद्देशकालविशिष्ट एतद्देशकाल-
वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते, एतद्देशकालविशिष्टे वा तद्देशकालवैशिष्ट्यं, तद्विशेषणयोरैक्यं वा तद्विशिष्ट-
योरैक्यं वा । नाद्यः; तद्देशकालवैशिष्ट्यस्याप्रत्यक्षत्वेनानुद्देश्यत्वात्, तत्कालादेरिदानीं सत्त्वापत्तेश्च ।
न द्वितीयः; एतत्कालादेरन्यदा सत्त्वापत्तेः; न तृतीयः; बाधात् । अतएव न चतुर्थोऽपि; विशेषणस्य
भिन्नत्वेन विशेषणविशेष्यतत्संबन्धात्मकस्य विशिष्टस्य भिन्नत्वात्, अतिरिक्तत्वेऽपि विशेषणभेदेन
विशेष्यभेदेन च तद्भेदनियमात् । तथाचोभयविशेषणपरित्यागेन विशेष्यमात्रमभिन्नं बोध्यत इति
सिद्धमखण्डार्थत्वम् । तदुक्तम्—‘अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः । घटते न यदैकता
तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः ॥’ इति । यदा हि ‘दण्डी कुण्डली’ त्यादौ दण्डकुण्डलादेरेकदेशका-
लावस्थितत्वेनाविरोधेऽपि न तद्विशिष्टयोरैक्यम्; विशेषणयोरप्यैक्यापत्तेः, तदा कैव कथा सोऽयमि-
त्यत्र तत्तेदन्तयोरेककालानवस्थाननियमेन परस्परविरुद्धत्वात्तद्विशिष्टयोरैक्यस्य । लक्षणयैक्यबोधनं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वार्थशाब्दत्वेनेति नान्विताभिधानं युक्तमिति, तत्राह—तार्किकेति । तथाचोक्तापत्तिरिष्टेति भावः । भावादिक-
मित्यादिपदस्यायमर्थः । सत्यादिपदानामखण्डानुभावकत्वेऽप्यन्विताभिधानमभिहितान्वयश्च न विरुध्यते; आकाङ्क्षा-
दिभिर्मादृशानुभवो जायते तज्जननानुकूलायाः शक्तेः पदनिष्ठाया अन्विताभिधानरूपत्वात्, पदाभिहितार्थनिष्ठाया
अभिहितान्वयरूपत्वादित्यादि ॥ तर्कैरित्यादि—सत्यादिवागखण्डार्थानुमाध्वान्तविनाशिनी ॥ इति लघु-
चन्द्रिकायां सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः ॥

विशिष्टाभेदस्य विशिष्टे भेदविरोधिसंसर्गस्य । तेन देशकालवैशिष्ट्यस्यापि वक्ष्यमाणस्य संग्रहः;
तस्यापि स्वाश्रयभेदविरोधित्वात् । सोऽयमित्यादौ वाक्ये तत्तादेरुपलक्षणत्वं विशेषणत्वं वा । आद्येऽप्युप-
लक्षणत्वं विशेषणान्यत्वमात्रमुपाधिसाधारणं स्तोपस्थाप्यधर्मान्तरस्यैव उक्तवाक्यजधीविषयत्वम्, नतु स्वस्यैव-
रूपं वा । उभयथापि लक्षणावश्यकत्वेनाखण्डलक्षणतैवोपहितोपलक्षितलक्षणाभ्यां युक्ता । विशेषणत्वमभ्य-
र्हितम् । अन्यथा ‘लोहितोष्णीषा’ इत्यादौ लौहित्यादेरविशेषणत्वापत्तिः । अभ्यर्हितत्वं च विशेषणत्वेनान्वयस्यैव
शक्तिज्ञानसाध्यत्वात् इत्यादिकं ज्ञानकार्ये विषयहेतुत्वव्यवस्थापनप्रसङ्गादौ प्रपञ्चितम् । द्वितीये विशिष्टयोर्ना-
मार्थयोरभेद एव वाक्यार्थो मुख्यः; तथापि प्रकृते तदसंभवाल्लक्षणया स इत्यस्य तद्देशकालयोरित्यर्थकत्वाद्-
यमित्यस्यैतद्देशकालयोरित्यर्थकत्वाद्वेशकालसंबन्धप्रकारकधीः । एवं विशिष्टयोरभेदबोधकस्य विशेषणमात्रयोरभेद-
बोधकत्वमपि संभवति; ‘विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाध’ इति न्यायात्, अतस्तद्देशबोधक-
त्वमपि वितर्कयति—तथाहि किमत्रेति । तद्विशेषणयोः तद्देशकालरूपविशेषणयोः । अप्रत्यक्षत्वेनेति ।
प्रत्यक्षेण यत् ज्ञातं तदुद्देशेनाज्ञातं ज्ञापयितुं सोऽयमित्युच्यते । तद्देशकालविशिष्टत्वं तु न प्रत्यक्षमिति न तेन रूपेणो-
द्देश्यतेति भावः । अनुद्देश्यत्वात् उद्देश्यतानवच्छेदकत्वात् । तत्कालादेरिति । उद्देश्यतावच्छेदकीभूतस्य विशे-
षणस्य समानकालीनत्वसंबन्धेन विधेयान्वयित्वेनेत्यादिः । समानकालीनत्वसंबन्धेन स्वविशेष्यान्वितान्वयिन एव
विशेषणत्वम्, अन्यथा प्रचरणकाले लौहित्याभावेऽपि विशेषणत्वं लौहित्यस्य स्यादिति ‘लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रच-
रन्ती’ तिसास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात् । अतएव व्यावृत्तिबुद्धिकाले विशेष्योपरक्तं विशेषणमित्यादिनाचार्यैर्विशेषणादिलक्षण-
मुक्तं युक्तम् । एवंच विशेषणादीनामन्यथा लक्षणं भ्रान्त्यैव परेणोक्तमिति भावः । अतएवेत्युक्तहेतुं विवृणोति—
विशेषणस्येति । भिन्नत्वात् अभेदान्वयायोग्यत्वात् । तथाच विशिष्टयोरभेदान्वये विशेषणयोरपि तदावश्य-
कत्वेन बाध इति भावः । एककालानवस्थानेति । यत्तु तत्ता न देशकालसंबन्धरूपा, किंतु पूर्वानुभवध्वंसः,
तस्य चैतद्देशकालाविरोधः—इति, तन्न; पूर्वानुभवाकालीना तत्तेत्यनुभवविरोधात्, तावतापि तद्देशकालविशिष्टो-

तुभ्यत्रापि समानम् । लाक्षणिकत्वेऽपि दण्डी कुण्डलीत्यादौ विशिष्टतात्पर्यान्नाखण्डार्थत्वव्यवहारः, सोऽयमित्यत्र तु 'अयं स न वा अयं नैव स' इत्यादिसंशयविपर्ययज्ञानविपर्ययीभूताभेदमात्रस्य बुभुत्सितत्वेन तत्रैव तात्पर्यादखण्डार्थत्वम्; नह्यन्यस्मिन् बुभुत्सिते अन्यत् प्रतिपादयितुमुचितमित्युक्तम् । तत्तेदन्तोपस्थितिद्वारकाभेदबोधस्यैव भेदभ्रमविरोधितया नान्यतरपदवैयर्थ्यम् । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्याप्यभिज्ञाद्वयोपस्थितस्वरूपातिरिक्ताविषयत्वेऽपि उभयोपस्थितिद्वारकाभेदबोधनेन भ्रमनिवर्तकत्वम्, तत्समानार्थकं च वाक्यमेतदिति न विशिष्टपरम् । यथाचाभिज्ञाद्वयात् प्रत्यभिज्ञाया विषयवैलक्षण्याभावेऽपि द्वारविशेषनिबन्धनज्ञानगतवैलक्षण्यादेव फलभेदः, तथा स्मृतिरूपायास्तदिदम्पदार्थोपस्थितेरनुभवरूपस्य वाक्यार्थबोधस्य । एवं च 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकार्थबोधपरत्वं सामानाधिकरण्य'मिति प्राचां वचोऽपि निष्प्रकारके सुतरामुपपद्यते । ननु—सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा तावन्नाखण्डार्थविषया; तत्र प्रत्यक्षे शब्दवृत्तेर्लक्षणाया अभावात्, तत्तेदन्तोऽख्येन तत्र निष्प्रकारकत्वस्यानुभवपरास्तत्वात्, तदनुल्लेखे त्वभिज्ञातो विषयवैलक्षण्यानुपपत्तेः । तथाच शब्दप्रत्यभिज्ञाऽपि तथा, स्वप्रत्यभिज्ञावगतस्य परं प्रति बोधनादिति—चेन्न; वृत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य विशिष्टाभेदविषयत्वे बाधस्य प्रतिबन्धकतया स्वरूपाभेदमात्रविषयत्वात् । अमेदश्च न प्रकारः; स्वरूपतया प्राधान्यात् । तत्तेदन्तयोरपि न प्रकारता; भासमानाभेदरूपवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वाभावात् । अतएव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ऽयमित्यत्र विरोधानुद्वाराच्च । कैव कथेति । दण्डकुण्डलाभ्यामुपहितौ नात्यन्तभिज्ञौ; अमिलितयोरेवोपाध्योरत्यन्तभेदकत्वात्, तत्तेदन्ताभ्यामुपहितावप्यत्यन्तभिज्ञौ; परस्परकालसत्त्वादिति भावः । समानमिति । दण्डीत्यादुपहित इव प्रकृतेऽप्युपलक्षिते लक्षणया तयोरभेदबोधनमित्यर्थः । विशिष्टतात्पर्यात् उपहितयोरभेदतात्पर्यात् । इत्यादिसंशयविपर्ययेति । तत्तेदन्तोपलक्षितयोर्भेदावगाहिसंशयविपर्ययेत्यर्थः । अतएव तत्तोपलक्षितप्रतियोगिकभेदरहितेत्यादि वक्ष्यते । तथाच भेदबुद्धौ तत्तेदन्तयोरुपलक्षणत्वात्तन्निवर्तकाभेदबुद्धावपि तयोस्तद्युज्यते । तत्र भेदबुद्धौ तयोरप्रकारीभूतयोरपि प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन संबन्धतया यदि भानं, यदिवाऽवच्छिन्नत्वविशेषितप्रतियोगिता वस्तुगत्या तत्तेदन्तोपलक्षितव्यक्तिमात्रनिष्ठा संसर्गतया भाति, उभयथापि प्रतियोग्यनुयोगिनोः शुद्ध्योः भेदबुद्धौ भानात्तन्निवर्तकता, शुद्ध्योस्तयोरभेदज्ञानत्वेन, शुद्ध्योश्च न विशेषणविशेष्यता; अत्यन्ताभेदे विशिष्टप्रमाविरहादित्यखण्डविषयकत्वेन निवर्तकतापर्यवसानम् । विवेचितं चेदम् । तत्रैवेति । उपहितभेदधीनिवर्तनायोपहितयोरभेदपरत्वे प्रकृतवाक्यस्य व्यावहारिकप्रामाण्यहानिः; तादृशाभेदस्य प्रातीतिकत्वात् । अतएव तज्ज्ञानस्याज्ञानानिवर्तकत्वेन न भेदधीनिवर्तकत्वम्; उपहितयोर्भेदस्य व्यावहारिकत्वे ब्रह्मज्ञानमात्रनिवर्त्यत्वाच्च । नच—संशयस्य सधर्मितावच्छेदकत्वानुरोधेनदन्त्वभानमावश्यकमिति—वाच्यम्; आपातब्रह्मज्ञानादौ व्यभिचारेण तस्य तदनियमात्, अखण्डव्यक्तेस्तत्प्रतियोगिकभेदस्य चाखण्डव्यक्तौ विशेष्यत्वसंभवेनोक्तभेदत्वस्यैव धर्मितावच्छेदकत्वाच्च । नच—भेदांशे किञ्चिद्रूपेणैव प्रतियोगिनो भानम्, न स्वरूपत इति—वाच्यम्; तथानियमे मानाभावात्, परैरपि भेदलौकिकप्रत्यक्ष एव तथा स्वीकारात्, शुद्ध्यक्तेः स्वस्मिन् भेदकल्पने तदसंभवात् । अथ—अस्य भेदज्ञानस्याहार्यत्वान्नाभेदज्ञाननिवर्त्यत्वमिति—चेत्, आन्तोऽसि; अविद्यानिवृत्त्या तत्कार्यनिवृत्तौ त्वदीयाहार्यादिपरिभाषाया अप्रयोजकत्वात् । नच—किञ्चिद्रूपेण जातीतरस्य विशेषणत्वनियमादिदन्त्वादिनैव व्यक्तिभानमिति—वाच्यम्; इदन्त्वस्यापि इदंव्यक्तिस्वरूपतया किञ्चिद्रूपेण विशेषणत्वापत्तेः, शब्दनिर्विकल्पकस्य मन्मते विषयविशिष्टतया साक्षिभास्यत्वेन तथा नियमाभावाच्च । न केवलं शब्दबोधस्यैवं रीतिः, किंतु प्रत्यक्षस्यापीति दृष्टान्तेनाखण्डार्थत्वं संभावयति—प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्यापीति । सुतरामिति । 'नीलो घट' इत्यादौ सप्रकारके तु नीलत्वघटत्वाद्युपहितयोरभेदस्यैव भेदस्यापि सत्त्वेनात्यन्ताभिज्ञार्थकत्वं पदयोर्नेति भावः । शब्दवृत्तेरिति । अखण्डतात्पर्याधीनलक्षणयैव अखण्डविषयकत्वमित्यभिमानः । तात्पर्यानुपपत्त्या शब्दस्यैव बाधान्यथानुपपत्त्या प्रत्यक्षस्यापि अखण्डं विषय इत्याशयेनाह—न वृत्त्यनपेक्षत्वेऽपीति । बाधस्य विशेषणयोरभेदबाधस्य । प्रतिबन्धकतया इदन्त्वाद्युपहिताभेदविषयकत्वे तदुपलक्षितभेदधीनिवर्तकत्वासंभवेन चेति शेषः । प्राधान्यात् विशेष्यत्वात् । अत्यन्ताभिज्ञयोः विशेष्यविशेषणत्वासंभवः । नच—शुद्धरूपेण विशेष्यत्वेऽपि भेदाभावत्वरूपेण विशेषणत्वमास्तामिति—वाच्यम्; भेदाभावत्वविशिष्टस्यात्यन्ताभेदरूपत्वाभावात्, व्यक्तिस्वरूप एव तद्भेदाभावत्वस्य कल्पिततया तद्विशिष्टस्य यावद्व्यक्तिसत्त्वं सर्वत्राभावात्, ब्रह्मणि तद्भेदाभावत्वविशिष्टस्य मोक्षे विरहात् । किंच व्यक्तिस्वरूपमात्रज्ञानस्यैवोक्तरीत्या भेदधीनिवर्तकत्वात् व्यक्तिस्वरूपमेवाभेदः प्रकारो वाच्यः । स च विशेष्य एव । अतएव वक्ष्यते अनुपदं भेदविरहश्च न कश्चिद्धर्मः, किंतु स्वरूप-

न तस्यास्तत्तेदन्तोलेखिता, तदभिलाषे तु निरन्तरोत्पन्नाभिज्ञाद्वयादेव तथोल्लेखव्यवहारात् तत्र च लक्षणा लब्धपदैव । सर्वत्र निर्विकल्पकाभिलाष इयं गतिः । नचाभिज्ञाया अविशेषः, सप्रकारकत्व-निष्प्रकारकत्वाभ्यामेव विशेषात् । फलवैलक्षण्यं तूक्तमेव । अतएव तत्तोपलक्षितप्रतियोगिकभेदरहित इदन्तोपलक्षितदेवदत्तस्वरूपे तात्पर्यात् यथाज्ञानमुपदेशोऽप्युपपद्यते । भेदविरहश्च न कश्चिद्धर्मः, किंतु स्वरूपमेव । तदेव चैक्यमित्युच्यते । नचायमस्ति नियमः स्वेन यथावगतं परं प्रति तथैव वाच्यमिति; समूहज्ञानेनापि श्रोतुवुभुत्सितैकदेशोपदेशदर्शनात्, ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् बुभुत्सानुसारित्वाच्चोपदेशस्य । एवंच विशिष्टविषयादपि ज्ञानादखण्डोपदेशोपपत्तिः । विशेषणोपलक्षणादिविवेकश्चान्यत्र स्पष्ट इति नेह प्रतन्यते । तथाच न दृष्टान्तः साध्यविकलः । एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्येऽपि बोद्धव्यम् । ननु—चिन्मात्रस्य चिन्मात्रेण सहाभेदबोधने इष्टापत्तिः, अप्रसक्तनिषेधश्च, अभेदश्चेत्स्वरूपमेव तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यम्, तदस्फुरणे च तद्बुभुत्साद्यनुपपत्तिः, तत्त्वस्पर्षादर्थशोधकेनावन्तरवाक्येनैवोपपत्त्या महावाक्यवैफल्यं च, एकपदेनैवोपपत्तेः पदान्तरवैयर्थ्यं च, भ्रमकालज्ञाताधिकाप्रतिपत्तेर्महावाक्यात् भेदभ्रमनिवृत्तिश्च न स्यादिति—चेन्न चैतन्यस्य नित्यसिद्धत्वेऽपि सार्वज्ञ्याद्युपलक्षितस्वरूपज्ञानस्याज्ञानादिनिवर्तकस्य साध्यत्वात् । नचैवं सप्रकारता; तत्तादिवत् सार्वज्ञ्यादीनामन्वयबोधाप्रकारत्वात् उपायान्तरेणैतादृशज्ञानासंभवाच्च नोपदेशवैयर्थ्यादयो दोषाः । भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकप्रतियोगितावच्छेदकद्वयोपलक्षितस्वरूपमात्रज्ञानस्य भेदभ्रमनिवर्तकत्वेन विषयावैलक्ष्ण्येऽपि फलवैलक्ष्ण्यत्, शङ्खश्वेत्यविषयत्वे तुल्येऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिति । भासमानाभेदरूपवैशिष्ट्येति । तत्तेदन्त्वयोः संसर्गस्य भासमानतया अननुभवात् अखण्डाभेदरूपं वैशिष्ट्यं भासमानतया वाच्यम् । तत्प्रतियोगित्वं च न तत्तेदन्त्वयोरित्यर्थः । यत्तु परिणम्यमानस्य देवदत्तादेरुत्तरकालोपलक्षितस्य न पूर्वकालोपलक्षितस्वरूपेणाल्यन्ताभेद इति, तत्तुच्छम्, यावत्कालमध्ये एक एव परिणामस्तावत्कालमध्ये तत्तेदन्त्वयोः संभवात् । अतएव उक्तक्रमेण तत्तेदन्त्वयोः प्रकारत्वासंभवात् विशेष्यत्वस्य चाननुभवात् । तस्याः प्रत्यभिज्ञायाः । न तत्तेदन्तोलेखिता तत्तेदन्त्वविषयकत्वसामान्याभावः । तदभिलाषे प्रत्यभिज्ञाभिलाषे । तथोल्लेखव्यवहारात् तत्तेदन्ताबोधकशब्दप्रयोगात् । तथाच यदुपलक्षितं यत्र ज्ञाने विषयः, तद्बोधकशब्देनापि तदभिलष्यत इति भावः । तत्र तदिदंशब्दरूपाभिलाषे तत्तेदन्तोपलक्षिते व्यक्तिमात्रे लक्षणाऽस्व-इयकी, अन्यथा अभिलष्यज्ञानेन तदभिलाषसमानविषयत्वव्याघातादित्याशयेनाह—तत्रेति । एवंच तत्तेदन्त्वाभ्यां जानामीत्यनुव्यवसायोऽपि व्याख्यातः; तत्रापि तयोरुपलक्षणयोरभिलाषात् । सर्वत्र 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मी'त्यादिवेदे सोऽयमिति लोके च । सप्रकारकत्वेति । अभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोरित्यादिः । ज्ञानमात्रेति । श्रोतुवुभुत्सितज्ञानत्वेनैवोपदेशहेतुता, नतु उपदेशान्यूनानतिरिक्तविषयकज्ञानत्वेन । ननु तत्तेदन्त्वयोर्विशेषणत्वमादाय विशिष्टयोरभेद एव वाक्यार्थः, विशेषणत्वं तु न स्वविशेष्यान्वितान्वयित्वम्; शब्दोऽनित्य इत्यादौ शब्दत्वादावव्याप्तेः, नापि विधेयान्वयकाले विद्यमानत्वम्; दण्डी भविष्यतीत्यादौ दण्डादावव्याप्तेः, गृहनिष्ठकाकादावतिव्याप्तेश्च । नापि विधेयान्वयप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्; व्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वमन्यूनानतिरिक्तदेशकालकत्वं वा, यद्वत्तया ज्ञात एव तात्पर्यविषयेतरान्वयः, तत्त्वं वा । आद्ये 'साक्षादिमान् गौरि'त्यादौ साक्षादौ तत्सम्भवेऽपि 'गौश्शुक्ल' इत्यादौ तदसंभवः । द्वितीये तु तत्तादेरप्यक्षतम्; तद्वत्तया ज्ञात एवेदमर्थान्वयात्, उपलक्षणत्वं तु न तत्तादेरस्ति; यदुपस्थापितधर्मान्तरवत्तया ज्ञात एव विधेयस्य विधेयवदन्यव्यावृत्तेर्वा बोधः, तस्यैवोपलक्षणत्वात् । नहि काकोपस्थापितसंस्थानविशेषवत्तया ज्ञात एव देवदत्तगृहस्य तदितरव्यावृत्तेर्वा धीरिव तत्रोपस्थापितदेहसंस्थानविशेषवदिदमर्थस्य तदन्यव्यावृत्तेर्वा धीः; देहसंस्थानविशेषवदिदमर्थतदन्यव्यावृत्त्योः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन वाक्येन तद्बोधनवैयर्थ्यापातादित्यत आह—विशेषणोपलक्षणादिति । अन्यत्र प्रथमपरिच्छेदे । स्पष्टः मया विवेचितः । स्वविशेष्यान्विते यत्र यदन्वेति तदंशे तद्विशेषणम् । शब्दत्वादिकं त्वनित्यत्वाद्यंशे न विशेषणम्, न वा भविष्यत्वाद्यंशे दण्डादि, किंत्वनित्येतरव्यावृत्तिबुद्ध्यंशे शब्द इतरस्याव्यावृत्तः इत्यादिबोधे स्वविशेष्यान्वयिनि व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्वे शब्दत्वस्यैककालीनत्वसंबन्धेनान्वयात् । तथाच तत्तादिकमुपलक्षणमेव; नानाव्यक्तिगतस्योपलक्षणस्य धर्मान्तरोपस्थापकत्वनियमोऽप्येकव्यक्तिगतस्य तदभावात् । धर्मस्य धर्मिणो बोधस्थितिद्वारा स्वाविषयकं स्वाश्रयस्य यत् ज्ञानं येन जन्यते, तस्मिन् स्वाश्रयस्य ज्ञाने तस्योपलक्षणत्वमित्यादि विवेचितमिति भावः । भ्रमप्रतीतेति । भ्रमाय प्रतीतेत्यर्थः । भ्रमोपलक्षण-

तदनुमानानिवर्त्यपीतभ्रमस्य तत्प्रत्यक्षनिवर्त्यत्वदर्शनात् । अतएवोक्तं विवरणे—‘अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेषः; अभिज्ञाया ज्ञातस्यैव देवदत्तैक्यस्य प्रत्यभिज्ञायामपि ग्रहणात् । नहि देवदत्तस्य स्वेनैक्यमभिज्ञायां न भाति । नच तस्यैक्यान्तरमस्ति यदनभिज्ञातं प्रत्यभिज्ञायते । एकस्य कालद्वयसंबन्धः प्रत्यभिज्ञागोचर इति चेन्न; ऐक्ये कालद्वयसंबन्धस्याभिज्ञाद्वयादेव सिद्धेः । तस्मात् कालद्वयसंबन्धिपदार्थैक्यविषयत्वे द्वयोरप्यविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाया एव कालद्वयपरामर्शित्वेन पदार्थभेदभ्रमनिवर्तकत्वम्, नाभिज्ञायाः । एवं तत्त्वमसीति वाक्यस्य सत्यादिवाक्यात्तत्पदाच्च प्रमेयावैलक्षण्येऽपि धर्मद्वयपरामर्शित्वेन भेदभ्रमनिवर्तकत्वात् प्रामाण्यम् । उक्तं च कात्यायनेन ‘सिद्धं तु निवर्तकत्वादिति । स्यादेतत्—अभिज्ञाया वस्तुत एकस्मिन् कालद्वयसंबन्धस्य देवदत्ताभेदस्य च ग्रहणेऽपि प्रत्यभिज्ञाया एकस्मिन् कालद्वयसंबन्ध इति वा, कालद्वयसंबन्ध्येक इति वा ग्रहणेन प्रमेयत एव भेदः । नहीदमिति ज्ञानं वस्तुतः शुक्तौ शुक्त्यभेदग्राह्यापि इयं शुक्तिरिति ज्ञानवदिदं शुक्तित्वाधार एक इत्याकारम्, अन्यथा तु फलतोऽपि विशेषो न स्यात्; कालद्वयपरामर्शस्य भेदभ्रमेऽपि सत्त्वात् । एवं तत्त्वमसीत्यत्रापीति । उच्यते—नहि प्रत्यभिज्ञायामैक्यं प्रकार इति कस्यचिन्मतम्; तस्य स्वरूपत्वेन विशेष्यत्वात् । अमेदस्वरूपविषयत्वे तुल्ये तत्तेदन्तोभयप्रकारिका सेति तव मतम्, निष्प्रकारिकैवेति मम । एकत्वं च नैकत्वसङ्ख्या; गुणादावभावात्, तज्ज्ञानस्य भेदभ्रमाविरोधित्वाच्च, किंतु भेदविरहरूपं स्वरूपमित्युक्तम् । अन्यथा तदभिलाषकवाक्यमपि सोऽयमेक इति स्यात्, नतु सोऽयमिति । सोऽयमिति वाक्ये त्वैक्यस्य प्रकारत्वं तत्प्रतिपादकपदाभावादेव दूरनिरस्तम् । भेदभ्रमे कालद्वयपरामर्शेऽपि भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकेत्यादि निरुक्तफलवैलक्षण्यमुपपन्नमेव । अतएव ‘उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैकः प्रतिपाद्यते । तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुम्भकं यथा ॥’ इत्यादि कल्पतरूक्तं ‘घटाकाशो महाकाश इत्युक्तेऽर्थैक्यधीर्यथे’ति वार्तिकं च निरवद्यम् । तथाच तत्त्वमसिवाक्यमखण्डार्थम्, उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्यप्रतिपादकत्वात्, घटखं महाखमिति वाक्यवदित्युक्तं भवति । एवंच—‘सत्यज्ञानादिरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि अर्थं प्रमाणम्, मानत्वात्, ‘नयनादिप्रमाणव’दिति चित्सुखाचार्योक्तमपि—साधु । सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गव्यतिरेक एवार्थं प्रमाणमिति सावधारणं साध्यं विवक्षितम्, तेन संसर्गातिरिक्तसंसर्गिण्यपि प्रामाण्याङ्गीकारात् न सिद्धसाधनम् । कण्टकोद्धारस्तु पूर्ववत् । एवमन्येषामपि प्रयोगाः यथायथमुपपादनीयाः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथा भ्रमपूर्वप्रतीतेति यावत् । स्वरूपमात्रज्ञानस्येति । महावाक्ये हि जीवत्वसर्वज्ञत्वोपहितयोरभेदो न विषयः; तस्य भेदसहिष्णोरपि बाधितत्वेन तदसहिष्णोः सुतरां बाधितत्वात् । नहि उपहितयोरभेदस्तात्त्विकः; ‘नेह नाने’त्यादिश्रुत्यादिना उपहितयोरेव मिथ्यात्वेन तत्त्वासंभवात् । तथाच भेदस्य व्यावहारिकत्वेनाभेदस्य प्रातीतिकत्वात् वाक्यस्य व्यावहारिकप्रामाण्यमपि न स्यात् । नापि जीवत्वोपलक्षितेनेशत्वोपहितस्याभेदः; ईश्वरादिविषयकत्वेनाप्रामाण्यापत्तेः, तयोरभेदस्यात्यन्तिकत्वाभावेन मुख्यसामानाधिकरण्यहानेश्च, किंतु जीवत्वेशत्वोपलक्षितयोरभेदः । स च स्वरूपमात्रमिति पूर्वोक्तरीत्या तन्मात्रज्ञानमेव महावाक्यजन्यमिति भावः । शङ्केति । नच—अनुमानप्रत्यक्षयोर्विषयाभेदेऽपि कारणवैजात्यात् कार्यवैलक्षण्यमिति—वाच्यम्; निर्दोषेन्द्रियसन्निकर्षे शङ्क्यत्वादावनुमित्यादेरपि पीतत्वादिभ्रमनिवर्तकत्वात् सामग्रीवैजात्यस्यैव कार्यवैलक्षण्ये नियामकत्वेनादोषात् । शङ्कते—एकस्येति । द्वयादेवेति । एककालेन विशिष्टे उपहिते वा कालान्तरवैशिष्ट्यं तु न प्रत्यभिज्ञायामपि विषयो वक्तुं शक्यः; बाधादिति हृदयम् । धर्मद्वयेति । जीवत्वब्रह्मत्वैतर्थाः । उक्तंचेति । शब्दानां नित्यत्वे सिद्धान्तिते व्याकरणस्य ज्ञातज्ञापकत्वेनाप्रामाण्यमाशङ्क्य मृजादिधातुना मृजन्तीत्यादेः साधुत्वनिश्चयसंभवेऽपि मार्ष्टीत्यादीनामसाधुत्वभ्रमनिवर्तकत्वरूपप्रयोजनकत्वेन प्रामाण्यं सिद्धमेवेत्यर्थं सिद्धं त्वित्यादिकमुक्तं वृद्धिसूत्रवार्तिके । तद्वत् ज्ञातज्ञापकत्वेऽपि भ्रमविशेषनिवृत्तिरूपप्रयोजनसत्त्वात् तत्त्वमस्यादिप्रामाण्यमिति भावः । अन्यथा भेदविरहस्वरूपेणैकत्वभावेन । नतु सोऽयमितीति । सोऽयमितिधीप्रतिबन्धकयुक्तायां तत्सामग्र्यां सत्यां कालद्वयसंबन्धिस्वरूपज्ञानं जायतामितीच्छया जायमानस्य सोऽयमितिज्ञानस्य नैकत्वं विषयः । वस्तुतः एककालविशिष्टे तदुपहिते वा कालान्तरविशिष्टस्य तदुपहितस्य वा भेदाभावसंबन्धेनेव भेदाभावप्रकारकं ज्ञानमपि न संभवति; बाधादित्यादि बोध्यम् । पदाभावादिति । एकवचनस्य तु संख्यैवार्थः; तावेतावित्यादावेकवचनस्याप्यभाव इति भावः । उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्यप्रतिपादकत्वात् भिन्नोपाध्युपहितवाचकस्वघटकनामार्थयोरत्यन्ताभेदबोधकत्वात् । घटः कलश इत्यादौ व्यभिचारात् वाचकान्तम् । ‘नीलो घट’ इत्यादौ व्यभिचारादत्यन्तेति । व्यतिरेकिणि भिन्ने । सावधारणमिति ।

तस्माद् वृथा रोदिषि मन्दबुद्धे तव भ्रमादेव हि दुःखमेतत् ।
तस्यापनोदो विहितः प्रमाणैस्तुभ्यं तु रोचेत स नेति चित्रम् ॥

मानं वेदान्तवाक्यानि निर्गुणाखण्डबोधनात् । निर्गुणत्वं च तस्योक्तं श्रुत्या युक्तिसहायया ॥

इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पदार्थसंसर्गनिष्ठसांसर्गिकविषयताशून्यप्रमाजनकत्वं साध्यम् । निर्विकल्पकमादाय दृष्टान्ते साध्यं बोध्यम् । निर्गुणा-
खण्डबोधनात् निर्गुणाखण्डबोधमादाय । मानं प्रमाणम् ॥ तर्कैरित्यादि—तत्त्वमस्याद्यखण्डार्थानुमाध्वान्त-
विनाशिनी ॥ इति लघुचन्द्रिकायामखण्डार्थत्वोपपत्तिः ॥

तत्राखण्डार्थत्वलक्षणतत्प्रमाणयोर्निरूपणम् ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

सत्यादिवाक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यं च नाखण्डार्थनिष्ठम् ; तत्त्वस्य निर्घटं भूतलमितिवाक्यस्येव सखण्डार्थत्वापत्त्या समुण-
वाक्यानामप्यखण्डार्थत्वापत्त्या च भेदाभावविशिष्टत्वतदुपलक्षितलक्षणनिर्भेदार्थपरत्वरूपत्वं न संभवति । एतेन—अख-
ण्डार्थत्वमपि शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यादावतिव्याप्त्या प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसाय्यनेकापर्यायशब्दरूपं नीलं
घटमित्यादावतिव्याप्त्येष्टापत्त्या चैकविशेष्यपरत्वं वा न भवतीति—सूचितम् । संसर्गागोचरप्रमाजनकानेकापर्यायशब्दत्वं
एकप्रातिपदिकार्थपर्यवसाय्यनेकापर्यायशब्दत्वं वा तु नाखण्डार्थत्वम् । आद्यलक्षणे—संसर्गपदेन पदस्मारितपदार्थप्रति-
योगिकस्य विवक्षणे विषं भुङ्क्तेति वाक्येऽतिव्याप्तेः । इदं च वाक्यं युक्तिमूलकं, न शास्त्रमूलकमिति द्विषदञ्च न भोक्तव्यमिति
शास्त्रीयपदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वेन न तन्निराससंभवः । प्रतिपिपादयिषितसंसर्गविवक्षणे च ब्रह्मणः स्वरूपेण प्रश्नहे-
तुसंशयधर्मित्वेन प्रागेव ज्ञातत्वेन संसर्गप्रतियोगित्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वेनासंभवः, शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्य-
नेकप्रातिपदिकार्थमात्रपरवाक्येऽतिव्याप्तिः, नहि धर्मधर्मिभावासाहं वाक्यं धर्मिभेदसहमिति न तस्य लक्ष्यत्वम् । यौगि-
कार्थौपगवादिप्रश्नोत्तरे श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगव इत्यादौ अनेकार्थात्मकसेनादिप्रश्नोत्तरे एकदेशस्था वृक्षा वनमि-
त्यादौ चाव्याप्तिः, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यानामपि सखण्डार्थत्वादसंभवश्च । एतेन—द्वितीयलक्षणमपि—परास्तम् ;
असंभवात्, सखण्डार्थवाक्येष्वतिव्याप्तेः । किंच किमिदमपर्यायत्वम् ? प्रवृत्तिनिमित्तभेदश्चेत् सत्यादिवाक्येष्वसंभवः ।
नहि तत्र प्रवृत्तिनिमित्तभेदः । अनन्तलक्षणत्वादीनां शुद्धादन्यत्रासंभवात् । लक्षणया चिन्मात्रपरत्वे तु अनन्तत्वादिकं
न ब्रह्मलक्षणम् । यावता च नाखण्डार्थलक्षणसिद्धिः, तावता तत्र सत्यादिवाक्यम्, अखण्डार्थनिष्ठं, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठं
वा, लक्षणवाक्यत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवदिति अनुमानं प्रत्यक्षादीनामपीदमित्यमिति
विशेषसंसर्गागोचरत्वेन संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वरूपसाध्याप्रसिद्ध्या लक्षणवाक्यत्वस्य सत्यादिवाक्येष्वतिव्याप्तिश्च न सत्या-
दिवाक्याखण्डार्थत्वे प्रमाणम् । परापरजातिरूपसत्यत्वानन्दत्वादिकं ब्रह्मणोऽन्यत्रातिव्याप्त्या तात्त्विकसत्त्वं ब्रह्मण्यप्यसंभवे-
नातात्त्विकसत्त्वं चान्यत्रातिव्याप्त्या न ब्रह्मलक्षणतामर्हति । असाधारणधर्मपरलक्षणवाक्यं हि सखण्डार्थमेव दृष्टमिति
लक्षणवाक्यत्वेनाखण्डार्थत्वसाधने विरोधाच्च । स्वरूपं तु लक्ष्यान्तरिके लक्ष्यलक्षणभावायोगात् न लक्षणमिति तदतिरेकस्या-
ङ्गीकारे स्वरूपलक्षणपरत्वेनापि सखण्डार्थत्वमेव । लक्षणात्प्रागेव सामान्यतो ज्ञाते स्वरूपे लक्षणस्य द्वारत्वं तु न युक्तम् ।
लक्षणापरत्वे सति तत्प्रत्यायकत्वमलक्षणवाक्ये व्यभिचाराच्च हेतुरिति वस्तुतो लक्षणस्यैव हेतुत्वे पूर्वोक्तदोषाः सख-
ण्डवनादिलक्षणवाक्ये किं चन्द्रलक्षणमित्यसाधारणधर्मप्रश्नोत्तरे प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये च व्यभिचारश्च स्युः । अखण्डलक्षण-
वाक्यत्वं लसिद्ध्या न हेतुः । नहि धर्मे पृष्टे स्वरूपं वक्तुमुचितम् । एतेन—धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकमोक्ष-

१ अत्र संसर्गः पदस्मारितपदार्थप्रतियोगिको विवक्षित इति अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग इत्यत्र नाव्याप्तिः, प्रमापदं तु गौरवो
हस्तीत्यादौ तत्तत्प्रमृतिजनकानेकपदसमुदायेऽतिव्याप्तिवारणार्थम् । निर्विकल्पप्रलक्षणजनकेन्द्रियव्यावृत्त्यर्थं तु शब्दपदम् । शब्दे-
ऽनेकत्वं तु संभूयार्थप्रतिपादकत्वमिति न धवखदिरपलाशा इत्यत्रातिव्याप्तिः । संप्रदायस्तु संसर्गाननुभावकबौगिकशब्दनिरासार्थं
मनेकत्वमिति न्यायामृतटीकाप्रकाशः ।

हेतुसप्रकारकज्ञानसाधनत्वेन वेदान्तविचारान्यथानुपपत्त्योक्तानुमाने बाधोऽपि—सूचितः । अतएव—(१) सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः, संसृष्टरूपः, संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, (२) सत्यादिवाक्यं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गपरम्, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यस्वरूपकप्रमितिविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा, प्रमाणवाक्यात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्, (३) वेदान्तजन्यप्रमा सप्रकारिका, ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषया, विचारजन्यज्ञानत्वात्, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधिज्ञानत्वात्, ब्रह्मविचारजन्यज्ञानत्वात्, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवदित्यनुमानैः प्रतिरोधोऽपि मन्तव्यः । खं छिद्रमित्यादिप्रमाणवाक्येऽपि खशब्दवाच्ये छिद्रशब्दवाच्यत्वसंसर्गस्यैव बोधनाच्च द्वितीयानुमाने तत्र व्यभिचारः । एतेन—दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमपि—सूचितम्; नहि प्रकृष्टादिवाक्यमभिधयाऽखण्डार्थनिष्ठम्, प्रकृष्टप्रकाशरूपस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा चन्द्रेऽन्वयोपपत्तेरन्वयानुपपत्तिबीजाभावेन न लक्षणेति नापि लक्षणया तत् । यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रेव तात्पर्यानुपपत्तिश्च स्वरूपमात्रेऽज्ञाते प्रश्नानुवादयोरयोगात्, संकीर्णचन्द्रस्वरूपद्वयाभावेन रूपान्तेरेणाज्ञानायोगाच्च न स्वरूपमात्रं तात्पर्यमिति नात्र संभवति । असंकीर्णत्वेन चन्द्रस्वरूपज्ञानं च व्यावर्तकव्यावृत्त्यन्यतरवैशिष्ट्येन ज्ञानमेवेति विशिष्टपरत्वापातः । एवंच—

सामान्यतोऽपि न ज्ञातो धर्मा चन्द्रो यदा तदा । न बुभुत्सा न संदेहो नानुवादश्च युज्यते ॥

तस्माच्चन्द्रस्येतरस्माद्भेदको धर्म एव हि । पृष्टस्तस्मात्प्रकृष्टादिवाक्यं नाखण्डगोचरम् ॥

नहि प्रकृष्टप्रकाशवाक्ये प्रकृष्टत्वादिविशिष्टे न तात्पर्यम्; अन्यथा तात्पर्यतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वप्रसङ्गात्, चन्द्रबुभुत्सान्वित्यभावेन कश्चन्द्र इति प्रश्नोत्तरत्वानुपपत्तेः, सर्वेषामपि लक्षणवाक्यानां संदेहानिवर्तकत्वापत्तेः, प्रकृष्टादिपदवैयर्थ्यापत्तेश्च । व्यावर्त्यभेदेन तु न सार्थक्यमित्युत्तरत्रोपपादयिष्यामः । एतेन—प्रश्नोत्तरे प्रकृष्टादिविशेषणाश्रयभूतासाधारणविशेष्यमात्रव्यक्तिरेव विषयः, नतु विशिष्टव्यक्तिः; सहप्रयोगानुपपत्तेरिति—परास्तम्; अस्या एवासाधारणव्यक्तेः प्रागेव ज्ञातत्वेन प्रश्नोत्तरत्वानुपपत्तेः । एवंच—गामान्येत्यत्र गोलस्यानयनेनेव प्रकृष्टत्वादेः चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वयेऽपि उद्देश्यतावच्छेदकतया भावेन सखण्डार्थत्वं दुर्वारमेव । संभवति हि पृथिवीत्ववती पृथिवीति वाक्यवत् विशिष्टपरत्वेऽपि प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यस्योपपत्तिः । तथाच सामान्यतः चन्द्रस्य व्यावर्तकधर्मव्यावृत्त्योर्घटादौ प्रागेव ज्ञातत्वात् विशिष्टविषये एव प्रश्नोत्तरे । नहि जन्मशतेनापि तत्तद्व्यावृत्तिरवगन्तुं शक्यते । व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेवात्र प्रतिपाद्यते । यथा-चाग्निबोधनार्थं धूमोऽस्तीतिवाक्ये धूमे यागाक्षेपके द्रव्यदेवतासंबन्धेऽपि यदाग्नेयवाक्ये च तात्पर्यम्, तथा प्रकृष्टे धर्मेऽपि तात्पर्यमङ्गीकरणीयमेव । किंलक्षणकश्चन्द्र इति प्रश्नोत्तरस्येव लक्षणवाक्यस्यास्य धर्मपदाभावेऽपि वस्तुतस्तस्यैव बुभुत्सितत्वेन तत्रैव तात्पर्यमिति सखण्डार्थत्वमेव । अथवा—व्यावहारिकमिदं लक्षणं न व्यावर्तकमिति चन्द्रशब्दविशेषितव्यवहार एव प्रकृष्टप्रकाशलक्षणप्रयोजनमिति न स्वरूपज्ञानार्थमिदं लक्षणम्; स्वरूपस्य प्रत्यक्षेणैव ज्ञातत्वेन लक्षणवाक्यवैयर्थ्यात् । व्युत्पत्तौ चेदमप्युपायान्तरम् ।

एतेन—द्वितीयानुमानमपि साध्याप्रसिद्धिबाधसत्प्रतिपक्षदृष्टान्तसाध्यवैकल्यादिदोषात् प्रकृष्टादिवाक्योक्तरीत्या स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वासिद्धेश्च न युक्तमिति—सूचितम्; नहीह किंप्रज्ञेतिश्रुतावेव प्रश्नो विद्यते इति तत्कल्पनायां सत्यादिवाक्यस्य धर्मविषयत्वेन तदनुगुणमेव तदापत्त्या स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वमसिद्धमेव । अतएव कतम आत्मेति कतर आत्मेति च जात्यादर्थकतमादिप्रयोगोपपत्तिः । एतेन—“योऽयं विज्ञानमयः” इति वाक्ये स्वरूपासिद्धिरपि—सूचिता । अतएवोत्तरस्य धर्मनिष्ठप्रश्ननिर्धारितैकप्रकारपरत्वनियमः, प्रश्नादुत्तरस्याधिकविषयलनियमश्चोपपद्यते । अन्यथा नहि संदेहनिवृत्तिः; प्रश्नस्यैवोत्तरत्वप्रसङ्गात् । सत्यादिवाक्यार्थः, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वात्, इति न्यायदीपावल्यानुमानमप्येतेन पराहृतम् । अपिच द्विकस्य त्रिकस्य चतुष्कस्य पञ्चकस्य वा प्रातिपदिकार्थत्ववादिनां वैयाकरणानां मतेऽन्विताभिधानवादेऽभिहितान्वयवादेऽपि जातिविशिष्टव्यक्तिपदार्थतामते च प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टरूपत्वात्कथमखण्डार्थत्वम् ? जातिशक्तिमतेऽपि ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वात् विशिष्टपरत्वमेव । नहि प्रातिपदिकार्थप्रश्नोत्तरस्य तदेकदेशविषयता युज्यते । ब्रह्मस्वरूपमात्राबुभुत्सितत्वात्, सत्यादिवाक्ये विशेषणानां सत्त्वेन रक्तपटन्यायेन धर्मेऽप्याकाङ्क्षाया उत्थापनीयत्वेन ब्रह्मविदाप्रोतीति निर्दिष्टमोक्षहेतुज्ञानस्य सप्रकारकत्वावश्यकत्वेन च धर्मबुभुत्साया अप्यावश्यकत्वात्, सगुणवाक्यादीनां निबाललक्षणपराणामपि चाखण्डार्थत्वापत्तेश्च न स्वरूपमात्रं विपक्षबाधकम्, एतेन “एकधैवानुद्वेगव्यम्” “उदरमन्तरं कुरुते” “केवलो निर्गुणश्च” “एकमेवाद्वितीयम्” इत्यादिवाक्यं नाखण्डार्थत्वाभावे बाधकम्; तेषामभेदादिविशिष्टपरत्वे सखण्डार्थत्वाप्रामाण्ययोरापत्तेः । वस्तुतस्तु—एकधैवेत्यादीनामेवाखण्डार्थत्वं सत्यादिवाक्यस्य तु सखण्डार्थत्वमिति वैपरीत्यमेव स्यात्; उभयोरपि मुमुक्षुज्ञेयपरत्वाविशेषात् । एक्यं तु मिथ्याभूतं न परमार्थसत्यत्वादिवैशिष्ट्यविरोधि, तत्सत्यत्वं त्वपसिद्धान्तापत्त्या न संभवति । ब्रह्मानन्तशब्दो तु “बृहन्तोऽस्मिन्गुणाः” “महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः” इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सगुणपरत्वावेवेति न तावपि बाधकाविति नाप्रयोजका हेतवः । अतएव—वेदान्तवाक्यं प्रकृष्टादिवाक्यं चाखण्डार्थत्वे संसर्गगर्भाकाङ्क्षायोग्यतासञ्चिधिमत्पदसमूहत्वं वाक्यमेव न स्यात् । तात्पर्यविषयाबाधो योग्यतेत्यादिकं तु न संभवति; पदार्थमात्रे

वाक्यतात्पर्यायोगात्, अन्वयगर्भत्वस्यावश्यकत्वात् । एतेन—अखण्डचिन्मात्रस्याध्यासाधिष्ठानत्वादि नित्यसिद्धत्वात् वेदान्तनिर्विषयत्वापत्तिः; वेदान्तजन्यज्ञानज्ञानत्वानुपपत्तिः, विचारविध्यनुपपत्तिः, आद्याध्यायतृतीयपादाधिकरणानां विषयादिपञ्चकभावादनारम्भापत्तिः, “ब्रह्मविदाप्नोति” इति पूर्ववाक्य एव ब्रह्मणो ज्ञाततया सत्यादिवाक्यवैयर्थ्यापत्तिः, तात्पर्यविषयाखण्डार्थत्वे लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिः, ब्रह्मयुक्तानिष्टवृत्त्यभावेन किं ब्रह्मेति प्रश्नोत्तरत्वोद्देश्यविधेयभावयोरनुपपत्तिरित्यादिप्रतिक्लृप्तकर्मपराहतमध्युक्तानुमानमिति—सूचितम् । किंच सत्यादिपदानां नाभिधया चिन्मात्रपरत्वं, लक्षणा तु अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरूपा न चिन्मात्रे संभवति । शक्यसंबन्धरूपमपि सा न संभवति; बीजाभावादिति पूर्वमेव निरूपितम् । अन्यथा सत्यादिपदानां पर्यायत्वापत्त्या सहप्रयोगानुपपत्तिः । कुम्भाद्यनुगतसत्ता परजातिः, अन्तःकरणोपधानलब्धचिदानन्दविशेषानुगतज्ञानत्वानन्दत्वे चापरजाती इति सत्यज्ञानादिशब्दानां लक्ष्यार्थभेदोऽपि वाच्यार्थभेदान्न पर्यायतेति कल्पतरूक्तम्, विशिष्टशबलब्रह्मवाचिनां शुद्धब्रह्मणि लक्षणेति संक्षेपशरीरकोक्तं चानेन पराहतम् । नहि कुम्भाद्यनुगता सत्ता ब्रह्मलक्षणमिति भवति, नवा मिथ्यासत्यानुगतसत्तासामान्ये समस्ति प्रमाणम् । नहि तदा तथाऽनृताद्यावृत्तिसिद्धिः । कालत्रयावाध्यत्वरूपमेव सत्त्वं तच्च ब्रह्मणि श्रौतमिति हि भवतां मतम् । नहि औपाधिकभेदमात्रेण सत्यत्वादिकमाकाशत्वादिकमिव जातिरिति युक्तम् । योगे वा धर्मिसमसत्ताकभेदवदुपहितवृत्तित्वेन शुद्धलक्षणत्वायोगः । शबलस्यासत्यस्य हि सत्यशब्दवाच्यत्वं न संभवत्येव । एतेन—अखण्डचिन्मात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमपि—सूचितम्; नहि व्यावर्तकस्य सत्यत्वादेस्तात्पर्यतोऽनर्पणेऽसत्यव्यावृत्त्यादीनां सिद्धिः, नद्यां घोष इत्यत्र तीरस्यानदीतः यजमानः प्रस्तर इत्यत्र प्रस्तरस्यायजमानाच्च व्यावृत्त्यापत्त्या न प्रतीतिमात्रेण व्यावर्तकत्वम् । सत्यत्वयजमानत्वयोः व्यावहारिकप्रातिभासिकत्वकृतविशेषस्तु न सिध्यतीति लक्षणावीजे मुख्यार्थबाधके तुल्ये सत्यादिपदस्य वाच्यार्थेऽनान्तरतात्पर्यं यजमानपदस्य नेत्यत्र न विनिगमकं किंचिदस्ति । किंच व्यावृत्तिसत्यत्वे व्यावर्तकस्यापि सत्त्वम् । नहि व्यावहारिकव्यावर्तकेन पारमार्थिकव्यावृत्तिसिद्धिः, अस्तुवा कथंचिदपि पारमार्थिकव्यावृत्तिसिद्धिः, तथापि तासां ब्रह्मरूपत्वे ब्रह्मपदेनैव लाभात्पदान्तरवैयर्थ्यम्, व्यावृत्तीनामन्योन्याभेदे तु सत्यपदेनैवाज्ञानादिव्यावृत्तिसिद्ध्या ज्ञानादिवैयर्थ्यम्, तासां ब्रह्मभेदे त्वद्वैतहानिः । व्यावृत्तिमिथ्यात्वे तु युक्तेः युक्तितो व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे युक्तित्वस्य युक्तिसमसत्ताकत्ववत् ब्रह्मणोऽनृतादिव्यावृत्तेर्मिथ्यात्वेऽनृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तिरिति तत्त्वजिज्ञासुं प्रति मिथ्योपदेशायोगः । अनृतत्वभ्रान्तिनिवृत्तिर्हि अधिष्ठानतत्त्वज्ञानाधीना, न भ्रान्त्यन्तरोत्पादाधीना । वल्मीके स्थाणुलभ्रान्तिर्हि वल्मीकत्वोपदेशेनैव निवर्त्या, नतु तत्र पुंस्त्वोपदेशेन । अध्यासाधिष्ठानत्वादिना सत्त्वादिविशिष्टतया च सामान्यतो ज्ञातस्य ब्रह्मणो ज्ञानं हि न व्यावृत्तिज्ञानसाध्यं, येन प्राशस्त्य इवानृतस्याप्यर्थस्य विनियोगः संभाव्येत । परमार्थस्तु—व्यावृत्तिज्ञानमेव धर्मिज्ञानसाध्यमिति वैपरीत्यमेव युक्तम् । नहि शाब्देऽर्थे आर्थिकोऽर्थो द्वारमिति युक्तम् । अन्यथा हि नीलमुत्पलमित्यादावपि अनिलव्यावृत्तिद्वारा स्वरूपपरत्वापातः । व्यावृत्तिज्ञानात्प्रागप्यन्याज्ञानसत्त्वेनान्याज्ञाने तस्य द्वारत्वाभावात् नान्याविषयके ब्रह्मज्ञाने व्यावृत्तिज्ञानस्योपयोगः । एतेन—सत्यज्ञानादिपदैर्व्यावृत्तिद्वारा बोध्यमानस्यैकत्वे ज्ञानादिपदवैयर्थ्यं; स अनृतत्वादभ्रान्तिनिवृत्तिरूपदृष्टकार्याणां भिन्नत्वेनैककार्यत्वाभावात् न द्वारविकल्पः, विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति सत्यपदं विनाऽपि ब्रह्मावगमात् समुचितद्वारत्वं वा न संभवति । एतेन—सत्यत्वादिकं प्रत्येकमेव लक्षणमित्यपि—सूचितम्; नहि प्रकृतत्वादिकमिव सत्यत्वादिकं प्रत्येकमतिव्याप्तं येन मिलितं लक्षणं स्यात् । भेदे तु सविशेषत्वापत्तिः । एतेन—व्यावृत्तीनामुपलक्षणतया द्वारत्वमपि—परास्तम्; काकवद्देवदत्तगृहमित्यत्रैव सखण्डार्थत्वप्रसङ्गात् । तदुक्तं—

सत्यज्ञानादिकेऽप्येवं न व्यावृत्त्या प्रयोजनम् । व्यावर्त्यस्याविशेषत्वे तदखण्डं च खण्डितम् ॥ इति ॥

आर्थिकेनापि व्यावृत्तिवैशिष्ट्येन ब्रह्मणोऽखण्डार्थत्वहान्या न तदार्थिकत्वेनोपपत्तिः । गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीर-नद्योः परस्परान्वयबोधोत्तरं गम्भीरनदीपदयोरिव समुदितानां सत्यादिपदानां लक्षकत्वमिति नवीनप्रवादस्तु तत्र गम्भीर-नदीपदयोरिवात्र सत्यज्ञानपदयोरन्योन्यान्वयाभावात् विज्ञानमानन्दमित्यादावनपेक्षणेनैव ब्रह्मलक्षकत्वदर्शनात् इह पदान्तरेणाधिकार्यालभात् तत्र नदीपद एव लक्षणया सर्वपदलाक्षणिकत्वानुपपत्तेश्च न सङ्गतः । “गच्छ गच्छसि चेत् कान्त” “विषं भुङ्क्ष्वे”त्यादावपि जन्मविषमक्षणेष्टसाधनतोक्तिभ्यां मरणशत्रुगृहभोजनानिष्टसाधनतयोरनुमानमेव, नतु वाक्ये लक्षणा । एतेन—अर्धमन्तर्वेदीत्यादि लौकिकवैदिकवाक्यजातमपि—व्याख्यातम्; अर्धमन्तस्त्वेनार्धं बहिष्ठेन चान्तरालदेशस्याक्षेपेणैव सिद्धेः । वायुवै इत्याद्यर्थवादेऽपि कर्मणि क्षिप्रदेवताप्रसादहेतुत्वमेव बोध्यते, नतु लक्षणया प्राशस्त्यमिति न वाक्ये कुत्रापि लक्षणाङ्गीकारः । अस्तु वा पदसमुदाये लक्षणा एवमपि सर्वपदलाक्षणिकत्वं न युक्तम् । अभिधेयान्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजाभावात् । लिङाद्यभिधेयकार्याद्यन्वयानुपपत्तिर्धर्मवादादौ लक्षणावीजम् । ब्रह्मपदं तु यौगिकं सखण्डार्थत्वापत्त्या न वाचकम् । अन्वयानुपपत्तिरेव हि लक्षणावीजं; यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रापि प्रकृतानां पुरुषाणामन्वयानुपपत्त्यैव तल्लक्षणादिति तदुपपत्त्यर्थमङ्गीकृताया लक्षणाया अन्वयानुभावकत्वं एवोपपत्त्या नाखण्डार्थत्वसिद्धिः । लक्षकाननुभावकत्वमेतौ

सर्वपदलक्षणिकत्वेऽनुभावकत्वमेव न स्यात् । वाक्यान्वयलक्षकता तु न संमता; अन्विताभिधानाङ्गीकारात् । अभिहिता-
न्वयवादेऽपि एकस्यैव पदस्यान्वयलक्षकत्वमिति न पदसंघे लक्षणा । अस्तु वाऽन्यत्र पदसंघे लक्षणा, इहतु पूर्वोक्तरीत्या
पदान्तरवैयर्थ्यादिदोषप्रसङ्गाच्च सर्वपदलक्षकत्वम् । अन्यथा नदीपदलक्ष्यस्यानदीत्ववत् सत्यादिपदलक्ष्यस्यासत्यत्वादिकं प्रस-
ज्येतेति मुक्त्यपुरुषार्थताप्रसङ्गः । “सत्त्वादीनां हि जातीनां व्यक्तितादात्म्यदर्शनात् । लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्त्वादि न जहाति
नः” इति तु व्यक्तिशब्दार्थतामते शक्यसंबन्धरूपलक्षणाया असंभवादसङ्गतम् । जातिशक्तिवादेऽपि सन् घट इत्यस्मात्
सत्यं ब्रह्मस्य विशेषसिद्ध्यर्थं जालाश्रयव्यक्तिसंबन्धेनैव ब्रह्मणो लक्षणीयत्वात्तदसत्यत्वापत्तिरपरिहार्यैवेति सत्यादिवाक्या-
खण्डार्थत्वं न युक्तिसहम् । एतेन—तत्त्वमस्यादिवाक्याखण्डार्थत्वमपि—परास्तम्; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । तत्र हि
तद्देशकालविशिष्टस्यैतद्देशकालविशिष्टस्य चाभेद एव बोध्यते, नतु देवदत्तस्वरूपमात्रम् । तस्य प्रागेव ज्ञाततया वाक्यवैय-
र्थ्यात्, पदान्तरवैयर्थ्याच्च । यथाहि दण्डी कुण्डलीत्यादौ नीलो घट इत्यादौ च विशेषणभेदेऽपि सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या
विशिष्टाभेदः तात्पर्यविषयः, एवमत्रापि मन्तव्यमिति न दृष्टान्ते सोऽयं देवदत्त इति वाक्येऽखण्डार्थत्वम् । अन्यथाऽभि-
ज्ञाद्वयेनैवेष्टसिद्ध्या प्रत्यभिज्ञावैयर्थ्यात् । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यमिति प्राचां वचोऽपि भिन्न-
प्रवृत्तिनिमित्तत्वे सतीति विशेषणसार्थक्यार्थं समानविभक्तिकनामद्वयजन्यप्रतीतेः सप्रकारकत्व एवोपपद्यते । अयमाशयः—
सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा तावत् नाखण्डार्थविषया, तत्र प्रत्यक्षे शब्दवृत्तेर्लक्षणाया अयोगेन तत्तेदन्तोऽस्त्वित्यस्यावश्यकत्वेन
निष्प्रकारकत्वासंभवात्, अन्यथाऽभिज्ञातो विशेषासिद्धिप्रसङ्गात् । एतेन—शाब्दप्रत्यभिज्ञापि—व्याख्याता; स्वप्रत्यभि-
ज्ञावगतस्यैव परं प्रति बोधनात् । एवं च तत्तोपलक्षिताभेदविशिष्टे इदंलोपलक्षितस्वरूप एवोक्तवाक्यादितात्पर्यम् । इत्थंचाभेद-
प्रकारकत्वेनैवाखण्डार्थत्वमङ्गः । किंच चिन्मात्रस्य चिन्मात्रेणाभेदबोधने इष्टापत्तिः, अप्रसक्तप्रतिषेधश्च स्यात्, अभेदस्य
चैतन्यस्वरूपत्वे तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यम्, तदस्फुरणे च तद्बुभुत्साद्यनुपपत्तिः, अवान्तरवाक्येनैक-
पदेन वोपपत्त्या महावाक्यपदान्तरवैकल्यम्, भ्रमकाल इव स्वरूपमात्रज्ञानेन भेदभ्रमानिवृत्तिश्च स्यात् । सार्वज्ञ्याद्युपलक्षित-
स्वरूपज्ञानं तु सप्रकारकमेवेति न तज्जननेन वाक्यसाफल्यदिकम् । नहि प्रमेयवैलक्षण्यं विना फलवैलक्षण्यसंभवः ।
एतेन—अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेष इत्यादिविवरणोक्तमपि—परास्तम्; अभिज्ञाभ्यां वस्तुत एक-
स्मिन् कालद्वयसंबन्धग्रहणेऽपि कालद्वयसंबन्ध्येक इति प्रत्यभिज्ञा गोचरयतीति प्रमेयतत्त्वेऽलक्ष्यसत्त्वात् । एवं च दृष्टान्तस्य
साध्यवैकल्यत्वात् तत्त्वमसीतिवाक्यमपि नाखण्डार्थम् । एतेन—अनुमानान्तराण्यपि निरस्तानीति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

सत्यादिवाक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यं चाखण्डार्थपरमेव । अखण्डार्थत्वं च पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाणकत्वम् एकप्राति-
पदिकार्थमात्रपर्यवसाय्यनेकापर्यायशब्दत्वं वा । संयोगलक्षणे तस्य पदवृत्तिस्मारितत्वात् तदतिरिक्ताविषयतया द्विपदन्न-
भोजननिषेधवाक्ये पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तानिष्टसाधनत्वगोचरतया शीतोष्णस्पर्शवन्तावित्यादावखण्डार्थत्वस्येष्टत्वाच्च नाव्या-
ह्यतिव्याप्ती । द्वितीयलक्षणे एकत्वं प्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वमिति न यौगिकार्थोपगवादिप्रश्नोत्तरेऽ-
व्याप्तिः । प्रवृत्तिनिमित्तभेदे सत्येव सत्यादिपदानां चिन्मात्रपरत्वम्; अतात्त्विकसंबन्धेन शुद्धेऽपि लक्षणोपपत्तेरिति सर्व-
मनवयम् । एवं निर्दुष्टस्याखण्डार्थत्वलक्षणस्य सिद्ध्या तत्र सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठं वा,
लक्षणवाक्यात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वैल्यनुमानप्रामाण्यमपि निर्दुष्टं सिद्ध्यति । निर्विकल्पकस्वीकर्तृणां तस्मिन्नेव प्रसिद्धेतराणां
प्रमात्वं, संसर्गागोचरवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववदिति सामान्यानुमानेन सिद्ध्या च नाप्रसिद्धविशेषणत्वम् ।
परमार्थसत्यतादेः ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वाच्च लक्षणवाक्यत्वमसिद्धम् । अस्मन्मतेरीत्या प्रत्येकं सत्याद्यन्यतमलक्षणत्वेऽपि परै-
रन्यत्र सत्यत्वाद्यङ्गीकारान्मिलितमेव लक्षणमिति मन्तव्यम् । मिलितलक्षणत्वेऽपि लक्ष्याखण्डत्वादखण्डार्थत्वमुपपन्नमेव ।
एकब्रह्मलक्ष्यत्वेऽपि तत्र निवर्तनीयांशाधिक्यसत्त्वाच्च पदान्तरवैयर्थ्यम् । सर्वलक्षणवाक्यानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वेना-
साधारणधर्मरूपलक्षणपरत्वेन न खण्डार्थत्वसाधनमिति नात्र विरोधः । वस्तुतस्तु—द्वारत्वेन लक्षणे तात्पर्याच्च द्वारि-
णोऽखण्डार्थत्वे कोऽपि विरोधः । संशयादिनिवर्तकज्ञाने एव द्वारापेक्षणाच्च सामान्यतो ब्रह्मज्ञानेऽपि दोषः । खण्डवनादि-
लक्षणवाक्येऽपि साध्यसत्त्वाच्च व्यभिचारः । एतेन—प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यमपि प्रकर्षोपलक्षितप्रकाशव्यक्तिरूपमात्र-
प्रतिपादकत्वेनाखण्डार्थमिति—व्याख्यातम् । धर्मस्यैव स्वरूपतोऽत्रोक्तत्वाच्च चन्द्रस्वरूपोक्त्ययोगशङ्कावकाशः । अन्त-
र्तादिप्रतिषेधकव्यावृत्ताकारज्ञानेनैव संशयादिनिवृत्त्युपपत्त्याऽन्यथासिद्धत्वात् न सप्रकारकत्वमात्रम् अज्ञाननिवर्तने तन्त्रम्,
किंतु अज्ञानसमानविषयकत्वमित्यज्ञानविषयेतराविशेषितशुद्धब्रह्मविषयकज्ञानजनकत्वमेव सत्यादिवाक्यानामिति नात्र बाधोऽ-
वसरं लभते । (१) सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः संसृष्टरूपः, संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, संमतवत्,
(२) सत्यादिवाक्यं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गपरं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यस्वरूपकप्रमितिविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्ग-
पदं वा, प्रमाणवाक्यत्वात्, अग्निहोत्रादिवाक्यवत्, (३) वेदान्तजन्यप्रमा सप्रकारिका, विचारजन्यत्वात्, संशयनिव-

तत्कलाद्वा, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवत्, (४) वेदान्तजन्या प्रमा, ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधित्वात्, ब्रह्मविचार-
जन्यत्वाद्वा, यदेवं तदेवं, कर्मकाण्डजन्यनिश्चयवदिति प्रतिरोधानुमानान्यपि नात्रावकाशमाप्नुवन्ति; **आद्यानुमाने** संसृष्टरूप
इति साध्ये संसर्गे संसर्गरूप इति साध्ये संसृष्टरूपे पदार्थे चोभयोरपि प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वयोगेन व्यभिचारात् ।
द्वितीयानुमाने प्रमाणवाक्यस्यावाध्यपरत्वमात्रेण प्रमितिविषयपरत्वमात्रेणैवोपपत्तौ विशिष्टसाध्यस्य तत्रातन्त्रवेनाप्रयोज-
कत्वात्, अलक्षणवाक्यत्वेन सोपाधिकत्वाच्च । **तृतीयानुमाने** तु तव मते ज्ञानमात्रस्य सप्रकारकत्वनियमेन विचार-
जन्यत्वसंशयविरोधित्वयोर्यर्थत्वम्, अप्रयोजकत्वं, लक्षणवाक्याजन्यत्वेन सोपाधिकत्वं च । **चतुर्थानुमाने** तु दृष्टान्ता-
भावः, सर्वेषु चानुमानेषु प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यपत्तिः प्रतिकूलतर्क इति सर्वं सुस्थम् । प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येऽपि यष्टीः
प्रवेशयेत्यादाविव तात्पर्यविषयानुपपत्त्या कश्चन्द्र इति स्वरूपमात्रप्रश्ने तन्मात्रपरस्यैवोत्तरस्योचितत्वाल्लक्षणाऽखण्डार्थमेवेति
न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् । सामान्यतो ज्ञातेऽपि चन्द्रे विपर्ययविरोधिज्ञानानुदयदशायां तदुदयार्थं प्रश्नो युज्यत एवेति
विपर्ययविरोधिफलोपहितासंकीर्णस्वरूपमेव प्रश्नोत्तरवाक्यार्थः । नहि व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं व्यावर्तकवैशिष्ट्यं वाऽसंकीर्णत्वम्, येन
सखण्डार्थत्वापत्तिः । अस्तु वा व्यावृत्तिवैशिष्ट्यमेवोत्तरवाक्यार्थः, एवमपि तस्यार्थिकत्वाच्च शाब्दबोधे भानम् । नहि व्यावृत्ति-
बोधनेन किञ्चित्प्रयोजनमुपलभ्यते, येन लक्षणाया तद्वैशिष्ट्यमपि वाक्यार्थः स्यात् । **एतेन**—विनैव लक्षणां व्यावृत्तिः
शाब्दबोधे भासते, घटेन जलमाहरेत्यत्र छिद्रेतरत्ववदिति—**परास्तम्**; छिद्रेतरत्वस्यानन्यत्वमन्यत्वेन शब्दतात्पर्यविषय-
त्वेऽपि व्यावृत्तेरतथात्वात् । **वस्तुतस्तु**—छिद्रेतरत्वस्यापि लक्षणां विना न शाब्दबोधे भानम्; अन्यथा लक्षणोच्छेदा-
पत्तेः । कश्चन्द्र इति नायं धर्मप्रश्नः; स्वाधीने शब्दप्रयोगे निष्प्रयोजनलक्षणाया अन्याध्यत्वात्, तद्वोधनेऽप्यखण्डार्थत्वस्योप-
पादितत्वाच्च । यथा गङ्गासंबन्धित्वविशिष्टे तात्पर्यभावेऽपि वस्तुगत्या गङ्गासंबन्धेयं तीरं गङ्गापदेन लक्ष्यते, यथावा
व्रीहिन्प्रोक्षतीत्यत्र व्रीह्यादिरूपे प्रोक्षणादिविविधवैयर्थ्यानापूर्वसंबन्धिलक्षणाश्रयणेऽपि व्रीहित्वाश्रया एव व्यक्त्यो व्रीहिपदेन
लक्ष्यन्ते, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशपदार्थां वस्तुगत्या स्वाश्रयव्यक्तिरेव लक्ष्यते, ननु या काचिदिति प्रकृष्टत्वादिविशिष्ट-
बोधपरत्वाभावेऽपि न विरोधः । **तदयं निष्कर्षः**—प्रश्नोत्तरे तावत् चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रविषये, चन्द्रप्रातिपदिकार्थश्च
विशेष्यभूता व्यक्तिरेव । सा चाखण्डेयखण्डार्थता सिद्धैव । प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वात् प्रकृष्टप्रका-
शस्य प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वेऽपि न दोषः । **एतेन**—बहिर्बोधनार्थस्य धूमोऽस्तीति वाक्यस्य धूम इव आग्नेय-
वाक्यस्य द्रव्यदेवतासंबन्ध इव च व्यावृत्तिबोधकवाक्यस्य व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्येऽपि तात्पर्यमिति सखण्डार्थत्वमेवेति
शङ्कापि—**पराहता**; श्रुतार्थपरित्यागापत्तेरिति लक्षणायाऽसंकीर्णचन्द्रस्वरूपबोधन एव तात्पर्यम् । अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैय-
धिकरण्यपत्तेः । अग्निप्रश्नोत्तरे धूमोऽस्तीति वाक्ये तु धूमे बोधिते तत एव लिङ्गाद्वह्निबोधोपपत्त्या न वह्निलक्षणा ।
एतेन—प्रतिवचनोक्तत्वस्य प्रश्नविषयत्वाप्रयोजकत्वात् किलक्षणक इति प्रश्नसाम्येनात्रापि धर्मप्रश्नकल्पन—**परास्तम्** ।
किंशब्दस्य बुभुत्सासूचकत्वेन धर्मबुभुत्सानियतत्वाभावाच्च । प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति लक्षणवाक्ये चन्द्रपदव्यवहर्तव्यतापरत्वे
प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यपत्तिः, चन्द्रस्वरूपज्ञानात् प्राक् तत्र चन्द्रशब्दविशेषितव्यवहारवैशिष्ट्यप्रहासंभवश्चेति नास्य व्यवहार-
कर्तव्यतापरत्वम् ।

एतेन—द्वितीयानुमानमपि—**व्याख्यातम्**; तत्र पूर्वोक्तरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वबाधसत्प्रातिपक्षाध्यवैकल्यहेत्वसिद्धौ-
नामप्रसारात् । प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यपत्तिरूपविषयबाधकसंप्रीचीनतया सत्प्रातिपक्षाप्रयोजकलोपाधीनामनवकाशः । यद्यपि किं
ब्रह्मेति श्रुतौ प्रश्नो नोपलभ्यते; तथापि एकधैवानुदष्टव्यमिति श्रुत्या सत्यत्वादिवैशिष्ट्याविषयकस्यैव ब्रह्मविषयकवेदनस्य
मोक्षजनकत्वात्तदतिरिक्तबुभुत्साविरहेण तद्विषयकप्रश्नवाक्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन किं ब्रह्मेत्येव प्रश्नः कल्प्यते इति
नासिद्धिः । **एतेन**—योऽयं विज्ञानमय इति श्रुतिरपि—**व्याख्याता** । अनिर्धारितनिर्धारणत्वमेवोत्तरत्वप्रयोजकम्, ननु
अनिर्धारितधर्मप्रकारकत्वमिति नात्र विरुद्धत्वम् । स्वरूपमात्रपरस्यापि लक्षणवाक्यत्वान्निर्धारकत्वं विद्यत एव । निष्प्रकार-
कमपि ज्ञानं संशयनिवर्तकमेवेति पूर्वमेवोपपादितम् । असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्वादिना प्रश्नादधिकविषयत्वाभावेऽपि उत्त-
रत्वं संभवत्येवेति न प्रश्न एवोत्तरं भवति । सत्यादिप्रातिपदिकार्थः, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वा-
दिति न्यायदीपावल्यनुमानमप्येतेन व्याख्यातम् । अत्रच ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यत्वमेव साध्यमिति न सखण्डार्थत्व-
प्रसङ्गः; प्रातिपदिकार्थसूत्रे लिङ्गाद्यवैयर्थ्यार्थं लिङ्गाद्यविशिष्टस्वरूपमात्रपरत्वस्याभियुक्तैरुक्तत्वाच्च । सत्यादिवाक्येषु विशेष-
णेषु सत्त्वपि न तद्गोचराकाङ्क्षोत्थापनम्; व्यावृत्तिबोधनमात्रेणापि सार्थक्यात् । व्यावृत्तिविशेषणबोधश्च विशेषणपर-
त्वाभावेऽपि तद्भारकस्वरूपज्ञानमात्रेणैवोपपद्यते । निष्प्रकारकज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यस्योपपादितत्वेन सप्रकारकब्रह्म-
ज्ञानमोक्षसाधनतायां ब्रह्मविदित्वादेस्तात्पर्यभावादिति न तदनुसारेणापि सखण्डार्थत्वम् । महातात्पर्यमादाय लक्षणवाक्य-
स्याप्यखण्डार्थत्वमिष्टमेव । भेदाभावादीनां ब्रह्मस्वरूपत्वेनैकधैवानुदष्टव्यमित्यादिवाक्यं ब्रह्मानन्तशब्दौ च विषयबोधकतर्का
इति न सत्यादिवाक्यसखण्डार्थत्वसिद्धिः । द्वारतयोपस्थितैक्यभेदाभावादिविरोधेन मुख्यार्थत्यागोऽप्युपपद्यत एव । तच्चैक्य-

भेदाभावादि ब्रह्माभिन्नं सत्यमित्यङ्गीकारे न कोऽपि दोषः । आकाङ्क्षायोग्यतासत्तीनामन्वयगर्भत्वाभावाच्च वेदान्ताखण्डार्थत्वे वाक्यत्वानुपपत्तिः । अस्तु वा संसर्गविषयकत्वेनैव वाक्यत्वम्, एवमपि संसर्गस्य भेदघटितत्वनियमाभावेनाभेदसंसर्गमादायाखण्डार्थलोपपत्तिः । **एतेन**—अनाद्यविद्योपहितचिद्विषयत्वेन वेदान्तसार्थक्यमपि—**सूचितम्**; निष्प्रकारकत्वेऽपि ज्ञानमुपपद्यते इति न निष्प्रकारकत्वे ज्ञानत्वानुपपत्तिः । एवंच असाधारणस्वरूपबुभुत्साया उपपादितत्वात् न वेदान्तानामबुभुत्सितार्थत्वापत्तिः । **एतेन**—विचारविधिप्रथमाध्यायतृतीयपादाधिकरणारम्भाद्युपपत्तिरपि—**व्याख्याता**; कल्पितप्रकारावलम्बनेन पूर्वपक्षादिसंभवादिति मन्तव्यम् । सत्यादिपदानामखण्डार्थत्वं लक्ष्यम् । लक्षणा च शक्यसंबन्धरूपा प्रकृतेऽस्त्येव । तत्र च तात्पर्यानुपपत्तिरेव वीजम् । लक्ष्यार्थभेदेऽपि वाच्यार्थभेदान्न पर्यायत्वशङ्कोपपद्यते । उपहितवृत्तेरुपधेयवृत्तित्वात्सत्यत्वादीनां शुद्धलक्षणत्वमुपपद्यत एव । **तदुक्तम्**—आकाशादौ सत्यता तावदेकेत्यादि । व्यावृत्तिभेदमात्रेण पदान्तरसार्थक्यम् । सत्यत्वादित्वात्पर्याभावेऽपि आपाततः प्रतीतिमात्रेणासत्यव्यावर्तकत्वमुपपद्यत एव । **एतेन**—नद्यादिपदलक्ष्येऽनदीत्ववत् सत्यादिपदलक्ष्येऽसत्यत्वापत्तिरपि—**परास्ता**; सत्यादिपदे जहलक्षणानभ्युपगमात् । नहि तीरे नदीत्वमिव ब्रह्मणि सत्त्वम् न प्रतीतम् । अच्युतादिव्यावृत्तयश्च ब्रह्मणि ब्रह्मरूपाः पारमार्थिका अपि व्यावर्तकपारमार्थिकत्वं न सिद्ध्यति । नहि बोध्यबोधकयोः समानसत्ताकत्वम्, येन पारमार्थिकव्यावृत्तिबोधकस्य व्यावर्तकस्य पारमार्थिकत्वमाशङ्क्यते; पदतदार्थादौ व्यभिचारात् । ब्रह्मरूपाया अपि व्यावृत्तेः सामान्यतः सिद्धाया अपि अच्युतादिव्यावृत्त्याकारेण बोधः सत्यादिपदेनैवेति न तत्पदवैयर्थ्यम् । यथाचाज्ञानादिव्यावृत्तीनामन्योन्याभेदेऽपि सत्यादिपदसार्थक्यम् तदप्येतेन सूचितम् । अनृतव्यावृत्तिरिवानृतत्वमप्येकबाधकबाध्यत्वेन मिथ्यैवेति तन्मिथ्यात्वपक्षोऽप्युपपन्नः । व्यावृत्तेश्चास्या बोध्यमानाया अधिष्ठानतत्त्वशास्त्रात्कार एवोपायत्वान्न तद्वोधनवैयर्थ्यम् । यथाह्यनृतोऽप्यर्थवादार्थः सत्ये प्राशस्त्ये उपायः, एवं प्रकृतेऽपीति “सत्ये ब्रह्मणि सत्यादिशब्दा व्यावृत्तिद्वारा पर्यवस्यन्ती”त्युक्तिरपि व्याख्याता । आर्थिकस्याप्यर्थस्य तात्पर्यविषयस्वरूपनिर्णयद्वारत्वमप्युपपन्नमेव । सत्यज्ञानादिपदैरनृततादिव्यावृत्तिद्वारैकस्यैव बोध्यमानत्वेऽपि समुचितद्वारत्वमेवाङ्गीकृतमिति नानुपपत्तिः, पदान्तरवैयर्थ्यं वा । “आनन्दादयः प्रधानस्ये”त्यादौ निर्गुणप्रतिपत्तौ सर्वशाखोपसंहारवर्णनमप्यत एवोपपद्यते । शून्यवादव्यावृत्तब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्तिर्हि न सर्वगुणोपसंहारमन्तरा सिद्ध्यति । अच्युतादिव्यावृत्तिर्यद्यपि आर्थिकबोधे विशेषणम्; तथापि शाब्दबोधे तदभानान्न सखण्डार्थताप्रसङ्गः । **तदुक्तम्**—“मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः” इति । अनन्तादिपदानामप्येतेन द्वारभूतज्ञान एव सखण्डार्थत्वमिति सूचितम् । **केचित्तु**—वाक्यलक्षणापक्षेण सत्यादिपदवैयर्थ्यं—**परिहरन्ति** । वाक्यलक्षणा च गम्भीरायां नद्यां घोषः प्रतिवसतीत्यत्र प्रसिद्धा । गम्भीरनदीतीरादिलभेन विशिष्टबुद्धिर्हि न प्रत्येकलक्षणायामुपपद्यते । तत्रेव सत्यादिवाक्येऽपि द्वारतया परस्परान्वयो ह्यङ्गीक्रियत एव । गच्छ गच्छसि चेदित्यादिकमपि वाक्यलक्षणोदाहरणमत्रानुकूलमेव । वायुर्देव इत्यादावपि कर्मप्राशस्त्यबोधो लक्षणापेक्ष एवेति वाक्यलक्षणा निरपोहैव । तात्पर्यानुपपत्तिर्हि लक्षणावीजं, नाभिधेयान्वयानुपपत्तिरिति सर्वपदलक्षकत्वे न कोऽपि दोषः । पदाभिहितपदार्थबोध्यस्वरूपं लक्ष्यत्वं सर्वत्रापि वाक्यार्थस्याविशिष्टमिति “सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति नः स्थित”मिति वार्तिकमपि व्याख्यातं भवति । अन्वितभिधानवादाङ्गीकारे तु एकदेशत्यागेन शक्यार्थस्यैवात्र भानान्न सर्वपदलक्षणिकत्वनिवन्धनाननुभावकत्वमिति सर्वमनवद्यम् । एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वानुमानमपि—तत्त्वमस्यादिवाक्यम्, अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वात्, अखण्डार्थम्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवदित्याकारकमुपपन्नमेव । सोऽयं देवदत्त इत्यत्र हि न तद्देशकालविशिष्टे एतद्देशकालवैशिष्ट्यं एतद्देशकालविशिष्टे तद्देशकालवैशिष्ट्यं तद्विशेषणयोरैक्यं तद्विशिष्टयोरैक्यं वा बोध्यते; यथायोगं तद्देशकालादेरिदानीं एतद्देशकालादेरन्यदाच सत्त्वापत्त्या बाधेन च तदयोगात् । दण्डी कुण्डलीत्यादावपि विशेष्यमात्रस्यैवाभेदो बोध्यते, नतु विशेषणयोर्विशिष्टयोर्वा । सोऽपि तत्र लक्षणयैव । एवमपि तत्र विशिष्टतात्पर्यान्नाखण्डार्थत्वव्यवहारः । “अयं स वा न वा” इति संशयविपर्ययाभेदमात्रस्यैवात्र बुभुत्सितत्वात् सोऽयमिति वाक्यमखण्डार्थम् । तत्तेदन्तोपस्थितिद्वारकाभेदबोधस्यैव भेदभ्रमविरोधित्वात् न पदान्तरवैयर्थ्यादिकम् । **एतेन**—अभिज्ञाद्वयस्य प्रत्यभिज्ञायाश्च प्रमेयवैलक्षण्यभावेऽपि उभयोपस्थितिद्वारकाभेदज्ञानस्यैव भेदभ्रमविरोधित्वात् फलवैलक्षण्यमपि—**सूचितम्** । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्ये कार्यबोधकत्वं सामानाधिकरण्यमिति प्राचीनानां वचो ज्ञाननिष्प्रकारकत्वेऽप्युपपन्नमेव । **तदयं निष्कर्षः**—सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षरूपादिविशिष्टाभेदविषयकत्वस्य बाधितत्वात् स्वरूपाभेदमात्रगोचरा । अभेदश्चात्र न प्रकारः; स्वरूपरूपत्वेन प्राधान्यात् । **एतेन**—शाब्दप्रत्यभिज्ञापि—**व्याख्याता** । सप्रकारकनिष्प्रकारकत्वाभ्यां फलतश्चाभिज्ञातो वैलक्षण्यमपि निरूपितप्रायमेव । सार्वज्ञ्याद्युपलक्षिताभिन्नस्वरूपमात्रज्ञानं ह्यज्ञाननिवर्तकं नावान्तरवाक्यैरेकैकं वा पदेन जायते इति महावाक्यवैयर्थ्यादिकमत्र प्रसरति । अत्र च ज्ञाने न सार्वज्ञ्यादिकं तदुपलक्षितत्वादिकं वा प्रकार इति नाखण्डार्थत्वहानिः । प्रमेयाविशेषेऽपि शङ्क्यैत्यानुमानतत्प्रत्यक्षयोस्तत्प्रत्यक्षस्यैव शङ्क्यपीतिमभ्रमनिवर्तकत्वेन प्रमेयावैलक्षण्यं न फलावैलक्षण्यप्रयोजकम् । **एतेन**—अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेष इत्यादिविवरणाद्युक्तिरपि—**व्याख्याता** । **अयमाशयः**—नहि प्रत्यभिज्ञायामैक्यं प्रकार इति कस्यचिन्मतम्; तस्य भेदविरहरूपस्य स्वरूपत्वात् । अतएव हि सोऽयमेक इति न

तदभिलाषः, येन सखण्डार्थत्वापत्तिः । एतदभिप्रायमेव—उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैकः प्रतिपाद्यते । तदपि स्यादखण्डार्थं महत्त्वं कुम्भखं यथेत्यादिकल्पतर्वाद्युक्तमपीति सिद्धमिदं यत्तत्त्वमस्यादिवाक्यसखण्डार्थनिष्ठमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वं नाखण्डार्थनिष्ठत्वम्; सर्वस्यापि पदवृत्तिस्मारितत्वेन तदतिरिक्तस्याप्रसिद्धेः । खण्डकपदवृत्तिस्मारितत्वविवक्षणे तु स्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वं किं तदतिरिक्तगोचरप्रमाजनकमिन्नत्वम् ? उत स्मारितमात्रगोचरप्रमाजनकत्वम् । **आद्ये** घटः कर्मलमित्यादौ खण्डोपात्तगामानयेति वाक्यघटकगोपदवृत्तिस्मारितातिरिक्त-संसर्गप्रमाणपक्षेऽतिव्याप्तिः, एवंपदशब्दस्य प्रमाणशब्दपरत्वेऽपर्यायेति वितथम्; लन्मते पर्यायाणामप्रमाणत्वात् । **द्वितीये** सत्यादिवाक्यानुवादत्वापत्तिः, सत्यादिपदानां विशिष्टशक्तत्वेन तस्यैव पदस्मारिततयाऽखण्डस्य स्मारितमिन्नत्वात् । शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकाविति तु धर्मिभेदविषयत्वात् सखण्डार्थमेव । “चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता विकास-लक्ष्मीः कुमुदेषु चञ्चला । मुखप्रसादः सधनेषु नित्यं यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम् ।” इत्यत्रेवैकस्मृत्युपाखण्डा-नामेकत्रान्वयेनात्र वाक्यभेद एव विवक्षित इति न युक्तम् । प्रकृतपदार्थसंसर्गयोग्यतादिमत एव वाक्यत्वाद्वैक्य-त्वाखण्डार्थत्वयोर्विरोधश्च । **एतेन**—एकप्रातिपदिकार्थपर्यवसायनेकापर्यायशब्दत्वमपि न तल्लक्षणमिति—**सूचितम्**; तत्रैकत्वस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वरूपत्वेन विशिष्टार्थस्याप्यखण्डार्थलोपपादनेऽविशिष्टमखण्डमिति लन्मतहानेः, एता-दृशाखण्डार्थत्वस्य सगुणवाक्यसाधारणस्य मदनिष्ठत्वाभावाच्च । अत्र च सत्यादिपदानां पर्यायत्वादसंभवोऽप्यपरिहार्य एव । यावता च नाखण्डार्थलक्षणाभावः; तावता सत्यादिवाक्याखण्डार्थत्वानुमानमपि न संभवदुक्तिकम् । साध्याप्रसिद्धेः, नचानुमानेन तत्सिद्धिः; अप्रयोजकत्वात् । निर्विकल्पकं प्रत्यक्षादिकमपि न प्रामाणिकम् । शुद्धब्रह्मणि सत्यत्वाद्यभावात् न सत्यादिवाक्यं ब्रह्मलक्षणपरमिति लक्षणवाक्यत्वमसिद्धम् । **एतेन**—स्वरूपलक्षणतापि—**परास्ता**; स्वरूपस्य सामान्यतो ज्ञाने लक्षणस्यानपेक्षितत्वात् । अपेक्षायामपि तेन सखण्डार्थत्वमेव स्यात् । **एतेन**—दृष्टान्तासिद्धिरपि—**व्याख्याता**; विषयविशेषानवगाहने पूर्वोत्तरज्ञानयोरसंशयानिवर्तकत्वेन संशयनिरासः स्वरूपमात्रविषयत्वे लक्षणवाक्यादपि न स्यादेव । प्रकृष्टप्रकाशवाक्ये च धर्मप्रश्न एव विवक्षित इति चन्द्रसंबन्धिप्रकाश एव विवक्षणीय इति सखण्डार्थत्वमेव । नहि निष्प्रका-रकं ज्ञानं संशयनिवर्तकम् । व्यावृत्ताकारज्ञानस्यापि स्वरूपमात्रविषयकत्वेन निवर्तकत्वेऽनुवृत्ताकारज्ञानादपि संशयादिनिवृत्ति-प्रसङ्गः । सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः, संसृष्टरूपः, संसर्गरूपो वा प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, संमतवत् सत्यादिवाक्यम्, स्वतात्पर्यविषयज्ञानावाध्यसंसर्गपरम्, स्वतात्पर्यविषयज्ञानावाध्यस्वरूपकरणकप्रमितिविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा । प्रमाणवाक्य-त्वात्, अग्निहोत्रादिवाक्यवत्, इत्यादिसत्प्रतिपक्षानुमानैरपि तदखण्डार्थत्वानुमानं नावसरं लभते । संसर्गस्यापि संसृष्टत्वेन पदार्थरूपे तत्र तात्पर्याभावाच्च प्रथमानुमाने न तत्र व्यभिचारः । संसर्गनिरूपकत्वस्यैव साध्यत्वात् द्वितीयानुमाने न संसृष्टरूपे व्यभिचारः । अप्रमाणवाक्येऽपि पदार्थावाधस्य तत्प्रमितेश्च सत्त्वात् संसर्गावाधप्रमित्योरेव प्रमाणवाक्यलोपपादकत्वान्नाप्रयो-जकताशङ्कान्नावकाशं लभते । **एतेन**—उक्तसत्प्रतिपक्षानुमानेऽलक्षणवाक्यलोपाधिवर्णनमपि—**परास्तम्**; लक्षणवाक्यसंसर्ग-परत्वनियमेन व्यतिरेकव्यभिचारेणानुपाधित्वात् । एतेनानुमानान्तराण्यपि समर्थितानि सूचितानि । नचात्र प्रश्नोत्तरवैय-धिकरण्यापत्तिः प्रतिकूलतर्कः । नहि स्वरूपमात्रे ज्ञाते प्रश्नो युज्यते । नहि असंकीर्णत्वं विपर्ययविरोधिफलोपहितत्वं स्वरूपमात्रे युज्यते । नापि वा तादृशस्वरूपविषयत्वेनाखण्डार्थत्वम् । अन्यथा प्रश्नोत्तरयोरुभयोरपि समानविषयत्वे चन्द्रबुभुत्सानिवर्त-कचन्द्रप्रश्नोत्तरत्वं न स्यात् । अत एवात्रोद्देश्यविधेयभावोऽप्युपपद्यते । नह्येकमेवोद्देश्यं विधेयं च संभवति । एवंच विशि-ष्टतात्पर्याभावे या काचिद्व्यक्तिरेवात्र बोध्या स्यादिति प्रकृष्टादिवाक्यमिव सत्यादिवाक्यमपि सखण्डार्थमेव ।

एतेन—द्वितीयानुमानमपि—**पराहतम्**; पूर्वोक्तरीत्या सत्प्रतिपक्षादिप्रसारात् । प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यमपि परिहृत-मेव । सत्त्वं ज्ञानमिति उत्तरानुसारेण कल्प्यस्य प्रश्नस्य धर्मविषयकत्वमेव युक्तम् । “अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मे”ति “तमेवं विदिवातिमृत्युमेती”त्यादिवाक्यानुसारेण सगुणनारायणात्मकब्रह्मज्ञानस्यैव पुरुषार्थत्वेन सगुणस्यैव बुभुत्सितत्वात् । अत-एव कतर आत्मेति तरप्रत्ययोपपत्तिः । नह्यनिर्धारितनिर्धारणत्वमपि धर्मविशेषप्रकारतां विनां सिद्ध्यतीति प्रश्नोत्तरत्वं सखण्डार्थत्वस्यैव साधकम् । **एतेन**—महातात्पर्यमादायालक्षणवाक्यानामपि ब्रह्मपरत्वमिष्टमेवेति—**परास्तम्**; नहि भेदाभावादिकं कल्पितप्रतियोगिताकादिकं ब्रह्मरूपम् । तत्त्वेऽपि सत्त्वादीनामपि तद्रूपत्वेन ममेष्टापत्तिः । ऐक्यादिवाक्ये कल्पितैक्यस्य द्वारत्वेनोपादाने सत्यादिवाक्यसखण्डार्थत्वं न विरुद्धमेव । ब्रह्मानन्तशब्दौ तु सगुणपरावेवेति तत्र तत्र निरूपितमिति न तदन्यथानुपपत्तिरपि सखण्डार्थत्ववाधिका । **एतेन**—सत्यादिपदानां लक्षणया स्वरूपमात्रपरत्वे ज्ञानादिपदवैयर्थ्यमपि—**सूचितम्** । नहि व्यावर्तकवैशिष्ट्यबोधनं विना व्यावृत्तिबोधनं संभवति, येन कुमतप्राप्तातिव्याप्ति-निरासेन साफल्यम् । **वस्तुतस्तु**—स्वरूपमात्रतात्पर्यं कुत्रापि न दृष्टमिति तदन्यथानुपपत्त्या न लक्षणेति सत्यादि-

पदलक्षकत्वमपि बाधितमेव । किंच सत्यपदलक्षकत्वे गङ्गापदलक्ष्यस्यानदीत्ववत् ब्रह्मणोऽपि प्रमाणान्तरेणानधिगतसत्त्वस्य शब्देनापि सत्त्वाबोधनेनासत्त्वप्रसङ्गः । अतः सर्वथा सत्यादिपदलक्षणायां नाखण्डसद्रूपब्रह्मसिद्धिरिति तत्सखण्डार्थत्वमेव युक्तम्, अतएव—तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वमपि—परास्तम्; तत्र प्रमाणाभावात् । नचानुमानं प्रमाणम् दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । सोऽयं देवदत्त इत्यत्र हि दण्डी कुण्डलीत्यादाविबोपहितयोरेवाभेदो विषयीक्रियते, नतु स्वरूपमात्रम् । तस्य प्रागेव ज्ञाततया प्रत्यभिज्ञादिवैयर्थ्यात् । अयं स न वेति भेदसंशये हि प्रतियोगितावच्छेदकादिभानं नियतमिति; तत्समानयोगक्षेमत्वाय सोऽयमित्यत्र किंचिद्रूपेणैवैदंपदार्थादिभानमपेक्षितमिति सखण्डार्थमेव । एवंच स्वरूपमात्राबुभुक्षितत्वेन तत्कालसंबन्धस्यैव बुभुक्षितत्वात्सखण्डार्थत्वमेव । अस्तु वा तत्तोपलक्षितेदंतोपलक्षितयोरभेद एवात्र बोध्यते इति, एवमपि देवदत्तत्वेनाभेदत्वेन च भेदात् स्वरूपस्यापि तस्य प्रकारत्वमेवेति सखण्डार्थमेव । अन्यथाऽभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञाया विशेषो न सिद्धेत् । फलवैलक्षण्यं तु कारणवैजात्येन प्रमेयवैलक्षण्येन वा स्यात् । नचेह कारणवैजात्यमपीति प्रत्यभिज्ञादिवैफल्यं तदवस्थमेव । एतेन—अवान्तरवाक्येनैकपदेन वेष्टसिद्ध्या महावाक्यादिवैफल्यमप्यखण्डार्थत्ववादिनां प्रसरतीति—सूचितम्; एवंचैकाधिकरण्यरूपकालद्वयसंबन्धगोचरा प्रत्यभिज्ञा, अभिज्ञा तु नेति प्रमेयवैलक्षण्यमपि सिद्धमेवेति विवरणाद्युक्तिरपि पराहतेति सर्वं सुस्थमिति ब्रह्मानन्तगुणमेव वेदान्तार्थ इति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

खण्डकपदवृत्तिस्मारितेत्यत्र स्वत्वस्याननुगतस्य निवेशेन वृत्तिपदेन शक्तिलक्षणाकृतद्धितसमासान्यतमपरत्वाङ्गीकारेण च सर्वदोषनिरासात् खण्डकपदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वं स्मारितमात्रगोचरप्रमाजनकत्वरूपमेव विवक्षितमिति न कोऽपि दोषः, एवंच सत्यादिवाक्यमखण्डार्थमेव । तत्र च सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं लक्षणवाक्यत्वादित्यनुमानं प्रमाणम्; निर्विकल्पकमपि प्रामाणिकमेव । प्रमात्वम्; संसर्गागोचरवृत्तिः, सकलप्रमावृत्तित्वादित्यनुमानेन तु साध्यसिद्धिः, प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्त्या तु नाप्रयोजकता । सामान्यतो ज्ञातेऽपि स्वरूपे व्यावृत्तस्वरूपेण ज्ञानार्थं स्वरूपमात्रपरलक्षणवाक्यमप्यपेक्षितम् । एतेन—लक्षणवाक्यत्वेन सखण्डार्थत्वाद्विरोधोऽपि परास्तः; नहि धर्मस्यैव व्यावर्तकत्वं, किंतु स्वरूपस्यापीत्यप्रयोजकत्वात् । एतेन—स्वरूपमात्रविषयकज्ञानसंशयादिनिवर्तकत्वमपि—व्याख्यातम् । एतेन—सत्प्रतिपक्षानुमानान्यपि—प्रत्यस्तानि । प्रथमे चन्द्रलादिसंसृष्टपरत्वमादाय सिद्धसाधनवारणार्थं सत्यादिवाक्यखण्डकपदार्थानामेको विशिष्टापररूप इति साध्यस्य द्वितीयानुमाने ब्रह्मण्यपि अविद्यादिसंबन्धसत्यादिविशिष्टतादात्म्यनिरूपकत्वेन सिद्धसाधनवारणार्थं संसर्गनिरूपकत्वेन तात्पर्यविषय इति साध्यस्यैव च विवक्षणेन संसृष्टसंसर्गयोर्व्यभिचारात् । एतेन—अलक्षणवाक्यत्वोपाधित्वमपि—व्याख्यातम्; संदिग्धोपाधित्वस्य तत्र संभवात् । विपर्ययविरोधिफलोपहितत्वमित्यत्र फलस्य न विशेषणत्वम्, किंतुपाधित्वमिति नासंकीर्णस्वरूपविषयत्वेऽपि सखण्डार्थत्वमिति स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वादीनां सर्वेषामपि सत्यादिवाक्याखण्डार्थत्वेऽप्युपपत्त्या सत्यादिवाक्यमखण्डार्थमेव ।

एतेन—तन्मात्रप्रश्नोत्तरहेतुकतदनुमानमपि—व्याख्यातम्; सर्वेषामपि वेदान्तानां नित्यशुद्धमुक्ताद्वितीयपरमात्मस्वरूपसमर्पणेनैव पर्यवसानात् प्रश्नाश्रवणेऽपि एकधैवेत्यादिवाक्योपपत्त्यर्थं स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वादीनामेव कल्पनीयत्वात्, सहस्रशीर्षत्वादेरपि द्वारतयैवोपयोगेन विशिष्टे तमेवं विद्वानमृत इह भवतीत्यादीनामप्यतात्पर्यात् तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वं नासिद्धम् । यथाचैक्यादीनां ब्रह्मस्वरूपत्वं तथोपपादितमन्यत्र विस्तरेण । एतेन पदान्तरवैयर्थ्यमपि परिहृतं भवति । ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिकं सत्यत्वं द्वारतया श्रुत्या बोधितमिति न तच्छून्यत्वापत्तिरिति सत्यादिपदानां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वमात्रपरत्वे न काप्यनुपपत्तिः । इत्थंच महावाक्याखण्डार्थत्वानुमानमपि दृष्टान्तसाध्यवैकल्याप्रसक्त्या समीचीनमेवेति मन्तव्यम् । दण्डी कुण्डली इत्यत्रोपहिताभेदात्तात्पर्येऽपि प्रकृते भेदधीविरोध्यभेदज्ञानं तात्पर्यानुसारेण स्वरूपमात्रविषयम् । तत्तेदंतोपलक्षिताभेदश्च स्वरूपमेव । सच तुरीयविषयताशाल्येवेति न सप्रकारकत्वम् । नहि स्वरूपे रूपभेदः येनाभेदत्वेन प्रकारताद्युपपद्येत्यभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञाविशेषोऽपि फलवैलक्षण्यनिबन्धन एव, नतु प्रमेयविशेषाधीनः । नहि भेदांशे प्रतियोगिन इदमो वा किंचिद्रूपेणैव भानमिति नियमः, येन संशयवत् प्रत्यभिज्ञानस्यापि सखण्डार्थत्वप्रसङ्गः; उभयोरप्यखण्डविषयत्वात् । एवंच सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवत् तत्त्वमसीति महावाक्यमप्यखण्डार्थमेव । अन्यतमपदवैयर्थ्यादिदोषस्तु सिद्धावेव परिहृतः, न्यायरत्नावल्यां विस्तरेण परिहृतश्च । अत्र शुद्धब्रह्मणः सत्यादिवाक्ये महावाक्येचोपस्थितिरसौषुप्तानुभवनबन्धनाऽसंप्रज्ञातसमाधिनिबन्धना वेत्यादि न्यायरत्नावल्यां बहु व्यतायतेति तत एव द्रष्टव्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति अखण्डार्थत्वलक्षणतत्प्रमाणयोर्निरूपणम् ॥

अथ ब्रह्मनिर्गुणत्वोपपत्तिः ।

कैवल्यश्रुत्या तावदात्मा निर्गुणः । ननु—‘वृहन्तोऽस्य धर्मा’ इति श्रुत्या ‘ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यदुणांशकः । नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा ॥’ इति स्मृत्या च ब्रह्म, धर्मवत्, पदार्थत्वादित्याद्यनुमानेन च स्वसमानसत्ताकधर्मवत् ब्रह्मेति—चेत्, मैवम्; न तावच्छ्रुत्या सगुणत्वसिद्धिः । सगुणप्रकरणस्थाया उपास्तिविधिविषयविशेषणसमर्पकत्वेन तत्परत्वाभावात् । नचापूर्वत्वात् सत्यकामादौ विशेषणे तात्पर्यम्; अपूर्वत्वेऽप्यन्यशेषस्यातत्परत्वदर्शनात्, यथाहि ‘जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात् गवीधुकयवाग्वा वा जुहुया’दित्यादौ जर्तिलयवाग्वादेर्होमसाधनत्वस्य ‘अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चे’ति निन्दायाश्च ‘अजक्षीरेण जुहोती’ति विध्यैकवाक्यतया अतत्परत्वं, तथैवात्राप्युपपत्तेः, निर्गुणप्रकरणस्थायास्तु अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलनिषेधापेक्षितविषयसमर्पकतया अन्यथासिद्धेः । नच—‘किञ्चने’त्यादिसामान्यवाचकपदेनैव ब्रह्मातिरिक्तसर्वनिषेधोपस्थितौ विशेषग्रहणमनर्थकमिति—वाच्यम्; अलौकिकतया वाक्यप्रमेयत्वभ्रमव्युदासार्थत्वात् । अतएव—श्रुतिप्राप्तस्य श्रुत्या निषेधे अहिंसावाक्यम् अग्नीषोमीयहिंसायाः; अग्रहणवाक्यं च षोडशिग्रहणस्य, असद्वेत्यादिवाक्यं ब्रह्मसत्त्वस्य भेदवाक्यं चैक्यस्य निषेधकं स्यादिति—निरस्तम्; प्रकृते श्रुतिप्राप्तस्यैवाभावात् । श्रुतिप्राप्तत्वं हि न तत्प्रसक्तत्वम्; अतिप्रसङ्गात्, तत्प्रमितत्वस्य च प्रकृते अभावात् । अहिंसावाक्यस्यावैधर्हिंसाविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वे ग्रहणाग्रहणवद्विकल्पापत्तेः । ग्रहणाग्रहणवाक्ययोस्तु सत्यपि समानविषयत्वे एकस्याधिकवत्त्वाभावेन बाध्यबाधकभावस्यासंभावितत्वात्, अन्यथा विकल्पानाश्रयणप्रसङ्गात् । असद्वाक्यभेदवाक्ययोस्तु न ब्रह्मसत्त्वैक्यनिषेधकता; सत्त्वैक्यबोधकयोरेव तत्परत्वेन प्राबल्यात् । नाप्यनुमानं ब्रह्मणि तात्त्विकधर्मसा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कैवल्यश्रुत्या ‘केवलो निर्गुण’ इति श्रुत्या । स्वसमानसत्ताकधर्मवद्ब्रह्मेति । बाधकाभावेनोक्तश्रुत्यादेरुक्तधर्मबोधकत्वमित्यभिमानः । विषयविशेषणेति । विषयीभूतब्रह्मांशे प्रकारीभूतधर्मैतर्थाः । ब्रह्मणि धर्मविशेषप्रकारकोपासनाविधायकत्वेनोक्तश्रुतेन ब्रह्मणो धर्मवैशिष्ट्ये तात्पर्यमिति भावः । अपूर्वत्वात् मानान्तरेणाबाधितत्वादप्राप्तत्वाच्च । विशेषणे तात्पर्यमिति । सत्यकामादिरूपं ब्रह्मोपासीतेति वाक्ये सत्यकामत्वादेर्द्वितीयार्थप्रकारत्वेऽन्वयात् प्रकारतायाश्च ब्रह्मविशेष्यकत्वावच्छेदेनोपासनायामन्वयात् ब्रह्मणि सत्यकामत्वादिप्रकारकोपासनायां तात्पर्येऽपि ब्रह्मणि सत्यकामत्वादिवैशिष्ट्यस्य मानान्तरेणाप्राप्तत्वादबाधितत्वाच्च तत्परत्वमप्युक्तश्रुतेरास्तामिति भावः । एकवाक्यताभङ्गापत्तेरुक्तोपासनापरश्रुतेनोक्तवैशिष्ट्ये तात्पर्यमिति सदृष्टान्तमाह—अपूर्वत्वेऽपीत्यादि । मानान्तरेणाबाधिताप्राप्तार्थकत्वेऽपि । अन्यशेषस्य अन्याथैपरवाक्यवृत्तकस्य । अतत्परत्वदर्शनात् स्वीयोक्तार्थपरत्वाभावदर्शनात् । होमसाधनत्वस्य होमसाधनत्वबोधकभागस्य । तथैवेति । ‘जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात् गवीधुकयवाग्वा वा न ग्राम्या पशून् हिनस्ति नारण्यानथो खल्वाहुरनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च पयसाऽग्निहोत्रं जुहुया’दित्यग्निहोत्रे श्रुतम् । तत्र जर्तिलयवाग्वेत्यादिना विहितयोर्जर्तिलगवीधुकयवाग्वाोरनाहुतिरित्यादिनिन्दया प्रतिषेधकल्पनात् तयोर्विधिप्रतिषेधाभ्यां विकल्पः, पयसेत्यादिकं तु पयोविधिः; वाक्यभेदस्तु न दोषः; पृथगाख्यातश्रवणादिति प्राप्ते, जर्तिलयवाग्वेत्यादेर्विधित्वेऽपि अनाहुतिरित्यादिकं न विकल्पतात्पर्यकम्; तद्विधिनापि पयोविधिवलेनैव ब्रीहियवन्यायेन विकल्पसिद्धेः, किंतु ‘नहि निन्दाव्यायेन’ पयःस्तुतिपरम् । वस्तुतस्तु—जर्तिलयवाग्वेत्याद्यपि न विधिः, किंतु पशुनिन्दाद्वारेण पयःस्तुतिपरम्; वाशब्दं विनापि ब्रीहियवन्यायेन विकल्पबोधसंभवेन वाशब्दस्यान्यथा वैयर्थ्यात् । तस्मात् ‘विषं वा भुङ्क्ष्व विष्णुमपूजयित्वा न भुङ्क्ष्व विषभोजनं मरणहेतुः विष्णुं पूजयित्वा भुङ्क्ष्वे’त्यादाविवान्यनिन्दापादनद्वारान्यस्तुतिपरं प्रथमवाक्यमिति पयोविध्यैकवाक्यत्वापन्नमेव जर्तिलादिवाक्यमिति दशमाष्टमे स्थितम् । तथाच तद्वदुपासनाविध्यैकवाक्यत्वाय विशिष्टोपासनापरमेव सगुणवाक्यम्, ननु ब्रह्मणि गुणवैशिष्ट्यपरमिति भावः । अजक्षीरेण जुहोतीति वाक्यं तु शाखान्तरीयम्, अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुहोतीत्यापस्तम्बशाखायां पाठात् । उक्तंच संक्षेपशारीरके—‘यथाह्यजक्षीरविधेः समीप’ इति । निर्गुणप्रकरणस्थायाः ‘य आत्मापहतपाप्मे’त्यादिसत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्य’ इत्यस्याः । विषयसमर्पकतया प्रतियोगिसमर्पकतया । वाक्यप्रमेयत्वेति । सगुणोपासनाव्याक्यप्रमेयत्वैतर्थाः । अतिप्रसङ्गादिति । श्रुतिप्रसक्तस्य श्रुत्या निषेधे विकल्पस्वीकारे ‘न कलजं भक्षये’दित्यादि वाक्यगतकलजं भक्षयेदित्यादेरपि मानान्त-

धनायालम् । तथाहि—ब्रह्म, धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवत्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद्वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, स्वज्ञानाबाध्यधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, धर्मैर्भावरूपधर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते वा, पदार्थत्वात्, अथवा भावत्वात्, घटवत् । ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्, ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवत्, दुःखानात्मकत्वात्, घटवत्, ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारविशेष्यम्; सन्दिग्धत्वात्, विचार्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाद्वा स्थाणुवत्, ब्रह्म, वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा कर्मकाण्डविचारविषयो धर्मः । ईश्वरः सदावाप्तसम्स्तकल्याणगुणः, सदाप्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्, यो यदा यत्प्रेप्सुर्यत्र शक्तः स तदा तद्वाप्त यथा चैत्रः । ईश्वरः, सदा त्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तस्यागे शक्तत्वात्, यश्चैवं स तथा, यथा चैत्र इत्याद्यनुमानेषु धर्मिपदस्वपदयोर्यत्किञ्चिद्विद्वन्मिथ्यात्किञ्चित्संबन्धिपरत्वे घटादिसमसत्ताककल्पितधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम्, ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः; घटादिधर्मं ब्रह्मसमानसत्ताकत्वादेरप्रसिद्धेः । नच—दृष्टान्ते साध्यनिरूपणे तदेव धर्मी, पक्षे तन्निरूपणे ब्रह्मैव धर्मी, धर्मिपदस्वपदादीनां समभिव्याहृतपरत्वादिति—वाच्यम्; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वात् । स्वरूपपदस्याप्येवमेव ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिपरत्वे सिद्धसाधनम् । समभिव्याहृतपरत्वस्य शब्दस्वभावस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वमिति दूषणं पूर्ववत् । धर्मैर्विना नावतिष्ठत इत्यस्य ब्रह्म धर्मव्याप्तमित्यर्थः । तथाच सिद्धसाधनम्, यस्मिन् काले देशे वा ब्रह्म, तत्र धर्माः सन्त्येव । नहि कालो देशो वा धर्मरहितः; मायाचित्संबन्धस्य कालस्य मुख्यसहवृत्तित्वात् । स्वज्ञानाबाध्येत्यत्रापि पूर्ववत् स्वपदार्थविकल्पः । अतएव—स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यधर्मवदिति—निरस्तम्, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवदित्यत्रापि स्वपदार्थविकल्पः पूर्ववत् । दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम् । वेदान्ततात्पर्यगोचरेत्यत्रावान्तरतात्पर्यमादाय सिद्धसाधनम् । मुख्यतस्तात्पर्योक्तौ च वेदान्तवाक्यमुख्यतात्पर्यविषयप्रकाराप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः । नच यत्तद्व्यामनुगमय्य साध्यप्रसिद्धिः,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रप्राप्तभक्षणानुवादित्वेन प्रसञ्जकतया विकल्पापत्तिरिति भावः । ब्रह्म धर्मीत्यादि । ब्रह्मनिष्ठं द्वैताभावं मण्डनमते सत्यमादायार्थान्तरवारणाय सर्वत्र—भावरूपेति । पदार्थत्वस्य पदवाच्यत्वरूपस्य शुद्धब्रह्मण्यसिद्धत्वादाह—भावत्वात् सत्तादात्म्यप्रतियोगित्वात् । घटादाविव ब्रह्मणि सद्रूपेऽपि उक्तप्रतियोगित्वं नासिद्धमिति भावः । प्रकारवत् स्वविशेष्यकधीविशेषणवत् । स्वज्ञानाबाध्यमज्ञाननाशं पञ्चमप्रकारमादाय सिद्धसाधनादाह—स्वारोपितव्यावर्तकेत्यादि । स्वस्मिन्नारोपितात् स्वस्य व्यावर्तकं स्वज्ञानाबाध्यं च तादृशसत्यत्वादिप्रकारवदित्यर्थः । ब्रह्म यदि तादृशप्रकारवत् न स्यात्, तदा किञ्चित्प्रकारकस्य भ्रमनिवर्तकज्ञानस्य विशेष्यं न स्यादित्यनुकूलतर्कलाभाय प्रकारानुसरणम् । प्रेप्सुत्वे प्राप्तीच्छावत्त्वे । तत्र शक्तत्वात् तज्जननानुकूलशक्तिमत्त्वात् । सत्ताकत्वादेरित्यादिना यावद्ब्रह्मस्वरूपमनुवर्तमानत्वसंग्रहः । दृष्टान्ते साध्यनिरूपणे उदाहरणवाक्ये । तदेव दृष्टान्त एव । धर्मी धर्मिपदार्थः । पक्षे तन्निरूपणे प्रतिज्ञानिगमनवाक्ययोः । शब्दस्वभावेति । उक्तशब्दस्वभावेत्यर्थः । अप्रयोजकत्वादिति । पर्वतोऽरुणवह्निमान् धूमात्, 'यो यो धूमवान् स शुक्लवह्निमा' नित्यादिवाक्यस्यानुमानानुपयोगात् येन रूपेण साध्यं प्रतिज्ञातं, तेनैव हेतुव्यापकत्वस्योदाहरणादौ प्रदर्शनीयतया प्रतिज्ञावाक्ये पक्षरूपधर्म्यादिपदार्थघटितरूपेण उदाहरणादौ दृष्टान्तरूपतद्वटितरूपेण साध्यबोधकतेति स्वभावो नानुमानपर्यवसायीति भावः । यत्तु प्रभादृष्टान्तेन प्रमायां पक्षे स्वनिर्वर्त्यत्वादिविशिष्टपूर्वकत्वस्यानुमानं विवरणोक्तमसङ्गतमिति, तन्न । तत्र स्वपदस्य प्रमाप्रभान्यतरपरत्वात् । प्रकृते धर्म्यादिपदस्य पक्षदृष्टान्तान्यतरपरत्वे तु घटादिसमानसत्ताकधर्मवत्त्वादिना सिद्धसाधनम्, एवमन्यतरज्ञानरूपब्रह्मज्ञानाबाध्याप्रसिद्ध्यादिकम् । अत एव स्वोपादानगोचरज्ञानादिमज्जन्यत्वस्य द्रव्यकादौ घटादिदृष्टान्तेन तार्किकाद्यनुमानप्रयोजकन्यायवाक्येऽपि स्वपदमुक्तपक्षदृष्टान्तान्यतरपरमेव । नहि काल इति । ननु—ब्रह्म धर्मशून्यं नेत्येव साध्यम्, तथाच तत्र न सिद्धसाधनम्, मुक्तौ ब्रह्मणो धर्मशून्यत्वादिति—चेत्, भ्रान्तोऽसि; धर्मशून्यमेदस्य धर्मशून्यत्वात्यन्ताभावस्य वा साध्यत्वे तस्य धर्मरूपस्य ब्रह्मण्यविद्याकाले सत्त्वेन सिद्धसाधनतादवस्थ्यात् । दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेनेति । स्वज्ञानाबाध्यं बहुःखव्यावर्तकं दुःखप्रतिद्वन्द्वितावच्छेदकमानन्दत्वं ब्रह्मस्वरूपम्, तद्वत्त्वेनेत्यर्थः । स्वज्ञानाबाध्यत्वे धर्मत्वविशिष्टस्य विवक्षिते तु साध्याप्रसिद्धिर्बोध्या । नच यत्तद्व्यामित्यादि । यत्त्वत्त्वयोः प्राचां मतेऽनुगतत्वात् यो यद्विचारविषयः स

तथा शब्दानुगमस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगात् । ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुण इत्यत्र कालं व्याप्य आप्तगुणत्वस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात् । नहि निर्धर्मकतायां सत्यां कालसंबन्धोऽस्ति । किंच शुद्धस्य पक्षीकरणे हेत्वसिद्धिः, उपहितस्य पक्षीकरणे अर्थान्तरम्; स्वाभिन्नाप्तसमस्तकल्याणगुणत्वेन सधर्मकत्वायोगाच्च, सिद्धसाधनाच्च, कल्याणगुणानामानन्दादीनां नित्यत्वेन तत्प्रेप्सायास्तत्र सामर्थ्यस्य च त्वयापि वक्तुमशक्यत्वाच्च । अतएव—प्रेप्सादिकं प्रज्ञानघनत्वादिति—निरस्तम् । सदा त्यक्तसमस्तदोषत्वे साध्ये चरमवृत्तिपर्यन्तत्यागे सामर्थ्याभावेन हेत्वसिद्धेः । यदा तु तत्सामर्थ्यं, तदा त्यक्तदोषत्वमिष्टमेव । प्रकारवत्त्वादौ साध्ये अप्रयोजकत्वमपि । नच अधिष्ठानत्वसन्दिग्धत्वाद्यनुपपत्तिरेवानुकूलस्तर्कः; अधिष्ठानत्वे हि स्वरोपितव्यावर्तकवत्त्वं तन्नं कल्पिताकल्पितसाधारणमित्युक्तत्वात्, स्वज्ञानाबाध्यत्वविशिष्टधर्मं विना तस्यानुपपत्त्यभावात् । सन्दिग्धत्वमपि व्यावर्तकेन कल्पितेनाकल्पितेन वा रूपेणानिश्चिततयैवोपपद्यत इति तस्यापि नानिश्चितसाध्यधर्मं विनानुपपत्तिः । एवं दुःखानात्मकत्वं दुःखव्यावर्तकस्वरूपतयैवोपपन्नं कदाचिद्वक्तव्यम्; अन्यथा अनवस्थानापत्तेः । नहि व्यावर्तकधर्मोऽपि केवलान्वयी, येन स्ववृत्तिः स्यात् । तथाच तदपि व्यावर्तकधर्मं विनाप्युपपन्नं न तत्साधनायालम् । अनवस्थाभिः कचिद्धर्मैर्विश्रान्तौ पदार्थत्वमपि व्यभिचार्येव । न च स्वस्यैव स्ववृत्तित्वान्न व्यभिचारः; आत्माश्रयात् । न चैवं दृश्यत्वस्यापि स्वस्मिन्वृत्त्या भागासिद्धिः; स्ववृत्तित्वाभावेऽपि स्विनष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तत्रासिद्धताप्रयोजकस्याभावात् । तस्मान्नानुमानं ब्रह्मसमसत्ताकधर्मं प्रमाणम् । किंच श्रुतिः अपरब्रह्मविषया; निर्धर्मक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्तात्पर्यविषयप्रकारवानिति सामान्यमुखी व्याप्तिर्गृहीतुं शक्यते इति विशेषतो वेदान्तमुख्यतात्पर्यविषयप्रकारत्वेन साध्याप्रसिद्धिः प्रकृते न व्याप्तिग्रहविरोधिनीति भावः । शब्दानुगममात्रमेतत् । अनुमाने यत्तत्त्वयोरनुगतत्वे मानाभावादित्याशयेनाह—तथाशब्देति । तयोरनुगतत्वेन व्याप्तिग्रहसंभवेऽप्यनुमितौ विशेषतः साध्यभानस्यावश्यकत्वात् तद्विरोधित्वं साध्याप्रसिद्धेरक्षतम् । सामान्यव्याप्तिस्थले हि सामान्यरूपेण गृहीतव्याप्तिकस्य हेतोर्विशेषरूपेण पक्षे ज्ञानाद्विशेषरूपेण साध्यानुमितिरिति तु ध्येयम् । नहि निर्धर्मकतायामिति । मया मुक्तौ कालसंबन्धानङ्गीकारात् मां प्रति त्वदनुमानं मन्मते सिद्धसाधनप्रस्तमिति भावः । हेत्वसिद्धिरिति । सत्तादात्म्यप्रतियोगित्वादिकमपि तदुपहिते ब्रह्मणि, नतु शुद्ध इति भावः । नच—वेदान्ततात्पर्यविषयत्वेन पक्षत्वान्नासिद्धिरिति—वाच्यम्; उपहितस्य वृत्तिविषयत्वमते तस्यैव तात्पर्यविषयत्वात् । स्वाभिन्नेत्यादि । अवासिस्तादात्म्यरूपा वाच्या । तथाच अत्यन्ताभेदेऽपि त्वन्मते तादात्म्याङ्गीकारात् न गुणानां धर्मत्वसिद्धिरिति भावः । त्वयापीत्यपिना मयापि वक्तुमशक्यत्वं बोध्यम् । नच—उत्तरकालानुवृत्ततया नित्येष्वपि प्रेप्सा शक्तिश्च संभवति मतद्वयेऽपीति—वाच्यम्; तावता कालमात्रे गुणसंबन्धसिद्धावपि मोक्षे तदसिद्धेः । यत्कालानुवृत्ततया यो यत्प्रेप्साशक्तिमान् स तदा तद्वानित्येव हि व्याप्तिः । चरमवृत्तिपर्यन्तं जीवस्य चरमवृत्तिपर्यन्तम् । ईश्वरस्येति शेषः । सामर्थ्याभावेनेति । अविद्यासंबन्धादिकं स्विनष्टमीशेन न त्यक्तुं शक्यते; जीवनिष्ठेन तत्त्वज्ञानेनैव समुच्छेद्यत्वात् । यं प्रति यदज्ञानमावृणोति, तदीयज्ञानेनैव तदज्ञानं तत्प्रयुक्तं चोच्छिद्यते । यदा जीवस्य तत्त्वधीकाले । इष्टमेवेति । जीवेशत्वाविद्यादेः जीवनिष्ठतत्त्वज्ञानेनोच्छेदादिति शेषः । प्रकारवत्त्वादौ स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्त्वादौ । आरोपितव्यावर्तकवत्त्वमारोपिताव्यावर्तकस्तदन्यूनसत्ताको यो धर्मस्तद्वत्त्वम् । अनवस्थानापत्तेः व्यावर्तकधर्मेऽपि व्यावर्तकधर्मान्तरं, तत्रापि तदन्तरमित्यनवस्थानापत्तेः । ननु कस्यचिद्व्यावर्तकस्य स्ववृत्तिस्वीकारात् नानवस्था, तत्राह—नहीति । केवलान्वयीति । केवलान्वयित्वान्यथानुपपत्त्या त्वया मेयत्वादेः स्ववृत्तित्वं स्वीकृतम् । मया तु केवलान्वय्येव न स्वीक्रियते । मेयत्वे मेयत्वान्तरं स्वीकृत्य मेयत्वत्वेन रूपेण मेयत्वसामान्यस्य केवलान्वयित्वं बोध्यते । व्यावर्तकं शुक्तित्वादिकं तु न तवापि केवलान्वयीति न स्ववृत्तिघटाभावादेः स्ववृत्तित्वमपि व्याहतम्; आलोके आलोक इत्यादिवत् घटाभावे घटाभाव इत्यादेरपि प्रातीतिकाधेयत्वविषयकत्वात्, अन्यथा राहोः शिर इत्यादेरपि प्रयोगस्य प्रतियोगिसमानसत्ताकत्वसंबन्धभानत्वापत्तिः । ऐक्ये संबन्धस्येवाधेयत्वस्याप्यसंभवस्तु स्पष्टः । दृश्यत्वस्येति । मिथ्यात्वे साध्य इत्यादिः । स्विनष्टेत्यादि । घटाभावादेः स्ववृत्तित्वमिव स्विनष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमपि नास्ति; घटादिमत्तापत्तेः, स्वस्मिन् स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्वरूपे घटे घटस्य संयोग इति बुद्ध्यापत्तेश्च । अतो दृश्यत्वादेरपि तदुभयास्वीकारात् हेत्वत्यन्ताभावविशिष्टपक्षरूपभागासिद्धिर्नैति भावः । उक्तरीत्या वाक्यभेदापत्तेः सगुणत्वे तात्पर्याभावेऽपि देवताधिकरणन्यायेन सगुणश्रुत्या सगुणब्रह्म प्रमाप्यते, तावतापि शुद्धब्रह्मणो निर्गुणत्वे बाधकाभावः, अविद्याबिम्बत्वाद्युपहितस्यैव सगुणत्वप्रमापणादित्याशयेनाह—किंच श्रुतिरिति । अपरब्रह्म-

श्रुतिविरोधेन विषयभेदस्यावश्यकत्वात् । नच—सगुणातिरिक्तस्य परब्रह्मणोऽद्याप्यसिद्धिः; त्वत्पक्षे तात्त्विकगुणवद्यक्यन्तरस्याभावात्, किंविषयत्वं च सगुणश्रुतेरिति—वाच्यम्; तात्त्विकत्वपर्यन्तस्य सगुणश्रुत्या अविषयीकरणात् निर्धर्मकत्वश्रुत्या शुद्धब्रह्मसिद्धेश्च । तदुक्तमन्तरधिकरणे कल्प-
तरुहृद्भिः—‘निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेत् साक्षात् अपेतोपाधिकल्पनम् ॥’ इति । अत
एव स्मृतिसूत्राभ्यां न विरोधः । नच—सगुणे ‘परः पराणा’मित्यादिस्मृत्या परादपि परत्वं स्म-
र्यते, तथाच कथं सगुणवाक्यानामपरब्रह्मविषयत्वमिति—वाच्यम्; जडापेक्षया परः किञ्चिज्ज्ञः
तदपेक्षया सर्वज्ञस्य शुद्धापेक्षयाऽपरस्यापि परत्वात् । नच—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदसद्वा
इदमग्र आसी’दिति श्रुती अपि परापरब्रह्मविषये स्यातामिति—वाच्यम्; अत्रेदमिति प्रपञ्चस्य प्रकृ-
तत्वेन ब्रह्मपरत्वस्य वक्तुमशक्यतया प्रपञ्चस्यैव पूर्वं कारणात्मना सत्त्वं कार्यात्मना असत्त्वं विष-
यीकृतम् । नापि ग्रहणाग्रहणवाक्ये अपि परापरयागविषये; ‘ऐन्द्रवायवं ग्रहं गृह्णाती’त्यादिवत्
षोडशिग्रहणवाक्यस्य यागपरत्वेऽपि अग्रहणवाक्यस्य तदभावबोधकतया यागविषयत्वाभावात् ।
ननु—एवं ‘असत्त्वेव स भवति असत् ब्रह्मेति वेद चे’दिति श्रुतिरपि नासत्त्वसिद्धार्था, किंतु शून्य-
तापत्तिरूपपरममोक्षपरेति स्यादिति—चेन्न; शून्यतायां अपुरुषार्थत्वात्, आनन्दावाप्तिरूपमुक्तिप्रति-
पादकविरोधाच्च । यद्वा—इदानीं सगुणं दशान्तरे निर्गुणमिति वाक्याविरोधः । नच—एतावता
अनित्यत्वमात्रं गुणानां न त्वदभिमतमिथ्यात्वसिद्धिरिति—वाच्यम्; त्वदभिमततात्त्विकत्वस्याप्य-
सिद्धेः । उपायान्तरानुसरणं च समानम् । यत्तु ब्रह्मेदानीं सत् दशान्तरे त्वसदित्यप्यापद्येत इति,
तन्न; दशान्तरे निर्गुणत्ववत् असत्त्वस्याबोधनेनाप्रसङ्गात् । नच—‘ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं
नित्यं परात्मनः ।’ ‘एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये’ त्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानादीनां नित्यत्वप्रतिपादनात्
सगुणत्वमिति—वाच्यम्; ज्ञानादीनां स्वरूपतया गुणत्वासिद्धेः । स्वरूपातिरिक्तानां तु चरमसाक्षा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषया शुद्धब्रह्मान्यस्य सगुणत्वप्रमापिका । तात्त्विकत्वेति । नच—तात्त्विकत्वस्य श्रुत्यविषयत्वेऽपि बाधकाभावात्
श्रुत्यर्थस्य तात्त्विकत्वमिति—वाच्यम्; द्वैतमिथ्यात्वश्रुतेरेव बाधकत्वेन सगुणत्वांशे श्रुतेर्व्यावहारिकप्रामाण्यात् ।
सिद्धेः सिद्धिसंभवात् । तथाच निर्धर्मकश्रुतेर्विषयान्तरासंभवेन शुद्धे निर्धर्मकत्वप्रमापकतेति भावः । अन्तर-
धिकरणे अन्तस्तद्वर्माणपदेशादित्यधिकरणे । आविर्भवेत् अपरोक्षीभवेत् । तथाच चित्तैकाग्र्यद्वारा उपासना-
वाक्यस्य शुद्धाविर्भावतात्पर्यकत्वाच्छेषभूतसगुणवाक्यं न निर्गुणवाक्यबाधकमिति शुद्धान्यत्र सगुणत्वप्रमापकं
तदिति भावः । कार्यात्मना अभिव्यक्तनामरूपात्मना । असत्त्वमनभिव्यक्तत्वम् । अत एव ‘ततो वै सद्जा-
यते’ति शेषेण पश्चादभिव्यक्तत्वोक्तिः । विषयत्वाभावादिति । नच—ग्रहणवाक्यस्य यागविषयकत्वेऽपि अग्रहण-
वाक्यं ग्रहणशून्यपरयागविषयकमस्त्विति—वाच्यम्; ग्रहणवाक्यप्रमितयागप्रतिषेधपरत्वसंभवे ग्रहणशून्यपरयाग-
विषयकत्वे मानाभावात्, अपूर्वपरयागे ग्रहणस्याप्राप्तत्वेन तन्निषेधवैयर्थ्यात् । नच—ग्रहणाभावनित्यानुवादेनापूर्व-
यागपरत्वमिति—युक्तम्; यदेव हि ग्रहणवाक्ये विधीयते, तत्प्रतिषेधः अग्रहणवाक्ये मुख्यार्थः । निर्गुणवाक्ये त्वद्वै-
तश्रुतिविरोधान्न प्रतिषेधपरत्वम्, किंतु प्रतिषेधोपलक्षितस्वरूपपरत्वमिति बोध्यम् । प्रतिपादकेति । ‘आनन्दं
ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठित’मित्यादिश्रुतीत्यर्थः । वाक्याविरोधः सगुणनिर्गुणवाक्ययोरविरुद्धविषयकत्वम् ।
अनित्यत्वमात्रमिति । निर्गुणश्रुत्येत्यादिः । असिद्धेरिति । श्रुत्येत्यादिः । गुणसत्यताबोधकश्रुतेरन्यथानयनस्य
वक्ष्यमाणत्वेन श्रुत्या गुणसत्यत्वासिद्धिरिति भावः । ननु—ममानुमानादिना गुणसत्यत्वसिद्धिः, तत्राह—उपाया-
न्तरेति । समानमिति । ममापि निर्गुणवाक्यस्य कैवल्यदशायां निर्गुणत्वबोधकत्वेन स्वावच्छेदककालावच्छेदेन
स्वसमानाधिकरणाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्य सगुणत्वे बोधकत्वाभावेऽपि ‘विद्वान्नामरूपादिसुक्त’ इत्यनेन
ज्ञाननिर्वर्त्यत्वरूपस्यानुमानेनोक्तप्रतियोगित्वादिरूपस्य मिथ्यात्वस्य बोधनात् सगुणे मिथ्यात्वसिद्धिरित्यर्थः । नच—
तर्हि दशाविशेषे निर्गुणत्वाश्रयणं व्यर्थम्, मिथ्यासगुणत्वदशायामपि तात्त्विकनिर्गुणत्वसंभवादिति—वाच्यम्;
त्वत्परितोषाय सगुणवाक्यस्य निर्गुणवाक्याबाध्यत्वमात्रस्वीकारात् । विद्वानित्यादिवाक्यानुमानाद्यविरोधाय सगुण-
वाक्यस्य व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, नतु तात्त्विकमिति तु स्थिरमेवेति भावः । अवबोधनेन तात्पर्यतोऽप्रतिपादनेन ।
‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदि’ त्यादिकं तु कथमसतः सज्जायेतेत्यनेन दूषणार्थमनुवाद इति भावः । ज्ञानादीनां
ज्ञानमहिमादीनां स्वरूपातिरिक्तानां क्रियाबलादीनाम् । क्रिया कृतिः जगद्धारणानुकूलप्रयत्नः; तस्यैव वक्ष्यमाण-

त्कारपर्यन्तस्थायितया नित्यत्वोपचारात्, 'अपाम सोमममृता अभूमे' त्यादौ अमृतशब्दस्याभूत-
संप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति पौराणिकोक्तमृतत्ववत् । अतएव—'एष नित्यो महिमे'त्यादि-
वाक्यस्य तैत्तिरीयशाखागतस्य नित्यगुणपरत्वमिति—निरस्तम्; बृहदारण्यकगतस्य तु 'स एष नेति
नेती'ति वाक्यप्रतिषिद्धसर्वोपाधिकरूपस्य महिम्नः त्यक्तसर्वेषणपुरुषगतस्य प्रतिपादनेन ब्रह्मगतगुण-
परत्वाभावात् । नच—'सर्वस्य वशी'त्यादौ ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन तद्गतगुणपरत्वमिति—शङ्क्यम्; 'योऽयं
विज्ञानमयः प्राणेष्वि'त्यादिवाक्योक्तजीवस्वरूपानुवादेन ब्रह्मस्वरूपताबोधनपरत्वेन ब्रह्मगतगुणपर-
त्वाभावात्, ब्राह्मणपदस्य 'तदधीते तद्वदे'ति सूत्रविहिताणन्तस्य ब्रह्मविप्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वे
लक्षणापत्तेश्च । किंच सगुणवाक्यानामौपाधिकगुणविषयत्वेन स्वाभाविकनिर्धर्मकत्वश्रुतेर्न विरोधः ।
नचौपाधिकत्वस्य सोपाधिकाध्यस्तरूपत्वे श्रुत्यप्रामाण्यापत्तिः, वक्ष्यमाणसत्यत्वश्रुतिविरोधः, उपा-
धिकल्पितरूपत्वे तूक्तनित्यत्वश्रुतिविरोधः, अन्तःकरणादिरूपोपाधिसूत्रेः प्रागेव ईक्षितत्वादिश्रुते-
रुपाध्यसंभवश्चेति—वाच्यम्; मायाविदर्शितमायानुवादिवाक्यवत् स्वतो भ्रमजनकत्वाभावेनाप्रामा-
ण्यानापत्तेः, सत्यत्वश्रुतेरन्यथा नेष्यमाणत्वात्, नित्यत्वश्रुतेरन्यथार्थस्योक्तेः, सूत्रेः पूर्वमन्तःकरणा-
भावेऽपि अविद्याया उपाधेः सत्त्वाच्च । नचौपाधिकत्वे 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'त्यनेन विरोधः;
अस्मदादाविव भौतिकोपाधिकत्वाभावेन योगिष्विव योगार्जितत्वाभावेन स्वाभाविकत्वोक्तेः । नच
सङ्कोचकाभावः; निर्गुणवाक्यस्यैव सङ्कोचकत्वात् । नच—स्वाभाविकज्ञानसमभिव्याहारविरोधः;
सार्वभौम्यदिरूपाविद्यापरिणतस्यैव ज्ञानपदेन विवक्षितत्वाद्वाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां समभिव्याहारेऽपि
वैरूप्याङ्गीकरणात् पावको ब्राह्मण इतिवत् । किंच सगुणवाक्यानां न गुणसत्यत्वबोधकत्वम्;
सत्यत्वस्यापदार्थत्वात् । नच—नित्यत्वोक्तिसामर्थ्याद्विषयाबाधलक्षणस्य प्रामाण्यस्योत्सर्गिकत्वात्
'सत्यः सोऽस्य महिमे'त्यादिश्रुतेः स्वरूपतश्च तत्सिद्धिरिति—वाच्यम्; प्रथमस्यान्यथासिद्धे-
रुक्तत्वादुत्सर्गाख्यतर्कस्य व्यवहाराबाधमादायैवोपपादितत्वात्सत्यः 'सोऽस्य महिमे'त्यादौ महिम्नः
स्वरूपरूपत्वादविरोधात्, धर्मत्वे तु ब्रह्मसाक्षात्कारेतरानिवर्त्यत्वगुणयोगेन सत्यपदप्रवृत्त्युप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नित्यत्वसंभवात् । बलं विचित्रकार्यानुकूलशक्तिः । वाक्यप्रतिषिद्धेति । पूर्ववाक्यप्रतिषिद्धेत्यर्थः । पुरुषगतस्य
पुरुषे अभिव्यक्तस्य । 'एतद्वत्स वै तत् पूर्वं विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते 'इत्यादि' ते ह स पुत्रेष्वायाश्च वित्तेष्वा-
याश्च लोकेष्वायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति श्रुत्या आत्माभिव्यक्तिमति पुरुषे त्यक्तेषणत्वोक्तेः आत्म-
स्वरूपमहिम्नस्त्यक्तेषणपुरुषाभिव्यक्तत्वमिति भावः । एतेन—ईषणात्यागात् पूर्वमसतो महिम्नो नित्यत्वायोग
इति—परास्तम् । लक्षणापत्तिरिति । नच—ब्रह्मकर्मकमुख्यमध्ययनं वेदनं च ब्रह्मकर्तृकमेवेति न लक्षणेति—
वाच्यम्; मुख्यत्वमध्ययनादिपदशक्यत्वम्, उत्कृष्टं वा । नान्त्यः; तस्य पदवाच्यत्वाप्रयोजकत्वात्, आद्ये तु व्यासादि-
कर्तृकाध्ययनवेदनयोरपि मुख्यत्वेन ब्रह्ममात्रलाभाय व्यासादिव्यावृत्तरूपेण लक्षणावश्यकत्वात् । अन्यथा पाचकादि-
पदमुख्यार्थत्वमपि ब्रह्मभिन्ने न स्यात्, 'अमौनं च मौनं च निर्विघातं ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्यात् येन स्यात्तेनेदं
एवे'ति श्रुतौ ब्रह्मविन्मात्रस्यैव मुख्यब्राह्मणत्वोक्तेश्च । नच—'ब्राह्मणा विविदिषन्ती'त्यनेन बहुवचनान्तेनोक्तस्य ब्रह्मविद्
इति एकवचनान्तेनोक्त्यसंभव' इति—वाच्यम्; ब्रह्मविदो बहुत्ववैशिष्ट्याविवक्षायामेकवचनान्तप्रतिपाद्यतासंभवात् ।
अन्यथा क्वाप्येकवचनं न प्रयुज्येत । तस्मात्तमेतं वेदानुवचनेन एतमेव विदित्वा मुनिः एतमेव प्रब्राजिनः 'अयमात्मायं
लोकः स एष नेति नेत्यात्मे'त्यादिपूर्ववाक्योक्तः शुद्धात्मैव एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येत्यस्यार्थ इति भावः ।
सोपाधिकाध्यस्तरूपत्वे सोपाधिकेऽध्यस्तरूपत्वे । उपाधिकल्पितरूपत्वे उपाधिना जनितरूपत्वे । स्वतो
भ्रमेति । प्रामाण्यस्येवाप्रामाण्यस्यापि मानान्तरागृहीतविषयकत्वघटितत्वमिति भावः । अन्यथा नेष्यमाणत्वात्
व्यावहारिकसत्त्वपरत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । भौतिकोपाधिकत्वेति । भूतपरिणामोपाधिकृतत्वेत्यर्थः । अस्मदादेशाने-
च्छादिकं भौतिकमनःपरिणामो नेशस्येति भावः । सामर्थ्यादिति । अविनाशित्वरूपनित्यत्वं मिथ्याभूतस्यानुपपन्नम्;
ज्ञाननिवर्त्यत्वादिति भावः । स्वरूपतः गुणानां ब्रह्मस्वरूपाभिन्नत्वात् भ्रमजनकदोषासत्त्वे सर्वं ज्ञानं साक्षिग्राह्यं
प्रमात्मकम् । अन्यथा सर्वत्र ज्ञाने प्रमात्वसंशयापत्तेः । ज्ञानोत्पत्तिज्ञसिनियामकस्यैव लाभवेन प्रमोत्पत्तिज्ञसिनियाम-
कत्वादिति तर्कस्त्वयोत्सर्गशब्देनोक्तः, स च व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूपप्रमात्वस्य तथात्वव्यवस्थापकः, तस्यैव
व्यवहारकालीनप्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वात्, तथाच न त्रिकालाबाध्यविषयकत्वसिद्धिरित्याह—उत्सर्गाख्यतर्कस्येति ।
अविरोधादिति । अनेनैव स्वरूपाभिन्नत्वे हेतुरप्यपास्तः । स्वरूपाभिन्नगुणस्य तात्त्विकत्वेनेष्टत्वादिति बोध्यम् । अत्र

पत्तेः । नच—एवं ‘सत्यं ज्ञानं’ ‘तत्त्वमसी’त्यादिश्रुत्युक्तब्रह्मसत्यत्वैक्यादिकमपि तात्त्विकं न स्यादिति—वाच्यम्; निर्गुणश्रुतिविरोधस्य तत्रेवात्राभावात् । ननु—श्रुत्योर्विरोधे नैकस्या अतात्त्विकविषयत्वम्; शास्त्राविरोधे सङ्कोचविकल्पादिना उभयप्रामाण्यस्य पूर्वतन्त्रे व्याकरणे च निर्णीतत्वात् । तथाहि—दशमाध्यायस्थे ‘प्राप्तबाधे प्रकृतिवत् कुर्यादित्यादिरूपकृतस्य चोदकस्य कृष्णलादाववघातवर्जमित्यादिरूपः सङ्कोच एव । एवं तार्तीयिकेऽपि अप्राप्तबाधे गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्यनुसारेण इन्द्रशब्दयुक्तमन्नलिङ्गस्य गार्हपत्ये गौणत्वादिकमेव । व्याकरणेऽपि यत्र परेण

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्यं ज्ञानमित्यादौ । तत्रेव सगुणवाक्य इव । अतात्त्विकविषयकत्वम् अन्यश्रुतिविषयसत्तान्यूनसत्ताकविषयकत्वम् । यथाश्रुते आत्माविषयकश्रुतिमात्रस्य मया अतात्त्विकविषयकत्वस्वीकारात् मां प्रति कर्मकाण्डश्रुतेरात्त्विकविषयकत्वंनिर्देशनस्यानुपपत्तेः । शास्त्राविरोधे शास्त्रस्य मानान्तरेण विरोधे । उभयप्रामाण्यस्य शास्त्रतद्विरुद्धार्थकमानयोः प्रामाण्यस्य । प्राप्तबाध इति । प्राप्तस्य प्रवृत्तस्य प्रामाण्यस्य । यद्विषयांशे प्रामाण्यनिश्चयो यस्य विशेषदर्शनस्याभावात्तेन विशेषदर्शनेन तद्विषयांशे तदप्रामाण्यनिश्चयः प्राप्तबाधः । लिङ्गादेस्त्वप्रवृत्तस्यैव श्रुत्यादिना तद्विषयांशे अप्रामाण्यनिश्चयः । चोदकस्य अतिदेशशास्त्रस्य । कृष्णलादाविति । उपकारपृष्ठभावेन साधनातिदेशादवघातादौ प्रकृतौ कृतस्यैव वैतुष्यादिरूपदृष्टोपकारस्य कृष्णलादावसंभवेनावघातवर्जं प्रकृतिवत्कुर्यादिति सङ्कोच इत्यर्थः । ‘प्राजापत्यं धृते चरं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्काम’ इति विहितेषु स्वर्णमाषरूपकृष्णलद्रव्यकचरुष्ववघातोऽस्ति न वेति संशये वैतुष्यरूपप्राकृतोपकारासंभवेऽपि प्रकृतिवत् कुर्यादित्यतिदेशप्रामाण्यायादृष्टोपकारकल्पनसंभवेनातिदेशादवघातोऽस्त्येवेति प्राप्ते परशुना छिन्धादित्यादाविव शतकृष्णलेनायुः कुर्यादित्यादावपि करणगतोपकार एव प्रथममाकाङ्क्षोदयात् उद्यमननिपातनादेः परशविवोपकारविशेषस्य शतकृष्णले प्राप्तिं विना तदाकाङ्क्षाशान्त्यसंभवात् उपकारविशेषस्यैव विकृतिषु प्रथममतिदेशः । पश्चादेव तत्साधकाकाङ्क्षायामुद्यमननिपातनादौ हस्तादेरुपदेश इवावघातादेरतिदेशः । एवं विकृतिभावनया प्रथमं प्रकृतिभावनोपस्थितौ तदव्यवहितान्वयित्वेनोपकारस्यैव प्रथमोपस्थितिरूपः सन्निधिः । एवं प्रधाननिष्ठायाः फलाद्यनुकूलयोग्यतायाः साधनाकाङ्क्षायामेवातिदेशः । तत्साधनत्वं च साक्षात् पदार्थानां नास्त्येव; लाक्षणिकात्, किंतु दृष्टादृष्टोपकारद्वारेत्युपकारस्यैव साक्षात्प्रधानगतयोग्यताजनने योग्यत्वमित्याकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्वैरुपकारस्यैव प्रथममतिदेशः । पश्चात्तत्साधनाकाङ्क्षया पदार्थातिदेशः । अथवा—पदार्थविशिष्टोपकाराणामेक एवातिदेशः; परशुना छिन्धादित्यादावपि साधनविशिष्टोद्यमननिपातनादाविव प्रकृतेऽपि विशिष्टे आकाङ्क्षासंभवात् सर्वथाप्युपकारनैरपेक्षयेण साधनानामनतिदेशादुपकारस्य वैतुष्यस्य कृष्णलेष्वसंभवात् तत्साधनावघातस्याप्यनतिदेश इति दशमप्रथमे स्थितम् । ननु—न कृष्णलोदाहरणं युक्तम् । यदि हि कृष्णलस्य प्रदेयं प्रति प्रकृतित्वं स्यात्, तदाऽऽग्नेययागप्रदेयपुरोडाशप्रकृतिव्रीहिधर्माणामवघातादीनामतिदेशः संभाव्येत । धृते श्रपयतीत्यत्र हि धृताधिकरणकाग्निसंयोगमात्रं विधीयते; विकृत्यभावेन मुख्यश्रपणासंभवात् । अतएव चरुशब्दः कृष्णलद्रव्यकयागे अग्निसंयोगिद्रव्यकत्वसादृश्याद् गौणः सन्नाग्नेयप्रकृतिकत्वसाधकाविशदत्वसादृश्योपोद्बल इत्यष्टमे उक्तम् । तादृशं च श्रपणं कृष्णले चरुरूपद्रव्यान्तरं नोत्पादयति; मानाभावात्, नच—व्रीहिधर्माणामनतिदेशे निर्वपेदित्यनुवादानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; प्राकृतविहितनिर्वापाभावेऽपि लौकिकार्थिकतत्सत्त्वेनानुवादसंभवात् । तथाच कृष्णलस्य प्रदेयत्वेन प्रदेयधर्माणां पर्यग्निकरणादीनां प्राप्तवप्यवघातादीनामप्रसक्ततया वैतुष्यादिफलाभावप्रयुक्तो न तद्बाध इति—चेत्, सत्यम्; तथापि कृष्णलस्य प्रदेयप्रकृतित्वं कृत्वा चिन्तेयम् । तथाच स्थलान्तरे तत्फलं बोध्यम् । तद्यथा सवनीयहविरन्तर्गतलाजाख्यपरिवापे लाजप्रकृतित्वेन प्राप्तव्रीहिणां वैतुष्यासंभवादवघातस्य बाधः । वैतुष्यं हि प्रकृतौ प्रदेयपाकसाधनप्रयोजकम् । प्रकृते च तस्य प्रदेयपाकविरोधित्वेनासंभवः; सतुषद्रव्यस्यैव भर्जने लाजनिष्पत्तेः । भर्जनोत्तरमपि नखादिना वितुषीकरणम्; नावघातेन; लाजत्वविघातापत्तेः । तस्मात् पाकसाधनवैतुष्यासंभवेन तत्रावघातबाध इति बोध्यम् । तार्तीयिके तृतीयाध्यायोक्ते । अप्राप्तबाधे श्रुत्यादिना शीघ्रप्रवृत्तेन मन्त्रादेर्विनिर्योगेनाकाङ्क्षाशान्त्या लिङ्गादेरप्रवृत्तिरप्राप्तबाधः । तदुक्तं न्यायरत्नमालायाम्—कल्पस्य शास्त्रस्य तु कल्पनं यन्निरुध्यते मूलनिकृन्तनेन । कृत्सेन शीघ्रेण फलापहारात् अप्राप्तबाधं तमुदाहरन्ति ॥ इति । गार्हपत्यमिति । ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति वाक्यगतेत्यर्थः । इन्द्रशब्दयुक्तमन्नलिङ्गस्य ‘कदाचनस्तरारसि नेन्द्रसश्रसिदाशुष’ इत्यस्या ऋचोऽर्थबोधकत्वस्य गार्हपत्ये गौणत्वादिकमिन्द्रपदस्येन्द्रसदृशत्वरूपेण गार्हपत्ये गौण्या वृत्त्या सम्पादनीयत्वम् । आदिपदादिदिपरमैश्वर्यं इति धातुपाठाद्योगवृत्त्या सम्पादनीयत्वम् । संभवति हि गार्हपत्यस्याप्यन्यापेक्षयैश्वर्यत्वम्, श्रुतिलिङ्गाधिकरणं तु प्रथमपरिच्छेद एव रचितम् । परेणेति । यद्यप्य-

पूर्वस्य नित्येनानित्यस्येत्यादिबाध उक्तः, तत्रापि संकोच एव । दशमे विकृतिभूतमहापितृयज्ञ-
प्रकरणस्थे 'नार्पेयं वृणीते' इत्यादिवाक्ये प्रकृतिवत्कुर्यादार्पेयवरणवर्जमिति महापितृयज्ञीयप्रकृति-
वच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वमेवेत्युक्तम् । यत्र तु प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासप्रकरणस्थाज्यभाग-
विधायकवाक्यसन्निहिते 'न तौ पशौ करोती'त्यादौ पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यताऽयोगेन पर्यु-
दासार्थत्वासंभवात् 'प्रकृतिवत्कुर्यादज्यभागौ तु न कुर्या'दिति वाक्यभेदेन प्रसज्यप्रतिषेधार्थक-
त्वमेवेत्युक्तम्, तत्र पशावाज्यभागयोरन्येनाप्रसक्तेः शास्त्रप्रसक्तस्य सर्वथा बाधायोगाद्विकल्प

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तुल्यबलयोर्विरोधे पूर्वेणापि परबाधः । यथा सुगल इत्यादौ श्याब्धयेत्याकारान्तलक्षणं णप्रत्ययमनुपसर्गं सावकाश-
त्वात् दुर्बलं परमपि बाधित्वा आतश्चोपसर्गं इति पूर्वः कप्रत्यय एव भवति, तथापि तुल्यबलयोर्विरोधे परेण
पूर्वस्य बाधः । यथा वृक्षाभ्यामित्यत्र सुपि चेति दीर्घत्वं सावकाशम्, वृक्षेणित्यत्र 'बहुवचने झल्येदि'त्येत्वं साव-
काशम्, वृक्षेभ्य इत्यत्रोभयोर्विरोधे परेणत्वेन दीर्घत्वस्य पूर्वस्य बाधः । यद्यपि तुल्यबलयोः सत्प्रतिपक्षवदन्योन्य-
कार्यविघातकत्वमेव युक्तम् । न त्वेकस्यापरकार्यविघातकत्वम्; तथापि 'विप्रतिषेधे परं कार्य'मिति वचनबलात् परं
कार्यमिति बोध्यम्, अत एवोक्तवचनस्य महाभाष्ये अप्राप्तप्रापकत्वरूपा विधायकतोक्ता । नित्येनेति । रन्धय-
तीत्यत्र रन्ध्रजभोरचीति नुम् कृताकृतप्रसङ्गित्वात्तिल्यः । 'अत उपधाया' इति वृद्धिरनित्या । नुमि तु कृते अकारस्या-
नुपधात्वादप्राप्तेः । अत्र पूर्वोऽपि नुमेव भवतीति नित्येनानित्यस्य बाधः । इत्यादीत्यादिनान्तरङ्गेन बहिरङ्गस्य बाधः ।
यथा अशिश्नियत् अदुद्रुवदित्यादावन्तर्भूतचङपेक्षत्वादियङुवडावन्तरङ्गौ बहिर्भूतणिजपेक्षत्वात् बहिरङ्गलघूपधलक्षणं
गुणं बाधेते । तत्रापि सङ्कोच इति । अत्रेदं बोध्यम्—व्यक्तिमात्रस्य पदार्थत्वपक्षे प्रतिव्यक्ति सौत्रविधेर्भेदात्त-
त्तद्वक्त्युद्देशेन प्रवृत्तयोः शास्त्रयोर्व्यक्यन्तरे प्रवृत्त्यभावात् परेण पूर्वस्य सर्वथा बाध एव, न सङ्कोचः । यथा जुहुतात्
त्वमित्यत्र परत्वात्तातडि कृते स्थानिवद्भावेन प्राप्तं पितृत्वं न भवति । अत एवाहुर्वैयाकरणाः—'सकृद्रतो
विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधितमे'वेति । अथ—अस्मिन् पक्षे पूर्वसूत्रानारम्भ एवानुमीयते । विवृतं चैतन्महाभाष्या-
दाविति—चेन्न; तथाप्यप्राप्तबाधः सर्वात्मना स्थित एव । एवं कदाचनेत्यादिमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य मुख्यार्थत्यागः सर्वथा
बाध एव । यथाच तत्र गौणाद्यर्थपरत्वं स्वीक्रियते । अध्ययनविधिगृहीतवेदे मात्रामात्रस्याप्यवैयर्थ्यात्, तथा
निर्गुणश्रुत्या ब्रह्मगुणवैशिष्ट्यांशे तात्त्विकप्रामाण्यात् प्रच्यावितस्यापि सगुणवाक्यस्य सगुणत्वेन ब्रह्मोपासनपरत्वं
ब्रह्मणि व्यावहारिकगुणवैशिष्ट्यपरत्वं वा स्वीक्रियत एवेति साम्यम् । प्रकृतिवत्कुर्यादार्पेयवरणवर्जमिति आर्पेयवरण-
भिन्नप्राकृताङ्गजातेन महापितृयज्ञरूपाया विकृतेरुपकुर्यादित्यर्थः । एकवाक्यतया पदैकवाक्यतया । आर्पेयवरण-
भिन्नस्य नार्पेयं वृणीत इति वाक्यलक्षितस्य प्रकृतिवत्कुर्यादिति वाक्यार्थे प्रवेशः । तेन नञर्थे धात्वर्थस्य प्रकारतया-
ऽन्वयस्याव्युत्पन्नत्वेऽपि न क्षतिः । नार्पेयं वृणीत इत्यत्र उक्तलक्षणायां मानाभावात् प्रतिषेध एव । तथाचार्पेयवरण-
तदभावयोर्विकल्प इति प्राप्ते अष्टदोषदुष्टविकल्पापेक्षयोक्तलक्षणाया एव युक्तत्वात् पर्युदास एव । नञ्समासाभावस्तु
पाणिनेर्विभाषाग्रहणात् उपपन्न एव; व्याससमासयोरैकार्थ्याच्च । अत एव वचनानर्थक्यमिति कात्यायनोक्तमनादेयम् ।
वाक्यविशेषस्य समासस्यैव नामसंज्ञेति नियमादार्पेयं वृणीत इत्यस्यानामत्वेन तेन सह नञ्समासाप्राप्तेः श्रेति
दशमाष्टमे स्थितम् । प्रकरणस्थाज्यभागविधायकेति । प्रकरणस्थं यदाज्यभागविधायकं, तदित्यर्थः । एक-
वाक्यताऽयोगेन एकवाक्यताया अयोगेन । स्वसमभिव्याहृतपदार्थ एव पदार्थस्यान्वयात् भिन्नप्रकरणस्थ-
वाक्यार्थे आज्यभागान्यरूपस्य नञर्थस्य नान्वयसंभव इति भावः । वस्तुतस्तु—तस्य तत्रान्वयासंभवेऽपि चतुर्धा-
करणवाक्ययोरिव दूरस्थयोरप्युक्तवाक्ययोः सामान्यविशेषरूपाभ्यामेकस्य वाक्यार्थस्य बोधकत्वेनैकवाक्यता संभवति ।
अत एवातिदेशवाक्यस्य सङ्कोचोऽपि सिध्यति; दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थवाक्येनाज्यभागान्यप्राकृतानां कर्तव्यता-
बोधकेन तत्रैवातिदेशस्य विशेषरूपेण तत्तदङ्गकर्तव्यताबोधकस्य तात्पर्यग्रहात् । अत एव तादृशपर्युदासवाक्ये
आख्यातपदसत्त्वेनोक्त रूपमेकवाक्यत्वं स्वीक्रियते; अन्यथा आख्यातवैयर्थ्यापत्तेः, 'न होतारं वृणीते'त्यादौ तु
समुदायलक्षणाया आवश्यकत्वेन न तद्वैयर्थ्यम् । तथाच यद्यपि नार्पेयं वृणीत इत्यादाविव विकल्पस्यान्याय्यत्वात्
पर्युदास एव 'न तौ पशौ करोती'त्यत्रार्थः संभवति । अथैवं—पशुप्रकरणस्थ 'न तौ पशा'विति वाक्यानुधावनमा-
चार्याणां पर्युदाससिद्ध्यर्थमग्रे व्यर्थमिति—चेन्न; उक्तयुक्तेरिव पशुप्रकरणस्थोक्तवाक्यस्यापि पर्युदाससाधकत्वमित्या-
शयात्; तथापि अग्नये आज्यस्यावदीयमानस्यानुब्रूहि सोमायाज्यस्यावदीयमानस्यानुब्रूहि अग्नये आज्यं प्रस्थितं प्रैष्य
सोमायाज्यं प्रस्थितं प्रैष्य होता यक्षदग्निराज्यस्य जुषतां हविर्होतार्यजेत्यादिप्राधान्यां पशुप्रकरणे आज्ञानात्तेषां च
लिङ्गादाज्यभागमात्राङ्गत्वात् काणवानां शतपथब्राह्मणे सोमे अभीषोमीयपशुप्रकरणे उक्तम् । जुह्वा प्रयाजमिहु

इत्युक्तम् । तथाचोक्तं—‘को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः । एकं प्रमाणमितरत्त्वप्रमाणं भवेदिति ॥’ इति—चेन्न; तत्र शास्त्रयोः प्रामाण्ये समानकक्ष्यतया एकतरस्यात्यन्तिकवाधायोगात्सङ्कोचेन विकल्पेन वा पाक्षिकप्रामाण्यमाश्रितम्, इहत्वेकतरस्य तत्परतया प्रबलत्वादितरस्य चातत्परत्वेन दुर्बलतया वैषम्यात् । यत्तु ‘न तौ पशौ करोती’त्यादौ विकल्प उक्तः, तन्न; पशुप्रकरणस्थस्य पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वात्, दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थस्य तु ‘पशावाज्यभागौ न स्तः, अत्र तौ स्त’ इति स्तुत्यर्थत्वात्, वार्तिककारैर्विकल्पे स्वीकृतेऽपि न दोषः; उभयत्र तात्पर्यसत्त्वेन विशेषात् । यत्तु—अत्रापि ‘विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात्’ ‘उपदेशभेदाच्चेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्’ ‘गौण्यसंभवा’दित्यादौ शास्त्रयोर्विरोधे तात्त्विकार्थान्तरपरतोक्ता, नत्वारोपितार्थता; अन्यथेक्षत्याद्यधिकरणेषु सिद्धान्तसाधकानामीक्षणादीनां साङ्ख्याद्यभिमतप्रधानादावारोपसंभवेन प्रधाननिराकरणादि न सिद्ध्येदिति, तन्न; विकारशब्दादित्यादौ न विरोधेन तात्त्विकार्थान्तरपरत्वमर्थः, किंतु स्वप्रधाने ब्रह्मणि अवयवत्वासंभवेन पुच्छपदमुपचरितमित्यर्थः । तदुक्तं टीकायां—पुच्छे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ध्रुवामेवाग्रे अभिधारयति तस्यां प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवतीत्युक्तत्वात् पशुप्रकरणे कृताकृतावाज्यभागान्वित्यापस्तम्बोक्तेश्चाज्यभागयोरपि पशौ करणप्रतीतेस्तदंशे अतिदेशप्रवृत्तेरावश्यकत्वेन विकल्पस्यापरिहार्यत्वात् पर्युदासलक्षणायां मानाभावेन प्रतिषेध एव न तौ पशाविति वाक्यार्थ इति बोध्यम् । इत्युक्तमिति । तत्रापि सङ्कोच एवेति शेषः । उक्तपर्युदासप्रतिषेधशास्त्राभ्यामपि अतिदेशशास्त्रस्य विधिशास्त्रस्य च सङ्कोच इत्यर्थः । सर्वथा बाधायोगे वृद्धोक्तिं प्रमाणयति—तथाचोक्तमिति । अप्रमाणं सर्वथाऽप्रमाणम् । समानकक्ष्यतयेति । अतिदेशशास्त्रस्य कल्पनीयत्वेऽपि ‘नार्पेयं वृणीत’ इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिसमकक्ष्यत्वमुक्तश्रुतेरापेयवरणप्रसङ्गात् अतिदेशसापेक्षप्रसक्तिकत्वेनातिदेशोपजीवकत्वादिति भावः । सङ्कोचेन विषयसंकोचेन । पाक्षिकं संकुचितविषयघटितम् । तत्परतयेति । पश्चात्प्रवृत्तत्वादेरप्युपलक्षणमिदम् । अपच्छेदाधिकरणादौ पश्चात्प्रवृत्तत्वादेर्बलवत्ताभीजस्योत्वादिति भावः । विकल्पः प्रतिषेधमूलकविकल्पः । प्रकरणस्थस्येति । न तौ पशावित्यस्येति शेषः । विकल्पे प्रतिषेधमूलकविकल्पे । वार्तिककारैरित्यनेन भाष्यकाराणां पर्युदास एव स्वारस्यं सूचितम् । दर्शपूर्णमासयोरेतच्छ्रूयते—‘तत्र कः प्रसङ्गः यत्सोमे स्यादित्यादिप्रन्थेन हि भाष्यकारैर्न सोम इति वाक्यस्यैव पर्युदासार्थत्वं निराकृतम् । अन्यथा तत्र कः प्रसङ्गः यत् पशौ सोमे च स्यादित्युच्यते । तस्मात् पशावपि न तौ पशावित्यस्य श्रवणं मन्यन्ते भाष्यकाराः । एवं सूत्रकारस्यापि न तौ पशावित्यत्र पर्युदासनिरासे न तात्पर्यम्, किंतु न सोम इत्यत्र । अत एव ‘अपूर्वे चार्थवादः स्यादित्येव सूत्रितम् । अपूर्वे विकृतिभिन्ने सोमे न सोम इति वाक्यमर्थवाद एव स्यात् । न प्रतिषेधस्य पर्युदासस्य वा बोधकमित्यर्थः । ननु—न तौ पशाविति वाक्यस्य पशुप्रकरणस्थत्वेऽप्युक्तप्रेषमन्नबलादेव विकल्पावश्यकत्वेन पर्युदासलक्षणायां मानाभावेन प्रतिषेधार्थकत्वावश्यकत्वात् पर्युदासार्थकत्वोक्तिरयुक्तेति—चेन्न; एकवाक्यताऽनुरोधेन पर्युदासार्थकत्वस्यैव युक्तत्वात्, आज्यभागभेदस्य प्राकृताङ्गेषु प्रकृतिवच्छब्दोपस्थापितेषु शक्त्यैव नञा बोधसंभवेन भिन्नलक्षणाया अनावश्यकत्वाच्च । तथाच प्रतिषेधेन न विकल्पः; किंतु पर्युदासेनेत्याचार्याणामाशयः । अथवा—पर्युदासवाक्यस्यैकवाक्यतासमर्थत्वेन बलवत्त्वात्तदनुसारेणोक्तमन्त्राणामुत्कर्षः स्तुतिपरत्वं चेति भावः । यत्तु—भाष्यदुष्टीकातन्त्ररत्नशास्त्रदीपिकाधिकरणमालासूक्तवाक्यस्य पशुप्रकरणस्थत्वं नोक्तमिति तदप्रामाणिकमिति, तन्न; शुक्रशारिकादिवद्दूहापोहाक्षमस्य यथाकर्णितं वदतस्तथैव वक्तुं युक्तत्वात् । सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्हि भामतीकारकल्पतत्कारपरिमलकारैः ‘तत्साभाय्यापत्तिरूपपत्ते’रित्यधिकरणे पशुप्रकरणस्थं न तौ पशौ करोतीति वाक्यं प्रतिषेधार्थकमुक्तम् । प्राभाकरास्तु तद्वाक्यं पर्युदासार्थमाहुरिति तदधिकरणे कल्पतरावुक्तम् । ‘हानौ तूपायने’त्याद्यधिकरणेऽपि पशुप्रकरणस्थोक्तवाक्यप्रमितप्रतिषेधानुवादकत्वं दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थोक्तवाक्यस्येति मूले उक्तम् । उपपत्तिस्तूकैव तत्रास्माभिः । न चैतत् सर्वं त्वादृशेन वराकेणापलपितुं शक्यम् । अथ—एवं वार्तिककारादिभिर्नानाशाखादृशिभिः किमिति तन्नोक्तमिति—चेत्; शृणु—रे भूद न्यायव्युत्पादनार्थं वार्तिककारादयः प्रवृत्ताः । तत्र यद्यपि पशुप्रकरणे तद्वाक्यमस्ति, तथापि तत्र तन्नास्तीति कृत्वाचिन्तया अत्र प्रतिषेधार्थकत्वलाभ इति निखिलतर्कादवीसञ्चारपञ्चाननानामाचार्यप्रभृतीनामेव शास्त्रार्थनिर्णये अधिकारः, न त्वादृशां परोपदेशमात्रगर्तशरणानां भीरुकेरुणाम् । पठन्ति हि वृद्धाः । ‘मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती । पारं वेत्ति सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती ॥’ इति । उभयत्र विधिप्रतिषेधशास्त्रयोः । तात्पर्यसत्त्वेन स्वार्थं तात्पर्यसत्त्वेन । विशेषात् स्वार्थपरापरनिर्गुणसगुणवाक्यापेक्षया सर्वथा बाध्यबाधकभावविरहरूपाद्विशेषात् । पर्युदासपक्षेऽपीदं बोध्यम् । अत्रापि ब्रह्ममीमांसायामपि । न तात्त्विकार्थान्तरपरत्वमर्थः

ऽधिकरण इति । गौण्यसंभवादिति पूर्वपक्षसूत्रेऽपि 'आत्मन आकाशः संभूत' इति श्रुतिस्तु गौणी । आकाशोत्पत्तिकारणासंभवादित्यर्थः, नतु तात्त्विकार्थान्तरविषयत्वम् । 'उपदेशमेदादि'त्यादौ दिवि दिव इति सप्तमीपञ्चमीभ्यामाधारत्वावधित्वयोः प्रतीतेरुपदेशभेदेन पूर्वनिर्दिष्टब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राप्ते एकस्मिन्नपि श्येने 'वृक्षाग्रे श्येनः वृक्षाग्राच्छ्येन' इति निर्देशदर्शनात् एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि उभयरूपाविरोध इत्यर्थः, नतु तात्त्विकार्थान्तरपरत्वम् । नचारोपितमीक्षणं प्रधाने संभवति; योग्यतामादायैवारोपदर्शनात् । नहि राजामात्ये राजत्वारोप इति स्तम्भादावपि तदारोपः । तथाच चेतन एव ईक्षितृत्वदर्शनाच्चेतने ब्रह्मणि तदारोपो युज्यते नाचेतन इति न सिद्धान्तक्षतिः । किंच निषेध्यसमर्पकतयैकवाक्यतयैव प्रामाण्यसंभवे न वाक्यभेदेन गुणप्रापकता युक्ता । अतएव न 'को हि मीमांसक' इत्यादिना विरोधः । ननु—मृडमृदेत्यादेर्यथा 'न क्त्वासेडि'ति निषेधनिषेधकत्वं, तद्वत् सगुणवाक्यानामपि निर्गुणवाक्यबाधकत्वं किं न स्यादिति—चेन्न; दृष्टान्ते पर्युदासाधिकरणन्यायेन मृडमृदेत्याद्युत्तरविहितान्यसेट्कत्वाप्रत्ययकिञ्चननिषेधपरत्वेनैकवाक्यतायां वाक्यभेदेन निषेधनिषेधकत्वाकल्पनात् । नच प्रकृतेऽपि पर्युदासार्थकत्वम्; नेति नेतीति वीप्सायाः प्रसक्तसर्वनिषेधकतया विशेषपरिशेषायोगेन पर्युदासस्याश्रयितुमशक्यत्वात् । यत्तु जगत्कर्तृत्वेनाश्लिप्तसार्वज्ञ्यादेर्निषेधायानुवादे श्रुतेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन जगदारोपाधिष्ठानत्वेन 'स एवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वमि' ति श्रुतेन जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्येन चाक्षिप्तं विश्वमिध्यात्वं ब्रह्मसत्त्वं जीवब्रह्मैक्यं च विश्वं सत्यमित्यनेन असद्वा इत्यनेन 'द्वा सुपर्णे' त्यनेन च निषेद्धं 'नेह नानेत्यनेन' सत्यं ज्ञान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तात्त्विकार्थान्तरपरं पुच्छपदमिति नोक्तसूत्रार्थः । उपचरितमिति । आधारत्वरूपगुणयोगेन गौणमित्यर्थः । तच्चाधारत्वं कल्पितमिति न तात्त्विकार्थकता । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथाच विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय इत्यादिब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेयन्तवाक्ये विकारशब्दात् पुच्छरूपावयववाचिशब्दयोगात् ब्रह्मशब्दो न प्रधानीभूतब्रह्मार्थक इति चेन्न; प्राचुर्यात् पुच्छपदस्य अन्नमयादिपर्यायेषु प्रचुरत्वात् पुच्छपदमुक्तम्, नतु ब्रह्मणि पुच्छरूपावयवत्वविवक्षया प्रतिष्ठाशब्दयोगेन पुच्छपदस्याधारार्थकत्वादित्युक्तसूत्रार्थ इति भावः । नतु तात्त्विकार्थान्तरविषयत्वं तात्त्विकार्थान्तरविषयकोक्तश्रुतिरिति नार्थः । उपदेशेत्यादि । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत' इत्यत्र ज्योतिशब्दबोध्यं ब्रह्मैव, नतु तेजः; 'त्रिपादस्यामृतं दिवी'ति पूर्ववाक्ये ब्रह्मण एवोक्तत्वादिति सिद्धान्तिते दिवीति पूर्वनिर्देशात् परो दिव इत्यत्र पूर्वोक्तं ब्रह्म न प्रत्यभिज्ञायत इत्याशङ्क्य समाहितमुपदेशेत्यादिसूत्रे । वृक्षाग्रादिति । पर इति शेषः । नाचेतन इतीति । अचेतने तदारोपेऽपि प्रातीतिकं तद्वाच्यम् । तथाच व्यावहारिकेक्षणपरत्वे संभवति प्रातीतिकपरत्वं न युक्तमित्यपि बोध्यम् । एतेन—प्रातीतिकपुच्छत्वादिकं पुच्छादिपदार्थ इति त्वङ्गाद्यादौ कुतो नोक्तम् ? नहि तादृशपुच्छत्वं प्राधान्यविरोधीत्यपि—अपास्तम्; आश्रयादिरूपव्यावहारिकार्थपरत्वे संभवति तात्पर्यायोग्यप्रातीतिकार्थकत्वसंभवात् । सगुणश्रुतेस्तु व्यावहारिकसगुणत्वपरता संभवति; निर्गुणश्रुतेः प्रबलाया विरोधादिति ध्येयम् । सगुणवाक्यस्य गुणप्रकारकोपासनापरत्वेऽपि न गुणवैशिष्ट्यपरत्वम्; वाक्यभेदापत्तेरित्युक्तम् । इदानीं सगुणवाक्यं गुणनिषेधवाक्यापेक्षितगुणरूपप्रतियोग्यनुवादरूपत्वेन न सगुणत्वपरमित्याह—किंचेति । अत एव गुणनिषेधपरत्वेन सगुणवाक्यस्य प्रामाण्यस्वीकारादेव । पर्युदासाधिकरणेति । अपि तु 'वाक्यशेषस्यान्यायत्वाद्विकल्पविधीनामेकदेशः स्या'दित्यनेन पर्युदासाधिकरणीयसिद्धान्तसूत्रेण वाक्यभेदापादकविकल्पस्यान्यायत्वात् अतिदेशवाक्यादिरूपविधीनां 'नार्थेयं वृणीत' इत्यादि वाक्यशेषः; तदेकवाक्यत्वादित्युक्तम् । प्रकृतेऽपि मृदेत्यादेर्निषेधनिषेधपरत्वे मृडाद्युत्तरत्वाप्रत्यये किञ्चननिषेधरूपस्य निषेध्यस्य प्रसक्तेः 'न क्त्वेत्या'दिना वाच्यतया शास्त्रेणैव निषेध्यनिषेधयोरुभयोः प्राप्तौ विकल्पापत्त्या वाक्यभेदात् 'न होतारं वृणीत'इत्यस्य होतृवरणभिन्न इव मृडादेर्मृडाद्युत्तरवृत्तिभिन्ने लक्षणयैकवाक्यता । अत एव 'ब्राह्मणेभ्यो दधि न देयम् । कौण्डिन्याय देय'मिति वाक्ययोः कौण्डिन्यवाक्यस्य कौण्डिन्यभिन्नलक्षणया एकवाक्यत्वमिति भावः । प्रकृते सगुणवाक्ये । पर्युदासार्थकत्वं सार्वज्ञ्यादिगुणान्यस्य निर्गुणश्रुतिनिषेध्यगुणान्वयिनो लक्षणया बोधकत्वम् । नेति नेतीति वीप्सायाः इतिशब्देन वीप्सितेन सर्वनाम्ना सर्वस्य प्रसक्तस्य निषेधः; अन्यथा वीप्सावैयर्थ्यम् । नच—उपदेशरूपत्वेनाप्युपपन्ना वीप्सा न सगुणश्रुतिबाधिकेति—वाच्यम्; न ह्युपदेशो वीप्सां विना घटते, येन सा न व्यर्था । किंच सगुणवाक्ये सगुणत्वनिर्णये वीप्सायाः संकोचः स्यात् । तस्य तूपासनायां निषेधे वा तात्पर्येणैकवाक्यत्वान्नोक्तनिर्णय इत्युक्तम् । एतेन—ब्राह्मणाय दधि न देयम् कौण्डिन्याय देयमित्यत्रैव वीप्सापि संकुच्यतामिति—अपास्तम्; दृष्टान्ते

मित्यनेन' तत्त्वमसीत्यनेन चानूद्यत इति स्यादिति, तन्न; 'विश्वं सत्यं' 'द्वा सुपर्णे' त्यत्र च निषेधद्योत-
कपदाभावेन निषेधकत्वासंभवात्, असद्वा इत्यत्र तु नञ्सत्त्वेऽपि नामपदसमभिव्याहृतत्वेन निषे-
धकत्वासंभवात्, 'द्वासुपर्णे'त्यस्य पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवब्रह्मभेदाबोध-
कत्वात्, फलतो निषेधत्वोपपादने दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । तथाहि—सार्वज्ञ्यस्य निषेधप्रति-
योगितया मिथ्याभूतत्वेऽपि नाक्षेपानुपपत्तिः; आरोपितेनाप्याक्षेपकजगत्कर्तृत्वनिर्वाहात्, आक्षि-
प्तविश्वमिथ्यात्वब्रह्मसत्त्वजीवब्रह्मैक्यानां निषेधे तु ज्ञाननिवर्त्यत्वादीनां त्रयाणामाक्षेपकानामसंभवः
स्यात् सत्यस्य ज्ञानादनिवृत्तेः, असत्यस्य अधिष्ठानत्वायोगात्, भेदे सार्वज्ञ्यायोगाच्च । एतेन—अद्वैत-
श्रुतेर्निर्गुणश्रुत्यन्तरस्य वा तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तनिर्गुणत्वमेव सगुणवाक्येन निषेद्धं निर्गुणवाक्येनानूद्यत
इति—निरस्तम्; तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तत्वे निषेधार्थमनुवादयोगात् । ननु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'
त्यादिना द्रष्टृत्वादिगुणविधानात् न तेन तन्निषेधः, तदर्थं च सगुणवाक्यं नानुवादकम्, अन्यथा
सार्वज्ञ्यादेर्व्यावहारिकत्वमपि न स्यात्, न हि निषिद्धे ब्रह्महननादाववान्तरतात्पर्यम् । नच औप-
निषदस्य ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादिकमनुमानादिसिद्धिमिति—चेन्न; अविद्यासिद्धसाक्षित्वाद्यनुवादेन तट-
स्थलक्षणद्वारा ब्रह्मपरतया गुणपरत्वाभावात् गुणनिषेधकतोपपत्तेः । नच निषिद्धे ब्रह्महननादा-
ववान्तरतात्पर्याभाववदत्रापि तदभावे सार्वज्ञ्यं व्यावहारिकमपि न स्यादिति—वाच्यम्; देवतावि-
ग्रहादौ विधिस्तुतिद्वारतयोपात्ते प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरभावात्; तदत्यागमात्रेण तत्सिद्धिव-
दत्रापि निषेधौपयिकतयोपात्तस्य सार्वज्ञ्यादेर्मानान्तरादप्राप्तस्य व्यावहारिकप्रमाणानिषिद्धतया
व्यवहारदशायामत्यागमात्रेण व्यावहारिकत्वोपपत्तेः । ब्रह्महननादिकं तु मानान्तरप्राप्तमिति विशेषः ।
न च तद्वोधकत्वं तत्तात्पर्यनियतम्; विशिष्टविधेर्विशेषणबोधकत्वेऽपि विशेषणे अतात्पर्यात्,
विशिष्टस्यातिरेकात्, अन्यशेषतयोपात्तेऽपि सार्वज्ञ्यादौ तात्पर्यं वाक्यभेदापत्तेः । नच—तर्हि 'उपा-
सनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च । उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ ॥' इति स्मृति-
विरोध इति—वाच्यम्; देवताधिकरणन्यायेनोभयसिद्धिपरत्वात् उभयत्र तात्पर्यं स्मृतेरप्रमाण-
त्वात्, यः सर्वज्ञ इत्यादानुपासनाप्रकरणस्थत्वाभावेऽपि तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मप्रतिपादने तात्पर्येण

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कौण्डिन्यादिवाक्यस्य पर्युदासपरत्वं विनैकवाक्यत्वासंभवेऽपि दार्ष्टान्तिके तत्संभवेन वैषम्यात् । निषेधद्योतकेति ।
'विश्वं सत्यं'मित्यत्र सत्यपदशक्यस्य त्रिकालाबाध्यतादात्म्यवतो विश्वस्मिन् तादात्म्यं बुध्यते, नतु विश्वस्मिन् मिथ्या-
त्वस्यात्यन्ताभावः, मिथ्याभूतात् भेदो वा । उक्ततादात्म्यं तु मिथ्यात्वस्यैव व्याप्यम्, नतु सद्रूपतायाः, येन
साऽनुमीयेत । 'द्वासुपर्णे'त्यादौ तु द्वित्वं बुध्यते, नतु भेदः, येनाभेदनिषेधः स्यादिति भावः । निषेधकत्वा-
भावात् । सत्त्वनिषेधकत्वाभावात् । सत्त्वसंसर्गाभावः शुद्धब्रह्मणि स्वीक्रियत एवेत्यपि बोध्यम् । नच—सद्भेदबोध
एव ममेष्ट इति—वाच्यम्; त्रिकालाबाध्यतादात्म्यवद्भेदस्य मयापि शुद्धब्रह्मणि स्वीकारात् । ननु द्वासुपर्णेत्यादौ
'अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्य' इत्यनेन जीवस्वरूपस्य भोक्तृत्वकथनादेवार्थाजीवाभेदनिषेधो लभ्यते । एवं सत्त्वविशि-
ष्टभेदबोधकात् असद्भेदस्यार्थात्सत्त्वनिषेधः । एवं विश्वं सत्यमिति वाक्यादपि मिथ्यात्वनिषेधः, तत्राह—फलत इति ।
अर्थादित्यर्थः । आरोपितेन व्यावहारिकेण निषेधे धर्मिसमानसत्ताकनिषेधे । अयोगाच्चेति । जीवत्वविशिष्टात्
भेदस्यार्थिकत्वेऽपि जीवत्वोपलक्षितस्वरूपात् भेदो नार्थिकः । एवं सत्त्वसंसर्गनिषेधो ब्रह्मणीष्ट एव, मिथ्यात्वनिषेधस्तु
प्रपञ्चे नार्थात्संभवति नहि तादात्म्यमैक्यम्, येन त्रिकालाबाध्यतादात्म्यानुपपत्त्या मिथ्यात्वनिषेधसिद्धिः, किंतु
भेदव्याप्यः संबन्धविशेष इत्याद्यपि बोध्यम् । एतेन—निषेधवाक्यापेक्षितप्रतियोगिसमर्पकत्वेन एकवाक्यता-
संभवे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वेन । हेत्वन्तरमाह—तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तत्वं इत्यादि । अनिर्णीततात्पर्यकाद्वैतवाक्या-
दिनैव निर्गुणप्राप्त्या वाक्यान्तरेणानुवादो व्यर्थ इति भावः । नचेति । नहीत्यर्थः । तटस्थलक्षणद्वारा सर्व-
साक्षित्वादिवैशिष्ट्यद्वारा । उपात्ते श्रुतिबोधिते । तदत्यागमात्रेण श्रुतिजन्यज्ञानस्य तदंशे प्रमात्वस्वीकारमात्रेण ।
व्यवहारदशायामत्यागः व्यावहारिकप्रमात्वम् । व्यावहारिकत्वोपपत्तेरिति । निर्गुणश्रुतिस्तु व्यावहारिक-
गुणबोधकश्रुत्या न विरुध्यते । यत्तु—अपूर्वत्वाद्येकैकस्यापि तात्पर्यलिङ्गत्वात् मानान्तरप्राप्तस्वरूपापूर्वत्वसत्त्वात्
सगुणत्वे श्रुतितात्पर्यं दुर्वारमिति, तदेकैकस्य लिङ्गत्वनिरासेन पूर्वमेव निरस्तम् । अतात्पर्यादिति । विशिष्टविधाय-
कवाक्यस्य विशेषणे तात्पर्याभावेऽपि कल्पितेन विशेषणविधिना विशेष्ये विशेषणवैशिष्ट्यसिद्धिः । अत एवानेकविध्य-
न्तरप्रसवसमर्थैकविशिष्टविधिप्रसादेनानेकगुणविधानमित्यनेन विशिष्टविध्यन्यथानुपपत्त्या कल्पनीयविधिभिर्विशेषणानां

विशेषणे अतात्पर्यात्, अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधापत्तेः । नच—‘आत्मेत्येवोपासीते’ त्यत्राद्वैतस्याप्युपास्यत्वेन उपासनाशेषतया अद्वैतासिद्धिः स्यादिति—वाच्यम्; अनेन ‘ह्येतत्सर्वं वेदे’ त्युत्तरवाक्यस्यविदिसमानार्थतया उपास्तिशब्दस्य क्रियावाचकत्वाभावात् । नच ज्ञाने विधिः; तस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । नच—विधिश्च्युत्यानर्थक्यम्; बाह्यविषयात् परावृत्त्य चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासम्पादकत्वात् । ‘अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते’ इत्यादेन स वेदे’त्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया भेददर्शननिन्दापरतया उपास्तिपरताशङ्कैव नास्ति । नचोपक्रमानुसारेण उपसंहारनयनम्; अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधेनोपसंहारस्यैव प्राबल्यात् । यत्तु गुणोपसंहारपादे ‘आनन्दादयः प्रधानस्ये’ति सूत्रे ‘आनन्दं ब्रह्मे’त्यादिश्रुतानामानन्दादीनां ‘व्यतिहार’ इति सूत्रे ‘तद्योऽहं’मिति श्रुत्युक्तस्य जीवे ईश्वरत्वस्य ईश्वरे वा जीवत्वस्य उपास्यतयोक्तत्वादुत्तरतापनीयादौ निर्गुणोपास्तेरुक्तत्वेऽपि यथानन्दादेरैक्यस्य निर्गुणस्य च सिद्धिः, तथा सत्यकामत्वादेरपि तात्त्विकतास्त्विति, तन्न; आनन्दादय’ इति सूत्रेण लक्ष्याखण्डवाक्यार्थसिद्ध्यर्थं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सिद्धिरित्युक्तं पौर्णमास्यधिकरणे वार्तिके । प्रतिज्ञेति । ‘कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञात’मिति श्रुतीत्यर्थः । अद्वैतस्यापीति । एवकारेणात्मस्वरूपमात्रस्योपास्यत्वमिति भावः । ‘अनेन ह्येतत् सर्वं वेदे’ति बृहदारण्यके ‘स एष इह प्रविष्ट’ इत्यनेन ब्रह्मणः कार्योपाधिषु प्रतिविम्बरूपेण प्रवेशमुक्त्वा तन्न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि स इत्यनेन संसारदशायां दृश्यमानस्य प्राणनवदनादिक्रियाविशिष्टात्मनः परिच्छिन्नत्वेन तद्दर्शनस्यात्मस्वरूपदर्शनत्वाभावमुक्त्वा आत्मेत्येवोपासीतेत्यनेन शुद्धात्मनोऽपरिच्छिन्नस्य उपासनमुक्त्वा अत्र ह्येते सर्वमेकी भवन्ति इत्यनेन तस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन तत्र सर्वमेकतां प्रतिपद्यत इत्युक्त्वा कृत्स्नत्वरूपमपरिच्छिन्नत्वमुपपाद्य तदेतत्पदनियमस्य सर्वस्यानेन ह्येतत् सर्वं वेदेत्यनेनोक्तात्मज्ञानेन सर्वज्ञानादुक्तामैव ज्ञेयः, नान्य इत्युक्तम् । तत्र पूर्वं न पश्यन्तीत्यनेन पश्चात्तदेतत्पदनियमनेन सर्वं वेदेत्यनेन च ज्ञानसन्दर्शादुपासीतेति मध्यममपि ज्ञानपरमेवेति भावः । यत्तु—प्राणादिनामानि परमेश्वरस्य सर्वगुणपूर्णतां न वदन्तीति तैः स नोपास्यः’ आत्मशब्दस्तु तस्य तां वदतीति तेन स उपास्य इति प्रकृतवाक्यार्थः । अत एव तदेतत्पदनियमस्य सर्वस्येत्यनेन प्राणनादिगुणस्य सर्वस्यात्मा वदनीय आश्रय इत्युक्तम् । ‘अनेन ह्येतत्सर्वं वेद यथा हवैपदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेदे’त्यनेन च सर्वोपासनाफलहेतुरात्मोपासना, सर्वोपासनाफलप्राप्त्या चात्मोपासनया सर्वमुपासितं भवतीत्युक्तमिति, तन्न; आत्मशब्दस्य सर्वगुणपूर्णतावाचकत्वे मानाभावात् । ‘यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाप्ति विषयानयम् । यश्चास्य सन्ततो भावस्तेनात्मा परिकीर्तितः ॥’ इत्येतरेयभाष्याद्युक्त्या सर्वाद्यादिगुणवाचकत्वेऽप्येवकारेण केवलात्मस्वरूपोक्त्या गुणपूर्णत्वोक्त्यसंभवात् ज्ञानस्यैव पूर्वं पश्चाच्चोक्तेः पूर्वं प्रदर्शितत्वेन ‘तदाहुः यद्ब्रह्म विद्यये’त्याद्युत्तरसन्दर्भस्य ब्रह्मविद्याविवेचनेन चोपासनापरत्वाभावात् । अत एव संपूर्णवाक्यस्य शुद्धात्मतात्पर्यकत्वेन ‘यथा ह वै पदेनानुविन्दे’दित्यादिकं न फलपरम्; शुद्धात्मज्ञानस्य सर्वं फलविरोधित्वाच्च, किंतु विधेयशुद्धात्मस्तुतिपरम् । पर्यालोचनयेति । ‘य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां संभवति अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां पशुरित्यादि तस्मादेवा तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्यु’रित्यन्तवाक्ये आत्मज्ञानस्यासर्वभावरूपपरिच्छेदनिवृत्तिफलमुक्त्वा तादृशफलप्राप्तिं विहन्तुं देवा अपि न समर्थाः, अत उक्तफलवान् देवानामात्मभूतः । यदा तु भेदेन कंचिद्देवमुपास्ते तदा तस्यात्मज्ञानप्राप्तौ देवा विघ्नमाचरन्ति; आत्मज्ञानस्य देवपरिचारकमूढावस्थातीतत्वात् । अतएव ‘मुक्तेश्च बिभ्यतो देवा मोहेनापि दधुर्नरान् । तेन ते कर्मसूयुक्ताः प्रवर्त्तन्ते दिवानिशम् ॥’ इति भाह्विव्राह्मणमुक्तार्थकमित्येवमर्थस्योक्तत्वेन भेदघटितोपासनानिन्दाद्वारेणैकात्म्यज्ञानस्तुतिपरमुक्तवाक्यमिति भावः । ‘अन्यां देवतामुपास्ते’ इत्यनेन भेदघटितोपासनानिन्दाद्वारेणोपक्रमस्थेनात्मेत्येवोपासीतेत्यनेनोक्तमात्माभिन्नत्वेनेश्वरोपासनं स्तूयते, न त्वैकात्म्यज्ञानम्; उपक्रमस्थोपास्तौ तस्याप्रतीतेः । तथाचोपक्रमस्य प्राबल्यादुपसंहारस्य ‘य एवं वेदे’त्यादौ वेदेत्यादिपदमुपासनापरतया नेयम् । उपासनाया एवासर्वभावनिवृत्तिः फलम्, तत्राह—नचोपक्रमेति । प्राबल्यादिति । तन्न पश्यन्तीत्यस्योपक्रमत्वेनोपक्रममात्रप्राबल्याश्रयणेऽपि न क्षतिरित्यपि बोध्यम् । नच—अनेन ह्येतदित्यादिवाक्यमात्मोपासनया सर्वोपासनाफलाप्त्या तथा सर्वमुपासितमित्युपचर्यते इति—वाच्यम्; उपचरितार्थत्वस्यायुक्तत्वात्, आत्मनः सर्वस्वरूपत्वेन तज्ज्ञानात् सर्वज्ञानरूपस्यार्थस्य मुख्यत्वात्, ‘कीर्तिं श्लोकं विन्दते’ इत्यनेन सर्वोपासनाफलानुक्त्या सर्वोपासनाफलकत्वकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात् । तथाचाज्ञाननिवृत्तिरूपदृष्टार्थक्यात्मस्वरूपज्ञानबोधकत्वेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुसारित्वेन च ‘आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी’ति ‘यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत’ ‘तद्वैतत्

वाच्यवाक्यार्थोपसंहारस्य क्रियमाणत्वेन उपास्यत्वानुक्तेः । व्यतिहारसूत्रे च 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽह' मित्युक्तस्य जीवे ईश्वराभेदध्यानस्येश्वरे वा जीवाभेदध्यानस्योपासनाप्रकरणपठितश्रुत्युक्तस्य जीवेश्वराभेदः सगुणोपासनरूपेणापि दृढीकर्तव्य इत्येवंपरतया ऐक्यस्य उपासनाविषयत्वेऽपि न सत्यकामत्वादिवदतात्त्विकत्वम् । नचैक्यवत् सत्यकामत्वादीनां तात्त्विकता; अनुपासनाप्रकरणस्थतत्परवाक्यबोधितत्वाबोधितत्वाभ्यां विशेषात्, उत्तरतापनीयादौ श्रुतोपास्तेर्ज्ञानपरत्वात्, उपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन निर्विशेषविषयत्वाभावात् । यत्तु यथा ध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिध्यति, तद्वदैक्यमिति भाष्यपर्यालोचनया ऐक्यवत्सत्यकामत्वादिसिद्धिरिति, तन्न; तत्र सगुणो यः स ईश्वरः प्रसिध्यतीत्यर्थः, नतु गुणस्यापि प्रसिद्धिः; निर्गुणश्रुत्यनुसारेणातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहावेव तात्पर्यात् । तथाचैक्यसिद्धावीश्वरस्य निदर्शनत्वम्, नतु गुणस्य । एवमेवार्थसिद्धं भवन्नोपेक्षामहे । सत्यकामादिगुणोपदेशात् तद्गुणेश्वरादिसिद्धिरिति टीका नेया । ननु—आनन्दादिवाक्यसत्यकामादिवाक्ययोर्मनान्तराविरोधे तदप्राप्तौ उपासनाविध्यश्रवणे निर्गुणश्रुतिविरोधे च तुल्येऽपि आनन्दादयस्तात्त्विकाः, सत्यकामत्वादयस्त्वतात्त्विका इति कथं व्यवस्थेति—चेन्न; आनन्दादीनां ब्रह्मरूपत्वेन निर्गुणश्रुतिविरोधाभावस्य व्यवस्थापकत्वात् । नच—एवं बलशक्त्यादीनामपि 'ज्ञानात्मको भगवान्बलात्मको भगवानिति श्रुतेः समस्तकल्याणगुणात्मक' इति श्रुतेश्च ब्रह्माभेद इति—वाच्यम्; अस्माकमपि ब्रह्मातिरिक्तगुणसद्भावप्रदेशात्, अभेदे गुणगुणिभावाङ्गीकारस्य पारिभाषिकत्वात् । यत्तु सगुणोपास्तेर्भ्रमत्वे निर्गुणोपास्तेरपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पश्यन् ऋषिर्वाग्देवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभव' 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मी'ति 'यदेतन्मनुष्या विद्यु'रिति ज्ञानवाचकशब्दानामुपसंहारस्थानामेव प्राबल्यम् । उपासनायास्तु अदृष्टार्थकत्वेन तद्वोधकत्वादुक्तप्रतिज्ञाननुसारित्वाच्चोपक्रमस्थमुपासीतेति दुर्बलमुचितमिति भावः । व्यतिहार इति सूत्रे 'व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरव'दिति सूत्रे । वाच्यवाक्यार्थेति । द्वारीभूतेत्यादिः । तथाच नोपासनाविषय आनन्दादिरिति भावः । जीवेश्वराभेदः जीवत्वेश्वरत्वाभ्यामुपलक्षितयोरभेदः । रूपेण द्वारेण । दृढीकर्तव्यः विपरीतभावनानिवृत्तिद्वारकनिश्चयविषयीकार्यः । इत्येवंपरतया इत्येवंप्रयोजकत्वेन भाष्याद्युक्ततया । विषयत्वेऽपीत्यादि । तथाचादृष्टार्थकोपासनायां तात्पर्येऽप्युक्तदृढीकारस्यानुपङ्गिकदृष्टफलस्य तत्र भाष्याद्युक्तदृढीकारस्य चैक्यविषयकत्वं विनाऽसंभवादुपासनाविषयोऽप्यैक्यं तत्परतत्त्वमस्यादिवाक्यबोधितत्वात् तात्त्विकम्, सत्यकामत्वादिकं तु तदबोधितत्वादतात्त्विकमित्यर्थः । श्रुतोपास्तेः 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् अणोरणीयांसमित्यादेः' । भाष्येति । व्यतिहारसूत्रस्य भाष्येत्यर्थः । ईश्वरस्य ईश्वरत्वोपलक्षितचिन्मात्रस्य । निर्धर्मकत्वश्रुत्यनुसारेण ईशत्वोपहितेऽप्यतात्पर्यात्तद्वाचकपदाभावाच्च अन्वाचयशिष्टं तादात्म्यदाढ्यं भवन्नोपेक्षामहे । सत्यकामादिगुणोपदेश इव तद्गुणेश्वरसिद्धिरिति टीकायामन्वाचयशिष्टं पदं प्रकृतोपयुक्तार्थकथनेन गृह्णाति । अर्थसिद्धमिति । ईशत्वोपहिते जीवत्वोपहितस्य जीवत्वोपहिते ईशत्वोपहितस्य तादात्म्यचिन्तनं प्रकृते विधीयते । अत एव तादात्म्यस्यानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वादिति भाष्यम् । जीवतादात्म्यस्येश्वरे शास्त्रादारोप्योपास्यत्वात् नेश्वरस्योत्कर्षनिवृत्तिरिति कल्पतरौ व्याख्यातम् । तथाचोक्तचिन्तनप्रवाहवशात्तयोस्तादात्म्यं दृढीभवत् जीवत्वेश्वरत्वोपलक्षितव्यक्तयोस्तादात्म्यमर्थादृढीकरोति; उक्तव्यक्तयोस्तादात्म्यं विनोक्तोपहितयोस्तादात्म्यासंभवात् । अतस्तत्त्वमस्यादिवाक्येनेवोक्तरीत्यार्थादप्युक्तव्यक्त्योरैक्यं सिध्यतीति भावः । कल्पतरावप्यन्वाचयशिष्टमित्यस्य पश्चात् प्रतीतमित्यर्थकथनमुक्ताभिप्रायकं बोध्यम् । अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः समाधिसौकर्यादुक्तः । वस्तुतस्तु—तद्गुणसंविज्ञानेऽपि न क्षतिः; प्रमात्वमात्रे दृष्टान्तसंभवात् । एतावांस्तु भेदः । यद्दृष्टान्ते निर्गुणश्रुत्यनुसारेण व्यावहारिकमेव देवताधिकरणसिद्धं सगुणत्वांशे श्रुतेः प्रमात्वम्, दार्ष्टान्तिके तु बाधकाभावादैक्यांशे तात्त्विकमेवार्थापत्तेतद्द्वारा श्रुतेर्वा प्रमात्वम् । अत एवेश्वरे जीवतादात्म्यचिन्तने निकृष्टव्यप्रसङ्गमाशङ्क्य तत् किमिदानीं सगुणे ब्रह्मण्युपास्यमाने अस्य वस्तुतो निर्गुणस्य निकृष्टता भवति । कस्मैचित् फलाय तथा ध्यानं विधीयमानं निकृष्टतासंपादकमिति तु व्यतिहारचिन्तनेऽपि तुल्यमित्युक्तटीकावाक्यस्य पूर्ववाक्ये उक्तार्थ एव प्रतीयते । वस्तुतो निर्गुणस्य निकृष्टता वस्तुतः सगुणत्वम् । तच्च सगुणवाक्यान्न प्रतीयते, तत्परे निर्गुण श्रुतिविरोधात्, किंतु व्यावहारिकं सगुणत्वम् । तद्द्वारोपितं जीवतादात्म्यं नेश्वरस्य निकृष्टता, किंतु ईशसमसत्ताकमित्यर्थ इति ध्येयम् । विध्यश्रवण इति । सगुणवाक्ये कचिद्विश्रवणेऽपि कचिद्विध्यश्रवण इत्यर्थः । पारिभाषिकत्वादिति । उक्तश्रुतिस्तु भगवज्ज्ञानादेः स्वाभाविकत्वपरैति भावः । सम्यक्फलासिद्धिः कममुक्तिरूपफलासिद्धिः । भ्रमत्वेऽप्यहंप्रहोपासनेव निर्गुणोपासनाप्युक्तफलदा संभवतीति

भ्रमतया सम्यक्फलासिद्धिर्ब्रह्मासिद्धिश्च स्यात् । न च—निर्गुणोपासनं यद्यपि भ्रमस्तथापि मणि-
प्रभायां मणिभ्रम इव सम्यक्फलप्रदम् । तदुक्तं—‘स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः । ब्रह्म-
तत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥’ इति नापि ब्रह्मासिद्धिः; उपासनस्य भ्रमत्वेऽपि शब्दाज्जाय-
मानस्य ज्ञानस्य प्रमात्वादिति—वाच्यम्; प्रकृतेऽपि तथात्वापत्तेः, मणिप्रभायां मणित्वस्येव ब्रह्मणो
मिथ्यात्वाभावेन ध्यानस्यापि सत्यब्रह्मविषयत्वाच्चेति, तन्न; सगुणोपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन भ्रमत्वेऽपि
निर्गुणाद्युपास्तेर्निर्विशेषविषयतया भ्रमत्वाभावात् । एवमेव शाब्दसगुणनिर्गुणज्ञानयोरपि; सगुण-
वाक्यस्य विशेष्यांशसत्यविषयत्वेऽपि विशेषणांशसत्यविषयत्वात् । अतएव—ब्रह्मविषयशाब्दधीज-
न्यस्य तदपरोक्षधीजनकस्य ब्रह्मध्यानस्याब्रह्मविषयत्वे श्रवणादीनामपि तथात्वापत्तिरिति—निर-
स्तम्; तेषां विशिष्टाविषयत्वात्, उपास्तेश्च विशिष्टविषयत्वात् । न च—ईक्षतिकर्मैति सूत्रे ‘ईक्षति-
ध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः । अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः ॥’ इति भामत्यां ‘परात्
परं पुरिषयं पुरुषमीक्षत इतीक्षतिकर्मणः परब्रह्मण एव परं पुरुषमभिध्यायीतेति अभिध्यातव्यत्वे-
नोक्त्या तद्विरोध इति—वाच्यम्; त्रिमात्रोङ्कारावलम्बनोपाधिविशिष्टस्यैव ध्येयत्वोक्त्या शुद्धविषय-
त्वाभावेन विरोधाभावात्, विशेष्यांशमादाय ईक्षतिसमानविषयत्वोपपत्तेश्च । यत्तु ऐक्याद्युपासनस्य
अप्रमाप्रवाहरूपत्वमाशङ्क्य सगुणोपासनसमत्वमुक्तं, तदयुक्तम्; सगुणप्रकरणस्यैक्यवाक्यजन्यैक्य-
ज्ञानस्य सगुणोपास्त्यन्तर्गततया विशिष्टविषयत्वात्, स्वतन्त्रैक्यजन्यैक्यज्ञानस्य निर्विशेषविषयत्वेन
विशिष्टविषयसगुणोपास्तिवैषम्यात् । न च—ऐक्यादेर्विध्यविधिरूपवाक्यद्वयबोधितत्वेन ध्येयत्वज्ञेय-
त्ववत्सार्वज्ञ्यादेरुपास्तिविधिविषयस्यापि अविधिरूपवस्तुतत्त्वविषयः सर्वज्ञ इत्यादिवाक्यबोधित-
त्वेन ज्ञेयत्वमप्यस्तीति—वाच्यम्; तस्य तटस्थलक्षणद्वारा परब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वेन तत्त्वमसीत्या-
देरिव तत्परत्वाभावात् । अतएव—ब्रह्मणि कर्तृत्वादीनामारोप्योपास्यत्वे नास्ति ब्रह्मवाक्यानामिव
ब्रह्मण्यपि कारणवाक्यानां समन्वयस्यावक्तव्यत्वेन समन्वयाद्यध्यायानारम्भापात इति—अपास्तम्;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तु ध्येयम् । संवादि मणिप्रभायां प्रवृत्तिद्वारा मणिसन्निकर्षादिना मणिचाक्षुषप्रयोजकः । सम्यक् फलप्रदं
मणिप्राप्तिप्रयोजकः । ब्रह्मतत्त्वोपासना अहं ब्रह्मेत्युपासना । मुक्तिफलप्रदेति । चित्तैकाग्र्यविपरीतभावनानिवृत्ति-
द्वारकाहंब्रह्मेति वाक्यार्थनिश्चयद्वारा मुक्तिप्रयोजिकेत्यर्थः । उपासनस्य ज्ञानान्यवृत्तिविशेषस्य । भ्रमत्वेऽपि ज्ञान-
त्वव्याप्यप्रमात्वाभावेऽपि । प्रकृतेऽपि सगुणोपासनावाक्येऽपि । तथात्वोपपत्तेः सगुणोपासनायाः प्रमात्वाभावे-
ऽप्युक्तवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रमात्वेन सगुणसिद्ध्युपपत्तेः । ब्रह्मणः सगुणब्रह्मणः । मणित्वस्येवेति । मणिप्रभायां मणित्वं
यथा मिथ्या, तथा सगुणब्रह्म मिथ्येत्यस्याभावेनेत्यर्थः । निर्विशेषविषयतयेति । अभ्युपेक्षेदमुक्तम् । उत्तरतापिनी-
यादौ श्रुतोपास्तेर्ज्ञानपरत्वादुपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन निर्विशेषविषयत्वाभावादिति पूर्वमुक्तत्वात् । मणिप्रभायामित्यादिना
यदुक्तं, तदुपपत्तिः । सगुणेति । ईक्षतिकर्मैति सूत्रे ‘ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् स’ इति सूत्रे । अर्थः विषयः । परं
पुरुषमिति । ‘यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते’ इत्यादि ‘यः पुनरेतं त्रिमात्रे-
णोमित्येतेनैवाक्षरेणे’ति पूर्ववाक्यं बोध्यम् । तद्विरोध इति । उपास्तेः विशिष्टविषयकत्वेन निर्विशेषविषयकत्वाभावा-
दिति भवदुक्तविरोध इत्यर्थः । विशिष्टस्येवेति । त्रिमात्रेणेत्येतस्योक्तप्रश्नोपनिषद्गतोपासनावाक्य एवोक्तत्वात् ‘एतद्वै
सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेती’त्युपक्रमात् ओङ्कारेणैवायतनेनान्वेति
विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चे’त्युपसंहाराच्च ओङ्कारविशिष्टमेव परं ब्रह्मोक्तवाक्ये उपास्यत्वेनोक्तमिति
भावः । विशेष्यांशमिति । परपुरुषपदेनेक्षतिध्यानकर्मणोर्निर्देशादैक्यं निर्णीतम् । ध्यानकर्मणश्चोङ्कारांशे
विशेष्यांशस्यैव परपुरुषपदेन निर्देश इति विशेष्यांशस्यैव ईक्षतिकर्मैक्यम् । ननु—विशेष्यांशमादाय तदै-
क्यमेकद्विमात्रोपासनाकर्मणोरपि संभवतीति तदपि भाष्यादावुच्येत, तस्माद्विशेष्यांशमात्रमादाय तदैक्योक्तिर-
युक्तेति—चेत्, भ्रान्तोऽसि; नहि एकद्विमात्रोपासनयोः परपुरुषेक्षणं फलमुक्तम् । एकमात्रोपासनस्य मनु-
ष्यलोके तपोब्रह्मचर्याद्यासिपूर्वकमहिमप्राप्तेः द्विमात्रोपासनस्य सोमलोके पुनरावृत्तिसहितविभूत्यनुभवस्य च फल-
त्वेनोक्तत्वात् । न च—एवं ध्येयस्येक्षणीयैक्यकथनासंभवेऽपि ध्येयविशेष्यांशस्य परब्रह्मता कुतो नोक्तेति—वाच्यम्;
नहि ध्येयविशेष्यांशमात्रत्वं प्रकृते विचार्यतावच्छेदकम्, किंतु त्रिमात्रप्रणवांशे विशेष्यत्वम् । एकद्विमात्रप्रणवांशे
त्वपरंब्रह्म ध्येयं विशेष्यमिति कथं तस्य परब्रह्मता वाच्येति ध्येयम् । सगुणप्रकरणस्येति । योऽहं सोऽसा-
वित्यादीत्यादिः । विशिष्टविषयत्वात् जीवत्वेश्वरत्वविशिष्टयोस्तादात्म्यविषयकत्वात् । समन्वयस्य तात्पर्यस्य ।

नाम्नो ब्रह्मविकारतया असमन्वयेऽपि ब्रह्मणोऽविकारतया मुमुक्षुज्ञेयत्वेन कारणवाक्यानां तदस्थल-
क्षणकर्तृत्वादिवोधनद्वारा तत्रैव तात्पर्यसंभवेन समन्वयादेरावश्यकतया तदध्यायारम्भसंभवात् ।
नच—‘य आत्माऽपहतपाप्मे’त्यारभ्य ‘सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य’
इति सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिभिः सह जिज्ञास्यत्वश्रवणात् ज्ञेयत्वमिति—वाच्यम्;
अपहतपाप्मत्वादीनां स्वरूपतया जिज्ञास्यकोटिप्रवेशेऽपि सत्यकामत्वादीनां स्वरूपबहिर्भावेन
जिज्ञास्यत्वायोगात् तच्छब्देन तेषामपरामर्शात्, यश्चित्रगुलम्बकर्णश्च तमानयेत्यादौ योग्यविशेषण-
स्यैव तच्छब्देन परामर्शदर्शनात्, अस्वरूपत्वे तेषामप्यपरामर्शं विशेष्यांशमात्रपरामर्शः यश्चित्रगुर्व-
हुधनस्तमानयेत्यादिवत् । अतएव—‘एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति’रित्यादिधर्मानुक्त्वा तेषां ‘तमेतं
वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती’त्यादौ मुमुक्षुज्ञेयत्वेनोक्तेः ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यैव महिमा
भुवी’त्युक्त्वा ‘तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा’ इत्यपरोक्षप्रमाविषयत्वस्योक्तेः तुरीयं सर्वदृक्सदे’ति
तुरीयसार्वज्ञ्यश्रुतेश्च सर्वज्ञत्वादीनां सत्यत्वादिसिद्धिरिति—निरस्तम् । यत्त्वपहतपाप्मत्वादीनामु-
पास्यत्वे तेषां भूताकाशेऽपि संभवेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादकदहराधिकरणविरोध इति,
तन्न; चेतनधर्मात्यन्ताभावस्य पाप्मादिविरहस्याचेतने संभवेऽपि कामसङ्कल्पादेरचेतने संभावयि-
तुमशक्यत्वेन विरोधाभावात् । यत्तु ‘सत्यः सोऽस्य महिमे’त्यत्र होममात्रानुवादेनाहवनीयस्यैव स
इति श्रुत्युक्तमहिममात्रानुवादेन सत्यत्वविधानात् सार्वज्ञ्यादिकमपि सत्यम् । ‘सत्यः सोऽस्य
महिमे’त्यादेरैन्द्रसूक्तस्थत्वेऽपि ‘तत्त्वायामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तय’ इति ब्रह्मश्रुत्या इन्द्रः सूर्यम-
रोचयत् । इन्द्रेह विश्वा भुवनानि येमिर’ इत्यादिसूर्यप्रकाशकत्वलिङ्गेन च ज्योतिरधिकरणन्यायेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तदस्थलक्षणकर्तृत्वादिति । आरोपितं न तदस्थलक्षणमिति तु मौढ्यम्; मन्मते गन्धादेरपि तदस्थलक्षणस्यारोपि-
तत्वात् । अपहतपाप्मत्वादीनां पापशून्यत्वादीनाम् । बहिर्भावेनेति । यदज्ञानात् संसारः, तस्यैव जिज्ञास्यतया
प्रत्यग्रहणगौरवैक्यमखण्डानन्दरूपमेव । तथा पापाभावादिकं चाधिकरणस्वरूपता तदेव । कामादिकं चासकामत्वनि-
त्यतृप्त्यादिश्रुतेः स्वप्रकाशनिरतिशयानन्दस्य ईशस्वरूपत्वाच्चाविद्यकमेव । अतएव सोऽकामयतेत्यादिश्रुत्या कामना-
देरतीतत्वं प्रतीयत इति भावः । अस्वरूपत्वे अभावस्याधिकरणस्वरूपत्वाभावपक्षे । विशेष्यांशेति । आत्मत्वो-
पहितेत्यर्थः । पूर्वकल्पे तु यद्यपि विशेषणीभूतस्याभावस्य न विशिष्टरूपेण जिज्ञास्यत्वम्; तथापि ‘गुरुशरीरश्चैत्रो दृष्ट’
इत्यादौ गुरुवोपहितचैत्रस्येवाभावत्वोपहितस्य जिज्ञास्यत्वान्वयः । कल्पद्वयेऽपि शुद्धात्मपरिचायकत्वादपहतपाप्म-
त्वादिपदानि न व्यर्थानीति बोध्यम् । अत एव स्वरूपान्यस्य सत्यकामत्वादिवत् सर्वेश्वरत्वादेर्मुमुक्षुजिज्ञास्यत्वेन
वक्ष्यमाणवाक्यस्थितपदस्य विशेष्यांशमात्रपरामर्शकत्वादेव । निरस्तमिति । ‘तुरीयं सर्वदृग्’ति गौडपादीयवाक्यं
तु सर्वविषयकतादात्म्यवत्तुरीयमित्यर्थकमपि न सार्वज्ञ्यसत्यत्वबोधकमिति शेषः । उपास्यत्वे दहरवाक्योक्तोपास्यत्वे ।
अशक्यत्वेनेति । नच—बुद्धिपूर्वकारोपेण सत्यकामत्वाद्युपासना भूताकाशेऽपि संभवतीति—वाच्यम्; अनारोपे-
णोपासनासंभवे आरोपकल्पने गौरवात् । सत्यः सोऽस्य महिमेति । ‘येनासमुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्रं वृष्णि ते
शवः । सत्यः सोऽस्य महिमा न सन्नशे यं क्षोणीरनुचक्रदे’ इत्यस्या ऋचः हे इन्द्र तत् प्रसिद्धं ते तव शवो बलं
वृष्णि वर्षकं अभीष्टफलदं येन बलेन महिर्महतीरपः आसमुद्रं समुद्रपूरणयोग्यम् असृजः सृष्टवानसि, स बल-
रूपोऽस्य समुद्रादेर्जनको महिमा सत्यः । एवंचास्येति पृष्टी नोपचरितार्था; बलस्येन्द्ररूपब्रह्मस्वरूपत्वेऽपीन्द्र-
शब्दस्य तदर्थकत्वाभावात् । न सन्नशे न नश्यति । यं महिमानं क्षोणी पृथिव्यादि अनुचक्रदे अनुगच्छति ।
ऋदगताविति धातुः । होममात्रेति । ‘यदाहवनीये जुहोती’ति वाक्यस्यानारभ्याधीतत्वेनाविशेषात् पदे जुहोतीत्या-
दिविशेषविध्यविषयहोमसामान्योद्देशेनाहवनीयविधानमिवाभीष्टाद्यकभगवद्बलरूपप्रक्रान्तमहिमसामान्योद्देशेन सत्य-
त्वविधानमिति भावः । पूर्वचित्तय इति । ‘येनायतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथे’ति ऋक्छेषः ।
ब्रह्मश्रुत्येति । सुवीर्यं तत्प्रसिद्धं ब्रह्म रूपं त्वा पूर्वचित्तये पूर्वेषां ब्रह्मविदां चित्तये ब्रह्मज्ञानाय यामि आश्रयामि ।
येन सुवीर्येण यतिभ्य उपरतेभ्यो यष्टृभ्यः सकाशात् आहृत्य भृगवे भृगुनाम्ने ऋषये धने हिते दत्ते सति येन वीर्येण
प्रस्कण्वनाम्नानं ऋषिमाविथ रक्षितवानसि । भृगवे धनं दत्तं, प्रस्कण्वश्च रक्षित इति यावत् । तदेतदर्थपर्यालोच-
नात् ब्रह्मपदं परमेश्वरवाचकमिति भावः । इन्द्रः सूर्यमिति । ‘इन्द्रो महारोदसि पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे सुवाना स इन्दव’ इति ऋक् । इन्द्रः शवः शवसः स्वीयबलस्य मह्ना महिज्ञा
रोदसी चावापृथिव्यौ पप्रथत् विस्तारितवान् । सूर्यमरोचयत् स्वर्भात्वावृत्तं सूर्यं स्वर्भानुवधेनारोचयत् । इन्द्रो

सूक्तस्य परमेश्वरपरत्वव्यवस्थितैरिति, तन्न; निर्गुणत्वश्रुतिविरोधेन स्वरूपमहत्त्वस्यैव सत्यत्वोक्तेः, षष्ठ्या उपचरितत्वात्, धर्माणामपि व्यावहारिकसत्यत्वोक्तेः । नच ब्रह्मसत्त्वमपि तथा; सत्यस्य सत्यमिति निरतिशयसत्त्वप्रतिपादननिरोधात्, अधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्च । नच तत एव सविशेषत्वम्; निर्विशेषत्वेऽपि तत्त्वस्योपपादितत्वात् । नच—‘पृथगात्मान’मित्यादिश्रुतिषु ‘यो मामशेषदोषोत्थ-गुणसर्वस्ववर्जितम् । जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा । भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकम-हेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छती’त्यादिस्मृतिषु च सविशेषज्ञानादेव मोक्षोक्तेः सप्रकारकज्ञानस्यैव मोचकत्वमिति—वाच्यम्; परममुक्तिहेतुनिर्गुणसाक्षात्कारोपयोगिसत्त्वशुद्ध्युपा-यसगुणोपासनाविध्यर्थवादतया साक्षान्मुक्तिहेतुत्वाप्रतिपादकत्वात् । नच निर्गुणज्ञानान्मुक्तिश्रुति-रपि तथा; तत्परत्वात्तत्परत्वाभ्यां वैषम्यात्, सगुणज्ञानस्य फलान्तरश्रवणाच्च । यद्यपि ‘नास्या-ब्रह्मवित्कुले भवती’त्यादिफलान्तरश्रवणं निर्गुणज्ञानेऽपि, स्तुत्यर्थतयोपपादनमपि समानम्, संयो-गपृथक्त्वन्यायेन उभयफलत्वोक्तिरपि समाना; तथापि अधिष्ठानतत्त्वावगाहित्वानवगाहित्वाभ्यां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ह इन्द्र एव सर्वाणि भुवनानि सुवानासः सूयमाना इन्द्रवः सोमाश्च येमिरे इन्द्रेण नियम्या इत्यर्थः । यद्यपि नात्र ‘ज्योतिश्चरणाभिधानादि’ति ज्योतिरधिकरणन्यायावकाशः, ‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत’ इत्यादिवाक्ये ‘पादो-ऽस्य विश्वा भूतानि’ इत्यादिपूर्ववाक्योक्तचतुष्पाद्ब्रह्मपरामर्शियच्छब्दानुसारेण भौतिकज्योतिषो दिवि वर्तमानदीह्यनुप-लब्ध्या च ज्योतिःशब्दस्य रूढित्यागेऽपि प्रकृते इन्द्रपदानां रूढित्यागे मानाभावात्, उक्तसूर्यप्रकाशकत्वस्य वज्रि-ण्यपि संभवात् विश्वभुवननियन्तृत्वादेरप्यारोपेण स्तुतिसंभवात्, अन्यथा संपूर्णसूक्तस्थानामनेकेन्द्रपदानां रूढि-त्यागः । ‘इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्धन्तु या मम । पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषते’ति ऋगर्था-सङ्गतिश्च । हे पुरुवसो बहुधन इन्द्र इमाः मदीयाः शस्त्ररूपाः गिरः त्वां वर्धन्तु । पावकवर्णाः अग्निद्वयाः विपश्चितः उद्गातारः स्तोमैः स्तोत्रैः बहिष्पवमानादिभिः अभ्यनूषत अभिष्टुवन्ति नु स्तुतौ कुटादिः । एवं च स्तोत्रशस्त्रस्तुयमानत्वमिन्द्रस्यैव; देवतात्वात्, न परमेश्वरस्येत्यसङ्गतिः । एवं ‘अभित्वा पूर्वपीतये इन्द्रस्तोमेभिरा-यवः । समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व’मित्यस्यामृचि आयवः मनुष्याः ऋत्विजः पूर्वपीतये प्रथमं सोमपानाय त्वामेव अभि अभिष्टुवन्ति । समीचीनासः शोभनाः ऋभवस्त्वामेव समस्वरन् सम्यगास्तुवन् । तथा रुद्राः रुद्रपुत्राश्च पूर्वं पुरातनं त्वामेव गृणन्त अभ्यस्तुवन् वृत्रवधे । ‘प्रहर भगवो जहि वीरयस्वे’त्येवं स्वरूपया ऋचा त्वामेव स्तुवन्त इत्यर्थोऽप्यसङ्गतः । न हि परमेश्वर उक्तस्तुतिविषयः । ‘इन्द्रमिद्वेतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे । इन्द्रं समीके वनिनो हवामहे इन्द्रं धनस्य सातये’ इत्याद्यृक्षु वनिनः संभजमानाः वयं इन्द्रमित् इन्द्रमेव हवा-महे आह्वयामः । देवैस्तूयत इति देवतातिः यज्ञः तस्मै तद्भोगाय अध्वरे यज्ञे प्रयति उपक्रान्ते सति समीके सम्यक् गते संपूर्णं च यज्ञे सति धनस्य सातये लाभाय चेत्यर्थानां तु परमेश्वरदेवताकर्मणि परमेश्वराह्वानसंभवेऽपि इन्द्रादिपदानां बहूनां रूढित्यागो नोचित इति विश्वाभुवनावीत्यादौ विश्वादिपदसंकोचेनापरमेश्वरेन्द्रपरत्वमेव प्रकृत-सूक्तस्य युक्तम् । अत एव ‘तत्त्वा यामि सुवीर्यं तत् ब्रह्म पूर्वचित्तय’ इत्यत्र सुवीर्यं त्वां प्रति तत् ब्रह्म अन्नरूपं यामि याचामि प्रार्थयामि । चाकारलोपश्छान्दसः । ‘पूर्वचित्तये सर्वेषामन्नप्राप्तेः पूर्वमन्नलाभाये’ति माधवीयभाष्ये व्याख्यातम् । तथापि परोक्तमनुसृत्याह—तन्न निर्गुणेति । स्वरूपमहत्त्वेति । स्वरूपस्यापि कारणत्वेनाभीष्टफल-दत्वादिसंभव इति भावः । स्वरूपस्याकारणत्वमते मायादिविशिष्टस्य कारणत्वात् तस्य च तारिकत्वासंभवाद्वाव्यवहारिक-सत्त्वमेव सत्यपदार्थः । तथाच ज्ञानेच्छादिधर्माणामपि महिमपदार्थत्वसंभव इत्याशयेनाह—धर्माणामिति । तत् एवेति । विशेषरूपेणाज्ञातस्य सामान्यतो ज्ञातस्याधिष्ठानत्वात् सविशेषत्वमिति भावः । निर्विशेषत्वेऽपीति । ज्ञातेऽपि शुद्धेऽज्ञातत्वस्योक्तत्वात् कल्पितभेदवत्त्वाज्ज्ञातत्वाज्ञातत्वसंभवाच्च निर्विशेषमप्यधिष्ठानमिति भावः । हेतुत्वाप्रतिपादकत्वादिति । प्रेरितारमीश्वरमात्मानं जीवं च पृथक् तदुभयविलक्षणाखण्डानन्दरूपेण तत्त्व-मस्यादिवाक्येन ज्ञात्वेति श्रुत्यर्थः । दोषोत्थगुणशून्यत्वेन यज्ञभोक्तृत्वादिना च उपलक्षितं ज्ञात्वेति स्मृत्यर्थः । ‘अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः तमेव विदित्वे’त्यादिश्रुतेः विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः । ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्य’दित्यादिस्मृतेः श्रेयादिपूर्वोक्तमपि बोध्यम् । संयोगपृथक्त्वन्यायेनेति । ‘एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्व’मिति जैमिनिस्त्रमेकस्योभयार्थत्वे संयोगस्य विनियोजकप्रमाणस्य पृथक्त्वमुभयत्वं नियामकमिति शेषः । तथाहि—यथैकस्य खादिरस्य कत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च; ‘खादिरो यूपो भवति’ ‘खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीते’ति वाक्याभ्यां तथा बोधितत्वात्, तथा मुक्तेः फलान्तरस्य च बोधकवाक्याभ्यां उभयार्थतेत्यर्थः । अधिष्ठानतत्त्वाव-

निर्गुणसगुणज्ञानयोर्विशेषात्, सगुणज्ञानजन्यमुक्तेरवान्तरमुक्तित्वाच्च । नच—‘पुण्यपापे विधूये’ति सर्वकर्मनिवृत्त्युक्तेः परममुक्तित्वमेवेति—वाच्यम्; अस्य ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारहेत्वतिरिक्तकर्मपरत्वात्, अविद्यानाशाभावाच्च परममुक्तित्वासिद्धेः । नच—निर्गुणज्ञानजन्याया अपि मुक्तेरवान्तरत्वम्, ‘असन्नेवे’ति श्रुत्युक्तशून्यतायाः परममुक्तित्वमिति—वाच्यम्; शून्यताया असुखरूपत्वेनापुरुषार्थत्वात्, असन्नेवेत्यादिवाक्यस्य शून्यत्वाप्रतिपादकत्वाच्च । यत्तु गुणविशेषविधिसन्निहितस्य सामान्यनिषेधकस्य निष्प्रपञ्चवाक्यस्य विहितगुणनिषेधकत्वं नास्तीति, तन्न; वाधकस्य निषेधकप्रामाण्यसमकक्ष्यत्व एव सङ्कोचादत्र तदभावात् । यत्तुपासनाप्रकरणस्थत्वमात्रेण उपास्यत्वे उद्गीथोपासनास्थस्य ‘स एषोऽनन्त’ इति श्रुतानन्तत्वादेर्भूताकाश उपासनामात्रमिति सुवचत्वेनाकाशाद्यधिकरणे अनन्तत्वादिलिङ्गैर्ब्रह्मत्वोक्त्ययोग इति, तन्न; उपासनाप्रकरणस्थत्वेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधाभावेन तात्त्विकत्वाङ्गीकारात्, तस्यचाकाशादावसंभवेन तत्तदधिकरणारम्भसंभवात् । यत्तु सत्यकामत्वादेरनुपास्तिप्रकरणे श्रवणमिति, तन्न; पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रवत् प्रकरणादुक्तपृत्वस्य द्वादशोपसत्तावाक्यवत् स्तावकत्वस्य वा संभवात् । यत्तु वेधाद्यर्थभेदादित्यत्र ‘सर्वं प्रविध्ये’त्यादिमन्त्राणामुपासनाप्रकरणादुत्कर्षस्योक्तत्वेन तन्न्यायेनानन्तादिवाक्यस्योत्कर्षः स्यात्, तस्य वाक्यस्योपास्तिपरत्वे वस्तुतत्त्वपरत्वे च सगुणवाक्यस्यापि तथा स्यादिति, तन्न; स्वरूपपरसत्यज्ञानमनन्तमित्यादिवाक्ये अनन्तत्वादेः स्वत एव सत्त्वेन उत्कर्षे प्रयोजनाभावात्, तस्य वस्तुतत्त्वमात्रपरत्वेन उभयपरत्वाभावाच्च, उपास्तिप्रकरणस्थानन्तवाक्यस्य उभयपरत्वेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधेन सगुणवाक्यस्योभयपरत्वाभावात् । नचैवं सार्वज्ञ्यादीनां वाग्धेनुत्वादिवत् प्रातीतिकत्वापत्तिः; वाग्धेनुत्वादेर्बुद्धिपूर्वकारोप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

गाहित्वेति । ‘स एष नेती नेतीति नेह नानास्ति किञ्चन, शिवमद्वैतम् एकमेवद्वितीय’मित्यादिश्रुत्या ‘परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपात् श्रूयतां मम । एको व्यापी समः शुद्धः निर्गुण प्रकृतेः परः । जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः । परज्ञानमयो सद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः । न योगवान्युक्तोऽभूत् नैव पार्थिव योक्षयति ।’ इत्यादिस्मृत्या च केवलान्मन एव तात्त्विकत्वेनाधिष्ठानत्वमिति भावः । अवान्तरमुक्तित्वादिति । सगुणस्य मिथ्यात्वेन तत्प्राप्तिरूपमुक्तेर्विनाशित्वम् । तथाच स्मृतिः—‘ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् । सूत्रं च—‘कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्’ । पुण्यपापे विधूयेति । ‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिसम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं सान्ध्यमुपैती’ति मुण्डकश्रुतिः । साक्षात्कारहेत्विति । साक्षात्कारपूर्वमवश्याभ्युपेयस्थितिकेत्यर्थः । सगुणब्रह्मोपासनया साक्षात्कृतवतोऽपि ब्रह्मलोकावच्छिन्नभोगस्य निर्गुणसाक्षात्कारस्य चावश्यकत्वात्तद्वेतुकर्मावश्यकमिति भावः । अविद्यानाशाभावादिति । उक्तरीत्या सगुणस्यापरमार्थत्वेन तज्ज्ञानं परमार्थाज्ञानरूपबन्धनिवर्तकमिति भावः । निषेधकत्वं नास्तीति । न हिंसादित्यस्य विहितान्यहिंसाया इव निर्गुणादिश्रुतेर्विहितसार्वज्ञ्यादिगुणान्यगुणस्य निषेधकत्वमिति भावः । वाधकस्य विशेषविधायकशास्त्रस्य । समकक्ष्यत्वे तात्पर्यविशेषघटितत्वादिरूपेण सादृश्ये । निर्गुणवाक्यं स्वार्थपरम्, सगुणवाक्यं तु न सगुणत्वपरम्; उपासनापरत्वस्यावश्यकत्वेनोभयपरत्वेन वाक्यभेदादिति तयोः प्रामाण्यं न सममिति भावः । उपास्यत्वे अतार्विकोपास्यत्वे । उपासनामात्रं नतु तार्विकत्वम् । विरोधाभावेनेति । अनन्तत्वादेरधिकरणात्मकाभावरूपत्वेन न विरोधः । अधिकरणानात्मकत्वपक्षेऽपि व्यावहारिकस्य संभवे प्रातीतिकस्य न ग्रहणमिति न भूताकाशे उपास्यतेति भावः । श्रवणमितीति । तस्य ज्ञेयत्वमावश्यकमिति शेषः । पूषाद्यनुमन्त्रणेति । पूषादिमन्त्रस्य दर्शपूर्णमासादिप्रकरणे पठितस्य दर्शादौ पूषादिदेवताविरहेण यथा पूषादिदेवताकर्मणि लिङ्गेन विनियोगः, तथा सत्यकामत्वादेर्ज्ञेयब्रह्मप्रकरणपठितस्य ज्ञानान्वयासंभवेन सगुणोपासनायामन्वय इत्यर्थः । स्वप्रकरण एव स्तावकत्वेनान्वयसंभवे उत्कर्षो न युक्तः; प्रतीतैकवाक्यताया भङ्गापत्तेरित्याशयेनाह—द्वादशेति । ‘तिस्र एव साहस्योपसदो द्वादशाहीनस्ये’ति वाक्ये अहर्गणरूपाहीनगतोपसदां द्वादशत्वेनानुष्ठानगौरवद्वारा निन्दया साहगतोपसन्नयस्य विधेयस्य तदभावेन यथा स्तुतिः, सगुणब्रह्मणः सत्यकामत्वादिना विधेयस्य निर्गुणात्मनः स्तुतिरिति भावः । इत्यत्र सूत्रे । उभयपरत्वेऽपि तात्त्विकानन्तत्वादौ उपासनाकर्तव्यतायां च प्रमापकत्वेऽपि अनन्तत्वादेरधिकरणीभूतब्रह्मरूपत्वेन निर्गुणश्रुतिविरोधात् उपासनावाक्यादपि देवताधिकरणन्यायेन तात्त्विकानन्तत्वादिप्रमेति भावः । उभयपरत्वाभावात् तात्त्विकसत्यकामत्वादाहुपासनाकर्तव्यत्वे च प्रमापकत्वाभावात् । यथाश्रुते उपास्तिवाक्यस्यानन्तत्वादिपरत्वे वाक्यभेदापत्तेरसङ्गतिः । बुद्धिपूर्वकेति । व्यावहारिकविषयकबुद्धिपूर्वकेत्यर्थः । वागादौ धेनुत्वा-

विषयतया प्रातीतिकत्वेऽपि सत्यकामत्वादेरीश्वरादन्यत्रासंभवेन बुद्धिपूर्वकारोपविषयत्वाभावात् । ननु—असदुपासना न घटते; 'नाविद्यमानं ब्रुवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः । नच रमन्त्यहो असदुपासनायात्महन' इत्यादिस्मृत्या 'अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्या'मिति सङ्कर्षणसूत्रेणापि निषेधादिति—चेन्न; स्मृतिसूत्रयोरत्यन्तासदुपास्तनिषेधपरतया तद्विरोधाभावात्, 'वाचं धेनुमुपासीते'त्यादौ प्रातीतिकस्याप्युपास्यत्वदर्शनाच्च । नच—तत्र 'रात्रिं धेनुमिवायति'मिति श्रुत्यन्तराद्धेनुशब्दो गौणः, योषितमग्निं ध्यायीते'त्यत्रापि 'रेतो जुह्वती'ति श्रुतेः रेतोरूपाहुत्याधारत्वेनाग्निशब्दो गौणः, भाष्योक्तरीत्या यौगिको वा, न त्वारोप इति—वाच्यम्; आरोपेण मुख्यत्वसंभवे गौणताया अन्याय्यत्वात् । नच गौण्युच्छेदः; यत्रोपासनाया अश्रवणं तत्रारोपस्य निष्प्रयोजनत्वेन गौण्युपपत्तेः, रूढार्थस्य कथमपि संभवे यौगिकार्थत्वस्यान्याय्यत्वाच्च । एतेन—'नाम ब्रह्मे'त्यत्र 'नामाभिमानिनी चैषा तस्यां ब्रह्म हरिं स्मरे'दिति स्मृत्यैव ब्रह्माधिष्ठाने नामादौ गौणो ब्रह्मशब्दः,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

देव्यावहारिकप्रमाणविषयत्वात् प्रातीतिकत्वं युक्तम्; सत्यकामत्वादौ तु देवताधिकरणन्यायसिद्धव्यावहारिकप्रमाणा-
कश्चुतिविषयत्वात् तत् न युक्तमिति भावः । नाविद्यमानमित्यादि । अविद्यमानं ध्यातुं वेदा वैदिकाश्च न ब्रुवत इत्यर्थः । न ब्रुवत इत्यादि । 'त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च । न बत रमन्त्यहो असदुपासनायात्महनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥' इति भागवतदशमे वेदस्तुतिः । 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चने'त्यादिश्रुतयो देहादौ स्वाभाविकीं रतिं त्यक्त्वा आत्मनि रतिं कर्तव्यां वदन्तीत्याह—त्वदनुपथं त्वदधीनं कुलायम् । कौ पृथिव्यां लीयमानमिदं शरीरं आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवच्च चरति भाति तवात्मस्वरूपस्य तादात्म्याध्यासात् त्वमिव भाति, तथापि उन्मुखे पूर्णानन्दरूपेण भासमाने त्वयि हिते पूर्णानन्दे प्रिये निरुपाधीच्छाविषये आत्मनि न रमन्ति । अहो बत कष्टम् । असतो मिथ्याभूतस्य देहादेरुपासनाया 'अहं गौरः कुलीनो गुणी'त्यादिप्रत्ययावृत्त्या आत्महनः आत्मस्फुरणविरोधिविपरीतभावनोपचययुक्ताः यदनुशयाः य उक्तोपचयरूपः अनुशयः एषां ते उरुपथे संसारे भ्रमन्तीत्यर्थः । अत्यन्तासदिति । ननु—अत्यन्तासत्त्वं प्रातीतिकत्वम्, अलीकत्वं वा, नाद्यः; वाग्धेनुत्वादेरुपास्यत्वात्, नच—उपास्यत्वेन विहितं यत् तदन्यप्रातीतिकत्वं तदिति—वाच्यम्; तदुपासनायाप्रसक्तत्वेनानिषेधत्वात् । अत एव नान्त्यः; नह्यलीकमुपास्यत्वेन विहितम्, येन तदुपास्यत्वेन प्रसज्येत । अथोपास्यत्वेनाविहितस्यापि देहादेः रागप्राप्तोपास्यत्वेन निषेधाहृत्वमिथ्युच्यते, तर्हि स्मृतेः प्रतिषेधपरत्वेन सार्थकत्वेऽपि सूत्रानर्थक्यम्; न्यायाप्रतिपादनात् । न हि सूत्रं विधिप्रतिषेधरूपम्, किंतु न्यायविशेषसूचनद्वारा प्रतिषेधतात्पर्यनिर्णायकमिति—चेत्, अत्र ब्रूमः, अत्यन्तासदित्यस्य उपास्यत्वेन विधेयत्वायोग्येत्यर्थः । तत्त्वं च द्वेधा उपास्यत्वेन विध्यभावात्, तद्वदेऽपि न्यायविरोधाद्वा । तथाच देहादेरुपास्यत्वेनाविधेयत्वेऽपि उपास्यत्वेन रागप्राप्तत्वात् । स्मृत्योपास्यत्वेन निषेधता सूत्रेण यत्र व्यावहारिकं प्रातीतिकं च विहितोपास्यत्वेन प्रसक्तं तत्र व्यावहारिकमेवोपास्यं शास्त्रार्थः, ननु प्रातीतिकम्; व्यावहारिकसंभवे प्रातीतिकस्यानादेयत्वात् । यथा—उद्गीथोपासनायाम् अनन्तत्वादि प्रातीतिकमाकाशादौ नोपास्यम्, किंतु ब्रह्मणि सत्यम् । यथावा सत्यकामत्वादिकं ब्रह्मण्युपास्यं व्यावहारिकं, न प्रातीतिकम्, देवताधिकरणन्यायेनोपासनावाक्यस्य व्यावहारिकप्रामाण्यात् । एवं यत्र चेतनमचेतनं चोपास्यं विधिना प्रसक्तं, तत्र चेतनमेवोपास्यं शास्त्रार्थः; अद्वैतशयलाभात् । एवं यत्रोपास्यत्वेन यं पुरुषं प्रति यद्योग्यम्, यथा तामसं प्रति परमसारिवकी विष्णुमूर्तिः । सारिवकं प्रति वा तामसी भैरवविशेषादिमूर्तिः, तत्तेन नोपास्यम्; अद्वैतादिसंभवादिति बोध्यत इति भावः । मिथ्याभूते उपास्यत्वेन निषेधपरत्वं त्वयापि वक्तुमशक्यमित्याशयेनाह—वाचमिति । श्रुत्यन्तरादिति । रात्रौ धेनुसादृश्यस्य श्रुत्यन्तरेण कथनादित्यर्थः । तद्वदिति शेषः । गौणः धेनुसादृश्यपरः । भाष्योक्तरीत्या 'नारायणादयः पञ्च क्रमात् पञ्चाग्रयः स्मृताः 'अदनादङ्गनेत्रत्वासुतरामचलत्वत' इति माध्वभाष्यरीत्या 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि'रित्यादिछान्दोग्यवाक्ये स्वर्लोकादयः प्रतीयमाना न पञ्चाग्रयः, किंतु नारायणादय इत्यर्थः । यत्रेति । कौण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादौ वेदे 'सिंहो माणवक इत्यादौ लोके चे'ति शेषः । निष्प्रयोजनत्वेनेति । अग्निहोत्रसादृश्यार्थकाग्निहोत्रपदेन नैयमिकाग्निहोत्रधर्माणां मासाग्निहोत्रे जुहोतिप्राप्त्यर्थं सिंहगुणकौर्यादिप्रतीतितात्पर्यनिर्वाहार्थं चेति शेषः । कथमपि संभवे सादृश्यादिप्रतियोगितया शाब्दधीविषयत्वसंभवे । अन्याय्यत्वादिति । रूढ्यर्थसारितगौणार्थविवक्षायां रूढ्यर्थस्यात्यागात् । यौगिकार्थस्य च नानावयववृत्तिसापेक्षत्वेन रूढ्यर्थपेक्षया दुर्बलत्वात् गौणार्थत्यागेन यौगिकार्थग्रहणं रथकाराधिकरणविरुद्धमिति भावः । ब्रह्माधिष्ठाने ब्रह्माधिकरणे । नामादौ नामादिपदार्थोवादी । गौण इति ।

नामेति प्रथमावचनं वसन्तो मास इतिवत् सप्तम्यर्थे, ब्रह्मेति प्रथमा वा पञ्चम्यर्थे, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी'दिति वत्, सुपां सुलुगि' तिसृत्रात्, अन्यथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्देशेभ्यस्तरति शोकमात्मवि'दिति पृष्ठवन्तं नारदं प्रति नामोपास्त्युक्तिरयुक्ता स्यात्, प्रतिमायामपि देवतातत्त्वबुद्धित एव फलम्, नतु देवताऽतत्त्वबुद्धितः, 'शिला देवते'ति ज्ञानस्य भौम इज्यधीरित्यादिना निषेधादिति—निरस्तम्; आरोपेण मुख्यत्वसंभवे गौणत्वस्यान्याय्यत्वात्, समानविभक्तिकत्वाभावे इति शब्दानन्वयप्रसङ्गात् । एवं प्रतिमादावपि देवतात्वारोपेण मुख्यत्वे गौणत्वमन्याय्यमेव । नच भौम इज्यधीरिति निषेधान्न तथा; तस्य भौवातिरिक्तश्चेतनो देवो नास्तीति भ्रमव्युदासपरत्वेनारोपानिषेधकत्वात्, अनात्मोपास्तेस्तु मुख्यं ब्रह्मोपदेष्टुमेव शाखाचन्द्रन्यायेनावतारितत्वात्, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति गुणविशिष्टस्य उपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधाच्च । नच—'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधी'ति श्रुतौ अश्रौतज्ञानस्याकारुण्येन ज्ञानस्य वा निषेध इति 'तदेव ब्रह्म'त्यादावपि अश्रौतध्यानस्याकारुण्येन ध्यानस्य वा निषेधेन नोपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधः, अन्यथा 'तस्याभिध्यानादि'ति श्रुतिविरोध इति—वाच्यम्; अन्यदेवेत्यादौ विदितात् प्रमेयात् घटादेरप्रमेयाच्छशविषाणादेर्वैलक्षण्येन स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनपरतया त्वदुक्तार्थाद्विग्रहान्तत्वात् । उपास्ये ब्रह्मत्वनिषेधेऽपि न 'तस्याभिध्याना'दिति श्रुतिविरोधः; अभिध्यानशब्दस्य निदिध्यासनवाचकत्वात्, ध्यानपरत्वेऽपि क्रममुक्त्यर्थत्वेन विरोधाभावात् । तस्मात् साधकाभावाज्निर्गुणं ब्रह्म; सगुणत्वे बाधकसद्भावाच्च । नचासिद्धिः; मिथ्यात्वश्रुतेर्निर्गुणश्रुतेश्च बाधकत्वात्, मिथ्यात्वश्रुतेरबाधकत्वप्रकारस्य मिथ्यात्ववादे अखण्डार्थवादे च निरासात् । ननु—निर्गुणवाक्यं सगुणवाक्यं बाधते नतु सगुणवाक्यं तदिति किमत्र नियामकम् ? नच निषेधकतया निर्गुणवाक्यं प्रबलम्, 'असद्वा'इत्यादिवाक्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यात् प्राबल्यापत्तेरिति—चेन्न; अपच्छेदन्यायेन प्राबल्यस्य प्रागेवोक्तेः । निषेधत्वाच्च प्राबल्यम्; 'असद्वा' इत्यत्रासच्छब्दस्यानभिव्यक्तपरत्वेनानिषेधत्वाच्च नैतन्न्यायेन प्राबल्यम् । निर्गुणवाक्यस्य पुरुषार्थपर्यवसायितया तत्परत्वेन प्राबल्यात् सगुणवाक्यस्य तत्सन्निधिपठितस्य 'फल-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वषाकालादिकं ध्येयस्य हरेराधार इति उपासीत उपादिकं यथाधारो भवति, तथोपासीत उषःकालादौ विद्यमानः सन् हरिमुपासीतेति यावत् । इत्थमेवोक्तस्मृतिसमानार्थकतेति ध्येयम् । सप्तम्यर्थ इति । वेत्यग्रे अन्वयः । तेनोपायां हरिमुपासीतेत्यर्थः । इति शब्दानन्वयस्तु अस्मिन्नेव पक्षे वक्ष्यते । इति पृष्ठवन्तं इत्यादिना शुद्धात्मानं पृष्ठवन्तम् । तत्त्वबुद्धितः आधारत्वबुद्धितः । अतत्त्वबुद्धितः तादात्म्यबुद्धितः । चेतनो देवो नास्तीति साधुजनोपास्यो-
मैत्यर्थः । 'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः । यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोचरः ॥' इति स्मृतेः देहादिभिन्न आत्मा साधुजनाः स्वीयाः पूज्यास्तीर्थभूताश्चेत्यत्र तात्पर्यात् देहादिभिन्नोऽनात्मा साधवः स्वीयत्वपूज्यत्वतीर्थत्वज्ञाना इति भ्रमव्युदासपरत्वमिति भावः । यथाश्रुते अध्वरमी-
मांसकानां चेतनदेवतानङ्गीकारिकाणां मते विरोधः । न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेष्विति सर्वान्ते निर्देशात् । साधूनामेव स्वीयत्वादिपरत्वधीविरोधश्च । स्वात्मत्वं तु तेषां न संभवतीति न तत्परत्वधीरिति ध्येयम् । शुद्धात्मनि नारदेन पृष्ठे अनात्मनिर्देशो न युक्त इति यदुक्तम्, तत्राह—अनात्मेति । शाखाचन्द्रेति । प्रथमतः शुद्धात्मनो दुर्बोधत्वात् पश्चात्तं बोधयितुं नामाद्यवच्छिन्नात्मरूपानात्मोपास्तिः प्रथममुक्ता । यथा प्रथमतश्चन्द्रं द्रष्टुमसमर्थं बालं प्रति शाखां प्रदर्श्य पश्चात् चन्द्रः प्रदर्श्यत इत्यर्थः । ब्रह्मत्वनिषेधाच्चेति । सत्यज्ञेयब्रह्मस्वरूपत्वनिषेधाच्चेत्यर्थः । सगुणवाक्यं नोपास्तिः सगुणत्वोभयपरमिति पूर्वोक्तानुपक्षेपेनान्वयः । अश्रौतज्ञानस्येत्यादि । विदितादित्यस्य श्रुत्यन्यमानेन विदितादि-
त्यर्थः । अविदितादित्यस्य च सकलगुणवत्त्वाविषयकाप्राशस्त्यज्ञानविषयादित्यर्थः । तथाच ज्ञेयब्रह्मणः तदुभयान्यत्वोक्त्या श्रुत्यैव सकलगुणवत्त्वमेव ज्ञेयं ब्रह्मेति लभ्यते । एवं 'नेदं यदिदमुपासते' इत्यत्रापि श्रुतिभिन्नेन नोपास्यं, सकलगुणवत्त्वं विना नोपास्यं ब्रह्मेत्यर्थात् श्रुत्यैव सकलगुणकमेव ब्रह्मोपास्यमिति लभ्यत इति भावः । विदिताविदितपदयोरुक्तार्थपरत्वे लक्षणादोषात् ज्ञानकर्मैव विदितपदार्थः; शक्तिलभ्यत्वात्, अविदितपदं तु न तदन्यार्थकम्; ब्रह्मणोऽपि ज्ञानकर्मान्यत्वात् । किंतु प्रमायां विदेर्लक्षणया प्रमाविषयान्यपरम् । त्वन्मते नजोऽप्राशस्त्यलक्षकत्वे तदर्थस्य धात्वर्थज्ञानेऽन्वयो न व्युत्पन्न इति तल्लक्षणा न युक्तेत्याशयेनाह—अन्यदेवेत्यादाविति । क्रममुक्त्यर्थत्वेन क्रममुक्तिहेतुसगुणोपा-
सनार्थकत्वेन । ज्ञेयब्रह्मणो ध्येयत्वाबोधकत्वादिति शेषः । साधकाभावात् सगुणसत्यत्वसाधकाभावात् । सगु-
णत्वे सगुणसत्यत्वे । निषेधत्वात् परीक्षितनिषेधत्वात् । तेन निषेधाभासस्याप्राबल्येऽपि न क्षतिः । पुरुषार्थेति ।

वत्सन्निधा'विति न्यायेन तदनुगुणतया नैयत्वात् । नच सगुणज्ञानस्य मोचकत्वम्; तस्य प्रागेव निर-
सात् । अतएव—सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्विरोधेन समुच्चयायोगात् अनुष्ठान इव च वस्तुनि विकल्पा-
योगात् एकस्य प्रतीतार्थत्यागरूपे बाधे वक्तव्ये निर्गुणवाक्यस्यैव स युक्तः, नतु प्रबलस्य सगुणवाक्य-
स्येति—निरस्तम्; प्राबल्यासिद्धेः । नच—उपक्रमाधिकरणन्यायेनानुपजातविरोधत्वात् निर्गुणश्रुतेः
प्रतियोगिज्ञानापेक्षतया विलम्बितत्वेन लिङ्गाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् पदे जुहोतीतिवद्विशेषविषय-
त्वाच्च सगुणवाक्यस्य प्राबल्यमिति—वाच्यम्; उपक्रमाधिकरणन्यायस्यान्यथासिद्धोपसंहारविषय-
त्वात्, प्रकृते च तदभावात् । सगुणवाक्यस्य प्रतियोग्युपस्थापकतया शीघ्रगामित्वेन प्राबल्ये ग्रहण-
वाक्यस्यापि प्राबल्यापत्त्या विकल्पाभावप्रसङ्गात्, सामान्यविषयप्रमाणसमकक्ष्यस्यैव विशेषविष-
यस्य प्राबल्यात्, प्रकृते च तदभावात् । एतेन—'दीक्षणीयायामनुब्रूया'दितिवत् निरवकाशत्वेन
प्राबल्यम्, निर्गुणश्रुतिर्हि 'देवात्मशक्तिं खगुणैर्निगूढां' 'दैवी ह्येषा गुणमयी'त्यादिश्रुतिस्मृतिष्विव
सत्त्वादिगुणे सावकाशेति—निरस्तम्; सावकाशनिरवकाशन्यायस्य समकक्ष्यविषयत्वाच्च । अतएव
बहुत्वादपि न प्राबल्यम्; 'शतमप्यन्धानां न पश्यती'ति न्यायाच्च । नच—प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षैः
ब्रह्मादिशब्दैर्धर्मिणं निर्दिश्य क्रियमाणं धर्मनिषेधं प्रत्युपजीव्यतया गुणसमर्पकाणां प्राबल्यम्; ग्रह-
कत्ववदुद्देश्यविशेषणतया प्रवृत्तिनिमित्तानामविवक्षितत्वात् । नच ग्रहैकत्वन्याये उद्देश्यस्वरूपे
लब्धे यदधिकं तस्यैवाविवक्षेति स्थितिः, अन्यथा ग्रहत्वस्याप्यविवक्षा स्यात् । अतएवोक्तं हविरार्ति-
नये 'मृष्यामहे हविषा विशेषणम्, उभयत्वं तु न मृष्यामहे' इतीति—वाच्यम्; यच्छब्दो यत्र प्रवृ-
त्तिनिमित्तमर्पयन् धर्मिणमुपस्थापयति तत्रायं न्यायः, यस्तु लक्षणयोपस्थापयति, तत्र नायं प्रवर्तते ।
नच—लक्षकेणापि शब्देन इतरव्यावृत्तमसङ्कीर्णमेव वस्तुस्वरूपमुद्दृष्टव्यम्, अन्यथा यत्र कचन
धर्मनिषेधः स्यादिति—वाच्यम्; गङ्गायामित्यादावितरनदीतीरव्यावृत्ततीरलाभवदत्रापि स्वतो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

परमपुरुषार्थेत्यर्थः । तदनुगुणतया निर्गुणवाक्यजन्यज्ञानानुकूलचित्तैकाग्र्यादिफलकोपासनपरतया । उपास्यसमभि-
व्याहृतगुणवाक्यं तु निषेधापेक्षितप्रतियोगिसमर्पकतया अन्यथासिद्धमिति अन्यथा नेतुं शक्यमित्यर्थः । सगुणवाक्य-
स्यानपेक्षणीयत्वेन तद्वाधिवैव निर्गुणवाक्यप्रवृत्तेरपच्छेदन्यायेन परमपुरुषार्थपर्यवसायित्वेन च प्रबलं निर्गुणवाक्यं
नान्यथा नेतुं शक्यमिति भावः । प्रसङ्गादिति । तथाच निषेधवाक्येन प्रतियोगिज्ञापकतया वाक्यान्तरं नापेक्ष्यते;
स्वस्यैव प्रतियोग्युपस्थापकत्वात् । निषेधाधिकरणे प्रतियोगिप्रसञ्जकतयाऽपेक्ष्यमाणमपि ग्रहणादिवाक्यं नाग्रहणादि-
वाक्यस्य सर्वथा प्रामाण्याभावे हेतुः, किंतु पाक्षिकस्येति निर्गुणवाक्यस्योक्तप्राबल्यात् वस्तुनि विकल्पासंभवाच्च न
पाक्षिकोऽपि सः, किंतु तदनुगुणतया सगुणवाक्यमेव नीयत इति भावः । प्राबल्यादिति । अन्यपरत्वात् सगुण-
वाक्यं न समकक्षम्, विशेषविषयत्वमात्रेण प्राबल्ये त्वर्थवादस्यापि तत् स्यादिति भावः । दीक्षणीयेत्यादि ।
यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्तीत्यस्य दीक्षणीयादन्यत्र सावकाशत्वात् 'यावत्या वाचा कामयते,
तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूया'दिति वाक्यं दीक्षणीयाभिन्ने निरवकाशं यथा कामस्वरविधायकं, तथा सगुणवाक्य-
बोधितसार्वज्ञ्यादिगुणान्यसत्त्वादिगुणेषु निर्गुणश्रुतेः सावकाशत्वात् सगुणश्रुतिः सार्वज्ञ्यादिगुणपरेति भावः । विषय-
त्वाच्चेति । गुणशब्दस्य रूपादिरूढस्य सत्त्वादिषु निरूढलक्षणापत्तिः । अप्रधानत्वरूपगुणीभूतत्वरूपेण हि सत्त्वादौ
गुणपदं लाक्षणिकम् । न हि सत्त्वादिगुणयुक्ता माया, किंतु सत्त्वादित्रयरूपेत्यपि बोध्यम् । हविरार्तिनये 'यस्यो-
भयं हविरार्तिमार्छेत् स ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपे'दिति वाक्यविचारे । हविर्विशेषणं हविरभिन्नं विशेषणम् ।
नाशरूपार्तिमात्रस्य हविर्मात्रस्य वा सार्वदिकत्वात् निमित्तत्वासंभवेन हविर्नाशस्य निमित्तत्वसंभवात् हविषो निमिची-
भूतोद्देश्यविशेषणत्वं युक्तम्, उभयत्वं तु न विशेषणम्; तद्विनापि निमित्तपर्यवसानसंभवात् । आच्छेदित्याख्याते-
नैवोभयपदं संबध्यते, न तु हविःपदेन; विभक्त्यन्तनाम्नां परस्परानन्वयात् । तथाच हविःकर्तृकार्तिकर्मकप्राप्तिभाव-
नैव निमित्तत्वेनान्वेति, न तुभयहविःकरणिका भावना इत्युभयत्वाविवक्षायामेव पर्यवसानाच्च, उभयपदं तु दक्षिण-
सोरेकस्यैव नाशो न निमित्तम्, किंत्वन्यतरस्येति ज्ञापनायेति न व्यर्थमिति भावः । यच्छब्द इत्यादि । किञ्चि-
द्धर्मप्रकरणोद्देश्यबोधकं यत्पदं, तत्रायं न्याय इत्यर्थः । लक्षणया शुद्धलक्षणया । नायं प्रवर्तत इति । यथा
प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादौ चन्द्रपदे न शुद्धव्यक्तिरेवोपदिश्यते । यथाच शुद्धस्योद्देश्यत्वविधेयत्वे, तथा व्युत्पादितम-
खण्डार्थवादे इति शेषः । स्वतोव्यावृत्तेति । शुद्धबोधकाले विशेषणबोधं विनापि तत्पूर्वं द्वारीभूतबोधे विशेषण-

व्यावृत्तवस्तुन एवोद्देश्यत्वसंभवात् किं धर्मसमर्पणेन? नच—निर्गुणवाक्यस्य छागपशुन्यायेन 'त्रैगुण्यवर्जितं' 'विना हेयैर्गुणादिभि'रित्यादिविशेषोपसंहार इति—वाच्यम्; 'नेति नेती'त्यादिवीप्सा-
वलेन प्रसक्तसर्वनिषेधे प्रतीते कतिपयविशेषपरिशेषस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अतएव 'काकेभ्यो दधि
रक्ष्यता'मितिवत् त्रैगुण्यादिनिषेधस्यैव सामान्यविषयत्वम्, सार्वज्ञ्यादौ श्रुतेरमानत्वेनाविरोधा-
दत्रापि काकपद इव मानान्तरानुग्रहस्य तुल्यत्वात्, तथापि विशेषोपसंहारे 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'-
त्यस्य 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्रोपसंहारापातात्, व्यर्थहिंसायां विध्यभाववत् सार्वज्ञ्यादि-
गुणेष्वपि विध्यभावस्य समानत्वात् निषेधसाम्योपपत्तेः । अतएव—'धर्मान् पृथङ्न पश्यती'-
त्यादिश्रुतेः 'सविशेषणे ही'ति न्यायेन गुणानां पार्थक्यस्यैव निषेधात् तत्सामान्यादन्यत्रापि तथैव
निषेधो युक्त इति—निरस्तम्; सविशेषणे हीति न्यायस्य विशेष्यबाधकावतार एव प्रवृत्तेः, प्रकृते
च बाधकाभावात्, सार्वज्ञ्यश्रुतेः बाधकत्वनिरासात्, पार्थक्यनिषेधे ब्रह्ममात्रपरिशेषात् नामान्त-
रेणाद्वैतवादस्यैवोक्तेश्च । यत्तु ज्ञानानन्दयोरभेदे एकतरपरिशेषाभावादत्रापि धर्मधर्मिणोर्नैकतरपरि-
शेषः, अन्यथा आनन्दस्फुरणयोरन्यतराभावात् मुक्तिरपुमर्थः स्यादिति; तन्न; ज्ञानानन्दव्यक्तयोरस्ति
भेदगर्भैकतरशब्दस्याप्रवृत्तिः । एवमेव त्वन्नये गुणगुणिव्यक्तयोरभेदसंभवात् अस्य परिभाषा-
मात्रत्वात् । यत्तु साक्ष्यादिचैतन्यस्य पूर्वं पश्चादपि गुणोक्तेस्तन्मध्यस्थं निर्गुणवाक्यमपि उपांशुयाज-
न्यायेन तदनुगुणतया नेयमिति, तन्न; गुणान् तटस्थीकृत्य तेषां ब्रह्मपरत्वेन गुणे तात्पर्याभावात् ।
अतएव—निर्गुणशब्देन गुणमात्रनिषेधो न युक्तः, साक्ष्यादिपदेन द्रष्टृत्वादिविधानव्याघातात्सङ्कोच
एवेति—निरस्तम्; द्रष्टृत्वादावत्रापि अतात्पर्यात् । तथाच द्रष्टृत्वादिव्याघातब्रह्मरूपयुक्तार्थतैषा;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भानेनार्थिकव्यावृत्तिधीविषयेत्यर्थः । छागपशुन्यायेनेति । 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुवृही'ति मन्त्रस्य बलादग्नीषो-
मीयं पशुमालभेतेति वाक्यस्थपशुपदं यथा छागार्थकमुक्तं, तथेत्यर्थः । अमानत्वेन अतात्पर्येण । अत्रापि त्रैगुण्यादि-
वाक्येऽपि । तुल्यत्वादिति । आदिभ्यो दध्यादिरक्षणस्येष्टसाधनत्वं मानान्तरेण प्रमाय काकपदं दध्युपघातकसा-
मान्ये लाक्षणिकं यथा निर्णीयते, तथा निर्गुणश्रुत्यादेर्गुणमात्रनिषेधकत्वं प्रमाय त्रैगुण्यादिपदं गुणसामान्यलक्षकं
निर्णीयत इत्यर्थः । तथापि मानान्तरानुग्रहेऽपि । विशेषोपसंहारे निर्गुणवाक्यस्य गुणविशेषनिषेधकत्वस्वीकारे ।
उपसंहारापातादिति । सर्वभूतपदं ब्राह्मणपरं स्यादिति भावः । ननु अग्नीषोमीयपश्चादिवैधर्हिंसान्यहिंसारूप-
व्यर्थहिंसायां विध्यभावात् 'न हिंस्यादि'ति निषेधस्तत्साधारणः युज्यते, सार्वज्ञ्यादिगुणेषु तु विधिसत्त्वात्तत्साधारणत्वं
निर्गुणवाक्यस्य न युक्तम्, तत्राह—व्यर्थेति । विध्यभावात् श्रुतितात्पर्याभावात् । विध्यभावस्य श्रुतितात्पर्या-
भावस्य । निषेधसाम्येति । 'न हिंस्यादि'ति वाक्यनिर्गुणवाक्यरूपनिषेधयोर्व्यर्थहिंसा सार्वज्ञ्यादिगुणसामान्यविषय-
कतया साम्येत्यर्थः । धर्मान् पृथगिति । 'यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति । एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्तानेवानु-
विधावति । यथोदकं शुद्धे शुद्धमासितं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' इति कठश्रुतिः ।
पार्थक्यस्यैवेति । पृथक्त्वेन गुणा न द्रष्टव्याः, किंतु ब्रह्माभिन्नत्वेनेति श्रुत्यर्थः इति पार्थक्यस्य मोक्षहेतुप्रमाविषयत्व-
निषेधेन मिथ्यात्वमिति भावः । तत्सामान्यात् तत्समानार्थकत्वसंभवात् । अन्यत्रापि शाखान्तरीयनिर्गुणवाक्येऽपि ।
बाधकाभावात् पृथग्भूतधर्मा न द्रष्टव्या इति निषेधे बाधकाभावात् । ब्रह्ममात्रेति । भेदनिषेधे भेदप्रपञ्च-
स्यापि निषेध आर्थिकः, भेदप्रपञ्चस्य भेदव्याप्यत्वेन व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यकत्वादिति ब्रह्ममात्रं परिशिष्ट-
मिति भावः । वस्तुतो 'नेह नाने'ति पूर्ववाक्येन तत्पदार्थशोधनात् 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक' इत्युत्तर-
वाक्येन त्वम्पदार्थशोधनात् 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः ईशान' इति मध्यमवाक्येनोक्ततत्त्वम्पदार्थयोरैक्यं दृढीकृत्य धर्मा-
नित्यादिना जीवेशधर्मज्ञाननिन्दया शुद्धयोरैक्यज्ञानं स्तुतम् । अत एव 'यथोदकं शुद्धे शुद्ध'मित्यादिना तादृग्ज्ञानमुप-
संहतमिति धर्मसामान्यनिषेध एव तात्पर्यम् । एकतरपरिशेषेति । एकमात्रपरिशेषेत्यर्थः । अत्रापि धर्मानित्यादि-
श्रुतिबोध्याभेदे प्रतियोग्यनुयोगिनोरपि । ज्ञानानन्दव्यक्तयोः ज्ञानानन्दस्वरूपयोः । भेदगर्भैकतरशब्दस्येति ।
द्वयोरैकव्यक्तिभिन्नापरव्यक्तिवाचकस्यैकतरेति शब्दस्येत्यर्थः । तथाच ज्ञानानन्दस्वरूपमात्रस्यात्यन्ताभेदात्तत्रैकतरेति
शब्दवृत्त्या एकतरपरिशेष इति वक्तुमशक्यमिति भावः । पूर्वमिति । 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं
च देवत'मित्यादिवाक्ये इति शेषः । पश्चादिति । 'एको वशी निष्क्रियाणां बहुनामेकं बीजं बहुधा यः करोती'त्या-
दिवाक्य इति शेषः । तटस्थीकृत्य द्वारीकृत्य । ब्रह्मपरत्वेन शुद्धब्रह्मपरत्वेन । तात्पर्याभावादिति । यद्यप्युक्त-
वाक्योत्तरं 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषामि'त्युक्तम्, तथापि तत्र तत्पदेनेश्वरमुक्त्वा
'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्येतरे दुःखमेवापियन्ती'त्यनेन तत्र तत्पदं त्वयापि

आगमस्य तत्रैव प्रामाण्यसंभवात् । एवं च 'युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थः आगमस्य प्रतीयते । स्यात्तत्र युक्त एवार्थः' इत्याद्यस्मिन्मत एवोपपन्नतरम् । तस्मादुपक्रमादिन्यायानामन्यविषयत्वात् न तद्वलेन सगुणत्वसिद्धिः । यत्तु 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशा'दित्यादिसूत्रेषु धर्माणां तत्तदधिकरणसिद्धान्तसाधकतया आहतत्वात् सगुणत्वसिद्धिरिति, तन्न; आरोपितब्रह्ममात्रसंबन्धिगुणोपादानेन सिद्धान्तसिद्ध्युपपत्तेर्गुणतात्त्विकत्व औदासीन्यात् । यच्च अहिंसाशीलोमीयवाक्ययोरिव सगुणनिर्गुणवाक्ययोरपि भिन्नविषयतयाऽविरोधे संभवत्यपि सगुणवाक्यस्यामानत्वाभिधानं सौगतसौहृदादिति, तन्न; निर्गुणवाक्यस्य तत्परत्वेन प्रवर्ततया बाधस्यावश्यकत्वेऽपि मानत्वाभिधानस्य ब्रह्मवादिविद्वेषमात्रत्वात् । तस्मान्निर्गुणवाक्यवाधात् सगुणवाक्यमतत्परम् । अनुभूतिः, निर्विशेषा, अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानमपि बाधकम् । नचात्राप्रसिद्धविशेषणत्वम्; यद्यतिरेके समीहितप्रसक्तिः तत् मानयोग्यमिति सामान्यतः प्रसिद्धेः । विशेषत्वमभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववदिति विशिष्यापि सत्त्वात् । नापि स्वव्याघातः; निर्विशेषत्वस्य स्वरूपत्वेन विशेषत्वानङ्गीकारात् । नच स्वरूपस्य प्रागेव सिद्धेः स्यादनुमितेर्वैयर्थ्यम्; तेन रूपेण ज्ञानस्योद्देश्यत्वात् । नापि श्रुतिबाधः; प्रागेव निरासात्, प्रत्युत बहुतरश्रुत्यनुग्रहः । अतएव नाभाससाम्यम् । नाप्यप्रयोजकत्वम्; भिन्नत्वे अभिन्नत्वे संबन्धत्वे चातिप्रसङ्गानवस्थाभ्यां धर्मधर्मिभावानुपपत्तेरेव विपक्षबाधकत्वात् । नच संबन्धस्य मिथ्यात्ववत् स्विर्वाहकत्वान्नानवस्था; अमेदवादे अतिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—धर्माभावरूपधर्मभावाभावाभ्यां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेष्यमात्रपरं वाच्यम् । अन्यथा श्वेताश्वतर एव तृतीयाध्याये 'वृक्ष इव सन्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्ण'मिति द्वितीयाध्यायेऽपि 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'त्यादिना शुद्धज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वमित्यस्योक्तिविरोधात् । 'तमेव विद्धिवातिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यस्य 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये निष्कलं निष्क्रियं ज्ञानं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुमि'त्यस्य च तमात्मस्थमित्याद्युक्तवाक्योत्तरवाक्यस्य विरोधापत्तेरिति भावः । संभवादिति । ब्रह्मान्यस्य तु बाधितत्वेन तत्र न प्रामाण्यसंभव इति भावः । अन्यविषयकत्वात् सगुणविषयकत्वात् । सिद्धान्तसिद्धीति । तत्तद्वाक्यस्य तत्तद्गुणविशिष्टोपासनापरत्वसिद्धीत्यर्थः । बाधस्य सगुणवाक्यबाधस्य । बाधात् बाधितत्वात् । अप्रसिद्धविशेषणत्वं विशेषसामान्याभावस्वरूपविशेषणाप्रसिद्धिः । विशेषत्वं मेयत्वम् । मात्रवृत्तित्वात् सामान्यवृत्तित्वात् । ब्रह्मणि विशेषस्य सन्दिग्धत्वात् इयमात्रे तद्यापकत्वस्यानुभूतित्वाभावे निश्चयसंभवाद्विशेषव्यापकाभावप्रतियोग्यनुभूतित्ववत्यनुभूतिरिति परामर्शात् निर्विशेषत्वानुमितिसंभवेन तत्पूर्वं विशेषसामान्याभावाप्रसिद्धावपि न क्षतिरिति बोध्यम् । स्वव्याघातइति । निर्विशेषत्वानुमितेर्विशेषसामान्याभावविषयकत्वे विशेषसामान्याभावरूपविशेषाभावोऽपि तद्विषय इति तत्प्रामाण्यव्याघात इत्यर्थः । अबाधितविषयकत्वरूपं प्रामाण्यं विशेषसामान्याभावस्वरूपमात्रांशे अस्यैव, विशेषसामान्याभावत्वविशिष्टांशे तु न मयापि तदङ्गीक्रियत इत्याशयेनाह—निर्विशेषत्वस्येति । तेन रूपेण निर्विशेषत्वेन । भिन्नत्व इत्यादि । भिन्नयोर्धर्मधर्मिभावे घटपटयोरपि स स्यादित्यतिप्रसङ्गः । नच—प्रतीत्यभावादेव तयोः स नेति—वाच्यम्; कदाचित्तयोरपि तस्य प्रतीतेः । नच—भिन्नयोरपि समवायादिसंबन्धो धर्मधर्मिभावनियामक इति—वाच्यम्; भिन्नत्वेन निश्चितघटपटादियुग्मसामान्ये धर्मधर्मित्वादर्शनात् भिन्नत्वेन सन्दिग्धगुणगुण्यादावभेदसंबन्धस्यैव कल्पनात् । अथ—भेदं विना संबन्ध एवानुपपन्नः, नहि स्वस्मिन् स्वयं संबध्यत इति—चेत्, एवमप्यभेदस्य संबन्धत्वानुपपत्त्या कल्प्यमानो भेदो न स्वापेक्षया तमाभासीकरोति, किंतु स्वयमेव तदपेक्षया आभासीभवतीति धर्मधर्मिणोरभेदो व्यावहारिकः, भेदस्तु प्रातीतिकः । नच—एवमभेदस्तात्त्विक एवास्तु, भेदस्तु व्यावहारिक इति—वाच्यम्; कल्पितभेदस्य तात्त्विकसंबन्धोपपादकत्वे हि तद्व्यक्तिस्तद्व्यक्तिमतीत्यपि प्रमा स्यात् । तस्मात् भेदाभेदाभ्यां धर्मधर्मिभावो न निर्वाच्यः । एवं धर्मस्य धर्म्यसंबद्धत्वे सर्वं सर्वस्य धर्मः स्यादित्यतिप्रसङ्गः । संबद्धत्वे संबन्धादेः संबन्धो वाच्यः; अन्यथा सर्वस्य संबद्धतापत्तेः । तथाच संबन्धपरम्पराकल्पने अनवस्था । स्वरूपस्यैव संबन्धसंबन्धत्वे धर्मान्यसंबन्ध एव न कल्प्यः स्यात्; धर्मस्वरूपस्यैव तत्संबन्धतासंभवादिति भावः । न च संबन्धेत्यादि । यथानवस्थाभयात् मिथ्यात्वान्तरं त्वया न मिथ्यात्वेऽङ्गीक्रियते, तथा मयापि संबन्धस्य संवन्धान्तरं नाङ्गीक्रियते; तव तेनैव तत्र मिथ्यात्वस्यैव मयापि तेनैव तस्य संबन्धस्य व्यवहार इति भावः । परिहरति—अमेदवाद इति । ब्रह्मतद्धर्मयोर्भेदास्वीकारवतस्तव मते इत्यर्थः । अतिरिक्तस्येति । संबन्धस्येति शेषः । संबन्धस्य भेदनिष्ठत्वादि-

व्याघातेन कुतर्कतास्येति—वाच्यम्; धर्माभावस्य स्वरूपतयैव सत्त्वाङ्गीकारेण व्याघाताभावात्, अमेदेऽपि भेदकल्पनया धर्मधर्मिभावव्यवहारस्य त्वयापीष्टत्वात् । नच—एवमानन्दस्य ज्ञानमात्रत्वे दुःखज्ञानमप्यनन्दः स्यात् भिन्नत्वे अखण्डत्वहानिः एवमेव ब्रह्मणो जगदभिन्नत्वे सिध्यात्वा-
पत्तिः भिन्नत्वे भेदसत्यत्वमित्यादितर्कवाधात् त्वदभिमतं ब्रह्मापि न सिध्येदिति श्रुतिवाधात्तर्का-
णामाभासत्वं मन्मते समानमिति—वाच्यम्; दुःखज्ञानस्य वृत्तिरूपतया आनन्दस्य नित्यचिन्मा-
त्रानतिरेके अतिप्रसङ्गाभावात्, आरम्भणाधिकरणन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतः अभावात्
भेदाभेदविकल्पस्यानवकाशात् सगुणश्रुतेरतत्परतया श्रुतिवाधसाम्योक्तेरयुक्तेः, निर्गुणश्रुतेस्तु
तत्परतया तदनुगृहीततर्कं शुक्त्वाभावाच्च । यत्तु निर्विशेषत्वस्य भावाभावाभ्यां मूकोऽहमितिवत्
स्वव्याघातः, यदि निर्विशेषत्वरूपविशेषोऽप्यनेनैव निषिध्यते, तर्हीयमपि वचनक्रिया मूकोऽहमित्य-
नेनैव निषिध्यत इति सममिति, तन्न; निर्विशेषत्वस्य विशेषरूपत्वे विशेषत्वेनैव रूपेण तन्निषेधस्या-
द्वितीयवाक्ये द्वितीयाभावरूपद्वितीयनिषेधस्येवोपपत्तेः, अन्यथा विशेषत्वावच्छिन्ननिषेधप्रतीतेर-
नुपपत्तेः, अभावानतिरेके तु स्वरूपानतिरेकितया मूकोऽहमितिवत्स्ववचनव्याघाताभावस्यैवोक्त-
त्वाच्च, मूकोऽहमित्यत्र वक्तृत्वतदभावयोरेकरूपेण निषेधाभावात् व्याघातोपपत्तेः । ननु—ब्रह्मणः
शून्यानिर्वाच्यव्यावर्तकविशेषाभावे तुच्छत्वमिथ्यात्वाद्यापत्तेः तत्सत्त्वे सविशेषत्वमिति—चेत्,
व्यावर्त्यसमानसत्ताकविशेषाभावेऽपि व्यावृत्तिबोधसमानसत्ताकधर्मेण भिन्नत्वनिर्विशेषत्वयोरूप-
पत्तेः । अत एव—ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे विचारविषयत्वानुपपत्तिः । 'इदमित्थमिति ज्ञानं जिज्ञासायाः
प्रयोजनम् । इत्थंभावो हि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता ॥' इति—निरस्तम्; विचारकाले आरोपित-
धर्मसंभवात् । विचारोत्तरकाले च इत्थमिति व्यवहारस्य स्वरूपव्यावृत्त्यादेश्च कल्पितपार्थक्य-
मादायोपपत्तेः । ननु—धर्मारोपार्थमपि केचन धर्माः सत्याः स्वीकर्तव्याः, इदंत्वादिना ज्ञात एव
रूप्याद्यारोपदर्शनात् । तदुक्तम्—'धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने । सर्वधर्मविहीनस्य
धर्मारोपः क दृश्यते ॥' इति—चेन्न; इदंत्वादेरपि सत्यत्वासंप्रतिपत्तेः; शुद्धेऽप्यध्यासस्योपपादितत्वाच्च,
आरोप्यविलक्षणधर्मवत्त्वस्यानाद्यविद्यासंबन्धेनैवोपपत्तेः । अतएव—अभावरूपधर्माङ्गीकारे भावोऽ-
प्यस्तु, प्रामाणिकत्वाविशेषादिति—निरस्तम्; स्वरूपानतिरेकिणोऽभावस्याप्यनङ्गीकारात्, धर्ममात्रे
प्रामाणिकत्वस्य निराकृतत्वाच्च । तस्मान्निर्विशेषं परं ब्रह्म ॥ इति ब्रह्मणो निर्विशेषत्वनिर्गुणत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्यादिः । भेदकल्पनया धर्मधर्मिभावव्यवहारप्रयोजककल्पनया तथाचानन्दादीनां ब्रह्माभेदेऽपि धर्मधर्मिभाव-
व्यवहाराय त्वयाप्यतिरेकनामा कश्चनार्थः स्वीक्रियते । एवंच कल्पितत्वेनास्मत्स्वीकृतभेदस्यैव नामान्तरं कृतम् ।
नहि भेदनिर्वाहो धर्मधर्मिभावो भेदान्येन निर्वहति । नचाभिन्नयोस्तात्त्विको भेदो निर्वहतीति धर्मधर्मिणोः
कल्पितभेदः उभयसंमत इति भावः । विशेषरूपत्वे ब्रह्मातिरेकत्वे । अभावानतिरेके अभावस्याधिकरणत्व-
स्वरूपानतिरेके । स्वरूपेति । ब्रह्मस्वरूपेत्यर्थः । एकरूपेणेति । निर्विशेषादिवाक्ये विशेषत्वरूपेण विशेषाभाव-
साधारणविशेषसामान्यनिषेधबोधकत्वात् विशेषाभावरूपविशेषतात्पर्यासंभवात् तदुपलक्षिताखण्डब्रह्मण्येव तात्पर्यम्,
मूकोऽहमित्यत्र तु यद्यपि मूकशब्देन वक्तृत्वशून्यं बोध्यते, तादृशशब्दोच्चारणेन चार्थादवकृत्वाभावो बोध्यते,
तथापि वक्तृत्वतदभावसाधारणरूपेण तदुभयनिषेधो न ताभ्यां बोध्यते । अतो वक्तृत्वाभावोपलक्षितस्वरूपे
तात्पर्यकल्पकाभावात् व्याघात एवेति भावः । तत्सत्त्वेन विशेषसत्त्वेन । व्यावृत्तेः ब्रह्मस्वरूपत्वे तत्समानसत्ताकत्वा-
भावादाह—व्यावृत्तिबोधेति । इदम् इत्थम् इदमानन्दादिविशेषवत् । ननु आनन्दादिविशेषवत्त्वेन ज्ञानं न
जिज्ञासायाः प्रयोजनम्, किंतु आनन्दादिविशेषद्वारा अनानन्दादिव्यावृत्तज्ञानम्, तत्राह—न चेन्न प्रतियोगि-
तेति । आनन्दादिधर्मो न चेत् तर्हि प्रतियोगिता प्रतिद्वन्द्विता अनानन्दादिव्यावृत्ततापि ब्रह्मणि न संभवतीत्यर्थः ।
आरोपितेति । तथाचारोपितव्यावृत्त्यादिधर्मद्वाराऽखण्डब्रह्मधीरेव जिज्ञासायाः फलम्, न तूक्तधर्मप्रकारिका, येन
तादृशधीविषयत्वेन धर्मः सत्य उच्येतेति भावः । उत्तरकाल इति । जीवन्मुक्तस्याविद्यालेशसत्त्वादिति शेषः ।
आरोपेति । अमोत्पत्तीत्यर्थः । अध्यासस्य अविद्याद्यनाद्यध्यासस्य । तथाच रूप्यादेरिवाहङ्कारादेरप्यध्यासस्योत्पत्तौ
अध्यस्तसामान्यधर्मदर्शनमेव हेतुरिति न सत्यधर्मापेक्षेति भावः । आरोप्यविलक्षणेति । आरोप्यपूर्ववृत्तिवादि-
मदित्यर्थः । तथाचारोप्यभिन्नसत्ताकत्वं धर्मस्यानपेक्षितं, किम् आरोप्यहेतुप्रत्यक्षादिष्वविषयत्वेनारोपपूर्ववृत्तिवा-

अथ ब्रह्मनिर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः ।

ननु—निर्विशेषे किं प्रमाणमिति—चेत्, स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाणप्रश्नः । आद्ये स्वप्रकाशतया प्रमाणवैयर्थ्यम् । नच विप्रतिपन्ने स्वतःसिद्धेर्वक्तुं शक्यतया अतिप्रसङ्गः, अभावव्यावृत्तिबोधकप्रमाणसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् द्वितीये उपनिषद् एव प्रमाणत्वात् । अतएव प्रत्यक्षमनुमानं वेत्यादिविकल्पस्य नावकाशः । ननु—कथं तत्रोपनिषत् मानम् ? जातिगुणक्रियादिरूपनिमित्ताभावेन मुख्यवृत्तेरयोगात्, अस्वीकाराच्च, आरोपितनिमित्तविषयप्रतीतेर्निर्विशेषे प्रामाण्यायोगात्, गौण्याश्च मुख्यार्थगुणयुक्ततयैव लक्षणायाश्च शक्यार्थसंबन्धितावच्छेदकरूपवत्तयैव स्वार्थोपस्थापकत्वात्, पदस्यान्वयितावच्छेदकरूपेण स्वार्थोपस्थापकतया निर्विशेषे वृत्तिमात्रायोगात्, पदविधया वाक्यविधया चोपनिषन् मानं न निर्विशेषे; संसर्गागोचरत्वाच्चेति—चेन्न; मुख्यगौण्यसंभवेऽपि लक्षणायाः संभवात् । नच लक्षकपदे शक्यार्थसंबन्धित्वावच्छेदकरूपवत्तया पदमात्रेऽन्वयितावच्छेदकरूपवत्तया च उपस्थितिनियमः; संसर्गबोधकवाक्यस्थपदानामेव तथात्वात् । नच संसर्गागोचरत्वे प्रमाणवाक्यत्वानुपपत्तिः; असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधकतया निर्विकल्पकत्वेऽपि प्रामाण्यस्याकाङ्क्षादिमत्तया वाक्यत्वस्य चोपपत्तेर्वृत्तिमन्तरेणापि सुप्तोत्थापकवाक्यस्येव वेदान्तवाक्यस्य निर्विशेषे प्रामाण्यस्य वार्तिककृद्भिरुपपादितत्वाच्च । तथाहि—‘अगृहीत्वैव संबन्धमभिधानाभिधेययोः । हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः ॥ जाग्रद्वन्न हि संबन्धं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन ॥’ इत्यादिना ग्रन्थेन विनापि संबन्धं वाक्यस्य प्रामाण्यमुपपादितम् । लक्षणापक्षेऽपि तात्पर्यविशेषाग्रहेणैवातिप्रसङ्गभङ्गो वाच्यः । शक्यसंबन्धस्यानेकत्र संभवात्, तात्पर्यविशेषग्रहश्च पुरुषविशेषस्य भवति, न सर्वस्य; पुरुषगतो विशेषः अन्तःकरणशुद्धिरूपः प्रतिबन्धाभावः । अन्तःकरणाशुद्धिरूपस्य पापस्य च प्रतिबन्धकत्वं ‘ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः’ इत्यादिशास्त्रसिद्धम् । तथाच प्रतिबन्धक्षये विनापि संबन्धं शब्दादात्मसाक्षात्कार इति निरवयम् । विस्तृतमिदमस्माभिः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिकमिति भावः । निर्धर्मितावच्छेदकस्यारोपस्य संभवादिष्टानगतधर्मज्ञानमपि नापेक्ष्यत इत्यपि बोध्यम् ॥ तर्करित्यादि—ब्रह्मनैर्गुण्यसाधनम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मनैर्गुण्योपपत्तिः ॥

विप्रतिपन्ने शब्दनित्यत्वादौ । अतिप्रसङ्गः स्फूर्त्यर्थं मानानभिधानप्रसङ्गः । अभावव्यावृत्तीति । परप्रकाश्यत्वात्यन्ताभावपरप्रकाश्यभेदेत्यर्थः । तथाच शब्दनित्यत्वादौ तादृशात्यन्ताभावभेदबोधकप्रमाणाभावेन स्फूर्त्यर्थं मानाभिधानेऽपि ब्रह्मण्युक्तमानसत्त्वेन स्फूर्त्यर्थं मानानपेक्षेति भावः । असन्दिग्धेति । मानान्तरेणानिश्चितेत्यर्थः । न हि संबन्धमित्यादि । सौषुप्त्यस्य वाक्यार्थबोधस्य पूर्वं पदतदर्थसंबन्धज्ञानं न प्रामाणिकम् । नच—कारणत्वेन क्लृप्तं तद्विना वाक्यार्थबोधासंभवात्तदन्यथानुपपत्तिरेव तत्र मानमिति—वाच्यम्; सोऽयं चैत्र इत्यादिवाक्यं लक्षणाया शक्तिभ्रमेण वा ऐक्यस्य वाक्यार्थस्य बोधे कालभेदेन जनकम् । तत्र च स्वघटकपदवृत्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिसंबन्धेन नोक्तवाक्यत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानं हेतुः; तादृशवृत्तित्वस्य शक्तिलक्षणासाधारणस्यान्यतरत्वादिरूपस्य वाच्यतया विनिगमकाभावेन गुरुतरनानासंबन्धरूपावच्छेदकभेदभिन्नहेतुतापत्तेः, किंतु स्वघटकपदशक्तिज्ञानजन्यार्थोपस्थितिविशिष्टे तादृशवाक्यार्थबोधे तादृशोपस्थितिसंबन्धेन स्वघटकपदलक्षणाज्ञानजन्योपस्थितिविशिष्टतादृशवाक्यार्थबोधे तादृशोपस्थितिसंबन्धेनोक्ताकाङ्क्षाज्ञानत्वेन हेतुता । तथाच सुषुप्तपुरुषीयतादृशवाक्यार्थबोधस्योक्तोपस्थितिविशिष्टत्वसंदेहात्तद्वेतुतया नोक्तोपस्थितिः कल्पयितुं शक्या, किंतु तादृशबोधनियतपूर्ववृत्तितया क्लृप्ततत्कालीनज्ञानविशेषादावेव वैजात्यविशेषं कल्पयित्वा विजातीयज्ञानादिविशिष्टबोधे तादृशज्ञानादिसंबन्धेनोक्ताकाङ्क्षाज्ञानहेतुत्वान्तरं कल्प्यते; अनन्तवृत्तिज्ञानाकल्पनेन लाघवानुग्रहादिति भावः । तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य तु स्वघटकपदजन्यवृत्तिज्ञानस्य शुद्धब्रह्मण्यनङ्गीकारपक्षे पापविशेषरूपप्रतिबन्धकसत्त्वे ज्ञानविशेषादिविशिष्टे अनवधारणरूपे स्वार्थबोधे ज्ञानविशेषादिसंबन्धेन हेतुत्वेऽप्युक्तप्रतिबन्धकनाशकाले तद्विशिष्टे स्वार्थबोधे तत्संबन्धेन हेतुत्वान्तरं कल्प्यते, तादृशज्ञानविशेषादेरप्यनकल्प्यतया लाघवानुग्रहादित्याशयेनाह—लक्षणापक्षेऽपीत्यादि । ग्रहेण निश्चयेन । तथाचेति । पापविशेषनाशस्यावश्यापेक्षणीयत्वे चेत्यर्थः । संबन्धः वृत्तिज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च । आत्मसाक्षात्कारः साक्षात्कारस्वभावः ।

गीतानिवन्धने । नच—अनिर्धारितैककोटिप्रकारकनिश्चयं प्रत्येव धर्मिज्ञानाधीनविचारस्य जनकत्वात् कथं विचारसध्रीचीनवेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वमिति—वाच्यम्; संशयनिवृत्तिक्षम-ज्ञानस्यैव विचारफलत्वात् । तस्याश्च विरोधिकोटिप्रतिक्षेपकोपलक्षितधर्मिज्ञानादप्युपपत्तेर्न तदर्थं सप्रकारकत्वनियमः । नच गौरवम्; प्रमाणवतो गौरवस्य न्याय्यत्वात् । नच—निर्विशेषविषयकस्य ज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वे निर्विशेषत्वासिद्ध्या तत्सिद्ध्यर्थं विशेषाभावरूपविशेषविषयत्वस्यावश्यकत्वमिति—वाच्यम्; विशेषाभावस्य स्वरूपतया तत्स्फूर्तौ प्रमाणानपेक्षत्वात्, अखण्डार्थसिद्ध्यनुकूल-पृथग्जातपदार्थोपस्थितिषयत्वमात्रेण विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः । तस्मात्सगुणत्वे साधकाभावात् बाधकसद्भावाच्च निर्गुणत्वे तदभावात् निर्गुणमेव ब्रह्मेति सिद्धम् इति अद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणो निराकारत्वोपपत्तिः ।

एवं निराकारमपि । ननु—‘आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ ‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं’ ‘ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्’ ‘विश्वतश्चक्षुः’ ‘सहस्रशीर्षा’ इत्यादिश्रुतिभिः ‘पश्य मे पार्थ रूपाणि’ ‘सर्वतः पाणिपादं तत्’ इत्यादिस्मृतिभिः ब्रह्म, सविग्रहम्, स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वादुपदे-ष्टृत्वादित्याद्यनुमानैश्च विग्रहसिद्धिरिति—चेन्न; आदित्यवर्णमित्यस्याविद्याविलक्षणस्वप्रकाशस्वरूप-प्रतिपादनपरतया उपास्यपरतया चोपपत्तेः । नच तमसः परत्वोक्त्योपासनापरत्वानुपपत्तिः; उपास्यविग्रहोपलक्षितस्य तमसः परत्वोक्तेः; नतु रूपविशिष्टस्य । नच—‘एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यत’ इत्यत्र वर्तमानत्वेनापरोक्षज्ञानविषयत्वोक्तेरनारोप्यत्वं, नहि योषितोऽग्नित्वं दृश्यत इत्युच्यत इति—वाच्यम्; प्रतीकोपासने उपास्यसाक्षात्कारनियमाभावेऽपि सगुणोपासने उपास्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आत्मशाब्दधीसामान्यतात्पर्यनिश्चयो वाक्यार्थसंशयहेतुतात्पर्यसंशयरूपदोषोत्सारकतया निश्चयात्मके वाक्यार्थबोधे प्रयोजकः, नत्वनवधारणरूपवाक्यार्थबोध इति भावः । नच—प्रतिबन्धकाभावादेराकाङ्क्षाज्ञानाजन्यत्वात्तद्व्यापारत्वा-नुपपत्तिरिति—वाच्यम्; व्यापारत्वाभावेऽपि तत्समानाधिकरणत्वेन संबन्धत्वसंभवात् । नच—एवं प्रतिबन्धका-भावस्यैव स्वविशिष्टे वाक्यार्थबोधे हेतुत्वसंभवाद्वाक्यमपि हेतुर्न स्यादिति—वाच्यम्; वाक्यज्ञानं विनोक्तबोधानुप-पत्तेः, औपनिषदत्वसमाख्यानुरोधात् श्रुतिजन्यत्वं विना ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वादिबाधकत्वानुपपत्तेश्च । गौरवमिति । सप्रकारकनिष्प्रकारकयोः संशयनिवर्तकत्वे गौरवमित्यर्थः । प्रमाणवत इति । उक्तरीत्या श्रुतेर्निर्गुणबोधकत्वस्य अविद्यानिवर्तकत्वस्य च सिद्धतया आविद्यकसंशयादिनिवर्तकत्वं प्रामाणिकमिति भावः । शक्तिविशेषेण सप्रकारक-साधारणेन । निष्प्रकारकस्यापि संशयनिवर्तकत्वस्य पररीत्यापि संभवात् न गौरवमित्यादिकं तु पूर्वोक्तम् ॥ तर्कैरित्यादि—निर्गुणे सप्रमाणता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां निर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः ॥

कृष्णपिङ्गलमिति । ‘ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः’ इति । तैत्तिरीयारण्यकस्योक्तश्रुतिशेषः । अविद्या-विलक्षणेति । जडविलक्षणेत्यर्थः । उपास्यपरतयेति । ‘यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तदेव तत्त्वं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीना’मित्यादिज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकेषु स्वप्रकाशपरत्वेऽपि सगुणोपासनावक्येषु आदित्यवर्णत्वेनोपासनापरतयेत्यर्थः । वर्तमानत्वेनापरोक्षज्ञानेति । वर्तमानापरोक्षज्ञानेत्यर्थः । अनारोप्यत्व-मिति । हिरण्यमयशरीरविशिष्टस्य दृश्यत्वोक्त्या हिरण्यमयशरीरस्यापि दृश्यत्वलाभादविद्यमानस्येन्द्रियसन्निकर्षसाक्षि-संबन्धाद्यभावेनादृश्यत्वात् दृश्यशरीरमनारोप्यम् । तथाच हिरण्यमयशरीरमेवादित्यवर्णमुक्तश्रुतावुपास्यत्वेनोच्यत इत्यादित्यवर्णशरीरस्याप्यनारोप्यत्वमिति भावः । यत्तु—दर्शने इव तत्कर्मण्यपि तद्वारा वर्तमानत्वान्वय इति हिर-ण्यमयशरीरस्यानारोप्यत्वलाभः, तथाचादित्यवर्णवाक्योक्तमादित्यवर्णत्वं वर्तमानं हिरण्यमयत्वादितुल्यत्वात्—इति, तन्न शोभते; दर्शनद्वारा वर्तमानत्वान्वयो हि वर्तमानत्वान्वितदर्शनकर्मत्वान्वयः । तथाच कथमनारोप्यत्वसिद्धिः ? कथं वा हिरण्यमयत्वादितुल्यत्वेनादित्यवर्णत्वादवर्तमानत्वसिद्धिः ? यथाकथंचित्तुल्यत्वस्य व्यभिचारित्वात्, वर्तमानत्वेन श्रुतिजन्यबोधविषयत्वरूपस्य तुल्यत्वस्यासिद्धत्वात् । प्रतीकोपासने नामादौ ब्रह्माद्युपासने । सगुणोपासने अहं

साक्षात्कारस्य तस्य स्याद्वेति श्रुतिसिद्धस्य नियतत्वेन तस्यैव दर्शनशब्देनाभिधानात्, विश्वतश्च-
श्रुतियादिश्रुतिस्मृतीनां सर्वात्मकतया सर्वान्तर्यामितया च नियम्यजीवशरीरचक्षुःपाणिशिरःप्रभृ-
त्यनुवादित्वोपपत्तेः, सर्वतः पाणिपादत्वादेस्तु असंभवात्, त्वयाप्येवमेव वक्तव्यत्वात् । अन्यथा
देशविशेषावच्छेदेन परममुक्तिप्रतिपादनं गम्यत्वप्रवेष्टृत्वाद्युपपादनं च त्वदीयमसङ्गतं स्यात् ।
अनुमानेऽप्येवमेव सिद्धसाधनम् । 'विकरणत्वाच्चेति चेत्तदुक्त'मिति सूत्रे अविद्यापरिणामस्य करण-
स्थानीयस्याङ्गीकारादविरोधात् । यत्तु—'तदेवानुप्राविशत् ब्रह्मविदामिति पर'मित्यादिश्रुतिसिद्धं
सर्वगतस्य ब्रह्मणः प्रवेष्टृत्वं गम्यत्वं च विग्रहं विना न युज्यते—इति, तन्न; स्वसृष्टकार्याभिव्यक्तत्व-
स्यैवानुप्रवेशशब्दार्थतया व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासंभवात्, स्वतः प्राप्तस्यापि अविद्यातिरोधाननि-
वृत्त्यपेक्षया प्राप्यत्वोपचारेण विग्रहानाक्षेपकत्वात् । यत्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'यदा
पश्य' इत्यादिश्रुतौ सर्वनाम्ना सविग्रहस्यैव परामर्शात् तज्ज्ञानस्यैव मोचकत्वे सविग्रहत्वमिति,
तन्न; सगुणविद्यायाः क्रममुक्त्यर्थत्वेनान्यथासिद्धेः, साक्षान्मुक्तिजनकत्वपक्षे तदुपलक्षितात्मज्ञान-
स्यैव मोचकत्वात् । अतएव—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।' इत्यादिस्मृतिरपि—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ग्रहेण सगुणोपासने । स्याद्वेति । 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ती'ति श्रुत्या यस्योपास्यमद्धा साक्षात्कृतं
भवति 'उपासनफलं मया प्राप्तव्यं न वे'ति विचिकित्सा नास्ति च, तयोपास्यप्राप्तिद्वारकमुक्तिरूपफलप्राप्तिरिति
बोधनेनाहंग्रहोपासनायामुपास्यब्रह्मसाक्षात्कारनियमः । अत एव 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वा'दित्यधिकरणे उपास्य-
साक्षात्कारद्वारकक्रममुक्तिरूपफलाविशेषात् सर्वासामहंग्रहोपासनानां विकल्प उक्तः । तस्यैवेति । तथाच तत्तदुण-
विशिष्टस्य ब्रह्मण इन्द्रियसाक्ष्ययोग्यत्वेऽपि तस्यैवाविद्यमानहिरण्यमयशरीरविशिष्टत्वादित्यवर्णत्वाद्याविर्भावेनातिशयेन
साक्षात्कारसंभव इति भावः । वस्तुतस्तु—उपासनाया ज्ञानत्वाभावेऽपि इच्छादिविषयत्वेनेव तद्विषयत्वेनारोप्यस्या-
विद्यमानस्यापि साक्षिभास्यत्वादादित्यवर्णत्वहिरण्यमयत्वादेशारोप्यस्य वर्तमानदर्शनविषयत्वबोधकश्रुतिरूपपन्ना नानारोप्य-
साधिका । नच—उपासनाविषयत्वेन दृश्यत्वोपपादनेऽपि स्वरूपेणाविद्यमानस्य दृश्यत्वं नोपपादितमिति—वाच्यम्;
स्वरूपेण दृश्यत्वस्य दृश्यत इत्यनेन बोधनादिति बोध्यम् । एतेन—हिरण्यमयवाक्ये 'य एवं वेदे'ति क्रियापदश्रवणात्
एकवाक्योपात्तवर्तमानार्थकाख्यातानामेककालीनानाक्रियाबोधकत्वाद्यदा यदोपासना, तदा तदा दर्शनस्य लाभा-
दुपासनासाध्यदर्शनमादाय दृश्यत इति श्रुतिः नोपपादयितुं शक्यत इति कुचोद्यम्—अपास्तम्; एककालीन-
नानाक्रियाबोधकत्वेऽपि क्रियाणां मिथो व्याप्यव्यापकभावाबोधकत्वम् । न हि पचति पठतीत्युक्ते यदा पाठस्तदा
पाक इति बोध्यते । तथाचोपास्ये साक्षात्कृतेऽपि 'आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्ट'मिति न्यायेनोपासनासत्त्वादुपासनाकाले
कदाचिदर्शनसत्त्वेनोक्तश्रुत्युपपत्तेराचार्योक्तसिद्धान्तस्याप्यदोषत्वाच्च । यत्तु—'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मी'त्यादि-
श्रुत्योपास्यरूपप्राप्तेरुपासनाफलत्वेनोक्तत्वादुपास्यशरीरमावश्यकम्—इति, तन्न; तावताप्यनारोपितशरीरस्य ब्रह्मण्य-
सिद्धेः । आरोपितशरीरं तु ब्रह्मणि वक्ष्यत एव; 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' इत्यादिस्मृत्याद्यनुसारेणोक्तश्रुतेरारोपितसगुण-
प्राप्तिपरत्वावश्यकत्वात् । असंभवादिति । सर्वदेशवृत्तिपाणिपादादिवैशिष्ट्यमसंभावितम्; पाणेः सर्वदेशवृत्तित्वे
पादादेस्तदनुपपत्तेः, मूर्तयोः समानदेशताविरोधात् । अन्यथेत्यादि । यदि ईशशरीरं सर्वदेशवृत्तिपाण्यादियुक्तम्,
तर्हि वैकुण्ठादिदेशविशेषावच्छेदेन ईशशरीरप्राप्तिर्मुक्तिः शरीरेण ईशस्यान्तर्यामिरूपेण सर्वकार्येषु प्रवेश इत्यादित्वदु-
क्तिरयुक्त्यर्थः । नच—सर्वदेशव्यापकशरीरं 'पश्य मे पार्थ रूपाणी'त्यादिशास्त्रसिद्धम्, वैकुण्ठस्थशरीराप्राप्तिरपि
'एतमितः प्रेत्ये'त्यादिशास्त्रसिद्धेति—वाच्यम्, सर्वतः पाणिपादादियुक्तोपासकस्यापि त्वन्मते वैकुण्ठप्राप्त्या 'पश्य म'
इत्यादेरारोपितशरीरबोधकत्वेऽपि तत्सत्यत्वाबोधकत्वात्, मुक्तप्राप्यशरीरस्यैव त्वन्मते सत्यत्वौचित्यात् । एवमेव
आरोपितशरीरमादाय । सिद्धसाधनमिति । नच—सृष्टिपूर्वकालावच्छिन्नशब्देन पक्षत्वात् तत्कालावच्छेदेन सवि-
ग्रहत्वसिद्धेरुद्देश्यत्वात् न सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्; तथाप्यनादिमिथ्याशरीरमादायार्थान्तरसंभवात् सिद्धसाधन-
पदस्योद्देश्यासिद्धिपरत्वात् विग्रहं विनापि स्रष्टृत्वादिसंभवेनाप्रयोजकत्वमपि बोध्यम् । करणस्थानीयस्येति ।
ईश्वरस्य चक्षुरादिकरणाभावेऽपि तत्कार्यकारित्वेन तत्स्थानीयमविद्यापरिणामरूपमीक्षणादि स्वीक्रियते । 'पश्यत्यचक्षुः'
स शृणोत्यकर्ण' इत्यादिश्रुत्या हि तथोक्तमित्यस्यार्थस्योक्तसूत्रे स्वीकारादित्यर्थः । कार्याभिव्यक्तत्वस्य मनआदि-
कार्येषु जीवादिविशिष्टरूपेण स्फुरणस्य । अतः व्यापकत्वात् । सविग्रहत्वं मोक्षहेतुप्रमाविषयत्वेन विग्रहस्य तात्वि-
कत्वात्तादृशविग्रहत्वम् । अन्यथासिद्धेः आरोपितशरीरबोधकत्वेनोपपत्तेः । जनकत्वपक्षे उक्तश्रुतेर्जनकत्व-
बोधकत्वस्वीकारपक्षे । मोचकत्वात् उक्तश्रुत्या मोचकत्वबोधनात् । आद्ये स्वकर्माजितत्वे । द्वितीये परकर्माजितत्वे ।

व्याख्याता । किंच विग्रहः किं भौतिकः, अभौतिको वा । अभौतिकोऽपि मायिकः, अमायिको वा । अमायिकोऽपि ब्रह्मभिन्नः, अभिन्नो वा । भौतिकमायिकावपि कर्माजितौ, परकर्माजितौ वा । आद्ये संसारित्वापत्तिः, द्वितीये इष्टापत्तिः । ब्रह्मभिन्नत्वे तवापसिद्धान्तः, नेति नेतीति श्रुतिविरोधः, 'अपाणिपाद' इत्यादि श्रुतिविरोधश्च । अभौतिकामायिकब्रह्मभिन्नदेहाङ्गीकारे उक्तश्रुतिविरोधः, चार्वाकमतप्रवेशश्च, प्रमाणाभावश्च । नच 'नाभ्या आसीदन्तरिक्ष'मिति भूतकारणत्वोक्त्या अभौतिकत्वासिद्धिः; 'अग्निर्मूर्द्धे' त्यादिश्रुतिपर्यालोचनयान्तरिक्षादीनां नाभित्वादिपरिकल्पनया विराड्देहप्रतिपादकतया शरीरस्य भूतकारणत्वाप्रतिपादकत्वात्, तमसः परस्तादित्यादेश्च विराड्देहोपलक्षितब्रह्मपरतया विग्रहस्य तमसः परत्वाप्रतिपादकत्वात् । नच 'एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा नच शङ्कर' इति श्रुत्या महाप्रलये नारायणस्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः; नारायणशब्दस्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दिति श्रुत्यनुसारेण मायोपहितब्रह्मपरत्वेन विग्रहपरत्वाभावात् । नचैतावता चेतनान्तरसाधारण्यम्; अखण्डमायोपहितत्वस्यैव व्यावर्तकत्वात् । नच 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना'मिति विग्रहनित्यत्वाभावे विशेषोक्तिविरोधः; विग्रहानङ्गीकारेऽपि स्वरूपचैतन्यमादायोपपत्तेः । नापि 'पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृत'मित्यादौ महाप्रलये देहस्य साक्षात्स्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः; सर्वविकारमूलकारणाविद्यायाः संस्कारात्मनावस्थानस्य उदरीकरणशब्दार्थत्वात् । नच मुख्यार्थत्यागः; त्वयाप्यस्यार्थस्यैव वक्तव्यत्वात्, अन्यथा सकलस्य ब्रह्माण्डस्य तदनुप्रवेशमात्रेण प्रलयासिद्धेः । यत्तु—'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः । परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदा ॥' इत्यादौ साक्षान्नित्यत्वोक्तिविरोधः—इति, तन्न; प्रलयपर्यन्तस्था-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अपसिद्धान्त इति । त्वया विग्रहस्य ब्रह्मभेदास्वीकारादिति शेषः । नेति नेतीति । ब्रह्मभिन्नस्य सत्यत्वरूपा-मायिकत्वे इत्यादिः । ब्रह्मभिन्नममायिकं शरीरमिति पक्षं दूषयति—चार्वाकेति । जीवतद्देहयोरप्यभेदापत्त्या देहात्मत्ववादे पर्यवसानादित्यादिः । देहे ब्रह्मभेदे इदं दूषणम् । ब्रह्मणो देहाभेदस्तु ममेष्ट इति बोध्यम् । प्रमाणाभावः अभौतिकत्वादौ प्रमाणाभावः । नाभित्वादिपरिकल्पनयेति । नाभ्यादितादात्म्यारोपेणेत्यर्थः । तथाच नाभिरित्याद्यर्थे नाभ्या इत्यादिकमिति भावः । ब्रह्मपरतया ब्रह्मणि तमःपरत्वपरतया । इति श्रुत्यनुसारेणेति । 'एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानो नापो नाक्षीपोमौ न इमे द्यावापृथिवी'त्यादिमहोपनिषदपि भूतभौतिकसकलकार्यस्रष्टृत्वादिकं नारायणशब्दितस्य मायावच्छिन्नचैतन्यस्यैव प्रतिपादयति । 'सदेवे'त्यादिश्रुत्युक्तसद्रूपस्यैव नारायणशब्देनोक्तिसंभवात्, नारं जीवसमूहः अयनं नियम्यं यस्येति व्युत्पत्तेः । नच—शरीरविशिष्टे नारायणशब्दरूढ्या सदेवेत्यादिश्रुतिरेव शरीरविशिष्टपरेति—वाच्यम्; 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादिविरोधात्, मायादेस्तु मिथ्यात्वेन तद्विरोधात्, 'मायां तु प्रकृतिं' 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा'विति श्रुत्यादिमानेन मायादेरनादेः सिद्धत्वेऽप्यनादिशरीरे मानाभावाच्च । अखण्डेति । जीवास्तु मायाप्रदेशरूपाविद्योपहिताः । मायाविद्ययोरभेदपक्षे तु मायावित्त्वमेव व्यावर्तकं बोध्यम् । इदं सदेवाग्रे आसीदित्यनेन प्रपञ्चस्य संस्कारभावापन्नस्य सदात्मकतया स्थित्युक्त्या संस्कारस्य च परिणामिकारणमायानियतत्वात् मायावच्छिन्नत्वं चैतन्यस्यार्थाल्लभ्यत इति बोध्यम् । यत्तु—प्रलये शरीरं विना चेतनसामान्यसत्त्वाज्जारायणस्यैव सत्त्वकथनमयुक्तम्—इति, तत् मौढ्यात्; नारायणस्येक्षणादिपूर्वकजगत्स्रष्टृत्वादेर्वाच्यत्वेन तदर्थं तस्यैव प्रलये सत्त्वोक्तेः । ननु—'स एकाकी न रेमे तस्य ध्यानात्तत्स्थस्य तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दशाजायन्त एका कन्ये'त्यादिना भूतेन्द्रियस्रष्टृमुक्त्वा 'तस्य ललाटात् व्यक्षः शूलपाणिरजायते'त्युक्तेः शरीरी नारायणो जगत्कारणमिति—चेन्न; एकमेवाद्वितीयमित्याद्यनुरोधेन ललाटपदस्य मायापरत्वात्तदानीमुत्पन्ननारायणशरीरललाटपरत्वाद्वा । उपपत्तेः कल्पमात्रस्थायित्वरूपाकाशादनित्यत्वाद्यपेक्षयोक्तृष्टनित्यत्वादिबोधकत्वोपपत्तेः । संस्कारात्मना सर्वविकारसंस्कारविशिष्टात्मना । स्वकृतं सर्वं संस्काररूपेण विकृतं मायारूपोदरस्थीकृत्येति प्रकृतार्थ इति भावः । मुख्यार्थेति । उदरपदमुख्यार्थेत्यर्थः । तदनुप्रवेशेति । उदरप्रवेशेत्यर्थः । प्रलयासिद्धेरिति । संस्कारात्मना कार्यस्य कारणेऽवस्थानस्यैव प्रलयत्वात् संस्कारत्वापन्नस्य जगत उदरेऽवस्थानं न प्रलयः; उदरस्याकारणत्वात् । अत उदरपदं विनाशमानाधारत्वगुणयोगेन मायायां गौणमिति त्वयापि वाच्यम्; मायायास्तु कारणत्वं श्रुत्यादिसिद्धमिति भावः । प्रलयपर्यन्तस्थायीति । प्रलयस्थायीत्यर्थः । तेन श्रीकृष्णादिदेहस्य योगधारणया दुग्ध्वेत्यादिना प्रलयपर्यन्तत्वाभावलाभेऽपि न क्षतिः । शाश्वता इत्यनेन तु उपासनातिशयेन तत्तज्जातीयदेहाः सर्वदा द्रष्टुं शक्याः पूर्वोत्पन्नश्रीकृष्णादिदेहस्य नष्टत्वेऽपि भक्तवात्सल्येन भगवता तज्जातीयदेहान्तरं जनयित्वा

यिदुःखभोगानायतनज्ञानमात्रप्रधानदेहपरतया त्वद्विवक्षितपरत्वाभावात् । अतएव जडस्ततो भिन्नश्च । नच—“आनन्दरूपममृतं यद्विभाति” “आप्रणखात् सर्व एवानन्दः” “मोदो दक्षिणः पक्षः” “यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मक” इत्यादिश्रुतेर्भेदाभावेऽपि अहिकुण्डलन्यायेन विशेषबलाद्विग्रहत्वोपपत्तिरिति—वाच्यम् ; आत्मनो ज्ञानानन्दरूपत्वप्रतिपादनपरत्वेन विग्रहाप्रतिपादकत्वात् । ‘विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराण’ इत्यादिवाक्यस्य ‘आत्मनि चैवं विचित्राश्च ही’ ति सूत्रस्य च मायाशक्तिवैचित्र्यप्रतिपादकत्वेनात्मशक्त्यप्रतिपादकत्वात्, आप्रणखादित्यादेश्च लीलाविग्रहावच्छेदेन दुःखाद्यभोक्तृतयोपपत्तेः । मोदो दक्षिण इत्यादेरानन्दमयकोशप्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वाभावात् । न हि श्रुत्युक्तत्वमात्रेण ब्रह्मणो विग्रहरूपता । ‘ब्रह्मैवेदं सर्वं पुरुष एवेदं सर्वं’मित्यादिश्रुत्या प्रपञ्चरूपतापि ब्रह्मण्यापद्येत । स्वरूपानन्द एव नित्यत्ववदपराधीनत्ववच्च विग्रहत्वकल्पनस्य परिभाषामात्रत्वात् । मन्मतेऽपि ब्रह्मातिरिक्तस्य ब्रह्मसत्तासमानसत्ताकत्वाभिमतस्य ब्रह्मणि निषेधाङ्गीकारात् । नच—‘नैषा तर्केण मतिरापनेये’ति तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मन एव विग्रहवत्त्वमिति—वाच्यम् ; निर्विशेषात्मन एव तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मनो विग्रहवत्त्वस्य तर्कागम्यत्वानुक्तेरूपत्वेन चाक्षुषत्वाप्रसक्त्या पिशाचादिवदन्तर्धानशक्त्यानुपलम्भसमर्थनस्याप्रसक्तसमर्थनत्वात्, विग्रहपक्षे ‘अपाणिपाद’ इत्यादिश्रुतिविरोधस्योक्तत्वाच्च । नच—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रदर्श्यत इति ज्ञापितम् । परमानन्दसन्दोहा इत्यस्य विवेचनं—दुःखभोगानायतनेति । ज्ञानमात्रा इत्यस्य विवेचनं—ज्ञानमात्रप्रधानेति । आवरणशून्येत्यर्थः । रघुनाथादिदेहेऽपि आवरणकार्यं रोदनादि ब्राह्मणशापावैयर्थ्यसूचनायेति भावः । अहिकुण्डलेत्यादि । वलयाकाराहिकुण्डलाभेदेऽपि यथाहिकुण्डलयोर्विशेषस्य भेदस्थानीयस्य सत्त्वेनाहिः कुण्डलीति व्यवहारः, तथा ब्रह्मतच्छरीरयोरपि विशेषस्वीकारेण ब्रह्म शरीरीति व्यवहार इति भावः । संयोगविशेषस्य तद्विशिष्टस्य वा केवलहित्वविशिष्टात् भेद एव संभवति । अत एव भट्टादिमते गुणगुण्याद्योर्भेदाभेदस्वीकारः, घटत्वनीलत्वादिरूपभेदेन तदुपहितयोर्भेदसंभवात्, प्रतीयमानत्वेनाभेदस्यापि संभवात् । तथाच भेदस्यैव विशेष इति नामभेदमात्रम् । अस्तु वा भेदान्यो विशेषः, तथापि ब्रह्मतच्छरीरयोर्न तत्संभवः । स हि भिन्नधर्मोपहितयोरेव वाच्यः, अन्यथा तद्व्यक्तिसद्व्यक्तिमतीत्यादिप्रत्ययस्यापि विशेषविषयकत्वेन प्रमात्वापातात् । नच ब्रह्मत्वाद्यन्यत् शरीरत्वादिकं ब्रह्माभिन्नवृत्तिः, मानाभावात् । चेष्टावदन्यावयवित्वं शरीरत्वमिति हि वृद्धाः । ब्रह्मणि तत्स्वीकारेण च ‘निष्कलं निष्क्रिय’मित्यादिश्रुतिविरोधश्च । नच—प्राकृतांशक्रिययोः उक्तश्रुत्या निषेध इति—वाच्यम् ; संकोचे मानाभावात्, शरीरित्वबोधकमानगतेरुक्तत्वात्, सावयवत्वेन विनाशित्वाद्यापत्तेर्वैयर्थ्यमाणात्वाच्चेत्याशयेन विशेषे स्फुटं दूषणं मत्वा श्रुतिमुपपादयति—आत्मन इत्यादि । तथाच यदात्मकः यत्स्वरूपेणालयन्ताभिन्नस्वरूपः । भगवान् ईश्वरः । तदात्मिका तत्स्वरूपेणालयन्ताभिन्ना । व्यक्तिः अभिव्यक्तिरपरोक्षचिरूप आत्मा । ज्ञानात्मकः ज्ञानस्वरूपालयन्ताभिन्नः । ऐश्वर्यात्मकः नित्यनिरतिशयानन्दस्वरूपालयन्ताभिन्नः । तथाच चिदात्माप्युक्तस्वरूपाभिन्न इति जीवब्रह्मस्वरूपयोरभेदे श्रुतितात्पर्यमिति भावः । शक्यप्रतिपादकत्वात् तात्त्विकशक्त्यप्रतिपादकत्वात् । तथाच तद्दृष्टान्तेन तात्त्विकशरीरसाधनप्रत्याशा नेति भावः । लीलाविग्रहेति । तथाच प्रणखपर्यन्तं सर्वो देहो दुःखानवच्छेदक इत्येव श्रुत्यर्थः, अन्यथा प्रणखादिहिरण्यदेहस्यानन्दरूपत्वानुपपत्तेः । विचित्रशक्तित्वं तु कार्यस्य संभावितत्वे नियामकम्, नत्वीशस्वरूपाभिन्नदेहस्य । तस्य नित्यत्वेन शक्त्यविषयत्वादिति भावः । ननु—नित्यत्वादिकं ब्रह्मस्वरूपं त्वयापि वाच्यम् ; अन्यथा ब्रह्मणो नित्यान्यस्वभावत्वापत्तेः, तथाच विग्रहस्यापि ब्रह्मस्वरूपत्वसंभवेन नित्यत्वसत्यत्वादिसंभव इति कथं तत्खण्डितमित्यत आह—नित्यत्वेति । परिभाषेति । सोपादानकद्रव्यस्य चेष्टावदन्यावयवित्वेन शरीरपदशक्यत्वात्तस्य च ब्रह्मण्यसंभवात्तत्र शरीरनाममात्रं त्वया कृतं नास्मदनिष्टमिति भावः । निर्विशेषेति । निर्विशेषप्रकरणस्थोक्तश्रुत्येत्यादिः । अरूपत्वेनेत्यादि । अनुपलम्भसमर्थनस्य इन्द्रादेरिवेश्यान्तर्धानशक्त्या श्रीकृष्णादिदेहस्य सदा विद्यमानत्वेऽपि सर्वपुरुषान् प्रति कादाचित्कमनुपलम्भनमिति समर्थनस्य । अप्रसक्तसमर्थनत्वात् चाक्षुषाप्रसक्तावपि चाक्षुषाभावसमर्थनत्वात् । अयमन्ये च हेतवो विशेषबलाद्विग्रहत्वोपपत्तिरिति नच—वाच्यमिति पूर्वोक्ते बोध्याः । अप्रसक्तसमर्थने—अरूपत्वेन चाक्षुषत्वाप्रसक्त्येति । नीलत्वपीतत्वस्वरूपत्वतद्व्याप्यजात्यवच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेनोपादानत्वाङ्गीलारूपसामान्यस्य पृथिवीजन्यत्वेन ब्रह्मविग्रहे नित्यरूपं न संभवति । जन्यं तत् विग्रहकारणगतरूपात्, पाकाद्वा, नाद्यः ; स्वमते विग्रहस्य नित्यत्वात् । नान्त्यः ; पाकपूर्वं रूपान्तरस्य वाच्यत्वेन श्रीकृष्णादिविग्रहस्य नानारूपतापत्तेः ।

‘अदुःखमसुख’मित्यादौ प्राकृतसुखनिषेधवद्वापि प्राकृतावयवनिषेधपरता, अन्यथा ‘शृणोति पश्यतीति वाक्यशेषविरोधः स्यादिति—वाच्यम्; आनन्दादिरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन तत्र सङ्कोचवदत्र सङ्कोचकारणाभावात्, श्रवणदर्शनयोः शब्दरूपसाक्षित्वमात्रेण उपपत्तेर्न तद्विरोधः । अन्यथा त्वन्मतेऽपि ब्रह्मणि चक्षुरादिसाध्यज्ञानानङ्गीकारेण तद्विरोधो दुष्परिहारः स्यात् । अत एव—‘अरूपोऽप्राकृतश्चे’ति स्मृत्यैवारूपश्रुतिगत्युक्तेः नारूपमित्यनेन रूपमात्रनिषेध इति—निरस्तम्; स्मृतेरुपास्यपरत्वेन ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकायाः श्रुतेः सङ्कोचे कारणाभावात्, श्रुतिस्मृत्योरुत्पल्यवत्त्वाच्च, प्रत्युत ‘यत्तद्वेदश्च’मित्यादिना परविद्याविषयस्य विग्रहवत्त्वप्रतिपादनविरोधाच्च । किंच भगवद्विग्रहो न नित्यः; महत्त्वे सति रूपवत्त्वात्, विग्रहत्वाद्वा, नित्यताबोधकत्वाभिमतश्रुतेरन्यथासिद्धेरु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नहि स कदाचित् नवनीरदश्यामः कदाचिदिन्द्रनीलादिश्यामः; तथासति ध्यानस्याव्यवस्थितत्वापत्तेः । नच—नवनीरदश्यामत्वादिकत्वमेवोपास्यम्, नवीननीरदश्याममित्यादिगौतमीयतन्त्रादौ तथोक्तत्वात् । तथाच श्रीकृष्णादिविग्रहे एकैकजातीयरूपमेवोपास्यमिति प्रतिविग्रहं पाकजनानारूपस्वीकारेऽपि नोपासनस्याव्यवस्थिति—वाच्यम्; एवमपि पूर्वरूपनाशकरूपान्तरोपादकस्तेजःसंयोगविशेषरूपः पाको ब्रह्मणि जायत इत्यत्र नियामकाभावात् सर्गादौ जायत इति वाच्यम् । तथाच रूपरसगन्धस्पर्शानां चतुर्णामुत्पत्तिनाशकल्पनागौरवात् अनादिरूपादिविशिष्टं पूर्वदेहं विनाश्य तादृशमुत्तरं देहं पाको जनयतीत्येवोच्यताम् । अतएव ‘रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनादि’ति सूत्रस्य पृथिव्यादिभूतसामान्यानित्यताप्रतिपादकस्य त्रसरेणुगतानां रूपादीनां पाकजत्वादिकल्पनापेक्षयाऽनादिरूपादिविशिष्टस्य त्रसरेणोरेव पाकजत्वादिकल्पनं युक्तमित्यादितर्कपरता सूत्रमुक्तावल्यामस्माभिर्व्याख्याता । अतएव चैकैका एव नीलारूपादिव्यक्त्य इति मीमांसकाः एवं च कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच ‘ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः । चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ । रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीक्षित’ इत्यादिश्रुतयः । ‘प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे । तदात्मानं सृजाम्यहम् । जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽद्य सहस्रशः । बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन’ इत्यादिस्मृतयश्च न बाध्यन्ते । नच—नित्यसुखादिसत्त्वेन जन्यसुखत्वादिना धर्मादिजन्यत्वमिव नित्यनीलादिरूपविशिष्टविग्रहानुरोधेन जन्यनीलत्वादितैव पृथिव्यादिजन्यत्वमिति—वाच्यम्; गौरवात्, सुखत्वादिकातिस्तु न नित्यवृत्तिरिति तथैव धर्मादिजन्यत्वादिति भावः । अन्यथा पाणिपादचक्षुःश्रोत्रादिसामान्यस्योक्तश्रुत्या निषेधे । शृणोति पश्यतीति । पश्यत्यचक्षुरित्यादिश्रुतीत्यर्थः । सङ्कोचवदिति । वस्तुतः संकोचो नास्त्येव; सुखत्वविशिष्टस्यैव निषेधात्, सुखस्वरूपस्य ब्रह्मणः सुखशून्यत्वाविरोधाच्च । श्रवणदर्शनयोः शृणोति पश्यतीति श्रवणार्थयोः साक्षित्वेति । तथाच शृणोत्यादिकं श्रावणत्वादिकातिविशिष्टे शक्तमपि शब्दादिविषयकत्वरूपशक्यगुणयोगेनेशसाक्षिणि गौणमिति भावः । वस्तुतश्चक्षुरादेरिव मायोपाधेरप्युक्तश्रुतिबलाच्चाक्षुषादिहेतुत्वं कल्प्यते, नतु चक्षुरादीन्द्रियम्; अचक्षुरित्यादिना धर्मिग्राहकमानेनैव भगवच्चाक्षुषादेश्चक्षुराद्यजन्यत्वलाभात्, प्रतिसर्गमनन्तचक्षुरादिव्यक्तीनां भगवति कल्पने गौरवात् । जीवचक्षुःसन्निकर्षेणैव वा भगवच्चाक्षुषम् । तत्पुरुषीयचाक्षुषगतवैजात्यविशेषविशिष्टेषु सन्निकर्षाणां वैजात्यविशेषैर्हेतुत्वानामावश्यकत्वात् ईशचाक्षुषजनकतावच्छेदकवैजात्यस्यापि जीवचक्षुरादिसन्निकर्षे स्वीकारसंभवात्, जीवचाक्षुषजनकतावच्छेदकवैजात्यस्येश्वरनिष्ठचाक्षुषहेतुत्वेन कल्प्यमाने पिशाचादिनिष्ठे जीवचक्षुःसन्निकर्षे सत्त्वे मानाभावेन ततो जीवचाक्षुषापत्त्यसंभवादिति ध्येयम् । गत्युक्तेरिति । अप्राकृतपदसमभिव्याहारात् अरूपपदं प्राकृतरूपनिषेधकमिति भावः । अरूपमित्यनेन ‘अशब्दमस्पर्शमरूप’मित्यादिश्रुत्या । उपास्यपरत्वेनेति । प्राकृतपदस्य भौतिकपरतया भूतरूपशून्यात्मकोपास्यपरत्वेनेत्यर्थः । वस्तुतो भौतिकत्वनिषेधादेव भौतिकरूपशून्यस्योपास्यत्वलाभे अरूपपदं रूपसामान्यनिषेधकम् । तथाचाप्राकृतपदेन प्राकृतविलक्षणमायोपाधिकत्वेनारूपपदेन च रूपसामान्यशून्यत्वेनोपास्यत्वमुक्तस्मृत्या लभ्यत इति बोध्यम् । प्रत्युतेत्यादि । ‘द्वे विद्ये परा चापरा च । अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्वेदश्च यन्मग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपाद’मित्यादि अशब्दमस्पर्शमित्यन्तवाक्यं परविद्यापरत्वेन विग्रहशून्यशुद्धप्रतिपादकमवश्यं वाच्यमिति भावः । न नित्य इति । विनाशीत्यर्थः । रूपमात्रं परमते परमाण्वादौ व्यभिचारीत्यतो—महत्त्वे सतीति । तावन्मात्रमात्मादावपीति—रूपवत्त्वादिति । नचाप्रयोजकत्वम्; रूपस्योक्तरीत्या नित्यत्वासंभवात्, जन्यरूपस्याप्युक्तरीत्या विग्रहकार्यत्वेनाविनाशित्वसंपादकत्वात्, महत्त्वस्यापि रूपसमानाधिकरणस्य जन्यत्वनियमात् । जन्यमहत्त्वे च स्वाश्रयावयवस्य महत्त्वं बहुत्वं प्रचयो वा हेतुः; वृद्धादौ कपालादिमहत्त्वात्, त्रसरेणौ व्यणुकबहुत्वात्, तूलपिण्डादाववयवप्रचयान्महत्त्वोत्पत्तेः । तथाच विग्रहे

क्तत्वाच्च । नच प्राकृतत्वमुपाधिः; साधनव्यापकत्वात् । सावयवत्वादपि न नित्यत्वम् । नच श्रुति-
बलात् कचित् सावयवोऽपि नित्यः; श्रुत्यन्यथासिद्धेरुक्तत्वात् । ननु—अवयव उपादानं चेत् ब्रह्म-
विग्रहे नास्त्येव, एकदेशमात्रं चेत्, गगनात्मादौ व्यभिचारः; तयोरप्येकदेशसत्त्वात्, नचोपादाना-
तिरिक्तस्यैकदेशस्यैवाभावः; उपादानतन्त्वन्वहस्तवितस्त्यादिपरिमाणदेशस्य पटादावनुभवादिति—
चेन्न; उपादानतन्तूनामेव हस्तवितस्त्यादिपरिमाणवतामनुभवात् । गगनादौ संयोगित्वादिना यदेक-
देशसाधनं तदिष्टमेव; अस्माभिस्तत्र सावयवत्वानित्यत्वयोरङ्गीकारात् । यत्तु आत्मनि सुखदुःख-
योर्देशभेदेन प्रतीतेरेकदेशसाधनं, तन्न; सुखदुःखयोरन्तःकरणगततया तद्रतत्वाभावात् । नच—
“गौरनाद्यन्तवतीत्यादि”श्रुत्या अनादिनित्याया अपि प्रकृतेः सत्त्वरजस्तमोरूपैकदेशदर्शनाद्यभिचार
इति—वाच्यम्; प्रकृतौ नित्यत्वाभावादविद्यातिरिक्तप्रकृतेरभावाच्च । नचाविद्यायामेव व्यभिचारः;
तस्या अप्यनित्यत्वेन व्यभिचाराभावात् । नच—जीवानामपि ‘द्रोणं बृहस्पतेर्भागं द्रौणिं रुद्रांशसंभ-
वम् । दुर्वासाः शङ्करस्यांश’ इत्यादिनांशोक्तेः ‘यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरवस्थिता । परब्रह्म-
स्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम् ॥ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।’ इत्यादिना ईश्वरस्या-
प्यंशोक्तेर्जावेशयोर्व्यभिचार इति—वाच्यम्; आत्मनोऽंशस्योपाधिकतया स्वाभाविकत्वाभावात्,
त्वन्मते जीवानामणुरूपतया स्वाभाविकांशाभावेन काल्पनिकांशस्यैव वक्तव्यत्वात् । एतेन भगवद्भो-
कादेरपि नित्यत्वमपास्तम् । नच ‘अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः । मत्प्रसादात्परां
शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥’ इत्याद्यागमविरोधः; तस्यावान्तरप्रलयस्थत्वपरत्वात् । तस्मा-
न्निर्गुणं निराकारं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

महत्त्वोत्पत्तिं प्रति तावदन्यतमहेतुत्वावश्यकतया सावयवत्वेन विग्रहे जन्यत्वं तेन च विनाशित्वमावश्यकमिति भावः ।
साधनव्यापकत्वादिति । विग्रहे प्राकृतत्वस्य सन्निग्धत्वेऽपि परं प्रति नायं सन्निग्धोपाधिः । अनुकूलतर्काणां
मुक्तत्वेन पक्षीयव्यभिचारसंभवस्य सन्निग्धोपाधिकार्यस्याप्रयोजकत्वादिति भावः । सावयवत्वात् अवयवोपादा-
नत्वात् । उक्तत्वादिति । ‘ब्रह्मण्यो देवकीपुत्र’ इत्याद्युक्तश्रुतिस्मृतिरूपोत्पत्तिनाशबोधकविरोध इत्यपि बोध्यम् ।
तन्तूनामेव तन्तूनामपि । तथाच । पटादाविव विग्रहस्यापि मध्यमपरिमाणवत्त्वेन परिणामिकारणरूपावयवत्वमनु-
मीयते; अन्यथा विग्रह इति परिभाषामात्रापातात्, अन्त्यावयविविशेष एव विग्रहपदवाच्य इत्युक्तत्वादिति भावः ।
अङ्गीकारादिति । तार्किकादिमते तु तत्र संयोगित्वादौ मानाभावः । गवाक्षजालादौ तत्तुल्य एव चाक्षुषाः, नतु
तेषां गगनसंयोग इति बोध्यम् । औपाधिकतयेति । तथाच द्रोणादिशरीरावच्छिन्नं यत् बृहस्पत्यादिशरीरा-
वच्छिन्नमनोजन्यमनश्चक्षुरादिकं तदुपाधिक आत्मैव बृहस्पत्याद्यंशः । ‘प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयती’ति सूत्रे
कायव्यूहस्थले उपासनामाहात्म्येन मनश्चक्षुराद्यन्तरसृष्टेरुक्तत्वात् । एवं मायापरिणाममनआद्युपाधिकहिरण्यगर्भा-
दिरूपेण ईश्वरस्य बहुभवनस्य श्रुत्युक्तत्वादिरण्यगर्भादयस्तदंश इति व्यवहार इति भावः । चेतनात्मकाः आवरण-
बाहुल्यशून्याः । तस्य उक्तागमस्थनित्यादिपदस्य । अवान्तरेति । ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन
मिषत् । एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ न इमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः’
इत्यादिश्रुतिभिः प्रलये सकलकार्यसंस्कारोपहितमायावच्छिन्नचिन्मात्रसत्तामुक्त्वा ‘स ईक्षत लोकान् सृजा इति स
इमंलोकानसृजत । सोऽकामयत’ इत्यादिना तस्य ध्यानान्तस्थित्येत्यादि पुरुषाश्चतुर्दशाजायन्तेत्यादिपञ्चतन्मात्राणि
महाभूतानीत्यादिना च सर्वलोकघटितप्रपञ्चसृष्टेरुक्तत्वात् ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
सुप्तसिकाले सकले विलीने एतस्मादात्मनः सर्वे वेदाः सर्वे देवाः सर्वाणि च भूतानि व्युच्चरन्ती’त्यादिश्रुतेः भूतत्वाव-
च्छेदेन ब्रह्मजन्यत्वनाशयत्वकल्पने लाघवाद्भौतिकवैकुण्ठलोके मानाभावात् अनादित्वेन श्रुतियुक्तिसिद्धमायादि-
भिन्नजडत्वावच्छेदेन लाघवात् ब्रह्मोपादानकत्वात् सोपादानकमात्रस्याविद्यकत्वेनाविद्यानाशयत्वात् जडसामान्यस्य
विनाशित्वमित्युक्तत्वावस्थं नित्यादिपदमवान्तरप्रलयस्थपरमिति भावः । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मण्याकारखण्डनम् ॥
इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः ॥

अथ ब्रह्मणो निर्गुणत्वनिराकारत्वरूपपत्तिः ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

तच्चेदं ब्रह्म न निर्गुणम्, किंतु सगुणमेव । तत्रच साधकानि प्रमाणानि “बृहन्तोऽस्य धर्माः” इति श्रुतिः, “ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्वुपांशकः । नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणश्च सर्वदा” इत्यादिस्मृतयश्च । यथाचापूर्वत्वात् ब्रह्म सत्यम् एवं तत्सत्यकामत्वादिकमपि सत्यमेव । नह्येतावतापि निर्गुणप्रकरणादिकं सिद्धमिति न तदपेक्षितनिषेध्यसमर्पकतया सगुणवाक्यानामुपयोगः । नहि श्रुतिप्राप्तस्य श्रुत्या निषेध उपपद्यते । अन्यथा अग्नीषोमीयहिंसाया अहिंसावाक्येन ग्रहणब्रह्मसत्त्वयोरग्रहणवाक्येनासद्वेति वाक्येन च निषेधप्रसङ्गात् । एतेन—ब्रह्म, धर्मिसमानसत्ताकधर्मवत्, उक्तसमसत्ताकभावरूपधर्मवद्वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, स्वज्ञानावाध्यधर्मवद्वा, धर्मैर्विना नावतिष्ठते वा पदार्थत्वात्, भावत्वाद्वा, घटवत्, (२) ब्रह्म, वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वात् यथा धर्मः, (३) ईश्वरः, सदा त्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वादित्याद्यनुमानान्यपि तत्र साधकानि—सूचितानि; अधिष्ठानत्वसंदिग्धत्वाद्यनुपपत्तिः सर्वत्रानुकूलतर्कः । एतेन—सत्यकामादिवाक्यस्यापरब्रह्मविषयत्वं—परास्तम्; सगुणातिरिक्तब्रह्मणोऽद्याप्यसिद्धेः । अतएवान्तसिद्धर्मोपदेशात्, अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । इत्यादिसूत्राण्यनुकूलानि । परः पराणामित्यादिश्रुतिरपि सगुणस्यैव परात् परत्वं बोधयन्तीदानीमुपपद्यते । अन्यथा “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” “असद्वा इदमग्र आसीद” लयनयोरपि परापरब्रह्मविषयत्वापत्तिः । इदानीं सगुणं कालान्तरे निर्गुणमित्यर्थविवक्षायां तु गुणाद्यनित्यत्वमेव प्राप्नोति, नतु तन्मिथ्यात्वम् । “ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये”त्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानादिनित्यत्वप्रतिपादनादपि सगुणपारमार्थिकत्वमवगम्यते । एतेन—औपाधिकगुणपरत्वेन सगुणश्रुत्युपपत्तिरपि—परास्ता; औपाधिकत्वस्य सोपाधिकाध्यस्तत्वरूपत्वे श्रुत्यप्रामाण्यापत्तेः, वक्ष्यमाणसत्यत्वश्रुतिविरोधाच्च, उपाधिकल्पितरूपत्वे तूक्तनित्यत्वश्रुतिविरोधात्, अन्तःकरणादिरूपोपाधिच्छेदः प्रागेवेक्षितत्वादिश्रुतेरुपाध्यसंभावाच्च । अतएव हि स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचेति स्वाभाविकत्वश्रवणमुपपद्यते । वस्तुतस्तु—श्रुत्योर्विरोधे एकस्या नातात्त्विकविषयत्वम्, शास्त्रविरोधे संकोचविकल्पादिनोभयप्रामाण्यस्य पूर्वतन्त्रे व्याकरणेन निर्णयितत्वात् । तदुक्तं—कोहि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः । एकं प्रमाणमितरदप्रमाणं भवेदिति । विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिषु शास्त्रविरोधेऽपि तात्त्विकार्थान्तरपरतैवोक्ता, नत्वारोपितार्थान्तरपरता । अन्यथेक्ष्यत्वाद्यधिकरणसिद्धान्तसाधकानामीक्षणानां प्रधानादावपि संभवेन प्रधाननिराकरणानुपपत्तेः । एवंच मृडमृदेत्यादेर्न त्वासेडिति निषेधबाधकत्वमिव सगुणवाक्यानां निर्गुणवाक्यनिषेधकत्वमेव युक्तम् । “नेह नानास्ति किंचन” तत्त्वमसीत्यादिकंतु “विश्वं सत्यं” द्वा उपपन्नैत्याद्यपेक्षितप्रतियोगिसमर्पणार्थं सन्न दुष्यति । एतेन—यः सर्वज्ञ इत्यादेरपि सर्वज्ञादिविशिष्टपरमार्थतायामेव प्रामाण्यमिति—सूचितम्; नहि ब्रह्मणः सर्वज्ञादिकमनुमानादिसिद्धम् । साक्षी चेतेत्यादिकं तु द्रष्टृत्वादिगुणप्रापकं न गुणसामान्यनिषेधायात्वम् । आत्मेत्येवोपासीतेत्युपासनाशेषतया ह्यद्वैतं प्रतिपाद्यते इति न तत्सिद्ध्यति । अतएवहि—“आनन्दादयः प्रधानस्य” “व्यतिहार” इति सूत्रयोरानन्दं ब्रह्मेत्यादिश्रुतानामानन्दादीनां तद्योऽहमिति श्रुत्युक्तस्य जीवेशत्वस्येशजीवत्वस्य चोपास्यता वर्णिता । अस्तु वोत्तरतापनीयानुसारेण निर्गुणोपास्तिरपि; एवमपि निर्गुणस्यैव सत्यकामतादितात्त्विकतापि सिद्धेदेव । परमात्मनोऽपि ध्येयत्वमीक्षतिकर्मादिसूत्रभामत्यादौ वर्णितमेवेति तस्य सगुणत्वमेव । अतएव, सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य इति सत्यकामत्वादीनामप्यपहतपाप्मत्वादिभिर्जिज्ञास्यत्वनिर्देशोपपत्तिः । “अतएव सत्यः सोऽस्य महिमेति” सर्वज्ञादिसत्यत्वविधानमपि संगच्छते । अन्यथा ब्रह्मसत्त्वमपि तात्त्विकं न सिद्ध्येत् । “पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वे”त्यादिश्रुतिषु “यो मामशेषदोषोत्थगुणसर्वस्ववर्जितम् । जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं नचान्यथा । भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति” इत्यादिषु च सविशेषज्ञानमेव मोक्षसाधनमुदुष्यते । पुण्यपापे विधूयेति श्रवणात् सविशेषज्ञानजन्या मुक्तिः परममुक्तिरेव । एवंच सगुणत्वसाधकानां बहूनां प्रमाणानां विद्यमानत्वात् सगुणमेव । नच निर्गुणश्रुत्या बाधः; नहि निषेधकत्वं प्राबल्यप्रयोजकम्; असद्वैत्यस्यापि सदेवेति वाक्यबाधकतापत्तेः । नह्यपच्छेदन्यायोऽत्र प्रसरतीति पूर्वमेव निरूपितम् । सगुणज्ञानमपि फलवदेवोक्तमिति फलवत्सन्निधाविति न्यायेन निर्गुणवाक्यानुगुणतया नयनमपि न संभवति । एवंच प्रबलसगुणवाक्येन निर्गुणवाक्यस्यैव बाधो युक्तः । सगुणवाक्यप्राबल्यं चासंजातविरोधित्वात्, लिङ्गाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात्, पदे जुहोतीतिवत् विशेषविषयत्वात् दीक्षणीयायामनुब्रूयादित्यत्रैव निरवकाशत्वात्, बहुत्वात् प्रवृत्तिनिमित्तापेक्ष-ब्रह्मादिशब्दैर्धर्मिणं निर्दिश्य क्रियमाणे धर्मनिषेधे तेषामुपजीव्यतया सन्निपातन्यायाच्च सिद्ध्यति । संभवति हि निर्गुणवाक्यानां त्रैगुण्यवर्जितं विना हेतुर्गुणैर्युक्तमित्यादिविशेषोपसंहारेण छापपशुन्यायस्याप्यत्र प्रवृत्तिः । धर्मान् पृथक् न पश्य-

सीतितु सविशेषणे हीति न्यायेन गुणानां पार्थक्यस्यैव निषेधकमिति निर्गुणश्रुतीनामपि तत्रैव तात्पर्यम् । साक्ष्यादित्येतन्मस्य पूर्व पश्चाच्च गुणोक्तयोर्पाञ्चयाजन्यायोऽपि सगुणवाक्यानुगुणतया निर्गुणवाक्ययोजने प्रमाणम् । एवंच सगुणनिर्गुणवाक्ययोरविरोधेन प्रामाण्ये संभवति निर्गुणवाक्यमात्रपक्षपातेन सगुणवाक्यामानत्वादिकल्पनं सौगतसौहृदमेवाविष्करोति । एतेन—अनुभूतिनिर्विशेषा, अनुभूतित्वात्, इति व्यतिरेक्यनुमानमपि अप्रसिद्धविशेषणत्वव्याघातश्रुतिबोधाभाससाम्याप्रयोजकतादिभिर्नात्र बाधकमिति—सूचितम् । नचानन्दो ज्ञानमात्रम्, दुःखज्ञानस्यापि आनन्दत्वापत्तेः, नापि वा ब्रह्म प्रपञ्चाभिन्नम्; मिथ्यात्वापातात् । नहि ब्रह्म शून्यानिर्वाच्यव्यावर्तकविशेषरहितम् । अन्यथा तुच्छत्वमिथ्यात्वाद्यापत्तेरिति सविशेषमेव तदङ्गीकरणीयम् । नह्यन्यथा तद्विचारोपपत्तिः ॥

इदमित्थमिति ज्ञानं जिज्ञासायाः प्रयोजनम् । इत्थंभावो हि धर्मोऽस्य नचेन्न प्रतियोगिता ॥

नच धर्मारोपेणोपपत्तिः; धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने । सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते ॥

इति वचनात् । यथा ब्रह्मणोऽभावरूपधर्माङ्गीकारः, एवं भावरूपधर्मोऽप्यङ्गीक्रियतां प्रामाणिकत्वाविशेषादिति सविशेषमेव ब्रह्मररीकरणीयम्, न निर्विशेषम्; तत्र प्रमाणाभावात् । नहि प्रमाणं विना तत्स्फुरणसंभवः, स्वतःसिद्धिस्तु विप्रतिपन्नमात्रे वस्तुं शक्येत्यतिप्रसङ्गापातः । नहि तत्रोपनिषदः प्रमाणम्; तासां सगुणपरत्वस्योपपादितत्वात् । उपनिषदो हि ब्रह्मणो जातिगुणक्रियादिरूपनिमित्ताभावेन मुख्यवृत्त्या मुख्यार्थगुणसमानजातीयगुणराहित्येन गौण्या शक्यार्थसंबधितावच्छेदकरूपाभावेन लक्षणया वा न निर्विशेषं ब्रह्म बोधयन्ति । एतेन—ब्रह्मनिराकारत्वमपि—प्रत्युक्तम्; “आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” “यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं” “ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्” “विश्वतश्चक्षुः” “सहस्रशीर्षा” इत्यादिश्रुतिभिः “पश्य मे पार्थ रूपाणि” “सर्वतः पाणिपादं तत्” इत्यादिस्मृतिभिः, ब्रह्म, सविग्रहं, स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वात्, उपदेष्टृत्वात् इत्याद्यनुमानैश्च तद्विग्रहस्य सिद्धत्वात् । अतएव हि य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषो दृश्यते इति सविग्रहस्य दृश्यमानत्वोक्तिरुपपद्यते । नह्यविद्यमानस्योपासनार्थं कल्प्यमानस्याग्नित्वादेर्योषिदादौ दृश्यमानत्वमुच्यते । तदेवानुप्राविशत्, ब्रह्मविदाप्नोति परमिति प्रवेष्टृत्वप्राप्यत्वादिश्रवणमपि ब्रह्मसविग्रहत्वं गमयति । “तमेवं विद्वानमृतं” इत्यादौ तच्छब्देन सर्वनाम्ना सविग्रहस्यैव परामर्शेन तज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनं प्रतिपाद्यते । ‘देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण’ इति स्मृतिरपीदानीं व्याख्याता भवति । अपाणिपादमित्यादिकंतु भौतिकविग्रहनिषेधपरं नास्माकं प्रतिकूलम् । नाभ्या आसीदन्तरिक्षमिति भूतकारणत्वश्रवणात् सविग्रहपराणि वचनान्यभौतिकतत्पराणीत्येवाङ्गीकरणीयम् । अतएव “एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा नच शङ्कर” इति प्रलयकाले सविग्रहनारायणमात्रोक्तिरपि संगच्छते । नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामिति विशेषोक्तिरपि चेतनान्तराणामिवास्यापि सविग्रहत्व एवोपपद्यते । पुरा कल्पापाये स्वकृतमुररीकृत्य विकृतमिति तु वचनं साक्षादेव विग्रहं प्रतिपादयति । अपाणिपादइत्यादीनां प्राकृतशरीरनिषेधकत्वमेव; जवनो ग्रहीतेत्यादिवाक्यशेषात् । अन्यथाऽदुःखमसुखमित्यत्रापि अप्राकृतसुखनिषेधप्रसङ्गात् । अत्रच संकोचे “अरूपोऽप्राकृतश्चे”ति स्मृतिरेव मानम् । भगवद्विग्रहः, न नित्यः, महत्त्वे सति रूपवत्त्वात्, विग्रहत्वाद्देश्यनुमाने तु प्राकृतत्वमुपाधिः । सावयवस्यापि श्रुतिप्रामाण्याश्रित्यत्वमङ्गीक्रियते इति न सावयवत्वेनाप्यनित्यत्वानुमानं संभवति । किंच ब्रह्मविग्रहस्य कीदृशं सावयवत्वं विवक्ष्यते ? येनानित्यत्वमापाद्यते, सोपादानकत्वं चेन्न, अनङ्गीकारात्, सैकदेशकत्वं चेत्, न तेनानित्यत्वसिद्धिः; गगनात्मादिसाधारण्यात् । अतोहि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः । मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतमिति वचनानुसारेण वैष्णवलोकनित्यत्वमपि सिद्धमेवेति न ब्रह्मनिराकारत्वोपपत्तिरिति सविशेषं साकारमेवच तदिति सिद्धमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

तच्चेदं ब्रह्म निर्गुणम् । केवलो निर्गुणश्चेति श्रुतेः, नतु सगुणम्; साधकाभावात् । सगुणश्रुतयो हि उपासनाप्रकरणस्था उपास्तिविधिविषयविशेषणसमर्पकतया निर्गुणप्रकरणस्था अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलनिषेधापेक्षितनिषेध्यसमर्पकतयाऽन्यशेषत्वाज्जितल्यवाग्वा वा जुहुयादित्यत्रेव न स्वार्थसत्यत्वे प्रमाणं भवितुमर्हन्ति । नहि श्रुतिप्राप्तं सत्यकामत्वादिकं श्रुत्या निषिध्यते, येनाग्नीषोमीयहिंसादीनामपि निषेधोपपत्तिः । एतेन—ब्रह्म, धर्मिसमानसत्ताकधर्मवत्, पदार्थत्वादित्यनुमानान्यपि साधकानि—परास्तानि; धर्मिपदस्वपदयोर्यत्किंचिद्धर्मियत्किंचित्संबधिपरत्वे घटादिसमानसत्ताकधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनात्, ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धेः, स्वत्वानुगमेनोपपत्तिस्तु शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगाच्च संभवति । धर्मोर्विना नावतिष्ठते इत्यस्य धर्मव्याप्यमित्यर्थकत्वात्सिद्धसाधनम् । किंच शुद्धस्य पक्षत्वे हेत्वसिद्धिः, उपहितस्य तत्त्वेऽर्थान्तरम्, अप्रयोजकत्वं च स्वज्ञानाबाध्यत्वविशिष्टधर्मवत्त्वं विनापि अधिष्ठानत्वोपपत्त्या न तदनुपपत्तिस्तर्कः । एतेन—सगुणवाक्यानामपरब्रह्मविषयत्वेनोपपत्तिरपि—व्याख्याता । नहि सगुणश्रुत्या तात्त्विकत्वविशिष्टगुणसिद्धिः, येन सगुणारितिकस्या-

द्याप्यसिद्धिरिति निर्धर्मकत्वश्रुत्यविरोधस्यैवमेव संपाद्यत्वात् । तदुक्तं—निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीधराः । ये मन्दा-
स्तेऽनुक्रम्यन्ते सविशेषनिरूपणैः । वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेद्ब्रह्मापेतोपाधिप्रकल्पनम्—इति ।
परः पराणामितितु किञ्चिज्ज्ञापेक्षया सगुणपरत्वं बोधयति, न ततोऽपि परस्याभावम्, स्वस्येतरनिरूपितापरत्वव्यावृत्तिं वा ।
शब्दस्य विरम्यव्यापारायोगात् । सदेवासदेवेति वाक्ययोरिदमिति प्रकृतप्रपञ्चस्यैव कारणतमना सत्त्वं कार्यात्मनाऽसत्त्वं च
बोध्यते इति न तयोरपि परापरब्रह्मविषयलोपपत्तिः । इदानीं सगुणस्यापि दशान्तरे निर्गुणत्वप्रतिपादनेनाप्यस्मद्विशिष्टसिद्धिः,
नहि तावताऽपि युष्मदभिमततात्त्विकत्वसिद्धिः उपायान्तरेण तज्जिर्णयेऽस्माकं मिथ्यात्वनिर्णयोऽपि भविष्यतीति न किञ्चि-
दनुपपन्नम् । एष नित्यो महिमेत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपतया ज्ञानादिनित्यत्वमेव बोधयति, नतु तद्गुणनित्यत्वमिति मन्तव्यम् ।
किञ्च सगुणवाक्यानां स्वाभाविकनिर्गुणत्वश्रुत्यनुसारेणोपाधिकगुणविषयत्वेन बाधितस्य बाधितत्वेन विषयीकरणेऽपि श्रुति-
प्रामाण्योपपत्तेर्न कोऽपि विरोधः । स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचेति त्वस्मदादाविव योगिषु इव च भौतिकोपाधिकत्वाभावेन
योगार्जितत्वाभावेनचोपपन्ना । यत्र हि शास्त्रयोः प्रामाण्ये समकक्षत्वं तत्रैकतरबाधायोगेन संकोचेन विकल्पेन वोपपत्तिः
ग्रहणाग्रहणादिशास्त्रेषु; प्रकृतेतु एकतरस्य प्रतीयमानार्थतात्पर्यम् इतरस्य नेति तत्परवाक्यप्राबल्येन तदविरोधेन सगुणवा-
क्यस्य गुणतात्त्विकतायां न प्रामाण्यमिति बोद्धव्यम् । ईश्वर्यधिकरणसिद्धान्तसाधकानामीक्षणवादीनां न तात्त्विकत्वमपे-
क्षितम्, नहि राजामात्ये राजत्वारोप इव स्तम्भादावपि स विद्यते; अतात्त्विकेक्षणदेः प्रधानादावयोग्ये आरोपायोगात् न
तत्सिद्धान्तानुपपत्तिरिति सगुणापारमार्थिकतायां ईक्षितेर्नाशब्दमित्यादिसूत्रविरोधोऽपि न प्रसरति । निषेध्यसमर्पकतयैक-
वाक्यतयैव प्रामाण्यसंभवे न वाक्यभेदेन गुणप्रापकता युक्ता । नेति नेतीति प्रसक्तसर्वनिषेधेन विशेषपरिशेषायोगेन न
मृडमृदेत्यादाविव पर्युदासाश्रयसंभवः । विश्वं सत्यं द्वासुपर्णेत्यनयोर्वाक्ययोर्निषेधद्योतकपदाभावाच्च प्रपञ्चमिथ्यात्वादिनिषेध-
परतया तद्योजनसंभवः । “साक्षी चेता” इत्यत्राविद्यासिद्धसाक्षित्वानुवादेन द्रष्टृत्वादिविधानासंभवाच्च गुणसमर्पकत्वमिति
न निर्गुणमित्यनेन निषेधानुपपत्तिः । निषेधैकवाक्यतायामपि देवताविग्रहादाविवावान्तरतात्पर्यस्याप्यङ्गीकारात्सावैश्यादि-
व्यावहारिकत्वसंभवः । नहि कुत्राप्यद्वैतमुपास्यतया बोधितम्, येन तदसिद्धिः स्यात् । आत्मेत्येवोपासीतेत्यत्राप्युपास्तेरेन
ह्यतत्सर्वं वेदेत्युपसंहाराज्ज्ञेयसमर्पणमेव । एवं सत्येव ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्तिः । आनन्दादयः प्रधानस्येति सूत्रं हि
लक्ष्याखण्डवाक्यार्थसिद्ध्यर्थं वाच्यवाक्यार्थोपसंहारं गोचरयति न त्पासनार्थं गुणोपसंहारम् । नहि निर्विशेषस्योपासनं संभव-
तीत्युत्तरतापनीयादिश्रुतोपास्तेरपि ज्ञानपरत्वमेव । ईक्षतिकर्मणि सूत्रे त्रिमात्रोद्धारबलम्बनोपाधिविशिष्टस्यैव ध्येयत्वमुच्यते
इति न विरोधः । अपहृतपाम्पलादिकं यथा जिज्ञासकोटौ प्रविष्टं नैवं सत्यकामत्वादिकमिति नापहृतपाम्पलादिकमिव
सत्यकामत्वादिकमपि तात्त्विकं भवितुमर्हति । नहि सगुणज्ञानं मोक्षसाधनम्; तस्य मुक्तिसाधनत्वपराणां वचनानामवान्तर-
मुक्तिसाधनतापरत्वात् । एतेन—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वेत्यादिश्रुतयोऽपि—व्याख्याताः । निर्गुणज्ञानमेव मोक्षसा-
धनं; सर्वेषामपि वेदान्तानां तत्रैव तात्पर्यात् । अनुपास्तिप्रकरणस्थानामपि सत्यकामत्वादीनां पूषानुमन्त्रणमन्त्रवत् उपासना-
प्रकरणे उत्कर्षकल्पनात् तज्ज्ञेयत्वादिना न तत्सत्यत्वनिर्णयः, एवंच निर्गुणवाक्यस्यैवापच्छेदन्यायेन निषेधत्वात् फलवत्स-
न्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायाच्च सगुणवाक्यापेक्षया प्राबल्यात्तद्बाधिततया न सगुणपारमार्थिकता युज्यते । यथाचात्रा-
न्यथासिद्धोपसंहारविषयोपक्रमधिकरणन्यायः, श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायः, समकक्षविषयसावकाशनिरवकाशन्यायः सन्निपात-
न्यायश्च न प्रवर्तते तथा पूर्वमेव निरूपितम् । छागपशुन्यायेनोपसंहारस्तु निषेधयोरुपसंहारस्य न ब्राह्मणं हन्यात् नान्नेयं
हन्यादित्यत्रैव बाधितत्वाच्चात्रावकाशमाप्नोति । एतेन—त्रैगुण्यवर्जितमिति त्रैगुण्यनिषेधस्य काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामितिवत्
सामान्यनिषेध एव तात्पर्यमपि—सूचितम् । विशेष्यवाधकावतारस्थले एव प्रवर्तमानस्य सविशेषणे हीति न्यायस्य धर्मा-
न्पृथक् न पश्यसीत्यादौ धर्मनिषेधे बाधकाभावान्नात्राप्रवृत्तिरिति मन्तव्यम् । गुणवाक्यानां पूर्वतनानां पाश्चात्यानां च
गुणान् तटस्थीकृत्य ब्रह्मबोधनार्थत्वात्, गुणतात्पर्याभावान्नोपांशुयाजन्यायोऽप्यत्र प्रसरति । एतेन—अनुभूतिः, निर्वि-
शेषा, अनुभूतित्वात्, इति व्यतिरेक्यनुमानमपि साध्याप्रसिद्धिव्याघाताभाससाम्याप्रयोजकतावाधानामभावादत्र बाधक-
मिति—सूचितम् । नहि ज्ञानानन्दाभेदवादिनां वृत्तिरूपज्ञानस्याप्यानन्दाभेदोऽभिमतः; येन दुःखज्ञानानन्दता समा-
पद्येत । व्यावृत्तिबोधसमानसत्ताकधर्मेण भिन्नत्वनिर्विशेषत्वयोरुपपत्त्या न ब्रह्मच्छतादिप्रसङ्गः । एतेन—ब्रह्मविचार-
विषयत्वोपपत्तिरपि—व्याख्याताः; आरोपितधर्मेण सर्वोपपत्तेः । पूर्वपूर्वाध्याससिद्धधर्मवत्त्वे धर्मान्तरारोपादीनामुपपत्त्या
धर्मारोपार्थमपि न धर्मान्तरसत्त्वापत्तिः । शुद्धेऽप्यविद्यासंबन्धेनारोपसंभवादिति न ब्रह्मसगुणत्वे साधकानि बाधकाभावो
वा । किंतु तज्जिर्णमेव । तत्रच स्वतःसिद्धे यद्यपि न स्फूर्त्यर्थं प्रमाणमपेक्षितम्; तथापि तदज्ञाननिवृत्त्यर्थं तदपेक्षित-
मेवेति तत्रोपनिषदः प्रमाणयामः । नहि संसर्गबोधकत्वेनैव वाक्यत्वं, किंतु स्वरूपबोधकत्वेनापीति पूर्वमेव निरूपि-
तमिति संसर्गबोधं विनापि अन्वयितावच्छेदकरूपवत्तयाऽनुपस्थितस्यापि ब्रह्मणो लक्षणया सुषुप्तवाक्यवत् वृत्तिमन्तरेण वोप-
निषदधिगम्यत्वं संभवत्येव । एतेन—तज्जिराकारत्वमपि—व्याख्यातम्; अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वनवस्थितमित्या-
दिश्रुतेः । आदित्यवर्णमित्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यानामविद्याविलक्षणस्वप्रकाशस्वरूपप्रतिपादनपरतयोपास्यपरतयाचोपपत्तेः ।

हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इति दृश्यमानत्वोक्तिरपि प्रतीकोपासने उपास्यसाक्षात्कारान्वयमेऽपि संपदुपासने तस्य नियतत्वेन सगुणपरत्वेऽप्युपपद्यते । एतेन—तदनुप्रविश्येत्यादिकमपि—**व्याख्यातम्**; स्वसृष्टकार्याभिव्यक्तत्वस्यैव तत्रानुप्रवेशरूपत्वात् । एतेन—“देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः” इति स्मृतिरपि—**व्याख्याता**; आविद्यकरूपवतोऽपि तस्य ज्ञानद्वाराऽवान्तरमुक्तिसाधनत्वात् । **वस्तुतस्तु**—न परमात्मकर्माजितं परकर्माजितं वा भौतिकं मायिकं वा शरीरमङ्गीकर्तुं शक्यते, संसारित्वापत्तेः, इष्टापत्तेश्च । तस्य ब्रह्मरूपत्वेऽस्मदिष्टम् । तद्विज्ञत्वेन तस्य सत्यत्वे नेतिनेतीत्यादिश्रुतिविरोधश्च । नहि प्राकृतपाणिपादादिनिषेधपरतयोक्तश्रुतीनामुपपत्तिः; संकोचकप्रमाणाभावात् । एतेन—भगवद्विग्रहो न नित्यः विग्रहत्वात् इत्यनुमानमपि साधु इति—**सूचितम्**; साधनव्यापकत्वान्न प्राकृतत्वमुपाधिः, सर्वथाच सगुणवाक्यवत् सविग्रहवाक्यानामपि दुर्बलत्वात् न ब्रह्म साकारमिति तन्निर्विशेषत्वमिव तदनाकारत्वमप्युपपन्नमेवेति सर्वमनवयमिति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

ब्रह्मच सगुणमेव । तत्रच ब्रह्म, स्वसमानसत्ताकधर्मवदित्याद्यनुमानानि साधकानि । स्वपदेनच दृष्टान्तसमन्वयावसरे घटस्य पक्षे साध्यसमन्वयावसरे ब्रह्मणः परामर्शात् परार्थानुमाने शब्दस्वभावोपन्यासस्यापि योगेन नार्थान्तरादिकम् । धर्मेर्हानिं नावतिष्ठते इत्यस्य न धर्मव्याप्यमित्यर्थः, किंतु धर्मरहितत्वशून्यमिति न सिद्धसाधनादिकमपि । शुद्धस्यापि वेदान्ततात्पर्यविषयत्वादिसत्त्वात् न हेत्वसिद्ध्यादिकम् । एतेनाप्रयोजकत्वमपि निरस्तम् । नहि सगुणवाक्यान्यपरब्रह्मविषयाणीति युक्तम्; सगुणातिरिक्तनिर्गुणस्याद्याप्यसिद्धेः, नहि निर्गुणवाक्यानि तात्त्विकत्वेन गुणान् गोचरयन्ति, किंतु वस्तुगत्या तात्त्विकान् तान् विषयीकुर्वन्तीति न कोऽपि दोषः । परः पराणामित्यपि सगुणपरमेव; तेजोबलैश्वर्यैश्च तस्यैव प्रक्रमात् । अन्यथा सदेव सोम्येदमसदेवेतिवाक्ययोरपि प्रपञ्चः सृष्टेः प्राक् सदसच्छब्दोक्तपरापरब्रह्मविषय इति वाक्यार्थः स्यात् । एतेन—कालभेदेन सगुणनिर्गुणश्रुत्योरुपपत्तिरपि—**परास्ता**; गुणमिथ्यात्वासिद्धेः । **वस्तुतस्तु**—ज्ञानं नित्यमित्यादिश्रुतिविरोधात्तदनित्यत्वमपि न संभवति । एतेन—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येति वाक्यमपि—**व्याख्यातम्**; नद्यत्र ब्राह्मणशब्दो ब्रह्मवित्परः, येनात्मस्वरूपनित्यताबोधन एवास्यापि तात्पर्यम् । ब्रह्मविदो वदन्ति ब्राह्मणा विविदिषन्तीत्यादौ बहुवचननिर्दिष्टानां एकवचनेनोपादानासंभवेन ब्राह्मणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वस्यैव युक्तत्वात् । नहि अनन्तादिवाक्यानामुपासनाप्रकरणस्थानां निर्गुणप्रकरणे उत्कर्षः संभवदुक्तिकः । सगुणवाक्यसामान्यस्यैवं तत्रोत्कर्षापत्त्या ज्ञेयसगुणत्वस्यैव प्राप्तेः । यथाचात्रापच्छेदन्यायादयोऽप्यनुकूलस्तथान्यत्र विस्तरः । सर्वथा सगुणमेव परमार्थः । नहि निर्गुणे वेदान्तानां वाक्यरूपाणां प्रवृत्तिः संभवति । शक्तिलक्षणीगौणीनां कस्या अपि वृत्तेस्तत्रासंभवात् । नहि वृत्तिं विना शब्दप्रामाण्यमुपपद्यते । सुप्तोत्थितस्यापि संबन्धग्रहो विद्यत एव । यदाच स नास्ति बोधश्च विद्यते, तदाऽनुमानाधीन एव स इति न वृत्तिं विनापि प्रामाण्योपपत्तिः । एवंच साधकसत्त्वात् बाधकाभावाच्च सगुणमेव ब्रह्मेति सिद्धम् । एतेन—ब्रह्मसाकारत्वमपि—**व्याख्यातम्**; सर्वाणि रूपाणि विचित्रा धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते । धाता पुरस्तादित्यादिसर्वजगत्कर्तृत्वब्रह्माद्युपदेष्टृत्वादिलिङ्गैः कृतं सत्यमित्यादिसत्यत्वादिलिङ्गैः परं ब्रह्मेति श्रुत्याच सहस्रशीर्षादिवाक्यस्थसगुणपरमात्मपरत्वस्यैवावगमेन तस्य सविग्रहत्वापि सिद्धत्वात् । अशरीरमित्यादिनिषेधास्तु प्राकृतशरीरगोचरा इति न कोऽपि दोष इति सर्वमनवयमिति—**प्रतिपादयन्ति** ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेति विवरणानुमाने खोपादानगोचरेति नैयायिकानुमानेच स्वशब्दस्य पक्षदृष्टान्तान्तरपरत्वेऽपि प्रकृते सिद्धसाधनप्रसङ्गेन तथाङ्गीकर्तुमशक्यत्वात् ब्रह्म स्वसमानसत्ताकधर्मवदित्याद्यनुमानं न साधु । धर्मेर्विना नावतिष्ठते इत्यस्य धर्मरहितं नेत्यर्थकत्वेऽपि अविद्याकाले ब्रह्मणो धर्मशून्यभेदत्वात्यन्ताभावरूपधर्माधिकरणत्वात् सिद्धसाधनमेव । शुद्धस्य वेदान्ततात्पर्यविषयत्वपक्षे कल्पिततद्वत्त्वेऽपि पदार्थत्वाद्यभावात् हेत्वसिद्धिरप्यपरिहार्यैव । द्वैतमिथ्यात्वश्रुतिबाधितत्वेन गुणतात्त्विकताया अयोगेन सगुणश्रुतीनां वस्तुगत्या तात्त्विकगुणवद्विषयकत्वस्याप्ययोगेन तासामपरब्रह्मविषयत्वं निर्गुणश्रुतीनां परब्रह्मविषयत्वमिति विषयविवेक उपपद्यत एव । एतेन—अन्तस्तद्धर्मोपदेशादित्याद्यधिकरणानि—**व्याख्यातानि**; नहि व्यावहारिकविषयबुद्धिपूर्वकारोपः प्रधानादौ ईक्षणादीनां संभवतीति व्यावहारिकेक्षणादिभिः सगुणात्मसिद्धान्तो न नोपपद्यते । एतेन—गुणनित्यत्वप्रतिपादकानां सर्वेषामपि व्यावहारिकनित्यत्वपरत्वेनैवोपपत्तिरित्यपि—**सूचितम्** । यत्रहि प्रकरणे यदाभ्रातं तत्रान्वेतुमयोग्यस्य योग्यस्थलेऽन्यत्रोत्कर्षः यथा पूर्वानुमन्त्रणमन्त्रादेः । प्रकृते तु अनन्तत्वादिकमिव सत्यकामत्वादिकमुपासनाप्रकरणयोग्यं ज्ञानप्रकरणायोग्यं न तत्रोक्तं योग्यमिति न विरोधः । एवंच निर्गुणमेव परमार्थः, नतु सगुणम् । निर्गुणेऽपि तस्मिन् वेदान्ताः लक्षणया प्रमाणमेवेति पूर्वमेव निरूपितम् । **वस्तुतस्तु**—वाक्यज्ञानं विना बोधकत्वाददर्शनेन, प्रतिबन्धकविरहे विनापि संबन्धग्रहं सुप्तस्थल इव तत्त्वमसीत्यादिवाक्याच्छब्दबोध

अथ ब्रह्मणो ज्ञानत्वाद्युपपत्तिः ।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

ननु—निर्विशेषं चेत् ब्रह्म, तर्हि ब्रह्मैवैकं ज्ञानात्मकमानन्दात्मकमद्वितीयं नित्यं साक्षि चेति नोपपद्यते । तथाहि—तत्र तावत् ज्ञानत्वं किं जातिविशेषो वा, साक्षाद्यवहारजनकत्वं वा, जडविरोधित्वं वा, जडान्यत्वं वा, अज्ञानविरोधित्वं वा, अर्थप्रकाशात्मकत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा । नाद्यः; वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानाभासेषु तत्सम्भवेऽप्यखण्डरूपब्रह्मज्ञाने तदयोगात् । न द्वितीयः; फलोपधानस्य सुषुप्त्यादावभावात्, शक्त्यादिरूपस्वरूपयोग्यताया अपि मुक्तावभावात् । न तृतीयः; स्वरूपज्ञानस्य नित्यत्वेन तद्विरुद्धस्य जडस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । न चतुर्थः; 'सत्यं ज्ञान'मित्यादौ अनृतव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्तिविरोधात् । नच पञ्चमः; अज्ञानस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । न षष्ठः; मोक्षे अन्यार्थोल्लेखाभावात्, स्वरूपोल्लेखे च स्वविषयत्वापातात् । न सप्तमः; पराङ्गीकृतजातेर्व्यवहारहेतुत्वादेर्वा त्वन्मते असंभवादिति—चेन्न; अर्थप्रकाशत्वमेव ज्ञानत्वम् । मुक्तावर्थाभावेऽपि तत्संसृष्टप्रकाशत्वस्य कदाचिदर्थसंबन्धेनाप्यनपायात् । अतएव—'अर्थप्रकाशरूपत्वं ज्ञानत्वं ब्रह्मणः कथम् । अन्यार्थाभावतो मोक्षे स्वेन स्वस्याप्यवेदनात् ॥' इति—निरस्तम् ॥

यत्तु—आनन्दत्वं जातिविशेषो वा, अनुकूलतया वेदनीयत्वं वा, अनुकूलवेदनत्वं वा, अनुकूलत्वमात्रं वा, ज्ञानात्मकत्वमेव वा, दुःखविरोधित्वं वा, दुःखाभावोपलक्षितस्वरूपत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा । नाद्यः; अखण्डस्वरूपानन्दे तदभावात्, न द्वितीयः; मोक्षे वेदितुरभावात्, आत्मनोऽवेद्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भगवद्विग्रहस्यानित्यत्वमिथ्यात्वादियोगेऽपि व्यवहारकाले तदुपासनासंभवेन तत्फलचित्तशुद्धादिकं यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसाऽन्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥' इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमव्याहृतम् । गुरुसेवाफलवत् । न हि गुरुदेहो नित्यादिरूपः परसंमत इत्याशयेन जीवन्मुक्तोऽप्याचार्यः पूर्वसञ्चितभजनवासनया श्रीकृष्णं स्मरति—वंशीत्यादि । अर्थप्रकाशात्मकत्वमिति । प्रकाशत्वमप्रकाशविरोधित्वम् । अप्रकाशत्वं चाज्ञानतमोऽन्यतरत्वम् । तथाचालोकेऽतिव्याप्तेरर्थेति अर्थविषयकेत्यर्थकम् । अखण्डरूपब्रह्मेति । निर्धर्मकैक्यक्तिरूपब्रह्मेत्यर्थः । सुषुप्त्यादाविति । तथाच वृत्तिप्रतिबिम्बितस्यैवोपधायकत्वात् जाग्रत्स्वप्नयोरपि शुद्धे तदभावादसंभवः । एवं स्वरूपयोग्यतापक्षोऽपि व्याख्येयः । तद्विरुद्धस्य अज्ञानतत्कार्यस्य । तथाच जडविरोधित्वं जडनाशकत्वं प्रतिबिम्बित एव, न शुद्ध इत्यसंभवः । अनृतव्यावृत्तेः जडव्यावृत्तेः । अज्ञानस्येति । तथाच वृत्तिप्रतिबिम्बितस्यैवात्माज्ञाननाशकत्वमिति भावः । उल्लेखः विषयित्वम् । यद्यपि जडान्यत्वोपलक्षितस्वरूपत्वमपि लक्षणं संभवत्येव, अतद्व्यावृत्तेरिव जडव्यावृत्तेः शाब्दत्वेऽपि क्षतिविरहात्; तथापि ज्ञानान्यत्वरूपजडत्वस्य ज्ञानत्वघटकत्वे अन्योन्याश्रयादविद्यातत्प्रयुक्तान्यतरत्वादिरूपं जडत्वं तद्वटकं वाच्यम्; तथाच तदपेक्षया लाघवादर्थप्रकाशत्वमेव लक्षणं युक्तमित्याशयेनाह—अर्थप्रकाशत्वमिति । अर्थव्यवहारजनकतावच्छेदकवत्त्वं अर्थेच्छाजनकतावच्छेदकवत्त्वमिति यावत् । उक्तावच्छेदकं च ज्ञानत्वजातिः । सा च तत्तदर्थस्यासत्त्वापादकाज्ञानविरोधिचैतन्यवृत्तिः । चैतन्यस्य तद्विरोधित्वं च घटादावविद्यमानसुखादौ च तदाकारवृत्तिविशिष्टत्वेन विद्यमानसुखादौ च तद्विशिष्टत्वेन । विद्यमानसुखादावपि वृत्त्यङ्गीकारे तु वृत्तिविशिष्टत्वेनैव तद्विरोधम् । यद्यप्युक्तजातिर्विशिष्टविशिष्टा ज्ञाधातुवाच्यतावच्छेदिका; तथापि तद्विशिष्टभिन्नाया ज्ञानपदलक्ष्यव्यक्तेः मुक्तौ सत्त्वेन ज्ञानस्वरूपमविनाशीत्याशयेनाह—मुक्ताविति । तत्संसृष्टप्रकाशत्वस्य अर्थप्रकाशत्वरूपस्य ॥

नन्वात्मनो वेद्यत्वाभावे मोक्षे वेदितुरभावेऽपि च न क्षतिः; अनुकूलतया प्रकाशमानत्वस्य वाच्यत्वात्, उपपद्यत एव । नच तत्रानुमानमेव प्रमाणम्; शाब्दयामीत्याद्यनुव्यवसायादिविरोधादिति निर्गुणमेव शास्त्रार्थः । एतेन—ब्रह्मनिराकारत्वमपि—व्याख्यातम्; सहस्रशीर्षादिवाक्यानां गुणद्वारा परमात्मस्वरूपसमर्पणपराणां प्रमाणान्तरबाधिततत्सत्यत्वबोधनेऽतात्पर्यादिति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति ब्रह्मणो निर्गुणत्वनिराकारत्वयोरुपपत्तिः ॥

त्वाच्च । किंच आनुकूल्यं किंचित्सापेक्षम्, नचान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यत्वेन सविशेष-
त्वापातात् । अतएव न तृतीयः । किंच वेदनस्वभावादधिकस्यानुकूलस्य स्वाभाविकत्वे सखण्डत्वापातः,
औपाधिकत्वे कदाचिदानन्दनिवृत्त्यापातः, न चतुर्थः; उक्तीत्या आनुकूल्यासंभवात् । अतएव—
निरुपाधीष्टत्वमानन्दत्वमिति—निरस्तम् । न पञ्चमः; दुःखादिज्ञानस्यापि आनन्दत्वापातात् ।
विषयानुल्लेखिज्ञानं तथेति चेन्न; ज्ञानस्य सविषयत्वनियमात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादौ विज्ञानपदे-
नैव दुःखव्यावृत्तिसिद्धावानन्दपदवैयर्थ्यापाताच्च, न षष्ठः; विरोधस्य निवर्तकत्वादिरूपत्वे दुःखस्य
नित्यनिवृत्त्यापत्तेः तादात्म्यायोग्यत्वरूपत्वे घटादावप्यानन्दत्वापातात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादौ
दुःखव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्त्ययोगाच्च । न सप्तमः; वैशेषिकमोक्षे त्वदुक्तस्य दुःखाभावे सत्यपि आनन्दा-
भावेनापुमर्थत्वस्य त्वन्मोक्षेऽप्यापातात् । नाष्टमः; पराङ्गीकृतस्य निरुपाध्यनुकूलवेदनीयत्वादेस्त्व-
न्मते असंभवात् । यदि चानन्दत्वादेर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं ब्रह्मावाध्यमानन्दाद्यात्मकं च, तर्हि
सत्यत्वादेर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं जगदवाध्यं सदात्मकं च स्यादिति—चेन्न; आनन्दत्वस्य
निरुपाधिकेष्टत्वरूपत्वात् नच दुःखाभावे अतिव्याप्तिः; दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वात्, अभा-
वस्य विरोधिभावान्तरत्वाभ्युपगमात् । नच मुक्ताविच्छापाये आनन्दापायापत्तिः; इष्टत्वोपलक्षितस्य
स्वरूपस्यानपायात्, उपलक्ष्ये च तदवच्छेदकसत्त्वस्यातन्त्रत्वात् । नच—निरुपाधिकेष्टत्वं स्वाभावि-
कमौपाधिकं वा; नान्त्यः; ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वाभावापत्तेः, आद्ये ज्ञानातिरेकि, तदनतिरेकि वा,
आद्ये सखण्डत्वापत्तिः; द्वितीये आनन्दपदवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; ज्ञानानन्दयोरभेदेऽपि कल्पित-
जातिभेदनिबन्धनप्रवृत्तिकतया पदद्वयप्रयोग्यस्य व्यावृत्तिभेदेन साफल्यत्वात् । एतेन विषयानुल्लेखि-
ज्ञानमेवानन्द इत्यपि युक्तम्; ज्ञाने विषयोल्लेखनियमस्य प्रागेव निरासात् । एवंचानन्दत्वस्य सुनिरू-
पतया न तद्व्यायेन जगतश्च सदात्मकत्वापादनमिति । किंच जगति सदाद्यात्मकत्वे बाधकं दृश्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्राह—किंचानुकूल्यमिति । सविशेषत्वापातादिति । मोक्षेऽपि स्वप्रतियोगिकानुयोगित्वस्य स्वस्मि-
न्वाच्यतया प्रतियोगित्वानुयोगित्वरूपसत्यविशेषापातादित्यर्थः । आनुकूल्यासंभवादिति । सुखस्वरूपत्वमनु-
कूलत्वम् । मोक्षे सुखत्वजातेर्विषयसंबन्धजन्यवृत्तिविशेषावच्छिन्नचिद्वृत्तेरभावेऽपि तदुपहिताभिन्नरूपमस्येवेति न
दोष इति बोध्यम् । दुःखव्यावृत्तिसिद्धाविति । ज्ञानपदानन्दपदाभ्यां ज्ञानात्मकबोधनेऽपि ज्ञानपदस्य जेडव्या-
वृत्तौ आनन्दपदस्य दुःखव्यावृत्तौ तात्पर्यं कल्प्यते । पदद्वयसार्थक्यानुरोधादिति न दोष इति तु ध्येयम् । ननु—
दुःखतत्साधनान्यस्वरूपत्वं दुःखविरोधित्वम्, वैषयिकसुखतत्साधनयोरपि रागादिद्वारा दुःखसाधनत्वात् शुद्धात्मन
एवोक्तस्वरूपत्वम्, तत्राह—विज्ञानमिति । निरुपाधिकेष्टत्वरूपत्वात् अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वयोग्यत्वरूप-
त्वात् । उक्तयोग्यत्वं च सुखत्वम् । तद्विशिष्टं वृत्तिविशेषावच्छिन्नचिद्रूपं बोध्यम् । ननु—ज्ञानत्वानन्दत्वयोः कादा-
चित्कत्वे जगत्कारणत्वादिवदस्वाभाविकत्वमिति—चेन्न; इष्टत्वात् । एवमपि 'जगत्कारणत्वं तटस्थलक्षणम्, आनन्दं
त्वाद्युपलक्षितव्यक्तिर्लक्षणया बोध्या स्वरूपलक्षणमिति सिद्धान्ताव्याघातात्, जगत्कारणत्वादेः शुद्धे अनङ्गीकारपक्षे
ज्ञानत्वादेः शुद्धनिष्ठस्य ततो वैलक्षण्यसंभवाच्च । सुखशेषत्वात् सुखव्यञ्जकत्वात् । तथाचान्येच्छानधीनेच्छा-
विषयत्वं तत्रासिद्धम्; सुखाभिव्यक्तीच्छया तस्येष्टत्वात् । सुखविशेषत्वादिति पाठे यदा दुःखाभावोपलब्धिः, तदा
सुखविशेषोपलब्धेः सुखविशेष एव दुःखाभावत्वरूपेणेच्छाविषय इत्यर्थः । अभावस्याधिकरणात्मकत्वमतेऽप्याह—
विरोधिभावान्तरेति । प्रतियोगिशून्यभावेत्यर्थः । तथाच तादृशभावस्यात्मस्वरूपत्वे लक्ष्यत्वम् । अनात्मस्वरूपत्वे
च निरुपाधीच्छाविषयत्वाभावादेव नातिव्याप्तिरिति भावः । इच्छापाये उक्तयोग्यत्वापाये । इष्टत्वोपलक्षितेति ।
उक्तयोग्यत्वविशिष्टरूपवाच्यार्थद्वारा आनन्दपदलक्ष्येत्यर्थः । अनपायादिति । तथाच आनन्दपदवाच्यस्य मुक्ताव-
पाय इष्ट एव; तत्पदलक्ष्यस्यैवाविनाशित्वादिति भावः । उपलक्ष्य इति । उक्तलक्ष्येत्यर्थः । तदवच्छेदकेति ।
उक्तलक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । ज्ञानातिरेकि ज्ञानत्वभिन्नम् । सखण्डत्वापत्तिरिति । मोक्षेऽप्यानन्दत्वस्य वाच्यतया
सत्यत्वेन सत्यधर्मवत्त्वापत्तिरित्यर्थः । वैयर्थ्यमिति । अपि शेषः । तेन ज्ञानत्वरूपानन्दत्वस्य मोक्षेऽपि वाच्यत्वेन
सत्यधर्मापत्तिरपि लभ्यत इति तदनुक्त्या न न्यूनत्वम् । जातिभेदेति । ज्ञानत्वानन्दत्वरूपजातिद्वयेत्यर्थः । तथाच
ज्ञानत्वानन्दत्वयोः नाभेदः, किंतु तदुपलक्षितव्यक्तयोरिति भावः । विषयानुल्लेखिज्ञानं स्वसमसत्ताको विषयसंबन्धो
यत्र तदन्यो ज्ञानपदप्रयोगविषयः । दुःखज्ञानमपि चिदात्मकत्वादानन्द एव । अतएव तत्कालेऽपि चिद्रूपात्मनि
'सा न भूवं किंतु भूयास'मिति परमप्रेम । अथवा—इत्याद्यदितस्वरूपत्वमर्थः । तथाच दुःखविषयकत्ववदितस्य ज्ञानन्द-

त्वादिकम्, न त्वानन्दे, तस्य दृग्नेतिरेकात् । एतेन—‘निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम् । निर्विशेषमवेद्यं च कथं ब्रह्म सुखात्मक’मिति—निरस्तम्; परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्यत्वात्, सुखवेदनभेदाभावात्, वेदनाभावेनासुखत्वापादनानुपपत्तेः । ननु—अद्वितीयत्वं द्वितीयाभावविशिष्टत्वं, तदुपलक्षितत्वं वा, उभयथापि विशेषणमुपलक्षणं वा द्वितीयाभावः प्रामाणिकश्चेत्, तदा तेन सद्वितीयत्वापत्तिः अप्रामाणिकश्चेत्, तदा द्वितीयेन सद्वितीयत्वापत्तिः । नचाभावे द्वितीयेऽपि न भावाद्वैतहानिः; अभाववद् दृश्यस्य धर्मादेरप्येवं प्रामाणिकत्वे बाधकाभावादिति—चेन्न; प्राभाकररीत्या द्वितीयाभावस्याधिकरणानतिरिक्तत्वेन प्रामाणिकत्वेऽपि तेन सद्वितीयत्वाभावात् । नच—एवमनुपलब्धेः पार्थक्येन प्रमाणत्वोक्तिरयुक्ता, प्रमेयानतिरेकादिति—वाच्यम्; अतिरिक्ताभाववादिमत एव तदुक्तेः, अतिरिक्ताभावानभ्युपगमेऽपि अभावत्वप्रकारकज्ञाने तत्प्रामाण्योपपत्तेश्च । नचानृतव्यावृत्तेरपि ब्रह्माभिन्नतया भेदसत्त्वापत्तिः; इष्टापत्तेः, अनृतनिरूपितत्वं परमनृतमिथ्यात्वान्मिथ्या । भेदो ब्रह्माभिन्नतया सत्य एवेति । नच—प्राभाकरमते प्रतियोगिमदधिकरणव्यावृत्त्यर्थं कैवल्यविशेषोऽवश्यमधिकरणे वक्तव्यः, तथाच स एवाभावः, अन्यथा तेषामप्यनुपपत्तिरेवेति—वाच्यम्; यस्मिन् कदापि न प्रतियोगिसंबन्धः, तस्मिन् स्वरूपरूपोऽभेद एव कैवल्यम् । यस्मिंश्च कदाचित् सोऽपि, तदा तस्मिन् प्रतियोगिमदधिकरणकालभिन्नकालावच्छिन्नमदधिकरणमिति न कैवल्यस्याधिकरणातिरेकः, नवानुपपत्तिरिति । नच—एवं गुणगुण्यभेदवादिमते शौक्यादेरिव शक्त्यादेरपि भावरूपधर्मस्य ब्रह्माभेदोऽस्त्विति—वाच्यम्; शक्त्यादिना सहाभेदग्राहकमानाभावात् । अस्तुवा द्वितीयाभावोपलक्षितस्वरूपत्वमद्वितीयत्वम्, तस्यच प्रामाणिकत्वेऽपि तत्प्रतियोगिनो द्वितीयस्य स्वप्नोपभुक्तनिर्गणनादाविव प्रामाणिकत्वानापत्तेः । एतेन—द्वितीयाभावस्य प्रागभावादित्वे द्वितीयस्यानित्यत्वमात्रं स्यात्, नतु मिथ्यात्वम्, अत्यन्ताभावत्वे तूपलक्षणत्वानुपपत्तिः; सदातनत्वात्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वादिकार्यानन्वयित्वेन उपलक्षणत्वे अत्यन्ताभावासिद्धिः । एवंच ‘द्वैताभावस्तत्त्विकश्चेत् तेन स्यात् सद्वितीयता । अतात्त्विकश्चेद्वैतेन सद्वितीयत्वमापतेत् ॥’ इति—परास्तम्; स्वरूपातिरेकतया तत्प्रमाया अनुद्देश्यत्वात्, तद्वोधस्यावान्तरतात्पर्येण यथाकथञ्चित्संभवात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वम्, किंतु चिदंशस्येति भावः । ज्ञाने चैतन्ये । विषयोलेखनियमस्य विषयसंबन्धसमसत्ताकत्वस्य दृश्यघटितत्वस्य वा । आनन्दे आनन्दस्वरूपे । आनन्दत्वविशिष्टरूपं तु दृश्यत्वान्मिथ्यैवेति भावः । निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वेन वेद्यम् । परमप्रेमास्पदत्वेन अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वेन । उपहितस्येति शेषः । वेदनाभावेन वेद्यत्वाभावेन । अनुपपत्तेरिति । तथाच उक्तविषयत्वमेव लक्षणं संभवतीति वेद्यत्वाभावेऽपि न क्षतिरिति भावः । विशेषणमित्यादि । विशेषणमुपलक्षणं वा यो द्वितीयाभावः, स प्रामाणिकः तत्त्वावेदकमानवैद्यश्चेत्तदा ब्रह्मणः सद्वितीयत्वं तेनैव स्यात् । यदि द्वितीयाभाव उक्तमानावेद्यः, तदा प्रपञ्चरूपस्तत्प्रतियोगी सत्यो वाच्यः; भावाभावयोरेकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वनियमात् । तथाच ब्रह्मणस्तत्त्विकप्रपञ्चवत्त्वापत्तिरित्यर्थः । धर्मादेरिति । ब्रह्मणो धर्मः सार्वज्ञ्यादिः आदिपदात् ब्रह्मकार्यं विद्यदादि तस्येत्यर्थः । सद्वितीयत्वभावात् तात्त्विकद्वितीयवत्त्वाभावात् । तथाच विशेषणत्वपक्षे न दोषः; ब्रह्मणि तत्स्वरूपाभावस्यापि द्वितीयाभावत्वरूपेण कल्पितेन विशेषणत्वसंभवात् । ‘अद्वैतं ज्ञात्वा मुच्यते’ इति वाक्यार्थे विशेष्यभूतब्रह्मान्वितज्ञाने द्वैताभावस्याप्यन्वयसंभवेन विशेषणत्वं संभवत्येव; शुद्धब्रह्मज्ञाने ब्रह्माभिन्नत्वेन द्वैताभावस्वरूपस्य विषयत्वरूपान्वयसंभवात् । नच—एवमपि द्वैताभावत्वविशिष्टस्य विशेषणत्वासिद्धिर्दोष इति—वाच्यम्; द्वैताभावत्वोपहितस्यैव विशेषणत्वसंभवात्, अवान्तरबोधमादाय विशिष्टस्यापि विशेषणत्वसंभवाच्चेति भावः । तेषां प्राभाकराणाम् । कैवल्यं कैवल्यविशेषणकार्यकारि । तथाच तत्र कैवल्यं नोपादेयमिति भावः । अधिकरणमिति । अवच्छिन्नान्तमात्रस्य प्रतियोगिमदधिकरणेऽपि सत्त्वादाह—अधिकरणमिति । प्रतियोगिशून्यत्वेन प्रतीयमानमधिकरणमित्यर्थः । अभेदग्राहकेति । अत्यन्ताभेदग्राहकेत्यर्थः । तथाच भेदाभेदस्वीकारेऽपि शक्त्यादीनां सत्यत्वे अद्वैतश्रुत्यनुपपत्तेर्मिथ्यात्वमेव । अत्यन्ताभेदे तु न मानमस्तीति न त्वदिष्टसिद्धिरिति भावः । तस्य द्वितीयाभावस्य । अप्रामाणिकत्वे तात्त्विकमानावेद्यत्वे स्वप्नेत्यादि । यथा स्वप्ने प्रतीयमानं निर्गणमिव तत्कर्मापि प्रातीतिकम्; व्यावहारिकस्यान्नादेस्तदानीं प्रत्यायकसन्निकर्षाद्यभावात्, तथा द्वितीयं तदभाववन्मिथ्या, दृश्यत्वादिति भावः । श्रुतितात्पर्येति । ‘अद्वैतं ज्ञात्वा मुच्यते’ इत्यादि श्रुतिजन्यबीजविषयत्वादिरूपे विशेष्यभूतब्रह्मान्विते अनन्वितत्वे सत्येव द्वैताभावस्योपलक्षणत्वं—वाच्यम्; अन्यथा विशेषणत्वा-

सनादिति—चेत्, अविद्यातत्कार्यान्यतरप्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षित्वात् । तथाच द्रष्टृपस्यापि उपाधिना द्रष्टृत्वम् । नचोपाधेरपि साक्ष्यधीनसिद्धिकप्रातीतिकाविद्याकार्यत्वेन चक्रकाद्यापत्तिः; उत्पत्तिवृत्तिप्रतिबन्धस्याभावादविद्यातदुपाधिकद्रष्टृत्वयोरुभयोरप्यनादित्वात् । ननु—साक्षी जीवकोटिर्वा, ब्रह्मकोटिर्वा, उभयानुगतं चिन्मात्रं वा । नाद्यः; जीवो बुध्युपाधिकोऽणुरिति पक्षे इदमंशवच्छिन्नचिद्वेद्यस्य शुक्तिरूपस्य साक्षिवेद्यत्वायोगाच्चक्रकाद्यापातात्, अज्ञानोपाधिकः सर्वगत इति पक्षेऽप्यज्ञानस्यापि साक्ष्यधीनसिद्धिकत्वेनान्योन्याश्रयात् । न द्वितीयः; ब्रह्मण एव साक्षिवेद्यदुःखादिधीः न जीवस्येति वैपरीत्यापातात्, अन्यथा अनवच्छिन्नानन्दधीरपि जीवस्येति स्यात्, ब्रह्मचैतन्यं घटादिप्रकाशकमिति मते अज्ञानाभिभवद्वारा तस्य जीवचैतन्याभेदाभिव्यक्तकान्तःकरणवृत्तिवत्तादृशवृत्त्यभावाच्च न तृतीयः; ईश्वरेणेव चिन्मात्रेणापि संसारिदुःखस्य तद्गतत्वेन ग्रहणेऽपि यद्भागो मुक्तस्तस्य चिन्मात्रस्य दुःखाद्युल्लेखरूपोपप्लवापातात् । सुप्तमैत्रं प्रति मैत्रीयाज्ञानादेर्मैत्रीयतयेव जाग्रच्चैत्रीयदुःखादेरपि चैत्रीयतया सुप्तमैत्रं प्रति प्रतीतिप्रसङ्गेन मैत्रेणैतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शायोगादिति—चेन्न; शुद्धब्रह्मातिरिक्तस्य बुध्युपाधिकजीवातिरिक्तस्य साक्षिणोऽङ्गीकृतत्वेन तत्पक्षोक्तदोषाभावात् । तथाचाविद्यावृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं साक्षी; सुप्तावप्यविद्यावृत्तिस्वीकारस्य प्रागुक्तः । न चान्योन्याश्रयः; प्रागेव निरासात्, शुद्धस्य साक्षित्वाभावेन मुक्तोपप्लवापाताभावात् । यस्तु सुप्तमैत्रे चैत्रदुःखग्रहणापत्त्या एतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शविरोध उक्तः, तन्न; साक्षिणः सर्वजीवसाधारण्येऽपि तत्तज्जीवचैतन्याभेदेनाभिव्यक्तस्य तत्तदुःखादि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वात् अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचिदेव साक्षीत्याशयेनाह—अविद्यातत्कार्यान्यतरैति । उपाधिनेति । वृत्तिप्रतिबिम्बितरूपेण द्रष्टृत्वपक्षे वृत्तिविषयावच्छिन्नचिद्रूपेण दर्शनत्वम्; परोक्षस्थलेऽपि वृत्तिद्वारा विषयसंबन्धवित एव प्रकाशकत्वात् । यद्यप्यविद्याप्रतिबिम्बितचितः अविद्याकार्याश्रयत्वेनाविद्याकार्यावच्छिन्नचिद्रूपदर्शनाश्रयत्वेऽपि अनादिविषयावच्छिन्नचिद्रूपदर्शनाश्रयत्वे मानाभावः, एवं वृत्तिप्रतिबिम्बितचितोऽपि अविद्याप्रतिबिम्बितचिदभेदात्; तथापि सर्वत्र वृत्तिप्रतिबिम्बितनिष्ठदर्शनसंबन्धित्वमेव द्रष्टृत्वमव्याहृतम् । साक्ष्यधीनेति । साक्षिमात्राधीनेत्यर्थः । तत्र हेतुः—प्रातीतिकेति । चक्रकेति । साक्षिणाऽविद्यासिद्धौ तत्कार्यत्वेनाविद्यावृत्तेः सिद्धिः, तस्यां च सत्यामविद्यावृत्त्युपहितत्वेन साक्षिनिर्वचनमिति वृत्तेरुपाधित्वे चक्रकम्, अविद्याया उपाधित्वे त्वन्योन्याश्रय इति भावः । साक्षिणोऽविद्याया तद्वृत्त्या वा उपहितरूपत्वात्तज्ज्ञाने तज्ज्ञानस्यापेक्षणेऽपि तयोर्ज्ञानं न साक्षिविषयकज्ञानापेक्षम्; साक्षिस्वरूपत्वात्, नापि साक्षिण उत्पत्तावविद्या अविद्योत्पत्तौ वा साक्षी अपेक्ष्यते; तयोरनादित्वात् । नापि अविद्यावृत्तिसाक्षिणोरेकोत्पत्तावन्यापेक्षा; समसमयत्वात् । नाप्युपहितरूपः साक्षी उपाध्याश्रितः, येन स्थितावपेक्षा स्यात् । उपाधेः स्त्रोपहितचिदाश्रितत्वेऽपि उपहितचितः शुद्धचित्त्वाश्रितत्वादित्याशयेनाह—उत्पत्तीति । स्थितीति शेषः । अणुः असर्वगतः । ननु वृत्तिद्वारा बुध्युपाधिकस्येदमंशावच्छिन्नचिदभेदात् साक्षिवेद्यत्वम्, तत्राह—चक्रकेति । अन्यथा ब्रह्मवेद्यत्वेनैव जीववेद्यत्वे । ननु ब्रह्मणः साक्षित्वेऽपि विषयावच्छिन्नब्रह्मचित्ता सह जीवस्य वृत्तिद्वाराकभेदसंपर्या जीवस्यापि साक्षितापत्तिः, अनवच्छिन्नानन्दस्तु जीवं प्रत्यावृत्तत्वात् न भातीत्यत आह—ब्रह्मेति । तादृशवृत्त्यभावात् अज्ञानाभिभवद्वाराऽभेदव्यञ्जकमनोवृत्तेः सुखादावभावात् । तथाच यथा चरमवृत्तिं विनानवच्छिन्नानन्दांशे आवरणानिवृत्त्या जीवं प्रति न तद्गानं, तथाऽन्तःकरणवृत्तिं विना सुखादेरविद्यावृत्तिविषयस्याप्यावरणानिवृत्त्या जीवं प्रति न सुखादिभानम् । अथ सुखादावावरणाभावान्न तद्गाने मनोवृत्त्यपेक्षा, तर्हि जीवस्यैव घटादौ वृत्तिद्वारा सुखादौ स्वतः संबन्धात् साक्षित्वसंभवेन ब्रह्मणः साक्षित्वोक्तिरयुक्ता । अथ—चक्रकादिदोषवारणार्थं ब्रह्मण एव साक्षित्वमिति—चेन्न; जीवस्याप्युक्तीत्या ब्रह्माभेदेन साक्षित्वावश्यकत्वेन चक्रकादितादवस्थ्यादिति भावः । वस्तुतो हि न दुःखविषयकत्वमात्रम्; ईश्वरस्यापि तत्त्वत्वात्, किंतु यं प्रति दुःखादौ मिथ्यात्वमावृतं, तत्त्वे सति दुःखादिसंबन्धित्वम् । तच्च न मुक्तभागस्येति ध्येयम् । मैत्रीयतयेवेति दृष्टान्तो न युक्तः; सुप्तं प्रत्यज्ञानमात्रभावेऽपि मैत्रीयत्वाद्यभावात् । तत्पक्षोक्तदोषेति । शुद्धब्रह्मणो बुध्युपाधिकस्य वा साक्षित्वपक्षे त्वदभिमतदोष इत्यर्थः । तथाच तत्पक्षयोरपि दोषो नास्त्येवेति भावः । चैत्रदुःखग्रहणेति । चैत्रीयतया दुःखग्रहणेत्यर्थः । तत्तज्जीवचैतन्याभेदेनाभिव्यक्तस्य तत्तदुःखादिभासकतयेति । स्वतः वृत्तिद्वारा वा तत्तज्जीवाभेदस्य तत्तदुःखादिरूपविषयावच्छेदेन संपर्या तदवच्छेदेनानावृत्तत्वं प्राप्तस्य शुद्धचैतन्यस्य तत्तासकतयेत्यर्थः । तथाच चैत्रीयदुःखादेर्मैत्रीयतया

भासकतया अतिप्रसङ्गाभावात् । यच्च सुखादेः स्वान्तरभाव्यविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिद्वेद्यत्वे ज्ञातै-
कसत्त्वायोग इति, तन्न; मानसत्ववादिप्रतेऽप्यस्य समानत्वात् । नहि तन्मते ज्ञातैकस्थितिकत्वाति-
रिक्तं ज्ञातैकसत्त्वमस्ति; दुःखादिसमसमयोत्पन्नवृत्त्यापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्तेश्च । तस्मात् ज्ञानानन्दैक-
रूपमद्वितीयं नित्यं साक्षि च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्य-
त्वसाक्षित्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भासकत्वमिष्टमेव; चैत्रं प्रति तत्सत्त्वात्, सुप्तमैत्रं प्रति चैत्रीयतया भासकत्वं तु न संभवति; पुरुषान्तरीयदुःखादेः
पुरुषान्तरं प्रत्यावृत्तत्वेन प्रमाणवृत्तिं विना तं प्रति साक्षिमात्रस्याभासकत्वात् । तं प्रति चैत्रदुःखादिभासकत्वमित्यस्य
हि तं प्रत्यनावृत्तचैत्रदुःखादिसंस्पृष्टत्वमित्यर्थः । समसमयेति । चाक्षुषादिवृत्तावेव विषयहेतुत्वम्, न त्वविद्यावृत्तौ;
प्रत्यक्षवृत्तिमात्रे विषयहेतुत्वेन तस्या अपि दुःखादिविषयजन्यत्वे तु स्वाविषयकाविद्यावृत्त्या स्वोत्पत्तिकाले दुःखादे-
र्ज्ञातैकसत्त्वम् । नहि स्वविषयकवृत्त्युपहितचैतन्यमेव साक्षि; वृत्तौ तदसंभवात्, घटाद्यविषयकाविद्यावृत्त्युपहित-
चित्तो घटादिकं प्रति साक्षित्वात् । यत्तु—सुखादिसमकालोत्पन्नायामपि वृत्तौ तदुत्पत्तिद्वितीयक्षण एव प्रतिबिम्बो-
त्पत्त्या तदुत्पत्तिक्षणे न साक्षिसिद्धिरिति, तन्न; वृत्त्युत्पत्तिक्षण एव प्रतिबिम्बोत्पत्तेः । वृत्त्यवच्छिन्नचित्त एव साक्षित्वं
कुत उक्तमिति चेत्, अविद्यावृत्त्यभावकाले साक्षित्वाभावात् । तथाप्यविद्यात्वनिवेशे गौरवमिति—चेन्न; नहि
साक्षात्कारत्वेन हेतुत्वादिकल्पनायामवच्छेदककोटावविद्यावृत्तेर्निवेशः, येन गौरवम्, अपि तु चैतन्ये अनावृत्तविषय-
संबन्धोऽविद्यावृत्तिदशायामेवेति तत्र सोपाधिरुच्यते । मनस्तु न सुषुप्ताविति नोपाधिः । अथ—सूक्ष्मरूपेण तत्रापि
तदिति—चेन्न; सूक्ष्मरूपे मनस्वसत्त्वे मानाभावात् । नहि तदा 'मम मन' इत्यनुभूयते । अथ—मनस्तसूक्ष्माव-
स्थान्यतरत्वेनोपाधितास्त्विति—चेन्न; साक्षिव्यवहारविषयगौरवापत्तेः । अथ—एवमविद्यैवोपाधिरस्त्विति—चेन्न;
साक्षिनाशस्य संस्कारत्वानुपपत्तेः । अतोऽपि मनस्तःसंस्कारान्यतरत्वं नोपाधिः; जाग्रति घटादिज्ञानोत्तरं तदुपहित-
नाशानुत्पादात् वस्तुतोऽविद्योपहितचित्तेव साक्षी युक्तः; लाघवात्, वृत्तिनाशस्यैव संस्कारत्वसंभवात् । नच—वृत्तेः
स्वविषयकत्वाभावेन तन्नाशस्य तद्विषयकत्वानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; तन्नाशस्य तद्विषयकत्वेऽपि संस्कारसामान्य-
स्यैव वृत्तिस्मारकत्वसंभवात् । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मणो ज्ञानतादिकम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मणो
ज्ञानत्वाद्युपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्यत्वसाक्षित्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

ब्रह्म निर्विशेषमेकमेव चेत् ज्ञानानन्दाद्वितीयनित्यसाक्ष्यात्मकं न स्यात् । तत्र ज्ञानत्वं वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानाभासेषु
संभवेऽपि अखण्डैकब्रह्मरूपज्ञानेऽसंभवाज्जातिविशेषरूपम् फलोपधानस्य सुषुम्पादावभावेन सक्षाद्यवहारजनकलरूपम्
स्वरूपज्ञानेन नित्यसिद्धेन जडस्य नित्यनिवृत्त्यापातेन जडविरोधित्वम् सत्त्वं ज्ञानमित्यत्रानृतव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्तिविरोधेन
जडान्यत्वरूपम् अज्ञाननित्यवृत्त्यापत्त्याऽज्ञानविरोधित्वरूपम् मोक्षे स्वस्य स्वविषयत्वायोगेनान्यविषयत्वभावेन चार्थप्रकाशा-
त्मकत्वरूपमन्यद्वा न संभवति ।

एतेन—अखण्डस्वरूपानन्देऽभावात् आनन्दत्वं न जातिविशेषः । मोक्षे वेदितुरभावादात्मनोऽवेद्यत्वाच्चानुकूलतया
वेदनीयत्वमपि न तत् । आनुकूल्यं हि किञ्चिदपेक्षम् । नचान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यतया सविशेषत्वापाताच्च ।
एतेन—अनुकूलवेदनत्वमपि न तदिति—सूचितम्; वेदनस्वभावादधिकस्यानुकूलत्वस्य स्वाभाविकत्वे सविशेषत्वस्य
औपाधिकत्वे कदाचिदानन्दनिवृत्तेश्चापत्तेश्च । यावता च नानुकूलत्वसंभवस्तावताऽनुकूलत्वमात्रमपि न तत् । नहि विषयानुल्ले-
खिज्ञानं प्रसिद्धमिति दुःखादिज्ञानानामप्यानन्दत्वापत्त्या विज्ञानपदेनैव दुःखव्यावृत्तिसिद्धौ आनन्दपदवैयर्थ्यापत्त्या च न
ज्ञानात्मकत्वमानन्दत्वम् । दुःखस्य नित्यनिवृत्त्यापत्त्या घटादीनामप्यानन्दत्वापत्त्या आनन्दं ब्रह्मेत्यत्र दुःखव्यावृत्तेरार्थिकत्वो-
क्तिविरोधेन च दुःखनिर्वृतकत्वरूपं तत्तादात्म्यायोग्यत्वरूपं वा दुःखविरोधित्वमपि नानन्दत्वम् । दुःखाभावे सत्यपि
आनन्दाभावेनापुमर्थत्वापत्त्या दुःखाभावोपलक्षितस्वरूपमपि न तदिति विरुपाध्यनुकूलवेदनीयत्वादीनामेव तत्त्वरूपत्वेन
सविशेषत्वमपरिहार्यमेव ।

अद्वितीयत्वं च विशेषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य प्रामाणिकत्वे तेन अप्रामाणिकत्वे द्वितीयेन सद्वितीयत्वा-
पत्त्या न द्वितीयाभावविशिष्टत्वं तदुपलक्षितत्वं वा । भावाद्वैतमतं तु अभाववद्भावस्यापि सत्यत्वापत्त्या न प्रामाणिकम् ।

अभावाधिकरणात्मत्वमतेन तु अनुपलब्धिप्रमाणान्तरत्वानापत्त्याऽनृतव्यावृत्त्यादीनामपि सत्यत्वापत्त्या प्रतियोगिमदधिकरण-
व्यावृत्त्यर्थमङ्गीक्रियमाणेन कैवल्येनैव सविशेषत्वापत्त्या नात्र परिहारः । किञ्च द्वितीयभावः द्वितीयानित्यत्वमात्रापत्त्या न
प्रागभावरूप इत्यत्यन्ताभावरूपोऽङ्गीकरणीयः, एवं च तस्य सदातनत्वात् तदुपलक्षणमुपपद्यते । एवं च—

द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत् तेन स्यात् सद्वितीयता । अतात्त्विकश्चेत् द्वैतेन सद्वितीयत्वमापेतेत् ।

अतएव—निर्विशेषब्रह्मानित्यत्वमपि—पराहतम्; तद्धि सर्वकालसंबन्धित्वं वा, कालानवच्छिन्नत्वं वा, उत
ध्वंसाप्रतियोगित्वम्, आहो उभयावधिराहित्यम् । आद्ययोरविद्यायां काले चातिव्याप्तिः; अविद्यायाः सर्वकालोपादानत्वेने-
दानीमेवाविद्या न कालान्तरे इत्यवच्छेदराहित्यात् । ध्वंसेऽतिव्याप्या न तृतीयोऽपि । ध्वंसस्यापि ध्वंसे मोक्षे आत्मान्यस्य
कस्यचित् ध्वंसस्य वक्तव्यतया लघुवार्थमाद्यध्वंसस्यैव नित्यस्याङ्गीकरणीयत्वात् । उभयावधिराहित्येन तु मुक्तावन्याभावा-
सिद्धिरिति ब्रह्मसविशेषत्वमवर्जनीयमेव ।

एवमद्वितीयनिर्विशेषचैतन्यस्य साक्षित्वानुपपत्तिरपि सविशेषत्वं गमयति । तत्र च साक्षी न जीवः; तस्य बुद्ध्युपाधिक-
त्वेनाणुत्वपक्षे इदमंशावच्छिन्नचिद्व्यस्य रूप्यादेः साक्षिवेद्यत्वानुपपत्तेः । अज्ञानोपाधिकत्वपक्षस्तु न संभवति; अज्ञानस्यापि
साक्ष्यधीनसिद्धिकत्वेनान्योन्याश्रयात् । नापि ब्रह्म; तस्यैव साक्षिवेद्यदुःखादिधीर्न जीवस्येलापत्तेः । अन्यथाऽनवच्छिन्ना-
नन्दधीरपि जीवस्येलापत्तेः । ईश्वर इव संसारिदुःखं तद्गतत्वेन गृह्यत् चिन्मात्रं स्वस्य मुक्तिभागावच्छेदेनापि दुःखादिकं
भासयेदिति सुप्तमैत्रं प्रति मैत्रीयाज्ञानादेर्मैत्रीयतयेव जाग्रच्चैत्रीयदुःखादेरपि चैत्रीयतया सुप्तमैत्रं प्रति प्रतीतिप्रसङ्गेन मैत्रेणै-
तावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शयोगाच्चिन्मात्रमपि न साक्षीति मन्तव्यमिति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

तदिदं ब्रह्म ज्ञानानन्दाद्वितीयात्मकं नित्यं साक्षिरूपं च । तत्र च ज्ञानत्वम् अर्थप्रकाशात्मकत्वम्; तस्यार्थसंसृष्टप्रकाशत्व-
रूपस्य कदाचिदर्थसंबन्धमात्रेणानपायात् मुक्तावर्थाभावो न किञ्चित्करः ।

एतेन—आनन्दत्वमपि निरुपाधिकेष्ट्वरूपम्, अभावस्य विरोधिभावान्तररूपत्वाद्दुःखाभावोऽपि सुखविशेष एवेति न
तत्रातिव्याप्तिः । इष्टत्वोपलक्षितस्वरूपं मुक्तावपि नानपेतमिति मुक्ताविच्छाभावेऽपि नानन्दापायापत्तिः । निरुपाधिकेष्टत्व-
रूपस्यानन्दस्य ज्ञानानतिरेकेऽपि पदद्वयं व्यावृत्तिभेदेन सार्थकम् । ज्ञानविषयोल्लिखितत्वनियमस्य पूर्वमेव निरासात् विषया-
नुल्लेखिज्ञानमप्यानन्द एव । एवं निरूप्यत्वाच्चानन्दस्य न तस्येव जगतो दृश्यस्य सदात्मकत्वम् ।

अद्वितीयत्वं तु द्वितीयाभावोपलक्षितस्वरूपत्वम् । उपलक्षणं चाभावः प्रामाणिकोऽप्रामाणिको बोधयथापि न दुष्यति ।
अतिरिक्ताभावानभ्युपगमेऽनुपलब्धिप्रामाण्यानभ्युपगमात् अभावत्वप्रकारकज्ञाने तदपेक्षणादनुतादिव्यावृत्तेरपि ब्रह्मरूपत्व-
स्येष्टत्वाच्च ब्रह्मरूपाधिकरणात्मकेनाभावेन न सद्वितीयत्वापत्तिः, न वा मिथ्यात्वमिथ्यात्वोपपत्तावुक्तरीत्या प्रपञ्चतात्त्विक-
त्वमिति न तेनापि सेति निर्विशेषमेव ब्रह्माभ्युपगमनीयं न सविशेषम् । अत्यन्ताभावस्य सदातनत्वं हि तत्त्वोपलक्षित-
ब्रह्मरूपत्वेन, नतु तत्त्वविशिष्टस्वरूपत्वेनेति अत्यन्ताभावोपलक्षणत्वमप्युपपन्नमेव ।

नित्यत्वमपि उभयावधिराहित्यरूपम् । कालस्याविद्यकत्वेनान्यावधिमत्त्वात् ध्वंसस्याद्यावधिमत्त्वाच्च न तयोनित्यत्वम् ।
आद्यावधिमतो ध्वंसस्याप्यतात्त्विकत्वेन न तेन सद्वितीयतापत्तिः ध्वंसध्वंसोपलक्षितस्वरूपस्यैव प्रतियोग्युन्मज्जनप्रतिबन्ध-
कत्वात् न तदपि । सर्वथा मुक्तावन्यसत्त्वे प्रमाणाभावात् निर्विशेषत्वं ब्रह्मण उपपन्नमेव ।

एतेन—निर्विशेषत्वसाक्षित्वयोरविरोधोऽपि—सूचितः । अविद्यावृत्तिफलितचैतन्यस्यैव साक्षित्वेन पूर्वोक्तदोषाभावात् ।
तत्तज्जीवाभेदेनाभिव्यक्तस्यैव साक्षिणो दुःखादिभासकत्वेन नातिप्रसङ्गः । सर्वथा च ज्ञानानन्दाद्वितीयं नित्यं साक्षि च
निर्विशेषं ब्रह्मेति सिद्धमिति न किञ्चिदवयमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

अर्थप्रकाशत्वं ज्ञानत्वं न भवति; मुक्तौ ज्ञानाभावप्रसङ्गात् । यथाहि कदाचिदावृतत्वमात्रेण मुक्तौ नावृतत्वम् । एवं
कदाचिदर्थप्रकाशत्वमात्रे मुक्तावपि न तदुपपत्तिः ।

एतेन—आनन्दत्वमपि निरुपाधिकेष्टत्वमिति—सूचितम्; दुःखाभावेनानन्दाभावापाताच्च । इष्टत्वोपलक्षितस्वरूपमिव
तदुपलक्षितत्वमपि विद्यते एवेति सविशेषत्वमेव ।

अतएव—अद्वितीयत्वमपि प्रामाणिकद्वितीयाभावोपलक्षितस्वरूपत्वम्, अभावाधिकरणात्मकत्वमतेनापि न निर्विशेषत्वे
उपपद्यते; कैवल्यविशेषितस्यैवाधिकरणस्याभावस्वरूपत्वात् ।

अथ ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वोपपत्तिः ।

ननु—निर्विशेषं चेत् ब्रह्म, कथं तदेव निमित्तमुपादानमिति अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वं जगतः ? विकारवत्कारणस्यैवोपादानत्वात्, ब्रह्मणोऽविकारत्वात्, अन्यथा 'निर्विकारो हरः शुद्ध' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेरिति—चेन्न; परिणामितयोपादानत्वाभावेऽपि विवर्ताधिष्ठानतयोपादानत्वसंभवात् । विवर्ताधिष्ठानत्वं च विवर्तकारणाज्ञानविषयत्वमेव । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥' इति । नचोपादानलक्षणाभावः; आत्मनि कार्यजनिहेतुत्वस्यैव उपादानलक्षणत्वात्, तस्यच परिणाम्यपरिणाम्युभयसाधारणत्वात् । ननु ब्रह्मैवोपादानमुताज्ञानमपि, आद्ये सत्योपादानत्वे सत्यत्वापत्त्या अज्ञानोपादानकत्वकल्पनविरोधः; द्वितीये सूत्रद्वयस्य रज्जुं प्रतीव ब्रह्माज्ञानयोः समप्राधान्येन वा उपादानत्वम् निर्विकारश्रुतिस्तु केवलब्रह्मपरेति विवक्षितं, उत मायाशक्तिमद्ब्रह्म उपादानम् निर्विकारस्तुतिस्तु तदनुपरक्तब्रह्मविषयेति विवक्षितम्, उत मायाद्वारा ब्रह्म कारणम् अंशुरिव तन्तुद्वारा पटं प्रति, निर्विकारश्रुतिस्तु अद्वारकविकारनिषेधिकेति विवक्षितम् । नाद्यः; उभयोः समतयैव विकारित्वेन ब्रह्मणो विशिष्य निर्विकारत्वोक्त्ययोगात्, सितासितसूत्रारब्धपटे सितासितत्ववज्जगति पारमार्थिकत्वानिर्वचनीयत्वयोरापातात्, ब्रह्मस्वभावस्य पारमार्थिकत्वस्य उपादेयधीमात्रस्थत्वे अविद्यास्वभावस्यानिर्वाच्यत्वस्यापि धीमात्रस्थत्वापातात्, तन्मात्रोपादानकत्वस्य तत्तत्सत्त्वप्रयोजकत्वे अनिर्वाच्यत्वस्याप्यभावप्रसङ्गात्, तन्मात्रोपादानकत्वाभावात् । द्वितीये ब्रह्मणो मायाख्यहेतूपरागमपेक्ष्य विकारित्वे मृदादिवत् परिणामित्वापत्तिः, विशिष्टस्य ब्रह्मत्वे निर्विकारश्रुतिविरोधः, अब्रह्मत्वे ब्रह्मणः कारणत्वासिद्धिः, विशिष्टस्य मृदादिवद्भूमिसमसत्ताकरूपान्तरापत्तिरूपपरिणामाद्विवर्तमतहानिश्च । नच—विशिष्टापेक्षया परिणामत्वं शुद्धापेक्षया विवर्तत्वमिति—वाच्यम्; शुद्धेऽपि विवर्तार्थमारोपितविकारस्यावश्यकत्वेन निर्विकारश्रुतेः तत्परत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्या विशेष्ये तात्त्विकविकाराभावपरत्वे विशिष्टे विकारोक्त्ययोगः; तत्त्वतो निर्विकारे आरोपितविकाराविरोधात् । न तृतीयः; अंशोस्तन्तुं प्रतीव ब्रह्मणो मायां प्रत्युपादानत्वाभावादिति—चेन्न; उभयापरिणामित्वेन तयोः कारणत्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आत्मनि कार्यजनीति । ननु—आद्यक्षणसंबन्धरूपजनिर्न ब्रह्मनिष्ठा । अथ स्वाच्छिन्ना या कार्यजनिः तद्धेतुत्वं वाच्यं, तथापि कार्यसंयोगादिमिति निमित्तकारणेऽतिव्याप्तिरिति—चेन्न; स्वतादात्म्यवति कार्यहेतुत्वस्य विवक्षणात् । सत्यत्वापत्त्येति । ब्रह्ममात्रोपादानकत्वानुपपत्त्या चेति शेषः । केवलब्रह्मपरेति । उभयोः समोपादानत्वे ब्रह्मणोऽपि परिणामित्वेन निर्विकारश्रुतिः केवलं ब्रह्म न परिणमते अन्यपरिणामिना सह एककार्यरूपेण परिणमत एवेत्येवंपरेति भावः । विशिष्येति । केवलं ब्रह्मेव केवलमायापि न परिणमत इति केवलपरिणामित्वनिषेधो ब्रह्मण्येवेत्युक्तमिति भावः । ननु पारमार्थिकत्वसंबन्धः प्रातीतिको जगति प्रतीयते, पारमार्थिकोपादानसंबन्धेन तत्र भ्रमसंभवात्, तत्राह—ब्रह्मस्वभावस्येति । धीमात्रस्थत्वे प्रातीतिकसंबन्धप्रतियोगित्वे । ननु शुद्धब्रह्मणोऽकारणत्वमिष्टमेव, तत्राह—विशिष्टस्य मृदादीति । विवर्तार्थमिति । शुद्धापेक्षया विवर्तत्वमित्यस्य शुद्धं विवर्तोपादानाविद्याविषय इत्यर्थः । तथाचाविद्याविषयत्वस्य शुद्धे स्वीकारे तन्नाशरूपो विकारस्तत्रैव वाच्यः । तथाच निर्विकारश्रुतिः शुद्धस्य विकारनिषेधिकेति न युक्तमिति भावः । आरोपितविकारस्येति । आरोपितो विकारो

एतेन—नित्यत्वमप्युभयावधिराहित्यं मुक्तिकाले नित्यस्य ब्रह्मान्यस्य निवारणे न समर्थमिति न निर्विशेषे उपपद्यते, साक्षित्वमप्यत एव व्याख्यातमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अर्थप्रकाशत्वं चार्थोपलक्षितप्रकाशरूपं कदाचिदर्थसंबन्धमात्रेण मुक्तौ अर्थसंबन्धेऽप्युपपद्यत एव । नह्यस्माभिः कदाचिदर्थविशिष्टत्वेन सर्वदापि तत्त्वमभ्युपगम्यते । येन मुक्तावपि ब्रह्मण आवृतत्वमापाद्येतेति निर्विशेषमपि ज्ञानरूपमेव । आनन्दत्वाद्वितीयत्वादिकं यथा निर्विशेषत्वाविरोधि; तथा पूर्वमेव सूचितम् । (अत्रच लघुचन्द्रिकायां बहु विततं तत्रापि विस्तरभयादुपरमामि)—इति—विवेचयन्ति ॥

इति ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वसाक्षित्वोपपत्तिः ।

ङ्गीकारात् । नच तत्पक्षोक्तदोषावकाशः; उभयोः परिणामितया कारणत्वानङ्गीकारात् । किंत्वज्ञान-
स्यैव । अतएवासाधारण्येन निर्विकारत्वमपि । न ह्यविद्यासाहित्येऽपि ब्रह्म परिणमते, किंतु विवर्तत
इति । नचाविद्यापरिणामत्वेऽपि सत्यत्वापत्तिः; परिणाम्युपादानसमसत्ताकत्वरूपस्य सत्यत्वस्य
परिणामत्वनिर्वाहकत्वात्, ब्रह्मसमसत्ताकत्वाभावेन तदपेक्षया परिणामत्वाभावात्, स्वसमानस-
त्ताकविकाराहेतुतया निर्विकारत्वोपपत्तेश्च । नच सत्योपादानत्वे सत्यत्वापत्तिः; परिणाम्युपादान-
धर्माणामेव मृत्वसुवर्णत्वादीनां कार्येऽन्वयदर्शनात् सत्योपादानत्वेऽप्यसत्यत्वोपपत्तेः । नच—
सत्यासत्यधूमानुगतधूमत्वस्येव सत्यासत्यानुगतोपादानत्वस्यैकस्याभाव इति—वाच्यम्; स्वनिष्ठ-
कार्यजनिहेतुत्वस्योक्तत्वात् । नहि सत्यासत्यत्ववैधर्म्यं साधर्म्यविरोधि; अन्यथा किंचिद्वैधर्म्यस्यैव
साधर्म्यविरोधित्वे साधर्म्यकथोच्छेदापत्तेः, अनाभासविषयसंस्कारजन्यज्ञानविषयत्वादेराभासा-
नाभाससाधारणस्य दृष्टान्तेऽपि सत्त्वाच्च । ननु—अविद्योपादानत्वकल्पना न युक्ता; ब्रह्मण एव रूप्या-
काशाद्युपादानत्वसंभवात्, अविद्यान्वयव्यतिरेकस्य निमित्ततामात्रेणान्यथासिद्धेरिति—चेन्न; घटकु-
ण्डलादेः परिणाम्यपेक्षादर्शनेन गगनादावप्यविद्यायाः परिणाम्युपादानत्वस्यावश्यकत्वात् । नच—
असत्यस्य रूप्यादेः सत्यरूपापत्तिमत्परिणाम्यपेक्षा नास्तीति न सर्वत्रोपादेये तदपेक्षानियम इति—
वाच्यम्; स्वविषयकाज्ञानानपेक्षस्य तद्भाव इत्येव सत्यरूपापत्तिपदेन विवक्षितत्वात् । नहि ब्रह्माज्ञा-
नस्य रूप्यादिभावापत्तौ स्वविषयकाज्ञानं व्यवधायकमस्ति । किंच विकारित्वेनाप्यविद्याया उपादान-
त्वकल्पनम् । नच—ब्रह्मण एवातात्त्विकविकारसंभवात् न तत्कल्पनमिति—वाच्यम्; तद्विषयका-
ज्ञानपरिणामत्वव्यतिरेकेण विकारे अतात्त्विकत्वानिर्वाहात् । किंच कार्यापेक्षितस्वसमानसत्ताकोपा-
दानत्वेनाप्यविद्योपादानत्वम् । समानसत्ताकत्वं च रूप्यस्थले सत्त्वद्वैविध्येन वा ब्रह्मज्ञानेतरवाध्य-
त्वरूपप्रातिभासिकत्वमादाय वोपपद्यते । तस्माद्रूप्यतत्तादात्म्ययोरविद्याविकारत्वेऽपि इदमो रूप्य-
रूपापत्तिरूपो विकारः कथम्? इदं रूप्यरूपमापन्नमिति अप्रतीतेः, आरोपितस्यारोपं विना अयोगा-
दिति—निरस्तम्; रूप्याकारपरिणताज्ञानाधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकमात्रतयेदमो रूप्यापत्तेरनङ्गीका-
रात् । यत्तु किमिदमुपादानत्वं रूपान्तरापत्तिप्रतीतिं प्रति विषयत्वं वा, रूपान्तराभेदधीविषयत्वं
वा, कार्याभेदधीविषयत्वं वा । नाद्यः; असिद्धेः, 'शुक्ती रूप्यभावमापन्नब्रह्माकाशभावमापन्न'-
मित्यप्रतीतेः । न द्वितीयः; तत्त्वंपदार्थयोः क्षीरनीरयोर्मुण्डगोत्वयोश्चोपादानोपादेयतापत्तेः । न तृतीयः;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नाज्ञो यस्य तादृशस्याविद्याविषयत्वादिनाशस्येत्यर्थः । यथाश्रुते मायोपहितस्यैवोपादानत्वेन विवर्तकार्यवत्त्वेन शुद्धे
विवर्तकथनासङ्गतेः । परमते आभासस्यालीकत्वेनानाभासधूमगतधूमत्वायोगात् साधर्म्यान्तरमाह—अनाभासेति ।
दृष्टान्ते धूमे सत्यधूमविषयकसंस्कारेण सत्यधूमस्य स्मृतेरसत्यधूमस्यारोप इति सत्यधूमसंस्कारजन्यधीविषयत्वं तयोर-
स्तीति भावः । सत्यरूपापत्तिमत्परिणामीत्यादि । परिणामिशब्दार्थो यतः सत्यरूपापत्तिमान्, अतोऽसत्यकार्यं
उपादानतया तदपेक्षा नास्ति । असत्यकार्यं हि स्वस्वरूपमापद्यमानमुपादानमेवापेक्षत इति भावः । तद्भावः
रूप्यादिकार्यभावापत्तिः । इत्येवेति । मन्मते न सत्यरूपापत्तिमान् परिणामिशब्दार्थः; परिणामिन इव परिणाम-
स्याप्यसत्यत्वात् । तथाच सत्यरूपापत्तिमदपेक्षा नास्तीतिवृद्धोक्त्यथाश्रुतो नार्थः, किंतु स्वविषयकाज्ञाननिरपेक्षो-
पादानापेक्षा रूप्यादौ नास्त्येवेत्यर्थ इति भावः । ननु—स्वविषयकाज्ञाननिरपेक्षस्योपादानस्यापेक्षा मिथ्याकार्यं
नास्तीत्यपि त्वया वक्तुमशक्यम्, त्वन्मते मिथ्याभूताकाशादौ तादृशोपादानरूपाज्ञानापेक्षणात्तत्राह—नहीति ।
ब्रह्माज्ञानस्य शुद्धचिदज्ञानस्य । रूप्यादिभावापत्तौ प्रातीतिकार्यरूपापत्तौ । व्यवधायकम् अपेक्षणीयम् ।
तूलाज्ञानस्य रूप्याद्युपादानत्वपक्षे तु ब्रह्माज्ञानपदं ब्रह्माभिन्नतदवच्छिन्नचिदज्ञानपरम् । तथाच रूप्यादावपि
स्वविषयकाज्ञाननिरपेक्षाज्ञानोपादानकत्वेन मिथ्याकार्यं स्वविषयकाज्ञानानपेक्षमुपादानं नापेक्षणीयमिति न वाच्यम्,
किंतु तत्र तादृशं विवर्तोपादानं नापेक्षणीयमित्येव वाच्यमिति भावः । अनिर्वाहादिति । अज्ञानपरिणामस्य
त्वज्ञाननाशकज्ञाननिवर्त्यत्वेन मिथ्यात्वनिर्वाह इति भावः । ननु—रूप्यादेरुपादानमज्ञानं न तत्समसत्ताकम्,
प्रतीतिव्याप्यस्वकालघटितप्रातीतिकत्वाभावात्तत्राह—स्वसमानसत्ताकत्वं चेति । सत्त्वद्वैविध्येन पारमार्थिक-
सत्त्वं, सत्त्वेन व्यवहारविषयत्वं चेति द्वैविध्येन । ननु—घटादौ मृदादेरुपादानत्वदृष्टावपि रूप्यादौ परिणामकल्पने
ज्ञानाभावः, नच कार्यत्वादिहेतुर्मानम्; अनुकूलकर्ताभावात्, तत्राह—तस्मादिति । अविद्यायाः उपादानत्वस्या-
ऽऽवश्यकत्वादित्यर्थः । कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन हेतुत्वादायकार्यं ईश्वरस्यैव कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति परिणामित्वेन

सदृशे सन्निहिते निमित्तेऽपि कार्याभेदभ्रमसंभवेनाव्याप्तेरिति, तदनुकोपालम्भनतया अपास्तम् । यदपि भ्रमाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणो नोपादानत्वम्, अतीतासतोरनुपादानयोरपि भ्रमाधिष्ठानत्वदर्शनात्, भ्रमाधिष्ठानेऽपि शुक्त्यादावुपादानत्वाव्यवहाराच्चेति, तन्न; चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेनातीतादेरनधिष्ठानत्वात् । किंच नहि व्यवहाराभावमात्रेण वस्तुव्यतिरेकः; वृक्षादिषु पृथिवीति व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्वसत्त्वात् । यत्तु मायोपादानमीश्वरो निमित्तं, शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति पक्षे अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाभावेन त्वन्मते तदर्थस्य प्रकृत्यधिकरणादेरनुपपत्तिरिति, तन्न; एकस्यैवाविद्योपहितत्वेनोपादानत्वस्याविद्यापरिणामेच्छाकृत्याद्याश्रयत्वेन निमित्तत्वस्यापि संभवात् ॥ इति अद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदुपादानत्वोपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वोपपत्तिः ।

ननु—एवं कुलालादिवदुपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं कर्तृत्वमुक्तं स्यात्, तच्च कार्यस्य कल्पितत्वे न घटते; कुलालादेरकल्पितं प्रत्येव कर्तृत्वदर्शनात्, कल्पितं च रूप्यादिकं प्रति भ्रान्तस्यान्यस्य वा कर्तृत्वादर्शनाच्चेति—चेन्न; कुलालकार्यघटादावप्यकल्पितत्वस्यासम्प्रतिपत्तेः, रूप्यादेरप्यकर्तृकत्वासिद्धेश्च, तत्रापि साक्षिण एव कर्तृत्वात्, नह्यदर्शनमात्रेण कर्त्रपलापः; त्वन्मतेऽपि सर्वज्ञकर्तृरसिद्धापत्तेः । एतेनाधिष्ठानत्वं न कर्तृत्वम्, एवं सत्यतिरिक्तोपादानत्वाभावेन कर्तृत्वोपादानत्वयोः सामानाधिकरण्योक्त्ययोगात्, नापि भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वम्; भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्तृत्वस्याभावात् । नापि मायाविवक्षामोहकत्वमेव कर्तृत्वम् । व्यामोहनीयजीवादर्थे व्यामोहकत्वाभावात्, तद्दर्शने भ्रान्त्यापत्तेः, व्यामोहकत्वस्याप्यारोपितत्वेनान्योन्याश्रयाच्च, 'नामरूपे व्याकरवाणी'ति श्रुत्यनुपपत्तेश्च । नहि मायावी जगदादिकं करवाणीतिसङ्कल्प्य करोति, किंतु दर्शयानीति सङ्कल्प्य दर्शयति । पक्षत्रयेऽपि जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यादिस्फुरणार्थं 'शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रमिति यत् परमतं, तद्भङ्गः स्यात्, भ्रमाधिष्ठानत्वादिना सार्वज्ञ्यालाभात् । नाप्युपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वम्, कल्पितं प्रति तदयोगात् । तस्मात् 'अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता । लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टा कल्पितं प्रतीति निरस्तम्; अभिमतचतुर्थपक्षस्य समर्थितत्वात् । यत्तु तृतीयपक्षे व्यामुग्धजीवद्रष्टृत्वे भ्रान्तत्वापत्तिरिति, तद्भूषणमेव; भ्रान्तिज्ञस्याभ्रान्तत्वात् । यदपि मायाविनः सङ्कल्पपूर्वककर्तृत्वादर्शनेन व्याकरवाणीति श्रुत्यनुपपत्तिरिति, तन्न; तादृशसङ्कल्पादर्शनस्य मायाविन्यसंप्रतिपत्तेः । यदप्युक्तं जन्मादिसूत्रार्थसिद्धसार्वज्ञ्यस्फोरकं 'शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रमिति परमतभङ्गः स्यादिति, तन्न; मायावित्वेऽपि सक्ष्यमाणमायिकविश्वाकारमायासत्त्वांशपरिणामाधारतया सार्वज्ञ्यालाभात् । तस्मात् ब्रह्मणो निमित्तत्वमुपादानत्वं च ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यावहारिककार्ये व्यावहारिकपरिणामित्वेन प्रातीतिककार्ये प्रातीतिकपरिणामित्वेन हेतुत्वाद्रूप्यादावविद्योपादानत्वमावश्यकमिति भावः । तत्तादात्म्ययोः तत्तदवच्छिन्नतादात्म्ययोः । इदमाद्यवच्छेदेन रूप्यादिकं रूप्याद्यवच्छेदेनदमादितादात्म्यं च भ्रमस्थले अविद्यापरिणाम इति भावः । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मोपादानतास्थितिः ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मणो जगदुपादानत्वोपपत्तिः ॥

अदर्शनात् सर्वसाधारणदर्शनाभावात् । साक्षिण एवेति । तथाचोपादानगोचरकार्यानुकूलज्ञानवस्त्वमेव कर्तृत्वमिति साक्षिणो रूप्यादिप्रयोजकेच्छाकृतिविरहेऽपि तत्कर्तृत्वमक्षतमिति भावः । अदर्शनमात्रेण सर्वपुरुषसाधारणदर्शनविरहमात्रेण । चतुर्थपक्षस्य चतुर्थपक्षान्तर्गतस्य कार्यानुकूलज्ञानवस्त्वस्य । अतएव सत्त्वांशपरिणामेत्यादिना ज्ञानमात्रं कर्तृत्वं वक्ष्यते । सत्त्वांशे परिणामेति । अधिष्ठानत्वसामर्थ्यात् न सार्वज्ञ्यालाभः, येन त्वदुक्तं दूषणं स्यात्, किंतु मायावृत्तिरूपं यत् कार्यानुकूलज्ञानं तद्वस्वरूपकर्तृत्वसामर्थ्यादिति भावः । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मणो विश्वकर्तृता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वोपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः ।

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इति ‘जनिकर्तुः प्रकृतिरिति सूत्रप्रकृत्यर्थविहितपञ्चमीश्रुत्या ‘यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ती’ति स्थितिलयाधारत्वलिङ्गाचोपादानत्वसिद्धिः, ‘तदैक्षत व्याकरवाणी’ति ईक्षणाद्याधारतया कर्तृत्वसिद्धिश्च । अथ—वृत्तौ ‘पुत्रात् प्रमोदो जायत’ इत्यादावनुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनात् प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमित्युक्तम्, न्यासेऽपि इदमेवाश्रित्य ‘असति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासत्तेः, नेतरस्य । प्रकृतिग्रहणात् कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽपि अपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थमित्युक्तम्, महाभाष्येऽपि ‘अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम् । गोलोमाजलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति तास्तेभ्य’ इत्यादिना लोमादीनां दूर्वादीन् प्रत्यवधित्वात् ‘ध्रुवमपायेऽपादान’मित्यनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेः इदं सूत्रमनारम्भणीयमिति सूत्रं प्रत्याख्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सूत्रप्रकृत्यर्थविहितेति । सूत्रेणोपादाने विहितेत्यर्थः । स्थितिलयेति । ब्रह्मणि स्थितिर्हि ब्रह्मसत्तास्फूर्तिग्राहि-
त्वम् । तच्च ब्रह्मण उपादानत्वं विनानुपपन्नम्; निमित्तगतधर्मग्राहित्वस्य कार्येष्वदृष्टत्वात् । अथवा—स्थितिस्ता-
दात्म्यं, लयोऽप्युपादाने संस्काररूपेण स्थितिरिति स्थितिलयौ ब्रह्मण उपादानत्वे लिङ्गे इति भावः । वृत्तौ काशि-
कादिवृत्तौ । इदमेवाश्रित्येति । जनिकर्तुर्हेतुरित्येव शब्दलाघवादुच्यतामिति शङ्कामुक्तवृत्तिग्रन्थे कृत्वेत्यर्थः । प्रकृति-
ग्रहण इति । सति हेतुग्रहण इति शेषः । प्रत्यासत्तेः तादात्म्यरूपान्तरङ्गात् षष्ठ्यर्थसंबन्धात् जनिकर्तुरिति षष्ठा
कार्यस्य तादात्म्यरूपान्तरङ्गसंबन्धबोधनाद्धेतुपदादुपादानमेव लभ्येतेति भावः । कारणमात्रस्येति । प्रक्रियते
कार्यमनेनेति व्युत्पत्त्या कारणमात्रं प्रकृतिपदेन बोध्यते; लघु हेतुपदं त्यक्त्वा प्रकृतिपदग्रहणस्यैव ज्ञापकत्वात् ।
प्रकृते प्रकृतिपदं नोपादाने रूढम्, न वा षष्ठी तादात्म्यार्थेति भावः । यत्तु—प्रत्यासत्तेर्मुख्यहेतुत्वात् तथा च हेतुपदस्य
मुख्यहेतौ सङ्कोचः कारणमात्रस्येति, तथा च प्रकृतिपदं कारणसामान्ये लाक्षणिकम्—इति, तत्तुच्छम्; सङ्कोच-
लक्षणयोरन्याय्यत्वात् । अयं जनिकर्तुः प्रकृतिरित्ययम् । योगः सूत्रम् । अवक्तुम् अकर्तुम् । यथा ‘भीत्रार्थानां
भयहेतु’रित्यादिसूत्राण्यकर्तुं शक्यान्ति, तथा ‘जनिकर्तुः प्रकृतिरिति सूत्रमप्यकर्तुं शक्यमित्यपिना सूच्यते । ‘ध्रुवम-
पायेऽपादान’मिति । अपाये विश्लेषे यत् ध्रुवमवधिभूतं यतो विश्लेषस्तदिति यावत् । तदुपादानसंज्ञमित्यर्थः ।
प्रत्याख्यातमिति । अपायपदेन विभागस्योक्त्या वृक्षात्पर्णं पततीत्यत्र यथा पञ्चमी, तथा अव्यवहितोत्तरक्षण-
संबन्धस्य तत्पदेनोक्त्या तदेकदेशव्यवहितोत्तरत्वनिरूपकरूपावधेर्ध्रुवपदेन वक्तुं शक्यत्वात् कारणसमूहस्य तदवधि-
त्वेऽपि समूहसमूहिनोरभेदोपचारात् कारणमात्रेऽपि तत्संभवात् गोलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते इत्यत्रापि पञ्चमीसंभवः ।
यद्यप्यन्यथासिद्धस्याप्युक्तावधित्वमस्ति; तथाप्यनन्यथासिद्धत्वस्यापि निवेश्यत्वाद्दण्डरूपात् घट इत्यादेर्नापत्तिः ।
तथाच दण्डाद्घट इत्यादौ घटं प्रत्यनन्यथासिद्धदण्डवदितो यः समूहस्तदव्यवहितोत्तरसंबन्धाभिन्ना या उत्पत्तिः
तद्वान् घट इति ‘दण्डाद्घट’ इत्यादौ जायत इत्यादिक्रियाध्याहारावश्यकत्वे तु तादृशाव्यवहितोत्तरत्वमेव पञ्चम्यर्थः;
तस्यैव धात्वर्थोत्पत्तिघटकक्षणे अन्वयेनेष्टार्थलाभात् । वस्तुतस्तु—प्रयुक्तत्वमेव पञ्चम्यर्थः; तस्यैवापायपदेन
तन्निरूपकस्य ध्रुवपदेन चोक्तिसंभवात् । अस्ति च घटादाविव तदुत्पत्तावपि दण्डादिप्रयुक्तत्वमिति ‘दण्डाद्घट उत्पद्यत
इत्यस्य दण्डाद्घट’ इत्यस्य च प्रामाण्यमिति बोध्यम् । ननु—अपायशब्देन विभागस्य ध्रुवशब्देन तदवधित्वस्य
चोक्त्या जनीत्यादिसूत्रसार्थक्ये उक्तप्रयुक्तत्वादिसाधारणापक्रमणोक्त्या तत्त्वण्डनमयुक्तमिति—चेन्न; ‘वृक्षात्पतती’-
त्यादौ वृक्षाद्यवधिकविभागप्रतीत्या विभागस्यैव कपालाद् घट इत्यादौ कपालाद्यवधिकप्रयुक्तताप्रतीत्या प्रयुक्तत्वस्या-
प्यपायशब्देन वक्तुं शक्यत्वात् जनीत्यादिसूत्राभावेऽपि निर्वाह इत्यत्र भाष्यकारतात्पर्यात् । अतएव शक्यतेऽवक्तु-
मित्युक्तम्; अन्यथा नोच्यते इत्येवोक्तं स्यात् । नच—‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्ये’त्यादौ शक्तिरूपप्राप्त्यभावेन
यत्र विषये शक्तिप्रयुक्तबोधकत्वाभाववत्यो वाच इत्याद्यर्थः; तथाचोक्ताभावादिरप्यपायशब्देन वाच्यत्वादुक्तप्रयुक्त-
त्वमपि तेनोच्यतामिति—वाच्यम्; जनीत्यादिसूत्रसार्थक्यायोक्तप्रयुक्तत्वान्यस्यैवापायशब्देनोक्त्युक्तत्वात् । तथाच
विभागमात्रं नापायशब्दार्थः; किंतु उक्ताभावादिरपीति ‘जनी’त्यादिसूत्राकरणं शक्यत्वेन भाष्ये ज्ञापितम्, नतु
तदकरणमेवाभिप्रेतम् । अतएव लोमादिभ्यो दूर्वादीनामपक्रमणं लौकिकप्रतीतिमात्रानुसारेण भाष्य उक्तम्; वैशेषिक-
सांख्यादिदर्शनेषु तदस्वीकारादिति कैयटे उक्तम् । उत्पत्तौ लोकानामपक्रमणपदप्रयोगो लक्षणयेति भावः । एवंच
प्रकृतिरित्युपादानरूढसौत्रपदादुपादानतानिरूपितप्रयुक्तत्वरूपार्थं जनीत्यादिना पञ्चमीविधानात् निमित्तनिरूपितप्रयुक्तत्वे
सूत्रान्तरेण पञ्चमीविधानेऽपि निमित्तगमकाभावात् । ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादौ निमित्तोपादान-

तम् । कैयटेऽपि अपक्रमणावधित्वे लोमादिषु कार्यस्य प्रतीतिर्न संभवतीति आशङ्क्य विला-
न्निष्कामतो दीर्घभोगस्य भोगिनः अवच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत् कार्यस्यापि दूर्वादेस्तत्रोपलब्धि-
रित्यवधित्वमेव तत्रोपपादितम् । ततश्च मतद्वयेऽपि 'जनिकर्तुः प्रकृतिरित्यनेन 'उपादान एव पञ्च-
मीति नियमो न सिध्यतीति—चेत्, मैवम्, पशुना यजेते'त्यादौ पशुशब्दस्य पशुमात्रवाचकत्वेऽपि
'छागस्य वपाया' इति वाक्यशेषानुसारेण पशुविशेषपरत्ववदत्रापि कारणमात्रार्थत्वेऽपि उपादान-
परत्वोपपत्तेः, अवधिपञ्चमीपक्षे 'शृङ्गाच्छर' इत्यादौ शृङ्गादिपदस्य नियामकाभावात् निमित्तपर-
त्वेऽपि प्रकृते नियामकसत्त्वेन निमित्तपरत्वाभावात् । अतएव 'आत्मन आकाशः संभूत' इत्यादावपि
प्रकृतिपञ्चमी, 'सच्च त्यच्चाभव'दिति वाक्यशेषेण 'सोऽकामयते'त्येतच्छाखान्तरस्थितवाक्येन च
प्रतीतिसामानाधिकरण्यस्य नियामकत्वात् । नच—'स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वम-
सृजत । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभव'दित्यादिश्रुत्या सदादिभवनस्य
जगत्सृष्टितदनुप्रवेशानन्तरभावित्वेन जगत्सृष्टित्वानुपपत्तौ परमेश्वरस्य सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपर-
त्वेन ब्रह्मोपादानत्वे नास्य प्रामाण्यम्, अन्यथा कथमभवदित्युक्तं स्यात् ? न हि शक्तिः रूप्यमभव-
दित्युच्यत इति—वाच्यम्; सदादिभवनस्यैव जगत्सृष्टिरूपतया तदानन्तर्याभावात्, तदनुप्रविश्ये-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वाभ्यां निरूपितप्रयुक्तत्वयोः पञ्चम्यर्थत्वं दूर्वारमित्यस्यदिष्टसिद्धिः । लोमादिष्विति । उपादाने ष्वित्यादिः । कार्यस्य
दूर्वाद्युपादेयस्य । यद्यपि विभागरूपापक्रमणावधिवेवापक्रमतो न प्रतीतिः । प्रयुक्तत्वरूपापक्रमणस्य निरूपकरूपावधौ
तत्प्रयुक्तस्य प्रतीतिरङ्गीक्रियत एव, तथापि भवादिति सिद्धान्तः स्फुट एव; तथापि समाधानान्तरमेवाह—विलादिति ।
निष्कामतः विभागानुकूलव्यापारोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य विभागात् पूर्वस्थूलकालव्यापिव्यापारोत्पत्तिकालस्य प्रदर्शना-
याह—दीर्घभोगस्येति । तत्र विले । अवच्छिन्नतया संयुक्ततया । उपलब्धिः प्रत्यक्षम् । उत्पत्त्युत्तरक्षणे-
ष्वित्यादिः । तथाच विभागोत्पत्तेः पूर्वं विले भोगिन इवोत्पत्तेः प्रयुक्तत्वस्य वापक्रमणस्योत्तरकालमेव लोमादौ
दूर्वादेः प्रत्यक्षम्; उत्पत्त्यादिकाले तु दूर्वादेः प्रत्यक्षं चक्षुराद्यसंयोगादिति भावः । उत्पत्तिक्षणे लोमादौ दूर्वाद्यस्तीति
परोक्षधीस्तु पूर्वोक्तरीत्यैव समाधेयेति ध्येयम् । यत्तु—भोगिनः अग्रावच्छेदेन विलासंयोगरूपस्यापक्रमणस्य सत्त्वेऽपि
मूलावच्छेदेन विलसंयोगाद्यथा विले उपलब्धिः, तथा दूर्वादेः स्वपरिणामिलोमादिभागसंबन्धितया प्रतीय-
मानस्यापि लोमादिभागान्तरावच्छेदेन लोमादिसंबन्धाभारूपापक्रमणमिति कैयटसमाधानवाक्यार्थः—इति, तन्न;
वृक्षावस्थितिकाले चलत्यपि पत्रादौ वृक्षाच्चलतीत्यप्रयोगेण वृक्षादिसंयोगाद्यसमानकालीनस्य वृक्षाद्यसंयोगादेरेवापाय-
पदार्थतया वाच्यत्वेन विलादिसंयोगादिकालीनस्य विलाद्यसंयोगादेरपायपदार्थत्वाभावात् । मतद्वयेऽपीति । वृत्ति-
कारमते प्रकृतिपदस्य कारणसामान्यपरत्वात् भाष्यकारमते 'जनीत्यादि' सूत्राकरणेन कारणसामान्येऽपि पञ्चमी-
संभवात् नोपादानस्यैवापादानसंज्ञेति भावः । यद्यप्युत्तरीत्योपादानतानिरूपितप्रयुक्तत्वस्य पञ्चम्यर्थता जनीत्या-
दिसूत्रसिद्धेति भाष्यसमतम्; तथापि परभ्रममनुसृत्यापि समाधानं सुकरमित्याशयेनाह—मैवं पशुनेति ।
कारणमात्रार्थत्वेऽपि प्रयुक्ततात्वरूपेण प्रयुक्तत्वबोधकत्वेऽपि । मात्रपदादुपादानतानिरूपितप्रयुक्ततात्वरूपेण
बोधकत्वव्यवच्छेदः । अपिना उत्तरीत्योपादानतानिरूपितप्रयुक्ततात्वेन बोधकत्वस्य प्रामाणिकत्वात् कारणमात्रार्थक-
त्वमसिद्धमिति सूचितम् । उपादानपरत्वेति । प्रयुक्ततात्वरूपेणोपादानतानिरूपितप्रयुक्ततापरत्वव्यर्थः । वक्ष्य-
माणवाक्यशेषेणेत्यादिः । अथवा—कारणमात्रार्थत्वेऽपि 'यतोवे'त्यादौ पञ्चम्या 'विभाषा गुणे स्त्रिया'मित्यत्र
गुण इत्यस्योपलक्षणत्वेनागुणेऽपि पञ्चमीविधानात् प्रयुक्ततामात्रबोधकत्वेऽपि उपादानपरत्वोपपत्तिः ? 'जनी'-
त्यादिनोपादानतानिरूपितप्रयुक्ततात्वरूपेण बोधकत्वोपपत्तेः । इत्थं च न परभ्रमानुसरणमिति बोध्यम् ।
ननु—'यतो वे'त्यादौ न हेतुपञ्चमी, येन जनीत्यादिना उपादानीयप्रयुक्तत्वार्थता स्यात्, किंतु 'ध्रुव'मित्यादि-
नावधौ पञ्चमी, तथाच 'वृक्षाद्विभजत' इत्यादौ विभागे वृक्षनिष्ठावधितानिरूपकत्वस्यैवोक्तवाक्ये भूतोत्पत्तौ ब्रह्म-
निष्ठावधितानिरूपकत्वस्य लाभः, तत्राह—अवधिपञ्चमीति । अवधिपञ्चमीस्वीकार इत्यर्थः । ब्रह्मनिष्ठावधिता-
निरूपकत्वं ब्रह्मनिष्ठप्रयोजकतानिरूपकत्वरूपं वाच्यम्; अन्यस्य दुर्बलत्वात्, तथाच प्रयोजकतानिरूपकत्वस्य
प्रयुक्तत्वपर्यवसितस्य पञ्चम्यर्थस्य शृङ्गादित्यादौ निमित्तीयस्य लाभेऽपि यतो वेत्यादौ वाक्यशेषेणोपादानीयस्य लाभ
इति भावः । सोऽकामयतेत्येतच्छाखान्तरस्थितेति । सोऽकामयत बहुस्या'मित्येतच्छाखान्तरस्थितं 'तदैक्षत
बहु स्यामि'ति वाक्यं चेति समाहारद्वन्द्वः । यथाश्रुते तु 'आत्मन आकाश' इत्यस्यैव 'सोऽकामयते'त्यस्यापि
तैत्तिरीयस्थत्वादसङ्गतेः । सामानाधिकरण्यस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञाभेदस्य । नास्येति । अस्य उक्तसामानाधिकरण्यस्य ।

त्यस्य मुखं व्यादायेतिवदुपपत्तेः । न चेदं सर्वमसृजतेत्यनेन पौनरुक्त्यम्, निमित्तत्वमात्रभ्रान्तिव्यु-
दासपरत्वात् । यच्च शुक्तिः रूप्यमभवदित्यनुभवादशनमुक्तं, तच्छुक्तेरनुपादानत्वप्रयुक्तमिति तद-
दर्शनस्यानुदाहरणत्वात् । नच—मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य सत्यत्पदाभ्यामेवोक्तत्वेन निरुक्तादिपदवैयर्थ्य-
मिति—शङ्क्यम्; संग्रहविवरणरूपतयोपपत्तेः । ननु—‘सोऽकामयत बहु स्या’मिति वाक्यं न
सृज्यसाहचर्यमाह येन तत्सामानाधिकरण्यमीश्वरस्य प्रतीयते किंतु परमेश्वरस्य ‘अजायमानो
बहुधा विजायते यदेकमव्यक्त’मित्यादिश्रुतिसिद्धतत्तदनन्तपदार्थप्रेरकानन्तरूपैर्बहुभावसङ्कल्पमाह ।
नच स्वस्यानन्तरूपैर्बहुभावं सङ्कल्प्य ‘इदं सर्वमसृजते’ति जगत्सर्जनानुपपत्तिः; नियामकरूपैर्बहु-
भावस्य नियम्यसापेक्षत्वात्, नियम्यं सर्वं सृष्ट्वा नियामकरूपैः प्रवेशोक्त्युपपत्तेः । अन्यथा स्यामिति
सत्त्वोक्तिर्न स्यात्, सृष्टेः प्रागन्तःकरणाभावेन तद्विशिष्टाहमर्थाभावेन उत्तमपुरुषानुपपत्तिश्च स्या-
दिति—चेन्न, स्यामित्यनेन सुखी स्यामित्यादिवत् भाविसत्त्वोक्तौ तदनुपपत्त्यसंभवात् । अन्यथा
सङ्कल्पविषयत्वानुपपत्तेः, सिद्धे इच्छाविरहात् । इदमेव च बहुपदस्य सृज्यपरत्वे विनिगमकम्;
नियामकरूपाणां च तवापि मते ईश्वराभिन्नतया सिद्धत्वात् । तथाचेच्छाया नियम्य एव त्वन्मतेऽपि
पर्यवसानात् । तथाचेच्छायास्तेजःप्रभृतिविषयत्वेन बहु स्यामिति सङ्कल्प्य तेजःप्रभृतिर्जनं
गुरुः स्यामिति सङ्कल्प्य शिष्यसंपादनादिवदिति निरस्तम् । यच्चोक्तमुत्तमपुरुषानुपपत्तिरिति, तन्न;
तादृशाविद्यापरिणामविशिष्टे अहमिति प्रयोगसंभवेन उत्तमपुरुषोपपत्तेः । एवमेव ‘तदैक्षत बहु
स्या’मित्याद्यत्र मानं बोध्यम् । ननुच—यत्तेजःप्रभृति सृज्यं, तदात्मना हि त्वया बहुभावो वाच्यः,
तेषां तु तेजआदीनामीक्षित्वस्त्वष्टृत्वदेवतात्मत्वश्रवणात्तानि चेतनानि, न च चेतनं प्रत्युपादानं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मुखं व्यादायेति । अपञ्चीकृतसमष्टेरेव सृष्टिः पूर्वमुक्ता, सचेत्यादिना तु पञ्चीकृतसमष्टेः । नच—पञ्चीकृतेषु प्रवेशा-
लाभ इति—वाच्यम्; अपञ्चीकृतेषु प्रवेशोक्त्यैव तल्लाभात्, अपञ्चीकृतानामेव पञ्चीभावात् । अतएव ‘इदं सर्वम-
सृजते’त्यपि नानुपपन्नम्, अपञ्चीकृतानामेव सर्वात्मकत्वादिति ध्येयम् । भ्रान्तिव्युदासेति । सामानाधिकरण्येन
ब्रह्मणः कार्यतादात्म्यलाभात् भ्रान्तिव्युदास इति भावः । अनुदाहरणत्वादिति व्युदासपरत्वादित्यत्र हेतुः । प्रयुक्त-
मित्यन्तमनुदाहरणत्वादित्यत्र हेतुः । मूर्तामूर्तंति । मूर्तं पृथिव्यस्तेजांसि । अमूर्तं वाय्वाकाशौ । संग्रहविवर-
णेति । सत्यच्छब्दाभ्यां संक्षेपेणोक्तं निरुक्तादिपदैर्विवरणं विस्तरेण कथनं क्रियते । तथाहि भाष्यं—‘निरुक्तं
देशकालादिविशिष्टतयेदं तदित्युक्तं, तद्विपरीतमनिरुक्तं, निलयनं नीडमाश्रयः, तद्विपरीतमनिलयनं, विज्ञानं चेतनं,
तद्विपरीतमविज्ञानं सत्यं व्यावहारिकम्, अनृतं मृगतृष्णादिक’मिति । तथाच मूर्तामूर्तयोर्निरुक्तत्वादनिरुक्तत्वादिविवेच-
नम् । स्वान्यसर्वव्याकृताश्रयत्वमाकाशस्यैव सर्वभुवनश्रयत्वं वा ब्रह्माण्डस्येवेति ध्येयम् । सृज्यसाहचर्यं सृज्यात्मना
भवनम् । सङ्कल्पमाहेति । ‘सोऽकामयतेत्यादेः’ परमतेऽयमर्थः—स आनन्दमयः नियामकस्वीयानारूपैर्नियम्ये-
ष्ववस्थानंमकामयत । ततश्च नियम्यानि विना उक्तावस्थानासंभवेन नियम्यानि भवन्त्वित्यालोचनरूपं तपः
कृतवान्, तत इदं सर्वमसृजत, ततस्तदनुप्रविश्य नियामकरूपैरधिष्ठाय सदादिरूपोऽभवत् सत्त्वादिगुणैरभिव्यक्तोऽ-
भवत्, सत्त्वगुणः श्रीमहत्प्राणेभ्योन्यन्नावसादनकर्तृतानियामकतारूपः सत्त्वगुणः, निरुक्तत्वं सुवाच्यत्वम्, अनिरुक्तत्वं
दुर्वाच्यत्वं, निलयनत्वं सर्वाधारत्वं, तदभावोऽनिलयनत्वं, विज्ञानत्वं सर्वज्ञत्वं, सत्यत्वं साधुत्वं, तयोरभावौ अविज्ञान-
त्वानृतत्वे, ‘सत्यमभवत्’ इत्यनेन सत्त्वादय ईश्वरगुणाः साधुरूपा इत्युक्तम् । तथाच श्रीमहत्प्राणेभ्योऽन्येष्ववसादन-
कर्तृत्वात् नियामकत्वात् सुवाच्यकर्तृत्वात् सत्त्वत्वानिरुक्तत्वगुणवानीशः । स्वयं दुर्बचनत्वादनिरुक्तः । स्वयं सर्वाधारत्वात्
सर्वज्ञत्वात् साधुत्वात् निलयनत्वविज्ञानत्वसत्यत्वगुणवानीशः । अन्यत्र तद्विपरीतकर्तृत्वादनिलयनः अविज्ञानोऽनृत
इति भावः । तदुक्तं परकीयतैत्तिरीयभाष्ये—अवसादसुवाच्यत्वदौर्वाच्याधारसाधुताः । प्रकृतिप्राणतोऽन्यत्र
कुर्वन्तन्नामको हरिः ॥ अतो नियामकश्चेति सदा न स्यादवाच्यता । अनिरुक्तं निलयनं सर्वाधारत्वतो हरिः ॥ इति ॥
ननु तत्तन्निगम्यनियामकत्वविशिष्टबहुरूपेषु इच्छा, तत्र विशेष्यांशसिद्धत्वेऽपि विशेषणस्यासिद्धत्वात् न दोषस्तत्राह—
तथाच इच्छाया नियम्य इति । नियामकत्वस्य शक्तिविशेषरूपस्यापि सिद्धत्वेन नियम्येषु कार्येष्वेवेच्छाविषयत्वं
त्वयापि वाच्यमिति भावः । विषयत्वेनेति । इति निरस्तमित्यनेनान्वयः । एवं ‘सच्च त्यच्चे’त्यादिना सत्त्वादिगुणाभि-
व्यक्तिकथनमप्ययुक्तम्; अवसादनकर्तृत्वनियामकत्वादेः शक्तिविशेषस्य शक्यीभूतकार्यकालीनत्वस्यैवाभिव्यक्तित्वेन
कार्योत्पत्तिकथनेनैव तल्लाभात्, त्वदीयतैत्तिरीयभाष्ये ‘त्यच्चातिरुक्तं विज्ञानं तथा निलयनं महत् । सत्यं प्राणस्तथा
श्रीश्च सन्निरुक्तं तथानृतम् ॥’ अविज्ञानं निलयनमित्यनेन त्यादादिशब्दैर्महत्त्वस्य सत्यशब्देन प्राणस्य सदादिशब्दैः

नामेति—चेत् सत्यम्; सृज्यानामीक्षित्वाद्यसंभवेन ईक्षणादिकर्तृप्रतिपादकतेजआदिपदैस्तेज-
आद्यवच्छिन्न आत्मा बोध्यते । पूर्वपूर्वकार्यावच्छिन्नस्य तस्यैवोत्तरोत्तरकार्यनिमित्तत्वात् । तथाचाव-
च्छेदके तेजआदौ न चैतन्यनिबन्धनदोषावकाशः । 'असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।
तदात्मानं स्वयमकुरुते'त्याद्यप्युक्तार्थं प्रमाणम् । नचात्मनः करणे अकुरुतेति सत्त्वोक्त्यनुपपत्तिः;
आकाशाद्यात्मना क्रियमाणत्वेऽपि स्वरूपेण सत्त्वोपपत्तेः । एतदर्थमेवात्मानमाकाशाद्यात्मना अकु-
रुतेत्यश्रूयमाणोऽप्यर्थः कल्प्यते । एवं 'तदात्मानं सृजाम्यह'मित्यादिस्मृतिषु धर्मस्थापकशरीराद्या-
त्मनेति व्याख्येयम् । नच—'ततो वै सदजायते'ति तच्छब्दोपात्तब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् सिद्ध-
त्वात्तदात्मानमिति व्यर्थमिति—वाच्यम्; निमित्तत्वे पूर्ववाक्येन लब्धेऽपि उपादानत्वबोधनेना-
स्यापि सफलत्वात् । ननु—यदुक्तं ब्रह्मण्येव सृष्टिलयश्रवणात् ब्रह्मोपादानमिति, तन्न; ऊर्णनाभौ
तन्तुनिमित्ते तन्तुलयस्य दर्शनात्, तत्र हि यथा पुत्रं प्रति पितृदेहधातोरुपादानत्वेऽपि न पिता
तदुपादानम्, किंतु निमित्तमात्रं, तथा ऊर्णनाभिधातोस्तदुपादानत्वेऽपि तस्य निमित्तत्वमेव,
ब्रह्मणोऽपि ऊर्णनाभिवदेव संहर्तृत्वस्य यथोर्णनाभिरित्यादिना श्रवणाच्चेति—चेन्न; यद्यप्यूर्णनाभेन
तन्तुपादानत्वम्; तस्मिन्नेऽपि तन्तूपलम्भात्, किंतु भुक्ताहारस्यैव; तथापि तत्र न तन्तोलयः,
किंतु वहिष्ठस्यान्तःप्रवेशमात्रम् । अत एव 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चे'त्युक्तम् । नच—ब्रह्मणस्त-
ज्यायेन संहर्तृत्वोक्त्या तद्वदेव तदस्त्विति—वाच्यम्; 'तज्जला'नित्यादिना तत्र लयश्रवणात्,
तिरोभावमात्रे च तस्य निदर्शनत्वात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वात् । 'तद्भूतयोनि'मिति
योनिश्रुत्या चोपादानत्वम् । नच 'योनिष्ट इन्द्र सदने'त्यादौ निमित्तेऽपि योनिशब्दप्रयोगात् न तेनो-
पादानतासिद्धिः; 'मुख्यस्तु शब्दस्वरसा'दिति न्यायेन कदाचिदन्यत्र कथञ्चिन्निमित्ते प्रयोगेऽपि
औत्सर्गिकमुख्यार्थत्यागस्य प्रकृतेऽयोगात् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिरप्युपादानत्वे मानम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रियश्चोक्तत्वेन तद्विरोधाच्च । अथ—ईश्वरस्यैव सत्त्वादिगुणाः, ईश्वरसंबन्धात् महदादावपि तद्व्यवहार इति—चेन्न;
तथापि महदादिपरत्वे ईश्वरगुणाभिव्यक्तिपरत्वायोगात्, योगे वा महदादिपरत्वोक्तेरुन्मत्तप्रलापत्वात् । संभवेनेति ।
अनुचारयितर्यपि चैत्रेऽहं सुखीति ज्ञातायमिति प्रयोगादनुचारयितर्यपि ईश्वरे अहंपदप्रयोगः । अन्यथा तवापि सृष्टेः
पूर्वं नियामकनानारूपैर्बहुभावरूपसङ्कल्पस्याहंपदेन उल्लेखायोगात् । अथ तव नित्यशरीरेणोच्चारणं, तर्हि ममाप्या-
काशादिसृष्टेः पूर्वमशरीरवाचा तदुपपत्तिः; सङ्कल्पस्येव वाचोऽप्यविद्यापरिणामत्वसंभवात्, अन्तःकरणं तु नाहंपद-
प्रयोगनिमित्तम्; परकीयेऽपि तत्र तदापत्तेरिति भावः । आदीनामिति । 'तत्तेज ऐक्षत तदपोऽसृजत तिस्रो
देवताः' इत्यादिवाक्यैरिति शेषः । प्रतिपादकतेजआदिपदैः ऐक्षतेत्यादिपदयुक्ततेजआदिपदैः । तस्यैवेति ।
'स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत' इत्यादिश्रुतेरिति शेषः । अकुरुतेति । सत्त्वेति । अकुरुतेति । कर्तृत्ववशाद्व्य-
पूर्वसत्त्वेत्यर्थः । ब्रह्मण इति हेतोरुपपत्तावन्वयः । तथाचासदेवेत्यादिना अनभिव्यक्तनामरूपात्मकब्रह्मण उक्तत्वेन तत्
इत्यादौ तत्पदेन तत्परामर्शात् तादृशब्रह्महेतुप्रपञ्चोत्पत्तेरुक्तत्वात् 'तदात्मान'मित्यादि व्यर्थमिति भावः । ऊर्णना-
भिधातोः लालारूपस्य । नष्टे अष्टे । तन्तुतादात्म्येनोर्णनाभेरप्रत्यक्षेऽपि तन्तुप्रत्यक्षादित्यर्थः । उपादानस्य कार्य-
तादात्म्यावश्यकत्वात् तदप्रतीत्या नात्रोपादानत्वमिति भावः । यथाश्रुते—गोलोमादीनां नाशेऽपि दूर्वादिदर्शनाद-
नुपादानतापत्तेरसङ्गतिः । लयः संस्काररूपेण स्थितिः । तज्जलानिति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला'निति श्रुतौ
तस्मात् ब्रह्मणो जायते इति तज्जं, तस्मिन् लीयत इति तज्जं, तेनानिति जीवतीति तदन् इत्यर्थः । योनिष्ट इति ।
'योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमानुभिः पुरुहूत प्रयाहि असौ यथानोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमै'रित्यस्य
हे पुरुहूत इन्द्र ते सदने उपवेशनाय योनिः स्थानम् अकारि । तं योनिं प्रति आप्रयाहि । नृभिर्मरुद्भिः सह ।
यथा नोऽस्माकम् अविता रक्षकः असः भवसि । वृधे वर्धनाय भवति । वसूनि ददः ददासि तथा सोमै-
रसदीर्यैर्ममदः मादयेत्यर्थः । निमित्ते उपवेशनक्रियानिमित्ते स्थान इति यावत् । तथा तत्र स्थान इव प्रकृते निमित्ते
प्रयोगः । महत्त्वपरिमाणं महत्त्वसङ्ख्याप्रचययोनीत्यत्र वैशेषिकोक्तौ महत्त्वादिनिमित्तकारणकार्थकतया प्रयोगादिति
भावः । मुख्यस्तु शब्दस्वरसादिति । शब्दस्य स्वरसादर्थान्तरे अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनैव योऽर्थः प्रतीयते स
मुख्यः । तत्संभवेऽर्थान्तरे न गृह्यते; मुख्यार्थे अन्वयानुपपत्त्यादिमूलकलक्षणाकल्पने गौरवादित्यर्थः । मुख्यार्थेति ।
अर्थान्तरे अनुपपत्त्यादिज्ञानं विनैवोपादाने प्रयोगात् तदेव मुख्यार्थः, निमित्तकारणस्थलादौ तु कारणत्वाधारत्वादि-
गुणयोगात् प्रयोगः । अतएव 'योनिश्च हि गीयते' इति सूत्रेण भगवता व्यासेन तथा सूचितमिति भावः । ननु

यथाच न सादृश्यप्राधान्याभ्यामुपपत्तिस्तथोक्तं प्राक् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सामानाधिकरण्य-
श्रुतिरपि तत्र मानम् । नच—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं' इति स्मृत्याऽन्यथाव्याख्यातत्वाच्च तत्र
मानतेति—वाच्यम्; अधिष्ठानतया सर्वव्यापित्वस्य सर्वशब्दप्रयोगनिमित्तत्वात्, अन्यथा आकाशेऽपि
सर्वपदप्रयोगापत्तेः । अनुपादानत्वे प्रकृत्यधिकरणविरोधापत्तेश्च उपादानत्वम् । श्रुत्यनुगृहीतानु-
मानमप्यत्र विवरणोक्तमध्यवसेयम् । तथाहि—'महाभूतानि, सद्ब्रह्मस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुर-
क्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवदि'ति । नच विवर्तमते उपादानत्वानुपपत्तिः,
सत्प्रधानप्रकृतिकत्वेनार्थान्तरता वा; आदवेव तदुपादानत्वस्य स्थापितत्वात्, प्रकृतेः सत्त्वाभावस्य
प्रसाधितत्वेनार्थान्तरानवकाशाच्च । नच 'खण्डो गौर्मुण्डो गौ'रिति गोत्वानुरक्तखण्डादौ व्यभिचारः;
तदनुरक्तत्वे सति तद्विकारत्वादित्यत्र तात्पर्यात्, सदतिरिक्तगोत्वाद्यनभ्युपगमाच्च । अतएव—
'सन् घट' इतिवदन्नेदानीमसन् घटः असन्नृशृङ्गमित्यादिप्रतीत्यनुसारेण घटनृशृङ्गादेरसदुपादान-
त्वापत्तिरिति—निरस्तम् । नापि ब्रह्म, न द्रव्योपादानम्, चेतनत्वाच्चैत्रवत्, जगन्नानन्दप्रकृतिकम्,
तत्स्वभावानुरक्तत्वात्, यत् यत्स्वभावानुरक्तं तत् न तत्प्रकृतिकं, यथा घटस्वभावानुरक्तं
पटादि न घटोपादानकमित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोरापातप्रतीत्या साम्येऽपि
श्रुत्यनुग्रहेण स्थापनाया बलवत्त्वात् । द्वितीयानुमाने कपालस्वभावानुरक्ते घटे व्यभिचारः;
'कपालं घट' इत्यप्रतीतेः, नच—मृत्त्वेन तदनुरक्तत्वमस्तीति—वाच्यम्; सत्त्वेनात्राप्यनुरक्तत्वस्य
समानत्वात् । एवं च जगदभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वासुखदुःखादिवदित्य-
भिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्म सिध्यति । नच व्यर्थविशेषणत्वम्; प्रेक्षापूर्वकत्वात् कार्यत्वादिति
हेतुद्वये तात्पर्यात् । नच—त्वन्मते दुःखादीनामन्तःकरणोपादानकत्वेन साध्यवैकल्यमिति—
वाच्यम्; अस्मन्मते अन्तःकरणस्य परिणाम्युपादानत्वेऽपि अन्तःकरणरूपेण परिणताज्ञानाधारतया
विवर्तोपादानत्वस्यानपायात्, कार्यत्वादिति हेतौ सर्वकार्यनिमित्तकालघटसंयोगस्य उभयवादि-
संप्रतिपन्नस्य दृष्टान्तस्य लाभाच्च । नच जगदुपादानं, न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वात्, मृद्वत्,
जगत्कर्ता वा न द्रव्योपादानम्, कर्तृत्वात्, कुलालादिवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्; श्रुतिवि-
रोधेन हीनबलत्वात्, आद्येऽनुमाने जडत्वस्य द्वितीयानुमाने सर्वानन्तर्यामित्वस्य चोपाधित्वात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

एकविज्ञानश्रुतेः ब्रह्मणः सर्वदृश्यरूपत्वात् तज्ज्ञानात्तज्ज्ञानमिति नार्थः, किंतु सर्वदृश्यस्य सद्रूपादिना ब्रह्मसादृश्यात्
ब्रह्माधीनत्वाद्वा तज्ज्ञानात्तज्ज्ञानमित्यर्थः, तथाच कथमुपादानत्वसिद्धिः? तत्राह—यथाचेति । विवेचितमेतत्
श्रुतिदूषणोद्धारे । अधिष्ठानतया सर्वव्यापित्वस्य अधिष्ठानत्वहेतुकस्य सर्वतादात्म्यस्य । निमित्तत्वात् निमित्त-
त्वेनोक्तस्मृत्या व्याख्यातत्वात् । आप्नोषीत्यनेनैव संबन्धमात्रलाभसंबन्धेन तादात्म्यलाभार्थमेव संपदोक्तेरिति भावः ।
अन्यथा तादात्म्यान्यसंबन्धस्योक्तनिमित्तत्वे । प्रकृत्यधिकरणेति । 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि'त्यधिकर-
णेत्यर्थः । महाभूतानि कार्याणि । सद्ब्रह्मस्तुप्रकृतिकानि सत्स्वरूपोपादानकानि । व्यभिचारः 'यद्यदनुरक्तं कार्यं
तत् तदुपादानक'मिति सामान्यव्याप्तौ । तदनुरक्तत्वे सति सत्स्वरूपतादात्म्यवत्त्वे सति । तद्विकारत्वात्
सत्स्वरूपकार्यत्वात् । अनभ्युपगमादिति । तथापि गुणाद्यात्मके द्रव्ये तदुपादानकत्वात् विशेष्यदलम् । गुणादे-
रपि सत्स्वरूपत्वे तु दृश्यात्मकस्य ब्रह्मणः दृश्यानुपादानकत्वात् दण्डादिकार्ये व्यभिचारात् विशेषणमिति बोध्यम् ।
सर्वत्र सद्रूपसंबन्धस्य प्रतीतेः संबन्धान्तरबाधात् तादात्म्यरूपत्वात् पराभ्युपगतसमवायस्थले तादात्म्यस्यैव प्रामा-
णिकत्वात् ब्रह्मणि निमित्तकारणत्वस्य त्वयापि वाच्यत्वात् कार्यतादात्म्यवत् कारणत्वरूपमुपादानत्वं ब्रह्मणि दुर्वार-
मित्यनुकूलतर्को बोध्यः । अतएव 'यद्यत्तादात्म्यवत्त्वे सति यत्कार्यं तत् तदुपादानक'मिति व्याप्तौ यत्कार्यत्वनिवे-
शादेव 'अन्नेदानी'मिति प्रतीत्या एतद्देशकालावच्छिन्नासत्योपादानकत्वसिद्धिः शङ्कितुं शक्या, नतु सामान्यतोऽसत्यो-
पादानकत्वसिद्धिः उक्तासत्त्वस्य सर्वदेशकालवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपत्वादत्त आह—असन्नृशृङ्गमिति ।
प्रतीतेरापातत्वं विवृणोति—द्वितीयेति । यत्स्वभावानुरक्तत्वं यत्तादात्म्यज्ञान्यत्वं यत्तादात्म्येनाप्रतीयमानत्वं वा,
नाद्यः; स्वरूपासिद्धेः, अन्त्यमभिप्रेत्याह—कपालस्वभावेति । अप्रतीतेः 'कपालात् घट' इत्यज्ञानानस्थानन्दो
जगदित्यपि धीरस्त्येवेति हेत्वसिद्धेरिति भावः । प्रेक्षापूर्वकत्वात् जन्यतासंबन्धेन प्रेक्षाविशिष्टत्वात् । एतेन—
प्रेक्षाकालीनप्रागभावप्रतियोगित्वस्य प्रेक्षाकार्यत्वस्य वा हेतुत्वे कालीनेति प्रेक्षेति च व्यर्थमिति—परास्तम् ।
उपाधित्वादिति । पक्षमात्रनिष्ठाभावप्रतियोगित्वात् नानयोरुपाधित्वम्; यत्र यत्रोपाध्यभावः तत्र न साध्य-

बाधोन्नीततया पक्षेतरत्वेऽपि दोषत्वात् । तस्माज्जगदुपादानं ब्रह्म कर्तुं चेति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिति व्यतिरेकव्याप्त्यभावाच्च । नहि पक्षे साध्याभावो मम निश्चितः । जडत्वस्यासति साध्याव्याप्तिश्चेति चेत्, भ्रान्तोऽसि; सत्प्रतिपक्षे सत्प्रतिपक्षान्तरस्य व्यर्थत्वात्, व्यभिचारोन्नायकतया दूषकत्वे तु पक्षमात्रनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं न प्रतिकूलम्; साध्यव्यापकत्वेन गृह्यमाणोपाधेर्व्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारोन्नयनसंभवात् । जडत्वं तु चिदन्यत्वरूपं तुच्छेऽप्यस्त्येव । बाधोन्नीततया पक्षेतरत्वेऽपीति । वह्निरनुष्णः, कृतकत्वात्, इत्यादौ वहीतरत्वादिः तत्तुल्यतयेत्यर्थः । यथाच तत्र साध्यव्यापकात्प्राहकस्तर्कोऽस्ति, हेतौ च साध्यव्याप्यताप्राहकस्तर्को नास्ति, तथा प्रकृतोपाधौ । अस्ति हि 'अकर्ता यदि जडो न स्यादकर्ता न स्यात्, चेतनस्य कर्तृत्वनियमात्, जगदनुपादानं यद्यनन्तर्यामी न स्यात्, तदा जगदुपादानं स्यात्; अन्तर्यामिण एव सर्वानुस्यूतत्वेन विवर्तोपादानत्वादित्युपाधौ साध्यव्यापकताप्राहकस्तर्कः । नास्ति च द्रव्योपादानत्वादिहेतावकर्तृतादिव्याप्तिप्राहकस्तर्कः; मृदादेरचेतनत्वादिना कर्तृत्वाद्यभावेऽपि ब्रह्मणः कर्तृत्वादौ बाधकाभावात् । तथाच पक्षेतरत्वस्यानुपाधित्वं न कुलधर्म इति भावः । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मोपादानताप्रमा ॥ इति लघुचन्द्रिकायामभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वोपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

निर्विशेषं ब्रह्म निमित्तमुपादानं च न भवति । विकारवत्कारणत्वरूपमुपादानत्वं हि न निर्विकारश्रुतिसिद्धविकारराहित्यकस्य ब्रह्मणः संभवति । **तथाहि**—सत्यत्वापत्त्याऽज्ञानोपादानकत्वकल्पनाविरोधेन न ब्रह्ममात्रोपादानकत्वम् । सितासितसूत्रारब्धपटस्य सितासितत्ववत् सत्यत्वानिर्वाच्यत्वयोरप्यापत्त्या न ब्रह्माज्ञानोभयोपादानकत्वम् । ब्रह्मस्वभावपारमार्थिकत्वस्य उपादेयधीमात्रस्थत्वेऽनिर्वाच्यत्वस्यापि तदापत्तिः । **एतेन**—तन्मात्रोपादानकत्वस्य तत्तत्सत्त्वप्रयोजकत्वमपि—**निरस्तम्**; अनिर्वाच्यत्वस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । मायाविशिष्टोपादानत्वं तु मृदादिवत्परिणामित्वापत्त्या निर्विकारश्रुतिविरोधेन विवर्तमतहान्यापत्त्या च न युक्तम् । विशिष्टापेक्षया परिणामित्वं, शुद्धापेक्षया विवर्तत्वमिति तु शुद्धेऽपि विवर्तार्थं विकारा-रोपस्यावश्यकत्वेन निर्विकारश्रुतेस्तत्परत्वाभावप्रसङ्गाच्च साम्प्रतम् । नहि तत्त्वतो निर्विकार आरोपितविकार इति विरुद्धम् । अंशोस्तन्तुद्वारेव मायाद्वारा ब्रह्मणः कारणत्वमपि अंशोस्तन्तुं प्रतीव मायां प्रति ब्रह्मणोऽनुपादानत्वेन नाशङ्कितुं योग्यम् । **किंच** कीदृशमिदमुपादानत्वम् ? न तावद्ब्रह्माधिष्ठानत्वम्; मृदादिष्वव्याप्तेः, शुक्तौ उपादानत्वाव्यवहारेणातिव्याप्तेश्च । **एतेन**—असत्यरूपान्तरापत्तिविवर्तः, सत्यरूपान्तरापत्तिः परिणामः, रूपान्तरापत्तिमात्रं तु विवर्तपरिणाम्युभयसाधारणम्, निर्विकारश्रुतिस्तु तात्त्विकाविकाराभिप्राया । ब्रह्म चाज्ञातं प्रपञ्चरूपेण विवर्तते इत्यज्ञानमपि परिणामितयोपादानान्तर्गतम् । रूप्यमपि शुक्तिविवर्तत्वादज्ञानोपादानकत्वाच्चोभयोपादनकमिति—**निरस्तम्**; नहि मिथ्याभूतस्य सत्यमुपादानं भवति; अज्ञानासिद्धिप्रसङ्गात् । नहि विवर्तपरिणाम्युभयानुगतमुपादानत्वं निर्वक्तुमलम् । **वस्तुतस्तु** शुक्तिब्रह्मणोरेव रूप्याकाशाद्युपादानत्वम्, अविद्यान्वयव्यतिरेकस्तु निमित्तत्वमात्रेणोपपद्यते इति कल्पनाप्रसङ्गेन प्रपञ्चमिथ्यात्वासिद्धिः । असत्यस्य रूप्यादेर्नहि सत्यरूपान्तरापत्तिमत्परिणाम्यपेक्षा । **एतेन**—विकारित्वेनाविद्याकल्पनमपि—**निरस्तम्**; अतात्त्विकविकारेण ब्रह्मण एवोपादनत्वसंभवात् । **एतेन**—रूपान्तरापत्तिप्रतीतिविषयत्वं रूपान्तराभेदधीविषयत्वं कार्याभेदधीविषयत्वं बोभयानुगतमुपादानत्वमिति—**परास्तम्**; आद्येऽसिद्धेः, नहि शुक्ती रूप्यभावमापन्नेत्यादिधीरस्ति । द्वितीयमुपादानोपादेयभावशून्ययोः क्षीरनीरयोः खण्डगत्योश्च व्यभिचारान्न समीचीनम् । कार्याभेदभ्रमविषये निमित्ते व्यभिचारेण तृतीयोऽपि न युक्तः । माया उपादानम्, ईश्वरो निमित्तकारणम्, शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति पक्षे तु नाभिन्ननिमित्तोपादानकत्वसिद्धिरिति न ब्रह्मोपादनत्वसंभवः ॥

एतेन—तन्निमित्तत्वमपि—**पराहतम्** । **तथाहि**—निमित्तत्वोपपादकं कर्तृत्वं नाधिष्ठानत्वम्; नहि कर्तृत्वोपादानत्वयोः सामानाधिकरण्यम् । नापि भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वं मायाविवद्भ्यामोहकत्वं वा, नहि भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्तृत्वं कुत्रापि दृष्टम्, न वा व्यामोहनीयजीवाद्यभावे व्यामोहकत्वमुपपद्यते । व्यामोहनीयजीवदर्शने तु भ्रान्त्यापत्तिः, व्यामोहकत्वस्याप्यारोपितत्वेनान्योन्याश्रयश्च । नामरूपे व्याकरवाणीति श्रुतिरपि मायाविवद्भ्यामोहकत्वे नोपपद्यते । नहि

मायावी करवाणीति संकल्प्य करोति, किंतु दर्शयानीति संकल्प्य दर्शयति । नहि भ्रमाधिष्ठानत्वादिना सार्वत्र्यमिति जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वत्र्यस्फुटीकरणार्थं शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रमिति परकीयभाष्यविरोधः पक्षत्रयेऽप्यपरिहार्यः । एतेन—उपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं कर्तृत्वमिति—**परास्तम्**; कल्पितं प्रति तदयोगात् । तस्मात्—

अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता । लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टा कल्पितं प्रति ॥

यावता चोपादनत्वे कर्तृत्वे च न संभावनापि, तावता तत्र प्रमाणमपि नास्तीति सूचितम् । **तथाहि**—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इति श्रुतिर्न ब्रह्मोपादानत्वं गोचरयति । यत इति हि पञ्चम्या हेतुमात्रमभिधीयते, न तूपादानत्वम्, पुत्रात्प्रमोदो जायते इत्यादावुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनेन वृत्तौ “जनिकर्तुः प्रकृति” इति सूत्रे प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमित्युक्तत्वात् । “असति प्रकृतिग्रहणे प्रकृतिमात्रस्य स्यात्, प्रत्यासत्तेः, नेतरस्य, प्रकृतिग्रहणात्कारणमात्रस्य स्यादि”ति न्यासोक्तिरप्यत एव सङ्गच्छते । अत एवैतत्सूत्रप्रत्याख्यानमप्युपपद्यते । **एतेन**—आत्मन आकाशः संभूत इति वाक्यमपि—**व्याख्यातम्**; संभूतशब्दसाहचर्येण तस्य निमित्तमात्रपरत्वात् । नहि शुक्तेः रूप्यं संभूतमिति प्रतीतिरस्ति । “स तपोऽतप्यत । स तप्तस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्राविश्य सच्च लब्धवद्”ति वाक्यशेषोऽपि हि सदादिभवनस्य जगत्सृष्टितदनुप्रवेशानन्तरभावित्वेन जगत्सृष्टित्वानुपपत्त्या परमेश्वरस्य सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपर एव । कथमन्यथा अभवदिति निर्देश उपपद्यते । सदादिभवनमेव तु न जगत्सृष्टिः । तदनुप्राविश्येति क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तेः, इदं सर्वमसृजतेत्यस्य वैयर्थ्याच्च । “सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेये”ति वाक्यमपि न सृज्यतादात्म्यं विषयीकरोति, किंतु “अजायमानो बहुधा विजायते” “यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमिति” श्रुतिसिद्धतत्तदनन्तपदार्थनियामकानन्तरूपैर्नियम्यसापेक्षबहुभावसंकल्पमाह । **तदुक्तम्**—बहु स्यामिति संकल्प्य तेजःप्रभृतिसर्जनम् । गुरुः स्यामिति संकल्प्य शिष्यसंपादनं यथेति । एवंच तदैक्षत बहु स्यामित्यपि नात्र मानमिति सूचितम् । नहीक्षितृत्वस्रष्टृत्वादिना चेतनत्वेनावगतानां तेजःप्रभृतीनां सृज्यत्वमुपपद्यते, येन तदाद्यात्मना भवनमेवात्र गोचरीक्रियेत । “असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदा जायत । तदात्मानं स्वयमकुरुतेति वाक्यमपि आत्मनः करणानुपपत्त्या तदात्मानं सृजाम्यहमिति वत् स्वनियामकरूपैर्भवममेव बोधयति । ततो वै सदाजायतेत्यनेनैव सिद्धत्वेन तदात्मानमिति वाक्यवैयर्थ्याच्च । **एतेन**—ब्रह्मण्येव सृष्टिलयश्रवणमपि तन्तुनिमित्ते कर्णनाभौ तन्तुलयस्य दर्शनेन यथोर्णनाभिरिति श्रुतौ तदृष्टान्तस्यैवादर्शनेन च निमित्तत्वमेव गमयति न तूपादानत्वमिति—**सूचितम्** । यद्भूतयोनिमिति योनिशब्दस्तु निमित्तत्वसाधारणो योनिष्ठ इन्द्र इत्यादाविवेति न सोऽप्युपादनत्वे प्रमाणम् । एवंचैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानादिकं सर्वमपि सादृश्यसामान्याभ्यामेवोपादानीयम् । सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वे इति स्मृत्याऽन्यथा व्याख्यातत्वात् सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुतिरपि व्याख्याता । प्रकृत्यधिकरणे तु भाष्ये प्रकृतिशब्दोऽपि परमात्मपर इति व्याख्यातमिति न कोऽपि विरोधो ब्रह्मानुपादानत्वे । महाभूतानि, सद्रस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटवत् । जगत्, अभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वात्, सुखदुःखादिवदित्यनुमाने अपि प्रथमानुमाने विवर्तमते उपादानत्वानुपपत्त्या बाधात् सत्प्रधानप्रकृतिकत्वेनार्थान्तरात् गोलानुरक्तखण्डादौ व्यभिचारात् ब्रह्म, न द्रव्योपादानम् चेतनत्वात्, चैत्रवत्, जगन्नानन्दप्रकृतिकम्, तत्स्वभावानुरक्तत्वात्, इति सत्प्रतिपक्षात् द्वितीयानुमाने कार्यत्वादित्येतावतैवेष्टसिद्ध्या व्यर्थविशेषणत्वात् त्वन्मते दुःखादीनामन्तःकरणोपादनकत्वेन साध्यवैकल्यात्, जगदुपादानं न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वात्, मृद्वत्, जगत्कर्ता न द्रव्योपादानम्, कर्तृत्वात्, कुलालवत् इति सत्प्रतिपक्षाच्च नात्र प्रमाणतामर्हत इति न जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानकमिति कारणलभ्येन सर्वेषामपि वेदान्तानां निर्विशेषब्रह्मतात्पर्यमुक्तमेवेति—**वर्णयन्ति ॥**

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

तच्च निर्विशेषम् निमित्तमुपादानं च । “अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते” । इति वचनानुसारेण विवर्तकारणाज्ञातविषयस्वरूपविवर्ताधिष्ठानत्वेनोपादानत्वोपपत्तेः । आत्मनिष्ठकार्यजनिहेतुत्वमुभयविधोपादानसाधारणलक्षणमपि न दुष्टम् । एवं चाज्ञानं परिणामितया, ब्रह्म विवर्तमानतया जगत्कारणम् । परिणामित्वं च परिणाम्युपादानसमसत्ताकत्वं न सत्यरूपान्तरापत्तिरूपमिति न जगत्सत्यतामापादयति । घटकुण्डलादेः परिणाम्यपेक्षादर्शनेन तद्वदेवाकाशादावपि तस्यापेक्षायां नाविद्याकल्पनानुपपत्तिः । येन ब्रह्मण एव कल्पितविकारेण परिणामिलमपि कल्प्येत । तद्विषयकाज्ञानपरिणामिलव्यतिरेकेण नहि विकारेऽस्ताविकत्वं निर्वक्तुमलमिति अविद्योपादानत्वमन्तरा न प्रपञ्चविकारिलोपपत्तिः । उपादानत्वस्वरूपविकल्पतद्वृषणादिकं सर्वमप्यनुक्तोपादानत्वमनमेव । एवं भ्रमाधिष्ठानत्वेनापि ब्रह्मोपादानत्वम् । नहि श्रुतिरतीतादिकं बाधिष्ठानं, किंतु तदवच्छिन्नचैतन्यमेवेति नातीतेऽतिव्याप्तिः श्रुतौ वाऽव्याप्तिः । एवंचैकमेव चैतन्यमविद्योपाहितत्वेनोपादानमविद्यापरिणामेच्छाकृत्याद्याश्रयत्वेन कर्तृ चेति सिद्धमिदं निर्विशेषं ब्रह्म निमित्तमुपादानं चेति ॥

कुलालकार्यघटादीनामपि कल्पितत्वात् रूप्यादीनामपि सकर्तृत्वाच्च न कोऽपि दोषः । एवंच कर्तृत्वं सोपादानगोचर-
प्रयत्नादिमत्त्वं मायाविवत् व्यामोहकत्वं वेति सूचितम् । व्यामुग्धजीवद्रष्टृत्वेऽपि भ्रान्तिज्ञत्वमेव स्यात्, नतु भ्रान्तत्वम् ।
मायाव्यपि करवाणीति संकल्पपूर्वकं करोत्येवेति व्याकरवाणीति श्रुतिरपि नानुपपन्ना । मायावित्वेऽपि सक्ष्यमाणमायिक-
विश्वाकारमायासत्त्वांशपरिणामाधारतया सार्वद्वयलाभात् शास्त्रयोनित्वाधिकरणभाष्यमपि न विरुद्धम् ।

तत्र च (१) “यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते” (२) “सच्च ल्यच्चाभवत्” (३) “सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय”
“तदैक्षत (४) बहु स्याम्” (५) “असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायते”ति श्रुतयः, (६) ब्रह्मणि सृष्टिलयश्रवण-
लिङ्गम्, (७) भूतयोनिमिति योनिशब्दः, (८) सर्वं खल्विति सामानाधिकरण्यम्, (९) प्रकृत्यधिकरणम्, (१०) ‘महाभूतानि,
सद्वस्तुप्रकृतिकानि’ इत्यनुमानद्वयं च प्रमाणानि । तथाहि—यतोवेति श्रुतौ हि लयाधारत्वादिलिङ्गेन प्रकृतिपरत्वमेव पञ्चम्या
अङ्गीकरणीयम् । नह्यन्यथा वाक्यशेष उपपद्यते । सच्च ल्यच्चाभवदिति सामानाधिकरण्यमपि ब्रह्मोपादानत्वं एवोपपद्यते ।
सदादिभाव इवात्र जगत्सृष्टिः, नतु सृष्ट्यनन्तरकालिकप्रवेशोत्तरकालिकसत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिः सच्च ल्यचेति वाक्ये बोध्यते ।
तदनुप्रविश्येत्यस्य मुखं व्यादाय स्वपितीतिवदुपपत्तेः । इदं सर्वमसृजतेति तु निमित्तत्वमात्रभ्रान्तिव्युदासार्थमिति न तेन
पौनरुक्त्यम् । स्यामित्यनेन सुखी स्यामितिबत् भाविसत्त्वोक्त्या नियामकरूपाणां ईश्वराभिन्नानां पूर्वमेव सिद्ध्या तत्र संकल्पा-
संभवेन च गुरुः स्यामितिबदनुपपत्त्या कार्यभावापत्तेरेव विवक्षणीयतया बहु स्यामिति श्रुतिरपि व्याख्याता । तत्तेज
ऐक्षतेत्यत्र तेजआद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य विवक्षणेऽपि अवच्छेदकतेजआदिसर्जने बाधकाभावेन तदैक्षत बहु स्यामिति श्रुतिर-
पीदानीमनुकूला । एतेन—तदात्मानं स्वयमकुरुतेति श्रुतिरपि—व्याख्याता; आकाशाद्यात्मना तस्यापि कारणोपपत्तेः ।
ऊर्णनाभौ बहिष्ठस्य तन्तोरन्तःप्रवेशमात्रमेव, नतु लयः । तिरोभावमात्र एव यथोर्णनाभिः गृह्यते इति दृष्टान्त इति न
निमित्ते कुत्रापि लय इति लयाधारत्वलिङ्गमप्युपादानत्वं गोचरयति । अन्यत्र मुख्यासंभवात् गौणोऽपि योनिशब्दोऽत्र
बाधकाभावात् मुख्योपादानार्थबोधक एवेति योनिशब्दोऽपि विवृतो मन्तव्यः । नहि सर्वगतत्वमात्रेण सर्वत्वम् । आका-
शस्यापि सर्वत्वप्रसङ्गादिति सर्वं खल्विति सामानाधिकरण्यमप्यस्माकमेवानुकूलम् । यथाच प्रकृत्यधिकरणमस्माकमेवानुकूलं
तथा कल्पतरुपरिमलाद्युपबृंहितब्रह्मसूत्रभाष्यभूमिकायां विस्तृतम् । एतेन—अनुमानद्वयमपि—व्याख्यातम् । यथा
विवर्तमतेऽप्युपादानत्वोपपत्तिस्तथा पूर्वमेव निरूपितम् । नहि प्रधानं तदिति नार्थान्तरमपि । हेतुश्चात्र तदनुरक्तत्वविशिष्ट-
तद्विकारत्वमेवेति न गोत्वानुरक्तखण्डे व्यभिचारः । ब्रह्म न द्रव्योपादानमिति सत्प्रतिपक्षानुमानं तु श्रुतिबाधितं श्रुत्यनु-
गृहीतास्मदनुमानबाधने न समर्थमिति प्रथमानुमानं निर्दुष्टमेव । द्वितीयानुमाने तु हेतुद्वयतात्पर्याच्च व्यर्थविशेषणत्वम्,
अन्तःकरणस्यैव परिणाम्युपादानत्वेऽपि तद्रूपेण परिणताविद्याधारतया विवर्तोपादानत्वमपि विद्यते एवेति न साध्यवैकल्यम्,
नापि श्रुतिविरोधेन हीनबलत्वेन सोपाधिकत्वेन च सत्प्रतिपक्षोऽपीति सर्वमनवयमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

न ब्रह्मोपादानं भवितुमर्हति; निर्विकारत्वात् । नह्यात्मनि कायजनिहेतुत्वमुभयोपादानलक्षणम्; ब्रह्मणि आद्यक्षणसंबन्ध-
रूपजनेरसिद्धत्वात् । यथा केवलं ब्रह्म नोपादानम् एवं केवलमायापीति परिणामित्वेन माया, विवर्तत्वेन ब्रह्म चोपादान-
मिति शङ्कापि पराहता । एतेन—निर्विशेषकर्तृत्वमपि—परास्तम्; नहि कल्पिते उपादानगोचरप्रयत्नादिकं कुत्रापि
दृष्टम् । अध्यासद्रष्टुरपि न प्रेक्षापूर्वकरजतादिकर्तृत्वम् । मायाविनस्तु सिद्धैरौषधादिभिः व्यामोहनीयैश्च व्यामोहकत्वं
युक्तम्, नतु ब्रह्मणो निर्विशेषस्य ॥ अतएव—तत्र यतोवेत्यादिश्रुतिप्रामाण्यमपि—निरस्तमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

स्वतादात्म्यवत्कार्यहेतुत्वमुपादानसाधारणलक्षणमिति ब्रह्मोपादानत्वमपि युज्यत एव । ब्रह्मविवर्तत्वे मायाया माया-
परिणामित्वे तद्विषयत्वेन ब्रह्मणश्चोपयोगाच्च मायापरिणामित्वाद्यापत्तिः । नह्यदर्शनमात्रेण व्यतिरेकः कस्यापि संभवतीति
उपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं कर्तृत्वमप्युपपन्नमेव । पूर्वपूर्वाध्यासेन व्यामोहनीयादीनामपि सिद्ध्या मायाविवद्व्यामोहकत्व-
मप्युपपन्नमेव । श्रुत्यनुमानादीनां तत्र प्रामाण्यमपि तत्र तत्र विस्तरेण प्रतिपादितम् । विस्तरभयाच्च विरम्यत इति—
विवेचयन्ति ॥

अथ ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः ।

ननु—परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वेनोपादानत्वं वाच्यम्, अधिष्ठानत्वं तु नावेद्यस्य; तद्वेदनार्थं प्रमाणापेक्षायामन्योन्याश्रयात् । नच—स्वप्रकाशतदपेक्षमेवाधिष्ठानत्वमिति—वाच्यम्; स्वप्रकाशताया वक्तुमशक्यत्वात् । तथाहि—किमिदं स्वप्रकाशत्वं? वृत्त्यव्याप्यत्वं वा, फलाव्याप्यत्वं वा, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा, तद्योग्यत्वं वा, तद्योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा । नाद्यः; ब्रह्मणोऽप्यावरणभङ्गाय चरमवृत्तिव्याप्यत्वात्, न द्वितीयः; अतीतादौ नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्तेः । न तृतीयः; सुषुप्त्यादौ व्यवहाराभावेनाव्याप्तेः । न चतुर्थः; योग्यत्वरूपधर्मस्य मोक्षकालेऽभावेन तदा ब्रह्मण्यव्याप्तेः । नापि पञ्चमः; अनधिकरणत्वस्यापि धर्मत्वेन मोक्षदशायां तस्याप्यभावेनाव्याप्तेः । अतएव न तादृगनधिकरणत्वोपलक्षितमपि तत्; तस्यापि धर्मत्वे मुक्तावभावादिति—चेन्न; पञ्चमपक्षस्यैव क्षोदसहत्वात् । नच मोक्षेऽव्याप्तिः, अनधिकरणत्वस्य स्वरूपतया तदापि सत्त्वात् । न च स्वरूपत्वे लक्षणत्वानुपपत्तिः; त्वन्नये ब्रह्माभिज्ञानन्दादौ गुणत्वव्यवहारवत् स्वरूपभूतेऽप्यनधिकरणत्वे लक्षणत्वव्यवहारात् । नच—त्वन्मते योग्यत्वमपि ब्रह्मणि मिथ्येति तदत्यन्ताभावोऽपि वाच्यः, तथाच कथं तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमिति—वाच्यम्; योग्यत्वविरोध्यत्यन्ताभावस्य विवक्षितत्वात्, स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वप्रयोजकस्य स्वाश्रयनिष्ठत्वेनैवाविरोधित्वात् । यद्वा—व्यावहारिकात्यन्ताभावो विवक्षितः, ब्रह्मणि च योग्यतात्यन्ताभावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन तात्त्विकत्वात् । नाप्यवेद्यत्वानिरुक्तिः, फलाव्याप्यत्वस्यैव तत्त्वात्, आवरणभङ्गे चित एव फलत्वात् । नच—एवं घटादेरपि वृत्तिवेद्यतया फलविषयत्वाभावात् रूप्यसुखादेरपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नावेद्यस्य नामेयस्य । तद्वेदनार्थं मनोऽध्यासानुकूलतद्वेदनार्थम् । अन्योन्याश्रयात् मनोऽध्यासे सति प्रमाणरूपा वृत्तिः, तस्यां चाधिष्ठानज्ञानतया कारणीभूतायां सत्यां मनोऽध्यास इत्यन्योन्याश्रयात् । स्वप्रकाशतदपेक्षमित्यादि । यस्याध्यासस्यापेक्षा यत्र तादृशमधिष्ठानमेव, नतु तद्गोचरप्रमाणवृत्तिः, यतोऽधिष्ठानं स्वप्रकाशमित्यर्थः । यद्यपि मनआद्यध्यासे अधिष्ठानगोचराविद्यावृत्तेर्हेतुत्वसंभवेन नान्योन्याश्रयः; तथापि अनवस्थास्यैव, तादृशवृत्त्यध्यासे वृत्त्यन्तराध्यासहेतुत्वस्य वाच्यत्वात् । स्वप्रकाशत्वोक्तौ तु नानवस्था; वृत्तेरध्यासहेतुत्वाभावात्, अधिष्ठानानावरणस्यैवाध्यासहेतुत्वात्, पूर्णानन्दस्यावृत्तत्वेऽपि चिदंशेऽनावरणसत्त्वेनाध्यासोपपत्तेः । आधारतावच्छेदकरूपेण हि अधिष्ठानानावरणमध्यासहेतुः, न त्वविद्याविषयरूपेणेत्यविद्योपहितत्वादिरूपेणानावरणात् मनआद्यध्यासोपपत्तिः । अथ—संस्कारहेतुत्वेनाविद्यावृत्तेरध्यासापेक्षणीयत्वेनानवस्थातादवस्थमिति—चेन्न; एवं हि मास्तु वृत्तिरविद्यायाः । अविद्योपहितचित एव साक्षित्वस्यावरणविशेषाभावे संस्कारहेतुत्वस्य च संभवात् । वस्तुतोऽज्ञानाध्यासेऽज्ञानगोचरसंस्कारहेतुत्वे मानाभावेन वृत्त्यध्यासे नोक्तानवस्था । किंचोक्तानवस्थायाः प्रामाणिकत्वेनादोषत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वमावश्यकम्, अन्यथा प्रमाणवृत्तिनैरपेक्ष्येणाविद्यावृत्तिमात्रेणाधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वानुपपत्तेरित्याशयेन प्रमाणवृत्तिरपेक्षव्यवहारविषयत्वव्याप्यं स्वप्रकाशत्वं व्यवस्थापयितुं वितर्कयति—किमिदमिति । यद्यपि चतुर्थपक्षेऽपि नाव्याप्तिः; लक्ष्ये लक्षणासत्त्वस्यैवाव्याप्तित्वात्, ब्रह्मणि तूक्तयोग्यत्वस्य कदाचित्सत्त्वेन तदसंभवात्; तथापि स्वप्रकाशत्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वलाभाय पञ्चमपक्षमेवाङ्गीकरोति—पञ्चमपक्षस्येति । वस्तुतः—प्रमाणवृत्तिं विनापि व्यवहार्यत्वाय स्वप्रकाशत्वमुच्यते । तस्य च ब्रह्मरूपत्वाभावेऽपि व्यवहारदशायां सत्त्वेनैवोपपत्तिरिति चतुर्थपक्षोऽपि युक्त एवेति ध्येयम् । अव्याप्तिः स्वप्रकाशत्वस्वरूपत्वानुपपत्तिः । व्यवहारवदिति । तव भेदाभावेऽपि विशेषस्य भेदस्थानीयस्य गुणत्वादिव्यवहार इव मम कल्पिततादात्म्यस्य लक्षणत्वव्यवहारे प्रयोजकत्वात् । वस्तुतो लक्षणवाक्यस्य मन्मते अखण्डार्थत्वेनार्थोपस्थितिद्वारकामेदधीनकधीविषयत्वेन लक्षणत्वस्य व्यवहारः स्वप्रकाशत्वरूपे ब्रह्मणि नानुपपन्न इति ध्येयम् । कथमिति । तदत्यन्ताभावस्वरूपस्याधिकरणत्वाप्रसिद्धा तदनधिकरणत्वं न निवेद्यम्, किंतु तदत्यन्ताभावत्वविशिष्टस्यानधिकरणत्वम् । तच्च ब्रह्मणि बाधितम्; तादृशविशिष्टाधिकरणत्वात् । नच—तस्यापि मिथ्यात्वात्तदभावस्वरूपं लक्षणमव्याहतमिति—वाच्यम्; योग्यत्वात्यन्ताभावस्वरूपस्यैव लक्षणत्वसंभवादिति भावः । योग्यत्वविरोधीति । योग्यान्यवृत्तिव्यविशिष्टेत्यर्थः । व्यावहारिकेति । व्यावहारिकस्वरूपेत्यर्थः । ब्रह्मरूपत्वेनेति । उक्ताभावत्वविशिष्टरूपेण व्यावहारिकत्वेऽपीत्यादिः । तात्त्विकत्वात् तात्त्विकस्वरूपकत्वात् । नच—उक्तात्यन्ताभावस्वरूपमेव लक्षणमस्त्विति—वाच्यम्; उक्तात्यन्ताभावस्वरूपस्य यदनधिकरणत्वं तस्यैव

अपरोक्षव्यवहारयोग्यतया विशिष्टलक्षणस्यातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्; घटादौ फलव्याप्यत्वस्य समर्थितत्वाद्व्याप्यसुखादौ साक्षिभास्यतयाऽपरोक्षव्यवहारेऽपि प्रमाणजन्यापरोक्षवृत्तिविषयत्वाभावात् । तथाच फलव्याप्यत्वसमानाधिकरणतद्वत्त्वस्य पर्यवसिततया सकलदोषनिरासात् । नच ब्रह्मणोऽपि वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्रूपफलभास्यत्वेनासंभवः; तस्य फलरूपत्वेन तद्विषयत्वाभावात् । नच चित्सुखाचार्यैः तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्विषयत्वमित्युक्तेरसंभवः; तस्याचार्यवचसस्तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयतया तद्विषयत्वोपचारनिबन्धनत्वात् । अयमत्र निष्कर्षः—वृत्तिप्रतिबिम्बितचिज्जन्यातिशययोगित्वं वृत्त्या तत्प्रतिफलितचिता वा अभिव्यक्ताधिष्ठानचिद्विषयत्वं वा फलव्याप्यत्वम् । चिज्जन्यातिशयश्च नावरणभङ्गः नापि व्यवहारो विवक्षितः, किंतु भग्नावरणचित्संबन्धः । स च घटादावस्ति, नात्मनि; संबन्धस्य भेदगर्भत्वात् । एवमुक्तचिद्विषयत्वमपि भेदघटितं घटादावस्ति, नात्मनीति स्थितं प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् । नाप्यपरोक्षव्यवहारो दुर्वचः अपरोक्ष इति शब्दप्रयोगस्यैव विवक्षितत्वात् । नचालौकिकप्रत्यक्षविषयधर्माधर्मादौ तादृशव्यवहारयोगितया अतिव्याप्तिः, योगजधर्मातिरिक्तालौकिकप्रत्यासत्तेरनङ्गीकारात्, तस्यापि स्वयोग्यव्यवहित एव सामर्थ्यापादकत्वात्, नतु धर्मादौ । तदुक्तं 'यत्राप्यतिशयो दृष्ट' इत्यादि । एतेन—कश्चायमपरोक्षव्यवहारो नाम ? अपरोक्षज्ञानजन्यो वा, अपरोक्षवस्तुविषयो वा, अपरोक्ष इत्याकारो वा, नाद्यः; धर्मादावप्यपरोक्षयोगिज्ञानानुव्यवसायव्याप्तिज्ञानजन्यव्यवहारसत्त्वेनातिव्याप्तेः, न द्वितीयः; वस्तुन आपरोक्ष्यम् अपरोक्षज्ञानविषयत्वं चेत्, आत्मनोऽपि घटादिवत् वेद्यत्वापातात्, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चेत्, वस्तु-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्षणत्वात्, ब्रह्मस्वरूपस्यात्यन्ताभावस्वरूपस्याधिकरणत्वाप्रसिद्धैव तस्य लक्षणाघटकत्वात् । अतएव तदादाय लक्षणासंभवोक्त्यादिकं तव भ्रान्त्यैव । नच—एवं व्यावहारिकस्वरूपेति विशेषणमपि व्यर्थमिति—वाच्यम्; अधिकरणत्वनिरूपकतया वस्तुगत्या व्यावहारिकस्वरूपस्य निवेशः, नतु व्यावहारिकत्वेनेति भावादिति भावः । भङ्गे चितः नाशोपहितचितः । समर्थितत्वादिति । जानातिभात्योः सकर्मकाकर्मकत्वाभ्यां भिन्नार्थकत्वेनघटो भातीत्यादौ फलविषयो घट इत्यर्थात् सुखादौ वृत्त्यभावेऽपि साक्षात्क्रियमाणत्वप्रतीत्या चितो जगदुपादानत्वेन जगत्तादात्म्यात्तस्यैव विषयताशब्देन व्यवहारात् फलविषयत्वस्य घटादौ समर्थितत्वादित्यर्थः । तथाच सुखादावुक्ताभावसत्त्वे च । समानाधिकरणतद्वत्त्वस्य समानाधिकरणोक्तविषयत्ववचस्य । समानाधिकरणत्वस्येति पाठे विशेषणस्येति शेषः । तथाचेत्यस्योक्तविषयत्वे इत्यर्थः । अनुमित्यादिविषयत्वस्य सुखादावपि सत्त्वादपरोक्षेऽप्युक्तम् । यद्यपि विद्यमानसुखाद्यनुमितिरप्यपरोक्षा; तथापि यत्प्रमाणजन्यत्वमपरोक्षताव्याप्यं, तत्प्रमाणजन्यत्वविवक्षयेन्द्रियजन्यवृत्तिविषयत्वं पर्यवसितं बोध्यम् । शुद्धेऽपि घटादिचाक्षुषादिविषयत्वात् नाव्याप्तिः । अथवा—प्रमाणवृत्तियोग्यत्वं स्वाज्ञातत्वेनाशकवृत्तिविषयत्वं विवक्षितम् । स्वाज्ञातत्वं स्वस्याभानापादकमज्ञानम् । विद्यमानसुखादौ तु तदप्रसिद्धम्; नित्यातीन्द्रिये तन्नाशकवृत्तिरप्रसिद्धेति बोध्यम् । तस्येत्यादि । मूलाज्ञानस्य शुद्धचिन्निष्ठत्वात्तन्नाशस्यापि तन्निष्ठत्वेन शुद्धस्य फलीभूतशुद्धाविषयत्वमिति भावः । गर्भत्वादिति । ननु—शुद्धेऽपि फलत्वेन भेदोऽस्त्येव; उपहितकेवलयोर्भेदस्य सिद्धान्ते स्वीकारात्, तथाच शुद्धस्य फलत्वोपहिततादात्म्यमव्याहृतमिति—चेत्, सत्यम्; तथापि विषयतारूपत्वाखण्डधर्मस्योक्ततादात्म्ये मानाभावः । भास्यानुयोगिकस्य भासकचित्प्रतियोगिकतादात्म्यस्यैव भासकतानियामकत्वेन विषयतावावुपादानचित्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य दृश्यमात्रे घटादावध्यस्तत्वेऽपि शुद्धचिति फलस्य तादात्म्यानध्यासात् शुद्धचित एव फलत्वोपहिते तदध्यासात् शुद्धस्य स्वप्रकाशत्वेन फलविषयतां विनापि व्यवहारसंभवात् । अतएव विषयत्वाभावादित्युक्तं मूले । 'अतएव च वेद्यनिष्ठत्वसावसिन्नदर्शने' इति बौद्धाधिकारे उक्तम् । अस्मिन्वेदान्तनये पूर्वोक्ते दर्शने । असौ विषयतारूपसंबन्धः । वेद्यनिष्ठस्तु दृश्यनिष्ठएव, नतु चिन्निष्ठः; चितः स्वप्रकाशत्वेनैव व्यवहार्यत्वात् । तत्प्रतियोगिकस्याध्यस्तनिष्ठस्याध्यासिकतादात्म्यस्यैव विषयतात्वादिति भावः । तथाच संबन्धस्य भेदगर्भत्वादित्यत्र योगित्वमित्यनेन उक्तसंबन्धस्य केवलचिद्भेदव्याप्यविषयतारूपत्वादित्यर्थः । आवरणाभिभवोपहितचिद्विषयत्वं योगित्वान्तेन विवक्षितमिति भावः । अथवा योगित्वान्तेनोक्तसंबन्धस्य भेदगर्भत्वात् केवलचिद्भेदव्याप्यत्वात् । तथाच स्वावच्छिन्नावरणाशोपहितचित्तादात्म्यं विवक्षितम् । अन्यथा रूपादेरपि युक्त्याद्यवच्छिन्नावरणाभिभवोपहितचित्तादात्म्येन फलव्याप्यतापत्तेः । एवं च घटादेरावरणाभिभावच्छेदकत्वेनोक्ततादात्म्येऽपि शुद्धब्रह्मणि तदभावेनातद्भेदव्याप्यमुक्ततादात्म्यमिति तस्य फलव्याप्यत्वमिति भावः । एवमित्यादिग्रन्थेऽप्युक्त एव भावः । नन्वपरोक्षव्यवहारस्य योग्यत्वमुक्तविषयतारूपं तदा वक्तुं शक्यम्, यद्युक्तव्यवहारः सुवचः, स एव दुर्वच इत्यत

व्यवहारयोरापरोक्ष्ये अन्योन्यसापेक्षतयाऽन्योन्याश्रयात्, न तृतीयः; निराकारशुद्धब्रह्मविषयस्याखण्डार्थनिष्ठवेदान्तजन्यव्यवहारस्यापरोक्ष इत्याकारायोगादिति—निरस्तम्; व्यवहारपदेनाभिवदनस्य विवक्षितत्वेन चरमवृत्तेस्तदनाकारत्वेऽपि क्षत्यभावात् । नचानुपलब्धिगम्यतया अवेद्ये अपरोक्ष इति लोकव्यवहारसत्त्वेनाभावेऽतिव्याप्तिः; प्रामाणिकव्यवहारस्य विवक्षितत्वात् । ननु—अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं न तावत्सर्वान् प्रति; चैत्रज्ञाने मैत्रस्य तदभावात्, नापि ज्ञानं प्रति; तस्याव्यवहर्तृत्वात् । नापि ज्ञानाश्रयं प्रति; ज्ञानस्य चितोऽनाश्रितत्वादिति—चेन्न; प्रमातारं यं कंचित् प्रत्येवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं विवक्षितम् । प्रमाता चाहमर्थ एव सर्वसंमतः । यत्तुक्तं चैत्रस्य ज्ञाने मैत्रस्याव्यवहार इति, तस्य चैत्रज्ञाननिमित्तको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः, चैत्रज्ञानविषयको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः । आद्ये चैत्रज्ञानेन मैत्रस्याव्यवहारेऽपि स्वज्ञानेनैव घटे ब्रह्मणि चापरोक्षव्यवहारसंभवेन व्यर्थविशेषणत्वासंभवयोरभावात् । द्वितीये चैत्रज्ञाने तादृग्व्यवहाराभावेऽपि क्षत्यभावात् । अस्माकमपि हि चित्तिरेव स्वप्रकाशा, ननु चैत्रज्ञानत्वेन व्यपदिश्यमानवृत्त्युपहितचिदपि; वृत्तेरस्वप्रकाशत्वात् । एवं च सर्वप्रमातृन् प्रति तादृग्व्यवहारविषयतायोग्यत्वमपि सङ्गच्छत एव । ननु—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तद्योग्यत्वं च व्याहृतम्, तदपरोक्षव्यवहारे तद्विषयकस्फुरणस्य हेतुत्वादिति—चेन्न; अन्यत्र तद्विषयस्य तद्व्यवहारजनकत्वेऽपि स्फुरणस्य स्वाविषयस्य स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वम्, स्वभावभेदात् । नच घटादावपि तथैवास्तु; तेषामस्फुरणरूपत्वेन तद्विषयत्वं विना नियामकान्तराभावात्, तार्किककल्पितस्यानुव्यवसायस्यापि घटज्ञानज्ञानत्वापेक्षया लघुना घटज्ञानत्वेनैव घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वकल्पनाच्च । ननु—अनवस्थाभिः स्फुरणान्तरानङ्गीकारात् स्वस्यैव स्वविषयत्वमस्तु; अन्यत्र क्लृप्तस्य तद्विषयत्वस्य नियामकस्य त्यक्तमयुक्तत्वात्, अन्यथा प्रमेयत्वस्य स्ववृत्तित्वं विनैव स्वत एव प्रमेयमिति व्यवहारजनकत्वोपपत्त्या केवलान्वयित्वभङ्गप्रसङ्ग इति—चेन्न; अनवस्थया स्फुरणान्तरत्यागवदभेदे भेदनियतस्य विषयविषयभावस्याप्ययुक्ततया त्यागोपपत्तेः, प्रमेयत्वादौ केवलान्वयित्वभङ्गस्येष्टत्वात् । नच—एवं गतिरपि ग्राम इव स्वस्मिन्नपि स्वकार्यं करोत्विति—वाच्यम्; भेदाविशेषात्तन्तुरिव मृदपि पटं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आह—नाप्यपरोक्षेत्यादि । प्रामाणिकेति । भ्रमाजन्येत्यर्थः । व्यर्थविशेषणत्वेति । घटादिवारकस्यावेद्यत्वविशेषणस्य व्यर्थत्वेत्यर्थः । असंभवेति । उक्तस्वप्रकाशत्वलक्षणस्यासंभवेत्यर्थः । सङ्गच्छत एवेति । तथाच व्यवहर्तृनिवेद्यस्य निष्फलत्वादुक्तयोग्यतामात्रं निवेद्यमिति भावः । व्याहृतमिति । ब्रह्मणीत्यादिः । तदपरोक्षव्यवहारे ब्रह्मविषयके अपरोक्ष इति शब्दप्रयोगे । हेतुत्वात् व्यवहारविषयत्वेनापेक्षितत्वात् । घटः अपरोक्ष इत्यादौ घटादाविव ब्रह्मापरोक्षमित्यादावपि ब्रह्मणि स्फुरणतादात्म्यं विषयत्वेनापेक्षितमिति भावः । जनकत्वे विषयत्वे । स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वं स्फुरणमपरोक्षमिति व्यवहारविषयत्वम् । स्वभावभेदात् घटः अपरोक्ष इत्यादौ स्फुरणतादात्म्यं चिदपरोक्षेत्यत्रापरोक्षचिद्व्यक्तिमात्रं विषय इति विषयभेदस्य व्यवहारे स्वीकारात्, 'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति' श्रुत्या स्फुरणतादात्म्याघटितस्यापरोक्षत्वस्य ब्रह्मण्युक्तत्वादिति भावः । नियामकान्तराभावात् तद्व्यवहारस्य विषयान्तराभावात् । 'चैतन्यमपरोक्षमिति' व्यवहारस्याखण्डचिन्मात्रविषयकत्वमेव पदयोः सामानाधिकरण्यविशेषात् तत्र द्वारीभूतोऽपि बोधः चैतन्ये स्फुरणत्वप्रकारकः, ननु स्फुरणविषयत्वप्रकारकः, घटः अपरोक्ष इत्यादेर्व्यवहारस्याप्युक्तहेतोरखण्डार्थत्वेऽपि तत्र द्वारीभूतधीः घटादौ स्फुरणत्वप्रकारकत्वासंभवेन स्फुरणविषयत्वप्रकारिकैवेति भावः । ननु तथापि चितः स्वविषयत्वमावश्यकम्, अन्यथा तदाकारवृत्त्यभावकाले तद्व्यवहारासंभवात् । तार्किकादिभिर्ज्ञानव्यवहारं प्रति ज्ञानज्ञानत्वेन हेतुत्वस्वीकारात्, अतएव तैरनुव्यवसायः स्वीक्रियते, तत्राह—तार्किकेति । कल्पनात् कल्पनौचित्यात् । तथाचानुव्यवसायस्वीकारो व्यर्थः; व्यवसायस्य स्वप्रकाशत्वसंभवात् । अतएव प्राभाकरैस्तथैवोच्यते । नहि व्यवहारकारणान्तरे सति ज्ञानासत्त्वे ज्ञानव्यवहारो विलम्बित इति भावः । विषयभेदेन ज्ञानव्यवहारयोर्न कार्यकारणभावः, येनोक्तगौरवम्, किंतु विषयतया व्यवहारे विषयतया ज्ञानत्वेन हेतुतेत्याशयेन शङ्कते—नन्वनवस्थेति । त्यागोपपत्तेरिति । मन्मतेऽपि विषयतया व्यवहारे असत्त्वापादकाज्ञानानिरूपकत्वस्य तद्व्यक्तिवेन विशेषणतासंबन्धेन हेतुत्वसंभवात् पूर्णानन्दरूपस्योक्ताज्ञाननिरूपकत्वेऽपि चिद्रूपस्य तदनिरूपकत्वेन तत्रेदानीं व्यवहारसंभवात् चित्त्रिविधविषयत्वाभावे क्षतिविरहादिति भावः । निःस्वरूपत्वेन सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं तारूपशून्यत्वेन । तथाच स्वरूपपदं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हार्थकमिति भावः । यथाश्रुते तुच्छस्य तुच्छमेव

करोत्वित्यस्याप्यापत्तेः । स्वभावभेदेन परिहारश्च सर्वत्र समानः । यद्वा—चिदविषयस्वरूपत्वमेव स्वप्रकाशत्वम्; चिदन्यस्य सर्वस्य चिद्विषयत्वानुच्छस्य निःस्वरूपत्वेन नातिव्याप्तिशङ्का । नाप्य-संभवः; स्वात्मनि वृत्तिविरोधेन छिदाया अच्छेद्यत्ववत् स्वस्य स्ववेद्यत्वायोगात् । नच—एवं मिथ्यात्वानुमितेरपि अस्वविषयत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; स्वपरसाधारणस्यैकस्य विषयतानियामकस्य तत्र सत्त्वेन विशेषात् । अतएव यथा छिदादौ परशुसंयोगो न स्वपरसाधारण इति स्वस्मिन्वृत्तिविरोधः, तथा प्रकृतेऽपि । नच—तर्हि छिदाकार्यस्य छिदायामिव चिज्जन्यव्यवहारस्य चित्य-नापत्तिरिति—वाच्यम्; फलदर्शनस्यैव छिदापेक्षया स्वभावभेदनियामकत्वात् । यद्वा—स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं स्वावच्छिन्नसंविदनपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशत्वम् । नच स्ववेद्यत्वेऽप्युपपत्त्या स्वाभिमतप्रकाशत्वानुपपत्तिः; स्ववेद्यत्वस्य बाधितत्वेन तदादायोपपत्त्यसंभवात् । ननु—स्वप्रकाशत्वधर्मस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतव्याघातः, अतात्त्विकत्वे अस्वप्रकाशत्वस्यैव तात्त्विकत्वापत्त्या तत्साधकानुमानादेर्बाध इति—चेन्न; स्वरूपत्वस्योक्तत्वात् । नच—परेषामिदमिष्टम्; वेद्यत्वविरोधिस्वरूपस्य परैरनङ्गीकारात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः ॥

अथानुभूतिस्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ।

नच प्रमाणाभावः; अनुभूतित्वहेतोर्व्यतिरेकिण एव प्रमाणत्वात् । ननु—अत्र साध्याप्रसिद्धिः, नच—वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वादित्यनुमानेन सामान्यतः प्रसिद्धिरिति—वाच्यम्; अवेद्यत्वप्रसिद्धावपि विशिष्टसाध्याप्रसिद्धेः तदवस्थत्वात् । नचानुभूतित्वेनापि तावदेव साध्यम्; वेद्यत्वस्य वृत्तिव्याप्यत्वरूपत्वे तदभावस्य चरमवृत्तिव्याप्यानुभूतौ बाधात्, फल-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वरूपमित्यसङ्गतिः । स्वात्मनि स्वस्वरूपे । वृत्तिविरोधेन स्वप्रतियोगिकसंबन्धविरहेण । एकस्येति । ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वे सति तुच्छब्रह्मान्यत्वस्येति शेषः । तथाचैकरूपेण संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरभावेऽप्युक्तरूपेण विषयतासंबन्धे अनुयोगित्वं, मिथ्यात्वानुमितित्वेन च प्रतियोगित्वमव्याहृतमिति भावः । छिदादौ छिदां छिनत्तीत्यादौ । परशुसंयोगः छिदाकर्मत्वम् । स्वपरसाधारणः छिदात्वान्यरूपेण । स्वस्मिन् छिदायाम् । वृत्तिविरोधः छिदां प्रत्यकर्मत्वम् । फलदर्शनस्येति । छिदायां तत्कार्यं प्रत्यक्षादिकं स्यादेव, द्वैधीभावादिकार्यं तु न तत्र भवति, नहि सर्वं चित्कार्यं चिति भवति; चिज्जन्यस्य घटादिव्यवहारस्य चित्यभावात् । तस्मात् फलदर्शनमेव नियामकमिति भावः । स्वव्यवहारेत्यादि । स्वव्यवहारे स्वान्यसंविदपेक्षं यत् तदन्यत्वमित्यर्थः । ननु स्वातिरिक्तसंविदपेक्षत्वं चित्यपि वर्तते, व्यवहारमात्रे असत्त्वापादकाज्ञानाभावव्यक्तित्वेन हेतुत्वात्, तदुपहितस्य चिद्रूपत्वेऽपि शुद्धचिदन्यत्वादत आह—स्वावच्छिन्नेति । स्वविषयकेत्यर्थः । तथाच उक्तोपहितचितः शुद्धचिदविषयकत्वात् लक्षणं शुद्धचित्यक्षतमिति भावः । उपपत्त्या उक्तप्रथमलक्षणोपपत्त्या । स्वाभिमतेति । अवेद्यनिष्ठेत्यर्थः । स्वरूपत्वस्य उक्तानधिकरणत्वोपलक्षितस्वरूपस्य । इत्थं चोक्तयोग्यत्वोपलक्षितस्वरूपस्यापि लक्षणत्वं संभवतीति ध्येयम् । तर्कैरित्यादि—स्वप्रकाशत्वलक्षणम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणम् ॥

प्रमाणाभावः स्वप्रकाशत्वे मानाभावः । साध्याप्रसिद्धिरिति । वेद्यत्वस्य ब्रह्मणि सन्देहात् घटादौ च निश्चयात् शुक्तिरूप्यादौ तु विशेष्यदलस्यानिश्चयात् उक्तात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपे विशेष्यदले वेद्यत्वाभावसामानाधिकरण्यं निश्चेतुमशक्यमिति भावः । विशेष्यदलवत्त्वेन निश्चिते घटादौ वेद्यत्वनिश्चयेऽपि तस्य 'घटो वेद्यत्वाभावसामानाधिकरणवा'नित्यादिधीविरोधित्वेऽपि 'उक्तात्यन्ताभावानधिकरणत्वमवेद्यत्वसामानाधिकरण'मिति निश्चयाविरोधित्वादुक्तनिश्चयसंभवेन स्वप्रकाशत्वव्यतिरेकव्याप्तिनिश्चये बाधकाभावात् । नहि उक्तात्यन्ताभावानधिकरणत्वमवेद्यत्वासामानाधिकरणमिति निश्चयोऽस्ति; घटाद्यवच्छेदेन तत्सत्त्वेऽपि ब्रह्मावच्छेदेन तदसत्त्वात् ब्रह्मावच्छेदेन सामानाधिकरण्यनिश्चयसंभवात् । नच—ब्रह्मण्यवेद्यत्वसंशये ब्रह्मावच्छेदेनोक्तसामानाधिकरण्यस्यापि सन्दिग्धत्वेन निश्चयासंभव इति—वाच्यम्; तावतापि अवच्छेदकविशेषानन्तर्भावेन निश्चये बाधकाभावात्, शब्दादिनोक्तसामानाधिकरण्यस्य ब्रह्मावच्छेदेनापि निश्चयसंभवात्, प्रत्यक्ष एव ग्राह्यसंशयप्रतिबन्धकत्वस्य प्राचीनसंमतत्वादिति तु विभावनीयम् । विशिष्टसाध्येति । किञ्चिन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वनिश्चयेऽपि विशेष्यदलाधिकरणे ब्रह्मणि घटादौ वा वेद्य-

व्याप्यत्वरूपत्वे तु तदभावस्य मम घटादौ तव धर्मादौ शुक्तिरूप्यादौ च पक्षभिन्ने प्रसिद्धत्वेनासाधारणानैकान्तिकतापत्तेः, अस्वप्रकाशत्वरूपत्वे प्रतियोग्यप्रसिद्धाऽप्रसिद्धिरेव । किंचात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कुतश्चिद्व्यावर्तते चेत्, तत्रैव व्यभिचारः, न चेदत्र व्यभिचार इति—चेन्न; चिद्विषयस्वरूपत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमनुभूतित्वेन यदा साध्यते, तदा वेद्यत्वं चिद्विषयत्वमेव चिदन्यमात्रवृत्ति पक्षः, अत्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपत्वं साध्यम् । यथा च वृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयता घटादौ न ब्रह्मणि, तथोपपादितमिति नासाधारण्यबाधौ । नाप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे व्यभिचारः; अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य सिध्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगिन्येव अत्यन्ताभावप्रतियोगितया यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य केवलान्वयित्वाभावात् । नच—एवं ब्रह्मणि चिद्विषयत्वेऽपि तदत्यन्ताभावोपपत्त्याऽर्थान्तरं घटादावप्येवं साध्यसत्त्वेनासाधारण्यं चेति—वाच्यम्; चिद्विषयत्वविरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपस्य साध्यत्वान्नार्थान्तरासाधारण्ये, घटादौ तयोः सहावस्थित्या अविरोधात्, ब्रह्मणि विरोधात् । नच तर्हि विरोधित्वांशमादाय पुनरप्रसिद्धिः । वेद्यत्वं, विरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटवदिति प्रसिद्धिसंभवात् । यदा तु अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं पूर्वानुमाने साध्यं, तदा फलव्याप्यत्वरूपं वेद्यत्वं पक्षः, अपरोक्षव्यवहारयोग्यकिंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यम् । तथाचापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वसमानाधिकरणावेद्यत्वस्य सामान्यतः प्रसिद्ध्या नाप्रसिद्धविशेषणत्वासाधारण्ये । अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यादिविकल्पनिबन्धनदोषः परिहृत एव । एतेन—अयं घटः, एतद्वटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः, पदार्थत्वादित्यादिमहाविद्ययापि साध्यप्रसिद्धिः । नच वेद्यत्वानिरुक्तिः; चिद्विषयत्वमात्रस्य स्वप्रकाशरूपत्वे चिद्विषयत्वस्यैव वेद्यत्वरूपता, प्रथमपक्षे तु फलव्याप्यत्वमेव वेद्यत्वम् । नच तर्हीतीन्द्रियान्यत्वेनार्थान्तरं सिद्धसाधनं वा; अपरोक्षव्यवहारविषयत्वसमानाधिकरणस्यैव विवक्षितत्वात् । नचायं घटः, एतद्वटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वानधिकरणम्, पदार्थत्वादिति प्रकरणसमता; श्रुत्यादिरूपानुकूलतर्कसद्भावेन स्थापनाया अधिकबलत्वात्, प्रतिपक्षनिबन्धनसाध्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वस्याभावानिश्चवात् विशेष्ये विशेषणसमानाधिकरण्यं न निश्चितमिति भायः । प्रसिद्धत्वेन निश्चितत्वेन । असाधारणानैकान्तिकतेति । निश्चितसाध्यवद्व्यावृत्तत्वरूपासाधारण्यात्मकानैकान्तिकतेत्यर्थः । तत्रैव यतो व्यावर्तते तदवच्छेदेन । व्यभिचारः धर्मत्वहेतावत्यन्ताभावप्रतियोगित्वव्यभिचारः । अत्र अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वावच्छेदेन । व्यभिचारः धर्मत्वहेतावुक्तव्यभिचारः । अनुभूतित्वहेतोश्चिद्विषयत्वाभावरूपसाध्यवत्त्वेन निश्चिताव्यावृत्तिरूपमसाधारण्यं नास्तीति सूचयति—चिदन्यमात्रवृत्तीति । व्यभिचार इति । यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रेत्यादिः । प्रतियोगिन्येवात्यन्ताभाव इति । प्रतियोगिनिष्ठात्यन्ताभावेत्यर्थः । प्रतियोगितयेति । अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वे इति शेषः । केवलान्वयित्वाभावात् अत्यन्ताभावप्रतियोगित्ववत्त्वात् । तथाच प्रतियोगिविरोधिन एव साध्याभावस्य व्यभिचारघटकत्वादत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन समानाधिकरणस्तदभावो न व्यभिचारसम्पादक इति भावः । यत्त्वबाधितो यः स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वस्य सिध्यात्वरूपत्वात् यत्राबाधितः स्वात्यन्ताभावः तत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य बाधितत्वात् धर्मत्वहेतोस्तत्र व्यभिचारस्तदवस्थ इति रोदनं, तन्मन्दभाग्यत्वात्; अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य व्यावहारिकस्यैव धर्मत्वेनानुमेयतया तदाश्रये तद्विरोधिनस्तदत्यन्ताभावस्यास्वीकारेणान्वयिचारात् । साध्यत्वात् चिद्विषयत्वे साध्यत्वात् । पुनरिति । चिद्विषयत्वानधिकरणवृत्तित्वरूपोक्तविरोधित्वस्य निश्चयासंभव इति भावः । विरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगीति । प्रतियोगित्वं स्वाश्रयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं चेत्युभयसंबन्धेनात्यन्ताभाववदित्यर्थः । एतेन—कस्यचिद्विरोधित्वनिवेशे उद्देश्यासिद्धिः, स्वविरोधित्वनिवेशे स्वत्वानुगमः, चिद्विषयत्वविरोधित्वनिवेशे अप्रसिद्धिरित्यादि—परास्तम् । प्रतियोगीत्यादीति । प्रतियोगी न वा । आद्ये यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी तत्र, द्वितीये उक्तप्रतियोगित्वे व्यभिचार इत्यर्थः । एतेन वेद्यत्वे अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वानुमानेन वेद्यत्वानधिकरणादिप्रसिद्धिसंभवेन एतद्वटान्यत्वे सतीत्यादि । एतद्वटान्यत्वसमानाधिकरणं यद्वेद्यत्वं, तदनधिकरणादन्य इत्यर्थः । घटादौ दृष्टान्ते पक्षस्वरूपादुक्तानधिकरणात् भेदमादाय साध्यप्रसिद्धिः, पक्षे तु साध्यस्य पूर्ववसानं न पक्षात् भेदमादाय; बाधात्, नापि पटात् भेदमादाय, तस्योक्तानधिकरणरूपत्वाभावात् । नाप्यतीन्द्रियात् भेदमादाय; अपरोक्षप्रमाणवृत्तिविषयत्वसमानाधिकरणस्योक्तानधिकरणत्वस्य साध्ये निवेद्यत्वेन वक्ष्यमाण-

सन्देहेऽपि संशयरूपसाध्यप्रसिद्धेरनिवारणाच्च । नाप्यसिद्धिः; अनुभूतित्वजातेः कल्पितव्यक्तिभेद-
मादाय शुद्धेऽपि सत्त्वात् । नच जातेर्धर्मिसमसत्ताकभेदव्यक्तिसापेक्षत्वनियमः; जात्यन्यूनसत्ता-
कभेदव्यक्तिसापेक्षतयैवातिप्रसङ्गनिरासे धर्मिसमसत्ताकभेदव्यक्तिसापेक्षत्वस्य गौरवकरत्वात्,
समत्वस्यान्यूनानतिरिक्तार्थकत्वात् । नचानुभाव्याभावे अनुभूतित्वायोगः; कदाचिदनुभाव्यसत्त्वे-
नैव तदुपपत्तेः, अन्यथा आसीदित्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यानुभूतित्वापत्तेः । नच—अनुभूतित्वं
विपक्षादव्यावृत्तम्, अनुभूतिशब्दवाच्यानात्मनि सत्त्वादिति—वाच्यम्, अनात्मनि अनुभूतिशब्द-
वाच्यत्वस्यैवाभावात्, वृत्तौ ज्ञानपदस्येवानुभूतिपदस्य गौणत्वात् । अतएव—परोक्षानुभवस्य
पक्षत्वे बाधः, अपरोक्षस्य पक्षत्वे तत्र व्यभिचार इति—निरस्तम्; चित्त्वरूपानुभूतित्वस्य विवक्षि-
तत्वात् । नचाप्रयोजकत्वम्; श्रुत्यनुग्रहसत्त्वात् । नच—अपरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामी-
त्यात्मनो वेद्यत्वग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदात्मानमेवावेदिति श्रुत्या च बाध इति—वाच्यम्; आद्यस्य
साक्ष्यनुभवस्य वृत्तिरूपगुणानुभवविषयत्वात् । नच—‘जानामी’ति ज्ञप्तिविषयत्वमेवानुभूयत-
इति—वाच्यम्; अहमर्थस्य ज्ञप्त्याश्रयत्वायोगेन ज्ञानपदस्य वृत्तौ गौणत्वात्, ‘दुःखं जानामी’त्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वात्, किंतु ब्रह्मस्वरूपादुक्तानधिकरणात् भेदमादाय । तद्वदान्यस्य ब्रह्मणश्चोक्तानधिकरणत्वं वेद्यत्वानधिकरणत्वा-
देवेति तत्रानुमानपर्यवसानम् । नच—उक्तानधिकरणत्वेन भेदो न साध्यः; पक्षस्याप्युक्तानधिकरणत्वेन बाधात्,
उक्तानधिकरणप्रतियोगिकभेदस्तु उक्तानधिकरणकुड्योभयत्वादिना भेदरूपोऽपीति न ब्रह्मावेद्यत्वपर्यवसानमिति—
वाच्यम्; तत्पर्यवसानायैव स्वप्रतियोग्यवृत्तिभेदस्य साध्यत्वादिति भावः । पदार्थत्वात् पदजन्यधीविषय-
त्वात्, विषयत्वादिति यावत् । तस्य उक्तानधिकरणत्वस्य । अत्र सत्यन्तानुक्तौ परेण वेद्यत्वानधिकरणाप्रसिद्धि-
रुद्धान्येतत्तदुक्तम् । उक्तसाध्यानधिकरणत्वसाध्यकानुमानमाशङ्क्य निषेधति—नचेत्यादि । पदार्थत्वात्
एतद्वदत्वात् । तथाचाव्यभिचारी हेतुः; यथाश्रुते पटादौ व्यभिचारात् । एतद्वद्वत्समानाधिकरणत्वेन वान्यत्वान्तं
विशेषणीयम् । तेन यथाश्रुतेऽपि न व्यभिचारः । अप्रसिद्धप्रतियोगिकस्याप्यभावस्य परैः स्वीकारादेतद्वद्वत्त्व-
विशिष्टस्यान्यत्वान्तस्याप्रसिद्धावपि न क्षतिः । नच—पूर्वानुमानं प्रति विशिष्टाभावसाध्यकानुमानं न सत्प्रतिपक्ष
इति—वाच्यम्; एतद्वद्वत्स्वरूपविशेषणवति विशिष्टाभावज्ञानस्य विशेष्याभावविषयकत्वादेकविशेषबाधे सामान्यधीज-
नकसामग्र्या विशेषान्तरधर्मप्रकारकधीजनकत्वात् । यत्तु एतद्वद्वत्वे सतीत्येवात्र पाठः, नतु एतद्वदान्यत्वे सतीति,
तथाच सत्यन्तं वेद्यत्वविशेषणमिति न घटादौ व्यभिचार इति, तत् न शोभते; एतद्वदान्यत्वविशिष्टवेद्यत्वानधिक-
रणत्वघटितसाध्यकपूर्वानुमाने एतद्वद्वत्त्वविशिष्टवेद्यत्वानधिकरणत्वघटितसाध्यकानुमानेन सत्प्रतिपक्षासंभवात्, पूर्वानु-
मानसाध्यविरोधिसाध्यकानुमानस्यैव सत्प्रतिपक्षत्वात् । अथ—नायं सत्प्रतिपक्षः, किंतु पूर्वानुमानसमाभास-
इति—चेन्न; त्वदीयमूले उक्तानुमानमुक्त्वा इति प्रकरणसमत्वादित्युक्तेः, तस्मान्मौढ्यं स्वीयं साधु प्रकटितं त्वया ।
संशयरूपेति । नच—संशयरूपप्रसिद्ध्या विशेषणतावच्छेदकानिश्चयेन साध्यतावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्यबोधात्मकव्या-
प्तिज्ञानासंभव इति—वाच्यम्; विशेषणतावच्छेदकनिश्चयस्य विशिष्टवैशिष्ट्यधीहेतुत्वाभावस्योक्तत्वात् । असिद्धिः
स्वरूपाशत्वसाधकानुभूतित्वासिद्धिः । अनुभूतेरेकव्यक्तित्वेन जातिमत्त्वासंभवात् कल्पितभेदेन व्यक्तिभेदेऽपि वृत्त्युप-
हितचैतन्य एवानुभवत्वसत्त्वेन शुद्धे तदभावादसिद्धिः । शुद्धेऽपीति । उपहितवृत्तेः शुद्धेऽपि वृत्तिरविरुद्धेति भावः ।
अनतिरिक्तार्थत्वात् अनतिरिक्तकालार्थकत्वात् । अभावादिति । उपहितचित्तोऽप्यात्मस्वरूपस्वरूपाशत्वभिन्न-
त्वेन तत्र न व्यभिचार इति भावः । तत्र परोक्षानुभवे । चित्त्वरूपेति । उपहितानुपहितचिन्मात्रवृत्तीत्यर्थः । यथा
हि उपलक्षितस्वरूपात्मकं लक्षणं ज्ञानविशेषविषयत्वादिरूपेण शुद्धान्यत्वात् शुद्धस्य लक्षणं, तथोपहितेऽपि तत्तादा-
त्म्यसत्त्वात्तस्यापि लक्षणम् । शुद्धोपहितभावेन तादात्म्यस्यैव प्रकृते लक्षणतावच्छेदकसंबन्धत्वात् । वस्तुतस्तु—
अनुभूतिपदजन्यधीविशेषविशेष्यत्वस्यानुभवान्यविशेष्यकधीविशेष्यत्वपर्यवसितस्य हेतुत्वं संभवतीति न कापि शङ्का ।
व्यभिचारवारणाय विशेष्यकान्तम् । अनुभवत्वं चात्मस्वरूपत्वम् । विषयत्वमात्रं परमते आत्मत्वादावपीति विशेष्यत्वं
हेतुः । चिन्मात्रविषयकधीस्तु परस्य न प्रसिद्धेति तद्विषयत्वं न हेतुरिति बोध्यम् । श्रुत्यनुग्रहेति । ‘न दृष्टेर्दृष्टारं
पश्येः’ । ‘येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयादि’त्यादिश्रुत्यनुग्रहेत्यर्थः । व्यवहारं प्रति न वृत्तिविषयत्वं प्रयो-
जकम्; विद्यमानसुखादौ तत्कल्पने गौरवात्, नापि चिद्विषयत्वम्; वृत्तिं विनापि घटादौ तदापत्तेः, नाप्यसत्त्वा-
पादकाज्ञानानिरूपकत्वे सति चिद्विषयत्वम्; विशेष्यवैयर्थ्यादिति चितः चिद्विषयत्वे वृत्तिसापेक्षव्यवहारकत्वे च
मानाभावः । तत्त्वज्ञाननाश्रयतावच्छेदकं चिद्विषयत्वम् । चिदन्यत्वं तु चिद्विषयत्वात् नातिरिक्तम् । लाघवादिख्यादि-

दावपि दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षितत्वाच्च, द्वितीयस्य चाहमर्थविषयत्वात्तदनात्मत्वस्योक्तत्वात्, श्रुतेश्चोपनिषज्जन्यवृत्तिरूपवित्तिविषयत्वावगाहितया चिद्विषयत्वस्य फलव्याप्यत्वस्याविषयीकरणात् । नाप्यनुभूतिः, स्फुरणविषयः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्, घटवत्, चैत्रीयानुभूतिः, चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञसि विषयः, चैत्रापरोक्षव्यवहारविषयत्वाद्घटवत्, चैत्रीयानुभूतिश्चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञस्य विषयो नावतिष्ठते, चैत्रं प्रत्यप्रकाशमानत्वरहितत्वात्, चैत्रेच्छावदिति सत्प्रतिपक्षत्वम्; स्फुरणप्रयुक्तव्यवहारशालित्वरूपस्य विषयत्वस्य मयाप्यङ्गीकारेण सिद्धसाधनात्, तदन्यस्य स्वस्मिन्वृत्तिविरोधेन बाधात्, जडत्वस्योपाधित्वाच्च, परवेद्यत्वे अनवस्थानात् स्ववेद्यत्वस्य विरुद्धत्वात् । ननु—स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वं कथं विरुद्धम्? न तावत्स्वजनकेन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्; स्वाजनकत्वाद्वा; नित्यचिद्विषयत्वस्य तद्वयं विनैव घटादौ सत्त्वात्, नापि विषयविषयिभावसंबन्धस्य द्विष्टत्वात्; अतीतारोपितात्यन्तासतां ज्ञानदर्शनेन तस्य उभयानिष्टत्वात्, नापि क्रियात्वकर्मत्वयोर्विरोधात्; कृत्यादिविशेषस्य कार्यत्वाददर्शनात्, नापि विषयिणो विषयत्वे कर्तुः कर्मतापातात्; मिथ्यात्वानुमित्यादेर्विषयिण्या एव विषयदर्शनात्, मामहं जानामीत्यनुभवदर्शनेन च 'तदात्मानमेवावे'दिति श्रुत्या च कर्तुः कर्मत्वाविरोधात् । एवं च परसमवेतक्रियाफलशालित्वं न कर्मत्वम्, किंतु क्रियाविषयत्वादिकम्, तच्चाभेदेऽप्युपपाद्यमिति—चेत्, मैवम्; विषयविषयिभावस्य संबन्धत्वेन भेदनियतया स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वस्य विरुद्धत्वात् नह्युक्तातीतादिस्थले भेदो नास्ति । अतएव कृतिः कृत्यन्तरं प्रति इच्छा इच्छान्तरं प्रति व्यवहृतिः व्यवहृत्यन्तरं प्रति अभिधा अभिधान्तरं प्रत्येव विषयः, नतु स्वात्मानं प्रतीति न स्वविषयत्वे किंचिदुदाहरणमस्ति । ननु—गत्यादौ गत्यन्तराविषयत्वेऽपि वस्तूनां विचित्रस्वभावत्वात् कृत्यादौ कृत्यन्तरादिविषयत्ववत्

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तर्का अपि बोध्याः । जानामीतीति तृतीयान्तम् । आत्मनो वेद्यत्वग्राहिणा 'मामहं जानामी'त्याकारकेण । चकारः शेषः । तथाचापरोक्षानुभवं जानामीत्यनेन मां जानामीत्यनेन च प्रत्यक्षेण श्रुत्या च बाधो न चेति वाक्यार्थः । वृत्तेरेवेति । सुखादौ वृत्त्यनङ्गीकारपक्षेऽपि न दोषः; असत्त्वापादकाज्ञानानिरूपकत्वाधिकरणत्वप्रयोजकचित एव जानात्यर्थत्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थायामुक्तत्वेन सुखाद्यवच्छिन्नचिद्रूपेणोक्तप्रयोजकचितस्तेन रूपेणाहमर्थाश्रितत्वात्, साक्षिविषयत्वाच्च । अहमर्थविषयत्वात् अहमर्थगोचरवृत्तिविषयकसाक्षिरूपत्वात् । चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यज्ञसि विषयत्वं साध्यम् । उक्तयोग्यतावच्छेदकं तु चैत्रं प्रत्यपरोक्षविषयत्वमिति ज्ञापनायापरोक्षेत्युक्तम् । चैत्रं प्रत्यपरोक्षत्वं च चैत्रनिरूपिताज्ञानशून्यत्वम् । तथाच चैत्रीयाज्ञानशून्यज्ञसिविषयत्वमेव साध्यम्, पूर्वानुमाने तु अज्ञाननाशोपहितज्ञसिविषयत्वमिति भेदः । यद्यपि ज्ञसिविषयत्वमात्रसाधनेनापि ज्ञसिरूपचिद्विषयत्वानुमाने सत्प्रतिपक्षताभवत्येव; तथापि परमते अनुभूतेर्नानात्वेन चैत्रीयाद्यनुभूतौ चैत्रीयाद्यपरोक्षज्ञसिविषयत्वेनैव साध्यपर्यवसानम् । किंच यद्यपरोक्षज्ञसिविषयो न स्यात्, तदापरोक्षव्यवहारविषयो न स्यादिति तर्कस्यापरोक्षत्वान्तर्भावेनैवावतारः । परमते अपरोक्षव्यवहारे अपरोक्षज्ञसिविषयत्वस्य प्रयोजकत्वादिति तदन्तर्भावेनैव साध्यमुक्तम्; चैत्रीयानुभूतौ नोक्तज्ञसिविषयत्वम्; तदीयेन्द्रियसन्निकर्षानाश्रयत्वात्, मनसोऽनिन्द्रियत्वादित्याशङ्क्य नित्यस्य साक्षिण एव स्वस्वेतरविषयकत्वसंभवात् नैवमित्याशयेनाह—चैत्रेत्यादि । नावतिष्ठत इति । तथाचानुभूतिसत्ताकाले सर्वदा तत्रापरोक्षज्ञसिविषयत्वात् सा नेन्द्रियसन्निकर्षजन्येति भावः । जडत्वस्येति । बाधोन्नीतत्वस्योक्तत्वेन पक्षेतरत्वरूपत्वेऽपि न क्षतिः । स्वाजनकत्वात् स्वं प्रति विषयविधया जनकत्वासंभवात् । संबन्धस्य संबन्धसामान्यस्य । आरोपितात्यन्तासतामिति । यद्यपि मन्मते आरोपितं विद्यमानमेव; तथापि परमते तस्यात्यन्तासत्त्वात् परस्य प्रकृते तदुक्तिर्नासङ्गता । नच—अत्यन्तासतः पृथगुक्तिः तथाप्यसङ्गतेति—वाच्यम्; अमविकल्परूपद्विविधज्ञानविषयत्वप्रदर्शनार्थं तथोक्तत्वात् । तथाच ज्ञानकालावच्छेदेन तद्विषयत्वस्य तत्रासंभवः । नहि तदसंबन्धकालस्तदवच्छेदकः । नापि तत्कालानवच्छिन्नं तद्विषयत्वं तत्र संभवति; सार्वदिकत्वापत्तेरिति भावः । भेदनियततयेति । अन्यथा तद्व्यक्तिः संयोगादिसंबन्धेन स्वविशिष्टेत्यपि प्रमा स्यात् । तद्व्यक्तिनिष्ठया संयोगादिप्रतियोगितया निरूपितमनुयोगित्वं न तद्व्यक्ताविति तु विषयत्वेऽपि तुल्यमिति भावः । स्वात्मानं स्वमात्रम् । स्वविषयत्वे स्वमात्रविषयकत्वे । सुखप्रयोजककृतित्वादिना कृत्युद्देश्यतादिस्थले तु स्वभिन्नसाधारणधर्मावच्छिन्नकृत्यादेर्विषयत्वं स्वस्मिन्नविरुद्धम् । नहि तत्र विषयतायाः प्रतियोगित्वमुक्तकृतित्वादिना, किंतु तत्तत्कृतित्वादिना । तथाच भिन्नधर्मावच्छिन्नयोर्भेदेन संबन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वयोर्नासंभवः । एतेन—सुखप्रयोजककृत्युद्देशेन देवताराधनादौ या कृति

अनुभूतेरपि स्वविषयत्वमस्तु, अन्यथा स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वमपि न स्यात्, व्याप्तिज्ञानानुमित्यादेः स्वाविषयत्वे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरनुमितिमिथ्यात्वं च न स्यादिति—चेन्न; व्यवहारोपपादनार्थं स्वविषयत्वस्वभावकल्पनापेक्षया स्वाविषयत्वेऽपि स्वव्यवहारजनकत्वस्वभावत्वमेव कल्प्यताम्, लाघवात्, तावतैव तदुपपत्तेः, व्याध्यनुमित्यादेस्तु अवच्छेदकैक्यलाभात्तथात्वमित्युक्तत्वाच्च । एवं च क्रियाकर्मत्वविरोधादपि न स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वम् । मिथ्यात्वानुमितेश्च न स्वकर्मता; परोक्षस्याकर्मत्वात् । यदुक्तं कर्तुरेव कर्मत्वं, तदयुक्तम्; उदाहृतमिथ्यात्वानुमित्यादेरकर्मत्वात्, मामहं जानामीत्यादौ साक्षिणः कर्तृत्वादहमर्थस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तस्याः सुखहेतुत्वे मानाभावेऽपि सुखप्रयोजकत्वात् स्वयमपि विषयः, एवं सदिच्छा भवत्वितिच्छायां यज्ञादीच्छेव स्वयमपि विषय इत्यादि—परास्तम्; ननु—चितोऽप्यावरणाभावाद्युपहितचितो भेदात्तद्विषयत्वमास्ताम्, तथाच चिद्विषयत्वानुमानं प्रत्युपहितचिद्विषयत्वानुमानेन सत्प्रतिपक्षतेति—चेन्न; अधिष्ठानीभूतशुद्धचित्प्रतियोगिकस्याध्यस्तानुयोगिकस्य तादात्म्यस्यैवाध्यात्मिकसंबन्धशब्दितस्याध्यस्तसामान्यभासकतानियामकत्वम्, घटादौ त्वधिष्ठानस्य तादात्म्यमध्यस्तम्, नत्वधिष्ठाने घटादेः, अतएव साक्षिणोऽपि घटाद्यधिष्ठानचिदैक्यापत्त्या तद्वारा भासकत्वम् । अतएव तस्यैव विषयतात्वम् । तथाचोपहितचितोऽध्यस्तत्वेन तत्राध्यस्तं शुद्धचित्तादात्म्यमुपहितचितो भासकतानियामकम्, नतु शुद्धचितः । नच—एतादृशनियमे मानाभावादुपहितनिष्ठं तादात्म्यमपि शुद्धभासकमास्तामिति—वाच्यम्; दृक्प्रतियोगिकः संबन्धो यदनुयोगिकः तद्भासक इत्यस्य सर्वसंमतत्वात्, अतीतादावप्यध्यस्तसंबन्धस्वीकारात् । दृक्च मनमते शुद्धचिदेव; नचोपहितनिष्ठं शुद्धस्य तादात्म्यं शुद्धनिष्ठमिति तत्सत्त्वेऽपि चिद्विषयत्वानुमानं निष्प्रतिपक्षमित्याचार्यभावात् । अतएवातीतादिज्ञानस्थलेऽप्यतीतादिविषयस्य सूक्ष्मरूपेण सत्त्वात्तत्तनिष्ठमेव चिद्विषयत्वं तद्भासकतानियामकम् । अत्यन्तासति तु न चितः न वा विकल्पस्य विषयत्वम्, किंतु विकल्पस्यैव तदाकारत्वमित्युक्तम् । अत एव बौद्धाधिकारे मनमते स्थित्वोदयनाचार्यैरुक्तम्—परमार्थतो नानुभवस्य विषयेण संबन्धः, संवृत्या तु गगनस्यैव गन्धर्वनगरेणास्त्येव । स च यथा नैयायिकैर्व्यवस्थापयिष्यते, तादृशः । वेद्यनिष्ठस्त्वसौ अस्मिन्दर्शने इति विशेषः । अविद्यैव हि तथा तथा विवर्तते यथायथानुभवीयतया व्यवहितय इति तथा तथा विवर्तते । अनुभवप्रतियोगिकसंबन्धानुयोगितया घटो ज्ञायते, साक्षात्क्रियते इत्यादि व्यवहितयते । तत्रानुभवरूपशुद्धचित्प्रतियोगिकं तादात्म्यं यन्निष्ठं तद्भासकतानियामकमिति स्पष्टमेवेति ध्येयम् । व्याप्तिज्ञानानुमित्यादेः 'यद्यदभिधेयं, तत्तन्मेयमि'त्यादिज्ञानस्य दृश्यं मिथ्येत्याद्यनुमितेः । सर्वोपसंहारवतीति । सर्वोभिधेयादिघटितेत्यर्थः । अवच्छेदकैक्येति । वस्तुत उक्तज्ञानादेः स्वाविषयत्वेऽपि न क्षतिः । नहि व्याप्तिज्ञानस्य यावान् हेतुः तद्वान् पक्षो विषय इति नियमोऽस्ति । तथाच स्वस्मिन्नसंबन्ध इति सामान्यतो नियमेऽपि न दोषः । ननु—एवं स्वाविषयकज्ञानस्य कथं सर्वोभिधेये व्याप्तिग्राहकत्वं सर्वदृश्ये मिथ्यात्वग्राहकत्वं चेति—चेन्न; स्वाविषयकत्वेऽपि अभिधेयत्वावच्छेदेन यत्किंचिदभिधेये व्याप्तिविषयकतया दृश्यत्वावच्छेदेन यत्किंचिदृश्ये मिथ्यात्वविषयकतया च उक्तव्याप्तिज्ञानरूपमभिधेयं न मेयव्याप्यं मिथ्यात्वानुमितिरूपं दृश्यं सत्यमिति धीविरोधित्वेनोक्तग्राहकत्वव्यवहारादिति ध्येयम् । क्रियाकर्मत्वविरोधात् क्रियास्वरूपकर्मत्वयोर्विरोधात् । स्ववेद्यत्वं चिद्रूपसाक्षात्कारव्याप्यत्वम् । आवरणाभिभवोपहितचिदभिन्नचित्संबन्धप्रयोजकचिद्रूपसाक्षात्कारक्रियाफलत्वेन साक्षात्करोतिधात्वर्थतावच्छेदकत्वेन वोक्तसंबन्धस्यैव तादृशक्रियाकर्मतारूपत्वात् तदाश्रयत्वेनैव घटं साक्षात्करोमीत्यादौ घटादेः कर्मताव्यवहाराच्च तस्य च शुद्धचित्यभावात्, भावे वा घटादिप्रत्यक्षस्थलेऽपि शुद्धचितं साक्षात्करोमीत्यापत्तेः शुद्धचिति न तादृशफलव्याप्यत्वम् । ननु यथा मिथ्यानुमित्यादिक्रियायां स्वकर्मकत्वम्, दृश्यत्वाद्युपहितरूपेण कर्मत्वेऽपि रूपान्तरेण क्रियात्वात्, तथोक्तसंबन्धप्रयोजकतावच्छेदकविशेषोपहितरूपेण क्रियात्वेऽपि शुद्धचिद्रूपेण कर्मत्वमास्ताम्, तत्राह—मिथ्यात्वेति । तथोपहितक्रियाया अनुपहितरूपेऽपि कर्मत्वं कापि न दृष्टम् । नहि संयोगजनकत्वोपहितस्य क्रियात्वेऽपि तदीयानुपहितरूपस्य तत्कर्मत्वमस्तीति शुद्धचिद्रूपेणापि नोक्तकर्मत्वमिति भावः । अकर्मत्वादिति । विवेचितमिदं प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् । क्रियायाः कर्मताविरोधित्वं कर्मत्वानाश्रयत्वं कर्मत्वासामानाधिकरण्यं च; परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वमित्यनेन स्वभिन्नसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वस्यैव कर्मतात्वेनाभियुक्तैरुक्तत्वात् । तथाच ज्ञप्तिर्कर्तृत्वादपि चितो न कर्मत्वम् । नच—साक्षिरूपेण कर्तृत्वेऽपि शुद्धरूपेण कर्मत्वमिति—वाच्यम्; शुद्धेऽपि कर्तृत्वाध्यासात् उपहितकर्तृरनुपहितस्वरूपेऽपि कर्मत्वाददर्शनादित्याशयेन परोक्तज्ञसौ कर्तुः कर्मत्वं दूषयितुमाह—यदुक्तमिति । अकर्मत्वादिति । कर्तुरित्यादिः । यथाश्रुते अनुमित्यादेरकर्तृत्वादप्रसक्तप्रतिषेधः । चित्कर्म वृत्त्युपहितचित्कर्म । यथाश्रुते शुद्धस्योक्तसंबन्धरूपकर्मत्वासंभवः । अथवा—चित्कर्म शुद्धचित् वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तिविषयरूपं गौणं कर्म, नतु ज्ञप्तिं प्रत्युक्तकर्ममिति भावः । भेदघटितेति । स्वभिन्नस-

कर्मत्वात् तदात्मानमित्यादौ चाहमर्थस्य कर्तृत्वाच्चित् कर्म अमेदे तद्व्यादर्शनात् । अतएव न भेदघटितकर्मलक्षणपरित्यागः, क्रियाविषयत्वं तु न कर्मत्वम्; आसनादिक्रियाया अपि आधारादिविषयत्वेन सकर्मकत्वापत्तेः । अथ—अवेद्यत्वेऽवेद्यत्वसाधकप्रमाणवेद्यत्वावेद्यत्वाभ्यां व्याघातः, वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यायोगः, ब्रह्मविचारविधिवैयर्थ्यं, ब्रह्माज्ञाननिवृत्त्ययोगः इत्यादि-प्रतिकूलतर्कपराहतिरिति—चेन्न; चिद्विषयत्वं फलाव्याप्यत्वं वा अवेद्यत्वम्, तस्य तत्साधक-प्रमाणजन्यवृत्तिवेद्यत्वेन व्याहृत्यभावात्, वृत्तिविषयत्वमात्रेणैव वेदान्तप्रामाण्यविचारविध्यज्ञान-निवृत्तीनां संभवाच्च । एतेन—अज्ञाननिवर्तकत्वमात्रेण वेदान्तप्रामाण्ये आत्मनोऽसिद्धिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; आत्मनः स्वतः सिद्धत्वात् । ननु—स्वत इत्यस्य स्वेनैवेत्यर्थं स्वविषयकत्वापत्तिः, प्रमाणं विनेत्यर्थं उपायान्तरस्यानुपन्यासेनासिद्ध्यापत्तिः, अन्यथा नृशृङ्गादेरपि सिद्ध्यापात इति—चेन्न; मानानपेक्षसिद्धेरेव स्वतःसिद्धिशब्दार्थत्वात् । नच नृशृङ्गादावेवं प्रसङ्गः; तदसत्त्वव्यावृत्ति-फलकप्रमाणाभावात्, प्रकृते च वृत्तिविषयतामात्रेण तत्सत्त्वात्, सिद्धिरूपात्मनि सिद्ध इति व्यव-हारस्य सिद्धिप्रयुक्तव्यवहारविषयतया गौणत्वात् । नचैवं मुक्तौ वेद्याभावे वित्तित्वानुपपत्तिः; अनुभूतिन्यायस्यात्रापि सुलभत्वात् । नच स्वाविषयत्वे स्वविषयकसंशयनिवर्तकत्वायोगः; स्वमहिम्नैव स्वधर्मिणि व्यवहारवत् संशयादिविरोधित्वोपपत्तेः । नचाननुगमः; तव विषयतायामिवाननुग-तस्यैव नियामकत्वात्स्वकर्मत्वाभावेऽपि स्वनिर्वाहकतया स्वस्मिन् व्यवहाराद्युपपत्तेश्च । नच स्वनि-र्वाहकपदेन निर्वहणक्रियाकर्तृत्वकर्मत्वोक्त्या विरोधः, स्वातिरिक्तनिर्वाहकानपेक्षत्वमात्रेण स्वनि-र्वाहकत्वोपचारात् । ‘स्वयं दासास्तपस्विन’ इत्यादौ स्वातिरिक्तदासाभावमात्रेण स्वदासत्वव्यपदे-शवत् । नच—स्वनिर्वाहकाध्ययनविधिदीपप्रभादौ स्वस्मिन् कार्यकरत्वं स्वविषयत्वेन व्याप्तमित्य-त्रापि तथेति—वाच्यम्; अध्ययनविधावेकावच्छेदकमात्रेणात्माश्रयानवकाशात्, दीपप्रभादौ स्ववि-षयत्वासिद्धेः । तदुक्तं खण्डने—‘गाङ्गुटादिभ्य’ इत्यत्र बहुव्रीहिः स्वाविषये कुटेऽपि स्वकार्यं करोति । तथेहापी’ति । नच—‘उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थ’ इति कैयटोक्तरीत्या कुटघटि-तसमुदाय एव बहुव्रीहिविषयः स च वैयाकरणानां मीमांसकानां च शक्त्या अन्येषां लक्षणयेत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मवेतक्रियानिष्ठं यद्वातुवाच्यत्वं तदवच्छेदकं यत् तजन्यफलं तच्छालित्वरूपेत्यर्थः । स्वपदं फलशालिपरम् । मध्यस्थं तत्पदं क्रियापरम् । ननु क्रियाजन्यफलशालित्वमेव कर्मत्वमस्तु, तथाच कर्तुरपि ज्ञसिक्रियाजन्यसंस्कारादि-मत्त्वेन कर्मत्वसंभवः, तत्राह—क्रियाविषयत्वमिति । क्रियाजन्यफलवत्त्वमित्यर्थः । आधारादिविषयत्वेन आधारादिनिष्ठफलजनकत्वेन । संयोगविशेषादिरूपासनादिक्रियाया आधारादिनिष्ठध्वंसादिजनकत्वमस्त्येवेति भावः । मानानपेक्षसिद्धेः मानाप्रयुक्तव्यवहारकत्वस्य । एवं प्रसङ्गः व्यवहारप्रसङ्गः । नृशृङ्गादावस्तीति व्यवहार आपाद्यते, नृशृङ्गादिशब्दप्रयोगमात्रम्, इच्छादिकं वा, न द्वितीयः, तत्रेष्टसाधनताज्ञानादिसामग्रीसत्त्वे तस्येष्टत्वात्, न तृतीयः; इष्टसाधनत्वादिज्ञानस्य नृशृङ्गादावभावादिति मनसि कृत्वाऽऽद्यं निरस्यति—तदसत्त्वव्यावृत्तिफल-केति । तस्य नृशृङ्गादेरसत्त्वव्यावृत्तिरस्ति, तद्वाहकेत्यर्थः । असति असत्त्वापादकाज्ञानाभावोपहितचिद्वाहकप्रमाणं नास्तीति भावः । ननु एवं ‘पूर्णानन्दरूपमस्ती’त्यपि व्यवहारो न स्यात्, उक्तचित्संबन्धस्य घटादावभावेनोक्त-संबन्धोपहिताधिष्ठानचित्संबन्धस्यैवास्तित्वरूपत्वेन त्वया वाच्यत्वात्, पूर्णानन्दरूपे च तदभावः, तत्राह—प्रकृते-चेति । पूर्णानन्दरूपे चेत्यर्थः, नतु चिद्रूप इत्यर्थः । वृत्तिं विनापि चिदस्तीति व्यवहारेण वृत्तिविषयतेत्याद्यसङ्गतेः । वृत्तिविषयतामात्रेण वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तिविषयतामात्रेण । उक्तचिदेवोक्तव्यवहारविषयः, नतु तत्संबन्धः । अतएव ब्रह्मास्तीत्यादौ लकारः साधुत्वार्थ इत्युक्तमिति भावः । अथवा—ननु चिद्रूपेऽपि कस्यचिन्नास्तित्वशङ्का-संभवादस्तित्वग्राहकप्रमाणवेद्यत्वं चिद्रूपे वाच्यम्; तथाच प्रमाणफलव्याप्यं तदित्यत आह—प्रकृते चेति । चिद्रूपे चेत्यर्थः । मात्रेणेत्यनेन फलविषयत्वव्यवच्छेदः । न्यायस्य कादाचित्कफलविषयकत्वेनोपपत्तेः । स्वमहिम्ना अज्ञानाभावोपहितस्वमहिम्ना । व्यवहारवत् अस्तित्वादिव्यवहारवत् । संशयादीति । ‘अस्ति न वेत्या’दिसंशये नास्त्येवेत्यादिनिश्चये चेत्यर्थः । अस्तित्वादिव्यवहारे विषयतया प्रयोजकत्वमिव नास्तित्वादिविषयकसंशयानुत्पादे विषया-भावसम्पादकतया तादृशचित् प्रयोजिका; उक्तसंशयादावज्ञानोपहितचित् एव विषयत्वादिति भावः । अननुगमः चित्युक्ताज्ञानशून्यचित्, तदन्यत्र तु तादृशचित्तादात्म्यम्, अस्तीति व्यवहारे नास्तित्वादिसंशयाद्यनुत्पादे च उक्त-रीत्या प्रयोजकमित्यननुगमः । तव सर्वत्रोक्ततादात्म्यस्य तथा प्रयोजकत्वं वदतः ॥ विषयतायाम् उक्तादात्म्ये ।

न्यदेतत्, यथा 'चैत्रशालीया आनीयन्ता'मित्यत्र उपलक्षणस्यापि चैत्रस्य स्वशालास्थस्य तच्छब्द-
विषयत्वं तथा कुटस्यापि पुटादिवदन्यपदार्थभूतसमुदायान्तर्गतस्य बहुव्रीहिविषयत्वोपपत्तेः । तथाच
दृष्टान्तासिद्धिरिति—वाच्यम्; स्वाविषय इत्यस्य औत्सर्गिकविषयान्यपदार्थभिन्न इत्यर्थकत्वम् ।
तथाच स्वपदार्थसंबन्धादन्यत्रैव स्वपदार्थेऽपि यथा तत्र फलं, तथा स्वसंबन्धादन्यत्रैव स्वस्मिन्नपि
चित्फलमित्यत्र दृष्टान्तपर्यवसानात् । स्वविषयव्यतिरेकेण समुदायप्रयोजकरूपेण विषयत्वेऽपि समु-
दायिताप्रयोजकरूपेणाविषयत्वात् स्वाविषयत्वोक्तेर्वा । ननु—एतावता स्वस्मादन्यत्र व्यवहारजनने
तद्विषयत्वं स्वस्मिन् स्वाभेदे एवेति पर्यवसितोऽर्थः, स चायुक्तः; पश्चादन्यत्रैवायं नियम इत्यस्य सर्वत्र
सुवचत्वात्, स्वाभेदे सत्यपि स्वविषय इव स्वस्मिन्विषयत्वव्यतिरेकेण द्वेष इच्छाविरोधित्वस्या-
ज्ञाने स्वावारकत्वस्य स्मृत्यादिरूप परोक्षज्ञाने स्वव्यवहारजनकत्वस्य मैत्रचैतन्ये सुषुप्तौ चैत्रचैत-
न्येन पारमार्थिककाल्पनिकभेदयो राहित्येऽपि तद्व्यवहारजनकत्वस्यादर्शनाच्च, आत्मानं जानामी-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यथा तदभावात्तत्स्वरूपमेव प्रयोजकमित्यननुगमः, तथा ममाप्युक्ताननुगमः । तथाच चिति चित्तादात्म्यमुक्त्वाप्यन-
नुगमो न हातुं शक्य इति भावः । वस्तुतश्चिदस्तीत्यत्र घटोऽस्तीत्यादौ चासत्त्वापादकाज्ञानानिरूपकत्वमेवानुगतो
विषयः । चिदातीत्यत्राज्ञानशून्यचित्, घटो भातीत्यादौ च तदवच्छेदकत्वं विषयः । यत्तु—चिदादिशब्दप्रयोगे
चिदिच्छादौ च चित्स्वरूपं कारणं, घटादिशब्दप्रयोगे घटादीच्छादौ च चित्तादात्म्यमिति कारणाननुगमः, चितश्चिद्विष-
यत्वे तु विषयतासंबन्धेन शब्दप्रयोगादौ चित्तादात्म्यं हेतुरिति—तन्न; चितश्चिद्विषयत्वेऽपि असत्त्वापादकाज्ञाना-
निरूपकत्वमनुगतं तद्धेतुरित्युक्तत्वात्, इष्टसाधनताज्ञानादिना शब्दप्रयोगोपपत्तौ तत्रोक्तहेतुत्वाभावाच्च । यत्तु—
'भूतलं घटवन्न वेत्या'दौ मनआदिकं स्फुरति न वेत्यादौ संशयादावुक्तयोः प्रतिबन्धकत्वाननुगमो दोष इति, तन्न;
उक्तसंशयादेरप्यननुगतत्वात् । अथ संशयत्वाख्यविषयिताविशेषसंबन्धेन ज्ञानत्वेन प्रतिबन्धता, तर्हि तत्राप्यु-
क्तानिरूपकत्वत्वेन प्रतिबन्धकतासंभवात् । उद्भूतावयवभेदः समुदायिभिन्नत्वेनाज्ञातः समुदायभेदेनोपचरितः
समुदायो ज्ञानविशेषविषयः । उपलक्षणस्य 'चैत्रत्वरूपेणोपलक्षणस्य । तच्छब्दविषयत्वे हेतुमाह—स्वशालास्थ-
स्येति । औत्सर्गिकेत्यादि । औत्सर्गिको यो बहुव्रीहिविषयोऽर्थः, तदन्यस्मात् पदार्थात् भिन्न इत्यर्थकत्वमित्यर्थः ।
विशिष्टान्वयस्यौत्सर्गिकत्वेन कुटघटितः समुदाय औत्सर्गिकः, तदन्यः पदार्थः कुटाद्यघटितः समुदायः । अतद्गुण-
संविज्ञानबहुव्रीहिपदलभ्यत्वज्ञापनाय तस्य पदार्थत्वोक्तिः । तदन्यत्वं कुटस्यास्येवेति भावः । ननु तद्गुणसंविज्ञान-
त्वस्यैव मुख्यत्वात् बहुव्रीहिविषयत्वं कुटस्यास्तीत्यतद्गुणसंविज्ञानलभ्यार्थभिन्नत्वकथनं व्यर्थमित्यत्राह—स्वपदार्थेति ।
बहुव्रीहिविषयककुटपदार्थेत्यर्थः । संबन्धात् कुटज्ञानोत्तरं पाठविशेषजन्यज्ञानविषयत्वात् अन्यत्र कुटादिपदपर-
प्रत्यये । स्वपदार्थे कुटपरप्रत्यये । तत्र 'गाङ्गकुटादिभ्य' इति सूत्रे । फलं डित्वविधानम् । कुटज्ञानोत्तरोक्तज्ञान-
विषयत्वेन रूपेण कुटावृत्तिना कुटस्याबोधेऽपि कुटत्वरूपेण कुटस्य विशेषणतया बोधेन तदुत्तरप्रत्ययेऽपि डित्वविधानम् ।
नच—कुटसाधारणेनैकज्ञानविषयत्वेन कुटस्यापि ग्रहणसंभवेन कुटव्यावृत्तोरूपेण बोधोक्तिरयुक्तेति—वाच्यम्;
अतद्गुणसंविज्ञानस्थले कुटव्यावृत्तरूपेणैव बोधस्य वाच्यत्वात्तद्गुणसंविज्ञानस्थलेऽपि तदौचित्यात् ननुक्तस्थलयोर्भिन्न-
रूपाभ्यामन्यपदार्थधीकृतो विशेषः, किंतु कुटस्योपलक्षणत्वविशेषणत्वकृत इति भावः । यत्त्वादिपदघटितो बहुव्री-
हिसद्गुणसंविज्ञान एवेति, तत्तुच्छम्; 'जक्षित्यादयः षडि'त्यादौ व्यभिचारात् । एकज्ञानविषयत्वेन कुटसाधारणे-
नैव कुटस्य बोधेऽपि न दृष्टान्तासङ्गतिरित्याशयेनाह—स्वविषयेति । समुदायप्रयोजकरूपेण समुदायान्तर्गतत्व-
स्वरूपेण । ननु कुटविशेषितसमुदायनिवेशो उक्तरीत्या कुटव्यावृत्तरूपेण कुटादीनां कुटत्वरूपेण विशेषणत्वेन कुटस्य
च बोधोऽस्तु, किं कुटसाधारणरूपेण ? तत्राह—स्वविषयव्यतिरेकेणेति । बहुव्रीहिविषयककुटपदार्थाद्यघटितेनेत्यर्थः ।
समुदायिताप्रयोजकरूपेण कुटत्वेन । तथाच ज्ञानविशेषविषयरूपसमुदायस्य तद्व्यक्तित्वेन लाघवेन निवेशात्
कुटस्याविशेषणत्वेन तत्साधारणरूपेण बोध आवश्यक इति भावः । अतद्गुणसंविज्ञानस्थले रूपान्तरेण बोधे अनुभव-
विरोधेऽपि परोक्तमनुसृत्येदमुक्तम् । एवंच यथा समुदायिताप्रयोगकुटत्वरूपेणाज्ञानेऽपि उक्तधीविषयत्वेन ज्ञानात् कुटे-
कार्यं, तथा शुद्धचिद्रूपेणाज्ञानेऽपि प्रमातृत्वादिरूपेण ज्ञानात् प्रमात्रादाविव शुद्धचिति व्यवहारादिः । न हि शुद्ध-
मात्रं व्यवहियते, किंतु विशिष्टचिद्व्यवहारे शुद्धं विषयः । यदा तु अहं ब्रह्मेत्यादिशुद्धमात्रव्यवहारः, तदा तद्विषयिणी
वृत्तिरप्यस्तीति दृष्टान्ताभावः । स्वाभेदः । प्रयोजक इति शेषः । स्वाभेदे सत्यपीत्यादिबिरोधित्वस्याविषयत्वस्या-
दर्शनादित्यग्रेसंबन्धः । एवमग्रेसपि । तथाच द्वेषादेः स्वविषये यथेच्छाविरोधित्वादिकं न तथा स्वाभेदे सत्यपि स्वस्मि-
न्नित्यर्थः । तत्र हेतुः—विषयत्वव्यतिरेकेणेति । स्वविषयत्वव्यतिरेकेणेत्यर्थः । तद्व्यवहारेति । सुषुप्तचैत्रचैतन्य-

त्यात्माभिन्नज्ञाने स्वविषयत्वानुभवाच्चेति—चेन्न; तर्हि द्वेषादौ स्वाभेदेऽपि स्वविषयत्वादर्शनात् प्रकृतेऽपि तथा स्यात् । अथ—व्यवहाररूपफलदर्शनात् प्रकृत एव स्वाभेदस्यान्यत्रादृष्टमपि स्वविषयतानियामकत्वं कल्प्यत इति—चेत्, तर्हि स्वव्यवहाररूपफलदर्शनादत्रैव स्वाभेदस्य स्वकार्यजनकतानियामकत्वम्, न द्वेषादौ; तथा फलादर्शनादिति समः समाधिः । नच—अत्र गृहीततद्विषयत्वस्य तूष्णीं त्यागे सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति—वाच्यम्; तद्विषयत्वत्यागबीजस्य बाधकस्य प्रागेवोक्तत्वात्, सर्वत्र तस्याभावात् । यत्तूक्तं मैत्रचैतन्य इत्यादि, तन्न; तदैकविरहकाले मैत्रचैतन्य इत्यस्यैवाभावात्, साक्षिचैतन्येन व्यवहारापादनस्येष्टत्वात् । यदि च संस्कारात्मनाऽवस्थितान्तःकरणं तदापि भेदकम्, तदा भेदस्यैव सत्त्वाच्च । यत्तूक्तमात्मानमित्यादि, तदपि न; अहमर्थाश्रितवृत्तिरूपज्ञानविषयत्वस्यैव तत्रानुभवात् । नच घटः स्वप्रकाशः, घटत्वादित्याभाससाम्यम्; प्रयोजकत्वपरिहारेण परिहृतत्वात्, घटे स्फुरणाभेदतद्विषयत्वयोरभावे व्यवहाराभावप्रसङ्गेन साम्याभावाच्च । ननु—अनुभूतिपदेन वृत्तेः पक्षत्वे बाधः, तदन्यस्याश्रयासिद्धिरिति—चेन्न; वृत्तेर्जडतया अप्रकाशत्वे प्रकाशत्वं यत्र विश्राम्यति तस्यैव पक्षत्वात्, प्रतिकर्मव्यवस्थायामेव वृत्त्यतिरिक्तानुभवस्य साधनाच्च । एवंच—त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वज्ञानं, त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्; विवादपदानि ज्ञानानि, घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि, ज्ञानत्वात्, घटज्ञानवदित्यपि—साधु । नच—त्वज्ज्ञानं, त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्, घटज्ञानं, पटज्ञानान्यत्वे सति चिद्विषयत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात्, पटज्ञानवदिति च यथायोग्यं प्रकरणसमतेति—वाच्यम्; विपक्षे बाधकस्योक्तत्वेन स्थापनाया अधिकबलत्वात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धावनुभूतेः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ॥

अथात्मस्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ।

एवं च चिदभिन्नस्यात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं चिद्रूपत्वात् साधनीयम् । यथाच नात्मनि चिद्रूपत्वासिद्धिः, तथोपपादितम् । उपपादयिष्यते च श्रुत्या । नच 'विज्ञाता प्रज्ञाते'ति श्रुतिविरोधः; वक्ष्यमाणानेकश्रुतिविरोधेन तस्याः वृत्तिरूपज्ञानाश्रयत्वपरत्वात् । यत्तु विद्यासागरोक्तं 'विमतं ज्ञानं भिन्नाश्रयविषयकं, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्, विमतं न स्वाश्रयविषयकं, गुणत्वात्, अण्यौष्ण्यादिवदि'ति स्वप्रकाशत्वसाधनं, तत् पररीत्या; असन्मते स्वप्रकाशे ज्ञानत्वस्यात्मन्यभावात्

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्यवहारेत्यर्थः मैत्रचैतन्य इत्यनुषज्यते । ज्ञाने साक्षिणि । जनकतानियामकत्वं जनकताव्याप्यत्वम् । अज्ञानविशेषानिरूपकत्वादेरेव तत्तत्कार्यहेतुत्वेनोक्तत्वात् चैत्रचैतन्य इत्यस्य मैत्रचैतन्ये चैत्रचैतन्यव्यवहारजनकत्वापत्तेरभावात् । असंभवात् त्वज्ज्ञानमित्यादि बोध्यत्वानधिकरणत्वस्य दृष्टान्ते अभावात् । सत्यन्तं वेद्यत्वविशेषणम् । अवेद्यत्वानधिकरणत्वस्य दृष्टान्ते परैरस्वीकारात् सत्यन्तमवेद्यत्वविशेषणमाह—त्वदपरोक्षेत्यादि । एवमप्रेषि । सत्यन्तं चिद्विषयत्वे विशेषणम् । तर्कैरित्यादि—अनुभूतेरवेद्यता ॥ इति लघुचन्द्रिकायामनुभूतेरवेद्यता ॥

विमतं ज्ञानं 'मामहं जानामी'त्याकारकं ज्ञानम् । ज्ञानान्तरवत् घटादिज्ञानवत् । न स्वाश्रयविषयकमिति । अत्र विषयत्वं समवायान्यसंबन्धेनाश्रयत्वम् । औष्ण्यादेरपि स्वदाह्ये कालिकादिसंबन्धेनाश्रयत्वसत्त्वाच्च साध्यवैकल्यम् । स्वाश्रयविषयकान्यत्वसाध्यस्य जन्यसमवेतोष्णस्पर्शावृत्तित्वात् पराभ्युपगतपरमाणुसमवेतोष्णस्पर्शो दृष्टान्तो बोध्यः । आत्मसमवेतसङ्ख्यादिदृष्टान्तलाभायादिपदम् । इत्थं च नित्यवृत्तिगुणत्वं हेतुः; अन्यथा जन्यसमवेतगुणे व्यभिचारात् । परमाणुस्तु न दिगुपाधिः; सर्वदेशगतत्वात्, किंतु जन्यमेव । तेन दिकृतविशेषणतया उष्णस्पर्शाश्रयत्वरूपविषयत्वस्य परमाणोरसत्त्वेन न साध्यवैकल्यम् । यद्वा—स्वविषयत्वस्वदाह्यत्वान्यतरवरवं विषयत्वं प्रकृते प्राह्यम् । उष्णस्पर्शज्ञानान्यतरत्वं हेतुः । तेन गुणान्तरस्य दाह्याप्रसिद्धावपि न क्षतिः । स्वप्रकाशे आत्मनीति योजना । ननु—ज्ञानाभिन्नस्वरूपत्वमेव हेतुः, तथाच वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपज्ञानाभिन्नत्वेन शुद्धात्मनि

तादृग्ज्ञाने गुणत्वाभावाच्च, 'मामहं जानामी'ति प्रत्यक्षस्य वृत्तिविषयतयोपपादितत्वेन विरोधाभावात् । नच—अज्ञान इव स्वाश्रयविषयत्वोपपत्त्या अप्रयोजकमिति—वाच्यम्; वेद्यत्वे आत्मनो वेदनाभावादज्ञानदशायामात्मनि संशयविपर्ययव्यतिरेकनिर्णयप्रसङ्गात् । नचात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्सन्दिग्धे, अन्य एवेति वा विपर्यस्यति । नाहमिति वा व्यतिरेकं निर्णयतीयस्वप्रकाशत्वे बाधकसत्त्वात् । नच—त्वन्मते सन्देहाद्यविषयस्याहमर्थस्यानात्मत्वात्तदन्यस्मिच्छब्दैकगम्यात्मनि सन्देहादिसत्त्वादप्रयोजकत्वं तदवस्थमेवेति—वाच्यम्; अहमर्थस्य चिदचिद्भ्रन्थिरूपतया अहंत्वावच्छेदेनाचिदंशे सन्देहाद्यभाववत् चिदंशेऽपि सन्देहाद्यभावात् । नच शब्दजान्तःकरणविषयतद्वृत्तौ व्यभिचारि ज्ञानत्वमिति—वाच्यम्; तस्य स्फुरणार्थकत्वात् । नच द्वितीयहेतोस्तेजोरूपस्य घट इव स्वाश्रयेऽपि तमोनिवर्तकतया तद्विषये व्यभिचारः; रूपस्य ज्ञानादिवत् सविषयत्वाभावात् । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरित्यादिश्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् । तथाहि—'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्ये'त्यादिना 'किं ज्योतिरेवायं पुरुष'इत्यन्तेन ज्ञानसाधनालोकाद्यभावे जीवस्य कथं स्फुरणमित्युक्ते 'आत्मैवास्य ज्योतिः स्वयंज्योतिरित्यादिना स्वातिरिक्तानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वमुक्तम् । नचात्मशब्दस्य परमात्मपरत्वम्; पूर्ववाक्ये आत्मनि नाडीसंबन्धप्रतिपादनात्, उत्तरवाक्ये च 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरित्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया संदर्शनायेन जीवपरत्वात् । नच बुभ्वाद्यधिकरणन्यायेनात्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वम्; प्रधानाद्यनात्मनिराकरणार्थतया स्वशब्दादित्यात्मशब्दो हेतुत्वेनोक्तः, नतु मुख्यत्वाभिप्रायेण; जीवस्याप्रसक्तेः, मुख्यत्वस्योभयसाधारण्याच्च ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नासिद्धिः, तत्राह—तादृग्ज्ञान इति । शुद्धात्मनीत्यर्थः । गुणत्वाभावात् पराभ्युपगतगुणत्वस्याभावात् । तथाच परीत्यापि हेतुर्न संभवतीति भावः । औष्ण्यचिदन्यतरत्वेहेतुत्वेऽपि सिद्धसाधनम् । शुद्धात्मनः आश्रयाप्रसिद्धा-स्वपदाप्राप्तत्वात् स्वाश्रयविषयकान्यत्वात् भेदस्य तत्र सत्त्वात् । परं प्रति पक्षाप्रसिद्धिश्च । 'अहमनहं वे'ति धर्मितावच्छेदकविषयकत्वं विषयिताविशेषरूपसंशयत्वव्यापकं नेति धर्मितावच्छेदकं नोक्तम् । इदंत्वादिकं वा तद्वोध्यम् । विपर्ययव्यतिरेकनिर्णयो विभजते—अन्य एवेति । तथाचाहमर्थभेदनिर्णयो विपर्ययः, अहंत्वात्यन्ताभावनिर्णयो व्यतिरेकनिर्णय इति भावः । चिदचिद्भ्रन्थिरूपतया मिथस्तादात्म्यापन्नचिदचिद्रूपतया स्फुरणार्थकत्वात् प्रत्यक्षार्थकत्वात् । तमोनिवर्तकतयेति । उद्धूतानभिभूतरूपवन्महालोकत्वेन तमोनिवर्तकत्वात् रूपस्यापि तमोनिवृत्तिप्रयोजकत्वादित्यर्थः । तद्विषये तत्प्रयोज्यतमोनाशवत्त्वरूपविषयताश्रये तदवच्छेदेन तमोमध्ये जातस्य बह्व्यादेः स्रोतपत्तिद्वितीयक्षणे स्वसंसृष्टतमोनाशकत्वात् तद्रूपस्यापि तत् बोध्यम् । रूपस्य जन्यवृत्तिरूपस्य । ज्ञानादिवदित्यादि । ज्ञानोष्णस्पर्शादौ साध्यस्थितये यादृशविषयत्वं निवेशितं तदभावात्तदतिरूपकत्वादित्यर्थः । अभावे अभाववत्त्वप्रकाले । स्फुरणं स्वामविषयभानम् । इत्युक्ते जनकेनैवं पृष्टे । इत्यादिनेति । याज्ञवल्क्योक्तेन । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरित्यन्तेनेति शेषः । परमात्मपरत्वमिति । 'स्वप्नेन शरीरमभिग्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंस' इत्यादिश्रुत्या शारीरशब्दितजीवस्य कार्याक्षमत्वं स्वप्ने सम्पाद्य पुनस्तेन सह परमात्मनः प्रबोधे आगन्तृत्वबोधनादिति शेषः । पूर्ववाक्ये अथैतयोरेषा सृतिः संचरणी येषां हृदयादूर्ध्वं नाड्युच्चरतीत्यादिवाक्ये । एतयोः इन्द्रत्वेनोक्ततैजसस्य तत्पत्नीत्वेनोक्तान्यस्य च । सञ्चरणी सृतिः जाग्रत्स्वप्नयोः सञ्चारसाधनमार्गरूपा । प्रतिपादनादिति । 'किं ज्योतिरयं पुरुष' इत्यादिवाक्येऽपि आत्मपदपर्यायेण पुरुषपदेन जीवस्यैवोक्तेरित्यपि बोध्यम् । पर्यालोचनयेति । आत्मशब्देन पूर्वाक्तस्य 'स समानः सन्नभौ लोकावनुसञ्चरती'त्यादिनाऽवस्थान्नयसंबन्धमौपाधिकमनूय 'स यत्किञ्चित् तत्र पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति असङ्गोऽह्ययमि'त्यादिना तच्छून्योक्तेर्जीव एवात्मशब्दार्थः । यत्तु—सञ्चरतीत्यस्य सञ्चारयतीति, पश्यतीत्यस्य दर्शयतीत्यर्थः । तथाच परमात्मा सञ्चारयितृत्वादिना न पापभागित्युक्तावाक्यार्थः—इति तत्तुच्छम्; निजध्याहारे मानाभावात्, ईशस्य पापाप्रसक्तेः तन्निषेधायोगाच्च । एवंच 'स्वप्नेन शरीरमि'त्यादौ शारीरं शरीरं अभिग्रहत्य निश्चेष्टीकृत्य अलुप्तचिद्रूपत्वेनासुप्तः सुप्तान् वासनापरिणामसूक्ष्मविषयान् । अभिचाकशीति प्रकाशयति । शुक्रमिन्द्रियगणमादाय स्थानं तत्तद्गोलकमेतीत्यर्थः जीवपरत्वेऽप्युपपन्नः । ईशपरत्वे एतीत्यस्य आगमयतीति निजध्याहारापत्तिश्चेति बोध्यम् । अप्रसक्तेः बुभ्वाद्यधिकरणत्वाप्रसक्तेः । साधारण्यादिति । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष' इत्यनेन जीव इव 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्णम'चेत्यनेन ब्रह्मण्यपि रुढेः समत्वात् । 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाप्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तेनात्मा परिकीर्तितः ।' इति नैरुक्तव्युत्पत्तेरपि जीवेशानुगता-

अत एव—‘अत्रायं पुरुषः स्वयं’मित्युपसंहारस्य अस्येति पदानुपङ्गेन अयमीश्वरो जीवस्य स्वयमेव ज्योतिर्ज्ञानहेतुरित्येवंपरत्वं—निरस्तम्; उक्तन्यायेन उपक्रमविरोधात् । नच—वाचैवायं ज्योतिषास्त इति ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधने प्रयोगादत्रत्यज्योतिःशब्दस्यापि ज्ञानसाधनपरत्वम्, नतु ज्ञानपरत्वमिति—वाच्यम्; लौकिकज्योतिषि रूढस्य ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधनत्वेन प्रवृत्तिवदत्रापि तमोविरोधित्वेन रूपेणाज्ञानविरोधिन्यपि प्रयोगसंभवात् । नच स्वप्रकाशपरत्वे सदा स्वप्रकाशत्वेन श्रुतावत्रेत्यस्य वैयर्थ्यम्; जाग्रदवस्थायामादित्यादिज्योतिःसंभवेन दुर्विवेकतयास्यामवस्थायां सुविवेकतया अत्रेति विशेषणसाफल्यत् । नचास्येति षष्ठ्या विषयत्वाभिधानम्; स्वयं दासा इत्यादाविवानन्यवेद्यत्वपरत्वात् । नचामुख्यार्थत्वापत्तिः; मुख्यविषयासंभवेनेष्टत्वात् । नच प्रदीपादौ स्वविषयत्वेन स्वप्रकाशत्वव्यवहारः; सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वस्यैव तत्रापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्मस्वरूपनिष्ठत्वेन समत्वादित्यर्थः । विरोधादिति । विनैवाध्याहारमुपपत्तेरध्याहारो न युक्तः । आदित्यादेरिवेश-
स्यासाधारणहेतुत्वाभावात् तदुक्तिर्न युक्ता; निद्राधातुवैषम्याद्यसाधारणहेतुसत्त्वेनात्मान्यहेतुव्यवच्छेदासंभवात्,
एवकारासङ्गतेश्च । नच—आत्मा ज्योतिरेवेत्ययोगव्यवच्छेदस्तदर्थ इति—वाच्यम्; विशेष्यसङ्गतैवकारस्यान्ययोग-
व्यवच्छेद एव मुख्यत्वात् । अथ—ज्योतिषि विशेषे सूर्याद्यभेदस्य किं ज्योतिरित्यन्तेन पृष्टत्वादात्मैव विशेषणम्,
तथाच ज्योतिषि परमात्मतादात्म्यायोगव्यवच्छेदोऽर्थ इति—चेन्न; विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेनैवायोगव्यवच्छेदस्य
‘शङ्खः पाण्डुर एव’त्यादौ विशेषणसङ्गतैवकारार्थत्वात् प्रकृते ज्ञानसाधनत्वरूपज्योतिष्ठावच्छेदेन परमात्मतादात्म्यायोग-
व्यवच्छेदवाधात्, निद्राधातुवैषम्यादेरपि उक्तज्योतिष्ठात् । विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनायोगव्यवच्छेदस्तु
अत्यन्तायोगव्यवच्छेदशब्देन व्यवह्रियमाणः क्रियासङ्गतैवकारस्थले ‘नीलं सरोजं भवत्येव’त्यादायैव व्युत्पत्तिसिद्धिः ।
तस्मात् जाग्रज्ज्ञानस्याज्ञातविषयकत्वेनाज्ञाननिवर्तकत्वेन प्रमात्वात् वागादिप्रमाणसापेक्षत्वाच्चाक्षुषादिरूपत्वेनादित्या-
द्यालोकसापेक्षत्वाच्च तत्साधनं प्रमाणमादित्यादिकं च संभवतीति व्यवहारविरोध्यप्रकाशविरोधित्वरूपं ज्योतिष्ठा-
दित्यवागादेरुक्तम्; आदित्यादेस्तमसीव वागादेरज्ञाने उक्तविरोधिनि विरोधित्वात्, स्वप्ने तु साक्षिरूपज्ञानमुक्त-
सापेक्षत्वाभाववदिति नोक्तसाधनमुक्तज्योतिः, किंतु साक्षिरूप आत्मैवेत्याशयेन उक्तज्योतिष्ठावति आत्मान्यतादात्म्य-
मेवकारो व्यवच्छिन्नति । तथाच स्वाप्नवस्तुषु व्यवहारविरोध्यप्रकाशविरोधी साक्ष्येव, न तदन्य आदित्यादिरिति
वाक्यार्थः । ज्योतिषि हि विशेषस्य पृष्टत्वेऽपि उत्तरवाक्ये ज्योतिषो विशेष्यत्वं नावश्यकम्; आत्मनि ज्योतिर्विशेषण-
बोधेनाप्युक्तप्रश्ननिवृत्तिसंभवात्, पूर्वनिर्दिष्टे विशेष्यत्वस्योत्सर्गिकत्वात् । अथवा—स्वमोक्तज्योतिष्ठावच्छेदेनात्म-
तादात्म्यायोगं व्यवच्छिन्नतीति ध्येयम् । प्रवृत्तिवत् त्वन्मते बोधकत्ववत् । अत्र मन्मते । तमोविरोधित्वेन
व्यवहारविरोध्यप्रकाशविरोधित्वेन । विरोधिन्यपीत्यपि नान्धकारविरोध्यादिसमुच्चयः । ‘आदित्यज्योति’रित्याहुक्या
‘आदित्येनैव ज्योतिषास्ते पश्यते कर्म कुरुते’ इत्यादिना आदित्यादेरासनादिरूपव्यवहारप्रयोजकत्वोक्त्या प्रयोजक-
त्वस्य च प्रकृते प्रयोजकीभूताप्रकाशाभाववत्त्वरूपत्वेनोक्तविरोधित्वविशिष्टस्य ज्योतिःशब्दार्थत्वं श्रुत्यैव दर्शितमिति
भावः । दुर्विवेकतया स्वयंज्योतिःशब्दार्थस्य बाधिततया । सुविवेकतया अबाधिततया । आत्मैवास्य ज्योति-
र्भवतीत्युपक्रमानुरोधात् स्वयमेव ज्योतिर्यस्येति विग्रहादात्मान्यतादात्म्यज्योतिःसामान्यकत्वं स्वयंज्योतिःशब्दार्थः ।
स च जाग्रद्वशायां आत्मनि बाधितः; आदित्यादेरपि तदा ज्योतिष्तेन तत्रोक्तशून्यत्वाभावादिति भावः । षष्ठ्या
स्वयमेव ज्योतिरस्येति विग्रहघटकषष्ठ्या । विषयत्वोक्तेः उक्तज्योतिः सामान्यविषयत्वेन रूपेण बहुव्रीहिणा बोध्यत
इति भावः । स्वयं दासो यस्येति विग्रहेऽपि यथा स्वाभिन्नपरिचारकपरिचार्यत्वरूपेण स्वयंदासपदं न बोधयति; स्वस्य
स्वकर्तृकपरिचरणक्रियाकर्मत्वाभावात्, परसमवेतक्रियाफलस्य कर्मतात्वात्, किंतु स्वान्यपरिचारकापरिचार्यत्वेन तथोक्त-
विषयत्वेन बहुव्रीहिणा न बोध्यते; बाधात्, किंत्वनन्यवेद्यत्वेन । तच्च स्वान्यतादात्म्यशून्यज्योतिःसामान्यप्रयुक्तव्यवहार-
सामान्यकत्वं स्वपरविषयकवृत्तिज्ञानादिरूपस्वनिष्ठव्यवहारसामान्यप्रयोजकसामान्यमुक्तशून्यं यस्य तत्त्वमिति यावदित्या-
शयेनाह—स्वयं दासा इति । अमुख्यार्थत्वेति । ‘आत्मज्योतिर्घट’ इत्यादावात्माभिन्नज्योतिर्विषयत्वेन बोधात्
विषयत्वघटित एव मुख्यार्थ इति भावः । इष्टत्वादिति । आदित्यज्योतिर्घट इत्यादावादित्यज्योतिःप्रयुक्तव्यवहारविषयत्वेन
बोधादुक्तव्यवहारविषयत्वरूपेणापि निरूढलक्षणास्येवेति सोऽपि मुख्यार्थ एव, त्वया तु मन्दप्रज्ञेन यदि तस्यामुख्या-
र्थत्वमुच्यते, तथापि मुख्यत्वासंभवात्तद्ग्रहणं युक्तमिति भावः । स्वप्रकाशत्वस्येत्यादि । अस्वप्रकाशत्वेनार्थान्तर-
मुक्तम् । अस्वप्रकाशत्वं च वेद्यत्वम् । तत्रात्मान्यस्य जडत्वेन तद्वेद्यत्वस्य वक्तुमशक्यतया स्ववेद्यत्वमेवात्मनि वाच्यम्,
तच्च बाधितम्; तद्बाधस्य पृथगवेक्षणे गौरवानुसन्धाने तु स्ववेद्यत्वाभाववत्त्वेन पक्षो विशेष्य इति भावः । सजातीय-

व्यवहारनिदानत्वात् । अतएव न घटादावप्रकाशे अतिप्रसङ्गः । विवरणानुमानानि च—आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्, प्रकाशाश्रयत्वात्, प्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत् । ननु च—अवेद्यत्वं चेत् साध्यं, साध्यवैकल्यम्, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं चेदर्थान्तरम्; घटादाविवास्वप्रकाशत्वेऽप्युपपत्तेः, ज्ञानप्रभानुगतप्रकाशत्वासिद्धिश्च, ज्ञातैकसति दुःखादावाद्य-हेतोर्व्यभिचारः, द्वितीयतृतीययोस्त्वन्मत आत्मनः प्रकाशत्वेनासिद्धिरिति—चेन्न; स्वप्रकाश्यत्वस्य बाधिततया तदप्रकाश्यत्वेन पक्षस्य विशेषिततया वार्थान्तराभावात् । सजातीयप्रकाशाप्रकाश्य-प्रकाशत्वमेव साध्यम् । एवंच न घटादिवदस्वप्रकाशत्वेनोपपत्तिः; स्वाप्रकाश्यसजातीयाप्रकाश्य-त्वेनावेद्यत्वस्य लाभात्, विजातीयस्याप्रकाशत्वात् । ज्ञानप्रभानुगतं च प्रकाशत्वमावरणाभि-भावकत्वम् । तच्च ज्ञानस्य चित्त्वेनान्यत्र तेजोविशेषत्वादिनेत्यन्यदेतत् । आवरणत्वं चाज्ञानत-मसोः अर्थव्यवहारप्रतिबन्धकत्वमनुगतमेव । तच्चाज्ञानस्य साक्षात् तमसो ज्ञानप्रतिबन्धद्वारेत्य-न्यदेतत् । नच दुःखे व्यभिचारः; तस्याद्यक्षणे प्रकाशव्यतिरेकसत्त्वात्, प्रकाशत्वेन विशेषणाच्च । नापि द्वितीयतृतीययोरसिद्धिः; परीत्या तयोरुक्तेः, प्रतिबिम्बस्य बिम्बाधीनतया तदाश्रितत्वेन बिम्बज्ञानहेतुत्वोपपत्तेश्च । अतएवात्मा स्वानन्तरोत्पत्तिकप्रकाशाश्रयो न; प्रकाशाश्रयत्वादादि-त्यवदित्यपि साधु । नच सिद्धसाधनम्; घटादिविषयकज्ञानस्य त्वयापि जन्यत्वस्वीकारात् । आन-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वमिति । चिद्रूपत्वालोकत्वान्यतरूपेण स्वसजातीयो यः, तदप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशत्व-मित्यर्थः । प्रकाश्यत्वं च तमोनाशविषयत्वयोरन्यतरत्वं ? साजात्यम् भेदगर्भम् । तथाच स्वभिन्नलोकजन्य-तमोनाशवतो भिन्नत्वं स्वभिन्नचिद्विषयात् भिन्नत्वं चेत्यन्यतरवत्वे सति प्रकाशत्वं निर्गलितार्थः । आलोकचित्तोः स्वभिन्नेति विशेषणम् । तेन स्वात्मकालोकजन्यतमोनाशवत्त्वेऽपि नालोके साध्यवैकल्यम् । ज्ञानस्य परैर्ज्ञानान्तर-विषयत्वस्वीकारात् तद्वद्भेदत्वेनैव निवेशः । तथाच स्वपदं द्वितीयभेदप्रतियोगिपरम् । एवंच परमते चिद्विषयत्वसा-मान्याभावस्याप्रसिद्धत्वेऽपि 'यो यदीययावद्विशेषाभाववान् स तस्मान्मान्याभाववानिति' सामान्यतो व्याख्या चिति स्वविषयत्वस्वान्यचैतन्यविषयत्वयोरभावाभ्यां चिद्विषयत्वसामान्याभावसिद्धेः, तदिदमाह—स्वाप्रकाश्यसजाती-याप्रकाश्यत्वेनेति । स्वविषयान्यत्वस्य स्वान्यचिद्विषयान्यत्वस्य च सिद्ध्येत्यर्थः । अवेद्यत्वस्य चिद्विषयत्वस्य । ननु तथापि चिदन्यविषयत्वं न निषिद्धम्, तत्राह—विजातीयस्येति । वृत्तिज्ञानादेरित्यर्थः । अप्रका-शत्वादिति । तथाच तद्विषयत्वेऽपि न स्वप्रकाशत्वहानिरिति भावः । अथवा—घटादाविवाप्रकाशरूपत्वेन साध्यपर्यवसानं माभूदिति प्रकाशत्वं साध्ये दत्तमित्याशयेनाह—विजातीयस्येति । अभिभावकत्वम् अभिभाव-कस्य स्वरूपत्वम् । ज्ञानस्य केवलचितः । चित्त्वेनावरणाभिभावकप्रमारूपायाः अविच्छिन्नचितः स्वरूपत्वेन । ज्ञानप्रतिषेधद्वारा चाक्षुषप्रतिबन्धद्वारा । आद्यक्षण इति । यस्य स्वव्यवहारप्रतिबन्धकाभावः स्वकालत्वव्या-पकः तत्स्वरूपो हेतुः दुःखादौ नास्तीति भावः । आद्यक्षणोत्पन्नवृत्त्यावरणनाशात् द्वितीयादिक्षण एव दुःखादि-व्यवहारप्रतिबन्धकाभाव इति मतेनेदम् । यत्तु भास्वरूपादौ व्यभिचार इति, तन्न; दुःखादाविव तन्नाप्याद्यक्ष-णावच्छेदेनाप्रकाशात्, सन्निकर्षाद्यधीनवृत्त्यभावकाले अज्ञाततासत्त्वाच्च । नन्वेवमालोके साधनवैकल्यम्; तन्नापि वृत्त्यभावकाले अज्ञाततासत्त्वात् । अतः स्वव्यवहारप्रतिबन्धकाभावः स्वनिष्ठतमोऽभावाज्ञातताभावयोरन्यत-रूपो ग्राह्यः । नच—तथापि अन्धकारोत्पन्नालोके प्रथमक्षणे तमःसत्त्वात् साधनवैकल्यमिति—वाच्यम्; सौरा-लोकमध्योत्पन्नालोके दृष्टान्तत्वसंभवादिति—चेन्न; तदीयभास्वरूपादौ व्यभिचारात्, अत आह—प्रकाशत्वे-नेति । प्रकाशत्वमात्रमन्धकारे युगपदुत्पन्नालोकद्वये व्यभिचारि; एकजन्यतमोनाशस्यापरत्र सत्त्वात्, अतो दलान्त-रमिति भावः । प्रतिबिम्बस्य साक्षिरूपप्रकाशस्य । बिम्बाधीनतया बिम्बस्वरूपशुद्धचिदाश्रितत्वेन । तथाच प्रकाशं प्रति कर्तृत्वं क्षेमसाधारणसाधनत्वमिति भावः । तदाश्रितत्वेन बिम्बस्वरूपशुद्धचिदाश्रितत्वेन । चकारः शेषः । बिम्बज्ञानहेतुत्वेति । बिम्बस्वरूपशुद्धचिन्निष्ठहेतुत्वेत्यर्थः । उक्ताश्रयत्वकर्तृत्वयोरित्यादिः । स्वानन्तरे-त्यादि । स्वकालोत्तरोत्पन्नस्वप्रकाशको नेत्यर्थः । नचादित्ये स्वकालोत्तरोत्पन्नस्वज्ञानरूपप्रकाशकरत्वेन साध्यवैकल्यं शङ्क्यम्; स्वकालोत्तरोत्पन्नस्वीयतमोनाशहेतुकान्यत्वं स्वकालोत्तरोत्पन्नस्वव्यवहारहेतुप्रकाशस्वरूपकान्यत्वं चेत्यन्य-तरवत्त्वस्य साध्यत्वात् स्वपदानि भेदप्रतियोगिपराणि । उत्पन्नान्तं हेतुविशेषणम् । सिद्धसाधनमिति । मन्मते-नित्यसाक्षिण एवात्मव्यवहारहेतुप्रकाशत्वेन घटादेरेव स्वकालोत्तरोत्पन्नोक्तस्वरूपकत्वादिति भावः । घटादिवि-षयकज्ञानस्य घटात्मादिविषयकानुमित्यादेः । तथाच घटादाविवात्मन्यनुमित्यादिस्वरूपप्रकाशस्योत्पत्तेस्तद्व्या स्वीका-

न्दबोधोक्तं च—विवादाध्यासिता संवित्, स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरज्ञानविरहप्रयुक्तव्यवहारविरहवती न भवति, संवित्त्वादनन्तरव्यवहियमाणसंवित् । नच स्ववेद्यत्वेनोपपत्त्या सिद्धसाधनम्; अस्य परवेद्यताङ्गीकर्तृविषयत्वात्, स्वाविषयत्वरूपपक्षविशेषणमहिम्ना तवानभिमतपर्यवसानात् । अवेद्यत्वं तु ब्रह्मणः श्रुतिसिद्धमेव । नच साकल्येनावेद्यत्वपरा; सङ्कोचे कारणाभावात् । एतेन—ज्ञाततालिङ्गानुमेयत्वे 'अहं सुखी'तिवत् अहं जानामीति परोक्षानुभवविरोधः, गुरुमते अयं घट इत्यस्यैव स्वविषयत्वे स्वजनकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वप्रसङ्गः, व्यवसायानुव्यवसाययोः पार्थक्यानुभवविरोधश्च, न्यायमते अनुव्यवसायस्यापि परवेद्यत्वे ज्ञानस्य प्रत्यक्षात्मविशेषगुणत्वेन इच्छादिवदवश्यवेद्यत्वात् ज्ञानधारानुभवापत्तिः, विच्छेदे चरमस्य निष्प्रामाणिकत्वापत्तिः, सामान्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रात् न सिद्धसाधनम् । मन्मते त्वनुमित्यादेर्वृत्तिरूपत्वेन न प्रकाशस्वरूपत्वं च प्रकाशत्वोपहितभिन्नस्वरूपकत्वम् । तच्च न वृत्त्यवच्छिन्नचिति, किंतु शुद्धचिति । वस्तुतस्तु—स्वव्यवहारो न निवेद्यते, किंतु व्यवहारमात्रम् । तथाच घटादिज्ञानस्यैवात्मकालोत्तरोत्पत्त्या सिद्धसाधनोद्धार इति भावः । स्वानधिकरणवेदनादौ स्वज्ञानाभावे सति स्वव्यवहारविरहात् बाध इत्यतः स्वगोचरज्ञानं विशेषयति—स्वसमानाश्रयस्वसमानकालेति । स्वगोचरत्वादियुक्तं ज्ञानस्वरूपं, तदभावप्रयुक्तो यस्य व्यवहाराभावः, तदन्यत्वं साध्यम् । यद्यपि कालान्तानुपादानेऽप्यसदभिमतं सिध्यत्येव; तथापि गुरुमते ज्ञाने सति तस्मिन् तदाश्रये च न तत्समानाधिकरणं ज्ञानान्तरं स्वीक्रियते, तदभावे तदव्यवहारादर्शनात्, तदीयत्वेनैव स्वस्वाश्रययोर्व्यवहारसंभवात्, अतीतादिज्ञाने तु ज्ञानान्तरं स्वीक्रियत एव; तदभावे तदव्यवहारादर्शनात् । तथाच तन्मतमाश्रित्यैतदनुमानमिति कालान्तमुपात्तम् । एवंच दीपस्य वस्त्वन्तर इव स्वस्वाश्रययोरपि तमोविरोधित्वात् यथा व्यवहारप्रयोजकत्वं, तथा ज्ञानस्य स्वस्वाश्रययोरज्ञानविरोधित्वात्तादात्म्यसमवायसंबन्धसत्त्वादिति तयोर्ज्ञानान्तरस्वीकारे गौरवम् । नच—व्यवहारविषयत्वं प्रति ज्ञानविषयत्वस्यैव ज्ञानतादात्म्यादेरपि प्रयोजकत्वकल्पने तवापि गौरवमिति—वाच्यम्; ज्ञानतादात्म्यसमवाययोर्ज्ञानज्ञानिव्यवहारहेतुताद्वयकल्पनापेक्षया ज्ञानज्ञानिविषयकानामनन्तकोटिज्ञानान्तराणां कल्पने महागौरवात्, ज्ञानतद्विषयतदाश्रयेषु व्यवहारविषयत्वप्रयोजिकाया एकस्याः शक्तेः संभवेन व्यवहारमात्रे तद्वत्त्वेनैकहेतुत्वाच्चेत्यादितर्का बोध्याः । एतेन—ज्ञानस्वरूपस्यैव प्रकृते पक्षत्वात् तस्य च ज्ञानान्तरगोचरत्वेऽपि चिन्मात्ररूपतदाश्रयाप्रसिद्धा तदन्यस्यैवोक्तविरहवत्त्वेन तत्र साध्यपर्यवसानमिति न तस्य ज्ञानाविषयत्वसिद्धिरिति—अपास्तम्; गुरुमतेनैवैतदनुमानात् ज्ञानस्वरूपस्याश्रयस्वीकारेण ज्ञानान्तराविषयत्वपर्यवसानात् । परवेद्यतेत्यादि । ज्ञानं ज्ञानान्तरेणैव विषयीक्रियते, ननु स्वेनेति स्वीकुर्वन्ति तार्किकादयः । तान् प्रत्युक्तानुमानप्रवृत्तेरित्यर्थः । साक्षिज्ञानं स्वस्वान्यविषयकमिति स्वीकुर्वाणं माध्वं प्रत्याह—स्वाविषयत्वेति । साकल्येनेत्यादि । साकल्येन वेद्यत्वं घटादौ, न ब्रह्मणि; तदुण्णकर्मणामानन्त्यादिति ब्रह्मणि तदभावपरा श्रुतिरित्यर्थः । कारणाभावादिति । साकल्येनापि ब्रह्म स्ववेद्यमेव; अन्यथा तस्य सर्वज्ञताहानेः, 'जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः । न शक्यन्ते च सङ्ख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥' इति भागवतादिकं तु जन्मादीनामानन्त्यात् कथनायोग्यत्वपरम्; अन्यथा अनन्तेष्वपीश्वरीयसमूहालम्बनधीसंभवेनानन्तत्वहेत्वसङ्गतेः । नच—ईश्वरेण तदीयजन्मादीनां साकल्येन ज्ञेयत्वसंभवेऽपि जीवाज्ञेयत्वपरा श्रुतिरिति—वाच्यम्; 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानीयात् तं केन विजानीया'—दित्यादिनिर्गुणप्रकरणस्थवाक्यानामीश्वरजन्माद्यज्ञेयतापरत्वासंभवात्, केनेत्यादिना जीवेश्वरसाधारणवेद्यतामात्रस्याक्षेपाच्च । तस्मात् सगुणं न वेद्यमिति वा जीवेन न वेद्यमिति वा सङ्कोचे कारणाभावात् शुद्धचिदवेद्यत्वपरा श्रुतिरिति भावः । ज्ञाततालिङ्गानुमेयत्व इति । घटो, घटे घटत्वप्रकारकज्ञानविषयः घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्; ज्ञातता, उक्तज्ञानजन्या, उक्तज्ञाततायाः, इत्याद्यनुमितिमात्रविषयत्वे इत्यर्थः । प्रत्यक्षाविषयत्वे सति उक्तानुमितिविषयत्वे इति यावत् । प्रत्यक्षात्मविशेषगुणत्वेन प्रत्यक्षयोग्यात्मगुणत्वेन विशेषत्वस्य व्यर्थत्वात् । रूपादीनां प्रत्यक्षयोग्यत्वेऽप्यवश्यवेद्यत्वादात्मेति । अवश्यवेद्यत्वात् अवश्यं प्रत्यक्षत्वात् । चाक्षुषादिसामग्र्यामानसादिप्रतिबन्धकत्वकल्पनं तु न युक्तम्; चाक्षुषादिकालेऽप्यहं सुखीत्याद्यनुभवात्, चाक्षुषादेरेव मानसत्वादि-संभवेन गौरवस्याप्रामाणिकत्वात्, जातिसाङ्कर्यस्यादोषत्वात्, चाक्षुषत्वादेर्विषयिताविशेषत्वसंभवाच्च । निष्प्रमाणकत्वेति । स्वकाले स्वाधिकरणे निश्चयाभावात् सन्देहेत्यर्थः । तेन कालान्तरे कार्यादिलिङ्गकानुमानादिसंभवेऽपि न क्षतिः । ननु आत्मवृत्तिवादिसामान्यलक्षणायाः पूर्वं सत्त्वेन तया चरमज्ञानमुख्यविशेष्यकमात्मवृत्तिप्रत्यक्षं जायत इति नोक्तसन्देहः; तत्राह—सामान्येति । ज्ञातैकसत्त्वात् स्वज्ञानव्याप्यस्वकालकत्वात् । तेनाभिन्नत्वात्

प्रत्यासत्तेरभावात् । एवंच व्यवसायसुखादिगोचरं स्वविषयं नित्यमेव ज्ञानं सिध्यति । स्वविषय-
तायां च न स्वजनकसन्निकर्षाद्यपेक्षा सन्निकर्षाद्यनपेक्षेश्वरसर्वविषयनित्यज्ञानवत् । तथाचैवं
प्रयोगः—चैत्रसुखदुःखादिकं, चैत्रीयनित्यापरोक्षज्ञानविषयः, तं प्रति ज्ञातैकसत्त्वात्, यद्यं प्रति ज्ञातैक-
सत् तत्तं प्रति तादृग्ज्ञानविषयः, यथेश्वरप्रयत्न इति नित्यज्ञानसिद्धौ तत्, स्वविषयं, नित्यज्ञानत्वात्,
स्वव्यवहारे अन्यानपेक्षत्वात्, स्वसंशयादिविरोधित्वाच्च, ईश्वरज्ञानवदिति । तस्मादात्मनो नित्यगुण-
भूतज्ञानं स्वविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्ववत्, आत्मापि, तद्विषयः, यावद्द्रव्यभाविना तेनाभिन्नत्वात्,
मामहं जानामीत्यनुभवात् आत्मस्वरूपा संवित्, स्वविषया स्वजन्यव्यवहारविषयत्वात्, उक्ता
संवित्, स्वविषयिणी, स्वसमानाधिकरणस्वत्वप्रकारकस्वविशेष्यकसंशयविरोधित्वात् उक्तविशेषण-
वद्विपर्ययविरोधित्वाद्धेति—निरस्तम्; आद्यानुमाने साक्षिरूपापरोक्षनित्यज्ञानविषयत्वेन सिद्धसा-
धनम्, सहोत्पन्नज्ञानेनापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्त्या ज्ञानगतनित्यतापर्यन्तसाधने तस्यासामर्थ्यं च । नच
चैत्रस्य तादृग्ज्ञानाभावे सुप्तोत्थितस्य परामर्शानुपपत्तिः; संस्कारेण तदुपपत्तेः, नित्यज्ञानस्य परामर्श-
विरोधित्वाच्च । स्वविषयत्वानुमाने च दृष्टान्तासिद्धिः; ईश्वरेऽपि स्वविषयकनित्यज्ञानासिद्धेः अप्रयो-
जकत्वं च । स्वाविषयत्वेऽपि व्यवहारादेरुपपादितत्वात् । किंच चैत्रनित्यज्ञानस्य स्वविषयत्वे नैकं
नियामकम्; ईश्वरज्ञानस्य न्यायमते वस्तुत्ववत् सर्वविषयत्वोपपत्तेः, नाप्यभेदः; दुःखादावभावात्,
नापि समानाधिकरणत्वम्, आत्मन्यभावात्, धर्मादौ तत्सद्भावाच्चेत्यननुगतमेव वाच्यम् । तथाच
किमपराद्धं व्यवसायस्वप्रकाशत्ववादिना गुरुणा? अन्यत्र सन्निकर्षस्य नियामकत्वेऽपि स्वस्मिन्नभेदस्य
संभवात्, पार्थक्यानुभवानुभवरूपस्यानुभवकलहस्य त्वन्मतसमानत्वात् । तस्माद्यवहार एवाननुगतं
कारणमस्तु । तत्प्रयोजकानुगमार्थं किमिति निर्बन्धः? पश्चादप्यननुगम एव पर्यवसानात् । एवं च
न स्वविषयत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं, किंत्वेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ
आत्मनः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तद्वेदशून्यत्वात् । यो नित्यज्ञानभेदशून्यः, स नित्यज्ञानविषयः, यथेश्वरज्ञानमिति व्याप्तिः । भेदाभावे हेतुमाह—
यावद्द्रव्यभाविनेति । पाकजरूपादेः संयोगादेश्च पूर्वसिद्धे विद्यमानेऽपि द्रव्ये उत्पत्तिविनाशदर्शनेन द्रव्याद्भेदेऽपि
जलपरमाण्वादौ रूपादेरिवात्मनि साक्षिज्ञानस्योत्पत्तिनाशाभावेन न भेदः; मानाभावात्, धर्मधर्मिभावादिकं तु भेद-
स्थानीयेन विशेषेणोपपद्यत इति पराभिमानः । स्वत्वप्रकारकेति । तत्तदात्मवृत्तित्वप्रकारकेत्यर्थः । सहोत्पन्नेति ।
नच—सन्निकर्षस्य पूर्वमभावात् तस्योत्पत्तिकाले प्रत्यक्षोत्पत्त्यसंभव इति—वाच्यम्; मनःसन्निकर्षविलम्बेन मानसप्रत्य-
क्षविलम्बादर्शनात् मानसप्रत्यक्षस्य सन्निकर्षजन्यत्वे मानाभावः । तथाच तत्पुरुषसमवेतस्य पुरुषान्तरे आपत्तिवारणाय
तत्पुरुषसमवेतसामान्ये तत्पुरुषत्वेन हेतुताया इव मानसविषयसामान्ये पुरुषत्वेन हेतुतायाः कल्पनात्, उक्तसामग्र्याश्च
सुखादिजनकसामग्रीसहकारेणैव फलोपधायकत्वकल्पनात् सुखाद्युत्पत्तिकाले तु तत्प्रत्यक्षमुत्पद्यते । नच—जन्यमात्रवृ-
त्तिजातित्वेन मानसत्वस्यावश्यं जन्यतावच्छेदकत्वेन तेन रूपेणापि पुरुषादिकार्यत्वस्यावश्यकत्वात् तादृशसामग्र्याः सुखा-
दिसामग्रीसहकारित्वमेव कल्प्यताम्, किं मानसविषयत्वेन कार्यत्वकल्पनयेति—वाच्यम्; व्यधिकरणधर्मद्वयावच्छिन्नं
प्रति क्लृप्तहेत्वोर्मिथः सहकारित्वाभावात्, अतीतादिसुखे मानसवारणासंभवाच्च । अथ—अनन्तज्ञानकल्पने गौरवात्
सुखादिज्ञानं नित्यमिति—चेन्न; तथासति गुरुमतरीत्या व्यवसायस्यैव स्वविषयकत्वौचित्यात्, दोषोद्धारस्य उक्तत्वात्,
तावतापि नित्यतायाः ज्ञातैकसत्त्वस्य व्यवस्थापकत्वाभावादिति भावः । तादृग्ज्ञानाभावे नित्यज्ञानाभावे । पराम-
र्शानुपपत्तिरिति । स्वप्ने प्रत्यक्षजनकसन्निकर्षाभावेन 'स्वप्ने गजादिकं मया साक्षात्कृत'मिति स्मरणानुपपत्तिरित्यर्थः ।
संस्कारेण जन्यज्ञानजन्येन । विरोधित्वादिति । ज्ञाननाशस्यैव लाघवेन संस्कारत्वस्वीकारात् नित्यज्ञानस्य
संस्कारद्वारकस्मरणविरोधित्वमिति भावः । ईश्वरेऽपीति । ईश्वरज्ञानं हि मन्मते ईश्वरस्वरूपमेव । मायावृत्त्यवच्छि-
न्नचिद्रूपं वा । आद्ये तद्विषयस्तदन्यदेव, द्वितीये तु नैका वृत्तिः सर्वविषयिका, किंतु भविष्येष्वनुमितिः, भूतेषु
स्थितिः विद्यमानेषु प्रत्यक्षरूपा । तथाच तासां स्वाविषयकत्वेऽपि वृत्त्यन्तरेणैव तद्ग्रहणमिति भावः । नैकं नियामकं
नैकं व्यापकम् । अननुगतमेवेति । स्वनिष्ठे तद्विषयत्वे स्वाभेदः, दुःखादिनिष्ठे तत्सामानाधिकरण्यादिकं नानैव
व्यापकमित्यर्थः । अननुगतमिति । अनुगमप्रकारोऽप्युक्तः । तर्कैरित्यादि—आत्मावेद्यत्वरक्षणम् ॥
इति लघुचन्द्रिकायाम् आत्मस्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ॥

अथ ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः ।

निर्धर्मकतया अवेद्यतया च ब्रह्म आनन्दादिपदलक्ष्यम्, न वाच्यम्; प्रवृत्तिनिमित्ताभावादिति । ननु—अवाच्यशब्देनोच्यते चेत्, वाच्यत्वसिद्धिः, लक्ष्यते चेत्, अवाच्यरूपमुख्यार्थस्याभावात् कथं लक्षणा? भावे वा ब्रह्म नावाच्यं, किंतु तीरवदवाच्यरूपमुख्यार्थसंबन्धिमात्रमिति स्यात् । मुख्यार्थहीनस्यापि ब्रह्मलक्षकत्वे घटपदमपि पटलक्षकं स्यादिति—चेन्न; अवाच्यरूपमुख्यार्थाभावेऽपि नञ्समभिव्याहृतवाच्यशब्देन वाच्यत्वात्यन्ताभावबोधनद्वारा स्वरूपे लक्षणयैव पर्यवसानात् । एवं निर्विशेषपदमपि; अखण्डपदलक्षकतायामेव मुख्यार्थावश्यम्भावनियमात् । ननु—एवं लक्ष्यपदेनापि लक्ष्यत्वे तीरस्यागङ्गात्ववत् ब्रह्मणोऽलक्ष्यत्वापत्तिरिति—चेन्न; इष्टत्वात्, सर्वथा निर्धर्मकत्वात्, लक्ष्यव्यवहारस्य च वाच्यत्वाभावनिवन्धनत्वात्, तथा प्रतिपादितं प्राक् । नचैवं लक्ष्यत्वाभावेन वाच्यत्वव्यवहारप्रसङ्गः; गौणस्य तस्यापीष्टत्वात्, सत्यज्ञानादिपदानां च कल्पितधर्मवाचिनां ब्रह्मरूपव्यक्तिलक्षकतयाऽखण्डार्थत्वानपायात् । नच—सत्त्वादिधर्माश्रयतया लक्ष्यत्वाभावे मञ्जसंबन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य पुंसः अमञ्जत्ववत् सत्त्वादिसंबन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य ब्रह्मणः असत्त्वाद्यापत्तिरिति—वाच्यम्; कल्पितचन्द्रत्वादिजातेः परमार्थचन्द्रादिव्यकितादात्म्येनाचन्द्रत्वाभाववदत्रापि सत्त्वाद्यभावानापत्तेः । तदुक्तं 'लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्मे'ति । अतएव—स्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यत् ब्रह्मतयेष्टं, तत्तदब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवाद इति—निरस्तम्; यत्तु निर्विशेषादिपदानां च समासपदतया लक्ष्यादिपदानां यौगिकतया वाक्यतुल्यत्वान्न वाचकतेति वक्तुमशक्यम्; अन्विताभिधानपक्षे तेषामपि वाचकत्वात्, अभिहितान्वयपक्षेऽपि वाक्य एवाभिहितान्वयस्वीकारेण प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधायकत्वात् वाक्यतुल्यस्यापि वाचकत्वात् ब्रह्मणः पदार्थसंसर्गरूपत्वे सखण्डत्वापत्त्या पदार्थत्वे वाच्यत्वापरिहारादिति, तन्न; पदलक्ष्यत्वेऽप्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निर्धर्मकतया धर्माघटिततया । अवेद्यतया शक्तिज्ञानसहकृतप्रमाणवेद्यतया । ब्रह्म सत्यादिश्रुतितात्पर्यविषयः । उक्तावेद्यतां साधयति—न वाच्यमिति । प्रवृत्तिनिमित्ताभावात् प्रवृत्तिनिमित्ताघटितत्वात् । मुख्यार्थस्येति । अन्यस्येति शेषः । ननु वाच्यभेदोपहितमवाच्यपदमुख्यार्थः, तत्संबन्धरूपा लक्षणा शुद्धेऽपि संभवत्येव तत्राह—भावे वेति । वाशब्दोऽनास्थायाम् । साचोक्तोपहितमपि तदादिपदवाच्यत्वात् नावाच्यमित्येवंरूपा । मुख्यार्थहीनस्य ब्रह्मण्यमुख्यार्थवाचकस्य । मुख्यार्थाभावेऽपीति । शक्यार्थाभावेऽपीत्यर्थः । वाच्यत्वात्यन्ताभावेति । वाच्यत्वस्यात्यन्ताभावो यत इति व्युत्पत्त्या वाच्यभेदेत्यर्थः । तथाचावाच्यपदस्य समासत्वेन तद्वाच्यरूपमुख्यार्थाभावेऽपि तत्प्रतिपाद्यविशिष्टार्थसंबन्धरूपा लक्षणा शुद्धे संभवत्येव । नहि स्वशक्यसंबन्ध एव लक्षणा; अर्थवादेषु गम्भीरायामित्यादौ च तदसंभवात्, किंतु स्वबोधसंबन्धः । नच—वाच्यभेदोपहितं नावाच्यपदप्रतिपाद्यम्, तदादिपदेनान्विताभिधानादिपक्षे वक्ष्यमाणरीत्या अवाच्यादिपदेन च वाच्यत्वादिति—वाच्यम्; तदादिपदस्य लाघवेन घटत्वादिविशिष्टशक्तत्वात्, अन्विताभिधानादिपक्षेऽपि अन्वितभेदत्वादिना नजादिपदशक्यता, ननु वाच्यान्वितभेदत्वेन; अघटमित्यादौ घटान्वितभेदत्वेनापि शक्यत्वापातात् । तथाच वाच्यभेदस्वरूपस्यापि ब्रह्मणो वाच्यभेदत्वविशिष्टरूपेणावाच्यत्वमस्त्येवेति भावः । अखण्डपदेति । वाचकगङ्गापदेत्यर्थः । मुख्यार्थावश्यम्भावेति । गङ्गादिपदवाच्यावश्यम्भावेत्यर्थः । तादृशस्थले मुख्यार्थस्मृतेरेव लक्ष्यस्मारकत्वात् तदवश्यम्भाव इति भावः । इष्टत्वात् तात्पर्यविषयस्य शुद्धत्वेन लक्ष्यत्वविशिष्टाघटितत्वेनेष्टत्वात्, यथाश्रुते लक्षणासंबन्धस्य तज्ज्ञानाधीनधीविषयत्वस्य च शुद्धेऽपि सत्त्वादसङ्गतेः । गौणस्य लक्ष्यत्वविशिष्टाघटितविषयकस्य । ननु किञ्चिद्धर्मप्रकारिकैव लक्षणया धीर्दृष्टा तत्राह—सत्यज्ञानादीति । व्यक्तीति । अखण्डार्थवादोक्तरीत्या व्यक्तिमात्रलक्षणेति भावः । सत्त्वादिसंबन्धित्वमात्रेण सत्त्वाद्याश्रयरूपकल्पितधर्मसंबन्धित्वमात्रेण । कल्पितचन्द्रत्वादिजातेः । कल्पिता चन्द्रत्वादिजातेः यत्र तादृशस्य प्रातीतिकचन्द्रादेः । चन्द्रादौ कल्पितद्वितीयचन्द्रादेरिति यावत् । अत्रापीति । सत्ताद्याश्रयरूपकल्पितधर्मिणः परमार्थसति ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तत्रापि सत्ताद्याश्रयत्वव्यवहारः, परमार्थतस्तु न तस्य सत्ताश्रयत्वम्, किंतु त्रिकालाबाध्यसत्तास्वरूपत्वमिति भावः । व्यक्तिरपि ब्रह्मेति । सत्तादि न जहाति न हति शेषः । अत एव स्वप्रकाशात्वाश्रयत्वेन कल्पितव्यकितादात्म्यस्य शुद्धेऽपि सत्त्वादेव । वाक्यतुल्यत्वात् वाचकसमुदायत्वात् । वाक्य एव घटमानयेत्यादिवाक्यस्थल एव । अभिहितान्वयस्वीकारेण प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामभिहिताः वदकर्मत्वादिरूपा

पदार्थत्वोपपत्तेः, अखण्डत्वेऽपि वाक्यार्थत्वस्योपपादितत्वादन्विताभिधाने अन्वितवाचकस्यापि स्वरूपे लक्षणाङ्गीकारात् । नच तर्ह्यवाच्यत्वासिद्धिः, अखण्डब्रह्मसिद्ध्युपायत्वेन प्राप्तस्यावाच्यत्वादेः निवारकाभावेनानुपङ्गिकतया सिद्धेः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अशब्दमस्पर्श'मित्यादिश्रुत-यश्चात्रानुसन्धेयाः, अवाच्यशब्दवदशब्दशब्देऽपि व्याघाताभावात् । नचेयं श्रुतिरद्भुतत्वाभिप्रायाः, श्रूयमाणार्थत्वे बाधकाभावात् । नच 'यतो वाच' इत्यत्रापि मनसा सहेति श्रुतमनोवृत्तेरिवान्तःकरणवृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि वाग्वृत्तेरपि सर्वथा निषेधयोगः, लक्षणायाः स्वीकारेण शक्तिमात्रस्यैव निराकरणात् । नच—आनन्दाद्यनेकपदामुख्यार्थत्वापेक्षया निवर्तन्त इत्येकपदार्थामुख्यत्वमेव युक्तमिति—वाच्यम्; ब्रह्मणो निर्धर्मकतया तत्र शक्त्यभावेन बहुत्वस्याप्रयोजकत्वाद्वाच्यत्वविरोधार्थ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अर्थाः स्वान्वयं बोधयन्तीति स्वीकारेण । अन्विताभिधायकत्वात् कर्मत्वादिशक्तत्वात् । अपदार्थत्वोपपत्तेः पदावाच्यत्वोपपत्तेः । वाचकस्यापीत्यपिशब्देन समासस्य प्रकृतिप्रत्ययरूपसमुदायस्य न वाचकत्वम्, मानाभावात् । घटमित्यादेर्घटकर्मत्वादिशब्दबोधानुकूलशक्तिमत्त्वं हि नान्विताभिधायकत्वम्; तार्किकादिभिरपि समभिव्याहारविधया तस्योक्तधीहेतुत्वस्वीकारेण तस्थले गुरुणोक्तशक्तिस्वीकारे तार्किकाणां तत्र विप्रतिपत्त्यसंभवात्, किंतु द्वितीयाविभक्त्यादेरन्वितकर्मताशब्दधीत्वावच्छिन्नानुकूलशक्तिमत्त्वम् । एवं निर्विशेषादिसमासस्थले निरादिपदस्यान्विताभावादिशब्दधीत्वावच्छिन्नशक्तिमत्त्वमन्विताभिधायकत्वम् । अत एव घटादिपदस्य कार्यान्विते अन्विते वा घटादौ शक्तिं दूषयित्वा घटादिमात्रशक्तिमत्त्वं स्वमते मणिकारादिभिः स्थापितं शक्तिवादादौ । अत एव चान्वितघटत्वादिरूपेण शक्योपस्थितौ सत्यामन्वयविशेषे जिज्ञासेत्यादिकं पदमात्रस्यान्वितार्थशक्तिस्वीकारे युक्तित्वेनोपन्यस्तम् । घटान्वितकर्मतात्वादिना शक्यत्वे तु अन्वयविशेषान्तर्भावेनोपस्थितेः शक्त्यैव सिद्धत्वात् नान्वयविशेषे जिज्ञासोक्तिः सङ्गच्छते । तथाच क्व समासादेः शक्तत्वं? क्व वा विशेषान्विताभावादेः शक्यत्वमिति परेषां मौढ्यं सूचितम् । तर्हि शुद्धस्यैव वेदान्तजन्यबोधविषयत्वे । अवाच्यत्वादेर्व्यावहारिकस्य । तात्त्विकस्य तु ब्रह्मान्यस्याद्वैतश्रुतिरेव निवारिकेति भावः । आनुपङ्गिकतया तात्पर्याविषयत्वेऽपि देवताधिकरणन्यायतया । अशब्दमिति । समवायेनेव वाच्यत्वादिनापि संबन्धेन शब्दशून्यमशब्दपदार्थः, विनिगमकाभावात् । अस्पर्शमित्यादौ वाच्यत्वादिना स्पर्शवत्त्वाद्यप्रसक्त्या न तत्संबन्धेन निषेधः । नच—तत्समभिव्याहारादशब्दमित्यादावपि तथेति—वाच्यम्; येन येन संबन्धेन धर्मेण च यद्यत् प्रसक्तं तेन तेन तन्निषेधस्याकाङ्क्षितत्वेन समभिव्याहारस्याप्रयोजकत्वात् । ननु—जगत्कारणत्वादेरिव शब्दवाच्यत्वस्य निषेधेऽपि तस्य व्यावहारिकः संबन्धो ब्रह्मण्यास्तामिति—चेन्न; जगत्कारणत्वादौ श्रुत्यनुमानादेरिव वाच्यत्वे मानस्याभावात्, जगत्कारणत्वादिकं विना जगदुत्पत्तेरिव वाच्यत्वं विना कस्यचित् अनुपपत्त्यभावेन तत्र व्यावहारिकसंबन्धे मानाभावात् । ननु अशब्दमित्यादिशब्दबोधे ब्रह्मणि शब्दनिषेधे व्याघात इत्याशङ्क्य शब्दवाच्यत्वनिषेधेऽपि लक्षणायाः शब्दशब्दबोध्यत्वात् नैवमित्याह—अवाच्येति । नचेत्यादि । मनसा सहेत्यादिनिषेधो न मनोवृत्तिमात्रस्य, किंत्वशुद्धमनोवृत्तेः, तथा 'यतो वाच' इत्यादिनिषेधो न वाग्वृत्तिमात्रस्य, किंतु प्राकृतवाग्वृत्तेरित्यर्थः । प्राकृतत्वं न वेदान्तभिन्नत्वम्; लौकिकवाग्वृत्तेरपि त्वया ब्रह्मणि स्वीकारात् । तथाच शक्या वागजन्यवृत्तेरिव निषेध इत्याशयेनाह—लक्षणाया इति । लक्षणाया अप्यनङ्गीकारे सुसोत्थापकवाक्यवत् पदवृत्तिज्ञानमनपेक्ष्यैव वाक्यं ब्रह्मानुभावकमिति पूर्वोक्तपक्षे । ब्रह्मणो निर्धर्मकतया तात्पर्यविषयस्य धर्माघटिततया । तत्र तात्पर्यविषयशुद्धबोधाय । शक्त्यभावेन शक्तेरसामर्थ्येन । तथाच शुद्धे अविद्याविषयत्वादिस्वीकारेण विषयादिपदशक्यत्वेऽपि श्रुतितात्पर्यविषये निर्विकल्पकबोधः न शक्तिज्ञानसाध्यः; किञ्चिद्धर्मप्रकारकबोधस्यैव तत्त्वात् । ननु—तार्किकादिमते निर्विकल्पकस्य व्यवहाराप्रयोजकत्वेन व्यवहारमूलकशक्तिग्रहस्य शुद्धेऽनवतारेऽपि सिद्धान्ते निर्विकल्पकस्यापि 'सोऽय'मित्यादिवाक्यजन्यबोधस्य संशयादिनिवृत्तिद्वारा व्यवहारप्रयोजकत्वेन तन्मूलकः शक्तिग्रहः शुद्धेऽवतरत्येव, तथाच 'तत्सत्य'मित्यादि वाक्यजन्यनिर्विकल्पकबोधप्रयोज्यव्यवहारेण सत्यादिपदानां सत्यत्वाद्युपलक्षिते शुद्धेऽपि घटादिस्वरूप इव शक्तिधीसंभवात् शुद्धमपि शक्यानुभूयतामिति—चेन्न; तावतापि शुद्धब्रह्मणः शक्यानुभाव्यत्वासंभवात् । न हि तत् सत्यत्वाद्युपलक्षितम्, किंतु तदन्यत् तत्र कल्पितम् । तथाच कार्यत्वेन घटादौ शक्तिं गृहीत्वा कार्यमलौकिकमपूर्वं गुरुमतेऽनुभूयताम्, सत्यत्वोपलक्षिते घटादौ तु शक्तिं गृहीत्वा सत्यत्वाद्यनुपलक्षितं ब्रह्म कथमनुभूयताम्? अनुभवे वा शक्तिरूप्यादेरपि सत्यादिपदादनुभवापत्तिः । नच सत्यत्वादिधर्मसामान्यशून्यं शुद्धं ब्रह्म सत्यत्वादिनोपलक्ष्यते; कादाचित्तकतद्धर्मस्यैव तदुपलक्षणत्वात् । नच शुद्धब्रह्मण्यपि शक्तिग्रहः; तस्य व्यवहारा-

द्वारैवाखण्डार्थपरतया तद्विरोधतादवस्थ्यात् । अत एव कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेत्यादिश्रुतेः परमात्मेति वाच्युक्त इत्यादिस्मृतेश्च तत्तच्छब्दबोध्यत्वमात्रेण वाच्यत्वाभिलापः, नतु शक्यत्वाभिप्रायेणेति ताभ्यां न विरोधः । तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यं वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च तीरवदिति—चेत्, निर्धर्मकतया वाच्यत्वबाधात्, तदुन्नीतसधर्मकत्वाद्युपाधिसंभवाच्च । परमार्थसत्यपदादिकं कस्यचिद्वाचकम्; पदत्वादित्यपि न; किमत्र पदत्वम्, न तावत्सुतिङन्तत्वम्; समासपदस्याशक्तत्वेन राजपुरुषादौ व्यभिचारात्, नापि शक्तत्वम्; साध्याविशेषात्, अवयवद्वारा समासपदस्य वाचकत्वं चेत्, इष्टमेव । नापि सत्यज्ञानादिवाक्यं वाच्यार्थतात्पर्यवच्छब्दयुक्तं वाच्यत्वादित्यपि; विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ व्यभिचारात् । ननु—अवाच्यत्वे लक्ष्यत्वानुपपत्तिः; वाच्यार्थसंबन्धित्वेन ज्ञातस्यैव लक्ष्यत्वात्, तज्ज्ञानं च न शब्दभिन्नेन; उपनिषन्मात्रगम्यत्वात्, नापि स्वप्रकाशतया; नित्यसिद्धे शब्दवैयर्थ्यात् । अवाच्यशब्दस्य च लक्षकस्यैव वक्तव्यत्वात्तत्रापि वाच्यसंबन्धित्वेन ज्ञेयत्वे अनवस्थेति—चेन्न; तथा ज्ञानमुपस्थितावुपयोगि । ब्रह्म स्वप्रकाशतया स्वत एवोपस्थितमिति किं तेन? नचैवं शब्दवैयर्थ्यम्; आवरणाभिभावकवृत्तावुपयोगात् । अत एव नानवस्था । तस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तस्य दुर्निरूपत्वाद्वाच्यत्वम् । तदुक्तं—‘दृष्टा गुणक्रियाजातिसंबन्धाः शब्दहेतवः । नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाभिधीयते ॥’ इति । नचारोपितगुणाश्रयतया वाच्यता; तस्य तात्पर्याविषयतया तात्पर्यविषये अवाच्यत्वस्य स्थितत्वात् । नच सत्यादिपदानां लक्षकत्वे सिद्धे निमित्ताभावः तस्मिंश्च लक्षकत्वमिति परस्पराश्रयः; निर्विशेषवाक्येन नेति नेतीत्यनेनैव निमित्ताभावस्य सिद्धत्वात् । नच—निर्विशेषवाक्यस्य स्वरूपमात्रपरत्वे प्रवृत्तिनिमित्ताविरोधः, निर्विशेषत्वविशिष्टपरत्वे च तस्यैव सत्त्वेन निर्विशेषपदवाच्यत्वस्यैव प्रसङ्ग इति—वाच्यम्; द्वारतया उपस्थितस्य स्वपरविरोधित्वान्निर्विशेषस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विषयत्वात्, सत्यत्वाद्युपलक्षिते शक्यभावाच्च, अनेकार्थकत्वस्यान्याय्यत्वात् । किञ्चोक्तरीत्या निर्विकल्पकस्यापि मन्मते सविकल्पकद्वारकत्वात् सविकल्पकोपयोगिन्याः सखण्डशक्तेः कल्पनयैव सविकल्पकद्वारस्य लक्षणाधीननिर्विकल्पकस्य निर्वाहात् नाखण्डे व्यवहारः शक्तिकल्पकः; अनन्यलभ्यार्थस्य च तस्य तत्त्वादिति भावः । विरोध्यर्थद्वारैवेति । वाच्यत्वाभावद्वारैवेत्यर्थः । उक्तश्रुतेरिति शेषः । अत एव उक्तश्रुतेर्वाच्यत्वविरोधित्वादेव । श्रुतेः स्मृतेश्च वाच्यत्वाभिलापः उच्यत इत्यादिशब्दैः बोधकता । बोध्यत्वेति । नच—निवर्तन्त इत्यादौ चित्तशुद्धभावे प्रवृत्त्यभावोऽर्थः, अथवा उच्यत इत्यत्राबोधकत्वमात्रमर्थ इत्यत्र विनिगमकाभाव इति—वाच्यम्; शुद्धे शक्यत्वासंभवस्योक्तत्वात्, शक्या बोधकत्वरूपप्रवृत्त्यभावस्यैव निवर्तन्त इत्येतदर्थत्वात् । बाधादिति । प्रमेयघटत्वादिविशिष्टे व्यभिचारोऽपि बोध्यः । सधर्मकत्वस्य पक्षमात्रव्यावृत्तत्वेन पर्वतेतरत्वादितुल्यत्वमाशङ्क्याह—तदुन्नीतेति । बाधोन्नीतेत्यर्थः । तथाच वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ वह्नीतरत्वादेरिव साध्यव्यापकताग्राहकतर्कसत्त्वात् नोक्ततुल्यत्वमिति भावः । ननु—साध्योपाध्योः केवलान्वयित्वेन नोपाध्यभावस्य साध्याभावसाधकत्वमिति—चेन्न; प्रमेयघटत्वादौ साध्याभावनिश्रयात् धर्मघटितत्वरूपसधर्मकत्वस्य शुद्धब्रह्मण्यभावनिश्चयेन वाच्यत्वाभावप्रसिद्धेः, त्वद्गीत्या सत्त्वेऽपि साध्यव्यापकत्वेन पक्षातिरिक्ते गृहीतोपाधेरभावस्य ब्रह्मणि परामर्शस्य सत्प्रतिपक्षस्याप्रत्यूहत्वात् । चेदिति । साध्यमिति शेषः । नच—अवयवद्वारा वाचकत्वं हेतुः, वाचकत्वं साध्यमिति—वाच्यम्; समासादौ व्यभिचारतादवस्थ्यात् । वाच्यार्थतात्पर्येति । स्ववाच्यघटितार्थतात्पर्येत्यर्थः । विषमिति । नच—विषमक्षणतुल्यं शत्रुगृहभोजनमित्यर्थतात्पर्यकत्वात् न व्यभिचार इति—वाच्यम्; उक्तवाक्यस्य शत्रुगृहभोजनमनिष्टसाधनमित्येतत्तात्पर्यकत्वेनोक्तत्वात्, तादृशतात्पर्यस्यापि कदाचित् संभवेन व्यभिचारानपायाच्च । अवाच्यशब्दस्य वाच्यसंबन्धिबोधकशब्दस्य । यद्यपि सत्यादिपदवाच्यसंबन्धि ब्रह्मेति वा, ब्रह्मसंबन्धि वाचकं सत्यादिपदमिति वा लक्षणां विनापि लक्षणाज्ञानं संभवत्येव । आद्ये ब्रह्मत्वरूपेण ब्रह्मविषयकज्ञानं शुद्धब्रह्मशब्दहेतुः, गुरुमते शुद्धगोत्वशक्तत्वज्ञानं गोत्वविशिष्टशब्दधीहेतुरिव । द्वितीये गोत्वादेरिव ब्रह्मणोऽपि शुद्धरूपेण भानम्, तदादिपदेन शुद्धब्रह्मसंबन्धिवाचकत्वेनोपस्थितिसंभवात् । तेन रूपेण तदादिपदशक्यत्वानङ्गीकारेऽपि तद्वाचकं सत्यादिपदमित्यादिवाक्ये तत्पदेन शुद्धब्रह्मत्वेनोपस्थितिसंभवात्, ब्रह्मणोऽपि शुद्धरूपेण उपस्थितिसंभवात् शुद्धविशिष्टत्वेन प्रमात्रादेः सदा भानाच्च; तथापि लक्षणाज्ञानं न शब्दबोधे कारणम्, किंतु शक्यज्ञानजन्यलक्ष्योपस्थितिरैवेति पूर्वमुपपादितत्वात्तदनुसृत्याह—न तथा ज्ञानमित्यादि । उपस्थितौ शक्यज्ञानाधीनलक्ष्योपस्थितौ । स्वत एव । तथा ज्ञानं विनैव । उपस्थितं निर्विकल्पकस्मृतिविषयः । तत्र हेतुः—स्वप्रकाशतयेति । सत्यादिपदशक्यप्रमात्राद्यंशे शुद्धस्य स्वप्रकाशस्य वैशिष्ट्यभावेनेत्यर्थः । तच्च वैशिष्ट्यभानं विशिष्ट-

वाच्यत्वासंभवाच्च । तस्मान्निर्विशेषत्वादेव जीवब्रह्माभेदः सिद्धः; भेदकासंभवात् । तथाच ब्रह्मण्य-
वाच्ये यो विद्वान्वाच्यतामधिगच्छति । स निस्त्रयो निमित्तानां विरहैः प्रतिबोध्यताम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ
ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः ॥

अथ सामान्यतो भेदखण्डनम् ।

स्यादेतत्—इदमयुक्तम्, भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् । नच—भेदस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्त्या धर्म-
त्वम्, तथाचानवस्था; स्तम्भकुम्भयोः परस्परभेदग्रहोऽन्योन्यभेदग्रहसापेक्ष इति अन्योन्याश्रयश्च,
एवंच भेदासिद्धिरिति—वाच्यम्; तत् किं भेदे प्रतीतिरेव नास्ति, कारणाजन्या वा, बाध्यविषया वा ।
नाद्यः, विकल्पाधिकरणरूपव्यवहारविप्लवापत्तेः । नहि भिन्नतया अज्ञातेन विकल्पः । न द्वितीयः;
अकारणकोत्पत्तेर्व्याहतत्वेन नित्यत्वापत्त्या तन्निरासकमोक्षोपायाननुसरणापत्तेः । न तृतीयः;
उक्तशुक्ततर्कस्याबाधकत्वात् । अन्यथा ऐक्यस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्तिः, धर्मत्वे अद्वैतहा-
निरित्यादिना ऐक्यबुद्धिरपि बाधितविषया स्यात् । नच—मम वैतण्डिकस्य परपक्षमात्रं खण्डनीय-
मिति—वाच्यम्, स्वपक्षसत्त्वेऽपि तव तथात्वे ममापि तथात्वाविरोधात् । नच मम परपक्षखण्डन-
मात्रेण स्वमतभूतैक्यसिद्धिः, ममापि तावन्मात्रेण स्वमतभूतभेदसिद्धिसंभवात् । नच—मां प्रति-
भेदखण्डनमात्रनियोगे ममैव वैतण्डिकत्वमिति—वाच्यम्, मां प्रत्यप्यैक्यखण्डनमात्रनियोगसंभ-
वात् मध्यस्थस्य त्वदनधीनत्वात् । अस्वव्याघातकैरेव त्वयैक्यं दूष्यमिति यदा, तदा अस्वव्याघात-
कैरेव त्वया भेदो दूष्य इत्यपि स्यादिति—चेत्, मैवम्, नहि वयं भेदप्रतीतेः स्वरूपं कारणं वापल-
पामः । किंतु बाधितविषयत्वं ब्रूमः, व्याप्तिसध्रीचीनतया अशुष्कैस्तकैरेवानन्यपरया श्रुत्या स्मृत्या
च भेदस्य बाधितत्वात्, विषयभेदादिना प्रत्यक्षविरोधस्य परिहृतत्वेन श्रुत्यादावुपचरितार्थत्वा-
भावात् । यत्त्वभेदस्याप्येवं निरासः । नचाभेदखण्डनयुक्तीनां स्वस्य स्वाभेदोऽपि न सिध्येदिति
स्वव्याघातादाभासता, भेदखण्डनयुक्तीनामपि भूषणयुक्त्यभेदेन स्वव्याघातकतायाः समानत्वा-
दिति, तन्न; भेदखण्डनयुक्तीनां तत्त्वतो भेदनिवारकत्वेऽपि व्यावहारिकभेदस्यानिराकरणेन स्वाव्या-
घातकतोपपत्तेः । नचैवं ब्रह्मण्यनृतभेदस्य तत्त्वतो निषेधे तत्र तत्तादात्म्यापत्तिः, घटे कल्पितघटा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रमात्रादिगोचराहमाकारवृत्तिः, अविद्यावृत्त्यन्तरं वेत्यन्यत् । सर्वथा शुद्धविशिष्टत्वेन पूर्वानुभूतप्रमात्रादिज्ञानस्य
संबन्धिज्ञानविधया शुद्धस्मृतिहेतुत्वमुपपन्नमिति भावः । एवं शब्दादिप्रमाणं विनैव शुद्धधीसंभवे । विषये अवाच्य-
त्वस्य विषयीभूतनिर्विकल्पके शक्तिज्ञानाजन्यत्वस्य । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मणोऽशब्दवाच्यता ॥ इति लघु-
चन्द्रिकायां ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः ॥

भेदस्य घटादिनिष्ठभेदस्य । स्वरूपत्वे घटादिस्वरूपत्वे । अनपेक्षत्वापत्त्या प्रतीतौ प्रतियोग्यनुयोगिज्ञानान-
पेक्षत्वस्याश्रयविधया घटाद्यनपेक्षत्वस्य चापत्त्या । अनवस्था भेदस्य घटादिधर्मस्य भेदान्तरं धर्म इत्यनवस्था ।
सापेक्ष इति । घटपटयोरभेदग्रहे भेदं प्रति प्रतियोग्यनुयोगिभावाग्रहात् । एकस्मिन्नपि दीर्घवंशादौ भेदभ्रमे तं प्रति
तद्ब्रह्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदधीर्भेदप्रतियोग्यनुयोगिभावधीहेतुरिति भावः । तन्निरासकेति । तदुच्छेदकेत्यर्थः ।
शुक्ततर्कस्य श्रुत्याद्यनपेक्षतर्कस्य । व्याप्तिसध्रीचीनतया निर्दोषतया । इष्टापत्तिमूलशैथिल्यादिदोषशून्यत्वमेव
तर्कस्याशुक्तत्वम् । तादृशोऽपि श्रुत्यादिविरुद्धो हेयः । अतस्तदविरोधमाह—अनन्येति । विषयभेदादिना प्रत्यक्षा-
देर्व्यावहारिकभेदो विषयः 'नात्र काचन भिदे'त्यादिश्रुत्यादिकं तु तात्त्विकत्वेन भेदं निषेधतीत्यादिना । युक्तीनामा-
भासतेति योजना । स्वस्य युक्तेः । स्वाभेदो युक्त्यभेदः । भूषणयुक्तीति । भेदसाधकयुक्तीत्यर्थः । तत्त्वतः
तात्त्विकत्वरूपेण । निवारकत्वे निषेधकत्वे । अथवा—तत्त्वतः पर्यवसानतः । भेदनिवारकत्वे स्वावतारद्वितीया-
दिक्षणेषु भेदोच्छेदकत्वे । व्यावहारिकभेदानिराकरणेन स्वावतारक्षणरूपव्यवहारकाले भेदानुच्छेदकत्वेन ।
घट इत्यादि । कल्पितं यत् घटान्तरं तस्य घटे भेदभ्रमस्थल इत्यर्थः । उक्तभेदबाधेऽपीति शेषः । ननु घटादौ
तदैक्यस्य तत्त्वतो निषेधेऽप्यधिष्ठानानिषेधात् न शून्यवाद इत्याशङ्क्य ब्रह्मान्यस्यैक्यस्य निषेध इष्ट इत्याशयेनाह—
किंचेति । तस्य ब्रह्मणः । तदन्य इत्यादि । अभेद इत्यत्र नञर्थो भेदविरोधिभेदाभावव्याप्यादिरूपो वा, भेदान्य
एव वाच्य इत्यर्थः । भेद इति । भेदस्य विरोधिनि अत्यन्ताभावे वा तज्ज्ञेद इत्यर्थः । तदनन्यत्व इत्यादि । तथाच

न्तरभेदभ्रमस्थले तत्तादात्म्यादर्शनात् । नचैवमभेदोऽपि तत्त्वतो निषेध्यः, तर्हि स्वरूपापर्यवसानेन शून्यवादापत्तेः । किंच ब्रह्मातिरिक्तमेक्यमस्माकं नास्त्येव । तस्य च तथा निषेधे श्रुतिविरोधः । नच—मम घटातिरिक्तो भेदो नास्ति तस्य निषेधे प्रत्यक्षविरोध इति—वाच्यम्; प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वाविषयत्वेनाविरोधित्वस्य प्रागेवोक्तत्वात् । ननु—भेदवाधकं न भेदविषयमेव, तत्साधकतापत्तेः, नाप्यभेदविषयम्, एवं हि तदन्यः तद्विरोधि तदभावो वा नञर्थो विषयो वाच्यः । सर्वथा च भेदो दुष्परिहरः, तदनन्यत्वे तद्विरोधतदभावत्वयोर्योगात्, भेदाभावग्राहिणापि प्रतियोगिविलक्षणतयैवाभावस्य ग्रहणाच्च, औदासीन्येन प्रवृत्तस्य इदमिति ज्ञानवदबाधकत्वाच्चेति—चेन्न; पारमार्थिकत्वाकारेण भेदाभावविषयस्यैव बाधकत्वात् । नच भेदे दुष्परिहरता; व्यावहारिकभेदेनैव व्यावहारिकतद्विरोधित्वतदभावत्वरूपपत्तिसंभवात्, 'यक्षानुरूपो बलि'रिति न्यायात् । भेदभ्रमाधिष्ठानतत्त्वगोचरं ज्ञानं भ्रमबाधकमित्युपपन्नम्, उक्तरीत्या भेदवैलक्षण्येन तद्ग्रहणोपपत्तेः । यत्तु 'नायं भेदो नास्त्यत्र भेदोऽन्यदेव भेदात्मना प्रत्यभा'दित्येवमाकारकं बाधकज्ञानं वाच्यम् 'नेदं रजत' मिति वत्, इदंच सर्वथा भेदावगाहीति कथं तत्र बाधकमिति, तन्न; प्रतियोगितया तद्ग्रहणस्य तद्बाधकत्वाविरोधित्वात् । नच—अत्र भेदो नास्तीति धीः सर्वथा न भेदाभावमवगाहति इति—वाच्यम्; अन्यत्र भेदसत्त्वे तद्भेदस्यात्रावश्यकत्वेनात्र भेदो नास्तीत्यस्यैव कुत्रापि नास्तीत्यत्र पर्यवसानात् एकमेव नानात्मना अभादित्यादि बाधकमनुसन्धेयम् । कोट्योर्व्यावहारिकभेदेन तद्वत्तया ग्रह-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बाधकधीविषयतावच्छेदकस्य भेदात्यन्ताभावत्वादेर्भेदभेदं विनानुपपत्तेस्तत्सिद्धिरिति भावः । भेदाभावग्राहिणा प्रतियोगिविलक्षणतया भेदव्याप्येन भेदाभावत्वादिना । अभावस्य स्वविषयस्य । औदासीन्येन भेदाभावत्वादि-कमविषयीकृत्य । तथाच भेदाभावत्वादेर्बाधकधीविषयावच्छेदकत्वमावश्यकमिति भावः । यत्तु तदन्यस्तद्विरोधी तदभावो वा नञर्थः पक्षत्रयेऽपि दुष्परिहर इति व्यासेनोक्तं, तदसङ्गतम्; भेदाभावादिसत्ताज्ञानस्यैव भेदान्यवत्ताज्ञानस्याबाधकत्वात् । 'भेदः सन्निति ज्ञाने सद्रूपं न भेद इति धीबाधकत्वेन वा तदपि सङ्गतं बोध्यम् । 'नात्र काचन भिदे'त्यादिश्रुतौ भेदाभावस्यैव प्रमितेर्भेदाभावव्याप्यवत्ताज्ञानेऽपि भेदाभावज्ञानस्यापेक्षान्तस्यैव बाधकत्वमाह—पारमार्थिकेति । व्यावहारिकेत्यादि । भेदाभावादिसत्ताज्ञानस्य यथा भेदबाधकता, तथा भेदाभावत्वादिरूपं व्याप्यं प्रत्यपि बाधकत्वम्; व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यकत्वेन परम्परया बाधकत्वसंभवात् । तथाच भेदोच्छेदपूर्वं भेदाभावत्वं तदुपपादकं भेदाभावादेर्भेदभिन्नत्वं चास्त्येव, तदुत्तरकालं तु उपपाद्यस्य भेदाभावत्वादेरेवानपेक्षितत्वात् न तदुपपादकापेक्षेत्यपि बोध्यम् । ननु—भेदाभावादिसत्ताज्ञानमधिष्ठानीभूतशुद्धब्रह्मात्राविषयकत्वात् कथमुच्छेदकमिति—चेन्न; भेदमिथ्यात्वनिश्चायकत्वेनोच्छेदकत्वस्योक्तत्वात् । नन्वधिष्ठानीभूतशुद्धब्रह्मधीः त्वन्मते बाधिका, तथाचाधिष्ठानस्य स्वसमसत्ताको बाध्यभेदात् भेदो वाच्यः, तत्राह—भेदभ्रमेति । उक्तरीत्या व्यावहारिकेण वैलक्षण्येन भेदेन शुक्तिरूप्यादिभ्रमेऽपि चित एवाधिष्ठानत्वेनाधिष्ठानसमसत्ताको भेदः कापि न दृष्ट इति व्यावहारिक एव स वाच्य इति भावः । नायं भेद इत्यादि । अयं सद्रूपः आत्मा न भेद इति धीः 'भेदः सन्निति ज्ञाने बाधिका, 'नात्र भेद' इति धीः 'अत्र भेद' इत्यत्र बाधिका । 'नायं भेद' इति ज्ञानमेव भेदभ्रमानुवादेनाप्याह—अन्यदेवेत्यादि । अन्यत् भेदान्यत् भेदात्मना यत् प्रत्यभात्, तत् ब्रह्म भेदभिन्नमेवेत्यर्थः । इति वत् इत्यादिवत् । आदिना नात्र रजतमित्यस्य ग्रहणम् । प्रतियोगितयेति । नेदं रजतमित्यत्र भेदस्याधिष्ठानतावच्छेदकत्वेन तद्विरोधि, नायं भेद इति धीस्तु न तथा; शुद्धस्यैवाधिष्ठानत्वात्, भेदस्य तदनवच्छेदकत्वात् । अतस्तस्याः भेदबुद्धौ मिथ्यात्वनिश्चायकत्वं—वाच्यम्; तच्च नानुपपन्नम्; भेदभेदत्वेन केवलभेदत्वेन च बाधकबाध्यधीविषयत्वसंभवात् । अतएव द्वितीयाभावत्वद्वितीयत्वाभ्यामेकस्यापि तत् स्वीक्रियते, घटो न तद्भेद इत्यस्य तद्भेदतादात्म्यभ्रमे बाधकत्वं त्वयाप्युच्यते; नात्र भेद इत्यस्य तु नात्र रजतमित्यस्यैव मिथ्यात्वनिश्चायकत्वं निःशङ्कमेवेति भावः । न चात्रेत्यादि । अत्र घटे पटभेदो नेति धीः घटे पटभेदत्वेनाभावं गाहमानापि घटभेदत्वेनाभावं पटे नावगाहते । तथाच पटे घटाद्भेदभ्रमं न निवर्तयेदिति भावः । कुत्रापीति । घटे भेदसामान्याभावधीर्वटे भेदभ्रमं साक्षान्निवर्तयन्ती अर्थादन्यत्र भेदभ्रमं निवर्तयति । अन्यत्र विद्यमानस्य भेदस्य घटनिष्ठभेदप्रतियोगिताव्याप्यतया व्यापकाभावेन व्याप्याभावभानस्यावश्यकत्वादिति भावः । एकं ब्रह्म, अनेकात्मना मिथो भिन्नात्मना । एकस्वरूपकोटिर्मिथो भिन्नप्रपञ्चरूपाया भ्रमभासमानकोटिर्भिन्नत्वेन ज्ञानमावश्यकम् । भ्रमविषयव्यावृत्तत्वेनाज्ञातस्याधिष्ठानस्य ज्ञानाद्भ्रमानिवृत्तेः, तत्राह—कोट्यो-

णाच्च यथा बाधकत्वयोगः, तथोक्तमेव । एतेन—भेदात् भिन्नतया स्वार्थं बाधधीर्गाहते न वा, आद्ये भेदः स्थिरः, अन्ये तु न सा स्यात् भेदवाधिकेति—निरस्तम्; स्वरूपेण स्थैर्येऽपि तत्त्वतोऽस्थिरत्व-संभवात् । एवंचाकृतविषयत्वादन्योन्याश्रयत्वादेरुत्थानम् । उत्थितस्य च नाभासत्वम् । किंचायं देश्याभासोऽनिर्वचनवादिनः प्रति । नास्मान् । वयं हि भासमानो यो भेदः स स्वरूपादिपक्षान्त-भाववहिर्भावाभ्यां वा अन्येन धर्मान्तरेणानिर्वाच्य इति ब्रूमः । नच तर्काभासेनानिर्वाच्यत्वे ऐक्यस्यापि तत्प्रसङ्गः; भेदबाधकस्यानाभासताया उक्तत्वात्, ऐक्यभेदयोः श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च । ननु—ब्रह्मण्यनृतादिव्यावृत्तिः ब्रह्मज्ञानाबाध्या वाच्या, शून्याद्यनात्मकघटादौ शून्यादितः स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति—चेत्, ब्रह्मघटयोरधिष्ठानाच्चस्तत्त्वाभ्यां विशेषात्, अनृतत्वस्य मृषात्वेन तद्व्यावृत्तेरपि मृषात्वस्य युक्तत्वेन घटे तज्ज्ञानबाध्यत्वस्य उभयोः समानत्वात् । नच—एवं प्रातिभासिकरूप्यादिव्यावृत्तेरपि प्रातिभासिकत्वापत्तिः, तथाच भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादिति—वाच्यम्; विशेषदर्शनजन्यत्वतदजन्यत्वाभ्यां बाधभ्रान्तिव्यवस्थोपपत्त्या प्रातिभासिकत्वस्येष्टत्वात् । नचैवं सत्यादिवाक्यस्यानृतव्यावृत्तिबोधकस्याप्रामाण्यापत्तिः; तस्या अर्थत्वात् । नच—एवं व्यावृत्तिवन्मृषाप्रतियोगिकस्यात्यन्ताभावस्यापि मृषात्वेनाधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वं न स्यादिति—वाच्यम्; अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वस्य तत्राविशेषणत्वात् । नच—एवमात्मनि देहभेदस्य बाध्यत्वे देहात्मैक्यस्य मिथ्यात्वं न स्यादिति—वाच्यम्; भेदमिथ्यात्वस्य प्रतियोग्यैक्यामिथ्यात्वाप्रयोजकत्वस्योक्तत्वात् । नच—नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य साधनचतुष्टयान्तर्गतस्य ज्ञानं भ्रमः स्यात्, तथाच तेनानित्यपरिहारेण नित्ये प्रवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्; हानोपादानोपयुक्तरूपावगाहिवुद्धेर्व्यावहारिकप्रामाण्यशालितया व्यावहारिकहानोपादानस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । एतेन—प्रपञ्चे सदैवलक्षणस्य मिथ्यात्वे सदैक्यापत्तिः, जगन्मिथ्यात्वप्रमाणानां चातत्त्वावेदकत्वापात इति—निरस्तम्; मिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तोत्तरत्वाच्च । एतेन—भेदादभेदस्य भेदाभावे अन्यतरखण्डनसाधनाभ्यामुभयखण्डनसाधने इति—निरस्तम्; तात्त्विकभेदाभावेऽपि कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः । नच कल्पितेनाकल्पितकार्यप्रतिबन्धायोगः; अविद्यया स्वप्रकाशरूप-ब्रह्मकार्यप्रतिबन्धदर्शनात्, कल्पितकान्तया विश्लेषकार्यप्रतिबन्धदर्शनाच्च । ननु—भेदस्य व्यावहा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रिति । ननु—तादृशभेदस्याधिष्ठानसमानसत्ताकत्वमपेक्षितम्, तत्राह—यथेति । उक्तमिति । अन्यूनसत्ताकत्वमेव तस्यापेक्षितमिति भावः । स्थिरः बाधकविषयत्वेन प्रमितः । स्वरूपेण व्यावहारिकत्वेन । तत्त्वतः प्रमितभेदविषयकत्वेन । अन्योन्याश्रयो न दोष इति यत् परेणोक्तं, तत् दूषयति—एवंचेति । अकृतेति । तत्त्वतः अप्रमितेत्यर्थः । खण्डनकारोक्तसमाधिमाह—किञ्चायमिति । देश्याभासः पूर्वपक्षाभासः । स्वरूपादीति । अधिकरणस्वरूपो वा तद्धर्मो वा भेद इत्यादीत्यर्थः । अन्येनेति । सत्त्वासत्त्वाभ्यामित्यादिः । ब्रह्मघटयोरित्यादि । अनृतव्यावृत्तेरधिष्ठानं ब्रह्मेति सा तद्धीबाध्येत्यर्थः । अनृतत्वस्य अनृतस्य । घटे घटनिष्ठायाः शून्यव्यावृत्तेरेव । अतज्ज्ञानबाध्यत्वस्य घटज्ञानाबाध्यत्वस्य । उभयोः आवयोः । समानत्वात् सप्रमाणकत्वात् । न स्यादिति । रूप्यतद्भेदयोः समानसत्ताकत्वात् रूप्यमिव तद्भेदोऽपि बाध्येतेति भावः । विशेषदर्शनजन्यत्वेति । रूप्यादिभेदज्ञानस्योक्तभेदव्याप्यशुक्तिवादिमत्तानिश्चयप्रयोज्यत्वेन प्राबल्यात्तदेव बाधकम् । आसोपदेशजन्यरूप्यादिभेदज्ञानस्याप्युक्तनिश्चयप्रयोज्यत्वमक्षतम् । वस्तुतो रूप्यसामान्यभेदज्ञानमेव बाधकम्, स च न प्रातीतिकः; व्यावहारिकरूप्यस्यापि तत्प्रतियोगित्वात्, प्रातीतिकमात्रप्रतियोगिकस्यैव प्रातीतिकत्वात् । किंचागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातीतिकत्वे प्रयोजकम् । तथाच रूप्यभेदादिज्ञानस्य विशेषदर्शनादिप्रयोज्यत्वेन प्रमात्वादप्रातीतिकत्वेन तद्विषयोऽप्यप्रातीतिकः, भेदसामान्यस्य मिथ्यात्वं तु दृश्यत्वादिमत्त्वात् । मिथ्याप्रतियोगिकत्वं तूपोद्बलकं क्वचित् । तेन ब्रह्मघटयोर्ब्रह्ममात्रस्य वा भेदोऽपि मिथ्येति बोध्यम् । मिथ्यात्वमिति । प्रपञ्चस्येति शेषः । अविशेषणत्वादिति । प्रातीतिकाल्यन्ताभावमादाय तु न व्यावहारिकस्य मिथ्यात्वे सिद्धसाधनम्; स्वान्यूनसत्ताकत्वेनात्यन्ताभावविशेषणात् । उक्तत्वादिति । कल्पितघटात् भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि तदैक्यं मिथ्येत्युक्तम् । विवेकस्य भेदस्य । अतत्त्वावेदकत्वेति । अत्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वे तत्प्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वमपि मिथ्या स्यादिति भावः । उक्तोत्तरत्वादिति । तेषां व्यावहारिकमेव प्रामाण्यम्, अत्यन्ताभावस्याधिष्ठानस्वरूपत्वात्तदंशे तत्त्वावेदकत्वं चेत्याहुक्तम् । अकल्पितकार्येति । अकल्पितं यत् ब्रह्मरूपमैक्यं, तत्कार्येत्यर्थः ।

रिकसत्त्वार्थमपि त्वया अन्योन्याश्रयादिकमुद्धरणीयम्, परस्परसापेक्षेण व्यवहारस्याप्यभावात्, न हि व्यावहारिकमृदः स्वजन्यघटसापेक्षत्वम् । किंचात्र न भेदमात्रेण तद्दर्शनमात्रेण वा अन्योन्याश्रयाद्यापादनम्; तथा सति व्यावहारिकयोरपि तयोरसिद्धिः स्यात् । नापि तत्प्रतीतिवास्तवत्वेन तदापत्तिः; चरमवृत्त्यवास्तवत्वेऽपि तद्विषयवास्तवत्ववदुपपत्तेः, वास्तवे अन्योन्याश्रयादर्शनेन व्याप्त्यसिद्धेश्च । नच प्रमारूपतत्प्रतीत्या तदापादनम्; प्रतीतिसामान्य एव त्वयान्योन्याश्रयस्योक्तत्वेन प्रमात्वपर्यन्ते तत्र दोषाभावात् । नापि तत्प्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तदापादनम्; तावतापि तत्सापेक्षतामात्रस्यैव निवृत्तिरिति—चेन्न; अस्माकमविद्यासामर्थ्यात् सर्वानुपपत्तिविधूननोपपत्तेः । नहि मायायामसंभावनीयं नाम । तथाच परस्पराश्रितमपि इन्द्रजालवद्दर्शयिष्यति । नच—ईश्वरसामर्थ्यात्तादृशमपि सत्यं स्यादिति—वाच्यम्; उभयसिद्धमृषाभूतेन्द्रजालस्थले कारणादिव्यवस्थोलुङ्घिकार्यादिदर्शनवदन्यत्र तथा अदर्शनात्, दर्शने च मृषात्व एव पर्यवसानात् । आपादनं च भेदस्तत्प्रतीतिश्च यदि मायिकी न स्यात्, सर्वव्यवस्थोलुङ्घिनी न स्यात् । सर्वव्यवस्थोलुङ्घिनी चेयम् । तस्मान्मायिकीति विपर्ययपर्यवसानात्, मायिके व्यवस्थोलुङ्घनस्य दर्शनेन व्याप्तिसिद्धेः । उक्तश्रुत्या अस्वव्याघातकयुक्त्या च भेदस्य बाधादभेदस्याबाधाच्च स्वाभेदस्वभेदयोर्व्यावहारिकत्वे समानेऽपि स्वाभेदं परित्यज्य भेद एव सर्वथा प्रद्वेषो नाकारणकः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्यतो भेदखण्डनम् ॥

अथ विशेषतो भेदखण्डनम् ।

ननु निरपेक्षस्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तिरिति यदुक्तं, तत्तावदयुक्तम्; अविद्यानिवृत्तेर्जीवब्रह्मैक्यस्य च तव मते मतद्वयेऽपि स्थितौ व्यक्तिसापेक्षस्य जातिमात्रस्य प्रतीतौ सापेक्षस्य नीलतरत्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कान्तयेति । यत्तु कल्पितकान्तया ज्ञानं सत्यं विश्लेषकार्यप्रतिबन्धकम्, न तु सेति, तन्न; कल्पितविषयकज्ञाने कल्पितत्वनियमस्योक्तत्वात् । अन्योन्याश्रयाद्यापादनम् अन्योन्याश्रयादेर्भेदसिद्धिविरोधित्वापादनम् । अन्योन्याश्रयाद्यधीनाया भेदासिद्धेरापादनमिति यावत् । घटपटौ यदि भिन्नौ भिन्नत्वेन प्रतीयमानौ वा स्यातां, तदा स्वविशेष्यकभेदज्ञानप्रमात्वविरोध्यन्योन्याश्रयादिकं स्यादित्यापत्तिर्बाध्या । तत्प्रतीतिवास्तवत्वेनेति । भेदधीर्यदि वास्तवी स्यात्, तदा स्वप्रमात्वविरोध्यन्योन्याश्रयादिका स्यादित्यर्थः । विपर्ययानुमानं प्रतीतेरवास्तवत्वेन पर्यवसन्नं वाच्यम्, तथाच विषयसत्यत्वेऽपि यथा ब्रह्मधीरवास्तवी, तथा भेदधीः स्यादित्यर्थान्तरमित्याशयेनाह—चरमेति । अन्योन्याश्रयादर्शनेन उक्तान्योन्याश्रयादिकत्वाददर्शनेन । तत्र प्रत्यये । दोषाभावात् आपत्यभावात् । व्यर्थविशेषणतया प्रमात्वघटितरूपेण नोक्तसाध्यव्याप्यता भेदप्रमात्वेनोक्तसाध्याभावस्यैव साधनसंभवश्चेति भावः । परस्पराश्रितमिति । मृदादेर्वटादिरूपकार्यान्पेक्षत्वेऽपि भेदधीरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदधीसापेक्षत्वेनाविद्यैव कल्प्यते । तथाच भेदधियं विनापि कस्याश्चित् भेदधिय उत्पत्तिरपि भूषणम्, न तु दूषणम्; इन्द्रजालस्थले ह्रस्वकारणं विना कार्योत्पत्तिवत् । अतएव 'विचारकाले कारणीभूतभेदबुद्धौ भेदबुद्ध्यन्तरापेक्षायामनवस्था, कार्याभूतभेदबुद्धेस्तद्वेतुत्वे चान्योन्याश्रय' इत्यादितर्कैर्भेदस्याविद्यकत्वनिश्चयात् तस्यास्तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि प्रकृतविचारानधिकरणरूपव्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वेन व्यावहारिकप्रामाण्यमव्याहतमिति भावः । अदर्शनादिति । यत्तु शीतातपसरित्सागरादौ मायिकभिन्नेऽपि तदुलङ्घनं दृष्टमिति, तत्तुच्छम्; कालविशेषादिकारणोलुङ्घनस्य तत्राभावात् । दर्शने इन्द्रजालादौ तादृशव्यवस्थोलुङ्घनदर्शने । मायिकी अविद्योपादानिका । यदि मिथ्या न स्यात्, तदा युक्तिविरुद्धं न स्यादित्यत्र तात्पर्यम् । अभेदस्य ब्रह्मस्वरूपस्य । स्वाभेदेति । स्वाभेदाभावत्वविशिष्टेत्यर्थः । भेद एवेति । भेदघटित एवेत्यर्थः । एवकारात् ब्रह्मस्वरूपाभेदे प्रद्वेषव्यवच्छेदः । भेदाभावत्वविशिष्टे तु भेदघटितत्वात् प्रद्वेषोऽस्त्येवेति भावः । अथवा—अभेदस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेनाबाधात् व्यावहारिकत्वे द्वयोः समानेऽपि भेदद्वेषः अकारणक इति यत् परेणोक्तं, तन्नैत्यर्थः ॥ तर्कैरित्यादि—भेदः सामान्यतो मृषा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां सामान्यतो भेदखण्डनम् ॥

ब्रह्मैक्यस्येति । प्रतीतौ सापेक्षस्येति शेषः । अविद्यानिवृत्तिवादिना ज्ञानमविद्यादिधीसापेक्षमिति भावः । स्थिताविति । आश्रयप्रत्यक्षस्य जातिप्रत्यक्षहेतुत्वे मानाभावात् प्रतीतौ निरपेक्षत्वमिति भावः । प्रतीताविति ।

देरिवार्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्मणि ब्रह्माभेदस्य 'अस्ति ब्रह्मे'त्यादौ कालसापेक्षस्यास्तित्वस्य निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनादिति—चेन्न; अविद्यानिवृत्तिजीवब्रह्मेक्ययोः प्रतीतौ सापेक्षत्वस्याविद्यकतया तात्त्विकनिरपेक्षत्वविरोधित्वाभावात् । जातिमात्रस्य व्यक्त्यभेदासिद्धिः; व्यक्तिसमानसत्ताकघटत्वादौ तदभावात्, व्यक्त्यसमानसत्ताकसत्तादिजातौ तु सापेक्षत्वस्य काल्पनिकत्वात् नीलतरत्वादेर्व्यक्तिरूपत्वासिद्धौ हेतोरभावादर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्माभेदस्य च सापेक्षतायाः काल्पनिकत्वात् । अस्ति ब्रह्मेत्यादावप्येवमेव । तथाच तत्त्वतो निरपेक्षस्य सामानाधिकरण्यासिद्ध्या न तर्काभासताव्याप्तिसिद्धिः । अतएव—ऐक्यस्यास्वरूपत्वे अद्वैतहानिः, मिथ्यात्वे भेदस्य सत्यत्वप्रसङ्गः, यत्र यदध्यस्तं, तत्र तद्विरोधि तज्ज्ञानावाध्यम्, यथा शुक्तावरूप्यत्वम् । यत्र यदैक्यं बाध्यं, तत्र तद्वेदस्तज्ज्ञानावाध्यः । यथा दूरस्थवनस्पत्योर्भेद इति वा । यत्र यदध्यस्तं तत्र तद्विरोधि तात्त्विकम्, यथा ब्रह्मण्यनृतत्वस्याध्यस्तत्वे सत्यत्वं तात्त्विकमिति वा व्याप्तेरिति—निरस्तम्; ऐक्यस्य ब्रह्माभेदानङ्गीकारात्, विरोध्यनुरोधिनां सर्वेषां ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानावाध्यत्वेन व्याप्तीनामसिद्धेः । ननु—ऐक्यस्य निरपेक्षत्वे तत्त्वंपदार्थपराणां 'सत्यं विज्ञानघन' इत्यादीनामैक्यपरमहावाक्यैकवाक्यत्वाभावेन वैयर्थ्यं स्यादिति—चेन्न; ऐक्यस्य स्वप्रकाशब्रह्माभिन्नतया स्थितिप्रतीत्यादौ निरपेक्षत्वेऽपि यथालक्षितार्थभेदभ्रमनिवर्तकवृत्तिजनने पदार्थसापेक्षतया स्वरूपपरवाक्यानमेकवाक्यतायाः सत्त्वात्, भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तत्र सापेक्षत्वव्यवहारात् । नच घटः पटो नेति नञर्थस्य भेदस्यैव तादात्म्यनिषेधरूपत्वेन वैपरीत्यम्; तादात्म्यस्य तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे भेदस्याभेदानपेक्षत्वात्, अभेदरूपत्वे भेदसापेक्षत्वेनैव तस्य तदनपेक्षत्वात् । नचैतावता ऐक्यस्य सापेक्षत्वा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नीलतरत्वं नीलान्तरापेक्षया अतिशयत्वयुक्तनीलत्वम् । तच्च नानावस्तुघटितत्वेन विशेषणीभूतार्थज्ञानाधीनज्ञानकमिति भावः । ज्ञानस्येत्यत्र ब्रह्माभेदस्येत्यत्र च प्रतीतौ सापेक्षस्येत्यनुपपद्यते । अर्थप्रकाशत्वेन ब्रह्माभेदाभावत्वेन च ज्ञानमर्थादिज्ञानाधीनमिति भावः । कालसापेक्षस्येति । आख्यातार्थवर्तमानकालीनसत्ताप्रतीतौ उक्तकालधीसापेक्षत्वम् । सापेक्षत्वस्य सापेक्षरूपावच्छिन्नत्वस्य तात्त्विकनिरपेक्षत्वेति । तात्त्विकं यत् ब्रह्मरूपं, तेन निरपेक्षत्वेत्यर्थः । आविद्यकविशिष्टरूपेणैव सापेक्षता, तच्च न निरपेक्षब्रह्मेति भावः । मन्मते घटत्वादिजातिः सद्रूपब्रह्मैव तदन्या वा उभयथापि व्यक्तिस्वबन्धित्वेन न तस्याः व्यक्त्यैक्यम्, संबन्धस्य भेदनियतत्वात् । किंच आद्ये न स्थितौ सापेक्षता; अनाश्रितत्वात्, अन्ये त्वाह—व्यक्तिसमानेति । सृष्ट्यादिकाले घटत्वादिकं जायते । अनादिपल्लवाविद्यारूपत्वे तु न जायत एव । आद्ये घटाद्युत्पत्तिपूर्वं यत्र स्थितिः घटादिकालेऽपि, तत्रैव घटे घटत्वमित्यादौ संबन्धमात्रं भाति । तावतैव जातेर्व्यक्तिसापेक्षत्वे व्यक्तेरपि जातिसापेक्षता स्यात् । अन्ये त्वविद्याया ईश्वराश्रितत्वेन सुतरां न व्यक्त्याश्रितत्वम् । अतएव पक्षद्वयेऽपि जातेः न व्यक्त्यैक्यम्, नहि पूर्वोत्पन्नस्य पश्चाद्भावविभिरैक्यम् । नचानादिसाद्योस्तदित्याशयेनाह—तदभावादिति । व्यक्त्याश्रितत्वव्यक्त्यभेदयोरभावादित्यर्थः । ननु ब्रह्मैव सर्वा जातिरिति पक्षे 'घटः सन्नि'त्यादिबुद्धौ त्रिकालावाध्यत्वरूपेण सत्ताजातिभावे विशेषणीभूतत्रिकालादिज्ञानापेक्षणात् निरपेक्षब्रह्मणोऽपि सापेक्षत्वमस्त्येव, तत्राह—व्यक्त्यसमानसत्ताकसत्तादिजातौ त्विति । व्यक्त्यसमानसत्ताकं यत् ब्रह्म, तदेव सत्तादिजातिरिति पक्षेऽपीत्यर्थः । सापेक्षत्वस्य त्रिकालावाध्यत्वादिरूपविशिष्टस्य । नीलतरत्वादेः नीलतरत्वादिस्वरूपस्य । हेतोः प्रतीतौ सापेक्षत्वस्य । नीलान्तरापेक्षयातिशयत्वादिरूपेण ज्ञाने अन्यधीसापेक्षत्वेऽपि तत्स्वरूपनिष्ठानवच्छिन्नविषयताशालिज्ञाने न तदिति भावः । सापेक्षतायाः सापेक्षरूपविशिष्टतायाः । तत्त्वतो निरपेक्षस्य तत्त्वतो निरपेक्षत्वस्य । सामानाधिकरण्यासिद्ध्या तत्त्वतः सापेक्षसामानाधिकरण्यासिद्ध्या । न तर्काभासता भेदो यदि तत्त्वतो निरपेक्षघटादिस्वरूपः स्यात्, तदा तत्त्वतः सापेक्षो न स्यात् । परमते च तत्त्वतः सापेक्ष एव भेदः । तस्मान्नोक्तस्वरूप इत्येवंरूपेण तर्कसङ्गीचीनता । अध्यस्तं मिथ्या । बाध्यं ज्ञाननिवर्त्यम् । तात्त्विकम् ज्ञानसामान्यानिवर्त्यम् । विरोध्यनुरोधिनां विरोधित्वेन परोक्तानाम् । भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन भेदाभावात्मकैक्यरूपब्रह्मणो भेदरूपं यत् प्रतियोगि तत्सापेक्षत्वेन । सापेक्षत्वव्यवहारात् जीवब्रह्मणोरभेद इत्यादौ प्रतियोगिघटितरूपेण व्यवहारात् । वैपरीत्यं तादात्म्यस्य सप्रतियोगिकत्वेन भेदरूपप्रतियोगिघटितरूपेण व्यवहारः । असाधारणधर्मेति । घटत्वादिरूपः अतिरिक्ताखण्डधर्मो वेति भावः । भेदस्येति । तदपेक्षत्वेऽपीति शेषः । अभेदानपेक्षत्वात् भेदाभावरूपैक्यात्मकब्रह्मानपेक्षत्वात् । भेदसापेक्षत्वेन भेदस्यैव सापेक्षत्वेन । तस्य उक्तैक्यस्य । तदनपेक्षत्वात् भेदप्रतियोग्यनपेक्षत्वात् । ननु सापेक्षभेदप्रतियोगिकत्वेनाभेदरूपैक्यस्यापि सापेक्षत्वम्, तत्राह—

पत्तिः; काल्पनिकस्येष्टत्वात् । अतएव—अज्ञानहानिवद्ब्रह्मरूपधीवदभेदवत्स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य सापेक्षत्वं हि युज्यत इति—निरस्तम्; तव सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोस्तात्त्विकतया दृष्टान्तवैषम्यात् । नच भेदेऽप्येवमेवास्तु; भेदस्य निषेधप्रतियोगितया श्रुतत्वेन ब्रह्मरूपत्वाभावात् । नच तत्राभेदश्रुतिरस्ति । एतेन—स्वरूपेण निरपेक्षस्याप्यभेदस्याभेदत्वेन सापेक्षत्ववत् स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि घटस्य भेदत्वेन सापेक्षत्वमस्तु, अवच्छेदकभेदेन सप्रतियोगित्वाप्रतियोगित्वे अपि यथा तद्वदिति—निरस्तम्; भेदस्य स्वरूपतो निरपेक्षत्वे निष्प्रतियोगिकत्वे च परान् प्रतीव स्वमपि प्रति अविशिष्टतया स्वव्याघातः । नचैवमभेदस्यापि स्वान् प्रतीव परान् प्रति तथासति तथात्वापत्तिः; इष्टापत्तेः । घटत्वादिना भेदः परं कल्पितः, स्वरूपतस्त्वभेद एव । तथासति परत्वं परं व्याहतम्, न स्वरूपत्वमपि । यत्तु सप्रतियोगिकत्वनिष्प्रतियोगिकत्वव्यवस्था तु यदसाधारण्येन स्ववाचकप्रवृत्तिनिमित्तावच्छेदेन प्रतीतौ प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षं, तत्सप्रतियोगिकम्, अन्यत्तु निष्प्रतियोगिकमिति, तन्न; भेदस्य स्वरूपत्वे तदन्यत्वासिद्धेः । एतेन—एकस्यार्थस्य लघुत्वकठिनत्वादिना उल्लेखेन निरपेक्षत्वेऽपि अगुरुत्वाद्वत्त्वादिना उल्लेखेन सापेक्षत्वमपि यथा, तथा घट इत्युल्लेखेन निरपेक्षस्यापि भेद इत्युल्लेखे सापेक्षत्वोपपत्तिः—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न चेति । एतावता सापेक्षभेदप्रतियोगिकत्वेन । इष्टत्वादिति । उक्तप्रतियोगिकत्वोपहितं रूपं सापेक्षम्; तस्य काल्पनिकत्वेन निरपेक्षैक्यस्वरूपान्यत्वात् न दोष इति भावः । ब्रह्मरूपधीवत् ब्रह्मस्वरूपज्ञानवत् । तवेत्यादि । मन्मते अज्ञाननिवृत्तिस्वरूपस्य निरपेक्षत्वेऽपि तदन्यत् कल्पितमज्ञाननिवृत्तिव्यतिरिक्तं रूपं सापेक्षमिति युक्तम्, तव तु घटप्रतियोगिकभेदस्वरूपं सापेक्षमकल्पितरूपं निरपेक्षघटादिस्वरूपमित्युक्तमिति भावः । एवमेवेति । ऐक्यस्वरूपब्रह्मणो भेदाभावत्वोपहितं सापेक्षरूपं यथा कल्पितं, तथा भेदस्वरूपब्रह्मणः सापेक्षं सप्रतियोगिकत्वोपहितं रूपं कल्पितमेवेत्यर्थः । श्रुतत्वेन 'नात्र काचन भिदास्ति नेह नानास्ति किञ्चनेत्या'दिश्रुत्या बोधितत्वेन । ननु—भेदत्वादिकल्पितरूपेण निषेध्यत्वेऽपि भेदस्वरूपस्य तदभाव इति—चेन्न; काचन भिदा किञ्चनेत्यादिना केनापि रूपेण भेदस्वरूपं नास्तीत्यर्थलाभेन भेदस्वरूपविषयकतत्तद्विषयत्वादिनापि निषेधलाभात् भेदस्य ब्रह्मस्वरूपत्वासंभवात् । नहि ब्रह्मणस्तत्तद्दीविषयत्वेन निषेध्यत्वम्; भिदागततत्तद्गोपलक्षितस्याप्युक्तवाक्येन निषेधाच्च । वस्तुतः सापेक्षतावच्छेदकसप्रतियोगिकत्वभेदत्वादिरूपेण मिथ्यात्वस्वीकारे सिद्धं नः समीहितम् । अतएव प्रपञ्चभेदस्यात्यन्ताभावत्वादिकं ब्रह्मणि मन्मते स्वीक्रियत एव । सप्रतियोगिकत्वाद्युपहितरूपस्यैव हि मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थमस्माकं प्रयासः । अतएव घटादिरूपे सप्रतियोगिकं भेदत्वं कल्पितमित्यादि प्रलापोऽस्मादिष्ट एव । तथापि घटादिस्वरूपादकल्पितत्वेन त्वदभिमततादतिरिक्तं सप्रतियोगिकं घटादिभेदस्वरूपं त्वया स्वीकृतमेव । तथाच तत्रापि ततोऽतिरिक्तं सप्रतियोगिकभेदत्वान्तरोपहितं रूपं कल्पितं त्वया वाच्यमिति कथमनवस्थादिपरिहारः ? तत्र भेदे । अभेदश्रुतिः ब्रह्मैक्यबोधकश्रुतिः । ऐक्ये तु ब्रह्माभेदबोधिका 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिः । तथा ब्रह्मस्वरूपस्य सर्वाभेदस्य बोधनादिति भावः । भेदत्वं घटादिस्वरूपं तदन्यद्वा, अन्त्ये भेदस्यैवातिरिक्तत्वौचित्यात्, भेदत्वस्य तत्स्वरूपत्वसंभवादतिरिक्तभेदत्वविशिष्टरूपेण घटादेः स्वातिरिक्तत्वेन स्वधर्मत्वात्, तादृशरूपनिष्ठभेदत्वान्तरविशिष्टस्यापि ततोऽन्यत्वात्, अनवस्थातादवस्थाच्च, आद्ये त्वाह—भेदस्येति । घटादिभेदस्वरूपभेदस्येत्यर्थः । स्वरूपतः येन भेदत्वेन रूपेण सापेक्षत्वादिकं घटादिस्वरूपानतिरिक्तेन तेन रूपेण । परान् प्रतीत्यादि । घटादिविशेषितेनेव स्वविशेषितेनापि भेदत्वेन व्यवहारविषयतासंभवेन भेदस्वरूपताव्याघात इत्यर्थः । घटादिस्वरूपेण भेदत्वेन निरपेक्षत्वादेरावश्यकत्वेन तेन रूपेण सापेक्षत्वसप्रतियोगिकत्वाद्यसंभवात् घटो न पट इत्यादौ घटादेः प्रतियोगित्वादिभानासंभवात् संबन्धान्तरस्यैव भानम् । तथाच घटस्यापि तादृशसंबन्धभानसंभवात् घटो न पट इत्यपि स्यात् । अतो घटादेर्भेदस्वरूपताव्याघात इति भावः । अभेदस्य ब्रह्मस्वरूपैक्यस्य । स्वान् प्रति जीवनीश्वरं च प्रति । परान् प्रति अविद्यादीन् प्रति । तथात्वापत्तिः एकत्वापत्तिः । ब्रह्मण एकस्य घटत्वपटत्वादिना भेदस्य कल्पितत्वात् घटादेः स्वरूपं ब्रह्मेवेति ब्रह्मणो घटाद्यैक्यरूपत्वमव्याहतम्, घटादिभिन्नत्वं तु ब्रह्मणो व्याहतम्, कल्पितत्वादित्याह—घटत्वादिनेत्यादि । यदित्यादि । यत् स्ववाचकशब्दवाच्यतावच्छेदकविषयत्वादिरूपेण प्रतीतौ प्रतियोगिधीसापेक्षं तत् सप्रतियोगिकम्; स्ववाचकविषयादिपदवाच्यतावच्छेदकविषयत्वादिरूपेण प्रतीतौ निरपेक्षत्वस्य घटादौ भेदादौ चाविशिष्टत्वात् । असाधारण्येनेति । वाचकविशेषणम् । स्वघटकरूपावच्छिन्नं प्रतीत्यर्थः । तथाच भेदत्वादिविशिष्टघटकरूपावच्छिन्नवाच्यतावच्छेदकभेदत्वरूपेण धीः प्रतियोगिज्ञानसापेक्षेवेति भेदत्वरूपेण सप्रतियोगिकत्वमेवेति भावः । भेदस्य स्वरूपत्वे घटादिस्वरूपत्वे । तदन्यत्वासिद्धेः घटादि-

रिति—निरस्तम्; शब्दानुल्लेखेऽपि सापेक्षनिरपेक्षयोरनुभवाच्च, लयादिवत् नञुल्लेखमात्रेण दृष्टान्ता-
संप्रतिपत्तेश्च । नच—एकस्यैव गमनस्य गच्छतिचलतिशब्दोल्लेखाभ्यामेकस्यैव च प्रयत्नस्य करोति
प्रवर्तत इति शब्दोल्लेखाभ्यां कर्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः शब्दस्वभावप्रयुक्तिदर्शनादत्रापि घटभेद-
शब्दोल्लेखेन सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वे स्यातामिति—वाच्यम्; अर्थगतसकर्मकत्वादीनां शब्दस्वभावान-
धीनत्वात् । प्रत्युत एकस्मिन्नेव तपधातावर्थभेदेन तयोर्दर्शनात् तपति ऋषिस्तपति पृथिवीं सविते-
त्यादौ । एवं च दृष्टान्तेष्वर्थभेद एव; फलं धात्वर्थ इति मते संयोगरूपार्थभेदात् । मतान्तरे तूत्तर-
संयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य गम्यर्थत्वं, पूर्वविभागाफलकस्पन्दस्य चलत्यर्थत्वम्, अनुकूलयत्नस्य करोत्य-
र्थत्वं, यत्नमात्रस्य यत्यर्थत्वमिति । नच—भेदत्वमेव सापेक्षम्, नतु भेद इति—वाच्यम्; सापेक्षतया
विशेष्यस्यैवानुभवात्, अन्यथा घटप्रतियोगिकं भेदत्वमित्युल्लेखः स्यात् । एतेन—‘भावाभावस्वरू-
पत्वान्नान्योन्याभावता पृथक् ॥’ इत्युक्तेः न स्वरूपमात्रं भेदः, किंत्वन्योन्याभावः; सच वस्तुनः
सविशेषाभिन्न इत्युक्तेश्च घटादिरेव भावाभावरूपतया भेद इति—निरस्तम्; घटतदभावस्थले

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वरूपस्य सप्रतियोगिकत्वान्यत्वासिद्धिप्रसङ्गात् । अत्र भेदत्वादिना धीसामान्यस्य प्रतियोगिज्ञानजन्यत्वात् प्रत्यक्षप्रतीतौ
तत्सापेक्षत्वं लक्षणे निवेद्यम्, तथाचाणुत्वादिरूपेण सप्रतियोगिकत्वनिरूप्यसंभवः । तेन रूपेण प्रत्यक्षासंभवादित्याद्यपि
बोध्यम् । घटभेदरूपार्थाभेदे शब्दभेदमात्रेण सापेक्षत्वासंभवः, अर्थभेदसत्त्वे तु शब्दोल्लेखः प्रयोजकः तं विनापि
तदुभयप्रतीतेरित्याशयेनाह—शब्दानुल्लेख इति । लयेत्यादि । लयादिपदेन नञोऽभावेऽपि कारणगतकार्यध्वंसत्व-
रूपस्येव लघुकठिनादिपदेऽपि गुरुत्वद्रवत्वादिशून्यत्वरूपस्य सप्रतियोगिकस्य प्रतीत्या सापेक्षत्वं तत्राप्यस्तीति दृष्टान्ता-
सिद्धिरित्यर्थः । नचैकस्येत्यादि । यथा गमिचल्यादीनामर्थाभेदेऽपि गम्यादेः कर्मवाचकपदयोगरूपाकाङ्क्षा सकर्म-
कत्वरूपा तदर्थबोधकत्वोपयुक्ता, नतु चल्यादेः, तथा घटभेदादिपदानामर्थाभेदेऽपि भेदादिपदस्यार्थबोधकत्वोपयुक्ता
घटादीत्यादिपदयोगरूपाकाङ्क्षा, नतु घटादिपदस्येत्यर्थः । सकर्मकत्वादिरूपं कर्मसापेक्षत्वादिकम्, न कर्मवाचकपद-
युक्तत्वादिरूपं शब्दनिष्ठम्; तथा सति ग्रामं चलतीत्यादिपदस्यापि प्रयोगसंभवेन चल्यादेरपि सकर्मकतापत्तेः, किंतु
तार्किकादिमते स्वविशेषणत्वेन धातुवाच्यं यस्य फलं तादृशव्यापारत्वम्, वैयाकरणादिमते तु स्वानाश्रयवृत्ति सत्
स्ववाचकधातुवाच्यं फलं यस्य व्यापारस्य तत्त्वम् । एवं सप्रतियोगिकत्वादिकमपि प्रतियोगिताविशेषनिरूपितानुयोगिता-
विशेषवत्त्वम् । तथाच वक्ष्यमाणरीत्यार्थभेदादेव सकर्मकत्वादिव्यवस्थेत्याशयेनाह—अर्थगतेति । स्वभावेति ।
स्वभावमात्रेत्यर्थः । एकशब्दप्रतिपाद्यत्वेऽपि सकर्मकत्वाकर्मकत्वदर्शनादपि न तेषां शब्दस्वभावाधीनत्वमित्याशयेनाह—
प्रत्युतेति । फलं धात्वर्थ इति मत इति । फलमेव धातुवाच्यम्, व्यापारस्त्वाख्यातार्थ इति मण्डनादिमते फलं
व्यापारश्च धातुवाच्याविति वैयाकरणादिमते च । संयोगरूपार्थभेदात् संयोगस्य गम्यर्थस्य चल्याद्यर्थात् भेदात् ।
मतान्तरे तार्किकादिमते । उत्तरेत्यादि । संयोगानुकूलक्रियात्वेन गमिवाच्यतेत्यर्थः । पूर्वैति । पूर्वदेशविभागाफलक-
क्रियात्वेन चलिवाच्यता; चलेः स्पन्दिसमानार्थकत्वात्, स्पन्देरीषचलनार्थकत्वात्, विभागाफलकक्रियात्वस्यैवेषचलनत्व-
रूपत्वात् । पूर्वदेशविभागश्च पूर्वदेशीयात्यन्तिकविभागः । तेन क्रियामात्रस्य पूर्वदेशविभागजनकत्वेऽपि न दोषः । अतएव
वैयाकरणैर्दधि स्पन्दत इत्युदाहृतम् । पूर्वदेशाद्विभक्तमपि पुनस्तत्रैव संयुक्तं दधि तथोच्यते । पूर्वविभागफलकेति पाठे तु
क्रियात्वेनैव चलिवाच्यतेत्यर्थः । संयोगस्य वाच्यतानवच्छेदकत्वेऽपि वस्तुगत्या क्रियाफलसंयोगमादाय यदि सकर्मकत्वं,
तदा विभागमादायापि तत् स्यादिति ज्ञापनाय फलकान्तमुक्तम् । यथाश्रुते विभागस्य चलिवाच्यतानवच्छेदकत्वेन
तदाश्रयस्य चलिर्मतापत्तेरसङ्गतिः । अनुकूलयत्नस्येति । कालसंबन्धप्रयोजकयत्नस्येत्यर्थः । उक्तसंबन्धरूपफलवत्त्वात्
घटादेः करोतिकर्मता । आख्यातस्यापि करोतिना विवरणात्तदर्थकत्वम् । व्यक्तचेदं न्यायकुसुमाञ्जल्यादौ । विवेचितं
च प्रतिकर्मव्यवस्थायाम् । विशेष्यस्य भेदस्वरूपस्य । भेदस्यातिरिक्तत्वानतिरिक्तत्वविकल्पादिकमपि पूर्वोक्तं बोध्यम् ।
पृथगिति सप्तम्यन्तम् । घटान्योन्याभावत्वं घटादिभ्यः पृथग्भूते वस्तुनि नेत्यर्थः । यत्तु ‘ज्वलितिकसन्तेभ्यो ण’ इति
णप्रत्ययप्रकरणे ‘भवतश्चे’ति सूत्रस्य काशिकायामुक्तत्वात् कर्तरि विहितणप्रत्ययान्तो भावशब्दः । तथाचान्योन्यं न
भवतीत्यन्योन्याभावः तस्य भावः अन्योन्याभावता अन्योन्याभवनमिति यावत् । तथाचान्योन्याभावस्तलन्तार्थ इति,
तच्च; अष्टाध्याय्यां भवतश्चेत्युक्तसूत्राभावात् । अतएव भवतेर्णिजन्तात् पचाद्यचि सिद्धं भावपदं भावयतीति भाव
इति महाभाष्यम् । तथाच भूमासान्नित्यस्य चुरादेस्तत्पदं वस्तुमात्रार्थकम् । सविशेषाभिन्न इति । घटाद्य-

भावत्वाभावत्वयोर्विरुद्धत्वेन कल्पनात् कथं तदाश्रयैक्यम् ? नच—अविद्यानिवृत्त्यद्वैतयोरपि कथं ब्रह्मैक्यमिति—वाच्यम्; अस्मन्मते तत्राभावत्वस्य कल्पितत्वेन मायिकतया विरोधाभावात्, तव तु द्वयोरपि तात्त्विकत्वेन विरोधस्य दुष्परिहरत्वात् । अतएव—तत्तादात्म्यायोग्यत्वं वा, तदैक्यप्रमित्यविषयत्वं वा, यत्र यद्दर्शनं तत्र तत्तादात्म्याध्यासविरोधितत्वं वा, स्वावृत्तियत्किंचिद्धर्मानाधारनिष्ठयत्किंचिद्धर्मानाधारत्वस्वरूपं वा स्वावृत्तियत्किंचिद्धर्मानाधारनिष्ठधर्माधारत्वस्वरूपं वा स्वरूपत्वं तदभेदत्वम्; अनाधारत्वं चाधारराहित्यम्, नत्वाधारादन्यत्वमिति नान्योन्याश्रय इति—निरस्तम्; स्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तेः, अतिरेके अनवस्थानात्, अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोरैक्यापत्तेः प्रमितिदर्शनादिघटितत्वेन चक्षुराद्यगम्यतापत्तेश्च । किंच भेदस्य घटस्वरूपत्वे तन्निरूपकप्रतियोगिनोऽपि तत्स्वरूपतापत्तिः, नहि भेदरूपमात्रं घटः, किंतु पटप्रतियोगिकभेदरूप इति । ननु—नायं दोषः, भेदप्रतियोगिन उपलक्षणत्वेन स्वरूपतायामनन्वयात्, अन्यथा दुःखनिवृत्तेः पुमर्थतया दुःखस्यापि पुमर्थत्वं, दोषाभावस्य साधकताप्रयोजकत्वे दोषस्यापि साधकताप्रयोजकत्वम्, अनृतव्यावृत्त्यज्ञाननिवृत्त्योरज्ञानादिप्रकाशरूपज्ञानस्य च ब्रह्मरूपत्वे अनृतादीनामपि तद्रूपत्वम्, अज्ञाननिवृत्तेर्माक्षत्वे अज्ञानस्य च मोक्षत्वं च स्यात् । नच लम्बकर्णादौ कर्णादेर्विशेषणतयान्वयदर्शनादत्रापि तथा; चित्रगवादिषु अनन्वयात्तथैव किं न स्यात् ? अन्यथोदाहृतस्थले अगतेः । नच प्रतियोगिन उपलक्षणत्वे तदज्ञानेऽपि काकाज्ञाने गृहज्ञानवत्तज्ज्ञानापत्तिः; इष्टापत्तेः, अन्यथोदाहृतागतेश्च । केचित्तु प्रतियोगिनोऽनन्वयेऽपि 'शब्दः अनित्य' इत्यादौ शब्दत्वादेर्विशेषणत्वमिवात्रापि विशेषणत्वमित्याहुरिति—चेन्न; नहि वयं पटभेदो घटस्वरूपमित्यन्वयप्रविष्टत्वेन प्रतियोगितया

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भिन्नेऽपि तत्र घटादिभेदकार्यकारिणो घटादेर्विशेषाख्यस्यातिरिक्तपदार्थस्य स्वीकारात् तस्य सप्रतियोगिकत्वादिति भावः । विरोधस्येति । अतिरिक्तस्याखण्डोपाधिरूपाभावत्वस्य स्वीकारे अभावस्यैवातिरिक्तत्वमुचितम् । नच—अभावत्वमेवैकमतिरिक्तं युक्तम्, अभावानामतिरिक्तानामपि नानात्वस्य वाच्यत्वादिति—वाच्यम्; एकस्यैवाभावस्य घटादिप्रतियोगिकत्वादिविशिष्टरूपेण तत्तदधिकरणसंबन्धनियमसंभवात् । अथ—एवं तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावस्वरूपाणां नानात्वमागतमेवेति—चेत्, तर्हि तत्तात्प्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावत्वस्वरूपाणामपि नानात्वमायास्यति । नह्यभावत्वमेकं वदतोऽपि तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावानामैक्यम् । अभावत्वस्य भावभिन्नत्वरूपत्वे तु भावेषु घटादिषु तद्विरोध इति भावः । एतेन—घटाभावाभावादेर्विरोधन्यस्य कल्पने गौरवात् घटादेरेव तत्त्वादभावत्वं भावेषु कथं विरुद्धम् ? किंच 'घटो न पट' इत्यादौ भेदत्वमेवानुभूयते, नाभावत्वम् । तथाच भेदत्वस्य घटादौ स्वीकारात् न दोष इति—परास्तम्; भेदत्वस्यापि संसर्गाभावान्यभावभिन्नत्वरूपत्वे विरोधात् । अतिरिक्ताखण्डरूपत्वे च भेदस्यैवोक्तरीत्या तदौचित्यात् । अन्यथा घटादिरूपभेदस्य घटादावाधारत्वमुच्यसंभवात् । तदैक्यप्रमितीति । तद्विन्नेऽपि तदैक्यभ्रमविषयत्वसत्त्वात् प्रमितीत्युक्तम् । यत्रेत्यादि । यत्र घटादौ यस्य घटादेस्तादात्म्याध्यासविरोधि यत् ज्ञानं तत् तस्य तत्र घटादेर्भेद इत्यर्थः । स्वावृत्तीत्यादि । स्वं भेदप्रतियोगि यन्निष्ठस्य यत्किञ्चिद्धर्मस्य आधारत्वाभावो यत्र तस्य तत्र स भेद इत्यर्थः । स्वावृत्तीत्यादि । यन्निष्ठत्वशून्यस्य धर्मः स्वाधारे वर्तते, यदाधारत्वं, यत् तन्निष्ठो भेद इत्यर्थः । स्वरूपत्वे उक्तयोग्यत्वादेर्विरोधादिस्वरूपत्वे । अत्यन्तेत्यादि । उक्तयोग्यत्वाद्यत्यन्ताभावस्य भेदत्वे अत्यन्ताभावभेदयोरैक्यापत्तिः, उक्तात्यन्ताभावविलक्षणरूपेण प्रत्ययानुपपत्तिरिति यावत् । विलक्षणरूपाभ्यां हि अत्यन्ताभावभेदयोर्बुद्धिः, अन्यथा तादृशयोग्यादिभेदस्यैव तादृशयोग्यत्वात्यन्ताभावत्वापत्त्या अत्यन्ताभावस्यैव विलोपापत्तेः । नच—अत्यन्ताभावस्य सुनिरूपत्वेन तस्यैव भेदत्वमिति—वाच्यम्; अत्यन्ताभावस्याप्यधिकरणरूपत्वधर्मरूपत्वाभ्यामुक्तदोषास्मात्, पिशाचत्वात्यन्ताभावस्य पिशाचभेदरूपत्वे प्रत्यक्षासंभवादिति भावः । चक्षुरादीति । प्रमित्याद्यनुपस्थितिकालीनचक्षुरादीत्यर्थः । नचेष्टापत्तिः; प्रतियोग्यनुयोगितावच्छेदकज्ञानादिसत्त्वे प्रमित्याद्यनुपस्थितावपि भेदप्रत्ययस्य सर्वसंमतत्वात् । स्वरूपतायामिति । पटभेदो घटस्वरूप इत्यादिस्थल इत्यादिः । प्रतियोगिनोऽनन्वयेऽपीत्यादि । यथा शब्दत्वस्यानित्यत्वे अनन्वयेऽपि विशेषणत्वं, तथा प्रतियोगिनो घटस्वरूपेऽनन्वयेऽपीत्यर्थः । अत्र विशेषणत्वमनुपलक्षणत्वमात्रेण; उपाधित्वे पर्यवसानात् । नहीत्यादि । पटस्य भेदान्वितघटस्वरूपे अन्वयात् घटस्वरूपान्वितभेदे प्रतियोगित्वरूपनिरूपकत्वाद्वा घटस्वरूपता नापाद्यते, किंतु घटस्वरूपाभेदेन प्रतीयमानो यो भेदः, तन्निरूपकत्वादित्यर्थः । प्रतियोगिवदिति । घटो द्रव्यमित्यादौ विशेषणविभक्त्यर्थाभेदस्य घटस्वरूपस्याभेदेन घटान्वयात् घटेऽभेदेनाभेदस्य धीरिव घटो न पट इत्यादावपि तादृशा-

निरूपकत्वमात्रेण वा पटस्य घटरूपतामापादयामः, किंतु समानाधिकरणप्रतीतिविषयस्वरूपं प्रति-
प्रतियोगितया निरूपकत्वेन, अभेद-निरूपकप्रतियोगिवत् । नचाज्ञाननिवृत्त्यादयः समानाधिकरण-
प्रतीतिविषयाः, भेदस्तु घटः पटो नेति समानाधिकरणप्रतीतिविषयः, अन्यथा समानाधिकरणनिषेध-
बुद्धिविषयत्वं भेदलक्षणं न स्यात् । एतेन—‘पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्तथा । मोक्षे च मोहव-
न्नान्तर्गतं कुम्भादिकं पटे ॥ तटस्थत्वेऽपि कुम्भादेरप्रतीतौ न भेदधीः । अज्ञानादेरप्रतीतौ तच्चान्या-
द्यप्रतीतिवत् ॥’ इति—निरस्तम् । किंच विदारणात्मनो भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटस्यापि विदारणं
स्यात् एवं तदवयवानामपीति परमाणुरपि नैक इति शून्यतापत्तेः; एकाभावे तत्समाहाररूपानेक-
स्याप्यभावात् । ननु—अविदारणात्मकस्याभेदस्य ब्रह्मरूपत्वे पारमार्थिकब्रह्मणो व्यावहारिकप्राति-
भासिकशून्येरपि अविदारणे तदैक्यमपि स्यात् । नच जीवाभेद एव स्वरूपम्, नतु घटाद्यभेदः,
तद्यत्रापि घटादिभ्यो भेद एव पटस्वरूपम्, नतु स्वस्मादिति सममिति—चेन्न; स्वरूपत्वे भेदस्य
स्वज्ञानाप्रतिबध्यज्ञानप्रतियोगिकत्वे स्वरूपत्वेनाभेदवत्त्वप्रतियोगित्वनियमेन स्वविदारकत्वस्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्यात् भेदस्यापि घटेऽभेदेन धीः । तथाच यो यदभेदेन प्रतीयमाननिरूपकः, स तदभिन्न इति सामान्यतो व्याप्तिः ।
नचानुकूलतर्काभावः; ‘घटः पटो ने’त्यादौ विभक्तीनामभेदार्थकत्वात्, नीलो घट’ इत्यादौ तस्य क्लृप्तत्वात्, प्रति-
योगित्वानुयोगित्वयोः प्रथमार्थकल्पनायां गौरवादभेदस्य संबन्धत्वेन क्लृप्तस्य प्रतियोग्यनुयोगिभ्यामभावे संबन्धत्व-
संभवे प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरतिरिक्तयोः संबन्धत्वे गौरवात् । अतएव भट्टमते तादात्म्यमभावस्य संबन्ध इत्युक्तं
कुसुमाञ्जलौ । भूतलादेरेव घटाद्यभावत्वस्य भट्टमते स्वीकारात् तस्य घटाद्यभावाभेदो निर्विवादः । घटाद्यभावे
घटाद्यभेदोऽपि वार्तिकादौ तर्कपादे स्पष्टमुक्तः । ‘सर्वं हि द्विविधं वस्तु नित्यं सदसदात्मक’मित्यादिग्रन्थे तर्कचरणे
शास्त्रदीपिकायामप्युक्तं—‘सर्वं हि वस्तु सदसदात्मना द्विविधं तद्यथा यत्र सद्रूपेण वर्तते घटादि, तत् तदां तत्र
प्रत्यक्षादिभिरस्तीति प्रतीयते । यत्र त्वसद्रूपेण वर्तते सद्रूपेण बोधकानां प्रत्यक्षादीनामभावेन तत् प्रतीयते ‘भूतले
घटो नास्ती’ति । शारीरकवाचस्पत्ये प्रथमसूत्रेऽप्ययमर्थः स्पष्टः—‘भावान्तरमभावो हि कयाचित् व्यपेक्ष्ये’ति ।
तथाच घटाभिन्नभेदाभिन्नत्वेन घटस्य घटाभेदवत् पटाभिन्नभेदाभिन्नत्वात् घटस्य पटाभेदो युज्यतेतमाम् । एवंच
घटो न पट इत्याद्यनुभवे घटादौ पटाद्यभेदानकाल एव पटादिभेदो भासमानः सुतरां मिथ्या, अभेदस्तु श्रुत्यादि-
सिद्धत्वात् तात्त्विक एवेति भावः । नचेत्यादि । ‘अज्ञाननिवृत्तिः ब्रह्म कपालं घटनाश’ इत्यादिसमानाधिकरण-
प्रतीयभावात् प्रत्युत ‘कपाले घटो नष्टः, ब्रह्मण्यज्ञानं नष्ट’मित्यादिव्यधिकरणबुद्धेरेव सत्त्वात् नाज्ञानादेः ब्रह्माभिन्न-
त्वापत्तिरिति भावः । यत्तु ‘ब्रह्म नानृत’मिति प्रतीतेरनृतस्वरूपता ब्रह्मणः स्यादित्यापादनं, तदिष्टम्; मन्मते ब्रह्मणो
जगदभेदस्वरूपत्वस्येष्टत्वात् । भेदस्त्वित्यादि । नामार्थयोरभेदान्वयस्यौत्सर्गिकत्वात् अभिलाषाभिलष्यप्रतीत्योरे-
कार्थकत्वादुक्तयुक्तेष्वभेद एव विभक्त्यर्थः, नानुयोगित्वादिरिति भावः । लक्षणमिति । भट्टमते त्वभावमात्रस्यैवा-
धिकरणेनाभेदात् नेदं भेदलक्षणम् । परं त्वभेदएवाभावस्य संबन्धः; क्लृप्तत्वात्, न विशेषणता । एवंच अत्यन्ताभाव-
प्रतियोग्यनुयोगिनोरभेदापादनमसादितमेव । अत एवाभावमात्रमधिकरणस्वरूपं प्राभाकराणामिति ध्येयम् । भेदस्य
घटान्यस्मात् भेदस्य । विदारणं स्वस्मात् भेदः । ननु सर्ववस्तूनां स्वभिन्नत्वेऽपि न तच्छून्यत्वापत्तिः, अनेकवस्तूना-
मेव संभवात्, तत्राह—एकाभाव इति । एकवस्तु किंचिद्रूपेण स्थिरीकृत्य तद्वदितमनेकं वाच्यम् । सर्वै रूपैः
सर्वत्र भेदसत्त्वे तु इदमेवेति निश्चेतुमशक्यत्वान्नानावस्तुनिरुक्त्यसंभव इति भावः । तदैक्यमपीति । शून्यातिरिक्त-
कत्वं ब्रह्मण इष्टम् । शून्यं तु मां प्रत्यसिद्धमिति न तदैक्यापादनं युक्तमिति तु ध्येयम् । स्वरूपत्वे घटादिस्वरूपत्वे ।
भेदस्य घटादिभेदस्य । स्वज्ञानेत्यादि । स्वं भेदस्तज्ज्ञानाप्रतिबध्यं ज्ञानं यस्य तादृशस्वप्रतियोगिकत्वे इत्यर्थः ।
स्वस्वरूपत्वेनेति । स्वप्रतियोगिन इत्यादिः । भेदप्रतियोगिनः पटादेः पूर्वोक्तयुक्तिभिर्घटादिस्वरूपभेदस्वरूपत्वे
बाधकाभाव इत्यर्थः । पटादिभेदस्य हि पटाद्यभेदपटादितादात्म्यधीप्रतिबन्धकधीविषयत्वमेव बाधकम्, नतु पटादिप्रति-
योगिकत्वम्; घटाद्यभेदे तत्सत्त्वेऽपि पटाद्यभेदस्वीकारात् । उक्तधीविषयत्वं च भेदभेदवयोघटादिरूपत्वेन संभवत्येव ।
अहि ‘पटादिप्रतियोगिकवान् घट’ इति निश्चयः ‘पटाद्यात्मको घट’ इति धीविरोधी । तथाच अभेदस्यैव भेदस्यापि
स्वप्रतियोगिकत्वात् घटादिरूपस्य तस्य स्वभेदवत्स्वरूपं स्वविदारकत्वं सिद्धमिति भावः । स्वस्वरूपत्व इत्यत्र स्वस्वरू-
पत्व इति पाठे तु अप्रतिबध्यत्वस्याबाध्येत्यर्थः । तथाच भेदप्रतियोगिपटादिना तादात्म्यज्ञानस्य घटादिरूपस्वज्ञाना-
बाध्यत्वेनोक्तज्ञानतादात्म्यस्य घटादावबाध्यत्वात् स्वप्रतियोगित्वेन घटादिरूपभेदस्योक्तं स्वविदारकत्वमिति भावः ।
ननु भेदस्योक्तरीत्या स्वप्रतियोगिकत्वे सिद्धेऽपि ‘घटो न घट’ इति प्रतीतेर्नापत्तिः; घटस्वरूपभेदस्य घटभेदत्वेन

वश्यकत्वात्, घटधर्मेण पटप्रतियोगिकभेदत्ववत् घटप्रतियोगिकभेदत्वस्यापि अभ्युपगमात्, पटात् भिन्नो घट इतिवत् घटाद्विन्नो घट इति प्रतीतेर्वज्रलेपत्वाच्च । यत्तु स्वस्माद्विदारकत्वे अवयवानां विभागेन सूक्ष्मत्वमेव स्यात्, नतु शून्यत्वम्, नहि शून्यसंयोगात् किञ्चिदुत्पन्नमिति, तन्न; विभाजकत्वं न विदारकत्वम्, किंत्वेकत्वविरोधित्वम् । तथाचकस्याभावे अनेकस्य सुतरामभावाच्छून्यतायामेव पर्यवसानाच्च । एतेन विदारकलवित्रादेः स्वसंबन्धिन्येव विदारकत्वम्, नतु स्वस्मिन्निति भेदश्चेत्स्वरूपं, तदा स्वं न विदारयेत्, किंच भेदस्य न विदारकत्वम्; भावव्युत्पत्त्या विदारणत्वात् । तथाच स्वरूपभेदेन घटस्य न विदारणं स्यात्; स्ववृत्तिविरोधादिति—निरस्तम्; भेदस्य विदारणरूपविभागात्मकत्वेन विभागस्य विभज्यमानवृत्तित्वनियमेनावयवानवस्थया शून्यतापत्तेस्तादवस्थ्यात् । अतएव विभागरूपविदारणात्मा न भेदः, किंत्वन्योन्याभावः; धातूनामनेकार्थत्वात् । तदुक्तं—‘क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोप्यर्थः प्रदर्श्यते । प्रयोगतोऽनुसर्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥’ इति अन्यथा संयुक्तयोर्भिन्नाविति व्यवहारो न स्यादिति—निरस्तम्; अन्योन्याभावस्वरूपत्वे कपालादिरूपाश्रयप्रतियोगिकभेदस्य घटादिरूपाश्रितरूपतया स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयत्वादेकत्वं कपालादिषु भज्येतेत्यवयवानवस्थया शून्यतायामेव पर्यवसानात् । अतएव—नानेकत्वैकार्थसमवायिना भेदेन एकत्वं निराकृत्य तेन पुनरनेकत्वनिराकरणं युज्यते, उपजीव्यविरोधादिति—निरस्तम्; अनेकत्वमस्पृष्ट्वैव स्वप्रतियोगिकभेदमात्रेण ऐक्यविरहस्यापाद्यत्वात् । अतएवोक्तमाचार्यैः—‘अपदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधा’दिति । यदुक्तं स्वस्मिन्वृत्तिविरोधादिति, तन्न; विभागादिरूपव्यापारस्यानङ्गीकारात्, इतरविरोधितादिरूपव्यापारस्य सर्वत्र सत्त्वात् । किंच स्वरूपत्वे भेदस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

घटधर्मतानियामकत्वस्य विशेषेऽङ्गीकारात्, तत्राह—घटधर्मेण्विति । पटादिभेदेषु विशेषनियमितघटधर्मताकेषु घटस्वरूपेषु घटभेदत्वस्योक्तरीत्या सिद्धौ विशेषे उक्तनियामकत्वस्याप्यापाद्यत्वादुक्तप्रतीतिदुर्वारा । अन्यथा जलतेजःपरमाणूनां तद्धर्मरूपादीनां चैक्यं स्वीकृत्य विशेषस्य जलपरमाणुत्वस्नेहत्वाभ्यामेवाधाराधेयत्वनियामकत्वम्, नतु तेजःपरमाणुतोषणस्पर्शत्वादिभ्यामित्याद्यपि किं न रोचयेदिति भावः । विभागात्मकत्वेन भिदात्मकत्वेन । विभागस्य भिदायाः । विभज्यमानेति । विभज्यमानेत्यर्थः । अन्योन्याभावस्वरूपत्व इत्यादि । कपालघटाद्योः कार्यकारणभावाद्यनुरोधेन भेदावश्यकत्वात् कपालादिभेदस्य घटादौ ज्ञायमानस्य घटादिरूपत्वात्तदाश्रयत्वस्य कपालादौ सत्त्वात् कपालादिकं न कपालादिकमिति प्रमा स्यादित्यर्थः । घटादेस्तत्त्वभेदाश्रयत्वे उक्तभेदतादात्म्यमेव नियामकम्, तच्च कपालादावप्यविशिष्टम् । नच—विशिष्टकेवलयोस्तादात्म्यमेव तथा, तथाच कपालादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टरूपेण केवलघटस्योक्ततादात्म्यात् तत्रोक्तभेदः, नतु कपालादाविति—वाच्यम्; भेदबुद्धौ हि तादात्म्यत्वेनैव संसर्गता, नतु विशिष्टकेवलभावप्रयुक्ततादात्म्यत्वेन । तथाच घटादौ कपालादौ च उक्तभेदबुद्धेस्तुल्यत्वात् प्रमात्वं दुर्वारम् । यत्तु ययोस्तादात्म्यं, तयोरन्योन्याभावास्वीकारात् कपालघटाद्योस्तादात्म्यात् नान्योन्याभाव इति, तत्तुच्छम्; तथासति कार्यकारणत्वानुपपत्तेः, घटो न कपालमिति बुद्धेरप्यनापत्तेश्च । यत्तु भेदस्य पर्यायाश्रय एव तथा धीरिति न दोष इति, तन्न; प्रत्येककपालेऽपि घटरूपभेदस्य पर्यासिसत्त्वात्, प्रत्येककपालं घट इति धीसत्त्वात्, कपालद्वय एव घटपर्यासिस्वीकारेऽपि कपालद्वयं न कपालद्वयमित्यापत्तेरवारणात् । एकार्थसमवायिना समानाधिकरणेन । अनेकत्वनिराकरणम् एकाभावे अनेकस्याप्यभावात् इत्यादिरूपम् । युज्यते विरोधिलक्षणया युज्यते । अनेकत्वमस्पृष्ट्वा अनेकत्वोपजीवकतानवच्छेदकरूपविशिष्टेन । कपालघटयोः भेदत्वं तयोरनेकत्वोपजीवकतावच्छेदकम् । तन्मात्रेण नानेकत्वभङ्गकता, किंतु तदन्येन कपालादेः स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयतात्वेनेति नैकरूपेणोपजीवकस्यापि ज्ञानस्य भिन्नरूपाभ्यां ते तु सर्वसंमते । ‘इदं रूप्य’मिति ज्ञानं प्रति रूप्यविशिष्टज्ञानत्वादिनोपजीवकस्यापि ज्ञानस्य रूप्यभेदप्रमात्वादिना तद्वज्रकत्वादिति भावः । अभेदैकार्थेत्यादि । यद्धर्मविशिष्टाभेदसमानाधिकरणा या एकता सा तद्वर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविरोधिनी । उक्तरीत्या तत्कपाले तत्कपालत्वावच्छिन्नात् भेदे सति तत्कपालमेकं न स्यात् । अनन्तानि तत्कपालानि स्युः । नचैदं संभवतीति तत्कपालघटयोर्मिथ्यारूपशून्यतायां पर्यवसानमिति भावः । विभागादीति । क्रियाजन्यविभागादीत्यर्थः । इतरविरोधितेति । तत्तत्प्रतियोगिकभेदत्वेत्यर्थः । सर्वत्रेति । ‘घटभेदो न घटभेद’ इत्यादिप्रतीत्या घटादिभेदे घटादिभेदप्रतियोगिकभिदायास्त्वयापि स्वीकाराद्विभागतुल्यत्वस्य भेदे त्वयाप्यङ्गीकारात् कपालादौ घटादौ च स्वप्रतियोगिकभेदापत्तिर्नायुक्तेति भावः । स्वरूपत्वे घटादिस्वरूपत्वे । उच्छेदात् प्रकृतविचारोत्तरं मिथ्यात्वनिश्चयात् । तथाच प्रकृतविचारोत्तरं परेषां भेदसंशयानुपपत्ति-

संशयादिर्न स्यात्; धर्मिज्ञाने भेदाज्ञानाभावात्, तदज्ञाने हेतोरैवाभावात् । ननु—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे संशयाद्यनुपपत्तिस्तवापि समा, यदि चाभेदत्वेनाज्ञानात्तथा, ममापि भेदत्वेनाज्ञानात्तदिति—चेन्नः भेदस्य स्वरूपत्वे शून्यतापादकयुक्त्या कोटीनामेवोच्छेदात् । नच—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे भेदकोऽच्छेदस्तवापीति—वाच्यम्; कल्पितकोटिमादय संशयोपपत्तेः । नच तवापि भेदकस्त्वादिकोटिः कल्पिता; शून्यतापत्तेरित्युक्तत्वात् । यत्तु प्राक् चैतन्ये स्वयंभातेऽपि तदभिन्नस्यैक्यस्यानवच्छिन्नस्यानन्दस्य चाप्रकाशवद्धर्मिणः प्रकाशेऽपि तदभिन्नस्य भेदस्याप्रकाशो भविष्यति, किञ्चेक्यप्रकाशे तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तदपदेशानर्थक्यं च स्यादिति, तन्न; ऐक्यादीनां स्वप्रकाशस्वरूपत्वेऽपि तस्याज्ञानतत्कार्यविप्रतिपत्त्यादीन् प्रति अविरोधितया तद्गोचरविरोधिवृत्तिपर्यन्तमुक्तानुपपत्त्यभावात् । नच तर्हि प्रत्यगर्थेऽपि विप्रतिपत्तिः स्यात्; चार्वाकादीनां तस्या अपि दर्शनात् । तस्मादज्ञानाश्रयत्वादिना प्रत्यगर्थप्रकाशमुपजीव्यं नाविद्यावृणोति, ऐक्याद्यंशं त्वावृणोत्येवेति तत्र विप्रतिपत्त्यादयः । नच—एवं सादृश्यादिदोषादत्रापि भेदांश आवृत इति—वाच्यम्; कोट्यनुपस्थितेः प्रधानपूर्वकारोपवादिनः तव तदसंभवात् । यत्तु स्वरूपभेदो भेदत्वेन भासत एव; प्रायः सर्वभिन्नत्वेनैव प्रतीतेः, अन्यथा सर्वकोटिकः संशयः स्यात् । तत्र च घटप्रतियोगिकत्वादिरूपा अनेकधर्माः सादृश्यादिवशादगृहीताः संशयविषया भविष्यन्ति, नचानेकनिरूप्यस्य भेदस्य निरूपकानेकत्वादेनेकत्वापत्तिः; तादृशस्यापीश्वरज्ञानादेरनेकद्वैतनिरूप्याद्वैतस्य चैक्यदर्शनात्, एकनिरूप्यप्रागभावध्वंसयोरनेक्यदर्शनाच्चेति, तन्न; न वयं निरूपकभेदेन भेदं ब्रूमः, किंतु प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदस्यावश्यकतया, अन्यथा एकघटप्रतियोगिनां चतुर्णां ध्वंसादीनामैक्यापत्तेः । नचाधिकरणरूपाभाववादिनामधिकरणभेदेनैवाभावभेदः; ध्वंसप्रागभावयोरैक्यापत्तौ विलक्षणव्यवहारानापत्तेः । नचैवमद्वैतेऽप्येक्यानुपपत्तिः; ब्रह्मतरत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकस्यैक्यात्, प्रतियोगिभेदाभेदयोरतन्त्रत्वात् । यदपि भेदज्ञानं न भ्रमविरोधि, किंत्वधिष्ठान आरोप्यविरुद्धधर्मादिज्ञानमिति, तन्न; शाब्दाभेदभ्रमस्य शाब्दभेदज्ञानादनिवृत्त्यापत्तेः । यदपि कैश्चिदुक्तं—अदोषमूला ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः सरूपभेदलक्षणम् । शुक्लेश्च शुक्त्यात्मना अप्रतीतिः दोषमूलेति न तत्रातिव्याप्तिः । अदोषमूलेत्यस्य यद्यपि सप्तम्यन्तविशेषणत्वं न संभवति; तथापि विशिष्टविशेषणत्वेन तद्विशेषणत्वपर्यवसानादिति, तन्न । ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतेरभेदसाधारण्येनादोषमूलत्वपर्यन्तज्ञानं भेदव्यव-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रिति भावः । वक्ष्यमाणरीत्या भेदत्वादीनामपि दुर्वचत्वात् भेदत्वादिरूपेण ज्ञातत्वमिति अयुक्तमित्यपि बोध्यम् । भेदकस्त्वादीति । भेदतत्त्वादीत्यर्थः । शून्यतेति । भेदभेदप्रपञ्चमिथ्यात्वेत्यर्थः । अत्रापि संशयस्थलेऽपि । आवृतः न निश्चीयते । सर्वकोटिकः इदं सर्वं न वेत्याकारकः । सादृश्यादीति । घटसादृश्यादीत्यर्थः । ऐक्यापत्तेरिति । प्रतियोगितावच्छेदकं तु तेषां भिद्यत एव, अत्यन्ताभावे संयोगादिसंबन्धः, भेदे तादात्म्यं, ध्वंसे पूर्वकालीनतद्व्यक्तित्वं, प्रागभावे चोत्तरकालीनतद्व्यक्तित्वं तथेति भेदादिति भावः । विलक्षणव्यवहारानापत्तेरिति । तथाच प्रतियोगितावच्छेदकभेदेऽपि यत्र विलक्षणव्यवहारः तत्रैवाभावभेदः । यथा ध्वंसस्य प्रतियोग्युत्तरकाले प्रागभावस्य प्रतियोगिपूर्वकाले भेदस्य प्रतियोग्यधिकरणेऽपि अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसंसर्गशून्य एव व्यवहारो विलक्षणः । एवंच घटभेदस्य पटेऽपि व्यवहारात् पटभेदस्यापि घटेऽपि व्यवहारात् तयोरपि भेदस्यावश्यकत्वात् न कुड्यादिस्वरूपत्वम् । नच—घटभेदत्वं कुड्य इव घटादावप्यस्तीति कुड्यस्य घटपटभेदत्वमव्याहतमिति—वाच्यम्; घटभेदादिद्व्यक्तेर्नानात्वे तदंशे कुड्यादावनुगतबुद्धित्वानापत्तेः, समनियतानां तु संख्यापरिमाणाद्यभावानामैक्ये बाधकाभावात् आस्तां प्रतियोगितावच्छेदकभेदेऽप्यभेद इति भावः । अधिष्ठान इत्यादि । अधिष्ठानगतो य आरोप्यविरुद्धः शुक्तित्वादिधर्मादिः, तज्ज्ञानमित्यर्थः । आदिना प्रपञ्चभ्रमं प्रत्यधिष्ठानस्वरूपधीविरोधित्वलाभः । अधिकरणस्वरूपाभाववादिमते तत्तत्कालीनमधिकरणम् अधिकरणज्ञानविशेषो वाभाव इति लक्षणमुच्यते । तदुक्तं मणौ—‘तत्तत्काले संबन्धः स्वप्रकाशतज्ज्ञानं वेति । तत्र तन्मतं सर्वज्ञानानां स्वाधिकरणकालप्राहकत्वात् तत्तत्कालस्योपाधित्वस्वीकाराद्वा आद्यः पक्षः संभवदुक्तिकः । द्वितीयपक्षमाह—अदोषमूलेत्यादि । अदोषमूला शुक्तित्वादिरूपेण प्रतीतेरभावकालीना धीः शुक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताभेद इत्यर्थः । विशेषणार्थं स्वातन्त्र्येणान्वयः । प्रतीतेः तादृशप्रतीतत्वमात्रेण ज्ञानस्य । अभेदसाधारण्येन भेदाव्यवहारकालसाधारण्येन । पर्यन्तज्ञानं विशेषितज्ञानम् । भेदव्यवहारकारणं भेदव्यवहारविषयः । अदोष-

हारकारणं वाच्यम् । तत्रादोषमूलत्वं फलैकोन्नेयमिति चाक्षुषत्वं न स्यात् ; प्रतीतिघटितत्वात्, अप्रत्ययकाले च भेदो न स्यात् । किंच रजतात्मना शुक्तेः प्रतीतिसमये तत्र तद्भेदस्ते न स्यात् ; अदोषमूलेत्यस्याभावविशेषणत्वेनाव्याप्तिवारणे असामर्थ्यात्, विशेष्यानधिकरणस्य सुतरां विशिष्टानधिकरणत्वात् । नहि पुरुषहीने दण्डिपुरुषसंभवः । नचादोषमूलेति अशरीरजन्यत्वमित्यत्र शरीरमिव प्रतियोगिविशेषणं बाधितसंग्रहाय ; नञा समस्तप्रतीतेरसमस्तेनानन्वयात् । नह्यग्राहणः समीचीन इत्यनेन समीचीनविप्राभावः प्रतीयते । अदोषमूलतादात्म्यप्रकारकप्रतीत्यभावोक्तौ च शुक्ते रूप्यात्मना अप्रतीतिकाले सामग्रीविरहात् शुक्त्यात्मना चाप्रतीतौ स्वभेदापत्तेः तादवस्थ्यात् । नच—तदापि प्रतीयमानशुक्त्यात्मना प्रतीयमानत्वमीश्वरज्ञानमादायास्त्येवेति—वाच्यम् ; एवं सत्यप्रतीतिदशाविरहेण प्रतीयमानपदवैयर्थ्यात् । नचान्योन्याभावत्वं तत् ; तस्यानिरूपणात् । तदुक्तमाचार्यैः—‘सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः । एकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा ॥’ इति । किंच घटस्य भेदत्वे एकतरपरिशेषापत्तिः । ननु—एक्यस्य ज्ञानस्यानन्दस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वे एकतर-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मूलत्वविशिष्टोक्तधीत्वमेव भेदत्वं वाच्यमिति भावः । फलैकोन्नेयमिति । सत्यपि विचारे दोषानुपलब्धिरूपेण फलेनानुमेयम्, नतु चक्षुरादिग्राह्यमित्यर्थः । नच—अदोषमूलकत्वोपहितमुक्तज्ञानं भेद इति भेदग्रहो नादोषमूलकत्वविषयक इति—वाच्यम् ; अभेदसाधारण्यतादवस्थ्यात् । अत्र ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेनाचाक्षुषत्वसंभवेऽपि ताद्रूप्येणाप्रतीतेर्न चाक्षुषत्वमित्यपि बोध्यम् । घटितत्वादिति । न स्यादित्यत्र हेतुः । तथाचेदं सर्वदा रजतभिन्नमिति प्रमाणं न स्यादिति भावः । अत्र शुक्तौ । तद्भेदः रजतभेदः । विशेषणत्वेनेत्यादि । विशेषणत्वेन यद्वारणं, तत्रासामर्थ्यादित्यर्थः । विशेष्यानधिकरणस्य ताद्रूप्येण प्रतीतेरनधिकरणस्य । विशिष्टानधिकरणत्वात् अदोषमूलिकायास्तस्या अनधिकरणत्वात् । असमस्तेन मूलान्तेन । ननु मास्तूक्तवाक्यार्थो लक्षणम्, तथापि अदोषमूलायास्तद्वर्मप्रकारकप्रतीतेरभावकालीना प्रतीतिस्तद्वर्मावच्छिन्नभेद इत्यस्तु लक्षणम्, तत्राह—अदोषमूलतादात्म्यप्रकारकेति । स्वभेदापत्तेः शुक्तौ शुक्तित्वावच्छिन्नभेदापत्तेः । रूप्यात्मना धीकाले इष्टापत्तिः, शुक्तिभेदस्य तदा प्रतीतिकत्वादत् आह—शुक्ते रूप्यात्मना प्रतीतिकाल इति । सामग्रीति । शुक्तित्वव्यञ्जकनीलपट्टाद्यवच्छिन्नसन्निकर्षेत्यर्थः । प्रतीयमानपदेति । प्रतीतिपदेत्यर्थः । पूर्वोक्तलक्षणवाक्यस्यैव मूलान्तप्रतियोगिविशेषणमङ्गीकृतार्थान्तरोक्तेः अभावविशेष्यतया प्रतीतेः पूर्वमुपादानादत्रापि तथा । तथाच व्यर्थमिति भावः । प्रतीतिपदत्यागे च शुक्त्यादितादात्म्यप्रमिति विषयत्वाभावः शुक्त्यादिभेद इति पर्यवसानम् । स च फलैकोन्नेयः ; नहि शुक्त्यादिभेदग्रहोत्पत्तिसमये अत्र शुक्तितादात्म्यप्रमाविषयत्वं नेति ग्रहीतुं शक्यते ; प्रमादिघटितत्वात्, चक्षुराद्ययोग्यत्वाच्च । ननु—तत्तज्ज्ञानव्यक्तित्वमेव घटादिभेदत्वम्, तथाच घटो न घट इत्यादियद्यज्ज्ञानव्यक्तिः घटादिभेदज्ञानत्वेन सर्वसंमता, तत्तद्व्यक्तिः स्वप्रकाशा घटादिभेद इति—चेन्न ; अनुगतो हि तत्तद्धीविषयो वाच्यः, अन्यथा घटादितादात्म्यबुद्ध्याव-
नुगतरूपेण विरोधित्वासंभवात्, अनुगतभेदाकारबुद्ध्यनुपपत्तेश्च । अतएव तत्तत्कालीनाधिकरणमेव भेद इति प्रक्षोऽपि हेयः । यत्तु अदोषमूलेत्यादिवाक्यं न लक्षणपरम्, किंतु स्वरूपभेदस्य यादृशं ज्ञानं तादात्म्यबुद्धिविरोधि तत्परमिति, तत्तुच्छम् ; सामग्रीविरहाधीनशुक्तित्वप्रकारकप्रतीत्यभावकालीनप्रतीतेः सामग्रीसंपर्यधीनशुक्तितादात्म्यबुद्ध्यविरोधित्वात्, मण्यादिग्रन्थेषु लक्षणत्वेनोक्तप्रतीतित्वस्योक्तत्वात्, तद्ग्रन्थेऽपि केचित्त्वित्यादिना तदनुवादेन तदूषणसंभवात् । उक्तंच बौद्धाधिकारे—‘लक्षणं तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः । अन्योन्याभावस्याबाधितः समानाधिकरणः निषेधप्रत्ययः वैधर्म्यस्य विरोधः । स च एकधर्मिसमावेश’ इति । अनिरूपणादिति । शुक्तबौद्धाधिकारवाक्यं हि समानाधिकरणः समानविभक्तिकपदजन्यः अनुयोगिपदतत्समानविभक्तिकप्रतियोगिपद-
शुक्लनञ्जन्यः तादृशनञ्प्रतिपाद्य इति यावत् । लक्षणादिना तत्प्रतिपाद्यत्वस्यातिप्रसक्तत्वात्—अबाधित इति लक्षणादिकं त्रिनेत्यर्थकम् । तथाचोक्तप्रतिपाद्यत्वाभावकाले अव्याप्तिः ; सर्वेषां प्रतियोग्यनुयोगिनां बोधकोक्तभेदस्य प्रयोगे प्रतिसन्धाने वा मानाभावात् । यस्य भेदस्यानुयोगिप्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टबोधकसमानविभक्तिकपदाभ्यां शुक्तेन नञा न प्रतिपाद्यता तत्रासंभवश्च । तादृशप्रतिपाद्यत्वयोग्यत्वं तु दुर्निरूपम् । अथ—समानाधिकरणः प्रतियोगि-
ध्वंसप्रागभावयोरव्याप्यवृत्त्यन्ताभावे चातिव्याप्तिः ; एककालदेशावच्छेदेन सामानाधिकरण्योक्तेरिति—चेन्न ; स्वप्रतियोगित्वघटितत्वेनानुगतत्वात् । संबन्धान्तरेण प्रतियोगिमिति वर्तमाने संबन्धान्तरेणात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिः, अवृत्तिगगनादिभेदे चाव्याप्तेः । अथ प्रतियोग्यवृत्तिसार्वदिकाभावत्वं तत्, नच—कालभेदस्य कालवृत्तित्वात् तत्रा-

परिशेषापत्तिस्तवापि समाना, नच वस्तुन एकत्वेनेष्टापत्तिः; प्रकृतेऽपि साभ्यादिति—चेन्न; एकतरपरिशेषापत्त्या घट इति भेद इति विलक्षणव्यवहाराभावस्यापादनात् । नच प्रवृत्तिनिमित्तघटत्वमेदत्वयोर्भेदात्तदुपपत्तिः; भेदत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथाहि—न तावज्जातिः; जात्यादिसाधारणत्वात्, नोपाधिः तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वादिरूपः; तादात्म्यस्य भेदविरहरूपत्वे अन्योन्याश्रयात्, तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे तदवच्छिन्नप्रतियोगिकात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः, तस्यापि स्वरूपत्वे अनुगतव्यवहारानापत्तेः, नच—ज्ञानानन्दादावपि विलक्षणव्यवहारो न स्यादिति—वाच्यम्; कल्पितधर्मभेदमादायोपपत्तेः । नच—भेदत्वमपि तथास्त्विति—वाच्यम्; तद्व्यतिरिक्तकार्याऽसि । किंच भेदस्य स्वरूपत्वे इदं भिन्नमस्य भेद इति संबन्धित्वेन धीर्न स्यात् । नचानन्दो ब्रह्मण इतिवदुपपत्तिः; प्रमाणसिद्धे ह्येक्ये भेदव्यवहारस्योपचारिकत्वं कल्प्यते राहोः शिर इत्यादिवत् । नच प्रकृते तथा; ऐक्ये मानाभावात्, बाधकाच्च । नच पक्षान्तरानुपपत्तेरेव पक्षान्तरपरिग्रहः; शशशृङ्गादौ भावत्वाभावत्वयोरन्यतरानुपपत्त्याऽन्यतरग्रहणापत्तेः । नच तत्रोभयत्र बाधकादलीकत्वेनोपपत्तिः; प्रकृतेऽप्युभयत्र बाधकादाविद्यकत्वेनोपपत्तेः संभवात् । ननु—अस्ति भेदस्य स्वरूपत्वे मानं मृद्वट इतिवत् घटः पटात्मको नेति पटतादात्म्यनिषेधरूपस्य भेदस्य घटसामानाधिकरण्येनाभेदप्रत्यक्षं, तथा घटभेदयोरेकैकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेन प्रतीयमानत्वादिकं लिङ्गम् । ‘सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः ।’ इत्याद्यागमश्चेति—चेन्न; घटः पटात्मको नेत्यादेरन्योन्याभावभेद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्याप्तिः; दैशिकविशेषणतया वृत्तेर्निवेश्यत्वादिति—चेन्न; इयेनसंयोगवद्भेदादेः प्रतियोगिवृत्तित्वेनाव्याप्तेः । नच—प्रतियोगितावच्छेदकताघटकसंबन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकस्य यदेकदेशकालावच्छेदेन सामानाधिकरण्यं, तद्वच्छून्याभावत्वं तदिति—वाच्यम्; व्याप्यवृत्तिरूपेण भेदस्थले स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छेदकदेशाप्रसिद्ध्याऽसंभवात् । नच—व्याप्यवृत्तिघटत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्थले एकदेशकालावच्छेदेनेति न देयमिति—वाच्यम्; एकरूपेण सर्वत्र भेदस्य प्रत्ययात् । अथ—आरोप्य एव निषिध्यत इति नियमात् संयोगादिना प्रतियोगिन आरोपे संसर्गाभावः, तादात्म्येन च तस्मिन् अन्योन्याभावः प्रतीयते, तथाच तादात्म्येन प्रतियोग्यारोपजन्यधीविषयाभावत्वमन्योन्याभावत्वमिति—चेन्न; प्रतियोग्यारोपस्याभावधीहेतुत्वे मानाभावात्, अनाहार्यारोपस्याभावधीविरोधित्वात्, आहार्यस्य चाभावधीपूर्वमसंभवात् । ननु—एवं संसर्गाभावधीकालेऽप्यन्योन्याभावधीः स्यादिति—चेत्, कारणान्तरसत्त्वे स्यादेव । अस्तु वा तत्तदारोपनियामकस्यैवाभावधीनियामकत्वम् । आस्तां वा अभावप्रत्यक्षविशेषे प्रतियोग्यारोपो हेतुः, न त्वभावधीमात्रे; अनुमित्यादौ व्यभिचारात् । तथाच अतीन्द्रियान्योन्याभावे अव्याप्तिः । अथ—तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं तदिति—चेन्न; संयोगसंबन्धेनात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः, संयोगविशिष्टतादात्म्यस्य संयोगत्वात्, ध्वंसप्रागभावयोरिवान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगितायाः संबन्धावच्छिन्नत्वे मानाभावाच्च । अथ—संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वशून्यत्वे सति नित्याभावत्वं तदिति—चेन्न; संबन्धत्वस्य दुर्बलत्वात्, घटत्वादेरेव तादात्म्यसंबन्धरूपत्वेनासंभवात् । नच—सांसर्गिकावच्छेदकताविशेषो निवेश्यत इति—वाच्यम्; तत्र मानाभावात् । अतएव—तादात्म्यमतिरिक्तं स्वीकृत्य तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं तदिति वाच्यमिति—अपास्तम्; तत्र मानाभावात् । अधिकं बौद्धाधिकारशिरोमणौ द्रष्टव्यम् । यत्तु अभावत्वान्योन्याभावत्वसंसर्गाभावत्वध्वंसत्वप्रागभावत्वादयः प्रतीतिविशेषसाक्षिका अखण्डोपाधयः अतिरिक्ता एव पदार्था इति तत्रोक्तं, तत्रापि अन्योन्याभावत्वप्रकारकज्ञानस्य तदपेक्षत्वेनात्माश्रयादिकं धर्मरूपान्योन्याभावे अन्योन्याभावान्तरस्यावश्यकत्वेनानवस्थादिकं धर्मिस्वरूपत्वे सप्रतियोगिकत्वानुपपत्त्यादिकमुक्तं वक्ष्यमाणं च दूषणं दुस्तरं बोध्यम् । सापेक्षत्वात् धर्मिप्रतियोगिणीसापेक्षप्रत्यक्षकत्वात् । सावधेः सप्रतियोगिकत्वात् । तत्त्वे भेदस्य घटादिरूपत्वे । अद्वैतप्रसङ्गतः पूर्वोक्तरीत्या पटादेर्घटाद्यभेदप्रसङ्गात् । एकाभावात् कपालादेर्घटादिरूपस्वप्रतियोगिकभेदाश्रयत्वेनैकत्वाभावप्रसङ्गात् । असन्देहात् घटादिस्वरूपस्य निश्चये घटादिभेदासन्देहप्रसङ्गात् । घटादिभिदा घटादिवस्तुनो रूपं नेत्यर्थः । तस्यापि भेदत्वस्यापि । स्वरूपत्वे घटादिस्वरूपत्वे । तत्तद्व्यक्तिरूपभेदत्वतादात्म्यस्यैव भेदपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन व्यवहारवैलक्षण्योपपादनेऽपीति शेषः । अनुगतेति । घटादिभेदस्वरूपैकविषयकेत्यर्थः । अत्यन्ताभेदेऽपि विशेषबलात् सामानाधिकरण्यं जलीयपरमाण्वादे रूपादिनेवेति वा तयोर्भेदसहिष्णुरभेद एव विषयः, घटादेरिव रूपादिनेति वा । तत्र नान्त्यः; घटादौ भेदस्याधारत्वानुभवेन विशेषणताख्यातिरिक्तसंबन्धस्याधारतावच्छेदकत्वेनावश्यं वाच्यतया तस्यैव संबन्धत्वसंभवेनाभेदस्य संबन्धत्वे मानाभाव इत्याशयवान् नाद्य इत्याह—घट इति । भेदविषयतयेति ।

विषयतया भेदाभेदाविषयत्वात्, अन्यथा नीलो घट इत्यादेरपि रूपाभेदविषयत्वापत्तेः । लिङ्गस्य चाभेदसिद्धेः पूर्वमसिद्धत्वात् सामान्यव्याप्तेर्जातिव्यवस्थादौ समानसंविस्संवेद्ये व्यभिचाराद्विशेष-
व्याप्तावपि प्रतियोगिनि व्यभिचाराच्च, आगमस्य चाधिष्ठानातिरेकेणासत्त्वपरत्वात् किंच पटात्
भेदः घटमात्ररूपं वा, घटकुड्यादिसर्वरूपं वा ? आद्ये कुड्यादिः पटभेदो न स्यात् । द्वितीये स्वरूपा-
णामननुगतत्वात् पटभेदानुगतप्रतीतिर्न स्यात् । नच—पटज्ञानेच्छादौ यथा पटविषयत्वेनानुगते-
नानुगतव्यवहारः, तथा पटप्रतियोगिकत्वेनात्राप्यनुगतव्यवहार इति—वाच्यम्; एतावता हि ज्ञाना-
दिषु पटविषयं ज्ञानं पटविषयेच्छेति पटविषयत्वांशे अनुगमवत् पटप्रतियोगिकत्वांश एवानुगमः
स्यात्, न भेदांशेऽपि । नच भेदत्वमन्येकमित्युक्तम् । किंचेदमस्मात् भिन्नमिति वाऽस्यामुष्मात् भेद
इति वा धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन भेदग्रहणे परस्पराश्रयः, धर्मिप्रतियोगिज्ञाने भेदज्ञानं तस्मिंश्च
सत्यस्यामुष्मादिति विलक्षणधर्मिप्रतियोगिज्ञानमिति घटपटौ भिन्नाविति । घटपटविशेषणतया तयो-
र्भेद इति तद्विशेष्यतया वा ग्रहणेऽपि अन्योन्याश्रय एव । घटपटप्रतीतौ तद्विशेष्यत्वादिना भेदग्रहः,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आधारतानियामकसंबन्धविषयकतयैत्यर्थः । भेदाभेदेति । भेदस्याभेदेत्यर्थः । अत्यन्ताभेदे आधारत्वानुभवानु-
पपत्त्या विशेषणताख्यः संबन्धः अतिरिक्त एव युक्तः घटभेदो न घट इत्यादावपि घटभेदादेः स्वस्मिन्नाधारत्वभेदयोः
कल्पनाद्विशेषणतैव संबन्ध इति भावः । ननु यावदाश्रयस्थितिकस्यान्ताभेदस्वीकारे बाधकाभावः, आश्रयाश्रयि-
भावस्तु विशेषबलात्, तत्राह—अन्यथेति । रूपाभेदेति । रूपात्यन्ताभेदेत्यर्थः । तव मते नित्यरूपादेरिव
जन्यरूपादेरपि स्वाश्रयात्यन्ताभेदः स्यात् । नच—रूपादिनाशकाले घटादौ तदभेदाप्रतीत्या न तथेति—वाच्यम्;
घटसंयोगादेर्नाशकाले घटादिमद्भेदस्य भूतलादावभेदस्वीकारसंभवात् घटसंयोगादिकालेऽपि तत्प्रतीत्यापत्तेः । एवं
विशेषस्थले भेदस्वीकारेणोपपत्तावभेदे मानाभावः, गुणगुण्यादिस्थले तु भेदाभेदयोर्युक्तिरुक्तेति भावः । असिद्धत्वा-
दिति । घटस्य शब्दादिना प्रतीतावपि नाभेदप्रतीतिः । प्रतीतावित्यस्य प्रत्यक्षे इत्यर्थकत्वेऽपि दोषादिना भेदग्रहेऽपि
घटादेः प्रत्यक्षप्रतीतेरसिद्धिरिति भावः । जातीति । सत्यामपि व्यक्तौ नश्यतो रूपादेस्तस्यामिव सत्यामपि जातौ
नश्यन्त्या व्यक्तेरपि तस्यामत्यन्ताभेदः तव मतेऽपि न युक्त इति तत्र व्यभिचार इति भावः । विशेषेति ।
यत्त्वतत्त्वयोरननुगमात् सामान्यतो न व्याप्तिः, किंतु घटः, पटभेदाभिन्नः, तत्समानाधिकृतत्वात्, पटभेदवदिति विशेष-
पतः सा वाच्या, तथाच घटादौ व्यभिचारः । तस्यापि भेदवाचकनपदसमानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वादिति भावः ।
अधिष्ठानेति । वस्तूनां सत्यमवाध्यमधिष्ठानीभूतं यद्रूपं, तदेव भेदस्तद्भेदज्ञानमिति बाधयां सामानाधिकरण्य-
मिति भावः । द्वितीय इति । आद्येऽपीति शेषः । ननु भेदत्वांशे अनुगताकारधीरस्तु, तत्राह—नच भेदत्व-
मिति । धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन भेदज्ञाने आधारत्वप्रतियोगित्वनिरूपकत्वेन । भेदं प्रति आधारत्वप्रतियोगित्व-
प्रकारके प्रत्यक्ष इत्यर्थः । प्रतियोगिज्ञाने प्रतियोगित्वप्रकारकज्ञाने सति । भेदज्ञानं भेदं प्रत्याधारत्वप्रतियोगित्वप्र-
कारकप्रत्यक्षम् । प्रतियोगिज्ञानं प्रतियोगित्वप्रकारकज्ञानम् । घटादिप्रतियोगितायाः पटादिनिष्ठाधारतायाश्च निरूप-
कत्वेन भेदस्य प्रत्यक्षं प्रति तादृशप्रतियोगित्वादिप्रकारकप्रत्यक्षं प्रत्याधारत्वप्रकारकधीरूपनयनविधया परमते कारणमाव-
श्यकम् । तादृशबुद्धौ च प्रतियोग्यनुयोगिनोर्भेदज्ञानं कारणम् । पटो घटाभिन्न एव घटाभिन्नो न वेति भेदव्यतिरेक-
संशयनिश्चयसत्त्वे उक्तबुद्धेरनुत्पत्तेः । यदभावसंशयनिश्चयौ यत्र प्रतिबन्धकौ, तन्निश्चयः तद्धेतुरिति न्यायात् ।
तथाचोक्तबुद्धेः कारणं भेदज्ञानम् । तस्याः कार्यं प्रत्यक्षमेव वाच्यम्; भेदज्ञानान्तरस्याननुभवादित्यन्योन्याश्रयः ।
अथवा—धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन भेदग्रहणे आधारत्वप्रतियोगित्वविषयतानिरूपितभेदविषयताशालिज्ञाने
धर्मिप्रतियोगिज्ञाने आधारत्वप्रतियोगित्वप्रकारकज्ञाने सति । भेदज्ञानम् उक्तभेदज्ञानम् । धर्मिप्रतियोगि-
ज्ञानम् आधारत्वप्रतियोगित्वप्रकारकज्ञानम् । यद्धि यदीयसंयोगादिप्रकारकं वा ज्ञानं, तत्तत्र संयोगादिप्रकारक-
निश्चयजन्यम् । नह्यसंयुक्तत्वेन निश्चितं यत् तत् संयोगादेः संयोगादिसंबन्धेन तस्य वा विशिष्टधीः । तथाच
घटादिप्रकारकज्ञाने घटादाववृत्तिवृत्तिज्ञानस्यैव संयोगादिसंबन्धेन घटादिप्रकारकज्ञानेऽपि घटादौ संयोगादिरूपवृत्ति-
ज्ञान्यत्वानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वं यत् क्लृप्तं, तत्र घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयतानिरूपितसंयोगत्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञान-
त्वेन प्रतिबध्यता वाच्या । एवंचोक्तज्ञान्यत्वनिश्चयाभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात् घटादौ संयोगादिप्रकारकज्ञानत्वेनैव
हेतुत्वम् । उक्तज्ञान्यत्वनिश्चयकाले चोक्तज्ञानाभावान्नोक्तकार्यापत्तिः । तथाच घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रति-
योगिताविषयताके पटत्वाद्यवच्छिन्नविषयतानिरूपिताधारताविषयताके च भेदज्ञाने घटः प्रतियोगी पट आधार इति
ज्ञानयोर्हेतुत्वमावश्यकमिति भावः । यद्वा—नेत्याकारकप्रत्यक्षवारणाय भेदत्वाभावत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे किंचिद्धर्मा-

भेदग्रहे च द्वित्वावच्छिन्नघटपटप्रतीतिरिति । नच—भेदस्य स्वरूपत्वात् स्वरूपप्रतीतेरेव भेदधीत्वेन धीद्वयाभावाच्चोक्तदोष इति—शङ्क्यम्; स्वरूपज्ञानस्य द्वितीयत्वाभावेऽपि प्रतियोगिज्ञानस्य स्वरूपज्ञानातिरिक्तस्य द्वितीयस्यापेक्षणात् । नच—सर्वात्मकमिदमिति विपर्ययादर्शनेनेदं न सर्वात्मकमिति सामान्यतः सर्वतो व्यावृत्तं वस्त्वनुभूयत इति प्रतियोगिविशेषज्ञानानपेक्षणान्नान्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; सर्वात्मकं नेत्यत्र सर्वत्वं वा प्रतियोगितावच्छेदकं स्वेतरसर्वत्वं वा । आद्ये स्वसाद्वैलक्षण्ये स्वासिद्धिप्रसङ्गात्, द्वितीये अन्योन्याश्रयस्य स्पष्टत्वात् । नच—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्मे’त्यत्र यथा ब्रह्मात्मत्वेनाप्रतीतं सर्वमुच्यते तद्वदत्रापि सर्वस्यादित्यनेन तदात्मकत्वेनाज्ञातं सर्वं विवक्ष्यत इति—वाच्यम्; स्वग्रहात् पूर्वं स्वस्यापि स्वात्मनाऽज्ञातत्वात् स्वस्य प्रतियोगितापत्तेः दृष्टान्ते सर्वशब्दस्यासंकुचितत्वे तवासंप्रतिपत्तेश्च । नच—वस्तुतो भेदाश्रयस्याभेदेनाज्ञातस्य ज्ञानं प्रतियोगिज्ञानत्वेन कारणम्, नतु भिन्नत्वप्रकारकज्ञानत्वेनेति वाच्यम्; एवं हि चन्द्रे द्वित्वभ्रमो न स्यात्, वस्तुतो भेदाभावात् । ननु—‘अस्तीदं न जानामि’ ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्मे’त्यादिषु साक्षिसिद्धकालविषयसर्वैः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वच्छिन्नविषयतानिरूपितप्रतियोगित्वविषयताकधीत्वेन तादृशाधारताविषयताकधीत्वेन च हेतुत्वम् । नच—तथापि भेदे प्रतियोगितानिरूपकत्वाभावादिनिश्चये नेत्याकारकप्रत्यक्षं स्यादिति—वाच्यम्; उक्तधीभ्यामुक्तप्रत्यक्षे जननीये उक्ताभावादिनिश्चयाभावस्यापि सहकारित्वकल्पनात् । नच—एवमभावप्रत्यक्षं नियमेन प्रतियोगित्वाधारत्वप्रकारकं स्यात्, तत्पूर्वं प्रतियोगित्वाद्युपनयनियमात्, नतु कदाचित् प्रतियोगित्वादिसंसर्गेण घटादिप्रकारकमिति—वाच्यम्; प्रतियोगित्वादेः प्रकारत्वेऽपि संसर्गत्वे बाधकाभावात्, उक्तहेतुत्वास्वीकारेऽपि प्रतियोगित्वादेरनुपस्थितस्यापि प्रकारत्वमते तदङ्गीकारात् । एतेन—भेदो न दुर्निरूपः, नहि भेदप्रत्यक्षे प्रतियोगित्वादिप्रकारकधीः, न वा तस्यां प्रतियोग्यनुयोगिनेर्भेदधीर्हेतुः, अपि तु घटो न पट इत्यादिज्ञाने घटत्वपटत्वादिकारकज्ञानयोर्हेतुत्वम् । नच—घटः पटाभिन्न इति निश्चयेऽपि भेदज्ञानापत्तिरिति—वाच्यम्; उक्तनिश्चयस्य बाधविधया प्रतिबन्धकत्वात्, तदुक्तं बौद्धाधिकारे—‘अधिकरणत्वेनाप्रतीतौ प्रतियोगिस्मृतिः, प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणस्मृतिश्च हेतुरिति’—अपास्तम्; घटपटप्रतीतौ घटपटोभयत्वेन प्रतीतौ । तद्विशेष्यत्वादिना तदुभयविशेषणकस्तदुभयविशेष्यकश्च भेदग्रह इति व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षे आश्रयणां भेदग्रहस्य हेतुत्वात् स्वकार्यभूतं प्रत्यक्षमेव द्वित्वप्रत्यक्षे कारणं वाच्यम्; भेदज्ञानान्तरानुभवात् । यद्यपि द्वित्वस्य परोक्षज्ञानं भेदज्ञानानपेक्षम्; तथापि परोक्षसामग्र्यसत्त्वे प्रत्यक्षं तदपेक्षमित्यवश्यमन्योन्याश्रयः । अत्र द्वित्वप्रत्यक्षस्य विशेषणताविशेष्यतावच्छेदकप्रकारकधीविधयोक्तरीत्योभयाधारत्वावगाहिभेदज्ञाने उभयाधारत्वज्ञानस्य हेतुत्वात्तद्विधया वा हेतुत्वं बोध्यम् । न चेत्यादि । घटपटयोः प्रतीयमानो भेदो घटपटावेव । तथाच तयोर्ज्ञानं स्वस्मिन्नेव न हेतुरिति भावः । तयोर्भेदस्वरूपत्वेऽप्युभयत्वविशिष्टविशेषणविशेष्यकयोर्भेदत्वविशिष्टप्रत्यक्षयोर्भयत्वप्रकारकधीर्हेतुः । सा च द्वावित्याकारतत्ताभ्यां भिन्नैवेत्याशयेनाह—स्वरूपज्ञानस्येति । अभेदत्वप्रकारकज्ञानस्येत्यर्थः । द्वितीयत्वाभावेऽपि उभयविषयकत्वेऽपि । प्रतियोगिज्ञानस्य अभेदत्वप्रकारकधीकारणस्य द्वावित्याकारकस्य । वैलक्षण्ये स्वस्य भेदे । स्वासिद्धीति । पटाद्यभेदासिद्धीत्यर्थः । स्पष्टत्वादिति । तथाच पटत्वाद्यनन्तविशेषरूपैः ज्ञानासंभवेऽपि स्वेतरसर्वस्वरूपसामान्यरूपेण प्रतियोगिधीरस्त्येवेति भेदज्ञानसापेक्षप्रतियोगित्वादिधीसापेक्षत्वमस्त्येव । प्रतियोगित्वज्ञान एव स्वेतरभानं पुनरधिकदोष इति भावः । उक्ताधिकदोषाभावमाशङ्क्य निरस्यति—नचेति । सर्वैरिति । सर्वमित्यादिवाक्यजन्यबोधः सर्वपदजन्यत्वेनेव सर्वविषयकः, नतु साक्षिमात्रेण सर्वग्रहणमिति नेदं युक्तम् । सहैवेति । नतु व्यावृत्तिबुद्धौ प्रतियोगित्वादिधीः कारणम्, न वा तस्यां भेदग्रह इत्यर्थः । जनकत्वादिति । यत्तु भेदत्वाप्रकारकज्ञानं न प्रतियोगिधीजन्यमिति, तदिष्टम्; भेदत्वप्रकारकज्ञानस्थल एवान्योन्याश्रयस्योच्यमानत्वात् । ननु तथापि भेदग्रहकारणीभूतं प्रतियोगिज्ञानं साक्षिरूपमस्तु, तथाच तस्य भेदग्रहाजन्यत्वात् कथमन्योन्याश्रयस्तत्राह—साक्षी चेति । भिन्नतया न गृह्णातीति । घटः पटनिष्ठभेदप्रतियोगीति भेदग्रहे पटनिष्ठभेदप्रतियोगित्वप्रकारकधीरुपनयविधया हेतुर्वाच्या, एवं ‘पटः प्रतियोगी’ति ग्रहेऽपि पटः पटनिष्ठभेदप्रतियोगी नेति धीकाले पटनिष्ठभेदो घटीय इति ज्ञानानुपत्तेः तादृशज्ञाने घटः पटनिष्ठभेदप्रतियोगीति धीर्हेतुः । अत एव संयोगेन घटवत् भूतलमिति ज्ञाने भूतलसंयोगवान् घट इति धीः कारणम् । अत एव च वक्ष्यति—‘भेदप्रतियोगित्वेन ज्ञानं भेदधीकारण’मिति । तथाच तादृशं ज्ञानं न साक्षिरूपेण । साक्षिणा भेदग्रहणे अभेदभ्रमोच्छेदापत्तिरिति भावः । साक्षिसिद्धेन प्रतियोगिना साक्षिरूपेण प्रतियोगिज्ञानेन । अथवा भेदप्रत्यक्षमात्रस्य साक्षिमात्रत्वाच्च तत्र प्रतियोगिज्ञानजन्यता-

सह वस्त्वज्ञानाभेदानामिवेहापि साक्षिसिद्धेन प्रतियोगिना सहैव व्यावृत्तेः प्रतीतेर्नान्योन्याश्रय इति—चेन्न; विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वेऽपि प्रतियोगिसविकल्पकस्याभावज्ञानं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकत्वात् । साक्षी च प्रमाणमनपेक्ष्य प्रतियोगिपटादिकं धर्मिभिन्नतया न गृह्णातीति कथं साक्षिसिद्धप्रतियोगिना भेदग्रहोपपत्तिः स्यात् ? तदुक्तं चिन्तामणौ ‘अन्यथा—निर्विकल्पकादपि घटो नास्तीति वृत्त्यापत्तेरिति । नच—एतावता प्रतियोगितावच्छेदकपटत्वादिप्रकारकज्ञानमात्रमर्थनीयम्, नतु धर्मिभिन्नत्वज्ञानपर्यन्तमिति—वाच्यम्; धर्मितावच्छेदकभेदाज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकतया अभावनिरूपकत्वस्यैवाभावात्, अन्योन्यधर्मभेदाज्ञाने च विशिष्य स्तम्भात् कुम्भस्य भेदप्रतीतौ कुम्भात् स्तम्भस्य भेदधीरित्यन्योन्याश्रयतादवस्थ्यात् । ननु—त्वन्मतेऽपि विस्वब्रह्मजीवानां प्रतिविस्वब्रह्माभेदे ‘इदमनेनाभिन्नमस्यामुष्मादभेदः एतयोरभेद’ इत्येवं प्रतीतिः स्यात् । तथाच धर्मिप्रतियोगिभावधीर्द्वित्वावच्छिन्नधीश्च भेदज्ञानाधीनेति तद्विरुद्धाभेदज्ञानानुपपत्तिरिति—चेन्न; काल्पनिकभेदज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिभावद्वित्वावच्छिन्नज्ञाननिर्वाहकस्य तात्त्विकाभेदज्ञानप्रतिबन्धकत्वायोगात् । किञ्चाभेदज्ञाने न धर्मिरूपप्रतियोगिज्ञानापेक्षा; तस्य निष्प्रतियोगिकवस्तुस्वरूपत्वात्, सप्रतियोगिकत्वव्यवहारस्तु निरूपकभेदसप्रतियोगिकत्वेन । अत एव—जीवस्य प्रतियोगितया ब्रह्माभेदनिरूपकत्वं तदभिन्नतया ज्ञातस्यैवेत्यन्योन्याश्रयः, धर्मिणा सहाभेदेन प्रतीतस्यैवाभेदप्रतियोगित्वात् अन्यथा दहनस्यापि तुहिनाभेदसप्रतियोगित्वापत्तेरिति—निरस्तम्; भेदग्रहस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वाच्च । अत एव—‘तत्त्वमसी’त्यत्र त्वंपदवाच्यस्य विशिष्टस्य ब्रह्माभेदप्रतियोगित्वप्रसङ्गविनिवारणाय विद्यमानाभेदस्यासति प्रतिबन्धके अभेदयोग्यचित्त्वादिरूपेण प्रतीतिरभेदधीहेतुः । भेदभ्रमे तु दोषः प्रतिबन्धक इति नाभेदधीरिति परस्मिद्धान्तं परिकल्प्य स्वरूपभेदपक्षे वस्तुतोऽ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्राह—साक्षी चेति । अन्यथा अभावबुद्धेः प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टज्ञानजन्यत्वे । न त्विति । प्रतियोगिज्ञाने भेदधीः न कारणमित्यर्थः । भेदज्ञाने भेदज्ञानविरोधिन्यभेदज्ञान इति यावत् । अभावनिरूपकत्वस्य भेदधीविषयत्वस्य घटत्वपटत्वयोरभेदज्ञाने घटत्वे पटनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वबुद्ध्यनुपपत्तेः तयोर्भेदधीः उक्तबुद्धौ हेतुः । तत्र घटत्वत्वपटत्वत्वाभ्यां भेदज्ञाने हेतुत्वे घटत्वत्वाद्यनुपस्थितौ सा न स्यात् । स्वरूपतो घटत्वपटत्वयोरनुयोगिताप्रतियोगितावच्छेदकत्वबुद्धौ स्वरूपतस्तयोर्भेदधीरेव हेतुर्युक्ता च; घटत्वत्वाद्यनिवेशेन लाघवात् । अतो घटो न पट इत्यादिरूपोक्तावच्छेदकत्वबुद्धौ पटो न घट इत्याकारा घटत्वविशिष्टस्य पटत्वविशिष्टे भेदावगाहित्वेन घटपटयोरिव घटत्वपटत्वयोर्भेदावगाहिनी धीर्हेतुः । सा च घटत्वत्वाद्यनवगाहिन्येव; स्वातन्त्र्येण प्रतियोगितया भासमानस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टतया भाननियमात् । एवंच धर्मिप्रतियोगिनोर्भेदज्ञानस्याहेतुत्वे तयोरभेदज्ञानकाले तयोर्भेदधीर्यद्यप्यापादयितुं न शक्यते, तस्यैव प्रतिबन्धकत्वात्; तथापि धर्मिताप्रतियोगितावच्छेदकयोर्भेदधीहेतुत्वेनैव धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानस्य हेतुत्वमागतमिति भावः । ननु तावतापि नान्योन्याश्रयः, ‘स्तम्भो न कुम्भ’ इत्यादिभेदधीहेतुप्रतियोगित्वादिज्ञाने कुम्भो न स्तम्भ इत्यादिज्ञानस्यैव हेतुत्वसंभवात्, तत्राह—अन्योन्यधर्मभेदज्ञान इति । अनुयोगिताप्रतियोगितावच्छेदकयोर्भेदज्ञानापेक्षणे कुम्भादितुल्यवित्तिवेद्यतया स्तम्भकुम्भयोरैकप्रतियोगिकभेदग्रहे अपरप्रतियोगिकभेदभानमिति भावः । अथवा—अन्योन्येति । विनिगमनाविरहात् कुम्भस्तम्भयोरुभयत्रोभयप्रतियोगिकभेदज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकत्वादिधीर्हेतुः । नच—अन्योन्याश्रयपरिहारो विनिगमक इति—वाच्यम्; तथापि कुम्भो न स्तम्भ इति ज्ञाने स्वहेतुप्रतियोगिज्ञानहेतुतया स्तम्भो न कुम्भ इति ज्ञानापेक्षणात् परस्परसापेक्षत्वस्य दुर्वारत्वादिति भावः । इत्येवमिति । एते अमिन्ने इत्यादिः । तेन द्वित्वावच्छिन्नबुद्ध्युपयोगस्य वक्ष्यमाणस्य नासङ्गतिः । निर्वाहकस्येति । कल्पितधर्मिप्रतियोगिभावे कल्पितभेद एव निर्वाहकः । अयोगादिति । अभेदज्ञानकालेऽपि आहार्यं विकल्परूपं वा भेदज्ञानमुत्पद्यते; अनाहार्यं विकल्पमिन्ने च बाधस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अतएव आहार्यज्ञानसामान्यं पुरुषस्य चैतन्यमित्यादि । विकल्पश्च न बाधप्रतिबन्धः । अथवा—अभेदन्यूनसत्ताकत्वेन भेदधीर्न प्रतिबन्ध्या इति सैव प्रकृते जायते; अन्यूनसत्ताकविषयकत्वेन ज्ञायमानयोरेव ज्ञानयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावात् । दोषविशेषजन्यत्वाद्वा भेदधीर्न प्रतिबन्धयेति भावः । यत्तु भेदस्य मिथ्यात्वानिश्चयकाले अभेदन्यूनसत्ताकत्वेन ज्ञानासंभव इति, तत्तुच्छम्; भेदान्तरस्य मिथ्यात्वानिश्चयेऽपि ययोरभेदप्रमा, तयोर्भेदमिथ्यात्वनिश्चयस्यानुभाविकत्वात् । यदप्यभेदस्य भेदन्यूनसत्ताकत्वं किं न स्यादिति, तदपि तुच्छम्; त्वया अभेदान्तरस्य सत्यत्वस्वीकारेणोक्तस्यले अभेदस्य सुतरां सत्यत्वस्वीकारात् । तत्र दहनतुहिनस्थलीयाभेदग्रहे । असति प्रतिबन्धके इत्यस्य कृत्यमाह—भेदभ्रमे

ऽन्योन्यप्रतियोगिकयोर्घटपटस्वरूपभेदयोरन्योन्यप्रतियोगित्वयोग्यघटपटत्वादिरूपेण प्रतीतयोरसति प्रतिबन्धेऽन्योन्यप्रतियोगितया विशिष्टधीः धर्मभेदपक्षेऽपि विद्यमानभेदस्यासति प्रतिबन्धकै भेदयोग्यनीलपीतत्वादिरूपेण प्रतीतिर्भेदहेतुः, दूरस्थवनस्पत्यादौ तु दूरादिदोषः प्रतिबन्धक इति न भेदधीरिति साम्येन समाधानं—निरस्तम्; वैषम्यस्योक्तत्वात् । ननु—यथा गौर्गवयसदृशीत्यादौ गवयादीनां गवादिभ्यो भेदः सन्नेव प्रतियोगित्वहेतुः, नतु ज्ञातः; नहि गौर्गवयसदृशीति प्रत्यक्षधीरपि नियमेन गवयो गोभिन्न इति धीपूर्विकाऽनुभूयते, सुतरां शाब्दधीः; तत्र भेदवाचिशब्दाभावात्, तथा प्रकृतेऽपि । अन्यथा चैत्रस्य मैत्रपितृत्वादौ ज्ञात एव मैत्रस्य चैत्रपुत्रत्वादिज्ञानं, गवयस्य गोसादृश्ये ज्ञात एव गौर्गवयसदृशीति ज्ञानमिति सप्रतियोगिकपदार्थमात्रे अन्योन्याश्रयः स्यादिति—चेन्न; इष्टापत्तेः; अत एव सप्रतियोगित्वेन निष्प्रतियोगित्वेन च भेदसादृश्यादि दुर्वचः; सर्वत्र बाधकसत्त्वादिति अस्माकं सिद्धान्तः । यत्तुक्तं प्रतियोगिधर्मभेदग्रहपूर्वकत्वनियमो नानुभूयत इति, तदिष्टमेव; तस्यैव सप्रतियोगित्वे बाधकत्वात्, प्रत्यक्ष एव सप्रतियोगिकपदार्थग्रहे एवमन्योन्याश्रयस्यापाद्यत्वे शाब्दे भेदवाचकपदासत्त्वस्यास्मान् प्रत्यक्षदूषणत्वात् । एवंच प्रतियोगिधीमात्रं न भेदधीहेतुः; तन्निर्विकल्पकादपि तदापत्तेः, किंतु प्रतियोगित्वेन । तत्रापि नान्यं प्रति प्रतियोगित्वेन, किंतु भेदं प्रति । तथाचान्योन्याश्रयः । नच सप्रतियोगिकसादृश्यादावेवं स्यात्; इष्टापत्तेः, अभेदश्च न सप्रतियोगिक इत्युक्तत्वाच्च । यत्तु यत्र धर्मिप्रतियोगिनौ सन्निहितौ, तत्र धर्मिप्रतियोगिसद्भावयोस्तद्भेदस्य च युगपद्धीः, इदमनेन सदृशमिति वत् । तथा विशेषणविशेष्यभावस्य च युगपद्धीः, इमौ सदृशाविति वत्; सर्वस्य योग्यस्य इन्द्रियसन्निकर्षेण युगपत्सर्वविषयैकज्ञानसंभवात् । नहि मन्मते दण्डीति धीरपि दण्डज्ञानसाध्या । उक्तंचैतत् यत्र धर्मिप्रतियोगिनोरन्यतरस्यासन्निधानं, तत्रापि संस्कारसचिवेन्द्रियसन्निकर्षेण एकमेव ज्ञानमुत्पद्यते, तदनेन सदृशमित्यादिवत् । अन्यथा अभेदज्ञानमपि न स्यात् । तथाचान्योन्याश्रयः । तदुक्तम्—‘धर्मित्वप्रतियोगित्वतद्भावा युगपद्यदि । विशेषणं विशेष्यं च तद्भावश्चैव गृह्यत ॥’ इति, तन्न; प्रमेयत्वादिना घटे ज्ञातेऽपि घटाभाव इत्यप्रतीतेः घटत्वादिना घटस्य पूर्वमवश्यं ज्ञेयत्वेन युगपदेव धर्मिप्रतियोग्यादिवुद्ध्यसिद्धेः । न च—तत्र घटत्वादिज्ञानसामग्रीविलम्बादेव विलम्बः, तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरिति—वाच्यम्; प्रतियोग्यविषयकाभावप्रत्ययापादनस्यैवमप्यपरिहारात् । नच तादृक्प्रतियोगिग्रहसामग्री कारणम्; तदपेक्षया प्रतियोगिग्रहस्यैव लघुत्वात् । ननु—‘अन्यत्वाग्रहणे प्रोक्तः कथमन्योन्यसंश्रयः । अन्यत्वं यदि सिद्धं स्यात् कथमन्योन्यसंश्रयः ॥’ इत्युभयतः पाशा रज्जुरिति—चेन्न; न ह्यन्यत्वबुद्धिं व्यवहारक्षमामपि निराकुर्मः, किंत्वनाविद्यकत्वे नोपपद्यत इति ब्रूमः । किंच भेदस्य विशेषणविशेष्यभावेनैव ज्ञेयत्वात् तत्तद्भावप्रतीतेश्च भेदप्रतीत्यनधीनतया दण्डचैत्रादौ दृष्टत्वेन भेदप्रतीतिपरम्परानवस्था स्यात् । नच—ब्रह्म जीवाभिन्नं, जगन्मिथ्येत्यादावप्यभेदादेर्विशेषणतया भेदज्ञानस्यापेक्षणीयतयाऽनवस्थापत्तेः न प्राथमिकाभेदादिधीरिति तवापि समानमिति—वाच्यम्; अविद्याकल्पितभेदेनाज्ञातेनापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्विति । उक्तत्वादिति । भेदप्रतियोगिकत्वेनाभेदज्ञाने भेदज्ञानापेक्षणेऽपि न दोषः; तेन रूपेण तस्य मिथ्यात्वस्य दृष्टत्वादिति बोध्यम् । सद्भावयोः स्वरूपयोः । विशेषणविशेष्यभावस्य आधाराधेयभावस्य । प्रतियोग्यविषयकेति । नेत्याकारकेत्यर्थः । विशेषणविशेष्यभावेन धर्मिप्रतियोगिसंस्पृष्टतया । तद्भावप्रतीतेः धर्मिप्रतियोगिनोः संसर्गप्रतीतेः । दण्डचैत्रादाविति । दण्डादिप्रकारतानिरूपितसांसर्गिकविषयतानिरूपितचैत्रादि-विशेष्यताकज्ञाने चैत्रादौ दण्डादिभेदज्ञानं हेतुः; दण्डादेः स्वस्मिन् संयोगादिना विशिष्टबुद्ध्यभावात्, एकस्मिन्नपि वस्तुनि भेदभ्रमदशायां विशिष्टबुद्ध्युत्पत्तेश्च । तथाच भेदे धर्मिप्रतियोगिनोर्विशिष्टबुद्ध्यावपि भेदे च धर्मिप्रतियोगिनो-भेदज्ञानं हेतुः, एवं तत्रापि तज्ज्ञानमित्यनवस्थेति भावः । न प्राथमिकाभेदादिधीरिति । भेदविशिष्टज्ञानं तत्प्रयोजकम् । भेदविशिष्टज्ञानं च भेदविशिष्टज्ञानान्तरं विना न संभवतीत्यर्थः । समानमिति । तथाच स्वरूपसन्तं भेदं विना विशिष्टप्रमा न संभवति, संबन्धासंभवादित्येतावन्मात्रमावाभ्यां वाच्यम्, नतु भेदज्ञानस्य विशिष्टधीहेतुत्वमिति भावः । अज्ञातेनापीति । अभेदज्ञाने तदभावात्, भेदभ्रमे च तद्भावात् । अन्वयव्यतिरेकसिद्धमुक्तहेतुत्वं नापलापार्हम्; अन्यथा व्यासज्यवृत्तिद्वित्वादित्येवमपि आश्रयभेदधीर्हेतुर्न स्यात् । तदपलापेऽपि न ते निस्तारः । भेदभेद्योर्विशिष्टप्रमायां स्वरूपतोऽपि भेदस्याभावात्, अभेदविशिष्टप्रमायां तु कल्पितभेद एवास्तीति भावः ।

विशेषणत्वाद्युपपत्तेः । नचैवं तत्रापि; भेदभेदयोः स्वरूपतो भेदाभावात्, भेदस्याधिकरणानतिरेकात्, धर्मो भेद इति पक्षे तु प्रतीत्यनवस्थोद्धारोऽपि विषयानवस्थाया दुष्परिहरत्वापत्तेः । नचाविद्यकभेदपक्षेऽप्यनवस्थादिदोषः; अनुपपत्तेरलङ्कारत्वात् । अतएव—अभिन्नं ब्रह्मेत्यत्राभेदस्य भिन्नतया ज्ञातस्य विशेषणत्वेन तेन सह ब्रह्माभेदबोधनानुपपत्तिः, प्राचीनभेदधिया प्रतिबन्धादिति—निरस्तम्; अनिर्वचनीयभेदज्ञानस्य तात्त्विकाभेदज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् । किंच धर्मभेदपक्षे प्रत्यक्षं किं भेदमेव गोचरयति, उत वस्तुपि । नाद्यः; भेद इत्येवाप्रतीतेः । द्वितीयेऽपि किं भेदपूर्वकं वस्तु गोचरयेत्, उत वस्तुपूर्वकं भेदं, युगपद्वा उभयम् । नाद्यः; भेद इत्येवाप्रतीतेः, विरम्यव्यापारायोगाच्च । अतएव न द्वितीयः न तृतीयः; वस्तुग्रहस्य भेदग्रहजनकतायाः स्थापितत्वात् । नच वस्तुमात्रज्ञानानन्तरभाविना विशिष्टज्ञानेन युगपदुभयग्रहः; प्रतियोगित्वादिना ज्ञानस्यैव भेदधीहेतुत्वात्, अन्यथा पञ्चमीप्रयोगाद्यनुपपत्तेः । तत्र च प्रागुक्तो दोषः । अतएव—विशिष्टधियो विशेषणज्ञानजन्यत्वमते अनयोर्भेद इति ज्ञानानन्तरसिमौ भिन्नाविति धियः संभवः, विशेषणज्ञानजन्यत्वेऽपि युगपदेव उभयगोचरधियः संभव इति—निरस्तम्; अनयोर्भेद इत्यादौ षष्ठ्योद्दिश्यमानसंबन्धग्रहार्थं भेदग्रहस्य पूर्वमवस्थापेक्षणीयतया अनवस्थाया दुष्परिहरत्वात् । नच विस्वप्रतिविस्वयोर्जीवब्रह्मणोश्चाभेदग्राहिप्रत्यक्षं शब्दश्च किमभेदमेव गोचरयेदित्यादिविकल्पसाम्यम्; अभेदस्य वस्तुस्वरूपत्वेनेदृग्विकल्पानवकाशात् । किंच भेदस्यान्योन्याभावत्वे तत्प्रतियोगिनोः स्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यस्याप्रामाणिकत्वेनान्योन्याभावस्याप्रामाणिकत्वं स्यात्, नच द्वैतादेरप्रामाणिकत्वे तद्विरहस्याप्रामाणिकत्वापत्तिः; अतिरेकपक्षे इष्टापत्तेः, अनतिरेकपक्षे त्वधिकरणप्रामाणिकत्वस्यैव प्रामाणिकत्वे तन्नतया प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वेऽपि प्रामाणिकत्वोपपत्तेः । नच—अन्योन्याभावेऽपि तत्पक्षे तथाङ्गीक्रियतामिति—वाच्यम्; तस्याधिकरणरूपतायां शून्यवादाद्यापत्तेरुक्तत्वात् । यत्त्वप्रामाणिकस्य निषेधप्रतियोगित्वमित्युक्तं परैः, तन्न वारयामः, किंत्वधिकरणातिरेके निषेधस्याप्रामाणिकत्वमात्रं ब्रूमः । ननु—अत्र न कुम्भस्तम्भोभयतादात्म्यं निषेधप्रतियोगि, किंतु स्तम्भतादात्म्यं स्तम्भे प्रसृतं कुम्भगतं निषिध्यत इति न प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वमिति—चेन्न; तादात्म्यमात्रस्य निषेधप्रतियोगित्वे दूरस्थवनस्पत्योरिव बाधोत्तरकालसिमौ वनस्पती इतिवदिमे शुक्तिरजते इति प्रतीत्यापत्तेः । न चासन्निधानकृतो विशेषः; एतावतापि शुक्तिरजते इति प्रतीत्यापत्तेः । यत्त्वन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्लक्षणं यत्राधिकरणे प्रतियोगितावच्छेदकमारोप्य निषेधावगमः, सोऽन्योन्याभावः, यत्राधिकरणे प्रतियोगिनमारोप्य निषेधावभासः स संसर्गाभाव इति, तन्न; अतीन्द्रिये भेदे संसर्गाभावे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतीत्यनवस्थोद्धारोऽपीति । भेदधीहेतुत्वस्योक्तस्यापलापेनेत्यादिः । भेदपूर्वकं भेदमात्रधीपूर्वकम् । वस्तुपूर्वकं प्रतियोग्यनुयोगिघटादिमात्रधीपूर्वकम् । विरम्येति । विलम्बेनेत्यर्थः । भेदग्रहणकाले वस्तुग्रहणाभावे बीजाभावादिति भावः । अत एव विरम्यव्यापारादेव । प्रतियोगित्वादिनेति । घटत्वादिमात्ररूपेण ज्ञानस्याहेतुत्वेन तत्पूर्वकत्वे मानाभावादिति भावः । पञ्चमीत्यादि । कारणीभूतज्ञानस्य पञ्चम्यादिनोद्धेत्वनुपपत्तेः । प्रागुक्तः अन्योन्याश्रयः । अप्रामाणिकस्य अप्रामाणिकस्यैव । इमौ वनस्पती । वनस्पतिरूपे तादात्म्यं नास्ति । तथाच रजततादात्म्यमिह नास्तीति निषेधस्यावश्यकत्वे एतदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्यमिह नास्तीत्यपि निषेधो वाच्यः; उक्ततादात्म्यत्वेन तादात्म्यस्य भ्रमे भानात् । इमे शुक्तिरजते । एतदुभयत्र तादात्म्यं नास्तीति । प्रतीत्यापत्तेरिति । स्तम्भस्यानारोपे प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिः । साक्ष्यसंबन्धादित्यपि बोध्यम् । तादात्म्यमात्रं नारोप्यते, किंतु स्तम्भोऽपीत्युक्तौ स्तम्भादौ कुम्भादितादात्म्यमप्रामाणिकरूपेणारोपणीयं वाच्यम्; आरोप्ये अधिष्ठानतादात्म्यारोपस्य तादात्म्यारोपसामान्ये अनुभवसिद्धत्वात् । तथाच तदेव तादात्म्यं निषेध्यम्; भ्रमनिषेधयोरेकविषयकत्वानुरोधात् । एवंच अप्रामाणिकरूपेण तादात्म्यनिषेधः स्थित एवेति भावः । वस्तुतस्तदात्म्यारोपस्थले बाधकधीविषयभेदस्य प्रामाणिकत्वम्; तादात्म्यत्वादिप्रामाणिकरूपेणापि प्रसक्तस्याप्रामाणिकस्यैव तादात्म्यस्य निषेधात्, प्रतियोगिनोऽप्रामाणिकत्वेनैव प्रकृते भेदाप्रामाणिकत्वोक्तेः । तथाच स्तम्भतादात्म्यप्रमोक्तिर्व्यर्थेति ध्येयम् । असन्निधानेति । रजतस्यासन्निहितत्वाच्चेदंत्वेन प्रतीतिः, वनस्पत्योस्तु सन्निहितत्वाच्चेति भावः । तद्रजत इति । नच—इदं न रजतम्, किंतु मयानुभूतं तदित्यनुभूयत एवेति—वाच्यम्; अत्र यद्रजतमभात्तन्मिथ्येति धीर्न स्यात्, किंतु तद्देशान्तरस्थमिति धीः स्यादिति भावात् । अतीन्द्रिय इत्यादि । अभावप्रत्यक्षे आरोप्यहेतुत्वे अतीन्द्रियाभावे अव्याप्तिः । अभावधीमात्रे तद्गीहेतुत्वे तु व्यभिचार इत्यर्थः ।

च तन्मते अव्याप्तेः । शब्दजन्याभावबुद्धौ व्यभिचारेणारोपस्याभावबुद्धावहेतुत्वाच्च । किं भेदे
स्वेतरभेदस्य वक्तव्यतया स्ववृत्तिविरोधोऽनवस्था वा । नच—ब्रह्माभेदेऽपि स्वाभेदस्य वक्तव्यतया
स्ववृत्तित्वं समानमिति—वाच्यम्; अभेदस्य स्वनिर्वाहकत्वादित्यवेहि । नच भेदे तथा; भेदाधिकरण-
कभेदव्यवहारस्य स्वरूपेण निर्वाहे घटेऽपि तथात्वे धर्मपक्षकभेदानुपपत्तेः । किंच भेदे भेदत्वमुपाधि-
रूपं जातिरूपं वा वाच्यम्; तत्र पुनर्भेदो वाच्यः, अन्यथा भेदत्वस्यान्यस्मात् भेदो न स्यात् । तथा
चान्योन्यवृत्त्या स्ववृत्त्यापत्तेः स्ववृत्तित्ववत्तस्यापि विरुद्धत्वात् । नच—अभेदेऽप्यभेदत्वं वाच्यम्,
तत्र पुनर्भेदो वाच्यः, अन्यथा तस्य स्वाभेदो न स्यादिति तत्रापि तथात्वापत्तिः, प्रमेयत्वाभिधेयत्वादि-
वदन्योन्यवृत्तित्वस्याभेदे अदोषत्वे भेदेऽपि साम्यमिति—वाच्यम्; अस्माकमभेदमात्रस्याभेदत्वस्य
च ब्रह्माभेदाभिन्नतया अन्योन्यमित्यस्यैवाभावेनान्योन्यवृत्तित्वस्यैवापादयितुमशक्यत्वात् । नच तर्हि
घटे घटाभेदस्य जीवे जीवाभेदस्य वा जीवब्रह्माभेदत्वे वेदान्तवैयर्थ्यम्; भेदभ्रमनिवर्तकवृत्तेर्महावाक्यं
विनानुपपत्तेरुक्तत्वात् । यत्तु प्रमेयत्वादौ प्रमितत्वादन्योन्यवृत्तिरदोष इति, तन्न; आत्माश्रयादितत्त्व-
दोषेण तत्रापि प्रमितत्वासिद्धेः । अतएव न कश्चित् केवलान्वयी । किंच भेदः किं भिन्ने निविशते
अभिन्ने वा । आद्ये आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयो वा । द्वितीये विरोधः । नच—अभेदानिर्वाच्यत्वादिकं किं
तद्वति तदभाववति चेत्यादिविकल्पस्यात्रापि साम्यमिति—वाच्यम्; अभेदस्य स्वरूपत्वेन तत्र तद्वि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ननु—प्रतियोगिनमारोप्येतन्न प्रतियोग्यारोपजन्यत्वं नार्थः, किंतु प्रतियोग्यनुयोगिनोः संसर्गविषयकत्वव्याप्या या धीः,
तद्विषयाभावत्वं संसर्गाभावत्वम् । एवं प्रतियोग्यनुयोगिनोस्तादात्म्यविषयकत्वव्याप्यधीविषयाभावत्वं भेदत्वम्; अप्रा-
माणिकस्यैव निषेधाभ्युपगमात्, वायुरूपादिसंसर्गाद्यप्रसिद्धिर्न दोष इति—चेन्न; स्तम्भनिष्ठं स्तम्भतादात्म्यं कुम्भे
नास्तीति धीविषयाभावस्याभावद्वयबहिर्भावापत्तेः, उक्ततादात्म्यस्यानुयोगिनिष्ठत्वाभावात् । गुणो न संयोगीति धीवि-
षयाभावस्य संसर्गाभावत्वापत्तेः, संयोगितादात्म्यस्य प्रतियोगिसंसर्गरूपत्वात् । किंच व्याप्यता तत्तद्व्यक्तित्वेन
अभावधीत्वेन भेदधीत्वादिना वा । आद्ये नानुगमः, द्वितीये असंभवः, तृतीये अन्योन्याश्रयः । यदपि स्वाभा-
वाभावरूपाभावत्वं संसर्गाभावत्वं स्वाभावाभावत्वशून्याभावत्वं भेदत्वम् घटस्यात्यन्ताभावः प्रागभावादिर्वा
स्वाभावरूपघटस्याभावरूपः, घटभेदस्तु स्वाभावरूपघटत्वस्य नाभावरूप इति, तदपि न; घटभेदभेदस्य घटे
प्रतीयमानस्य घटरूपत्वेन स्वाभावाभावरूपत्वस्य घटभेदेऽपि सत्त्वात्, स्वसंसर्गाभावाभावरूपत्वोक्तौ च आत्मा-
श्रयात् । नच—स्वाभावानां यावतामभावरूपत्वं वाच्यम्, तथाच न घटभेदे अतिव्याप्तिः, तस्य घटत्वरूपं स्वात्यन्ता-
भावं प्रत्यभावत्वाभावादिति—वाच्यम्; घटात्यन्ताभावभेदस्य घटस्वरूपत्ववत् पटस्वरूपत्वस्यापि वाच्यत्वेन घटात्य-
न्ताभावे पटरूपस्वाभावं प्रत्यभावत्वाभावेनासंभवात्, घटभेदघटत्वात्यन्ताभावयोर्भेदे मानाभावेनातिव्याप्तितादव-
स्थाच्च । स्ववृत्तीत्यादि । घटभेदे घटभेदान्तरस्वीकारे अनवस्था, तदस्वीकारे स्वेनैव स्वस्मिन् भेदव्यवहारो वाच्यः,
स चानुपपन्नः; स्वस्मिन् संबन्धासंभवादित्यर्थः । पक्षानुपपत्तेरिति । नच—स्वरूपभेदपक्षे घटादेर्भेदरूपत्वम्,
धर्मभेदपक्षे तु घटादिनिष्ठभेदस्य घटादिप्रतियोगिकभेदरूपत्वमिति विशेष इति—वाच्यम्; भेदस्यानुयोगिस्वरूपत्वा-
संभवादेव धर्मभेदपक्षस्वीकारात् । स्ववृत्त्यापत्तेः स्ववृत्तिवापत्तेः । भेदत्वे तदाश्रयान्यस्य भेदस्य कल्पने तत्रापि
भेदान्तरमित्यनवस्था स्यात् । तस्यान्योन्यवृत्तित्वस्याभेदत्वस्याभेदत्वाकारानुगतबुद्धेरभेदरूपब्रह्मण्येव संभवेनाभेदत्वं
न तदन्यत् स्वीक्रियते, भेदत्वं तु भेदादन्यद्वाच्यम्; अन्यथा सर्वाणुगतभेदाभावेनानुगतबुद्ध्यसंभवात्, ब्रह्मस्वरूपत्वं
तु भेदस्य निषेध्यत्वादिना निरस्तमिति भावः । उक्तत्वात् अखण्डार्थवादे विवेचितत्वात् । प्रमेयत्वादौ प्रमेयत्वा-
भिधेयत्वयोः । तत्त्वदोषेण स्वविषयसामान्ये तात्त्विकताप्रच्यावकदोषेण । दूषकताप्रयोजकत्वरूपसत्त्वेऽपि न दोष
इत्युक्तमिति भावः । कश्चित् कापि व्यक्तिः । केवलान्वयी सर्ववृत्तिः । तत्र मेयत्वादिव्यक्तौ न सा व्यक्तिर्वर्तते
स्ववृत्तित्वासंभवात्, मेयत्वव्यक्त्यन्तरं तु वर्तते । अत एव मेयत्वरूपेण मेयत्वं केवलान्वयि; अत्यन्ताभावप्रति-
योगितानवच्छेदकमेयत्वत्ववत्त्वात् । अत एव यत्र मेयत्वे यदभिधेयत्वम्, तदभिधेयत्वेन तन्मेयत्वमिति भावः ।
यत्तु भेदभेदत्वयोरन्योन्यत्वज्ञाने भेदत्वे भेदवृत्तिः प्रमिता, तदज्ञाने चान्योन्यवृत्तित्वं नापादनार्हमिति, तत्तुच्छम्;
तस्य ज्ञानेऽपि प्रमितत्वानियमात् । भेदो घटादिभेदः । भिन्ने घटादिभेदविशिष्टे घटादिभेदोपहिते वा । आद्ये
आत्माश्रयः, द्वितीये भेदविशिष्टबुद्धौ भेदज्ञानान्तरं हेतुः, तत्रापि सैव हेतुः । भेदज्ञानान्तराभावादित्यन्योन्याश्रयः ।
आद्येऽपि भेदान्तरविशिष्टस्याश्रयत्वे तादृशभेदान्तरस्यापि स्वाश्रितभेदविशिष्टाश्रितत्वे विषयान्योन्याश्रयः । घटभेदस्य
घटभेदशून्ये स्वीकारे घटेऽपि तदापत्या विरोधः । स्वरूपत्वेन अवृत्तिब्रह्मस्वरूपत्वेन । तद्विकल्पेति । वृत्तिविक-

कल्पानवकाशात्; अनिर्वाच्यादावस्य विकल्पस्यानिर्वाच्यत्वप्रयोजकस्यास्माकमनुकूलत्वात् । नच भेदोऽपि स्वरूपम्; प्रागेव निरासात् । नच—भेदः स्वाश्रयत्वयोग्ये वर्तते, योग्यता च प्रमारूप-फलैकोन्नेया इति—वाच्यम्; योग्यताया भेदं विना वक्तुमशक्यत्वात् । नह्यभिन्ने कदापि तद्योग्यता; धर्मान्तरस्यापि भेदमपुनस्कृत्य योग्यत्वाप्रयोजकत्वात्, भेदाभेदावज्ञात्वा भ्रमप्रमारूपफलभेदस्यैवा-ज्ञानेन भेदयोग्यतायाः प्रमारूपफलभेदानुन्नेयत्वाच्च । ‘अस्वव्याघातकैरेव जातिभिन्नैः सदुत्तरैः । निरस्तं भेदमादाय स्वात्माभेदो निषीदति ॥’ इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषतो भेदखण्डनम् ॥

अथ विशेषखण्डनम् ।

ननु—अस्माकं भेदो न स्वरूपमात्रम्, किं त्वन्योन्याभावः, सच वस्तुनः सविशेषाभिन्नः, ततश्चा-भिन्नत्वाच्चानवस्थादिः । भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्य विद्यमानत्वाच्च पर्यायत्वादिकम्, विशेषश्च भेदहीनेऽपि एकतरपरिशेषाभावादिनिर्वाहक इति—चेन्न; पर्यायत्वादिप्रमाजनकस्य स्वरूपातिरिक्तस्य विशेष-स्याङ्गीकारे तस्यैव भेदत्वेन भेदस्य धर्मभेदोक्त्ययोगात्, विशेषस्यापि भेदः सविशेषाभिन्न एव वाच्यः । तथाचानवस्थातादवस्थायम् । नच वैशेषिकाभिमतविशेषवत्तस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्; एतादृश-विशेषे मानाभावात् । ननु—‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे’त्यादिवाक्यबोध्यविज्ञानानन्दादीनां त्वन्मतेऽपि भेदस्य भेदाभेदयोर्वाऽखण्डार्थकत्वेन ‘एकधैवानुद्रष्टव्य’मित्यादिश्रुतिविरोधेन चाङ्गीकर्तुमशक्य-तया भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्यापर्यायत्वाद्यर्थमवश्यं स्वीकार इति अर्थापत्तिरेव मानसिति—चेन्न; भेदे एकरस्यश्रुतिरोधवत् अत्रापि तत्तादवस्थयात् । लक्ष्यार्थाभेदेऽपि वाच्यार्थाभेदेनापर्यायत्वस्य व्यावर्त्यभेदादवैयर्थ्यस्य चान्यथैवोपपत्तेः । किंच तवापि ज्ञानानन्दत्वादिनिमित्तभेदादेवापर्यायत्व-मस्तु, किं विशेषेण? नच—‘एवं धर्मा’निति श्रुत्या तयोरपि भेदनिषेधात् नैवमिति—वाच्यम्; तर्हि विशेषस्याप्याश्रितत्वेन धर्मतयाऽस्यापि भेदनिषेधात्तेनाप्यनुपपत्तिः । नच—ज्ञानत्वानन्दत्वयोरर्थ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लपेत्यर्थः । अनुकूलत्वादिति । प्रपञ्चे अनिर्वाच्यत्वादेर्मिथ्यात्वेऽपि धर्मिसमसत्ताकत्वात् स्वविरुद्धतात्त्विकताप्रति-क्षेपकत्वमिति भावः । योग्यताया इत्यादि । योग्यता तत्प्रयोजकधर्मो वा भिन्नो वा अभिन्नो वेत्यादिदोष इति भावः । ननु स्वोपहिते भेदो वर्तते, स्वज्ञाने तु न स्वज्ञानान्तरं हेतुः, येनान्योन्याश्रयः, किंतु स्वयोग्यताज्ञानम्, तत्रापि प्रमारूपफलज्ञानं हेतुः, तत्राह—भेदाभेदावित्यादि । भेदप्रमात्वं भेदवति भेदप्रकारकधीत्वम्, अवा-धितभेदधीत्वं वा । तथाच भेदभ्रमत्वं भेदाभावघटितमिव भेदप्रमात्वमपि भेदज्ञानज्ञेयमिति परस्परसापेक्षता दुर्वारेति भावः ॥ तर्कैरित्यादि—विशेषाद्भेदखण्डनम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विशेषतो भेदखण्डनम् ॥

अनवस्थादिः धर्मभेदपक्षोक्तः । पर्यायत्वादिकं घटभेदादिशब्दानामेकार्थकत्वादिकम् । एकतरपरिशेषाभावेति । एकस्यैव यत् कार्यं तदभावेत्यर्थः । घट इत्यादिव्यवहारार्हेदादिव्यवहारे वैलक्षण्येति यावत् । स्वरूपातिरिक्तस्येति । घटादिस्वरूपातिरिक्तस्येत्यर्थः । तत्र हेतुः—अपर्यायत्वेत्यादि । विशेषस्य घटाद्यनतिरिक्तत्वे भेदपदस्य घटपदापर्या-यत्वप्रमापकत्वं न स्यात्, तदतिरेके तु घटादिप्रतियोगिकविशेषवत्त्वमेव भेदपदशक्यतावच्छेदकमिति नोक्तदोषः । तथाच विशेषस्यैव भेदत्वं युक्तम् । नहि घटो न पट इत्यत्र पटप्रतियोगिकत्वेन किंचिदानुभाषिकमिति भावः । विशेषस्य घटादिनिष्ठविशेषस्य । भेदः घटादिभेदः । सविशेषाभिन्नः घटादिप्रतियोगिकविशेषान्तरवान् । अनवस्था अनन्तविशेष-प्रयुक्तानवस्था । मानाभावादिति । विशेषे विशेषान्तरस्वीकारे विशेषपदभेदपदयोः पर्यायत्वादिकं स्वरूपभेदपक्षोक्त एकत्वाभावप्रयुक्तशून्यत्वापत्त्यादिदोषश्च । किंच पटादिप्रतियोगिकभेदवत्त्वं पटादिप्रतियोगिकत्वावच्छेदेन वाच्यम्, अन्यथा घटो न पट इत्यादिवत् घटो घटवाचित्यपि स्यात् । तथाच विशेषाधिकरणत्वावच्छेदकता अतिरिक्ताः घटादि-प्रतियोगित्वेषु कल्पनीयाः । तथाच भेद एवातिरिक्तो घटातिरिक्तो घटादिषु युक्त इति विशेषे मानाभाव इति भावः । भेदस्य सत्यात्यन्तिकभेदस्य । अङ्गीकर्तुमशक्यतया इत्यत्रान्वयः । अत्यन्तभेदसत्त्वे ज्ञानानन्दयोरैक्यासंभवेन नाखण्डार्थ-त्वम् । भेदाभेदयोः सत्ययोः स्वीकारेण ज्ञानानन्दयोरभेदसंसर्गकबोधस्वीकारे तु ‘एकधै’त्यादिश्रुतिविरोधोऽपीत्यर्थः । भेदे सत्यभेदे । अत्रापि सत्यविशेषेऽपि । तत्तादवस्थयात् एकरसश्रुतिविरोधतादवस्थयात् । ज्ञानानन्दस्वरूपयो-र्भेदाभाव एव, अपर्यायत्वादिकं तु ज्ञानत्वानन्दविशिष्टयोर्भेदादित्याशयेनाह—लक्ष्येति । धर्मानिति । ‘धर्मा-न्पृथक्पदंस्तानेवानुविधावती’ति श्रुतिः । आश्रयविशेषः आश्रयप्रतियोगिको विशेषः । आवश्यक इति ।

प्रकाशत्वनिरुपाधिकेष्ट्वरूपयोरर्थप्रकाशनिरुपाधिकेष्ट्वरूपश्रयविशेष आवश्यक इति—वाच्यम्; ज्ञानत्वानन्दत्वयोरजातिरूपत्वेन उक्तरूपत्वाभावात् । नच—आकाशशब्दाश्रयशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्ताभेदेन पर्यायत्वापत्तिः, तत्परिहाराय विशेषो वाच्य इति—वाच्यम्; पर्यायत्वेऽपि सहप्रयोगस्य व्याख्यानव्याख्येयभावादिनाप्युपपत्तेः । नच—एवं ज्ञानानन्दयोरेकतरपरिशेषेण मोक्षे आनन्दप्रकाशो न स्यादिति—वाच्यम्; तयोर्भेदाभावेन एकतरत्वस्यैवाभावात्, द्वयोर्वचने तरविधानात् । एतेन—शोधिततत्पदार्थाद्वैक्यस्य न भेदः, नापि भेदाभेदौ, किंत्वत्यन्तभेदः, एवं च विशेषानङ्गीकारे स्वप्रकाशचैतन्यभावे ऐक्याभावापत्तिः; तत्प्रकाशस्य भेदभ्रमाविरोधित्वेऽप्यैक्यप्रकाशस्य तद्विरोधः, तस्य निरपेक्षत्वेऽपि ऐक्यस्य सापेक्षत्वं च नोपपद्यत इति—निरस्तम्; आवारकाज्ञानकल्पितांशमादाय सर्वस्योपपत्तेः । नच—एकस्या एव शुक्तेरावृतानावृतत्वे शुक्ल्यंशभेद एवं स्यादिति—वाच्यम्; तदंशकल्पकस्य फलस्याभावात् । ननु—‘एवं धर्मा’निति श्रुतिरस्तु मानम्, अत्र हि ब्रह्मधर्मानुक्त्वा भेदो निषिध्यते । नच भेदप्रतिनिधेरभावे धर्मधर्मिभावो धर्माणामनेकत्वं च युक्तमिति—चेन्न; धर्मानित्यस्य निषेधानुवादत्वेन धर्मत्वानेकत्वादौ तात्पर्याभावात् । नच श्रुतितोऽन्यतो ब्रह्मधर्माः प्राप्ताः; आविद्यकमात्रस्य साक्षिसिद्धतया प्राप्तेः । ननु—गुणगुणिनोरभेदपक्षे घटोपलम्भे शुक्लाद्यनुपलम्भार्थं भेदाभेदपक्षे तयोरविरोधार्थम्, अत्यन्तभेदपक्षेऽपि समवायः संबन्धः सत्ता सती, अन्यविशेषो व्यावृत्तः, कालः, सदास्ति, देशः सर्वत्रास्तीत्यवाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः, अभावादावप्यस्तित्वादिर्नाभावादितो भिन्नः; गुणादिष्वनन्तर्भावेन षडेव पदार्था इति नियमभङ्गापत्तेः, अनियमपक्षेऽप्यस्तित्वेऽप्यस्तित्वान्तरमित्यनवस्थापत्तेः, तत्रापि सोऽङ्गीकार्य इति—चेन्न; स्वभावविशेषादेव सर्वस्योपपत्तेः । नच—तर्हि विशेषस्याङ्गीकारेण मन्मतप्रवेश इति—वाच्यम्; तत्तदसाधारणस्वरूपस्यैव स्वभावविशेषशब्दार्थत्वेन त्वदुक्तविशेषानुक्तेः, तत्तदसाधारणरूपेण समवायादेः स्वनिर्वाहकत्वात् । अतएव—स्वनिर्वाहकत्वं हि स्वकर्मकनिर्वहणकर्तृत्वम्, तच्चैकस्मिन्विरुद्धमिति तदुपपादनायापि विशेषाङ्गीकार इति—निरस्तम्; स्वनिर्वाहकशब्दस्य स्वेतरानपेक्षव्यवहारविषयत्वमात्रार्थकत्वात्, अन्यथा विशेषोऽप्यनवस्थाभिया वस्त्वभिन्न इति तवाङ्गीकारेण तद्दूषणापातात्, स्वरूपभेदपक्षोक्तैकतरपरिशेषादिदूषणतादवस्थापत्तेश्च । नच—अन्यविशेषवदस्य धर्मिग्राहकमानेन तादृक्स्वभावतया सिद्धेः पर्यनुयोगायोग इति—वाच्यम्; दृष्टान्त इव दार्ष्टान्तिके स्वरूपातिरेकस्य त्वयैवानङ्गीकारेण वैषम्यात् । यत्तु यत्रैव भेदाभावोऽभेद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अर्थप्रकाशनिरुपाधिकेष्ट्वक्तेरेकत्वेन तद्व्रतजातिरूपत्वस्य ज्ञानत्वादौ वक्तुमशक्यत्वेनोक्तव्यक्तिरूपत्वमेव वाच्यम् । तथाच विशेषं विना न धर्मधर्मितेति भावः । वृत्तिविशेषरूपोपाधिभेदेन कल्पितभेदव्यक्तिषु ज्ञानत्वादिजातिसंभव इत्याशयेनाह—ज्ञानत्वेति । व्याख्यानेति । आकाशं शब्दाश्रय इति वाक्ये शब्दाश्रय इति व्याख्यानम्, आकाशमिति व्याख्येयम् । स्वसमानार्थकत्वबोधकं पदं व्याख्यानम् । तथाच आकाशपदं शब्दाश्रयपदार्थबोधकमिति वाक्यार्थबोधः । तथाच आकाशपदार्थमजानन्तं शब्दाश्रयपदार्थं जानन्तं प्रति व्याख्यानमुपयुज्यते । एकतरत्वस्येति । नच—एकस्य परिशेषेणेत्येवार्थ इति—वाच्यम्; एकस्यैव ज्ञानानन्दस्वरूपत्वेनाप्रकाशापत्तेरयुक्तत्वात् । कल्पितांशमिति । चिद्रूपादानन्दरूपस्यानादिकल्पितभेदेन चिदंशज्ञानेऽप्यानन्दरूपैक्यस्य न ज्ञानम्; तज्ज्ञानस्यैवाधिष्ठानज्ञानत्वेन सकलभ्रमविरोधित्वम् । चिद्रूपस्य निरपेक्षत्वेऽपि भेदाभावस्वरूपैकत्वरूपेण कल्पितभेदात् सापेक्षा चिदित्यर्थः । फलस्येति । चिदंशज्ञानेऽपि ‘पूर्णानन्दं न जानामी’त्यादिव्यवहारवत् प्रकृते फलं नेत्यर्थः । साक्षिसिद्धतयेति । आनन्दादौ ब्रह्मधर्मत्वस्य परोक्षत्वेऽपि प्रातीतिकत्वात् साक्षिसिद्धत्वम् । अथवा—मम ज्ञानमानन्द इत्याद्यपरोक्षतया आत्मधर्मत्वे प्रतीयमानमेव ब्रह्मधर्मः । आत्मन एव वस्तुतो ब्रह्मत्वादिति भावः । व्यावृत्तः व्यावर्तकवान् । सदास्ति सर्वकालविशिष्टः । सर्वत्रास्ति सर्वदेशविशिष्टः । असाधारणस्वरूपस्य समवायत्वसंबन्धत्वादिविशिष्टस्य । एकरूपेण विशिष्टप्रमां प्रति विशेष्यत्वविशेषणत्वयोरभावेऽपि समवायत्वसंबन्धत्वाभ्यां सत्वासन्नित्वाभ्यां अन्यविशेषत्वव्यावृत्तत्वाभ्यां कालत्वसर्वकालत्वाभ्यां देशत्वसर्वदेशत्वाभ्यां तयोः संभवः; अभेदेऽपि ताभ्यां कल्पितभेदस्वीकारादिति भावः । स्वनिर्वाहकत्वात् विशेषं विनैव स्वविशेष्यकप्रमाविशेषणत्वात् । अतएव विशेषानङ्गीकारादेव । स्वेतरेति । विशेषेत्यर्थः । वस्त्वभिन्नः विशेषान्तरं विनैव वस्त्वभिन्नः । तद्दूषणेति । घटादि-

कार्यं च प्रमितं, तत्रैव विशेषः कल्प्यते, ननु प्रमितभेदे घटपटादौ विशेषमादाय भेदत्यागः, नहि सोमाभावे पूतीक इति तल्लाभेऽपि स इति, तन्न; मुख्यत्वनियामकस्य तत्रेवात्राभावात् विशेषभेदयो-
रुभयोरपि स्वरूपपर्यवसन्नत्वेन त्वद्वाग्भङ्गेरनवकाशात् । किंच भेदः स्वयमेव स्वकार्यं करोतु । अभेद-
कार्यार्थं तत्प्रतिनिधिरस्त्वित्याद्यापत्तेश्च । नचानन्दादावभेदवत् भेदस्य बोधाभावः; अलौकिक-
स्थले द्वयोः साम्यात् । ननु—अनुमानमत्र मानम्, तथाहि—ब्रह्मस्वरूपभूतयोर्विज्ञानानन्दयोर्ब्रह्मा-
भेदयोश्च एकतरपरिशेषाभावः, प्रमेयत्वादेः स्वाश्रितत्वादिकं वा भेदान्यनियम्यम्, भेदानियम्यत्वे
सति नियम्यत्वात्, यत् यदनियम्यत्वे सति नियम्यं, तत् तदन्यनियम्यम् । यथा संमतम् । ब्रह्मस्व-
रूपभूतं विज्ञानानन्दादिकं वा, भेदान्येकतरपरिशेषनिर्वाहकवत्, भेदहीनत्वे सति एकतरपरिशेष-
रूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यथेन हीनत्वे सति यन्निर्वाह्यवत्, तत्तदन्यनिर्वाहकवत्, यथा संमतम् ।
स्वाश्रितं प्रमेयत्वादिकं वा, भेदान्याश्रयाश्रयिभावनिर्वाहकवत्, भेदहीनत्वे सत्याश्रयाश्रयिभाव-
रूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यथा संमतमित्यादिकमिति—चेन्न; त्वदभिमतविशेषादन्यस्यैवाविद्यादेः सर्वत्र
नियामकत्वसंभवेनार्थान्तरात्, आविद्यकभेदनियम्यत्वेन बाधादसिद्धेश्च ॥

ननु—तथापि प्रत्यक्षमत्र मानम्, तथाहि—तन्तुपटादिवुद्धीनां भिन्नघटादिवुद्धितो वैलक्षण्यं
तावदनुभूयते, तच्च न तावत्संबन्धविषयत्वेन; कुण्डवदरादिवुद्धितो वैलक्षण्यानुभवात्, नापि
संयोगान्यसंबन्धविषयत्वेन; घटतज्ज्ञानतदभाववुद्धितोऽपि वैलक्षण्यानुभवात्, नापि स्वरूपप्रत्या-
सत्तिसंयोगान्यसंबन्धविषयत्वेन; घटतद्धर्मिकान्योन्याभाववुद्धेर्घटपटादिवुद्धितो वैलक्षण्याभावापा-
तात्, नाप्ययुतसिद्धिविषयत्वेन; आश्रयाश्रयिभावनियमो ह्ययुतसिद्धिः । तत्रच तदानींतन आश्रया-
श्रयिभावः कुण्डवदरादावपि भाति, नियमस्तु न तन्तुपटादिवुद्धावपि । नहि तन्तुपटादिधीः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेषादिपदपर्यायत्वादीत्यर्थः । वैषम्यादिति । अन्यविशेषस्य धर्मिभिन्नत्वेन तद्व्यावर्तकत्वं तादात्म्येन स्वव्यावर्तकत्वं
च संभवति, प्रकृते तूक्तदोषेभ्यो न निस्तार इति प्रतिकूलतर्कैर्धर्मिग्राहकमानं नावतरतीति भावः । वस्तुतस्तु—
रूपादेरेव धर्मिन्यावर्तकत्वेनात्यन्तविशेषेऽपि न मानमिति न दृष्टान्तः । तत्र सोमे । अत्र विशेषे । तथाच विशेषस्यैव
मुख्यत्वापातेन तदसंभवे भेद इति विपरीतं स्यात् । नेति व्यवहारे विशेषो विषय इत्यस्यापि सुवचत्वादिति भावः ।
भेदे मुख्यत्वबाधकं विशेषैक्यमाह—विशेषेति । किंचेत्यादि । यत्तु विशेषस्य भेदकार्यं अभेदकार्यं वा प्रतिनिधिवे
विवादेऽपि तत्सिद्धिरागतैवेति, तन्मौढ्यात्; नहि प्रकृते विशेषस्याभेदकार्यं प्रतिनिधित्वमुक्तम् । किंतु भेदस्य
बोधाभाव इति । भेदस्य प्रतिनिधित्वे बाधक इति शेषः । अभेदो यथा ज्ञायते, तथा न भेद इति न स प्रतिनिधि-
रिति भावः । अलौकिकस्थले ज्ञानपूर्णानन्दाद्यंशस्थले । द्वयोः भेदविशेषयोः । साम्यात् अप्रत्यक्षत्वेन कल्प-
नार्हत्वेन च तुल्यत्वात् । लौकिकस्थलेऽपि समवायः संबन्ध इत्यादौ कल्पनार्हत्वेन तुल्यत्वात् । एकतरपरिविशे-
षाभावः एकस्यैव यत् कार्यं तदभावः । अविद्यादेरिति । अविद्यातत्कल्पितधर्मधर्मिभावादेरित्यर्थः । अविद्या च
जगदुपादानत्वादिना श्रुत्या च सिद्धैव । तदसिद्धावपि प्रकृतानुमानेनैव तत्सिद्ध्यापातः भेदज्ञानादिकमादायार्थान्तरा-
नपायश्च । ननु भेदान्यमात्रनियम्यत्वादिकं वाच्यम्, तथाच अविद्यादेर्नियामकत्वं न भेदं विनेति नार्थान्तरम्,
तत्राह—आविद्यकैति । तन्तुपटादिवुद्धीनां तन्तुः पट इत्यादिवुद्धीनाम् । भिन्नघटादीति । घटः पटभिन्न
इत्यादीत्यर्थः । बुद्धितो वैलक्षण्यं बुद्धिध्ववर्तमानधर्मवत्त्वम् । विषयत्वेन विषयत्वाभिन्नम् । घटः पटभिन्न इत्यादौ
भेदादेः संसर्गो न भाति; तस्य तत्स्वरूपत्वात्, किंतु भेदाभिन्नं घटादिस्वरूपमात्रम्, तन्तुः पट इत्यादौ तु संसर्गो
भातीत्यर्थः । वैलक्षण्यानुभवात् संबन्धांशवैलक्षण्यानुभवात् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । उक्तस्थले भेदसंसर्गानुभवदित्यपि
बोध्यम् । घटतज्ज्ञानतदभाववुद्धितः घटो ज्ञातः प्रतियोगितासंबन्धेनाभावात् इत्यादिवुद्धेः । प्रत्यासत्तीति ।
संबन्धेत्यर्थः । घटतद्धर्मिकान्योन्याभाववुद्धेरिति । तद्धर्मिकोऽन्योन्याभावो यस्य कपालादेः स तद्धर्मिकान्यो-
न्याभावः कपालादिस्तस्य घटे या बुद्धिः घटः कपालद्वयमित्याकारा तस्या इत्यर्थः । घटपटादिवुद्धितः घटपटादौ
घटत्वपटत्ववुद्धितः । वैलक्षण्याभावेति । घटादौ घटत्वादिसमवायसंबन्धावगाहिवुद्धितो घटः कपालद्वयमिति
बुद्धेः संबन्धांशे वैलक्षण्यमनुभूयमानं न स्यात्; उभयोरपि समवायविषयकत्वाविशेषात् । नच—तयोरवैलक्षण्यमिष्ट-
मेवेति—वाच्यम्; कपालं घट इतिवत् घटो घटत्वमित्यस्यापत्तेरिति भावः । यथाश्रुतं त्वसङ्गतम्; तन्तुपटादिवुद्धेः
स्वरूपसंयोगान्यसंबन्धविषयकत्वरूपवैलक्षण्यस्योक्तत्वेन घटः पटो नैत्यादिवुद्धौ स्वरूपसंबन्धविषयकत्वस्य घटपटादि-
धीवैलक्षण्यस्य संभवात् । आश्रयाश्रयिभावनियमः संबन्धानाशादिः । ननु युतसिद्धविषयकत्ववैलक्षण्यमस्तु,

प्रत्यक्षा । अनयोः संबन्धनाशो वा, विभागो वा, न भविष्यतीत्याकारा, न वा कुण्डवदरादिधीस्तयोः संबन्धनाशो वा, विभागो वा, भविष्यतीत्याकारिका । नापि समवायविषयत्वेन; उक्तन्यायेन संबन्धनित्यत्वस्य संबन्ध्ययुतसिद्धत्वस्य वा तत्रास्फुरणात् । तस्मादभेदविषयत्वेनैव वैलक्षण्यं वाच्यम्; अयं घटः, गजादिकं सेना, पत्रमेव ताटङ्क इत्यादौ पुरोवर्तिना घटादेरिवातानवितानात्मकास्तन्तव एव पटः शुक्लः पट इत्यादावपि तन्त्वादिना पटस्याभेदप्रतीतेः । नच—अत्र पटत्वशुक्लत्वयोरेकस्थत्वमेव भातीति—वाच्यम्; पटशुक्लयोरेक्यस्यापि तत्रान्तर्गतेः, अन्यथा काप्यभेदो न स्यात् । ‘घटः पटो’ नेति धीश्च भेदविषया न स्यात् । ‘दण्डी चैत्र’ इत्यादावपि दण्डिना चैत्रस्याभेदो भात्येव । नच—शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लवानेव इति प्रतीयत इति—वाच्यम्; शुक्लं रूपमित्यत्र यत् शुक्लं तस्यैवेह प्रतीतेः । अन्यथेहापि दण्डीतिवत् शुक्लीति स्यात् । मतुलोपादिकल्पनं शब्दविषयकव्यवहारे, नतु प्रतीतौ । पटस्य शौक्यमित्यादिधीर्न भेदविषया, किंतु संबन्धविषया सति सत्तेत्यादिवत् भेदाभावेऽपि उपपन्ना च । पटस्य तन्त्वन्त्यत्वे च गुरुत्वद्वयापत्तिः । तन्तुमति पटवृत्तिश्च न स्यात्; मूर्तानां समानदेशताविरोधात् व्यवहारार्थक्रियाभेदादिकं तु पत्रताटङ्कादिवद्युक्तम् । तस्मात्तन्तुपटादिवुद्धिरभेदविषयैव । यदि चैवं केवलाभेदविषया, तर्हि सामानाधिकरण्यव्यवहारं न जनयेत्; घटः कलश इत्याद्यव्यवहारात् । तेन ज्ञायते अधिकोऽप्यस्य विषयोऽस्ति । नचायं भेदः; घटः न शुक्ल इत्युल्लेखापातात्, भेदाभेदाविरोधाय विशेषस्यावश्यकत्वाच्च । तस्माद्योऽधिको विषयः स विशेष इति—चैत्रः सत्यप्यभेदे काल्पनिकभेदमादाय तथाव्यवहारोपपत्त्या विशेषस्यासिद्धेः । नच घटो न शुक्लः इति प्रतीत्यापत्तिः; फलवलेन काल्पनिकभेदस्य सामानाधिकरण्यादिव्यवहारमात्रनिर्वाहकत्वकल्पनेन विपरीतोऽल्लेखनं प्रत्यहेतुत्वात् । तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे । विषादं जहि मत्सिद्धाविद्यया सर्वसङ्गतिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषखण्डनम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्राह—न वा कुण्डेति । विभागो वेति । वाकारोऽनास्थायाम् । संयुक्तनाशात् संयोगनाशस्थले विभागानुत्पत्तेः संबन्धनाशस्यैव युतसिद्धित्वात् । अस्फुरणादिति । समवायत्वस्याखण्डस्यैव भानस्वीकारेऽपि घट इति बुद्धितः कपालद्वयं घट इति बुद्धौ संबन्धवैलक्षण्यं न स्यादिति बोध्यम् । एकस्थत्वम् एकधर्मिणि वैशिष्ट्यम् । अन्तर्गतेः भानात् । न स्यादिति । नञं विना यत्राभेदो भाति, तत्रैव वाक्ये नञ्सत्त्वे भेदो भाति । अतएव भूतले घटो नेत्यादौ न भेदभानमिति भावः । ननूक्तनियमे व्यभिचारः, दण्डी चैत्र इत्यादौ अभेदाभानेऽपि न दण्डी चैत्र इत्यादौ भेदभानात्तत्राह—दण्डीत्यादि । यच्छुक्लं यच्छुक्लपदार्थः । तस्यैवेति । शुक्लं रूपं शुक्लः घट इत्येतयोरेकप्रकारकत्वमानुभाविकमित्यर्थः । शुक्लीति स्यात् शुक्लविशिष्टप्रकारकत्वमनुभूयेत । मतुलोपेति । नच—मनुलोपविधिव्यर्थः, शुक्लः घट इत्यादिप्रयोगस्याभेदेनैव उपपत्तेरिति—वाच्यम्; स्वरविशेषार्थकत्वात् । उपपत्तेरिति । भेदः प्रतिनिधिना विशेषेणेत्यादिः । विशेषस्य शुक्लत्वादिकमेव प्रतियोगितावच्छेदकम्, नतु शुक्लरूपत्वादिकम् । तेन पटशुक्लरूपमित्यादि प्रयोगप्रत्ययौ न । यत्तु रूपं पट इत्यादिप्रत्ययः स्यादेव, तादृशप्रयोगस्तु प्रथमपुरुषबहुवचनलङ्घोऽन्तवचिप्रयोगवन्न साधुरिति, तन्न; तादृशप्रत्ययस्यानुभाविकत्वाभावात् । वस्तुतस्तु—रूपत्वादिना रूपादेर्न घटाभेदः; मानाभावात्, किंतु शुक्लत्वादिना । अतएव मन्मतेऽपि न तथाप्रयोगप्रत्ययौ । अविरोधायेति । सविशेषाभेदो न भेदविरोधीति भावः । अभेदे व्यावहारिकाभेदे । काल्पनिकभेदं प्रातीतिकभेदम् । भिन्नसत्ताकत्वेनैव भेदाभेदौ न विरुद्धौ । व्यवहारदशायां युक्तिबाध्यत्वादिना भेद एव प्रातीतिकः । अतएव तन्तुपटयोः कार्यकारणभावोऽपि प्रातीतिकः । अहेतुत्वादिति । अभेदविरोधिविशेषणतया भेदप्रकारकधीर्नञ्समभिव्याहृतवाक्येनोल्लिख्यते । तादृशविशेषणता च गुणगुण्यादिभेदस्य कल्पितेति नोक्तव्यवहारः । यदा सा कल्पिता दोषान्तरात् । तदा घटो न शुक्ल इति भ्रमो भवत्येवेति भावः । तर्करित्यादि—विशेषपरिखण्डनम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विशेषखण्डनम् ॥

अथ भेदपञ्चके प्रत्यक्षप्रमाणभङ्गः ।

एवं प्रत्यक्षतः प्राप्तभेदस्यैव निवारणात् ॥ असाक्षात्कृतजीवेशभेदादौ का कथा तव ॥

तथाहि—ईश्वरस्याप्रत्यक्षत्वेन तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । ननु—ईशधर्मिकभेदस्य जीवाप्रत्यक्षत्वेऽपि स्वधर्मिकभेदः तथापि तत्प्रत्यक्षः, 'नाहं सर्वज्ञो नाहं निर्दुःखः' इत्याद्यनुभवात् । नच—योग्यप्रतियोगिकत्वमभावयोग्यत्वे प्रयोजकमिति—वाच्यम्; स्तम्भः पिशाचो नेत्यादिप्रत्यक्षरूपफलवलेन संसर्गाभावे तथात्वेऽपि अन्योन्याभावे अधिकरणयोग्यताया एव तन्नत्वात् । वस्तुतस्तु—संसर्गाभावेऽपि न तन्मात्रं योग्यता; जलपरमाणौ योग्यपृथिवीत्वाभावग्रहप्रसङ्गात्, किंतु यत्र यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि, तत्र तस्याभावो योग्य इति अधिकरणनियतैव सर्वाभावसाधारणी योग्यता । साच प्रकृतेऽप्यस्येव; अन्यथा अभेदश्रुतेरप्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः । भेदश्रुतेश्च त्वदुक्तप्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादित्वं न स्यात् । ईशधर्मिकजीवभेदेऽपि 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप । उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्यादितद्वचनानुमितप्रत्यक्षसिद्धत्वमेवेति—चेन्न; उक्तानुभवस्यान्तःकरणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तदवच्छिन्नचैतन्यप्रतियोगिकभेदावगाहितया शुद्धचैतन्यधर्मिकनिर्दुःखादिप्रतियोगिकभेदानवगाहितत्वात् । श्रुतिरप्यवच्छिन्नभेदानुवादिनी । भेदनिषेधश्रुतिस्तु अनुमानादिप्रसक्तभेदनिषेधपरा । नच 'योऽहमस्मात्संसारस्य ममाज्ञानसंसारस्य सोऽहं निर्दुःखो ने'ति सुषुप्तिकालीनान्तःकरणावच्छिन्नाभेदेनाज्ञानाद्याश्रयाभेदेन च प्रत्यभिज्ञायमाने शुद्धे भेदप्रतीतिः, संसाराधारस्य तदनाधारात् भेद एव ह्यावयोर्विवादः, नतु चैतन्यस्य चैतन्यादिति—वाच्यम्; एतावता अज्ञानावच्छिन्न एव भेदग्रहो नतु शुद्धे । नहि सुषुप्तिकाले अन्तःकरणानवच्छिन्नत्ववदज्ञानानवच्छिन्नत्वमप्यस्ति । यत्तु चैतन्यस्य चैतन्यात् भेदो नास्तीति, तदस्माकमनुकूलम्; चैतन्ये स्वाभाविकस्याभेदस्यैवासद्रहस्यत्वात् भवत्प्रतिकूलं च । नहि भवतां चैत्रमैत्रादिचैतन्यानामैक्यमिति मतम् । अहमर्थस्य यथा न शुद्धात्मत्वं तथोक्तं प्राक् । साक्षिप्रत्यक्षस्याध्यस्तादिसाधारणतया तत्सिद्धत्वमात्रेण भेदे अवाधितत्वमसंभावितमेव । एतेन—जीवानां परस्परं भेदे प्रत्यक्षं प्रमाणमिति—निरस्तम्; नाहं चैत्र इत्यादेरवच्छिन्नभेदविषयत्वात् । 'घटो न ब्रह्म, घटो न पटः, नाहं घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्य कल्पितभेदविषयत्वेन तात्त्विकभेदासिद्धेः । तस्मात् भेदपञ्चके न प्रत्यक्षं प्रमाणम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अनुपलब्धिविरोधि उपलब्ध्यापादकं, जलपरमाणौ यदि पृथिवीत्वं स्यात् तदोपलभ्येतेति नापादयितुं शक्यम्; तत्सत्त्वेऽप्यनुपलब्धिसंभवात्, योग्यव्यक्तिवदितसन्निकर्षस्यैव जालादिचाक्षुषोपधायकत्वादिति भावः । अस्यैवेति । स्तम्भो यदि पिशाचः स्यात्, तदा तथोपलभ्येत्यस्येव अहं यदि निर्दुःखः स्यां, तदा तथोपलभ्येत्यस्यापि संभवात् । तान्यहमित्यादि । न त्वं सर्वाणि वेत्थेत्यत्र जीवे सर्वज्ञात् भेदोऽर्थः; आख्यातस्य कर्तृवाचित्वात् । तथाच सर्वज्ञेऽपि जीवभेदधीराशस्यास्तीत्यभिमानः । वस्तुत आख्यातस्य कर्तृत्ववाचकत्वान्न कर्तृवाचकत्वम् । तथाचोक्तवाक्योपन्यासोऽसङ्गतः । परंतु सर्वज्ञत्वादेव स्वस्मिन् जीवभेदप्रत्यक्षवत्त्वमीशस्य । एवमप्यप्रमाणत्वात् प्रमाणत्वेनोपन्यासो न युक्त इति ध्येयम् । उक्तानुभवस्य नाहं निर्दुःख इत्यादेः । संसाराधारस्य संसारोपलक्षितचिद्व्यक्तेः । तदनाधारात् तदनुपलक्षितचिद्व्यक्तितः । एतावतापीत्यपिनोक्तप्रतिपत्तौ अज्ञानाश्रयभिन्नाहमर्थे भेदो भाति, न त्वज्ञानाश्रय इति सूचितम् । नतु शुद्ध इति । अज्ञानोपहिते निर्दुःखभेदस्त्वयाप्युच्यते । तथाच तस्यैवोक्तधीविषयत्वसंभवे शुद्धस्य निर्दुःखात् भेदे मानाभावः, नहुक्तधीरज्ञानोपहितं नावलम्बते, किंतु शुद्धमिति वक्तुं शक्यमिति भावः । शुद्धचिति शुद्धचित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाव उच्यते, तत्तच्छुद्धचित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावो वा, आद्ये आह—तदस्माकमनुकूलमिति । चैतन्ये शुद्धचिति । अभेदस्य शुद्धचित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावस्य । शुद्धचित्वां च शुद्धचिदन्याविषयकधीविषयत्वम् । द्वितीये आह—भवत्प्रतिकूलं चेति । चकारादस्माकमनुकूलमित्यस्य समुच्चयः । ननु 'नाहं निर्दुःखः' इत्याद्यनुभवात् शुद्धे जीवस्वरूपे संसारानाधारेणैश्वर्यरूपात् भेदसिद्धिरत आह—अहमर्थस्येति । साक्षिप्रत्यक्षस्यान्तरङ्गत्वान्मानान्तराबाध्यत्वमिति परोक्तं निरस्यति—साक्षीति । जीवानां जीवस्वरूपाणाम् । अवच्छिन्नभेदेति । मनःशरीरावच्छिन्नयोर्भेदेत्यर्थः । तर्कैरित्यादि—नाध्यक्षं भेदपञ्चके ॥ इति लघुचन्द्रिकायां भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः ॥

अथ जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः ।

नाप्यनुमानम् । (१) जीवेश्वरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवदित्यत्र दुःखादेरन्तःकरणादिधर्मत्वेन स्वरूपासिद्धेः, एकत्रैव निर्दुःखत्वदुःखवत्त्वयोरवच्छेदकभेदेन दृष्टतया धर्मभेदासाधकत्वात्; भेदमात्रे सिद्धसाधनात्, तात्त्विकभेदे साध्यवैकल्यात् । (२) ब्रह्म, तत्त्वतो जीवात् भिन्नम्, सर्वज्ञत्वात्, व्यतिरेकेण जीववदित्यत्राप्रसिद्धविशेषणत्वात् । (३) ब्रह्म, धर्मसत्तासमानसत्ताकभेदवदिति साध्यकरणे असाधारण्यात्, (४) आत्मत्वं नानाव्यक्तिनिष्ठम्, जातित्वात्, पृथिवीत्ववदित्यत्रात्मैक्यवादिनं प्रत्यसिद्धेः, कल्पितव्यक्तिनिष्ठत्वेन सिद्धसाधनाच्च । (५) दुःखं, गुणत्वावान्तरजात्या सजातीयाश्रयात् भिन्नाश्रितम्, गुणत्वाद्व्यपवदित्यत्र शब्दे व्यभिचारात्, दुःखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेन सिद्धसाधनाच्च, (६) विमतानि शरीराणि, स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति, शरीरत्वात्, संमतवदित्यत्र योगिशरीरे व्यभिचारात् । आत्मा, धर्मसत्तासमानसत्ताकात्मप्रतियोगिकभेदवान्, द्रव्यत्वात्, घटवत्, (८) आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजात्या नाना, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्, घटवदित्यत्र चात्मनो निर्गुणत्वेनासिद्धेः । चैत्रश्चैत्रप्रतियोगिकोक्तभेदवान्, उक्तहेतोरुक्तदृष्टान्तवदित्याभाससाम्याच्च । एतेन—नवीनानुमानान्यपि—निरस्तानि; (१) ईश्वरः जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, सर्वशक्तित्वात्, सर्वज्ञत्वात्, सर्वकार्यकर्तृत्वात्, स्वतन्त्रत्वाद्वा, व्यतिरेकेण जीववत् । (२) जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, अल्पशक्तित्वात्, अल्पज्ञत्वात्, अल्पकर्तृत्वात्, संसारित्वाद्वा, व्यतिरेकेण ब्रह्मवत्, इत्यादिषु भेदस्य स्वरूपत्वेन तद्वत्त्वसाधने बाधात् । नच विशेषमादाय तदुपपादनम्; तस्य स्वरूपानतिरेकेण तद्वत्त्वसम्पादकत्वात्, अप्रसिद्धविशेषणतापत्तेश्च । नच—जीवब्रह्मभेदेऽनिष्टप्रसक्त्या अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वादेरिव त्वत्सिद्धस्वप्रकाशत्वादेरिव च साध्यस्य मानयोग्यत्वसंभव इति—वाच्यम्; तात्त्विकभेदव्यतिरेकेऽपि उपाधिकल्पितभेदेन सर्वानिष्टपरिहारसंभवात् । नच—जीवो ब्रह्म वा, किञ्चिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवदिति सामान्यतः साध्यप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्; यत्किञ्चिदभावप्रतियोगिघटादिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वेनात्मज्ञानाबाध्यभेदासिद्धेः, स्वप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वे साध्ये दृष्टान्ते स्वपदेन शुक्तेर्दार्ष्टान्तिके स्वपदेनात्मन उक्तव्याप्तिग्रहानुपपत्तेः । यत्तु जीवात् भिन्न इत्येव साध्यम्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनं पश्चान्निरसनीयमिति, तन्न; निरसनोपायस्य निरसिष्यमाणत्वात् । नच ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मसत्तासमानसत्ताकभेदवदित्येव साध्यम्; धर्मपदेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जीवेश्वरावित्यादि । ईशस्वरूपं, जीवस्वरूपाद्भिन्नम्, तद्वृत्तिदुःखादिशून्यत्वात् । यो यद्वृत्तिधर्मशून्यः, स तदन्यः, यथा दहनधर्मशून्यस्तुहिनस्तदन्य इत्यर्थः । तदीयस्वाभाविकधर्मशून्यत्वं हेतुः, तदीयधर्मशून्यत्वं वा । आद्ये आह—दुःखादेरिति । द्वितीये आह—एकत्रैवेति । धर्मभेदासाधकत्वात् अनौपाधिकभेदासाधकत्वात् । औपाधिकविरुद्धधर्मः औपाधिकमेव भेदं साध्यतीत्यर्थः । भेदमात्रे औपाधिकसाधारणभेदे । असाधारण्यात् साध्यवत्त्वेन निश्चितघटादितो हेतोर्व्यावृत्तत्वात् । यत्किञ्चिद्धर्मसत्तासमसत्ताकभेदेन सिद्धसाधनाद्यपि बोध्यम् । गुणत्वावान्तरजात्या सजातीयाश्रयेति । स्ववृत्तिर्या गुणत्वव्याप्यजातिः, तद्विशिष्टस्याश्रयेत्यर्थः । स्वसङ्ख्यासंख्येयेति । स्वसमसङ्ख्येत्यर्थः । व्यभिचारादिति । कल्पितसमसंख्यात्वमादाय सिद्धसाधनाद्यपि बोध्यम् । द्रव्यत्वव्याप्यजात्या नाना स्ववृत्तिर्या द्रव्यत्वव्याप्यजातिः, तद्विशिष्टान्यासमवेतबहुत्वसंख्यावान् । आकाशे व्यभिचारादश्रावणेति । असिद्धेः द्रव्यत्वगुणाधिकरणत्वयोरभावात् । कल्पितस्य धूमादेर्हृदादावपि सत्त्वात् पक्षे तत्समानसत्ताकहेत्वभाव एव स्वरूपासिद्धिरिति भावः । कल्पितोक्तसंख्यया सिद्धसाधनाद्यपि बोध्यम् । साम्यात् तर्कशून्यत्वेन तुल्यत्वात् । एतेन अप्रसिद्धविशेषणत्वाभाससाम्यादिना । अप्रसिद्धविशेषणत्वं समर्थयितुं पुनराह—अप्रसिद्धेति । द्रव्यत्वादेरिवेति । इच्छादिकं, द्रव्याश्रितम्, गुणत्वादित्यादौ अष्टद्रव्याश्रितत्वबाधादष्टान्यद्रव्याश्रितत्वं स्येव मिथ्याभेदाबाधामिथ्याभेदस्यानुमितिरित्यर्थः । स्वप्रकाशत्वादेरिवेति । वेद्यत्वं, किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यनुमानेनावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वस्य प्रसिद्धिरिव जीवो ब्रह्म वा किञ्चिद्धर्मिकेत्यादिवक्ष्यमाणानुमानेन जीवादिप्रतियोगिकतात्त्विकभेदप्रसिद्धिरिति भावः । संभव इति । तथाच मिथ्याभेदादोऽप्रसिद्धः । किञ्चिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदेति । किञ्चिद्विशेष्यकं यत् प्रतियोगिज्ञानं तदबाध्यभेदेत्यर्थः । दृष्टान्ते उदाहरणत्वात् । दार्ष्टान्तिके प्रतिज्ञावाक्ये । व्याप्तिग्रहेति । प्रतिज्ञावाक्यबोधितसाध्यतावच्छेदकरूपेणोदाहरणवाक्यात्

ब्रह्मण उक्तावप्रसिद्धविशेषणत्वतादवस्थ्यात्, यत्किञ्चिद्धर्म्युक्तौ घटादिधर्मिसमानसत्त्वेन सिद्धसाधनात्, विपक्षवाधकरूपविशेषाभावे पूर्वोक्तासाधारण्यापत्तेश्च । यत्तु ब्रह्म जीवप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवन्नेति, तन्न; एवमपि तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकाभावेन सिद्धसाधनात्, अभावेऽपि तात्त्विकत्वविशेषणे अप्रसिद्धितादवस्थ्यात् । ननु—अत्र जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदस्यान्योन्याभावरूपत्वान्नाप्रसिद्धिर्दोषः, यत्र ह्यभावव्यापकतया हेत्वभावो गृह्यते, तत्रैव साध्यप्रसिद्धिरङ्गम्, इह तु जीवतादात्म्यव्यापकता हेत्वभावस्य ग्राह्या । तदभावो हेतुना साध्यत इति किं साध्यप्रसिद्ध्या ? तां विनापि व्याप्तग्रहोपपत्तेः, सन्देहरूपपक्षतासम्पत्तयेऽपि न तदपेक्षा; तस्यास्मिन्वाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपत्वेन सन्देहाघटितत्वात्, 'ब्रह्म तत्त्वतो जीवमिदं न वे'ति सन्देहाभावेऽपि 'जीवब्रह्मणोर्भेदे तात्त्विकत्वमस्ति नवे'ति सन्देहसंभवाच्च, प्रमेयत्वमेतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति सन्देहवदिति—चेत्, न; एवं हि प्रसिद्धेतरभेदः पृथिव्यामिव प्रसिद्धजीवभेदो ब्रह्मणि सिद्ध्यतु, न तद्गततात्त्विकत्वमपि; व्यापकव्यतिरेकस्य व्याप्यव्यतिरेकमात्रसाधनसमर्थत्वात्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । यदपि भेदतात्त्विकत्वं धर्मनिष्ठत्वेन उदशङ्कि, तदपि साध्याप्रसिद्ध्या दुष्टम् । नपि ब्रह्म, जीवात् भिन्नम्, दुःखाननुभवितृत्वात्, घटवदित्यन्वयि; सर्वानुभवितरि हेतोरसिद्धेः । खनिष्ठेति विशेषणे जीवे व्यभिचारः, दुःखस्यान्तःकरणनिष्ठत्वात्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनाच्च । नच—भेदे साध्ये अर्थशून्यभ्रान्त्या सिद्धसाधनोक्त्ययोग इति—वाच्यम्; भ्रान्तेर्वस्तुशून्यत्वस्यैवाभावात् । उक्तमिदमनिर्वाच्यवादे । नचैतदनुमिति विषयतया प्रामाणिकत्वेन सिद्ध्यतः कथं मिथ्यात्वम्; अनुमिति विषयतायाः प्रामाणिकत्वे अतन्त्रत्वात् । नचैवं मिथ्यात्वाद्यनुमानेऽपि कल्पितमिथ्यात्वादिना सिद्धसाधनापत्तिः; कल्पितत्वं व्यावहारिकत्वमभिप्रेतं प्रातिभासिकत्वं वा, आद्य इष्टापत्तेः, अन्ये हेतोस्वसमानसत्ताकसाध्यसाधकतया प्रातिभासिकत्वाप्रसक्तेः । एतेन—ब्रह्म, जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवत्, दुःखाननुभवितृत्वात्, अभ्रान्तत्वात्, असंसारित्वात्, घटवत् । जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतादृग्भेदवान्, असर्वशक्त्यादिभ्य इति—निरस्तम्; उपहितस्य पक्षत्वे धर्मिसमसत्ताकत्वे सिद्धेऽपि तात्त्विकत्वासिद्धेः सिद्धसाधनात्, शोधिततत्त्वं प्रदार्थयोः पक्षत्वे तयोर्धर्मित्वाभावेन बाधापत्तेः । नच—धर्मित्वाभावं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वाभ्यां व्याघातः; ब्रह्मणः सर्वनिषेधस्वरूपत्वेन व्याघाताभावात्, नच धर्मिशब्देनाश्रयमात्रविवक्षा; धर्मित्ववदाश्रयत्वस्यापि तत्रासत्त्वात् । यत्तु धर्मिशब्दस्य पित्रादिशब्दवत् संबन्धिशब्दत्वेन यत्किञ्चिद्ध-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

व्याप्तिग्रहेत्यर्थः । यत्तु प्रतियोगिसामान्यज्ञानाबाध्यत्वं निवेदयामिति, तत्तुच्छम्; आत्मनोऽपि प्रतियोगिसामान्यान्तर्गतत्वेन तदबाध्यभेदाप्रसिद्धेः । नच—बाध्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यनुमानेनाबाध्यत्वप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्; तावतात्मन्यबाध्यत्वसिद्धावप्यबाध्यभेदाप्रसिद्धेः । अगृह्यमाणविशेषावस्थायामेवासाधारण्यं दोषः, प्रकृते तु तर्केण विशेषावस्थाग्रहाज्ञासाधारण्यमिति परोक्तस्य दूषणायाह—विपक्षवाधकरूपविशेषेति । तर्कगृहीतविशेषेत्यर्थः । यत्र हीत्यादि । ब्रह्मभावव्यापकत्वेन धूमाभावस्य ग्रहणस्थले वह्नित्वेन प्रसिद्धिरपेक्ष्यते; तां विना ब्रह्मभावत्वेन ग्रहणासंभवात्, ब्रह्मभावाभावत्वरूपानुमेयतावच्छेदकरूपेण प्रसिद्धिस्तु तत्रापि नापेक्ष्यत इति भावः । साध्यते अनुमीयते । साध्यप्रसिद्ध्या तादात्म्याभावप्रसिद्ध्या । व्याप्तिग्रहेति । तादात्म्यव्यापकाभावप्रतियोगित्वग्रहेत्यर्थः । भेदस्य तादात्म्याभावत्वे मानाभावात्तादात्म्येन जीवं प्रति व्यापकताज्ञानाच्च जीवभेदानुमितिसंभव इति तु युक्तं वक्तुम् । व्याप्यव्यतिरेकमात्रेति । ननु—मिथ्याभेदो नैक्यव्यतिरेकः, शुक्तौ तदैक्ये सत्यपि मिथ्यातद्भेदसत्त्वादिति—चेत्, भ्रान्तोऽसि; ऐक्यव्यतिरेकत्वेनैव भेदकल्पनात्, प्रातीतिकभेदस्य व्यावहारिकैक्यविरोधित्वाभावेऽपि तथाकल्पनायां बाधकाभावात्, प्रकृते तु तात्त्विकजीवस्वरूपैक्याविरोधितव्यतिरेकत्वेन व्यावहारिकभेदकल्पनसंभवात् । जीवात् जीवस्वरूपात् । जीवे जीवस्वरूपे । दुःखस्य खनिष्ठदुःखानुभवितृत्वस्य । अन्तःकरणनिष्ठत्वात् अन्तःकरणोपहितनिष्ठत्वादविद्योपहितनिष्ठत्वाद्वा । ब्रह्मणस्तु नोक्तानुभवितृत्वम्; खनिष्ठपदेन स्वसमानसत्ताकखनिष्ठत्वस्य वाच्यत्वात्, अन्यथा ब्रह्मणो दुःखादिजगदुपादानत्वेन स्वरूपासिद्धेः । एतेन—दुःखाननुभवितृत्वं दुःखानुभवजन्यविक्रियाशून्यत्वम्, अतो नासिद्धिरिति—परास्तम्; विक्रियादिजगदुपादाने तच्छून्यत्वासिद्धेः; विक्रियायां मिथ्यात्वज्ञानेनैव ब्रह्मणो जीवात् विशेषात् । धर्मिसमानसत्ताकेत्यस्य विक्रियाविशेषणत्वे जीवस्वरूपे व्यभिचारः । हेतोः व्याप्तिपक्षधर्मतावतः । एतेन सिद्धसाधनादिना । तदेव सिद्धिर्णोति—उपहितस्येति ।

मिसमसत्ताकतया न सिद्धसाधनमिति, तन्न; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगात् । एतेन—धर्मिपदस्थाने स्वपदमिति—अपास्तम्; धर्मिपदतुल्ययोगक्षेमत्वात् । अतएव—धर्मिसत्ता-स्वज्ञानावाध्येति वा विशेषणं देयम्, स्वपदस्य समभिव्याहृततत्तत्परत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति—निरस्तम्; आद्ये साध्यवैकल्याच्च । नच—घटो जीवप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जीव-नावाध्यतत्प्रतियोगिकभेदवत्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्याद्यनुमानेन साध्यसिद्धेर्नाप्रसिद्धि-रिति—वाच्यम्; यच्छब्दानुगमेन पक्षधर्महेतौ व्याप्त्यग्रहात्, धर्मित्वप्रतियोगित्वादिसामान्या-कारेण व्याप्तिग्रहे विशिष्य साधनायोगात् । नच—एवं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्वादौ का गतिरिति—वाच्यम्; तत्राप्येतद्वृषणसञ्चारेण व्यतिरेकिणि वानुमानान्तरे वा तात्पर्यात् । नापि—ब्रह्म तत्त्वतो जीवाभिन्नं नेति साध्यम्, एवंच न साध्यवैकल्यशङ्कापि, त्वन्मतेऽपि, कल्पितघटे कल्पितजीवात् तात्त्विकभेदवत्तात्त्विकाभेदस्याप्यभावादिति—वाच्यम्, तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकेनाभावेन सिद्ध-साधनस्योक्तत्वात् । नापि—जीवेश्वरौ, धर्मिज्ञानाबाध्यपरस्परप्रतियोगिकभेदवन्तौ, विरुद्धधर्माधि-करणत्वात्, दहनतुहिनवत्, विरोधश्च परस्परात्यन्ताभावरूपत्वं, तद्व्याप्यत्वं वा, कालभेदेनापि सामानाधिकरण्यायोग्यत्वं वा, संयोगतदत्यन्ताभावयोश्च सामानाधिकरण्यं मतद्वयेऽपि नेति न तदाश्रये व्यभिचार इति—वाच्यम्; धर्मिपदमादाय दोषस्य प्रागेवोक्तत्वात्, अव्याप्यवृत्तिदुःखश-ब्दाद्यधिकरणे व्यभिचाराच्च, जीवब्रह्मभेदसिद्धौ स्वतन्त्रत्वास्वतन्त्रत्वादीनां सामानाधिकरण्यायो-ग्यत्वरूपविरोधस्यैवासिद्ध्या स्वरूपासिद्धेः, कल्पितसार्वभौमसार्वभौमादिव्यवस्थाया वर्णे ह्रस्वत्वदी-र्घत्वादिव्यवस्थावत् कल्पितभेदेनैवोपपत्त्या स्वाभाविकभेदं प्रत्यप्रयोजकत्वाच्च । नच ‘अल्पशक्तिरसा-र्वभौमं पारतन्त्र्यमपूर्णता । उपजीवकत्वं जीवत्वमीशत्वं तद्विपर्ययः ।’ स्वाभाविकं तयोरेतन्नान्यथा तु कथञ्चन ॥’ इत्यादिश्रुत्या सार्वभौमभेदः स्वाभाविकत्वोक्त्या कल्पितत्वासिद्धिः; अनाद्यविद्यासिद्धत्वे-नेदानीन्तनत्वाभावेन च स्वाभाविकत्वोक्तेः, तच्छब्देनोपहितयोरेव परामर्शात् । न तत्र स्वाभा-विकत्वोक्तिविरोधः; न ह्युपहितेऽपि सर्वज्ञत्वादिकमागन्तुकम् । नापि—ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यजीव-प्रतियोगिकभेदवत्, पदार्थत्वात्, घटवत्, चेतनत्वं, जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकधर्मिज्ञानाबाध्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ईशत्वजीवत्वोपहितयोः सिद्धसाधनात् ईशत्वाद्युपहितसमसत्ताकं घटादिरूपधर्मिसमसत्ताकं च भेदमादाय सिद्धसाध-नात् । धर्मित्ववत् ज्ञानविशेष्यत्ववत्, संसर्गानुयोगित्ववद्वा । पारमार्थिकभेदाप्रसिद्धेराह—यावत्स्वरूपमनुवर्त-मानेति । ब्रह्मस्वरूपकालव्यापकस्वकालत्वस्य तदर्थस्य मिथ्याभेदेऽपि संभवेन सिद्धसाधनादाह—स्वाज्ञानेति । अनादिमिथ्याभेदमादाय सिद्धसाधनादाह—स्वज्ञानेति । साध्यवैकल्यात् घटादिवृत्तिभेदे पारमार्थिकत्वाभावात् । नाप्रसिद्धिः । नोक्तभेदे उक्ताभावः । ननु यत्त्वतत्त्वे न निवेश्ये, किंतु धर्मित्वप्रतियोगित्वे एव, तत्राह—धर्मित्वेति । यत्किञ्चिदित्यादिः । धर्मिप्रतियोगिसामान्यनिवेशे तु मां प्रत्यसिद्धिः; भेदादिप्रपञ्चस्यात्मरूपधर्मिप्रति-योगिधीबाध्यत्वात् । विशिष्य जीवज्ञानाबाध्यत्वेन रूपेण । तथाच घटादिरूपप्रतियोगिज्ञानाबाध्यमिथ्याभेदस्य घटादौ सिद्धिः स्यात्, नतु जीवज्ञानाबाध्यभेदस्येति भावः । ननु—जीवस्वरूपस्य त्वन्मते धर्मिप्रतियोगित्वाभावात् धर्मिप्रतियोगिसामान्यज्ञानाबाध्यभेदो नाप्रसिद्ध इति—चेत्, तर्हि जीवस्वरूपज्ञानाबाध्यभेदासिद्धोद्देश्यासिद्धिः । अत्र जीवस्वरूपस्य सद्रूपत्वेन दृश्यमात्रस्य तदभेदात्स्वरूपासिद्धिरपि बोध्या । एतेन—जीवस्वरूपं दूरस्थवनस्पत्यो-रेकं चेत्यन्यतरज्ञानाबाध्यभेदत्वेन साध्यत्वान्नानुगमादिकमिति—अपास्तम्; सद्रूपान्यरूपेणाभेदाप्रतियोगित्वस्य हेतुत्वे तु स्वरूपासिद्धिवारणेऽपि अप्रयोजकत्वम् । तादृशभेदस्य व्यावहारिकत्वेन तदप्रतियोगित्वस्य व्यावहारिकभेदे-नैवोपपत्तेरिति ध्येयम् । अनुमानान्तरे स्वपदस्थाने पक्षदृष्टान्तान्यतरपदप्रवेशेनानुमाने । अनुकूलतर्काणां तत्रोक्त-त्वान्नाप्रयोजकता । विरोधश्चेत्यादि । तथाच जीवेश्वररूपयोरेकमपरस्मात् धर्मिज्ञानाबाध्यभेदवत् स्वधर्मित्वान्ता-भावात् तद्व्याप्यात् सर्वदा स्वधर्मिसामानाधिकरण्यायोग्याद्वेति प्रयोगः । स्वाभाविकत्वस्य धर्मिसमानसत्ताकरूप-त्वेऽप्याह—तच्छब्देनेति । आगन्तुकं धर्मिसमानसत्ताकान्यत् । जीवत्वावच्छिन्नेति । जीवस्वरूपत्वावच्छिन्ने-त्यर्थः । जीवत्वे जीवस्वरूपनिष्ठे अविद्याश्रयत्वादौ । ननु ब्रह्मजीवस्वरूपयोर्भेदाभावे ब्रह्मणोऽपि संसारित्वं स्यादित्या-काङ्क्ष संसारित्वमविद्याश्रयत्वं वा यं प्रत्यावरुणं तत्त्वं वा । आद्येऽपि शुद्धब्रह्मणस्तदापाद्यते, उपहितस्य वा । आद्ये

भेदवृत्तिः, सर्वचेतनवृत्तित्वात्, चेतनावृत्तित्वरहितत्वाद्वा, शब्दार्थत्ववदिति—वाच्यम्; स्वपद-
धर्मिपदानुगमतादवस्थ्यात्, अन्यहेतोर्जीवत्वे व्यभिचाराच्च, जडवृत्तित्वाद्युपाधिसत्त्वेन विपक्ष-
वाधकाभावेन चाप्रयोजकत्वात् । ब्रह्मणो जीववत्संसारित्वापत्ताविप्रापत्तिः । कल्पितभेदेन वा
परिहारो विधेयः । तदुक्तम्—अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन । प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात् तत्र
भेदानुमेयते ॥ शुद्धचैतन्ये धर्मानधिकरणतयानुमानाप्रसरः । यत्र प्रसरः, तत्रेष्टापत्तिरित्यर्थः । नच
एवमैक्यानुमानमपि कथम्? भवत्पद्यस्य तदैक्यानुमितिः कथमिति पठितुं शक्यत्वादिति—
वाच्यम्; शुद्धचैतन्यैक्यस्य शब्दैकगम्यत्वेन तत्रानुमेयत्वस्येष्टत्वात् । नच तद्वैक्यानुमानोपन्या-
सानर्थक्यम्; तस्य भेदे तात्त्विकत्वभ्रममात्रनिरासफलकत्वात् । तस्मात् 'अप्रसिद्धविशेषत्वादन्व-
यैवोपपत्तितः । सर्वशक्त्यल्पशक्त्यादेर्न भेदे तन्नता ततः' ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः ॥

अथ जीवपरस्परभेदानुमानभङ्गः ।

एवं जीवानामपि न परस्परभेदानुमानम् । चैत्रो मैत्रप्रतियोगिकधर्मिज्ञानावाध्यभेदवान्,
मैत्रप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवान्नेति वा, मैत्रानुसंहितदुःखाननुसन्धातृत्वात्, मैत्रस्मृतसर्वास्-
तृत्वात्, मैत्रानुभूतसर्वाननुभवितृत्वाच्च, घटवदित्यत्र प्रथमसाध्ये धर्मिपदविकल्पेन द्वितीय-
साध्ये तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकभेदेन सिद्धसाधनात्, उपहितस्य पक्षत्वे अर्थान्तरात्, चैत-
न्यमात्रपक्षत्वे हेत्वसिद्धेः, साधनैकदेशस्याननुसन्धानादेरुपाधित्वसंभवाच्च । विमतो बन्ध-
ध्वंसः, स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधारप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानावाध्यभेदवन्निष्ठः, बन्ध-
ध्वंसत्वात्, संमतवत्, जीवः, संसारी, संसारध्वंसाधारो वा, स्वज्ञानावाध्यजीवप्रतियोगिक-
भेदवान् संसारिप्रतियोगिकस्वज्ञानावाध्यभेदवान् वा, स्वज्ञानावाध्यसंसारध्वंसाधिकरणप्रति-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आह—ब्रह्मण इति । जीववत् जीवस्वरूपवत् । आद्यद्वितीये स्वाह—कल्पितभेदेति । उपहितस्याविद्याश्रयस्य
जीवस्य शुद्धात् कल्पितभेदेत्यर्थः । प्रतिबिम्बत्वोपहितं प्रत्येवावरणम्; उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् । शुद्धस्य
बिम्बत्वोपहितस्य च ब्रह्मणः प्रतिबिम्बात् कल्पितभेदेन न तत्प्रत्यावरणमिति वार्थः । धर्मानधिकरणतया भेदानु-
मापकधर्मानधिकरणतया । अविद्याश्रयत्वरूपसंसारित्वस्येष्टत्वेन तदापत्तिरूपतर्काप्रवृत्त्या चेति शेषः । अथवा—
ब्रह्मणः अविद्योपहितब्रह्मणः । संसारित्वापत्तौ अविद्याश्रयत्वापत्तौ । वाशब्दस्त्वर्थकः । परिहारः यं प्रत्यावरणं
तत्परिहारः । धर्मानधिकरणतया भेदानुमापकादिसर्वधर्मानधिकरणतयेति बोध्यम् । इष्टापत्तिः सिद्धसाधनम् ।
तस्येत्यादि । ब्रह्म न जीवभिन्नमित्यादिवाक्यस्य भेदाभावादिप्रकारकधीद्वारकाखण्डार्थधीहेतुतया सर्वप्रपञ्चोच्छेदक-
त्वेन भेदतात्त्विकताधीनिवर्तकत्वमित्यर्थः ॥ तर्करित्यादि—चितो भेदानुमाभिदा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां
जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः ॥

तात्त्विकाभेदस्य तात्त्विकोऽभेदो यत्र तस्य । उपाधित्वेति । ननु—यत्रयत्रानुसन्धातृत्वं, तत्र तत्रोक्तभेदाभाव
इति व्यतिरेकव्याख्याभावात् नायमुपाधिरिति—चेत्, भ्रान्तोऽसि । पटादौ यत्र यत्रोक्तमैत्रभेदस्तत्र तत्राननुसन्धा-
तृत्वम्; मैत्रादौ यत्र यत्रानुसन्धातृत्वं, तत्र तत्रोक्तमैत्रभेदाभाव इति व्याप्तिद्वयस्य मन्मते सत्त्वात् । नच—द्विती-
यसाध्याभावस्य घटादावपि सत्त्वेन तत्रानुसन्धातृत्वाभावेन न द्वितीयव्याप्तिरिति—वाच्यम्; उक्तभेदरूपद्वितीयसा-
ध्यस्य मन्मते मिथ्यात्वेन तदभावस्य घटादौ सत्त्वेऽपि त्वन्मते तदसत्त्वात्, द्वितीयव्याप्तेरुपाधितायामतन्नत्वाच्च । अत्र
शरीरजन्यत्वे शरीरस्यैव मैत्रानुसंहितेत्यस्य द्वैयर्थ्यम् । अननुसन्धातृत्वं तु स्वरूपासिद्धम् । यथाचोक्तवैयर्थ्यं प्रामाणिकं,
तथा प्रथमपरिच्छेदे प्रपञ्चसत्त्वानुमानभङ्गे विवेचितम् । जीव इत्यादि । जीवः, जीवभेदवान्, संसारी संसारिभे-
दवान्, संसारध्वंसवान्, संसारध्वंसवद्भेदवानिति क्रमो बोध्यः । जीवत्वोपहितयोर्भेदस्य सिद्धत्वात् संसारीत्यादि ।
अविद्यारूपसंसारश्रयत्वमविद्योपहितस्यैव । तथाच तयोर्भेदस्यापि नानाविद्यापक्षे सिद्धत्वात्—संसारध्वंसेत्यादि ।
उक्तध्वंसवत्त्वेन व्यवहियमाणं तदुपलक्षितजीवस्वरूपं ध्वंसवदन्तार्थः । अर्थान्तरवारणाय—स्वज्ञानावाध्येति
वाच्यम् । स्वं पक्षः । कालादावित्यादिना शरीरादिग्रहणम्; घटादिध्वंसस्य भूतलादाविद्यादिबन्धध्वंसस्य शरीरा-
दावपि प्रमितिसंभवात् । एतेन—भेदवति देशे देशिकसंबन्धेन वृत्तेस्साध्यत्वान्नार्थान्तरमिति—अपास्तम् ।

योगिकभेदवान्वा, पदार्थत्वात्, घटवत्, विमत आनन्दः, खनिष्ठदुःखविरोधित्वव्याप्यधर्मेण सजातीयप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, दुःखविरोधित्वात्, दुःखाभाववत्, इत्यादिषु बन्ध-प्रतियोगिकभेदवति कालादौ ध्वंसस्य विद्यमानत्वेनार्थान्तरात्, दुःखनिगलसाधारणबन्धत्वा-संभवाच्च, स्वपदानुगमाच्च । चैत्रबन्धध्वंसः, चैत्रबन्धाधारप्रतियोगिकभेदवन्निष्ठः, बन्धध्वंस-त्वात्, संमतवदित्याभाससाम्याच्च, विपक्षवाधकाभावाच्च । ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकं न नाना-बन्धानुगतबन्धत्वम्, तस्य सामान्याभावत्वाभावात् । एतेन—आत्ममात्रभेदे आत्मा, आत्म-प्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वात्, घटवत्, आत्मवैभवपक्षे आकाशः, आत्मप्रति-योगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधारविशेषगुणवद्विभुव्यतिरिक्तः, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवत्, पृथिवीत्वं जलत्वतेजस्त्ववायुत्वमनस्त्वेतरद्रव्यत्वसाक्षाद्याप्यजातिभिन्नम्, प्रमेयत्वाज्जलत्ववत्, गगनत्वजा-तिपक्षे तदितरत्वमपि विशेषणम् । सत्ता, द्रव्यत्वान्यात्मनिष्ठजात्यन्या, द्रव्यत्वं वा सत्तान्या-त्मनिष्ठजात्वान्यत्, मेयत्वात्, घटवत्, आत्माणुत्वमते आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान्, अवि-भुद्रव्यत्वात्, घटवदित्यादिभिरात्मत्वजातिसिद्धौ तात्त्विकात्मभेदसिद्धिरिति—निरस्तम्; आद्ये जडत्वमुपाधिः, आत्मपदयोः स्थाने चैत्रपदं प्रक्षिप्याभाससाम्यं च । द्वितीये शब्दानाश्रयत्वमुपाधिः, विभावात्मान्यत्वं विशेषणं दत्त्वा आत्माकाशभिन्नस्य विभोर्विशेषगुणवतः साधनप्रसङ्गाच्च । जाति-पक्षकानुमानेषु कल्पितव्यक्तिभेदेनापि तस्याः जातेरुपपत्त्या तात्त्विकव्यक्तिभेदपर्यवसायित्वेनार्था-न्तरात् । नच—जातेः धर्मिज्ञानाबाध्यभेदं विनाऽयोगः अन्यथा व्यक्त्यभेदः कापि जातिवाधको न स्यादिति—वाच्यम्; जातेर्व्यक्तिभेदसमानसत्ताकत्वनियमेन प्रातिभासिकभेदस्य व्यावहारिकजातिं प्रति न साधकत्वमिति व्यक्त्यभेदस्य जातिवाधकत्वसंभवात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुमानभङ्गः ॥

अथ जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः ।

ननु—यद्यात्मैक्यं स्यात्, चैत्रेण सर्वदुःखाद्यनुसन्धानं स्यात् इति—चैत्रः औपाधिकभेदेनानुस-न्धानोपपत्तेः । ननु—हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनात् उपाधिभेदोऽप्रयोजकः, नच विशिष्ट-ष्टोपाधिभेदस्तत्र तन्नम्; मातृसुखादेर्गर्भस्थेनानुसन्धानापातात् । भारते—‘उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः । पश्यन्तः पातयन्ति स्म कवन्धा अप्यरीन्युधि ॥’ इत्यादिना विश्लेषेऽप्यनुस-न्धानोक्तेश्चेति—चैत्रः नहि वयं यत्किञ्चिदुपाधिमात्रमनुसन्धानप्रयोजकं ब्रूमः, किंत्वन्तःकरण-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

साधारणेति । बन्धत्वप्रकारकव्यवहारविषयत्वं निगलसाधारणमिति तु न शोभते; बन्धत्वस्य निगलसाधारण्याभावे तस्यापि तत्साधारण्यासंभवात् । दुःखनिगलान्यतरध्वंसत्वादिकं तु न प्रयोजकम् । अन्यथा चैत्रघटान्यतरत्वादिनापि चैत्रादिभेदः चैत्रादौ कुतो न साध्यते? सामान्याभावत्वाभावादिति । तद्वन्धव्यक्तित्वरूपस्वप्रतियोगितावच्छेद-कावच्छिन्नाधारभेदवन्निष्ठत्वसाधने तु बाधः । यत्तु आधारान्तं बन्धार्थकमिति, तन्न शोभते; उन्मत्तस्य बन्धेति व्यक्षरं प्रस्मृतवत एव तावदक्षराणामाधुनिकलक्षणवतां वक्तुं युक्तत्वात् । आकाश इत्यादि । कालभेदं परमाणुभेदं चादाय सिद्धसाधनाद्विशेषगुणवद्विभुपदे । द्रव्यत्वादिति । आकाशभेदद्रव्यत्वयोर्घटादौ व्याप्तिग्रहः । गगनत्व-जातीति । औपाधिकव्यक्तिभेदस्य जातिव्यवस्थापकत्वे गगनत्वात्मत्वादिकं जातिः । जडत्वमिति । व्यतिरेकव्याप्ति-र्मन्मतेऽस्त्येव । तस्या उपाधित्वे अनुपयोगश्च । शब्दानाश्रयत्वमिति । नच—पक्षेतरत्वतुल्यता; व्याप्तिग्रहक-तर्कस्याभावात्, उपाधौ साध्यव्यापकताग्राहकतर्कसत्त्वात् । वह्निरनुष्ण इत्यादावतेजस्वादिवत् । प्रसङ्गादिति । साध्याप्रसिद्धिस्तु यथाश्रुतेऽपि । नहि धर्मिसामान्यज्ञानाबाध्यभेदः प्रसिद्धः । न स्यादिति । व्यक्त्यभेदेऽपि प्रातीतिकस्य व्यक्तिभेदस्य संभवादिति शेषः । तर्कैरित्यादि—जीवभेदानुमानमिदा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां जीवभेदानुमानभङ्गः ॥

अननुसन्धानप्रयोजकं तन्मनोवच्छिन्नगतसुखादिवेत्तृत्वस्य तद्विज्ञावच्छिन्नगतसुखादिवेत्तृत्वस्य वा तदधीन-स्मरणादेश्चाभावव्याप्यम् अन्तःकरणरूपोपाधिभेदं तन्मनोऽन्यमनः । योगिनानाशरीरेषु नानामनःस्वीकारमते आह—

रूपोपाधिभेदमविद्याभेदं वा । स च भेदः कवन्धे योगिनि च नास्त्येव । तेन तत्रानुसन्धानं चैत्रमैत्र-
योश्चास्तीति अननुसन्धानम् । एतेन—शरीररूपोपाधिभेदस्याननुसन्धानप्रयोजकत्वे बाल्यानुभूतस्य
यौवने जातिसरेण पूर्वजन्मानुभूतस्य योगिना नानाशरीरानुभूतस्य च स्मरणं न स्यादिति—निरस्तम् ।
शरीरभेदस्य तत्रातन्त्रत्वात्, योगिजातिसन्तृणामन्तःकरणैक्यात् । नच—चैतन्यैक्ये अन्तःकरणभे-
दस्य नाननुसन्धानप्रयोजकत्वम्, चक्षुरादिकरणभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनादिति—वाच्यम्; अन्यक-
रणभेदेन तथा दर्शनेऽप्यन्तःकरणभेदस्य तदैक्याध्यासापत्तेः अननुसन्धानप्रयोजकत्वं कल्प्यते,
अन्यथा ब्रह्मैक्यस्य जीवे श्रुतिसिद्धतया सर्वानुसन्धानापत्तेः । नच—अन्तःकरणस्य प्रत्यहं सुषुप्तौ
विलयेन पूर्वदिनानुभूतस्याननुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्; संस्कारात्मनावस्थितस्यैव पुनरुद्बो-
धेन तत्रान्तःकरणभेदाभावात् । नच—एवं सुषुप्तप्रलीनमुक्तानामननुसन्धानप्रयोजकान्तःकरण-
भेदाभावात् संसारिदुःखानुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्; तेषामनुसन्धानप्रयोजकान्तःकरणैक्या-
ध्यासरूपसामग्रीविरहात् । नहि प्रतिबन्धकमात्रेण कार्यविरहः; किंतु सामग्रीविरहेणापि । नच—
एवं मुक्तस्य स्वरूपसुखानुभावोऽपि न स्यादिति—वाच्यम्; तस्याजन्यत्वेनान्तःकरणानपेक्षत्वात्,
जीवविभाजकोपाध्यज्ञानभेदाभेदाभ्यामनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च । नच—ज्ञानप्रागभाववदज्ञा-
नस्यापि भेदाभेदयोस्तत्राप्रयोजकत्वम्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते एकस्मिन्नपि जीवे
ब्रह्मविषयकाज्ञानानां भिन्नत्वेनानुसन्धानविरहप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; ज्ञानप्रागभावानां ज्ञानसम-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अविद्याभेदमिति । तदविद्यान्याविद्यामित्यर्थः । ऐक्यादिति । नच—एवं 'प्रदीपवदादेशः तथाहि दर्शयतीति'
सूत्रभाष्ये योगिनां नानाशरीरेषु नानामनःसृष्टेरुत्कर्षज्ज्ञतिरिति—वाच्यम्; यथा एको दीप अनेकदीपभावमापद्यते,
एवमेको विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशतीति तत्रत्यभाष्ये मनोनानात्वस्यास्फुटत्वात्,
चक्षुरादिनानात्वेनानेकभावापत्तेः संभवात्, एकस्यैव मनसो विपुलीकृतस्य नानादेशस्थनानाशरीरेष्ववस्थानसंभवात् ।
नचैवं चक्षुरादेरपि तदापत्तिः; एकशरीरे चाक्षुषादिकाले शरीरान्तरेऽपि तदापत्तेः । यदप्यात्ममनसोभेदानुपपत्तेर-
नेकशरीरासंभव इत्याशङ्क्य एकमनोवृत्तीन्त्यपराणि समनस्कानि शरीराणीति भाष्ये समाहितं, तदपि नानामनस्क-
त्वस्य न स्फुटबोधकम् । वस्तुतस्तुक्तभाष्यशङ्काया मतभेदेनाभिप्रायभेदः । मनस एव जीवोपाधित्वे मनोभेदेन जीव-
भेदापत्तिरित्येकः । अविद्याया उपाधित्वे तु मनोभेदेन विरुद्धनानाकार्याणां नानाशरीरेष्वपत्तिरित्यपरः । तत्राद्यस्य
समाधानम्—एकमेव मनो नानाशरीरेष्विति । द्वितीयस्य तु मनोभेदपूर्वावस्थितमनोऽनुवर्तित्वमन्यमनसां
स्वीक्रियते; तादृशत्वेनैव योगिनां तत्सृष्टेरिति । एवं चाद्यमते मनोभेद एवानुसन्धाने प्रयोजकः, द्वितीयमते
त्वविद्याभेद इति विभावेनीयम् । संस्कारात्मनेति । तथाचात्यन्तिकस्तन्मनोभेदः प्रयोजकः । स च तन्मनोभेदः
सूक्ष्मावस्थायां नास्त्येव; तन्मनोऽभेदस्यापि तत्र सत्त्वात् । प्रतिबन्धकेति । तन्मनोऽवच्छिन्नानुभवजन्यस्मरणं प्रति
तन्मनोभेदस्य प्रतिबन्धकत्वमित्याशयेनेदम् । वस्तुतोऽविद्यावृत्तिसामान्यस्य स्वपरिणाम्यविद्यानुपादानकमनोऽवच्छेदे-
नोत्पत्तिवारणायवच्छेदकतासंबन्धेन तत्तदविद्यावृत्तिं प्रति तत्तदविद्योपादानकमनोभेदस्य प्रतिबन्धकत्वम् । नच—
तत्तदविद्योपादानकमनसां तां प्रति हेतुत्वमेव लाघवादास्त्वामिति—वाच्यम्; उक्तमनस्त्वेन हेतुत्वं, तत्तद्व्यक्तित्वेन
वा । आद्ये गौरवम्, अन्त्ये स्थूलसूक्ष्मावस्थासाधारणतद्व्यक्तित्वाभावादेकस्थूलावस्थायास्तद्व्यक्तित्वेन हेतुत्वे अन्य-
स्थूलावस्थायास्तदसंभवः, सूक्ष्मावस्थाया अहेतुत्वे तदवच्छेदेन सौषुप्तवृत्त्यसंभवः । सर्वावस्थानां तत्तद्व्यक्तित्वेन
हेतुत्वे त्वतिगौरवम् । परमार्थतस्तु प्रतिबन्धकत्वपक्षेऽपि तत्तदविद्योपादानकमनोऽवस्थाव्यक्तिप्रतियोगिकाल्यन्त-
भेदत्वेन प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्; तथाच त्रिनिगमकाभावात् प्रत्येकव्यक्त्यन्तर्भावेनानन्तप्रतिबन्धकत्वापत्त्या तत्तद-
विद्योपादानकमनस आत्यन्तिकभेदत्वेन प्रतिबन्धकत्वं वाच्यमिति तदपेक्षया लाघवादुक्तमनस्त्वेन हेतुत्वमेव युक्तम् ।
एवंच स्मरणस्याप्रमात्वेनाविद्यावृत्तिस्त्वात्तदविद्योपादानकमनोऽवच्छिन्नत्वनियमः । तत्तन्मनःपरिणामसुखादेरापरोक्षं तु
तत्संसृष्टसाक्षिरूपं तत्तन्मनोऽवच्छिन्नमेवेति न तन्मनोन्तरावच्छेदेनापादनाहम् । सुखादाविद्यावृत्तिस्वीकारे तु
नतराम् । ननु—अन्तःकरणैक्याध्यासस्यानुसन्धानसामग्रीत्वेन सुषुप्त्यादौ कथं तद्वारणम्? मनःसूक्ष्मावस्थैक्याध्या-
सस्य तत्रापि सत्त्वात्, किं वा तस्य तत्त्वे मानमिति—चेत्, स्मृतिरूपानुसन्धानस्य सुषुप्त्यादावभावात् अवच्छेदक-
तासंबन्धेन स्मृतिं प्रति अहङ्कारत्वेन हेतुत्वादेव तत्र तद्वारणमित्यत्र तात्पर्यात्, सुषुप्त्यादावहङ्काराभावात् । न स्या-
दिति । सुषुप्तौ विशिष्टानुभववारणायानुभवं प्रत्यपि अहङ्कारत्वेन हेतुत्वादिति भावः । अजन्यत्वेनेति । विशिष्टा-
विषयकत्वेन चेति शेषः । जन्यविशिष्टबुद्धान्वैबोक्तहेतुत्वमिति । भावः । अन्तःकरणानपेक्षत्वात् अहङ्कारानपेक्ष-

सङ्ख्याज्ञानानां च जीवविभाजकत्वाभावेनानुसन्धानादावप्रयोजकत्वात् । यत्तु—मुक्तस्यैव संसार-
दुःखानुसन्धानापत्तिः, अविद्यारूपोपाधिभेदानुसन्धाने स्वरूपसुखस्याप्यननुभवापातः—इति, तन्न;
वैषयिकसुखाद्यनुसन्धाने तस्य तन्त्रत्वेन स्वप्रकाशस्वरूपस्फुरणे तदनपेक्षत्वात् । ननु—एवमनेका-
विद्यासंबन्धस्य दुःखानुसन्धानस्वरूपस्यानर्थस्य च विशिष्टगतत्वे बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापातेन
शुद्धगतत्वे वाच्ये यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखानुसन्धात् तदेव मैत्रीयदुःखानुसन्धात्रिति कथमनुसन्धाना-
ननुसन्धानव्यवस्थेति—चेन्न; अविद्यात्मकबन्धनिवृत्त्यात्मकमोक्षस्य शुद्धगतत्वेऽपि दुःखाद्यनुस-
न्धात्त्वस्य उपहितवृत्तितया शुद्धभेदापादनायोगात् । नच संसारस्य शुद्धगतत्वे ब्रह्मणोऽपि संसा-
रित्वापत्तिः; विश्वप्रतिविम्बयोरवदातत्वश्यामत्ववत् घटाकाशमहाकाशयोः परिच्छिन्नत्वापरिच्छि-
न्नत्ववत् एकस्यैव नभसस्तत्तत्कर्णपुटावच्छेदेन तत्र तत्र श्रोत्रतावच्च औपाधिकभेदेन संसारित्वा-
संसारित्वव्यवस्थोपपत्तेः । अतएव—दुःखानुसन्धानरूपस्यानर्थस्य उपहितनिष्ठत्वेन तस्य कल्पित-
त्वेन बद्धस्य निवृत्तिरेव, नतु मोक्ष इत्यापात इति—निरस्तम्; उपाधेः कल्पितत्वेन निवृत्तावप्युपधे-
यस्याकल्पिततया तन्निवृत्त्ययोगान्मोक्षान्वयोपपत्तेः । नच—प्रतिविम्बस्य छायावद्वस्त्वन्तरत्वेना-
काशस्यापि त्वन्मतेऽपि कार्यद्रव्यतया सावयवत्वेन तैजसाहङ्कारकार्याणां श्रोत्राणां स्वत एव भिन्न-
त्वेन दृष्टान्तासंमतिरिति—वाच्यम्; प्रतिविम्बे वस्त्वन्तरत्वस्य निरसिष्यमाणत्वात्, आकाश-
श्रोत्रभावस्य पररीत्या दृष्टान्तत्वात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इति श्रुतेर्विशिष्ट-
स्यैव भोक्तृत्वात्तस्य भिन्नत्वात् व्यवस्थेति कौमुद्युक्तप्रकारेणापि अनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च ।
अतएव—शुद्धचिन्मात्रगतत्वे तत्र भेदाप्रतीत्या भेदस्य कल्पितस्याप्यभावः, भावे वा भेदस्यैव
व्यवस्थारूपस्वकार्यकारिणो ब्रह्मावुष्णत्ववद्धर्मिज्ञानावाध्यत्वम्, अभेदस्य त्वव्यवस्थारूपस्वकार्या-
कारिणोऽनुष्णत्ववन्मिथ्यात्वमित्यापातः, अविद्यकभेदहीनस्य मुक्तस्य संसारिदुःखानुभवापातश्च
इति—निरस्तम्; व्यवस्थायाः स्वसमानसत्ताकभेदकार्यत्वेन स्वाधिकसत्ताकभेदेऽनाक्षेपकत्वात्,
अव्यवस्थायाः शुद्धचैतन्याभेदाकार्यत्वेन तदकारित्वप्रयुक्तमिथ्यात्वस्यापादयितुमशक्यत्वात्, उपाध्य-
भेदस्यैव तत्र तन्त्रत्वात् । किंचोपाधिकल्पितांशजीवानां वानुसन्धानमापाद्यते, अंशिनो ब्रह्मणो
वा । नाद्यः; हस्तावच्छिन्नेन पादावच्छिन्नदुःखाद्यनुसन्धानात् । नच—न वयं भोगायतनानां
साङ्कर्यमापादयामः, येन पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति न स्यात्, किंत्वनुसन्धानमात्रम्,
तच्चांशानामस्त्येव; अन्यथा चैत्रदेहलक्षकण्टकोद्धरणाय मैत्रस्यैव पादलक्षकण्टकोद्धरणाय हस्तस्य
व्यापारो न स्यादिति—वाच्यम्; पादावच्छिन्नदुःखस्य हस्तावच्छिन्ने अनुत्पादनवत् चैत्रीयदुःखा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वात् । विभाजकत्वाभावेनेति । चरमनष्टज्ञानस्यैव कैवल्याव्यवहितपूर्वत्वेन विभाजकत्वम्, नतु नानाज्ञाना-
नाम् । अथवा—यदज्ञानं यदज्ञानोपहितात् स्वोपहितविभाजकं, तदज्ञानं तदज्ञानोपहितनिष्ठसुखाद्यनुसन्धाने
प्रयोजकमिति भावः । मनोभेदेऽप्येकैवाविद्या । सापि न जीवविभाजिकेत्येकजीववादे तु मनोभेद एव प्रयोजकः ।
मरणरोगविशेषादीनां मनआद्यैक्येऽप्यननुसन्धानप्रयोजकत्वमित्यादि बोध्यम् । भेदात् भङ्गात् । तदज्ञानात्यन्ताभाव
एव तदज्ञानोपादानकसुखाद्यनुसन्धानप्रयोजक इति भावः । तन्त्रत्वेनेति । तदविद्यावृत्तिरूपसुखाद्यनुसन्धाने
तदविद्योपादानम् । सुखादावविद्यावृत्त्यभावपक्षेऽपि स्मृतिरूपाविद्यावृत्तौ तदविद्याजन्यसुखाद्यवच्छिन्नचित्ति च सोपा-
दानम् । एवम् अविद्याभेदाभेदयोरननुसन्धानानुसन्धानप्रयोजकत्वे । शुद्धभेदेति । मोक्षभागिशुद्धभेदेत्यर्थः;
उपाधेरश्रयकोट्यप्रवेशात् । औपाधिकभेदेनेति । शुद्धस्यैव तत्तदुपाध्यवच्छेदेन स्वभेदेनेत्यर्थः । निरस्तमिति ।
अन्यथा शरीरोपहितस्य बद्धस्य शरीरनाशान्नाशः, नतु मुक्तिरिति तवापि दोषः । अथ शरीरोपहितस्यैव शरीरावच्छेदेन
शुद्धस्यापि बद्धत्वात्तस्यापि मुक्तिः, तर्ह्यविद्योपहितस्यैवाविद्यावच्छेदेन शुद्धस्यापि बद्धत्वात् तत्र मुक्तिरिति समम् ।
प्रतिविम्ब इत्यादि । तथाच प्रतिविम्बत्वावच्छेदेन शुद्धमुखस्य श्यामत्वादिवत् श्रोत्रत्वावच्छेदेन तार्किकमते नभ-
सस्तत्तच्छब्दग्राहकत्ववच्च व्यवस्था । आत्मेन्द्रियमन इति समाहारः । युक्तं मिलितम् । यो भोक्ता, तव युक्तमात्मा-
दीत्यन्वयः । तेन भोक्तुरविशेषणत्वात् न पुंस्त्वानुपपत्तिः । विशिष्टस्य इन्द्रियमनोविशिष्टात्मनः । भिन्नत्वादिति ।
कायव्यूहस्थले स्वपवादः । अनाक्षेपकत्वादिति । नच—यस्मिन् धर्मिणि कार्यकरो यो भेदः स तत्समानसत्ताक
इति नियमाच्छुद्धे अननुसन्धानरूपकार्यकरस्य शुद्धसमानसत्तेति—वाच्यम्; प्रातीतिकस्यापि शुक्त्यादिभेदस्य
शुक्त्यादौ हानादिकरत्वात् । तत्राननुसन्धानव्यवस्थाया अभावे । हस्त इत्यादि । हस्तावच्छेदेन पादावच्छिन्न-

द्यनुसन्धानस्य मैत्रे अनुत्पादः । हस्ते दुःखप्रयोजकसामग्रीविरहवत् मैत्रे अनुसन्धानप्रयोजकोपाधै-
क्याभावात् । तथाच हस्तावच्छेदेनानुसन्धानमस्येवेति न तत्र व्यापाराभावापत्तिः । नान्त्यः तस्या-
भोक्तृत्वेन भोगाप्रसङ्गात्, दुःखादिज्ञानमात्रस्य च सर्वत्र तस्मिन्निष्ठत्वात् । नच भोक्तृजीवा-
भिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽपि भोक्तृत्वापत्तिः; विस्वप्रतिविस्ववद्यवस्थोपपत्तेः, अनुसन्धानस्यावच्छिन्नग-
ततया शुद्धब्रह्मण्यापादनायोगाच्च । नचैतावता बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्; अविद्यात्मकबन्धस्य
शुद्धगतत्वेन सामानाधिकरण्योपपत्तेः, अवच्छिन्नस्यानुसन्धातृत्वेऽप्यवस्थायानुस्यूताविद्यावच्छि-
न्नद्वारा शुद्धे अनुसन्धातृत्वस्येष्टत्वात्, 'अनेन जीवने'त्यादिश्रुतेः । किंच यथा स्वकर्णपुटपरि-
च्छिन्ननादोपलम्भे भागान्तरवर्तिनादानुपलम्भः, तथा सुखदुःखाद्युपलम्भानुपलम्भौ । नच—
आत्मभेदे कर्णपुटानां तत्तदीयत्वनियामकवदेकात्मवादे सर्वदेहानां स्वीयत्वेन तत्तदीयत्वनियमा-
भावेन व्यवस्थानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; तवात्मभेदेनेवावच्छेदकाज्ञानादिभेदेन मम व्यवस्थो-
पपत्तेः । किंच व्यवस्थया भेदं वदन् प्रष्टव्यः केयं व्यवस्था? न तावद्धर्मभेदः; एकस्मिन्नेव
सुखदुःखदर्शनेन व्यभिचारात्, भिन्नाश्रयधर्मोक्तौ अन्योन्याश्रयात्, विरुद्धधर्मोक्तौ तु विरुद्ध-
त्वस्य सहानवस्थानरूपत्वे असिद्धेः, बाध्यबाधकभावरूपत्वे तस्यैकाश्रयत्वेनोपपत्त्या भेदा-
साधकत्वात् । नाप्यनुसन्धानाननुसन्धाने, तयोरुक्तेन प्रकारेण उपाधिभेदेनोपपत्तेरात्मभेदा-
साधकत्वस्योक्तत्वात् । अतएव बन्धमुक्त्यादिव्यवस्थापि न स्वाभाविकभेदसाधनाय; तत्तदुपा-
ध्युपगमापगमाभ्यामेव व्यवस्थोपपत्तेः । नचोपाधेरप्युपहितनिष्ठत्वेनात्माश्रयादिर्दोषः; उपाधेर-
विशेषणत्वेन व्यक्त्यन्तरानपेक्षत्वेन चात्माश्रयादिचतुर्णामनवकाशात् । एतेन—शुद्धनिष्ठत्वे किमे-
कैकोपाध्यपगमो मुक्तिः, उत सर्वोपाध्यपगमः, नाद्यः; सदा मुक्तिरेव नतु बन्ध इत्यापा-
तात्, नान्त्यः; अधुना बन्ध एव न कस्यापि मुक्तिरित्यापातादिति—निरस्तम्; येनोपाधिना यस्य
चैतन्यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिन् चैतन्ये तदुपाध्यपगमस्यैव मुक्तिर्त्वे नानाजीववादे पूर्वोक्त-
दोषानवकाशात्, एकजीववादे सर्वोपाध्यपगमस्यैव मुक्तितया इदानीं मुक्त्यभावस्येष्टत्वात् । ननु—
उपाधेः कथं भेदकत्वम्, तथाहि—उपाधिः किमेकदेशेन संबध्यते, कृत्स्नेन वा, आद्ये त्वन्मते
स्वाभाविकांशाभावेनौपाधिकत्वं वाच्यम्, तथाचानवस्था, अन्त्ये न भेदकता; कृत्स्नस्यैकोपाधिप्र-
स्तत्वात्, गगनादावपि स्वाभाविकांशाभावे घटाद्युपाधिसंबन्धो न स्यादेव । तदुक्तं 'न चेदुपाधि-
संबन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः । एकदेशेऽनवस्था स्यात् सर्वगश्चेन्न भेदकः ॥' इति—चेन्न; सर्व-
विकल्पासहत्वेन मिथ्याभूतस्यैवोपाधेर्मिथ्याभेदप्रयोजकत्वस्य प्रागेवोपपादनात् । यथाचात्मनां

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दुःखाद्युपलम्भाभावादित्यर्थः । साङ्ख्ये हस्तावच्छेदेन पादावच्छिन्नसुखाद्युपलम्भादिमत्त्वम् । पादे पाद एव ।
शिरसि शिरस्येव । दुःखस्येति । दुःखं यदवच्छेदेन उत्पद्यते, तदवच्छेदेनैवोपलभ्यते । अतो दुःखोत्पादनियमेनैव
तदुपलम्भोत्पादनियमात् दुःखस्येत्याहुक्तम् । तथाच दुःखाद्युपलम्भनियमस्य पूर्वोक्तत्वेऽपि न सन्दर्भविरोधः ।
तथाच अन्तःकरणाद्यैकस्यानुसन्धानप्रयोजकत्वे च । हस्तावच्छेदेन हस्तघटितशरीरावच्छेदेन । अनुसन्धानं
योऽहं पादावच्छेदेन दुःखी, सोऽहं हस्तावच्छेदेनादुःखीत्यनुसन्धानम् । अभोक्तृत्वेन सुखादिसाक्षात्कारशून्यत्वेन
मिथ्यात्वेनाज्ञानं यत्, तच्छून्यत्वेन वा । अनुसन्धानाद्यविद्याकार्यमविद्योपहितब्रह्मोपादानकम्, नतु शुद्धब्रह्मोपादा-
नकमिति पक्षेऽपि समाधत्ते—अनुसन्धानस्येति । अवच्छिन्नद्वारेति । शुद्धस्यावच्छिन्नतादात्म्यात् परस्परया
अनुसन्धानवत्त्वम् । अनेनेत्यादिश्रुतावात्मना स्वरूपेण अभिन्नो योऽयं जीवः, तेनानुप्रविश्य व्याकरवाणीति ब्रह्मण
आलोचनम् । आत्माश्रयादिति । उपाधेः स्वोपहितनिष्ठत्वे आत्माश्रयः, उपाध्यन्तरोपहितनिष्ठत्वे तस्यैतदुपहित-
निष्ठत्वेऽन्योन्याश्रयः, उपाध्यन्तरोपहितनिष्ठत्वे तस्याप्युपाध्यन्तरोपहितनिष्ठत्वमित्येवमनवस्था । एवं चक्रकमपि ।
अविशेषणत्वेन स्वाश्रयकोव्यप्रवेशेन । अनपेक्षत्वेन स्वोपहितनिष्ठत्वेन । मिथ्याभेदप्रयोजकेति । मिथ्याभेद-
समनियतेत्यर्थः । सत्यप्यैक्ये भासमानत्वात् तद्धीनिर्वर्त्यत्वाच्च मिथ्या भेदः तस्योपाधिबाधकज्ञानं विना बाधा-
भावादुपाधिप्रयोज्यत्वम् । तथाचानाद्युपाधिस्यत्वेऽनादिभेदः । सदा उपाधिसंबन्धे तु तेन तज्जनकसामर्थ्येव वा भेदो-
त्पत्तिरिति उभयस्थले कल्पितभेदेन शुद्धस्यैव भागद्वयापन्नत्वादेकस्मिन्नेव शुद्धभागे उपाधिसंबन्धात् न कृत्स्ने शुद्धे
तदापत्तिः । अथ—भेदखण्डनोक्तयुक्तिभिर्भेदासंभवेन भागासंभव इति—चेन्न; मिथ्यात्वेन तस्येष्टत्वात् । अत
एव त्वदीयटीकाया भाषेदित्यादिदूषणमपि सत्योपाधिकृतसत्यभेदस्यैवेत्युक्तम् । यत्तु सत्यभेदेन व्यवस्थाया असंभवे

सर्वगतानां भेदे व्यवस्थानुपपत्तिः, तथा प्रपञ्चितं भाष्यकृद्भिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुकूल-
तर्कभङ्गः ॥

अथ भेदपञ्चकेऽनुमानभङ्गः ।

एवं जडेशभेदे जडजीवभेदे च तात्त्विके प्रमाणं नास्ति । (१) ब्रह्म, जीवो वा, अनात्मप्रतियोगिक-
धर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वात्, घटवत्, (२) ब्रह्म जीवो वा, घटप्रतियोगिकधर्मिज्ञाना-
बाध्यभेदवान्, घटासंबन्धिकालसंबन्धित्वात्, तदसंबन्धिदेशसंबन्धित्वात् तज्जनकाजन्यत्वाद्वा
पटवत्, (३) ब्रह्म जीवो वा, जडप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जडानात्मकत्वात्, यदेवं
तदेवम्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्यादिषु पूर्वाक्तदोषानतिवृत्तेः परिच्छिन्नत्वस्य जडत्वस्य जन्यत्वस्य
चोपाधित्वात्, अप्रयोजकत्वाच्च, जीवो ब्रह्म वा, आत्मप्रतियोगिकतादृग्भेदाधिकरणम्, पदार्थ-
त्वादित्याद्याभाससाम्याच्च । नच—घटाभेदे घटसिद्धौ तत्सिद्ध्या वेदान्तवैयर्थ्यम्, ब्रह्मणो जड-
त्वानित्यत्वाद्यापत्तिः, मुक्तिसमानाधिकरणबन्धाधारस्य जीवस्य जडवन्नित्यत्वापत्तिः, गौरोऽहमि-
त्यादिप्रतीतिश्च प्रमा स्यादित्यादिविपक्षबाधकान्नाभाससाम्यादिकमिति—वाच्यम् ; स्वप्रकाशत्वेन
सर्वप्रत्ययवेद्यत्वेन च ब्रह्मसिद्धावपि सविलासाज्ञाननिवर्तकज्ञानाय वेदान्तसाफल्यस्य बहुधाभि-
धानात्, घटादौ कल्पितव्यक्त्यन्तरेणाकल्पितभेदस्याभावेऽपि न यथा कल्पितव्यक्त्यात्मकत्वं तद्वत्
प्रातिभासिकत्वं तद्वद्विशेषदर्शनेन निवृत्तिर्वा कल्पितव्यक्त्यन्तरैक्यज्ञानप्रमात्वं वा, तथा प्रकृ-
तेऽपि कल्पितजडेन तदभावेऽपि न तदात्मकत्वादिति न विपक्षबाधकस्याप्यप्रसरः, एवं जडाना-
मन्योन्यभेदेऽपि नानुमानम् । घटः, तत्त्वतः शुक्त्यभिन्नो न शुक्तिसंबद्धकालासंबन्धित्वात्, तज्जन-
काजन्यत्वात्तत्रारोपितरूप्यवत्, व्यावहारिकभेदस्य त्वयाप्यङ्गीकारेण न पक्षदृष्टान्ताद्यनुपपत्तिः,
अन्यथा भेदसिद्ध्यसिद्धोर्दोषतदभावयोश्चाभेदेन स्वक्रियाविरोधः स्यादिति । अत्र तात्त्विकशुक्त्य-
भिन्नत्वरूपप्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धेः, तत्त्वत इत्यस्य नेत्यत्र विशेषणत्वे सुतरामप्रसिद्धेः,
घटादिसमसत्ताकभेदमात्रेण हेतोरुपपत्त्या अप्रयोजकत्वाच्च, भेदस्य तात्त्विकत्वे बाधस्योक्तत्वेन वा-
धाच्च । (२) अनात्मा, स्ववृत्तिधर्मानाधारज्ञानवाध्यान्तर्गणिकभेदवान्, पदार्थत्वादात्मवत्, विपक्षे

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मिथ्याभेदेन सुतरां स इति, तन्मौढ्यम् ; मिथ्याभेदस्य तर्कासहत्वेऽपि व्यवस्थाकाले अनुच्छेदात् ॥ तर्कैरित्यादि—
जीवभेदो न तर्कभाक् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः ॥

ब्रह्म जीवो वा ब्रह्मणो जीवस्य वा स्वरूपम् । जीवत्वाद्युपहितस्य पक्षत्वे तत्र तज्ज्ञानाबाध्यभेदस्य सिद्धत्वात्
तस्य शुद्धात्मज्ञानेनैव बाध्यत्वात् प्रतियोग्यसिद्धयेति । नच—ब्रह्मणि प्रतियोगिप्रसिद्धिः, ब्रह्मनिष्ठशुक्त्यभेदस्य
ब्रह्मरूपत्वादिति—वाच्यम् ; शुक्तिर्वेन शुक्त्यभेदस्य शुक्तिरूपस्य प्रकृते निवेश्यत्वात्, अन्यथा ब्रह्मस्वरूपस्य सद्रूपेण
शुक्त्यभेदस्य घटेऽपि सत्त्वेन बाधापत्तेः । इत्यस्य इतिपदार्थस्य । इत्यत्र इतिपदार्थः । तात्त्विकाभाववानिति कृते इति
यावत् । यथाश्रुते नञर्थे तत्त्वत इति नामार्थस्य अभेदान्वया व्युत्पत्तिः । सुतरामिति । अभेदे तात्त्विकत्वविशेषणे
ब्रह्मस्वरूपस्य तस्य प्रसिद्धिः संभाव्यते, अभावे तद्विशेषणे तु न तत्प्रसिद्धिरित्यर्थः । ब्रह्मरूपाभावस्य तथा प्रसिद्धावपि
सिद्धसाधनवारणाय निवेश्यस्य तदन्यस्योक्ताभावस्याप्रसिद्धिः ; आत्मभेदमादायार्थान्तरात् । अन्तर्गणिकेति । अना-
त्मप्रतियोगिकेत्यर्थः । धर्मानधिकरणघटेति । नच—अधिष्ठानघटधर्मस्य कल्पितघटवृत्तित्वेन कल्पितत्वात् नेदं
युक्तमिति—वाच्यम् ; सर्वधर्माणां स्ववृत्तित्वेन कल्पनासंभवात् धर्मसमानसत्ताकस्ववृत्तित्वस्य निवेश्यत्वेन कल्पित-
घटवृत्तित्वस्याधिष्ठानीभूतघटधर्मसमानसत्ताकत्वाभावेनादोषात्, यत्किंचिद्धर्मनिवेशपक्षे यथाश्रुतस्यापि युक्तत्वाच्च ।
घटत्वेति । अनात्मत्वसामानाधिकरण्यविशिष्टघटत्वेत्यर्थः । एतेन—आत्मनोऽपि घटत्वानधिकरणत्वात् घटत्वानाधार-
ज्ञानबाध्यत्वसामान्याभाववद्भेदमादाय नार्थान्तरमिति—अपास्तम् । साध्याप्रसिद्धिरिति । स्वावृत्तिधर्माधारोक्तौ
तु स्वपदस्य पक्षीभूतानात्मपरत्वे तदप्रसिद्धिः ; धर्ममात्रस्यैव मन्मते अनात्मवृत्तित्वात् । यत्किंचिदनात्मपरत्वेऽपि
आत्मनो निर्धर्मकत्वेनानात्मन एव तथात्वात् तज्ज्ञानाबाध्यभेदमादायार्थान्तरम् । स्वावृत्तिधर्मेत्यादि । स्वम् अनात्मा
तदवृत्तिधर्माधिकरणमात्मेति पराभिमानः । यत् स्वावृत्तीति । स्वमनात्मा व्यतिरेकिणा यत्र यत्र उक्तसाध्याभाव-

च दूरस्थवनस्पत्योः शुक्तिरूप्ययोश्चाभेदग्राहिप्रत्यक्षं न तत्त्वावेदकं स्यात् मुक्तिसंसारदिसांक्यं च स्यादित्यादिवाधकमिति यत्, तन्न; एकत्र घटे कल्पिता ये अनेके घटाः, तेषु स्ववृत्तिधर्मानधिकरण-घटज्ञानवाध्यभेदवत्सु व्यभिचारात् । यत्किञ्चित्स्ववृत्तिधर्मानाधारोक्तौ घटत्वानधिकरणपटज्ञाना-वाध्यभेदेनात्मज्ञानवाध्येनार्थान्तरम् । स्ववृत्त्यशेषधर्मानाधारोक्तौ तव मते ब्रह्मणोऽपि वाच्यत्वादि-केवलान्वयिधर्माधारत्वेन साध्याप्रसिद्धेः, कल्पितेन सह तात्त्विकभेदाभाववत् तात्त्विकाभेदस्याप्य-भावेन ऊहाहतस्थले तत्त्वावेदकत्वसाङ्कर्यादीनामप्रसङ्गात् । यत्तु आत्मनामात्मानात्मनोश्च परस्परं तात्त्विकभेदे अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधिकरणप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानावाध्यभेदाधिकरणं, यत्स्वा-वृत्तिधर्माधिकरणं तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानावाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वादात्मवत्, पक्षे स्वावृत्तिधर्माधिकरणमात्मा, ततो भिन्नादात्मान्तराद्विन्नत्वेन साध्यसिद्धिः । दृष्टान्ते च स्वावृत्ति-धर्माधिकरणं जडं, ततो भिन्नात् जडान्तरात् भिन्नत्वेन साध्यसत्त्वमिति, तन्न; पक्षदृष्टान्तयोः स्वपदार्थप्रतियोगिपदार्थयोरननुगमेन व्याप्यत्वासिद्धेः, अजडत्वस्योपाधित्वाच्च, जडत्वेन व्यतिरे-किणा सत्प्रतिपक्षाच्च । यदपि जीवस्य ब्रह्मतो जीवाच्च जडस्य सत्यभेदे पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मि-ज्ञानावाध्यभेदाधिकरणं यदस्वाद्यनधिकरणं, तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानावाध्यभेदवती, वस्तुत्वा-त्तोयवत्, अस्वादीत्यादिशब्देन तत्तद्वादिनः प्रति तत्तद्वासिद्ध्याः पृथिवीत्वभिन्नाः जडनिष्ठधर्मा विवक्षिताः । पक्षे ब्रह्मभिन्नाजीवात् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मभिन्नपार्थिवभिन्नत्वेनेति, तन्न; अस्वाद्यनधिकरणत्ववज्जीवत्वानधिकरणेत्यपि विशेषणं दत्त्वा जीवब्रह्मभिन्नात्मनोऽपि साधन-प्रसङ्गात्, गन्धाधारत्वादिव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षसंभवाच्च, धर्मिपदविकल्पनिबन्धनदोषतादव-स्थ्याच्च । एतेन—जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जीवाच्च जडस्य भेदे पूर्वप्रयोग एव जीवस्य जीवान्त-राद्धेदसिद्ध्यर्थमन्तर्गणिकभेदवदित्यस्वानधिकरणेत्यत्र विशेषणं दत्त्वानुमानम् । अत्र च पक्षे ब्रह्मणः परस्परं च भिन्नाजीवात् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मणः परस्परञ्च भिन्नात् पार्थिवात् भिन्नत्वेनेति—निरस्तम्; जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जडस्य च जीवात् ब्रह्मणो जडाच्च भेदे पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानावाध्यभेदाधिकरणं अस्वाद्यनधिकरणमन्तर्गणिकभेदवच्च यत्तत्प्रतियोगिक-प्रतियोगिज्ञानावाध्यभेदवत्त्वे सति अस्वाद्यनधिकरणासंसारिधर्मिकधर्मिज्ञानावाध्यभेदप्रतियोगिनी, वस्तुत्वादम्बुवदित्यत्र ब्रह्मणो जडादपि भेदार्थं पूर्वस्मादधिकमस्वानधिकरणासंसारीत्यादिविशेष-णम् । अत्र पक्षे अस्वाद्यनधिकरणमसंसारि ब्रह्म, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते-त्वस्वाद्यनधिकरणासंसारि पार्थिवम्, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन ज्ञेयम् । अत्र जीवत्वानधिकर-णत्वस्य अस्वानधिकरणेत्यत्र विशेषणत्वेन पूर्ववदाभाससाम्यात्, पाकजरूपाधिकरणत्वादिना

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रूपसाध्याभावः, तत्राजडत्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिमता । ब्रह्मप्रतियोगिकेत्यादि । अस्वाद्यनधिकरणमित्यत्र विशेषणेन जीवे ब्रह्मभेदसिद्धिः । पार्थिवभिन्नत्वेनेति । जीवभेदस्य दृष्टान्ते सिद्ध्यभावेऽपि पृथिवीभेदस्य मानान्तरेण सिद्ध्या व्याप्तिग्रह इति भावः । जीवब्रह्मभिन्नात्मन इति । साध्याप्रसिद्धिस्तु यथाश्रुतेऽपि । नहि अस्वाद्यन-धिकरणान्तेन विवक्षितं ब्रह्मप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवच्चेतनस्वरूपं प्रसिद्धमस्ति । अथ मन्मते अप्रसिद्धप्रतियोगिका-भावस्वीकारात् न दोष इति ब्रूये, तर्हि उक्तविशेषणदानेऽपि तत्तुल्यम् । अथ त्वां प्रत्यनुमाने साध्याप्रसिद्धिर्दूषण-मेवेति ब्रूये, तदपि तुल्यम् । पूर्वप्रयोग एवान्तर्गणिकेति । अन्तर्गणिकत्वमस्वाद्यनधिकरणब्रह्माप्रतियोगिकत्वम् । अन्तर्गणिकेत्यस्य पूर्वं जीवस्य जीवान्तरादपि भेदसिद्ध्यर्थमिति क्वचित्पाठः । स चान्तर्गणिकभेदेत्यस्य प्रयोजनोक्तिः । विशेषणं सत्यन्तस्य विशेष्यदलम् । अत्रेति । निरस्तमित्यनुषज्यते । निरास इति तदर्थः । तेन आभाससाम्यादि-हेतूनां नान्वयः । अनधिकरणेत्यत्र अनधिकरणमित्यत्र । आभाससाम्यात् ब्रह्मजीवान्यात्मानुमानाभासेन तर्कशून्यतया तुल्यत्वात् । पाकजरूपाधिकरणत्वादिनेति । व्यतिरेकिणेति शेषः । पाकजरूपानधिकरणत्वादिनेति पाठे तु ब्रह्म पक्षीकृत्य सत्प्रतिपक्षप्रयोगो बोध्यः । नच—पूर्वानुमानस्य पृथिवीपक्षकस्य ब्रह्मपक्षकं पाकजरूपान-धिकरणत्वहेतुकानुमानं न सत्प्रतिपक्षः, किंतु पृथिवीपक्षकमेवेति—वाच्यम्; पूर्वानुमाने हि पृथिव्यां ब्रह्मनिष्ठभेदा-प्रतियोगित्वं भासते, ब्रह्मण्युक्तसाध्याभावानुमानेऽप्यस्वाद्यनधिकरणासंसारित्वेन रूपेण भासमानपृथिवीनिष्ठाभेद-

सत्प्रतिपक्षाच्च, धर्मादिपदविकल्पग्रासाच्च । एवं भेदमात्रेऽपि नानुमानम् । ब्रह्म, भेदहीनं नावतिष्ठते स्वज्ञानावाध्यभेदवद्वा, पदार्थत्वात्, घटवत् इति; मुक्त्यसहवृत्तित्वस्य जडत्वस्य चोपाधित्वात्, स्वपदविकल्पग्रासाच्च । एतेन—अनात्मा, स्वान्यज्ञानावाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वात्, आत्मवदिति—निरस्तम् । ब्रह्मभेदो न सर्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, ब्रह्मनिरूप्यत्वात्, ब्रह्माभेदवदित्यत्र ब्रह्माभिन्नावृत्तित्वमुपाधिः, ब्रह्माभेदस्याब्रह्मनिरूप्यत्वेन तदनिरूप्यतया साधनवैकल्यं च । ब्रह्मज्ञानं, स्वावाध्यभेदवद्विषयकम्, ज्ञानत्वाच्छ्रुतिज्ञानवदित्यत्रानात्मविषयत्वमुपाधिः । स्वपदेन ब्रह्मज्ञानोक्तौ तदवाध्यभेदाप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः, श्रुतिज्ञानोक्तौ सिद्धसाधनम्, घटो घटसंसर्गानवच्छिन्नप्रतियोगिताकपटादिधर्मिकत्रैकालिकाभावप्रतियोगि, द्रव्यत्वात्, पटवदित्यत्र कालपनिकाभावस्यापि कालत्रयवृत्तित्वसंभवेन सिद्धसाधनम्, घटसंसर्गानवच्छिन्नेतिवत्तादात्म्यानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणं दत्त्वा पञ्चमाभावसाधनस्यापि प्रसङ्गश्च, विपक्षबाधकाभावस्य उभयत्र सत्त्वात् । समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानवाधायोग्यो भेदः, परमार्थसन्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्, स्वासत्त्वागोचरप्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, कल्पकरहितत्वात्, स्वविषयकसाक्षात्कारात् पूर्वभावित्वात्, आत्मवत् । ब्रह्मजीवप्रतियोगिको भेदः, परमार्थसन्, अनादित्वादात्मवत् साक्षिवेद्यसुखदुःखादिभेदः, परमार्थसन्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात् । धर्माधर्मयागदानादिभेदः, परमार्थसन्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यादिष्वात्मासाधारणधर्माणां चेतनत्वादीनामुपाधित्वं जडत्वादिना सत्प्रतिपक्षश्च मिथ्यात्वसाधकानां प्राबल्यस्योक्तत्वेन तैर्बाधश्च । आद्ये च प्रातिभासिकत्वस्य दोषप्रयुक्तभानत्वात्मकत्वे असिद्धिः, ब्रह्मज्ञानेतरवाध्यत्वोक्तौ चरमवृत्त्यव्यवहितप्रातिभासिके व्यभिचारश्च । द्वितीयहेतौ तादृक्प्रमाविषयत्वस्य भेदपारमार्थिकत्वसिद्ध्यधीनत्वेन साध्याविशेषपर्यवसानम् । तृतीये चरमवृत्त्यन्यवाध्यमिथ्यात्वकत्वस्योपाधित्वम् । चतुर्थे अविद्यारूपकल्पकसत्त्वेनासिद्धिः । पञ्चमे दृष्टिसृष्टिपक्षे असिद्धिः, इतरत्राप्रयोजकता । अनादित्वं च अज्ञानादौ व्यभिचारि । दोषाजन्यज्ञानं प्रतीत्यत्र श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यत्र चासिद्धिः, साक्ष्यवच्छेदकवृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, मुख्यतस्तात्पर्यस्य तत्राभावात् । तस्मात् भेदपञ्चकं नानुमानविषयः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके अनुमानभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रतियोगित्वस्य ब्रह्मणि भानम् । तथाच तुल्यवित्तिवेद्यत्वात्तत्र तादृशपृथिव्यां ब्रह्मनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वस्यापि भानसंभवात् पृथिवीपक्षकानुमान एव सत्प्रतिपक्षानुमानस्य पर्यवसानात् । नच—तथापि पृथिव्याः पृथिवीत्वेन ब्रह्मणश्च संसारित्वेन पूर्वानुमाने भानात् सत्प्रतिपक्षानुमाने तु पृथिव्या उक्तासंसारित्वेन ब्रह्मणो ब्रह्मत्वेन भानात् न सत्प्रतिपक्षतेति—वाच्यम्; प्राचीनमते समानविषयकयोर्भिन्नप्रकारेणापि ज्ञानयोर्विरोधित्वाभ्युपगमात् । मुक्त्यसहवृत्तित्वस्य—मुक्त्याधारान्यत्वस्य । उपाधित्वादिति । भेदशून्यत्वाभावरूपप्रथमस्य द्वितीयस्य च साध्यव्यापकत्वं घटादौ । ब्रह्मणि तु साध्यं सन्दिग्धमिति तत्रोपाध्यभावेऽपि न क्षतिः । यच्चूक्तानुमानेपूक्तोपाधयो न युक्ताः, यत्र यत्रोक्तोपाध्यभावस्तत्रोक्तसाध्याभाव इति व्यतिरेकव्याप्त्यभावादिति, तन्न; उक्तव्याप्तेरुपाधित्वानुपयोगात् । नहि स्वानधीकरणसाधनाधिकरणे वर्तमानो यः, तत्समानाधिकरणसाध्यव्यापकत्वादिरूपोपाधित्वे सा निवेश्यते । ब्रह्माभेदस्याब्रह्मनिरूप्यत्वेनेति पाठः । ब्रह्मनिरूप्येण भेदेनैव ब्रह्मभेदो निरूप्यते, नतु ब्रह्मणा; तस्य भेदं प्रत्येव निरूपकत्वात् । नच—ब्रह्मभेदाभावे प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् ब्रह्मणि निरूपकत्वमिति—वाच्यम्; भेदप्रतियोगित्वरूपनिरूपकत्वस्यैव वाच्यतया तदवच्छेदकत्वरूपनिरूपकत्वनिवेशासंभवात्, उभयसाधारणनिरूपकत्वाभावात् । समानाधिकरणेति । स्वसमानाधिकरणेत्यर्थः । स्वं ज्ञानं पक्षतावच्छेदावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् सामानाधिकरण्येन प्रातीतिकभेदे बाधासिद्धोर्वारणाय योग्यान्तम् । ब्रह्मणि श्रुतिरूप्यं नास्तीत्यादिप्रमाविषयब्रह्मरूपाभावांशे विशेषणेरूप्यादौ व्यभिचारात्—साक्षादिति । तर्कैरित्यादि पञ्चभेदानुमाभिदा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां भेदपञ्चकानुमानभङ्गः ॥

अथ भेदश्रुतेरनुवादत्वोपपत्तिः ।

ननु—भेदतात्त्विकत्वे 'द्रासुपर्णा य आत्मनि तिष्ठन् नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति श्रुतयो मानमिति—चेन्न; द्रासुपर्णेत्यत्र पूर्वार्थे न भेदः प्रमेयः; अपदार्थत्वादवाक्यार्थत्वाच्च । द्वित्वस्य स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदसमानाधिकरण-
 त्वनियमात् श्रुतद्वित्वार्थापत्तिसमधिगम्यस्यापि भेदस्य श्रौतत्वमिति चेत्, न; द्वौ चन्द्रमसावित्यत्रैव कल्पितभेदेनाप्युपपत्तेः तात्त्विकभेदानाक्षेपकत्वात् । अतएव नोत्तरार्थस्यापि तात्त्विकभेदपरत्वम्; वस्तुतस्तत्त्वस्याः श्रुतेः पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवेशभेदपरत्वस्य वक्तुमश-
 क्यत्वात् । 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादावाधाराधेयभावस्य 'चेतनश्चेतनानां'मिति निर्धारणस्य 'अजोऽन्य' इत्यत्र भेदव्यपदेशस्य काल्पनिकभेदमादायाप्युपपत्तेः भेदतात्त्विकत्वापर्यवसायित्वात्, श्रुत्यन्तरविरोधाच्च । नचैतच्छ्रुतिविरोधात् सैव श्रुतिरन्यपरा; भेदश्रुतेः प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादत्वेन हीनबलत्वात् । नच जीवत्वावच्छिन्नजीवभेदस्याप्राप्त्या 'न हिंस्या'दित्यादिवदननुवादत्वम्; जीवे ईश्वरभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तदन्यथानुपपत्तिसिद्धेशधर्मिकजीवत्वावच्छिन्नभेदस्यापि प्रत्यक्षसिद्ध-
 तुल्यकक्ष्यतया तद्वोधकश्रुतेरनुवादत्वोपपत्तेः न हिंस्यादित्यत्र नानुवादत्वशङ्कापि, ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः पुरोवादकत्वनिर्णायकाभावात् । नच—पुंविशेषं प्रत्यक्षार्थवत्त्वं शास्त्रान्तरस्थविधिवा-
 क्यवदिति—वाच्यम्; एकस्यानेकशाखाध्ययनासंभवात्, प्रत्यक्षस्य सर्वपुरुषसाधारण्येन प्राथमिक-
 प्रसरत्वेन च पुरुषविशेषं प्रत्यपि सार्थकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—'द्वयोः प्रणयन्ती'त्यादि-
 वत् वर्तमानमात्रग्राहिप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयावाध्यभेदप्रापकत्वमिति—वाच्यम्; अजो ह्यन्य इत्यादौ त्रिकालावाध्यत्वबोधकपदाभावात् । नच—अभेदे षड्विधतात्पर्यलिङ्गवद्वाह्यार्थत्वं भेदश्रुतेरिति—
 वाच्यम्; तत्र प्रयोजनवत्त्वेऽप्यनुवादत्वापरिहारात् अग्निर्हिमस्य भेषजमिति वत् । नच 'षड्विंशति-
 रित्येव ब्रूयादिति'वत् प्रतिप्रसवार्थत्वम्; तदपेक्षया हीनबलत्वेन प्रतिप्रसवायोगात्, भेदनिषेध-
 कश्रुतेः भेदतात्त्विकत्वनिषेधपरत्वेन भेदस्वरूपप्रतिपादकवाक्यस्य तत्प्रतिप्रसवायोगात् । नच प्रत्य-
 क्षस्याप्रामाण्ये श्रुतेस्तत्सिद्धानुवादकत्वायोगः; तस्या ज्ञातज्ञापकत्वमात्रेणानुवादकत्वोपपत्तेः ।
 नच—एवमपि निरपेक्षानुवादत्वेन धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानवत् प्रमात्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्; निरपेक्षसापेक्षसाधारणानुवादत्वमात्रस्याप्रामाण्यप्रयोजकत्वात्, दृष्टान्तस्यातिरिक्तकालकलाविषय-
 त्वेनानधिगतार्थविषयतया विषमत्वात् । नच विद्वद्वाक्यवत् सप्रयोजनानुवादत्वेन स्वार्थपरता; तस्य स्वार्थबोधकत्वेऽपि द्वित्वसंपादकतया स्वार्थपरत्वाभावात् । नच यत्तन्नेत्यादिनिषेधार्थानु-
 वादलिङ्गाभावेन विधेयान्तरश्रवणेन च निषेधार्थानुवादत्वायोगः; यत्तदित्यादेरनुवादलिङ्गत्वेऽपि अनुवादव्यापकत्वाभावात् अन्येनापि ह्युच्यनसंभवात्, 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादौ यत्तत्पदाभावेऽपि निषेधानुवाददर्शनात्, विधेयान्तरसत्त्वे तु निषेधार्थानुवादकत्वाभावेऽपि तदर्थानुवादत्वापरिहारात् ।
 नचैवं विधानार्थानुवादे तात्त्विकत्वनियमः; यद्रजतं तदानयेत्यादौ अन्यविधानार्थं भ्रान्तिसिद्धानुवादे तात्त्विकत्वाददर्शनात् । नच—अनुवादत्वेऽपि यथार्थत्वरूपप्रामाण्याहानिरिति—वाच्यम्; तस्य बाधकाभावनिवन्धनत्वेन प्रकृते असंभवात् । ननु—औपनिषदस्य ब्रह्मणः शास्त्रातिरिक्तेनाप्राप्तेः तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य कथं शास्त्रनिरपेक्षप्रत्यक्षादिना प्राप्तिरिति—चेन्न; प्रतियो-
 गिग्रहार्थं तदपेक्षत्वेऽपि स्वसमानविषयप्रमाणपूर्वकत्वानियमेन प्रत्यक्षस्य भेदप्रापकत्वोपपत्तेः । यद्य-
 पीशधर्मिकस्य भेदस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तिः; तथापि प्रत्यक्षसिद्धजीवधर्मिकेशभेदान्यथानुपपत्तिसिद्धस्यापि तस्य श्रुतार्थापत्तिसिद्धस्य श्रौतत्ववत् प्रत्यक्षसिद्धत्वोपपत्तेः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेरनुवादकत्वम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अध्ययनासंभवादिति । शास्त्रान्तरवाक्यसार्थक्येऽपीति शेषः । इत्यादिवत् इत्यादिविहितं यत् प्राकृतप्रणय-
 नान्यप्रणयनं तद्वत् । भेषजवदिति । अन्यथा तत्राप्यनुवादो न स्यात् । षड्विंशतिरित्यादि । षड्विंशतिरस्य
 वङ्क्य' इत्यादिमन्त्रस्याश्रमे चोदकप्राप्तस्य 'चतुस्त्रिंशद्वाजिन' इत्यादिवैशेषिकमन्त्रेणापोदितस्य 'न चतुस्त्रिंशदिति
 ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूया'दित्यनेन प्रतिप्रसववदित्यर्थः । तदपेक्षया, भेदनिषेधकश्रुत्यपेक्षया । तत्प्रतिप्रसवा-
 योगात् भेदसत्यत्वप्रतिप्रसवायोगात् । विधेयान्तरेति । उपासनादीत्यर्थः । प्रतियोगिग्रहार्थं प्रतियोग्यनुयोगि-

अथ भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वोपपत्तिः ।

अथवानुवादकत्वाभावेऽपि व्यावहारिकभेदपरत्वेनैव श्रुत्युपपत्तिः । न चाप्रामाण्यापातः; अर्थ-
वादवाक्यवदुपपत्तेः, प्रतीयमानार्थेचाभेदश्रुतिविरोधेनाप्रामाण्यस्येष्टत्वाच्च । नचाभेदश्रुतेरखण्डचिन्मा-
त्रपरत्वेन भेदाविरोधित्वम्, तद्वारीभूतार्थमादाय तद्विरोधात् । नापि वैपरीत्यम्; प्राप्ताप्राप्तार्थ-
त्वाभ्यां विशेषात् । नच—ऐक्यश्रुतेरपि प्रत्यक्षविरुद्धत्वादप्रामाण्यम्, मानान्तरप्राप्तिवत् तद्विरोध-
स्यापि दौर्बल्यहेतुत्वादिति—वाच्यम्; विरोधे विरोधिनो मानत्ववत् अनुवादकत्वोपपादकस्य
मानताया अनपेक्षितत्वात् । किंच षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्त्वात् ऐक्यश्रुतेः प्राबल्यम् । नच—तात्पर्य-
मात्रज्ञापकत्वेन तेषामर्थतथात्वाज्ञापकत्वमिति—वाच्यम्; श्रुतेस्तत्परत्वज्ञापनेन परम्परयोपयो-
गात्, एतद्विरुद्धश्रुतेः श्रूयमाणेऽर्थे तात्पर्याभावसंपादनेनाधिकबलसंपादकत्वाच्च । नच—‘अत्रापि
स्वाङ्गत्ति अनश्नन् पूर्णः परः जीवसंघो ह्यपूर्ण’ इत्याद्युपपत्तिरूपं ‘सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं
भिदे’त्यभ्यासादिरूपं तात्पर्यलिङ्गमस्तीति भेदश्रुतिरपि तत्परेति—वाच्यम्; अस्तीति अपूर्ण इति
च जीवानुवादेन तस्य पूर्णब्रह्मरूपताविधानार्थत्वेन भेदोपपत्तित्वाभावात् । सत्यं भिदेति न भेदा-
भ्यासः; एतद्वाक्यस्याप्रामाणिकत्वात्, प्रामाणिकत्वे वा बाधायां सामानाधिकरण्येनाभेदे पर्यवसा-
नात् । ननु—भेदश्रुतिरेव प्रबला, ‘असंज्ञातविरोधित्वात् प्रत्यक्षादिसंवादान्निरवकाशत्वाच्चेति—
चेन्न; अभेदश्रुतिरूपविरोधिनो जातत्वात्, प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वेन तत्संवादस्य प्राबल्याप्रयोजक-
त्वात्, शतमप्यन्धानामिति न्यायात्, व्यावहारिकभेदविषयत्वेन सावकाशत्वाच्च । ननु—नायं भेदो
व्यावहारिकः, मुक्तावपि भेदस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धेरिति—चेन्न; तस्या मुक्तेरवान्तरत्वात् । ननु—
‘इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥’ इत्यादि-
स्मृतौ सर्गाद्यभावोक्तेः ‘न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः । श्यामावदाताः
शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशस’ इति स्मृतौ मायानिषेधाच्च ‘यो वेद निहितं गुहायां
सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते’त्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलत्वोक्तेश्च त्वयापि शुद्ध-
ब्रह्मविषयत्वेन स्वीकृतायाः भूमविद्यायाः फलोक्त्यवसरे ‘तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति
पञ्चधा सप्तधे’त्यादिभेदोक्तेः ‘परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ ‘स तत्र पर्येति जक्षन्
क्रीडन्नममाण’ इत्यादौ स्वरूपाभिव्यक्त्युक्तेश्च तथा ‘विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य-
मुपैती’त्यत्र कर्मक्षयोक्तेश्च ‘जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः पृथगात्मानं
प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तत्स्तेनामृतत्वमेती’ति भेदज्ञानान्मोक्षोक्तेश्च त्वन्मतेऽपि भेदभोगादिफलेषु
फलाध्यायान्त्यपादस्थेषु ‘जगद्धापारवर्जम्’ ‘सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः’ ‘भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चे’ति
सूत्रेषु प्रक्रान्तशुद्धविद्याफलस्यैव वक्तव्यत्वाच्च परममुक्तित्वमेवेति—चेन्न; सगुणोपासनया ब्रह्मलोकं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ग्रहार्थम् । मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधोद्धारे एतत्प्रकरणस्य विस्तरेण विवेचनं द्रष्टव्यम् । तर्कैरित्यादि—भेदश्रुत्यनु-
वादिता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां भेदश्रुतेरनुवादकत्वम् ॥

अनुवादकत्वाभावेऽपि निष्प्रयोजनानुवादकत्वाभावेऽपि । व्यावहारिकभेदपरत्वेनेति । व्यवहारदशायां
प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिप्रयोजनवदनुवादत्वेन विद्वद्वाक्यवत् भेदवाक्यं स्वार्थपरम् । द्वित्वसम्पादने विद्वद्वाक्यस्यैवोक्तप्रयोजने
तस्य तात्पर्येऽपि धूमोऽस्तीति वह्नितात्पर्यकस्य धूम इव स्वार्थे तयोरवान्तरतात्पर्यसंभवात् । अत एव ‘अर्थेऽनुपलब्धे
तत्प्रमाण’मिति सूत्रगतानुपलब्धपदं निष्प्रयोजनं यदुपलब्धं तदन्यपरमिति तयोरग्निहोत्रादिवाक्यस्यैव व्यावहारिक-
प्रामाण्यमिति भावः । अप्रामाण्यापातः तात्त्विकप्रामाण्याभावापातः । अर्थवादवदिति । कर्ममीमांसकानां तव
च मते वायुर्वा इत्याद्यर्थवादानां यथा स्वार्थे तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि स्तुतौ तात्त्विकप्रामाण्यं, तथा भेदश्रुतेः
प्रवृत्त्यादौ त्वन्मते तात्त्विकप्रामाण्यमस्तु, मन्मते तु सर्वश्रुतीनां साक्षात् परम्परया वा शुद्धब्रह्मपरत्वमिति
भावः । अप्रामाण्यस्य तात्त्विकप्रामाण्याभावस्य । अप्रामाण्यं तात्त्विकप्रामाण्यस्याभावः । मानत्ववत्
निर्णीतमानत्वस्यैव । मानतायाः निर्णीतमानतायाः । तथाच विरोधिप्रत्यक्षे मानत्वानिर्णयात् न श्रुतेरतात्त्विक-
मानत्वमिति भावः । उपयोगात् अर्थतथात्वोपयोगात् । जातत्वादिति । श्रवणादिसहकृतश्रुतिजन्यैक्यज्ञानं

गतस्यापि 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुत्या दैनन्दिनसर्गाद्यसंबन्धस्य प्रतिपादनेनावान्तरमुक्तावप्युपपत्तेः, 'न तत्र माये'त्यादिस्मृतौ च मायाशब्दस्य मात्सर्यादिपरत्वेन मूलमायाविरहाप्रतीतिः, अन्यथा इयमावदातत्वादिति विरोधापत्तेः, 'यो वेद निहित'मित्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलभूता या सर्वकामावाप्तिः, सा न वैषयिकभोगरूपा, किंतु सर्ववैषयिकसुखानां एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्या ब्रह्मानन्दे अन्तर्भावोक्तेस्तदभिप्रायेति न तद्वलाच्चानाकामावाप्तेः शुद्धज्ञानफलत्वम्, भूमविद्याफलोक्त्यवसरे सर्वलोककामचारैकधाभावादेः फलस्य भूमविद्यावाक्योपक्रमे प्राणविद्याफलत्वेनोक्तस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयमाणहीनद्वादशोपसत्तावत् निर्गुणविद्यास्तावकत्वेनाप्युपपत्तेः स्वयंज्योतिरित्यादौ जक्ष्णप्रभृतीनां भेदगर्भत्वेन जक्षन्निव क्रीडन्निवेत्यादिबाधितत्वविवक्षया परममुक्तेस्तत्रोक्त्या त्वदभिमतभेदगर्भक्रीडादीनां परममुक्तित्वाभावात्, पुण्यपापे विधूयेत्यत्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वोत्तरप्रत्यक्षं बाधते । बाध्यजातीयत्वात् स्वपूर्वप्रत्यक्षमपि बाधते । किंच निर्णीतमानताकं यत्र मानद्वयं तत्रैवोपक्रमादिन्याय इत्यादि मिथ्यात्वानुमाने बाधोद्धारोक्तं बोध्यम् । दैनन्दिनेति । यदा जन्ममरणयोग्यता, तदातनसर्गाद्यभावः प्रतिपाद्यते । प्राकृतसृष्टिप्रलयकालयोश्च ब्रह्मलोकगतानां न जन्मादियोग्यता; तत्कैवल्योत्तरमेव महासृष्ट्यादिप्रवृत्तेः । सर्गोऽपीत्यस्य सर्गसामान्यपरत्वे तु तद्वैयर्थ्यं, नोपजायते इत्यस्यैव पूर्णत्वात् । तस्माद्दैनन्दिनसर्गपरं तत् । वस्तुतः सर्गादीत्यादिपदेन न दैनन्दिनप्रलयस्यैव ग्रहणम्, किंतु प्राकृतसृष्टिप्रलययोरपि । तथाच सर्गादिकालजननादिसामान्याभाव एव बोध्यते । तत्रच विशेषाप्रसक्तिर्न दोष इति भावः । मायाशब्दस्येति । 'तेषामेवैष ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चे'ति श्रुत्येकवाक्यत्वादिति शेषः । अन्तर्भावोक्तेरिति । यत्तु सर्वकामवाक्ये अन्तर्भावश्रवणाच्चैवमिति, तन्मौढ्यम्; सर्वकामपदस्य सर्वसुखार्थकस्यापि ब्रह्मानन्दपरत्वं सर्वसुखानां ब्रह्मानन्दाभेदादित्यस्य प्रकृतग्रन्थार्थत्वात् । उपक्रमे प्राणविद्या उपक्रमस्थप्राणविद्या । उक्तस्य भूमविद्यान्ते उक्तस्य । प्राणविद्यायाः पूर्वमुक्तत्वेऽपि तत्फलस्यानुक्तत्वात् भूमविद्यान्ते तदुक्तम् । वस्तुतः उपक्रमे उक्तस्येति योजना । 'अतिवादी'त्यनेन 'प्राणो वा आशाया भूया'नित्यनेन चोक्तस्येति तदर्थः । आशाद्युपासनाफलापेक्षया अधिकफलवदुपासनाविषयत्वस्यैव भूयस्वरूपत्वात् तादृशप्राणवादित्वस्य च अतिवादित्वरूपत्वात् । अतएवोक्तवाक्यस्यैव फलसंबन्धविधायकत्वेन सर्वकामादिवाक्यस्य स्तावकत्वं सङ्गच्छते । अथवा—स्तुतिनिर्देशादेव प्राणविद्याप्रकरणे फलसंबन्धबोधकवाक्यं कल्पनीयम् । 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'त्यादिकं तु भूमविद्याफलपरत्वसंभवात् न स्तावकमिति भावः । ज्योतिष्टोमेत्यादि । उपसदां विधानोत्तरं 'तिस्र एव साहस्योपसदो द्वादशाहीनस्ये'ति वाक्यम् एकाहसमाप्यमानरूपासत्रात्मकज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते । तत्र तिस्र इत्यनेन त्रित्वस्यैव द्वादशेत्यनेन द्वादशत्वस्योपसदुद्देशेन विधिः । साहस्यहीनस्येति तु अनुवादः; उपसदां साहस्यतया विहितत्वेन तदपूर्वसाधनतयोद्देश्यत्वसंभवात् । एवंच न प्रकरणबाधः । अहीनस्येत्यस्य साहसंबन्धानुवादत्वं न हीयते असौ द्वित्रादिप्रकृतिवैनेति व्युत्पत्तेः, मध्योदात्तस्य तस्याद्युदात्तनजसमासत्वासंभवेऽपि 'अहः खः क्रता'विति सूत्रेण तस्य समूह इत्यनुवृत्तिसहितेन विहितप्रत्ययान्तत्वेऽपि वा आवृत्तिकृतभेदेन क्रतुसमूहरूपसाहसंबोधकत्वात् इति प्राप्ते, अहीनपदस्य साहस्यचकत्वे साहस्यहीनस्येत्यनयोवैयर्थ्यापत्तेः एवकारेण चतुराद्युपसदां साहस्यसाधनत्वाभावानुवादानुपपत्तेरहीनपदस्य यजतिचोदनाचोदितसत्राद्यन्यसुत्यासमूह एव प्रयोगाच्चाहीनपदेन द्वादशाहस्योक्तसमूहमुद्दिश्य द्वादशोपसत्ता विधीयते । उपसदामतिदेशेन प्राप्तिर्न भवेऽपि अतिदेशप्रवृत्तितः पूर्वं द्वादशत्वप्राप्त्यर्थं विधिः । पृथ्वन्तस्य नामार्थान्वयस्वीकारे तु अहीनोपसदेवोद्देश्या, द्वादशाहप्रकरणस्थवाक्यं तु सत्रात्मकद्वादशाहे द्वादशोपसत्ताविधायकमिति भाष्याभिप्रायः । वस्तुतः सत्रात्मक इवाहीनात्मकेऽपि द्वादशाहे तत्प्रकरणस्थवाक्यस्य तद्विधायकत्वसंभवादेकवाक्यतानुरोधात् ज्योतिष्टोमप्रकरणस्थं द्वादशाहीनस्येति वाक्यं स्तावकम् । द्वादशाहस्य द्वादशभिरुपसद्भिर्निरूपकारः, साहस्य ततोऽव्यापिरिति स्तुतिरिति वार्तिककारादय इति तृतीयतृतीये स्थितं तद्वत् भूमविद्याशेषस्थवाक्यं स्तावकमित्यर्थः । इव गर्भत्वेनेति । अथ 'यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वमस्मीति मन्यते । सोऽस्य परमो लोक' इति विद्वत्सम्बोधकश्रुताविवशब्दोक्तेः स्वप्नस्य पूर्वानुभवमूलकत्वाद्विद्वदनुभवबोधक 'स तत्र पर्येती'त्यादिश्रुतौ जक्षन्नित्यादिपदोत्तरमिवशब्दाध्याहारः । तथाच स विद्वान् तत्रोत्तमपुरुषरूपे स्वात्मनि परि सर्वतो भावेन इति । आविद्यका सर्वभावनिवृत्त्या सर्वसाक्षिरूपाहया 'अहमेवेदं सर्व'मिति मन्यते; 'आत्मानमेवावेदं ब्रह्मास्मीति' तस्मात्तत्सर्वमभवदिति श्रुत्यन्तरात् । ननु आत्मान्यसर्ववाधात् कथं सर्वमहमेवेति मन्यते तत्राह—जक्षन्निव क्रीडन्निवेत्यादि । इवशब्दस्याव्याप्यकत्वात् बाधितजक्षत्तादिरूपसर्वात्मतां मन्यते; बाधितानुवृत्त्यैव जीवन्मुक्तभोगात् । अत एव 'अहं

परमसाध्यस्यैक्यरूपतया कर्मक्षयस्य ऐक्यरूपमुक्तिफलतया भेदगर्भमुक्तिफलत्वाभावात्; जुष्टमित्य-
त्रान्यपदस्य देहेन्द्रियादिविलक्षणात्मपरत्वेन जीवेशपरत्वाभावात् । तथाच भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम्
अतोऽवगम्यते मन्मते भेदभोगादिपरेषु 'सङ्कल्पादेव तच्छ्रुते' रित्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्ताधिक-
रणेषु सगुणविद्याफलस्य उक्ततया शुद्धब्रह्मविद्याफलाप्रतिपादकत्वात् । तस्मात् परममुक्तौ भेदस्या-
प्रसक्तेः व्यावहारिकत्वोपपत्त्या भेदश्रुतेर्व्यावहारिकपरत्वं स्थितम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेर्व्यावहा-
रिकभेदपरत्वोपपत्तिः ॥

अथ शब्दान्तरादेरात्मभेदसाधकत्वासंभवः ।

ननु—पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये यैरेव शब्दान्तरादिभिः कर्मभेद उक्तः, तैरेव जीवेशभेदोऽपि सिध्यति ।
तथाहि—एष एव जीवं प्रबोधयति 'एतस्माज्जीव उत्तिष्ठती'ति विरुद्धार्थधातुनिष्पन्नाख्यातरूप-
शब्दान्तरस्य 'नित्यः परो नित्योः जीव' इति प्रत्यभिज्ञायमानपुनःश्रुतिरूपाभ्यासस्य 'द्वासुपर्णे'त्यादि-
संख्याया अशब्दमनश्चिन्त्यादेर्भेदकस्य गुणान्तरस्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादिप्रकरणान्तरस्य
जीवेशाविति नामधेयद्वयस्यापि सत्त्वाच्चेति—चेन्न; प्रत्यक्षादिसमकक्ष्यतया शब्दान्तरादीनां भेदक-
त्वेऽपि तात्त्विकाभेदाविरोधित्वात् । किंचादृष्टचरस्त्वं मीमांसकः यः कर्मभेदे शास्त्रभेदे वा प्रमाण-
त्वेन कृतानां शब्दान्तरादीनां चेतनभेदे प्रमाणत्वं कल्पयसि । न ह्यन्यभेदप्रयोजकस्यान्यभेदप्रयोज-
कता; विशिष्टभेदे प्रयोजकस्यापि विशेषणभेदस्य विशेष्यभेदकत्वापत्तेः, 'देवदत्त उत्तिष्ठति शिष्यं

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मनु' रित्यादावपीवशब्दाध्याहार इति भावः । ऐक्यरूपतयेति । अन्यथा परमपदवैयर्थ्यम्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव
भवति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदित्यादिश्रुतिविरोधश्च । विलक्षणेति । 'अन्यदेव
तद्विदितादित्यादाविव अन्यैव शोभा विधोरित्यादाविव चान्यपदं विलक्षणार्थकम् । नहि विदितादीश्वरादिरूपाद्विशिष्टा-
त्मनोऽत्यन्तभिन्नं ब्रह्म, न वा शोभायामन्यत्वमात्रेण चमत्कारः । नच लक्षणा दोषः; भेदवतीव अन्यपदस्य
तत्तद्वैलक्षण्यवति शक्तिसंभवात् । तर्कैरित्यादि—असत्यभेदधीश्रुतिः ॥ इति भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेद-
परत्वोपपत्तिः ॥

शब्दान्तरादीनाम् उक्तशब्दान्तरादीनाम् । भेदकत्वेऽपीति । ज्योतिष्टोमप्रकरणस्थेषु 'सोमेन यजेत हिरण्य-
मात्रेयाय ददाति दाक्षिणानि जुहोती'त्यादिषु यागाद्युपकर्तृभावनानामेकजातीयत्वं भिन्नजातीयत्वं वेति संशये
'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र स्वर्गकर्मकभावनामात्रविधानात्तदनुवादेनोक्तवाक्यैः सोमादिविशिष्टयागादि-
विधिः, फलवाक्ये च यजेः प्रकृतयागदानाद्युपलक्षणत्वेन ज्योतिष्टोमपदं यागदानादिनामेति प्राप्ते—कारणीभूतभाव-
नावैजात्यं विना कार्याभूतयागादिगतविधेयतावच्छेदकयागविशेषत्वादिवैजात्यासंभवात् प्राप्तभावानुवादेन सोम-
यागाद्यनेकगुणविध्यसंभवेन सोमयागादिविशिष्टभावनाया एव विधेर्वैजात्यत्वाच्च यागादिधात्वर्थवैजात्ये सति भावना-
वैजात्यमावश्यकमिति विजातीयार्थकधातुनानात्वरूपं शब्दान्तरं भावनाभेदकमित्युक्तम् । तथाच प्रकृते प्रबोधनोत्थान-
रूपधात्वर्थवैजात्यं भावनावैजात्यसाधकमास्ताम्, नतु जीवेशस्वरूपयोर्वैजात्यसाधकम् ॥

दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थे समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजतीत्यत्र न
भावनावैजात्यम्; धात्वर्थवैजात्ये मानाभावात्, नच—विहितजातीयविधानायोगाद्धात्वर्थवैजात्यम्; प्रथमवाक्ये
समित्पदस्य तत्प्रत्ययन्यायेन नामत्वात्तद्विहितयागानुवादेन अन्यवाक्यानां देवतारूपगुणविधायकत्वात्, अथ याज्या-
मन्त्रात् समिदिव तनूनपातादिरपि देवता प्राप्तुं शक्या, तथाप्युपांशुयाजानुवादेन वाक्यपञ्चकेऽपि देवताविधिः,
याज्यामन्त्रेण समिदादिप्राप्तिसंभवेऽप्यनुमन्त्रणमन्त्रैर्वसन्तादिदेवतानामपि विकल्पेन प्राप्स्या नियमविधित्वसंभवादिति
प्राप्ते—उभयाकाङ्क्षालभ्यत्वेन याज्याया एव देवताकल्पकत्वसंभवे अन्यतराकाङ्क्षालभ्यानुमन्त्रणमन्त्रस्य तदभावाद्भुक्त-
वाक्यानां प्राप्तदेवतानियमविधित्वासंभवेन यागविधित्वाद्विहितजातीयविधानासंभवात्तत्र तत्तद्वाक्यविधेयतावच्छेदक-
तया पञ्चवैजात्यसिद्धिः । नच—समिदादिपदानां नामत्वात्तद्वेदेनैव सेति—वाक्यम्; यागवैजात्यासिद्धौ देवतानु-
वादकत्वेनैवोपपत्तौ नामत्वानिर्णयात् । अभ्यासेन यागवैजात्ये सिद्धे तु व्यवहारार्थं नामभेदनिर्णय इत्युक्तम् ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तथाच विभिन्नविधिविधेयतावच्छेदकतया वैजात्यभेदस्वीकारावश्यकत्वेऽपि 'नित्यः परो नित्यो जीव' इत्यादौ नित्यत्व-
स्वरूपे विहितस्य जीवरूपे कथं तयोरभेदज्ञापनायापि संभवतीति दक्षा जुहोतीत्यादाविवाच्यपरत्वादनन्यपरपुनःश्रुत्य-
भावः । अन्यथा विधेये नित्यत्व एव वैजात्यं स्यात्, ननु तदुद्देश्ययोः ॥

'तिस्र आहुतीर्जुहोति आज्यभागौ यजती'त्यादौ त्रित्वादिसङ्ख्याया न भावनाभेदः, त्रित्वादिसङ्ख्यायाः स्वाश्रयप्रति-
योगिकस्वाश्रयानुयोगिकभेदव्याप्यत्वेऽपि प्रकृते भावनायास्त्रित्वसंख्याश्रयत्वेनाप्रतीतेः । नापि धात्वर्थभेदः, प्राथमिके
धात्वर्थान्वितभावनाबोधे धात्वर्थावच्छेदकत्वेन संख्यापेक्षायां प्रथमोपस्थितत्वेनैकत्वस्यैव तथात्वकल्पनेन पाश्चात्यबोधे
आवृत्तिभेदमादायैव श्रुतसंख्यान्वयात् । तथाच प्रथमप्रतीतमेकत्वं विधेयतावच्छेदकैकजात्यैवेति पाश्चात्यत्रित्वादेर्न
विरोधः । अत एव प्रयाजानां प्राथमिकपञ्चत्वस्य विधेयतावच्छेदकवैजात्यैरेवोपस्थितत्वेन लघुभूतैः स्वीकारादेकादशप्रया-
जान्यजतीति वैकृतवाक्योपात्तसंख्याया आवृत्तिभेदेन तत्तद्व्यक्तित्वेन भेदमादायोपपत्तिरिति प्राप्ते—सहोच्चरितपदानां
सम्भूयैकविशिष्टार्थप्रमापकत्वस्योक्तप्राथमिकबोधपूर्वमेव गृहीतत्वात् तदबाधाय संख्यापेक्षायां द्वितीयबोधे श्रुत-
संख्याया एवान्वयः, ननु तत्पूर्वमेव संख्यान्तरकल्पनम्, अन्यथा प्राथमिकबोधे द्रव्यान्तरादेरपि कल्पनेन श्रुतद्रव्यादेः
अनन्वयापत्तेः । कर्मोत्पत्तिवाक्यान्यवाक्ये श्रुतं प्रयाजैकादशत्वं तु न वैजात्येन भेदकम्; कर्मोत्पत्तिवाक्यजन्यधीकाले
तादृशभेदकसंख्याया अकृतत्वात् । 'त्रिवेदीं प्रोक्षती'त्यादौ तु विधेयक्रियाभ्यासार्थकमुच्यतयान्तत्वेन त्रिरित्यस्य न
विधेयतावच्छेदकनानावैजात्यैर्भेदकत्वम् । 'समिधो यजती'त्यादौ 'समिधः अग्न आज्यस्य व्यन्तिव'तिमन्त्रेण प्राप्तं यत्
बहुत्वं, तद्वत्समिधेवताकत्वानुवादकत्वेन समिध इत्यस्य नोक्तभेदकत्वम्; उत्करीत्यैव बोधोपपत्तौ बहुत्वविशिष्टकर्मवि-
धाने गौरवात्, कर्मगतत्वेन संख्याया अप्रतीतेः । तथाच धात्वर्थोत्पत्तिवाक्यश्रुतधात्वर्थगतसंख्या धात्वर्थभेदिकेति
धात्वर्थभेदात् भावनाभेद इत्युक्तम् । जीवपरद्वित्ववाक्ये तु नोक्तसंख्यास्तीति नोक्तभेदिका । विधीयमाने श्रुत-
संख्याया उक्तभेदकत्वस्वीकारेऽपि विधीयमानपर्याप्तत्वेन श्रुतेत्यवश्यं वाच्यम्; अनूद्यमानविधीयमानपर्याप्तसंख्यायास्त-
दभावात् । तथाच जीवस्य भोक्तृत्वेनोच्यमानस्याविधेयत्वात् नोक्तसंख्या तथा । तथात्वेऽपि स्वाहृतीत्युच्यमानस्योप-
हितस्यैव ब्रह्मभेदो वाच्यः । स चेष्टो ममापि ॥

एवं वैश्वदेव्यामिक्षेत्यनेन द्रव्यदेवताविशिष्टयागबुबुत्तरं वाजिभ्यो वाजिनमिति श्रूयते । तत्र वाजमन्त्रमामिक्षारूपमे-
षामस्तीति व्युत्पत्त्या वाजिपदेन विश्वदेवोक्तेस्तत्र वाजिनसंबन्धः । तथाच आमिक्षया सह वाजिनस्यैकत्र यागे विकल्पः
समुच्चयो वा, अथवा आमिक्षानुनिष्पन्नवाजिनसंबन्धाद्वाजिनपदस्यामिक्षायामेव गौणत्वात्तदुद्देशेन वाजिदेवताया विकल्पेन
समुच्चयेन वा विधिरिति प्राप्ते—वाजिपदस्य रुढ्या बलीयस्या अश्वस्योक्त्यौगेन विश्वदेवतानुक्तेरुत्पत्तिशिष्टत्वेन प्रबलया
आमिक्षया विश्वदेवदेवतया वा सहोत्पन्नशिष्टस्य वाजिनस्य वाजिनां वा विकल्पाद्यसंभवात् द्रव्यदेवताविशिष्टं आमि-
क्षयागाद्विजातीयं यागान्तरं विधीयते इति यस्मिन् कर्मणि यो गुणो न निवेशार्हस्ततो वैजात्येन स्वान्वयितया
विधेयकर्मणः स भेदक इत्युक्तम् । अनश्वन्नित्याद्युक्ताभोक्तृत्वादिगुणस्तु न जीवस्वरूपे निवेशानर्हः; 'अनन्वागतस्तेन
भवति, असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्यादिश्रुत्या युक्त्या च तत्रापि तत्सिद्धेः, अतो नायं ततो ब्रह्मभेदकः ॥

'एवं कौण्डपायिनामयने उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति मासं दर्शपूर्णमासाभ्या'मित्यादौ जुहोतिनाग्निहोत्रा-
दिनाम्ना च दूरस्थनित्याग्निहोत्रस्याप्युक्तिसंभवादानेकगुणविशिष्टप्रयोगविधिसंभवाच्च न कर्मणो नित्याग्निहोत्रादितो वैजात्येन
भेद इति प्राप्ते—कृतिविषयत्वेन ज्ञाप्यत्वमज्ञातनिष्ठज्ञाप्यत्वं च विधिवाक्यमात्रस्वावश्यं वाच्यम्; तस्यानुष्ठापकत्वात्
प्रमापकत्वाच्च । तत्राद्यमुपादेयत्वाख्यमनुपादेयकालादिभिन्नेष्वेव । द्वितीयं विधेयत्वाख्यं कालादावपि । तदुभयं च
प्रधानत्वाद्धात्वर्थभावनायामेव स्वीक्रियते । तद्बाधके सति तु नामाद्यर्थेऽपि । यथा आहवनीये जुहोतीत्यादौ विशिष्ट-
विधिगौरवादाहवनीयादौ दूरस्थप्राप्तसहोमानुवादेन विधीयमाने, प्रकृते तु मासादिगुणस्य विधेयत्वसंभवेऽप्युपादेयत्वा-
संभवात्तदुभयाश्रयो नित्याग्निहोत्रादितो विजातीयं कर्म । 'सायं जुहोती'त्यादौ तु सान्निध्यादिसहितजुहोतिना ज्ञातहोम-
स्योपस्थापनात्तत्रैवोपादेयत्वम्, कालस्य तु विधेयत्वमिति तयोर्वैयधिकरण्यं स्वीक्रियते, प्रकृते तु सान्निध्याद्यभावाद-
ग्निहोत्रादिपदस्य अग्निदेवताकहोममात्रबोधनान्न तथा । तथाचानुपादेयगुणयुक्तानुपस्थितिरूपं प्रकरणान्तरं तथा
भेदकमित्युक्तम् । यतो वेत्यादौ तु निर्गुणस्यैवोक्त्या तदसिद्धम् ॥

एवं ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहचक्षुक्षणेन यजेत एतेन ऋद्धि-
कामो यजेते'ति श्रूयते । तत्र गुणविशेषेपु ज्योतिरादिपदानामप्रसिद्धेः द्योतनात्मकार्थकत्वेन कर्मण्यपि तथा संभवात्
कर्मैव विधीयते । एतेनेत्यनेन तत्र सहस्रदक्षिणत्वम्, एतेन ऋद्धिकामो यजेतेत्यनेन फलसंबन्धश्च विधीयते । यत्र
व्यवशब्दादिनियामकाभावः, तत्रैकस्यैव नानासंज्ञानां सङ्कल्पादिव्यवहारे विकल्प इत्युक्तम् । जीवेशादिनाम्नां तु

बोधयति यजति ददाति जुहोतीत्यादावपि भेदापत्तेः न शब्दान्तरस्य कर्तृभेदकता ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दान्तरादेरात्मभेदकत्वाभावः ॥

अथ भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः ।

ननु—षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिगम्यभेदस्य कथमतात्त्विकत्वम् ? तथाहि—आथर्वणे द्वासुपर्णे-
त्युपक्रमः, परमं साम्यमुपैतीत्युपसंहारः, 'तयोरन्यः अनश्नन्नन्यः अन्यमीश'मित्यभ्यासः, शास्त्रैकग-
म्येश्वरप्रतियोगिकस्य कालत्रयावाध्यभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, 'पुण्यपापे विधूये'ति फलं,
'अस्य महिमान'मिति स्तुतिरूपोऽर्थवादः, अस्ति अनश्नन्नित्युपपत्तिः । अत्र च 'मायामात्रमिदं द्वैत'मि-
त्यादाविव द्विशब्द एव भेदवाचकः, तदाक्षेपको वा द्वित्वसंख्यैवैक्यविरोधिनीति वा भवत्युपक्रमो
भेदविषयः । तद्विन्नत्वविशेषितमेव च तद्वत्तद्वहुधर्मयोगित्वं तत्सादृश्यम्, ननु विशेष्यमात्रम्; नायं
सः किंतु तत्सदृशः, नायं तत्सदृशः, किंतु स एवेति सादृश्यैक्ययोरेकतरविधानायादन्यतरनिषेधात्,
'गगनं गगनाकार'मित्यादि तु तत्सदृशवस्त्वन्तरनिषेधपरम्, गगनाद्येकदेशस्य तदेकदेशसादृश्यपरं
वा इत्युपसंहारोऽपि भेदविषय एव । अभ्यासत्वेऽपि अर्थत एवैकप्रकारत्वं तन्नम्, ननु शब्दतः;
अतिप्रसङ्गात् । अन्यमीशमित्यत्र ईशगतान्यत्वं प्रति पश्यतीति प्रकृतो जीव एव पदन्यायेन
प्रतियोगितया संबध्यत इत्यभ्यासोऽपि संभवतीति—चेत्, मैवम्; आथर्वणे प्रथममुण्डके
'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'ति शौनकप्रश्नानन्तरं 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति
विद्याद्वयमवतार्य क्रवेदादिलक्षणापरामुक्त्वा 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम-
ग्राह्यमगोत्रमवर्ण'मित्यादिना परविद्याविषयमक्षरं प्रश्नानुसारेण प्रतिपादयता अभेदस्यैवोपक्रान्त-
त्वात्, अन्यथा तदुत्तरत्वानुपपत्तेः, द्वितीयमुण्डके 'पुरुष एवेदं विश्वं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं
वरिष्ठ'मिति मध्ये परामर्शात्, तृतीयमुण्डकान्ते च 'परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति । स यो

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उक्तनियामकाभावात् न भेदकत्वम् ईश्वरसहस्रनामवत् । भेदकत्वेऽपि स्वबोध्यतावच्छेदकजीवत्वेशत्वादिना तद्वाच्यं,
तच्चेष्टं ममापीत्याशयेन भेदकत्वेऽपीत्यपिशब्द उक्तः । किंच शब्दान्तरादीनामुक्तरीत्या विधेयभावनादिषु विभिन्न-
वैजात्यसाधकत्वेऽपि न तदाश्रयाणां स्वाभाविकभेदसाधकत्वम् । तत्तद्वैजात्यरूपोपाधिकृततत्तदाश्रयभेदं विना तत्त-
द्वैजात्यभेदस्यानुपपत्तेः, तदाश्रयाणामौपाधिकभेदमात्रसिद्धेः । अत एव तन्नेणानुष्ठीयमानसप्तदशराजपत्यादिस्थले
एकस्यामेव यागव्यक्तौ सप्तदशे वैजात्यानीति सिद्धान्तः । तथाच जीवेशयोर्वैजात्योपहितरूपेण भेदसिद्धावपि तत्स्वरूप-
स्योक्तयागस्वरूपस्येव स्वाभाविकमैक्यमप्रत्यूहमित्याशयेनाह—तात्त्विकाभेदाविरोधित्वादिति । औपाधिकभेदस्य
मिथ्यात्वेन तात्त्विकाभेदाविरोधित्वादित्यर्थः । त्वं त्वादृशः । ननु भावनादिरूपविशेषणभेदात्तदुपहितचेतनभेदोऽ-
स्त्वित्याशङ्का तावताप्यौपाधिकभेदः स्यात्, न स्वाभाविकः, तत्र तस्यासाधकत्वादित्याशयेनाह—न हीति ।
विशिष्टभेदेति । उपहितभेदेत्यर्थः । विशेषणभेदस्य उपाधिभेदमात्रस्य । विशेष्यभेदकत्वापत्तेः अनौपाधिके
उपाध्याश्रयभेदे प्रयोजकत्वापत्तेः । इष्टापत्तावाह—देवेति । भेदापत्तेः उत्थानादिभावनाभेदाद्देवदत्तस्य तस्माद-
नौपाधिकभेदापत्तेः । तर्कैरित्यादि—नाभ्यासादेश्चितो भिदा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां शब्दान्तरादेरात्म-
भेदकत्वाभावः ॥

मायामात्रमित्यादि । 'मायामात्रमिदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थत' इति गौडपादीयोक्तश्रुतौ द्वैतपदं भेदसमानार्थकम् ।
मायामात्रपदम् ईश्वरेच्छाधीनतया सत्यमित्यर्थकम् । तथाच सर्वोऽपि भेदः सत्यः अद्वैतं तु परमार्थतः स्वतन्त्रतः
स्वतन्त्रमीशमादायाद्वैतमित्यर्थः । एक एव स्वतन्त्र इति यावत् । 'परमार्थः स्वतन्त्रः स्यादिति स्मृतेरिति श्रुत्यादेर-
द्वैतार्थकत्वखण्डनं परेणोक्तं, तत्र द्वैतशब्द इव प्रकृते द्विशब्दो भेदार्थक इत्यभिमानः । अतिप्रसङ्गात् ज्योतिरादि-
पदेन तत्समानार्थकपदान्तरेण वा ज्योतिष्टोमाद्यभ्यासस्याभावप्रसङ्गात् । पदन्यायेनेति । 'सप्तमं पदमध्वर्युरज-
लिना गृह्णाती'त्यादौ श्रुतपदस्य संबन्ध्याकाङ्क्षायामेकहायन्या सोमं क्रीणातीत्यनेनोपस्थिताया एकहायन्यास्तत्वेन
यथा संबन्धः, तथा पश्यतीत्यनेन उपस्थितस्य जीवस्य भेदप्रतियोग्याकाङ्क्षायामित्यर्थः । 'असंयुक्तं प्रकरणादिति-
कर्तव्यतार्थित्वा'दिति सूत्रम् । दर्शपूर्णमासादिकं प्रकृत्य 'समिधो यजती'त्यादि श्रूयते । तस्य दर्शादौ समिदाद्यज्ञता

ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यैक्यलक्षणफलेनोपसंहाराच्च मुण्डकत्रयात्मिकाया उपनिषद् ऐक्यपरत्वे स्थिते 'असंयुक्तं प्रकरणा'दिति न्यायेनाभिक्रमणादिवन्मध्यस्थितवाक्यस्यापि द्वासुपर्णेत्यादेस्तदनुकूलत्वे संभवति महाप्रकरणविरोधेन विपरीततात्पर्यकल्पनया भेदोपक्रमत्वाभावात्, 'परमं साम्यमुपैती'त्यस्य पूर्वोक्तन्यायेन ऐक्यपरतया भेदोपसंहारत्वाभावात् । अतः अनश्वन्नित्यादिना न तात्त्विकभेदाभ्यासः, नापीशस्य शास्त्रगम्यतया तत्प्रतियोगिकस्तद्धर्मिको वा भेदोऽपूर्वः; ईशज्ञानमात्रे तदपेक्षायामपि प्रत्यक्षेण तत्समकक्ष्यमानेन च तयोः प्राप्तत्वात् । त्वदुक्तफलार्थवादयोरैक्यपक्षेऽपि संभवेन न भेदासाधारणलिङ्गता; अनश्वन्नित्यादेः काल्पनिकभेदेनोपपत्त्या तात्त्विकभेदोपपत्तित्वाभावात् । ननु—अन्तर्यामिब्राह्मणं पट्टिधतात्पर्यलिङ्गोपेतं वाक्यं भेदे प्रमाणम् । तथाहि—'वेत्थ नु त्वं काण्य तमन्तर्यामिण'मित्युपक्रमः, 'एष त आत्मान्तर्यामी'त्युपसंहारः, 'एष त आत्मेत्याद्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासः, अन्तर्यामित्वस्याप्राप्ततयाऽपूर्वता, 'स वै ब्रह्मवि'त्यादि फलम्, 'तच्चेत्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तंचान्तर्या-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

बोधकत्वमस्ति न वेति संशये साध्यसाधनाकाङ्क्षयोः स्वर्गागाद्यन्वयेन विच्छेदान्नोक्तबोधकत्वमिति प्राप्ते—तयोर्विच्छेदेऽपीतिकर्तव्यताकाङ्क्षया 'समिधो यजती'त्याद्युत्तरं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यादितः पूर्वं इत्थमिति पदकल्पनया समिदाद्यन्वयेनोक्तबोधकत्वभावश्यकम् । इतिकर्तव्यतात्वं च सामान्यतो व्यापारत्वेन आख्यातपदात् ज्ञातभावनायाः विशेषरूपत्वम् । तथाच यागसाधनव्यापारस्य विशेषजिज्ञासायाः अदृष्टद्वारा समिदादीनां द्रव्यदेवतादिसंस्कारद्वाराऽवघातादीनामुक्तवाक्येन साधनत्वबोधात् निवृत्तिरिति पार्थसारथ्यादयः । यागादिकरणनिष्ठापूर्वप्रयोजकशक्तिसाधनत्वं तत् । यो यत्र शक्तः, स तज्जनक इति हि मीमांसकाः । तथाच कारणत्वं तदवच्छेदिका वा शक्तिः । उभयथापि तज्जनकाकाङ्क्षया समिदादिजन्यशक्तिमद्वां दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यादिवाक्यजन्यधीः । नच—कारणत्वरूपा सा अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकरूपैव, एवं कारणतावच्छेदकरूपापि तद्रूपैव; तथाच जातिरूपत्वे नित्यायां तत्र कथं जनकापेक्षेति—वाच्यम्; मीमांसकमते प्रतिबन्धकेन शक्तेर्नाशादुत्तेजकेन चोत्पत्तेरनित्यत्वसंभवः । अखण्डकारणतारूपत्वेऽपि तद्विशिष्टस्यैव फलोपधायकत्वेन तज्जनकापेक्षाया आवश्यकत्वात् । एवं च द्रव्यगुणादीनां स्थिरत्वेन क्रियाविशिष्टरूपेणैव शक्तिसाधनत्वमित्यन्ये । तथाच विनियोजकश्रुत्याद्यसंयुक्तमपि समिदादिप्रकरणादुभयाकाङ्क्षारूपात् दर्शाद्यङ्गम् । इतिकर्तव्यतार्थित्वात् उक्तिकर्तव्यतात्वेन तदपेक्षत्वादिति सूत्रार्थ इति तृतीयतृतीये स्थितम् । इत्यादेः इत्यादिवाक्यार्थस्य । तथाचोक्तन्यायेन समिदादिवाक्यार्थस्य यथा दर्शाद्युपकारकत्वं निर्णयते, तथा द्वा सुपर्णेत्यस्यैक्यबुद्ध्युपकारकत्वमित्यर्थः । ननु द्वा सुपर्णेत्यादिवैक्यस्यास्पष्टत्वात् नोक्तन्यायः, तत्राह—अभिक्रमणेति । दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य प्रयाजादिसमीपे श्रूयते—अभिक्रमं जुहोतीति । तत्राभिक्रममित्यस्य णमुलन्तत्वेनाभिक्रम्येत्यर्थवत्त्वाजुहोतिना प्राकरणिकसर्वहोमानुवादात्तदुद्देशेनाभिक्रमणं विधीयते; प्रयाजानां सन्निधिसत्त्वेऽपि तदपेक्षया प्रकरणस्य बलवत्त्वात् । अन्यथा अतिसन्निहितोत्तमप्रयाजाङ्गं स्यात् । नच—अवान्तरप्रकरणेन प्रयाजाङ्गतेति—वाच्यम्; अवान्तरप्रकरणस्य विनियोजकत्वे सर्वेषामङ्गानां तत्संभवेन मिथोऽङ्गाङ्गितापत्तेरिति प्राप्ते—प्रयाजान्विधाय 'त्रीन्प्रयाजानिष्ट्वा समानयत उपभृत' इत्यनेनोपभृत्स्थाज्यस्यार्थं जुह्वां स्थाप्यमेवेत्येवंरूपं समानयनं विधाय अभिक्रमं जुहोतीत्युक्त्वा यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद समिधो बह्वीरिव तनूनपातमेक इवेत्यादिना प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिघारयतीत्यन्तेन प्रयाजपरामर्शात् तावत्सन्दर्भस्य प्रयाजप्रकरणत्वनिश्चयात् तेन तन्मध्ये यद्यद्विहितं, तत् प्रयाजाङ्गमिति निश्चयात् । यदीयाङ्गानां तु न सन्दर्शः न तस्यावान्तरप्रकरणम् । तदुक्तं—'न विद्यते तु सन्दर्शो यत्र वाचनिकैर्गुणैः । तत्राङ्गानां कथंभावः सन्नप्यविनियोजकः । निष्फलत्वेन सर्वेषां न विशेषोऽवगम्यते ॥ कः शेषः कस्य शेषित्वमतः सर्वे प्रधानगाः ॥' इति तृतीयप्रथमे स्थितम् । तथाच तन्न्यायेन पूर्वपरवाक्यार्थयोरैक्यबुद्ध्युपकारकत्वान्मध्यस्थद्वासुपर्णेत्याद्यर्थस्यापि तदित्यर्थः । ननु 'यच्छ्रुतयोनि'मिति प्रथमे मुण्डके प्राणादिकारणत्वस्य द्वितीये द्वासुपर्णेत्यादेस्तृतीये सखण्डस्य प्रतिपादनादभिक्रमणादिवदेव तन्मध्यस्थ 'पुरुष एवेद'मित्यादेरपि तदनुकूलत्वम्, तत्राह—महाप्रकरणेति । प्रथममुण्डकादौ 'यत्तदद्देश्य'मित्युपक्रमस्य तृतीयमुण्डकान्ते परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्युपसंहारस्य 'पुरुष एवेद'मित्यादिपरामर्शस्याद्वैतनिष्ठात्वादेव महाप्रकरणत्वात्तद्विरुद्धतात्पर्यस्य सखण्डे वक्तुमशक्यत्वात् अखण्डाद्वैतबुद्ध्युपकारकत्वमेव भूतयोन्यादिवाक्यानाम्, अभिक्रमणादेः प्रयाजाद्युपकारकत्वं तु न महाप्रकरणविरुद्धमिति भावः । प्राप्तत्वादिति । अतात्त्विकस्यापि भेदस्योक्तमानप्राप्तत्वमिति भावः । स वै सूत्रात्मान्तर्यामिणो वेत्ता । ब्रह्मगवी; ब्रह्मिष्ठार्थं स्थापिता गाः । उदजसे गृह्णासि । पृथिवी पृथिव्यभिमानिदेवता ।

मिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्द्धा ते विपत्तिष्यतीति निन्दारूपोऽर्थवादः, 'यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद' इत्याद्युपपत्तिरिति—चेत्, मैवम्; 'आत्मेत्येवोपासीते'ति सूत्रितब्रह्मविद्याविवरणरूपायां चतुर्ध्याययामनेन ह्येतत्सर्वं वेदेति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापूर्वकं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदा-त्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभव'दित्यभेदेनोपक्रम्य षष्ठाध्यायान्ते मैत्रेयीब्राह्मणे निगमन-रूपे 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्ये'दित्यादिनाऽभेदेनैवोपसंहारात् अध्यायचतुष्टय-स्याप्यभेदपरत्वे स्थिते तदन्तर्गतस्य ब्रह्मलोकान्तरसूत्रात्मप्रतिपादनपरस्य उत्तरब्राह्मणप्रतिपाद्य-निरुपाधिकसर्वान्तरब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलस्य महाप्रकरणानुरोधेन तद्विरोधिभेदपरत्वाभावात्, त्वदुप-न्यस्तलिङ्गानां भेदपरतानिर्णायकत्वेऽपि कल्पितभेदपरतया तात्त्विकाभेदाविरोधित्वात् । अत एव 'न शरीरश्चोभयेऽपिहि भेदेनैनमधीयत' इति सूत्रविरोधः, नवा तद्भाष्यव्याहतिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः ॥

अथैक्यस्वरूपोपपत्तिः ।

ननु—ऐक्यमात्मस्वरूपम्, उतान्यत्, नाद्यः; एकतरपरिशेषाद्यापत्तेः, सापेक्षस्यैक्यस्य निरपे-क्षात्मत्वायोगाच्च, नान्यः; सत्यत्वे अद्वैतहानेः, मिथ्यात्वे तत्त्वमसीत्यादेरतत्त्वावेदकतापत्तेरिति चेन्न; आद्यमेवानवद्यम् । ज्ञानानन्दयोरात्मैक्येऽपि यथा नैकतरपरिशेषापत्त्यादिकं कल्पितानन्दत्वा-दिधर्मात् तथा प्रकृतेऽपि संभवात्, ऐक्ये अभिज्ञेयत्वस्य प्रागुक्तेः तस्यापि निरपेक्षतया निरपेक्षात्म-स्वरूपत्वाविरोधात्, अज्ञानाद्यधिष्ठानतया भासमानात्मस्वरूपत्वेऽपि ऐक्यस्य तद्गोचरवृत्ति-विशेषस्याज्ञाननिवर्तकस्य इदानीमसत्त्वात्संसारोपपत्तेः । अन्ये पक्षे दोषास्त्वनुक्तोपालम्भा एव । अत एव अतिरिक्तमैक्यं नैकत्वसंख्या, न वा तन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वम्, न वा तन्निष्ठासाधारणधर्मवत्त्वम्; निर्धर्मके ब्रह्मणि तेषामभावात् । नापि भेदविरहः; भेदस्यैक्यविरहरूपत्वेनान्योन्याश्रयात् । नापि तद-वृत्तिधर्मानधिकरणत्वम्; शून्यस्यापि ब्रह्मैक्यापातादिति—निरस्तम्; तदवृत्तिधर्मानाधारत्वोपलक्षि-तस्वरूपस्याभेदत्वात् । शून्यस्य निःस्वरूपत्वात् न शून्यस्यैक्यरूपता । नच—तदवृत्तिधर्मनिषेधेन तदवृत्तिधर्मविधानप्रसङ्गः, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वादिति—वाच्यम्; शेषविधायकत्वस्य सर्वत्रासंप्रतिपत्तेः । अन्यथा वायौ न नीलरूपमित्यस्यापि गौरं प्रति विधायकत्वापातात् । ननु—अभेदे अभेदत्वपारमार्थिकत्वासद्वैलक्षण्यादीनि तत्त्वतः सन्ति वा नवा, आद्ये सद्वितीयत्वापत्तिः, द्वितीये अभेदत्वादिहानिरिति—चेन्न; तत्त्वतः स्वरूपभूतैरेव तैरभेदरूपताया अद्वैतस्य चाहान्युप-पत्तेः । नच—एवमभेदस्यावाधितात्मस्वरूपपर्यवसाने तस्य चात्मस्वरूपस्य परैरपि संमतत्वेन त्वच्छास्त्राविषयत्वमिति—वाच्यम्; जीवावृत्तिधर्मानधिकरणत्वोपलक्षितात्मस्वरूपस्य परैरनङ्गीका-रात् । तदेवमुक्ते जीवब्रह्माभेदे 'तत्त्वमसि स वा अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिर्मानम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ऐक्यस्वरूपोपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

चतुर्ध्याययाम् अनेनात्मवेदनेन । सर्वमभवत् अपरिच्छिन्नमभवत् । सूत्रात्मेति । तदन्तर्यामीति शेषः । 'कस्मिन् खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चे'त्यत्र ब्रह्माण्डारम्भकभूतरूपब्रह्मलोकानामन्तरस्य पृष्ठत्वेन तादृशः सूत्रात्मा तस्याप्यान्तरोऽन्तर्यामी च प्रतिपादित इति भावः । सर्वान्तरेति । अन्तर्यामिपर्यन्तं सर्वान्तरेत्यर्थः । तर्कै-रित्यादि—भेदवाक्यं न तत्परम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः ॥

संभवादिति । नच—कल्पितेन भेदेन वास्तवैकतरपरिशेषस्यानिवृत्तिरिति—वाच्यम्; उक्तपरिशेषस्येष्टत्वात्, सर्वव्यवहाराणां कल्पितभेदेनैवोपपत्तेः । निःस्वरूपत्वात् उक्तस्वरूपहीनत्वात् । शेषेति । विशेषान्तरेत्यर्थः । अन्यथेति । तथाच नीरूपत्वरूपेण तत्रेव निर्धर्मकत्वरूपेण प्रकृते पर्यवसानम् । नच—निर्धर्मकत्वमद्याप्यसिद्ध-मिति—वाच्यम्; तस्य सन्दिग्धत्वे सधर्मकत्वस्यापि सन्देहात् सधर्मकत्वापरिशेषेण त्वदिष्टासिद्धेः । आत्मस्वरूपस्य यथाचोपलक्षिताखण्डरूपता, तथा विवेचितम् । तर्कैरित्यादि—ब्रह्मजीवैक्यसङ्गतिः ॥ इति लघुचन्द्रि-कायाम् ऐक्यस्वरूपोपपत्तिः ॥

अथ जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम् ।

ननु—सार्वभ्यासार्वभ्यादिविशिष्टयोरैक्यमयोग्यत्वपराहतम् । कथमुदाहृतश्रुत्या बोध्यमिति—
चेन्न; सोऽयमित्यादाविव विरुद्धाकारत्यागेन शुद्धयोरैक्यबोधनात् । ननु—विरुद्धाकारत्यागः किम-
विवक्षामात्रेण, उतानित्यत्वेन, उत मिथ्यात्वेन, नाद्यः; विरुद्धाकारस्याविवक्षायामप्यनपायात् । न
हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिश्रुत्या सत्त्वशून्यत्वयोश्चिद्वजडत्वयोर्वैहाविवक्षा-
मात्रेण ब्रह्मणः शून्येन जडेन च ऐक्यं सुवचम् । न द्वितीयः; तत्त्वं भविष्यसीति निर्देशापत्त्या असीति
वर्तमाननिर्देशायोगात्, दशाभेदेन भेदाभेदयोः सत्त्वापत्त्या त्वयाप्यनङ्गीकाराच्च, जीवेशयोः स्वातन्त्र्य-
पारतन्त्र्यादेर्नित्यत्वाच्च । न तृतीयः; निर्दोषश्रुतिसाक्षिसिद्धयोर्विरुद्धधर्मयोर्मिथ्यात्वायोगादिति—
चेन्न; विरुद्धाकारस्याविवक्षयैव त्यागात् । त्यागश्च ब्रह्मानुभवाविषयत्वम्, न त्वपायः, तस्य चरम-
साक्षात्कारसाध्यत्वात् । तथाच तत्तेदन्ते इवानपेते अपि सार्वभ्यासार्वभ्ये नाश्रयाभेदविरोधाय ।
अविवक्षा च प्रधानप्रमेयनिर्वाहाय । नच—सोऽयमित्यत्र तत्तेदन्तयोर्न त्यागः । क्रमेणैकत्र तयोर-
विरोधादिति—वाच्यम्; अभेदपरे अस्मिन्विशेषणयोरैक्यापत्त्या क्रमेणैकत्र सत्त्वेऽपि तत्त्यागस्या-
वश्यकत्वात्, 'असद्वे'त्यादौ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ च न शून्यजडैक्यापत्तिः, शून्यसतोः चिज्जड-
योर्वा विरुद्धाकारपरित्यागेन जीवब्रह्मणोरिवानुस्यूतस्याकारस्याभावात्, असतो निःस्वरूपत्वाज्जडस्य
वाध्यस्वरूपत्वात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम् ॥

अथ ऐक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः ।

ननु—ऐक्यश्रुत्या प्रत्यक्षसिद्धं जीवमनूय ब्रह्मत्वं वा बोधनीयं, श्रुतिसिद्धं ब्रह्मानूय तस्य जीवत्वं
वा उभयानुवादेनाभेदो वा विधेयः, सर्वथाप्युपजीव्यविरोधात् नैक्ये प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षेण जीवस्य
ब्रह्मभिन्नत्वेन श्रुत्या च सर्वज्ञत्वादिमद्ब्रह्मग्राहिण्या तद्धीनत्वेनानुभूयमानाजीवात् भिन्नत्वेन ब्रह्मणो
ज्ञायमानत्वात्, नचानुमानेन ब्रह्मोपस्थितिः; तेनापि सर्वज्ञत्वादिना ब्रह्मणो विषयीकरणेन उपजीव्य-
विरोधतादवस्थ्यादिति—चेन्न; शक्तिग्रहादौ तयोरुपजीव्यत्वेऽपि स्वप्रमेयेऽनुपजीव्यत्वात् । तदुक्तम्
वाचस्पत्ये—'यत् उपजीव्यं, तन्न बाध्यते, यद्बाध्यते तन्नोपजीव्य'मिति । यथा कथंचिदपेक्षामात्रेणो-
पजीव्यत्वे नेदं रजतमित्यत्रापि इदं रजतमित्यस्योपजीव्यतापत्तेः । ननु—यद्वि यदपेक्षं यस्य बाधे
स्वस्य बाधापत्तिश्च तत्तस्योपजीव्यम्, प्रकृते च धर्म्यादिग्राहकस्यैव स्वप्रामाण्यग्राहकतया तद्बाधे
स्वबाधापत्तिः, निषेधार्पणस्थले तु न तथा । नहि ब्रह्मस्वरूपधर्मिज्ञानाप्रामाण्ये ऐक्यज्ञानाप्रामाण्य-
वत् प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्ये प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्यम्, प्रतिषेध्यशास्त्रविलोपप्रसङ्गादिति—चेत्,
सत्यम्; सार्वभ्यादिविशिष्टं न तावद्धर्मि, किंतु ब्रह्मस्वरूपमात्रम् । विशिष्टधर्मिज्ञानाप्रामाण्यम् ऐक्य-
ज्ञानाप्रामाण्ये नापेक्ष्यते, किंतु स्वरूपज्ञानाप्रामाण्यमात्रम् । अन्यथा 'इदं रजत'मित्यस्यापि धर्मिज्ञान-
त्वेन उपजीव्यतया निषेधज्ञानाप्रामाण्ये रजतत्वविशिष्टज्ञानाप्रामाण्यं स्यात् । रजतत्ववैशिष्ट्यस्य
धर्मित्वाप्रयोजकत्ववत् सार्वभ्यादिवैशिष्ट्यस्यापि तदप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि समानत्वात् । ननु—
एवमसाधारणसार्वभ्यादिधर्मावच्छेदेन ब्रह्मणोऽनुद्देश्यत्वे साधारणधर्मेण स्वरूपेण वा उद्देश्यता
वाच्या, तत्राद्ये इष्टापत्तिः; चित्त्वादिसाधारणधर्मैक्यस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्, द्वितीये ब्रह्मैक्यासिद्धिः;
साधारणस्वरूपमात्रोद्देशादिति—चेन्न; ब्रह्मैक्यासिद्धिरित्यत्र ब्रह्मशब्देन सार्वभ्यादिविशिष्टं चेदभि-
मतं, तदेषापत्तिः, तदा त्वमा च लक्षितयोरेव पदार्थयोरैक्यबोधस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् । अतः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रधानप्रमेयेति । महातात्पर्यविषयाखण्डैक्येत्यर्थः । अभेदपरे अखण्डैक्यपरे । अनुस्यूतस्य एकवृत्तिधर्मान-
धिकरणत्वोपलक्षितस्यापरस्वरूपस्य । यत्तु विरुद्धाकारस्य मुख्यार्थत्वात्तदनुरोधेनैक्यमेव न विवक्ष्यतामिति, तन्न;
तात्पर्यविषयत्वेनैक्यस्यैव मुख्यार्थत्वात् । तर्कैरित्यादि—ऐक्यमाननिरूपणम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां जीव-
ब्रह्माभेदे प्रमाणम् ॥

समानत्वात् मानसिद्धत्वात् । तदाश्रयैक्यस्य तत्त्वम्पदवाच्यतावच्छेदकोपलक्षितयोश्चित्त्वेनाप्यैक्यस्य । अधि-
ष्टानलक्षणायां पुरोडाशसाधनत्वोपलक्षितकपाललक्षणायाम् । उक्तसाधनत्वेनानुपस्थितस्य साध्यानाकाङ्क्षत्वेन

एव—शब्देन असाधारणब्रह्मस्वरूपोद्देशस्यासाधारणधर्मेण विनाऽसिद्धेरुपजीव्यविरोधतादवस्थ-
मिति—निरस्तम्; असाधारणधर्मस्य उद्देश्यसमर्पणे उपलक्षकत्वात् । नच—उपलक्ष्यतावच्छेदका-
भावे उपलक्ष्यत्वासिद्धिः, चित्तस्य तत्र सिद्धसाधनादिति—वाच्यम्, स्वरूपोपलक्षणे उपलक्ष्य-
तावच्छेदकस्यानपेक्षणात् । यत्तु चित्त्वेनैक्ये सिद्धसाधनं; तन्न; चित्तैक्यस्येष्टत्वेऽपि तदाश्रयै-
क्यस्य तवानिष्टत्वात्, इष्टौ चाविवादात् । अतएव—‘पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत्राधिष्ठान-
लक्षणायामन्यतो प्राप्तुषोपवापविधानरूपेष्टसिद्धिवदत्र न लक्षणयाभीष्टसिद्धिः, येन लक्षणा
स्यादिति—निरस्तम्; चित्तैक्यस्य प्राप्तत्वेऽपि आश्रयैक्यस्याप्राप्तस्य लक्षणाप्रापणीयस्य सत्त्वात्,
सोऽयमित्यत्रापि उक्तप्रकारस्यावश्यवाच्यत्वात् । नच—तत्ताविशिष्टस्य तत्रोद्देश्यता यद्वत्तया ज्ञात
एव यदन्वयधीः तत्त्वस्य विशेषणत्वस्य तत्तादौ संभवादिति—वाच्यम्; दत्तोत्तरत्वात् । ननु—
एवं परमाणुः सावयवः, ईश्वरो न सर्वज्ञः, ‘आदित्यो यूष’ इत्यादावुपजीव्यविरोधो न स्यात्,
उत्पन्नशिष्टगुणविधौ सगुणोत्पत्तिवाक्यविरोधश्च न स्यात्, तत्रापि परमाणुत्वादिविशिष्टं न धर्मी,
किंतु स्वरूपमात्रमिति सुवचत्वादिति—चेन्न; परमाण्वादेः स्वरूपेणापि सावयवत्वादिकं प्रति धर्मित्वे
परमाणुत्वादिकं धर्मिसमानसत्ताकं परमाण्वादौ न स्यात्, तदीयासमसत्ताकत्वस्य तत्सावयवत्व-
बोधकप्रावल्याधीनत्वात्, तत्प्रावल्येऽनुमानाभावात्, प्रत्युत भ्रान्तवाक्यत्वेन दुर्बलत्वात् ।
आदित्यो यूष इत्यत्राभेदो न प्रमेयः; स्तुतिद्वारान्यशेषत्वात्, स्तुतेश्च प्रत्यक्षाविरुद्धैर्गुणैरपि
संभवे प्रत्यक्षविरुद्धार्थकल्पनायोगात्, उत्पन्नशिष्टगुणविधौ तत्पत्तिवाक्यस्थितामिक्षादिपदस्य द्रव्य-
सामान्यपरत्वे तत्पदवैयर्थ्यापत्तिः, ‘तद्धितार्थास्येति सर्वनाम्ना यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियमिति,
न्यायेन यागचोदनमात्रेण च द्रव्यसामान्यलाभात् प्रकृते अनन्यशेषतया प्रबलत्वात् प्रमाणवाक्य-
त्वाच्च तद्विरोधैक्यप्रतिपादकतया स्वरूपलक्षणाया युक्ततमत्वाच्च । ननु—रूप्यरूपनिषेधार्पकस्या-
पेक्षितस्यापि परीक्षितत्वाभावात् यद्यपि दुर्बलत्वम्, उपजीव्यत्वमात्रस्य प्रावल्याप्रयोजकत्वात्;
तथापीह निषेधार्पकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं च निर्दोषत्वात् परीक्षितमपि प्रबलं तद्विरोधात् कथमै-
क्यपरत्वमिति—चेन्न; निर्दोषाया अपि श्रुतेः भेदपरत्वस्यैवाभावेन तद्विरोधस्यैक्यश्रुतावसंभावित-
त्वात् । नहि श्रुतेरुपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गशून्यार्थपरत्वम्; तन्नियामकाभावात्, अन्यथाऽति-
प्रसङ्गात्, साक्षिणोऽपि निर्दोषत्वमात्रेण परीक्षितत्वाभावात्, दुःखाभावादावारोपितसुखादेरपि
प्रामाणिकत्वापत्तेः, मन्मते प्रातिभासिकमात्रस्य साक्षिसिद्धस्य मिथ्यात्वात्, साक्षिणोऽपि निर्दोषज-
वृत्त्युपरक्तत्वेनाबाध्यत्वासिद्धेरुक्तत्वाच्च । प्रमाणतदभावव्यवस्थापि प्रातिभासिकव्यावहारिकयोः करण-
संसर्गिदोषप्रयुक्तत्वाप्रयुक्तत्वाभ्याम् । व्यावहारिकस्य चैतन्यमात्रस्याज्ञानदोषप्रयुक्तत्वात् । तस्मादुप-
जीव्यविरोधाभावात् प्रत्युताभेदश्रुतेरेव सर्वशेषितया भेदश्रुतिं प्रत्युपजीव्यत्वात् भेदश्रुतेरेव तद्वि-
रोधेन तदनुकूलतया नेयत्वात् सर्वविरोधशून्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यम् । तथाचैक्यपरमिति सिद्धम् ॥
इत्यैक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तुषोपवापरूपसाध्यानन्वयेनोक्तलक्षणायाम् । दत्तोत्तरत्वादिति । उक्तस्वरूपस्य विशेषणस्वरूपत्वे स्वरूपलक्षणे
उपलक्ष्यतावच्छेदकानपेक्षणेऽपि तदापत्तेरित्यर्थः । सगुणोत्पत्तीति । सगुणकर्मोत्पत्तीत्यर्थः । तत्प्रावल्ये समवा-
यत्वबोधकस्य मानस्य प्रामाण्यनिश्चये परमाणुसावयवत्वस्याबाधितत्वनिश्चय इति यावत् । अनुमानाभावात् पक्षे
साध्यनिश्चयेनानुमानानवतारात् । सावयवत्वज्ञानानुमानमूलन्यायवाक्यस्येति शेषः । दुर्बलत्वात् अनुमानापर्य-
वसायित्वात् । गुणैः आदित्यपदलक्ष्यमाणादित्यगुणैः । उत्पन्नशिष्टगुणविधौ वाजिनादिगुणस्य वाजिभ्यो
वाजिनमित्यादिना आमिक्षायागे विधौ । यजतिचोदना यजिधात्वर्थघटकम् । द्रव्यदेवताक्रियं द्रव्यं देवतात्यागः
क्रिया च तत्तथा देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागे यजेः शक्तिरित्यर्थः । समुदाये कृतार्थत्वादिति सूत्रशेषः । समुदायघटिते
आर्यैर्यजतेः कृतप्रयोगादित्यर्थः । सामान्येति । वैश्वदेव्यामिक्षेत्यादावामिक्षादिपदे विशेषलाभेन लाघवाद्द्रव्यत्वं
देवतात्वं च तद्वित्तशक्यतावच्छेदकम् । मिथोऽन्वयस्तु वाक्यार्थ इति भावः । करणसंसर्गिति । आगन्तुकैत्यर्थः ।
तर्करित्यादि—नोपजीव्यविरुद्धता ॥ इति लघुचन्द्रिकायामैक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः ॥

अथ तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थनिरूपणम् ।

ननु—एवं पदद्वयेऽपि लक्षणा स्यात्, तथाच मन्मतमाश्रित्य एकपदलक्षणेवाश्रयणीया । तथाहि—‘द्वा सुपर्णा सयुजे’त्यादौ जीवस्य ब्रह्मसाहचर्योक्तेस्तत्साहचर्यात्तदिति व्यपदेशः; ‘वसन्तादिभ्यष्टुगि’त्यत्र वसन्तसहचरिते अध्ययने वसन्तपदप्रयोगस्य महाभाष्ये उक्तत्वात्, ‘सन्मूलाः प्रजाः सदायतना’ इत्यादिवाक्यशेषात् प्रसिद्धतदाश्रितत्वाद्वा तदिति व्यपदेशः; ‘समर्थः पदविधि’-रिति सूत्रे समर्थपदाश्रितत्वेन पदविधौ समर्थपदप्रयोगस्य महाभाष्योक्तेः, ‘सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सर्वा’ इति वाक्यशेषात् प्रसिद्धतज्ज्ञत्वाद्वा तत्पदप्रयोगः, ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी’दित्यादिवत्; ‘इग्यणः संप्रसारण’मित्यत्र संप्रसारणाज्जातो वर्णः संप्रसारणमिति भाष्योक्तेः ‘प्राणवन्धनं हि सोम्य मन’ इति वाक्यशेषेण जीवस्येशाधीनत्वोक्त्या तदधीनत्वाद्वा तच्छब्दप्रयोगः; ‘धान्यमसि धिनुहि’ इत्यत्र मन्त्रे तण्डुले धान्यपदप्रयोगवत्, तत्सादृश्याद्वा तत्पदप्रयोगः; सारूप्यादिति जैमिनिसूत्रे ‘आदित्यो यूष’ इत्यादिकं सादृश्यादित्युक्तत्वात्, ‘तद्गुणसारत्वाच्च’ तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदित्यत्र ब्रह्मसूत्रे ब्रह्म-गुणयोगाज्जीवे तद्व्यपदेश इत्युक्तेः, महाभाष्ये च बहुगुणेत्यादिसूत्रे वर्ति विनैव सङ्ख्यावदिति वक्तव्यं गम्यते । अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तेत्याह तेन वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीत्युक्तेः—चेन्न; अमेदे तात्पर्येऽवधृते तन्निर्वाहकलक्षणाबाहुल्यस्यादोषत्वात् । नहि लक्षणेक्यानुरोधेन तात्पर्यपरित्यागः । तदुक्तं न्यायचिन्तामणौ—‘तात्पर्याच्च वृत्तिः, नतु वृत्तेस्तात्पर्य’मिति । जहदजहल्लक्षणाया मुख्यपरत्वे संभवति तत्सहचरितार्थपरत्वकल्पनस्यानुचितत्वाच्च । यथा अमेदपरत्वे न बोधकत्वानुपपत्तिः, तथोक्तं प्राक् । ‘द्वा सुपर्णा सयुजा’ इत्यादिना न जीवस्य ब्रह्मणा सहचरितत्वोक्तिः, किंत्वन्तःकरणे-नेति न तेन सहचरितत्वप्रसिद्धिरपि । न वा सन्मूलाः प्रजा इत्यादिना जीवस्य तदाश्रितत्वप्रसिद्धिः; प्रजाशब्दस्य प्रजायमानवाचकत्वेन जीवस्य नित्यस्याप्रतिपादनात् । अतएव न तज्जन्यत्वेनापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वसन्तसहचरिते अध्ययने अध्यापनविषये वसन्तसहचरिते ‘वसन्तादिभ्यष्टुगि’त्यनेन ‘तदधीते तद्वेदेत्यर्थे’ ऋग्विधानात् वसन्तस्य कालत्वेनाध्ययनाविषयत्वाद्ब्रह्मसन्तप्रतिपादको ग्रन्थो वसन्तशब्दार्थः, तस्य वसन्तसंबन्धिपद-संबन्धित्वेन वसन्तसाहचर्यादित्युक्तम् । पदविधौ पदेन विधीयमाने समासादौ । प्रयोगस्येति । ऋक्स्य राजपुरुष इत्यादावसमर्थपदाश्रितत्ववारणायेति शेषः । सम्प्रसारणमिति । ‘इग्यणः सम्प्रसारणमिति सूत्रे यणःस्थाने य इग्वर्णः, स सम्प्रसारणसंज्ञश्चेत्, तर्हि ‘व्यङ्गः सम्प्रसारणमि’त्यादौ दोषः । न हि व्यङ्गो यणःस्थाने इह सिद्धोऽस्ति यः व्यङ्गः सम्प्रसारणमित्यनेन विधीयेतेत्यनेन वर्णसंज्ञापक्षं दूषयित्वा यणःस्थाने इग्वभवनरूपो यो वाक्यार्थः, स सम्प्रसारणसंज्ञ इति पक्षान्तरमाशङ्क्य वाक्यार्थस्यासत्त्वरूपत्वेन स्थानित्वाद्यभावात् सम्प्रसारणस्येत्यादौ दोष इति तदपि दूषयित्वा काकाज्जाते काकादिपदस्येव सम्प्रसारणाज्जाते सम्प्रसारणपदस्योक्तिः । तथाचोक्तवाक्यस्य सम्प्र-सारणसंज्ञकस्य स्थानित्वाद्यभावेऽपि तस्माज्जातस्येकारादिवर्णस्यापि सम्प्रसारणसंज्ञकत्वेन स्थानित्वाद्युपपत्तिरित्युक्तम् । धान्यमिति । दर्शपूर्णमासयोः पेषणार्थं इषदि निक्षिप्ततण्डुलानुमन्त्रणार्थं धान्यमित्यादिमन्त्रः पठितः । तस्य शाक्या-नामयननामकसत्रस्याङ्गभूतेषु तरसमयशब्दिदत्तमासमयपुरोडाशद्रव्यकेषु सवनीयपुरोडाशेष्वतिदेशात् प्राप्तस्य धान्य-पदस्थाने तरसपदमूहं न वेति संशये नोह्यम्; प्रकृतावपि तण्डुलेषु समवेतार्थत्वाभावात्, ‘देवस्य त्वा सवितु’रित्या-दिमन्त्रे सवित्रादिपदवदिति प्राप्ते—धान्यशब्दस्य द्रव्यप्रकाशनरूपदृष्टार्थकत्वाय धान्यप्रकृतिकार्थकत्वात् प्रकृते सम-वेतार्थत्वादूह्यमिति नवमे स्थितम् । तत्र यथा धान्याधीनमर्थः, तथा प्रकृते ईशाधीनस्तत्पदार्थ इत्यर्थः । बहुगुणे-त्यादीति । ‘बहुगणवनुडतिसंख्ये’ति सूत्रे बहुगणादीनां संख्यासंज्ञाविधाने ‘संख्यापूर्वां द्विगु’रित्यादौ एकद्वित्र्यादि-संख्याग्रहणं न स्यात्; ‘कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय’ इति न्यायेन कृत्रिमसंख्यानां बहुगणादीनामेव ग्रहणसंभवादित्याशङ्क्य उक्तसूत्रेण संज्ञा न विधीयते, किंतु बहुगणादयः संख्यावदित्यतिदिश्यन्ते, वर्ति विनापि संख्याशब्दस्य गोण्या वृत्त्या संख्यासदृशार्थकत्वसंभवादित्युक्तम् । ते वयं तात्पर्यविदो वयम् । तात्पर्यात् उपक्रमोप-संहारार्थवादोपपत्त्यादिनिर्णीततात्पर्यात् । वृत्तेः वृत्तिलाघवात् । उपक्रमादिबहूनामवाधाय वृत्तिलाघवं त्यज्यते । अन्यथाऽर्थवादादावपि लक्षणा न स्यात् । उपक्रमोपसंहारादिप्रतीतैकवाक्यतां त्यक्तवार्थवादस्थनानापदमुख्यत्वायो-पासीतेत्यादिपदाध्याहारापत्तेः । अत एवोपक्रममात्रानुरोधेन ऋगादिपदे ‘उच्चैरुचा क्रियते’ इत्यादौ विधिस्थेऽपि लक्षणाश्रिता । यत्र तु उपक्रमादिकमनिर्णायकं, तत्र तात्पर्यनिर्णायकत्वेन वृत्तिलाघवमप्याद्रियते, यथा स्थपत्य-धिकरणे इति भावः । नित्यस्येति । नच—औपाधिकजन्यत्वं जीवस्यापीति—वाच्यम्, प्रजापदेन सोपाधिकजीव-

तच्छब्दप्रयोगः; 'ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखाज्जातत्वहेतुतः । यथावदुच्यते तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वाग्भवेत् ॥' इति स्मृतिरप्यस्मृतिरेव; श्रुतिविरोधात् । यत्तु तद्गुणसारत्वादित्यादिना जीवे ब्रह्म-
गुणयोग उक्त इत्युक्तं, तन्न; बुद्धिगुणसूक्ष्मत्वयोगात् जीवे ब्रह्मणीव सूक्ष्मत्वमित्येव परत्वात्सूत्रस्य ।
एतेन—शाखासदेशे चन्द्रे शाखेतिवत् जीवान्तर्यामितया जीवसदेशे ब्रह्मणि त्वमिति प्रयोगः,
आत्मनि तिष्ठन्निति श्रुतेः, ब्राह्मणो वै सर्वा देवता इत्यादिवत् । जीवाश्रयत्वाद्वा ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वेन
यजमानः प्रस्तर इत्यादिवत् तत्सिद्ध्या वा ब्रह्मणि त्वमिति व्यपदेश इति—निरस्तम् । ननु—जहद-
जहल्लक्षणायां वाच्यान्तर्गतत्वेन प्राग्धीस्थस्य बाधकात् त्यक्तस्य पुनः स्वीकारः, जहल्लक्षणायां
अधीस्थस्यात्यक्तस्यैव स्वीकारः त्यक्तस्वीकाराद्वरमधीस्थस्य स्वीकार इति—चेन्न; अनुपपत्त्या विशेष-
णत्यागेऽपि विशेष्यांशात्यागात् । एतेन—तच्छब्दात् परतृतीयादिविभक्तेः सुपां सुलुगित्यादिना
प्रथमैकवचनादेशो वा लुगवा, तथाच तेन त्वं तिष्ठसीति वा ततः सञ्जात इति वा तस्य त्वमिति
वा तस्मिन् त्वमिति वार्थः; 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति सन्मूलाः
सोम्येमाः सर्वाः प्रजा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं'मित्यादिवाक्यशेषात् । तथाच मीमांसका 'उत यत्सुन्वन्ति
सामिधेनीस्तदन्वाहु'रित्यत्र यत्तच्छब्दयोः सप्तम्यर्थे प्रथमां स्वीकृत्य यत्र सुन्वन्ति तत्र हविर्धाने
स्थित्वा सामिधेनीरनुब्रूयादिति व्याख्याश्चक्रुः । न्याय्यं च निरवकाशप्रधानभूतानेकप्रातिपदिकस्वा-
रस्याय सङ्ख्यार्थत्वेन सावकाशप्रधानैकविभक्त्यस्वारस्यमिति—निरस्तम्; प्रोद्गातृणामित्यत्र विभ-
क्तिस्वारस्याय प्रातिपदिकस्यान्यथानयनवदत्रापि प्रातिपदिकस्यैवान्यथानयनाच्च । नच—षष्ठीबहु-
वचनस्य प्रथमैकवचनवदन्यत्राविधानेन तस्यान्यथानयनमसंभवीति बहुवचनानुसारेण प्रातिप-
दिकस्य प्रस्तोत्रादिछन्दोगेषु लक्षणाऽऽश्रितेति—वाच्यम्; 'सक्तून् जुहोती'त्यत्रैवान्यत्र नयनस्य
संभावितत्वात् । किंच न तावत् प्रातिपदिकस्य निरवकाशत्वम्; विभक्तेः सङ्ख्यायामिव विशेष्यांशे
सावकाशत्वात् । नापि प्राधान्यम्; प्रधानार्थवाचकप्रत्ययस्यैव प्राधान्यात् । तदुक्तं—'प्रकृतिप्रत्ययौ

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ग्रहणे तस्यैव तदाश्रितत्वलाभापत्त्या तत्स्वरूपानिर्णयापत्तेः । तत्सिद्ध्या मुख्यार्थसाध्यसाधकत्वेन । विशेष्यांशेति ।
तथाच विशेष्यांशो न त्यक्तः, त्वन्मते तु विशेष्यमपि त्यक्तमिति तवैव दोष इति भावः । तिष्ठसीत्यस्य सत्तावानित्यर्थः;
'असमुवी'ति स्मृतेः । तथाच तत्प्रयुक्तसत्ताकत्वलाभान्मिध्यात्वं जीवस्य स्यात्; अध्यस्तस्यैवाधिष्ठानरूपसत्ताधीन-
सत्ताकत्वात्, अत आह—ततः सञ्जात इति । औपाधिकजन्यत्वस्यैव वाच्यत्वात् जीवस्वरूपानिर्णयः । तथाच
तज्ज्ञानात् मोक्षानापत्तिरत आह—तस्येति । संबन्धविशेषानिर्णयात् स दोषस्तदवस्थः, अत आह—तस्मिन्निति ।
यत्र सुन्वन्ति तत्र हविर्धान इति । हविर्धानाख्यगृहमध्ये दक्षिणोत्तरदेशयोः सोमाख्यहविर्धानार्थं हविर्धार-
णाख्ये शकटे स्थाप्येते । तयोर्मध्ये यत्र दक्षिणहविर्धाने सोमाभिषवः क्रियते, तत्समीप इत्यर्थः । उक्तं हि तृतीय-
सप्तमे—'उत यत् सुन्वन्ती'त्यादिवाक्ये सामिधेन्यनुवचनोद्देशेन न हविर्धानं विधीयते; हविर्धारणार्थत्वेन प्रयोजना-
न्तरानाकाङ्क्षत्वात्, किंतु हविर्धानयोः समीपदेशस्य सामिधेन्यङ्गतया प्रकृतिप्राप्ताहवनीयप्रत्यग्देशत्वेन दक्षिणहविर्धान-
सामीप्यं नियम्यते तत्रैव स्थित्वा 'सामिधेनीरनुब्रूया'दिति । प्रोद्गातृणामिति । 'प्रेतु होतुश्चमसः प्रब्रह्मणः प्रयजमा-
नस्य प्रोद्गातृणा'मिति चमसाध्वर्यूनप्रत्यध्वर्योः प्रैषः । सदोमण्डपे होत्रादयः सोमभक्षयितारः सन्ति । तेषां मध्ये होतारं
प्रति होतृचमसः प्रैतु गच्छतु । एवं ब्रह्माणं प्रति तच्चमसः प्रैतु इत्याद्यर्थः । तत्रोद्गायतेः उद्गीथाख्याया द्वितीयसाम-
भक्तेः वाचकत्वादुद्गातृपदस्य तत्कर्तृवाचकत्वात् उद्गातृशब्दितस्यैकत्वात् पाशाधिकरणन्यायेन बहुवचनं नेयम् ।
अथवा—प्रकरणे अत्यन्तासंभवात् पाशबहुत्वं बाध्यताम्, इह तूद्गातृशब्दस्य अजहत्स्वार्थलक्षणयौद्गात्रप्रवचनसंबन्ध-
रूपावान्तरसामान्येनोद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तुसुब्रह्मण्यबोधकत्वात् तेषामुद्गातृचमसभक्षकत्वमिति प्राप्ते—एकस्तोत्रसंबन्धः
सदोमण्डपे सन्निधानमित्यादेरुक्तसामान्यापेक्षयाप्यवान्तरसामान्यत्वात् तेनैव रूपेण लक्षणौचित्यात् तस्य च सुब्रह्मण्य-
व्यावृत्तत्वादपसुब्रह्मण्यानां त्रयाणामेव भक्षकतेति तृतीयपञ्चमे स्थितम् । यत्तु योगेनाप्युक्तत्रितयपरत्वसंभव इति,
तत्तुच्छम्; भूरिप्रयोगेण द्वितीयसामभागकर्तरि रूढेः योगापहारकत्वात्, रथकाराधिकरणन्यायात्, वार्तिकादौ
लक्षणाया एवोक्तत्वाच्च । प्रातिपदिकस्यैवेति । यथा प्रोद्गातृणामित्यत्रैकत्वे विभक्तेर्जहल्लक्षणाया अत्यन्तावाधात्
'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबल'मिति न्यायेन तामकृत्वा प्रातिपदिक एव लक्षणाश्रिता । अन्यथा हि होतु-
रित्यादावेकवचनप्राप्ते एकत्वे लाक्षणिकं बहुवचनमत्यन्तासमञ्जसं स्यात् । तथोपक्रमादिगृहीताखण्डब्रह्मात्पर्यायानुरोधेन
प्रथमायास्तृतीयार्थकत्वमकृत्वा तत्त्वंपदयोरेव भागत्यागलक्षणाश्रयितुं युक्ता । तावता हि न विभक्त्यस्वारस्यम्;
अद्वै. सि. १०५

सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययः प्राधान्येने'ति नापि प्रातिपदिकानेकत्वं स्वारस्ये तन्त्रम्; 'गभीरायां नद्या'मित्यादौ अनेकत्वेऽप्यस्वारस्यदर्शनात् । तात्पर्यबलात्तत्र तथेति चेत्, समं प्रकृतेऽपि । यत्तु 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारय'तीत्यत्र प्रयाजशेषं हविष्युपक्षिपतीति तृतीयाविभक्त्यस्वारस्यं, 'सक्तन् जुहोती'त्यादावपि द्वितीयाविभक्त्यस्वारस्यं, तदगत्या; 'प्रयाजशेषेणे'त्यादौ उपयुक्तसंस्कारव्यतिरेकेण प्रकारान्तरस्यासंभवात्, सक्तुनित्यादौ भूतभाव्युपयोगाभावेन संस्कार्यत्वाभावात् । एतेन—तस्य त्वं तत्त्वमिति समस्तं पदमिति—निरस्तम्; असमासेनैव षष्ठ्यर्थलक्षणादिरहितेन उपपत्तौ षष्ठीसमासस्यान्याय्यत्वात्, अन्यथा स्थपत्यधिकरणविरोधापत्तेः । ननु—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्यत्र तत्पदेन नात्मा परामृश्यते, किंतु ऐतदात्म्यम्; नपुंसकत्वात्, ऐतदात्म्यमित्यस्य एष चासावात्मा च एतदात्मा तस्येदमेतदात्म्यम् । एवंच एतदीयं वस्तु त्वमसीत्यर्थः, नत्वभेदः एतदात्मा यस्य तदैतदात्म्यमित्यर्थे भावप्रत्ययवैयर्थ्यापत्तेः । ततो वरमर्थान्तरा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रथमाविभक्त्योर्नामान्तस्थयोस्तदार्थभेदबोधानुकूलत्वस्यैव तत्स्वारस्यरूपत्वात् । नापि नान्नोः; सोऽयमित्यादावत्यन्ताभेदरूपाखण्डार्थकत्वस्यैव तत्स्वारस्यत्वात् । षष्ठीबहुवचनस्येत्यादि । प्रथमाया एकवचनं यथा 'सुपां सुलुगि'त्यादिना तृतीयाद्यर्थे विहितं, तथा षष्ठीबहुवचनमेकत्वादौ विभक्त्यन्तराद्यर्थे वा न विहितम् । अतो न तस्यान्यथानयनसंभव इत्यर्थः । सक्तुनित्यादि । दर्शपूर्णमासयोः श्रुतसक्तूनां भूतभाव्युपयोगाभावेनासंस्कार्यत्वात् द्वितीयाबहुवचनस्य तृतीयार्थकत्वमिवोक्तस्थले षष्ठीबहुवचनस्यापि विभक्त्यन्तरार्थकत्वमेकत्वार्थकत्वं च संभवति 'व्यत्ययो बहुलं, सुसिद्धपग्रह'इत्याद्यनुशासनादित्यर्थः । प्रधानार्थेति । कर्तृकारकादिरूपप्रधानवाचकत्वेन प्रथमादिविभक्तेरेव प्राधान्यम् । ननु—प्रथमायाः कर्तृवाचित्वे मानाभावः; 'प्रातिपदिके'त्यादिसूत्रेण प्रातिपदिकान्नित्यतोपस्थितिकार्थ एव प्रथमाविधानात्, चैत्रः पचतीत्यादौ तिङादिना कर्त्रादेरुक्तत्वेनान्यलभ्यत्वाच्च, तथाच प्रत्ययः प्राधान्येनेत्यत्रोक्तविशेष्यतया प्रधानीभूतकारकवाचित्वरूपप्राधान्यस्य प्रथमायामसंभवान्नामार्थविशेषणसङ्ख्यावाचित्वेन नामापेक्षया गुणत्वाच्च तस्यामेव लक्षणा युक्ता । नच—एवमनभिहितसूत्रमपि व्यर्थम्; अभिहितस्य कर्मादेरन्यलभ्यत्वादेव तत्र द्वितीयाद्यसंभवात्, अतएव बहुपदुरित्यादौ बहुचोक्तार्थत्वात् कल्पवादयो न स्युरित्युक्तमिति—वाच्यम्; सङ्ख्याविभक्त्यर्थ इति मते कर्मणि यदेकत्वं तत्र द्वितीयैकवचनमित्यादेर्वाच्यत्वात्, कटः कृत इत्यादौ द्वितीयैकवचनादिप्रसक्तेस्तद्वारणायोक्तसूत्रसार्थक्यात्, कृदादिना कर्मादेरुक्तत्वेऽपि तदेकत्वस्यानुक्तत्वात् । नच—परत्वात् प्रथमेति—वाच्यम्; कर्तव्यः कट इत्यादौ कृद्योगलक्षणषष्ठीप्रसङ्गात्तस्याः प्रथमातोऽपि परत्वात् । कारकमात्रं विभक्त्यर्थ इति मते तूक्तसूत्रं व्यर्थमेवेति—चेन्न; 'तिङ्गसमानाधिकरणे प्रथमे'ति वार्तिकवचनात् प्रथमायाः कर्त्रादिशक्त्यावश्यकत्वात् आख्यातादिना प्रातिपदिकसमानाधिकरणेनोक्तार्थे प्रथमेति तदार्थात् । नच—कर्तव्योऽयं घट इत्यादौ परत्वात् षष्ठी स्यादिति—वाच्यम्; प्रकरणान्ते 'अन्योक्ते प्रथमे'ति सूत्रणीयमिति वार्तिकाशयात् । अतएव प्रथमायाः कारकविभक्तित्वेन तदन्तात् शस्प्रत्ययसंभवेन 'एकश' इत्यादिसूत्रस्थतादृशप्रयोगः संगच्छते । नच—वस्तुगत्या कारकाच्छसादिविधानमिति—वाच्यम्; तथासति नटस्य श्रवणं मातुः स्मरणमित्यादावतिप्रसङ्गात् । 'गतिकारकोपपदाना'मिति नित्यसमासस्य 'गतिकारकोपपदा'दिति प्रकृतिस्वरस्य चापत्तेः । अत एवोक्तवार्तिकतात्पर्यविदा बोपदेवेन 'लिङ्गार्थसंबुद्ध्युक्तार्थे प्रथमे'ति सूत्रितम् । लिङ्गार्थे संबोधने उक्तकारकार्थे च प्रथमेति तद्वृत्तौ व्याख्यातम् । तथाच लिङ्गसंबोधनवदाख्याताद्युक्तकारकमपि प्रथमावाच्यमिति तदभिमतं स्पष्टम्; एकविभक्त्यन्तेन तद्व्याख्यानिर्देशात् । क्रमादीश्वरस्यापि संबुद्ध्युक्तात् सु औ जस् इति सूत्रयतस्तदेवाभिमतम् । एवमन्येष्वपि सारस्वतादिव्याकरणेषु 'अन्योक्ते प्रथमे'त्यादिसूत्रणाद्यमर्थो निष्प्रत्यूहः । कदाचिदभिधीयमानकर्मशक्त्या प्रयोज्यव्यापार आक्षिप्यते । कदाचिच्चाभिधीयमानकर्तृशक्त्या प्रयोजकव्यापार इत्यर्थके भावार्थचरणीयवार्तिकग्रन्थे घटो भवतीत्यादौ प्रथमाभिहितकर्तृशक्त्या प्रयोजकव्यापाराक्षेप इति न्यायसुधाकारैरुक्तम् । उक्तं निरुक्तकारैरुक्तम् । असंभवादिति । शेषशब्दश्रवणात् प्रतिपत्तेराकाङ्क्षितत्वेन प्रयाजशेषस्य प्रतिपत्तिरूपोपयुक्तसंस्कारो विवक्षितः, हविषामुपयोक्ष्यमाणसंस्कारे तु अदृष्टार्थकल्पना स्यात् । तस्माच्छ्रुतशेषपदस्य प्रतिपत्तिरूपदृष्टार्थस्य चानुरोधेन विभक्तावपि लक्षणेति चतुर्थप्रथमे स्थितम् । स्थपतीति । 'निषादस्थपतिं याजये'दित्यादौ निषादस्य सङ्करजातिविशेषस्य स्थपतिरीश्वरस्यैवार्णिक इति नार्थः; पूर्वपदे संबन्धिलक्षणापत्तेः, किंतु निषादाभिन्नस्थपतिः । एवंच तस्य यागानुष्ठानोपयुक्तं तद्बोधकवेदवाक्यार्थज्ञानमध्ययनाभावेन पूर्वमसिद्धमपि कल्प्यते, नतु तद्बोधनमुख्यार्थत्यागः, फलमुखगौरवस्य अदोषत्वादिति षष्ठप्रथमे स्थितम् । नपुंसकत्वादिति । तत् सत्यमित्यत्र नपुंसकशब्दनिर्दिष्टब्रह्मण एव नपुंसकतत्पदेन निर्देशसंभवाभेदं

श्रयणम्; विचित्रा हि तद्वितगतिरिति वचनात् । 'स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः । तेन व्याप्तमिदं सर्वमेतदात्म्यमतो विदुः ॥' इति स्मृतेश्चेति—चेन्न; तस्येदमित्यर्थे ष्यञोऽविधानात् प्रयोगादर्शनाच्च । स्वार्थे च सौख्यमित्यादिप्रयोगदर्शनात् । तथाच एतत् सत् आत्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्मा तस्य भाव एतदात्म्यं सामानाधिकरण्यं च स्वार्थिकत्वाद्वा, भावभवित्रोरभेदोपचाराद्वा, 'यो वै भूमा तत्सुख'मिति वत् । यत्तु स्मृतावेतद्व्यापकत्वेन एतदात्म्योक्तिः, सा न युक्ता; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात् । ननु—शरीरवाचिनां देवमनुष्यशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वदर्शनात् ब्रह्मशरीरभूतजीववाचित्वंपदस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वेन तत्त्वमिति व्यपदेशः शरीरशरीरिभावनिबन्धनः, 'यस्यात्मा शरीर'मित्यादिश्रुतेरिति मुख्यमेवास्मन्मते पदद्वयमिति—चेन्न; शरीरिपर्यन्तत्वमिति तल्लक्षकत्वं वा, तत्रापि शक्तत्वं वा, शरीरविषयवृत्त्यैव तत्प्रतिपादकत्वं वा । नाद्यः; मुख्यत्वानुपपादनात् । न द्वितीयः; शरीरवाचिनामित्यसाधारण्येन निर्देशानुपपत्तेः प्रवृत्तिनिमित्तमनुष्यत्वादिजातेः शरीरिण्यवृत्तेरुक्तत्वाच्च । न तृतीयः; अन्यविषयवृत्तेरन्यानूपयोगेन शरीरशरीरिणोरनादिभ्रमसिद्धाभेदनिबन्धनोऽयं प्रयोगो वाच्यः । तथाचात्राप्यभेदनिबन्धन एवायं प्रयोगः, अभेदस्तु बाधकाभावाद्वा तात्त्विक इत्येव विशेषः । यत्तु 'आदित्यो ब्रह्मेति'वत् जीवे ब्रह्मत्वोपासनार्थस्तत्त्वमसीति निर्देश इति, तन्न; अनुपासनाप्रकरणस्थत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्, उक्तरीत्या वस्तुनिष्ठत्वे संभवति तस्यागायोगाच्च । ननु—'स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्रातत्त्वमसीति पदच्छेदः, 'शब्दोऽनित्य' इत्यत्रानित्य इति पदच्छेदो यथा घटदृष्टान्तानुसारेण, तथाऽत्रापि शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तानुसारात् । नहि प्रथमखण्डे शकुनिसूत्रयोः स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रवद्ध इत्युक्तयोः शकुनिसूत्रयोः षष्ठे लवणमेतदुदकमित्यादिनोक्तयोर्लवणोदकयोः सप्तमे 'पुरुषं सोम्य गन्धारेभ्य' इत्यादिनोक्तयोः पुरुषगन्धारदेशयोः नवमे च 'अपहार्षात् स्तेयमकार्षी'दित्यादिनोक्तयोः स्तेनापहार्षयोः ऐक्यम् । स्तेनापहार्षदृष्टान्ते हि स्पष्टमैक्यज्ञानिनोऽनर्थः, परकीयब्रह्मत्वाभिमानी हि स्तेनः, नतु विद्यमानब्रह्मत्वाज्ञानीति—चेन्न; शकुनिसूत्रादौ दृष्टान्ते विद्यमानोऽपि भेदो नातदिति पदच्छेदप्रयोजकः, तं विनैव तदुपपत्तेः; घटदृष्टान्तस्तु न नित्यत्व उपपद्यत इति वैषम्यात् । तथाहि—ज्वरादिरोगग्रस्तस्य तन्निर्माणैकं स्वास्थ्ये विश्रान्तिवज्जाग्रत्स्वप्रयोः करणव्यापारजनितश्रमापनुत्तये जीवस्य देवतात्मस्वरूपावस्थानमित्यस्मिन्नर्थे शकुनिसूत्रदृष्टान्त इत्यन्यथैवोपपत्तेः, 'स्वमपीतो भवती'ति श्रुतेः । ननु—ब्रह्मणि स्वशब्दो न जीवाभेदाभिप्रायः, किंतु आत्मीयत्वाद्यर्थः स्वातन्त्र्याभिप्रायो वा; 'स्वातन्त्र्यात्स्व' इति प्रोक्त इत्यागमात्, 'अपीतो भवती'त्यस्यापि तिरोहितः सन् प्राप्तो भवतीत्येवार्थः; नत्वभिन्न इति अपेः पिधाने इणो धातोश्च गतौ निष्ठायाः कर्तरि शक्तेः कृत्तत्वात् ऐक्ये योगरूढ्योरभावाच्चेति—चेत्, न; स्वशब्दस्य स्वरूपे मुख्यस्यार्थान्तरपरत्वे गौणीलक्षणयोरन्यतरापत्तेः, अभेदे योगरूढ्योरभावेऽपि उपसर्गप्रकृतिप्रत्ययपर्यालोचनया लब्धस्वरूपप्राप्तिरूपार्थस्याभेदे पर्यवसानात् । अतएव—ऐक्यार्थत्वे अपीत इत्यस्य भवतेश्चाकर्मकतया श्रुतद्वितीयायोगः अश्रुततृतीयाकल्पनमिति—निरस्तम्; अतएव—

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

युक्तम् । नहि 'तत्सत्य'मित्यत्र सर्वं सत्यमित्यर्थः; असत्कारणनिरासाय सदेव सोम्येत्यादिनोक्तस्य कारणसत्त्वस्य तत्र परामर्शात्, 'स आत्मे'ति कारणवाचित्वपदसमभिव्याहारात् । किञ्च एतदात्मीयार्थकत्वे तत्पदस्य विशेषणतया पुंस्त्वापत्तिः, नहि वस्त्रं शुक्लः, घटस्तदिति साधुरिति व्यत्ययो बहुलमित्यस्य शरणीकरणात् वरं सदेवेत्यादौ निर्दिष्टस्य तत्पदेन परामर्शः । ननु शरीरिण्येव शक्तिरस्तु, असाधारण्येनोक्तनिर्देशस्तु पराभ्युपगमादित्यत आह—प्रवृत्तीति । अचाक्षुषत्वापरया न मनुष्यत्वादेरात्मवृत्तिवस्तुमुक्तम् । तथाच मनुष्यत्वादिरूपेण मनुष्यादिपदजन्यो बोधो न शरीरिणः संभवति । नच—मनुष्यत्वादिमच्छरीरावच्छिन्नात्मत्वेन मनुष्यादिपदशक्यतास्तु, तत्रापि तस्य भूरिप्रयोगादिति—वाच्यम्; शक्यशरीराभेदेन लक्षणया वा प्रयोगोपपत्तावनेकशक्तत्वस्यान्याय्यत्वात् । अत्र मन्मते । अत्रेदं बोध्यं—नाभेदनिबन्धनः प्रयोगः शरीरिणि संभवति; ब्रह्मणि परमते पृथिवीजीवादिभेदनिर्णयसत्त्वात्, 'अहं मनुष्य' इत्यादिप्रयोगस्तु युक्तः; जीवानामात्मनि शरीराभेदभ्रमसत्त्वादिति । अन्यथैवेति । यथा शकुनिरन्यत्र विश्राममलब्ध्वा सूत्रमाश्रयति, तथा जीवः स्वरूपमित्यत्र अन्यत्र विश्रामालब्धिपूर्वकाश्रयणस्य साधर्म्यत्वेन विवक्षितत्वात् न भेदान्तर्भावेन साधर्म्यम्; तथासति स्वरूपत्वाभावादिति भावः । ननु 'जीवः प्राणमाश्रयत' इति श्रुतावुक्तं स्वरूपावस्थानं कथमुच्यते ? तत्राह—स्वमपीत इति । प्राणपदेन ब्रह्मोक्तम् । 'सता सोम्य तदा सम्पन्नः स्वमपीत' इति श्रुतेः 'स्वाप्यया'दिति न्यायाच्च तस्य जीवस्वरूपत्वम् । मुख्यस्य लाघवाच्छक्तस्य । अर्थान्तरपरत्वे स्वीया-

‘यथा अस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुषुप्तां वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संलयायैव धीयते । एवमेवायं पुरुष’ इति सुषुप्तिसमये श्रुत्यन्तरे भिन्नश्येननीडदृष्टान्तोक्तिरिति च—निरस्तम्; सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामतन्त्रत्वात् । नच—प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः स इति सुषुप्तिविषये भेदश्रुत्या त्वन्मतेऽपि भेदपरेण सुषुप्त्युत्कान्त्योर्भेदेनेति सूत्रेण त्वत्पक्षेऽपि जागरण इव सुषुप्तावपि आविद्यकजीवब्रह्मभेदस्वीकारेण च विरोध इति—वाच्यम्; यतो जाग्रत्स्वप्नयोरिव स्फुटतरविक्षेपो नास्तीत्यभिप्रायेण स्वस्वरूपप्राप्त्युक्तिः, न त्वात्यन्तिकाभेदाभिप्रायेण; अन्यथा सुषुप्तिमुक्तयोरविशेषोपपत्तेः । यदि सज्जगतो मूलं, तदा कथं नोपलभ्यत इत्याशङ्कायां विद्यमानमपि वस्तु नोपलभ्यते अन्यथा तूपलभ्यत इत्यमुमर्थं स्पष्टीकर्तुं लवणोदकदृष्टान्त इति; तत्राप्यन्यथोपपत्तेः । यद्येवं लवणमिवेन्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि जगन्मूलं सत् उपायान्तरेण उपलब्धुं शक्यत इति तस्यैवोपलम्भे क उपाय इत्याशङ्कायां ‘आचार्यवान् पुरुषो वेदे’त्युपायं वक्तुं गान्धारपुरुषदृष्टान्त इति तत्राप्यन्यथैवोपपत्तेः । तथा आचार्यवान् विद्वान् येन क्रमेण सता संवध्यते स क इत्याशङ्कायां सत्याभिसन्धस्यार्थप्राप्तिरनृताभिसन्धस्यानर्थप्राप्तिरिति वक्तुं स्तेनास्तेनदृष्टान्त इति तत्राप्यन्यथैवोपपत्तेः । नच सत्यानृतदृष्टान्तेन पुरेऽपहार्षात् ‘स्तेयमकार्षी’दिति उदाहरणायोगः; तदुपपादकत्वेन पृथक् दृष्टान्तत्वभावात् । ननु—द्वितीयखण्डे ‘नानात्ययानां वृक्षाणां रसानि’त्यादिनोक्तानां नानावृक्षरसानां तृतीये ‘इमाः सोम्य नद्य’ इत्यादिनोक्तयोर्नदीसमुद्रयोश्चैक्यं वक्तुं नहि शक्यम्, नहि नानावृक्षरसा अन्योन्यभेदत्यागेन प्राक् सिद्धेन मधुना ऐक्यमापद्यन्ते, नवा प्राक् भेदभ्रान्तिविषयाः पश्चात्तदविषयाः; किंतु तन्तव इव पटमन्योन्यभिन्ना एव प्रागसिद्धं मधूत्पादयन्ति । नचेदं दार्ष्टान्तिकानुगुणम्; नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि किं नदीसमुद्रावयविनोरैक्यं, किंवा तदवयवजलाणूनाम्, उत द्रव्यान्तरारम्भः । नाद्यद्वितीयौ; माषराशौ प्रक्षिप्तमाषतदवयवानामिव क्षीरे प्रक्षिप्तनीरतदवयवानामिव चान्योन्यमिश्रीभावेऽपि प्राग्भिन्नानां पश्चादप्यैक्यायोगात्, तृतीये तु भेद एव, एवं दार्ष्टान्तिकाननुगुण्यं चेति—चेन्न; स्फुटावच्छेदकविरहेण स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण दृष्टान्तानामुपात्तत्वेन दृष्टान्ते वास्तवभेदाभेदयोरौदासीन्येन त्वदुक्तदूषणगणानामगणनीयत्वात् । अतएव—सतोऽभेदस्याज्ञानमात्रे दृष्टान्त इति—निरस्तम्; भेदसत्तायामौदासीन्यात् । नचैवमस्फुटभेदविषयत्वस्यात्यन्तिकाभेदेऽनुपयोगः; सूक्ष्मोपाध्यवच्छिन्नस्य महोपाध्यवच्छिन्नैक्यवत्तदवच्छिन्नस्यापि तद्विलये अनवच्छिन्नैक्यमिति संभावनावुद्भिजननद्वारोपयोगित्वसंभवात् । अतएव ‘ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दिपरत्वे । पर्यवसानादिति । संस्कारावस्थाप्राप्त्यनुकूलव्यापारः अपिपूर्वस्यैतेरर्थः; ‘जगतः प्रभवाप्यथावि’ति प्रयोगात् उक्तावस्थाफलभागात्वे स्वमित्यस्य कर्मता । तिरोहितगतेस्तदर्थत्वे उक्तप्राप्तेरिव गतेरप्यौपाधिकत्वेन संभवादुक्तप्राप्तावेव तिरोधानपर्यवसानाच्च न क्षतिः । भेदपरेण जीवमनूय तार्विकलक्षणब्रह्मात्मकतत्स्वरूपपरेण । विरोधः स्वरूपार्थकत्वशब्दविरोधः । अन्यथा साधनविशेषेण । अन्यथोपपत्तेरिति । जललीनलवणं साधनविशेषोपलभ्यत्वसाधर्म्येण दृष्टान्तः । पुरुषदृष्टान्त इति । उपदेशोत्तरमेवोहापोहेन यथा गन्धारदेशो ज्ञायते, तथा ब्रह्मेत्यंशे दृष्टान्तः । अनृतदृष्टान्तेन ‘अनृताभिसन्धी अनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दहतेऽथ हन्यत’ इत्यादिना । इत्युदाहरणायोगः ‘पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीत’मित्यादिपूर्ववाक्यमयुक्तम् । तदुपपादकत्वेन ‘स यदि तस्य कर्ता भवति स तत एवानृतमात्मानं कुरुते’ इत्यन्तवाक्यं विना स्तेयं न कृतमित्यस्यानृतस्यास्पष्टत्वेन । पृथग्दृष्टान्तत्वाभावादिति । अनृताभिसन्धत्वप्रयुक्तबन्धेन साधर्म्येण स्तेनः संसारिणां, सत्याभिसन्धत्वप्रयुक्तमुक्त्या साधर्म्येणास्तेन ऐक्यज्ञानिनां दृष्टान्त इति भावः । स्फुटावच्छेदकैति । अहङ्कारोपाधीत्यर्थः । स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण प्रत्ययविशेषविषयभेदाभावेन साधर्म्येण । सूक्ष्मोपाध्यवच्छिन्नस्य अहङ्कारोपलक्षितस्य । तद्विलय इत्यत्रापि संबध्यते । सूक्ष्मोपाध्यभाव इति तदर्थः । महोपाध्यवच्छिन्नस्य अविद्योपहितस्य । तद्विलये अविद्याविरहे । संभावनेति । जीवब्रह्मस्वरूपयोरैक्यसंभावनेत्यर्थः । सम्पद्येत्यस्य संप्रदामह इत्यस्य । सत्संपत्तेः जीवस्वरूपाभिन्नब्रह्मस्वरूपस्पष्टभेदाभावस्य । ज्ञानपूर्वकत्वाभावात् अहंब्रह्मेतिज्ञानपूर्वकत्वाभावात् । ननु—‘न विदुः सति संपत्स्यामह’ इत्यनेन सत्संपत्तेरज्ञातत्वमुक्तम्, तावताच नोक्तज्ञानाभावलाभ इति—चेन्न; सति संपत्स्यामहे’ इत्यस्य ‘स्वमपीतो भवती’त्येकवाक्यतया स्वाभिज्ञे सति संपत्स्यामह इत्यर्थात् उक्तस्वरूपभेदा-

एव भवती'त्यत्र प्रकृतनदीरुद्दिश्य समुद्रभवनविधाने सुवर्णं कुण्डलं भवतीतिवत्, ताः समुद्र एव भवन्तीति व्यपदेशः स्यात् । अतो नद्यो नियतजलराशिरूपात् समुद्रात् गच्छन्ति तं प्रविशन्ति च । समुद्रस्तु स एव । नैतासां समुद्रत्वमिति वा, समुद्र एव नतु नदीत्वं प्राप्नोतीति वार्थः । सतोऽप्यन्योन्यं भेदस्याज्ञान एवेमौ दृष्टान्तौ । अतएव—नानारसवाक्ये दार्ष्टान्तिके 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामह इति त इह व्याघ्रो वे'ति नदीसमुद्रवाक्ये च दार्ष्टान्तिके 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह' इति 'त इह व्याघ्रो वे'ति सतो भेदस्याज्ञानेनैवानर्थ उक्त इति—निरस्तम्; स्पष्टभेदविषयताभावाभिप्रायेण दृष्टान्तत्वात् । यच्च भेदाज्ञाननिबन्धनव्याघ्रादिरूपानर्थपरा श्रुतिरिति, तन्न; सति संपद्येत्यस्यासन्नत्वात् । 'न विदुः'रित्यनेन सत्संपत्त्यज्ञानमुच्यते नतु भेदाज्ञानम् । तथाच सत्संपत्तेर्ज्ञानपूर्वकत्वाभावात् तत्तद्भासनया तत्तद्वाद्यादिभाव एव भवतीत्येतत्परत्वात् ॥

तस्मादृष्टान्तवर्याणां भेदे तात्पर्यहानितः । एतेषामनुसारेण छेदो नातदिति स्फुटम् ॥

ननु—आद्यखण्डे स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदसुषुप्तिनिर्दर्शनेन चतुर्थे चास्य यदेकां शाखां जीवो जहातीत्यादिना अन्वयव्यतिरेकोक्त्या अष्टमे च पुरुषं सोम्योतोपतापिनमित्यादिना स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदमरणनिर्दर्शनेन ईश्वराधीनत्वस्योक्तत्वादतदित्येव छेदो युक्त इति—चेन्न; स्वप्नान्तमित्यादेः सुषुप्त्यवस्थायामेव जीवत्वविनिर्मुक्तं स्वं देवतारूपं दर्शयिष्यामीत्यनेनाभिप्रायेण उद्दालकेनावतारितत्वेनेश्वराधीनत्वपरत्वाभावात् । जलादुत्थितानां वीचीतरङ्गफेनबुद्बुदानां पुनस्तद्भावं गतानां विनाशो दृष्टः । जीवानां प्रत्यहं स्वरूपतां गच्छतां मरणप्रलययोश्च नाशाभावः कथमित्याशङ्कायां तत्परिहारत्वेनोक्तस्य वृक्षशाखानिर्दर्शनस्य जीवाधिष्ठितं शरीरं जीवति तदपेतं च म्रियते नतु जीवो म्रियत इत्येतत्परत्वात् । 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत' इति वाक्यशेषात् यथा सोम्योपतापिनमित्यस्यापि 'आचार्यवान् विद्वान् केन क्रमेण सत् संपद्यत' इत्याशङ्कायां तत्क्रमप्रदर्शनपरत्वेन ईश्वराधीनत्वे तात्पर्याभावात् । यत्तु चतुर्थे 'जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेयीयमानो मोदमानस्तिष्ठती'त्यत्र जीवशब्द ईश्वरपरः मोदमान इति संसारिणः पृथगुक्तिरिति, तन्न; मोदमान इत्यस्य दृष्टान्तत्वेन प्रक्रान्तवृक्षविशेषणत्वेन संसारिपरत्वाभावेन जीव इत्यत्र श्रुतार्थत्वागायोगात् । यच्च पञ्चमे एतस्यैव सोम्यैषोऽणिम एव महान्यग्रोधस्तिष्ठतीति, अत्र अणिमशब्दः सूक्ष्मेश्वरपरः; स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति इहैव श्रुतावीश्वरे तस्य प्रयोगात्, नतु धानापरः; तासां किमत्र पश्यासीति अण्वय इवेमा धाना इति भावप्रत्ययरहितेन स्त्रीलिङ्गेन बहुवचनान्तेन इवशब्दशिरस्केनाणुशब्देन निर्दिष्टतया तद्विपरीताणिमशब्दानर्हत्वाच्चेति—चेन्न; एषोऽणुरात्मेत्यत्र भावप्रत्ययरहितप्रयोगविषयेऽपीश्वरे एषोऽणिमेति प्रयोगदर्शनेन धानासु तथा वक्तुं शक्यत्वात् । नच

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावाज्ञानोक्त्योक्तस्वरूपात्मकविशेषणाज्ञानस्यैव विवक्षितत्वात् । अथवा—अहङ्कारानुपहितरूपेण सत्प्राप्त्यापि तादृशरूपं न विदुः सुतरामनुपहितसद्रूपोऽहमिति न विदुरित्यर्थस्य विवक्षितत्वात् । वस्तुतः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामह इत्यस्य सुषुप्तिकालीनोक्तभेदाभावरूपसम्पत्तिं प्राप्यापि सति ब्रह्मणि संपत्स्यामह अभिन्ना वयमिति न विदुरहं ब्रह्मेति न विदुरित्यर्थः । 'परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'त्यत्रैक्येऽपि सम्पदेः प्रयोगात् । अतएव 'हिरण्यनिधिं निहित'मित्यादिसर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्योऽपि ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति 'अनृतेन हि प्रत्यूढा' इत्यत्र स्फुटोऽयमर्थः । रूपमिति । स्त्रीयस्फुटभेदाभाववत्त्वेनेति शेषः । प्रक्रान्तेति । 'अस्य सौम्य महतो वृक्षस्ये'त्यादिना प्रक्रान्तेत्यर्थः । परत्वाभावेनेति । शाखासमभिव्याहारात् मोदमानस्तिष्ठतीत्यत्र 'अस्य यदेकां शाखां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यती'त्यनेन मोदमानस्य शोषणोक्तेश्चासंसारित्वम् । नहि छेदनाद्युत्तरशोषणकाले वृक्षस्य जीवसंबन्धः, येन शुष्यवृक्षसंबन्धेन जीवस्यैव शोषणमुच्येत, मोदमानत्वं तु जीवसंबन्धादचेतनेऽपि प्रयोगार्हम् । तथाचानेकजीवपदानां प्रसिद्धसंयार्थकत्वत्यागो न युक्त इति भावः । एषोऽणुरिति । ननु—सुषुप्तके एषोऽणुरात्मेत्यास्ताम्, छान्दोग्ये अणिमशब्दस्य प्रयोगादीश एव छान्दोग्यस्थाणिमशब्दो युक्त इति चेन्न; अणुशब्दप्रतिपाद्ये अणिमशब्दो न प्रयुक्तः श्रुतावित्युच्यते, प्रकृते अणिम इत्यस्य धानायां प्रयोगे बीजाभाव इति वा । आद्ये एषोऽणुरित्यादि, अन्त्ये तु वटबीजे दृश्यमानधानानां बहुत्वेनाण्वय इत्युक्तावपि न्यग्रोधोपादानत्वे जगन्मूलीभूतब्रह्मणः एकस्य दृष्टान्तत्वे च बहुत्वानुपयोगादेकवचनम्, एकस्याप्यणुभावोप-

तर्हि न निभालयस इत्युक्तादृश्यत्वायोगः; अनुभूतायां धानायामेव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति स त्वया-
ऽनभिव्यक्तत्वात् न ज्ञायत इत्येवंपरत्वात् । ननु—यद्यष्टमे विदुषो ब्रह्मप्राप्तिमात्रं विवक्षितम्, तदा तस्य
वाङ्मनसि संपद्यत इत्यादि तेजः परस्यां देवतायामित्यन्तमेव वाक्यं स्यात्, यावद्वा वाङ्मनसि संपद्यत
इत्यादि व्यर्थं स्यादिति—चेन्न; लौकिकमरणे यः सत्संपत्तिक्रमः स एव विदुषोऽपि विशेषस्तु ज्ञाना-
ज्ञानकृत इति अमुमर्थं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्संपत्तिक्रम इति वैयर्थ्याभावात् ।
नच 'तत् सत्यं स आत्मा' इत्यत्रात्मशब्देनाणिमशब्दोक्तेः श्वर एव गृह्यते ननु जीवः, यदाप्रोति यदादत्ते
यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥' इति वचनादिति—वाच्यम्;
कतम आत्मेत्यादौ आत्मशब्दस्य जीवे प्रसिद्धत्वात्, वचनोक्तविषयात्तत्त्वस्य जीव एव च संभवात्
तत्परिग्रहस्यैवोचितत्वात् । यच्च 'तमेवैकं जानथ आत्मानं'मिति वाक्योक्तो न जीवः तद्वाचिशब्दा-
भावादिति सिद्धान्तितम्, तदात्मशब्दस्य न जीवे अमुख्यत्वाभिप्रायेण किंतु प्रधानादौ । जीवस्य तु
आत्मत्वेऽपि परिच्छिन्नतया जगत्कर्तृत्वासंभवात् व्युदास इत्येवंपरम् जीवेनात्मनेति सामानाधि-
करण्यानुपपत्तेश्च । नच जीवशब्देन ईश्वर एवोक्तः; रूढिपरित्यागे कारणाभावात्, रूढेश्च कृतत्वात्,
अहं हि जीवसंज्ञ इत्यादेश्च अभेदपक्षेऽपि संभवात् । नच प्राणधारकत्वमीशमात्रवृत्तिः जीवसाधा-
रणत्वात् । नच त्रिवृत्करणपूर्वकनामरूपव्याकरणस्य जीवेऽसंभवः असदादावसंभवेऽप्यत्रिवृत्कृत-
भूतारब्धलिङ्गशरीराभिमानिनो हिरण्यगर्भस्य नामरूपात्मकप्रपञ्चव्याकरणसंभवात् । नच—तर्हि
पुनर्जीवप्रवेशोक्त्ययोगः 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त इमास्तिष्ठो देवता' इति पूर्वमेव चेतनत्व-
सिद्धेरिति—वाच्यम्; अव्याकृतभूतसृष्टौ साक्षात्कारणत्ववत् ब्रह्माण्डादिसृष्टौ न साक्षात्कारणता
किंतु स्वाभिन्नजीवद्वारेणेत्येवंपरत्वात् । किंच 'एकमेवाद्वितीयमित्युपक्रमात् न श्येनादिदृष्टान्तानु-
सारादतदिति पदच्छेदो युक्तः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधात्, ब्रह्मजीवैक्यस्याप्रस-
क्तत्वेन निषेधानुपपत्तेश्च । नच—'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ'मित्यादाविव श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानेन

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

हितस्यैवोपादानता, ननु स्थूलरूपेण विकृतस्येति ज्ञापनायाणुभावाभिन्नत्वेन धानानिर्देशः । उक्तज्ञापनमप्यविकृत-
ब्रह्मण उपादानत्वज्ञापनाय, पुल्लिङ्गं तु उक्तभावप्रत्ययानुरोधादिति भावः । परमते वटवीजधानास्थत्वेन नियन्तृत्वादि-
युक्त्येशस्य सूक्ष्मतायां प्रकृतवाक्यतात्पर्यम् । 'यं वै सोम्ये'त्यादौ यमणिमानं न पश्यसि एतस्य वटधानास्थस्य
कार्यं न्यग्रोध इत्याद्यर्थकत्वसंभवात् तत्र न्यग्रोधमात्रस्येशजन्यत्वोक्तिर्व्यर्था । श्रद्धास्तेत्यप्यसङ्गतम्; तत्रासंभाव-
नाविरहादिति बोध्यम् । नच—एवं न्यग्रोध इत्यनेन सकलजीवरूपो नियम्योऽर्थो बोध्यते, न्यग्रभावेन रुध्यते
असौ ईशेनेति व्युत्पत्तेरिति—वाच्यम्; रूढित्यागस्यायुक्तत्वात् । अदृश्यत्वायोग इति । अणिष्ठा तां न निभालयस
इत्यत्राणिमशब्देनापि धानाया वाच्यत्वात् तस्याश्च किं पश्यसीत्यादिना दृश्यत्वस्योक्तत्वात् पुनरदृश्यत्वोक्तिरयुक्त्यर्थः ।
न ज्ञायत इति । तथाच 'यं वै सोम्ये'त्यादेर्यमणिमानं न निभालयसे एषोऽणिमेव न्यग्रोधः दृश्यमानन्यग्रोधा-
भिन्नः । एकस्य धानारूपस्य अणिष्ठाः । तिष्ठति तादृशाणिमति तिष्ठति । ननु सूक्ष्मधानानां मध्ये महान् न्यग्रोधः
कथं तिष्ठति ? तत्राह—श्रद्धास्तेवेति । संस्काररूपाणिमावस्थायां सूक्ष्मायामपि धानायां स्थितिः संभवतीत्यर्थः ।
विशेषः सत्संपत्त्युत्तरं संसारमोक्षरूपः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वागाद्यसंपत्तौ विशेषज्ञानात् सदसंपत्तिः, वागादि-
संपत्तौ विशेषज्ञानाभावेन सत्संपत्तिरिति वागादिसंपत्तिरेव संपत्तौ क्रम इत्यस्य यावदित्यादिना ज्ञापनेन न तद्व्यर्थ-
मित्यर्थः । जीव एवेति । अनश्नन्नन्य इति श्रुतेः । असंभवादिति । तथाच तमेवेत्यादिवाक्यबोध्यो न जीवः ।
उक्तवाक्यैकवाक्यतापन्ने जगत्कर्तृत्वबोधकभागे तद्वाचिशब्दाभावादिति सिद्धान्तवाक्यार्थः । नच प्राणेत्यादि ।
तथाच योगोऽपि न संभवति । जीवयतीति निजर्थस्तु न श्रुत इति भावः । प्रवेशोक्तीति । 'जीवेनात्मनानुप्रवि-
श्ये'ति प्रवेशोक्तीत्यर्थः । परत्वादिति । तथाच जीवस्य नामरूपयोः प्रवेशं विना तत्परिणामब्रह्माण्डादिषूपादानत्वा-
संभवात् प्रवेशोक्तिर्न व्यर्था । पूर्वपूर्वभूतानुप्रविष्टस्यैवोत्तरोत्तरभूतोपादानत्वं हि आकाशवाय्वादिषु दृष्टम्; तदभि-
ध्यानादेव तु 'तल्लिङ्गात्स' इति न्यायात्, तत्तत्परिणामिकारणावच्छेदेनैव परिणामानामुपादानचित्संबन्धस्य संभवाच्च
कुलालादेरपि कपालाद्यवच्छिन्नचित्तादात्म्यापन्नसाक्षिरूपेणैव घटादौ निमित्तोपादानत्वादिति भावः । संज्ञामूर्तीत्याद्य-
धिकरणे जीवेनात्मनानुप्रविश्येत्यादौ जीवस्यैव प्रवेशान्वयः, नामरूपव्याकर्तृत्वान्वयस्तु त्रिवृत्कुर्वत ईशस्यैव; तयोर-
भेदाच्च समानकर्तृत्वार्थकत्वाप्रत्यय इत्युक्तत्वेऽपि संभवप्राचुर्येण जीवस्यैवोभयत्रान्वय उक्तः । अथवा—साक्षात्
जीवनैरपेक्ष्येण । जीवद्वारा जीवसापेक्षतया । तथाच जीवेनेत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भजीवस्य व्याकर्तृत्वाप्रतीतावपि

‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसी’दित्यादाविधानादिकुसमयेन वा देहेन्द्रियादीन् प्रति स्वातन्त्र्यरूपस्य ऐश्वर्यस्य सर्वैरपि स्वात्मन्यभिमन्यमानत्वेन प्रत्यक्षेण वा प्रसक्तिरैक्यस्येति—वाच्यम्; ऐक्यतात्पर्यस्य प्रमितत्वेन सुसमयत्वस्य व्यवस्थापितत्वेन च तात्पर्यापरिज्ञानकुसमयप्राप्तत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ऐक्यलिङ्गस्यापि आभिमानिकत्वाभावेन तेन चेत् प्रसक्तिः तदा निषेद्धमशक्यतैव; देहेन्द्रियादीनां जीवस्यैक्येनाध्यस्तत्वात् तान् प्रति स्वातन्त्र्याभिमानस्य सार्वलौकिकस्य वक्तुमशक्यत्वात् यत्किञ्चित्प्रति स्वातन्त्र्यस्य ईश्वरलक्षणत्वाभावाच्च । एतेन—एकमेवाद्वितीयमिति समाभ्यधिकराहित्यस्योपक्रमात् ऐतदात्म्यमिति तस्यैवोपसंहारात् अतत्त्वमसीति नवकृतवोऽभ्यासात् शास्त्रं विना शास्त्रैकगम्यस्य ईश्वरभेदस्याप्रसक्ततयाऽपूर्वत्वात् अथ सम्पत्स्यत इति फलश्रवणात् येनाश्रुतं भवतीत्यर्थवादात् शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तरूपपादनात् षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि भेदपराण्येवेति—निरस्तम्; एकमेवेत्यत्र समाभ्यधिकराहित्यमात्रेण भेदोपक्रमत्वाभावात्, अभेदेऽपि तत्संभवात्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधात्, द्वितीयाभावमात्रस्यैवोपक्रमात् । अतएवाभ्यासोपसंहारावपि भेदविषयौ न भवतः अभेदे तु यथाऽपूर्वता तथोक्तम् । फलार्थवादोपपत्तीनामभेद एव संभवाच्च । तथा शास्त्रान्तरस्थिताभेदवाक्यानामुपासनाप्रकरणस्थितानां तूपासनापरतया नाभेदपरवाक्यविरोधः ॥ इति तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम् ॥

अथ अहं ब्रह्मासीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम् ।

बृहदारण्यकस्थितस्य तु ‘ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मासी’ति वाक्यस्यानुपासनाप्रकरणस्थतया अभेदप्रमापकत्वमेव । नच तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति भेदपरवाक्यशेषविरोधः; तत्रापि देवादिषु प्रबुद्धं पुरुषं निर्धार्य ‘सएव तदभव’दिति ब्रह्माभेदपरत्वेन भेदपरत्वाभावात् । नच—अत्र वाक्ये ब्रह्मण एव प्रकृतत्वान्नानेन जीवब्रह्मैक्यसिद्धिरिति—शङ्क्यम्; यो देवानामिति जीवपरामर्शवाक्यशेषानुसारेण ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वात्, शुद्धब्रह्मपरत्वे च बोधनिमित्तस्य तस्मात्तत्सर्वमभवदिति सार्वार्थ्यलक्षणफलकीर्तनस्यायुक्तत्वापत्तेः । नच—‘नाम ब्रह्मेत्युपासीतादित्यो ब्रह्मेत्यादेश’ इत्यादाविति शब्दशिरस्कतया नामाद्यभेदाभावादत्रापीति शब्दशिरस्कतया ब्रह्मभेदाभाव इति—शङ्क्यम्; अनुपासनाप्रकरणस्थत्वे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रुत्यन्तरे तथाप्रतीत्या तस्यापि ब्रह्माण्डादिव्याकर्तृत्वमिति भावः । एवंच ‘सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ ‘आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते’त्यादिश्रुतीनामविरोध इति ध्येयम् । ऐक्येनाध्यस्तत्वादित्यादि । ननु—त्वन्मतेऽपि ‘मम देह’ इत्यादिप्रत्ययेन देहत्वादिरूपेण नैक्याध्यासः, किंतु मनुष्यत्वादिरूपेणैव । एवं ‘मम चक्षु’रित्यादिप्रत्ययात् काणत्वादिनैवाध्यासः, यत्किञ्चित्स्वातन्त्र्यमपि न जीवस्येति तदीशलक्षणमेव । स्वातन्त्र्यं हि स्वभिन्नानधीनतया देहादिविनियोकृत्वम्, जीवस्तु स्वभिन्नेशस्याधीन एव । तथाच स्वामित्वस्य स्वातन्त्र्यरूपत्वाभावादैक्याध्यस्ते देहादौ स्वामित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति—चेन्न; स्वत्वानुगमात् । ईशे हि तदन्यानधीनत्वघटितं स्वातन्त्र्यम् । तच्च न जीवे; तत्तज्जीवान्यानधीनत्वघटितत्वाद्यभावात् । नच—अनधीनत्वघटितस्य तस्येशनिष्ठस्य जीवनिष्ठत्वाभिमान इति—वाच्यम्; अनधीनत्वस्य जीवेऽप्यनभिमान्यमानत्वात्, ईशाधीनोऽहमिति सर्वैरपि स्वीकारात् । किञ्च यत्किञ्चिदित्यादेशमर्थः—जीवे यत्किञ्चित्प्रति स्वातन्त्र्यमेव वाच्यम् । तदपि नेशस्वरूपस्य शुद्धस्य लक्षणम्; किंतुपहितस्य । तथाच तत्त्वमस्यादौ तद्वेदबोधकत्वे स्थापितेऽपि न त्वदिष्टसिद्धिः; अस्मत्संमतस्य शुद्धयोरैक्यस्यानुपमर्दात् । भेदोपक्रमत्वाभावात् तत्त्विकभेदोपक्रमत्वाभावात् । अभेदेऽपि वास्तवाभेदेऽपि । तथाच समाभ्यधिकराहित्यादपकृष्टानां सत्त्वलाभेनातत्त्विकभेदप्रत्ययेऽपि न क्षतिः । मात्रस्यैवेति । मुख्यार्थत्यागानौचित्यादिति भावः । तदुपपादनं तु कृतमसकृत् । तर्कैरित्यादि—तत्त्वमर्थनिरूपणम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम् ॥

आत्मेत्येवोपासीतेत्यादि । उक्तवाक्ये आत्मन उपासिधातुरूपशब्दमुपासनात्मकज्ञानं च प्रति कर्मतावारणायेति शब्द इति भाष्यादावुक्तं, तद्वत् प्रकृतेऽपीत्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरात्मस्वरूपमात्रस्य प्रतिपाद्यतालाभायेति

नाभेदाविवक्षाया नाम ब्रह्मेत्यादाविव वक्तुमशक्यत्वात् । नचेतिशब्दवैयर्थ्यम्; आत्मेत्येवोपासीत
इत्यादाविव शब्दज्ञानयोः स्वाभाविकसकर्मकत्वप्राप्तौ तन्निराकरणपरत्वेनोपयोगात् । यच्च—अहं-
शब्दो जीवान्तर्यामिणि मुख्यः अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति अन्तर्यामिण्यहंशब्दप्रयोगात्, सर्वान्तर्या-
मिको विष्णुः सर्वनाम्ना विधीयते । एषोऽहं त्वमसौ चेति ननु सर्वस्वरूपतः ॥ इति वचनाच्चेति;
तन्न; शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववदिति न्यायेन वामदेवजीवचैतन्यस्य वस्तुतो ब्रह्माभेदेन
सूर्यादिभावस्योक्ततया अन्तर्यामिपरत्वाभावात् 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभव'दिति
पूर्ववाक्ये तत्त्वबोधनिमित्तकब्रह्मभावस्य प्रकृततया पश्यन् प्रतिपेदे इत्यादेरपि बोधनिमित्तकब्रह्मभाव-
परतया अन्तर्यामिपरत्वाभावात् । स्मृतेरपि असाधारणतत्तदात्मनि शक्तेरावश्यकतया तत्सहचा-
रेणान्तर्यामिणि एषोऽहमित्यादिप्रयोगः, ननु सर्वस्वरूपत इति । निषेधस्य तूपहितयोरैक्याभावनिव-
न्धनत्वान्न विरोधः । अतएव—विशिष्टचैतन्यरूपे वामदेवे विशिष्टचैतन्यरूपमनुसूर्यादिभावो न संभ-
वतीति—निरस्तम्; शास्त्रदृष्ट्या तूक्तत्वात् । नच तर्हि शुद्धचित्यभवमित्युत्तमपुरुषायोगः; भूतपूर्व-
गत्या संभवात् । नच—अहं भूमिमदामार्यायेत्याद्ययोगः, नहि चिन्मात्रं भूमिदात्रिति—वाच्यम्;
उपहितचित्तमादाय तेषामुपपत्तेः । अहं नामाभवत्तस्योपनिषदहमित्यादेश्च तादृशोपासनापरत्वेन
शक्तिनिर्णायकत्वाभावात् । तस्मान्नान्तर्याम्यभेदपरेयं श्रुतिः; अन्तर्यामिणि भेदाप्रसक्तेश्च । नच निय-
म्यानन्त्यादिना प्रसक्तिः; एकस्मिन्नपि जीवे अनेकावयवनियामकत्वस्यैकस्मिन्नपि राजन्ये अनेकदेश-
नियामकत्वस्य च दर्शनात् । “स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः” इत्यस्यापि नान्तर्याम्यै-
क्यपरता; ब्रह्मविदाप्रोति परमित्यादिना शुद्धस्य ब्रह्मणः प्रकृततया तस्मिन्नुपाधिकृतभेदस्य तात्त्विक-
त्वप्रसक्तौ तन्निराकरणार्थत्वेन ऐक्योपदेशोपपत्तेः । नचैवं छान्दोग्ये य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मीत्यत्र स एवैवान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र भेदपरोत्तरवाक्यविरोधः; तस्य उपासनाप्रकरणस्थ-
त्वेनाहं ब्रह्मोपासनापरतया विरोधाभावात् । नचोपासनाप्रकरणस्थितवाक्यबलादैक्यासिद्धावपि
अनुपासनाप्रकरणस्थितादपि तदसिद्धिः शङ्क्या; अन्यशेषत्वस्य तस्य तत्प्रयोजकस्याभावात्, अथ
योऽन्यां देवतामुपास्त इत्युत्तरवाक्यस्य भेदज्ञाननिन्दापरतया तदनुसारेण पूर्ववाक्यस्योपासनापर-
त्वायोगात् । यत्तु ब्रह्मशब्दोऽत्र ब्राह्मणार्थ इति न परब्रह्मैकसिद्धिः, अन्यथा पूर्ववाक्ये आत्मान-
मेवावेदहमित्यनेनैव ब्रह्मेति ज्ञानस्य सिद्धत्वात् ब्रह्मास्मीति व्यर्थमिति, तन्न; आत्मशब्देन जीवचैत-
न्यमनूय बृंहितत्वाद्युपलक्षितब्रह्मचैतन्याभेदविधिपरत्वेन सार्थकत्वात् । तथाच स्मृतिः ‘अहं हरिः
सर्वमिदं जनार्दन’ इत्यादिकापि सङ्गच्छते । यत्तु ‘अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहम-
स्मीति न स वेद यथा पशुरित्यत्रान्तर्यामिभेदज्ञाननिन्दनमिति, तन्न; अन्तर्यामिणोऽप्रकृतत्वात् पद-
द्वयलक्षणादेस्तात्पर्यानुरोधेन लब्धत्वात् । यत्तु अत्र योऽन्यो जीवः अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते
अन्योऽसौ परमात्मा अहमस्मीति न स वेद यथा पशुरित्यर्थ इति, तत्तुच्छम्; व्यवहितान्वयदो-
षात् । अहं शब्दसन्निहितान्य इत्यस्य य इत्यत्र नयनात् । नच—‘यस्य येनार्थसंबन्ध’ इति न्यायेन
सन्निधानाद्योग्यतायाः प्रबलत्वमिति—शङ्क्यम्; यथास्थितार्थसंबन्धेऽप्युक्तक्रमेण योग्यतासत्त्वात् ।
नचैयं श्रुतिः स्वातन्त्र्येणान्यसद्भावनिषेधिका; अन्यत्वप्रतियोगिनि स्वातन्त्र्योपस्थापकपदाभावात् ।
यत्तु कैश्चिदुपास्त इति श्रवणात् प्रयत्नसाध्यज्ञानविजातीयवृत्त्यन्तररूपोपासनाया एव निषेधः ननु
ज्ञानस्यैक्यम्, तन्न; “तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यते”ति पूर्ववाक्ये न स वेदेति निन्दावाक्ये च
वेदनस्यैव निर्देशात् मध्यस्थितोपास्तेरपि ज्ञानपरत्वात् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शब्द इत्यपि बोध्यम् । पश्यन्नित्यादि । लक्षणहेत्वोरित्यादिना हेतौ शतृप्रत्ययादित्यादिः । स्मृतेरपीति न विरोध
इत्यत्रान्वेति । उपहितयोरिति । अन्तर्यामित्वाहंत्वाद्युपहितयोरैक्याभावादन्तर्यामिणोऽहंत्वाद्युपहितसर्वास्वरूपत्वात्
सर्वनाम्नाभिधानं नेति स्मृत्यर्थः । भूतपूर्वगत्या बाधितानुवृत्त्या द्वारीभूतबोधस्याहंत्वप्रकारकस्याखण्डाकारबोधस्य
पूर्वं भूतत्वेनेति वार्थः । उपहितचित्तमादायेति । उपहितचित्तो दातृत्वेन तदुपस्थितिद्वाराखण्डार्थत्वमादायेत्यर्थः ।
ब्रह्म गमयतीति । ‘एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त नावर्तन्त’ इति शेषः । अन्यशेष-
त्वस्य ऐक्यान्यपरत्वस्य । तत्प्रयोजकस्य ऐक्यासिद्धिप्रयोजकस्य । अन्तर्यामिभेदज्ञाननिन्दनमिति । नियम्य-
भेदेनान्तर्यामी नानेति भेदप्रसक्तौ तन्निषेधपरपूर्ववाक्यस्य भेदनिन्दयोपकार इति भावः । तथाच ‘असौ मदन्त्य-
स्यान्तर्यामी अन्यः, अहं मदन्तर्यामी तु तदन्त्य’ इत्युक्तवाक्यार्थः । ज्ञानपरत्वादिति । ज्ञानबोधकपूर्वापरैकवाक्य-

एवं मुण्डके 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येतदपि वाक्यमभेदपरमेव । नच—द्वितीयब्रह्मशब्दो जीवपर एव, तस्य जातिजीवकमलासनाद्यनेकार्थत्वात्, द्वे ब्रह्मणी इत्यादौ जीवे ब्रह्मशब्दप्रयोगसंभवाच्च, यः परमं ब्रह्म वेद स जीव एव भवति नतु परमं ब्रह्मेत्यर्थः । अतएव आद्यो ब्रह्मशब्दः परमत्वेन विशेषित इति—वाच्यम्; जीवे ब्रह्मपदप्रयोगसंभवेऽपि प्रकृते परब्रह्मोपादानमेवोचितम्, जीवभावस्याब्रह्मभावस्य च प्रागेव सिद्धतया ब्रह्मज्ञानसाध्यत्वाभावात् । एवंच अर्थाद्द्वितीयब्रह्मभवनमपि परमत्वविशेषितमेव । यच्च ब्रह्म भवतीत्यस्य ब्रह्मतत्त्वरूपब्रह्मत्वाकान्तो भवतीत्यर्थः । संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत् इतिवत् । नहि शूद्रोऽपि पूजितब्राह्मणव्यक्तिर्भवति, किंतु ब्राह्मणत्वजात्याकान्त इति, तन्न; पूर्वोक्तयुक्त्या प्रकृते व्यक्त्यभेदस्यैव संभवेन दृष्टान्तवैषम्यात् । नच—'अस्य महिमान'मिति वाक्यशेषात्तदीयमहत्त्वप्राप्तिरेव, न तु तद्भाव इति—युक्तम्; देहेन्द्रियादिप्रपञ्चविलक्षणं यो वेद, प्रपञ्चं तद्विभूतिं च यो वेद, स वीतशोको भवतीत्येवंपरत्वात् । नच—'यथा नद्यः स्यन्दमाना' इति भिन्ननदीदृष्टान्तोक्तिरयुक्तेति—वाच्यम्; स्पष्टभेदविलयनमात्रपरत्वेन दृष्टान्तोपपत्तेरुक्तत्वात् । परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति न देशान्तरस्थ-ब्रह्मप्राप्त्युक्तिपरा; तस्याः सगुणोपासनाफलत्वेन ब्रह्मविद्याफलत्वासंभवेन स्वरूपभूतब्रह्मप्राप्तिपरत्वात् । नच—अद्वैतमते नित्यं ब्रह्मभूतस्यापूर्वब्रह्मभावोक्तिरयुक्तेति—वाच्यम्; कण्ठगतचामीकरादौ भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रेण प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलत्वदर्शनात् । नचारोपनिवृत्तेरशब्दत्वम्; श्रुतार्थापत्तिगम्यतया शाब्दत्वोपपत्तेः । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतिरप्यैक्यपरा । नचात्र प्रथमब्रह्मपदस्य जीवपरत्वाभावे कर्तृकर्मभावविरोधः; साक्षात्कारप्राक्कालीनौपाधिकभेदमादाय तादृङ्निर्देशोपपत्तेः । परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्येतदप्यभेदे मानम् । नच गावः सायं गोष्ठ एकीभवन्ति । एकीभूता नृपाः सर्वे ववर्षुः पाण्डवं शरैः । कीटो भ्रमरेणैकीभूत इति स्थानैक्यमतैक्यसादृश्यनिबन्धनैकीभावस्य गोनृपकीटभ्रमरादौ दर्शनात् अत्रापि तैरेव निमित्तैः गौण एकीभाव इति—वाच्यम्; मुख्यत्वे संभवति गौणत्वस्यायोगात् । ब्रह्मैक्यमात्रपरत्वेन सकृदुच्चरितस्य नानेकार्थपरत्वशङ्कापि । नचैक्यस्य प्रागेव सिद्धतया अभूततद्भावार्थचिब्रत्ययायोगः; स्वगृहनिक्षिप्ताज्ञातनिधिवत् सतोऽप्यावृतत्वेनाभूतसमतया चिब्रत्ययोपपत्तेः । नच परेऽव्यय इति श्रुतसप्तमीहानिरश्रुततृतीया-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

त्वानुरोधेनोपासनाफलज्ञानलक्षकत्वमुपासेः स्वीक्रियते, अन्यथा पूर्वपरवाक्यस्थबहुतरेषु ज्ञानार्थकपदेषु उपासनालक्षणापत्तेरिति भावः । यत्तु 'ब्रह्म वा इदमग्र आसी'दित्यत्र ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वे 'तदाहुर्यत् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मे'त्यादि पूर्ववाक्यासङ्गतिः, न हि कार्यब्रह्मविद्यया सार्वान्तर्यम्, तथाच तस्य कारणब्रह्मपरत्वमेव । एवंच 'तत्सर्वमभवदि'ति न फलोक्तिः किंतु ब्रह्मणश्च पूर्वस्वरूपानुभवप्रयुक्तानन्दोद्रेकात् सार्वान्तर्योक्तिरिति, तच्चुच्छम्; नहि कारणब्रह्मणः स्वरूपानुभवः आनन्दोद्रेको वा कादाचित्कः । तथाच ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या तत्प्रयुक्तपरिच्छेदनिवृत्तिरूपं सार्वान्तर्यं हिरण्यगर्भरूपकार्यब्रह्मण एवेति भाष्योक्तमेव युक्तम् । किमु तद्ब्रह्मेत्यादेस्तु न विरोधः; 'आत्मानमेवावे'दित्यादिनात्मस्वरूपमात्ररूपब्रह्मज्ञानात् सार्वान्तर्योक्तेरेव तदुत्तरत्वेन ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वेऽपि क्षत्यभावात् । वैषम्यादिति । 'ब्रह्म तत्त्वं तपो वेद' इति कोशादिना ब्रह्मशब्दस्य शुद्धात्मनि रुढेः सत्त्वाद्यौगिकवृंहितार्थकत्वमयुक्तमित्यपि बोध्यम् । अस्य महिमानमिति । 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश'मित्यादिः । देहेन्द्रियेत्यादि । जुष्टं संसारिभिः सेव्यमानं अस्य ईशस्य महिमानमेतदधिष्ठानकत्वेनैतत्सत्तया लब्धसत्ताकत्वादियुक्तं पश्यति मिथ्यात्वादियुक्तं पश्यतीति यावत् । ईशस्वरूपं च ततोऽन्यद्विलक्षणं सत्यत्वाद्युपलक्षितं पश्यति यः स वीतशोक इत्यर्थः । औपाधिकभेदमिति । 'ब्रह्मैव सन्नि'त्यादिना ब्रह्मतादात्म्यापन्नस्यैव कर्तृत्वं प्रतीयते । तस्य च कर्मीभूतशुद्धे ब्रह्मभिन्नत्वमौपाधिकमस्यैवेति भावः । स्थानैक्येत्यादि । 'गावो नृपाश्च एकीभूताः; भ्रमरेण कीट एकीभूत' इति व्यवहारदर्शनादित्यर्थः । ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ती'त्यत्र एकीभावस्य भेदाभावरूपत्वे कलादावनन्वयः; तथाच कलादयः सत्सम्प्रत्युक्तक्रमेण प्रतिष्ठादिकं गताः सन्तः परेऽव्यये स्थानैक्यरूपैकीभावं प्राप्ताः, कर्माणि ज्ञानप्रयुक्तनिवृत्तिरूपैक्यं प्राप्ताणि, अथवा—कला देवकर्माणि तादृशनिवृत्तिरूपैक्यं प्राप्ताणि, विज्ञानमयस्तु भेदाभावरूपैक्यं प्राप्त इत्यर्थः । तथाच सकृदुच्चरितैकपदस्य नानार्थबोधकत्वमावृत्त्यैवेति वाक्यभेदः, तत्राह—ब्रह्मैक्यमात्रेति । कलादिविज्ञानमयान्ताः परब्रह्मणि अभेदं प्राप्नुवन्तीत्येवार्थः । प्रतिष्ठादिगतकलादेः

कल्पनापत्तिश्चेति—वाच्यम्; श्रुत्यन्तरानुसारेण सप्तम्या अननुसरणीयत्वात् । न च 'परमं साम्य-
मुपैति परात्परं पुरुषमुपैती'ति पूर्वोत्तरवाक्यविरोधः; तस्य प्रागेव निरासात् । तथान्तर्यामिप्रकर-
णस्थं 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे'तिवाक्यम्, अक्षरप्रकरणस्थं 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ'ति वाक्यं च ऐक्ये
प्रमाणम् । नचात इत्यनेन प्रस्तुतं सर्वनियन्तारं परामृश्यान्यो द्रष्टा नास्तीत्युक्तेः स्वनियामकद्रष्टृन्तर-
निषेध आयाति, न तु द्रष्टृसामान्यनिषेधः, अस्मिन् ग्रामे अयमेव सर्वनियामको नान्यः पुरुषोऽस्ती-
त्यादावन्यशब्दस्य प्रस्तुतसदृशान्यपरतया व्युत्पन्नत्वात् समानमितरच्छेयेनेनेत्यत्र इतरशब्दस्य
पूर्वनिर्दिष्टसदृशपरत्वोक्तेश्चेति—वाच्यम्; अनेन हेतत्सर्वं वेदेति प्रतिज्ञातस्य एकविज्ञानेन सर्व-
विज्ञानस्योपपादनार्थं अन्यत्वेन प्रतीतेन जीवेनाभेदबोधनात् अचेतनवर्गस्य अतोऽन्यदार्तं नेति
नेतीति निषेधाच्च जीवब्रह्माभेद एव वाक्यप्रमेयः । दृष्टान्ते तु अभेदस्याविवक्षितत्वात् त्वदुक्त-
प्रकाराश्रयणे बाधकाभावात् । न चात्राप्यन्तर्यामिवाक्ये य आत्मनोऽन्तरः यमात्मा न वेद यस्यात्मा
शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयतीति पूर्ववाक्येन एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अतोऽन्यदार्त-
मित्युत्तरवाक्ये च विरोधः; तत्र परमात्मनोऽन्यं चेतनमङ्गीकृत्य तस्यार्तियुक्तत्वेनास्वातन्त्र्यस्यैवोक्ति-
रिति—वाच्यम्; पूर्ववाक्यस्योपाधिकभेदमात्रेणोपपत्तेः । उत्तरवाक्येन न चेतनान्तरस्यार्तियोगो
विधीयते, किंतु 'एषोऽन्तर्यामी ते आत्मे'ति जीवस्वरूपभूतादन्तर्यामिणो व्यतिरिक्तं सर्वम् आर्तं
विनश्वरमिति वा मिथ्येति वा बोधनान्न विरोधशङ्का । अतएव—अक्षरवाक्येऽपि 'एतस्य वा
अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिपूर्ववाक्येन विरोध—इत्यपास्तम् ।
किंच द्वितीयाद्वै भयं भवतीति भेदस्य भयहेतुत्वेन निन्दितत्वादप्यभेद एवोपनिषद्भ्यः । नच—
अस्य विरोधिनः समानात् भयं भवतीत्येवार्थः; लोके तादृशादेव भयं भवतीति लोकसिद्धानुवा-
दित्वात् 'पूर्वत्र' तस्मादेकाकी विभेति' उत्तरत्र 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रवणाच्चेति—वाच्यम्;
यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्न विभेतीति तत एवास्य भयं वीयायेति श्रुतेः । सामान्यतो द्वितीयमात्रदर्शन-
स्यैव भयहेतुत्वात् विशेषकल्पनायोगात् एकाकी विभेतीति पूर्ववाक्ये परमार्थदर्शनरहितस्य तन्नि-
मित्तभयसंभवात् एकाकी विभेतीत्युक्तम् । उत्तरवाक्ये तस्मादेकाकी न रमत इत्यत्र इष्टसंयोगज-
न्यरतेरेकाकिन्यभावात् एकाकिनो रतिर्नास्तीत्युक्तम् । ततश्चातत्त्वज्ञविषयोक्तवाक्यानुसारेण तत्त्व-
ज्ञविषयमध्यवाक्यस्य स्वार्थसमर्पणेनाप्युपयुक्तत्वात् तद्विरोध्यर्थपरत्वायोगात् एतस्मिन्नुदरमन्तरं
कुरुते । अथ तस्य भयं भवतीति भेदनिन्दयाप्यभेदसिद्धिः । नच—एतस्मिन्निति श्रवणात्
स्वगतभेदनिषेधोऽयम्, न भेदमात्रनिषेध इति—शङ्काम्; अल्पार्थकारशब्दस्वारस्यादप्यर्थकोत्पद-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कलाद्यवच्छिन्नसद्रूपेण पूर्वं स्थितस्य ज्ञानोत्तरं शुद्धसद्रूपैक्येनावस्थानादिति भावः । निषेधाच्चेति । आर्तशब्दस्य
मिथ्यार्थकत्वेन निषेधकत्वम् । आर्तियुक्तत्वेन दुःखप्रयुक्तत्वेन । आर्तियोगः दुःखयोगः । विनश्वरमिति ।
'यस्योभयं हविरार्तिमाच्छे'दित्यादौ नाशार्थकत्वदृष्टेरित्यादिः । मिथ्येति वेति । अत इत्यस्य अनुषङ्गेन अतो ब्रह्मणो
विनाशीत्यर्थलाभेन ब्रह्मणोऽखण्डाकारवृत्त्यभिव्यक्तस्यैव ब्रह्मान्यसर्वनाशकत्वात् ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वलाभः ।
सामान्यत इति । ननु द्वितीयाभावस्य भयाभावप्रयोजकत्वं नैव युक्तम्, द्वितीयाभावस्यैव द्वितीयत्वादिति—चेत्;
भ्रान्तोऽसि; नहि यन् मदन्यत् नास्तीत्यादौ द्वितीयाभावस्य भयाभावप्रयोजकत्वमुच्यते, किंतु भयहेतुत्वेन यद्यत्
प्रमाणसिद्धं, तस्य, कस्मादित्यनेनाक्षेपे कृते तत्र हेतुरनात्ममिथ्यात्वं यन्मदन्यत् नास्तीत्यनेनोक्तम् । अधिकरणं विना
निषेधापर्यवसानेन यत्र यत्र मदन्यत् प्रसक्तं, तत्र तज्जास्तीत्यर्थात् । तथाच द्वितीयमात्रदर्शनस्यैव भयहेतुत्वादित्यत्र
द्वितीयस्य विरोधिसमानतदितररूपस्य सत्यत्वेन ज्ञायमानस्यैव प्रमाणसिद्धं भयहेतुत्वमित्यर्थः । एतेन—
द्वितीयसामान्यस्य भयहेतुत्वे तत्त्वज्ञानादेरपि भयहेतुता स्यादिति—अपास्तम् । नच—एवं 'द्वितीयाद्वै भय'मित्यस्य
भयहेतुत्वेन मानसिद्धस्यैवानुवादात् द्वितीयसामान्यनिन्दापरत्वं न स्यादिति प्रकृतानुपयोग इति—वाच्यम्;
द्वितीयपदस्यात्मभिन्नार्थकतयात्मभिन्नादेव भयं नत्वात्मन इति भयहेतोरनात्मभेदोक्त्या भेदनिन्दाद्वारा अभेदस्तुत्या
प्रकृतोपयोगात् । विशेषकल्पनायोगात् विरोधिनः समानात् भयमित्यर्थकल्पनाया अयोगात् । विभेतीत्युक्त-
मिति । एकाकी विरोधिसमानहीनोऽपि विभेत्येव । सत्यत्वेन ज्ञायमानाविद्यातन्मूलकचिन्तादिसंभवात् ।
यदा तु मदन्यत् नास्तीति निश्चितं तदा न विभेतीत्यन्वयव्यतिरेकयोर्ज्ञापनायोक्तमिति भावः । नास्तीत्युक्त-
मिति । मदन्यत् नास्तीति निश्चयस्याभावे एकाक्यपि न रमते इति ज्ञापनायेति शेषः । अतएव स

स्वारस्यात् एतस्य प्रतियोगित्वेनानुल्लेखाच्च भेदमात्रनिषेधपरतया तद्विशेषनिषेधपरत्वकल्पना-
योगात् । एवं “एको देवः सर्वभूतेषु गूढः” इत्यादिश्रुतिरप्यत्रैक्ये प्रमाणम् । नच—अन्तर्याम्यैक्य-
परेयं श्रुतिः, “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादाविव भूतशब्दस्य चेतनपरत्वादिति—
वाच्यम्; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, चेतनस्य जायमानत्वाद्ययोगात्, भूतहिंसानिषेधवाक्य इव चेतनाधि-
ष्ठितप्राणशरीरादेरेव भूतशब्दवाच्यत्वात् । अत एव ‘एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।’
इत्यादिस्मृतिरपि । एवं ‘यावन्मोहं तु भेदः स्यात् जीवस्य च परस्य च । ततः परं न भेदोऽस्ति
भेदहेतोरभावतः ॥ विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करि-
ष्यति ॥’ इत्यादिस्मृत्या भेदस्याविद्यकत्वप्रतीतेरभेद एव तात्त्विक इति गम्यते । नचात्र भेदशब्दो
मित्रभेद इत्यादाविव वैमत्यार्थः; तथा सति लक्षणापत्तेः, अन्योन्याभावादेरेव मुख्यत्वात्, श्रुतार्थ-
त्यागस्यान्याय्यत्वात् । क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । इत्यादिस्मृतिरप्यत्र मानम् । नच—
क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धीत्यर्थः । ‘महाभूतान्यहङ्कार’ इत्याद्युक्त्वा ‘एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार-
मुदाहृतम्’ इत्यनेन ‘यस्य पृथिवी शरीर’मित्यादिश्रुत्येश्वरशरीरतयोक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं क्षेत्र-
मित्युक्तत्वादिति—वाच्यम्; सर्वनियामकतया सकलक्षेत्रसंबन्धस्य प्रागेव सिद्धेः पौनरुक्त्यापत्तेः,
तत्क्षेत्राधिष्ठातृत्वेन क्षेत्रज्ञपदवाच्यजीवाभेदपरत्वस्यैवोचितत्वात् । अत एव ‘क्षेत्राणि च शरीराणि
बीजानि च शुभाशुभे । श्रुतानि वेत्ति योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते । प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारम-
गुणात्मकम् । क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम् ॥’ इत्यादिस्मृतौ क्षेत्रज्ञशब्दस्य सर्वान्तर्यामिसर्व-
ज्ञपरत्वेऽपि प्रकृते तदसंभवः; जीवे सुप्रसिद्धत्वाच्च । नच शास्त्रस्था वेति न्यायः; तस्य एकतरा-
शास्त्रीयविषयत्वात् । एवमन्यान्यपि वाक्यानि यथासंभवमैक्ये योज्यानि । तस्मादागम ऐक्ये
मानम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

द्वितीयमैच्छदित्यादिना सृष्टिमुक्त्वा ‘आत्मेत्येवोपासीते’त्यादिनात्मनो द्वितीयशून्यस्य ज्ञेयत्वमुक्त्वा ‘तदेतत् प्रेय’
इत्यादिनात्मभिन्नमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वकात्मज्ञानात् सुतरां रमत इति सूचितमिति भावः । अल्पार्थकेत्यादि ।
अल्पमपि अन्तरं भेदं कुरुते जानाति चेत्, तदा तस्य भयमित्यनेन भेदसामान्यनिन्देति भावः । एतस्य
एतत्पदार्थस्य । अनुल्लेखादिति । नच—पदन्यायेनोपस्थित एतत्पदार्थ एव प्रतियोगीति—वाच्यम्; ‘समा-
नमितरच्छेद्येने’त्यादावपि ज्ञेयेतरस्य सर्वस्य ग्रहणापत्तेः । अथ निराकाङ्क्षाणां ग्रहणायोगादितरस्यैव साकाङ्क्षस्य
ग्रहणम्, तदा प्रकृतेऽपि ‘ब्रह्मविदामोति पर’मित्यादिना अद्वितीयात्मनो विहितत्वेन तत्स्तुतये द्वितीयमात्रनिन्दाया
आकाङ्क्षितत्वेन द्वितीयमात्रस्यैव प्रतियोगित्वम् । किंचारादिपदस्वारस्यविरुद्धमेतत्पदार्थप्रतियोगित्वं त्यक्त्वा पदन्याये-
नैवोपस्थितपञ्चकोशानामेव ग्रहणं युक्तम्, अन्यथातिसङ्गिहितस्यापरपदार्थस्यैव प्रतियोगित्वापत्तेः । नहि पदन्यायेन
स्ववाक्योपस्थितस्यैव ग्रहणं युक्तम्; ‘पदे जुहोती’त्यत्र एकहायन्यश्रवणात् ‘एकहायन्या सोमं क्रीणाती’ति पूर्ववाक्य
एव तच्छ्रवणात् । अन्तर्याम्यैक्यपरा अन्तर्यामी न नानेत्येवंपरा, नतु चेतनो नाना नेत्येवंपरा । चेतनाधिष्ठी-
तेति । चित्तादात्म्यापत्तेरर्थः । तथाच तादृशभूतस्याधारतया निर्देशादेकदेवशब्दितशुद्धात्मभेदेऽपि शुद्धात्मा न
नानेत्येवंपरत्वमव्याहृतम्; ‘केवलो निर्गुण’ इति वाक्यशेषात् । लक्षणापत्तेरिति । वैमत्यत्वं विरुद्धमतित्वं, तद-
पेक्षया लघुत्वेनान्योन्यभावत्वरूपाखण्डधर्मस्यैव भिदिधातुशक्यतावच्छेदकत्वमिति भावः । अन्योन्याभावादे-
रिति । ‘घटवान् पटवतो भिन्न’ इत्यादौ विलक्षणार्थकभिदेः घटवत्त्वादिकं शक्यतावच्छेदकम् । पञ्चम्या व्यावृत्तत्व-
मर्थः । तथाच ‘पटवव्यावृत्तघटवानित्यर्थ’ इत्याशयेनादिपदमुक्तम् । अन्यथा वैमत्य इव द्वैधीभावादावपि रूढ्यापत्ते-
रिति भावः । प्रागेव पूर्वाध्यायादौ ‘सर्वत्रगमचिन्त्यं चे’त्यादिवाक्यैरेव । तत्क्षेत्रेति । शरीररूपक्षेत्रेत्यर्थः ।
‘इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्रादुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।’ इति पूर्ववाक्येन शरीर-
वेदितरूपक्षेत्रज्ञस्योक्तत्वात् । तमपहाय सर्वक्षेत्रज्ञे लक्षणा न युक्तेति भावः । परत्वेऽपीत्यपिनोक्तवाक्यस्यापि जीवस्य
गुणसंवृतरूपेणैव कर्तृत्वादिसंसारः । गुणातीतरूपेण तु ब्रह्मैक्यमित्यत्रैव तात्पर्यमिति सूचितम् । उक्तवाक्ये सर्वक्षे-
त्रज्ञत्वेनेह एव क्षेत्रज्ञ उक्तः; बहुधनदत्त्वेन महाराज एव धनद इत्युक्तत्वात् । तथाच कुबेरे धनदपदरूढित्वात्
‘क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष’ इत्यादिकोशात् भूरिप्रयोगाच्च शब्दानां जीवे क्षेत्रज्ञपदस्य रूढिरव्याहतेत्याशयेनाह—जीवे
सुप्रसिद्धत्वाच्चेति । शास्त्रस्था वेति । यववराहादिशब्दानां शास्त्रस्थेषु आर्येषु प्रसिद्धो दीर्घशूकसूकारादिरेवार्थो
ग्राह्यः, नतु म्लेच्छप्रसिद्धः मिथ्यजुकाकादिः; शब्दार्थविप्लवपावनस्यार्थनिमित्तकत्वात् । आर्या हि वैदिका वेदार्था-

अथ जीवब्रह्माभेदानुमानम् ।

एवमनुमानमपि तत्र मानम् । जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत् । ननु—आत्मत्वं जातिरत्र हेतुः, तथाचाभेदे हेतुच्छित्तिरेव प्रतिकूलतर्क इति—चेन्न; तत्त्वतोऽभेदेऽपि व्यावहारिकभेदेनैव व्यावहारिकजातेरनुच्छेदोपपत्तेः । ज्ञातृत्वादित्यप्यत्र हेतुः; जीवे उपधेये अन्तःकरणोपहितवृत्तेस्तस्यासिद्धेरभावात् । व्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्वं हेतुः । तवापि जीवस्य स्वाभिन्ननित्यज्ञानस्यावाध्यव्यवहारविषयत्वात् । अवाध्यत्वमप्यत्र हेतुः । नच जडे व्यभिचारः; तत्र बाध्यत्वेन हेतोरभावात्, तात्त्विकभेदस्य सर्वत्रासत्त्वेन व्यभिचारानवकाशात् । नच—एवं व्यावहारिकभेदव्यतिरेकोऽप्येवमेव साध्यतां जीवपरमात्मनोरिति—वाच्यम्; तत्र प्रत्यक्षविरोधस्यैव बाधकत्वात्, श्रुत्यनुग्रहाच्चाभाससाम्यापादनाप्रयोजकत्वानवकाशात् । अत एव—विमता जीवाश्चैत्रात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वाच्चैत्रवदिति जीवैक्ये, विमता जीवा वस्तुतो ब्रह्मणो न भिद्यन्ते, वस्तुत्वात्, ब्रह्मवदिति ब्रह्मजीवैक्ये च यदनुमानं, तत्र व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्त इत्यप्येवं साध्यतामित्याभाससाम्यम्—अपास्तम् । एवं विमतानि शरीराणि चैत्राधिष्ठितानि, शरीरत्वात्, संमतवत् । नच—एतावता न जीवैक्यसिद्धिः, चैत्राधिष्ठितत्वेऽपि अन्याधिष्ठितत्वसंभवात्, चैत्रमात्राधिष्ठितत्वे तु अन्तर्याम्यधिष्ठितत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापत्तिरिति—वाच्यम्; चैत्रमात्रसंसार्यधिष्ठितत्वस्य साध्यत्वात् । चैत्रमात्रभोगायतनानीति वा साध्यम् । नच—भोक्तृत्वमन्तःकरणविशिष्टस्य, तच्च प्रतिशरीरं भिन्नम्, यच्चैकं शुद्धचैतन्यं तत्र भोक्तृत्वमिति वाच्यम्; भोक्तृत्वस्य विशिष्टवृत्तित्वेऽपि विशेष्यवृत्तित्वानपायात् । नचैवं विमतानि शरीराणि चैत्रमनसैव युक्तानीत्याभाससाम्यम्; मनसोऽप्यैक्ये व्यवस्थायाः सर्वथानुपपत्तेः, श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च, दृष्टिसृष्टिपक्षे तदभ्युपगमाच्च । आत्मा, द्रव्यत्वापरजात्या नाना न, विभुत्वात् आकाशवत् । नच—प्रतिकल्पमाकाशस्य भेदेन साध्यवैकल्यं परिच्छिन्नत्वेन साधनवैकल्यं चात्मत्वस्य परमाणुत्वादिवदजातित्वेऽपि आत्मभेदसिद्ध्या चार्थान्तरमिति—वाच्यम्; आत्मत्वाधिकरणं, द्रव्यत्वापरजात्यैककाले नाना न, समानकालीनमूर्तमात्रसंयुक्तत्वात्, गगनवदित्यत्र तात्पर्यात् । पक्षविशेषणमहिम्ना च नार्थान्तरम् । विमतो भेदः, मिथ्या, एकस्यां दृशि कल्पितो वा, भेदत्वात्, दृश्यत्वाद्वा, चन्द्रभेदवत्, एकस्यां दृशि क्षणिकवादिकल्पितभेदवद्वा । मिथ्यात्वं प्रागुक्तमेव । नच कल्पितसाधारणभेदत्वासिद्धिः; भेदे अकल्पितत्वस्यैवासिद्धेः । अतएव—चन्द्रस्य कल्पितद्वितीयचन्द्रात् भेदस्य सत्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विप्रवमिच्छन्ति, श्लेच्छास्तु लौकिकव्यवहारमात्रमिति 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वादि'ति सूत्रार्थः । तर्कैरित्यादि—अहं ब्रह्मेति निर्णयः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामहं ब्रह्मासीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम् ॥

शङ्कते—आत्मत्वमिति । स्वाभिन्ननित्यज्ञानस्य स्वाभिन्नं साक्षिरूपं नित्यज्ञानं यस्य तादृशस्य । परमते सति धर्मिण्युत्पत्तिनाशवान् यो धर्मस्तदन्यधर्मस्य धर्म्यभेदो भेदप्रतिनिधिना विशेषेण धर्मधर्मिभावादिरिति स्वीकारात् साक्षिजीवयोरभेदः । बाध्यत्वेन बाध्यत्वसंशयेन । अभावात् अनिश्चयात् । ननु व्यभिचारसन्देहः प्रतिबन्धकोऽस्तु, तत्राह—तात्त्विकभेदस्येति । असंभवेन अनिश्चयेन । तथाच जडेषु साध्यसन्देहेन पक्षसमत्वम् । अनुग्रहादिति । एकेनात्मना सर्वव्यवहारोपपत्त्या तज्ज्ञानात्वे गौरवाच्चेति शेषः । अपास्तमिति । भेदस्य प्रातीतिकत्वे व्यावहारिकभेदस्य तात्त्विकाभावे व्यावहारिकाभावे वा दृष्टापत्तिरित्यपि बोध्यम् । चैत्राधिष्ठितानि चैत्रात्मस्वरूपाधिष्ठितानि । चैत्रात्मस्वरूपान्यत् यत् संसारिस्वरूपं तदनधिष्ठितत्वमेवोक्तसाध्यं वाच्यम् । तथाच स्वमते प्रतियोग्यप्रसिद्धेराह—चैत्रमात्रभोगेत्यादि । चैत्रीयाज्ञानकार्यदुःखाद्यवच्छेदकानि, चैत्रस्वरूपगतदुःखाद्यवच्छेदकानीति वार्थः । सर्वथानुपपत्तेरिति । एकस्य सुषुप्त्यादिकाले सर्वेषां तदापत्तेः । दृष्टिसृष्टीति । तत्पक्षे स्वप्नवदेकमनोविलासत्वेन सर्वव्यवहारस्य वक्तुं शक्यत्वात् । द्रव्यत्वापरजात्या नाना न स्वसमानाधिकरणा या द्रव्यवन्मन्यूनवृत्तिजातिः, तदाश्रयप्रतियोगिकभेदवत् यत् तदन्यः । स्वं भेदः । आत्मत्वाधिकरणम् आत्मत्वजातिमान् । एककाल इति । एकाश्रयस्य समानकालीनं तद्विज्ञं यद्यत् तदन्यदिति साध्यम् । समानकालीनमूर्तमात्रेति । स्वसमानकालीनयावन्मूर्तेत्यर्थः । कल्पान्तरीयमूर्तसंयोगस्याकाले विरहात् कालीनान्तम् । भेदे सर्वभेदेषु । असिद्धेरिति । प्रातीतिकव्यावहारिकयोरेकजातिमन्त्रमित्युक्तम् । अभेदः अभेदस्वरूपम् । तात्त्विकत्वे तात्त्विकत्वस्वीकारे ।

त्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, मुक्तेः संसारात् ब्रह्मणो अनृतात् भेदे च व्यभिचार इति—निरस्तम्; न चैवमभेदो मिथ्या अभेदत्वात् देहात्माभेदवदित्यादि सुसाध्यम्; शून्यवादापत्तेरुक्तत्वात् । एवं विमता भेदधीः, मिथ्या, भेदधीत्वाच्चन्द्रभेदधीवत् । नच ब्रह्मानृतभेदप्रतीत्यादौ व्यभिचारः; तासामपि पक्षसमत्वात् । आभाससाम्यस्य तात्त्विकत्वे प्रत्येतव्यत्वानुपपत्त्यैव निरासः । अत एव 'विमतं तात्त्विकस्वान्तर्भेदशून्यं महत्त्वतः । यदेवं तत्तथा यद्वा खं तथेदं यतस्तथा ॥' इत्यत्र गगनस्य सावयवत्वेन न साध्यवैकल्यम्; स्वान्तःपदेन स्वावयवातिरिक्तस्योक्तेः । एवं संवित्, स्वान्तर्गणिकस्वाभाविकभेदहीना, उपाधिमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वात्, गगनवत्, नच साध्यवैकल्यम्; नैयायिकदिशा दृष्टान्तत्वोक्तेः । नच—इच्छादेरपि घटपटाद्युपाधिभेदेन विभाव्यमानभेदतया व्यभिचारस्तेष्विति—वाच्यम्; इच्छादीनामेकान्तःकरणपरिणामत्वेन तत्रापि साध्यसत्त्वात् । विमतो अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी, भेदत्वात्, संयुक्तभेदवत्, विमतो भेदः, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगी, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवत्, स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे यथा न तुच्छत्वं पारमार्थिकत्वाकारेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे ब्रह्मवत् सदूपतोपपत्त्या न यथार्थान्तरं, तत् प्रागुक्तम् । अन्योन्याभावत्वं, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्ति, त्रैकालिकाभाववृत्तित्वे सति अभावत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वात्, अत्यन्ताभावत्ववदित्यनुमानं पूर्वोक्तसंयुक्तप्रतियोगिकभेदरूपदृष्टान्तसिद्ध्यर्थम् । नच शुक्तौ शुक्तिभेदस्यारोपितस्य सत्त्वेन सिद्धसाधनम्; असदन्यथाख्यातिवादिनस्तवानङ्गीकृतत्वेन तस्य साध्यत्वात् । नच त्रैकालिकत्वे मिथ्यात्वायोगः; मायाचित्संबन्धस्य कालत्वेन सर्वकालस्थितेरतद्विरोधित्वात् । नचाव्याप्यवृत्तितया संयोगादिवत् समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरम्; पक्षविशेषणमहिम्ना अव्याप्यवृत्तित्वस्यासंभवेन तदयोगात् । अनुसन्धानाद्यव्यवस्थादिकं प्रागेव निराकृतम् । अप्रयोजकत्वाभास-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्येतव्यत्वानुपपत्त्या दृश्यत्वानुपपत्त्या आभाससाम्यस्य निरासः । महत्त्वतः उक्तविभुत्वात् । यद्वत् खं यथा खम् । तथेदं तथा विमतम् । सावयवत्वेनेत्यादि । सावयवत्वेन यत् साध्यवैकल्यं, तन्नैतत् । स्वान्तःपदेन स्वावयवस्यैव वाच्यत्वेन साध्यवैकल्यमिति भावः । स्वान्तःपदं न स्वावयवार्थकम्, किंतु तदन्यार्थकमित्याशयेनाह—स्वान्तरिति । स्वावयवातिरिक्तस्य द्रव्यत्वव्याप्यजात्येतस्य पूर्वोक्तानुमान एवैतस्य तात्पर्यमिति भावः । एकैव आकाशादिव्यक्त्या स्वकालीनयावद्यवहारोपपत्तौ तत्काले तन्नानात्वकल्पने गौरवमिति तर्कः । संवित् चित् । स्वान्तर्गणिकस्वाभाविकभेदहीनेति । संविदनुयोगिप्रतियोगिकभेद आकाशानुयोगिप्रतियोगिकभेदश्चेत्यन्यतरस्य तात्त्विकत्वेनाभाववतीत्यर्थः । उपाधिमित्यादि । प्रतियोग्यनुयोगिभिन्नधर्मप्रत्यक्षमन्तरेणाजायमानप्रत्यक्षविषयोक्तान्यतरवत्त्वादित्यर्थः । प्रतियोग्यनुयोगिधर्मप्रत्यक्षमन्तरेणाजायमानप्रत्यक्षविषयभेदकघटपटादौ व्यभिचारात् भिन्नान्तम् । यद्यदनुयोगिप्रतियोगिभिन्नधर्मप्रत्यक्षमन्तरेणाजायमानप्रत्यक्षविषययज्ञेदवत्, तत् तदनुयोगिप्रतियोगिकतादृशभेदस्य तात्त्विकत्वेनाभाववदिति सामान्यतो व्याप्तिर्बोद्ध्या । अथवा—अजायमानान्तं न हेतौ प्रविष्टम्, किंतु तर्कज्ञापनार्थम् व्याप्यवृत्तित्वेन उक्तान्यतरस्याभाववतीति वा साध्यम् । साध्यवैकल्यं प्रतिकल्पमाकाशव्यक्तिभेदादाकाशस्य तात्त्विकत्वेनोक्तान्यतरवत्त्वम् । विभाव्यमानभेदतया विभाव्यमान इच्छाद्यन्तरात् भेदो यत्र तादृशतया । तथाच 'घटेच्छा न पटेच्छे'त्यादिव्यवहारस्योपाधिकभेदविषयकत्वादिच्छाव्यक्तिर्जगत्यामेकैव स्यात् । एवं सुखादिव्यक्तिरपीति भावः । एकान्तःकरणपरिणामत्वे नानेच्छादिरूपेण परिणतैकान्तःकरणव्यक्तिरूपत्वेन । एकैकमनोव्यक्तिर्वटेच्छापटेच्छादिरूपनानावस्थाः प्राप्नोतीति संकुचितप्रसारितावस्थाभेदेनैव तत्तदवस्थारूपोपाधिभेदेनैव नाना । न स्वभावत इति भावः नानामनःपरिणामानां तु विनाप्युपाधिं विभाव्यमानभेदत्वात् न तेषु व्यभिचारः । अव्याप्यवृत्तीत्यादि । जीवत्वैश्वरादेर्मन्मते व्याप्यवृत्तित्वाभावेऽपि परमते व्याप्यवृत्तित्वात् जीवेशभेदोऽव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन पक्षः । ननु—प्रतियोगितावच्छेदकरूपाल्यन्ताभावेन सह भेदस्य सामानाधिकरण्यं बाधितमिति—चेत्, सत्यम्; तत एव स्वप्रतियोगितावच्छेदकभिन्नस्य स्वात्यन्ताभावस्य सामानाधिकरण्यं भेदे सिध्यति । ननु मूलाग्रावच्छिन्नबृक्षयोर्भेदात् मूलावच्छिन्नसंयोगवद्भेदो नोक्तसंयोगरूपेण स्वात्यन्ताभावेन समानाधिकरणः, तथाच साध्यवैकल्यमत आह—अन्योन्याभावत्वमित्यादि । दृष्टान्तसिद्ध्यर्थं दृष्टान्ते साध्यसिद्ध्यर्थम् । सत्त्वेन विद्यमानत्वेन । असदन्यथाख्यातिवादिनः असद्विषयकभ्रमवादिनः । तव माध्वस्य । अथवा—असत्ख्यातिवादिनस्तव माध्वस्य व्यधिकरणप्रकारकख्यातिरूपान्यथाख्यातिवादिनस्तव तार्किकस्य ।

साम्यसत्प्रतिपक्षोपाध्यादि पूर्वोक्तप्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानवन्निराकरणीयम् । एवमात्मत्वमेकत्वव्याप्यम् आत्ममात्रवृत्तित्वात् चैत्रत्ववदित्याद्यपि द्रष्टव्यम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्माभेदानुमानम् ॥

अथांशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिः ।

‘पादोऽस्य विश्वा भूतानी’ति ‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।’ इति स्मृतौ चांशत्वव्यपदेशादपि जीवब्रह्माभेदसिद्धिः । यद्यपि ब्रह्म प्रति जीवस्यांशत्वं न तावदारम्भकत्वम्; ब्रह्मणोऽनादित्वात्, नापि खण्डत्वम्; अच्छेद्यत्वात्; नापि समुदायित्वम्; समुदायस्य समुदायनन्यत्वेन व्यवहारदशायामपि संसार्यन्यशुद्धब्रह्मभावापातात्, नापि भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वम्; अनङ्गीकारात्, नापि घटं प्रति खण्डघटस्येव प्रदेशत्वम्; निष्प्रदेशब्रह्म प्रति कल्पनां विना तदयोगात्, तथापि घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव कल्पितप्रदेशत्वरूपमंशत्वं जीवस्यावच्छेदपक्षे संभवति । स्वतो निरंशोऽपि औपाधिकांशो यथा युज्यते, तथोक्तं पुरस्तात् । ननु सदृशत्वे ततो न्यूनत्वम्; स्थूलपटं प्रति सूक्ष्मपटस्याप्यंशत्वापत्तेः, वस्त्वैकदेशे मुख्यस्यांशशब्दस्य स्वतो निरंशोऽपि कल्पितैकदेशे प्रयोगस्यार्थान्तरे प्रयोगकल्पनापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वात् । ‘अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एक’इति सूत्रे ‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य एतमेवं विदित्वा मुनिर्भवति य आत्मनि तिष्ठ’न्नित्यादिभेदव्यपदेशस्य ‘ब्रह्म दासा ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवा उते’त्याथर्वणमन्त्रे अभेदव्यपदेशस्य चोदाहृतत्वाच्चोक्तार्थपरिग्रहस्योचितत्वात् । आत्यन्तिकभेदगर्भार्थान्तरस्वीकारे चैतत्सूत्रविरोधापत्तेः, कुत्रचिदन्यत्र प्रयोगमात्रेण सर्वत्रैतत्कल्पने बहुविप्लवापत्तेश्च । अतएव ननु—जीवस्य शुद्धचैतन्यांशत्वं वा ईश्वरांशत्वं वा पादोऽस्येत्यनया श्रुत्या बोध्यम्, नाद्यः; पादोऽस्य विश्वा भूतानीति श्रुताविदंशब्देन सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टप्रकृतेश्वरस्य ममैवांश इति स्मृतौ चेश्वरे प्रयुक्तासच्छब्देनेश्वरस्यैवोक्तेः । नान्त्यः; त्वन्मते ईश्वरस्याप्युपहितत्वेन घटाकाशं प्रति करकाकाशस्येश्वरं प्रति जीवस्यांशत्वायोगात् । नच—गृहाकाश एव पुनर्घटेनेवेश्वरोपाधिनाऽवच्छिन्नमेव चैतन्यं पुनर्जावोपाधिनावच्छिद्यत इति—वाच्यम्; तथात्वे हि मुक्तस्य शुद्धब्रह्मत्वं न स्यात्, तस्मात्त्वन्मतेऽपि न मुख्यमंशत्वम्, नाप्यौपाधिकं वक्तुं शक्यम्, अतो मदुक्तप्रकार एवादरणीय इति—निरस्तम्; अर्थान्तरपरिग्रहे विरोधस्योक्तत्वात्, श्रुतिस्मृतिगतसर्वनाम्ना सहस्रशीर्षत्वाद्युपलक्षितचैतन्यपरामर्शादुक्तदूषणानवकाशाच्च । तस्मात् “त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अनङ्गीकृतत्वेन शुक्तौ शुक्तिभेदस्यानङ्गीकृतत्वेन । तस्योक्तसाध्यस्य । साध्यत्वात् त्वां प्रत्यसिद्धत्वात् । त्वन्मते आरोपितस्यालीकत्वेन शुक्त्यादिदेशे तदधिकरणत्वं न संभवतीति भावः । एकत्वव्याप्यमिति । स्वप्रतियोगिकभेदवत्त्वं स्वसमानकालीनत्वं चेत्युभयसंबन्धेन यत् स्वाश्रयवत्त्वं, तच्च समवायश्चेत्युभयसंबन्धेन वर्तते यत् तदन्यदित्यर्थः । आद्योभयसंबन्धेन घटत्वाद्याश्रयवत्त्वं समवायश्चेत्युभयसंबन्धेन घटान्तरे वर्तते घटत्वम् । चैत्रत्वं तु न तथा; तत्समवायिशरीरद्वयस्यैकदाभावात् । नच—घटत्वमिवात्मत्वमपि तथा, कल्पितस्यात्मभेदस्यात्मनि त्वयापि स्वीकारादिति—वाच्यम्; तात्त्विकभेदस्य निवेशात् । त्वया घटयोस्तात्त्विकभेदस्याप्रसिद्धप्रतियोगिकभेदस्य च स्वीकारात् त्वां प्रत्युक्तानुमानस्य निर्दोषत्वात् । तर्कैरित्यादि—जीवब्रह्माभिदानुमा ॥ इति लघुचन्द्रिकायां जीवब्रह्माभेदानुमानम् ॥

भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वं यद्ब्रवीयतात्त्विकभेदाभेदवत् यद्ब्रव्यं, तस्य तदंशः । प्रदेशत्वरूपमिति । यद्ब्रव्यभिन्नाभिन्नं यद्ब्रव्यं, तस्य तत् प्रदेशः । घटाकाशं महाकाशं जीवाश्चिदिति सामानाधिकरण्येन प्रत्ययादवच्छिन्नानवच्छिन्नयोरानकाशयोरिव चित्तोऽंशांशितेति भावः । ननु ममैवांश इत्यादावंशशब्दस्य गौण्या वृत्त्या बोध्यतावच्छेदकमुक्तं, न त्वंशपदशक्यतावच्छेदकम्, अतो नोक्तापत्तिः, तत्राह—वस्त्विति । एकदेशे उक्तप्रदेशे । कल्पितैकदेश इति । कल्पितरूप्यादौ रूप्यादिशब्दस्येव जीवे चिद्रूपब्रह्मणः कल्पितांशोऽप्यंशशब्दस्य प्रयोगो युक्तः । सुतरां मन्मते अंशमात्रस्य कल्पितत्वादिति भावः । अर्थान्तरे गौण्या वृत्त्या लभ्ये उक्तार्थः । सूत्रविरोधेति । ‘सोऽन्वेष्टव्य’ इत्यादि-

कृत्वाभिवदन्यदास्ते' इत्यादिश्रुत्या जीवब्रह्माभेदे प्रमितेऽपि मन्तुमन्तव्यत्वादिभेदेव्यपदेशनिर्वाहार्थं कात्पनिकांशत्वस्य श्रुतिस्मृतिव्याहतत्वेन तद्वलादप्यभेदोऽवगम्यत इति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अंशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिः ॥

अथ जीवब्रह्माभेदनिरूपणम् ।

तथा जीवब्रह्मणोर्मुखप्रतिमुखवत् विम्बप्रतिविम्बरूपत्वादप्यभेदोऽवगन्तव्यः । ननु—दृष्टान्ते नाभेदः संप्रतिपन्नः; चैत्रतच्छाये भिन्ने इतिवत् चैत्रतत्प्रतिविम्बे भिन्ने इत्येव पार्श्वस्थितेन ग्रहणात्, खेनापि स्वकरतत्प्रतिविम्बे भिन्ने इति ग्रहणाच्चेति—चेन्न; आपाततो भेदप्रतीतावपि सयुक्तिक-प्रत्यक्षेण विम्बप्रतिविम्बयोरैक्यसिद्ध्या दृष्टान्तत्वोपपत्तेः । यथा लक्षणापरिज्ञाने भेदभ्रमवतोऽपि बहिःस्थितश्चैत्रो यत्स्वलक्षणकत्वेन प्रतिपन्नः ततो गृहस्थे तथा भाति तस्मिन् चैत्र एवायमिति धीः, तथा ग्रीवास्थं मुखं यत्स्वलक्षणकं प्रतिपन्नं दर्पणस्थमपि तथेत्यवधार्य तथैवेदं मुखमिति स एवायं कर इति च स्वपरसाधारणप्रतीतिरप्यनुभवसिद्धा । नच—किञ्चित्स्वच्छताम्रादौ मुखे छायामात्रे प्रतीतेऽपि संस्थानविशेषाप्रतीत्या प्रत्यभिज्ञाया असिद्धिरिति—वाच्यम्; सर्वत्राप्रतीतावपि निर्मलदर्पणादावेव तत्सिद्ध्या दृष्टान्तसिद्धेः । ननु—खनेत्रगोलकादौ स्वस्याभिज्ञाविरहात् प्रत्यभिज्ञापि कथमिति—चेन्न; दर्पणाहतचक्षूरश्मीनामग्रावच्छेदेन संवन्धात् खनेत्रगोलकादीनामभिज्ञायाः सन्निहितपूर्वसमय एव संभवात् । यत्तु—सूर्यपार्श्वस्थिते प्रतिसूर्ये प्रत्यभिज्ञाविरहादत्रापि प्रत्यभिज्ञाविरहः—इति, तन्न; तत्रोपाधेरत्रेवानाकलनेनौपाधिकत्वानिर्णयात् । तथाच उपाधिनिबन्धनत्वज्ञानं तल्लक्षकत्वज्ञानं चाभेदसाक्षात्कारे सामग्री । तस्यां सत्यां दर्पणे मम मुखं लग्नमिति अनुभवाभाव एवानुभवविरुद्धः । यत्तु—चैत्रप्रतिविम्बो दृष्टो न चैत्रः, किंतु तेनानुमित इति विपरीतानुभवविरोधः—इति, तन्न; वस्तुतोऽभेदे ज्ञातेऽपि उपाध्यवच्छिन्नो दृष्टोऽनवच्छिन्नोऽनुमित इति प्रतीत्यविरोधात् शरद्वङ्गाया वर्षर्तुगङ्गानुमानवत् । नच—एवं प्रतिमुखे प्रत्यङ्मुखत्वादिना दृश्यमाने स्वमुखे तद्बुद्धिः स्यात्, बालानां च स्वप्रतिविम्बे बालान्तरभ्रमो न स्यादिति—वाच्यम्; तयोः स्वलक्षणकत्वाज्ञाननिबन्धनत्वात् । अत एव कदाचित् प्रतिमुखेऽपि मम मुखमिति बुद्धिव्यपदेशौ । नचायं व्यवहारो भेदज्ञानपूर्वकत्वेन मार्गे स्वपदव्यां स्वपदव्यवहारवत् गौणः; स्वलक्षणकत्वज्ञानदशायां भेदज्ञानस्यासत्कल्पत्वात् । ननु—अविवादः स्यात् भेदसाक्षात्कारे, अन्यथा त्वयापि कस्य भ्रमत्वमुच्यते ? नच भेदं भेदकं च साक्षात्कुर्वन् अभेदं साक्षात्कुर्वाणो दृष्ट इति—चेत्, श्वेत्यव्याप्यशङ्खत्वसाक्षात्कारे पीतसाक्षात्कारवत् उपाधिमाहात्म्यादभेदं साक्षात्कुर्वाणो भेदं साक्षात्करोतीत्यङ्गीक्रियते; अनुभवस्य दुरपहवत्वात् । नचैवमुपादानस्य ऐक्यज्ञानस्य ऐक्यज्ञानेन निवृत्तेः भ्रमानुपपत्तिः, तन्निवर्तने उपाधिविरहस्यापि सहकारित्वात् । नच—एवं तज्ज्ञाने सति तन्न जानामीत्यननुभवेन तस्य स्वप्रागभावं प्रतीवाज्ञानं प्रत्यप्यन्यानपेक्षस्यैव निवर्तकत्वमिति—वाच्यम्; न जानामीति व्यवहारप्रयोजकाज्ञानांशनिवर्तनेऽपि भ्रमस्यानुभूयमानत्वेन तदुपादानांशस्य निवृत्तौ जीवन्मुक्तौ प्रारब्धकर्मण इवोपाधेरेव प्रतिबन्धकतया तद्विरहापेक्षाया आवश्यकत्वात् । एतेन—भेदभ्रमस्यास्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नानाव्यपदेशादपि जीवो ब्रह्मणोऽंशः, न त्वत्यन्तभिन्नः । 'यतोऽन्यथापि तयोरेकत्वमादायापि ब्रह्मणो दाशकित्वादि-स्वरूपत्वमधीयत' इत्युक्तसूत्रार्थविरोध इत्यर्थः । कुत्रचित् चैत्रो न मैत्रतुल्यबलः, किंतु तद्वलकिञ्चिदंशबल इत्यादौ । अन्यत्र गौणार्थे । तर्कैरित्यादि—अंशित्वेनैक्यसाधनम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायाम् अंशित्वेनैक्योपपत्तिः ॥

सन्निहितेति । संभवप्राचुर्येणोक्तम् । असन्निहितपूर्वसंभवेऽप्यभिज्ञायाः संस्कारद्वारा हेतुत्वसंभवात् । उपाध्यवच्छिन्न इति । दर्पणाद्युपाधिसंबन्धेन कल्पितेन विशिष्टस्य विम्बस्यैव प्रतिविम्बत्वात् तद्गुणैव दृष्टत्वादिधीः । असत्कल्पत्वात् । अभेदव्याप्यत्वलक्षणकत्वप्रमाया बाधितत्वात् । श्वेत्यव्याप्यशङ्खत्वसाक्षात्कारे पीतभेदस्य तद्व्याप्यशङ्खत्वस्य च साक्षात्कारे । पीतसाक्षात्कारवत् पीताभेदसाक्षात्कारवत् । अज्ञानांशेति । आवरणशक्तीत्यर्थः । उपादानांशस्य

मूलाविद्योपादानकत्वे व्यावहारिकत्वापत्तिः, अज्ञानानुपादानकत्वे अपसिद्धान्तः, बिम्बप्रतिबिम्ब-
भेदस्य सत्यत्वापत्तिश्चेति—निरस्तम्; उक्तन्यायेनोपपत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽप्यनुपपत्त्यभावाच्च । तयो-
रैक्ये अनुमानमपि प्रमाणम् । अत्र यद्यप्यत्यन्तसादृश्यं सव्येतरकरादौ व्यभिचारिः, तथापि
प्रतिबिम्बो बिम्बाभिन्नः तद्गतसाधारणधर्मवत्त्वात्, तद्विरुद्धधर्मानधिकरणत्वात्, बिम्बाजनका-
जन्यत्वाच्च । नच द्वितीयहेतोरसिद्धिः; प्रत्यङ्मुखत्वादिविरुद्धधर्मस्य उपाधिकृतत्वेन स्वाभाविक-
विरुद्धधर्मानधिकरणत्वस्य सत्त्वात् । नच बिम्बानन्तरजाते प्रतिबिम्बे तृतीयहेतोरसिद्धिः; ऐक्य-
वादिनं प्रति बिम्बानन्तरत्वस्यैवासिद्धेः । ननु—पृथक्कार्यानुरोधेन परिवेषेन्द्रचापच्छायाप्रतिसूर्यादा-
विवात्रापि पृथक्कारणं कल्पनीयम्, प्रतिबिम्बमपि हि छायाविशेषः, न हि भेरीघातादिकृतहेत्वभावात्
ध्वनावुपरतेऽपि श्रूयमाणः प्रतिध्वनिर्न शब्दान्तरमिति—चेन्न; प्रतिबिम्बस्य छायाविरोधिन्यालो-
केऽपि संभवेन छायाविशेषत्वासिद्धेः, प्रतिध्वनेस्तु भिन्नकालत्वेन तद्भेदस्य प्रकृतेऽनुपयोगात्,
कार्यपार्थक्यसिद्ध्युत्तरकालकल्प्यकारणभेदस्य प्रथमं वक्तुमशक्यत्वात्, कृतहेतुभावेन कार्यस्यैव
भावाच्च, प्रत्यक्षस्य भेदाभेदयोः समत्वात्, युक्त्या अभेद एव प्रावल्याच्च । अत एवोक्तं विवरणे—
‘दर्पणादौ न मुख्यव्यक्त्यन्तरमस्ति; तज्जनकशून्यत्वात्, शशशिरसि विषाणवदिति । एवम-
भेदधिय उपपादितत्वात् अस्याः प्रावल्याम् । व्यक्त्यन्तरहेत्वभावात् सैव नास्तीत्यपास्तं प्राक् ।
नच—छायादाविव कारकभेदस्य कल्प्यत्वेन भेदबुद्धिः सोपपत्तिका तथा कृतद्रव्यानन्तर्भावे तमोव-
द्रव्यान्तरतैवेति—वाच्यम्; अन्योन्याश्रयापत्तेः । भेदसोपपत्तिकत्वे द्रव्यान्तरत्वकारणान्तरत्वयोः
कल्पनं, तस्मिंश्च सोपपत्तिकत्वमिति । अतएव ‘नोपरक्तं न वारिस्थ’मिति स्मार्तव्यवहारो
मुख्यः, नतु यथा चित्रितः सिंहः यथा दारुमयी योषा यथा चर्ममयो मृग इत्यादिवद्गौणः । नच—
त्वत्पक्षेऽपि वारिस्थशब्दो न मुख्यः वारिणि सूर्यान्तराभावात् गगनस्थस्य वारिस्थत्वायोगादिति—
वाच्यम्; वारिस्थत्वेनोपस्थिताशेषवारिस्थसूर्यनिषेधात् । ननु—वारिस्थत्वेन सूर्य एवोपस्थितः
तयोरभेदो न प्रत्यक्षसिद्धः, नापि युक्तः; न्यूनाधिकपरिमाणवत्त्वचलत्वोपाधिसंयुक्तत्वासंयुक्तत्वत्व-
गादिप्राह्यत्वाप्राह्यत्वप्रत्यङ्मुखत्वाप्रत्यङ्मुखत्वादिना कस्तूरीबिम्बप्रतिबिम्बयोः सौरभासौरभादिना
च भेदसिद्धेरिति—चेन्न; न्यूनपरिमाणादिना सौरभादिना च उपाधिगतस्य भेदः साधनीयः । तथाच
उपाधिगतत्वस्य बिम्बे कल्पितत्वेन पक्षहेतोरसिद्धेः, कल्पितहेत्वादिना तत्समानसत्ताकसाध्यसि-
द्धावविवादाच्च । नापि—‘यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम् । छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना
च दृश्यते ॥ एवमेवात्मकाः सर्वे ब्रह्माद्याः परमात्मनः ।’ इति श्रुत्या भेद इति—वाच्यम्; कल्पि-
तभेदमात्रेण सादृश्योपपत्तेः तात्त्विकत्वे श्रुतितात्पर्याभावात्, ऐक्यप्रतिपादकानेकश्रुतिविरोधाच्च ।
ननु—तत्स्वलक्षणकस्यैव दर्पणस्थत्वेनारोपिततया तद्रूपादियुक्तस्यैव तद्रन्धादियुक्तस्यापि दर्पणस्थ-
त्वेन प्रतीतिः स्यादिति—चेन्न; तत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वेऽपि यावत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वान-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

विशेषशक्तेः । प्रतिबिम्बः प्रतिबिम्बस्वरूपम् । बिम्बाभिन्नं बिम्बस्वरूपात् भेदहीनम् । तेन जीवेश्वररूपबिम्बप्रति-
बिम्बयोः व्यावहारिकयोः व्यावहारिकभेदस्य कल्पितत्वेन तदभावमादाय नार्थान्तरम् । बिम्बाजनकाजन्यत्वा-
दिति । जन्यबिम्बस्थले हेतुः । बिम्बानन्तरत्वस्यैवेति । उपाध्यन्वयव्यतिरेकयोरुपाधिसंबन्धाद्युत्पत्तावुपक्षीणत्वेन
न प्रतिबिम्बोत्पत्तिसाधकतेति भावः । अनुपयोगादिति । तथाच प्रतिध्वनिर्न प्रतिबिम्बम्, किंतु कण्ठादि-
समवेतशब्दजन्य आकाशादिसमवेतः शब्दः । कार्यस्य बिम्बाभिन्नप्रतिबिम्बस्य । अन्योन्याश्रयापत्तेरिति ।
कारणान्तरकल्पने गौरवादित्यपि बोध्यम् । तस्मिंश्चेति । प्रत्यक्षागमयोर्भेदतात्त्विकत्वे औदासीन्यात् बिम्बकारण-
जन्यत्वादिहेतुना तस्य साधनीयत्वेन कारणान्तरकल्पनाधीनं सोपपत्तिकत्वज्ञानमिति भावः । नोपरक्तमिति ।
नेष्टेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचनेत्यादिः । व्यवहारः सूर्यस्य वारिप्रतिबिम्बे सूर्यपदप्रयोगः । वारिस्थत्वेन
व्यावहारिकप्रातीतिकसाधारणं यत् वारिस्थत्वं तदवच्छिन्नेन । उपस्थिताशेषवारिस्थेति । व्यावहारिकरूपशेष-
रहितप्रातीतिकवारिस्थेत्यर्थः । तथाच व्यावहारिकवारिस्थसूर्यासंभवात् प्रातीतिकतद्ग्रहणं वारिस्थपदमुख्यवृत्त्येव स्वमे
भुक्त्वा रुदित्वा ध्रुवमर्थलाभ इत्यादौ स्वप्नभोजनादौ भुज्यादेरिवारोपितवारिस्थताकेऽपि वारिस्थशब्दस्य मुख्यत्व-
मेव । व्यावहारिकभोजनत्वादेः प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्रापि सत्त्वादिति भावः । भेदः बिम्बभेदः । एतस्मिन् परमा-
त्मनि । एतत् जगत् आततम् । यथेत्यस्योत्तरवाक्यस्थत्वात् न तथेत्यपेक्षा । एवमित्यस्यापि संबन्धो वा । तत्स्व-

ङ्गीकारेण गन्धादिप्रतीत्यापादनस्याशक्यत्वात् । ननु—एवं दर्पणे मुखस्याभावे उपाधेः प्रतिबिम्बपक्ष-
पातित्वेन मुखप्रतिमुखयोरवदातत्वश्यामत्ववत् जीवब्रह्मणोः संसारित्वासंसारित्वादिव्यवस्था कथ-
मिति—चेत्, न; आरोपितेनादर्शस्थत्वेन विशिष्टे प्रतिबिम्बे तद्धर्मस्य मालिन्यादेः संभवात् । नच—
उपाधिस्थत्वस्यापि आरोप्यत्वेन कथं मालिन्याश्रयतावच्छेदकत्वम् ? एकविशिष्टे इतरारोपाभावा-
दिति—वाच्यम्; आरोपपूर्वप्रतीतधर्मविशिष्टस्यैवारोप्याश्रयत्वात् ननु तस्य सत्यत्वमपीति परप्र-
क्रियानिवन्धनदोषानवकाशात् । नच—प्रतिमुखमेव दर्पणस्थं न तु मुखमिति प्रतिबिम्बदर्पणस्थ-
त्वानुभवेन कथं प्रतिबिम्बत्वस्य तत्स्थत्वगर्भतेति—वाच्यम्; अविद्योपहितस्याविद्याश्रयत्ववत्
दर्पणोपहितस्य दर्पणाश्रितत्वसंभवात् । एतेन—मालिन्यस्थानीयस्य संसारस्य विशिष्टवृत्तित्वात्
शुद्धाश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यायोग इति—निरस्तम्; संसारस्तावदुपहितवृत्तिः, तथाचोपधेयांश-
मादाय सामानाधिकरण्यसंभवात् । तथाच वृक्षस्य कपिसंयोगाधारता अग्रेणेव मुखे मालिन्यं
दर्पणसंबन्धेनावच्छिद्यते । एतावानेव विशेषः—वृक्षे संयोगस्तु साहजिकः, मुखे औपाधिकं मालि-
न्यम् । तेनोपहिते उपाध्यवच्छिन्न एव मुखे मालिन्यधीः । एतेन—दर्पणमालिन्यस्य मुखनिष्ठत्वे संसा-
रस्यापि शुद्धनिष्ठतापत्तिः, वृक्षः संयुक्त इतिवत् मुखं मलिनमिति प्रतीत्यापत्तिः, मुखं न मलिनम्
किंतु प्रतिमुखमित्यनुभवविरोधापत्तिश्चेति—निरस्तम् । ननु—कस्तूर्यादिप्रतिबिम्बस्य खलक्षणा-
ननुगमेन कथं बिम्बैक्यम् ? नच तदाकारतामात्रेण तत्त्वं, तर्हि छायाप्रतिमुद्राप्रतिमादीनामपि तत्त्वं
स्यात्, प्रत्यङ्मुखत्वादेर्भेदकस्यात्रापि सत्त्वाच्च । नच प्रत्यङ्मुखत्वधीर्भ्रान्ता; प्रतिबिम्बं बिम्बाभि-
मुखं नेति कदाप्यननुभवादिति—चेन्न; दर्पणादिप्रतिबिम्बे खलक्षणानुगमेन बिम्बैक्ये व्यवस्थिते
प्रतिबिम्बत्वावच्छेदेनैव तत्कल्पनात्, छायादौ खलक्षणकत्वस्य कुत्राप्यदर्शनेन साम्याभावात् ।
नापि प्रत्यङ्मुखत्वादि भेदकम्; मलिनत्ववदुपाधिकृतत्वात् । अतएव जपाकुसुमे रक्तताप्रतीतिवत्
तद्धीर्भ्रान्ता । दर्पणाहतं चक्षुः प्रत्यङ्मुखं भवति, तस्य च स्वाभिमुखतया ग्रहणसामर्थ्याच्चान्याभि-
मुखस्यापि मुखादेस्तथाग्रहणोपपत्तेश्च । तदुक्तं—‘दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम् । व्यामुव-
न्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम् ॥’ नच परावृत्य स्वमुखस्यैव ग्रहणे पार्श्वस्थस्य मुखद्वयप्रतीत्य-
योगः; स्वमुखस्यैवेति नियमासिद्धेः उपाधिसन्निहितमात्रस्यैव तथा ग्रहणात् । नच—एवं दर्पणादेरभि-
घातकतामात्रेण उपक्षीणतया दर्पण इव दर्पणभेदेऽप्यनेकमुखप्रतीतिर्न स्यादिति—वाच्यम्; अभि-
घातकानेकत्वेन चक्षुषोऽनेकाग्रसम्पत्त्या प्रत्यग्रं स्वाभिघातकावच्छेदकमुखग्राहकतया दृष्टान्तवैष-
म्यात् । नच—मणिदर्पणकृपाणादिषु विरुद्धरूपानेकमुखप्रतीतिः कथमेवं युज्यत इति—वाच्यम्;
अन्वयव्यतिरेकसिद्धौपाधिप्राबल्यनिबन्धनत्वादिति गृहाण । नच चक्षुःपरिवृत्तिप्रक्रिया ब्रह्मप्रतिबिम्बे
जीवे न संभवतीति—वाच्यम्; चाक्षुषप्रतिबिम्बमात्रविषयतयैवास्या उपपादितत्वात् । नच विर-
लावयवस्य जलस्य नेत्राभिघातकत्वे जलान्तर्गतशिलाद्यग्रहणप्रसङ्गः; सर्वावच्छेदेनाभिघाताभावे-
नान्तरेऽपि चक्षुषः प्रवेशसंभवात् । नच—एवं बहुदूरव्यवहितोर्ध्वभागसूर्यादिग्रहणे पृष्ठभागस्थस्य
व्यवहितस्यापि ग्रहणापत्तिरिति—वाच्यम्; चक्षुषो गमनागमनाभ्यां विशेषात् । नहि दूरस्थसूर्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लक्षणकत्वेनारोपितत्वेऽपीत्यादि । तत्खलक्षणकत्वविशिष्टे दर्पणस्थत्वस्यारोपेऽपि यावत्खलक्षणकत्वविशिष्टे तद-
नारोपात् ‘दर्पणे मुखं गन्धादिविशिष्ट’मिति प्रत्ययाभावादित्यर्थः । ननु तस्येति । आरोपिताधिकसत्ताकत्वमारोपि-
ताश्रयतावच्छेदकत्वे तन्नमिति भ्रमः; स्वप्नादावेककल्पितविशिष्टे परस्य कल्पनादधिष्ठानस्यैव तात्त्विकत्वापेक्षणात् ।
अविद्योपहितस्येति । उपाधेशाश्रयकोव्यन्यत्वेन स्वोपहितस्यैवाविद्याश्रयत्वम् । तथाच प्रतिबिम्बमेव दर्पणस्थ-
मित्यादेर्दर्पणाद्युपहितमेव दर्पणस्थं, ननु शुद्धमित्याद्यर्थः । एतेन शुद्धस्यैव मुखस्य दर्पणाद्युपाध्यवच्छेदेन । मालि-
न्याद्युपपादनेन । एतेन मुखं मलिनमिति प्रमास्वीकारेण । खलक्षणाननुगमेन यावद्विम्बधर्माननुगमेन । यत्तु—
उपहितवृत्तेरखण्डाकारवृत्तिविषयत्वस्य वाचस्पतिमते शुद्धवृत्तितापत्तिः इति, तन्न; तन्मते अविद्याविषयताद्यवच्छेदे-
नोक्तविषयत्वं न त्वनवच्छिन्नमिति विशेषसंभवात्, उपहिताभेदेन शुद्धस्याप्युपहितनिष्ठसंसारीयपरम्परासंबन्धेन
शुद्धनिष्ठमोक्षस्योपहितनिष्ठसंसारैकधर्मिसंबन्धोपपत्तेश्च । अनेकाग्रसंपत्त्या नानाकिरणपुञ्जरूपनानावयवावच्छेदे-
नाभिहन्यमानत्वसंपत्त्या । प्रत्यग्रं प्रतितादृशावयवावच्छेदेन । स्वाभिघातकावच्छेदकमुखग्राहकतया स्वाभि-
घातकेषु दर्पणादिरूपावच्छेदकेषु मुखसाक्षात्कारोपघातकमुखसंयोगवत्तया, उक्तदर्पणादिसंसृष्टत्वेन मुखसाक्षात्कारो-

ग्रहणं वदता पृष्ठकुड्यादिकं भित्त्वा चक्षुर्गच्छतीत्युक्तं भवति । नच—एवं शिलाभिहतमपि चक्षुः परावृत्य मुखं गृह्णात्विति—वाच्यम्; तवापि प्रतिबिम्बं तत्रोत्पद्यतामित्यापत्तेः अस्वच्छतया परिहारस्यास्माकमपि समत्वात् । तव स्वच्छ एव उत्पद्यते; मम तत एव चक्षुः परावर्तते इत्यङ्गीकारात् । नचैवं प्रतिबिम्बदर्शनेनापि बिम्बदर्शनजन्यसुखपुण्यादिप्रसङ्गः; यत्र तद्दर्शनमात्रजन्यता नान्यतः, तत्रेष्टापत्तेः यत्र चोपाधिविनिर्मुक्तज्ञानत्वेन विशिष्य जन्यता, तत्रापादकाभावात् । नचैवं सूर्यकस्यापि सूर्यवदुर्दर्शत्वापत्तिः; गोलके सूर्यतेजःसाम्मुख्यस्य दुर्दर्शताप्रयोजकस्य सूर्यकग्रहणकालेऽभावात् । नच स्वच्छदर्पण इव किञ्चित्स्वच्छताप्रादौ मुखसंस्थानविशेषप्रतीत्यापातः; उपाधिगतात्यन्तस्वच्छताव्यतिरेकप्रयोजकमालिन्यादेरेव तत्र प्रतिबन्धकत्वात्, अन्यथा तवापि तादृक्संस्थानविशेषवत् प्रतिबिम्बं तत्र कथं नोत्पद्यत इत्यस्य दुष्परिहरत्वापत्तेः । ननु—अवच्छेदपक्षे द्विगुणीकृत्य वृत्त्यसंभवेऽपि प्रतिबिम्बपक्षे तत्संभवेनान्तर्यामित्वमिति स्ववचनविरोधः उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वमित्युक्त्ययोगश्चेति—चेन्न; सर्वोपाध्यवच्छिन्नत्वैकदेशोपाध्यवच्छिन्नत्वाभ्यामुपाधिकल्पितभेदेन च स्वोक्त्यविरोधोपपत्तेः । अतएव दर्पणे न मुखमित्येव उपाधिसंसृष्टतया निषिध्यते, नतु 'नेदं रूप्य'मिति वत् नैतन्मुखमिति स्वरूपेण । ननु—नात्र मुखच्छायास्तीत्यननुभवेन प्रत्युतैतावन्तं कालम् अत्र प्रतिसूर्य आसीदिति वत् प्रतिमुखमासीदित्येवानुभवेन प्रतिबिम्बमिवादृशं इत्यादिस्मृत्या च प्रतिमुखे दर्पणस्थत्वस्याप्यबाध एव, नहि भूमौ मेघो नेत्येतावता मेघच्छायापि तत्र बाधितेति—चेन्न; मुखप्रतिमुखयोरेकस्वलक्षणकत्वेनैक्यव्यवस्थित्या मुखस्यैव तत्स्थत्वनिषेधेन प्रतिमुखस्य तत्सत्त्वनिषेधसंभवात् । मेघच्छायाप्रतिसूर्यादीनां न तथेति न मेघादिनिषेधेन छायादिनिषेधः । स्मृतिस्तु प्रातीतिकार्थमादाय दृष्टान्तपरा । नच—एवं प्रतिबिम्बात् बिम्बानुमानोच्छेदः साध्याविशेषादिति—वाच्यम्; उपाधिकल्पितभेदेन विशेषोपपत्तेः । एतेन—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यनेन उद्यत्प्रतिबिम्बदर्शनस्यापि निषेधः स्यात्, वारिस्थसूर्यदर्शननिषेधेनाकाशस्थसूर्यदर्शनस्यापि निषेधश्च स्यात्, प्रतिबिम्बदर्शनेनैव दृष्ट्वा छायादिति शास्त्रार्थोऽप्यनुष्ठितः स्यादिति—निरस्तम्; कल्पितभेदादेव शास्त्रीयव्यवस्थोपपत्तेः । नच—औदुम्बरतया ज्ञातेनानौदुम्बरेण औदुम्बरो यूपो भवतीति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गः, आत्मतया ज्ञातदेहश्रवणादिनात्मा श्रोतव्य इति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गश्चेति—वाच्यम्; प्रमया उपपत्तौ संभवन्त्यां भ्रमेण तदुपपादनस्यायुक्तत्वात् । ननु—अनादेर्जीवस्य नोपाध्यधीनं प्रतिबिम्बत्वम्, किंतु तदधीनत्वे सति तत्सदृशत्वम्, तच्च भेदव्याप्तमिति विरुद्धो हेतुः । उक्तं हि सूत्रकृता—'अत एवोपमा सूर्यकादिव'दिति—चेत्, न; उपाध्यधीनत्वं हि उपाधौ सत्येव सत्त्वम् । तच्च नानादित्वविरोधि; अनादिजीवस्यापि तत्संभवात् । अतएव प्रतिबिम्बपदस्य भेदसादृश्यार्थकत्वमादाय विरुद्ध-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

पञ्चायकसंयोगवत्तयेति यावत् । उपाधिप्रावत्येति । मण्याद्युपाधीनामुक्तधीहेतुत्वेत्यर्थः । अङ्गीकारादिति । स्वच्छोपाधेः प्रतिबिम्बप्रत्यक्षप्रयोजकत्वं सर्वसंमतमिति भावः । इष्टापत्तेरिति । अतएव दर्पणे पुत्रादिमुखदृष्ट्या सुखविशेषः, श्रीजगन्नाथमुखदृष्ट्या पुण्यविशेषः, जले राहुग्रस्तसूर्यादिदृष्ट्या पापविशेषः । उपाधिविनिर्मुक्तेति । प्रतिबिम्बत्वानुपहितमुखदर्शनविशेषजन्यसुखं न प्रतिबिम्बमुखदर्शनात्, मञ्जस्थत्वादिविशिष्टमधुसूदनादिदर्शनजन्यपुण्यं न मञ्जस्थत्वाद्यनुपहितमधुसूदनादिदर्शनात्, उदयगिरिसन्निधानविशेषविशिष्टादित्यदर्शनवर्जनस्य तादृशादित्यप्रतिबिम्बदर्शनान्न बाधः । अन्तर्यामित्वं प्रतिबिम्बजीवं प्रत्यन्तर्यामित्वसंभवः । स्ववचनविरोधः विवरणोक्तिविरोधः । बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्येन द्विगुणत्वासंभवादिति शेषः । इत्युक्त्ययोग इति । बिम्बप्रतिबिम्बयोरभिन्नतयोपाधिसंबन्धाविशेषादिति शेषः । सर्वेत्यादि । बिम्बीभूतोऽन्तर्यामी सर्वजीवोपाध्यवच्छिन्नः, प्रतिबिम्बीभूतजीवास्तु एकोपाध्यवच्छिन्ना इत्यर्थः । एकजीववादे त्वाह—उपाधिकल्पितेति । संभवादिति । प्रतिमुखमासीदिति तु न निषेधविघातकम्, निषेधपूर्वं प्रतिमुखसंबन्धस्य स्थितत्वादप्युपपन्नत्वात् मिथ्येत्यनुभवाच्च । कल्पितभेदादिति । आकाशस्थस्य वारिस्थान्यत्वात् दृष्टेयनेनोक्तचाक्षुषवृत्त्यवच्छिन्नस्याविद्यावृत्त्यवच्छिन्नप्रतिबिम्बान्यत्वाच्चेत्यर्थः । प्रमयेत्यादि । सत्यत्वाद्युपलक्षितात्मन एव तत्त्वमस्यादिवाक्येन प्रमितत्वात्तच्छ्रवणमेव विधीयते । व्यावहारिकरूपादेरेव व्यावहारिकप्रामाण्यश्रुत्या विहितत्वात् स एवानुष्ठीयते । आदित्यादेर्वारिस्थत्वादिविशिष्टस्य व्यावहारिकस्यासंभवात् प्रातीतिकस्यैव ग्रहणमिति भावः । अतएव चोपमा सूर्यकादिवदिति । अतएव

त्वोक्तिर्हेतावयुक्ता । तदेवं प्रतिविम्बस्य विम्बेनैक्ये व्यवस्थिते । ब्रह्मैक्यं जीवजातस्य सिद्धं तत्प्रति-
विम्बनात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विम्बप्रतिविम्बन्यायेनैक्यसिद्धिः ॥

अथात्मनोऽणुत्वभङ्गः ।

ननु—अणुत्वाज्जीवस्य कथं व्यापकादीश्वरादभेद इति—चेन्न; ‘नित्यः सर्वगतः’ ‘स वा एष महानज आत्मा’ इत्यादिश्रुत्या जीवो नाणुः, प्रत्यक्षगुणाश्रयत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च, घटवत्, आत्मत्वादभूत-
त्वाच्चेश्वरवदित्याद्यनुमानैश्च जीवानणुत्वसिद्धेः, विपक्षे च देहव्यापिसुखज्ञानाद्यनुपलम्भापत्तिर्वा-
धिका । नच—“अणुर्होष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च” “वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पत” इति श्रुत्या जीवोऽणुरिति—वाच्यम्;
व्यापकत्वप्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधेन दुर्विज्ञेयत्वपरत्वात्, देहव्यापिगुणोपलम्भस्यान्यथयितुमशक्य-
त्वात् । एतेन—जीवो न व्यापकः, उत्क्रान्तिमत्त्वात्, गतिमत्त्वात्, क्रियावत्त्वाच्च, खगशरीरवत्,
विपक्षे हेतुच्छित्यापत्तिर्वाधिकेति—निरस्तम्; हेत्वसिद्धेः । नच—‘सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति अमुष्मादिमं लोकमागच्छती’त्यादिभिः श्रुतिभिः ‘तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।’ इत्यादिस्मृतिभिश्च हेतुसिद्धिरिति—वाच्यम्; उत्क्रमणादीनां बुद्धिगतानां तदु-
पहिते श्रुत्या प्रतिपादनात् । नच—‘नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेन लोकं हीनतरं वा विशन्ति । ते अशुभमनुभूयन्त’ इत्यादौ श्रुतौ सुखदुःखाद्यनुभवसामानाधिकरण्यस्य गतावुक्तेः कथं तस्या बुद्धि-
गतत्वमिति—वाच्यम् । आत्मनि सुखदुःखाद्यनुभवस्यापि बुद्ध्युपाधिकत्वेन तत्सामानाधिकर-
ण्यस्य गतौ स्वाभाविकत्वासाधकत्वात् । ननु—‘स एनान् ब्रह्म गमयती’त्यादिश्रुतौ ‘तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः’ इत्यादिस्मृतौ च गतेर्मुक्तिसामानाधिकरण्योक्तेः कथमसिद्धि-
रिति—चेन्न; अव्यापकस्यैवाव्यापकं प्रत्येव गमनम् । ब्रह्म च व्यापकं तत्प्रति गमनासंभवेन गमनपदस्य उपाधिकृतभेदराहित्यपरतया गतिमुक्तिसामानाधिकरण्यप्रतिपादकत्वात् । ननु—
‘प्रद्योतेनैष आत्मा निष्कामती’त्यात्मनिष्ठत्वश्रुतेर्नासिद्धिः, अन्यथा मोक्षादिकमपि बुद्धेरेव स्यात्, नापि श्रुतेर्बुद्ध्युपाधिकगत्यादिविषयत्वं संभवति, ‘तद्यथा अनःसु समाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शरीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जनं याती’ति स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तोक्तेरिति—
चेन्न; एष इति बुद्ध्युपहितस्यैव परामर्शेन शुद्धात्मनिष्ठत्वस्य गतावुक्तेः, मोक्षे तु बुद्ध्युपरमेण तन्निष्ठत्वस्यासंभाविततया वैषम्यात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामप्रयोजकत्वात्, तद्वलेन स्वाभा-
विकत्वपर्यन्तत्वस्यासिद्धेः । नच—‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती’त्यादिश्रुतौ प्राणाख्यबुद्धिगतितः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

जीवेश्वरयोर्भेदादेव । उपमा ‘बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य सदृशा जले । एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मताः ॥’
इत्यादिवाक्यं सूर्यतत्त्वविम्बयोरिवेशजीवयोर्भेद इति बोधयतीति पराभिमतोऽर्थः । मन्मते तु ‘अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि’त्यादिसूत्रेणाद्वितीयात्मबोधनादेव उपमा ‘यथा ह्येको ज्योतिरास्मे’त्यादिश्रुतिः सूर्यतत्त्वप्रतिविम्बयोरिव ब्रह्मजीवयोर्मिथ्याभेदं बोधयतीत्यर्थः । भेदसादृश्यं भेदघटितसादृश्यम् । तर्कैरित्यादि—विम्बैक्यं प्रतिविम्ब-
गम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विम्बप्रतिविम्बन्यायेनैक्यसिद्धिः ॥

देहव्यापीत्यादि । देहनानावयवावच्छिन्ननानासुखादीनामुपलब्धिर्न स्यात् । उपलब्धेरात्मगतायास्तेषु युगपत् संबन्धाभावादिति भावः । सिनीतः बध्नीतः । अशक्यत्वादिति । आनन्त्याय कल्पयत इत्यनेन मुक्तिकाले परिच्छेदाभावोक्तेरसङ्गतेत्येवमपि बोध्यम् । न व्यापकः नापरिच्छिन्नः । हेत्वसिद्धेरिति । धर्मिसमानसत्ताकत्वेन हेत्वाद्यभावस्यैव हेत्वाद्यसिद्धिरूपत्वात् । आत्मनीत्यादि । अनुभूतिरूपस्याप्यात्मनः सुखाद्युपहितानुभूतात्मकत्वं सुखादिरूपेण परिणतमनोनिबन्धनमित्यर्थः । ब्रह्म च व्यापकमिति । ब्रह्मलोकस्थकार्यब्रह्मप्राप्तिरुक्तश्रुत्या बोध्यते । सा च बुद्ध्युपाधिका; ‘एष देवयानः पन्था’ इति शेषात् । उक्तस्मृतौ तु ब्रह्मलोकप्राप्तस्य शुद्धब्रह्मप्राप्तिरुच्यते । सा चौपाधिकभेदबाधपरा; कल्पपर्यन्तं ब्रह्मलोकभोगसमाप्तौ देशान्तरावच्छेदेन ब्रह्मणि मुख्यगतौ मानाभावात्, भोगदेशे पुनर्मुख्यगतेर्व्यर्थत्वात् । एतेन—व्यापके आकाशादौ संयोगानुकूलमूर्तक्रिया इष्टेति—अपास्तम् ।

प्रागेव जीवे गत्युक्तेः कथं बुद्धिगत्याऽन्यथासिद्धिरिति—वाच्यम्; प्राणाख्यांशेन क्रियाशक्ति-
शालिना पश्चाद्गतावप्यंशान्तरेण प्रथममुत्क्रमणसंभवात् । एतेन—‘मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन्
पिबन्नास्ते वे’त्यादिश्रुतौ मनउत्क्रमणेऽपि आत्मनस्तदभावश्रवणाच्च कथं तद्वत्यैव गतिमत्त्वमिति—
निरस्तम्; उपहितस्योपाधिनिबन्धनगतिमत्त्वे बुद्ध्यनुपहितस्य तदभावाविरोधात् । नच—तथा
‘विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य’मित्यादिश्रुतौ नामरूपविमोक्षानन्तरमपि गति-
श्रवणात् कथं सा औपाधिकीति—वाच्यम्; परमपुरुषस्य सर्वत्र सन्निहितत्वेन तं प्रति
गमनासंभवेन उपैतीत्यस्यापि पूर्ववदर्थान्तरपरत्वात् । अतएव “परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन
रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः स तत्र पर्यंती’त्यादिश्रुतिरपि न गत्यर्था । ननु—बुद्धिगतेन गत्यादिना
किं तदवच्छिन्नात्मनि गत्यादि जायते ? उत बुद्धिगतमेवारोप्यते ? उतोपचर्यते । नाद्यः;
घटगत्या तदवच्छिन्ने नभसि गत्यन्तरादर्शनात् । अन्यथा यतो घटस्य बुद्धेर्वा गतिः तत्राकाशस्या-
त्मनो वा सच्छिद्रत्वं स्यात् । अन्यत्र द्विगुणीकृत्य वृत्तिश्च स्यात् । नच—प्रतिबिम्बपक्षे नोक्तदोष
इति—वाच्यम्; तस्य वस्त्वन्तरत्वमते उक्तदोषाभावेऽपि दर्पणाहता दृष्टिः परावृत्य स्वमुखं
गृह्णातीति त्वन्मते उपाधिगत्या बिम्बे न गतिरिति प्रतिबिम्बेऽप्यस्यायोगात् । नान्त्यौ; कर्तुरवच्छि-
न्नस्यैतदात्मप्रदेशस्य न भोगायतनलोकप्राप्तिः किंतु गतया बुद्ध्याऽवच्छिन्नस्य प्रदेशान्तरस्य वेति
स्वीकारे कृतहान्यादिप्रसङ्गात् कर्तुर्भोक्तृश्चावच्छिन्नस्य भिन्नत्वात् अभिन्ने वाऽनवच्छिन्ने कर्तृत्वाद्य-
भावादिति—चेन्न; उपाधिगत्या उपहिते गतिप्रयोग औपचारिक एव । नचैवं कृतहान्याद्यापत्तिः;
यद्बुद्ध्यवच्छिन्नेन येनैवात्मना यत् कृतं तदवच्छिन्नेन तेनैव भोगजननात् । नह्यात्मनो निरवयवस्य
प्रदेशोऽस्ति । यत्तु अवच्छिन्नस्य कर्तुर्भोक्तृभेद इत्युक्तं, तन्न; अवच्छेद्यात्मनोऽवच्छेदकबुद्धेश्चैक्येऽव-
च्छिन्ने भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नचात्मत्वमणुनिष्ठं द्रव्यत्वसाक्षाद्याप्यजातित्वात् पृथिवीत्वव-
दित्यनुमानम्; व्यापकावृत्तित्वस्योपाधित्वात्, स्पर्शादिसामानाधिकरण्यस्याप्येवं साधनप्रसङ्गाच्च ।
जीवो न व्यापकः, भूतेतरत्वे सति परत्वासमवायिकारणानाधारत्वे सत्यसर्वज्ञत्वात् शब्देतरानित्य-
विशेषगुणाश्रयत्वात् संस्काराश्रयत्वाच्च घटवदित्यत्रानात्मत्वमुपाधिः, अनित्यविशेषगुणसंस्कारादी-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अंशान्तरेण ज्ञानशक्तिशालिना । नच—शक्तिद्वयविशिष्टभागद्वयाभावादिदमयुक्तमिति—वाच्यम्; शरीरे विशेष-
ज्ञानलोपोत्तरं प्राणक्रियालोप इत्यस्य विवक्षितत्वात् । उपहितस्य सङ्कल्पादिवृत्तिविशिष्टमनसः । उपाधिनिबन्धन-
गतिमत्त्वेऽपि सङ्कल्पाद्यभावनिबन्धनगतिमत्त्वे बोधितेऽपि । बुद्ध्यनुपहितस्य उक्तमनोरहितस्य । तदभावा-
विरोधात् उक्तगत्यभावबोधनाविरोधात् । अयोगादिति । बिम्बप्रतिबिम्बयोर्वास्तवैक्येऽपि कल्पितभेदेनोपाधेः
प्रतिबिम्बपक्षपातात् प्रतिबिम्ब एव गत्यादिसंभवात् परभ्रान्त्यनुवादोऽयम् । कर्तुरवच्छिन्नस्येत्यादि । एतल्लोकात्
बुद्धेरेव गतिः, नतु तदुपहितस्य । तथाचास्मिन् लोके तेन यत् कृतं कर्म, तस्य स्वाश्रये भोगानुपधायकत्वरूपहानिः ।
परलोकस्थेन बुद्ध्युपहितेन च यत् न कृतं, तदीयभोगस्य तत्राभ्यागमः स्यादित्यर्थः । यद्बुद्ध्यवच्छिन्नेनेत्यादि ।
यया बुद्धिव्यक्त्या अवच्छिन्नेन कृतं यत् बुद्ध्यवच्छेदेनात्मनो यत्कर्मकर्तृत्वं, तद्व्यक्त्यवच्छेदेनैव तत्फलभोक्तृत्वम् ।
बुद्धिगतकर्तृत्वादिकं बुद्ध्यवच्छेदेन शुद्धात्मन्येव कल्पितम्; अवस्थाभेदेऽपि बुद्धिव्यक्त्यनुगमस्योक्तत्वात् । प्रदेशोऽस्ति
तत्त्विकप्रदेशोऽस्ति । कल्पितस्तु स विद्यमानोऽपि कृतहान्यादिपरिहारे नोपयुज्यते; उक्तरीत्यैव तत्संभवादिति भावः ।
कल्पितप्रदेशरूपस्यावच्छिन्नस्यैक्यमादायाप्युक्तिपरिहारः संभवतीत्याशयेन परोक्तं तज्ज्ञेदं दूषयति—यत्त्विति ।
अवच्छेद्येत्यादि । अवच्छेद्यावच्छेदकस्वरूपयोर्नात्वाभावे अवच्छिन्नस्वरूपमेकमेव; तन्नानात्वे मानाभावात्,
अन्यथा प्रतिबिम्बशुक्त्यादिकं चोपाधेर्गतागताभ्यां भिद्येत । नहि तत्र भेदो नानुभूयते, अत्र त्वनुभूयत इति वक्तुं
शक्यम् । एवंच बुद्धिगतगत्यादिना तदवच्छिन्नात्मनि गत्यादिकं जायत इति प्रथमपक्षेऽपि न दोषः । कृतहान्याद्य-
भावात् अवच्छिन्नभभादेः घटाद्यवच्छेदेन शुद्धनभभादौ कल्पितत्वेन शुक्त्यवच्छेदेनात्मनि कल्पितस्य शुक्तिरूपस्य
शुक्तिगतौ गतिरिव घटादिगतौ गत्यन्तरोत्पादसंभवात् । नचोक्तसच्छिद्रत्वापत्तिः; शुद्धाकाशात्मनोर्घटादिपूर्वदेशे
सत्त्वात् । द्विगुणीकृत्याकाशादेरुत्तरदेशे वृत्तिस्तु इष्टैव; शुद्धावच्छिन्नरूपाभ्यां पूर्वदेश इव सत्त्वादिति भावः ।
व्यापकावृत्तित्वस्येति । व्यापकावृत्तित्वमेव साध्यमिति तु अमः; व्यापकान्यवृत्तित्वस्यैव साध्यत्वात्, तथात्वे च
व्यापकान्यवृत्तित्वस्यैवोपाधित्वसंभवात् । भूतेतरत्वं इत्यादि । आकाशे कालदिशोरीश्वरे च व्यभिचारवारणाय
क्रमेण विशेषणानि । परत्वासमवायिकारणं घटादौ दिक्काकसंयोगौ । द्वितीयहेतौ आकाशे व्यभिचारवारणाय—

नामुपाधिवृत्तित्वेनासिद्धिश्च । एवं महत्त्वस्यापि सुसाधत्वं च । जीवः, अणुः, ज्ञानासमवायिकारण-
संयोगाश्रयत्वात्, मनोवत् इत्यत्र मध्यमपरिमाणवत्त्वेन मनसो दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, जडत्वस्योपा-
धित्वाच्च । सर्वत्र चात्र व्यापिसुखज्ञानाद्युपलम्भः प्रतिकूलस्तर्कः, एकस्याणोरेकदा व्यवहितदेशद्वया-
वच्छेदासंभवेन 'पादे मे सुखं शिरसि वेदना' इत्यादियुगपदनुभवविरोधश्च । नच गुणिनः अणुत्वेऽपि
गुणव्याप्त्या व्यापिसुखज्ञानानुमानविरोधः; गुणिव्यतिरेकेणास्यासंभावितत्वात् । अन्यथा घटव्यति-
रेकेणापि घटरूपं स्यात् । प्रदीपादन्यत्र दृश्यमानापि प्रभा न दीपगुणः, किंतु अनुद्भूतस्पर्शं द्रव्या-
न्तरम् । नच—जातिसमवायादेर्धर्मितोऽन्यत्र वर्तमानत्ववदत्रापि गुणस्य बुद्धेरन्यत्रोपलम्भः स्यात्
इति—वाच्यम्; जातिसमवायादिवदत्रापि तर्हि व्यापकत्वप्रसङ्गात्, धर्मिणो विहायापि स्थितौ
तस्या नियामकाभावात् । नच कारणनियमान्नियमः; तर्ह्यव्यवहितसमवायिकारणनियमादेव नियमे
अणुमात्रदेशता दुर्वारैव । नच—वह्नेरौष्ण्यं बहिर्नोपलभ्येत, समीपवृत्त्यनुद्भूतरूपतेजसस्तदित्युच्य-
माने वह्नेरौष्ण्यं न सिध्येदिति—वाच्यम्; बाधके सति सविधे तेजोन्तरकल्पनेऽपि दृश्यमानवह्ना-
वनुभूयमानोष्णस्पर्शं बाधकाभावेन तस्मिन्तेजोन्तरत्वकल्पनस्याशक्यत्वात् । एतेन—केतक्यादौ
परितो गन्धानुभवात् गुणानां गुणिनैरपेक्ष्यम् । नच तत्र केतक्यवयवानां परितः प्रसरतां ते गन्धाः,
तर्हि द्रव्यक्षयप्रसङ्गात् । नचावयवान्तरप्रवेशात्तदक्षयः; स्फटिककरण्डिकास्थकस्तूर्यादौ अवयवा-
न्तरप्रवेशकल्पने मानाभावात् इति—निरस्तम्; समवायिनैरपेक्ष्ये कार्यस्य निराश्रयत्वापत्तौ तत्प्र-
त्यासत्तिनिवन्धनकारणान्तरस्याप्युच्छेदे कार्यत्वहानेरेव तत्र कल्पनायां मानत्वात् । यत्तु—नित्यः
सर्वगतस्थाणुरित्यत्र 'नित्ये सर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थितः ।' इति स्मृत्यन्तरानुसारात्
सर्वगतस्थः अणुश्चेति विग्रहः इति—तन्न; 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'स वा एष महानज
आत्मे'ति श्रुत्यनुसार्यर्थस्यैवोचितत्वात् अणुरिति पदच्छेदे तद्विरोधापत्तेः । यत्तु—क्रमेण नानादेह-
संबन्धादणोरेव सर्वगतत्वोक्तिः—इति, तन्न; अशेषवाचिसर्वशब्दसङ्कोचे मानाभावात् । यदपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शब्देतरेति । दिक्कालयोस्तस्मै—विशेषेति । ईश्वरे तस्मै—अनित्येति । अनात्मत्वमिति । धर्मिग्राहकमान-
सिद्धव्याप्तत्वादीश्वराकाशादौ साध्यव्याप्तमनात्मत्वमिति चेत्, किं ततः? नहि साध्यव्याप्त्युपाधेरपेक्ष्यते, किंतु
साध्यव्यापकत्वम् । उपाधिवृत्तित्वेन मनोवृत्तित्वेन । मध्यमेति । मन्मते अणुपरिमाणमेव मन इति चेत्, तर्हि
स्वं प्रत्येव तद्दृष्टान्तनीयम्, नतु मां प्रति । जडत्वस्य ज्ञानस्वरूपान्यत्वस्य । उपलम्भविरोध इति । उपलम्भो
जन्यो, नित्यो वा । आद्ये हस्तादाद्यवच्छिन्नसुखादिषु मनःसंयुक्तात्मसमवायस्य युगपदसंभवादसंभवः, अन्त्ये
नित्यस्य त्वन्मते गुण्यभेदात् गुणिसंबन्ध एव सुखादाद्युपलम्भरूपगुणसंबन्धो वाच्यः । नच—युगपदस्ताद्यवच्छिन्न-
सुखादावात्मसमवायसंभवः । अनुभवविरोध इति । नच—आत्मनिष्ठसुखादौ शरीरद्वारा आत्मसंबन्धित्वेन
हस्तादेरवच्छेदकत्वमिति—वाच्यम्; अवच्छेदस्य अधिकरणे साक्षात्संबन्धस्यैवावच्छेदकत्वात्, शाखादौ तथा
दृष्टत्वात् । नच—सुखादिकं नात्मनो गुणः, किंतु देहस्येति—वाच्यम्; लाघवेन जनकादृष्टसामानाधिकरण्यस्य
तत्र स्वीकारात् । गुणव्याप्त्या गुणसंबन्धेन । गुणिव्यतिरेकेण गुणसंबन्धेन । अत्रापि आत्मन्यपि । गुणस्य
विद्यमानस्य गुणस्य । बुद्धेः चैतन्यस्य । जातिसमवायादिवदिति । जाल्यादेः सर्वगतत्वं प्राचीनमतरीत्या वाच्यम् ।
तथाच तद्वदात्मगुणस्यापि तत् स्यादिति भावः । कारणनियमान्नियमः सुखादावेव तत्तदात्मसंबन्धशरीरसंब-
न्धरूपकारणसत्त्वात्तत्रैव तत्तदात्मनिष्ठज्ञानसंबन्धः । समवायीति । समवायिकारण एव कार्यसमवायादन्यत्र
ज्ञानसंबन्धासंभवः । ननु—समवायिकारण एव ज्ञानं समवैतु विषयतासंबन्धेन सुखसंबन्धमपि भवत्विति—
चेन्न; सुखादेर्ह्यात्मनिष्ठत्वमेव त्वया वाच्यम्; अहं सुखीत्यनुभवात् । तथाचात्मनिष्ठज्ञानेन सामानाधिकरण्यस्यैव
सुखादौ संभवात् विषयताख्यसंबन्धस्य तत्र स्वीकारे मानाभावात् । वस्तुतस्तत्तापि युगपदस्तादाद्यवच्छिन्न-
सुखादिमत्त्वस्यात्मन्यसंभवात् 'अहं हस्ते सुखी पादे दुःखी'त्यनुभवासंभवः । परमार्थतस्तु—परमते सुखादिज्ञान-
स्यात्माभिन्ननित्यसाक्षिरूपत्वात् कारणनियम्यत्वं न संभवत्येव, तथाप्यभ्युपेक्षेदमुक्तम् । तथाचाणुपरिमाणात्मगुण-
ज्ञानस्य सुखादौ विषयत्वकल्पनादात्मन एव हस्तादाद्यवच्छिन्नसुखादौ युगपत् समवायकल्पना युक्त्यात्मसाक्षिणो-
र्विशेषाख्यं भेदप्रतिनिधिं स्वीकृत्य गुणगुणित्वयोरणुत्वव्याप्तत्वयोः कल्पनं महागौरवपराहृतमिति भावः । मानत्वा-
दिति । स्फटिककरण्डिकायां तु कस्तूरिकाभागनिःसरणकाले अवयवान्तरं प्रविशति, तदप्रवेशेऽपि क्षत्यभावश्च,
तोऽरुणसमये स्वल्पन्यूनत्वस्यानुपलब्धिसंभवात् । मानाभावादिति । क्रमेण मनुष्यादिजातीयसर्वदेहपरिग्रहेऽपि

प्रत्यक्षत्वादिनैवाव्यापकत्वं साधनीयमित्युक्तं, तन्न; प्रतिकूलतर्कस्योक्तत्वात् व्यापकत्वसाधने तस्यैवानुकूलत्वेनाप्रयोजकत्वाभावाच्च । ननु—आत्मनो व्यापकत्वे 'सर्वाणि शरीराणि सर्वस्यैव भोगायतनानि स्युः; सर्वशरीरेन्द्रियादीनां सर्वदा सर्वात्मसंयुक्तत्वात् कर्मणामपि साधारणदेहादिकृतत्वेनासाधारण्यायोगात् अहन्वारोपादेरपि नियामकमूलसंबन्धादेरभावेन नैयत्यायोगादिति—चेन्न; तवापीश्वरस्य व्यापकत्वेन सर्वशरीराणां तद्भोगजनकत्वापत्तेः समानत्वात् । नच तददृष्टाजन्यत्वात्तत्संयुक्तत्वेऽपि न तत्र भोगजननं, तर्हीहापि समम् । नच कर्मणामेव कथमसाधारण्यम्? पूर्वतत्कर्मजन्यत्वात् । एवमनादितैव । अन्यथा ईशात्मनि तवाप्यगतेः । चैत्रभोगजनकाङ्कुरादेः तददृष्टाजन्यत्वात् आत्मसमवेतस्यादृष्टस्य साक्षादङ्कुरासंबन्धात् आत्मद्वारकसंबन्धस्य वाच्यतायामात्मनो विभुत्वम् । नच—चैत्रभोगाहेतोरप्यङ्कुरादेरात्मद्वाराऽदृष्टासंबन्धेऽपि तदजन्यत्वेन तस्यातन्त्रत्वमिति—वाच्यम्; जनकादृष्टनिरूपितात्मद्वारकसन्निकर्षस्यातिप्रसङ्गाभावेन तन्त्रत्वात्, जनकता तु अदृष्टस्य फलैकोन्नेया । एवमेवोपपत्तौ प्रतियोग्यभाववाच्यवाचकज्ञानज्ञेयादाविवाददृष्टकार्ययोरपि संबन्धान्तरस्वीकारे मानाभावः । यत्तु कारीर्यदृष्टस्य वृष्ट्या सह तदुद्देशेन विहितक्रियाजन्यत्वादिरूपः संबन्धोऽस्तीत्युक्तं, तन्न; तत्रापि यजमानात्मद्वारकसंयुक्तसमवायस्यैव जलक्षरणादिप्रयोजकत्वात् । एतच्च सर्वं परीत्योक्तम् । स्वमते च व्यवस्था प्रागुक्तैव । तथाच 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इति श्रुतौ बुद्धिगुणेनाराग्रमात्रत्वोक्तेः स्वाभाविकमेव विभुत्वम् । नचात्मगुणेनाराग्रमात्रत्वं बुद्धेर्गुणेन चावरत्वमिति व्युत्क्रमयोजना; तद्यथाणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्तः । एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः अणुर्ह्येवैष पुरुष इति श्रुत्यनुसारादिति—वाच्यम्; व्यापकत्वबोधकानेकश्रुतिविरोधेन बुद्धेर्गुणेनेत्येतदनुसारेण चास्या एव औपाधिकाणुत्वपरत्वात्, पुरुषस्येति षष्ठ्या राहोः शिर इत्यादिवदुपचरितार्थत्वाच्च । तथाच न व्युत्क्रमेणान्वयः । तस्मादणुत्वं नात्मभेदकम् ॥ इति अद्वैतसिद्धौ आत्मनोऽणुत्वभङ्गः ॥

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिर्गुणो वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः ।

परं त्वस्मिन्नस्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिषा श्रुतीनां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदन-

सरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ आत्मनिरूपणं नाम

द्वितीयः परिच्छेदः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नान्यात्माधिष्ठितदेहगतत्वं, समुद्रान्तःपातिवालुकादिगतत्वं वा । जनकादृष्टेति । जनकतावच्छेदकवैजात्यविशिष्टादृष्टेत्यर्थः । समवायस्यैवेति । कार्यकारणयोस्तत्तावच्छेदकसंबन्धलाभाय संबन्धो मृग्यते । उक्तलाभश्चात्मद्वारकोक्तसंबन्धेनैव; समवायेन जलगतक्षणं प्रति जलगतेन स्वाश्रयात्मसंयोगेनोक्तादृष्टस्य हेतुत्वात् । उक्तक्रियाजन्यत्वसंबन्धेन तु नोक्तलाभ इति भावः । प्रागुक्तैवेति । देहात्मनोर्न संयोगः संबन्धः, किंत्वध्यस्तं तादात्म्यं, तदपि कर्ममूलकं, तदपि पूर्वकर्ममूलकमित्यनवस्था तु अनादित्वादनिर्वाच्यत्वादनुकूलत्वाच्च न दोष इत्याद्युक्तम् । ननु—ईश्वरस्याचिन्त्यशक्तित्वात् जीवादृष्टभोगादेर्नेश्वरे आपत्तिरिति—चेत्, तर्हि तत एव सर्वत्र समाधानसंभवेन त्वदीय-युक्तिशास्त्रवैयर्थ्यम् । ननु—अङ्कुरादावदृष्टस्य नात्मद्वारकसंबन्धेन हेतुत्वम्, किंतु स्वाश्रयकालवृत्तित्वेन स्ववृत्तिमेयत्वाश्रयत्वेन स्ववृत्तिसत्ताश्रयत्वादिना वा संबन्धेनाङ्कुराद्यवयवनिष्ठेनेति—चेन्न; विनिगमकाभावेन स्ववृत्तिद्रव्यत्वाश्रयत्वादिना कारीर्यदृष्टादिहेतुत्वानन्त्यापत्तेः संबन्धघटकतया व्यापकात्मव्यक्तिकल्पनस्यैवोचितत्वात् । नच—तथात्वेनादृष्टतत्कार्ययोरेकजातिकल्पनापि स्यादिति—वाच्यम्; साङ्कर्यादिदोषादेकात्मव्यक्तेः सकलादृष्टसंबन्धघटकतया कल्पनयैवोपपत्तौ नानात्मव्यक्तीनां तदीयाणुपरिमाणानां च कल्पने गौरवादिति दिक् । औपाधिकाणुत्वेति । चक्षुषोऽपि सावयवत्वेन मध्यमपरिमाणत्वादात्मनोऽपि तद्वाच्यम्, ननु मुख्यमणुत्वम् । तथाच त्वन्मतेऽप्यात्मनि तस्यासंभवात् जन्यत्वाद्यापत्तेश्चौपाधिकमेव तत् । अतएव श्वेताश्वतरे 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितोऽयम्' इत्याद्युक्त्वा बुद्धेर्गुणेनेत्याद्युक्तमिति भावः । उपचरितार्थत्वात् कल्पिततादात्म्यार्थत्वात् । राहुत्व-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

क्षिरस्वाभ्यामिव ब्राह्मप्रकाशरूपशुद्धात्मबुद्ध्युपहितात्मत्वाभ्यां कल्पितभेदेन कल्पिततादात्म्यसत्त्वात् घटस्य नैव्य-
मित्यादाविव मुख्याथैव षष्ठी; चक्षुषः प्रकाशोऽपि विस्तृतावस्थारूपे तथैव संबन्धस्य वाच्यत्वात् । व्युत्क्रमेणेति ।
बुद्धेर्गुणेनाराग्रमात्रः, आत्मगुणेन त्ववरोऽपि श्रवणमननादियुक्तैर्दृष्टः साक्षात्कृतः नास्ति वरो महान् यतः, स तथा
अपरिच्छिन्न इति यावत् । बुद्धेः गुणो मध्यमपरिमाणं मुख्यः । आत्मगुणस्त्वपरिच्छिन्नत्वं न मुख्यगुणः । किंत्वात्म-
स्वरूप इत्याशयेन गुणपदान्तरमुक्तम् । अन्यथा बुद्धेरात्मनश्च गुणेनेति ब्रूयात् । तथाच क्रमान्वयसंभवे व्युत्क्रमो न
युक्त इति भावः ॥

तर्कैः सारस्वतै रत्नैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः । दुरन्तध्वान्तभङ्गाय ह्यात्माणुत्वस्य भञ्जनम् ॥

द्रौपदीशाकमाखाद्य त्रिलोकी येन तर्पिता । तज्जीवब्रह्मणोरैक्ये साक्षि ब्रह्मैव नो हरिः ॥

इति श्रीब्रह्मानन्दसरस्वतीविरचितायां लघुचन्द्रिकायामात्मनिरूपणं नाम
द्वितीयपरिच्छेदः ॥

ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्त्यादयः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

ब्रह्मणोऽवेद्यस्याधिष्ठानत्वासंभवेन प्रमाणपेक्षायामन्योन्याश्रयेण च नोपादानत्वम् । नच स्वप्रकाशत्वम्; तर्हि ब्रह्मणोऽपि
वृत्तिव्याप्यत्वाच्च वृत्त्यव्याप्यत्वम् । अतीतादौ नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्त्या न फलाव्याप्यत्वम् । सुषुप्त्यादौ व्यवहाराभावे-
नाव्याप्त्या नावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम् । योग्यत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मणि मोक्षकालेऽभावेनाव्याप्त्या न तद्योग्यत्वम् ।
अतएव न तद्योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्; तस्यापि धर्मत्वेन मुक्तावभावात् । स्वरूपस्यालक्षणत्वान्नानधिकरणत्वं
ब्रह्मस्वरूपम् । वस्तुतस्तु—योग्यत्वस्य मिथ्यात्वात् तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वमेव ब्रह्मणि विद्यते इत्यसंभवः । किंचात्रा-
वेद्यत्वं फलाव्याप्यत्वं चेत्, घटशुक्तिरूप्यादौ विशिष्टलक्षणस्यातिव्याप्तिः । घटादीनामपि वृत्तिविषयतयैव भानोपपत्तौ फल-
व्याप्यत्वे मानाभावात् । अन्यथा चित्संबन्धेनैव भाने ब्रह्मणोऽपि फलव्याप्यत्वेनासंभवः; तत्स्वभावस्यापि तद्विषयत्वं
चित्सुखाचार्यैरप्युक्तमेव । एतेन—अपरोक्षव्यवहारोऽपि दुर्वच इति—सूचितम्; धर्मादावपि अपरोक्षयोगिज्ञानजन्य-
व्यवहारस्य सत्त्वात् नापरोक्षज्ञानजन्यव्यवहारः नाप्यपरोक्षवस्तुविषयव्यवहारः, वस्तुन आपरोक्ष्यम् अपरोक्षज्ञानविषयत्वं
चेत्, आत्मनोऽपि घटादिवत् वेद्यत्वापत्तिः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चेदन्योन्याश्रयः । निराकारशुद्धब्रह्मविषयव्यवहारस्य
अपरोक्ष इत्याकारायोगात् नापरोक्ष इत्याकारः स इति संभवति । किंचावेद्यत्वमपरोक्षव्यवहारविषयत्वं च व्याहृतम् ।
स्वस्यैव स्वविषयत्वे, बाधकाभावात् ब्रह्मापि स्फुरणविषय एव । किंच स्वप्रकाशत्वस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानिः, अतात्त्विकत्वे
अस्वप्रकाशत्वस्यैव तात्त्विकतापत्त्या तत्साधकानुमानादेर्बाध इति सर्वमनवयम् ॥

एतेन—अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानप्रामाण्यमपि तत्र—निरस्तम्; साध्याप्रसिद्धेः,
वृत्त्यव्याप्यत्वस्य चरमवृत्तिव्याप्यानुभूतौ बाधात् घटादीनामपि फलाव्याप्यत्वेन ब्रह्मणोऽपि फलव्याप्यत्वेन चासाधारण-
बाधायापत्तेश्च वेद्यत्वं न वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वरूपमिति । वेद्यत्वं, किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वादिति साध्य-
प्रसिद्धर्थानुमानमपि नात्र प्रसरति । अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य केवलान्वयित्वे तत्रातथात्वे यत्र तदभावस्तत्र च व्यभि-
चाराच्च । एतेन—चिद्विषयत्वास्वप्रकाशत्वे अपि न तदिति—सूचितम् । आद्ये ब्रह्मणि बाधात्, द्वितीये प्रतियोग्य-
प्रसिद्ध्याऽऽश्रयासिद्धेः । एतेन—अनुभूतित्वानुमाने घटादिवत्स्वप्रकाशत्वविरोधिनो व्यावहारिकस्य वेद्यत्वस्य सत्त्वेऽपि तद-
भावोपपत्त्याऽर्थान्तरमपि—सूचितम् । अतएव—अयं घटः, एतद्घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्वानधिकरणान्यः, पदार्थत्वादि-
त्यनुमानेनापि वेद्यत्वानिरुक्त्या न साध्यसिद्धिरिति—सूचितम् । अयं घटः, एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वान-
धिकरणम्, पदार्थत्वादिति प्रकरणसाम्याच्च । एवंच साध्याप्रसिद्धिरपरिहार्यैव । धर्मिसमसत्ताकमेदवव्यक्तिसापेक्षत्वनियता हि
जातिरिति अनुभूतित्वजातेः शुद्धेऽभावेनानुभाव्याभावेऽनुभूतित्वायोगेन चासिद्धिः, अनुभूतिशब्दवाच्यानात्मन्यपि विद्यमान-
त्वेन न विपक्षव्यावृत्तत्वम् । किंच परोक्षानुभवपक्षत्वे बाधः अपरोक्षस्य तत्त्वे परोक्षानुभवे व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वम्,
अपरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामीत्यनुभवेन तदात्मानमेवावेदिति श्रुत्याच्च बाधश्च । जानामीति हि ज्ञप्तिविषयत्वमेवानुभूयते ।
अन्यथा दुःखं जानामीत्यादावपि तथात्वापातात् । अनुभूतिः, स्फुरणविषयः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्, घटवत्,

चैत्रीयानुभूतिः, चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञसिद्धिविषयः, चैत्रापरोक्षव्यवहारविषयत्वात्, घटवत्, इत्याद्यनुमानेन सत्प्रति-
पक्षितत्वादपि स्वप्रकाशत्वानुमानं न समीचीनम् । नहि स्वस्य स्ववेद्यत्वं निरुक्तम्; मिथ्यात्वानुमितेः स्वविषयत्वदर्शनात्
तदात्मानमित्यादाविव कर्तुरेव कर्मत्वोपपत्तेश्च । नहि परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम् । किंतु क्रियाविषयत्वादि-
कमिति न दोषः । यथा गल्यादावदृष्टेऽपि स्वसमानजातीयान्तराविषयत्वे कृत्यादौ स्वसमानजातीयान्तराविषयत्वं कल्प्यते,
एवमन्यत्रादृष्टमपि वस्तुस्वाभावात् स्वविषयत्वं कल्प्यते । एवंच ब्रह्मावेद्यत्वं न युक्तम्; अवेद्यत्वबोधकप्रमाणवेद्यत्वावेद्य-
त्वाभ्यां व्याघातात् । अन्यथा ब्रह्माविचारविधिवैयर्थ्यात्, ब्रह्माज्ञाननिवृत्त्ययोगाच्च । नह्यज्ञाननिवर्तकत्वमात्रेण वेदान्तप्रा-
माण्यम्; आत्मनोऽसिद्धिप्रसङ्गात् । नच स्वतःसिद्धिः, स्वत इत्यस्य स्वेनैवेत्यर्थकत्वे स्वविषयकत्वापत्तिः, प्रमाणं विनेत्य-
र्थकत्वे उपायान्तरानुपन्यासेनासिद्धितादवस्थम् । अन्यथा चृशङ्गादेरपि सिद्ध्यापातात् । नहि मुक्तावपि वेद्यं विना वित्ति-
त्वोपपत्तिः । एवंच स्वस्यापि स्वविषयकत्वमव्याहतम् । स्वाविषयेऽपि स्वस्मिन् स्वकार्यजनकत्वस्यान्यत्रादर्शनात् स्वस्या-
स्वविषयत्वं विना न स्वविषयसंशयादिनिवृत्तिप्रसङ्गः । गाङ्गुटादिभ्य इत्यत्र कुटिरपि बहुव्रीहिविषय एव । अन्यथा स्वस्मा-
दन्यत्र व्यवहारजनने स्वविषयत्वं स्वस्मिन् स्वाभेदः प्रयोजक इत्यननुगमापत्तिः । एतेन—घटः स्वप्रकाशो घटत्वादित्या-
भाससाम्यमपि—सूचितम् । एतेनानुमानान्तराण्यपि व्याख्यातानीति सर्वमनवद्यम् ।

एवंचात्मस्वप्रकाशत्वमपि निरस्तं भवति । नह्यात्मा चिद्रूपः । विज्ञाता प्रज्ञातेत्यादिना तस्य तदाश्रयत्वावगमेन तद्वि-
रोधात् । विमतं ज्ञानं, भिन्नाश्रयविषयकं, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्, विमतं, न स्वाश्रयविषयकं, गुणत्वात् । अद्वयौघ्यवत्
इति विद्यासागरोक्तानुमानमपि मामहं जानामीति प्रत्यक्षबाधात्, अज्ञान इव ज्ञानेऽपि स्वाश्रयविषयोपपत्त्याऽप्रयोजक-
त्वात्, अन्तःकरणविषयायां तदाश्रितायां शब्दजन्यवृत्तौ आद्यस्य स्वाश्रयदीपगतान्धकारविरोधिनि तद्विषयेच दीपगतशु-
क्लभास्वरूपे द्वितीयस्य च व्यभिचाराच्चाप्रयोजकमिति मन्यामहे । एतेन—आत्मैवास्य ज्योतिरिति श्रुतेरपि तत्र न
मानत्वमिति—सूचितम्; तस्य परमात्मपरत्वात्, द्युभ्वाद्यधिकरणन्यायेन तत्रैवात्मशब्दस्य मुख्यत्वात् । अत्रायं पुरुषः
स्वयं ज्योतिरिति वाक्यमपि अस्येति पदानुषङ्गेणायमीश्वरो जीवस्य ज्ञानहेतुरित्येवंपरतया व्याख्येयम् । वाचैवायं
ज्योतिषाऽऽस्ते इत्यादौ ज्योतिःशब्दस्य ज्ञानसाधनपरत्वात् । एवंच आत्मस्वप्रकाशत्वं न युक्तमेव । अतएवहि अत्र-
पदसार्थक्यम् । आत्मस्वप्रकाशत्वव्यवहारस्तु स्वविषयत्वेनोपपद्यते यथा दीपादौ । सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं न स्वप्रका-
शत्वम्; घटादीनामपि स्वप्रकाशत्वापत्तेः । आत्मा, स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्, प्रकाशाश्रयत्वादिति
विवरणानुमानं तु अवेद्यत्वस्य सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वस्य स्वविषयप्रकाशत्वस्य वा साध्यत्वे दुःखादिव्यभिचारार्थान्तरा-
पत्तिद्वान्ताद्यापत्त्या न प्रयोजकम् । अनुमानान्तराण्यपि सिद्धसाधनानैकान्तिकतादिप्रसङ्गादसङ्गतानीति विस्तरभयादुपर-
मामः । एवंच यौगिकापुनरुक्तानन्तादिशब्दवाच्यतया वेद्यत्वादनन्तगुणं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

एतेन—ब्रह्मावाच्यत्वसिद्धान्तो—पराहतः; अवाच्यशब्देनैव वाच्यत्वात् । नह्यवाच्यरूपमुख्यार्थाभावात्
लक्षणाप्युपपद्यते । लक्ष्यत्वेऽपि वा लक्ष्यपदेनैवावाच्यत्वसिद्धिः । अन्यथा गङ्गापदलक्ष्यस्यागङ्गात्ववत् ब्रह्मणोऽलक्ष्यत्वापत्तेः ।
एतेन—निर्विशेषपदमपि—व्याख्यातम् । एतेन—सत्यज्ञानादिपदवाच्यत्वमपि—सूचितम् । नह्यन्यथा तत्सत्त्वाद्यु-
पपद्यते समासपदानामपि निर्विशेषादिपदानां अन्विताभिधानमतानुसारेण वाक्यस्थानीयानां वाचकत्वमेव “यतो वाचो
निवर्तन्ते” “अशब्दमस्पर्श”मित्यादिका तु श्रुतिरद्भुतत्वाभिप्राया, मनोवृत्तेरिव वाग्वृत्तेरपि सर्वथा निषेधायोगात् ।
आनन्दाद्यनेकपदामुख्यार्थत्वापेक्षया निवर्तन्ते इत्येकपदामुख्यार्थत्वमेव युक्तम् । एवंच तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यम्
वस्तुत्वात् लक्ष्यत्वाच्च तीरवदिति सिद्धम् । परमार्थसत्यादिपदं, कस्यचित् वाचकम्, पदत्वादित्यनुमानमप्यत्र प्रमाणम् ।
नहि ब्रह्मणोऽवाच्यत्वे उपनिषदितरानधिगम्यस्य तस्य लक्ष्यत्वमुपपद्यते; वाच्यार्थसंबन्धितया ज्ञातस्यैव लक्ष्यत्वात् ।
अन्यथा वेदान्तवैयर्थ्यात् । इति सर्वमनवद्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वमपि ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वादुपपद्यते । ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वानु तज्ज्ञानार्थं प्रमाणान्तरानपेक्षा ।
स्वप्रकाशत्वं च अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । अनधिकरणत्वस्य स्वरूपत्वात् मोक्षेऽपि
सत्त्वेन नाव्याप्तिः । स्वरूपस्यापि लक्षणत्वं त्वन्मते ब्रह्माभिज्ञानन्दादौ गुणत्वव्यवहारवदुपपद्यते । अभावश्चात्र योग्यत्वविरोधी
व्यावहारिको वा विवक्षित इति न ब्रह्मण्यसंभवः । अवेद्यत्वं चात्र फलव्याप्यत्वरूपमेव विवक्षितम् । घटादीनामपि
फलव्याप्यत्वस्य पूर्वमेवोपपादनात् अपरोक्षव्यवहारपदेन प्रमाणजन्यापरोक्षवृत्तिविषयत्वस्यैव विवक्षणाच्च न घटशुक्तिरु-
प्यादावतिव्याप्तिः । ब्रह्मणस्तु न फलव्याप्यत्वम्; स्वस्य स्वासंबन्धादिति नासंभवोऽपि । अपरोक्षव्यवहारश्चापरोक्ष इति
शब्दप्रयोग एव विवक्षित इति न तदुर्वचम् । तच्च योग्यत्वं प्रमातारं कंचन प्रतीति न दोषः । स्वाविषयमपि स्फुरणं

स्वभावभेदात्स्वव्यवहारजनकमिति न व्याहृताद्यवकाशः । एतेन—चिदविषयस्वरूपत्वमपि स्वप्रकाशत्वं निर्दुष्टमिति—**सूचितम्**; नहि स्वमेव स्वस्य विषयः । चिदन्यस्य सर्वस्य चिद्विषयत्वानुच्छस्य निःस्वरूपत्वज्ञातिव्याप्तिः । मिथ्यात्वानुमितिस्तु स्वपरविषयतानियामकेनैकेन रूपेण स्वविषयापीति युक्तं नैवमत्र । स्ववेद्यत्वस्य बाधितत्वेन तदादायार्थान्तराप्रसङ्गेन स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वमपि तत् संभवति । स्वप्रकाशत्वं चेह ब्रह्मस्वरूपमेवेति न तत्तात्त्विकत्वेऽद्वैतहान्यापत्तिरिति सर्वमनवद्यम् ।

एतेन—अनुभूतिः, स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानमपि तत्र प्रमाणमिति—**सूचितम्** । नच साध्याप्रसिद्धिः; वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि इत्यनुमानेन साध्यप्रसिद्धिसंभवात् । अत्रच चिदविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्वस्य साधने वेद्यत्वं चिद्विषयत्वरूपमेव चिदन्यमात्रवृत्ति पक्षः । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वरूपत्वे फलव्याप्यत्वरूपं तत् । साध्यं तु पूर्वत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमुत्तरत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यकिञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमित्याद्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । श्रुतिविरोधान्तु नात्र सत्प्रतिपक्षादिकम् । कल्पितव्यक्तिभेदमादायानुभूतित्वजातेः शुद्धेऽपि संभवान्नासिद्धिः । जातन्यूनसत्ताकव्यक्तिभेदसापेक्षैव सेति नातिप्रसङ्गः । अनुभाव्याभावेऽप्यनुभूतित्वम्, अनात्मनि अनुभूतिशब्दप्रयोगश्च पूर्वमेव निरस्तमिति न दोषः । **एतेन—अनुमानान्तराण्यपि—व्याख्यातानि**; नहि स्वस्यैव स्ववेद्यत्वम्; विषयविषयिभावस्य भेदव्याप्तत्वात् । स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ न स्वविषयलोपपादकं किञ्चिदस्ति । वेदान्तप्रामाण्यादिकं वृत्तिविषयत्वमात्रेणोपक्षीणमिति न विरोधः । **एतेन—आत्मस्वप्रकाशत्वमपि—व्याख्यातम्** । यथाचात्मनो न ज्ञानाश्रयत्वं किंतु ज्ञानरूपत्वमेव, तथाऽन्यत्र विस्तृतम् । **एवंच** निर्धर्मकतयाऽवेद्यतया च ब्रह्मानन्दादिपदलक्ष्यम्, न वाच्यम्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावादिति मन्तव्यम् । अवाच्यशब्दस्तु वाच्यत्वात्यन्तावबोधनद्वारा लक्षणया स्वरूपे एव पर्यवसन्नः । **वस्तुतस्तु** ब्रह्म न लक्ष्यमपि; वाच्यत्वाभावनिवन्धनत्वात्तद्व्यवहारस्य । लक्ष्यत्वाभावेन वाच्यत्वव्यवहारोऽपि गौण इष्ट एव । यथाचान्विताभिधानेऽपि स्वरूपलक्षणाऽविरोधस्तथा पूर्वमेव निरूपितम् । **एवंच—ब्रह्मणि** न शब्दस्याभिधया प्रवृत्तिः । एतदभिप्रायैव “यतो वाचो निर्वर्तन्ते” इति श्रुतिरिति मन्यामहे; निर्धर्मकतया बाधात्, सधर्मकत्वेन सोपाधिकत्वाच्च तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यमिति अनुमानमपि परास्तमिति सर्वमनवद्यमिति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

नापरोक्षव्यवहारविषयत्वयोग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं स्वप्रकाशत्वम् । स्वरूपस्यालक्षणत्वेनानधिकरणत्वस्य स्वरूपत्वायोगेन मुक्तावव्याप्तेः, घटादीनामपि प्रमाणजन्यापरोक्षवृत्तिविषयचैतन्यैक्याध्यासेनापरोक्षत्वोपपत्तौ तद्वृत्तिविषयत्वाभावेनोक्तवृत्तिविषयत्वस्यैव लक्षणत्वसंभवेऽवेद्यत्वे सतीत्यस्य वैयर्थ्याच्च, ब्रह्मणोऽपि फलव्याप्यत्वेनासंभवाच्च । स्वस्यापि स्वविषयत्वं संभवत्येव मिथ्यात्वानुमितेरेव, तत्रेवात्र व्यवहारजनकत्वस्यैकस्य प्रयोजकस्य विद्यमानत्वात् । एवंच ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वाभावाधिष्ठानत्वमिति मन्तव्यम् ॥

एतेनानुभूतिस्वप्रकाशत्वानुमानान्यपि निरस्तानि । यथाच ब्रह्मणो वाच्यत्वं यतो वाच इत्यादीनामन्यत्र तात्पर्यात् तथाऽन्यत्र विस्तर इति सर्वमनवद्यमिति—**प्रतिपादयन्ति** ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

स्वरूपस्यापि लक्षणत्वस्य तत्र तत्रोपपादितत्वात् स्वस्य स्वविषयत्वस्यापि तथैव पूर्वमेव तत्र तत्र साधनादवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्वं ब्रह्मणि संभवत्येव । **एतेन—श्रुत्यनुगृहीतानि** तदनुमानान्यपि—**व्याख्यातानि** । अवाच्यस्यापि ब्रह्मणो लक्ष्यत्वमपि तत्रतत्रोपपादितमिति सर्वमनवद्यमिति—**विवेचयन्ति** ॥

इति ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्त्यादयः ।

जीवाणुत्वनिरासः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

अणोर्जीवस्य न व्यापकेन ब्रह्मणाऽभेदः संभवदुक्तिकः । तदणुत्वे च “अणुर्ह्येष आत्माऽयं वा स एते सिनीतः पुण्यं च पापं च” “वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते” इत्यादिश्रुतिः “अणु-
अद्वै. सि. १०८

मात्रोऽप्ययं जीव” इति स्मृतिः, उत्क्रान्तिगत्यागतिक्रियावत्त्वादिहेतुकं स्वशरीरदृष्टान्तकानुमानानि च प्रमाणम् । “नाकस्य पृष्ठे सुकृते तेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ते अशुभमनुभूयावर्तन्ते” इति श्रुतौ “तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः” इति स्मृतौ च सुखदुःखाद्यनुभवस्य मुक्तिसामानाधिकरण्यश्रवणात् बुद्धिसंबन्धिन्येवेयं गतिरिति युक्तम् । नहि बुद्धि-गतेन गत्यादिना घटगतेनाकाशस्येवात्मनो गत्यादिकं संभवति । उपचरितार्थत्वे तु बहूनां वाक्यानामप्रामाण्यकल्पनाप्रसङ्गः, अणुत्वेऽपि जीवस्य देहव्यापि सुखाद्यनुभवः, प्रभया दीपस्येव स्वधर्मभूतज्ञानेनोपपन्न एव । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरित्यत्र हि सर्वगतेश्वरस्थोऽणुश्चैवेवार्थो बोधनीयः इति न तस्य जीवसर्वगतत्वे प्रामाण्यम् । एतेन—बुद्धेर्गुणेनेति श्रुतिरपि—व्याख्याता; तस्या बुद्धेर्गुणेनावरः आत्मगुणेनाराग्रमात्र इति योजनया जीवाणुत्वे एव तात्पर्यात् । जीवोऽनणुः प्रत्यक्षत्वादित्यनुमानं त्वप्रयोजकमिति मन्तव्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

जीवो नाणुः, नित्यः सर्वगतः स एष महानज इत्यादिना तद्व्यापकत्वावगमात् । अणुर्हेष आत्मेत्यादिकं दुर्ज्ञेयत्वाभि-प्रायम् । उत्क्रान्तिगत्यादिकं बुद्ध्युपाधिकमेव जीवस्य न स्वत इति न तेनाणुत्वसाधनसंभवः । सुखदुःखाद्यनुभवस्यापि बुद्ध्युपाधिकत्वात् नाकस्य पृष्ठ इति सुखदुःखाभावसामानाधिकरण्यमपि न विरुद्धम् । अव्यापकस्यैवाव्यापकं प्रति गमनसंभवेन व्यापके ब्रह्मणि गमनप्रतिपादकवचनानां स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यादीनामुपाधिकृतभेदराहित्यपरत्वेन गतिसामानाधिकरण्येऽतात्पर्येण तदपि न विरुद्धम् । यद्वुद्ध्यवच्छिन्नेन येनात्मना यत्कृतं तस्यैव तद्भोगान्न कृतहान्यादिप्रसङ्गः । उपाधिगल्योपहिते गतिप्रयोग औपचारिक एवेति मन्तव्यम् । जीवाणुत्वसाधकान्यनुमानानि च श्रुतिविरोधादप्रमाणम् । नहि गुणिव्यतिरेकेण गुणस्य कुत्राप्युपलम्भः, येन गुणव्याप्त्या सर्वशरीरव्यापिसुखानुभवादिकमुपपद्येतेति जीवाणुत्वे तदनुपपत्तिरप्यपरिहायैव । दीपादन्यत्र दृश्यमाना तु प्रभा न दीपगुण इत्याद्यद्वैतसिद्धौ विस्तृतम् । “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः स एष महानज” इत्यादिश्रुत्यनुसारेण “नित्यः सर्वगतः स्थाणु” रित्यस्यापि जीवसर्वगतत्वस्थाणुत्वादिवोधन एव तात्पर्यमिति सर्वमनवद्यम् । एतेन—जीवव्यापकत्वानुमानमपि—व्याख्यातमिति—निरूपयन्ति ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

सुखादिभोक्तृत्वस्यात्मधर्मत्वमेव युक्तमिति कर्तृत्वाध्यासभङ्गे निरूपितम् । नाकस्य पृष्ठे इति सुखसामानाधिकरण्येन गतिरात्मधर्म एवेति ततस्तदणुत्वमवगच्छामः । विभोरप्याकाशस्य सर्वमूर्तक्रियाजन्यसंयोगाश्रयत्वरूपतद्व्याप्यत्वात् “ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः” इति श्रुतिरस्माकमेवानुकूलेति बुद्ध्युपाधिकमेव जीवगत्यादिकमिति न युक्तम् । “आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः” इत्यादीनमीश्वरपरत्वेन न जीवविषयत्वमिति तदविरोधात् नित्यः सर्वगत इति स्मृतौ सर्वगतस्थत्वमणुत्वं चैव बोध्यते इति जीवाणुत्वसाधकानुमानान्यपि समीचीनान्येवेति सर्वमनवद्यमिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

सुखादिभोक्तृत्वस्यानात्मधर्मत्वं कर्तृत्वाध्यासोपपत्तौ निरूपितमिति सुखानुभवितृत्वसामानाधिकरण्यादेव न गतिरात्मधर्म इत्यवश्यमः । नहि व्यापके गमनं मुख्यं संभवतीति उपाधिनिमित्तभेदविरह एव ब्रह्मगमनवाक्यानामर्थः । एवं च बुद्ध्युपाधिकमेव गत्यादिकमिति मन्तव्यम् । बुद्धेर्गुणेनेत्यस्य क्रमान्वयसंभवे व्युत्क्रमेणान्वयो हि न संगतः । एवं च जीवपरमात्मनोरभेदस्योपपन्नत्वात् अभिज्ञात्मसाक्षात्कारणार्थमेव श्रवणादिकमनुष्ठेयमिति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति जीवाणुत्वनिरासः ।

इति चतुर्ग्रन्थां द्वितीयः परिच्छेदः ।



श्रीः ।

॥ तृतीयपरिच्छेदः ॥

अथ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वोपपत्तिः ।

तदेवमैकात्म्ये व्यवस्थिते तत्साक्षात्काराय श्रवणमङ्गि, मनननिदिध्यासने तदङ्गतया मुमुक्षुभि-
रनुष्ठेये । तदुक्तं विवरणे—‘श्रवणमङ्गि; प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्, मनननिदिध्यासने
तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते’
इति फलोपकार्यङ्गे । ननु—श्रवणं तावद्विचाररूपं शब्दज्ञाने न करणम्, वेदेन धर्म इव ब्रह्मणि
प्रमीयमाणे विचारस्यानुमानादौ तर्कस्येव शब्दरूपे तज्ज्ञानरूपे वा करणे इतिकर्तव्यतामात्रत्वा-
दिति—चेन्न; शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं तावत् विचारः । अवधृततात्पर्यकश्च शब्दः करणमिति
विचारस्य करणकोटिप्रवेशेनेतिकर्तव्यतात्वाभावात् अङ्गित्वनिर्णयात् । तदुक्तं विद्यासागरे—
अनुमितौ लिङ्गज्ञानवत्तात्पर्यविशिष्टशब्दज्ञानं करणम्, अतस्तात्पर्यावधारणरूपविचारस्याङ्गि-
त्वम् । नच—आकाङ्क्षादिसहितशब्दज्ञानस्यैव करणत्वसंभवे तात्पर्यभ्रमनिरासोपक्षीणतयोक्ततात्पर्य-
ज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे मननादेरपि तत्कोटिप्रवेशः स्यादिति—युक्तम्; एवं साकाङ्क्षादिधियोऽपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रीनारायणतीर्थानां गुरुणां चरणस्मृतिः । अहं तथैव व्याकुर्वे सारस्वतसरस्वतीः ॥

तदङ्गतया मुमुक्षुभिरनुष्ठेये तदिच्छाप्रयुक्तेच्छाधीनमुमुक्षुप्रवृत्तिविषये । अङ्गस्याङ्गिरूपफलेच्छाधीनचिकीर्षा-
जन्यकृतिसाध्यत्वात् । अपूर्वविशिष्टयागेच्छया प्रयाजादेरिव साक्षात्कारविशिष्टश्रवणेच्छया मनननिदिध्यासनयोश्चि-
कीर्षा । श्रवणस्य मननाद्यङ्गकत्वाभावे तु साक्षात्कारेच्छयैव तयोः सेति अङ्गाङ्गिताविचारस्य कर्तव्यस्य फलमिति भावः ।
प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात् प्रमास्वरूपं प्रति कारणत्वात् । प्रत्यगात्मप्रवणेति । ब्रह्मात्मैक्यमात्रविषयकेत्यर्थः ।
तदेकाग्रवृत्तीति । विपरीतभावनाशून्यब्रह्मात्मैक्याकारवृत्तीत्यर्थः । मननेनासंभावितत्वज्ञानरूपस्योपेक्षाज्ञानचित्त-
विक्षेपयोर्हेतोर्निवृत्त्योपेक्षानात्मकब्रह्मात्मैक्यमात्रज्ञानेनोक्तसंस्कारः, निदिध्यासनेन च तस्य बाहुल्यरूपं तत्प्रयुक्त-
जातिविशेषरूपं वा दाढ्यं सम्पद्यते । ततो विपरीतसंस्कारनिवृत्त्योक्तैकाग्रवृत्तिरिति भावः । ब्रह्मानुभवहेतुताम्
अविद्यानिवृत्त्युपधायकानुभवप्रयोजकताम्, अङ्गस्य प्रधानजन्यफलाहेतुत्वात् । नच—उक्तदृढसंस्कारद्वारोक्तैकाग्रवृत्ति-
रूपोक्तानुभवप्रयोजकतां प्रतिपद्येते इत्येव कुतो नोक्तमिति—वाच्यम्; विपरीतसंस्कारनिवृत्त्युत्पत्तिकाले जायमान-
वृत्तावप्रामाण्यशङ्कासंभवेन तच्छून्यवृत्त्यन्तरस्यैव अविद्यानिवृत्त्युपधायकत्वात् । फलोपकार्यङ्गे उक्तैकाग्रवृत्तिरूपो
यः फलस्याप्रामाण्यशङ्काशून्यसाक्षात्कारस्य प्रयोजक उपकारस्तज्जनकाङ्गे । शक्तितात्पर्येति । प्रमाजननानुकूलशक्ति-
रूपतात्पर्येत्यर्थः । अपौरुषेये वेदे पुरुषेच्छारूपशक्त्यभावात् । कारणकोटिप्रवेशेन कारणतावच्छेदकघटकत्वेन ।
ननु—शब्दत्वेनैव करणत्वम्, न त्ववधृततात्पर्यकशब्दत्वेन; गौरवात्, तत्राह—तदुक्तं विद्येति । लिङ्गज्ञानवत्
लिङ्गविशिष्टज्ञानवत् । तात्पर्यविशिष्टशब्दज्ञानं तात्पर्यावधारणविशिष्टं शब्दज्ञानम् । लिङ्गज्ञानत्वेन कारणता-
ग्राहकं ज्ञायमानलिङ्गत्वेनेव शब्दज्ञानतात्पर्यावधारणत्वेन कारणताग्राहकं मानमवधृततात्पर्यकशब्दज्ञानत्वेनापि
कारणतां गृह्णाति; विशिष्टधार्मिकमानस्य बाधकं विना विशेषणे विधेयग्राहकत्वनियमात् । ज्ञायमानलिङ्गस्यातीतादेरपि
ज्ञानसंबन्धेन कारणत्वमित्यादिकमुदयनमते प्रथमपरिच्छेदे अस्माभिरुक्तम् । विशेषणस्य कारणताग्राहकत्वे अन्यथा-
सिद्धिं च अधिकामाशङ्कते—नचाकाङ्क्षेति । विभक्त्यादिसमभिव्याहारविशेषरूपाकाङ्क्षाविशिष्टनामादिशब्दज्ञान-
त्वेन आदिपदात् ‘पदान्तरेण सह संभूय विशिष्टार्थबोधकमिदं पद’मित्याकारकज्ञानत्वेनैव च करणत्वसंभव इत्यर्थः ।
एवकारादवधृततात्पर्यकशब्दज्ञानत्वेन करणत्वव्यवच्छेदः । तत्र हेतुः—उपक्षीणतया तात्पर्यज्ञानस्येत्यन्तम् । उप-
क्षीणतया अन्यथासिद्ध्या । तथाचावधृततात्पर्यकशब्दत्वेन नतरां कारणतेति भावः । करणकोटिप्रवेश इति ।
अपीत्यादिः । तात्पर्यज्ञानस्येत्यनुषज्यते । उक्तज्ञानत्वेनैव च करणत्वसंभवेऽपि तात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेश इत्यर्थः ।

निराकाङ्क्षत्वादिभ्रमनिरासकत्वमात्रेणोपयोगापत्तौ आकाङ्क्षादिकमपि करणकोटिप्रविष्टं न स्यात् । न चान्योन्याश्रयः; सामान्यतोऽर्थावगमनेन तात्पर्यग्रहसंभवात् । अन्यथा नानार्थादौ विनिगमनादिकं च न स्यात् । तथाच सर्वत्र तात्पर्यज्ञानस्याजनकत्वेऽपि यत्र तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरं शाब्दधीः, तत्र तात्पर्यज्ञानस्य हेतुता ग्राह्या संशयविपर्ययोत्तरप्रत्यक्षे विशेषदर्शनस्येव । अत एव न विवरणविरोधोऽपि । ननु—तात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे वेदेऽपि तात्पर्यभ्रमसंभवात् बाह्यागमेऽपि तात्पर्यप्रमासंभवात् शाब्दज्ञानकरणस्य दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्था न स्यात् इति—चेन्न; वेदे कदाचित् कस्यचित् कुत्रचित्तात्पर्यभ्रमेऽपि निर्दुष्टत्वेन यथार्थतात्पर्यमस्त्येव, परागमे तु पौरुषेयतया प्रतारणादिमत्पुरुषप्रणीततया दुष्टत्वेन न तथेति दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्थासंभवात् तात्पर्याशस्यावघातादेरिव यागे, शब्दे सन्निपत्योपकारकतया करणकोटिप्रविष्टत्वेनाङ्गित्वम् । नच दृष्टान्ते करणद्रव्यशेषत्वात् तथा; सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वात् । ननु—सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि न फलोपकारकमनननिदिध्यासनरूपाङ्गं प्रति शेषिता, अन्यथा प्रयाजादिकं प्रत्यवघातादिः शेषी

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

आकाङ्क्षादिकमिति । तथाच आकाङ्क्षादिज्ञानाभावे विपरीतव्युत्पन्नस्येव तात्पर्यज्ञानाभावे शुकादिवाक्यश्रोतुः शाब्दबोधोत्पत्तावपि स्वविशिष्टशाब्दबोधे साकाङ्क्षशब्दज्ञानस्येव तात्पर्यज्ञानस्यापि हेतुत्वमन्वयव्यतिरेकबलात् यदभावविषयकौ यत्संशयव्यतिरेकनिश्चयौ यत्र प्रतिबन्धकौ तन्निश्चयस्तद्वेतुरिति व्यासेति भावः । अन्योन्याश्रयः वाक्यार्थस्य शाब्दबोधपूर्वं मानान्तरेणानिश्चयात् शाब्दनिश्चये सत्येव वाक्यार्थघटिततात्पर्यनिश्चयः, तस्मिन् सत्येव शाब्दनिश्चय इत्यन्योन्याश्रयः । सामान्यतः तात्पर्यनिश्चयकालीनापातरूपेण पदार्थत्वरूपेण पदार्थविषयकेण । नानार्थेति । अन्वययोग्यनानार्थोपस्थापकपदत्वर्थः । गां देहीत्यादौ धेनुभूजलादिनानार्थानां दानकर्मत्वान्वययोग्यत्वेन योग्यता न विनिगमिका, किंतु तात्पर्यमिति भावः । विपर्ययोत्तरेति तात्पर्यनिश्चयोत्तरोपलक्षणम् । विशेषदर्शनस्येवेति । तदनुत्तरप्रत्यक्षे विशेषादर्शनस्येव स्वविशिष्टान्यशाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानाभावस्य हेतुता । तेन तात्पर्यानिश्चयेऽपि सामान्यसामग्र्या शाब्दबुद्धेर्नापत्तिः । एवंच लिङ्गन्यायेनावधृततात्पर्यकशब्दत्वेन हेतुत्वम्, मननादौ तु न लिङ्गन्यायः; शब्दाघटितरूपेणैव तत्र हेतुत्वात् । विनिगमिकाभावेनाप्युक्तशब्दत्वेन तद्बोधम् । विवरणविरोधः विवरणोक्तश्रवणाङ्गित्वविरोधः । तात्पर्यप्रमासंभवात् 'स्वर्गकामः सिकतां भक्षये'दित्यादौ सिकताभक्षणादौ स्वर्गसाधनत्वबाधेऽपि तन्मते बाधाभावसंभवेनाबाधितवाक्यार्थतात्पर्यधीसंभवात् । न स्यादिति । तथाचासशब्दत्वेनेव शाब्दप्रमायामनासशब्दत्वेन शाब्दभ्रमे हेतुत्वावश्यकत्वे तात्पर्यज्ञानमन्यथासिद्धमित्यभिमानः । कुत्रचित् विषये । दुष्टत्वेन यथार्थतात्पर्यशून्यत्वेन । तथाचाबाधितवाक्यार्थधीरेव शाब्दप्रमाहेतुः, बाह्यागमे तु वाक्यार्थो बाधितः । बाह्यानामबाधितत्वधीस्तु नोपयुक्ता । वस्तुतो निर्दोषत्वरूपास्तत्त्वच्छब्दत्वेन शाब्दप्रमाहेतुत्वेऽप्युक्तयुक्त्या तात्पर्येणावधारितशब्दत्वेनापि हेतुत्वमव्याहतम् । करणतावच्छेदकघटकत्वेन शेषित्वमुक्त्वा करणं प्रति सन्निपात्याङ्गत्वेनापि तदाह—तात्पर्याशस्येति । तात्पर्यावधारणस्येत्यर्थः । अप्रयोजकत्वादिति । ननु—करणोपकारकगतदृष्टादृष्टान्यतरोपकारजनकाङ्गत्वमेव सन्निपात्याङ्गत्वमिति—चेत्, केन त्वमित्थं प्रतारितः ? करणस्वरूपे तद्गतयोग्यतायां वा प्रयोजकाङ्गत्वमेव हि तत् । अन्यथा द्रव्यदेवतादीनां सन्निपात्यारादुपकाराङ्गयोरन्तर्भावासंभवेन तृतीयाङ्गत्वकल्पनापत्तेः । नहि द्रव्यादिकं करणीयद्रव्ये अवघातादिवत् दृष्टं प्रोक्षणादिवद्दृष्टं वातिशयं जनयति । किंचाभिक्रमणादेः प्रयाजादिकं प्रति त्वन्मते सन्निपातित्वमारादुपकारकत्वं वा । नाद्यः; उक्तलक्षणाभावात् । करणोपकारकोद्देशेन विहितत्वं हि लक्षणं त्वया वाच्यम् । अन्यथा कर्तृगतादृष्टजनकस्यापि तदापत्तेः । नान्त्यः; सन्निपातित्वसंभवे तस्यान्याय्यत्वात् । मन्मते तु कर्तृसाङ्गिध्यद्वारा प्रयाजहोमनिष्पादकत्वात् सन्निपात्यङ्गतोपपत्तिः । तथाच प्रोक्षणादेर्ब्रह्मादिनिष्ठातिशयाधीनकरणनिष्ठयोग्यतायामिव तात्पर्यावधारणस्यापि करणीभूतशब्दनिष्ठायामवधृततात्पर्यकत्वरूपयोग्यतायां प्रयोजकत्वात् सन्निपात्याङ्गत्वमव्याहतम् । तस्मात्—

गुणकर्मत्वरूपेऽयं सन्निपातित्वविभ्रमः । तवैव युज्यते शास्त्रविचाराक्षमभूपतेः ॥

तथा हि पारमर्ष सूत्रम्—'यैस्तु द्रव्यं चिकीर्षते गुणस्तत्र प्रतीयेत ।' इति । ननु—सन्निपात्याङ्गस्यापि कथमङ्गित्वम् ? षडुद्देशेन यत् विहितं तस्येव तदङ्गित्वेनावघातादेः प्रयाजाद्यङ्गित्वासंभवादिति—चेन्न; परमापूर्वप्रयोजकयोग्यताविशिष्टयागमुद्दिश्यैव प्रयाजादिकं विधेयम्, यागस्वरूपे तत्साधनत्वासंभवात् । तथाचोक्तयोग्यताया यागस्वरूपस्य चोद्देश्यत्वेनाङ्गित्वात् योग्यतोपधायकत्वोपहितेन रूपेण प्रोक्षणादेः यागस्वरूपोपहितवैतुष्याद्युपहितरूपेणावघातादेर्वाङ्गित्वसंभवात् तद्गदुष्यततात्पर्यकत्वरूपः । या ब्रह्मानुभवयोग्यता तद्विशिष्टशब्दोद्देशेन मननादेर्विधानादुक्त-

स्यादिति—चेन्न; विशिष्टयागप्रविष्टतया शेषित्वे इष्टापत्तेः, असाधारण्येन शेषिता तु असाधारण-
फलोपकारकत्वे स्यात्, असंभावनाविशेषनिवृत्तिरूपासाधारण्योपकारजनकत्वात् सापि श्रवणस्य
संभावितैव । अत एवोक्तं चित्सुखाचार्यैः—‘करणीभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वात् श्रवणस्य करणत्वे-
नाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गते’ति ।
नच—एवं सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाद्यङ्गस्य तद्गतातिशयहेत्वभिषवग्रहणादिकं प्रत्यङ्गत्वप्रसङ्ग
इति—वाच्यम्; पूर्ववदुक्तोत्तरत्वात् । तदुक्तं तत्त्वशुद्धौ—‘करणीभूतशब्दधर्मशक्तितात्पर्यविषय-
त्वात् श्रवणस्य करणान्तर्भावेनाङ्गित्व’मिति । नच—शब्देनापरोक्षज्ञसौ अप्रतिरुद्धापरोक्षज्ञसौ
चोत्पाद्यायां मनननिदिध्यासनयोरिव परोक्षज्ञत्वावप्रतिरुद्धपरोक्षज्ञसौ चोत्पाद्यायां श्रवणस्याप्यपे-
क्षिततया त्रयाणामपि फलोपकार्यङ्गत्वमेवेति कथं परस्परान्गाङ्गिभाव इति—वाच्यम्; मनननिदि-
ध्यासने फले जनयितव्ये शब्दस्य सहकारिणं सम्पादयतः, श्रवणं तु तस्य जनकतामेवेति विशे-
पात् । यत्र च नैवं तत्र तुल्यवदङ्गतैव । एतेन—‘यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स
सौभरेण स्तुवीत, हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात् ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय ऊ इति स्वर्गकामाये’ति
श्रुतानां वृष्ट्यादिफलाय सौभरेतिकर्तव्यतानिधनगतहीषादीनां श्रवणमननादिवत् परस्परमङ्गा-
ङ्गिभावप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; करणस्वरूपसंपादकत्वसहकारिसंपादकत्वरूपतत्प्रयोजकस्यात्रैव
तत्राभावात् । नच—एवं करणापूर्वोत्पत्तौ यागार्थस्यावघातादेः परमापूर्वोत्पत्तौ तदर्थः प्रयाजादिः

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

योग्यताया अपि उद्देश्यत्वेनाङ्गित्वादुक्तयोग्यतोपहितरूपेण तात्पर्यावधारणस्य मननाद्यङ्गिता, तदिदमुक्तं—विशिष्ट-
यागप्रविष्टतयेति । यागतन्निष्ठयोग्यतान्यतरापहितरूपेणेत्यर्थः । शेषित्वे प्रयाजादिकं प्रति ब्रीह्यवघातप्रोक्षणादेः
शेषित्वे । असाधारण्येन उक्तान्यतररूपेणावघातत्वादिना । असाधारण्यफलोपकारकत्वे असाधारण्येन
मुख्यफलोपकारस्य जनकत्वे । असंभावनाविशेषेति । तात्पर्यासंभावनाविशेषेत्यर्थः । जनकत्वात् असाधारण्येन
जनकत्वात् । सा तात्पर्यावधारण्यस्वरूपासाधारण्येन शेषिता । उक्तान्यतररूपफलोपकारजनकत्वस्यावघातत्वादिरूपेण
सत्त्वेऽपि तेन रूपेण स्वर्गादिरूपमुख्यफलाजनकत्वान्न शेषिता । तात्पर्यावधारण्यत्वरूपेण शब्दसाक्षात्काररूपमुख्य-
फलजनकता तूक्तैवेत्याशयेन श्रवणस्येत्येवोक्तम् । तथाचोपकारस्यासाधारण्यं मुख्यफलजनकतानिर्वाहकत्वरूपं विव-
क्षितमिति भावः । करणीभूतशब्दगतेति । उक्तसाधारण्येत्यर्थः । अथवा सन्निपत्योपकारकत्वेनाङ्गित्वे संवादोऽ-
यमिति यथाश्रुत एवार्थः । मनननिदिध्यासनयोस्त्विति । उशब्दात् सन्निपत्योपकारकत्वेन मुख्यफलजनकत्वेन
वा नाङ्गित्वमित्यर्थः । दीक्षणीयाद्यङ्गस्य दीक्षणीयादिरूपस्याङ्गस्य । तद्गतातिशयेति । सोमगतातिशयेत्यर्थः ।
अभिषवग्रहणादीति । ‘सोममभिषुणोति आश्विनं गृह्णाती’त्याद्युक्ताभिषवादीत्यर्थः । उक्तोत्तरत्वात् विशिष्टयाग-
प्रविष्टतया शेषित्वस्येष्टत्वादित्युक्तोत्तरत्वात् । जनकतां जननयोग्यताम् । यो वृष्टीत्यादि । ब्रह्मसामाख्यस्तोत्रं प्रकृत्य
‘यो वृष्टी’त्यादि वाक्यं श्रुतम् । तेन वृष्ट्याद्युद्देशेनोक्तस्तोत्राश्रितं सौभराख्यं साम विधीयते । सौभराश्रितं हीषादिकं
शाखाभेदेन पाठात् निधनावच्छेदेनैव आश्रयत्वमिति प्राप्ते—फलोद्देशेन हीषादेरपूर्वविधिकल्पने गौरवात् उक्तपाठाद-
नियमेन सौभराङ्गतया प्राप्तं हीषादिकं नियम्यते । वृष्टिसाधनसौभर एव हीषिति, अन्नाद्यसाधनसौभर एव ऊर्गिति,
नियमेन सौभराङ्गतया प्राप्तं हीषादिकं नियम्यते । वृष्टिसाधनसौभरस्य शाखान्तरे क्वचित् पाठेऽपि तत्र हीषादीनां पक्षे-
स्वर्गसाधनसौभर एव ऊ इति हीषादिशून्यनिधनयुक्तसौभरस्य शाखान्तरे क्वचित् पाठेऽपि तत्र हीषादीनां पक्षे-
ऽप्यप्राप्तत्वाच्च प्रकृत उद्देश्यता । नच—वृष्टिकामादिपदेषु वृष्ट्यादिसाधनसौभरेषु लक्षणा दोषः । वृष्ट्यादिकामपुरुष-
शेषत्वमेव हि हीषादीनां वाक्यार्थः । नियमविधिलाघवानुरोधेन वृष्ट्यादिसाधनसौभरद्वारकं परं तत् स्वीक्रियते;
साक्षाच्छेषत्वे बाधके सति परम्परया तत्स्वीकारस्य युक्तत्वात्, वृष्टिकामादिपदैः स्वसाधनसौभरद्वारा वृष्ट्यादेर्भाव्य-
त्वेन बोधनसंभवाच्च । तस्मात् हीषादिकं सौभरेतिकर्तव्यतारूपम्, नतु वृष्ट्यादिफलसाधनमिति द्वितीयद्वितीये
स्थितम् । फलाय सौभरेतिकर्तव्यतानिधनगतहीषादीनां फलानुकूला या सौभरगतयोग्यता तज्जनकानां
निधनगतहीषादीनाम् । करणस्वरूपसंपादकत्वेति । करणस्वरूपतद्गतयोग्यतान्यतरप्रयोजकत्वेत्यर्थः । तत्प्रयो-
जकस्य अङ्ग्यङ्गभावप्रयोजकस्य । अत्र श्रवणमननयोः । तत्र हीषार्गाद्योः । ननु—मननादिरूपं करणसहकारिणं
प्रति श्रवणस्य श्रवणत्वरूपासाधारण्येनेव प्रयाजादिरूपकरणसहकारिणं प्रत्यवघातादेरवघातत्वादिरूपासाधारण्ये-
नाङ्गित्वं स्यात्, नच—मुख्यफलजनकतात्पर्यावसितस्यासाधारण्यफलोपकारकत्वस्याभावाच्च तदिति—वाच्यम्; कर-
णस्वरूपतद्गतयोग्यतान्यतरस्यापि किञ्चिदपेक्ष्य मुख्यत्वेन तज्जनकतासत्त्वादित्याशङ्क्य निरस्यति—नचैवमित्यादि ।
करणापूर्वोत्पत्तौ यागार्थस्य उत्पद्यपूर्वजनकतया यागतयोग्यतान्यतरजनकस्य । परमापूर्वोत्पत्तौ तदर्थः

शेषः स्यादिति—वाच्यम्, एकफल उभयोर्यागार्थत्वाभावेन विशेषात् । ननु—कृतं परोक्षज्ञानं लोके शब्दस्य फलम् । तथाच शब्दातिशयाधारकस्य श्रवणस्य साक्षात्कारफलजनकाङ्गित्वं कथमिति—चेत्, साक्षात्त्वं न जातिः नवा इन्द्रियजन्यत्वादिकं नियामकं किंतु विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वमेवापरोक्षत्वे प्रयोजकम् । तथाचाज्ञाननिवर्तकत्वं विषयपर्यन्तत्वेन । तच्चात्मपर्यन्तत्वादत्रास्त्येवेति नादृष्टकल्पना । इत्थं च प्रकरणबलादपि सिद्धमस्याङ्गित्वम्; श्रवणस्य फलसंबन्धेन प्राधान्यसिद्धावितिकर्तव्यताकाङ्क्षायाः संभवात् । ननु—यद्यपि न (?) चित्तैकाग्र्यस्य सूक्ष्मवस्तुज्ञानहेतुत्वं दृष्टमस्ति; तथापि मननं न चित्तैकाग्र्यहेतुः युक्त्यनुसन्धानरूपमननस्यायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकताया एव दृष्टत्वेन चित्तैकाग्र्यहेतुत्वकल्पने सति दृष्टाहान्यापत्तेः मननविधेरपूर्वविधित्वापाताच्च ‘मतिर्यावदयुक्तते’ ति स्मृतिविरोधाच्चेति—चेन्न; तादृक्छङ्कायां सत्यां नानाकोटौ चित्तविक्षेपस्य तस्याश्च निवृत्तौ युक्तत्वेनावधारणविषयकोटौ चित्तप्रवणतायास्तावत्पर्यन्तत्वस्य दृष्टत्वेन दृष्टाहान्यपूर्वविधिस्मृतिविरोधाभावात् । निदिध्यासनस्य तु विपरीतभावनानिवर्तकता सकलसिद्धा । ननु—तन्निवृत्तेः न ज्ञानहेतुता दृष्टा रूप्यसंस्कारानुवृत्तावपि शुक्तिसाक्षात्कारदर्शनादिति—चेत्; ‘इयं शुक्तिरिति ज्ञानानन्तरं तद्रजततया ज्ञातमिति स्मृतेर्ज्ञानगोचरसंस्कारसत्त्वेऽपि तद्रजतमित्यस्मरणेन विपरीतसंस्कारनिवृत्तेस्तत्रापि सत्त्वात् । ननु—शब्दसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन ‘ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानं’ इत्यादिवाक्येन निदिध्यासनस्य फलसंबन्धात् प्रकरणेन च श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्निपत्याङ्गमिति—चेन्न; निदिध्यासनपदस्य बहिर्देवसदनमित्यादाविव साक्षात्काररूपफलसंबन्धे न शक्तिरिति शब्दसामर्थ्याभावात् । वाक्येऽपि योग्यताबलाच्छ्रवणमेवाध्याह्रियते । तथाच तच्छ्रवणाद्व्यायमानो निष्कलं ब्रह्म पश्यतीत्यनुकूलार्थस्यैव पर्यवसानात् । तस्माद् ‘द्रष्टव्यः श्रोतव्य’ इति दर्शनेनाव्यवहितपाठरूपसन्निधानात् श्रवणस्य दर्शनेन साक्षादन्वयादङ्गित्वम् । किंच

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

परमापूर्वं जननीये यागसहकारी । एकफलेत्यादि । यस्मिन् परमापूर्वं जननीये प्रयाजादियागसहकारी, तज्जनकत्वस्यावघातत्वादिरूपेणावघातादावभावेन विशेषादित्यर्थः । तथाच यस्मिन् फले सहकारिणं प्रत्यङ्गिता वाच्या, तत्त्वमेव मुख्यत्वमुक्तमिति भावः । शब्दातिशयाधारकस्य शब्दफलशब्दबोधजनकस्य । साक्षात्कारफलेत्यादि । यस्मिन् साक्षात्कारे जननीये मननादिकं सहकारि, तज्जनकत्वेनाङ्गित्वं यदुक्तं तत् कथमित्यर्थः । पर्यन्तत्वेन तत्संसृष्टत्वेन । अत्र श्रवणजन्यशब्दज्ञाने । प्रकरणबलात् इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाबलात् । फलसंबन्धेन वक्ष्यमाणरीत्या ‘द्रष्टव्यः श्रोतव्य’ इति श्रुत्युक्तेन फलसंबन्धेन । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायाः स्निष्टायां फलजननयोग्यतायां जनकाकाङ्क्षायाः । भावनानिवर्तकता संस्कारनिवर्तकता । रजततया ज्ञातं रजतत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितज्ञानीयविशेष्यतावत् । सत्त्वादिति । तथाच रूप्यसंस्कारानुवृत्तौ शुक्तिप्रत्यक्षमसिद्धमिति भावः । इत्यादाविव इत्यादिमन्त्रस्य बहिर्लवनादौ स्त्रीयसाधनताबोधकत्वरूपसामर्थ्यमिव । फलसंबन्धे फलस्य निदिध्यासननिष्ठे साधनत्वे । न शक्तिः न बोधकत्वरूपसामर्थ्यम् । मन्त्रादिसाधननिष्ठमर्थप्रकाशनसामर्थ्यमेव शब्दसामर्थ्यविधया श्रुतिकल्पनद्वारा साधनताबोधकम्, ननु साधनबोधकशब्दनिष्ठमिति भावः । अध्याह्रियते तत इत्यनेन परामृश्यते । ‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यत’ इत्यादिवाक्ये कर्मणः पूर्वमुक्तत्वात्तस्यैव श्रवणरूपविचारात्मकस्य परामर्शः । कर्मत्वरूपेण परामर्शोऽपि योग्यताबलात् श्रवणात्मककर्मभानम् । ‘न कर्मणेति’ निषेधस्तु तदन्यकर्मणः; ज्ञानप्रसादपदेन मननाधीनबुद्धैकाग्र्यस्य, विशुद्धसत्त्वपदेन निष्कामकर्मानुष्ठानाधीनसत्त्वशुद्धेः ध्यायमानपदेन निदिध्यासनस्योक्तत्वात् अवशिष्टश्रवणस्यैव तत्पदेन वक्तुमौचित्यात् । अव्यवहितपाठेति । ‘सुवर्णं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य आवृष्य’ इत्यादाविव अव्यवहितपठितेष्टविशेषसाधनत्वं श्रवणे विधिना बोध्यते । मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रोतव्य इत्यनेन व्यवधानाद्दर्शनरूपेष्टसाधनत्वबोधनासंभवात् प्रकरणेन श्रवणाङ्गतानिश्चयेन श्रवणरूपेष्टसाधनत्वमेव बोध्यते । यत्तु दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—हस्ताववनेनैके उलपराजीः स्तृणाती’त्यत्राव्यवहितपठितेऽप्युलपराजिस्तरणमात्रे हस्तावनेजनं नाङ्गम्, अपितु योग्यत्वात्तदुत्तरकरिष्यमाणेष्वपीत्यस्य तृतीयप्रथमे ‘आनन्तर्यमचोदने’त्यधिकरणे उक्तत्वात् सन्निधानं नान्वयनियामकम्—इति, तन्न; तत्र हि हस्तावनेजनस्य कर्तृसंस्कारत्वात् कर्तृश्च प्रयोगान्वयित्वेन तद्वारा करिष्यमाणसर्वार्थत्वं लिङ्गप्रकरणाभ्यां युक्तम्, प्रकृतौ तु प्रकरणस्य फलान्वयात्पूर्वमसिद्धत्वात् लिङ्गस्य च मननादौ सत्त्वेऽपि सन्निधानसहकृतलिङ्गस्य बलवत्त्वेन श्रवणे दर्शनान्वयनियामकत्वसंभवात् । अत एव ‘एष ह वै हविषा हविर्यजते योऽद्वाभ्यं गृहीत्वा सोमाय

निदिध्यासनरूपभावनाप्रकर्षजन्यत्वे साक्षात्कारस्य कामिनीसाक्षात्कारवत् अप्रमात्वापातः नच मूल-
प्रमाणदाढ्यात् प्रमात्वं, तर्हि तदेव साक्षात्करणमस्तु? किं तदुपजीविनान्येन एतेन—निदिध्यास-
नसहकृतमनःकरणत्वमपि—निरस्तम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वम् ॥

अथ विवरणोक्तनियमोपपत्तिः ।

तच्च श्रवणादिकं विषयावगमं प्रत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धोपाय इति तद्विधेर्नापूर्वविधित्वम्, किंतु
नियमविधित्वमेव । ननु—अत्र श्रवणस्यापरोक्षफलं प्रति साधनत्वम् तच्चान्यतो नावगतमित्यपूर्व-
विधित्वमिति—चेन्न; गान्धर्वशास्त्रविचारे षड्जादिसाक्षात्कारे हेतुताया दृष्टत्वात् । नच—एतावता
शास्त्रविचारः सर्वत्रार्थसाक्षात्कारहेतुरिति न सिद्धम्, धर्मशास्त्रविचारे व्यभिचारादिति—वाच्यम्;
अपरोक्षार्थकशास्त्रविचारत्वेन साक्षात्कारजनकतायास्तद्दर्शनवलेन सिद्धेः । आत्माच षड्जादिवद-
परोक्षः न धर्मादिः । नच—अपरोक्षे विचारवैयर्थ्यम्, नहि यद्यपरोक्षं तत्तद्विचार्यत इति नियम
इति—वाच्यम्; अपरोक्षे विचार्यत्वनियमाभाववद्विचार्यत्वनियमोऽपि नास्ति । षड्जादावपरो-
क्षेऽपि विचार्यत्वदर्शनात् तद्वदेव साफल्यसंभवाच्च । सन्दिग्धत्वसंप्रयोजनत्वयोरेव सर्वत्र विचा-
र्यत्वे प्रयोजकत्वात् । एतेन—विचार्यशास्त्रार्थस्य साक्षात्कारयोग्यस्य साक्षात्कारे स हेतुरिति न
युज्यते, कालान्तरे साक्षात्करिष्यमाणत्वेन तद्योग्ये विचार्यशास्त्रार्थे स्वर्गनिध्यादौ विचारेण तदभा-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

यजते परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णातीत्यनारभ्य श्रुतम् अंशुमदाभ्यमिति यागनामनी, अंशौ यजत्य-
श्रवणेऽपि गृह्णातिचोदनासामान्येन ज्योतिष्टोमप्रकृतिकत्वात् तदीयद्रव्यदेवतासंबन्धेन यागत्वसिद्धिसंभवात् । तथाच
नाम्ना भेदाज्ज्योतिष्टोमात् भिन्नौ यागावेतावित्याशङ्क्यादाभ्यस्याव्यवहितपाठात् ग्रहणेनैवान्वयादंशौ च यजतेर-
श्रवणात् ग्रहणस्य संस्कारत्वेऽपि नामसंभवात् ग्रहणे एव नामभेदात् भिन्ने विधीयते । ते च ज्योतिष्टोमाङ्गे इति
द्वितीयतृतीये सिद्धान्तितम् । 'स्मरा वा एषा यज्ञस्य तस्माद्यत्किंचित् प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ती'ति
ज्योतिष्टोमे श्रुतमुपांशुत्वमग्नीषोमीयप्राचीनस्य पदार्थस्याङ्गं, ननु यज्ञभागस्य । यत्किंचिदित्यनेनोक्तपदार्थस्य
यज्ञस्येत्यनेनोक्तयज्ञापेक्षया सन्निधानादित्युक्तं नवमप्रथमे । किंच 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः आचार्यवान् पुरुषो
वेदे'त्यादिवाक्येषु श्रवणदर्शनयोः साधनसाध्यबोधकत्वं निःशङ्कम्, विज्ञानशब्देन विचारस्यैवोक्तत्वात् सुनिश्चयस्य
वेदान्तज्ञानमात्रेणासंभवात्, विशद्वदसार्थक्यानुरोधाच्च; आचार्यवत्त्वस्य विचारसंबन्धेनैवोक्तत्वाच्च । अन्यथा त्रैवर्णि-
कमात्रस्यास्याचार्यसंबन्धेन वाक्यवैयर्थ्यादिति ध्येयम् । निदिध्यासनस्य दर्शनजननयोग्यतामभ्युपेत्यापि सन्निधानस-
हितयोग्यतया श्रवणस्यैव दर्शनान्वय इत्युक्तम् । वस्तुतो निदिध्यासनस्य न सेत्याशयेनाह—किंचेति । मूलप्रमा-
णदाढ्यात् निदिध्यासनप्रयोजकवेदान्तवाक्यस्य निर्दोषत्वात् । एतेन उपजीव्यवेदान्तवाक्यस्यैव करणत्वसंभवेन ।
निदिध्यासनरूपसहकारिमूलं वेदान्तवाक्यमेव वाच्यम्, तथाच तदेव करणमस्त्विति भावः । मनसः करणत्वस्य
कुत्राप्यकृतत्वात् सुखादीनां साक्षिभास्यत्वात् न तत्करणम्; करणत्वेन कृतवाक्यादेव साक्षात्कारसंभवाच्च । नच—
साक्षात्काराव्यवहितपूर्वं वाक्यानुसन्धानकल्पने गौरवमिति—वाच्यम्; निदिध्यासनस्य शाब्दत्वे तदनुसन्धानस्य
आवश्यकत्वात्, स्मृतित्वे तत्रैव वाक्यविषयकत्वसंभवात् वाक्यसंस्कारादेः पूर्वं सत्त्वादिति भावः । यत्तु—श्रुतमतस्यैव
निदिध्यासनम्, अतस्तत्र श्रवणमनने उपकारकत्वादङ्गे—इति, तत्तुच्छम्; एतावताप्यङ्गत्वासिद्धेः, तदुद्देशेन विहित-
स्यैव तदङ्गरूपत्वात्, उत्तरवर्तिनोरपि मनननिदिध्यासनयोः श्रवणे फलोपकार्यङ्गतासंभवात् । अत एव 'श्रुत्वा मत्वा
तथा ध्यात्वा तदज्ञानविपर्ययो । संशयं च निराकृत्य लभते ब्रह्मदर्शनम् ॥' इति स्मृतिर्न विरुध्यते । तस्मात् जज्ञभ्य-
मानानुवचनवत् 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानं' इत्यत्र कर्तृकारकगतत्वेन श्रुतं ध्यानं, कर्तृसंस्कारकतया श्रवणा-
ङ्गम् । निःसन्दिग्धवाक्यान्तरे तत इति पञ्चम्या च निःसन्दिग्धहेतुताबोधिकया श्रवणस्य दर्शनार्थत्वात् ॥ तर्कै-
रित्यादि—श्रवणस्यैव शेषिता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वनिरूपणम् ॥

वादिति—निरस्तम्; निध्यादिसाक्षात्कारे तदसन्निकर्षादजातेऽपि विचारस्य तद्वेतुता न गच्छति । तत्र विचार इन्द्रियसहकारित्वेन तद्विलम्बेन विलम्बात्, प्रकृते तु शाब्दत्वात् साक्षात्कारस्य न तदपेक्षा; अपरोक्षयोग्यार्थसाक्षात्कारत्वेन कार्यत्वस्य तादृशार्थकशास्त्रविचारत्वेन साधनत्वस्य सत्त्वात् । एतेन—प्रकृतकार्यविजातीयकार्ये प्रकृतविचारविजातीयविचारस्य हेतुताह्युत्तिमात्रेण तस्यापूर्वविधित्वत्यागे अपूर्वविधिमात्रोच्छेदापात इति—निरस्तम् । ननु—पाक्षिकप्राप्तौ नियमः, सा च साधनान्तरप्राप्तौ, नच रूपादिरहितात्मज्ञाने तत्प्राप्तिरस्तीति—चेन्न; निर्विशेषात्मनि मानान्तरप्राप्तावपि आत्मनि सामान्यतस्तत्प्राप्तिरस्तीति नियमसंभवात् । यथाऽपूर्वायेषु ब्रीहिविशेषेषु नखविदलनादेरप्राप्तावपि ब्रीहिसामान्ये तत्प्राप्त्या ब्रीहीनवहन्तीति नियमविधिः । ननु—ब्रीहीनवहन्तीत्यत्र ब्रीहिपदमपूर्वायद्रव्यपरं नतु ब्रीहिमात्रपरम्, अन्यथा यवेष्ववघात औपदेशिको न स्यात्, नीवारेषु च ब्रीहित्वाभावेनातिदिष्टोऽपि बाध्येतेति नवमे स्थापितत्वेनापूर्वायद्रव्य एव नखविदलनादिप्राप्तिर्वक्तव्या । अन्यथा वैतुष्यमात्रे अवघातनियमे द्रव्यार्जने याजनाद्युपायनियमवत् तस्य पुरुषार्थत्वप्रसङ्गेन लौकिकेष्वपि ब्रीहिषु दलने प्रत्यवेयादिति—चेन्न; नियम्यमानावघातस्यापूर्वायद्रव्यमात्रविषयत्वेऽपि सामान्यविषयकप्राप्त्यैव नियमोपपत्तौ विशेषविषयप्राप्तेरनपेक्षितत्वात् । नच—निर्विशेषसविशेषरूपविशिष्टद्रव्यानुगते विशेषाभावादिद्वारा वेदान्तवेद्ये चिन्मात्रे न मानान्तरप्राप्तिरिति—वाच्यम्, उभयानुगते सविशेषतया प्रमेयतायां मानान्तरप्राप्तेः सत्त्वात् । सजातीये प्राप्त्यापि यत्र सजातीयान्तरे नियमसंभवः, तदा किमु वाच्यमेकस्मिन्नेवात्मनि अवस्थाविशेषेण मानान्तरप्राप्त्या विशेषान्तरे नियम इति । नच—एवं विशेषान्तरे प्राप्त्या विशेषान्तरनियमे वैयधिकरण्यमिति—वाच्यम्; व्यक्तिसामानाधिकरण्याभावेऽपि अनन्यगत्या सामान्यधर्ममादाय सामानाधिकरण्याङ्गीकारात् । ननु—अत्रान्यैव गतिरस्ति अपूर्वायब्रीहिषु नियमादृष्टाजनकस्यापि दलनस्य प्राप्तिरस्ति । नहि यत्र तेन वैतुष्यसम्पादनं तत्र तत्प्राप्तिः किंतु शक्तत्वेन प्रसक्तिमात्रमिति—चेन्न; एवं तद्योग्यत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः । तच्च तज्जातीयेऽन्वयी नतु तत्र, तथाच वैयधिकरण्यतादवस्थम् । प्रकृतेच सविशेषनिर्विशेषरूपद्रव्यानुगतेकात्मविषयतया वैयधिकरण्यशङ्कानवकाशश्च । तत्त्वकौमुदीकृतस्तु—‘यथा मन्त्रार्थज्ञानस्य कल्पसूत्रात्मीयग्राहकवाक्यादिनापि प्राप्तत्वेन पक्षे अप्राप्तमन्त्रसाध्यत्वं नियम्यते मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्येति तथा वेदान्तमूलस्त्रीशूद्रसाधारणस्मृतिपुराणादिप्राप्त्या पक्षे अप्राप्तवेदान्तश्रवणादिपरिपूरणार्थो नियमः । ‘तस्मात् न ब्राह्मणोऽवैदिकमधीयीत’ इति श्रुतेः ‘श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य’ इत्यादिस्मृतेश्चेति—आहुः । नच—‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये’दित्यादिस्मृतिविरोधः अविचारिते उपबृंहणायोगादिति—वाच्यम्; वेदान्ततात्पर्यनिर्णयाय तद्विचारापेक्षायामपि ब्रह्मज्ञाने तद्विचारापेक्षाविरहात् । नच—कर्मविषयकस्मृतिभिः कर्मज्ञानस्यैव ब्रह्मविषयात् भारतादेरितिहासादपि साक्षाद्ब्रह्मज्ञानस्योदयात् ब्रह्मज्ञानेऽपि तदपेक्षेति—वाच्यम्; उभयत्रापि स्मृत्यादेः स्वातन्त्र्येणाप्रमाणतया श्रुतितात्पर्यनिर्णायकत्वात् । अतएवोक्तं—‘वेदं समुपबृंहये’दिति, नतु

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

अपरोक्षयोग्यार्थसाक्षात्कारत्वेनेति । विचार्यमाणेत्यादिः । तेन विचारं विनापि दाशुरादेरात्मसाक्षात्कारेऽपि यागाज्जनादिना स्वर्गनिध्यादिसाक्षात्कारेऽपि च न व्यभिचारः । उच्छेदापात इति । स्वर्गादिविजातीयफले यागादिविजातीयक्रियाया हेतुत्वादिति भावः । बाध्येतेति । येन येन दशाद्यपूर्वसाधनद्रव्यमुपकृतं, तेन तेन विकृत्यपूर्वसाधनद्रव्यमुपकुर्यादित्यतिदेशेन नीवारेष्ववघातादिसिद्धिः । ब्रीहित्वेन द्रव्ये विशेषिते तु सा न स्यादिति भावः । प्राप्तिर्वक्तव्येति पाठः । प्राप्तेर्वक्तव्यत्वादिति पाठे तु पूर्वोक्तं न युक्तमिति शेषः । प्रत्यवेयादिति । याजनादिनैव द्रव्यमार्जनीयमिति नियमजन्यादृष्टस्य सार्थक्याय याजनाद्यन्योपायेन द्रव्यार्जने यथा प्रत्यवायः कल्प्यते, तथावघातेनैव वैतुष्यं साध्यमित्यत्र तत्सार्थक्याय दलनादिना वैतुष्यसम्पादने तत्कल्पना स्यादिति भावः । सविशेषनिर्विशेषद्रव्यानुस्यूतेति । सविशेषतादात्म्ययुक्तं निर्विशेषादत्यन्ताभिन्नं चेत्यर्थः । सविशेषे प्रवृत्तस्य प्रमाणस्य शुद्धमपि विषय इति तत्रापि तत्प्राप्तिरिति भावः । संभवप्राप्त्युत्पेदम् । सविशेषनिर्विशेषयोस्तादात्म्यादिरूपस्यैकजातीयत्वस्यापि संभवात् । ग्रहणकैति । संग्राहकैत्यर्थः । निर्णयाय तद्विचारेति । निर्णयमुद्दिश्य तद्विचारानुष्ठानेत्यर्थः । ब्रह्मज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारमुद्दिश्य । तद्विचारेति । तद्विचारानुष्ठानेत्यर्थः । स्वातन्त्र्येण श्रुतिनैरपेक्षेण । अप्रमा-

वेदार्थं जानीयादिति । यत्तु—‘श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः’ इत्यादिकं श्रुतिमूलप्रमाणाभिप्रायकम्—इति, तन्न; पञ्चमीप्रतीतहेतुत्वस्य साक्षात् संभवे पारम्पर्यकल्पनायोगात् । नच—विप्रकीर्णनानाशाखार्थ-संग्रहादिरूपेणेतिहासादिना तत्त्वनिश्चयदर्शनात् सति च तस्मिन् विविदिषाद्वारा तदर्थाय अन्तःकरणशुद्धेरनपेक्षितत्वात् आपरोक्ष्यस्य विषयभावादेव सिद्ध्या वेदजन्यब्रह्मज्ञाने इतिहासजन्यादधिकस्यापरोक्ष्यस्यानुभवेन तस्य नियमादृष्टसाध्यत्वात् ज्ञानस्य च स्वप्रागभावनिवर्तन इव अज्ञाननिवर्तने अदृष्टनिरपेक्षत्वात् अन्यस्य च नियमादृष्टसाध्यस्याभावात् न नियमविधिरिति—वाच्यम्; ‘तमेतं वेदानुवचनेने’त्यादिश्रुतिबलात् यज्ञादिजन्यादृष्टस्य नियमादृष्टस्य च विविदिषाद्वारकान्तःकरणशुद्धेरेव सर्वादृष्टसाध्यायाः संभवेन ज्ञानस्वरूपोपकारितया तत्साध्याज्ञाननिवृत्तौ तदपेक्षत्वाच्च विद्यायुक्ततदयुक्तकर्मजन्यफलगतचिराचिरस्वरूपातिशयवत् नियमादृष्टजन्यसाक्षात्कारे तदजन्यतत्त्वनिश्चयापेक्षयातिशयकल्पनस्यावश्यकत्वाच्च नियमविधित्वसंभवात् । तस्मात्—

नियमादृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्यापि संभवात् । श्रवणादेर्नियमनं सर्वथैवोपपद्यते ॥ इति ।

अतएव शूद्रप्रणीतात्मप्रबन्धादिप्राप्तिनिमित्तकाप्राप्तांशपूरणार्थो नियमविधिरित्याचार्यान्तरोक्तिरपि व्याख्याता ॥ इति विवरणोक्तनियमोपपत्तिः ॥

अथ श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः ।

ननु—किमिदं श्रवणं नाम? शक्तितात्पर्यावधारणं वा, तद्विशिष्टशब्दावधारणं वा, तात्पर्यप्रमापकलिङ्गावधारणं वा, आगमाचार्योपदेशजज्ञानं वा । नाद्यः; अवाच्ये ब्रह्मणि शक्यसंभवात् । तात्पर्यमपि न तावदापातधीजन्यस्य विचारनिवर्त्यस्य संशयस्य धर्मिणि; तस्य प्रागेव निश्चितत्वेन तन्निश्चयार्थं तात्पर्यनिश्चयसाधनस्य विचारस्य वैयर्थ्यात्, अन्यथा विचारानन्तरमपि संशयादिप्रसङ्गात् । नापि संशयधर्मिगतप्रकारविशेषे तद्विशिष्टे तदुपलक्षिते वा अखण्डार्थताहानेः, अवधारणस्य ज्ञानत्वे विधेयत्वस्य त्वयानङ्गीकारात् । अतएव न द्वितीयादि । नापि गुरुमुखाद्वेदान्तानां ब्रह्मणि संयोजनं श्रवणम्; तस्याद्यपक्षानतिरेकात् । नापि वाक्यविशेषप्रयोगरूपवादकथाश्रवणम्;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

णतयेति । अप्रामाण्यशङ्काशून्यज्ञानानुपधायकतया । श्रुतितात्पर्यनिर्णायकत्वात् श्रुतिसापेक्षतया प्रामाण्यस्यैव वाच्यत्वेन श्रुतिजन्यज्ञानस्यावश्यकत्वात् न स्मृतेः प्रमाणत्वेनोपयोगः । अध्ययनसिद्धवेदार्थज्ञानस्याध्ययनविधिना नियमितत्वादिति भावः । अन्यस्य विविदिषाद्वारकान्तःकरणशुद्ध्याद्यन्यस्य । यज्ञादिजन्यादृष्टस्येति । नियमादृष्टान्यस्य यज्ञादिजन्यादृष्टस्येत्यर्थः । नियमादृष्टस्य ज्ञानस्वरूपोपकारतयेत्यत्रान्वयः । उभयोर्ज्ञानोपकारित्वे हेतुमाह—विविदिषेत्यादि । चित्तशुद्धिद्वारा नित्यनैमित्तिकादिप्रधानकर्ममात्रस्यैव यज्ञादिश्रुत्या विविदिषार्थत्वबोधनात्तद्व्याहृतमिति भावः । तत्साध्येति । ज्ञानसाध्येत्यर्थः । तदपेक्षत्वात् प्रतिबन्धकपापनिवृत्तिद्वारा नियमादृष्टपेक्षत्वात् । प्रारब्धभोगहेतुकर्मादिवत् पापान्तरस्य ज्ञानप्रतिबन्धकत्वस्य ‘ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादि’ति न्यायसिद्धतया तदपेक्षत्वमिति भावः । विद्यायुक्तेति । अङ्गावबद्धोपासनायुक्तेत्यर्थः । चिराचिरेत्यादि । ‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरमि’ति श्रुतेरुक्तोपासनासहितासहितकर्मणां चिराचिरफलजनकत्वमिव श्रवणे नियमविधिबलादेव तदीयनियमविधिसहितासहितवाक्यस्य चिराचिरसाक्षात्कारजनकत्वं कल्पयते; अन्यथोक्तविधिवैयर्थ्यापत्तेः । तथाचोक्तनियमादृष्टनाश्यत्वेनाविद्यानिवृत्तिप्रतिबन्धकपापस्य कल्पनाया अभावेऽपि न क्षतिरिति भावः । तर्करित्यादि—श्रवणादेर्नियम्यता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां विवरणोक्तनियमोपपत्तिः ॥

शक्तितात्पर्येति । शब्दशक्तितात्पर्येत्यर्थः । संशयस्य धर्मिणि संशयकोट्योः सत्यत्वादितदभावयोरन्यतराश्रये । अन्यथा निश्चिते संशयमङ्गीकृत्य तत्सार्थक्योक्तौ । तद्विधोपयोगिन्या अवधारणीयायाः शुद्धबोधोपयोगित्वेनावधारणीयायाः । विशिष्टशक्तिज्ञानाधीनविशिष्टोपस्थितौ सत्यामेव तदधीनशुद्धोपस्थित्या शुद्धप्रमोदयात् शुद्धप्रमाप्रयोजकोपस्थितिर्विषयविशिष्टशक्तत्वेनावधारणं शुद्धबोधहेतुरिति भावः । तर्कत्वेन ‘यदि शुद्धप्रमाप्रयोजकोपस्थितिर्विषयशक्तं न स्यात्, तदा शुद्धोपकमादियुक्तं न स्यादिति’ तर्कत्वेन । नच—सर्वत्र लौकिकादिवाक्येषु तर्कस्य

तत्र श्रवणपदाप्रयोगात् । अतएव मनननिदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरपि ज्ञानानतिरेकादिति—
चेन्न; आद्यपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात् । नच तत्र शब्दशक्त्यसंभवो दोषः; शुद्धे शक्त्यसंभवेऽपि
विशिष्टशक्तेस्तद्वोधोपयोगिन्या अवधारणीयायाः संभवात्, तात्पर्यस्यापि संशयधर्मिणो निश्चितत्वेन
तत्रासंभवेऽपि संशयकोऽप्युपलक्षिते निर्विशेषे संभवेन विचारवैयर्थ्यात् । नचाखण्डार्थताहानिः;
स्वरूपमात्रोपलक्षकतया अखण्डार्थताया उपपादितत्वात् । नचावधारणस्य ज्ञानरूपतया अविधे-
यता; तस्य तर्कत्वेन ज्ञानविजातीयचेतोवृत्त्यन्तरत्वात्, सुरेश्वराचार्यैः ‘श्रवणादिक्रिया तावत्
कर्तव्येह प्रयत्नत’ इति श्रवणादौ क्रियापदप्रयोगात् । एवमेव मनननिदिध्यासनयोरपि विधेयत्वमुन्ने-
यम् । नच—तात्पर्यरूपे विषये उपक्रमादिरूपे च प्रमाणे सति जायमानस्य तस्य ज्ञानवर्हिर्भावानु-
पपत्तिः तद्वहिर्भूतवाग्धेनूपासनादौ प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वादर्शनादिति—वाच्यम्; मन्मते लिङ्गस्य
प्रामाण्यानभ्युपगमेन सति प्रमाण इत्यस्यैवाभावात्, उपक्रमादेः प्रमाणत्वपक्षे तत्पूर्वकालीनत्वेनास्य
प्रमाणे सतीत्येतदंशासिद्धेः । तस्मात् श्रवणादेरधीरूपतया मनोव्यापारत्वेन विधेयत्वोपपत्तिः ।
सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः । यच्चानुवादित्वादिवर्णनं वाचस्पत्ये, तत् प्रस्थानान्तरत्वान्न
विधित्वोक्तिविरोधि ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः ॥

अथ जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमात्रमूलकत्वम् ।

एवं विचारविधायकश्रवणविधिरेव जिज्ञासासूत्रमूलम् । नच—विचारविधौ श्रवणसाध्यापरोक्ष-
ज्ञानाधीनाया अपरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वाङ्गीकारेण अन्योन्याश्रयापात इति—
वाच्यम्; अधीतवेदस्य विदितपदपदार्थसङ्गतिकस्यापाततो जायमानपरोक्षज्ञानाधीनापरोक्षज्ञान-
कामनाया अधिकारिविशेषणत्वेनोक्तान्योन्याश्रयानवतारात् । नच—जिज्ञासासूत्रोक्तो विचारस्तत्त्व-
निर्णायकन्यायानुसन्धानरूपः, अन्यथा न्यायग्रथनात्मकशास्त्रारम्भसिद्धये तत्कर्तव्यतोक्त्ययुक्तेः,
इतरस्य वेदेतिकर्तव्यतात्वानुपपत्तेश्च, श्रवणं च नोक्तन्यायानुसन्धानरूपं मननाभेदप्रसङ्गात् अतो न
श्रवणविधिजिज्ञासासूत्रयोर्मूलमूलिभाव इति—वाच्यम्; जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिसमानविषय-
कतया मूलमूलिभावाभावेऽपि श्रवणविधिषयशक्तितात्पर्यावधारणात्मकश्रवणाक्षितोपक्रमोप-
संहारादितात्पर्यलिङ्गविचारमादाय समानविषयत्वसंभवेन तदुपपत्तेः । मननं तु श्रुतस्यार्थस्य
युक्तिभिश्चिन्तनमिति न तदभेदोऽपि; अर्थाक्षिप्तविचारस्येतिकर्तव्यतात्वेऽपि तात्पर्यावधारणरूपे
श्रवणे उक्तस्याङ्गित्वस्यानपायात् । यत्तु—युक्तिभिरनुचिन्तनं नाम यदि श्रवणनिश्चितस्य तात्पर्यस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नापेक्षा; शक्तितात्पर्यज्ञानेनापि शाब्दधीदर्शनात्, तथाच तात्पर्यज्ञानत्वेनैव करणत्वात्तर्कविधिर्न युक्त इति—
वाच्यम्; तावतापि तात्पर्यस्यैव तर्कस्य स्वोत्तरशाब्दबोधे कारणत्वाविधातात् लौकिकादिवाक्येष्वपि तात्पर्यानुमापक-
लिङ्गाभावस्य तात्पर्याभावेनापादकेनोक्तरीत्यापत्तिर्न संभवाच्च । प्रामाण्यानभ्युपगमेनेति । व्याप्यत्वेन जायमानं
ज्ञानं वा नानुमितिकरणम्, किंतु तज्जन्यसंस्कारः पक्षधर्मताज्ञानं च तन्निष्ठशक्तिरूपोद्बोधहेतुरित्येव मन्मते स्वीक्रियत
इति भावः । अस्य तात्पर्यावधारणस्य । तत्पूर्वकालीनत्वेन विपर्ययानुमानात्मिकाया उपक्रमादिहेतुकतात्पर्यानुमितेः
पूर्वकालीनत्वेन । उक्तानुमित्यधीनतात्पर्यसंशयाभावस्योक्तावधारणे शाब्दबोधे जननीये द्वारत्वादुक्तावधारणात् पूर्व
नोक्तानुमितिः । नच—आपत्तेरपि मानसज्ञानत्वमिति—युक्तम्; तस्याः भ्रमत्वेनाविद्यावृत्तिर्वेऽपि बाधकालीनेच्छा-
जन्यत्वेन ज्ञानत्वाभावात्, पुरुषेच्छाधीनत्वेनार्यवृत्तिमात्रस्य पुं परतन्त्रत्वेन ज्ञानत्वाभावात् । अनुवादत्वेति ।
श्रोतव्य इत्यादेर्विधित्वाभावेत्यर्थः । आदिपदान् ‘सहकार्यन्तरविधि’रित्यादिसूत्रस्य कृत्वाचिन्तात्वादिसंग्रहः । तर्कैरि-
त्यादि—श्रवणादेर्विधेयता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः ॥

विचारविधायकेति । उक्ततर्कविधायकेत्यर्थः । आपाततो जायमानेति । श्रवणादिकं विनैव जायमानेत्यर्थः,
विषयतया मूलमूलिभावाभावे विषयतया यो मूलमूलिभावः तद्भावे । लिङ्गविचारं लिङ्गनिर्णायकतर्कम् ।

तद्विषयशब्दस्य वा स्मरणं, प्रत्यभिज्ञानं वा, संस्कारदार्ढ्यफलकं श्रवणसमानाकारमभिज्ञान्तरं वा तर्हि तस्यावश्यकश्रवणावृत्त्यैव सिद्धेः मननविधिवैयर्थ्यं, त्रिविधस्यापि तस्य श्रवणानन्तर्गत-युक्त्यनपेक्षत्वेन 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि'रिति स्मृतिविरोधश्च, 'श्रवणं यावद-ज्ञानं मतिर्यावदयुक्ता' इति मननस्य श्रवणानिवर्तितायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकत्वप्रतिपादकस्मृतिविरो-धश्च इति, तन्न; अनुचिन्तनस्य श्रुतार्थविषयकयुक्तायुक्तत्वादिसंशयनिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानरूपत्वेन विवक्षिततया त्वदुक्तदोषानवकाशात् । नच—एवं युक्तायुक्तत्वसंशयादेः संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तात् मीमांसाशास्त्रग्रथितात् संशयादिनिवर्तकात् न्यायजातादन्येनानिवृत्तेः तादृशन्यायग्रथनात्मकमी-मांसाशास्त्रारम्भोपयुक्तविचारकर्तव्यतां प्रतिपादयदाद्यसूत्रं मननविधिमूलमेव स्यात् ननु श्रवणवि-धिमूलमिति—वाच्यम्; तात्पर्यविषययुक्तायुक्तत्वादिसंशयादिनिवर्तकविचारापेक्षया तात्पर्यनिर्णा-यकश्रवणाक्षिप्तलिङ्गविचारस्याभ्यर्हिततया तदाक्षेपकश्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तुं शक्यत्वात्, युक्तायुक्तत्वविचारस्यानुषङ्गिकत्वाच्च । यद्वा—समन्वयाध्यायोक्ततात्पर्यनिश्चायकोपक्रमादियुक्त्यनु-सन्धानं श्रवणं, द्वितीयाध्यायोक्तार्थासत्त्वशङ्कानिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं मननम् । ननु—एवं विवर-णोक्तिविरोधः यौक्तिकासंभावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां प्रथमज्ञानान्तर्भूतत्वात् इत्यादिना अर्थापत्तीनामपि श्रवणान्तर्गतिमुक्त्वा “ब्रह्मात्मत्वविपरीतभावनाप्रचयनिमित्ततदेकाग्रवृत्त्ययोग्य-त्वमसंभावना, विपरीतभावना तु शरीराध्याससंस्कारप्रचयः” इत्यादिना असंभावनानिवर्तकस्य मननस्यार्थनिश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयहेतुचित्तैकाग्र्यहेतुताया एवोक्तत्वादिति—चेन्न; भिन्न-प्रस्थानतया विवरणविरोधस्याकिञ्चित्करत्वात् । नच जिज्ञासासूत्रस्यांशे मननविधिमूलत्वापातः;

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शास्त्रारम्भोपयुक्तविचारकर्तव्यतां शास्त्राधीनविचारे प्रवृत्तिहेतुषीविषयीभूतां विचारकर्तव्यताम् । अभ्यर्हित-तया श्रवणस्याङ्गित्वेनाङ्गात्तद्विषयायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकविचाररूपमननादभ्यर्हितत्वात् श्रवणनिर्वाहकविचारस्याभ्यर्हि-तत्वमिति भावः । आनुषङ्गिकत्वात् नान्तरीयकत्वात् । तात्पर्यविषये अयुक्तत्वशङ्कानिवर्तकविचाररूपमननाद-संशये असति तात्पर्येऽप्यौचित्यावर्जितसंशयोदयात् तात्पर्यावधारणार्थप्रवृत्त्यैवोक्तसंशयनिवृत्तिहेतुविचारस्याप्यनुष्ठान-लाभात् तत्कर्तव्यतायाः पृथगुक्तिर्वैयर्थ्येति भावः । अथवाऽभ्यर्हितत्वादित्यनेन करणीभूतशब्दगतातिशयाध्यायित्वेना-भ्यर्हितं यत् श्रवणं, तत्स्वरूपनिष्पादकत्वेनोपक्रमादिविचारस्य मननाद्यपेक्षयाभ्यर्हितत्वमुक्तम् । आनुषङ्गिकत्वादित्य-नेन तु श्रवणस्याङ्गित्वेन तदिच्छाप्रयुक्तानुष्ठानकत्वरूपमानुषङ्गिकत्वं मननस्योच्यत इति ध्येयम् । यद्वेति । 'वेदान्त-श्रवणं यत्तदुपायस्तर्क एव वा । श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत् । आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते । वेदशब्दानुरोधेन तर्कोऽपि विनियुज्यते ॥' इति सुरेश्वराचार्योक्तैः, 'वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः । ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति श्रीः श्रवणं भवेत् । समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं तीर्थकरादिभिः । तर्काः संभावनार्थाश्च द्वितीयाध्याय ईरिताः ॥' इति विद्यारण्याचार्योक्तैश्चेति शेषः । यौक्तिकेत्यादि । आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्त्ये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त' इति भाष्ये प्रतिपत्तिशब्दवैयर्थ्यमाशङ्क्यासंभावनाविपरीतभावनानिवर्तककर्तव्यतां प्रतिष्ठितत्वं प्रतिपत्तिशब्देनोच्यत इति न तद्वैयर्थ्यमिति पञ्चपादिकायामुक्तम् । आत्मैकत्वविद्या शब्दप्रमाणाज्जायमाना अपरोक्ष-विषयकत्वेन अपरोक्षरूपापि चित्तस्थानेकाग्रतादोषाद्विपरीतसंस्कारदोषाच्च परोक्षरूपेव नाविद्यानिवर्तिका । मनन-जनितप्रमेयादिसंभावनायुक्तं ब्रह्मात्मभावनाप्रचयरूपनिदिध्यासनाधीनैकाग्रवृत्तियुक्तं चित्तं सहकृत्य शब्दप्रमाणेन जनिता त्वविद्यानिवर्तिका । तस्मादुक्ततर्कशब्देनोक्तचित्तमुच्यते । यौक्तिकासंभावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां प्रथमज्ञानेऽन्तर्भूतत्वादिति तन्नयविवरणवाक्यसंक्षेपः । अर्थोपपत्तीनाम् अर्थायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकमननाख्यतर्का-णाम् । प्रचयनिमित्तेति तदेकाग्रवृत्तिचित्तविशेषणं, प्रचयजनितेत्यर्थः । प्रचयहेतुचित्तैकाग्र्येति । प्रचय-जनितैकाग्र्यवृत्तीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मात्मत्वविपरीतभावनेत्यादिवाक्यमन्तर्भूतत्वादित्येतद्वाक्यस्य पूर्वं स्वतःप्रामाण्य-व्यवस्थायाः पूर्वमुक्तं, तथापि मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादाविवान्तर्गतिमुक्त्वैत्यत्र विपरीतपौर्वापर्यं बोध्यम् । विरोधस्याकिञ्चित्करत्वात् विरोधो यदि स्यात् तथापि तस्य पूर्वोक्त्यद्वैत्यादिमते बाधकत्वाभावात् । वस्तुतस्तु तद्विरोधो नास्त्येवेति भावः । नच—प्रथमज्ञान इत्यस्य श्रवण इत्यर्थकत्वान्मननस्य श्रवणान्तर्गत्युक्त्या बाधकत्व-मिति—वाच्यम्; प्रथमज्ञाने प्रथमज्ञानसाधने इति तत्त्वदीपने व्याख्यानात् । ननु शक्तितात्पर्यावधारणानुकूलतर्क-एव तर्कशब्देनोच्यताम्, तत्राह—यौक्तिकेत्यादिना । इत्यादितद्वन्थस्य तत्त्वदीपने अवतारितत्वाच्च । तथाचोक्ततर्क-स्येवासंभावनादिनिवर्तकमननादिरूपतर्काणामपि श्रवणसहकृतशब्दजन्यापरोक्षरूपस्य प्राथमिकज्ञानस्य साधनेऽन्त-

समन्वयोक्तविचारस्याभ्यर्हिततया श्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तव्यत्वोपपत्तेः । ननु—‘मन्तव्यश्चोपपत्तिभि’रिति स्मृतिगतोपपत्तिशब्दस्य मतिर्यावदयुक्ततेति स्मृतिस्थायुक्तशब्दस्य ‘श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य’ इति श्रुतिशब्दस्येव सामान्यपरत्वाहानेन ‘आदौ यच्छब्दया सिद्धं पश्चाद्व्यायेन साधितम् ।’ इति न्यायेन युक्त्यनपेक्षश्रद्धामात्रेण प्रतिवाक्यमयमस्य वाक्यस्यार्थ इति गुरुमुखाद्वेदार्थग्रहणं श्रवणं पश्चात् न्यायानुसन्धानं मननमिति भेदसंभवे युक्तिष्वेव श्रवणमननभेदकथनायोग इति—चेन्न; वाक्यार्थग्रहणस्य प्रमारूपतया अविधेयत्वस्योक्तत्वात् । ननु—उक्तस्य वाक्यार्थग्रहणस्य श्रवणादित्रयानन्तर्भावे चतुर्थस्यापि मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वापात इति—चेन्न; तस्य ज्ञानरूपतया अनुष्ठानानर्हत्वात्, श्रद्धामात्रात् स्वत एव जातत्वेनापुंतत्वाच्च । नचैवं केवलं गुरुमुखात्तदर्थं श्रुतवति श्रुतमनेनेति प्रयोगानुपपत्तिः; विधेयत्वान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरत्वे स्थिते अस्य प्रयोगस्य गौणतादिना कथंचिदुपपादनीयत्वात् । अतएव स्मृतिगतोपपत्त्ययुक्तापदयोर्न सामान्यपरता । नच—प्रमाणभूतश्रुतितात्पर्ये निश्चिते अर्थसत्त्वार्थमुपपत्त्यपेक्षायोगेन मननस्यार्थासत्त्वरूपाप्रामाण्यशङ्कानिवर्तकत्वे वक्तव्ये निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम्; तादृशं प्रति तदभावस्येष्टत्वात्, कृष्णले अतिदेशप्राप्तस्यावघातस्य द्वारवाधेन बाधदर्शनात् । तस्मात्तात्पर्यावधारणं श्रवणम् । तच्च लिङ्गविचाराधीनमिति विचारकर्तव्यतापरमाद्यसूत्रं श्रवणविधिमूलकं ननु मननविधिमूलकमिति सिद्धं जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमात्रमूलकत्वम् ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भावात् मननादिकमपि तर्कपदार्थ इति भावः । श्रवणसहकृतशब्दात् प्रथमं परोक्षज्ञानं पश्चान्मनननिदिध्यासनसहकृतशब्दादपरोक्षज्ञानमित्यस्मिन्निवरणे वक्ष्यमाणमतान्तरे मननादेर्न प्रथमज्ञानजातीयज्ञानसाधनेष्वन्तर्भावः । शब्दजन्यात्मज्ञानं सर्वमपरोक्षमिति मुख्यमते तु तस्य तदन्तर्भाव एवेत्याशयेन प्रथमपदमुक्तम् । श्रवणसहकृतशब्दजन्यप्रथमज्ञानजातीयेति तदर्थः । तेन मननादिरहितश्रवणजन्ये प्रथमज्ञाने मननाद्यनपेक्षायामपि न प्रथमपदासङ्गतिः । निश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयजनितैकाग्रवृत्तौ मननहेतुतेति तु प्रकृतानुपयुक्तम्; संभावनावुद्धिद्वारा एकाग्रवृत्तौ मननस्य हेतुत्वेऽपि श्रवणान्तर्गत्यलाभात् । उक्तवृत्त्ययोग्यत्वं हुक्तवृत्तियोग्यताविरोधिनी असंभावना । ननु—प्रमेयादिसंभावनाया मननमूलत्वोक्तेरादिपदेन प्रमाणगततात्पर्यतल्लिङ्गादिसंभावना ग्राह्या । तथाच तात्पर्यनिर्णायकतर्कोऽपि मननमिति तस्य श्रवणान्तर्भाव इति—चेन्न; आदिपदेन प्रमेयसंभावनावुद्ध्यनुकूलायाः विश्वमिथ्यात्वादिसंभावनाया एव ग्रहणात्, तात्पर्यलिङ्गादिसाधारणसंभावनामात्रस्य प्रकृते ग्रहणेऽपि मननस्य श्रवणाङ्गताप्रतिपादकविवरणोक्त्यनुरोधेनाङ्गाङ्गिकोपिभेदेन मननस्य द्वैविध्यावश्यकत्वात् अङ्गस्य मननस्य श्रवणानन्तर्भावेणानुपपत्त्यभावात् । ननु द्वितीयाध्यायस्य मननरूपत्वे तत्कर्तव्यतांशे मननविधिमूलकत्वमाद्यसूत्रस्य स्यात् तस्याध्यायचतुष्टयात्मकविचारकर्तव्यताबोधकत्वादित्याशङ्क्य निषेधति—नच जिज्ञासेत्यादि । समन्वयेत्यादिसूत्रस्य विधिमूलकत्वं विधिवाक्यार्थस्योक्तिद्वारा विधिवाक्यार्थनिश्चयापेक्षितन्यायसूचकत्वम् । तत्रायसूत्रं मोक्षजनकज्ञानाय वेदान्तश्रवणं कार्यमिति बोध्यदुक्तबोधायनुकूलन्यायस्यैव सूचकत्वेन श्रवणविधिमूलकमेव; श्रवणस्य प्रमाध्यायरूपत्वेनाङ्गित्वेन करणनिष्ठातिशयहेतुत्वेन चाभ्यर्हितत्वात् । मननादिरूपद्वितीयाध्यायप्रवृत्तिस्तु श्रवणफलोपकारादीच्छयेति श्रवणकर्तव्यतोक्तिद्वारैव मननादिविधिवाक्यानुकूलन्यायाः सूत्रेण सूच्यन्ते ननु मननादिकर्तव्यतोक्तिद्वारा । यत्तु विविदिषाद्वारा चित्तैकाग्र्यद्वारा च ज्ञानसाधनकर्मोपासनाविधिमूलकत्वमपि सूत्रस्य स्यात् । तृतीयाध्यायादौ तादृशकर्मादेरुक्तत्वादिति, तत्तुच्छम्; सर्वापेक्षा चेत्यादिसूत्रेषु कर्मादिविध्यर्थनिश्चयापेक्षितन्यायासूचनात्, विचारकर्तव्यताबोधकाद्यसूत्रे कर्मादिविधिमूलत्वापादनस्यायुक्तत्वाच्च । अथ—एवं तृतीयाध्यायविचारप्रवर्तकत्वमाद्यसूत्रस्य कथमिति—चेत्, श्रवणकर्तव्यतोक्तिद्वारैव । तथाहि ज्ञानार्थं श्रवणं कार्यमित्युक्त्या श्रवणोपकारकशमाद्यनुष्ठानस्य सूचनाच्छमादिकमन्तरङ्गसाधनं विविदिषुणानुष्ठेयम्, न त्वग्निहोत्रादिकं विविदिषासाधनत्वेन बहिरङ्गत्वादित्यपि सूचितम् । तथाचान्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारकर्तव्यताया अपि सूचनात्तत्पूर्वकत्वम् । एवं ज्ञानादि फलार्थकार्यमित्युक्त्या तादृशफलविचारोऽपि सूचित इति बोध्यम् । प्रमारूपयेति । नच—गुरोर्मुखाधीनत्वविशिष्टरूपेण प्रमापि विधीयतामिति—वाच्यम्; तेन रूपेण तस्य श्रवणपदार्थत्वा निर्णयात्, मननत्वस्य तात्पर्यलिङ्गविचारसाधारणस्यार्थासत्त्वशङ्कानिवर्तकविचारे वक्तुमशक्यत्वेनोक्तविचारत्वाभ्यां श्रोतव्यो मन्तव्य इति विधिद्वयावश्यकत्वेन गुरुमुखाधीनार्थग्रहणस्य श्रोतव्यपदार्थत्वकल्पनानवकाशात् । गौणतादिनेति । तात्पर्यावधारणादावनादिवैदिकप्रयोगेण रूढ्या तत्सादृश्यात् शाब्दबोधे गौणी वृत्तिः । आदिपदात् श्रावणप्रत्यक्षेऽपि श्रुधातोः शक्त्या शब्दश्रावण-

अथ विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः ।

ननु—त्वन्मते कर्मकाण्डविचारो यथोत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तः, तथा ब्रह्मकाण्डविचारोऽपि ज्ञान-
विधिप्रयुक्त इत्येव किं न स्यात् ? उत्तरक्रतुविधिभिः स्वानुष्ठाप्यार्थनिर्णयान्तविचारस्येव 'तरति
शोकमात्मवि'दित्यादिना शोकनिवृत्तिहेतुत्वेनावगतेनात्मज्ञानेन स्वसिद्धये वेदान्तविचारस्याक्षेपात् ।
युक्तं चानेकेषां क्रतुविधीनामाक्षेपकत्वादप्येकस्यैवाक्षेपकत्वमिति—चेन्न; यद्यपि कार्येण कारणाक्षेपः
संभवति, तथापि तस्य वैधत्वसिद्ध्यर्थं विधिमूलत्वस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् । अन्यथा कर्मकाण्डविचार-
स्यापि कर्मज्ञानादेवाक्षेपे अध्ययनविधेर्वोत्तरक्रतुविधीनां वा आक्षेपकत्वोक्तिरयुक्ता स्यात्; मनन-
विधिमूलत्वं वदता त्वयापि अस्याक्षेपस्यावश्यं परिहरणीयत्वात् । एतेन—अर्थावगमपर्यन्ताध्ययन-
विधिप्रयुक्तत्वस्य कर्मविचारवत् ब्रह्मविचारेऽपि संभवे, न श्रवणविधिप्रयुक्तत्वम् । नच—साक्षात्का-
रफलकमावृत्तिगुणकमननाद्यङ्गकसिद्धं श्रवणमध्ययनविधिप्रयुक्तश्रवणमात्रात् भिन्नमिति विध्यन्तरं
युक्तमिति—वाच्यम्; ब्रह्मविचारस्याप्यध्ययनविधिप्रयुक्तत्वेऽपि साक्षात्कारस्यापरोक्षैकरसात्मविष-
यत्वेनैव सिद्धेः, आवृत्तेश्च विध्यन्तराङ्गीकारेऽपि अवघातवदृष्टफलत्वेन वक्तव्यत्वात् । कर्मकाण्डेऽपि
तात्पर्यावधारणपर्यन्तविचारावृत्तेरपेक्षितत्वात् ततः परं ब्रह्मकाण्डेऽपि तदावृत्तेरनपेक्षितत्वात् ।
मननस्य च कर्मकाण्डेऽपि तदर्थनिश्चयायापेक्षितत्वादध्ययनविधिविहितैकदेशारण्यकाध्ययनानु-
वादेन वाक्यान्तरेणारण्याद्यङ्गान्तरविधानवत् मुण्डककारीर्याध्ययनानुवादेन शिरोव्रतभूमिभो-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

प्रत्यक्षजन्यत्वात् शाब्दबोधे लक्षणेत्यर्थः । तर्कैरित्यादि—श्रवणं त्वाद्यसूत्रगम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां
जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः ॥

उत्तरक्रतुविधीति । विचारोत्तरमनुष्ठेयाः ये क्रतवः, तद्विधीत्यर्थः । विधेः प्रयोजकतायां प्रकारमाह—उत्तर-
क्रतुविधिभिरिति । विधिबोधितं क्रतुवनुष्ठानं क्रतुज्ञानमपेक्षते, तच्च विचारमित्यर्थः । अनेकक्रतुविधीनामाक्षेपकत्वं
यत्त्वया स्वीकृतं, तदपेक्षया तृतीत्याद्येकविधेराक्षेपकत्वं लघु, तथाच क्रतुविधेराक्षेपकत्वसादृश्यमभ्युपेत्योक्तमित्याशये-
नाह—युक्तमिति । तृतीत्यादिकं न विधिः, किंतु लोकसिद्धस्य ज्ञानाज्ञानयोर्नाशयनाशकत्वस्यानुवादः, तथाच
ज्ञानेन कार्येण कारणस्य विचारस्याक्षेपेऽपि न तस्य वैधत्वसिद्धिरित्याशयेनाह—यद्यपीति । अन्यथा विधेराक्षेपक-
वसंभवेऽपि विधिमूलकज्ञानस्यैवाक्षेपकत्वस्वीकारे कर्मज्ञानादेवेति । श्रवणविधिवाक्यार्थश्रवणानुष्ठानाधीनब्रह्म-
ज्ञानस्येव क्रतुविध्यधीनक्रतुज्ञानस्याक्षेपकत्वं संभवति । नच—कर्मज्ञानस्याक्षेपकत्वं न तत्त्वेन, किंतु विधिबोधिता-
नुष्ठानापेक्षितज्ञानत्वेनेति विधावेव तात्पर्यपर्यवसानमिति—वाच्यम्; ब्रह्मज्ञानस्यापि हि विधिबोधितश्रवणापेक्षित-
फलत्वेनैव तत् । अथ—काम्यमानज्ञानत्वेनैव तस्य तत्, काम्यता च मोक्षसाधनतयेति—चेत्, तर्हि क्रतुज्ञान-
स्यापि तेनैव रूपेण, तच्च रूपं वैधानुष्ठानहेतुत्वेनाध्यापनादिहेतुत्वेन वेत्यन्यत् । ननु—वैधत्वसिद्धेः किं फलमिति—
चेत्, शीघ्रकर्तव्यतादिज्ञाने प्रामाण्यस्य निश्चयादिना शीघ्रं विचारे प्रवृत्त्यादिकमेव । त्वयापीति । ननु—मन्मते
विचारस्य मननविधिना साक्षाद्विधानमेवेति—चेत्, समापि वार्तिककारमते तस्य श्रवणविधिना साक्षाद्विधानम् ।
अथ—विवरणमते विचारस्य श्रवणविध्याक्षेपे दोष इति—चेत्, तर्हि तवापि मनने विधिर्व्यर्थः; ब्रह्मज्ञानेनैवा-
क्षेपसंभवात् । निदिध्यासनविषयगुणांशे निदिध्यासनाङ्गतया विधिरपि व्यर्थः; निदिध्यासनविधिनैवाक्षेपसंभवात् ।
अथ—गुरुमुखाधीनत्वादेर्नियम्यमानत्वेन न व्यर्थमिति—चेत्, तर्हि विवरणमतेऽपि श्रवणविधिना वेदान्तादे-
र्नियम्यमानत्वेन वेदान्तविचारेणैव ब्रह्म ज्ञातव्यमिति नियमविधिसिद्ध्यर्थं विचारः श्रवणविधिनैवाक्षिप्यते । तस्या-
क्षेपकत्वस्वीकारे हि तस्य स्वविषयवेदान्तेष्वेवोपस्थितप्रत्यासन्नेषु विचाराक्षेपकत्वे लाघवात्तेषु तदाक्षेपकत्वसिद्धिः ।
तथाच प्रथमाध्यायसार्थक्यं, वेदान्तवाक्यविचारबोधकस्मृत्यानुपपत्तिश्च । ब्रह्मज्ञानस्य तदाक्षेपकत्वे तु तस्य स्वहेतु-
वेदान्तवाक्यतात्पर्यावधारणस्यानुपपत्त्या स्मृत्यादिविचार एवाक्षिप्येत । तेनापि तत्संभवाद्देवान्तविचारापेक्षया
सुकरत्वाच्चेति ध्येयम् । आवृत्तेश्चेति । वक्तव्यत्वादित्यत्रान्वयः । अवघातवत् अवघात इव । विचार इति शेषः ।
दृष्टफलकत्वेन दृष्टफलोपधानोपपत्त्या । मुण्डकेत्यादि । मुण्डकोपनिषदध्ययनानुवादेन शिरोव्रतस्य कारीरीप्रति-
पादकानुवाकाध्ययनानुवादेन भूमौ स्थितान्नभक्षणस्य विधायकं 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु
चीर्ण'मित्यादिवाक्यं तद्वदित्यर्थः । तां वैणवीं कुद्दालसदृशीमभिमू । चतुर्भिः 'देवस्य त्वा सवितु'रित्यादिभिश्चतु-

जनाद्यङ्गविधानवत् 'तां चतुर्भिरादत्त' इत्यर्थप्राप्ताभ्यादानानुवादेन संख्याविधानवच्चाध्ययनविध्या-
क्षिप्तविचारैकदेशानुवादेन त्वद्वीत्या मननाद्यङ्गविधानस्य संभवादिति—निरस्तम्; मननविधिमूल-
त्ववादिनोऽपि समानत्वादध्ययनविधेः स्वाध्यायावाप्तिफलकतया अर्थज्ञानफलकत्वाभावात्,
अध्येतव्य इति कर्मप्रधानतव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्यैव फलत्वावगमात् । नच तस्यापुरुषार्थतया फल-
वदर्थवबोधपर्यन्तं व्यापारः; 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यादावपि काम्यमानपश्वादेरप्यफलत्वा-
पत्तेः, परंपरया पुरुषार्थसाधनतया फलत्वे प्रकृतेऽपि तस्य संभवात् । तस्माच्छ्रवणविधिर्मूलं विचार-
विधायकजिज्ञासासूत्रस्य, न तु मननविधिरिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विचारस्य श्रवणविधि-
मूलत्वोपपत्तिः ॥

अथ वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वस्योपपत्तिः ।

प्रस्थानान्तरे तु अध्ययनविधेरवार्थावगमपर्यन्तत्वात् काण्डद्वयविचाराक्षेपकत्वम्, श्रवणादिषु
च न विधिः । तेषामन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारसाधनताकत्वादित्युक्तम् । नच—अध्ययनाभावे
प्रत्यवायश्रवणाध्ययनस्य नित्यताया अप्यवगमात् कथं तस्यार्थावगमपर्यन्तत्वमिति—वाच्यम्;
अर्थज्ञानार्थत्वेऽपि अध्ययनविधेरवैयर्थ्याय अधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वा अनुष्ठितं कर्म फला-
यालमित्यादिनियमाश्रयणादसत्यध्ययने यथोक्तनित्यादिकर्मानुष्ठानासिद्ध्या प्रत्यवायश्रवणोपपत्तिः ।
तथाचार्थज्ञानार्थस्यापि अध्ययनस्य फलतो नित्यत्वमिति केचित् । अपरेतु—अनध्ययने संध्यानु-
पासन इव साक्षात् प्रत्यवायश्रवणेनाध्ययनस्यादृष्टत्वेऽप्यर्थज्ञानस्यापि दृष्टत्वादपेक्षितत्वाच्च ताद-
र्थ्यमपीत्युभयार्थता पशुपुरोडाशादिवदिति—आहुः । अत्र चाध्ययनविधेर्नित्यत्वे सत्युभयविचारा-
क्षेपकत्वं परेणाप्यङ्गीकृतं, तदयुक्तम्; जिज्ञासासूत्रस्य मननविधिमूलत्ववादिनस्तस्य तदङ्गीकारान-
र्हत्वात्, अयुक्तत्वशङ्कानिवर्तकमननरूपविचारस्यापि अध्ययनविध्याक्षिप्तत्वेन तत्र विधिवैयर्थ्यात्
सूत्रस्य तन्मूलत्वासिद्धेः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वस्योपपत्तिः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

भिर्मन्त्रैः । अर्थप्राप्तेति । हस्तेनाग्निग्रहणं विना मृत्वननरूपतत्कार्यानुपपत्त्या प्राप्यमाणेत्यर्थः । उक्तांनुपपत्त्यपेक्षया
शीघ्रप्रवृत्तयोक्तश्रुत्या चतुर्भिरादानाभ्यां विशिष्टभावनाविधानेऽप्युक्तानुपपत्त्यैवादानस्य प्राप्यमाणत्वेन तदंशेऽनुवाद-
तुल्यत्वादनुवादत्वोक्तिः । नच—प्राप्यमाणत्वे श्रुत्या विशिष्टविधानं व्यर्थमिति—वाच्यम्; लिङ्गेन मन्त्राणामनुपपत्त्या
चादानस्य प्राप्यमाणत्वेऽपि मन्त्राणां समुच्चयलाभाय तत्सार्थक्यात् । समानत्वादिति । मनने गुरुमुखाधीनत्वादे-
र्नियम्यत्वेन तव मननविधिरावश्यकश्चेत्, ममापि विचारे वेदान्तादेर्नियम्यत्वेन विचारविधेरवश्यकत्वमित्यादि
समानमित्यर्थः । तत्रैव मते उक्तदोषः । मन्मते अर्थज्ञानोद्देशेनाध्ययनाविधानादर्थज्ञानपर्यन्ताध्ययनविधेर्विचारा-
क्षेपकत्वशङ्काया असंभवादित्याशयेनाह—अध्ययनविधेरिति । तर्कैरित्यादि—विधाने मूलतास्थितिः ॥
इति लघुचन्द्रिकायां विचारस्य श्रवणविधिर्मूलत्वोपपत्तिः ॥

अवैयर्थ्यायेति । विधिं विनाप्यध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुताया लोकसिद्धत्वेन विधिवैयर्थ्यं स्यात् तदभावायेत्यर्थः ।
केचित् तन्नरत्नकारादयः; पष्ठद्वितीयान्त्याधिकरणे तैस्तथोक्तत्वात् । स्मरणेनेति । 'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुर्वते
श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' इति स्मरणादिनेत्यर्थः । पशुपुरोडाशादिवदिति । अग्नी-
षोमीयस्य वपया प्रचर्याग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशं निर्वपतीत्यनेनाग्नीषोमीयपशुमुद्दिश्य विहितः पुरोडाशयागोऽग्नीषो-
मीयपशुयागस्य देवतास्मरणरूपसंस्कारात्मकं सन्निपत्योपकारं करोति इति दशमे स्थितम् । उक्तोपकारं देवतोद्देशेन
कुर्वन्पि पुरोडाशद्वयत्यागांशेनादृष्टार्थकः स इति चतुर्थप्रथमे स्थितम् । आदिना दर्शपूर्णमासादेरिव नित्यकाम्यत्वं
बोध्यम् ॥ तर्कैरित्यादि—श्रवणाद्यविधेयता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधि-
विचाराक्षेपकत्वोपपत्तिः ॥

अथ ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः ।

यस्य शब्दज्ञानस्वरूपमेव श्रवणं विधेयमिति, तन्न; आपातदर्शनस्य तद्विना जायमानत्वात् । नच तद्विन्ने प्रतिवाक्यमस्य वाक्यस्यायमर्थ इति सिद्धार्थोक्तरूपगुरूपदेशेनानेकशाखास्थवाक्यार्थज्ञानम्; वेदान्तरूपवाक्यार्थविचारस्य सामान्यतः साधनत्वेन प्राप्तत्वात् । नच यथा घटादावितरमेदे सिद्धेऽपि पृथिवीतरेभ्यो भिद्यत इत्यत्र न सिद्धसाधनम्, यथाच स्थानप्रकरणाधिकरणोक्तरीत्या राजसूयान्तर्गतेष्टिपशुसोमेषु प्रातिस्विकरूपेण चोदकत इतिकर्तव्यताप्राप्तावपि राजसूयरूपे तदप्राप्तिः, तथा वेदान्तविचारत्वोपहिते ब्रह्मज्ञानहेतुताया अप्राप्तेरपूर्वविधितेति—वाच्यम्; सामान्यतः प्राप्तसाधनसाध्यभावमनादृत्य विशेषोपाधिना अप्राप्तसाधनत्वप्राप्तये अपूर्वविध्यङ्गीकारे ज्योतिष्टोमादिवाक्यविचारेऽपि तेन रूपेण तद्वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यप्राप्तसाधनतासिद्धये अपूर्वविध्यन्तरकल्पनापत्तेः । एतेन—निदिध्यासनस्याव्यक्तस्वभावब्रह्मसाक्षात्कारहेतुता नान्यतः प्राप्तेति स तावदपूर्वविधिः, तथा अज्ञातादौ निदिध्यासनासंभवेन श्रवणमननयोर्निदिध्यासने लिङ्गादेव

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रवणं शब्दजं ज्ञानमुपपरयानुचिन्तनम् । मतिर्निरन्तरा चिन्ता निदिध्यासनमुच्यते ॥ ब्रह्मज्ञानमुद्दिश्योक्तश्रवणस्योक्तविधिना विधानादपूर्वविधिः । तत्राज्ञानविरोधिज्ञानत्वेन श्रवणं प्रति, संशयादिविरोधिज्ञानत्वेन मननं प्रति, अपरौक्षज्ञानत्वेन निदिध्यासनं प्रति उद्देश्यमिति परोक्तेरुक्तश्रवणस्योक्तविधिमाशङ्क्य निरस्यति—यत्त्विति । तद्विन्ने आपातदर्शनमिन्ने ब्रह्मज्ञाने तदुद्देशेनेति यावत् । वाक्यार्थज्ञान इति । विधिरिति शेषः । विधेयमिति पूर्वोक्तानुषङ्गो वा । तथाचापातदर्शनान्यब्रह्मज्ञानायानेकशाखास्थवेदान्तवाक्यानां गुरूपदेशेनार्थग्रहणरूपं श्रवणं विधीयत इति भावः । उक्तश्रवणस्य तात्पर्यावधारणात्मकविचाररूपदृष्टद्वारोक्तब्रह्मज्ञानहेतुता प्राप्ता गुरूपदेशार्थीनवाक्यार्थज्ञानत्वेन वाक्यार्थनिश्चयं प्रत्युक्तद्वारा हेतुत्वस्य दुर्बोधशास्त्रार्थज्ञाने अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृहीतत्वादित्याशयेन दूषयति—वेदान्तरूपेति । विचारस्य तात्पर्यावधारणरूपतर्कसाधनस्योक्तश्रवणस्य । पृथिवीत्वोपहिते पृथिवीत्वावच्छेदेन । स्थानप्रकरणाधिकरणोक्तरीत्येति । स्थानप्रकरणयोर्विरोधे प्रकरणं बलवत् । तेनेष्टिपशुसोमयागसमूहात्मकराजसूयप्रकरणे अभिषेचनीयनामकसोमयागसन्निधौ अक्षैर्दीव्यतीत्यादिनोक्तविदेवनादीनां राजसूयाङ्गता, नत्वभिषेचनीयाङ्गता; अभिषेचनीयत्वादिप्रत्येकरूपेणाकाङ्क्षाविरहात्, चोदकप्राप्तप्राकृताङ्गैराकाङ्क्षाशान्तेः, राजसूयत्वेन रूपेण त्वाकाङ्क्षास्ति; तेन रूपेणोद्दिश्य श्रुत्यादिना विहिताङ्गसंदंशात्, ‘राजसूयाय ह्येना उत्पुनाति राजसूयेनेजानः सर्वमायुरेती’त्यादिना परामर्शात् । पवित्रादारभ्य क्षत्रस्य धृतिं यावद्वाजसूयस्वरूपेणाकाङ्क्षासत्त्वादिति तृतीयतृतीयोक्तरीत्येत्यर्थः । विचारत्वोपहित इति । गुरुमुखाधीनवाक्यार्थज्ञानत्वेन तात्पर्यावधारणरूपविचारद्वारा वाक्यार्थनिश्चयहेतुतायाः प्राप्तत्वेऽपि वेदान्तवाक्यीयगुरुमुखाधीनार्थज्ञानत्वेनोक्तद्वारा ब्रह्मनिश्चयत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुता न प्राप्तेत्यर्थः । कल्पनापत्तेरिति । सामान्यरूपेण साध्यसाधनभावस्य प्राप्तत्वेऽपि विशेषरूपेण तमादायापूर्वविधिस्वीकारे दृष्टोपकारजनकत्वसंभवेऽप्यदृष्टोपकारमङ्गीकृत्यापूर्वविधिस्वीकारे चापूर्वीयव्रीहिवैतुष्यत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्यवधातत्वादिना हेतुत्वमादाय प्रोक्षणादेरिवावघातादेरप्यदृष्टोपकारहेतुत्वमादाय वा नियमविधिमात्रोच्छेद इत्यपि बोध्यम् । ननु—सर्ववेदवाक्यानामसाधारणतत्तदर्थं इव ब्रह्माप्यर्थः; तत्तच्छब्दानां यौगिकगौण्यादिवृत्त्या तत्तद्गुणविशिष्टब्रह्मप्रतिपादकत्वात्, तथाच तादृशब्रह्मज्ञानहेतुतायाः सर्ववेदवाक्येऽप्राप्तत्वात् अपूर्वविधिरिति—चेन्न; उक्तोत्तरत्वात्, सर्ववेदाधीनोक्तज्ञानस्यापि दुर्बोधवाक्यार्थज्ञानत्वेनोक्तज्ञाने हेतुतायाः प्राप्तत्वात् । “वेदान्तान् विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनुणो द्विजः” “वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः,” “दिने दिने च वेदान्तश्रवणात् भक्तिसंयुतात्” इत्यादिस्मृत्या “दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन”त्यादिभट्टाचार्याद्युक्तेः ‘तं त्वौपनिषद्’मिति समाख्यया वेदान्तश्रवणस्यैव तज्जन्यज्ञानस्यैव वा मोक्षप्रयोजकत्वात् अभिहोत्रादिवाक्यानां ब्रह्मण्यपि तात्पर्यं वाक्यभेदापत्तेः, मुख्यार्थसंभवे गौणाद्यर्थस्याग्राह्यत्वाच्च । एतेन सर्ववेदवाक्येषु ब्रह्मण्युपक्रमदिविचाररूपमननेऽप्यपूर्वविधिरपास्तो बोध्यः । ‘तस्मादेनं सर्ववेदानधीनं विचार्य च ज्ञातुमिच्छेदिति’ श्रुतिस्तु सर्ववेदविचारस्य न साक्षाद्ब्रह्मधीहेतुत्वपरा, किंतु कर्मानुष्ठानाधीनचित्तशुद्धिद्वारा कर्मकाण्डस्य तद्वारा च ब्रह्मकाण्डस्य विचारे तद्वेतुत्वपरा; अन्यथोक्तदोषगणप्राप्तात् । अथ श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोद्देशेनापूर्वविधिं परोक्तमुक्तदूषणातिदेशेन दूषणान्तरेण च निरस्यति—एतेनेति । प्राप्तविधानासंभवेनेत्यर्थः । अज्ञातादावित्यादि । अज्ञाननिवृत्तिरूपस्वकार्यद्वारा श्रवणस्य प्रमाणगततात्पर्यप्रमेययोः संशयादिनिवृत्तिरूप-

प्राप्तावपि नियतविषयकनिदिध्यासनविषयगुणान्यगुणेषु लिङ्गेन तयोरप्राप्तेः तद्विधिरप्यपूर्वविधिरेव, एवंच श्रवणमननयोर्निदिध्यासितव्यगुणांशे दृष्टद्वारेण, अन्यत्र त्वदृष्टद्वारेण निदिध्यासनाङ्गतेति—निरस्तम्; श्रवणादीनां निर्गुणविषयतया सगुणविषयत्वाभावात्, विपरीताङ्गाङ्गिभावस्य स्थापितत्वाच्च; सूक्ष्मार्थगोचरनिदिध्यासनस्य तादृशार्थविषयकसाक्षात्कारहेतुताया दृष्टत्वेनापूर्वत्वाभावाच्च । ननु—अत्र श्रूयमाणलिङ्गादेः का गतिरिति—चेत्, शिलातलप्रयुक्तधुरतैक्ष्ण्यवत् कुण्ठीभावात् ‘जर्तिलयवाग्वा वा जुहुया’दित्यादाविचार्यवादत्वमेव । नच—‘पत्यवैक्षितमाज्यं भवति’ ‘विदुषा कर्म कर्तव्यं तस्मात् पश्येत नित्यशः’ इत्यादिना ज्ञानस्यापि विधानं दृष्टमिति—वाच्यम्; तत्र तद्वैत्विन्द्रियसंयोगादेर्विधेयत्वात् अनन्यगत्या लक्षणाया इष्टत्वात् । न च ‘न विधौ परः शब्दार्थ’ इत्यनेन विरोधः; ‘गोभिः श्रीणीत मत्सर’ मित्यादौ विधिवाक्येऽपि लक्षणादर्शनेन तस्यौत्सर्गिकत्वात्; अर्थवादानुरोधेन विधौ न परः शब्दार्थ इत्यर्थकत्वाच्च । नच—साक्षात्कृतिसाध्यत्वस्य इन्द्रियसंप्रयोगेऽप्यभावात् इन्द्रियनिष्ठक्रियाद्वारा परंपरया कृतिसाध्यत्वस्य ज्ञानेऽपि संभवात् अनिच्छतो दुर्गन्धादिज्ञानवत् अनिष्टसंप्रयोगस्यापि दर्शनाच्च ज्ञानसाम्यं संयोगस्येति—वाच्यम्; स्वर्गादाविव स्वेच्छाधीनकृतिसाध्यत्वस्य विधेयताप्रयोजकस्य ज्ञाने अभावात्, संप्रयोगस्य तु तद्वैपरीत्येन विशेषात् । नच—‘भक्षेही’ति भक्षमन्त्रेषु तृप्तेरनुनिष्पादितयाऽननुष्ठेयत्वेन तृप्तिप्रकाशकभागस्य तत्र विभज्य विनियोगाभावेऽपि अवेक्षणस्यानुष्ठेयत्वात् तत्प्रकाशकभागस्य अवेक्षणे विनियोग

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वकार्यद्वारोक्तमननस्य च निदिध्यासने हेतुत्वम्; तादृशद्वारं विना तदनुत्पत्तेरित्यर्थः । नियतविषयकेति । सर्ववेदोक्तगुणानां निदिध्यासनस्याशक्यत्वात् यावन्तो निदिध्यासितुं येन शक्यन्ते, तावद्विषयकनिदिध्यासनं तं प्रति विधीयते, इति नियतगुणविषयकं तदिति भावः । अपूर्वविधिरेवेति । उक्तान्यगुणश्रवणमननयोर्निदिध्यासनं प्रत्यदृष्टद्वारा आरादुपकारकाङ्गत्वं दर्शादौ प्रयाजादेरिवेति भावः । निरस्तमिति । श्रोतव्य इत्यादिवाक्ये निदिध्यासनाङ्गता श्रवणादेस्त्वयोज्यते । तत्र त्वद्वीत्या गुरुमुखश्रवणादेर्नियमविधिर्युक्तः; अपूर्वविध्यपेक्षाया लाघवान्निदिध्यासनाविषयगुणेषु श्रवणाद्यनुष्ठाने मानाभावात्, मदीत्या तु श्रवणस्यैव फलवत्त्वस्य स्थापितत्वात्तदङ्गे मनननिदिध्यासने इत्याशयेनाह—विपरीतेति । विपरीताङ्गाङ्गिभावस्य श्रवणं प्रति मनननिदिध्यासनयोः दृष्टद्वारा फलोपकार्यङ्गत्वस्य । अत्र ‘तद्विजिज्ञासस्व, श्रोतव्य’ इत्यादिवाक्ये । शिलातलेत्यादि । वाचस्पतिमते निरन्तरज्ञानधारारूपनिदिध्यासनसमभिव्याहारात् श्रवणमनने ज्ञानस्वरूपे । परमतेऽप्युक्तरीत्या तथाङ्गीकारे ज्ञानस्याविधेयरूपत्वात् वाचस्पतिमत इव उक्तवाक्यं न विधायकमिति भावः । अर्थवादानुरोधेन दुर्बलार्थवादानुरोधेन । असंजातविरोधित्वादिना प्रबलार्थवादानुरोधेन तु विधावप्युपक्रमाधिकरणादिसिद्धा लक्षणास्त्येव । नच—उक्तार्थवादानुरोधेन विधौ सा न प्रसक्तेति वचनं व्यर्थमिति—वाच्यम्; उक्तवचनस्य विधेरर्थवादपेक्षया औत्सर्गिकप्रबल्यम्, विधायकत्वादिति न्यायमूलकत्वात् । स्वेच्छाधीनकृतिसाध्यत्वस्य स्वेच्छाजन्यकृतिसाध्यत्वस्य । स्वर्गेच्छा स्वर्गसाधनीभूतायां यागादिकृतौ न कारणम् । किंतु यागादिक्रीपा । तथाच स्वचिकीर्षाधीनकृतिसाध्यत्वं कृतेः साध्यत्वाख्यविषयतापर्यवसानं विधेयताप्रयोजकम्, नच—ज्ञाने साध्यत्वाख्यविषयतया कश्चित् प्रवर्तते । किंचोक्तसाध्यत्वयुक्ताया आहार्यवृत्तेर्ज्ञानत्वाभावेनोक्तसाध्यत्वावच्छेदेनैव ज्ञानत्वाभावः कल्प्यते । नहि आहार्यवृत्तौ उक्तसाध्ये कुत्रचिद्वा जानामीत्याद्यनुभवो लोकानाम्; इच्छाजन्यज्ञानत्वेन पराभिमतं तत्तद्विच्छानामेव विशिष्यावश्यकं हेतुत्वे प्रमाणहेतुत्वे मानाभावात्, तस्य प्रमात्वासिद्धेः, अन्यथा तत्पूर्वमिन्द्रियसंयोगाद्यनन्तव्यक्तीनां ज्ञानहेतूनां कल्पने महागौरवात् । अनुमित्यादाविच्छाजन्यत्वकल्पने तु प्रक्रियामात्रम्, सिद्धेः प्रतिबन्धकत्व एव गौरवेणानुभवेन च प्राभाकराणां विवादात् । अनिष्टसम्प्रयोगस्य तूक्तबाधकाभावेऽपि नान्तरीयकत्वादेव नोक्तसाध्यत्वम् । अत एव न विधेयत्वमिति भावः । नच भक्षेहीत्यादि । ‘भक्षेहिमाविशे’त्यादि भक्षमन्त्रः । तत्र उपहृतस्योपहृतो भक्षयामीत्याद्यंशो भक्षणस्य प्रकाशकः । अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासमित्याद्यंशो ग्रहणस्य, अवह्येषमित्याद्यंशोऽवेक्षणस्य । सध्यासं धारयामीति । तत्र सर्वोऽपि मन्त्रो भक्षणे विनियोक्तव्यः; भक्षानुवाकसमाख्यातः, ग्रहणादिप्रकाशकांशानां भक्षणप्रकाशकांशेन गृहीत्वावेक्ष्य सम्यग्जरणाय भक्षयामीत्येकवाक्यतासंभवाच्च । अत एव ग्रहणानुत्तरवर्तिनि सम्यग्जरणपूर्ववर्तिनि भक्षणे लक्षणा । यद्यपि ग्रहणादिकं तत्तदंशस्य मुख्यार्थः । तत्रैव च तस्य लिङ्गं विनियोजकं संभवति । लिङ्गं च समाख्यावाक्यापेक्षया प्रबलं, तथापि ग्रहणादेरार्थिकत्वेनाविहितत्वादकृत्वर्थत्वेन तादर्थ्येऽसति तस्य कृत्वपूर्वानुपयोगित्वालिङ्गमपुरस्कृत्योक्तलक्षणैव युक्ता । लाक्षणिकार्थेऽपि सवित्रादिपदानां विनियोगस्येष्टत्वादिति प्राप्ते, अविहितस्यापि ग्रहणादेः विहितभक्षणान्यथानुपपत्तिलब्धानुष्ठानकत्वेनोक्तानुष्ठानस्य

इति तृतीयाध्यायोक्तिविरोध इति—वाच्यम्; इन्द्रियसंयोगरूपावेक्षणस्य तृध्यादिवदनुनिष्पादित्वाभावेनानुष्ठेयतया तत्प्रकाशकभागस्य तस्मिन्निभज्य विनियोग इत्येवंपरत्वात् । यच्च—एकश्रोत्रगता-नेकगकारेषु बुभुत्साप्रयत्नाभ्यामभीष्टगकारज्ञानदर्शनेन ज्ञानस्यापि विधेयत्वमिति, तन्न; अनभिमत-विषयवैमुख्यस्यैव बुभुत्साप्रयत्नसाध्यतया ज्ञानं प्रति तयोरजनकत्वात् । नच—“यदेव विद्यया करो-ती”ति विद्याया अङ्गत्वश्रवणात् अविहितस्य चाङ्गत्वानुपपत्त्या विद्याया विधेयत्वमिति—वाच्यम्; तस्य वाक्यस्योद्गीथोपासनाप्रकरणस्थतया तत्रत्यविद्यापदस्य उपासनापरतया विहितत्वेनाङ्गत्वा-विरोधात्, ‘तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टे’रित्यत्र विद्याया अङ्गत्ववद्वाया अङ्गत्वनिरासेऽपि न विधेयत्व-हानिः । ननु—यथा दुर्गन्धादिज्ञानस्येच्छाविषयत्वाभावेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तद्विषयत्वं यथाच ज्ञानान्त-रस्य नियमादृष्टासाध्यत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तत्साध्यत्वं, यथा पर्वतादिज्ञानस्य नयनोन्मीलने सति प्रय-त्नान्तरनिरपेक्षत्वेऽपि ध्रुवारुन्धत्यादिज्ञाने तत्सापेक्षत्वं, तथाऽतिसूक्ष्मब्रह्मज्ञानस्य इच्छाप्रयत्नसा-ध्यत्वसंभव इति—चेन्न; प्रामाणिकदृष्टविजातीयकिञ्चिद्धर्मदर्शनेनाप्रामाणिकवैजात्यस्य कल्पयितुम-शक्यत्वात् । प्रयत्नान्वयव्यतिरेकयोश्च ज्ञानसाधनजनने उपक्षीणतया ध्रुवारुन्धत्यादिनिदर्शनान्यथा-सिद्धतया तद्व्यायेन ब्रह्मज्ञाने कृतिसाध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । नच—शास्त्रार्थज्ञानस्य नियमेन पुंतन्त्रत्वदर्शनात् ब्रह्मणश्च शास्त्रार्थत्वात् तज्ज्ञानस्य पुंतन्त्रत्वमिति—वाच्यम्; तत्रापि ज्ञानसाध-नस्यैव पुंतन्त्रत्वात् । यच्च प्रशस्ताप्रशस्तज्ञानयोर्विधिनिषेधदर्शनं, तदपि ज्ञानकारणविषयकमेव । यच्च इच्छादिना उत्पत्तिनिरोधयोरनुभवः, सोऽपि करणव्यापारविषयक एव । नच—एवं नामादिषु ब्रह्मोपासनायां त्वया विधेयत्वेनाङ्गीकृतायां पुंतन्त्रत्वं न सिध्येत् तत्रापि मनोधारणादेरेव पुंतन्त्र-त्वस्य वक्तुं शक्यत्वादिति—वाच्यम्; ज्ञानविध्युक्तानुपपत्तेस्तत्राभावेन निरोधादीनामन्यपरत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—उक्तज्ञानरूपश्रवणादिष्वतिप्रयत्नसाध्यत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् विधेयत्व-मिति—वाच्यम्; अनुभवान्यथासिद्धेरुक्तत्वात् । नच—त्वयापि निदिध्यासनस्य परोक्षज्ञानसन्ता-नरूपस्य विधेयत्वं वदता सन्तानिनां ज्ञानानामपि विधेयत्वमङ्गीकर्तव्यमेव तदविधाने सन्ततिवि-धानानुपपत्तेरिति—वाच्यम्, आवृत्तिगुणयोगस्यैव विधेयत्वात् उपनिषदमावर्तयेदित्यत्रेव । नच—श्रवणादेः ज्ञानानात्मकत्वे श्रवणं यावदज्ञानमित्यज्ञानविरोधित्वस्मृतेः श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तमित्यनु-भवस्य चानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; आवृत्तिगुणयोगवाक्यार्थप्रमित्युपयुक्ततात्पर्यनिर्णयद्वारा उपक-मादिलिङ्गविचारात्मकश्रवणादेरज्ञानादिविरोधितया स्मृत्यनुभवयोरुपपत्तेः । ‘विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते’-त्यादौ ज्ञानविधावुक्तानुपपत्त्या प्रज्ञाशब्दस्य विचारलाक्षणिकत्वोपपत्तेः । नच—त्वया विधेयत्वे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

च मन्त्राधीनस्मृतिसाध्यत्वेनापूर्वप्रयोजकग्रहणाद्युद्देशेन तत्तदंशविनियोगो युक्त इति तृतीयद्वितीये स्थितम् । मन्त्राभि-भूतिरित्यादि तृप्यत्वित्यन्तं तृप्तिप्रकाशकमपि न तृप्तौ विनियुज्यते । तृप्तिर्भक्षणानुनिष्पादित्वेनानुष्ठेयत्वेनानुष्ठानापे-क्षितस्मृत्यनपेक्षत्वात् स्मारकमन्त्रानपेक्षत्वात् । तथाच तृप्यत्विति भक्षयामीत्येकवाक्यतया तृप्तिविशिष्टभक्षणार्थत्वेनो-त्साहविशेषजननपर्यवसानात् वाक्येन तस्य भक्षणार्थत्वमित्यपि तदुत्तराधिकरणे स्थितम् । इन्द्रियसंयोगरूपावेक्षण-स्येति । ज्ञानरूपावेक्षणस्य तु इन्द्रियसंयोगानुनिष्पादित्वेन तृप्तिवदननुष्ठेयतेति सूच्यते । अजनकत्वादिति । श्रोत्रसन्निकृष्टगकाराणां मध्ये यत्र द्वेषस्तत्प्रत्यक्षसामग्रीविघटनरूपवैमुख्ये इच्छाप्रयत्नौ हेतू । यत्र न द्वेषः, तत्प्रत्यक्षे न तदपेक्षेति भावः । अविहितस्येति । तदुक्तं शाबरभाष्ये—‘नचाविहितमङ्ग’मिति । प्रामाणिकेत्यादि । प्रामाणिकं यत् दृष्टात् ज्ञानस्यानिष्टत्वादिधर्माद्विलक्षणं ज्ञानस्येच्छाविषयत्वादिकं, तदर्शनमात्रेणाप्रामाणिकं दृष्टात् ज्ञानस्याविधेय-त्वाद्विलक्षणं ज्ञानस्य विधेयत्वं न कल्पनार्हमित्यर्थः । निरोधादीनाम् इच्छाधीनत्वेनानुभूयमाननिरोधोत्पत्त्यादीनाम् । अन्यपरत्वस्य उपासनान्यनिष्ठत्वस्य । लाक्षणिकत्वोपपत्तेरिति । यत्तु सर्वत्र लक्षणा नोचितेति, तन्न; ज्ञान-मात्रस्य प्रज्ञाशब्दार्थत्वे प्रशब्दवैयर्थ्यापत्तेः, प्रकृष्टज्ञानरूपयोगार्थादरे तु ज्ञानविध्यनुपपत्तेः, करणरूपप्रत्ययार्थमादाय प्रकृष्टज्ञानसाधनरूपविचारार्थकत्वौचित्यात् । आचार्यैस्त्वनुपपत्तिसत्त्वे लक्षणापि न दोष इत्याशयेन विचारत्वरूपेण लक्षणाक्ता । एवं पत्यवेक्षितमित्यादावपि अवादिशब्दवैयर्थ्यापत्तेश्चाक्षुषमात्रादिकं नार्थः, किंतु तदुत्तरशुद्ध्यशुद्धि-विचारः; आलोचनात्मकविचारे अवपूर्ववेक्षतेर्निरुद्धलाक्षणिकत्वात्, चाक्षुषबलेनाज्ञातेऽपि पुरुषे नयनोन्मीलन-वचनज्ञानादेवायमवेक्षत इत्यादिप्रयोगानादिवादीक्षणहेतुचक्षुःसंयोगो वा । विदुषा कर्म कार्यमित्यादौ तु विदेर्विचा-

नाङ्गीकृतस्य ध्यानस्य ज्ञानभिन्नत्वे तस्य स्वविषये व्यवहारजनकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्; तदन्य-
ज्ञानेनैव तत्कारणतयाऽऽवश्यकत्वेन तद्विषये व्यवहारोपपत्तेः प्रमाणवतोऽस्य गौरवस्यादोषत्वात् ।
अतएव ध्यानविषये जानामीत्यनुभवस्मरणे तद्विज्ञानप्रयुक्ततया व्याख्याते । तस्याभिध्यानादिति
श्रुतौ ध्यानस्य मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वेऽपि तदुक्तिः ध्यानानन्तरभाविशास्त्रकारद्वाराभिप्रायेति
न तथा विरोधः । यत्तूपासीतेत्युपक्रम्य 'य एवं वेदे'त्युपसंहारेण त्वयापि विधेयत्वेनाङ्गीकृतायामु-
पासनायां विदिधातुप्रयोगेण उपासनायाः ज्ञानत्वावगमात् अन्यत्रापि ज्ञानत्वं न विधेयत्वविरो-
धीति, तन्न; उक्तानुपपत्त्या विदेस्तत्रामुख्यत्वेनैव ज्ञानत्वावगमकत्वात् धात्वनेकार्थत्वेन वा । नच—
मानतन्त्रतामात्रेण कथमुपतन्त्रता प्रतिग्रहीत्रादितन्त्रस्यापि दानादेस्तद्दर्शनादिति—वाच्यम्; न
ह्यन्यतन्त्रतामात्रेणाविधेयत्वं ब्रूमः किंतु पुमिच्छाभिर्यत्कारणे सति अन्यथा कर्तुमशक्यत्वम् ॥
इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः ॥

अथ ज्ञानविधिभङ्गः ।

किंच विधीयमानं ज्ञानं किं शाब्दं, किंवा तदभ्यासः, यद्वा तत्त्वमनपेक्ष्यारोपितविषयतया
ध्यानं; किंवापरोक्षफलकं ज्ञानान्तरम् । नाद्यः; कर्मकाण्ड इव गृहीतसङ्गतेः स्वतःसिद्धत्वेन कृत्य-
साध्यतया विध्यविषयत्वात् । नच—कर्मकाण्डेऽप्यापातजन्यस्य स्वतःसिद्धत्वेऽपि विमर्शजन्यस्य
कृतिसाध्यत्वम् अन्यथा अध्ययनविधेरुत्तरक्रतुविधेर्वा तदाक्षेपकता न स्यादिति—वाच्यम्; तज्ज-
नकविचार एव विधेयताप्रयोजककृतिसाध्यत्वपर्यवसानेन तादृशज्ञानेऽप्यसंभवात् । न द्वितीयः;
स किं मोक्षाय विधीयते? साक्षात्काराय वा । नाद्यः; तस्य नैयोगिकत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वा-
पातात् । नच—बन्धध्वंसस्य नैयोगिकत्वेऽपि ध्वंसत्वात् श्रुत्यादिवलाच्च नित्यत्वोपपत्तिरिति—
वाच्यम्; न हि तन्नय इव त्वन्नयेऽपि बन्धध्वंसमात्रं मुक्तिः किंतु लोकान्तरप्राप्तिः; तस्यामुक्तदोष-
तादवस्थापत्तिः । न चानावृत्तिश्रुत्या नित्यत्वम्; 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र
पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुत्या नैयोगिकस्यानित्यत्वावगमात् । नचैतच्छ्रुतिविरोधेन तस्यानि-
त्यत्वाबोधकत्वम्; 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति युक्त्युपोद्बलिततया प्रावल्यात् । न द्वितीयः; तत् किं
दृष्टफलकमदृष्टफलकं वा । नाद्यः; परोक्षज्ञानाभ्यासेन तत्त्वसाक्षात्कारादर्शनात् । न द्वितीयः;
प्रमाणायत्तत्वात्तस्य । अतएव न तृतीयः; ध्यानस्य ज्ञानरूपत्वाभावाच्च । न चतुर्थः; शब्दस्यापि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रेऽपि शक्त्या कर्मविचार एवार्थः । तस्मात् पश्येतेत्यादौ कर्तव्याकर्तव्यं सर्वं विचारयेत् इत्येवार्थस्त्वयापि वाच्यः ।
प्रमाणवत् इति । वस्तुतो ज्ञानान्यस्यापि शशविषाणादिविकल्पस्य व्यवहारहेतुत्वेन तत्साधारणजातिविशेषस्य
ध्यानादिनिष्ठस्य तदवच्छेदकत्वात् नानुपपत्तिः; परंतु ध्यानोत्तरं स्मृत्यादेर्ध्यानपूर्वं तद्वैतव्यनुभवादेरानुभवाविकत्वात्तेनापि
व्यवहारसंभव इति भावः । द्वाराभिप्रायेति । 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा'दित्यादौ योजनपदेन श्रवण-
मननोक्तेः तत्त्वभावपदेन साक्षात्कारोक्तेः श्रवणाद्यधीनसाक्षात्कारेण विश्वमायानिवृत्तिः । अन्ते प्रारब्धभोगसमाप्तौ तु
भूयोऽवशिष्टदेहेन्द्रियादिरूपमायानिवृत्तिरित्यर्थः । तत्त्वस्य सर्वाधिष्ठानस्य भावः अविद्यानिवृत्तिरूपा प्राप्तिः यस्मा-
दिति व्युत्पत्तेर्भूमासावित्यस्मात् भावपदनिष्पत्तेरित्यपि बोध्यम् । यत्कारणे सतीत्यादि । कारणे सति अन्यथा-
कर्तुमशक्यं यदित्यर्थः । तेनेति शेषः । अविधेयत्वं ब्रूम इत्यनुपज्यते । यस्य कारणे सत्यपि पुमिच्छाभिरन्यथाकरणं
निरोधरूपं, तस्य ज्ञानत्वे मानाभावाद्विधेयत्वम् । तदन्यस्य ज्ञानस्य पुंतन्त्रत्वाभावेन न तदिति भावः ॥ तर्कै-
रित्यादि—ज्ञानापुरुषतन्त्रता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः ॥

गृहीतसङ्गतेः गृहीतपदतदर्थसंबन्धस्य पुंसः । तदाक्षेपकता विमर्शाक्षेपकता । प्रावल्यादिति । अन्यथा
'अक्षय्यं ह वै चानुमास्ययाजिनः सुकृतं भवती'ति श्रुतेरविनाशिकर्मफलबोधकत्वं स्यात् । दृष्टफलकं साक्षात्काररूपे
फले लोकसिद्धहेतुताकम् । तथाच नियमविधिः । अदृष्टफलकम् अदृष्टद्वारोक्तफले हेतुः । तथाचापूर्वविधिः । परोक्ष-
ज्ञानाभ्यासेन शब्दादिरूपेण ब्रह्मादिज्ञानेन । प्रमाणायत्तत्वात् प्रमाणमात्रजन्यत्वात् । तस्य उक्तफलस्य ।
मात्रपदादुक्तादृष्टापेक्षाव्यवच्छेदः । अत एव साक्षात्कारं प्रत्युक्तहेतुत्वयोरसंभवादेव । शब्दस्यापीति । ब्रह्मणीति

प्रामाण्याभावापातात् ब्रह्मणि प्रमाणीभूतज्ञानकर्तव्यतायामेव प्रामाण्यात् । नच महातात्पर्यमादाय ब्रह्मण्यपि प्रामाण्यम्; तादृशज्ञानस्यापि प्रमाणायत्ततया विधिफलत्वात् । तस्मात् पत्न्यवेक्षितमाज्यमित्यादावपि ज्ञानस्याविधानात् ध्यानस्यापि विज्ञानव्यतिरेकसाधनात् सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धौ कृत्यन्वयव्यतिरेकयोस्तत्साधनविषयतयान्यथासिद्धत्वाच्च नात्मज्ञानं विधातुं शक्यते । तदेवं श्रवणस्य ज्ञानरूपत्वे विधेयत्वानुपपत्तिः । तस्मात् ज्ञानविजातीयं श्रवणम् अपरोक्षज्ञानजनकशब्देति कर्तव्य-
तारूपविचारात्मकं मनननिदिध्यासनाङ्गकं प्रमेयावगमं प्रत्यङ्गतया प्रधानभूतमपरोक्षज्ञानफलक-
तया विधीयत इति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानविधिभङ्गः ॥

अथ शब्दादपरोक्षोपपत्तिः ।

ननु—कथमपरोक्षज्ञानजनकत्वं शब्दस्य ? मानाभावादिति—चेन्न; ‘तद्वास्य विजज्ञौ तमसः पारं दर्शयती’त्यादेः ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था’ इत्यादेश्च मानत्वात्, पूर्ववाक्ये तज्ज्ञानकापरोक्षज्ञान-
स्योपदेशमात्रसाध्यत्वोक्तेः, द्वितीयश्रुतौ शब्दज्ञानस्य विपदेन विशेषविषयत्वस्य लाभात् सुपदेना-
परोक्षत्वोक्तेः । न च विजज्ञावितीत्यादेः परोक्षज्ञानेनापि चरितार्थता; ‘तमसः पारं दर्शयती’त्युत्तर-
वाक्यस्वरसेन अपरोक्षज्ञानपरत्वसिद्धेः । न च ग्राममार्गोपदेष्टरि ग्रामं दर्शयतीतिवत् परम्परया
प्रयोजकतयोपचारः, साक्षात्साधनत्वे बाधकाभावेन तस्यात्रान्याय्यत्वात्, उपदेशातिरिक्तकार-
णस्य नारदसनत्कुमाराख्यायिकायामप्रतीतेश्च । न च मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादिश्रुतिविरोधः; तस्या-
श्रित्तैकाग्र्यपरत्वात् । नच—सुपदस्याप्रामाण्यशङ्काविरहपरत्वेन द्वितीयवाक्येन तेनापरोक्षरूपता-
प्राप्तिः, अन्यथा वेदान्तबोध्यस्य विचारकर्तव्यतादेश्चापरोक्षत्वापातादिति—वाच्यम्; निश्चितपदे-
नैवाप्रामाण्यशङ्काविरहादेर्लब्धतया सुपदस्यातत्परत्वात् । नापि वेदान्तबोध्यस्य ब्रह्मातिरिक्तस्या-
प्येवमापरोक्ष्यापत्तिः; अर्थपदस्य मुख्यतस्तात्पर्यविषयपरत्वात्, वेदान्तबोध्यताया ब्रह्ममात्रपर्यव-
सन्नत्वाच्च । एवमनुमानमप्यत्र मानम् । अपरोक्षत्वं, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्ष-
ज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत् । नच—कर्मकाण्डजन्यज्ञानवृत्तीत्येवमपि साध्ये-
तेति—वाच्यम्; विपक्षबाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् । तथाहि—तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्ष-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

शेषः । तादृशज्ञानस्य विधेयत्वाभिमतज्ञानस्य । विधिफलत्वाभावात् विधिनानुष्ठापनीयत्वाभावात् । तज्ज्ञानं
यदि शब्दं, तदा ज्ञानान्तरमित्युक्तमसङ्गतम् । अथ तदधीनस्मरणं, तथापि स्वतःसिद्धशब्दज्ञानाधीनत्वेन प्रमाणा-
यत्तत्वात् आद्यपक्षीयदूषणमिति भावः । प्रधानभूतापरोक्षफलकतया प्रधानं सत् यदपरोक्षफलकं तत्तया ।
प्राधान्ये हेतुमाह—प्रमेयावगममिति । अङ्गतया साक्षात्करणतया । मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारि-
चित्तगतततिशयहेतुत्वेनोक्तकारणत्वाभावात् न प्राधान्यमिति भावः । तर्कैरित्यादि—ज्ञानस्य विधिभङ्गनम् ॥
इति लघुचन्द्रिकायां ज्ञानविधिभङ्गः ॥

तद्वास्य विजज्ञौ अस्य उद्दालकस्य । तत् तस्मात् तत्त्वमसीत्याद्युपदेशात् आत्मानं विज्ञातवान् श्वेतकेतुरिति
शेषः । तमसः पारम् अज्ञानप्रयुक्ताद्विलक्षणं सर्वाधिष्ठानमनवच्छिन्नानन्दम् । दर्शयति साक्षात्कारयति । ‘तस्मै
मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार’ इति श्रुतेः । अपरोक्षत्वोक्तेः अपरोक्षस्यैवोक्तेः ।
तथाच वेदान्तवाक्याद्यद्विशेषविषयकमद्वितीयत्वाद्युपलक्षणेन व्यावृत्ताधिष्ठानमात्रविषयकं ज्ञानं, तेन सुनिश्चितः तद-
भिन्नस्यापरोक्षस्याप्रमात्वेनागृह्यमाणस्य विषयीकृतो वेदान्तवाक्यार्थोऽखण्डब्रह्मात्मैकरूपो यैस्ते तथेत्यर्थ इति भावः ।
उत्तरवाक्यस्वरसेनेति । छान्दोग्ये तस्मा इत्यादिवाक्येन सप्तमप्रपाठकान्तस्थेनाविद्यानिवर्तकज्ञानस्यापरोक्षत्वोक्त्या
षष्ठप्रपाठकस्थे ‘तद्वास्य विजज्ञौ’विति वाक्येऽपि विशब्दस्यापरोक्षोक्तज्ञानपरत्वं निश्चीयते; चरमवाक्यस्य चरमज्ञान-
परत्वौचित्यादिति भावः । ‘आचार्यवान् पुरुषो वेदे’त्यनेनाचार्योपदेशज्ञानवन्तमुक्त्वा तस्य तावदित्यादिना तज्ज्ञा-
नादेव कैवल्योक्तेरित्यपि बोध्यम् । ज्ञानस्य ज्ञानकारणस्य । उपासनादिकं तु चित्तैकाग्र्यादिद्वारा ज्ञाने प्रयोजकमेव
न कारणम् । अन्यथेत्यादि । अर्थपदस्य सन्निहितवेदान्तमात्रार्थपरत्वेन विचारकर्तव्यत्वादेरपि तादृशार्थत्वेनापरोक्ष-
त्वापत्तिरित्यर्थः । ब्रह्ममात्रेति । वेदान्तशब्दस्य वेदशेषे पठ्यमानं नार्थः; चरमस्य वाक्यस्य पदस्य वा तत्त्वेन

ज्ञानाजनकत्वे अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिर्न स्यात् । नच मनसैवापरोक्षज्ञानम् ; मनसः कुत्राप्यसाधारण्येन प्रमाकरणत्वाभावात् , आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वात् । नच शब्दे अपरोक्षज्ञानजनकत्ववत् अन्यत्राकृतमेव मनसि तत्कल्पनीयम् । एवं हि सर्वांशस्यैव मनसि कल्प्यत्वेन विशेषात् । नचैवं ज्योतिष्टोमादिविषयकर्मकाण्डजन्यज्ञाने कल्पकमस्ति । तत्र हि कल्पनीयमनुष्ठानाय वा फलाय वा । नाद्यः ; परोक्षज्ञानादेव तत्संभवात् । तत एवानुष्ठानात् फलसिद्धेर्न द्वितीयोऽपि । नच विमतः शब्दो नापरोक्षधीहेतुः शब्दत्वादिति प्रतिसाधनम् ; 'दशमस्त्वमसी'त्यादावेव व्यभिचारात् । नच—तत्रापीन्द्रियमेव करणं शब्दस्तत्सहकारीति—वाच्यम् ; कश्चित् बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्यापि तद्वाक्यादपरोक्षभ्रमनिवर्तकस्य दशमोऽसीत्यपरोक्षज्ञानस्य दर्शनात् । यत्रापीन्द्रियसद्भावाः, तत्रापि तदप्रयोजकमेव । नच—धर्मवांस्त्वमसि पर्वतोऽग्निमानित्यादौ विशेष्यापरोक्षत्वेऽपि विशेषणपारोक्ष्यवत् अत्रापि दशमत्वे पारोक्ष्यमस्त्विति—वाच्यम् ; अत्र परोक्षत्वे अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गात् । ननु—एवमपि शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं किं स्वाभाविकम्, उतापरोक्षविषयनिमित्तकम् । नाद्यः ; अतिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते आत्मत्वादित्यादिना जायमानानुमितेः श्रवणात् प्रागापततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रबन्धजन्याया अनधीतवेदान्तजन्याया ऐक्यप्रतीतेश्चापरोक्ष्यापातात् श्रवणनियमादेरनियमात् । किंचार्थस्यापरोक्ष्यं न तावदपरोक्षबुद्धिविषयत्वरूपम् ; ब्रह्मण्यस्य सत्त्वेऽपि दशमत्वादावभावात् , चैत्रापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शब्दादिना आपरोक्ष्यादर्शनाच्च । नाप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम् ; व्यवहारापरोक्ष्यस्य तादृगर्थभेदविषयकत्वरूपत्वे अन्योन्याश्रयात् , अपरोक्षोऽयमित्येवंरूपत्वे अज्ञानावृत्तेऽपि तदभावात् , त्वयापि न प्रकाशत इत्यादिव्यवहारार्थमेवावरणकल्पनात् , उक्तव्यवहारयोग्यत्वरूपत्वे व्यवहितघटे शब्दादपरोक्षज्ञानप्रसङ्गात् , अपरोक्षज्ञानजन्यत्वरूपत्वे च वक्ष्यमाणपक्षान्तर्भावात् । तस्मादर्थस्यापरोक्षधीविषयत्वमेवापरोक्षत्वं वाच्यम् । तत्र चैतज्ज्ञानविषयत्वेन तदुक्तावन्योन्याश्रयः, ज्ञानान्तराभिप्राये तु केषांचिदपरोक्षे स्वर्गादावस्माकं शब्दादपरोक्षधीप्रसङ्गात् । एकपुमभिप्राये तु पूर्वापरोक्षे शब्दादिना इदानीमपरोक्षधीप्रसङ्गात् । एककालाभिप्राये प्रत्यक्षाग्नौ लिङ्गाच्छब्दाद्वा आप-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

तत्त्वमस्यादेरतत्त्वापत्तेः । नाप्युपनिषद्व्यवहारविषयभागान्तर्गतत्वविशिष्टम् ; तस्यायौगिकत्वात् , अन्यथा कर्मकाण्डान्त्यवाक्यस्यापि तत्त्वापत्तेः, किंतु सर्वस्य वेदस्यान्तः परमतात्पर्यविषयो बोधकतासंबन्धेन यत्रेति व्युत्पत्त्या तत्त्वमस्यादिवाक्यमेव, तद्बोध्यता ब्रह्मण एवेति भावः । एवं हीति । एवमपीत्यर्थः । तेन शब्दस्य परोक्षज्ञानहेतुत्वं क्लृप्तमिति सूच्यते । सर्वांशस्येति । मनसः करणत्वं तज्जन्यज्ञाने चापरोक्षत्वं कल्प्यम्, शब्दे तु करणत्वं क्लृप्तम् । तज्जन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वमात्रं कल्प्यमिति भावः । मां प्रति दृष्टो यो हेतुस्तेन मां प्रति सत्प्रतिपक्षासंभव इत्याशयेनाह—दशम इति । तत्रापीत्यादि । आत्मांशे इन्द्रियसन्निकर्षात् दशमत्वांशे शब्दादेकं ज्ञानमित्यर्थः । लोचनहीनस्य बहिरिन्द्रियसन्निकर्षशून्यस्य । मनसस्तु करणत्वं न क्लृप्तमिति भावः । नच—अत्रैव शब्दस्य मनसो वा करणत्वं कल्प्यमित्यत्र विनिगमकाभाव इति—वाच्यम् ; शब्दस्य ज्ञानकरणत्वेन क्लृप्तत्वेन दत्तोत्तरत्वात् । किंच शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वमस्माकं दशमस्त्वमित्यादौ न कल्प्यम्, किंतु क्लृप्तम् ; तदीयलाघवमूलकं साक्षात्कारत्वाख्यातिरिक्तधर्मकल्पनमपेक्ष्य प्रमात्रभिन्नविषयकज्ञानत्वस्य क्लृप्तस्यैव साक्षात्करोमीत्यादिव्यवहारविषयवौचित्यात् । एवं च विद्यमानमपीन्द्रियसन्निकर्षादिकं प्रमात्रभेदप्रयोजकपूर्वोत्पन्नवृत्तिजनकत्वेन उपक्षीणं दशमस्त्वमित्याकारवृत्तौ न कारणमित्याशयेनाह—यत्रापीति । अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गात् दशमान्यत्वांशे अपरोक्षस्य भ्रमस्यानिवृत्तिप्रसङ्गात् । दशमत्वं दशत्वसङ्ख्यापूरकत्वम् । तच्च दशत्वाश्रयाणामन्यतमत्वम् । दशमात्रविषयकधीविषयकत्वरूपम् । तच्चावच्छिन्नात्मवृत्ति चेत्, तदा साक्षिबोध्यम् । शरीरवृत्ति चेत्तदापि साक्षिणा त्वाचादिवृत्त्या वा अपरोक्षमित्युभयापि प्रमात्रभेदस्य तत्र संभवेन तद्बोचरं शब्दज्ञानमुक्तापरोक्षत्ववदिति भावः । अनियमात् अनियमापत्तेः । इत्येवंरूपत्वे इत्याकारकत्वे । अज्ञानावृत्त इति । तथाच शब्दवृत्तेरपरोक्षव्यवहारविषयविषयकत्वेनाज्ञाननिवर्तकत्वम्, अज्ञाननिवृत्तौ च सत्याम् 'अपरोक्षोऽय' मित्याकारकत्वरूपं व्यवहारस्यापरोक्षत्वमित्यन्योन्याश्रयः । न प्रकाशत इत्यादीत्यादिपदादपरोक्षभिन्नमित्यादिसंग्रहः । एतज्ज्ञानेति । यज्ज्ञानस्यापरोक्षत्वनिर्वचनाय विषयापरोक्षत्वं निरुच्यते तज्ज्ञानेत्यर्थः । तज्ज्ञानस्यापरोक्षत्वविषयकज्ञानत्वं, विषयस्यापरोक्षत्वमपरोक्षतज्ज्ञानविषयत्वमित्यन्योन्याश्रयः । आपरोक्ष्यं स्यादिति । अत्र यद्यपीष्टापत्तिरेव ; तथापि सुखादेः साक्षिरूपस्य ज्ञानस्यापरोक्षत्वे ज्ञानान्तरापेक्षया

रोक्ष्यं स्यादिति—चेन्न, यं शाब्दबोधमादाय यस्य बोध्यत्वं, तत्साक्षात्कारार्थं तदभिन्नार्थावगाहित्व-
निमित्तकमित्युक्तदोषानवकाशात् । नच—एवं प्रत्यक्षान्तर्भावः शब्दस्य स्यादिति—वाच्यम्; बोध्य-
भिन्नार्थकशब्दातिरिक्तत्वे सति प्रत्यक्षप्रमाणकरणत्वस्य प्रत्यक्षस्यान्तर्भावे तन्नत्वात् । ननु—‘मनसैवा-
नुद्रष्टव्य’मित्यादेरिव मनःकरणताप्रतिपादकस्य प्रकृते अभावात् अनौपदेशिकं शब्दस्य साक्षात्कार-
करणत्वमिति—चेन्न; ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी’त्यादौ तत्र साधुरिति तदन्यासाधुत्वे सति
तत्साधुत्वरूपसाध्वर्थविहिततद्धितश्रुत्या एव मानत्वात् । ननु मनसः करणत्वेपि औपनिषदत्वस्य
निदिध्यासनापेक्षिततया अन्यथासिद्धिः, न; ‘यन्मनसा न मनुत’ इति मनसः करणत्वनिषेधात् । नच
‘यतो वाचो निवर्तन्त’ इति शब्दस्यापि करणत्वानुपपत्ति, औपनिषदत्वश्रुत्यनुसारेण तस्याः, शक्या
अबोधकत्वपरत्वात् । तदुक्तं—‘चकितमभिधत्ते श्रुतिरपी’ति । नच—‘मनसैवानुद्रष्टव्यमि’ति तृतीया-
श्रुत्यनुसारेण न मनुत इत्यस्यैवापकमनोविषयतयाऽन्यथानयनसाम्यमिति—वाच्यम्; एवं साम्येऽपि
मनसः करणत्वे ह्यधिककल्पना । शब्दस्य करणत्वे त्वल्पकल्पनेति विशेषात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादि-
वाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वादविद्यानिवृत्त्यात्मकमोक्षसाधनब्रह्मसाक्षात्काराय मननाद्यङ्गकं श्रवणमङ्गि
नियमविधिविषय इति सिद्धम् । इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दादपरोक्षोपपत्तिः ॥

विश्वेश्वराख्यस्य गुरोः प्रसादादद्वैतसिद्धिर्मधुसूदनस्य ।

अभूदभूमिः खलु दूषणानां गुणैरमेयैरवगुम्भितश्रीः ॥

ससंभ्रममपेक्षया परगुणोन्नतिर्दुःसहा नितान्तमनपेक्षया निजपुमर्थहानिः परा ।

अतः सुमतयो यथानयमुपेक्ष्य दुर्मत्सरं प्रयोजनवशानुगाः कुरुत मत्कृतौ सत्कृतिम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसर-
स्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ श्रवणादिनिरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न नियमः; सुखादौ वृत्तिं विनापि साक्ष्यभिन्नसुखादिविषयकत्वस्यापरोक्षत्वरूपत्वसंभवात्, किंतु ज्ञानस्य ज्ञानान्तर-
घटितापरोक्षत्वे वाच्ये ज्ञानान्तरस्यापि ज्ञानान्तरघटितमेव तद्वाच्यम्; अन्यथान्योन्याश्रयात्, तथाचानवस्थेयाशयेन
समाधानान्तरमाह—यं शाब्दमिति । शाब्दत्वमविवक्षितम्; अनुमित्यादेरप्येतादृशापरोक्षज्ञानत्वात् । यस्य प्रमातुः
यं बोधमादाय बोध्यत्वं, तदभिन्नार्थविषयकज्ञानत्वमेव तस्यापरोक्षत्वमित्यर्थः । तदभिन्नत्वं च मनोऽनवच्छेदप्रयुक्तो यो
भेदस्तच्छून्यतावच्छेदकत्वम् । तेन घटादिप्रत्यक्षकाले पटादौ प्रमातृभेदेपि न क्षतिः । यद्विषयावच्छेदेन हि चिति
वृत्तिरूपेण परिणतमनःसंबन्धः, तद्विषयावच्छेदेन पूर्वं सत उक्तभेदस्य नाशादुक्तशून्यता । सुखादौ तु सा सहजैव ।
इच्छादिवारणाय ज्ञानत्वमिति । तन्मनोऽवच्छिन्नचिद्भेदशून्यतावच्छेदकविषयकज्ञानत्वं तन्मनोऽवच्छिन्नज्ञानस्यापरो-
क्षत्वमिति पर्यवसितम् । तेन पुरुषान्तराभिन्नविषयकज्ञानं नापरोक्षम् । विषयस्यापरोक्षत्वं तु नोक्तज्ञानविषयत्वम्;
धर्माधर्मादौ तदापत्तेः, किंत्वनावृतत्वम् । ननु—उक्तापरोक्षत्वेन ज्ञानस्य हेतुत्वादौ गौरवाज्जातिविशेषरूपमपरोक्षत्वं ज्ञाने
युक्तमिति—चेन्न; अनावृतत्वस्यैवाखण्डाभावस्य तद्व्यक्तिवेनापरोक्षज्ञानकार्यत्वाभिमतहेतुत्वात्, घटादीतरव्यावृत्तिरेव
घटत्वादीति मते घटत्वादेरिव उक्ताभावस्य प्रतियोगिविशेषितरूपानवच्छिन्नस्यापि हेतुत्वादिसंभवात् । वस्तुतस्तु—
धर्मादिज्ञानस्यापरोक्षत्ववारणाय मनोऽनवच्छेदप्रयुक्तस्यैवावरणप्रयुक्तस्यापि भेदस्याभाव उक्तलक्षणेऽवश्यं निवेद्यः । तथा
चानावृतविषयज्ञानत्वमेवापरोक्षत्वं युक्तम् । आवरणविरोधितावच्छेदकं तु चाक्षुषादिवृत्तावनुगतं न वेत्यत्र नाग्रहः । नहि
तस्यामावरणस्य विरोधिता तन्नाशकता । येनाननुगमो दोषः, किंतु तदभावव्याप्यता । शब्दातिरिक्तत्वे शब्दानुमाना-
द्यतिरिक्तत्वे । तेन प्रमातृभिन्नविषयकानुमानादेर्न प्रत्यक्षान्तर्भावः । प्रत्यक्षान्तर्भावे तन्नत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणत्वात्
अनौपदेशिकमिति । तथाचौपदेशिकेन मनसः करणत्वेनोक्तानुमानबाधः । तद्वाक्येत्यादिकं तु न स्पष्ट उपदेश इति
पराभिमानः । तदन्यासाध्यत्वे तदन्याकरणकत्वेऽपि निदिध्यासनाधीनकरणकत्वेऽपि । अपेक्षिततया अपेक्षितधी-
घटिततया । चकितं शक्तिं विना । अभिधत्ते बोधयति ॥ इति लघुचन्द्रिकायां शब्दादपरोक्षोपपत्तिः ॥

तर्कैः सारस्वतै रत्नैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः । दुरन्तध्वान्तभङ्गाय श्रवणादिनिरूपणम् ॥

सारस्वतसमुद्रैकप्रसङ्गाद् ध्वान्तधिक्रिया । यया चन्द्रिकया तस्याः परिच्छेदाख्यः स्थिताः ॥

इति ब्रह्मानन्दसरस्वतीविरचितायां लघुचन्द्रिकायां श्रवणादिनिरूपणं नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

श्रवणाङ्गित्वतन्त्रियमाद्युपपत्तिः ।

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

श्रवणमङ्गिः प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्, मनननिदिध्यासने तु चित्तैकाग्र्यसंपादनद्वारा ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति विवरणसिद्धान्तो न युज्यते । विचाररूपस्य श्रवणस्य शब्दे तज्ज्ञानरूपे वा करणे इतिकर्तव्यतामात्रत्वात् । नहि तात्पर्यभ्रमनिरासेनोपक्षीणं तात्पर्यावधारणं करणकोटिं प्रवेष्टुमर्हति । आकाङ्क्षादिसहितं शब्दज्ञानमेव हि करणम् । अन्यथा मननादेरपि करणकोटौ प्रवेशप्रसङ्गात् । एवंच तात्पर्यज्ञानं न करणकोटिप्रविष्टम् । इतरथा वेदेऽपि तात्पर्यभ्रमसंभवात् बाह्यागमेऽपि तात्पर्यप्रमासंभवाद्बुद्ध्यदुष्टविभागो न सिद्ध्येत् । यागेऽवघातादेरिव शब्दे सन्निपत्योपकारकत्वमप्यत एव पराहतम् । दृष्टान्त इवात्र करणद्रव्यशेषत्वाभावात् । कथंचित्सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि अवघातादेः प्रयाजादिकं प्रतीव श्रवणस्य मननादिकं प्रति शेषित्वं न स्यात् । एतेन—“करणभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वात् श्रवणस्य करणत्वेनाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गता” इति चित्सुखोक्तिरपि—परास्ता । अपरथा सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाङ्गं सोमयागगतातिशयहेत्वभिषवादिकं प्रत्यङ्गं स्यात् । वस्तुतस्तु—शब्देनापरोक्षज्ञसौ परोक्षज्ञसौ चोत्पाद्यायां श्रवणमनननिदिध्यासनानां त्रयाणामेव फलोपकार्यङ्गत्वैव, नतु परस्परान्तराङ्गिभावः । परथा “यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण सुवीत हीपिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात् ऊर्कं इत्यन्नाद्यकामाय निधनं कुर्यात् इति स्वर्गकामाय निधनं कुर्या” इति श्रुतानां वृष्ट्यादिफलाय सौभरेतिकर्तव्यताभूतहीषादिनिधनानामपि परस्परान्तराङ्गतापत्तेः । परमार्थतस्तु—शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्यैव क्लृप्तत्वात् तद्वतातिशयहेतोः श्रवणस्य साक्षात्कारफलजनकमनननिदिध्यासनाङ्गित्वं कथमपि न सिद्ध्यति । मननस्य हि “मतिर्यावदयुक्ता” इति स्मृत्याऽयुक्तत्वशङ्कानिरास एवोपयोग इति सूक्ष्मवस्तुज्ञानहेतुचित्तैकाग्र्यजनकत्वं न संगच्छते । रूप्यसंकारानुवृत्तावपि शुक्तिसाक्षात्कारदर्शनेन विपरीत भावनानिर्वृत्तेर्ज्ञानानुपयोगेन तत्संपादनेन निदिध्यासनसार्थक्यमपि न युक्तमेव । इत्थंच—लिङ्गेन “ततस्तु तं पश्यतनिष्कलं ध्यायमानः” इति वाक्येन प्रकरणेन च निदिध्यासाङ्गत्वमेव श्रवणादेशुक्तम् । मूलप्रमाणदार्ढ्याच्च न निदिध्यासनजन्यज्ञानाप्रमात्वापातः । एतेन—श्रवणादीनां विषयावगमोपायत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् श्रोतव्य इत्यत्र नियमविधित्वमेवेति विवरणराद्धान्तोऽपि—परास्तः । नहि श्रवणमपरोक्षसाधनमित्यन्यतोऽवगतम् । गान्धर्वशास्त्रविचारत्वेन साक्षात्कारसाधनत्वेऽपि धर्मशास्त्रविचारे व्यभिचारात् न शास्त्रार्थविचारत्वेन तद्ग्रहसंभवः । नह्यपरोक्षे विचारोपयोग इति अपरोक्षार्थविचारत्वेनापि तद्ग्रहसंभवः परास्तः । साक्षात्कारयोग्यस्यापि स्वर्गनिध्यादेर्विचारेण तदनुदयाच्च । किंच—पाक्षिकप्राप्तौ हि नियमविधिः, नच रूपादिरहितात्मज्ञाने साधनान्तराप्राप्त्या सा संभवति । नह्यात्मनि सामान्यतः तत्प्राप्त्या स युक्तः । ब्रीहीनवहन्तीत्यत्रापि ब्रीहिपदमपूर्वायद्रव्यविशेषपरमिति तत्रैव नखविदलनादिप्रसक्त्या नियमविधित्वम् । प्रकृतेतु चिन्मात्रे मानान्तराप्राप्त्या तत्र युज्यते । नहि सजातीये प्राप्त्या सजातीयान्तरे नियम उपपद्यते; वैयधिकरण्यात् । यथा मन्त्रैरेव मन्त्रार्थाः स्मर्तव्याः नतु कल्पसूत्रादिनेति नियमः, एवं श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः नतु पुराणादिभिरिति साधनान्तरव्यावृत्तिफलकोऽत्र नियमविधिरिति तत्त्वकौमुदीकृतिसिद्धान्तोऽप्यत एव निरस्तः । “इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्” इति स्मृतिविरोधेन पुराणादिव्यावर्तनासंभवात् कर्मज्ञाने स्मृतीनामिव ब्रह्मज्ञाने भागवातादीनामप्युपयोगसंभवाच्च । श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इत्यादिकं तु श्रुतिमूलप्रमाणाभिप्रायमिति न विरोधः । अन्यथा षडङ्गाध्ययननिषेधादिप्रसङ्गात् । वेदान्तजन्ये इतिहासादिजन्ये चात्मज्ञाने न कोऽपि विशेषः, येन नियमादृष्टस्योपयोगः । विषयस्वभावनिवन्धने चापरोक्ष्येऽन्तःकरणशुद्धेरनपेक्षितत्वात् न तत्संपादकतयापि नियमादृष्टोपयोगः । तदिदं सिद्धम्—

विचारः करणं नैव बोधे शब्दप्रमाणजे । नचायं सन्निपत्याङ्गं शब्दस्य करणात्मनः ॥ १ ॥

करणान्तर्गतो येन विचारो हन्तिवद्भवेत् । सन्निपत्यापि नैवासौ शेषी मत्यादिकं प्रति ॥ २ ॥

अन्यथाहि भवेद्वन्तेः प्रयाजान्प्रति शेषिता । हीषादेश्च यथा भिन्नफले सौभरशेषिता ॥ ३ ॥

श्रवणादेस्तथाभिन्नफले स्याच्छब्दशेषिता । तस्मादयुक्ता मत्यादेः श्रवणं प्रति शेषिता ॥ ४ ॥

श्रवणं ह्यापरोक्षाय त्वन्मते श्रवणेन च । नापरोक्ष्यं कचिदृष्टं तेनापूर्वविधिर्भवेत् ॥ ५ ॥

नियमादृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्याप्यभावतः । श्रवणादेर्नियमनं परपक्षे न युज्यते ॥ ६ ॥ इति ।

वस्तुतस्तु—श्रवणादेर्ज्ञानरूपस्य विधेयत्वमेव न संभवतीति श्रोतव्य इत्यादिकमनुवाद एव । तथाहि—श्रवणं नाम न शक्तितात्पर्यावधारणम्; अवाच्ये ब्रह्मणि शक्त्यसंभवात्, तात्पर्यमपि प्रागेव धर्मिणः स्वरूपतो निश्चितत्वेन न तद्विषयम् । अन्यथा विचारानन्तरमपि संशयादिप्रसङ्गात् । अवधारणस्य ज्ञानत्वे तद्विधानायोगाच्च । अतएव—गुरुमुखाद्वेदा-

न्तानां ब्रह्मणि संयोजनम् । एतेन—मनननिदिध्यासने अपि—व्याख्याते; तयोरपि ज्ञानरूपत्वात् । तदयं संग्रहः—
श्रुत्यादेर्धास्वरूपत्वात् विध्यनर्हत्वतो धियाम् । अपरोक्षे नैव युक्तः श्रवणादिविधिः क्वचिदिति सर्वमनवद्यम् ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति जिज्ञासासूत्रमपि न श्रवणविधिमूलकं किंतु मननविधिमूलकमेव । विचारविधौ श्रवणसाध्यापरो-
क्षज्ञानाधीनापरोक्षज्ञानकामताया अधिकारिविशेषणत्वेनान्यथान्योन्याश्रयापातात् । जिज्ञासासूत्रोक्तो हि विचारस्तत्त्वनिर्णाय-
कन्यायानुसन्धानरूपः श्रवणं च नोक्तरूपमिति स्वरूपतोऽपि भेदो विद्यते । नह्यङ्गिभूतं श्रवणमिति कर्तव्यतारूपं विचारत्व-
मर्हति युक्तिभिरनुचिन्तनं नाम यदि श्रवणनिश्चितस्य तात्पर्यस्य तद्विषयशब्दस्य च स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा । तर्हि तस्या-
वश्यकश्रवणावृत्त्यैव सिद्ध्या मननविधिवैयर्थ्यम्, त्रिविधस्यापि श्रवणानन्तर्गतयुक्त्यनपेक्षत्वेन मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति स्मृति-
विरोधः, मतिर्यावदयुक्ततेति अयुक्तलशङ्कानिरासोक्त्ययोगश्च । शब्दज्ञानस्वरूपमेव श्रवणमिति श्रवणविधिमूलकत्वं विचा-
रस्य न युक्तमेव । किंतु युक्तायुक्तत्वसंशयादेः संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तात् । मीमांसाशास्त्रप्रथितात्संशयादिनिवर्तकाभ्यायजाता-
दन्येनानिवृतेस्तादृशन्यायप्रथनात्मकमीमांसारम्भकर्तव्यतापरमाद्यसूत्रं मननविधिमूलकमेव मन्तव्यम् । समन्वयाध्यायोक्त-
तात्पर्यनिश्चायकोपक्रममादियुक्त्यनुसन्धानं श्रवणम्, द्वितीयाध्यायार्थासत्त्वाशङ्कानिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं मननमिति भेदोऽपि
न युक्तः । अर्थनिश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयहेतुचितैकाग्र्यहेतुतैवेति विवरणसिद्धान्तविरोधात् अंशतो मननविधिमूलत्व-
स्याप्यापाताच्च, “आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चाद्वायेन साधितम् ।” इति न्यायेन युक्त्यनपेक्षश्रद्धामात्रेण प्रतिवाक्यमयमर्थं
इति ग्रहणं श्रवणं, पश्चात् न्यायानुसन्धानं मननमिति भेदसंभवे युक्तिष्वेव श्रवणमननभेदकल्पनायोगाच्च । वाक्यार्थग्रहण-
स्याप्युक्तरूपस्य श्रवणादित्रितयेऽन्तर्भावः कथमप्यङ्गीकरणीयः, अन्यथा चतुर्थस्यापि मुमुक्षुनष्टेयताप्रसङ्गात् । अन्यथा
प्रमाणभूतश्रुतितात्पर्ये निर्णीते सति अर्थसत्त्वार्थमुपपत्त्यनपेक्षणात् निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभावप्रसङ्गादिति मनन-
विधिमूलकमेव जिज्ञासासूत्रम् । अस्तुवा श्रवणं विचाररूपमेव, एवमपि यथा कर्मकाण्डविचार उत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तः एवं
ब्रह्मकाण्डविचारोऽपि ज्ञानविधिप्रयुक्त एव त्वन्मते स्यात् उत्तरक्रतुभिरनुष्ठानार्थं कर्मविचारस्येवात्मज्ञानेनापि आत्मविचा-
राक्षेपसंभवात् । कार्येण हि कारणमाक्षिप्यते । अथवा—कर्मविचारवदर्थवगमपर्यन्ताध्ययनविधिप्रयुक्त एव ब्रह्मवि-
चारो भवतु । दृष्टफलकत्वेनैवावृत्तिसिद्धेर्विध्यनपेक्षणेन आवृत्तिगुणकमननादिविधिवैयर्थ्यात् । अध्ययनविधिविहितैकदे-
शाध्ययनानुवादेन वाक्यान्तरेणारण्याद्यङ्गान्तरविधानवन्मननाद्यङ्गविधानस्य संभवाच्च न दोषः । नचाक्षरग्रहणान्तमध्यय-
नम्; तस्यापुरुषार्थतया भाव्यत्वानुपपत्तेः । सर्वथा श्रवणविधिमूलं जिज्ञासासूत्रमिति नोपपद्यत एव । अर्थज्ञानार्थस्याप्य-
ध्ययनस्य प्रत्यवायपरिहारार्थत्वेन नित्यत्वमप्युपपद्यते इति वाचस्पतिसंमतमध्ययनविधिमूलत्वमस्माकमपि संमतमेव ।
एवंच शब्दज्ञानरूपं श्रवणमेव श्रोतव्य इत्यत्र विधेयम् एवं विचारो मन्तव्य इत्यत्रेति सिद्धम् । आपातदर्शनभिन्नं कृतिसा-
ध्यत्वेन विधानार्हं प्रतिवाक्यमयमस्यार्थ इति गुरुपदेशेन ग्रहणं श्रवणम्, अयमेव वाक्यार्थो युक्तो नान्य इति निर्णयहे-
तुयुक्त्यनुसन्धानं मननम् । निरन्तरध्यानं निदिध्यासनमपरोक्षसाधनमिति परस्परभिन्नस्वभावानि श्रवणादीनि विधेयान्येव ।
तत्रचापूर्वं एव विधिः । वाक्यविचारत्वेन वाक्यार्थज्ञानहेतुलप्राप्तावपि वेदान्तविचारत्वेनात्मज्ञानहेतुताया अत्यन्तमप्राप्त-
त्वात् । निदिध्यासनस्य कथमपि साक्षात्कारसाधनत्वाप्राप्त्या तत्रापूर्वविधित्वे न विवादलेशोऽपि । निदिध्यासनापेक्षितज्ञान-
संपादकतया श्रवणमननयोरुपयोगः । ज्ञानस्यापि श्रवणादेः श्रोतव्य इत्यादितव्यप्रत्ययानुसारेण विधिरङ्गीक्रियते । अङ्गी-
कृतं हि “पठ्यवेक्षितं” “तस्मात् पश्येत् नित्यशः” इत्यादौ ज्ञानस्यापि विधानम् । न विधौ परः शब्दार्थ इति न्यायवि-
रोधात्तद्वेतुसंयोगादिकमेव तत्र विधेयमित्यपि न सङ्गतमेव । साक्षात्कृतिसाध्यत्वस्य चक्षुःसंयोगेऽप्यभावेन परंपरया
कृतिसाध्यत्वस्य ज्ञानेऽपि संभवेन अनिच्छतोऽपि अनिष्टसंप्रयोगस्य दर्शनाच्च संयोगस्यापि ज्ञानसाम्याच्च । अवक्षणेऽनुष्ठेये
विभज्य नृचक्षस्तत्वेति मन्त्रविनियोगपरा तृतीयाध्यायोक्तिरप्यत एव संगच्छते । यदेव विद्यया करोतीति विद्यायां कर्माङ्ग-
त्वान्नानमप्यत एवोपपद्यते । नह्यविहितमङ्गं भवितुमर्हति । अयमाशयः—यथा दुर्गन्धादिज्ञानस्येच्छाविषयत्वाभावेऽपि
ब्रह्मज्ञानस्य तद्विषयत्वम् । तथाऽतिसूक्ष्मब्रह्मज्ञानस्येतरज्ञानाविधेयत्वेऽपि विधेयत्वमप्युपपद्यत एव । दृष्टं हि शास्त्रार्थज्ञानस्य
नियमेन पुंतन्त्रत्वम् । ब्रह्मच शास्त्रार्थ इत्यविवादम् । अन्यथा नामादिषु ब्रह्मोपासनायां का गतिरिति भवन्त एव पर्यालोच-
यन्तु । अङ्गीकृतं हि भवता ज्ञानसंतानरूपनिदिध्यासनस्य विधेयत्वम् । श्रवणं यावदज्ञानमित्यज्ञानविरोधिलोपपत्तिरिति श्रवणा-
दिकं ज्ञानरूपमेव । जिज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेत्यादिकमप्यत एवोपपद्यते । एवंचोपासनायामपि विविधातुप्रयोगेण ज्ञानविधेयत्वमेव
मानतन्त्रस्यापि पुंतन्त्रत्वमपि दानादौ दृष्टमिति न किंचिदनुपपन्नमित्यस्मन्मते पुरुषतन्त्रमेव ज्ञानमभिमतमिति तद्विधेयमेव ।

विधीयमानं च ज्ञानं विमर्शजन्मस्य कृतिसाध्यत्वात् शब्दज्ञानरूपम् । कर्मकाण्डेऽपि तत् कृतिसाध्यमेव विवक्षितम् ।
अन्यथा क्रतुविधिभिर्विचाराक्षेपानुपपत्तेः, तदभ्यासरूपं वा; नैयोगिकस्यापि बन्धध्वंसस्य ध्वंसत्वात् श्रुतिबलाच्च नित्यलो-
पपत्त्या मोक्षाय तद्विधानोपपत्तेः । अतएव अनावृत्तिश्रवणं मुक्तानामुपपद्यते । तद्यथेहेति श्रुतेर्नित्यत्वश्रुतिविरुद्धाया नैयो-
गिकानित्यत्वे प्रामाण्यायोगात् । ज्ञानविधिवाक्यस्य ज्ञानकर्तव्यतायामिव ब्रह्मण्यपि महातात्पर्यसत्त्वात् ध्यानात्मकज्ञानरूपं

वा तदिति न दोषः । एवंच निदिध्यासनाधीनः साक्षात्कार एव मुक्तिसाधनं तदङ्गे च श्रवणमनने नतु श्रवणसाध्यसाक्षात्कार इति सिद्धम् । नहि शब्दोऽपरोक्षज्ञानजनक इत्यत्र किमपि मानमस्ति । तद्वास्य विजज्ञाविति परोक्षज्ञानेप्युपपन्नम् । परं पारं दर्शयतीति तु ग्राममार्गोपदेष्टरि ग्रामं दर्शयतीति व्यवहारवद्गौणः अन्यथा मनसैवानुदृष्टव्यमिति श्रुतिविरोधात् । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति सुशब्दस्तु अप्रामाण्यशङ्काविरहमिप्रायः अन्यथा वेदान्तबोध्यत्वस्य विचारकर्तव्यतायाश्चापरोक्षताप्रसङ्गात् । ब्रह्मातिरिक्तस्यापि वेदान्तार्थस्यापरोक्षताप्रसङ्गाच्च नैषा श्रुतिरपि तदापरोक्ष्ये प्रमाणम् । अपरोक्षत्वं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्वत्, इत्यनुमानं तु अपरोक्षत्वं कर्मकाण्डजन्यज्ञानवृत्तीत्याभाससाम्यात् शब्दत्वहेतुना सत्प्रतिपक्षाच्च न प्रयोजकम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वेऽपि मनसैव तदुपपत्त्याऽपरोक्षभ्रमानुवृत्तिः संभवेत् । दशमस्त्वमसीत्यत्रापि अपरोक्षज्ञानजनकत्वं शब्दस्य न क्लृप्तम्; तत्रेन्द्रियस्यैव शब्दसहकृतस्य करणत्वात् । धर्मवानहमित्यादाविव विशेष्यापारोक्ष्येऽपि विशेषणपारोक्ष्यवत् दशमत्वे पारोक्ष्यसंभवाच्च । किंच शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं न स्वाभाविकमतिप्रसङ्गात् । जीवाः, परमात्मनो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, इत्यनुमानात्, श्रवणात्प्रागापाततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रबन्धजन्यायाः अनधीतवेदान्तजन्याया ऐक्यप्रतीतिश्चापरोक्षत्वापातात् । अपिचार्थस्यापरोक्ष्यं दशमत्वादावभावात् नापरोक्षबुद्धिविषयत्वरूपम् । चैत्रापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शब्दादिना परोक्षादर्शनात्, आत्माश्रयाच्च । अन्यथा शब्दस्याप्यपरोक्षज्ञानजनकत्वे तस्य प्रत्यक्ष एवान्तर्भावप्रसङ्गः । मनसैवेति मनस इव शब्दकरणतायां कस्यापि प्रमाणस्याभावाच्च शब्दस्य साक्षात्कारकारणत्वम् । तं लौपनिषदमित्यौपनिषदत्वान्नानं तु निदिध्यासनापेक्षिततयाऽन्यथासिद्धम् । अतएव हि यतो वाचो निवर्तन्ते इत्युपपद्यते इति श्रवणाद्यङ्गकनिदिध्यासनसाध्यसाक्षात्कारसाध्यैव मुक्तिः, श्रवणादौ चापूर्वविधिः, तच्च ज्ञानरूपम्, ज्ञानमपि विधेयम् शब्दो नापरोक्षज्ञानजनक इति सर्वमनवद्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

ऐक्यात्म्यसाक्षात्कारार्थं श्रवणमङ्गि; मनननिदिध्यासने तु तदङ्गतया मुमुक्षुभिरनुष्ठेये । तदुक्तं विवरणे—“श्रवणमङ्गि; प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्, मनननिदिध्यासने तु प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते” इति । शब्दशक्तितात्पर्यावधारणरूपो विचारो हि अवधृततात्पर्यकशब्दस्यैव करणत्वेन करणकोटिमेव प्रविशति । साकाङ्क्षादिधियोऽपि निराकाङ्क्षादिभ्रमनिरासेनोपक्षयापत्त्या न तात्पर्यभ्रमनिरासे तात्पर्यावधारणस्य पर्यवसानमिति तात्पर्यज्ञानं करणकोटिर्महति । वेदे कदाचित्—तात्पर्यभ्रमसत्त्वेऽपि निर्दुष्टत्वेन यथार्थतात्पर्यमस्त्येव, नतु बाह्यागमे पौरुषेयतया दुष्टे तदिति दुष्टादुष्टव्यवस्थाऽपि नानुपपन्नेति सन्निपत्योपकारकतया यागेऽवघातादेरिव करणकोटिप्रविष्टत्वम् । अवघातस्य विशिष्टयागप्रविष्टतया प्रयाजादिशेषित्वेऽपि स्वरूपेण तत्र संभवति, प्रकृते तु असंभावनाविशेषनिवृत्तिरूपासाधारणोपकारजनकत्वेन स्वरूपेणापि शेषितेति विशेषः । एतेन—“करणीभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वात् श्रवणस्य करणत्वेनाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गता” इति चित्सुखोक्तिरपि—व्याख्याता । सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाद्यङ्गस्याप्यभिषवादीनां यागकोटिप्रविष्टत्वे तदङ्गत्वमिष्टमेवेति नानुपपत्तिः । फले जनयितव्ये मनननिदिध्यासनयोः शब्दसहकारिसंपादकत्वं श्रवणस्य तु जनकतासंपादकत्वमिति मुखमेवात्र परस्पराङ्गाङ्गिभावप्रसङ्गः । एतेन—सौमरेतिकर्तव्यतानिधनगतहीपादीनां परस्पराङ्गाङ्गिभावोऽपि—परास्तः; करणस्वरूपसंपादकत्वतःसहकारिसंपादकत्वरूपस्य विशेषस्यात्रैव तत्राभावात् । साक्षात्त्वं हि अज्ञाननिवर्तकत्वप्रयुक्तं श्रवणजन्यस्यापि ज्ञानस्य संभवत्येव । एवंच—प्रकरणादपि श्रवणस्याङ्गित्वं सिद्धम् । अयुक्तत्वशङ्कायां सत्यां चित्तविक्षेपस्य तन्निवृत्तौ युक्तत्वावधारणकोटौ चित्तैकाग्र्यस्य दृष्टत्वेन मतिर्यावदयुक्ततेति स्मृत्यविरोधेन मननस्य चित्तैकाग्र्यहेतुत्वेन इयं शुक्तिरिति साक्षात्कारानन्तरं तद्रजततया ज्ञातमिति स्मृतिसत्त्वेन ज्ञानगोचरसंस्कारसत्त्वेन रूप्यसंस्कारानुवृत्त्यभावात् निदिध्यासनस्य विपरीतभावनानिवर्तकत्वेन चोपयोगो नानुपपन्नः । नहि निदिध्यासने बहिर्देवसदनं दामीत्यादाविव साक्षात्काररूपफलसंबन्धसामर्थ्यमस्ति । ततस्तु तं पश्यते इत्यत्र तु योग्यताबलाच्छ्रवणत एवेत्यध्याहियते । एवंच तच्छ्रवणेन ध्यायमानं पुरुषं निष्कलं साक्षात्करोतीत्यनुकूलार्थ एवावगम्यते । अतएव द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति दर्शनश्रवणयोरव्यवधानमुपपद्यते । निदिध्यासनसाध्यो हि साक्षात्कारः कामिनीसाक्षात्कारवदप्रमैव स्यात् । मूलप्रमाणदाब्ध्येन तत्प्रमाणं तु मूलप्रमाणस्यैव साक्षात्कारजनकत्वमप्यापादयति । एतेन—निदिध्यासनसहकृतमनःकरणत्वमपि—परास्तम् ॥

तस्य च श्रवणस्य विषयावगमोपायत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् गान्धर्वशास्त्रविचारे षड्जादिसाक्षात्कारानुभवेनापरोक्षशास्त्रार्थविचारत्वेन तदर्थसाक्षात्कारत्वेन च कार्यकारणभावकल्पनात् सन्दिग्धत्वसंप्रयोजनत्वयोरेव विचारप्रयोजकत्वेनापरोक्षेऽपि विचारसार्थक्याच्च श्रोतव्य इति नियमविधिः, नापूर्वविधिः । निध्यायसाक्षात्कारस्तु तदसन्निकर्षनिबन्धनः नतु

विचाराहेतुत्वाधीनः । निर्विशेषात्मनि मानान्तरप्राप्तावपि यथाऽपूर्वायेषु त्रीहिषु नखविदलनाद्यप्राप्तावपि सामान्यतो त्रीहिषु तत्प्राप्त्या नियमः, एवमात्मनि मानान्तरप्राप्त्या साधनान्तरव्यावृत्तिफलो नियमः । सजातीये प्राप्त्यापि सजातीयान्तरे नियमवत् एकस्मिन्नेवात्मनि अवस्थाविशेषेण मानान्तरप्राप्त्यापि नियमविधिलमुपपद्यते एव । सामान्यधर्ममादाय तु सामानाधिकरण्यसंभवात् न विशेषान्तरप्राप्त्या विशेषान्तरनियमेऽपि वैयधिकरण्यम् ।

एतेन—इतिहासपुराणादिव्यावर्तनेन नियमविधिलमिति तत्त्वकौमुदीसिद्धान्तोऽपि—**व्याख्यातः**; इतिहासपुराणादीनां वेदान्ततात्पर्यनिर्णय एवोपयोगः, नतु ब्रह्मज्ञाने इति नेतिहासपुराणाभ्यासमिति स्मृतिविरोधः ।

तमेतं वेदानुवचनेनेति श्रुतिबलात् यज्ञादिजन्यादृष्टस्य नियमादृष्टस्य च विविदिषाद्वारकान्तःकरणशुद्धेरेव साध्यायाः संभवेन ज्ञानस्वरूपोपकारितया तत्साध्याज्ञाननिवृत्तौ तदपेक्षणाच्च वेदान्तजन्यसाक्षात्कारे तदजन्यसाक्षात्कारापेक्षयाऽतिशयस्या वश्यकत्वात्—

नियमादृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्यापि संभवात् । श्रवणादेर्नियमनं सर्वथैवोपपद्यते ॥ १ ॥

तच्च श्रवणं शक्तितात्पर्यावधारणम् । शुद्धे शक्त्यसंभवेऽपि तद्बोधोपयोगिनी अवधारणीया विशिष्टशक्तिः संभवति । संशयकोट्युपलक्षिते निर्विशेषे तात्पर्यस्यापि संभवेन विचारः सार्थक एव । अवधारणं च न ज्ञानं, किंतु ज्ञानविजातीयचेतो-वृत्तिविशेषः । **तदुक्तं**—“श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नतः”—इति । एवंच श्रवणादेरधीरूपाया मनोव्यापारत्वेन विधेयत्वमुपपद्यते । श्रोतव्य इत्येतदनुवादत्ववादस्तु प्रस्थानान्तरत्वाच्च विधिलप्रस्थानविरोधी ।

एतेन—श्रवणविधिमूलकमेव जिज्ञासासूत्रं, न मन्तव्य इति मननविधिमूलकमिति—**सूचितम्** । अधीतवेदस्यापा-ततो जायमानपरोक्षज्ञानाधीनापरोक्षज्ञानकामनाया एवाधिकारिविशेषणत्वेन नान्योन्याश्रयापातः । तत्त्वनिर्णायकन्यायानु-सन्धानरूपविचारस्य श्रवणाद्भेदेन यद्यपि न श्रवणविधिसमानविषयतया मूलमूलिभावः; तथापि शक्तितात्पर्यावधारणाक्षि-प्तोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गमादाय स उपपद्यते एव । **वस्तुतस्तु**—शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं श्रवणं, मननं तु युक्ति-भिरनुचिन्तनम् । अनुचिन्तनं चात्र श्रुतार्थविषयकयुक्तयुक्तत्वादिसंशयनिवर्तकयुक्त्यनुसंधानरूपमिति न दोषः इति न श्रवणमननयोरभेदशङ्कावकाशः । युक्तयुक्तत्वसंशयनिरासकन्यायजातस्यात्र विचारशास्त्रे घटनायामपि तदपेक्षयाऽभ्यर्हित-तात्पर्यावधारणाक्षिसल्लिङ्गविचारस्याप्यत्र करणाच्छ्रवणविधिमूलकत्वमेव, न मननविधिमूलकत्वमिति मन्तव्यम् । यद्वा सम-न्वयाध्यायोक्ततात्पर्यावधारणोपक्रममादियुक्त्यनुसन्धानं श्रवणं द्वितीयाध्यायोक्तार्थासत्त्वाशङ्कानिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं मननम् । अत्र विवरणविरोधस्तु प्रस्थानान्तरत्वादकिंचित्करः । अंशतो मननविधिमूलत्वेऽपि समन्वयोक्तविचारस्याभ्यर्हितत्वेन श्रवणविधिमूलकत्वेन व्यवहारः । नहि वाक्यार्थग्रहणं प्रमारूपं विधेयतामर्हति । श्रवणमात्रेण निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभाव इष्ट एव । दृष्टं हि द्वारवाधेन कृष्णलेऽवघातवाधनमिति सर्वमनवद्यम् । **एतेन**—उत्तरक्रतुविधिभिः कर्मविचार इवात्मज्ञानेन वेदान्तविचार आक्षिप्यत इति शङ्कापि—**परास्ता**; कार्येण कारणाक्षेपसंभवेऽपि वैधलसिद्ध्यर्थं विधिमूलत्वस्या-वश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । मननविधिमूलतावादिनोऽपि अध्ययनस्याक्षरावाप्तिफलत्वेनार्थज्ञानपर्यन्तत्वाभावेनाध्ययनविधिमूल-कत्वनिरासस्यावश्यकत्वेनार्थज्ञानपर्यन्ताध्ययनविधिमूलकत्वमेव वेदान्तविचारस्य न युक्तम् । सर्वथा श्रवणविधिमूलमेवाद्य-सूत्रमिति सिद्धम् । श्रवणादीनां न विधिरिति भामतीसिद्धान्तस्तु प्रस्थानान्तरत्वादविरोधीति पूर्वमेवोक्तम् । तच्च श्रवणं न शब्दज्ञानस्वरूपं, किंतु अवधारणरूपम् । ज्ञानस्यापुरुषतत्त्वेनाविधेयत्वात् । **तथाहि**—आपातदर्शनं तावच्छ्रवणं विनापि जायते इति न तत्र श्रवणस्य करणत्वम् । तद्विज्ञे च वाक्यार्थग्रहणे गुरूपदेशाधीने वेदान्तरूपवाक्यार्थविचारत्वेन सामा-न्यतः साधनत्वप्राप्त्या न विधेयत्वम् । नहि वेदान्तविचारत्वेन ब्रह्मज्ञानत्वेन च साध्यसाधनभावबोधनार्थं विध्यन्तरमपे-क्ष्यते; अन्यथा ज्योतिष्टोमवाक्यविचारत्वेन तदर्थज्ञानत्वेनच साध्यसाधनभावबोधनार्थं विध्यन्तरकल्पनाप्रसङ्गात् । सूक्ष्मार्थ-गोचरं हि निदिध्यासनं तादृशार्थसाक्षात्कारसाधनं दृष्टमिति तदंशेऽपि नापूर्वत्वमिति श्रोतव्यो मन्तव्य इति विधिसरूपा न विधय इति सिद्धम् । ज्ञानस्य कृत्यसाध्यत्वेन विध्यन्तर्हत्वात् । पण्यवेक्षितमाज्यमित्यादौ तु अवेक्षणहेतिवन्द्रियसंयोग एवानन्यगत्या लक्षणया विधीयते । विधावप्यसति बाधे गोभिः श्रीणीत मत्सरमित्यादाविव लक्षणा न दोषाय । अर्थवादा-नुसारेण विधौ न परः शब्दार्थ इति हि न विधौ परः शब्दार्थ इति भाष्यम् । स्वेच्छाधीनकृतिसाध्यत्वं विधेयताप्रयोजकं यथा ज्ञाने नास्ति न तथा संप्रयोग इति तस्य विधेयत्वमुपपद्यते । तार्तीयकाधिकरणमपि तृप्तिवदनुनिष्पादितत्वाभावेनेन्द्रिय-संप्रयोगरूपावेक्षणस्यानुष्ठेयतया विभज्य विनियोगनिरूपणपरं नास्माकं प्रतिकूलम् । यदेव विधयेत्यादौ विद्याशब्द उपास-नापरः । उपासना च न ज्ञानमिति न ज्ञानस्याविधेयत्वे तच्छ्रुत्यनुपपत्तिः । ब्रह्मज्ञानस्येच्छाविषयत्वमिव विधिविषयत्वमपि कल्पयितुं न शक्यम्; प्रमाणाभावात् । नहि शास्त्रार्थज्ञानं पुंतन्त्रम्, किंतु तत्साधनमिति मन्तव्यम् । निदिध्यासने ज्ञान-संतानरूपे विधेयत्वं हि संतानज्ञानगतावृत्तिविधेयत्वेनोपचारिकम् । **एतेन**—विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति श्रुतिरपि—**व्याख्याता**; तत्रान्यथानुपपत्त्या विचारस्यैव विधेयस्य लक्षणात् ।

तच्च विधीयमानं ज्ञानं न शाब्दम्; तज्जनकविचारस्यैव कृतिसाध्यत्वेन तस्यातथात्वात् । नापि मोक्षाय तदभ्यासरूपम्; मोक्षानित्यत्वापातात् । नहि मोक्षो भवन्मते ध्वंसरूपः, किंतु लोकान्तरप्राप्तिः, तस्याश्च तद्यथेहेति श्रुत्यनुसारेणानित्यत्वमेव स्यान्नैयोगिकत्वे । तस्मात्पद्वयवेक्षितमाज्यमित्यादावपि ज्ञानस्याविधानात् ध्यानस्यापि ज्ञानाव्यतिरेकात् नात्मज्ञानं विधेयम् । तस्मात् ज्ञानविजातीयं श्रवणं शब्देतिकर्तव्यतारूपविचारात्मकमिति सिद्धम् ॥

शब्दस्याप्यपरोक्षज्ञानजनकत्वं “तद्वास्य विजज्ञौ तमसः परं पारं दर्शयति” “वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थाः” इत्यादिश्रुतिसिद्धम् । तमसः परं पारं दर्शयतीति न गौणः; मुख्यार्थे बाधकाभावात् । सुनिश्चितेत्यत्र सुपदेन निश्चये आपरोक्ष्यमेव बोध्यते । अप्रामाण्यशङ्काविरहस्य निश्चितपदेनैवावगमात् । अर्थशब्देन च मुख्यतात्पर्यविषयब्रह्मस्वरूपमात्रं विवक्ष्यते इति नान्यस्यापि जगत्कारणत्वादेरापरोक्ष्यप्रसङ्गः । अपरोक्षत्वं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तिः, इत्यनुमानमपीदानीं व्याख्यातम् । नहि तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानापरोक्षत्वाभावेऽपरोक्षभ्रमनिवृत्तिः, नच मानसापरोक्षज्ञानोपपत्तिः, आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन सुखादीनामपि साक्षिवेद्यत्वेन मनसः कुत्राप्यसाधारण्येन प्रमाकरणत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमवाक्ये तु नैवं किञ्चित् कल्पकमस्ति येन तज्जन्यज्ञानस्याप्यपरोक्षत्वापादनेन प्रकरणसाम्यमापाद्येत । एतेन—विमतः शब्दः, नापरोक्षधीहेतुः, शब्दत्वात्, इति सत्प्रतिपक्षोऽपि—**पराहतः**, दशमस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचारात् । बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्यापि वाक्यादपरोक्षभ्रमनिवर्तकस्य दशमोऽहमिति अपरोक्षज्ञानस्य दर्शनेन तत्रेन्द्रियस्याकरणत्वात् । उक्तज्ञानं हि दशमत्वेऽप्यपरोक्षमेव । अन्यथाऽपरोक्षभ्रमानिवृत्तिप्रसङ्गात् । बोध्यमिन्नार्थकशब्दातिरिक्ते सति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्यैव प्रत्यक्षान्तर्भावे तन्त्रत्वेन शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकस्यापि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः । तंत्यौपनिषदमिति हि साक्षादेव शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वमवगमयति । यतो वाचो निवर्तन्त इति ब्रह्मणः शक्यत्वनिषेधाभिप्रायम्, नतु तदबोध्यत्वाभिप्रायम् । **तदुक्तं**—चकितमभिधत्ते श्रुतिरपीति । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वादविद्यानिवृत्त्यात्मकमोक्षसाधनब्रह्मसाक्षात्काराय मननाद्यङ्गकं श्रवणमङ्गि नियमविधिविषय इति सिद्धमिति—**निरूपयन्ति ॥**

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

श्रवणं नाङ्गि; तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधेऽकारणत्वेन शुकादिवाक्यस्थले क्लृप्ततया तात्पर्यभ्रमनिरासेनैव तदुपक्षयेण करणकोटिप्रवेशायोगात् । साकाङ्क्षादिधीरेव हि शाब्दबोधोपयोगिनी । नह्यसाकाङ्क्षादिज्ञानं विनाऽन्तरेणैव तात्पर्यज्ञानं कुत्रापि शाब्दबोधः सिद्ध्यति । येन तदकारणत्वमप्याशङ्क्येत । अन्यथा तात्पर्यज्ञानस्य करणत्वे वेदेऽपि कदाचित्तात्पर्यभ्रमसंभवेन बाह्यागमेऽपि क्वचित्तात्पर्यप्रमासंभवेन दुष्टादुष्टविभागो न सिद्ध्येत् । यत्रैव तद्भ्रमप्रमे तत्रैव तदापादनमिति वेदे कुत्रचिदेव भ्रमः, बाह्यागमेतु कुत्रचिदेव तत्प्रमेति वैषम्यमप्यकिञ्चित्करम् । एतेन—तात्पर्यज्ञानस्य सन्निपत्योपकारकतयाङ्गत्वमपि—**प्रत्युक्तम्**; करणोपकारकगतदृष्टादृष्टान्यतरोपकारजनकत्वं हि सन्निपत्योपकारकत्वम् । तच्च तात्पर्यज्ञानेन शब्दे तज्ज्ञाने वा करणे कस्याप्युपकारस्यानाधानात् न संभवति । अन्यथा अवघातप्रोक्षणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वप्रसङ्गात् । विशिष्टयागप्रविष्टतयेवावघातत्वादिनापि तदापत्तिरेवात्र विवक्षितेति विशिष्टशब्दप्रविष्टतयेव श्रवणत्वेनापि तदिष्यते इति नेष्टापत्त्यवकाशः । नहि प्रधानं प्रति सन्निपत्योपकारकं प्रधानोपकारकान्तरशेषीति युज्यते । प्रयाजादीनां यागसहकारित्वं, मननादिकंतु शब्दसहकारिचित्तगतातिशयाधायकमिति वैषम्यमात्रेणापि न तद्युज्यते । सोमयागसहकारिभूताभिषवग्रहणादीनां तत्सहकारिरीक्षणीयाङ्गशेषितापत्तेः । ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान इति ध्यानस्यैव फलसंबन्धेन प्रकरणात् श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वेति वाक्याच्च ध्यानमेवाङ्गि तदङ्गमेव श्रवणादि । द्रष्टव्यः श्रोतव्य इति सन्निधानं तु हस्तावनेजनस्योपस्तरणसन्निधानमिवाकिञ्चित्करम् । श्रुतमतस्यैव निदिध्यासनमिति न श्रवणस्य मननाद्यङ्गत्वशङ्कापीति मन्तव्यम् । निदिध्यासनजन्यस्यापि ज्ञानस्य तत्प्रयोजकवेदान्तवाक्यनिर्दोषत्वान्नाप्रमात्वापत्तिरिति श्रवणमङ्गीत्यादिविवरणसिद्धान्तोऽप्रामाणिकः ॥

एतेन—श्रवणे नियमविधिरिति तत्सिद्धान्तोऽपि—**परास्तः**; विचारस्य विचार्यसाक्षात्कारहेतुत्वं हि धर्मादाविव बाधितम् । अपरोक्षयोग्यार्थविचारत्वेन तत्साक्षात्कारत्वेन च कार्यकारणभावोऽपि न संभवति; स्वर्गनिध्यादौ व्यभिचारात् । तत्रेन्द्रियसहकारित्वकल्पनं हि यागाङ्गनादिनापि तत्साक्षात्कारसंभवान्न युक्तम् वैतुष्यविशिष्टानां व्रीहीणामपूर्वसंबन्धिनामपि वैतुष्यसंपादनार्थमवघातो नखविदलनं च पक्षप्राप्तमिति तत्र नियमविधिरिति युज्यते, प्रकृतेतु केवलात्मसाक्षात्कारस्यैव मोक्षसाधनत्वात्तत्र च प्रमाणान्तराप्राप्त्या न नियमविधित्वमुपपद्यते । इतिहासपुराणानां तु वेदमूलकानां धर्म इव ब्रह्मण्यपि प्रामाण्यं विद्यते एवेति न तद्व्युदासः संभवति । सर्वथा नात्र नियमविधिरिति युज्यते ॥

तच्च श्रवणं न शब्दशक्त्यवधारणरूपम्; शुद्धेऽसंभवात् । तद्वोध्योपयोगिनी विशिष्टशक्तिरेवावधारणीया इति तु न युक्तम् । शक्तितात्पर्ययोर्भिन्नविषयत्वापातात् । अन्यशक्त्याऽन्यस्योपस्थापने लक्षणया अनवस्थापातेन विशिष्टशक्तेः शुद्धबोधेऽनुपयोगेन तत्र शक्त्यवधारणासंभवाच्च ॥

एतेन—श्रवणविधिमूलकत्वमपि जिज्ञासासूत्रस्य—**परास्तम्**; अध्ययनोत्तरविचारप्राक्भाविवेदार्थज्ञानस्य श्रवणफलत्वेन श्रवणविचारयोरत्यन्तवैलक्षण्यात् । अतः तात्पर्यविषययुक्तयुक्तलसंशयनिरासिविचाररूपमननविधिमूलकत्वमेव युक्तम् । विशिष्टतात्पर्यनिर्णयस्यैव मन्मते श्रवणत्वेन तात्पर्यनिर्णयकविचारस्यातथात्वेन श्रवणं न लिङ्गविचारमाक्षिपति । आक्षेपेऽपि लिङ्गविचारस्य लिङ्ग्यर्थत्वेन लिङ्गिन एव प्राबल्यमिति श्रवणाक्षितलिङ्गविचारस्यैवाभ्यर्हितत्वेन श्रवणविधिमूलकत्ववादो निरालम्बन एव । नहि शब्दतात्पर्यनिर्णयकन्यायानुसन्धानं श्रवणम् अर्थनिर्णयकयुक्तयनुसन्धानं मननमिति तु विवरणविरोधान्न युक्तम् । विवरणमतस्यैवेदानीं निरूप्यमाणत्वात् तद्विरोधाकिंचित्करत्वमप्रयोजकमिति वर्णनमसङ्गतमेव । **एतेन**—समन्वयस्याभ्यर्हितत्वेन तद्विचारस्य श्रवणविधिमूलकत्वेन श्रवणविधिमूलमेव जिज्ञासासूत्रमिति—**परास्तम्**; समन्वयादप्यविरोधस्यैव परपक्षदूषणपर्यवसायिनो वैतण्डिकान्प्रत्यभ्यर्हितत्वात् । निश्चितप्रामाण्यस्यापि पुंसो मननस्य नित्यवच्छ्रवणाच्च कृष्णलावघातस्यैव बाधः । **किंच** ज्ञानविधिप्रयुक्त एव विचारः सिद्ध्यतीति तस्य श्रवणविधिमूलकत्वं न युक्तम् । ज्ञानविधिव्यापारविषयत्वेनापि वैधत्वं सिद्ध्यति । तदाक्षितस्यापि तद्विधिविषयत्वात् । अन्यथा विवरणमते श्रवणविधिमूलकत्वस्यापि विचारेऽसिद्धिप्रसङ्गात् । मम मते विचारस्य साक्षादेव मननविधिमूलत्वात् न विरोधः । अर्थज्ञानार्थाध्ययनविधिपक्षेऽपि ब्रह्मत्वेन वेदार्थविचाराय मननविधिरस्माकमपेक्षितः । **एतेन**—श्रवणादीनां ज्ञानरूपत्वेन तत्र विध्यनुपपत्तिरिति शङ्काऽपि—**पराहता**; विचारस्यापि संशयादिनिवर्तकत्वेन ज्ञानत्वेन तस्यापि विध्यनुपपत्त्या पण्यवेक्षितमित्यादाविव ज्ञानस्यापि विध्युपपत्तेः । अतएव यदेव विद्यया करोतीति विद्याङ्गत्वान्नमुपपद्यते । विद्याचात्र मुख्यवृत्त्या ज्ञानमेव । नैयोगिकत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञानजन्यलोकान्तरप्राप्तेः नित्यत्वं श्रुतिबलात् संभवत्येव । तथ्येहेतितु केवलकर्माजितविषयमिति न दोषः इति निदिध्यासनाङ्गमेव श्रवणम् नतु तदङ्गि, तस्य साक्षात्कारजनकत्वे प्रमाणाभावात् । नहि शब्दोऽपरोक्षसाक्षात्कारजनकत्वेन कुत्रापि क्लृप्त इति सर्वमनवयमिति—**प्रतिपादयन्ति** ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

श्रवणमङ्गि, मनननिदिध्यासनेतु तदङ्गे; तथैव विवरणे प्रतिपादनात् । आकाङ्क्षादिज्ञानाभावे विपरीतव्युत्पन्नस्यैव तात्पर्यज्ञानाभावे शुकादिवाक्यश्रोतुः शाब्दबोधोत्पत्तावपि स्वविशिष्टशाब्दबोधे साकाङ्क्षज्ञानं यथा करणं तथा तात्पर्यज्ञानोत्तरशाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानं हेतुरिति तात्पर्यज्ञानस्यापि करणत्वात् । निर्दोषस्वरूपास्तत्वेनैवावधृतशब्दत्वेनापि हेतुलस्यावश्यकत्वात्तात्पर्यज्ञानकरणत्वेऽपि बाह्यागमवेदयोर्दुष्टादुष्टलविभाग उपपद्यत एव । बाह्यागमस्य दुष्टत्वात् । **एतेन**—श्रवणस्य सन्निपत्योपकारकत्वमपि—**व्याख्यातम्**; सन्निपत्योपकारकत्वं हि करणस्वरूपे तद्योग्यतायां प्रयोजकाङ्गत्वमेव नतु करणोपकारगतदृष्टान्त्यतरोपकारजनकाङ्गत्वम्; द्रव्यदेवतादीनां तृतीयाङ्गत्वकल्पनाप्रसङ्गादिति करणस्वरूपसंपादकतया तात्पर्यज्ञानस्योपयोगात् । अभिक्रमणप्रयाजाङ्गत्वनिर्वाहोऽपि सन्निपत्योपकारकत्वस्यैवंरूपत्व एवोपपद्यते । श्रवणत्वेनापि साक्षात्कारजनकत्वेन तस्याङ्गित्वं अवघातत्वेन तु स्वर्गफलाजनकत्वेन न प्रयाजाद्यङ्गत्वमिति न प्रयाजानामवघाताङ्गत्वप्रसङ्गः स्वरूपेणेति मन्तव्यम् । एवंच श्रवणमेव साक्षात्कारजनकत्वेनाङ्गि तदमेव मननादि । द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इति समभिव्याहारोऽपि तत्र लिङ्गम् । हस्तावनेजनस्य प्रयोगान्वयिकर्तृसंस्कारकस्य करिष्यमाणसर्वार्थत्वं लिङ्गप्रकरणाभ्यां सिद्धमिति नाव्यवधानं तत्रादृतम् । तदुद्देशेन विहितत्वस्यैवाङ्गत्वप्रयोजकत्वेनोत्तरवर्तिनोरपि बृहस्पतिसवस्येवाङ्गलोपपत्त्या श्रुतमतस्यैव निदिध्यासनसत्त्वेऽपि न विरोधः इति श्रवणमेवाङ्गीति सिद्धम् ॥

एतेन—तन्त्रियमविधित्वमपि—**व्याख्यातम्**; अपरोक्षयोग्यविचार्यमाणार्थसाक्षात्कारत्वेनापरोक्षार्थविचारत्वेन च कार्यकारणभावस्यान्यत्र क्लृप्ततया लोकादेव श्रवणसाक्षात्कारार्थत्वस्य सिद्धेः । यागाज्जनादिना न विचार्यमाणसाक्षात्कार इति न दोषः । एवंच पक्षप्राप्तवेदान्तमूलकविचारव्यावर्तनेन नियमविधित्वमुपपद्यते एव ॥

विशिष्टशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितौ सत्यामेव तदधीनशुद्धोपस्थित्या शुद्धप्रमोदयात् शुद्धप्रमाप्रयोजकोपस्थितिषयविशिष्टशक्तित्वावधारणं शुद्धबोधोपयोग्येवेति शब्दशक्तितात्पर्यावधारणमेव तर्कात्मकं श्रवणमिति तद्विधेयत्वमप्यस्मन्मत एवोपपद्यते नतु ज्ञानात्मकं श्रवणमिति भवन्मते; ज्ञानस्याविधेत्वात् ॥

एतेन—जिज्ञासासूत्रमपि श्रवणविधिमूलकमेव न मननविधिमूलकमिति—**सूचितम्**; शब्दतात्पर्यनिर्णयकलिङ्गविचारस्य समन्वयोपयोगिनः अङ्गिभूतश्रवणाक्षितस्य मननापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वेन तन्मूलकत्वस्यैव युक्तत्वात् । नचात्र विवरणविरोधः । नहि विचारात्पूर्वं श्रवणफलं जायते किंतु तदनन्तरमेवेति न दोषः । तव मते यथा मननविधिमूलकत्वम् एवमस्मन्मतेऽपि श्रवणविधिमूलकत्वम् । श्रवणविधिना विचारस्यैव निदिध्यासनेन मननस्याप्याक्षेपसंभवात् आक्षेपतः पूर्वप्रवृत्त्या विधित्वनिर्वाहो मतद्वयेऽपि समान इति मन्तव्यम् । स्वाध्यायविधिमूलको विचार इति वाचस्पतिसिद्धान्तोऽपि समीचीन एव । श्रवणज्ञानरूपत्वे हि तद्विध्यनुपपत्तिः, अन्यथा मोक्षानित्यलापत्तेः । शब्दस्याप्यपरोक्षज्ञानजनकत्वं दशमस्कन्मसीत्यादौ क्लृप्तमिति साक्षात्कारार्थं श्रवणमङ्गीति सिद्धमिति—**विवेचयन्ति** ॥

इति श्रवणाङ्गित्वतन्त्रियमाद्युपपत्तिः ॥

श्रीः ।

॥ चतुर्थः परिच्छेदः ॥

अथ अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम् ।

ननु मुक्तिस्तावदविद्यानिवृत्तिर्न संभवति । तथाहि—सा किमात्मरूपा तद्विज्ञा वा; नाद्यः, असाध्यत्वापत्तेः । द्वितीयेऽपि किं सती मिथ्या वा; आद्ये अद्वैतहानिः, द्वितीये अविद्यातत्कार्यान्यतरत्वापत्तिरिति—चेन्न; चरमवृत्त्युपलक्षितस्यात्मनोऽज्ञानहानिरूपत्वात् । तथाचोपलक्षणसाध्यतयैव मुक्तेरपि साध्यता । नचोपलक्षणनिवृत्त्या मुक्तेरपि निवृत्तिः; पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिदर्शनात् । तदुक्तं—“निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत् ॥” इति । नच वृत्त्युपलक्षितस्य पश्चादिव पूर्वमपि सत्त्वेन मोहकालेऽपि तद्वान्यापत्तिः; पूर्वमसिद्धस्योपलक्षणत्वायोगात्; नहि पाकसंबन्धात् पूर्वं पाचको भवति तथा व्यवहियते वा । यत्तु—पाककर्तृत्वमेव पाचकत्वं, तदा अपचति तत्प्रयोगो भूतपूर्वन्यायेनौपचारिकः । यदि तु पाककर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्वं तत्कर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा, तद्वयमपि पश्चादस्ति । नचैवं मुक्तावात्मातिरिक्तं योग्यत्वादिकमस्ति चिन्मात्रं तु प्रागप्यस्ति इत्यसाध्यतापत्तिः; पाकोपलक्षितत्ववत् वृत्त्युपलक्षितत्वस्याधिकत्वे सविशेषतापत्तिः इति तन्न; उपलक्ष्यस्वरूपस्यासाध्यत्वेऽपि उपलक्षणगतसाध्यत्वोपपत्तेः घटाकाशे उत्पत्तिवत् । यद्वा अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिवृत्तिरेव यावत्कार्योत्पत्तिविरोधिकार्यमेव ध्वंस इत्यङ्गीकारात् । नच—वृत्तौ नष्टायां विरोधिनः कार्यान्तरस्यानुदयात् तदापि ध्वंससत्त्वेन स न ध्वंस इति—वाच्यम्; यावद्विरोधिकार्योदयमेव तथात्वात् यावद्विभागं तस्य ध्वंसरूपत्वेऽपि विभागध्वंसस्याधिकरणरूपतावच्चरमवृत्तिपर्यन्तं विरोधिकार्यरूपत्वेऽपि ध्वंसस्य

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

श्रीनारायणतीर्थानां पादाम्बुजरजो भजे । यदनुध्यानमाहात्म्यादनुयामि सरस्वतीम् ॥

तत्कार्येति । तन्नाशनाशयेत्यर्थः । पाके निवृत्तेऽपीति । ‘उपलक्षितस्य नाश’ इति व्यवहारे उपलक्षणस्य प्रतियोगित्वेनाभानात् तन्नाशमादाय न स इति भावः । ननु पाकोपलक्षितत्वं पाकेन स्वेतरस्मात् व्यावर्तितत्वम्, तथाच पाकसंबन्धात् पूर्वमपि चैत्रादावनुमानादिना तस्य ज्ञातत्वे तदस्येवेत्यत आह—व्यवहियते वेति । पाकसंबन्धात् पूर्वमित्यनुषज्यते । पूर्वकालमादाय इदानीमयं पाचक इति व्यवहियते नेत्यर्थः । तथाचेदानीं पाचक इत्यादावेतत्कालीनेन पाकसंबन्धेन उपलक्षितस्येवेदानीं मुक्त इत्यत्रैतत्कालीनचरमवृत्तिसंबन्धेनोपलक्षितस्य विषयत्वादुक्तवृत्तिपूर्वं नोक्तव्यवहारः । एतत्कालश्च मासाद्यात्मकः । तेन प्रयोगाधिकरणक्षणादौ पाकसंबन्धाभावेऽप्युक्तव्यवहारः । अतएव चरमवृत्त्युत्पत्तिकालपर्यन्तं ज्ञातवर्षादिकालमादायैतत्कालेऽयं मुक्तिमानिति व्यवहियते पाकसंबन्धोत्पत्तिपर्यन्तोक्तकालमादायैतत्कालेऽयं पाचक इति व्यवहारवत् । कालाविषयकः चरमवृत्तिपूर्वकालीनो मुक्तिव्यवहारस्त्वष्ट एव तादृशपाकसंबन्धोत्पत्तिपूर्वकालीनव्यवहार इवेति भावः । घटाकाश इति । इदानीं पाचकोऽत्र जातः इदानीमत्र पाचकः साधित इत्यादिव्यवहारे पूर्वविद्यमानचैत्रादौ पाकसंबन्धोत्पत्तिसाध्यते आदाय पाचके तद्व्यवहारवत् चरमवृत्तेरुत्पत्तिसाध्यते आदाय तदुपलक्षिते तद्व्यवहार इत्यपि बोध्यम् । यत्तु—साध्यत्वोपचारे मुक्तेः पुरुषार्थत्वमौपचारिकं स्यात्—इति, तदहो मौढ्यम्; अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वस्य पुरुषार्थत्वस्य साध्यत्वाघटितत्वात् । यावत्कार्योत्पत्तीति । कार्योत्पत्तिर्यावद्भवति तावत्कालमित्यर्थः । द्वैतं यावत्तिष्ठतीति यावत् । विरोधिकार्यमिति । यस्मिन् कार्ये सति तत्पूर्ववृत्ति यन्न तिष्ठति, तत् तस्य ध्वंस इत्यर्थः । स न ध्वंसः विरोधिकार्यं न ध्वंसः । ‘शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्येता’दाविव विशेषणलिङ्गग्राहित्वं तत्पदस्येति बोध्यम् । यावद्विरोधिकार्योदयं विरोधिकार्यस्थितिर्यावत् । तथात्वात् विरोधिकार्यस्य ध्वंसत्वस्वीकारात् । तस्य विभागस्य । ध्वंसरूपत्वे संयोगध्वंसरूपत्वे । विभागध्वंसस्य विभागाधिध्वंसस्य । अधिकरणरूपतावत् परमाण्वाद्यधिकरणस्वरूपतावत् । नव्यमते संयोगनाशो न विभागान्यः; गौरवात्, नाप्यधिकरण-

चरमवृत्तिध्वंसस्याधिकरणरूपतैव । ननु—इयं प्रक्रिया किमन्यत्र, इहैव वा । नाद्यः बिम्बप्रतिबिम्बैक्या-
ज्ञाननिवृत्तिरपि ज्ञाततदैक्यरूपेति तदैक्यधीकाले सोपाधिकतद्भेदभ्रमोपादानाज्ञानानुवृत्त्ययोगात् ।
नान्त्यः; नियामकाभावात् । नचेह निवृत्तेर्ज्ञाताधिष्ठानातिरेके विश्वमिथ्यात्वश्रुतिपर्यालोचनया
निवृत्तेरपि निवृत्त्यापत्तिर्नियामिका; तस्या ज्ञानाद्विश्वनिवृत्तिपरत्वेन स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्या-
त्वपरत्वादिति—चेन्न, न तावदाद्ये दोषः, सोपाधिकभ्रमे उपाधिविरहकालीनस्यैव तस्य तथात्वात् ।
नापि द्वितीयः; नेति नेतीतिश्रुतेः स्वारस्येनात्मातिरिक्तसर्वनिवृत्तावेव तात्पर्यात् । नच वृत्त्युपलक्षित
आत्मा जीवन्मुक्तावप्यस्तीति तदापि मोक्षापत्तिः; मुक्तिमात्रापादनस्येष्टत्वात् परममुक्तेश्चरमसाक्षा-
त्कारोपलक्षितात्मस्वरूपत्वेन तदापादकाभावात् । नच चरमसाक्षात्कारनिवृत्तेरात्मत्वेऽसाध्यत्वापत्तिः;
अविद्यानिवृत्तेरसाध्यत्वेऽप्रवृत्त्यापत्तिवत् अत्र तदभावात् । नच—जीवन्मुक्तिप्रयोजकवृत्त्यपेक्षया
परममुक्तिप्रयोजकवृत्तौ आनन्दाभिव्यक्तिगतविशेषाभावे चरमक्षणेन चरमश्वासेन वा उपलक्षित
आत्मा मुक्तिरिति किं न स्यादिति—वाच्यम्; प्रारब्धकर्मप्रयुक्तविशेषाविशेषाभ्यामभिव्यक्तिविशेष-
स्याङ्गीकारात् । एतेन—वेदान्तश्रवणादिसाध्यः पुमर्थो वाच्यः, नच स त्वन्मते वक्तुं शक्यः; मुख्य-
नुस्यूतसुखज्ञप्तिरूपस्यात्मनः पुरुषार्थत्वेनाऽप्यसाध्यत्वात्, वृत्तेः साध्यत्वेऽपि स्वतोऽपुमर्थत्वात् ।
तस्मादात्मव्यतिरिक्त एव वृत्तिसाध्य आवरणनिवृत्तिरूपः आनन्दप्रकाशः पुमर्थो वाच्यः । तथाच
कथमात्मैव निवृत्तिरिति—अपास्तम्; प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलस्यानन्दप्रकाशस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेऽपि
तत्तिरोधायकाज्ञाननिवर्तकवृत्तेः साध्यत्वमात्रेण साध्यत्वोपपत्तेः, कण्ठगतचामीकरादौ तथा दर्श-
नात् । तस्मादज्ञानहानिरात्मस्वरूपं तदाकारा वृत्तिर्वेति सिद्धम् । ये तु पञ्चमप्रकारादिपक्षाः, ते तु
मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति न तत्समर्थनमर्थयामः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम् ॥

अथ अविद्यानिवर्तकनिरूपणम् ।

अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरूपज्ञानमात्रम्; तस्य तत्साधकत्वात्; तथापि श्रव-
णादिसाध्यापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेव । अत एवैतदपास्तम्—किं स्वप्रकाशचिदविद्यानिवर्तिका,
तदाकारा अपरोक्षवृत्तिर्वा, नाद्यः, तस्या इदानीमपि सत्त्वात्, न द्वितीयः, असत्यात्सत्यसिद्धेरयोगात्
अज्ञाने न जानामीति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधस्यानुभवेनाज्ञप्तिरूपवृत्तिविरोधस्यासंभवात्, चिता प्रकाश-
मानसुखादावज्ञानादर्शनाच्च । किंच इच्छानिवर्त्यद्वेषवज्जातिनिबन्धनवृत्तिनिवर्त्यस्याज्ञानस्याविशेषेण

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्वरूपः; तदुद्देशेन क्रियायाः प्रवृत्त्या तस्य क्रियासाध्यत्वावश्यकत्वात्, विभक्ताकारप्रतीतेरधिकरणातिरिक्तविभाग-
विषयकत्वाच्च, किंतु विभागस्वरूपः, स च यद्युत्तरसंयोगनाशः, तदाप्यतिरिक्तस्य विभागनाशस्य स्वीकारे गौरवम् ।
अथोत्तरसंयोग एव तन्नाशः, तथापि यादृशविभागावच्छेदकावच्छेदेन पुनर्नोत्तरसंयोगः, तादृशविभाग एव स्वावच्छे-
दकावच्छिन्नसंयोगनाशः । तस्य च जन्यभावत्वेन महाप्रलयावृत्तित्वात् तन्नाशः स्वाश्रयपरमाणादिस्वरूपः । तथाच
तद्वत् यादृशवृत्त्युत्तरं न कार्यान्तरोत्पत्तिः, तन्नाशोऽधिकरणस्वरूपः । ध्वंसस्य पूर्ववृत्तिदृश्यध्वंसस्य । विरोधिकार्य-
रूपत्वेऽपीति पूर्वोक्तान्वयः । विश्वमिथ्यात्वेति । आत्मान्यमात्रस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेत्यर्थः । कालीनस्यैवेति । अनु-
भवाविरोधेनेति शेषः । नेति नेतीति वीप्सया द्वैतमात्रमिथ्यात्वं बोधितमिति भावः । प्राप्तप्राप्तीति । आनन्द-
प्रकाशस्य फलत्वं न जन्यत्वम्, किंतु व्यङ्ग्यत्वम् । तच्च जन्यस्यावरणनाशस्याश्रयत्वम् । तत्र नाशो यद्युक्तात्मस्वरूपः,
तदोपलक्षणस्य जन्यत्वाज्जन्यत्वम् । अथ वृत्तिरेव, तदा सा जन्यैवेति भावः । मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति ।
आत्मान्यत्वे दृश्यत्वस्यावश्यकत्वेन इन्द्रियसंबन्धानुपपत्त्यादियुक्तिभिर्मिथ्यात्वावश्यकत्वेन न पञ्चमप्रकारत्वम् । सत्य-
ध्वंसरूपत्वे अद्वैतश्रुतिविरोधः । नहि तस्याः भावाद्वैतं मुख्यार्थः । मिथ्याभूतात्मान्याविनाशिध्वंसरूपत्वेऽप्यतोऽन्य-
दातैमित्यादिश्रुतिविरोधः । विनाशिध्वंसानां धारात्वे तु गौरवं, व्यर्थता च; अन्त्यमनोवृत्तेः मुक्तिवत्संभवात् ।
तर्कैरित्यादि—अविद्यानाशरूपणम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायामविद्यानिवृत्तिनिरूपणम् ॥

एतत्पदार्थमाह—सत्त्वापत्तिरित्यन्तेन किमित्यादिना । सत्यसिद्धेः सत्याभिव्यक्तेः । वृत्तेर्वेति । प्रमात्वेन

सत्त्वापत्तिः इति; वृत्त्युपाख्यचितो वा चित्प्रतिबिम्बधारिण्या वृत्तेर्वा निवर्तकत्वात् । नचासत्यायाः सत्योत्पादकत्वविरोधः; अभावस्य भावजनकत्ववदस्य संभवात्, प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकसुखजनकत्वदर्शनाच्च । नापि न जानामीति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधित्वानुभवविरोधः; चिदसंसृष्टवृत्तेर्विरोधित्वस्यानङ्गीकारात् । यत्तूक्तं द्वेषवत् सत्यत्वमिति तन्न; अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वनिवन्धननिवर्तकत्वस्य शुक्त्यादिज्ञानवदत्रापि संभवेन तन्निवर्त्यरूप्यवत् सत्यत्वानापत्तेः । यत्तूक्तं—चरमवृत्तेर्घटादिवृत्त्या चिद्विषयत्वे अविशेषः—इति, तन्न; अवच्छिन्नज्ञानवच्छिन्नविषयतया विशेषात् । यत्तु—स्वनिवर्तकत्वे स्थितिविरोधः स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम्—इति, तन्न; अन्यत्रादृष्टस्यापि प्रमाणवलादत्रैव कल्पनात् । तथाहि—‘मायां तु प्रकृतिं विद्या’दित्यवगतमायोपादानकत्वस्याप्यात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य ‘तरति शोकमात्मवित् सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्ये’त्यादिना तन्निवर्तकत्वस्य च प्रमितत्वात् । वृत्तिप्रतिबिम्बितचितो निवर्तकत्वे तु नोक्तवचसः शङ्कापि । तदुक्तं—‘तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् । सूर्यकान्तमुपारुह्य तद्व्यायं विनियोजयेत् ॥’ नच—अपरोक्षवृत्तौ सत्यां चिदप्रतिबिम्बनिवन्धननिवृत्तिविलम्बादर्शनात् न विशिष्टे निवर्तकतेति—वाच्यम्; शुद्धजडस्य शुद्धचितश्च जडतया तद्भासकतया चाज्ञानानिवर्तकतया विशिष्टे निवर्तकताया आवश्यकत्वात् । यत्तु—निवर्तकं ज्ञानमपि न शुद्धविषयकम्; तस्यादृश्यत्वात् नापि विशिष्टविषयकम्; तस्याध्यस्तत्वेन भ्रमत्वापत्तेः इति, तन्न; उपहितस्य विषयत्वेऽपि उपाधेरविषयत्वेनाभ्रमत्वात् । यत्तु—अन्यस्य ज्ञानस्य किं निवर्तकम्? स्वयमन्यद्वा; नाद्यः, अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्तेः, दग्धदारुदहनस्यापि ईश्वरेच्छादिनैव नाशात् । कतकरजस्तु न पङ्कं नाशयति । नापि स्वम्; विश्लेषमात्रदर्शनात्; नान्यः; शुद्धात्मनः किञ्चिदपि प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्यस्य च निवर्त्यत्वात्—इति, तन्न; तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाविद्यानाशस्यैव तन्नाशकत्वात् । नच—अविद्यानाशे तदुपलक्षितात्मा वा वृत्तिर्वा, पूर्वत्र शुद्धस्याहेतुत्वम्, द्वितीये प्रतियोगिमात्रस्यैव नाशकतापर्यवसानमिति—वाच्यम्; उभयथाप्यदोषात्,

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निवर्तकता । तच्चोक्तचिति उक्तवृत्तौ वा । अभावस्येत्यादि । विजातीयस्य विषमसत्ताकस्य वा जनकत्वमिव व्यञ्जकत्वमव्याहतमिति भावः । यत्तु—सत्यं प्रत्यक्षस्य न जनकता—इति, तन्मौढ्यात् । नहि सत्यं प्रति जनकं ब्रूमः । किंतु व्यञ्जकम् । नच तदप्यदृष्टम्; अज्ञाननाशरूपाभिव्यक्तिमात्रस्य शुक्त्याद्युपहितचिद्रूपे सत्य एव जायमानस्य शुक्त्यादिसाक्षात्काररूपासत्येनैवोत्पत्तेः । चिदसंसृष्टेति । तथाच चिद्वदितस्य विरोधित्वात् ज्ञानविरोधित्वानुभवो नायुक्तः । यत्तूक्तमित्यादि । घटादिवृत्तिचरमवृत्त्योश्चिद्विषयकत्वाविशेषात् चरमवृत्तेरेवाविद्यानिवर्तकत्वमयुक्तमिति भावः । अवच्छिन्नेत्यादि । अज्ञानतत्प्रयुक्ताकाराव्यावृत्ताकाराधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, अन्यथेदन्त्वादिना रजतात्मकत्वादिना वा शुक्तिज्ञानाद्रजतोपादानाज्ञाननिवृत्त्यापातात् । घटाद्यवच्छिन्नचिदाकारकज्ञानं तु न तथेति न ततोऽज्ञाननिवृत्तिरिति । यथाचाज्ञोऽस्मीत्यादिज्ञानस्य नाज्ञाननिवर्तकता, तथा विवेचितं मिथ्यात्वानुमाने । अवगतमायोपादानकत्वस्य अवगतं मायोपादानकत्वं यत्र तादृशस्य । निरुपपदप्रकृतिपदात् कार्यमात्रोपादानत्वं बुद्धमिति भावः । अदृष्टस्यापीत्यनेन दृष्टत्वं सूचितम् । तथाचाज्ञानस्य स्वनिवर्तकशुक्त्यादिप्रमाप्रागभावत्वस्वीकारात् प्रमामात्रस्य स्वप्रागभावनिवर्तकत्वं दृष्टमेव । आत्मप्रमाप्रागभावस्य च कार्यमात्रोपादानत्वादात्मप्रमायामप्युपादानत्वम्; अन्यथा तदन्यस्य जगदुपादानस्य कल्पने गौरवात् । दृष्टं च दध्यादेः दुग्धादिरूपपरिणामिनाशकत्वम् । लाघवतर्कसहकृतश्रुत्यादिमूलककल्पनानामदृष्टचरविषयकत्वेऽपि न क्षतिरिव भावः । भ्रमत्वमात्रमापाद्यते, अज्ञाननिवर्तकताविरोधिभ्रमत्वं वा । तत्र स्वोपहितविषयकाज्ञानं प्रति स्वोपहितविज्ञानस्यैव निवर्तकत्वेनोपहितविषयकत्वरूपभ्रमत्वमिष्टमित्याशयेनाद्यमङ्गीकुर्वन्नित्यं निरस्यति—तन्नोपहितेति । अभ्रमत्वात् उक्तविरोधिभ्रमत्वाभावात् । उपाध्यविषयकत्वे सति उपहितविषयकत्वेन निवर्तकत्वादुपाधिविषयकत्वमुक्तविरोधि, तच्च नास्त्येवेति भावः । एतेन—उपहितस्य शुद्धान्यत्वेन तद्विषयकत्वे भ्रमत्वमिति—अपास्तम्; अथवा वृत्त्युपहितचिदन्यत् यत् बाधितं, तद्विषयकत्वमेव भ्रमत्वम् । वृत्त्युपहितचिद्विषयकत्वमेव तात्त्विकप्रमात्वम्; अन्यथा शुद्धस्याविषयत्वमते तात्त्विकप्रमादौर्लभ्यापत्तेः । यद्वा—उपहितस्य विषयत्वं नाम उपाधिकात्मीनमेव शुद्धस्य विषयत्वं, नतु शुद्धं न विषय इति विवक्षितम् । दृश्यत्वं तु शुद्धव्यावृत्तमेव मिथ्यात्वे हेतुः । विवेचितमिदं मिथ्यात्वानुमाने । दग्धदारुदहनस्य दग्धं दारु येन तस्य

वृत्तिमादायैव ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात् । प्रतियोगिनः प्रतियोगित्वेन नाशकतायामित-
रानपेक्षत्वे हि क्षणिकत्वं, रूपान्तरावच्छेदेन यत् कारणं तस्यापेक्षणे न तदिति उपादाननाशत्वाव-
च्छिन्नस्य स्वस्यैव क्षणिकत्वानापादकं नाशकत्वं स्यात् । द्वितीयकारणनिरपेक्षप्रतियोगिनः प्रतियोगि-
त्वोपादाननाशत्वरूपद्वयावच्छिन्नस्य नाशकत्वोपपत्तेः । वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तेर्वृत्तिरूपतया न

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

दहनस्य । इच्छादिनेत्यादिनावयवसंयोगनाशादिसंग्रहः । निर्वर्त्यत्वात् अन्यज्ञाननिर्वर्त्यत्वात् । वृत्तिमादायेति ।
वृत्त्युपहितात्मत्वेनात्मनो नाशकत्वम् । वृत्त्युपलक्षितात्मनोऽविद्यानाशस्वरूपत्वेऽपि कारणतावच्छेदकीभूतवृत्तेः
कार्याव्यवहितप्राक्कालवृत्तिव्यवश्यकत्वेन वृत्त्युपहितस्यैव नाशकत्वं पर्यवस्यति । तथाचात्मज्ञानस्य क्षणिकत्वमिष्टम् ।
अथवा—वृत्तिद्वितीयक्षणावच्छेदेनैवात्मन्यविद्यानाशत्वस्वीकारान्न तदिति भावः । द्वितीये दोषाभावं प्रकटयति—
प्रतियोगिन इति । रूपान्तरावच्छेदेन यत्कारणं प्रतियोगित्वान्यरूपावच्छिन्नकारणतावत् । निरपेक्षप्रतियो-
गिनः निरपेक्षस्यापि प्रतियोगिनः । उपपत्तेरिति । अन्यज्ञानस्य वक्ष्यमाणाविद्यालेशरूपस्वोपादाननाशहेतुत्वादन्त्य-
क्षणावच्छिन्नस्यैव तादृशस्वोपादाननाशकताया वाच्यत्वात् तादृशावच्छिन्नरूपेण स्वस्यापि स्वजन्यत्वसंभवात् तादृशो-
पादाननाशत्वावच्छिन्नस्यान्यज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षण एव संभवादन्त्याज्ञानस्य न क्षणिकतेति भावः । अथवा—अन्य-
ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिलक्षणावच्छेदेनाप्यविद्यालेशरूपस्वोपादाननाशत्वमास्ताम् । तथापि प्रकृते उक्तलेशस्यैव मनसोऽप्यु-
पादानत्वादन्त्यज्ञाननाशे मनोनाशस्यापि हेतुत्वान्मनोनाशे चान्यज्ञानरूपस्योक्तलेशनाशस्य हेतुत्वादन्त्यज्ञानोत्पत्ति-
तृतीयक्षण एव तन्नाश इति भावः । अथोक्तोपादाननाशत्वविशिष्टेन जायमानोऽन्यज्ञाननाशः किंस्वरूप इति चेत्,
मिथ्याभूतात्मातिरिक्ताविनाशिस्वरूप एव; सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तेर्विनाशित्वे विनाशधाराकल्पने गौरवात्, माना-
भावाच्च । लाघवमनुसृत्याह—वस्तुत इत्यादि । स्वेतरसर्वद्वैतविरोधिनी वृत्तिरन्या । तदुत्तरं न किञ्चिज्जायते ।
तस्याश्चाग्रकालस्यैवाभावेन सुतरां न तत्र तदनुवृत्त्यापादनम् । नच—तस्याः नाशानुत्पादे सा क गतेत्यादिप्रभावकाशः;
नाशोत्पादेऽपि तत्संभवात् । विवेचितं चेदं पूर्वम् । तथाच तस्याः नाशोऽग्रे न जायते; अग्रकालस्यैवालीकत्वात् ।
नच—एवमात्मैव तन्नाश इत्यङ्गीकारो व्यर्थ इति—वाच्यम्; अन्यवृत्तिः क्षणमात्रं स्थित्वा नश्यतीति संसारदशाया-
मात्मनि नाशत्वकल्पनया तथाङ्गीकारात् । प्रारब्धभोगकालीनवृत्तेस्त्वविद्यादिमात्रविरोधित्वं, नतु सर्वद्वैतविरोधित्व-
मित्यप्यनुभवबलात् कल्प्यते । इदमेव च प्रारब्धभोगस्य देहादिपातप्रतिबन्धकत्वमित्यादिशब्दैर्व्यवहियते । नतु
देहादिनाशे कर्म प्रतिबन्धकं कल्प्यते । नच—एवं चरमवृत्तिरूपो देहादिनाशः पूर्वमपि जायतामित्यापत्तिरिति—
वाच्यम्; चरमवृत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणस्य चरमवृत्तिहेतुत्वात् । अत्रेदं बोध्यम्—चरमवृत्तेः सर्वद्वैतविरोधित्वं न सर्व-
द्वैतनाशजनकत्वम्; तज्जन्यनाशानभ्युपगमात्, अन्यथोक्तनाशस्यापि नाशत्वे नाशान्तराणामपि स्वीकार्यत्वेनानवस्था-
पत्तेः अनाशत्वे सत्यत्वापत्तेः, अद्वैतश्रुतिविरोधापत्तेः । नापि द्वैताधिकरणकालपूर्वत्वानधिकरणक्षणवृत्तित्वम्; तस्या-
स्तद्वत्त्वे नियामकाभावेन मानाभावात् । एवंच तत्त्वज्ञानस्य वैयर्थ्यापत्तिः । एतावत्कालमनुवृत्तद्वैतं तत्त्वविज्ञानोत्तरं क
गतमिति पर्यनुयोगश्च स्यात्, अत्रोच्यते—एवंसति कपालादिदेशावच्छेदेन दण्डादिकारणकूटवान् यः क्षणः तद-
व्यवहितोत्तरक्षणस्य घटादिकार्यवत्त्वेऽपि नियामकाभावात् दण्डादेर्घटादिहेतुत्वस्वीकारो व्यर्थः स्यात् । एतावत्कालम-
सतो घटादेः कथमुत्तरक्षणे सत्त्वमिति पर्यनुयोगश्च । अथ स न व्यर्थः, उत्तरक्षणे घटादिसत्त्वव्याप्यत्वस्य ग्रामाणिक-
त्वात्तस्यैव तद्व्याप्यतारूपतन्नियामकतावत्त्वात् पूर्वमसतोऽपि घटादेरुक्तक्षणे सत्त्वसंभव इति नोक्तपर्यनुयोग इति ब्रूषे
तर्हि या यद्विषयकप्रमा सा स्वसमानविषयकाज्ञानतत्प्रयुक्ताधिकरणकालपूर्वत्वानधिकरणक्षणवृत्तिरिति व्याप्तेः शुक्त्या-
दिप्रमास्थले दृष्टत्वादात्मप्रमापि तथेति प्रमात्वस्यैवोक्तव्याप्यतारूपनियामकतावत्त्वात् तत्त्वज्ञानस्योक्तविरोधित्वसिद्ध्या
नोक्तपर्यनुयोगः । अथ—एवमपि सुसुक्ष्मप्रवृत्त्यनुपपत्तिः; फलाभावात् । तथाहि—न तावन्मुक्तिः फलम्; तस्या
नित्यात्मरूपत्वात्, नापि वेदान्तवाक्यजवृत्तिज्ञानम्; तस्यासुखरूपत्वेन स्वतःपुरुषार्थत्वाभावात्, नापि वृत्तिविषय-
त्वोपहित आत्मा; तस्य लोके पुरुषार्थत्वेनाकृष्टत्वात्, वृत्तेरस्थिरत्वेन तद्विषयत्वोपहितात्मनोऽप्यस्थिरत्वादिति—
चेन्न; स्वाज्ञानविरोध्युपहितस्यात्मरूपस्य सुखस्यैव फलत्वात् । लोकेऽपि हि सुखमात्मैव; चन्दनादियोगजमनोवृत्तेस्तत्र
व्यञ्जकमात्रत्वात्, 'मा न भूवं भूयास'मित्याकारिकाया अन्येच्छानधीनेच्छाया 'एष परमानन्द' इत्यादिश्रुतेश्चान्यथा-
नुपपत्तेश्च । स्वाज्ञानविरोधित्वं च स्वाज्ञानाधिकरणकालपूर्वत्वशून्यक्षणवृत्तित्वम् । एतावांस्तु विशेषः—यच्चन्दना-
दियोगजमनोवृत्तेर्येकिञ्चिदज्ञानविरोधित्वम्; तन्नाशोत्तरमज्ञानान्तरेणात्मसुखस्यावरणात् । वेदान्तजन्यवृत्तेस्त्वज्ञान-
सामान्यविरोधित्वम्; तन्नाशोत्तरमज्ञानान्तरेणानावरणात्, स्वाव्यवहितपूर्वक्षणे सुखावारकयत्किञ्चिदज्ञानविरोधित्वं
तु द्वयोरपि तुल्यम् । नच—एकद्वैकमेवाज्ञानमावृणोतीति सिद्धान्तात् स्वाव्यवहितपूर्वक्षणे सुखावारकाज्ञानसामा-

निवर्तकखण्डनावकाशः, वृत्तिनिवृत्तेरात्मरूपतया न तज्जनकखण्डनावकाशोऽपीति सर्वमवदातम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवर्तकनिरूपणम् ॥

अथ मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वम् ।

ननु त्वन्मते मुक्तौ न दुःखोच्छेदमात्रम् किंतु निरतिशयानन्दस्फुरणमपि । तदुक्तं 'तस्मादविद्या-स्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः । निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थः परो मतः ॥' इति । तत्र न सुखात्मता तावत्पुरुषार्थः; सुखी स्यामितिवत् सुखं स्यामितीच्छाया अदर्शनात्, पुमर्थताया इच्छानियम्यत्वात् । अन्यथा बौद्धमतसिद्धात्मनाशादिरपि पुमर्थः स्यात् । अतएव नापरकीयं सुखं पुमर्थः; तथेच्छाविरहात्, गौरवाच्च सुखसाधने परकीयेऽपि स्वकीये पुमर्थत्वस्यापरकीयेऽप्यस्वकीये अपुमर्थत्वस्य च दर्शनेन इष्टत्वाविशेषात्, सुखेऽपि तत्कल्पनाच्च दुःखतत्साधनयोः स्वकीयतयैवापुमर्थत्वस्य दर्शनेन सुखादेरपि तथैव पुरुषार्थत्वाच्चेति—चेन्न; सुखादौ हि पुमर्थता नापरकीयत्वप्रयुक्ता । नापि स्वकीयत्वप्रयुक्ता; गौरवात् किंतु साक्षात्क्रियमाणतया; संबन्धस्य चानित्यत्वसाधनपारतन्त्र्यादेरिवावर्जनीयसन्निधिकत्वात् । नच—ईश्वरस्याप्यस्मदादिसुखं पुमर्थः स्यादिति—वाच्यम्; हेयतया अज्ञातत्वे सतीत्यस्यापि तत्र प्रयोजकत्वादीश्वरादिना चात्मादिसुखस्य हेयत्वे-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

न्यविरोधित्वमपि द्वयोस्तुल्यमिति यत्किञ्चित्पदं व्यर्थमिति—वाच्यम्; चन्दनादियोगजवृत्तेः पूर्णानन्दावारकमूला-ज्ञानाविरोधित्वात्, पल्लवाज्ञानं साक्ष्यानन्दावारकं प्रत्येव तस्याः विरोधित्वात् । नच—वृत्तेरेव सुखत्वसंभवेन नात्मा सुखरूप इति—वाच्यम्; सुषुप्तौ निष्कामत्वकाले जागरे च भासमानसुखस्य वृत्तिवासंभवात् तदानन्तवृत्तिकल्पने गौरवात् । एकरूपेऽपि साक्ष्यानन्देऽनुभूयमाने तारतम्यस्य व्यञ्जकवृत्तितारतम्यगतत्वात् नानुपपत्तिः । तथाच यत्किञ्चिदज्ञानविरोध्युपहितात्मनः स्वतः पुरुषार्थत्वमात्रसत्त्वेऽप्यज्ञानसामान्यविरोध्युपहितात्मनः परमपुरुषार्थत्वादस्थिरत्वमकिञ्चित्करम् । तदुत्तरं सुखानावरणादिति सूक्ष्मधीवेद्यमेतत् । तर्कैरित्यादि—अविद्यानाशकस्थितिः ॥ इति लघुचन्द्रिकायामविद्यानिवर्तकनिरूपणम् ॥

सुखात्मता स्वाभिन्नसुखत्वम् । पुरुषार्थः पुमर्थलक्षणघटकम् । पुमर्थतायाः येन रूपेण यस्य धीविषयत्वं, तेन रूपेण तस्य पुंस इच्छाविषयत्वव्याप्यं, तद्रूपवत्त्वं, तेन रूपेण तस्य पुंसः पुमर्थतेति पुमर्थलक्षणस्येच्छानियम्यत्वात् इच्छाविषयतावच्छेदकरूपघटितत्वात् स्वकीयसुखत्वमिष्टसाधनत्वादिकं च तादृशरूपमिति भावः । नापरकीयं सुखं पुमर्थः । अपरकीयत्वं पुमर्थतामात्रे न घटकम्; तथेच्छाविरहात्, अपरकीयसुखत्वेन नियमनेच्छाविरहात् । तथा नियतेच्छावादिनं प्रत्याह—गौरवादिति । साधने साधनत्वेन ज्ञाते । परकीये परकीयत्वेन ज्ञाते । स्वकीये स्वकीयत्वेन ज्ञाते । पुमर्थत्वस्य पुमर्थत्वव्यवहारस्य । अस्वकीये स्वकीयान्यत्वेन ज्ञाते । अपुमर्थत्वस्य पुमर्थान्यत्वव्यवहारस्य । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथैव स्वकीयताघटितस्यैव । पुमर्थत्वात् पुमर्थतामात्ररूपत्वात् । पुमर्थता पुमर्थतामात्रम् । प्रयुक्ता घटिता । साक्षात्क्रियमाणतया अनावृत्ततया । घटितेति शेषः । संबन्धस्य स्वकीयत्वादेः । अवर्जनीयसन्निधिकत्वात् दैवाधीनसामग्र्यधीनेच्छाविषयत्ववत्त्वात् अनित्यसुखत्वादिरूपेणाज्ञानस्य कदाचित्संपर्यातेन रूपेणैव स्वकीयसुखत्वेनापि कदाचित् ज्ञानात्तेन रूपेणेच्छा । नचैतावता सैव पुमर्थतामात्रघटिका; अनित्यसुखत्वादेरपि तत्त्वापत्तेः । अथ—केवलसुखत्वेन ज्ञातेऽपि मदीयसुखत्वेनैवेच्छा, इच्छासामान्यसामग्र्या एव मदीयत्वविषयतानियामकत्वादिति—चेन्न; उक्तनियामकत्वे मानाभावात्, अनावृत्तं भवतु इत्येवाकारस्येच्छामात्रव्यापकत्वेन मदीयत्वविषयतायास्तदनङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा मां प्रत्यनावृत्तत्वमेव मदीयत्वमित्यविरोधात् । नहि तदन्यत् सुखतत्साधनादिसाधारणं मदीयत्वमेकजातीयमस्ति, यदिच्छाव्यापकविषयताकं स्यात् । मत्संबन्धमात्रं तु परकीयमेवेदमिति ज्ञातेऽपि मत्समवेतत्वं मत्स्वत्वं चेत्यन्यतरवत्त्वं तु पापिष्ठकास्ये परदारादौ नास्त्येव । मङ्गोगयोग्यत्वं तु मां प्रत्यनावृत्तत्वमेव । नच—तदपि दूरस्थशत्रुमरणादौ नेति—वाच्यम्; तन्निश्चयस्यैव सुखविशेषसाधनत्वेन पुरुषार्थस्य स्वं प्रत्यनावृत्तत्वात्, शत्रुमरणादिमात्रस्यापुरुषार्थत्वेऽपि क्षत्यभावात् । नहि यद्यदिष्टं यस्य तस्य तत् पुरुषार्थः; हेयस्य क्रीडादेरिष्टत्वेऽपि पुरुषार्थत्वेनाव्यवहारादिति भावः । ईश्वरस्येत्यादि । ईश्वरेच्छायाः कार्यमात्रविषयकत्वेनास्मदादिसुखविषयकत्वमिति भावः । हेयतयेति । बालानां पुमर्थत्वेन व्यवहियमाणे प्रातर्भोजनादौ प्रौढानामिच्छा-

नैव ज्ञानात् स्वरूपसुखे चेष्टापत्तेः । नच गौरवम्; स्वसंबन्धित्वेन पुमर्थतावादिनोऽपि निलीनसुखे पुरुषार्थतानिवृत्त्यर्थं तथावश्यं वर्णनीयत्वात् । यत्तु—साक्षात्कारेऽपि स्वकीयतया पुरुषार्थतापक्षे मुक्तस्य सुखसाक्षात्काररूपतया तं प्रत्यपि तस्यापुरुषार्थतापत्तिः, स्वेतरासंबन्धित्वेन स्वस्य पुरुषार्थत्वे मुक्तस्वरूपेण सुखेन संसारीतरासंबन्धेन संसारिणः पुरुषार्थप्रसङ्गः—इति, तन्न; साक्षात्क्रियमाणत्वेनैव हि पुमर्थता मुक्तसुखसाक्षात्कारस्य तं प्रति पुमर्थत्वेऽपि न संसारिणस्तथा; तं प्रत्यभासमानत्वात् भाने वाऽसंसारित्वेनेष्टापत्तिः । यत्तु—प्रत्यक्षप्रकाशमानत्वेन सुखं पुमर्थः—इति, तदप्येतेन व्याख्यातम्; प्रत्यक्षप्रकाशमानत्वेन साक्षात्क्रियमाणताया एवोक्तेः । यत्तु—सुखत्वेन प्रकाशमानं सुखं पुमर्थः । नच तत्परमते मोक्षेऽस्ति—इति, तन्न; साक्षात्क्रियमाणत्वेनैवातिप्रसङ्गनिरासे अधिकोक्तगौरवकरत्वात् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वम् ॥

अथ चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः ।

ननु—कस्यायं मोक्षः पुमर्थः ? किमहमर्थस्य; आहोस्विच्चिन्मात्रस्य । नाद्यः; त्वन्मतेऽहमर्थस्य मुक्त्यन्वयात्, नान्त्यः; 'अहं मुक्तः स्या'मिति वच्चिन्मात्रं मुक्तं स्यादिति च्छाया अननुभवादिति—चेन्न; अहमर्थगतं चिदंशं मुक्तिकालान्वयिनं प्रति पुमर्थस्य मोक्षे संभव इत्युक्तप्रायत्वात् । नच—सुखस्य दुःखाभावमात्रत्वे वैशेषिकमोक्षवदपुमर्थता, अतिरेके सद्वितीयत्वमिति—वाच्यम्; दुःखाभावातिरेकेऽप्यात्मानतिरेकात् । नच—आत्मनः सुखमात्रत्वे सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थत्वम् उभयात्मकत्वे चाखण्डार्थत्वहानिरिति—वाच्यम्; सुखप्रकाशयोरेकात्मरूपतया उभयत्वस्यैवाभावात् । नचार्थ-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

सत्त्वेऽपि तदव्यवहारात् यं प्रति यद्वयं तदन्यत्वेनापि पुमर्थलक्षणं विशेषणीयम् । तथाच लोकविगीतत्वात्तत्र प्रौढानामिव स्वं प्रत्यनावृतस्वरूपसुखापेक्षया क्षुद्रत्वादस्मदादिसुखे ईश्वरस्य हेयत्वात्तं प्रति तत् न पुमर्थः । वस्तुतः कार्यत्वेनाकाशत्वादिरूपतत्तदसाधारणरूपैर्वैश्वरेच्छा स्वीक्रियते, नतु साक्षात्क्रियमाणसुखत्वेन । नच—सर्वे रूपैः सर्वज्ञत्वमिव सर्वकामयितृत्वमपीति—वाच्यम्; अनादिपदार्थेषु सिद्धत्वेन कामनाविरहात्, सर्वकामादिश्रुत्या यावत्कार्यैर्वीशेच्छाप्रतिपादनेऽपि तद्वृत्तिसर्वरूपैस्तदप्रतिपादनात् । तथाचास्मदादिसुखे कथमीशं प्रति पुमर्थत्वापत्तिः ? अनावृतसुखत्वेनेश्वरधीविषयत्वस्य तेन रूपेण तदिच्छाविषयत्वाव्याप्यत्वात् । नच—केवलसुखत्वेन रूपेणास्मदादिसुखमीशं प्रति पुमर्थः स्यादिति—वाच्यम्; केवलसुखत्वादिना ज्ञानस्येच्छां प्रत्यहेतुत्वात्, ईश्वरेच्छां प्रति कालादृष्टविशेषादेहेतुत्वात् सर्वदा तदभावेनोक्तकालिकव्याप्त्यसंभवाच्च । गौरवमिति । सुखादीच्छां प्रति सुखत्वादिप्रकारकज्ञानत्वेनैव हेतुत्वसंभवेनानावृतसुखत्वादिप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वे गौरवम् । तथा येन रूपेण तदीयज्ञानविषयत्वं तदीयेच्छाव्याप्यं तत्त्वस्य सुखत्वमात्रे सत्त्वेनानावृतत्वं न सकलपुरुषार्थताघटकमिति भावः । निलीनसुखे सुखं ते भविष्यति तत्त्वां प्रत्यावृतमिति कस्यचित् प्रतारणयावृतत्वेन ज्ञाते । पुरुषार्थप्रसङ्गः पुरुषार्थत्वव्यवहारप्रसङ्गः इच्छाप्रसङ्गो वा । साक्षात्क्रियमाणत्वेन स्वं प्रत्यनावृतत्वेन । स्वयं ज्ञायमानेति शेषः । पुमर्थता पुमर्थताव्यवहारः, इच्छा वा । अभासमानत्वात् उक्तरूपेणाज्ञायमानत्वात् । भाने उक्तरूपेण ज्ञायमानत्वे । असंसारित्वेन त्वया यं प्रत्यापाद्यते तदन्यत्वेन । गौरवकरत्वादिति । वस्तुस्थितिरियमुक्ता । वस्तुतो यदा जीवन्मुक्तिकाले पुमर्थता, तदा सुखत्वेन स्वरूपसुखं प्रकाशत एव । नहि कैवल्यकाले पुमर्थतासंसर्गः स्वरूपसुखस्येति ब्रूमः; तदानीं तस्याव्यवहारेणानुपयोगात्, कैवल्यकालस्यैवालीकत्वाच्च । अथ—दृष्टतावच्छेदकसंसर्गस्य भोग्यविषयाव्यभिचारित्वमिति—चेन्न; येनेष्टतावच्छेदकेन विशिष्टे कामना, तस्यैव तथा । यथा सुमुखनासिकादिपुत्रकामनादिस्थले । येन तूपलक्षिते कामना, तस्य न तथा । यथा श्रीकृष्णविहारदेशवृन्दावनस्थितौ शत्रुस्वामिकगृहादौ वा । नहि वृन्दावनस्थितेः शत्रुगृहादेवां भोगकाले श्रीकृष्णविहारः शत्रुस्वत्वं वास्ति । तथाच कैवल्ये सुखत्वाद्यसंसर्गोऽपि न क्षतिः । अतएव यं प्रतीत्यादिलक्षणेऽपि न दोषः । जीवन्मुक्तिकाल एव स्वं प्रत्यनावृतत्वसंसर्गस्य स्वरूपसुखे सत्त्वात् ॥ तर्कैरित्यादि—मुक्तेः सुखपुमर्थता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वनिरूपणम् ॥

उक्तप्रायत्वादिति । यादृशविशेषणवता कामितं तादृशविशेषणवति जीवन्मुक्ते मुक्त्यन्वयोऽस्त्येव, परमते तु अद्वै. सि. ११२

भेदाभावे सुखप्रकाश इति सहप्रयोगायोगः; अविद्याकल्पितदुःखजडात्मकत्वरूपव्यावर्त्यभेदेन तदुपपत्तेः । यत्तु—दुःखाभावस्य सुखस्य च तत्त्वतो दुःखाद्भेदे अपसिद्धान्तः अभेदे त्वपुमर्थता—इति, तन्न; दुःखस्य कल्पितत्वेन तद्भेदस्य तत्समानयोगक्षेमतया तात्त्विकत्वाभावेनापसिद्धान्ताभावात् । यत्तु—स्वप्रकाशस्य सुखस्य स्वतः स्फुरणेऽपि दुःखाभावस्यास्फुरणादपुमर्थता—इति, तन्न; दुःखाभावस्यात्मानतिरेकेणात्माभिन्ने सुखे स्फुरति तस्यापि स्फुरणात् तत्त्वेनास्फुरणस्याप्रयोजकताया उक्तत्वात् । तस्मात्स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं पुमर्थः ॥ इति चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः ॥

अथ जीवन्मुक्त्युपपत्तिः ।

तच्च जीवन्मुक्तानां स्वानुभवसिद्धम् । जीवन्मुक्तश्च तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्तदेहादि-प्रतिभासः । नच तत्त्वज्ञानादविद्यानाशे सद्यःशरीरपातापत्तिः; निवृत्तसर्पभ्रमस्यापि संस्कारात् भयकम्पानुवृत्तिवत् दण्डसंयोगनाशेऽपि चक्रभ्रमणवच्च संस्कारानुवृत्तेरविद्यानिवृत्तावपि तत्कार्यानुवृत्तिसंभवात् । नच—क्रियाज्ञानयोरेव संस्कारः, नान्यस्येति—वाच्यम्; निःसारितपुष्पायां सम्पुटिकायां पुष्पवासनादर्शनात्, विमतो नाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यत्वे सति नाशत्वात्, ज्ञाननाशवत् इत्यनुमानाच्च, संस्कारः कार्योऽपि ध्वंस इव निरुपादानकः अविद्येव च शुद्धात्माश्रित इति नाविद्यासापेक्षः । नच—भावकार्यस्याध्यस्तस्य संस्कारदेहादितद्भेदतुप्रारब्धकर्मादेः स्थित्यर्थः तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापात इति—वाच्यम्; विनश्यदवस्थस्य समवायिकारणं विना स्थितिदर्शनात् । नच—क्षणमात्रस्थितावपि कथं बहुक्षणस्थितिरिति—वाच्यम्; सत्युपपादके क्षणगणकल्पनाया अप्रयोजकत्वात् । तत्र क्षणमात्रं स्थितिः; समवायस्याजनकत्वात्, अत्र तु प्रतिबन्धकाभावसहकृतहेतोस्तावत्कालमभावात् । अतएव—पूर्वज्ञानानिवृत्तस्याध्यस्तस्य तदनधिकविषयेण कथं निवृत्तिरिति—निरस्तम्; प्रतिबन्धकाभावसहकारासहकाराभ्यां विशेषात् । जीवन्मुक्तिदशायामानन्दस्फूर्त्यापादनमिष्टमेव; तत्त्वे ज्ञाते द्विचन्द्रादिवहोषाद्वाधितानुवृत्तिसंभवाच्च । नच तत्रेवात्र ज्ञानानिवर्त्यदोषाभावेन वैषम्यम्; यावत्प्रतिबन्धकसत्त्वं ज्ञानानिवर्त्यस्य दोषस्यात्रापि संभवात्, सर्वज्ञानानिवर्त्यस्य तस्य कुत्राप्यसंप्रतिपत्तेः । तदुक्तं—‘नहि जात्यैव कश्चिद्दोषोऽस्ती’ति । यद्वा—अविद्यालेशानुवृत्त्या देहाद्यनुवृत्तिः । ननु—लेशो नावयवः; अज्ञानस्य निरवयवत्वात्, अतएवाविद्या दग्धपटन्यायेन तावत्तिष्ठतीत्यपि निरस्तम्; निरवयवे एतन्न्यायासंभवादिति—चेन्न; आकारस्येव लेशशब्दार्थत्वात्, ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत’इत्यादिश्रुत्या अविद्याया अनेकाकारत्वावगमात् । आकारनिवृत्तावप्याकारस्यानुवृत्तिर्व्यक्तिनिवृत्तावपि जातेरिव । ननु—कोऽयमाकारो नाम जातिर्वा, शक्त्यादिरूपो धर्मो वा, सुवर्णकुण्डलादिवदवस्थविशेषो वा । नाद्यौ; तयोर्देहादिभ्रमोपादानत्वे अविद्यात्वापातात्, अनुपादानत्वे च उपादानान्तराभावेन देहादिभ्रमोत्पत्त्य-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

लोकान्तरप्राप्तेरेव मुक्तित्वेन कामयितृशरीराद्यविशेषित एव तदन्वय इति भावः । अप्रयोजकतायाः पुमर्थलक्षणाव्यक्तत्वस्य । जीवन्मुक्तौ सुखत्वादिना साक्षात्क्रियमाणत्वसत्त्वात् प्रयोजकत्वेऽपि न क्षतिरित्यपि बोध्यम् । तर्कैरित्यादि—चिन्मात्रे मोक्षभागिता ॥ इति लघुचन्द्रिकायां चिन्मात्रस्य मोक्षभागितोपपत्तिः ॥

अविद्यानाशकालेऽप्यविद्याप्रयुक्तकार्यसत्त्वे दृष्टान्तमाह—निवृत्तसर्पेति । कारणनाशेऽपि तत्प्रयुक्तकार्यसत्त्वे दृष्टान्तमाह—दण्डेति । ध्वंस इव पराभ्युपगतध्वंस इव । मन्मते तु संस्कारोऽपि ध्वंस एव; प्रलये वर्तमानस्य कार्यसूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारस्य ध्वंसत्वात् । तत्र समवायिनं विना स्थितिकाले । समसमयस्य कार्यनाशात् पूर्ववर्तिनः समवायिनाशस्य । वस्तुतः कार्यनाशात् पूर्ववर्तिनः समवायिनाशस्य कार्यनाशसमसमयत्वे सव्येतरविषाणवदजनकत्वं स्यादिति बोध्यम् । अजनकत्वात् कार्यनाशाजनकत्वात् । अत्र अविद्यानाशस्थले । प्रतिबन्धकाभावेति । भुज्यमानकर्माभावेत्यर्थः । हेतोः अविद्याद्युपादाननाशस्य । अभावादित्यस्यान्ते तावत्कालमिति स्थिति-

योगात् आत्मान्यत्वेन ज्ञाननिर्वर्त्यत्वेन चाविद्यातत्कार्यान्यतरत्वावश्यंभावेनाज्ञाने निवृत्ते स्थित्ययो-
गाच्च । अतएव न तृतीयः 'अवस्थावन्तं विना अवस्थायाः स्थित्ययोगादिति—चेन्न; अनेकशक्तिम-
दविद्यायाः प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वादिभ्रमहेतुशक्तेः प्रपञ्चे अर्थक्रियासमर्थत्वसम्पादकशक्तेश्च प्रार-
ब्धकर्मसमकालीनतत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तावपि अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनिकायाः शक्ते-
रनुवृत्तेः तद्वती अविद्यापि तिष्ठत्येवेति नोक्तदोषावकाशः । नचाविद्यायां कथं मुक्त इति व्यपदेशः ?
शक्तिनाशमात्रात् । अतएव समये सर्वशक्तिमदज्ञाननाशः तज्जातीयेनाप्रतिरुद्धेन प्रत्ययेन । तथाच
श्रुतिः—'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति । नच—भूय इत्यस्य
योजनादित्यनेनान्वयात् न लेशानुवृत्तावस्थाः श्रुतेर्मानतेति—वाच्यम्; विशेषणान्वयापेक्षया
विशेष्यान्वयस्याभ्यर्हितत्वात् तत्त्वभावादित्यनेन व्यवधानात् अन्त इति पदवैयर्थ्याच्च विपरीत-
योजनस्यासङ्गतेः । नच—लेशस्थितौ कर्मानुवृत्तिः तदनुवृत्तौ च ज्ञानप्रतिबन्धेन लेशस्थितिरित्य-
न्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; न तावत् ज्ञप्तौ 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरित्यादिश्रुतेरेव लेशानु-
वृत्तेरवगतत्वात्, नापि स्थितौ एककालीनत्वेन दोषाभावात्; यद्वा—अज्ञानस्य सूक्ष्मावस्थालेशः ।

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

रिति चानुषज्यते । तत्कार्येति । तत्प्रयुक्तेत्यर्थः । तेनानादिदृश्यसाधारण्यम् । समर्थत्वेति । प्रपञ्चे मिथ्यात्वेन निश्चिते
ब्रह्मायससाध्यकार्यविशेषमुद्दिश्य प्रवृत्त्यभावेन तादृशार्थक्रियोपधायकताप्रयोजकशक्त्यभाव इति भावः । तज्जातीयेन
प्रारब्धकर्मकालीनसाक्षात्कारजातीयेन । योजनादित्यनेनेति । तथाच योजनस्य श्रवणादिरूपस्यैव भूयस्त्वमर्थः ।
विशेष्यान्वयस्य निवृत्तिरूपविशेष्यान्वयस्य । योजनात् अभिध्यानात् तत्त्वभावशब्दितसाक्षात्कारात् उक्तशक्तिरूप-
विश्वमायानिवृत्तिः । अन्ते प्रारब्धभोगान्ते । अवशिष्टशक्तिमदज्ञानतत्प्रयुक्तदेहादिरूपविश्वमायानिवृत्तिर्भूयश्चेत्यर्थः ।
प्रथमान्वये विश्वपदसङ्कोचो न दोषः; भूयश्चेत्यादिवाक्यान्तरसत्त्वात् । ब्राह्मणेभ्यः सर्वं धनं दत्तं यज्ञे भूयः सर्वं धनं
दत्तमित्यादाविवेति बोध्यम् । अभ्यर्हितत्वादिति । 'गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात्स्यादि'ति जैमिन्युक्तेः
विशेषणान्वयस्वीकारेऽपि 'योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजत' इत्यादावदाभ्यमित्यस्य गृहीत्वैत्यत्रैव भूय इत्यस्य तत्त्वभा-
वादित्यत्रैवान्वयः नतु योजनादित्यत्र । तथाच साक्षात्काराद्विश्वमायानिवृत्तिः भूयः साक्षात्कारादवशिष्टसर्वमायानिवृत्ति-
रित्यर्थः । अन्त इतीति । चकारवैयर्थ्यमपि बोध्यम् । भूयोयोजनाद्यधीनसाक्षात्कारात् सर्वविश्वनिवृत्तिरित्यस्यैव श्रुत्य-
र्थत्वेऽन्तादिपदं व्यर्थमिति भावः । यत्तु—ध्यानादिन्द्रियवृत्तीनां परमात्मनि योजनात् ध्यानपरिपाकरूपेऽन्ते सति
तत्त्वसाक्षात्कारजन्यभगवत्प्रसादाद्विश्वमायानिवृत्तिरित्यर्थः—इति, तन्न; अभिशब्देनैव ध्याने परिपाकलाभात्
अन्तशब्दस्य तद्बोधकत्ववैयर्थ्यात् । उक्तप्रसादस्तु न शब्दार्थः; तत्त्वस्य भावः प्राप्तिरिति व्युत्पत्त्या तत्त्वभावशब्दस्य
साक्षात्कारार्थकत्वात्, अमानापादकाज्ञानेनाप्राप्तस्य प्राप्तेः साक्षात्काररूपत्वात् । अथ—तत्त्वे भावो भक्तिः । भाव-
शब्दस्य भक्तौ प्रसिद्धत्वादिति—चेत्; तथापि न भक्त्यधीनप्रसादलाभः । अथ तत्त्वे भावो यस्मा इति बहुव्रीहिणा
प्रसादलाभ इति—चेन्न; बहुव्रीहेस्तत्पुरुषापेक्षया जघन्यत्वात् । किंच 'यस्य देवे परा भक्तिरित्यादिना 'भक्त्या माम-
भिजानाति' इत्यादिना चोत्तमभक्तेर्ज्ञानहेतुत्वस्यैवोक्तेः बृहन्नारदीयादौ अधममध्यमभक्तावुक्त्वा 'विधिसिद्धौ भजेद्यस्तु
दासवच्चक्रपाणिनम् । भक्तानां प्रवरो ह्येष सर्वशास्त्रार्थकोविदः ॥' इत्यनेनोत्तमभक्तमुक्त्वा 'अहमेव परो विष्णुर्मत्तः
सर्वमिदं जगत् । इति यः सततं पश्येत्तं विद्यादुत्तमोत्तमम् ॥' इत्यनेनोत्तमोत्तमभक्तेस्तत्त्वसाक्षात्काररूपत्वोक्तेः, गीतायां
च 'आर्तो जिज्ञासु'रित्यादिना ज्ञानिनश्चतुर्थभक्त्योक्त्या तथोक्तेर्ज्ञानस्यैव भक्तिर्वेनाविरोधः । साक्षात्कारस्य प्रसादहेतुत्व-
कल्पनं तु मौढ्यादेव । नहि लोके तथा क्लृप्तम् । अविद्यानिवृत्तेः प्रसादजन्यतापि न लोके क्लृप्ता । निगलमोचनादेस्तत्त्वेन
क्लृप्तत्वेऽपि न तद्गृह्यन्तेन तस्यां सानुमातुं शक्या; पक्षदृष्टान्तयोरेकरूपेण साध्यदर्शनात्, तस्मात् 'तस्य तावदेवे'त्यादि-
श्रुत्येकवाक्यतयान्तपदं भोगान्तपरम् । चशब्दोऽवधारणार्थकः । अन्ते तत्त्वभावादेव विश्वमायानिवृत्तिः । न त्वन्यापेक्षा ।
अन्ते निवृत्तिर्भवत्येव । नतु मायावस्थितिरिति । अतएव 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते वि'ति सूत्रे ज्ञानाधीनात् सर्वकर्मा-
संबन्धात् ज्ञानिनो देहपाते मुक्तिः तुशब्देनावधारिता । तस्मात् सौत्रेण तुशब्देन समानार्थकः श्रौतशब्दः । पातशब्देन
समानार्थकः अन्तशब्दः नतु प्रसादार्थक इति प्रसादो नैव निश्चेतुं शक्यः । ज्ञानप्रतिबन्धेन साक्षात्कारकार्ये देहादिनाशे
प्रतिबन्धेन । एककालीनत्वेति । अन्योन्यस्थितेरन्योन्यनिष्ठत्वे अन्योन्याधीनत्वे वा दोषः । सच न प्रकृत इति भावः ।
'फले प्रवृत्तस्य यागादे'रित्यनेन यागादेः फलसाधनतानिर्वाहकत्वमपूर्वं उक्तम् । नतु फलसाधनतानिर्वाहकत्वव्यापारवि-
धया, सूक्ष्मावस्थारूपशक्तेश्च न व्यापारत्वम् । यागजन्यत्वस्य पश्चाद्विफलजनकत्वस्य च तत्र सत्त्वे मानाभावादित्यत आह—

यथा 'तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् । उत्पत्तावपि पश्चादेरपूर्वं न ततः पृथक् ॥' इति वार्तिकेन यागे गतेऽपि यागसूक्ष्मावस्थारूपमपूर्वं यागे साधनतानिर्वाहकमङ्गीक्रियते, तथा अज्ञाने गतेऽपि तत्सूक्ष्मावस्थारूपो लेशो देहादिप्रतीत्यनुकूलः स्वीक्रियते; स्वर्गजनकताग्राहकश्रुतेरिवात्रापि जीवन्मुक्तिश्रुतेस्तादृगर्थस्वीकारात् । तस्मादविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरुपपन्नतरा ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवन्मुक्त्युपपत्तिः ॥

अथ मुक्तौ तारतम्यभङ्गः ।

यत्तु—परमतेऽपरोक्षज्ञानिनोऽपि स्वयोग्यपरमानन्दहेतुपरमकाष्ठापन्नभक्त्यभावे तत्साध्यस्य मोचकस्य ईश्वरप्रसादस्याभावेन प्रारब्धकर्मणा संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तिः तद्भावे तु प्रसादस्यापि भावेन निःशेषदुःखनिवृत्तिविशिष्टस्वतोनीचोच्चभावापन्नस्वरूपानन्दाविर्भावरूपा मुक्तिः इति, तन्न; 'तावदेवास्य चिर'मित्यादिश्रुत्या अस्योत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य प्रारब्धकर्मक्षयमात्रमपेक्षणीयं कैवल्यसंपत्त्यर्थमिति प्रतिपादनेन ईश्वरप्रसादापेक्षाया वक्तुमशक्यत्वात् स्मृतिपुराणादीनां श्रुति-विरोधेन स्तुतिपरत्वात् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वा' मिति भक्तिजन्येश्वरप्रसादस्यापि तत्साक्षात्कारस्वरूप एवोपयोगस्य बोधितत्वेन स्मृत्यादीनामपि तदनुसारि-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उत्पत्तावपीति । पश्चादेरुत्पत्त्यर्थं यागाधीनोत्पत्त्याश्रयत्वाय च शक्तिमात्रमेव कल्प्यत इति शेषः । अन्यथानुपपत्त्या तत्रैव तदुभयं कल्प्यत इति भावः । तादृगर्थेति । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्यनेन विद्याया उक्तत्वात्तस्याश्चाविद्यां प्रति शीघ्रमत्यन्तोच्छेदकत्वे 'मायां तु प्रकृति'मित्यादिश्रुतिसिद्धाविद्याकार्यताकस्य देहादेरत्यन्तोच्छेदकत्वस्याप्यापत्त्या अविद्याया अत्यन्तोच्छेदे भुज्यमानकर्मैव प्रतिबन्धकं कल्प्यते । तथाच ज्ञानप्रयुक्तात्यन्तोच्छेदं विनाप्युपादानसूक्ष्मावस्थाया एव मुद्गरपाताधीनकपालादिनाशस्थले कार्यनाशे हेतुतया क्लृप्तत्वेन आद्यतत्त्वसाक्षात्काराधीनाज्ञानसूक्ष्मावस्थाया एव पूर्वदेहादिनाशोपधायकत्वेऽपि देहाद्यन्तरोत्पत्तिस्वीकारेण तत्र भोगोपपत्तिः । तदिदमुक्तम्—'लेशो देहादिप्रतीत्यनुकूल' इति । नच—एवमज्ञानमेवानुवर्ततामिति—वाच्यम्; अज्ञाननिवृत्तज्ञानस्यैवानुभवात् । अतएवाधिष्ठाने साक्षात्कृतेऽपि सोपाधिकभ्रमस्थले उपाधिसान्निध्यादिना लेशोपादानकभ्रमनिवृत्तावेव प्रतिबन्धः कल्प्यते, न त्वज्ञाननिवृत्तौ; तदनुभवात् । तथाच 'यावन्न विमोक्ष्य' इत्यस्य यावदविद्यालेशोपादानकदेहभ्रमादिना भोगस्य समाप्तिर्नैत्यर्थ इति भावः । अत्र च जीवन्मुक्तिश्रुतिरिव शतवर्षाद्यवच्छिन्नभोजनकर्मबोधकश्रुतिरप्युक्तार्थं मानम् । नहि शतवर्षाद्यवच्छिन्नभोगे क्रियमाणे पञ्चाशद्वर्षकाले ज्ञानोदये देहादेरत्यन्तोच्छेदे सा न विरुध्यते, न वा तथाश्रुतिबोधितकर्मणां तत्त्वज्ञाने सति नोक्तफलोपधायकत्वम्, किंतु पञ्चाशद्वर्षाद्यवच्छिन्न एव भोगे जनकत्वमिति कल्पयितुं शक्यम्; अपूर्वनानाविधहेतुत्वकल्पनापत्तेः शतवर्षाद्यवच्छिन्नभोगानुभवाच्चेत्यपि बोध्यम् । तर्कैरित्यादि—जीवन्मुक्त्युपपादनम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां जीवन्मुक्त्युपपत्तिः ॥

स्वयोग्येत्यादि । ब्रह्मादीनां मध्ये तस्य यादृशी भक्तिः साधयितुं योग्या, तस्याः परमानन्दहेतोः परमकाष्ठापन्नाया अभाव इत्यर्थः । कर्मक्षयमात्रमिति । 'यावन्न विमोक्ष्य' इत्यनेन भुज्यमानकर्मरूपबन्धकालमात्रं विलम्ब इत्युक्तत्वात् । यावता कालेन भुज्यमानकर्मसमाप्तिः, तदन्यकालविलम्बनिषेधः श्रुत्यर्थः । प्रसादापेक्षायां भुज्यमानकर्मकाले तदनुत्पत्तौ तदन्यकालविलम्बात् श्रुत्यर्थबाध इति भावः । यमेवेत्यादि । यं पुरुषमेव परमात्मा वृणुते प्रसादेनानुगृह्णाति, तेन लभ्यः साक्षात्क्रियते । ततस्तस्य संबन्धेन एष परमात्मा स्वां तनूं स्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकटयति आवरणं विनाइय तेनैकीभवति । ननु—'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' इत्यादिगीताद्युक्तेः 'तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा । तदप्राप्तिमहादुःखविलीना-शेषपातका । निरुच्छासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥' इत्यादिविष्णुपुराणाद्युक्तेश्च प्रारब्धकर्मक्षये प्रसादो हेतुः । आद्ये सर्वपदेन प्रारब्धकर्मसाधारणकर्ममात्रस्य प्रसादनाशयत्वप्रतीतेः । द्वितीये तु तत्त्वसाक्षात्कारे तस्य तत् स्पष्टम् । नच—तत्त्वासाक्षात्कारे तत्त्वाविद्याया नाशसंभवात् द्वितीयं स्तुतिपरम्, आद्यं तु प्रसादनाशयत्वं तत्त्वसाक्षात्कार-द्वारैव; लोके ज्ञानाज्ञानयोर्नाशनाशकत्वस्य क्लृप्तत्वात् । 'द्वैतैव तं मुच्यते', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'यदा चर्मचङ्काश'मित्यादिश्रुतेश्चेति—वाच्यम्; प्रसन्नभगवदुपदेशेन देहान्ते गोप्यास्तत्त्वसाक्षात्कारसंभवात् । श्रवणादि-

त्वात् वैपरीत्येन साध्यसाधनभावे मानाभावात् । नच प्रारब्धकर्मक्षये प्रसादविनियोगः; प्रसाद-
निरपेक्षभोगादेव तत्सिद्धेः । नापि मुक्ताबुच्चनीचभावः; तस्य द्वितीयसापेक्षत्वे तदा असंभवात्
'परमं साम्यमुपैती'ति साम्यश्रुतेश्च । सातिशयत्वे मुक्तेः स्वर्गादिवदनित्यत्वं स्यात् । अधिकदर्शने
दुःखद्वेषादिकं च स्यात् । ननु—मुक्तौ अतारतम्यं किं भेदाभावात्, उत सत्यपि भेदे तत्साम्यात् ।
नाद्यः; श्रुत्या भेदसिद्धेः । नान्त्यः, साम्यं किं जीवेश्वरयोः, उत जीवानामेव । नाद्यः; तयोर्वि-
भुत्वाणुत्वशेषशेषिभावस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिना तारतम्यात् अनेकेश्वरापत्त्या जगत्प्रवृत्त्ययोगात्
तद्व्यतारतम्यप्रतिपादकस्मृतिभिः 'जगद्वापारवर्ज'मित्यादिसूत्रैरुक्तपृष्टत्वनिकृष्टत्वग्राहकानुमानैर्वि-
रोधाच्च । नान्त्यः; जीवान् प्रति शेषिणो लक्ष्मीतत्त्वात् तान् प्रति नियामकाद्विष्वक्सेनादितश्च
जीवानां निकृष्टत्वात् 'सैषानन्दस्य'त्यादितैत्तिरीयादिश्रुतिभिः 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरा-
यणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥' इत्यादिस्मृतिभिः 'वृद्धिहासभाक्त्वमन्त-
र्भावादुभयसामञ्जस्यादेवमि'त्यादिसूत्रैरुक्तश्रुतितर्कानुगृहीतैरनुमानैर्विरोधाच्चेति—चेन्न; भेदाभावेन
तारतम्यासिद्धेः । यथाच श्रुत्यादेर्न भेदपरत्वं तथा प्रागेव गतम् । यत्तु द्वितीयपक्षमाशङ्क्य दूषणं,
तदकाण्डताण्डवम्; भेदसत्त्वे अभेदात्मकपरमसाम्याभावात् तत्सत्त्वे भेदस्यैवाभावात् । किंच
तारतम्याभिधानं परममुक्तौ, उत ब्रह्मलोकादिवासरूपापरममुक्तौ वा, नाद्यः; 'एवं मुक्तिफलानिय-
मस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृते'रिति तृतीयान्त्याधिकरणे 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शना'दि-
त्येतत्सूत्रोक्तज्ञानगतैहिकत्वामुष्मिकत्वरूपविशेषवन्मुक्तावपि तारतम्यमाशङ्क्य निषेधात् । द्वितीये
त्विष्टापत्तिः । यत्तु—मुक्तजीवभोगः ईश्वरभोगान्निकृष्टः जीवभोगत्वात् संसारिभोगवत् । एवं जीव-
ज्ञानादिकमपि पक्षीकृत्य प्रयोग ऊहनीयः । ईश्वरानन्दः, जीवानन्दादुत्कृष्टः, तन्नियामकानन्दत्वात्
यदेवं तदेवं यथा सेवकानन्दात् सेव्यानन्दः । ईश्वरः, जीवस्वभावानन्दादित उत्कृष्टस्वभावानन्दा-
दिमान् तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात् यो यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः स तद्वान् यथा संमतः
इत्यादीनि तारतम्यसाधकानि—इति, तन्न; आद्ये मुक्तस्य ब्रह्मरूपतया उपाधिकृतजीवत्वाभावेनाश्रया-
सिद्धेः, ईश्वरत्वाभावेन साध्याप्रसिद्धेः, स्वरूपासिद्धेश्च । द्वितीयाद्यनुमाने जीवेश्वरविभागकाले

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

नैरपेक्ष्यं तु हिरण्यगर्भादेस्तत्त्वसाक्षात्कारे त्वयापि स्वीकृतम्, तत्राह—नचेति । भोगादेवेति । उक्तवाक्ये आह्लाद-
दुःखभोगयोरेव कर्मेनाशकत्वप्रतीतेर्न प्रसादस्य सा । उपदेशद्वारा कचित्तत्त्वसाक्षात्कारप्रयोजकत्वं तु तस्येष्टम् ।
'देहान्ते देवस्तारकं व्याचष्टे' इति श्रुतेरिति भावः । साम्यश्रुतेः 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'त्यत्र निरञ्जनशब्देन
निरुपाधिकत्वरूपसाधारणरूपोक्तेर्विद्वानित्यन्तेन पूर्ववाक्येन ज्ञेयत्वेनोपस्थितशुद्धब्रह्मणो निरुपाधिकानन्दरूपेण साम्य-
बोधनात् । परमपदेन च भेदाद्यद्यदित्युक्तिरूपाभेदरूपमेव साम्यमिति ज्ञापितम् । तथाच 'गगनं गगनाकारं सागरः
सागरोपमः । रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥' इत्यादिरामायणादाविव मुक्तस्य सदृशान्तराभावद्योतनाय
साम्यादिपदप्रयोग इति बोध्यम् । अतएव निरञ्जन इत्यस्यैव पूर्णत्वे अधिकं व्यर्थमित्यपास्तम् । सातिशयत्वेनेति ।
यद्यत् सातिशयं तद्विनाशि । दृश्यत्वेनाविद्याप्रयुक्तत्वेन विद्योच्छेदत्वादिति भावः । दुःखद्वेषेति । नच—मनोऽ-
भावात्तद्भावेऽपि भगवत्प्रसादात् पापाभावाद्वा न दुःखादीति—वाच्यम्; अपकृष्टसुखत्वावच्छिन्नं प्रति मनस्त्वेन
हेतुतायाः क्लृप्तत्वेन त्वन्मते मुक्तौ मनस आवश्यकत्वात्, श्वेतद्वीपवासिनां मुक्तत्वेन त्वदभ्युपगतानां चक्षुराद्यभावेऽपि
मनःसत्त्वस्य मोक्षधर्मादावुक्तत्वात् मनःसत्त्वे च पापादेः द्वेषादेश्चावश्यकत्वात्, मनसस्त्रिगुणत्वेन सात्त्विक्या इव
राजस्यादेरपि वृत्तेरावश्यकत्वात् अधिकदर्शनस्य तद्धेतुत्वेन क्लृप्तत्वाद्वेषाद्यभावे मनःस्वीकारस्य व्यर्थत्वाच्च ।
वृद्धिहासेत्यादि । ब्रह्मादीनां मुक्तिषु वृद्धिहासभाक्त्वं न्यूनाधिकत्वम् । अन्तर्भावात् न्यूनाधिकसाधनफलान्त-
र्भावात् । एवं सत्येव साध्यसाधनयोरुभयोस्तुल्यत्वेन सामञ्जस्यादिति पराभिमतः सूत्रार्थः । अन्त्याधिकरण इति ।
निषेधादित्यग्रेऽन्वयः । एवमित्यादि । यथा ज्ञाने ऐहिकामुष्मिकत्वे विशेषौ, तथा ज्ञाने जाते मुक्तावज्ञाननिवृत्ति-
रूपायां कस्यचिदैहिकत्वमेव, कस्यचिदामुष्मिकत्वमेव विशेषान्तरमिवेति नियमो न । 'तावदेव चिरं,' 'निरञ्जनः
परमं साम्य'मित्यादिना मुक्त्यवस्थाया ऐहिकत्वनिरञ्जनरूपत्वावधारणादित्यर्थः । इष्टापत्तिरिति । उपासनाता-
रतम्येन ब्रह्मलोकाद्यासौ तारतम्यमिष्टमिति भावः । तन्नियामकानन्दत्वात् तन्नियामकस्यानन्दत्वात् । यदेवं
तदेवम् । तन्नियामकस्य य आनन्दः स तदानन्दादुत्कृष्टः । ईश्वरत्वाभावेन मुक्तं प्रतीश्वरत्वाप्रसिद्ध्या ।
साध्याप्रसिद्धिः मुक्तं प्रति यदीश्वरत्वं तद्वदितसाध्याप्रसिद्धिः । सर्वज्ञीयभोगत्वेन साधने निवेशे त्वप्रयोज-

तारतम्यसाधनं चेत्सिद्धसाधनं, तद्विन्ने काले चेत्, पूर्वदोषानतिवृत्तिः । 'सैषानन्दस्ये'त्यादिश्रु-
तिभिः मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तेषु उत्तरोत्तरशतगुणत्वरूपतारतम्यमुपाधितारतम्येन
वदन्तीभिर्निरुपाधिके स्वरूपानन्दे तारतम्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । एतेन—प्रकृता बन्धनिवृत्तिः,
स्वसजातीयबन्धनिवृत्त्याश्रयप्रतियोगिकतारतम्यवन्निष्ठा बन्धनिवृत्तित्वात् निगलबन्धनिवृत्तिव-
दिति—निरस्तम्; तारतम्यस्य गुणगतजातित्वेन बन्धनिवृत्त्याश्रयात्मनि वक्तुमशक्यत्वात् । अत-
एव—निवृत्तिगततारतम्यसाधनमपि—अपास्तम्; निवृत्तेर्निरतिशयत्वादानन्दस्य स्वरूपतया उभ-
यवासिद्धत्वेन गुणत्वाभावेन तत्रापि तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । एतेन—स्वरूपमुखानां प्रत्येक-
मेकत्वेनाणुत्वेन च संख्यापरिमाणकृतवैषम्याभावेऽपि जलसुधापानजन्यसुखयोरिव मधुरमधुरतर-
त्वादिवच्च स्वरूपकृतवैषम्यं मुक्ताविति—निरस्तम्; वैषयिकसुखे साधनतारतम्यप्रयुक्ततारतम्ये-
ऽपि स्वरूपानन्दे तदभावाच्च । नच सालोक्यादिमुक्तिः सायुज्यादिमुक्तितोऽपकृष्टेति प्रसिद्धि-
विरोधः; परापरमुक्तिरूपतया तदुपपत्तेः । सायुज्यादिमुक्तावुत्कृष्टत्वव्यपदेशोऽपकृष्टत्वाभावमात्रेण ।
ननु—सायुज्यं नैक्यम् । 'चन्द्रमसः सायुज्यं ९ लोकतामामोती'त्यादिश्रुत्या सत्यपि भेदे सायु-
ज्योक्तेः, 'सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः ।' इत्यादौ सयुजां प्रवेशमात्रोक्तेश्च, सयुजो भावः
सायुज्यमिति युजशब्देन संबन्धस्यैवोक्तेः 'सालोक्यमपि सामीप्यं सारूप्यं योग एव च ॥' इति
स्मृतौ सायुज्ये संबन्धवाचकयोगशब्दप्रयोगाच्च, तस्मात्सायुज्यं नाम क्षीरनीरवत् अन्यदेहाविष्ट-
ग्रहदेवतादिवच्च संश्लेषमात्रं, न त्वैक्यमिति—चेत्, न; व्यापकेनेश्वरेण संश्लेषस्य नित्यसिद्धत्वेना-
पुमर्थत्वात् । नचैतल्लोकस्थितस्य जीवस्य लोकान्तरस्थितालौकिकशरीरावच्छिन्नेनेश्वरेण संश्लेषः
साध्यः 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः । उत्क्रमणगमनादिसाध्यब्रह्मलोकावाप्तिवदुपाध्यवच्छिन्न-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

कत्वम्; साध्यं विनापि हेतूपपत्तेः । अनतिवृत्तिरिति । प्रच्छन्नज्ञानिजडभरतादिनियामकरहूगणाद्यानन्दे
व्यभिचारोऽपि बोध्यः । तत्प्रेषुत्वं तत्र शक्तत्वं चासिद्धम्; तादृशानन्दस्य सिद्धत्वेनेश्वरे तत्प्राप्तीच्छाविरहात्, नित्य-
मीशानन्दं प्रति ईशस्य शक्तत्वाप्रसिद्धेश्च । निरुपाधिक इति । 'निरञ्जनः परमं साम्यं'मित्यादिश्रुतिन्यायसिद्ध-
निरुपाधिताक इत्यर्थः । एतेन आश्रयासिद्धादिना । स्वसजातीयेति । निगलबन्धनिवृत्तित्वाविद्यानिवृत्तित्वान्यतर-
रूपेण स्वसजातीयेत्यर्थः । गुणगतजातित्वेनेति । मधुरत्वादिव्याप्यजातिविशेषाणामेव तारतम्यव्यवहारास्पदत्वम् ।
तदवृत्तिधर्मस्यैव तत्प्रतियोगिकतारतम्यशब्देनाभिधाने मुक्तानन्दयोरेकजातीयत्वेऽपि स्वस्वमात्रविषयकधीविषयत्व-
मादायार्थान्तरम् । निरतिशयत्वात् निरतिशयात्मस्वरूपत्वात् । उभयवासिद्धत्वेनेति । स्वरूपानन्दस्य मुक्तावा-
विर्भाव इत्युभयवासिद्धम् । नच—जीवस्वरूपानन्दानामनादितारतम्यस्वभावत्वमिति—वाच्यम्; जीवस्वरूपाणां
तारतम्यरूपत्वे भेदमात्रे विवादपर्यवसानेन परिभाषामात्रापत्तेः, द्व्यगतधर्मविशेषाणामपि तद्रूपत्वमङ्गीकृत्य मुक्तेषु
तदाविर्भाव इत्युक्तौ उक्तश्रुतिविरोधः । नच—तदन्यधर्मनिषेध उक्तश्रुताविति—वाच्यम्; सङ्कोचे मानाभावात् ।
तदिदं वक्ष्यते—स्वरूपानन्दे तदभावादिति । एतेन मुक्तानन्दस्य श्रुत्यादासिद्धनिर्विशेषात्मरूपत्वेन । सङ्ख्या-
परिमाणकृतेति । यथा सप्तर्ष्यपेक्षया अष्टवसूनामाधिक्यं, यथा वा बदरापेक्षया बिल्वस्य, तथा मुक्तानां मध्ये
एकापेक्ष्यान्यस्य नेत्यर्थः । मधुरतरत्वादिवत् मधुरमधुरतरसाद्योरिव । स्वरूपकृतम् अनादिस्वनिष्ठधर्मकृतम् ।
तदभावादिति । नच—निर्विशेषानन्दस्यापि भेदस्थानीयेन विशेषेण धर्मधर्मिभावसंभव इति—वाच्यम्; उक्त-
विशेषस्य धर्मत्वादेश्चातिरेके निर्विशेषत्वस्य विरोधात्, अनतिरेके परिभाषामात्रत्वात् । ननु सायुज्यस्योत्कर्षवशे
निर्विशेषत्वहानिस्तत्राह—सायुज्यादिगतमुक्ताविति । सायुज्यादिमध्ये सर्वोत्कृष्टत्वेनावगतमुक्तावित्यर्थः ।
मात्रेणेति । सायुज्यावधिकापकर्षस्य सालोक्यादौ तत्समसत्ताकस्य कल्पितत्वेऽपि सालोक्याद्यवधिकोत्कर्षः सायुज्ये
तत्समसत्ताको न कल्पितः, किंतु व्यावहारिक इति भावः । प्रवेशमात्रोक्तेरिति । 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देते'-
तिवत् भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य प्रवेशोत्तरसायुज्यस्य प्रकृते उत्तिसंभव इति ध्येयम् । यद्यप्युपाध्योः शरीरयोः संश्लेषा-
त्तदुपहितविद्रूपयोश्चन्द्रादिजीवान्तरयोर्भेदनाशेनैक्यस्य मन्मते संभवः, ज्ञेयब्रह्मणस्तु निरुपाधिकत्वेन तेन सहैक्यस्यो-
पाधिनिवृत्तिमन्तरेणासंभव इति सायुज्यशब्दस्यैक्यार्थकत्वमव्याहतम्; तथापि परोक्ततत्त्वदर्शनाधीनसायुज्यस्य
संश्लेषत्वं दूषयितुमाह—व्यापकेनेति । संश्लेषस्य अणुत्वेन त्वन्मतसिद्धजीवसंयोगस्य । नित्यसिद्धत्वेन तत्त्वज्ञानं
विनापि सिद्धत्वेन । अपुमर्थत्वादिति । नच—प्रसादितपरसंश्लेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात् पुरुषार्थत्वमिति—वाच्यम्;
ईश्वरप्रसादस्यैव हि तावता पुरुषार्थत्वं पर्यवसन्नम् । नच—तद्युक्तम्; तस्य सुखान्यत्वेन मुक्तेः स्वतः पुरुषार्थत्वाभा-

जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्माभेदरूपपरममुक्तेः पारलौकिकफलत्वाभावात् 'ब्रह्मविदाप्रोति पर'मित्यादौ अवातेर्ब्रह्मरूपत्ववत् सायुज्यस्यापि तद्रूपताया अङ्गीकरणीयत्वाच्च 'चन्द्रमसः सायुज्यमि'त्यादौ एकोपाध्यवच्छिन्नस्योपाध्यन्तरावच्छिन्नेन ऐक्यानुपपत्तिवद्वानुपपत्तेरभावात् प्रसिद्धार्थस्वीकारे बाधकस्योक्तत्वाच्च सायुज्यशब्दस्तावद्विभक्तत्वाभावाभिप्रायकः । यच्च—उत्तरोत्तरं शतगुणानन्दप्रकाशक-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

वापत्तेः । अत्र ब्रह्मेति । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यादिः । श्रुतेरिति फलत्वाभावादित्यत्र हेतुः । अत्रेति । यत्र लोके ज्ञानोत्पत्तिस्तत्रेत्यर्थः । लोकावाप्तिवदिति । पारलौकिकफले अन्वयः । लोकावाप्तिवद्यत् पारलौकिकं फलं तत्त्वाभावादित्यर्थः । उत्क्रमणादिसाध्यत्वेन ब्रह्मलोकावासितुल्यं फलमुपाध्यवच्छिन्नस्यैव वाच्यम् ; उपाधिं विना जीवस्य गमनाद्यदृष्टेस्त्वयापि लिङ्गशरीराविद्यानाशोत्तरं स्थूलशरीरावच्छिन्नस्यैव मुक्तस्य गमनादिस्वीकाराच्चेत्याशयेनाह—उपाध्यवच्छिन्नजीवस्येति । तथाचोक्तश्रुत्या शुद्धेन ज्ञेयेन ब्रह्मणैक्यं ज्ञानोत्पत्तिकाल एवेति यत् बोधितं तद्वाधः । सोपाधिकस्य लोकान्तरगतस्य जीवस्य तदभावादिति भावः । ननु—'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इत्यत्र प्रसादितेश्वरसंयोगोऽत्रैवेत्यर्थः सायुज्यपदस्वारस्यात्, तथाच प्रसादो ज्ञानफलम् ; प्रसादफलं तु लोकान्तरप्राप्तिः, तत्राह—ब्रह्मविदिति । ब्रह्मरूपत्ववदिति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' तद्भावभावनापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना । भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः ज्ञानफलमुक्तश्रुत्युक्तं ब्रह्मैक्यमेवेति सायुज्यमपि तदेव । अतएव 'सालोक्यसार्धिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥' इति भागवतादौ सायुज्यमेकत्वपदेनोक्तमिति भावः । ननु—सायुज्यशब्दस्यैक्यार्थकत्वेऽपि चन्द्रमस इत्यादावुपाधौ सत्यप्यौपाधिकभेदाभावेनैक्यम् । तथाचोपाध्यवच्छिन्नजीवस्य लोकान्तरगतस्य लोकान्तरीयेश्वरेण सहौपाधिकभेदाभावरूपमैक्यम् । नत्वात्यन्तिकनिर्धर्मकव्यक्तिमात्रमित्येव तत्र वक्तुमुचितम् । नच—'निरञ्जन'इत्यादिश्रुतिविरोधः; तस्य दुःखहेतुप्राधिनिषेधपरत्वात् । अतएव 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये' इत्यादिकमपि व्याख्यातम् ; त्वयापि प्रियाप्रिये न स्पृशत इत्यत्र प्रियशब्देन वैषयिकसुखस्य वाच्यत्वेन सङ्कोचावश्यकत्वात् । नच—मुक्तस्य कर्माभावात् शरीरग्रहणासंभवः; प्रसादस्यैव तत्र हेतुत्वात्, जीवन्मुक्तयनुमितकर्मसत्त्वात् । 'सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इत्यादेर्बद्धलोकप्राप्तिनिषेधपरत्वात् । अतएवेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैव्यं वा प्राजापत्यं वा' इत्यादिश्रुतौ लिङ्गशरीराविद्यानाशोत्तरं मुक्तस्य पित्र्यादिदेहासिक्तता । 'ज्ञानान्मोक्षो भवत्येव सर्वाकार्यकृतोऽपि तु । आनन्दो हसतेऽकार्यात् शुभं कृत्वा च वर्धते ॥' इति ब्रह्माण्डे शुभाशुभकर्मभ्यां ज्ञानिन आनन्दवृद्धिहासावुक्तौ, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिकं त्वौपाधिकभेदाभावबोधकम् ; सगुणस्यैव ज्ञेयत्वेन ज्ञेयप्राप्ययोरैक्यात्, तत्राह—चन्द्रमस इत्यादि । ऐक्यानुपपत्तिवत् निर्धर्मकव्यक्तिमात्ररूपाखण्डैक्यानुपपत्तिवत् । अत्र 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतौ । प्रसिद्धार्थस्वीकार इति । चन्द्रमस इत्यादौ प्रसिद्धस्योपहितयोर्भेदाभावरूपस्य सायुज्यस्य स्वीकार इत्यर्थः । उक्तत्वादिति । अशरीरमित्यादिश्रुतेः सङ्कोचे मानाभावात् शरीराभावप्रयुक्तस्यैव प्रियाद्यस्पर्शस्योच्यमानत्वेन प्रियशब्दस्य वैषयिकसुखपरत्वेऽप्यशरीरपदे सङ्कोचस्यायुक्तत्वात् प्रसादे ज्ञानजन्यत्वस्य निरस्तत्वात् 'स एष नेति नेती'त्यादि 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयानि'त्यादिश्रुत्या ब्राह्मणशब्दितस्य ब्रह्मविदो धर्ममात्रनिषेधपूर्वककर्माधीनवृद्धिहासनिषेधेन कर्मजशरीरादेर्मुक्तावसंभवात् 'सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' 'अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भववर्जिताः ।' 'ज्ञानान्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।' 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ज्ञानिनां सर्वकर्मफलाभोक्तृत्वलाभात् स्वेच्छाजन्यशरीरे मानाभावात् तद्वोधकस्मृत्यादेरपरममुक्तिविषयकत्वात् 'स यत्रायमात्माऽबल्यज्ञेत्यादीति नु कामयमान' इत्यन्तसंसारविवेचनश्रुतिमध्यपठितस्येदं शरीरं निहृत्येत्यादेरभिक्रमणवाक्यवत् संसारबोधकत्वेन मुक्तस्य शरीराबोधकत्वात् इदंपदस्य प्रत्यक्षवाचकत्वेनौत्सर्गिकस्य लिङ्गशरीराबोधकत्वात् गमयित्वेत्यस्य नाशयित्वेत्यर्थकत्वे लक्षणापत्तेः इमं शरीरं निहत्याविद्यामित्युक्त्यैवाविद्यानाशलाभसंभवेन व्यर्थत्वात् स्थूलशरीरमभिमानाभावेन निहत्याविद्यां संस्काररूपेण प्राप्येत्यर्थकत्वावश्यकत्वात् उक्तब्रह्माण्डोक्तेः शुभाशुभकर्मप्रयुक्तलौकिकसत्कारासत्कारप्रयुक्ताविक्षेपविक्षेपाभासपरत्वेन मुक्तिसुखगतवृद्धिहासाबोधकत्वात् 'प्रपञ्चोपशममि'त्यादि 'स आत्मा स विज्ञेयः' 'तमेव विदित्वे'त्यादिश्रुतिभिः शुद्धस्यैव ज्ञेयत्वेन प्राप्यत्वात् कैवल्यं न सोपाधिकमित्यादिबाधकस्योक्तप्रायत्वादित्यर्थः । ननु तथापि सायुज्यशब्दस्य क्वचिदौपाधिकभेदाभावः, क्वचिदखण्डव्यक्तिमात्रमर्थ इति न युक्तम्, नानार्थत्वापत्तेः; अखण्डस्य बोधने लक्षणापत्तेश्च, तत्राह—सायुज्यशब्द इति । विभक्तत्वाभावाभिप्रायकः चन्द्रमस इत्यादौ ब्रह्मसायुज्यमित्यादौ च भेदाभाववाचकः । चन्द्रपदार्थस्य चन्द्रशरीरावच्छिन्नरूपत्वेन तेन सह सोपाधिकजीवस्य समभिव्याहृतशरीररूपोपाध्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्याभावो बुध्यते ।

वाक्येषु प्रतिवाक्यं मुक्तावकामहतशब्दप्रयोगात् मानुषानन्दवत् अकामहतमुक्तानन्देऽपि तारत-
म्यम्—इति, तन्न; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति सर्वेषां लौकिकानन्दानां
परमानन्दान्तर्भावाभिधानोपपत्तेः । ननु तस्य तस्याकामहतस्य तावानेवानन्द इति । येन तत्रापि
तारतम्यं कल्प्येत । तथाच 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान्' 'कामस्य यत्राताः कामास्तत्र माममृतं कृधी'-
त्यादिश्रुतेः 'स हि मुक्तोऽकामहत' इत्यादिब्रह्माण्डोक्तेश्च न विरोधः । ननु—एकस्यैव श्रोत्रियस्य सर्वत्र
परमर्शं मानुषानन्दादिभ्यः सावधारणशतगुणितमनुष्यगन्धर्वाद्यनेकानन्दा एकस्मिन् विरुद्धाः,
भिन्नाश्चेदकामहतत्वादेरेकरूपतया श्रुतस्याव्यवस्थापकत्वादानन्दव्यवस्थाऽयोगः । अथ व्यवस्थार्थं
एतत्पदाकाम एतदितरपदकामश्च लक्ष्यते, तदाऽश्रुतकल्पना बाधश्च । नहीन्द्रादिपदे वा राजपदे वा
निष्कामस्य भिक्षुकस्य इन्द्राद्यानन्दानुभवोऽस्ति, तस्माच्छ्रुत्या पूर्ववाक्येनामुक्तानां तारतम्यमुक्त्वा;
'श्रोत्रियस्य चे'त्यादिना 'यश्च श्रोत्रिय' इत्यादिना चोत्तरवाक्येन मुक्तस्य तदुच्यत इति—चेन्न; सर्वेषु
वाक्येषु अकामहतस्य मुक्तस्यैकत्वेऽपि तदानन्दे सर्वानन्दानामन्तर्भावात् स एव तस्मिन् तस्मिन्ना-
नन्दे वक्तव्ये परामृश्यते; तत्तदिन्द्रादिसाम्येन तस्य सर्वत्राभिधानोपपत्तेः 'अधिकं प्रविष्टं ननु तद्वा-
नि'रिति न्यायात् । साम्ये हि तत्सजातीयधर्मवत्त्वं तन्नम्, ननु तदितरधर्मानधिकरणत्वमपि; गौर-
वात् । यच्च—मुक्तसुखं परस्परतारतम्यवत् परस्परतारतम्यवत्साधनकत्वात् संमतवदिति, तन्न;
असिद्धेः । ननु—मुक्तिः प्रयागमरणभगवद्वेषादिसाध्येति मते ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्येति मते च
प्रयागमरणादीनां वर्णाश्रमकर्मणां च विषमत्वात् नासिद्धिः, ज्ञानैकसाध्येति मतेऽपि 'कस्तं मदामदं
देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' 'सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमु सर्वैर्मनुष्यै'रित्यादिश्रुत्या
'ब्रह्मादि तद्वेद न चेदसम्यगन्ये कुतो देवमुनीन्द्रवर्याः ।' इत्यादिस्मृतिभिः देवादिमनुष्यादिस्थमुक्ति-
हेतुब्रह्मज्ञानगतस्य बहुबहुतरशाखाश्रवणसाध्यत्वस्य बहुबहुतरगुणविषयत्वं विनाऽयोगेनार्थापत्त्या

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

उपाध्योर्भेदने सत्येकोपाधिमत्त्वेनापरोपाधिमति भेदाप्रतीतेर्न तदसंभवः । ब्रह्मसायुज्यमित्यादौ तु ब्रह्मपदार्थस्य शुद्ध-
त्वेन तत्प्रतियोगिकभेदसामान्याभाव एव बोध्यते । सोपाधिके च तदसंभवात् निरुपाधिकजीवस्यैव तत्पर्यवसानम् ।
एवंच सायुज्यपदस्य संबन्धार्थकत्वं दूरापेतम् । 'सारूप्यं योग एव चे'त्यत्रापि स एवार्थः । 'सारूप्यैकत्वमप्युते'ति
स्मृतेरिति भावः । मुक्तौ मुक्तात्मनि । मानुषानन्दवत् मानुषाद्यानन्द इव । अन्तर्भावाभिधानोपपत्तेः
अन्तर्भावेन मुक्तानन्दस्य शतगुणिततत्तदानन्दसादृश्याभिधानोपपत्तेः । तावानेव तत्तच्छतगुणितानन्द एव ।
तत्रापि मुक्तानन्देऽपि । कामान् सुखानि । कामस्य कामुकस्य । कामाः सुखानि । यत्र ब्रह्मसुखे । तत्र
तदभिन्ने । सर्वत्र शतगुणितानन्देषु । परामर्शं सदृशानन्दसंबन्धित्वेनोक्तौ । मानुषादिभ्यः मानुषानन्दादिभ्यः ।
शतगुणितेत्यत्रान्वयः । सावधारणेति । देवगन्धर्वानन्दादीनामधिकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् मनुष्यगन्धर्वानन्द एव
मनुष्यानन्दशतगुणित इत्याद्यवधारणमार्थिकम् । 'स एक' इत्येकपदैः शाब्दं वा बोध्यम् । अनेकानन्दाः
अनेकानन्दजातीयानन्दाः । एकरूपतया कामसामान्याभावरूपतया । व्यवस्थाऽयोग इति । अकामहतपदेनैक-
जातीयानन्दव्याप्यनिष्कामत्वोक्त्या तादृशानन्दस्य सादृश्यप्रतिपादनेन नानाजातीयानां मनुष्यगन्धर्वाद्यानन्दानां
निर्णयासंभव इत्यर्थः । अश्रुतकल्पनाप्यन्यथानुपपत्त्या कार्या, तत्राह—बाधश्चेति । बाधं विवृणोति—नहीति ।
तथाच तत्तच्छतगुणितानन्दस्तत्र बाधित इति भावः । एकत्वेऽपि एकजातीयानन्दवत्त्वेऽपि । वक्तव्ये उपमेये ।
परामृश्यते उपमानतयोच्यते । साम्येनेति । 'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।'
इत्यादाविव सहनिर्देशविशेषात् साम्यलाभ इति भावः । तत्सजातीयधर्मवत्त्वमिति । तथाच प्रकृते मनुष्य-
गन्धर्वादेः यत्सजातीयं तदीयधर्मवत्त्वं तदपेक्षया अपकृष्टत्वशून्यस्वरूपं तद्वृत्तिधर्मवत्त्वमिति भावः । तदितरेति ।
उक्तशून्यत्वेतरेत्यर्थः । तथाचाकामहतस्यानन्दे मनुष्यगन्धर्वाद्यपेक्षया उत्कर्षस्य कल्पितस्य सत्त्वेऽपि न सादृश्यहानि-
रिति भावः । नच—चरमोक्तसर्वोत्कृष्टानन्दं प्रत्यकामहतानन्दस्य सादृश्यासंभवः, भेदाभावादिति—वाच्यम्; तत्र
'गगनं गगनाकार'मितिवदुपपत्तेः; अकामहतजीवन्मुक्तानन्दत्वेन कल्पितभेदस्य संभवाच्च । नच—जीवन्मुक्तस्य
अवृजिन इति विशेषणासंभवः, मुज्यमानवृजिनसत्त्वादिति—वाच्यम्; अनभिमानेन वृजिनादेः बाधितानुवृत्तित्वेन
च सचक्षुरचक्षुरित्यादिवदुपपत्तेः । जीवन्मुक्तग्रहणादेवाकामहत इत्यत्र हतपदं सार्थकम् । अन्यथा केवलीभूतस्य
ग्रहणे अकाम इत्येवोच्येत । तथाचाकामहतत्वं बाधितानुवृत्तिकामत्वम् । सत्यत्वेन प्रतीयमानो हि कामो मूढं विकली-
कुर्वन् हन्तीत्युच्यत इति बोध्यम् । प्रयागेत्यादि । 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्नुतासो दिवमुत्पतन्ति' ।

च तत्सिद्धिरिति—चेन्न; केवलकर्मपक्षे समुच्चयपक्षे वा कर्मसाध्यत्वेन मुक्तेरनित्यत्वापत्तेः, 'नान्यः पन्थाः' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च, तृतीयपक्षे तूदाहृतश्रुतीनां ब्रह्मविद्यादुर्लभत्वप्रतिपादनपरत्वेन तदुक्तसाधनसाध्यत्वाप्रतिपादकत्वात् । नचार्थापत्त्या तत्सिद्धिः; ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निर्गुणविषयतया गुणविषयत्वायोगात् । यत्तु—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । स वै भृत्यः स च स्वामी गुणलुब्धो न कामुकौ ॥ मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु परश्चैकान्तभक्तिमान् ॥' इत्यादिस्मृत्या मुमुक्षुभक्त्यपेक्षया अमुमुक्षोर्भक्तस्याधिक्योक्तेः तदाधिक्यस्य लोकरीतिसिद्धत्वाच्च 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' ति-स्मृत्या अल्पभक्तिसाध्यमुक्त्यपेक्षया अधिकमुक्तिहेतुभक्तेरपि आधिक्यस्योक्तेश्च—इति, तन्न; 'यस्त आशिषः' इत्यादिना फलमनिच्छतो गुणलोभेन या भक्तिस्तस्यास्तु गरीयस्त्वं यत् प्रतिपादितं, तत्तत्त्वसाक्षात्कारे त्वरासम्पादकं नतु मुक्तितारतम्याक्षेपकम् । 'भक्तिः सिद्धे'रित्यादिना प्रतिपादितं गरीयस्त्वमपि तज्जनकत्वमात्रेण पुत्रात्पितुरिव । यत्तु—'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥' इत्यत्रापिशब्देन, 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥' इत्यत्र कैमुत्येन च साधनतारतम्येन साध्ये तत्प्रतीतिः इति, तन्न; नहि तरणेऽपीत्यस्यान्वयः, किंतु अधिकारिणि । तथाच विलम्बिततरणरूपफलसम्बन्धमात्रपर्यवसानात् कैमुत्यस्यापि त्वराफललाभमात्रेणोपपत्तेः साधनमात्र-

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

ये वै तन्वं १ विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते' इति श्रुतिः प्रयागमरणस्यामृतत्वे प्रयोजकत्वं बोधयति । 'गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधिया कथ'मित्यादिना गोपीनां मुक्त्यसंभवमाशङ्क्य 'द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षज-प्रियाः' इत्यन्तेन भागवतेन मुक्तिः समाहिता । तदपि भगवद्वेषादेस्तत्प्रयोजकत्वपरम्; प्रयागमरणजन्यादृष्टेन द्वेषादिनान्तरीयकभगवत्स्मृतिपरम्पराधीनादृष्टेन दृष्टादृष्टप्रतिबन्धकनिवृत्तिद्वारा तदधीनभगवदुपदेशद्वारा वा ज्ञानसंभवात्, अन्यथा लोककृतज्ञानकारणताबाधापत्तेः, 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त' इत्यादिश्रुतेरपि साक्षाद्धेतुत्वबोधकत्वापत्तेः, 'दृष्ट्वैव तं मुच्यते' 'यदा चर्मवदाकाश'मित्यादिश्रुतिबाधापत्तेः, मुक्तेः कर्मसाध्यत्वे विनाशित्वादेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च । अतो मत इत्युक्तम् । तत्सिद्धिः तारतम्यवत्साधनकत्वसिद्धिः । दुर्लभत्वेति । 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत' इत्यादिश्रुत्या शुद्धब्रह्मणः बुद्धत्वोक्तेः 'कस्तं मदामद'मित्यादिकं स्तुतिपरम् । 'सर्वे गुणा' इत्यादिकमपि सगुणस्तुतिपरम् । तत्तच्छ्रुत्या तस्यापि बुद्धत्वोक्तेः सगुणप्राप्तेस्तारतम्यस्येष्टत्वेन यथाश्रुतार्थकं वा । ते तुभ्यम् । आशिषः काम्यानि । आशास्ते प्रार्थयते । न भृत्यः लाभार्थसेवकत्वेनाप्रशस्तसेवकः । वणिक् लाभार्थव्यापारवत्त्वेन वणिक्तुल्यः । मुमुक्षोः मोक्षमुद्दिश्य भजमानात् । अमुमुक्षुः मोक्षपर्यन्तफलमनुद्दिश्य भजमानः । परः श्रेष्ठः । हेतुगर्भविशेषणमाह—एकान्तभक्तिमानिति । निर्गुणभक्तिमानित्यर्थः । 'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य बुदाहृतम् । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इति भागवतात् । अहैतुकी काम्यफलशून्या । नच—काम्यफलाभावे स्वतोऽपुरुषार्थं भजने प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्; भक्तेर्नान्तरीयसुखधारारूपेण परिणतमनोवृत्तिरूपत्वेन स्वत एव पुरुषार्थत्वात् । संसारदुःखमिश्रितत्वेन मुक्त्यपेक्षया अपकृष्टत्वं परं प्रामाणिकं तस्याः । अव्यवहिता विच्छेदशून्या अव्यभिचारिणीति यावत् । अल्पभक्तीत्यादि । मुक्तिसामान्यापेक्षया गरीयस्वासंभवादल्पभक्तिसाध्यत्वेनाल्पा या मुक्तिः, तद्रूपां सिद्धिमपेक्ष्य तदधिकमुक्तिहेतुः भक्तिर्गरीयसीत्यर्थ इति भावः । उक्ते-श्चेति । तारतम्यवत्साधनकत्वं मुक्तीनामिति शेषः । गुणलोभेन गुणधारास्त्वाविस्मृतिविषयचरितलोभेन । तदुक्तं भागवते—'दुरधिगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिभ्रमणाः । न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपी'त्यादि । तस्यास्तु गरीयस्त्वं तस्या एवाधिक्यम् । त्वरासम्पादकं त्वरया निष्पादकम् । तदुक्तं भागवते—'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥' इति । कोशं लिङ्गशरीरं कोशपञ्चकं वा । तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा जरयति नाशयति । नतु मुक्तितारतम्याक्षेपकम्; मुक्तिजालप्रयोजकवैजाल्यस्य तत्त्वसाक्षात्कार आक्षेपकं नेत्यर्थः । मात्रेणेति । सिद्धेरिति षष्ठी । मुक्तेः संबन्धिनी गरीयसी । मुक्ति-संबन्धिगरीयस्त्वं विवृणोति—जरयतीत्यादि । तथाच मुक्त्यपेक्षया गरीयस्त्वं प्रकृते नार्थ इति तु युक्तम्; उत्तरार्धस्यापेक्षितसमर्पकत्वलाभात् । नहि तरण इत्यादि । अपिशब्दार्थस्य संभावितत्वस्य तरणरूपमुक्तावन्वये तद्वलान्निश्चितमुक्त्यपेक्षयापकर्ष आक्षिप्येत । यथा इयामाकादयोऽप्यन्नमित्युक्ते तेषामपकर्षो लभ्यते । अधिकारिणि तदन्वये तु तस्यैवापकर्षो विलम्बेन विधेयसंबन्धरूपो लभ्यते । यथा सुग्रीवं प्रति अभिषेकमाज्ञाप्य 'अयमप्यङ्गदो राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यता'मित्यनेन विलम्बाभिषेकमिमात्रेण भगवताज्ञापितम् । त्वराफललाभेति । ब्राह्मणाद्यन्य-

तारतम्यस्य फलतारतम्याप्रयोजकत्वाच्च । नहि दण्डतारतम्येन घटतारतम्यं कचिदपि दृश्यते । यत्तु—‘साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः । ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः ॥’ इति ब्रह्माण्डे, ‘अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्त्विति साक्षान्मोक्षधर्मे च साधनतारतम्येन साध्ये तदुक्तिः इति, तन्न; साधनोत्तमत्वेन साध्योत्तमत्वस्यापरममुक्तिविषयत्वात्, विज्ञानगताधिक्योक्तेरपि

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

स्येत्यादिः । ननु विलम्बिताविलम्बितत्वरूपस्य तारतम्यस्य तत्त्वसाक्षात्कारस्वीकारे तत् एव तत्फलेऽपि तदास्ताम्, तत्राह—साधनमात्रेति । लौकिकालौकिकयावत्साधनेत्यर्थः । नहि दण्डेति । तथाच ‘कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वगोचरे । विभागस्थानसामान्यादविशेषेऽपि चोदिते ॥’ इति वार्तिकेनाविशेषेण स्वर्गसाधनतया चोदितानां ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रादीनां तारतम्यात् तत्फलानां तारतम्योक्तावपि लोकसिद्धसर्वकारणस्य तारतम्यं न कार्यतारतम्य-प्रयोजकम्; नानाजातीयदण्डादितोऽप्येकजातीयघटाद्युत्पत्तेः दृष्टत्वात् । घटादावविलम्बोत्पत्तिकत्वरूपोत्कर्षं प्रति दण्डादिनिष्ठस्य दाढ्यादेः प्रयोजकत्वस्य दृष्टत्वेऽप्यविलम्बोत्पत्तिकत्वस्य तद्दृष्टेः विलम्बेनोत्पन्नस्यापि दण्डदहनान्देर-विलम्बेनैव घटतमोनाशादिजनकत्वदर्शनात् । तथाच साक्षात्कारस्य विलम्बितत्वाविलम्बितत्वाभ्यां मुक्तौ तयोः कल्पनं दण्डादेः घटादाविव प्रत्यक्षादिबाधितम् । यत्र तु न मानान्तरबाधः तत्र बहुवित्तव्ययायाससाध्यकर्मणि प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या स्वल्पवित्तव्ययायाससाध्यकर्मफलापेक्षयोत्कृष्टफलकत्वं कल्प्यत एव । एतेन—भक्तिप्रपत्त्योर्ज्ञान-साधनयोरस्ति तारतम्यम् । भक्तौ हि कायिकादिव्यापारावृत्तिश्चास्ति । प्रपत्तौ तु भगवान् मां संसारसागरात्तारयिष्यत्येव । ‘सकृदेव प्रपन्नाय तवासीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्वत्तं मम ॥’ इति श्रीरामोक्तेरिति विश्वासमात्ररूपायां न तदपेक्षेति । तत् एव ज्ञाने तारतम्यं, ततश्च मुक्ताविति—परास्तम्; नहि यादृशस्य तिमिरस्य नाशो यो बहिः स्वरूपयोग्यः, तादृशस्य ततो बह्वेककृष्टबहिना जनिते नाशेऽतिशयः कश्चन प्रामाणिकः । एतेन प्रतियोगिन उत्कर्ष इत्यप्यपास्तम्; प्रतियोगिन्यज्ञाने उत्कर्षे क्षतिविरहाच्च । ब्रह्मानन्दे पञ्चदशप्रकरणान्तर्गतग्रन्थे (?) । सगुणविषयज्ञानेति । सगुणोपासनेत्यर्थः । तथाच ‘गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया । तस्यैव च प्रसादेन प्रादुर्भूतं महामुने । ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनास्ति विदितो मम । अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्त्विति । अधिकं च तवैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे । बाल्याद्वा संशयाद्वापि भयाद्वाप्यविमोक्षजात् । उत्पन्नेऽपि च विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् । व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैरिच्छन्नसंशयः । विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् । भवान् श्रोतृपन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः । व्यवसायादते ब्रह्म नासादयति यत्परम् ॥’ इति मोक्षधर्मोक्तौ ज्ञानं दिव्यमुपासना-रूपं तत्त्वसाक्षात्काररूपं च मम जनकस्य तेन विदितोऽस्ति । उपासनाविशेषस्य परकीयज्ञानवैराग्यादिज्ञापकत्वात् तत्त्वं साक्षात्कृतवतस्ते तैर्लिङ्गैः परकीयतत्त्वसाक्षात्कारस्यानुमातुं शक्यत्वाच्च । तव शुकस्य अधिकं विज्ञानं मदीयादुपासनादधिकमुपासनम् । अतएव फलमाकाशगमनादिरूपा गतिः, अणिमादिरूपमैश्वर्यमपि मदीयात् गमनाद्यैश्वर्यादधिकम् । तच्च तत्तु । ‘सर्वभूतेषु चात्मानं’मित्यादिना मया पूर्वमुक्तपरमतत्त्वं तु त्वं नावबुध्यसे मदुपदेशात् पूर्वं न निश्चितवान् । ननु निष्कामनिरन्तरभक्तिरूपं विज्ञानं चरमसाधनत्वेन शीघ्रं तत्त्वनिश्चयजनकम् । तच्च मम स्थितमेव त्वदुपदेशात्पूर्वम् । तत् कुतो न निश्चितम् ? तत्राह—बाल्यादिति । विज्ञाने उक्तभक्तौ उत्पन्नेऽपि बाल्यादिना तत्त्वरूपां गतिं नाधिगच्छतीत्यन्वयः । बाल्यात् पितृलाल्यमानबाल्यावस्थायाः । पित्रोच्यमाने तत्त्वे भवत्यसंभावना—इदानीमुत्पन्नेन मया पितुर्निकटे यच्छ्रुतमनायासेन, तत्कथं तत्त्वमिति संशयादिति । एकेनैव मत्पित्रेदमुक्तं नान्येन । अत इदं तत्त्वं न वेद्मि सन्देहादित्यर्थः । ‘किं कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः । कथं च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन तपसाथवा ॥’ इति शुकेन पित्रुपदेशे सत्यपि सन्निहानेन पृष्ठो जनकः आश्रमचतुष्टयानुष्ठानमुक्तवान् । तदुत्तरं प्रश्नद्वयस्यावशिष्टस्यातिरहस्योत्तरकत्वेन जनकेनानुत्तरितत्वेन भूयः शुक उवाच । ‘उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते । किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत्पि ॥’ इति । तत्र यदि मोक्षरूपः पुरुषार्थ आत्मस्वरूपानन्दः, तदा तदावरणापगमाय ज्ञानमात्रमपेक्षते । अथ लोकान्तरप्राप्त्यादिरूपः, तदा तस्य स्वरूपार्थं तद्वृत्तातिशयार्थं च श्रवणाद्यतिरिक्ततपोऽप्यपेक्षते । संन्यासिनस्तु न तत्संभव इति कथं मुमुक्षोः संन्यासाश्रम उक्तः । किंच गृहस्थादिकर्मणां यदि मोक्षे उपयोगः, तदा मयापि गार्हस्थ्यवानप्रस्थे कार्ये । अथ विविदिषायां, तदा तस्याः सिद्धत्वाच्च कार्ये इत्याशयः । तत्र जनकेन ‘न विना तत्त्वविज्ञानं मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमो भवेत् ॥’ इत्यनेन गुरुमुखाधीनश्रवणादिमात्रं ज्ञानस्य, ज्ञानमात्रं च मोक्षस्य हेतुरिति व्यतिरेकमुखेनोक्त्वा कर्मणो

१ अत्र ब्रह्मानन्दे इति ब्रह्मानन्दीसंमतः पाठः किंतु स न समचीनः, पञ्चदश्या ब्रह्मानन्दग्रन्थे एतद्वचनस्यानुपलम्भात् । ब्रह्माण्डे इत्यस्य ब्रह्माण्डपुराणे इत्यर्थः । २ विद्यारण्यमुनिविरचितपञ्चदशीग्रन्थ इत्यर्थः अग्रिमपत्रस्थपुनरुल्लेखाद् भाति । तस्मिन्ग्रन्थेत्वेतद्वचनं न दृश्यते । तस्मात्पुस्तकान्तरदर्शनेन मूले शुद्धीकृतः पाठ एव युक्तः ।

साक्षात्कारप्रयोजकसगुणविषयकज्ञानपरत्वाच्च, अतएव दहरादिविद्यानामधिकाल्पगुणविषयकत्वेन साधनतारतम्यं यत्पराभिमतं तदप्येवमिति न कश्चिदोषः ।

तस्मात्स्वरूपानन्दस्य स्वप्रकाशात्मरूपिणः । प्रातिर्मुक्तिर्न तत्रास्ति तारतम्यं कथंचन ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तौ तारतम्यभङ्गः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

मोक्षाहेतुत्वं सूचयित्वा 'भाविताः कारणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ तामासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः । त्रिष्वश्रमेषु कोऽन्योऽर्थो भवेत्परमभीप्सितः ॥' इत्यत्र बहुसंसारयोनिषु नानाविधकर्मयुक्तशरीरेषु शुद्धात्मा सन् प्रथमाश्रमे मोक्षरूपमात्मानं ज्ञानेनासाद्य मुक्तिं प्राप्तस्य कर्मणा नार्थ इत्युक्त्वा शुद्धिद्वारकविविदिषाहेतुत्वं मोक्षाहेतुत्वं च कर्मणां स्पष्टीकृत्य समाहितम् । तदनुसरन् जनक आह—भयादिति । अविमोक्षजात् कर्माविमोक्षशङ्काजन्यात् । उक्तशङ्काप्रयुक्ता या 'कर्म त्याज्यं न वे'ति शङ्का तज्जन्त्यात् । यत्त्वधिका गतिरित्यस्य मोक्षस्थानश्चेतद्दीपादिगतिरधिकेत्यर्थ इति, तन्न; तादृशगतौ शुकस्य विद्यमानायां तद्देतुतत्त्वदर्शनमपि शुकस्याधिकं तव विज्ञानमित्यनेन विद्यमानमुक्तं त्वया वाच्यम् । तथाच बाल्यादित्याद्यसङ्गतम् । अथ—तादृशगति-सामर्थ्यं विद्यमानमपि स्वस्य बाल्यादिना न जानासीत्यर्थ इति—चेन्न; व्यवसायेनेत्यादेरसङ्गतेः । तत्र हि व्यवसायादहेतु यत् परब्रह्म नासादयति पूर्वं नासादितवान्, तां ब्रह्मरूपां गतिं शुद्धेन व्यवसायेन मद्विधैः छिन्नसंशयो भवानासादयति आसादितवान् । वर्तमानसामीप्ये लट्; विमुच्य हृदयग्रन्थीनित्यस्यासंगतेश्च । नहि विद्यमानसामर्थ्याज्ञानेऽपि हृदय-ग्रन्थयनुवृत्तिः । किंचोक्तसामर्थ्यं जनकेन नोपदिष्टम् । येन तत्रैव संशयोच्छेदं स्वयं कृतं ब्रूयात्, किंतु तत्त्वम् । तस्मात्त्वबोधस्य सामग्री उपासनादिकं तत्फलैश्वर्यादिना प्रत्यक्षेणानुमेयं तव स्थितं, तथापि बाल्यादिप्रयुक्तसंभावनादित-स्त्वया तत्त्वं न निश्चितम् । इदानीं तु मया तस्या निरस्तत्वात् निश्चितमित्येव वाक्यार्थ इति युक्तमुक्तम् । सगुणविषय-ज्ञानपरत्वादिति । विज्ञानं तत्त्वदर्शनम् । गतिः श्रवणादिपाठवम् । ऐश्वर्यम् ईश्वरभावः रागादिराहित्यं स्वाभाविकम् । एतन्नयं तव विद्यमानमधिकं मोक्षायालमेव । त्वं तदधिकं नावबुध्यसे । मोक्षाय नालमिति निश्चितवान् । तत्र हेतु-बाल्यादित्यादि । यतः उत्पन्नेऽपि विज्ञाने तत्त्वदर्शने बाल्यादिदोषात् तां गतिं तत्त्वदर्शनरूपां नाधिगच्छसि प्रतिष्ठितत्व-रूपां तत्प्राप्तिं न लब्धवान् । असंभावनादिदोषाद्धि जातापि विद्या अप्रतिष्ठिता । अतएव 'आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तय' इत्यत्र भाष्ये प्रतिपत्तिशब्देन प्रतिष्ठितत्वमुच्यत इति पञ्चपादिकाकृतः । बाल्यादिशब्दैः 'प्रज्ञामान्यं कुतर्कश्च विपर्यय-दुराग्रहः' इति ज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन पञ्चदशप्रकरणानां उक्तं त्रयमत्रोक्तम् । यद्यपि 'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्ति-लक्षण' इति पूर्ववाक्येन तत्र विषयासक्तिरपि वर्तमानप्रतिबन्धकत्वेनोक्ता । 'असावपि च भावी वा भूतो वा वर्ततेऽथ वे'ति वार्तिकेन भाविभूतावपि ज्ञानप्रतिबन्धकावुक्तौ; तथापि शुकस्य विषयसान्निध्येऽपि निर्विकारत्वेन जनकेन परीक्षा-दिना निश्चितत्वाद्विषयासक्त्यभावस्य वर्तमानत्वेन तत्र निश्चयात् भाविभूतप्रतिबन्धकयोश्चानुमानादिना तत्राभाव-निश्चयादुक्तत्रयमेव वर्तमानप्रतिबन्धकं शङ्कितम् । तत्रापि बाल्यशब्दितस्य प्रज्ञामान्यस्य नासंभावनाहेतुत्वं प्रकृते संभवति; शुकस्य स्वाभाविकसूक्ष्मबुद्धित्वात् । अतः—संशयादिति । सूक्ष्मबुद्धित्वादेव नानाविधकुतर्कावतारा-धीनतत्त्वासंभावनारूपात् संशयादित्यर्थः । सोऽपि शिष्टकाष्ठां प्राप्तस्यात्मक्षणिकत्वमिथ्यात्वादिपर्यवसायिकुतर्कासंभवात् न तस्य संभवतीत्याशयेनाह—भयाद्वाप्यविमोक्षजादिति । आधिकारिकत्वेन प्रवृत्तिपरस्य पितुरनुष्ठानमालोच्य कर्मवासनादाढ्यात् कर्मणा लोकान्तरप्राप्तिः सत्यास्तीति विपर्ययग्रहेण कर्मात्यागनिश्चयरूपेण अविमोक्षेण जनितात् भयशब्दितद्वैताभिनिवेशादित्यर्थः । व्यवसायेनेत्यादि । यतोऽन्योऽपि व्यवसायादिनैव तां गतिं प्रतिष्ठितां लभते, अतो भवानपि तेनैवोत्पन्नविज्ञान इदानीं प्रतिष्ठिततत्त्वदर्शनः । व्यतिरेकमुखेनैतदेव द्रढयति—स्थिरेत्यादि । स्थिर-बुद्धिरलोलुपोऽपि व्यवसायात् गुरुरपदेशाधीनात् बाल्यादिप्रयुक्तसंभावनानिवर्तकनिश्चयादहेतु यत् यस्मात् परं नासादयति न प्रतिष्ठितविज्ञानविषयीकरोति इत्यपि व्याख्यानं संभवतीति ध्येयम् । एवं निष्कामभक्त्यादितारतम्यं विलम्बाविलम्बो-त्पन्नत्वरूपस्य तत्त्वदर्शनतारतम्यस्य प्रयोजकम् । ननु मोक्षे तत्प्रयोजकम् । न वा तत्त्वदर्शनमोक्षयोस्तारतम्यान्तरप्रयो-जकमित्यर्थः । भूयोगुणविशेषकत्वेनोपासनोत्कर्षेण चित्तैकाग्र्यरूपे साक्षात्तत्फल एवोत्कर्षः । तेन चाविलम्बोत्पत्तिकत्व-रूपस्तत्त्वदर्शने उत्कर्षः; नान्यः नानागुणविषयत्वादिः, श्रुतेर्निर्गुणे तात्पर्यात्, जातिविशेषरूपोत्कर्षस्योपासनान्तरप्रयुक्त-तत्त्वदर्शनावृत्तेस्तत्त्वदर्शने स्वीकारे मानाभावात् । ततश्च सर्वद्वैतनिवृत्त्या मोक्षेऽपि न विशेष इति भावः ॥ तर्कः सारस्वतै रत्तैश्चन्द्रिकाचन्द्रभूषणैः । दुरन्तध्वान्तभङ्गाय तारतम्यं न मुक्तिगम् ॥ इति लघुचन्द्रिकायां मुक्तौ तारतम्यभङ्गः ॥

यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वच्छया
 यः सर्वान्स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति ।
 यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं
 द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः । वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थं परिनिष्ठिताः ॥
 सहजसरलां प्रेम्णा दीर्घां समस्तविशोधिनीं सकृदपि कृपादृष्टिं सन्तो दिशन्तु भवद्विधाः ।
 कथमपि सती पूता सद्यस्तया विषयीकृता मम कृतिरियं हित्वा दोषान्भवत्वतिसद्गुणा ॥
 गुरुणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात् श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्जननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
 परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥

इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
 प्रतिवचनमुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् नहि रुतमनु रौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥
 कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान् ।
 अनेन सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत् परं सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ ॥
 ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूयतां वा स निन्दताम् । मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥

श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान् वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान् ।
 विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान्दयालून् सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या ॥

सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् । अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥
 इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-
 विरचितायामद्वैतसिद्धौ मुक्तिनिरूपणं नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) ।

निखिलान् शिवादीन् । सर्वान् द्रौपद्यादीन् । ददाति शिशुपालादिभ्यः । निजपदं सायुज्यमुक्तिम् । विद्यागुरून्नु-
 स्सरति—श्रीमाधवेति । गुरुणां श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीनाम् । गुरुमाहात्म्येन । सकलशास्त्रपरिशीलनेन श्रुतवेदान्तश्रवण-
 पाटवेन मननेन च यावदवधारितं ब्रह्मानन्दस्य स्फुरणं, तस्मात्तादृशम् । अवधारणस्य स्फुरणप्रयोजकत्वात् अवधारितस्य
 तदुक्तिः । निहितं लिखितम् । अतत्त्वे असत्ये । तत्त्ववादी सत्यवादी मिथ्याप्रपञ्चे तादात्म्येन सत्त्वप्रकारकवचनशीलः
 माधवः । शीलोक्त्या निर्युक्तिकवचनं दर्शितम् । अकाण्डे अनवसरे दूषणशून्ये मन्मते । ग्रामसिंहस्य शुनकस्य ।
 इष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानां इष्टादिपदाव्यवहितोत्तराणाम् । सिद्धीनां सिद्धीतिपदानाम् । नामनामिनोरभेदोपचारादिष्ट-
 सिद्धादिग्रन्थलाभः । 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षत' इत्यादिवत् ब्रह्मगानामित्यन्ते लक्षणया वा तल्लाभः ॥

महानुभावधौरेयशिवरामाख्यवर्णिनः । एतद्ग्रन्थस्य कर्तारो लेखकाः केवलं वयम् ॥
 श्रीनारायणतीर्थानां षट्छास्त्रीपारसीयुषाम् । चरणौ शरणीकृत्य तीर्णः सारस्वतार्णवः ॥
 भजे श्रीपरमानन्दसरस्वत्यङ्घ्रिपङ्कजम् । यत्कृपादृष्टिलेशेन तीर्णः संसारसागरः ॥

यद्यत्संभवदुक्तिकं परवचः संभूष्य तद्वृषितं व्याख्यातश्च निगूढभावगहनो वाणीसुधासागरः ।
 सर्वं तच्छरदिन्दुसुन्दरमुखश्रीकृष्णलीलातनौ मालाभावमवाप्य सज्जनमनोमालां समाकर्षतु ॥
 एषा यद्यपि चन्द्रिका खलमनोराजीवराजेरिर्ध्वान्तच्छेदकरी सरीसृपमुखव्याघातमुद्राकरी ।
 साधूनां सरलस्वभावकरुणाकूपारसारात्मनां चेतश्चन्द्रमणीमणीषु रमणी जात्या तथापि स्फुटम् ॥

इति श्रीपरमानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीब्रह्मानन्दसरस्वतीविरचितायाम-
 द्वैतसिद्धिटीकायामद्वैतलघुचन्द्रिकायां चतुर्थः परिच्छेदः ॥

समाप्तेयं लघुचन्द्रिका ।

ॐ श्रीरस्तु

अविद्यानिवृत्तितन्निवर्तकमुक्त्यानन्दरूपत्वादिनिरूपणम् ॥

(१) तत्र न्यायामृतकाराः—

नाविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिः । तथाहि—साहि असाध्यत्वापत्त्या नात्मरूपा । नापि तद्विज्ञा सती; अद्वैतहान्यापत्तेः । अतएव आत्मभिन्ना मिथ्यारूपा न सा भवति; अविद्यातत्कार्यत्वान्यतरापत्तेः । एतेन—चरमवृत्त्युपलक्षितात्मस्वरूपत्वमपि—**परास्तम्**; उपलक्षणसाध्यतयैव मुक्तेरपि साध्यताया इव तन्निवृत्त्या मुक्तेरपि निवृत्त्यापत्तेः, वृत्त्युपलक्षितस्य पश्चादिव मोहकालेऽपि पूर्वं सत्त्वाच्च, उपलक्षितत्वस्याप्यधिकस्य भाने सविशेषत्वापत्तेश्च । यत्तु अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिवृत्तिरेवेति मतम्, तदप्यनेन—परास्तम्; वृत्तिनाशानन्तरकालेऽप्यनुवर्तमानस्याविद्याध्वंसस्य वृत्तिरूपत्वासंभवात् । किंचेयं प्रक्रिया किमन्यत्र दृष्टा, उतेहैव । आद्ये बिम्बप्रतिबिम्बाज्ञाननिवृत्तेरपि ज्ञातबिम्बप्रतिबिम्बैक्यरूपतापत्तिः, द्वितीये नियामकाभावः । विश्वमिथ्यात्वश्रुतिस्तु स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्यात्वपरा न निवृत्तेरपि निवृत्तिं बोधयतीति न निवृत्तेर्ज्ञानाधिष्ठानातिरेके तद्विरोधापत्तिः । अपिच वृत्त्युपलक्षितात्मनो मोक्षत्वे जीवन्मुक्तावपि सोऽस्तीति तदाऽपि मोक्षापत्तिः । चरमसाक्षात्कारवृत्तिविवक्षायामपि तदुपलक्षितात्मनः साध्यत्वापत्तिः । वेदान्तश्रवणसाध्यो हि पुमर्थो नात्मा; असाध्यत्वात्, नापि वृत्तिः; अपुमर्थत्वादिति मन्तव्यम् ॥

एतेन नाविद्यानिवर्तकमपि स्वप्रकाशचैतन्यमात्रं तदाकारापरोक्षवृत्तिर्वा, आद्यस्येदानीमपि सत्त्वात्, द्वितीयेऽसंख्यात्सत्यसिद्ध्ययोगात्, अज्ञाने ज्ञप्तिरूपज्ञानविरोधित्वस्यैवानुभवेन वृत्तिविरोधित्वायोगात् । नहि चित्ता प्रकाशमाने सुखादावज्ञानं दृश्यते । इच्छानिवर्त्यद्वेषवत् वृत्तिनिवर्त्याज्ञानस्यापि सत्त्वापत्तेश्च । किंच वृत्तेर्निवृत्तिः । किं वृत्त्यन्तरेण उतात्मनैव । आद्येऽनवस्थाप्रसङ्गः द्वितीये स्वस्थितिविरोधः । यत्र तूपान्त्यशब्दजशब्दः स्वस्यापि निवर्तकः तत्रापि उपादाननिवर्तकत्वं न दृष्टमेव । एतेन—वृत्तिप्रतिबिम्बितचिन्निवर्तकत्वमपि—**पराहतम्**; अपरोक्षवृत्तौ सत्यां चिदप्रतिफलनेनानिवर्तकत्वाददर्शनात् । अपिच निवर्तकं ज्ञानं शुद्धस्यादृश्यत्वात् न शुद्धगोचरम्, विशिष्टस्याध्यस्तत्वेन भ्रमत्वापत्त्या न तद्विषयम् । एतेन—अन्यज्ञाननिवर्तकासंभवादपि तदनुपपत्तिः—**सूचिता**; अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्त्या नहि स्वयमेव निवर्तकम् । नापि शुद्धात्मा; तस्य किंचिदपि प्रत्यहेतुत्वात् । सर्वथा निवर्तकासंभवान्नाविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः, किंतु वृत्तिसाध्यावरणनिवृत्तिरूपानन्दप्रकाश एव मोक्ष इति सिद्धम् ॥

किंच लन्मते न दुःखोच्छेदमात्रं पुमर्थः, किंतु निरतिशयानन्दप्रकाशं चैतन्यम्, तच्च न युक्तम् । सुखी स्यामिति हि कामयन्ते न सुखं स्यामिति । नह्यपरकीयसुखं पुरुषार्थः, तथेच्छाविरहात् भावरूपस्वकीयत्वेनैवेच्छाविषयत्वेऽभावरूपापरकीयत्वेन तस्य गौरवप्रसत्त्वात् । देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां मिलिताभ्यां निर्मितप्रासादस्य परकीयस्यापि सुखसाधनस्येष्टत्वात् । अपरकीयेऽस्वकीयेऽपि चन्द्रमण्डलादौ इच्छानुदयाच्च । साक्षात्क्रियमाणत्वं तु न पुरुषार्थत्वप्रयोजकम्; ईश्वरस्याप्यसमादिसुखेच्छाप्रसङ्गात् । एतेन—उपलब्धत्वमेव पुरुषार्थत्वप्रयोजकमिति विवरणसिद्धान्तोऽपि—**परास्तः**; परकीयसुखसाधनस्याप्युपलभ्यमानस्य पुरुषार्थत्वप्रसङ्गात् । किंचापरकीयसुखसाक्षात्कारो न तावत् स्वसंबद्धः स्वस्य पुरुषार्थः; सुखसाक्षात्काररूपस्य मुक्तस्य सुखेच्छानुदयापत्तेः । खेतरासंबन्धितया तु संसारीतरमुक्तासंबन्धितया साक्षात्क्रियमाणमुक्तरूपपुरुषार्थेन संसारिणोऽपि पुरुषार्थप्रसङ्गः इति स्वसंबद्धतया साक्षात्क्रियमाणसुखादिकमेव पुरुषार्थ इति अद्वैतसिद्धान्तो न समीचीनः । अपिच नायं मोक्षोऽहमर्थस्य लन्मते मुक्त्यनन्वयिनः संभवति । चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितिच्छाप्रसङ्गेन चिन्मात्रमपि न तदन्वयि । किंच अपुरुषार्थतापत्त्या न सुखं दुःखाभावरूपं, सद्वितीयत्वापत्त्या तु न तदतिरिक्तरूपम् सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थतापत्त्या च नात्ममात्रत्वं प्रकाशमात्रत्वं वा तस्य संभवति । एवंच निर्विशेषसुखस्य पुरुषार्थत्वायोगात् सविशेषानन्द एव पुरुषार्थो मुक्तिरिति च सिद्धम् ॥

एतेन निर्विशेषसुखस्य जीवन्मुक्तानुभवसिद्धत्वमपि—**निरस्तम्**; तत्त्वज्ञानादविद्यानाशे सद्यःशरीरपातापत्त्या न निवृत्ताविद्योऽनुवृत्तदेहादिप्रतिभासो जीवन्मुक्त इति युक्तम् । क्रियाज्ञानयोः संस्कारसत्त्वेऽप्यविद्यायाः संस्कारसत्त्वे प्रमाणाभावात्तन्निबन्धनोऽयं देहादिप्रतिभास इति न युक्तम् । अन्यथा भावकार्यस्याध्यस्तस्य संस्कारदेहादितद्वेतुप्रारब्धकर्मदेः स्थित्यर्थं तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापातात् । नहि समवायिकरणं विना कस्यापि बहुक्षणावस्थानं कुत्रापि दृष्टचरम् । नहि पूर्वज्ञानानिवृत्तस्याध्यस्तस्य तदनधिकविषयेण पाश्चात्येनापि निवृत्तिः संभवति । एतेन—अविद्यालेशानुवृत्त्या देहानुवृत्तिरपि—**परास्ता**; तत्रहि अज्ञानस्य निरवयवत्वात् लेशो नावयवः । द्रव्यपटन्यायेनाविद्यानिवृत्तिर्वादोऽप्यत एव पराहतः ।

नाप्याकारो लेशपदार्थः । सहि देहादिभ्रमोपादानत्वेऽविद्यात्वापत्त्याऽनुपादानत्वे उपादानान्तराभावेन देहादिभ्रमोत्पत्त्ययोगेन च न जातिः शक्त्यादिरूपो धर्मो वा । अवस्थावन्तं विनाऽवस्थास्थित्ययोगान्नावस्थापि आकारः । नह्यविद्यायां शक्तिरूपायां विद्यमानायां मुक्त इति व्यवहारो युज्यते । एतेन—लेशस्थितौ कर्मानुवृत्तिः । कर्मानुवृत्तौ च लेशस्थितिरित्यन्योन्याश्रयोऽपि—सूचितः ॥

एवंचापरोक्षज्ञानिनोऽपि स्वयोग्यपरमानन्दहेतुपरमकाष्ठापन्नभक्त्यभावे तत्साध्येश्वरप्रसादाभावेन प्रारब्धकर्मणा संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तिः, भक्तिसत्त्वे प्रसादस्यापि भावाग्निःशेषदुःखनिवृत्तिसहितस्वतोनीचोच्चभावापन्नस्वरूपानन्दाविर्भावरूपा मुक्तिरिति सिद्धम् । ईश्वरप्रसादो हि प्रारब्धकर्मक्षये उपयुज्यते । मुक्तावपि भेदः प्रमाणसिद्ध एवेति पूर्वमेव निरूपितमिति तत्र भेदाभावाच्चोच्चनीचभावयोगः । जीवेश्वरयोर्विभूलाणुलादिना तारतम्यं विद्यत एव । अन्यथाऽनेकेश्वरापत्त्या जगद्धा-पारवर्जमित्यादिसूत्रविरोधापत्तेः । ‘मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने’ इति स्मृत्या जीवानामपि तारतम्यमवगम्यते । एतेन—मुक्तजीवभोगः, ईश्वरभोगाग्निकृष्टः, जीवभोगत्वात्, संसारिभोगवत्, ईश्वरानन्दः जीवानन्दादुत्कृष्टः, तन्त्रियामकानन्दत्वात्, यदेवं तदेवं यथा सेवकानन्दात्सेव्यानन्दः इत्याद्यनुमानमपि—व्याख्यातम् । एवं च स्वरूपसुखानां प्रत्येकमणुत्वेनैकत्वेन च संख्यापरिमाणकृतवैषम्याभावेऽपि जलसुधा-पानजन्यसुखयोरिव मधुरमधुरतरत्वादिवत्स्वरूपकृतं वैषम्यं मुक्तौ विद्यत एवेत्यङ्गीकरणीयम् । अतएवहि सालोक्यादिमुक्तिः सायुज्यादिमुक्तितोऽपकृष्टेति प्रसिद्धिरुपपद्यते । सायुज्यं नैक्यं, किंतु संश्लेषमात्रम् । अतएव चन्द्रमसः सायुज्यं सलोक-तामाप्नोतीत्याद्युपपत्तिरिति सायुज्यादौ उत्कृष्टत्वव्यपदेशस्यापकृष्टत्वाभावनिबन्धनत्ववर्णनमपि न संभवति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति प्रतिपर्यायमकामहतप्रयोगोऽपि मुक्तानन्दतारतम्ये प्रमाणम् । तत्रहि नैकस्यैव श्रोत्रियस्य सर्वत्र परामर्शः, मानुषानन्दादिभ्यः सावधारणशतगुणितमनुष्यगन्धर्वाद्यानन्दानामनेकेषामेकस्मिन् विरोधात् । अकामहतत्वस्यैकरूपतयाऽनन्दव्यवस्थायोगाच्च । एतेन—मुक्तसुखं, परस्परतारतम्यवत् परस्परतारतम्यवत्साधनकत्वात्, संमतवदित्यनुमानमपि—विवृतम् । मुक्तिः प्रयागमरणभगवद्वेषादिसाध्येतिमते ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्येतिमते च साधनतारतम्यान्मुक्तिरतारतम्यमप्यावश्यकमेव । ज्ञानैकसाध्यत्वमतेऽपि ब्रह्मापि तद्वेद नचेत्सम्यगन्यदेव मुनीन्द्रवर्या इत्यादिस्मृतिभिः बहुतरशाखाश्रवणं साध्यत्वान्यथानुपपत्त्या बहुतरगुणविषयत्वं ज्ञानेऽपि सिद्धमेवेति नानुपपत्तिः । भक्तिः सिद्धिर्गरीयसीति अल्पमुक्तिहेतुभक्त्यपेक्षयाऽधिकमुक्तिहेतुभक्तिगरीयस्त्वोक्तिरपीदानीमेव सङ्गच्छते । अतएवहि—“साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः । ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः” “अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव” इति ब्रह्माण्डमोक्षधर्मवचने अर्थात् एव व्याख्याते इति सर्वमनवद्यमिति—वर्णयन्ति ॥

(२) अद्वैतसिद्धिकारास्तु—

चरमवृत्त्युपलक्षितात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः । उपलक्षणसाध्यतयैव मुक्तेरपि साध्यता । पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिवद् मुक्तेरपि न निवृत्तिः । एतदभिप्रायमेव—निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षित इति वचनम् । एतेन—अविद्याविरोधि-वृत्तिरविद्यानिवृत्तिरिति मतमपि—व्याख्यातम् । वृत्तिध्वंसोत्पत्तिपर्यन्तं तद्रूपत्वं, चरमवृत्तिध्वंसस्तु अधिकरणस्वरूपमेवेति नानुपपत्तिः । सोपाधिकभ्रमे उपाधिविरहकालीनस्यैव ज्ञाताधिष्ठानस्याज्ञाननिवृत्तिरूपत्वाज्ज्ञेयं प्रक्रियाऽन्यत्रायुक्ता । नेति नेति वीप्सास्वारस्येनात्मातिरिक्तसर्वमिथ्यात्वावगमात् निवृत्तेरपि निवृत्त्यनुपपत्तिरेव तस्याधिष्ठानानतिरेके प्रमाणम् । वृत्त्युपलक्षितस्यात्मनो जीवन्मुक्तावपि सत्त्वेऽपि मुक्तिमात्रापादनमिष्टमेव । चरमसाक्षात्कारोपलक्षितत्वरूपपरममुक्त्या-पादनं तु नावसरमाप्नोति । प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलस्यानन्दप्रकाशस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेऽपि तत्तिरोधायकाज्ञाननिवृत्तेः साध्यत्वमात्रेण कण्ठगतचामीकरादाविव साध्यलोपपत्त्या वेदान्तश्रवणसाध्यत्वपुमर्थल्योरपि नानुपपत्तिः । अविद्यानिवर्तकं च न स्वप्रकाशब्रह्मचैतन्यमात्रम्; तस्य तत्साधकत्वात्, किंतु वृत्त्युपारूढं चैतन्यं चैतन्यप्रतिफलनधारिणी वृत्तिरेव तन्निवर्तिका । अभावस्य भावजनकत्ववत् प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकसुखजनकत्ववच्चासत्याया अपि वृत्तेः सत्योत्पादकत्वं न विरुद्धम् । एतेन—इच्छानिवर्त्यद्वेषवत् अज्ञानसत्यतापादनमपि—निरस्तम्; अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वनिबन्धनस्यैव निवर्तकत्वस्यात्राङ्गीकारेण रूप्यवत्सत्यत्वानापत्तेः । अन्यत्रादृष्टमपि स्वस्यैव स्वनिवर्तकत्वं प्रमाणबलादङ्गीक्रियते । नहि केवलं वृत्तिः केवलं वा चैतन्यं निवर्तकमिति वृत्तिफलितचैतन्यस्यैव निवर्तकत्वेन कापि शङ्का । उपहितविषयमपि निवर्तकज्ञानमुपाध्यविषयत्वाच्च भ्रमरूपमिति मन्तव्यम् । तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन खोपादानाविद्यानाशस्यैव वृत्तिनाशप्रयोजकत्वेन न तथा सद्वितीयत्वापत्तिः । तत्रच सुखात्मतैव पुरुषार्थः । तत्र पुमर्थता नापरकीयत्वप्रयुक्ता स्वकीयत्वप्रयुक्ता वा, किंतु साक्षात्क्रियमाणताप्रयुक्ता । तत्रच हेयतयाऽज्ञातत्वं विशेषणं दीयत इति नास्मदादिसुखम्

ईश्वरस्यापि पुमर्थो भवति । मुक्तसुखसाक्षात्कारो न संसारिण इति न संसारिणोऽपि मुक्तसुखपुमर्थताप्रसङ्गः । एतेन—प्रत्यक्षप्रकाशत्वेन सुखं पुमर्थ इति वचनमपि—**व्याख्यातम्** । तच्च सुखं अहमर्थगतमुक्तिकालान्वयि चिदंशस्यैव । तच्च दुःखाभावातिरेक्यप्यात्मानतिरेकीति नानुपपत्तिः । सुखप्रकाशयोस्तत्त्वतोऽभेदेऽपि काल्पनिकभेदसत्त्वात् न सुखप्रकाश इति व्यपदेशानुपपत्तिः । तच्च सुखं जीवन्मुक्तस्यानुभवसिद्धम् । जीवन्मुक्तो नाम निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्ताविद्यासंस्काराधीनदेहादिप्रतिभासः । निःसारितपुष्पायां संपुटिकायां पुष्पवासनावदविद्याया अपि वासनासंस्कारापरपर्याया संभवत्येव । विमतो नाशः, संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यत्वे सति नाशत्वात् इत्यनुमानमप्यत्र प्रमाणम् । विनश्यदवस्थस्य समवायिकारणं विनापि स्थितिदर्शनादुपपादकसत्त्वे बहुक्षणसंबन्धकल्पनाया अप्युपपत्तेः न संस्कारादिस्थित्यनुपपत्त्याऽज्ञानानुवृत्त्यापातः संभवति । पूर्वज्ञानं प्रतिबन्धकाभावासहकृतं न संस्कारादिनिवर्तकम् उत्तरं तु तत्सहकृतं तन्निवर्तकमिति न विरोधः । एतेन—अविद्यालेशानुवृत्त्या देहाद्यनुवृत्तिपक्षोऽपि—**व्याख्यातः**; तत्रच लेशो नाम आकारः, आकारश्च अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनकाविद्यकशक्तिविशेषः । तदनुवृत्त्या च तद्वदविद्यापि अनुवर्तत एव । शक्तिनाशमात्रानुमुक्त इति व्यवहारोऽविद्यादशायामप्युपपद्यत एव । विलीना हि पूर्वतनेन ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थत्वसंपादका शक्तिरिति सर्वमनवद्यम् । लेशस्थितौ कर्मानुवृत्तिः कर्मानुवृत्तौच लेशस्थितिरित्यन्योन्याश्रयस्तु ज्ञप्तौ स्थितौ वा न विरोधी । एवंच यागे नष्टेऽपि तत्सूक्ष्मावस्थारूपमपूर्वं यथाऽङ्गीक्रियते एवमज्ञाने गतेऽपि तल्लेशो देहादिप्रतिभासहेतुरङ्गीक्रियत इति जीवन्मुक्तिरुपपन्नैव ॥

तस्य च जीवन्मुक्तस्य कैवल्यसंपत्त्यर्थं प्रारब्धकर्मक्षयमात्रमपेक्षितं तस्य तावदेव चिरमिति श्रुतेः, न तु ईश्वरप्रसादोऽपेक्ष्यते । स्मृतिपुराणादीनां स्तुतिपरत्वात् । भोगादेव प्रारब्धकर्मक्षयोपपत्त्या नेश्वरप्रसादस्य तत्रापेक्षा । एतेन—मुक्तावुचनीचभावोऽपि—**परास्तः**; मुक्तौ भेदाभावेन तारतम्यासिद्धेः । यथाच भेदे न प्रमाणं यथा पूर्वमेव निरूपितम् । किंच तारतम्याभिधानम् “ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे” इति सूत्रेण परमुक्तौ तारतम्यशङ्कया तन्निषेधात् न परमुक्तौ घटते । अपरमुक्तौ तु इष्टमेव । एतेन—मुक्तशिवभोग ईश्वरभोगाजिकृष्ट इत्याद्यनुमानमपि—**परातदहम्**; आद्ये मुक्तस्य ब्रह्मरूपतया जीवत्वाभावेनाश्रयासिद्धेः ईश्वरत्वाभावेन साध्याप्रसिद्धेः, स्वरूपासिद्धेश्च । द्वितीये जीवेश्वरविभागकाले चेत् सिद्धसाधनम्, कालान्तरे चेत् पूर्वदोषानतिवृत्तिः सैषानन्दस्येति ब्रह्मानन्दपर्यन्तमेव तारतम्यमभिदधाति । अनन्तरं तु यतो वाचो निवर्तन्ते इति मुक्तौ आनन्दापरिच्छेदमात्रं बोध्यते इति उक्तश्रुतिविरोधादनुमानत्रयमपि बाधितमेव । साधनतारतम्यप्रयुक्तं हि तारतम्यं वैषयिके सुखे संभवति न स्वरूपानन्दे । सालोक्यसायुज्ययोस्तु परापरमुक्तिरूपत्वादपकर्षो विद्यते एव । सायुज्यं चैक्यमेव न संश्लेषमात्रम्; व्यापकेनेश्वरेण संश्लेषस्य नित्यसिद्धत्वात् । यथा ब्रह्मलोकान्तावासिरुक्कमणगमनादिसाध्या, नैवं मुक्तिः; “अत्र ब्रह्म समश्नुते” इति तस्य अपारलौकिकत्वावगमात् । येन पारलौकिकसंश्लेषः सायुज्यं स्यात् । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतिसिद्धः सर्वानन्दस्य स्वरूपानन्देऽन्तर्भाव एव श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यसकृत्प्रयोगतात्पर्यविषय इति न तदनुपपत्तिरपि मुक्तौ सुखतारतम्ये प्रमाणम् । केवलकर्मसाध्यत्वे कर्मसमुचितज्ञानसाध्यत्वपक्षे च मोक्षानित्यत्वापत्त्या ज्ञानसाध्यत्वपक्षस्यैव युक्तत्वात्तस्यैकरूपत्वेन साधनतारतम्यनिबन्धनतारतम्यस्यापि नावकाशः । एतेन—साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुरिति वचनमपि—**व्याख्यातम्**; तस्यापरमुक्तिविषयत्वात् ॥

तस्मात्स्वरूपानन्दस्य स्वप्रकाशात्मरूपिणः । प्राप्तिर्मुक्तिर्न तत्रास्ति तारतम्यं कथंचनेति सिद्धमिति—**निरूपयन्ति** ॥

(३) तरङ्गिणीकारास्तु—

श्रवणादिजन्यवृत्त्युपलक्षितात्मा नाज्ञानहानिः; असाध्यत्वापत्तेः, उपलक्षणसाध्यतयौपचारिकसाध्यत्वे चौपचारिकपुरुषार्थत्वं मोक्षस्य समापद्येत । नह्येवमन्यत्र कुत्रापि ज्ञाताधिष्ठानमेवाज्ञाननिवृत्तिरिति संभवति । विम्बैक्याज्ञाननिवृत्तेरपि ज्ञातविम्बैक्यरूपतापत्तेः । उपाधिविरहकालीनाविद्यानिवृत्तेरेवैवंरूपतेति तु नियामकाभावाच्च युज्यते । एतेन—तद्वृत्तिरूपत्वपक्षोऽपि—**निरस्तः**; वृत्तेरपुरुषार्थाया मोक्षरूपत्वायोगात् । वेदान्तश्रवणसाध्यः पुमर्थो हि मोक्षः । आनन्दप्रकाशतिरोधायकाज्ञाननिवर्तकत्वेन तु वृत्तिपुरुषार्थत्वमज्ञाननिवृत्तेरात्ममात्रत्वनिरासेन निरस्तप्रायम् ॥ तादृशाज्ञाननिवृत्तिश्च न वृत्त्यधीना, कार्यकारणयोः समसत्ताकलनियमात् । तच्च सुखं न निर्विशेषम्; अपुरुषार्थतापत्तेः, स्वकीयत्वानुसंधानं हि पुरुषार्थत्वप्रयोजकं नतु हेयत्वेनाज्ञातत्वे सति साक्षात्क्रियमाणत्वम्; गौरवात् । तत्र जीवन्मुक्तानुभवोऽप्यतएव परास्तः । युष्मदभिमतजीवन्मुक्तेरेवासिद्धेः । नहि निवृत्ताविद्यस्य संस्काराधीनदेहादिप्रतिभासो युक्तिसहः; तेषामज्ञानकार्यत्वेनाज्ञानं विना

बहुकालस्थितौ प्रमाणाभावेनाज्ञानानुवृत्त्यापातात् । पूर्वोत्तरयोर्ज्ञानयोर्न हि विशेष उपपद्यते । ज्ञानस्य स्वप्रागभावनिवर्तन इवाज्ञाननिवर्तनेऽपि इतरानपेक्षणात् । देहादेरनाविद्यकत्वेनैव जीवन्मुक्तिश्रुत्युपपत्त्या नाज्ञानलेशे भूयश्चान्ते इति श्रुति-
मानमिति सर्वमनवद्यम् । एतेन—मुक्तौ तारतम्यमपि—सूचितमिति मन्तव्यम् ; साधनतारतम्ये साध्यतारतम्यस्यार्थ-
सिद्धत्वादिति—प्रतिपादयन्ति ॥

(४) लघुचन्द्रिकाकारास्तु—

अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वरूपं पुरुषार्थत्वं न साध्यत्वघटितमिति नौपचारिकसाध्यत्वेन पुरुषार्थत्वौपचारिकत्वापत्तिः
अन्यानि च दूषणानि पूर्वमेव तत्र तत्र निरस्तानीति सर्वमनवद्यमिति—विवेचयन्ति ॥

इति अविद्यानिवृत्तितन्निवर्तकमुत्तयानन्दरूपकत्वादिनिरूपणम् ॥

इति महामहोपाध्यायविरुदाङ्कितसर्वतन्त्रस्वतन्त्रगुरुवरपञ्चापकेशान्तेवासि-
नोऽनन्तकृष्णशास्त्रिणः कृतिषु चतुर्ग्रन्थी समाप्ता ।



संपूर्णोऽयं ग्रन्थः ।



श्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीतम् ।

अद्वैतरत्नरक्षणम् ।

शास्त्रारम्भोपपत्तिः ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

बृहदारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरवारनारीभिः ।

सत्यचिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे ॥ १ ॥

निर्जित्य प्रतिपक्षान्द्वैतधियो दुष्टतार्किकमन्यान् ।

अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः ॥ २ ॥

ननु—प्रत्यक्षागोचरत्वात्सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मस्वरूपमद्वैतं वस्तु वेदैकसमधिगम्यमिति भवतोऽभिमतम् । तन्न सङ्गतम्; तस्य च स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्तविचारस्य धर्मेमीमांसाशास्त्रेणैव विचारितत्वात्, अर्थवादस्य च विधिशेष-
तया प्रामाण्याद्वैदान्तानां च सिद्धवस्तुबोधकत्वेनार्थवादरूपत्वात् । नच—कर्मविधिशेषभूतानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादीनां
तत्र विचारितत्वेन 'सदेवे'त्यादिवाक्यानामत्र विचार इति युक्तम् । कर्तृस्तावकत्वेन तेषामपि विधिशेषत्वात्, 'संभ-
वत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यत' इति न्यायात् । नच प्रकरणान्तरत्वम्; पूर्वोत्तरकाण्डयोनितपोर्वार्थ-
स्यान्यथा वक्तुमशक्यत्वादित्यनारम्भणीयमिदं बादरायणीयं तन्नमिति तदनुग्राहकयुक्तिव्युत्पादनमप्यनर्थकमिति प्राप्ते—

ब्रूमः । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधिर्न कृत्स्नस्य वेदस्य विचारं प्रयुक्ते । तथाह्यध्येतव्य इति विधिर्नियोगो वा
स्याद्भावना वा स्यादिष्टसाधनत्वं वा स्यात् । तत्र नियोगपक्षे धात्वर्थविषयको नियोगस्तस्य च निर्नियोज्यत्वात्स्वविष-
याननुष्ठापकत्वादात्मनियोज्येनैवाध्यापनविधिना स्वविषयानुष्ठानसिद्धेर्नियोज्याकल्पनाच्च विचारविधायकत्वं दूरत एवा-
नाशङ्कनीयम् । भावनावादेऽप्यध्ययनकरणिका भावना शब्दात्प्रतीयते तस्या भाव्याकाङ्क्षायां समानपदोपात्तः
स्वाध्यायो भाव्यत्वेनान्वेति न त्वन्यत्; दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाऽयोगात् । नच स्वाध्यायस्य सिद्धत्वेन भाव्यत्वानु-
पपत्तिः; तदवाप्तेरसिद्धत्वेन भाव्यत्वोपपत्तेः । अथ—तस्याः स्वतोऽपुरुषार्थत्वादर्थवबोधस्य चानुष्ठानौपयिकत्वे-
नोपयोगात्स एव भाव्यतां प्रतिपद्यते, तस्य च विचारमन्तरेणानुपपत्तेस्तस्मिन्नपि स्वाध्यायविधेस्तात्पर्यमिति—चेत्,
न; राजसूयादिप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्राह्मणेनाध्ययनानापत्तेः । ब्रह्मयज्ञजपाद्यर्थं तदध्ययनमिति यदि, तर्हि सर्वस्यैव
तथाध्ययनमस्तु, किमर्थवबोधकल्पनयेति । किञ्च हुंफडादिशब्दाध्ययनस्यार्थवबोधपर्यन्तत्वाभावादवश्यमक्षरग्रहणं
स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वलक्षणं फलं वाच्यम् । तथाच वैरूप्यपरिहारार्थं सर्वत्र तदेवास्तु, अर्थावबोधस्तु तस्य फलं, ननु
विधेः, कथं तदुभयभिन्नोच्चारोऽध्ययनविधिविधेयः स्यात् । अवघाते आवृत्तिवद्भविष्यतीति चेन्न; तत्र विहितस्यैव
धात्वर्थस्य दृष्टवैतुष्यफलानुपपत्त्या आवृत्तिकल्पनात्, इह त्वक्षरग्रहणेनैव दृष्टफलेनोपपत्तौ कल्प्यविचारविध्यनुपपत्तेः ।
ननु—अर्थावबोधस्य विध्यफलत्वे तत्र शब्दानां तात्पर्यं न स्यात्, तथाच न वेदस्य प्रामाण्यलाभ इति—चेन्न;
लोके नद्यास्तीरे पक्कफलानि सन्तीति वाक्यस्य विध्यभावेऽप्यवबोधे तात्पर्यदर्शनात् । तस्मान्न स्वाध्यायविधिप्रयुक्तो
विचारः, किंतूत्तरक्रतुविधिप्रयुक्त इति यथा, तथा श्रवणादिविधिप्रयुक्त एव ब्रह्मविचारोऽपि भविष्यतीति को विरोधः !
इष्टसाधनताविधिपक्षेऽपि कस्येष्टस्य साधनमध्ययनमित्यपेक्षायामक्षरग्रहणस्यैवाकाङ्क्षापूरकत्वे नान्यफलकल्पनावकाश
इति उत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तत्वादर्थवबोधस्य तत्प्रयुक्त एव विचार इति ।

भवतु वा स्वाध्यायविधिप्रयुक्त एव विचारः; तथापि प्राच्यमीमांसया न गतार्थत्वम् । तत्र कर्मोपयोगिन एव
वेदभागस्य विचारितत्वात् । नचैकवाक्यत्वम्, विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन तदसंभवात् । अर्थाविरोधे सत्यैकवाक्यत्वम् ।
नचैवं परस्परविरुद्धार्थत्वेनाप्रामाण्यं काण्डद्वयस्यापि शङ्क्यम्; पूर्वकाण्डस्य व्यावहारिकप्रामाण्यात्, उत्तरकाण्डस्य
पारमार्थिकवस्तुप्रतिपादकत्वेन तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभ्युपगमात् । किञ्च ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकदुरितध्वंसजनककर्म-
कलापप्रतिपादकपूर्वकाण्डेन सह ब्रह्मज्ञानजनकोत्तरकाण्डस्य मोक्षप्रयोजनकस्यैकवाक्यत्वे संभवति विरोधेनाप्रामाण्य-
कल्पनानुपपत्तिः । नच—पूर्वकाण्डपेक्षितदेहादिव्यतिरिक्तकर्तृस्तावकत्वेनोत्तरकाण्डस्योपयोगः किं न स्यादिति—

सांप्रतम्; मुख्यत्वे बाधकाभावात्, स्तुतौ लक्षणापत्तेः, देहव्यतिरिक्तस्य स्तुतिं विनापि कर्मणि प्रवृत्तिसंभवात्, देह-
व्यतिरिक्तमात्रापेक्षणाच्च, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभावस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मभावस्य नित्यनिरतिशयानन्दरूपस्य विज्ञानघनस्य
बुद्धेः प्रवृत्तिं प्रत्यनुपयोगाच्च । नचैतादृशे वस्तुनि प्रत्यक्षादिबाधः; तस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । तस्मादगतार्थमिदं बाद-
रायणीयं तन्नमिति तत्त्वविचारः पृथक्करणीय इति तत्त्वरक्षार्थं यतनीयम् ॥ इत्यद्वैतरत्नरक्षणे शास्त्रारम्भोपपत्तिः ॥१॥

अथ श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिः ॥ २ ॥

ननु—भाष्यकारादिभिस्तत्त्वरक्षार्थं बहुग्रन्थस्य कृतत्वात्किमनेनेति—चेत्, सत्यम्; कुतार्किकोत्थापितकुयुक्ति-
निराकरणेन भाष्यकाराद्युक्ततात्पर्यवर्णनेन चास्य सार्थकत्वात् । तथाहि—

मोक्षाय स्पृहयालवः श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थेऽनृजौ वेदान्तार्थविभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः ।

भेदे खण्डनखण्डितेऽपि शतधा तन्द्रालवस्तार्किकाः कैवल्यात्पतयालवः शृणुत सद्युक्तिं दयालोर्मम ॥ १ ॥

अद्वैतरत्नरक्षायां तात्त्विका एव यामिकाः । अतो न्यायविदः स्तेनान्निरस्यामः स्वयुक्तिभिः ॥ २ ॥

तदिदं तत्त्वरक्षणं क्रियमाणं विवेकिभिर्विचारणीयम् । तत्रोक्तं तावत्स्वप्रकाशचिदानन्दरूपं सत्यं नित्यं सजातीयविजा-
तीयस्वगतभेदशून्यं तत्त्वमिति । प्रमाणं चात्र 'अस्थूलमनण्वहस्व'मित्यादि वेदान्तवाक्यमेव । अस्य चायमर्थः—न
विद्यते स्थूलं यत्र तदस्थूलम्, न विद्यतेऽणु यत्र तदणु, न विद्यते ह्रस्वं यत्र तदहस्वम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।
तथाच सकलद्वैतात्यन्ताभाववद्भूतप्रतिपादनेन सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं वस्तुतत्त्वं प्रतिपादितं भवति । नच—
ब्रह्मणि द्वैतप्रसङ्गाभावे प्राप्तिपूर्वकनिषेधानुपपत्तिरिति—वाच्यम्; सृष्टिप्रतिपादकवचनजातेरुपादानत्वप्रतिपादनपरै-
रर्थात्प्रसङ्गसंबन्धस्य प्रापितत्वात् । विमतं जगत्, अभिन्ननिमित्तोपादानकं, भावकार्यत्वात्, सुखादिवदित्यनुमानाच्च
प्रसक्तिः । नच—एतद्विरोधादेव न प्रसङ्गात्यन्ताभावबोधनं शक्यमिति—शङ्क्यम् । सृष्टिवाक्यस्य मायामयसृष्टिप्रति-
पादकत्वात्, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'मित्यनया श्रुत्यैकवाक्यत्वेन तथैव प्रतिपत्तेः, 'अतोऽन्यदार्त'-
मित्यन्यस्य सर्वस्यातत्त्वाभिधानाच्च, 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य' इतिवदप्राप्तेऽपि निषेधोपपत्तेः । नच—ब्रह्मणि प्रसङ्ग-
निषेधेऽप्यन्यत्र सत्त्वं किं न स्यात् ? भूतले निषिध्यमानस्य घटस्य देशान्तरे सत्त्ववदिति—सांप्रतम्; स्वोपादाने
निषिद्धस्य वस्तुनोऽन्यत्र सत्त्वानुपपत्तेः, घटस्य च भूतलं नोपादानम् । नचोपादानत्वं ब्रह्मणोऽसिद्धम्; 'जन्माद्यस्य यतः'
इत्यादिन्यायसिद्धत्वात्, तत्र श्रुत्यनुमानयोरुपन्यस्तत्वाच्च । नच—एकस्यानारम्भकत्वं सततकार्यारम्भप्रसङ्गादिति—
वाच्यम्; विवर्तवादाभ्युपगमात् । अत्र चैकस्या एव रज्ज्वाः सर्पदण्डभूच्छिद्राद्यनेकोपादानत्वदर्शनात्, मायाद्वितीय-
त्वाङ्गीकाराच्च उपादानस्यैकत्वेऽपि कारणान्तरसापेक्षत्वेन सततकार्यारम्भभानापत्तेः आरम्भवादस्य च श्रुतिस्मृतिपुरा-
णादिविरुद्धत्वेन प्रतिभामात्रोत्प्रेक्षितत्वेन चोपेक्षणीयत्वात् । किंच आरम्भवादे कार्यं सत् उतासत् । नाद्यः;
कारकव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः । न द्वितीयः; असतः कारकव्यापारेणोत्पत्त्यसंभवात्, शशविषाणस्यापि तथासति कारक-
व्यापारादुत्पत्त्यापत्तेः । अथ—शशे कार्यस्यात्यन्ताभावो मृदादौ च घटादेः प्रागभाव इत्यस्ति विशेष इति—चेन्न;
उत्पत्तेः पूर्वमसत्त्वाविशेषे एतस्यैव विशेषस्यासिद्धेः । तथापि—इतरकारणसमवधाने समवायिकारणे उत्पत्त्यते
कार्यमिति प्रतीतिरस्ति घटादौ, नेतरत्र, तथाचोत्पत्त्यमान एव घटोऽभावस्य विशेषक इति—चेन्न; असता संबन्धस्या-
निरूपणात् । तज्ज्ञानमभावस्य निरूपकमिति—चेन्न; ज्ञानस्यापि संबन्धाभावे तदीयत्वासिद्धेः अथ—उत्पत्त्यनन्तरं
घटस्य प्रागभावो नासीदिति ज्ञायते, कथमन्यथा न सर्वत्र घटस्योत्पत्तिरिति—चेत्, न; तदानीं प्रागभावस्यासत्त्वेन
घटस्य तदीयत्वासिद्धेः, स्वरूपसंबन्धस्य व्यात्मकत्वात्, प्रतीतिमात्रस्य च वस्त्वसाधकत्वात् । अनिर्वचनीयत्वेनाप्यु-
पपत्तेः, प्रागभावस्य सत्त्वे प्रमाणाभावाच्च । अथ—उत्पन्नोऽपि घटः पुनरुत्पद्येत यदि प्रागभावस्य न कारकत्वम् ।
सामग्रीक्ष्णोत्तरक्ष्णस्य कार्यसत्त्वेन व्याप्तत्वात् । तत्रच घटस्य प्रतिबन्धकत्वे प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वपर्यवसाने-
ऽन्यस्याभावस्य वक्तुमशक्यत्वेन गलेपादिकान्यायेन प्रागभावे पर्यवसानमिति—चेत्, न; एका सामग्री एकमेव
कार्यं जनयतीति स्वभावस्य कल्पनात् । धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वात् तत्क्षणदृष्टादिरूपकारणाभावेन
सामग्र्यभावाच्च । किंच यदि प्रागभावः कारणं न स्यात् उत्पन्नोऽप्युत्पद्येतेत्यत्र उत्पन्नस्योत्पत्तिरापाद्यमानाऽप्रसिद्धा ।
अथ—माभूत्प्रागभावस्य नियामकत्वं, तथापि का नो हानिः ? शशस्य विषाणं प्रति कारणत्वाभावादेव न ततस्त-
दुत्पत्तिः, तत्त्वं चान्वयव्यतिरेकगम्यमिति—चेत्, न; असतः कार्यस्य कारणत्वनियामकत्वायोगात् संबन्धाभावात् ।
तथा कारणस्यापि न तन्नियामकत्वमसता संबन्धानिरूपणात् । किंच कार्यं विद्यमानमेकदेशेन वा वर्तते सर्वात्मना वा ।
नाद्यः; आरम्भकातिरिक्तैकदेशानभ्युपगमात् । तेनैव वृत्तावात्माश्रयात् । न द्वितीयः; प्रत्यवयवं गोत्ववत्समाप्यवृत्तौ
पुच्छेनापि स्तनकार्यापत्तेः । अथ—अवयवी वर्तते एतावन्मात्रं तस्यैकत्वात्कारुण्यैकदेशविकल्पनानुपपत्तिरिति—चेत्,

न; एकस्यापि गोत्ववद्भुक्तिप्रश्नोपपत्तेः सर्वावयवासनिकर्षे चावयविनोऽप्रत्यक्षत्वापत्तेः । गोत्ववद्भविष्यतीति—चेन्न; असंप्रतिपत्तेः अत्यन्तभेदे चोपादानोपादेयभावे हिमवद्विन्ध्ययोरपि तदापत्तेः । तस्मादारम्भवादानुपपत्तेर्विकारवादस्य च कात्क्षर्यैकदेशविकल्पप्रसङ्गेन दुःस्थत्वासंघातवादस्य चातिरिक्तकार्यानुभवेन बाधितत्वाच्छून्यवादस्य च सकलप्रमाण-
निरस्तत्वाद्विवर्तवाद एव परिशिष्यते । अथ—एवमेकस्यात्मनो नित्यस्याविनाशिनो जगदुपादानत्वं उत्पन्नमपि कार्यजातं नित्यं स्यात्; समवायिकारणासमवायिकारणनाशयोः कार्यनाशप्रयोजकयोरभावात्, अन्यस्य कार्यनाशकस्यादर्शना-
दिति—चेन्न; तदभावेऽपि महमरीचिकायामुत्पन्नस्य नदीपूरस्य रज्ज्वामुत्पन्नस्य च सर्पादेः शुक्तिकायामुत्पन्नस्य च रजतादेर्द्विवादेश्व नाशदर्शनात् । न तत्र नाशः किं तर्हि? बाध इति चेत्, प्रकृतेऽपि समानमेतत् । यथाच प्रपञ्चस्यापि शुक्तिरजतादितुल्यता तथोपपादयिष्यामः । तस्मादुपादानकारणे ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य नान्यत्र सत्त्व-
मस्तीति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिः ॥ २ ॥

अथ श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गः ॥ ३ ॥

अत्र कश्चिदाह—नाद्वैतज्ञानं मुक्तिहेतुः किंतु देहादिप्रतियोगिकभेदवदात्मज्ञानम् । वदति चात्र भेदनिरूपणप्रति-
ज्ञापूर्वकभेदस्थापने प्रमाणम् । तथाहि—‘देहादेस्तात्त्विकाद्भेदं सत्यं चात्मन्यजानताम् । मुमुक्षूणां न मोक्षोऽस्तीत्यतो
भेदो निरूप्यते ॥ १ ॥ न सा धीः कचिदप्यस्ति यत्र भेदो न भासते । अतएव न तन्मात्रं यन्न भेदप्रमापकम् ॥ २ ॥ ‘स
होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमन्त्रेहमच्छायमतमोऽवायवनाकाशमसङ्ग-
मरसमगन्धमचक्षुःकमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृ-
तमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नोति कश्चने’ति श्रुतावन्योन्याभावात्मकभेदस्यैव न जर्थ-
त्वात् । तथाच स्थूलं यच्छरीरादि तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः । एवमणु यन्मनःप्रभृति तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थ इत्यादि । तथाच
भेदज्ञानादेव कैवल्यमिति ।

अत्रेदमालोचनीयम्—भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे यदि प्रमाणं स्यात्तदास्याः श्रुतेर्भेदे तात्पर्यवर्णनं युक्तम्, तदेव तु
नास्ति; प्रमाणाभावात् । तथाहि—‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ ‘आत्मनो वा अरे
दर्शनेन श्रुत्या मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति’ तथा ‘तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति’ ‘आत्मा ज्ञातव्यः’ ‘न स
पुनरावर्तत’ इत्यादिश्रुतावात्मज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं श्रुतम्, नतु भेदज्ञानस्य, तथाच तत्र श्रुतेस्तात्पर्यवर्णनं व्यर्थमेव ।
पद्यद्वयं चात्र पठनीयम्—‘अतात्त्विकाच्छरीरादेर्मिथ्याभेदमजानताम् । सत्यात्मनि मुमुक्षूणां कृतेऽभेदो निरूप्यते ॥
न सा धीः कचिदप्यस्ति यत्राभेदो न भासते ॥ अतएव न तन्मानं यन्नाभेदप्रमापकम् ॥’ इति । अथ—अस्थूलादिवाक्यमेव
भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणमित्युच्यते, तदपि न; तस्य वाक्यस्य वस्तुतत्त्वपरत्वात्, अर्थान्तरकल्पने वाक्यभेदाच्छ्रु-
तिस्वरसाद्देहेतुमद्भावाप्रतीतिश्च । नच—देहादौ तादात्म्यज्ञानस्य संसारहेतुत्वात्तद्भेदज्ञानं विमुक्तौ कारणमिति—
वाच्यम्; ब्रह्मात्माज्ञानस्यैव संसारहेतुत्वेन श्रुतौ स्मृतौ च श्रवणात् । तथाहि—‘न तं विदाथ य इमा जजानान्ययु-
ष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति’ ‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव’ इति
च श्रुतिस्मृती तत्र प्रमाणम्; मम देह इति देहभेदस्य भासमानत्वेऽपि संसारस्यानुभवसिद्धत्वाच्च । स्तम्भः पिशाचो न भव-
तीतिवत्सर्वमहं न भवामीति भेदस्य ज्ञानसंभवेऽपि सर्वेषां संसारस्यानुभवसिद्धत्वाच्च । तस्मान्न भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे
प्रमाणमस्ति । नच—‘द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरमेव चे’ति श्रुतिर्मानम्; न तावदस्याः श्रुतेर्भेदः पदार्थो, भेदवाचक-
पदाभावात्, द्विवचनस्य भेदावाचकत्वात् । नापि वाक्यार्थः, पदार्थसंबन्धस्यैव वाक्येन प्रतिपाद्यत्वात् । अथ—
द्वित्वस्य भेदव्याप्तत्वात्तेन भेदानुमानमिति—चेन्न; ‘तत्त्वमसि’ ‘अहं ब्रह्मास्मी’त्यभेदबोधकश्रुत्यानुमानस्य बाधितत्वात्
प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेन स्मृतिबाधवत् । बिम्बप्रतिबिम्बभेदेन द्वौ चन्द्राविति तद्वित्वस्योपपत्तेश्च न पारमार्थिकभेदानुमानम् ।
किंच ‘द्वे ब्रह्मणी’ इति श्रुतिर्न जीवपरयोर्भेदे प्रमाणं, अथापरमित्यादिनाऽपरशब्देन ब्रह्मण एव श्रुत्या प्रतिपाद-
नात् । ज्ञाते च ब्रह्मणि तेन परब्रह्मज्ञानस्य संभवात्तदुपयोगः । नतु तद्भेदज्ञानस्योपयोगः, आनुषङ्गिकभेदज्ञानस्य
चाविद्यकतन्मानत्वेनाप्युपपत्तेः । तस्माच्छ्रुतेः पौर्वापर्याज्ञानविजृम्भितमेतद्वाचालवचनमित्युपेक्षणीयमेव । नच—
‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती’ति श्रुति-
र्भेदे प्रमाणम् । एतस्या अपि श्रुतेरापाततो भेदप्रतिपत्तावपि तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वाप्रतिपत्तेः । किंचात्रापि न पदार्थो
भेदो न वा वाक्यार्थः । अनुपपत्त्या प्रतिपाद्यमानस्य च भेदस्याभेदश्रुतिविरोधेनाभासत्वात् । अवच्छिन्नानवच्छिन्न-
भेदेन च व्यवस्थोपपत्तेरुक्तत्वात् । किंच ‘अप्राप्ते शास्त्रमर्थव’दितिन्यायेन लोकसिद्धभेदानुवादेनाभेदे श्रुतेस्तात्पर्यम्;
तथैवोपक्रमोपसंहारयोः पर्यवसानात् । नद्येकस्य वाक्यस्यार्थो भवति, किं तर्हि प्रवृत्तस्य । नापि ‘सहस्रशीर्षे’त्यादि-
वाक्यानां भेदप्रतिपादकत्वम्; तत्रापि भेदस्याशब्दार्थत्वात् । आत्मभेदाप्रतिपादकत्वात् देहभेदस्यैवापाततो भेदप्रति-

पत्तेः । तत्रापि न तद्रूपे तात्पर्यम्, किं तर्हि ? उपासनायाम् । तस्याश्चाभ्युदयसत्त्वशुद्धिद्वारकज्ञानोत्पत्तिफलत्वात् । नच—
 'तद्विष्णोः परमं पद'मित्यादौ भेदप्रतीतिः; पश्चाद् भेदाप्रतिपादकत्वात्, राहोः शिर इतिवदुपपत्तेश्च न भेदाविना-
 भावसिद्धिः । नच—'स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ विधिवाक्यात्कार्यकारणभावः प्रतीयते, सच भेदमन्तरेणानुपपन्नसं-
 कल्पयतीति—साम्प्रतम्; भेदमात्रकल्पनेऽपि तस्य पारमार्थिकत्वांशस्याकल्पनात्, तावत्तैव प्रवृत्त्युपपत्तेः, अभेदश्रुति-
 विरोधेन तथा कल्पयितुमशक्यत्वात् । 'अतोऽन्यदार्तमि'ति च ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वनिषेधात् ।
 एतेन—मैत्रेयीयाज्ञवल्क्यप्रश्नोत्तररूपोपनिषत्प्रवृत्तिरपि भेदे प्रमाणम् । नह्यभेदे प्रश्नो न वा प्रष्टृप्रष्टव्यभाव उपपद्यते,
 तयोर्भेदव्याप्तत्वादिति । तथा श्रोतव्यादिप्रतिपत्तीनां विधानादपि भेदोऽभ्युपेतव्यः । अन्यथैकमेव प्रतिपत्तिं विदध्यात्
 इति—परास्तम्; अविद्यादशायां कल्पितभेदमाश्रित्य प्रश्नाद्युपपत्तेः ज्ञाते तु तत्त्वे प्रश्नाद्यभावस्येष्टत्वात् । एवं
 प्रतिपत्तिभेदोऽपि । किंच प्रश्नादिवाक्यानामात्मतत्त्वे तात्पर्यं, तथैवोपक्रमान्न प्रश्नादिरूपे; तत्प्रतिपादनेन प्रयोजना-
 भावात् । यत्परः शब्दः स एव शब्दार्थ इति हि न्यायविदः, एवं श्रवणादीनामिष्टसाधनत्वं शाब्दं नतु तेषां परस्पर-
 भेदोऽपि; तत्प्रतिपादने प्रयोजनाभावात् । आत्मज्ञानसंबन्धं हि प्रयोजनं श्रूयते, नतु तद्भेदज्ञानसंबन्धमित्यावेदितं
 पुरस्तात् । तस्मादशाब्दे निष्प्रयोजने श्रुतेस्तात्पर्यवर्णनमर्थापत्तिवर्णनं च देवानांप्रियस्य परं शोभते न शाब्दन्याय-
 मर्यादाभिज्ञस्येति । तस्मादस्थूलादिवाक्यस्यान्योन्याभावभेदार्थकत्ववर्णनमयुक्तमेव । भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणा-
 भावात् । ननु—अत्यन्ताभावबोधनेऽपि वैधर्म्यरूपो भेदः प्रतिपादितो भवति । यथा घटात्यन्ताभावः पट इति ।
 तथाचान्योन्याभावोऽप्यार्थिकः प्रतिपादितो भवति । वैधर्म्यप्रतिपादनस्य तदेकफलत्वात् । तथाच घटकुट्यां प्रभाता-
 यितमिति—चेन्न; सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मण्युपादानकारणे प्रतिपन्नानामत्यन्ताभावबोधने द्वितीयस्यासत्त्वे वैधर्म्यप्रति-
 पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । अतएव च न प्रतीतिरपि; द्वितीयस्य भेदप्रतियोगिनोऽभावात् । ननु—अस्थूलमिति स्थूलत्वा-
 दीनामेव प्रतिषेधः स्थूलादिशब्दानां स्थूलत्वादिपरत्वात्, तथाच धर्मिणां सत्त्वाद्द्वैधर्म्यान्त्योन्याभावयोः सत्त्वाविरोध
 इति—चेन्न; अघटं भूतलं नीरूपो वायुरित्यादौ तथा व्युत्पत्त्यभावात्, धर्मपरत्वे लक्षणापत्तेः, धर्मिनिषेधे बाधका-
 भावाच्च । नच—मनआदीनां नित्यत्वेन विद्यमानत्वात् कथमेवं स्यादिति—वाच्यम्, 'यावद्विकारं तु विभाग'
 इति न्यायेन ब्रह्मातिरिक्तस्य कार्यत्वाभ्युपगमात्, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' 'तस्माद्वा एतस्मा-
 दात्मन आकाशः संभूत' इत्यादिश्रुत्या मनःप्रभृतीनां सृष्टिप्रतिपादनाच्च । नच—नित्यानां जसिरितरेषामुत्पत्ति-
 रिति—व्याख्येयम्; श्रुतिविरोधेनेतरेषां नित्यत्वस्यैवासिद्धेः, वैरूप्यप्रसङ्गाच्च । ननु—अभेदज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वे
 न प्रमाणं पश्यामः । तदिदमान्ध्यं भवतो, यतः 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिश्रुति-
 स्मृतिवादा जीवपरयोरभेदं प्रतिपादयन्ति । नचात्र संबोध्यत्वाद्भेदावगमः । आपाततः प्रतिपादकादात्मनो भेदावगमेऽपि
 तत्पदार्थेनेश्वरेण सह संबोध्यस्य जीवस्य भेदानवगमात्, प्रत्युताभेद एव प्रतीयते; सामानाधिकरण्यस्वाख्यात् स
 एवायं देवदत्त इतिवत् । अन्यथाभेदमात्रोच्छेदः स्यात् । प्रतिपादकादात्मनोऽपि भेदो न शाब्दः, किंत्वार्थः । सचा-
 काशस्यैव घटकरकाद्युपाधिनान्तःकरणाद्युपाधिनाप्युपपत्तेः । द्वितीयवाक्ये गीतावाक्ये च भेदगन्धोऽपि न प्रतीयते ।
 तथा सर्वाभेदप्रतिपादिका श्रुतिः 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवती'ति । सलिल इव सलिलः स्वच्छ इत्यर्थः । आपो
 लिङ्गव्यत्ययः । एकः सजातीयभेदश्चान्यः अद्वैतो विजातीयभेदश्चान्यः द्रष्टा स्वप्रकाशचिद्रूपो भवतीति सिद्धवन्नि-
 र्देशात् । सर्वदैवरूपता तस्य विद्यत इति ज्ञापयति, तेन रूपान्तरं मायिकमिति ध्वन्यते ॥

कश्चित्त्र उपक्रमोपसंहारश्रुतिपाठाद्यनभिज्ञो ब्रह्मद्वेषसमुद्भूतमहापातको वेदान्तसंप्रदायानभिज्ञो भगवद्भेदव्यास-
 मतद्वेषी 'स किल एको द्रष्टे'ति पाठं कल्पयित्वाऽन्येऽपि द्रष्टारः क्षेत्रज्ञा भेदवन्तः सन्तीत्यर्थस्य किलेत्यनेन ध्वनना-
 दिति श्रुत्यर्थं कल्पयित्वैषापि श्रुतिर्भेदपरैवेति व्याख्यातवान्, सच श्रुत्यन्यथाकरणाद्विलवर्तिगोधाविभजनन्यायमनुहरन्
 बौद्धवदुपेक्षणीयः सन्निरिति । किंच किमिदं ध्वननं न तावद्व्यञ्जनम्; आलंकारिकाणामिव वृत्त्यन्तरस्यानभ्युपगमात् ।
 नाप्यनुमानम्; किलशब्दस्य नित्यभेदेन व्याख्येयभावात् । निश्चयादावेव किलशब्दस्य कोशादौ प्रयोगात् । तथा
 'नतु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यः पश्ये'दिति श्रुतिर्ब्रह्मभिन्नत्वेन द्वितीयाभावं दर्शयति । नच—तद्ब्रह्म द्वितीयं
 नास्तीति धर्म्युरागेण निषेधः तथापि द्वितीयमात्रस्याभावप्रतीतेर्ब्रह्माद्वैतसिद्धिः, किंच कथं तस्यामवस्थायां न
 पश्यतीति मैत्रेय्या पृष्ठे ज्ञानाभावान्न पश्यतीति न, किं तर्हि ? द्वितीयस्यैव विभक्तस्याभावान्न पश्यतीति हेतुं वदन्तीति
 श्रुतिर्द्वितीयमात्राभावमेव तात्पर्यतः प्रतिपादयति, यतो वदति, 'पश्यन्वैतन्न पश्यती'ति-तस्मात्सकलद्वैताभावे जसिमात्रे
 चात्मनि श्रुतेस्तत्र तात्पर्यमवगम्यते, तद्विरुद्धकल्पने बौद्धवदुपेक्षणीयत्वमेव तार्किकमन्यस्य ॥

तथा 'एकमेवाद्वितीयमि'ति श्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् । अत्रच एकमिति सजातीयाभावः प्रतीयते, घट एकोऽस्तीत्युक्ते यथा
 घटान्तराभावप्रतीतिस्तद्वत् । अद्वितीयमिति न विद्यते द्वितीयं यस्येति विजातीयाभावः प्रतीयते, अन्यथा तदुपादान-

वैयर्थ्यापत्तेः । यद्यप्येतावतैव सर्वप्रपञ्चरहितं वस्तु प्रतिपादितं भवति; तथाप्येकत्वादिसंख्याया धर्मधर्मिभावः प्रकृतिर्वत् स्वगतभेदो वा भवेत् इति कस्यचिन्मन्दमतेराशङ्का स्यात्तन्निरासार्थमेवेति । अद्वैतदार्ढ्यार्थं केनापि प्रकारेण भेदगन्धो नास्तीति सर्वथैकरसं वस्तु, नात्र शङ्कातुषोऽप्यस्तीति । किंच 'नेह नानास्ति किंचने'ति श्रुत्यन्तरेण सर्वस्य जगतोऽविशेषेण निषेधः प्रतीयते । ननु—इह मण्डले एक एव नरपतिरद्वितीयः यथा वा इह कानने किंशुकतस्त्रेक एवेत्यभिधाने राजगतनानात्वव्यतिरेकः प्रतीयते नतु हस्त्यश्वादीनामप्यभावः न वा वृक्षान्तरस्याभावः । तथेहापि किं न स्यादिति—चेत्, न; तत्र हि राजकिंशुकयोः स्तुतौ तात्पर्यं नतु वस्त्वन्तराभावे, तत्प्रतिपादने प्रयोजनाभावात्, समकक्षप्रमाणान्तरबाधकसत्त्वाच्च । सकलद्वैताभावप्रतिपादने पुनः परमपुरुषार्थः श्रूयते । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति' इत्यविद्यावस्थायां द्वैतदर्शनमनूय 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन कं विजानीयात्' तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य'मित्यादिश्रुतिवादेभ्यः । नच—तात्पर्यज्ञानं हेतुरिति, किं तर्हि ? स्वसामर्थ्यवशात् पदैः पदार्थप्रतिपादनद्वारा आकाङ्क्षादिकमासाद्य वाक्यार्थं प्रतिपादिते वस्तुगत्या एकस्मिन्नेव तस्मिन् पुरुषदोषान्नानत्वेन प्रतिपन्ने विचारेण तात्पर्यं निर्णीते एकोऽर्थः सत्य इत्यवधार्यते पुरुषदोषकृतास्त्वपरे इति निश्चीयते । अन्यथा मीमांसावैयर्थ्यापत्तेः । तस्मादुपक्रमादिनाऽद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्येऽवगतेऽर्थान्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति कल्प्यते । नच—प्रपञ्चग्राहकमानेन बाधात्कथं तत्र तात्पर्यकल्पनं युक्तिमदिति—वाच्यम्; भिन्नविषयत्वात् । तथाहि—प्रत्यक्षादिकं हि प्रपञ्चस्य सत्तामात्रं गृह्णाति, न तत्र तस्याः कालत्रयाबाध्यत्वमपि, तत्र तस्यासामर्थ्यात्, श्रुतिस्तु कालत्रयेऽस्याबाधो नास्तीति बोधयति । तावता मिथ्यात्वे पर्यवसानं भवतीत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तथा 'न तदश्नाति किंचन न तदश्नोति कश्चने'ति श्रुतिरप्यभेदे प्रमाणम् । तथाहि तद्ब्रह्म न किंचन व्याप्नोति, एतावता ब्रह्मसंबन्धो जगति निषिध्यते, तद्ब्रह्म न कश्चन व्याप्नोति, एतावता जगत्संबन्धो ब्रह्मणि निषिध्यते; ब्रह्मणोऽसङ्गाद्वितीयचिन्मात्रस्य परमार्थसत्यत्वात्प्रपञ्चस्य च मायाकल्पितत्वेन स्वप्नवदनृत्तत्वात् सत्यानृतयोर्वास्तवसंबन्धयोगात् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—'निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा । आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यत' इति । तथाच सर्वानृतसंबन्धशून्यं सर्वभ्रमाधिष्ठानं सर्वबाधावधिभूतं परमार्थसत्यमेकरसं ब्रह्मेति प्रतिपादितं भवति । आरोप्याधिष्ठानयोश्च संबन्धाभावो भाष्यकारैः प्रतिपादितः—'तत्रैवं सति यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाणुमात्रेणापि न संबध्यत' इति । विवृतं चैतत्संक्षेपशारीरककारैः—'नहि भूमिरुपरवती मृगतृदजलवाहिनीं सरितमुद्बहति । मृगवारिपूरपरिवारवती न नदी तथोपरभुवं स्पृशती'ति । यत्तु तार्किकं मन्येन जल्पितं—तद्ब्रह्म किंचनात्मानं नाश्नोति न व्याप्नोति न वा कश्चिदात्मा तद्ब्रह्म व्याप्नोति, केनाप्यात्मना क्षेत्रज्ञेन नैतत्संबध्यते; विभुनोः संयोगिनोरन्यतरकर्मोभयकर्मावयवसंयोगानुपपत्तौ संयोगाभावात्—इति, तन्न; स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवदर्थपरत्वेन वेदेन निष्प्रयोजनार्थानुवादायोगात् । नहि विभुनोः संयोगाभावानुवादे किंचिदप्रयोजनमस्ति, अद्वितीयब्रह्मप्रतिपादने च निःश्रेयसं प्रयोजनम् । किंच विभुनोरप्यजसंयोगाभ्युपगमात्कथं तदभावानुवादः ? तथाहि—मल्लयोरुभयकर्मजसंयोगदर्शनेऽपि यथा स्थाणुश्येनयोरैकतरकर्मजोऽपि संयोगोऽभ्युपेयते एवं श्येनचरणस्थानुसंयोगाच्छ्येनस्थानुसंयोगः कर्मजन्य इव संयोगजोऽभ्युपगम्यते, तथैतत्सर्वाजन्मोऽपि विभुनोः संयोगो नित्य एव किं नाभ्युपेयते ? तथाच प्रयोगः—आत्मा आकाशसंयोगी, ईश्वरसंयोगी वा, घटसंयोगित्वात्, पटवदिति । नच—दिक्कालयोर्व्यभिचारः, पक्षसमत्वात्, विपक्षे च सर्वसंयोगित्वलक्षणविभुत्वभङ्गलक्षण एव बाधकस्तर्कः । नच—यावन्मूर्तसंयोगित्वमेव विभुत्वं, न यावद्द्रव्यसंयोगित्वमिति—वाच्यम्; मूर्तत्वं हि क्रियावद्द्रव्यत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवद्द्रव्यत्वं वा, उभयथापि तदपेक्षया द्रव्यत्वस्य लघुत्वात् । क्रियासमवायिकारणतावच्छेदकतया मूर्तत्वजातिकल्पनं स्पर्शादिसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यप्रसङ्गादिना निरसनीयम् । तथाच विभुनोः संयोगाभावे विभुत्वभङ्गो भवति बाधकः । एवं च लाघवमपि सर्वप्रमाणानुग्राहकम् । नच—एवं विभुनोरजविभागोऽपि सिध्येत्, आत्मा आकाशाद्विभक्तः घटाद्विभक्तत्वात् पटवदिति प्रयोगसंभवादिति—वाच्यम्; संयोगानभ्युपगमे विभुत्वभङ्गवद्विभागाभावे बाधकाभावेनाप्रयोजकत्वात् । यदि च लाघवादाकाशविभक्तत्वं द्रव्यमात्रवृत्तिलयजविभागः सिध्येत् सिध्यतु न नो हानिः । नच—यन्निरूपितो यदा यत्र संयोगस्तन्निरूपित एव तदा तत्र विभाग इति विरुद्धद्वयं कथमेकत्र भवेदिति—वाच्यम्; प्रमाणसिद्धे विरोधस्यैवासिद्धेः । अनित्ययोरेव तयोर्विरोधस्तत्र प्रमाणभावात्, तन्नित्यत्वस्य ज्ञाननित्यत्ववदुपपत्तेः; विरोधेऽपि वा विभागस्यैव परित्यागोऽस्तु तावतापि विरोधशान्तेः । तस्माद्विभुनोः संयोगनिषेधोऽशुद्ध एवेति यथावस्थित एव श्रुत्यर्थः ॥

एवं 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति श्रुतिरपि भेदनिन्दयाऽभेदमेव द्रढयति । तथाहि—वस्तुगत्या नाना नास्त्येव, तथापि नाना पश्यति यः स तस्मात् पुनःपुनः संसारमापद्यत इति नानादर्शनस्य संसार-

हेतुत्वेऽर्थादेकत्वदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमायाति इवशब्दस्तु वस्तुगत्या दर्शनस्यापि नानात्वं निवारयति, तदप्यविद्या-
दशायां विद्यमानमित्यर्थः ॥

तथा 'एकएव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति श्रुतिरप्यात्माभेदे
प्रमाणम् । तथाहि—देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहेषु किमेक आत्मा उत्तानेक इति संदेहे एकएवेति श्रुतिर्निर्णयति । 'एकधा
विद्यमानेषु नानादेहेषु भूतः पारमार्थिक एक एवात्मा, आत्मनो भूतत्वप्रतिपादनेनार्थादन्येषां मिथ्यात्वमुक्तं भवति ।
तथाचैकधा नानादेहभेदेन भ्रमप्राप्तात्मनानात्वनिषेधेनाज्ञातज्ञापकं श्रुतेर्निर्वहति । ननु—यद्येक एवात्मा, कथं तर्हि
सुखित्वदुःखित्वबन्धमोक्षादिव्यवस्था सेत्स्यति ? तस्या आत्मभेदसाध्यत्वादिति—चेन्न; अज्ञानभेदात्तज्ज्ञानान्तः-
करणोपाधिभेदाद्वोपपत्तेरित्याह श्रुतिः 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते' इति । तत्रैव योग्यं दृष्टान्तमाह—'जलचन्द्रवदिति' ।
यथा दिविष्टे चन्द्रे विद्यमाने एकस्मिन्तत्तज्जलशरावोपाधिभेदेन बहवो जलचन्द्रा उपलभ्यन्ते उपाधिदोषवशाद्भ्रान्त्या,
तथा एकस्मिन्नद्वितीये ब्रह्मणि विद्यमाने तत्तदन्तःकरणोपाधिषु बहवः प्रतिबिम्बकल्पा जीवाः प्रतीयन्ते भ्रान्त्या । तत्र
च बिम्बभूत ईश्वरः प्रतिबिम्बभूता जीवाः । यथाचैकस्मिन् जलचन्द्रे कम्पमाने न सर्वे कम्पन्ते तथैकस्मिन्जीवे
सुखिनि दुःखिनि वा न सर्वे तथा भवन्ति । यथाचैकोपाधिनिवृत्तौ न सर्वेषां जलचन्द्राणां बिम्बैकता भवति, किंतु
यस्योपाधिनिवृत्तस्तस्यैव, तथा ज्ञानध्यानादिना यस्योपपन्नस्तत्त्वाक्षात्कारः स एव ब्रह्मैकतां याति नान्य इति बन्ध-
मुक्तिव्यवस्था सुकरैव । एवं जीवेश्वरव्यवस्थापि । उपाधिस्तु बह्वज्ञानवादिमते बहून्वेवाज्ञानानि, तत्रैकैकाज्ञानहासिरे-
कैकज्ञानोत्पत्त्या, एकाज्ञानपक्षे तु तस्यैवावस्थाभेदो वा शक्तिभेदो वा तत्तदन्तःकरणोपादानभूतस्तत्तज्ज्ञानेन निवर्त्यते,
अपरत्र बन्धानुवृत्तिरिति व्यावहारिकीं दृष्टिमवष्टभ्य कथ्यते, वस्तुगत्या बन्धमोक्षाभावस्त्वष्ट एव ॥

ननु—एकात्मपक्षे सर्वशरीरेषु सुखदुःखाद्यनुसंधानप्रसङ्गः । नच—यथातीतानेकदेहेषु भोगानुसंधानाभावस्तथा
विद्यमानेष्वपि देहान्तरेषु न स्यादिति—वाच्यम्; जन्मान्तरव्यवधानस्य दोषत्वात् । नच—अविद्यावशात् सर्वदेहेष्व-
नुसंधानमिति—युक्तिमत्; स्वदेहेऽप्यनुसंधानाभावापत्तेः । नचानुसंधानमिष्टमेव; तथासति देवदत्तचरणलम्पकण्टको-
द्धारं प्रति यज्ञदत्तस्य प्रवृत्त्यापत्तेः । किंच यथा बाल्यादिभेदेन देहभेदेऽप्यनुसंधानमस्ति, तस्यैव भोक्तुर्योऽहं बाल्य-
स्थितः सोऽहमिदानीं युवेति, यथावा—जीवन्मुक्तस्य भोगार्थं कायव्यूहं कृतवतो बहुदेहेषु विद्यमानेष्वप्यनुसंधानमस्ति,
तथेहापि स्यादेवेति—चेत्, न; एकात्मवादसिद्धौ सर्वस्यास्य विचारस्याश्रयासिद्धेः । सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाण-
बाधादेव । तथापि सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति—चेत्, शृणु वत्स, अदृष्टविशेषसहकृतस्याज्ञानस्यैव तत्सामर्थ्यं
यत्कचिदेहे कस्यचिद्भोगानुसंधानं क्वचिन्न; फलबलेन तथैव कल्पनात् । तदुक्तं भगवता—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं
तेन मुह्यन्ति जन्तवः' 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परमि'ति ।
जीवन्मुक्तस्य च तत्त्वज्ञानादेवानुसंधानं नेतरस्य तदभावादिति सर्वं सुस्थम् । एतेनेदं कस्यचिद्वाख्यानं परास्तं वेदि-
तव्यम् । तथाहि—जन्ममरणप्रबन्धेन बाल्यकौमारादिभेदेन वा भिन्नेषु शरीरेषु एकएव भूतः सत्य आत्मा क्षेत्रज्ञो
व्यवस्थितो नतु देवदत्तशरीरभेदवज्जन्ममरणप्रबन्धेन शरीरभेदेऽप्यात्मभेद इति, यथा एकधा एकप्रकारो जलचन्द्रो
बहुधा बहुप्रकारो दृश्यते तरङ्गप्रसङ्गेन तथा तरङ्गवदतिचलजन्ममरणप्रबन्धभिन्नशरीरावच्छिन्न एक एवात्मा बहु-
प्रकारो दृश्यते । तथाहि—कापि जन्मनि राजाहं कापि स्थूलोऽहमित्येकमेवात्मानम् अविद्याया शरीरे समारोप्य प्रकार-
वैचित्र्येणावेदयतीति; भूते भूते व्यवस्थित इति वीप्सया देहमात्रस्य प्रतीतेः, देहविशेषपरत्वे संकोचापत्तेः । किंच यथा
विद्यमानेष्वेकदा बहुपूपाधिष्वेक एव चन्द्रः प्रतीयते तथा विद्यमानेष्वेकदा सर्वदेहेष्वेक एवात्मा प्रतीयत इत्यस्यैवा-
र्थस्य दृष्टान्तबलेन प्रतीतेः । किंच बाल्ययौवनभेदेनात्मभेदो न लोकसिद्धो न वा तत्रासिद्धः, प्रत्युत 'योऽहं बाल्ये
पितरावन्वभूवं स एव स्थाविरे प्रणमननुभवामी'त्यभेद एवानुभवसिद्धः । तथाच तत्र भेदप्रसक्त्यभावान्निषेधोऽनुपपन्न
एव । विद्यमानदेहान्तरे पुनर्लोकसिद्धात्मभेदप्रतिषेधार्थं वचनमर्थवद्भवति; शास्त्रस्याज्ञातज्ञापकत्वनियमात् । नच
जन्मान्तरे आत्मभेदाज्ञात्ता संभवति; वीतरागजन्मादर्शनन्यायेनैव तस्या असंभवात् । किंच 'अव्युच्छिन्नश्चिदात्मैकः
पुमानस्तीह नेतरत् । स संकल्पवशाद्ब्रह्मो निःसंकल्पः स मुच्यते' इति वाक्येनास्मदुक्तव्याख्यानस्यैव स्वहस्तितत्वात् ।
'यदा सर्वेषु देहेषु पुमानेको व्यवस्थित' इति विष्णुपुराणे पराशरोऽप्युक्तमेवार्थं द्रढयति स्म । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिपुरा-
णानभिज्ञव्याख्यानमुपेक्ष्यमेव सद्भिः ॥

किंच जीवब्रह्मणोरभेदे सर्वत्र श्रुतेस्तात्पर्यग्राहकाणि लिङ्गानि दृश्यन्ते । तथाचोक्तम्—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासो-
ऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णय' इति । तथाहि—'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय'-
मित्युपक्रमः । 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्युपसंहारः । तथैतदात्म्यमित्यादिनवकृतोऽभ्यस्तते
प्रमाणान्तरानभिगतमद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वं प्रतिपाद्यते । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्य'

इति च निरतिशयपुरुषार्थावाप्तिर्ब्रह्मज्ञानफलमवगम्यते । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' 'येनाश्रुतं श्रुत'मित्यादि ब्रह्मण्यर्थवादश्चोपादीयते । सृष्टोहतसपरशुग्रहणदृष्टान्तैः स्वपितिनामनिर्वचनेन सृष्टिस्थितिसंहारैश्च ब्रह्मात्मैकत्वमुपपाद्यत इति छान्दोग्ये । तथा तैत्तिरीयके 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इत्युपक्रमोपसंहारयोः प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्मावगम्यते । तथा 'सच्च त्यच्चाभवद्यदिदं किंच' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति च प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्माभ्यस्यते । प्रमाणान्तरेणानधिगतं च तत्प्रतिपाद्यते । 'सर्वान् कामान् समश्नुत' इत्यादि च फलं ब्रह्मज्ञानेऽवकल्पते । सृष्टिश्रुतयश्चाद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थवादभूता दृश्यन्ते । तथा कोशोपन्यासमुखेन प्राणादिव्यापारलिङ्गैश्च ब्रह्मात्मैकत्वमुपपाद्यत इति । एवं सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मात्मैकत्वप्रमितौ तात्पर्यलिङ्गानि द्रष्टव्यानि । एवं तात्पर्येण समन्वयाद्ब्रह्मैव वेदान्तप्रमेयमित्येवं वैयासिके मते गङ्गाजलवत्प्राञ्जले निर्दुष्टे श्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिसंमते येषां चित्तं न सत्तृष्णं दोषदर्शि च ते सततं शोचनीयाः ॥ इति अद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गः ॥३॥

अथ सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गः ॥ ४ ॥

ननु—तथापि नाद्वैतश्रुतेः प्रामाण्यं निर्वहति भेदप्रमापकप्रत्यक्षादिविरोधादिति—चेत्, अत्र ब्रूमः—'न सा धीः कचिदप्यस्ति यत्र भेदोऽवभासते । अतएव प्रमाणत्वमद्वैतेऽव्याहतं श्रुतेः' ॥

तथाहि—न तावत् सविकल्पबुद्धेर्भेदग्राहकत्वम् । सा हि घटोयं पटोयमित्याकारा जायते, तदाकारा च बुद्धिस्तदेव साधयति नाधिकम् । अस्यां च घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यं भासते, तत्र च न घटो भेदः, नापि घटत्वं, नापि वैशिष्ट्यं तच्छब्दबुद्धिभेदशब्दबुद्ध्योर्वैलक्षण्यत्वात् ॥

अत्र कश्चिदाह—वैशिष्ट्यस्य पदार्थान्तरत्वानुपपत्तौ परिगणितपदार्थान्तर्भावेऽतद्व्यावृत्तिरूपान्योन्याभावाख्यभेदरूपतैव वाच्या । तथाच वैशिष्ट्यविषयकज्ञानानां सिद्धा भेदविषयता । तथाचाहुराचार्या गुणकिरणावल्यां 'अतद्व्यावृत्तिर्वैशिष्ट्य'मिति । निर्विकल्पानन्तरभावितो घटोऽयमिति सविकल्पस्यातद्व्यावृत्तिरज्ञाता कथं विषय इति—चेत्, वैशिष्ट्यविषयत्वान्यथानुपपत्त्या संज्ञास्मरणस्यैव निर्विकल्पकसमनन्तरकालीनस्य प्रत्ययस्यातद्व्यावृत्तिविषयत्वकल्पनात् । सर्वतोऽन्यथानुपपत्तिर्बलीयसी । एवं सत्यन्यापोहः पदार्थः स्यात्तथाच जितमवैदिकैरिति—चेत्, न; गोत्वादीनां पदादनुपस्थितौ वैशिष्ट्यमपि कस्य भासते? येनान्यापोहभाननैयत्वं स्यात् । तथाच बौद्धपक्षादयमेव भेदोयत्तरन्यापोह एव पदार्थावच्छेदको धर्मोऽङ्गीक्रियतेऽस्मदादिभिस्तु गोत्वादेरिति ॥

तदिदमतिस्थवीयः—तथाहि वैशिष्ट्याख्यं तावत्पदार्थान्तरं मतान्तरानुसारिभिरङ्गीकृतं तदेवात्र भासते, नच—तस्यासंभवः; प्रतीतिबलेन विशेषणविशेष्यतत्संबन्धातिरिक्तस्य तत्संभवात्, अन्यथा दण्डपुरुषसंबन्धा इत्यात्रापि विशिष्टव्यवहारापत्तेः । नच पदार्थान्तरस्वीकारे गौरवम्; प्रमाणवतो गौरवस्यापि न्याय्यत्वात् । अन्यथा समवायाद्युच्छेदापत्तेः । नच—दण्डिनमानयेत्युक्ते पदार्थान्तरस्यैवानयनं स्यान्न दण्ड्यादेरिति—युक्तिमत्; पटानयने तत्त्वाद्यनियमवदुपपत्तेः । किंच तार्किकमतेऽपि नातद्व्यावृत्तिर्वैशिष्ट्यम् । नीलमुत्पलमित्यादावनीलानुल्लेखे तद्व्यावृत्त्यनुल्लेखात् । नच—वैशिष्ट्यप्रतीत्यनुपपत्त्या मध्येऽनीलस्मृतिः कल्प्यत इति—वाच्यम्; प्राथमिकनीलादिविशिष्टबुद्धेस्तथाप्यनुपपत्तेः, अनीलानुभवस्य तस्मिन् जन्मन्यसंभवात्, जन्मान्तरीयकल्पने च कल्पनागौरवम् । किंचानीलं नाम नीलाव्यावृत्तं वा रूपान्तरं वा । नाद्यः; अन्योन्याश्रयापत्तेः, अनीलव्यावृत्त्या नीलप्रतीतौ नीलप्रतीत्याऽनीलव्यावृत्तेः । न द्वितीयः; नीलप्रतीतेरपि तथैवोपपत्तिः; अत्रापि व्यावृत्तिभाने मानाभावात् । किंच गौरित्येव प्रतीयते नत्वसावगोव्यावृत्त इति; अगोरप्रतीतौ गोः प्रतीत्यनुपपत्तेः, अनुभवविरोधश्च, गोत्ववैशिष्ट्यं हि भावरूपमनुभूयते नत्वभावरूपम् । अगोव्यावृत्तिरेव तथा प्रतीयत इति चेत्, अहो व्याख्याकौशलमायुष्मतो यदनुभवोपि व्याख्याय प्रदर्श्यतेयदि चागोव्यावृत्तिरेव भासते विशिष्टबुद्धौ, तदा तथैवोपपत्तौ अतिरिक्तसामान्यकल्पने मानाभावे बाह्यपक्षः स्वहस्तितः, स्यात् । नच—गोत्वाद्यस्वीकारे वैधर्म्याभावे व्यावृत्तिबुद्धिः कथं स्यादिति—वाच्यम्; तदभावेऽपि व्यक्तिस्वरूपस्यैव विलक्षणत्वेन तदुपपत्तेः । अन्यथा तदपि वैधर्म्यं कस्य स्यादिति प्रश्ने धर्मान्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेः । तस्मात्प्रथमतो व्यावृत्तिभानस्वीकारेऽन्यापोहः पतत्येवेति निश्चितम् । नच—वैशिष्ट्यस्यान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् सर्वतो बलवती अन्यथानुपपत्तिरिति न्यायात् अन्यस्मरणमिति—युक्तिमत्; यत्र यस्य यः संबन्धः स एव तत्र तस्य वैशिष्ट्यमिति वक्तुं शक्यत्वेनार्थापत्तेः शान्तेः । तथाचोक्तं मणिकृता—दण्डी पुरुष इति ज्ञानानन्तरं दण्डवत्यदण्डव्यावृत्तिरनुभूयत इति, अन्यथा विशिष्टबुद्धेरेव व्यावृत्तिविषयत्वे तदनन्तरमिति नावश्यकत्वं । आचार्यवचनं त्वस्मान्प्रति नास्वाक्यविषया प्रमाणं किंतु युक्त्युत्थापकत्वेन, युक्तिश्च सर्वा निराकृता, विशिष्टबुद्ध्युत्तरकालाभिप्रायेण वा ज्ञेया । सर्वथापि सर्वा विशिष्टबुद्धिर्भेदविषयेति बालभाषितमेव । यदपि गोत्वादीनां पदादनुपस्थितावित्यादि, तदपि न; प्रत्यक्षानुभवस्य

विचार्यमाणत्वात्तदनन्तरं शब्दस्य प्रवृत्तेः । अन्यापोहस्यैव च पदार्थत्वावच्छेदकत्वोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदापत्तेः । तथाच नायमपि विशेषो नैयायिकबौद्धयोः । इति अद्वैतरत्नरक्षणे सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गः ॥

अन्योन्याभावत्वनिर्वचनभङ्गः ॥ ५ ॥

अथ—अस्तु विशेषणविशिष्टविशेष्यबुद्ध्यनन्तरं भेदबुद्धिः वैधर्म्यज्ञानस्य भेदबुद्धिहेतुत्वादिति—चेन्न; प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः । सर्वा बुद्धिः भेदं गृह्णातीत्येव हि प्रतिज्ञानमायुष्मतः । किञ्च यतो यत्र भेदो गृह्यते तयोर्भिन्नत्वेन प्रतीतिरस्ति नवा, अस्ति चेत्तेनैव भेदेन भेदान्तरेण वा, तेनैव चेत्तत्प्रतीतौ तत्प्रतीतिरित्यात्माश्रयापत्तेः । अन्येन चेत्तत्रापि पूर्वन्यायेन भेदान्तरापत्तावनवस्थापत्तेः । तदङ्गीकारेऽपि च प्रतीतिपराहतिः । नह्यनन्ता भेदमाला कस्याप्यनुभवपद्धतिमध्यास्ते किंभेदविशिष्टे किंभेदवृत्तिरित्यव्यवस्थापत्तेश्च । न द्वितीयः; स्वस्मादपि स्वभेदग्रहापत्तेः । अथ—स्वस्मात् स्वभेदाभावात्तद्ग्रहः कथं स्यात्? तत्प्रतीतौ तस्य हेतुत्वादित्यसिद्धेः, प्रत्यक्षस्यैव विचार्यमाणत्वात् । यथा स्वस्मात् स्वभेदो नास्ति तथान्यस्मादपि नास्तीत्यस्मन्मतम् । तथापि वस्तुगतिस्तादृशीति—चेन्न; कापि प्रमित्यसंभवे वस्तुगतिरित्येवासिद्धेः, प्रत्यक्षज्ञाने विषयस्याजनकत्वाच्च, स्वभादिविषयवद्यत्र यदस्ति तत्रैव तद्ग्रह इत्यस्य नियम्यासंभवाच्च अभिन्नेऽपि भेदप्रत्ययदर्शनात् । तयोरभिन्नत्वेन प्रतिपत्तौ भेदबुद्धिस्तु दूरापास्तैव । भेदाभेदोदासीनतृतीयप्रकाराभावाच्च न तृतीयप्रकारेणोपस्थितौ भेदग्रह इति सुवचम् । अथ—प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारेण तज्ज्ञानं नाधिकमपेक्षत इति—चेन्न; अभावाग्रहे प्रतियोगित्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, अभावविरहात्मत्वस्य स्वभावविशेषस्य च तद्ग्रहणाधीनग्रहणत्वात्, तदग्रहे च तदवच्छेदकरूपस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, वस्तुगतेति च मां प्रति वक्तुमशक्यत्वात् । घटत्वेन प्रकारेण घटज्ञाने जाते भेदज्ञानं जायत इति—चेन्न; स्वस्मादपि तज्ज्ञानापत्तेरुक्तत्वात् अभावान्तरज्ञानमपि कथमिति चेत्तत्र भेदाज्ञानस्यापेक्ष्यत्वेऽपि दोषाभावात् । किञ्च घटः पटो न भवतीत्यन्नादौ घटपटयोस्तादात्म्यज्ञानं वाच्यम्; तयोस्तादात्म्यप्रतीतौ तदभावरूपस्य भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । भेदो हि तादात्म्याभाव इत्यत्र नावयोर्विवादः । तथाचोपजीव्यविरोधात्, पश्चाज्जायमानं भेदज्ञानं न प्रामाण्यमशुवीत । तदुक्तं भगवता खण्डनकृता—“अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखने क्षमा । तथाचाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्ये स्वापेक्षवैशसात्” इति ॥ नच—अभेदज्ञानस्य प्रामाण्यं नोपजीव्यमिति—सांप्रतम्, आन्तोसि । नहि वयं पूर्वज्ञानप्रामाण्यस्योपजीव्यत्वेन बलत्वं वदामः । किं तर्हि किं ज्ञानं प्रमा इति विचिकित्सायामुपजीव्यत्वेन पूर्वमिति वदामः । तद्विरोधेन चोत्तरं ज्ञानं जायमानमपि द्विचन्द्रादिज्ञानवदवतिष्ठते । विनिगमनायां तु प्रमाणमुपजीव्यत्वमेव । नच पूर्वात्परबलीयस्त्वन्यायः; तस्य निरपेक्षविषयत्वात् । तदुक्तं—“पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् । अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ।” इति । रजतादिस्थले चाधिष्ठानज्ञानस्यैव बाधकत्वं नतु रजताभावज्ञानस्य, येन तस्य रजतज्ञानापेक्षा स्यात् किञ्चानतिप्रसक्ताधिकरणस्वरूपेणैव प्रतीयुपपत्तौ अन्योन्याभावस्वीकारे मानाभावः । नचाधाराधेयभावेन प्रतीयनुपपत्तिः; घटान्योन्याभावो घटो नेतिवदुपपत्तेः । स्वरूपभेदस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वे तेनैवोपपत्तेरतिरिक्तस्वीकारे मानाभावात् संसर्गाद्यभावातिरिक्तान्योन्याभावस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । नच—संसर्गप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गाभावः तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इति लक्षणं सुवचम्; उभयत्राप्यभावे घटस्यैव प्रतियोगित्वानुभवात्तस्यैवारोपयितुं युक्तत्वात्, अनुभवस्य व्याख्याय दर्शयितुमयुक्तत्वात्, संसर्गान्योन्याभावतादात्म्यात्यन्ताभावयोरतिव्याप्तेः । नच—तत्रापि तयोस्तादात्म्यसंसर्गावैव प्रतियोगिनाविति—वाच्यम्; तयोरैवाभावद्वयेऽतिव्याप्तेः, अग्रे धावने चातिव्याप्तेरनवस्थापत्तेश्च । अथ—यत्र प्रतियोगिनमारोप्य निषेधबुद्धिः स संसर्गाभावः । यत्र पुनः प्रतियोगितावच्छेदकरूपमारोप्य निषेधबुद्धिः सोऽन्योन्याभावः । आरोपे च प्रमाणमिदमिह नास्ति, इदमिदं न भवतीति प्रतीतिः, तद्वृत्तिधर्म एव च तादात्म्यम्, न त्वभेदः; तस्याप्रामाणिकत्वादिति—चेन्न; प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्यारोपितस्यैव निषेधापत्तेः, नतु घटादेः, नह्यन्यदमारोप्यतेऽन्यन्नविषयत इति युक्तिमत्; अतिप्रसङ्गात् । प्रतीतिबलात्तथा कल्पयत इति चेन्न, कारणबाधे प्रतीतेर्भ्रान्तत्वात् । प्रतीतिमात्रशरणत्वे च यौक्तिकत्वविरोधः । किञ्च यत्र प्रतियोगिनमारोप्य निषेधबुद्धिः स संसर्गाभाव इत्यत्र यत्तदोः संबन्धेऽधिकरणस्यैव संसर्गाभावत्वं विधेयं स्यात्, तच्चायुक्तम् । एवं द्वितीयलक्षणेपि बोध्यम् । अथाधिकरणविषयकप्रतियोग्यारोपपूर्वकनिषेधधीविषयः संसर्गाभावः, तथाधिकरणविषयकप्रतियोगितावच्छेदकधर्मारोपपूर्वकनिषेधधीविषयोऽन्योन्याभाव इति व्याख्यायते, तदपि न; प्रतियोगिन्यधिकरणे चातिव्याप्तेः, तयोरपि तद्धीविषयत्वात् । अभावत्वे सतीति चेन्न, पूर्वनिषेधपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः, अन्योन्याभावसंसर्गाभावाभावे आवरूपे तदसिद्धेश्च । किञ्च तादृशधीविषयत्वमुपलक्षणं, विशेषणं वा । न प्रथमः; उपलक्ष्यतावच्छेदकैकधर्मासङ्गावे तावतीनामभावव्यक्तीनामसंग्रहापत्तेः । तत्सङ्गावे च तदेव लक्षणमस्तु किमनेन ? न द्वितीयः; संसर्गाभावस्यातीन्द्रियत्वापत्तेः । उपनीतभावेऽपि ज्ञानाभावसमये संसर्गाभावनाशप्रसङ्गात् । तथाच निर्जले बन्धविच्छेदे जलनिसरणं स्यात् ।

अथ तादृशधीयोग्यत्वं तदिति—चेन्न; तस्यैव स्वरूपातिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तत्र चाननुगम एव, अतीन्द्रियाभावेऽव्याप्तिश्च; तत्रचारोपहेतुकज्ञानाभावात् । किञ्च विषयत्वं स्वरूपसंबन्धः, सच संबन्धान्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यस्वरूपः । तच्च नियतपूर्ववर्तित्वज्ञानाधीनम् । नियमस्तु व्याप्तिः । साचान्योन्याभावगर्भा वा स्यादत्यन्ताभावगर्भा वा । उभयथापि यथासंभवं दूषणं स्वयमूहनीयम् । एवमधिकरणपदार्थनिर्वचनेऽपि । आरोपस्य संसर्गाभावज्ञानकारणत्वे च पूर्ववर्तित्वं प्रागभावघटितम् । प्रागभावत्वं च संसर्गाभावज्ञानाधीनज्ञानं, तथाचात्माश्रयः । गन्धानाधारसमयानाधारत्वादिकमेव तदिति चेत्, न; अनाधारत्वं चाधारत्वाभाव इत्यात्माश्रयात्, इत्यादिकमूलम् । अथ—संसर्गाभावत्वान्योन्याभावत्वे अखण्डोपाधी आभ्यां लक्षणाभ्यामुपलक्ष्येते तथाच नोक्तदोष इति—चेत्, न; तदुभयस्वरूपानिर्वचनात् । स्वरूपे निरुक्ते हि लक्षणाभिधानं युक्तिमत्, तयोः पदार्थान्तरतापत्तिश्च; द्रव्यादिध्वनन्तर्भावात् । अथ—सामान्येऽन्तर्भावः, तथाहि—सामान्यं द्विविधम् । उपाधिरूपं जातिरूपं च । तत्रोपाधिर्द्विविधः । सखण्डोऽखण्डश्चेत्युपाधावन्तर्भाव एतयोस्तेदन्तयोरिवेति—चेन्न; उपाधेः सामान्यात्मकत्वे प्रमाणाभावात्, नित्यमेकमनेकसमवेतं हि सामान्यं, तच्च परमपरं चेति भाष्यकृता विभक्तं, नतूपाधिजातिरूपेण । तदिदं व्याख्यानं भाष्यविरुद्धम् । किंचाखण्डोपाधिनाऽनुगतप्रत्ययव्यवहारयोरुपपत्तौ गोत्वादिस्वीकारोऽनर्थक एवायुष्मतः । जातिबाध एवोपाधिकल्पनेति—चेत्, न; फलतोऽविशेषात् । उपाधिरप्यखण्डः जातिरप्यखण्डेति लाघवस्योभयत्र तुल्यत्वात्, जातेः समवायोऽस्तीति चेत्, किं तेन? नहि समवायेनानुगतबुद्धिर्जन्यते, अपितु जाल्या, तत्रच नास्ति कश्चिद्विशेषः । जातौ व्यञ्जकनियमोऽस्तीति—चेत्, न; साक्षात्करत्वादौ तदभावादिन्द्रियजन्यत्वस्य तत्त्वे ईश्वरज्ञानस्य तदभावापत्तेः । तस्मादखण्डोपाधिस्वीकारे जातिपदार्थापलाप एव । तत्तेदन्तयोः का वार्तेति चेत्, अनभ्युपगम एव । तत्र हि यदि तत्तापदार्थान्तरं, सा किं पूर्वानुभवे भासते नवा? । नाद्यः; स्मृतिवदनुभवेऽपि 'स' इत्याकारस्योल्लेखापत्तेः । न द्वितीयः; स्मरणे तद्ज्ञानानापत्तेः । किञ्च तत्कालसंबन्धो वा तद्देशसंबन्धो वा तद्वृत्तिगुणादिकं वा यदेवेदन्तया भासते तस्यैव कालान्तरेपि तत्त्वेन भाने तत्ताप्रतीत्युपपत्तावखण्डोपाधिकल्पनं व्यर्थमेव, एतत्सर्वमभिसंधायैवाऽभ्युपगमवादेनामुं पक्षमुपक्षिप्य त्यक्तवान्मणिकारस्तत्तेदन्तयोरभेदं ब्रुवन् । तस्मादन्योन्याभावानिरुक्तौ तद्रूपं भेदं प्रत्यक्षादिगृह्णातीति बालभाषितमेव ॥ इत्यन्योन्याभावत्वनिर्वचनभङ्गः ॥ ५ ॥

अथ निर्विकल्पकस्य भेदविषयकत्वभङ्गः ॥ ६ ॥

अथ—निर्विकल्पकं ज्ञानं भेदं गृह्णातीत्यस्तु द्वितीयः, न; तस्य वस्तुमात्रविषयत्वात् । नच—घटस्वरूपं घटस्वरूपं च विशकलितं गृह्णन्निर्विकल्पकं स्वरूपभेदं वैधर्म्यरूपं च भेदं गृह्णातीति—साम्प्रतम्; भेदत्वेनानुल्लेखात् । वस्तुगतिस्तथेति चेत्, भ्रान्तोऽसि । कापि भेदासिद्धौ वस्तुगतेरसिद्धेः । किञ्च भेदाभेदो हि सः, न वस्तुमात्रं निर्विकल्पके भासते इति सर्वसंमतं, तस्य यदि भेदे प्रामाण्यं त्वयोच्यते, तदाऽभेदोऽपि मया वक्तुं शक्यत एवेति न त्वया निवारयितुं शक्यते । वस्तुतस्तु निर्धर्मकं वस्तुमात्रं गृह्णन् निर्विकल्पकमभेद एव प्रमाणं भवितुमर्हति; तस्य तथारूपत्वात् । ननु—भेदप्रतीतिस्तावदनुभवसिद्धा, ततस्तस्या विषयेणापि भवितव्यमन्यथा ज्ञानासंभवात् । तदुक्तं—‘अथैनैव विशेषो हि निराकारतया धिया’मिति—चेन्न; किमियं प्रतीतिस्तव, किंवाऽद्वैतवादिनः, किंवा सर्वस्य? । नाद्यः; तव प्रतीतेरस्मान्प्रत्यसंप्रतिपन्नत्वात्, तव वचने विश्वासाभावाच्च, प्रतारकत्वोपपत्तेश्च । न द्वितीयः; सर्वाद्वैतं मन्यमानस्य मम भेदबुद्ध्यभावात्तव तज्ज्ञानासंभवाच्च, परबुद्धेः परस्याप्रत्यक्षत्वात्, अनुमानादिना ज्ञानेऽपि तवैव भेदज्ञानं, नतु मम । नापि तृतीयः; सर्वबुद्धेरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, तेषामभेदज्ञानस्यापि संभवाच्च । तथापि प्रतीत्यपलापे वादित्वाच्चित्तिरिति चेत्, न; अद्वैतप्रतिपत्तेरपि श्रुत्यादिनाऽऽपाद्यमानाया अपलापे तथा वक्तुमशक्यत्वात् । तस्मात्साधूक्तं ‘न साधीः कचिदप्यस्ति यत्र भेदोऽवभासते । अतएव श्रुतेर्मात्वमद्वैते सर्वदाऽक्षत’मिति । तदेवं सर्वज्ञानानां भेदविषयत्वे सिद्धे बाधकप्रमाणाभावाच्चुल्या सर्वाद्वैते प्रतिपादिते आपाततः अनु पश्चाच्छ्रवणानन्तरं ईक्षा मननमन्वीक्षेति व्युत्पत्त्या मन्तव्य इति विधेर्वादरायणीयं चतुर्लक्षणीशास्त्रमध्येतद्व्यं ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासे’त्यादि । तेनैवाद्वैततर्कव्युत्पादनात् । तदैव श्रवणमननयोः समानप्रकारकत्वं लभ्यते नान्यथा । एतच्चाभ्युपेयवादेनोक्तम् । वस्तुतस्तु तस्य श्रवणाज्ञत्वाच्च मननविधेर्विचारप्रयोजकत्वम् । किंतु साङ्गश्रवणविधेरेवेति व्युत्पादितमद्वैतसिद्धौ । न्यायशास्त्रं तु निरोध्यर्थोपस्थापकत्वात् सुमुक्षूणामनादेयमेव । तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन ‘एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता’ इति । यदि च ऋषिप्रणीतमित्यादेयं, तथापि व्यावहारिकपदार्थनिरूपणार्थं तस्य प्रवृत्तिर्नतु मन्तव्य इति विधिविषयतया युक्तिवैधुर्येण मननाविषयत्वात् । ‘मन्तव्यश्चोपपत्तिभि’रित्युक्तेर्मनस्योपपत्तिसाध्यत्वात् । वेदान्तशास्त्रेण च श्रुत्यनुकूलयुक्तिप्रतिपादनात् । येतु न्यायशास्त्र एव युक्तिं संभावयन्ति ते शास्त्रान्तरवार्तानभिज्ञाः कूपमण्डूकबहुपेक्षणीयाः ॥ इति निर्विकल्पकस्य भेदविषयकत्वभङ्गः ॥ ६ ॥

अथ भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयथार्थभङ्गः ॥ ७ ॥

किंच युक्त्यन्तरासहत्वाच्च भेदो नाङ्गीकारमर्हति । तथाहि—किं भेदो भिन्ने निविशते, किंवाऽभिन्ने, किंवादासीने ? । न प्रथमः; भेदान्तरेण भिन्ने तद्वृत्तौ भेदान्तरवृत्तावपि तथात्वापत्तौ द्वितीयस्य प्रथमापेक्षायामन्योन्याश्रयः । अपेक्षान्वयस्याऽविनिगमनाप्राग्लोपानुभवविरोधादयो दोषा यथायथमूहनीयाः । तेनैव भिन्ने तद्वृत्तावात्माश्रयतांशतः । नहि स्वविशिष्टे स्ववृत्तिर्दृष्टा संभवति वा । न द्वितीयः; व्याघातात् स्वतोऽप्यापत्तेश्च । न तृतीयः; कोटिद्वयव्यतिरेककोटेरसंभवादिति । ननु—एतावता भेदानुभवो नास्तीत्युच्यते, किंवा सन्नपि न यथार्थः ? न तावदाद्यः; 'घटाद्भेदो भिन्न' इति भेदानुभवस्य लौकिकपरीक्षकसाधारणत्वात् । न द्वितीयः; अयथार्थता हि विषयबाधगम्या, बाधश्च विपरीतप्रमा, सा च प्रकृते प्रत्यक्षिकी नास्ति, 'घटः पटो न भवती'ति प्रत्यक्षानन्तरं 'घटः पट एवे'ति विपरीतप्रत्यक्षस्याभावात् । नापि युक्त्या, तथाविधयुक्तेरनालोकनादिति—चेन्न; सर्वादृष्टेरविज्ञानात्स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः । 'घटः पट एवे'ति सर्वाद्वैतवादिनामनुभवोऽस्त्येव, ततश्च तानु प्रति प्रत्यक्षबाधाभावोऽसिद्धः । अन्यस्यापि नास्तीत्यत्र तव निश्चायकप्रमाणाभावात् । अन्येऽपि, एतद्विषये बाधरहिताः, ज्ञातृत्वादहमिवेति चेत्, न; ब्रह्मवादिति व्यभिचारात् सर्वासद्वादिनि च । तदन्यत्वे सतीति चेत्, न; विशेषणाप्रसिद्धेः । स्वार्थानुमाने न दोष इति चेत्, न; अप्रयोजकत्वात्, प्रमातृत्वं चासिद्धम्, सामान्यव्याप्तौ चेतनबाधरहिते शुक्तिरजतादावन्येषां बाधस्वरत्वात्, परवचनात्तस्य बाधाभावो ज्ञायत इति चेत्, न; तेषां बहुत्वेन सर्वेषां ज्ञानुपशङ्क्यत्वात् । मम तावद्बाधविरोहोऽत्र विषये वर्तत इति चेन्न; तवापि न भविष्यतीत्यत्र प्रमाणाभावात् । इदानीं नास्तीति चेत्ततः किम् ? नहि शुक्तिरजतादिभ्रमानन्तरं तव तस्मिन् अन्मनि बाधो नावर्तिष्येतावता तत्तथ्येत्थुपैपि, तथापि तत्र बाधयोग्यत्वमस्तीति चेत्, न, तत्प्रकृतेपि दण्डवारितम् । यदाच तव कदाचिन्नगवदनुग्रहात्सत्त्वशुद्धिरूपस्यते, तदा सर्वाद्वैतज्ञाने जाते भेदप्रत्ययस्य बाधमपि साक्षात्कारिष्यसि । तदुक्तम्—'ईश्वरानुग्रहादेवा पुंसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते' इति । कालान्तरे देशान्तरे च बाधाभावो दुर्ज्ञेय एव सर्वथाऽसर्वज्ञेन । किंच 'नीलं तम' इति प्रत्ययानन्तरं 'मनीलं तम' इति प्रत्ययो नास्ति, 'अहं कृशो गौरः स्थूलो मनुष्य' इत्यादयश्च प्रत्यया आसंसारमनुवर्तन्ते, तावता किं तेषां तात्त्विकत्वमभ्युपेतम् ? अथ—तत्र युक्त्या तमसोऽभावत्वे, आत्मनो देहादिभिन्नत्वे च सिद्धे तेषां प्रत्ययानां भ्रान्तत्वं कल्प्यते, तद्वन्नपि श्रुत्याऽभेदे प्रतिपादिते भेदबुद्धेर्भ्रान्तत्वं कल्प्यताम् । प्रत्यक्षं श्रुतेर्बलवदिति—चेत्, युक्तेः कथं न बलवत् ? तथाच तद्विरोधे तमसोऽभावत्वमात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वं च त्यक्तव्यं स्यात् । श्रुतेः शब्दात्मकप्रमाणत्वात्तस्य च योग्यताज्ञानसापेक्षस्यैवार्थबोधकत्वात्तदभावेऽप्रामाण्यमिति यदि, तदाऽनुमानेऽप्यबाधितविषयत्वमङ्गमिति परिभावय । किंच प्रकृतेऽपि युक्तिविरोधो विद्यत एव; किं भिन्ने किंवाऽभिन्ने किंवादासीने इति विकल्पप्रामस्योक्तत्वात् । ननु—भेदो वर्तत इति कोऽर्थः ? किं संयोगसमवाययोरन्यतरः पृच्छ्यते, किंवा स्वभावसंबन्धः ? नाद्यः; अभावे तदनङ्गीकारात् । यदि द्वितीयः, तदा घटः स्वभावं नियमयन्नन्योन्याभावेनोपरक्तो भासत इत्येवोत्तरमिति—चेत्, न; अन्योन्याभावेनोपरक्तो भासत इत्यत्रैव प्रश्नस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि—उपरक्तो नाम विशिष्टः, वैशिष्ट्यं चान्योन्याभावसंबन्धः । स किमन्योन्याभावस्वरूपमेव, अथोभयस्वरूपम्, अर्थान्तरं वा ? न तृतीयोऽनभ्युपगमात् । तत्रापि संबन्धान्तरेऽनवस्थापाताच्च । न द्वितीयः; घटस्वरूपस्य घटावृत्तेः घटतत्संबन्धप्रतीत्यनुपपत्तेः । न प्रथमः; तदात्वेऽन्योन्याभावस्य वैशिष्ट्यं पट इति न स्यात् । संबन्धस्य भेदाधिष्ठानत्वात् । राहोः शिर इतिवन्नविष्यतीति चेत्, तर्हि संबन्धाभावे संबन्धबुद्धिर्भ्रम इत्युक्तं स्यात् । तथाच न घटेऽन्योन्याभाववैशिष्ट्यसिद्धिः । अन्योन्याभावस्वरूपमेव विशिष्टबुद्धिसुत्पादयतीति ब्रूम इति चेत्, तर्हि तदेव कुत्रोत्पादयेत् । किं भिन्ने किंवाऽभिन्ने किंवादासीने इति प्रश्नावसरो विद्यत एव । यत्र विद्यते तत्रोत्पादयतीति चेत्, वर्तत एव । कुत्र ? यत्र प्रतीयत इति चेत्, तदेवाधिकरणं भिन्नमभिन्नं वेति पृच्छ्यमानत्वात् । ननु—गोत्वादिकमपि तद्वति तदभाववति वा वर्तत इति विकल्पस्य संभवान्न स्यादिति तथाच तद्व्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति चेत्, न; 'बाधेऽदृष्टेऽन्यसाभ्यामिदं दृष्टेऽन्यदपि बाध्यताम् । क ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिना'मित्युक्तत्वात् । तथासत्यर्थान्तरतेति चेत्, न; तस्याः पुरुषदोषत्वात् । न वा तदपि; 'नहि पक्षे पक्षसमेवाव्यभिचार' इति न्यायस्य संभवात् । किंचोत्पन्नमात्रो घटः कथं भिन्नः स्यात् ? भेदेन संबन्धाभावात् । ननुत्पन्नमात्रो घटः कथं घटः स्यात् ? घटत्वेनासंबन्धादिति चेत्, त्यज तर्हि घटस्यापि घटत्वम् । किं नश्छिन्नम् ? प्रतीतिवर्तत इति चेत्, न; दत्तोत्तरत्वात् । ननु—'जातसंबन्धश्चेत्येकः काल' इति न्यायादुत्पत्तिसमय एव घटत्वादिना संबन्ध इति—चेन्न; क्षणमगुणत्ववदुत्पत्तिक्षणे निर्धर्मकत्वसंभवात् । लब्धसत्ताकस्यैव द्वितीयक्षणेऽन्येन संबन्धसंभवात् । किंच घटनिष्ठो योऽन्योन्याभावस्तस्य पटे कथं विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वं नास्तीति वक्तव्यम् । विशिष्टप्रत्ययादर्शनादिति चेत्, उत्पत्तिक्षणे किं विशिष्टप्रत्ययो न दृश्यते ? उत्तरकाले न दृश्यत इति चेत्तदा तर्हि स्वरूपसंबन्धः स्वीक्रियताम् ।

घटवति भूतले चत्वरियघटाभावयोग्यत्वस्येव कालभेदेन सत्त्वासत्ताङ्गीकारात्, सर्वदाऽयोग्यत्वे घटवत्यपि भूतले तत्प्रतीत्यापत्तिः । तस्मात्कालभेदेन तदेव योग्यमयोग्यं चेति वक्तव्यं तथात्रापि किं न स्यात् ? किञ्च योग्यतावच्छेदकं रूपमस्ति न वा ? नाद्यः; तस्यातिरिक्तस्यासंभवात् अनङ्गीकाराच्च । नान्त्यः; तथासति तत्र जनकत्वतद्योग्यत्वयोर्ग्रहीतुमशक्यत्वात् । तयोरनुगतरूपावच्छेद्यत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ—अस्ति वैशिष्ट्यमतिरिक्तमिति—चेन्न; तस्यैकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । भिन्नत्वेऽननुगम एव । किञ्चोत्पत्तेः पूर्वं कीदृगासीद्वट इति वक्तव्यम् । नासीदिति चेत्, तर्हि तदन्योन्याभावः कथमासीत् ? तत्प्रागभावतज्जात्यादिवदिति चेत्, अहो श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियः ! यदयमसिद्धमसिद्धेनैव साधयति, दृष्टान्ते साध्यसाधनविकलतां च न पश्यति । प्रतियोग्यसत्त्वकाले संबन्धाभावेनोदिते प्रागभावे कं विशेषं दृष्ट्वा स दृष्टान्तीकृतः ? अथ प्रलये व्यक्त्यभावेऽपि जातिस्तिष्ठतीति चेत्, तत्काले जातेः सत्त्वे प्रमाणाभावात् । नित्यत्वं प्रमाणमिति चेत्, न; तदसिद्धेः, ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यानित्यतास्वीकारात् । अर्थान्तरतेति—चेन्न; दृष्टान्तस्योभयवासिद्धस्यैव व्याप्तिग्रहेहेतुत्वात् । पक्षेऽन्यतरासिद्धिवशात् दृष्टान्तेऽपि तद्दोषस्य संभवाच्च, तस्य पुरुषदोषत्वाच्च । सकलपदार्थानङ्गीकारे बौद्धवन्निराकरणीया वेदान्तिन इति चेत्, न; तेषां युक्तिशून्यत्वेन निर्मूलत्वात् । न्यायशास्त्रवत्, वेदान्तिनस्तु श्रुतिं सकलप्रमाणमूर्ध्ववर्तिनीं ब्रह्मविषयां दृढमूलामादाय तदविरुद्धां युक्तिमुद्गावयन्तो व्यवहरन्तस्तव पितामहेनापि निराकर्तुमशक्याः, प्रत्युत तैरेव तार्किकमन्यः सुखनिरस्यः । तदुक्तं 'एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् । आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिष्विति । तदेवं भिन्नादिविकल्पप्रसूतत्वाच्च भेदसिद्धिः संभवतीति सिद्धम् ॥ इति भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गः ॥ ७ ॥

अथ स्वविशिष्टे स्ववृत्तावशत आत्माश्रयोपपत्तिः ॥ ८ ॥

ननु—अस्तु भिन्ने भेदो वर्तत इत्ययं पक्षः । नचानवस्थाः भेदान्तरानङ्गीकारात्तेनैव भेदेन भिन्ने स भेदो वर्तत इत्यङ्गीकारात् । नचात्माश्रयः; तद्भेदे तद्भेदानङ्गीकारात् । नच—तद्विशिष्टवृत्तावशतो विशेषणस्य वृत्तिरायातीति—वाच्यम्; यद्विशिष्टवृत्ति तद्विशेषणेऽपि वर्तत इति नियमानङ्गीकारात्, 'घटे रूपमि'त्यत्र व्यभिचारात्, 'दण्डो पुरुषः कुण्डली'त्यत्र व्यभिचाराच्चेति—चेन्न; 'रूपवति रस' इत्यत्रेवोक्तस्थलेऽप्युपलक्षणत्वस्यैव मणिकृतोक्तत्वाद्विशेषणत्वस्वीकारेऽपसिद्धान्तापत्तेः । अथ व्यावर्तकत्वे सति क्रियान्वयित्वं विशेषणत्वमिति लक्षणपक्षे भवदुक्तदोषावकाशोऽस्तु ननु तल्लक्षणं विशेषणत्वस्य, किं तर्हि ? प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वं, स्वकालनियतव्यावृत्तिबोधजनकत्वं वा विशेषणत्वम् । तच्च विशेष्यवृत्तिधर्मानधिकरणतायामपि संभवत्येव । तथाचेत्तद्भेदानाश्रितोऽपि स भेदस्तद्भेदवताश्रितो भवतीति—चेत्, न; विशिष्टवृत्तेर्धर्मस्य विशेषणांशे वृत्तेरेव विशेषणत्वव्यवहारालौकिकानाम्, तदतिक्रमे विशेषणत्वस्य पारिभाषिकत्वापत्तेरुपेक्षणीयत्वापत्तेश्च । अन्यथा 'दण्डिनं भोजये'त्यादावपि विशेषणत्वसंभवे तत्रोपलक्षणत्वव्यवहारः सर्वेषां लोकानां भज्येत । लक्ष्यानुसारेण हि लक्षणं कर्तव्यं ननु लक्षणानुसारेण लक्ष्यं त्याज्यम् । तथासति घटत्वादीनामपि पृथिवीलक्षणत्वापत्तेः । किञ्च 'घटोऽयमि'ति प्रतीत्यनन्तरं अघटात्पटाद्यावृत्तिः प्रतीयत इति स्वीक्रियते त्वया, साच प्रतीतिः 'पटाद्भिन्नो घट' इत्याकारा । तथाच पटभिन्नत्वमपि घटविशेषणं चेत्स्वीकुरुषे तेनापि पुनर्व्यावृत्तिः प्रत्याय्येति स्वीकार्यम् । साच किं घटादुत पटादुतान्यस्मात् ? न प्रथमतृतीयौ; असंभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि विशेषणभूता व्यावृत्तिः अन्या वा ? नान्त्यः; अग्रे धावनेऽनवस्थापत्तेः, अननुभवश्च । न प्रथमः; तस्या व्यावृत्तेः प्रथमत एव बुद्धत्वात् अन्यथा विशेषणत्वायोगात्तदधिकरणतायाश्च तदव्यवच्छेद्यत्वे आत्माश्रयापत्तेश्च । एतेन—स्वकाले नियतव्यावृत्तिबोधजनकत्वमित्यपि—अपास्तम्; विशेषणस्यापि सर्वदा व्यावृत्तिबुद्ध्यजनकत्वात्, कदाचिदुपलक्षणस्यापि जनकत्वाच्च 'दण्डयमासी'दित्यादौ स्वाकालेऽपि व्यावृत्तिबुद्ध्यजनकत्वाच्च । नच—उपलक्षणमेव प्रतियोगीति—वाच्यम्; काकप्रतीतिं विनापि गृहप्रतीतिवत् प्रतियोगिप्रतीतिं विनाप्यभावबुद्ध्यापत्तेः । नचेष्टापत्तिः; अभावस्य सविकल्पकैकवेद्यत्वत्यागेऽपराद्धान्तापत्तेः, निर्विकल्पकैकवेद्यस्य च व्यवहारानङ्गत्वात् । किञ्च प्रत्याय्यव्यावृत्तिरित्यत्र किं येन केनापि प्रत्याय्या उत विशेषणेन ? नाद्यः; तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् । न द्वितीयः; आत्माश्रयापत्तेः । किञ्च प्रतीतिर्विशेषणमुपलक्षणं वा ? नाद्यः; प्रतीतेः पूर्वं विशेषणत्वाभावापत्तेः, ततश्च कथं तेन व्यावृत्तिर्बोद्ध्या ? न द्वितीयः; व्यावृत्तिनिष्ठैकरूपानिर्वचने उपलक्ष्यत्वानुपपत्तावव्यावर्तकतापत्तेः कथंवा प्रत्याय्यपदमुपादीयते ? नह्यप्रत्याय्या व्यावृत्तिरस्ति, तेन सा व्यावर्तनीया स्यात्; काकादीनामपि प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वाच्च । अथ—अवच्छेदकत्वं नावच्छित्तिप्रत्ययजनकत्वं, किंतु अवच्छित्त्यन्यूनानतिरिक्तकालीनविशेष्यसंबन्धवत्त्वम् । एवंहि काकादेरुपलक्षणस्य व्युदासः । गृहादौ विशेष्ये काकादिविरहकालीनाया अपि व्यावृत्तेः प्रतीत्या तस्य व्यावृत्त्यधिकरणत्वन्यूनकालीनविशेष्यसंबन्धवत्त्वात्, दण्डस्य तु न तथा; पुरुषे दण्डसंबन्धविरहकालीनाया अदण्डिव्यावृत्तेरप्रतीतेरिति—चेत्, न; 'दण्डयमासी'दित्यत्र दण्डाभावकालीनाया अपि व्यावृत्तिबुद्धेर्जायमानत्वात् । नच—तत्कालीनाया एव व्यावृत्तेरिदानीं बोध्यमा-

नत्वं तदानीं विशेषणस्यापि सत्वमासीदिति—वाच्यम्; इदानीं व्यावृत्तिबुद्ध्यनुत्पत्त्यापत्तेः । तत्कालीनसत्त्वस्येदानीं बुद्धिं प्रत्यहेतुत्वात्, हेतुत्वे वाऽसतोऽपि काकस्य विशेषणत्वेन किमपराद्धम्? अथ—तदानीं दण्ड उपलक्षणमेवेति—चेत्, न; अपराद्धान्तापत्तेः; तदानीं तदव्यावृत्तिं प्रति दण्डस्य विशेषणत्वाभ्युपगमात् । किंच पूर्वोक्तवैचित्र्ये प्रमाणाभावश्च; उभयत्रापि वैशिष्ट्यबुद्धेरविशेषात् । नहि ‘काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः’ ‘दण्डी देवदत्तः’ इत्यनयोः संबन्धबोधे कश्चिद्विशेषोऽस्ति । अथ—‘काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः’ इत्यत्र गृहे काकस्यात्यन्तायोगव्यवच्छेदः प्रतीयते, नतु तद्योगमात्रम् । सच तत्र कदाचित्काकसंबन्धे जाते काकविगमदशायामप्यस्तीति तत्रापि तत्प्रतीयत एव । तथाच तत्प्रतीत्या तत्र काकस्यात्यन्तायोगव्यावृत्तिरपि बोध्यते; तदानीं तस्यास्तत्र सत्त्वादेव, दण्डी पुरुष इत्यत्र पुरुषे न दण्डात्यन्तायोगव्यवच्छेदः प्रतीयते किंतु दण्डसंयोग एव । सच दण्डविगमदशायां तत्र नास्तीति तत्र प्रत्येतुं न शक्यते । अतएव तत्र तदा दण्डयोगरहितव्यावृत्तिर्न प्रतीयते नवाऽस्ति तदानीं तस्यैव दण्डयोगरहितत्वादिति—चेन्न; एवं कल्पने प्रमाणाभावात् । प्रतीतिरेव कल्पिकेति चेत्, न, विशेष्यक्रियान्वयिनो विशेषणत्वम् तदन्यस्योपलक्षणत्वमित्येतावति प्रतीतेरुपपत्तेः । अतएव ‘रूपवति रस’ इत्यत्र सत्त्वेऽपि न विशेषणत्वम्, विशेष्यक्रियान्वयित्वाभावात्, अविद्यमानस्यापि दण्डस्य ‘दण्ड्ययमासी’ इत्यादौ विशेषणत्वात् । किंच काकादेरपि यदा योग एव तात्पर्यं तदा का गतिः? तदा विशेषणमेवेति चेत्, तर्हि तदभावदशायां व्यावृत्तिबोधो न स्यात् । अस्ति च तत्रापि बोधः । नहि काकापगमे देवदत्तगृहमितरभिन्नं न प्रतीयन्ति । किंच यदि व्यावृत्तिघटितं विशेषणं तदा कथं पूर्वं प्रतीतिः स्यात्, व्यावृत्तिबोधो नास्त्येवेति चेत्, न; विशेषणत्वेन विशेषणबुद्ध्यभावे विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यनापत्तेः । नच—विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं विशेषणज्ञानमपेक्षितं, नतु विशेषणत्वप्रकारकमिति—वाच्यम् । विशेषणत्वाग्रहे तदवच्छेदकप्रकारस्याप्यग्रहापत्तेः । नच वस्तुतस्त्येति—वाच्यम्; कापि विशेषणत्वाग्रहे वस्तुत इत्यस्यैवासिद्धेः । नच—पर्वते वह्न्यग्रहेऽपि वह्निव्याप्यत्वग्रहवदिदं स्यादिति—वाच्यम्; तत्र दृष्टान्ते वह्निव्याप्यत्वानुभवेन तत्संस्कारसंभवे विशिष्टबुद्धेः संभवात्, इह तु प्राथमिकविशेषणबुद्धेर्विचार्यमाणत्वात् । अस्तुवा तत्राप्यनुपपत्तिः । तस्माद्विशेष्ये यदन्वेति तदन्वयित्वे सत्येव विशेषणत्वं लोके सिद्धं निर्वहति, तथाच तद्वेदविशेषणके विशेष्ये तद्वेदवृत्तावंशतः स्वाश्रयतापत्तिरिति सुष्टुक्तं भगवता खण्डनकृता । अन्यदीयवचनं तु तदबोधविजृम्भितमिति सर्वमवदातम् । इति स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशत आत्माश्रयोपपत्तिः ॥ ८ ॥

अथ विशिष्टवृत्तौ संबन्धानुपपत्तिः ॥ ९ ॥

किंच तद्वेदविशिष्टे स भेदो वर्तत इति वदन् प्रष्टव्यः किं तद्वेदस्तत्र संबद्धः सन् विशेषणमुतासंबद्धः? । न चरमः; अतिप्रसङ्गात् । न प्रथमः; संबन्धस्यैव विचार्यमाणत्वात् भेदस्यान्योन्याभावस्य नित्यत्वेन नित्यसंबन्धत्वात् असंबन्धपक्षस्याप्राप्तिरिति चेत्, संबन्धिनो घटादेरनित्यत्वेन नित्यः संबन्ध इत्यस्यैवासिद्धेः । अथ—अतीतेनानागतेन च प्रतियोगिना विशिष्टप्रतीतिदर्शनाद्विशिष्टप्रतीतेः संबन्धासाध्यत्वम्, अन्यथा ‘घटस्य प्रागभावो घटस्य ध्वंस’ इत्यादिप्रत्ययो न स्यादिति—चेन्न; अप्रत्युत्पन्ने पदार्थे उपरक्तप्रत्ययजननयोग्यत्वस्यासंभवात्, संभवे वा धर्मिमात्रापलापपत्तेः । किंच तत्रापि तज्ज्ञानमेव विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तौ हेतुर्नतु घटादिरन्यथाऽसतएव जनकत्वापत्तौ जितमसद्वादिना । ननु—उत्पत्स्यते घटो विनष्टो वेति त्वया प्रतीयते नवा? । नेति बुवाणोऽपह्नवकृत् पक्षपाती, प्रथमे प्रतीयते त्वयापि संबन्धः, तदेव कथमिति तु न पर्यनुयोगावकाशः; वस्तुस्वभावस्य तादृशत्वात्, प्रतीतेरेव च वस्तुस्वभावनियामकत्वादिति—चेत्, न; सर्वाद्वैतवादिनं प्रत्यसिद्धेः, प्रतीतिमात्रस्य च वस्त्वसाधकत्वात्, स्वभाववादापत्तेश्च । नच—यथाऽनुत्पन्नयोरपि संबन्धिनोः समवायः प्रागासीदेवमुत्पन्नस्यापि घटस्य भेदसंबन्धः सार्वदिको भवति, एतावांस्तु विशेषः—समवायः संबन्धिभिन्नोऽयं तु संबन्ध्यात्मको ज्ञानविषययोरिवेति—वाच्यम्; तत्र हि संबन्धिभिन्नत्वादेव तदभावेऽपि संबन्धसत्त्वं न विरुध्यते, अत्र तु स्वरूपसंबन्धस्य संबन्ध्यभिन्नत्वे तदसत्त्वे सत्त्वानुपपत्तेः समवायज्ञानविषयस्थलेऽपि विप्रतिपत्तेश्च । नचार्थान्तरता; दृष्टान्तस्योभयवादिसिद्धस्यैव साधनोपयोगित्वात् । अन्यथा स्वाभिप्रायमवलम्ब्य यत्किंचिद्वृणस्य सर्वैवंक्तुं शक्यत्वात् । तथाचाऽसिद्धमसिद्धेन साधयतो महानैयायिकत्वं तव । एवंच सति ‘रूपवति रूपं’ ‘रसवति रसः’ ‘गवि गोत्वमि’त्यादिकमपि कथंचिदुपलक्षणपक्षएव योज्यं नतु विशेषणत्वपक्षे; अंशतः स्ववृत्त्यापत्तेरुक्तत्वात् । ननु—अस्त्वभिन्ने भेदो वर्तत इत्येवोत्तरम्, नहि स्वस्मादपि घटो नाभिन्नः । तथाच घटादिभिन्ने घटे पटभेदो वर्तत इति प्रश्नोत्तरार्थः संपद्यत इति—चेत्, आन्तोऽसि नितराम्; यत्परमश्रार्थमबुद्ध्वा परिहरसि छलवादीवान्याभिप्रायेण प्रयुक्तस्य वचनस्यान्यमर्थं वर्णयन् कुतोऽस्य नवकम्बलत्वं दरिद्रत्वादित्यादि । नहि घटाद्भिन्ने घटे घटादभिन्ने वा घटे पटभेदो वर्तत इति प्रश्नार्थः । किं तर्हि पटात् भिन्नेऽभिन्ने वा घटे पटभेदो वर्तत इति । तथाच परिभाषयस्वाज्ञानम् । नच—एवंविधः प्रश्नो न युक्तिमान्; विरोधितावच्छेदकप्रकारेणोपस्थितस्य

धर्मिणो विरुद्धप्रकारावच्छेदेन प्रशस्याऽदृष्टचरत्वात् । नहि भवति मृन्मयोऽयं घटो वह्निमयो न वा ब्राह्मणोऽयं चैत्रः शूद्रो न वेति वा । अन्यथा विज्ञानात्मकं ब्रह्म जडं न वा, सुखात्मकं ब्रह्म दुःखात्मकं न वा इति पृच्छतो युक्तिशक्तेनापि त्वया साध्यमानेऽपि विज्ञानसुखात्मकत्वे पृच्छानिवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्; घटपटयोः पारमार्थिकभेदासिद्धौ विरोधितावच्छेदकप्रकारेणोपस्थितेरसिद्धेः, सिद्धौ वा विरोधाभावापत्तेः । मम तावत् सिद्ध इति चेत्; न; देहात्मभावेन त्वसिद्धेन दत्तोत्तरत्वात् । ‘मृन्मयोऽयं घट’ इत्यादौ तु यदा घटादेस्तेजोमयत्वादिविधित्वं न निश्चितं तदा प्रश्नो भवत्येव । अन्यथा शब्दो नित्योऽनित्यो वेत्यपि प्रश्नो न स्यात्; शब्दस्याऽनित्यैकरूपत्वात्, तव मते मीमांसकमते च नित्यैकरूपत्वात् । यदि च तत्र विप्रतिपत्तितः प्रश्नं स्वीकरोषि, तर्ह्यत्रापि विप्रतिपत्तितस्तं स्वीकुरु । ज्ञानात्मकं ब्रह्म जडं न वेत्यत्र प्रश्ने न जडमित्येवोत्तरम्, कुतः ? इति प्रश्ने तद्विरुद्धत्वादित्येवोत्तरम् । यदित्थं तत्तथा यथा तमःप्रकाशाविति जातेन चोत्तरेण तस्य भ्रमनिवृत्तिर्भवत्येव । नच पुनः प्रश्नावकाशः; भ्रमस्य निवृत्तत्वात् । तथा तवापि प्रष्टुर्भ्रम इति चेत्, यदि विचारे कृते पटादौ भिन्नो भविष्यति, तदा तथैव, अन्यथा तु तवैव विभ्रमः, प्रश्नस्तु ममोपपद्यत एव । नच—भेदः कुत्र वर्तत इति प्रश्ने यत्र प्रतीयत इत्युत्तरं, कुत्र प्रतीयत इत्यत्र यत्र वर्तत इत्युत्तरमिति—वाच्यम्; तदेवाऽधिकरणं भिन्नमभिन्नं वेति प्रश्नस्य संभवात् । नच—प्राभाकरं प्रत्येतदुत्तरम् तं प्रत्यवयव्यादेः प्रतिबन्दिस्थानस्य विद्यमानत्वात् । दुर्दुरुद्धवेदान्तितस्तु खण्डनयुक्त्यैव निरसनीया इति—सांप्रतम्; वितण्डामाश्रित्य वदतो मायावादिनः प्रति पुनः पर्यनुयोगानवकाशात् ‘त्वया निर्वाहं तैर्दूषणीयमि’त्यस्यामेव नियमस्थितौ कथायाः प्रवृत्तत्वात् । किंच खण्डनयुक्तयो ब्रह्मादिभिरेव प्रयुक्ताः कार्यं साधयितुं समर्थाः नत्वन्येन चक्रमिव विष्णवतिरिक्तेन । नच—भेदः प्रतीतो न वा, यमधिकृत्य प्रश्न इत्यादिरूपा युक्तिर्वक्तुं शक्यत इति—वाच्यम्; प्रतीतिमात्रस्य वस्त्वसाधकत्वात् प्रश्नेऽपि युक्त्यभावात् । किंचैवं सति खण्डनयुक्तीनामेव बलवत्त्वं स्यात् । तथाच तद्वादिन एव जैत्रता । नच—मया त्वत्पक्षनिराकरणे ममैव जय इति—वाच्यम्; मत्पक्षस्य त्वया निराकर्तुमशक्यत्वात्, जयप्रत्याशाभावात् तावतापि च तत्र निर्णयालाभात् । नच—अनुन्मत्तैः सह तत्त्वनिर्णयः कार्यं इति—वाच्यम्; मायावादिनोऽपि तथात्वात् । तेषामुन्मत्तत्वेन वा तथात्वे का प्रत्याशा विचार्यमाणे त्वमेवोन्मत्तः यथास्वरूपात्माऽविज्ञानित्वात् । तथोक्तं ‘अन्यथा सन्तमात्मानं योऽन्यथा प्रतिपद्यते ॥ किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥’ ‘तथा मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ॥ न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः’ इत्यादि । तत्त्वनिर्णये च क्रियमाणे खण्डनदूषणमवश्यमुद्धर्तव्यमन्यथा तत्त्वनिर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वात् । नच तदुद्धर्तुं शक्यं शक्रेणापीत्युक्तम् । वक्ष्यते च ॥ इति स्वविशिष्टवृत्तौ संबन्धानुपपत्तिः ॥ ९ ॥

अथ भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दीनिरासः ॥ १० ॥

ननु—सर्वाभिन्नं ब्रह्मेत्यत्राप्यभेदो नाम धर्मो भिन्ने ब्रह्मणि वर्तत उताभिन्ने, आद्ये यद्ब्रह्म पूर्वं भिन्नमासीत्तत्कथं पश्चादभिन्नं स्यादिति विरोधः, द्वितीये तेनैवाभेदेनाभिन्नोऽभेदान्तरेण वा । आद्ये तव आत्माश्रयत्वम्, द्वितीयेऽनवस्था । अपिच यद्येकदा सर्वेऽभेदा ब्रह्म परिरम्भन्ते, तदा किमभेदादभिन्ने कोऽभेद इति तेषां वृत्तावन्योन्यकोलाहलं कः समाध्यात् ? अभेदभूयस्त्वे च भेदपर्यवसानमित्यधिकं दूषणमिति—चेन्न; प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वेन तेन ब्रह्मणोऽभेदानङ्गीकारात्, अन्यथा प्रपञ्चस्यापि सत्त्वस्वीकारापत्तेः तदभावे केन सहाभेदो निरूप्येत ? भेदस्तर्हि स्वीकृतः स्यादिति चेत्, न; प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वादेव । तृतीयः पन्था नास्तीति चेत्, न; अधिष्ठानत्वस्य विद्यमानत्वात् । तदेव कथमिति चेत्, शृणु; समस्तजगदाकारपरिणममानाविद्याविषयत्वं तत् । तथाच तत्त्वज्ञानेन सविलासाज्ञाननिवृत्तौ बाधावधित्वेन ब्रह्मावशेषः । रज्जुज्ञाने सविलासतदज्ञाननिवृत्तौ रज्जवशेषवत् । तथाच न कस्याप्यभेदः कुत्रचिद्वर्तत इति वृत्तिविकल्पकारी कथं नोपहासास्पदं परसिद्धान्तानभिज्ञः स्यात् । किंच घटादभिन्नो घट इत्यत्र वृत्तिविकल्पे यदेवोत्तरं त्वया दीयते, तदेव मम भविष्यति । तत्र चोत्तराभावे एकाभावाद्भयमपि न स्यादिति हा कष्टम् तव ! तत्र चाभेदो नाम घटस्वरूपमेवेति यदि ब्रूषे, अस्माकमपि प्रपञ्चाभेदो ब्रह्मस्वरूपमेवेत्युत्तरमस्तु, नच तथान्योन्याभावरूपो भेदः संभवति; तस्य वृत्तिमत्त्वेन स्वरूपातिरिक्तत्वेन च भिन्नादिवृत्तिविकल्पसंभवात् । नच—त्यक्तं मयान्योन्याभावरूपमभ्रं वृत्तिविकल्पदूषणगणकुण्ठितशक्तित्वात्, स्वरूपभेदाद्यमादायैव योऽस्य तथा घटस्वरूपस्यैव भेदत्वाङ्गीकारे वृत्तिविकल्पमुद्गमस्त्विति—वाच्यम्; अर्थान्तरतापत्तेः अन्योन्याभावभेदे विप्रतिपत्तौ स्वरूपभेदमादाय परिहरतस्त्व । नच नस्य पुरुषदोषत्वम्; तावतैवास्माकं जयव्यवहारात् । तत्त्वनिर्णयस्तु शुद्धसत्त्वैः सह करणीयः । किंच मुखमुद्गममपि कर्तुमशक्यम् । अन्यसाकाङ्क्षस्वभावस्य घटस्य भेदत्वेऽन्यसाकाङ्क्षतापत्तौ स्वभावव्याघातापत्तेः । नच—ब्रह्मणोऽभेदस्वभावत्वे घटाभिन्नं ब्रह्मेत्यन्यसाकाङ्क्षतापत्तिस्तुल्येति—वाच्यम्; घटस्याविद्याविनिर्मितत्वेन ब्रह्मनिरूपकत्वानङ्गीकारात् । नह्यखण्डे चिदेकरसे ब्रह्मणि अद्वितीये कस्यचिन्निरूपकत्वसंभवः । यदि च

घटो भिन्नोऽस्ति तदा कथमभिन्नता, यदि नास्ति ततः पृथक् तदा कस्याकाङ्क्षा स्यात्, तव तु पटस्य पृथक् विद्यमानत्वात् तत्साकाङ्क्षत्वं घटस्य यदि स्यात्तदा स्वभावव्याघातापत्तिरिति । तस्मादस्थाने प्रतिबन्दीग्रहग्रहस्ते परसिद्धान्तानवबोधकृतः । ननु—घटत्वेन निरूप्यमाणो घटोऽन्यानपेक्ष एव, भेदत्वेन निरूप्यमाणोऽन्यसाकाङ्क्षोऽस्तु को दोषः ? प्रकारभेदेनोभयाविरोधात्, केवलं मम मते घटत्वभेदव्योः प्रकारभेदोऽप्यस्ति, तव मते सोऽपि दुर्लभ इति—चेत्, न, घटत्वातिरिक्तस्य भेदत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । यदि च घटत्वातिरिक्तो घटवृत्तिधर्मो भेदत्वं नामातिरिक्तमङ्गीक्रियते, तदापि प्रष्टव्यं किमसौ भावरूपः, आहोस्विदभावरूपः । आद्ये द्रव्यादिरूपत्वे गुणादावसंभवो योज्यः । अतिरिक्तत्वेऽपसिद्धान्तः । द्वितीयेऽन्योन्याभावो वा संसर्गाभावो वा । आद्ये घटकुर्व्यां प्रभातायितम् । द्वितीये प्रागभावप्रध्वंसयोरनङ्गीकारेऽत्यन्ताभावः परिशिष्यते । सोऽपि पटस्य वा स्यात्, पटादेव वा । नाद्यः, घटः पटाल्यन्ताभाववान्, घटः पटो नेत्यनयोः प्रतीत्योर्विलक्षणत्वात् । द्वितीयेऽपि वैधर्म्यं भेदस्य नामान्तरकरणम् । तत्रापि वृत्तिविकल्पस्तुल्य एव । तस्यैव च भेदत्वमुचितम्; आधाराधेयप्रतीत्यनुरोधात् । स्वरूपभेदपक्षे चाधाराधेयप्रतीत्यनुपपत्तिः; अभावमात्रोच्छेदप्रसङ्गश्च । अधिकरणस्वरूपेणैव भेदबुद्धिवत्तद्व्युत्पत्तेर्जितं बुद्धबन्धुना; तथाच वृश्चिकभिया पलायमानस्याशीविषमुखे निपातस्ते । तस्मात्स्वरूपभेदे प्रकारभेदेन परिहारोऽसङ्गत एव । किञ्च कस्मान्नेद इत्याकाङ्क्षा तावदस्यैव । तथाच स्वरूपस्य साकाङ्क्षतापत्तिर्दुर्वारा । तवाप्यभिन्नं ब्रह्म केनेत्याकाङ्क्षा विद्यत एवेति चेन्न; त्रिविधपरिच्छेदशून्ये ब्रह्मणीदशप्रश्नस्यासङ्गतत्वात् । तथाप्यविद्यादशायां संभवतीति चेन्न; तत्राप्येतस्य सद्रूपत्वादेव । अध्यस्तस्य च घटादेरधिष्ठानस्वरूपसत्तयैव सर्वं तत्स्फूर्तिः, रूपान्तरं तु तस्यानिर्वचनीयम् । अधिष्ठानज्ञाननिवर्त्याज्ञानतद्विकल्पान्यतरत्वं न तत् । तथाच तत्र सापेक्षत्वं ब्रह्मणो वदन् बालैरप्युपहसनीयः । किञ्च भेदविशेषणिका घटविशेषणिका प्रतीतिरस्ति । नच भेदे सा घटेत । घटनायां वा दण्डीत्यादावतिरिक्तविशेषणस्वीकारे रुचिस्ते प्रमाणं न त्वन्यत् । तथाच मायावादिना सह योद्धुं स्वरूपभेदमस्यमन्यदीयं गृह्यतस्तव विशेषणमात्रोच्छेदमपश्यतो महान् व्यामोहो विद्वद्भिरवगतः । ‘अभिन्नं ब्रह्मे’त्यभेदविशेषणेद्वा बुद्धिस्तव मतेऽपि कथमिति चेन्न; विशेषणविशेष्यभावानङ्गीकारात् । प्रतिबन्दीग्रहेऽपि च दोषानुद्धरणत् । यः परिहारस्तव स तु ममापि भविष्यतीति चेन्न; एकमतपरिशेषापत्तेः । मम च सर्वव्यवहारातीतनिर्धर्मैकस्वप्रकाशचिन्मात्राभ्युपगम एव परिहारः । त्वयापि च तथैव स्वीकारे मच्छिष्योऽसि, अनङ्गीकारे पृथगेव परिहारस्तव वाच्यः । तथाच प्रतिबन्दीग्रहग्रहो वृथैवेति ॥ इति भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दीनिरासः ॥ १० ॥

अथ भेदस्वरूपत्वनिरासः ॥ ११ ॥

किञ्च भेदः स्वरूपमिति वदन् प्रष्टव्यः किं स्वरूपं भेदेऽन्तर्भवति, स्वरूपे वा भेदः । न प्रथमः; स्वरूपव्यवहारलोपप्रसङ्गात् । द्वितीये तु भेदमात्रं वा स्वरूपेऽन्तर्भवति प्रतियोगिघटितं वा न प्रथमः; भेदमात्रस्य प्रतीत्यनारुढत्वात् । तस्य च स्वरूपान्तर्भावेभिधीयमानेऽविवादात्, व्यावहारिकस्य भेदस्य विचार्यमाणत्वात् । प्रतियोगिघटितश्चेत् स्वरूपेऽन्तर्भवति, तथाच पटान्नेद इत्येवंरूपस्य तस्य घटस्वरूपत्वे पटादभिन्नो घट इत्येव स्यात् । तथाच भेदाय धावता विपरीतं कृतं स्यादिति परिभावयाज्ञानम् । एवं घटात्पटभेदेऽपि द्रष्टव्यम् । तथा जगद्धटभेदेऽपि जगतो घटात्मता प्रतिपादिता स्यात् । ननु—पटः प्रतियोगी यस्य तत्स्वरूपं भेद इत्युच्यमाने त्वयैव भेदः कण्ठोक्तः स्यात् । नह्यभेदे बहुव्रीहिसमासो भवति । तथाच समस्यमानपदार्थभूतात्पटात्तदन्यपदार्थो घटो भिन्नत्वेन प्रतिपादितो भवत्येव । समस्यमानपदार्थादन्यस्यैव बहुव्रीह्यर्थत्वात् । नहि ‘चित्रगुर्देवदत्त’ इत्युक्ते चित्रया गवापि देवदत्तस्याभेदः प्रतीयते, किं तर्हि ? गोर्विशेषणत्वमात्रम् । प्रकृतेऽपि पटभेदत्वेन घटस्वरूपे निरूप्यमाणे पटस्य विशेषणत्वमात्रमभ्युपगतं नत्वभेदोऽपि, एवं घटस्वरूपभेदप्रतियोगी पट इत्युक्ते कथं पटस्य घटात्मत्वम् ? पूर्वयुक्तेः सत्त्वात् । तथाच यद्यद्वक्तव्यमुच्चार्य त्वया पटस्वरूपे घटस्वरूपे च घटः पटो वान्तर्निवेशनीयस्तेन तेन त्वद्वचनेनैव तयोर्भेदो व्यवस्थापनीय इति यथा यथा तव भेदनिरासाय यत्नस्तथा तथातिष्ठेदबालक इव ते पुरोवर्ती भेद—इति । अत्रोच्यते—‘शिरःस्वरूपो राहुर्’त्यत्र दिविष्टचन्द्रस्वरूपो जलचन्द्रः, महाकाशस्वरूपो घटाकाशः, कम्बुग्रीवादिस्वरूपो घटः, चिद्रूपः पुरुषः, कृष्ण ईश्वरस्वरूप, इत्यादौ च बहुव्रीहिसमासेऽप्यभेद एव प्रतीयते । नहि राहुशिरसोर्भेदमभ्युपैषि । तथान्येषामप्युदाहृतानामभेदमभ्युपगच्छसि । अथ तत्राभेदस्य प्रमाणसिद्धिर्वाग्भेदबुद्धिरविद्यापक्षे निविशते औपचारिकीति मन्यसे वा, तर्हि घटयोरपि तथैव स्वीकर्तुमर्हसि तावता पितुस्ते का हानिः ? तथाच भेदसाधनाय प्रयुक्तो बहुव्रीहिरनिच्छन्तं रुदन्तमपि त्वामभेदं ग्राहयतीति त्वदीयमस्य त्वामेव प्रहरतीति महत्कौतुकम् । किञ्च बहुव्रीहिरपि स्वरूपं भेदं वदता त्वयाऽभिधीयते न त्वस्माभिः । तथाचास्मान् प्रति निरनुयोज्यानुयोगः कृत इति परिभावय । तथापि त्वयानुवादः कृत इति चेत्, ततः किं; नह्यनुवादमात्रे

निर्वन्धः, तथासति परपक्षनिषेधार्थं कोऽपि नानुवदेत्? किञ्च चित्रगुरित्यत्र गौर्न विशेषणम्, किं तर्हि? उपलक्षणम् । अन्यथा तद्गुणतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहोर्भेदो न स्यात् । भवतु तथा तथापि भिदाऽस्तीति चेत्, तथापि तवाज्ञानमेव, सोऽपि स्वरूपं वान्योऽन्याभावो वा नाद्यः; प्रतियोगिघटितस्य स्वरूपान्तर्भावे भेद एव, भेदमात्रस्य च बुद्ध्यनारोहात्, तत्रापि बहुव्रीहिसमासेन भेदोपादाने पूर्वदोषान्न निवर्तसे । न द्वितीयः; स्वरूप-भेदमादाय योऽस्य इति प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः । वृत्तिविकल्पश्चानुवर्तत एव । तथाच यद्यदेव त्वया भेदप्रतिपादकमुदाहरणीयं तदेव स्वरूपभेदपक्षेऽभेदपर्यवसायित्वेन त्वां प्रत्युदाहार्यम् । किञ्च कचिच्चेदो निरूपणपथमगात्ततः स दृष्टान्तीकर्तुं युक्तः । नह्यद्वैतवादन्येषां परस्परभेदं स्वीकरोति । घटपटयोः परं न स्वीकरोति । ततः कथं तमसिद्धं दृष्टान्तीकुर्वन्न लज्जसे । तदुक्तं भगवता खण्डनकृता—“नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि । असिद्धभेदा-व्याघातः पतेदापादकात्कुतः ॥” इति । किञ्च स्वरूपस्य भेदत्वे तस्यान्यसाकाङ्क्षतापत्तिः, साचानिष्टा; एकस्य वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवात् । अथ—केयमन्यसाकाङ्क्षता नाम? घटादयो निष्प्रतियोगिकास्त एव चेन्नेदाः स्युस्तदा सप्रतियो-गिकाः स्युः । अभाववत्समवायवच्चेति—चेत्, भवन्तु नाम सप्रतियोगिकाः, तावता न नः किञ्चिद्वाध्यत इति चेन्न, स्वभावव्याघातापत्तेः, लोकव्यवहारव्याघातापत्तेः । किञ्चिद्भि सप्रतियोगिकं किञ्चिन्निष्प्रतियोगिकमिति लोकव्यवहारः । लोकव्यवहारत्यागे च वादित्वान्नित्यवृत्तिस्तव ।

ननु—स्वाभावाभावेन निरूप्यमाणा घटादयोऽपि सप्रतियोगिकास्तथाच को दोष इति—चेत्, तर्हि तद्वदेवेतर-निरूपणाधीननिरूपणाः स्युः सप्रतियोगिकज्ञानमात्रविषयाश्च स्युरिति । नच—सप्रतियोगिकपदार्थोऽपि प्रकारान्तरेण ज्ञायते, यथाऽभावः समवायो वा प्रमेयत्वादिना, तथा किं न स्यादिति—वाच्यम्; यथाऽभावत्वेनाभावज्ञाने प्रतियोग्यपेक्षावश्यंभाविनी, तथा घटत्वेनापि तज्ज्ञाने प्रतियोगिज्ञानापेक्षाप्रसङ्गात् । नहि घटत्वादन्यद्भेदत्वं नाम । तथाच स्वात्मानमुपालभस्व येन तथानियममङ्गीकृत्यापि स्वयमेवान्यथा प्रलपसि । अथ वयं सप्रतियोगित्वं निष्प्रति-योगित्वं वा वस्तुनः स्वाभाविकमेवेति नाङ्गीकुर्मः । किं तर्हि? यत्प्रकारावच्छेदेन यज्ज्ञानं नियमतो यद्विशिष्टज्ञानम-पेक्षते तत्प्रकारावच्छेदेन तद्वस्तु तत्प्रतियोगिकमिति ब्रूमः । तथाच स एव घटो घटत्वेन ज्ञायमानो नान्यद्विशिष्टज्ञान-मपेक्षते, अतो घटत्वावच्छेदेन निष्प्रतियोगिक इत्यभिधीयते । स्वाभावाभावत्वेन तु ज्ञायमानो घटो नियमतः स्वाभावाभावज्ञानमपेक्षत इति तेन प्रकारेण सप्रतियोगिक एवेत्यभिधीयत इति । यद्यपिच वह्निर्वेन वह्निज्ञानमपि कदाचिद्भूमज्ञानमपेक्षतेऽनुमितिरूपमतो वह्निर्वेनापि वह्निः सप्रतियोगिक एव स्यादित्यत उक्तं—नियम इति । नहि प्रात्यक्षिकमपि वह्निर्वप्रकारकं धूमज्ञानापेक्षि, येन धूमो वह्नेः प्रतियोगी स्यात् । यद्यपि च वह्निर्वनिर्विकल्पकं वह्निर्वविशिष्टज्ञानं नियमतोऽपेक्षत इति वह्निर्वमपि वह्नेः प्रतियोगि स्यात्, तथापि न तद्विशिष्टज्ञानमित्यपेक्षणीय-ज्ञाने वैशिष्ट्यं विशेषणमुपात्तम्—इति, मैवम्; एवंभूतप्रक्रियायां मानाभावात्, स्वबुद्धिमात्रविकल्पितत्वेन परस्य तत्र विश्वासाभावात् । किञ्च प्रतियोगित्वं विरोधित्वं, नच घटपटयोस्तदस्ति । अथ नियमतस्तज्ज्ञानाधीनज्ञानविषय-त्वमेव तदिति चेत्, तर्हि घटस्य पटज्ञानमन्तरेण ज्ञानं न स्यात् । भेदत्वज्ञाने तथैव चेत्, तर्हि घटत्वादधिकं तथाच सिद्धोऽन्योन्याभावोऽधिकः । अनधिकत्वे तु स दोषस्तदवस्थः । अथ भेदशब्दवाच्यत्वं तदिति चेत्, भ्रान्तोऽस्मि नितराम्; प्रत्यक्षज्ञानविषयो भेदः क इति पृष्टे भेदशब्दवाच्यत्वं यदुदाहरसि । नह्ययं घट इति ज्ञाने घटशब्दवाच्यत्व-मपि स्फुरति; तस्य पूर्वं नियमेनोपस्थितौ मानाभावेन प्रत्यक्षज्ञाने मानाभावात् । तथाच धंधनमात्रमेतत् । किञ्च यद्यन्यज्ञानसापेक्षप्रतीतिविषयत्वमेव नियमेन विरोधित्वं स्यात्, तर्हि गोत्वाश्वत्वयोर्न विरोधित्वं स्यात् । तत्र सहानवस्थालक्षणो विरोधस्तत्कृतश्च प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति चेत्, तद्वैकरूपानिर्वचने शब्दप्रवृत्त्यनुपपत्तिः । घटत्वादीनां च सप्रतियोगित्वे सति प्रतियोगिनिष्प्रतियोगिव्यवहारस्य लोपः स्यात् । नच—यत्पदार्थस्य यदसाधारणं वाचकपदं तत्प्रवृत्तिनिमित्तं यत्तत्प्रकारकज्ञानस्य विशिष्टज्ञानसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वप्रयुक्तं तद्विषयतीति—वाच्यम्; दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिविषयत्वे नियमेन दण्डसविकल्पकज्ञानापेक्षणेऽपि सप्रतियोगिकत्वव्यवहाराभावात्, प्रमेयपदेन च संयोगोऽभिधीयमानेऽन्यसापेक्षत्वाभावेन संयोगस्य निष्प्रतियोगिकत्वापत्तेः । संयोगपदेनाभिधानेऽपेक्षास्तीति चेन्न; संयोगस्य तथास्वभावत्ववद्भट्टस्यापि तथास्वभावत्वे नियमेनान्वयप्रतीतिं विना प्रतीत्यनुपपत्तेरुक्तत्वात् । तस्मिन्नेतन्न घटादय एव स्वरूपभेदास्तथात्वेऽन्यसाकाङ्क्षतापत्तौ स्वभावव्याघातापत्तेरिति । किञ्च यदि स्वरूपं भेदः, तच्च नाना, नच तत्रानुगतमेकं रूपमस्ति, तथाच कथं तत्र भेदपदस्य समयग्रहः? किं यत्किञ्चित्स्वरूपे तद्ग्रहः, किं वा सकल-स्वरूपे । प्रथमे च विनिगमनाविरहः, द्वितीये सकलरूपप्रतीत्यसंभवः; स्वरूपत्वस्यैकस्यानङ्गीकारे सामान्यलक्षणाया वक्तुमशक्यत्वात् । अथ—स्वरूपत्वमेकं सर्वस्वरूपेषु स्वीकरणीयमन्यथा समयग्रहाद्यसंभवापत्तेः । नच तदनिर्वचनम्; स्वनिष्ठधर्मात्यन्त्राभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्वस्य तस्य सुवचत्वात् । अस्यचायमर्थः—स्वनिष्ठो यो धर्मस्तस्य

योऽत्यन्ताभावस्तदसमानाधिकरणधर्मवत्त्वमिति । अतएव न घटस्वरूपं पटः; तस्य पटनिष्ठधर्मात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मवत्त्वात् । न वा घटान्तरस्वरूपं घटान्तरम्; तत्राप्येकतरधर्मस्यापरत्रात्यन्ताभावनैयत्यादिति—चेन्न; स्वरूपमिति प्रत्यये उक्तरूपस्याभावात्, स्वरूपत्वस्य च प्रवृत्तिनिमित्तत्वे स्वरूपशब्दवाच्यत्वाकारकबुद्ध्यापत्तेः । नचेष्टापत्तिः; तथानुभावाभावात् । वस्तुमात्रं प्रतीयते ततः । नच स्वरूपत्वमुपलक्षणम्; उपलक्ष्यतावच्छेदकस्यैकस्याभावेनानुगमापत्तेः । किंच स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्वमित्यत्र स्वशब्देन सकलवस्तुग्रहणेऽसंभवः यत्किंचिद्ग्रहणेऽननुगमः । स्वत्वस्यैकस्याशक्यनिर्वचनत्वेन तत्रापि पर्यनुयोगस्यापत्तेः । किंच तादृशधर्मवत्त्वं च घटे घटत्ववत्त्वं पटे पटत्ववत्त्वं भविष्यति, तच्च नानेति कथमनुगतं तस्यात् ? तथाच शिष्यधंधनमेव केवलं भवतः । किंच स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्वे धर्मान्तरास्वीकारे तस्यैवासंग्रहः । स्वीकारे चाग्रेधावनेऽनवस्था । यत्रैव विश्रान्तिस्तस्यैव स्वरूपत्वान्निवृत्तिः । किंच प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोः स्वरूपशब्दवाच्यत्वाभावप्रसङ्गः; तत्र सर्वथा धर्मान्तराऽनङ्गीकारात् । अथ—अस्ति प्रमेयत्वमभिधेयत्वेऽभिधेयत्वं च प्रमेयत्वे इति—चेन्न; तस्यात्यन्ताभावस्याप्रसिद्धत्वात्, तेन लक्षणगमनस्यासंभवात् । ननु—अस्ति तयोरपि नित्यत्वं धर्मः तस्य चात्यन्ताभावो घटादौ तेनासमानाधिकरणं तदेव तत्र स्वरूपत्वमिति—चेन्न; नित्यत्वे तथाविधधर्माभावेनासंग्रहापत्तेः । अथ—अस्ति नित्यत्वेऽपि घटान्यत्वादिकम्, एवं मेयत्वादावपि यथाकथंचिद्धर्मान्तरे तदादाय लक्षणनिरूपणं भविष्यतीति—चेन्न; स्वरूपत्वस्य नानात्वेन प्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः । तथात्वे व्यक्तीनामेव तथाभावोपपत्तौ वृथास्वरूपत्वनिर्वचनम्; नचानुमित्तिरेव निस्ताराय, गोत्वादेरपि तथासत्युच्छेदापत्तेः जितं व्यक्तिवादिना । नच—तादृशधर्मवत्त्वं सर्वत्रानुगतं तदननुगमेऽपीति—वाच्यम्; तस्यापि क्वचित्समवायत्वेन क्वचित्संयोगत्वेन क्वचिच्च स्वरूपत्वेनानुगमतादवस्थ्यात्, त्रिषु च संबन्धत्वस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात्, विशिष्टप्रत्ययासाधारणकारणत्वादेरनुगतरूपापरिचयेऽपरिच्छेद्यत्वात् । तथात्वेचानुगतरूपनिर्वचनमयुक्तमेव । किंच तद्वदनिष्ठसंयोगात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वात्तद्वदवस्थ तद्वदोपि तद्वदस्वरूपं न स्यात् । नच—अत्यन्ताभावे प्रतियोगिविरोधित्वं विशेषणं देयं सच प्रतियोग्यविरोधीति—वाच्यम्; तस्याविरोधित्वेऽभावत्वाभावापत्तेः । प्रतीतिरैकाधिकरण्येन वर्तत इति चेत्, तर्हि भावाभावरूपत्वं त्यज्यताम् । किंच भावाभावयोर्विरोधित्वं मुख्यं, तद्वाचकत्वं च गोत्वाश्वत्वादीनां, तयोश्चैकाधिकरण्यं त्वया स्वीकृतं, नूनं गोत्वाश्वत्वयोरपि स्वीकरिष्यसि । तत्र सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्नास्तीति चेत्, प्रकृतेऽपि यदवच्छेदेन संयोगस्तदवयवावच्छेदेन तदत्यन्ताभावो नास्तीति कुतः सामानाधिकरण्यप्रतीतिः ? अथावयवित्वेव संयोगो वर्तते तदभावश्च, अवयवस्तु तद्व्यावर्तक इत्येतावन्मात्रमुच्यते, न; अविरोधेन तयोरैकाधिकरण्ये एकावयवावच्छेदेनापि वृत्तिः स्यात् । अथ—विरोधान्न तयोरैकावच्छेदेन वृत्तिः, तर्हि विरोधान्नाभावयोरेकस्मिन् वृत्तिर्गोर्वाणेरपि दुर्भणोति सामानाधिकरण्यबुद्धिर्भ्रम एवावतिष्ठते । किंच अभावस्य निर्धर्मकत्वादुक्तलक्षणभावात्स्वरूपशब्दवाच्यत्वानुपपत्तिः । नच—तत्राप्यभावत्वं प्रतियोग्यादिकं वा यत्किंचिद्गोर्वाणेरप्युपेयः, तथाच तस्यापि यथा कयाचिद्बुद्ध्या स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्वस्य विद्यमानतया स्वरूपशब्दवाच्यत्वं स्यादिति—साम्प्रतम्; अभावत्वप्रतियोगित्वयोर्वक्तुमशक्यत्वात् । नचैवमर्थान्तरम्; अप्रकृतानुपयोगित्वाभावात्, सिद्धेऽभावत्वादिधर्मे प्रकृतलक्षणस्य तत्र वक्तुं शक्यत्वात्, अन्यथाऽसिद्धेनासिद्धं साधयतो महानैयायिकत्वापत्तेः । अथ—अस्वभावत्वं जातिस्वरूपमनुगतप्रत्ययस्य तत्साधकस्य विद्यमानत्वादिति—चेन्न; अभावत्वजातिवृत्त्यन्याऽभावे तद्वृत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । अभावे च जात्यङ्गीकारे तद्व्यायेन सत्तास्वीकारापत्तौ राङ्गान्तविपरीताभ्युपगमो भावत्वापत्तिश्च; सत्तायोगित्वस्यैव भावत्वात् । अथ—अस्तु भावविरोधित्वं तल्लक्षणं विरोधित्वं च सहानवस्थाननियम इति—चेन्न; अवस्थानस्यानवस्थानाभावरूपत्वेनात्माश्रयापत्तेः । नापि भावभिन्नत्वम्; भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वे उक्तदोषत्वापत्तेः, अभावाधिकरणकाभावानङ्गीकाराच्च । स्वरूपरूपत्वे तु तस्य तत्तदभावव्यक्तिरूपत्वेन स्ववृत्त्यनुपपत्तौ स्वरूपलक्षणत्वानुपपत्तिः, अभावपदसमग्रहासंभवश्च । नच—प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वं तदिति—वाच्यम्; प्रतियोगित्वं यदि विरोधित्वं तदाऽभावघटितं तत् । अथाभावविरहात्मत्वं तथापि तथैव । अथ स्वभावविशेषत्वं, तदातिप्रसक्तम् । नह्यन्यस्य स्वभावः स्वभावो न भवति नवा विशेषो न भवति । संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वं तदितिचेत्तदप्यनुगतरूपापरिचये कथं स्यात् ? अतीतेऽनागते प्रतियोगिनि तदसंभवाच्च । तज्ज्ञानस्य च तथात्वेन तस्यैव प्रतियोगित्वापत्तेः ॥

अन्यच्च अभावत्वं प्रतियोगित्वं च दुर्भणमेव । अथ द्रव्यादिषडुपाध्यन्ताभावत्वमभावत्वमिति—चेन्न; प्रत्येकमतिव्याप्तेः । अभावकूटो यत्रेति चेन्न; अभावकूट एवाव्याप्तेः, तत्रच तद्वृत्तावात्माश्रयापत्तेः, अन्यस्य स्वीकारेऽनवस्थानात् । किंचात्यन्ताभावत्वमप्यभावज्ञानाधीनज्ञानं, नहि घटत्वेऽज्ञाते नीलघटत्वं शक्यज्ञानम् । तथाचात्माश्रयः । अथ—अखण्ड उपाधिरेवाभावत्वमस्तु तत्तदेतावदिति—चेन्न; तस्य पदार्थान्तरत्वापत्तेः । नच सामान्येऽन्तर्भावः; जात्यपलापपत्तेः, गोत्वमप्यखण्डोपाधिरित्यस्यापि सुवचत्वात् । किंच यद्यभावे प्रतियोगिरूपो विशेषः स्वीकार्यः,

सच विशेषणं स्यादुपलक्षणं वा । नाद्यः; अतीतानागतादेर्विशेषणत्वाभावापत्तेः; असतोऽपि च विशेषणत्वस्वीकारे लोकविरोधः । तदानीं तत्र विद्यमानधर्मस्य च तद्विशेषणत्वे पाकरके घटे श्यामस्य विशेषणत्वापत्तिः; तथा 'इदानीं श्याम' इत्यस्यापि प्रत्ययस्य प्रमात्वापत्तिः । तथाचासन् प्रतियोगी अभावे विशेष इति वदन् बालैरप्युपहास्यः; एवमुपलक्षणपक्षेऽपि दोषो देयः । ननु प्रतीयते तावद्धटाभाव इति, तथाचान्यस्य विशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात् घटपवासन्नपि विशेषः स्वीक्रियते; प्रतीतेर्दुर्लभ्यत्वात्, अन्यथा तवाप्यप्रतीकारादिति, न; प्रतीतिमात्रस्य वस्त्वसाधकत्वात्, युक्तिबाधस्य चोक्तत्वात् । मम त्वनिर्वचनीयतैव शरणम् । तदुक्तम्—“समस्तलोकशास्त्रैकभृत्यमाश्रित्य नृत्यतोः । का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥” इति प्रश्नादुत्तरम्—“उपपादयितुं तैस्तेर्मतैराशङ्कनीययोः । अनिर्वक्तव्यतावादुपादसेवा गतिस्तयोः ॥” तस्मान्न स्वरूपभेदपक्षे भेदशब्दसंकेतग्रहासंभव इति सिद्धम् ॥

अतएवेदमप्यपास्तं स्वरूपमित्युक्ते सकलस्वरूपोपस्थितौ विशेषप्रतिपादनाय घटस्वरूपं पटस्वरूपमिति तत्तत्समभिव्याहारप्रयत्नः । अयमेव च धर्मो घटस्वरूपस्य भेदत्वम्, एतत्प्रकारावच्छेदेन ज्ञायमाने घटे इतरनिरूपणाधीननिरूपणो ननु संहतोपाधिरुपहितप्रत्ययायोगात्—इति; स्वरूपत्वस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात्, सकलोपस्थित्यसंभवात्, उक्त-रूपापरिज्ञानेऽपि भेदप्रतीतितच्छब्दप्रयोगदर्शनात् । किंचायमपि प्रकारो घटत्वादिरेव, तस्य च ज्ञाने प्रतियोगि-ज्ञानानपेक्षणात् । उक्तश्चात्र पक्षे विस्तरेण दोषः । किंच यदि स्वरूपं तद्भेदस्तदा, शुक्तिस्वरूपे दृष्टे रजताद्भेदो गृहीत इत्यभेदारोपो न स्यात्, न स्याच्च दूरादनभिव्यक्तकरचरणादिपुरुषस्वरूपे दृष्टे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः । ननु—न भेदमात्रं संशयविपर्यययोर्विरोधि, किंत्वारोप्यारोपविषयगतधर्मयोरन्योन्यस्मिन्नभावदर्शनम्, आरोप्यधर्मस्यारोप्य-विषये व्यतिरेकदर्शनं वा, भेदत्वेन भेददर्शनं वा, आरोप्यधर्माधिकरणारोपविषययोरन्योन्याभावदर्शनं वा; तथैवा-वधारणादिति—चेत्, तर्हि तस्यैव भेदत्वं स्यात् ननु धर्मिणः, लाघवसत्त्वात्, तज्ज्ञानस्य भ्रमसंशयविरोधित्वेन विशेषदर्शनत्वात् । भेदशब्दवाच्यं च तदेव रूपं न धर्मिस्वरूपम् । तथाच वृत्तिविकल्पभियां पलायमानस्य तत्रैव निपातः । तथाच स्वरूपं भेद इति रिक्तं वचः । किंच घटस्वरूपं यदि भेदः स्यात्, तदा कथमन्यदपेक्षितम्? नहि नीलमन्यापेक्षया नीलं भवति, किं तर्हि स्वतएव तत्तथा, घटस्वरूपमपि चेद्भेदः स्यात्, नान्यदपेक्षेत । यदि घटः प्रतियोगिना निरूप्यमाणो भेदः स्यात्, नीलमपि केनचिन्निरूप्यमाणं पीतं स्यात् । नचैतदस्ति । नचापादकाभावः; अन्यस्यान्येन निरूपणेऽन्यात्मताभ्युपगमे त्वयैव व्याप्तेरभ्युपगन्तव्यत्वात् । अन्यथा कथं पटेन निरूप्यमाणो घटो भेदः? अथ—अविरुद्धयोर्वदत्वभेदत्वयोरस्तु समावेशोऽविरुद्धत्वादेव, विरुद्धयोस्तु नीलपीतत्वयोः कथं तथा स्यादिति—चेन्न; घटत्वभेदत्वयोरविरोधासिद्धेः । यथाहि नीलपीतयोर्विलक्षणप्रतीतिवेद्यत्वं तथा तयोरपि, सप्रतियोगिको हि भेदः प्रतीयते—“अयमस्माद्भेद” इति, निष्प्रतियोगिकस्तु घटः । तथाच प्रतीतिवैलक्ष्ण्येऽपि यद्येकत्र समावेशोऽन्यत्रापि स्यादेवेति व्यवस्थायां तु रुचिरेव तव प्रमाणं वेदद्वेषो वा ॥

किंच स्वरूपं वा भवतु भेदोऽन्योन्याभावो वा, सर्वथा तत्प्रतीतावभेदज्ञानमुपजीव्यम् । घटपटयोर्हि तादात्म्यं निषेध्यम् । तथाच उपजीव्यं त्वभेदज्ञानमेव प्रमा ननु विपरीतमेतत् । भेदाभावो ह्यभेदस्तादात्म्यं वा, तथाच भेदप्रतीतिं विनाऽभेदबुद्धिरेव न भवतीति चेत्, तर्ह्यन्योन्याश्रयग्रस्तत्वादेकमपि न स्यादित्यागतम् । ननु—भेदशब्दाद्भेदप्रतीताव-भेदज्ञानं नापेक्ष्यत इति—चेत्, आन्तोऽसि, प्रत्यक्षेण भेदासिद्धौ शब्दसंकेतग्रहो दूरत एव, कुतस्ततः प्रतीति-संभावनापि, मम त्वनिर्वचनतैव शरणम् । सर्वधियां च भेदाविषयत्वमतव्यावृत्तिवैशिष्ट्यनिराकरणेन प्रागेव दर्शितम् । तस्मात्सर्वधियां भेदोल्लेखित्वमिति मनोरथमात्रम् ॥ इति भेदस्वरूपतादिनिरासः ॥

अथ भेदपारमार्थिकतानिरासः ॥

ननु—‘घटपटौ न भिन्नावि’ति किं पारमार्थिको भेदो निषिध्यते, उतापारमार्थिकः । नाद्यः; तस्य निषेद्धुम-शक्यत्वात्, अन्यथाऽऽत्मतोऽपि निषेधापत्तेः । न द्वितीयः; तन्निषेधेऽपि मदभ्युपगतपारमार्थिकभेदानिषेधात् सिद्धं नः समीहितमिति—चेन्न; लोकसिद्धस्य भेदस्य निषिध्यमानत्वात् । अन्यथा किं पारमार्थिकाभेदो निषिध्यते, उतापारमार्थिकः । आद्ये तस्य निषेधानुपपत्तिः । द्वितीये मदभ्युपगताभेदस्यानिषेधात्सिद्धं नः समीहितमित्यस्यापि सुवचत्वात् । किंचापारमार्थिको भेदो निराक्रियत इत्येवोत्तरम् । नचैतावता पारमार्थिकस्यावस्थानम् । भेदस्य युक्त्यसहत्वेन पारमार्थिकत्वानुपपत्तेः । तवाऽऽग्रहमात्रेण पारमार्थिकत्वं त्वनादरणीयमेव । किंचाभावज्ञाने प्रतियोगि-ज्ञानमात्रमपेक्ष्यते, ननु तत्प्रमात्वमपि, व्यतिरेकाभावेन तस्याप्रयोजकत्वात् । नच—तथासति अप्रमितभेदनिराकरणे-नाप्युपपत्तौ प्रमितो भेदः स्थास्यतीति—वाच्यम्; युक्त्यसहत्वेन भेदस्य प्रमितत्वाभावस्योक्तत्वात् । अन्यथा क्वापि परपक्षनिराकरणं न स्यात् ॥ इति भेदपारमार्थिकतानिरासः ॥

अथाद्वैतस्य ब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनम् ।

ननु—श्रुत्या यदद्वैतं प्रतिपाद्यते तर्हि घटादिनिष्ठं, किंवा ब्रह्मनिष्ठम्, उतोभयनिष्ठम्, उत ब्रह्मस्वरूपम् । आद्ये भेदविरोधे भेदाविरोधे वा उभयथापि भेदसिद्धिः, एकत्र विरोधनिरूपकतयाऽन्यत्र श्रुतिप्रतिपत्ताद्वैताविरोधादेव । अथ ब्रह्मप्रपञ्चोभयनिष्ठमद्वैतं नाम धर्मः श्रुतिप्रतिपाद्यः, तदाऽत्रापि पूर्ववदेव भेदसिद्धिः । अथ ब्रह्मस्वरूपमेवाद्वैतं, तदा न नो विवादः श्रुत्या भेदस्याप्रतिक्षेपादिति—चेन्न; ब्रह्मणि सर्वद्वैताभावस्य श्रुत्या प्रतिपाद्यत्वात् । नच—एवं द्वैतमध्ये ब्रह्मणोऽपि प्रवेशात्तन्निषेधोऽपि स्यादिति—वाच्यम्; निरधिष्ठानस्य निषेधस्यानुपपत्तेः । “स एष नेति नेत्यात्माऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽगृह्यो नहि गृह्यत” इति मूर्तामूर्तनिषेधेन ब्रह्ममात्रस्य परिशेषात् । तथा “तदेव ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तर-मब्रह्ममेतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूलम्” इत्यादिना स्थूलादिनिषेधेन ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्च । तथाचाह—भगवान्वेद-व्यासः—“प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय” इति । तथा “नेह नानास्ति किंचन” इति श्रुतिरपि ब्रह्मणि सर्वनिषेधप्रतिपादनेन ब्रह्म परिशिष्टं पराचष्टे चान्यत्सर्वमिति ॥ इत्यद्वैतस्य ब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनम् ॥

अथाद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनम् ।

ननु—अत्र द्वैतनिषेधोऽपि ब्रह्मभिन्नो न वा । न प्रथमः; तस्यैव द्वितीयत्वात् । द्वैतमात्रनिषेधानुपपत्तेः, तस्य च पारमार्थिकत्वे तत्प्रतियोगिनो जगतोऽपि पारमार्थिकत्वापत्तेः । तथाच नेष्टसिद्धिः । न चरमः; तथापि द्वैतमात्रनिषेधासिद्धेः, ब्रह्मण एव द्वितीयस्य सिद्धेरिति—चेन्न; उभयथापि दोषाभावात्, भावाद्वैतस्वीकारात्, प्रथमो न दुष्टः । नच प्रतियोगिनोऽपि पारमार्थिकत्वापत्तिः; निषेधानुपपत्त्यैव तदसिद्धेः । नहि श्रुक्तिरजतयोस्तादात्म्यं संसर्गं वा निषेधप्रतियोगिनमपि प्रामाणिकं स्वीकुरुषे, नच तयोरप्यन्यत्र विद्यमानयोरेव भानम्; सदुपरागेणासतोऽपि तादात्म्य-संसर्गयोर्भानादिति साम्प्रदायिकाभ्युपगमात् । तस्यागेन च मणिकारमतग्रहे क साम्प्रदायिकत्वाभिमानः? तच्च मणिकारमते च दूषणं वक्ष्यामः ॥ इत्यद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपताद्युपपादनम् ॥

अथ भेदनिषेधानुपपत्त्यादिकम् ।

किंच प्रामाणिकं निषिध्यत इति कावयोः सिद्धमस्ति सर्वं जगन्मिथ्येति मतेऽप्रामाणिकस्यैव निषेधात् । तत्र मतेऽपि प्रामाणिकस्यैव दुर्निरूपत्वात् । नच—एवं निषेधोऽप्यप्रामाणिकः स्यादिति—वाच्यम्; तत्र बाधकप्रमाणाभावात् । प्रपञ्चनिषेधश्च श्रुत्यैव प्रतिपादित इति विशेषः । नच—एवं दृश्यत्वहेतोस्तत्रैवानैकान्तिकतेति—वाच्यम्; तद्भिन्नत्वेन हेतोर्विशेषणात्, प्रपञ्चाभावस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वेन व्यभिचारज्ञानाच्च । ब्रह्मातिरिक्तस्य निषेधस्याङ्गीकारेण द्वितीयोऽप्यनवद्यः, ब्रह्मणो द्वैतरूपत्वाभावात्, श्रुत्यैव तन्मात्रस्य परिशेषप्रतिपादनात् ॥

किंचान्योन्याभावस्वरूपभेदयोः पूर्वं निरस्तत्वात् । प्रपञ्चाभाव एव युक्तः, नत्वस्त्यन्योन्याभावस्वरूपम् । तल्लक्षणा-सङ्गावात् । तथाहि—ननु तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभावः । नच—तादात्म्यस्य प्रमितत्वे निषेधानुपपत्तिः, अप्रमितत्वे च निषेधस्याप्रामाणिकतेति—वाच्यम्, घटत्वपटत्वादेरेव तादात्म्यशब्दवाच्यत्वात्, तस्य च प्रमितत्वमेव । नच—घटत्वादेरभावप्रतियोगित्वेऽत्यन्ताभाव एव स्यान्नत्वन्योन्याभाव इति—साम्प्रतम्; घटत्वावच्छिन्नस्य घटस्यैवाभाव इत्यङ्गीकारात्, मैवम्; ‘घटो भूतले नास्ती’त्यत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः । अथ तत्र घटत्वं न प्रतियोगितावच्छेदकं, किं तर्हि? संसर्गित्वमिति चेत्, तर्हि संसर्गां भूतले नास्तीति प्रतीत्यापत्तिः । संसर्गावच्छिन्नो घट इति चेत्, “अधिकं तु प्रविष्टं नतु तद्भानि”रिति न स्यादेवान्योन्याभावत्वम् । किंच भूतले संसर्गावच्छिन्नो घटो निषिध्यते इति वक्तव्यम् । तथाचाप्रसिद्धिरेव । नहि तद्भूतलघटयोः संसर्गः प्रमितः । विस्तरस्तु पूर्वमेवोक्त इत्युपरम्यते ॥ इति भेदनिषेधानुपपत्त्यादिकम् ॥

अभिहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यानामप्यद्वैतएव पर्यवसानमिति निरूपणम् ।

ननु—भेदास्वीकारे “अभिहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम” इत्यादौ श्रुतिपक्षपातिना त्वया हेतुफलभावोऽपि कथमुपपादनीयः? तस्य भेदगर्भत्वात् । तथा समासादितदण्डो घटाय न प्रवर्तत, दण्डात्मना घटस्यापि तेनाऽऽसादितत्वात् । दण्डस्य सत्त्वे घटासत्त्वं चेत्तदा तदानींतनविरुद्धधर्माध्यासादेव भेदसिद्धिः सिद्धस्य च कारणत्वादसिद्धस्य च कार्यत्वात् । किंच वाजपेयसाध्यस्वर्गार्थं कलञ्जमपि भक्षयेत्; वाजपेयकलञ्जभक्षणयोरभेदात्, वाजपेयजन्यस्वर्गकलञ्ज-भक्षणजन्यनरकयोरभेदात्, “गां दद्यादि”ति विधे रासभमपि दद्यात्; गोरासभयोरभेदात् । “सुरां न पिबेदि”ति निषेधात् क्षीरमपि न पिबेदित्यादिश्रौतस्मार्तलौकिकबहुविधायाराससाध्यसकलव्यवहारनिष्ठैव स्यात् । आगमे चेत्तव श्रद्धा,

कर्मपरतत्तदागमप्रतिपाद्यस्वर्गापूर्वादिपारमार्थिकत्वे कः प्रद्वेषः ? को वा ब्रह्माद्वैतप्रतिपादकोपनिषदेकदेशप्रामाण्येऽनुराग इति, मैवम् ; दण्डादिभिर्ब्रह्मण एवाभेदस्वीकारात् । अधिष्ठानाध्यस्तयोरेवाभेदो न त्वध्यस्तानां परस्परमभेदः । तथाच परसिद्धान्ताज्ञानविभूतिभूतमेतत् । कर्मपराभिस्तु श्रुतिभिर्न भेदः प्रतिपाद्यते; भेदशब्दाश्रवणात्, आर्थिकस्तु भेदोऽद्वैतपराभिः श्रुतिभिर्बाध्यते । नच स्वर्गादीनां तत्प्रतिपाद्यत्वेन पारमार्थिकत्वे द्वैतसत्त्वापत्तिः; तेषां जन्यत्वेन शुक्तिरजतादिवन्मिथ्यात्वे पर्यवसानात् । नच—एवं वेदार्थत्वाविशेषे ब्रह्माद्वैतसत्यत्वे कस्ते प्रतिभूरिति—वाच्यम्, “तत्सत्यं स आत्मा” “सत्यस्य सत्यम्” “अतोऽन्यदातम्” इति श्रुत्या तस्य सत्यत्वप्रतिपादनात् । अन्यस्य च सर्वस्य विनश्वरत्वेन मिथ्यात्वप्रतिपादनात् ॥ किञ्च “यन्न दुःखेन संभिन्नं नच प्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्” इति श्रुत्या दुःखासंभिन्नं सुखं प्रतिपाद्यते । ब्रह्म च तादृशमिति स्वर्गपराणां श्रुतीनां ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति । नच—तस्य साध्यत्वानुपपत्तिः; अभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्त्युत्पत्त्या तस्योत्पादोपपत्तेः मूर्तद्रव्योत्सारणेनाऽऽकाशस्येव; तथाच त्वदुपन्यस्तं प्रमाणं रुदन्तमपि त्वां द्वैतरागिणमद्वैतमेव बोधयतीति परिभावय । यथाच न भेदस्य पारमार्थिकत्वं तथोपपादितमधस्तात् ॥ इत्यग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यानामद्वैतपर्यवसानम् ॥

अथ सर्वैक्येऽपि त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तिः ।

व्यावहारिकत्वनिर्वचनासंभवशङ्का तत्परिहारौ च ।

किञ्च त्रिविधसत्त्वोपगमात् सर्वव्यवहारोपपत्तिः । तथाहि—पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, प्रातीतिकं शुक्तिरूप्यादेः, व्यावहारिकं तदितरस्य जगत इति । तथाच भेदोऽपि व्यावहारिक इति ॥ ननु—किमिदं व्यावहारिकत्वम् ? न तावज्ज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वम्; इष्टत्वात्, ब्रह्मणि विद्यमानत्वेनाऽतिव्यापकत्वाच्च । नच—ब्रह्मणि ज्ञानविषयत्वमेव नास्ति तस्य स्वप्रकाशत्वादिति—साम्प्रतम्; एतद्वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वभावाभावाभ्यां व्याघातात्, श्रुतेस्तत्र प्रामाण्याङ्गीकाराच्च । नाप्यभिलाषविषयत्वं तत्, पूर्वोक्तदोषादेव । नापि नयनानयनादिविषयत्वम्; अन्योन्याभावरूपभेदे तदभावात्, गुणादावसंभवाच्च । नापीच्छाप्रयत्नादिविषयत्वम्; पूर्वोक्तदोषात् । नापि बाधितत्वम्; पारिभाषिकत्वापत्तेः, बाधस्य विपरीतप्रमात्वेन तद्विषयत्वस्वीकारे प्रमाविषयत्वेन प्रामाणिकत्वाभ्युपगमापत्तेः । नापि भ्रमविषयत्वम्; भेदः पारमार्थिक इति ज्ञाने त्वया भ्रमत्वेनाङ्गीक्रियमाणे पारमार्थिकत्वांशबाधेऽपि धर्म्यशेषबाधनात् भेदस्य पारमार्थिकत्वापत्तेः, “धर्मिणि सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय” इत्यभ्युपगमात् । अन्यथा ब्रह्मापारमार्थिकमित्यपारमार्थिकत्वबाधे ब्रह्मणोऽपि बाध्यत्वं स्यात् । नच—घटो भिन्न इति ज्ञानं भ्रान्तम्, तत्र च प्रकारो भेद एवातस्तस्यापि तत्त्वमिति—वाच्यम्; घटपटौ भिन्नाविति ज्ञाने बाधस्य वक्तुमशक्यत्वात्, कचिक्काले कचिद्देशे कचिद्विषये भेदस्य बाध्यत्वेऽपि सर्वत्राऽबाधात् । नहि सार्वत्रिको बाधस्त्वयापि शक्योपदर्शनः । नाप्यबाध्यत्वेनाशक्यव्यवस्थापनत्वं व्यावहारिकत्वम्; बाधस्य निरसनादेवाबाध्यत्वसिद्धेः, तस्य ब्रह्मण्यपि विद्यमानत्वात् । नच—तत्र श्रुतिप्रतिपाद्यत्वादेवाबाध्यत्वव्यवस्थितिरिति—वाच्यम्; भेदे स्वर्गापूर्वादेरपि तुल्यत्वात् । नच—भेदग्रहे केषामपि कदापि कुत्रापि बाधो नास्तीति कथं त्वया ज्ञायते येन भेदस्याबाध्यत्वं मन्यस इति—वाच्यम् । त्वद्यवस्थाप्यमानबाध्यत्वव्यवस्थाविरहादेवाबाध्यत्वसिद्धेः । नापि ब्रह्मभिन्नत्वमेव तत्; एतादृशव्यावहारिकस्यास्मदपेक्षितत्वात्, भेदभिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिकस्य सुवचत्वात्, ब्रह्मभिन्नत्वस्य त्वयाभ्युपगम्यमानस्य पारमार्थिकत्वे भेदपारमार्थिकत्वस्य सिद्धत्वाच्च । नाप्यसत्यत्वं तत्; असत्यत्वं यदि बाध्यत्वं तदोक्तमुत्तरम् । अप्रामाणिकत्वं च प्रमाणगोचरत्वोपादानेनैव निरस्तम् । नाप्यलीकत्वम्; विधিনিषेधव्यवहारगोचरत्वोपादानेनैव निरस्तत्वात् । नाप्यसत्त्वम्; तद्यदि सत्ताऽयोगित्वं तदेष्टापत्तिः । अन्योन्याभावस्य सत्तायोगित्वानभ्युपगमात् । अभावत्वमेवासत्त्वमिति चेन्न; इष्टत्वात् । अभावप्रतियोगित्वमिति चेन्न; इष्टत्वादेव । नाप्यमोक्षकत्वम्; इष्टत्वात्; आत्यन्तिकस्य दुःखाभावस्य मोक्षतयाऽन्योन्याभावभिन्नत्वात् । नापि मोक्षोपायज्ञानविषयत्वं व्यावहारिकत्वम्; श्रवणमनननिदिध्यासनादीनां मोक्षोपायज्ञानानां शरीरात्मभेदविषयकत्वात्, भेदज्ञानार्थमेव श्रवणादीनामुपयोगः । नापि सप्रतियोगित्वम्; इष्टत्वात् । नाप्यद्वैतविरोधित्वम्; इष्टत्वात्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च । नापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वम्; प्रपञ्चबहिर्भूतत्वेन ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्, प्रपञ्चास्याप्येवं विकल्पकदर्थनीयत्वाच्च । नाप्यविद्यादशावेद्यत्वम्; इष्टापत्तेः । वैपरीत्यं च सुवचम् । नाप्यविद्याविषयत्वम्; कचित्तथापि पारमार्थिकत्वाक्षतेः । नापि जडत्वम्; तद्यदि ज्ञानविषयत्वं तदेष्टापत्तिः । अथात्मभिन्नत्वं, तथापि तथा । अथानन्दभिन्नत्वं, तथापि तथैव । नापि प्राक्तनावेद्यत्वम्; इष्टत्वात् । भेदस्य पारमार्थिकत्वे मुक्तिदशायां कथं न वेद्यत्वमिति चेत्, वेदनविरहादिति गृहाण । ब्रह्मणस्तदा कथं वेदनमिति चेत्, इयमपि तव भ्रान्तिः । तस्माद्व्यावहारिको भेद इति तवाङ्गीकारो न किञ्चिदनिष्टमापादयति, केवलं पारमार्थिकत्वं व्यावहारिकत्वमिति च ब्रह्मप्रपञ्चयोर्धर्मद्वयं वृद्धैर्वेदान्तिभिः शवमुष्टिन्यायेन

बोधितम्, तदादायाऽर्वाचीना अपि वेदान्तिनो व्यासुग्धा वर्तन्ते, वस्तुतः प्रमाणसिद्धतया ब्रह्मप्रपञ्चयोर्विशेषो नास्त्येवेति—पूर्वः पक्षः ॥

राद्धान्तस्तु—अनादिभावरूपाज्ञानतदधीनान्यतरत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । नचानुगमः । अननुगतस्यैव लक्ष्यत्वात्, मोक्षहेतुज्ञाननिवर्त्यत्वेनानुगमाच्च । नाप्यव्याहयतिव्याप्ती; प्रपञ्चे सर्वत्र विद्यमानत्वात्, ब्रह्मण्यविद्यमानत्वाच्च । नचेष्टापत्तिः; उक्तरूपस्य भवन्मतेऽसिद्धेः ॥ इति त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तिः व्यावहारिकत्वनिर्वचनं च ॥

अथ श्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूपसमर्थनम् ।

नच—ज्ञानप्रागभावभ्रमतत्संस्कारव्यतिरिक्तभावरूपाऽविद्या दण्डायमाना नास्त्येव, तत्र प्रमाणाभावादिति—वाच्यम्; अर्थान्तरत्वात् । नच तस्य पुरुषदोषत्वम्; तावदेव तव भङ्गोपपत्तेः । तत्त्वनिर्णयस्तु वैदिकैः सह करणीयः । तैरेव च पृष्टे किमुत्तरमिति चेत्, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणान्येव । तथाहि—“मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महे-
श्वरम् ।” “ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवतात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्” “नासदासीन्नो सदासीत्” “तम आसीत्” “तद्देदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्” “इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” “न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृष उक्थशासश्चरन्ति” इत्याद्याः श्रुतयः सहस्रशः । तथा “आसीदिदं तमोभूतम-
प्रज्ञातमलक्षणम् ।” “मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते सचराचरम्” “दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया” “प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्मनादी उभावपि” “विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । प्रकृतिः पुरुषश्चैव लीयते परमा-
त्मनि ।” इत्यादिस्मृतयः ॥

नच—एते शब्दा अदृष्टे समवेतार्थाः । तथाचोक्तम्—“इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुक्तीति तौ मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यथोदिता । देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं ब्रह्मा तु शान्तो मम” इति—वाच्यम्; उपादानकारणे प्रकृतिशब्दप्रयोगात्, ज्ञानबाध्ये च मायाशब्दप्रयोगात् । अदृष्टस्य तदुभयरूपत्वाभावात् । नच तत्त्वज्ञानेनाऽदृष्टबाधः, किंतु ध्वंसः । नवा सोऽपि; भोगेनैव क्षयाभ्युपगमात् । लोकानु-
सारेणैव च वैदिकशब्दनिर्णयः, तत्परित्यागेन च स्वयं परिभाषाकरणे नास्मत्प्रतिपक्षी भवान्, लोके चैन्द्रजालिके मायीति शब्दप्रयोगः । तथाच मिथ्यावस्तुपादानभूत एव मायाशब्दप्रयोगः । स्मृदादुपादानकारण एव प्रकृतिशब्द-
प्रयोगः । नच—प्रकृतिशब्दः स्वभावेऽपि प्रयुज्यमानो दृश्यते “प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति” इत्यादाविति—वाच्यम्, प्रकरणवशेनार्थविशेषनिर्णयोपपत्तेः । तस्माददृष्टस्य मायादिशब्दवाच्यत्वं श्रुतिस्मृत्यादिलोकविरुद्धम् ॥

युक्तिश्चात्र भवति—असङ्गोदासीनकूटस्थाद्वितीयस्वप्रकाशचैतन्यमात्रं ब्रह्म जगतः कारणं श्रूयते । नहि तस्माज्जगदु-
त्पत्तिः संभवति केवलात्; मुक्त्यवस्थायामपि उत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततोऽनादिसिद्धभावभूताविद्याशक्तिसिद्धिः । श्रुतार्थापत्त्या क्षणभङ्गियागस्य कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वानुपपत्त्याऽस्याप्यपूर्वसिद्धिवत् । नच—अदृष्टमेव सहकारि-
भविष्यतीति—वाच्यम्; अविद्यामन्तरेणादृष्टस्यैवानुपपत्तेः । अतएव तज्ज्ञानिनोऽदृष्टोत्पत्तिं नाभ्युपैषि । अम एवावि-
द्याशब्दवाच्य इति चेत्, न; तस्यापि जन्यधर्मत्वेनाऽऽत्माधारत्वानुपपत्तेः । असदायतनत्वाच्च तत्संस्कारस्तथेति चेत्, न; तस्यापि भ्रमवदुपादानसापेक्षत्वात् । स्मृतिमात्रहेतोस्तस्य परोक्षत्वेन तत्त्वज्ञानानिरस्यत्वेन च ‘त्वदुक्तमर्थं न जाना-
मी’ति साक्षिप्रत्यक्षविषयावरणत्वस्य ‘एतावन्तं कालं ममेहाज्ञानमासीत्त्वदुपदेशजन्येन ज्ञानेनाद्य नष्टमि’ति साक्षिप्रत्य-
क्षत्वस्य ज्ञाननिरस्यत्वस्य चानुपपत्तेः । तथाच सर्वभ्रमतत्संस्कारोपादानत्वेन तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वेन चाविद्यासिद्धिः । नच
विद्याप्रागभावरूपाऽविद्या; तस्याः विद्यानिवर्त्यत्वात्, तन्निवृत्तिरूपत्वात्, विद्यायाः प्रागभावे मानाभावाच्च । नच—
तथासति उत्पन्नोऽपि घट उत्पद्येत सामग्रीक्षणस्य कार्योत्तरत्वनियमादिति—वाच्यम्; ‘एका सामग्र्येकमेव कार्यमर्जय-
ती’ति नियमोपपत्तेः, तत्तत्क्षणदिरूपसहकारिविरहेण सामग्रीध्वंसाच्च, अदृष्टविशेषाभावाच्च, अभावरूपाज्ञानस्याऽऽव-
रकत्वानुपपत्तेश्च, तस्य सत्त्वं चाह सर्वेश्वरः—“अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” इति ॥

‘अहमज्ञः’ ‘मामहं न जानामी’ति च साक्षिप्रत्यक्षमज्ञानं ज्ञानसामान्यविरोधि भावरूपं गृह्णाति; तस्य ज्ञानसामा-
न्याभावविषयत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञानाभ्यामनुपपत्तेः । प्रथमे ज्ञानस्य सत्त्वादेव ज्ञानस्य विषयविषयित्वनियमात् ।
द्वितीये च सामग्र्यभावात्, ज्ञानाप्रतिसंधानेप्यहमज्ञ इत्यनुभवाच्च । नच—तदसिद्धम्; सर्वलोकानुभवसिद्धत्वात् ।
तदुपेक्षणे वादित्वान्नवर्तसे । ‘किमपि न जानामी’ति चानुभवो निबिडं भावरूपमज्ञानमावेदयति । प्रतियोगिज्ञाने
च किमपीत्यस्यानुपपत्तेः । ज्ञानविशेषाभावविषयत्वे ज्ञातेऽपि न जानामीति प्रतीतिप्रसङ्गः । ज्ञानविशेषाभावानामा-
संसारमनुबुद्धेः ॥

अनुमानं च देवदत्तनिष्ठा प्रमा, देवदत्तनिष्ठज्ञानाभावविपर्ययसंशयतत्संस्कारातिरिक्तविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, यद्देवदत्तप्रमावत् । अर्थान्तरवारणार्थं साध्यविशेषणानि, देवदत्तनिष्ठपदं साध्याप्रसिद्धिवारणार्थम्, विरोधिपदमुदासीन-निवृत्त्याऽर्थान्तरवारणार्थम् । नचाप्रयोजकत्वम्; निरुपाधिसहचारभङ्गस्यैव बाधकत्वात्, स्वप्रकाशचिद्रूपे ब्रह्मणि अस-ङ्गोदासीने भावरूपाज्ञानावरणमन्तरेण जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः । नचैवंरूपत्वमात्मनोऽसिद्धम्; 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्यादिश्रुतिशतेभ्यस्तस्य सिद्धेः, तस्याश्च प्रामाण्यानभ्युपगमे बौद्धनिराकरणयुक्तिभिरेव निराकरणीयोऽसि । नच—एतत्स्वप्रक्रियानुसारेणोक्तवतो नाङ्गीकार्यमिति—वाच्यम्; सर्वैरेव वादिभिस्तथाभिधानात् । नच—त्वमप्य-स्वप्रक्रियामाश्रित्य कथयसि । वस्तुतस्तु तस्याः प्रक्रियायाः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसिद्धत्वेन वैदिकैरङ्गीकर्तुमुचितत्वा-त्त्वमपि चेत्तथा भवसि, तदेमां स्वीकुरु ? न चेत्तदेवोक्तमेवोत्तरम् । तस्मात्प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिश्रुतिसिद्धत्वादज्ञानस्य भावरूपस्यानादितस्तादृशज्ञानतदधीनान्यतरत्वं व्यावहारिकत्वमिति लक्षणं सिद्धम् । नच—पारिभाषिकत्वापत्तिः । एतस्य रूपस्य सकललोकसिद्धत्वात् । नह्यज्ञानतत्कार्ययोः कश्चिद्विप्रतिपद्यते; तथासति तस्यापि व्यवहारस्यानिर्वाहा-पत्तेः । पारिभाषिकत्वेऽपि वादिना दूषणं वक्तव्यं, न त्वया तद्वक्तुं शक्यते; निराकरणात् । नच—अनादिभावस्य निवृत्त्यनुपपत्तिरन्यथा ब्रह्मणोऽपि तथात्वापत्तिः केन वारणीयेति—वाच्यम्; निवर्तकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषोपपत्तेः; अज्ञानस्य ज्ञानमेव निवर्तकमिति लोकस्मृत्यादिप्रसिद्धम् । अन्यथाऽनाद्यभावस्यात्यन्ताभावादेर्निवृत्त्यदर्शनात् प्रागभाव-स्याप्यनादेर्निवृत्तिर्न स्यात् । विरोधिसद्भावस्तु भयत्र तुल्यः । ननु—एवं सति पारमार्थिकत्वव्यावहारिकत्वलक्षण-द्विविधसत्त्वस्वीकारे त्रिविधसत्त्वाभ्युपगमभङ्गप्रसङ्ग इति—चेत्, सोऽयं स्वगोत्रकलहो नतु व्यावहारिकत्वविवादः । नवा सोऽपि झटिति, बाधाबाधापेक्षया व्यावहारिकप्रातीतिकसत्त्वयोर्भेदोपगमात् । वस्तुतस्तु—प्रपञ्चस्यैकविधमेव सत्त्वम् ॥ इतिश्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूपसमर्थनम् ।

अथ भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वस्वरूपविवेकः ।

यद्वा—भ्रममात्रविषयत्वं व्यावहारिकत्वम् । यद्यप्यधिष्ठानाध्यक्ष्यमानयोरेकज्ञानविषयत्वमस्तीति सद्वृत्तेण सर्वा-धिष्ठानब्रह्मणो भ्रमविषयत्वमप्यस्ति; तथापि न तन्मात्रविषयत्वं, यतः तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यान्तःकरणवृत्तिरूपसाक्षा-त्कारात्मकप्रमाविषयत्वमप्यस्तीति मात्रशब्देन तद्व्यावृत्तिः । ननु—भेदः पारमार्थिक इति ज्ञाने त्वया भ्रमत्वेनाङ्गी-क्रियमाणेऽस्य पारमार्थिकत्वांशबाधेऽपि धर्मी भेदोऽबाधित एव । तथाच तस्य प्रमाविषयत्वमस्तीति न भ्रममात्रविषय-त्वमिति—चेन्न; सर्वत्र भ्रमे ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वात् । तथाच धर्मिणि सर्वं भानमभ्रान्तमित्यङ्गीकारेऽपि न नः काचित्क्षतिः । नच—चक्षुर्जन्यज्ञाने कथमात्मनो विषयत्वम् ? रूपवत् एव द्रव्यस्य तथात्वात् । तथाच चक्षुर्जन्यज्ञाना-दावन्यदेवाधिष्ठानम्, अन्यथा 'अहं रजतमि'ति बुद्ध्यापत्तेरिति—वाच्यम्; सच्चिद्रूपानन्दस्वीकारादात्मनः । तथाच यथा सत्तायाश्चाक्षुषादेज्ञानविषयत्वं न विरुद्धं तथा ब्रह्मणोऽपि द्रव्यत्वं त्वत्प्रक्रियासिद्धं तवैव दोषमावहति; शुक्त्य-वच्छिन्नस्य रजताधिष्ठानत्वात्, अहंकारावच्छिन्नस्य चानधिष्ठानत्वात् अहमित्युल्लेखः पराकरणीयः । अन्यथा तवापि घटावच्छिन्न आत्मन्यहमिति बुद्ध्यापत्तिः । शरीरावच्छिन्नस्यैव तथाभावे ममापि तुल्यम् । नच—सर्वप्रत्ययवेद्यत्वे ब्रह्मणः स्वीक्रियमाणे सिद्धान्तविरोधः, 'पराञ्चि खानि व्यतृणस्वयंभूस्तस्मात्पराद् पश्यति नान्तरात्मन्' इति श्रुतिविरोधश्चेति—शङ्कनीयम्; निरुपाधिकस्यात्मनस्तथात्वाङ्गीकारात् सिद्धान्तश्रुतिविरोधानुपपत्तेः । तथाचोक्तं ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैः—“सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते । प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते” इति । अन्येऽप्याहुः—“अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं द्वितीयकम्”—इति । त्रयांमेति सत्ता ज्ञानं सुखमित्युच्यते । द्वितीयं नाम रूपं चेत्यर्थः । ननु—“नेति ने”त्यादिवेदवाक्यैर्जग-न्निषेधः प्रतिपाद्यते, तथाच जगदपि निषेधप्रतियोगित्वेन तस्मिन् ज्ञाने भासते, तच्च ज्ञानं प्रमेति तवाभ्युपगतम् । तथाच प्रमाविषयत्वं जगतोऽप्यस्तीति भ्रममात्रविषयत्वमसिद्धमिति—चेत्, न; यद्दर्शनजन्मा यो भ्रमस्तद्दर्शनमेव तद्दर्शननिवृत्त्या तं भ्रमं निवर्तयतीति नियमाच्छुक्त्यदर्शनजनिते रजतभ्रमे 'शुक्तिरियम्' इति ज्ञानेन निवर्तिते यथा 'नेदं रजतमि'ति वाक्यमर्थप्राप्तं रजतनिषेधमनुवदति, तथा तत्त्वमस्यादिविधवाक्यजनितान्तराद्वितीयसच्चिदानन्दतात्म-विषयान्तःकरणवृत्तिरूपसाक्षात्कारेण विरोधिना सविलासायामविद्यायां निवर्तितायामर्थप्राप्तं जगन्निषेधमनुवदन्ती निषेधश्रुतिरनुवादकत्वलक्षणप्रामाण्यमश्रुवाना न जगदंशे प्रमाणत्वेनोपन्यासमर्हति, 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थव'दितिन्याया-दिति वैदिकं प्रति वक्तुं शक्यत्वात् । तार्किकं प्रत्यपि “न सुरां पिबेदि”त्यत्र सुरापानमिष्टसाधनमिति यत्तन्नैति निषेध-बोधने सुरापानेष्टसाधनतांशे प्रतियोगिनि श्रुतेर्न प्रामाण्यम्; रागप्राप्तत्वात् निषेधानुपपत्तेर्विकल्पापत्तेश्चेति यथा, तथा प्रपञ्चांशेऽपि श्रुतेर्न प्रामाण्यम्; पूर्वोक्तदोषभयादेवेति वक्तुं शक्यत्वात् । नच—प्रतियोगिनो मानप्राप्तत्वे तद्वदितस्य निषेधस्यापि तथात्वम्, निषेधस्याप्रामाणिकत्वे प्रतियोगिन एव प्रामाणिकत्वापत्तिरिति—साम्प्रतम्; निषेधांशस्य

बाधाभावेन प्रमाविषयत्वोपपत्तेः । ननु—प्रपञ्चनिषेधस्य प्रामाणिकत्वे तेनैव द्वैतापत्तिः, अप्रामाणिकत्वे च सिद्धं नः समीहितमिति—चेत्, न; भावाद्वैतस्वीकारात् अभावमात्रे, प्रकारवदभावाभावे तार्किकवच्चाधिकरणातिरिक्ताभावानङ्गीकाराद्वा । वस्तुतस्तु—प्रपञ्चस्य न भावो नाप्यभावः, किंत्वविष्टानब्रह्मात्मकत्वमेवेति तृतीयः पन्थाः, अधिष्ठानमेव अध्यस्तस्य स्वरूपं तदभावस्यापीति सिद्धान्तरहस्यम् । कथमन्यदन्यस्य स्वरूपं स्यादिति—चेन्न; अन्यत्वस्यानङ्गीकारात्तदेव हि तत् । कथं तर्हि तथाप्रतीतिरिति—चेत्, आन्तोऽसि; यस्यां दशायामीदृशं तत्त्वं साक्षात्कृतं तस्यां तथाप्रतीतेरसिद्धिरेव यतः, तस्माद्भावनिषेधोऽभाव इति ये स्वीकुर्वन्ति, तेषामयं दोषो न त्वस्माकम्, तृतीयस्य स्वीकारात् । तस्माद्धममात्रविषयत्वं व्यावहारिकत्वमिति लक्षणं सुस्थम् ॥

यद्वा—बाधितत्वमेव व्यावहारिकत्वं तच्चाधिष्ठाने ब्रह्मणि अविद्या तत्कार्यं च नासीदस्ति भविष्यतीति प्रमाविषयाभावप्रतियोगित्वम्, तच्च ब्रह्मणि नास्ति; तस्य तादृग्वोधविषयत्वेऽपि निषेधप्रतियोगित्वाभावात् । इदमेव च मिथ्यात्वमनिर्वचनीयत्वं च कथ्यते । नच—पारिभाषिकत्वापत्तिः; प्रमाणसिद्धत्वात् । नच—प्रपञ्चस्यापि प्रमाविषयत्वेन सत्यत्वापत्तिः; प्रपञ्चांशे तस्य ज्ञानस्य प्रमात्वाभावात् ॥

यद्वा—अबाध्यत्वेनाशक्यावस्थानत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । नच—बाधस्य निरसनादसिद्धमिदमिति—साम्प्रतम् ; भेदबाधकयुक्तेरुक्त्वात्, प्रपञ्चस्यापि ज्ञानेन सह संबन्धानिरूपणात् सिद्ध्यनुपपत्तेः । स्वरूपमेव संबन्ध इति चेन्न; तस्य घटज्ञानपटयोरपि सत्त्वात् । स्वरूपविशेष इति चेन्न; तदनिर्वचनात् । संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वमिति चेन्न; योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये योग्यत्वस्यैव दुर्ज्ञेयत्वात् । तद्यदि घटत्वादिकं ज्ञानत्वं तदाऽतिप्रसक्तम्; यतः पटज्ञानस्यापि ज्ञानत्वं वर्तते घटस्य च घटत्वम्, तयोरपि स्वरूपसंबन्धत्वापत्तिः । नापि घटज्ञानत्वादिकम् ; ज्ञानस्य घटीयत्वस्यैव विचार्यमाणत्वात् । तथाचान्योन्याश्रयः । तत्तत्स्वरूपमेव तथेति चेन्न; विशिष्टप्रत्ययस्यानियतहेतुकत्वापत्तेः । किंच प्रत्ययशब्देन ज्ञानमात्रं वा प्रमा वा विवक्षितम् । नाद्यः; अमजनकत्वस्य सर्वत्र संभवेनातिप्रसङ्गापत्तेः । न द्वितीयः; अन्योन्याश्रयापत्तेः । तथाहि—यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तथाच अस्तीति यदि विद्यमानता, तदा पाकरक्ते इयामोऽयमिति धीः प्रमा न स्यात्; तदानीं तत्र तस्याविद्यमानत्वात्, 'स एवायमि'ति तत्तांशेऽप्रामाण्यापत्तेश्च, तस्मादस्तीति वृत्तिमात्रं वक्तव्यम् । वृत्तिश्च संबन्धः, सच संयोगः समवायः स्वरूपलक्षणो वा, तथाचान्योन्याश्रयः । अथ संबन्धमात्रं तत्र ज्ञायते नतु विशेष इति चेत्, तदपि अविशिष्टप्रत्ययव्यावृत्तविशिष्टधीनियामकत्वमेव, तथाच धीपदेन ज्ञानमात्रविवक्षायामतिप्रसक्तिः; प्रमाविवक्षायां चात्माश्रयादिः । विशिष्टशब्दस्य संबन्धघटितत्वेनात्माश्रयादिः । नियामकत्वं यदि जनकत्वम्, तदा संबन्धेष्वननुगतेषु तदशक्यग्रहणम्, अनुगतस्य तु विचार्यमाणत्वमेव । किंचातीतानागतविषयस्थले विशिष्टप्रत्ययं प्रत्ययजनकत्वात्तद्योग्यत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वादव्याप्तिः । असदेव तज्जनकमिति चेत्, योग्यस्यापि तथैव जनकत्वोपपत्तावदष्टकल्पनानुपपत्तिप्रसङ्गात् । दण्डादेरप्यसतएव जनकत्वापत्तौ जितमसद्वादिना । अथ तत्र ज्ञानमेव विशिष्टप्रत्ययजनकमिति चेन्न; तस्य केवलस्यासंबन्धत्वात् । द्वयं हि संबन्धः । अगत्या तत्रैकमपि संबन्ध इति चेत्, तर्ह्यगत्या संबन्धाभावेऽपि संबन्धबुद्धिरस्तु । तथासति बुद्धिर्भ्रान्ता स्यादिति चेन्न; इष्टापत्तेः । किंच यथैकमपि संबन्धः, घटस्यापि कथं घटः संबन्धो न भवति ? तथा प्रतीत्यभावादिति चेत्, यदि वस्त्वस्ति प्रतीतिरपि स्यादेव । अथ ज्ञानमतीतविषयेण सह स्वस्य संबन्धः नतु स्वस्य स्वयं संबन्ध इति चेत्, तर्ह्यतीतस्यासत्त्वादेव तेन सहेत्यनुपपत्तेः । किंच 'घटीयं ज्ञानमि'ति या विशिष्टबुद्धिर्जायते तां प्रति घटो न जनकः, किं तर्हि ज्ञानमात्रम्; अनुव्यवसायस्य ज्ञानातिरिक्तविषयाजन्यत्वात् । तदुक्तं मणिकृता—'अनुव्यवसायस्यानुमितेर्वा विषयाजन्यत्वात्' इति । किंच स्वरूपद्वयस्य संबन्धत्वे, घटीयं ज्ञानमिति न स्यात्; घटीयत्वं हि घटसंबन्धाधारत्वं ज्ञानमपि घटसंबन्धमध्ये प्रविष्टम् । तथाच स्वस्मिन् स्ववृत्तिर्न संभवतीति । किंच परकीयं ज्ञानं ज्ञानत्वेन गृहीतं घटोऽपि घटत्वेन तथापि संशयो विद्यते—परो घटं जानाति न वेति परज्ञानस्य घटो विषयो न वेति वा । सोऽयं न स्यात्; ज्ञानघटस्वरूपद्वयस्य संबन्धत्वात्तस्य च निश्चितत्वात् । स्वरूपविशेषो न गृहीत इति चेत्, नूनं शिष्यधन्वकोऽसि; यतोऽरिक्तं न स्वीकरोषि, तद्वयं च गृहीत्वाऽगृहीतं वदसि । विशेषणताविशेषो न गृहीत इति चेत्, सोऽप्यतिरिक्तानतिरिक्तविकल्पेन खण्डनीयः । अथ विषयविषयिभावो ज्ञानार्थयोः संबन्ध इति चेन्न; तस्यातिरिक्तत्वे कृतान्तविरोधः, अनतिरिक्तत्वे तूक्त एव दोषः; संयोगसमवायावसंभावितावेव, ज्ञानस्य गुणत्वाभ्युपगमात् आत्मनि समवायाभ्युपगमाच्च । नापि ज्ञानघटयोर्ज्ञातलक्षण एव संबन्धः; तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात्, अतीतानागतयोस्तदसंभवाच्च । ज्ञाततायाः संबन्धान्तराभ्युपगमेऽनवस्थानात्, तदभावे च तयोरेव ज्ञातता न स्यात्, स्वरूपसंबन्धस्य च निराकृतत्वात् । नापि ज्ञानार्थयोस्तादात्म्यसंबन्धः; विरुद्धयोस्तादात्म्यानुपपत्तेः प्रकाशतमसोरिव । नापि ज्ञाननिष्ठाकारा-र्षकत्वं विषयत्वं तद्वत्त्वं च विषयित्वमिति; अर्थस्याकारार्पकत्वे प्रमाणाभावात्, संबन्धं विना तदसंभवाच्च । तस्मात्

ज्ञानार्थयोः संबन्धाभावेन ज्ञानस्य तत्सिद्धिरूपत्वानुपपत्तेः सेयं जगत्कवलनयुक्तिः । तस्मात्सुष्ठुक्तम् अत्राध्यत्वेनाश-
क्यव्यवस्थापनत्वमेव व्यावहारिकत्वमिति ॥

यद्वा—अलीकत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । नच—तथा सति विधिनिषेधगोचरत्वानुपपत्तिः; तयोरप्यलीकत्वात् ।
नचापसिद्धान्तः; “तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसंस्पर्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति” इति वार्ति-
ककृताऽभिधानात् । येन संबन्धेन यदवच्छेदेन यस्य यदधिकरणत्वं तेन संबन्धेन तदवच्छेदेन तस्य तन्निष्ठकालत्रयवर्त्य-
त्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव चासत्त्वमलीकमित्यादिभिः कथ्यते । “तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेति सा त्रिधा । ज्ञेया
माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः” इति श्रुतिदृष्ट्या तुच्छत्वमेव; “प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तत कथंचन”
इति संप्रदायविद्भिर्भिधानाच्च ॥

यद्वा—अमोक्षात्मकत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । नचेष्टापत्तिः; अस्मदभिमतज्ञानानन्दस्वरूपमोक्षात्मकरूपभिन्नत्वस्य
भवताऽनभ्युपगमात् । नच—मोक्षस्य दुःखध्वंसरूपत्वात्तस्य चान्योन्याभावभिन्नत्वादिष्टापत्तिरस्मन्मते स्यादिति—
वाच्यम्; मोक्षस्य दुःखाभावरूपत्वे प्रमाणाभावात् । नच “अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत” इति श्रुतिर्मानसः;
यदा शरीरं नास्ति तदा प्रियाप्रियस्पर्शो नास्तीत्येतावन्मात्रं श्रुतेरर्थः नतु दुःखाभावस्य मोक्षत्वे सा श्रुतिः प्रमाणम् ।
तत्र तस्या असामर्थ्यात्, प्रलयकालेऽपि तत्संभवात् । नच “बाधनालक्षणं दुःखं तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः” इति सूत्रं
प्रमाणम्; तस्यासविधया प्रामाण्याभावात्, ततोऽत्यन्ताभावप्रतीतिश्च । युक्त्युत्थापकत्वेन प्रामाण्ये तथाविधयुक्तेरभावात् ।
पुरुषार्थत्वाद्दुःखाभावो मोक्ष इति चेन्न; सुखस्यापि तथात्वापत्तेः । तस्य तत्कालेऽसंभव इति चेन्न; अनित्यस्यासंभवेऽपि
नित्यस्य संभवात् । विरक्तस्य मोक्षेऽधिकारस्तस्य च सुखे कामना नास्ति चेत्, दुःखाभावेऽपि न स्यात् । नहि दुःखाभा-
वेच्छा न रागः, अपितु सुखेच्छैवेति नियामकमस्ति । तथापि च विषयसुख एवोपेक्षा स्यात् नतु नित्येऽपि, तत्र क्षयिष्णु-
त्वादिदोषाभावेन वैराग्यानुपपत्तेः । किंच दुःखाभावस्य काम्यत्वे दुःखविशिष्टस्याभावस्य कामनाविषयत्वे दुःखस्यापि
तदापत्तौ पुरुषार्थत्वापत्तिः । अथ—दुःखेनोपलक्षितं व्यक्तिस्वरूपमेव काम्यं, कथमन्यथा लौकिकदुःखाभावोऽपि
काम्यः स्यादिति—चेन्न; व्यक्तिमात्रस्य काम्यत्वेऽतिप्रसङ्गात् । व्यक्तिविशेषस्य च तथात्वे प्रतियोग्यतिरिक्तस्य तस्य
वक्तुमशक्यत्वात् । व्यक्तिरेव विशेष इति चेन्न; अननुगमे तत्कामस्याधिकारित्वं न स्यात्, श्रुत्या वक्तुमशक्यत्वात्,
व्यक्त्यन्तरस्यापि व्यक्तिविशेषत्वाच्च । लौकिकदुःखाभावोऽप्यस्मन्मते स्वतो न काम्यः; उक्तदोषात् । किं तर्हि ? तद-
भिव्यक्तो ब्रह्मानन्द एव; तदर्थत्वेनैव यथाकथंचित्तत्र कामनोपपत्तेः । अन्यथा भारापनये सुखितः संवृत्ताः स्म
इति प्रत्ययो न स्यात् । तत्रात्मनि सुखत्वारोप इति चेन्न; बाधकाभावात् । नहि नाहं सुखी संवृत्त इति विपरीतप्रत्य-
यस्तस्यास्ति । अथ विषयजन्यत्वात् सुखस्य तत्र च विषयाभावात् युक्त्या बाध इति चेन्न; मानोरथिकस्वामिकदुःखादौ
विषयजन्यत्वाभावेऽपि सुखस्याबाधात् । तत्र तद्विषयज्ञानमेव जनकमिति यदि, तर्हि भारापगमेऽपि दुःखाभावस्य
भारापनयज्ञानस्य वा सुखजनकत्वं स्वीकुरु, अनियतहेतुकस्यावश्यमेष्टव्यत्वात् । एतावांस्तु विशेषः—तव जन्यं
सुखं मम तु सदेव ब्रह्म सुखमभिव्यक्तमिति । अतएव सुषुप्ते सुखानुभव उपपद्यते, अन्यथा ‘सुखमहमस्वाप्समि’ति
परामर्शो न स्यात् । ननु—नित्यस्य सुखस्य स्वप्रकाशस्य काऽभिव्यक्तिर्नाम ? आवरणध्वंस इति वदामः । किं तदावर-
णम् ? यस्य ध्वंसः, भावरूपमज्ञानमिति गृहाण । किंचातिरिक्ताभावे मानाभावाच्च न दुःखाभावो मोक्षः; अनति-
प्रसक्ताधिकरणस्वरूपेणैव अत्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतीत्युपपत्तेः, अभावप्रतियोगिताभावाधिकरणयोस्तयोस्तथैव भवता
स्वीकाराच्च । प्रागभावस्तु कपालादिस्वरूप एव; अतिरिक्तस्य तस्य सत्त्वे मानाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात्, ध्वंसोऽपि
मुद्गरादिपातादिरेव; तदतिरिक्तस्याननुभवात् । नच—मुद्गरपाताज्जातो ध्वंस इत्यनुभवः कथं स्यादिति—वाच्यम्;
तस्यासिद्धेः । मुद्गराज्जातो ध्वंस इत्येवानुभवः । मुद्गरपातस्तु तज्जन्यो भवति । एकध्वंससाधिकरणयोः संबन्धानुपप-
त्तेश्च, स्वरूपसंबन्धस्य पूर्वमेव निराकृतत्वात् । यद्वा—कपालावस्थैव घटस्य ध्वंसः; गुणगुण्यादिमेदाभावात्, न
पृथक् ध्वंसः । तस्मात्सुष्ठुक्तम् अमोक्षात्मकत्वमेव व्यावहारिकत्वम् ॥

यद्वा—मोक्षोपायज्ञानाविषयत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । नच—श्रवणादीनां भेदविषयत्वात्कथमेतदिति—साम्प्र-
तम्; तेषां भेदविषयत्वे प्रमाणाभावात् । अभिज्ञत्वेन च श्रूयत आत्मा । तथाहि—“ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो
ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद” इत्याद्युक्त्वा “सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद—यदयमात्मा”
इत्यादिवाक्यानामस्थूलादिवाक्यानां चाल्यन्ताभावपरत्वं व्याख्यातमेव । तथाच भेदस्य मोक्षविषयात्मज्ञानविषयत्वं
अम एव तार्किकमन्यस्य । नच—शरीरात्मभेदज्ञानं विना कथं मोक्षस्तदभेदज्ञानस्य संसारहेतुत्वादिति—वाच्यम्;
ब्रह्मात्मज्ञानस्यैव संसारहेतुत्वात् । प्रतिपादितं चैतदधस्तात् ॥

यद्वा—मुक्तेनावेद्यत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । न चेष्टापत्तिः; तदानीं भेदस्य सत्त्वे वेदनापत्तेर्वज्रलेपायितत्वात् ।

वेदनाभावात् जानातीति चेन्न; “नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्” इत्यादिश्रुत्या वेदनसंज्ञावस्य सर्वदा प्रतिपादितत्वात् । तत्प्रामाण्यानभ्युपगमे तु बौद्धवदुपेक्षणीयोऽसि । तस्मात्तदानीं प्रपञ्चस्यासत्त्वादेवावेदनीयता । तदयं प्ररोक्तलक्षणदोषोद्धारः ॥

स्वमते तु ब्रूमः । सति प्रमातरि बाध्यत्वं सविकल्पकज्ञानबाध्यत्वं मोक्षसाधनेतरज्ञानबाध्यत्वं वा प्रातीतिकत्वमविद्योपाधिकम् । प्रमात्रा सह बाध्यत्वं मोक्षहेतुज्ञानमात्रबाध्यत्वं मायोपाधिकं व्यावहारिकत्वम् । एकस्यैवाज्ञानस्य किञ्चिदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेनानवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन चाविद्या मायेति व्यपदेशः । तदेतद्वेदप्रपञ्चसाधारणं त्रयम्, पूर्वोक्तं तु त्रयं शुक्तिरजतसाधारणम् ॥

एतद्वयविलक्षणत्वं ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वं नाम । नच—विलक्षणत्वं वैधर्म्यम् । तथाच भेदस्य नामान्तररूपमिति—वाच्यम्; स्वप्रकाशचित्त्वभावस्यैव तथाऽभिधानादिति । तस्माद्व्यावहारिकत्वपारमार्थिकत्वविशेषाङ्गीकारे महदपि वेदान्तिनामनिष्ठं च तार्किकाणामिति । नच—धर्मद्वयवद्धर्मिद्वयस्वीकारे दृष्टापत्तिरिति—युक्तिमत्; प्रपञ्चस्य बाधेनात्यन्ताभावस्वीकारात्, ब्रह्मस्वरूपस्यैव च पारमार्थिकशब्देन कथनात् । तस्मात् सत्यो भेदः प्रपञ्चो वेति वृद्धैस्तार्किकैर्बोधितमाकर्ण्योऽर्वाचीना अपि तार्किका व्यामुग्धा वर्तन्ते । वस्तुवस्तु प्रमाणसिद्धमद्वैतं प्रपञ्चो वा कालत्रयेऽपि नास्तीति सिद्धम् ॥ इति भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वनिर्वचनेन सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ॥

अथ प्रपञ्चसत्यत्वानुमानभङ्गः ।

ननु—अस्त्वनुमानात्प्रपञ्चस्य सत्यत्वम् । तथाहि—भेदः । पारमार्थिको, व्यावहारिकत्वात्, यन्न पारमार्थिकं तन्न व्यावहारिकं यथा ब्रह्माद्वैतम्, नायं व्यावहारिकस्तस्मात्पारमार्थिक इति व्यतिरेकीति—चेत्, पारमार्थिकत्वं यदि स्वप्रकाशचिद्रूपत्वं, तदा बाधः, तवानङ्गीकारश्च । अथ सत्तायोगित्वम्, तथापि तथा । अथ बाधविधुरत्वम्, तदपि न; पूर्वं बाधस्योक्तत्वात्, ब्रह्माद्वैतसाधनभावेनास्मन्मते व्यतिरेकव्याप्तिभूयभावाच्च । शुक्तिरजतादौ च हेतुर्व्यभिचारी पक्षहेत्वोभेदासिद्धौ तदनुपपत्तेश्च । साध्याप्रसिद्धौ व्यतिरेकव्याप्त्यग्रहः । प्रसिद्धौ चानुचितता । तदीदृशमनुमानं प्रयुञ्जानो नूनमजैषीस्त्रिपां परं नतु प्रतिपक्षिणमिति ॥

अथास्त्वन्वयी हेतुः, तथाहि—पारमार्थिकत्वापारमार्थिकत्वाभ्यां विवादपदं भेदः, पारमार्थिकः, व्यावहारिकत्वात् यद्यव्यावहारिकं तत्तत्पारमार्थिकं यथा ब्रह्म, पारमार्थिकत्वव्याप्यव्यावहारिकत्ववाञ्छायम्, तस्मात्पारमार्थिक इति चेन्न; साध्यसाधनविकलत्वादुद्घातस्य । नहि ब्रह्मण्यविद्यातत्कार्यान्यतरत्वस्य व्यावहारिकत्वस्य त्वदभिमतस्य वा सत्तायोगित्वादेः पारमार्थिकस्य सत्त्वमस्माभिः स्वीक्रियते; उभयसिद्धस्यैव दृष्टान्तत्वात् । तथापि शब्दप्रयोगरूपं व्यवहारविषयत्वमस्तीति चेन्न; “यतो वाचो निवर्तन्ते” इत्यादिश्रुत्या तन्निषेधात्, स्वप्रकाशे तस्मिन् तत्प्रतिपाद्यत्वस्याप्यसिद्धेः । कथं तर्हि वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणमिति चेत्, तदाकारान्तःकरणवृत्त्युत्पादनद्वारा तन्निष्ठाज्ञाननिवर्तकत्वादेव । तदाकारत्वं च वृत्तिनिष्ठ एव कश्चिदनिर्वचनीयो धर्म इत्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । तदुक्तं—“सिद्धं तु निवर्तकत्वात्” इति । किञ्च उपहितस्य ब्रह्मणो व्यवहारविषयत्वेऽपि न तस्य पारमार्थिकत्वम्, तथाच साध्यविकलता । निरुपाधिकस्य तु सर्वव्यवहारातीतैव । नच—ज्ञानरूपो व्यवहारस्तत्रास्तीति—सांप्रतम्; तस्यैव ज्ञानरूपत्वेन तत्र ज्ञानान्तरास्वीकारात् । नच—ब्रह्मणः सर्वाभिन्नत्वेन घटाद्यानयनादिव्यवहारोऽपि त्वन्मते तस्यैवेति—सांप्रतम्; सर्वाधिष्ठानत्वस्यैव सर्वाभिन्नशब्दार्थत्वात् यथा सर्पाद्यभेदेऽपि रज्ज्वाः स्वीक्रियमाणे न सर्पाद्यानयनं तस्या भवति । यदि सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वमेव निरणायि तदा व्यवहारस्यातिरिक्तस्याभावात् कस्य ब्रह्म विषयः स्यादिति परिभावय । नच ब्रह्म न व्यावहारिकमित्यन्ततो निषेधरूपव्यवहारस्यापि त्वयाभ्युपगमादन्यथा व्यावहारिकत्वानिषेधे व्यावहारिकत्वमन्यतः सिद्धमिति—वाच्यम्; निषेधकशब्दाविषयत्वेऽपि तदाकारान्तःकरणवृत्त्युत्पादनेन परभ्रमनिरासफलत्वाच्छब्दस्य व्यावहारिकत्वानिषेधेऽपि तत्साधकप्रमाणाभावादेव ब्रह्मणि तदसिद्धेश्च । शक्तिनिषेधकाभावेऽपि तत्साधकप्रमाणाभावादिव तदसिद्धिः । किञ्च “एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन” इति श्रुतिः सर्वनिषेधं ब्रह्मणि बोधयन्ती व्यवहाराभावमपि बोधयत्येव । नच—द्वितीयत्वादिरूपेण ब्रह्म व्यवहरणीयमित्येतत्परैवेयं श्रुतिरिति—वाच्यम्; व्यवहारस्याशब्दार्थत्वात्, तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् । बाधकसत्त्वात्प्रकृते तथा कल्पयत इति चेन्न; श्रुतेरन्यस्य बलवतः प्रमाणस्याभावात् । सर्वतो बलवती हि श्रुतिः । किञ्च मायामयव्यवहारविषयत्वेन मायामयत्वमेवाऽऽयाति, नतु पारमार्थिकत्वम् । तथाच ब्रह्मणि परमार्थतो व्यवहारविषयत्वं नास्त्येवेति सिद्धम् । तथाच यथा यथा तव व्यवहारविषयत्वसाधने यत्नः तथातथा तदविषयत्वमेवायातीति महत्कौतुकमित्यात्मानमुपालभस्व ॥

अथास्त्विदमनुमानम्—भेदः पारमार्थिको, वैद्यत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा ब्रह्म, तथाचायं, तस्मात्तथा, वैद्यत्वं च

वेदनविषयत्वं, तच्च तव मते ब्रह्मण्यस्यैव । तथा—भेदः, प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा ब्रह्म, तथाचायं, तस्मात्तथेति—चेन्न; वेद्यत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः, “अन्यदेव तद्विदितादयो अविदितात्” इति श्रुतेः । “श्रोतव्य” इत्यादिरपि श्रुतिरस्तीति चेन्न; तदकारान्तःकरणवृत्त्युत्पत्तिमात्रफलकत्वात्तस्याः, नतु तावता ज्ञानविषयता समायाति । ज्ञानं हि वृत्तिस्तदभिव्यक्तं चैतन्यं वा । तत्रान्ये भेदघटिता विषयता कथमभेदे स्यात्? आद्येऽपि वृत्तेरवानिर्वचनीयाया अनिर्वचनीयतदाकारत्वं नाम धर्मो नत्वतिरिक्ता विषयतास्तीत्युक्तम् । समानसत्ताकयोरेव हि संबन्धो नतु सत्यानृतयोः । किंच त्वन्मते विषयत्वं हि स्वरूपसंबन्धविशेषः । तस्य च ज्ञानस्य मायामयत्वेन ब्रह्मणा समं स्वरूपसंबन्धानङ्गीकारात् । किंच वेद्यत्वमस्तु, पारमार्थिकत्वं मास्तु इति विक्षेपको दोषः । तथा सति वेद्यत्वमपि न स्यादिति चेन्न; कार्यकारणभावादेर्बाधकस्याभावात् । पारमार्थिकत्वव्यतिरेकेऽस्य वेद्यत्वव्यतिरेकस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् दृष्टान्तभूमेरभावात् हेतुः केवलान्वयी भविष्यतीति—चेन्न; अप्रयोजकत्वात् । किंच शुक्तिरजततादात्म्ये शशीये च विषाणादौ हेतुर्व्यभिचारी, नतु तयोः पारमार्थिकत्वप्रमाविषयत्वयोः संभवः । ननु—तादात्म्यं नाम तद्वृत्तिर्धर्म एव, तथाच रजतत्वं शुक्तौ प्रतीयते, तच्च पारमार्थिकमेव प्रमाविषयश्च तत्संसर्गस्तत्र नास्तीति—चेत्, न; तस्याप्यभ्यत्र विद्यमानत्वात् । नहि तदतिरिक्तवैशिष्ट्यं शुक्तौ भासते । कथं तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं भ्रम इति चेत्, व्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नविषयताप्रतियोगित्वेन, विशेष्यावृत्तिधर्मप्रकारत्वेन, विशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मप्रकारत्वेन वा । व्यधिकरणप्रकारत्वेन नत्वसद्विषयतया वणिग्वीथ्याद्यनुभूतरजतत्वस्य स्मरणे सति शुक्ताविन्द्रियसन्निकृष्टायां शुक्तिरजतयोर्भेदप्रज्ञाभावे सामग्रीवशात्तादृशारोपसंभवात् । तथाच नैयायिकानां ज्ञेयत्वप्रमेयत्वयोरविनाभाव एवेति व्यभिचारः । ननु—रजततादात्म्यं शुक्तौ नास्ति, तथाच कथं सदेव वैशिष्ट्यं शुक्तौ भासत इत्यङ्गीकरिष्यसीति—चेत्, तत्किं रजततादात्म्यस्य क्वचिदभावोऽस्तीति तस्यापारमार्थिकत्वं, तदा तादृशमपारमार्थिकत्वं घटपटादीनां सर्वेषामप्यङ्गीकुर्मः । कोहि घटादीनामभावप्रतियोगित्वं नाङ्गीकरोति । एतेन—स्वप्नदृष्टकामिन्यादीनामपि तरङ्गप्रसङ्गानुभूतचन्द्रभेदादीनामपि पारमार्थिकत्वमभ्युपगच्छतामस्माकं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन जागराद्यवस्थानुभूयमानघटपटतद्भेदानामपारमार्थिकत्वानुमानं न किंचिदनिष्टमापादयतीति बोध्यम् ॥

अत्रोच्यते—एवं हि तादात्म्यारोपसंसर्गारोपयोर्भेदो न स्यात् । उभयत्रैवं धर्मस्यैवाऽऽरोपात् । नहि केवलस्य संसर्गस्यारोपः, अपितु कस्यचित् । तथाच सर्वत्र धर्मारोप एव । नचेष्टापत्तिः; तादात्म्यारोपसंसर्गारोपयोस्तत्र तत्र शास्त्रे भेदेनोपादानात् । किंच शुक्तिविविशेषदर्शनानन्तरम् ‘इदं रजतं नै’त्यन्योन्याभावबुद्धिरस्ति तव मते, वैधर्म्यज्ञानस्य तदेकफलकत्वाभ्युपगमात् । तथाच शुक्तिरजतयोरभेदरूपतादात्म्यारोपाभावे अभेदनिषेधरूपाऽन्योन्याभावबुद्धिर्न स्यात् । रजतत्वसंसर्गारोपे ‘रजतत्वमिह नास्ती’ति बुद्ध्यापत्तिः; नतु रजतमिदं न भवतीति—भूतले घटसंसर्गारोपे भूतले घटो नास्तीतिवत् । नच—रजतत्वारोप एव रजतनिषेध इति—सांप्रतम्; अन्यारोपेऽन्यनिषेधेऽतिप्रसङ्गात् । तस्माच्छुक्तिरजतयोरभेदाख्यं तादात्म्यं भ्रमे भासते, तन्निषेधे तादात्म्याभावरूपोऽन्योन्याभावो विहतो भवति । ननु—तथापि नानिष्टमस्माकम्; रजताभेदस्य रजत एव प्रसिद्धत्वात् । स एव पुरोवर्तिनि आरोप्य निषिध्यत इति—चेत्, न पुरोवर्तिना समं रजताभेदो भासते—पुरोवर्तिनाऽभिन्नं रजतमिति । तथाच पुरोवर्तिना सह रजताभेदोऽसिद्ध एव । अन्यथा पुरोवर्तिनि रजताभेद इति बुद्ध्यापत्तिः; नतु इदं रजतमिति । किंच रजते प्रसिद्धस्याभेदस्येहारोप्यमाणत्वे ‘रजताभेदः पुरोवर्तिनि नास्ती’ति बाधस्याकारः स्यात्, नतु इदं रजतं न भवतीति; संसर्गारोपे तथैव दर्शनात् । किंच रजतान्योन्याभावाभावो रजताभेदो रजतमेव । तथाच रजतमारोप्यत इत्युक्तं स्यात् । तथाच नोक्तरूपं बाधशरीरं स्यात्, तस्मादकामेनापि पुरोवर्तिरजतयोरभेद एवान्योन्यात्मा भासत इत्यङ्गीकर्तव्यम् । किंच नात्र रजतत्वसंसर्गारोपः संभवति; रजतत्वसंसर्गस्य समवायरूपस्य शुक्तौ विद्यमानत्वात् । समवायस्यैकत्वात् रजतत्वनिरूपितः समवायस्तत्र नास्तीति चेन्न; य एव रजतत्वनिरूपितः समवायो रजते तस्यैव शुक्तावपि भावात् । अन्यथा तन्निरूप्यत्वतदनिरूप्यत्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोर्ध्यासाद्धर्मभेदापत्तेः । तर्हि रजतत्वमपि तत्र स्यादिति चेत्, आत्मानमुपालभस्व यस्त्वमेकमेव समवायं स्वीकरोषि । ननु—रजतत्वात्यन्ताभाव एव शुक्तौ, धर्मिस्वाभाव्यात्, वायाविव रूपात्यन्ताभावः । कथमिदमिति च न पर्यनुयोज्यम्; स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अन्यथा ब्रह्म स्वप्रकाशं कथं नान्यदित्यस्यापि पर्यनुयोगस्य संभवादिति—चेत्, न; यत्र यस्य संबन्धस्तत्र तस्यात्यन्ताभावस्य नियमेनादर्शनात्, अत्यन्ताभावसंबन्धयोर्विरोधावधारणात्, तादृशस्वभावस्यापि त्यागे तत्रैव व्याघातापत्तेः । अथ—रजतत्वतदत्यन्ताभावयोर्विरोधो नतु संबन्धेन सह तथेति—चेत्, तर्हि रजतत्वस्यारोपः शुक्तौ, नतु रजतत्वसंसर्गस्येत्यागतम् । तथाच संसर्गारोप इति रिक्तं वचः । अथास्तु रजतत्वस्यैवारोपस्तथापि सिद्धाऽन्यथाख्यातिरिति चेन्न; तथासति इदमिति रजतत्वमिति च बुद्ध्यापत्तेः नतु इदं रजतमिति । वैशिष्ट्याभावे च इदंरजतत्वे इति समूहालम्बनान्न विशेषः

स्यात् । किञ्च रजतत्वासंसर्गाभावोऽपि तत्र प्रतीयत एव बाधकज्ञानेन, तथाच भ्रमेऽपि रजतत्वसंसर्गो भासत इति वक्तव्यम्; अन्यथा निषेधानुपपत्तेः, प्राक्ष्यभावात्, तथाच स यदि तत्रास्ति तदा बाधो न स्यात्, तथाचासन्नेव रज-
तत्वसंसर्गो भासत इति वाच्यम् । अतएव सदुपरागेणाऽस्तोरेव तादात्म्यसंसर्गयोर्भानं सांप्रदायिका मन्वते । नच—
तदङ्गीकार एवास्माकमिति—सांप्रतम्; अपसिद्धान्तापत्तेः । एकदेशिवद्भविष्यतीति चेन्न; अपसिद्धान्तस्यानिग्रहत्वापत्तेः,
सर्वत्रैव 'मयेदं नाभ्युपगम्यत' इत्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । तथाप्यन्यत्र विद्यमानरजतत्वसंसर्गभानवादिमते किं
दूषणमिति चेत्, मानाभाव इति गृहाण । तथाहि—येयं रजतव्यक्तिः पुरोवर्तिभिन्नत्वेन भासते यो वा रज-
तत्वसंसर्गः पुरोवर्तिनिष्ठत्वेन भासते सा चान्यत्रास्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? न तावद्भ्रमस्तत्र तावत्प्रमाणम्; तस्य
तत्तद्देशतत्कालवृत्तित्वेन तत्तत्पदार्थविषयीकरणात्, अन्यत्र सत्तायास्तेनानुल्लेखात् । उल्लेखे वा पुरोवर्तिप्रवृत्त्यभावापत्तेः ।
भ्रमः प्रमाणमिति च वदन् श्लाघनीयप्रज्ञोऽसि देवानांप्रियः? नापि नेदं रजतमिति ज्ञानं तथा; तस्याभावमात्र-
विषयत्वात्, प्रतियोगिनो देशान्तरसत्त्वाविषयत्वात् । यद्यन्यत्र सत्त्वं न स्यात्तर्हि निषेधो न स्यादिति चेत्, बाधम्;
तर्ह्यस्यानुग्राह्यं मानं—विमतमिह निषिध्यमानं, देशान्तरे सत्, इह निषिध्यमानत्वात् । यद्यदत्र निषिध्यते तत्तदन्यत्र सत् ।
यथा भूतले निषिध्यमानं घटादिकम्, तथाचेदं, तस्मात्तथेति चेन्न; अप्रयोजकत्वात्, विपक्षे बाधककर्ताभावात् ।
हेतुभङ्ग एव बाधकस्तर्क इति चेन्न; तस्य प्राप्तिसामानाधिकरण्यात् तस्यानपेक्षणात्, इह चोत्पन्नस्य घटस्येहैव नष्ट-
स्यात्रैव च निषिध्यमानस्यान्यत्र सत्त्वं नास्तीति तेन व्यभिचाराच्च । नच—देशान्तर इत्यनुक्त्वा कचिदिति पदेन
साध्यनिर्देशः कार्यः, तथाच तस्यापि तद्देशे सत्त्वात् कचित् सदिति साध्यमस्तीति—वाच्यम्; तर्हि तत्र सत्त्वेऽपि
तत्र निषेधो, न विरुद्धश्च कालभेदेनेत्यागतम्, तथाच भ्रमविषयीभूतमपि रजतादि भ्रमदशायां तत्रैव सत् कालान्तरे
निषिध्यतां को दोष इति न देशान्तरसत्त्वसिद्धिः; तत्रासत्त्वे कथं तस्य निषेधो भविष्यतीति चेत्, तत्रैवो-
त्पन्नस्य तत्रैव नष्टस्य च कथं निषेध इत्यत्रापि दीयतां दृष्टिः । पूर्वं तस्य सत्त्वमेवोत्तरकाले ध्वंसे जाते मुद्रादिना
पश्चान्निषेधप्रत्यय इति चेत्, इहापि पूर्वमुत्पन्नस्य रजतस्याऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवर्तितस्य निषेधो 'नेदं रज-
तमि'ति ज्ञानेन विषयीक्रियत इति तुल्यम् । ज्ञानस्य कथमर्थनिवर्तकत्वमिति चेत्, मुद्रादेर्वा कथम्? अन्वयव्यतिरे-
काभ्यां तथाऽवधियत इति चेत्, तुल्यमितरत्राप्यन्यत्राभिनिवेशात् । ननु—रजतोत्पत्तिसामग्री तत्र नास्ति, तथाच
कथं तदुत्पत्तिरिति—चेत्, सामग्र्यभावस्यायोग्यत्वेन प्रत्यक्षेण तस्याऽवधारयितुमशक्यत्वात्, प्रत्युत रजत-
लक्षणकार्यसत्त्वाच्चतुन्नयनस्यैव युक्तत्वात् । अन्यथा खण्डघटपाकजघटयोरन्यत्र क्लृप्तदण्डचक्रकुलालादिसामग्र्यभावा-
दुत्पत्तिर्न स्यात् । कार्यदर्शनेन सामग्र्यन्तरकल्पनमिहापि तुल्यम् । तथाच का सामग्रीति चेन्न; विशिष्याऽनभि-
धानेऽपि क्षत्ययोगात् । ननु—अपूर्वरजतव्यक्त्युत्पादे तत्स्वरूपं तत्सामग्री चेति द्वयमपि कल्पनीयम्, तथाच
कल्पनागौरवम्, प्रसिद्धरजतव्यक्तेर्भाने च न कल्पनागौरवम् । तथाच तदेवात्र भासत इति कल्पयत इति—चेन्न;
सिद्धासिद्धाभ्यां कल्पनागौरवस्यादूषकत्वात् । किञ्च देशान्तरस्थितव्यक्तिभाने न भ्रमः प्रमाणम्, नापि बाधो नापि
मानान्तरम् । तथाचागत्याऽपूर्वव्यक्त्युत्पाद एव स्वीकार्यः लाघवात्तदेव भासत इति चेन्न; द्वितीयस्य प्रतियोगि-
नोऽनुपस्थितौ लाघवानिरूपणात्, तद्रजतचाक्षुषज्ञाने तद्रजतचक्षुःसंयोगस्यैव कारणत्वेनाऽन्यथाख्यातेर्हेत्व-
भावेनासंभवाच्च । रङ्गरजतयोः 'इमे रङ्गरजते' इति भ्रमे संभवन्नपि तादृशः संयोगो दोषप्रतिबन्धान्न जनकः ।
अन्यथा गुणजन्यत्वेन प्रमात्वापातादित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः ॥

विप्रतिपत्तिरपि—तत्र रजतत्वं पारमार्थिकत्वेनाभिमतरजतव्यक्तिभिन्नव्यक्तिवृत्ति न वा प्रयोगश्च—रजतत्वं, पार-
मार्थिकत्वाभिमतरजतव्यक्तिभिन्नव्यक्तिवृत्ति, सकलरजतवृत्तिजातित्वात्, यदेवं तदेवं यथा सत्तादि, तथाचेदम्, तस्मा-
त्तथा । नच रजतमात्रवृत्तिव्युत्पाधिः; पक्षमात्रव्यावर्तकत्वेन पक्षेतरत्वादनुपाधिवत्त्वात् । नापि रजतभिन्नवृत्तिस्त्वम्;
उक्तदोषात् । नचाप्रयोजकत्वम्; प्रसिद्धव्यक्तिभाने प्रमाणाभावात्, व्यक्त्यन्तरानुत्पादे च निर्विषयज्ञानानुत्पत्तेरेव
बाधकतर्कस्य विद्यमानत्वात् । यतः पठन्ति—“अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्” इति । इत्थंभूतलक्षणे
चेयं तृतीया । तथाचार्यरूप एव विशेषः । नच शुक्तिरेव विषयः; रजतस्याऽनुभवसाक्षिकत्वात्, अथ दोषवशादेशान्त-
रस्थितैव व्यक्तिर्भासते, दोषस्य च भ्रमनियामकत्वमुभयवासिद्धिमिति चेत्, तर्हि दोषस्य अमोत्पादकत्ववत्तद्विषयो-
त्पादकत्वमप्यस्त्वविशेषात् । नचैवं सति गौरवम्; प्रतीतेरेव वस्तुसाधिकाया विद्यमानत्वात्, गौरवप्रतियोगिनोऽनुप-
स्थितेः, सिद्धासिद्धिपराहतत्वाच्च । अथान्यत्र ज्ञानकारणस्य विषयोत्पादकत्वमदृष्टं चक्षुरादौ, तथाच कथं तत्कल्पनीय-
मिति चेत्, तर्ह्यन्यत्र भ्रमजनकत्वमपि न दृष्टमिति तदपि न कल्पनीयमिति जितमख्यातिवादिनेति । अथ—दोषस्य
स्वविषयज्ञानजनकत्वं क्लृप्तं भ्रमस्यापि च ज्ञानत्वमस्येवेति—चेत्, तर्हि तस्य स्वनिष्ठगुणजनकत्वमन्ततः स्वध्वंसजन-
कत्वमपि क्लृप्तमिति तुल्यम् । दृष्टत्वमात्रस्याप्रयोजकत्वाच्च । तस्मात्—

वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः । नह्येकत्र समावेशइच्छायातपवदेतयोः ॥ इति ।

किंच मिथ्याभूतव्यक्त्यनङ्गीकारे व्यधिकरणप्रकारज्ञानमात्रस्वीकारे 'मिथ्या रजतं मया दृष्टमि'त्याद्यर्थगतं न व्यव-
हियेत । रजतत्वेन शुक्तिर्ज्ञाता इत्येव तस्यार्थ इति चेन्न; रजतधर्मिकमेव मिथ्यात्वमनुभूयते न त्वन्यत् । तथाचानु-
भवापलापे न किमपि भवतः सिध्येदिति जितमसद्वादिना । किंच ज्ञानस्य मिथ्यात्वेनैव तदस्वीकारे च तस्याप्य-
स्वीकार एवोचितः । नच—व्यधिकरणप्रकारत्वमेव मिथ्यात्वं न त्वन्यदिति—सांप्रतम्; लौकिकमिथ्यापदार्थत्यागे
पारिभाषिकत्वापत्तेः, अनुभवस्य च व्याख्याय प्रदर्शयितुमशक्यत्वात् । किंच व्यधिकरणप्रकारत्वमसिद्धम्; रजत-
त्वस्य रजताधिकरणस्यैव इह भासमानत्वात् । अथ—विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्वं च तत्र विशेषणमिति—चेन्न; रजतस्यापि
कचिद्विशेष्यत्वात् । अथ—यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यं तत्र तदवृत्तिधर्मप्रकारत्वमिति—चेन्न; अननुगमापत्तेः । नच—
दृष्टापत्तिः; लक्ष्यस्याप्यननुगतत्वादिति—वाच्यम्; तथा सति लक्ष्यतावच्छेदकस्यैकस्य धर्मस्यानिरुक्तौ तात्त्विकानुगतासु
व्यक्तिषु लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वेनेतरभेदानुमानासंभवात् । अप्रमा इतरेभ्यो भिद्यतेऽप्रमात्वात् । इतरत्र यद्यप्यप्र-
मात्वं नैकं तर्हि हेतोर्भागासिद्धत्वापत्तिः । पक्षतावच्छेदकं च यदि तदेव, तदा तन्नातात्वेनाऽवच्छेदकत्वानुपपत्तिः ।
व्याप्तिग्रहसमय एव पक्षतावच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्यं साध्यसिद्धमिति किमनुमेयं च स्यात् । नच विसंवादि-
प्रवृत्तिजननयोग्यत्वं पक्षतावच्छेदकम्; अनुगतधर्माज्ञाने योग्यताया दुर्ज्ञानत्वात्, उक्तरूपस्य धर्म्यशेऽपि भावात्,
तत्र साध्ये बाधात् । नापि प्रमाभिन्नज्ञानत्वम्; असंभवात्, धर्म्यशे प्रमात्वात् । अथ हेतुतावच्छेदकमप्रामाण्यम्,
तदेक्याच्च धूमवद्धेतुवोपपत्तिरिति चेत्, तदेव किमिति विचारमर्हति । न तावज्जातिः, अनभ्युपगमात् । नाप्युपाधिः,
अनिर्वचनात् । अप्रमामात्रवृत्तिवमिति चेन्न; अप्रामाण्यस्य नानात्वेनैकस्य सकलाप्रमावृत्तिर्भावात् । नाप्यप्रामाण्य-
शब्दाभिधेयत्वम्; अनुगतरूपाभावे तस्याप्यसंभवात् । अथ—तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वमप्रामाण्यम्,
तथाच ज्ञानत्वस्यानुगमात्तदनुगमः, अतएव परम्परासंबन्धा जातिरेवोपाधिरुच्यत इति—चेत्, न; ज्ञानत्वस्य
प्रमावृत्तिवेनाप्रामाण्यवृत्तिवेन च अतिप्रसक्तत्वात् । तन्मात्रवृत्तिर्हि धर्मोऽनुगमको भवति । किंच यदि ज्ञानत्वं पर-
म्परासंबद्धमप्रमात्वं तद्वृत्तिर्वा अनुगमकम्, तदा तथैव बोधापत्तिः स्यात् । नचैवं संभवत्यपि, अन्यस्यानुगमेऽन्यस्यानुगम
इति । तस्मान्मिथ्यार्थविषयत्वमेवाऽप्रमात्वम् । तथाच मिथ्याभूतार्थमेवेति स्वीकारः । अन्यथाऽप्रामाण्यस्य वक्तुमशक्य-
त्वात् । ननु—मिथ्यार्थविषयत्वमसिद्धम्; सत्यस्याऽधिष्ठानांशस्यापि तत्र स्फुरणात्, अन्यथा 'रजतमि'त्येव प्रतीत्या-
पत्तेः । नच—सत्यांशस्मरणमविरुद्धमिति—वाच्यम्, एकस्य प्रमात्वाप्रमात्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदापत्तेरुक्तत्वात्,
अन्यथा अन्यथाख्यातिवादेऽप्यविरोधात् । किंच मिथ्यारजते सत्यरजतवृत्तिरजतत्वमस्ति न वा, न प्रथमः; तस्य योग्य-
व्यक्तिवृत्तिव्रतनियमात्, शृङ्गत्ववत्, अन्यथाख्यात्यापत्तेश्च । न द्वितीयः; अनुगतबुद्ध्यभावापत्तेः, रजतशब्दप्रयोगा-
पत्तेश्च । रजतत्वं हि तत्र निमित्तम्, तत्र रजतत्वान्तरस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽनेकार्थत्वापत्तिरिति—चेत्, उच्यते; इदं
मिति इदंत्वेन शुक्तिमवगाहमानमन्तःकरणवृत्तिरूपं ज्ञानं जायते, दोषप्रतिबन्धात् न शुक्तिमवगाहते, तदनुं
दोषवशाद्रजततद्गोचरज्ञानाकारेणाऽज्ञानं शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपं विवर्तते, रजतमिति । उभयोश्च ज्ञानयोर्विवे-
काग्रहादेकत्वाभिमान एकफलाद्वा । नचैवं प्राभाकरमतप्रवेशः; तेन मिथ्यारजतस्याऽनङ्गीकारात्, किंचित्साध्येन
साध्यापादने सर्वस्य सर्वत्वापत्तिः । नच रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिः; सविकल्परजतानुभवसंस्कारजन्यतया रजत-
भ्रमस्य तद्वाचकशब्दोद्देशोपपत्तेः । यद्वा अस्येव तत्र रजतत्वं, नच तस्य योग्यव्यक्तिवृत्तिव्रतनियमः; असिद्धेः सत्तादिव-
दुपपत्तेः, घटकादिकमपि तथा स्यादिति चेत्, दृष्टापत्तिः, नहि घटो भ्रमविषयः । व्यावहारिकरजतत्वाश्रयत्वे तदपि व्याव-
हारिकमेव स्यान्नतु प्रातीतिकमिति चेन्न; तत्र तत्संसर्गस्य प्रातीतिकत्वात्, व्यावहारिके च तस्य व्यावहारिकत्वादेव ।
नच—तस्यापि समवायरूपत्वेनैकत्वात्कथमेवं व्यवस्था स्यादिति—वाच्यम्; असिद्धेः । नहि य एव गोत्वसंसर्गः स एव
रजतत्वसंसर्गः; तथासत्यतिप्रसङ्गापत्तेः । तथाच संसर्गभेदाद्यवस्थोपपत्तिः । नचापसिद्धान्तः; "इदंतासंसर्गवत्, रजतस्य
शुक्तिकासत्त्वसंसर्गोऽयमवभासते, न रजतस्यापरं सत्त्वम्" इति विवरणकृताऽभिधानात् । तथाच यथा सत्त्वमन्यदीयं
तत्र भासते, तथा रजतत्वमपीति को विरोधः ? सत्त्वमधिष्ठानेऽस्ति, नतु रजतत्वमिति चेत्, न; तस्यापि 'सर्वा सर्वगता
जातिरिति' न्यायेन सर्वत्र संभवेनाऽनिर्वचनीयव्यक्त्याभिव्यक्तिसंभवात् । तथाच अनुगतव्यवहारशब्दप्रयोगाद्युपपत्तिः ।
ननु—त्रिविधसत्त्ववादिमते कथमयं दृष्टान्तः ? तथाहि परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः; निरुपाधिकत्वात्, सर्वथा सर्वदा बाधा-
भावाच्च । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकम्; आकाशादेर्व्यवहारदशायां विसंवादाभावात्, प्रमात्रा सह बाध्य-
त्वाच्च । अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेः, व्यवहारे विसंवादास्सति प्रमातरि बाध्यत्वाच्चेति—चेन्न; एतस्याभ्युपगमवा-
दत्वात्, अधिष्ठानसत्त्वमेवाऽध्यस्ते भासते, नान्यत्सत्त्वान्तरमित्येव मुख्यः सिद्धान्तः । अतएवोक्तं महद्भिः—
"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥" तथाच सत्ताभानानन्देभ्यो निष्कृ-
प्यमाणं जगद्वाधितं तुच्छमनिर्वचनीयमित्यादिशब्दैः कथ्यते । अतएव "इदं सर्वं यदयमात्मे"त्यपि संगच्छते; सदादिरूपेण

जगद्ब्रह्मणोरभेदात्, रूपांतरं तु नास्त्येवेति तेन सह न भेदो नाप्यभेदो नापि भेदाभेद इति । तदेतद्वाधोत्तरं शक्य-
ज्ञानम्, ततः पूर्वं तु सदादिरूपेणैव जगत्प्रतीयते । तथाच शुक्तिरजतस्याऽऽकाशादेश्च जगतो न कश्चिद्विशेषः । यत्तु—
शुक्तिरजतादेर्मायामयत्वप्रतिपादनं शास्त्रे, तत्परं प्रति दृष्टान्तार्थम् । व्यावहारिकप्रातीतिकभाषाऽपिच तात्कालिकबा-
धाऽबाधभ्याम् । ननु—एवं मिथ्यारजतोत्पत्तिस्वीकारेऽधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं ‘पूर्वमिदं रजतमत्रासीदिदानीं ने’ति
पूर्वापरस्थलावधित्वेन प्रतीतिः स्यान्नतु ‘नेदं रजतं कालत्रयेऽप्यत्र नास्ती’त्यत्यन्ताभावोल्लेखिनी, भूतले ध्वस्तघटपटस्य
तथैव प्रतीतेरिति—चेन्न; मायामयस्य कालत्रयेऽप्यत्यन्ताभावस्यैव विद्यमानत्वात्, अन्यथा ज्ञानेन तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः ।
अतएव प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमित्यनिर्वचनीयलक्षणं संगच्छते । घटस्य तु तथा प्रतीतिर्युक्तैव । नच—असदेव
तर्हि रजतं स्वीकृतं स्यादिति—वाच्यम्; अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वात् । अत्र तन्न सत्; बाध्यत्वात्, नाप्यसत्; अपरोक्ष-
प्रतीतिविषयत्वादित्यनिर्वचनीयमित्याख्यायते । यत्तु—‘नेदं रजतमि’ति निषेधो नानिर्वचनीयस्य, तस्य तत्र कालत्रये-
ऽत्यन्ताभावाभावात्, किंतु लौकिकप्रसिद्धरजतस्यैव; तस्य तत्र तथात्वात्—इति तन्न; तस्य ग्राह्यभावात् । नच—
रजताभासप्राप्त्यैव तत्प्राप्तिः; अन्यस्य ग्राह्याऽन्यग्राह्यनुपपत्तेः, उपपत्तौ वाऽनिर्वचनीयरजतकल्पनानुपपत्तेः । नद्यत्र
रजतद्वयमनुभवसिद्धम् । किंच “नेतिनेति” वाक्येन यदा सर्वप्रपञ्चनिषेधोऽविशेषेण बोध्यते, तदा कः प्रतीकारः?
नहि तत्रापि प्रपञ्चद्वयमस्ति । अस्तु वा त्रिविधमेव सत्त्वम्, तथापि नानुपपत्तिः; अत्रापि व्यावहारिकरजतत्वभावे
दोषाभावात् । अतएव ‘तदेवेदं रजतमि’ति संगच्छते । अन्यथा व्यक्तिभेदे प्रत्यभिज्ञा किंनिबन्धना स्यात्? तस्माद्र-
जतत्वं मिथ्यारजतवृत्ति इति साधने न कोऽपि दोषः । नच—अस्यैवानुमानस्य मानत्वे कथमनिर्वचनीयत्वं रजतस्य?
मानगम्यत्वात्, अमानत्वे सिद्धं नः समीहितमिति—वाच्यम्; व्यावहारिकमानविषयत्वाभ्युपगमात्, तत्त्वावेदक-
मानविषयत्वं तु नाभ्युपगम्यते; हेत्वाभासोद्धाराच्च पदार्थान्तरव्यवहारवदुपपन्नोऽस्य व्यवहार इति परमुखमुद्रणम् ।
वस्तुतस्तु—तद्रजतं साक्षिसिद्धम्, तदभावोऽपि साक्षिसिद्ध एव, तस्य च प्रमाणाप्रमाणोदासीनत्वान्न कोऽपि
दोषः । अतएव व्यावहारिकरजताभाव एव ‘नेदं रजतं’मित्युल्लिख्यते; तस्येन्द्रिययोग्यत्वात्, नत्वनिर्वचनीयरजता-
भावः; तस्यायोग्यत्वात् । नच पारमार्थिकस्यात्राप्रसक्तिर्दोषः; तस्य अमाविषयत्वेऽपि अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं स्मृत्यु-
पस्थितस्य निषेधोपपत्तेः । प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वादभावबुद्धेः । तत्सारकं चाधिष्ठानज्ञानमेव; प्रतियोगिज्ञानमेवा-
भावबुद्धौ हेतुर्न तु यत्राभावबुद्धिस्तत्राधिकरणे प्रतियोग्यारोपोऽपि; प्रमाणाभावात्, दोषाभावेन प्रतियोग्यारोपासंभ-
वाच्च । नच—एवं सर्वत्रैव निषेधप्रतीतिः स्यादिति—वाच्यम्; अधिकरणासन्निकर्षादिना योग्यानुपलब्धेरभावात्,
यत्वारोप्य निषिध्यत इति मतं, तन्निष्प्रमाणकत्वाच्चुच्छमेव; प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावदुपलभ्यसमवधाने प्रतियोगि-
ज्ञानस्यैवाऽभावोपलभ्यकत्वात्, प्रतियोग्यारोपव्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकाभावाच्च । अमस्थले तु विवाद एव । विवरण-
कारमते प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमनिर्वचनीयत्वमिति लक्षणं, तदुक्तमेव कथं संगच्छतामिति न वाच्यम्;
प्रतिपन्नस्य रजतादेरुपाधेरधिष्ठानं तत्र यो निषेधः सविलासाविद्यानिवृत्तिः तत्प्रतियोगित्वमिति तदर्थत्वात्, नचैवं-
विधकल्पनायां प्रमाणाभावः; ‘कालत्रयेऽपि रजतमिह नास्ति’ ‘मिथ्यारजतं मायाप्रतिपन्नमि’त्यनुभवस्यैवाऽन्यथानुपपन्नस्य
कल्पकस्य विद्यमानत्वात् । नच—“नेतिनेत्या”दिश्रुत्या जगन्निषेधे नायं प्रकारः संभवति, जगद्भ्याभावादिति—वाच्यम्;
सति प्रमातरि बाधे पूर्वगतेरुक्तत्वात् । अयं तु प्रमात्रा सह बाधः; अद्वैतात्ममात्रपरिशेषात् । आकाशादेः प्रपञ्चस्य
ब्रह्मात्माज्ञानेनोत्पन्नत्वात्तस्य ब्रह्मप्रदर्शकवाक्येन निरासे तत्कार्यस्यापि सर्वात्मना निरास एव । रजतादेस्तु शुक्त्याद्यव-
च्छिन्नब्रह्माज्ञानोत्पन्नत्वम्, तेन तद्वाधेऽप्यन्येषामवस्थानं संभवतीति विशेषः । ननु—एवं रजतस्य साक्षिमात्रवेद्यत्वे
कथं तत्र रजतत्वं व्यावहारिकत्वं च भासेते, तज्ज्ञाने तस्यान्तःकरवृत्त्यपेक्षणादिति—चेन्न; सुखत्वादिभानवदुपपत्तेः ।
अथ—अन्तःकरणवृत्तितद्धर्मादौ नापेक्षाऽन्यत्र तु भविष्यतीति—चेन्न; ‘रजतमहं जानामी’त्यनुभवबलेनाऽविद्यावृत्त्यु-
पग्रहेणापि रजतत्वे साक्षिप्रवृत्तौ दोषाभावात्, फलबलेन तथा कल्पनात् । तस्मात् सर्वथा मिथ्यारजतभावे न कोऽपि
दोष इति सिद्धम् । मिथ्यात्वं च सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन विचारासहत्वम्, प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम्, अवि-
द्यातत्कार्यान्यतरत्वमित्यादिकमूहम् । अमवाधव्यवस्थोपपत्तिरद्वैतसिद्धौ सविस्तरमनुसन्धेयेतीहोपरभ्यते । तत्सिद्ध-
मेतज्ज्ञेदुपारमार्थिकत्वानुमानं शुक्तिरजतादौ व्यभिचारि ।

तथा भेदः, प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वाद्ब्रह्मवदित्यपि दुष्टम्; अप्रयोजकत्वादुक्तप्रकारेण दृष्टान्तसिद्धेश्च, अभेदश्रुति-
बाधितत्वाच्च । किंच प्रमात्वं यदि व्यवहारोपयिकार्थविषयत्वम्, तदा सिद्धसाधनम्, अथ यथार्थविषयानुभव-
त्वम्, तत्र यदि यथाशब्दस्य सादृश्यमर्थः, तदानीं यथाकथंचिदर्थसादृश्यं अमेऽप्यस्ति, तद्विषयत्वेन सिद्धसाधनम् ।
असाधारण्येन रूपेण सादृश्यस्यासंभव एव । अथ तत्त्वानुभवत्वम्, तदापि अमस्यापि रजतत्वादित्स्वविषयत्वात्तेनै-
वार्थान्तरम् । अथ—यत्र यदस्ति तत्र तत्त्वं तदनुभवत्वमेव तत्र प्रमात्वम्, तथाच न शुक्तौ रजतत्वमस्तीति न
तदनुभवः प्रमा, तथाच न सविषयत्वेनाऽर्थान्तरमिति—चेत्, न; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अस्तीति यदि

वर्तमानता विवक्षिता, तदा पाकरके घटे इयामोऽयमिति बुद्धिः प्रमा न स्यात्; तदानीं इयामत्वस्य वर्तमानत्वाभावात् ।
 अथ यदा कदाचित् सत्त्वमात्रं विवक्षितम्, तदा 'इदानीं इयाम' इत्यापि प्रमात्वापत्तिः । पूर्वं घटसत्त्वे इदानीं
 चासत्त्वं इदानीं घटवदित्यस्यापि ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिश्च । किंच किमिदमस्तित्वं वृत्तिमात्रं वा, सत्तायोगित्वं वा,
 स्वरूपसत्त्वं वा, प्रामाणिकत्वं वा, नाद्यः; संयोगसमवायस्वरूपसंबन्धसाधारणस्य संबन्धत्वस्य मात्रशब्दार्थस्य वक्तु-
 मशक्यत्वात् । अवशिष्टधीव्यावृत्तविशिष्टधीनियामकत्वं तदिति चेन्न; यस्य यत्र यः संबन्धः स एव वैशिष्ट्यं तत्रेति
 विशिष्टशब्दनिर्वचने आत्माश्रयापत्तेः, धीशब्देन च ज्ञानमात्रविवक्षायां 'लोहितः स्फटिक' इत्यादौ व्यभिचारः;
 प्रमाविवक्षायामात्माश्रयः । अथ—अखण्डोपाधिः संबन्धत्वमिति—चेत्, न; तत्स्वीकारे ज्ञातृपलापपत्तेः, तेनैव
 व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् । अथ—संबन्धशब्दो नैकार्थोऽक्षादिशब्दवत्, तथाच कचित्संयोगः कचित्सम-
 वायः कचित् स्वरूपसंबन्ध इति यथासंभवं वृत्तिपदेन ग्राह्यम्, तथाच न कोऽपि दोष इति—चेत्, न; तथा सति
 सकृदुच्चरितादेकस्यैवार्थस्य प्रतीत्यापत्तावव्यापकतापत्तेः संभवाच्चयमपि लक्षणवाक्ये ग्राह्यमिति चेन्न; तथा व्युत्प-
 त्तिविरहादक्षादौ तथाऽदर्शनात् । तत्र तात्पर्याभावोऽत्र तु न तथेति चेन्न; व्युत्पत्त्यनुसारेणैव तात्पर्यकल्पनात्, अन्य-
 थाऽतिप्रसङ्गात् । कथं तर्हि 'गङ्गायां घोषमत्स्यौ वसतः' 'सैन्धवमानये'त्यत्र युगपदनेकत्र तात्पर्यं युगपदनेकार्थावबोधः ?
 शब्दावृत्त्येति गृहाण । अन्यथा शब्दस्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । नच—अत्राप्यावृत्त्या लक्षणवाक्येऽनेकार्थप्रतीतिरिति—
 सांप्रतम्; वादिवाक्ये आकृतिलक्षणयोरभावात्, अन्यथा कथाया अपर्यवसानप्रसङ्गात् । किंच नित्यप्राप्तित्वं हि
 समवायत्वं भवन्मते, तथाच प्राप्तित्वं संबन्धत्वमेव, तच्च त्रितयसाधारणं दुर्वचमेव, तस्यागो नित्यत्वमात्रमतिप्रस-
 क्तम् । नित्यत्वमपि ध्वंसाप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वज्ञानाधीनज्ञानम्, तच्च स्वभावविशेषः, स च संबन्धान्तरमन्तरेण
 विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वरूपः । योग्यता च बाधकप्रमाविरहः । तत्र संबन्धान्तरशब्देन च संयोगसमवाययोर्विवक्ष-
 णेन चात्माश्रयादिकं योज्यम् । एवं स्वरूपसंबन्धनिर्वचनेऽपि दोषो देयः; अभावाधिकरणादावेकधर्माभावेन विशिष्ट-
 प्रत्ययजननयोग्यत्वस्याऽपरिच्छेद्यत्वात् । विशिष्टशब्दस्य संबन्धघटितत्वेन प्रत्ययशब्दस्य प्रमापरत्वेनात्माश्रयादि; ज्ञान-
 मात्रपरत्वे तु अमरूपतादृशप्रत्ययजनके संबन्धत्वापत्तिः । तस्माद्वृत्तिमात्रमस्तित्वमित्यलक्षणम् । नापि सत्तायोगित्व-
 मिति द्वितीयः; घटत्वस्य घटे सत्तायोगित्वाभावात्, तज्ज्ञानाव्याप्तेः, सर्वथात्वभावे तदभावादभावविशिष्टप्रमायाम-
 व्याप्तिः । नापि तृतीयस्वरूपम्; सत्त्वस्य तत्स्वरूपत्वेन लक्षणानुपपत्तेः; नच—लक्ष्यमप्यनुगतमिति नायं दोष इति
 वाच्यम्; तत्तत्स्वरूपस्य स्वशब्देन वक्तुमशक्यत्वात् । नापि चतुर्थः; आत्माश्रयापत्तेः । किंच 'लोहितः स्फटिक' इत्यादौ
 लौहित्यं स्फटिकेऽस्तीति तदनुभवात्तत्र प्रमा स्यात् । नास्ति तत्तत्रेति यदि ब्रूयात्, स प्रतिवक्तव्यः, शौक्यं स्फटि-
 कत्वं वा तत्र कथमस्तीति ? प्रतीयमानत्वादिति यदि तर्हि लौहित्यसंबन्धस्तत्र न प्रतीयते; भ्रान्तिः सेति चेन्न; प्रमा-
 त्वानिरुक्तौ सा भ्रान्तिरियं प्रमेत्यस्यैवासिद्धेः । बाधात्तत्र तस्य संबन्धाभावो निश्चीयत इति चेत्, तर्हि यत्र यस्याबा-
 धितः संबन्धः तत्र तस्यानुभवः प्रमेति लक्षणार्थः; बाधस्य विपरीतप्रमारूपत्वात् । किंच स्वस्य बाधाभावो वा तत्र,
 सर्वस्य वा । नाद्यः; 'नीलं तम' इत्यादौ स्वस्य तत्काले बाधाभावेन तत्र नीलादिसंबन्धस्वीकारापत्तेः । न द्वितीयः;
 कालान्तरे देशान्तरे सर्वेषां स्वस्य बाधाभावस्यासर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात् । किंच आनुभविको बाधो यौक्तिको वा ।
 नाद्यः; 'नीलं तम' इत्यादौ तदा तदभावात् । न द्वितीयः; प्रकृतेऽपि तत्संभवात् । रजतत्वादेस्तद्वति तदभाववति वा
 वृत्तावात्माश्रयातिप्रसङ्गौ । तदुपलक्षितवृत्तौ च व्यक्तिमात्रं वोपलक्ष्यं व्यक्तिविशेषो वा । प्रथमेऽतिव्याप्तिः; द्वितीयेऽ-
 ननुगमः । सास्त्रादिमत्त्वादिना तदुपलक्षितं यदि, तत्रापि विशेषणोपलक्षणपक्षोक्तदोषः संचारणीयः । एवं सर्वत्र
 वृत्तिमति पदार्थे दोषो देयः । ननु—कुत्रास्तीति प्रश्ने यत्र प्रतीयत इत्येवोत्तरम्, कुत्र प्रतीयत इति प्रश्ने यत्रास्तीत्ये-
 वोत्तरमिति—चेन्न; यत्रास्तीत्यत्रैव तद्वति तदभाववति प्रश्नस्य विद्यमानत्वात्, यत्रेति ह्याधारः कथ्यते । स एव च
 विचार्यते । प्रतीतिस्तावदस्तीति चेन्न; दत्तोत्तरत्वात् । नापि यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा; रजते रजतत्वानुभवो-
 ऽस्तीति भ्रमेऽतिव्याप्तेः । नापि यत्र विशेष्ये यदस्ति तत्र विशेष्ये तत्प्रकारकत्वम्; रजतस्यापि क्वचित् ज्ञाने विशेष्य-
 त्वात्; यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यं तत्र वर्तते यो धर्मस्तत्प्रकारकानुभवस्तत्प्रमा इति चेत्, न; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—
 किं वस्तुगत्या यस्मिन् ज्ञाने यद्विशेष्यं तत्र यो धर्म इति वा, किंवा यस्मिन् ज्ञाने विशेष्यत्वेन यो भासते तस्मिन्
 यो धर्म इति वा । नाद्यः; वस्तुगत्येत्यस्य प्रमाणसिद्धत्वमित्यर्थो यदि तदाऽऽत्माश्रयः । अन्यस्य चानिर्वचनात् ।
 न द्वितीयः; विशेष्यत्वं यदि अन्यव्यावृत्तिवैशिष्ट्यवत्त्वम्, यदि वा अतव्यावृत्त्यधिकरणत्वम्, यदि वा विशेषणसंब-
 न्धत्वम्, यदि वा प्रत्यक्षनियामकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वम्, यदि वा प्रधानत्वम्, सर्वथा 'घटोऽयमि'त्यादिज्ञाने तस्य
 भानाभावः । तत्रहि घटघटत्वतत्संबन्धा भासन्ते । संबन्धोऽपि स्वरूपेण भासते । तथाच न तत्र विशेष्यत्वस्य भानम्;
 पूर्वं तज्ज्ञानाभावेन प्रकारीभूय भानासंभवात् । वस्तुगत्येत्यस्य निरस्तत्वात् । किंच यत्तदोर्नित्यसंबन्धे यत्र विशेष्ये
 यो धर्मः तत्र तस्यानुभवः प्रमेत्युक्ते घटत्वांश एव तस्य ज्ञानस्य प्रमात्वं स्यान्नतु विशेष्यसंबन्धांशयोः । तथाच

तयोरप्रमितत्वापत्तिः । अथ—तत्रापि घटवत्कपालमित्यादितदवयवेष्वेवं संभवात् सर्वत्र प्रमाविषयत्वं स्यादिति—
 चेन्न; गगनात्माद्यवृत्तिपदार्थे तदसंभवात्, तेषां कल्पवृत्तेः । तेषामपि कालवृत्तित्वमस्तीति चेत्, न; काले
 तदभावात्, 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्त'मिति सिद्धान्तव्याकोपश्च धर्म्यंशे प्रामाण्यास्वीकारे । किंच धर्मज्ञानप्रमात्वे
 आत्मज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं न स्यात् । तथाच तद्वोधकश्रुतिविरोधः । ननु—न ब्रूमो यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभव
 आधेयंशे प्रमेति, येन गगनादिप्रमायामव्याप्तिः स्यात्, किं नाम? यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवस्तद्विशेष्ये तत्प्रकारे च
 प्रमेति । तथाच क गगनादिप्रमायामव्याप्तिगन्धोऽपीति—चेन्न; वैशिष्ट्यांशेऽप्रमात्वापत्तेः, तत्र कस्याप्यवृत्तेः । नहि
 घटत्वविशिष्टे किमप्यस्ति । त्रितयमेव विशिष्टमिति चेत्, अस्तु, तथापि तद्विशिष्टे तद्वृत्त्यभाव एव । किंच यस्य यत्र
 यः संबन्धस्तदेवं वैशिष्ट्यम् । तथाच संबन्धत्वस्वरूपसंबन्धत्वनिर्वचने आत्माश्रयादित्राणि देयः । किंच 'घटत्वमस्ती'-
 स्यादौ घटप्रकारकं ज्ञानं घटत्वे जायते, तत्राव्याप्तिः । नहि घटत्वेऽपि घटस्य संबन्धोऽस्तीति—वाच्यम्; तस्यासंभवात्,
 न तावज्जातौ व्यक्तेः समवायः; अनङ्गीकारात् । नापि संयोगः; पूर्वोक्तदोषादेव । नापि स्वरूपम्; तस्य व्यक्त्यन्तर-
 साधारण्यात् । नापि संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वम्; अनुगतरूपाभावेन तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्,
 आत्माश्रयाच्च । एवं सर्वत्र तादृशज्ञाने दोषो देयः । नापि तद्वृत्ति तत्प्रकारकत्वम्; भ्रमेऽतिव्याप्तेः, तद्वद्विशेष्यकत्वे
 सति तत्प्रकारकत्वमिति चेत्, न; भ्रमगतत्वादेव । तत्र रजतं न विशेष्यमिति चेन्न; विशेषणसंबन्धवत्त्वादेर्विशे-
 ष्यत्वस्य तत्र विद्यमानत्वात् । रजतत्वं हि तत्र विशेषणम्, अन्यथा रजतत्वप्रकाशकज्ञानं विना पुरोवर्तिनि प्रवृत्त्यभा-
 वापत्तेः । अथ—भासमानवैशिष्ट्याधारता तत्प्रतियोगिता च विशेषणता; रजतभ्रमे च रजततादात्म्यं रजतत्वसंसर्गो
 वा वैशिष्ट्यम्, तदुभयमपि न रजते भासते; दोषस्य प्रतिबन्धकत्वात् । तथाच न तत्र विशेष्यतेति—चेन्न; पुरोवर्ति-
 नोऽपि विशेष्यत्वानापत्तेः, भासमाने वैशिष्ट्याधिकरणत्वाभावात् । तत्रापीदंसंसर्गस्य भासमानस्याऽधिकरणताऽस्तीति
 चेत्, रजतमित्येतावन्मात्रं यत्रोल्लिख्यते न त्विदंत्वमपि तत्र तस्याभावात् । नच—तदसिद्धं, सामान्याकारज्ञानस्य भ्रम-
 हेतुत्वादिति—वाच्यम्; तस्य तद्वेतुत्वेऽपि नियमेन तद्ज्ञाने प्रमाणाभावात्, 'रजतं जानामी'त्यनुव्यवसायाच्च । किंच
 भासमानवैशिष्ट्यानुयोगित्वलक्षणं विशेष्यत्वं रजतेऽप्यस्त्येव । नहि रजतत्वसंसर्गो रजततादात्म्यं वा यत् शुक्तौ
 भासते तद्रजते नास्ति । यद्वृत्तित्वेन भासते भासमानवैशिष्ट्यं तद्विशेष्यमिति चेन्न; रजतवृत्तित्वेनापि तयोर्भासमान-
 त्वादेव, अन्यथा रजतांशे तदज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वापत्तेः । नच दोषेण तत्प्रतिबन्धः; दोषो हि पुरोवर्तिरजतयोर्भेदग्रहे
 पुरोवर्तिनि रजतत्वासंसर्गग्रहे च प्रतिबन्धकः भ्रमोत्पादकश्च तथैव ग्रन्थकृताऽभिधानात् । किंच स्मृतौ रजतत्ववैशिष्ट्यं
 भासते, नवा । नान्त्यः; स्मृतेः सविकल्पकत्वनियमात् । आद्ये तथैव भ्रमेऽपि भानं युक्तम्; विशिष्टवैशिष्ट्यबाधे
 तथैव कारणत्वाभ्युपगमात् । किं रजततादात्म्यम्? यदि रजतस्वरूपमेव, तदा तद्भासत एव । अथ रजतत्वं तदा
 तादात्म्यसंसर्गारोपयोर्न भेदः, तदपि च रजते भासत इत्युक्तमेव । तस्माद्विशेष्यपदे दत्तेऽपि भ्रमाव्यावृत्तिरेव । किंच
 जलशरावादभ्यन्तरे कश्चित्पदार्थोऽनुभूतस्तदनन्तरं तस्यैव जलशरावस्योपरि भागे जलासंस्पर्शी स एव पदार्थः स्थापि-
 तोऽनन्तरं तस्य तत्र प्रतिबिम्बोदयो भवति, तदा तत्पदार्थवत्त्वेन तस्यैव जलशरावस्य ज्ञानं भवति 'तत्पदार्थज्ञानवान-
 यमि'ति, तदपि ज्ञानं प्रमा स्यात् । नचेष्टापत्तिः; दोषजन्यत्वात्; प्रतिबिम्बज्ञानस्य भ्रमत्वेन सर्वैरिष्टत्वाच्च । नच—
 तत्र काले स तत्र नास्तीति—वाच्यम् । पूर्वं सत्त्वस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा 'सोऽयमि'ति प्रत्यभिज्ञाऽपि प्रमा न
 स्यात्; तदानीं तत्तायास्तत्रासत्त्वात् । नच—उदाहृतप्रतिबिम्बभ्रमस्थले कालविशेषो वर्तमानतारूपो भासत इति—
 वाच्यम्; नियमतस्तद्ज्ञाने मानाभावात् । अन्यथा पाकरक्ते श्यामोऽयं, सोऽयमित्यादावपि कालविशेषस्य भाननैयत्ये
 तत्प्रमात्वाभिधानविरोधात् । ननु—उदाहृतस्थले कालविशेषाभावे दोषजन्यत्वप्रमात्वे एवेति—चेत्, न; स्वाच्छया-
 दिदोषोत्कर्षाद्भ्रमोत्कर्षदर्शनात्, तदनङ्गीकारे च अन्यप्रतिबिम्बादिभ्रमोदाहरणस्यापि त्यागप्रसङ्गात्, तत्रापि दोषो न
 हेतुरित्यस्य सुवचत्वात् । किंच 'गन्धप्रागभावावच्छिन्नो घटो गन्धवान्' इत्यत्रातिव्याप्तिः, नच—सापि प्रमेव, कदा-
 चिद्गन्धस्य तत्र सत्त्वादिति—वाच्यम्; लोकव्यवहारविरोधात् । मणिकारमते च बाधस्यासंकीर्णमुदाहरणं तत्र स्यात्;
 बाधस्याभावात् । तथाच गन्धप्रागभावावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वादित्यत्राप्यनुमितिः स्यादेवेति सुष्ठु मणिका-
 रमतसमर्थनम् । नच—यदवच्छेदेन यत्र यो वर्तते तदवच्छेदेन तत्र तस्यानुभवः प्रमेति—वाच्यम्; एतदप्रतिसंधानेऽपि
 प्रमाव्यवहारस्य लोकसिद्धत्वात्, पाकरक्ते श्यामोऽयमित्यापाताच्च, घटपटावितिसमूहालम्बनेऽव्याप्तिश्च; घटत्वाभाववति
 पटे घटत्वप्रकारकज्ञानत्वात् । नच तत्रांशभेदेन व्यवस्था; ज्ञानस्य स्वतो निरंशत्वात् । विषयरूपोऽंशोऽस्तीति—चेत्,
 न; ज्ञानस्य विषयानारभ्यत्वात्, अन्यथा साकारवादापत्तेः । अथ—विषयो विशेषणं ज्ञानस्य, स च अनेकात्मकस्तथाच
 तद्वेदेन ज्ञानस्यापि तद्व्यवहार इति—चेन्न; ज्ञानस्य हि स्वभावविशेषः संबन्धस्त्वयोच्यते । सचैकरूप एवेति न कश्चि-
 द्विशेषः । किंच इदं तानुल्लेखि रजतमितिज्ञाने धर्मिणि सर्वमभ्रान्तिकमिति कथं स्यात्? तदंशे तद्वृत्तेरप्रकारत्वात् ।
 नच तत्राप्रमात्वं नास्तीति तदर्थः प्रमा; स्ववृत्तावप्रमात्वस्यैव वृत्त्यापत्तेः । किंच 'इदं संयोगी'त्यत्र तद्वृत्ति तत्प्रकार-

त्वात् तदभाववति तत्प्रकारत्वाच्च प्रमाऽप्रमारूपत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिः; तस्य प्रमात्वेनैव लोकव्यवहारात् । नच—
यदवच्छेदेन संयोगो न तदवच्छेदेन तदभावः; भावाभावयोरवच्छेदमेवेनैव प्रतीतेरिति—वाच्यम्; अस्त्वेवं तथा-
प्युक्तलक्षणे विवक्षिताभावात् । तत्रापि साक्षावत्तावच्छेदेन गोत्ववृत्तिरस्त्येवेति—चेत्, न; साक्षावानिति
प्रतीतौ तदभावात् । तत्र गोत्वमवच्छेदकमिति चेत्, न; परस्पराश्रयापत्तेः । किंच सुखादिप्रतीतौ सुखत्वविशिष्टं
सुखं भासते । नच तत्र सुखत्ववृत्तावच्छेदको धर्मोऽन्यः कश्चिदस्ति; गुणवृत्तिजातौ व्यञ्जननियमानङ्गीकारात् । तथाच
तादृशप्रतीतौ सर्वत्राऽव्याप्तिः । किंच प्रकारघटितं लक्षणं निर्विकल्पकेऽव्यापकम्; तस्य निष्प्रकारत्वात्, नच तदल-
क्ष्यमेव; तथा सति तत्राऽप्रमात्वापत्तेः । तदुभयबहिर्भूतमेव तदिति चेत्, न; तस्य जन्यज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात्, तस्य
तयोरन्यतरेण व्याप्तत्वात् । अप्रयोजकमिदमिति चेन्न; सामान्यसामग्र्या विशेषसामग्रीमादायैव कार्याजकत्वनियमात् ।
तथाच दोषतदभावान्यतरघटितज्ञानसामग्रीजन्यत्वे प्रमात्वाप्रमात्वयोरन्यतरस्याऽवश्यम्भावः स्यात् । अन्यथा ज्ञान-
सामग्रीजन्यत्वमेव न स्यात् । तथाच ज्ञानमपि न स्यात्, अन्यथा सविकल्पकमपि प्रमाऽप्रमावहिर्भूतं किमप्युत्पद्येत
तदुभयरहितज्ञानसामग्र्या जनकत्वे । तस्माल्लक्षणकरणासामर्थ्याल्लक्ष्यत्याग इति स्थितम् । नच—एतदनुरोधेनानु-
भवत्वमात्रं लक्षणमेवेति—वाच्यम्; ज्ञानत्वस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । तस्यालक्ष्यवृत्तित्वं यदि, प्रकृतेऽपि समम् ।
किंच यत्तद्व्याप्तं लक्षणकरणेऽननुगमो दोषः । नच—लक्ष्यस्याप्यननुगतत्वादयमेव दोषः; नहि प्रमा सर्वत्र प्रमा, किंतु
कचित्, तथाच किं ज्ञानं कुत्र प्रमेति प्रश्नोत्तरं च यत्तद्व्याप्तिमिति—वाच्यम्; एवं हि सति कुत्राप्यननुगमस्य दोषत्व-
मेव न स्यात् । सर्वत्र तथा वक्तुं शक्यत्वात् । तथाच शास्त्रे तद्दोषत्वव्युत्पादनविरोधः । अथ—यत्र लक्ष्यतावच्छेदक
एको धर्मोऽस्ति, तत्राऽसौ दोषः, यथा गन्धवती पृथ्वीत्यत्र पृथ्वीत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं गन्धवत्त्वं लक्षणम्, वैपरीत्यं वा,
नचात्र तथास्तीति—चेत्, न; समर्थप्रवृत्तिजनकत्वभ्रमज्ञानत्वादेरत्रापि त्वया वक्तुं शक्यत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदक-
स्याऽनुगतधर्मं विना तदपि दुर्ग्रहमिति चेत्, भ्रान्तोऽसि; यतस्तथासति तेन प्रामाण्यानुमानमपि कथं ते स्यात् ? किंच
घटत्वादिकमेव पृथिव्या लक्षणमस्तु, नचाननुगमः; लक्ष्यस्याप्यननुगतत्वात् । तथा सति पृथिवीशब्दसंकेतग्रहो न स्यात्
आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामिति चेत्, प्रमाशब्देऽपि तुल्यमेतत् । पृथिवीत्यनुगतप्रतीतिवशादनुगतधर्मसिद्धिरिति चेत्, तुल्यं
प्रमायामपि । प्रमाशब्दोऽनेकार्थ एवाऽक्षादिशब्दवदिति चेत्, न; अक्षशब्दे हि विभीतकत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तत्रयमासाद्य
प्रवृत्तिः शब्दस्य शक्यग्रहा, प्रमात्वानि त्वनन्तानि, घटवति घटत्वप्रकारकत्वादीनि हि तानि, तथाच तेषां सर्वेषां गृही-
तुमशक्यत्वेन कथं तदादाय शब्दप्रवृत्तिः ? नच—अनुभवत्वानुगमात्तदनुगमः तच्च जातिरूपमिति—वाच्यम्; नहि
तावन्मात्रं प्रमात्वम्, तज्ज्ञानेऽपि प्रमाशब्दाप्रयोगात्, किं तर्हि ? विशिष्टम्, तच्चाननुगतमेव । काचेयं वाचोयुक्ति-
रन्यस्यानुगमादन्यदनुगतमिति ? विशिष्टं च केवलान्यदेव । किंच प्रमा इतरेभ्यो भिद्यते प्रमात्वादित्यत्र सकलपक्ष-
व्यापकं प्रमात्वमेकं नास्तीति भागासिद्धौ हेतुः । नच—प्रमात्वत्वेनैकेन धर्मेण प्रमावृत्तिनाऽवच्छिन्नस्य हेतुत्वं धूम-
त्वावच्छिन्नस्यैव धूमस्येति—वाच्यम्; असिद्धेः । प्रमेतरावृत्तित्वे सति सकलप्रमावृत्तित्वं हि तद्दोषत्ववदिति चेत्, न;
एकस्य प्रमात्वस्य सकलप्रमावृत्तित्वाभावात्, 'किंचिद्धि वस्तु स्वतो व्यावृत्त'मिति न्यायेन गोत्वे धर्मान्तराभावाच्च ।
अन्यथा जाल्या व्यावृत्ता व्यक्तिर्जातिं व्यावर्तयिष्यति, व्यक्त्या च व्यावृत्ता जातिर्व्यक्तिमिति परस्पराश्रयापत्तेः । नच—
प्रत्येकप्रमां पक्षीकृत्य प्रत्येकप्रमात्वादितरभेदानुमानं स्यादिति—साम्प्रतम्; पृथिव्यादावपि तथैवोपपत्तौ पृथिवी-
त्वादावपि प्रमाणाभावापत्तेः । तत्र बाधकं नास्तीति चेत्, अन्यथैवोपपत्तेः । साधकमपि नास्तीति पश्य । सर्वज्ञस्य
सर्वप्रमाभेदज्ञानानुपपत्तिश्च, तथाचैतत्प्रमात्वरूपणं नेतरभेदज्ञानाय, नापि शब्दरूपव्यवहाराय, नापि प्रवृत्त्यर्थम् ।
तस्या अप्रामाण्यशङ्काशून्यज्ञानादेव स्वीकारात्तथैवोपपत्तेश्चेति व्यवहारानङ्गत्वाद्यर्थमेव । नापि विशेष्यवृत्तिप्रकारकानु-
भवत्वम्; समूहालम्बनाव्याप्तेः । घटपटाविलयत्र हि घटत्वं पटे नास्ति पटत्वं च घटे नास्ति, तदेव तत्र प्रकारः ।
नचांशभेदमादाय व्यवस्था; ज्ञानस्य निरंशत्वात्, प्रमात्वस्य च ज्ञानवृत्तित्वात्, विषयस्य च सांशत्वे किमायातं
ज्ञानस्य ? किंच घटोऽयमिति ज्ञाने घटत्वं विशेष्यावृत्ति न भवतीति कथं ज्ञेयम् ? नियमतोऽन्यवृत्तितयाऽज्ञानात्,
तद्वृत्तितयैव ज्ञानादिति चेन्, न; 'नीलं तम' इत्यादौ व्यभिचारात् । तत्र बाधोऽस्तीति चेत्, अत्रापि भविष्यतीति
संभावनाया विद्यमानत्वात् । किंच 'इदं रजतमि'त्यत्र अमेऽपि विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्वं विद्यत एव, नहि रजतं न
विशेष्यं कचित् । यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यं तद्विवक्षितमिति चेन्न; हेत्वन्तरतापत्तेरननुगमापत्तेश्च, अमेऽपि यथा रजतं विशेष्यं
तथा प्रतिपादितमधस्तात् । नापि विशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिधर्मप्रकारानुभवत्वम्; पूर्वोक्तदोषात्, 'अयं
संयोगी'त्यत्र संयोगप्रकारकप्रमायामव्याप्तेः; संयोगस्य विशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । नचाभावे व्याप्य-
वृत्तित्वं विशेषणं देयम्; 'गुणः संयोगी'त्यप्रमायामतिव्याप्तेः, तदत्यन्ताभावस्यैकत्वात् । नचाधिकरणभेदेनाभावभेदः;
प्रमाणाभावादपसिद्धान्तापत्तेश्च । नापि विशेष्यवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्माप्रकारकानुभवत्वम् ।
अस्यार्थः—'घटोऽयमि'ति ज्ञाने विशेष्यं घटस्वरूपं, तत्र वर्तते योऽन्योन्याभावः पटादीनां, तस्य प्रतियोगितावच्छेदको

धर्मः पटत्वादिः, सः अप्रकारको यस्यानुभवस्य—इति । ‘मूले वृक्षः कपिसंयोगवान्न’ इत्यबाधितानुभवबलात् संयोग-
स्याप्यव्याप्यवृत्तित्वात्, अव्याप्तेस्तदवस्थत्वात् । नच—‘स एवायं वृक्ष’ इत्यबाधितानुभवबलान्नान्योन्याभावोऽव्याप्य-
वृत्तिरिति—वाच्यम्; पूर्वप्रत्ययस्यैव बाधकस्य विद्यमानत्वात्, बाधकस्य विपरीतप्रमात्वेनाऽऽत्माश्रयापत्तेश्च, भेदा-
भेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वेनादोषत्वात्; समूहालम्बनेऽव्याप्तेश्च । नापि संवाद्यनुभवत्वम्; ज्ञानान्तरेण तत्तोल्लिख्यमानार्थ-
त्वस्य तस्य भ्रमेऽपि सत्त्वात् । नच—अर्थप्राप्तेः संवाद इति—वाच्यम्; स्वमकामिनीदर्शनादावर्थप्राप्तेरपि विद्यमान-
त्वात्, उपेक्षाप्रमायामव्याप्तेश्च । तत्र योग्यताऽस्तीति चेन्न; तस्या बाधकप्रमाऽभावात्, विषयस्य च दोषगुणा-
जन्यत्वात् । तथाच तज्ज्ञानं यदि दोषजन्यम्, अप्रमेव स्यात्, अथ गुणजन्यं प्रमेव स्यादिति व्यवस्था त्वदभिमतान्
सिद्ध्येत् । नापि प्रमात्वं जातिः; ज्ञानव्यक्तिग्रहे योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन प्रमात्वस्यापि ग्रहापत्तौ कचिदपि संशयो न
स्यात्; प्रमात्वस्याऽनुमेयत्वाङ्गीकाराच्च । साक्षात्त्वादिना सङ्करापत्तिश्च, साक्षात्त्वं हि प्रमात्वं विहाय तिष्ठति । प्रकारो-
शाप्रमायां प्रमात्वमपि तद्विहायानुमित्यादाविति । नच गुणवृत्तिजातौ न संकरो दोषः; बीजसाम्येन तत्रादोषत्वाङ्गीकारे
द्रव्येऽपि तदापत्तेः, भ्रमे धर्म्यशप्रमायामव्याप्तेश्च । जातेर्व्याप्यवृत्तित्वनियमात् । नच—अवच्छेदभेदेन तद्वृत्तिः स्यात्
संयोगतदभावयोरिवेति—वाच्यम्; अवच्छेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच—विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वतदवृत्तिप्रकारावच्छे-
देनोभयोः प्रमात्वाप्रमात्वयोर्वृत्तिरास्तामिति—वाच्यम्; अवच्छेदकधर्मस्य विशेषणत्वे तत्रापि प्रमात्ववृत्त्यापत्तेः, उप-
लक्षणत्वे तु ज्ञानमात्रमुपलक्ष्यम् । तथाच न कश्चिद्विशेषः, अवश्यकल्प्योपाधिद्वयेनैव प्रमाऽप्रमाव्यवहारोपपत्तौ जातेवै-
यर्थ्यापत्तेश्च । नच—व्यञ्जकमादाय जातेर्निराकरणे गोत्वाद्युच्छेदापत्तिरिति—वाच्यम्; इष्टापत्तेः, विशेष्यावृत्त्यप्रकार-
कत्वस्य व्यञ्जकत्वासिद्धेश्च, तदग्रहेऽपि प्रमात्वव्यवहारात् । नाप्यज्ञातार्थविषयकत्वे सति यथार्थत्वम्; यथाशब्दार्थ-
खण्डनादेव । अज्ञानस्य विशेषणत्वे अज्ञानस्याप्यर्थज्ञानविषयतापत्तिः, उपलक्षणत्वे त्वर्थमात्रमुपलक्ष्यम् । तथाच
विशेषणं व्यर्थम्, व्यावर्त्याभावात्, ब्रह्मातिरिक्तस्याऽज्ञानकार्यत्वेनाज्ञानविषयत्वानुपपत्तेश्च । कथं तर्हि घटो ज्ञात
इति ? घटावच्छिन्नं चैतन्यमज्ञातमिति गुहाण । तस्मात् प्रमात्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वाद्भेदः प्रमाविषयः ज्ञानविषय-
त्वादिति दुःस्थमेव । ननु—अस्ति तावत् प्रमाव्यवहारः सकललोकसिद्धः, कथं त्वयापि समर्थनीयः ? तदसमर्थने च
कथं तात्त्रिकता ? तथाच “यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे” इति
न्यायापात इति—चेत्, न; वितण्डावादिनं प्रत्येवं पर्यनुयोगानवकाशात् । ‘त्वया स्थाप्यं मया दूष्यमि’त्येव हि समर्थं
बध्वा कथाऽऽरम्भोऽकारि । तथाच विस्मरणशीलो भवान् । तथापि शिष्यभावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति चेत्, शृणु—

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः । का तदा तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥

उपपादयितुं तैस्तेर्मतैराशङ्कनीययोः । अनिर्वचनतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥ इति ॥

तथाच प्रमात्वमनिर्वचनीयं लोकसिद्धम् । तदादाय सर्वोऽपि व्यवहारो यावदविद्यं प्रतीयते । तच्च प्रमात्वं मायो-
पाधिकसत्त्वार्थविषयकज्ञाननिष्ठं सद्भावहारिकमिति कथ्यते । तदेतत्प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकं प्रामाण्यमिति गीयते ।
तादृशप्रमाकरणत्वं च तत् । तत्त्वमस्यादिवाक्यात् शोधिततत्त्वंपदार्थस्य त्वंकारोपहितस्य प्रमातुः समुत्पन्नं विज्ञानं
साक्षात्कारापरनामकमन्तःकरणवृत्तिभेदरूपं निरुपाध्यखण्डानन्तानन्दज्ञानात्मविषयकं जीवपरयोरैक्यावगाहि पार-
मार्थिकप्रमारूपम्; निरुपाधिकसत्त्वार्थविषयकत्वात् । तदेतत्तात्त्विकं प्रामाण्यम् । नित्याविनाशिनिरुपाधिकविषयत्वं हि
तत् । वेदान्तानां च तात्त्विकं प्रामाण्यं तादृशप्रमाकरणत्वमेव । अप्रमात्वमप्यविद्योपाधिकसत्त्वार्थविषयकत्वं बाधक-
ज्ञानोत्तरगम्यम् । ‘मिथ्याभूतोऽर्थो मया ज्ञात’ इति हि लोकाः प्रतियन्ति । ननु—निष्करूपप्रवृत्त्यौपधिकं किमपि
प्रामाण्यं त्वयापि निर्वक्तव्यम्, कथमन्यथा स्वतःप्रामाण्यमिति तव सिद्धान्तः संगच्छेत ? नच मायोपाधिकसत्त्वार्थ-
विषयकत्वं तत्; तस्य स्वतो ग्रहीतुमशक्यत्वात्, विशेषणाभावे विशिष्टप्रत्ययायोगात्, पारिभाषिकत्वापातात्, ब्रह्म-
साक्षात्कारे तदभावाच्च । अन्यच्च तव मते दुर्वचमिति—चेत्, न; अनिर्वचनीयमेव प्रमात्वं प्रमानिष्ठमित्युक्तत्वात् ॥

किंचाज्ञातार्थनिश्चयात्मकत्वमेव प्रामाण्यमस्मत्पक्षे तच्च सर्वत्रानुगतम्, ब्रह्मज्ञानस्यापि तथारूपत्वात् । नच
भ्रमेऽतिव्याप्तिः, तद्विषयस्य भ्रममात्रकालीनत्वेनाऽज्ञातत्वाभावात् । यद्यपि घटादावप्यज्ञातत्वं नास्ति चैतन्यमात्राश्र-
यविषयकस्यैव तस्य स्वीकारात्, तथाचोक्तं—“आश्रयत्वविषयत्वविभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला । पूर्वसिद्धत-
मसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर” इति; तथापि घटाद्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मचैतन्यस्य अज्ञातत्वाद्घटादेरज्ञातत्वम् ।
अज्ञातत्वस्य च साक्षिमात्रसिद्धत्वेनाऽज्ञातत्वानधिकरणत्वेऽप्यदोषः । यद्वा—यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीतीष्ट-
सिद्धिकारवचनात् घटादेरपि पृथक्ज्ञातेन निर्वर्त्यमज्ञातत्वं स्वीक्रियते । स्मृतिव्यावृत्त्यर्थं निश्चयात्मकमिति । नच—
आश्रयादिकबुद्ध्यव्याप्तिर्ज्ञातार्थविषयकत्वादिति—वाच्यम्; अनुवादकत्वलक्षणस्याऽप्रामाण्यस्येष्टत्वात्, स्वार्थनिश्चयत्वेन

तत्र प्रामाण्योपचारः स्मृतिवत् । किंच प्रत्यक्षस्य वर्तमानार्थग्राहित्वेन स्वाश्रयक्षणविशिष्टस्तम्भादिग्राहकत्वात् अगु-
हीतग्राहित्वमस्येव । अन्यथा प्रेक्षणीयान्तराभावेनैकस्मिन् समयेऽनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः । नच क्षणानामतीन्द्रियत्वम् ;
स्थूलोपाधिरपि तत्र मतेऽतीन्द्रिय एव । तथाच सोऽपि कथं भासत इति पश्य । यदि च ज्ञानान्तरोपनीतः स्थूलोपा-
धिर्भासत इति स्वीकुरुषे, तदा क्षणोऽपि तथैव भासत इति खज वृथाऽऽग्रहम् । नच—वेदात्मकोत्पन्नवेदार्थगोचर-
धारावाहिकबुद्ध्यव्याप्तिस्तत्र क्षणस्यापि भानाभावादिति—सांप्रतम् ; शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावेन वेदा-
त्मकमिधारावाहिकबुद्ध्यसिद्धेः, सिद्धौ वा द्वितीयादिज्ञानस्याऽनुवादकत्वलक्षणमप्रामाण्यमेव । नच—अनादौ संसारे
वेदार्थस्य पूर्वं ज्ञातत्वादस्मिन् जन्मन्यनुवादकत्वापत्तिरिति—वाच्यम् ; तस्मिन् जन्मन्यज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वात्,
ब्रह्मप्रतिपादकवाक्ये सर्वथा तदसंभवाच्च । नच तस्मिन् जन्मनि पूर्ववस्थायां ज्ञातस्योत्तरावस्थायां ज्ञाने तदापत्तिः ;
इष्टत्वात्, तदानीं तत्राऽज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वाच्च । नच—श्रुत्या ज्ञाते आत्मनि मननादीनामनुवादकत्वापत्तिरिति—
वाच्यम् ; तत्र अज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वादेव । नहि श्रवणमात्रेणाज्ञानं गच्छति, तथासत्यन्येषां वैयर्थ्यापत्तेः । साक्षा-
त्कारे जाते पुनः प्रमाणप्रवृत्त्यभाव इष्ट एव ; “भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति” श्रुतेः, अज्ञानभेदनिवृत्तिफलकत्वेन
सार्थकत्वाच्च ॥

तच्चैदं प्रमात्वं स्वत एव गृह्यते । स्वतस्त्वं च ज्ञानविषयकत्वग्रहविषयकत्वनियमः । नच—अप्रमाविषयकज्ञानस्य
प्रमात्वाग्राहकत्वाच्च नियम इति—वाच्यम् ; अप्रमाया अज्ञानविरोधित्वरूपज्ञानत्वाभावेन तज्ज्ञानस्य ज्ञानाग्राहकत्वात्,
अज्ञानवृत्तिर्हि सा नाज्ञानविरोधिनी, प्रमाचान्तःकरणवृत्तिस्तथा । नच—एवं सति ततो व्यवहारो न स्यादिति—
वाच्यम् ; इदमाकारान्तःकरणवृत्त्यविविक्ताविद्यावृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिचैतन्यात्तदुपपत्तेः । नच—‘भ्रमज्ञानं मे वृत्तिमि’ति
भ्रमेऽपि ज्ञानत्वमनुव्यवसीयत एवेति तद्विरोध इति—वाच्यम्, इदमाकारान्तःकरणवृत्तिनिष्ठमेव ज्ञानत्वं तदविविक्ता-
विद्यावृत्तिरूपे भ्रमे प्रतीयते, नतु तन्निष्ठं तत् ; तस्य ज्ञानाभासत्वात् । नहि हेत्वाभासो हेतुर्भवति, तद्वन्न ज्ञानाभासस्य
ज्ञानत्वम् । यदा पुनः ‘इदं रजतमि’त्येकैवाविद्यावृत्तिरिदमंशमपि कल्पितं रजतगतमेव गृह्णाति न शुक्तिगतम् ; तस्य
व्यावहारिकत्वेन दोषाजन्यज्ञानग्राह्यत्वात्, तदा तत्र स्वप्नवदेव स्मृतिहेतुत्वादिसाधर्म्येण कल्पित एव ज्ञानत्वप्रमा-
त्वादिव्यवहारः । ननु—एवमविद्यावृत्त्यवच्छिन्नस्येश्वरज्ञानस्यापि न ज्ञानत्वं स्यात् । तथाच तस्य सर्वज्ञत्वग्राहतिः,
नच—ईश्वरज्ञानं नाविद्यावृत्त्यवच्छिन्नमिति—वाच्यम् ; तथा सति स्वरूपचैतन्यस्यासङ्गस्य निर्विषयस्य विषयभानत्वा-
नुपपत्तेः, “चित्तिगतजडशक्तेराद्य इष्टो विवर्तेश्रितिनिकटनिरासाल्लब्धदीर्घसिर्जडोऽपि । श्रुतिशिरसि निषण्णरीक्षणं कथ्यते
तन्नतु परमपदस्यापीक्षणं बुद्धिवृत्तिः” इत्यादिना जन्येक्षणस्यैव जगत्सर्जनहेतुत्वाभिधानाच्चेति—चेन्न ; सत्त्वप्रधानमाया-
वृत्त्यवच्छिन्नत्वादीश्वरज्ञानस्य ज्ञानत्वोपपत्तेः । रजतादिवृत्तिस्तु तमःप्रधानविद्यायां दोषजन्येत्यस्ति विशेषः । यद्वा—
सत्त्वप्रधानमायाप्रतिबिम्बः बिम्बो वा ईश्वरः स च स्वरूपज्ञानेनैव नित्येन सर्वं जगत्पश्यति । नचासङ्गत्वक्षतिः ;
अविद्यादशायां तथोच्यमानत्वात्, सर्वोपाधिविनिर्मुक्तचैतन्यस्यैवासङ्गत्वेनावस्थानाच्च । वस्तुतस्तु—ईश्वरज्ञानं न
प्रमा ; अज्ञानविरोधित्वाभावात्, नापि भ्रमः ; मिथ्यावस्तुनो मिथ्यात्वेनैव ग्रहणात्, तार्किकैरपि तस्या भ्रमप्रमाब-
हिर्भावाभ्युपगमात्, ज्ञानत्वं तु तस्याज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि स्मृत्यादिवदिच्छादिजनकत्वाद्गौणमेवेति । नच—तथाप्य-
ज्ञातत्वस्य पूर्वं भानाभावे कथं तदुपहितं प्रामाण्यं शक्यग्रहम् ? विशेषणज्ञानं विना तद्भानासंभवादिति—वाच्यम् ;
विशिष्टभानस्य विशेषणभानजन्यत्वानङ्गीकारात्, नच—अन्यत्र तथाऽङ्गीकारेऽपि अज्ञातत्वस्य सप्रतियोगित्वात् प्रति-
योगिज्ञानापेक्षास्तीति—वाच्यम् ; अज्ञातत्वस्य भावरूपत्वाङ्गीकारात् । नच—उत्पन्ने ज्ञानेऽज्ञातत्वं नष्टमिति कथं
ज्ञानग्राहकेण ग्राह्यमिति—वाच्यम् ; अज्ञातत्वविशिष्टस्याऽर्थस्य पूर्वं साक्षिणा गृहीतस्यैवाज्ञातत्वेनापि ग्रहणात् साक्षि-
ज्ञानमेव, तच्च विषयेण सह प्रत्यासत्यन्तरमन्तरेणैव ज्ञानाज्ञानयोर्ग्राहकम् । तथाचोपपादितमाचार्यैः पञ्चपा-
दिकाविवरणे—“ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन च सर्वं साक्षिचैतन्यवेद्यम्” इति । तथाच प्रामाण्यमपि साक्षिचेद्यमेव ; तस्यैव
ज्ञानग्राहकत्वात् । ननु तथापि ‘घटज्ञानं ममास्ती’ति शब्दात्परस्य तावद्धटज्ञानविषयकं ज्ञानमुत्पद्यते । नच तस्मिन्
ज्ञाने उक्तरूपं प्रामाण्यं भासते ; अज्ञातत्वस्य पदादनुपस्थितौ शब्दबोधे भानायोगात्, तथाच कथं नियमः ? इति—
चेन्न ; वस्तुतो यदज्ञातं तन्निश्चयात्मकत्वं प्रामाण्यमित्यर्थात् । तच्च तस्मिन् ज्ञाने भासत एव । अथवा—ज्ञानत्वम-
ज्ञानविरोधित्वघटितमिति ज्ञानत्वभाने भानमेवाज्ञानमिति न प्रामाण्यभानानुपपत्तिः ॥

ननु—एवमपि न स्वतःप्रामाण्यग्रहः, तथा सति अनभ्यासदशोत्पन्नज्ञानप्रामाण्यसंशयो न स्यात्, अस्ति च सः ।
जलज्ञानानन्तरं हि इदं जलं न वेति । नासौ ज्ञानप्रामाण्यसंशयं विनोपपद्यते, निश्चिते संशयानवकाशात् । नच—
अर्थसंशय एवान्यथानुपपद्यमानो ज्ञानप्रामाण्यसंशयं कल्पयति । निश्चिते ज्ञानविषयत्वादेवार्थे संदेहो नतु ज्ञान-
प्रामाण्यसंदेहात् । इश्यते हि ज्ञानविषयः कचिदस्ति कचिन्नास्तीति—वाच्यम् ; विशेषदर्शने सति प्रामाण्यसंशयं

विनाऽर्थसंशयानुपपत्तेः । अन्यथा संशयोच्छेदः कापि न स्यात् ; जलज्ञानं प्रमा नवेति संशयानुभवासिद्धत्वाच्च । नच—यथा 'श्वेतः शङ्ख' इत्यानुमानिके ज्ञाने स्थितेऽपि पीतारोपो भवति, तथाऽत्रापि विपरीतं ज्ञानं स्यादिति—वाच्यम् ; तत्र हि परोक्षं विशेषदर्शनं भ्रमस्वपरोक्ष इति न विरोधः ; अत्र तु तदुभयमपरोक्षमिति स्यादेव विरोधः । नच—तत्रापि शङ्खत्वरूपविशेषदर्शनमपरोक्षमिति—वाच्यम् ; आरोप्यकोटिविरुद्धकोटिविशेषस्य यद्दर्शनमपरोक्षं तदेव प्रतिबन्धकं यतः । तच्च पीताभावज्ञानमेव, तच्च तत्र नास्ति दोषात्, अत्रास्ति, अत्रोच्यते—दोषप्राबल्यान्निश्चितेऽप्यर्थे निश्चितेऽपि प्रामाण्ये संशयः । द्विविधो हि निश्चयः, दोषसहितो दोषाभावसहितश्च । तत्र प्रथमो न विपरीतज्ञानविरोधी । द्वितीयस्तु विरोधी । प्रकृते च अनभ्यास एव दोषः । स च भूयोभूयः प्रवृत्त्यभावः । क्वचित् कश्चिदोष इत्यभ्युपगमात् । नच—तस्मिन् सति कथं प्रामाण्यभानमिति—वाच्यम् ; फलबलेन तत्र तस्याऽदोषत्वात् । विपरीतज्ञानोत्पत्तावेव स दोषः । अतएव शास्त्रयुक्तिसंस्कारपाटववतां स्थूलादिपदार्थोपनयनान्तरं स्थूलादिभिन्न इति मानसे साक्षात्कारे स्थितेऽपि 'स्थूलोऽहं' अन्धोऽहम्' इत्यादिसाक्षात्कारो भ्रमरूपो जायमानः सर्ववादिसंमतः संगच्छते ; भ्रमसंस्काररूपस्य दोषस्य विद्यमानत्वात् । नच—उक्तसाक्षात्कारो न विरोधीति—वाच्यम् ; कथं न विरोधीत्युक्ते दोषसहितत्वादित्येवोत्तरम् । तथाच सिद्धं नः समीहितम् । अथ—योगजधर्मजन्यसाक्षात्कारस्यैव तद्विरोधित्वमिति—चेत्, तर्हि स एव दोषाभावसहित इति परिभावय । अन्यथा स्थिते दोषे पुनर्विपरीतज्ञानं स्यादेव । तथाऽभावत्वेन भासमानेऽपि तमसि नीलारोपो दृष्टः । नच—तत्रेदंत्वेनोपस्थिते तमसि नीलारोप इति—सांप्रतम् ; तथासति 'इदं नीलमि'ति बुद्ध्यपत्तेः ; प्रतीयते तु 'तमो नीलमि'ति । नच—तमस्वदर्शनं न विशेषदर्शनमपि तु नीलात्यन्ताभाववत्त्वेन साक्षात्कारः ; सच तत्र नास्ति, दोषादिति—वाच्यम् ; अभावे प्रतियोग्यतिरिक्तस्य विशेषस्याऽभावात्, आरोपस्य दोषप्राबल्यादेवोपपत्तेः ; अन्यथा आहार्यारोपे का गतिः ? नहि तत्रापि विशेषदर्शनमस्ति, तथाच आवश्यकदोषादेव विपरीतज्ञानोत्पत्तौ संभवन्त्यां कुत्रापि न विशेषादर्शनं हेतुः । तथाच न कार्यवैजात्यकल्पनमपि । तत्कल्पने वा आहार्यभ्रम इवाऽनाहार्यविशेषदर्शनकालीनभ्रमेऽपि तदस्तु, का नो हानिरिति ? किंच विशेषाणामननुगमात् तद्दर्शनाभावानामप्यननुगमेन कथं भ्रमविशेषं प्रति कारणत्वमिति विवेचनीयम् ? तस्माद्दोषाद्भ्रम इत्येव मन्तव्यम् । तथाच गृहीतेऽपि प्रामाण्ये दोषात्संशयोऽस्तु, दोषोच्छेदादेव तदुच्छेद इति को दोषः ? अथवा—योग्यव्यक्तिग्राहकेण जातिरिव दोषासहकृतेनैव ज्ञानग्राहकेण प्रामाण्यं गृह्यते न दोषसहकृतेनापि ; अन्यथा दोषसहकृतेन 'इदम्' इति शुक्तिव्यक्तिग्राहकेण शुक्तिवस्यापि ग्रहणे भ्रमोच्छेदप्रसङ्गात्, दोषासहकृतेन तु गृह्यत एवेति न काप्यनुपपत्तिः । परतः प्रामाण्यज्ञाने च अनवस्था । नच—न सर्वस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं ज्ञातव्यमिति नाऽनवस्थेति—वाच्यम् ; तथासति तत्सत्त्वे कदापि प्रमाणानुदयेऽसत्त्वापत्तौ तद्विषयपर्यन्तासत्त्वापत्तेः । तस्मात्सर्वं ज्ञानं ज्ञायते एव, तत्प्रामाण्यमपि गृह्यत एवेति नियमः ॥

एवमुत्पद्यतेऽपि प्रामाण्यं स्वतः ज्ञानसामग्रीमात्राद्गुणात् । नच—ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वेऽप्रमापि प्रमा स्यादिति—वाच्यम् ; तस्या ज्ञानसामग्रीजन्यत्वाभावात् । नच—एवं सति सा ज्ञानमपि न स्यादिति—वाच्यम् ; इष्टापत्तेः ; अविद्यावृत्तिर्हि सा दोषजन्या ज्ञानाभास इत्यभ्युपगमात्, ज्ञानस्य चान्तःकरणवृत्तित्वाभ्युपगमात् । न च तस्या जडत्वेन ज्ञानत्वानुपपत्तिः ; तदवच्छिन्नस्य तदप्रतिबिम्बितस्य तदाभासस्य वा चैतन्यस्य तथोच्यमानत्वात्, गुणाधीनत्वे च प्रमाया ईश्वरज्ञाने प्रामाण्यं न स्यात् ; तत्र गुणाभावात् । अथ—जन्यप्रमायां तदपेक्षा, तदपि न ; दोषसहितज्ञानसामग्र्यजन्यत्वेनाप्रमात्वशून्यस्यापि ज्ञानस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । ज्ञानमात्रे ज्ञानत्ववत् प्रमात्वस्याप्यनुगमात्सामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यता । अप्रमात्वस्य तु क्वचित्त्वादोषसहितसामग्रीविशेषप्रयोज्यतेति नाऽऽगन्तुकहेतुसापेक्षता प्रमायाः ; गुणत्वस्यैकस्याभावाच्च । नचावच्छेदकरूपमेकमन्तरेण कारणताग्रहः संभवति । अथ—प्रत्यक्षप्रमायां यथाऽर्थेन्द्रियसन्निकर्षो गुणः, अनुमितौ यथाऽर्थलिङ्गज्ञानं, शाब्दे यथार्थवाक्यार्थज्ञानं उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानं गुणोऽनुगत एव, प्रमामात्रे तु नास्त्येवानुगतो गुण इति—चेन्न ; जन्यप्रमात्वस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेः । नचेष्टापत्तिः ; अन्यत्रापि तथात्वापत्तेः । किंच इन्द्रियसन्निकर्षोऽपि नैकः ; तस्य षड्विधत्वाङ्गीकारात् । अनुमितौ यथार्थलिङ्गज्ञानं शाब्दे यथार्थवाक्यार्थज्ञानं, नच—इन्द्रियसन्निकर्षत्वमेकमनुगतमस्ति कारणतावच्छेदकमिति—वाच्यम् ; इन्द्रियविषयरूपसंबन्धिभेदेन तस्यापि नानात्वात् । नापि भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षो गुणः ; भूयस्त्वस्य त्रिचतुरादित्वेनाऽननुगमात् । तस्माच्च गुणजन्या प्रमा, किंतु ज्ञानसामग्रीमात्रजन्येति सिद्धमित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥

प्रकृतमनुसरामः—तदित्थमियता प्रबन्धेन सिद्धमेतत् न ज्ञेयत्वप्रमेयत्वयोरविनाभावः, किंतु सहचारमात्रम् ; शुक्तिरजतादौ व्यभिचारात् । सहचारमात्रमित्यप्यभ्युपगमवादः ; वस्तुतस्तु—ज्ञेयत्वमिथ्यात्वयोरेव व्याप्तिः । तथाच प्रपञ्चो मिथ्या इत्यत्वात् । यदित्थं तत्तथा, यथा शुक्तिरजतादि, तथाचेदम्, तस्मान्मिथ्या । नचाऽप्रयोजकता ; इह-इत्ययोः संबन्धानुपपत्तेरेव बाधकस्य विद्यमानत्वात् । स हि न संयोगः, अनभ्युपगमात्, नापि समवायः, अनभ्युपगमा-

देव । नापि स्वरूपम्; अतिप्रसङ्गात् । नहि घटज्ञानं घटश्चेति स्वरूपम्, अथ स्वरूपविशेषः, सच न; संबन्धान्तर-
मन्तरेण विशिष्टप्रत्ययस्याननुगतहेतुकत्वापत्तेः । विस्तरस्तु जगत्कवलनयुक्तिप्रस्तावेऽनुसंधेयः । एतेन स्वप्नकामिन्या-
दीनामपि मिथ्यात्वं सुप्रसिद्धम्, तथाच तदपि दृष्टान्तीकर्तुं शक्यत एव । नच—पूर्वानुभूतमेव कामिन्यादिकं तत्र
भासत इति—वाच्यम्; तथा सति तदित्युल्लेखापत्तेः । दोषात् तत्ताप्रमोष इति चेत्, न; संस्कारस्य स्वभावपरावृत्त्या-
पत्तेः । ननु—स्मृत्युपनीतं पित्रादिकं मनोजन्येऽपरोक्षज्ञाने भासतामिति नोक्तदोष इति—चेत्, तर्हि विशेष्यत्वेन
पित्रादीनां भानं न स्यात् । अस्ति च 'अयं पित्रादिरिति' प्रतीतिः, तस्मादनिर्वचनीय एव पित्रादिः स्वप्ने भासत
इत्यङ्गीकर्तव्यम् । तथाच तद्दृष्टान्तेन विश्वस्यापि मिथ्यात्वं साधयितुं शक्यत एव । ननु—यदेतन्मिथ्यात्वज्ञानमुत्पन्नं
तेन सह तस्य संबन्धोऽस्ति नवा, नचेत्, मिथ्यात्वासिद्धिः, अस्ति चेत्, पूर्वोक्तसंबन्धखण्डनं तत्रापि योजनीयमिति
स्वव्याघातकत्वाज्जात्युत्तरं तदिति—चेन्न; अनिर्वचनीयस्य संबन्धस्य स्वीकारात्, घटतज्ज्ञानयोरपि तथाऽङ्गीकारेऽ-
स्मन्मतप्रवेशः । तथा प्रपञ्चो मिथ्या व्यवहारविषयत्वात्, स्वप्नप्रपञ्चवत्, नच ब्रह्मण्यनैकान्तिकता; तस्य व्यवहार-
विषयत्वानङ्गीकारात्, आह चेदं श्रुतिः—“यतो वाचो निवर्तन्ते” इत्यादिः । “सकलवाङ्मनसातिगता चित्तिः” इति
च विद्वद्वचनम् । विस्तरस्तु पूर्वोक्त एवात्रानुसंधेयः । ननु—भेदग्राहकेणानुमानेन बाधितमेतत् । तथाहि—घटः,
पटप्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वात्, पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाववत्त्वात्, यथा पटः, नचायं पटत्वप्रतियोगि-
कात्यन्ताभाववान्, तस्मात् पटत्वप्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वात् इति व्यतिरेकी, घटः पटप्रतियोगिकान्यो-
न्याभाववान् पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाववत्त्वात् यदेवं तदेवं, यथा लोष्टं, तथाचायं, तस्मात्तथैत्यन्वयी चेति—चेत्,
न; प्रथमानुमाने साध्ये व्यर्थविशेषणत्वात्, पटप्रतियोगिकान्योन्याभाववानित्येतावति कृत एव साध्यसिद्धेः । अस्तु
तथेति चेत्, न; अविद्यादशायां विद्यमानेन भेदेनाऽर्थान्तरत्वात्, सिद्धसाधनाद्वा । पारमार्थिके च तत्र दृष्टान्ता-
सिद्धिः, “सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवती”ति श्रुत्याऽपहृतविषयत्वाच्च । पक्षहेतुदृष्टान्तानां च भेदादिसिद्धौ तत्त्वानुप-
पत्तिः । सर्वत्र चानुमानेन भेदसाधनेऽनवस्थाऽन्योन्याभावश्च न शक्यनिर्वचन इत्युक्तमधस्तात् । एतेन—घटपटौ,
अन्योन्यभेदवन्तौ, अन्योन्यधर्मात्यन्ताभाववत्त्वात्, यदित्थं तत्तथा, यथा विद्याऽविद्ये, तथा घटत्वं पटतादात्म्याव-
च्छिन्नप्रतियोगिकाभावसमानाधिकरणम्, पटत्वासमानाधिकरणधर्मत्वात्, यदेवं न भवति तदेवं न भवति, यथा पटत्वं,
न चैतन्न तथा, तस्मादुक्तसाध्यसमानाधिकरणमिति व्यतिरेकी, तथा घटवद्भूतत्वं, घटप्रतियोगिकाभावाधिकरणम्,
घटत्वप्रतियोगिकाभावाधिकरणत्वात्, पटवत्, पक्षविशेषणमहिम्ना च संसर्गाभावबाधेऽन्योन्याभावसिद्धिरिति—
अपास्तम्; उक्तदोषेणैवेति । अथ—अस्तु प्रपञ्चः सत्यो दृश्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा ब्रह्माद्वैतमिति—चेन्न; ब्रह्मा-
द्वैतस्य दृश्यत्वे व्यतिरेकव्याप्तिभूमित्वानुपपत्तेः, तव मते दृश्यत्वमस्तीति चेत्तर्हि मम मते सत्यत्वमप्यस्तीति न व्यति-
रेकदृष्टान्तः । अन्वयित्वमस्त्विति चेन्न; दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्, शुक्तिरजतादौ व्यभिचाराच्च । एतेनेदम-
पास्तम् प्रपञ्चः, पारमार्थिकः, अभिधेयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा ब्रह्म, तथा भेदज्ञानं सद्विषयकं, ज्ञानत्वात्, यदेवं
तदेवं, यथा ब्रह्मज्ञानम्—इति; स्वप्नादिप्रपञ्चेन तज्ज्ञानेन च व्यभिचारात् । साधितं च स्वप्नादिप्रपञ्चस्यासत्त्वम् ।
किंच स्वशिरश्छेदक्षित्यादिगिलनाकाशपातस्वर्वेश्यासंभोगसमुद्गतरणमहेन्द्रादिविजयसुमेरुशिखरसमारोहणैरावतादिया-
नगमनादिकमपि निद्राविद्रावितेन्द्रियगणः पुरुषः पश्यति, नच तदपि पारमार्थिकं, तज्ज्ञानं वा सद्विषयकमुरीकर्तुं
शक्यं ब्रह्मणापि; सर्वजनीनानुभवविरोधात् । तथाच सर्वजनीनानुभवविरोधिनस्तव किमपि वस्तु न सिध्येत् । नच—
तेऽपि पदार्थाः पूर्वमनुभूता एव भासन्त इति—युक्तिमत्; तेषां तज्जन्मन्यनुभवाभावेऽपि भ्रमस्यानुभवसिद्धत्वात् ।
नच जन्मान्तरीयस्तदनुभवः कल्पनीयः; कल्पनागौरवादेव । नच पुराणादितः तेषामाकलनम्; तदश्राविणोऽपि तादृश-
स्वप्नानुभवस्य विद्यमानत्वात् । यत्तु बालस्य स्ननपाने प्रवृत्त्युपपत्तेः जन्मान्तरीयज्ञानकल्पनम्, तदपि न; जीवनयोनि-
प्रवृत्तौ व्यभिचारात्, तत्रैव जीवनान्यथानुपपत्तेः स्ननपानप्रवृत्तावपि सत्त्वात् । चिकीर्षाधीनप्रवृत्तौ ज्ञानं हेतुरिति चेत्,
जीवनादृष्टासाधारणकारकप्रवृत्तिभिन्नप्रवृत्तेरेव चिकीर्षाधीनत्वेनेष्टापत्तेः । मीमांसकैश्च जन्मान्तरानुभूतस्मरणानभ्यु-
पगमात् संस्कारादृष्टाभ्यामेवाऽऽद्यप्रवृत्तिरित्यङ्गीकृतम् । आद्यप्रवृत्तौ ज्ञानापेक्षायामपि अविद्यादोषादेव व्याप्यज्ञानस्या-
निर्वचनीयस्योत्पत्तेर्न पूर्वानुभूतव्याप्तिस्मृतिकल्पनमिति । तस्माद्ब्रह्म आत्मैकत्वाविद्यानिद्रादिदोषवशाद्भजतुरगकामिन्या-
द्याकारेण विवर्तते । स एव च विवर्तः स्वप्नानुभवस्य गोचरः । तथाच विलक्षणकामिन्याद्यनुभवः संगच्छत इति ।
तथाचाह भगवान्वेदव्यासः—“मायामात्रं तु काल्पयैतानभिष्यक्तस्वरूपत्वादि”ति । किंच यदि प्रमेयत्वसंयोगि-
त्वादिना प्रपञ्चसाम्यं, रासभसाम्यं च ब्रह्मणस्त्वयोज्यते, तथा सति नास्ति कोऽपि तव विशेषः; शास्त्रोक्तब्रह्मानङ्गीकारा-
विशेषात् । ननु—त्वयापि रासभादिना ब्रह्माभेदः स्वीक्रियते, तथाच सादृश्यस्वीकारापेक्षयाऽभेदस्वीकारस्याधिकदोषा-
वहत्वमिति—चेत्, न; अध्यस्तस्याधिष्ठानात्मकत्वस्वीकारात् । तथाचाध्यस्तबाधेनाधिष्ठानमात्रब्रह्मपरिशेषे क दोषाव-
काशः ? यथाचाध्यस्तसर्पादिदोषगुणै रलुर्न लिप्यते, तथाऽध्यस्तप्रपञ्चदोषगुणाभ्यामपि न ब्रह्म लिप्यते; तस्यासङ्गैक-

स्वभावत्वात् । आह च—“न लिप्यते लोकदुःखेन बाधः” इति । तथाच श्रुत्यर्थानभिज्ञो भवान् ब्रह्मद्वैतैव केवलम् । किंच ब्रह्मप्रपञ्चयोर्यदि सत्त्वं तुल्यमभिमतं स्यात्, तदा प्रपञ्चतिरस्कारेण ब्रह्मणो भूयोभूयः प्रतिपादनमुपनिषत्सु न स्यात्, अस्ति तु तत् “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” “मनसैवानुद्भूतं नेह नानास्ति किंचन” “सत्यस्य सत्यम्” “अतोऽन्यदातम्” “द्वितीयाद्वै भयं भवती”त्यादौ श्रुतौ । स्मृतिरपि “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रजे”त्यादिका । अथ—ब्रह्मसाक्षात्कारः साक्षादेव दुःखोच्छित्तिरूपपरमपुरुषार्थोपयोगी, नतु प्रपञ्चसाक्षात्कार इति बोधयितुं तथा प्रतिपादनमिति—चेत्, हन्त तर्हि तवैव रीत्या ब्रह्मसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थहेतुत्वेन ब्रह्मवोपादेयमित्यागतम् । तथाचेतरस्य प्रपञ्चस्य स्वीकारो वृथैव; सत्यत्वात् स्वीकार इति—चेत्, भ्रान्तोऽसि नितराम्; यतो निष्प्रयोजनमपि सत्यं स्वीकरोषि । यथार्थदर्शी तु वैदिको निष्प्रयोजनं दुःखैकहेतुं प्रपञ्चं मिथ्या मन्यते । तस्माद्ब्रह्मैव सत्, प्रपञ्चस्तु नासीदस्ति भविष्यतीति युक्तमुत्पश्यामः । किंच सकलमुनिवरमूर्धन्यभगवद्देव्यासप्रणीतसूत्रकलापपौर्वापर्यालोचनया ब्रह्माद्वैतमेव प्रतीयते, नान्यत्, तथाच यदि श्रुतेर्नाभेदे तात्पर्यं स्यात्, कथं तथा वर्णयेत्? अथ—यदि भेदे श्रुतेस्तात्पर्यं न स्यात् कथमक्षपादकणभुक्प्रभृतिभिस्तथाऽभिवर्णितम्? कथं वा सुरगुरुणा चार्वाकशास्त्रमभाणि? नहि वेदव्यासात् ते निकृष्टप्रज्ञा इति शक्यं संभावयितुम् । यदिच ते पाषण्डान् व्यामोहयितुं तथा कृतवन्त इति मन्यसे तथा प्रकृतेऽपि तद्वक्तुं शक्यत एवेति—चेत्, न; शिष्टपरिग्रहापरिग्रहाभ्यां विशेषात्, वेदस्यापि प्रामाण्ये शिष्टपरिग्रह एव हेतुः । तथाच बृहस्पतिप्रणीतस्याप्रामाण्यमेव; शिष्टापरिग्रहात्, गौतमादिप्रणीतस्य यद्यप्यधुनातनशिष्टाभासपरिग्रहोऽस्ति; तथापि न पूर्वेषामस्ति; विगीतत्वश्रवणात् । तथाच श्रूयते मोक्षधर्म—“आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकम् । तस्यैवं फलनिर्वृतिः शृगालत्वं वने मम ।” मनुरप्याह—“हेतुकाश्च बकवृत्तींश्च बाह्यान्नेनापि नार्चयेदि”ति । व्यासोऽप्याह—“एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः” इति । शिष्टाश्च मनुप्रोक्ताः—“धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः” इति । यनु—“यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर” इति, तत् मीमांसाख्यजैमिनितर्कपरम्; तस्यैव “अथातो धर्मजिज्ञासे”ति धर्ममधिकृत्य प्रवृत्तेः । यनु—“पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशे”ति याज्ञवल्क्यवचनं, तदपि पदार्थव्युत्पादनद्वारा विद्यान्तरोपकारकत्वेनोपयुज्यते । न्यायशास्त्रमप्येतत्परमेव, नतु तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वपरम्; “नैषा तर्केण मतिरापनेया” इति श्रुतिविरोधात्, भेदप्रतिपादकानां च तर्काणां श्रुतिविरोधेनाऽऽभासत्वात् । तस्मादन्यायशास्त्राध्ययनं न निषिध्यते, किं तर्हि? तत्परत्वम् “अनुरक्तो निरर्थकामि”ति वचनात् । बादरायणीयं तु तत्र सर्वैर्मुनिभिस्तात्पर्यतः संगृहीतमेव, तदेव मोक्षार्थभिरध्येतव्यमिति । नच ते भ्रान्ताः; श्रुतिसंवादात्परमशिष्टत्वेन सर्वैः परिगृहीतत्वाच्च । किंच “कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् । को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् । द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी जनार्दन” इत्यादिवचनशतैरीश्वर एव व्यास इत्यवगम्यते । तथाच न तस्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादयः संभाव्यन्ते । तद्वचनादाज्ञायप्रामाण्यं तन्मे प्रमाणं शिव इति च तवैवाङ्गीकारात्तदुक्तौ विश्वासोऽन्येषां च भ्रमादयः संभाविता इति न तदुक्तौ समाश्वासः । तदुक्तं—“भ्रान्तेः पुरुषधर्मेत्वात्” इति । ननु—द्वैतरागिणो मम हृदि शतशस्त्वयोच्यमानमपि ब्रह्माद्वैतं नादरमादधाति; पूर्वोक्तैरनुमानैर्भेदस्य सिद्धत्वादिति—चेत्, न; श्रुत्यादिभिर्भेदस्य बाधितत्वात् । अथ—आगमबाधो ह्यागमजन्या साध्यविपरीतप्रतीतिः, सा च सत्या न वा, आद्ये कथं बाधः? तथैव सत्यया द्वैतसिद्धेरद्वैतप्रमाऽभावात्; अन्त्ये सुतरां न बाधः; असत्येन ज्ञानेन बाधायोगादिति—चेन्न; अद्वैतबुद्धेरसत्त्वेऽपि तद्विषयसत्यत्वेन बाधकत्वोपपत्तेः । नहि ज्ञानस्य स्वरूपसत्त्वं बाधकत्वे प्रयोजकम्; भ्रमस्यापि बाधकत्वप्रसङ्गात्, किं तर्हि? विषयसत्यत्वम्, तच्च प्रकृते विद्यत इति । तथापि पूर्वानुमानेऽन्यो दोषः क इति चेत्, साध्याविशिष्टतैव, भेदस्य क्वाप्यसिद्धेश्च । नच—व्यावहारिको भेदः सिद्ध इति—वाच्यम्; तथा सति तेनैव सिद्धसाधनतापत्तेः । नच—आभासव्युदासेन स एव पारमार्थिकः सेत्स्यतीति—वाच्यम्, अनुमितेर्व्यावहारिकभेदविषयत्वेनाप्युपपत्तौ कालत्रयाबाध्यत्वलक्षणस्य पारमार्थिकत्वस्याविषयीकरणात् । नच—भेदं पक्षीकृत्य पारमार्थिकत्वं साध्यम्, तथाच न सिद्धसाधनतेति—वाच्यम्; “नेह नानास्ति किंचन” इति श्रुत्या बाधितत्वात् । पारमार्थिकत्वं च यदि प्रमाविषयकत्वम्, तन्न; अप्रयोजकत्वात्, प्रातीतिकभेदेनैव व्यवहारापत्तेः । अन्यच्च पूर्वं दूषितमेव । किंच वेद्यत्वादीनां हेतूनां पारमार्थिकत्वाभावव्याप्यत्वेन विरुद्धश्च । नच—ब्रह्मण्यपि वेद्यत्वमस्तीति—वाच्यम्; तस्य वेद्यत्वानङ्गीकारात् । ननु—“ब्रह्मणि वेद्यत्वं नास्ती”त्यत्र ब्रह्मप्रदेन ब्रह्मोपस्थाप्यते नवा । आद्ये त्वद्वाक्येनैव वेद्यत्वम्, अन्त्ये न ब्रह्मणि वेद्यत्वनिषेधस्त्वया कर्तुं शक्यः; वेद्यत्वनिषेधकेन वाक्येन ब्रह्मानुपस्थापनादिति । ब्रह्मशब्देन यद्यसदभिमतं त्रिविधपरिच्छेदशून्यं वस्तु स्वीकृत्य वेद्यत्वमापाद्यते, तदा तवैव व्याघातः, अथ ज्ञानाद्यधिकरणं जडमात्मानमङ्गीकृत्य, तथा सति तत्र मिथ्यात्वमप्यस्तीति न दोषः । किंच ब्रह्मणि वेद्यत्वस्वीकारे श्रुतिविरोधश्च । तथाहि श्रूयते—“अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि” इत्यादि । तदा-

कारान्तःकरणवृत्त्युत्पादमात्रेण च वेदान्तानां तद्वोधकत्वोपचारः । ब्रह्मणि वेद्यत्वं नास्तीत्यस्य अब्रह्मण्येव वेद्यत्व-
मित्यर्थः । मुख्याया असंभवे जघन्याया एव वृत्तेर्न्याय्यत्वात् । उपपादितं चैतदद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपादने 'यतो-
ब्रह्मणि वेद्यत्वं गीर्वाणैरपि दुर्भणम् । श्रुतिबाधभयात्तस्मान्मिथ्या दृश्यं नियोगतः ॥' तथाच प्रयोगः—प्रपञ्चो मिथ्या-
वेद्यत्वात्, श्रुक्तिरजततादात्म्यवत्, भेदो, न पारमार्थिकः, व्यावहारिकत्वात्, तरङ्गप्रसङ्गानुभूतचन्द्रभेदवत् । नच-
ब्रह्मणि व्यभिचारः, तत्र हेतोरप्यभावात्, सिद्धान्तस्य च प्रसाधितत्वाच्च तदसिद्धिः । साध्यं च मिथ्यात्वं निरुक्तम-
द्वैतसिद्धौ भ्रममात्रविषयत्वं प्रमित्यविषयत्वं वा । नचासिद्धिः, भ्रमविषयस्यैव तादृशस्य च सिद्धत्वात्, सदसन्ध्याम-
निर्वचनीयत्वं वा । नचायं पुरुषदोषः, वस्तुदोषत्वात् । तथाहि—यदि सत्स्यात् न व्यभिचरेत्, यथा चिदात्मा,
यदिचासत् स्यान्नापरोक्षप्रतीतिपथमवतरेत्, तस्मादेतद्व्यविलक्षणत्वसिद्धिः प्रपञ्चस्य । किंच सत्त्वासत्त्वसदसत्त्वपक्षेषु
दूषणदर्शनादनिर्वचनीयत्वमेवावधारयामः । ननु—अनिर्वचनीयत्वेऽपि दोषं पश्यसि नवा । आद्ये तदपि कथम-
वधारितवानसि ? द्वितीये त्वनिर्वचनीयत्वेनैव वास्तवेन धर्मेण व्यवस्थितः प्रपञ्चो ब्रह्मभिन्नतया व्यवस्थास्त्वं
इत्यद्वैतपक्षाय विंतीर्णो जलाञ्जलिः । नच—अनिर्वचनीयत्वमप्यपारमार्थिकत्वमेवेति—वाच्यम्; तथासति तदभिमतं
निर्वचनीयत्वमेवाङ्गीकृतं स्यात्, तथाच न विवादः । नच—न निर्वचनीयत्वं नाप्यनिर्वचनीयत्वं किं तर्हि ? उभया-
भाववत्त्वमिति—वाच्यम्; तथा सति तेनैव रूपेण प्रपञ्चो व्यवस्थित इत्युक्तं स्यात् । तथाच दोषस्तदवस्थः । नच—
विरोधात्तदपि नाङ्गीकुर्म इति—वाच्यम्; तथा सति प्रकारान्तरेणैव व्यवस्थित इति सर्वथा ब्रह्मप्रपञ्चयोः सिद्धौ भेद-
इति, अत्रोच्यते—न सत्त्वं नाप्यसत्त्वं नाप्यनिर्वचनीयत्वं नोभयाभाववत्त्वं नान्यतरत्वम्; सर्वेषां पक्षाणां दुष्टत्वात् ।
दुष्टत्वमेव तर्हि पारमार्थिकमिति चेन्न; "नेह नानास्ति किंचन" इति दुष्टत्वस्यापि निषेधात्, अदुष्टत्वमेव तर्हि पार-
मार्थिकमिति चेत्, न; तस्यापि निषेधादेव । निषेधस्तर्हि पारमार्थिक इति चेत्, ततः किं ? तेनैवाद्वैतापत्तिरिति चेन्न;
भावाद्वैतस्वीकारात् । एतेन—मिथ्यात्वं धर्मो यदि प्रपञ्चनिष्ठोऽभिमतस्तदा प्रपञ्चस्वीकारापत्तिरिति—अपास्तम्;
धर्मधर्मिभावानभ्युपगमादेव । किंच प्रपञ्चसत्यत्वसाधकानुमाने विपक्षबाधकतर्काभावश्च । नच—लौकिकवैदिक-
व्यवहारविप्लवरूपो बाधकस्तर्कोऽस्तीति—वाच्यम्; तस्य मिथ्यारूपस्य मिथ्यावस्तुभिरेवोपपत्तेः । नहि जगन्मिथ्येति-
वादिमते सत्यं साध्यं किमप्यस्ति । आत्मसाध्यं जगदिति तव सिद्धान्त इति चेन्न; विद्यामूलत्वाभ्युपगमात् । ब्रह्मकार-
णत्ववादस्तु तदधिष्ठानत्वमूलः । ननु—ब्रह्माद्वैते किमपि प्रमाणमस्ति नवा, न चेत्, शशविषाणकल्पता, अस्ति चेत्,
श्रुतिरन्यद्वा, नान्त्योऽनभ्युपगमात्, न प्रथमः; तस्य पारमार्थिकत्वापत्तौ अद्वैतहानेः, अपारमार्थिकत्वे च कथं ततः
पारमार्थिकं ज्ञानं स्यादिति चेन्न; अपारमार्थिकादपि स्वप्नानुभूतकामिनीसंसर्गाच्चरमधातुविसर्गदर्शनात् । नहि स्वप्नानु-
भूतकामिनीसंसर्गस्य पारमार्थिकत्वमनुभवानुसारिणा वक्तुं शक्यम् । ननु—तदानीं कामिनीतसंसर्गयोरभावेऽपि
तज्ज्ञानाददृष्टसंस्कारादिसहकृतादुत्पाद्यमानश्रमधातुविसर्गः पारमार्थिकहेतुत एवेति—चेत्, न; वैषयिकसुखे
तज्ज्ञानवत् तस्यापि हेतुत्वात्, अन्यथा जागरावस्थायामपि विषयज्ञानमेव हेतुरिति विषयाङ्गीकारो व्यर्थ एवेति जितं
विज्ञानवादिभिः । किंच अदृष्टस्य दृष्टोपहारकत्वेनैव जनकता, तथाच जागरे विषयमुपहृत्यैव सुखोत्पादकता, तथा
स्वप्नेऽपीति सिद्धौ मायामयो विषयः । किंच न ज्ञानमात्रं सुखजनकम्, किं तर्हि ? कामिनीज्ञानम् । तथाच विशि-
ष्टस्य जनकत्वे विशेषणमपि जनकमेव । तदसत्कथं जनकमिति चेत्, भ्रान्तोऽसि; मायामयं स्वीकृत्य यतः कृती न
भवसि । किंच कामिनीज्ञानमपि मिथ्या; मिथ्यार्थविषयत्वात्, नह्यन्यन्मिथ्यात्वं ज्ञानस्य वक्तुं शक्यत इत्युक्तम-
धस्तात् । तस्मात् स्वयमसत्याऽपि श्रुतिरद्वैतज्ञानं सत्यविषयकं सत्यमुत्पादयतीति सिद्धम् । ननु—एवं सत्यं चेत्
ज्ञानं तेनैव द्वैतापत्तिरिति चेत्, न; तस्य स्वयमसत्यत्वात् । तथासति कथं प्रमेति चेत्, भ्रान्तोऽसि नितराम् ।
ननु—विद्याविद्ययोः पारमार्थिकत्वापारमार्थिकत्वयोर्भेदे सिद्धेऽसिद्धोऽभेदः, अभेदे च बाध्यबाधकत्वानुपपत्तिः,
प्रपञ्चब्रह्मविभागानुपपत्तिश्चेति—चेन्न; अविद्यादशायां विद्यमानभेदाङ्गीकारात् । परमार्थतस्तु ब्रह्माद्वैतमेव । ननु—
प्रपञ्चांशे यथातथाऽस्तु जीवेश्वरयोस्तु यदि न भेदस्तर्हि विदानन्दधनस्य परमात्मनोऽदुःखमयत्वाशरीरत्वसर्वज्ञत्वादि-
विरोध इति—चेन्न; उपाधिभेदाङ्गीकारात् । उपाधिभेदश्चापारमार्थिक इति न द्वैतापत्तिः । ननु—एवं क्षेत्रज्ञेश्वरयो-
रत्यन्ताभेद उपाधिभेदस्य च मिथ्यात्वे तत्कृतदुःखादिसंबन्धस्यापि मिथ्यात्वात्किन्निरासार्थं श्रवणमननादिकं स्यात् ? नहि
शशविषाणनिरासार्थं किमपि मृग्यते । तथाच तदनुष्ठानलक्षणक्रियाव्याघात इति—चेन्न; अविद्यानिवृत्तेः प्रयोजन-
त्वात् । तदुक्तं कात्यायनेन व्याकरणवाक्यकारेण—“सिद्धं तु निवर्तकत्वात्” इति । ननु—अविद्या यदि सती
तदा तस्या निवृत्त्यनुपपत्तिः, अथासती तदा नित्यनिवृत्तैवेति यत्नानर्थक्यमिति—चेत्, न; सदसद्विलक्षणत्वाभ्युपग-
मात् । तथाप्यनादिभावस्य निवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेन्न; भ्रमसंस्कारेण व्यभिचारात् । व्यक्त्यनादित्वं तत्र नास्तीति चेन्न;
प्रागभावेन व्यभिचारात् । तत्र भावत्वं नास्तीति चेत्, न; स्वरूपसद्भावत्वस्य तत्रापि विद्यमानत्वात् । सत्तायोगित्वं
भावत्वं तत्र नास्तीति चेत्, अविद्यायामपि तन्नादस्यैव, तस्माद्यत्किंचिदेतत् । किंच अनादेर्भावस्येवानादेर्भावस्या-

प्यत्यन्ताभावादेर्विनाशादर्शनेऽपि विरोधिसामग्रीसन्निपातादनादेः प्रागभावस्य यथा विनाशोऽङ्गीकृतः; अन्यथा कारण-
व्यापारवैयर्थ्यापत्तेः, एवमज्ञानेऽपि दीयतां दृष्टिः, अन्यथा प्रमाणव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः । तस्मादनाद्यभावत्ववदनादि-
भावत्वमपि न प्रयोजकम् । किंतु विरोधिसामग्रीसमवहितत्वमेव । तथाप्यविद्यानिवृत्त्यैव द्वैतापत्तिरिति चेन्न; अधिष्ठान-
ब्रह्माभ्युपगमात् ज्ञात एवात्माऽविद्यानिवृत्तिरित्युच्यते, अतोऽज्ञानदशायां न तथा व्यवहारः । ननु—ब्रह्मसाक्षात्कार-
स्याविद्यानिवर्तकस्य ब्रह्माभिन्नत्वे सर्वदाऽविद्यानिवृत्त्यापत्तिः, यागादिसाध्यत्वानुपपत्तिश्च, ब्रह्मभिन्नत्वे च सिद्धो भेद
इति—चेन्न; अभिन्नत्वेऽपि वेदान्तवाक्योत्थान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तस्यैवाऽविद्यानिवर्तकत्वात् । तस्याश्च वृत्तेः साध्यत्वेन
साक्षात्कारस्यापि साध्यत्वोपचारः । वृत्तेश्च ब्रह्मणः वस्तुतोऽभेद एव, भेदस्त्वविद्याविजृम्भित इति । एतेनैवमपा-
स्तम्—वेदान्तिनां मते मुमुक्षाप्यसती, प्रवृत्तिरप्यसती, मोक्षज्ञानमसत्, विद्याप्यसती, योगाभ्यासोऽप्यसत्, वेदो-
ऽप्यसन्नेव, स्वर्गापूर्वादिकं तु नास्त्येवेति साधु तीर्थकरत्वाभिमान इति; सर्वेषामसद्विलक्षणत्वाङ्गीकारात्; यावदविद्यं
सत्त्वाभ्युपगमाच्च । ननु—सर्वं ब्रह्माभिन्नमिति ते मतम् । तथाच जानीहि मम हृदि किमस्ति ? तव मम चाभेदा-
दिति—चेत्, जानीयां यद्यवच्छेदभेदो न स्यात्, तत्किमवच्छेदभेदमङ्गीकरोषि । तथासत्यवच्छेद्यभेदे कः प्रद्वेष इति
चेत्, न; उभयोरपि मिथ्याभूतयोरेवाऽङ्गीकारात्, कथं तर्हि मम हृदयं न जानासीति चेत्, अविद्याकवलनाच्च
जानामि । अविद्यां ब्रह्मभिन्नां मन्यमानः कथं न लज्जस इति चेत्, न; पारमार्थिकभेदानभ्युपगमात् । तस्मात्—

“एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् । अस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु ॥”

ननु—तथापि शरीरादीनां वस्तुतो ब्रह्माभिन्नत्वात्तज्ज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमित्यनायाससिद्धं ब्रह्मज्ञानम्; नच ततो
मुक्तिरस्ति; संसारस्यानुभवसिद्धत्वात्, तथाच शरीरादिभिन्नत्वेनैव ब्रह्मसाक्षात्कारः कारणं मुक्तिं प्रतीतिं त्यजाद्वैतज्ञानं
जातमपि वेदवाक्यादिति—चेन्न; शरीरादीनामध्यस्तानां यदधिष्ठानं रजतादेरिव शुक्त्यादि, तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वा-
भ्युपगमात् । तज्ज्ञानं चाधुना नास्तीति युक्तः संसारोपलम्भः । तस्मात्—

“धीधना बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ । क्षेमं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥” इति ।

तदेवं सिद्धेऽद्वैते आत्मनानात्वव्युत्पादनं भ्रममूलमिति ॥

ननु—अस्त्यत्र प्रमाणम् । तथाहि—आत्मत्वं, नानावृत्ति जातित्वात्, घटत्ववत्, इति—चेन्न; अन्योन्याश्रयात् ।
सिद्धे हि नानावृत्तित्वे जातित्वसिद्धिस्तेन च तत्सिद्धिरिति । तथाचांशतः साध्यसमो हेतुः । जातिपदस्य च धर्ममात्र-
परत्वे एतद्वत्त्वादौ व्यभिचारः । आत्मत्वम्, न नानावृत्ति, विभुमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, आकाशत्ववदिति प्रतिरोधश्च ।
किंच आत्मा, न द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान्, विभुत्वादाकाशवत् । द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वे च विभुत्वभङ्गो बाधकः ।
नच—तथा सति बन्धमोक्षसुखित्वदुःखित्वादिव्यवस्थानुपपत्तिः; तत्तदन्तःकरणावच्छेदेन तत्तदविद्यावच्छेदेन वा
तदुपपत्तेः । तस्मान्मूर्खप्रलपितमेतत् ॥

अथ—अस्त्वनुमानान्तरं—देवदत्तात्मा, चैत्रवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगी चैत्रवृत्त्यनन्ताभावप्रतियोगिधर्माधिकर-
णत्वात्, यदेवं तदेवं, यथा घटः, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा चैत्रात्मेति व्यतिरेकी एवेति—चेन्न; अभेदवादिनं प्रति हेत्व-
सिद्धेः, व्यावहारिकभेदेन सिद्धसाधनाच्च । पारमार्थिकेतिच भेदविशेषणे साध्याप्रसिद्धिः, व्यर्थविशेषणत्वं च ।
एतेन—ब्रह्म चैत्रमैत्रादिभिन्नम् । अनित्यज्ञानानधिकरणत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटः, अनित्यज्ञानाधिकरणं
चेत् । तस्माच्चैत्रादिभिन्नम् । अथ अहं ब्रह्मप्रतियोगिकपारमार्थिकभेदवान्, सुखात्यन्ताभावविरोधिधर्मानधिकरण-
त्वात्, नित्यज्ञानानधिकरणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा ब्रह्मेति—निरस्तम्; औपाधिकभेदेनाऽर्थान्तरत्वात्, अप्रयोज-
कत्वात्, ब्रह्मशब्देन त्रिविधपरिच्छेदशून्यवस्तुनिर्देशे बाधात्, तदितरस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनत्वाच्च । द्वितीयानुमाने
च हेत्वसिद्धिः; इच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वानङ्गीकारात्, “तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्मास्मि” “अयमात्मा ब्रह्मे”त्यादिश्रुतिभि-
र्बाधश्च सर्वत्रानुमाने द्रष्टव्यः । ननु—ज्ञानं तावदात्मनो गुणो वक्तव्यः । तथाच तत्सामानाधिकरण्यादिच्छादीनामपि
तद्गुणत्वनिश्चय इति—चेत्, न; ज्ञानब्रह्मणोरभेदश्रवणात् । तथाहि—“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “को ह्येवान्यात्कः
प्राण्याद्यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्” “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति” “विज्ञानघन एव” “आनन्दाद्येव
खल्विमानि भूतानि जायन्ते” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्” “भारूपः सत्यसंकल्पः” इत्याद्याः
श्रुतयः सहस्रशो ज्ञानसुखाभिन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति तात्पर्यतः । ताश्च तत्पराः सत्यो न वाक्या ब्रह्मणाप्यन्यपरीकर्तुम् ॥

ननु—यदि ब्रह्माभिन्नं सर्वं, तदाऽनित्यज्ञानस्वरूपत्वमनित्यसुखस्वरूपत्वं च ब्रह्मणः किमिति नाभ्युपैषि ?
अथ—“विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे”ति श्रुत्या नित्यज्ञानानन्दात्मकतामात्रं प्रतिपाद्यते । तथाच तावन्मात्रं स्वीक्रियते नातो-
ऽधिकमिति—चेन्न; “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” “इदं सर्वं यदयमात्मे”त्यादिश्रुत्या दुःखात्मकताया अपि प्रतिपादनात् ।

तथाचैकरूपस्वीकारे पररूपत्वपरिहारे च रुचिस्ते प्रमाणम् । तथाच मुक्तिदशायां भयस्वरूपसद्भावान्मुक्तस्य सुखानुभववत् दुःखानुभवोऽपि स्यादिति सुखरागिणस्तवान्तदुःखाविधातः । नच “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्” इति श्रुत्याऽऽनन्दस्यैव मोक्षावस्थायां सत्त्वप्रतिपादनात्, तद्वानौ ब्रह्मस्वरूपस्यापि हान्यापत्तिः । तस्माज्ज्ञेद एव ब्रह्मणः सुखादेश्वेति युक्तमुत्पश्यामः । कथं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति ? शृणु, विशिष्टं ज्ञानं यस्येति विज्ञानं ज्ञानवदित्यर्थः । ज्ञानस्य च विशेषो नित्यत्वं सर्वविषयता च । आनन्दश्च सुखं तद्यस्यास्ति तदानन्दं, मत्वर्थीयात्प्रत्ययेन । तथाच नपुंसकलिङ्गता संगच्छते । “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं” इति श्रुतिस्तु आनन्दं सुखं ब्रह्मणोऽरूपं अस्वरूपमिति । कथमेवमित्यत आह—तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्; चो हेतौ यतस्तत्सुखरूपत्वं मोक्षे प्रतिष्ठितम् । यदि ब्रह्म सुखस्वरूपं स्यात् तदा मोक्षदशायां अपि सुखस्वाभाव्यं तस्य स्यात् । तत्तु नास्ति, प्रमाणबाधात् । तथाहि—यद्ब्रह्मरूपं सुखं तच्चेन्नित्यं स्यादिदानीमपि साक्षात्क्रियेत । अनित्यं चेद्ब्रह्मणो नित्यसुखात्मकतया कथमवस्थानं स्यादिति ? अत्रोच्यते—

“आनन्दाच्चैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति” “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्” “को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्” “सत्यं ज्ञानमनन्तं” “एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति” “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” इत्यादिश्रुतिशतैः सुखज्ञानसत्तात्मकं ब्रह्मेति प्रतीयते । नच तान्यन्यपराणि; “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्” इत्यादिनिर्णयवाक्यविरोधात् । न चैवं सति “इदं सर्वं यदयमात्मे” इत्यादिवाक्यबलादनित्यदुःखात्मकतापत्तिः; प्रपञ्चस्य बाधे श्रुतेस्तात्पर्यात्, यथाहि ‘सर्पोऽयं रज्जुरेव’ इत्युक्ते रज्जुमात्रावशेषः, सर्पस्य तु बाध एव, तथा सर्वाधिष्ठानभूतेन ब्रह्मणा प्रपञ्चस्याभेदे प्रतिपादिते ब्रह्ममात्रावशेषः, प्रपञ्चस्य तु बाधः । अयमेव नियमः कथमिति चेत्, श्रुतित एव । “तत्सत्यं स आत्मा” “सत्यस्य सत्यम्” “अस्तीत्येवोपलब्धव्यः” “असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्देव सन्तमेन ततो विदुः” इत्यादिश्रुतिशतैः सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वप्रतिपादनात् । प्रपञ्चस्य “नेति नेति” “नेह नानास्ति किञ्चन” “अतोऽन्यदार्तम्” “सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति” इत्यादिवाक्यशतैरभावबोधनात् । तथाच यदि श्रुतिप्रामाण्यं स्वीकरोमि, तर्ह्युक्तव्यवस्थामङ्गीकुरु नचेद्द्वौद्धवदेव खण्डनयुक्तिभिरेव निरसनीयोऽसि । किञ्च “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्” इति श्रुतिबलादपि मोक्षावस्थायां सुखमात्रावशेषः, दुःखादीनां तु बाध एव । नच—दुःखादीनां ब्रह्मरूपत्वेन बाधो न युक्त इति—वाच्यम्; तेषां मिथ्यात्वेन ब्रह्मरूपत्वासिद्धेः । नह्यनन्दरूपस्य दुःखरूपता संभवति, विरोधात् । नहि भवति यदेवोष्णं तदेव शीतमिति । यच्चोक्तमानन्दं ब्रह्मणो रूपमिति, अश्लेषे इति, तदपि “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्” इति श्रुतिविरोधादपास्तम् । अश्लेषे प्रमाणाभावश्च । नचाधुनापि ब्रह्मरूपस्य सुखस्य प्रतीत्यापत्तिः; इष्टापत्तेः; नहि स्वप्रकाशमानन्दात्मकं ब्रह्मेदानीं नास्ति, कथं तर्हि नाभिलाषः सर्वेषाम् ? कथं वा परमं सुखमाप्तवतां क्षुब्धे भोजनादिसुखे जनानां प्रवृत्तिरिति चेत्, व्यञ्जकाभावादिति वदामः । अविद्यानिवृत्तिर्हि व्यञ्जिका, सा चेदानीं नास्ति, तत्त्वज्ञानाभावात् । क्षुब्धतरे सुखे प्रवृत्तिश्च मोहादेव । मोहनिवृत्तौ तु प्रवृत्त्यभाव इष्ट एव । यच्चोक्तं दुःखादेरपि ब्रह्मरूपत्वेन तद्वानौ ब्रह्महानिरिति, तदतिमन्दम्; दुःखादीनां जडत्वेन मिथ्यात्वात् । ऐक्यश्रुतिस्त्वधिष्ठानसत्त्वव्यतिरेकेणाध्यस्तस्य सत्त्वं नास्तीति तावन्मात्रपरा । यच्चोक्तं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति विशिष्टं ज्ञानं यस्येति बहुव्रीहिरित्यादि, तदपि मूर्खप्रलपितम्; विस्पष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति हि लोकप्रसिद्धम् । तस्यागो चोपेक्षणीयता, कर्मधारये च संभवति बहुव्रीहेरनादरणीयत्वात्, “एतया निषादस्थपतिं याजयेत्” इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषानादरेण तथैव व्यवस्थापितत्वात् । तथाऽऽनन्दपदेऽपि मत्वर्थीयात्प्रत्ययकल्पनमनुचितम् । नच नपुंसकलिङ्गतानुपपत्तिः; वेदे बहुलिङ्गव्यत्ययस्योपलम्भात् । ननु—विज्ञानानन्दयोरनित्यत्वाद्ब्रह्मणश्च नित्यत्वादभेदस्य बाधितत्वादगत्या बहुव्रीहिर्मत्वर्थलक्षणा चाश्रीयत इति—चेत्, न; तत्पदार्थेन समस्तभेदबाधने बाधाभावात् । असदादीनां हि ज्ञानसुखयोरनित्यत्वमनुभूयते प्रत्यक्षेण, नतु भगवतोऽपि, तथाच तत्र बाधाभावादभेदबोधो निस्तरङ्गः । सुखमनित्यमेवेति व्याप्तिरस्तीति चेन्न; व्याप्तेरसदादिसुखविषयत्वात् । अन्यथा ज्ञानमनित्यमेवेत्यतिव्याप्तिः स्यात् । तथाच जितं मीमांसकैरिति । सुखं धर्मजन्यमेवेति चेत्, ज्ञानमपि कर्मजन्यमेवेति । तस्मात्तत्पदार्थेनेश्वरेण ज्ञानसुखयोरभेदबोधे बाधाभावः सिद्धः । त्वंपदार्थेऽपि नास्ति बाधः । तथाहि—किं विषयसंपर्कानन्तरं सुखं मे जातं नष्टं च तथा ज्ञानं मे जातं नष्टं चेति प्रत्यक्षेण श्रुतेर्बाधः, किं वा ‘अहं सुखी’ ‘अहं जाने’ इत्याधाराधेयभावप्राहकप्रत्यक्षेणेति । तत्र न तावदाद्यः; व्यञ्जकान्तःकरणवृत्त्युत्पादविनाशाभ्यां तयोरुत्पादविनाशोपलम्भात्, व्यक्त्युत्पादविनाशाभ्यां जातेरिव ध्वन्युत्पादविनाशाभ्यां शब्दस्येति वा । अथ मानान्तरेण बलवता जाल्यादीनां नित्यत्वे सिद्धे तथा कल्पते, प्रकृते च न मानान्तरान्नित्यत्वसिद्धिः । नच—अत्रापि श्रुतिरस्ति मानमिति—वाच्यम्; तस्याः शब्दात्मकत्वेन योग्यताज्ञानं विनाऽबोधकत्वात् “प्रावाणः प्लवन्त” इतिवत् । बाधाभावो हि योग्यता । प्रकृते प्रत्यक्षं बाधकमुपन्यस्तमिति—चेन्न; ज्ञानमात्रस्याबाधत्वात्, साध्याभावप्रमा हि बाधः । नचात्र साध्याभावज्ञानस्य प्रमात्वमुभयवदि-

सिद्धम्; प्रत्यक्षस्य बहुलं विसंवादोपलम्भात् । तथाच किं व्यक्ताविवोत्पादविनाशौ पारमार्थिकौ किंवा जाताविवोपा-
धिकाविति विशये श्रुतिर्नित्यत्वं बोधयतीति कायोऽग्यतया पराभवः ? अन्यथा 'अहं गौरः स्थूलः कृशः, गच्छामी'-
त्यादिप्रत्यक्षबाधादस्थूलादिश्रुतिरपि स्वार्थं न प्रतिपादयेदिति जितं चार्वाकेण । युक्त्याऽस्थूलादिरूपसिद्धिरिति चेत्
भ्रान्तोऽसि; श्रुत्या सिद्धे ह्यात्मन्यश्रद्धामलक्षालनार्थं युक्त्यभिधानम्, श्रुतिश्चेदग्यतयाऽर्थं न बोधयत्येव,
कुत्र युक्त्यभिधानावकाशः ? "प्रावाणः प्लवन्त" इत्यादौ तु ऋजावर्थे प्रयोजनाभावादग्यतया तात्पर्यकल्पनम्, ननु
प्रत्यक्षबाधात् । यदिच यथाश्रुतार्थे प्रयोजनलाभस्तदा श्रुतिः प्रत्यक्षशतेनापि बाधितुमशक्यैव, नित्यज्ञानानन्दब्रह्मस्व-
रूपप्रतिपादने च बहुलं प्रयोजनं श्रूयते—“तरति शोकमात्मवित्” इत्यादि । तस्मान्न विनाशादिग्राहकेण प्रत्यक्षेण श्रुते-
र्बाधः संभवी । नापि द्वितीयः; अन्तःकरणावच्छिन्नो हि चिदात्मा प्रमाता, तथाचान्तःकरणतद्व्योराधाराधेयभावः
अन्तःकरणावच्छिन्नचिदात्मतद्व्यवच्छिन्नानन्दज्ञानयोरुपचर्यत इति क्व बाधशङ्कावकाशः ? कल्पना चेयमभेदबोधक-
श्रुतिमूलैव । ननु—तथापि स्वप्रकाशानन्दरूपस्य सर्वदैकरूपत्वान्मुक्तसंसारिणोरविशेषापत्तिः, नचाविद्यासत्त्वा-
स्वाभ्यां विशेषः; तदसत्त्वस्यापुरुषार्थत्वात्, नह्यविद्याऽभावो दुःखाभावसुखयोरन्यतरः; तयोरेव च पुरुषार्थत्वं लोक-
सिद्धमिति, उच्यते; अविशेषापादनमिष्टमेव । तदुक्तं—“यादृगस्य द्वये रूपं स्वात्मनैवानुभूयते । तावदेव हतान्धस्य
तदन्यानवशेषतः” इति, श्रुतिरपि—“विमुक्तश्च विमुच्यते” “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती”त्यादि मुक्तसंसारिणोरविशेषमाह ।
कथं तर्हि नित्यस्य पुरुषार्थत्वमिति चेत्, निरुपाधीच्छाविषयत्वादिति गृहाण । तदसाध्यं कथमुक्तरूपमपि स्यादिति चेत्,
सुखरूपत्वादेव । तदा कथं तदर्थं पुरुषप्रवृत्तिरिति चेत्, ब्रह्मस्वरूपं साक्षात्कृतवतः प्रवृत्त्यभावात्, अज्ञस्य तु नित्य
एव तस्मिन् सुखे उपाध्युत्पत्तिमारोप्य प्रवृत्त्युपपत्तेः । कोऽसावुपाधिरिति चेत्, अविद्यानिवृत्तिरेव । स्वर्गोऽपि हि
नित्य एव; तस्याप्युपाध्युत्पत्त्यर्थमेव प्रवृत्तिः । तत्र च धर्मविशेषजन्यान्तःकरणवृत्तिभेद एवोपाधिः । वस्तुतस्तु—
नित्यमुक्तमेव ब्रह्म तदभिन्नो जीवोऽपि नित्यमुक्त एव, अविद्यादिकं तु नासीदस्ति भविष्यतीति । तदुक्तं—“ज्ञाते द्वैतं
न विद्यते” “प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तत कथंचन” “बन्धो मोक्ष इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य माया-
मूलत्वाच्च मे बन्धो न मोक्षणम्” इति । तस्मात् सिद्धान्तरहस्यमविज्ञाय वेदान्तिमते दूषणाभिधानं कुतार्किकाणां परं
शोभत इति । ननु तथापि संसारावस्थायां प्रकाशसुखात्मकब्रह्माभिन्नाऽहमिति कथं न प्रतीतिः ? ननूक्तमविद्यापिहि-
तत्वादिति, सत्यमुक्तम्, सैव तु नास्तीति चेन्न; ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं तस्याः स्वीक्रियमाणत्वात्, कुतस्तर्हि तन्निवृत्ति-
रिति ? ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिभेदादिति गृहाण । यद्यपि सा जडा; तथापि तत्प्रतिबिम्बितश्चिदात्मैव तन्निवर्तक
इत्युच्यते । सा चान्तःकरणवृत्तिरविद्यां सकार्या नाशयित्वा स्वयमपि नश्यति दग्धेन्धनानलवत् । तस्माद्ब्रह्म क्षेत्रज्ञे-
भ्योऽभिन्नम्, क्षेत्रज्ञाश्च ब्रह्मणोऽभिन्ना एव, भेदस्त्वविद्योपाधिकः; कर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जीवे; सर्वज्ञत्वादयोऽपि
परमेश्वरे मायाकल्पिता एव; सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानां तात्पर्यतोऽयमर्थो निष्पन्न इति तथापि वेदान्तवाक्य-
जन्यान्निर्विकल्पकसाक्षात्कारादेव मुक्तिः, भेदज्ञानं तु सर्वथा मुक्तिप्रतिबन्धकम्; “द्वितीयाद्वै भयं भवती”ति श्रुतेः ।
गौतमादीनामप्यत्रैव तात्पर्यम्; तस्मात् ॥

प्रामाणिको निषेधश्चेद्भेदोऽप्रामाणिकस्ततः । भेदस्यापि निषिद्धत्वाच्छ्रुतिभङ्गोऽन्यथा भवेत् ॥

श्रुतिर्हि सामान्याकारेण द्वैतमात्राभावं प्रतिपादयति, भेदोऽपि च द्वैतमध्ये प्रविष्ट एव ।

अद्वैतसिद्धिरद्वैतं न विहन्ति कथंचन ॥ सत्यत्वाद्धन्ति चेन्नैवं द्वैतमात्रनिषेधतः ॥

अद्वैतसिद्धिरपि ब्रह्मातिरिक्ता निषिध्यत एव श्रुत्या, तथाच क्वाद्वैतव्याघातः ? श्रुतिस्तर्हि सत्येत्यपि नाशङ्कनीयम्;
तस्या अपि निषेधात् । नह्यद्वैतश्रुतिः स्वात्मानं रक्षति । तथा सति स्वविषयसिद्धिः प्रसज्येत ।

आत्माभेदमजानानाः स्वतःसिद्धं मुमुक्षवः ॥ माभूवन्नफलायासा इत्यभेदो निरूपितः ॥

ननु—यद्यपीयता प्रबन्धेनाऽद्वैतरत्नं सुनिरूपितं भवद्भिर्दयालुभिः । तथापि नास्पदीयहृदये आस्पदमादधाति ।
किमत्र करोमि ॥

शृणु—वृद्धोक्ष ! शैलसाराहृदयोऽसि ।

तदुक्तम्—“इत्येवं श्रुतिनीतिसंज्ञजलैर्भूयोभिराक्षालिते येषां नास्पदमादधाति हृदये ते शैलसाराशयाः ।

किंतु प्रस्तुतविप्रतीपविषयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः काले कारुणिक ! स्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥”

ब्रह्मन् किमित्यधिक्षिपसि वृद्धोक्षेति ? तवापि चित्ते किमद्वैतरत्नं चकास्ति ?

नितरां मूर्खोऽसि । नहि त्वमिवाहम् ।

तदुक्तं तत्रैव—अस्माकं तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयीत्यद्वाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तव तन्नाद्यापि संदृश्यते ।

तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वयैकात्मतां याते चेतसि नाममवाम शतशो यास्याः पुनर्यातनाः ॥

अत्र च यत् एवाऽऽनन्दनिधिरत एव निसर्गसुन्दरः; सुखरूपत्वमन्तरेण निसर्गसुन्दरत्वानुपपत्तेः । नच—आनन्द-
शब्देन दुःखाभावो लक्ष्यते, तथाच तदधिकरणप्रतिपाद्योप्ययमर्थ इति वाच्यम्; तथासति भगवतो निसर्गसुन्दरत्वा-
नुपपत्तेः । तस्माद्यथाश्रुतमेव ग्राह्यम् । तथा सति वेदोऽप्यनुगृहीतो भवति ॥

ब्रह्मन्! तथापि मम चित्ते नायात्यद्वैतरत्नम् ।

शृणु ब्रह्मबन्धो! ब्रह्मद्वेषजनितपातकदूषितान्तःकरणोऽसि ॥

ब्रह्मन्! शाधि मां यथाऽस्मिन्नद्वैताध्वनि मच्चित्तं प्रविशतीति ।

शृणु वत्स! ईश्वरमुपास्व । तदुक्तम्—“ईश्वरानुग्राहोपासनां पुंसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणां द्वित्राणां यदि जायते”
इति । तथा “मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामैवेष्ट्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण” इत्यादि ॥

ब्रह्मन्! किमिति वत्सेति संबोधयसि? वृद्धोऽहम् ॥

ततः किम्? “न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः । यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः”रिति ॥

ब्रह्मन्! ईश्वरोपासनमपि सर्वदा कर्तुमशक्यम्, विषयाक्षिसचित्त्वात् ।

अरे बालिश! विषये दोषं पश्य “अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनि-
महः ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदार-
गृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमर-
तिर्जनसंसदि ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा” इति । एत-
ज्ज्ञानम् ज्ञान साधनमित्यर्थः । तथाचैतावन्ति साधनानि यस्य तस्यैव ज्ञानं मुक्तिहेतुभूतमुत्पद्यते । तदेतानि संपादय ॥

ब्रह्मन्! एतेषां मध्ये एकमपि साधनं मम नास्ति सुगममुपायं वद ।

स्मर तर्हि विष्णुमहर्निशम् । तदुक्तम्—“स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः
स्युरेतयोरेव किंकराः । चिन्त्यमानः समस्तानां क्लेशानां हानिदो हि यः । समुत्सृज्याखिलं चिन्त्यः सोऽच्युतः किं न
चिन्त्यते” ? इति । तथाच सर्वदा विष्णुनामस्मरणेन शुद्धान्तःकरणः सन् उक्तसाधनकलापवान् भविष्यसीति ॥

भगवन्! सर्वदा भगवन्नामकीर्तनेऽप्यहमसमर्थस्ततोऽप्युपायान्तरं वद ।

शृणु वत्स! लौकिकं वैदिकं वा यत्किंचन कर्म तत्सर्वं भगवति वासुदेवे समर्पितं कुरु । तदुक्तम्—“सर्वकर्मा-
प्यपि सदा कुर्वाणो मद्यपाश्रयः । मत्प्रसादात्परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि यददासि
यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्” इति ॥

भगवन्! तत्तत्कर्मजन्यस्वर्गादिफलकामनाक्षिसमनस्तथा फलमनुद्दिश्य तत्तत्कर्मजातमपि कर्तुं नाहमुत्सहे ।

अरे, नूनमूषरात्माऽसि ॥

भगवन्! किं बहव आत्मानस्तव मते? यन्मामूषरात्मेति संबोधयसि ।

शृणु वत्स! एकं ब्रह्म त्रिविधपरिच्छेदशून्यं वस्तुवृत्तमीदृशम्, तथाप्यनाद्यन्ताभिरविद्याभिः परिच्छिन्नं अनेकमिव
भवति । तस्यामविद्यावस्थायां स्थित्वोषरात्मा त्वं निगद्यसे ॥

भगवन्! नाहमुपेक्षणीयः, सर्वमुक्तेस्त्वयाप्यङ्गीकारात्; अहमपि च स्वरूपयोग्यो भवाभ्येव, संसारित्वेनैव मुक्तावधि-
कारात्, स्वरूपयोग्यस्य च नित्यस्यावश्यं सहकारिलाभात्, तथाचाहमपि कदाचिच्छमदमादिभिः सहितो भविष्यामि ॥

शृणु वत्स! फलरागं त्यक्त्वा भगवदर्पणेन कर्माणि कुरु, फलरागत्यागे च क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनमेवोपायः, तदाह—
“तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत” इति ॥

भगवन्! एवं करिष्यामि, आविर्भूतं मम चित्ते दोषदर्शनं विषयेषु, तथाहीह संसारकान्तारे बहूनि दुःखदुर्वि-
नान्यल्पा च सुखद्योतिकेत्युत्पन्नविवेकबुद्धिरनुष्ठितभगवदर्पणकर्मकलापः शुद्धस्वान्तः संप्रति संवृत्तोऽस्मि, भगवन्!
शाधि किमतः करवाणीति ?

शृणु वत्स! गुरूपसदनं कुरु तथाहि—“परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नात्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्”; अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीत्यर्थः । एतावता
विद्यमान एव मोक्षो ज्ञानेनाभिव्यज्यत इत्यर्थः प्रतीयते । तथाच जन्यो मोक्ष इति पक्षो वेदविरुद्ध इति ध्येयम् ।

भगवन् ! उक्तलक्षणो गुरुस्त्वमेव, अतस्त्वामुपसन्नं संसारदुःखजर्जरितान्तःकरणं मां विद्यार्थिनमुपदिश, येनाहं निरतिशयानन्दं सर्वदुःखाभावोपलक्षितं लब्ध्वा कृतार्थो भवामीति ।

शृणु, तत्त्वमसि । महानुपदेशोऽयम्, श्रद्धस्व सौम्य ! ।

भगवन् ? अत्र को वा तदर्थः ? को वा त्वमित्यस्यार्थः ? को वाऽसीत्यस्य ?

अद्वितीयं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म तदर्थः । अहमिति प्रत्यये भासमानो देहादिव्यतिरिक्तः सुखादिमत्त्वेन च भवत्प्रसिद्धस्त्वमर्थः । उभयोः पदार्थयोरभेदो वाक्यार्थः असीत्यनेन च तस्यैव सार्वदिकत्वं प्रतिपाद्यते । तदुक्तम्—
“त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धं ब्रह्माद्वितीयमुदितं च तदस्यजसम्” इति ॥

ननु—कथमेवं बोद्धुं शक्यते, यावता ब्रह्माद्वितीयमपरोक्षमसंसारि च, अहं च तद्विपरीत इति तयोरभेदप्रत्ययो बाधित एव । वस्तुतस्तु—प्रत्यय एव न जायते; योग्यताज्ञानाभावात्, बाधविरहस्य तथात्वात्, अन्यथा ‘गौरश्च’ इत्यादावपि सामानाधिकरण्येनान्वयबोधापत्तेः । नच ‘सोऽयं देवदत्त’ इतिवदभेदप्रत्ययो युक्तिमान्; तत्र हि एकस्मिन् धर्मिणि देवदत्ते तत्तेदन्तावैशिष्ट्यं सः, अयम् इति पदाभ्यां प्रतिपाद्यते, तच्च तत्र तिष्ठत्येव, नत्वेवं प्रकृते संभवति; अखण्डवाक्यार्थाभ्युपगमात् । तथाच विषमो दृष्टान्तः । नच—तत्ताविशिष्टस्येदन्ताविशिष्टस्य चाभेद एव वाक्येन प्रतिपाद्यते, न वैशिष्ट्यमात्रम्; अन्यथा भेदभ्रमनिवृत्तिर्न स्यात्; न स्याच्चाभेदसिद्धिः, तस्य तदेकमानत्वादिति—वाच्यम्; तथापि वाक्यार्थस्तत्र, सखण्ड एव । धर्मद्वयवैशिष्ट्यस्य तत्र सत्त्वात् । यदिचैकैव व्यक्तिरुभाभ्यां पदाभ्यां प्रतिपाद्यते, किंच नित्यज्ञानादिमति जगत्कर्तरीश्वरपदं तावच्छक्तम् । स एव तत्पदेन प्रतिपादनीयः, तद्विलक्षणे च जीवात्मन्यत्यन्तभिन्ने जीवपदं शक्तम् । स एव च त्वंपदेनात्र वक्तव्यः । तथाच हिमवद्विन्ध्ययोरिव न कयाऽपि वृत्त्या तयोरभेदः श्रुतिशतेनापि वक्तुं शक्यः, धर्मिग्राहकमानेन तयोस्तथैव सिद्धेः । नच—अज्ञानोपहितो जीवः, तदनुपहितश्चेश्वरः । यद्वाऽज्ञानोपहित ईश्वरः, अन्तःकरणोपहितो जीवः । तथाचोपाध्यंशपरित्यागेन हि तयोरभेदबोधो नायोग्यतया पराभवितुं शक्यः, घटाकाशो महाकाशः, जलशरावस्थचन्द्रो दिविष्ठचन्द्र एव, दर्पणस्थं मुखं ग्रीवास्थ-मुखमेवेतिवदिति—वाच्यम्; दुःखित्वसर्वज्ञत्वादेः पारमार्थिकत्वात्, उदाहृतस्थले च तदभावात्, उक्तप्रक्रियायां मानाभावाच्च । क्षित्यादेः सकर्तृकत्वानुमानेन तादृशस्यैवेश्वरस्य सिद्धेः, सुखाद्याश्रयत्वेनैव जीवस्य सिद्धेश्च । प्रत्यक्षादिना अभेदबोधकं च वाक्यं यथाकथंचिद्योग्यमिति ॥

अत्रोच्यते—‘स एवायं देवदत्त’ इति शब्दः स नायं, सोऽयं न वेति वा विपर्यस्तं संदिहानं वा प्रति प्रयुज्यते भ्रमसंशययोर्निवृत्त्यर्थम् । तच्च प्रयोजनं कदा निर्वहति ? यदि देवदत्तस्वरूपमात्रमभिन्नं प्रतिपाद्यते । तथाच तच्छब्दस्तत्ताभागं त्यक्त्वा व्याक्तिं लक्षयति, इदंशब्दोऽपि तथा, तदनन्तरमुभाभ्यां पदाभ्यां वाक्यार्थत्वेनाऽभिन्ना व्यक्तिः प्रतिपाद्यते; तत्ताविशिष्टस्येदानीमविद्यमानत्वेन इदंताविशिष्टे स्वाभेदासंभवात् मुख्यार्थबाधोऽस्त्येव । एवंच यदीदं पदेऽपि लक्षणा न स्यात्, तदा विशिष्टाविशिष्टयोरैक्यमसंभावितमेव । नच पौनरुक्त्यम्; वाक्यार्थे तदभावात्, लक्ष्यार्थेत्विष्टापत्तिः । तदैवाऽभेदो वाक्यार्थः संभवति नान्यथा । नच—तत्त्वंपदयोरत्यन्तविभिन्नयोर्धर्मिणोर्न शक्तिग्रहः, ईश्वरपदसमानार्थत्वात्तदः, जीवपदसमानार्थत्वाच्च त्वम इति—वाच्यम्; असिद्धेः, “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे”त्यादिश्रुतिभ्य एवेश्वरादिपदानां जगत्कारणे ब्रह्मणि संगतिग्रहः स्वर्गादिपदवत्, तत्समानार्थश्च प्रकृते तच्छब्दः । यत्तु नित्यज्ञानादिमानेवेश्वरपदार्थ इति, तन्न; “आनन्दाज्ज्ञेय खल्विमानि भूतानि जायन्त” इति श्रुतिविरोधात्, श्रुतिसिद्धे चार्थेऽनुमानानवतारात् । तदुक्तम्—“उपासनैव कियते श्रवणानन्तरागते”ति । अन्यथा स्रक्चन्दनादिमति स्वर्गाति पदप्रयोगात् स्वर्गपदस्यापि तत्रैव संकेतग्रहापत्तेः । तथाच “स्वर्गकामो यजेतै”त्यादिष्वपि तस्यैवार्थस्य ग्रहणे स्रक्चन्दनादिकामो यजेतेत्यर्थः स्यात्, तथाच साधु समर्थितं वैदिकाभिमानित्वं स्वस्येति । तस्यच ब्रह्मणो विज्ञानसुखात्मकस्याऽद्वितीयस्य निरपेक्षस्य कारणत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यादिति मायादीनां द्वारभावः कल्प्यते । तदुक्तम्—“चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि चित्राऽपूर्वं द्वारं पशुफलतयाऽऽक्षिप्यते तत्र तद्वत् । चैतन्यात्मा जगदुदयकृच्छ्रयतेऽत्रापि पश्चान्मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन् ॥” अत्र च मायादीनां द्वारभावो जगद्विवर्तोत्पत्तौ सहकारित्वमेव, नतु चित्राजन्मापूर्वमिव ब्रह्मजन्यत्वम्; अनवस्थापत्तेः । मायोत्पत्तौ मायानपेक्षणे च कार्यान्तरैऽपि सा नापेक्ष्येत । संसारस्य सादित्वापत्तेश्च । नच—“मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमि”ति श्रुत्या साक्षादेव मायायाः कारणत्वं प्रतिपाद्यते, कथमुच्यते कल्प्यते ? इति—वाच्यम्; “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत” इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मणः कारणत्वप्रतिपादनपरवाक्यश्रवणादेव कल्प्यत इत्यस्याभिधानात् । किंचास्त्युभयोः कारणत्वप्रतिपादकत्वम्, विकल्पश्च वस्तुन्य-संभवी, अष्टदोषदुष्टश्च । नच—विशिष्टस्य कारणत्वाभ्युपगमेनोभयश्रुतिसामञ्जस्यमिति—वाच्यम्; यतो विशिष्टं न

कस्यापि वचनस्यार्थः यवमिश्रितो व्रीहिरिव । तस्माद्ब्रह्मण एव कारणत्वं रज्ज्वा इव सर्पं प्रति, माया तु शक्तिरेव । तथाच शक्तिमद्ब्रह्म जगदुपादानकारणं भवति । तथाच “जन्माद्यस्य” इति कारणत्वं ब्रह्मलक्षणं संगच्छते । तदुक्तं वार्तिककृता—“आत्माऽविद्यैव नः शक्तिः” इति । अन्यैरप्युक्तम्—“साभासमेतदुपजीव्य चिद्वितीया संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः । साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे द्वारं परं भवति कारणता इहस्तु ॥ यावद्दृशोऽन्यदिह संसृतिकारणं तद्वेदान्तवादिसमये न मतं जडत्वात् । यद्यज्जडं भवति संसृतिकारणं तन्नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥ अजडकारणभावनिवन्धनं सकलमेव जडं न तु कारणम् । इति च वेदशिरःसु विचक्षणाः कपिलपक्षनिराकरणे जगुः ॥ कारणत्वमुपलक्षणं चित्तो ब्रह्मणो न खलु तद्विशेषणम् । इत्यपीदमुपपद्यते तदा चेतनो भवति कारणं यदा ॥ अन्यदेव यदि कारणं भवेत्कारणत्वमुपलक्षणं कथम् । चेतनस्य घटतेऽन्यगामिना वस्तु नान्यदुपलक्ष्यते यतः ॥ बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासने । सकलवाङ्मनसातिगता चित्तिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् ॥” तस्माद्ब्रह्मैव शक्तिमदुपादानकारणमिति ।

ननु—शक्तिमदित्यत्र शक्तिर्विशेषणमुपलक्षणं वा । आद्ये विशिष्टस्य कारणत्वे विशेषणस्यापि तदागतमेव, अन्त्ये ब्रह्मेत्येव तदुच्यतां उपलक्षणेन विशेषाभावादिति—चेत्, मायोपहितस्य कारणत्वात्, उपाधिश्च विशेषणोपलक्षणाभ्यां तृतीयः प्रकारः । तथाहि—स्वरूपान्तर्निविष्टत्वेन यावत्कार्यमवस्थायि भेदहेतुर्विशेषणम्—यथा “दण्डी प्रैषानन्वाहे” इत्यत्र दण्डः । अत्र विशेषणत्वप्रयोजकं यद्रूपद्वयं तत्स्वरूपान्तर्निविष्टत्वं यावत्कार्यमवस्थायित्वं च तदुभयाभावेन तदन्यतराभावेन च भेदहेतोरुपलक्षणतोपाधिता च द्रष्टव्या । यथा—चैत्रगृहस्वरूपानन्तर्गतस्य कादाचित्कस्य काकस्य तन्नेदकत्वमुपलक्षणतया, यथावा प्राभाकराणां धेनुशब्दप्रयोगे गोत्वं स्वरूपान्तर्गतमपि यावत्कार्यमवस्थायित्वादुपाधिः कार्यव्यापकमित्यर्थः । विवरणकृतस्तु—त्रैविध्यमत्र संभवति, रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म जगत्कारणमिति वा, “देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि”ति श्रुतेर्मायाशक्तिमत्कारणमिति वा, जगदुपादानमायाश्रयतया ब्रह्म कारणमिति वेति । तत्र विशिष्टपक्षे तयैव ब्रह्मत्वेनोपलक्षितस्य ज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षणेन मायानिष्कर्षाल्लक्षणद्वयेन विशुद्धब्रह्मसिद्धिः । उत्तरपक्षयोस्तु मायाया ब्रह्मपरतत्त्वात् तत्कार्यमपि ब्रह्मपरतत्त्वं भवति यथाऽंशुतन्त्वारब्धोऽपि पदोऽंशुतत्रः प्रतीयते ततश्चोत्पद्यमानकार्यस्य यदाश्रयोपाधि ज्ञानानन्दलक्षणं च तद्ब्रह्मेति विशुद्धब्रह्मलाभः—इत्याहुः ॥

तत्र प्रथमपक्षे ब्रह्मणो निमित्तत्वम्, उपादानत्वं तु द्वयस्यैव । द्वितीयपक्षे तु ब्रह्मणः प्राधान्यं मायायाश्चोपसर्जनत्वम् । तृतीयपक्षेतु उपादानत्वं मायाया एव, ब्रह्मणस्तु तदधिष्ठानत्वमिति । विवेचितं वृद्धैरिति ॥

अत्रेदं विवेचनीयम्—किमिदं मायाया उपसर्जनत्वम् ? न तावत्कार्यं प्रत्याधारत्वम्; प्रथमपक्षाद्विशेषापत्तेः, नापि कार्यं प्रत्यजनकत्वम्; मायाया अनुयोगापत्तेः, नापि कार्यं प्रत्यनधिकरणत्वम्; तत्पक्षव्याख्यानरूपविवरणविरोधात्, नापि निमित्तत्वम्; तदाश्रयत्वव्याख्यानविरोधादेव । नहि निमित्तकारणं कार्यमाश्रयते ।

अत्र वदामः—उपाधित्वमेव मायाया अप्रधानत्वं नाम । तथाचोपहितसमवहितमपि कार्यमुपाधौ प्रतीयत इति तदाश्रयतोक्तिः । वस्तुतस्तु—मध्यमपक्षे ब्रह्मनिष्ठमेव कार्यमिति ध्येयम् । सर्वथा उपादानकोटावस्ति ब्रह्मप्रवेश इति । यथा जगदुपादाननिमित्तकारणभूते वस्तुनि ईश्वरपदं शक्तम्, तथा जीवपदमप्यन्तःकरणोपहितब्रह्मण्येव शक्तम् । नच निष्प्रमाणकमेतत्; “स वा अयमात्मा ब्रह्म” “विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः” इत्यादि, तथा “स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः”, तथा “सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति” “आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” इत्यादिश्रुतिभ्यः । ‘अहम्’ इति चानुभवेऽहंकारोपहित एवात्माऽवभासते सर्वेषाम्, अतस्तत्रैव संगतिग्रहः । त्वंशब्दस्यापि स एवार्थः । नच सुषुप्तिप्रलयादौ जीवासत्त्वापत्तिरिति—वाच्यम्; तदानीमपि संस्कारात्मनाऽवस्थानात् । तथाचाहंकारवासनावासितमज्ञानमेव तदानीमुपाधिः । तदुक्तं संप्रदायविद्भिः—“स्वाविद्यया हि पर एव स जीवभावमागत्य संसरति लिङ्गसमागमेन । ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य” ॥ तथा “मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य स्वाज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च ॥ स्वाज्ञानान्वयिनी चिदेव भवती स्वाज्ञानमस्याः पुनर्नास्त्यन्तःकरणोपरागशबलीभावं विना युक्तिः ॥” तथा “पुण्यं भवति तस्य परस्य मोहात्तेना-न्वितस्य तु नभोमलवज्जलीकम् । दुःखं त्रिधा भवति संसरणाभिधानं नान्यः परादधिकरूपभृदस्ति जीव “इह तावदक्षदशकं मनसा सह बुद्धितत्त्वमथ वायुगणः । इति लिङ्गमेतदमुना पुरुषः खलु संगतो भवति जीवः” ॥ इति” ॥ तथा “न पुराष्टकेन रहितस्य तव कचिदस्ति संसरणदुःखयुजा । न पुराष्टकेन सहितस्य तथा कचिदस्ति दुःखनिगमश्च तवे” इत्यादि, तथाऽन्यत्रापि “जीवो भवेत्करणपूगवशीकृता चिदि”ति ॥

विवरणकृतस्तु—ननु कोऽयं जीवो नाम ? यस्य स्वरूपं त्वंपदेन लक्ष्यमाणं ब्रह्मैव वाक्यार्थः संपद्यते, ब्रह्मे-
वाऽविद्याप्रतिबिम्बतमिति वदामः, ततश्च त्वंपदेनाशेषोपाधिनिराकरणेनाऽऽत्मस्वरूपमेव लक्ष्यमाणम्, तत्पदोपलक्ष्यं
ब्रह्मैव, पदद्वयसामर्थ्यात्संपद्यते । नचैतदुपाधिद्वयनिराकरणेन विशुद्धब्रह्मात्मज्ञानमेकेनैव पदेन लभ्यते; विरोधानु-
पपत्तेरिति—आहुः ॥

नचास्मिन् पक्षे जीवब्रह्मणोरुपाधिसंकरः; बिम्बस्येश्वरत्वात्, प्रतिबिम्बस्य च जीवत्वात् । नच—एवं सत्युपाधि-
धर्मैर्यथा जीवानां संसर्गस्थथा ब्रह्मणोऽपि स्यादिति—वाच्यम्; उपाधिधर्माणां प्रतिबिम्बपक्षपातित्वनियमात्, ब्रह्मणो
निरावरणज्ञानत्वात्, अहंकृतिविरहाच्च । तथाचोपहितमात्रांशशक्यत्वेऽप्युपाधिनिराकरणार्थं लक्षणाऽऽयाता । वाक्यार्थ-
स्फुरणवेलायामुपाधिरपि स्फुरत्येव, विशिष्टवाच्यत्वपक्षे विशेष्ये सुतरां लक्षणा ॥

अत्र च महावाक्ये भागलक्षणैव युक्ता । तदुक्तमाचार्यैः—“तत्त्वमस्यादिवाक्ये तु लक्षणा भागलक्षणे”ति ।
प्रपञ्चितस्त्वयमर्थो विस्तरेणान्यत्र ॥

ननु—तथापि वाक्याज्जातं ज्ञानं परोक्षमपरोक्षं भ्रमं कथमपनुदेत् ? दिङ्मोहादौ तथाऽदर्शनात् । नच—‘नायं सर्पः
किं तर्हि ? रज्जुः’ इत्यासवाक्याज्जायमानं भ्रमं निवर्तयत्येव, कथमन्यथा निर्भयः पुरूपोऽवतिष्ठत इति—वाच्यम्; रज्जुत्वा-
द्यसाधारणधर्ममन्तरेण भ्रमस्यानुभवसिद्धत्वात् भयाभावस्त्वाप्तविस्मभात्, तथाऽत्रापि श्रुतिविस्मभाद्भवतु तदुक्तैर्ध-
समाश्वासो भ्रमस्तु न निवर्तत इति । नच—अपरोक्षज्ञानमेव श्रुतेर्जायत इति—वाच्यम्; लोके तथाऽदर्शनात्,
मनननिदिध्यासनयोर्वैयर्थ्यापत्तेश्च । नच ‘दशमस्त्वमसी’तिवाक्यं दृष्टान्तः; तत्रापि शब्दः परोक्षमेव ज्ञानमुत्पादयति,
भ्रमनिवृत्तिस्तु तत्समनन्तरोत्पन्नेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारादिति—

अत्रोच्यते—दशमस्त्वमसीतिशब्दश्रवणसमनन्तरं तावदस्ति श्रोतुः स्वात्मविषयं प्रत्यक्षम् । नच तत्प्रमाणान्तरा-
जातमिति कल्पयितुं युक्तम्; ‘एतस्माच्छब्दादहमात्मानं साक्षात्कृतवान्’ इतिप्रत्ययविरोधात्, अन्यथा मध्यमवृद्धोऽपि
मानान्तरादेवार्थं ज्ञातवानिति बालः कल्पयेत् । तथाच गतं शब्दस्य प्रवर्तकत्वमिति । नच—शब्दस्वभावभङ्गस्तस्य
परोक्षमात्रज्ञानजनकत्वादिति—वाच्यम्; असिद्धेः, मनोवत् । फलबलेनैव स्वभावस्य कल्पनात्; स्वात्मविषयकं
ज्ञानं यस्मात् कस्माच्चित्प्रमाणाज्जायमानमपरोक्षमेव जायते इति केचित् ॥

वस्तुतस्तु—योग्यपदार्थनिरूपितप्रमात्रभेदभेदपरशब्दत्वेनैव परोक्षज्ञानजनकता, तदन्यशब्दत्वेनापरोक्षज्ञानजन-
कता, शब्दातिरिक्तं चात्मविषयं प्रमाणं नास्तीत्यादि निरूपितमद्वैतसिद्धिवेदान्तकल्पतयोरिति नेह प्रपञ्च्यते । नच—
शब्दत्वापरोक्षत्वयोर्जात्योः संकरः, तथाहि—‘गामानये’त्यादिशब्दजन्ये ज्ञाने शब्दत्वमस्ति नास्त्यपरोक्षत्वं, घटो-
ऽयमितीन्द्रियजन्ये ज्ञानेऽस्त्यपरोक्षत्वं नास्ति शब्दत्वम् । आत्मविषयके च ज्ञाने तदुभयमस्तीति—वाच्यम्; आत्म-
विषयके ज्ञाने शब्दत्वजातेरभावात्, तस्याः परोक्षत्वव्याप्तत्वात् । नच परोक्षत्वमात्मज्ञाने तिष्ठतीत्युक्तम्; उपाधिसं-
रवजातिसंकरस्यादूषणत्वात्, शब्दत्वापरोक्षत्वादेः प्रमात्वाप्रमात्वलौकिकत्वालौकिकत्वादिवजातित्वानभ्युपगमाच्च ।
तस्माद्वेदान्तवाक्याकरणक आत्मसाक्षात्कारे शब्दत्वापरोक्षत्वयोर्नानुपपत्तिः । अथ—एवं सति श्रवणमनननिदि-
ध्यासनानां क उपयोगः ? पूर्वत्रैवात्मनः साक्षाद्भासमानत्वादिति, अत्रोच्यते—यद्यपि श्रवणादेः प्रागपरोक्षमेव
ज्ञानमुत्पन्नम्, तथाप्यसंभावनाविपरीतभावनाग्रस्तत्वाद्भ्रमजन्मज्जिदिव न फलपर्यवसायि भवति वाराणस्यादिप्रदेशे
जायमानार्द्रमरीचादिज्ञानवत् । नच—फलाभावात् ज्ञानं नोत्पन्नमिति—वाच्यम्; तथासति विचारारम्भानुपपत्तेः ।
नच—योग्यताऽभावात् प्रथमतो ज्ञानमेव नोत्पादयति शब्द इति—वाच्यम्; योग्यतायाः स्वरूपसत्या एव शब्द-
प्रमायां कारणत्वाभ्युपगमात् । नच—तथासति योग्यताभ्रमाच्छब्दभ्रमो न स्यादिति—वाच्यम्; आकाङ्क्षाऽऽसत्तिम-
त्त्वेन जायमानादेव शब्दो भ्रमो जायत इत्यङ्गीकारात् । नच—तथासति बाधे जातेऽपि शब्दाद्बोधः स्यादिति—
साम्प्रतम्; तस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वात्, अयोग्यतानिश्चयस्याऽप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दिदस्य शब्दज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्
तदभावमात्रं तत्रोपयुज्यते, ननु योग्यताज्ञानमपि; तेनायोग्यतानिश्चयाभावात्, प्रामाण्यसंदेहाद्वा शब्दबोधोपपत्तिः ।
किंच “अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थं शब्दः करोति ही”ति मतेऽयोग्यत्वेन जायमानादपि शब्दादर्थबोधो भवत्येव;
प्रत्यक्षानुमानयोस्तूत्पत्तिप्रतिबन्ध एव । शब्दस्थले तु बाधेनाप्रामाण्यं जाप्यते, नतूत्पत्तिः प्रतिबन्ध्यते ॥

तदयं क्रमः—शब्दात्प्रथमतोऽपरोक्षज्ञानं जायते विचारप्रयोजकम् । तदनन्तरमसंभावनोदये सति विचारशाखं
प्रवर्तते । तच्च वेदान्तानां ब्रह्मण्यद्वितीये समन्वयप्रतिपादनद्वारा परपक्षखण्डनद्वारा चोपयुज्यते प्रमाणगताऽसंभावना
श्रवणनिवर्त्या, प्रमेयगताऽसंभावना तु मनननिवर्त्येत्यन्यत्र विस्तरः । तदनन्तरमपि विपरीतभावना तिष्ठत्येव, सा निदिध्या-
सनेन निराक्रियते, तदनन्तरं पुनरपि महावाक्यमनुसन्धीयमानमविद्योन्मूलनसमर्थमन्तःकरणवृत्तिभेदरूपं मुक्तिफलकं

साक्षात्कारमुत्पादयति । तदेतदाहाचार्यः संप्रदायवित्—“पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा । न फलाय भर्तुर्विषया भवति श्रुतिसंभवाऽपि तु तथाऽऽत्मनि धीः ॥ पुरुषापराधविगमे तु पुनः प्रतिबन्धक-
व्युदसनात्सफला । मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावकाद्भवति धूमलता ॥ पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः सकलो विचार इति वेदविदः । अनपेक्षतामनुपपद्य गिरः फलवद्भवेत्प्रकरणं तदतः ॥ पुरुषापराधशतसङ्कुलता विनिवर्त्यते प्रकरणेन गिरः । स्वयमेव वेदशिरसो वचनादथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफले”ति ॥ भर्तुर्नामा कश्चिद्राजो मन्त्री गन्धार-
पुरुषत्वेन यश्छान्दोग्ये दर्शितः ॥

यत्तु प्रथमतो जायत एव शब्दादपि परोक्षज्ञानम्, प्रतिबन्धकानन्तरमेव त्वपरोक्षं जायत इति मतम्, तत्तुच्छम् । ग्रन्थकारस्य तथा स्वरसाभावात्, दृष्टान्तेऽपरोक्षज्ञानोत्तरमेव संशयस्योक्तत्वात् दार्ष्टान्तिकेऽपि तस्यैवोचितत्वात् । नचैवं कल्पनायां प्रमाणाभावः; “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी”ति श्रुत्योपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतीतेः, “नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमि”ति च । असाधारणेन हि व्यपदेशा भवन्ति, “चाक्षुषं रूपम्” इतिवत् । “पराञ्चि खानि व्यवृणुत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्” इतीन्द्रियगम्यत्वनिषेधाच्च । नच—“दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।” “मनसैवेदमाप्तव्यम्” इत्यादिश्रुत्या मनोगम्यत्वमपि ब्रह्मणः प्रतीयत इति—वाच्यम्; तत्त्वमस्यादिमहावाक्येन साक्षात्कारेण जनयितव्ये मनसः कर्तृत्वेन सहकारित्वस्योदाहृताभिः श्रुतिभिः प्रतिपादना-
दिति संप्रदायः ॥

भामतीकारास्तु—शब्दात्परोक्षमेव ज्ञानं जायते; शब्दप्रमाणस्वाभाव्यात् । नच—अपरोक्षे प्रत्यगात्मनि परि-
पूर्णब्रह्मणि परोक्षज्ञानं भ्रमः स्यादिति—वाच्यम्; परोक्षत्वेनाऽनुल्लेखात्, अपरोक्षं तु ज्ञानं श्रवणमनननिदिध्यासन-
भ्यासजन्यसंस्कारप्रचयोपवृंहितमनोजन्यमेव । नच भावनाजन्यसाक्षात्कारत्वेन कामिन्यादिसाक्षात्कारवदनाश्वासः;
श्रुतिमूलत्वेन समाश्वाससंभवात् । नच श्रुतिविरोधः; शास्त्राचार्याहितसंस्कारासमवहितमनोगम्यत्वनिषेधपरत्वा-
न्निषेधश्रुतीनाम्, विधिश्रुतीनां तु तादृशसंस्कारसहितमनोगम्यत्वप्रतिपादनपरत्वादिति—आहुः ॥

ननु—तथापि साक्षात्कारोत्पत्त्यनन्तरमविद्याऽस्ति न वा, आद्ये विद्या विफलाऽनिर्मांशश्च । द्वितीये सकार्याऽ-
विद्यानिवृत्तौ सद्योमुक्तिरिति विद्यासंप्रदायोच्छेदः, अत्र वदन्ति—विद्योत्पत्त्यनन्तरं सद्योमुक्तिरित्येव पक्षः । नच उप-
देष्टुरभावः; कल्पितस्य तस्य सद्भावात् । स च कल्प्यमानो गुरुर्विद्यावत्त्वेनैव कल्प्यते, स्वप्नगुरुवत् । नच—तदीयेनैव
ज्ञानेनाऽज्ञाननिवृत्तौ शिष्यज्ञानस्य वैयर्थ्यमिति—वाच्यम्; तस्य कल्पितत्वेनाऽज्ञानाश्रयत्वाभावात् । तदुक्तम्—
“तस्या एष विलास एव भवता गुर्वादिभेदान्वितः संकृप्तो नतु विद्यते पृथगसौ सन्ध्ये यथा धामनि” । “मुक्तामुक्तौ
विद्वदज्ञौ त्वदन्यावाकाशादिक्षमावसानं च विश्वम् । स्वाविद्योत्थस्वान्तनिष्पन्दनं तद्विज्ञातव्यं मा ग्रहीरन्यथैतत्” ॥
तथा “तव चेतनात्मतमसा जनितं परिकल्पयत्यखिलमेव जगत् । तव कल्पनाविरचितः स गुरुस्तव रूपमद्वयमुदा-
हरति ॥ परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया गुरुरेव पूर्णमवबोधयति” तथा “सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाऽज्ञानतत्संभवं
सद्यो वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्धापारसंदीपितः । निर्लेपेन हि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं संसारस्य शिनष्टि तेन
विदुषः सद्योविमुक्तिर्ध्रुवा ॥” “जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम् । तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्तेः
सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतो”रिति ॥ तथाचैकाज्ञानवादिपक्षेऽयमर्थः संपन्नो यत्सद्योमुक्तिरिति ॥

अपरेतु—बाधितानुवृत्त्याऽज्ञानतत्कार्ययोरनुवृत्तिरिति । मुक्तेषुवत्कुलालचक्रवच्च । नच—विद्याऽविद्ययोर्विरोधा-
त्कथमेवं स्यादिति—वाच्यम्; पारमार्थिकप्रपञ्चोपदर्शकांशस्यैव विद्यया विरोधात्, प्रातिभासिकमात्रांशेनाऽविरोधात् ।
तस्य चांशस्य प्रारब्धक्षयादेव क्षयः; “भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यत” इति सूत्रबलात् तथैव प्रतीतेः, जीवन्मुक्ति-
शास्त्रबलाच्चेति—आहुः ॥

भामतीकारास्तु—बहून्येवाऽज्ञानानि । तानिच जीवनिष्ठानि ब्रह्मविषयाणि । नच—अज्ञानसंबन्धे सति जीवत्वं
जीवत्वे चाज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; अनादित्वाजीवाविद्यासंबन्धस्य, तथाच तत्तज्ज्ञानावच्छिन्नास्तत्तद-
ज्ञानावच्छिन्नप्रतिबिम्बिता वा जीवा अनन्ता एव; अवच्छेदकानामज्ञानानामनन्तत्वात् । तेषां मध्ये यस्य श्रवणादिना
ज्ञानमुत्पद्यते स मुच्यते नान्यः । नचैवं द्वैतापत्तिः; सर्वेषां जीवानां ब्रह्माभेदस्वीकारात् । एवं सति “तद्यो यो देवानां
प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामि”ति श्रुतयः, “बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता” इति
स्मृतयश्चोपपन्नतरा भवन्ति । अविद्यालेशस्वीकाराच्च जीवन्मुक्तत्वाद्युपपत्तिरिति—ऊचिरे ॥

ननु—तथापि न ब्रह्मात्मज्ञानामुक्त्युपपत्तिः; अनन्तभवसंस्वितानां कर्मणां भोगेन विना क्षयासंभवात् । नच—
 ज्ञानादेव सर्वकर्मक्षयः; जीवन्मुक्तिशास्त्रविरोधात्, नच—प्रारब्धातिरिक्तस्य ज्ञानात् क्षय इति—वाच्यम्; “नाभुक्तं
 क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि” । “अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं”मिति स्मृतिविरोधात् । नच—प्राय-
 श्चित्तादिशास्त्रेण कर्मनाशः प्रतिपाद्यते, तथाच तदनुरोधेनावश्यं भोगद्वारा कर्मक्षयप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य संकोचो
 वाच्यः, अतो ज्ञानात् कर्मक्षयस्थलेऽपि तच्छास्त्रं संकोच्यतां वेदबोधितनाशकानाशयस्यैव कर्मणो भोगैकनाशयत्वात्,
 प्रायश्चित्तज्ञानयोश्च वेदेनैव नाशकत्वं बोधितमिति—वाच्यम्; प्रायश्चित्तादावनन्यगतिकत्वेन तथा कल्पनात् । नहि
 प्रायश्चित्ते कर्मान्तराधिकारः फलम्; सर्वत्रापि पापे कर्मानधिकाराभावात्; प्राणान्तिके तदसंभवाच्च, ज्ञानस्थाने तु
 भोगद्वारेणापि क्षयसंभवे संकोचो न युक्तः । नच—तत्र ज्ञानं विनापि भोगात्कर्मनाशदर्शनात् व्यभिचारात् कथं
 तत्त्वज्ञानस्य कारणतेति—वाच्यम्; कर्मप्रागभावासहवृत्तिकर्मनाशो युगपद्भोगे चाव्यभिचारात् । नच—तत्त्वज्ञानवतां
 भोगार्थं प्रवृत्तौ हि विहितनिषिद्धाचरणसंभवेन धर्माधर्मोत्पत्तौ मोक्ष एव न स्यादिति—वाच्यम्; दोषाभावेन तयो-
 र्हृत्पत्यसंभवादिति, अत्रोच्यते—“भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे
 परावरे ॥” इत्यादिभिः श्रुतिभिः हृदयग्रन्थ्यादिनाशो ज्ञानहेतुत्वं प्रतिपाद्यते । तत्र यदि कर्मनाशो भोगो द्वारं कल्पयतेऽ-
 र्हमपि तदा हृदयग्रन्थ्यादिनाशो जनयितव्ये द्वारं कल्पयितव्यं स्यात्, तथाच यथा द्वारमन्तरेणैव तत्त्वज्ञानमात्रादेव
 हृदयग्रन्थ्यादेर्नाशः, तथाच बाध्यबाधकभाव एव, पदहोमाऽऽहवनीयहोमयोरिव अग्नीषोमीयहिंसाऽहिंसयोरिवेति ।
 नच—अबाधेनाप्युपपत्तौ बाधकल्पनमनुचितमिति—वाच्यम्; भोगेन क्षयाभ्युपगमे ज्ञानवैयर्थ्यापत्तेः । किंच
 यावदेव स्मृत्या श्रुतिः कल्पयते तावदेव प्रत्यक्षश्रुत्या ज्ञानस्य साधनत्वं बोध्यते । तच्च साक्षादेव, तस्मिन् बाधके
 सत्त्वेव परंपरास्वस्य कल्पनात् । तदनन्तरं कल्पिताऽपि श्रुतिस्तदितरविषयाऽवतिष्ठते । तत्त्वज्ञानविषयत्वे तु साक्षाच्छ्रुति-
 विरोधेऽनुमानमेव न स्यात् । तदुक्तं—“विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्” इति । श्रुतिश्च “तद्वैतत् पश्यन्
 ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवत् सूर्यश्चे”त्यादिर्यदेव ज्ञानं तदैव ब्रह्मभावमाह; हेतौ शतः स्मरणात् ‘भुञ्जानस्तुप्यति’
 इतिवत् । अविद्यानाशानन्तरमेवाऽविद्याकृतस्याब्रह्मत्वस्य निवृत्तेः, उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वत्र दर्शनात् ।
 यथाच कारणज्ञानानन्तरं कार्यं निरधिकरणं क्षणमात्रं तिष्ठति, तथा बलवत्प्रतिबन्धवशादनेकक्षणमपि स्थास्यति ।
 तथाच श्रुतिः—“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य” इति प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तं नष्टाविद्यस्यापि
 स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः सद्भावं दर्शयति । प्रारब्धकर्मभोगश्च क्वचिदेकेनैव शरीरेण, क्वचिज्ज्ञानाशरीरैः । तत्राऽऽद्यमिदानी-
 तनानाम्, द्वितीयं तु महानुभावानां वसिष्ठादीनाम् । अत्र सूत्रं—“यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्” इति ।
 भगवदाज्ञापालनौपयिकं बलवत्सुकृतं कर्माऽधिकारस्तत्समाप्तिपर्यन्तमाधिकारिकाणां सूर्यादीनां वसिष्ठादीनां च शरीर-
 ग्रहणप्रवाहावस्थितिरित्यर्थः । एकशरीरभोग्यस्यैवानेकशरीरभोग्यस्य प्रारब्धस्य कर्मणः संभवात् । एतादृशानां च
 यौगीश्वराणां योगप्रभावात् स्त एव स्वेच्छया कायबाहुल्यतदुपसंहारौ । अत्र सूत्रं—“प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति” ।
 एवं सगुणविद्याविदामपि योगीश्वराणाम् । निर्गुणविद्याविदां त्वनधिकारिणां वर्तमानदेहभावे जीवन्मुक्तिस्तदभावे
 च विदेहमुक्तिः । तत्र ज्ञानात् कर्मक्षयप्रतिपादके सूत्रे “तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्”
 “इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु” इतरस्य सुकृतस्येत्यर्थः, तस्मात् ज्ञानिनः कर्मभोगार्थमयोगिनोऽपि कायव्यूहकल्पनं
 मौढ्यमात्रेणैव । ज्ञानस्य प्रारब्धकर्मानाशकत्वे सूत्रं “भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते” इति प्रागेवोदाहृतम् ॥

अद्वैतरत्नमेतत्तु श्रीविश्वेश्वरपादयोः । समर्पितमथैतेन प्रीयतां स दयानिधिः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-

श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितमद्वैतरत्नरक्षणं समाप्तम् ॥

शुभं भवतु ॥



संस्कृतपुस्तकानि ।

वेदान्तसारः ।

(चतुर्थावृत्तिः)

नृसिंहसरस्वतीस्वामिकृतया सुबोधिण्याख्याया

तथा

रामतीर्थविरचितया विद्वन्मनोरञ्जन्या चालङ्कृतः ।

निर्दिष्टव्याख्याद्वयोपेतोऽयं ग्रन्थः जे. ई. जेकब इत्यनेन पाठान्तरैः आङ्ग्लटिप्पणेश्च सनाथीकृत्य संस्कृतः ।
मूल्यं १। रूप्यकः । मार्गव्य. ॥

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीतः

अध्यात्मविद्योपदेशविधिः ।

किञ्ज्योतिरिति पद्यस्य—

परमहंसश्रीमत्स्वयंप्रकाशमुनिकृता स्वात्मदीपव्याख्या च ।

लघुतरं प्रकरणद्वयमिदं श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीच्छङ्करभगवत्पादाचार्यैरद्वैतवेदान्तशास्त्रेऽतिगहनतमे प्रवि-
विश्लेषां कृते प्रणीतम् । तच्च महता प्रयासेनास्माभिः प्रकाशितम् । मूल्यं ॥ मार्गव्य. ८८

पञ्चदशी ।

[श्रीमन्मुनिवरविद्यारण्यविरचिता ।]

श्रीमद्रामकृष्णप्रणीतव्याख्यासहिता

अयमद्वैतवेदान्तशास्त्रस्य प्रकरणग्रन्थोऽध्येतृणामध्यापकानां चातीवोपकारक इति लघुतराकारमण्डितो मुद्रितः ।
मूल्यं १ रूप्यकः । मार्गव्य. ॥

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ।

भाष्यरत्नप्रभा-भामती-न्यायनिर्णये (आनन्दगिरीय) तिव्याख्यात्रयोपेतम् ।

ब्रह्मस्वरूपमात्रप्रकाशनाथं प्रवृत्तत्वाद्यथार्थाभिधानानि ब्रह्मसूत्राणि पर्यालोच्यमानान्यद्वैतमेवावगमयन्ति । तत्परं चेदं
शाङ्करभाष्यं प्रसन्नगम्भीरं नेतरैर्व्याख्यानैस्तथा चकास्ते यथा किल सर्वतन्त्रस्वतन्त्रविरुदाङ्कित-श्रोगोविन्दानन्द-वाचस्पति-
मिश्र-आनन्दगिरिप्रणीत-भाष्यरत्नप्रभा-भामती-न्यायनिर्णयव्याख्यात्रयेण । महता प्रयासेन संपाद्य मुद्रितम् ।
मूल्यम् ८ रूप्यकाः, मार्गव्य. १ रूप्यकः,

अद्वैतसिद्धान्तसारसंग्रहः ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यनारायणाश्रमविरचितः । मूल्यं ॥ मा. व्य. ८८

श्रीमन्महर्षिवाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः ।

(भागद्वयात्मकः ।)

वासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशव्याख्यालङ्कृतः ।

श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिः श्रीरामचन्द्रमहोदयपवित्रचरित्रपूर्णं पूर्वरामायणं, आत्मानात्मविवेचनपूर्वकब्रह्मसाक्षात्कारगर्भ-
मुत्तररामायणमिति निबन्धद्वयरूपं महानिबन्धं रचयावभूत् । तत्रेदमुत्तररामायणं योगवासिष्ठसंज्ञया वासिष्ठमहारामा-
यणाख्याया च जगति समुलसति । निखिलवेदान्तसिद्धान्तानां ब्रह्मपरत्वप्रतिपादको वैराग्य-सुसुखव्यवहार-उत्पत्ति-स्थिति-
उपशम-निर्वाणादिप्रकरणषट्कविलसितश्चायं ग्रन्थोऽध्ययना-ध्यापन-प्रवचनकर्तृणां च सुसुखमध्यात्मविनिगमने सुतरामुप-
युक्तत्वमावहतीति नैकवारं मुद्रितोऽपि प्रमादपाठबहुलत्वान्मुद्रितामुद्रितप्रतिकृतिविमर्शनेन सपाठान्तर-टिप्पण्यादिभिर्विद्वद्भिरा-
संशोध्य मुद्रापितोऽस्माभिः । (बुकसाइज) मूल्यम् १४ रूप्यकाः, मा. व्य. १॥ रूप्यकाः.

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रहः ।

श्रीमत्परमहंसरामेश्वरशिवयोगिभिक्षुप्रणीतमीमांसार्थ-

संग्रहकौमुदीव्याख्यासहितः ।

अयं ग्रन्थो निखिलमीमांसापदार्थनिरूपणपरत्वेन जैमिनीयतन्त्रप्रविविक्षूणां सर्वेषामत्यन्तोपकारकः सर्वान्मीमांसाप्रकरणग्रन्थानतिशेते । अयमनेकत्रानेकवारमङ्कितोऽप्यशुद्धिबाहुल्यादनुचितसंबन्ध आसीत्सोऽस्माभिर्महता यत्नेन सुप्रसिद्ध-विद्वद्भिरा संशोध्य टिप्पण्यादिभिरलंकृत्य मुद्रितोऽस्ति । मूल्यं १४ आणकाः, मार्गव्ययः २ आणकौ.

मीमांसान्यायप्रकाशः ।

(आपदेवी)

अयं पूर्वमीमांसाशास्त्रस्य सुप्रसिद्धः प्रकरणग्रन्थोऽध्येतृणामध्यापकानां चातीवोपकारकोऽस्ति । अस्य प्राचीनानि हस्त-लिखितानि मुद्रितानि च कतिपयपुस्तकानि संपाद्य पाठान्तरैः स्थलविशेषे विशेषटिप्पणेश्च सनाथीकृत्यायमङ्कितः । मूल्यं ८ आणकाः, मार्गव्ययः २ आणकौ.

मीमांसापरिभाषा ।

श्रीमत्कृष्णयज्वप्रणीता ।

लघुतरोऽप्ययं ग्रन्थो मीमांसाशास्त्रगहनप्रविविक्षूणां विद्यार्थिनामध्यापकानां चातीवोपकारकोऽस्ति । मूल्यं ४ आणकाः, मार्गव्ययः १ आणकः.

शास्त्रदीपिकायाः—

प्रथमस्तर्कपादः ।

प्रत्यधिकरणविभक्तजैमिनीयन्यायमालायुतः ।

रामकृष्णप्रणीतयुक्तिस्नेहप्रपूरणी-सिद्धान्तचन्द्रिकायुतः खोपज्ञसिद्धान्त-

चन्द्रिकागूढार्थविवरणसहितश्च ।

अस्य सिद्धान्तचन्द्रिका तद्गूढार्थविवरणं च महतायासेन जम्बूग्रन्थकोशागारात्काशीक्षेत्राच्च संपाद्य संशोध्य मूले संयोज्य चायं भागोऽङ्कितोऽस्ति । यद्यप्यनेन साकं प्रथमाध्यायद्वितीयपादात्प्रभृति द्वादशाध्यायान्ता शास्त्रदीपिका श्रीसोमनाथप्रणीतमयूखमालिकाव्याख्यासहिताङ्कितस्त्येवाऽथापि केवलतर्कपादपरिशीलिनां भागशः प्रकाशनमपेक्षमाणानां पठनपाठनधारणसौकर्यायस्माभिरयं पृथङ्मुद्रितोऽस्ति । मूल्यं १॥ रु., मार्ग. ८ आ.

शास्त्रदीपिका ।

सोमनाथप्रणीतमयूखमालिकाव्याख्यासंवलिता ।

प्रत्यधिकरणविभक्तजैमिनीयन्यायमालायुता च ।

अस्याः प्रथमस्तर्कपादश्च रामकृष्णप्रणीतयुक्तिस्नेहप्रपूरणी-सिद्धान्त-चन्द्रिकाव्याख्यायुतः खोपज्ञसिद्धान्तचन्द्रिकागूढार्थविवरणसहितश्च ।

मूल्यं ८॥ रु., मार्ग. १॥ रु.

पाण्डुरङ्ग जावजी,

निर्णयसागरयन्त्रालयाधिपतिः

कालवादेवीरोड, मुंबई.

